

विदेह
VIDEHA

संस्कृत साहित्य-संग्रह

१३ पुस्तकक संयुक्त संस्करण

संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद

गजेन्द्र ठाकुर

सम्पादक
विदेह - प्रथम मैथिली पाक्षिक ई-पत्रिका

ISSN 2229-547X
www.videha.co.in

प्रथम संस्करण 2002 द्वितीय संस्करण 2026

८ इञ्च बाइ ११ इञ्च हार्डबैक संयुक्त संस्करण

संस्कृत साहित्य-संग्रह

१३ पुस्तकक संयुक्त संस्करण

संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद

गजेन्द्र ठाकुर

सम्पादक · विदेह — प्रथम मैथिली पाक्षिक ई-पत्रिका

www.videha.co.in

प्रथम संस्करण 2002 · द्वितीय संस्करण 2026

8 × 11 इञ्च हार्डबैक संयुक्त संस्करण

प्रकाशन एवं कॉपीराइट

संयुक्त संस्करण: संस्कृत साहित्य-संग्रह — १३ पुस्तकक संयुक्त संस्करण

संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद: गजेन्द्र ठाकुर

सम्पादक: गजेन्द्र ठाकुर, विदेह — प्रथम मैथिली पाक्षिक ई-पत्रिका

एहि संयुक्त संस्करणमे समाविष्ट सभ १३ पुस्तक लेल: प्रथम संस्करण **2002** • द्वितीय संस्करण **2026**

संयुक्त सम्पादकीय प्रस्तुति © 2026 गजेन्द्र ठाकुर।

प्रत्येक समाविष्ट पुस्तकक मूल शीर्षक-पृष्ठ, प्रकाशकीय/कॉपीराइट सूचना, विषय-सूची आ सम्पूर्ण मूल सामग्री यथावत् राखल गेल अछि।

आकार: 8 × 11 इञ्च हार्डबैक • मिर्जर मार्जिन • बाइन्डिङ गटर

www.videha.co.in

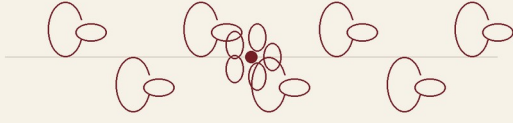
अनुक्रम / CONTENTS

1.	अभिज्ञानशाकुन्तलम् — महाकवि कालिदास	4
2.	आगमडम्बरम् — जयन्त भट्ट	141
3.	भगवदज्जुकम् — बोधायन	225
4.	भल्लट · क्षेमेन्द्र · नीलकण्ठ — भल्लट-शतक · कलाविलास · कलियुग-विडम्बना	254
5.	चतुर्भाणी	416
6.	दामक प्रहसनम्	515
7.	हास्यक सागर / हास्यार्णवप्रहसनम्	537
8.	कादम्बरी / KADAMBARI	577
9.	माटिक खेलौना-गाड़ी / मृच्छकटिकम्	697
10.	मत्तविलास प्रहसनम्	859
11.	मंत्री राक्षसक राजसी मोहर / मुद्राराक्षसम्	888
12.	पालाण्डुमण्डन प्रहसनम्	999
13.	उत्तररामचरितम् — महाकवि भवभूति	1021

एहि अनुक्रमक बाद सभ १३ पुस्तक अपन-अपन मूल शीर्षक-पृष्ठ आ सम्पूर्ण सामग्री सहित क्रमशः देल गेल अछि।

महाकवि कालिदास

अभिज्ञानशाकुन्तलम्



संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद

गजेन्द्र ठाकुर

सम्पादक: विदेह प्रथम मैथिली पाक्षिक ई पत्रिका

www.videha.co.in

अभिज्ञानशाकुन्तलम्

महाकवि कालिदास

संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद

गजेन्द्र ठाकुर

सम्पादक: विदेह प्रथम मैथिली पाक्षिक ई पत्रिका

www.videha.co.in

अभिज्ञानशाकुन्तलम्

महाकवि कालिदास

संस्कृतसँ मैथिली अनुवादः गजेन्द्र ठाकुर

सम्पादकः विदेह प्रथम मैथिली पाक्षिक ई पत्रिका

© 2026 गजेन्द्र ठाकुर

www.videha.co.in

विषय-सूची

पात्र-परिचय

प्रस्तावना

प्रथम अङ्क — मृगया

द्वितीय अङ्क — रहस्य

तृतीय अङ्क — प्रेम-दाह

चतुर्थ अङ्क — विदाई

पञ्चम अङ्क — दुर्घटना

षष्ठ अङ्क — विरह

सप्तम अङ्क — शाप-मुक्ति

रंगमञ्च पर आगमनक क्रमसँ —

मूल संस्कृत नाम	मैथिली परिचय
सूत्रधारः	सूत्रधार (रंगमञ्चक निर्देशक)
नटी	नटी (अभिनेत्री)
राजा, दुष्यन्तः	राजा दुष्यन्त
सूतः	हुनक सारथि
तपस्वी, तापसाः	तपस्वी
सख्यौ	दू सखी
शकुन्तला	शकुन्तला
प्रियंवदा	प्रियंवदा
अनसूया	अनसूया
विदूषकः, माधव्यः	विदूषक (माधव्य)
दौवारिकः, रैवतकः	द्वारपाल (रैवतक)
सेनापतिः	सेनापति
परिजनः	परिजन (अनुचर-वर्ग)
तापसौ, ऋषी	दू तपस्वी, दू ऋषि
करभकः	करभक, राजदूत
शिष्यः	कण्वक शिष्य
तापसी	दू तपस्विनी
ऋषिकुमारकौ	दू ऋषिकुमार
गौतमी	गौतमी
दुर्वासाः	दुर्वासा, क्रोधी स्वभावक ऋषि
काश्यपः, कण्वः	काश्यप (कण्व)
शिष्याः	तीन शिष्य
शार्ङ्गरवः	शार्ङ्गरव
कञ्चुकी, मौद्गल्यः	कञ्चुकी (मौद्गल्य)

मूल संस्कृत नाम	मैथिली परिचय
प्रतीहारी	प्रतीहारी (द्वाररक्षिका)
वैतालिकः	वैतालिक (स्तुतिपाठक)
शारद्वतः	शारद्वत
पुरोहितः, पुरोधाः, सोमरातः	पुरोहित (सोमरात)
ऋषयः	ऋषिगण
रक्षिणौ	दू प्रहरी
पुरुषः	एक पुरुष, धीवर (माछ मारऽवला)
श्यालः	नगर-रक्षक अधिकारी, राजाक सार
अक्षमाला	अक्षमाला
चेटी	दू उद्यान-परिचारिका
लिपिकरी, मेधाविनी	चित्रकारिणी-लिपिकरी (मेधाविनी)
मातलिः	मातलि (इन्द्रक सारथि)
चूतमञ्जरी	चूतमञ्जरी, पहिल नर्तकी
पारिजातमञ्जरी	पारिजातमञ्जरी, दोसर नर्तकी
बालः	बालक (सर्वदमन)
तापसी	दू तपस्विनी
मारीचः	मारीच
अदितिः	अदिति

प्रसन्नचित्त भगवान अपन आठटा प्रत्यक्ष रूपसँ
हमरा सभक रक्षा करथि—
स्रष्टाक पहिल सृष्टि, जे यज्ञक आहुति ग्रहण करैत अछि,
आ स्वयं आहुति,
यजमान,
कालक विधान करनिहार ओ दुनू,
कानसँ सुनाइ पड़निहार, समस्त विश्वमे व्याप्त तत्त्व,
'समस्त बीजक मूल' कहल जाएबला तत्त्व,
आ जीवधारी सभकेँ प्राणशक्ति देनिहार तत्त्व!*

मङ्गलाचरण समाप्त होइत अछि।

सूत्रधार: (परदा दिस देखैत) आर्ये! सभ गोटे अपन-अपन भूमिका लेल तैयार भऽ गेल छथि ने?

नटी प्रवेश करैत छथि।

नटी: आर्य! हम उपस्थित छी। की आज्ञा अछि?

सूत्रधार: (देखैत) एहि सभामे प्रायः सभ दर्शक अत्यन्त रसज्ञ आ विदग्ध छथि, आ हमरा सभकेँ कालिदास-रचित नव नाटकक प्रदर्शन कऽ
हुनका सभक मनोरञ्जन करबाक अछि। प्रत्येक भूमिकाक निर्वाह बहुत सावधानीसँ होअय।

नटी: अहाँक कुशल निर्देशन रहत तँ कोनो बात बिगड़ि नहि सकैत अछि।

सूत्रधार: (मुस्कराइत) आर्ये, एकटा सत्य कहैत छी।

जाबत धरि विद्वज्जन सन्तुष्ट नहि होथि,
ताबत धरि हम अपन निर्देशन-कौशलक विषयमे निश्चिन्त नहि भऽ सकैत छी।
मन लगा कऽ अभ्यास कएनिहारक हृदय सेहो
आत्मसन्देहसँ व्याकुल रहैत अछि।

नटी: ई सर्वथा सत्य अछि। आब कहू, एकर बाद की करबाक अछि, आर्य?

सूत्रधार: (देखैत) एहि सभाक कानकेँ आनन्दित करबाक लेल हालहि आरम्भ भेल, उपभोगक योग्य ग्रीष्म ऋतुक वर्णन करैत गीत गेबाक
अतिरिक्त आओर की?

कारण, एखन—

एहन दिन सभ अछि,
जखन जलमे डुबकी लगाएब आनन्ददायक अछि,
पाटल-पुष्पक संसर्गसँ वनक समीर सुगन्धित अछि,
घनगर छाहरिमे सहजहि निन्न आबि जाइत अछि,
आ साँझक बेला मनोहर लगैत अछि।

नटी: जेना अहाँक आज्ञा। (गबैत छथि।)

कोमल-हृदया स्त्रीगण
शिरीषक फूलसँ अपन श्रृंगार करैत छथि,

जकर अत्यन्त सुकुमार केसरकें
भौरा क्षणभरि चुमि जाइत अछि।*

सूत्रधारः अत्यन्त सुन्दर गायल! गीतक माधुरीमे तन्मय हमर चारू दिसक ई दर्शक-मण्डली एना निश्चल भऽ गेल अछि, मानो चित्रमे अंकित
हो। आब कहू, एहि लोक सभक मनोरञ्जन लेल कोन नाटक खेलल जाए?

नटीः आर्य, आरम्भहिमे अहाँ कहलहुँ नहि—‘अभिज्ञानशाकुन्तलम्’ नामक नव नाटक प्रस्तुत करू?

सूत्रधारः आर्ये, अहाँ उचितहि स्मरण करा देलहुँ। एखनहि ई बात हमर मोनसँ उतरि गेल छल। किएक?

अहाँक गीतक मनोहर सुर
हमरा अनायास अपना संग बहा लेने गेल...

(परदा दिस देखैत।)

...ठीक ओहिना, जेना ई राजा दुष्यन्त
तीव्रगामी हरिणक पाछाँ खिंचाइत चलि गेलाह।

एतबा कहि दुनू प्रस्थान करैत छथि।
प्रस्तावना समाप्त।

हाथमे धनुष लेने, रथपर सवार राजा दुष्यन्त एकटा हरिणक पाछाँ पड़ल प्रवेश करैत छथि; सारथि हुनका संग अछि।

सारथि: (राजा आ हरिण दिस देखैत) महाराज!

जखन हम एहि हरिणकेँ आ तानल धनुष सहित अहाँकेँ देखैत छी,
तखन हमरा अपन आँखिक आगाँ
मृगक पाछाँ दौड़ैत
पिनाकपाणि शिव देखाइ पड़ैत छथि।*

राजा: सारथि! एहि कृष्णसार मृग हमरा सभकेँ बहुत दूर लऽ आएल अछि। एखनो ओ—

पाछाँ अबैत रथ दिस बेर-बेर घुमि देखैत अछि,
गरदनि सुन्दर ढङ्गसँ मोड़ैत,
बाण लगबाक भयें पछिला देहकेँ
अगिला भागमे समेटने,
थाकनिसँ मुँह बौने,
मुँहसँ आध चिबाओल घास खसैत
बाटभरि छिड़कैत जाइत अछि।
देखू! ऊँच-ऊँच छलाङ्ग मारैत ओ
धरतीकेँ बहुत कम छुबैत,
मानो आकाशहिमे अधिक चलैत अछि।

ई की! हम ठीक ओकर पाछाँ छी, तैयो ओ आँखिक पकड़सँ बाहर भेल जा रहल अछि!

सारथि: महाराज! भूमि ऊबड़-खाबड़ अछि।* लगाम सम्हारि हम रथक वेग घटा देने छलहुँ। एहि कारणेँ मृग किछु आगाँ निकलि गेल। आब
भूमि समतल अछि; ओकरा पकड़बामे अहाँकेँ कोनो कठिनाई नहि होएत।

राजा: लगाम ढील छोड़ू!

सारथि: जेना महाराजक आज्ञा। (ओहिना करैत अछि आ वेग बदललाक अभिनय करैत अछि।) महाराज! देखू, देखू!

लगाम ढील होइतहि ई रथक घोड़ा सभ,
देहक दुनू पार्श्व पूर्ण पसारने,
याक-पुच्छक कलगी कनेको नहि डोलने,
कान ठाढ़ कएने,
अपने उठाओल धूरिक पहुँचसँ सेहो दूर,
एना दौड़ि रहल अछि मानो
मृगक वेग सहन नहि कऽ सकैत हो।

राजा: सचमुच ई घोड़ा सभ इन्द्रक घोड़ाकेँ सेहो पछाड़ि रहल अछि। कारण—

जे वस्तु आँखिकेँ छोट देखाइत छल,
से क्षणेमे विशाल भऽ जाइत अछि;
जे वस्तु वास्तवमे दू भागमे बाँटल अछि,
से जुड़ल देखाइत अछि;

जे स्वभावतः टेढ़ अछि,
से सोझ देखाइत अछि।
रथक वेगक कारण
ने कोनो वस्तु हमरा सँ दूर अछि,
ने कोनो वस्तु हमर लग स्थिर रहि पबैत अछि।

सारथि: महाराज! जाहि कृष्णसारपर अहाँक बाण लक्ष्य कएने अछि, ओकर आ अहाँक बीच तपस्वी सभ आबि गेल छथि!

राजा: (घबड़ाइत) तँ घोड़ा रोकू!

सारथि: रोकैत छी। (एतबा कहि रथ रोकैत अछि।)

दू गोट सङ्गीक संग एक तपस्वी प्रवेश करैत छथि।

तपस्वी: (व्याकुल भऽ हाथ उठा कऽ) राजन्! राजन्! ई आश्रमक मृग अछि। ई आश्रमक मृग अछि।

अतः अपन सटीक लक्ष्य कएल बाण
पाछाँ खिंचि लिअ।
अहाँक शस्त्र दुःखीजनक रक्षा लेल अछि,
निर्दोषपर प्रहार करबाक लेल नहि।

राजा: बाण पाछाँ लऽ लेलहुँ। (कहलाप्रमाणेँ करैत छथि।)

तपस्वी: (प्रसन्न भऽ) साधु, राजन्! पुरुवंशक सन्तान लेल एहने आचरण शोभनीय अछि। अहाँकेँ अवश्य एहन पुत्र होअय जे चक्रवर्ती सम्राट बनय।

राजा: (प्रणाम करैत) तपस्वीक वचन सहर्ष स्वीकार्य अछि।

तपस्वी: हम सभ समिधा चुनय निकलल छी। ओतय मालिनी नदीक तटपर, हिमालयक ढलानसँ सटल, हमर गुरु काश्यपक आश्रम देखाइत अछि। आन कर्तव्यमे बाधा नहि पड़ैत हो तँ आश्रममे प्रवेश कऽ अतिथिक योग्य सत्कार ग्रहण करू। आओर—

निर्विघ्न सम्पन्न होइत,
तपस्यासँ सम्पन्न तपस्वी सभक पवित्र यज्ञ देखिकऽ
अहाँ बुझि सकब—
'हमर धनुषक डोरीसँ चिह्नित बाँहि
कतेक रक्षा करैत अछि!'

राजा: कुलपति आश्रममे छथि?

तपस्वी: आइए ओ अपन निष्कलङ्क पुत्री शकुन्तलाकेँ अतिथि-सत्कारक भार दऽ, ओकर प्रतिकूल भाग्यक शान्ति लेल पवित्र चन्द्रतीर्थ प्रभास गेल छथि।

राजा: (अपना मोनमे) नीक। हम हुनकहि देखब। ओ महर्षिक समक्ष हमर भक्तिभावक चर्चा करतीह।

तपस्वी: आब हमरा सभकेँ जेबाक अछि। (शिष्य सभक संग प्रस्थान करैत छथि।)

राजा: सारथि! घोड़ा आगाँ बढ़ाउ! पहिने पवित्र आश्रमक दर्शनसँ अपना केँ पवित्र करब।

सारथि: जेना महाराजक आज्ञा। (घुमैत अछि आ रथ हाँकबाक अभिनय करैत अछि।)

राजा: (चारू दिस देखैत) सारथि! केओ नहि कहितो स्पष्ट भऽ रहल अछि जे ई तपोवनक बाहरी भाग अछि।

सारथि: से कोना?

राजा: की अहाँ नहि देखैत छी? एतय—

गाछक नीचाँ सुग्गाक खोहसँ खसल
वनधानक दाना पड़ल अछि;
कतहु इङ्गुदी फल कुटलाक तेलसँ
चिक्कन भेल पाथर देखाइत अछि;
हरिणक बच्चा एतेक निडर अछि जे
लोकक गप सुनितो डेग रोके बिना चलैत रहैत अछि;
आ पोखरि दिस जाएबला बाट
वल्कलक कोनसँ टपकल पानिक बूँदक
लकीरसँ चिह्नित अछि।

सारथि: सभटा लक्षण मेल खाइत अछि।

राजा: (किछु आगाँ बढ़ैत) आओर देखू—

उफनैत नहरिक धारासँ
गाछक जड़ि धुइल अछि;
घृताहुतिक उठैत धुँआमे
लताक कोमल पातक चमक घुलि गेल अछि;
आ एतय, जाहि हरियर मैदानमे
कुशक कोमल अङ्कुर काटल गेल अछि,
ओतय मृगशावक निश्चिन्त भऽ
अलसा कऽ चरि रहल अछि।

आश्रमवासी सभकेँ कोनो बाधा नहि होअय! एहि किनारपर रथ रोकू, हम उतरब।

सारथि: लगाम थिर कऽ देल अछि। उतरू, महाराज।

राजा: (उतरैत) आश्रममे विनम्र वेशमे प्रवेश करबाक चाही। अतः ई सभ सम्हारू। (आभूषण सारथिकेँ दैत आ धनुष उतारि रखैत छथि।)

सारथि! महर्षि सभकेँ प्रणाम कऽ हम जाबत धरि घुरैत छी, ताबत घोड़ाक पीठपर पानि छिड़कि ओकरा शीतल करू।

सारथि: जेना महाराजक आज्ञा। (प्रस्थान करैत अछि।)

राजा: (चारू दिस देखैत चलैत) एहि द्वारसँ आश्रममे प्रवेश करब। (प्रवेश करैत छथि; बाँहि फड़कबाक अपशकुन देखबैत विचार करैत छथि।)

आश्रमक भूमि शान्त अछि,
तैयो हमर बाँहि फड़कैत अछि।
एतय ई कोना भऽ सकैत अछि?
अथवा, जे होएबाक अछि,
ओकर द्वार सभ ठाम खुलल रहैत अछि।

नेपथ्यमे: एहि बाट, एहि बाट, प्रिय सखी सभ!

राजा: (कान दऽ) अहा! पुष्पवृक्षक बाटक दहिना दिस किछु गप-सप सुनाइ पड़ैत अछि।* हम ओतय जाइत छी। (घुमैत आ देखैत) तपस्वी
सभक पुत्री सभ अपन आकारक अनुरूप छोट-छोट कलशसँ नव गाछ सभमे पानि दैत एहि दिस आबि रहल छथि। (रसज्ञ दृष्टिसँ देखैत)
अहो! देखबामे कतेक सुन्दर छथि! हम एहि छाहरिमे नुका कऽ ठाढ़ रहैत छी। (देखैत रहैत छथि।)

वर्णित काज करैत शकुन्तला दू सखीक संग प्रवेश करैत छथि।

सखी सभः प्रिय शकुन्तला! हमरा सभकेँ लगैत अछि जे पिता काश्यपकेँ आश्रमक गाछ सभ अहूँसँ बेसी प्रिय छथि; तँ तँ नवमल्लिका जकाँ कोमल अहाँकेँ हुनकर थाल भरबाक काज देलनि अछि।

शकुन्तला: ई केवल पिताक आज्ञा नहि, हमर अपन श्रद्धा सेहो अछि। सचमुच हम एहि गाछ सभक प्रति बहिन-जकाँ स्नेह अनुभव करैत छी। (गाछमे पानि देबाक अभिनय करैत छथि।)

दुनू: प्रिय शकुन्तला! ग्रीष्ममे फूलनिहार वृक्ष सभक बाड़ी पानिसँ तृप्त भऽ गेल। आब चलू जाहि गाछक फूलबाक ऋतु नहि अछि, ओकरो पानि दी; तखन कदाचित् अनपेक्षित पुण्य भेटत।

शकुन्तला: अहाँ सभक बात प्रशंसनीय अछि। (पानि देबाक अभिनय करैत छथि।)

राजा: (आश्चर्यसँ देखैत) की! ई कण्वक पुत्री छथि? अद्भुत!

राजमहलक अन्तःपुरमे सेहो
दुर्लभ एहन रूप
जँ आश्रमवासिनीक अछि,
तँ निश्चित रूपेँ वनक लता
गुणमे उद्यानक लताकेँ पछाड़ि देने अछि।

नीक। एहि गाछक ओटमे नुका कऽ, सङ्कोचमुक्त ओकर स्वाभाविक व्यवहार देखब। (ओहिना करैत छथि।)

शकुन्तला: ई बकुल-वृक्ष अपन पवनसँ हिलैत लता-जकाँ अङ्गुरीसँ मानो हमरा जल्दी बजा रहल अछि। हम एकर सेवा करैत छी। (राजाक लग अबैत छथि।)

राजा: (देखैत) पूज्य काश्यप अवश्य अन्हर छथि जे एकरा आश्रमक कठिन काजमे लगबैत छथि।

जे मुनि एहि निष्कपट मनोहर देहकेँ
तपस्याक कष्ट सहबाक योग्य बनाबय चाहैत छथि,
ओ निश्चितहि नीलकमलक पाँखुरिक धारसँ
कठोर समिधा काटय निकलल छथि।

शकुन्तला: प्रिय अनसूया! प्रियंवदाक कसिकऽ बान्हल वल्कल-वस्त्र हमरा जकड़ि लेने अछि। कृपा कऽ एकरा ढील करू। (अनसूया ढील करैत छथि।)

प्रियंवदा: (मुस्कराइत) एहि लेल अपन यौवनकेँ डाँटू, जे अहाँक स्तनकेँ बढ़ा रहल अछि।

राजा: मानैत छी जे वल्कल ओकर नवयौवनक अनुरूप नहि अछि, तैयो ई ओकर सौन्दर्य बढ़ेबामे विफल नहि भेल अछि। कोना?

शैवालमे उलझल कमल सेहो सुन्दर लगैत अछि;
चन्द्रमाक कलङ्क, दोष होइतहुँ,
ओकर शोभा बढ़बैत अछि;
ई कृशाङ्गी कन्या वल्कल पहिरने सेहो
अत्यन्त मोहक लगैत छथि।
मनोहर आकृतिक लेल एहन की अछि
जे आभूषण नहि बनि सकय?

प्रियंवदा: प्रिय शकुन्तला! एहि प्राकृतिक मण्डपमे माधवी-लता अछि, जकरा पिता काश्यप अहाँहि जकाँ पालने छथि। एकर देखभाल करू।
अथवा, एकरा बिसरि गेलहुँ?

शकुन्तला: अपने केँ बिसरब तखनहि एकरा बिसरब। (एतबा कहि ओतय जाइत छथि।)

प्रियंवदा: प्रिय शकुन्तला! बकुल-वृक्षक ठीक लग एक क्षण ठहरू।

शकुन्तला: किएक?

प्रियंवदा: अहाँ ओकर लग ठाढ़ छी तँ हमरा लगैत अछि मानो कोनो लता बकुल-वृक्षकें आलिङ्गन कएने हो।

शकुन्तला: तँ तँ अहाँक नाम प्रियंवदा—‘मधुर वचन कहनिहार’—अछि।

राजा: एकर बात मधुरो अछि आ सत्यो। कारण, एकर—

नव लताक काँपल-जकाँ ओकर निचला ठोरक रङ्ग अछि,
ओकर बाँहि कोमल डाढ़िक अनुकरण करैत अछि;
फूल-जकाँ वाञ्छनीय यौवन
ओकर देहमे खिलबाक लेल तैयार अछि।

अनसूया: प्रिय शकुन्तला! ई नवमल्लिका चमेली अछि—ओहि आम-वृक्षक वधू, जकर नाम अहाँ ‘वनतोषिणी’ राखने छलहुँ आ जकरा ई अपन वर चुनने अछि।

शकुन्तला: (लग जा कऽ देखैत) सखी! जड़िसँ जल पिबनिहार एहि जोड़ीक मिलन बड़ शुभ समयमे भेल अछि। ई नव फूलसँ यौवनवती अछि, आ फलसँ लदल आम-वृक्ष उपभोगक योग्य भेल अछि। (एकटक देखैत रहैत छथि।)

प्रियंवदा: प्रिय अनसूया! बुझैत छिए जे शकुन्तला ‘वनतोषिणी’कें एतेक अनुरागसँ किएक देखैत अछि?

अनसूया: हम नहि बुझि पबैत छी।

प्रियंवदा: ई सोचि रहल अछि—‘जेना नवमल्लिका योग्य वृक्ष वनतोषिणीसँ मिलल अछि, तहिना हमरो योग्य वर भेटय।’

शकुन्तला: ई तँ तोरे मोनक इच्छा होएत! (कलश खाली करैत छथि।)

राजा: की ई कुलपतिक कुलसँ भिन्न कुलमे जन्मल छथि? * अथवा—

निःसन्देह ई क्षत्रियक संग विवाहक योग्य छथि,
कारण हमर हृदय हुनका चाहैत अछि।
सज्जनक अन्तःकरणक प्रवृत्ति
सन्देहक विषयमे प्रमाण मानल जाइत अछि।

तैयो हम हुनकर वास्तविक परिचय जानय चाहैत छी।

शकुन्तला: (भौराक आक्रमणक अभिनय करैत) अहा! पानि छिड़कला सँ घबरायल एकटा भौरा चमेली छोड़ि आब हमर मुँहपर आक्रमण कऽ रहल अछि। (भौरा हटेबाक अभिनय करैत छथि।)

राजा: (लालसापूर्वक देखैत)

हे भौरा! तूँ बेर-बेर ओकर चञ्चल आँखि छुबैत छह,
जाहिसँ ओ काँपि उठैत अछि;
ओकर कानक लग जा मधुर गुनगुनाइत छह,
मानो कोनो गुप्त बात कहि रहल हो;
आ जखन ओ हाथ हिला कऽ तोरा हटबैत अछि,
तखन तूँ ओकर निचला ठोरसँ प्रेमक रस पिबैत छह।
हम देवताक विधानसँ चकित आ विफल छी,
आ तूँ सफलता भोगि रहल छह।

शकुन्तला: सखी सभ! हमर रक्षा करू; ई फूलक चोर हमरा सतबैत अछि!

दुनू: (हँसैत) हम सभ के छी अहाँक रक्षा करनिहार? दुष्यन्तकें बजाउ! तपोवन राजाक संरक्षणमे रहैत अछि।

राजा: अपना कैं प्रकट करबाक ई उचित अवसर अछि। (लग अबैत) भय नहि करू! भय नहि करू! (बीचहिमे रुकि, अपना मोनमे) एहि प्रकारैं हम अपना कैं राजा स्वीकार कऽ लेब। नहि, रहय दिअ। हम अतिथिक रूपमे सत्कार ग्रहण करब।

शकुन्तला: (काँपैत) ई ढीठ दुष्ट हमरा छोड़ि नहि रहल अछि। हम दोसर ठाम जाइत छी। (परदाक पाछाँ जा कऽ झाँकैत छथि।)* हाय! एतहु ई हमर पाछाँ किएक आबि गेल?

राजा: (शीघ्रता सँ लग अबैत)

जखन पुरुवंशी दुष्ट-दमनकर्ता राजा
पृथ्वीपर शासन कऽ रहल छथि,
तखन आश्रमक निर्दोष कन्या सभकें
सताबय के साहस करैत अछि?

राजाकें देखि सभ किछु घबड़ा जाइत छथि।

अनसूया: घबड़यबाक कोनो कारण नहि अछि। हमर ई प्रिय सखी एकटा भौरासँ व्याकुल भऽ डरि गेलीह।
(शकुन्तलाकें आगाँ करैत छथि।)

राजा: (शकुन्तलाक लग जा कऽ) आर्ये! अहाँक तपस्या निर्विघ्न चलि रहल अछि?

शकुन्तला: (चुप रहैत, लजा कऽ नीचाँ देखैत छथि।)

अनसूया: (राजासँ) एहन विशिष्ट अतिथि भेटलाक बाद आब अवश्य निर्विघ्न अछि।

प्रियंवदा: आर्य, स्वागत अछि!

अनसूया: प्रिय शकुन्तला! पर्णकुटीसँ मिश्रित फल-अर्घ्य आनू। चरण धोबाक पानि एतय अछि।

राजा: अपने सभ कष्ट नहि करू! अहाँ सभक स्नेहपूर्ण बातचीतए अतिथि-सत्कारक विधि पूरा कऽ देलक अछि।

प्रियंवदा: तँ आर्य, एहि सप्तपर्ण-वृक्षक चारू दिस बनल, ओकर छाहरिसँ शीतल वेदीपर बैसू आ थाकनि मेटाउ।

राजा: धार्मिक काजसँ अहूँ सभ अवश्य थाकल होएब; अतः किछु काल बैसू।

प्रियंवदा: (धीरे सँ) प्रिय शकुन्तला! अतिथिक सेवा करब हमर धर्म अछि। चलू, एतहि बैसैत छी। (सभ स्त्री बैसि जाइत छथि।)

शकुन्तला: (अपना मोनमे) ई की भऽ रहल अछि? हिनका देखिते हमर मोनमे एहन भाव जागि उठल, जे एहि तपोवनक अनुकूल नहि अछि।

राजा: (सभकें देखैत) अहा! समान आयु आ समान सौन्दर्यक कारण अहाँ सभक मैत्री अत्यन्त मनोहर अछि।

प्रियंवदा: (धीरे सँ) अनसूया! ई सुन्दर आ गम्भीर चाल-ढालबला पुरुष के छथि? स्नेहपूर्ण कोमल वचन कहैत हमरा सभक प्रति असाधारण आदर देखबैत छथि।

अनसूया: (धीरे सँ) सखी, हमरो जिज्ञासा अछि। हम पूछैत छी। (जोर सँ) आर्यक कोमल वचनसँ उत्पन्न विश्वास हमरा गप कहबाक साहस दऽ रहल अछि। आर्य कोन कुलकें सुशोभित करैत छथि? आ कोन कारणेँ एहन सुसंस्कृत पुरुष तपोवन अबाक कष्ट उठौलनि?

शकुन्तला: (अपना मोनमे) हे हृदय! धैर्य धर। अनसूया ओहि बातक प्रश्न कऽ देलक, जे तूँ जानय चाहैत छलह।

राजा: (अपना मोनमे) आब अपन परिचय कोना दी? अथवा अपन वास्तविक परिचय कोना नुकाबी? नीक, हम एकरा ई कहैत छी। (जोर सँ)
आर्ये! हम वेदज्ञ ब्राह्मण छी; पौरव राजाक द्वारा धर्म-व्यवस्थाक निरीक्षण लेल नियुक्त कएल गेल छी।* तपस्वी सभक अनुष्ठानमे कोनो बाधा तँ नहि पड़ि रहल अछि, से देखय एहि पवित्र वनमे आएल छी।

अनसूया: धर्माचरण करनिहार सभकें समर्थ रक्षक भेटलनि!

शकुन्तला: (प्रेमासक्त लज्जाक अभिनय करैत छथि।)

सखी सभ: (दुनूक दशा बुझि, दर्शक दिस) प्रिय शकुन्तला! एखन पिता एतय रहितथि तँ...

शकुन्तला: (भौंह सिकोड़ैत) तँ की होइत?

दुनू: तँ अपन प्राणसँ प्रिय निधि दऽ एहि अतिथिक सत्कार करितथि।

शकुन्तला: (रुष्ट भऽ) धत! हट! अपने मोनक कल्पना बना कऽ अनर्गल बजैत छह। हम नहि सुनब। (मुँह फेरि ठाढ़ रहैत छथि।)

राजा: हमहूँ अहाँ दुनूसँ अपन सखीक विषयमे किछु पूछय चाहैत छी।

दुनू: आर्य! अहाँक प्रश्न हमरा सभपर अनुग्रह अछि।

राजा: पूज्य काश्यप निरन्तर ब्रह्मचर्यक पालन करैत छथि, आ ई अहाँ सभक सखी हुनकर पुत्री कहल जाइत छथि। ई कोना सम्भव अछि?

अनसूया: सुनू आर्य! कौशिक वंशमे एक महान राजर्षि छथि।*

राजा: हुनकर यश सर्वविदित अछि।

अनसूया: हुनकें हमर सखीक जन्मदाता बुझू। त्यागल गेलाक बाद रक्षा-पोषण कएलाक कारण पिता काश्यप हुनकर पालक पिता छथि।

राजा: 'त्यागल गेल' ई बात हमर जिज्ञासा बढ़ा देलक। आरम्भसँ सभटा सुनय चाहैत छी।

अनसूया: बहुत पहिने, जखन राजर्षि कौशिक कठोर तपस्या कऽ रहल छलाह, तखन देवता सभ अत्यन्त भयभीत भऽ हुनकर तप भङ्ग करबाक लेल अप्सरा मेनकाकें पठौलनि।

राजा: देवता सभ सचमुच दोसरक गहन तपसँ डराइत छथि। तकर बाद की भेल?

अनसूया: तखन, वसन्तक आरम्भमे, ओ मेनकाक मादक रूप देखलनि... (लज्जासँ बीचहिमे रुकि जाइत छथि।)

राजा: आओर कहबाक आवश्यकता नहि! शेष बात बुझल जा सकैत अछि... ई अप्सराक पुत्री छथि!

अनसूया: हँ, ठीक।

राजा: तखन बात उचित लगैत अछि।

एहन रूप

मनुष्यलोकमे कोना जन्मि सकैत छल?

चञ्चल प्रभासँ चमकनिहार बिजुरी

धरतीसँ उत्पन्न नहि होइत अछि।

शकुन्तला: (भूमि दिस देखैत रहैत छथि।)

राजा: (अपना मोनमे) हमर इच्छा पहुँचक भीतर अछि! तैयो, सखीक परिहासमे हुनका लेल वरक कामना सुनलाक बादो हमर डरपोक हृदय विश्वास नहि कऽ रहल अछि।

प्रियंवदा: (मुस्करा कऽ शकुन्तला दिस देखि, राजासँ) लगैत अछि आर्य आओर किछु कहय चाहैत छथि।

शकुन्तला: (अडुरी उठा कऽ सखीकें धमकबैत छथि।)

राजा: अहाँ ठीक बुझलहुँ। सज्जनक आचरण सुनबाक इच्छासँ हम एकटा आओर प्रश्न पूछय चाहैत छी।

प्रियंवदा: तँ सङ्कोच नहि करू। तपस्वी सभकें अपन लोक बुझल जा सकैत अछि।

राजा: अवश्य, आर्ये। हम अहाँक सखीक विषयमे ई जानय चाहैत छी—

की विवाह होएबा धरि ई तपस्विनीक व्रत पालैत,

कामदेवक प्रयास विफल करैत रहत?

अथवा अपन आँखि-जकाँ आँखिबाली प्रिय हरिणी सभक संग

सदाक लेल एतहि रहत?

प्रियंवदा: आर्य! धार्मिक काजमे सेहो ई दोसरक अधीन छथि। हुनकर गुरु हुनका योग्य वरकें देबाक निश्चय कऽ चुकल छथि।

राजा: एहि इच्छाक पूर्ति कठिन नहि होएत। (अपना मोनमे)

हे हृदय, आशासँ भरि जा;
सन्देहक गाँठि खुजि गेल।
जकरा तू अग्नि बुझि डराइत छलह,
से छुबय योग्य रत्न अछि।

शकुन्तला: (रुष्ट देखाइत) अनसूया! हम जाइत छी!

अनसूया: की भेल?

शकुन्तला: पूज्या गौतमीकेँ जा कऽ कहब जे प्रियंवदा अनर्गल बजैत अछि। (एतबा कहि उठि ठाढ़ होइत छथि।)

अनसूया: सखी! आश्रमवासी लेल ई उचित नहि जे विशिष्ट अतिथिक पूरा सत्कार कएने बिना अपन इच्छासँ उठि चलि जाय।

शकुन्तला: (बिना किछु कहने चलि पड़ैत छथि।)

राजा: (अपना मोनमे) की? ई जा रहल छथि? (रोकय चाहैत, फेर अपना केँ रोकैत) अहा! प्रेमीक मनक प्रवृत्ति ओकर देहक गतिमे प्रकट भऽ जाइत अछि। कारण हम—

मुनिक पुत्रीक पाछाँ जेबाक लेल उद्यत भेलहुँ,
मुदा मर्यादा अचानक हमर गति रोकि देलक।
हम अपन स्थानसँ हिललहुँ नहि,
तैयो एना लगैत अछि मानो जा कऽ घुरि आएल छी।

प्रियंवदा: (शकुन्तलाक लग जा कऽ) हे रुष्टे! अहाँक एना चलि जेब उचित नहि।

शकुन्तला: (घुरि, भौंह सिकोड़ैत) किएक नहि?

प्रियंवदा: अहाँपर हमर दू बेर गाछ सींचबाक ऋण अछि। पहिने ओ ऋण चुकाउ, तखन जाइ सकैत छी। (बलपूर्वक रोकैत छथि।)

राजा: भद्रे! हम देखैत छी जे गाछ सभमे पानि दैत ई थाकि गेलीह। कारण, हुनकर—

काँध शिथिल भऽ गेल अछि,
कलश खाली करैत-करैत हथेली गाढ़ लाल भऽ गेल अछि;
एखनो साँस सामान्यसँ बेसी तेज चलि रहल अछि,
जाहिसँ स्तन काँपि रहल अछि;
मुँहपर पसेनाक महीन जाल लागल अछि,
जे कानक शिरीष-पुष्पक खेलमे बाधा दैत अछि;
आ केशबन्ध ढील होइत,
एक हाथसँ उद्दाम केश सम्हारि रहल छथि।

अतः अहाँक ऋण हम चुका दैत छी। (अपन अड़्ठी दैत छथि।)

दुनू: (मुद्रापर अंकित नामक अक्षर पढ़ि, एक-दोसराक मुँह दिस देखैत छथि।)

राजा: हमरा ओ नहि बुझू जे हम नहि छी। ई राजाक देल उपहार अछि।

प्रियंवदा: तखन ई राजमुद्रिका अहाँसँ अलग नहि होअय। आर्यक वचनपर हम एकर ऋण माफ कऽ देलहुँ। (घुरि, धीरे सँ) प्रिय शकुन्तला!

दयालु आर्य अहाँकेँ मुक्त कऽ देलनि—अथवा कहू, महाराज मुक्त कऽ देलनि। आब अहाँ हुनकर ऋणी भऽ गेलहुँ।

शकुन्तला: (दीर्घ श्वास लैत, धीरे सँ) जँ फेर अपन स्वतन्त्रता भेटल, तँ ई बात बिसरल नहि जाएत।

प्रियंवदा: सखी! आब किएक नहि जा रहल छी?

शकुन्तला: आब हमरा आदेश देनिहार तूँ के? जखन हमर मोन होएत, तखन जाएब।

राजा: (शकुन्तला दिस देखि, अपना मोनमे) की हुनकरो मोनमे हमर प्रति ओहने भाव अछि जे हमर मोनमे हुनका प्रति? नहि, आब हमर आशाकेँ सहज घाट भेटि गेल अछि। किएक?

ओ अपन बात हमर बातक संग नहि मिलबैत छथि,
तैयो हम बजैत छी तँ ध्यानसँ सुनैत छथि।
मानल जे हमर दिस मुँह नहि करैत छथि,
मुदा हुनकर आँखि प्रायः आन कतहु टिकैत नहि अछि।

नेपथ्यमे: हे तपस्वी सभ! तपोवनक पशु सभक रक्षा लेल सावधान होउ! स्त्री आ बालक सभ सङ्कटमे छथि! राजा लगहिमे मृगया कऽ रहल छथि!

हुनकर घोड़ाक खुरसँ उठल धूरि,
साँझक लाली-जकाँ लाल चमकैत,
टिड्डीक दल जकाँ
ओहि आश्रम-वृक्ष सभपर खसि रहल अछि,
जकर डाढ़िमे भीजल वल्कल लटकल अछि।

हाय, अनर्थ! ई एकाकी

रथ देखिते भयभीत ई हाथी,
जकर एक दाँत प्रचण्ड प्रहारसँ टूटल गाछक टुकड़ामे फँसल अछि,
आ विशाल व्रतती-लताक उलझल फन्दा
बेड़ी बनि ओकर देहमे लपटायल अछि,
हरिणक झुण्ड तितर-बितर करैत
पवित्र वनकेँ उखाड़ि-पछाड़ि रहल अछि—
मानो हमर तपस्याक साक्षात् विघ्न हो।

राजा: (अपना मोनमे) हाय! कतेक असावधानी भेल। हमरा खोजैत सैनिक सभ तपोवनमे उपद्रव कऽ रहल अछि। एहि प्रकारेँ हम तपस्वी सभक अपराधी भेलहुँ। नीक, हमरा जेबाक चाही!

अनसूया: (व्याकुल) आर्य! एहि कोलाहलसँ हम सभ डरि गेलहुँ। पर्णकुटीमे चलि जेबाक अनुमति दिअ।

राजा: (चिन्तित) जाउ, आर्यागण। आश्रमकेँ कोनो हानि नहि होअय, से हम देखब।

सखी सभ: अतिथि-सत्कारक विधि पूरा कएने बिना फेर भेटबाक निवेदन करैत लज्जा होइत अछि। आब हम सभ अहाँकेँ लगभग परिचित मानि लेने छी; अतः हमर आचरणकेँ उदारतासँ क्षमा कऽ देब।

राजा: कदापि नहि, कदापि नहि! अहाँ सभक दर्शनहि हमरा पूर्ण अतिथि-सत्कार दऽ देलक अछि।

दुनू: प्रिय शकुन्तला! जल्दी चलू! आर्या गौतमी चिन्ता करतीह।

शकुन्तला: (बहाना कऽ विलम्ब करैत, अपना मोनमे) हाय! जाँघमे ऐंठन उठि गेल, डेग उठब कठिन भऽ रहल अछि।

राजा: सावधानीसँ जाउ, धीरे जाउ। आश्रमक उपद्रवक कारणकेँ हम दूर करैत छी।

शकुन्तला: (कोनो बहाना कऽ किछु देर घुमैत छथि, फेर सखी सभक संग प्रस्थान करैत छथि।)

राजा: (दुःखी भऽ उठैत) नगर घुरबाक हमर उत्कण्ठा मन्द पड़ि गेल। अपन दलसँ जा मिलब आ तपोवनसँ बहुत दूर नहि पड़ाव करब।

शकुन्तलाक चिन्तासँ अपना केँ हटा नहि पबैत छी। कारण—

हमर देह आगाँ बढ़ैत अछि,

मुदा हृदय पाछाँ छूटल जाइत अछि,
जेना पवनक विपरीत लऽ जाएल ध्वजक
चिह्नित वस्त्र अपन डण्डामे समायल नहि रहैत अछि।
(डगमग डेगसँ विचारमग्न भऽ प्रस्थान करैत छथि।)
महाकवि कालिदास-रचित
'शकुन्तला' नामक नाटकक
प्रथम अङ्क समाप्त।

द्वितीय अङ्कः

रहस्य

थाकल विदूषक प्रवेश करैत अछि।

विदूषकः (थाकनिक अभिनय करैत, दीर्घ श्वास लैत) हम तँ चलबाक योग्य नहि रहलहुँ! एहि मृगयाक पागल राजाक सङ्गी बनि-बनि हम ऊबि गेल छी। ‘एतय हरिण! ओतय सूअर!’ कहैत ग्रीष्मक दुपहरियोमे ओहि वनपथपर दौड़ैत रहू, जतय गाछक छाह विरल अछि। पहाड़ी धाराक पातसँ दूषित, तीत आ कषायल, कुनकुना पानि पिबैत छी। असमयमे सीखपर भुजल माँस खाइत छी—अधिकतर चिड़ैक। रातिमे सेहो अपन इच्छासँ देह पसारि नहि सकैत छी; घोड़ागाड़ीक धक्कासँ जोड़-जोड़ ढील भऽ गेल अछि। भोर होइतहि वन जाइत व्याध सभक कान फोड़निहार कोलाहल हमरा जगा दैत अछि—दुष्टक सन्तान सभ! (सोचैत) एहि सभक बादो हमर प्राण नहि निकलल। (कुटिल हँसी हँसैत) आब घावपर फोड़ा आ फोड़ापर फुन्सी! काल्हि हम पाछाँ छूटल छलहुँ, महाराज कोनो हरिणक पाछाँ-पाछाँ आश्रममे घुसि गेलाह आ हमर दुर्भाग्यै हुनका शकुन्तला नामक तपस्वीक पुत्री देखाइ पड़लीह। आब नगर घुरबाक नामो नहि लैत छथि। आइ भोर धरि हुनकहि स्मरण करैत रहलाह। की कएल जाए? नित्यक स्नान-श्रृंगार पूरा कऽ कतहु होथि, खोजि निकालैत छी। (धीरे-धीरे घुमैत, चारू दिस देखैत) वनफूलक माला पहिरने, धनुषधारी यवन स्त्री-रक्षक सभसँ घेरायल राजा एहि दिस आबि रहल छथि। हम हुनका सामना करैत छी। (किछु आगाँ बढ़ैत) बस, एतबे पर्याप्त! अंग-अंग कुचलल अछि, एतहि ठाढ़ रहब। एना कमसँ कम किछु विश्राम तँ भेटत। (लाठीपर टेक लगा कऽ ठाढ़ होइत अछि।)

वर्णित अनुचर सभक संग राजा प्रवेश करैत छथि।

राजाः (विचारमग्न दीर्घ श्वास लैत, अपना मोनमे)

मानल, हमर प्रेम सहजसँ प्राप्त होएबला नहि अछि,
मुदा हुनकर भाव बुझि हमर हृदयकेँ सान्त्वना भेटैत अछि।
प्रेमक सिद्धि नहि भेलहुँ,
परस्पर अनुरागो आनन्द दैत अछि।

(स्मरणक अभिनय करैत मुस्कुड़ाइत) एना कामनासँ व्याकुल प्रेमी अपन इच्छाक अनुसार प्रियाक भाव कल्पना कऽ ठकाइत अछि। कोना?

ओ कोमल दृष्टि,
जखन आँखि आन दिस छल तैयो;
नितम्बक भारसँ मन्द पड़ल चाल,
मानो जानि-बूझि छेड़ि रहल हो;
‘अहाँ जा नहि सकैत छी’ कहि रोकनिहार सखीपर
ओ क्रोधपूर्ण झिड़की—
ई सभ वास्तवमे हमरहि लेल छल!
अहा! प्रेम प्रत्येक बातकेँ अपनहि पक्षमे बुझैत अछि।

(घुमैत छथि।)

विदूषकः (ओतहि ठाढ़) महाराज! हाथ उठि नहि रहल अछि, तँ केवल वचनसँ प्रणाम करैत छी। जय हो! जय हो, आर्य!

राजाः (मुस्कुड़ाइत देखैत) मित्र! देहमे ई जड़ता कतयसँ?

विदूषकः कतयसँ! आँखिमे अड़ुरी घुसेड़ि फेर पूछैत छी—नोर किएक बहैत अछि!

राजाः मित्र! हम सचमुच बुझि नहि रहल छी।

विदूषकः (क्रोधक अभिनय करैत) आर्य! की राजधर्म आ उत्कृष्ट ऐश्वर्यपूर्ण जीवन छोड़ि वनरक्षक बनबाक निश्चय कऽ लेलहुँ? सच कहूँ तँ प्रतिदिन जङ्गली पशु-पक्षीक पाछाँ दौड़ैत हमर जोड़-जोड़ उखड़ि गेल, देहपर हमर अधिकार नहि रहल। (विनती करैत) आब दया करू! हमरा छुट्टी दिअ! कमसँ कम एक दिन विश्राम करू।

राजाः (अपना मोनमे) मित्र एना आग्रह कऽ रहल अछि, आ कण्वक पुत्रीमे लागल हमर हृदय सेहो मृगयासँ विमुख अछि। किएक?

जे हरिणशावक हमर प्रियाक संग रहैत
मानो हुनका निष्कपट चितवन सिखौने अछि,
ओकरा सभपर बाण चढ़ाओल
ई तानल धनुष आब हम मोड़ि नहि पबैत छी।

विदूषकः (राजाक मुँह दिस देखैत) आर्य! अहाँ मोनमे किछु गम्भीर विचार कऽ रहल छी। हम तँ वनमे पुकारैत रहि गेलहुँ।

राजाः (हलुक मुस्कुरा कऽ) आन कोना भऽ सकैत अछि? मित्रक वचनक अवज्ञा हम कहियो नहि करब। एतहि ठहरैत छी।

विदूषकः चिरञ्जीवी होउ!

राजाः ठहरू! आओर बात अछि।

विदूषकः आज्ञा दिअ, महाराज!

राजाः विश्राम कऽ लेलाक बाद एकटा आओर सहज काजमे हमर सहायता करबाक अछि।

विदूषकः (लोभसँ) लड्डू-पूआ चखबाक?

राजाः की काज अछि, कहैत छी...

विदूषकः धीरे-धीरे कहूँ।*

राजाः के उपस्थित अछि?

(प्रवेश करैत) द्वारपालः स्वामी, आज्ञा!

राजाः रैवतक! सेनापतिकेँ तुरन्त बजाउ।

द्वारपालः जेना स्वामीक आज्ञा। (एतबा कहि प्रस्थान करैत अछि।)

सेनापति आ द्वारपाल प्रवेश करैत छथि।

सेनापतिः (राजा दिस देखैत) यद्यपि मृगया व्यसन मानल जाइत अछि, मुदा हमर स्वामीक लेल ई लाभदायक सिद्ध भेल अछि। कारण—

निरन्तर धनुषक डोरी लगलासँ देहक अगिला भाग काँच भऽ गेल अछि;
सूर्यक किरण सहैतहुँ पसेना नहि निकलैत;
देह दुबरायल अछि, मुदा मांसपेशीक पुष्टतासँ से देखाइत नहि;
ओ पहाड़मे विचरण करनिहार हाथी-जकाँ
प्रबल जीवनीशक्ति देखबैत छथि!

द्वारपालः स्वामी ओतय गप सुनैत, एहि दिस दृष्टि कऽ अहाँक प्रतीक्षा कऽ रहल छथि। आगाँ बढू, आर्य!

सेनापतिः (प्रणाम करैत लग अबैत) जय हो, जय हो, सेनानायक! वनक हिंसक पशु सभ घेरि लेल गेल अछि, वन विचरणक योग्य अछि।
आब प्रतीक्षा कोन बातक?

राजाः माधव्य मृगयाक निन्दा कऽ हमर उत्साह मन्द कऽ देलक अछि।

सेनापतिः (अपना मोनमे) माधव्य! अपन विरोधपर अटल रह! हम स्वामीक मनोभाव जाँचैत छी।* (जोर सँ) सेनानायक! ई मूर्ख अनर्गल
बजैत अछि। महाराज स्वयं मृगयाक गुणक प्रत्यक्ष प्रमाण छथि।

पातर कमर आ कसावदार देह

हलुक भऽ निर्भीक साहसक योग्य बनैत अछि;

भय आ क्रोधसँ जङ्गली पशुक स्वभावक परिवर्तन सेहो देखाइत अछि;

आ चलैत लक्ष्यपर बाण लगबैक जे उल्लास धनुर्धरकेँ भेटैत अछि—

मृगयाकेँ व्यसन कहि निन्दा करब सरासर मिथ्या अछि;

एहन मनोरञ्जन आओर कतयसँ भेटत?

विदूषक: (क्रोधक अभिनय करैत) महाराजक बुद्धि फेरि ठेकानपर आबि गेल। अहाँ झाड़ी-झाड़ी भटकैत रहू, जाबत अगुआ सियार जकाँ कोनो बूढ़ भालूक मुँहमे नहि जा पड़ू।

राजा: सेनापति! हम सभ आश्रमक निकट छी। अतः अहाँक बात हमरा प्रिय नहि लगल। आइ—

महिंसा सभ अपन सीङ्गसँ बेर-बेर हिलाओल पोखरिक पानिमे डुबकी लगाबय;

हरिणक झुण्ड छाहरिमे जुटि जुगाली करय;

बराहक मुखिया सभ निश्चिन्त भऽ पोखरिमे मोथा उखाड़य;

आ हमर ई धनुष डोरी ढील कएने विश्राम करय।

सेनापति: जेना महाबलीक इच्छा।

राजा: तँ वनरक्षक सभकेँ पाछाँ बजाउ। आदेश दिअ जे सैनिक सभ तपोवनसँ दूर रहय। देखू—

सामान्यतः शान्त तपस्वी सभक भीतर प्रज्वलित तेज नुका कऽ रहैत अछि;

स्पर्शमे सुखद सूर्यकान्त मणि जकाँ,

विरोधी तेजसँ आहत होइत ओ अग्नि छोड़ैत अछि।

सेनापति: जेना महाराजक आज्ञा।

विदूषक: आब चल, दासीक बेटा!

सेनापति प्रस्थान करैत छथि।

राजा: (अनुचर सभ दिस देखैत) मृगयाक वेश उतारू। रैवतक! अहूँ अपन स्थान खाली नहि छोड़ू।

अनुचर: जेना महाराजक आज्ञा। (अनुचर सभ प्रस्थान करैत अछि।)

विदूषक: धूप-धुआँ कएने बिना परजीवी सभकेँ भगा देलहुँ। आब आवास-वृक्षक छाहरिसँ घेरल एहि छत्रयुक्त आसनपर सुखसँ बैसू

जाहिसँ हमहूँ आराम कऽ सकी।

राजा: आगाँ चलू! (दुनू घुमैत छथि।)

दुनू बैसि जाइत छथि।

राजा: मित्र माधव्य! अहाँ आँखिक फल नहि पओलहुँ, कारण जे वास्तवमे देखबाक योग्य अछि, से नहि देखलहुँ!

विदूषक: अहाँ तँ हमर सोझाँहि छी नहि?

राजा: प्रत्येक व्यक्ति अपना केँ सुन्दर बुझैत अछि। हम आश्रमक आभूषण शकुन्तलाक बात कऽ रहल छी।

विदूषक: (अपना मोनमे) अहा! एकरा मौका नहि देब। (जोर सँ) जँ ओ वास्तवमे तपस्वीक पुत्री छथि आ विवाहक योग्य नहि, तँ देखलासँ की लाभ?

राजा: मूर्ख! दुष्यन्तक हृदय निषिद्ध वस्तुक इच्छा कऽ सकैत अछि?

विदूषक: तँ बात की अछि?

राजा:

कहल जाइत अछि जे मुनिक ई पुत्री ललितान्याद्वारा जन्मल,
फेर माताक त्यागलाक बाद अपनाओल गेलीह—
जेना अर्कक झाड़ीपर खसल
डारिसँ छुटल चमेलीक फूल।

विदूषक: महान मुनि काश्यपक स्वाभाविक पुत्री नहि छथि, तखनहुँ हुनका देखलासँ की लाभ?

राजा: मूर्खमणि!

चन्द्रमाक प्रथम कला देखबाक लेल
संसार निःपलक आँखिक पाँति उठा कऽ
कतेक काल विषादपूर्वक ताकैत रहैत अछि!
आ हमर जकाँ पुरुष लेल ओ,
समिधाक बीच खसल अगुरुक दहकैत टुकड़ा जकाँ,
सर्वथा अप्राप्य कोना भऽ सकैत छथि?

विदूषक: (हँसैत) हा! जेना मीठ खजूर खा-खा कऽ ऊबि गेल व्यक्ति खट्ट इमली चाहैत अछि, तहिना उत्कृष्ट स्त्री सभकेँ तिरस्कृत कऽ
अहाँकेँ ई लालसा लागल अछि।*

राजा: अहाँ हुनका देखने नहि छी, तँ एना बजैत छी।

विदूषक: जे अहाँकेँ सेहो चकित करय, से अवश्य अत्यन्त सुन्दर होएत!

राजा: मित्र! आओर की कहू?

की हुनकर चित्र बना कऽ तकरामे प्राण भरल गेल?
अथवा सभ मनोहर रूपकेँ एकत्र कऽ हुनकर कल्पना कएल गेल?
स्रष्टाक सामर्थ्यक विचार करैत
हुनकर देह हमरा स्त्रीरत्न लक्ष्मीक
दोसर सृष्टि-जकाँ लगैत अछि।

विदूषक: (आश्चर्यसँ) आब तँ सभ सुन्दरीक पद छिनि गेल!

राजा: आ ई बात हमर हृदयमे बसल अछि—

एहन फूल, जकर सुगन्ध केओ नहि सुँघलक;
एहन कोमल पात, जकरा नखसँ केओ नहि तोड़लक;
एहन रत्न, जे आभूषणमे नहि जड़ायल;
एहन नव मदिरा, जकर आस्वाद एखन धरि नहि लेल गेल।
पुण्यक पूर्ण फल-जकाँ एहि निष्कलङ्क रूपक
भोक्ता एहि पृथ्वीपर के होएत,
हम नहि जानैत छी।

विदूषक: तँ तुरन्त विवाह कऽ लिअ, नहि तँ इङ्गुदी तेलसँ चिक्कन माथबला कोनो गँवार तपस्वीक हाथ पड़ि जेतीह!

राजा: ओ पराधीन छथि, आ हुनकर अभिभावक अनुपस्थित छथि।

विदूषक: नीक, अहाँक प्रति हुनकर हृदयमे की भाव अछि?

राजा: मित्र! तपस्वीक पुत्री स्वभावतः लज्जाशील होइत छथि। तैयो—

हम सोझाँ भेलहुँ तँ ओ आँखि फेरि लेलनि;
मुस्कानकेँ आन कोनो कारणसँ उत्पन्न देखौलनि।
अतः मर्यादासँ रोकल हुनकर प्रेम
ने पूरा प्रकट भेल, ने पूर्णतया नुकेल।

विदूषकः (हँसैत) की अहाँकेँ देखिते हुनका अहाँक कोरामे चढ़ि जेबाक छल?

राजाः मित्र! जखन ओ अपन दुनू सखीक संग विदा भेलीह, तखन लज्जाशील रहितहुँ किछु सीमा धरि अपन भाव हमरा बुझा देलनि। कारण

—
किछुए डेग गेलाक बाद ओ कृशाङ्गी अचानक रुकि कहलनि—
‘हमर पएरमे कुशक अङ्कुर बिझि गेल!’
फेर गाछक डाढ़िमे वास्तवमे नहि फँसल वल्कलकेँ छोड़बैत
ओ अपन मुँह पाछाँ घुमौलनि।

विदूषकः नीक! यात्राक रसद तँ अहाँकेँ भेटि गेल। हमरा लगैत अछि तपोवनक एहन बहुत यात्रा होएत।

राजाः मित्र! आश्रमक भूमिमे फेर जेबाक कोनो बहाना सोचू।

विदूषकः सोचि रहल छी... अपन चिढ़निहार रिरियाहटसँ हमर चिन्तनमे बाधा नहि दिअ। (सोचैत) अहा! दोसर बहाना की? अहाँ राजा नहि छी?

राजाः तखन?

विदूषकः राजा उपजक छठम भाग माँगि सकैत छथि।

राजाः मूर्ख! ई तपस्वी अपन रक्षककेँ रत्नक ढेरीसँ बेसी मूल्यवान दोसर कर दैत छथि। देखू—

वर्ण सभसँ राजाकेँ भेटनिहार कर नाशवान अछि;
वनवासी तपस्वी अपन तपस्याक
अविनाशी छठम भाग अर्पित करैत छथि।

नेपथ्यमे: नीक भेल! हुनका खोजि लेलहुँ!

राजाः (सुनैत) अहा! एहन स्थिर आ शान्त स्वर—अवश्य तपस्वी सभ छथि।

द्वारपालः (प्रवेश करैत) जय हो, जय हो, स्वामी! ई दू युवा तपस्वी द्वारपर उपस्थित छथि।

राजाः बिना विलम्ब हुनका भीतर आनू।

द्वारपालः एखनहि अनैत छी। (प्रस्थान करैत अछि।)

दू तपस्वी आ द्वारपाल प्रवेश करैत छथि।

द्वारपालः एहि बाट, एहि बाट, आर्यगण।

तपस्वी सभः (राजाकेँ देखैत) अहा! राजसी तेज रहितहुँ हुनकर रूप कतेक विश्वास जगबैत अछि। मुदा ऋषितुल्य राजामे ई स्वाभाविके
अछि। कारण—

ओहो एखन ओहि जीवन-अवस्थामे छथि
जे समस्त लोकक कल्याण करैत अछि।
प्रजा-रक्षणक द्वारा ओहो
दिन-प्रतिदिन तपस्याक पुण्य सञ्चित करैत छथि;
आ आत्मसंयमी हुनकर पवित्र ‘ऋषि’ उपाधि सेहो

युगल बन्दीक गीतमे स्वर्ग धरि पहुँचैत अछि—

केवल ओकर आगाँ ‘राज’ शब्द जुड़ल अछि।

दोसर: गौतम! ई इन्द्रक मित्र दुष्यन्त छथि।

पहिल: तखन की?

दोसर: तैं तैं—

जकर बाँहि नगर-द्वारक अर्गला जकाँ दीर्घ अछि,

ओ असगरे कृष्ण समुद्रसँ घेरल समस्त पृथ्वीक भोग करैत छथि,

एहि मे आश्चर्य की?

कारण दानव सभक संग देवताक प्रचण्ड युद्धक विजय

हुनकर तानल धनुष आ इन्द्रक वज्रपर निर्भर रहैत अछि।

दुनू: (लग अबैत) महाराजक जय हो! (फल अर्पित करैत छथि।)

राजा: (आदरसँ उठैत) अहाँ दुनूकें प्रणाम करैत छी। (प्रणामपूर्वक आसन ग्रहण कऽ बैसैत छथि।) की आज्ञा अछि?

तपस्वी सभ: आश्रमवासी सभकें ज्ञात भेल जे महाराज एतय छथि। अतः ओ सभ महाराजसँ निवेदन करैत छथि।

राजा: हुनकर की आज्ञा अछि?

दुनू: पूज्य मुनि काश्यप अनुपस्थित छथि आ राक्षस सभ हमरा सभकें पीड़ित कऽ रहल अछि। अतः सारथिक संग किछु राति आश्रमक रक्षा करबाक कृपा करू।

राजा: ई हमर सम्मान अछि।

विदूषक: (धीरे सँ) स्वागतक हाथ आब अहाँक गला दबा रहल अछि।

राजा: रैवतक! हमर नामसँ सारथिकें आज्ञा दिअ—‘धनुष-बाण सहित रथ आनू!’

द्वारपाल: जेना स्वामीक आज्ञा। (प्रस्थान करैत अछि।)

तपस्वी सभ: (प्रसन्न भऽ)

पूर्वजक मार्गपर चलनिहार अहाँक लेल ई शोभनीय अछि;

पुरुवंशक सन्तान सभ सचमुच

पीड़ितक भय शान्त करबाक यत्नक लेल

दीक्षित भेल छथि।

राजा: आर्यगण, अहाँ सभ आगाँ चलू! हमहूँ तुरन्त पाछाँ अबैत छी।

तपस्वी सभ: जय हो! (उठि प्रस्थान करैत छथि।)

राजा: माधव्य! शकुन्तलाकें देखबाक जिज्ञासा अछि?

विदूषक: पहिने तँ जिज्ञासाक सीमा नहि छल। (डराइत) मुदा राक्षसक समाचार सुनि आब ओकर महत्त्व बुझि गेलहुँ; जिज्ञासा सन्देहमे पड़ि गेल अछि।

राजा: डेराउ नहि! अहाँ हमर लगहि रहब।

विदूषक: रथक पहिया-रक्षक बनब—अर्थात् ठाढ़-ठाढ़ मरबाक लक्ष्य!*

द्वारपाल: (प्रवेश करैत) स्वामी! तैयार रथ महाराजक विजयी प्रस्थानक प्रतीक्षा कऽ रहल अछि। मुदा नगरसँ महारानी माताक अनुचर करभक एतय आएल अछि।

राजा: (आदरसँ) की? माता पठौलनि?*

द्वारपाल: आब की आज्ञा?

राजा: ओकरा भीतर आनू!

द्वारपाल: जेना महाराजक आज्ञा। (प्रस्थान करैत अछि।)

करभक द्वारपालक संग प्रवेश करैत अछि।

करभक: (लग अबैत) जय हो! जय हो, महाराज! महारानी कहौने छथि—‘आगामी शुक्ल चतुर्थीक* पुत्र-जन्म सुनिश्चित करनिहार “पुंसवन” संस्कार होएत। एहि अवसरपर महाराजक उपस्थित रहब आवश्यक अछि।’

राजा: (व्याकुल) माधव्य! एक दिस तपस्वी सभक प्रति हमर कर्तव्य अछि, दोसर दिस पूज्या माताक आज्ञा। दुनूमे सँ कोनो एकर उल्लङ्घन नहि कऽ सकैत छी। एहि स्थितिमे की करू?

विदूषक: त्रिशङ्कु जकाँ बीचहिमे लटकल रहू।*

राजा: सचमुच हम दुविधामे पड़ि गेलहुँ।

दुनू कर्तव्य अलग-अलग स्थानमे पूरा करबाक अछि,
तैं हमर मन दू भागमे बँटि गेल अछि—
जेना बाटमे पाथर पड़लासँ
नदीक धारा दू शाखामे विभक्त भऽ जाइत अछि।

(व्याकुल भऽ सोचैत) मित्र माधव्य! माता अहाँक पुत्र-जकाँ स्नेह दैत छथि। अतः कृपा कऽ एतयसँ घुरि जाउ आ पुत्रक कर्तव्य हमर स्थानपर पूरा करू। हुनका कहबनि जे तपस्वी सभक काजें हम एतय रोकल गेल छी।

विदूषक: (अकड़ि कऽ) ओह, बुझि गेलहुँ! अहाँ सोचैत छी जे हम एहि राक्षस सभसँ डराइत छी।

राजा: (मुस्कराइत) महाब्राह्मण! अहाँक विषयमे ई कल्पनो नहि कएल जा सकैत अछि।

विदूषक: तखन राजाक स्नेहवश हमरा जेबाक अछि तँ जाएब।

राजा: तपोवनमे बाधा नहि पड़य, एहि लेल पूरा सेना-दल अहाँक संग पठा देब।

विदूषक: (फूलि कऽ) आब हम युवराज भऽ गेलहुँ।

राजा: (अपना मोनमे) ई बड़ बातूनी अछि। महलक अन्तःपुरमे रानी सभक आगाँ हमर प्रेमक भेद खोलि देत। नीक, एकरा ई कहैत छी...
(जोर सँ, विदूषकक हाथ पकड़ैत) मित्र! हम ऋषि सभक सम्मानवश आश्रम जा रहल छी। तपस्वीक पुत्रीक प्रति हमर स्नेहमे कोनो गम्भीरता नहि। देखू—

एक दिस हम सभ,

आ दोसर दिस हरिणशावक सभक संग पलल,

प्रेमसँ अपरिचित ओ कन्या।

मित्र, परिहासमे गढ़ल बातकें

सत्यक घोषणा नहि बुझू!

विदूषक: हँ-हँ, निश्चय!

सभ प्रस्थान करैत छथि।

महाकवि कालिदास-रचित

‘शकुन्तला’ नामक नाटकक

द्वितीय अङ्क समाप्त।

यज्ञ-पुरोहितक शिष्य प्रवेश करैत अछि।

शिष्यः (कुश लेने) अहा! दुष्यन्तक सामर्थ्य कतेक महान अछि! महाराज सारथिक संग आश्रमक भूमिमे प्रवेश कएलनि मात्र, राक्षसक उपद्रव दूर भऽ गेल आ हमर अनुष्ठान निर्विघ्न सम्पन्न भऽ रहल अछि।

बाण चढ़ेबाक आवश्यकता की?

दूरहिसँ धनुषक डोरीक टङ्कार द्वारा,

मानो धनुषक धमकीपूर्ण गर्जनसँ,

ओ उपद्रवी सभकेँ भगा दैत छथि।

ई कुश पुरोहित सभक लग लऽ जाएब, जाहिसँ ओ वेदीपर बिछा सकथि। (आगाँ बढ़ैत, नेपथ्य दिस) प्रियंवदा! उशीरक लेप आ कमल-पातक रेशासँ लपेटल पत्ता केकर लेल लऽ जा रहल छह? (सुनबाक अभिनय करैत) की कहलह? ‘शकुन्तला लू लगलासँ अत्यन्त अस्वस्थ छथि; हुनकर ताप शान्त करबाक लेल।’ अहा! अपन सखीक सावधानीसँ सेवा कर; ओ हमर कुलपतिक प्राण छथि। हमहूँ गौतमीक हाथें तुरन्त मन्त्रपूत शीतल जल पठबैत छी। (प्रस्थान करैत अछि।)

प्रवेशक समाप्ति।

प्रेमासक्त राजा प्रवेश करैत छथि।

राजा: (विचारमग्न)

हम तपस्याक शक्ति जानैत छी,

आ ईहो बुझैत छी जे कन्या पराधीन छथि;

तैयो अपन हृदयकेँ हुनकासँ फेरि नहि पबैत छी।

(उदास) हे कामदेव! ई सभ जानितहुँ अहाँ हमरा पर दया नहि करैत छी। फूलकेँ शस्त्र बनबैतहुँ एतेक कठोर कोना छी? (सोचैत) हँ, बुझि गेलहुँ—

अवश्य एखनो शिवक क्रोधाग्नि

समुद्रक भीतर बड़वानल जकाँ

अहाँक भीतर सुलगि रहल अछि;

नहि तँ हे मन-मथनकर्ता,

राख भऽ गेलहुँ अहाँ

हमर जकाँ लोकपर एतेक उग्र कोना होइतहुँ?

(रोषसँ) हे पुष्पधन्वा! अहाँ आ चन्द्रमा—जिनका विश्वसनीय होएबाक चाही—प्रेमी सभक यात्रादलपर आक्रमण किएक करैत छी?

अहाँक बाण फूलक अछि

आ चन्द्रमाक किरण शीतल—

हमर जकाँ प्रेमीक लेल ई दुनू बात स्पष्टतः मिथ्या अछि;

चन्द्रमा अपन हिम-जकाँ किरणसँ आगि बरसैत अछि,

आ अहाँ पुष्पबाणकेँ वज्र-जकाँ कठोर बना दैत छी!

(उदास) पुरोहित सभक अनुष्ठान पूरा भऽ गेल। आब किछु अवकाश भेटल अछि तँ थाकल मनकेँ कतय विश्राम दी? (दीर्घ श्वास लैत) प्रियाक दर्शन छोड़ि हमर आओर आश्रय की? हुनका खोजय पड़त। (सूर्य दिस देखैत) एहि प्रचण्ड दुपहरियामे ओ सखी सभक संग मालिनी नदीक

ओहि तटपर रहैत छथि, जे लता-मण्डपसँ घेरल अछि। हम ओतहि जाइत छी। (आगाँ बढ़ैत, पवनक सुखद स्पर्शक अभिनय करैत) अहा! शीतल समीरसँ ई स्थान कतेक सुखद अछि।

कामसँ शिथिल अपन अङ्गसँ
मालिनीक लहरिक छोट लेने,
कमलक सुगन्धबला एहि पवनकै
हम मानो गाढ़ आलिङ्गन कऽ सकैत छी।

(धुमैत आ देखैत) शकुन्तला अवश्य नरकटसँ घेरल एहि झाड़ी-मण्डपमे छथि। कारण— (नीचाँ देखैत)

एकर प्रवेश-द्वारक उज्जर बालूपर
नव पएरक चिह्नक पाँति देखाइत अछि;
अगिला भाग हलुक,
आ नितम्बक भारसँ पछिला भाग गहिर दबायल अछि।

डाढ़िक बीचसँ झाँकि देखैत छी। (ओहिना करैत, प्रसन्न भऽ) अहा! हमर आँखिकें भिक्षा भेटि गेल। हमर प्रिय, हमर प्रेमक आधार, फूल बिछाओल पाथरक पट्टपर दुनू सखीक संग पड़ल छथि। नीक। लताक ओटमे नुका कऽ हुनकर एकान्त बातचीत सुनैत छी। (देखैत रहैत छथि।)

तखन वर्णित दशामे शकुन्तला आ हुनकर दुनू सखी प्रवेश करैत छथि।

सखी सभ: (स्नेहसँ पङ्खा झलैत) प्रिय शकुन्तला! कमल-पातक पवनसँ किछु आराम भेटैत अछि?

शकुन्तला: (पीड़ाक अभिनय करैत) की? सखी सभ हमरा पङ्खा झलि रहल अछि?

दुनू दुःखसँ एक-दोसराक मुँह दिस देखैत छथि।

शकुन्तला: (उदास दीर्घ श्वास लैत छथि।)

राजा: आर्या अत्यन्त अस्वस्थ छथि। (सोचैत) ई लू लगबाक लक्षण अछि, अथवा हमर सन्देह सही अछि? (लालसासँ) आब सन्देह छोड़ू!

उशीरक लेप लागल स्तन,
ढील लटकल कमल-रेशाक एकमात्र कङ्कण—
पीड़ित रहितहुँ हमर प्रियाक ई रूप मनोहर अछि।
मानल जे प्रेमसँ उत्पन्न ताप
आ ग्रीष्मक ताप एकरूप देखाइत अछि,
मुदा ग्रीष्म युवा स्त्रीक देहपर
एहन सुन्दर पीड़ा नहि रचि सकैत अछि।

अनसूया: प्रिय शकुन्तला! प्रेमक व्यवहारसँ हम सभ अपरिचित भऽ सकैत छी, तैयो इतिहास-कथामे वर्णित प्रेमिकाक दशासँ अहाँक दशा मेल खाइत देखैत छी। कृपा कऽ अपन रोगक कारण कहू। रोगक मूल निश्चित रूपेँ बुझने बिना उपचार नहि भेटैत अछि।

राजा: अनसूयाकें सेहो हमरहि सन्देह अछि!

शकुन्तला: (अपना मोनमे) हमर उत्कण्ठा अत्यन्त तीव्र अछि; एना सहजहि एकरा रोकि नहि सकैत छी।

प्रियंवदा: प्रिय शकुन्तला! अनसूया ठीक कहैत अछि। अपन दुःख किएक नुकबैत छी? दिन-प्रतिदिन अहाँक देह क्षीण भऽ रहल अछि; केवल सौन्दर्यक आभा शेष अछि।

राजा: प्रियंवदा सत्य कहैत अछि। कारण, हुनकर—

गाल धँसि गेल अछि,
स्तनक कठोरता घटि गेल अछि,

कमर पातर भऽ गेल अछि,
काँध शिथिल लटकैत अछि, देहक रङ्ग फीका पड़ि गेल अछि;
प्रेमसँ पीड़ित ओ
करुणो आ सुन्दरो देखाइत छथि—
मानो पात सुखेबला पवनसँ छुआएल
माधवी-लता।

शकुन्तला: अहाँ दुनू छोड़ि ई बात हम केकरा कहब? मुदा कहला सँ आब अहाँ सभकेँ सेहो दुःख देब।

दुनू: तँ तँ हम सभ एतेक आग्रह करैत छी; बाँटल दुःख सहन योग्य भऽ जाइत अछि।

राजा:

सुख-दुःखक सहभागी सखी पूछैत अछि,
तँ ई कन्या अपन गुप्त दुःखक कारण
बिना कहने नहि रहि सकैत अछि।
ओ बेर-बेर घुरि सङ्केतपूर्ण दृष्टिसँ हमरा देखलनि,*
तैयो आब हुनकर उत्तर सुनय
हमर हृदय काँपि रहल अछि।

शकुन्तला: (लजाइत) जखनसँ तपोवनक रक्षक ओ राजर्षि हमर दृष्टिपथमे आएल छथि, तखने सँ हुनकर प्रेममे पड़ि हमर ई दशा भऽ गेल अछि।

राजा: (प्रसन्न भऽ) जे सुनय चाहैत छलहुँ, से सुनि लेलहुँ!

प्रेमहि तापक मूल अछि,
आ प्रेमहि हमरा लेल एकरा शान्त करय आएल अछि—
जेना ग्रीष्मक अन्तमे मेघाच्छन्न दिन
संसारक ताप शान्त करैत अछि।

शकुन्तला: आब जँ अहाँ सभकेँ उचित लगय तँ कहू, ओ राजर्षि हमरा पर दया करथि, तकर लेल की करू? नहि तँ एखनहि हमर अन्त्येष्टि लेल जलाज्जलि दिअ।

राजा: हमर सन्देह काटि देनिहार ई वचन प्रेमक फल अछि; प्रयासक फल आओर अछि।

प्रियंवदा: (धीरे सँ) अनसूया! एकर प्रेम-रोग बहुत बढ़ि गेल अछि; आब विलम्ब सहन नहि करत। जाहिपर ई हृदय धरने अछि, ओ साधारण नहि, पौरववंशक सन्तान छथि। हमरा सभकेँ जल्दी हुनकर प्रेम प्राप्त करबाक उपाय करबाक चाही।

अनसूया: (धीरे सँ) ठीक कहैत छह! (जोर सँ) सखी! सौभाग्यसँ अहाँक इच्छा योग्य ठाम लागल अछि। महान नदी समुद्र छोड़ि आओर कतय बहत?

प्रियंवदा: आम-वृक्षकेँ अतिमुक्ता-लताक संग फूलल देखबाक इच्छा के नहि करत?

राजा: विशाखा नक्षत्रक दुनू उज्ज्वल तारा चन्द्रकलाक पाछाँ चलथ, ताहिमे आश्चर्य की? हम अहाँ सभक ऋणी छी।

अनसूया: आब कोन उपायसँ सखीक इच्छा गुप्त रूपेँ आ बिना विलम्ब पूरा कएल जाए?

प्रियंवदा: 'गुप्त रूपेँ पूरा करब' किछु प्रयास माँगैत अछि; 'शीघ्र पूरा करब' कठिन नहि।

अनसूया: से कोना?

प्रियंवदा: कोमल दृष्टिसँ हुनकर प्रति अपन इच्छा प्रकट करनिहार ओ राजर्षि सेहो एहि दिन सभ अनिन्ना रहि-रहि क्षीण भेल जा रहल छथि।

राजा: ई सत्य अछि; हम सचमुच एहनहि छी। कारण—

राति-राति आँखिक कोनसँ बहैत,
भीतरक तापसँ गरम नोर
बाँहपर पड़ि एहि सोनाक कङ्कणक रत्नक रङ्ग फीका कऽ दैत अछि;
धनुषक डोरीक चोटसँ बनल चिह्नकें छुओने बिना
ई बेर-बेर कलाईसँ खसि जाइत अछि,
आ हमरा एकरा बेर-बेर ऊपर चढ़ेबय पड़ैत अछि।

प्रियंवदा: (सोचैत) अनसूया! आब प्रेमपत्र लिखब आवश्यक अछि। पूजा-पश्चात् बचल फूल कहि फूलक बीच नुका कऽ हम एकरा राजाक हाथमे पहुँचा देब।

अनसूया: ई सूक्ष्म उपाय हमरा नीक लगल। शकुन्तलाक की विचार अछि?

शकुन्तला: (लजाइत) आज्ञापर प्रश्न कएल जाइत अछि?

प्रियंवदा: (शकुन्तलासँ) तँ अपन उल्लेखसँ आरम्भ होएबला कोनो सुन्दर पद रचू।

शकुन्तला: सोचि रहल छी, मुदा अस्वीकृत होएबाक भयें हृदय काँपि रहल अछि।

राजा: (प्रसन्न भऽ)

हे भीरु कन्या, जकर अस्वीकृतिसँ तूँ डराइत छह,
ओ तोहर संग प्रेम करबाक उत्कण्ठामे एतहि ठाढ़ अछि!
याचककें सौभाग्य भेटय अथवा नहि भेटय,
मुदा सौभाग्य स्वयं जाहि वस्तुकें चाहय,
ओकरा पाबयमे कठिनाई कोना होएत?

सखी सभ: हे अपन गुणकें छोट बुझनिहारि! शरत्कालीन चन्द्रिकाकें छातासँ के रोकय चाहत?

शकुन्तला: (मुस्कराइत) कहलाप्रमाणें करैत छी। (बैसल-बैसल सोचैत छथि।)

राजा: उचितहि हमर पलक झपकब बिसरल आँखि प्रियाकें एकटक देखैत अछि, कारण—

कविता रचैत हुनकर एक भौंह उठल अछि,
आ रोमाञ्चित गाल
हमर प्रति हुनकर प्रेम प्रकट कऽ रहल अछि।

शकुन्तला: सखी! पद सूझि गेल, मुदा लिखबाक सामग्री नहि अछि।

प्रियंवदा: एहि सुग्गाक पेट जकाँ कोमल कमल-पातपर नखसँ अक्षर खोदि नहि सकैत छी? तखन हम सभ अहाँक पदक परीक्षा करब।

शकुन्तला: (ओहिना करैत) तँ सुनू, अर्थ ठीक अछि वा नहि।

दुनू: हम सभ तैयार छी।

शकुन्तला: (पढ़ैत छथि)

हे कठोर हृदय,
अहाँक मोन हम नहि जानैत छी;
मुदा अहाँक लालसामे पड़ल हमर अङ्गकें
कामदेव दिन-राति दुःखपूर्वक जरा रहल छथि।

राजा: (प्रसन्न भऽ लग अबैत)

हे कृशाङ्गी, कामदेव अहाँकेँ निरन्तर तपबैत होथि,
मुदा हमरा ओ भस्म कऽ रहल छथि;
दिन कुमुदिनी-पोखरिक एतेक अनर्थ नहि करैत अछि,
जतेक चन्द्रमाक करैत अछि।

सखी सभ: (राजाकेँ देखि प्रसन्न भऽ उठैत छथि) केवल मोनमे सोचिते बिना विलम्ब पूरा भेल एहि इच्छाक स्वागत करैत छी। (शकुन्तला उठय चाहैत छथि।)

शकुन्तला: (अपना मोनमे, व्याकुल) हे हृदय! एना धड़किते रहबह तँ कोनो काज नहि बनत। (उठबाक प्रयास करैत छथि।)

राजा: अपना केँ कष्ट नहि दिअ!

फूलक शय्यापर सटल,
शीघ्र मुरझायल कमल-रेशाक माला पहिरल,
तीव्र तापसँ पीड़ित अहाँक अङ्गकेँ
मर्यादाक पालन करबाक आवश्यकता नहि।

अनसूया: हमर सखी एहि शिलापट्टक एहि भागकेँ सुशोभित करथि।

राजा: (बैसैत) प्रियंवदा! आशा अछि अहाँक सखी देहक एहि तापसँ अत्यन्त पीड़ित नहि छथि।

प्रियंवदा: (सखीक संग बैसैत) आब उपचार भेटि गेल अछि, तँ समयपर ताप उतरि जाएत।

अनसूया: (धीरे सँ) प्रियंवदा! 'समयपर' सँ की अभिप्राय? देख! मेघक गर्जन सुनिते जेना मोरनीमे एकाएक प्राण आबि जाय, तहिना हमर सखी हुनका दिस एकटक देखैत अछि।

शकुन्तला: (लजायल रहैत छथि।)

प्रियंवदा: अनुगृहीत आर्य! अहाँ दुनूक परस्पर प्रेम स्पष्ट अछि, मुदा सखीक प्रति स्नेहवश हम स्पष्ट बातो कहय चाहैत छी।

राजा: कहू। मोनक बात नहि कहला सँ पछतावा होइत अछि।

प्रियंवदा: तँ महाराज ध्यानसँ सुनथि।

राजा: सुनि रहल छी।

प्रियंवदा: अहाँक कारण कामदेव हमर एहि सखीकेँ एहन दशामे पहुँचा देलनि। अतः कृपा कऽ हुनकर प्राणक रक्षा करू।

राजा: ई हमर सम्मान होएत।

शकुन्तला: (मुस्कुराइत) सखी! अन्तःपुरमे आनन्द करबाक लेल व्याकुल राजर्षिकेँ कष्ट देब बन्द कर।

राजा: सुन्दरी!

मदिरा जकाँ मादक आँखिबाली,
हमर हृदयमे आश्रय लेनेबाली अहाँ,
जँ केवल अपनेमे अनुरक्त हमर एहि हृदयकेँ
आन रूपक बुझैत छी,
तँ कामदेवक बाणसँ पहिनेसँ घायल हमरा
फेर घायल करैत छी।

अनसूया: सखी! सुनैत छी राजाक अनेक पत्नी होइत छथि। एना आचरण करू जे हमर सखी अपन कुलक लोकक दयाक पात्र नहि बनय।

राजा: सुन्दरी!

हम अनेक विवाह करी,

तैयो हमर वंशक आधार दूए गोटे होएतीह—

धर्मसँ प्रकट राजलक्ष्मी,

आ अहाँक ई सखी।

दुनू: हम सभ कृतार्थ भेलहुँ।

शकुन्तला: सखी सभ! एकान्तमे शिष्टताक सीमा लाँघि जे-जे गप कहि देलहुँ, तकर लेल जगत्पालकसँ क्षमा माँगू।

सखी सभ: क्षमा ओहि व्यक्तिसँ माँगल जाइत अछि जकर सोझाँ गप कहल गेल हो। दोसर के रुष्ट होएत? पाछाँ लोक की-की नहि कहैत अछि!

राजा: (मुस्कुराइत)

हे सुन्दर जाँघबाली,

अहाँक अङ्गसँ आध खाली भेल एहि फूलक शय्यापर

मित्रक रूपमे हमरा लेल किछु स्थान दऽ दिअ,

तँ हम एहि अपराधकेँ सहि सकैत छी।*

प्रियंवदा: की एतबे सँ अहाँ सन्तुष्ट भऽ जाएब?

शकुन्तला: (रुष्ट जकाँ) बस कर, हे ढीठि! हमर एहन दुःखक दशामे सेहो परिहास करैत छह।

अनसूया: (बाहर देखैत) प्रियंवदा! ई व्याकुल हरिणशावक चारू दिस तकैत अछि। अवश्य अपन बिछुड़ल मायकेँ खोजि रहल अछि। हम ओकरा मायक लग पहुँचा दैत छी। (एतबा कहि उठैत छथि।)

प्रियंवदा: अरे, ई तँ बहुत चञ्चल अछि! एकसरि पकड़ि नहि सकबह। हम सहायता करैत छी। (दुनू चलि पड़ैत छथि।)

शकुन्तला: सखी सभ! अहाँ दुनूमे सँ केवल एक गोटे जाउ! नहि तँ हम असहाय भऽ जाएब।

दुनू: (मुस्कुराइत) जगतक आश्रय अहाँक संग छथि। (एतबा कहि प्रस्थान करैत छथि।)

शकुन्तला: की, दुनू सचमुच चलि गेल?

राजा: घबड़ाउ नहि। अहाँक अनुग्रह पाबय चाहनिहार हम की सखी सभक स्थान नहि लऽ लेने छी?

की शीतल कमल-पातक पङ्खासँ

आर्द्र पवन चला कऽ अहाँक थाकनि दूर करी?

अथवा, हे सुन्दर जाँघबाली,

कमल जकाँ लाल अहाँक पएर अपन कोरामे राखि

दबाइ कऽ आराम दी?

शकुन्तला: जकर सम्मान करबाक चाही, ओकर अनादर अपना सँ नहि होअय देब। (अपन दशाक अनुरूप उठि चलि पड़ैत छथि।)

राजा: (रोकैत) सुन्दरी! दिन एखन समाप्त नहि भेल अछि; अपन दशा सेहो देखू।

एहि एकान्त मण्डपक फूलक शय्या छोड़ि,

केराक पातक कवचसँ वक्ष ढाकने,

एतेक कोमल आ फीका पड़ल अङ्ग लेने

अहाँ एहि गरमीमे बाहर जेबाक साहस कोना करैत छी?

शकुन्तला: हमर एकमात्र आश्रय सखी सभ छथि। रक्षा लेल आओर केकरा लग जाउ?

राजा: आब हम लज्जित छी।

शकुन्तला: हम राजाकेँ दोष नहि दैत छी, * भाग्यकेँ दैत छी।

राजा: जे भाग्य अहाँक एतेक पक्षमे अछि, ओकरा दोष किएक दैत छी?

शकुन्तला: जे अपना अधीन नहि रहनिहार हमरा दोसरक गुण देखा कऽ उपहास करैत अछि, ओकरा दोष किएक नहि दी?

राजा: (अपना मोनमे)

कुमारी सभक भीतर गहन लालसा रहितहुँ
ओ प्रेमीक प्रयास विफल करैत छथि;
मिलनक सुख चाहितहुँ
देह समर्पित करबासँ डराइत छथि।
प्रेमकेँ पएर जमेलाक बाद एतेक कष्ट नहि होइत अछि,
जतेक ई सभ समय नष्ट कऽ प्रेमकेँ कष्ट दैत छथि।

शकुन्तला जेबाक लेल उद्यत छथि।

राजा: (अपना मोनमे) अपन इच्छा किएक नहि पूरा करू? (उठि, लग जा कऽ हुनकर वस्त्रक छोर पकड़ैत छथि।)

शकुन्तला: पौरव! हमरा छोड़ू!

राजा: आर्ये, छोड़ि देब।

शकुन्तला: कखन?

राजा: अहाँक संग प्रेम-सुख प्राप्त कएलाक बाद।

शकुन्तला: प्रेमसँ विवश भेलहुँ पुत्री अपने अधीन नहि होइत अछि। तकर ऊपर सखी सभक अनुमति सेहो लेबाक अछि।

राजा: (क्षणभरि बैसैत) तँ अहाँकेँ छोड़ैत छी।

शकुन्तला: (क्रोधक अभिनय करैत) पौरव! मर्यादा राखू! एतयसँ ऋषि-मुनि अबैत-जाइत छथि।

राजा: (चारू दिस देखैत) की? हम खुलल स्थानमे आबि गेलहुँ? (चौंकि कऽ शकुन्तलाकेँ छोड़ि पाछाँ हटैत छथि।)

शकुन्तला: (किछु लग अबैत, देह झुकौने) पौरव! हम अहाँक इच्छा पूर्ण नहि कऽ केवल दर्शनक सुख दऽ रहल छी, तैयो हमरा बिसरि नहि जाएब।

राजा: हे सुन्दरी!

अहाँ बहुत दूर चलि जाइतहुँ
हमर हृदय नहि छोड़ैत छी;
जेना दिनक अन्तमे गाछक छाया
अपन पूब दिसक जड़ि नहि छोड़ैत अछि।

शकुन्तला: (किछु दूर जा कऽ) हाय! हमर पएर आगाँ लऽ जेबाक शक्ति नहि राखैत अछि। एहि कुरबक-झाड़ीक ओटमे आर्यसँ नुका कऽ लता-मण्डपक पाछाँसँ देखब जे हुनकर प्रेमक दशा की होइत अछि। (ओहिना करैत छथि।)

राजा: हे प्रिये! अहाँक प्रेमहि जकर एकमात्र सुख अछि, एहन हमरा छोड़ि उदासीन भऽ चलि गेलहुँ।

अत्यन्त कोमल, कठोरतासँ भोगबाक अयोग्य अहाँक देहक भीतरक हृदय
की शिरीष-पुष्पक फलकोष जकाँ कठोर भऽ सकैत अछि?*

शकुन्तला: ई सुनि हमरा जेबाक शक्ति नहि रहल।

राजा: प्रियाहीन एहि निर्जन स्थानसँ की प्रयोजन? हम चलैत छी। (चलि पड़ैत, भूमि दिस देखैत) अहा! हमर प्रस्थान रुकि गेल।

उशीर-सुगन्धित, हुनकर कलाईसँ खसल
ई कमल-रेशाक कङ्कण हमर सोझाँ अछि—

मानो हमर हृदयकेँ बाँधनिहार शृङ्खला हो।

(आदरसेँ उठा लैत छथि।)

शकुन्तला: (अपन हाथ देखैत) हाय! दुबरायलासेँ ढील भऽ हमर रेशमी कङ्कण खसि गेल, हम ध्यानो नहि देलहुँ।

राजा: (कङ्कण छातीपर रखैत) अहा! एकर स्पर्श कतेक शीतल अछि।

हे प्रिये, अहाँक पूज्य बाँहिसँ खसि

एतय रहि गेल एहि खेलौना-आभूषणसँ

ई अभागल सान्त्वना पओलक—

यद्यपि ई निर्जीव अछि,

आ अहाँ स्वयं सान्त्वना नहि देलहुँ।

शकुन्तला: आब अपना केँ आओर रोकि नहि पबैत छी! देखी। एहि बहानहि हुनका लग जाइत छी। (एतबा कहि लग अबैत छथि।)

राजा: (हुनका देखि प्रसन्न भऽ) अहा! हमर जीवनक स्वामिनी घुरि एलीह। हमर विलाप सुनि भाग्य हमरा पर कृपा कएलक।

जे विरले किछु माँगैत अछि,

ओकर सूखल कण्ठक प्रार्थनापर

नव बनल मेघक वर्षा

ओकर मुँहपर झमाझम बरसि पड़ल।

शकुन्तला: (राजाक सोझाँ) जल्दी करू! आध बाट गेलाक बाद मोन पड़ल जे ई रेशाक कङ्कण हमर हाथसँ खसि गेल अछि, तँ घुरि आएल छी। हमर हृदय मानो कहि रहल छल जे अहाँ एकरा उठा लेने छी। अतः फेर दऽ दिअ, जाहिसँ तपस्वी सभक आगाँ अपने आ हमरा दुनूक भेद नहि खुजय।

राजा: एकटा शर्तपर देब, अन्यथा नहि।

शकुन्तला: की शर्त?

राजा: एकरा अपन स्थानपर हमही बान्ही।

शकुन्तला: (अपना मोनमे) आब एतयसँ कोना बची!

राजा: एहि शिलापट्टक लग चली। (दुनू चलि बैसि जाइत छथि।)

राजा: (शकुन्तलाक हाथ पकड़ि, अपना मोनमे)

की ई काम-वृक्षक ओ कोँपल अछि,

जे शिवक क्रोधाग्निसँ जरि गेल छल

आ अकस्मात् अमृत-वर्षासँ फेर जीवित भऽ उठल?

शकुन्तला: (आनन्दसँ रोमाञ्चित होएबाक अभिनय करैत) जल्दी करू, आर्यपुत्र!

राजा: (अपना मोनमे) पति लेल प्रयुक्त एहि सम्बोधनसँ आब हमरा विश्वास भऽ गेल। (जोर सँ) सुन्दरी! एहि कमल-रेशाक कङ्कणक गाँठि बहुत सुरक्षित नहि अछि। अहाँ चाही तँ दोसर ढङ्गसँ बान्हि दी।

शकुन्तला: (हँसैत) विलम्ब करबाक कला अहाँ नीक जनैत छी। जेना अहाँक इच्छा।

राजा: (जानि-बूझि विलम्ब करैत; बान्हि, फेर हुनका पकड़ि लैत) हे सुन्दरी, एकरा देखू!

श्यामल लता-जकाँ मनोहर अहाँक ई बाँहि

मानो नवचन्द्रसँ सुशोभित अछि;

ओ नवचन्द्र रेशाक कङ्कणक रूप लेने,

अहाँक हाथक अधिक सौन्दर्यक कारण आकाश छोड़ि,
 दुनू छोरसँ जुड़ि एतय आबि गेल अछि।

शकुन्तला: हम ठीकसँ देखिये नहि पबैत छी। पवनसँ हिलल कानक कमल-पुष्पक पराग आँखिमे पड़ि गेल अछि।

राजा: (मुस्कराइत) अनुमति दिअ तँ फूँक मारि एकरा हटा दी।

शकुन्तला: तखन हम दयनीय भऽ जाएब। आ, अहाँपर विश्वासो नहि अछि!

राजा: एना नहि कहू! नव सेवक अपन सेव्यक आज्ञाक सीमा नहि लाँघैत अछि।

शकुन्तला: अहाँक अत्यधिक सेवाभावहि हमरा अविश्वास करबैत अछि।

राजा: सेवा करबाक ई सुन्दर अवसर हाथसँ नहि जाए देब। (हुनकर मुँह ऊपर उठाबय लगैत छथि।)

शकुन्तला: (विरोधक अभिनय करैत, फेर स्थिर भऽ जाइत छथि।)

राजा: हाय! आँखिमे नोर भरल अछि! हमरा सँ अनुचित आचरणक भय नहि करू। मुँह ऊपर करू!

शकुन्तला: (आध दृष्टिसँ हुनका देखैत छथि।)

राजा: (दू अङ्गुलीसँ हुनकर मुँह ऊपर उठबैत, अपना मोनमे)

कहियो दाँतसँ नहि काटलासँ कोमल
 हमर प्रियाक ठोर
 आकर्षक कम्पनसँ मानो
 ओकर रसक पियासल हमरा निमन्त्रण दऽ रहल अछि।

शकुन्तला: आर्यपुत्र अपन वचन पूरा करबामे सङ्कोच कऽ रहल छथि।

राजा: सुन्दरी, कानक कमल-पुष्प आँखिक एतेक लग अछि जे दुनूक समानतासँ हम भ्रमित भऽ गेलहुँ। (हुनकर आँखिपर फूँक मारैत छथि।)

शकुन्तला: बस, पर्याप्त! आब नीक लगैत अछि। मुदा हमरा लज्जा होइत अछि जे

एतेक कृपा करनिहार आर्यपुत्रक हम कोनो सेवा नहि कऽ पबैत छी।

राजा: हमरा आओर की चाही?

हे कन्या, अहाँक सुगन्धित मुँहक गन्ध लेब सेहो अनुग्रह अछि;
 ... (मुस्कराइत) मुदा भौंरा केवल कमलक सुगन्धसँ सन्तुष्ट नहि होइत अछि।

शकुन्तला: जँ सन्तुष्ट नहि, तँ की करब?

राजा: ई! (ओही क्षण रुकि जाइत छथि।)

नेपथ्यमे: आर्या गौतमी!

शकुन्तला: (सुनि घबड़ाइत) पौरव! पिताक धर्मभगिनी हमर हाल देखय आबि रहल छथि। झाड़ीक बीच नुका जाउ!

राजा: (ओहिना करैत छथि।)

हाथमे पात्र लेने गौतमी प्रवेश करैत छथि।

गौतमी: (लग अबैत) अरे लज्जाहीनि! एतय केवल भगवानकें सङ्गी बना कऽ पड़ल छह।

शकुन्तला: एखनहि प्रियंवदा आ अनसूया मालिनी नदी दिस उतरि गेलीह।

गौतमी: (कुशोदकसँ शकुन्तलापर छींट दैत) पुत्री, स्वस्थ रहि चिरञ्जीवी हो! अङ्गक ताप किछु कम भेल?

शकुन्तला: आब नीक लगैत अछि।

गौतमी: पुत्री, दिन समाप्त भऽ रहल अछि। चल,

कुटीमे चली।

शकुन्तला: (अपना मोनमे) हे हृदय, जखन तोरा ओ व्यक्ति भेटल—

जे इच्छा जकाँ दुर्लभ छथि—तखन तौ हुनका एतेक काल प्रतीक्षा करौलह;

आब पश्चात्तापसँ किएक पीड़ित होइत छह?

(किछु डेग चलि, घुरि, जोरसँ) हे लता-मण्डप! हम

फेर अहाँक सुख भोगबाक अवसर भेटबा धरि अहाँसँ विदा लैत छी! (ई कहि

दूनू बाहर जाइत छथि।)

राजा: (पहिल स्थानपर घुरि, दीर्घ निःश्वास लैत) अहा! इच्छाक

सिद्धि कठिनाइ सभसँ घेरल अछि। कारण—

लम्बा पलकबाली कन्याक मुँह,

निचला ठोरकेँ बेर-बेर अङ्गुरीसँ ढाकैत,

अस्वीकृतिक अक्षर हकलाइत कहैत,

काँध दिस घुमाओल छल;

हम कोनो प्रकारेँ ओकरा ऊपर तँ उठौलहुँ—

मुदा चुमि नहि पओलहुँ।

आब कतय जाउ? नहि, एतहि रहबाक चाही—

प्रियाद्वारा उपभोग कएल गेल एहि त्यागल लता-मण्डपमे।

(चारू दिस देखैत।)

एहि शिलापर हुनकर देहसँ अस्त-व्यस्त भेल फूलक शय्या अछि;

एहि सुन्दर कमल-पातपर नखसँ खोदल प्रेमपत्र अछि;

एहि हाथसँ खसल कमल-रेशाक आभूषण अछि—

एहि सभकेँ देखैत आँखि धुँधला जाइत अछि,

आ ई नरकट-मण्डप खाली रहितहुँ

हम अपना केँ एतयसँ अलग करबामे असमर्थ छी।

हाय! प्रियाक संग अवसर रहितहुँ विलम्ब कऽ हम नीक नहि कएलहुँ। आब—

‘जँ सुन्दर मुखबाली फेर कोनो गुप्त मिलनमे एतीह,

तँ समय नष्ट नहि करब;

पुरस्कार कृपादानसँ नहि भेटैत अछि!’

जटिल बाधासँ विफल हमर मूर्ख हृदय एना योजना बनबैत अछि,

मुदा प्रियाक सोझाँ पहुँचि फेर कोना-कोना सङ्कोच कऽ उठैत अछि।

नेपथ्यमे: राजन्! राजन्!

सायंकालीन आहुति आरम्भ भऽ गेल अछि।

साँझक मेघक शिखर जकाँ कपिल

माँसभक्षी राक्षसक छाया सभ

यज्ञाग्निसँ दहकैत वेदीक चारू दिस घूमि

भय फैला रहल अछि।

राजा: (घबड़ाइत) हे तपस्वी सभ! भय नहि करू, हम आबि रहल छी!

प्रस्थान करैत छथि।

महाकवि कालिदास-रचित 'शकुन्तला' नामक नाटकक तृतीय अङ्क समाप्त।

फूल चुनैत दुनू आश्रम-कन्या प्रवेश करैत छथि।

अनसूया: प्रियंवदा! योग्य पति पाबि शकुन्तलाकेँ गुप्त परस्पर-सहमतिक विवाहमे सुख भेटलहुँ, तैयो हमर हृदय अशान्त अछि।

प्रियंवदा: किएक?

अनसूया: आइ यज्ञ समाप्त भेलापर ऋषि सभ राजाकेँ विदा कऽ देलनि। नगरक अन्तःपुरमे घुरि गेलाक बाद ओ एतयक घटना स्मरण रखताह वा नहि?

प्रियंवदा: एहि विषयमे निश्चिन्त रह। एहन गम्भीर आ उत्कृष्ट स्वभावबला पुरुष

अपन गुणक विरुद्ध नहि जाइत छथि। मुदा हमरा एहि बातक चिन्ता अछि—पिता ई घटना सुनताह तँ नहि जानि की होएत...

अनसूया: सखी! हमर विचार पूछह तँ पिता अनुमोदन करि प्रसन्न होएताह।

प्रियंवदा: ‘अनुमोदन करि प्रसन्न होएताह’—से कोना?

अनसूया: आन कोना? ‘पुत्रीकेँ योग्य वरक हाथ देबाक अछि’—हुनकर मूल सङ्कल्प एही छल। जँ भाग्य स्वयं ई काज पूरा कऽ देलक तँ कुलपतिक प्रयोजन बिना प्रयास सिद्ध भऽ गेल।

प्रियंवदा: ठीक कहैत छह! (फूलक डाली दिस देखैत) सखी! बलि-पूजा लेल पर्याप्त फूल चुनि लेलहुँ।

अनसूया: सखी! शकुन्तलाक दाम्पत्य-सौभाग्यक अधिष्ठात्री देवता सभक पूजा सेहो करबाक अछि।

प्रियंवदा: अवश्य! (दुनू पहिने जकाँ फूल चुनबाक अभिनय करैत छथि।)

नेपथ्यमे: हो! हम एतय छी!

अनसूया: (सुनैत) सखी! लगैत अछि कोनो अतिथि अपन आगमनक सूचना दऽ रहल छथि।

प्रियंवदा: सखी! शकुन्तला अवश्य कुटीक लग छथि।

अनसूया: हँ, मुदा आइ हुनकर हृदय हुनका लग नहि अछि।

प्रियंवदा: (जल्दीसँ) तखन एतबे फूलसँ काज चलाबय पड़त। (चलि पड़ैत छथि।)

नेपथ्यमे: अरे अतिथिक अपमान करनिहारि!

जकर चिन्तामे तूँ एतेक एकाग्र भेल छह

जे अतिथि बनि आएल हमरा नहि देखलह,

ओ व्यक्ति स्मरण करौलोपर तोरा नहि चिन्हत,

जेना मातल एखनहि कहल बात बिसरि जाइत अछि।

दुनू: (सुनि उदास) हाय! अनर्थ भऽ गेल! शून्य-हृदया सखी कोनो पूज्य व्यक्तिक अपराध कऽ देलक।

अनसूया: (देखैत) हाय! कोनो साधारण व्यक्ति नहि—महर्षि दुर्वासा छथि। शीघ्र क्रोध करनिहार ओ आगि जकाँ अटल डेगसँ चलि जा रहल छथि।

प्रियंवदा: आगि छोड़ि जराबय के समर्थ अछि? अनसूया! हुनकर पएरपर पड़ि शान्त कर, हम अतिथि-सत्कारक जल तैयार करैत छी।

अनसूया: (प्रस्थान करैत छथि।)

प्रियंवदा: (एक डेग बढ़ा कऽ ठोकर खाइत) हाय! जल्दबाजीमे ठोकर लागि फूलक डाली हाथसँ खसि गेल। फेर फूल चुनय पड़त।*

(ओहिना करैत छथि।)

अनसूया: (प्रवेश करैत) सखी, ओ क्रोधक साक्षात् रूप छथि; केकर क्षमा-याचना स्वीकार करताह? तैयो किछु दया देखौलनि।

प्रियंवदा: हुनका लेल एतबो बहुत अछि। कह, की भेल?

अनसूया: जखन ओ घुरय नहि चाहैत छलाह, तखन हम कहलियनि—‘भगवन्! एकर पहिल भक्ति स्मरण करू; अपन दिव्य शक्तिसँ एकर योग्यता बुझि, आब अपन पुत्रीक ई अपराध क्षमा करू।’

प्रियंवदा: तकर बाद?

अनसूया: तखन कहलनि—‘हमर कहल वचन मिथ्या नहि भऽ सकैत; चिन्हारीक वस्तु देखिते शाप दूर भऽ जाएत’—आ अन्तर्धान भऽ गेलाह।

प्रियंवदा: आब साँस लऽ सकैत छी। विदा होइत राजर्षि स्वयं स्मृतिचिह्नक रूपमे शकुन्तलाक हाथमे अडूठी पहिरौने छलाह। जाबत ओ हुनका लग रहत, ई उपाय काज करत। (घुमैत छथि।)

अनसूया: प्रियंवदा, देख, देख! बाम हाथपर मुँह टिकौने हमर सखी चित्र जकाँ लगैत छथि। पतिक चिन्तामे एतेक तन्मय छथि जे अपनेक सुधि नहि, तखन आगन्तुक अपरिचितक की सुधि होएत?

प्रियंवदा: प्रिय अनसूया! शापक ई बात केवल तोरा आ हमरा बीच रहय। अपन कोमल-हृदया सखीक रक्षा करबाक अछि।

अनसूया: चमेलीक लतापर गरम पानि के छिड़कत?

दुनू प्रस्थान करैत छथि।

प्रवेशक समाप्ति।

निन्नसँ उठल काश्यपक एक शिष्य प्रवेश करैत अछि।

शिष्य: प्रभाससँ घुरल पूज्य काश्यप समय देखबाक लेल हमरा पठौलनि। खुलल स्थानमे जा कऽ देखैत छी राति कतेक शेष अछि। (घुमैत, देखैत) अहा! भोर भऽ रहल अछि। कारण—

उदयमान भोर बेरक गाछपर लटकल कुहासाकेँ लाल कऽ रहल अछि;

निन्न झाड़ैत मोर कुटीक कुश-छाजन छोड़ि रहल अछि;

आ यज्ञवेदीक खुरसँ खरौंचल किनारपर पड़ल ई हरिण

चौंकि कऽ उठि, अङ्ग पसारि ठाढ़ भऽ गेल अछि।

आओर—

जे अपन किरण नीचाँ पसारि,

पर्वतश्रेष्ठ सुमेरुक शिखरपर पएर रखने छल;

जे अन्धकार दूर करैत विष्णुक मध्य पद धरि पहुँचल छल;

ओ चन्द्रमा आब किछुए किरण शेष लेने आकाशसँ उतरि रहल अछि—

महान व्यक्तिक ऊँच उन्नतियो अन्ततः पतनमे समाप्त होइत अछि।

सूर्य आ चन्द्रमा मानो एहि संसारकेँ ई सत्य देखबैत अछि जे सम्पत्ति आ विपत्ति अस्थिर अछि। कारण—

एक दिस औषधिक स्वामी चन्द्रमा पश्चिमक अस्त-पर्वत दिस उतरि रहल छथि;

दोसर दिस प्रभातक घोषणाक संग सूर्य प्रकट भेल छथि;

दुनू ज्योतिक एकहि समय अस्त आ उदयसँ

संसार जीवनक उतार-चढ़ावमे बान्हल अछि।

आओर एहि समय—

चन्द्रमा अदृश्य भेला पर ओही कुमुदिनी-पोखरि आब हमर आँखिकेँ आनन्द नहि दैत अछि;

ओकर सौन्दर्य केवल स्मृतिमे शेष अछि।

निःसन्देह, असहाय स्त्री लेल प्रियक अनुपस्थितिसँ उत्पन्न दुःख अत्यन्त असह्य होइत अछि।

परदा झटका कऽ अनसूया प्रवेश करैत छथि।

अनसूया: भोगसँ विरक्त मुनियो नहि जानि सकलाह जे राजा शकुन्तलाक प्रति एतेक नीच व्यवहार करताह।

शिष्य: समय भऽ गेल, ई सूचना दैत छी। (प्रस्थान करैत अछि।)

अनसूया: जागल छी, तैयो की करू? उठलाक बाद भोरमे करबाक सोचल काज पूरा करबाक शक्ति हाथ-पएरमे नहि अछि। अपन कोमल-हृदया सखीक विश्वास वचनभङ्गी व्यक्तिमे पड़ल अछि—आब कामदेव शान्त होथि। (स्मरण करैत) अथवा, राजर्षिक दोष नहि; दुर्वासाक क्रोध हुनका रोकि रहल अछि। नहि तँ—

एहन वचन कहनिहार राजर्षि एतेक समय बीतलापर एकटा पत्रो कोना नहि पठबितथि? (सोचैत) स्मरण कराबय एतयसँ अडूठी पठा सकैत छी। मुदा केवल तपस्यासँ परिचित तपस्वी सभमे सँ केकरा कहबाक साहस करी? आ ओ सोचताह—‘दोष एकर सखी सभक अछि’—तँ हम सभ विवश छी। प्रभाससँ घुरल पिता काश्यपकेँ के कहत जे शकुन्तलाक विवाह दुष्यन्तसँ भऽ गेल आ ओ गर्भवती छथि? एहन स्थितिमे हम सभ की कऽ सकैत छी?

प्रियंवदा प्रवेश करैत छथि।

प्रियंवदा: अनसूया! शकुन्तलाक विदाईक विधि आरम्भ भऽ गेल अछि।

अनसूया: सखी! से कोना?

प्रियंवदा: अनसूया, सुन। एखनहि हम शकुन्तलाक लग गेल छलहुँ। ओ सुखक निन्नसँ उठि, लजाइत प्रणाम कऽ रही छल, तखन पिता काश्यप हुनका आलिङ्गन कऽ कहलनि—‘सौभाग्यसँ, धुँआसँ दृष्टि ढाकल रहितहुँ हमर आहुति पवित्र अग्निमे पड़ल। योग्य शिष्यकेँ देल विद्या जकाँ तूँ हमरा दुःखक कारण नहि बनलह। अतः आइए ऋषि सभक संग तोरा पतिक घर पठबैत छी।’

अनसूया: तँ शकुन्तलाक घटना पिताकेँ के कहलकनि?

प्रियंवदा: पिता जखन अग्निशालामे प्रवेश कएलनि, तखन वेदमन्त्रक रूपमे आकाशवाणी भेल।

अनसूया: (आश्चर्यसँ) की कहल गेल?

प्रियंवदा: सखी, सुन। (संस्कृतमे पाठ करैत छथि...)

हे ब्रह्मन्, जानू—

जगतक कल्याण लेल अहाँक पुत्री

दुष्यन्तक स्थापित वीर्य धारण कएने छथि,

जेना शमी-वृक्ष अपन भीतर अग्नि धारण करैत अछि।

अनसूया: (प्रसन्न भऽ प्रियंवदाकेँ आलिङ्गन करैत) सखी, हम बहुत प्रसन्न छी; मुदा शकुन्तलाकेँ विदा कएल जा रहल अछि, ई बुझि एखन एहन आनन्द होइत अछि जे विरह-जकाँ अछि।

प्रियंवदा: अपन दुःख दूर करी। आब ओ सुखी रहथि।

अनसूया: नीक, ओहि आमक गाछक डाढ़िसँ लटकल नारिकेलक डिब्बामे हम एही अवसर लेल किछु दीर्घकाल टिकनिहार कमल-रेश राखने छी।* तूँ ओकरा लऽ आ; हम हरिणक पीत गोरोचन, तीर्थक माटि आ दूबक अङ्कुर मिला कऽ हुनकर मङ्गल-लेप बनबैत छी। (एतबा कहि प्रस्थान करैत छथि।)

प्रियंवदा: (फूल उठेबाक अभिनय करैत छथि।)

नेपथ्यमे: शार्ङ्गरव आ हुनकर सङ्गी सभकेँ आज्ञा दिअ—‘शकुन्तलाकेँ पहुँचाबय लेल तैयार होउ!’

प्रियंवदा: (सुनैत) अनसूया, जल्दी कर, जल्दी! ऋषि सभ हस्तिनापुर जेबाक तैयारी कऽ रहल छथि। (हाथमे लेप लेने अनसूया प्रवेश करैत छथि।)

अनसूया: सखी! चल, चली! (दुनू घुमैत छथि।)

प्रियंवदा: (देखैत) ओतय शकुन्तला छथि। सूर्य उदित होइतहि वनधानक कटोरा लेने तपस्विनी सभ हुनका आशीर्वाद दऽ विदा कऽ रहल छथि। चल, हुनकर लग चली। (ओहिना करैत छथि।)

वर्णित रूपमे बैसल शकुन्तला, गौतमी आ तपस्विनी सभक संग प्रवेश करैत छथि।

पहिल तपस्विनी: पुत्री! पतिक विशेष सम्मानसँ 'महादेवी'क पद प्राप्त करू।

दोसर तपस्विनी: पुत्री! वीर पुत्र जन्माउ।

गौतमीकेँ छोड़ि शेष सभ आशीर्वाद दऽ प्रस्थान करैत छथि।

सखी सभ: (लग अबैत) सखी! सुखी रहू!

शकुन्तला: (आदरसँ देखैत) प्रिय सखी सभ, स्वागत अछि। एतय बैसू।

दुनू: (बैसैत) प्रिय शकुन्तला! ठाढ़ होउ, अहाँक देहमे मङ्गल-लेप लगाबी।

शकुन्तला: यद्यपि एकर आदत अछि, आइ ई बहुत मूल्यवान लगैत अछि। आब सखी सभक हाथसँ श्रृंगार विरले भेटत। (कनैत उठैत छथि।)

दुनू: सखी! दीर्घकालसँ चाहल मङ्गल अवसरपर कानब नहि चाही। (नोर पोछैत आ श्रृंगारक अभिनय करैत छथि।)

प्रियंवदा: आभूषणक योग्य अहाँक सौन्दर्यक संग आश्रममे सहज उपलब्ध एहि आभूषणसँ अन्याय भऽ रहल अछि।

हाथमे श्रृंगार-सामग्री लेने दू युवा ऋषि प्रवेश करैत छथि।

दुनू युवा ऋषि: ई आभूषण सभ अछि; आर्याक श्रृंगार करू।

सभ आश्चर्यसँ देखैत छथि।

गौतमी: पुत्र हारीत! ई सभ कतयसँ आएल?

पहिल: पिता काश्यपक कृपासँ।

गौतमी: सङ्कल्प मात्रसँ प्राप्त भेल?

दोसर: नहि, सुनू! पूज्य पिताक आज्ञासँ हम सभ शकुन्तलाक लेल गाछ सभसँ फूल लेबय गेलहुँ। ओतय—

एक गाछ चन्द्रमा जकाँ उज्जर मङ्गलकारी रेशमी वस्त्र देलक;

एक गाछ पएरमे लगेबाक लेल तैयार लाल अलक्तक रस बहौलक;

आ आन गाछ सभसँ नव अङ्कुरक सौन्दर्यकेँ टक्कर देनिहार,

कलाई धरि पसारल वनदेवताक हाथ

हमरा सभकेँ आभूषण अर्पित कएलक।

प्रियंवदा: (शकुन्तला दिस देखैत) सखी! ई असाधारण सौभाग्यक सूचक अछि; पतिक घरमे राजलक्ष्मी भोगब।

शकुन्तला: (लज्जाक अभिनय करैत छथि।)

अनसूया: सखी! आब अहाँ कतेक सुन्दर लगैत छी! खोहमे जन्मल भौरी जकाँ कमलक मधुक लालसा कऽ रहल छी।

प्रियंवदा: (श्रृंगार करैत) हम एहन आभूषण कहियो पहिरने नहि छी; चित्रमे जेना देखल अछि, ओहि अनुसार अहाँक देहपर लगा दैत छी।

शकुन्तला: (मुस्कुड़ाइत) तोहर कौशल हम जानैत छी।

दुनू आभूषण पहिरेबाक अभिनय करैत छथि।

युवा ऋषि: गौतम, चलू! स्नान लेल नीचाँ गेल पिता काश्यपकेँ वृक्ष सभक उदारताक समाचार दी।

दोसर: चलू। (एतबा कहि दुनू प्रस्थान करैत छथि।)

स्नान कऽ काश्यप प्रवेश करैत छथि।

काश्यप: (दीर्घ श्वास लैत)

‘आइ शकुन्तला विदा होएत’—ई सोचिते
विरहसँ हृदय भरि उठैत अछि;
रोकल नोरसँ कण्ठ दुखैत अछि;
चिन्तासँ दृष्टि धुँधला गेल अछि।
वनवासी तपस्वी हमरा सेहो स्नेह एतेक उदास करैत अछि,
तखन नव-नव पुत्री-विरहक दुःखसँ
गृहस्थक हृदय कतेक कुचलाइत होएत!

(घुमैत छथि।) सखी सभ: प्रिय शकुन्तला! श्रृंगार पूरा भेल। आब ई रेशमी वस्त्र पहिरू।

शकुन्तला: (मण्डपसँ बाहर जा वस्त्र पहिरि, घुरि अबैत आ बैसैत छथि।)

काश्यप: (लग अबैत छथि।)

गौतमी: पुत्री, आनन्दक नोरसँ भरल आँखिसँ मानो अहाँकेँ आलिङ्गन करैत पिता एतय छथि। प्रणाम करू।

शकुन्तला: (लजाइत उठैत) पिता, प्रणाम करैत छी।

काश्यप: पुत्री—

जेना शर्मिष्ठाकेँ ययातिसँ सम्मान भेटल छल,
तहिना पतिक सम्मान पाउ;
आ जेना ओ पुरुकेँ जन्म देलनि,
तहिना अहूँ चक्रवर्ती पुत्र जन्माउ।

गौतमी: पूज्यवर! ई आशीर्वाद नहि, वरदान भेल।

काश्यप: पुत्री, एतयसँ आहुति-धारी अग्नि सभक शीघ्र प्रदक्षिणा करू। (सभ घुमैत छथि।)

वेदीक चारू दिशामे स्थापित,
समिधासँ पोषित,
जकर किनार कुशसँ बिछाओल अछि,
आ आहुतिक सुगन्धसँ अमङ्गल दूर करनिहार
ई तीनू विधिक अग्नि अहाँक रक्षा करय।

शकुन्तला: (दहिना दिससँ प्रदक्षिणा करैत छथि।)

काश्यप: पुत्री! आब प्रस्थान करू। (चारू दिस देखैत) शार्ङ्गरव आ हुनकर सङ्गी सभ कतय छथि?

तीनू एक संग प्रवेश करैत छथि।

शिष्य सभ: पूज्यवर, हम सभ एतय छी।

काश्यप: शार्ङ्गरव, अपन बहिनकेँ बाट देखाउ।

शार्ङ्गरव: एहि बाट, एहि बाट, आयें। (सभ घुमैत छथि।)

काश्यप: पुत्री शकुन्तला! भीतर देवता वास करनिहार

आश्रम-वृक्ष सभकेँ ई सूचना दऽ दी—

जे अहाँ सभकेँ पानि देल बिना स्वयं पानि पिबय नहि चाहैत छल;
आभूषणप्रिय रहितहुँ अहाँ सभक स्नेहवश कौपल नहि तोड़ैत छल;
अहाँ सभक पहिल फूल खिलबाक अवसर जकर लेल उत्सव छल—

ओ शकुन्तला पतिक घर जा रहल अछि;
अहाँ सभ ओकरा अनुमति दिअ।

नेपथ्यमे:

ओकर बाट कमलसँ भरल जलबला पोखरि सभसँ सुखद विविधता पाबय;
छायादार गाछ सभ सूर्यक किरणक ताप रोकय;
जलपर तैरैत कमलक पराग जकाँ कोमल धूरि होअय;
अनुकूल मन्द पवन बहय;
आ ओकर यात्रा मङ्गलमय होअय।

सभ आश्चर्यसँ सुनैत छथि।

शार्ङ्गरव:

वनवासक समयक बन्धु ई गाछ सभ शकुन्तलाकेँ विदा होएबाक अनुमति दऽ देलक;
कारण कोइलीक मधुर स्वरमे ओ सभ अहाँक बातक उत्तर देलक।

गौतमी: पुत्री! आश्रम-देवता सभ अपन बन्धु जकाँ स्नेहसँ अहाँकेँ अनुमति देलनि। देवी सभकेँ प्रणाम करू।

शकुन्तला: (ओहिना करैत, घुमैत, सखी सभसँ) प्रिय प्रियंवदा! आर्यपुत्रकेँ देखबाक उत्कण्ठा रहितहुँ आश्रम छोड़ैत हमर पएर बड़ पीड़ासँ
आगाँ बढ़ि रहल अछि।

प्रियंवदा: अहाँसँ बिछुड़बाक दुःख केवल सखी सभकेँ नहि अछि। अहाँक प्रस्थान निकट अबैत तपोवनो उदास देखाइत अछि। कारण—

हरिणी मुँहक कुश छोड़ि देलक;
मोर नाचब छोड़ि उदास अछि;
लता सभ पीयर पात खसाबैत
मानो काँपैत अङ्गबाली भऽ गेल अछि।

शकुन्तला: पिता, अपन लता-बहिन माधवीकेँ विदा कहब।

काश्यप: ओकर प्रति तोहर बहिन-जकाँ स्नेह हम जानैत छी। दहिना दिस ओकरा अभिवादन कर।

शकुन्तला: (लताक लग जा आलिङ्गन करैत, स्नेहसँ हकलाइत) माधवी! अपन डाढ़ि-जकाँ बाँहिसँ हमरा आलिङ्गन कर। आइ सँ हम
तोरासँ बहुत दूर रहब।

काश्यप: पुत्री! आब ओकर चिन्ता हमर अछि। देख—

जे योग्य पति हम पहिने तोरा लेल चाहने रही,
अपन पुण्यसँ तँ ओहने पति स्वयं प्राप्त कऽ लेलह।
आब तोहर चिन्तासँ मुक्त भऽ,
एहि लगक आमक गाछसँ
हम एकर विवाह कराएब।

शकुन्तला: (सखी सभक लग जा) एकरा अहाँ सभक हाथमे साँपैत छी।

सखी सभ: (नोर भरल स्वरमे) आ हमरा सभकेँ केकर हाथमे साँपल जाइत अछि? (कनैत छथि।)

काश्यप: अनसूया, कानब रोक। की तोरा शकुन्तलाकेँ धैर्य नहि देबाक चाही? (सभ आगाँ बढ़ैत छथि।)

शकुन्तला: (देखि) पिता! जखन कुटी लग घुमैत ई गर्भवती हरिणी बच्चा जनम देबाक हो, तखन कृपा कऽ ककरो पठा कऽ हमरा ई शुभ
समाचार देब।

काश्यप: पुत्री, ई बात बिसरल नहि जाएत।

शकुन्तला: (चलैत-चलैत रुकि गेली से अभिनय करैत छथि।)

सखी सभ: ई के अछि जे बिलकुल लग आबि मानो ओकर वस्त्रक छोर पकड़ि रहल अछि?

काश्यप: पुत्री,

कुशक नोकसँ मुँह घवाहिल भेला पर

जे हरिणक मुँहमे तँ घाव भरएबला इङ्गुदी तेल लगौने छलह,

श्यामाक धानक मुट्ठी-मुट्ठी दऽ

जकर पालन पुत्र जकाँ केलह,

ओ तोहर पाछाँ छोड़ि नहि रहल अछि।

शकुन्तला: (देखि) बच्चा, अहाँ अपन संगीति सभकेँ छोड़ि कऽ जा रहल एहन कपटी-स्नेहबाली हमर पाछाँ किएक आबि रहल छह? तोहर जनमक तुरन्त बाद तोहर माय मरि गेली, तखन माय-विहीन तोहर पालन भेल। आब हमहूँ तोरा छोड़ि जा रहल छी; पिता तोहर देखभाल करता। अतः घुरि जा। (कनैत आगाँ बढ़ैत छथि।)

काश्यप: पुत्री!

फूटि पड़एबला नोरक धार रोक,

जे ऊपर उठल बरौनीबला आँखिक दृष्टि रोकि रहल अछि।

एहि बाटमे गड़हा-टीला स्पष्ट नहि देखाइत,

तँ तोहर डेग डगमगा रहल अछि।

शार्ङ्गरव: शास्त्र कहैत अछि जे प्रियजनकेँ जलक सीमाधरि पहुँचाओल जाए। ई सरोवरक कात अछि। एतहि हमरा सभकेँ निर्देश दऽ अहाँ घुरि जाउ।

काश्यप: एहि पीपरक छाहिमे बैसि जाइ।

सभ बैसि जाइत छथि आ ओहिना रहैत छथि।

काश्यप: (अपनेसँ) आब महाराज दुष्यन्त लेल हमर कोन सन्देश उचित होएत? (विचार करैत छथि।)

अनसूया: प्रिय सखी! आश्रममे एहन कोनो प्राणी नहि जे तोहर प्रस्थानसँ उदास नहि भेल हो। देख, एतय—

कमल-पातमे नुकायल अपन नरकेँ

चकवी पुकारि रहल अछि;

मुँहसँ तन्तु खसैत रहितहुँ

ओ उत्तर नहि दैत, तोरे दिस देखि रहल अछि।

शकुन्तला: (देखि) सखी, ई सत्य अछि। लगहि कमल-पातसँ नुकायल अपन साथीकेँ नहि देखि चकवी दयनीय स्वरमे बाजि रहल अछि —“हाय, हम कतेक दुःख सहैत छी!”

प्रियंवदा:

आइ फेर ओ अपन प्रियतमक बिना

पीड़ासँ लम्बा भेल राति बिताओत।

आशाक बन्धन

गम्भीर दुःखोकेँ सहए योग्य बनबैत अछि।

काश्यप: शार्ङ्गरव, हमर नामसँ राजाकेँ शकुन्तलाक विषयमे एहि प्रकारँ कहब।

शार्ङ्गरव: आज्ञा दिअ, गुरुदेव।

काश्यप:

हमरा सभक संयम-सम्पन्न जीवन,
अहाँक उच्च कुल,
आ बिना कुटुम्बक मध्यस्थताक
अहाँ प्रति एकर सहज उमड़ल स्नेह—
ई सभ भलीभाँति विचारि,
एकरा अपन आन पत्नी सभक समान आदर देब;
एहिसँ बेसी भाग्यक अधीन अछि,
स्त्रीक सम्बन्धी ओकर याचना नहि करैत छथि।

शार्ङ्गरवः सन्देश हमरा कण्ठस्थ भऽ गेल।

काश्यपः (शकुन्तलासँ) पुत्री! आब तोरा शिक्षा देबाक अछि। देख, हम सभ वनवासी छी, तैयो लोकाचार जानैत छी।

शार्ङ्गरवः वस्तुतः बुद्धिमानक दृष्टिसँ किछुओ बाहर नहि रहैत अछि।

काश्यपः पुत्री! एतयसँ पतिक घर पहुँचला पर—

बड़-बुजुर्गक आज्ञा मानब, सौतिन सभसँ
निष्कपट सखीक व्यवहार करब;
पति उपेक्षा करथि तैयो क्रोधसँ प्रत्युत्तर नहि देब;
सेवक सभसँ सदैव विनम्र रहब,
समृद्धिमे अभिमानी नहि बनब;
एहि प्रकार युवती घरक स्वामिनी बनैत अछि;
एकर विपरीत आचरण करएबाली
कुलक दुर्भाग्य बनैत अछि।

गौतमी, अहाँक की विचार अछि?

गौतमीः नववधूकेँ एतबे शिक्षा देब आवश्यक अछि। (शकुन्तलासँ) पुत्री, एकरा नीक जकाँ मोन राखब।

काश्यपः पुत्री, आबि कऽ हमरा आलिङ्गन कर।

शकुन्तलाः पिता, की हमर सखी सभकेँ एतहिसँ घुरए पड़तनि?

काश्यपः पुत्री, हुनको सभक विवाह होएबाक अछि।

तैं हुनका सभक ओतय जाएब उचित नहि। गौतमी तोहर सङ्ग जेतीह।

शकुन्तलाः (उठि पिताकेँ आलिङ्गन करैत) झुण्डसँ बिछुड़ल हथिनी जकाँ पितासँ अलग भऽ हम अपन प्राण कोना धारण करब? (कनैत छथि।)

काश्यपः एतेक कातर किएक होइत छह?

योग्य कुलक पतिक प्रतिष्ठित गृहिणी बनि,
प्रतिक्षण हुनकर महत्त्वपूर्ण कार्यमे व्यस्त रहि,
शीघ्रहि पूर्व दिशा जकाँ सूर्य-समान
तोरा पूर्णता देबला पुत्रकेँ जन्म देबह;
तखन हमरासँ बिछुड़बाक ई दुःख
तोरा नगण्य बुझाएत।

आ ई बात मोन राख—

जखन आत्मा आ शरीरक पूर्ण वियोग
अनिवार्य अछि,
तखन फोड़ा काटि निकालबाक पीड़ासँ
के व्याकुल होएत?

(शकुन्तला पिताक चरणमे खसि पड़ैत छथि।)

काश्यप: तोहर जे इच्छा अछि, से पूर्ण होअ।

शकुन्तला: (दूनू सखीक लग जा) सखी सभ! दूनू गोटे एक्के बेर हमरा आलिङ्गन करू।

सखी सभ: (ओहिना करैत) सखी! जँ राजा तोरा मोन पाड़बामे देरी करथि, तखन हुनकर नाम-अङ्कित ई आँठी देखायब। (ई कहि आँठी दैत छथि।)

शकुन्तला: (चिन्तित) विदाईक क्षण धरि हमरा पर दया कएल जा रहल अछि।

सखी सभ: चिन्ता नहि कर। स्नेह अनिष्टक आशङ्कासँ भरल रहैत अछि।

शाङ्गरव: (ऊपर देखि) सूर्य आकाशक दोसर भागमे चढ़ि गेलाह। अतः देवी, शीघ्रता करू। (उठैत) एहि दिस, एहि दिस, देवी।

सभ आगाँ बढ़ैत छथि।

शकुन्तला: (फेर पिताकेँ आलिङ्गन कऽ सिसकैत) पिता, हम फेर एहि तपोवनकेँ कहिया देखब?

काश्यप: पुत्री, सुन—

जखन चारू दिशा धरि पसारल पृथ्वीक
सहपत्नी बनि जाएबह,
जखन युद्धमे अजेय दुष्यन्तक पुत्रकेँ जन्म देबह,
आ जखन ओ राज्यक भार अपना पर लेत,
तखन केवल अपन पतिक सङ्ग
एहि शान्त आश्रममे फेर डेग रखबह।

गौतमी: पुत्री, विदाईक समय बीतल जा रहल अछि। आब पिताकेँ घुरि जाए दिअ। (काश्यपसँ) मुदा नहि, एतेक कालक बादो ई पिताकेँ घुरए नहि कहत। अतः गुरुदेव, अहाँ स्वयं घुरि जाउ।

काश्यप: पुत्री, हमर तपस्या बाधित भऽ रहल अछि। आब हम घुरए चाहैत छी।

शकुन्तला: (फेर पिताकेँ आलिङ्गन करैत) पिता दुःखसँ मुक्त भऽ जाएताह, मुदा हम आब दुःख अपन माथ पर लऽ जा रहल छी।

काश्यप: हाय! हमरा एतेक विह्वल किएक कऽ रहल छह?

पुत्री, जखन कुटीक द्वारपर
तोहर हाथसँ अखने रोपल
वन्य धानक बलि-अन्न अङ्कुरित देखब,
तखन हमर शोक कोना शान्त होएत?

पुत्री, जाउ, तोहर मार्ग मङ्गलमय होअ!

शकुन्तला अपन सङ्गी सभक सङ्ग बाहर जाइत छथि।

सखी सभ: (बहुत काल धरि देखैत) हाय! गाछक पाँतिक ओझराइ शकुन्तला आब देखाइ नहि पड़ैत छथि।

काश्यप: अनसूया, तोहर धर्म-सहचरी चलि गेली।

अपन दुःख रोक। हम घुरि रहल छी, हमर पाछाँ आउ।

दूनू: पिता, शकुन्तलाक बिना तपोवन सुनसान लगैत अछि।

काश्यपः स्नेह वस्तुकेँ एहन देखबैत अछि। (चलैत, विचार करैत) आश्चर्य! शकुन्तलाकेँ विदा कऽ आब हमर मोन हलुक भऽ गेल।

किएक?

पुत्री वास्तवमे परक धन होइत अछि।

आब ओकरा पतिक घर पठा देलहुँ,

तेँ हमर अन्तरात्मा ओहिना शान्त भऽ गेल,

जेना बहुत दिनक धरोहर घुरा देलापर होइत अछि।

सभ बाहर जाइत छथि।

महाकवि कालिदास-रचित

“शकुन्तला” नामक नाटकक

चतुर्थ अङ्क समाप्त।

कञ्चुकी प्रवेश करैत छथि।

कञ्चुकी: (अपना दिस देखि) हाय, हम कतेक बूढ़ भऽ गेलहुँ!

राजमहलक अन्तःपुरक भार भेटलापर
जे अधिकार-दण्ड ई सोचि स्वीकार कएने रही
जे “ई तँ केवल परम्परागत औपचारिकता अछि,”
समय बीतला पर ओहि दण्डकें
आब चलबाक शक्ति नहि जुटला कारण
हमर सहारा बनए पड़ल अछि।

भीतर उपस्थित महाराजकें विलम्ब नहि सहएबला विषयक सूचना देबाक अछि। (दू डेग बढ़ैत) मुदा बात छल की? (मोन पाड़बाक प्रयास करैत) हँ, मोन पड़ल। कण्वक शिष्य तपस्वी सभ महाराजसँ भेंट करए चाहैत छथि। अहा, कतेक विचित्र—

वृद्ध मनुष्यक बुद्धि
क्षणभर अचानक जगैत अछि,
फेर अन्हारसँ घेरि जाइत अछि,
ठीक बुझाएबला दीपक लौ जकाँ।

ओ चलैत छथि।

नेपथ्यसँ: मौढ्य! हम महाराजकें एहन धार्मिक कर्तव्यक सूचना देबऽ चाहैत छी जे टारल नहि जा सकैत। की कहैत छह? “मुदा न्यायासनसँ
अखने उठल महाराज फेर बाधित होएताह।” मुदा संसारक शासनक दायित्व एहनहि होइत अछि। देख—

सूर्य एक बेर लेल अपन घोड़ा जोति लेने छथि,
वायु दिन-राति बहैत अछि;
अग्नि जबरामे कोनो विश्राम नहि,
आ करक छठम अंश ग्रहण करएबला राजाक कर्तव्यो
ओहिना अनवरत अछि।

की कहैत छह? “तखन सङ्गीतशालाक लगक मण्डपमे जाउ।” नीक, अहाँ अपन काज करैत रहू, हम ओतहि जाइत छी। (चलैत आ चारु दिस देखि) महाराज एतय छथि—

जे प्रजाक पालन
विधाता मनु जकाँ करैत छथि,
आ दिनभर झुण्डकें चरेबाक बाद
धूपसँ तपल गजराज शीतल ठाममे जेना जाइत अछि,
तेना मनसँ थाकल ओ एकान्तमे विश्राम लऽ रहल छथि।

राजा आ विदूषक, सेवकगणसँ घेरल, बैसल अवस्थामे प्रवेश करैत छथि।

विदूषक: (कान दऽ) अहा! ई सङ्गीतशाला नहि अछि की? ध्यान दियौ, वीणाक सुर पूरा तालमे बजि रहल अछि। बुझलहुँ! अवश्य हंसपदिका
स्वराभ्यास कऽ रहल छथि।

राजा: (सुनबाक चेष्टा करैत) माधव्य, चुप रह, हमरा सुनए दिअ।

कञ्चुकी: हाय! महाराज तन्मय छथि। उचित अवसरक प्रतीक्षा करब। (देखि रहल छथि।)

नेपथ्यसँ: (गीत गाओल जाइत अछि:)

नव मधुक लोभमे

आमक मञ्जरीकेँ जेना चुमने छलह,

ओ मधुकर,

आब कमलपर मात्र मँडराइ सन्तुष्ट भऽ

ओकरा कोना बिसरि गेलह?

राजा: अहा! भावपूर्ण रागसँ भरल गीत।

विदूषक: की? अहाँ गीतक भाव बुझि गेलहुँ?

राजा: (मुस्कराइत) मित्र! कखनो हम हुनकासँ प्रेम करैत रही; तँ ओ कुलप्रभाक विषयमे हमरा उलाहना दऽ रहल छथि। हमर नामसँ हंसपदिकासँ कह—“अहाँक उलाहना बड़ा कुशल अछि।”

विदूषक: महाराजक जे आज्ञा। (उठैत) मित्र!

अहाँ दोसरक हाथसँ भालूक केस पकड़बाक प्रयास कऽ रहल छी। अपन वासनापर विजय नहि पाओल मनुष्य जकाँ आब हमरा मुक्ति नहि भेटत।

राजा: मित्र, जाउ! हुनकासँ सभ्य ढङ्गें बात करिह।

विदूषक: हाय, ई केहन विपत्ति! (बाहर जाइत छथि।)

राजा: (अपनेसँ) ई कोन बात जे एहन गीत सुनि प्रियासँ वियोग नहि रहितहुँ हमर भीतर गम्भीर उत्कण्ठा भरि गेल? अथवा—

सुखी मनुष्यो मनोहर दृश्य देखि

वा मधुर वचन सुनि उत्कण्ठित भऽ जाइत अछि;

अवश्य ओकर मन अनजानहि

पूर्वजन्मक गाढ़ स्नेहकेँ मोन पाड़ैत अछि।

कञ्चुकी: (लग आबि प्रणाम करैत) महाराजक जय हो! हिमालयक तलहटीक वनमे रहएबला तपस्वी सभ स्त्रीजनक सङ्ग आबि रहल छथि। ओ सभ काश्यपक सन्देश अनने छथि। ई सुनि उचित निर्णय लेब अहाँक अधिकार अछि।

राजा: स्त्रीजनक सङ्ग काश्यपक सन्देश अनएबला तपस्वी सभ?

कञ्चुकी: आब की आज्ञा अछि?

राजा: हमर नामसँ आचार्य सोमरातसँ निवेदन करू—“शास्त्र-विहित विधिसँ एहि आश्रमवासी सभक स्वागत कऽ स्वयं हमरा लग आनू।” हमहूँ तपस्वी सभक दर्शन योग्य स्थानमे हुनका सभक स्वागत करब।

कञ्चुकी: महाराजक जे आज्ञा। (बाहर जाइत छथि।)

राजा: (उठैत) वसुमती! अग्निशालाक बाट देखाउ।

प्रतिहारी: एहि दिस, एहि दिस, महाराज। (सभ चलैत छथि।)

राजा: (राजकाजक थाकनि प्रकट करैत) मनोवाञ्छित वस्तु पाबि सभ सुखी होइत अछि। मुदा राजा सभक लेल इच्छित वस्तु प्राप्त भेलाक बादो पीड़ा रहैत अछि। कोना?

प्रभुत्व केवल ओकर अभिलाषा शान्त करैत अछि,

प्राप्त वस्तुक रक्षा मात्र पीड़ा दैत अछि।

राज्यसत्ता थाकनि घटबैत कम,

बढ़बैत बेसी अछि—

जेना अपनहि हाथसँ डण्डी पकड़ि

ऊपर धएल छाता।

(नेपथ्यसँ) वैतालिक: महाराजक जय हो!

दिन-दिन संसारक कल्याण लेल श्रम करैत छी,

अपन सुखक चिन्ता नहि करैत—

मुदा अहाँक जन्महि एहन अछि।

गाछ अपन माथपर प्रचण्ड धूप सहैत अछि,

आ ओकर छाहिमे शरण लेनिहारकें

शीतलता दैत अछि।

एतबे नहि—

दण्ड-छड़ी हाथमे लऽ

कुमार्गपर गेल लोककें अनुशासित करैत छी;

विवादक समाधान करैत छी; सुरक्षा दैत छी।

धन बहुत होए तखन सम्बन्धी लग रहि सकैत छथि,

मुदा अन्ततः प्रजाक प्रति बन्धुक कर्तव्य

अहाँहि पर आबि पड़ैत अछि।

राजा: (सुनि) हमर थाकल मोन फेर ताजा भऽ गेल। (चलैत छथि।)

प्रतिहारी: ई अग्निशालाक चबूतरा अछि—नीक जकाँ लीपल-पोतल, लगमे कपिला गाय ठाढ़ि अछि। महाराज, ऊपर चढ़ू।

राजा: (ऊपर चढ़बाक अभिनय कऽ, सेवकक कान्हक सहारा लऽ रुकैत आ विचार करैत)

वसुमती, पूज्य काश्यप कोन अभिप्रायसँ ऋषि सभकें हमरा लग पठाएने होएताह?

की तप सञ्चित कएनिहार व्रतधारी सभक

तपस्यामे कोनो विघ्न पड़ल अछि?

अथवा पवित्र वनक पशु सभकें

केओ कष्ट दऽ रहल अछि?

कि हमर कोनो अपराधसँ लता सभक

फूलब रुकि गेल अछि?

अनेक अनुमानसँ भरल हमर मन

ठीक निर्णय नहि कऽ पाबि भ्रमित अछि।

प्रतिहारी: महाराजक बाहु पृथ्वीकें आलिङ्गन कएने अछि, तँ चारू आश्रम निर्भय अछि; एहन कोना भऽ सकैत अछि? हमरा बुझाइत अछि जे

ऋषि सभ महाराजक सत्कर्मसँ प्रसन्न भऽ प्रशंसा करए आयल छथि।

(तखन गौतमीक सङ्ग ऋषि सभ प्रवेश करैत छथि; हुनका सभक आगाँ शकुन्तला छथि। सभसँ आगाँ पुरोहित आ कञ्चुकी चलैत छथि।)

कञ्चुकी: एहि दिस, एहि दिस, पूज्यवर सभ।

(सभ चलैत छथि।)

शार्ङ्गरव:

सत्य अछि, उदार राजा
मर्यादाक उल्लङ्घन नहि करैत छथि;
सामाजिक वर्गमे नीचतमो केओ
कुमार्गपर नहि चलैत अछि।
तैयो सदा एकान्तक अभ्यस्त हमर मनकेँ
लोकसँ भरल ई भवन
जरैत आगि जकाँ लगैत अछि।

शारद्वतः नगरमे प्रवेश करैत तोरा एहन व्याकुलता होएब उचित अछि। हमहूँ—

स्वतन्त्र मनुष्य भऽ,
भोगमे आसक्त एहि लोक सभकेँ
ओहिना देखैत छी जेना स्नान कएल मनुष्य मैलासँ लिपटलकेँ,
पवित्र मनुष्य अपवित्रकेँ,
जागल मनुष्य सुतलकेँ,
आ स्वेच्छासँ चलएबला बान्हल मनुष्यकेँ देखैत अछि।

शकुन्तलाः (अशुभ फड़कनक अभिनय करैत, व्याकुल)

हाय! एहि समय हमर दहिना आँखि किएक फड़कि रहल अछि?

गौतमीः अमङ्गल दूर होअ! तोहर पतिक कुलदेवता तोरा सुख देखि! (सभ चलैत छथि।)

पुरोहितः (राजा दिस सङ्केत करैत) हे तपस्वी सभ! चारू वर्ण आ आश्रमक रक्षक महाराज अपन आसनसँ उठि अहाँ सभक प्रतीक्षामे छथि।
हुनका देखू।

ऋषि सभः महाब्राह्मण! ई निश्चय प्रशंसनीय अछि, तैयो हमरा सभ निर्विकार छी। किएक?

फलक भारसँ गाछ नीचाँ झुकैत अछि,
नव जलसँ भरल मेघ नीचाँ लटकैत अछि,
धन पाबि सज्जन अभिमानी नहि होइत छथि—
परोपकारीक स्वभावहि एहन होइत अछि।

प्रतिहारीः महाराज! ऋषि सभक मुख शान्त आ विश्वास जगबएबला देखाइत अछि।

राजाः (शकुन्तलाकेँ देखि) तखन ई स्त्री—

ई घोघटमे नुकायल स्त्री के होएत,
जकर देह-सौन्दर्य पूर्ण रूपेँ प्रकट नहि अछि,
तपस्वी सभक बीच
पीयर पातक बीच नव कौढ़ी जकाँ?

प्रतिहारीः महाराज! हमर जिज्ञासो बढ़ि गेल अछि। हम किछु नहि जानैत छी।

परिजनः महाराज, हुनकर रूप देखब योग्य अछि।

राजाः परस्त्रीकेँ नहि देखबाक चाही!

शकुन्तलाः (छातीपर हाथ राखि अपनेसँ) हे हृदय, किएक काँपि रहल छह? अपन आर्यपुत्रक अटल प्रेम मोन पाड़ आ शान्त हो।

पुरोहितः (आगाँ बढ़ि) महाराज! ई तपस्वी सभ विधिपूर्वक सत्कार पाबि चुकल छथि। ओ सभ अपन गुरुक सन्देश अनने छथि। कृपा कऽ
सुनू।

राजा: (आदरपूर्वक) हम ध्यानसँ सुनैत छी।

ऋषि सभ: (लग आबि हाथ पसारैत) राजाक जय हो!

राजा: (प्रणाम करैत) हम अहाँ सभकेँ प्रणाम करैत छी।

ऋषि सभ: अहाँक कल्याण होअ!

राजा: अहाँ सभक तपस्या निर्विघ्न चलि रहल अछि?

ऋषि सभ:

अहाँ रक्षक रहितहुँ सज्जनक पवित्र अनुष्ठानमे

कोन विघ्न भऽ सकैत अछि?

प्रचण्ड किरणबला सूर्य चमकैत रहए

तखन अन्हार कोना प्रकट होएत?

राजा: आब हमर “राजा” नाम सार्थक भेल। संसारकेँ अपन कृपासँ धन्य करएबला पूज्य काश्यप कुशल छथि?

शार्ङ्गरव: सिद्ध पुरुष अपन कल्याणक स्वयं स्वामी होइत छथि। अहाँक कुशल पूछलाक बाद ओ महाराजसँ ई कहैत छथि।

राजा: पूज्यवरक की आज्ञा अछि?

शार्ङ्गरव: (शकुन्तला दिस सङ्केत करैत) “अहाँ दूनू आपसी सहमतिसँ हमर एहि पुत्रीसँ विवाह कएलहुँ, एहि लेल हम प्रसन्न छी आ दूनू

गोटेकेँ अपन स्वीकृति दैत छी। किएक कि—

हम अहाँकेँ योग्य पुरुष सभमे श्रेष्ठ मानैत छी,

शकुन्तला मानो सद्गुणक मूर्ति छथि;

समान गुणक वर-वधूकेँ मिलबैत

विधाता अन्ततः

एकटा प्रशंसनीय काज कएलनि।

आब गर्भवती एकरा स्वीकार कऽ दाम्पत्य धर्मक निर्वाह करू।”

गौतमी: सज्जन! बाजबाक उत्कण्ठा अछि, मुदा हमर बाजब उचित नहि। किएक?

ई अपन बड़-बुजुर्गसँ परामर्श नहि केलक,

अहाँ एकर सम्बन्धीसँ नहि पूछलहुँ।

जखन दूनू गोटे एक-दोसरकेँ चुनि लेलहुँ,

तखन आब एक-दोसरसँ की कहब?

शकुन्तला: (अपनेसँ, उत्कण्ठित) आब हमर आर्यपुत्र की कहताह?

राजा: (सुनि, सन्देहसँ घेरल) अहा! अहाँ सभक ई कथनक अभिप्राय की अछि?

शकुन्तला: (अपनेसँ, सन्देहमे)

हाय! हुनका ई बातपर जे सन्देह भेल, से आगि जकाँ दाहक अछि।

शार्ङ्गरव: ई की? महाराज तँ लोकव्यवहार नीक जकाँ जानैत छथि।

विवाहिता स्त्री सदाचारी रहितहुँ

जँ केवल अपन माय-बापक घरमे रहैत अछि,

लोक ओकर चरित्रपर सन्देह करैत अछि।

तैं सम्बन्धी सभ ओकरा विवाह करएबला पुरुष लग पठा दैत छथि,
चाहे ओ पति ओकरासँ प्रेम करए वा नहि।

राजा: की हम एकरासँ विवाह कएने छी?

शकुन्तला: (हताश, अपनेसँ) हे हृदय, तोहर सन्देह सत्य सिद्ध भेल।

शार्ङ्गरव: हे राजन्! अपनहि कएल कर्मकेँ निन्दित कहब की राजाक कर्तव्य-विमुखता अछि?

राजा: ई झूठ गढ़बाक प्रवृत्ति किएक?

शार्ङ्गरव: सत्ताक मदमे मातल मनुष्यक एहन अधःपतन सामान्यतः ओकर बुद्धि हरि लैत अछि।

राजा: हमर घोर अपमान कएल जा रहल अछि!

गौतमी: पुत्री! एक क्षण लज्जा छोड़। हम तोहर घोघट हटबैत छी। तखन महाराज तोरा चिन्हि लेताह। (ओहिना करैत छथि।)

राजा: (शकुन्तलाकेँ देखि विस्मित भऽ अपनेसँ)

एहि प्रकार हमरा समक्ष प्रस्तुत
निर्दोष सौन्दर्यबाली ई स्त्रीसँ
पूर्वमे विवाह भेल छल वा नहि—
ई निश्चय करबाक चेष्टामे
हम न एकरा स्वीकार कऽ पबैत छी, न छोड़ि पबैत छी;
जेना भोरमे मधुमाछी
ओस भरल चमेली फूलक विषयमे दुविधामे पड़ैत अछि।

(विचारमे पड़ल रहैत छथि।)

परिजन: (आपसमे) अहा! महाराज धर्मक कतेक आदर करैत छथि! एतेक सहजतासँ एहन स्त्री-रत्न भेटलापर आन के दुविधामे पड़ित?

शार्ङ्गरव: हे राजन्, एतेक मौन किएक छी?

राजा: हे तपस्वी! बहुत विचारलहुँ, मुदा एहि देवीसँ विवाह कएल बात मोन नहि पड़ैत अछि। तखन अपना पति होएबाक सन्देह रहितहुँ गर्भक
हलुक चिह्न देखबैत स्त्रीकेँ हम कोना स्वीकार करी?

शकुन्तला: (अपनेसँ) हाय! ओ विवाहोपर सन्देह कऽ रहल छथि! आकाश छुबए चढ़ल हमर आशा टूटि गेल।

शार्ङ्गरव: ई उचित नहि!

जाहि ऋषिक पुत्रीकेँ फुसला कऽ
अहाँ हुनकर अनादर कएलहुँ,
ओहि ऋषिक अपमान करब?
ओ अपन वस्तु स्वीकार करबाक लेल अहाँक स्वागत कएलनि,
आ लुटेरा समान अहाँकेँ योग्य पात्र मानलनि।

शारद्वत: शार्ङ्गरव, आब चुप रहू! शकुन्तला, हमरा सभ जे कहबाक छल कहि देलहुँ। महाराजक कथन ई अछि। हुनका प्रमाण दिअ।

शकुन्तला: (अपनेसँ; आह भरैत, व्याकुल)

जे एतेक बदलि गेल, जकर प्रेम एतेक अल्पकालिक छल, ओकरा मोन पाड़ेबासँ आब की लाभ? तैयो अपन नाम निष्कलङ्क करबाक
अछि, तैं प्रतिवाद करब। (जोरसँ) हे आर्यपुत्र! (वाक्यक बीच अपनेसँ) मुदा नहि, एहि सम्बोधनपर आब विवाद अछि। (जोरसँ) हे पौरव!
आश्रममे प्रतिज्ञा कऽ सहज निष्कपट हृदयबाली एहि स्त्रीकेँ फुसललहुँ; आब एहन वचन कहि ओकरा त्यागब उचित अछि?

राजा: (कान बन्द करैत) ई पापपूर्ण वचन रोक!

अपन नाम कलङ्कित कऽ

आ हमरा पतन दिस धकेलबाक प्रयास किएक करैत छह?

जेना तटकें तोड़ैत उमड़ल नदी

अपन निर्मल जलोकें मैला करैत अछि

आ तीरक गाछकें सेहो उखाड़ैत अछि।

शकुन्तला: जँ अहाँ सचमुच हमरा परस्त्री बुझबाक भयक कारण एहन बाजि रहल छी, तखन चिन्हबाक ई महत्त्वपूर्ण चिह्न देखा कऽ अहाँक सन्देह दूर करैत छी।

राजा: वाह, कतेक उदात्त बात!

शकुन्तला: (मुद्रिका पहिरल ठाम छुबैत) हाय! आँठी हमर आङुरमे नहि अछि। (गौतमी दिस देखैत छथि।)

गौतमी: इन्द्रावतरणक शचीतीर्थमे जलमे डुबकी लगबैत आँठी खसि नहि गेल होएत?

राजा: (मुस्कराइत) सम्भवतः एकरे स्त्रीक दहेजमे भेटल तत्पर बुद्धि कहल जाइत अछि।

शकुन्तला: एतय भाग्य अपन प्रभुता देखा देलक। हम दोसर बात कहैत छी।

राजा: आब सुनबाक योग्य किछु आबि रहल अछि।

शकुन्तला: एक दिन चमेली लताक मण्डपमे अहाँक हाथमे कमल-पातक दोना भरल जल नहि छल?

राजा: हँ, आगाँ सुनाउ।

शकुन्तला: ओहि क्षण पुत्र जकाँ पोसल हमर छोट हरिण आबि गेल। तखन अहाँ प्रेमसँ पुचकारि कहलहुँ—“पहिने एकरा पिबए दिअ।” मुदा अहाँसँ अपरिचित होएबाक कारण ओ अहाँक हाथसँ जल नहि पीलक। जखन ओहि जलकें हमर हाथसँ पी लेलक, तखन अहाँ स्नेह देखबैत हँसलहुँ आ कहलहुँ—“सभ अपनहि गन्धबला पर विश्वास करैत अछि। अहाँ दूनू वनवासी छी।”

राजा: (हँसैत) अपन स्वार्थ सिद्ध करबाक लेल षड्यन्त्र करएबाली स्त्री सभ एहन झूठक मधुसँ भोगप्रिय पुरुषकें फँसाबैत अछि।

गौतमी: महाराज! एहन नहि कहू। तपोवनमे पोसल ई छल-कपट नहि जानैत अछि।

राजा: हे वृद्ध तपस्विनी!

मानवेतर मादा जीवमे

बिना सिखौने छल-कपट देखाइत अछि,

तखन बुद्धिमती स्त्रीमे तँ आओर बेसी होएत।

आकाशमे उड़ि जाएसँ पहिने

कोइली अपन बच्चाकें

दोसर पक्षीसँ पोसबा लैत अछि।

शकुन्तला: (क्रोधसँ) अहाँ सभ किछु अपनहि हृदयक वृत्तिक अनुसार देखैत छी! धर्मक कवच पहिरि, घाससँ नुकायल इनार जकाँ भीतर सँ कपटी—अहाँ जकाँ दोसर के होएत?

राजा: (अपनेसँ) मुदा एहि देवीक निष्कपट क्रोध वनमे पोसल स्त्रीकहि क्रोध लगैत अछि। किएक कि—

ओकर आँखि कटाक्ष नहि करैत,

सोझै अत्यन्त लाल भऽ घूरि रहल अछि;

स्वर कठोर अछि, शब्द अस्पष्ट नहि भऽ रहल;

बिम्बाफल-जकाँ लाल अधर

जाइसँ पीड़ित जकाँ काँपि रहल अछि;

स्वभावसँ वक्र भौंह

एकाएक सिकुड़ि एकठाम भऽ गेल अछि।

(जोरसँ) भद्रे, दुष्यन्तक आचरण प्रजामे प्रसिद्ध अछि; हम अपना भीतर एहन कोनो दोष नहि देखैत छी।

शकुन्तला:

अहाँहि प्रमाण छी,

अहाँ लोकव्यवहार जानैत छी;

भीरु स्त्री सभ बेचरी की जानत?

ठीक अछि! पुरुवंशपर विश्वास कऽ मधुर वचनबला मुदा हृदयमे छुरी रखने पुरुषक हाथमे पड़ल हमरा व्यभिचारिणी बना देल गेल। (मुँह फेरि कनैत छथि।)

भागुरि: असंयमित उतावलीमे कएल कर्म एही प्रकार दग्ध करैत अछि। एहि कारण—

विशेषतः सम्बन्ध जोड़बाक पहिने

सभ बात नीक जकाँ जाँचि लेबाक चाही।

जकर हृदयक परिचय नहि,

ओकरासँ कएल स्नेह

एही प्रकार घृणामे बदलि जाइत अछि।

राजा: अहा, महोदय! केवल एहि देवीक कथनपर अहाँ हमरा पर एतेक गम्भीर कलङ्क किएक लगा रहल छी?

शार्ङ्गरव: महाराज सभ बात उलटि बुझि रहल छथि।

जे जन्मसँ छल-कपट नहि जानल,

ओकर वचन प्रमाण नहि!

आ जे “राजनीति” नाम दऽ

दोसराकेँ ठकबाक विद्या पढ़ल,

ओ सभ विश्वसनीय प्रमाण!

राजा: अहा, सत्यवादी महोदय! मानि लैत छी जे हम राजनीतिज्ञ छी। मुदा एकरा धोखा दऽ हमरा की लाभ होएत?

शारद्वत: विनाश!

राजा: से हमर इच्छा नहि अछि।

शारद्वत: राजन्! एहि विवादसँ की लाभ? हम सभ गुरुक आज्ञा पूरा कऽ देलहुँ। आब विदा होइत छी।

ई अहाँक पत्नी अछि—स्वीकार करू वा छोड़ि दिअ।

कारण पत्नीपर पतिक अधिकार

सर्वव्यापी मानल गेल अछि।

गौतमी, चलू, आगाँ बढू! (सभ चलैत छथि।)

शकुन्तला: (करुण स्वरमे)

हाय! वास्तवमे एहि कपटी हमरा ठकि लेलक। अहूँ सभ हमरा छोड़ि कऽ जा रहल छी। आब हमर उपाय की अछि? (ई कहि गौतमीक पाछाँ चलैत छथि।)

गौतमी: (रुकैत) पुत्र शार्ङ्गरव! शकुन्तला करुण विलाप करैत हमरा सभक पाछाँ आबि रहल अछि। जखन एहन नीच पति एकरा अस्वीकार कऽ रहल अछि, तखन हमर पुत्री की करत?

शार्ङ्गरवः (पुरोहितक सङ्केतपर धुरैत) अहा, निर्लज्ज स्त्री! अपन मनमानी करए चाहैत छह? (शकुन्तला भयक मारे काँपैत छथि।)

शार्ङ्गरवः सुन!

जँ राजा जे कहैत छथि से सत्य अछि,
तखन पिताकँ दुःख देबएबाली तोरासँ
हमरा सभक की सम्बन्ध?
मुदा जँ अपन आचरण शुद्ध जानैत छह,
तखन पतिक घरमे दासी भऽ रहबो
तोरा सहनीय होएबाक चाही।

एतहि रह! हम सभ जा रहल छी।

राजाः तपस्वी! एहि स्त्रीकँ धोखा किएक दऽ रहल छी?

चन्द्रमा केवल कुमुदिनीकँ फुलबैत अछि,
सूर्य केवल कमलकँ।
संयमीक स्वभाव
परस्त्रीकँ आलिङ्गन करबासँ पाछाँ हटैत अछि।

शार्ङ्गरवः राजन्! जँ दोसर स्त्रीक चिन्तामे डूबल रहबाक कारण अपन पूर्व विजय बिसरि गेल छी, तखन अपयशसँ बचएबला महाराज, की कएल जाए?

राजाः गुरुवरसँ पूछए चाहैत छी जे एतय कोन बात बेसी सम्भव अछि।

ई सन्देह रहैत जे हम बिसरि गेलहुँ
अथवा ई स्त्री झूठ बाजि रहल अछि—
हम अपन पत्नीकँ कलङ्कित करी,
कि परस्त्रीक शील भङ्ग करी?

पुरोहितः (विचार करैत) जँ हम सभ एहि प्रकार करी...

राजाः ...कृपा कऽ परामर्श दिअ।

पुरोहितः प्रसव होए धरि ई देवी हमर घरमे रहथि। हम सोचि-विचारि ई कहैत छी। ज्ञानी सभ अहाँकँ कहलनि जे अहाँक पहिल पुत्र सम्राट होएत। जँ ऋषि-पुत्रीक पुत्रमे सम्राटक लक्षण हो, तखन एकरा बधाई दऽ अन्तःपुरमे स्वागत करब। नहि तँ पिताक घर घुरा देब।

राजाः जेना गुरुदेवक इच्छा।

पुरोहितः पुत्री, हमर पाछाँ आउ।

शकुन्तलाः (कनैत) हे पृथ्वी देवी, हमरा अपन भीतर ठाम दिअ।

(ओ पुरोहित आ अन्य सभक सङ्ग बाहर जाइत छथि।)

राजाः (शापक कारण स्मृति अवरुद्ध रहितहुँ शकुन्—

तलाक विषयमे विचार करैत छथि।)

नेपथ्यसँ: आश्चर्य! आश्चर्य!

राजाः (सुनि) आब की भऽ रहल अछि?

पुरोहितः (प्रवेश करैत) महाराज! एकटा चमत्कार भेल अछि।

राजाः केहन चमत्कार?

पुरोहितः कण्वक शिष्य सभ चलि गेलाक बाद—

जखन ओ कन्या अपन भाग्यपर विलाप करैत—

कानए लागल—

आ अपन बाँहि ऊपर फँकए लागल...

राजाः तखन की भेल?

पुरोहितः

अप्सरा-तीर्थक लग स्त्री-रूप प्रकाश ओकरा पर उतरल

आ ओकरा उठा कऽ लऽ गेल।

(सभ आश्चर्यचकित होइत छथि।)

राजाः गुरुदेव, हम एहि विषयक निर्णय पहिनहि कऽ चुकल छी। व्यर्थ अनुमानसँ अपना के किएक थकाबी?

पुरोहितः महाराजक जय हो। (बाहर जाइत छथि।)

राजाः (मुस्कराइत) वसुमती, हम अशान्त छी। शयनकक्षक बाट देखाउ।

कञ्चुकीः (आदरपूर्वक) एहि दिस महाराज, एहि दिस। (सभ चलैत छथि।)

राजाः (अपनेसँ)

ऋषि-पुत्रीसँ विवाह कएल बात मोन नहि रहितहुँ

हम ओकरा अस्वीकार कऽ देलहुँ,

मुदा अत्यन्त पीड़ित हमर हृदय

मानो ओकरहि चाहि रहल अछि।

सभ बाहर जाइत छथि।

महाकवि कालिदास-रचित

“शकुन्तला” नामक नाटकक

पञ्चम अङ्क समाप्त।

(नगरक कोतवाल प्रवेश करैत छथि; हुनका सङ्ग पाछाँ हाथ बान्हल एक पुरुष आ दू गोटे प्रहरी छथि।)

प्रहरी सभ: (पुरुषकेँ पीटैत) हे डाकू! स्वीकार कर, महाराजक नाम खुदल बहुमूल्य रत्न-जड़ित राजमुद्रिका तोरा कतयसँ भेटल?

पुरुष: (भयक अभिनय करैत) दया करू, दया करू, माननीय भाइ सभ! हम एहन काज करए योग्य नहि छी।

पहिल प्रहरी: सम्भवतः राजा तोरा पुण्यात्मा ब्राह्मण बुझि उपहारमे देलनि?

पुरुष: आब हमर पूरा बात सुनू! हम “इन्द्रावतरण” तीर्थपर रहएबला मछुआरा छी...

दोसर प्रहरी: हे चोर! हम तोरा जाति पूछने छलहुँ?

कोतवाल: सूचक! एकरा सभ बात क्रमसँ कहए दिअ। बीचमे टोकब बन्द कर।

प्रहरी सभ: जेना साला-साहेबक आज्ञा... बाज, बाज!

पुरुष: जाल, काँटी आदि माछ मारबाक साधनसँ अपन परिवारक पेट पोसैत छी।

साला: (हँसैत) अहा, बड़ पवित्र व्यवसाय!

पुरुष: महोदय!

कहल गेल अछि जे अपन वंशानुगत जीविका

चाहे निन्दित हो,

तैयो नहि छोड़बाक चाही।

दयालु आ विद्वान ब्राह्मणो

यज्ञमे निर्दयतासँ पशु मारैत छथि।

साला: ठीक, ठीक!

पुरुष: एक दिन रोहू माछ काटैत ओकर पेटमे रत्नसँ चमकैत ई आँठी देखलहुँ। बादमे एतय बेचबाक लेल लोककेँ देखबैत रही, तखन अहाँ सभ हमरा पकड़ि लेलहुँ। ई आँठी हमरा एही प्रकार भेटल; आब मारू वा पीटू!

साला: (आँठी सुँघैत) जानुक! निश्चय ई माछक पेटमे छल। एही कारण काँच मांसक दुर्गन्ध आबि रहल अछि। आब एकर उत्पत्ति जाँचए पड़त; चलू राजदरबार।

प्रहरी सभ: चल, हे जेबी-कटुआ महाराज! (सभ चलैत छथि।)

साला: सूचक! अहाँ दूनू सावधान भऽ मुख्य द्वारपर हमर प्रतीक्षा करू। हम महाराजकेँ आँठीक प्राप्ति कथा सुना, हुनकर आज्ञा लऽ घुरैत छी।

दूनू: महाराज साला-साहेबक अनुकूल स्वागत करथि! (साला बाहर जाइत छथि।)

पहिल प्रहरी: जानुक, साला-साहेब बहुत समय लगा रहल छथि।

दोसर प्रहरी: राजाक लग पहुँचबाक उचित अवसरक प्रतीक्षा करए पड़ैत अछि, ई बात बुझ।

पहिल प्रहरी: मित्र, एहि दुष्टक गला दबए लेल हमर हाथ खुजला रहल अछि। (पुरुष दिस सङ्केत करैत।)

पुरुष: “भाइ” एहन शुभ नामसँ पुकारल गेल मनुष्यक लेल असमय मृत्यु देब उचित नहि।

दोसर प्रहरी: (देखि) ...देख, महाराजक आज्ञा लऽ हमर स्वामी आबि रहल छथि। (पुरुषसँ) आब या तँ अपन परिवारक मुँह देखबह, वा गिद्ध-सियारक भोग बनबह।

(प्रवेश करैत) साला: शीघ्र, शीघ्र, एकरा... (वाक्य बीचमे रोकैत)

पुरुष: हाय! हम मरि गेलहुँ! (निराशाक अभिनय करैत।)

साला: एकरा खोलि दिअ! अरे, मछुआराकेँ मुक्त करू! औँठीक उत्पत्तिक ओकर कथा सत्य सिद्ध भेल। हमर स्वामी स्वयं हमरा कहलनि।

पहिल प्रहरी: जेना साला-साहेबक आज्ञा! यमराजक घरमे प्रवेश कऽ ई फेर दरारिसँ निकलि आएल। (पुरुषकेँ खोलैत अछि।)

पुरुष: (सालाकेँ प्रणाम करैत) स्वामी! हमर जीवन अहाँक अछि।

साला: उठ! औँठीक मूल्यक बराबर ई पुरस्कार तोरा देल जा रहल अछि।

पुरुष: (आनन्दसँ ग्रहण करैत) हमरा पर कृपा भेल।

पहिल प्रहरी: एतेक कृपा जे सूलीसँ उतारि हाथीपर बैसा देल गेल।

दोसर प्रहरी: साला-साहेब! पुरस्कारसँ बुझाइट अछि जे महाराज एहि बहुमूल्य रत्नबाली औँठीकेँ बहुत प्रिय मानैत छथि।

साला: हमरा नहि बुझाइट अछि जे महाराज रत्नक कारण एकरा मूल्यवान मानलनि।

दूनू: तखन किएक?

साला: अनुमान अछि जे एकरा देखि महाराजकेँ कोनो अत्यन्त प्रिय व्यक्तिक स्मरण भऽ गेलनि; कारण सामान्यतः संयमित रहएबला

महाराज एकरा देखितहि क्षणभर लेल व्याकुल भऽ उठलाह।

दोसर प्रहरी: एहि साला-पुत्र महाराजक नीक सहायता केलक।

पहिल प्रहरी: हम तँ कहब जे ई माछक शत्रु लाभमे रहल! (पुरुष दिस वैरभावसँ देखैत।)

पुरुष: स्वामी! एकर आधा भाग अहाँ सभक फूल-पानक खर्च लेल राखू।

दूनू: ई तँ सज्जनताक बात अछि।

साला: मछुआरा, आब तँ हमर परम मित्र भऽ गेलह। नव मित्रताकेँ मदिरासँ पक्का करबाक चाही; चल, मदिरालय जाइ।

सभ बाहर जाइत छथि।

प्रवेशिका समाप्त।

(आकाशयानमे अक्षामाला प्रवेश करैत छथि।)

अक्षामाला: अप्सरा सभक स्नान-तीर्थपर अपन नित्यकर्म पूरा कऽ लेलहुँ। आब स्वयं देखि ली जे राजर्षिक की दशा अछि। मेनकासँ मित्रताक कारण शकुन्तला हमरा प्रिय भऽ गेली, आ ओ स्वयं हमरा एहि काज लेल पठौने छथि। (आगाँ बढ़ि चारू दिस देखि) ई कोना जे पर्वक दिनो राजदरबार उत्सव लेल सजल नहि अछि? सत्य तँ ई जे ध्यान-शक्तिसँ हम सभ किछु जानि सकैत छी, मुदा सखीक इच्छाक सम्मान करबाक अछि। नीक, अदृश्य होएबाक मायासँ नुकाइ एहि दूनू मालीक लग ठाढ़ि भऽ समाचार बुझैत छी। (ओहिना करैत छथि।)

(एक दासी आमक नव अङ्कुर जाँचैत प्रवेश करैत अछि; ओकर पाछाँ दोसर दासी।)

पहिल मालिनी:

हे आमक मञ्जरी!

वसन्त-मासक निःश्वास समान तोरा देखि,

हरियर डाँठपर पिङ्गल वर्ण धारण कएने,

हमरा ऋतुक मङ्गल-दर्शन भऽ रहल अछि।

दोसर मालिनी: (लग आबि) सखी परभृतिका, अपने-आप की बाजि रहल छह?

पहिल मालिनी: सखी, आमक कोमल अङ्कुर देखि कोइली मातल भऽ जाइत अछि।

दोसर मालिनी: (प्रसन्न भऽ) की वसन्त आबि गेल?

पहिल मालिनी: मधुकरिका, आब तोहर प्रेम-रससँ भरल गीतक समय अछि।

दोसर मालिनी: सखी, हम पएरक अँगुरीपर ठाढ़ि भऽ कामदेवक पूजा करी, तौ हमरा थाम्हि राख।

पहिल मालिनी: जँ पूजाक आधा फल हमरा भेटए।

दोसर मालिनी: सखी, ई तँ कहबाक आवश्यकता नहि; हम दूनू शरीरमे एक आत्मा छी। (सखीक सहारा लऽ आमक मञ्जरी तोड़बाक अभिनय करैत) अहा! आमक मञ्जरी अखनो नहि फूटल अछि, तैयो डाँठ तोड़ितहि सुगन्धि आबि रहल अछि। (कपोत-मुद्रा बनबैत) मकरध्वज कामदेवक जय हो!

हे आमक अङ्कुर! धनुष उठौने कामदेवकें
हम तोरा अर्पित करैत छी;
युवती सभकें लक्ष्य बनएबला
अमोघ बाण बनिह।

(अङ्कुर फँकैत अछि।)

(क्रोधित कञ्चुकी प्रवेश करैत छथि।)

कञ्चुकी: रोक, मूर्ख कन्या! महाराज वसन्तोत्सव स्पष्ट रूपें निषिद्ध कएने छथि, आ तौ फूल तोड़ए लागल छह।

दूनू: (भयभीत) क्षमा करू, स्वामी! हमरा सभकें एहि विषयमे किछु सुनबामे नहि आएल।

कञ्चुकी: हुँह! महाराजक आज्ञा अहाँ सभ कोना नहि सुनलहुँ,

जकर पालन वसन्तक गाछ आ ओकर भीतर रहएबला जीवो कऽ रहल अछि? कारण—

आमक मञ्जरी परिपक्व भऽ गेल,
तैयो पराग नहि छोड़ैत अछि;
राजमाला कौढ़ी देबाक स्थितिमे अछि,
तैयो नहि फूटैत;
जाड़ बीति गेलोपर नर कोइलीक कूजन
कण्ठमे अटक जाइत अछि।
भय अछि जे चकित कामदेवो
तरकससँ आधा निकालल बाण फेर राखि देने छथि।

अक्षामाला: एहि विषयमे कोनो सन्देह नहि! राजर्षिक प्रभाव महान अछि।

पहिल मालिनी: स्वामी, राजाक साला मित्रवसु हमरा सभकें किछु दिन लेल महाराजक सेवासँ हटा कऽ ओहि सोझाँक अटारी सजएबाक काजपर पठौने छलाह। एही कारण हमरा सभकें एहि बातक कनो समाचार नहि छल।

कञ्चुकी: ठीक अछि, मुदा फेर एहन नहि करब।

दूनू: स्वामी, हमरा सभकें जिज्ञासा अछि। जँ जानब उचित हो, तँ कृपा कऽ कहू जे महाराज वसन्त पूर्णिमाक उत्सव किएक रोकि देलनि?

अक्षामाला: राजा सभ उत्सवप्रिय होइत छथि। एकर पाछाँ अवश्य कोनो गम्भीर कारण अछि।

कञ्चुकी: ई बात सभकें ज्ञात अछि, तखन अहाँ सभसँ किएक नहि कही? शकुन्तलाक अस्वीकारक कलङ्कक समाचार अहाँ सभक कान धरि पहुँचल?

दूनू: स्वामी! राजाक सालासँ ओंठी भेटबाक घटना धरि सुनने छी।

कञ्चुकी: तखन कहबाक बहुत कम शेष अछि। ओंठी देखते महाराजक स्मृति घुरि आएल—“सत्यहि हम शकुन्तला देवीसँ गुप्त विवाह कएने रही आ मोहवश हुनका अस्वीकार कऽ देलहुँ!” तखनसँ ओ पश्चात्तापसँ भरल छथि। कोना?

भोग-विलाससँ घृणा करैत छथि;
 प्रजा आब प्रतिदिन इच्छानुसार हुनका लग नहि पहुँचैत अछि।
 राति भरि खाटपर छटपटाइत,
 एक कातसँ दोसर कात बदलैत रहैत छथि।
 अन्तःपुरक स्त्री सभसँ शिष्टाचारवश
 विनम्र बात करैतहुँ
 हुनकर नाम बजबामे भुला जाइत छथि,
 आ बहुत काल धरि लज्जित रहैत छथि।

अक्षामाला: ई सुनि हमरा प्रसन्नता भेल!
 कञ्चुकी: महाराजक उदासी कारण उत्सव रोकल गेल अछि।
 दूनु: ई उचित बुझाइत अछि।
 नेपथ्यसँ: आउ, आउ महोदय।

कञ्चुकी: (सुनि) महाराज एहि दिस आबि रहल छथि।
 अहाँ सभ अपन काजमे लागू! (दासी सभ बाहर जाइत छथि।)
 (पश्चात्ताप अनुरूप वस्त्र पहिरने राजा, विदूषक आ प्रतिहारी प्रवेश करैत छथि।)

कञ्चुकी: (राजाकेँ देखि) अहा! असाधारण सुन्दर मनुष्य प्रत्येक अवस्थामे उदात्त लगैत अछि। शकुन्तलाक विरहमे क्षीण होइतहुँ महाराज दर्शनीय छथि। ओ—
 दिखावा भरल अलङ्कार त्यागि देने छथि,
 बाम अग्रबाहुपर एकमात्र ढील सोनक कङ्कण पहिरने छथि;
 निःश्वाससँ अधर लाल भऽ गेल अछि,
 जागरणक चिन्तासँ आँखि शिथिल अछि।
 तैयो जन्मजात तेजक कारण क्षीण नहि देखाइत छथि,
 घर्षणसँ माँजल महान रत्न जकाँ।

अक्षामाला: अस्वीकार कऽ अपमानित कएलाक बादो शकुन्तला हुनका लेल व्याकुल छथि—ई उचितहि अछि।
 राजा: (विचारमे डूबल, धीरे-धीरे चलैत)
 ई अभागल हृदय पहिने सुतल छल,
 यद्यपि मृगनयनी प्रिया एकरा जगएबाक चेष्टा कएने छल।
 आब ई जागल अछि,
 मुदा पश्चात्तापक दुःख लेल।

अक्षामाला: बेचारी कन्याक भाग्यो लगभग एहने अछि।
 विदूषक: (अपनेसँ) फेर “शकुन्तला-रोग”क दौरा पड़लनि। नहि जानि एकर उपचार कोना होएत।
 कञ्चुकी: महाराजक जय हो! महाबली राजन्! राजकीय उपवनक निरीक्षण भऽ गेल अछि, जाहिसँ अवसर भेटला पर अहाँ भ्रमण कऽ सकी।
 राजा: (प्रतिहारीसँ) वसुमती, हमर नामसँ मन्त्री पिशुनकेँ कह जे दीर्घकालीन अनिद्राक कारण आइ न्यायासनपर बैसब सम्भव नहि। आइ ओ जे नागरिक मुकदमा जाँचथि, तकर लिखित प्रतिवेदन हमरा पठा देखि।
 प्रतिहारी: महाराजक जे आज्ञा। (बाहर जाइत छथि।)
 राजा: पर्वतायन! अहूँ अपन कर्तव्य करए जाउ।

कञ्चुकी: बहुत नीक। (बाहर जाइत छथि।)

विदूषक: मक्खी सभकेँ हटा देलहुँ। आब जाइ बीति गेल, तखन एहि रमणीय उपवनमे निश्चिन्त भऽ विश्राम कऽ सकैत छी।

राजा: मित्र, “दुर्घटना दुर्बल स्थानपरहि प्रहार करैत अछि”—ई कहावत कहियो मिथ्या नहि होइत। देख—

राजमुद्रिका कारण स्मृति घुरि आएल अछि,
आ अकारण त्यागल प्रियाक लेल
पश्चात्तापसँ व्याकुल भऽ विलाप कऽ रहल छी;
एहि समय सुगन्धित वसन्त-मासक आनन्द
सोझाँ आबि ठाढ़ि भेल अछि।

विदूषक: एक क्षण रुकू। हम एहि आम-रूपी कामदेवपर अपन लाठीक प्रहार करैत छी।

राजा: छोड़। तोहर ब्राह्मण-तेज देखि चुकल छी। मित्र, एतय बैसि एहि लता सभकेँ देखि आँखि बहलाएब, जे किछु-किछु हमर प्रियाक अनुकृति करैत अछि।

विदूषक: मुदा अहाँ चित्रकार मेधाविनीकेँ अखने तँ कहलहुँ—“हम माधवी-लता मण्डपमे किछु समय रहब। शकुन्तला देवीक जे चित्र अपन हाथसँ चित्रपटपर बनौने छी, से लऽ आउ।”

राजा: हमर हृदयक दशा एहनहि अछि। माधवी-मण्डपक बाट देखाउ।

विदूषक: आउ, महाराज। (दूनू चलैत छथि। अक्षामाला पाछाँ-पाछाँ जाइत छथि।)

विदूषक: (देखि) रत्न-जड़ित शिला-आसनसँ सजल ई माधवी-मण्डप हमर प्रिय मित्रक मौन स्वागत कऽ रहल अछि। भीतर चली। महाराज, बैसू। (दूनू प्रवेश कऽ बैसैत छथि।)

अक्षामाला: (एक लताक लग ठाढ़ि रहैत छथि।)

राजा: (स्मरणक अभिनय करैत) मित्र माधव्य, आब हमरा सभ मोन पड़ि गेल। पहिल बेर शकुन्तलाकेँ देखलापर जे बात तोरा कहलहुँ छल। जखन हम हुनका अस्वीकार कएलहुँ, तखन तौँ हमर लग नहि छलह। ओकरो पहिने तौँ बातचीतमे कहियो हुनकर नाम नहि अनलह। निश्चय तोहूँ, हमर जकाँ, हमरा सभक बात बिसरि गेल छलह।

विदूषक: हम बिसरल नहि रही। उलटे, अहाँ हमरा सभ घटना कहने छलहुँ। मुदा अन्तमे कहलहुँ जे ई सत्य नहि, मात्र परिहास छल। माटिक ढेला जकाँ मन्दबुद्धि हम, रहस्य प्रकट होएबाक भयक कारण, अहाँक बातकेँ सच मानि लेलहुँ। आ भाग्य तँ प्रबल होइतहि अछि।

अक्षामाला: ई सत्य अछि।

राजा: (कल्पनामे डूबल) मित्र, हमर सहायता कर, सहायता कर।

विदूषक: बात एतेक दूर कोना पहुँचि गेल? सज्जनक धैर्य दुःखसँ कोना डगमगा सकैत अछि? आँधीक वायुसँ सेहो पहाड़ अचल रहैत अछि।

राजा: मित्र! अपन प्रियाक असहाय भयक दशा मोन पड़ितहि हम अत्यन्त व्याकुल भऽ उठैत छी। ओ—

हमरासँ निकालल गेली,
अपन लोक सभक पाछाँ जाए चाहैत छली,
तखन पिताक समान पिताक शिष्य
जोरसँ आज्ञा देलक—“रुक!”
आ ओ बहैत नोरसँ धुँधल आँखिसँ
निर्दयी हमर दिस एक बेर फेर देखि लेली—
ई सभ विष-बुझल बाण जकाँ हमरा भेदैत अछि।

अक्षामाला: अहा, कतेक पीड़ा! हुनकर दुःख देखि हमरा सन्तोष भऽ रहल अछि।

विदूषक: महाराज, एकटा अनुमान अछि। देवीकेँ अवश्य कोनो आकाशचारी उठा लऽ गेल होएत।

राजा: देवताक अतिरिक्त ई के कऽ सकैत छल? हमरा कहल गेल छल जे मेनका तोहर सखीक माय छथि। हमर हृदय मानैत अछि जे हुनकर सखी सभ हुनका लऽ गेली।

अक्षामाला: अहा! हुनकर मोह आश्चर्यजनक छल, मुदा बुद्धिक जागरण नहि।

विदूषक: जँ एहन अछि तँ अन्ततः देवीसँ पुनः मिलन होएत।

राजा: कोना?

विदूषक: माय-बाप अपन पुत्रीकेँ पतिक वियोगमे बहुत काल धरि नहि देख सकताह।

राजा: मित्र,

की ओ सपना छल? माया? भ्रम?

कि कठिन पुण्यक फल?

मोन पाड़बाक पहुँचसँ बाहर चलि गेल,

आ हमर अभिलाषा लेल

ई अथाह खड्डु बनि गेल।

विदूषक: एहन नहि कहू। औँठी स्वयं प्रमाण अछि। भाग्यसँ निश्चित अद्भुत पुनर्मिलन एही प्रकार होइत अछि।

राजा: (औँठी दिस देखि) अहा! अगम स्थानसँ खसल ई अभागल वस्तु।

हे औँठी, तोहर पुण्यक फल

वास्तवमे हमर जकाँ अत्यन्त तुच्छ भेटल।

लाल नहसँ मनोहर ओकर आङुरमे

तोरा स्थान भेटल छल,

तैयो ओतयसँ खसि पड़लह।

अक्षामाला: (अपनेसँ) सखी, तौ बहुत दूर छह। तँ ई कर्णप्रिय सुख हम असगरे लऽ रहल छी।

विदूषक: मित्र! ई औँठी देवीक हाथमे पहिरएबाक प्रयास कोना कएलहुँ?

राजा: सुन। तपोवनसँ अपन नगर दिस प्रस्थान करैत रही, तखन आँखिमे नोर भरने प्रिया हमरा कहली—“आर्यपुत्र हमरा कतेक दिन धरि मोन रखताह?”

विदूषक: तखन? तखन?

राजा: तखन ई राजमुद्रिका हुनकर आङुरमे पहिरा कऽ कहलहुँ—

दिन-दिन एक-एक कऽ

हमर नामक अक्षर गनिह।

प्रिय, जखन अन्तिम अक्षर धरि पहुँचबह,

तखन केओ आबि तोरा बाट देखबैत

अन्तःपुर लऽ जाएत।

...आ मोहमे पड़ि ओहन घोर अपराध कऽ देलहुँ।

अक्षामाला: भाग्य अहाँकेँ मनोहर उपाय सुझौलक।

विदूषक: तखन ई औँठी काँटी जकाँ ओहि अभागल रोहू माछक मुँहमे कोना पहुँचि गेल?

राजा: तोहर सखी शचीतीर्थक जलकेँ प्रणाम करैत गङ्गाक धारामे एकरा खसा देली। आब एकरा उलाहना दी—

कोमल वक्र आङुरबला ओ हाथ छोड़ि

जलमे कोना डूबि गेलह?

मुदा नहि—

जड़ वस्तु गुण-दोष नहि बुझैत अछि;

तखन हम अपन प्रियाकें कोना ठुकरा देलहुँ?

अक्षामाला: एहि कथाक आरम्भ आ अन्त एक-दोसरक विपरीत अछि।

राजा: अकारण तिरस्कृत प्रियाकें फेर कहिया देखब?

(हाथमे चित्रपट लेने चित्रकार प्रवेश करैत छथि।)

चित्रकार: (चारू दिस देखि) महाराज एतय छथि। हुनका लग जाइत छी। (लग आबि) महाराजक जय हो! देवीक चित्र अनने छी। (चित्रपट देखबैत छथि।)

विदूषक: (देखि) अहा, अहा, अहा! बिलकुल सजीव सौन्दर्य! साधु मित्र, साधु! आ की कही? आत्मा एहि चित्रमे प्रवेश कऽ गेल हो—एहन बुझि एकरासँ बात करबाक इच्छा भऽ रहल अछि।

अक्षामाला: अहा! हुनकर साथी चित्रकारक कूचीमे कतेक निपुणता अछि! हमरा सखी सोझाँ ठाढ़ि देखाइत छथि।

राजा: (आह भरैत)

पहिने सोझाँ ठाढ़ि प्रियाकें अस्वीकार कएलहुँ;

आब चित्रमे बनल हुनका आदर दऽ रहल छी।

बाटमे उमड़ल जलसँ भरल नदीकें उपेक्षित कऽ

हाय, आब मृगमरीचिकाक लेल तरसि रहल छी।

अक्षामाला: जे सभ हम कहए चाहैत रही, से ओ स्वयं स्वीकार कऽ लेलनि।

विदूषक: (चित्र जाँचैत) तीन गोटे स्त्री देखाइत छथि। सभ सुन्दर छथि। एहि मे शकुन्तला के छथि?

अक्षामाला: बेचाराकें अपना के धोखा देब नीक जकाँ अबैत अछि; हमर सखी वास्तवमे एतय नहि छथि।

राजा: तोरा कोन गोटे बुझाइत छह?

विदूषक: (बहुत काल धरि देखि)

हमरा बुझाइत अछि—अशोकक लताक सहारे थाकल ठाढ़ि ई स्त्री, जकर मुखपर पसिनाक बूँद अछि; ढील केश-बन्धनसँ फूल खसि रहल; बाँहि-लता अपन शाखा नीचाँ झुका देने; वस्त्रक करधनी खुलल—इएह शकुन्तला देवी होएतीह। दोसर दूनू हुनकर सखी छथि।

राजा: तौँ चतुर छह। एहि मे हमर प्रेमक स्पष्ट चिह्न अछि।

रेखाक कातमे नम आङुरक धब्बा देखाइत अछि,

आ हमर गालसँ खसल नोरक कारण

कूचीक रङ्ग पसारल देखल जा सकैत अछि।

मेधाविनी! विहार-वनक चित्र आधा बनल अछि। जा, कूची लऽ आ।

चित्रकार: आर्य माधव्य! हम घुरि अबैत छी, ताबत चित्रपट पकड़ने रहू। (विदूषककें दऽ बाहर जाइत छथि।)

विदूषक: एतय आओर की चित्रित करब बाँकी अछि?

अक्षामाला: निश्चय ई हमर प्रिय सखीक मनपसन्द सभ स्थान बनाबए चाहैत छथि।

राजा: माधव्य, सुन।

हम मालिनी नदी बनएब,

जकर बालूबला तटपर वनहंसक जोड़ा पाँतिमे अछि;

गौरीक पिता पवित्र हिमालयक तलहटीक घाटी,

जतय चमरिगाय विश्राम करैत अछि;
आ जाहि गाछसँ वल्कल लटकि रहल अछि,
ओकर नीचाँ हरिणक सीङमे
बाम आँखि रगड़ैत हरिणी बनाबए चाहैत छी।

विदूषक: (अपनेसँ) हमरा बुझाइत अछि जे एकर अतिरिक्त तपस्वी सभक झबरा दाढ़िसँ चित्र भरि देताह।

राजा: माधव्य, आओर एक बात। शकुन्तलाक प्रिय एकटा अलङ्कार बनाबए बिसरि गेलहुँ।

विदूषक: ओ केहन छल?

अक्षामाला: वनवासिनी आ हुनकर कोमलताक अनुकूल किछु।

राजा:

मित्र, कानमे डाँठ अटकायल
आ गाल धरि रेशा लटकल शिरीष-फूल नहि बनौने छी;
नहि शरदक चन्द्र-किरण जकाँ कोमल
स्तनक बीच पड़ल कमल-तन्तुक हार।

विदूषक: आब देवी अपन लाल कमल जकाँ सुन्दर आङुरसँ मुँह ढाँपि एतेक डरायल किएक देखाइत छथि? (देखि) अरे, अरे, अरे! ई दासक
बेटा, फूलक लुटेरा मधुमाछी देवीक कमल-मुख लेल भूखल अछि।

राजा: जा, एहि धृष्ट उपद्रवीकेँ भगा दे!

विदूषक: दुष्टक दमन करएबला अहाँहि एकरा हटा सकैत छी।

राजा: ठीक अछि। “अरे! प्रत्येक फूलल लताक स्वागत-योग्य अतिथि छह। एतय उड़ि-उड़ि अपना के किएक थका रहल छह?”

फूलमे बसल तोहर प्रेममयी मधुमाछी
तोहर प्रतीक्षामे अछि।
पिआसल रहितहुँ
तोहर बिना मधु नहि पीत।

अक्षामाला: कतेक सुन्दर ढङ्गें विदा कएलनि।

विदूषक: एहि जातिक जीव भगेलापर आओर हठी भऽ जाइत अछि।

राजा: तौ ठीक कहैत छह! “जखन हमर आज्ञा नहि मानबह, तखन आब सुन।”

हे मधुकर, जँ तौ हमर प्रियाक
बिम्बाफल-जकाँ लाल अधरकेँ डँसबह—
जे नव गाछक कुँआरी कोढ़ी जकाँ मनोहर अछि,
आ प्रेमोत्सवमे जकर रस हम कोमलतासँ पीने रही—
तखन तोरा कमलमे बन्दी बना देब!

विदूषक: एहन कठोर दण्डसँ ओ अहाँसँ कोना नहि डेराएत? (हँसैत, अपनेसँ) ई सचमुच पूरा पागल भऽ गेलाह! हुनकर सङ्गतिसँ हमहुँ
दूषित भऽ गेलहुँ।

अक्षामाला: आब जागल हमरो एहि मे गनू।

राजा: प्रिय! की ओ अखनो ओतहि अछि?

अक्षामाला: अहा! प्रेम दृढ़ पुरुषोकेँ वशमे कऽ लैत अछि।

विदूषक: ई चित्र अछि।

राजा: (दुःखी) मित्र, हमरा पर एहन निर्दयता किएक करैत छह?

हृदय तन्मय कऽ

सोझाँ उपस्थित जकाँ हुनकर दर्शन-सुख लऽ रहल रही;

तौं स्मृति जगा कऽ

फेर हुनका चित्र बना देलह।

(कनैत छथि।)

अक्षामाला: सखी, अपन आँखिसँ देखि लेलहुँ जे शकुन्तलाकेँ अस्वीकार कऽ जे अनादर कएने छलहुँ, से अहाँकेँ मोन अछि।

चित्रकार: (प्रवेश करैत) महाराज, अहाँक रङ्गक पेटी रानी कुलप्रभाक परिजनक हाथमे पड़ि गेल अछि।

राजा: ठीक अछि; एखन चित्र बनाएबाक मनो नहि अछि।

अक्षामाला: कुलप्रभाकेँ बहुत आदर दैत छथि। मुदा एकर कोनो महत्त्व नहि। विपज्जी वीणा नहि भेटए तखन एकतारी वीणो प्रिय लगैत अछि।

राजा: मित्र, देख। हमरा निरन्तर ई पीड़ा किएक सहए पड़ि रहल अछि?

जागल रहब सपनामे हुनकासँ मिलनो रोकैत अछि;

आ नोर चित्रमे सेहो हुनका देखए नहि दैत अछि।

चित्रकार: महाराज, पिङ्गलिका अपन सखी सभक सङ्ग चित्रकेँ छीनि-फाइए लेल आबि रहल छथि।

विदूषक: आब हुनकर आशा टूटि गेल!

राजा: हाय! (छातीपर हाथ रखैत छथि।)

नेपथ्यसँ: देवीक जय हो! जय हो!

विदूषक: (सुनि) हाय रे! अन्तःपुरक बधिनी पिङ्गलिका, हरिणी जकाँ मेधाविनीक पदचिह्न पकड़ने, हमरा सभपर टूटि पड़ि रहल छथि।

राजा: मित्र, हमर प्रियाक एहि चित्रक रक्षा कर।

विदूषक: अर्थात् अहाँ अपनहि रक्षा करबाक कहि रहल छी।

अक्षामाला: सखी, शत्रु समान एहि व्यक्तिसँ तोहर चित्रो दूर कऽ देल गेल।

विदूषक: (चित्रपट लैत) एकरा एहन ठाम नुकाएब जतय कपोतक अतिरिक्त केओ नहि देखत। (शीघ्र डेगसँ बाहर जाइत अछि।)

प्रतिहारी: (पत्र लेने प्रवेश करैत) महाराजक जय हो!

राजा: वसुमती! रानी नहि अयलीह?

प्रतिहारी: महाराज, हमरा पत्र अनैत देखि ओ घुरि गेली।

राजा: ओ समयक मर्यादा बुझैत छथि आ राजकाजमे बाधा नहि दैत छथि।

प्रतिहारी: महाराज, मन्त्री कहैत छथि जे काज बहुत रहबाक कारण ओ केवल एक नागरिकक मुकदमा जाँचि सकलाह। महाराज एकरा देखथि।

राजा: मेधाविनी, पढ़ू!

लेखिका: महाराजक जे आज्ञा। (पत्र खोलि पढ़ैत) “महाराजकेँ ज्ञात हो जे अपन नामकेँ सार्थक करएबला समुद्री व्यापारी धनवृद्धि जहाज डूबला कारण मरि गेल। ओकर कोनो सन्तान नहि अछि। ओकर सम्पत्ति हजारो करोड़ अछि। आब ई राजकोषमे जाएत। ई सुनि महाराज निर्णय दिअथि।”

राजा: (व्याकुल) सन्तान नहि होएब बहुत दुःखक बात अछि। वसुमती! ओ धनवान छल, तँ ओकर अनेक पत्नी अवश्य होएतीह। पता करू जे हुनकामे सँ केओ गर्भवती तँ नहि छथि।

प्रतिहारी: महाराज, अखने ज्ञात भेल जे श्रेणिपति केशवक पुत्री, जे हुनकर पत्नी छथि, पुत्र-प्राप्तिक गर्भाधान संस्कार कऽ चुकल छथि।

राजा: तखन अजन्मा बालक पिताक सम्पत्तिक अधिकारी अछि। जा, माननीय पिशुनकें ई कहि दिस।

प्रतिहारी: महाराजक जे आज्ञा! (जाइत छथि।)

राजा: एक क्षण घुरू।

प्रतिहारी: (घुरि) उपस्थित छी।

राजा: हुनका ईहो कहू। ओकर सन्तान हो वा नहि, एहि सँ की?

घोषणा करू जे हमर प्रजाक
जे कोनो प्रिय सम्बन्धी मरि जाए,
जँ ओ पापमुक्त हो,
तँ दुष्यन्त ओकर स्थान लेत।

प्रतिहारी: निश्चय एही प्रकार घोषणा होएत। (बाहर जा फेर प्रवेश करैत)

महाराज, समयपर मेघ गरजलासँ जेना लोक आनन्दित होइत अछि, तहिना अहाँक घोषणासँ प्रजा हर्षित भऽ गेल।

राजा: (गम्भीर निःश्वास लैत) वंश-परम्परा टूटला कारण आधारविहीन कुलक अन्तिम पुरुष जखन मरैत अछि, तखन ओकर धन एही प्रकार दोसराक भऽ जाइत अछि। हमर मृत्युक बाद पुरुवंशक गौरवक संग सेहो एही होएत।

प्रतिहारी: ई आशङ्का कहियो सत्य नहि होअ!

राजा: धिक्कार अछि हमरा, जे विधाताक देल कल्याणकें निन्दित कऽ ठुकरा देलहुँ!

अक्षामाला: निश्चय ओ हमर सखीक कारण अपना के दोष दऽ रहल छथि।

राजा:

हम अपन धर्मपत्नीकें त्यागि देलहुँ,
जे हमर कुलक आधार छलीह,
जाहिमे हमर आत्मा समाहित छल;
जे समयपर बीआ रोपल पृथ्वी जकाँ
महान फलकें जन्म देबएबाली छथि।

लेखिका: (अपनेसँ) मन्त्री कोन विचारसँ ई पत्र पठौलनि, जकरा देखते महाराजक मन उदास भऽ गेल? (विचार करैत) मुदा नहि, ओ बिना सोचने काज नहि करैत छथि।

राजा: हाय! दुष्यन्त अपन पूर्वज सभकें सङ्कटमे डालि देलक।

हमर बाद, हाय, हमर कुलमे के
शास्त्र-विहित पिण्ड-जल देत?
निश्चय हमर पूर्वज जलक बदला
हमर निर्मल नोर पीबि रहल छथि—
सन्तान-विहीन हम अधूरा छी।

अक्षामाला: ई तँ स्वाभाविक भूल अछि! युवावस्थाक पराकाष्ठापर स्थित महाराज आन रानीसँ योग्य पुत्र जन्मा कऽ पितृ-ऋण चुका देताह।

(अपनेसँ) ओ हमर वचन सुनि नहि सकैत छथि! अथवा रोगकेँ केवल उचित औषधि ठीक करैत अछि।

राजा: (शोकक अभिनय करैत)

आरम्भसँ निर्मल ई पौरव वंश

अयोग्य आ सन्तान-विहीन हमरा कारण समाप्त भऽ रहल अछि,

जेना पवित्र सरस्वती नदी

अनुपजाऊ मरुभूमिमे लुप्त भऽ जाइत अछि। (मूर्छित होइत छथि।)

परिजन: (भयभीत भऽ देखि) जागू महाराज, जागू!

अक्षामाला: एखनहि हुनकर पीड़ा समाप्त कऽ दैत छी। मुदा नहि, महान देवता सभ एहनहि विधान कएने छथि। अनुमति बिना हस्तक्षेप नहि

कऽ सकैत छी। ठीक अछि। यज्ञ-भाग लेल उत्सुक देवता सभ राजर्षिक पत्नी-सङ्ग पुनर्मिलनक व्यवस्था करताह। (आकाश दिस देखि,

प्रसन्न) ओ सभ कोना करैत छथि, से देखब। एखन ई समाचार दऽ अपन प्रिय सखीकेँ सान्त्वना दैत छी। (ऊपर उड़ि जाइत छथि।)

नेपथ्यसँ: अनर्थ! अनर्थ! बचाउ! अनर्थ!

राजा: (होशमे आबि सुनैत) अहा! ई माधव्यक सङ्कट-स्वर लगैत अछि।

चित्रकार: बेचारा अवश्य पिङ्गलिका देवीक जबड़ामे पड़ि गेल होएत।

राजा: वसुमती, जा कऽ हमर नामसँ रानीकेँ डाँटू जे ओ अपन परिजनकेँ नियन्त्रणमे किएक नहि रखैत छथि।

प्रतिहारी: जेना आज्ञा। (बाहर जाइत छथि।)

राजा: ब्राह्मणक स्वर एना काँपि रहल अछि जेना सचमुच डेरायल हो। के उपस्थित अछि?

(प्रवेश करैत) कञ्चुकी: आज्ञा दिअ, महाराज!

राजा: ओ बालक माधव्य किएक चिचिया रहल अछि?

कञ्चुकी: महाराज, हम जा कऽ देखैत छी। (बाहर जा भयभीत भऽ घुरैत छथि।)

राजा: पर्वतायन! ई प्राण-सङ्कटक बात तँ नहि?

कञ्चुकी: नहि, महाराज।

राजा: तखन ओ डेरायल किएक अछि? मुदा—

जे कम्पन पहिने वृद्धावस्थाक कारण होइत छल,

आब तोहर सम्पूर्ण शरीरमे अत्यधिक देखाइत अछि,

जेना वायुमे पीपरक गाछ काँपैत अछि।

कञ्चुकी: तखन महाबली राजन्, अपन मित्रक रक्षा करू।

राजा: ककरासँ रक्षा करी?

कञ्चुकी: घोर सङ्कटसँ!

राजा: हाय! कोनो बुझए योग्य बात कहू!

कञ्चुकी: महाराज, “मेघचुम्बी” नामक ओ राजप्रासाद...

राजा: ओतय की भऽ रहल अछि?

कञ्चुकी:

जे सर्वोच्च शिखरपर
पालित मोर अनेक बेर विश्राम कऽ पहुँचैत अछि,
ओतयसँ कोनो अदृश्य दानव
अहाँक मित्रकेँ उठा लेने अछि।

राजा: (झट उठैत) ई असम्भव! दानव सभ हमर घर धरि घुसि आएल। राजसत्ता अनेक उलटफेरसँ घेरल अछि।

दिन-प्रतिदिन अपन अनदेखल त्रुटियो
जानब सम्भव नहि होइत अछि।
प्रजामे के कोन बाट चलि रहल अछि,
ई पूर्णतः जानबाक शक्ति ककरा अछि?

नेपथ्यसँ: दौड़, दौड़!

राजा: (डेग तेज करैत) मित्र, भय नहि कर, भय नहि कर।

(नेपथ्यसँ) विदूषक: भय कोना नहि करी?

केओ पाछाँसँ हमर गरदनि दबा कऽ ऊख जकाँ चिपटए चाहैत अछि!

राजा: (चारू दिस देखि) हमर धनुष! धनुष!

(यवन स्त्री धनुष हाथमे लेने प्रवेश करैत अछि।) महाराजक जय हो! ई अहाँक धनुष आ बाँहि-रक्षक।

राजा: (धनुष-बाण ग्रहण करैत छथि।)

नेपथ्यसँ:

तोहर गरदनिक ताजा रक्त पीबाक उत्कण्ठामे
बाघ अपन शिकारकेँ जेना पकड़ैत अछि,
तेना तोरा जकड़ि मारि देब।
पीड़ितक भय दूर करबाक लेल धनुष उठौने
दुष्यन्त आब तोहर रक्षा करथि।

राजा: (क्रोधित) की ओ हमर उपहास कऽ रहल अछि? ठाढ़ रह, ठाढ़ रह, हे कुलकलङ्क! आब तौ नहि बचबह। (धनुष उठबैत) पर्वतायन!
सोपानक बाट देखाउ।

कञ्चुकी: एहि दिस, एहि दिस, महाराज। (सभ दौड़ैत अबैत छथि।)

राजा: (चारू दिस देखि) मुदा एतय तँ केओ नहि अछि।

(परदा पाछाँसँ) विदूषक: शीघ्र करू! हम अहाँकेँ देखि रहल छी; अहाँ हमरा नहि देखि रहल छी। बिलाड़िक पकड़ल मूसा जकाँ हमर जीवनक
आशा समाप्त भऽ गेल।

राजा: अदृश्य रहबाक अभिमान करएबला दुष्ट, हमर बाण तोरा देखि लेत। स्थिर ठाढ़ रह! हमर मित्रकेँ पकड़ने रहने कारण निश्चिन्त नहि हो।
तोरा लेल ई बाण चढ़ा रहल छी—

जे वध योग्य तोरा मारत
आ रक्षा योग्य ब्राह्मणकेँ बचाओत;
जेना हंस दूध ग्रहण करैत अछि,
मुदा ओहिमे मिलल जल छोड़ि दैत अछि।

(बाणक लक्ष्य साधैत छथि।)

(व्याकुल मातलि विदूषककेँ छोड़ैत प्रवेश करैत छथि; विदूषको सङ्ग छथि।)

मातलि: महाराज!

इन्द्र दानव सभकेँ अहाँक लक्ष्य बनौने छथि;
अपन धनुष हुनका सभपर तानू।
सज्जनक कृपामय कोमल दृष्टि
मित्रपर पड़ैत अछि, निर्दय बाण नहि।

राजा: (बाण उतारैत) अहा, मातलि! देवराजक सारथिक स्वागत अछि।

विदूषक: (प्रवेश कऽ लग आबि) अरे! ई राक्षस हमरा लगभग मारिए देने छल!

मातलि: (मुस्कराइत) महाराज, इन्द्र हमरा अहाँ लग किएक पठौलनि से सुनू।

राजा: ध्यानसँ सुनैत छी।

मातलि: कालनेमिक वंशज दुर्जय नामक एक दानव-राज अछि।

राजा: नारदसँ एकर विषयमे पहिनहि सुनने छी।

मातलि:

कहल जाइत अछि जे अहाँक मित्र इन्द्र ओकर वध नहि कऽ सकैत छथि;
कहल जाइत अछि जे युद्धक अग्रभागमे अहाँ ओकर संहारक भऽ सकैत छी।
जाहि रातिक अन्हारकेँ सूर्य दूर नहि कऽ पबैत छथि,
ओकरा चन्द्रमा हटा दैत छथि।

तैं आब धनुष उठाउ, इन्द्रक रथपर चढ़ू आ विजय लेल प्रस्थान करू।

राजा: इन्द्रक सम्मानसँ हम धन्य भेलहुँ। मुदा माधव्यकेँ एहन दुर्व्यवहार किएक कएलहुँ?

मातलि: (विदूषक दिस मुस्कराइत) कहैत छी। हमरा बुझायल जे महाराज कोनो कारणसँ पश्चात्तापमे उदास छथि। तखन महाराजक क्रोध जगएबाक लेल एहन कएलहुँ। किएक कि—

ईधनकेँ हिलौलापर आगि भभकि उठैत अछि,
धमकी भेटलापर साँप फण पसारैत अछि,
आ प्रायः मनुष्यकेँ उकसौलापर
ओ अपन साहस फेर पाबि लैत अछि।

राजा: (एक कात) मित्र माधव्य! देवराजक आदेश टारल नहि जा सकैत अछि। अतः एतय जे भेल से मन्त्री पिशुनकेँ कह आ हमर नामसँ ई सन्देश दऽ—

एखन केवल अहाँक तीक्ष्ण बुद्धि
प्रजाक रक्षा करए।
ई चढ़ल धनुष
आब दोसर काजमे नियुक्त अछि।

विदूषक: महाराजक जे आज्ञा। (बाहर जाइत अछि।)

मातलि: एहि दिस, महाराज।

सभ चलैत बाहर जाइत छथि।

एहि प्रकार षष्ठ अङ्क समाप्त।

(एक दिव्य नर्तकी प्रवेश करैत छथि।)

दिव्य नर्तकी: हमर गुरु नारद कहलनि जे एहि समय राजर्षि दुष्यन्त मनुष्यलोकसँ ऊपर जा भगवान इन्द्रक आज्ञासँ एक दानवक वध करए गेल छथि। हुनका प्रणाम कऽ स्तुति गेला पर गुरु हमरा विद्वान दर्शक सभक समक्ष मङ्गल-आशीर्वाद रूपमे नृत्य प्रस्तुत करबाक आज्ञा देलनि—“जा, एक नर्तकी खोजि नृत्य-मण्डपमे आउ।” अतः आब हम एक नर्तकी खोजि रहल छी। (घुमैत चारू दिस देखैत) ई के हमर दिस आबि रहल छथि—मानो अखने कोनो अलङ्कार पाबि एकहि संग उत्कण्ठितो आ सन्तुष्टो छथि? (ध्यानसँ देखि) अरे, ई तँ हमर प्रिय सखी चूतमञ्जरी छथि! नीक, हुनका गुरु लग लऽ चलैत छी। (प्रतीक्षा करैत छथि।)

(तखन कहल रूपमे दोसर नर्तकी प्रवेश करैत छथि।)

चूतमञ्जरी: (आश्चर्य आ आनन्दसँ) अहा! राजर्षि दुष्यन्तक कतेक महान शक्ति अछि। (तिरस्कारसँ) ओह, महाबली दानव दुर्जय मारल गेल! (विचार करैत) ठीक-ठीक कही तँ केवल अपन सारथिक सङ्ग दुष्यन्त अनगिनत सहस्र अस्त्र बरसा कऽ एक क्षणमे शक्तिशाली दुर्जयक संहार कऽ देलनि। (नृत्य करैत छथि।)

पहिल: सखी चूतमञ्जरी, तौ प्रेमातुर बुझाइट छह?

दोसर: (देखि) की तौ पारिजातमञ्जरी छह? सखी, सभ बात कहब। मुदा पहिने कह—कतय जा रहल छह?

पहिल: सखी, संक्षेपमे कहैत छी। राजर्षि दुष्यन्तक दानवपर विजयक अवसरमे आइ उत्सवमय प्रस्तुति करबाक गुरु आज्ञा देलनि। अतः हम दूनू हुनका देखए जाएब।

दोसर: (उत्कण्ठासँ) एकर कोनो कारण होएत। मुदा जखन राजा मनुष्यलोक घुरि रहल छथि, तखन प्रस्तुति ककरा लेल करब?

पहिल: (चिन्तित) सखी, की ओ महेन्द्रक इच्छा पूर्ण कऽ विदा भेलाह, कि आन प्रकारें?

दोसर: सखी, सुन! आइए प्रातःकाल ओ पृथ्वी दिस विदा होइत छथि; वरदानक रूपमे दुर्जयक शेष जीवन—आ स्वर्गाङ्गना सभक अनुरक्त हृदय—अपना सङ्ग लऽ जा रहल छथि। एही कारण हम एकहि संग प्रसन्नो छी आ उत्कण्ठितो।

पहिल: सखी, तौ शुभ समाचार देलह। गुरु हमरा सभकेँ पुरुवंशी राजर्षिक समक्ष प्रस्तुति देबाक आज्ञा देलनि। चल, एतहि एकटा गीत रचि गाबी।

दोसर: जेना तोहर इच्छा। हमर गीत वा तोहर पाठपर हम दूनू सङ्गहि नाचि सकैत छी।

पहिल: सखी, एही प्रकार करब। (दूनू गबैत छथि।)

वसन्तकाल

एक मधुकरकेँ विषय-भोगसँ विमुख कऽ

अनुचित आचरण दिस लऽ जाइत अछि;

दोसराकेँ प्रेमसँ भरैत अछि,

आ धरतीक लालिमासँ

आनकेँ उदास करैत अछि।

(अन्तमे नृत्य कऽ बाहर जाइत छथि।)

प्रस्तावना समाप्त।

(राजा आ मातलि आकाशयानपर प्रवेश करैत छथि।)

राजा: मातलि! इन्द्रक आदेश पालन कएनेहुँ, हमरा जे उच्च सम्मान देलनि ओकर सोझाँ हम अपना के अयोग्य मानैत छी।

मातलि: महाराज, अहाँ दूनू एक-दोसरक ऋण नहि मानि रहल छी। कोना?

इन्द्रक एतेक सहायता कऽ

हुनकर उच्च सम्मान देखि अहाँ अपन काज तुच्छ मानैत छी;

आ ओ अपन सम्मानकेँ

अहाँक महान कार्यक बराबर नहि मानैत छथि।

राजा: एहन नहि। विदा होएबाक समय हमरा जे सम्मान देल गेल, से हमर इच्छासँ बहुत बेसी छल। देवता सभक सोझाँ हुनकर आधा सिंहासनपर बैसल रही—

तखन इन्द्र अपन लग ठाढ़ि जयन्त दिस मुस्कराइत देखलनि—

जे मनहि-मन एहि सम्मानक आकाङ्क्षी छल—

आ पीयर चन्दनसँ लिपल अपन छातीसँ रगड़ल

स्वर्गीय मन्दार-फूलक माला हमरा पहिरौलनि।

मातलि: देवराजसँ ई सम्मान अहाँक योग्य किएक नहि होएत? देखू—

सुख चाहएबला इन्द्र लेल

स्वर्गक काँट—दानव सभ—दू वस्तु निकालि देलक:

अहाँक चिक्कन बाण,

आ बहुत पहिने नरसिंहक नह।

राजा: एहि मे इन्द्रक महानता अछि। देख—

सेवक महान कार्यमे सफल होइत अछि तँ

से महान स्वामीक देल सम्मानक कारण—ई जानू।

जँ सहस्रकिरण सूर्य अरुणकेँ

अपन रथक अग्रभागमे नहि रखितथि,

तँ अरुणमे अन्हार नाश करबाक शक्ति कहाँसँ अबैत?

मातलि: ई वचन अहाँक अनुरूप अछि। (किछु आगाँ बढ़ैत) महाराज! एतय देखू, अहाँक यशक प्रकाश स्वर्गक छत धरि पहुँचि गेल अछि।

देवता सभ अहाँक कर्मक महत्त्व विचारि

अप्सरा सभक बाँचल प्रसाधन-रङ्गसँ

कल्पलताक बाहरी पातपर ओकर चित्र बनबैत छथि।

राजा: मातलि, काल्हि दानवसँ युद्धक उत्कण्ठामे ऊपर चढ़ैत स्वर्गक भूगोलपर ध्यान नहि देलहुँ। आब कोन दिव्य प्रदेशमे यात्रा कऽ रहल छी?

मातलि:

ई वाष्परहित प्रवाह-वायुक प्रदेश अछि,

जे विष्णुक दोसर चरणसँ पवित्र भेल अछि;

तीन धाराबाली गङ्गाक स्वर्गीय जलधारा धारण करैत,

आ वृत्तमे विकीर्ण किरणसँ

नक्षत्र सभकेँ घुमबैत अछि।

राजा: एही कारण हमर अन्तरात्मा आ भीतर-बाहरक इन्द्रिय सभ शान्त अछि। (चक्का दिस देखि) हमरा बुझाइत अछि जे हम सभ मेघक प्रदेशमे उतरि आएल छी।

मातलि: (मुस्कराइत) कोना बुझलहुँ?

राजा:

अहाँक रथक चक्काक आरक बीचसँ
चातक पक्षी उड़ि रहल अछि;
घोड़ा सभ बिजलीक चमकसँ रङ्गल अछि,
चक्काक घेर नम अछि—
ई बतबैत अछि जे रथ
वर्षा-गर्भित मेघक ऊपरसँ गुजरल अछि।

मातलि: एक क्षणमे अहाँ अपन शासनक लोकमे पहुँचब।

राजा: (नीचाँ देखि) तीव्र गतिसँ उतरबाक कारण मनुष्यलोक विचित्र देखाइत अछि। किएक कि—

उभरैत पहाड़क कारण पृथ्वी मानो पाछाँ हटि रहल अछि;
गाछक तना ऊपर उठैत पातक आड़ि हटि रहल अछि;
पतली रेखा जकाँ जलविहीन देखाइत नदी सभ
पूर्ण रूप पाबि स्पष्ट भऽ रहल अछि।
देखू! मानो ककरो पृथ्वी ऊपर फैंक कऽ
हमर लग आनि देलक हो।

मातलि: (आदरपूर्वक देखि) अहा, पृथ्वीक सौन्दर्य अतुलनीय अछि।

राजा: मातलि, ई कोन पर्वत अछि जे पूर्व आ पश्चिम समुद्रमे डूबल अछि, आ सन्ध्याकालीन मेघक देवाल जकाँ सोन टपकबैत चमकि रहल अछि?

मातलि: महाराज, ई सुवर्णशिखर—किन्नर सभक पर्वत—तपस्वी सभक सिद्धि-प्राप्तिक सर्वोत्तम स्थान अछि।

स्वयम्भू मरीचिसँ जन्मल
देव आ दानवक पिता प्रजापति
अपन पत्नीक सङ्ग एतय तपस्या करैत छथि।

राजा: (आदरपूर्वक) शुभ अवसर उपेक्षित नहि करबाक चाही। हुनकर प्रदक्षिणा कऽ भगवानक दर्शन करी।

मातलि: इएह हमर प्रधान कर्तव्य! (उतरबाक अभिनय करैत) हम सभ उतरि गेलहुँ।

राजा: (आश्चर्यसँ) मातलि!

चक्काक घेरसँ कोनो ध्वनि नहि,
धूर उठैत नहि देखाइत अछि।
अहाँक रथ उतरि गेल, तैयो पता नहि चलल;
पृथ्वीकेँ नहि छुअला कारण कोनो झटका नहि लागल।

मातलि: अहाँ आ इन्द्रक बीच एतेकहि अन्तर अछि।

राजा: मरीचक आश्रम कोन दिस अछि?

मातलि: (हाथसँ देखबैत)

जतय ओ ऋषि सूर्य दिस मुँह कऽ
खम्भा जकाँ अचल ठाढ़ि छथि;
देहक आधा भाग दीमकक ढूहमे गड़ल,

साँपक केंचुलसँ बनल दोसर जनऊ पहिरने;
सुखायल लताक पाशसँ कण्ठ कसायल,
आ कान्ह ढाँपएबला विशाल जटामे
पक्षीक घोंसला भरल अछि।

राजा: महान तपस्वीकेँ प्रणाम!

मातलि: (लगाम स्थिर करैत) आब हम सभ प्रजापतिक तपोवनमे प्रवेश कऽ गेलहुँ, जतय अदिति मन्दार-वृक्षक सेवा करैत छथि।

राजा: कतेक आश्चर्य! स्वर्गसँ बेसी विश्राम देबएबला अमृतक सरोवरमे डूबल जकाँ अनुभव भऽ रहल अछि।

मातलि: (रथ रोकैत) उतरू।

राजा: (उतरबाक अभिनय करैत) आब की?

मातलि: (दूनू चलैत) बान्हल रथ एतहि रहत। हमहुँ उतरैत छी। (ओहिना करैत) एहि दिस, एहि दिस, महाराज। (दूनू चलैत) महाराज, सिद्ध ऋषि सभक तपोवन देखू।

राजा: दूनू बात देखि आश्चर्य भऽ रहल अछि—

कल्पवृक्षक वनमे रहितहुँ
ओ सभ केवल वायुसँ प्राण धारण करैत छथि;
हजारो सोनक कमल-पातसँ पवित्र जलमे
सन्ध्याकालीन स्नान करैत छथि;
रत्नक गुफामे ध्यान करैत छथि;
अप्सरा सभक बीच संयम साधैत छथि।
जकर प्राप्ति लेल आन ऋषि तपस्या करैत छथि,
ओहि सभक बीच रहियो
ई ऋषि सभ तप करैत छथि।

मातलि: महान व्यक्तिक अभिलाषा उच्च होइत अछि। (दूनू चलैत; मातलि आकाश दिस पुकारैत) वृद्ध शाकल्य! गुरुदेव कोन कार्यमे व्यस्त छथि? (सुनैत) की कहैत छी? अदिति हुनकासँ सती स्त्रीक गुण पूछने छथि आ ओ तकर व्याख्या कऽ रहल छथि; अतः हमर निवेदनकेँ उचित अवसर धरि प्रतीक्षा करए पड़त। (राजा दिस देखि) हम प्रजापतिकेँ अहाँक आगमनक सूचना दैत छी, ताबत एहि अशोकक नीचाँ बैसू।

राजा: जेना अहाँक इच्छा। (प्रतीक्षा करैत छथि।)

मातलि: (बाहर जाइत छथि।)

राजा: (शुभ फड़कनक अभिनय करैत)

हमर इच्छा पूर्ण होएबाक आशा नहि,
हे बाँहि, व्यर्थ किएक फड़कि रहल छह?
पहिने तिरस्कृत सौभाग्य
बादमे दुःख बनि जाइत अछि।

नेपथ्यसँ: नहि! दुष्टता नहि कर! हे सिंह, अपन स्वभाव कतेक देखबैत छह!

राजा: (सुनि) ई दुष्टताक स्थान नहि। न्याय करएबला के होएत?

(दृष्टिसँ ध्वनिक दिशा खोजि, आश्चर्यक अभिनय करैत) अहा! ई तँ वयससँ बालक मुदा पराक्रमसँ प्रौढ़ अछि, जकरा दू तपस्विनी रोकि रहल छथि।

हाथसँ सिंहक बच्चाकेँ मारैत,
ओकरा घसीटि रहल अछि;
कठोर पकड़सँ अयाल छिड़िआयल,
मायक स्तनसँ आधा दूध पीने अवस्था मे
ओ प्रतिरोध कऽ रहल अछि।

(कहल कार्य करैत बालक प्रवेश करैत अछि, जकरा दू तपस्विनी रोकि रहल छथि।)

बालक: मुँह खोल! अरे सिंह, मुँह खोल! हम तोहर दाँत गनए चाहैत छी।

पहिल तपस्विनी: दुष्ट बालक! हमरा सभक पुत्र समान पशुकेँ किएक कष्ट दऽ रहल छह? तोहर उग्रता बढ़िते जा रहल अछि। ऋषि सभ
उचितहि तोहर नाम सर्वदमन रखलनि।

राजा: (विचार करैत) ई बालक अपनहि पुत्र जकाँ हमर हृदयकेँ किएक आकर्षित कऽ रहल अछि?

(विचार करैत) निश्चय सन्तान-विहीनता कारण हमरा बालक सभसँ स्नेह भऽ रहल अछि।

दोसर तपस्विनी: जँ ओकर बच्चाकेँ नहि छोड़बह तँ सिंहनी तोरा पर टूटि पड़त।

बालक: (मुस्कराइत) अहा, हम तँ बहुत डेरा गेलहुँ! (अधर काटैत अछि।)

राजा: (आश्चर्यसँ)

ई बालक महान तेजक बीआ जकाँ लगैत अछि,

जे चिनगारीक रूपमे आगि भऽ

ईधनक प्रतीक्षामे अछि।

पहिल तपस्विनी: बालक! एहि सिंह-शावककेँ छोड़ि दिअ। हम तोरा दोसर खेलौना देब।

बालक: कतय अछि? हमरा दिअ! (दहिना हाथ पसारैत अछि।)

राजा: की? एकर हाथमे सम्राटक चिह्न अछि। किएक कि—

लोभाओल वस्तु मँगबाक लेल पसारल

झिल्लीयुक्त आङुरबला ओकर हाथ

एकल कमल जकाँ चमकि रहल अछि,

जकर पाँखुरिक बीचक अन्तर अखनो स्पष्ट नहि,

आ जे प्रातःकालक लालिमामे

फुलए आरम्भ कऽ रहल अछि।

पहिल तपस्विनी: सखी, वचन दऽ एकरा रोकब सम्भव नहि। अतः जा; हमर कुटीमे बालऋषि मङ्कणकक रङ्ग-बिरङ्ग माटिक मोर अछि।

एकरा लेल ओ खेलौना आन।

दोसर तपस्विनी: जेना अहाँ कहैत छी। (बाहर जाइत छथि।)

बालक: एखन तँ हम एहि संगहि खेलब।

तपस्विनी: (देखि हँसैत छथि।)

राजा: ई हठी बालक हमरा आकृष्ट कऽ रहल अछि। (निःश्वास लैत छथि।)

ओ सभ धन्य छथि जे पुत्रकेँ कोरामे लऽ

ओकर देहक धूरिसँ मैल भऽ जाइत छथि;

जकर दाँत बिना कारण हँसैत फुलैत अछि,

जकर अस्पष्ट बोली अत्यन्त मधुर,

आ जे पिताक कोरामे विश्राम करए प्रिय मानैत अछि।

तपस्विनी: (आडुर देखा कऽ धमकबैत) नीक! तौ हमर बात नहि मानबह! (एक कात देखि) एतय कोनो आश्रम-बालक अछि? (राजाकेँ देखि) सज्जन! कृपा कऽ एतय आउ आ एहि उदण्ड बालकक खोलब कठिन पकड़सँ पीड़ित सिंह-शावककेँ छुड़ा दिअ।

राजा: अवश्य! (लग आबि) हे महान ऋषिक पुत्र! एहन काज जे आश्रमक अनुकूल नहि—जखन तोहर संयमी पिता प्रसन्न होइत छथि जे जीव सभ हुनकर शरण लैत अछि—तखन नव साँप चन्दन-वृक्षकेँ जेना दूषित करैत अछि, तेना अपन पिताक गौरवकेँ किएक कलङ्कित करैत छह?

तपस्विनी: वास्तवमे ई बालऋषि नहि अछि।

राजा: ओकर रूपक अनुरूप आचरणेँ ओकर परिचय दऽ रहल अछि। वातावरणपर भरोसा कऽ हम भ्रमित भऽ गेलहुँ। (आज्ञा अनुसार सिंह-शावककेँ छुड़बैत छथि। बालककेँ छुएलाक बाद अपनेसँ)

दोसर कुलक एहि बालकक अङ्ग छुअलापर

हमरा एतेक आनन्द भऽ रहल अछि!

जकर देहसँ ई जन्मल,

तकरा ई कतेक सुख दैत होएत!

तपस्विनी: (दूनूकेँ देखि) आश्चर्य! आश्चर्य!

राजा: की भेल?

तपस्विनी: अहाँ दूनूमे कोनो सम्बन्ध नहि रहितहुँ एतेक समानता देखि आश्चर्य भऽ रहल अछि। फेर, ओ अहाँसँ एना सहज अछि जेना अहाँ बहुत परिचित व्यक्ति होइ।

राजा: (बालककेँ स्नेह करैत) जँ ई बालऋषि नहि, तँ एकर नाम की अछि?

तपस्विनी: ई पुरुवंशक सन्तान अछि।

राजा: (अपनेसँ) की? ई हमरहि वंशक अछि? एही कारण ओ हमरा समान बुझैत छथि। (जोरसँ) पौरव सभ कुलक अन्तिम परम्पराक पालन करैत छथि—

पहिने पृथ्वीक रक्षा लेल

चूना-लेपल राजमहलमे रहैत छथि;

बादमे गाछक जड़िमे निवास करैत,

केवल तपोव्रतक पालन करैत छथि।

मुदा मनुष्य अपन इच्छासँ एतय नहि आबि सकैत अछि।

तपस्विनी: अहाँ ठीक कहैत छी, महोदय। मुदा एहि बालकक माय अप्सराक सम्बन्धिनी छथि, तँ देवता सभक पिताक तपोवनमे एकरा जन्म देली।

राजा: (अपनेसँ) सन्देहक दोसर कारणो भेटल। (जोरसँ) ई देवी कोन राजर्षिक पत्नी छथि?

तपस्विनी: अपन धर्मपत्नीकेँ त्यागएबला पुरुषक नाम के बजत?

राजा: (अपनेसँ) की ई कथा विशेषतः हमरहि विषयमे अछि? की बालकक मायक नाम पूछी? मुदा नहि, परस्त्रीक विषयमे जिज्ञासा करब अनुचित अछि।

(माटिक मोर हाथमे लेने दोसर तपस्विनी प्रवेश करैत छथि।) दोसर तपस्विनी: सर्वदमन! ई सुन्दर पक्षी देख।

बालक: (एक नजर देखि) माय कतय छथि? (दूनू हँसैत छथि।)

पहिल: मायक प्रति स्नेहक कारण समान शब्द सुनि ओ भ्रमित भऽ गेल।

दोसर: बालक, शकुन्त अर्थात् पक्षी देख—ई खेलौनाक मोर कतेक सुन्दर अछि।

राजा: (अपनेसँ) एकर मायक नाम शकुन्तला अछि? मुदा नाममे समानता भऽ सकैत अछि। ई मृगमरीचिका जकाँ अन्तमे घोर निराशा दऽ सकैत अछि।

बालक: मौसी, हमरा ई सुन्दर मोर नीक लगैत अछि। (खेलौना लैत अछि।)

दोसर: (देखि व्याकुल) हाय! एकर कलाईक रक्षाबन्ध नहि देखाइत अछि।

राजा: चिन्ता नहि करू। सिंह-शावकसँ कुश्ती करैत खसि गेल होएत। (उठए चाहैत छथि।)

दूनू: एकरा नहि छुड़ब! की, ओ छू लैलनि? (आश्चर्यसँ एक-दोसर दिस देखैत, छातीपर हाथ रखैत छथि।)

राजा: अहाँ सभ हमरा रोकि किएक रहल छी?

पहिल: सुनू, महोदय! ई “अपराजिता” नामक प्रभावशाली जड़ी अछि, जे मरीच एहि बालकक जातकर्मक समय देने छलाह। भूमिपर खसला पर एकर माय, पिता आ बालक स्वयं छोड़ि आन केओ एकरा उठा नहि सकैत अछि।

राजा: जँ केओ उठा ले तँ की होइत अछि?

पहिल: तखन ई साँप बनि अपरिचित व्यक्तिकेँ डँसि लैत अछि।

राजा: अहाँ सभ स्वयं ई परिवर्तन देखलहुँ अछि?

दूनू: अनेक बेर।

राजा: (आनन्दसँ) तखन अपन आशा पूर्ण भेलापर हम आनन्दित किएक नहि होइ—

त? (बालककेँ आलिङ्गन करैत छथि।)

दोसर: संयाता, आउ! धार्मिक कर्तव्य पूरा कऽ चुकल

शकुन्तलाकेँ ई समाचार दी।

पहिल: चली। (दूनू बाहर जाइत छथि।)

बालक: हमरा छोड़ू! हम माय लग जाएब।

राजा: पुत्र, हम दूनू सङ्गहि जा कऽ तोहर मायकेँ आनन्द देब।

बालक: हमर पिता दुष्यन्त छथि, अहाँ नहि।

राजा: (मुस्कराइत) ई अस्वीकारेँ हमर प्रमाण अछि।

(एक बेनीमे केश बान्हने शकुन्तला प्रवेश करैत छथि।)

शकुन्तला: सुनलहुँ जे सर्वदमनक रक्षाबन्ध बदलि जाएबाक स्थिति रहितहुँ अपन स्वाभाविक रूपमे रहल; तैयो अपन भाग्यक विषयमे विश्वास नहि भऽ रहल अछि। मुदा अक्षामाला जे कहलनि, ताहिसँ सम्भव बुझाइत अछि।

राजा: (शकुन्तलाकेँ देखि) अहा! ई तँ शकुन्तला देवी छथि!

धूसर वस्त्र पहिरने,
व्रतक कारण कृश मुख,
एक बेनीमे केश बान्हने,
निर्मल चरित्रबाली ई स्त्री
निर्दयी हमरासँ वियोगक दीर्घ तपस्या सहि रहल छथि।

शकुन्तला: (राजाकेँ देखि) ई हमर पति जकाँ नहि देखाइत छथि। तखन ई के छथि जे मन्त्र-सुरक्षित हमर पुत्रकेँ हाथसँ छुड़ अपवित्र कऽ रहल छथि?

बालक: (माय लग जा) माय! ई कोनो अपरिचित मनुष्य अछि जे हमरा “पुत्र” कहैत अछि।

राजा: प्रिय, अहाँक प्रति हमर जे निर्दयता छल, से आब सुखद अन्तमे परिणत भेल। आब चाहैत छी जे अहाँ हमरा चिन्हू।

शकुन्तला: (अपनेसँ) हे हृदय, साहस कर, साहस कर! भाग्य हमरा धराशायी कऽ अपन क्रोध शान्त कएलाक बाद दया कएने अछि। ई हमर पति छथि!

राजा:

सौभाग्यसँ, हे सुन्दरमुखी,
स्मृतिसँ मोहक अन्हार हटला पर
अहाँ हमर सोझाँ ठाढ़ि छी।
ग्रहण समाप्त भेलापर
चन्द्रमा आ लाल रोहिणी नक्षत्र
फेर मिलैत छथि।

शकुन्तला: पति-देवक जय हो...! (नोरसँ कण्ठ रुकल कारण वाक्य बीचमे छोड़ैत छथि।)

राजा: प्रिय—

“जय” शब्द नोरमे अटकल गेलोपर
हम विजयी छी,
कारण अहाँक पीयर, बिना शृङ्गारक अधरबला
मुख देखए पाबि रहल छी।

बालक: माय, ई के छथि?

शकुन्तला: पुत्र, हमर भाग्यसँ पूछ। (कनैत छथि।)

राजा: (भूमिपर खसि पड़ैत छथि।)

हे कृशाङ्गी,
अस्वीकारक पीड़ा अहाँक हृदयसँ दूर होअ;
ओहि समय हम कोना घोर मोहमे पड़ि गेल रही।
अन्हार मनुष्य माथपर पड़ल मालाकें सेहो
साँप बुझि झाड़ि दैत अछि;
गाढ़ अन्हारमे लोक
मङ्गल वस्तुसँ सेहो एही प्रकार व्यवहार करैत अछि।

शकुन्तला: उठू, पति-देव। ओहि समय निश्चय हमर पूर्वकर्मक कोनो फल, जे हमर सुखक बाधक छल, पकएबला छल; एही कारण दयालु रहितहुँ अहाँ एतेक बदलि गेलहुँ। (राजा उठैत छथि।) तखन पति-देवकें हमर स्मृति कोना घुरल?

राजा: दुःखक काँट निकालि सभ कहैत छी।

हे कृशाङ्गी, ओहि दिन
तोहर अधरकें व्याकुल करएबला नोर
मोहग्रस्त हम अनदेखा कऽ देलहुँ;
आब कम्पित बरौनीपर अटकल एहि नोरकें
पोछि कऽ अपन पश्चात्तापसँ मुक्त होएब।

(कहल अनुसार करैत छथि।)

शकुन्तला: (नोर पोछैत आँठी देखि) पति-देव! अहा, ई तँ ओहि आँठी अछि!

राजा: हैं! चमत्कारिक रूपसँ फेर भेटलापर एकरे कारण हमर स्मृति घुरि आएल।

शकुन्तला: ई एक क्षणमे हमर इच्छा पूरा कऽ सकैत छल, मुदा जखन पति-देवकेँ विश्वास दिए एकर आवश्यकता छल, तखन ई भेटल नहि।

राजा: तखन वसन्तक आगमन घोषित करबाक लेल लता अपन फूल ग्रहण करए।

शकुन्तला: हमरा एकरापर विश्वास नहि। पति-देव स्वयं एकरा पहिरने रहू।

मातलि: (प्रवेश करैत) बधाई! धर्मपत्नी-सङ्ग पुनर्मिलन आ पुत्रक मुख देखलाक बाद महाराज फेर समृद्ध भेलाह।

राजा: मित्रक माध्यमसँ पूरा भेल कारण हमर अभिलाषा उत्कृष्ट फल देलक। मातलि, की इन्द्र एहि घटनाकेँ नहि जानैत छलाह?

मातलि: आउ, पूज्य मरीच अहाँकेँ दर्शन देबाक लेल प्रतीक्षा कऽ रहल छथि।

राजा: शकुन्तला, पुत्रकेँ लिअ। अहाँ हमरा आगाँ चलू; हम अहाँक सङ्ग पूज्यवरक दर्शन करए चाहैत छी।

शकुन्तला: की हम पति-देवक सङ्ग जाए योग्य छी?

राजा: उत्सवक अवसरमे ई परम्परा अछि। आउ, आउ! (सभ चलैत छथि।)

(अदितिक सङ्ग एक आसनपर बैसल मरीच प्रवेश करैत छथि।)

मरीच: (राजाकेँ देखि) हे दक्ष-पुत्री—

ई पृथ्वीक स्वामी दुष्यन्त छथि,
तोहर पुत्र इन्द्रक युद्धमे अग्रणी।
हुनकर धनुषक कारण इन्द्रक तीक्ष्ण वज्र
निष्क्रिय अलङ्कार बनि गेल अछि।

अदिति: हुनकर रूप निश्चय सम्मान योग्य अछि।

मातलि: हे पृथ्वीपति! देवता सभक माता-पिता अहाँकेँ वात्सल्यसँ भरल दृष्टिसँ देखि रहल छथि। लग आउ।

राजा: मातलि—

ई ओ दम्पती छथि, जिनका ऋषि सभ
बारह प्रकारक तेजक मूल कहैत छथि;
जिनका सँ यज्ञ-भाग पाबएबला देवता सभक स्वामी इन्द्र जन्मलाह;
आ जाहिमे स्वयम्भू ब्रह्मासँ सेहो परे परमात्मा
जन्मस्थान प्राप्त कएलनि।

मातलि: निश्चय।

राजा: (प्रणाम करैत) इन्द्रक सेवक दुष्यन्त अहाँ दूनूकेँ प्रणाम करैत अछि।

मरीच: पुत्र, दीर्घकाल धरि पृथ्वीक रक्षा कर!

अदिति: पुत्र, युद्धमे तोहर कोनो समान नहि होअ!

शकुन्तला: पुत्रक सङ्ग अहाँ सभक चरण पूजैत छी।

मरीच: पुत्री, दीर्घ सौभाग्यवती रहू!

इन्द्र समान पति,
जयन्त समान पुत्र रहला पर
एहिसँ अलग आशीर्वाद की देल जाए—
“पौलोमी समान बनू!”

अदिति: पुत्री, पति अहाँक सम्मान करथि। पुत्र दूनू कुलक आभूषण बनए। कृपा कऽ बैसू। (प्रजापतिक अनुमतिसँ सभ बैसैत छथि।)

मरीचः (एक-एक दिस सङ्केत करैत)

सौभाग्यसँ,

पतिव्रता शकुन्तला, ई पूर्ण पुत्र, आ महाराज—

श्रद्धा, धन आ धर्म,

ई त्रयी एकठाम भऽ गेल अछि।

राजाः भगवन्, अहाँक कृपा अभूतपूर्व अछि—पहिने इच्छा पूर्ण भेल, तकर बाद अहाँक दर्शन। देखू—

पहिने फूल, तकर बाद फल होइत अछि;

पहिने मेघ अबैत अछि, तकर बाद वर्षा।

ई कारण आ परिणामक क्रम अछि,

मुदा अहाँक कृपासँ पहिने सौभाग्य आबि गेल।

मातलिः जगत्-माता-पिताक कृपा एहनहि होइत अछि।

राजाः भगवन्, आपसी सहमतिबला विधिसँ हम अहाँक एहि सेविकासँ विवाह कएलहुँ। किछु समयक बाद हुनकर सम्बन्धी हुनका हमरा लग अनलनि। स्मृति नष्ट भेला कारण हम हुनका अस्वीकार कऽ पूज्य कण्वक अपराधी भेलहुँ। बादमे आँठी देखलापर विवाहक स्मृति घुरि आएल। ई घटना हमरा विचित्र लगैत अछि।

जेना सोझाँ स्पष्ट ठाढ़ि हाथीकेँ केओ अस्वीकार करए,

ओ चलि गेलापर सन्देह करए,

आ पदचिह्न देखलापर ओकर अस्तित्व बुझए—

हमर मनक विकार ठीक एहने छल।

मरीचः पुत्र, अपराध कएलहुँ से सोचि चिन्ता छोड़। तोरा छलल गेल छल। सुन।

राजाः ध्यानसँ सुनैत छी।

मरीचः मेनका अप्सरा-तीर्थसँ उतरि स्पष्ट रूपेँ दुर्बल शकुन्तलाकेँ लऽ अदिति लग अयलीह, तखन ध्यानसँ हमरा ज्ञात भेल जे बेचारी कन्याकेँ दुर्वासाक शापक कारण पति अस्वीकार कएलनि, आ आँठीक दर्शन एहि शापक अन्तक अवसर छल।

राजाः (गम्भीर साँस लैत) हम दोषसँ मुक्त भेलहुँ!

शकुन्तलाः (अपनेसँ) कतेक सौभाग्य! पति-देव

अपन इच्छासँ हमरा अस्वीकार नहि कएने छलाह। मुदा हमरा शाप देल गेल छल—ई मोन नहि पड़ैत।

निश्चय हृदय दोसर ठाम रहबाक कारण हम शाप नहि सुनि सकलहुँ;

सखी सभ बारम्बार जोर दैत छलीह

जे पति-देवकेँ आँठी अवश्य देखाबी।

मरीचः पुत्री, तौ सत्य बुझि लेलह। अतः—

आब अपन पतिपर क्रोध नहि कर। देख—

तोहर पति तोरा अस्वीकार कएने छलाह,

कारण स्मृति नष्ट भेला सँ ओ कठोर भऽ गेल छलाह।

आब हुनकर मोहक अन्हार हटि गेल अछि,

तँ राज्यलक्ष्मी तोहर अधीन अछि।

धूरिसँ मलिन दर्पणमे

प्रतिबिम्ब आकार नहि लैत,
मुदा स्वच्छ भेलापर सहजहि स्पष्ट होइत अछि।

राजा: जेना भगवन् कहैत छथि।

मरीच: पुत्र, आशा अछि जे शकुन्तलाक एहि पुत्रकेँ स्वीकार कएलह,
जकर जातकर्म हम स्वयं कएने छी?

राजा: भगवन्, एकरहि सहारे हमर वंश टिकल अछि।

मरीच: ई सत्य अछि। एकरा भावी चक्रवर्ती जान। देख—
बिना झटकाक स्थिर गतिसँ रथपर समुद्र पार कऽ
ई अद्वितीय योद्धा शीघ्र सात द्वीपबाली पृथ्वी जीतत।
पशु सभकेँ बलसँ वशमे करबाक कारण
एतय एकर नाम सर्वदमन अछि;
पृथ्वीकेँ धारण करबाक कारण
आगाँ ई भरत नामसँ प्रसिद्ध होएत।

राजा: भगवन् स्वयं एकर संस्कार कएलनि, तँ एकर विषयमे एहि सभक आशा कऽ सकैत छी।

अदिति: शकुन्तलाक इच्छा कोना पूर्ण भेल, ई सभ विस्तारसँ कण्वकेँ सेहो कहल जाए। मेनका लगहि छथि।

शकुन्तला: अहाँ हमर हृदयक बात कहि देलहुँ।

मरीच: तपोबलसँ पूज्य कण्वकेँ ई सभ स्पष्ट ज्ञात अछि।

राजा: अहा! गुरु हमरा पर क्रोधित नहि छथि।

मरीच: तैयो ई शुभ समाचार हुनका हमरासँ सुनबाक चाही। के उपस्थित अछि?

(प्रवेश करैत) शिष्य: गुरुदेव, हम उपस्थित छी।

मरीच: पुत्र गालव, हमर शब्दमे यशस्वी कण्वकेँ ई शुभ समाचार कह—दुर्वासाक शाप समाप्त भेला पर स्मृति घुरि अयलासँ दुष्यन्त
शकुन्तलाकेँ स्वीकार कऽ लेलनि।

शिष्य: गुरुदेवक जे आज्ञा। (प्रणाम कऽ बाहर जाइत अछि।)

मरीच: (राजासँ) पुत्र, अपन पुत्र आ पत्नीक सङ्ग एतहि उपस्थित मित्र इन्द्रक रथपर चढ़ि अपन राजधानी लेल प्रस्थान कर।

राजा: जेना गुरुदेवक आज्ञा।

मरीच: पुत्र—
यज्ञ-भागक अधिकारी देवता सभकेँ
प्रचुर हविसँ तृप्त करैत रह;
बदलामे देवराज तोहर प्रजा लेल वर्षा करथि।
एहि प्रकार परस्पर उपकारसँ प्रकट
अहाँ दूनूक उदारताक महिमा सहित
बहुत काल धरि मित्रता बनल रहए।

राजा: भगवन्, सम्पूर्ण शक्तिसँ कल्याणक प्रयास करब।

मरीच: पुत्र, आब कह, आओर कोन वरदान दी?

राजा: जँ एहि सभक बादो गुरुदेव हमरा पर कृपा करए चाहैत छथि, तखन—

राजा अपन प्रजाक कल्याणमे समर्पित रहथि!
विद्वान सभ सरस्वतीक सम्मान करथि!
सर्वव्यापी शक्तिबला स्वयम्भू शिव
हमर पुनर्जन्मक अन्त करथि!
(सभ बाहर जाइत छथि।)
सप्तम अङ्क समाप्त।
महाकवि कालिदासक रचना,
भाग्यक कृपासँ सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कविक
“अभिज्ञानशाकुन्तलम्” नामक नाटक समाप्त।

अभिज्ञानशाकुन्तलम्

महाकवि कालिदास



संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद: गजेन्द्र ठाकुर

सम्पादक: विदेह प्रथम मैथिली पाक्षिक ई पत्रिका

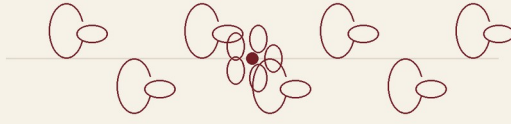


www.videha.co.in

KALIDASA

ABHIJNANASHAKUNTALAM

The Recognition of Shakuntala



English Stage Version

Gajendra Thakur

Editor: Videha First Maithili Fortnightly eJournal

www.videha.co.in

ABHIJNANASHAKUNTALAM

The Recognition of Shakuntala

The Great Poet Kalidasa

English Stage Version

Gajendra Thakur

Editor: Videha First Maithili Fortnightly eJournal

www.videha.co.in

Abhijnanashakuntalam

The Recognition of Shakuntala

The Great Poet Kalidasa

English Stage Version: Gajendra Thakur

Editor: Videha First Maithili Fortnightly eJournal

© 2026 Gajendra Thakur

www.videha.co.in

CONTENTS

Dramatis Personae	
Prologue	
Act One — The Hunt	
Act Two — The Secret	
Act Three — The Fire of Love	
Act Four — The Farewell	
Act Five — The Calamity	
Act Six — Separation	
Act Seven — Release from the Curse	

Dramatis Personae

In order of appearance on stage —

Original Sanskrit Name	English Description
Sutradhara	Director (stage director)
Nati	Actress
Raja, Dushyanta	King Dushyanta
Suta	His charioteer
Tapasvi, Tapasah	Hermit; hermits
Sakhyau	Two female friends
Shakuntala	Shakuntala
Priyamvada	Priyamvada
Anasuya	Anasuya
Vidushaka, Madhavya	Clown (Madhavya)
Dauvarika, Raivataka	Gatekeeper (Raivataka)
Senapati	General
Parijana	Attendants and retinue
Tapasau, Rishi	Two hermits; two sages
Karabhaka	Karabhaka, royal messenger
Shishya	Disciple of Kanva
Tapasi	Two female ascetics
Rishikumarakau	Two young hermits
Gautami	Gautami
Durvasa	Durvasa, an irascible sage
Kashyapa, Kanva	Kashyapa (Kanva)
Shishyah	Three disciples
Sharngarava	Sharngarava
Kanchuki, Maudgalya	Chamberlain (Maudgalya)
Pratihari	Female doorkeeper
Vaitalika	Bard and court panegyrist
Sharadvata	Sharadvata
Purohita, Purodha, Somarata	Royal priest (Somarata)
Rishayah	Sages
Rakshinau	Two guards
Purusha	A man; fisherman
Shyala	City-guard officer; the King's brother-in-law
Akshamala	Akshamala
Cheti	Two garden attendants
Lipikari, Medhavini	Painter-scribe (Medhavini)
Matali	Matali, Indra's charioteer
Chutamanjari	Chutamanjari, first dancer

Original Sanskrit Name	English Description
Parijatamanjari	Parijatamanjari, second dancer
Bala	Boy (Sarvadamana)
Tapasi	Two female ascetics
Maricha	Maricha
Aditi	Aditi

PROLOGUE

May the gracious Lord protect us through His eight manifest forms—
the Creator's first creation, which receives the sacrificial offering;
the offering itself;
the sacrificer;
the two powers that ordain the course of time;
the all-pervading element perceived by the ear;
that which is called "the source of every seed";
and that which gives the breath of life to all living beings!*

The invocation ends.

DIRECTOR: (Looking towards the curtain.) Madam! Is everyone ready for their part?

The ACTRESS enters.

ACTRESS: Sir, I am here. What are your instructions?

DIRECTOR: (Surveying the audience.) Nearly everyone in this assembly is a discerning and accomplished lover of drama. We are to entertain them with a new play by Kalidasa. Every role must therefore be performed with the greatest care.

ACTRESS: With your skilful direction, nothing can possibly go wrong.

DIRECTOR: (Smiling.) Madam, let me tell you a truth.

Until the learned are satisfied,
I can never be confident of my skill as a director.
Even the heart of one who has rehearsed with devotion
is troubled by self-doubt.

ACTRESS: That is perfectly true. Now tell me, sir, what comes next?

DIRECTOR: (Looking about.) What could delight the ears of this gathering more than a song describing the pleasures of the summer that has just begun?

For now—

These are the days
when plunging into cool water is a joy,
when the woodland breeze is scented by trumpet-flowers,
when sleep comes easily beneath deep shade,
and evening falls with exquisite charm.

ACTRESS: As you command. (She sings.)

Tender-hearted women
adorn themselves with shirisha blossoms,
whose exquisitely delicate stamens
a bee kisses only for a moment.*

DIRECTOR: Beautifully sung! The sweetness of your song has held the entire audience around us so still that they seem figures painted in a picture. Now tell me: what play shall we perform for their pleasure?

ACTRESS: Sir, did you not say at the outset that we were to present the new play called Abhijnanashakuntalam—The Recognition of Shakuntala?

DIRECTOR: Madam, you have reminded me just in time. The matter had slipped from my mind this very moment. And why?

*The enchanting melody of your song
carried me helplessly away with it...*

(He looks towards the curtain.)

...just as King Dushyanta here
has been carried away in pursuit of a fleet-footed deer.

*They both exit.
The Prologue ends.*

ACT ONE: THE HUNT

KING DUSHYANTA enters in a chariot, bow in hand, pursuing a deer. His CHARIOTEER is with him.

CHARIOTEER: (Looking at the King and the deer.) Your Majesty!

When I see that deer and you with your bow drawn,
it is as though before my very eyes
I behold Shiva, bearer of the Pinaka bow,
racing after the sacred antelope.*

KING: Charioteer! This blackbuck has led us a very long way. Even now he—

turns his head again and again to watch the chariot behind him,
his neck bending with graceful ease;
from fear of the arrow he gathers his hindquarters
into the forepart of his body;
exhausted, he runs with his mouth open,
dropping half-chewed grass from his lips
and scattering it all along the track.
Look! With every soaring bound
he scarcely touches the earth,
as though he travelled more through air than over ground.

What is this? We are close upon him, yet he is vanishing beyond the reach of sight!

CHARIOTEER: Your Majesty, the ground was rough and broken.* I held the reins tight and slowed the chariot; that is why the deer gained some distance. The land is level now. You will have no difficulty overtaking him.

KING: Give the horses their heads!

CHARIOTEER: As Your Majesty commands. (He does so, acting the change of speed.) Your Majesty—look! Look!

*The instant the reins are loosened, these horses
stretch their bodies to their fullest length;
the yak-tail plumes upon their heads scarcely stir;
their ears stand rigid;
and they race beyond even the dust they themselves have raised,
as though they cannot endure
to be outstripped by the deer.*

KING: Truly, these horses are outstripping even the steeds of Indra. For—

what looked small to the eye
swells to greatness in an instant;
what is in reality divided in two
appears to join as one;
what is naturally crooked
seems perfectly straight.
At the speed of this chariot,
nothing remains far from me,
and nothing near me can remain still.

CHARIOTEER: Your Majesty! Hermits have stepped between you and the blackbuck at which your arrow is aimed!

KING: (Alarmed.) Then stop the horses!

CHARIOTEER: I am stopping them. (He brings the chariot to a halt.)

A HERMIT enters with two COMPANIONS.

HERMIT: (Distressed, raising his hand.) O King! O King! This is a deer of the hermitage—one of the hermitage deer!

Therefore draw back the arrow
you have aimed so surely.
Your weapons are meant to protect the afflicted,
not to strike the innocent.

KING: I have withdrawn the arrow. (He does so.)

HERMIT: (Pleased.) Well done, O King! Such conduct is worthy of a descendant of Puru. May you be blessed with a son who will become a sovereign emperor.

KING: (Bowling.) I gladly accept a hermit's blessing.

HERMIT: We have come out to gather firewood. There, on the bank of the Malini, close against the slopes of the Himalayas, you can see the hermitage of our preceptor Kashyapa. Unless some other duty prevents you, enter the hermitage and receive the welcome due to a guest. And—

when you see the holy rites of the ascetics,
rich in the power of their austerities,

proceeding without disturbance,
you will understand
how well this arm, marked by the bowstring,
protects your people.

KING: Is the Father Superior at the hermitage?

HERMIT: This very day he placed the care of guests in the hands of his blameless daughter Shakuntala and went to the sacred moon-shrine at Prabhasa to appease the forces hostile to her destiny.

KING: (To himself.) Good. I shall meet her. She will speak of my devotion to the great sage.

HERMIT: We must go now. (He exits with the disciples.)

KING: Charioteer, drive on! First let the sight of the holy hermitage purify us.

CHARIOTEER: As Your Majesty commands. (He turns and mimes driving the chariot.)

KING: (Looking around.) Charioteer, even without being told, one can see that we have reached the outskirts of the sacred grove.

CHARIOTEER: How so?

KING: Do you not see? Here—

beneath the trees lie grains of wild rice
fallen from the parrots' nests;
here and there stones shine smooth with oil
from crushed ingudi fruit;
the fawns are so fearless that,
even hearing human voices, they do not break their stride;
and the path leading to the pool is marked
by trails of water-drops
falling from the hems of bark garments.

CHARIOTEER: Every sign agrees.

KING: (Moving a little farther.) And look—

the roots of the trees have been washed
by the overflowing channels;
the lustre of tender leaves is dimmed
by smoke rising from offerings of clarified butter;
and here, in the green meadow
where the soft shoots of kusha grass have been cut,
young deer graze at ease,
slow and utterly unafraid.

Let us cause no disturbance to the hermitage. Stop the chariot at the edge; I shall dismount.

CHARIOTEER: The reins are steady. You may descend, Your Majesty.

KING: (Dismounting.) One should enter a hermitage in humble dress. Take charge of these. (He gives the Charioteer his ornaments and lays aside his bow.) Charioteer, while I pay my respects to the sages, sprinkle water over the horses' backs and cool them.

CHARIOTEER: As Your Majesty commands. (He exits.)

KING: (Walking and looking around.) I shall enter the hermitage through this gate. (He enters; feeling the ominous twitch of his arm, he reflects.)

*The ground of the hermitage is peaceful,
yet my arm is throbbing.
How can such an omen arise here?
Or perhaps the doors of destiny
stand open everywhere.*

OFFSTAGE: This way, dear friends—this way!

KING: (Listening.) Ah! I hear conversation to the right of the avenue of flowering trees.* I shall go there. (He turns and looks.) Daughters of the hermitage are coming this way, watering the young trees from little pitchers suited to their size. (Gazing appreciatively.) How lovely they are! I shall conceal myself in this shade and watch. (He does so.)

SHAKUNTALA enters with her two FRIENDS, carrying out the work described.

THE TWO FRIENDS: Dear Shakuntala, it seems Father Kashyapa loves the trees of the hermitage even more than he loves you. That must be why he has given the task of filling their basins to someone as tender as a jasmine blossom.

SHAKUNTALA: It is not only Father's command; it is my own devotion as well. I truly feel a sister's affection for these trees. (She mimes watering them.)

THE TWO FRIENDS: Dear Shakuntala, the grove of trees that flower in summer has drunk its fill. Come, let us also water those whose flowering season has not yet arrived. Perhaps we shall gain an unexpected blessing.

SHAKUNTALA: That is a worthy thought. (She mimes watering the trees.)

KING: (Watching in astonishment.) What! Is this Kanva's daughter? Extraordinary!

If beauty so rare
even in a royal harem
belongs to a girl of the hermitage,
then surely the wild vine
has surpassed the tended vine of the garden.

Good. Hidden behind this tree, I shall watch her natural behaviour while she is free from self-consciousness. (He conceals himself.)

SHAKUNTALA: This bakula tree seems to be beckoning me with fingers—its creepers stirred by the wind—as though urging me to hurry. I shall tend it. (She moves nearer the King.)

KING: (Watching.) Revered Kashyapa must surely be blind, to set her to such hard work in the hermitage.

*The sage who would make this innocent, lovely body
endure the hardships of ascetic life
might as well attempt to cut hard firewood
with the edge of a blue lotus petal.*

SHAKUNTALA: Dear Anasuya, the bark garment Priyamvada tied so tightly is pinching me. Please loosen it. (ANASUYA loosens it.)

PRIAMVADA: (Smiling.) Blame your youth for that—it is making your breasts grow.

KING: Granted, the bark cloth does not suit her budding youth; yet it has not failed to increase her beauty. How could it?

*A lotus tangled in water-moss is still beautiful;
the dark mark upon the moon,
though a blemish,
only heightens its splendour;
and this slender girl, even dressed in bark,
is irresistibly lovely.
What is there that cannot become an ornament
to a form so beautiful?*

PRIAMVADA: Dear Shakuntala, here in this natural arbour is the madhavi creeper that Father Kashyapa has raised just as he raised you. Attend to it—or have you forgotten it?

SHAKUNTALA: I shall forget it only when I forget myself. (She goes to it.)

PRIAMVADA: Dear Shakuntala, stand beside the bakula tree for one moment.

SHAKUNTALA: Why?

PRIAMVADA: When you stand beside it, it seems to me that a flowering vine is embracing the bakula tree.

SHAKUNTALA: That is why you are called Priyamvada—“she who speaks sweetly.”

KING: Her friend's words are sweet—and true. For Shakuntala's—

lower lip has the colour of a tender leaf upon a young vine;
her arms imitate its supple branches;
and youth, desirable as a flower,
is poised to blossom over her body.

ANASUYA: Dear Shakuntala, here is the young jasmine—the bride of that mango tree. You named her Vanatoshini, “Delight of the Forest,” when she chose the mango as her husband.

SHAKUNTALA: (Approaching and looking.) My friend, this pair, who drink water through their roots, have been joined at a most auspicious time. She is youthful with new flowers, while the mango tree, heavy with fruit, is ripe for enjoyment. (She gazes at them.)

PRIAMVADA: Dear Anasuya, do you know why Shakuntala is gazing so lovingly at Vanatoshini?

ANASUYA: No, I cannot guess.

PRIAMVADA: She is thinking, “As the young jasmine has found a worthy tree in Vanatoshini's mango, may I too find a worthy husband.”

SHAKUNTALA: That must be the wish in your own heart! (She empties her pitcher.)

KING: Was she born into a family different from that of the Father Superior?* Or—

she is surely fit to marry a Kshatriya,
for my heart desires her.
In a matter of doubt,
the instinct of a virtuous heart is accepted as proof.

Still, I must learn her true identity.

SHAKUNTALA: (Acting as though attacked by a bee.) Oh! Frightened by the water I splashed, a bee has left the jasmine and is attacking my face. (She tries to drive it away.)

KING: (Watching her with longing.)

O bee! Again and again you brush her restless eyes,
making her tremble;
you hover at her ear and hum so sweetly,

as though whispering some secret;
and when she waves her hand to drive you away,
you drink the nectar of love from her lower lip.
I stand baffled by the ordinance of heaven,
while you enjoy complete success.

SHAKUNTALA: Friends, protect me! This robber of flowers is tormenting me!

THE TWO FRIENDS: (Laughing.) Who are we to protect you? Call Dushyanta! The sacred grove is under the King's protection.

KING: This is the right moment to reveal myself. (He approaches.) Do not be afraid! Do not be afraid! (He stops midway, to himself.) But in that way I shall declare myself to be the King. No—let it be. I shall receive their welcome as an ordinary guest.

SHAKUNTALA: (Trembling.) This insolent creature will not leave me alone. I shall go somewhere else. (She peers from behind the curtain.)* Oh! Why has it followed me even here?

KING: (Coming quickly towards her.)

While a king of Puru's line,
the chastiser of evil, rules the earth,
who dares molest
innocent maidens of a hermitage?

At the sight of the King, they are all momentarily alarmed.

ANASUYA: There is no cause for alarm. Our dear friend was frightened and distressed by a bee.

(She brings SHAKUNTALA forward.)

KING: (Approaching Shakuntala.) Noble lady, do your sacred duties proceed without disturbance?

SHAKUNTALA: (She remains silent and lowers her eyes in embarrassment.)

ANASUYA: (To the King.) Now that so distinguished a guest has arrived, they certainly do.

PRIYAMVADA: Welcome, sir!

ANASUYA: Dear Shakuntala, bring the offering of fruit from the leaf-thatched cottage. The water for washing our guest's feet is here.

KING: Do not trouble yourselves. Your affectionate conversation has already completed every rite of hospitality.

PRIYAMVADA: Then, sir, please sit upon this platform built around the saptaparna tree, cooled by its shade, and rest from your weariness.

KING: You too must be tired from your sacred work. Sit for a while.

PRIYAMVADA: (Softly.) Dear Shakuntala, it is our duty to attend upon a guest. Come, let us sit here. (All three women sit.)

SHAKUNTALA: (To herself.) What is happening to me? The moment I saw him, feelings arose in my heart that do not belong in this sacred grove.

KING: (Looking at them all.) Ah! Your friendship is charming indeed, for you are alike in age and equally beautiful.

PRIYAMVADA: (Softly.) Anasuya, who can this man be, so handsome and possessed of such grave dignity? He speaks with tender affection and shows us extraordinary respect.

ANASUYA: (Softly.) I am curious too, my friend. I shall ask him. (Aloud.) Sir, the trust inspired by your gracious words gives me courage to speak. What family do you adorn? And what brings so cultivated a gentleman to undertake the hardship of visiting this sacred grove?

SHAKUNTALA: (To herself.) Be patient, my heart. Anasuya has asked the very question you longed to ask.

KING: (To himself.) How shall I introduce myself? Or rather, how shall I conceal my true identity? Good—I shall tell them this. (Aloud.) Noble lady, I am a Brahmin learned in the Vedas, appointed by the Paurava King to oversee the observance of sacred law.* I have come to this holy forest to learn whether anything is disturbing the rites of the ascetics.

ANASUYA: Those who practise the sacred life have found a powerful protector!

SHAKUNTALA: (She displays the bashfulness of awakening love.)

THE TWO FRIENDS: (Understanding the feelings of both, then turning towards the audience.) Dear Shakuntala, if Father were here today...

SHAKUNTALA: (Frowning.) What would happen then?

THE TWO FRIENDS: He would honour this guest by giving him the treasure dearer to him than life itself.

SHAKUNTALA: (Annoyed.) Oh, stop it! You invent fantasies in your own minds and then chatter nonsense. I will not listen. (She turns her face away and rises.)

KING: I too should like to ask you both something about your friend.

THE TWO FRIENDS: Sir, your question is an honour to us.

KING: Revered Kashyapa observes perpetual celibacy, yet your friend is called his daughter. How is that possible?

ANASUYA: Listen, sir. There is a great royal sage of the Kaushika line.*

KING: His fame is known throughout the world.

ANASUYA: Know him to be our friend's natural father. Father Kashyapa is her foster-father because he protected and raised her after she was abandoned.

KING: The word "abandoned" has only increased my curiosity. I wish to hear the whole story from the beginning.

ANASUYA: Long ago, while the royal sage Kaushika was engaged in severe austerities, the gods became greatly afraid. They sent the celestial nymph Menaka to break his penance.

KING: The gods are indeed frightened by another's profound austerity. What happened next?

ANASUYA: Then, at the beginning of spring, he saw Menaka's intoxicating beauty... (Embarrassed, she breaks off.)

KING: There is no need to say more. The rest can be understood... She is the daughter of an apsara!

ANASUYA: Yes. Exactly.

KING: Then everything is as it should be.

How could beauty such as hers
have been born in the mortal world?
Lightning, glittering with restless radiance,
does not spring from the earth.

SHAKUNTALA: (She keeps her eyes upon the ground.)

KING: (To himself.) My desire lies within reach! Yet even after hearing her friend jest about wishing her a husband, my timid heart still dares not believe it.

PRIYAMVADA: (Smiling at Shakuntala, then speaking to the King.) It seems, sir, that you wish to say something more.

SHAKUNTALA: (She raises a finger in warning at her friend.)

KING: You have understood me correctly. From a desire to learn the customs of the virtuous, I should like to ask one more question.

PRIYAMVADA: Then do not hesitate. You may regard the people of a hermitage as your own family.

KING: Certainly, noble lady. This is what I wish to know about your friend—

Will she keep the vow of an ascetic maiden until marriage,
defeating every assault of the god of love?
Or will she remain here for ever
among her beloved does, whose eyes resemble her own?

PRIYAMVADA: Sir, even in matters of religion she is under another's authority. Her guardian has already resolved to give her to a worthy husband.

KING: Then the fulfilment of my desire will not be difficult. (To himself.)

Take heart, my heart, and fill yourself with hope;
the knot of doubt is loosened.
What you feared to be consuming fire
is a precious jewel that may be touched.

SHAKUNTALA: (Appearing angry.) Anasuya, I am going!

ANASUYA: What has happened?

SHAKUNTALA: I shall go and tell revered Gautami that Priyamvada is talking nonsense. (She rises.)

ANASUYA: My friend, it is not proper for one who lives in a hermitage to rise and leave at will before a distinguished guest has been fully welcomed.

SHAKUNTALA: (Without answering, she starts to leave.)

KING: (To himself.) What? Is she leaving? (He starts to stop her, then checks himself.) Ah! The impulses of a lover's mind reveal themselves in the movement of his body. For I—

was about to follow the sage's daughter,
but propriety suddenly arrested my step.
I did not move from where I stood,
yet I feel as though I had gone after her and returned.

PRIYAMVADA: (Approaching Shakuntala.) You peevish girl! You must not leave like this.

SHAKUNTALA: (Turning and frowning.) Why not?

PRIYAMVADA: You owe me two rounds of watering the trees. Pay your debt first; then you may go. (She holds Shakuntala back by force.)

KING: My lady, I can see that watering the trees has tired her. For her—

shoulders droop with weariness;
her palms are deeply reddened from repeatedly tilting the pitcher;
her breath is still quicker than usual,
so that her breasts rise and tremble;
a fine net of perspiration lies upon her face,
disturbing the shirisha flower at her ear;

and as her loosened hair escapes its knot,
she restrains its wildness with one hand.

Therefore I shall pay her debt. (He gives them his ring.)

THE TWO FRIENDS: (They read the letters of the name engraved upon the signet and exchange glances.)

KING: Do not take me for someone I am not. It is a gift from the King.

PRIYAMVADA: Then the royal signet must not be parted from you. On your word, sir, I forgive her debt. (Turning to Shakuntala, softly.) Dear Shakuntala, this gracious gentleman has set you free—or rather, His Majesty has set you free. Now you are in his debt.

SHAKUNTALA: (Drawing a long breath, softly.) If I have truly regained my freedom, I shall not forget that.

PRIYAMVADA: My friend, why are you not leaving now?

SHAKUNTALA: Who are you to order me now? I shall go when I please.

KING: (Watching Shakuntala, to himself.) Does she feel for me what I feel for her? No—my hope has now found an easy landing-place. For—

she does not openly agree with what I say,
yet whenever I speak, she listens intently.
Granted, she does not turn her face towards me,
but her eyes rarely rest anywhere else.

OFFSTAGE: Hermits, take care! Protect the creatures of the sacred grove! The women and children are in danger! The King is hunting nearby!

Dust raised by the hooves of his horses,
glowing red as the flush of evening,
falls like a swarm of locusts
upon the trees of the hermitage,
from whose branches wet bark garments hang.

Alas—disaster! At the sight of this solitary—

chariot, an elephant has taken fright.
One tusk is caught in a shattered tree-stump,
and the tangled coils of a great clinging vine
are wrapped around its body like chains.
Scattering the herds of deer,
it is tearing through the sacred grove—
like the living embodiment of an obstacle to our penance.

KING: (To himself.) Alas, what carelessness! My soldiers, searching for me, are causing havoc in the sacred grove. In this way I have offended the hermits. I must go at once.

ANASUYA: (Distressed.) Sir, this uproar has frightened us. Permit us to return to the leaf-thatched cottage.

KING: (Concerned.) Go, noble ladies. I shall make certain that no harm comes to the hermitage.

THE FRIENDS: We are ashamed to ask that we may meet again when we have not completed the rites of hospitality. But by now we feel almost acquainted with you; please forgive our conduct generously.

KING: Not at all—not at all! The very sight of you has given me a complete welcome.

THE TWO FRIENDS: Dear Shakuntala, come quickly! Revered Gautami will be worried.

SHAKUNTALA: (Seeking an excuse to delay, to herself.) Oh! A cramp has seized my thigh. It is difficult to take a step.

KING: Go carefully—go slowly. I shall remove the cause of the disturbance in the hermitage.

SHAKUNTALA: (She turns back several times on one pretext or another, then exits with her friends.)

KING: (Rising sadly.) My eagerness to return to the city has faded. I shall rejoin my party and have them camp not far from the sacred grove. I cannot tear my thoughts away from Shakuntala. For—
my body moves forward,
but my heart is left behind,
like the streaming cloth of a banner carried against the wind,
which cannot keep close to its staff.

(Lost in thought, he exits with unsteady steps.)

Thus ends Act One of Shakuntala,
a play by the great poet Kalidasa.

ACT TWO: THE SECRET

The exhausted CLOWN enters.

CLOWN: (Acting utterly exhausted and drawing a long breath.) I can barely walk! I am sick to death of keeping company with a king mad for hunting. "A deer here! A boar there!"—and off we run even at summer noon along forest tracks where the shade is thin. We drink lukewarm water from mountain streams, bitter and astringent with rotting leaves. We eat meat roasted on spits at all the wrong hours—mostly birds. Even at night I cannot stretch my body as I please; every joint has been shaken loose by the jolting carts. At daybreak the deafening clamour of hunters setting out for the woods wakes me—sons of wretches! (Thinking.) And after all this, I am still alive. (With a bitter laugh.) Now there is a boil upon the wound, and a blister upon the boil! Yesterday I fell behind. His Majesty followed some deer into a hermitage and, to my misfortune, caught sight of an ascetic's daughter called Shakuntala. Now he will not even speak of returning to the city. He spent the whole night thinking of her. What am I to do? He must have finished his daily bath and dressing somewhere. I shall find him. (He wanders slowly and looks around.) Here comes the King, wearing a garland of forest flowers and surrounded by armed Yavana women of the guard. I shall face him. (He advances a little.) No, this is far enough! Every limb is bruised. I shall stand here; at least I may get a little rest. (He leans on his staff.)

The KING enters with the attendants described.

KING: (Lost in thought, he sighs deeply; to himself.)

Granted, my love will not be easily won;
yet the knowledge of her feelings brings comfort to my heart.
Though love has not reached fulfilment,
mutual affection is joy in itself.

(He recalls the scene and smiles.) A lover tormented by desire deceives himself by imagining the beloved's feelings according to his own wishes. How so?

That tender glance,
though her eyes were turned away;
that slow step, weighted by her hips,
as though she meant to tease me;
that angry rebuke to the friend
who said, "You may not go"—
all of it was truly meant for me!
Ah, love interprets everything in its own favour.

(He walks about.)

CLOWN: (Remaining where he is.) Your Majesty! My hand will not rise, so I salute you only with words. Victory to you! Victory, my lord!

KING: (Looking at him with a smile.) My friend, what has made your body so stiff?

CLOWN: What has made it stiff? You poke a finger into my eye and then ask why the tears are falling!

KING: My friend, I truly do not understand.

CLOWN: (Pretending anger.) My lord, have you decided to abandon royal duty and the pleasures of a splendid life to become a forest ranger? To tell the truth, chasing wild beasts and birds every day has dislocated every joint in my body. I no longer have command of my own limbs. (Pleading.) Have mercy now! Give me leave! At least rest for one day.

KING: (To himself.) My friend pleads so earnestly, and my heart, absorbed in Kanva's daughter, has itself turned away from the hunt. For—

I can no longer bend this drawn bow
and set an arrow against the fawns
who live beside my beloved,
as though they had taught her their innocent gaze.

CLOWN: (Studying the King's face.) My lord, you are turning over some serious thought in your mind. I have been calling out to you as though alone in the forest.

KING: (With a faint smile.) How could I do otherwise? I would never disregard a friend's words. We shall remain here.

CLOWN: May you live long!

KING: Wait. There is something else.

CLOWN: Command me, Your Majesty.

KING: After you have rested, you must help me with one more simple task.

CLOWN: (Eagerly.) Tasting sweet cakes and fried pastries?

KING: I shall tell you what the task is...

CLOWN: Tell me slowly.*

KING: Who is in attendance?

(Entering.) **GATEKEEPER:** My lord, your command?

KING: Raivataka, summon the General at once.

GATEKEEPER: As my lord commands. (He exits.)

The GENERAL and GATEKEEPER enter.

GENERAL: (Looking at the King.) Hunting may be called a vice, yet for my lord it has proved beneficial. For—

the front of his body has been hardened by constant contact with the bowstring;
he does not perspire even beneath the sun's rays;
his body has grown lean, yet the strength of his muscles conceals it;
and, like an elephant roaming the mountains,
he displays tremendous vitality.

GATEKEEPER: My lord is over there, listening to our conversation and looking this way as he waits for you. Go forward, sir.

GENERAL: (Approaching with a bow.) Victory, victory to the Commander! The fierce animals of the forest have been surrounded, and the ground is ready for the hunt. What are we waiting for now?

KING: Madhavya's condemnation of hunting has dampened my enthusiasm.

GENERAL: (To himself.) Madhavya, stand firm in your opposition. I shall test my lord's feelings.* (Aloud.) Commander, this fool is talking nonsense. His Majesty himself is living proof of the virtues of the hunt.

*The waist grows slender and the firm body light,
fit for fearless feats of courage;
one sees how wild creatures change under fear and rage;
and what exhilaration an archer feels
when his arrow strikes a moving mark!
To condemn hunting as a vice is sheer falsehood;
where else can such sport be found?*

CLOWN: (Pretending anger.) His Majesty's good sense has returned at last. Go on wandering from thicket to thicket until, like a jackal leading the pack, you fall into the jaws of some old bear.

KING: General, we are near a hermitage. Your words do not please me. Today—

let the buffaloes plunge into pools
whose water they have churned again and again with their horns;
let the herds of deer gather in the shade and chew the cud;
let the leading boars root up sedge undisturbed beside the ponds;
and let this bow of mine rest with its string slack.

GENERAL: As the mighty King wishes.

KING: Then call back the forest guards. Order the soldiers to keep far from the sacred grove. Remember—
within ascetics, ordinarily so calm, a blazing power lies concealed;
like the sun-stone, pleasant to the touch,
it releases fire when struck by hostile heat.

GENERAL: As Your Majesty commands.

CLOWN: Off with you now, son of a slave-girl!
The GENERAL exits.

KING: (To the attendants.) Take off your hunting dress. Raivataka, you too must not leave your post unattended.

ATTENDANTS: As Your Majesty commands. (They exit.)

CLOWN: We have driven away the parasites without even burning incense. Now sit comfortably upon this canopied seat, enclosed by the shade of the residence tree, so that I too may rest.

KING: Lead the way. (They walk on.)

They sit.

KING: My friend Madhavya, your eyes have not received their reward, because you have not seen what is truly worth seeing.

CLOWN: Are you not standing right before me?

KING: Every man imagines himself handsome. I am speaking of Shakuntala, the ornament of the hermitage.

CLOWN: (To himself.) Ah, I must give him no opening. (Aloud.) If she is truly an ascetic's daughter and therefore not free to marry, what is the use of seeing her?

KING: Fool! Could Dushyanta's heart desire what is forbidden?

CLOWN: Then what is the truth?

KING:

It is said that this daughter of the sage was born of a celestial nymph,
then adopted after her mother abandoned her—
like a jasmine blossom fallen upon a milkweed bush
after being torn from its branch.

CLOWN: Even if she is not the natural daughter of the great sage Kashyapa, what good does seeing her do you?

KING: Crown jewel of fools!

How long the whole world lifts rows of unblinking eyes
and gazes wistfully
for the first crescent of the moon!
And how could she be wholly beyond the reach of a man like me,
when she is like a glowing fragment of fragrant aloe-wood
fallen among ordinary sticks of fuel?

CLOWN: (Laughing.) Ha! Just as a man tired of eating sweet dates begins to crave sour tamarind, so you have turned from the finest women and developed this longing.*

KING: You speak so only because you have not seen her.

CLOWN: Anyone who can astonish even you must indeed be surpassingly beautiful!

KING: My friend, what more can I say?

Was her likeness painted first, and life then breathed into it?
Or was she imagined by gathering every lovely form into one?
When I consider the Creator's power,
her body seems to me a second creation
of Lakshmi herself, the jewel among women.

CLOWN: (Astonished.) Then every other beauty has been stripped of her title!

KING: And this thought has lodged in my heart—

a flower whose fragrance no one has breathed;
a tender leaf no fingernail has bruised;
a jewel never set in an ornament;
new wine that no one has yet tasted.
Who upon earth shall be the fortunate enjoyer
of this flawless beauty,
like the perfect fruit of accumulated merit?
I do not know.

CLOWN: Then marry her at once, before she falls into the hands of some rustic hermit whose head is greasy with ingudi oil!

KING: She is under another's authority, and her guardian is absent.

CLOWN: Very well. What feeling does she have for you?

KING: My friend, a hermit's daughter is naturally modest. Yet—

when I stood before her, she turned away her eyes;
she made her smile appear to have another cause.
Thus her love, restrained by modesty,
was neither fully revealed
nor wholly concealed.

CLOWN: (Laughing.) What did you expect? That the instant she saw you she would leap into your arms?

KING: My friend, when she left with her two companions, modest though she was, she let me understand something of her feelings. For—

after taking only a few steps, the slender girl suddenly stopped and said,
"A blade of kusa grass has pricked my foot!"
Then, while freeing her bark-garment
from a branch in which it was not truly caught,
she turned her face back towards me.

CLOWN: Excellent! You have been well provisioned for the journey. I suspect there will be many more expeditions to the hermitage.

KING: My friend, think of some pretext for returning to the hermitage grounds.

CLOWN: I am thinking. Do not interrupt my thoughts with your lovesick whining. (Thinks.) Ah! What other pretext do you need? Are you not the King?

KING: And therefore?

CLOWN: A king may demand one sixth of the produce.

KING: Fool! These ascetics give their protector another kind of tribute, more precious than heaps of jewels. See—

the taxes a king receives from the social orders are perishable;
but forest-dwelling ascetics offer him
an imperishable sixth share of the merit of their austerities.

OFFSTAGE: Good! We have found him!

KING: (Listening.) Ah! Such steady, tranquil voices. They must be hermits.

GATEKEEPER: (Entering.) Victory, victory, my lord! Two young hermits are waiting at the entrance.

KING: Bring them in without delay.

GATEKEEPER: At once. (Exits.)

Two HERMITS enter with the GATEKEEPER.

GATEKEEPER: This way, this way, revered sirs.

HERMITS: (Looking at the King.) Ah! Despite his royal splendour, how greatly his appearance inspires trust. But that is natural in a king who is like a sage. For—

he too now follows a way of life
that benefits the whole world.

By protecting his subjects,
he gathers day by day the merit of austerity;
and the sacred title “sage,” earned by his self-command,
is carried to heaven in the songs of paired bards—
only the word “royal” stands before it.

SECOND HERMIT: Gautama, this is Dushyanta, the friend of Indra.

FIRST HERMIT: No wonder, then!

SECOND HERMIT: Indeed—

what wonder that he alone enjoys the whole earth,
girdled by the dark ocean,
when his arm is long as the bar of a city gate?
For victory in the gods' fierce battles with the demons
depends upon his strung bow and Indra's thunderbolt.

BOTH: (Approaching.) Victory to Your Majesty! (They offer fruit.)

KING: (Rising respectfully.) I salute you both. (He bows and resumes his seat.) What is your command?

HERMITS: The inhabitants of the hermitage have learned that Your Majesty is here. They therefore have a request to make.

KING: What do they command?

BOTH: The revered sage Kashyapa is absent, and demons are tormenting us. We beg Your Majesty to remain with your charioteer for several nights and protect the hermitage.

KING: You honour me.

CLOWN: (Aside.) The hand of welcome is closing around your throat now.

KING: Raivataka, command the charioteer in my name: “Bring the chariot with my bow and arrows.”

GATEKEEPER: As my lord commands. (Exits.)

HERMITS: (Delighted.)

This befits one who follows the path of his forefathers;
the descendants of Puru are indeed consecrated
to the sacrifice of calming the fears
of those in distress.

KING: Revered sirs, go on ahead. I shall follow immediately.

HERMITS: Victory to you! (They rise and exit.)

KING: Madhavya, are you curious to see Shakuntala?

CLOWN: At first my curiosity knew no bounds. (Frightened.) But after hearing about the demons, I understand its true value. Curiosity has given way to doubt.

KING: Do not be afraid. You will remain close beside me.

CLOWN: I shall be the guardian of the chariot wheel—that is, a target standing upright, ready to die!*

GATEKEEPER: (Entering.) My lord, the chariot stands ready for Your Majesty's victorious departure. But Karabhaka, an attendant of the Queen Mother, has arrived from the city.

KING: (Respectfully.) What? My mother has sent him?*

GATEKEEPER: What are your orders?

KING: Bring him in.

GATEKEEPER: As Your Majesty commands. (Exits.)

KARABHAKA enters with the GATEKEEPER.

KARABHAKA: (Approaching.) Victory, victory to Your Majesty! The Queen Mother sends this message: “On the coming fourth day of the bright fortnight, the pumsavana rite,* which ensures the birth of a son, will be performed. Your Majesty's presence on that occasion is essential.”

KING: (Troubled.) Madhavya, on one side lies my duty to the hermits; on the other, my revered mother's command. I cannot neglect either. What am I to do?

CLOWN: Hang suspended between them like Trishanku.*

KING: I am truly caught in a dilemma.

*The two duties must be performed in different places;
therefore my mind is divided in two,*

*like a river current split into two branches
when a rock lies in its path.*

(Thinking anxiously.) My friend Madhavya, my mother loves you like a son. Please return from here and perform a son's duty in my place. Tell her that the business of the hermits has detained me here.

CLOWN: (Drawing himself up.) Ah, I understand! You think I am afraid of these demons.

KING: (Smiling.) Great Brahmin, no one could even imagine such a thing of you.

CLOWN: Then, since the King's affection requires me to go, I shall go.

KING: I shall send the entire army with you, so that it causes no disturbance in the sacred grove.

CLOWN: (Swelling with pride.) Now I am the Crown Prince.

KING: (To himself.) He is terribly talkative. Before the queens in the inner apartments, he may reveal the secret of my love. Good. I shall tell him this... (Aloud, taking the Clown's hand.) My friend, I am going to the hermitage out of respect for the sages. There is nothing serious in my affection for the hermit's daughter. Look—

on one side stand men like us;

on the other, that girl, reared among fawns

and wholly innocent of love.

My friend, do not mistake a jesting invention
for a declaration of truth.

CLOWN: Yes, yes, certainly!

All exit.

End of Act Two

of "Shakuntala,"

a play by the great poet Kalidasa.

ACT THREE: THE FIRE OF LOVE

A DISCIPLE of the sacrificial priest enters.

DISCIPLE: (Carrying kusa grass.) Ah, how great is Dushyanta's power! The moment His Majesty entered the hermitage grounds with his charioteer, the demons' disturbances ceased, and our rites are proceeding without obstruction.

What need has he even to set an arrow to the bow?
From afar, with the twang of the bowstring—
as though the bow itself were roaring a threat—
he drives the troublemakers away.

I shall take this kusa grass to the priests so that they may spread it upon the altar. (Moves forward, then calls offstage.) Priyamvada! For whom are you carrying that paste of fragrant usira and those lotus leaves bound with fibres? (Listens.) What did you say? "Shakuntala has been made gravely ill by the burning heat, and these are to cool her fever"? Ah! Tend your friend with great care; she is the very life of our venerable master. I too shall immediately send consecrated cooling water through Gautami. (Exits.)

End of the introductory scene.

The lovesick KING enters.

KING: (Lost in thought.)

I know the power of austerity,
and I know that the maiden is under another's authority;
yet I cannot turn my heart away from her.

(Dejected.) God of Love, though you know all this, you show me no mercy. How can you be so cruel when flowers are your weapons? (Thinking.) Yes, now I understand—

the fire of Shiva's anger must still be smouldering within you,
like the submarine fire beneath the ocean;
otherwise, O tormentor of hearts,
how could you, reduced to ashes yourself,
rage so fiercely against men like me?

(Angrily.) Flower-armed god! Why do you and the Moon—both of whom should inspire trust—attack the caravan of lovers?

Your arrows are flowers,
and the Moon's rays are cool—
yet to lovers like me both claims are plainly false.
The Moon pours fire from his frost-like beams,
and you make your flower-arrows hard as thunderbolts!

(Dejected.) The priests' rites are complete. Now that I have a little leisure, where shall I give my weary mind rest? (Sighing.) What refuge have I but the sight of my beloved? I must seek her. (Looking at the sun.) In this fierce noonday heat, she and her friends usually remain on that bank of the Malini, enclosed by a bower of vines. I shall go there. (Moves forward and acts the pleasant touch of the breeze.) Ah, how delightful this place is in the cooling wind!

With limbs made languid by desire,
I could almost embrace this breeze,
fragrant with lotus
and carrying spray from the waves of the Malini.

(Walking and looking about.) Shakuntala must be in this reed-encircled bower. For— (Looking down.)

on the white sand at its entrance
runs a line of fresh footprints:
lightly marked at the toes,
but deeply pressed behind by the weight of her hips.

I shall peep through the branches. (Does so, delighted.) Ah, my eyes have received their alms! My beloved, the foundation of my love, lies with her two friends upon a stone slab strewn with flowers. Good. Hidden behind the vines, I shall listen to their private conversation. (He watches.)

SHAKUNTALA enters with her two FRIENDS, in the condition described.

FRIENDS: (Fanning her tenderly.) Dear Shakuntala, does the breeze from these lotus leaves bring you any relief?

SHAKUNTALA: (Acting pain.) What? Are my friends fanning me?

The two FRIENDS look sorrowfully at one another.

SHAKUNTALA: (Sighs sadly.)

KING: The lady is very ill. (Thinking.) Are these the symptoms of sunstroke, or was my suspicion right? (Longingly.) No more doubt!

Her breasts are anointed with cooling usira paste;
a single bracelet of lotus fibre hangs loose upon her wrist.

Even in suffering, my beloved's appearance is lovely.
Though the fever born of love
and the fever of summer may look alike,
summer could never fashion
such beautiful distress upon a young woman's body.

ANASUYA: Dear Shakuntala, we may be inexperienced in the ways of love, yet your condition resembles that of lovers described in old tales. Please tell us the cause of your illness. No cure can be found until the root of a disease is known with certainty.

KING: Anasuya shares my suspicion!

SHAKUNTALA: (To herself.) My longing has grown too powerful; I cannot easily restrain it now.

PRIYAMVADA: Dear Shakuntala, Anasuya is right. Why hide your suffering from us? Your body grows thinner day by day; only the radiance of your beauty remains.

KING: Priyamvada speaks the truth. For—

her cheeks have grown hollow,
the firmness of her breasts has softened,
her waist has become slender,
her shoulders droop, and the colour has faded from her body.
Afflicted by love, she is both pitiable and beautiful—
like a madhavi vine touched
by a wind that withers its leaves.

SHAKUNTALA: To whom can I tell this, if not to you two? Yet by speaking I shall now cause you pain as well.

BOTH: That is precisely why we insist. Sorrow becomes bearable when it is shared.

KING:

When a friend who shares both joy and grief asks her,
this maiden cannot leave the cause
of her secret suffering untold.
Again and again she turned and cast meaningful glances at me;*
yet now my heart trembles
as I wait to hear her answer.

SHAKUNTALA: (Bashfully.) Ever since that royal sage, the protector of the sacred grove, came within my sight, I have fallen in love with him—and this has become my condition.

KING: (Delighted.) I have heard what I longed to hear!

Love itself is the source of her fever,
and love has come to soothe it for me—
like a clouded day at summer's end
that cools the heat of the world.

SHAKUNTALA: Now, if you think it right, tell me what I must do so that the royal sage will take pity on me. Otherwise, offer water for my funeral rites at once.

KING: These words, which have cut through my doubt, are the fruit of love. The fruit of my effort is yet to come.

PRIYAMVADA: (Aside to Anasuya.) Her illness of love has grown severe; it will bear no delay. The man upon whom she has set her heart is no ordinary man, but a descendant of Puru. We must quickly find a way to win his love for her.

ANASUYA: (Aside.) You are right. (Aloud.) My friend, by good fortune your desire has settled upon one who is worthy. Where else should a mighty river flow but to the sea?

PRIYAMVADA: Who would not wish to see the mango tree blossom beside the atimukta vine?

KING: What wonder if the two bright stars of Vishakha follow the crescent moon? I am indebted to you both.

ANASUYA: By what means can our friend's desire be fulfilled secretly and without delay?

PRIYAMVADA: "Secretly" will require some ingenuity; "without delay" will not be difficult.

ANASUYA: How so?

PRIYAMVADA: The royal sage, whose tender glances revealed his desire for her, has also been passing these days without sleep and growing thin.

KING: That is true. I am indeed just so. For—

night after night, tears flowing from the corners of my eyes,
heated by the fever within,
fall upon my arm and dull the stones of this golden bracelet.
Without touching the scar left by the bowstring,
it slips again and again from my wrist,
and again and again I must push it back into place.

PRIYAMVADA: (Thinking.) Anasuya, we must write a love letter now. We shall hide it among flowers, saying they are remnants of worship, and place it in the King's hand.

ANASUYA: I like this subtle plan. What does Shakuntala think?

SHAKUNTALA: (Bashfully.) Does one question a command?

PRIYAMVADA: Then compose a lovely verse that begins by speaking of yourself.

SHAKUNTALA: I am thinking, but my heart trembles with fear that I shall be rejected.

KING: (Delighted.)

Timid girl, the man whose rejection you fear
stands here yearning for your love!
A petitioner may or may not win good fortune;
but when good fortune itself desires something,
how can it be difficult for her to obtain it?

FRIENDS: You who undervalue your own worth! Who would try to ward off autumn moonlight with a parasol?

SHAKUNTALA: (Smiling.) I shall do as you say. (She sits thinking.)

KING: No wonder my unblinking eyes gaze fixedly upon my beloved. For—
as she composes her verse, one eyebrow rises,
and the thrill upon her cheek
reveals her love for me.

SHAKUNTALA: My friends, the verse has come to me, but I have nothing with which to write it.

PRIYAMVADA: Can you not scratch the letters with your fingernail upon this tender lotus leaf, green as a parrot's breast? Then we shall judge your verse.

SHAKUNTALA: (Doing so.) Then listen and tell me whether the meaning is right.

BOTH: We are ready.

SHAKUNTALA: (Reads.)

O hard-hearted one,
I do not know what lies within your mind;
but because I yearn for you,
the God of Love burns my limbs in anguish day and night.

KING: (Delighted, stepping forward.)

Slender girl, the God of Love may continually torment you,
but he is reducing me to ashes.
The day does not work such havoc on a pool of night-lotuses
as the Moon does.

FRIENDS: (They see the King, rise joyfully.) We welcome this wish, fulfilled without delay merely by being conceived.
(Shakuntala tries to rise.)

SHAKUNTALA: (To herself, agitated.) Heart, if you go on pounding like this, nothing will be accomplished. (She tries to rise.)

KING: Do not trouble yourself.

Clinging to a bed of flowers,
wearing a garland of lotus fibres already fading,
your limbs afflicted by fierce fever
need not observe ceremony.

ANASUYA: Let our friend grace this side of the stone seat.

KING: (Sitting.) Priyamvada, I hope your friend is not suffering too severely from this bodily fever.

PRIYAMVADA: (Sitting beside her friend.) Now that the remedy has been found, the fever will subside in due course.

ANASUYA: (Aside to Priyamvada.) What do you mean by "in due course"? Look! Just as life suddenly returns to a peahen at the sound of thunder, our friend is gazing at him without blinking.

SHAKUNTALA: (Remains bashful.)

PRIYAMVADA: Gracious sir, your mutual love is plain. Yet, out of affection for my friend, I wish to speak openly as well.

KING: Speak. One regrets leaving the heart's thought unspoken.

PRIYAMVADA: Then may Your Majesty listen carefully.

KING: I am listening.

PRIYAMVADA: Because of you, the God of Love has brought our friend to this condition. Therefore, please preserve her life.

KING: It would be an honour.

SHAKUNTALA: (Smiling.) My friend, stop troubling the royal sage, who must be eager to return to the pleasures of his inner palace.

KING: Beautiful one!

You, whose eyes intoxicate like wine,
who have taken refuge within my heart—
if you believe that this heart, devoted to you alone,
belongs to some other beauty,

then you wound me again,
though the arrows of Love have wounded me already.

ANASUYA: My friend, we hear that kings have many wives. Act so that our friend does not become an object of pity to her family.

KING: Beautiful one!

Though I may marry many women,
only two shall be the foundations of my line:
the royal fortune embodied in my lawful queen,
and this friend of yours.

BOTH: We are fulfilled.

SHAKUNTALA: My friends, ask the protector of the world to forgive whatever bounds of propriety you crossed in this private conversation.

FRIENDS: One asks forgiveness of the person before whom the words were spoken. Who else could be offended? What do people not say behind one's back?

KING: (Smiling.)

Lovely-thighed girl,
make a little room for me as a friend
upon this bed of flowers,
half-emptied by your rising,
and I may be able to endure the offence.*

PRIYAMVADA: Would that alone satisfy you?

SHAKUNTALA: (Pretending anger.) Enough, you shameless girl! You jest even while I suffer like this.

ANASUYA: (Looking outside.) Priyamvada, this distressed fawn is looking everywhere. It must be searching for its mother. I shall take it to her. (She rises.)

PRIYAMVADA: Oh, it is very restless! You will not catch it alone. I shall help you. (They start away.)

SHAKUNTALA: My friends, only one of you should go! Otherwise I shall be left helpless.

BOTH: (Smiling.) The refuge of the whole world is with you. (They exit.)

SHAKUNTALA: What? Have they truly both gone?

KING: Do not be alarmed. Have I, who longs for your favour, not taken the place of your friends?

Shall I fan you with a cool lotus leaf
and ease your weariness with its moist breeze?
Or, lovely-thighed girl,
shall I place your lotus-red feet in my lap
and soothe them with gentle pressure?

SHAKUNTALA: I must not allow myself to show disrespect to one whom I ought to honour. (She rises and starts away as her condition permits.)

KING: (Stopping her.) Beautiful one, the day is not yet over. Consider your condition as well.

Leaving the flower-bed in this secluded bower,
your breast covered only by the armour of a plantain leaf,
with limbs so tender and pale,
how can you venture into the heat outside?

SHAKUNTALA: My friends are my only refuge. To whom else can I go for protection?

KING: Now I am ashamed.

SHAKUNTALA: I do not blame the King;* I blame my fate.

KING: Why blame a fate that favours you so greatly?

SHAKUNTALA: Why should I not blame the fate that, though I am not mistress of myself, shows me another's virtues only to mock me?

KING: (To himself.)

Though maidens feel deep desire within,
they frustrate a lover's efforts;
though they long for the joy of union,
they fear to surrender their bodies.
Once love has gained a footing, the pain is not so great
as the pain they cause love by wasting time.

SHAKUNTALA prepares to leave.

KING: (To himself.) Why should I not fulfil my desire? (He rises, approaches, and catches the end of her garment.)

SHAKUNTALA: Son of Puru, release me!

KING: Lady, I shall release you.

SHAKUNTALA: When?

KING: After I have enjoyed the happiness of love with you.

SHAKUNTALA: A daughter overcome by love is not her own mistress. Besides, my friends' consent must also be obtained.

KING: (Pausing, then sitting.) Then I release you.

SHAKUNTALA: (Feigning anger.) Son of Puru, observe propriety! Sages and hermits pass this way.

KING: (Looking around.) What? Have we come into the open? (Startled, he releases Shakuntala and steps back.)

SHAKUNTALA: (Coming a little nearer, her body bent.) Son of Puru, although I have not fulfilled your desire and have given you only the pleasure of seeing me, do not forget me.

KING: Beautiful one!

Though you walk far away,
you do not leave my heart;
just as, at the close of day, a tree's shadow
does not abandon its root in the east.

SHAKUNTALA: (Going a little distance.) Ah! My feet have no strength to carry me farther. Hidden from him behind this kurabaka bush, I shall watch the bower from the rear and see what becomes of his love. (She does so.)

KING: Beloved, though your love is my only happiness, you have left me and gone away in indifference.

Can the heart within your body—
so tender that it cannot endure rough enjoyment—
be hard as the seed-pod of a shirisha flower?*

SHAKUNTALA: Hearing this, I have no strength left to go.

KING: What use is this deserted place without my beloved? I shall leave. (He starts, then looks at the ground.) Ah! My departure is checked.

Here before me lies this bracelet of lotus fibre,
fragrant with usira, fallen from her wrist—
like a chain that binds my heart.
(He lifts it reverently.)

SHAKUNTALA: (Looking at her hand.) Ah! Because I have grown thin, my fibre bracelet loosened and fell, and I did not even notice.

KING: (Placing the bracelet upon his breast.) Ah, how cool its touch is!

Beloved, this unfortunate man has found consolation
in the little ornament that slipped
from your sacred arm and remained here—
though it is lifeless,
and you yourself gave me none.

SHAKUNTALA: I cannot restrain myself any longer. Let me see. I shall use this as a pretext to approach him. (She comes forward.)

KING: (Seeing her, delighted.) Ah! The mistress of my life has returned. Hearing my lament, fate has shown me mercy.

At the prayer of one who rarely begs,
his throat parched dry,
a newly formed cloud
has burst in rain upon his face.

SHAKUNTALA: (Before the King.) Quickly! After I had gone halfway, I remembered that this fibre bracelet had fallen from my hand, so I returned. My heart seemed to tell me that you had picked it up. Give it back, therefore, so that our secret is not revealed before the hermits—yours and mine alike.

KING: I shall return it on one condition, and not otherwise.

SHAKUNTALA: What condition?

KING: I myself must fasten it in its place.

SHAKUNTALA: (To herself.) How can I escape from this now?

KING: Let us go to the stone seat. (They go and sit.)

KING: (Taking Shakuntala's hand, to himself.)

Is this the shoot of the tree of Love,
burnt by the fire of Shiva's anger
and suddenly revived by a shower of nectar?

SHAKUNTALA: (Acting the thrill of delight.) Quickly, my lord!

KING: (To himself.) Now, from this form of address used for a husband, I am reassured. (Aloud.) Beautiful one, the knot of this lotus-fibre bracelet is not very secure. If you wish, I shall fasten it another way.

SHAKUNTALA: (Laughing.) You understand the art of delay very well. As you please.

KING: (Deliberately taking his time; he fastens it, then holds her hand.) Beautiful one, look at it!

Your lovely arm, like a dark vine,
seems adorned with the new moon;
that crescent, taking the form of this fibre bracelet,
has left the sky for the greater beauty of your hand
and come here with its two tips joined.

SHAKUNTALA: I cannot see it clearly. Pollen from the lotus at my ear, stirred by the wind, has fallen into my eye.

KING: (Smiling.) With your permission, I shall blow it away.

SHAKUNTALA: Then I shall be helpless. And I do not trust you!

KING: Do not say that. A new servant does not overstep the limits of the one he serves.

SHAKUNTALA: It is your excessive devotion to service that makes me distrust you.

KING: I shall not let such a beautiful opportunity for service escape. (He begins to raise her face.)

SHAKUNTALA: (Resists, then becomes still.)

KING: Ah! Your eyes are full of tears. Do not fear improper conduct from me. Raise your face.

SHAKUNTALA: (Looks at him sidelong.)

KING: (Lifting her face with two fingers, to himself.)

My beloved's lower lip,
tender because no teeth have ever bitten it,
seems, with its enticing tremor,
to invite me, thirsty for its sweetness.

SHAKUNTALA: My lord seems reluctant to fulfil his promise.

KING: Beautiful one, the lotus at your ear is so close to your eye that their likeness confused me. (He blows upon her eye.)

SHAKUNTALA: Enough, that is sufficient. It feels better now. But I am ashamed that—

I can render no service in return to my lord, who has shown me such kindness.

KING: What more could I desire?

Maiden, even to breathe the fragrance of your scented mouth is a favour;
... (Smiling.) Yet a bee is not satisfied merely with the fragrance of a lotus.

SHAKUNTALA: If it is not satisfied, what will it do?

KING: This! (He stops at that very moment.)

OFFSTAGE: Lady Gautami!

SHAKUNTALA: (Hearing it, alarmed.) Son of Puru! My father's religious sister is coming to see how I am. Hide among the bushes!

KING: (Does so.)

GAUTAMI enters carrying a vessel.

GAUTAMI: (Approaching.) You shameless girl! Are you lying here with only the Lord as your companion?

SHAKUNTALA: Priyamvada and Anasuya have only just gone down towards the Malini River.

GAUTAMI: (Sprinkling Shakuntala with consecrated water.) Child, be well and live long! Has the fever in your limbs lessened at all?

SHAKUNTALA: I feel better now.

GAUTAMI: Child, the day is ending. Come—

let us return to the cottage.

SHAKUNTALA: (To herself.) Heart, when you found the man—

rare as the fulfilment of a wish—why did you keep him waiting so long?

Why torment yourself with regret now?

(She takes a few steps, turns, and calls loudly.) Vine-bower, I—

take my leave of you until I have another chance to enjoy your happiness! (Saying this,
both women exit.)

KING: (Returning to his former place and sighing deeply.) Ah! The fulfilment of desire—
is surrounded by difficulties. For—

*The long-lashed maiden's face,
her lower lip repeatedly covered by her fingers,
stammering syllables of refusal,
was turned towards her shoulder.
Somehow I raised it—
but did not kiss it.*

Where shall I go now? No. I should remain here—

in this abandoned vine-bower that my beloved has enjoyed.

(Looks around.)

Upon this stone lies the flower-bed disordered by her body;
on this lovely lotus leaf is the love letter scratched by her nail;
here is the lotus-fibre ornament that fell from her hand.
As I gaze on all these, my sight grows dim,
and though this reed bower is empty,
I cannot tear myself away.

Alas! I did wrong to delay when I had the opportunity with my beloved. Now—

“If the lovely-faced girl comes again to some secret meeting,
I shall waste no time;
a prize is not won through gracious concessions!”
My foolish heart, thwarted by complicated obstacles, makes such plans;
yet when it reaches my beloved's presence,
it becomes hesitant in a hundred ways.

OFFSTAGE: Your Majesty! Your Majesty!

*The evening oblation has begun.
Tawny as the crests of clouds at sunset,
the shadows of flesh-eating demons
circle the altar blazing with sacrificial fire
and spread terror all around.*

KING: (Alarmed.) Holy men, do not be afraid! I am coming!

He exits.

End of Act Three

of “Shakuntala,”

a play by the great poet Kalidasa.

ACT FOUR: THE FAREWELL

The two HERMITAGE MAIDENS enter, gathering flowers.

ANASUYA: Priyamvada, although Shakuntala has found happiness in a secret marriage by mutual consent with a worthy husband, my heart is still uneasy.

PRIYAMVADA: Why?

ANASUYA: When the sacrifice ended today, the sages dismissed the King. Once he has returned to the inner apartments of the city, will he remember what happened here—or not?

PRIYAMVADA: Put your mind at rest on that point. A man of such grave and noble character—

does not act against his own nature. But this troubles me: when Father hears what has happened, I do not know how he will react...

ANASUYA: My friend, if you ask me, Father will approve and be pleased.

PRIYAMVADA: “Approve and be pleased”—how can you be sure?

ANASUYA: How else? His chief purpose was always, “My daughter must be given to a worthy husband.” If destiny itself has accomplished the task, our revered master’s purpose has been fulfilled without effort.

PRIYAMVADA: You are right. (Looking at the flower basket.) My friend, we have gathered enough flowers for the offering.

ANASUYA: We must also worship the deities who preside over Shakuntala’s married happiness.

PRIYAMVADA: Certainly. (They resume gathering flowers.)

OFFSTAGE: Ho! I am here!

ANASUYA: (Listening.) My friend, it seems that a guest is announcing his arrival.

PRIYAMVADA: Shakuntala must be near the cottage.

ANASUYA: Yes, but today her heart is not with her.

PRIYAMVADA: (Hurriedly.) Then we must make do with these flowers. (They start away.)

OFFSTAGE: You who insult a guest!

*The man upon whom your thoughts are fixed so completely
that you failed to notice me when I came as a guest
shall not recognise you even when reminded—
just as a drunken man forgets what he said a moment before.*

BOTH: (Hearing this, distressed.) Alas! Disaster! Our absent-minded friend has offended some venerable person.

ANASUYA: (Looking.) Ah! No ordinary person—it is the great sage Durvasa. Quick to anger, he is striding away, inexorable as fire.

PRIYAMVADA: Who can burn anything after fire has passed it by? Anasuya, fall at his feet and pacify him. I shall prepare water for the guest’s welcome.

ANASUYA: (Exits.)

PRIYAMVADA: (Taking one step, she stumbles.) Ah! In my haste I stumbled and dropped the basket of flowers. I must gather them again.* (She does so.)

ANASUYA: (Re-entering.) My friend, he is anger embodied. Whose plea for forgiveness would he accept? Yet he showed a little mercy.

PRIYAMVADA: From him, even that is much. Tell me what happened.

ANASUYA: When he refused to turn back, I said, “Holy sir, remember her former devotion. With your divine insight, recognise her true worth and forgive this offence of your daughter.”

PRIYAMVADA: And then?

ANASUYA: He said, “My spoken word cannot prove false. The curse will end the moment she sees a token of recognition”—and then he vanished.

PRIYAMVADA: Now we can breathe again. When the royal sage took leave, he himself placed a ring upon Shakuntala’s hand as a keepsake. So long as it remains with her, this remedy will work. (They turn.)

ANASUYA: Priyamvada, look! Our friend rests her face upon her left hand and sits like a painted figure. She is so absorbed in thoughts of her husband that she has no awareness even of herself; how could she notice an unfamiliar visitor?

PRIYAMVADA: Dear Anasuya, let the matter of the curse remain between you and me alone. We must protect our tender-hearted friend.

ANASUYA: Who would sprinkle hot water upon a jasmine vine?

They exit.

End of the introductory scene.

A DISCIPLE of Kashyapa enters, newly awakened.

DISCIPLE: The revered Kashyapa, returned from Prabhasa, has sent me to determine the hour. I shall go into the open and see how much of the night remains. (He walks and looks.) Ah, dawn is breaking. For—

the rising light of morning reddens the mist hanging from the trees;
peacocks, shaking off sleep, leave the kusa-thatched cottages;
and this deer, lying beside the hoof-scratched edge of the sacrificial altar,
starts awake, stretches its limbs, and stands.

And further—

the Moon, who spread his rays below
and set his foot upon the summit of mighty Mount Sumeru,
who drove away darkness and reached the middle stride of Vishnu,
now descends from the sky with only a few rays remaining—
even the loftiest rise of the great ends at last in decline.

The Sun and Moon seem to show the world this truth: prosperity and adversity are unstable. For—

on one side the Moon, lord of healing herbs, descends towards the western mountain of setting;
on the other, the Sun appears with the proclamation of dawn.
By the setting and rising of these two lights at the same moment,
the world is bound to the alternating fortunes of life.

And at this hour—

now that the Moon has vanished, that same pool of night-lotuses no longer delights my eyes;
its beauty survives only in memory.
Surely the pain caused by a beloved's absence is unbearable to a helpless woman.

ANASUYA enters, drawing back the curtain.

ANASUYA: Even the sage, detached from worldly pleasure, could not have known that the King would behave so basely towards Shakuntala.

DISCIPLE: I shall report that the appointed hour has come. (Exits.)

ANASUYA: I am awake, but what can I do? Though I have risen, my hands and feet have no strength to perform the tasks I planned for this morning. My tender-hearted friend placed her trust in a man who has broken his word—may the God of Love be satisfied now! (Remembering.) Or perhaps the royal sage is not at fault; Durvasa's anger is obstructing him. Otherwise

—
how could the royal sage, who spoke such words, fail to send even one letter after so much time? (Thinking.) We could send the ring from here to remind him. But among these hermits, acquainted only with austerity, whom would we dare to tell? And they would think, "Her friends are to blame." So we are helpless. Who will tell Father Kashyapa, now returned from Prabhasa, that Shakuntala has married Dushyanta and is pregnant? What can we do in such a situation?

PRIYAMVADA enters.

PRIYAMVADA: Anasuya! The rites for Shakuntala's departure have begun.

ANASUYA: My friend, how has that happened?

PRIYAMVADA: Listen, Anasuya. I had just gone to Shakuntala. She had risen from a peaceful sleep and was bowing shyly when Father Kashyapa embraced her and said, "Fortunately, though smoke veiled my sight, my oblation fell into the sacred fire. Like knowledge entrusted to a worthy pupil, you have not become a cause of sorrow to me. Therefore, today itself I shall send you with the sages to your husband's home."

ANASUYA: Then who told Father what had happened to Shakuntala?

PRIYAMVADA: When Father entered the fire sanctuary, a heavenly voice spoke in the form of a Vedic verse.

ANASUYA: (Astonished.) What did it say?

PRIYAMVADA: Listen, my friend. (Recites in Sanskrit.)

O Brahmin, know this:
for the welfare of the world, your daughter bears within her
the heroic seed implanted by Dushyanta,
as the shami tree bears fire within itself.

ANASUYA: (Joyfully embracing Priyamvada.) My friend, I am overjoyed; yet knowing that Shakuntala is being sent away, I feel a happiness that is almost sorrow.

PRIYAMVADA: Put aside your grief. May she be happy now.

ANASUYA: Good. In a coconut casket hanging from the branch of that mango tree, I have kept some long-lasting lotus fibres for this very occasion.* Bring them. I shall mix yellow gorochana from the deer, earth from the holy place, and shoots of sacred grass to prepare her auspicious cosmetic paste. (She exits.)

PRIYAMVADA: (Acts gathering flowers.)

OFFSTAGE: Command Sharngarava and his companions: "Prepare to escort Shakuntala."

PRIYAMVADA: (Listening.) Anasuya, hurry, hurry! The sages are preparing to leave for Hastinapura. (ANASUYA enters carrying the paste.)

ANASUYA: My friend, come. Let us go! (They walk on.)

PRIYAMVADA: (Looking.) There is Shakuntala. As the sun rises, the female ascetics, carrying bowls of wild grain, are blessing her and bidding her farewell. Come, let us go to her. (They do so.)

SHAKUNTALA enters seated as described, with GAUTAMI and the FEMALE ASCETICS.

FIRST FEMALE ASCETIC: Child, through your husband's special honour, attain the rank of Chief Queen.

SECOND FEMALE ASCETIC: Child, bear a heroic son.

All except GAUTAMI bless her and exit.

FRIENDS: (Approaching.) My friend, may you be happy!

SHAKUNTALA: (Looking at them affectionately.) Dear friends, welcome. Sit here.

BOTH: (Sitting.) Dear Shakuntala, stand up. We shall apply the auspicious paste to your body.

SHAKUNTALA: Though I am accustomed to this, today it seems very precious. From now on, I shall rarely be adorned by my friends' hands. (Weeping, she rises.)

BOTH: My friend, one must not weep on an auspicious occasion long desired. (They wipe her tears and act adorning her.)

PRIYAMVADA: Your beauty deserves jewels. These ornaments readily available in the hermitage do it an injustice.

Two YOUNG HERMITS enter carrying articles of adornment.

BOTH YOUNG HERMITS: Here are ornaments. Adorn the lady.

All look on in amazement.

GAUTAMI: Harita, my son, where did these come from?

FIRST YOUNG HERMIT: Through Father Kashyapa's grace.

GAUTAMI: Were they obtained by mere resolve?

SECOND YOUNG HERMIT: No. Listen. At our revered father's command, we went to gather flowers from the trees for Shakuntala. There—

one tree gave an auspicious silk garment, white as moonlight;
one poured out red lac-dye, ready to be applied to her feet;
and from other trees, the hands of forest deities, extending to the wrists
and rivaling the beauty of fresh shoots,
offered us ornaments.

PRIYAMVADA: (Looking at Shakuntala.) My friend, this foretells extraordinary good fortune. You will enjoy royal splendour in your husband's home.

SHAKUNTALA: (Acts bashfulness.)

ANASUYA: My friend, how beautiful you look now! Like a bee born in a hollow, you are longing for the nectar of the lotus.

PRIYAMVADA: (Adorning her.) I have never worn ornaments like these. I shall arrange them upon your body as I have seen them in paintings.

SHAKUNTALA: (Smiling.) I know your skill.

The two FRIENDS act putting on the ornaments.

FIRST YOUNG HERMIT: Gautama, come. Let us tell Father Kashyapa, who has gone down to bathe, of the generosity of the trees.

SECOND YOUNG HERMIT: Come. (They both exit.)

KASHYAPA enters after bathing.

KASHYAPA: (Sighing deeply.)

At the mere thought, "Shakuntala will leave today,"
my heart fills with the pain of separation;
my throat aches with restrained tears;
my sight is blurred by anxiety.
If affection makes even me, a forest-dwelling ascetic, so sorrowful,
how deeply must the hearts of householders be crushed
by the fresh grief of parting from a daughter!

(He walks on.) **FRIENDS:** Dear Shakuntala, your adornment is complete. Now put on this silk garment.

SHAKUNTALA: (She goes out of the pavilion, puts on the garment, returns, and sits.)

KASHYAPA: (Approaches.)

GAUTAMI: Child, your father is here, his eyes filled with tears of joy as though they were embracing you. Bow to him.

SHAKUNTALA: (Rising bashfully.) Father, I bow to you.

KASHYAPA: My daughter—

As Sharmishtha was honoured by Yayati,
so may you be honoured by your husband;
and as she gave birth to Puru,
so may you bear a son who will be universal emperor.

GAUTAMI: Venerable sir, that is not a blessing but a boon.

KASHYAPA: Daughter, quickly walk clockwise around the sacrificial fires that bear the oblations. (They all move.)

May these three sacred fires protect you—
set around the altar,
kept alive with fuel,
their borders strewn with kusa grass,
and driving away evil with the fragrance of the offerings.

SHAKUNTALA: (Walks around them clockwise.)

KASHYAPA: Daughter, now depart. (Looking around.) Where are Sharngarava and his companions?

The three DISCIPLES enter together.

DISCIPLES: Venerable sir, we are here.

KASHYAPA: Sharngarava, lead the way for your sister.

SHARNGARAVA: This way, this way, lady. (They all move on.)

KASHYAPA: Daughter Shakuntala, give this message—

to the trees of the hermitage, within whom deities dwell:

She who would not drink water until she had watered you;
who, though fond of ornaments, would not pluck your shoots out of love for you;
for whom the opening of your first blossom was a festival—
that Shakuntala is going to her husband's home.
Grant her leave to depart.

OFFSTAGE:

May her road be pleasantly varied by pools filled with lotus-bearing water;
may shady trees ward off the burning rays of the sun;
may the dust be soft as lotus pollen floating upon water;
may a gentle, favourable breeze blow;
and may her journey be auspicious.

All listen in amazement.

SHARNGARAVA:

These trees, her companions during her forest life, have granted Shakuntala leave to depart;
for in the sweet voices of cuckoos they have answered your words.

GAUTAMI: Child, the deities of the hermitage have lovingly given you leave as kinsmen would. Bow to the goddesses.

SHAKUNTALA: (She does so, then turns to her friends.) Dear Priyamvada, though I long to see my lord, my feet move away
from the hermitage only with great pain.

PRIYAMVADA: It is not only your friends who grieve to part from you. As your departure draws near, the sacred grove itself
appears sorrowful. For—

the doe has let the kusa grass fall from her mouth;
the peacock has ceased dancing and stands dejected;
the vines shed yellow leaves
like limbs trembling with grief.

SHAKUNTALA: Father, let me bid farewell to my vine-sister, Madhavi.

KASHYAPA: I know your sisterly affection for her. Greet her there on your right.

SHAKUNTALA: (Going to the vine and embracing it, stammering with affection.) Madhavi, embrace me with your branch-like
arms. From today I shall live far away from you.

KASHYAPA: Daughter, her care is mine now. See—
the worthy husband I once desired for you
you have won for yourself through your own merit.
Now, freed from anxiety for you,
I shall arrange her marriage
with this neighbouring mango tree.

SHAKUNTALA: (Going to her friends.) I entrust her to you both.

FRIENDS: (Tearfully.) And into whose hands are we being entrusted? (They weep.)

KASHYAPA: Anasuya, stop weeping. Should you not give Shakuntala courage? (They all move forward.)

SHAKUNTALA: (Looking.) Father, when this pregnant doe that wanders near the cottage gives birth, please send someone to
bring me the happy news.

KASHYAPA: Daughter, I shall not forget.

SHAKUNTALA: (Acts as though something has stopped her while walking.)

FRIENDS: Who is this that has come so close and seems to be tugging at the edge of her garment?

KASHYAPA: Daughter,
this is the fawn whose mouth, wounded by the point of kusa grass,
you anointed with healing ingudi oil;
whom you raised like a son,

feeding him handful after handful of shyamaka grain.
He will not let you leave him behind.

SHAKUNTALA: (Looking.) Little one, why do you follow me, who have shown you such faithless affection by leaving my companions? Your mother died immediately after giving birth to you, and I raised you when you were motherless. Now I too am leaving you; Father will care for you. Go back, therefore. (Weeping, she moves on.)

KASHYAPA: Daughter!

Restrain the stream of tears about to burst forth,
which obscures the sight of your uplifted, long-lashed eyes.
The hollows and ridges of the path are no longer clear,
and therefore your steps are faltering.

SHARNGARAVA: Scripture directs that a loved one be accompanied as far as the water's edge. This is the bank of the lake. Give us your instructions here and then return.

KASHYAPA: Let us sit in the shade of this peepal tree.

They all sit and remain there.

KASHYAPA: (To himself.) What message should I now send to King Dushyanta? (He thinks.)

ANASUYA: Dear friend, there is no creature in the hermitage that is not saddened by your departure. Look here—

the chakravaka hen calls to her mate,
who is hidden behind a lotus leaf;
though the fibre he was eating falls from his mouth,
he does not answer, but looks towards you.

SHAKUNTALA: (Looking.) My friend, it is true. Unable to see her mate, though he is hidden by a nearby lotus leaf, the chakravaka cries pitifully, "Ah, how much suffering I endure!"

PRIYAMVADA:

Tonight again she will pass
a night lengthened by pain without her beloved.
The bond of hope
makes even profound sorrow bearable.

KASHYAPA: Sharngarava, speak to the King about Shakuntala in my name as follows.

SHARNGARAVA: Command me, revered teacher.

KASHYAPA:

Consider well our life of disciplined restraint,
your own exalted lineage,
and the spontaneous affection that drew her to you
without the mediation of her family.
Then honour her as you honour your other wives.
What lies beyond this rests with fate;
a woman's relatives do not beg on her behalf.

SHARNGARAVA: I have committed the message to memory.

KASHYAPA: (To Shakuntala.) Daughter, now I must instruct you. Though we live in the forest, we understand the ways of the world.

SHARNGARAVA: Nothing truly lies beyond the vision of the wise.

KASHYAPA: Daughter, when you reach your husband's home—

obey your elders; treat your co-wives
as sincere friends;
even if your husband neglects you, do not answer in anger;
always be courteous to the servants;
do not grow proud in prosperity.
In this way a young woman becomes mistress of her household;
one who acts otherwise
becomes the misfortune of her family.

Gautami, what do you think?

GAUTAMI: This is all the instruction a young bride needs. (To Shakuntala.) Child, remember it well.

KASHYAPA: Daughter, come and embrace me.

SHAKUNTALA: Father, must my friends turn back from here?

KASHYAPA: Daughter, they too must marry someday. It would not be proper for them to go there. Gautami will accompany you.

SHAKUNTALA: (Rising and embracing her father.) How shall I preserve my life when I am separated from Father, like a she-elephant parted from her herd? (She weeps.)

KASHYAPA: Why are you so overcome?

Become the honoured mistress of a worthy husband's noble house;
remain occupied every moment with his important affairs;
and soon, like the eastern sky, give birth
to a son radiant as the Sun, who will fulfil you.
Then this grief of separation from me
will seem insignificant.

And remember this—

when the complete separation of soul and body
is inevitable,
who should be overwhelmed by the pain
of cutting away a boil?

(SHAKUNTALA falls at her father's feet.)

KASHYAPA: May every desire of yours be fulfilled.

SHAKUNTALA: (Going to her two friends.) My friends, embrace me together, both at once.

FRIENDS: (Doing so.) My friend, if the King is slow to remember you, show him this ring engraved with his name. (They give her the ring.)

SHAKUNTALA: (Anxiously.) Even at the moment of farewell, compassion is being shown to me.

FRIENDS: Do not be anxious. Affection is always filled with fear of misfortune.

SHARNGARAVA: (Looking up.) The Sun has crossed into the second half of the sky. Lady, therefore, make haste. (Rising.) This way, this way, lady.

They all move forward.

SHAKUNTALA: (Again embracing her father and sobbing.) Father, when shall I see this sacred grove again?

KASHYAPA: Daughter, listen—

when you have become co-wife with the earth
that stretches to every horizon;
when you have borne the son of Dushyanta, unconquered in battle;
and when that son has taken the burden of the kingdom upon himself,
then, accompanied only by your husband,
you shall set foot once more in this peaceful hermitage.

GAUTAMI: Child, the proper time for departure is passing. Let your father return now. (To Kashyapa.) But no—however long we wait, she will not tell her father to go back. Revered teacher, you must turn back of your own accord.

KASHYAPA: Daughter, my austerities are being interrupted. I must return now.

SHAKUNTALA: (Again embracing her father.) Father will soon be free of sorrow, but I am carrying sorrow away upon my own head.

KASHYAPA: Ah! Why do you make me so distraught?

Daughter, when I see at the cottage door
the grains of wild rice you planted with your own hand
only now beginning to sprout,
how shall my grief be calmed?

Daughter, go. May your path be auspicious!

SHAKUNTALA exits with her companions.

FRIENDS: (Watching for a long time.) Ah! Shakuntala is no longer visible, hidden by the rows of trees.

KASHYAPA: Anasuya, your companion in sacred duty has gone. Restrain your grief. I am returning; follow me.

BOTH: Father, without Shakuntala the sacred grove seems desolate.

KASHYAPA: Affection makes things appear so. (Walking and reflecting.) Strange! Now that I have sent Shakuntala away, my mind has grown light. Why?

A daughter is truly another man's treasure.

Now that I have sent her to her husband's home,
my inmost spirit is at peace,
as when a deposit long held in trust has been returned.

All exit.

End of Act Four

of "Shakuntala,"

a play by the great poet Kalidasa.

ACT FIVE: THE CALAMITY

The CHAMBERLAIN enters.

CHAMBERLAIN: (Looking at himself.) Ah, how old I have grown!

When I was given charge of the royal inner apartments,
I accepted this staff of office thinking,
“It is merely a traditional formality.”
But with the passing of time,
now that I can scarcely summon the strength to walk,
that same staff has become my support.

I must inform His Majesty, who is within, of a matter that admits no delay. (Takes two steps.) But what was it? (Trying to remember.) Yes, I recall. Hermits, disciples of Kanva, desire an audience with the King. Ah, how strange—

an old man's understanding
suddenly awakens for a moment,
then is surrounded again by darkness,
like the flame of a lamp that seems about to go out.

He walks on.

OFFSTAGE: Maudgalya! I wish to inform His Majesty of an unavoidable religious duty. What do you say? “But the King has only just risen from the seat of justice and will be disturbed again.” Such is the burden of governing the world. See—

the Sun has yoked his horses once and for all;
the wind blows day and night;
fire has no rest from burning;
and the duty of a king who receives one sixth in taxes
is equally unceasing.

What do you say? “Then go to the pavilion beside the music hall.” Good. Continue with your own task; I shall go there. (Walking and looking around.) His Majesty is here—

He protects his subjects
like the lawgiver Manu;
and after tending the herd all day,
like a great elephant heated by the sun retiring to a cool place,
he rests in solitude, weary in mind.

The KING and the CLOWN enter seated, surrounded by attendants.

CLOWN: (Listening.) Ah! Is that not the music hall? Listen—the notes of a vina are sounding in perfect measure. I understand! Hansapadika must be practising her voice.

KING: (Trying to listen.) Madhavya, be quiet. Let me hear.

CHAMBERLAIN: Ah, His Majesty is absorbed. I shall wait for a suitable moment. (He watches.)

OFFSTAGE: (A song is sung.)

O bee, greedy for fresh honey,
you once kissed the mango blossom;
why have you forgotten it now,
content merely to hover over the lotus?

KING: Ah, a song filled with feeling and melody.

CLOWN: What? Have you understood its meaning?

KING: (Smiling.) My friend, I once loved her; therefore she reproaches me about Queen Vasumati. Tell Hansapadika in my name, “Your rebuke is skilfully delivered.”

CLOWN: As Your Majesty commands. (Rising.) My friend, you are trying to seize a bear by the hair through another man's hand. Like a man who has not mastered his own desires, I shall find no escape now.

KING: Go, my friend. Speak to her courteously.

CLOWN: Ah, what a disaster! (Exits.)

KING: (To himself.) How is it that this song has filled me with profound longing, though I am not separated from any beloved? Or perhaps—

even a happy man grows wistful
at a lovely sight or the sound of sweet words;
perhaps his mind unknowingly remembers
deep affection from a former birth.

CHAMBERLAIN: (Approaching and bowing.) Victory to Your Majesty! Hermits who live in the forest at the Himalayan foothills are approaching with women. They bring a message from Kashyapa. Having heard this, it is for Your Majesty to decide what is proper.

KING: Hermits bearing a message from Kashyapa, accompanied by women?

CHAMBERLAIN: What are your orders?

KING: Request the preceptor Somarata in my name: "Receive these inhabitants of the hermitage according to scriptural custom, and bring them to me yourself." I too shall receive them in a place suitable for the audience of ascetics.

CHAMBERLAIN: As Your Majesty commands. (Exits.)

KING: (Rising.) Vasumati, show me the way to the fire sanctuary.

DOORKEEPER: This way, this way, Your Majesty. (They walk.)

KING: (Showing weariness from affairs of state.) Everyone is happy when he obtains what he desires. But kings suffer even after gaining the object of desire. How?

Sovereignty merely quiets the longing for power;
preserving what has been gained brings only pain.
Royal authority relieves weariness less than it increases it—
like a parasol held aloft
by one's own hand upon its shaft.

OFFSTAGE, BARD: Victory to Your Majesty!

Day after day you labour for the welfare of the world,
with no thought for your own comfort—
but such is the purpose of your birth.
A tree bears the fierce sun upon its own crown
and gives coolness
to those who seek refuge in its shade.

And more—

With the rod of punishment in hand,
you discipline those who stray from the right path;
you settle disputes and grant protection.
When wealth is plentiful, relatives may remain close;
but in the end, the duty of a kinsman towards the people
falls upon you alone.

KING: (Listening.) My weary mind is refreshed. (He walks on.)

DOORKEEPER: Here is the terrace of the fire sanctuary, freshly plastered and swept, with a tawny cow standing nearby. Your Majesty, ascend.

KING: (Acts climbing; he pauses, leaning upon an attendant's shoulder, and reflects.) Vasumati, for what purpose can the revered Kashyapa have sent these sages to me?

Has some obstacle arisen
in the austerities of the vow-keeping ascetics?
Or is someone harming
the animals of the sacred forest?
Have the vines ceased to flower
because of some offence of mine?
Filled with many conjectures, my mind is confused
and cannot reach a firm conclusion.

DOORKEEPER: Your Majesty's arms embrace the earth, and therefore every hermitage is free from fear. How could any such thing happen? I believe the sages have come, pleased by Your Majesty's virtuous deeds, to offer praise.

The SAGES enter with GAUTAMI; SHAKUNTALA walks before them. The PRIEST and CHAMBERLAIN lead the procession.

CHAMBERLAIN: This way, this way, venerable sirs.

They move forward.

SHARNGARAVA:

It is true: when a generous king
does not transgress the bounds of conduct,
even the lowest person in the social order
does not stray from the proper path.
Yet to my mind, accustomed always to solitude,
this building crowded with people
seems like a blazing fire.

SHARADVATA: It is natural that entering the city should distress you so. I too—

being a free man, look upon these people enslaved by pleasure
as a bathed man looks upon one smeared with filth,

a pure man upon the impure,
a waking man upon sleepers,
and one who moves at will upon the bound.

SHAKUNTALA: (Acting an ominous twitch, anxiously.) Ah! Why is my right eye throbbing at this moment?

GAUTAMI: May evil be averted! May the guardian deities of your husband's family grant you happiness. (They move on.)

PRIEST: (Indicating the King.) Holy men, behold His Majesty, protector of all four social orders and stages of life, risen from his seat and waiting for you.

SAGES: Great Brahmin, this is certainly praiseworthy, yet it leaves us unmoved. Why?

*A tree bends low beneath its load of fruit;
a cloud heavy with fresh water hangs low;
the virtuous do not grow proud when they gain wealth—
such is the nature of those who live for others.*

DOORKEEPER: Your Majesty, the sages' faces appear peaceful and inspire confidence.

KING: (Seeing Shakuntala.) Then this woman—

Who can this veiled woman be,
whose bodily beauty is not fully revealed,
among these ascetics
like a fresh bud among yellow leaves?

DOORKEEPER: Your Majesty, my curiosity too has increased. I know nothing.

ATTENDANT: Your Majesty, her beauty is worth seeing.

KING: One must not gaze upon another man's wife.

SHAKUNTALA: (Placing a hand upon her breast, to herself.) Heart, why do you tremble? Remember my lord's unwavering love and be calm.

PRIEST: (Stepping forward.) Your Majesty, these ascetics have been received according to custom. They bring their teacher's message. Please hear it.

KING: (Respectfully.) I am listening attentively.

SAGES: (Approaching with extended hands.) Victory to the King!

KING: (Bowing.) I salute you all.

SAGES: May you prosper!

KING: Are your austerities proceeding without obstruction?

SAGES:

While you remain our protector,
what obstacle could arise in the sacred rites of the virtuous?
When the Sun blazes with fierce rays,
how can darkness appear?

KING: Now my title "King" has been made meaningful. Is the revered Kashyapa, who blesses the world through his grace, in good health?

SHARNGARAVA: Perfected beings are masters of their own well-being. After asking after Your Majesty's welfare, he sends this message.

KING: What is the venerable sage's command?

SHARNGARAVA: (Indicating Shakuntala.) "You two married this daughter of mine by mutual consent. I am pleased and give you both my approval. For—

I regard you as the foremost of worthy men,
and Shakuntala is virtue embodied.
In joining bride and groom of equal merit,
the Creator has at last
performed a praiseworthy deed.

Now accept her, pregnant with your child, and fulfil the duties of marriage."

GAUTAMI: Noble sir, I am eager to speak, though it may not be proper for me. Why?

She did not consult her elders,
and you did not ask her relatives.
Since you chose one another,
what can either side say to the other now?

SHAKUNTALA: (To herself, anxiously.) What will my lord say now?

KING: (Hearing this, overcome with doubt.) Ah! What is the meaning of this statement of yours?

SHAKUNTALA: (To herself, doubtful.)

Ah! His doubt about this matter burns like fire.

SHARNGARAVA: What is this? His Majesty surely understands the ways of the world.

Even when a married woman is virtuous,
if she remains only in her parents' home,
people suspect her character.
Therefore her relatives send her to the man who married her,
whether that husband loves her or not.

KING: Did I marry this woman?

SHAKUNTALA: (To herself, despairing.) Heart, your fear has proved true.

SHARNGARAVA: O King! Is it not a dereliction of royal duty to denounce your own deed?

KING: Why this inclination to invent falsehoods?

SHARNGARAVA: Such degradation, born of intoxication with power, commonly robs a man of reason.

KING: I am being grossly insulted!

GAUTAMI: Child, put aside your modesty for a moment. I shall remove your veil. Then His Majesty will recognise you. (She does so.)

KING: (Seeing Shakuntala, astonished, to himself.)

As I try to determine
whether I ever married this woman of flawless beauty,
now presented before me in this way,
I can neither accept her nor reject her—
like a bee at dawn, uncertain
before a jasmine flower heavy with dew.

(*He remains lost in thought.*)

ATTENDANTS: (Among themselves.) Ah, how deeply His Majesty reveres righteousness! Who else would hesitate when such a jewel among women is so easily offered?

SHARNGARAVA: O King, why are you so silent?

KING: Hermit, I have thought deeply, yet I do not remember marrying this lady. How then can I accept a woman who claims me as her husband while displaying the faint signs of pregnancy?

SHAKUNTALA: (To herself.) Ah! He doubts even the marriage. My hope, which had risen to touch the sky, is shattered.

SHARNGARAVA: This is not right!

Will you insult the sage
whose daughter you seduced and dishonoured?
He welcomed you to accept what is yours,
and, like a robber, you deemed yourself a worthy recipient.

SHARADVATA: Sharngarava, be silent now. Shakuntala, we have said what we had to say. This is His Majesty's statement. Give him proof.

SHAKUNTALA: (To herself, sighing in distress.) What use is it now to remind a man who has changed so completely, whose love lasted so little a time? Yet I must clear my name, and therefore I shall answer him. (Aloud.) My lord! (Breaking off, to herself.) No—this form of address itself is now disputed. (Aloud.) Son of Puru! In the hermitage you made vows and seduced this woman of simple, innocent heart. Is it right to abandon her now with words like these?

KING: (Covering his ears.) Stop these sinful words!

Why try to stain your own name
and drag me towards ruin?
Like a swollen river breaking its banks,
you muddy your own clear water
and uproot the trees along the shore.

SHAKUNTALA: If you truly speak so because you fear accepting another man's wife, I shall remove your doubt by showing you this important token of recognition.

KING: Ah, how noble that sounds!

SHAKUNTALA: (Touching the place where the ring should be.) Ah! The ring is not on my finger. (She looks at Gautami.)

GAUTAMI: Could it have slipped off when you immersed yourself in the water at Shachi's sacred pool at Indravatara?

KING: (Smiling.) Perhaps this is what is called the ready wit a woman receives with her dowry.

SHAKUNTALA: Here fate has displayed its power. I shall tell you something else.

KING: Now something worth hearing is coming.

SHAKUNTALA: One day in the jasmine-vine bower, did you not hold a lotus-leaf cup filled with water?

KING: Yes. Continue.

SHAKUNTALA: At that moment my little fawn, whom I had raised like a son, came to us. You coaxed him lovingly and said, "Let him drink first." But because he did not know you, he would not drink from your hand. When he drank the same water from mine, you smiled affectionately and said, "Everyone trusts one of his own kind. You are both forest-dwellers."

KING: (Laughing.) Women who conspire to achieve their own ends trap pleasure-loving men with the honey of such lies.

GAUTAMI: Your Majesty, do not speak so. Reared in a sacred grove, she knows nothing of deceit or intrigue.

KING: Old ascetic woman!

Even among female creatures that are not human,
unschooled deceit is plainly seen;
how much more must it exist in intelligent women?
Before flying away,
the cuckoo has another bird
raise her young.

SHAKUNTALA: (Angrily.) You see everything according to the disposition of your own heart! Who could equal you—armoured in righteousness, yet inwardly deceitful, like a well hidden beneath grass?

KING: (To himself.) Yet this lady's guileless anger truly seems that of a woman reared in the forest. For—

her eyes do not shoot sidelong glances,
but stare directly, intensely red;
her voice is harsh, yet her words remain clear;
her bimba-red lower lip
trembles as though stricken by cold;
and her naturally arched brows
have suddenly drawn together.

(Aloud.) Lady, Dushyanta's conduct is well known among his people. I perceive no such fault within myself.

SHAKUNTALA:

You yourself are the authority;
you understand the ways of the world.
What can poor, timid women know?

Very well! Because I trusted the house of Puru and fell into the hands of a man whose words were sweet but whose heart concealed a knife, I have been made an adulteress. (She turns away, weeping.)

BHAGURI: A deed performed in uncontrolled haste burns in just this way. Therefore—

particularly before forming a bond,
one must examine everything carefully.
Affection given to one whose heart is unknown
turns into hatred in this very way.

KING: Ah, sir! Why do you place such a grave stain upon me solely on the strength of this lady's assertion?

SHARNGARAVA: His Majesty understands everything in reverse.

*The words of one who has never known deceit from birth are no proof!
But those who have studied the art of deceiving others
under the name of "statecraft"
are wholly trustworthy witnesses!*

KING: Ah, truth-speaking sir! Let us accept that I am a politician. But what could I gain by deceiving her?

SHARADVATA: Ruin.

KING: I do not desire that.

SHARADVATA: O King, what use is this dispute? We have fulfilled our teacher's command. We shall now take our leave.

She is your wife—accept her or abandon her.
For a husband's authority over his wife
is held to be absolute.

Gautami, come. Let us go. (They start away.)

SHAKUNTALA: (Pitifully.)

Ah! This deceiver has truly betrayed me. And you too are leaving me behind. What recourse have I now? (She follows Gautami.)

GAUTAMI: (Stopping.) Sharngarava, my son! Shakuntala is following us, lamenting piteously. When such a base husband rejects her, what is my daughter to do?

SHARNGARAVA: (At a signal from the priest, he turns.) Ah, shameless woman! Would you act entirely as you please? (Shakuntala trembles with fear.)

SHARNGARAVA: Listen!

If what the King says is true,
what connection can we have with you,
who have brought grief upon your father?
But if you know your conduct to be pure,
then even living as a servant in your husband's house
should be bearable to you.

Remain here. We are leaving.

KING: Hermit, why are you deceiving this woman?

*The Moon opens only the night-lotus;
the Sun, only the day-lotus.
The nature of a self-controlled man
recoils from embracing another man's wife.*

SHARNGARAVA: O King, if absorption in another woman has made you forget your former conquest, what can be done, Your Majesty, protector of your reputation?

KING: I wish to ask the revered priest which of these possibilities is more likely.

With doubt remaining whether I have forgotten
or this woman is speaking falsely,
should I stain my own wife with disgrace,
or violate the honour of another man's wife?

PRIEST: (Thinking.) Suppose we do this...

KING: Please advise me.

PRIEST: Let this lady remain in my house until she gives birth. I say this after due consideration. Wise men have foretold that your first son will be an emperor. If the son of this sage's daughter bears the marks of imperial destiny, we shall congratulate her and welcome her into the inner palace. Otherwise, we shall return her to her father's home.

KING: As my revered teacher wishes.

PRIEST: Daughter, follow me.

SHAKUNTALA: (Weeping.) Mother Earth, give me a place within you.

(She exits with the PRIEST and the others.)

KING: (Although the curse has blocked his memory, he reflects upon Shakuntala.)

OFFSTAGE: A wonder! A wonder!

KING: (Listening.) What is happening now?

PRIEST: (Entering.) Your Majesty, a marvel has occurred.

KING: What sort of marvel?

PRIEST: After Kanva's disciples had departed—
while the young woman lamented her fate—
and began to weep—
and flung her arms upward...

KING: What happened then?

PRIEST:

Near the sacred pool of the celestial nymphs, a light in the form of a woman descended upon her
and lifted her away.
(All are astonished.)

KING: Revered teacher, I have already reached a decision on this matter. Why exhaust ourselves with idle conjecture?

PRIEST: Victory to Your Majesty. (Exits.)

KING: (Smiling.) Vasumati, I am troubled. Show me the way to the bedchamber.

CHAMBERLAIN: (Respectfully.) This way, Your Majesty, this way. (They move on.)

KING: (To himself.)

Though I did not remember marrying the sage's daughter
and therefore rejected her,
my deeply afflicted heart
seems still to yearn for her.

All exit.

End of Act Five

of "Shakuntala,"

a play by the great poet Kalidasa.

ACT SIX: SEPARATION

The CHIEF OF POLICE enters with a MAN whose hands are tied behind him and two GUARDS.

GUARDS: (Beating the man.) Thief! Confess! Where did you get this royal signet ring, engraved with His Majesty's name and set with precious stones?

MAN: (Acting frightened.) Mercy, mercy, honourable brothers! I am not capable of such a deed.

FIRST GUARD: Perhaps the King mistook you for a holy Brahmin and gave it to you as a present?

MAN: Hear my whole story first! I am a fisherman living near the sacred pool of Indravatara...

SECOND GUARD: Thief! Did we ask your caste?

CHIEF OF POLICE: Suchaka, let him tell everything in order. Stop interrupting.

GUARDS: As our lord, the King's brother-in-law, commands... Speak! Speak!

MAN: I support my family with nets, hooks, and other fishing gear.

CHIEF OF POLICE: (Laughing.) Ah, a very holy profession!

MAN: Sir!

It is said that a man must not abandon
the hereditary calling of his family,
even if it is condemned.
Even compassionate and learned Brahmins
mercilessly kill animals in sacrifice.

CHIEF OF POLICE: Very well, very well!

MAN: One day, while cutting open a rohu fish, I found this ring shining with jewels inside its belly. Later, while showing it to people here in the hope of selling it, your men seized me. That is how I found the ring. Now beat me or kill me!

CHIEF OF POLICE: (Smelling the ring.) Januka! It certainly was inside a fish. That explains the stench of raw flesh. We must now investigate its origin. Come to the royal court.

GUARDS: Move, Your Majesty the Pickpocket! (They all walk on.)

CHIEF OF POLICE: Suchaka, you two remain alert and wait for me at the main gate. I shall tell His Majesty how the ring was found, receive his orders, and return.

BOTH GUARDS: May His Majesty receive our lord favourably! (The CHIEF OF POLICE exits.)

FIRST GUARD: Januka, our lord is taking a very long time.

SECOND GUARD: Understand that one must wait for a proper opportunity to approach the King.

FIRST GUARD: My friend, my hands are itching to throttle this scoundrel. (Indicating the man.)

MAN: It is not proper to give an untimely death to a man addressed by the auspicious name "brother."

SECOND GUARD: (Looking.) See, our master is returning with the King's command. (To the man.) Now you will either see your family's faces again or become a feast for vultures and jackals.

CHIEF OF POLICE: (Entering.) Quickly, quickly, this man... (He breaks off.)

MAN: Ah! I am dead! (Acts despair.)

CHIEF OF POLICE: Untie him! Release the fisherman! His account of the ring's origin has proved true. My lord himself told me so.

FIRST GUARD: As our lord commands! He entered the house of Death and slipped out again through a crack. (He unties the man.)

MAN: (Bowing to the Chief.) Master, my life belongs to you.

CHIEF OF POLICE: Rise! You are being given a reward equal to the value of the ring.

MAN: (Accepting it joyfully.) I have been shown great favour.

FIRST GUARD: Such favour that he has been taken down from the stake and seated upon an elephant.

SECOND GUARD: My lord, this reward shows that His Majesty holds that precious jewelled ring very dear.

CHIEF OF POLICE: I do not think the King valued it for the jewels.

BOTH GUARDS: Then why?

CHIEF OF POLICE: I suspect that seeing it reminded His Majesty of someone exceedingly dear. For the King, who is ordinarily self-controlled, became agitated for a moment as soon as he saw it.

SECOND GUARD: This fellow has done His Majesty a good service.

FIRST GUARD: I would say the enemy of fishes has come out ahead! (He looks hostilely at the man.)

MAN: Masters, keep half of it for your expenses on flowers and betel.

BOTH GUARDS: That is nobly spoken.

CHIEF OF POLICE: Fisherman, you are now my dearest friend. A new friendship should be sealed with wine. Come, let us go to a tavern.

All exit.

End of the introductory scene.

AKSHAMALA enters in an aerial chariot.

AKSHAMALA: I have completed my daily rites at the celestial nymphs' bathing pool. Now I shall see for myself the royal sage's condition. Through my friendship with Menaka, Shakuntala has become dear to me, and Menaka herself sent me on this errand. (Moving forward and looking around.) How is it that even on a festival day the royal court is not decorated for celebration? It is true that through meditative power we can know everything, but I must honour my friend's wish. Good. Concealed by the magic of invisibility, I shall stand near these two gardeners and learn what has happened. (She does so.)

A GARDEN ATTENDANT enters, examining a fresh mango shoot; a second ATTENDANT follows.

FIRST GARDENER:

O mango blossom!
Seeing you, like the breath of the spring month,
tawny upon your green stem,
I behold the season's auspicious first sight.

SECOND GARDENER: (Approaching.) Parabhritika, my friend, why are you talking to yourself?

FIRST GARDENER: My friend, the tender shoot of the mango intoxicates the cuckoo.

SECOND GARDENER: (Delighted.) Has spring arrived?

FIRST GARDENER: Madhukarika, now is the time for your songs filled with the nectar of love.

SECOND GARDENER: My friend, I shall stand on tiptoe and worship the God of Love. Support me.

FIRST GARDENER: If I receive half the merit of the worship.

SECOND GARDENER: That need not be said, my friend. We are one soul in two bodies. (Leaning upon her friend, she acts plucking a mango blossom.) Ah! The mango cluster has not yet opened, yet fragrance rises the moment its stem is broken. (Forming the dove-hand gesture.) Victory to the fish-bannered God of Love!

O mango shoot, I offer you
to the bow-bearing God of Love.
Become an unfailing arrow
whose targets are young women.

(She throws the shoot.)

The CHAMBERLAIN enters angrily.

CHAMBERLAIN: Stop, foolish girl! His Majesty has expressly forbidden the spring festival, and you are plucking flowers.

BOTH: (Frightened.) Forgive us, master! We heard nothing of this.

CHAMBERLAIN: Hmph! How could you fail to hear His Majesty's command, when even the trees of spring and the creatures dwelling in them obey it? For—

the mango blossom is mature,
yet releases no pollen;
the rajamala is ready to bud,
yet does not open;
though winter has passed, the male cuckoo's song
remains caught in his throat.
I fear that even the startled God of Love
has returned to his quiver an arrow half drawn out.

AKSHAMALA: There can be no doubt. The royal sage's authority is great.

FIRST GARDENER: Master, the King's brother-in-law, Mitravasu, removed us for several days from His Majesty's service and assigned us to decorate the pavilion opposite. That is why we knew nothing of the order.

CHAMBERLAIN: Very well, but do not do it again.

BOTH: Master, we are curious. If it is proper for us to know, please tell us why His Majesty has forbidden the full-moon festival of spring.

AKSHAMALA: Kings delight in festivals. There must be a grave reason behind this.

CHAMBERLAIN: Everyone knows the matter; why should I not tell you? Has news of the disgrace caused by the rejection of Shakuntala reached your ears?

BOTH: Master, we have heard only as far as the finding of the ring by the King's brother-in-law.

CHAMBERLAIN: Then little remains to be told. The moment His Majesty saw the ring, his memory returned: "It is true—I secretly married Lady Shakuntala and, in delusion, rejected her!" Since then he has been filled with remorse. How?

He loathes pleasure and luxury;
his subjects can no longer approach him freely each day.
All night he tosses upon his bed,
turning from one side to the other.
Even when courtesy makes him speak gently
to the women of the inner apartments,

he confuses their names
and remains ashamed for a long time.

AKSHAMALA: I am glad to hear this!

CHAMBERLAIN: The festival was prohibited because of the King's grief.

BOTH: That seems right.

OFFSTAGE: Come, come, sir.

CHAMBERLAIN: (Listening.) His Majesty is approaching this way. Attend to your work! (The attendants exit.)

The KING enters with the CLOWN and DOORKEEPER, dressed in a manner befitting his remorse.

CHAMBERLAIN: (Looking at the King.) Ah! A man of extraordinary beauty appears noble in every condition. Though wasted by separation from Shakuntala, His Majesty remains splendid to behold. He—

has abandoned ostentatious ornaments,
and wears only a loose golden bracelet upon his left forearm;
his lips are reddened by sighs,
and his eyes are weary from anxious wakefulness.
Yet his inborn radiance keeps him from appearing diminished,
like a great jewel polished by friction.

AKSHAMALA: It is only right that Shakuntala still longs for him, even after he rejected and humiliated her.

KING: (Deep in thought, walking slowly.)

This unfortunate heart slept before,
though my doe-eyed beloved tried to awaken it.
Now it is awake—
only to suffer the pain of remorse.

AKSHAMALA: The poor girl's fate is much the same.

CLOWN: (To himself.) Another attack of the "Shakuntala sickness." I do not know how it can be cured.

CHAMBERLAIN: Victory to Your Majesty! Mighty King, the royal pleasure garden has been inspected, so that you may walk there whenever you wish.

KING: (To the Doorkeeper.) Vasumati, tell Minister Pishuna in my name that, because of prolonged sleeplessness, I cannot sit in the court of justice today. Let him examine today's civil cases and send me a written report.

DOORKEEPER: As Your Majesty commands. (Exits.)

KING: Parvatayana, you too may go to your duties.

CHAMBERLAIN: Very well. (Exits.)

CLOWN: We have driven the flies away. Now that winter is over, we can rest undisturbed in this delightful garden.

KING: My friend, the proverb "Misfortune strikes where one is weakest" is never false. See—

the royal signet has restored my memory,
and I am lamenting in remorse
for the beloved I rejected without cause;
at this very moment the delight of fragrant spring
has come and stands before me.

CLOWN: Wait a moment. I shall strike this mango-shaped God of Love with my staff.

KING: Leave it. I have already seen the power of your Brahminical splendour. My friend, let us sit here and divert our eyes by looking at these vines, which in some ways resemble my beloved.

CLOWN: But you have only just told the painter Medhavini, "I shall remain for a while in the madhavi-vine pavilion. Bring the portrait of Lady Shakuntala that I painted with my own hand upon the canvas."

KING: Such is the state of my heart. Show me the way to the madhavi pavilion.

CLOWN: Come, Your Majesty. (They walk on. AKSHAMALA follows.)

CLOWN: (Looking.) This madhavi pavilion, furnished with a jewelled stone seat, silently welcomes my dear friend. Let us enter. Your Majesty, sit. (They enter and sit.)

AKSHAMALA: (Stands beside a vine.)

KING: (Acting recollection.) My friend Madhavya, now everything has returned to me. I told you what happened when I first saw Shakuntala. But when I rejected her, you were not beside me; and before that, you never mentioned her name in conversation. Surely you too, like me, had forgotten all that passed between us.

CLOWN: I had not forgotten. On the contrary, you told me the whole story. But at the end you said it was not true, merely a joke. Dull-witted as a lump of clay, and afraid the secret might be revealed, I took your words as truth. Besides, fate is always powerful.

AKSHAMALA: That is true.

KING: (Lost in imagination.) My friend, help me—help me.

CLOWN: How has it come to this? How can the courage of a noble man be shaken by sorrow? A mountain remains unmoved even by storm winds.

KING: My friend, the moment I remember my beloved's helpless terror, I become utterly distraught. She—

was driven away from me,
and tried to follow her own people;
then her father's disciple, a father to her in his stead,
commanded sternly, "Stay!"
And with eyes blurred by streaming tears,
she looked once more at cruel me—
all this pierces me like arrows steeped in poison.

AKSHAMALA: Ah, what suffering! Seeing his pain brings me satisfaction.

CLOWN: Your Majesty, I have a thought. Some being who travels through the sky must have carried the lady away.

KING: Who but a deity could have done it? I was told that Menaka is your friend's mother. My heart believes that her companions took Shakuntala away.

AKSHAMALA: Ah! His delusion was astonishing, but his understanding has not awakened fully even now.

CLOWN: If so, you will certainly be reunited with the lady in the end.

KING: How?

CLOWN: Her parents cannot bear to see their daughter separated from her husband for very long.

KING: My friend,
was she a dream? An illusion? A delusion?
Or the fruit of hard-won merit?
She has gone beyond the reach of memory
and left before my longing
an immeasurable abyss.

CLOWN: Do not say so. The ring itself is proof. Surely a wondrous reunion decreed by fate begins in just this way.

KING: (Looking at the ring.) Ah, this unfortunate thing, fallen from an inaccessible place.

O ring, the reward of your merit
has proved as worthless as mine.
You found a place upon her finger,
lovely with its crimson nail,
yet you fell from it.

AKSHAMALA: (To herself.) My friend, you are far away. Therefore I alone am enjoying this delight that is so sweet to hear.

CLOWN: My friend, how did you come to place this ring upon the lady's hand?

KING: Listen. As I was departing from the hermitage for my city, my beloved, her eyes full of tears, asked me, "My lord, how many days will you remember me?"

CLOWN: And then? And then?

KING: Then I placed this royal signet upon her finger and said—

Each day, count one letter
of my name.
Beloved, when you reach the final letter,
someone will come, show you the way,
and conduct you to the inner palace.

...and then, in my delusion, I committed such a terrible offence.

AKSHAMALA: Fate gave you a charming device.

CLOWN: Then how did this ring, like a fish-hook, reach the mouth of that unfortunate rohu fish?

KING: Your friend must have dropped it into the current of the Ganges while bowing to the waters at Shachi's sacred pool. Let me reproach it—

How could you leave that hand
with its tender, curved fingers
and sink into the water?
But no—
a lifeless object understands neither virtue nor fault;
then how could I reject my beloved?

AKSHAMALA: The beginning and end of this story contradict one another.

KING: When shall I see again the beloved whom I rejected without cause?

The PAINTER enters carrying a canvas.

PAINTER: (Looking around.) His Majesty is here. I shall approach him. (Approaching.) Victory to Your Majesty! I have brought the lady's portrait. (She displays the canvas.)

CLOWN: (Looking.) Ah! Ah! Ah! Beauty alive before us! Well done, my friend, well done! What more can I say? It seems a soul has entered the picture; I feel moved to speak to it.

AKSHAMALA: Ah! How skilful is the brush of his companion, the painter! My friend appears to be standing before me.

KING: (Sighing.)

Before, I rejected my beloved when she stood before me;
now I honour her when she is only a painted image.
Ignoring the river swollen with water upon my path,
ah, I now thirst for a mirage.

AKSHAMALA: He has himself admitted everything I wished to say.

CLOWN: (Examining the picture.) I see three women. All are beautiful. Which one is Shakuntala?

AKSHAMALA: The poor man knows very well how to deceive himself; my friend is not truly here.

KING: Which one do you think she is?

CLOWN: (Looking for a long time.)

I think this is Lady Shakuntala—the woman standing wearily against the ashoka vine, drops of perspiration upon her face; flowers falling from her loosened hair; one vine-like arm drooping like a branch; the girdle of her garment undone. The other two are her friends.

KING: You are perceptive. The clear marks of my love are in this picture.

Near the lines one can see the stain of my damp fingers,
and the pigment of the brush has spread
where a tear fell from my cheek.

Medhavini, the pleasure grove is only half painted. Go and bring the brushes.

PAINTER: Noble Madhavya, hold the canvas until I return. (She gives it to the Clown and exits.)

CLOWN: What else remains to be painted here?

AKSHAMALA: Surely he wishes to paint all the places dear to my beloved friend.

KING: Madhavya, listen.

I shall paint the Malini River,
with pairs of wild geese in rows upon its sandy bank;
the valley at the foot of the sacred Himalaya,
father of Gauri, where yak-cows rest;
and beneath a tree hung with bark garments,
a doe rubbing her left eye
against the antler of a stag.

CLOWN: (To himself.) I suppose he will fill the rest of the picture with the shaggy beards of hermits.

KING: Madhavya, one more thing. I forgot to paint an ornament beloved by Shakuntala.

CLOWN: What was it like?

AKSHAMALA: Something suited to a forest-dweller and to her tenderness.

KING:

My friend, I have not painted the shirisha flower at her ear,
its stem tucked behind it and its filaments trailing to her cheek;
nor the necklace of lotus fibres,
soft as autumn moonbeams,
resting between her breasts.

CLOWN: Why does the lady look so frightened now, covering her face with fingers lovely as red lotuses? (Looking.) Oh! Oh! Oh!
This slave-born plunderer of flowers—a bee—is hungry for the lady's lotus face.

KING: Go and drive away the insolent intruder!

CLOWN: You, the chastiser of the wicked, are the one who can remove him.

KING: Very well. "Bee! You are a welcome guest to every flowering vine. Why tire yourself flying about here?"

Your loving female bee, settled within a flower,
waits for you.
Though thirsty,
she will not drink nectar without you.

AKSHAMALA: How gracefully he dismisses it.

CLOWN: Creatures of this kind become more stubborn when chased away.

KING: You are right. "Since you will not obey my command, hear this now."

O bee, if you bite my beloved's
bimba-red lower lip—
lovely as the virgin bud of a young tree,
whose nectar I once drank gently in the festival of love—
then I shall imprison you inside a lotus!

CLOWN: How could it fail to fear such a harsh punishment? (Laughing, to himself.) He has truly gone completely mad! By keeping company with him, I too have been infected.

AKSHAMALA: Count me among those awakened to madness now.

KING: Beloved! Is it still there?

AKSHAMALA: Ah! Love can master even a steadfast man.

CLOWN: It is a picture.

KING: (Grieved.) My friend, why are you so cruel to me?

With my heart wholly absorbed,
I was enjoying the sight of her as though she stood before me;
you awakened memory
and turned her back into a picture.
(He weeps.)

AKSHAMALA: My friend, I have seen with my own eyes that he remembers the dishonour he did you by rejecting you.

PAINTER: (Entering.) Your Majesty, your box of pigments has fallen into the hands of Queen Kulaprabha's attendants.

KING: Very well. I have no desire to paint now.

AKSHAMALA: He shows Kulaprabha great respect. But that matters little. When the many-stringed vipanchi is unavailable, even a one-stringed lute seems dear.

KING: My friend, see. Why must I endure this pain without end?

Wakefulness prevents me from meeting her even in dreams;
and tears prevent me from seeing her even in a picture.

PAINTER: Your Majesty, Pingalika is coming with her companions to snatch and tear the portrait.

CLOWN: Her hopes are ruined now!

KING: Ah! (He places a hand upon his breast.)

OFFSTAGE: Victory to the Queen! Victory!

CLOWN: (Listening.) Alas! Pingalika, the tigress of the inner palace, has followed Medhavini's tracks like a doe and is about to spring upon us.

KING: My friend, protect this portrait of my beloved.

CLOWN: In other words, you are telling me to protect myself.

AKSHAMALA: My friend, even your portrait has been removed from this man who behaves like an enemy towards you.

CLOWN: (Taking the canvas.) I shall hide it where no one but the pigeons can see it. (He exits quickly.)

DOORKEEPER: (Entering with a letter.) Victory to Your Majesty!

KING: Vasumati, did the Queen not come?

DOORKEEPER: Your Majesty, when she saw me bringing the letter, she turned back.

KING: She understands the claims of time and does not obstruct affairs of state.

DOORKEEPER: Your Majesty, the Minister says that, because the work is so great, he has been able to examine only one citizen's case. May Your Majesty consider it.

KING: Medhavini, read it.

SCRIBE: As Your Majesty commands. (Opening the letter and reading.) "Let His Majesty know that Dhanavridhhi, the sea merchant whose name proved true, has died in a shipwreck. He has no children. His estate amounts to many thousands of millions and will now pass into the royal treasury. Having heard this, let His Majesty pronounce judgment."

KING: (Distressed.) To have no child is a great sorrow. Vasumati, he was wealthy and therefore must have had several wives. Find out whether any one of them is pregnant.

DOORKEEPER: Your Majesty, it has just been learned that the daughter of the guild-master Keshava, one of his wives, has undergone the conception rite for the birth of a son.

KING: Then the unborn child is heir to the father's estate. Go and tell the honourable Pishuna so.

DOORKEEPER: As Your Majesty commands. (She starts away.)

KING: Return for a moment.

DOORKEEPER: (Returning.) I am here.

KING: Tell him this as well. What does it matter whether the man has a child or not?

Proclaim that whenever any beloved relative
of one of my subjects dies,
provided the deceased was free from sin,
Dushyanta will take that relative's place.

DOORKEEPER: It shall certainly be proclaimed in that way. (She exits and re-enters.) Your Majesty, as people rejoice when clouds thunder at the proper season, so your subjects have rejoiced at your proclamation.

KING: (Sighing deeply.) When the last man of a family whose lineage has been broken dies without support, his wealth passes to another in just this way. After my death, the glory of Puru's line will suffer the same fate.

DOORKEEPER: May that fear never come true!

KING: Shame upon me, who condemned and rejected the blessing bestowed by destiny!

AKSHAMALA: Surely he is blaming himself because of my friend.

KING:

I cast away my lawful wife,
who was to be the foundation of my line,
in whom my very self was planted;
who, like earth sown at the proper season,
was destined to bring forth a mighty fruit.

SCRIBE: (To herself.) What was the Minister's purpose in sending this letter, which saddened His Majesty the moment he saw it?
(Thinking.) But no—he never acts without reflection.

KING: Ah! Dushyanta has placed his ancestors in peril.

After me, alas, who in my lineage
will offer the scripturally ordained rice-cakes and water?
Surely my ancestors, instead of water,
are drinking my pure tears—
for I, childless, am incomplete.

AKSHAMALA: This is merely a natural error! His Majesty, standing at the height of youth, will father a worthy son by another queen and discharge his debt to his ancestors. (To herself.) He cannot hear my words! Or rather, only the proper medicine can cure a disease.

KING: (Acting grief.)

This line of Puru, pure from its beginning,
is ending because of me, unworthy and childless,
as the sacred Sarasvati River
vanishes into a barren desert. (He faints.)

ATTENDANTS: (Looking on in fear.) Awake, Your Majesty! Awake!

AKSHAMALA: I shall end his suffering at once. But no—the great gods have ordained matters in this way. I cannot intervene without permission. Very well. The gods, eager for their share of the sacrifice, will arrange the royal sage's reunion with his wife. (Looking skyward, delighted.) I shall see how they accomplish it. For now, I shall carry this news and comfort my beloved friend. (She flies upward.)

OFFSTAGE: Disaster! Disaster! Help! Disaster!

KING: (Recovering consciousness and listening.) Ah! That sounds like Madhavya's voice in distress.

PAINTER: The poor man must have fallen into Lady Pingalika's jaws.

KING: Vasumati, go and rebuke the Queen in my name for failing to control her attendants.

DOORKEEPER: As commanded. (Exits.)

KING: The Brahmin's voice is trembling as though he were truly terrified. Who is there?

CHAMBERLAIN: (Entering.) Command me, Your Majesty.

KING: Why is that boy Madhavya screaming?

CHAMBERLAIN: Your Majesty, I shall go and see. (He exits and returns frightened.)

KING: Parvatayana, is this a matter of mortal danger?

CHAMBERLAIN: No, Your Majesty.

KING: Then why are you frightened? Yet—

the trembling that formerly came only from old age
now shakes your whole body violently,
like a peepal tree in the wind.

CHAMBERLAIN: Then, mighty King, save your friend.

KING: From whom must I save him?

CHAMBERLAIN: From dreadful danger!

KING: Ah! Say something intelligible!

CHAMBERLAIN: Your Majesty, that royal palace called "Cloud-Kissing"...

KING: What is happening there?

CHAMBERLAIN:

From its highest pinnacle,
which the tame peacock reaches only after resting many times,
some invisible demon
has carried away your friend.

KING: (Springing up.) Impossible! Demons have entered my very house. Royal power is surrounded by countless reversals.

Day by day, one cannot even discover
one's own unseen failures.
Who has the power to know completely
which path each subject is following?

OFFSTAGE: Run! Run!

KING: (Quickening his steps.) My friend, do not be afraid! Do not be afraid!

CLOWN: (Offstage.) How can I not be afraid? Someone is squeezing my neck from behind and trying to crush me like sugarcane!

KING: (Looking around.) My bow! My bow!

A YAVANA WOMAN enters carrying the bow. YAVANA WOMAN: Victory to Your Majesty! Here are your bow and arm-guard.

KING: (Takes the bow and arrows.)

OFFSTAGE:

I shall seize and kill you
as a tiger seizes its prey,
thirsting to drink the fresh blood from your neck.
Let Dushyanta, who lifts his bow
to remove the fears of the afflicted, protect you now.

KING: (Angrily.) Is he mocking me? Stand still! Stand still, disgrace to your race! You shall not escape now. (Raising his bow.)
Parvatayana, show me the staircase.

CHAMBERLAIN: This way, this way, Your Majesty. (They run forward.)

KING: (Looking around.) But there is no one here.

CLOWN: (Behind the curtain.) Hurry! I can see you, but you cannot see me. Like a mouse in a cat's jaws, I have lost all hope of life.

KING: Villain, proud of your invisibility, my arrow will see you. Stand still! Do not imagine yourself safe because you hold my friend. I am setting this arrow to the bow for you—

It will kill you, who deserve death,
and spare the Brahmin, who deserves protection;
as a swan takes the milk
but leaves the water mixed with it.

(He takes aim.)

The agitated MATALI enters, releasing the CLOWN, who comes with him.

MATALI: Your Majesty!

Indra has appointed the demons as your targets;
draw your bow against them.
A noble man's compassionate, gentle glance
falls upon a friend—not a merciless arrow.

KING: (Lowering the arrow.) Ah, Matali! Welcome, charioteer of the King of Gods.

CLOWN: (Entering and approaching.) Ah! This demon nearly killed me!

MATALI: (Smiling.) Your Majesty, hear why Indra has sent me to you.

KING: I am listening attentively.

MATALI: There is an invincible demon king named Durjaya, a descendant of Kalanemi.

KING: I have already heard of him from Narada.

MATALI:

It is said that your friend Indra cannot kill him;
it is said that you can destroy him at the forefront of battle.
The Moon dispels the darkness of night
that the Sun cannot remove.

Therefore take up your bow, mount Indra's chariot, and depart for victory.

KING: I am blessed by Indra's honour. But why did you mistreat Madhavaya so?

MATALI: (Smiling at the Clown.) I shall tell you. I saw that, for some reason, Your Majesty was sunk in remorse. I acted so to awaken your anger. For—

Fire blazes up when its fuel is stirred;
a threatened serpent spreads its hood;
and a man often recovers his courage
when he is provoked.

KING: (Aside.) My friend Madhavaya, the command of the King of Gods cannot be refused. Tell Minister Pishuna what has happened here and give him this message in my name—
For now, let your keen intelligence alone
protect the people.

This strung bow
has been assigned to another task.

CLOWN: As Your Majesty commands. (Exits.)

MATALI: This way, Your Majesty.
All move off and exit.

Thus ends Act Six.

ACT SEVEN: RELEASE FROM THE CURSE

A CELESTIAL DANCER enters.

CELESTIAL DANCER: *My teacher Narada has told me that at this very time the royal sage Dushyanta has risen above the mortal world and gone, at Lord Indra's command, to kill a demon. After I bowed and sang his praises, my teacher instructed me to present a dance of auspicious blessing before the learned audience: "Go, find another dancer, and come to the dancing pavilion." I am therefore looking for a dancer now. (She walks about and looks around.) Who is coming towards me, as though she has just received some ornament and is at once excited and satisfied? (Looking closely.) Why, it is my dear friend Chutamanjari! Good. I shall take her to our teacher. (She waits.)*

A SECOND DANCER enters in the manner described.

CHUTAMANJARI: *(In amazement and delight.) Ah, how great is the power of the royal sage Dushyanta! (Contemptuously.) Oh, the mighty demon Durjaya has been killed! (Reflecting.) To speak precisely, accompanied only by his charioteer, Dushyanta poured down countless thousands of weapons and destroyed the powerful Durjaya in a single moment. (She dances.)*

FIRST DANCER: Chutamanjari, my friend, you seem lovestruck.

SECOND DANCER: (Looking.) Are you Parijatamanjari? My friend, I shall tell you everything. But first say where you are going.

FIRST DANCER: My friend, I shall be brief. Our teacher has commanded a festive performance today to celebrate the royal sage Dushyanta's victory over the demon. We are both to go and see him.

SECOND DANCER: (Eagerly.) There must be some reason for this. But if the King is returning to the mortal world, for whom shall we perform?

FIRST DANCER: (Concerned.) My friend, has he fulfilled Mahendra's wish and taken his leave, or has something else occurred?

SECOND DANCER: Listen, my friend. This very morning he departs for the earth, carrying with him, as a boon, the remaining life of Durjaya—and the enamoured hearts of the celestial women. That is why I am at once delighted and agitated.

FIRST DANCER: My friend, you have brought good news. Our teacher ordered us to perform before the royal sage of Puru's line. Come, let us compose and sing a song here.

SECOND DANCER: As you wish. We can dance together, whether to my song or to your recitation.

FIRST DANCER: We shall do so, my friend. (They sing.)

*The spring season
turns one bee away from rightful pleasure
and leads him towards improper conduct;
it fills another with love,
and saddens yet another
with the earth's crimson beauty.*

(At the end, they dance and exit.)

End of the prologue.

The KING and MATALI enter in an aerial chariot.

KING: Matali, although I merely obeyed Indra's command, the lofty honour he has shown me makes me feel unworthy.

MATALI: Your Majesty, neither of you acknowledges the other's debt. How so?

Having given Indra such aid,
you see his high honour and consider your deed insignificant;
while he considers the honour he bestowed
unequal to your great achievement.

KING: It is not so. The honour shown me at my departure far exceeded my desire. I was seated upon half his throne before the gods—

then Indra looked smilingly at Jayanta standing beside him,
who inwardly longed for that distinction,
and placed upon me a garland of heavenly mandara flowers
that had brushed his breast, anointed with yellow sandalwood.

MATALI: Why should such honour from the King of Gods not befit you? See—

For Indra, who desires peace,
two things have drawn out the thorns of heaven—the demons:
your polished arrows,
and, long ago, the claws of Narasimha.

KING: The greatness lies with Indra. See—

Know that when a servant succeeds in a great undertaking,
it is because a great master has bestowed honour upon him.
If the thousand-rayed Sun had not placed Aruna
at the front of his chariot,
where would Aruna have found the power to destroy darkness?

MATALI: Those words are worthy of you. (Moving a little forward.) Your Majesty, look here: the radiance of your fame has reached the roof of heaven.
Considering the greatness of your deeds,
the gods paint them upon the outer leaves of wish-fulfilling vines
with cosmetic colours left over by celestial nymphs.

KING: Matali, yesterday, in my eagerness to ascend and battle the demon, I paid no attention to the geography of heaven.
Through what divine region are we travelling now?

MATALI:
This is the region of the current-bearing wind, free from vapour,
sanctified by Vishnu's second stride.
It supports the heavenly stream of the threefold Ganges
and turns the constellations
with rays radiating in a circle.

KING: That is why my inmost spirit and all my senses, within and without, are at peace. (Looking at the wheels.) I believe we have descended into the region of clouds.

MATALI: (Smiling.) How did you know?

KING:
Chataka birds fly between the spokes
of your chariot wheels;
the horses are coloured by flashes of lightning,
and the rims of the wheels are wet.
These signs show that the chariot
has passed over rain-bearing clouds.

MATALI: In a moment you will reach the realm you rule.

KING: (Looking down.) Because we are descending at great speed, the mortal world appears strange. For—
the earth seems to recede as the mountains rise;
the screen of leaves lifts, revealing the trunks of trees;
rivers that looked waterless, like thin lines,
gain their full forms and become distinct.
Look! It is as though someone had thrown the earth upward
and brought it close to us.

MATALI: (Looking with reverence.) Ah, the beauty of the earth is incomparable.

KING: Matali, what mountain is this, plunged into the eastern and western seas, gleaming as though it dripped gold like a wall of clouds at sunset?

MATALI: Your Majesty, this is Golden Peak, the mountain of the Kinnaras and the finest place for ascetics to attain perfection.

Here Prajapati, father of gods and demons,
born from the self-existent Marichi,
performs austerities with his wife.

KING: (Reverently.) We should not neglect such an auspicious opportunity. Let us circle him and receive a vision of the holy one.

MATALI: That is our foremost duty. (Acts descending.) We have landed.

KING: (Astonished.) Matali!
There was no sound from the wheel-rims,
no dust rose into view.
Your chariot landed without our knowing it;
because it did not touch the earth, there was no jolt.

MATALI: Such is the difference between you and Indra.

KING: In which direction is Maricha's hermitage?

MATALI: (Pointing.)
There stands the sage, facing the Sun,
motionless as a pillar;
half his body buried in an anthill,
wearing a second sacred thread made from a serpent's cast skin;
his throat bound by the noose of a withered vine,
and the immense matted locks covering his shoulders
filled with birds' nests.

KING: Homage to the great ascetic!

MATALI: (Steadying the reins.) We have now entered Prajapati's sacred grove, where Aditi tends the mandara tree.

KING: How wonderful! I feel as though immersed in a lake of nectar that grants greater repose than heaven itself.

MATALI: (Stopping the chariot.) Descend.

KING: (Acts descending.) What now?

MATALI: (They walk.) The harnessed chariot will remain here. I too shall descend. (He does so.) This way, this way, Your Majesty.
(They walk.) Your Majesty, behold the sacred grove of the perfected sages.

KING: Two things here fill me with wonder—

though they live in a forest of wish-fulfilling trees,
they sustain life upon air alone;
they bathe at twilight in sacred water
filled with thousands of golden lotus leaves;
they meditate in caves of jewels;
they practise restraint amid celestial nymphs.
Though surrounded by everything
for whose attainment other sages perform austerities,
these sages still practise austerity.

MATALI: Great men have lofty aspirations. (They walk. Matali calls skyward.) Elder Shakalya! With what task is our teacher occupied? (Listening.) What do you say? Aditi has asked him about the virtues of a faithful wife, and he is explaining them; therefore my request must await a proper moment. (To the King.) I shall inform Prajapati of your arrival. Until then, sit beneath this ashoka tree.

KING: As you wish. (He waits.)

MATALI: (Exits.)

KING: (Acting an auspicious throb.)

There is no hope that my desire will be fulfilled;
O arm, why do you throb in vain?
Good fortune rejected once
later becomes sorrow.

OFFSTAGE: No! Do not be wicked! Lion, how fiercely you display your nature!

KING: (Listening.) This is no place for wickedness. Who is administering justice? (Searching with his eyes for the direction of the sound, astonished.) Ah! A child in years but a grown man in courage, whom two female ascetics are trying to restrain.

Striking a lion cub with his hand,
he is dragging it away;
its mane scattered by his harsh grip,
the cub, only half-finished drinking at its mother's breast,
struggles against him.

The BOY enters doing as described, restrained by two FEMALE ASCETICS.

BOY: Open your mouth! Lion, open your mouth! I want to count your teeth.

FIRST FEMALE ASCETIC: Wicked child! Why do you torment an animal who is like a son to us? Your ferocity grows greater and greater. The sages rightly named you Sarvadamana, Subduer of All.

KING: (Reflecting.) Why does this child draw my heart as though he were my own son? (Reflecting.) Surely my childlessness has made me affectionate towards all children.

SECOND FEMALE ASCETIC: If you do not release her cub, the lioness will spring upon you.

BOY: (Smiling.) Ah, I am terribly frightened! (He bites his lip.)

KING: (Astonished.)

This child seems like the seed of mighty splendour,
a spark of fire
waiting only for fuel.

FIRST FEMALE ASCETIC: Child, release the lion cub. We shall give you another toy.

BOY: Where is it? Give it to me! (He holds out his right hand.)

KING: What? His hand bears the marks of an emperor. For—

his hand, stretched out to ask for the tempting object,
its fingers joined by delicate webs,
shines like a single lotus
whose gaps between the petals are not yet clear,
beginning to open
in the redness of dawn.

FIRST FEMALE ASCETIC: My friend, promises alone cannot restrain him. Go to our cottage. There is a brightly coloured clay peacock belonging to the child-sage Mankanka. Bring him that toy.

SECOND FEMALE ASCETIC: As you say. (Exits.)

BOY: For now, I shall keep playing with this one.

FEMALE ASCETIC: (Looks at him and laughs.)

KING: This obstinate child draws me to him. (He sighs.)

Blessed are those who take a son upon their lap
and are soiled by the dust of his body;
whose little teeth flower in causeless laughter,
whose indistinct speech is exceedingly sweet,
and who loves to rest in his father's arms.

FEMALE ASCETIC: (Threatening him with a finger.) Very well! You will not obey me! (Looking aside.) Is there any boy of the hermitage here? (Seeing the King.) Noble sir, please come and free the suffering lion cub from this unruly child's grip, which is so difficult to loosen.

KING: Certainly. (Approaching.) Son of a great sage, why do you perform an act unworthy of a hermitage? When your self-controlled father rejoices that living creatures seek his protection, why stain his glory as a young serpent pollutes a sandalwood tree?

FEMALE ASCETIC: He is not the son of a sage.

KING: His conduct, suited to his appearance, seemed to declare his identity. Trusting the surroundings, I was mistaken. (As requested, he frees the lion cub. After touching the boy, to himself.)
If touching the limbs of this child from another family
gives me such joy,
how much happiness must he give
to the man from whose body he was born!

FEMALE ASCETIC: (Looking at them both.) A wonder! A wonder!

KING: What is it?

FEMALE ASCETIC: I am astonished by the great resemblance between you, although there is no relationship between you. And he is as easy with you as though you were someone long familiar.

KING: (Caressing the boy.) If he is not a sage's son, what is his family?

FEMALE ASCETIC: He is a descendant of Puru.

KING: (To himself.) What? He belongs to my own line? That is why she sees a resemblance to me. (Aloud.) The descendants of Puru observe the final custom of their house—

first, to protect the earth,
they dwell in white-plastered royal palaces;
later, living at the roots of trees,
they devote themselves solely to ascetic vows.

But a mortal cannot come here by his own will.

FEMALE ASCETIC: You are right, sir. But this child's mother is related to a celestial nymph, and therefore she gave birth to him here, in the sacred grove of the father of the gods.

KING: (To himself.) Another ground for suspicion has appeared. (Aloud.) Of which royal sage is this lady the wife?

FEMALE ASCETIC: Who would speak the name of a man who abandoned his lawful wife?

KING: (To himself.) Can this story concern me in particular? Should I ask the child's mother's name? No—it is improper to inquire about another man's wife.

The SECOND FEMALE ASCETIC enters carrying a clay peacock.

SECOND FEMALE ASCETIC: *Sarvadamana, look at this beautiful bird.*

BOY: (Glancing at it.) Where is Mother? (The two women laugh.)

FIRST FEMALE ASCETIC: His love for his mother confused him when he heard a similar word.

SECOND FEMALE ASCETIC: Child, look at the shakunta—the bird. How beautiful this toy peacock is.

KING: (To himself.) Is his mother's name Shakuntala? But names may be alike. Like a mirage, this may end in bitter disappointment.

BOY: Aunt, I like this beautiful peacock. (He takes the toy.)

SECOND FEMALE ASCETIC: (Looking, alarmed.) Ah! The protective amulet is missing from his wrist.

KING: Do not be anxious. It must have fallen while he wrestled with the lion cub. (He reaches to pick it up.)

BOTH: Do not touch it! What—has he picked it up? (Astonished, they look at one another and place their hands upon their breasts.)

KING: Why are you stopping me?

FIRST FEMALE ASCETIC: Listen, sir. This is a powerful herb called Aparajita, given by Maricha during the child's birth ceremony. If it falls upon the ground, no one except his mother, his father, or the child himself can lift it.

KING: What happens if someone else picks it up?

FIRST FEMALE ASCETIC: It turns into a snake and bites the stranger.

KING: Have you yourselves seen this transformation?

BOTH: Many times.

KING: (Joyfully.) Then, now that my hope has been fulfilled, why should I not rejoice—
? (He embraces the boy.)

SECOND FEMALE ASCETIC: Sanyata, come. Let us carry this news to—

Shakuntala, who has completed her religious observance.

FIRST FEMALE ASCETIC: Come. (They both exit.)

BOY: Let me go! I want to go to Mother.

KING: Son, we shall go together and bring joy to your mother.

BOY: My father is Dushyanta, not you.

KING: (Smiling.) That very denial is my proof.

SHAKUNTALA enters, her hair bound in a single braid.

SHAKUNTALA: I have heard that Sarvadamana's protective amulet remained in its natural form even though the condition for its transformation arose. Yet I cannot trust my fortune. Still, what Akshamala told me makes it seem possible.

KING: (Seeing Shakuntala.) Ah! It is Lady Shakuntala!

Clothed in grey,
her face made thin by religious observance,
her hair bound in a single braid,
this woman of spotless character
has endured the long austerity of separation from cruel me.

SHAKUNTALA: (Seeing the King.) He does not look unlike my husband. Then who is he, touching with his hand and defiling my son, who is protected by sacred spells?

BOY: (Going to his mother.) Mother! This stranger keeps calling me "son."

KING: Beloved, the cruelty I showed you has now reached a happy end. I beg you to recognise me.

SHAKUNTALA: (To herself.) Heart, take courage—take courage! Fate has shown mercy after casting me down and satisfying its anger. This is my husband!

KING:

By good fortune, lovely-faced one,
now that the bewildering darkness has lifted from memory,
you stand before me.
When an eclipse has ended,
the Moon and red Rohini
are reunited.

SHAKUNTALA: Victory to my lord...! (Her voice is choked by tears, and she leaves the sentence unfinished.)

KING: Beloved—

Though the word "victory" is caught in your tears,
I am victorious,
for I can see your pale face,
its lips unadorned.

BOY: Mother, who is he?

SHAKUNTALA: Son, ask my fate. (She weeps.)

KING: (Falls to the ground.)

Slender one,
let the pain of my rejection leave your heart.
At that time I was lost in terrible delusion.
A blind man brushes away even a garland upon his head,
thinking it a snake;
in deepest darkness, a man treats
an auspicious thing in just this way.

SHAKUNTALA: Rise, my lord. At that time some result of my former deeds, hostile to my happiness, must have been ripening; that is why, though compassionate by nature, you changed so greatly. (The King rises.) But how did my lord's memory return?

KING: I shall tell you everything after removing the thorn of grief.

Slender one, on that day,
in my delusion I ignored the tears
that troubled your lips.
Now I shall wipe away these tears
resting upon your trembling lashes
and free myself from remorse.

(*He does as he has said.*)

SHAKUNTALA: (As he wipes her tears, she sees the ring.) My lord! Ah, this is that ring!

KING: Yes. When it was miraculously recovered, it restored my memory.

SHAKUNTALA: It could have fulfilled my desire in a moment, yet when I needed it to convince my lord, it was nowhere to be found.

KING: Then let the vine receive its flower and proclaim the coming of spring.

SHAKUNTALA: I do not trust it. Let my lord keep it upon his own hand.

MATALI: (Entering.) Congratulations! Reunited with his lawful wife and beholding his son's face, Your Majesty is prosperous once more.

KING: Because it was fulfilled through a friend, my desire has borne an excellent fruit. Matali, did Indra not know of these events?

MATALI: Come. The revered Maricha awaits you and is ready to grant you an audience.

KING: Shakuntala, take our son. Walk before me. I wish to visit the venerable sage with you.

SHAKUNTALA: Am I worthy to go with my lord?

KING: It is the custom on a festival occasion. Come, come. (They all walk on.)

MARICHA enters seated beside ADITI upon one seat.

MARICHA: (Seeing the King.) Daughter of Daksha—

this is Dushyanta, lord of the earth,
your son Indra's champion in battle.
Because of his bow, Indra's keen thunderbolt
has become an idle ornament.

ADITI: His appearance is certainly worthy of honour.

MATALI: Lord of the Earth, the mother and father of the gods are looking upon you with parental affection. Approach.

KING: Matali—

these are the divine pair whom the sages call
the source of the twelvefold radiance;
from whom Indra, lord of the gods who receive the sacrificial share, was born;
and in whom the Supreme Spirit, beyond even self-born Brahma,
found a birthplace.

MATALI: Indeed.

KING: (Bowing.) Dushyanta, servant of Indra, bows to you both.

MARICHA: Son, protect the earth for many years!

ADITI: Son, may you have no equal in battle!

SHAKUNTALA: With my son, I worship your feet.

MARICHA: Daughter, may your married happiness endure long!

With a husband like Indra
and a son like Jayanta,
what blessing can be given but this:
"Be like Paulomi!"

ADITI: Daughter, may your husband honour you. May your son become the ornament of both families. Please sit. (With Prajapati's permission, all sit.)

MARICHA: (Indicating each in turn.)

By good fortune,
faithful Shakuntala, this accomplished son, and the King—
faith, wealth, and righteous duty—
this triad has come together in one place.

KING: Holy sir, your grace is unprecedented: first my desire was fulfilled, and only afterwards did I receive your vision. See—

first comes the flower, and then the fruit;
first the cloud, and afterwards the rain.
Such is the order of cause and effect;
but through your grace, good fortune came first.

MATALI: Such is the mercy of the mother and father of the world.

KING: Holy sir, I married this servant of yours by the rite of mutual consent. Some time later, her relatives brought her to me. Because my memory had vanished, I rejected her and thus offended the revered Kanva. Afterwards, when I saw the ring, the memory of our marriage returned. The whole event seems strange to me.

It was as though a man denied an elephant
standing plainly before him,
doubted it after it had gone,
and understood its existence only when he saw its footprints—
such was the disorder of my mind.

MARICHA: Son, cease worrying that you committed an offence. You were deceived. Listen.

KING: I am listening attentively.

MARICHA: When Menaka descended from the celestial nymphs' sacred pool and brought the visibly weakened Shakuntala to Aditi, meditation revealed to me that the poor girl had been rejected by her husband because of Durvasa's curse, and that the sight of the ring would end that curse.

KING: (Breathing deeply.) I am freed from guilt!

SHAKUNTALA: (To herself.) What good fortune! My lord—
did not reject me of his own will. But I do not remember being cursed.
Surely, because my heart was elsewhere, I did not hear the curse;
my friends repeatedly insisted—
that I must show my lord the ring.

MARICHA: Daughter, you have understood the truth. Therefore—
do not be angry with your husband now. See—
your husband rejected you—
because the loss of memory made him hard-hearted.
Now the darkness of his delusion has been dispelled,
and royal fortune is subject to you.
In a mirror dimmed by dust,
a reflection cannot take shape;
but once it is cleaned, the image appears clearly of itself.

KING: As the holy one says.

MARICHA: Son, I trust you have accepted this son of Shakuntala—
whose birth ceremony I myself performed?

KING: Holy sir, my lineage rests upon him alone.

MARICHA: It is true. Know him as a future universal emperor. See—
Crossing the oceans in a chariot that moves steadily without jolting,
this peerless warrior will soon conquer the earth with its seven continents.
Because he subdues animals by force,
his name here is Sarvadamana, Subduer of All;
because he will uphold the earth,
he shall later be renowned as Bharata.

KING: Since the holy one himself performed his rites, we may expect all this of him.

ADITI: Kanva too should be told in full how Shakuntala's desire was fulfilled. Menaka is nearby.

SHAKUNTALA: You have spoken the wish of my heart.

MARICHA: Through the power of his austerities, the revered Kanva already knows all this clearly.

KING: Ah! Then my teacher is not angry with me.

MARICHA: Even so, he should hear this happy news from me. Who is there?

DISCIPLE: (Entering.) Revered teacher, I am here.

MARICHA: Galava, my son, tell the renowned Kanva this happy news in my words: when Durvasa's curse ended and his memory returned, Dushyanta accepted Shakuntala.

DISCIPLE: As my revered teacher commands. (He bows and exits.)

MARICHA: (To the King.) Son, with your son and wife, mount the chariot of your friend Indra, which stands here, and depart for your capital.

KING: As my revered teacher commands.

MARICHA: Son—
continue to satisfy the gods entitled to their sacrificial shares
with abundant offerings;
in return, may the King of Gods send rain for your subjects.
Thus, through mutual service,
may the friendship between you endure for many years,
together with the glory of your shared generosity.

KING: Holy sir, I shall strive for the welfare of all with my entire strength.

MARICHA: Son, tell me now: what further boon shall I grant you?

KING: If, after all this, my revered teacher still wishes to show me favour, then—
May the King remain devoted to the welfare of his people!
May the learned honour Sarasvati!
May self-existent Shiva, whose power pervades all things,
bring my cycle of rebirth to an end!

(All exit.)
End of Act Seven.
Thus ends “Abhijnanashakuntalam,”
a play by the great poet Kalidasa,
a poet who, by the grace of destiny, attained complete knowledge.

ABHIJNANASHAKUNTALAM

The Recognition of Shakuntala



The Great Poet Kalidasa

English Stage Version: Gajendra Thakur

Editor: Videha First Maithili Fortnightly eJournal



www.videha.co.in

आगमडम्बरम्

जयन्त भट्ट
(नैयायिक)

मूल संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद
गजेन्द्र ठाकुर

सम्पादक
विदेह प्रथम मैथिली पाक्षिक ई-पत्रिका
www.videha.co.in

आगमडम्बरम्

जयन्त भट्ट (नैयायिक)

मूल संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद गजेन्द्र ठाकुर
सम्पादक • विदेह प्रथम मैथिली पाक्षिक ई-पत्रिका
www.videha.co.in

प्रकाशकीय विवरण

मैथिली अनुवाद © गजेन्द्र ठाकुर, 2026

मूल कृति: आगमडम्बरम् · जयन्त भट्ट

मूल संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद: गजेन्द्र ठाकुर

सम्पादक: विदेह · प्रथम मैथिली पाक्षिक ई-पत्रिका

www.videha.co.in

सर्वाधिकार सुरक्षित।

विषय-सूची

पात्र-परिचय	4
प्रस्तावना — वैराग्य	6
प्रथम अङ्कक प्रस्तावना — बुद्धक उपदेश	8
प्रथम अङ्क — बौद्धसभ पराजित	11
द्वितीय अङ्कक प्रस्तावना — कामासक्त तपस्वी	20
द्वितीय अङ्क — वैराग्यक भोज	24
तृतीय अङ्कक प्रस्तावना — निर्भयसभमे भय	32
तृतीय अङ्क — धर्मक निषेध आ समर्थन	35
चतुर्थ अङ्कक प्रस्तावना — रुढ़िवादी पाखण्ड	49
चतुर्थ अङ्क — मर्यादित सहिष्णुता	51

पात्र-परिचय

रंगमञ्च पर आगमनक क्रमसँ —

मूल संस्कृत नाम	मैथिली परिचय
सूत्रधारः	सूत्रधार (रंगमञ्चक निर्देशक)
पारिपार्श्वकः	पारिपार्श्वक, सूत्रधारक सहायक
भिक्षुः	बौद्ध भिक्षु, नाम धर्मोत्तर
उपासकः	उपासक, हुनक शिष्य
सङ्कर्षणः, स्नातकः	सङ्कर्षण, मीमांसक स्नातक; बादमे राजा शङ्करवर्मनक अधिकारी
बटुः	बटु (बालक), स्नातकक शिष्य
प्राशिनिकाः	प्राशिनिक (शास्त्रार्थक निर्णायक सभ)
चेटः	चेट (सेवक)
क्षपणकः	जैन भिक्षाचर
क्षपणिका	जैन साध्वी
भिक्षुः	जैन मुनि, नाम जिनरक्षित
शिष्याः	हुनक शिष्य सभ
तापसाः	जैन तपस्वी
नीलाम्बराः	नीलाम्बर सभ (आचार-विरोधी तपस्वीक एक समूह)
प्रथमः साधकः	पहिल शैव साधक, नाम कङ्कालकेतु
द्वितीयः साधकः	दोसर शैव साधक, नाम श्मशानभूति
पुरुषः	सेवक पुरुष
भट्टारकः	सैद्धान्तिक शैव मठाधीश, नाम धर्मशिव
तापसाः	शैव तपस्वी सभ
वृद्धाम्भिः	वृद्धाम्भि, भौतिकवादी (चार्वाक) दार्शनिक
शिष्याः	हुनक शिष्य सभ

मूल संस्कृत नाम	मैथिली परिचय
ऋत्विक्	ऋत्विक् (वैदिक याजक)
उपाध्यायः	उपाध्याय (वैदिक शिक्षक)
मञ्जीरः	मञ्जीर, राजाक अधिकारी
धैर्यराशिः	धैर्यराशि (उपनाम भट्ट सहट), न्यायदर्शनक प्रख्यात दार्शनिक
वादिनः	वादी सभ (शास्त्रार्थकर्ता)

प्रस्तावना:

वैराग्य

अनादि अविद्याक क्रमशः विनाश करनिहार ब्रह्म

जाहिमे तीव्र नव आनन्द झिलमिलाइत अछि, आ जकर चेतनाक स्तर धरि “अवतरण” आरम्भ होइतहि आन मनोहर विषयक भोगक इच्छा शान्त भऽ जाइत अछि, से अहाँ सभक समक्ष प्रकाशित होथि।

मङ्गलाचरण समाप्त भेलापर सूत्रधार कहैत अछि:

धिवकार, धिवकार! नट केर जीविका सचमुच अत्यन्त नीच अछि—निरन्तर घोर छल-कपट केर कोलाहल। शिव, विष्णु, ब्रह्मा, ऋषि, राजा, पशुसमान मूर्ख, लम्पट, कायर, वीर, सुखी, दुःखी—नट लोकक सोझाँ कनेको लज्जा नहि करैत सभटा रूप धारण करैत अछि; वास्तवमे पेट भरबाक लेल ओ केवल अभिनय-कौशलक आश्रय लैत अछि।

एहन दशामे ई नीच कला बन्द कऽ देब नीक—जाहिमे फल अल्प, कष्ट बहुत आ लज्जा ताहूँ बेसी अछि। कोनो आश्रममे गुरुक गृहसँ जुड़ि मनुष्यक परम पुरुषार्थ—समस्त दुःखक निवृत्ति—प्राप्त करबाक प्रयत्न करब। (विचार करैत) मुदा प्रस्थानसँ पूर्व अपन दयनीय परिवारक ई अभागल भार केकरा सुपुर्द करूँ? (आगाँ देखैत) पहिने ई बुझि ली जे ओकर विचार की अछि। सहायक प्रवेश करैत अछि, सूत्रधार दिस देखैत कहैत अछि:

आइ वैराग्यसँ हुनक मुख एतेक मलिन किएक देखाइत अछि? पूछैत छी। (निकट आबि) आर्य, मुखपर एतेक शोक किएक? कतहु टीकाकारक शिष्यसभ अहाँकेँ कोनो काज तँ नहि सौँपि देने अछि?

सूत्रधार ऊपर कहल बात “दुःखक निवृत्ति” धरि फेर कहैत अछि।

सहायक: वैराग्य नहि करू, एकर कोनो आवश्यकता नहि। देवता, मनुष्य वा पशुमे के एहन अछि जे छल-मायासँ मुक्त भऽ परम पद प्राप्त कऽ लेने हो? ब्रह्मासँ लऽ कऽ पशु धरि ई समस्त प्राणिसमूह केवल मायाक कारण संसारमे घूमि रहल अछि। अहाँक दशा हुनकासँ कोनो बेसी खराब? मायासँ ठकल, अन्ततः असत्य, समस्त जगत्क आचरणसँ हमर आचरण अलग कोनो भऽ सकैत अछि?

सूत्रधार: मित्र, अहाँ ठीक कहैत छी। मुदा हमर आचरण हुनकासँ खराब नहि होइतो, एकरा जारी रखब हमरा असम्भव बुझाइत अछि।

सहायक: से किएक, आर्य?

सूत्रधार: मित्र, महर्षि भरत द्वारा उपदिष्ट दस प्रकारक नाट्य-विधिक मंचनमे की हम परिश्रम नहि कएलहुँ? मुदा आब माननीय भट्ट जयन्त आबि रहल छथि। बाल्यकालमे व्याकरणपर व्याख्याग्रन्थ लिखबाक कारण ओ ‘टीकाकार’ नामसँ सेहो प्रसिद्ध छथि। हुनक शिष्य-मण्डली हमरा अपन गुरुक नवीन कृति—‘धर्मक भारी आडम्बर’ नामक एक अद्भुत नाटक—मंचित करबाक आज्ञा देने अछि। मुदा एकर मंचन हम कोनो करी? ई न सांसारिक कथावस्तुपर आधारित अछि, न नाट्यशास्त्रक नियम मानैत अछि, आ एकर पहिले कहियो अभिनय सेहो नहि भेल अछि। तँ ई अभागल जीविका छोड़ि देबहि हमरा नीक बुझाइत अछि।

सहायक: आर्य, एना नहि कहू। टीकाकारक एहि माननीय शिष्यसभक आज्ञाक विरोध करब व्यर्थ अछि। अहाँक चिन्ता जे नाटक नियमक पालन नहि करैत अछि—से की सूत्रधारक दोष थिक? कवि भरतक उपदेशक कनेको परवाह नहि कऽ रचना करैत छथि; तैयो हुनक शिष्य एकर प्रचार करैत छथि, आ ओहीसभ अहाँक दर्शक सेहो छथि। तँ मंचित कऽ दिअ। कोनो आन तटस्थ व्यक्ति एकर दोष खोजबाक कष्ट किएक करत?

सूत्रधार: लोकक निन्दाक हमरा चिन्ता नहि।

सहायक: तँ की राजाक कोनो धमकीसँ भयभीत छी?

सूत्रधार: (मुस्कुड़ाइत) से बात सेहो नहि।

सहायक: तखन विलम्ब किएक? नटसभकेँ बौद्ध, जैन आदि अलग-अलग भूमिका बाँटि दिअ।

सूत्रधारः मित्र, छल आ मायासँ भरल ई असह्य अभिनय-जीविका आब हम चला नहि सकैत छी। काव्य नियम तोड़य वा मानय, लोक क्रुद्ध होअय वा प्रसन्न —हमरा सभसँ विरक्ति भऽ गेल अछि। आइए ई पेशा छोड़ि तीर्थयात्रापर निकलि जायब।

अहाँ वा तँ हमर निर्धन परिवारक पालन करू, अथवा हमरासँ चलू।

हम स्वयं सत्य जानबाक लेल उत्कण्ठित छी। समीपक एहि विशाल विहारमे प्रवेश करब, जतय सैकड़ो राग-विरहित भिक्षु रहैत छथि आ जे परम मोक्षक मार्ग देखबैत अछि।

दुनू प्रस्थान करैत छथि।

प्रस्तावना समाप्त।

प्रथम अङ्कक प्रस्तावना:

बुद्धक उपदेश

(तखन एकटा चौकीपर बैसल, लाल चीवर पहिरने बौद्ध भिक्षु आ ओकर सोझाँ ओकर गृहस्थ शिष्य प्रवेश करैत अछि।)

भिक्षु: (वैराग्यपूर्वक)

हाय! एहि अनादि संसारक रीति एहने अछि—मोहग्रस्त जीव जन्म लैत अछि, फेर मरैत अछि; मरि कऽ फेर जन्म लैत अछि। एहि दुःखमय मार्गकें देखनिहार बुद्धिमान मनुष्यकें अपन चित्त ओहि अवस्थादिस लगयबाक चाही, जतय जन्म आ मृत्यु दुनूक अन्त भऽ जाइत अछि।

शिष्य: हे पूज्यवर, जन्म-मृत्युक व्यवहारसँ परे ई स्थान कोन अछि? आ कोन उपायसँ ओ प्राप्त होइत अछि?

भिक्षु: बुद्धिमान मित्र, जँ जानबाक उत्कण्ठा अछि तँ आब चारि आर्यसत्य बुझबाक प्रयत्न करू।

शिष्य: हे पूज्यवर, ओ चारि आर्यसत्य कोन-कोन अछि?

भिक्षु: बुद्धिमान मित्र—दुःख, दुःखक कारण, दुःखक निरोध आ मार्ग—ई चारि आर्यसत्य अछि।

शिष्य: हे पूज्यवर, एतबासँ हमर ज्ञान नहि खुजल। कृपा कऽ विस्तारसँ बुझाउ।

भिक्षु: आर्य, हम अहाँकें बुझबैत छी।

प्रथमतः, जे किछु अछि से सभ दुःख अछि—व्यक्तिगत अनुभूतिमे सुखक विपरीत। जाहिसँ ई उत्पन्न होइत अछि, से कारण अर्थात् मोहक शक्ति अछि। समस्त क्लेशक अन्त निर्वाणे निरोध अछि। सम्यक् विचारक लोक निर्वाण प्राप्त करबाक साधनकें मार्ग कहैत छथि।

शिष्य: हे पूज्यवर, दीर्घकालसँ निरन्तर बहैत, पार करब कठिन एहि दुःखक गहिर जलकें आत्मा कोन उपायसँ पछाड़ि निर्वाणमे जा टिकैत अछि?

भिक्षु: भद्र, अहाँ बात बुझले नहि। वास्तवमे दुःखक सङ्कटसँ निकलि निर्वाण धरि पहुँचयबला कोनो आत्मा नामक वस्तु अछि नहि। संसाररूपी कारागार—जतय कठोर यातना भोगल जाइत अछि—कें टिकौने रखनिहार दृढ़ खम्भा केवल स्थायी आत्माक आग्रह थिक।

बुझबाक लेल:

“ई हम छी” एना माननिहार जीव अनिवार्य रूपसँ “ई हमर अछि” सेहो मानत; ‘हम’ आ ‘हमर’क भावमे पड़ल मन्दबुद्धि अपन हानिकारक कामना नहि छोड़त।

जकर तृष्णा शान्त नहि भेल, ओकरा लेल वैराग्यक अभ्यास बहुत दूर अछि; आ वैराग्यक अभ्यास बिना संसार-सागर कोना पार कएल जा सकैत अछि?

शिष्य: हे पूज्यवर, जँ सचमुच कोनो स्थायी आत्मा नहि अछि, तँ संसारक दुःख के भोगैत अछि? अथवा ओकरासँ ऊपर उठि निर्वाण-धाममे के पहुँचैत अछि?

भिक्षु: (मुस्कुड़ाइत) वत्स, जँ स्थायी आत्मा होइत तँ निरोध, निर्वाण, परम कल्याण वा पूर्णता आरो असम्भव होइत; कारण जे स्थायी अछि ओकर निरोध भऽ नहि सकैत अछि। तँ ई जगत् केवल चैतन्य थिक, जे सुख-दुःख आदि अनेक रूपसँ मलिन अछि आ

अनादि प्रवाहमे सक्रिय विविध संस्कारक अनुसार असंख्य रूप धारण करैत अछि। अनात्मता आदिक भावनाक ई मार्ग जखन आकस्मिक गुणक समूहसँ उपजल अनेक मलिनता हटा कऽ एकरा केवल शुद्ध चैतन्यमे प्रतिष्ठित कऽ दैत अछि, तखन ई प्रवाह बनल रहय वा स्वयं प्रवाह कटि जाय—निर्वाणक शीघ्र मार्ग एहीमे अछि।

शिष्य: हे पूज्यवर, जँ स्थायी आत्मा नहि अछि तँ परलोकमे अपन कर्मक फल के भोगैत अछि? आ एहि लोकमे सेहो स्मृतिपर आधारित ई क्रियासभ केकर अछि?

भिक्षु: हम कुशलतासँ बुझबैत छी।

स्थायी पदार्थ क्रमशः वा एक्के बेर कारणगत कार्यक्षमता नहि राखि सकैत अछि; कार्यक्षमता नहि रहबाक कारण ओ परमार्थतः सत्य नहि अछि।

ज्ञानीसभ कहैत छथि—“जे कारणगत कार्य करबाक सामर्थ्य रखैत अछि, केवल सेही परमार्थतः सत्य अछि।” आरो सुनू:

ई घड़ा, स्वभावतः नश्वर होअय वा नहि, हथौड़ा वा आन कारणसँ नष्ट नहि कएल जा सकैत अछि। एहन कारण वा तँ निरर्थक होयत अथवा असमर्थ;

आ जँ युगभरि ई कारण उपस्थित नहि होअय तँ घड़ा नष्ट नहि होयत।

तँ पदार्थ उत्पन्न होइतहि नष्ट भऽ जाइत अछि, मुदा एके प्रवाहमे रहबाक कारण सत्य बुझाइत अछि। प्रवाहमे रहबाक कारण एहन स्थायी कर्ताक कल्पना सहज होइत अछि, जे स्वयं

ओहि कर्ताक कर्मफलक भोक्ता अछि, आ स्मृति आदि क्रियाक सेहो आधार अछि।

शिष्य: जँ सभ पदार्थ क्षणिक अछि, अर्थात् दोसर क्षण धरि टिकैत नहि, तँ चैतन्य ओकरा अपन विषय कोना बनबैत अछि? स्पष्ट अछि जे विषय वा तँ ज्ञानक संगहि, अथवा ओकर बाद ज्ञान द्वारा प्रकाशित होयत। अथवा, जँ ओ ज्ञान उत्पन्नो करैत हो, तखन धरि ओकरा विषय नहि बनाओल जा सकैत अछि जखन धरि ओ ज्ञान सीमाबद्ध भऽ कोनो रूप ग्रहण नहि करय। नहि तँ क्षणिक वस्तुक प्रत्यक्षज्ञानक व्याख्या नहि भऽ सकत।

भिक्षु: आर्य, स्पष्ट देखब तँ वास्तवमे ज्ञानक विषय बनयबला कोनो पदार्थ अछि नहि। स्वयं चैतन्ये नील, पीत आदि रूपसँ जड़ित भऽ प्रकट होइत अछि। किएक—ई पूछैत छी?

मनुष्यकें ज्ञान आ ओकर विषयक एकसंग दू रूपी अनुभूति नहि होइत अछि। आ जँ चेतनाहीन विषय स्वयंप्रकाश ज्ञान द्वारा ग्रहण होइत, तँ ग्रहण पहिने ग्रहण कएल जाइत—जेनाकि दीपकक प्रकाश पहिने देखाइत अछि। मुदा रूपहीन ज्ञान ग्रहण नहि भऽ सकैत अछि। तँ स्वयं ई ज्ञान विभिन्न रूपमे प्रकाशित होइत अछि। दोसर कोनो बाह्य विषय-वस्तु कोना भऽ सकैत अछि?

एहि कारण सभ किछु शून्य अछि, सभ किछु क्षणिक अछि, सभ किछु स्थायी सारविहीन अछि, सभ किछु दुःख अछि। एहि प्रकार ध्यान करैत मनुष्य निर्वाण प्राप्त करैत अछि।

नेपथ्यमे काठक घण्टी बजैत अछि।

शिष्य: (सुनैत) हे पूज्यवर, ई निश्चय भिक्षुसमुदायक एकत्र होयबाक समय सूचित करयबला काठक घण्टी थिक। आब की करब, से पूज्यवर स्वयं निश्चित करू!

भिक्षु: तखन एहि बातक ध्यान राखी जे अबेर नहि हो। (दुनू उठि कऽ चलैत आ चारूकात देखैत अछि।) ई एकटा युवा ब्राह्मण आबि रहल अछि—श्याम वक्षस्थलपर कमल-तन्तु जेकाँ उज्जर यज्ञोपवीत, हाथमे बाँसक दण्ड। उचित उपाय करी, नहि तँ एकर कारण निर्धारित समय चूकि जायब।

शिष्य: हे पूज्यवर, ई युवा ब्राह्मण बहुत कालसँ एतय ठाढ़ अछि। जखन पूज्यवर एहि गाछक नीचाँ बैसलहुँ, ठीक ओही क्षण ई आयल छल, मुदा अहाँक दृष्टि नहि पड़ल। लताक जालमे नुकायल ई पूज्यवरक समस्त उपदेश सुनि लेने अछि।

भिक्षु: से जे हो, एहन व्यक्तिक कारण आब हम किएक अबेर करी?

भिक्षु शिष्यक संग प्रस्थान करैत अछि।

प्रथम अङ्कः

बौद्धसभ पराजित

तखन पूर्वोक्त रूपमे स्नातक आ बालक प्रवेश करैत अछि।

स्नातकः

हम विधिपूर्वक वेद पढ़लहुँ, छह वेदाङ्गमे पारङ्गत भेलहुँ, आ मीमांसाक सेहो परीक्षण कएलहुँ। एहि प्रकार द्विजक योग्य कर्तव्य पूरा कएलहुँ। मुदा जखन धरि निरन्तर कुतर्कक घातक शस्त्र लहरा कऽ अपन वाणी दूषित करनिहार वेद-विरोधीसभकेँ नीचा नहि देखायब, तखन धरि अध्ययनमे कएल हमर परिश्रम निष्फल बुझायत।

आ शुद्धोदन-पुत्रक ई मूर्ख शिष्यसभ वेदकेँ विदीर्ण करनिहारसभमे सभसँ आगाँ अछि। तँ चोर जेकाँ दण्ड देबाक क्रममे ई सभ पहिने आयत। (ओ चलैत अछि।)

बालकः आर्य, स्नानक सामग्री लऽ आयल छी। अहाँ स्नान करबाक लेल जाइत छलहुँ।

स्नातकः तँ की भेल?

बालकः परिस्थिति अनुकूल नहि बुझाइत अछि। बाटपर ई सभ लोक निश्चय विहारहि दिस जा रहल होयत।

स्नातकः तखन पहिने एहि विहारक भिक्षुसभकेँ देखि ली, स्नान बादमे करब।

बालकः जेना आर्यक आज्ञा।

दुनू चलैत अछि।

स्नातकः (आगाँ देखैत) अहा, कतेक मनोहर विहार! कारण एतय—

चन्द्रकिरणसँ चमकैत हिमालयक शिखरकेँ टक्कर दैत मन्दिरक उच्च शिखर; सघन आमक बारी; घाससँ भरल रमणीय लता-मण्डप; आ कमल-परागसँ देह लाल भेल भ्रमरीसभ कमल-सरोवरक ऊपर मँडरा रहल अछि, जकर जल निकलैत कमल-अङ्कुरसँ रोमाञ्चित भऽ शरदाकाशक अनुकरण करैत अछि।

ओ कमल-सरोवर दिस देखैत अछि।

तटस्थ गाछक समूहक प्रतिबिम्ब—डाढ़ि नीचाँ आ पसरल जरि ऊपर—सरोवरक जलकेँ शोभायमान कऽ रहल अछि। एतय जलमे हम गाछक डाढ़िपर बैसल, चाँच खोलि फलक टुकड़ा खाइत चिड़ैसभकेँ देखि रहल छी।

बालकः आर्य, पूजाक सामग्रीक प्रचुरता देखू—फूल, धूप आ चन्दन, कपूर, केसर तथा कस्तूरीक लेप; ई सभ सुवर्ण बुद्ध-प्रतिमापर अर्पित अछि, जाहिसँ घन, विराट तेज निकलि रहल अछि, आ जे सुन्दर रङ्ग तथा अलङ्कारसँ सजल अछि। ई प्रतिमासभ मेरु-पर्वत समान उच्च मन्दिरमे स्थापित अछि, जकरा मन्द पवनमे काँपैत बहुरङ्गी ध्वजासभ शोभित कऽ रहल अछि। अहा, अद्भुत!

स्नातकः (देखैत) ई स्पष्टतः तपस्वीक शिक्षाश्रम नहि, राजोद्यान थिक! अहो काल! अहो आचार!

लम्पट मार्गदर्शकसभक लूटक शिकार धनी लोक पूर्णतः व्यर्थ बाटपर भटक गेल अछि आ अपन बहुविध धन अनुचित वस्तुपर फेकि रहल अछि। ई धर्म जँ छलो हो, तैयो अशान्त लोकक योग्य एतेक मनोरञ्जन-सामग्री ओहि लोकक लेल निरर्थक अछि जे कथित रूपसँ इन्द्रियसुखसँ चित्त फेरि लेने छथि, बारम्बार ध्यानक अभ्यासमे तत्पर छथि आ जेना-तेना जीवन धारण करैत छथि।

बालकः आर्य, देखू, देखू! चूनासँ उज्जर एहि भवनक अटारीमे बौद्ध भक्तसभ भोजनक लेल तैयार बुझाइत छथि। इत्र, फूल आ धूपक गन्धक राशि दसौं दिशाकेँ भरि रहल अछि।

स्नातकः नीक देखलहुँ। हमरा सभकेँ देखितहि सम्भवतः ई भिक्षुसभ अपन व्यवहारमे सङ्कोच करत। तँ एहि लता-मण्डपमे नुकायल रहि किछु काल हुनक आचरण देखि ली।

दुनू सेहिए करैत अछि।

स्नातक: (उत्सुकतासँ देखैत) आश्चर्य! विहारक भोजन करबाक हड़बड़ीमे एको गोटे स्नानादि शुद्धि तक नहि कएलक।

बालक: स्नान छोड़ू, कपड़ो नहि बदललक!

स्नातक: (ध्यानसँ देखैत) आचमनसँ शुद्धि करबाक हुनक विधि सेहो शूद्रसभ जेकाँ अछि! अहो! चारू वर्णक लोक आ सङ्कर वर्णक लोक सभ एक्के पाँतिमे भोजन कऽ रहल अछि! एहि आश्रमक नियम कतेक रमणीय अछि!

बालक: आर्य, आरो देखू! ई भरल-पुरल देहबाली दासीसभ भोजन परोसबाक लेल तैयार छथि आ चञ्चल कटाक्षसँ भिक्षुसभक दृष्टि बाँधि रहल छथि! आ एतय निर्मल पात्रमे कोनो पेय परसल जा रहल अछि।

स्नातक:

एतय “फलक रस” नाम धऽ मदिरा अछि, आ शाकाहारीक योग्य कहल जाएबला मांस सेहो। अहा, कतेक कठोर तपस्या!

बालक: आर्य, देखू, देखू, ई भिक्षु! पियासल होइतो, जाहि पेयमे नीलकमल घूमि रहल अछि, ओकरा जीहसँ कम, दासीसभक सरल मुखकँ आँखिसँ बेसी पीबि रहल अछि।

स्नातक: बस, राग-विरहित लोकक विहार-अनुशासन देखि लेलहुँ।

बालक:

विलासोद्यानमे निवास, पेय आ भोजन सहज उपलब्ध, नियमक कोनो झञ्झट नहि—धन्य छथि जे बौद्ध बनैत छथि!

स्नातक: आब उपहास बहुत भेल। प्रसिद्ध महामनीषी बौद्ध भिक्षु धर्मोत्तर आबि रहल छथि। भोजन समाप्त कऽ ओ प्रासादसँ उतरि गाछक छाहाँमे घासबला स्थानपर बैसय जा रहल छथि। चलू, हुनका लग चली।

तखन पूर्वोक्त रूपमे बौद्ध भिक्षु आ हुनक शिष्य प्रवेश करैत अछि।

भिक्षु: आर्य, परम करुणामय भगवान् बोधिसत्त्वक उपदेश हृदयमे सँजोने छी?

शिष्य: पूज्यवर, कृपा कऽ हमरा फेर अनुगृहीत करू।

भिक्षु: जे युवा ब्राह्मण पहिने देखलहुँ, ओ एखनो एतहि अछि। ओकर मुखसँ बोलबाक उत्कण्ठा झलकैत अछि।

स्नातक: (निकट आबि) भिक्षु, कुशल छी? आशा अछि अहाँक धार्मिक साधनामे कोनो विघ्न नहि पड़ि रहल अछि।

भिक्षु: स्वागत। ई घासबला स्थान अपवित्र नहि अछि। कृपा कऽ बैसू।

स्नातक: (बैसैत) मुदा गुरु रूपमे अहाँ एकरा एखन की पढ़ेलहुँ, जे पूछैत छलहुँ—बुझलह की नहि?

भिक्षु: (शिष्यसँ) हुनक प्रश्नक उत्तर दहक।

स्नातक: कतेक अपमान—“शिष्य, उत्तर दहक”! बालक, सुन, ई की कहैत अछि।

भिक्षु: ब्राह्मण, शुद्ध प्रयोग तँ “हुनकासँ सीखू” होयबाक चाही।

स्नातक: हे प्रिय रक्तचीवरधारी! एहन प्रलापपर ई व्याकरण-नियम लागू नहि होइत—“विधिपूर्वक उपदेश होय तँ शिक्षकवाचक संज्ञा अपादान कारकमे होइत अछि।” देखू, एतय उपयुक्त प्रयोग केवल एतबे अछि—“ओ अभिनेताक षष्ठी-विभक्तिसँ सुनैत अछि।”

भिक्षु: अहा, कतेक कटुवचन बोलनिहार ई द्विज! तीनू लोकक एकमात्र स्वामी, परम करुणामय भगवान् बुद्धक <उपदेश> एकरा प्रलाप बुझाइत अछि!

स्नातक: (शिष्यसँ) आब तूँ कह, ई तोरा की पढ़ेलक?

शिष्य: गुरु हमरा चारि आर्यसत्य पढ़ेलनि—दुःख, दुःखक कारण, दुःखक निरोध आ मार्ग।

स्नातक: (मुस्कराइट) ई परम करुणामयक उपदेश थिक? आ जाहिमे अनात्म-बोधकेँ मोक्षदायी मार्ग कहि महिमा गाओल जाइत अछि, से प्रलाप नहि थिक?

भिक्षु: ब्राह्मण! अहाँ सन लोककेँ परमार्थ-सत्यक उपदेश प्रलापे बुझायत; अहाँक बुद्धि एहि मतक अभ्याससँ मलिन अछि जे अग्नि-सोमक लेल बलि देल पशु आदि जीवक हत्या मोक्ष प्राप्त करबाक साधन अछि!

स्नातक: की? ई पतित बौद्ध वैदिक विधानमे सेहो दोष निकालैत अछि! हम की करी? केकर उपस्थितिमे बात कही? एहि विहारमे केवल धर्मद्रोही समुदाय भरल अछि। (चारूकात देखि आनन्दसँ) उत्तम! हमर पुण्यक फलसँ विश्वरूप आ ई अनेक माननीय आचार्य विहारक उद्यान देखबाक उत्कण्ठासँ आबि गेल छथि; ई सभ हमरा लेल सहज न्यायनिर्णायक बनताह। ठीक अछि, एहि अपराधीसभकेँ दण्ड देबाक अवसर भेटि गेल। तखन सामर्थ्य-अनुसार जतेक न्यायनिर्णायक होथि, प्रवेश करैत छथि।

न्यायनिर्णायकसभ: केवल हुनक मुखक कान्ति देखि बुझाइट अछि जे ई स्नातक सङ्कर्षण आ ई बौद्ध भिक्षु धर्मोत्तर परस्पर विवाद कऽ रहल छथि। चलू, देखि आबी। (सभ गोटे सभा लग किछु डेग चलैत छथि।)

भिक्षु: स्वागत, सज्जनसभ! कृपा कऽ एतय बैसू। (ई कहि ओ घासबला स्थान देखबैत अछि।)

न्यायनिर्णायकसभ: (बैसि भिक्षुसँ) अहाँसभ कोन विषयपर चर्चा कऽ रहल छी?

भिक्षु: यज्ञोपवीतधारी ई व्यक्ति बोधिसत्त्वक उपदेशकेँ प्रलाप कहैत अछि।

स्नातक:

हम एतय छी, भिक्षु सेहो एतय अछि, आ अहाँसभ विवेकी न्यायनिर्णायक—तर्कक सबल आ दुर्बल पक्ष विचारबाक एहन अनुपम अवसर दोसर कोन!

न्यायनिर्णायकसभ:

जँ अहाँक वार्ता यथार्थ, संयत आ स्थापित सत्यसँ उत्पन्न हो; जँ छलयुक्त वाद, निष्फल प्रतिवाद, निग्रहस्थान आ कुतर्कक कोलाहलमय भीड़सँ भरल वचनसँ बची; जँ हृदयमे कनेको ईर्ष्या नहि हो, वाणीमे कठोरता नहि हो, मुखपर भ्रूभङ्ग नहि हो; जँ ई सज्जनसभक बीचक शास्त्रार्थ हो—तखन हम सदैव परीक्षक बनबाक लेल प्रस्तुत छी।

भिक्षु आ स्नातक: सज्जनसभ जेना आज्ञा करथि।

न्यायनिर्णायकसभ: तँ अहाँ दुनूमे पहिने अपन प्रतिज्ञा के प्रस्तुत कएलनि?

स्नातक: शिष्यकेँ पढ़बैत भिक्षुए पूर्वपक्ष प्रस्तुत कऽ चुकल छथि।

भिक्षु: (स्नातकसँ) सुनलहुँ?

स्नातक: हँ, सुनलहुँ।

भिक्षु: तखन फेर कहू।

स्नातक: अवश्य। सङ्क्षेपमे कहैत छी:

दुःख, ओकर कारण आ ओकर निरोध; ओकरा प्राप्त करबाक मार्ग, जे ‘अनात्म-बोध’ कहल जाइत अछि—ई सभ क्षणिकता सिद्ध कएलासँ स्थापित होइत अछि।

पदार्थ अस्तित्ववान होयबाक कारण क्षणिक अछि, आ ओकर विनाशक लेल कोनो कारण अपेक्षित नहि। स्मृति आदि क्रिया प्रवाहमे कारण-कार्य सम्बन्धक कारण सम्भव अछि।

मुदा बाह्य वस्तु क्षणिक होइतो ज्ञानक विषय नहि बनि सकैत अछि। केवल ई चैतन्य असंख्य रूपसँ जड़ित भऽ प्रकाशित होइत अछि।

तँ सभ किछु शून्य अछि, सभ किछु क्षणिक अछि, सभ किछु स्थायी सारविहीन अछि, सभ किछु दुःख अछि। एहि प्रकार ध्यान कएलासँ निर्वाण प्राप्त होइत अछि।

(भिक्षुसँ) एहि प्रकार ठीक अछि ?

भिक्षु: (तिरस्कारपूर्वक) हैं, सङ्क्षेप रूपमे।

स्नातक: आब हमर बारी।

न्यायनिर्णायकसभ: हम सभ ध्यानसँ सुनि रहल छी।

स्नातक:

क्षणिकता सिद्ध होइतहि उपर्युक्त परम कल्याणक मार्ग जँ अस्तित्वमानो हो, तैयो पदार्थसभक गहन परीक्षण कएलापर ओ सभ क्षणिकतासँ कनेको मेल नहि खाइत अछि।

भिक्षु: किएक नहि?

स्नातक: केवल एहि कारण जे एकर समर्थनमे कोनो युक्तिसङ्गत हेतु नहि अछि।

भिक्षु: मुदा हेतु तँ प्रस्तुत कएल गेल अछि—‘अस्तित्ववान होयबाक कारण’।

स्नातक:

अहाँ बौद्धसभ जे ‘अस्तित्व’ हेतु कहैत छी, ओकर साध्य—अर्थात् ‘क्षणिकता’—सँ व्याप्ति धुँआ आ आगि जेकाँ प्रत्यक्ष रूपसँ निश्चित नहि कएल जा सकैत अछि; कारण एकरा समर्थित करयबला कोनो दृष्टान्त भेटैत नहि। तँ ई हेतु निष्फल अछि।

भिक्षु: ताहिसँ की? व्यतिरेक द्वारा व्याप्ति निश्चित कएल जाए, तैयो व्याप्तिक निश्चय तँ भेल। क्रमिक आ युगपद् दुनू प्रकारक कार्यक्षमता नहि रहबाक कारण ‘अस्तित्व’ स्थायी पदार्थसँ बहिष्कृत भऽ जाइत अछि; तखन ओकरा कतहु आन ठाम नहि भेटबाक कारण क्षणिक पदार्थमे स्थान लेबहि पड़त।

स्नातक:

स्थायी पदार्थ जेकाँ अहाँक क्षणिक पदार्थसँ सेहो अस्तित्व आरो अधिक बहिष्कृत अछि, कारण ओहो अनिवार्य सहचर गुण रखि नहि सकैत अछि।

देखू:

जँ ई पदार्थ उत्पन्न भेलाक बाद काज करैत, तँ क्षणिक नहि रहैत। आ जँ उत्पन्न होइतहि मृत्यु ओकरा ग्रसि लैत अछि, तँ फेर काज करबाक दोसर अवसर ओकरा कोना भेटत?

भिक्षु: मुदा क्षणिक पदार्थक बीच कारण-कार्य सम्बन्ध एतबे थिक—‘क-क ज्ञान भेलाक बाद ख-क ज्ञान होइत अछि’; अर्थात् ‘पूर्व ज्ञानक पश्चात् दोसर ज्ञान उत्पन्न होइत अछि’।

स्नातक: एहि विषयमे आरो बहुत किछु कहबाक अछि, मुदा एखन छोड़ू। हम ई प्रतिपादित करैत छी—एहि मतक अनुसार कारण होयबाक अवस्था स्वयं वास्तविक नहि रहैत, कारण पदार्थ कोनो विशिष्ट वस्तुक प्रति उपादान-कारण होइत अछि। एहन दशामे कारणतासँ सम्पन्न सभ व्यवहार विफल भऽ जाएत—जेनाकि कोनो प्रवाहक प्रत्येक ज्ञानक अपन पूर्वकर्मक फल भोगबाक क्षमता। अथवा मानि ली जे एतय कोनो प्रकारक कारण-सम्बन्ध अछि; तँ आन प्रवाहमे उत्पन्न अन्य ज्ञान-क्षणक सम्बन्धमे सेहो ठीक एहने होयत।

भिक्षु आँखि नीचाँ कऽ धरतीपर रेखा खिंचैत अछि।

स्नातक: अथवा कारण-सम्बन्ध यथार्थ रूपसँ सिद्धो मानि ली, तैयो ज्ञानसभक परस्पर भिन्नता बनल रहबाक कारण के अपन कर्मक फल कोना भोगत?

आ ‘पदार्थ अस्तित्ववान होयबाक कारण क्षणिक अछि’ एहि अनुमानमे हेतु विरुद्ध अछि, कारण ओ सिद्ध करबाक गुणक विपरीत गुण सिद्ध करैत अछि।

भिक्षु: से कोना?

स्नातक: कहल गेल अछि जे क्षणिक पदार्थ कार्यक्षम नहि भऽ सकैत अछि। मुदा स्थायी पदार्थ सहायक कारणसभक संग क्रमशः वा युगपद् काज कऽ सकैत अछि; एहीक कारणगत कार्यक्षमता कहल जाइत अछि, आ एहि प्रकार ओकर स्थायित्व सिद्ध होइत अछि।

भिक्षु मौन रहैत अछि।

स्नातक:

पदार्थक उत्पत्ति जेकाँ ओकर विनाश सेहो कोनो कारणपर निर्भर अछि, कारण कारण-कार्यक उपस्थितिमे अन्वय आ अनुपस्थितिमे व्यतिरेक दुनू स्थितिमे समान अछि।

भिक्षु: मुदा विनाशक कारणक विषयमे अन्वय-व्यतिरेक दोसर प्रकारसँ सिद्ध होइत अछि, कारण ओ भिन्न प्रवाहक कारण अछि। उत्पत्तिक कारणक विषयमे

अन्वय-व्यतिरेक एहि प्रकार नहि भऽ सकैत अछि, कारण कोनो दोसर प्रकारक कार्य अछि नहि।

स्नातक: (मुस्कुड़ाइत) ई रागवश कहैत छी वा द्वेषवश? किछु लोक मानैत छथि जे ‘दोसर प्रकारक कार्य नहि अछि’ एना कहब कठिन अछि, कारण प्राकट्य आदि सम्भव होइत अछि।

भिक्षु: उत्पत्तिक कारण बिना कोनो कार्य उत्पन्न होइत कहियो नहि देखल गेल अछि।

स्नातक:

की विनाशक कारण बिना कोनो कार्य नष्ट होइत अहाँ कहियो देखलहुँ?

भिक्षु: तखन तँ विनाशक कारण उपस्थित नहि रहला पर युग बीति गेलो घड़ा नष्ट नहि होयत।

स्नातक: (व्यङ्ग्यसँ) दया करू! जँ घड़ा नित्य भऽ गेल तँ लोक-व्यवहार समाप्त, लोकक सर्वनाश, आ घड़ामात्र रूप संसारक शाश्वत मृत्यु हमर सभक माथपर मँडरा रहल अछि! जाहि वस्तुक विनाशक कारण नहि अछि, जेनाकि आकाश, ओकरा नित्य रहय दिअ—एहिमे हानि की? मुदा संयुक्त पदार्थक विनाशक कारण होइतहि अछि, कारण ओकर अवयवसभक वियोग आदि अनिवार्य अछि। आ हे मूर्ख, अहाँक मत मानियो ली तँ की घड़ा-क्षणक प्रवाह सेहो नष्ट नहि रहि जाइत अछि? जँ ओकरामे भिन्न प्रवाहक कोनो कारण उत्पन्न भऽ गेल, तँ हमर मतक अनुसार विनाशक कारण सेहो ठीक ओही

प्रकार उत्पन्न होयत—तर्कक क्रम एक्के अछि। तँ क्षणिकताक मतक वास्तविक दशा ई अछि।

भिक्षु लज्जित भऽ बैसैत अछि।

शिष्य: हे धिक्कारे योग्य ब्राह्मण! पूज्यवरक अपमान करबाक साहस तोरा कोना भेल?

बालक: हे सङ्करजात! आचार्यसँ एना बात करैत छह?

शिष्य: ई केकर आचार्य अछि? केवल एहि ऊँट-मुखबला छौड़ाक।

बालक क्रोधसँ उछलि शिष्यक मुँहपर थप्पड़ मारबाक लेल बढ़ैत अछि।

स्नातक, भिक्षु आ न्यायनिर्णायकसभ: शान्त हो! (ओ सभ दुनूकें अलग करैत छथि।)

स्नातक: आ स्थायी वस्तुकेँ ग्रहण करयबला प्रत्यभिज्ञा—‘ई ओही वस्तु अछि’—सेहो एहि हेतुक खण्डन करैत अछि। अथवा प्रत्यभिज्ञा छोडू। पलक नहि झपकयबला व्यक्तिक प्रत्यक्षज्ञान, जे वस्तुकेँ अखण्ड अस्तित्वबला रूपमे ग्रहण करैत अछि, सेहो निःसन्देह एहि हेतुक विरोध करैत अछि। एहन प्रत्यक्ष होइतो किछु मूर्ख कहैत अछि—‘प्रत्यक्ष वस्तुक अलग-अलग क्षणकेँ ग्रहण करैत अछि।’ ई कथन स्पष्टतः खण्डित अछि, कारण एक क्षण दीर्घकाल धरि टिकि नहि सकैत, आ एहन दशामे ग्रहण एहि प्रकार होइते नहि।

न्यायनिर्णायकसभ: आब बेसी विस्तारमे नहि जाउ।

हे स्नातक, अहाँ जे तर्क-क्रम प्रस्तुत कएलहुँ, ओकरा सुनि हमर कान आनन्दित भेल। एहिसँ क्षणिकतावाद खण्डित भऽ गेल। आब विज्ञानवादक विषयमे किछु कहू।

स्नातक: सुनू भिक्षु। मानि ली जे विषय आ ओकरा ग्रहण करयबला ज्ञान दुनूक एकसंग प्रत्यक्ष नहि होइत अछि। जँ अहाँ कहैत छी—‘ज्ञानक स्वरूप प्रकाशित हो’—तँ की ओ अपनहि रूप प्रकट करैत अछि, वा कोनो आन वस्तुक रूप? ‘हम नील छी’ एहि रूपक कोनो ज्ञान नहि होइत; वस्तुकेँ अपनासँ भिन्न ‘ओ’ रूपमे जानयबला ज्ञानहि तथ्यक अनुकूल अछि। तँ ई बाह्य ज्ञेय-वस्तु अवश्य अस्तित्वमान अछि।

भिक्षु: जँ अस्तित्वमान अछि तँ अनुभूत किएक नहि होइत?

स्नातक: के कहल जे अनुभूत नहि होइत? ‘ई नील अछि’ एहि रूपमे निश्चय अनुभूत होइत अछि।

भिक्षु: भद्र, ई ज्ञानक आभास थिक, कारण ज्ञान प्रकाशस्वरूप अछि; ई वस्तुक आभास नहि, कारण वस्तु जड़ अछि। आ अहूँ कहलहुँ जे दुनूक एकसंग आभास नहि भऽ सकैत अछि।

स्नातक: ज्ञानो जखन प्रकाशित होइत अछि, तँ अपनहि प्रकाश रूपमे नहि, आन वस्तुक प्रकाश रूपमे प्रकाशित होइत अछि; कारण ई प्रकाश प्रकाशित होयबला वस्तुक प्रकाश थिक, केवल प्रकाशक प्रकाश नहि। दीपादि प्रकाशक रीति एहने अछि। कहल गेल अछि—‘तीनू प्रकाश अपनाकेँ

आ आन वस्तुकेँ प्रकाशित करैत अछि।’ मुदा ओहि समय वास्तवमे ज्ञान नहि प्रकाशित होइत, नील आदि रूपे प्रकाशित होइत अछि। आ नील आदि रूप ‘ज्ञान’ नहि अछि, कारण गौत्व जेकाँ अन्वय-व्यतिरेकसँ ओकर ज्ञानस्वरूपता सिद्ध नहि भेल अछि।

भिक्षु मौन रहि आँखि नीचाँ कऽ धरतीपर रेखा खिचैत अछि।

स्नातक: माननीय न्यायनिर्णायकसभ, कहूँ—दुनू पक्षमे श्रेष्ठ कोन अछि?

न्यायनिर्णायकसभ: हमरा सभसँ किएक पूछैत छी? भिक्षु स्वयं मौन रहि अहाँक पक्षक समर्थन कऽ रहल छथि।

स्नातक: तखन आब हम स्नान करबाक लेल जाइत छी। हमरा क्षमा करू। अहाँसभ तमाशा देखि लेलहुँ, आब जे उचित बुझाय से करू। (भिक्षुसँ) हे भिक्षुसभ, जँ अहाँक ई प्रयत्न उत्तम परलोकक लेल अछि तँ बस करू, छोड़ि दिअ—कारण एकर फल उलट होइत अछि। आ जँ पाखण्ड आ ढोंगक ढेरक आश्रय लऽ कएल ई परिश्रम जीविका चलयबाक लेल अछि, तँ अपन इच्छानुसार जारी राखू।

सभ गोटे प्रस्थान करैत छथि।

प्रथम अङ्क समाप्त।

द्वितीय अङ्कक प्रस्तावना:

कामासक्त तपस्वी

तखन टहलुआ प्रवेश करैत अछि।

टहलुआ:

एहि सुख-सुविधाविहीन ब्राह्मण-गृहमे ने ठंढा मदिरा पीबि सकैत छी, ने दासीसभसँ प्रेम-क्रीड़ा कऽ सकैत छी, आ ने मांसक व्यञ्जन सहज भेटैत अछि।

तँ की करी? जन्मजात दास जँ अपन स्वामीसँ मुँह मोड़य तँ ओकरा लेल कोनो बाट नहि—ई निश्चित। हमर स्वामी जे काज सोचि पठबैत छथि, से एहन होइत अछि जे दौड़ैत-दौड़ैत खाड़-पीबि तक नहि सकी। एखनहि स्वामी आज्ञा देलनि—“हे कालू, जा कऽ देख जे मुनि जिनरक्षित जैन साधुसभक उपाश्रयमे छथि कि नहि।” हमरा तँ ईहो नहि बूझल जे जैन साधुसभक उपाश्रय कतय अछि। (ओ चलैत अछि, बाट दिस देखि सोचैत अछि:) एतय धूराक कण उखाड़ल, अन्नक शूक जेकाँ केशक छितरायल गुच्छासँ चितकबर बुझाइत अछि। तँ एहि वनमे जैन साधुसभक उपाश्रय एतहि होयत। (किछु डेग चलि आगाँ देखि प्रसन्नतासँ:) ई निश्चय जैन साधुसभक उपाश्रय थिक; कारण एतय गाछक नीचाँ सघन लताजालक अन्हारमे एक साधु क्रुद्ध साध्वीकँ मनबैत बुझाइत अछि। (किछु काल देखैत अछि।) ई राक्षसी साध्वी निश्चय बहुत क्रुद्ध अछि—युवा साधु ओकर पएरपर खसि पड़ल, तैयो ओ ओकरा झटकि कऽ चलि गेली। बेचारा साधुक मुख सेहो उदास बुझाइत अछि।

तखन मयूर-पुच्छक पिच्छी हाथमे लेने एक जैन साधु प्रवेश करैत अछि।

साधु: (कानैत) हाय अभागल हम! उत्तम परलोकक व्यर्थ आशामे पहिने जैन साधु बनलहुँ। फेर ओहि मार्गसँ भ्रष्ट भऽ गेलहुँ; आब हमर वर्तमान आ भविष्य दुनू नष्ट भऽ गेल। कारण पएरपर खसि पड़लहुँ, तैयो ई राक्षसी साध्वी नहि मानलि। (आँखि पोछैत) हे राक्षसी कुकुरनी, दूर जा! की तोहरासँ भिन्न कोनो आन साध्वी हमरा नहि भेटत?

टहलुआ: (विचार करैत) ई साधु हमरा देखयसँ पहिने जैन साध्वीक वेश धऽ एकर उपहास करब। (अपन देह दिस देखैत) निश्चय हमर कान नमहर अछि, मुखपर दाढ़ीक आरम्भो नहि, आ जैन साध्वीक माथपर चोटी रहत—एहन आशा के करत? तँ सहजहि जैन साध्वीक रूप धऽ सकैत छी। (ओ वेश बदलि चारूकात देखैत अछि।) आब जैन साध्वी बुझायबाक लेल केवल मयूर-पुच्छक पिच्छी चाही। (आगाँ देखि प्रसन्नतासँ) खूब! साध्वी जे पिच्छी हाथमे लेने छलि आ एतय छोड़ि गेलि, से लऽ कऽ समीप जाइत छी। (ओ सेहिए करैत अछि।) आर्य, प्रणाम। बहुत थाकल छी; कृपा कऽ कहू, पूज्य मुनि जिनरक्षित एखन कतय छथि?

साधु: (प्रसन्न भऽ मनमे) आब बुझाइत अछि भाग्य हमरा पीठ नहि देखाओत। एकटा आन युवा साध्वी आबि गेली। (प्रकट रूपसँ) हे साध्वी-कन्या, मुनि जिनरक्षितसँ तोहर की काज? तू बहुत थाकल बुझाइत छह। एहि एकान्त, शीतल लताकुञ्जमे बैसि किछु काल विश्राम कर।

टहलुआ: हम सदियन दुःखी आ अभागल रहलहुँ। हमरा विश्राम कोना भेटत?

साधु: (स्नेहसँ) तू एखनो नेनी छह, तैयो दुःखी होयबाक कारण भऽ गेल?

टहलुआ: (निःश्वास छोड़ैत) आर्य, हमर घृणित कथापर वाणी व्यर्थ नहि करी। कृपा कऽ मुनि जिनरक्षित कतय छथि, से कहू।

साधु: हे कन्या, मुनि जिनरक्षित भीतर न्यग्रोध-वृक्षक नीचाँ अपन शिष्यसभकँ प्रवचन दऽ रहल छथि। मुदा एक क्षण बैस, आ अपन वैराग्यक कारण कह।

टहलुआ: (बैसि निःश्वास छोड़ैत) आर्य, जीवनसँ कुचलल कन्याक एकत्रित लज्जाक कथा आब कहबासँ की लाभ? (ओ कानैत अछि।)

साधु: (टहलुआक आँखि पोछैत) कह ने, हमर नेनी। प्रिय, हम तोहर हृदयसँ अलग नहि छी।

टहलुआ: अभागल हम, बहुत छोट कन्या रहितहि संन्यासिनी बनि गेलहुँ।

साधु: तकर बाद?

टहलुआ: तकर बाद, जखन यौवनक कोमल चिह्न अल्प-अल्प प्रकट होमय लागल छल मुदा प्रेम-रससँ एखनो परिचित नहि छलहुँ, तखन एक युवा साधु हमर इच्छाक विरुद्ध हमर शील भङ्ग कऽ देलक।

साधु: (मनमे आनन्दसँ) अमृतक नदी भेटि गेल! (प्रकट रूपसँ) प्रिय, जीवनक रीति एहने अछि। तकर बाद?

टहलुआ: आर्य, तकर बाद जखन धीरे-धीरे प्रेम-रससँ परिचित भऽ गेलहुँ, ओ साधु हमरा छोड़ि एक दोसर कंजूस बूढ़ि साध्वीमे आसक्त भऽ गेल।

साधु: †... † चल, कहबीक लङ्गड़ा आ आन्हर जेकाँ परस्पर सहारा ली।

ओ टहलुआक गरदनमे बाँहि दऽ बलपूर्वक चुम्मा लैत अछि। टहलुआ लज्जाक अभिनय कऽ आँखि नीचाँ कऽ बैसैत अछि।

साधु: प्रिय, हमरादिस किएक नहि देखैत छह?

टहलुआ: कोना देखी? अहूँ हमरा छोड़ि आनक लग चलि जायब।

साधु: प्रिय, एना नहि कह। हम तोहर दास बनि रहब! (ओ टहलुआक छातीपर हाथ रखैत अछि।) तोहर स्तन एखनो निकलले नहि?

टहलुआ: (लजाइत) हाय अभागल हम, की करी?

साधु अपन हाथ टहलुआक नाभिक नीचाँ सरकबैत अछि, ओकर पुरुषाङ्ग पाबि लज्जा आ क्रोधसँ कहैत अछि—धिक् दुष्ट! तूँ हमरा बड़का धोखा देलह! (ओ टहलुआकेँ थप्पड़ मारबाक लेल उद्यत होइत अछि।)

टहलुआ: हे कामी तपस्वी, किछु कहब तँ मुनि जिनरक्षित लग तोहर सभ पोल खोलि देब!

साधु: (क्षणभरि विचार कऽ टहलुआक पएरपर खसि पड़ैत) हमर सभक एहि ठट्टाक बात किनको नहि कहिह!

टहलुआ: मुँह बन्द रखबाक मूल्य की भेटत?

साधु अपन मयूर-पुच्छक पिच्छीक मूठिसँ किछु निकालि टहलुआकेँ दैत अछि।

टहलुआ: ठट्टा कऽ लेलहुँ, सिक्का भेटि गेल, आ मुनिक ठिकाना सेहो बुझि लेलहुँ। आब स्वामीकेँ समाचार देबाक लेल जाइत छी। (चलैत-चलैत आगाँ देखैत) आइ तँ तोहर भाग्य खुलि गेल! तोहर प्रिया आबि गेली।

तखन असली साध्वी प्रवेश करैत छथि। जैन साध्वीक वेशमे टहलुआकेँ देखि ईर्ष्या आ क्रोधसँ कहैत छथि:

साध्वी: हे तपस्विनी दुष्टा, दोसरक पिच्छी हाथमे लऽ कतय जा रहल छह?

टहलुआ: लिअ, आर्या। हमरा तँ एहि लताकुञ्जमे ई साधु हमर इच्छाक विरुद्ध ठकि लेलक। हमर कोनो दोष नहि। (ओ निकलि जाइत अछि।)

साध्वी: (साधुक निकट जा कऽ) हे दुष्ट कामी, तपस्विनीसभपर कुदृष्टि रखनिहार! पिच्छी छुटि गेल छल, तँ हम फेर आबि रहल छलहुँ, एतबामे, किछुए क्षणमे, तूँ <आन साध्वीकेँ> आलिङ्गन करय लगलह। आब अपन साधनाक फल भोग! (ओ पिच्छीक डण्ठासँ ओकरा मारैत छथि।)

साधु: आर्या, एना नहि बुझू। की नहि देखैत छी—ई एकटा सेवक छल, जे स्त्री-वेश धऽ हमर उपहास करबाक लेल आयल छल? ओ दुष्ट अहाँकेँ क्रुद्ध कऽ देलक। शपथपूर्वक कहैत छी, ई पूर्ण सत्य अछि। (ओ साध्वीक पएरपर खसि पड़ैत अछि।)

साध्वी: जकर आत्मसंयम एहन हो, ओकर मुँहसँ सत्य कोना निकलत?

साधु: ई दुष्ट सेवक फेर कोनो ठट्टा करत। तँ आर्या, चलू, कतहु आन ठाम चली। (घबराइत) एक ब्राह्मण एही दिस आबि रहल अछि; जल्दी चलू, आर्या।

दुनू प्रस्थान करैत छथि।

द्वितीय अङ्कः

वैराग्यक भोज

तखन स्नातक आ बालक प्रवेश करैत अछि।

स्नातकः

पहिने, अपनेकेँ बुद्धिमान माननिहार ओहि रक्तचीवरधारीसभक अहङ्कारपूर्ण उत्साह शान्त करबाक लेल शीघ्र शास्त्रार्थ कएलहुँ। एहि बेर दयाक पात्र, दुर्बुद्धि गन साधुसभसँ सेहो किछु क्रीड़ा करबाक इच्छा अछि।

बालकः आर्यक लेल तँ ई मनोरञ्जन अछि, मुदा ओहि बेचारा सभक लेल ओकर सभ किछुक विनाश।

स्नातकः (मुस्कराइत) ठीक कहैत छह। गोरू, परिवार, घर, सम्पत्ति, खेती आ व्यापार—ई सभ लोक सभ किछु गमबैत अछि। मुदा भिक्षा खा कऽ गाछक जरिमे रहनिहार दिगम्बर जैन मुनिक ‘सभ किछु’ की अछि?

बालकः सुनू, कहैत छी। उत्तम परलोकक लेल बेचारा सभ बहुत कठोर तपस्या करैत अछि। तकर बाद आर्यक वाक्प्रवाहमे पड़ि जाइत अछि। तँ एहि धर्म-मर्दनसँ हुनक समस्त साधना निष्फल भऽ जाएत।

स्नातकः वाह, वाह! तोहर करुणा तँ देखू! ठीक अछि, तोहर प्रसन्नताक लेल हुनकापर अपन शक्ति हल्के आजमायब। चल। हुनक आश्रम आबि गेल। आब भीतर चली।

दुनू चलैत अछि।

स्नातकः (आगाँ देखैत) जैन मुनि जिनरक्षित एतय न्यग्रोध-वृक्षक छाहामे बैसल छथि। सम्भवतः कोनो विषयपर प्रवचन दऽ रहल छथि, आ अनेक शिष्य हुनक चरण लग बैसल अछि।

तखन पूर्वोक्त रूपमे जैन मुनि प्रवेश करैत छथि।

मुनिः (मनमे) हाय! संसार-चक्रक घुमावसँ निकलनाइ अत्यन्त कठिन अछि।

बलपूर्वक रोकलहुँ तैयो ई कर्मफलमे होयबला अनेक दोषक विचार नहि कऽ ओही इन्द्रिय-विषयक अभिलाषा करैत अछि। की करी, बुझि नहि पबैत छी—मन शुभ मार्गपर नहि जाइत। ई अनन्त अविद्या-देवी छोड़यबे नहि करैत छथि।

(विचार करैत) जे हो, सामर्थ्य भरि एहि अभागल मुनिसभकेँ दिन-रात अनुशासित करैत रहबहि पड़त। (प्रकट रूपसँ) हे मुनिसभ! भाग्यरूपी व्याध निरन्तर बाण चला रहल अछि; संसाररूपी फन्दाक पाश भयङ्कर अछि। आत्मारूपी हरिण एहि प्रज्वलित दुःख-वनसँ कोना पार होयत?

अथवा:

जिनकामे भगवान् जिनक उपदेशक ध्यानसँ स्वभावतः शुद्ध ‘सिद्ध’ आत्माक शक्ति जागि गेल अछि, हुनक क्रुद्धो भेल अभागल भाग्य की बिगाड़ि सकैत अछि? ओ केवल निरुपाय लोककेँ सतबैत अछि।

तँ आब:

जिनक वचनक चिन्तन आ तप-व्रतसँ शरीरकेँ कृश करब—उपदेशक समस्त रहस्य एतबे अछि; एकरा अपन मनमे गहिर रोपि लिअ।

शिष्यसभः जेना पूज्यवरक आज्ञा।

स्नातकः (निकट आबि विनयपूर्वक) पूज्यवर आ अहाँक शिष्य-मण्डली कुशल अछि?

मुनिः (मनमे विचार करैत) बौद्धसभकेँ पराजित कऽ आब ई स्नातक सङ्कर्षण हमरा सभकेँ अपमानित करबाक उत्कण्ठासँ आयल अछि। एहि अवसरपर पाछाँ हटब नीक। एकर पराक्रम दुर्निवार, वक्तृत्व-शक्ति आ बुद्धि अद्वितीय अछि। (प्रकट रूपसँ) स्वागत, आर्य। कृपा कऽ एतय बैसू। कुशल छी?

स्नातकः आइ कोन विषय चुनल गेल अछि?

मुनिः एहि संसाररूपी वनमे चुनबाक योग्य की अछि? केवल एकरासँ निकलबाक कोनो उपाय भेटि जाय।

स्नातकः उपाय तँ निश्चय भेटि गेल अछि। बुझू:

न हिंसा, न असत्य, न घर-सम्पत्ति वा वस्त्रमे आसक्ति, न संसारमे तत्काल फल देनिहार कोनो कर्ममे प्रवृत्ति; आ व्रत-नियमसँ भरल, निर्दोष ई कठोर तपस्या—संसारसँ मुक्त होयबाक दोसर कोन मार्ग भेटत?

मुनिः प्रजापति अहाँ सन लोककेँ एहन जीह गढ़ि देने छथि, आर्य, जे मधुर वचन बोलबामे अत्यन्त कुशल अछि।

स्नातकः तथापि कहू, मुनि, कोन विषयपर प्रवचन आरम्भ कएलहुँ?

मुनिः जिज्ञासासँ प्राण निकलि रहल अछि की? अनेकान्तवाद हमर जैन परम्पराक विशिष्ट सिद्धान्त अछि, आ एखन ठीक ओहीपर चर्चा भऽ रहल अछि।

स्नातकः मुनि, एक प्रसिद्ध उक्ति अछि—

“एक वस्तुक स्वभाव सभ वस्तुक स्वभाव अछि। सभ वस्तुक स्वभाव एक वस्तुक स्वभाव अछि। जे व्यक्ति एक वस्तुकेँ यथार्थ रूपमे देखैत अछि, ओ सभ वस्तुकेँ यथार्थ रूपमे देखि लेलक।”

तँ हमरा ई कहू:

जँ एक वस्तुक स्वभाव सभ वस्तुक स्वभाव अछि, तँ प्रयोजनबला लोक की साधनक उपयोग करत, आ कोन वस्तुक प्रति? जँ वस्तुसभ अपन-अपन कार्यक अनुसार व्यवस्थित अछि, तँ एक वस्तु सभ वस्तुक स्वभावबाली नहि भऽ सकैत अछि।

वस्तुसभमे किछु समान रूप साझा देखाइतो, प्रत्येक वस्तुक अपन विशिष्ट स्वरूप रहितहि अछि।

मुदा वस्तु-व्यवस्था जँ अहाँक कथनानुसार होइत—जकरा हम स्वीकार नहि करैत छी—तँ परलोक वा एहि लोकक फल लेल लोक कहियो कोनो काज आरम्भ नहि करैत।

मुनि एक शिष्यकेँ सङ्केत करैत छथि।

शिष्यः (जानि-बुझि) पूज्यवर, मुनिसभ निवेदन करैत छथि—“पूज्यवरकेँ अबेर भऽ रहल अछि, तँ हमर सभक वर्तमान कर्तव्यक समय आब बीति रहल अछि।”

मुनिः (स्नातकसँ) आर्य, मुनिसभक कर्तव्यमे बाधा पड़ि रहल अछि। तँ जे उचित बुझू, निर्णय करू।

स्नातकः मुनि, अपन इच्छानुसार करू।

मुनिः (शिष्यसँ) हे, दौड़ि जा आ मुनिसभकेँ कह जे एक क्षण अपन-अपन स्थानपर सावधान रहथि; हम आबि रहल छी!

मुनि शिष्यसभक संग प्रस्थान करैत छथि।

स्नातकः बालक, दिगम्बर जैन मुनिक चतुराई देखलह?

बालकः आर्य, शास्त्रार्थक युद्धमे अहाँक सोझाँ के टिकि सकैत अछि? तँ एहि बहानासँ भागि ओ अपन प्राण बचा लेलक।

स्नातकः की ओकरा दण्ड देबाक चाही छल? तथ्य जानब आवश्यक छल, आ हम जानि लेलहुँ। मुदा केवल तोहर मान रखबाक लेल एहि विषयमे कठोर रुख नहि अपनएलहुँ।

बालकः

आर्य, अहाँक वचन कोमल होइतो वादिसभक हृदय विदीर्ण करैत अछि; तटपर फैंकल माछसभ †... †

स्नातकः तखन आब कतय चली, बालक?

बालकः स्नान करबाक लेल किएक नहि चली?

स्नातकः (मुस्कुराइत) किएक, भूख लागल छह? (ऊपर देखैत) एखन स्नानक समय कोना भऽ सकैत अछि? जैन मुनिसभक एहि उपाश्रयक झाड़ीमे किछु काल एतहि रहब नीक।

बालकः ठीक अछि।

दुनू उठि कऽ चलैत अछि।

स्नातक: (आगाँ देखि आश्चर्यसँ) अहा, ई स्थान कतेक रमणीय आ विश्रामक योग्य अछि! कारण—

ई वन घन, शीतल छाहाँ दैत अछि; एतय घासबला स्थल आ जल सेहो अछि; पुष्पगुच्छक गन्धसँ पवन सुगन्धित अछि; हरिण सभ दिशामे खेलैत उछलि रहल अछि; आ चिड़ैसभक कलरव अनेक रागक लहरिसँ मिलि गेल अछि।

(विचार करैत)

जँ कोनो वेदान्तनिष्ठ व्यक्ति एहि पवित्र वनमे निवास करय, आत्माक समस्त कामना शान्त कऽ आ मानसिक वृत्तिक समूह रोकि लय, तँ किछुए दिनमे निश्चय एक अद्भुत, परम, उज्ज्वल अवस्थाकें प्राप्त करत—जे नित्य आनन्दमय अछि आ सांसारिक मार्गक हड़बड़ी तथा परिश्रमसँ रहित।

नेपथ्यसँ:

वेदान्तक उपदेशक मर्म पाबि लेब कठिन अछि। तीनू वेदमे कहल कथा नमहर विस्तारक कारण भ्रम उत्पन्न करैत अछि। उच्चकुलीन लोक एहि गम्भीर प्रश्नपर विचार करैत अछि—“आत्मा अछि कि नहि?” हुनका सभकें हमरा सँ दूर राखू! संसारक असह्य पीड़ा छोड़बाक लेल महर्षि जिन द्वारा उपदिष्ट सङ्क्षिप्त, स्पष्ट शास्त्रकें अपनाबी।

बालक: आर्य, लाल वस्त्र पहिरने एक तपस्वी हड़बड़ीमे एही दिस आबि रहल अछि आ एहने किछु बड़बड़ा रहल अछि... तखन एक तपस्वी प्रवेश करैत अछि।

तपस्वी “वेदान्तक उपदेशक मर्म...” पढ़ैत चलैत अछि।

बालक: आश्चर्य, ई लोक एखनो जिनक उपदेशे मानैत अछि?

स्नातक: छोड़, बालक। ताहिसँ की? हम एकरासँ आन बात पूछब। (तपस्वीसँ) तपस्वी, कुशल? एतेक हड़बड़ीमे कतय जा रहल छी?

तपस्वी: अहाँ स्पष्टतः ब्राह्मण छी; तखन भूखक अनुभव कोना नहि बुझैत छी?

स्नातक: आर्य, भोजन करबाक लेल निकलल छी।

तपस्वी: आ नहि तँ की?

स्नातक: कतय जायब?

तपस्वी: एतहि, मुनि जिनरक्षितक तपोवनमे आइ महाभोज अछि।

स्नातक: महाभोजक कारण की अछि?

तपस्वी: जिन-गुरुक उपदेश ग्रहण कएने कोनो कुलीन पुरुष आइ एतय भोजन करा रहल छथि। हजारो तपस्वी एकत्र भेल छथि। हुनका सभकें दलियाक ढेर, तिलतेलक घैल, खट्टा माँड़क पात्र, गुड़क छोट-छोट घैल आ तिलतेलमे पाकल खाद्य-पदार्थक पहाड़ परसल जा रहल अछि।

स्नातक: तपस्वी, कहू—एतेक व्यञ्जनमे दही, दूध, घी आदि किछुओ नहि भेटत?

तपस्वी: अहा, नहि! ई आचार अहाँ ब्राह्मणसभक योग्य अछि। हम तपस्वीसभ पशुसँ प्राप्त कोनो वस्तुक उपयोग ने भोजनमे, ने पेयमे, ने वस्त्रमे, ने ओछाओन-बैसबाक आसनमे, आ ने शरीरक आन कोनो सज्जामे करैत छी। गाछक छालसँ बनल हमर ई पादुका नहि देखैत छी? आब एहि गप्पकें छोड़ू! भोजमे हमरा अबेर भऽ रहल अछि।

स्नातक: बाट हमरा सेहो देखाउ। हम तपस्वीसभक ऐश्वर्य सेहो देखि लेब।

तपस्वी: चलू, चलू। कृपा कऽ संग आउ।

सभ गोटे चलैत अछि।

स्नातक: तपस्वी, अहाँ जिनक उपदेश मानैत छी, तखन लाल वस्त्र किएक पहिरैत छी? की अहाँक जिन ‘सुगत’ छथि?

तपस्वी: (मुस्कुराइट) हमर सभक लेल सेहो भगवान् जिन सुगत छथि। आ सुगतकेँ सेहो जिन-गुरु कहल जाइत अछि। हम अर्हतसभ कतेक भाग्यवान छी—किछु केवल आकाशकेँ वस्त्र बनौने, किछु केवल छालक वस्त्र पहिरने, किछु लाल कपड़ा, आ किछु श्वेत वस्त्र पहिरने। देखू! दिगम्बर सभ आबि रहल छथि—निर्दयतासँ केश लोच करबाक निष्ठाक कारण हुनक केश-मूल देखाइत अछि आ

ओतयसँ अल्प-अल्प रक्त-बिन्दु टपकि रहल अछि। ई छालक चिथड़ा पहिरनिहार आबि रहल छथि, जिनक कोमल छाल-वस्त्रक किनारी †... † सँ लिपटल अछि। ई ब्रह्मचारी तपस्वी आबि रहल छथि, जिनक वस्त्र एखनहि भट्ठासँ निकलल पाकल माटिक बरतनक रङ्ग जेकाँ अछि। ई श्वेताम्बर आबि रहल छथि, जिनक वस्त्रक छोर हंसक पाँखि जेकाँ उज्जर आ मन्द पवनमे फरफरा रहल अछि। आइ जिनका ओ सभ अनुगृहीत करत, ओ कुलीन पुरुष कतेक पुण्यवान छथि!

स्नातक: (मुस्कुरा कऽ मनमे) एकरा ‘पुण्यवान’ कहल जाइत अछि, ‘अनर्थकारी’ नहि।

ओ हाथी, घोड़ा, तलवार, बाट, कर-वसूली, सेना-विभाजन वा ऊँट आदिक कोनो चिन्ता नहि करैत अछि। एहन काजमे धनक सार भाग उड़ा दैत अछि आ राज-सेवासँ बचैत अछि; तँ निश्चय राजा ओकर सम्पत्ति जब्त कऽ लेताह।

(प्रकट रूपसँ) ई तपोवन कतेक शान्त आ मनोहर अछि! जगत् शान्तिसँ भरल बुझाइत अछि, पृथ्वी स्वयं व्रत करैत देखाइत अछि। एतय सचमुच एना लगैत अछि जे देहधारी आत्माकेँ बाँधनिहार संसारक फन्दासभक शृङ्खला टुकड़ा-टुकड़ा भऽ गेल।

बालक: हवा, छाल, लाल वस्त्र आ श्वेत वस्त्र पहिरने तपस्वीसभ देखि लेलहुँ। आब एही दिस अबैत ई कारी-कम्बलबला सभकेँ देखू।

स्नातक: (आगाँ देखि आश्चर्यसँ) हे भगवान्, ई तपस्याक नव रूप अछि! एक स्त्री आ एक पुरुष एक्के कारी वस्त्रमे लपेटल असाधारण मधुर गीत गाबि मनोरञ्जन कऽ रहल अछि। (ध्यानसँ देखैत) की? एहन तँ दलक दल देखाइत अछि! निश्चय पृथ्वी डूबि गेल, तीनू वेद उखड़ि गेल। (तपस्वीसँ) तपस्वी, तपस्याक एहि नवीन, अद्भुत विधिसँ परिचित छी?

तपस्वी: ई मनोहर धार्मिक आचार कोन अछि, हम नहि जनैत छी। हमर अनुमान अछि—किछु लोक भोजक चर्चा सुनि केवल भोजनक लोभमे एतय मँडरा रहल अछि। बस, हुनक कथा एतहि छोड़ू। हम अपन सहधर्मीसभसँ जा मिलैत छी। (ओ प्रस्थान करैत अछि।)

तखन एक स्त्री आ पुरुष एक्के कारी वस्त्रमे लपेटल, गीत गबैत प्रवेश करैत अछि; वा सामर्थ्य हो तँ एहन अनेक जोड़ा निम्न गीत गबैत प्रवेश करैत अछि:

सीमाबद्ध जीवनक मोह दूर करनिहार कारी-कम्बलधारी मुनि-प्रभुक जय हो।

हे भगवान्, जे अहाँक नवीन उपदेश मानैत अछि, ओ अमृतक अनुपम आनन्द पीबैत अछि।

एहि लोकमे स्त्रीसभसँ प्रेम-क्रीडामे रमैत अछि, आ परलोकमे मुक्ति प्राप्त करैत अछि।

शरीर सफल होइत अछि, संसारसँ छुटकारा भेटैत अछि।

आन सम्प्रदायपर विश्वास नहि करू, जतय शरीर पूर्णतः सुखा देल जाइत अछि आ मुक्ति एखनो अनिश्चित रहैत अछि।

अनुशासनक साधनामे की भेटैत अछि? मनुष्य अन्ततः दास भऽ जाइत अछि!

बहुत पुण्य जमा भेलो, ओ मनुष्यकेँ सुखसँ वञ्चिते करत।

जे एहि मिलनकेँ लपेटैत अछि †... †...

जँ प्रत्येक जोड़ा एहि प्रकार बुझय <... >

... फेर सुख (?)

अपन जन्म सफल नहि कऽ मनुष्य शरीरमे कतय भटकिक सकैत अछि, आ कतय पहुँचत?

जँ ई जगत् परमात्माक विकार अछि, वा शब्द-ब्रह्मक विकार,

तैयो अविद्याक निवृत्ति बिना ई सभ कोना...?

†... † एहि प्रकार आन सभ धर्म निष्फल अछि, ई बुझि।

कारी-कम्बलधारी मुनिक अनुसरण कऽ एहि लोक आ परलोक दुनूमे सुख पाउ...

स्नातक: (किछु काल गीत सुनि) बालक, ई निम्न कोटिक वाद-विवाद अछि, जे केओ गीतक बहानामे सभ दर्शनक निन्दा करबाक लेल रचल अछि। मुदा एहि दुष्टसभसँ गप्प आरम्भ करबाक साहस सेहो नहि करैत छी; कारण तकर बाद जे प्रायश्चित्त-शुद्धि करय पड़त, से हम नहि चाहैत छी।

स्त्री आ पुरुष ओही गीत फेर गबैत अछि।

स्नातक: बालक, देख—

हुनक वचनमे शुद्धता नहि, घृणित शरीर सेहो अशुचि; मन सदिखन अविवेकी, अत्यन्त निन्दनीय आचरणमे आनन्द लैत अछि। परलोकसँ एतेक निर्भय हृदय केकर अछि, जे एहि पुण्यकारी, अद्भुत तपस्यामे प्रवृत्त हो? अथवा मनुष्यक कोनो आचरण <अपयशकारी नहि> अछि?

आरो देखू:

इच्छानुसार बारम्बार गाओल लयबद्ध गीत दिनभरि गूँजैत रहैत अछि। सभ सङ्कोच छोड़ि ओ सभ मधुर मदिरा पीबैत अछि, जकर रस प्रेमीक लारिसँ मिसल अछि। शरीर उच्छृङ्खल गति करैत अछि, निरन्तर परस्पर उद्दीपन करधाक वस्त्रसँ नुकायल अछि। एहन अत्यन्त कामुक व्रत के नहि मानत?

बालक: आर्य, ठीक एहेन अछि।

स्नातक: हमरा लगैत अछि ई नूतन, आधुनिक महाव्रत थिक। जँ हुनक गीतक बात बहुत पसरि गेल तँ वर्णाश्रमक स्थापित आचार असीम रूपसँ नष्ट भऽ जाएत। निश्चय तीनू वेदक मार्ग टुकड़ा-टुकड़ा भेल बुझाईत अछि। कारण जखन नवसिखुआसभ द्वारा प्रशंसित, सभ संयम समाप्त करयबला एहि ‘तपस्या’कें देखत, तखन पतिव्रता गृहिणीसभ सेहो पतिक घरमे बहुत दिन नहि टिकती।

बालक: (मुस्कराइत) आर्य, अहाँकें किएक चिन्ता? अहाँक विवाह एखनो नहि भेल। हमर बात तँ एखन बहुत दूर अछि।

स्नातक: मुदा तोहर पूजनीय माता एखनो जीवित छथि ने?

बालक: ओ बेचारा बूढ़ि स्त्री लगभग मरले जेकाँ छथि; तँ एखन एहि विपत्तिसँ निश्चय सुरक्षित छथि।

स्नातक: ठट्टा बन्द कर। एतय बड़का अनर्थ उठि ठाढ़ भेल अछि। बालक, विचार कर—एकर उपाय की?

बालक: आर्य, हमरा नहि बूझल। अहाँ अवश्य जनैत होयब। मुदा आइ-कालि कलियुगक प्रभाव बढ़ि रहल अछि; एहन विपत्तिक प्रतिकार कोना हो?

स्नातक: तैयो बिना प्रयत्न कएने जड़ भऽ बैसल रहब उचित नहि। (विचार करैत) हँ, उपाय अछि।

बालक: से की?

स्नातक: स्वयं महाराज शङ्करवर्मा। ओ वर्णाश्रमक विधिसम्मत मर्यादाक उपदेशक, तीनू लोकक रक्षाक लेल अभिषिक्त सम्राट छथि; तँ एहि समस्याक उपाय अवश्य जनताह। विशेषतः हुनक संग माननीय भट्ट जयन्त छथि, जे शिवक समस्त शास्त्रमे पारङ्गत छथि। हँ, हुनकें सूचना देब। विपत्तिमे विलम्बक स्थान नहि। बालक, तूँ एहि गबैत स्त्री-पुरुषकें भोज-स्थल दिस बढ़ा दे।

बालक: हे तपस्वीसभ, सुनू! एहि तपोवनमे अहाँक भोजक समय भऽ गेल; तखन अबेर किएक?

सभ गोटे प्रस्थान करैत छथि।

द्वितीय अङ्क समाप्त।

तृतीय अङ्कक प्रस्तावना:

निर्भयसभमे भय

तखन एक सिद्ध प्रवेश करैत अछि।

सिद्ध: (भयभीत भऽ चारूकात देखैत) सींगबला चन्द्रमा—महादेवक चिह्न—एखन अस्त भऽ चुकल अछि। आकाश हमर हृदय जेकाँ खाली आ अन्हार अछि। चुपचाप भागि निकलबाक एहीसँ नीक समय नहि भेटत। हमर परम मित्र श्मशानभस्म कतय अछि, जकरा संग भागब? (ओ चलैत आ आगाँ देखैत अछि।) ई रहल श्मशानभस्म; एही दिस आबि रहल बुझाइत अछि।

तखन दोसर सिद्ध प्रवेश करैत अछि।

दोसर सिद्ध: ई मित्र कङ्कालध्वजक आश्रय अछि। एहि अन्हारोमे धुँधला देखाइत अछि। पएर सम्हारि आगाँ बढ़ैत छी। (ओ चलैत आ सुनैत अछि।) पएरक आवाज सुनलहुँ जेकाँ लगल। हे भगवान्, नगर-रक्षक एही दिस आबि रहल छथि बुझाइत अछि! जँ हमरा पकड़ि लेत तँ चोर बुझि कारागारमे फेकि देत, शूलपर चढ़ा देत वा गाछपर लटका देत। चिन्ता नहि! भगवान् भैरव हमर शरण छथि। (ध्यानसँ देखैत) मित्र कङ्कालध्वजक आवाज छल जेकाँ लगल। (साहस कऽ निकट जाइत) मित्र कङ्कालध्वज, अहाँ भेटि गेलहुँ! हमरा नगर-रक्षक बुझि भय लागि रहल छल।

पहिल सिद्ध: हे श्मशानभस्म, तूँ छह? नीक भेल जे एतय आबि गेलह। चल, जल्दी आगाँ बढ़ी। अन्हार रहितहि दुनू चुपचाप भागि चली।

दोसर सिद्ध: नगर-रक्षक तोरा चोर बुझि मारि देत—एहि भयमे छह?

पहिल सिद्ध: एहन भय नहि। होइतो आब दूर भऽ गेल। मुदा दोसर अनर्थ उठि ठाढ़ भेल अछि।

दोसर सिद्ध: (व्याकुलतासँ) से कोना?

पहिल सिद्ध: ई चर्चा चारूकात अछि—की तूँ नहि सुनलह? आइ-काल्हि ई अभागल राज्य पूर्णतः बदलि गेल अछि।

दोसर सिद्ध: हमर हृदय धक्-धक् कऽ रहल अछि! मित्र, जल्दी सभ बात कह!

पहिल सिद्ध: राजा शङ्करवर्माक कठोरता सर्वविदित अछि। हुनक ब्राह्मण मन्त्री, दुष्ट जयन्त, हुनकासँ सेहो कठोर। वैदिक धर्मसँ बाहर रहबाक आरोपमे ओ सभ कारी-कम्बलधारी तपस्वीकेँ पकड़ि, अधमरा धरि पीटि, राज्यसँ बाहर निकालि देलक। आब वैदिक धर्मसँ बाहरक कोनो आन तपस्वी पकड़ायल तँ ओकरा पीटल, मारल, कारागारमे फँकल वा वध कएल जाएत। की हम सभ ओही वर्गक नहि छी? मदिरा पीबैत छी, मांस खाइत छी, स्त्री राखैत छी। कारी-कम्बलधारीसभ जेकाँ एक्के धार्मिक आचार नहि करैत छी? तँ आब सिद्ध-वेश नुका ली, आ एहि अन्हारमे केकरो दृष्टिमे नहि पड़ि तेजी सँ चलि चली।

दोसर सिद्ध: (भयभीत) सेहिए करी!

दुनू चलैत अछि।

दोसर सिद्ध: मित्र कङ्कालध्वज, ई विपत्ति कोना उठल?

पहिल सिद्ध: सुन। पहिने सङ्कर्षण नामक ओ स्नातक ब्राह्मण जिनरक्षित मुनिक वनमे असंख्य कारी-कम्बलधारी जोड़ाकेँ गीत गबैत, आनन्द करैत देखलक।

दोसर सिद्ध: तकर बाद?

पहिल सिद्ध: ओ जयन्तकेँ सूचना देलक। जयन्त राजाकेँ सभ बात कहलक।

दोसर सिद्ध: तकर बाद?

पहिल सिद्ध: तखन राजा ओहि स्नातक ब्राह्मण सङ्कर्षणकेँ बजौलनि, विवाह करा देलनि, विशेषाधिकार, पाग पहिरबाक अधिकार आ 'महामान्य' उपाधि देलनि; फेर सम्पूर्ण राज्यक धार्मिक विषयक अधीक्षक बना देलनि। आगि ओही लगौलक।

दोसर सिद्ध: कह जे आगि दुष्ट जयन्त लगौलक।

पहिल सिद्ध: जे हो, दशा एहेन अछि। आब कतय चली?

दोसर सिद्ध: मन्त्रसाधिका प्रलयान्निशिखाक समक्ष उपस्थित होयब आवश्यक अछि। आशा अछि, एहि खराब समयमे ओतय हमरा सभपर विपत्ति नहि आएत।

पहिल सिद्ध: आइ-काल्हि हुनका संरक्षण भेटल अछि?

दोसर सिद्ध: सम्भवतः राजाक मुख्य रानी, समस्त अन्तःपुरक स्वामिनी सुगन्धादेवी, स्त्री होयबाक कारण हुनका अपन आश्रयमे राखती।

पहिल सिद्ध: ओ स्वयं सुरक्षित होथि, तैयो हमरा सभकेँ सुरक्षित राखि सकती? उपाय बुझलहुँ! वनसँ घेरल कोनो दूर देश चली।

दोसर सिद्ध: ठीक कहैत छह, मित्र। दिन उगयसँ पहिने जल्दी आगाँ बढी।

दुनू सेहिए करैत अछि।

पहिल सिद्ध: हे श्मशानभस्म, तूँ ठीक कहैत छह। मुदा दिन उगला बाद एहि अभागल राज्यमे एक डेग चलबो कठिन अछि।

दोसर सिद्ध: किएक?

पहिल सिद्ध: प्रत्येक प्रदेश, प्रत्येक नगर, प्रत्येक गाम—सभ ठाम वेदपाठक ध्वनि कान चीरैत अछि, घीक गन्ध नाकमे गडैत अछि, यज्ञक धुँआँ आँखिमे नोर भरि दैत अछि। तँ एहि अभागल राज्यकेँ केवल रातिमे पार करय पड़त। दिन वनक गहिराइमे काटय पड़त।

दोसर सिद्ध: बिल्कुल ठीक। सङ्कर्षणक भय सेहो अछि, तँ केवल रातिमे चलब। दिन जंगलमे केकरो नजरिमे नहि पड़ि बितायब।

दुनू चलैत अछि।

पहिल सिद्ध: हे श्मशानभस्म, दिशासभ स्पष्ट होमय लागल, तारासभ धीरे-धीरे मलिन भऽ रहल अछि। प्रभात भऽ गेल। आब की करी?

नेपथ्यसँ, नगाड़ाक ध्वनिक बाद: हे नगरवासी आ ग्रामवासीसभ, सुनू! महाराज शङ्करवर्माक राजाज्ञासँ महामान्य भट्ट सङ्कर्षण अहाँसभकेँ सूचित करैत छथि—अनादि संसार-प्रवाहमे पड़ल, विभिन्न धर्म माननिहार जे सदाचारी लोक छथि, ओ अपन-अपन धार्मिक अनुशासनमे निर्धारित आचार करैत जेना छथि, तेना रहथि। मुदा स्थापित सामाजिक आ धार्मिक

व्यवस्थाकेँ नष्ट करनिहार अपराधी छद्मतपस्वी जँ तत्काल राज्य नहि छोड़त, तँ राजा हुनका चोर जेकाँ दण्ड देताह।

दुनू: (सुनि भयभीत) सङ्कर्षण नामक हमर सभक जीबैत मृत्यु सचमुच आबि गेल। चल, जल्दी कोनो आन ठाम चली।

दुनू प्रस्थान करैत अछि।

तृतीय अङ्कः

धर्मक निषेध आ समर्थन

तखन स्नातक-वस्त्र त्यागि विवाहित राजकर्मचारीक योग्य वस्त्र पहिरने महामान्य सङ्कर्षण, बालक आ सामर्थ्य-अनुसार अनेक परिचारक प्रवेश करैत छथि।

सङ्कर्षण: बालक, कारी-कम्बलधारीसभकें भगा देबाक कारण लोक हमरा सभक निन्दा करैत अछि?

बालक: एहन भय नहि करू, आर्य! भ्रष्ट छद्मतपस्वीसभसँ पराजित भऽ सचमुच नष्ट भेल त्रयी-धर्मक व्यवस्था अहाँ फेर स्थापित कऽ देलहुँ।

सङ्कर्षण: कह जे राजा शङ्करवर्मा ओकरा स्थापित करौलनि। मुदा राज्यमे कारी-कम्बलधारीक ढंगक नकल करैत आन छद्मतपस्वी खुल्लमखुल्ला नहि घूमि रहल अछि, जे भगा देबाक योग्य हो?

बालक: आर्य, शिवक अनुयायी कहबैत क्रीड़ा करनिहार किछु भ्रष्ट तपस्वी एखन धरि देखाइत छल। मुदा अहाँक उत्साहक कारण बदनाम भऽ आब बहुत कम रहि गेल अछि।

सङ्कर्षण: नीक कहलह! हमहूँ हुनका सभकें देखल अछि। ओ सभ निर्वासनक योग्य अछि। कारण—

पीबाक योग्य की नहि मानैत अछि? केवल जे द्रव नहि हो। खाइ नहि सकैत अछि केवल ओ जे कटु हो वा दाँतसँ तोड़ल नहि जा सकय। स्तनबला कोनो जीव जँ मैथुनक योग्य नहि अछि, तँ ओ या तँ अजन्मा होयत वा मृत। संसारमे तपस्याक उचित स्थान की हो? सम्भवतः मदिरालय।

बालक: आर्य, ठीक कहैत छी।

सङ्कर्षण: बालक, ई वर्णाश्रम-व्यवस्थापर सेहो गम्भीर प्रहार अछि।

बालक: शिवक नामक दुरुपयोग कऽ अपन व्यवसाय चलाबयबला हुनक तथाकथित अनुयायीसभक लेल सेहो ई लज्जाक बात अछि।

सङ्कर्षण: बालक, बिल्कुल ठीक। हुनका सभक निष्कासनपर ध्यान दऽ राजा उचिते करैत छथि। आरो—“हम शिवक उपदेश मानैत छी” कहि भगवान्क नामक उद्घोष करैत ई दुष्ट लोक हुनक शुद्ध धर्मसभकें हानि पहुँचा रहल अछि। जँ राजा उचित रीति सँ हुनका वशमे कऽ निर्मल मार्गपर स्थापित करथि, तँ पृथ्वीक प्रशंसनीय रक्षण वा हुनक यशमे कोन हानि होयत?

बालक: ठीक एहेन।

सङ्कर्षण: निश्चिन्त रह, एहि विषयमे राजाज्ञा हमरा भेटल अछि। गश्ती-दलकें हुनका सभक खोज करबाक आज्ञा दे।

बालक: जेना आर्यक आज्ञा। (ओ प्रस्थान कऽ फेर प्रवेश करैत अछि।) आर्य, ओ सभ राज्यसँ भागि गेल। मुदा एक उत्सुक दूत अहाँकें खोजैत आयल अछि। की आज्ञा?

सङ्कर्षण: ओकरा भीतर अनाउ।

बालक सङ्केतसँ ओकरा बजबैत अछि।

सेवक: (प्रवेश कऽ व्याकुलतासँ) स्वामीक जय हो! मांस-भक्षण, मदिरापान आ दासीसभसँ मैथुनमे आसक्त शिवानुयायी कारी-कम्बलधारीसभक समाचार सुनितहि एको गोटे छोड़ि बिना सभ राज्यसँ गायब भऽ गेल। मुदा आन

शुद्ध आचरणबला तपस्वीसभ सेहो भयभीत भऽ प्रस्थान करय लागल अछि। स्वामीक की आज्ञा?

सङ्कर्षण: बालक, सदाचारी लोककें रोकबाक लेल शीघ्र आ आदरपूर्वक समुदाय-प्रमुख नियुक्त करय पड़त। (सेवकसँ) तूँ हुनक संग जा आ बाट देखाबह।

सेवक: जेना स्वामीक आज्ञा। (प्रस्थान करैत अछि।)

बालक: अहा आर्य, अहाँक सङ्कल्प डगमगा गेल!

सङ्कर्षणः बालक, अनादि संसार-प्रवाहमे रहि शुद्ध धर्म माननिहार लोकक चिन्तासँ घेरल रहब उचित नहि। राजा शङ्करवर्मा परम शिवभक्त छथि आ सभ धर्म-सम्प्रदायक प्रति दयालु। चल, निरर्थक भय शान्त करबाक लेल सीधे पूज्य धर्मशिवक आश्रम चली।

बालकः जेना आर्यक आज्ञा।

दुनू चलैत अछि।

नेपथ्यसँ:

हे तपस्वीसभ, चिन्तित आ भयभीत किएक छी? सभ धर्म-सम्प्रदायक स्वामी राजा अहाँसभक शत्रु नहि छथि। कपटपूर्ण व्रतक आवरणमे अहाँसभक लगभग विनाश करनिहार लोककें परमेश्वर राज्यसँ बाहर कऽ देलनि।

बालकः आर्य, ई अहाँ द्वारा नियुक्त समुदाय-प्रमुख होयताह, जे बाटे-बाट जनताकें सूचना दऽ रहल छथि।

सङ्कर्षणः नीक चिन्हलह, बालक। जल्दी चली। (दुनू चलैत अछि।) बालक, पूज्य धर्मशिवक आश्रम आबि गेल बुझाइत अछि, कारण—

भस्म-लेपसँ धूसर वर्ण, धूपक अग्नि प्रज्वलित करबाक क्षमता, त्रिपुर-विजयी शिवक पूजामे प्रयुक्त फूलक निर्मल मकरन्द एखनहि पीने—शैव आश्रमक ई धन्य पवन केकरा मोहित नहि करैत अछि? ई तपस्वीसभक जटाक गाँठि खोलैत आ भिक्षुवस्त्रक मन्द, ललित नृत्य प्रस्तुत करबामे आनन्द लैत अछि।

बालकः आर्य, ठीक कहैत छी। ई तपोवन हमरा शान्त आ मनोहर लगैत अछि।

सङ्कर्षणः आउ, भीतर चली। (प्रवेशक अभिनय करैत अछि।) अहा! पूज्य मठाधीश धर्मशिव स्वयं प्राङ्गणमे आगाँ आबि रहल छथि! हुनक तपस्याक तेज सभकें मात दऽ रहल अछि। कारण—हुनक सुन्दर मुख भस्मसँ मुस्कुरा रहल अछि; ललाट गङ्गाजलक पवित्रतासँ स्वच्छ अछि; शिवक गण जेकाँ तपस्वीसभ दौड़ि-दौड़ि सेवा करैत हुनक पूजा करैत अछि; कपूर जेकाँ उज्ज्वल यशसँ हुनक निर्मल आत्मा निरन्तर आनन्दित अछि, जेना चन्द्रक संग सुविख्यात गौरीसँ शिव आनन्दित छथि। केवल दर्शनसँ शिव श्रीकण्ठ सदृश ओ सचमुच प्राणिसभक कल्याण करैत छथि।

आ आरो:

कलियुगक अनेक कलङ्क दूर करनिहार एहि आश्रम-परिसरमे प्रवेश कऽ, सत्य कहैत छी, हमरा एना लगैत अछि जे कामदेवक मुस्कुराइत शत्रु शिवक तीन आँखिसँ पुनर्जीवित शिवलोकमे आबि गेल छी।

बालकः हमहूँ। अपनाकें ब्रह्ममे लीन होयबाक लेल उड़ैत देखैत छी।

तखन पूर्वोक्त रूपबला पूज्य धर्मशिव चौकीपर बैसल, आ सामर्थ्य-अनुसार अनेक अनुयायीक संग प्रवेश करैत छथि।

मठाधीशः (विचारमग्न)

एहि राजाक गुणक यश समस्त जगत्मे पसरल अछि, आ हुनक ध्यान केवल सामाजिक-धार्मिक व्यवस्थामे लागल रहैत अछि। ई मन्त्री जयन्त सेहो दर्शन आ शास्त्रक विशाल वनमे विचरण करैत कहियो थाकैत नहि छथि। हमरा नहि लगैत अछि जे ओ सभ अपन यशक विपरीत कोनो उपाय करताह। तपस्वीसभ पूर्ववत् रहथि। चिन्ता किएक? अथवा, हमरा सन लोककें कोन भय भऽ सकैत अछि?

(आगाँ देखैत) ई की! स्नातक एतहि आबि गेल? आब सभ बात स्पष्ट भेल।

सङ्कर्षणः आउ बालक, मठाधीशकें प्रणाम करी। (दुनू निकट जाइत अछि।) हमर सोझाँ साक्षात् प्रकट भगवान् महेश्वरस्वरूप पूज्य मठाधीशकें प्रणाम!

मठाधीशः स्वागत, आर्य। कुशल छी? कृपा कऽ एहि आसनपर बैसू।

सङ्कर्षणः आसनक आवश्यकता नहि; हम एहि घासपर बैसैत छी। पूज्यवर, स्थापित विधिक अनुसार धार्मिक तपस्या बिना विघ्न चलि रहल अछि ने? अथवा एतय कोन विघ्न भऽ सकैत अछि? स्वयं भगवान् महेश्वर अपनहि द्वारा अपन पूजा करैत छथि। तैं कृपा कऽ तपस्वीसभकें बुझा दिअ जे जनतामे पसरल एहि चर्चाक कारण कनेको

चिन्ता नहि करथि। राजा केवल तपस्याक बाधक तत्त्व हटौलनि अछि। आ राजा स्वयं सेहो पूज्यवरक दर्शनक लेल हमर सभक पाछाँ-पाछाँ आबि रहल छथि।

मठाधीशः (मुस्कुराइत) हम वा तपस्वीसभ किएक चिन्ता करी? जखन धरि महाराज शङ्करवर्मा अपन प्राप्त राज्यपर धर्मपूर्वक शासन करैत छथि, राज्य वस्तुतः सज्जनसभक अछि, ओ केवल ओकर पालन करैत छथि। ई बात केवल आइक नहि; बहुत कालसँ हमर अनुभव एहेन अछि।

एक तपस्वी: (परदा झटका कऽ व्याकुलतासँ प्रवेश करैत) मठाधीशक जय हो! कोनो वृद्ध विद्वान् अनेक शिष्यसँ घेरल, अहङ्कार देखबैत, आश्रमक उपहास करैत आ †... † करैत आबि गेल अछि। पूज्यवर कहथि, हम की करी?

मठाधीश: (मुस्कराइत) बेचारा भीतर आबय; हमरा कोनो आपत्ति नहि।

तखन पूर्वोक्त रूपमे वृद्धाम्भि प्रवेश करैत अछि।

वृद्धाम्भि: आश्चर्य! राजा शङ्करवर्मा कतेक पैघ विपत्तिक जन्मदाता अछि! वैदिक पुरोहित, वानप्रस्थ, संन्यासी, ब्रह्मचारी, आ एहि शैव, पाशुपत, पाञ्चरात्रिक, जैन, सांख्य, बौद्ध आदि सभकेँ राज्यक अपार धन निर्बाध खाय दैत अछि। एहन दशामे ओ दीर्घायु कोना होयत? एखन ओ चारूकात रिक्ततासँ घेरल कल्पवृक्ष जेकाँ देखाइत अछि। एहि अवसरक लाभ उठा कऽ हम ईश्वरकेँ समाप्त करब, परलोककेँ किनार करब, वेदक प्रामाण्य ध्वस्त करब, आ एहि प्रकार राजाकेँ गलत बाटसँ घुमा कऽ उचित मार्गपर स्थापित करब, जाहिसँ सांसारिक समृद्धिपर ध्यान दऽ दीर्घकाल धरि राज्यसुख भोगथि।

सुनलहुँ अछि जे एहि शैव आश्रममे अनेक स्वयंभू विद्वान् एकत्र छथि। हुनकहि सोझाँ एहि शैव आचार्यकेँ उपहासक पात्र बनायब। (किछु डेग चलि आन दिस देखैत) ई कणभक्ष, अक्षपाद आदि दर्शनमे पारङ्गत शैव आचार्य छथि; ई महान् मीमांसक सङ्कर्षण छथि; आ एतय विभिन्न विद्याशाखाक अनेक विद्वान् छथि। ठीक अछि, निकट जाइत छी। (निकट जा कऽ) तपस्वी, कुशल? ब्राह्मण, नमस्कार। (एना कहैत ओ अपन शिष्यसभक संग घासपरहि बैसि जाइत अछि।)

मठाधीश: (मुस्कराइत) की? आरम्भे सँ अनादर? (ओ सङ्कर्षणक मुख दिस देखैत छथि।)

सङ्कर्षण: पूज्यवर, अहाँ ठीक बुझलहुँ। चल्, देखि ली।

वृद्धाम्भि: सैकड़ो निरर्थक कष्ट सहि एतेक दुःखी जीवन किएक बितबैत छी? तपस्या यातनाक एक प्रकार मात्र अछि; आत्मसंयम सुखसँ अपनाकेँ ठकबाक उपाय मात्र; आ अग्निहोत्र आदि यज्ञकर्म हमरा बालकक खेल जेकाँ बुझाइत अछि।

मठाधीश: की करी? प्रभु ईश्वर हमरा सभकेँ एहन कर्म करबाक प्रेरणा दैत छथि।

वृद्धाम्भि: मुदा ई 'प्रभु ईश्वर' के छथि?

बाँझ स्त्रीक पुत्र जा रहल अछि—मृगतृष्णाक जलमे एखनहि स्नान कएने, माथपर आकाश-पुष्पक माला, हाथमे खरहा-क सींगसँ बनल धनुष।

मठाधीश: ई निन्दा बन्द करू! ओ समस्त जगत्क भगवान् स्रष्टा आ संहारकर्ता छथि; अनन्त जीवसमूहमे सक्रिय, विविध फलदायी कर्मराशिक उपयुक्त क्षेत्रानुसार निरीक्षण करैत छथि; ओ नित्यानन्द, सर्वज्ञ, करुणामय परमेश्वर छथि।

वृद्धाम्भि: (हलुक हँसैत) भक्तिक अन्धतासँ दृष्टि रुकल, किछुओ नहि देखनिहार मूर्खसभक ई मूर्खतापूर्ण दृष्टि देखू। ई कोना सम्भव? लोक ईश्वरकेँ परम कर्ता कोना मानि सकैत अछि? बुझू:

ई करुणा अछि, लीला अछि, प्रभुताक मनमानी अछि, आवेग अछि, हुनक स्वभाव अछि, पुण्य कमायबाक उपाय अछि, वा हुनक सत्यनिष्ठा—के जानय जे कामनारहित, सभ किछु प्राप्त प्राचीन मुनिक मनमे जगत् रचबाक आ नष्ट करबाक की सूझल?

जिनका निमित्त आदि कारणसमूहक कोनो इच्छा नहि, आ जे सहायक कारणसँ सेहो रहित छथि, ओ लोकसभक पालन, संहार आ सृष्टिक कारण कोना बनि सकैत छथि—जाहिसँ न हुनका, न आन केकरो <विशिष्ट> लाभ अछि?

आरो:

मानि ली ओ स्रष्टा छथि, मुदा कोन नियम सुनिश्चित करैत अछि जे ओ ठीक अहाँक कथनानुसार केवल तीन लोकहि रचताह, आन वा अधिक लोक नहि?

मठाधीश: दोष खोजयबला तर्क प्रस्तुत करबामे परिश्रम बन्द करू।

एक दिस, प्रमाणक आधारविहीन वस्तुक विषयमे दोषारोपक तर्क निरर्थक अछि; दोसर दिस, प्रमाणसँ सिद्ध वस्तुक विषयमे ओ पूर्णतः त्याज्य अछि। तँ वादिसभ एहि इन्द्रियातीत विषयमे दोषारोपक तर्कक कोलाहल बन्द कऽ साधक तर्क खोजथि।

वृद्धाम्भि: (मुस्कराइत) जँ अहाँक विचार एहेन अछि, तँ ईश्वर सिद्ध करबाक प्रमाण प्रस्तुत करू।

मठाधीश: हम कहैत छी—अनुमान हुनक अस्तित्व सिद्ध करैत अछि।

वृद्धाम्भिः (मुस्कुराइट) कोनो वस्तुकेँ एकसंग अनुमान आ प्रमाण कहब केवल मनोकामना अछि। अवस्था, देश आ कालक भेदसँ वस्तुक शक्ति बदलैत रहैत अछि; तँ अनुमान द्वारा वस्तुक सत्यापन अत्यन्त कठिन अछि।

आरो:

अनुमानक सहारा लेनिहार सहजहि खसि पड़ैत अछि, जेना ऊबड़-खाबड़ बाटपर हाथसँ टटोलैत दौड़निहार आन्हर।

आ फेर:

चतुर तार्किक बहुत परिश्रमसँ कोनो बातक अनुमान करैत अछि, मुदा दोसर अत्यन्त समर्थ तार्किक ओही बातक दोसर प्रकारसँ व्याख्या कऽ दैत अछि।

मठाधीशः ई विस्तार बन्द करू! भौतिकवादीसभक एहि ‘घरक विशेषता’सँ हम नीक जेकाँ परिचित छी। मुदा ई कहू—की ओ सभ केवल इन्द्रिय-प्रत्यक्षकेँ एकमात्र प्रमाण मानैत अछि?

वृद्धाम्भिः हँ, एहेन मानैत अछि।

मठाधीशः तखन हुनक लेल दैनिक व्यवहार असम्भव अछि।

वृद्धाम्भिः से कोना?

मठाधीशः बेचारा, भूखक कष्ट होइत तँ चाउर खोजैत छी, बालु नहि; पियास लगैत तँ जल खोजैत छी, आगि नहि।

वृद्धाम्भिः हँ, मुदा एहि बातसँ की सिद्ध करय चाहैत छी?

मठाधीशः

मित्र, कोनो विशिष्ट प्रयोजनक लेल ‘सर्वोत्तम वस्तु’ होयब इन्द्रियक विषय नहि। ई पदार्थक अन्वय आ व्यतिरेक द्वारा निश्चित होइत अछि।

आ अन्वय-व्यतिरेक अनुमान-चिह्नक मुख्य लक्षण अछि। पक्षधर्मता तँ कोनो विशिष्ट पक्षमे देखल प्रत्येक हेतुकेँ प्राप्त होइत अछि।

अन्वय, व्यतिरेक आ पक्षधर्मता—एहि सभमे अनुमानक प्राण बसैत अछि।

वृद्धाम्भिः मनुष्यक दैनिक व्यवहार, पशुसभ जेकाँ, सुखदायी आ दुःखदायी वस्तुक निश्चय करैत केवल स्वाभाविक प्रवृत्तिसँ चलैत अछि।

मठाधीशः एना नहि कहू। जाहि ज्ञानक प्रामाण्यक विशिष्ट कारण ज्ञात नहि हो, से प्रवृत्ति कहल जाइत अछि। एतय कारण—अन्वय, व्यतिरेक आदि—ज्ञात अछि। आ स्वयं स्पष्ट वस्तुक निषेध नहि कएल जा सकैत अछि।

वृद्धाम्भिः कारण बुझियो वास्तवमे नहि बुझैत छी, कारण अविनाभाव-सम्बन्धक ग्रहण नहि कऽ सकैत छी। तँ दैनिक व्यवहारक जाँच नहि कएल जाए तँ से सुखद लगैत अछि; केवल एतबे वास्तविक अछि—तत्त्वज्ञ लोक एहेन कहैत छथि।

मठाधीशः ई आलस्य अछि, वा अहाँ एक डेग पाछाँ हटय नहि चाहैत छी। एतय उपस्थित विद्वान् एहि अवसरपर वस्तुक परीक्षण कऽ रहल छथि।

वृद्धाम्भिः ई परीक्षण असम्भव अछि। धुँआ-आगि, अर्धुआ-अनागिक अनन्त व्यक्तिगत उदाहरण अछि; तीनू लोकक समस्त वस्तु प्रत्यक्ष नहि देखने लोक अन्वय-व्यतिरेक निश्चित नहि कऽ सकैत अछि। आ सर्वज्ञकेँ अनुमानक आवश्यकता की?

मठाधीशः पहिने तँ सामान्यक सहारा लऽ अन्वय ग्रहण कएल जा सकैत अछि। व्यक्तिगत उदाहरणक अनन्तता अनुमानकेँ अमान्य नहि करैत, कारण धूमत्व एक अछि आ अग्नित्व सेहो एक। सकारात्मक सामान्यक अनुकूलताक अनुसार ओकर अभावक अनुकूलता सेहो ग्रहण कएल जा सकैत अछि; ओहीकेँ व्यतिरेक कहल जाइत अछि। दू वस्तुक सहस्थिति अन्वय कहल जाइत अछि; दुनूक अभावक सहस्थिति व्यतिरेक मानल जाइत अछि।

हेतुक पक्षधर्मता बेचारा सहजहि बुझल जा सकैत अछि, कारण बिना आश्रयक हेतुकेँ धर्म रूपमे निश्चित नहि कऽ सकैत छी। तँ एहि प्रकार प्रामाण्यक कारण सहज निर्धारित भऽ गेलापर पशुओ ज्ञानी जेकाँ प्रमाणक सहायतासँ व्यवहार करैत अछि। भाष्यकार कहैत छथि—“तँ देवता, मनुष्य आ पशुक क्रिया एहि प्रमाणसभक सहायतासँ एही प्रकार सम्भव अछि, आन प्रकार नहि।”

वृद्धाभिः लोकमे पहिनिहि सिद्ध वस्तु, जकर ज्ञान उत्पन्न भऽ चुकल अछि, ओकर विषयमे ई ठीक भऽ सकैत अछि; मुदा <जकर ज्ञान एखन प्राप्त करबाक अछि, ओकर विषयमे> असम्भव। साधारण लोक, जँ तार्किकसभ द्वारा ठकल नहि हो, तँ पृथ्वी आदि कार्यसँ ईश्वरक ज्ञान ओना नहि करैत अछि जेना धुँआसँ आगिक।

मठाधीशः

स्त्री, बालक, ग्वाला, एतय धरि जे अहँ—कोनो विशिष्ट वस्तुसँ दोसर वस्तुकें निःसन्देह बुझैत छी। अविनाभावक शक्तिसँ कार्यसँ चेतन कर्ताक सफल अनुमान कएल जा सकैत अछि, जेना धुँआसँ आगिक।

वृद्धाभिः

घड़ा सन कार्य, जकर निर्माण कल्पना कएल जा सकैत अछि, एक प्रकारक अछि; मुदा पर्वत आदि सर्वथा भिन्न, कारण दुनूमे बहुत अन्तर अछि।

मठाधीशः

रसोइघरमे छोट रूपसँ उठनिहार ई धुँआ एक प्रकारक अछि, आ आकाशक मुख्य तथा उपदिशासभमे पसरल पर्वतक धुँआ बहुत भिन्न।

आ अहाँ ई सभ लाल चीवरबला बौद्धसभक जूठन खा रहल छी:

“जखन ओ विशिष्ट प्रकारक संघटन आदि नियन्ताक अस्तित्वसँ अन्वय-व्यतिरेकयुक्त सिद्ध हो, तखन ओहि प्रकारक संघटनसँ नियन्ताक अस्तित्वक अनुमान उचित अछि।”

वास्तवमे अनुमानक प्रक्रिया विशिष्ट धर्मपर निर्भर होइत अछि। साध्यधर्मी वस्तु आ दृष्टान्तक वस्तुमे पूर्ण समानता कतय होइत अछि?

वृद्धाभिः आन स्थितिमे वास्तविक सामान्य अछि, मुदा एतय समानता केवल नाममात्रक, वास्तविक नहि। नाममात्रक समानतापर अनुमान लागू करब अतिव्याप्ति-दोष होयत।

मठाधीशः (मुस्कुड़ाइत) बौद्धक घरमे वास्तविक सामान्य कोना होयत?

लोकक दैनिक व्यवहार कोनो सामान्यपर निर्भर देखैत छी—ओ बुद्धिसँ उत्पन्न हो, बाह्य हो, वास्तविक हो वा परम्परागत।

अनेक वस्तु कार्य होइतो परस्पर समान नहि अछि। तँ ‘ओ विशिष्ट प्रकार’ कहबाक प्रयोजन हमरा नहि बुझाईत अछि।

वृद्धाभिः मुदा पृथ्वी आदि ई उत्पाद अत्यन्त विशिष्ट अछि।

मठाधीशः तखन अत्यन्त विशिष्ट कारीगर मानू।

वृद्धाभिः अज्ञात वस्तु मानि नहि सकैत छी।

मठाधीशः आ हम कर्ताविहीन कार्यक चर्चा नहि कऽ सकैत छी।

वृद्धाभिः एहन दशामे की कएल जाए?

मठाधीशः कोन विकल्प त्यागी? कर्ताक असाधारण स्वरूप कठिन अछि, वा कर्ताविहीन कार्य? एहि दुनू विकल्पमे सामान्य नियम अछि—“देखल वस्तुक व्याख्याक लेल अदृश्य मानल जाइत अछि, मुदा देखल वस्तुक निषेध नहि कएल जा सकैत अछि।” तँ कार्यक कार्यत्वकें नकारबाक बदला, कार्य स्वयं असाधारण होयबाक कारण कर्ताक असाधारणता सहन करब उचित अछि।

वृद्धाभिः धरतीपर रेखा खिंचैत अछि।

मठाधीशः आरो, रङ्गक प्रत्यक्षसँ दृष्टि-इन्द्रियकें साधन रूपमे अनुमान करैत छी—जेना काटयबला क्रियासँ हँसुआ आ छेदन-क्रियासँ कुल्हाड़ी। एतय दृष्टि-इन्द्रियक कोन गुण हँसुआ आ कुल्हाड़ीसँ समान अछि?

वृद्धाभिः ओकर अनुमानो नहि हो—हमरा की चिन्ता?

मठाधीशः मुदा दृष्टि-इन्द्रिय बिना रङ्ग कोना देखब?

वृद्धाभिः ठीक अछि, कोनो प्रकारक साधन मानि ली।

मठाधीशः तखन ठीक ओही प्रकार कोनो कर्ता सेहो मानू।

वृद्धाम्भिः कर्ता स्वीकार नहि कऽ सकैत छी। मुदा साधन बिना क्रिया कोना होयत?

मठाधीशः कर्ता बिना कार्य कोना होयत? ‘कार्य’ शब्द दिट्ठ नाम जेकाँ केवल नाम नहि; जे बनाओल गेल, से कार्य अछि। जँ किछु बनल सेहो आ कर्ताविहीन सेहो, तँ के बनौलक? नहि जनैत छी। तँ ईश्वरक अनुमानक एहि असाध्य माथदुखाइकेँ सहन करय पड़त। आन उपाय की?

वृद्धाम्भिः धरतीपर रेखा खिंचैत अछि।

मठाधीशः आ संसारक कठोर पीड़ा सेहो सहय पड़त।

वृद्धाम्भिः जीबैत रहला धरि नहि सहब।

मठाधीशः तखन तँ बहुत जल्दी मरि जायब।

वृद्धाम्भिः से कोना?

मठाधीशः चैतन्य भौतिक तत्त्वक गुण नहि भऽ सकैत अछि, कारण ओ द्रव्यक अस्तित्वकाल भरि नहि रहैत, आ अपनाकेँ स्वयं जानैत अछि। आ जँ ‘चैतन्य-प्रवाह’क सिद्धान्त मानैत छी, तँ एक समन्वयकारी सत्ता बिना स्मरण, इच्छा आदि क्रिया सम्भव नहि।

वृद्धाम्भिः तखन एहन कोनो सत्ताकेँ ज्ञाता रूपमे स्वीकार करब। मुदा शरीरक दाह-संस्कारक बादो ओकर अस्तित्व अछि—ई की सिद्ध करैत अछि?

मठाधीशः भद्र, एकर लेल कोनो अतिरिक्त प्रमाण आवश्यक नहि।

वृद्धाम्भिः किएक नहि?

मठाधीशः कारण हम मानैत छी जे कोनो वस्तुक विनाश ओकर स्वभावक अङ्ग नहि। एहि अतिरिक्त, ज्ञाताक उत्पत्ति वा विनाश, अथवा एहन उत्पत्ति-विनाशक कोनो कारणक अनुभव हमरा कहियो नहि होइत अछि। आ ईहो नहि जे अवयवयुक्त होयबाक कारण ओकर विनाश सम्भव मानब—जेना तन्तुसभक परस्पर संयोग टूटलापर वस्त्र नष्ट होइत अछि। तँ ‘ज्ञाता’ नामक एहि वास्तविक सत्ताक केवल स्वरूपक प्रत्यक्ष होइत अछि, उत्पत्ति वा विनाशक नहि। एहि कारण, जँ ज्ञाता अस्तित्वमान अछि तँ ओ नित्य होयत। जँ नित्य अछि तँ ओही संसारमे गमन करैत अछि। तखन भौतिकवादी किएक कहैत अछि—“संसार करयबला कोनो सत्ता नहि, तँ संसार नहि”?

आरो विचारणीय बात अछि—नवजात शिशुक आनन्द, भय, शोक आदि, दूधक इच्छा इत्यादिक विषयमे ई नहि कहल जा सकैत अछि जे ई सभ जन्मजात, आकस्मिक वा केवल सहज प्रवृत्तिसँ उत्पन्न अछि। तँ एहि आधारपर सेहो आत्माकेँ नित्य मानय पड़ैत अछि।

वृद्धाम्भिः मुदा ईश्वर सिद्ध करबाक प्रसङ्गमे संसारक जाँचसँ की लाभ?

मठाधीशः लाभ ई जे जँ संसार अछि, तँ भौतिक जगत्क सृष्टि व्यक्तिगत कर्मसभक कारणे होयत।

वृद्धाम्भिः ताहिसँ की?

मठाधीशः कर्म शरीर आदि सृष्टिक सेहो कारण अछि।

वृद्धाम्भिः तकर बाद?

मठाधीशः कर्म अचेतन अछि।

वृद्धाम्भिः तखन सेहो की?

मठाधीशः अचेतन वस्तु चेतन अधिष्ठाताक नियन्त्रणमे रहिते कारण बनि सकैत अछि।

वृद्धाम्भिः ओही कर्मक चेतन कर्तासभ ओकर अधिष्ठान करत।

मठाधीशः नहि कऽ सकैत अछि, कारण अलग-अलग अभिप्रायबला लोकमे समन्वय सम्भव नहि।

वृद्धाम्भिः तखन बढइसभक की?

मठाधीशः बढइसभ किएक?

वृद्धाम्भिः अनेक होइतो ओ सभ एक घर बनबैत अछि ने?

मठाधीशः एना नहि। ओ सभ एक वास्तुकारक इच्छाक अनुसरण करैत अछि।

वृद्धाम्भिः तखन सभामे ब्राह्मणसभक सहमतिक की?

मठाधीशः ओतय सेहो सभा विषयविशेषज्ञ एक सभापतिक इच्छाक अनुसरण करैत अछि। मुदा एतय राजा वा मन्त्रीक एकटा शरीर सहायता वा हानिक माध्यमसँ हजारो जीवक सुख-दुःखक कारण बनैत अछि; तँ निश्चय ओ सभक संयुक्त कर्मसँ उत्पन्न होइत अछि। आ जिनका लेल राजाक शरीर दुःखक कारण अछि, ओ ओकर उत्पत्तिपर प्रसन्न नहि होइत। तँ एहन

विशाल कर्मराशिक अधिष्ठाता केवल प्रभु ईश्वरकें मानय पड़त। ई पूर्ण रूपसँ स्थापित भऽ गेलापर ईश्वरक अस्तित्वक प्रमाण अखण्डनीय होइत अछि। पृथ्वी, समुद्र, पर्वत आदि विशाल, अपरिमेय उत्पाद छोड़; हमर सन क्षुद्र, कृश शरीरहि सँ ओही क्रममे ईश्वरक अनुमान कऽ सकैत छी। नदीक तटपर अचेतन, अकुशल शरीरसभ द्वारा बनल बालुकाक ढेर, वा पर्वत, गुफा, वन आ झाड़ीमे उगल घास, लता, झाड़ी सन जङ्गली वनस्पति सेहो लोकक सुख-दुःखक कारण होयबाक कारण हुनक कर्मपर निर्भर अछि। तँ कर्मक अधिष्ठान आवश्यक होयबाक कारण एहि वस्तुसभक निर्माता अचेतन नहि भऽ सकैत अछि।

वृद्धाम्भिः धरतीपर रेखा खिंचैत अछि।

मठाधीशः आन स्थूल वा सूक्ष्म कार्य छोड़। हमरा सन लोकक दैनिक क्रिया—खेती, सेवा, व्यापार, एतय धरि जे सुतब, बैसब, चलब, खायब आदि—अनेक जीवक लाभ वा हानिक कारण भऽ सुख-दुःख उत्पन्न करैत अछि। तँ उपर्युक्त तर्कसँ ई क्रियासभ ओहि जीवक कर्मपर निर्भर अछि; कर्म अचेतन अछि; ओकर कर्ता अनेक आ परस्पर विरोधी होयबाक कारण सहमत नहि भऽ सकैत अछि—अतः ई क्रियासभ सेहो भगवान्क अधिष्ठानमे ओही कर्मसभ द्वारा उत्पन्न होइत अछि। एही कारण महर्षि व्यास कहैत छथि:

“ई जीव अज्ञानी अछि, अपन सुख-दुःखक स्वामी नहि; ईश्वरक प्रेरणासँ ओ स्वर्ग जा सकैत अछि, वा सीधे नरकमे।”

वृद्धाम्भिः एहि विषयपर विचार करब। एखन जाइत छी।

मठाधीशक तपस्वी अनुयायी वृद्धाम्भिक उपहास करैत आ अनेक प्रकारसँ ओकरा अपमानित करैत छथि।

मठाधीशः (हुनका सभकें रोकि वृद्धाम्भिसँ) कतय जा रहल छी? अपन कर्मजनित दुःख एक क्षण एखने सहू। शास्त्रक प्रामाण्यसँ सेहो हम ईश्वरक अस्तित्व जनैत छी।

वृद्धाम्भिः शास्त्र प्रमाण! ई तँ पैघ साहसक बात अछि।

मठाधीशः (सङ्कर्षणसँ) हम थाकि गेलहुँ, कृपा कऽ एकरा बुझायब?

सङ्कर्षणः जेना पूज्य मठाधीशक इच्छा। शास्त्रक प्रामाण्यक पुष्टि करबाक लेल हमरा कनेको परिश्रम नहि करय पड़त, कारण ओकर प्रामाण्य स्वभावसिद्ध अछि।

वृद्धाम्भिः

शास्त्रक प्रामाण्य स्वभावसिद्ध? ई कोना कहैत छी? वेद केवल नित्य होयबाक कारण प्रमाण नहि अछि।

आकाश सन आन नित्य वस्तु की प्रमाण रूपमे देखल जाइत अछि? अथवा प्रत्यक्ष आदि, जे नित्य नहि, ओकर प्रामाण्यक विषयमे के विवाद करत?

सङ्कर्षणः भद्र,

हम ई नहि कहैत छी जे वेद नित्य होयबाक कारण प्रमाण अछि; हमर कथन अछि जे ज्ञान उत्पन्न करबाक कारण प्रमाण अछि।

वृद्धाम्भिः

कखनो वाक्य वस्तु-विरोधी होइतो ज्ञान उत्पन्न करैत अछि—जेनाकि केओ कहय, “हमर आँठापर हाथी अछि।”

सङ्कर्षणः

एतयो वाक्यमे जुड़ल शब्दक अभिधेय अर्थ वाक्यज्ञानके असम्भव नहि बनबैत; वास्तवमे कथित अर्थक विषयमे दोसर कोनो प्रमाणक उपलब्धि असम्भव होइत अछि।

वृद्धाम्भिः

शब्दवाक्य आन प्रमाणसँ ज्ञात वस्तुक विषयमे कार्य करैत अछि। तँ वस्तुसँ विरोध होइतहि अहाँक मतमे शब्द स्वयं अप्रमाण होयबाक चाही।

सङ्कर्षणः

मानलहुँ, जखन शब्दक विषय दोसर प्रमाणक अधिकारमे आबि जाइत अछि, तखन ओ खण्डित होइत अछि; मुदा विधि अर्थात् आज्ञाक विषय आन प्रमाणक पहुँचमे कोना आएत?

आ स्वभावतः आन प्रमाण ओकर क्षेत्रमे प्रवेश नहि कऽ सकैत अछि, तँ ओकर सहायता वा हानिसँ ई अप्रभावित अछि।

जँ आन प्रमाण शब्द-प्रमाणक सहायता करय तँ केवल पुनरुक्ति; जँ विरोध करय तँ मिथ्या। मुदा जखन दुनू असम्भव अछि, तखन शब्द प्रमाण किएक नहि होयत?

वृद्धाम्भिः

शब्दकेँ अर्थबोधक होयबाक लेल शब्द आ अर्थक सम्बन्ध अनिवार्य चाही, आ ओ सम्बन्ध मनुष्यक बनाओल होइत अछि। मुदा जे वस्तु किनको पहुँचमे नहि, ओकर विषयमे ई सम्बन्ध कोना सम्भव?

सङ्कर्षणः

सम्बन्ध शब्दक शक्ति मात्र अछि, आ ई शक्ति ओकरामे स्वभावसिद्ध अछि। पहिनिहि अर्थबोधक शब्द बिना मनुष्य कोनो सङ्केत-सम्बन्ध बना नहि सकैत अछि। एहि सम्बन्धकेँ सीखब—जाहि विधिवाक्यक अर्थ केवल शब्दसँ उपलब्ध अछि—प्रयोग द्वारा सम्भव अछि, जखन दोसरक प्रवृत्तिक कारण अपना मे सेहो ओही प्रकार प्रकट होइत अछि। “ओ एकरा करय” एहि वाक्यक कालातीत अर्थमे कालबद्ध विषयबला आन प्रमाण प्रवेश नहि कऽ सकैत अछि।

वृद्धाम्भिः तखन ओ विधि सीखल कोना जाइत अछि?

सङ्कर्षणः पहिनिहि कहलहुँ, मुदा अहाँ नहि बुझलहुँ। अपन भीतर देखैत छी जे प्रवृत्तिसँ पहिने प्रेरकक ज्ञान होइत अछि। दोसर व्यक्तिकेँ विधिलिङ्-प्रत्यय सुनि काज करैत देखि मानैत छी जे ओहो प्रेरककेँ जानलक। अपना मे जेना आत्माक अनुभव होइत अछि, ओही प्रकार प्रेरकक स्वरूप अनुभव करैत छी। मुदा रूपबला वस्तु जेकाँ दोसरकेँ “एहेन अछि” कहि देखाओल नहि जा सकैत अछि। आन लोक सेहो एकर अनुभव करैत अछि, मुदा किनको देखाबि नहि सकैत अछि। तँ आन प्रमाणसँ अज्ञेय विधिवाक्यमे सेहो शब्द-अर्थ सम्बन्ध सीखब सिद्ध अछि। वृद्ध लोक बाल्यकालमे एही प्रकार सीखल; तँ संसार अनादि अछि।

वृद्धाम्भिः वैदिक विधिक प्रामाण्य सिद्ध करबाक लेल एतबे पर्याप्त अछि?

सङ्कर्षणः आरो की चाहैत छी?

वृद्धाम्भिः आन प्रमाणक आधारसँ रहित शास्त्रवचन प्रमाण नहि भऽ सकैत; ओ केवल अर्थबोध करबैत अछि, ई आश्वासन नहि दैत जे वस्तु वास्तवमे एहेन अछि।

सङ्कर्षणः अर्थबोधक वस्तु वास्तवमे ज्ञान उत्पन्न कऽ सकैत अछि। प्रत्येक प्रमाण केवल ज्ञान उत्पन्न करैत अछि; ज्ञेय-वस्तुक गरदनमे रस्सी बाँधि घड़ा जेकाँ सोझाँ नहि पहुँचा दैत अछि।

जे लोक प्रामाण्यकेँ आन प्रमाणक सहमतिपर निर्भर मानैत अछि, ओ सैकड़ो कल्पमे सेहो प्रमाणसभक शृङ्खलाक अन्त नहि पाबि सकत।

मिथ्यात्वक दू कारण अछि—बाध वा ज्ञानक कारणमे दोष। वेदमे एहि दुनूमे एको नहि, तँ ओकर प्रामाण्य सिद्ध अछि।

वृद्धाम्भिः धरतीपर रेखा खिंचैत अछि। सङ्कर्षणक अनुयायी ओकरा देखि हँसैत छथि। सङ्कर्षण हुनका रोकैत छथि।

मठाधीशः वेदक प्रामाण्य सिद्ध करबाक अहाँक एहि विधिपर आश्रित होयब, वा “पवित्र परम्परा हुनक वचन होयबाक कारण प्रमाण अछि” आ “विश्वसनीय पुरुष प्रमाण होयबाक कारण, मन्त्र वा चिकित्साशास्त्र जेकाँ, ई प्रमाण अछि”—एहि विचारक्रमपर चलब नीक—ई हमर सभक आन्तरिक विवाद अछि। एकरा छोड़ू। पहिने अहाँ सेहो एहि प्रकारक वेदद्वेषी नास्तिकसभक पूर्ण खण्डन करू।

सङ्कर्षणः जेना पूज्यवरक आज्ञा।

नेपथ्यमे कोलाहल।

मठाधीशः ई की?

सङ्कर्षणः ई कोलाहल निश्चय राजाक आगमनक सूचना दैत अछि। हम हुनक स्वागतक लेल जाइत छी। अहाँ अपन शास्त्रक विधानानुसार राजाक लेल सम्मान-सामग्री तैयार करू।

मठाधीशः ठीक अछि, आर्य।

सङ्कर्षणः आ पूज्यवरकें फेर स्मरण कराबी:

हम निश्चय शिवदेवसँ द्वेष नहि करैत छी, जिनक महिमाक शक्ति अनुपम अछि। लोकसभक धारण, संहार आ सृष्टिक एकमात्र कारण ओही छथि।

ओ रुद्र छथि, ब्रह्मा छथि, हरि छथि, वा हुनकासँ परे कोनो आन पुरुष। ई सम्पूर्ण जगत् हुनकापर निर्भर अछि।

तैं शैव, पाशुपत, कालामुख आ महाव्रतीसभ निश्चिन्त रहथि। अहाँक गुरुसभसँ प्राप्त ज्ञान सेहो मोह दूर करैत बुझाइत अछि, मुदा जकर विषयमे ओ युक्तिसङ्गत रूपसँ सिद्ध अछि, ओकर क्षेत्र ओतबे धरि सीमित रहय।

मठाधीशः ठीक एहेन, आर्य।

सभ गोटे प्रस्थान करैत छथि।

तृतीय अङ्क समाप्त।

चतुर्थ अङ्कक प्रस्तावना:

रूढ़िवादी पाखण्ड

तखन वैदिक याजक आ वैदिक उपाध्याय प्रवेश करैत छथि।

याजक: (व्याकुलतासँ) हाय, कतेक पैघ आघात! सोचल किछु छल, भेल बिल्कुल आन। हमरा आशा छल जे सभ अवैदिक धर्मक निन्दा भेलापर पूरा देशपर हमर सभक सुखपूर्वक अधिकार होयत। मुदा परिणाम ई भेल जे पाखण्डी धर्म पहिने जेकाँ एखनो व्यापक अछि। शैव, पाशुपत, पाञ्चरात्रिक, सांख्य, बौद्ध, दिगम्बर जैन आदि सभ पूर्ववत् टिकले अछि। स्नातकक निष्फल विद्वत्ताकेँ धिक्कार!

उपाध्याय: मुदा मित्र, आब ओ राजकर्मि छथि। राजा परम शिवभक्त छथि, तँ सङ्कर्षणकेँ पूर्णतः हुनक आराधनामे तत्पर रहय पड़ैत अछि। कारण— राजाक निकट रहनिहार सेवक प्रतिध्वनि जेकाँ सदिखन हुनकहि वचन दोहरबैत अछि; अपन लाभक उत्कण्ठामे शुभ-अशुभक भेद नहि करैत।

याजक: ठीक कहैत छी, मित्र। अपन स्वार्थ छोड़ि निष्पक्ष भावसँ केवल धर्मपर ध्यान के देत? मुदा हमर सभक समय कोना कटत? यज्ञ करौनाइ, पढ़ौनाइ आदि हमर व्यवसाय केवल वेदसँ सम्बन्धित अछि।

उपाध्याय: मित्र, भविष्य सेहो अतीत जेकाँ काटब—खाय आ पहिरबाक भरि भेटि जाय, एतबामे सन्तुष्ट रहब। कारण—

पुण्य बिना दुष्टक गप्पसँ रहित सभा, मान-रोषसँ मुक्त प्रेमिका, आ दोसरक दाबीसँ मुक्त धन नहि भेटैत अछि।

याजक: ठीक कहलहुँ। की करी? मुदा एकटा आन बात हमरा आरो बेसी खिझबैत अछि।

उपाध्याय: से की?

याजक: ई पाञ्चरात्रिक भागवतसभ ब्राह्मणक आचार अपनबैत अछि। ब्राह्मणसभक संग घुलमिल जाइत अछि, आ केवल समान ब्राह्मणकेँ कहय योग्य अभिवादन-रूप प्रयोग करबामे कनेको सङ्कोच नहि करैत। वेदपाठक अनुकरण करैत विशेष उदात्त-अनुदात्त स्वर-विन्याससँ पाञ्चरात्र शास्त्र पढ़ैत अछि। “हम ब्राह्मण छी”—अपन विषयमे कहैत अछि आ आन लोकसँ सेहो एही रूपमे कहल करबैत अछि। शैव आदि लोककेँ देखू—ओ सभ चारि वर्णक व्यवस्थामे नहि अछि, वेद आ स्मृति द्वारा निर्धारित आश्रमसभकेँ अस्वीकार करैत अछि, आ भिन्न सिद्धान्त अपना कऽ अलग रहैत अछि। मुदा ई लोक कहैत अछि—“हम जन्मसँ, पूर्वजक दीर्घ परम्परासँ, वास्तविक ब्राह्मण छी”; आ ओही प्रकार चारि आश्रमक व्यवस्थाक नकल करैत अछि। ई महान् पीड़ा अछि।

उपाध्याय: मित्र, ई पीड़ा एतेक पैघ कोना?

यज्ञ करौनाइ, पढ़ौनाइ, विवाह-सम्बन्ध वा आन कोनो प्रसङ्गमे वेदज्ञ ब्राह्मण पाञ्चरात्रिकसभसँ पर्याप्त दूरी राखैत छथि।

ओ सभ अपनाकेँ ‘ब्राह्मण’ कहैत अछि—ई केवल हुनक सम्प्रदायक आन्तरिक व्यवहार अछि।

याजक: ई छोट उपद्रव अछि?

उपाध्याय: पैघ कोना? वेद, स्मृति वा मीमांसा पढ़बाक, अथवा श्रौत-स्मार्त कर्म करबाक अधिकार हुनका कहियो नहि भेटत। आ जँ मर्यादासँ भटकल कोनो ब्राह्मण स्त्रीसँ विवाह करत, तँ ‘प्रतिलोम विवाह’क बदनामी भेटत। वेदाङ्गसभमे किछु अल्प ज्ञान पाबियो जँ किछु स्थानसँ बहिष्कृत नहि कएल जाए, तँ ताहिपर क्रोध करबाक आवश्यकता नहि। विषय छोड़ू। मुदा ई बात सुनल अछि।

याजक: की?

उपाध्याय: आइ माननीय सङ्कर्षण वैष्णवक मन्दिर गेल छथि, जतय सैकड़ो-हजारो भागवत भरल छथि—ठीक हुनक धर्मक परीक्षा करबाक लेल। ब्रह्मद्वीपमे हजारो ब्राह्मण विद्वान् सेहो एकत्र भेल छथि। ओतय विशाल सम्मेलन होयत। चलू, ओतहि चली।

याजक: सङ्कर्षणक उत्साह देखि चुकल छी; ओ सभ धर्मकेँ प्रमाण मानयबला सिद्धान्तक समर्थक छथि। दोसर दिस, महारानी सुगन्धादेवी विशेष रूपसँ एहि लोकक प्रति सहानुभूति रखैत छथि—एहन सुनल जाइत अछि। चर्चा अछि जे एक राजकर्मि सेहो सात्वतसभक समर्थक छथि।

उपाध्याय: सदिखन अनिष्टक आशङ्का नहि करू। स्थापित आचारक विपरीत हो तँ ओ सभ घासक एक पातो नहि मोड़ि सकत। चलू, ओतय जा कऽ देखि जे मीमांसकक प्रवहमान वाक्पटुताक समुद्रमे बारम्बार डुबकी खाइत पाखण्डी धर्मसभ कोना अनेक प्रकारसँ छटपटा रहल अछि।

दुनू प्रस्थान करैत छथि।

चतुर्थ अङ्कः

मर्यादित सहिष्णुता

तखन माननीय सङ्कर्षण, बालक आ सामर्थ्य-अनुसार अनेक परिचारक प्रवेश करैत छथि।

सङ्कर्षण: बालक, हम कठिन सङ्कटमे पड़ल छी। कारण—

जिनक मन जगत्क अवस्थासभ—पालन, सृष्टि आ संहार—कें बदलयबला लीला सम्पन्न करबामे लीन भगवान् विष्णु नारायणक उपदेश माननिहारसभक दर्शन मिथ्या अछि—ई अपन जीहसँ कोना कही? आ जँ नहि कही, तँ तीनू वेदमे पूर्णतः लीन बुद्धिबला विद्वान्क सोझाँ कोना ठाढ़ होयब?

बालक: हाय आर्य, अहाँ सचमुच द्विधामे छी। तैयो बहुत काल पहिने स्थापित आचार जेना छल तेना चलि रहल अछि। एहि विषयमे व्याकुल किएक होइत छी? आब सैकड़ो-हजारो पाञ्चरात्रिक आ आन महामनीषीसँ भरल एहि स्थानकें देखू।

सङ्कर्षण: (चलैत-चलैत आगाँ देखि चकित) हे भगवान्! विद्वान्क कतेक विशाल सम्मेलन! परस्पर स्पर्धासँ पसरल वाद-विवादक महान् कोलाहल दिशासभ भरि रहल अछि। एहि सभामे—वाक्यक विविध अर्थ-प्रक्रियापर विचार कएने मीमांसक; संज्ञा आ धातुक मूल जाँचि चुकल वैयाकरण; हेतुक व्याप्ति निश्चित करबामे तीक्ष्ण बुद्धिबला तार्किक; आ एतय स्मृति, नीतिशास्त्र, पुराण आदिक वरिष्ठ आचार्य उपस्थित छथि।

अहा, अद्भुत! आब पवित्र कीर्तिबला महाराज यशोवर्मदेवक राज्य ठीक ब्रह्मलोक जेकाँ लगैत अछि। हुनक हृदय त्रिपुरविनाशी शिवमे अनुरक्त, ओ ईर्ष्या जगाबयबला गुणक समुद्र, विद्वान्क मूल्यवान् उपदेश सुनि अपन कान अलङ्कृत करनिहार, आ प्रत्येक सज्जनक इच्छा पूर्ण करनिहार छथि। (क्षणभरि विचार कऽ एकान्तमे) परस्पर-विरोधी विविध विद्वत्-ग्रन्थक मार्गदर्शन आ उपदेश माननिहार एहि लोकक बीच हम कोन आचरण करी? वेदविरोधक कारण दुर्गम एहि बाटपर, जतय विशेषज्ञ सेहो निर्णयपर नहि पहुँचि सकय, हम की करी? बुझलहुँ! धनुष, चक्र आ शङ्ख धारण करनिहार भगवान् विष्णु हमर शरण छथि।

ठीक अछि! पहिने तत्काल स्वयं भगवान्क शरण ली। (उच्च स्वरमे) बालक, भगवान्क मन्दिर समीप अछि। सभक शरण भगवान् विष्णु रणस्वामीकें प्रणाम करब, तकर बाद सभामे अपन आसन ग्रहण करब।

बालक: जेना आज्ञा।

दुनू चलैत अछि।

सङ्कर्षण: (प्रवेशक अभिनय कऽ धरतीपर ठेहुन टेकैत)

जिनका पएक डेगसँ नापल विविध त्रिभुवन आश्रित अछि, आ जकर उदरक कोनक एक अंशक अणुमात्रमे जगत् लीन भऽ स्थित अछि—ओहि विष्णुकें प्रणाम।

जिनक हथेलीमे शङ्ख आ चक्र सुशोभित, जे मुक्तिक सच्चा मार्ग देखबैत आ निर्मल परम कल्याण प्रकाशित करैत छथि—ओ चक्रीकें प्रणाम।
परम निर्वाणक कारण रथाङ्गीकें प्रणाम...

(<सुनैत> आ आनन्दसँ कहैत:) एहि मङ्गलमय शङ्खध्वनिसँ हम अनुमान करैत छी...

<मञ्जीर>: ...ई वर्णाश्रमक लेल बहुत पैघ जोखिम अछि। तँ प्रधान मन्त्री ब्रह्म...क्ष द्वारा निवेदन कएलापर रानी एहि आदरणीय ब्राह्मणसभकें बजयबाक लेल तैयार भेली। ओतयसँ घुरि प्रधान मन्त्रीकें कहलनि जे हुनका एहि प्रकार अनुरोध कएल गेल—“तीनू वेदक विद्वान् आ आन धर्मक आचार्यसभक एहि वादमे महान् नैयायिक, धैर्यराशि नामसँ प्रसिद्ध भट्ट साहबकें सभ गोटे निर्णायक मानैत छथि; कृपा कऽ एहि वाद-विषयक प्रकरणमे हुनका मध्यस्थ बनाउ।”
...तँ आर्य, कृपा कऽ प्रस्थान नहि करू। हम चाहैत छी जे अपन मत प्रस्तुत कए बिना अहाँ एहि वादक सभामे उपस्थित रहू...

सङ्कर्षण: मित्र मञ्जीर, आउ, हम सभ संगहि सभामे प्रवेश करी।

दुनू चलैत अछि।

नेपथ्यसँ:

सुप्रसिद्ध गरिमाबला विशिष्ट कुलमे ... असाधारण भाग्यवान्, विरोधी मतबला लोकक प्रत्येक शङ्का दूर करैत छथि, आ एहि प्रकार विद्वान्सभकें परम तत्त्वक एक समान दृष्टि प्राप्त होइत अछि।

माननीय साहत जगत्क सच्चा आभूषण बनि जन्मल छथि, परमेश्वरक लगभग समान। साधारण गुण नहि, महान् गुण हुनका एतेक ऊँच उठौलक जे केओ हुनक सामना नहि करैत अछि।

सङ्कर्षण: आबि रहल धैर्यराशिक प्रशंसा भऽ रहल अछि। स्पष्ट अछि, लोक धैर्यराशिक पक्षमे अछि! हुनक सहानुभूति उचितो अछि, कारण ओ ठीक वर्णानुसार छथि। मित्र मञ्जीर, अहाँक कृपासँ हम कठिन सङ्कटसँ निकलि गेलहुँ, आ एहन विषयसँ अलग रहि सकैत छी।

मञ्जीर: अजर-अमर परमेश्वर जखन अहाँक संग छथि, तँ जीवनभरि लोकक सहायता करबाक अपन अभियानमे अहाँकै कोन कठिनाई होयत, आर्य?

बालक: आर्य, वर्तमान सभामे अहाँक लेल ई आसन अछि। कृपा कऽ प्रवेश करू।

सङ्कर्षण: सहकर्मी मञ्जीर, पहिने अहाँ प्रवेश कऽ सभासदसभकें राजाज्ञा सुनाउ।

मञ्जीर: ठीक अछि। (ओ चलैत अछि।) हे विद्वान्सभ, अहाँ सभ अपन-अपन स्थान ग्रहण कऽ चुकल छी; कृपा कऽ ध्यान दी। एक तीक्ष्णबुद्धि वक्ता छथि, सज्जनसभक अत्यन्त आदरणीय, विद्याक नदीसभक समुद्र, जे विद्वत्समाजमे सर्वश्रेष्ठ पण्डितक रूपमे महान् यश प्राप्त कएने छथि। आइ राजाज्ञा आ धर्माचार्यसभक अनुरोधपर एहि प्रकरणक मध्यस्थ नियुक्त कएल गेल छथि। सभ लोक निश्चिन्त रहथि, मतभेद छोड़थि आ आनन्द करथि!

तखन पूर्वोक्त रूपमे धैर्यराशि आ सामर्थ्य-अनुसार वादिसभक विशाल समूह प्रवेश करैत अछि।

धैर्यराशि: (चकित) विद्याक कतेक अद्भुत सङ्गम! आश्चर्य! जम्बूद्वीपक भारतवर्षमे एतहि परमपुरुषक नगरी देखैत छी। कारण—एतय चौदह विद्यास्थान दृढ़तासँ प्रतिष्ठित अछि; विविध आचार उपस्थित; अनेक व्रत-नियम अछि; आ स्वभावतः शुद्ध तपस्या निर्विघ्न शान्त भावसँ चलि रहल अछि। राजा स्पष्टतः देहधारी ब्रह्मा छथि—एहिसँ श्रेष्ठ की होयत?

(आगाँ देखैत) पौराणिक ऋषिसभक समान माननीय सङ्कर्षण उपस्थित छथि। ठीक अछि, हुनका प्रणाम करी। (<ओ> प्रणाम करैत छथि।)

सङ्कर्षण: (गाढ़ आलिङ्गन करैत) अहाँक आलिङ्गन सभ तीर्थक जलमे विधिपूर्वक स्नान जेकाँ अछि!

सभ गोटे बैसैत छथि।

सङ्कर्षण: आदरणीय धर्मशास्त्रीसभ, अहाँक सभ जटिल शङ्का आब कटले जेकाँ अछि। राजाज्ञासँ जीवित अक्षपाद, दर्शनक प्रजापति कहय योग्य धैर्यराशि हमर सभक बीच उपस्थित छथि!

वादिसभ: राजाज्ञासँ नहि, धर्माचार्यसभक अनुरोधसँ।

सङ्कर्षण: (धैर्यराशिसँ) तार्किकसभक आभूषण, एखन विचाराधीन विषयक तथ्यसँ अहाँ अवश्य परिचित होयब। तँ अपन प्रेरणानुसार जे उचित बुझू, निर्णय सुनाउ।

धैर्यराशि: आर्य, हम एतबे जनैत छी—एतय वादिसभ पाञ्चरात्र आदि शास्त्र प्रमाण अछि कि नहि, एहि विषयमे असहमत छथि। मुदा अहाँ उपस्थित छी, तखन हमरा सन लोककें बोलबाक कोन अधिकार? अहाँ अनुमति दी तखनहि अहाँक बालक जेकाँ किछु कहि सकैत छी।

सङ्कर्षण: एना किएक कहैत छी? आदेश देनिहार अहाँ छी। प्रत्येक वादी केवल अहाँपर विश्वास रखने अछि। कृपा कऽ कहू।

धैर्यराशि: (वादिसभसँ) आदरणीय सज्जनसभ, दुनू पक्षक विषयमे अहाँसभ द्वारा प्रस्तुत तर्क सुनि बुझि लेलहुँ; ओ पूर्ण अछि। तँ जखन हम निर्बाध अपन वक्तव्य दैत रहब, बीचमे किछु नहि कही।

वादिसभ: ठीक अछि, आर्य। बिना पूछने अहाँक वचन बाधित करबाक लेल बीचमे किछु नहि कहब।

धैर्यराशि: तखन आब ध्यानसँ सुनू।

वादिसभ: हम सभ अहाँक प्रत्येक शब्दक प्रतीक्षा कऽ रहल छी।

धैर्यराशि:

सर्वप्रथम मीमांसक कहैत छथि—वेद स्वयं प्रमाण अछि, कारण ओ ज्ञान उत्पन्न करैत अछि। अनादित्वरूपी दर्भ-घास ओकर लेखक आ प्रामाण्यपर उठ्यबला दुनू आपत्तिक धूरा बुहारि देलक।

एहि अनुसार ओ सभ कहैत छथि:

हमर सभक प्रत्येक ज्ञान अपन उचित विषयक सूचना देबाक कारण स्वतः प्रमाण अछि। मुदा जँ बाध उत्पन्न हो वा ज्ञान-साधन दोषपूर्ण अछि—ई बुझाईत, तँ ओ प्रमाण नहि रहैत। नित्य वेदक विषयमे दुनू आपत्ति असङ्गत अछि, आ ज्ञान उत्पन्न करब सिद्ध अछि। अथवा, जँ इन्द्रियातीत विषय सिद्ध करबाक हो तँ आपत्तिक स्थान आरो कम अछि।

इन्द्रियगम्य वस्तु एहन अछि वा नहि—ई लोक निश्चित कऽ सकैत अछि। मुदा इन्द्रियातीत वस्तुक विषयमे ओकरा लग कोन उपाय अछि?

तँ वेद केवल ज्ञान उत्पन्न करबाक कारण आ प्रामाण्यक दुनू बाधा नहि रहबाक कारण स्वयं प्रमाण अछि।

एहिपर हमर कथन अछि—वेदक प्रामाण्यक ई मार्ग निश्चय सोझ आ सरल अछि। तैयो ई हमर हृदय नहि जीतैत अछि। शब्द आ अर्थक व्यवस्था मनुष्य-विहीन कतय देखल जाइत अछि? वेदपाठ सेहो पहिल बेर कतहु सँ आरम्भ भेल होयत।

वेदक ई ‘पहिल अवसर’ कहिया छल—एकर कल्पना अहाँ करू। कारण घटक नित्य होइतो वेदक ई विन्यास स्वयं नित्य नहि भऽ सकैत। ध्वनि नित्य मानू, मुदा रचनामे ई स्वभाव नहि देखैत छी; हमर लोकमे रचना निश्चय कर्तापर निर्भर अछि।

अहाँ आपत्ति कऽ सकैत छी—“वेदक लेखकक स्मरण नहि, जेना व्यास आदिक स्मरण अछि।” आउ! ई आरोप खतरनाक नहि। कर्ताक असाधारण स्वरूप ओकरा अप्रत्यक्ष बनबैत अछि। हमरा सन साधारण लोकक प्रत्यक्षमे आबयबला वस्तु वा व्यक्तिकहि स्मृति भऽ सकैत अछि।

आरो, प्राचीन कालसँ लोक कहैत आयल अछि जे समृद्ध वैदिक वाङ्मयक लेखक हिरण्यगर्भ छथि। जँ कहब—“ई परम्परा अर्थवादसँ उपजल अछि”—तँ एहि भेदकें निश्चित करबाक लेल रत्ती भरि प्रमाण प्रस्तुत नहि कऽ सकब।

आरो:

जेना अहाँ कहैत छी जे अष्टका-कर्म आदि स्मृतिक आधारमे सदिखन वैदिक वाक्यक अनुमान करब चाही, ओही प्रकार वेदक लेखकक सेहो सदिखन अनुमान करय पड़ैत; नहि तँ भेद कहू।

अहाँ पूछि सकैत छी—“जकर अनुमान करबाक अछि, ओकर बिना की असम्भव होइत अछि?” तखन वैदिक वाक्यक अनुमान बिना की असम्भव? जँ कहब निर्धारित कर्मक स्मृति असम्भव होयत, हमर उत्तर—रचना असम्भव होयत। जँ स्मृति कार्यस्वरूप अछि, तँ रचना सेहो ओही प्रकारक अछि।

अहाँ आपत्ति करब—“वैदिक वाक्यक आधार बिना मनुक वचन मिथ्या होयत।” अपन प्रयोजनक अनुसार प्रमाणक स्रोत किएक कल्पैत छी?

अथवा:

मनुक प्रतिपादन मिथ्या रहय दिअ; मुदा सैकड़ो वेदशाखा पढ़निहार एको व्यक्तिक मुखमे नहि भेटयबला, कतहु नहि रहनिहार वैदिक वाक्यक अनुमान नहि कऽ सकैत छी। जँ वेदज्ञसभक सम्मानवश ओकर आधारमे वैदिक वाक्य मानब, तँ वैदिक <शब्द>क क्रम सन रचनाक कारण लेखक सेहो मानय पड़ैत।

“वेदक नियमित अध्ययन अपन गुरुसँ नियमित अध्ययनक पूर्वधारणा करैत अछि, कारण ‘वेदाध्ययन’ शब्द एही बातक द्योतक अछि”—ई हेतु अनैकान्तिक अछि।

अहाँ स्वयं कहैत छी जे एहन हेतु प्रभावी नहि, आ ओही समय स्वयं ओकर प्रयोग करैत छी—ई हास्यास्पद अछि।

जाहि प्राचीन रचनाक ख्याति एहन परम्परासँ भेल जकर मूल भ्रम नहि, ओकर लेखकक स्मृति नहि रहितो आरम्भमे लेखक स्पष्टतः होइत अछि।

जँ वेद रचित अछि, तँ लेखकक स्मरण नहि रहितो सज्जन लोक बहुत धनसँ सम्पन्न होयबला ओकर कर्म किएक करैत अछि?

एहन दशामे लेखकक अनुमान कएलोपर ज्ञानीक प्रयास पूर्णतः उचित अछि, जेना स्मृतिमे निर्दिष्ट अष्टका आदि कर्म करबाक लेल वैदिक वाक्यक अनुमानपर आधारित अहाँक प्रयास उचित अछि।

निम्न कारणसँ सेहो वेदक लेखक अछि, जकर सदिखन अनुमान करय पड़ैत अछि:

सर्वजित् यज्ञमे, वैदिक वचनमे स्पष्ट उल्लेख नहि होइतो, कर्म-विधिसँ उत्पन्न अपेक्षाक कारण विशेष फल उचित रूपसँ मानल जाइत अछि। ओतय फल अपेक्षा करनिहार के? वाच्य अर्थ आ वाचक शब्द निश्चय चेतन नहि।

जँ कहब ई बोधक विशेषता अछि, तँ केकर बोध? ओ स्वतन्त्र नहि। जँ कहब हमर बोध, तँ वेदक लेखक मनुष्य सिद्ध होयत।

जखन-जखन हम अर्थ बुझैत छी, तखन ज्ञाता लेखकक अभिप्रायक ज्ञान होइत अछि। एतय अभिप्राय केकर? शब्दक नहि, अर्थक नहि।

जकर अपेक्षाकें कोनो कर्मक अङ्ग वा फल मानबाक कारण मानल जाइत अछि, ओही ओहि कर्मक लेखक अछि। हुनका छोड़ि ई अपेक्षा केकर होयत?

तँ वेदक लेखक अवश्य अछि, भले सदिखन ओकर अनुमान करय पड़य; कारण ओकर बिना कोनो वैदिक क्रिया सम्भव नहि।

‘लेखकक स्मरण नहि’ एहि कथनक विश्लेषण एना करैत छी:

व्यास आ वाल्मीकि सन लेखक, जिनक स्मरण एहि लोकमे सम्भव अछि, सभ सीमित शरीरबला छथि आ हमरा सन लोकक दृष्टिपथमे चलैत-फिरैत

छथि। सम्भव अछि आकाशे हुनक शरीर हो, वा ओ अनेक रूप धारण करथि, वा पूर्णतः अशरीरी होथि—एहन स्थितिमे वेदक लेखक ईश्वर स्मृतिक विषय कोना बनताह?

एही कारण ज्ञानीसभ एहि लेखकक विषयमे विविध कल्पना करैत छथि। वास्तवमे ओ एक छथि, तीनू लोकक कल्याण करबाक समर्थ। समान अभिप्रायबला अनेक देवता नहि मानल जा सकैत। विरोधी अभिप्राय एकसंग पूरा नहि भऽ सकैत, तँ किछु स्पष्टतः देवता नहि रहत।

अतः एकमात्र सर्वज्ञ पुरुष छथि। जँ जगत्क अनेक व्यवस्थापक होइत, तँ या जगत् रचलहि नहि जाइत, वा कोनो प्रकार रचलो तँ कुशासनबला राज्य जेकाँ बहुत दिन नहि टिकैत। भवनक निर्माण अनेक लोक केवल एक वास्तुकारक निर्देशन मानि सम्पन्न करैत अछि; तँ जगत् एक कर्ता द्वारा रचल गेल होयत।

दौड़धूप करैत अनेक लोक सैकड़ो कल्पमे सेहो एहि जगत्क निर्माण नहि कऽ सकैत। मुदा जकर सङ्कल्प सदिखन सिद्ध होइत अछि, एहन एक शुद्धचित्त पुरुष एक क्षणमे एकरा सम्पन्न करैत छथि—ई उचित मत अछि।

आ कहल गेल अछि:

“सृष्टि, पालन आ संहाररूपी अपन कार्यक अवयवसँ सम्बन्धक कारण सम्पूर्ण जगत्क उत्सर्जनक कारण, अद्वितीय, अद्भुत, अजन्मा, परम शक्तिशाली पुरुष ब्रह्मा, विष्णु आ रुद्र नामसँ जानल जाइत छथि।”

जेना ई विश्वात्मा सभ लोकक स्रष्टा छथि, ओही प्रकार शुद्धचित्त ओ वेदक लेखक सेहो छथि। जेना तीनू लोकक व्यवस्था परस्पर निर्भर अछि, ओही प्रकार वेद सेहो परस्पर सम्बद्ध विधि घोषित करैत अछि।

परस्पर जुड़ल विषय वा शब्दमे देखल व्यवस्था आन प्रकार सम्भव नहि; तँ हम निम्न बात मानैत छी:

अतुलनीय सुखक मार्ग देखबयबला, अनेक शाखामे पसरल वेदसभक एकमात्र रचयिता एक शुद्धचित्त ऋषि—अद्भुत, प्राचीन देव—छथि। ओही प्रकार भगवान्केँ सभ शास्त्रक एकमात्र लेखक मानू; कारण, पहिनहि कहल गेल, अनेक लेखकक कल्पना सहज नहि।

अहाँ कहि सकैत छी—“अहो! सभ शास्त्र बिना अपवाद परस्पर-विरोधी अछि, कारण ओहिमे कोनो साझा विषय देखाइत नहि। एक व्यक्ति द्वारा रचित कोना मानब? वा एक-दोसरक खण्डन करैत ओ सभ प्रमाण कोना होयत?”

पहिने अहाँक एहि कथनक परीक्षा होयत—“परस्पर विरोध रहला पर प्रामाण्य कोना?” वेदमे परस्पर विरोधकेँ कोना रोकैत छी? जँ कहब वेद नित्य अछि—अहा! अपनहि घरक कथामे फँसि गेलहुँ। जँ वैदिक वाक्यक विषय-भेद कऽ विरोध टारैत छी, तँ आन शास्त्रक वाक्यमे सेहो ओही प्रक्रिया अपनाउ।

वेदमे दीर्घायु चाहनिहार लेल जामुनक आहुति निर्धारित अछि, आ मरबाक इच्छा रखनिहार लेल सर्वस्वर कर्मक पाठ कहल गेल अछि। जँ विधेय-विषयक भेदसँ एहि वैदिक वाक्यक विरोध दूर करैत छी, तँ आन धर्मक कथनक विषयमे सेहो ओही उपाय अपनय पड़त।

एहि प्रकार, परस्पर-विरोधी होइतो आन पवित्र ग्रन्थक उपदेशमे वैदिक विधिसँ बेसी दोष नहि। अथवा—

परम पुरुषार्थक विषयमे शास्त्रसभमे कोनो विरोध नहि, कारण सभ एक्के फल—मुक्ति—क उपदेश दैत अछि।

तैयो अनुग्रह-योग्य जीवक बुद्धिक अनुसार मुक्तिक अलग-अलग मार्ग सिखाओल गेल अछि। सर्वज्ञ भगवान् देखलनि—“ई लोक अपन रुचिक एहि मार्गसँ परम कल्याण प्राप्त कऽ सकैत अछि”—तँ विविध उपाय सिखौलनि।

जेना एक दुर्ग वा विशाल भवनमे प्रवेश करयबला भीड़ अलग-अलग द्वारसँ भीतर जाइत अछि, ओही प्रकार मोक्षक इच्छुक लोक परम धाममे प्रवेश करैत अछि।

समस्त विद्याक सारमे पारङ्गत, तत्त्वज्ञ, भ्रमरहित प्रतिभाशाली जयन्तक ई बुद्धिमत्तापूर्ण उक्ति एही बातक विषयमे अछि—

“विभिन्न शास्त्रीय मार्गसँ उपदिष्ट अनेक साधन एक परम पुरुषार्थमे मिलैत अछि, जेना गङ्गाक धारासभ समुद्रमे।”

“विरोधी शास्त्रक एक लेखक कोना भऽ सकैत अछि?”—एहि आपत्तिक उत्तर सेहो दऽ देल गेल:

वेद स्वतः प्रमाण नहि, ईश्वर द्वारा उच्चरित होयबाक कारण प्रमाण अछि। आ दोसर दिस, अनेक ईश्वर मानबाक कोनो तर्क नहि।

अलग-अलग लेखकक उल्लेखक व्याख्या दोसर प्रकारसँ होइत अछि।

ओ एक होइतो अपन इच्छासँ रचल विभिन्न शरीर धारण कऽ सभ जीवक कल्याणक लेल सभ प्रकारक शास्त्र उपदिष्ट करैत छथि; तँ समस्त लोकमे प्रसिद्ध ओ सभ अलग-अलग नाम धारण करैत छथि।

शिव, पशुपति, कपिल, विष्णु, दिव्य सङ्कर्षण, जिनमुनि, बुद्ध आ मनु—सभ एक छथि। केवल नाम, सम्भवतः शरीर सेहो, अलग अछि; अविभक्त परमात्मामे अनेकता नहि।

जँ कोनो असाधारण महान् पुरुष ईश्वरसँ भिन्नो हो, तैयो ओ प्रभुक तेज धारण करैत अछि। कृष्ण कहने छथि—

“जे कोनो जीव शक्तिशाली, समृद्ध वा प्रभावशाली अछि, ओकरा हमर तेजक अंशसँ उत्पन्न बुझू।”

अथवा जिन आदि अनेक यशस्वी ऋषि अलग-अलग धर्मक प्रचारमे तत्पर होथि; ओहो परमपवित्रक भक्तिपूर्ण ध्यानसँ प्राप्त शुद्ध, अविनाशी दृष्टिक कारण परम कल्याणदायी उपायकेँ चिन्हताह।

योगी आ

परमेश्वरमे एतबे भेद अछि—परमेश्वरक ज्ञान स्वभावसिद्ध,

जखन कि योगीक ज्ञान ध्यान-अभ्याससँ

प्राप्त होइत अछि।

कुल मिला कऽ, जे लोक वेदकेँ विश्वसनीय पुरुषक रचना

मानैत अछि, ओ एही प्रकार ओकर प्रामाण्य

प्रतिपादित करैत अछि। पाञ्चरात्र आदि प्रत्येक

शास्त्रक प्रामाण्यक विषयमे

तर्कक क्रम एक्के अछि।

ओकर लेखक एक—भगवान्—होथि,

वा अलग-अलग मार्गक ज्ञाता अनेक विश्वसनीय

पुरुष। दुनू स्थितिमे हुनका वा हुनकासभ द्वारा रचित

ई ग्रन्थ अपन प्रामाण्य

वेद जेकाँ नहि गमबैत अछि।

अथवा मानि ली वेद

अनादि अछि आ स्वयं

प्रमाण बनैत अछि; बहुत नीक—पाञ्चरात्र आदि

ई विधिवाक्य सेहो

ओही प्रकार प्रमाण भऽ सकैत अछि।

एतयो लेखकक स्पष्ट स्मृति

हमरा नहि अछि। दिव्य सङ्कर्षण आदि

एहि प्रतिपादनसभक प्रवर्तक छथि,

जेना कठ आदि।

“मुदा,” केओ आपत्ति कऽ सकैत अछि, “लोक नीक जेकाँ

जनैत अछि जे वेद केवल चारिटा अछि। इतिहास

आ पुराणक

विषयमे ‘वेद’ शब्द

गौण अर्थमे प्रयुक्त होइत अछि।

‘ई वेद अछि, ई ब्राह्मण अछि, ई जल अछि, ई अग्नि अछि, ई पृथ्वी अछि’—शब्दार्थक एहि स्पष्ट ज्ञानमे एकाग्रचित्त वृद्ध लोक प्रमाण छथि। तखन कोन बालको उतावलीमे पाञ्चरात्रकेँ ‘वेद’ कहत? वा एहि मतक अनुयायी ऋषि जेकाँ देखाइतो ओकरा ब्राह्मण के कहत?

हम एतय पाँच वा छह वेद अछि—ई नहि कहैत छी; संख्या सर्वविदित रूपसँ सीमित अछि—केवल चारि। मुदा ओ अनेक शाखामे विभक्त अछि; तँ पाञ्चरात्र ओकर एक विशिष्ट शाखा रहय।

केओ आपत्ति कऽ सकैत अछि:

“वैदिक विधिक ज्ञाता सभ शाखासँ एके कर्तव्य—सोमयाग वा पशुबलि सन यज्ञ—जानल जाइत अछि, एना कहैत छथि। कहू, पाञ्चरात्रसँ सम्बद्ध कोनो वैदिक कर्म कतहु देखलहुँ?”

हम उत्तर दैत छी:

अनेक होइतो जे वाक्य अनेक अङ्गसँ युक्त एक कर्मक उपदेश दैत अछि, ओकर साझा प्रयोग होइत अछि। एहि विस्तृत कर्मक किछु नियम किछु विशिष्ट शाखामे निर्धारित कहल जाइत अछि; ठीक एहीकेँ ओकर परस्पर सम्बन्ध मानू।

निश्चित विषयबला एक शास्त्रसँ

दोसर शास्त्रक प्रश्न नहि कएल जा सकैत।

भिन्न विधिबला वेदमे सेहो

एहेन व्यवस्था अछि। एतय सुरा-पात्रक

प्रयोगक विधान केवल सौत्रामणी

यज्ञक लेल विशिष्ट अछि; निश्चय आन

कर्मसँ ओकर सम्बन्ध नहि।

वेद आ स्मृतिमे अलग-अलग

आश्रमक लेल उपदिष्ट आन पुण्यकर्म

की परस्पर गड़मड़ होइत अछि?

ओही समय, अहिंसा, सत्य, सन्तोष,

शुचिता, इन्द्रियसंयम, दानशीलता, करुणा

आदि सभ पवित्र परम्परामे समान धर्म

लोक सदिखन प्रशंसा करैत आयल अछि।

एही बिन्दुपर ई परम्परासभ

वेद आ स्मृतिसँ मेल खाइत अछि।

पाञ्चरात्रक ग्रन्थकेँ लोक जे ‘वेद’

कहैत अछि, ओ कोनो आन

अर्थक द्योतक अछि। सामान्य व्यवहारक आधारपर

विषयक अन्तिम निर्णय नहि भऽ सकैत।

अथवा नाम सत्य अछि कि मिथ्या, एहि चिन्तामे किएक पड़ब?

आयुर्वेद आ धनुर्वेद आदि नाममे

ई प्रयोग नहि भेटैत अछि?

भगवान् विष्णुक उपासना-विधिसँ प्राप्त अलग

विशेष नाम होइतो, एहि उपदेशक अनुयायीकें

लोक सामान्य रूपसँ ब्राह्मण

कहैत अछि—

जेना परिव्राजक भिक्षुकसभकें

सामान्य रूपसँ ब्राह्मण कहल जाइत अछि।

सभ जनैत अछि जे ‘ब्राह्मण’ शब्दसँ हुनक नामकरण होइत अछि। लोक अपन इच्छानुसार सामान्य आ विशेष नामक प्रयोग करैत अछि। ‘ब्राह्मणत्व’ आदि जाति-सामान्यक विषयमे विद्वान् असहमत छथि। किछु कहैत छथि—चारि वर्णक व्यवस्था केवल शब्दपर आधारित अछि। “‘ब्राह्मणत्व’ आदि जाति-सामान्य ‘गोत्व’ जेकाँ प्रत्यक्ष होइत अछि वा अलग प्रकारसँ?”—वास्तविक स्थितिपर एहन विचार अप्रासङ्गिक अछि; एहिसँ कोनो अन्तर नहि पड़ैत। सभ सिद्धान्त आ सभ लोकमे स्थापित वर्तमान व्यवस्था पर कोनो प्रकारक अटकलबाजी नहि होयबाक चाही। तँ जाति अछि वा नहि, एहि चिन्ताकें छोडू। वर्तमान विषय जारी रखैत छी। ई सभ पवित्र शास्त्र वेद जेकाँ अनादि हो, वा अन्ततः रचना मात्र—सज्जन लोक ओकर निन्दा नहि करथि। कनेको निन्दा वेदक निन्दा समान होयत। ओकर दोष खोजयबला मूर्ख पापक भागी अछि। अथवा एना कहू—पाञ्चरात्र आदि पवित्र ग्रन्थक वाक्य मनु आदि स्मृतिवचन जेकाँ वेदपर आधारित होयबाक कारण प्रमाण अछि। प्रत्येक कार्य धुँआसँ आगि जेकाँ अपन सिद्धिक कारण निश्चित करैत अछि। ई कारण मानय पड़त; कारण वस्तुक प्रत्यक्ष बिना कोनो विषयक स्मृति कहियो देखल वा सुनल नहि जाइत। लोभ, मोह, लोककें ठकब, वा सारहीन मानवीय वचनक शृङ्खला—कोनो निर्विवाद तथ्यक आधार नहि बनैत। एतय खण्डनकारी कारण नहि, कारण सक्षम लोक एकरा स्वीकार करैत छथि। वेद अनादि अछि एना माननिहार लोक शास्त्रक प्रामाण्यकें योगिक प्रत्यक्षपर आधारित नहि मानि सकैत। तखन पाञ्चरात्रक वचनक आधार रूपमे वेद शेष रहैत अछि। केओ आपत्ति करत—“एतय कर्तासभक समानता देखाइत नहि, आ ओकर बिना वैदिक वाक्यक अनुमान उचित नहि।”

हम उत्तर दैत छी:

ठीक, कर्ता अलग होयबाक कारण हुनक आचार समान नहि हो; मुदा कार्य निःसन्देह पर्याप्त कारणक अनुमान करबाक योग्य अछि।

केओ आपत्ति कऽ सकैत अछि:

“पहिल तीन वर्णक सदस्यक लेल सैद्धान्तिक सम्भावना रहबाक कारण वेदसँ सम्बन्ध मानल जा सकैत अछि। मुदा कार्यक स्रोत केवल ओकर कारण अछि, आ

एतय ई कोनो कारणसँ उत्पन्न भऽ सकैत छल।”

हम उत्तर देब:

धर्मक विषयमे केवल वेद प्रमाण अछि, आन किछु नहि। एही कारण एतय वेदकें स्रोत कहल गेल, कर्तासभक समानताक बलपर नहि। एही कारण योगिक प्रत्यक्षक सिद्धान्तक सेहो आवश्यकता नहि।

एतय कर्ता समान होथि वा नहि। प्रत्येक दशामे धर्म नामक एहि कर्तव्यक स्रोत केवल वेद अछि।

जँ जिन, कपिल वा बुद्धक उपदेश आदि सभ शिक्षाक आधार एतय न योगिक प्रत्यक्ष हो, न वेद, तँ अनेक आर्य द्वारा स्वीकारल ओकर असीम विस्तारक कारण मोह कोना भऽ सकैत अछि? किछु स्थानपर तँ पूर्ण सहमति सेहो भेटैत अछि।

मोह किछु दिन धरि ओकरा टिकौने राखि सकैत अछि; मुदा युग-युग धरि एहन मोह टिकैत अछि—ई कहब विलक्षण कल्पना होयत।

अहाँ पूछब—“के जानय जे प्राचीन कालमे बौद्ध छलो कि नहि?” तखन के जानय जे प्राचीन कालमे वेदज्ञ ब्राह्मण छलो कि नहि?

अथवा जँ कहब लोभ आदि एतय प्रत्यक्ष स्रोत अछि, तँ पाखण्डी लोक पलटि कहत जे वेदो जीविकाक साधन अछि।

दोसर दिस, बृहस्पतिक मतक अनुयायी द्वारा

बकबकाओल निन्दाक शृङ्खला

वेदक विषयमे आदर्श पुरुषक स्वीकृतिक कारण

दूर कएल जाइत अछि, तँ आन शास्त्रक

उपदेशक विषयमे सेहो ओही प्रकार

दूर कएल जा सकैत अछि; कारण कहल जाइत अछि जे बुद्धिमान् लोक

ओकरो स्वीकार करैत छथि।

वेदक प्रामाण्य सिद्ध करबाक लेल जतेक प्रकारक

जतेक तर्क प्रस्तुत करब,

आन धार्मिक सिद्धान्तक विषयमे सेहो

ओ समान मूल्य रखैत अछि।

‘जगत् सदिखन एखन जेकाँ रहल अछि’

अहाँक ई कथन आन लोक सेहो

ओही प्रकार कहैत अछि—ओ धर्मसभ सेहो सदिखन रहल अछि।

मुदा चर्चा सङ्क्षिप्त करी। बहुत बोलनिहार

लोक अप्रिय होइत अछि; तँ आब अपन जीहक

अत्यधिक बकबक रोकेत छी।

धार्मिक शास्त्र सत्यवादी, विश्वसनीय

पुरुष द्वारा कहल होयबाक कारण प्रमाण अछि; वा

वेद जेकाँ अनादि होयबाक कारण

स्वयं प्रमाण; वा मनुक उपदेश जेकाँ

वैदिक परम्पराक अनुकूल होयबाक कारण।

सभ शास्त्र प्रमाण अछि—एना

नीतिशास्त्रीसभ कहैत छथि।

अहाँ आपत्ति कऽ सकैत छी:

“एहि प्रकार अनुचित विस्तारक तर्कदोषसँ पृथ्वीक सामाजिक-धार्मिक व्यवस्था पूर्णतः नष्ट भऽ जाएत। कोनो प्रतिपादन जतेक निरर्थक हो, ओकर विषयमे सेहो एहि प्रकार कहब असम्भव हो—एहन एक उदाहरण कहूँ।”

एहि आपत्तिक उत्तर एना अछि:

जकर व्यापक रूपसँ मान्य, अखण्ड परम्परा हो; जकर संग सम्बन्ध वा चर्चा करबामे आर्यसभ घृणा नहि करथि; जकर स्वीकृत आचार समाजविरोधी वा खतरनाक नहि हो; जे एखनहि अचानक उत्पन्न नहि भेल हो; जे पागलक बकवास, विचित्र कल्पना वा केवल लोभ आदिपर आधारित नहि हो— एहन शास्त्रपर एहि प्रामाण्य-विधिक प्रयोग भऽ सकैत अछि, प्रत्येक ग्रन्थपर नहि।

केवल एहन शास्त्रक विषयमे कहि सकैत छी—ई विश्वसनीय पुरुष द्वारा कहल, अनादि, वा वैदिक परम्परापर आधारित अछि; प्रत्येक स्थितिमे नहि। आ ई श्रेष्ठ वादी ओहि कोनो शास्त्रकेँ प्रमाण नहि मानताह जाहिमे धृणित कर्तव्यक उपदेश हो—जेनाकि निषिद्ध स्त्रीसँ मैथुन वा अपवित्र वस्तुक भोजन।

(अपन वक्तव्य समाप्त कऽ धैर्यराशि एक क्षण मौन रहैत छथि, फेर सङ्कर्षण दिस घुमैत छथि:)

आर्य, अपन बुद्धिक सर्वोत्तम सामर्थ्यअनुसार कहलहुँ। आब आसनक्रमे एहि आदरणीय वादिसभसँ पूछी जे हमर वचन हुनक हृदय जीतलक कि नहि।

सङ्कर्षणः (आनन्दसँ) माननीय धैर्यराशि, निश्चिन्त रहू—अहाँ द्वारा प्रवाहित विद्याक एहि नवीन नदीसँ हम सभ मानू पुनर्जीवित, परमकल्याणप्राप्त, शुद्ध, पुष्ट, आ एहि सांसारिक जीवनक लक्ष्यक अनुभव कएने भेलहुँ। अहा, अद्भुत! कतेक सूक्ष्म बुद्धि! कतेक प्रवाहमय वाणी! दर्शन आ शास्त्रमे कतेक निपुणता! ईर्ष्या आदि दोषसँ मुक्त कतेक निर्मल मन! अथवा एहि व्यक्तिमे कोन गुण अपन चरम सीमा धरि नहि पहुँचल? लोक सदिखन कहैत आयल अछि—साहतक समान दोसर जन्मलहि नहि।

ई आचार्यसभ सेहो गुण ग्रहण करबामे समर्थ छथि; तखन अहाँ हुनक हृदय कोना नहि जीतब? पूछी? (वादिसभ दिस घुमैत) आदरणीय आचार्यसभ, धैर्यराशिक वचन अहाँक हृदय जीतलक?

वादिसभ: आर्य, कमसँ कम हुनक विद्वत्ता मनुष्यसँ परे अछि।

<सङ्कर्षण:> माननीय धैर्यराशिक एहि वचनक कारण अहाँक बुद्धि ब्रह्मर्षिसभ जेकाँ सदिखन शुद्ध रहत। ई वचन नीतिज्ञानक अक्षय धारा बरसबैत, अनुपम प्रवाहमय आ द्वेषरहित अछि। तैयो अहाँसभकेँ

बारम्बार स्मरण कराओल जाइत अछि—सज्जनसभ, दू बातक पालन अहाँसभकेँ अवश्य करय पड़त।

वादिसभ: कोन दू बात?

सङ्कर्षण: जेना कहल गेल, ई धार्मिक परम्परासभ परस्पर मिश्रित नहि; प्रत्येक अपन स्थापित रूपमे अपन-अपन क्षेत्रमे रहैत अछि। सज्जनसभ, ओकर मिश्रण नहि हो—एहि बातपर सदिखन ध्यान दी।

वादिसभ: आर्य, मनु द्वारा उपदिष्ट अहिंसा आदि सार्वभौम धर्म, जे प्रत्येक अपन सिद्धान्तमे परम्परासँ प्राप्त अछि, ओकर विषयमे की कही? मुदा तकर अतिरिक्त, अपन शास्त्रक वचनक विरुद्ध आचरणक भय सँ हम विशिष्ट रूपसँ उपदिष्ट अलग-अलग कर्मकाण्डक मिश्रणसँ बचैत छी। एना पहिल बात निश्चित भेल। दोसर बात की?

सङ्कर्षण: जे लोक मुँहसँ अहाँक नाम लैत अछि आ अपन दुष्ट आचरणसँ शास्त्र आ धर्म दुनूकेँ उलटि दैत अछि, ओकरा अपन धर्ममे प्रवेश नहि दी।

वादिसभ: ईहो निश्चय कएल जाएत। मुदा ई केवल हमर सभक वशमे नहि। आर्य आ राजक अधिकारीसभ एकरा सम्पन्न करा सकैत छथि।

सङ्कर्षण: ठीक कहैत छी। वर्णाश्रमक स्थापित नियमक उपदेशक महाराज निश्चय एहि अवसरकेँ ग्रहण करताह। अहाँसभ एहन लोकसँ अलग रहू; हुनक प्रति सहानुभूति नहि रखू।

वादिसभ: जेना आर्यक आज्ञा।

सङ्कर्षण: आब उठी आ अपन-अपन काज करी। प्रत्येक व्यक्ति स्थापित आचारक अनुसार अपन धर्मक पालन करय। माननीय धैर्यराशि, आउ; जेना घटना भेल, से अपन स्वामीकेँ निवेदन करब।

सभ गोटे प्रस्थान करैत छथि।

चतुर्थ अङ्क समाप्त।

आगमडम्बरम्

जयन्त भट्टक नाट्य-कृति

मूल संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद
गजेन्द्र ठाकुर

सम्पादक

विदेह — प्रथम मैथिली पाक्षिक ई-पत्रिका



www.videha.co.in

MUCH ADO ABOUT RELIGION

(*AGAMADAMBARA*)

Jayanta Bhatta

Nyaya philosopher

Original Sanskrit-to-Maithili translation by

Gajendra Thakur

Editor · Videha

First Maithili Fortnightly eJournal

www.videha.co.in

MUCH ADO ABOUT RELIGION (AGAMADAMBARA)

Jayanta Bhatta (Nyaya philosopher)

Original Sanskrit-to-Maithili translation by Gajendra Thakur

Publication Details

Maithili translation © Gajendra Thakur, 2026

Original work: Agamadambara · Jayanta Bhatta

Original Sanskrit-to-Maithili translation: Gajendra Thakur

Editor: Videha — First Maithili Fortnightly eJournal

www.videha.co.in

All rights reserved.

CONTENTS

Dramatis Personae	4
Prologue — Disillusion	5
Prelude to Act One — The Buddha's Teaching	7
Act One — The Buddhists Defeated	10
Prelude to Act Two — Lustful Ascetics	17
Act Two — The Feast of Dispassion	20
Prelude to Act Three — Panic Among the Fearless	26
Act Three — Religion Denied and Defended	28
Prelude to Act Four — Orthodox Impostures	39
Act Four — Qualified Tolerance	41

DRAMATIS PERSONAE

In order of appearance on stage -

Original Sanskrit Role	English Stage Role
Sutradhara	DIRECTOR (stage manager and leader of the troupe)
Pariparshvaka	ASSISTANT to the Director
Bhikshu	BUDDHIST MONK Dharmottara
Upasaka	LAY DISCIPLE of Dharmottara
Sankarshana, Snataka	SANKARSHANA, a Mimamsaka graduate; later a royal official of King Shankaravarman
Batu	BOY, Sankarshana's pupil
Prashnikah	ARBITERS of the learned debate
Cheta	SERVANT
Kshapanaka	JAIN MENDICANT
Kshapanika	JAIN NUN
Bhikshu	JAIN SAGE Jinarakshita
Shishyah	DISCIPLES of Jinarakshita
Tapasah	JAIN ASCETICS
Nilambarah	BLACK-BLANKET ASCETICS, an antinomian group
Prathamah Sadhakah	FIRST SHAIVA ADEPT, Kankalaketu
Dvitiyah Sadhakah	SECOND SHAIVA ADEPT, Shmashanabhuti
Purushah	ATTENDANT / MESSENGER
Bhattarakah	DHARMASHIVA, Shaiva abbot of the doctrinal monastery
Tapasah	SHAIVA ASCETICS
Vridhdambhih	VRIDDHAMBHI, a materialist (Charvaka) philosopher
Shishyah	HIS DISCIPLES
Ritvik	VEDIC OFFICIANT
Upadhyayah	VEDIC TEACHER
Manjirah	MANJIRA, a royal official
Dhairyarashih	DHAIRYARASHI (also called Bhatta Sahata), eminent Nyaya philosopher
Vadinah	DISPUTANTS / RELIGIOUS TEACHERS

PROLOGUE

DISILLUSION

May Brahman, which gradually destroys beginningless ignorance,

in which an intense and ever-new bliss shimmers, and upon the first descent to whose level of awareness the desire to enjoy every other delightful object falls still, shine forth before you.

When the benediction is over, the DIRECTOR speaks:

DIRECTOR: Shame, shame! The actor's livelihood is truly contemptible – an unending uproar of gross pretence and deceit. Shiva, Vishnu, Brahma, sages, kings, brutish fools, libertines, cowards, heroes, the happy and the miserable: without the least embarrassment before the public, an actor assumes every one of these forms. In truth, merely to fill his stomach, he relies upon the craft of impersonation.

It would be better to abandon this base art, whose reward is small, whose hardship is great, and whose humiliation is greater still. I shall attach myself to a teacher's household in some hermitage and strive for the highest human goal – the ending of every sorrow. (Reflecting.) But before I depart, to whom shall I entrust the wretched burden of my destitute family? (Looking ahead.) First I must learn what my assistant thinks. The ASSISTANT enters, looks at the DIRECTOR, and says:

ASSISTANT: Why does disillusionment make his face look so dejected today? I shall ask him. (Approaching.) Sir, why is there such sorrow on your face? Surely the Commentator's pupils have not assigned you some task?

The DIRECTOR repeats what he has said, down to "the ending of every sorrow."

ASSISTANT: Do not give way to disillusionment; there is no need. Among gods, human beings, or animals, who has ever escaped deception and illusion and attained the highest state? From Brahma down to the beasts, this whole multitude of creatures wanders through existence only because of illusion. How is your condition worse than theirs? Since the conduct of the entire world, deluded by illusion and ultimately unreal, is what it is, how could our conduct be different?

DIRECTOR: Friend, you speak truly. Yet even if my conduct is no worse than theirs, I find it impossible to continue it.

ASSISTANT: Why so, sir?

DIRECTOR: Friend, have I not laboured to stage the ten kinds of drama taught by the sage Bharata? But now the respected Bhatta Jayanta has arrived. Because he wrote an exegetical work on grammar while still a child, he is also famous as "the Commentator." His circle of pupils has ordered me to stage their teacher's new work, an extraordinary play called Much Ado About Religion. But how am I to stage it? It is not founded on a worldly plot, it does not follow the rules of dramaturgy, and it has never been performed before. I therefore think it best to abandon this wretched livelihood.

ASSISTANT: Do not speak so, sir. It is useless to oppose the command of these honourable pupils of the Commentator. You are worried that the play does not follow the rules – but is that the director's fault? The poet composes without the least regard for Bharata's teaching; nevertheless, his pupils promote the work, and those same pupils will be your audience. So stage it. Why would any other impartial person trouble to search for faults in it?

DIRECTOR: I am not concerned about public criticism.

ASSISTANT: Then are you frightened by some threat from the king?

DIRECTOR: (Smiling.) Not that either.

ASSISTANT: Then why delay? Assign the actors their separate parts as Buddhists, Jains, and so forth.

DIRECTOR: Friend, I can no longer endure this actor's livelihood, filled with deception and illusion. Let the poem break the rules or obey them; let people be angry or pleased – I have become detached from it all. This very day I shall abandon the profession and set out on pilgrimage.

Either support my impoverished family, or come with me.

I myself long to know the truth. Let us enter this great monastery nearby, where hundreds of monks free from passion reside and show the path to final liberation.

They both exit.

END OF THE PROLOGUE

PRELUDE TO ACT ONE

THE BUDDHA'S TEACHING

(A BUDDHIST MONK in a red robe enters, seated on a low stool, with his lay DISCIPLE before him.)

MONK: (With detachment.)

Alas! Such is the course of this beginningless round of existence: a deluded creature is born, then dies; dying, it is born again. A wise person who sees this road of suffering should turn the mind toward that state in which both birth and death come to an end.

DISCIPLE: Venerable sir, what is this state beyond the workings of birth and death, and by what means is it attained?

MONK: Intelligent friend, if you truly wish to know, now try to understand the Four Noble Truths.

DISCIPLE: Venerable sir, what are those Four Noble Truths?

MONK: Intelligent friend, they are suffering, the cause of suffering, the cessation of suffering, and the path.

DISCIPLE: Venerable sir, that much has not opened my understanding. Please explain it fully.

MONK: Noble friend, I shall explain.

First, everything that exists is suffering – the opposite of pleasure in personal experience. That from which suffering arises is its cause, namely the power of delusion. Nirvana, the ending of all affliction, is cessation. Those who reason correctly call the means by which nirvana is attained the path.

DISCIPLE: Venerable sir, by what means does the self overcome these deep waters of suffering, which have flowed without interruption for so long and are so difficult to cross, and come to rest in nirvana?

MONK: Good man, you have not understood. In truth, there is no entity called a self that escapes the crisis of suffering and reaches nirvana. The firm pillar that keeps standing the prison of worldly existence, where cruel torments are endured, is precisely the insistence upon a permanent self.

Understand this:

A creature who thinks, "This is I," will inevitably think, "This is mine." A dull mind caught in the notions of "I" and "mine" will not abandon its harmful desires.

For one whose craving has not been pacified, the practice of detachment is far away; and without the practice of detachment, how can the ocean of existence be crossed?

DISCIPLE: Venerable sir, if there truly is no permanent self, who experiences the suffering of worldly existence? Or who rises above it and reaches the realm of nirvana?

MONK: (Smiling.) Child, if there were a permanent self, then cessation, nirvana, the highest good, or perfection would be even more impossible, since what is permanent cannot cease. Therefore this world is consciousness alone, stained by its many forms such as pleasure and pain, and

assuming innumerable forms in accordance with the various latent impressions active in its beginningless stream. When this path of meditation on selflessness and the rest removes the many stains produced by clusters of adventitious qualities and establishes consciousness in its pure state alone, then whether the stream continues or the stream itself is cut off, therein lies the swift road to nirvana.

DISCIPLE: Venerable sir, if there is no permanent self, who in the next world experiences the results of his own actions? And in this world, to whom belong activities based on memory?

MONK: I shall explain it properly.

A permanent entity can possess causal efficacy neither successively nor all at once. Since it lacks efficacy, it is not ultimately real.

The wise say, "Only that which has the capacity to perform a causal function is ultimately real." Listen further:

Whether or not this pot is by nature perishable, it cannot be destroyed by a hammer or any other cause. Such a cause would be either pointless or powerless; and if that cause were absent for an age, the pot would not be destroyed.

Therefore an entity perishes the very moment it comes into being, yet because it remains within a single continuum it appears real. Because there is a continuum, one can readily imagine a permanent agent who is himself

the experiencer of the fruits of that agent's actions and the basis of memory and other activities.

DISCIPLE: If all entities are momentary and do not endure into a second moment, how does consciousness make one of them its object? Plainly, the object must be illuminated by cognition either simultaneously with cognition or after it. Or even if it produces cognition, it cannot be made an object until cognition has become delimited and assumed some form. Otherwise the direct perception of a momentary object cannot be explained.

MONK: Noble friend, when the matter is seen clearly, no entity at all becomes an object of cognition. Consciousness itself appears patterned with blue, yellow, and other forms. You ask why?

A person does not experience cognition and its object as two distinct forms at the same time. And if an insentient object were grasped by self-luminous cognition, the act of grasping would be apprehended first, just as the light of a lamp is seen first. Yet cognition without form cannot be grasped. Therefore cognition itself shines forth in different forms. How could there be some other external object?

For this reason everything is empty, everything is momentary, everything lacks a permanent essence, and everything is suffering. By meditating in this way, a person attains nirvana.

A wooden gong sounds offstage.

DISCIPLE: (Listening.) Venerable sir, that must be the wooden gong announcing the time for the community of monks to assemble. Please decide what we should do now.

MONK: Then let us make sure we are not late. (They rise, begin to leave, and look around.) A young Brahmin is approaching – a sacred thread as white as lotus fibre across his dark chest, and a bamboo staff in his hand. Let us act appropriately, or he will make us miss the appointed time.

DISCIPLE: Venerable sir, this young Brahmin has been standing here for a long while. He arrived at the very moment you sat beneath this tree, but you did not notice him. Hidden behind the tangle of vines, he has heard your entire teaching.

MONK: Be that as it may. Why should such a man delay us now?

The MONK exits with his DISCIPLE.

ACT ONE

THE BUDDHISTS DEFEATED

SANKARSHANA, the Graduate, and the BOY enter as described.

SANKARSHANA:

I have studied the Veda according to rule, mastered the six ancillary sciences, and examined Mimamsa as well. Thus I have fulfilled the duties proper to a twice-born man. Yet all my labour in study will seem fruitless until I humble those enemies of the Veda who ceaselessly foul their speech by brandishing the deadly weapons of false reasoning.

And these foolish disciples of Shuddhodana's son stand foremost among those who tear the Veda apart. Therefore, when punishment is dealt out as to thieves, they shall come first. (He walks on.)

BOY: Sir, I have brought the things for your bath. You were on your way to bathe.

SANKARSHANA: So what?

BOY: The circumstances do not seem favourable. All these people on the road must be going toward the monastery.

SANKARSHANA: Then let us first observe the monks in this monastery. We shall bathe afterward.

BOY: As you command, sir.

They walk on.

SANKARSHANA: (Looking ahead.) Ah, what a delightful monastery! For here are -

lofty temple spires rivalling Himalayan peaks gleaming in moonlight; dense mango groves; charming vine-bowers carpeted with grass; and bees, their bodies reddened by lotus pollen, hovering over a lotus pond whose water, thrilled by emerging lotus shoots, imitates the autumn sky.

He looks toward the lotus pond.

Reflections of the trees along the bank - branches pointing downward and spreading roots upward - adorn the water of the pond. In the water I can see birds perched upon branches, their beaks open as they eat pieces of fruit.

BOY: Sir, look at the abundance of offerings: flowers, incense, sandalwood, camphor, saffron, and musk paste. All are offered to golden images of the Buddha, richly coloured and ornamented, from which a dense and immense radiance pours. The images stand in temples as high as Mount Meru, adorned with many-coloured banners trembling in the gentle wind. Ah, wonderful!

SANKARSHANA: (Looking.) This is plainly no training-ground for ascetics; it is a royal pleasure garden! What times! What customs!

Wealthy people, plundered by licentious guides, have wandered entirely onto a futile path and are throwing their varied riches at an unworthy object.

Even if this religion were not a fraud, such a profusion of amusements, fit for restless people, would be pointless for those who claim to have turned their minds away from sensual pleasure, devote themselves repeatedly to meditation, and sustain life by the barest means.

BOY: Sir, look, look! On the terrace of that whitewashed building, the Buddhist devotees seem ready to dine. Clouds of perfume, flowers, and incense fill all ten directions.

SANKARSHANA: Well observed. If they see us, these monks may restrain their conduct. Let us therefore hide in this vine-bower and watch their behaviour for a while.

They do so.

SANKARSHANA: (Watching eagerly.) Astonishing! In their haste to eat the monastery meal, not one of them has performed bathing or any other purification.

BOY: Never mind bathing - they have not even changed their clothes!

SANKARSHANA: (Looking closely.) Their method of purification by sipping water is like that of Shudras! Ah! People of all four social classes and those of mixed birth are eating in the same row! What delightful discipline this monastery has!

BOY: Sir, look further! These full-bodied serving women are ready to distribute the food, and their darting glances hold the monks' eyes captive. And some drink is being served in spotless vessels.

SANKARSHANA:

Here is wine under the name of "fruit juice," and meat pronounced suitable for vegetarians. Ah, what rigorous austerity!

BOY: Sir, look, look at that monk! Though thirsty, he drinks less with his tongue from the cup in which blue lotuses float than with his eyes from the clear faces of the serving women.

SANKARSHANA: Enough. We have seen the monastic discipline of those who are free from passion.

BOY:

A home in a pleasure garden, drink and food readily available, and no nuisance of rules - blessed are those who become Buddhists!

SANKARSHANA: Enough mockery. The famous and greatly learned Buddhist monk Dharmottara is approaching. Having finished his meal, he is coming down from the palace to sit on a grassy place in the shade of a tree. Come, let us approach him.

The BUDDHIST MONK and his DISCIPLE enter as before.

MONK: Noble friend, have you held in your heart the teaching of the supremely compassionate Lord Bodhisattva?

DISCIPLE: Venerable sir, please favour me with it once again.

MONK: The young Brahmin we saw earlier is still here. His face shows that he is eager to speak.

SANKARSHANA: (Approaching.) Monk, are you well? I hope there has been no obstacle to your religious practice.

MONK: Welcome. This grassy place is not impure. Please sit.

SANKARSHANA: (Sitting.) But what have you, as his teacher, just taught him, that you were asking whether he understood?

MONK: (To the DISCIPLE.) Answer his question.

SANKARSHANA: What an insult - "Disciple, answer him"! Boy, listen to what he says.

MONK: Brahmin, the correct construction should be, "Learn from him."

SANKARSHANA: My dear red-robed man! That grammatical rule does not apply to such ravings: "When instruction is properly given, the noun denoting the teacher takes the ablative case." Look - the only suitable construction here is, "He listens to an actor in the genitive case."

MONK: Ah, what bitter speech from this twice-born man! He regards the teaching of the supremely compassionate Lord Buddha, sole master of the three worlds, as raving!

SANKARSHANA: (To the DISCIPLE.) Now tell me: what has he taught you?

DISCIPLE: My teacher taught me the Four Noble Truths: suffering, the cause of suffering, the cessation of suffering, and the path.

SANKARSHANA: (Smiling.) Is that the teaching of the Supremely Compassionate One? And is it not raving to glorify the realization of selflessness as the path that grants liberation?

MONK: Brahmin! To people such as you, instruction in ultimate truth will indeed seem raving. Your intelligence has been polluted by practising the doctrine that killing animals and other living beings offered in sacrifice to Agni and Soma is a means of attaining liberation!

SANKARSHANA: What? This fallen Buddhist even finds fault with Vedic injunctions! What shall I do? Before whom can I state my case? This monastery is filled only with a community of enemies of Dharma. (Looking around with delight.) Excellent! As the fruit of my merit, Vishvarupa and these many respected teachers have arrived, eager to see the monastery garden. They will readily serve as arbiters for me. Good - an opportunity has arisen to punish these offenders. As many ARBITERS as the production permits enter.

ARBITERS: From the radiance of their faces alone, we can tell that this Graduate, Sankarshana, and this Buddhist monk, Dharmottara, are disputing with one another. Come, let us see. (They take a few steps toward the assembly.)

MONK: Welcome, gentlemen! Please sit here. (He indicates the grassy place.)

ARBITERS: (Sitting, to the MONK.) What subject are you discussing?

MONK: This wearer of the sacred thread calls the Bodhisattva's teaching raving.

SANKARSHANA:

Here I am, here is the monk, and here are you discerning arbiters. What better opportunity could there be to weigh the strong and weak sides of an argument?

ARBITERS:

If your discourse is truthful, restrained, and founded upon established fact; if you avoid speech crowded with deceitful disputation, futile rejoinders, points of defeat, and noisy fallacies; if there is not the least envy in your hearts, harshness in your words, or frowning on your faces; if this is to be a learned debate among honourable men - then we are always ready to serve as examiners.

MONK AND SANKARSHANA: As the gentlemen command.

ARBITERS: Which of you first stated his proposition?

SANKARSHANA: The monk, while instructing his pupil, has already presented the prima facie position.

MONK: (To SANKARSHANA.) Did you hear it?

SANKARSHANA: Yes, I heard it.

MONK: Then repeat it.

SANKARSHANA: Certainly. I shall state it briefly:

Suffering, its cause, and its cessation, together with the path by which cessation is attained, called the "realization of selflessness," are all established when momentariness is proved.

Entities are momentary because they exist, and no cause is required for their destruction. Memory and similar activities are possible through causal relations within a continuum.

Yet an external object, being momentary, cannot become an object of cognition. It is consciousness alone that shines forth, patterned in countless forms.

Therefore everything is empty, everything is momentary, everything lacks a permanent essence, and everything is suffering. Through meditation in this manner, nirvana is attained.

(To the MONK.) Is that correct?

MONK: (Contemptuously.) Yes, in brief.

SANKARSHANA: Now it is my turn.

ARBITERS: We are listening attentively.

SANKARSHANA:

Even if the path to the highest good described above existed once momentariness had been proved, a close examination of entities reveals that they do not conform to momentariness in the slightest.

MONK: Why not?

SANKARSHANA: Simply because there is no sound reason supporting it.

MONK: But a reason has been given: "because they exist."

SANKARSHANA:

The reason that you Buddhists call "existence" cannot be directly shown to pervade the property to be proved - namely "momentariness" - as smoke is pervaded by fire, because no example supporting it can be found. Therefore this reason is futile.

MONK: What of that? Even if the pervasion is ascertained through negative concomitance, it is still ascertained. Since "existence" is excluded from a permanent entity because such an entity has no causal efficacy either successively or simultaneously, and since existence can be found nowhere else, it must take its place in momentary entities.

SANKARSHANA:

Existence is excluded from your momentary entity even more thoroughly than from a permanent one, because the momentary entity too cannot possess the inseparable property in question.

Consider:

If an entity acted after it had arisen, it would no longer be momentary. But if death swallowed it the instant it arose, how could it ever receive a second opportunity to act?

MONK: The causal relation between momentary entities is nothing more than this: after cognition A, cognition B occurs; in other words, one cognition arises following the previous one.

SANKARSHANA: Much more could be said on this subject, but let it rest for now. I maintain that in this doctrine the condition of being a cause is itself unreal, since an entity is a material cause in relation to some particular effect. In that case all transactions dependent on causation would fail - for example, the capacity of each cognition in a continuum to experience the fruit of its own former action. Or suppose some kind of causal relation does exist here; exactly the same relation would then hold with a different moment of cognition arising in another continuum.

The MONK lowers his eyes and draws lines on the ground.

SANKARSHANA: Or even if we grant that the causal relation is genuinely established, since cognitions remain mutually distinct, who would experience the fruit of whose action?

And in the inference, "An entity is momentary because it exists," the reason is contradictory, for it proves the opposite of the property intended to be proved.

MONK: How so?

SANKARSHANA: It has been shown that a momentary entity cannot be causally effective. A permanent entity, however, can act successively or simultaneously together with auxiliary causes. That is precisely what causal efficacy means, and thus its permanence is proved.

The MONK remains silent.

SANKARSHANA:

Just as the production of an entity depends upon a cause, so does its destruction, because the positive and negative concomitance are the same in both cases: the effect is present when the cause is present and absent when the cause is absent.

MONK: But in the case of a cause of destruction, positive and negative concomitance are established differently, because it is the cause of a different continuum. In the case of a cause of production,

positive and negative concomitance cannot be established in that way, because there is no other kind of effect.

SANKARSHANA: (Smiling.) Do you say this from attachment or from aversion? Some thinkers hold that it is difficult to say, "There is no other kind of effect," since manifestation and the like are possible.

MONK: No effect has ever been observed to arise without a productive cause.

SANKARSHANA:

Have you ever observed an effect perish without a destructive cause?

MONK: Then, if no destructive cause were present, a pot would not perish even after an age had passed.

SANKARSHANA: (Sarcastically.) Have mercy! If a pot became eternal, ordinary life would cease, mankind would be ruined, and the everlasting death of a world consisting of pots alone would hover above our heads! Let what has no cause of destruction, such as space, remain eternal - what harm is there in that? But a composite entity does have a cause of destruction, since the separation of its parts and similar events are inevitable. And fool, even if we accepted your doctrine, would the continuum of pot-moments not also remain indestructible? If a cause belonging to a different continuum arose within it, then on my doctrine a destructive cause would arise in precisely

the same way - the sequence of reasoning is identical. Such, then, is the true condition of the doctrine of momentariness.

The MONK sits in shame.

DISCIPLE: You contemptible Brahmin! How dare you insult the venerable master?

BOY: You mongrel! Is that how you speak to my teacher?

DISCIPLE: Whose teacher is he? Only this camel-faced brat's.

The BOY leaps up in anger and moves to slap the DISCIPLE across the face.

SANKARSHANA, MONK, AND ARBITERS: Peace! (They separate the two.)

SANKARSHANA: Recognition, which apprehends a lasting object in the form "This is that very same thing," also refutes this reason. Or leave recognition aside. The direct perception of a person who does not blink, which apprehends an object as having uninterrupted existence, undoubtedly contradicts it as well. In spite of such perception, certain fools say, "Perception grasps the separate moments of an object." This claim is plainly refuted, because a single moment cannot endure for a long time, and in that case apprehension of this kind could never occur.

ARBITERS: Do not go into greater detail now.

Graduate, our ears have been delighted by the chain of reasoning you presented. The doctrine of momentariness has thereby been refuted. Now say something about the doctrine that consciousness alone is real.

SANKARSHANA: Listen, monk. Let us grant that an object and the cognition that apprehends it are not perceived simultaneously. When you say, "The form of cognition appears," does cognition reveal its own form or the form of something else? No cognition occurs in the form "I am blue." What accords with the facts is a cognition that knows an object as "that," distinct from itself. Therefore an external knowable object must exist.

MONK: If it exists, why is it not experienced?

SANKARSHANA: Who said it is not experienced? It is certainly experienced in the form "This is blue."

MONK: Good man, that is an appearance of cognition, because cognition is luminous by nature. It is not an appearance of the object, because the object is insentient. And you yourself said that the two cannot appear simultaneously.

SANKARSHANA: When cognition appears, it too appears not as its own light but as the illumination of another object, because this illumination is the illumination of what is illuminated, not merely the illumination of illumination. Such is the manner of lamps and other lights. It has been said, "The three lights illuminate themselves

and other things." Yet at that time cognition itself does not in fact appear; blue and the other forms appear. And blue and the other forms are not "cognition," because their nature as cognition has not been established by positive and negative concomitance, as cowhood is.

The MONK remains silent, lowers his eyes, and draws lines on the ground.

SANKARSHANA: Honourable arbiters, tell us: which of the two positions is superior?

ARBITERS: Why ask us? By remaining silent, the monk himself supports your position.

SANKARSHANA: Then I shall now go to bathe. Forgive me. You have seen the spectacle; do whatever you consider proper. (To the MONK.) Monks, if your effort is meant to secure a better next world, stop and abandon it, for its result is the opposite. But if all this labour, supported by heaps of hypocrisy and imposture, is merely to earn a living, continue as you please.

All exit.

END OF ACT ONE

PRELUDE TO ACT TWO

LUSTFUL ASCETICS

The SERVANT enters.

SERVANT:

In this comfortless Brahmin household I can neither drink chilled wine, nor make love with serving women, nor readily obtain a dish of meat.

What am I to do? A man born a slave has no path open to him if he turns away from his master – that is certain. Every errand my master devises and sends me upon is such that I cannot even stop to eat or drink as I run. Just now he ordered me, "Kalu, go and see whether the sage Jinarakshita is in the Jain ascetics' retreat." I do not even know where their retreat is. (He walks, looks at the path, and reflects.) The ground here is mottled with uprooted specks of dust and scattered clumps of hair like the bristles of grain. So the Jain ascetics' retreat must be somewhere in this wood. (He takes a few steps, looks ahead, and brightens.) This must certainly be it. There, beneath a tree in the darkness of a thick tangle of vines, a mendicant seems to be trying to placate an angry nun. (He watches for a while.) That demoness of a nun must be furious. The young mendicant fell at her feet, yet she shook him off and went away. The poor man's face looks miserable too.

A JAIN MENDICANT enters carrying a peacock-feather whisk.

JAIN MENDICANT: (Weeping.) Alas, wretched me! In the futile hope of a better next world, I first became a Jain mendicant. Then I fell from that path; now both my present and my future are ruined. I fell at her feet, yet that demoness of a nun would not yield. (Wiping his eyes.) Go away, you demonic bitch! Can I not find another nun besides you?

SERVANT: (Reflecting.) Before this mendicant sees me, I shall dress as a Jain nun and make sport of him. (Looking at his body.) My ears are certainly long, no beard has begun to grow upon my face, and who would expect a Jain nun to have a lock of hair on her head? I can easily pass as one. (He changes costume and looks around.) Now I need only a peacock-feather whisk to look like a Jain nun. (Looking ahead with delight.) Excellent! The nun left behind the whisk she had been carrying. I shall take it and approach him. (He does so.) Sir, my respects. I am very tired. Please tell me where the venerable sage Jinarakshita is now.

JAIN MENDICANT: (Delighted, aside.) It seems fortune will no longer turn her back on me. Another young nun has arrived. (Aloud.) Young nun, what business have you with the sage Jinarakshita? You look exhausted. Sit for a while and rest in this secluded, cool vine-bower.

SERVANT: I have always been miserable and unfortunate. How could I ever find rest?

JAIN MENDICANT: (Tenderly.) You are still a child, yet already you have cause for sorrow?

SERVANT: (Sighing.) Sir, let me not waste words upon my shameful story. Please tell me where the sage Jinarakshita is.

JAIN MENDICANT: Child, the sage Jinarakshita is inside, beneath the banyan tree, preaching to his disciples. But sit for one moment and tell me the cause of your renunciation.

SERVANT: (Sitting and sighing.) Sir, what use is there now in telling the accumulated shame of a girl crushed by life? (He weeps.)

JAIN MENDICANT: (Wiping the SERVANT'S eyes.) Tell me, little one. Dear girl, my heart is not separate from yours.

SERVANT: Wretched me! I became a nun while I was still a very young girl.

JAIN MENDICANT: And then?

SERVANT: Then, when the tender signs of youth were just beginning to appear and I was still unacquainted with the taste of love, a young mendicant violated my chastity against my will.

JAIN MENDICANT: (Joyfully, aside.) I have found a river of nectar! (Aloud.) Dear girl, such is the way of life. And then?

SERVANT: Sir, when little by little I had become acquainted with the taste of love, that mendicant abandoned me and became infatuated with another, a miserly old nun.

JAIN MENDICANT: †Lacuna in the source.† Come, let us support each other like the proverbial lame man and the blind man.

He puts an arm around the SERVANT'S neck and kisses him by force. The SERVANT pretends to be shy and sits with lowered eyes.

JAIN MENDICANT: Dear girl, why will you not look at me?

SERVANT: How can I? You too will abandon me and go to someone else.

JAIN MENDICANT: Dear girl, do not say that. I shall remain your slave! (He places a hand on the SERVANT'S chest.) Have your breasts not yet developed?

SERVANT: (Coyly.) Alas, wretched me! What can I do?

The JAIN MENDICANT slides his hand below the SERVANT'S navel, discovers his male organ, and cries in shame and fury: Damn you, villain! You have deceived me outrageously! (He raises his hand to slap the SERVANT.)

SERVANT: You lecherous ascetic! Say another word and I shall expose all your secrets before the sage Jinarakshita.

JAIN MENDICANT: (After a moment's thought, falling at the SERVANT'S feet.) Tell no one about this little joke of ours!

SERVANT: What will you pay for my silence?

The JAIN MENDICANT takes something from the handle of his peacock-feather whisk and gives it to the SERVANT.

SERVANT: I had my joke, gained a coin, and learned where the sage is. Now I shall go and report to my master. (As he walks away, he looks ahead.) Your luck has opened today! Here comes your beloved.

The real JAIN NUN enters. Seeing the SERVANT dressed as a Jain nun, she speaks with jealousy and anger:

JAIN NUN: You wicked female ascetic! Where are you going with another woman's whisk?

SERVANT: Here, madam, take it. This mendicant tricked me against my will in that vine-bower. I am blameless. (He exits.)

JAIN NUN: (Approaching the JAIN MENDICANT.) You wicked lecher, casting lustful eyes upon female ascetics! I had dropped my whisk and came back for it; in the few moments since then, you had already begun embracing <another nun>. Now taste the fruit of your spiritual practice! (She beats him with the whisk handle.)

JAIN MENDICANT: Madam, do not misunderstand. Could you not see that it was a servant dressed as a woman who came to mock me? The villain has made you angry. I swear that this is the whole truth. (He falls at the NUN'S feet.)

JAIN NUN: How can truth come from the mouth of a man with such self-control?

JAIN MENDICANT: That wicked servant may devise another trick. Come, madam, let us go somewhere else. (Alarmed.) A Brahmin is coming this way. Quickly, madam, let us go.

They both exit.

ACT TWO

THE FEAST OF DISPASSION

SANKARSHANA and the BOY enter.

SANKARSHANA:

First I held a swift debate to calm the arrogant excitement of those red-robed men who consider themselves wise. This time I should like to amuse myself a little with the pitiable and foolish naked ascetics as well.

BOY: For you, sir, it is entertainment; for those poor men, it is the destruction of everything they possess.

SANKARSHANA: (Smiling.) Well said. Cattle, family, house, property, farming, and trade - ordinary people can lose all these things. But what is "everything" to a Sky-Clad Jain monk who lives beneath a tree on alms?

BOY: Listen, I shall tell you. For the sake of a better next world, the poor men practise very severe austerities. Then they are caught in the torrent of your speech. Thus, when their religion is crushed, their entire spiritual labour becomes fruitless.

SANKARSHANA: Bravo! Look at your compassion! Very well, to please you I shall test my power upon them gently. Come. We have reached their retreat. Let us enter.

They walk on.

SANKARSHANA: (Looking ahead.) The Jain sage Jinarakshita is seated here in the shade of a banyan tree. He seems to be preaching on some subject, and many disciples sit at his feet.

JINARAKSHITA enters as described.

JINARAKSHITA: (Aside.) Alas! It is exceedingly difficult to escape the turning wheel of existence.

Though I restrain it by force, the mind still longs for those very objects of the senses, without considering the many faults that will arise in the fruits of action. I do not know what to do. The mind will not take the wholesome path. This goddess of beginningless ignorance will not release me.

(Reflecting.) Be that as it may, I must discipline these wretched monks day and night as far as I am able. (Aloud.) Monks! The hunter called Fate continually shoots his arrows; the noose of the snare called worldly existence is terrible. How will the deer that is the self cross this blazing forest of sorrow?

Or rather:

For one in whom meditation upon Lord Jina's teaching has awakened the power of the naturally pure and perfected self, what harm can angry, miserable Fate do? Fate torments only the helpless.

Therefore now:

Contemplate the Jina's words and make the body lean through ascetic observances. This alone is the entire secret of the teaching. Plant it deep within your minds.

DISCIPLES: As the venerable master commands.

SANKARSHANA: (Approaching respectfully.) Is the venerable master well, and is your circle of disciples well?

JINARAKSHITA: (Aside.) Having defeated the Buddhists, this Graduate Sankarshana has now come eager to humiliate us. It is best to withdraw on this occasion. His force is irresistible, and his eloquence and intelligence are unequalled. (Aloud.) Welcome, noble sir. Please sit here. Are you well?

SANKARSHANA: What subject has been chosen today?

JINARAKSHITA: What in this forest of worldly existence is worth choosing? Only a means of escaping it, if one can be found.

SANKARSHANA: The means has certainly been found. Consider:

No violence, no falsehood, no attachment to home, property, or clothing, no engagement in any action that bears immediate fruit in this world; and this faultless, severe austerity filled with vows and restraints - what other road to freedom from worldly existence could there be?

JINARAKSHITA: Prajapati has fashioned tongues for men like you, noble sir, that are extraordinarily skilled in speaking sweet words.

SANKARSHANA: Nevertheless, tell me, sage: upon what subject did you begin to preach?

JINARAKSHITA: Is curiosity draining the life from you? The doctrine of many-sided reality is the distinctive teaching of our Jain tradition, and that is precisely what we are discussing now.

SANKARSHANA: Sage, there is a celebrated saying:

"The nature of one thing is the nature of all things. The nature of all things is the nature of one thing. Whoever sees one thing as it truly is has seen all things as they truly are."

Then tell me this:

If the nature of one thing is the nature of all things, what means would a person with a purpose employ, and toward what object? If things are ordered according to their respective functions, one thing cannot possess the nature of all things. Even though things may share certain common forms, each thing still has its own particular nature.

But if the order of things were as you say - which I do not accept - no one would ever begin any action for a reward either in the next world or in this one.

JINARAKSHITA signals to a DISCIPLE.

DISCIPLE: (Deliberately.) Venerable master, the monks submit: "The venerable master is being delayed, and the time for our present duty is passing."

JINARAKSHITA: (To SANKARSHANA.) Noble sir, the monks' duty is being obstructed. Decide, therefore, as you think proper.

SANKARSHANA: Sage, do as you please.

JINARAKSHITA: (To the DISCIPLE.) Run and tell the monks to remain attentive in their respective places for one moment. I am coming now!

JINARAKSHITA exits with his disciples.

SANKARSHANA: Boy, did you see the Sky-Clad Jain sage's cleverness?

BOY: Sir, who could stand before you in the battle of debate? By fleeing on that pretext, he saved his life.

SANKARSHANA: Ought I to have punished him? It was necessary to learn the facts, and I learned them. Yet only out of regard for you did I refrain from taking a severe position in the matter.

BOY:

Sir, though your words are gentle, they tear open the hearts of disputants; fish cast upon the bank †lacuna in the source†.

SANKARSHANA: Where shall we go now, boy?

BOY: Why not go to bathe?

SANKARSHANA: (Smiling.) Why - are you hungry? (Looking upward.) How could it be time to bathe yet? We had better remain here for a while in the grove of the Jain monks' retreat.

BOY: Very well.

They rise and walk on.

SANKARSHANA: (Looking ahead in wonder.) Ah, how delightful this place is, and how suitable for rest! For -

this wood gives deep, cool shade; it has grassy ground and water; the breeze is fragrant with clusters of flowers; deer leap and play in every direction; and the birds' cries mingle with waves of many melodies.

(Reflecting.)

If a follower of Vedanta were to live in this sacred wood, quiet every desire of the self, and restrain the multitude of mental fluctuations, then in only a few days he would surely attain a marvellous, supreme, radiant state - eternally blissful and free from the haste and labour of the worldly road.

A VOICE OFFSTAGE:

It is difficult to grasp the heart of Vedanta's teaching. The long and elaborate narratives of the three Vedas produce confusion. High-born people deliberate upon the grave question, "Does the self exist or not?" Keep them far from me! To abandon the unbearable pain of worldly existence, embrace the brief and lucid scripture taught by the great sage Jina.

BOY: Sir, an ascetic in red robes is hurrying this way, muttering something of that kind. An ASCETIC enters.

The ASCETIC walks on, reciting, "It is difficult to grasp the heart of Vedanta's teaching..."

BOY: Astonishing! Does this man still follow the teaching of the Jina?

SANKARSHANA: Leave it, boy. What does that matter? I shall ask him something else. (To the ASCETIC.) Ascetic, are you well? Where are you going in such haste?

ASCETIC: You are plainly a Brahmin. How, then, can you fail to understand the sensation of hunger?

SANKARSHANA: Sir, have you set out to eat?

ASCETIC: What else?

SANKARSHANA: Where are you going?

ASCETIC: Right here. There is a great feast today in the hermitage of the sage Jinarakshita.

SANKARSHANA: What is the occasion for the feast?

ASCETIC: A nobleman who has received the Jina-teacher's instruction is feeding people here today. Thousands of ascetics have assembled. They are being served heaps of porridge, jars of sesame oil, bowls of sour gruel, little pots of molasses, and mountains of food cooked in sesame oil.

SANKARSHANA: Ascetic, tell me: among so many dishes, will there be no curds, milk, clarified butter, or anything of that kind?

ASCETIC: Ah, no! Such conduct is fit for you Brahmins. We ascetics use nothing obtained from an animal - not in food or drink, not in clothing, not for bedding or seats, and not for any other adornment of the body. Do you not see these sandals of mine made from tree bark? Now leave this talk! I am late for the feast.

SANKARSHANA: Show me the way too. I should like to see the splendour of the ascetics.

ASCETIC: Come, come. Please follow me.

All walk on.

SANKARSHANA: Ascetic, if you follow the Jina's teaching, why do you wear red robes? Is your Jina a "Sugata" too?

ASCETIC: (Smiling.) Lord Jina is also a Sugata for us, and Sugata too is called a Jina-teacher. How fortunate we followers of the Arhat are! Some wear only the sky, some wear only bark, some wear red cloth, and some white. Look! The Sky-Clad monks are coming. Because of their devotion to mercilessly plucking out their hair, the roots are visible and

tiny drops of blood are trickling from them. Here come the wearers of bark rags, whose soft bark garments are edged with †lacuna in the source†. Here come celibate ascetics, whose robes are the colour of earthen pots just fired in a kiln. Here come the White-Clad monks, the hems of their robes as white as swans' wings, fluttering in the gentle wind. How meritorious is the nobleman whom all of them will favour today!

SANKARSHANA: (Smiling, aside.) He is called "meritorious," not "a maker of calamity."

He takes no thought for elephants, horses, swords, roads, tax collection, divisions of the army, camels, or the like. He squanders the substance of his wealth on affairs of this kind and evades royal service; the king will surely confiscate his estate.

(Aloud.) How peaceful and delightful this hermitage is! The world seems filled with tranquillity, and the earth herself appears to be observing a vow. Here it truly seems that the chain of snares of worldly existence binding the embodied self has been broken into pieces.

BOY: We have seen ascetics clothed in air, bark, red robes, and white robes. Now look at these people in black blankets approaching from this direction.

SANKARSHANA: (Looking ahead in astonishment.) Good heavens, this is a new form of austerity! A woman and a man wrapped in the same black garment are entertaining themselves by singing an extraordinarily sweet song. (Looking closely.) What? There seem to be whole groups of such couples! Surely the earth has sunk and the three Vedas have been uprooted. (To the ASCETIC.) Ascetic, are you acquainted with this novel and astonishing method of spiritual practice?

ASCETIC: I do not know what charming religious observance this is. I suppose some people heard talk of the feast and are hovering here merely from greed for food. Leave their story there. I shall go and join my co-religionists. (He exits.)

A WOMAN and a MAN enter wrapped in one black garment and singing; or, if the production permits, several such couples enter singing the following song:

Victory to the lordly sage of the Black Blanket, who dispels attachment to limited life!

O Lord, whoever follows your new teaching drinks the incomparable delight of nectar.

In this world he delights in love-play with women, and in the next he attains liberation.

The body fulfils its purpose, and freedom from worldly existence is won.

Do not trust other sects, where the body is dried up completely and liberation still remains uncertain.

What is gained by the practice of discipline? A man only ends as a slave!

Even a great store of merit merely deprives a person of pleasure.

Whoever enfolds this union †lacuna†...

If every couple understands in this way <lacuna>

... then pleasure (?)

Without making his birth fruitful, where can a person wander in a human body, and where will he arrive?

Whether this world is a transformation of the Supreme Self or a transformation of Word-Brahman,

how can any of it be achieved without the ending of ignorance...?

†Lacuna† Understand thus that all other religions are fruitless.

Follow the sage of the Black Blanket and find happiness in both this world and the next...

SANKARSHANA: (After listening to the song for a while.) Boy, this is low-grade disputation, composed by someone under the guise of a song in order to revile every philosophy. Yet I do not dare begin a conversation with these villains, because I have no wish to perform the penitential purification that would be required afterward.

The WOMAN and the MAN repeat the song.

SANKARSHANA: Boy, observe:

Their speech has no purity, and their loathsome bodies are unclean. Their minds are always indiscriminating, delighting in utterly reprehensible conduct. Whose heart is so fearless of the next world that he would undertake this meritorious and marvellous austerity? Or is there any conduct of mankind that <does not bring disgrace>?

And look further:

Rhythmic songs, repeated at will, resound throughout the day. Casting off every restraint, they drink sweet wine whose flavour is mingled with a lover's saliva. Their bodies move wantonly, hidden beneath a woven cloth as they ceaselessly excite one another. Who would not adopt such an intensely erotic vow?

BOY: Sir, it is exactly so.

SANKARSHANA: I think this is a new and modern Great Vow. If the account in their song spreads widely, the established conduct of the social classes and stages of life will be destroyed without limit. Surely the path of the three Vedas is being shattered. For when faithful wives see this "austerity," praised by novices and abolishing every restraint, they too will not remain long in their husbands' homes.

BOY: (Smiling.) Why should you worry, sir? You are not yet married. My own case lies even further in the future.

SANKARSHANA: But your revered mother is still alive, is she not?

BOY: The poor old woman is almost as good as dead, so she is surely safe from this calamity for now.

SANKARSHANA: Enough joking. A great evil has arisen here. Boy, consider: what remedy is there?

BOY: Sir, I do not know. You surely do. But the power of the Kali age is growing these days; how can such a disaster be countered?

SANKARSHANA: Even so, it is not right to sit inert without making an effort. (Reflecting.) Yes, there is a remedy.

BOY: What is it?

SANKARSHANA: His Majesty King Shankaravarman himself. He is the emperor consecrated to protect the three worlds and the teacher of the lawful boundaries of social class and stage of life; therefore he will certainly know the remedy. Above all, the honourable Bhatta Jayanta, who has mastered all the scriptures of Shiva, is with him. Yes, I shall inform him. In a crisis there is no place for delay. Boy, send these singing women and men toward the feast.

BOY: Ascetics, listen! It is time for your meal in the hermitage. Why delay?

All exit.

END OF ACT TWO

PRELUDE TO ACT THREE

PANIC AMONG THE FEARLESS

A FIRST SHAIVA ADEPT enters.

FIRST ADEPT: (Looking about fearfully.) The horned moon - the emblem of Mahadeva - has already set. The sky is as empty and dark as my heart. There could be no better time to slip away unseen. Where is my dearest friend Shmashanabhasma, with whom I am to flee? (He walks and looks ahead.) There is Shmashanabhasma. He seems to be coming this way.

A SECOND SHAIVA ADEPT enters.

SECOND ADEPT: This is my friend Kankaladhvaja's shelter. I can just make it out even in this darkness. I shall place my feet carefully and move forward. (He walks, then listens.) I thought I heard footsteps. Good heavens, the city watch seems to be coming this way! If they catch me, they will take me for a thief and throw me into prison, impale me, or hang me from a tree. No matter! Lord Bhairava is my refuge. (Listening closely.) That seemed to be my friend Kankaladhvaja's voice. (Taking courage and approaching.) Friend Kankaladhvaja, I have found you! I was afraid you were a city guard.

FIRST ADEPT: Shmashanabhasma, is that you? Good that you have come. Come, let us move quickly. While it remains dark, we can both escape unseen.

SECOND ADEPT: Are you afraid the city guard will mistake you for a thief and kill you?

FIRST ADEPT: Not that fear. Even if I had it, it is gone now. But another disaster has arisen.

SECOND ADEPT: (Agitated.) How?

FIRST ADEPT: The story is everywhere - have you not heard? These days this wretched kingdom has changed completely.

SECOND ADEPT: My heart is pounding! Friend, tell me everything quickly!

FIRST ADEPT: King Shankaravarman's severity is well known. His Brahmin minister, the wicked Jayanta, is harsher still. On the charge of being outside Vedic religion, they seized all the Black-Blanket ascetics, beat them half to death, and expelled them from the kingdom. Now, if any other ascetic outside Vedic religion is caught, he will be beaten, killed, thrown into prison, or executed. Do we not belong to that same class? We drink wine, eat meat, and keep women. Do we not follow the same sort of religious practice as the Black Blankets? So let us hide our robes as adepts and move swiftly through the darkness without being seen.

SECOND ADEPT: (Terrified.) Let us do exactly that!

They walk on.

SECOND ADEPT: Friend Kankaladhvaja, how did this calamity arise?

FIRST ADEPT: Listen. First, that Graduate Brahmin named Sankarshana saw countless Black-Blanket couples singing and enjoying themselves in the forest of the sage Jinarakshita.

SECOND ADEPT: And then?

FIRST ADEPT: He informed Jayanta. Jayanta told the king everything.

SECOND ADEPT: And then?

FIRST ADEPT: Then the king summoned that Graduate Brahmin Sankarshana, arranged his marriage, granted him special privileges, the right to wear a ceremonial turban, and the title "Highly Honoured," and made him superintendent of religious affairs throughout the kingdom. He kindled the fire.

SECOND ADEPT: Say rather that the wicked Jayanta kindled it.

FIRST ADEPT: Be that as it may, such is our condition. Where shall we go now?

SECOND ADEPT: We must present ourselves before Pralayagnishikha, the mistress of mantra practice. I hope that in these evil times no disaster will befall us there.

FIRST ADEPT: Has she obtained protection these days?

SECOND ADEPT: Perhaps the king's chief queen, Queen Sugandha, mistress of the whole inner palace, will shelter her because she is a woman.

FIRST ADEPT: Even if she herself is safe, can she keep us safe? I know the answer! Let us go to some distant country surrounded by forest.

SECOND ADEPT: You are right, friend. Let us hurry on before daybreak.

They do so.

FIRST ADEPT: Shmashanabhasma, you speak well. But after dawn it will be difficult to take even one step in this wretched kingdom.

SECOND ADEPT: Why?

FIRST ADEPT: In every district, every town, every village, the sound of Vedic recitation splits one's ears, the smell of clarified butter stabs the nose, and the smoke of sacrifices fills the eyes with tears. We shall therefore have to cross this wretched kingdom only at night. By day we must remain deep in the forest.

SECOND ADEPT: Exactly. There is also the fear of Sankarshana. We shall travel only at night and spend the days unseen in the jungle.

They walk on.

FIRST ADEPT: Shmashanabhasma, the directions are becoming visible and the stars are gradually paling. Dawn has come. What shall we do now?

OFFSTAGE, after the beating of a drum: Citizens and villagers, hear! By command of His Majesty King Shankaravarman, the Highly Honoured Bhatta Sankarshana announces: Let upright people who, caught in the beginningless stream of existence, profess different religions remain as they are, observing the practices prescribed by their respective religious disciplines. But criminal false ascetics who destroy the established social and religious

order must leave the kingdom at once, or the king will punish them like thieves.

BOTH: *(Listening in terror.) Our living death, the man called Sankarshana, has truly arrived. Come, let us hurry elsewhere.*

They both exit.

ACT THREE

RELIGION DENIED AND DEFENDED

The HIGHLY HONOURED SANKARSHANA enters, no longer dressed as a graduate but in the attire appropriate to a married royal official, accompanied by the BOY and as many ATTENDANTS as the production permits.

SANKARSHANA: Boy, are people condemning us for expelling the Black Blankets?

BOY: Have no such fear, sir! The order of the threefold Vedic religion, truly defeated and destroyed by corrupt false ascetics, has been restored by you.

SANKARSHANA: Say that King Shankaravarman caused it to be restored. But are there no other false ascetics openly roaming the kingdom in imitation of the Black Blankets, deserving expulsion?

BOY: Sir, until recently a few depraved ascetics who called themselves followers of Shiva could be seen indulging in their games. But because of your energetic measures they have fallen into disrepute and now very few remain.

SANKARSHANA: Well said! I too have seen them. They deserve banishment. For:
What do they regard as unfit to drink? Only what is not liquid. What can they not eat? Only what is bitter or cannot be broken by the teeth. If any creature with breasts is unfit for intercourse, it must be either unborn or dead. What place in the world is suitable for their austerity? A tavern, perhaps.

BOY: You speak truly, sir.

SANKARSHANA: Boy, this is also a grave assault upon the order of social classes and stages of life.

BOY: It is a disgrace as well to those who conduct their business by misusing Shiva's name and call themselves his followers.

SANKARSHANA: Exactly, boy. The king is right to attend to their expulsion. Moreover, these villains, proclaiming the Lord's name and saying, "We follow Shiva's teaching," are damaging his pure religions. If the king properly restrains them and establishes them on an undefiled path, how could that harm the praiseworthy protection of the earth or his fame?

BOY: Precisely so.

SANKARSHANA: Be at ease. I have received the king's command in this matter. Order the patrols to search for them.

BOY: As you command, sir. (He exits and re-enters.) Sir, they have fled the kingdom. But an anxious messenger has come looking for you. What is your command?

SANKARSHANA: Bring him in.

The BOY signals for him to enter.

MESSENGER: (Entering in agitation.) Victory to my lord! As soon as the Shaiva followers, devoted to eating meat, drinking wine, and coupling with serving women, heard the news about the Black Blankets, every one of them vanished from the kingdom. But other

ascetics of pure conduct have also become frightened and begun to depart. What does my lord command?

SANKARSHANA: Boy, to stop the upright people, we must quickly and respectfully appoint leaders for their communities. (To the MESSENGER.) Go with him and show him the way.

MESSENGER: As my lord commands. (He exits.)

BOY: Ah, sir, your resolve has wavered!

SANKARSHANA: Boy, it is not right to cause anxiety among people of pure religion who live within the beginningless stream of existence. King Shankaravarman is supremely devoted to Shiva and compassionate toward every religious community. Come, let us go directly to the revered Dharmashiva's monastery and calm these groundless fears.

BOY: As you command, sir.

They walk on.

A VOICE OFFSTAGE:

Ascetics, why are you worried and afraid? The king, protector of every religious community, is not your enemy. His Majesty has expelled from the kingdom those who nearly destroyed you under the covering of fraudulent vows.

BOY: Sir, that must be the community leader you appointed, making the announcement to the people along the road.

SANKARSHANA: Well recognized, boy. Let us hurry. (They walk on.) Boy, we must have reached the revered Dharmashiva's monastery, for -

grey with a coating of sacred ash, capable of kindling the fire of incense, and having just drunk the pure nectar of flowers used in the worship of Shiva, conqueror of the Triple City - whom does this blessed breeze of the Shaiva monastery not

enchant? It delights in loosening the knots of the ascetics' matted hair and making their mendicant robes perform a gentle, graceful dance.

BOY: You speak truly, sir. This hermitage seems peaceful and delightful to me.

SANKARSHANA: Come, let us enter. (He acts out entering.) Ah! The revered abbot Dharmashiva himself is coming forward into the courtyard! The radiance of his asceticism surpasses all. His beautiful face smiles beneath its sacred ash; his forehead is purified by the holiness of Ganges water; ascetics like Shiva's attendants run to serve and worship him; his stainless spirit continually rejoices in a fame bright as camphor, just as Shiva rejoices with renowned Gauri and the moon. By the mere sight of him, this man who resembles Shiva Shrikantha truly brings welfare to living beings.

And further:

Entering the precincts of this monastery, which dispels the many stains of the Kali age, I tell the truth: it seems to me that I have come to a revived world of Shiva through the three eyes of Shiva, the smiling enemy of the god of Love.

BOY: So it seems to me as well. I see myself taking flight to dissolve into Brahman.

The revered DHARMASHIVA enters as described, seated on a low stool and accompanied by as many FOLLOWERS as the production permits.

DHARMASHIVA: (Thoughtfully.)

The fame of this king's virtues has spread through the whole world, and his attention is fixed solely upon the social and religious order. This minister Jayanta too never tires as he wanders through the vast forest of philosophies and scriptures. I do not believe they will take any measure contrary to their fame. Let the ascetics remain as before. Why worry? Or what fear could arise for men such as us?

(Looking ahead.) What is this? Has the Graduate come here? Now everything is clear.

SANKARSHANA: Come, boy, let us salute the abbot. (They approach.) Homage to the revered abbot, the very form of Lord Maheshvara manifest before us!

DHARMASHIVA: Welcome, noble sir. Are you well? Please sit upon this seat.

SANKARSHANA: There is no need for a seat; I shall sit upon the grass. Venerable sir, religious austerities are proceeding without obstruction according to the established rules, are they not? Or what obstruction could exist here? Lord Maheshvara himself worships himself through his own person. Please therefore explain to the ascetics that they should feel no

anxiety because of the rumours circulating among the people. The king has removed only what obstructed true austerity. The king himself is following behind us to receive the sight of your venerable person.

DHARMASHIVA: (Smiling.) Why should I or the ascetics be anxious? As long as His Majesty King Shankaravarman rules his acquired kingdom in accordance with Dharma, the kingdom truly belongs to honourable people; he merely protects it. This is not merely today's experience; it has been ours for a long time.

A SHAIVA ASCETIC: (Throwing aside the curtain and entering in agitation.) Victory to the abbot! An elderly scholar, surrounded by many pupils, has arrived, displaying arrogance, mocking the monastery, and †lacuna in the source†. Venerable sir, tell me what to do.

DHARMASHIVA: (Smiling.) Let the poor man come in. I have no objection.

VRIDDHAMBHI enters as described.

VRIDDHAMBHI: Astonishing! What a great calamity King Shankaravarman has engendered! He allows Vedic priests, forest-dwellers, renunciants, celibate students, and all these Shaivas, Pashupatas, Pancharatrikas, Jains, Sankhyas, Buddhists, and others to consume the kingdom's boundless wealth without hindrance. How can he live long in such circumstances? At present he looks like a wish-fulfilling tree surrounded by emptiness. I shall take this opportunity to eliminate God, set aside the next world, demolish the authority of the Veda, and thus turn the king from the wrong road and establish him on the proper one, so that by attending to worldly prosperity he may enjoy royal power for a long time.

I have heard that many self-styled scholars have assembled in this Shaiva monastery. Before them I shall make this Shaiva teacher an object of ridicule. (He takes a few steps and looks elsewhere.) There is the Shaiva teacher, learned in the philosophies of Kanada, Akshapada, and others; there is the great Mimamsaka Sankarshana; and here are many scholars from different branches of learning. Good, I shall approach. (Approaching.) Ascetic, are you well? Brahmin, greetings. (Saying this, he sits on the grass with his pupils.)

DHARMASHIVA: (Smiling.) What? Disrespect from the very beginning? (He looks at SANKARSHANA.)

SANKARSHANA: Venerable sir, you have understood correctly. Let us see what follows.

VRIDDHAMBHI: Why spend such a miserable life enduring hundreds of pointless hardships? Austerity is merely a form of torture; self-restraint is merely a means of cheating oneself of pleasure; and sacrificial rites such as the fire offering seem to me no more than children's games.

DHARMASHIVA: What can we do? The Lord God impels us to perform such acts.

VRIDDHAMBHI: But who is this "Lord God"?

The son of a barren woman is passing by - freshly bathed in the water of a mirage, wearing a garland of sky-flowers upon his head and carrying a bow made from a hare's horn.

DHARMASHIVA: Stop this abuse! He is the Lord of the whole universe, its creator and destroyer. He supervises, according to their proper fields, the accumulated actions active within the endless multitude of souls and bearing their varied fruits. He is the eternal, blissful, omniscient, compassionate Supreme Lord.

VRIDDHAMBHI: (Laughing lightly.) Look at the foolish vision of fools whose sight is blocked by the blindness of devotion and who see nothing. How can this be possible? How can people regard God as the supreme agent? Consider: Was it compassion, play, the caprice of sovereignty, impulse, his nature, a means of acquiring merit, or his commitment to truth? Who knows what made an ancient sage, without desire and already possessing everything, conceive the creation and destruction of the world?

How can one who has no desire for a complex of instrumental and other causes, and who is also without auxiliary causes, be the cause of preserving, destroying, and creating worlds - when neither he nor anyone else gains any <particular> benefit from it?

Further:

Grant that he is a creator; what rule ensures that, exactly as you say, he will create only three worlds and not some different or greater number?

DHARMASHIVA: Stop labouring to produce fault-finding arguments.

On the one hand, fault-finding reasoning is useless concerning something with no basis in a means of valid knowledge; on the other hand, concerning something established by valid knowledge, it must be rejected entirely. Therefore disputants should cease the clamour of fault-finding arguments about this supersensible subject and seek reasoning that supports the proof.

VRIDDHAMBHI: (Smiling.) If that is your view, present the means of knowledge that proves God.

DHARMASHIVA: I tell you: inference proves his existence.

VRIDDHAMBHI: (Smiling.) To call the same thing both inference and a means of valid knowledge is mere wishful thinking. A thing's capacity changes with differences of condition, place, and time; therefore verifying reality by inference is exceedingly difficult.

Moreover:

One who relies upon inference readily falls, like a blind man running over an uneven road and feeling his way with his hands.

And again:

A clever logician infers some proposition with great labour, but another still more capable logician explains the same matter in a different way.

DHARMASHIVA: Stop this elaboration! I know perfectly well this characteristic of the materialists' household. But tell me: do they accept sensory perception alone as the only means of valid knowledge?

VRIDDHAMBHI: Yes, they do.

DHARMASHIVA: Then ordinary daily conduct is impossible for them.

VRIDDHAMBHI: How so?

DHARMASHIVA: Poor fellow, when hunger torments you, you seek rice, not sand; when you are thirsty, you seek water, not fire.

VRIDDHAMBHI: Yes, but what do you wish to prove by that?

DHARMASHIVA:

Friend, that a particular thing is "the best means" for a specific purpose is not an object of the senses. It is determined through the positive and negative concomitance of entities.

And positive and negative concomitance are the chief marks of an inferential sign. Presence in the subject belongs to every reason observed in a particular subject.

Positive concomitance, negative concomitance, and presence in the subject: in these resides the life of inference.

VRIDDHAMBHI: Human daily conduct, like that of animals, proceeds merely from natural instinct, determining what brings pleasure and what brings pain.

DHARMASHIVA: Do not say so. A tendency is so called when the particular cause of the validity of the cognition is not known. Here the causes - positive concomitance, negative concomitance, and the rest - are known. And what is self-evident cannot be denied.

VRIDDHAMBHI: Even when you think you understand the cause, in fact you do not, because you cannot apprehend an invariable relation. Therefore daily life feels pleasant only when it is not examined. That alone is real - so say those who know reality.

DHARMASHIVA: This is laziness, or else you refuse to retreat even one step. The learned men present here are examining the matter on this very occasion.

VRIDDHAMBHI: Such examination is impossible. There are infinitely many individual cases of smoke with fire and of absence of smoke with absence of fire. Unless one has directly perceived all things in the three worlds, positive and negative concomitance cannot be determined. And what need would an omniscient being have of inference?

DHARMASHIVA: First, positive concomitance can be apprehended by resorting to universals. The infinity of individual cases does not invalidate inference, because smokiness is one and fireness too is one. In accordance with apprehending the agreement of positive universals, the agreement of their absences can also be apprehended; that is called negative concomitance. The coexistence of two things is positive concomitance; the coexistence of their absences is regarded as negative concomitance.

The poor inferential sign's presence in the subject can readily be understood, because without a locus one cannot determine a reason as a property. Thus, when the cause of validity has been easily ascertained, even animals, like knowledgeable people, conduct themselves with the aid of means of valid knowledge. The commentator says: "Therefore the activities of gods, human beings, and animals are possible in this manner with the help of these means of knowledge, and not otherwise."

VRIDDHAMBHI: That may hold regarding a thing already established in the world, cognition of which has already arisen, but it is impossible <regarding something yet to be known>. Ordinary people, unless deceived by logicians, do not come to know God from effects such as the earth in the way they know fire from smoke.

DHARMASHIVA:

Women, children, cowherds, and even you yourself undoubtedly infer one thing from another particular thing. Through the force of invariable concomitance, a conscious maker can successfully be inferred from an effect, just as fire is inferred from smoke.

VRIDDHAMBHI:

An effect such as a pot, whose manufacture can be imagined, is one kind of thing; mountains and the like are wholly different, for there is a great difference between them.

DHARMASHIVA:

The smoke rising in small form in a kitchen is one kind, and the smoke of a mountain spreading through the main and intermediate directions of the sky is very different.

And you are eating scraps left by those red-robed Buddhists:

"When a particular kind of arrangement and the like is established by positive and negative concomitance with the existence of a controller, then from that kind of arrangement the existence of a controller may properly be inferred."

In truth, the process of inference depends upon a particular property. Where is complete similarity ever found between the subject possessing the property to be proved and the example?

VRIDDHAMBHI: In other cases there is a real universal, but here the similarity is nominal only, not real. To apply inference on the basis of a merely nominal similarity would entail the fault of over-extension.

DHARMASHIVA: (Smiling.) How could there be a real universal in a Buddhist household?

We see that ordinary daily conduct depends upon some universal, whether produced by the intellect, external, real, or conventional.

Many things are effects and yet are not mutually alike. I therefore do not understand the purpose of saying "that particular kind."

VRIDDHAMBHI: But products such as the earth are exceedingly exceptional.

DHARMASHIVA: Then accept an exceedingly exceptional craftsman.

VRIDDHAMBHI: I cannot accept an unknown entity.

DHARMASHIVA: And I cannot speak of an effect without a maker.

VRIDDHAMBHI: What is to be done in such a case?

DHARMASHIVA: Which alternative should we abandon? Is the extraordinary nature of the maker difficult, or an effect without a maker? In choosing between these alternatives, the general rule is: "What is unseen is admitted in order to explain what is seen, but what is seen cannot be denied." Therefore, rather than deny the effect's character as an effect, it is proper to tolerate the extraordinary character of the maker, since the effect itself is extraordinary.

VRIDDHAMBHI draws lines on the ground.

DHARMASHIVA: Further, from the perception of colour we infer the faculty of sight as an instrument - just as we infer a sickle from the act of cutting and an axe from the act of splitting. What property does the faculty of sight share with a sickle and an axe?

VRIDDHAMBHI: Let it not be inferred either. What concern is that of mine?

DHARMASHIVA: But without the faculty of sight, how would colour be seen?

VRIDDHAMBHI: Very well, let us admit some kind of instrument.

DHARMASHIVA: Then in exactly the same way admit some kind of maker.

VRIDDHAMBHI: I cannot accept a maker. But how could an action occur without an instrument?

DHARMASHIVA: How could an effect occur without a maker? The word "effect" is not a mere arbitrary name like *Dittha*. What has been made is an effect. If something has been made and yet has no maker, who made it? I do not know. Therefore you must endure this incurable headache of inferring God. What other remedy is there?

VRIDDHAMBHI draws lines on the ground.

DHARMASHIVA: And you must also endure the cruel suffering of worldly existence.

VRIDDHAMBHI: Not while I remain alive.

DHARMASHIVA: Then you will die very soon.

VRIDDHAMBHI: How so?

DHARMASHIVA: Consciousness cannot be a quality of the material elements, because it does not remain throughout the lifetime of the substance and because it knows itself. And if you adopt a doctrine of a "stream of consciousness," activities such as memory and desire are impossible without a unifying entity.

VRIDDHAMBHI: Then I shall accept some such entity as a knower. But what proves that it continues to exist after the body is cremated?

DHARMASHIVA: Good man, no additional proof is required for that.

VRIDDHAMBHI: Why not?

DHARMASHIVA: Because we hold that a thing's destruction is not part of its nature. Furthermore, we never experience the production or destruction of the knower, or any cause of such production or destruction. Nor can we suppose its destruction because it has parts, as cloth is destroyed when the conjunction of its threads is broken. Therefore only the essential form of this real entity called the knower is perceived, not its production or destruction. Hence, if the knower exists, it must be eternal. If it is eternal, it is that very entity which passes through worldly existence. Why then do the materialists say, "There is no entity that transmigrates, and therefore there is no transmigration"?

Consider further: the joy, fear, grief, desire for milk, and other states of a newborn child cannot be said to be innate in the sense of causeless, accidental, or produced merely by instinct. On this basis also, the self must be accepted as eternal.

VRIDDHAMBHI: But in the context of proving God, what is gained by examining transmigration?

DHARMASHIVA: This: if transmigration exists, then the creation of the material world must occur because of individual actions.

VRIDDHAMBHI: What follows from that?

DHARMASHIVA: Action is also a cause of the creation of bodies and the rest.

VRIDDHAMBHI: And then?

DHARMASHIVA: Action is unconscious.

VRIDDHAMBHI: Even so, what follows?

DHARMASHIVA: An unconscious thing can become a cause only when controlled by a conscious superintendent.

VRIDDHAMBHI: The conscious agents of those very actions will supervise them.

DHARMASHIVA: They cannot, because people with different intentions cannot coordinate.

VRIDDHAMBHI: What, then, of carpenters?

DHARMASHIVA: Why carpenters?

VRIDDHAMBHI: Though they are many, do they not build one house?

DHARMASHIVA: Not independently. They follow the intention of a single architect.

VRIDDHAMBHI: What, then, of the agreement of Brahmins in an assembly?

DHARMASHIVA: There too, the assembly follows the intention of one chairman who is an expert in the subject. But here the single body of a king or minister becomes the cause of the pleasure and pain of thousands of beings by helping or harming them. It must therefore arise from their combined actions. Those for whom the king's body causes suffering do not rejoice at its birth. Therefore such

an immense mass of action must be supervised by the Lord God alone. Once this is fully established, the proof of God's existence becomes unassailable. Leave aside immense and immeasurable products such as the earth, oceans, and mountains. In the same sequence we can infer God even from a small, emaciated body like mine. Heaps of sand built on a riverbank by unconscious, unskilled bodies, or wild vegetation such as grass, vines, and shrubs growing on mountains, in caves, forests, and thickets, also

depend upon the actions of living beings because they cause their pleasure and pain. Since action therefore requires a superintendent, the maker of these things cannot be unconscious.

VRIDDHAMBHI draws lines on the ground.

DHARMASHIVA: Leave aside other gross or subtle effects. The daily activities of people like us - farming, service, trade, even sleeping, sitting, walking, eating, and the like - produce pleasure and pain by benefiting or harming many living beings. By the preceding reasoning, these activities therefore depend upon those beings' actions. Action is unconscious; its agents are many and mutually opposed, and so cannot agree. Consequently these activities too are produced by those actions under the superintendence of the Lord. For this reason the sage Vyasa says:

"This living being is ignorant and not the master of its own pleasure and pain. Impelled by the Lord, it may go to heaven or straight to hell."

VRIDDHAMBHI: I shall consider this matter. For now, I am leaving.

DHARMASHIVA'S ascetic followers mock **VRIDDHAMBHI** and insult him in various ways.

DHARMASHIVA: (Restraining them, to **VRIDDHAMBHI**.) Where are you going? Endure for one moment the suffering produced by your own actions. We also know God's existence from the authority of scripture.

VRIDDHAMBHI: Scripture a means of valid knowledge! That is a bold claim indeed.

DHARMASHIVA: (To **SANKARSHANA**.) I am tired. Would you please explain it to him?

SANKARSHANA: As the revered abbot wishes. I need make no effort to establish the authority of scripture, because its validity belongs to it by nature.

VRIDDHAMBHI:

The validity of scripture belongs to it by nature? How can you say so? The Veda is not authoritative merely because it is eternal.

Are other eternal things, such as space, regarded as means of valid knowledge? Or who disputes the validity of perception and the rest, which are not eternal?

SANKARSHANA: Good man,

I do not say that the Veda is authoritative because it is eternal. I say it is authoritative because it produces cognition.

VRIDDHAMBHI:

A sentence sometimes produces cognition even when it contradicts reality - for example, if someone says, "There is an elephant on the tip of my finger."

SANKARSHANA:

Even there, the meanings denoted by the words joined in the sentence do not make verbal cognition impossible. What is impossible is the availability of any other means of knowledge confirming the asserted state of affairs.

VRIDDHAMBHI:

A verbal sentence operates concerning an object known through another means of knowledge. Therefore, when it conflicts with reality, on your own view verbal testimony itself should be invalid.

SANKARSHANA:

Agreed: when the subject matter of words enters the domain of another means of knowledge, the words may be refuted. But how could the subject matter of an injunction - that is, a command - ever come within reach of another means of knowledge?

By its nature, another means of knowledge cannot enter that field, so the injunction is unaffected by either its support or its injury.

If another means of knowledge supports verbal testimony, that is mere repetition; if it contradicts it, it is false. But when both are impossible, why should verbal testimony not be a means of valid knowledge?

VRIDDHAMBHI:

For a word to convey a meaning, a relation between word and meaning is indispensable, and that relation is made by human beings. But how can such a relation be possible concerning something beyond anyone's reach?

SANKARSHANA:

The relation is simply the word's power, and that power belongs to it by nature. Without words already capable of conveying meaning, a person could not establish any conventional relation. The relation in an injunctive sentence, whose meaning is available only through words, can be learned from usage when the cause of another person's activity appears in oneself in the same way. Other means of knowledge, whose subjects are bound by time, cannot enter the timeless meaning of the sentence, "Let him do this."

VRIDDHAMBHI: Then how is the injunction learned?

SANKARSHANA: I have already told you, but you did not understand. Looking within, we see that knowledge of an impelling factor precedes our activity. Seeing another person act after hearing an optative verbal ending, we infer that he too has known an impelling factor. Just as we experience the self within ourselves, so we experience the nature of that impelling factor. But it cannot be shown to another with the words, "It is like this," as a visible object can. Other people experience it too, but no one can display it. Thus it is established that even in an injunctive sentence unknowable through other means of knowledge, the relation between word and meaning can be learned. Elderly people learned it in childhood in the same way; therefore the world has no beginning.

VRIDDHAMBHI: Is that much sufficient to prove the authority of Vedic injunctions?

SANKARSHANA: What more do you want?

VRIDDHAMBHI: A statement of scripture unsupported by another means of knowledge cannot be authoritative. It merely conveys a meaning; it gives no assurance that reality is actually so.

SANKARSHANA: Something that conveys a meaning can indeed produce cognition. Every means of valid knowledge does no more than produce cognition; it does not tie a rope around the knowable object's neck and drag it before us like a pot.

A person who makes validity depend upon confirmation by another means of knowledge will not reach the end of the chain of means of knowledge even in hundreds of cosmic ages.

There are two causes of falsity: contradiction, or a defect in the cause of cognition. Neither exists in the Veda; therefore its validity is established.

VRIDDHAMBHI draws lines on the ground. SANKARSHANA'S followers laugh at him. SANKARSHANA restrains them.

DHARMASHIVA: Whether we should rely upon your method of establishing the Veda's authority, or follow the reasoning that "sacred tradition is authoritative because it is His word" and "because its speaker is trustworthy, it is authoritative like a mantra or a medical treatise" - that is an internal dispute among us. Leave it aside. First, refute completely these atheists who hate the Veda.

SANKARSHANA: As the revered abbot commands.

An uproar is heard offstage.

DHARMASHIVA: What is that?

SANKARSHANA: The uproar surely announces the king's arrival. I shall go to welcome him. Prepare the articles of honour for the king according to the prescriptions of your scripture.

DHARMASHIVA: Very well, noble sir.

SANKARSHANA: And let me remind the venerable master once more:

We certainly do not hate Lord Shiva, whose power and majesty are incomparable. He alone is the cause of the preservation, destruction, and creation of the worlds. He is Rudra, Brahma, Hari, or some other person beyond them. This entire universe depends upon him.

Therefore let the Shaivas, Pashupatas, Kalamukhas, and Great-Vow ascetics remain at ease. The knowledge received from your teachers also seems to dispel delusion; but let its domain remain limited to precisely that range within which it is rationally established.

DHARMASHIVA: Exactly so, noble sir.

All exit.

END OF ACT THREE

PRELUDE TO ACT FOUR

ORTHODOX IMPOSTURES

A VEDIC OFFICIANT and a VEDIC TEACHER enter.

OFFICIANT: (Agitated.) What a terrible blow! I expected one thing, and something entirely different has happened. I hoped that once all non-Vedic religions had been censured, the whole country would fall comfortably under our control. Instead, the heretical religions remain as widespread as before. Shaivas, Pashupatas, Pancharatrikas, Sankhyas, Buddhists, Sky-Clad Jains, and all the rest continue unchanged. Shame on the Graduate's useless learning!

TEACHER: But, friend, he is now a royal official. The king is supremely devoted to Shiva, so Sankarshana must remain entirely intent upon worshipping him. For a servant close to a king always repeats the king's own words like an echo; in eagerness for his own advantage, he does not distinguish good from bad.

OFFICIANT: You are right, friend. Who would abandon self-interest and attend impartially to Dharma alone? But how shall we pass our time? Our occupations - officiating at sacrifices, teaching, and the rest - are connected solely with the Veda.

TEACHER: Friend, we shall pass the future as we passed the past, content if we receive enough to eat and wear. For -

without merit one finds no assembly free from the talk of rogues, no beloved free from pride and anger, and no wealth free from the claims of others.

OFFICIANT: Well said. What can we do? Yet another matter annoys me even more.

TEACHER: What is it?

OFFICIANT: These Pancharatrika Bhagavatas adopt the conduct of Brahmins. They mix freely with Brahmins and feel no hesitation in using forms of greeting suitable only between equal Brahmins. Imitating Vedic recitation, they read the Pancharatra scriptures with special arrangements of raised and lowered accents. They say of themselves, "We are Brahmins," and make others call them so as well. Look at Shaivas and the rest: they do not belong within the system of four social classes, they reject the stages of life prescribed by Veda and sacred tradition, and they keep apart by adopting different doctrines. But these people say, "By birth and through a long line of ancestors, we are true Brahmins," and similarly imitate the system of the four stages of life. This is a great torment.

TEACHER: Friend, how is this torment so great?

In officiating at sacrifice, teaching, marriage alliances, and every other matter, Brahmins learned in the Veda keep sufficient distance from Pancharatrikas.

Their calling themselves "Brahmins" is merely an internal custom of their own community.

OFFICIANT: Is that a small disturbance?

TEACHER: How is it great? They will never gain the right to study Veda, sacred tradition, or Mimamsa, or to perform solemn and domestic Vedic rites. And if one of them marries a Brahmin woman who has strayed beyond the boundaries, he will earn the disgrace of a "reverse-order marriage." Even if, after gaining a little knowledge of the Vedic ancillary sciences, they are not excluded from certain places, there is no need for anger. Leave the matter. But I have heard something.

OFFICIANT: What?

TEACHER: Today the honourable Sankarshana has gone to the temple of Vishnu, which is filled with hundreds and thousands of Bhagavatas, expressly to examine their religion. Thousands of Brahmin scholars have also assembled on Brahmadvipa. There will be a vast conference. Let us go there.

OFFICIANT: We have already seen Sankarshana's enthusiasm: he supports the doctrine that all religions are authoritative. On the other hand, it is said that Queen Sugandha is especially sympathetic toward these people. There is also talk that a royal official supports the Satvatas.

TEACHER: Do not always expect disaster. If something opposes established custom, they will not be able to bend even a blade of grass. Come, let us go and see how the heretical religions, repeatedly plunged into the ocean of a Mimamsaka's flowing eloquence, struggle in many different ways.

They both exit.

ACT FOUR

QUALIFIED TOLERANCE

The honourable SANKARSHANA enters with the BOY and as many ATTENDANTS as the production permits.

SANKARSHANA: Boy, I have fallen into a difficult crisis. For how can I say with my own tongue that the philosophy of those who follow Lord Vishnu Narayana - whose mind is absorbed in performing the divine play that transforms the conditions of the world, its preservation, creation, and destruction - is false? Yet if I do not say it, how can I stand before scholars whose minds are wholly immersed in the three Vedas?

BOY: Alas, sir, you truly face a dilemma. Yet the customs established long ago continue exactly as before. Why be agitated about this matter? Look now upon this place filled with hundreds and thousands of Pancharatikas and other great scholars.

SANKARSHANA: (Walking, then looking ahead in astonishment.) Good heavens! What an immense gathering of scholars! The tremendous clamour of competing debates spreads through every direction. In this assembly are Mimamsakas who have examined the various processes by which sentences convey meaning; grammarians who have investigated the roots of nouns and verbs; logicians whose intelligence is sharp in determining the pervasion of reasons; and senior teachers of sacred tradition, political science, the Puranas, and other disciplines.

Ah, wonderful! The kingdom of the holy and renowned King Yashovarmadeva now seems exactly like the world of Brahma. His heart is devoted to Shiva, destroyer of the Triple City; he is an ocean of enviable virtues, adorns his ears by listening to the precious instruction of scholars, and fulfils the desire of every good person. (Reflecting for a moment, aside.) How should I conduct myself among these people, who follow the guidance and teaching of diverse and mutually contradictory learned works? What shall I do on this difficult road of opposition to the Veda, where even experts cannot reach a decision? I understand! Lord Vishnu, bearer of bow, discus, and conch, is my refuge.

Very well! First I shall immediately take refuge in the Lord himself. (Aloud.) Boy, the Lord's temple is near. We shall bow to Lord Vishnu Ranasvamin, refuge of all, and then take our seats in the assembly.

BOY: As you command.

They walk on.

SANKARSHANA: (Acting out his entrance and kneeling.)

Homage to Vishnu, upon whose strides the manifold three worlds depend, and within an atom of one corner of whose belly the universe rests dissolved.

Homage to the Discus-Bearer, in whose palms conch and discus shine, who shows the true path to liberation and reveals the stainless highest good.

Homage to the Chariot-Wheel Bearer, cause of final nirvana...

(<Listening>, then speaking with delight.) From this auspicious sound of the conch I infer...

<MANJIRA>: ...this is a very great danger to the order of social classes and stages of life. Therefore, when the chief minister Brahma...ksha submitted the matter, the queen prepared to summon these respected Brahmins. Returning from there, she told the chief minister that the following request had been made to her: "In this dispute between scholars of the three Vedas and teachers of other religions, everyone accepts as arbiter the great Nyaya philosopher Bhatta Sahata, famous as Dhairyarashi. Please appoint him mediator in this disputed case." ...Therefore, noble sir, please do not depart. I ask you to remain present in the debating assembly without presenting your own position...

SANKARSHANA: Friend Manjira, come. Let us enter the assembly together.

They walk on.

A VOICE OFFSTAGE:

Born in a distinguished family of celebrated dignity, ... extraordinarily fortunate, he removes every doubt of people holding opposing views, and thus scholars attain one shared vision of the highest reality.

The honourable Sahata was born as a true ornament of the world, almost the equal of the Supreme Lord. Not ordinary virtues but great virtues raised him so high that no one can confront him.

SANKARSHANA: They are praising the approaching Dhairyarashi. Plainly the people favour him! Their sympathy is justified, for he is exactly as described. Friend Manjira, through your kindness I have escaped a difficult crisis and can remain apart from such a subject.

MANJIRA: When the deathless and eternal Supreme Lord is with you, noble sir, what difficulty can arise in your lifelong mission of helping the people?

BOY: Sir, this is your seat in the present assembly. Please enter.

SANKARSHANA: Colleague Manjira, enter first and announce the royal command to the members of the assembly.

MANJIRA: Very well. (He walks forward.) Scholars, you have taken your respective places; please attend. There is a keen-minded speaker, deeply honoured by good people, an ocean into which the rivers of learning flow, who has won great fame in learned society as the foremost scholar. Today, by royal command and at the request of the religious teachers, he has been appointed mediator in this case. Let everyone be at ease, abandon factional difference, and rejoice!

DHAIRYARASHI enters as described, accompanied by as large a group of DISPUTANTS as the production permits.

DHAIRYARASHI: (Astonished.) What a marvellous confluence of learning! Wonderful! Here in Bharatavarsha on the continent of Jambudvipa, I see the city of the Supreme Person. For the fourteen seats of learning are firmly established here; diverse customs are present; there are many vows and restraints; and austerity, pure by nature, proceeds peacefully and without obstruction. The king is plainly Brahma embodied - what could be greater?

(Looking ahead.) The honourable Sankarshana, equal to the sages of the Puranas, is present. Good, I shall salute him. (<He> bows.)

SANKARSHANA: (Embracing him closely.) Your embrace is like a ritual bath in the waters of every sacred ford!

All sit.

SANKARSHANA: Respected scholars of Dharma, your intricate doubts seem already cut away. By royal command, the living Akshapada, Dhairyarashi - worthy to be called the Prajapati of philosophy - is present among us!

DISPUTANTS: Not by royal command, but at the request of the religious teachers.

SANKARSHANA: (To DHAIRYARASHI.) Ornament of logicians, you must already know the facts of the matter under consideration. Therefore, as you are moved, pronounce whatever decision you consider proper.

DHAIRYARASHI: Noble sir, I know only this: the disputants here disagree about whether the Pancharatra and other scriptures are authoritative. But with you present, what right has a man like me to speak? Only with your permission can I say something, like your child.

SANKARSHANA: Why speak so? You are the one who gives the command. Every disputant places his trust in you alone. Please speak.

DHAIRYARASHI: (To the DISPUTANTS.) Respected gentlemen, I have listened to and understood the arguments you have presented on both sides; they are complete. Therefore, while I deliver my statement without interruption, say nothing in between.

DISPUTANTS: Very well, noble sir. Unless asked, we shall say nothing to interrupt your words.

DHAIRYARASHI: Then listen attentively.

DISPUTANTS: We await every word.

DHAIRYARASHI:

First, the Mimamsakas say that the Veda is intrinsically a means of valid knowledge because it produces cognition. The darbha grass of beginninglessness has swept away the dust of both objections raised against its authorship and its validity.

Accordingly, they say:

Every cognition of ours is intrinsically valid because it informs us of its proper object. But when contradiction arises, or when the instrument of cognition is understood to be defective, it ceases to be valid. In the case of the eternal Veda, both objections are inapplicable, while its production of cognition is established. Or, if a supersensible subject is to be proved, there is still less room for objection.

People can determine whether a perceptible object is or is not so. But what means do they possess regarding a supersensible object?

Therefore the Veda is intrinsically authoritative because it produces cognition and because neither of the two obstacles to validity is present.

My response is this: this route to establishing the Veda's authority is certainly straight and simple. Yet it does not win my heart. Where is an arrangement of words and meanings ever seen without a person? Vedic recitation too must somewhere have begun for the first time.

You may imagine when this "first occasion" of the Veda occurred. For even if its components are eternal, this arrangement of the Veda cannot itself be eternal. Admit that sound is eternal; composition does not exhibit that nature. In our world, composition certainly depends upon a composer.

You may object, "The Veda's author is not remembered, whereas Vyasa and others are remembered." Come now! This charge is not dangerous. The extraordinary nature of the author makes him imperceptible. We ordinary people can remember only an object or person who comes within our field of perception.

Furthermore, from ancient times people have said that Hiranyagarbha is the author of the abundant Vedic revelation. If you say, "This tradition arose from eulogistic passages," you will be unable to present even a grain of evidence establishing such a distinction.

Further:

Just as you say that a Vedic statement must always be inferred as the basis of remembered observances such as the Ashtaka rites, so the author of the Veda must always be inferred; otherwise state the difference.

You may ask, "What would be impossible without the thing to be inferred?" Then what would be impossible without inferring a Vedic statement?

If you say the memory of a prescribed rite would be impossible, my answer is that composition would be impossible. If remembered tradition is in the nature of an effect, composition is of the same kind.

You will object, "Without a Vedic statement as its basis, Manu's teaching would be false." Why imagine a source of authority merely to suit your own purpose?

Or rather:

Let Manu's teaching be false; yet we cannot infer a Vedic sentence that exists nowhere and is found in the mouth of not a single person who studies hundreds of Vedic branches. If, out of respect for those learned in the Veda, we accept a Vedic sentence as its basis, then we must also accept an author as the cause of a composition such as the ordered sequence of Vedic <words>.

The reason, "Regular study of the Veda presupposes regular study from a teacher, because the expression 'Vedic study' signifies just that," is inconclusive.

It is laughable that you yourselves say such a reason is ineffective and at that very moment employ it.

An ancient composition renowned through a tradition whose origin is not error plainly had an author at the beginning, even if that author is no longer remembered.

If the Veda was composed, why do good people perform its rites, which possess abundant wealth, even though the author is not remembered?

In such a case, even after inferring an author, the learned person's effort is entirely proper, just as your effort to perform Ashtaka and other rites prescribed in sacred tradition is proper when based upon an inferred Vedic sentence.

The Veda also has an author for the following reason, and that author must always be inferred:

In the Sarvajit sacrifice, although no specific result is explicitly mentioned in the Vedic statement, a particular result is properly supplied because an expectation arises from the ritual injunction. Who is the one who expects a result there? The expressed meaning and the expressive word are surely not conscious.

If you say it is a special feature of cognition, whose cognition is it? Cognition is not independent. If you say it is our cognition, then the Veda's author is proved to be human.

Whenever we understand meaning, we know the intention of a knowing speaker. Whose intention is present here? Not the word's, not the meaning's.

The one whose expectation is accepted as the reason for treating something as an element or result of a rite is the author of that rite. Apart from him, whose expectation could it be?

Therefore the Veda must have an author, even if that author must always be inferred, because without him no Vedic activity is possible.

The statement "the author is not remembered" should be analysed as follows:

Authors such as Vyasa and Valmiki, who can be remembered in this world, have limited bodies and move within the range of sight of people like us. The author of the Veda may have the sky itself as his body, may assume many forms, or may be wholly bodiless. In such a case, how could God, the author of the Veda, become an object of memory?

For this reason the learned form various conceptions of this author. In reality he is one, capable of bringing welfare to the three worlds. Many gods with the same intention cannot be admitted. Conflicting intentions cannot all be fulfilled simultaneously; therefore some of them would plainly cease to be gods.

Thus there is one omniscient person alone. If the world had many administrators, either it would never be created, or, even if somehow created, it would not endure long, like a kingdom under misgovernment.

Many people construct a building only by following the direction of one architect; therefore the world must have been created by one maker.

Many people bustling about could not construct this world even in hundreds of cosmic ages. But it is reasonable that one pure-minded person, whose resolve is always fulfilled, accomplishes it in a single moment.

And it has been said:

"Because of his relation to the constituent parts of his function - creation, preservation, and destruction - the unique, marvellous, unborn, supremely powerful Person, cause of the emanation of the entire universe, is known by the names Brahma, Vishnu, and Rudra."

Just as this Soul of the Universe is the creator of all worlds, so that pure-minded being is also the author of the Veda. Just as the arrangements of the three worlds depend upon one another, so the Veda declares injunctions that are mutually connected.

The order observed in mutually connected subjects or words cannot be possible otherwise. We therefore maintain the following:

The sole composer of the Vedas, spread through many branches and showing the path to incomparable happiness, is one pure-minded sage - the marvellous ancient God. In the same way, accept the Lord as the sole author of all scriptures; for, as already said, it is not easy to imagine many authors.

You may say, "Ah! All scriptures without exception contradict one another, since no shared subject is seen among them. How can they be considered the work of one person? Or, since they refute one another, how can they be authoritative?"

First we shall examine your statement, "How can there be authority when mutual contradiction exists?" How do you prevent mutual contradiction within the Veda? If you say the Veda is eternal - ah, you have become entangled in a story from your own household. If you avoid contradiction in Vedic statements by distinguishing their subjects, employ the same process with statements in other scriptures.

The Veda prescribes an offering of jambu fruit for one who desires long life, and recites the Sarvasvara rite for one who desires death. If you remove the contradiction between these Vedic statements by distinguishing the people for whom they are prescribed, you must apply the same method to the teachings of other religions.

Thus, even though mutually opposed, the teachings of other sacred works have no greater fault than Vedic injunctions. Or rather:

There is no contradiction among the scriptures concerning the highest human goal, since all teach the same result - liberation.

Different paths to liberation have nevertheless been taught according to the understanding of beings fit to receive grace. The omniscient Lord saw, "These people can reach the highest good by this path suited to their inclination," and therefore taught diverse means.

Just as a crowd entering one fortress or great building passes through different gates, so people who seek liberation enter

the supreme abode.

On this very matter there is a wise saying by the brilliant Jayanta, master of the essence of every science, knower of reality, free from error:

"The many means taught by different scriptural paths converge upon one highest human goal, as the streams of the Ganges converge upon the ocean."

The objection, "How can contradictory scriptures have one author?" has also been answered:

The Veda is not intrinsically authoritative; it is authoritative because it was uttered by God. And, on the other hand, there is no reasoning that supports many gods.

References to different authors are explained in another way.

Though one, he assumes various bodies created by his will and teaches every kind of scripture for the welfare of all beings; therefore those forms bear the different names by which they are famous throughout the world.

Shiva, Pashupati, Kapila, Vishnu, divine Sankarshana, the Jina sage, the Buddha, and Manu are all one. Only the names, and perhaps the bodies, differ; there is no multiplicity in the undivided Supreme Self.

Even if some extraordinary great person were distinct from God, he would bear the Lord's splendour. Krishna has said: "Whatever being is powerful, prosperous, or magnificent, understand that it has arisen from a portion of my splendour."

Or let the Jina and the other celebrated sages be distinct and intent upon promoting different religions. Even then, through the pure and imperishable vision obtained by devoted meditation upon the Supremely Holy One, they would discern means leading to the highest good.

There is only this difference between a yogi and

the Supreme Lord: the Supreme Lord's knowledge belongs to him by nature,

whereas the yogi's knowledge

is acquired through the practice of meditation.

In sum, those who hold that the Veda is the composition

of a trustworthy person establish its authority

in this way. The chain of reasoning is the same

concerning the authority of each scripture,

such as the Pancharatra.

Whether its author is one - the Lord -

or many trustworthy persons who know the different paths,

in either case these works composed by him or by them

do not lose their authority

any more than the Veda does.

Or grant that the Veda

is beginningless and is

intrinsically authoritative. Very well - the injunctive statements

of the Pancharatra and the rest

can be authoritative in the same way.

Here too we have no clear memory

of an author. Divine Sankarshana and others

are the promulgators of these teachings,

as Katha and others are of Vedic branches.

"But," someone may object, "people know perfectly well

that the Vedas are only four. In the case of the histories

and Puranas,

the word 'Veda'

is used only figuratively."

In the clear understanding of meanings - "This is Veda, this is Brahmana, this is water, this is fire, this is earth" - attentive elders are the authority. What child, then, however rash, would call the Pancharatra "Veda"? Or who would call a follower of that doctrine a Brahmin merely because he looks like a sage?

I do not say that there are five or six Vedas. Their number is famously fixed at four. But each is divided into many branches; let the Pancharatra be one distinctive branch.

Someone may object:

"Those who know Vedic injunctions say that one and the same duty - a sacrifice such as the Soma rite or an animal offering - is learned from all branches. Tell us: have you ever seen any Vedic rite connected with the Pancharatra?"

I answer:

Though numerous, sentences that teach one rite furnished with many subsidiary acts have a shared application. Certain rules of this extensive rite are said to be prescribed in particular branches. Regard precisely this as their mutual connection.

One scripture with a definite subject

cannot be questioned by another scripture.

Even within the Veda, which contains differing injunctions,

there is such an arrangement. The prescription for using a vessel of liquor

is restricted solely to the Sautramani

sacrifice; it certainly has no relation

to other rites.

Do the different meritorious acts taught in Veda and sacred tradition

for the different stages of life

become confused with one another?

At the same time, nonviolence, truthfulness, contentment,

purity, restraint of the senses, generosity, compassion,

and the rest have always been praised by people

as common duties in every sacred tradition.

On this point these traditions

agree with Veda and sacred tradition.

When people call the Pancharatra texts "Veda,"

the word indicates some other

sense. A final decision on the matter

cannot rest upon ordinary usage.

Or why become entangled in asking whether the name is true or false?

Is not the same usage found in names

such as Ayurveda and Dhanurveda?

Although a follower of this teaching receives a separate

and distinctive name from the method of worshipping Lord Vishnu,

people commonly call him a Brahmin -

just as wandering mendicants

are commonly

called Brahmins.

Everyone knows that they are designated by the word "Brahmin." People use general and particular names as they please. Scholars disagree about class-universals such as "Brahminhood." Some say that the system of four classes is based on words alone.

"Is a class-universal such as 'Brahminhood' directly perceived like 'cowhood,' or in some other way?" Such reflection upon the real situation is irrelevant; it makes no difference. The existing order established in every doctrine and among all people should not be disturbed by speculation of any kind.

Therefore leave aside the question whether class exists or not. I continue the present subject.

Whether all these sacred scriptures are beginningless like the Veda or ultimately mere compositions, good people should not revile them. The slightest reviling of them would be equivalent to reviling the Veda. The fool who hunts for their defects incurs sin.

Or put it this way: the statements of sacred works such as the Pancharatra are authoritative because, like the remembered teachings of Manu and others, they are based upon the Veda.

Every effect determines a sufficient cause for its establishment, as smoke determines fire. That cause must be accepted, for memory of a subject without direct experience of the thing has never been seen or heard.

Greed, delusion, the deception of people, or a chain of insubstantial human statements cannot serve as the basis of an undisputed fact. Here there is no refuting cause, because capable people accept these teachings.

Those who hold that the Veda is beginningless cannot ground the authority of scripture upon yogic perception. Therefore only the Veda remains as the basis of Pancharatra statements.

Someone will object, "Here no similarity between the authors is observed, and without it an inference of a Vedic statement is improper."

I answer:

Very well, because the authors are different, their practices may not be alike. Yet an effect is certainly sufficient to justify inferring an adequate cause.

Someone may object:

"Because members of the first three social classes have a theoretical possibility of access, a connection with the Veda may be admitted. But the source of an effect is merely its cause, and

here it might have arisen from any cause whatever."

We shall answer:

In the sphere of Dharma, the Veda alone is authoritative, and nothing else. For this reason the Veda is called the source here, not because of any similarity among authors. For the same reason there is no need for a doctrine of yogic perception.

Whether the authors here are the same or different, in every case the sole source of this duty called Dharma is the Veda.

If the basis of the Jina's, Kapila's, or the Buddha's teaching and all such instruction is neither yogic perception nor Veda, how could delusion produce their immeasurable extent, accepted by many noble people? In some places complete agreement is even found.

Delusion can sustain something for a few days; but to say that such delusion endures age after age would be an extraordinary invention.

You may ask, "Who knows whether Buddhists even existed in ancient times?" Then who knows whether Brahmins learned in the Veda existed in ancient times?

Or if you say greed and similar motives are plainly the source here, the heretics will reply that the Veda too is merely a means of livelihood.

On the other hand, if the chain of abuse

babbling from followers of Brihaspati's doctrine

is removed in the case of the Veda because exemplary people accept it,

then in the case of the teachings

of other scriptures it may be removed

in the same way, because it is said that wise people

accept them too.

However many kinds of argument,

and however many arguments of each kind, you present

to prove the authority of the Veda,

they possess equal force regarding other religious doctrines.

Your statement, "The world has always been as it is now,"

is made in the same way by other people too:

those religions also have always existed.

But let me shorten the discussion. A person who speaks too much

becomes unpleasant. Therefore I shall now restrain

the excessive chatter of my tongue.

Religious scriptures are authoritative because they were spoken by truthful and trustworthy

persons; or they are intrinsically authoritative

because they are beginningless like the Veda; or, like Manu's teaching,

because they conform to

Vedic tradition.

All scriptures are authoritative - so

say those versed in statecraft.

You may object:

"By this fault of improper over-extension, the earth's social and religious order will be utterly destroyed. Name one proposition, however meaningless, about which the same claim could not be made."

The answer to this objection is as follows:

This method of establishing authority may be applied only to a scripture that has a widely accepted and unbroken tradition; with which noble people do not feel disgust at associating or discussing; whose accepted practice is neither antisocial nor dangerous; which has not suddenly arisen just now; and which is not founded upon a madman's babbling, a bizarre fantasy, or greed alone. It may not be applied to every work.

Only of such a scripture can it be said that it was spoken by a trustworthy person, is beginningless, or is based upon Vedic tradition - not in every case.

And this excellent arbiter will not accept as authoritative any scripture that teaches a loathsome duty, such as intercourse with a forbidden woman or eating impure substances.

Having finished his statement, DHAIRYARASHI remains silent for a moment, then turns toward SANKARSHANA.

DHAIRYARASHI: Noble sir, I have spoken to the best of my intelligence's ability. Now let us ask these respected disputants, in the order in which they are seated, whether my words have won their hearts.

SANKARSHANA: (Joyfully.) Honourable Dhairyarashi, be at ease. Through this fresh river of learning that has flowed from you, we feel as though revived, as though we have attained the highest good, become purified and nourished, and experienced the purpose of this worldly life. Ah, wonderful! What subtle intelligence! What flowing speech! What mastery of philosophy and scripture! What a stainless mind, free from envy and other faults! Or what virtue in this man has not reached its highest limit? People have always said that no second equal of Sahata has ever been born.

These teachers too are capable of recognizing excellence; how, then, could you fail to win their hearts? Shall we ask? (Turning to the DISPUTANTS.) Respected teachers, have Dhairyarashi's words won your hearts?

DISPUTANTS: Noble sir, at the very least, his learning is beyond human.

<SANKARSHANA>: Through these words of the honourable Dhairyarashi, your understanding will remain forever pure, like that of Brahman sages. His statement pours an inexhaustible stream of political wisdom, with incomparable fluency and no hatred. Nevertheless, you are

reminded again: good gentlemen, you must certainly observe two rules.

DISPUTANTS: What two rules?

SANKARSHANA: As has been said, these religious traditions are not to be blended with one another; each remains in its own field and in its own established form. Gentlemen, take constant care that they are not mixed.

DISPUTANTS: Noble sir, what need be said of universal duties such as nonviolence, taught by Manu and inherited through tradition within each of our doctrines? Apart from those, however, from fear of acting against the words of our own scriptures, we avoid mixing the distinct rites specifically prescribed for us. Thus the first rule is settled. What is the second?

SANKARSHANA: Do not admit into your religion those who merely utter your name with their mouths while overturning both scripture and Dharma through their wicked conduct.

DISPUTANTS: That too shall be ensured. But it does not lie within our power alone. You and the royal officers can bring it about.

SANKARSHANA: You speak truly. His Majesty, teacher of the established rules of social class and stage of life, will certainly seize this opportunity. Keep yourselves apart from such people and show them no sympathy.

DISPUTANTS: As you command, noble sir.

SANKARSHANA: Now let us rise and attend to our respective duties. Let each person follow his religion according to established custom. Honourable Dhairyarashi, come; we shall report to our master how the matter has unfolded.

All exit.

END OF ACT FOUR

MUCH ADO ABOUT RELIGION

AGAMADAMBARA

Jayanta Bhatta

Original Sanskrit-to-Maithili translation by
Gajendra Thakur



www.videha.co.in

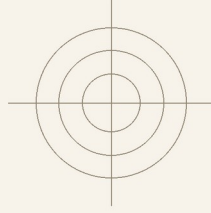
भगवदज्जुकम्

साधु आ वेश्या



THE ASCETIC AND THE COURTESAN

A SANSKRIT FARCE BY BODHAYANA



संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद

गजेन्द्र ठाकुर

सम्पादक : विदेह प्रथम मैथिली पाक्षिक ई पत्रिका



MAITHILI · ENGLISH EDITION

www.vidha.co.in

भगवदज्जुकम्

साधु आ वेश्या

THE ASCETIC AND THE COURTESAN

— — —

मूल संस्कृत प्रहसन : बोधायन

संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद

गजेन्द्र ठाकुर

सम्पादक : विदेह प्रथम मैथिली पाक्षिक ई पत्रिका

www.videha.co.in

— — —
भगवदज्जुकम् • साधु आ वेश्या

THE ASCETIC AND THE COURTESAN

मूल संस्कृत प्रहसनः बोधायन

संस्कृतसँ मैथिली अनुवादः गजेन्द्र ठाकुर

सम्पादकः विदेह प्रथम मैथिली पाक्षिक ई पत्रिका

This bilingual edition presents the Maithili version first, followed by the English theatre version.

This edition © 2026 Gajendra Thakur. All rights reserved.

www.videha.co.in

विषयसूची • CONTENTS

— — —

भाग I : मैथिली संस्करण.....	1
साधु आ वेश्या [भगवदज्जुकम्].....	2
पात्र.....	2
प्रस्तावना.....	2
मुख्य नाटक.....	4
PART II • ENGLISH VERSION.....	22
The Ascetic and the Courtesan [Bhagavadajjukam].....	23
Cast.....	23
Prologue.....	23
The Play.....	24



भाग I

भगवदज्जुकम्

मैथिली संस्करण : साधु आ वेश्या

— — —

साधु आ वेश्या [भगवदज्जुकम्]

[भगवदज्जुकम् (संस्कृत प्रहसन) - भगवद् (संन्यासी); अज्जुकम् (वेश्या)]

मूल संस्कृत प्रहसन - बोधायन द्वारा रचित; मैथिली अनुवाद: गजेन्द्र ठाकुर

पात्र

सूत्रधार
विदूषक
साधु (परिव्राजक)
शाण्डिल्य (साधुक शिष्य)
वेश्या (वसन्तसेना)
२ टा परिचारिका
माय
प्रेमी
वैद्य
मृत्युक दूत

.....

[नान्दी (देवतासँ आशीर्वाद प्राप्त करै लेल) क बाद सूत्रधार प्रवेश करैत छथि।]

सूत्रधार:

शिवक चरण रक्षा करओ!

ज्योतिषी तकर महत्त्व जनैत छथि -

देवताक मुकुटपर नीलम तकरा स्पर्श करैत अछि -

आ रावणक दुष्टता सँ

तकर औंठा एक बेर झुकाओल गेल -

शिवक चरण रक्षा करओ!

(प्रवेश करैत) ई रहल हमर घर, हम भीतर जा रहल छी। विदूषक, कतए छह?

विदूषक: हम एतए छी, स्वामी!

सूत्रधार: जखन तक कियो नै छैक, हम तोरा किछु नीक गप कहबह।

विदूषक: ठीक अछि, स्वामी। (बाहर जाइए, फेर अबैए) घरमे कियो नै अछि, स्वामी। कहियौ ने, किछु नीक गप!

सूत्रधार: सुनह। आइ हम एकटा ब्राह्मण सँ भेंट केलौं; ओ बाहर सँ आयल छलाह- एकटा ज्योतिषी जिनकर भविष्यवाणी बड़ सटीक होइ छै- आ ओ भविष्यवाणी केलनि: "श्रीमान्," ओ बजला, "आइक सात दिन बादे राजमहलमे अहाँ नाटक देखाएब। राजा अहाँक प्रदर्शनसँ बड़ प्रसन्न हेता आ अहाँकेँ खूब धन देता।" ई सत्य होमयबला भविष्यवाणी हमरामे ऊर्जा भरि देलक, तँ हम एकटा नाटक खेलाएब।

विदूषक: कोन तरहक नाटक खेलाएब?

सूत्रधार: ई बड़ नीक प्रश्न अछि। नाटकमे कोनो दस तरहक भावना देखा सकै छी, आ जहाँ धरि हमरा बुझाइए, हास्य सभसँ श्रेष्ठ अछि। तँ हम एकटा प्रहसन खेलाएब।

विदूषक: स्वामी? हमरा प्रहसनमे सेहो हास्य नै बुझाइए।

सूत्रधार: तखन हमरा तोरा प्रशिक्षित करऽ पड़त। अप्रशिक्षित मन किछु नै पाबैए।

विदूषकः स्वामी, तखन अहाँ हमरा प्रशिक्षित करू!

सूत्रधारः अवश्य।

जँ अहाँ ज्ञान पर मन लगौने छी

तँ नीक मार्गपर चलयबलाक संग चलू-

(पर्दाक पाछाँ सँ अबाज)

पर्दा पाछाँ सँ अबाजः शाण्डिल्य, कतऽ छह हो?

सूत्रधार (अकानैत):

हमर पाछाँ आउ, साधुक शिष्य बनि

जेना दृढ़ योगीश्वरक शिष्य अनुसरण करै छथि!

(दुनू प्रस्थान करैत छथि।)

प्रस्तावनाक अन्त

मुख्य नाटक

(एकटा साधु प्रवेश करैत छथि।)

साधुः शाण्डिल्य, कतऽ छह? (पाछाँ देखैत) अखनो कतौ नै देखा रहल अछि। ऐ छौड़ाक स्वभाव छै अनैतिकतासँ भरल। आ किए नै! देह बेमारीक खजाना अछि। बोखार तकरा हिलबै छै, मृत्युक छाह ओकरापर शासन करै छै, आ ओकर गति धारक कातक एहन गाछ सन होइ छै जे सदिखन फेकल समान सभसँ घेराएल रहैए। तखन गुणसँ प्राप्त शरीर पाबि कऽ तौ चकित छह। आ जँ तौ एकर दोषकें शक्ति, सौन्दर्य, स्वास्थ्य आदि गुणसँ झाँपल देखै छह, तँ तौ पागल छह! तँ शाइत ओ दुखी बौआ पूरापूरी दोखी नै अछि। हम एक बेर फेर बजबइ छिए। शाण्डिल्य, कतऽ छह!

(शाण्डिल्यक प्रवेश।)

शाण्डिल्यः तँ, शुरुए सँ कहू- हम ढंगसँ जनमल छलौं। हमर परिवार गीदड़क ऐठ-कूठपर जिवै छलय, हमर जीह ओकरा पकड़ने सुखा गेल, हमर ब्राह्मण-जनौ गरदनिमे सटल रहल, आ हमसभ ब्राह्मण भेलापर बड़ सन्तुष्ट छलौं! तँ घरमे खाइले किछु नै छलय। हम भूखसँ मरै छलौं। हम बौद्ध बनै लेल भागलौं जे जलखै भेटत। जलखै भेटल, मुदा ई बदमाश सभ दिनमे एक्के बेर मात्र खाइ जाइए। तँ हम फेर भुखले रहलौं। हम गेरुआ वस्त्र फेकलौं, भिक्षापात्र तोड़लौं, आ मात्र एकटा धरिया पहीरि छत्ता लेने चलि एलौं। आ आखिरीमे ऐ दुष्ट गुरुक मोटा उठबैबला बनलौं। कतऽ छथि ओ पूज्यवर? ओ अपने भिक्षाटनपर गेल हेता आलसी। बेसी दूर नै गेल हेता। (मंचपर घुमैत देखैत अछि।) ओहहो, ई रहला पूज्यवर! (नम्रतासँ) क्षमा करू, क्षमा करू, पूज्यवर!

साधुः डरह नै, शाण्डिल्य, डरह नै!

शाण्डिल्यः पूज्यवर, ऐ संसारमे- जतऽ सदिखन झगड़ा होइत रहैए, जतऽ सुखे सभ बौस्तु अछि- अहाँ भिक्षाटन केना करै छिए?

साधुः सुनह। हमरा मान-सम्मानक कामना नै अछि; संकट सदिखन हमर पाछाँ रहत, आ हमरा खाइ लेल जे भिक्षा चाही से दुर्बल लोकसँ अबैए। हम ऐ व्यसन-ग्रस्त संसारमे समधानि कऽ चलै छी, जेना पनिडुम्मीसँ भरल पोखरि।

शाण्डिल्यः मुदा पूज्यवर, हमर तँ नहिये परिवार अछि, नहिये भाई, ने बाप; अहाँ हमरापर एत्ते कृपा किए करै छी? हम साधुक लाठी ऐले नै पकड़लौं जे पुण्य भेटत, मुदा ऐले जे भूखे मरि रहल छलौं।

साधुः शाण्डिल्य, एकर अर्थ की?

शाण्डिल्यः सत्य कऽ अलाबे की? अहाँ सदिखन कहै छी जे झूठ बन्हन अछि।

साधुः एकदम ठीक। जँ कियो झूठकें संगी बनबैए तँ बन्हनमे बन्हा जाइए। भूझऽ चाहै छह किए? जखन एकटा सचर लोक नीक प्रेरणासँ नीक काज करैए, देवता तकर फलकें एना राखै छथि जेना कोनो धरोहरि।

शाण्डिल्यः मुदा ओ आपस कखन भेटत?

साधुः जखन ओइ विरागसँ ओ श्रेष्ठ बनत।

शाण्डिल्यः श्रीमान्, श्रेष्ठ केना बनल जाइए?

साधुः चीजक इच्छा नै केला सऽ।

शाण्डिल्य: पूज्यवर, ई प्रश्न उठैए जे इच्छा केना नै कएल जाय।

साधु: प्रेम आ घृणासँ एकात भऽ। किए? "सुख-दुखमे सम रहब, भय-हर्षमे सन्तुलित रहब, मित्र-शत्रुकें समान दृष्टिसँ देखब - एकरे बुद्धिमान लोक एकात हएब कहै छथि।"

शाण्डिल्य: मुदा ई अछि की?

साधु: जे अखनो अस्तित्वमे नै आयल तकर नाम नै होइए।

शाण्डिल्य: मुदा कहू, की एकरा कएल जा सकैए, पूज्यवर?

साधु: कोनो सन्देह अछि?

शाण्डिल्य: झूठ! झूठ!

साधु: माने?

शाण्डिल्य: श्रीमान्, अहाँ हमरापर किए तमसाइ छी?

साधु: तौ सीखबे नै करबह।

शाण्डिल्य: हम सीखी आकि नै। अहाँकें की? अहाँ तँ स्वतन्त्र छी!

साधु: एना नै बाजऽ। परम्परा अछि जे छड़ी छात्रक लेल पुष्टाई होइ छै। तँ पूर्ण तटस्थतासँ हम तोरा बड़ तरीकासँ सँतबऽ।

शाण्डिल्य: अहा! पूर्ण तटस्थतासँ दण्ड दै छी, हे पूज्यवर! आब ई संवाद बन्द करू; भिक्षाक समय बीतल जाइए।

साधु: मूर्ख, अखन भोर-सकाले अछि, दुपहरिया नै। लिखल अछि: भिक्षा तखन मायगी जखन उक्खड़ि राखि देल जाय, चूल्हि मिझा जाय, आ सभ खा-पी लेथि। चलह, किछु काल कलममे बितबै छी।

शाण्डिल्य: ओह ओह! अहाँक पावन व्यवहार अपन वचन तोड़ैए!

साधु: माने?

शाण्डिल्य: की अहाँक पावन व्यवहार एक रंग नै अछि, नीक आकि बेजाय?

साधु: एकदम्भ! हमर आत्मा एक रंगक अछि, नीक आकि बेजाय, मुदा हमर सक्रिय स्व कें विश्राम चाहि।

शाण्डिल्य: श्रीमान्, आत्मा की अछि? सक्रिय स्व की अछि?

साधु: सुनह! अन्तर-आत्मा अछि जे सुतला पर स्वर्ग जाइए। फेर मात्र आत्मा अछि जे अपन कर्तव्य करैए आ जन्म-जन्मान्तर यात्रा करैए। आ तखन ईहो आत्मा अछि जकरा हम सक्रिय स्व कहै छी: "मनुष्य अपन देह अछि," आ ई आत्मा विश्रामक सुख चाहैए।

शाण्डिल्य: ठीके, "ओ आत्मा, जे बूढ़ नै होइए, मरैए नै, अविनाशी अछि, अक्षय अछि- वएह आत्मा अछि। आ जे हँसैए, हँसबैए, सुतैए, मरैए- वएह सक्रिय स्व अछि।"

साधु: जेना सिखेलौं, सएह सिखलौं।

शाण्डिल्य: ओह ओह! चलू! अहाँ ठका गेलौं!

साधु: माने?

शाण्डिल्य: आत्मा जे अखन अछि, ठीक ने? जँ देह नै तँ किछु नै।

साधु: जनसाधारण सन बजै छह। सभ प्राणी कइएक अवस्थासँ गुजरैए, बुझलहीं। तँ हम सभ ओइ रूपमे बजै छी।

शाण्डिल्य: आ अहाँ कोन अवस्थामे छी?

साधु: सुनह। आकाश, वायु, जल आ अग्नि कणसँ बनल देह लेने, बाकी मात्र माटि, कान, आँखि, जीह, नाक आ स्पर्शसँ चेतन, हम श्वास लेबऽ बला प्राणी छी जकर नाम मनुष्य अछि।

शाण्डिल्य: ओह ओह! एना अहाँ स्व कें नै जानि सकब, अपन आत्मा तँ दूरक बात। (चारू दिश देखैत) श्रीमान्, ई देखू एकटा कलम अछि।

साधु: तौ पहिने जाह। ऐ एकान्तक आश्रय वन हमरा सभकें छाह दैत अछि।

शाण्डिल्य: श्रीमान्, अहाँ श्रेष्ठ, पहिने जाउ, हम पाछाँ आएब।

साधु: कोन प्रयोजन?

शाण्डिल्य: हमर माय एक बेर एकटा पवित्र महिलासँ सुनलनि जे अशोकक फूलमे बाघ नुकायल रहैए। तँ अहाँकें पहिने जाय पड़त, श्रीमान्!

साधु: ठीक छै। (दुनू प्रवेश करैत छथि।)

शाण्डिल्य: आह, बाघ काटि लेलक! बाघक मुँहसँ बचाउ! बिन मुक्तिए बाघ खा लेलक! हमर गरदनसँ खून बहि रहल अछि!

साधु: डरह नै, शाण्डिल्य। ई मात्र एकटा मोर अछि।

शाण्डिल्य: तँ मोर अछि!

साधु: हँ, मात्र मोर।

शाण्डिल्य: तखन आँखि खोलै छी।

साधु: खोलह।

शाण्डिल्य: (कलमकें देखैत) हे! ओ बदमाश बाघ हमरासँ डेरा गेल, मोर बनि गेल आ आब भागि रहल अछि! (कलमकें देखैत) अहा! कतेक सुन्दर कलम! हम देखैत छी - अर्जुन, कदम्ब, आम, शाल, दूबि, चन्दन, अशोक आ साधारण केराक गाछ- सभ बसन्तमे सुन्दर लगैए! आ हम देखै छी अंकुर, पात, फूल, आ झोंझ, सभ एकटा कलममे जे चमेलीक लताक मंडपसँ सजल अछि, मोर, कोइरी आ मातल भौराक मधुर गायनसँ गूँजि रहल अछि। ई एकटा कलम अछि जे ओइ युवती सभकें पश्चाताप दैए जे अपन प्रियतमक अनुपस्थितिमे कष्ट पबैए आ ओकरा सभकें सुख दैए जकर प्रियतम उपस्थित अछि!

साधु: मूर्ख! दिन-प्रतिदिन इन्द्रिय नष्ट होइत अछि, से एतेक सुन्दर की अछि?

सुनह,

एकटा बच्चा कहैए, आह बसन्त आयल

फूलक चढ़िमे लेपटल!

आ नव ऋतुमे आनन्द लैए: पतझाड़ आयल

कमलक गुच्छमे हेलैत!

मुदा ओ कथीमे आनन्द लऽ रहल अछि

जखन जीवन छोट भेल जाइए?

शाण्डिल्य: एकटा प्रश्न? सुन्दरता जखन आ जतऽ होइए ई होइते अछि।

साधु: एक बेर फेर, कोनो शैक्षणिक पृष्ठभूमि नै! लोक- ओ सभ भविष्य लेल प्रार्थना करैए, अतीतपर शोक मनाबैए आ वर्तमानसँ घृणा करैए।

शाण्डिल्य: ई रस्ताक अन्त अछि। हमसभ कतऽ बैसब?

साधु: एतै बैसब।

शाण्डिल्य: गन्दा, गन्दा!

साधु: "बोन स्वच्छ अछि, धरती पवित्र अछि।"

शाण्डिल्य: मुदा जँ थाकलापर बैसऽ चाहै छी तँ सदिखन पुछै छी, स्वच्छ अछि वा गन्दा?

साधु: प्राधिकरण शास्त्र अछि, हम नै। किए? अपन आत्म-सम्मानसँ बताह लोकपर भरोस नै, जे कहैए जे खरापसँ नीक होइ छै- तिनकर प्राधिकरण मात्र सनकक सोंगर लेने अछि।

शाण्डिल्य: तँ अहाँक बेसी बजला पर भरोस नै।

साधु: आबह, बेटा। किछु सीखह।

शाण्डिल्य: हम आब आर नै सीखब।

साधु: किए नै?

शाण्डिल्य: बेसी सीखबाक की फाएदा?

साधु: जे छात्र पाठ सीखैए से अन्तमे बुझिये जाइए। तँ किछु सीखह।

शाण्डिल्य: आर तखन की होइ छै?

साधु: सुन: ज्ञानसँ विवेक बढ़ै छै, विवेकसँ आत्मनिग्रह, आत्मनिग्रहसँ तपस्या, तपस्यासँ योग, योगसँ भूत-वर्तमान-भविष्यक यथार्थक अन्तर्दृष्टि; आ ओइ अन्तर्दृष्टिसँ आठ गुणा प्रभुत्व प्राप्त होइ छै।

शाण्डिल्यः हे गुरु, अहाँ हमर विचार पढ़ि कऽ बजै छी; मुदा हम ओकरा नुका सकै छी! तँ बिना पाप केने दोसराक घरमे घुसब की सम्भव?

साधुः माने?

शाण्डिल्यः माने बौद्ध भिक्षु लेल बनाओल स्वादिष्ट भोजन मठसँ खाएब।

साधुः तोहर सन पेटमधबा कोनो घड़ी नै मानि सकैए।

शाण्डिल्यः ऐलेल अहाँसभ सभक चानि उड़ल अछि! हमरा आर कोनो कारण नै बुझाइए।

साधुः एना नै बाजह!

योगक फल महान अछि,

सही, अडिग, अकल्पनीय, अक्षय,

उच्च-मनस्क ब्राह्मण द्वारा आदर देल,

देव आ दानव द्वारा अनुमोदित।

शाण्डिल्यः तखन अहाँ अपन योगकेँ भक्तिसँ सोचू आ एकान्तमे रहू। हम भक्तिसँ खिचड़िक बिखयमे सोचब। मुदा श्रीमान्, अहाँ सन साधु ऐ योगक विषयमे बड़ सोचैए, आकि नै? ई अछि की?

साधुः सुनह

तपस्याक सार,

सभ ज्ञानक मूल, सत्यक परीक्षा,

सभ विरोधाभास दूर करय, आ प्रेम-घृणासँ रहित – वएह अछि योग!

शाण्डिल्यः धन्य पूज्य बुद्ध, जे भोजन छोड़ब, आ सभटा बौस्तु छोड़ब सिखाबै छथि!

साधुः शाण्डिल्य! एकर माने की?

शाण्डिल्यः श्रीमान्? मोन नै? हम पहिने जलखै लेल बौद्ध बनल छलौं।

साधुः मुदा अखन अहाँ किछु सिखलौं?

शाण्डिल्यः किछु? हम आब बहुत किछु जनै छी।

साधुः ठीक अछि। सुनाउ।

शाण्डिल्यः सुनू, श्रीमान्। "आठ कारण अछि, सोलह उत्पाद, मुदा आत्मा पाँच-वायुक अछि, मन तीन-सूत्रक, आ ओ भटकैए आ विलीन होइए।" ई पवित्र बुद्ध पिताका-ग्रन्थमे कहल गेल अछि।

साधुः शाण्डिल्य! ई बौद्ध धर्म नै! ई सांख्य अछि।

शाण्डिल्यः क्षमा करू, भूखमे हम खिचड़िपर ध्यान देलौं, तँ एक बात सोचलौं आ दोसर कहलौं। आब सुनू, श्रीमान्। "आज्ञा अछि जे भिक्षु अदत्त वस्तु अस्वीकार करए। आज्ञा अछि जे भिक्षु प्राण हत्या नै करए। आज्ञा अछि जे भिक्षु बक-बक नै करए। आज्ञा अछि जे भिक्षु काम वासनासँ दूर रहए। आज्ञा अछि जे भिक्षु असमयक भोजन अस्वीकार करए। बुद्धक शरण जाइ छी, धर्मक शरण जाइ छी, संघक शरण जाइ छी!"

साधुः शाण्डिल्य, अपन धर्म छोड़ि दोसर नै अपनाउ!

अन्हार छोड़ू, लाल रंग छोड़ू,

श्वेत रंग संग आ सतर्क रहू।

शीघ्र ध्यान धरू,

कारण ओ सभ ज्ञान आनत!

शाण्डिल्यः आब अहाँ भक्तिसँ योगक चिन्तन करू, श्रीमान्। हम ओतबे भक्तिसँ खिचड़िक चिन्तन करब।

साधुः ई संवाद बन्न करू।

आत्माक बन्धन लेल, ऐ संसारकेँ स्थगित करू!

इन्द्रियकेँ आत्मामे बान्हू!

ज्ञानक सहायतासँ सत्य ताकू;

पूरा आत्मासँ, सम्पूर्ण आत्मा ताकू!

(एकटा वेश्या आ दूटा परिचारिका प्रवेश करैत छथि।)

वेश्या: छोटकी मधुमाछी, प्रिये, प्रेमी कतय गेला?

परिचारिका: मालकिन, "हम आइ छी," ओ कहलनि, आ फेर अहाँक प्रेमी नग्र चलि गेला!

वेश्या: हे प्रिय, आब की?

परिचारिका: नृत्य-मण्डप दिस दौगू आर की?

वेश्या: आइ नृत्य-मण्डप नै बैसैए।

परिचारिका: मालकिन, अहाँ एकदम सही कहलौं। मुदा नृत्य-मण्डप एकटा मदिरालये अछि आ महिला सभ, कतेको शालीन होथि, नशामे माति हँसै छथि!

वेश्या: तखन तौं जल्दी जाह!

परिचारिका: आ अहाँकें सेहो जेबाक अछि, मालकिन! (प्रस्थान करैत।)

वेश्या: छोटकी कोइरी, प्रिये, हमसभ कतऽ बैसब?

परिचारिका: थोड़ेक काल ऐ पाथरक आसनपर बैसू। देखू, एकटा मोजरल आमक ठाढ़ि सँ सजाएल अछि, मुँह परहक सजावटि सन! आ तखन, मालकिन, अहाँकें एकटा गीत गेबाक चाही!

वेश्या: छोटकी कोइरी, प्रिये, हम सएह करब।

(दुनू बैसैत आ गाबैत छथि।)

दुनू:

आह, काम स्वयं एतय अछि!

हम सुनै छी

कोइरी आ भौराक धनुषक डोरक गायनसँ

आ आमक ठाढ़ि बाजि रहल अछि-

आ अवश्य एक द्रष्टाक

मन ललचाइत अछि!

शाण्डिल्य: (सुनैत) आह, कोइरीक अबाज! नै, एकदम कोइरीक अबाज नै। नै, ई एकटा गीत अछि। (अनुमान लगबैत) मधुर गीत, जेना चीनीक दूधमे मक्खन! ठीक अछि, एकबेर देखै छी। (थोड़ेक चलि कऽ ऊपर देखैए।) ओह, ओह, ओह! ई कोन शुद्ध सौन्दर्य अछि जे कोनो नृत्यालयमे नुकायल नै अछि, वरन् हमर कलमकें अपन उपस्थितिसँ सुशोभित कऽ रहल अछि?

परिचारिका: मालकिन!

शाण्डिल्य: ओह, ओह, ओह! एकटा वेश्या! धन्य छथि धनिक लोकनि!

परिचारिका: एकटा आर गीत गाउ, मालकिन!

वेश्या: हम गाएब। (फेर गाबैत।)

आह, काम फेर आयल अछि!

आ बसन्त अपन गर्व उठेने अछि

आ प्रेमिकाक दृष्टि ओकरा संग जाइत अछि!

आह, काम फेर प्रेम जगाबैत अछि!

आ प्रिय नवविवाहिताक हृदय सेहो

ओकरा फेर फूलसँ गँथने अछि!

शाण्डिल्य: कतेक मधुर गीत ओकर कण्ठसँ उठैए! सुनू, श्रीमान्!

साधु: नै, कान सुनबाक लेल बनल अछि। हम एतेक दूर नै जाएब जे सुनी।

शाण्डिल्य: जाउ ओतेक दूर, जँ खर्च करबाक पाइ हुअय, हा हा!

साधु: जाह, तौं। अपन व्यवहार ठीक करह।

शाण्डिल्य: आब तामस नै करू। साधु लोकनि केँ ई नै करबाक चाही, बुझै छी।

साधु: हम मौन पालन कऽ रहल छी।

शाण्डिल्य: हँ, की ई सोनहुल मौन नै अछि।

(मृत्युक दूत प्रवेश करैत अछि।)

दूत:

आ हम आयल छी! हमरा

ओ पठौलनि जे सभ प्राणी केँ ल' जाइ छथि

भाग्यसँ आहत, ओ जे देखै छथि

नीक आ अधला काज, भगवान यम,

शान्ति-दाता, आ आब हमरापर आरोप अछि

हुनका मृत्यु देबाक,

जइपर हुनकर अटल अधिकार अछि।

तैं, धरतीक सभ राज्य, धार, बोन आ पर्वत देखैत, वर्षाक बोझसँ निहुरल मेघसँ छाह भेल, हम वायुसँ हिलायल कुहेससँ भरल अकाशसँ भेल आयल छी, आ आब यम जइ ठाम पठौलनि से तर्कादिवाह नग्न पहुँचलौं! ओ कतय अछि! (चारू दिस देखैत) ओ रहल! ओ चमकैत अछि, ओइ सुन्दर सोन जड़ल अशोक गुच्छमे नुकायल, संध्याक रुद्र बादलक बीच अर्धचन्द्र सन सुन्दर! ठीक अछि, ओकर थोड़ेक कर्म बचल अछि, तैं हम थोड़े काल प्रतीक्षा करब।

परिचारिका: मालकिन, ई अशोकक फूल कतेक सुन्दर अछि? हम तोड़ब।

वेश्या: नै नै नै, हम स्वयं तोड़ब!

दूत: एकरा चुट्टी काटबाक आब समय अछि। हम आब सर्प बनि अशोकक डाड़िपर बैसि एकर प्राण लेब। जाइ छी, आ ऐ पिण्डश्याम, मनोरम-मुखी, सुकुमार-वाणी, उदार-वक्षा, सुगन्धित, लाल-कमल-आँखिवाली, हमर दृष्टि केँ चोरबयवाली पर आब कूदब आ एकरा अपन स्वामी लग लऽ जाएब।

(वेश्या फूल तोड़ैत।)

दूत: आब कटबाक समय!

वेश्या: आह, किछु काटि लेलक!

परिचारिका: (डारि देखैत) मालकिन! ओइ डारिपर एकटा साँप अछि!

वेश्या: साँप? ओह! (ओ खसि पड़ैए।)

शाण्डिल्य: आब एतऽ की भऽ रहल अछि?

परिचारिका: श्रीमान्, हमर मालकिन केँ नाग काटि लेलक!

शाण्डिल्य: ओह, ओह, ओह! गुरु, एकटा वेश्या केँ नाग काटि लेलक।

साधु: ठीके, समय केँ थाम्हऽ पड़ैत अछि। कोनो शंका नै,

लोक मात्र अपन समय पूरा करैले जनमैत अछि;

जँ समय पूरा भेल, ओ सेहो पूरा भेल।

परिचारिका: समय केँ के रोकि सकैत अछि?

वेश्या: हम देह झमरि कऽ खसैबला छी। साँस फूलि रहल अछि। हमरा पड़बाक अछि।

परिचारिका: शान्तिसँ पड़ि रहू, मालकिन।

वेश्या: माय केँ हमर प्रणाम पहुँचा देबै, प्रिये।

परिचारिका: ओह नै! अहाँ स्वयं जा कऽ प्रणाम करब!

वेश्या: आ प्रेमी केँ हमरा लेल आलिंगन करब। (ओ चेतनाहीन खसि पड़ैत छथि।)

परिचारिका: आह! मालकिन मरि रहल छथि!

दूत: ठीक अछि, ओकर प्राण लऽ लेलीं आ आब रस्ता पकड़बाक अछि। अखनो गंगा पार करबाक अछि, आ विन्ध्य पर्वत, आ नर्मदा नदीक शुभ प्रवाह, सद्मा, गोलेई, कृष्णवेणा, आ भगवान शिवक पवित्र नगर कांचीपुरम। आ तखन कावेरी, ताम्रपर्णी, मलय पर्वत आ अन्तमे समुद्र, जाधरि हम, वायुवेगसँ, लंकापर उड़ि मृत्युलोक नै पहुँचि जाइ। (प्रस्थान।)

परिचारिका: आह! हमर मालकिन मरि गेली!

शाण्डिल्य: गुरु! वेश्याक जान गेलनि?

साधु: लोक अपन जान नै हेरबै अछि मूर्ख! जिनगी हुनका लेल बड़ मूल्यवान अछि। कहू जे जिनगी तिनका छोड़ि गेलनि!

शाण्डिल्य: छिः, अहाँमे दया नै, प्रेम नै एककोरती। कठोर हृदय, दुष्ट विलासी! क्रूर ठक बेलछिल्ला!

साधु: एकर माने की?

शाण्डिल्य: थम्हू, हम अहाँक हजार नाम शुरु मात्र केने छी!

साधु: हमरा रोकेले विवश जुनि करह।

शाण्डिल्य: श्रीमान्, हम शोकमे छी।

साधु: कइ लेल?

शाण्डिल्य: ओ हमर सम्बन्धी छली।

साधु: सम्बन्धी?

शाण्डिल्य: ओ कोनो साधु सन अछि; जकरामे प्रेम नै।

साधु: हँ, ई ठीक! आस्ते-आस्ते प्रेम करी, हम उच्च उद्देश्यसँ प्रेम करै छी। वास्तवमे, हम जे निःस्वार्थ रूपसँ मोक्षक पथपर समर्पित छी आ शास्त्रक निर्धारित मार्गपर चलै छी, हम मात्र साधारण स्नेहसँ मुँह मोड़ै छी आ हमर हृदय मात्र सद्गुणकें देखैए।

शाण्डिल्य: श्रीमान्, हम अपनापर काबू नै राखि सकै छी, हम घिसिया कऽ ओकरा लग जाएब आ कानब!

साधु: ओह नै, से नै करह!

शाण्डिल्य: तामस नै करू! साधुकें नै करबाक चाही। (वेश्याक लग जाइत) हे मालकिन! एतेक प्रेमी छल, एतेक नीकसँ झूमै छलीं!

परिचारिका: श्रीमान्, अहाँकें की भेल?

शाण्डिल्य: प्रेम, आर किछु नै।

परिचारिका: (मन मे) ठीके; सन्त सभमे सभक लेल करुणा होइ छै।

शाण्डिल्य: मालकिन, हमरा स्पर्श करऽ दिअ।

परिचारिका: अहाँमे शक्ति अछि, श्रीमान्।

शाण्डिल्य: ओह हँ! (ओ पएर छुबैए।)

परिचारिका: पएर नै छुबियौ!

शाण्डिल्य: ओह हँ, हम बड्ठ भ्रमित छी। ऊपर-नीचाँ किछु पता नै। आह, ई रहल, नारिकेर सन दृढ़, केसर आ चन्दनसँ अनुलिप्त, ऊर्ध्वमुखी, हमर मालकिनक दिव्य वक्ष जे दुर्भाग्यसँ जीवित रहला पर हमरा कखनो उपलब्ध नै भेल।

परिचारिका: (मन मे) सएह हमरा करबाक चाही। (जोरसँ) श्रीमान्, थोड़े काल प्रतीक्षा करू जाधरि हम ओकर मायकें लऽ आनै छी।

शाण्डिल्य: देरी नै करिहह। माय विहीन सभक लेल हम माय छी।

परिचारिका: (मन मे) ई दयालु ब्राह्मण हमर मालकिनकें नै छोड़ि कऽ जाएत; हमरा जेबाक चाही। (प्रस्थान।)

शाण्डिल्य: ओ गेली। आब मोन भरि कऽ कानि सकै छी। ई बेचारी वेश्या जे एतेक नीकसँ चलै छली! (कानैत।)

साधु: शाण्डिल्य, ई नै करह!

शाण्डिल्य: जाउ, प्रेमहीन! अहाँ बुझै छी जे हम अहाँ सन छी।

साधु: आउ, बेटा, थोड़ेक सीखह।

शाण्डिल्य: श्रीमान्, ई बेचारी स्त्री केना ठीक हेती?

साधु: कोनो दवाई जनै छह?

शाण्डिल्य: पाप अछि अहाँक योगक फल!

साधु: (मन मे) ई बेचारा अखनो नै बुझैए जे साधु हएब माने नै बुझब जे की करबाक अछि। एकटा निअम छै जे महान शैव योग-आचार्यकें प्रकट कएल गेल छै: "शिष्यक करुणा आसक्तिकें प्रबल करै छै।" तखन हम एकरामे एकटा अन्तर्दृष्टि उत्पन्न करब। ठीक, ई सही योग अछि। ऐ योगसँ हम ऐ वेश्याक शरीरमे प्रवेश करब।

(वेश्या मुर्दासँ जिन्दा भऽ उठैत अछि। साधु अरड़ा कऽ खसि पड़ै छथि)

वेश्या: शाण्डिल्य, शाण्डिल्य!

शाण्डिल्य: (प्रसन्नतासँ) हँ! मालकिन, अहाँ जीवित छी, अहाँ पुनर्जन्म पेलौ! हम एतऽ छी, मालकिन!

वेश्या: गन्दा हाथसँ हमरा नै छुबह!

शाण्डिल्य: मुदा हम बहुत साफ छी!

वेश्या: आबह, बेटा, थोड़ेक सीखह।

शाण्डिल्य: एतहु सीखहे पड़त! ठीक अछि, एतऽ हम अहाँकें श्रेष्ठतासँ नम्रतासँ सम्पर्क करै छी। (साधुक शव लग जाइए।) श्रीमान्, दुखी छी, अहाँ मरि गेलौ। क्षमा करू, बक-बकिया, अति-योग-मनस्क गुरु! क्षमा करू, अध्यापक। ऐ तरहक प्रतिभाशाली सेहो मरैत अछि।

(वेश्याक माय आ परिचारिका प्रवेश करैत छथि।)

परिचारिका: ऐ रस्तासँ, माय।

माय: हमर प्रिय कतऽ अछि?

परिचारिका: ओ एतऽ अछि, ऐ कलममे, नागसँ काटल।

माय: आह, हम बरबाद भऽ गेलौ!

परिचारिका: शान्त होउ, माय, शान्त होउ! मालकिन ठीक छथि!

माय: केना ठीक हेती? (लग जाइत) वसन्तसेना, हमर बेटी! की भऽ रहल अछि?

वेश्या: छुबू नै, बुढ़िया!

माय: अरे! एकर माने की?

परिचारिका: बिख-माहुर माथमे पैसि गेल हएत।

माय: फुर्तीसँ वैद्यकें बजाउ!

परिचारिका: हँ, मालकिन!

(परिचारिका जाइत अछि। प्रेमी आ दोसर परिचारिकाक प्रवेश।)

परिचारिका: अहाँकें बेशी शक्ति भेटय, प्रेमी ! हमर मालकिन अहाँकें नै देखि कऽ तड़पै छथि।

प्रेमी :

आ हम सेहो ओइ मधुर गाबैबला, विशाल-आँखिबला मुँह देखऽ चाहै छी। ई मधुमाछीक प्रतिज्ञा छैक जे फुलायल सुन्दर कमलसँ पीबय। (लग जाइत) की! ओ हमरा देखि मुँह फेरै छथि! (ओ ओकर आँचर पकड़ैत।) हे वक्रांगी, अपन मुँह घुमाउ, पोखरिमे लहरिसँ थोड़ेक हिलायल कमल सन। अहाँक कहियो काल देखाइ दैत मुँह एहन प्रसन्नकारक अछि जेना हाथमे लेल अछिञ्जल।

वेश्या: दुष्ट! हमर आँचर छोड़ू!

प्रेमी : ई की अछि?

परिचारिका: साँप काटलाक बाद सँ ओ असंगत बोल बाजि रहल छथि।

प्रेमी :

ओकर मन सत्ते बौरा गेल छै। बेचारी स्त्री शून्यमे डूमल, कोनो पवित्र मोनबला एकर शरीरकें अतिक्रमित केने बुझाइ छै।

(वैद्य आ परिचारिकाक प्रवेश।)

परिचारिका: ऐ दिस, श्रीमान्, हँ!

वैद्यः (प्रवेश करैत) ओ कतऽ छथि?

परिचारिका: हे ओ रहली।

वैद्यः ओ अपनामे नै छथि। सत्ते ओ नाग द्वारा आक्रमण आ काटल गेल छथि।

परिचारिका: अहाँ केना बुझलौं?

वैद्यः जेना कहल जाइए, "माहुर-बिखसँ बड़ फर्क पड़ै छै।" एकरा एतऽ आनू। हम माहुर-बिखक शास्त्रमे पारंगत छी। (बैसैए आ इशारासँ घेराबा बनबैए।)
छोटका घेराबा, तौ जे कानक झुमका सन स्वामिनीकेँ राखै छह, ऐ जादूबला घेराबामे प्रवेश करह, जादूबला घेराबामे! ठाढ़, साँपक बेटा, ठाढ़! शान्त-शान्त!
(वेश्या दिस आंगुर देखबैत) हम एकरासँ खून बहार करब। हमर छोटकी हाँसू कतऽ अछि?

वेश्या: मूर्ख, अपन काज बन्न करू!

वैद्यः आह! पित्त सेहो। वायु, पित्त वा कफ, सभ ठीक करब।

प्रेमी : प्रयत्न करू, श्रीमान्। अहाँ हमरा कृतघ्न नै पाएब।

वैद्यः हम एकटा बिख-झारनहारकेँ आनब जे बड़ सुन्दर गोली रखैत अछि। (प्रस्थान।)

(मृत्युक दूतक प्रवेश।)

दूतः

वाह, यम हमरा छाउर नै बना देलनि! "ई वसन्तसेना नै!" ओ गरजला। "तुरन्त ओकरा आपस आनू! दोसर वसन्तसेना, जकर जिनगी खत्म भेल अछि, आनू आ जल्दी!" ठीक अछि, जाधरि शरीर जरल नै हो, हम ओकरा पुनर्जीवित करब। (चारू दिस देखैत) ओ तँ पहिनहिये उठि कऽ घूमि रहल छथि! उठि कऽ घूमि रहल छथि, मुदा ओकर जिनगी हमर हाथमे छल, एहन चमत्कार केना? (सभ दिस देखैत) ओह! ई कियो आन नै, महान योगी अपन खेल खेला रहल अछि। हम वेश्याक आत्माकेँ साधुक शरीरमे राखब, आ तखन वेश्याक जिनगी सही ठाम प्रवेश कराएब। (तहिना करैए।)

देखू! स्त्रीक जीवनशक्ति

ऐ पुण्यात्माक शरीरमे प्रवेश

ऐ साधुकेँ खराप कऽ देत

चरित्र, नैतिकता आ यशमे।

साधुः (उठैत) छोटकी कोइरी!

शाण्डिल्यः ओह, ओह, ओह! श्रेष्ठ फेर जी उठला! हम सदिखन सोचलौं ई बदमाश कखनो नै मरत।

साधुः प्रेमी , तौ कतऽ छह, कतऽ छह?

प्रेमी : प्रेमी , हमर आलिंगन करू!

शाण्डिल्यः जाउ ओइ गुलाबक झौझक आलिंगन करू!

साधुः हे हमर प्रेमी , हम कतेक मूर्ख! हम मातल छी!

शाण्डिल्यः नै, अहाँ सोझे बताह छी!

प्रेमी : अहाँक पवित्रता, अहाँक वाणी अहाँक पद लेल अनुचित अछि।

साधुः चलू एक बेर आर पीबी।

शाण्डिल्यः जाउ, माहुर खाउ। ठीक अछि, हम बुझि लेलौं जे प्रहसन की होइ छै। ने साधु, नहिये वेश्या, ओकरा साधु-वेश्या कहि सके छी। ठीक छै।

साधुः छोटकी कोइरी, छोटकी कोइरी, हमर आलिंगन करू!

परिचारिका: दूर भागू!

मायः बेटी वसन्तसेना!

साधुः हम एतऽ छी, माय। नमस्कार, माय!

मायः मुदा श्रीमान्, की भऽ रहल अछि?

साधुः माय, अहाँ हमरा ठोकरा रहल छी! प्रेमी , अहाँ आइ बड़ सुस्त छी।

प्रेमी : श्रीमान्, हम नपुंसक!

शाण्डिल्यः ठीक अछि, ठीक अछि!

(वैद्यक प्रवेश।)

वैद्यः हमरा आठटा गोली आ किछु जड़ी-बूटी भेटल। ई ठीक-ठीक जनै छी, ई या तँ तुरते जीवन देत वा तुरते मृत्यु। कियो पानि आनू, पानि! (परिचारिका लग जाइत।)

परिचारिका: ई लिअ पानि।

वैद्यः हम गोली पीस रहल छी। ओह, एकरा काटल नै गेल छै; ई वशमे अछि।

वेश्या: मूर्ख, तौ बड़ देरी सँ बूढ़ भेलह। अहाँके ईहो नै बूझल अछि जे के मरि रहल अछि। स्वीकार करू, हमरा साँप नै काटलक।

वैद्यः तखन एतेक हल्ला किए?

वेश्या: अहाँ लग पाठ्यपुस्तक अछि ने?

वैद्यः अछि, कम सँ कम पाँच सय।

वेश्या: तखन ओ सभ सुनाउ!

वैद्यः मालकिन, सुनू। "वायु, पित्त आ कफ- कफ-" ओह ओह! एकटा पुस्तक, एकटा पुस्तक!

शाण्डिल्यः आह, एकटा ठेठ वैद्य। ओ पहिनहिये बिसरि गेला। ठीक अछि, सहयोगी, एतऽ अछि पुस्तक।

वैद्यः मालकिन, सुनू। "वायुजन्य, पित्तजन्य आ कफजन्य रोग, तीनू निकलैए माहुरसँ, चारिम अज्ञात अछि।"

वेश्या: खराप भाषा। कहबाक चाही "तीनू उत्पन्न होइत अछि।" सदिखन कर्ता पहिले राखू।

वैद्यः ओह, हम एकटा व्याकरणसँ काटल गेलौं!

वेश्या: साँप दंशक कए टा लक्षण होइ छै?

वैद्यः सए।

वेश्या: नै, सात होइत अछि, जेना: "रोइयाँ ठाढ़ हएब, मुँह सुखाएब, थरथरी, पीअर पड़ब, हिचकी, तीव्र श्वास आ बेहोशी- ई साँप दंशक सात लक्षण अछि।" जे व्यक्ति ऐ लक्षणसँ परे चलि गेल हो ओकरा अश्विन सेहो ठीक नै कऽ सकत। जँ कोनो जवाब देबाक हो, बाजू।

वैद्यः हम बिसरि गेल छी। शुभ विदा, मालकिन, हम जा रहल छी।

(मृत्युक दूतक प्रवेश।)

दूतः

हँ, हम फेर आयल छी।

देखू कोना मनुष्य सभ दौगैत अछि

हमरा भेंट करय लेल - गर्भपात,

फोका, बुखार, कान दर्द,

पेट, हृदय, नेत्र रोग

बेमारी आ साधारण माथ दर्द,

आ आन मिश्रित रोगः

देखू ई प्रसन्न मनुष्य सभ कोना दौगै जाइए!

आब हमर स्वामीक आदेश। (वेश्या लग जाइत।) श्रीमान्, ओ शरीर उतारू।

वेश्या: खुशीसँ।

दूतः से हम आत्माक अदलाबदली कऽ सकै छी आ जे पहिने करबाक छल से करै छी। (एना करैत प्रस्थान करैए।)

साधुः शाण्डिल्य, शाण्डिल्य!

शाण्डिल्यः हे, श्रेष्ठ बारम्बार जीबि उठै छथि।

वेश्या: छोटकी कोइरी! छोटकी कोइरी!

परिचारिका: आब ओ ठीकसँ बाजि रहल छथि।

मायः बेटी वसन्तसेना!

प्रेमी : आह, ओ होशमे आबि गेल छथि! मधुर वसन्तसेना, ऐ दिस!

(वेश्या, प्रेमी , परिचारिका, अनुचर आ मायक प्रस्थान।)

शाण्डिल्यः श्रीमान्, की भेल?

साधुः ई नम्हर खिस्सा अछि, घर जा कऽ कहब। (अकास दिस देखैत) दिन गेल।

सूरज अकासक कोर सँ बिला भेल,

सोनाक ढेर चोरक नजरिसँ बिला गेल,

ओकर आभा चलैत मेघकेँ लाल करैए,

अकास अग्निक गर्भसँ अछि गर्भवती।

(दुनूक प्रस्थान।)

सभ चलैबला प्राणी सुखी रहए,

आ हम एक-दोसरक भाग्यसँ प्रेम करी।

सभ पापक विनाश हुअए।

आ जगतमे सभठाम सुख रहए।

समाप्त

PART II

THE ASCETIC AND THE COURTESAN

BHAGAVADAJJUKAM · ENGLISH THEATRE VERSION

— — —

THE ASCETIC AND THE COURTESAN

[BHAGAVADAJJUKAM]

[Bhagavadajjukam, a Sanskrit farce: Bhagavad means “ascetic”; Ajjukam means “courtesan.”]

Original Sanskrit farce by Bodhayana; Maithili translation by Gajendra Thakur

CAST

SUTRADHARA — Stage Manager
VIDUSHAKA — Clown
THE ASCETIC — a wandering mendicant
SHANDILYA — the Ascetic’s disciple
THE COURTESAN — Vasantasena
TWO ATTENDANTS
MOTHER
LOVER
PHYSICIAN
MESSENGER OF DEATH

* * *

[After the Nandi, the invocation seeking the gods’ blessing, the SUTRADHARA enters.]

SUTRADHARA:

May Shiva’s foot protect you!
The astrologers know its mighty power—
The sapphires in the gods’ crowns touch it—
And once, through Ravana’s wickedness,
Its great toe was made to bend—
May Shiva’s foot protect you!

[Entering.] Here is my house. I am going inside. Vidushaka, where are you?

VIDUSHAKA: I am here, master!

SUTRADHARA: While no one else is about, I shall tell you something pleasant.

VIDUSHAKA: Very well, master. *[He goes out, then returns.]* There is no one in the house, master. Come, tell me the pleasant news!

SUTRADHARA: Listen. Today I met a Brahmin who had come from abroad—an astrologer whose predictions are remarkably accurate. He foretold: “Sir,” he said, “seven days from today you will stage a play in the royal palace. The king will be delighted by your performance and will reward you richly.” That prophecy, which is certain to come true, has filled me with energy. So I shall put on a play.

VIDUSHAKA: What kind of play will you stage?

SUTRADHARA: An excellent question. Drama may display any of the ten sentiments, and, as far as I am concerned, laughter is the finest of them all. Therefore, we shall perform a farce.

VIDUSHAKA: Master? Even in a farce, I cannot see what is funny.

SUTRADHARA: Then I shall have to train you. An untrained mind grasps nothing.

VIDUSHAKA: Then train me, master!

SUTRADHARA: Gladly.

If you have set your mind on knowledge,
Walk with those who follow the righteous path—

[A voice is heard from behind the curtain.]

VOICE OFFSTAGE: Shandilya! Where are you, boy?

SUTRADHARA *[listening]:*

Follow me and become an ascetic's pupil,
As a steadfast disciple follows the lord of yogis!
[They both exit.]

END OF THE PROLOGUE

THE PLAY

[An ASCETIC enters.]

ASCETIC: Shandilya, where are you? *[Looking behind him.]* Still nowhere to be seen. That boy's nature is steeped in indiscipline. And why should it not be? The body is a storehouse of disease. Fever shakes it, the shadow of death rules over it, and its condition is like that of a tree on a riverbank, forever surrounded by cast-off refuse. Yet you marvel at having obtained a body endowed with virtues. And if you see its faults concealed beneath strength, beauty, health, and other such qualities, then you are mad! Perhaps the wretched child is not entirely to blame. I shall call once more. Shandilya! Where are you?

[SHANDILYA enters.]

SHANDILYA: Well, let me begin at the beginning. I was properly born, you know. My family lived on scraps left by jackals; my tongue dried up from clutching at them; my sacred Brahmin thread clung to my neck; and we were immensely satisfied merely to be Brahmins! Naturally, there was nothing to eat at home. I was dying of hunger. I ran off to become a Buddhist, thinking I would at least get breakfast. I did get breakfast—but those rogues eat only once a day. So I remained hungry. I threw away the ochre robe, smashed the begging bowl, put on nothing but a loincloth, took up an umbrella, and came away. At last I became the baggage-carrier of this wicked guru. Where is His Reverence? The lazy fellow must have gone begging on his own. He cannot have gone far. *[He walks about the stage, looking.]* Ah, there is His Reverence! *[Humbly.]* Forgive me, forgive me, Your Reverence!

ASCETIC: Do not be afraid, Shandilya. Do not be afraid.

SHANDILYA: Your Reverence, in this world—where quarrels never end and pleasures are everywhere—how do you go about begging for alms?

ASCETIC: Listen. I have no desire for honour or esteem; danger forever follows me, and the alms I need for food come from the weak. I move with composure through this vice-ridden world as one crosses a pond choked with duckweed.

SHANDILYA: But, Your Reverence, I have neither family, brother, nor father. Why are you so gracious to me? I did not take up an ascetic's staff in order to earn merit. I took it up because I was starving.

ASCETIC: Shandilya, what do you mean by that?

SHANDILYA: What else but the truth? You are always saying that falsehood is bondage.

ASCETIC: Exactly. Whoever makes falsehood his companion becomes bound. Do you wish to know why? When an honest man performs a good deed from a worthy motive, the gods preserve its reward like a deposit held in trust.

SHANDILYA: But when will he get it back?

ASCETIC: When, through detachment, he becomes superior.

SHANDILYA: Sir, how does one become superior?

ASCETIC: By desiring nothing.

SHANDILYA: Your Reverence, that raises the question: how is one to stop desiring?

ASCETIC: By becoming indifferent to love and hatred. Why? “To remain equal in pleasure and pain, balanced in fear and delight, and to look upon friend and enemy alike—this the wise call detachment.”

SHANDILYA: But what is that?

ASCETIC: What has not yet come into existence has no name.

SHANDILYA: But tell me, Your Reverence, can it actually be done?

ASCETIC: Is there any doubt?

SHANDILYA: A lie! A lie!

ASCETIC: What do you mean?

SHANDILYA: Sir, why are you angry with me?

ASCETIC: You will never learn.

SHANDILYA: Whether I learn or not—what is it to you? You are a free man!

ASCETIC: Do not speak like that! Tradition says that the rod is nourishment for a pupil. Therefore, in complete impartiality, I shall give you a sound thrashing.

SHANDILYA: Ah! You dispense punishment with complete impartiality, Your Reverence! Now let us end this discussion. The hour for begging is passing.

ASCETIC: Fool, it is still early morning, not noon. The rule says that alms should be sought only when the cooking pots have been put away, the hearth has gone cold, and everyone has eaten and drunk. Come, let us spend a little time in the grove.

SHANDILYA: Oh, oh! Your holy conduct breaks its own word!

ASCETIC: What do you mean?

SHANDILYA: Is not your holy conduct all of one colour—good or bad?

ASCETIC: Precisely! My soul is of one colour, whether good or bad, but my active self requires rest.

SHANDILYA: Sir, what is the soul? And what is the active self?

ASCETIC: Listen! There is the inner soul, which goes to heaven when one sleeps. Then there is the soul proper, which performs its duties and journeys through birth after birth. And then there is the soul we call the active self: “Man is his body,” and this soul desires the pleasure of rest.

SHANDILYA: Quite so. “The soul that does not grow old, does not die, is imperishable and inexhaustible—that is the soul. And the one that laughs, makes others laugh, sleeps, and dies—that is the active self.”

ASCETIC: You have learned exactly as I taught you.

SHANDILYA: Oh, oh! Come now—you have been caught out!

ASCETIC: What do you mean?

SHANDILYA: The soul exists only now, does it not? Without the body, there is nothing.

ASCETIC: You speak like an ordinary man. Every creature passes through many states, understand? We speak according to the state in which we find it.

SHANDILYA: And in what state are you?

ASCETIC: Listen. With a body made of particles of space, air, water, and fire, the remainder being earth; conscious through ear, eye, tongue, nose, and touch; I am a breathing creature called a human being.

SHANDILYA: Oh, oh! At this rate you will never know the self, much less the soul. [*Looking around.*] Sir, look—there is a grove.

ASCETIC: You go first. This secluded woodland retreat offers us shade.

SHANDILYA: Sir, you are the superior one. You go first; I shall follow.

ASCETIC: For what reason?

SHANDILYA: My mother once heard from a holy woman that a tiger hides among ashoka blossoms. So you must go first, sir!

ASCETIC: Very well. *[They enter the grove.]*

SHANDILYA: Ah! The tiger has bitten me! Save me from its jaws! It has swallowed me whole, without hope of release! Blood is pouring from my neck!

ASCETIC: Do not be afraid, Shandilya. It is only a peacock.

SHANDILYA: A peacock, then!

ASCETIC: Yes, only a peacock.

SHANDILYA: Then I shall open my eyes.

ASCETIC: Open them.

SHANDILYA: *[Looking into the grove.]* Ha! That wicked tiger took fright at me, turned into a peacock, and is running away! *[Looking around the grove.]* Ah, what a beautiful grove! I see arjuna, kadamba, mango, sal, durva grass, sandalwood, ashoka, and ordinary plantain trees—all lovely in spring. I see shoots, leaves, flowers, and clusters of blossom in a grove adorned with bowers of jasmine creepers, resonant with the sweet cries of peacocks and cuckoos and the humming of drunken bees. This grove torments young women whose lovers are absent and delights those whose lovers are near!

ASCETIC: Fool! The senses decay day by day. What is so beautiful about any of this?

Listen:

A child cries, “Ah, spring has come,

Wrapped in a coverlet of flowers!”

And delights in the new season: “Autumn has come,

Floating upon clusters of lotuses!”

But what is there to delight in

When life itself is growing shorter?

SHANDILYA: One question: wherever and whenever beauty exists, it is beauty, is it not?

ASCETIC: Once again, no philosophical grounding! People pray for the future, mourn the past, and despise the present.

SHANDILYA: This is the end of the path. Where shall we sit?

ASCETIC: We shall sit here.

SHANDILYA: Filthy! Filthy!

ASCETIC: “The forest is clean; the earth is pure.”

SHANDILYA: But when I am tired and want to sit, I always ask whether the place is clean or filthy.

ASCETIC: Scripture is the authority, not I. Why? Do not trust madmen swollen with self-importance who declare that good comes from evil—their authority carries only the staff of lunacy.

SHANDILYA: Then one should not trust your long speeches either.

ASCETIC: Come, child. Learn something.

SHANDILYA: I shall learn no more.

ASCETIC: Why not?

SHANDILYA: What is the use of learning so much?

ASCETIC: A pupil who learns his lesson eventually understands it. So learn something.

SHANDILYA: And what happens then?

ASCETIC: Listen. Knowledge increases discernment; discernment brings self-control; self-control leads to austerity; austerity to yoga; yoga to true insight into past, present, and future; and through that insight one gains the eightfold powers.

SHANDILYA: Guru, you speak as though you can read my thoughts—but I can hide them from you! Tell me, then: is it possible to enter another man’s house without committing a sin?

ASCETIC: What do you mean?

SHANDILYA: I mean eating at the monastery the delicious food prepared for Buddhist monks.

ASCETIC: No rule can govern a glutton like you.

SHANDILYA: That must be why all of you have lost your wits! I can see no other reason.

ASCETIC: Do not speak so!

The fruit of yoga is magnificent—
 True, steadfast, inconceivable, imperishable,
 Honoured by high-minded Brahmins,
 Approved by gods and demons alike.

SHANDILYA: Then contemplate your yoga devoutly and remain in solitude. I shall contemplate khichri with equal devotion. But, sir, an ascetic like you thinks a great deal about this yoga, does he not? What is it?

ASCETIC: Listen:
 The essence of austerity,
 The root of all knowledge, the test of truth,
 That which resolves every contradiction and is free of love and hatred—that is yoga!

SHANDILYA: Blessed be the holy Buddha, who teaches us to abandon food—and everything else!

ASCETIC: Shandilya! What do you mean by that?

SHANDILYA: Sir, do you not remember? I once became a Buddhist for the sake of breakfast.

ASCETIC: But have you learned anything now?

SHANDILYA: Anything? I know a great deal now.

ASCETIC: Very well. Recite it.

SHANDILYA: Listen, sir. “There are eight causes and sixteen products; the self consists of five vital airs, the mind of three strands, and it wanders and dissolves.” This is written in the sacred Pitaka of Father Buddha.

ASCETIC: Shandilya! That is not Buddhism. That is Sankhya philosophy.

SHANDILYA: Forgive me. In my hunger I was concentrating on khichri, so I thought one thing and said another. Now listen, sir. “A monk is commanded to reject what has not been given. A monk is commanded not to take life. A monk is commanded not to chatter. A monk is commanded to abstain from lust. A monk is commanded to refuse food at improper hours. I take refuge in the Buddha; I take refuge in the Dharma; I take refuge in the Sangha!”

ASCETIC: Shandilya, do not abandon your own faith to adopt another!

Leave darkness; leave the colour red;
 Keep company with white, and remain vigilant.
 Quickly enter meditation,
 For these will bring all knowledge!

SHANDILYA: Now contemplate yoga with devotion, sir. I shall contemplate khichri with just as much devotion.

ASCETIC: End this conversation.
 To release the soul from bondage, suspend the world!
 Bind the senses within the self!
 With knowledge as your aid, seek the truth;
 With the whole self, seek the supreme Self!

[A COURTESAN and TWO ATTENDANTS enter.]

COURTESAN: Little Bee, my dear, where has my lover gone?

FIRST ATTENDANT: Mistress, he said, "I shall come today," and then your lover went into the city!

COURTESAN: My dear, what shall we do now?

FIRST ATTENDANT: Shall we hurry to the dancing pavilion? What else?

COURTESAN: There is no performance at the dancing pavilion today.

FIRST ATTENDANT: Mistress, you are perfectly right. But a dancing pavilion is a tavern in its own way, and women—however modest they may be—laugh there as though drunk!

COURTESAN: Then go quickly!

FIRST ATTENDANT: And you must come too, mistress! *[She exits.]*

COURTESAN: Little Cuckoo, my dear, where shall we sit?

SECOND ATTENDANT: Sit for a while on this stone seat. Look, it is adorned with a flowering mango branch, like an ornament worn across the brow! And then, mistress, you must sing a song.

COURTESAN: Little Cuckoo, my dear, I shall do just that.

[They sit and sing together.]

BOTH:

Ah, Love himself is here!

I hear him

In the bowstring-song of cuckoo and bee,

And the mango branch speaks—

Surely the heart of anyone who sees it

Must be tempted!

SHANDILYA: *[Listening.]* Ah, the call of a cuckoo! No—not quite a cuckoo's call. No, it is a song. *[Judging the sound.]* A sweet song, like butter in sugared milk! Very well, I shall take a look. *[He walks a little and peers upward.]* Oh, oh, oh! What pure beauty is this—not hidden away in a dancing house, but gracing our grove with her presence?

SECOND ATTENDANT: Mistress!

SHANDILYA: Oh, oh, oh! A courtesan! Blessed indeed are the wealthy!

SECOND ATTENDANT: Sing another song, mistress!

COURTESAN: I shall. *[She sings again.]*

Ah, Love has come again!

Spring lifts up his pride,

And the lover's gaze follows him!

Ah, Love awakens love again,

And even the dear young bride's heart

He garlands once more with flowers!

SHANDILYA: What a sweet song rises from her throat! Listen, sir!

ASCETIC: No. Ears are made for hearing. I shall not go so far merely to listen.

SHANDILYA: Go as far as you like—provided you have money to spend! Ha, ha!

ASCETIC: Away with you. Behave yourself.

SHANDILYA: Do not lose your temper now. Holy men ought not to behave like that, you know.

ASCETIC: I am observing a vow of silence.

SHANDILYA: Yes—what a golden silence it is!

[The MESSENGER OF DEATH enters.]

MESSENGER:

And here I am! I have been sent
By him who carries away all creatures
When fate strikes—he who beholds
Both good and evil deeds, Lord Yama,
The giver of peace. And now I am charged
With bringing death to one
Over whom his right is absolute.

Thus, surveying all the kingdoms, rivers, forests, and mountains of the earth, beneath clouds bowed by the weight of rain, I have come through a sky filled with wind-tossed mist. And now I have reached the city of Tarkadivaha, where Yama sent me. Where is she? *[Looking around.]* There she is! She shines, hidden among those lovely gold-flecked clusters of ashoka blossoms, as beautiful as a crescent moon amid the fierce clouds of twilight. Very well. A little of her allotted action remains, so I shall wait a while.

SECOND ATTENDANT: Mistress, how beautiful these ashoka flowers are! I shall pluck one.

COURTESAN: No, no, no! I shall pluck it myself.

MESSENGER: Now the moment has come to cut short her span. I shall become a serpent, coil myself upon the ashoka branch, and take her life. I go now to spring upon this dark-limbed woman, lovely-faced, soft-voiced, full-breasted, fragrant, red-lotus-eyed—this thief of my gaze—and carry her to my master.

[The COURTESAN reaches for the flower.]

MESSENGER: Now—to strike!

COURTESAN: Ah! Something has bitten me!

SECOND ATTENDANT: *[Looking at the branch.]* Mistress! There is a snake on that branch!

COURTESAN: A snake? Oh! *[She collapses.]*

SHANDILYA: What is happening here now?

SECOND ATTENDANT: Sir, a cobra has bitten my mistress!

SHANDILYA: Oh, oh, oh! Guru, a cobra has bitten a courtesan.

ASCETIC: Then her appointed time must be accepted. There is no doubt:

A person is born only to complete the measure of his time;

When that time is complete, the person too is finished.

SECOND ATTENDANT: Who can hold back time?

COURTESAN: My body is trembling; I am about to fall. I cannot breathe. I must lie down.

SECOND ATTENDANT: Lie still and rest, mistress.

COURTESAN: Give my respects to Mother, my dear.

SECOND ATTENDANT: Oh, no! You will go and pay them yourself!

COURTESAN: And embrace my lover for me. *[She falls unconscious.]*

SECOND ATTENDANT: Ah! My mistress is dying!

MESSENGER: Good. I have taken her life, and now I must set out. I still have to cross the Ganges, the Vindhya Mountains, the auspicious current of the Narmada, the Sahya range, Goleyi, the Krishnavana, and Kanchipuram, the holy city of Lord Shiva. Then come the Kaveri, the Tamraparni, Mount Malaya, and at last the sea—until, swift as the wind, I fly over Lanka and reach the realm of the dead. *[He exits.]*

SECOND ATTENDANT: Ah! My mistress is dead!

SHANDILYA: Guru! Has the courtesan lost her life?

ASCETIC: A person does not lose life, fool! Life is far too precious to them. Say instead that life has left her.

SHANDILYA: Shame on you! You have not a grain of pity or love. Hard-hearted, wicked sensualist! Cruel fraud! Bare-faced scoundrel!

ASCETIC: What do you mean by that?

SHANDILYA: Wait—I have only begun the thousand names I have for you!

ASCETIC: Do not force me to stop you.

SHANDILYA: Sir, I am grieving.

ASCETIC: For whom?

SHANDILYA: She was a relation of mine.

ASCETIC: A relation?

SHANDILYA: She is related to an ascetic—someone with no love in him.

ASCETIC: Yes, that is true! Let affection come gradually; I love a higher purpose. Indeed, because I am selflessly devoted to the path of liberation and follow the way laid down by scripture, I turn away only from ordinary attachment, and my heart looks solely toward virtue.

SHANDILYA: Sir, I cannot control myself. I shall crawl over to her and weep!

ASCETIC: Oh, no—do not do that!

SHANDILYA: Do not be angry! An ascetic ought not to be. *[Going to the COURTESAN.]* Ah, mistress! You had so many lovers, and you used to sway so beautifully!

SECOND ATTENDANT: Sir, what has come over you?

SHANDILYA: Love—nothing else.

SECOND ATTENDANT *[aside]:* Of course. Saints feel compassion for everyone.

SHANDILYA: Mistress, let me touch you.

SECOND ATTENDANT: You have the power to help her, sir.

SHANDILYA: Oh, yes! *[He touches her foot.]*

SECOND ATTENDANT: Do not touch her foot!

SHANDILYA: Oh, yes—I am terribly confused. I cannot tell up from down. Ah, here it is: my mistress's divine breast, firm as a coconut, anointed with saffron and sandalwood, proudly uplifted—alas, never available to me while she was alive.

SECOND ATTENDANT *[aside]:* That is what I must do. *[Aloud.]* Sir, wait here a little while I bring her mother.

SHANDILYA: Do not delay. To all who are motherless, I am a mother.

SECOND ATTENDANT *[aside]:* This compassionate Brahmin will not leave my mistress. I must go. *[She exits.]*

SHANDILYA: She has gone. Now I can weep to my heart's content. Poor courtesan—how beautifully she used to walk! *[He weeps.]*

ASCETIC: Shandilya, do not do this!

SHANDILYA: Go away, loveless man! You think I am like you.

ASCETIC: Come, child. Learn a little.

SHANDILYA: Sir, how can this poor woman be restored?

ASCETIC: Do you know any medicine?

SHANDILYA: A curse upon the fruits of your yoga!

ASCETIC *[aside]:* The poor fellow still does not understand that being an ascetic means knowing what must be done. There is a rule revealed to the great Shaiva masters of yoga: "A disciple's compassion strengthens attachment." I shall therefore awaken insight in him. Yes—this is the true yoga. By this yoga, I shall enter the courtesan's body.

[The COURTESAN rises from death. The ASCETIC gives a cry and collapses.]

COURTESAN: Shandilya! Shandilya!

SHANDILYA [*delighted*]: Yes! Mistress, you are alive! You have been born again! I am here, mistress!

COURTESAN: Do not touch me with your filthy hands!

SHANDILYA: But I am perfectly clean!

COURTESAN: Come, child. Learn a little.

SHANDILYA: Must I learn here too? Very well. I shall approach you with the utmost respectful humility. [*He goes to the ASCETIC's body.*] Sir, I am sorry—you are dead. Forgive me, you chatterbox, you yoga-obsessed guru! Forgive me, teacher. Even such a prodigy can die.

[*The COURTESAN'S MOTHER and the FIRST ATTENDANT enter.*]

FIRST ATTENDANT: This way, Mother.

MOTHER: Where is my darling?

FIRST ATTENDANT: She is here in the grove, bitten by a cobra.

MOTHER: Ah, I am ruined!

FIRST ATTENDANT: Be calm, Mother, be calm! The mistress is all right!

MOTHER: How can she be all right? [*Approaching.*] Vasantasena, my daughter! What is happening?

COURTESAN: Do not touch me, old woman!

MOTHER: What! What does this mean?

FIRST ATTENDANT: The poison must have gone to her head.

MOTHER: Quickly—call the physician!

FIRST ATTENDANT: Yes, mistress!

[*The FIRST ATTENDANT exits. The LOVER enters with the other ATTENDANT.*]

SECOND ATTENDANT: May your strength increase, sir! My mistress has been pining because she has not seen you.

LOVER:

And I long to see that wide-eyed face from which such sweet song flows. The bee has sworn to drink from the lovely lotus in bloom. [*Approaching.*] What! She turns her face away when she sees me! [*He catches her veil.*] O slender-waisted beauty, turn your face toward me, like a lotus gently stirred by ripples on a pond. Even a fleeting glimpse of your face gives delight like cool water held in the palm.

COURTESAN: Villain! Release my veil!

LOVER: What is this?

SECOND ATTENDANT: Since the snakebite, she has been speaking wildly.

LOVER:

Her mind has truly gone astray. The poor woman seems lost in emptiness; it is as though some holy spirit has taken possession of her body.

[*The PHYSICIAN enters with the FIRST ATTENDANT.*]

FIRST ATTENDANT: This way, sir—yes!

PHYSICIAN [*entering*]: Where is she?

FIRST ATTENDANT: There she is.

PHYSICIAN: She is not herself. Clearly, she has been attacked and bitten by a cobra.

FIRST ATTENDANT: How did you know?

PHYSICIAN: As the saying goes, "There is a world of difference between poison and venom." Bring her here. I am an authority on the science of poisons. [*He sits and traces a circle with gestures.*] Little circle, you who hold the lady like a jewel in an earring, enter this enchanted ring—enter the enchanted ring! Stay, son of a serpent, stay! Peace, peace! [*Pointing at the COURTESAN.*] I shall draw blood from her. Where is my little sickle?

COURTESAN: Fool! Stop this nonsense!

PHYSICIAN: Ah! There is bile as well. Whether wind, bile, or phlegm, I shall cure it all.

LOVER: Do your best, sir. You will not find me ungrateful.

PHYSICIAN: I shall fetch a poison-charmer who possesses some excellent pills. *[He exits.]*

[The MESSENGER OF DEATH enters.]

MESSENGER:

Well! Yama very nearly reduced me to ashes! "That is not Vasantasena!" he thundered. "Take her back at once! Bring me the other Vasantasena, whose life has truly ended—and be quick!" Very well. If the body has not yet been burned, I shall revive her. *[Looking around.]* But she is already up and walking about! Up and walking—though her life was in my hands. How can such a wonder be? *[Looking everywhere.]* Ah! This is none other than the great yogi at play. I shall place the courtesan's soul in the ascetic's body, and then restore the courtesan's own life to its proper place. *[He does so.]*

Behold! The woman's vital spirit,

Entering this holy man's body,

Will corrupt the ascetic

In character, morality, and reputation.

ASCETIC *[rising]*: Little Cuckoo!

SHANDILYA: Oh, oh, oh! His Reverence has come to life again! I always thought the rogue would never stay dead.

ASCETIC: Lover! Where are you? Where are you?

LOVER: Beloved, embrace me!

SHANDILYA: Go embrace that cluster of roses!

ASCETIC: O my lover, how foolish I am! I am drunk!

SHANDILYA: No—you are simply mad!

LOVER: Your Holiness, your words are unworthy of your station.

ASCETIC: Come, let us drink once more.

SHANDILYA: Go and drink poison. Very well—I now understand what a farce is. Neither ascetic nor courtesan: we may call this creature an ascetic-courtesan. Excellent!

ASCETIC: Little Cuckoo! Little Cuckoo! Embrace me!

SECOND ATTENDANT: Keep away from me!

MOTHER: My daughter Vasantasena!

ASCETIC: I am here, Mother. Greetings, Mother!

MOTHER: But, sir, what is happening?

ASCETIC: Mother, you are rejecting me! Lover, you are terribly sluggish today.

LOVER: Sir, am I impotent?

SHANDILYA: Enough, enough!

[The PHYSICIAN enters.]

PHYSICIAN: I have found eight pills and some medicinal herbs. I know this much with certainty: they will either restore life at once or cause death at once. Someone bring water—water! *[The FIRST ATTENDANT approaches.]*

FIRST ATTENDANT: Here is the water.

PHYSICIAN: I am grinding the pills. Oh! She has not been bitten; she is possessed.

COURTESAN: Fool, you have grown old very slowly. You cannot even tell who is dying. Admit it: no snake bit me.

PHYSICIAN: Then why all this commotion?

COURTESAN: You have medical textbooks, do you not?

PHYSICIAN: I do—at least five hundred.

COURTESAN: Then recite them!

PHYSICIAN: Listen, mistress. “Wind, bile, and phlegm—phlegm—” Oh, oh! A book! Bring me a book!

SHANDILYA: Ah, a genuine physician. He has forgotten already. Here, colleague, here is the book.

PHYSICIAN: Listen, mistress. “Diseases caused by wind, bile, and phlegm—all three issue from poison; the fourth is unknown.”

COURTESAN: Bad grammar. You should say, “All three are produced.” Always place the subject first.

PHYSICIAN: Oh! I have been bitten by a grammarian!

COURTESAN: How many symptoms are there of snakebite?

PHYSICIAN: A hundred.

COURTESAN: No, seven: “Hair standing on end, dryness of the mouth, trembling, pallor, hiccups, rapid breathing, and unconsciousness—these are the seven signs of snakebite.” If a person has passed beyond these symptoms, not even the Ashvins can cure them. Speak, if you have any answer.

PHYSICIAN: I have forgotten. Farewell, mistress. I am leaving.

[The MESSENGER OF DEATH enters.]

MESSENGER:

Yes, I have returned once more.

See how human beings hurry

To meet me—through miscarriage,

Boils, fever, earache,

Diseases of stomach, heart, and eyes,

Illness and ordinary headache,

And other ailments all combined:

See how cheerfully these mortals race toward me!

Now to carry out my master’s order. *[Approaching the COURTESAN.]* Sir, take off that body.

COURTESAN: Gladly.

MESSENGER: Then I can exchange the souls and do what should have been done in the first place. *[He makes the exchange and exits.]*

ASCETIC: Shandilya! Shandilya!

SHANDILYA: Ah, His Reverence keeps coming back to life.

COURTESAN: Little Cuckoo! Little Cuckoo!

SECOND ATTENDANT: Now she is speaking properly again.

MOTHER: My daughter Vasantasena!

LOVER: Ah, she has regained consciousness! Sweet Vasantasena, look this way!

[The COURTESAN, LOVER, ATTENDANTS, RETINUE, and MOTHER exit.]

SHANDILYA: Sir, what happened?

ASCETIC: It is a long story. I shall tell you when we are home. *[Looking at the sky.]* The day is ending.

The sun has vanished beyond the rim of the sky;

The heap of gold has disappeared from the thief’s eye;

Its radiance stains the moving clouds red,

And the sky is pregnant with a womb of fire.

[They both exit.]

May every moving creature be happy,

And may we cherish one another’s good fortune.

May every sin be destroyed,
And may happiness prevail throughout the world.

END

भगवदज्जुकम्

बोधायनक संस्कृत प्रहसन “भगवदज्जुकम्” देह, आत्मा, वैराग्य, इच्छा आ हास्यक टकरावकें नाटकीय विनोदमे रूपान्तरित करैत अछि। एहि संस्करणमे पहिने मैथिली पाठ आ तकर बाद अंग्रेजी रंगमंचीय पाठ प्रस्तुत अछि।

Bodhayana's Sanskrit farce turns questions of body, soul, detachment, desire and comic misunderstanding into theatre. This edition presents the Maithili text first, followed by the English theatre version.

मूल संस्कृत प्रहसन : बोधायन
संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद : गजेन्द्र ठाकुर
सम्पादक : विदेह प्रथम मैथिली पाक्षिक ई पत्रिका



www.vidha.co.in

VIDHA

भल्लट — क्षेमेन्द्र — नीलकण्ठ

भल्लट-शतक
छल-कौशलक विलास (कलाविलास)
कलियुग-विडम्बना

संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद

गजेन्द्र ठाकुर

सम्पादक
विदेह प्रथम मैथिली पाक्षिक ई-पत्रिका

www.videha.co.in

भल्लट • क्षेमेन्द्र • नीलकण्ठ

भल्लट-शतक
छल-कौशलक विलास (कलाविलास)
कलियुग-विडम्बना

संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद
गजेन्द्र ठाकुर

सम्पादक
विदेह प्रथम मैथिली पाक्षिक ई-पत्रिका

www.videha.co.in

प्रकाशकीय विवरण

मैथिली अनुवाद © 2026 गजेन्द्र ठाकुर।

संस्कृत मूल रचनासभ: कवि भल्लट, महाकवि क्षेमेन्द्र आ कवि नीलकण्ठ।

सम्पादक: गजेन्द्र ठाकुर, विदेह प्रथम मैथिली पाक्षिक ई-पत्रिका।

प्रथम पुस्तकाकार संस्करण: 2026।

आकार: 6 × 9 इञ्च हार्डबैक।

www.videha.co.in

अनुक्रम

भल्लट-शतक (भल्लटक शत अन्योक्ति).....	1
छल-कौशलक विलास (कलाविलास).....	28
सर्ग १ — दम्भक वर्णन (दम्भ).....	29
सर्ग २ — लोभक वर्णन (लोभ).....	47
सर्ग ३ — कामक चित्रण.....	60
सर्ग ४ — वेश्यासभक व्यवहार (विश्वासघात).....	74
सर्ग ५ — लेखनिकक पराक्रम.....	81
सर्ग ६ — मदक वर्णन.....	90
सर्ग ७ — गायक-वर्णन (दुर्वृत्ति).....	97
सर्ग ८ — सोनारक उत्पत्ति (छल-कपट).....	103
सर्ग ९ — विविध दुष्टक वर्णन (ढोंग आ ठगी).....	106
सर्ग १० — समस्त कलाक वर्णन (सद्गुण).....	112
कलियुग-विडम्बना.....	116
खण्ड १ — पण्डित.....	116
खण्ड २ — मन्त्र-तान्त्रिक.....	117
खण्ड ३ — ज्योतिषी.....	117
खण्ड ४ — वैद्य.....	118
खण्ड ५ — कवि.....	118
खण्ड ६ — सम्बन्धी.....	119
खण्ड ७ — महाजन.....	120
खण्ड ८ — दरिद्रता.....	120
खण्ड ९ — धनी.....	120
खण्ड १० — चुगलखोर.....	121
खण्ड ११ — कृपण.....	122
खण्ड १२ — धर्मध्वजी.....	123
खण्ड १३ — दुष्ट.....	124
उपसंहार — कलियुग-प्रणाम.....	124

कवि भल्लट

भल्लट-शतक

भल्लटक शत अन्योक्ति

आउ, शिवक अर्धाङ्गिनी भवानीक स्तुति करी,
जे निपुण छथि दूर करबामे
सांसारिक जीवनक पीड़ा,
आ जे वाणी-स्वरूपा, सिंहासन पर विराजमान छथि,
जकर उज्जरता शरदक मेघ सन अछि!
आकाश-मणि सूर्यक प्रथम किरणसभ,
लालिमा लऽ उगैत, अहाँसभ पर अपन आशीष बरसाबथि।
दिनक जन्मोत्सव मनबैत,
ओ सभ लाल सिन्दूरसँ रँगैत जकाँ बुझाइत अछि
दिशा-देवीसभक मुख।
महाकविसभक शब्द,
सोचि-बुझि चुनल : बन्दी बनाओल,
भाव पहुँचाबए लेल : माल छोड़ए लेल,
ओ तत्क्षण किएक नहि समर्पित करैत अछि
अभिप्रेत अर्थ : चोरायल वस्तु ?
ओ सभ सौँपैत : कबूल करैत अछि
गूढ़तर अर्थ : आन चोरीसभ,
मात्र संघर्ष : यातनाक बाद,
मानू ओ सभ सज्जन : दबे-पाँए चोर होथि।
मूर्ख पशुक दृष्टिमे
मणि काँच अछि आ काँच मणि।
ज्ञानीक दृष्टिमे
काँच काँच अछि आ मणि मणि।
कहह, हे विष! के अहाँकेँ उकसौलक
एतेक ऊँचासँ आरो ऊँच प्रतिष्ठा पाबए लेल?
पहिने समुद्रक हृदयमे,
तकर बाद वृषध्वज शिवक कण्ठमे,
आ आब दुष्टक वचनमे अहाँ निवास करैत छी।

आपत्कालमे सहारा, उत्सवमे आभूषण,
संकटमे शरण, अन्हारमे प्रकाश,
अनेक रूपेँ उपयोगी : सुन्दर,
अहाँ सन सच्चा मणि दोसर के भऽ सकैत अछि?
भाग्यक देवी लक्ष्मी
—जे निर्लज्ज भऽ अपन अयोग्य प्रेमीक संग भागि रहलि छथि
अभेद्य अन्हारसँ करिया बाट पर—
अपन सूत्रबद्ध करधनीक

कनेको झनकार होमए नहि देखि।

:सज्जनक कहल एकोटा वचनपर

कान धरए नहि चाहिथि।

हे लोभ! अहाँक संग भाग्य जोड़लहुँ,

जखन मान-सम्मान एकरा स्वीकार नहि करैत छल,

जखन संयम रोकैत छल,

जखन लज्जा भूमिपर रेखा खिंचैत छल,

जखन स्वतन्त्र इच्छा पाछाँ हटि गेल, धैर्य हमरा छोड़ि देलक,

आ हमर हाथ काँपि रहल छल—

एकर प्रतिफल ई भेटल:

जकरा हम पएरसँ छुबितहुँ नहि,

ओ हमरा अपन पएर छुबए नहि दैत अछि।

सूर्य समुद्रमे डूबि सकैत अछि : पोखरिमे खसि सकैत अछि,

क्षितिज पार कऽ सकैत अछि : नाइट भऽ दौड़ि सकैत अछि,

अग्निमे पुनः लीन भऽ सकैत अछि : आगिमे पड़ि सकैत अछि,

पातालमे उतरि सकैत अछि : कादोमे लोटि सकैत अछि।

एहिसँ ओकर गुण : विचित्रता

जाहिसँ समस्त संसार आनन्दित : मनोरञ्जित होइत अछि, की कनेको घटैत अछि?

सत्य-असत्य चिन्हनिहार सम्मानित लोकसभ

केकरो विषयमे की कहैत छथि, से विचारू।

चोर, वेश्या आ एहने लोकक वचनपर विश्वास करब,

तँ दिनकर सूर्यक खैर नहि।

सूर्यक अस्त होएब कोनो पैघ दुःख नहि,

कारण एहि संसारमे समय आबि गेलापर के नहि गेल अछि,

के नहि जाइत अछि, अथवा के नहि जाएत?

दुःखक बात केवल एतबे अछि—

अन्हार : अन्त्यज,

प्रकाशसँ अपरिचित : करिया देहबला,

ओहि स्वभावतः विशाल आकाशमे अपन : ओकर अवसर पकड़ि लैत अछि।

शीतल किरणबला चन्द्रमा आ ओकर साथीसभ

श्रेष्ठ संगतिमे रहथि : एक पाँतिमे घुसथि,

पाछाँसँ आगाँ गनलापर ओ सभ नेता मानल जाइत छथि।

एतेक भेलाक बादो—की हुनका सभकेँ लाज नहि?

ओ सभ रहितहुँ नहि रहल जकाँ बुझाइत छथि

जखन आकाश सूर्यक प्रकाशसँ भरि जाइत अछि।

एहिसँ बेसी अयोग्य आ असङ्गत विचार दोसर नहि भऽ सकैत:

“सूर्य अस्त भेलापर चन्द्रमा सभ भय दूर कऽ देत

जखन तीनू लोक दृष्टिसँ ओझराएत।”

हृदयकेँ आरो बेसी ई बात बीधैत अछि,

जे ई दीपसभ एतए अचानक उगि पड़ल अछि,

अन्हार मेटाबए लेल अपन फड़फड़ाइत बाती उठौने।

“आकाश-प्रकाशक” ई उपाधि,
 जे सूर्य छोड़ि ककरो लेल मिथ्या अछि,
 एतय धरि जे चन्द्रमाक लेल सेहो—
 कोनो भ्रमित लोक एकरा जुगनू लेल प्रयोग कऽ देलक।
 हे जुगनू! आब दिन अछि,
 कोमल, फिक्का किरणबला चन्द्रमाक रश्मि
 सूर्यक किरणमे डूबि गेल अछि।
 एहि बातक कोनो महत्त्व नहि,
 जे अहाँ रातिमे चमकैत छी
 जखन दसो दिशा घोर करिया भऽ जाइत अछि
 अभेद्य अन्हारसँ।
 “जुगनू” नामक कीड़ाक
 लालिमायुक्त मन्द ज्योति देखि हम सभ धोखा खा गेलहुँ,
 आ ओकरा जीवित मणि मानि लेलहुँ।
 धिक्कार अछि ओहि मद्धिम प्रकाशपर,
 जे जीवमे : कल्पनामे टिमटिमाइत अछि,
 जे तुच्छ अछि, कारण ओकर गुण आनक अछि,
 आ जे डरपोककें चकाचौंध कऽ दैत अछि।

केवल हाथी,
 जे अपन भाला-सन नुकील दाँतक
 निरन्तर प्रहारसँ ऊँच शिलाखण्डकें तोड़ैत अछि,
 ओही बुझि सकैत अछि ओहि आघातक पीड़ा,
 जे सिंहक पंजाक प्रहाररूपी वज्रजालसँ पड़ैत अछि—
 सियार नहि,
 जकर साहस कुकुरक बच्चाक भुक्नहिसेँ मरि जाइत अछि।
 आब ई युवा चातक अपन माथकें बुझबैत,
 जे ऊँच उड़बाक धुनिमे पागल अछि।
 जँ ओकर इच्छा होइत,
 तँ एतेक दिशामे एहन कोन दिशा छल
 जतए ओकरा निर्मल, शीतल, मधुर जल नहि भेटित?
 जिह्वाकें एहि अपरिचित ढङ्गसँ मोड़ब,
 कानक ई चञ्चलता,
 ‘हमर’ आ ‘दोसरक’ सीमाकें बिसरि गेल
 ई मदहोश दृष्टि:
 आरो की कही—हे भँवरा! अहाँ सभ बात जनैत छी!
 हे भाइ! ई कोन पागलपन अछि?
 जे एखनहुँ अहाँ चाकरीमे नाचि रहल छी
 एहि हाथीक : एहि मूर्खक,
 जकर सँडू खोखल अछि : हाथ खाली अछि।

दूध आ पानि अलग करबाक कौशल,
 ओ मधुर स्वर : बातचीत,

ओ कोमल पएरक चाल : नम्र वचनक शोभा!
 हे बक! ई सभ छोड़।
 मित्र, जँ अहाँ कने अपन काँध ढील करब
 आ चुपचाप बैसि रहब सीखि जाइतहुँ,
 तँ हमर लेल हंस किएक नहि होइतहुँ?
 निर्जन बाटक कात
 ढक्कन-विहीन ताजा दहीक घैल देखि—
 जँ एक-आँखिबला कौआ,
 अभिमानसँ फूलि,
 गरदनि पसारि,
 सैकड़ो लालसामे डगमगाइत,
 अपन स्वभावक अनुसरण नहि करत,
 तँ फेर कहिया करत?
 आब ओ सुन्दर ढङ्गसँ नाचैत मोरसभ नहि देखाइत अछि,
 ने ओ मिठासँ रटैत सुग्गासभ;
 उलटे क्रोधसँ हुनका सभकेँ खदेड़ल जाइत अछि।
 आब ई मायावी कौआ,
 शुभ शकुनक कारण घरमे स्थान बना कऽ,
 परदेश गेल पथिकक स्त्रीक घरमे मनमाने सुख भोगैत अछि।

हे ऊँट! अहाँ जोर-जोरसँ रेंकए जा रहल छी:
 हाय, कानमे ज्वर लगा देबएबला ई आवाज!
 सौभाग्यसँ अहाँक गरदनि नमहर आ टेढ़ अछि,
 तँ अहाँक चीत्कार,
 नमहर कण्ठमे
 घुमैत-फिरैत शक्ति खर्च कऽ,
 बहुत देरसँ बाहर गरजत।
 ओहि बीच केकरा संग की भऽ जाएत, के जानैत अछि?
 भीतर बहुत छिद्र : अन्तःकरणमे दोष,
 बाहर बहुत काँट : बाहरी शत्रु—
 कमल-डाँठक तन्तु : गुण
 कोमल : दिखावटी
 किएक नहि होइत ?
 हे कमल! अहाँ किएक नुकबैत छी
 अपन नमहर उज्जर तन्तु : निर्मल गुण ?
 बात एतबे अछि—जँ नीच लक्ष्मी ओकरा देखि लेथि,
 तँ एतए पएर रखबाक साहस नहि करथि।
 हे जपा-पुष्प,
 अहाँक देह एहन कान्ति सँ रँगल अछि
 जे मणिक प्रकाशकेँ मात दैत अछि।
 अहाँ कादोसँ उत्पन्न नहि भेल छी,
 अहाँ पानिमे नहि बढैत छी : मूर्खक संगति नहि करैत छी।
 जँ अभागल सृष्टिकर्ता अहाँकेँ

दुर्बल गाभा : नीच हृदय नहि देने रहितथि,
तँ एहि संसारमे केवल अहाँ
लक्ष्मीक निवास-स्थान होइतहुँ।

झींगुर बाटक कातक गाछपर बैसि
जोर-जोरसँ बजैत रहए;
मुदा ई शङ्खक ध्वनि अछि
जकर आधारपर लोक मानैत अछि
जे शब्द समस्त आकाशमे व्यापल अछि।
शङ्ख हड्डीक अवशेष अछि—फुटल वा मृत।
वास्तवमे ओ आनक साँससँ बजैत अछि।
तैयो ओकर मुँहसँ एहन कोनो ध्वनि नहि निकलैत
जे मनोहर नहि हो,
अथवा जे कोनो योग्य वस्तुक प्रशंसा नहि करैत हो।
हाय माय! ओ गाछसभ कतए चल गेल—
जकर फूल ओकर कोपलक अनुरूप छल,
जकर फल-समृद्धि ओकर फूलक अनुरूप छल,
आ जकर ऊँचाइ ओकर फल-धनक अनुरूप छल?
सृष्टिकर्ता नीक केलनि जे व्यर्थ परिश्रम नहि केलनि
चन्दनक गाछ बनबैत काल।
अयोग्य फलसँ लाभे की होइत?
कारण ई चन्दनक गाछ
अत्यन्त शीतल : अज्ञानी अछि,
एक-दोसरासँ लपटायल विषधर साँपसँ जकड़ल अछि,
फूल : विद्वान ओकरा लग नहि अबैत अछि,
तँ ओ फल नहि दैत अछि।

चन्दनक गाछपर विषधर सहि लैत छी;
सुन्दर वस्तु असुरक्षित कोना रहत?
हे खदिरक गाछ, कहूँ—की अपन सुन्दरता बचाबए लेल
अहाँ एतेक काँटसँ भरल छी?
अनुचित बातो कहियो शुभ फल दऽ सकैत अछि:
चन्दनक गाछकेँ
एकोटा फूल वा फल किएक नहि देल गेल?
चौड़ा कुल्हाड़ी लेने ओकर लग जाएबोमे
हमरा सभकेँ घोर लाज होइत अछि।
ई रूखर, दुष्ट ताड़क गाछ,
जे पथिकक शापसँ जरैत रहैत अछि,
सए वर्षमे एक बेर जे फल दैत अछि—
बहुत देरीक बाद भेटल ओ फल,
की अमृत जकाँ अमरत्व दैत अछि?
अथवा रसायन जकाँ फेरसँ जवान बनबैत अछि?
हे साँपसभ, सुनू!

गरमीसँ दग्ध लोकक मित्र,
 जाहि चन्दनक गाछक शरणमे अहाँ गेल रही,
 ओ काटि देल गेल।
 की अहाँ बिसरि गेल छी ओ सुख,
 जखन ओतए कुण्डली मारि : वैभव भोगि
 प्रतिदिन रहैत रही?
 जँ ओकर विनाशककँ अहाँ
 अपन दाँतक ज्वलन्त विषसँ प्रतिदान नहि देब,
 तँ ओकर संग स्वयं नष्ट किएक नहि भऽ गेलहुँ?

ई सन्तोष छल? असमर्थता छल?
 अथवा उपेक्षा?
 अथवा लोभ? अथवा चञ्चलता?
 कि वैर सेहो?
 हे अभागल सृष्टिकर्ता! उचित फल-भार
 आ फूलक शोभाक बात छोड़ू!
 चन्दनक गाछकँ
 अनुचित फूल-फलो किएक नहि देलहुँ?
 हाय सज्जन गाछ! चौराहापर अहाँक जन्म किएक भेल?
 अहाँ एतेक घनगर छायाबला किएक भेलहुँ?
 छायावान भऽ कऽ फल किएक देलहुँ?
 फल-भारसँ लदला पर,
 तँ अहाँकँ झुकए किएक पड़ल?
 आब अपन कर्मक फल भोगू मित्र,
 जखन लोक अहाँक डाढ़िसभकँ घींचैत, हिलबैत,
 झुकबैत आ टहनीक आगाँ भाग तोड़ैत अछि।
 ई सोचि जे—एकर जड़ : ओकर कुल उत्तम अछि,
 एकर ऊँचाइ : ओकर कुलीनता प्रसिद्ध अछि,
 एकर छाया घनगर : ओकर सौन्दर्य प्रखर अछि,
 ई उत्तम बाटपर ठाढ़ अछि : ओ सदाचारपर चलैत अछि,
 एतए सज्जन अबैत छथि : ओ सज्जनक संगति करैत अछि—
 पथिक ताड़क गाछक शरण लेलक।
 मनुष्यक वशमे एतबे अछि—
 मुदा ई आइ फल देत, काल्हि,
 कखनहुँ आगाँ, वा कहियो नहि—ई ईश्वरक वशमे अछि।

अहाँक पपरतरे अपन देह सुखबैत
 हम सम्पूर्ण आयु बिता देलहुँ।
 एहि स्थानक बाद
 एक क्षणो हम कोना जीवित रहि सकैत छी?
 अस्तु, अहाँसँ विदा!
 अहाँ खूब फलू-फलू!
 आइ हमरा कोन हड़बड़ी अछि?

हे हमर उपकारी!
 अहाँ फल दी
 हमर पुत्रसभकेँ
 अथवा पौत्रसभकेँ।
 “देखी, ई लग अबए केना साहस करैत अछि,” ई सोचि,
 घमण्डी मन्त्र-जादूगर : मन्त्रीसभ,
 जे मेघ-मन्त्रक कनेकहि विद्या जनैत छल,
 प्रबल अनुष्ठानमे व्यस्त : राज्यक गम्भीर
 काजमे डूबल, पूर्णतः उपेक्षा कऽ देलक
 अजेय शत्रु-मेघक : एकत्र शत्रु-सेनाक,
 जे अवसर पकड़लक,
 अपन वज्र : अस्त्र छोड़लक, आ हाय!
 समृद्ध पहाड़ी गामकेँ जरा देलक।
 वाह, विनाशक मेघ, वाह! बुद्धिमान आश्चर्य करथि:
 “पृथ्वीपर ई काज आरो के कऽ सकैत अछि?”
 केवल अहाँ ई कठिन काज सिद्ध कऽ सकैत छी।
 जे खेत सभक हित करैत अछि
 ओहि सभपर अहाँ वज्र फेकैत छी,
 आ ओहि जरल मरुभूमिमे वर्षा करैत छी
 जे ककरो उपयोगक नहि।

जखन गवय, पक्षी वा आन कोनो प्राणी पियासल छल,
 अहाँक वर्षा ओकरा सहारा देलक।
 आब ओहि बातकेँ पूर्णतः बिसरि जाउ!
 हे मेघ! एहि सर्वथा निकम्मा
 नोनगर बञ्जर भूमिक लेल अहाँक वर्षाक लाभ की?
 देखू! एकर जरल सतह
 फेर पहिने जकाँ कठोर आ प्रतिकूल भऽ गेल।
 हे समुद्र! अहाँकेँ अपन ओहि पानिपर लाज नहि होइत अछि
 जे अपवित्र काजमे उपयोग होइत अछि,
 ओकर सोझाँ जे अहाँक शरण अबैत अछि
 आन जल पीबए वा आचमन करए योग्य अछि कि नहि,
 एहि संशयक बाद?
 स्त्री आ बच्चो धरि जनैत अछि
 जे पियासल लोक समुद्रकेँ अपेय मानि छोड़ि दैत अछि।
 तखन ई आन लोककेँ किएक डरबैत अछि
 धक्का मारैत लहरिसँ,
 खुलल दाँतबला मकरसभक पाँतिसँ
 भयङ्कर बनि?
 हे समुद्र! सभ दिशामे बहिर करएबला गम्भीर गर्जनसँ
 अपनहि महानताक गुणगान करैत
 अहाँ हमर सभक कानपर किएक आघात करैत छी?
 कारण एहि संसारमे एक ऋषिक जन्म घड़ासँ भेल छल।

जखन ओ पियासल भेलाह,
अहाँ अपन समस्त जलो सँ
हुनक अञ्जुरी नहि भरि सकलहुँ।

कारण ई अछि
जे तीनू लोकक समस्त जलक आधार अहाँ छी।
ज्वारसँ फूलैत छी : जलभण्डारसँ प्रसन्न करैत छी,
हे समुद्र!
अनेक जीवकें आश्रय दैत छी : उदार हृदय छी।
अहाँक लग पहुँचि,
अनेक लहरि : धमकीक भङ्गिमासँ
भयावह अहाँक देह देखि,
हम दहकैत पेयक पीड़ा सहैत छी,
ई आशामे जे पृथ्वीक छोरक पहाड़मे
कखनहुँ कोनो छोट धारासँ शान्ति भेटत।
जँ अहाँ फूलि नहि उठब : क्रोध नहि करब,
आ एक क्षण ध्यानसँ हमर बात सुनब,
तँ हे समुद्र, एक प्रश्न पूछी।
विचारि कऽ उत्तर दी:
पाताल-अग्निसँ सेहो बेसी कष्टकर ई नहि अछि की,
जे पियासल पथिक
पूर्ण निराशासँ स्तब्ध भऽ
अहाँकें ताकैत रहैत अछि?
मन्द कान्तिबला स्फटिकमे
कोन प्रकारक शुद्धता अछि?
ओ अपन सोझाँ देखाइत वस्तुक रङ्गक अनुसार
स्वयं बदलि जाइत अछि।

हे कामधेनु-मणि! “पृथ्वीक कोनो राजा
हमरा अपन माथपर नहि धारण करैत अछि।”
मित्र, एहि विचारसँ निराश नहि होउ।
कारण एहि संसारमे
ककरो माथ एहन आशीषक योग्य नहि,
जे पूर्वक पुण्यक बीजसँ अर्जित हो
आ अहाँक राज्याभिषेकक औचित्य सिद्ध करए।

गुणक मोल बुझबाक पहिने
गुणक पहिचान आवश्यक अछि।
तँ कहू,
एहि संसारमे ककरो कोनो वस्तुक प्रशंसा कखन होइत अछि?
कृपा कऽ कहू!
हे श्रेष्ठ मणि! जखन स्थिति एहेन अछि,
तँ जीवित रहबा धरि चमकैत : सहैत रहू।

संसार सहल जा सकैत अछि—

एहि जनश्रुतिक एकमात्र साकार प्रमाण हमरा लेल अहाँ छी।

कामना-पूर्ति मणि आ विद्युत्-आकर्षी मणिकेँ

एकहि 'मणि' जातिमे कोन सृष्टिकर्ता रखलक?

एकटा याचकक इच्छा पूरा करैत कखनो थाकैत नहि;

दोसर पुरान पुआलक कणो स्वीकार करबामे लजाइत नहि।

एकटा बहुत दूर अछि,

दोसर ओकर सार बुझि नहि सकैत अछि,

अभिमानी ओकरासँ याचना नहि करैत,

आ अल्पबुद्धि तुच्छ वस्तु माँगैत अछि।

फलतः,

जे कामना-पूर्ति मणि माँगल वस्तु देबामे अनुरक्त अछि,

ओकर उदारताक चमक

कौशल बिना पहुँच सँ बाहर

परीक्षाक स्थलसभमे प्रकट नहि भऽ सकल।

ओ आनक हितमे दबाव : यातना सहैत अछि,

आ टूटलाक बादो मधुर : दयालु रहैत अछि,

ओकर परिष्कृत रस : श्रेष्ठ कर्म

एहि संसारमे सभक स्वागत पबैत अछि।

जँ ओ उन्नति नहि कऽ पबैत,

बज्जर भूमिमे पड़ि दुर्भाग्यसँ नष्ट भऽ जाइत अछि,

तँ दोष ऊखक अछि

कि निकम्मा बज्जर भूमिक?

की एतए फल-भारसँ

माथ झुकौने आमक गाछ अछि?

गरमी दूर करएबला सुगन्धित, छायादार

कदलीक गाछ अछि?

फूलल चम्पकक गाछ अछि?

एतए तँ कठोर शमीक गाछसभ अछि,

जे उग्र जङ्गली ऊँटक चरलासँ विरल भऽ गेल अछि।

हे मूर्ख! ई निष्पवन मरुभूमिमे

व्यर्थ अपन मृत्युदिस किएक भटक रहल छी?

धिक्कार अहाँपर, नीच कुलक धूर! जन्मसँ आइधरि

कखनहुँ कोनो नीक काज केलहुँ? कहू!

जाहि काज लेल ई दुष्ट पवन,

अग्निक सारथि,

अहाँकेँ ऊपर उठौलक अछि, से पूरा करू:

संसारकेँ मैला करू।

पूर्णतः खोखल, स्वभावसँ दुर्बल,

कोनो काजक नहि—

हाय! देखू आइ मनमौजी चञ्चल पवन

पर्वत : गुणी पुरुषसभसँ मुँह मोड़ि,
 हाथ लगल
 सुखायल, झुंझायल पुआलक टुकड़ासभकेँ
 महान लोकक निवास आकाशमे उठा देलक।
 स्वभावसँ नीच,
 कखनो कोनो गिनतीमे नहि आबएबला,
 प्रतिदिन पएरतर रौंदायल,
 बहुत काल धरि जमीनसँ चिपकल—
 देखू! आब अस्थिर पवनसँ फुलायल
 ई धूरक कण आकाशमे उड़ि रहल अछि,
 धरती धारण करएबला ऊँच पर्वतसभक ऊपर।

धिक्कार अहाँपर, हे साँप!
 ई सत्य अछि जे अहाँ अयोग्य छी, तैयो
 शिव : राजा, अहाँकेँ, निश्चय,
 स्नेहपूर्वक
 अपन पएरक आभूषण बनबैत छथि : अपन चरण लग स्थान देने छथि।
 की अहाँमे एहन फुसफुसाबक कला अछि,
 जे मातल भँवरासभक झुण्डक गुँजारोकेँ मात दे?
 मित्र साँप! ई सभ आडम्बर किएक?
 अहाँ माथपर उत्तम मणि धारण करैत छी,
 पर्वतक गुफामे रहैत छी,
 आ अपनहि केंचुल छोड़ैत छी।
 बिना परिश्रम उपलब्ध वायुसँ जीवन चलबैत छी।
 एक दिस अहाँक आचरण एहेन अछि।
 दोसर दिस,
 अहाँक चाल टेढ़ अछि,
 जिह्वा दूफाँक अछि,
 दृष्टि विष अछि,
 जाहि दिशामे घूरैत छी, ओतय ज्बला चमकि उठैत अछि।
 हे समुद्र! लहरिमे लुढ़कैत शिलाखण्डक
 तीक्ष्ण आघातसँ एहि मणिसभकेँ कष्ट नहि दी।
 की कौस्तुभ मणि
 स्वयं विष्णुकेँ सेहो अहाँक लग
 हाथ पसारि याचना करए नहि अनलक?

विश्व-धारक शेषनागक माथ अनेक अछि,
 हुनक महान शक्ति प्रसिद्ध अछि,
 ओ कद्रूक कुलीन सन्तान छथि।
 ओ क्रोधित होइत छथि तँ संसार संकटमे पड़ैत अछि।
 हुनक पराक्रम तीनू लोकक आश्चर्य एहन अछि
 जे नाग-जातिमे जन्म लेबाक दोष
 मानू पूर्णतः मेटा गेल हो।

धन्य अछि ओ अद्भुत दिन,
 भलै पूरा वर्षमे एके दिन हो,
 जे महानतामे बितल, आ जकर आनन्द
 पूर्वज नहि पाबि सकल,
 ने भविष्यक लोक पाबि सकत।
 जँ कुरुरक काँधपर नकली अयाल सजा कऽ
 पशुराज सिंहक स्थानपर बैसा देल जाए,
 तँ ओ पशुराज सन कोना गर्जत,
 जे मदोन्मत्त हाथीक
 गण्डस्थल चीरए लेल व्याकुल रहैत अछि?

की ई अहाँक लक्ष्यवेधक शुद्धताक अनुकूल अछि?
 की ई अहाँक बाण-पाँखक स्थितिसँ सम्बन्धित अछि : पदोन्नति
 अहाँक अपन लोकक ?
 की ई अहाँक तैयारी : पूर्वकर्मक अनुरूप अछि,
 अथवा धनुषक डोरी : सद्गुणसँ लगावक शोभा?
 हे बाण : मुँडायल साधु/ई की,
 जे क्षणभर मुखियाक कान लग पहुँचैत छी,
 आ उड़ि कऽ दूरसँ निर्दयतापूर्वक
 सोझाँ ठाढ़ लोककें मारि गिरबैत छी, हे निष्ठुर!

देखल जाइत ई मनोहर रूपसभ
 निश्चय फलवान होइत अछि
 जखन क्षणमात्र लेल आँखिक विषय बनैत अछि।
 आब जखन संसार प्रकाशहीन अछि,
 हाय! ई आँखि
 आन सभ इन्द्रियक समान कोना भऽ गेल?
 अथवा वस्तुतः ओ सभ समान नहि अछि।
 जखन पक्षीसभकें बजाओल जाइत अछि,
 तखन आबि गेल मच्छरकें भगाओल नहि जाइत।
 समुद्रक गहिराइमे राखल विद्युत्-मणि
 मणिसभक कान्ति ग्रहण कऽ लैत अछि।
 जुगनू ज्योतिर्मय लोकक बीच चलबासँ नहि डरैत अछि।
 धिक्कार एहन समानतापर,
 जे वास्तविक भेदक कनेको विचार नहि करैत।

हे सोनार! हे बुद्धिमान, अहाँक जय हो!
 अनिर्णीत वस्तुक पुनः-पुनः जाँच करबाक लेल
 अहाँ अपन तराजूपर
 सोनाक आभूषण आ बाटकें समान रूपेँ रखैत छी।
 हे अन्हर इनार! घैल
 अहाँक कृपा नहि पाबि फेरि गेल।
 मुदा अहाँ अपन नीच कृत्यपर मोहर लगा देलहुँ

ओकर मुँहसँ पानिक बूँदसभ लऽ कऽ।
 वास्तवमे उदारताक विषयमे की कहल जाए
 विद्युत्-मणि आ मनुष्य—दुनूक?
 हुनकर देन-लेन केवल
 पुआलक महीन टुप्पीक टूटल कण धरि सीमित अछि।
 सए पएरबला कनखजूरा जँ
 एकटा छोट डबरा पार नहि कऽ सकैत अछि,
 तँ की एहि कारण
 दू पएरबला हनुमानक समुद्र-लाँघनपर सन्देह करी?
 युवा शिकारी : लोभी मूर्खक घरमे
 नहि अछि
 नमहर बाँस चुनबाक लगन : पहिचानबाक विवेक
 कुलीन वंशक,
 नहि डोरी बटबाक उत्साह : उच्च गुण एकत्र करबाक तत्परता,
 नहि बाणमे नोक लगाबक संकेत : पुरस्कार देबाक आभास
 जरूरतमन्दकै;
 तखन एतए किएक रुकल जाए?

की एहन केओ अछि जे बहुत काल धरि धोखा नहि खाइत
 एहि वस्तुसँ,
 जे पातर घासक पातक टुप्पीपर टिकल अछि,
 ई सोचि जे सम्भवतः मोती हो?
 हाय! ई तँ पानिक बूँद अछि।
 संसार एकरा भ्रमसँ देखैत अछि।
 हम एकर सत्य जनैत छी।
 बहुत विचारलाक बादो हमरा नहि बुझाइत अछि,
 ओहि विशालहृदय लोकसभकें कोन-कोन नामसँ बजाबी,
 जे एकटा पाथरकें अन्तिम प्रमाण मानैत छथि
 सोनाक सच्चा मोल जाँचबाक लेल,
 जे सम्पूर्ण संसारक आभूषण अछि।
 खेतक रक्षा लेल हलवाहा बनौने एहि पुआलक बिजूकें देखू,
 अपनहि रूपमे।
 आब निर्भय भऽ,
 एहि टेकल वस्तुक निश्चलता : निष्क्रियतासँ
 एहि घमण्डी पुरुषक,
 हरिणक झुण्ड ओकर सोझाँ गहूम चरैत अछि।
 निमेषहीन आँखि ककर अछि
 स्वर्गवासी देवतासभ छोड़ि?
 हे मूर्ख माछ! पृथ्वीपर एहन आँखि पाबियो कऽ,
 भीतर घुसैत बंसीक काँटाकें किएक नहि देखलहुँ
 जखन कौर लेल मुँह खोललहुँ?

भलें पुरुषत्वक बाटसँ हटि जाए : स्त्री बनि जाए,

भलें पद गँवा दे : पातालमे उतरि जाए,
 भलें याचनाक समय स्वयंकें छोट करए : बनि जाए
 माँगए लेल बौना,
 तैयो ओ संसारक उद्धार कऽ सकैत अछि—
 ई बाट एक राजा : विष्णु देखौने छथि।
 ई क्षुद्रबुद्धि काँच-बेचनिहार दानव,
 जे अभ्यास करितहुँ भूल करैत अछि
 अपन कुलक अत्यन्त विशिष्ट कलाक,
 ओहि जौहरीसँ ईर्ष्यामे जरि रहल अछि
 जे सहजहि सूत्रमे पिरो सकैत अछि
 मणिराज कौस्तुभ सन मणिसभकें।
 ओ चूहासभक शत्रु छल, तँ घरमे आनल गेल,
 मुदा ओकरा पूर्ण स्वतन्त्रता नहि देल गेल।
 “जँ पेट भरि गेल
 तँ ई ओकरा सभक शिकार नहि करत,” ई सोचि ओकरा भरिपेट भोजन नहि देल गेल।
 दुबरायल, गुमसुम भऽ गेल ओ बिलाइ एतए की करत?
 आरो की कही?
 आब मालिकक घरमे चूहासभ निर्भय दौड़ि रहल अछि।

जँ एतेक महानता अछि
 अहाँक स्वाभाविक मिठास : योग्यतामे, तँ ई
 शीतलता : मूर्खता किएक?
 जँ अहाँक सहज सोझाइ : स्पष्टवादिता एतेक अछि,
 तँ ई गाँठ : विकृति किएक?
 जँ अहाँक जड़ : उत्पत्ति शुद्ध : कुलीन अछि,
 तँ “कादोमे जन्मल” ई नाम किएक?
 जँ ई तन्तु : गुण अछि,
 तँ ई छेद : दोष किएक?
 हे कमल-डाँठ! मित्र, हम अहाँकें बुझि नहि पबैत छी!
 जे सभ मानू बनाओल गेल
 विषमे लेपल,
 जकर टेढ़ चाल : कुकर्म
 गननासँ बाहर अछि,
 जकर दूफाँक जिह्वा निर्दोषकें मारए लेल अछि,
 जे बिलमे नुकायल रहैत : दोष खोजैत अछि,
 —ओ साँपसभ
 भला-बुरा नहि बुझितहुँ,
 फनपर मणि धारण करैत : योग्य पुरुषकें मुखिया बनबैत अछि।
 सज्जन कत्तहुँ मर्यादासँ नहि खसैत छथि।
 चिन्ता छोड़ू!

देखू, स्त्रीसभक निर्दयता!
 हे अभागल राति! धिक्कार अहाँपर! अहाँ पूर्ण दुष्ट छी!

व्यर्थ अहाँ ई चाल चलैत छी
 अपन केश-बन्धन खोलबाक।
 जड़ समुद्रादि सेहो उचित काज केलक
 अपन प्रेमक अन्तपर
 चन्द्रमाक अवर्णनीय अस्तकालमे,
 जे लोकक नेत्रक स्वामी छथि।
 अहो! घरक वीर, उद्दण्ड दीप,
 दिनकेँ जीतबाक ज्वरमे दहकैत,
 व्यर्थ अपन अङ्ग : परिवारजनकेँ मलिन करैत अछि।
 की ओ देखब सहि सकैत छल
 अन्हारक मुख : आरम्भो,
 जे संसारसँ छीन लैत अछि
 ओकर सम्पूर्ण क्रिया-स्वतन्त्रता?
 जखन एकरा उन्नत कएल गेल,
 तखन आन गाछक नामो ओझरायल।
 बाटपर ठोकर खाइत ईश्वरक हाथ
 रोकल गेल,
 अपरिचित दृश्यसँ उत्पन्न आँखिक कष्टसँ
 संसार बचि गेल,
 —हे लकड़हारा, अहाँ उचित केलहुँ काटि कऽ
 असमय फूलल आमक बगान।

वायु खा कऽ जीवित रहबाक कारण साँपसभ
 संसारक विश्वास जीतलक, आ उपद्रव मचौलक।
 बदला मे ओ सभ मोरसँ खायल गेल, जे पालन करैत अछि
 वर्षाक बूँद पीबएबला कठोर व्रत।
 फेर ओ मोरसभ सेहो मारल जाइत अछि शिकारीसभक हाथेँ,
 जे चमरु हरिणक खुरदुरा छाल पहिरने रहैत अछि।
 ई प्रत्यक्ष पाखण्ड देखितहुँ,
 अभागल मनुष्य एहन गुणक लालसा करैत अछि।
 जे एकसरि पैघ भार उठौने छल
 ऊबड़-खाबड़ बाटपर,
 जे अपन गोहालमे दोसरक घमण्डी हुँकार कखनो नहि सहलक,
 जे बैल-जातिक आभूषण छल,
 आब जखन ओ उज्जर बैल बूढ़ भऽ गेल,
 हाय लाज! ओकर दाम जोर-जोरसँ पुकारल जा रहल अछि।
 अपन अनुचित प्रयास छोड़ू!
 लँगड़ाक विचरण लेल आकाश स्थान नहि।
 हे हमर सज्जन फतिगा!
 एतय-ओतय उड़ैत फिरबाक अहाँक हानिकारक प्रवृत्ति
 अहाँकेँ मात्र थका देत।
 देव विष्णुओ कल्पना नहि कऽ सकैत छथि ओहि पवन-झोंकाक,
 जे गरुड़क पाँखक टुप्पीसँ निकलैत अछि,

जे सहजहि संसारक सीमाकें हिला दैत अछि,
आ अपन बाटमे जड़िसँ उखाड़ल पर्वतसभक
भारी भार लेने चलैत अछि।

जँ केवल चन्द्रमा, चञ्चल लहरिक किलोलसँ मुखर,
समुद्रक जल फुला कऽ,
ओकरामे जीवन भरैत अछि,
तँ पर्वतीय धारासभ ई काज कोना कऽ सकैत?
जँ ई सत्य नहि रहित,
तँ समुद्र घटैत नहि
जखन ओ सभ ओकरादिस दौड़ैत अछि
माथ झुकौने, ठसकसँ,
केवल तमाशबीन बनि देखए लेल,
सहायता करबामे पूर्ण असमर्थ।
ओ ऋषि, जे बहुत पहिने अथाह समुद्रकें पीबि गेलाह
एके अञ्जुरीमे,
एतेक भुखायल, जे बिना हानि
एहन हजार समुद्र पीबि सकथि।
मुदा निश्चय, ई सम्भव नहि रहित
कोनो दीप्त तेज बिना?
ओ रहितहुँ नहि रहल जकाँ बुझाइत अछि,
शक्तिमानक भीतर दहकैत।
ओहिमे पाथर : मणि अछि,
ओ तीनू लोकक आभूषण अछि,
ओ अपन मर्यादामे रहैत अछि।
निश्चय चन्द्रमा केवल ओहिमे निवास करैत छथि,
ओ देवतासभक इच्छा पूर्ण केलक,
स्वयं विष्णु ओकर ऊपर शयन करैत छथि,
आ हुनक नाभिसँ निकलल कमलपर ब्रह्मा प्रकट छथि।
भाग्यक विधान अछि जे जल : अज्ञानी समुद्रो,
ओकर पेट : पाताल-गुफासभ भरए लेल नीचाँ धँसैत अछि।

हे श्रोतासभ! जँ सहन करब तँ हम कही।
शक्तिशाली शत्रुसँ नहि, अपन पक्षसँ डरू!
अन्हार जखन क्षितिजपर आक्रमण करैत अछि,
तखन तारासभ केना चमकैत अछि!
सूर्य जखन प्रकाशित होइत छथि,
तखन ओ सभ अपन बलसँ चमकि नहि सकैत।
एहि मे कोनो पैघ बात नहि
जे मूर्ख कमल-पातपरक पानिक बूँदकें
मोती बुझि लेलक।
ओकर आरो कथा सुनु:
जखन ओ धीरिसँ ओकरा उठौलक,

आँगुरक टुप्पीक हलुक गतिसँ ओ विलीन भऽ गेल।
 “ओ उड़ि कऽ कतए गेल?”
 आब आन्तरिक दुःखसँ ओ प्रतिदिन सुति नहि पबैत अछि।
 ओ एहि सरोवरमे रहैत अछि।
 अहो! कतेक सन्तोषक बात!
 हंसक मन कनेको लालायित नहि होइत
 लक्ष्मीक निवास कमलक प्रति।
 “ई सुतल अछि, एखनहुँ नहि जागल!
 आउ, पहिने ककरो दोसरक सेवा करी!” ई कहि,
 पेटू भँवरासभ सहि नहि सकैत
 एक क्षणक विलम्बो।

क्रोधसँ टर्नइत मेढ़क,
 निर्भय भऽ हाथ उठा दे
 थप्पड़ मारबाक लेल
 करिया नागक मुँहपर,
 आ ओ नाग ओतए रहि जाए
 मुँह नीचाँ कऽ,
 आँखि मूनि,
 ई सभ कोनो प्रबल नाग-मन्त्रज्ञक लीला अछि।
 डोरी चढ़ल ई धनुष यमक खुलल मुँह सन अछि,
 आ बाणसभ विषधर साँप सन,
 ओकर निशाना अर्जुनादिसँ सेहो श्रेष्ठ अछि,
 आ ओकर चाल सदिखन दबे-पाँए अछि।
 देखू, धूर्त शिकारीक भीतरक क्रूरता, आ हाय!
 ओकर मुँहमे मधुर, मनमोहक गीत : प्रशंसा।
 एहिसँ हमरा भय अछि जे वन पशु-विहीन भऽ जाएत।
 हे पवन, अहाँ कतेक पैघ भूल कऽ रहल छी,
 जखन भरपूर धूरकें उठा दैत छी,
 जे सम्पूर्ण संसारक पएरतर रौंदायल अछि,
 आकाशमे प्रतिष्ठित कऽ,
 ज्योतिर्मय समूहक संगतिक योग्य बना दैत छी!
 उठलापर लोकक दृष्टि
 धुँधला भऽ जाइत अछि—एहि बातक उल्लेखो छोड़ू।
 अहाँक देहसँ एहि मेलाक दागकें
 मेटाबए लेल कोन उपाय अछि?

ई महत्वाकांक्षी पुरुषसभ,
 राजद्वारपर आँखि गड़ौने,
 धन माँगबाक धुनिमे,
 क्रोधसँ उफनैत द्वारपालसभ द्वारा तितर-बितर कएल जाइत अछि।
 विद्वान लोक, धनसँ विरक्त भऽ,
 सांसारिक भोगक त्यागक कारण,

स्वर्गीय नदीक रमणीय कातपर विश्राम करैत छथि।
 कदम्ब-परागसँ चितकबर हवा बहैत अछि,
 साँपक शत्रु मोरसभ नाचैत अछि,
 ताजा जलसँ भरल भयङ्कर मेघ गरजैत अछि।
 हमरा उदास देखि,
 प्रिय-वियोगक अग्निमे दूबैत,
 हे बिजुरी! हे निर्दयी, अहाँ किएक चमकि रहल छी—की
 हम दुनू स्त्री नहि छी?
 जे अहाँकेँ जीवन : आशा देलक,
 जे अहाँकेँ ठाढ़ केलक : प्रबल पदोन्नति देलक
 जे काँधपर उठा कऽ : सेनामे रखलक
 बहुत काल धरि,
 जे अहाँक पूजा केलक : सम्मान देलक,
 क्षणमात्रमे, केवल
 एकटा गुप्त मुस्की सँ अहाँ ओकर प्राण लऽ लैत छी।
 हे भाइ! अहाँ कृतज्ञताक साक्षात् मूर्ति छी,
 पूर्णतः पिशाच सन आचरण करैत!

सभ दिशा रस्सीसँ घेरल अछि,
 विषक कारण जल पार नहि कएल जा सकैत अछि,
 धरती खूनल अछि, झाड़ीमे आगि लगा देल गेल अछि,
 धनुष लेने शिकारी ओकर पाछाँ सटले अछि;
 झुण्डक मुखिया कतए भागत?
 “ई जलक एकमात्र भण्डार अछि,
 मणिक खानि अछि!” ई सोचि,
 पियाससँ हृदय काँपैत हम समुद्र लग पहुँचलहुँ।
 के जनैत छल जे ऋषि अगस्त्य
 क्षणमात्रमे एकरा पीबि जेताह
 अपन खोह-जकाँ अञ्जुरीसँ,
 एहिमे भरल माछक झुण्डसहित।
 सेमलक विशाल, आँखि मोहनिहार फूल देखि
 सुग्गा सोचलक:
 “एकर फलो एहने अद्भुत होएत!”
 ओ बहुत काल धरि ओतए बैसल रहल, आ संयोगसँ
 एकटा फल लगल।
 जखन ओ पाकल,
 तँ भीतर रूई छल,
 आ ओकरो पवन उड़ा लेलक।
 विष्णुक निवास,
 जे सभक उपकारी छथि,
 जे समस्त देवताक असङ्ख्य इच्छा पूर्ण करैत अछि,
 जे चन्द्रकिरणक समूहसँ चमचमाइत उज्जर अछि—
 हाय, कालकूट विष!

ओहि समुद्रसँ अहाँक जन्म कोना भेल?

इच्छापूरक कल्पवृक्षक सोझाँ,
जे अपन फलल डाढ़िक घनगर छत्रसँ
सूर्यक ताप दूर करबामे निपुण अछि,
की छाया खोजएबला कोनो मूर्ख पशुओ
आकर्षित होएत
एकटा सुखायल झाड़ीदिस?

महाकवि क्षेमेन्द्र

छल=कौशलक विलास

कलाविलास

एकटा विशाल, भव्य नगर अछि
 जकर महलसभ धनक
 परिष्कारक स्पर्शसँ धन्य अछि,
 आ सम्पत्तिसँ चमचमा रहल अछि।
 ओ श्रीक पति विष्णुक विशाल वक्षस्थल सन अछि—
 लक्ष्मीक सुन्दर आलिङ्गनक सुखद आधार,
 कौस्तुभ मणिसँ दीप्तिमान।
 एहन नगर जतए विश्वधारक शेषनाग
 अथक भावसँ महलसभकें थामने बुझाइट छथि,
 —एक रहितहुँ अनेक रूपमे प्रतिबिम्बित भऽ—
 लटकैत मोतीक मालाक वैभवसँ,
 जे मणिजड़ित फर्शपर प्रतिबिम्बित अछि।
 जतए पाँतिमे ठाढ़ महलसभ चमकैत अछि,
 स्फटिक-जकाँ तीक्ष्ण कान्तिसँ दमकैत:
 देवी रातिक करिया घूँघटक निर्लज्ज चोर,
 —प्रेमीक लग चोरी-चोरी जाएबाली स्त्रीसभक लेल सङ्कट।
 जतए कामदेव,
 जे पतङ्ग सन आचरण करबामे प्रवृत्त छथि,
 शिवक तेसर आँखिसँ निकलैत
 ज्वलाक लपकादिस आकर्षित भऽ,
 चन्द्रमुखी स्त्रीसभक मुखक
 सौन्दर्य-अमृतसँ पोषित होइत छथि।
 जतए निरन्तर हवा बहैत अछि,
 पसेनाक बूँदसँ भरल,
 रमणीय, निर्बन्ध स्त्रीसभक थाकनिसँ,
 जे प्रेमक्रीड़ासँ क्लान्त छथि,
 आ हुनकर खुलल केशक फूलक
 सुगन्धसँ सुवासित।

जतए वनहंसक मधुर पुकार, जकर स्वर गरम अछि
 कारण ओकर चोंच भरल अछि
 कोपल आ नव पल्लवसँ,
 कमल-सरोवरसभमे फैलैत अछि,
 मानू लक्ष्मीक पायल झनकि रहल हो।
 जतए वर्षा ऋतु ठहरल जकाँ बुझाइट अछि
 इन्द्रधनुष आ मेघक समूहसहित,
 मरकत फुहराक पाँतिमे साकार,
 आ नाचैत पालतू मोरसहित।
 जतए हरिणीक बच्चा सन आँखिबाली स्त्रीसभ
 स्फटिक-मण्डपपर चमकैत छथि,

चाँदनीक आवरणमे,
 मानू अमृत-सागरक मथल लहरिसँ
 जन्मल अप्सरासभ होथि।
 ओतए समस्त छलक श्रेष्ठ भण्डार रहैत छल—एकटा धूर्त
 पुरुष, नाम मूलदेव, जे सए
 प्रकारक अनुपम छलमे सिद्ध छल। दुष्टसभ, जकर जीविका
 ओकर बुद्धिक पराक्रमपर निर्भर छल, दूर-दूर देशसँ
 ओकर लग आबि जुटैत छल। ओकरा अथाह धन भेटैत छल,
 जेना चक्रवर्ती सम्राट अपन स्वाभाविक
 गुणसँ प्राप्त यशमे उल्लसित होइत अछि।
 एक दिन भोजन कऽ, रसज्ञ पुरुषसभक संग
 सभाभवनमे बैसल छल, तखन एकटा सार्थवाह
 ओकर लग आबि अनमोल उपहार रूपेँ मणिजड़ित पात्र देलक।
 माथ झुकौने हिरण्यगुप्त, अपन पुत्र चन्द्रगुप्तक संग,
 आसन आ उचित सत्कार पाओल; कनेक
 विश्रामक बाद मौन तोड़लक:

“हाय! अहाँक सोझाँ हमर ई वाणी,
 जे परिचयक निर्लज्जता धारण कऽ रहल अछि,
 बहुत बेसी साहसी होएबाक हिम्मत नहि करैत,
 मानू नगरमे आएल कोनो गामक कन्या हो।
 बृहस्पतिक बुद्धि समेटने अहाँक
 ज्ञानक प्रकाशमान किरणक विशालता
 अन्धता दूर करएबाली आशा दैत अछि;
 मानू सूर्यक कोनो तेजस्वी भाइ हो,
 जे बृहस्पति ग्रहकेँ मलिन कऽ
 दिशासभकेँ अन्धारसँ मुक्त करैत हो।
 जन्मसँ हम एकटा कोष जमा केने छी,
 जे अनेक प्रकारक मणि, मोती आ सोनासँ भरल अछि।
 आब जीवनक साँझमे
 हमरा एकमात्र पुत्र जन्मल अछि।
 बाल्यकाल मूर्खताक अवस्था अछि,
 यौवन प्रेमसँ उत्पन्न मानसिक विक्षिप्तता,
 आ जमा कएल धनक टिकब
 ओतबे अनिश्चित अछि जतेक पानिक बूढ़
 कुमुदिनी-पातपर,
 जे हवामे काँपैत रहैत अछि।
 मोहक, हरिणी-नयन कन्यासभ
 सदैव दुष्ट होइत अछि मादा भँवरासभ जकाँ,
 जे भोगरूपी कमलमे नुकायल रहैत अछि।
 दुर्घटनाक ई शृङ्खला हमर एहि पुत्रपर टूटि पड़ल अछि।
 सत्य, ठकक हाथक गेंदक कोनो मुक्ति नहि,
 ने वेश्याक पायलमे जड़ल मणिक,

ने धनी घरक भोला वंशजक।

अशिक्षित लोक चिरैक बच्चा सन होइत अछि,
समय-स्थानक विचार बिना चहचहाइत,
चलनाइ नहि आबितहुँ फुदकैत,
आ ठक-बिलाइसभक शिकार बनैत।
हे बुद्धिमान गुरु! अहाँक याचकक ई पुत्र,
जे वस्तुतः अहाँक दोसर पुत्रसँ कम नहि:
एकरा अपन सर्वोच्च बुद्धि प्रदान करू,
जाहिसँ ई नष्ट नहि हो!”

ओ संकोचसँ अपन निवेदन रखलक अछि—ई बुझि,
विनयपूर्वक माथ झुकौने ओकरा मूलदेव सम्बोधित केलक,
ओकर ओठक सीमा सद्भावनाक बाढ़िक लेल खुलि गेल:
“अहाँक ई पुत्र हमर घरमे एहि तरह रहए
जेना हमर अपन पुत्र हो। परिश्रमसँ ई धीरे-धीरे
छलक सम्पूर्ण हृदय-तत्त्व बुझत, जकर शिक्षा हम
एकरा देब।”

बुद्धिमान सार्थवाह आदेशानुसार अपन पुत्रकेँ मूलदेवक
घरमे सौँपि, ओकरा प्रणाम कऽ, प्रसन्न भऽ चलि गेल
अपन महल।

सूर्य धीरे-धीरे दृष्टिसँ ओझराए लगल,
ओकर किरणक कान्ति घटैत गेल,
अस्पष्ट आकारसहित धुँधलका मे चमकैत,
ठीक ओहि जुआरी सन जकर मुख राख सन पड़ि गेल हो,
जकर हाथपर नियन्त्रण ढील भऽ गेल हो,
जे अपन वस्त्रो गँवा देने हो,
आ अन्ततः ठकसभसँ लुटा कऽ धन गँवा दैत हो।

दिनकर अस्त भेलापर,
पश्चिमी क्षितिज-पर्वतक शिखरपर
आधा प्रकाश चमकल,
मानू लाल सिन्दूरक आवरणक अरुण आभा
अन्हाररूपी हाथीपर चिपकल हो।
प्रतिदिन छोड़ि देल जाइतो,
दिनक शोभा दिनकर सूर्यक पाछाँ चलैत अछि।
सन्ध्या नहि, भलै ओ हुनक प्रिया छथि।
स्त्रीक हृदय के बुझि सकैत अछि?
सन्ध्याक अनुरागमय लाली
जखन धीरे-धीरे विलीन भऽ गेल
आकाशक आँगनक कमल-सरोवरमे,
तखन ओकर उपपति अन्हार,
भ्रमसँ ई डरि जे ई सूचना अछि
ओकर पति सूर्यक आगमनक,

ठोस आधार नहि पाबि व्याकुल घूमए लगल।
धरती अन्हारसँ ढँकल बुझाईत छल,
मानू बेहोश हो
तीक्ष्ण किरणबला सूर्यक वियोगसँ।
कारण स्थिर आ तेजस्वी प्रेमी
प्रिय होइत अछि।
राति भव्य छल
वनवासी शबर कन्या सन,
उज्जरतम तारासँ पिरोएल
मोतीक हारसँ सुशोभित,
घोर अन्हारसँ बनल
मोर-पाँखक चादर ओढ़ने।

तकर बाद धीरे-धीरे राति-निर्माता चन्द्रक प्रकाश उगि आएल,
दूर यात्रा पर गेल पुरुषक स्त्रीसभकेँ दहकबैत,
रातिमे फूलएबला कुमुदक जागरणक अग्रदूत,
चक्रवाकी पक्षीसभकेँ वियोगक शिक्षा देनिहार।
रातिक स्वामी चमकल,
कामदेवक उज्जर छत्र,
दिशा-देवीसभक स्फटिक दर्पण,
उज्जर ललाट-चिह्न
सुन्दरी अन्हारक माथपर।
राति-निर्माता फिक्का सौन्दर्यसँ दमकल
मानू स्वर्गीय मन्दाकिनी नदीक
कातक किनारपर ठाढ़ राजहंस,
अपनहि किरणक चारूकात पसरल तन्तुक
प्रभामण्डलमे झिलमिलाइत।
करिया राति चन्द्रमासँ सुन्दर भेल,
प्रेम रातिसँ,
वसन्तोत्सव प्रेमसँ,
आ हरिण-नयन कन्यासभक आकर्षण,
जकर मन मदिरासँ प्रसन्न : कामनासँ रोमाञ्चित छल,
वसन्तोत्सवसँ सुन्दर भेल।
स्वच्छन्द, केवल सुखक समयक मित्र भँवरासभ
कान्तिहीन कमलकेँ छोड़ि देलक,
आ उन्मादमे,
फूलल कुमुदक गुच्छपर टूटि पड़ल।

राति दमकैत छल
खप्पर धारण कएनिहार स्त्री-साध्वी सन,
चाँदनीसँ बनल भस्ममे चमकैत,
सुन्दर खप्पर-पात्रसहित
जे मनोहर चन्द्रकलासँ बनल छल,

तारासँ बनल हड्डीक टुकड़ाक हार पहिरने।
 जखन पूर्णिमाक चन्द्रक असङ्ख्य किरण
 पूर्ण रूपेँ प्रकट भऽ गेल
 ओकर मणिमय महलक भीतरी बगानमे,
 मूलदेव,
 ध्यानसँ उठि शान्त भावसँ स्थिर,
 स्फटिक आसनपर बैसल
 अपन अभिन्न मित्र शशिनक संग।
 कन्दली आदि ओकर शिष्यसभ
 ओकर पएरक चौकीक कातमे उपस्थित छल।
 बहुत कालसँ सोझाँ प्रतीक्षा करैत सार्थवाहक पुत्रकेँ
 ताकि, मूलदेव बाजल; ओकर दाँतसँ निकलैत प्रकाशकिरण
 मानू चाँदनीकेँ लाजसँ
 गायब कऽ देलक।
 “हे पुत्र, ठकसभक समस्त छलक अत्यन्त टेढ़
 हृदय-सार सुनू। एकरा बुझि लेलापर धन,
 जे सामान्यतः क्षणिक बिजुरी सन चञ्चल अछि, स्थिर भऽ जाइत अछि।
 एहि संसाररूपी झाड़ीमे एकटा गह्वा अछि,
 जे घास, कोपल आ लतिक जालसँ नुकायल अछि,
 जकर अथाह खोहमे भोला हरिणसभ खसि पड़ैत अछि।

ई ओहि निधि-धैल : शवकलशक नाम अछि
 “दम्भ,”
 जे स्वभावतः अथाह अछि।
 एहि संसारमे एकर मुँह ढँकल अछि
 लपटायल दुष्ट-साँपसभसँ।
 दुष्टक लेल दम्भ एकटा गुप्त मन्त्र अछि,
 सभ लालसा पूर्ण करएबला चिन्तामणि, एकटा सिद्धि,
 लक्ष्मी देवीकेँ वशमे करबाक उपाय।
 दम्भक चाल के बुझि सकैत अछि,
 जे माछक चाल सन अछि,
 सदैव पानिक भीतर डूबल?
 वास्तवमे ओकर गति बूझब कठिन अछि
 जकर हाथ नहि, पएर नहि, माथ नहि।
 साँप मन्त्रक शक्तिसँ पकड़ल जाइत अछि,
 विश्वासी हरिण नुकायल फन्दासँ,
 पक्षी भूमिपर बिछायल जालसँ,
 आ मनुष्य दम्भसँ।
 दम्भ विजयी अछि,
 लोकक हृदयकेँ भयभीत करैत,
 मोहसँ उत्पन्न जड़ता, जे संसारकेँ दबा लेने अछि,
 : छलक स्तम्भ,
 विश्व-विजयक स्मारक रूपेँ ठाढ़ कएल,

सदैवक अचेतना,
दम्भोद्धवक अवतार।

दम्भ आधार अछि,
कुतर्कक विशाल चक्रक नाभि,
जकर हजार टेढ़ आरा अछि
असह्य बेतुका बातक,
आ जे निरन्तर घूमैत कुमार्गपर लुढ़कैत अछि।
मूनल आँखि जड़ि बनि,
दीर्घ अनुष्ठानिक स्नानसँ भीजल केशसँ
टपकैत जलसँ सींचल,
दम्भक गाछ
कर्मकाण्डी शुद्धताकेँ फूल बनबैत अछि
आ फल दैत अछि
ऊपर उठल हाथी रूपी सैकड़ो डाढ़िसँ।
व्रत-पालनक तपस्यासँ
बकक आत्मतुष्टि उत्पन्न होइत अछि,
अङ्ग समेटबाक तपस्यासँ
काछुक विशिष्ट आत्मतुष्टि,
निर्लिप्त भावसँ आँखि गड़ौने रहबाक तपस्यासँ
बाटपर,
बिलाइक भयावह आत्मतुष्टि।
बक-दर्प मिथ्या धर्माचारक मुखिया अछि,
काछु-दर्प राजा अछि,
मुदा बिलाइ-दर्प सम्राट्क प्रभुता अपना लेने अछि।

काटल नह, दाढ़ी आ केशबला पुरुष,
शिखाधारी, जटाधारी, नमहर दाढ़ीबला पुरुष,
बहुत माटि देहपर पोतबाक धुनिबला पुरुष,
ओठ भींचने पुरुष, जूता पहिरने पुरुष;

एहन पुरुष जे हेमवल्ली
अपन पैघ गाँठबला जनेऊक ऊपर बाँधने अछि,
एहन पुरुष जे एना बुझाइत अछि मानू
हाथमे पेटी लेने हो,
कारण ओकर बाँहि स्थिर भऽ गेल अछि
काँखमे खोंसल वस्त्रक किनारासँ;
एहन पुरुष जे अनेक झगड़ासँ अपन पाण्डित्य देखबैत अछि,
हिचकिचाहट आ हाथक इशारासँ नकार करैत,
एहन पुरुष जकर ओठ बुदबुदायल मन्त्रसँ चलैत रहैत अछि
भीड़क बीच,
एहन पुरुष जे ध्यानमे डूबल रहैत अछि
नगरक मुख्य बाटपर;

एहन पुरुष जे तीर्थपर
पूसक कठोर स्नानक कष्टक प्रदर्शन करैत अछि
दाँत किटकिटा आ फुफकारि,
अनन्त काल धरि डुबकी लगबैत,
विधिपूर्वक मुँह धोइत
अञ्जुरी सन मोड़ल हाथसँ
नाटकीय भङ्गिमामे;
एहन पुरुष जकर निरन्तर धूर-स्नान
सम्पूर्ण देहक घिसल खुरदुरापनसँ प्रकट होइत अछि,
एहन पुरुष जकर देव-पूजा
पूर्ण कर्मकाण्डसहित
माथपर पोतल विशाल तिलकसँ
पहिचानल जा सकैत अछि;

एहन पुरुष जे माथपर फूल पहिरैत अछि
जे दाएँ-बाएँ डोलैत कौआक आँखि सन बुझाइत अछि,
—एहि प्रकारक कोनो पुरुषकें पाखण्डी बुझबाक चाही।

पाखण्डी एहन दुष्ट अछि जे अयोग्यकें प्रणाम करैत,
योग्यक सोझाँ घमण्ड करैत,
अपन सम्बन्धीसँ वैर करैत,
आ अपरिचितक संग दयालु सम्बन्धी सन व्यवहार करैत,
ओ यशक भूखल मनुष्य अछि।
जखन ओकरा कोनो काजमे सहायता चाही,
निष्ठुर पाखण्डी माथ झुकबैत अछि
आ सए प्रकारक चापलूसीसँ अपन बनबैत अछि।
मुदा तुरन्त उद्देश्य पूरा भेलापर
ओ भौँ सिकोड़ि चुप भऽ जाइत अछि।
बहुत पहिने दितिक पुत्र जम्भ नामक दानव छल,
जे देवतासभक समृद्धि रोकि देने छल।
आब पृथ्वीक सतहपर
ओ प्राणीसभक हृदयमे
दम्भ रूपेँ निवास करैत अछि।
शुद्धताक दम्भ,
मौन-वैराग्यक दम्भ,
स्नातकक दम्भ,
आ उच्च ध्यानक दम्भ:
ई सभ विरक्तताक दम्भक
सएम भागो बराबर नहि।

शुद्धताक दम्भसँ ग्रस्त
मनुष्य
शुद्ध-अशुद्धपर कुतर्क करैत अछि,

शुद्धिकरणक माटि व्यर्थ गँबैत अछि,
 अपन सम्बन्धीकै नहि छुबैत अछि,
 सभक शत्रु बनि जाइत अछि,
 : ओ भेदपर विवाद करैत अछि
 शुद्ध आ अशुद्धक बीच,
 माटिक तपस्या-कुटी बनबैत अछि,
 अपनहि कुलक लोकसँ अलग भऽ जाइत अछि,
 आ एहि प्रकार साक्षात् विश्वामित्र बनि जाइत अछि।
 अहिंसाक दम्भ निरन्तर दहकैत,
 सभकै भस्म करएबला पाताल-अग्नि अछि,
 जे सभ प्रकारक प्राणी : धन-सम्पत्तिक नाश कऽ देने अछि,
 आ जमा धनरूपी जलक पियासल रहैत अछि।
 स्नातक टकला पुरुष भऽ सकैत अछि,
 मोट पुरुष,
 सुखायल देहबला पुरुष,
 अथवा ऋषि सन देखाएबला पुरुष,
 माथपर कपड़ा लपेटने पुरुष,
 अथवा पीड़ित पुरुष,
 कारण ओकर ऊँच शिखा
 श्मशानक टीला सन बाहर निकलल रहैत अछि।

उच्च ध्यानक दम्भ
 मुँह फाड़ने साँप अछि,
 जे सभ देशमे फैलैत अछि।
 ओ भोथर-नाक : मुँडायल साधु भऽ सकैत अछि,
 अपनहि चारूकात लपेटायल : जटाधारी साधु,
 चिह्नीन : नाडट साधु,
 फनबला : छत्रधारी,
 कठोर : दण्डधारी,
 लाल पट्टीबला : लाल वस्त्रधारी,
 अथवा राख सन उज्जर देहबला : उज्जर भस्मसँ ढँकल।
 लोभ दम्भक प्राचीन पिता अछि,
 माया ओकर माय,
 मिथ्या ओकर सहोदर भाइ,
 विकृति ओकर पत्नी,
 आ 'हुँ!' करैत उपहास ओकर पुत्र।
 बहुत पहिने स्वयंभू ब्रह्मा लोकसभ आ
 जीव-जातिक सृष्टि केलनि। तकर बाद ओ
 सभ क्रियासँ विरत भऽ बहुत काल धरि
 ध्यानमे रहलाह। दिव्य दृष्टिसँ ओ देखलनि जे आत्मनिर्भर
 मनुष्यलोकक लोक
 धनादिक सुख अपना नहि सकल छल, कारण हुनकर विशेष
 लगाव स्पष्ट आ सोझ व्यवहारसँ छल। आँखि मूनि ओ तत्काल

सृष्टि-मायाक शक्तिसँ युक्त गम्भीर ध्यानमे
डूबि गेलाह। मनुष्यक समृद्धि सुनिश्चित करए लेल ओ दम्भकेँ
प्रतिष्ठाक पात्र रूपेँ उत्पन्न केलनि।

शुद्ध करएबला कुशक गट्टर लेने,
शास्त्रक बोझ, खाली कमण्डल,
अपन हृदय सन टेढ़ हरिणक सींग,
करिया हरिणक छाल आ कुदाल;
ओ पवित्र घासक मोट-मोट गट्टर
कानक पाछाँ खोंसने छल,
हाथमे यजमानक अनुष्ठानिक अँगूठी पहिरने,
आ पूर्णतः साफ मुँझायल माथपर शिखाक जड़ि
उज्जर फूलसँ घेरल छल;
ओकर गरदनि तख्ता सन कठोर छल,
ओठ बुदबुदायल मन्त्रसँ चञ्चल,
आँखि योग-समाधिसँ निस्तेज,
हाथमे रुद्राक्षक माला लपेटल,
आ शुद्धिकरणक माटिक पैघ पात्र लेने;
मौन रहितहुँ, हृदयमे नुकायल सभ लालसा प्रकट करैत
क्रोधपूर्ण तिरछी दृष्टिसँ, मुँह बिगाड़ि,
घुरघुराइत आ भौं सिकोड़ि,
आ सभ प्रकारक चिड़िचिड़ाहटसँ;
दोसरकेँ छुबासँ सावधान;
शुद्धिकरणक आवश्यकता मानैत
ब्रह्मलोकक स्वर्गमे,
दम्भ आसनक अपेक्षामे सृष्टिकर्ताक सोझाँ ठाढ़ छल।
ओकरा देखि सृष्टिकर्ता,
जे सहजहि समस्त सृष्टि-क्रम उत्पन्न कऽ देने छलाह,
काँपि उठलाह,
अत्यन्त अविश्वासक रोमाञ्चसँ।

सप्ततर्हषियो,
दम्भक विशाल आडम्बरक प्रबल प्रभावमे,
हाथ जोड़ि झुकल ठाढ़ रहलाह।
जखन अगस्त्य दम्भक अत्यन्त कठोर त्याग देखि
आश्चर्यसँ निगलल जकाँ बुझाइत छलाह,
वसिष्ठ अपन अल्प तपस्या-भण्डारपर लजाइ
पीठ झुका लेलनि;
कौत्स सिकुड़ि गेलाह मानू दोष लगाओल गेल हो
हुनक अत्यन्त सरल मौन-व्रतपर,
नारदकेँ अपन प्रदर्शनहीन तपस्या
तुच्छ बुझाए लगल;
जमदग्नि अपन मुख नुकौलनि

अपनहि ठेहुनक शिखरमे,
 विश्वामित्र भयमे काँपलाह,
 गालवक गरदनि डोलए लगल,
 आ भृगु दबि गेलाह;
 चारिमुँह सृष्टिकर्ता देव बुझलनि
 जे दम्भ एतेक कालसँ ठाढ़ छल,
 आ क्रोधसँ अपन दृष्टि गड़ा देने छल
 ब्रह्माक कमलासनपर।
 ओ शूलपर चढ़ाओल जकाँ निश्चल ठाढ़ छल,
 अत्यधिक घमण्डसँ अङ्गसभ जड़ पड़ल।

ओ बैसए चाहैत अछि—ई बुझि,
 ब्रह्मा मुस्कराइत ओकरासँ कहलनि,
 मानू अपन वाहन उज्जर वनहंसकेँ बना रहल होथि
 अपन दाँतक चमकसँ:
 “हे पुत्र, हमर गोदमे बैसू।
 अहाँ योग्य छी, कारण अहाँक अद्भुत
 आ दृढ़ आत्मसंयम
 अनेक गुणसँ जन्मल गम्भीरताक अनुरूप अछि।”
 सर्वसृष्टिकर्तासँ ई सुनि,
 दम्भ बिना हिचक, घृणाभावसँ,
 हुनक गोदपर एक अञ्जुरी पानि छिड़कलक
 आ असुविधाक प्रदर्शन करैत बैसि गेल।
 दम्भ कहलनि:
 “अहाँ एतेक जोर सँ नहि बाजू!
 जँ बाजए अनिवार्य हो,
 तँ अपन कमल-हाथसँ मुँह ढाँपि लिअ,
 जाहिसँ हमरा नहि छुए
 अहाँक मुँहसँ निकलैत
 साँसक कणसभ।”
 तखन ओकर अनुपम शुद्धता देखि,
 सृष्टिकर्ता प्रजापति,
 आनन्दमय मुस्कानक कान्तिसँ दमकैत,
 आँगुर चटकलनि आ कहलनि:
 “अहाँ निश्चय दम्भ : ढोंगी छी!

उठू आ पृथ्वीपर उतरू,
 जे समुद्ररूपी मणिमय करधनीसँ घेरल अछि,
 आ सुख भोगू,
 एहन रूपेँ जे बुद्धिमानो अहाँक असली स्वभाव नहि चिन्हथि।”
 विधिपूर्वक आ सम्मानसँ विदा पाबि,
 ओ पृथ्वीपर उतरल,
 समुद्रमे डूबए लेल अभिशप्त मनुष्यसभक

गरदनिमे पाथर बाँधैत।
 मनुष्यलोकमे पहुँचि,
 दम्भ वन आ नगरसभमे घूमए लगल।
 ओ बङ्गालमे अपन विजय-पताका गाड़लक
 आ सभ दिशामे बढ़ि चलल।
 दम्भ बल्खक लोकक वाणीमे रहैत अछि,
 आग्नेय प्रदेशक लोकक तपस्या-व्रत पालनमे,
 कश्मीरक अधिकारीसभमे,
 आ सम्पूर्ण बङ्गालमे।
 जे सभ कोनो स्रोतसँ भेटल भस्मसँ
 अपन माथपर तिलक बनबैत अछि,
 दानयुक्त श्राद्ध-कर्ममे
 जादुई चूर्ण जकाँ,
 ओ सभ दम्भक सहायक अछि।
 दम्भ शीघ्रहि अलग-अलग वर्गमे बाँटलक : उजाड़लक
 पृथ्वीक सतहपर रहनिहार प्राणीसभकेँ
 हजारो प्रकारक श्रेणीमे : हजार कर लगा कऽ,
 आ स्वयं देह धारण केलक
 अधिकारीसभक मुखमे।

सभसँ पहिने स्वयं दम्भ प्रवेश केलक
 धर्मगुरुसभक हृदयमे,
 तकर बाद प्रान्तीय शासकसभक टेढ़ हृदयमे,
 तपस्वीसभक हृदयमे,
 आयुक्तसभक हृदयमे,
 आ दीक्षितसभक हृदयमे।
 तकर बाद ओ ज्योतिषीसभक हृदयमे गेल,
 वैद्य, सेवक, व्यापारी,
 सोनार, अभिनेता, भाड़ाक सैनिक,
 गायक, कथावाचक आ बाजीगरसभक हृदयमे।
 अनेक रूप धारण कऽ अपनाकेँ बाँटैत,
 दम्भ सभ चलनिहार जीवक हृदयमे प्रवेश केलक,
 फेर ओ पक्षी आ गाछोमे घुसि गेल।
 बक-साधु तीर्थसभमे अकड़ि कऽ चलैत अछि,
 माछक भूखल,
 एक पएरपर निश्चल ठाढ़;
 ओकर माध्यमसँ दम्भ पक्षीसभ धरि पहुँचल।
 गाछसभक अनेक जटिल जड़ि हो,
 ओ सभ छाल पहिरने रहए,
 फल धारण करबाक आशामे
 सदैव शीत, ताप आ वर्षासँ पीटल जाए—
 ई सेहो दम्भक प्रभाव अछि।
 तँ सदैव दम्भसँ सावधान रहबाक चाही,

जे सभमे पैसल अछि आ सभक नाश करैत अछि।
जखन ओकर विविध रूप चिन्हल जाइत अछि,
तखन जादूगरक मन्त्र टूटि जाइत अछि।

दम्भक ई विविधता ठकक संसारक सोझाँ
एकटा कल्पवृक्ष अछि।
बहुत पहिने हरि तीनू लोककें जीतने छलाह
वामन-अवतारक दम्भसँ।
प्रथम सर्ग,
'दम्भक वर्णन' नामक,
“छल-कौशलक विलास”मे,
जकर रचना केलनि
महाकवि क्षेमेन्द्र।

लोभसँ सावधान रहू—

लोभीक भय सर्वत्र स्पष्ट अछि।

लोभमे अन्हर मनुष्य

उचित-अनुचितक चिन्ता नहि करैत अछि।

लोभ,

सञ्चयक दुष्ट उन्माद : किलाबन्द कोषमे

नुकायल दानव,

सभ किछु करए मे सक्षम अछि,

आ मूल कारण अछि

ठगी आ छलक : छद्म कोषागारक,

सभ प्रकारक टालमटोल : अवरोधक,

मिलावट : अन्हर मोड़क,

आ झूठ सम्झौता : जादुई सीमाक।

शास्त्रज्ञानी, पुरुषार्थी,

सद्गुणी, शान्त आ तपस्वी लोकसँ पराजित भऽ,

लोभ अपन बिलमे घुसि गेल:

व्यापारीसभक टेढ़ हृदयमे।

व्यापारी वस्तुतः दिनदहाड़ि लुटनिहार अछि,

ओ लोककें लूटबामे आनन्द पबैत अछि

जमा धन रोकि राखब,

कम वजनक बाट प्रयोग करब,

आ किनबेचमे हाथक सफाई

जकाँ चालिसँ।

दिन भरि

व्यापारी सभ प्रकारक ठगी आ युक्तिसँ

ग्राहकक धन हलुक करैत अछि।

मुदा अपन घर चलाबए लेल तीन कौड़ी देबामे

ओ व्याकुल होइत अछि।

कथाक प्रेमी,

ओ सदैव दौड़ि कऽ पहुँचैत अछि सुनए

धार्मिक ग्रन्थक पाठ।

मुदा दान देबाक कर्तव्यसँ एना भागैत अछि,

मानू करिया नाग काटि लेने हो।

द्वादशी तिथिमे,

पितृक पवित्र दिनमे,

सूर्यक सङ्क्रमणकालमे,

सूर्य वा चन्द्र ग्रहणमे,

ओ दीर्घ स्नान करैत अछि, मुदा एक कौड़ियो दान नहि करैत।

ठीक चोर जकाँ

ओ दिशासभ ताकैत अछि : पहरा दैत,
 भिखारीसँ घबड़ाइत : प्रश्न करनिहारसँ चौकैत,
 परदाक पाछाँ नुकाइत : भेष बदलैत,
 घुमावदार बाट लैत : सन्देहास्पद व्यवहार करैत,
 आ चौड़ा सड़कपर दौड़ैत : गुप्त
 बाटसँ भागैत अछि।
 कृपण व्यापारी चुप रहैत अछि, उत्तर नहि दैत
 बेचबाक समय मोलभाव करनिहारकें। केवल जखन ओ देखैत अछि
 हाथमे जमा करबाक धन लेने कोनो मनुष्यकें, तखन
 बातचीत आरम्भ करैत अछि।
 जमा धन हाथमे लेने कोनो सम्मानित व्यक्ति देखि तुरन्त उठि
 प्रणाम करैत, कुशलक्षेम पूछैत,
 आसन दैत आ धार्मिक कथा सुनाबए लगैत अछि।
 कोनो व्यक्ति ओकर लग आबि कहैत अछि: “हे भाइ! हम विदेश जएब
 अहाँ लग अपन धन जमा कऽ। मुदा
 आइ भोर ज्योतिषानुसार अशुभ
 विष्टि-करण अछि। की आइए ई काज करी?”

ई सुनि ओ आँखि पसारि चिन्तित होएबाक
 अभिनय करैत अछि। ओकर दृष्टि कारोबारदिस भागैत, बेर-बेर
 तिरछी नजरि दैत, आ कहैत अछि:
 “हे सज्जन, ई प्रतिष्ठान अहाँक सेवामे अछि, मुदा
 अहाँक जमा धन बहुत काल धरि राखब झंझट होएत; समय
 आ स्थान प्रतिकूल अछि। हाय! हम तँ अहाँक सेवक छी। भद्राक
 ई आधा दिन अशुभ नहि; कहल गेल अछि जे ई
 जमा धनक सुरक्षा सुनिश्चित करैत अछि। मुदा अहाँ जनैत छी, एहि बातक
 व्यवसाय-ज्ञानीसभ सैकड़ो बेर पुष्टि केने छथि।
 किछु काल पहिने हमर एक मित्र विष्टिक दिन धन जमा केने छल।
 ओ शीघ्र घुरि क्रमशः
 सुरक्षित रूपेँ सभटा निकालि लेलक।”
 एहि प्रकार भोला मनुष्यसँ गोपनीय स्वरमे निरर्थक बात कऽ,
 ओ ओकर सभ इच्छाक साधन सोनाक भण्डार लऽ
 नाचए लगैत अछि।
 ओहि घिसल सोनाक किनबेचसँ अगणित लाभ
 आ अदला-बदलीक वस्तुक ढेर पाबि, ओ
 धनदेव कुबेरपर उपहाससँ हँसैत अछि।
 कृपण व्यापारीक धन-धैलसभ,
 जमा सम्पत्तिसँ भरल,
 व्यर्थ नष्ट होइत : धँसैत जाइत अछि,
 कोनो उत्तम काजमे उपयोग बिना,
 दुःख उत्पन्न करैत,
 ठीक ओहि तरह जेना
 युवा विधवाक स्तन।

व्यापारी घृणित मोट मुसरीसभ अछि,
 जे संसाररूपी जीर्ण महलमे उपद्रव मचौने अछि।
 सदैव अवसर ताकैत,
 ओ सभ सोनाकै नुका राखैत अछि
 भोग आ दान—दुनूक पहुँचसँ बाहर।
 ‘नगरक स्वामी’ उपाधि धारण कएनिहार,
 निधिक रक्षा करएबला साँप जकाँ,
 ओ झुकल देहसँ चलैत : टेढ़-मेढ़ रंगैत,
 चोगामे लपेटल : शल्कमय चमड़ासँ ढँकल,
 स्पष्ट देखाइत फनसँ फूलल,
 जे चटकीला कपड़ा ऊँच शिखा जकाँ लपेटि बनल अछि।
 भाग्यसँ अभिशप्त ओ मनुष्य, जे धन जमा केने छल,
 पृथ्वीक छोर धरि भटकल गेल। धन आ अपन लोक गँवा कऽ
 बहुत नमहर अनुपस्थितिक बाद
 अपन देश घुरि सकल।
 आशङ्कासँ भरल ओ ककरोसँ पूछलक: “ओ बुद्धिमान
 व्यापारी कतए गेल?” केओ ओकर लग आबि
 कहलक: “मित्र, आइकाल्हि ओकर दशा एकदम
 बदलि गेल अछि! हाथमे खड़िया लेने ओ निरन्तर
 नव-नव कपड़ा, कस्तूरी-सुगन्ध, चन्दन, कपूर, मरिच
 आ सुपारीक व्यापारसँ प्रति घण्टा करोड़क हिसाब करैत अछि।
 ओ नगरमे ठाटसँ रहैत अछि, ओहि
 अद्भुत महलमे, जे मेरु पर्वत सन ऊँच अछि आ जकर उज्जर देवाल
 भित्तिचित्रसँ सजल अछि। नगरक शासको
 ओकर सम्मान करैत अछि।”
 ई सुनि ओ व्यापारीक घर गेल,
 पूर्ण आश्चर्यसँ माथ घूमैत। स्तब्ध, ओ
 बहुत काल धरि द्वारपर की करी से नहि बुझि, पहिरने
 फाटल-पुरान चिथड़ा, ठाढ़ रहल।

व्यापारी अपन ऊँच महलक शिखरक जालीदार
 खिड़कीसँ ओकरा चिन्हि लेलक; ओकर मन सुन्न भऽ गेल,
 साँस रुकि गेल, मानू माथपर वज्र
 पड़ि गेल हो।
 भीड़हीन अवसर भेटलापर ओ मनुष्य संकोचसँ
 ओकर लग पहुँचल। स्मृति ताजा करौलक
 आ अपन धन माँगलक।
 व्यापारी आँखि फेरलक, भौं सिकोड़लक, आँगुर हिलौलक
 आ ओकरासँ कहलक:
 “जीविकाहीन ई दुष्ट अभागल कतयसँ
 झूठ बाजैत आबि गेल?
 अहाँ के छी?

केकर पुत्र?
हमरा अहाँकें कखनहुँ देखनेक स्मरण नहि:
हम अहाँसँ बात कोना कऽ सकैत छलहुँ?
हुँ? कहिया? कतए? कोना?
खुलि कऽ बाजू!
के केकरा की देलक?

हाय! देखू, एहि शापित कलियुगमे की दशा आबि गेल।
ई पागल धन माँगैत अछि, नहि तँ लोक सभ सुनत
ई बात। हमर हरगुप्त कुलमे जमा धन स्वीकारबो
अश्रुत अछि; कलङ्कसँ उत्पन्न विश्वासघाती, प्राणदण्ड-योग्य
आरोपक सङ्केतक बात तँ छोड़ि।
मुदा दोसर दिस, महान लोक एहन आरोपसँ अपमान करनिहार
मनुष्यकें सहजहि कोना उपेक्षित करथि? कहू, कोन दिन
छल! ओहि दिनक सभ किछु लिखल अछि। स्वयं देखू!
हम बूढ़ भऽ गेल छी। प्रबन्धक भार
पुत्रकें सौँपि देने छी। हम जे लिखने छी, ओ निश्चय जनैत अछि।” एतेक कहि

व्यापारी ओकरा बाहरक बाट देखा देलक। दृढ़ता डगमगाइत,
ओ पुत्रक लग गेल।
“पिता जनैत छथि!”
“हम जे लिखने छी, हमर पुत्र सभ जनैत अछि!”
एहि प्रकार ओ अनन्त काल धरि गेद सन एतय-ओतय दौड़ैत रहल।
जखन ओ राजदरबारक द्वारपर पहुँचि
गम्भीर आमरण अनशन आरम्भ केलक, व्यापारी राजाक
क्रोध सहलक, तैयो धनक एक अंशो नहि देलक।
राजा ओकरा सभ प्रकारक
यातना-यन्त्रसँ पीड़ा देलनि, तैयो ओ एतबे कहैत रहल: “हमरा
किछु सौँपल नहि गेल छल!”
अत्यन्त लोभी लोक
धनरूपी नोनगर जलक पियासल
पाताल-अग्नि सन होइत अछि।
ओ अपन देहकें
पुआलक टुकड़ा जकाँ छोड़ि देत,
मुदा कनेको धन नहि।
बहुत पहिने, धनक आवश्यकता पड़लापर शुक्राचार्य
अपन बाल्यकालक मित्र धनदेव वैश्रवणक लग पहुँचलाह, जे कोषक
समस्त समृद्धिक स्वामी छथि, आ कहलनि:
“मित्र! देवता आ दानवक महिमाकें पार करैत अहाँक विपुल यश
अहाँक मित्रसभकें पूर्ण आनन्द आ शत्रुसभकें दुःख
दैत अछि।

मित्र, अहाँ धनक देवता छी, मुदा हम निर्धन,

विशाल परिवारक भारसँ दबायल छी। सुख-दुःख दुनूमे स्थिर
 आ आर्थिक रूपेँ स्वतन्त्र भऽ गेल मित्र
 प्रशंसित होइत अछि।
 अपन यशक प्रति सजग महान लोकक धनक
 उपयोग मित्रसभ करथि—ई पूर्णतः उचित अछि,
 जकर उदारतापर जरूरतमन्द निर्भर रहैत, जे जन्मल
 प्रतिष्ठित कुलमे होथि।
 प्रचुर निधि आ सच्चा मित्र—दुनू भेटैत अछि
 असाधारण पुण्यक भण्डार जुटौलासँ। समृद्धिमे
 ओकरा सावधानीसँ सुरक्षित राखल जाइत अछि, आ विपत्तिमे
 ओ रक्षा करैत अछि।”
 एहि प्रकार दैत्यगुरु पूर्ण निष्कपटतासँ
 एकान्तमे अपन बात कहलनि। धनदेव
 स्नेह आ लोभक बीच फँसि बहुत काल विचार कएलनि, आ
 अन्ततः कहलनि:
 “हम अहाँकेँ अपन बाल्यकालक मित्र रूपेँ असीम
 स्नेहसँ स्मरण करैत छी। मुदा जीवनक सार धनक
 अत्यल्प राशियो छोड़बाक सामर्थ्य हमरा नहि।

सम्बन्धी ओ अछि जे स्नेह माँगैत अछि,
 सभ प्रकारक उपकारसँ मित्र बनाओल जा सकैत अछि,
 पत्नी आ पुत्र सहजहि भेटि जाइत अछि—
 केवल धन अछि
 जे एहि संसारमे कठिनाई सँ भेटैत अछि।
 धन दऽ देब अत्यन्त उतावलीक काज अछि,
 जे कठिनाईसभसँ घेरल अछि,
 आ अत्यन्त चकित करएबला साहस।
 जे अपन देह छोड़ए लेल तैयार हो
 ओहो कनेक धन नहि छोड़ि सकैत।”

धनदेवसँ अस्वीकृत भऽ शुक्र क्षीण मुखसँ चलि गेलाह,
 आशा टूटल। हुनक मन घूमि रहल छल आ
 लज्जासँ देह झुकल छल।
 घर घुरि ओ मन्त्रीसभक संग बहुत काल धरि योजना बनबैत रहल।
 तकर बाद महान योगी जादूसँ धनदेवक हृदयमे प्रवेश केलनि
 तकर बाद महान योगी जादूसँ धनदेवक हृदयमे प्रवेश केलनि
 जाहिसँ ओकर समस्त धन छीनि सकथि। शुक्रसँ आविष्ट देहबला वैश्रवण
 अद्भुत रूपेँ उदार भऽ गेल आ अपन समस्त धन
 शुक्रक संग मिलल ब्राह्मणसभकेँ दऽ देलक।
 कुबेरकेँ समस्त धनसँ खाली कएलाक बाद,
 दैत्यगुरु बाहर निकलि गेलाह। तखन धनदेव
 षड्यन्त्र बुझलनि आ बहुत काल धरि शोक केलनि।
 माथ हाथमे धऽ ओ शङ्ख, मुकुन्द,

कुन्द, पद्म आदिक संग शुक्रक जादूपर विचार कएलनि।
 गरम निःश्वास छोड़ैत विलाप केलनि:
 “मित्रक भेष धारण कएल एक अत्यन्त लोभी जादूगर
 हमरा ठकि लेलक। दुष्ट शुक्र हमर कमजोरी जनैत अछि,
 आ ओकर कमजोरी जनैत अछि; दैत्यसभक समर्थनक कारण
 ओ अजेय अछि।
 आब धनहीन भऽ हम अचानक
 पुआलक टुकड़ा सन तुच्छ भऽ गेलहुँ। अपन दुःख ककरा
 कही? की करी? कतए जाउ?

धनसँ विहीन मनुष्यकेँ सेवकसभ छोड़ि दैत अछि।
 सेवकहीन मनुष्य अपमानित होइत अछि।
 अपमानित मनुष्यक देह भारी बोझ बनि जाइत अछि,
 हानिकारक अभिशाप।

हाय! जखन धन अथवा जीवन,
 जे देहधारीसभक प्रिय अछि,
 धर्मरूपी लतिक सिंचाइ-कुण्ड अछि,
 नष्ट होइत अछि, तखन सभ किछु नष्ट भऽ जाइत अछि।
 धनवान मनुष्य सभ किछु बनि जाइत अछि:
 बुद्धिमान, सुन्दर, सम्मानित, प्रसिद्ध, कुलीन, वीर;
 मुदा धन बिना,
 सद्गुणी मनुष्यो बदनाम भऽ जाइत अछि।”
 धनदेवक आशा सुखा देने छल ओहि अग्निसँ
 जे धन-हानिक असह्य दुःख छल; ओ मन्त्रीसभक संग बहुत काल विचार कएलनि,
 तकर बाद शरण लेलनि
 भगवान शिवक। बहुत पहिने शिव हुनक मित्र बनल छलाह,
 जे सभक लेल सुलभ शरण छथि। घटना जानि शिव
 शुक्रक लग अपन दूत पठौलनि।
 दूतसँ बजाओल शुक्र तुरन्त उपस्थित भेलाह,
 धनक शोभासँ चमकैत, श्रद्धासँ जोड़ल हाथक
 मुकुट धारण कएने। पुर-विनाशक शिव
 सोझाँ ठाढ़ हुनकासँ कहलनि:
 “अहो! अपन कर्तव्य पूर्णतः जनितहुँ,
 अहाँ अपन एहि मित्र धनदेवकेँ ठकि लेलहुँ।
 स्वार्थी कृतघ्नो मित्रकेँ हानि पहुँचाबए धरि नहि जाइत।
 हे सज्जन! स्नेही, निर्दोष, विश्वासी मित्रकेँ
 अहाँ सन के कखनहुँ धोखा देने अछि—अपन यशक चिन्ता बिना,
 अपन पदसँ भटकै?

की ई अहाँक विद्वत्ताक अनुकूल अछि? अहाँक व्रतक
 संग मेल खाइत अछि? अहाँक कुलक अनुरूप अछि, हे बुद्धिमान,
 जे अहाँ सद्गुणक उपेक्षासँ जन्मल काज

कएलहुँ?

की विवेकपूर्ण आचरणक पालन,

शान्तिक अभ्यास, गुरुक शिक्षा,

अथवा जन्मजात उदारता अहाँकें

ठग बनौलक?

धन केकर प्रिय नहि? धनसँ के मोहित नहि?

मुदा उत्तम यशरूपी धनक लालसा करनिहार

अनुचित उपायसँ सम्पत्ति पाबए नहि चाहैत। नहि! नहि!

भृगुक सम्पूर्ण निष्कलङ्क वंशकें

लोभक दागसँ मलिन नहि करू! लोभरूपी मेघ

निर्मल कीर्तिरूपी हंसक शत्रु अछि।

दुष्टसभमे ओ कतेक दुष्ट अछि

जे अमर यश फेकि धनकें चुनैत अछि,

जे पवनसँ उड़ैत

पानिक बूँद सन अछि?

जे सदाचारसँ भटक जाइत अछि

आ धूर्त चातुरीसँ दोसराकें ठकैत अछि,

ओ मूर्ख केवल अपनाकें ठकैत अछि,

पूर्वमे कएल पुण्यकें मेटबैत।

जे पतित भऽ गेल छथि

आ जकर यश मलिन भऽ गेल,

सौभाग्य,

जे स्वभावतः कोमल अछि

नव अँकुरायल लतिक जकाँ,

ओ कुम्हिला जाइत अछि धुँआसँ

जे बदनामीक विषवृक्षसँ निकलैत अछि।

वास्तवमे सज्जनक निर्मल यश

साक्षात् निष्कलङ्क स्फटिक-दर्पण अछि,

जे मलिन नहि होइत

अपमानसँ व्यथित लोकक निःश्वाससँ।

मूर्खतासँ कएल एहि अनुचित, घृणित काजक प्रायश्चित्त करू,

केवल घुरा कऽ ओ धन, जे

दोसराक अछि।

निन्दाक धूरसँ मैल अपन निर्मल यशकें

अपनहि हाथसँ पोछि साफ करू! हमर बात मानू! छोड़ू

दोसराक धन!”

तीनू लोकक गुरु देवाधिदेव शिव

एहि प्रकार शान्त स्वरमे बुझबितो,

दोसराक धनक लालसामे अटल शुक्र

हाथ जोड़ि कहलनि:

“हे भगवन्! श्रेष्ठ देवतासभक असङ्ख्य मुकुटपर प्रतिष्ठित

अहाँक आज्ञाक उल्लङ्घन करबाक मूर्ख साहस के करित,

जँ निर्धनता ओकर सद्बुद्धि नहि छीनि लेने
रहित?

जकर घरमे सेवक, पत्नी आ पुत्र
निराशमे तड़पैत अछि, ओ अभागल धन जुटाबए मे
उचित-अनुचितक कोन विचार करत?

हम सदिखन धनदेवकेँ अपन मित्र मानने छलहुँ,
आ विपत्तिमे शरण। हमर हृदयमे
पैघ आशा दृढ़ भऽ गेल छल।
अभिमान निगलि हम हुनक लग गेलहुँ आ माँगलहुँ,
तैयो ओ निर्लज्जतासँ अस्वीकृतिक धारसँ हमर आशा
काटि देलक।
ओ दुष्ट अज्ञानतासँ हमर आशा चकनाचूर केलक,
बिना अस्त्र घायल केलक, बिना आगि जरौलक, बिना विष
मृत्यु देलक।
तैं ओ हमर शत्रु अछि। शत्रुकेँ ठकब पुण्यक समान
अछि, पाप नहि। निर्धन मनुष्यक धन,
भलैँ छलसँ पाओल हो, निन्दासँ परे अछि।
हमरा धनक एक कणो छोड़बाक आवश्यकता नहि, कारण
अहाँ स्वयं उचित कहलहुँ जे यश : धन
जीवनक चिनगारी अछि। धन छोड़ब प्राण छोड़ब अछि।”
बहुत बेर विनती कएलाक बादो दैत्यगुरु एहि प्रकार
टालमटोल करैत रहलाह। हुनक हठपर क्रोधित भऽ
त्रिनेत्र शिव अचानक हुनका निगलि लेलनि।
शिवक पेटक भीतर प्रलय-अग्निसँ भरल
भयावह गुफामे देह पाकैत शुक्र चीखलाह आ शाप
देलनि।

“धन छोड़ू!” शिव बेर-बेर कहलनि।
शुक्र कहलनि: “हे भगवन्, हमरा मरए दी! हम धनदेवक
धन नहि घुराएब।”
तखन शुक्र शिवक आँतक भयावह गहिराइमे
नीचाँ खसैत गेलाह, जतए योग-समाधिसँ तीव्र भेल हजारो
उफनैत ज्बला भयङ्कर छल, आ ओ जोर-जोरसँ विलाप
कएलनि।
देवाधिदेव हुनकासँ कहलनि: “हे हठी अभागल! छोड़ू
दोसराक धन! हमर पेटरूपी समुद्रक पाताल-अग्निमे
नष्ट नहि होउ!”
शुक्र उत्तर देलनि: “एहि दावानलमे मृत्यु हमरा प्रिय अछि,
जे अत्यधिक तापसँ फटैत हमर हड्डीक मज्जा-चरबीसँ
भड़कैत अछि। साँस रहबा धरि हम
एक कौड़ियो नहि छोड़ब।”
शिवक योगाग्नि आ उग्र प्रलय-अग्नि

आरो भड़कल, तखन जीवनक अन्तिम
क्षणमे शुक्र देवीक स्तुति
रचलनि।
हुनक स्तुति-वचनसँ प्रसन्न गौरी
स्नेहपूर्वक शिवकेँ शान्त केलनि; शिवक आज्ञासँ शुक्र स्थिरता
पुनः पाओलनि आ शिवक वीर्य रूपेँ बाहर निकललाह।
एहि प्रकार स्वभावसँ लोभी लोक धन नहि छोड़ैत
भलैँ भीषण यातना सहए; जेना नीच अभागल
जन्मजात बेईमानी नहि छोड़ि सकैत।

तैं लोभसँ जन्मल ठगीक कला, एकटा भ्रम
जे टेढ़ चाल चलैत अछि, लोभीक हृदयमे निवास करैत अछि।
जे लोभी नहि, ओ ठगी नहि करैत।
दोसरा सर्ग,
'लोभक वर्णन' नामक,
“छल-कौशलक विलास”मे, जकर रचना
महाकवि क्षेमेन्द्र केलनि।

इन्द्रिय-सुख अपन आकर्षणसँ
 कोनो ने कोनो तरह आसक्तिकेँ मनभावन बना दैत अछि।
 ओ मिठाससँ जीवन नष्ट करैत अछि,
 मधुसँ खायल विष जकाँ।
 हाथी : पुरुष,
 मदसँ उन्मत्त : कामसँ उद्दीप्त,
 जकर मदजल प्रकट होइत अछि चारूकात गुँजार करैत
 सुगन्धसँ आकर्षित भँवराक झुण्डसँ,
 : सुगन्धित चूड़ीक पाँतिक झनकारसँ,
 आ जे उपयुक्त, विपुल उपहार अनैत अछि,
 शीघ्र पाछूक पएरमे बाँधल जाइत : आलिङ्गित होइत
 स्त्रीसभसँ।
 की बलवान हाथी : प्रेमी,
 खुला विचरणसँ वञ्चित : इन्द्रिय-सुखसँ अन्हर,
 स्नेहसँ ठकल : कामदेवसँ छकल,
 लात सहैत नहि अछि?
 अपन दाँत कटबाबैत : दाँतक काट सहैत,
 अंकुशसँ हाँकल जाइत : नहक खरोच सहैत,
 आ लोहाक जंजीरसँ बाँधल : कामक्रीड़ाक
 पेचमे लपेटायल ?
 स्त्रीसभ पुरुषकेँ,
 घोर दुर्गुणसँ नपुंसक बनल,
 भौं उठा देल आदेश मानए लेल पालतू बनल,
 इन्द्रिय-सुखसँ पराजित,
 पालतू मोर सन नचबैत अछि।

मोहक अन्हार रातिमे कामातुर पुरुषकेँ
 आकर्षित करबाक धुनिमे स्त्रीसभ
 चातुरीसँ भोला लोकक हृदय चोरा लैत अछि,
 ठीक राक्षसीसभ जकाँ,
 : रक्त पीबाक धुनिमे,
 जादू-टोना सँ घोर रातिमे अपन निर्दोष शिकारक
 हृदय अपना लैत अछि।
 स्त्रीक वशमे पड़ल लोकक कोनो छुटकारा नहि,
 कारण ओ सभ फन्दा अछि
 कामातुर पुरुषरूपी हरिणक लेल,
 हृदयरूपी हाथीक लेल
 जंजीर-बेड़ीक समूह,
 आ आसक्तिरूपी फलैत-फूलैत उलझन-घास।
 आत्मतत्त्व जानि लेने मनुष्यो,

जे जन्म-मरणक विचित्र मोह,
शम्बरक मायाजाल,
आ विष्णुक माया बुझैत अछि,
स्त्रीक छल बुझि नहि सकैत।
देह फूल सन कोमल,
हृदय हीरक-पट्ट सन कठोर,
विचित्र आचरणबाली स्त्रीसभ
केकर अन्तःकरणकेँ पीड़ा नहि दैत अछि?

स्त्री स्नेह देखौनिहारक शत्रु होइत अछि,
आज्ञाकारीक तिरस्कार करैत,
उदासीनपर मोहित होइत,
ठकक वचनक आदर करैत,
आ झूठ बाजए मे प्रवृत्त रहैत अछि।
केवल ओहि पुरुषक घरपर अधिकार रहैत अछि,
जकर पत्नी अनेक लोकक आवागमनक स्थान नहि,
जकर अङ्ग चितवन-भङ्गिमामे कुशल नहि,
आ जे धैर्यक विनाशक पताका नहि।
स्त्री घरक कूड़ा-कर्कटक
पूरा टोकरी
ओहि पतिक मुँहपर उलटि दैत अछि,
जे मोहसँ मूर्छित,
गुमसुम आ बुद्धिहीन रहैत अछि।
कृत्रिम रूपेँ अस्पष्ट अक्षरबला स्नेहमय मधुर स्वरमे,
घरक हुकुम चलौनिहार स्त्री,
मानू स्वभावतः भोली कन्या हो,
अपन मन्दबुद्धि पतिसँ
ललाट-आभूषण लेल चन्द्रमण्डल माँगैत अछि।
चञ्चल स्त्री स्वयंकेँ थका दैत अछि
आबि-जाइत, अपन इच्छानुसार मनोरञ्जन करए
प्रेमीसभक संग,
तीर्थ-दर्शनक बहाना बना कऽ।
ओकर बनावटी लाजसँ ठकल पति
फेर ओकर पएर मलैत अछि।

ओ एक पुरुषकेँ आँखिक चितवनसँ प्रेम करैत,
दोसराकेँ वचनसँ,
तेसराकेँ भङ्गिमासँ,
आ आनकेँ देहसँ—स्त्री स्वभावतः अनेक रूपबाली अछि।
अपन नरसँ चञ्चल हरिणी,
दोसराक गाछपर बैसल मादा भँवरा,
स्वभावसँ अन्त्यजा,
झूठ नखराक लहरि,

टेढ़ साँप—

ओ आखिर केकर अछि?

एकान्तमे स्त्री सदैव निःश्वास छोड़ि कहैत अछि:

“धन्य अछि गणिका,

जे अनेक युवकसँ स्वतन्त्र मिलनक सुख भोगैत अछि!”

ओकर चाल अनुमानसँ बाहर अछि: कखनो महलमे रहैत,

गीत गबैत आ इच्छानुसार नीचाँ सड़क दिस ताकैत,

अथवा बिना कारण दौड़ैत वा हँसैत,

मानू स्फटिक-मणिक माला पहिरने हो।

“पशु सन,

ई हमर पति नहि जनैत अछि की कहए वा की करए

किछुओ,”

घरक सेविकासभसँ ई कहि,

स्त्री पुरुषक कारोबार अपना हाथमे लऽ लैत अछि।

ओ पत्नी,

जकर पति जीबिते मृतक समान अछि,

आगन्तुकक स्वागत करैत,

सामान्य काज लेल स्वयं बाहर जाइत,

आ घरमे ऊँच स्वरमे हुकुम चलबैत अछि।

ईर्ष्यालु बूढ़क पत्नी,

सेवकक पत्नी,

अथवा आयुक्तक पत्नी,

कारीगर वा कलाकारक स्त्री,

लम्पटक पत्नी,

सार्थवाहक पत्नी;

सभा-समागममे बराबर जाएबाली स्त्री,

स्वभावसँ युवकक प्रेमी स्त्री,

आन पुरुषक गुण बेर-बेर गनएबाली स्त्री,

अपन पतिक दोष निरन्तर गिनबएबाली स्त्री;

निर्धन होइतहुँ बहुत खर्च करएबाली स्त्री,

सुन्दरी अथवा कुरूप पुरुषक पत्नी,

भोला पुरुषक पत्नी,

सभ कलामे अपन निपुणतापर अभिमान करएबाली,

नीच लोकक संगतिसँ उत्तेजित होएबाली स्त्री;

सदैव जुआ आ मदिरामे लीन स्त्री,

राग-रागिनी गाबए मे निपुण स्त्री,

गीत आ नमहर कथा कहए मे कुशल,

जकर सखीसभक अनेक प्रेम-सम्बन्ध अछि,

जे स्वभावतः साहसी पुरुषक पक्ष लैत अछि;

घरक कर्तव्य उपेक्षित करएबाली,

बहुत वस्त्रक भण्डारबाली,

घर छोड़ि बाहर जाएबाक स्वतन्त्रता पाओल,

निर्लज्ज उत्तर देनिहार,
सत्यनिष्ठाहीन,
स्वभावसँ निर्लज्ज स्त्री;
कुशलक्षेमक प्रश्न,
स्वास्थ्य आ गप्प-सरक्कामे रुचि रखएबाली,
जकर वाणी स्नेहसँ कोमल,
जे सार्वजनिक रूपेँ पतिव्रता सावित्री मुदा गुप्त रूपेँ

सभ प्रकारक प्रेम-क्रीड़ाक
जालमे लीन रहैत;
यज्ञसभमे जाए लेल उत्सुक स्त्री,
तीर्थ, मन्दिर, ज्योतिषी,
वैद्य आ सम्बन्धीक लग जाएबाली,
जे मानू स्वतन्त्र हो,
बहुत खर्चसँ पेय आ भोजनक
पूजा-उत्सव आयोजित करैत;
भिक्षु आ तपस्वीमे भक्त स्त्री,
सम्बन्धीसँ छोड़ल गेल स्त्री,
सुखद वस्तुमे आसक्त स्त्री,
मूर्ति-दर्शन आ दीक्षा पाबए चाहएबाली,
प्रेमीसँ दूर रहितहुँ
ध्यानमे ओकर संग रहएबाली;
एहन स्त्री जकर सखीसभ मनोरञ्जन करैत अछि
सामाजिक समारोहमे,
अपन वचनसँ मनोरञ्जन करएबाली,
खड़खड़ाइत जूताबाली,
अथवा गरदनिमे यज्ञक घास पहिरने स्त्री—
एहन स्त्रीकेँ उच्छृङ्खल आचरणबाली बुझबाक चाही।
स्त्रीसभ सन्ध्याक आकाश अछि,
सदैव दुर्गुणप्रिय : रातिकेँ निरन्तर लाल करएबाली,
लोककेँ भ्रमित : प्रसन्न करएबाली,
अनेक पुरुष लेने : अनेक ग्रहसँ भरल,
अस्थिर : कनेक काल मात्र टिकएबाली,
ओ सभ निष्ठुर राक्षसी अछि,
लाल गालसँ सुन्दर : रक्तक प्राण-ज्योतिसँ
चित्रित।

ओ भोला पुरुष ककर लेल,
जे स्त्रीक कनेको इच्छाक आज्ञाकारी,
अपन गरिमा गाँवा देने अछि
पुरुषत्वहीन भऽ गेलाक कारण,
आ स्त्रीक बीच दबायल रहैत—
भार ढोएनिहार पशु नहि बनत?

प्रेममे साहसक डींग,
 आ अयोग्य लोककेँ देल उपहारक अनेक बड़बोली,
 स्त्रीकेँ मोहित करबाक लेल पर्याप्त अछि
 मन्त्र वा यन्त्र बिना।
 स्त्रीक निर्दय कृत्यसँ के नहि काँपैत,
 जे रातिमे घूमएबाली अछि
 कलह-युग सन करिया रातिमे,
 आ हजारो जादू जनैत अछि?
 एक बेर धनदत्त नामक विश्वप्रसिद्ध श्रेष्ठी छल,
 जे अपन वैभवसँ धनदेवकेँ मात दैत छल।
 समुद्र जकाँ ओ रत्नक भण्डार छल।
 ओकर वसुमती नामक रूपवती पुत्री छल,
 मानू कामदेवक महिमा साकार भऽ गेल हो।
 अपन आँखिक चञ्चल गतिसँ ओ
 दिशासभकेँ जीत लेने छल।
 पुत्रहीन होएबाक कारण ओ अपन प्रिय पुत्रीकेँ पुत्रक स्थानपर
 उत्तराधिकारी बनौलक, आ ओकर विवाह व्यापारी
 समुद्रदत्तसँ केलक, जे धन आ कुलीनतामे ओकर समान छल।
 समुद्रदत्त बहुत काल धरि ससुरक महलमे रहल,
 हरिणी-नयन कन्याक संग प्रेम-सुख भोगैत।
 तखन समय आएल जखन ओ विदेशी द्वीपसँ आएल
 व्यापारिक सार्थक अगुआ बनि यात्रा पर निकलल।

पति विदेशमे रहला काल युवती
 पिताक महलक शिखरपर चढ़ि
 सखीसभक संग क्रीड़ा-छतपर खेलि मनोरञ्जन करैत छल।
 शिखरसभक बीच रहैत, विशाल-नयन युवती
 बाटपर कामदेव सन सुन्दर पुरुषकेँ देखलक।
 ओकरा देखिते ओकर आत्मसंयम
 अनुचित विचारसँ क्रोधित भऽ मानू दूर चलि गेल।
 काँपैत आँखिबाली स्त्री विवेकसँ विहीन,
 मानू ओ पुरुष बलपूर्वक ओकरा लूटि लेने हो,
 आ प्रेमसँ भेल परिवर्तन नुकेबाक लेल
 मनक दृढ़ता जुटा नहि सकल।
 कम्पनसँ हिलैत ओकर करधनीक झनकार
 तीक्ष्ण स्वरमे मानू बेर-बेर ओकरा पुकारैत छल:
 “अपन मर्यादा थामि राखू!
 अपन कुलक सीमा नीचाँ नहि घींचू!”
 गुप्त रूपेँ ओ अपन सखीसँ प्रसङ्ग कहलक आ आदेश देलक:
 “ओहि युवककेँ हमर लग आनू!” कामातुर स्त्रीक चञ्चल
 मन के बुझि सकैत अछि?
 निर्बन्ध स्त्री बढैत कामनासँ ओकर संग
 मन भरि प्रेमक्रीड़ा केलक, सम्भोगक चञ्चल भङ्गिमासँ,

हास-परिहाससँ, आ अपन इच्छानुसार चुनल
प्रेम-शय्यासभमे।
समुद्रदत्त पैघ हड़बड़ीमे आर्थिक काज निपटौलक,
आ प्रिय पत्नीकेँ देखबाक लालसासँ दौड़ि कऽ
ससुरक घर घुरि आएल।

दिन विशाल उत्सवक आनन्दमे मग्न लोकसभ
आ अनुपम मनोरञ्जनक उमङ्गमे बितल।
तकर बाद ओ प्रिय पत्नीक संग
शयनकक्षमे गेल।
ओतए निर्दोष पलङ्ग छल, छत्रसँ ढँकल,
सुन्दर ढङ्गसँ सजायल, सुगन्धित
धूपसँ भरल, देव-महल सन सुन्दर,
आ चमकैत मणिजड़ित दीपसँ प्रकाशित।
ओतए ओ अपन प्रियाकेँ पकड़लक, जकर नेत्र-कमल
भँवरासदृश पुतरीक चञ्चलतासँ काँपि रहल छल; प्रेमक्रीड़ाक
उत्सुक ओ शय्यापर गेल, जेना मदोन्मत्त हाथी
नव कमलसँ भरल सरोवरमे प्रवेश करैत अछि।
मुदा ओकर विचार ओहि दोसर पुरुषपर केन्द्रित छल,
जे ओकर हृदयमे रहैत छल। आँखि मूनि ओ बहुत काल उदासीन रहल,
गम्भीर ध्यानमे डूबल योगिनी जकाँ,
जे अपन ध्यानक लक्ष्य बनौने हो परमात्माकेँ,
जे अन्तःहृदयमे निवास करैत अछि।
पति आलिङ्गन, चुम्बन आ वस्त्र खोलैत रहल,
मुदा ओ बेर-बेर निःश्वास छोड़ैत। पतिसँ हटि
ओ केवल ओहि पुरुषकेँ स्मरण करैत रहल जे ओकर सतीत्व लूटने छल।
भोला पति समुद्रदत्त ओकरा
नखरासँ बनावटी क्रोध करैत बुझलक। ओ ओकर पएरपर खसल
आ मधुर वचनसँ मनाबए बहुत प्रयास केलक।
कारण मन्दबुद्धि नर-पशु आरो बेसी मोहित होइत अछि
आन पुरुषपर आसक्त, दूरी बनौने
आ बनावटी क्रोधमे हठी स्त्रीसँ।

प्रेम एकहि समय
दोसरापर निर्भर होएबाक लक्ष्य
आ स्वतन्त्र होएबाक लक्ष्य कोना रखि सकैत अछि?
हाय! सूर्य देवी सन्ध्यासँ प्रेम करैत छथि,
आ सन्ध्या शशाङ्क चन्द्रसँ।
बहुत काल धरि ओ अपन प्रेमीक कल्पना करैत रहल,
जे निश्चित योजनानुसार उपवनक नुकायल कुञ्जमे प्रतीक्षा करैत छल,
आ मूर्छित भावसँ पतिकेँ विष बुझलक।
अन्ततः, मनाबए के प्रयाससँ थाकल समुद्रदत्तक
आँखि जखन निम्नसँ मूनि गेल, ओ उठल,

चुपचाप वस्त्र पहिरलक आ बाहर जाए लेल ठहरल।
ठीक ओहि क्षण, मदिरासँ मातल लोकक बीच
एकटा चोर भवनमे घुसल। बिना देखल गेल
ओ ओकरा विदा होए लेल व्याकुल, आभूषणसँ इनकैत
ठाढ़ देखैत रहल।

ठीक तखन शशाङ्क चन्द्र,
जे धीरे-धीरे पूर्व दिशामे उगल छल,
तारासँ टिमटिमाइत,
अचानक मानू बिजुरीक चमकसँ झिलमिला उठल।

: चन्द्रमा,
पूर्व दिशाक देवीकेँ धीरे-धीरे आलिङ्गन करैत,
जे देवराजक प्रिया छथि,
आँखि मूनने,
अचानक काँपि उठल,
मानू आनन्दसँ भरि गेल हो।

शीतल किरणबला चन्द्रमा प्रकट भेल
मानू ओ अभिनय कऽ रहल हो
रातिक हँसीक,
जे अपन फिक्का लाल कमल-सन ओठ पाछाँ घींचने छलि,
आ चमकैत छलि
पूर्ण खिलल कुमुद-सन दाँतसँ।
आकाशकेँ देखि,
जे सूर्यक दहकैत तापसँ थाकल छल,
चन्द्र उगलापर आनन्दित,
: दिवा-देवीकेँ देखि,
जे रविक कामोन्मत्त तापसँ थाकलि छलि,
ओकर चरमावस्थामे आनन्दित,
सरोवर मानू हँसि उठल
कुमुदक गुच्छसँ,
भँवराक झुण्डक गुँजारसँ मुखर।
सुन्दरी राति,
जकर अन्हारक आवरणरूपी चोली
चन्द्रक किरणसँ खिंचि लेल गेल,
मानू लजाइ,
कुमुदक सुगन्धसँ उत्तेजित भँवराक झुण्डक
ओढ़नीसँ स्वयंकेँ ढाँपि लेलक।
तकर बाद आधा रातिमे जखन सभ सुतल छल, निर्भीक
स्त्री चुपचाप उपवनमे गेल, मानू अनैतिकताक
अन्हारमे, यद्यपि चन्द्रमा उज्जर छल।

आवेगशील स्त्री,
विषम सङ्ख्यक बाण धारण कएनिहार कामदेवसँ

दग्ध,
 परिचित उपवनमे प्रवेश केलक,
 आभूषणक लोभमे विस्मित चोर
 गुप्त रूपेँ ओकर पाछाँ चलल
 : भयङ्कर बाणसँ घायल शिकार-पशु जकाँ,
 ओ मरबाक इच्छासँ अपन उपवनमे प्रवेश केलक,
 आ पुरस्कारक लोभी प्रसन्न शिकारी
 गुप्त रूपेँ पाछाँ चलल।
 ओतए ओ अपन प्रेमीकेँ देखलक। ओ आभूषण पहिरने,
 झिलमिलाइत बहुमूल्य वस्त्रमे सजल, फूलसँ चमकैत,
 झाड़ीमे अशुभ, पक्षीसभक आवाजसँ प्रकट छल।
 हृदय-प्रियाक वियोगक दहकैत ज्वलाक
 किनारसँ ओ झुलसि गेल छल, आ दिशासभकेँ आलोकित करएबला
 चन्द्रक किरणरूपी आगिसँ
 फोका पड़ि गेल छल।
 मिलन-स्थानपर बहुत काल प्रतीक्षा कएलाक बाद,
 ओ प्रियासँ फेर भेंटक आशा छोड़ि देने छल। ओकर प्राण
 निकलि गेल छल, गाछसँ लटकल लतिक फन्दामे
 स्वयंकेँ फाँसी लगा कऽ।
 ओकरा देखि पातर-कमर स्त्री लड़खड़ा गेल, आ दुर्घटनाक
 दुःखसँ काँपैत कनैत भूमिपर खसि पड़ल,
 गुँजार करैत भँवराक झुण्डसँ ढँकल लति जकाँ।
 विस्मृतिमे आँखि मूनि ओ बहुत काल धरि भूमिकेँ
 आलिङ्गन कऽ पड़ल रहल। फेर धीरे-धीरे चेतना घुरला पर,
 कमजोर स्वरमे बिना रोक-टोक सिसकि उठल।

“हाय! हाय! हमर आँखिक आनन्द! पूर्णिमा चन्द्र सन सुन्दर
 अहाँक मुख आब कतए? हम अभागल स्त्री फेर ओकरा
 देखब? हमर आ प्रेमीक बीच कतेक अथाह दूरी!”
 दुर्बल स्त्री कोमल आ करुण स्वरमे विलाप केलक।
 फन्दा खोलबाक प्रयास कऽ ओकर मुख गोदमे रखलक आ
 चुम्बन केलक, मानू फेर ओकरामे प्राण
 सञ्चारित करैत हो।
 मूर्छित भावसँ अपन मुँह ओकर कमल-मुखपर रखि
 सुपारी ओकर मुँहमे देलक, †मानू
 अपन प्रेमक गहिराइ देखबैत हो†।
 फूलक ढेर, कस्तूरी-धूप आदिक सुगन्धसँ
 एकटा वेताल आकृष्ट भेल। ओ मृत देहमे प्रवेश केलक
 आ ओकर नाक काटि लेलक।
 अपन निर्लज्जताक अनुरूप दुराचारक फल पाबि,
 ओ कटायल नाकसहित भागि गेल। पतिक घरमे प्रवेश कऽ
 जोर-जोरसँ चीत्कार केलक: “हाय! हाय!”
 जखन सभ जागि गेल आ समुद्रदत्त

शोरसँ डरि गेल, ओ विलाप केलक: “हमर नाक नष्ट भऽ गेल,
हमर पति काटि देलक!”
क्रोधित सम्बन्धीसभ, ससुरक अगुआईमे,
समुद्रदत्तसँ प्रश्न केलक, मुदा ओ किछु नहि बाजल,
मानू विदेशमे बेचल जा रहल गुमसुम मनुष्य हो।

तैं भोरमे ओकर सम्बन्धी अपराधक सूचना
राजदरबारमे देलक। राजाक क्रोध समुद्रदत्तपर टूटल
आ ओकरा भारी अर्थदण्ड देल गेल।
सम्पूर्ण घटना देखनिहार चोर
आश्चर्यसँ भरि गेल। ओ राजाक सोझाँ सभ कहलक, आ
कङ्कण आदि पुरस्कार पाबि,
उपवनमे मृत देहक मुँहमे ओकर नाक देखौलक।
एहि प्रकार ओ समुद्रदत्तकेँ निर्दोष सिद्ध केलक, जेना
बिना स्वार्थक मित्रक कर्तव्य हो।
बुद्धिमान पुरुष,
जे एहन सुन्दर स्त्रीसभकेँ वास्तवमे
अत्यन्त टेढ़,
आचरणमे निष्ठुर, निर्लज्ज आ चञ्चल बुझैत अछि,
ओ स्त्रीसँ धोखा नहि खाइत।
तेसर सर्ग,
‘कामक चित्रण’ नामक,
“छल-कौशलक विलास”मे, जकर रचना
महाकवि क्षेमेन्द्र केलनि।

हुनकामे गणिका सभसँ बेसी विश्वासघाती होइत अछि।
 ओ बनावटी प्रेमसँ संसारकेँ मोहित करैत अछि,
 आ जकर कपटपूर्ण युक्तिक कारण
 धनदेवो उदार दाता बनि जाइत छथि।
 गणिकाक हृदयमे
 चौंसठि कला : गति अछि;
 ओ मनमोहक : विनाशक, चञ्चल : उफनैत,
 मनमौजी : लहरिसँ भरल,
 आ नीच चरित्रक संगिनी : नीचाँ बहएबाली;
 ठीक जेना धारासभ
 समुद्रमे होइत अछि।
 वस्त्र-सज्जाक कला,
 नृत्यक कला,
 गायनक कला, तिरछी चितवनक कला,
 कामातुर पुरुष चिन्हबाक कला,
 फँसाबक कला, मित्रकेँ ठकबाक कला;
 मिश्रित मदिरा बनाबक कला, प्रेमक्रीड़ाक कला,
 सम्भोगक कला, अनेक प्रकारक आलिङ्गनक कला,
 खेल-खेलमे ईर्ष्या आ झगडाक कला,
 रोएबाक कला, क्रोध शान्त करबाक कला;
 चुम्बन, खरोच आ दाँत काटबाक कला,
 निर्लज्ज, उत्तेजित आ उत्कट होएबाक कला,
 वियोग सहि नहि सकएबला कामोन्मादक कला,
 कामनाकेँ विफल करबाक सङ्कल्पक कला;
 पसेना, थाकनि आ कम्पनक कला,
 एकान्तमे बेर-बेर स्वयंकेँ ताजा करबाक कला,
 आँखि मूनबाक कला,
 अशक्त आ निश्चल देखाएबाक कला,
 मृत देखाएबाक कला;

अपन मायसँ झगड़बाक कला,
 घर जाएत समय प्रसन्न आँखिक कला,
 सभ किछु चोराबक कला,
 चोरसभमे राजा होएबाक कला,
 आ माँगि-माँगि खएनिहारसभमे वीर होएबाक कला;
 उदासीनता आ बोझिलपनक कला,
 बिना कारण निन्दा करबाक कला,
 तीक्ष्ण पीड़ाक कला,
 लेप लगाबक कला,
 निन्नायल आँखिक कला

आ मासिक धर्मक अत्यन्त क्षीण अवस्थाक कला;
 निर्दय होएबाक कला,
 उग्रताक कला,
 ताला लगाबक कला,
 घरक द्वारक साँकल चढ़ाबक कला,
 गला दबाबक कला,
 त्यागल प्रेमीकेँ फेर बजाबक कला
 आ देवता, तीर्थ तथा स्तुति-दर्शनक लेल जाएबाक कला;
 तीर्थ, विहार-उपवन
 आ मन्दिरसभमे घूमैत
 चञ्चल होएबाक कला,
 भूत-प्रेत लगबाक कला,
 वशीकरणक औषधि आ मन्त्रक कला,
 कामोत्तेजनाक कला,
 उम्र नुकाबए लेल केश रँगबाक कला;
 बौद्ध भिक्षु आ तपस्वीसभक
 अनेक गुण जनबाक कला,
 शरण-स्थल जाएबाक कला,
 आ तिरसठिम कला रूपेँ जरावस्था पाबि,
 गणिका अन्ततः कुटनी बनि जाइत अछि।

जे कनेक धनक लेल
 अज्ञात नाम आ जातिबला पुरुषकेँ स्वयं साँपि दैत अछि,
 —मेघ सन ओकर वास्तविकता
 एखनहुँ शोधक विषय अछि।
 कामनासँ हृदय जरल पुरुषसभक
 समस्त धन,
 जे ओ सभकेँ ठकि अर्जित केलक,
 कोनो भ्रष्ट चरित्रबला खा जाइत अछि,
 नाडट भिक्षुक,
 जे गुणक पूरा समूह नष्ट कऽ देने अछि,
 अथवा आरो नीच कुलक कोनो व्यक्ति।
 नीच पुरुष, घुड़सवार,
 महावत अथवा दुष्ट कारीगर
 एहि गणिकासभक प्रिय बनैत अछि,
 जे सभ लोककेँ ठकि लेने अछि।
 बहुत पहिने राजा विक्रमसिंह शक्तिशाली
 शत्रु राजासभसँ पराजित भेलाह। क्रोधसँ ओ विदर्भ गेलाह
 अपन मन्त्री गुणयशसक संग।
 ओतए ओ वेश्यालयमे प्रवेश कएलनि आ, निर्धन अवस्था होइतहुँ,
 प्रसिद्ध गणिका विलासवतीक संग रहए लगलाह,
 जकर भोग अत्यन्त धनी पुरुष करैत छल।
 राजसी देहक प्रमाण रूपेँ ठेहुन धरि पहुँचैत बाँहि

आ महान पुरुषार्थ देखि,
ओ सोनाक कोष आ सभ प्रकारक
मणि हुनक उपयोग लेल रखि देलक।
ओकर जन्मजात स्नेह आ अद्भुत मर्यादा देखि,
राजा आश्चर्यसँ विचलित भऽ, स्नेहपूर्वक
एकान्तमे मुख्य मन्त्रीसँ कहलनि:

“ई अद्भुत अछि! गणिका होइतहुँ ओ हमर लेल
धनकेँ पुआल सन बुझि किछुओ खर्च करबासँ नहि बचैत।
गणिकाक कामना धनपर निर्भर रहैत अछि, प्रेमक
बाट छोड़ि देने अछि।
वेश्या कनेक धनक लोभमे झूठ स्नेह देखबैत अछि।
मुदा ई तँ ओही धन छोड़ि दैत अछि; तखन ओकर प्रेमपर
कोन सन्देह भऽ सकैत अछि?”
राजाक ई वचन सुनि मन्त्री
हँसल आ उपहासपूर्वक कहलनि: “हे राजन्! गणिकाक
व्यवहारपर के विश्वास कऽ सकैत अछि?
गणिका बेईमान होइत अछि, धनक टुकड़ासँ चिपकल,
क्षणिक सुखपर निर्भर, आ मधुर पुकार करैत
अविवेकी पुरुषक हृदयमे पैसि जाइत अछि।
पुरुषक आकांक्षा आ गणिका समान अछि: प्रथम भेंटमे
सुख दैत अछि, बीचक कालमे
विपत्ति आ निर्वासन, अन्तमे दुःखक फल।
आइ धरि हरि आ हरक अगुआईबला देवतासभो
न जन्म-मरणक माया, ने भ्रम,
छद्म रूप आ कुतर्कसँ भरल गणिकाकेँ ठीकसँ बुझि सकल—
:जे मोह, नखरा
आ चक्करायलपनसँ भरल अछि।”
राजा मन्त्रीक बात सुनलनि आ सहमत भेलाह
गणिकाक परीक्षा लेल मृत होएबाक
ढोंगक युक्तिपर।

मन्त्री जखन हुनक मृत देह चितापर रखलक,
विलासवती तुरन्त आभूषण पहिरने
श्मशानदिस दौड़लि।
ओ प्रचण्ड ज्बलासँ भड़कैत दावानलमे
माथक बल कूदए जा रहलि छलि, तखन राजा
ओकरा बाँहिमे जकड़ि आनन्दसँ कहलनि: “हम जीवित छी!”
तखन ओकर प्रेम दृढ़ आ सत्य मानि,
पूर्णतः मोहित राजा मन्त्रीकेँ बेर-बेर डाँटलनि,
गणिकाक गुणपर दृढ़ विश्वास कऽ।
आब राजा गणिकाक जमा धन
जे हुनक उपयोग लेल देल गेल छल, ओहिसँ हाथी,

घोड़ा आ योद्धाक शक्तिशाली सेना बनौलनि।
 राजा सुसज्जित विशाल सेनाक बाढ़िसँ
 पृथ्वीक राजासभकेँ जीतलनि आ फेर पाओलनि
 अपन राज्यमे, आनन्द पसारैत चन्द्रमाक समान, जे
 विशाल आ प्रबल ज्वारक बाढ़ि उठा कऽ पर्वतसभकेँ
 पराजित कऽ दैत अछि।
 राजा विलासवतीकेँ समस्त अन्तःपुरक प्रधान बना देलनि;
 याक-पुच्छक चँवर सँ उठैत मन्द पवनमे ओकर पातर देह आ उड़ैत केश
 लक्ष्मीक समान शोभित भेल।
 तकर बाद एक दिन, जखन दुनू एकान्तमे छलाह, ओ हाथ जोड़ि
 राजाकेँ प्रणाम कऽ कहलनि—“हे स्वामी, अहाँकेँ अपन कल्पवृक्ष मानि
 दासीक समान विनीत भऽ हम सेवा केलहुँ।

हे महापुरुष, जँ कोनो प्रकारेँ हम अहाँक
 सौभाग्यमे योगदान देने होइ, तँ हमर आशा पूर्ण कऽ हमरा अनुगृहीत करू।
 महान् लोकक संगम—जे पुण्यक फलस्वरूप प्राप्त होइत छथि,
 जे दोसरक मलिनता सँ दूषित नहि होइत छथि,
 जे स्वभावतः निर्मल छथि—तीर्थ-संगमक समान अछि :
 जे महान् पुण्य प्राप्त करबाक योग्य होइत अछि,
 जे महापाप नष्ट कऽ देने अछि आ स्वभावतः स्वच्छ अछि—
 एहन संगम निष्फल नहि भऽ सकैत अछि।
 हमर एकटा युवक प्रेमी छल, जे धन
 आ प्राणो सँ बेसी प्रिय छल। दैवयोग सँ ओ विदर्भ नगरमे
 चोर बुझि कारागारमे बन्द अछि।
 हे महाराज! ओकरा मुक्त कराबय लेल हम अपन सामर्थ्य अनुसार
 अहाँक सेवा केलहुँ। आब अपन स्वभाव, कुल
 आ वीरताक अनुरूप काज करू!”
 राजा जखन बुझलनि जे हुनका ठकायल गेल अछि, तँ
 मानो अवाक् भऽ गेलाह। बहुत काल धरि धरती दिस तकैत रहलाह
 आ अपन मन्त्रीक वचन स्मरण केलनि।
 तथापि राजा ओकरा सान्त्वना देलनि। विदर्भक
 राजाकेँ पराजित कऽ कारागार सँ मुक्त कराओल चोरक संग
 ओकर पुनर्मिलन करा देलनि।
 अतः वेश्यासभकेँ यथार्थमे के बुझि सकैत अछि—जकर अनेक
 हृदय, अनेक जिह्वा, अनेक हाथ, अनेक वेश
 आ वस्तुतः कोनो सार नहि होइत अछि?

वेश्या एक पुरुष सँ ओकर प्रशंसाक कारण प्रेम करैत अछि, दोसर सँ
 धनक कारण, तेसर सँ ओकर दासवत् विनयक कारण, चारिम सँ संरक्षणक कारण,
 आ आन ककरो सँ मनोरञ्जनक कारण।
 चारिम सर्ग,
 ‘वेश्यासभक व्यवहार’ नामक,
 महाकवि क्षेमेन्द्र-विरचित

‘छल-कौशलक विलास’मे समाप्त।

मोह निश्चय मनुष्यक सभकिछु लूटि लैत अछि।
 आरम्भे ओ विवेक छीनि लैत अछि।
 भलीभाँति नुकायल ओ लेखनिक मुँह
 आ लेखनीमे आश्रय लैत अछि।
 अन्न सँ भरल कोठार
 चन्द्रमाक कलाक समान अछि:
 देखिते : निरीक्षण होइतहि
 पूर्णतः खा लेल जाइत अछि : पूर्ण ग्रहण लागि जाइत अछि
 क्षण भरिमे : एक क्षण लेल
 लेखनिक धूर्तता सँ : आकाशचारी
 राहुक वस्तु अदृश्य करबाक : ग्रहण लगाबयबला शक्तिसँ।
 योगीसभ,
 मोह आ तृष्णा सँ मुक्त भऽ,
 संसार-चक्रक मायावी दृश्यकें आर-पार देखि सकैत छथि।
 मुदा कियो,
 कतबो प्रयास किएक नहि करय,
 लेखनिक छल-कपट नहि बुझि सकैत अछि।
 सैकड़ो प्रकारक कपट-कौशलक सेनासँ युक्त,
 जनताक धन लेल सदिखन खुजल जेबी रखने,
 अमावस्याक रातिक समान अगम्य—
 समस्त मानवताकें काल नहि,
 लेखनिकेंसभ भक्षण करैत अछि।

कारण,
 ई करिखाहा सियाहीबला लोक : यमदूतसभ
 जनतामे विनाश मचबैत अछि : लोककें मारैत अछि
 अपन पैघ कलम सँ बहैत सियाही सँ : अपन
 विशाल दण्डक प्रहार सँ।
 ई गणना आ गलत हिसाबक राक्षस छथि,
 जे भोजपत्रक ध्वजा लऽ
 धरतीभरि विचरण करैत छथि।
 एहन लोकसभ पर के विश्वास करत,
 जे यमक साँढक सिडक अग्रभागक
 समान टेढ़ अछि,
 जँ अन्त आनयबला मृत्यु स्वयं
 ओकर गरदनिमे फाँसीक फन्दा नहि कसि दैत?
 राज्यक अधिष्ठात्री देवी,
 लुटायल : बलात् अपमानित,
 लेखनिक कलमक नोक सँ छिटकैत
 सियाहीरूपी वीर्य सँ,

दुःखमे कानैत सन देखाइत छथि,
काजल-मिश्रित नोर : अञ्जनक नोर बहबैत,
जे सरकण्डाक कलम सँ छिटकैत सियाहीक बूँदक वेश धारण केने अछि।
संसारमे एहन कियो अछि जे
ई लेखनिकसभक गढ़ल झूठ सँ
ठकायल नहि गेल हो,
जे विकृत अङ्क लिखैत अछि,
मायादेवीक घुँघरायल केशक समान टेढ़?

जनसामान्य

लेखकीय अधिकारीसभ द्वारा निरन्तर उजाड़ल जाइत अछि,
जे झूठ हिसाब सँ सभकें ठकैत अछि
आ दफ्तरी कागजातक धौंस देखबैत अछि,
आ अपन प्रभावाधीन गामसभ पर परजीवी बनल अछि;
जेना ज्ञानेन्द्रियसभ,
:जे शरीरमे निवास करैत अछि,
जे इन्द्रिय-विषयक क्षेत्रकें ग्रहण करैत अछि
आ मायावी प्राकट्य द्वारा सभकें भ्रमित करैत अछि
तथा लय द्वारा,
निरन्तर ज्ञान-प्रकाशकें रोकैत अछि।
टेढ़-मेढ़ लिखावटसभ,
यमक फन्दाक समान,
लेखनिक भोजपत्ररूपी पर्वत पर सर्प जकाँ
कुण्डली मारैत देखाइत अछि।
कुटिल बुद्धिबला लेखनिकसभ,
जे गुप्त रूपेँ चोरी करैत : चुपचाप प्राण हरैत अछि,
नरकक पुण्य-पापक लेखा लिखनिहार छथि।
मात्र एक पाँति मेटा कऽ
ओ 'सहित' अर्थात् 'अधिकारयुक्त'कें
'रहित' अर्थात् 'अधिकारविहीन' बना सकैत छथि।
लेखनिक कलाक संख्या अल्प अछि
जे सामान्य ज्ञानक रूपमे प्रचलित अछि।
सम्भवतः हुनकर गुप्त कलासभक ज्ञान
कलियुग अथवा अन्त आनयबला यमकें हो?

अनेकार्थक लेखनक कला,
पूरा अङ्ककें अस्पष्ट करबाक कला,
सङ्गृहीत राजस्वकें निरन्तर लूटबाक कला,
खर्च बढ़ेबाक कला;
लाभक एक अंश अलग कऽ लेबाक कला,
देय राशि हड़पबाक लेल कानूनी कागज बनयबाक कला,
घूस द्वारा चोरी करबाक कला,
पड़ोसी प्रदेश दिस भागि जयबाक कला;

बचल धन हटेबाक कला,
 चल सम्पत्तिकेँ पूर्णतः गड़पि जयबाक कला,
 कोनो लाभ रोकि रखबाक कला,
 नष्ट वा उड़ा देल वस्तुकेँ फेर प्रकट देखयबाक कला;
 किनबाक बहाने मजदूरी प्राप्त करबाक कला,
 यात्रा-व्ययमे हेरफेर कऽ हानि करबाक कला;
 लङ्गड़ापनक उपचारक बहाने एके ठाम
 पन्द्रह दिन धरि बैसल रहबाक कला,
 आ अन्ततः प्रमाण नष्ट करबाक लेल
 भोजपत्रक कागजकेँ पूर्णतः जरा देबाक कला,
 जकर बिना वादी
 अपन सोन फेर पयबाक विषयमे अन्हारमे रहैत अछि।
 ई लेखनिकक सोलह टेढ़ कला अछि,
 जे दोषक खान आ सियाहीक धब्बा सँ लिप्त अछि,
 जे धन घटबैत आ अनेक वेश धारण करैत अछि,
 जे लोकक आमदनीक एक अंश हड़पि लैत अछि।
 ई चिह्नधारी, क्षीण होइत
 आ फेर नव रूप धारण करैत,
 बढ़ैत आ आकाशमे चलैत रात्रि-निर्माता चन्द्रमाक
 सोलह वक्र कला सेहो अछि।

लेखनिकसभ असत्यमे विश्वास करैत अछि,
 ओसभ मोहक कला सिद्ध केने अछि आ एक क्षणमे
 पूर्णतः 'नहि' सँ बनल अपन मायावी मन्त्र द्वारा
 जीविका नष्ट कऽ सकैत अछि;
 जेना गुरुजन,
 जे अपरिवर्तनशील परमात्माकेँ प्राप्त कऽ लेने छथि,
 आ मोहकेँ आर-पार देखि लेने छथि, अपन सिद्ध मन्त्र द्वारा
 पुनर्जन्मक क्रम समाप्त कऽ सकैत छथि,
 जे सभ वस्तुक अस्तित्वक निषेध करैत अछि।
 बहुत पहिने जुआक अत्यन्त व्यसनी एक व्यक्ति
 अपन दाँवक धन आ घर दुनू गमा देलक। ओकर सम्बन्धीसभ,
 ओ हुनका सभकेँ लूटि लेत एहि भय सँ, ओकरा निकालि देलक; ओ समस्त पृथ्वी पर भटकय लागल।
 एक दिन, अपन सञ्चित पुण्यक प्रभाव सँ, ओ
 पवित्र उज्जयिनी नगर पहुँचल। स्नान कऽ एकान्तमे घूमैत
 स्नान कऽ एकान्तमे घूमैत ओ दुर्ग-भञ्जक शिवकेँ
 समर्पित एक मन्दिर देखलक।
 निर्जन गर्भगृहमे प्रवेश कऽ ओ
 वरदानी महाकाल देवक प्रतिमा देखलक। आन सभ
 काज छोड़ि, लेप,
 फूल आ फलक अर्पण सँ पूजा केलक।
 ओ बहुत काल धरि ओतहि रहल, रातिमे जागरण करैत,
 स्तुति, मन्द जप, मन्त्रपाठ आ दीप प्रज्वलन करैत,

आ गम्भीर ध्यानमे लीन रहैत, अपन असह्य
दुर्भाग्य सँ मुक्ति चाहैत।
एक समय एहन आयल जखन ओकर भक्ति आ
सौगुना सुन्दर आवाहन सँ प्रसन्न भऽ पूज्य शिव, भूतनाथ,
संसारक भय दूर कयनिहार, अकस्मात् ओकरा
कहलनि:

“पुत्र, स्वीकार कर...” देवता एतबे कहलनि छलाह
कि मानव-कपालक मुकुटक शिखर पर स्थित एक कपाल
दुर्ग-शत्रु शिवकें बेर-बेर
सङ्केत कऽ ठेलक।
कपालक ठकठक सङ्केत सँ वाक्यक बीचमे
वरदान देनाइ रुकि गेलनि, तखन रुद्र मौन भऽ गेलाह, कारण
जुआरीक अर्जित अल्प पुण्य आब समाप्त भऽ गेल छल।
ओ व्यक्ति स्नान करबाक लेल चल गेलापर देवता
ओहि कपाल सँ एकान्तमे कहलनि; दाँतक बीच सँ निकलैत
तेजक धारदार उजास मानो
गङ्गाक रूपमे हुनक सोझाँ प्रकट भऽ रहल छल:
“ई योग्य जुआरी, जे बहुत दिन सँ भक्त अछि, ओकर
इच्छा पूर्ण करबाक समय अहाँ हमरा
सङ्केत सँ किएक ठेललहुँ?”
भगवान् द्वारा एहि प्रकार पूछल गेलापर कपाल
मुस्करायल आ धीरे उत्तर देलक; एकहि समय तेसर आँखिक
तेज सँ मुरझाइत आ शिरोभूषण चन्द्रमाक अमृत-रस सँ
फेर जीबि उठैत:
“हे सरल स्वभावबला प्रभु, सुनू जे हम अहाँकें किएक
सचेत केलहुँ। कारण बिना कियो अपन स्वामीकें
किएक टोकत, भलैं स्वामी सहज सुलभे किएक नहि होथि?
ई दीन ठक, दरिद्रतामे अपन सभ
कर्तव्य त्यागि, स्नान,
नैवेद्य, फूल आ धूप सँ अहाँक श्रद्धापूर्वक पूजा करैत अछि।

दुर्दशाग्रस्त मनुष्य पश्चात्तापी बनैत अछि,
निर्धन व्यक्ति धर्मक प्रति गम्भीर होइत अछि,
पद आ प्रतिष्ठा गमौने व्यक्ति सभक सोझाँ माथ झुकबैत अछि।
दरिद्र भऽ ओ देवता आ ब्राह्मणक सम्मान करैत अछि,
गुरुकें प्रणाम करैत आ मित्रसभकें स्मरण करैत अछि।
कठोर होइतो,
लोहाक ढेला, तपलापर,
नम्य भऽ जाइत अछि।
विपत्तिक आगिमे जरल हृदयबला प्रत्येक व्यक्ति
धर्माचरण अपनबैत अछि,
मुदा पद-मोह सँ जड़ भऽ गेल लोकमे

कर्तव्य स्मरणक सम्भावना कतय?

हे पूज्यवर, ई जुआरी शक्ति पयबाक प्रयत्नमे,
आशाक फन्दामे झूलैत, उत्कट स्तुति करैत अछि।
फल भेटि गेलापर ओ फेर देखाइत नहि पड़त।
अपन लेल धन चाहयबला सेवक परिश्रमी होइत अछि, मुदा
सम्पत्ति प्राप्त कऽ लेलापर व्यर्थ निष्क्रिय भऽ जाइत अछि; कारण
एहि पृथ्वी पर आत्मनिर्भर व्यक्ति ककरो सेवक नहि होइत अछि।
हे देव, ई पुरस्कृत जुआरी चल गेलापर
एहि उजाड़ मन्दिरमे फल, जल,
फूल आ आन सुविधा देनिहार कियो नहि रहत।
अतः सौभाग्य सँ हाथ लागल एहि जुआरीकेँ
स्थायी सेवक बनौने राखू; हे पूज्यवर, ओकर इच्छा पूर्ण करब
अर्थात् अपन पूजा केँ निर्वासित करब अछि।”

ई धूर्ततापूर्ण वचन सुनि धनुषधारी शिव
आश्चर्य सँ खूब मुस्करायल आ पूछलनि—“अहाँ वास्तवमे के छी?
अहाँक व्यवसाय की छल?”
एहि प्रकार पूछल गेलापर कपाल अपन उत्पत्ति स्मरण कऽ तुरन्त
उत्तर देलक—“हम मगधक लेखनिक-कुलमे जन्म लेने छलहुँ, मुदा
अपन जन्मजात परम्परा सँ विमुख छलहुँ।
हम स्नान, प्रार्थना आ व्रतमे आनन्द लैत,
तीर्थस्थल दिस आकृष्ट रहैत आ समस्त
धर्मग्रन्थक तात्पर्य बुझैत छलहुँ। गङ्गामे अपन दीन शरीर
त्यागि हम अहाँक धाम पहुँचलहुँ।
:वस्तुतः हम अपन कुल परम्पराकेँ अपनौने छलहुँ। हम
स्नान, प्रार्थना आ व्रत सँ विरत, धनक तहसभक
लोभी आ कोनो धर्मग्रन्थक अर्थ सँ अनभिज्ञ छलहुँ।
अपन प्राण त्यागलापर दोसरक भाग भोगबाक
मार्ग सँ अहाँक धाम पहुँचलहुँ।”
ई सुनि आराध्य देव कहलनि—“तँ अहाँ
लेखनिक छी! ई सत्य अछि! आश्चर्य जे केवल कपाल बचलोपर
अहाँ अपन कपट-कला नहि छोड़ि सकलहुँ।”
एना कहि ओ अपन उज्ज्वल मुस्कानक प्रभा सँ
दिशारूपी लताकेँ प्रकाशित कऽ देलनि, जाहि सँ ओ
उज्जर फूल सँ भरल देखायल। तखन वरदानी देव
स्नान सँ घुरल जुआरीक इच्छा पूर्ण कऽ देलनि।
लेखनिकक आँखिक सोझाँ जुआरीक कल्याण
सुनिश्चित कऽ, चन्द्रशेखर शिव तुरन्त ओहि
कपालकेँ अपन श्रेष्ठ कपाल-मुकुट सँ निकालि देलनि।

एहि प्रकार लेखनिक केवल हड्डीमात्र रहि गेलोपर
अपन जन्मजात अपवित्र कुटिल कला नहि छोड़ि सकैत अछि,
जे,

मृत्युक दाँतक समान,
लोकक विनाश करबाक लेल झुकल रहैत अछि।
सात शरीर-धातुमे अवरोध भेलापर
कियो स्वस्थ कोना रहि सकैत अछि,
जे निरन्तर अशुद्ध पदार्थ सँ दूषित रहैत अछि
आ मल-जकाँ हानिकारक वस्तु उत्पन्न करैत अछि ?
:लेखनिकसभक हस्तक्षेपमे
कियो समृद्ध कोना रहि सकैत अछि,
जकर कला सदिखन अनैतिक उद्देश्य सँ दूषित रहैत अछि,
आ जे मलक समान अपवित्र करैत अछि ?
बुद्धिमान व्यक्ति,
लेखनिकक कपटकेँ राक्षसक लेख जकाँ
उचित सावधानी सँ जाँचि,
रत्न-समृद्ध पृथ्वीक रक्षा करैत अछि।
पाँचम सर्ग,
'लेखनिकक पराक्रम' नामक,
महाकवि क्षेमेन्द्र-विरचित
'छल-कौशलक विलास'मे समाप्त।

समस्त लोकक हृदयमे एक शत्रु बसल अछि:

मद। ओकर वशमे पड़ल व्यक्ति

न किछु देखैत अछि, न किछु सुनैत अछि,

स्तब्ध भऽ जाइत अछि।

सत्ययुगक ज्ञानी लोकमे प्रचलित ‘दम’

अर्थात् आत्मसंयमक साधना, एहि पतित युगमे

उलटि कऽ ‘मद’

अर्थात् आत्मभोग बनि गेल अछि।

मदक पहिल लक्षणसभ अछि—

मौन रहब : मौन-व्रत धारण करब,

व्यङ्ग्यपूर्ण ओंठ सिकोड़ब : प्राणायाम लेल ओंठ समेटब,

महत्वाकाङ्क्षा : भौहक बीच ऊपर दिस दृष्टि लगायब,

आन वस्तु दिस तकब : आँखिँ

परलोक पर केन्द्रित करब,

आ अङ्गमे लेप लगायब : अङ्गमे धूरि लगायब

आ ओकरा जोड़ि लेब।

वीरताक उन्माद,

अहङ्कारक चक्कर,

मोहक घुमरी

आ कुलीनताक प्रलाप—

ई सभ मनुष्यक मदरूपी वृक्ष अछि,

जे एके जड़ि—आडम्बर—सँ उगैत अछि।

आडम्बरी व्यक्ति

समृद्धिक बीच : अतिभोग करैत,

मानो विकट ज्वरक आरम्भ सँ पीड़ित देखाइत अछि।

ओ शूल पर चढ़ाओल : पेटक शूल सँ पीड़ित सन देखाइत अछि,

रुकल वायु सँ फुलायल बुझाइत अछि,

प्रेतक समान प्रतीत होइत अछि।

वीरताक उन्मादी अपन बाँहक प्रशंसा करैत अछि,

अहङ्कारी दर्पण आदि दिस तकैत अछि,

मोहग्रस्त स्त्रीसभ पर ललचायल दृष्टि दैत अछि,

मुदा आडम्बरी जन्महि सँ आन्हर होइत अछि।

‘धनक मद’

मनुष्यमे कोनो प्रकार

आत्मसाक्षात्कारक आनन्द जकाँ प्रकट होइत अछि:

सञ्चित धन पर चिन्तन करैत : ध्यानमे लीन,

आँखि बन्द रहैत अछि

मूर्छामे : विश्राममे,

गुप्त उल्लासक मधुर स्वाद सँ : अन्तःस्थित

परमानन्दक सुख सँ।
 एकटा आन अछि—नहि रुकयबला ‘मूर्खताक सनक’।
 ओ बिना उकसाओने विक्षिप्त करैत : आनन्दोन्माद उत्पन्न करैत,
 इन्द्रिय-विषय त्यागलापर : बिना कारण,
 अनेक रूपेँ पतनकारी अछि : अनेक अवस्थाबला,
 सर्वथा गुणहीन अछि : सभ गुण सँ मुक्त।
 ओ विचित्र आ आधारहीन अछि : अद्भुत आ निराधार।
 अपन जड़ करयबला स्वभावक कारण,
 ‘तपस्वीक स्तब्धता’ धरती नहि देखैत,
 अपितु सदखन आकाशचारी देवतासभ दिस तकैत अछि।
 ‘भक्तिक भ्रम’,
 जे स्वभावतः अस्थिर अछि,
 चमत्कार करैत अछि, मुदा अपन शरीरक उपेक्षा करैत अछि।

पीड़ादायक ‘विद्वत्ताक प्रलाप’
 शरीर-तत्त्वसभक साकार उथल-पुथल अछि:
 उठैत क्रोध सँ आँखि लाल भऽ जाइत अछि,
 दोसरक आवाज मात्र सहन नहि होइत अछि,
 मुदा स्वयं निरर्थक बकबक करैत अछि।
 ‘अधिकारक उन्माद’ सर्वभक्षी,
 निर्दय राक्षस अछि जे मानवजातिकेँ पीड़ित करैत अछि।
 निरन्तर सिकुड़ल भौंहक कारण ओ घृणित देखाइत अछि,
 लोककेँ कठोर गारि दैत अछि,
 आ हिंसक आक्रमण लेल तत्पर रहैत अछि।
 ‘कुलीन वंशक प्रलाप’
 पूर्वजक गौरवक नीरस कथा कहबामे व्यस्त रहैत अछि,
 मुदा दोसरक प्रति अपन कर्तव्य बिसरि जाइत अछि।
 मनुष्यसभमे अद्वितीय,
 ओ दूरदर्शी महा-मूर्खता अछि : तीक्ष्ण दृष्टिबला गिद्ध।
 ‘शुद्धताक उन्माद’
 निरन्तर डरि कऽ सिमटल रहैत : अखण्ड योग-प्रत्याहारमे रहैत अछि।
 अल्पो स्पर्श सँ पछुआ जाइत : कोनो इन्द्रिय-स्पर्श सँ
 दूर रहैत,
 मित्रहीन अछि : निराधार समाधि अछि,
 कारण ओ सभकेँ अपवित्र बुझैत : सभ इन्द्रिय-विषयकेँ
 असत्य जानैत अछि,
 आ आकाशो सँ दूषित होयबाक डर रखैत :
 शून्यताकेँ सेहो बाधा बुझैत अछि।
 ई सभ मदरूप सीमित अछि,
 अपन-अपन जड़ि काटल गेलापर समाप्त भऽ जाइत अछि।
 केवल ‘आत्ममहत्त्वक अभिमान’ अलग ठाढ़ अछि:
 खुजल जबड़ाबला अनन्त कुण्डली मारल सर्प।

मुदा मदिराजनित नशा सभसँ नीच अछि,
 पूर्णतः घृणास्पद अवस्था, निरा मूर्खता।
 क्षणमात्र रहितो,
 ओ सहसा हजारों वर्षमे
 सञ्चित पुण्य छीनि लैत अछि।
 नशा विद्वान् आ साधु ब्राह्मण,
 गाय, हाथी, कुकुर आ कुकुर-मांस पकयनिहारकें
 समान बुझैत अछि,
 आ 'अपन' आ 'दोसरक' बीचक
 भेद नहि बुझैत अछि।
 सत्य आ असत्यक भेद सँ मुक्त,
 सोन, माटि आ पाथरकें समान बुझैत,
 मातल,
 एहि प्रकार योगीक अवस्था प्राप्त कयलोपर,
 अपनाकें नरकमे धकेलि दैत अछि।
 मातल संसार-चक्रक दर्पण-प्रतिबिम्ब अछि:
 ओ कनैत, गबैत, हँसैत अछि,
 दौड़ैत आ चिचियाइत, भ्रमक शिकार भऽ जाइत,
 एक मनोदशा सँ दोसरमे झूलैत अछि।
 ओ अपन पत्नीकें
 दोसर स्त्रीक पतिकें चुम्बन करबामे लीन देखियो
 कोनो क्रोध नहि अनुभव करैत अछि।
 की मातल,
 अत्यन्त लाल : कामोत्तेजित होइतो,
 मदिरा गटक कऽ कामना सँ मुक्त भऽ गेल अछि?

मातल अपन वस्त्र 'वसन' दूर फेकि दैत अछि
 आ असह्य दुर्व्यसन 'व्यसन' धारण करैत अछि।
 अपन अँजुरी सँ ओ अपन मूत्रमे
 बढैत चन्द्रमाकें पीबैत अछि।
 बहुत पहिने महर्षि च्यवन अश्विनीकुमार दुनूक
 सेवा सँ फेर युवावस्था प्राप्त केने छलाह। कृतज्ञ भऽ ओ
 अपन यज्ञमे हुनका सोमपानक
 अधिकार दऽ सम्मानित केलनि।
 क्रुद्ध इन्द्र हुनका सोझाँ आबि डाँटलनि:
 “हे ऋषि! अहाँ किछु नहि जनैत छी? वैद्यसभ
 संग भोज करबाक योग्य नहि होइत अछि! हुनका
 सोमाहुति सँ के सम्मानित करत?”
 देवराज एहि प्रकार बेर-बेर
 मना केलनि, तैयो अपन सामर्थ्य पर निश्चिन्त दृढ़ च्यवन
 अश्विनीकुमारक प्रेमवश अपन निर्णय सँ नहि डिगलाह।
 श्रेष्ठ ऋषि इन्द्रक विशाल स्तम्भ-जकाँ बाँहकें निष्क्रिय कऽ देलनि,
 जे अपन शक्तिक कारण भयङ्कर छल आ हुनका मारबाक लेल

क्रोधमे वज्र उठा लेने छल।
तखन इन्द्रकेँ मारबाक लेल ओ एक विकराल, विशाल
असुर रचलनि, जकर देह प्रनमहरसुरक समान छल, चारिटा
दाँत छल, शरीरक विस्तार हजार योजन छल,
आ जे अभिचारक साकार रूप छल।
वज्रधारी इन्द्र ओकर प्रबल वशमे पड़ि गेलाह।
भयभीत भऽ ओ शरण लेल च्यवन दिस दौड़लाह,
आ साहस छोड़ि मानि लेलनि—“दुनू देववैद्य
सोमक अपन अंश पाबथि!”

करुणाक नदी सन ऋषि भयभीत आ विनीत
महान् इन्द्रकेँ सान्त्वना देलनि, आ भयानक
‘मद’ नामक दानवकेँ जुआ, स्त्री, मदिरा
आ आखेटमे पठा देलनि।
क्रुद्ध ऋषि द्वारा रचल ओ विदारक दानव आब
जड़ताक वेशमे प्राणीसभक हृदयमे
रहैत अछि, गुणसभ द्वारा नियन्त्रित।
धनक मदमे मातल लोकक मौनतामे,
पद-वृद्ध लोकक स्थिर दृष्टिमे,
धनिकक भौंह सिकोड़ने विकृत मुखमे,
कामुक आदिक तानल भौंहमे;
दूत आ विद्वानक जिह्वामे,
सुन्दर लोकक दाँत, केश आ वस्त्रमे,
वैद्यक सिकुड़ल ओठमे,
गुरु, छोट अधिकारी आ ज्योतिषीक गरदनमे;
पहलवानक फुलायल कान्हमे,
व्यापारीक हृदयमे,
शिल्पीक हाथमे,
विद्यार्थीक तानल गरदनि,
फाटल भोजपत्र-पाण्डुलिपि
आ मोड़ल औँरीमे,
पातर देहबाली स्त्रीक उन्नत स्तनमे;
श्राद्ध-भोजक अधिकारी लोकक पेटमे,
आ दूतक पिण्डलीमे,
हाथीक गालमे,
मोरक पूँछक पाँखिमे,
आ हंसक चालिमे।

एहि प्रकार ‘मद’ नामक प्रबल दानव,
काठक कुन्दा जकाँ चेतनाहीन भऽ,
अनेक रूप धारण कयनिहार गहन मोह बनि,
सदैव समस्त प्राणीक शरीरमे निवास करैत अछि।
छठम सर्ग, ‘मदक वर्णन’ नामक,

महाकवि क्षेमेन्द्र-विरचित

‘छल-कौशलक विलास’मे समाप्त।

मानवीय प्रयत्नक विशाल विस्तारक प्रेरणा
 समृद्धि अछि।
 एहि समृद्धिकेँ
 सर्वथा निर्लज्ज, बकराक कण्ठबला गायकसभ
 एहि संसारमे लूटि लैत अछि।
 लाल दिन-कमलक पोखरिक कलिसभ
 पूर्णतः समाप्त कऽ देलोपर
 आ उज्जर कुमुदिनीसभकेँ चट कऽ देलोपर,
 गायक-भ्रमरसभ एखनहुँ कृश रहैत,
 हाथीक सुगन्धित मदजल लेल तरसैत अछि।
 : अपन आश्रयदाताक कोष पूर्णतः रिक्त कऽ देलापर
 जे धन-सम्पत्ति सँ भरल छल,
 आ फेर ओकर क्रोधक स्वाद चाखलापर,
 निर्धन गायक-कामुकसभ
 नीचतम चाण्डालो सँ याचना करैत अछि।
 घैला आ कम्बल सँ ठसाठस भरल गाड़ीक दल
 पाछाँ-पाछाँ चलैत, बाल-बच्चाक झुण्ड संग,
 जकर छिड़िआयल केश असँवारल अछि,
 ई मांस सँ पोसल, राजाक परजीवी
 गायकसभ भयङ्कर अछि।
 : कीलाकार व्यूहमे चलैत सेनादलसभ सँ घेरायल,
 घोर युद्धमे रणभेरी बजबैत,
 प्रबल अस्त्रसभक तरकस आ
 बाण सँ सज्जित,
 ई प्रेतोत्पन्न, राजघाती
 युद्धदेवक योद्धासभ भयङ्कर अछि।

दीन चोर 'आह! आह!' कहि कराहैत अछि
 आ अन्हारमे दबि-पाँए चलैत काँपैत अछि।
 गायक-चोर सेहो 'आह! आह!'क तान लगबैत
 दिन-दहाड़े सम्पत्ति लऽ भागि जाइत अछि।
 "पा पा धा धा नि नि ग म सा
 धा धा मा मा स मा स गा धा म"
 एहि प्रकार सङ्गीतक स्वरसभक
 टुकड़ा रटैत,
 ई गायकसभ शिकार खोजैत घूमैत अछि।
 गायक-दल हाथमे
 ढोल लऽ अपन गीत प्रस्तुत करैत अछि;
 ओकर गायन टेढ़-मेढ़ 'घुमावदार अलङ्कार' सँ दोषपूर्ण,
 विकृत 'वंशी-अलङ्कार' सँ छिन्न-भिन्न,

आ आरम्भिक विषय विकृत अछि,
 : ओसभ टेढ़ घुमरीमे डगमगाइत,
 मेरुदण्ड मोड़ने, मुख विकृत केने,
 हाथ खँजरी जकाँ काँपबैत,
 आ तकर बाद बहुत काल धरि मौन रहैत अछि।
 चारण गीतकेँ बोझिल करैत अछि
 “जय! जय!”क प्रणाम आ घोष सँ,
 गरगराहट, झाँझक टक्कर सँ,
 प्रत्येक स्वर-खण्डक बाद भनभनाहट-जकाँ टनकार सँ,
 आ “वाह!” कहि स्वयं अपन प्रशंसा करैत अछि।

जँ माइक एक कौर पानिमे छोड़ल जाय
 आ माछ ओकरा खा लय,
 तँ किछु पुण्य प्राप्त भऽ सकैत अछि।
 मुदा गायकसभकेँ दान देलापर,
 चाहे करोड़ों किएक नहि हो,
 जनताक दुःख बढ़ैत अछि।
 विधाता मूर्खसभक रुकल धन लेल
 ठसाठस भरल, पैघ मुँहबला
 ‘गायक’ नामक निकास
 ठाढ़ कोषरूपी इनारसभ पर
 बना देने छथि।

ईहो नहि जे
 आगू निकलल दाँतबला गवैयासभक ई भीड़
 सदैव गानहि मे व्यस्त रहैत अछि;
 ओ धन हड़पलापर
 भीड़क पाछाँ चलयबला सरल लोक पर
 हँसबामे सेहो व्यस्त रहैत अछि।
 भोरहि,
 गायक-कामुकसभ निर्भीक रहैत,
 मोतीक हार आ सोनक बाजूबन्द सँ सजल रहैत अछि।
 दुपहरमे,
 जुआमे हारि ओसभ नाइट ठाढ़ रहैत,
 अपमानित आ आश्रयहीन।
 : साँझमे,
 गायक-कामुकसभ रोमाञ्चकारी प्रेम-क्रीडामे सामर्थ्यवान् रहैत,
 दुपहरमे,
 प्रेम-क्रीडा सँ थाकल, एखनहुँ निर्वस्त्र,
 पीड़ित आ सारहीन भऽ जाइत अछि।

गवैया-शिकारीसभ
 अपन मूर्ख शिकारक धन : प्राण

हरैत अछि : निर्दोष हरिणक,
 प्रशंसारूपी फन्दा सँ रचल गीत द्वारा,
 गीत-पङ्क्तिरूपी बाण आ
 नुकायल जाल-जकाँ विन्यास द्वारा।
 जे गीतक स्वर-खण्ड पहिनहि विलीन भऽ चुकल,
 तकर लेल तुरन्त बहुत धन भेटलापर
 सङ्गीतकार बड़बड़ाइत अछि:
 “ओ दासीक बेटा आखिर देलक की?”
 आ असन्तुष्ट भऽ निकलि जाइत अछि।
 धनदेवी लक्ष्मीक
 एहन अभिशाप अछि
 जे सभक दुःख सँ घेरायल रहितो,
 ओ साधु ब्राह्मणसभ
 आ प्रतिष्ठित, विशिष्ट वृद्धसभ सँ दूर रहथि,
 आ सदैव गायकसभ द्वारा भोगल जयथि।
 बहुत पहिने देवताक अधिपति इन्द्र
 बहुत दिन बाद आयल नारद मुनि सँ
 संसारक समाचार आ पृथ्वीक रक्षा
 करयबला राजासभक कुशल पूछलनि।
 ओ उत्तर देलनि—“मानव-लोकमे घूमैत हम
 विजयी पृथ्वीपति राजासभमे, जे दान,
 धर्म आ यज्ञ सँ भरल छथि, देवराजक योग्य
 वैभव देखलहुँ।

धन-सम्पत्तिमे ओसभ अहाँ, वरुण आ कुबेर
 तीनूकें एकसंग टक्कर दैत छथि। ओ अहाँक ‘शतक्रतु’
 अर्थात् ‘सए यज्ञ कयनिहार’ उपाधिक उपहास करैत, एक बेर नहि,
 अनेक बेर एहन यज्ञ करैत छथि।”
 ऋषिक वचन सुनिते, शतशक्तिमान् इन्द्रक
 शत्रुता भभकि उठल; ओ
 मानव-राजासभक धन लूटबाक लेल दानवसभकें
 धरती पर पठा देलनि।
 देवराज इन्द्र द्वारा संचालित, ‘गीत’ नामक
 मन्त्र-अधिपति दानवसभक ई दल
 समस्त राजाक पूरा धन छीनबाक लेल पृथ्वी पर चढ़ि आयल।
 हुनकामे सभसँ आगू छल
 ‘मायाक सेवक’,
 तकर बाद ‘वाचालताक सेवक’,
 ‘कुख्यातिक सेवक’,
 ‘विनाशक सेवक’,
 ‘लूटक सेवक’,
 ‘कठोरताक सेवक’,
 ‘वज्रक सेवक’,

आ 'बड़वानलक सेवक'।

ई आठ अत्यन्त भयङ्कर प्राणी

अपन खुजल जबड़ामे विकट कण्ठ-गर्जना करैत

मानव-लोकमे आयल आ सर्वथा भयानक

सङ्गीतकार-जातिक सृष्टि केलक।

चारू दिस ओसभ समस्त जनताक धन छीनयबला

ई राजासभकेँ निर्धन बना देलक। पृथ्वीक राजासभक

यज्ञ आदि करबाक समस्त उत्साह घटि गेल।

एहि कारण, गीतक रूप धारण कएने ई भयावह कर्ण-पिशाच पृथ्वीपर शासन करनिहार राजाक कानक बाटे भीतर घुसि जाइत अछि आ जबरदस्ती हृदयपर अधिकार कऽ लेत अछि।

तेँ जे राजा एहि भ्रष्टकारी सभकेँ अपन राज्य में प्रवेश करए नहि दैत छथि, हुनका लेल समस्त सौभाग्य, सफलता आ यज्ञ-संपदासँ परिपूर्ण पृथ्वीदेवी आज्ञाकारिणी बनल रहैत छथि।

नट, नर्तक, बाजीगर, मूक-अभिनेता, गवैया आ कुटनी सभ राज्यरूपी धानपर टिड्डीक झुंड जकाँ उमड़ि पड़ैत अछि; राजलक्ष्मीकेँ हुनका सभसँ बचाएब आवश्यक अछि।

गवैया सभक मिलल-जुलल भीड़सँ गीतक प्रचण्ड कोलाहल उठैत अछि—मानो अनुपयुक्त वरक संग ब्याहल गेल लक्ष्मीक व्यथित क्रन्दन हो; अथवा गलत स्वर-पट्टीमे पढ़ल लक्ष्मी-स्तोत्रक उलझल बेसुरापन।

महाकवि क्षेमेन्द्रक रचित “कलाविलास”क सातम सर्ग—“गायक-वर्णन”—समाप्त।

एही स्वभावक सोनार सभ सेहो होइत अछि—सोनाक कलामे एहन निपुण जे वस्तुकेँ गायब कऽ देत। दूरक कौड़ी आननिहार कल्पनाक बलपर ओ सभ अपन अपार समृद्धिसँ भरल घरक बीचोबीच दिवालिया होयबाक प्रदर्शन कऽ सकैत अछि।

एहन योगी सेहो भेटैत छथि जे हिमक कष्ट सहबाक सामर्थ्यक दावा करैत छथि। गहन ध्यानमे लीन भऽ ओ सभ परमानन्दसँ भरल अवस्थामे ‘शून्यता-सिद्धि’ देखबैत छथि।

ई दुष्ट सोनार सभ निरन्तर सभ सम्पत्तिक सार—समृद्धिमे आभूषण आ विपत्तिमे सुरक्षा बननिहार सोनाक परम तेज—लूटि लैत अछि।

जेनाक अल्प स्पर्श मात्रसँ सदा अपवित्र दुष्ट अन्त्यज उच्च वर्णक लोककेँ छुबि हुनकर शुद्धता नष्ट कऽ दैत अछि, तहिना अरुचिकर दुष्ट सोनार अपन उतावला हाथसँ सोनाकेँ मलिन कऽ ओकर चमक मन्द कऽ दैत अछि।

किनबाक समय हुनकर चालि ई होइत अछि जे मुलायम कसौटीपर फिक्का चमकबाली रेखा देखबैत छथि। बेचबाक समय लाभ कमायबाक चालि ई जे जाँच लेल खुरदुर कसौटीपर रेखा खिंचैत छथि।

बाटक बटखरामे पाँच प्रकारक छल होइत अछि। मधुमोमक सरकारी मुहर जकाँ छापल रहितो ओ प्रायः बालूसँ बनल होइत अछि, आ आवश्यकतानुसार ओकरा पानिमे भिजाओल, सुखाओल वा गरम कएल जाइत अछि।

धातु गलएबाक मूसाक छह दोष अछि—ओ दोहरा पात्र होइत अछि, दोहरा पेंदी रहैत अछि, सहजहि फाटि सकैत अछि, पघिलल सोना सोखि लैत अछि, ओकरामे तामाक जड़ान रहैत अछि, आ सीसा तथा क्षार-चूर्ण रोकि रखबाक व्यवस्था रहैत अछि।

सोना तौलनिहार तराजूमे सोलह दोष होइत अछि—टेढ़ सूचक, असमान पलड़ा, छिद्रयुक्त तह, पारासँ भरल भाग, मोड़ल जा सकनिहार डाँड़ी, अटकनिहार काँटा, गाँठदार डोरी, गलत ढंगसँ बान्हल वा बहुत तन्तुबाली डोरी, उपयोगसँ पहिनेहि असन्तुलन, हावासँ डोलि उठनाइ, अत्यन्त हलुक वा अत्यन्त भारी होनाइ, खुरदुर पलड़ामे सोनाक धूरि अटकि रहनाइ, चुम्बकीय स्थिरता वा अस्थिरता।

ई तँ शीत ऋतुक सोलह लक्षण जकाँ अछि—दिशा सभ प्रतिकूल भऽ जाइत अछि, गह्वर अगम्य होइत अछि, धरती फाटि जाइत अछि, मानो चारू कात पारा छिड़कल हो, तँ भूमि कोमल भऽ जाइत अछि।

बहुत भारी ओढ़ना सभ गाँठि कऽ, शरीरपर बेर-बेर असुन्दर ढंगसँ लपेटि, क्षीण हो वा स्थूल, आँधीजकाँ बहैत हावासँ काँपैत लोक आगाँ झुकि जाइत अछि; खुरदुर वस्त्रपर हिमक चूर्ण चिपकि जाइत अछि, आ निर्जीव वस्तु सेहो जीवित-जकाँ उड़ैत फिरैत अछि।

हुनकर फूँक मारबाक छह ढंग अछि—कमजोर फूँक, बेचैन फूँक, बीचेमे रुकि जाएब, घरघराहटसँ फूँकब, थूक उछालैत फुफकारब आ सीटी-जकाँ आवाज करब।

हुनकर आगिक सेहो छह रूप अछि—चारू कात जबला घेरल, धुआँयुक्त, गरजनिहार, भीतरहि-भीतर सुलगनिहार, चिनगारी छोड़निहार, आ आगूक कात तामाक धूरि राखल रहैत अछि।

हुनकर व्यवहारक बारह लक्षण अछि—प्रश्न पूछब, विचित्र कथा सुनाएब, देह खुजाएब, अपन कपड़ाक भीतर देखब, समय बुझबाक लेल सूर्य दिस ताकब, बहुत हँसब, माछी उड़ाएब, अधीरता देखाएब, अपन लोकसँ बेर-बेर झगड़ब, पानिक घैल फोड़ब आ बारम्बार बाहर जाएब।

गोबरक मन्द आगिमे नमकीन अम्ल लगाओलासँ बनल वस्तुक सतह कृत्रिम रंगक चकाचौंध चमकसँ दिपदिप करए लगैत अछि।

धरतीक भीतर गुप्त रूपसँ चुम्बकीय तह राखल रहबाक कारण साधारण लोहक पलड़ाबला तराजूक सूचक खाली रहितो अचानक एना उछलैत अछि मानो पलड़ा भरल हो।

आभूषण बनि चुकलाक बाद, जखन ओकर तौल होइत अछि, तखन सोनार ओहि नुकाओल सोनाक टुकड़ी निकालि लैत अछि जे लाखसँ जड़ाइ करैत काल भीतर राखि, छेदक बाटे गुप्त कएने छल।

†जखन आगि जोर पकड़ैत अछि अथवा कसौटीपर काज चलि रहल होइत अछि, तखन हुनका लेल सोनाक एक टुकड़ी काटि लेब अत्यन्त सहज होइत अछि; अथवा ओहि सन चमकैत दोसर आभूषणसँ बदलि देबाक अवसर सेहो भेटि सकैत अछि।†

†ओ सभ काज लेल पूरा वजनक सोना लैत छथि, मुदा देबामे घटा दैत छथि; ऊपरसँ चिक्कन चमक चढ़बैत छथि, समयपर वस्तु लेब असम्भव बनबैत छथि, आर सामग्री माँगैत छथि आ बहुत दुटप्पी बात करैत छथि। संक्षेपमे, ई हुनकर एगारह व्यावहारिक कला अछि।†

हुनकर अन्तिम कला रातिमे चुपचाप सभ किछु लऽ कऽ भागि जाएब अछि।

ई सोनार सभक चौंसठ कला अछि, जकर अनुमान बुद्धिसँ कएल जा सकैत अछि; मुदा हजार आँखिबला इन्द्र सेहो हुनकर दोसर गुप्त कला सभ नहि जनैत छथि।

मनुष्यलोकक भय छोड़ि मेरु पर्वत बहुत दूर ऊँच उठल अछि। निश्चयहि ओकरा सोनार नामक चोर सभक लूटक भय छल। बहुत पहिने, असंख्य विशाल सुरंग बनबैत मुस सभ सोनाक सैकड़ो खानक शिरा खोदि-खोदि क्षरणसँ मेरु पर्वतक शिखरकें ढहबाक कगारपर पहुँचा देने छल।

मुसक एहि समस्त सेनाक नखसँ खनल सुरंग सभ मेरुक नींवकें प्रचण्ड रूपसँ हिला देने छल।

मुसक नखसँ उजाड़ल मेरु अत्यन्त सुन्दर देखाइत छल; उछिटल सोनाक धूरिक आवरणसँ ढाकल ओकर शिखर लालिमा लऽ कऽ चमकि रहल छल। ओकर चोटी टूटि गेल, पर्वत-पाँति, शिखर आ ढलान दरारि आ खोहसँ फाटि गेल; ई देखि सभ देवता भयभीत भऽ उठलाह जे कल्पक अन्त आबि गेल। ऋषिराज अगस्त्य दिव्य दृष्टिसँ एहि विपत्तिक परीक्षण कऽ सभकें कहलनि—“निश्चय, ई ओहि रात्रिचर ब्राह्मण-घाती सभ अछि जे देवताक संग युद्धमे नष्ट कएल गेल छल!

“मुसक रूपमे फेर जन्म लऽ ई सभ मेरु पर्वतकें ढहाबए चाहैत अछि। अहाँ सभकें फेर ओकर विनाश करबाक चाही, कारण ओ सभ ऋषिक आश्रम सेहो नष्ट कऽ देने अछि।”

ऋषिक ई वचन सुनि देवता सभ बिलक पाँतिकें धुआँसँ भरि देलनि आ ओहि विशाल मुस सभकें जरा देलनि, जे पूर्वजन्ममे सेहो शापसँ जरल छल।

तकर बाद ई सोना-लुटेरा पृथ्वीपर सोनार बनि पुनर्जन्म लेलनि। प्रत्येक जन्ममे ओ सभ निरन्तर सोनाक धूरि खुरचि-खुरचि जमा करैत रहैत अछि।

तैं विष देनिहार, चोर वा डाकू नहि भेटलाक दशामे राजा सभकें सोनार सभपर बिना दया, बिना विराम कठोर दमन करबाक चाही।

महाकवि क्षेमेन्द्रक रचित “कलाविलास”क आठम सर्ग—“सोनारक उत्पत्ति”—समाप्त।

समुद्रसँ घेरल समस्त पृथ्वीक सतहपर छलक एक विशाल आवरण पसारल अछि—जेनाक मछुआ सभ जालक पाँति लगबैत अछि, तहिना धूर्त लोक बुद्धिहीन माछ-जकाँ मनुष्य लेल जाल बिछौने अछि।

प्राण सभसँ अन्तिम आ परम सम्पत्ति अछि; मनुष्यक सभ प्रयास ओकरहि रक्षा लेल होइत अछि। जिनकर हाथमे ई प्राण सदा रहैत अछि, हुनका वेदक देवता—वैद्य—बुझू।

ई भयानक वैद्य सभ विरह जकाँ शरीरकें जरबैत अछि; प्रचण्ड ग्रीष्म-दिन जकाँ बहुत पिआस लगबैत आ शरीर सुखा दैत अछि।

हजार रोगीकें अपन औषध-मिश्रणसँ मारि, विभिन्न दवा सभक मात्रा बदलि-बदलि अपनहि शास्त्र बुझबाक प्रयास कएलाक बाद वैद्य प्रसिद्ध सफल चिकित्सक बनैत अछि।

राशिचक्र बना कऽ, ओठ सिकोड़ि ग्रह सभक चिन्ता करबाक अभिनय कऽ, बहुत देर चुप रहि ज्योतिषी अन्ततः प्रश्नकर्ताक पुछल बातकें दोसर शब्दमे दोहरा दैत अछि।

ज्योतिषी आकाशमे चन्द्रमाक संग विशाखा नक्षत्रक मिलनक गणना करैत अछि, मुदा घरमे ओकर पत्नी अनेक प्रेमीसँ रतिक्रीडामे आसक्त अछि—एहि बातसँ अनजान रहैत अछि।

सोना बनौनिहार पहिने अपनहि सम्पत्ति असफल प्रयोगमे जरा कऽ राख कऽ दैत अछि। तकर बाद सोनाक पानी चढ़ेबामे निपुण भऽ धनिक रससिद्ध सभकें बरबाद करैत अछि।

रससिद्ध डींग हाँकैत अछि—“हम शतवेधी पाराकें सिद्ध कऽ लेने छी, एतबे नहि, सहस्रवेधी पारा सेहो पूर्ण सिद्ध कऽ लेने छी।” मुदा ओ नाइट, झुरायल, क्षीण आ मैल-कुचैल रहैत अछि।

कायाकल्पक ढोंगीक माथ तामाक बर्तन जकाँ टकला होइत अछि, वृद्धावस्थासँ ओकर देह सुखायल रहैत अछि, तथापि ओ टकला लोककें नव केश उगबाक कथा सुना कऽ ठकैत अछि।

चमकैत चञ्चल आँखिबाली सुन्दर प्रेमिकाक लालसामे कामुक लोक बेल आदि सामग्रीक होम करैत अछि आ धुआँसँ अपनहि आँखि अन्हार कऽ लैत अछि।

“आकाश-फूल प्राप्त करबाक चेष्टा करब तँ आकाशगामी होयबाक सिद्धि सहजहि भेटि जाएत; तान्त्रिक सभ कहने छथि जे मच्छरक हड्डीमे अनेक शक्ति रहैत अछि।

“कृष्ण घोड़ाक लीदसँ बनल अंजन लगौने आकाशमे इन्द्रक काज देखाइत अछि; बेंगल चरबी शरीरपर मललासँ मनुष्य अप्सराक प्रिय बनि सकैत अछि।”

एहन दाबी कऽ ठगक झुंड समस्त संसारमे निरन्तर आशाक हवा दैत अछि आ सभ प्रकारक सिद्धिक लोभमे पड़ल सैकड़ो मनुष्यकें नरकक खोहमे ढकेलि दैत अछि।

प्रत्येक गलीमे वशीकरणक कोनो तथाकथित सिद्ध स्त्री सभकें ताबीज दैत फिरैत अछि, जखन कि ओकरा न तँ ओहि विद्याक जादुई जड़िक ज्ञान रहैत अछि, न मूल मन्त्रक।

थोड़ेक दीक्षा पाओल आ अल्प योग सीखल अनेक गली-गुरु रोग जकाँ फैलैत, सरल लोकक धन आ स्त्री लूटैत अछि।

“एकर हाथमे धन-रेखा तँ बहुत नमहर अछि, मुदा एकर पति आधा-बुद्धि अछि”—एना कहि हस्तरखा देखनिहार कुलीन स्त्रीक कोमल हाथ दबबैत अछि।

कुमारी तलवारक धारमे, अपन नहमे वा पानिमे अनेक प्रकारक लोक देखैत अछि, मुदा चोर पकड़ल नहि जाइत अछि—दैवज्ञ-जादूक निष्फलता एहेन अछि।

ठग खूब खाइत-पिबैत अछि आ लोकक प्रशंसाक बीच बकबक करैत रहैत अछि; थोड़े धूप, बिना मन्त्रक, अपन नीच कुलक साथीपर ‘देवता चढ़ा’ दैत अछि।

“नागार्जुनक ‘कक्षपुट’मे वर्णित अंजन धूपक धुआँमे बनाओल जाएबाक चाही। संयोगसँ ई जरि गेल!”—एहि बहानासँ दुष्ट दोसरक धन आगिमे झोंकि दैत अछि।

यक्षिणीक पुत्र ओहि चोर सभकें बुझू जे मादक धूप बनबैत अछि; हुनकर प्रत्यक्ष फल दरिद्रता आ राजदण्ड अछि।

“एक अत्यन्त धनी व्यापारी अपन पुत्रक बदला हमर आश्रित कन्याकें उत्तराधिकारी नियुक्त कएने अछि”—एहन कथा कहि दुष्ट एक कन्याक खर्चपर पेट भरैत अछि।

अङ्ग-लक्षणक विशेषज्ञ सेहो सन्देहास्पद अछि। दोसरक कमजोर ठाम बुझनिहार ओ हृदयक चोर अछि। विरोधीक योजनानुसार बहीर वा मूक बनबाक अभिनय करैत ओ सोझाँ अबैत अछि।

भस्मसँ पीयर पड़ल वेश्या, बूढ़ि सन्यासिनी वा मूर्ति लऽ कऽ चलनिहार गणिका—ई सभ कुलीन स्त्रीक धन आ सदाचार नष्ट करबाक लेल घूमैत रहैत अछि।

“एक जवान धनिक विधवा अहाँ जकाँ दिव्य प्रेमीक आकांक्षा करैत अछि”—एना कोनो मूर्खसँ कहि दुष्ट ओकर धन खाइत रहैत अछि।

भ्रष्ट कारीगर, शिल्पी आ दिन-मजूरी करनिहार जे काजमे बाधा उत्पन्न कऽ मनोरञ्जन करैत अछि, ओकरा समयक चोर बुझबाक चाही।

कपटपूर्ण पासा, गलत गणना, हाथक सफाई आदि मे निपुण पेशेवर जुआरी परदेशमे बिना चिन्हल घूमैत रहैत अछि।

जे सम्बन्धी केवल भोजनक समय देखाइत अछि आ जुआ, मदिरा आ चरित्रहीन स्त्रीपर बहुत धन उड़बैत अछि, ओकरा घरक चोर वा गृह-पिशाच बुझबाक चाही।

“धर्मशास्त्र बनाओल आ झूठ अछि; परलोक वास्तवमे के देखने अछि?”—जे एना कहैत अछि, ओकरासँ मदमत्त हाथी जकाँ डरबाक चाही।

असह्य लोभसँ भरल जे लोक अधिक लाभक आशा करनिहारक ऋण झपटि लैत अछि, ओकरा लाभक चोर बुझबाक चाही।

परदेशक उत्तम भोग-विलासक मोहक प्रशंसा कऽ लोककें पशु जकाँ बाहर लऽ जाएनिहार सभ देशक चोर अछि।

जे ‘माननीय’क उपाधि धारण कएने अछि, न्यायालयरूपी समुद्रक बीच सभ किछु निगलनिहार बड़वानल अछि, आ हारल पक्षसँ मिलि निर्णयक परिणाम तय करैत अछि—ओ ज्ञानक चोर अछि।

समृद्धिरूपी कमलक मधु पिबनिहार मित्र, जे दुःखक अप्रिय झोंकासँ उड़ि जाइत अछि आ भाग्यलताक आकर्षणमे घूमैत रहैत अछि, सुखक चोर अछि।

जे मनोरञ्जक अनसुनी, असम्बद्ध सभ प्रकारक बात कहैत अछि, कारण दोसरक कएल काजकें ठीकसँ रूप नहि दऽ सकैत, ओ बकबकिया कर्ण-चोर अछि।

जे मधुर आवाज आ चतुर वचनसँ दोषमे गुणक प्रशंसा कऽ विश्वास उत्पन्न करैत अछि आ मानो प्रतिस्पर्धी जगत्-व्यवस्था बना दैत अछि, ओ मर्यादाक सीमा लाँघनिहार अधर्मी चोर अछि।

जे घोर दुष्ट अपन गुणक घोषणा करबामे तत्पर रहैत आ दोसरक गुण ढकबाक लेल पूरा बल लगबैत अछि, ओ गुणक चोर अछि; सरल-बुद्धि लोकपर ओकर प्रभाव चलैत अछि।

राजकृपा प्राप्त जे दुष्ट ईर्ष्यासँ नाना प्रकारक चुगली कऽ दोसरकें राजकृपासँ वञ्चित करैत अछि, ओ जीविकाक चोर अछि।

जकरामे शान्ति, संयम आ भक्ति नहि अछि, मुदा कठोर धर्मव्रत करबाक सनक पकड़ने अछि, ओ अपन दृढ़तासँ सज्जन सभकें दबा दैत अछि; ओ यशक चोर अछि।

आदतन पेशाक चोर अनेक चतुर विनोद, परिहास आ प्रहसनसँ भरल भिन्न-भिन्न हँसीमे दिनभरि समय नष्ट करैत अछि।

जे अपन सभ धन गँवा चुकल अछि आ आब दोसरक सम्पत्ति उड़बामे लागल अछि, जे निरन्तर वेश्यालयक प्रशंसा करैत बकबक करैत अछि—ओ दलाल होयबाक सन्देह उत्पन्न करैत अछि।

अत्यन्त ‘निष्काम’ आयुक्त, जे सर्वोच्च पदक काज करैतो असाधारण पवित्रताक नामपर वेतन नहि लैत अछि, संयमरूपी पानिमे हिंस्र समुद्री माछ बुझि ओकरासँ दूर रहबाक चाही।

दुष्ट घुमन्तू बिक्रेता बिना बोलौने घर-घर पहुँचैत अछि। ओ जे वस्तु देखबैत अछि, क्षणभरिमे विशिष्ट रत्न बनि जाइत अछि, चाहे ओ केवल काँचक टुकड़ी किएक नहि हो।

चाटुकार, जे कियो खोहमे खसैत रहितो “वाह! वाह!” कहबाक लेल तैयार रहैत अछि, मधुर आवाजसँ सभ किछु लूटि लैत अछि आ विष जकाँ भीतर फैलि जाइत अछि।

“राजा अहाँपर प्रसन्न छथि; ओ अहाँक अनेक गुणक यथार्थ मूल्य बुझैत छथि”—एहन गुप्त आश्वासन दऽ राजसेवक सभ सदा दोसर सेवकक धन झपटैत अछि।

“स्वप्नमे हम लक्ष्मीदेवीकें देखलहुँ; हाथमे कमल लऽ ओ अहाँक घरमे प्रवेश कएलनि। हमर मासभरि उपवाससँ प्रसन्न भऽ, सामान्यतः संकोची लक्ष्मी हमरा कहलनि—‘हमर भक्त अहाँकें सभ किछु देत।’ तँ हम अहाँ लग आएल छी।”

एहन बहानासँ दुष्ट घर-घर सरल श्रद्धालु लोकक लाभ उठबैत अछि।

नगरमे दंगा, यज्ञ, विवाहोत्सव वा एहन कोनो कारणसँ भीड़ जुटल हो तँ परिजनक वेशमे अपरिचित लोक भीतर घुसि मूल्यवान वस्तु उठा लैत अछि।

सभ लोक मदिरा पिबैत अछि, मुदा ओ मदिराकें छुबितो नहि। राति जागि चिन्तामे डूबल रहैत अछि। अपन मनक करबाक प्रवृत्ति रहैत अछि आ कोनो साहसिक योजनाक जाल बुनने रहैत अछि।

ओ उत्तर नहि दैत अछि; अथवा हकलाइत दबा आवाजमे उत्तर दैत अछि। चेहरा नुकबैत, नमहर साँस छोड़ैत, एकाएक काँपि उठैत अछि—ई चोरक चिन्ह अछि।

जे असाधारण शुद्धताक माँग करैत आ घमण्डसँ हल्ला मचबैत अछि, ओ दुष्ट सन्देहक कारण आ भयावह कपटक स्रोत अछि।

देखल गेल हो वा नहि, जे घटित बातकें अघटित आ कहल बातकें अनकहल बना दैत अछि, ओहो बिना पलक झपकौने—ओ मनुष्य लेल परम संकट अछि।

जे दुष्ट बनावटी सरलता देखबैत, नपुंसक जकाँ स्त्रीक ढंगसँ बाजैत आ स्त्री सभक आसपास मँडराइत अछि, ओ घरक भीतर कामदेव अछि।

जे कोषाध्यक्ष धन रहितो सदा आँखि नीचाँ कएने, शरीर आ वस्त्र मैल कएने रहैत आ कोषागारमे खेलैत-कूदैत अछि, ओकरासँ चोर-मुस बुझि डरबाक चाही।

घरक संग लागल जे सेवक कृपापात्र बनि दिनभरि अन्तःपुरमे रहैत आ घरक नमहर-चौड़ा कथा सुनबैत अछि, ओकरा गुप्तचर बुझि सावधानीसँ दूर रखबाक चाही।

जे दोसरकेँ निरन्तर एहन पापक काज करबाक लेल उकसबैत अछि जकरा लेल कठोर दण्ड भेटि सकैत अछि, ओ अपन शेष जीवन भयपूर्वक भोगबाक लेल समुद्र-जकाँ विपत्ति बाँधि लेने अछि।

सरल लोकक सभ गुप्त व्यवहार देखि आ बिना कठिनाई रहस्य बुझि लेलाक बाद दुष्ट ओकरा मानो पाथरक पट्टपर लिखि दैत अछि।

ओकर विनाश लेल दुष्ट निषिद्ध माल, राजाद्वारा रोकल धन, जाली कागज वा एहन किछु गुप्त रूपसँ राखि चुपचाप भागि जाइत अछि।

जे व्यक्ति अपन खर्चपर अपन घरमे कोनो दुब्बर-दीन मनुष्यकेँ आश्रय दैत अछि, बादमे ओहि विषलिप्त छुरा आ फाँस लऽ कऽ चलनिहार साक्षात् यमक हाथसँ फिरीती देबाक लेल बाध्य होइत अछि।

गर्भवती स्त्रीक सहायतासँ दुष्ट सभ लाजुक, कुलीन, शुद्ध आचरणक मर्यादा माननिहार पुरुषकेँ स्त्री-जकाँ विवश बना दैत अछि।

पति परदेश गेल रहला पर दुष्ट ओकर सरल पत्नीकेँ क्रूर बनावटी सन्देश, नकली मुहर आ पहिने देखल पहचान-चिह्नक सहायतासँ ठकैत अछि।

लोकक बीचोबीच सभ्य वस्त्र पहिरने, आभूषणसँ सजल निर्भीक ‘भद्र’ चोर बिना प्रयास निरन्तर चोरी करैत रहैत अछि। पकड़ल गेल तँ ‘मजाक’, नहि पकड़ल गेल तँ लाभ।

लाखों मूल्यक अमानत चोराबनिहार ठग, समुद्र परदेशमे अपन घर धनक घड़ा सभसँ भरि लेने बाद एक वर्षक भीतर गायब भऽ जाइत अछि।

फोंफर सोनाक आभूषण आ उत्तम वस्त्र पहिरने छलिया सभ साझा शत्रुद्वारा राज्यच्युत राजकुमारक रूप धारण कऽ घर-घर सम्मान पवैत अछि।

कोनो मूर्ख ठगसँ ‘शुभ’ बकरा आ देहाती साँढ़ किनैत अछि; मूल्यवान सौदा भेटबाक ओकर हर्ष अन्ततः दुःखमे पकैत अछि।

उपेक्षा कएलापर गारि देनिहार आ प्रतिष्ठित लोकक समृद्धिसँ ईर्ष्या करनिहार जबरन धन वसूलनिहारक भय सँ निर्धन लोक सेहो पैसा देबाक लेल विवश होइत अछि।

वास्तवमे निरर्थक भोजपत्रक गठरीकेँ माल बता कऽ दुष्ट गाड़ी सभसँ सजल विशाल व्यापारिक कारवाँ बनबैत, संसारभरि घूमैत आ हजारों धनी लोककेँ ठकैत अछि।

सादा-संयत वस्त्र पहिरल ठग गङ्गा-तीर्थ जाएबाक घोषणा करैत अछि आ सरल लोकसँ हुनकर परिजनक अस्थि-विसर्जन करबाक नामपर धन लैत अछि।

कारवाँक वेश्या निदाएल सरल लोकक चोगा चोरा लैत अछि; ओहि राति कोनो दुष्टसँ नकली सिक्का पाबि स्वयं ठकि जाइत अछि।

दुष्ट कोनो बहीर वा मूक व्यापारीकेँ ओकर गोदाममे बन्द कऽ तुरन्त माल आ सोनाक ढेरी लऽ कऽ भागि जाइत अछि।

ठग अपनाकेँ सर्वज्ञ देखबैत निकलैत अछि—किछु परिचयक बलपर, किछु दुस्साहससँ, किछु डींग हाँकिसँ, किछु झगड़ा आ मतभेदसँ।

केवल पुस्तकक शीर्षक पढ़ि सीखल झूठकेँ जोर-जोरसँ सत्य बतबैत, वाद-विवादमे निपुण आ अलङ्कारमे वीर दुष्ट दोसर चारिमुख ब्रह्मा जकाँ प्रतिष्ठित होइत अछि—मानो झूठक शक्तिशाली खण्डनकर्ता, निर्मल कमलदलपर बैसल विद्वान, शास्त्रज्ञ आ विश्व-सृष्टिमे वीर हो।

घर सभमे अपन दलाल बैसा कऽ, जे पूरा देहमे हिंसक कम्पनक अभिनय करबाक लेल तैयार रहैत अछि, महाठग ‘वेध-दीक्षा’क गुरु बनि आनन्द करैत एतय-ओतय घूमैत अछि।

गुरु सभक सोझाँ दुष्ट घोषणा करैत अछि—“हम श्रीपर्वतसँ आएल छी, जतय सय वर्ष पुरान हरड़ खएने छी। हमरा शकुनिक स्मृति अछि।”

संक्षेपमे कहल ई छलक चौंसठ कला अछि। ठग सभक लाखों उपाय के जानि सकैत अछि?

महाकवि क्षेमेन्द्रक रचित “कलाविलास”क नवम सर्ग—“विविध दुष्टक वर्णन”—समाप्त।

ढोंगी सभक ई चालि अवश्य बुझबाक चाही, मुदा स्वयं ओकर अनुसरण नहि करबाक चाही। बुद्धिमान लोक अनेक सद्गुणमय कलाक माध्यमसँ अपन कल्याण खोजैत अछि।

धर्मक श्रेष्ठ कला ई अछि—जीवमात्रपर दया, परोपकार, दान, क्षमा, सद्भाव, सत्य, सन्तोष आ शान्ति।

अर्थक कला अछि—अविराम उद्योग, नियमितता, सञ्चय, व्यापारक ज्ञान, उचित समयपर बिक्री, दक्षता, धैर्य आ स्त्रीपर अविश्वास।

कामक कला अछि—सुन्दर वस्त्र, कोमलता, शिष्ट सौन्दर्य, उत्तम गुण, स्नेह, विश्वास, क्रीड़ाभाव आ प्रियजनक मन बुझबाक क्षमता।

मोक्षक कला अछि—विवेकमे प्रेम, शान्ति, तृष्णाक उन्मूलन, आत्म-सन्तोष, आसक्ति-त्याग, आत्मामे लीनता, समभाव आ परम प्रकाश।

संसारक छल बुझनिहार बुद्धिमान लेल धर्म, अर्थ, काम आ मोक्ष—एहि चारि पुरुषार्थक ई बत्तीस कला अछि, जकर अभ्यास क्रमसँ वा एके बेर कएल जा सकैत अछि।

ईर्ष्या छोड़ब, मधुर वचन, धैर्य, क्रोधसँ मुक्ति आ दोसरक धनसँ विरक्ति—ई सुखक पाँच जादुई कला अछि।

सच्चरित्रताक सात मूल कला अछि—सज्जनक सङ्गति, इन्द्रिय-विषयक इच्छापर विजय, पवित्रता, गुरुक सेवा, सदाचार, निर्मल विद्या आ सुयश प्राप्त करबाक प्रयास।

गरिमा, चरित्र, बुद्धि, निश्चय, राज्यनीति, गुप्त अभिप्राय प्रकट करनिहार सङ्केतक ज्ञान, साहस, विश्वासपात्र मित्र, कृतज्ञता, गोपनीयता, उदारता, भक्ति, विधिसम्मत अधिकार, मित्र-प्राप्ति, दया, लज्जा आ आश्रितजनपर कृपा—ई शक्तिक सत्रह कला अछि।

संकोच, दृढ़ता आ याचना नहि करब—ई तीन कला सम्मानक जीवन अछि। बुद्धिमानकें एहि चौंसठ कलाकें अपन बनएबाक चाही।

अपनासँ अधिक शक्तिशाली विरोधी भेटए तँ हटि जाएब वा नत होएब; बलपूर्वक आक्रमण हो तँ प्रतिरोध देखाएब; पीड़ितक प्रति धर्मपूर्ण व्यवहार, दुःखमे धैर्य, सुखमे विनम्रता; धनक साझेदारी, सज्जनक प्रति अनुराग, सलाह सन्दिग्ध हो तँ स्पष्ट विवेक, आ निन्दनीय लोकसँ विरक्ति—ई दस उपचारात्मक कला अछि।

एहि संसारमे सत्य सभमे गुरुक वचन यशस्वी अछि; कर्म सभमे गौ, ब्राह्मण आ देवताक पूजा; महापाप सभमे लोभ; दुःखक कारण सभमे क्रोध।

समस्त गुणमे बुद्धि, विशाल सम्पत्तिक गरिमा सभमे प्रतिष्ठा, दुःख सभमे दासत्व, घन फाँस आ कालसर्प सभमे आशा।

रत्न-भण्डार सभमे दान, सुखलोक सभमे शत्रुतासँ मुक्ति, सम्मान मिटौनिहार सभमे भीख, शापजनित तपस्या सभमे दरिद्रता।

यात्रा-पाथेय सभमे धर्म, मुखरूपी कमल शुद्ध करनिहार सभमे सत्य, रोग-महामारी सभमे दुर्व्यसन, घरक समृद्धि नष्ट करनिहार सभमे आलस्य।

प्रशंसनीय वस्तु सभमे निष्कामता, मधुर वस्तु सभमे प्रिय वचन, अभेद्य अन्धकार सभमे अहङ्कार, हास्यास्पद वस्तु सभमे कपटपूर्ण धर्माचार।

पवित्रता सभमे द्वेषक अभाव, कठिन व्रतसँ लादल नियम सभमे दृढ़ता, अप्रिय कर्म सभमे चुगली, नीच कर्म सभमे दोसरक जीविका काटब।

पुण्यक काज सभमे करुणा, श्रेष्ठ पुरुषक लक्षण सभमे कृतज्ञता, मूर्ख विचार सभमे छल, नरक-पतनक कारण सभमे अकृतज्ञता।

नुकायल चोर सभमे कामदेव, सम्बन्धीमे फूट करनिहार सभमे स्त्रीक वचन, चाण्डाल सभमे क्रूर मनुष्य, कलियुगमे जन्म लेल लोक सभमे शव-साधक।

रत्नदीप सभमे शास्त्र, दीक्षा सभमे शिक्षा, कठोर विष सभमे प्रेम, फैलैत दाद-कुष्ठ सभमे वेश्याप्रेम।

गृह-सम्पत्ति सभमे पत्नी, परलोकमे सहायता करनिहार सम्बन्धी सभमे पुत्र, सैकड़ो काँटा सभमे शत्रु, कुल-नाशक सभमे कुपुत्र।

सुन्दर वस्तु सभमे यौवन, भव्य ठाठ-वस्त्र सभमे रूप, कष्ट सभमे वृद्धावस्था, मृत्युतुल्य यातना सभमे रोग।

सौभाग्य सभमे राज्यसत्ता, आनन्द सभमे पुत्र-जन्म, उत्साहवर्धक वस्तु सभमे आत्मसम्मान, कर्मकाण्ड आ धर्ममे अनुरक्त लोक लेल परम्परागत आचार।

राज्य सभमे सन्तोष, सम्राटक वैभव सभमे सत्सङ्ग, सुखौनिहार वस्तु सभमे चिन्ता, खोखर गाछमे सुलगैत आगि सभमे घृणा।

अन्तरङ्ग विश्वास सभमे सौम्यता, अमूल्य भोग सभमे स्वाधीनता, रोग सभमे आत्महीनता, पानिविहीन गुप्त इनार सभमे कपट।

निर्मल वस्तु सभमे निष्कपटता, चुन्ल रत्नक मुकुट सभमे लज्जा, दुराचार सभमे जुआ, आकर्षक पिशाच सभमे स्त्रीसँ पराजय।

रत्नजड़ित कङ्कण सभमे त्याग, चमकैत रत्नयुक्त कुण्डल सभमे विद्या, अनिश्चितता सभमे दुष्टसँ मित्रता, निष्फल प्रयत्न सभमे दुष्टक सेवा।

उद्यान सभमे परमानन्द, अमृत-वृष्टि सभमे मित्रक दृष्टि, सहज उपलब्ध वस्तु सभमे सत्यक आनन्द, गुण-विवेक नष्ट करनिहार सभमे मूर्खक सभा।

फलदार गाछ सभमे कुटज, पूर्वकर्मक फल सभमे सौभाग्य, साधन सभमे राजकुल, स्वभावतः कपटी वस्तु सभमे स्त्रीक हृदय।

प्रशंसनीय वस्तु सभमे सामञ्जस्य, चन्दनादि लेप सभमे सद्गुणक अनुराग, दुःखक कारण सभमे पुत्री, दयाक पात्र सभमे मूर्ख।

शुभ गति सभमे धन, यशक मूल सभमे लोकप्रियता, प्रेत सभमे मदिरा, हाथीक वनमे यक्ष सभमे शिकार।

आरोग्यवर्धक औषध सभमे शान्ति, तीर्थयात्रा सभमे आत्मानन्द, पुण्यहीन सभमे शिकारी, श्मशान सभमे व्यभिचारी।

स्त्रीक रक्षा-उपाय सभमे विवेक, महान पराक्रम सभमे इन्द्रिय-विजय, क्षय-रोगक सैकड़ो रूप सभमे ईर्ष्या, अपयशपूर्ण मृत्यु सभमे बदनामी।
आशीर्वाद सभमे माता, शुभकर्मक उत्सवक शिक्षा सभमे पिता, तीक्ष्ण बाण सभमे हत्या, चमकैत उस्तरा-जकाँ शस्त्र सभमे प्राण-नाड़ी काटब।
क्रोध शान्त करनिहार सभमे विनय, दुर्लभ माँग सभमे मित्रता, मार्गदर्शक सिद्धान्त सभमे ईश्वर-भक्ति, सुखक पथ सभमे युद्धभूमिमे मृत्यु।
प्राप्तव्य वस्तु सभमे पुण्य, उज्ज्वलतम प्रकाश सभमे ज्ञान—जे सभ मनुष्य लेल सर्वाधिक बहुमूल्य अछि।
एहि समस्त कला-सङ्ग्रहमे निपुण, सभ वस्तुक सत्य बुझनिहार व्यक्तिकेँ संसारमे अनुपम मानबाक चाही, जेनाक समस्त वर्णमे ब्राह्मण।
भाग्यदेवी केवल ओहि लोकक प्रयासपर स्पष्ट प्रसन्नता देखबैत छथि जे एखन कहल गेल सौ कलाकेँ जनैत छथि—जकर फल सौभाग्य वा दुर्भाग्य दुनू भऽ सकैत अछि।
एना कहि मूलदेव उचित विधिसेँ अपन शिष्य सभकेँ विदा कएलनि आ किरणक गुच्छासेँ खिलल रातिक शेष भाग अपन महलमे बितौलनि।
ई “कलाविलास” सज्जन सभकेँ प्रिय हो—ई विनोदसेँ भरल, विस्तृत मुस्कानक कलासेँ प्रसन्न, सभ स्वभावक भीतरी क्रियाक उज्ज्वल दीप, शिक्षाप्रद कथासेँ लोककेँ आनन्द दैत उपदेशात्मक रचना अछि।
क्षेमेन्द्रक प्रतिभारूपी समुद्रसेँ प्रकट ई “कलाविलास” चन्द्रमा जकाँ सदैव सज्जनक मनकेँ आनन्दित करैत रहए।

महाकवि क्षेमेन्द्रक रचित “कलाविलास”क दशम सर्ग—“समस्त कलाक वर्णन”—समाप्त।

खण्ड १

पण्डित

सभामे विजय चाहैत छी तँ नहि डरू, ध्यान नहि दिअ, प्रतिपक्षक तर्क सुनू तक नहि—तुरन्त ओकर खण्डन कऽ दिअ! विचलित नहि होएब, निर्लज्जता, विरोधीक अवहेलना, उपहास आ राजाक प्रशंसा—ई पाँच विजयक आधार अछि।

निर्णायक विद्वान नहि हो तँ जोर-जोरसँ चिचिया कऽ जीतल जा सकैत अछि। विद्वान हो तँ केवल पक्षपातक सङ्केत कऽ दिअ—“लोभ” प्रतिज्ञा अछि, “धन” साध्य अछि, “पुरोहित” उदाहरण अछि, “निजी लाभ” निष्कर्ष अछि; ई भेल शुद्ध न्याय-पद्धति।

विनम्र ज्ञानार्थीकेँ सत्यपर बहुत काल विचार करए पड़ैत अछि; पद-प्रतिष्ठाक इच्छुककेँ लज्जा छोड़ि भारी हल्ला मचएबाक चाही। मुख्यतः ग्रन्थ रचि आ अध्यापन कऽ प्रसिद्धि भेटैत अछि; सम्भव अछि जीवनक अन्त धरि एहि उपायसँ सच्चा विद्वत्ता सेहो प्राप्त भऽ जाए—अथवा नहि।

एहि पृथ्वीपर मूर्खक प्रशंसा के करत? ओ अपन रचनाक प्रशंसा स्वयं नहि करत तँ सुखी कोना होयत? “आगाँ पढ़ू! समय कम अछि। अगिला भागमे बात स्पष्ट भऽ जाएत”—एहन शिक्षण-पद्धतिमे कोनो ग्रन्थ कठिन कोना रहि सकैत अछि?

साधनहीनता, अत्यधिक श्रद्धा आ ज्ञानक केवल बाहरी रूपसँ सन्तोष—शिष्यमे ई तीन गुण मूर्ख शिक्षक लेल वरदान अछि।

खण्ड २

मन्त्र-तान्त्रिक

जँ हमर बुद्धि कोनो शास्त्रमे कनेको प्रवेश नहि कऽ सकए, तँ हम सदा मन्त्र-तान्त्रिक, योगी वा तपस्वी बनि सकैत छी। सिद्धि तुरन्त भऽ जाए तँ मन्त्र-तान्त्रिक प्रसिद्ध होइत अछि; देरि हो तँ महँग अनुष्ठानक भविष्यवाणी कऽ धन कमबैत अछि।

मन्त्र-तान्त्रिक निश्चय धन्य अछि, कारण समृद्धक सुख आ दीनक दुःख—दुनूसँ ओकर जीविका चलैत अछि। तान्त्रिक अपन अज्ञानमे चुप रहए अथवा विचित्र व्यवहार अपनाए, तँ ओकर महिमा निश्चित अछि।

खण्ड ३

ज्योतिषी

ग्रहक ‘चर’ अर्थात् गतिसँ प्राप्त सूचना हुनका लेल अनिवार्य अछि, तँ ज्योतिषी ‘चर’ अर्थात् गुप्तचर सभसँ पूछिकऽ राजाकेँ भविष्यवाणी सुनबैत अछि।

गर्भक विषयमे पूछल जाए तँ ज्योतिषी पितासँ “पुत्र” आ मातासँ “पुत्री” कहि विजय प्राप्त करैत अछि। आयु पुछलापर दीर्घायु कहैत अछि। जीवित बचल लोक ओकरासँ चमत्कृत रहत; मरल लोक ओकरासँ हिसाब के माँगत?

ज्योतिषीकेँ कहबाक चाही जे प्रत्येक वस्तुक दू पक्ष अछि, प्रत्येक घटना दू समय-सीमाक भीतर होइत अछि, आ सभ किछु बदलैत बुझाइत अछि। निर्धनकेँ धन-लाभ आ धनीकेँ आरो अधिक धनक भविष्यवाणी करनिहार ज्योतिषीक लोक सदैव स्वागत करत।

सयक अनुमानित लाभपर ज्योतिषीकेँ सुपारी भेटैत अछि, हजारक अनुमानित लाभपर भोजन, आ असफल भविष्यवाणीपर अनन्त निन्दा।

समुद्रक किनार धरि समस्त पृथ्वी छानि लिअ, कतहु एक हाथ भूमि सेहो ज्योतिषीसँ रिक्त नहि भेटत। कियो तिथि जनैत अछि, कियोग्रह, कियो नक्षत्र; जे तीनू जनैत अछि, ओ साक्षात् वाचस्पति अछि।

शकुन बतौनिहार, स्वप्नक अर्थ कहनिहार आ पुरोहित—ई तीन ज्योतिषीक जन्मजात शत्रु बनाएल गेल अछि।

पूर्ण स्वस्थ आ मरणासन्न रोगीसँ वैद्यकें कोनो लाभ नहि; वैद्य रोगक भ्रममे पड़ल आ पुरान रोगसँ पीड़ित लोकपर फलैत-फूलैत अछि। रोगीकें ने बहुत आशा देबाक चाही, ने बहुत भय। पहिल दशामे चिन्ता नहि रहत, तँ पैसा नहि देत; दोसर दशामे आशा नहि रहत, तँ पैसा नहि देत।

वैद्य मनमाना औषध लिखैत अछि, मुदा कठिन आ अल्प आहारपर जोर दैत अछि। स्वास्थ्य घुरि आएँ तँ वैद्यक महिमा; नहि घुरएँ तँ रोगी आहार-विधान नहि मानलक।

रोग-विज्ञान, निदान, पथ्य-अपथ्य आ चिकित्सा—रोगीक घरक स्त्री सभ वैद्यकें सभ किछु सिखा देतीह। महामारी फैलैत अछि, लोक मरैत अछि, तखन अन्ततः वैद्य रोगक प्रकृति सीखैत अछि।

पहिने घर देखए जाएब पर, बीचमे दवा लेल, आ अन्तमे कृतज्ञताक नामपर—वैद्य प्रत्येक अवस्थामे शुल्क माँगैत अछि।

धनलोभी वैद्य जखन अन्ततः कोनो रोगी पकड़ि लैत अछि, तखन ओकर दू सह-उत्तराधिकारी प्रकट होइत अछि—ज्योतिषी आ मन्त्र-तान्त्रिक।

रोगक आरम्भमे रोगी वैद्यपर कृपा देखबैत अछि; बीचक अवस्थामे किछु धन दैत अछि; स्वास्थ्य घुरैत ओकर रुचि घटि जाइत अछि; रोगमुक्तिक स्नानक बाद वैद्य अप्रिय व्यक्ति बनि जाइत अछि।

ज्योतिष, मन्त्र-तन्त्र, चिकित्सा आ चाटुकारिताक कला—प्रत्येक अलग-अलग लाभदायक अछि, मुदा एक व्यक्ति मे दू वा तीन गुणक मिलन दुर्लभ अछि। बेइमानी आ चाटुकारिताक महान योग धनक सूचक अछि; ईमानदारी आ विद्वत्ताक योग दरिद्रताक ओर लऽ जाइत अछि।

कायरता, असभ्यता, लोभ आ विवेकहीनता—एक मुट्ठी चाउरक मजदूरीपर कवि सभ किछु मेटा सकैत अछि। प्रशंसा लेल तैयार कविकें कारणक आवश्यकता नहि; जखन ओ ककरो प्रशंसा नहि करैत अछि, तखनो ओकर जीह फड़फड़ाइत रहैत अछि।

कवि पहिनेसँ प्रशंसित वस्तुक प्रशंसा करैत अछि; वास्तवमे गुणक आदर नहि करैत। एक माछरिक नाम “भँवरा” राखि देल जाए, तकर वर्णनमे कविक कतेक परिश्रम व्यर्थ जाएत?

“अनुपम” कविता ओ अछि जे गाँव, घोड़ा वा हाथीक बदलामे रचल जाए; अवसर आएँ तँ भोजन, वस्त्र वा किछु पान-सुपारीक बदलामे सेहो। सुन्दर काव्यरचनामे सजाओल “वाणी” नामक दोसर ब्रह्मकें कियो बेचैत अछि, कियो व्यर्थ गँबैत अछि।

ई अभागल सभ वाणीदेवीकें प्राप्त कऽ हुनकर दुरुपयोग तथाकथित वीरक स्तुति लेल करैत अछि; ई तँ कामधेनुकें सेहो हर जोतबाक लेल लगा देत!

दुष्टक प्रशंसा, बकबकसँ प्रत्येक बातकें मरोड़ब, आ कामनाकें परम सिद्धान्त कहब—एहन कवि मुक्ति कोना पाओत? मुदा जँ विषय शिव छथि, तँ कोनो रचना, वर्णन वा ध्वनिपर एकाग्र ध्यान समाधिसँ श्रेष्ठ अछि।

पत्नी, ओकर बहिन, ओकर माता-पिता आ पत्नी-क भाइ—कलियुग पुरुष लेल ई पाँच अतिरिक्त प्राण बनौने अछि।

जमाय, भाज्जा, मामा आ ससुरारिक लोक गृहस्थक घरमे ओकरा बिना बुझने मुस जकाँ भोजन करैत अछि।

माता मामाक शक्ति अछि, पुत्री जमायक शक्ति, पत्नी ससुरक शक्ति, आ अतिथि अपनहि बलपर बलवान अछि। जमाय जाबत जवान अछि, पत्नी-क भाइ कपटी रहैत अछि; जमाय बुझए लगैत अछि तँ ओ सोझ बनैत अछि; जमाय पूर्ण बुझि जाइत अछि तँ ओ भागि जाइत अछि।

पत्नी जेठ पुत्री हो, पत्नी-क भाइ बालक हो, सास मनमानी करनिहारि हो आ ससुर परदेशमे हो—तँ जमाय लेल बाट सहज अछि। एकहि बेरक यात्रामे पुत्री गहना, वस्त्र, बर्तन आ बच्चाक खेलौना लऽ कऽ घर लूटि विदा होइत अछि।

पत्नी कहैत अछि जे ओकर माता-पिता सूखल टुकड़ा सेहो कने-कने खाइत छथि, मुदा पतिक माता-पिता पेटू छथि, दूध पिबैत छथि, सम्भवतः चोर सेहो छथि।

बहुत बच्चाबाली दू पत्नी आ पति-विहीन बहिन—गृहस्थ लेल ई “निरन्तर कलह” नामक योग अछि। दू पत्नी, अनेक बच्चा, दरिद्रता, रोग, बूढ़ माता आ पिता—प्रत्येक नरकसँ खराब अछि।

ओकर स्मरण होइतहि हाथ-पएर ढील पड़ि जाइत अछि; दर्शन होइतहि प्राण सूखि जाइत अछि। अहा! “महाजन” नामक प्रेत कतेक शक्तिशाली अछि! मृत्यु सेहो प्राणीक अन्तिम दिनक प्रतीक्षा करैत अछि, मुदा महाजन समयक बन्धन नहि मानैत अछि।

ओकर मुँहमे दाँत नहि देखाइत अछि, मुट्ठीमे फाँस नहि, तथापि महाजन देखाइतहि हृदय ऐंठि उठैत अछि।

खण्ड ८

दरिद्रता

शत्रुक विरोधमे सन्धि उपाय अछि; प्रत्येक रोगक दवा अछि; मृत्यु तारबाक लेल मृत्युञ्जय मन्त्र अछि; मुदा दरिद्रताक विरुद्ध किछु नहि।

दरिद्रता लोककेँ घर-घर घूमबाक बल दैत अछि, गरमी-ठण्ड सहन योग्य बनबैत अछि आ जठराग्नि प्रज्वलित करैत अछि—दरिद्रता परम औषध अछि।

हकलाइत वचन, झुकल आँखि, डगमगाइत पएर—राजदण्ड जकाँ दरिद्रता मनुष्यकेँ भीख माँगबाक लेल प्रेरित करैत अछि।

पूर्ण अभावसँ भरल लोक राजाक अपमान पचा सकैत अछि, मर्यादासँ बाहर बात पचा सकैत अछि, आ अन्तमे पाथर सेहो पचा सकैत अछि।

ओकरा लेल ने चोर अछि, ने चुगलखोर, ने उत्तराधिकारी, ने राजा। यथार्थ दृष्टिसँ देखल जाए तँ दरिद्रता राजत्वसँ श्रेष्ठ अछि।

खण्ड ९

धनी

सम्पत्तिमे थोड़ा वृद्धि अहङ्कार बढ़बैत, चोरक उत्साह बढ़बैत आ उत्तराधिकारीकेँ निर्भीक बनबैत अछि। जे धनी सदा विद्वानकेँ तुच्छ बुझैत अछि, भाग्य रूठलापर स्वयं उपहासक पात्र बनैत अछि।

चाटुकारिताकेँ सत्य बुझब, अपनाकेँ देवता मानब, साधारण लोककेँ कीड़ा बुझब—नवधनिक होयबाक ई परिणाम अछि।

सुनि सकितो ओ पूछैत अछि, देखि सकितो नहि बुझैत अछि; धनी उपहासकेँ सेहो प्रशंसा मानि लैत अछि। परस्पर गुप्त साँठगाँठ कएने आश्रित सभ धनक मदमे अन्हार लोकपर बच्चा, पागल वा भूत चढ़ल मनुष्य जकाँ खुलिकऽ हँसैत अछि।

जकर प्रशंसा ओकरा करबाक चाही, ओही ओकर प्रशंसा करैत अछि; जकर सेवा ओकरा करबाक चाही, ओही ओकर सेवा करैत अछि; तथापि धनीकेँ ने भय अछि, ने लज्जा।

ग्रह-पिशाचक आवेश क्षणभरि रहैत अछि, मदिराक नशा एक पहर, मुदा मूर्ख धनक नशामे शरीर रहबाक समय धरि डूबल रहैत अछि।

धनदेवी एक मास, सम्भवतः आधा मास सहायक बनि फेर हाथ खिंचि लैत छथि; मुदा हुनकर अनल परिवर्तन लहसुनक दुर्गन्ध जकाँ सदा बनल रहैत अछि।

कुन्दा नामक तृणक सूजन गला सुन्न करैत अछि, सुपारी हृदयकेँ जड़ करैत अछि; मुदा धनक मूर्च्छा पूरा शरीरकेँ, एतबे नहि पत्नी-बच्चाक चेहराकेँ सेहो प्रभावित करैत अछि।

जे व्यक्ति कहियो धनी छल वा एखन धनी अछि, ओकरा उन्माद होएब बुझाइत अछि; मुदा ई कुष्ठ वा मिरगी जकाँ पूरा परिवारमे कोना फैलैत अछि?

हाथमे पाँच-छह छोट सिक्का आबितहि शास्त्रपर व्याख्यान देबाक अधिकार, विद्वानकेँ भूसा बुझाबाक साहस आ अपन जाति बिसरबाक छूट भेटि जाइत अछि।

धनी आश्रितक पालन करए, भिखारीकेँ दान दे; मुदा जखन ओ स्वयं कोनो उपकार माँगबाक मुद्रा बनबैत अछि, तखन कियो ओकर उपस्थिति सहन नहि करैत अछि।

खण्ड १०

चुगलखोर

निश्चय संसारक धनक भार केवल चुगलखोर सभ उठौने अछि; नहि तँ ओकरा हलुक करबाक लेल ओ सभ असगरे एतेक परिश्रम किएक करैत?

राजा चुगलखोरकेँ ओकर परिश्रमक अनुरूप पुरस्कार देत? मृत्यु ओकर दू बल्कि तीन गुना अधिक सत्कार करत।

“गो-कर्ण” आ “शुभ-कर्ण” नामक तीर्थमे मन्त्र फुसफुसाएलासँ पूर्व पाप नष्ट होइत अछि; राजाक कानमे फुसफुसाएलासँ एक्कहि बेर सभ कर्म नष्ट भऽ जाइत अछि।

हुनका अपन काजमे रुचि नहि, कियो मार्गदर्शन नहि कऽ सकैत अछि; ओ दोसरक काजमे हस्तक्षेप करैत अछि—दुष्ट आ सज्जन दुनू। स्वयं किछु नहि चाहैत, ककरो प्रेरणासँ नहि चलैत, आ ‘उच्चतम उद्देश्य’सँ काज करैत अछि।

घरपर बैसल गिद्ध भविष्यक विपत्तिक शकुन बुझाइत अछि; मुदा घर लग मँडराइत दुष्ट तुरन्त विनाशक सूचना दैत अछि।

खण्ड ११

कृपण

धार्मिक आचारमे कृपण अल्पाहार-व्रत पसन्द करैत अछि; चिकित्सामे शरीरकें भूखल रखनाइ; यज्ञमे धीमा आवाजमे मन्त्र पढ़नाइ।

जेनाक निर्धन धनीसँ डरैत अछि—“ओ की कहत?”—तहिना कृपण निर्धनसँ डरैत अछि—“ओ की माँगत?”

कृपण अतिथि-सत्कार सम्बन्धी शास्त्रीय उपदेशकें प्रत्यक्ष रूपसँ अनुभव करैत अछि, कारण ओकरा दानक प्रत्येक ग्रास मेरु पर्वत जकाँ विशाल देखाइत अछि।

“कोषाध्यक्ष” नामक राक्षस स्वामी एलापर दैत अछि; “कृपण” नामक राक्षस ककरो किछु देबाक नहि चाहैत अछि। दानीसँ पहिने याचक विनती करैत अछि, फेर याचकसँ दानी विनती करैत अछि। कर्ता-कर्मक एहि उलटफेरमे कतेक उतार-चढ़ाव!

“हम जीवित नहि रहब तँ हमर धनक रक्षक कियो नहि रहत”—एना सोचि कृपण कोनो तरहेँ अपनेकें भोजन करबैत अछि।

दिन-दिन प्रस्थानक कगारपर पहुँचि ओ नाना बाधा गनबैत फेर भीतर आबि टिकि जाइत अछि—मानो प्रवास नमहर करबाक इच्छुक अतिथि।

खण्ड १२

धर्मध्वजी

विद्वानकें एक, कविकें दस, नटकें सय, पाखण्डी धर्मध्वजीक झुंडकें हजार देल जाइत अछि, मुदा शास्त्रनिष्ठ ब्राह्मणकें किछु नहि।

दलालसँ याचना कएलाक बाद अत्यन्त तपस्याक प्रदर्शन करबाक चाही। जाबत कपट नुकायल रहैत अछि, सम्पत्ति प्राप्त होइत रहैत अछि।

“एक कात सभ शास्त्र, दोसर कात तुलसीक काठ”—ई केवल अलङ्कार अछि; वास्तवमे तुलसी सर्वोपरि अछि।

तुलसीक गुण गनबैत वाग्भट दू गुण बिसरि गेलाह—समस्त जगतकें भ्रमित करबाक शक्ति आ धन देबाक क्षमता।

लँगोटी, भस्मक लेप, पवित्र दर्भ, रुद्राक्षक माला, मौन-व्रत आ एकान्तमे बैसब—ई मूर्खक जीविकाक छह साधन अछि।

तीर्थमे निवास, प्रसिद्ध किन्तु मृत गुरु, आ एके शिक्षाक बारम्बार आवृत्ति—लाभ कमाबए चाहनिहार लोकमे ई सभ मूल्यवान मानल जाइत अछि।

मन्त्र गलत हो तँ “परम्परा” कहल जाइत अछि; विधिमे त्रुटि हो तँ “प्रयोग-पद्धति”; आ आचरण अनुचित हो तँ “स्थानीय प्रथा”—विरोध करनिहारकें ई प्रभावी उत्तर अछि।

सभ धर्मक आचरण एना करबाक चाही जे बहुत लोक देखए, दाताकें सूचना दे; निरर्थक किछु नहि करू।

हाथमे सदा माला-झाँप, बीच-बीचमे आँखि मूँनब, “सभ किछु ब्रह्म अछि” कहि बकबक करब—तुरन्त विश्वास उत्पन्न करबाक ई कारण अछि।

दुपहरि धरि नदीक कात मँडराएब, सार्वजनिक भीड़मे देवपूजा करब आ सदा धार्मिक वेश पहिरब—ई पाखण्डक जीवन अछि।

दर्शकक भीड़ हो तँ दैनिक अनुष्ठान बहुत नमहर; कियो नहि देखए तँ सभ किछु छोट।

जे इच्छानुसार आनन्दक नोर बहा सकैत अछि आ रोमाञ्च उत्पन्न कऽ सकैत अछि, ओकरा दोसर साधनाक की आवश्यकता? सभ राजा ओकर सेवक अछि।

खण्ड १३

दुष्ट

दण्ड देलासँ ओ आरो खराब होइत अछि, दया कएलासँ सेहो। तँ दुष्ट लेल एकमात्र नियम अछि—दूर निर्वासन।

किछु नहि देब आ अल्प देब दुष्टक क्रोधकें कने उकसबैत अछि; पेटभरि देब ओ अपन अधिकार मानैत अछि, आ देनाइ बन्द होइतहि पागल कुकुर जकाँ भऽ जाइत अछि।

दुष्टसँ व्यवहार नहि करब श्रेष्ठ; परिचय ओकर ईर्ष्या जन्मबैत अछि। ओकर सन्तानसँ विवाह-सम्बन्ध केवल विनाश दैत अछि।

कुलीनता, अज्ञान, चुगली आ दरिद्रता—ई चारि एकहि व्यक्तिमे मिलि जाए तँ “क्षितिजकें प्रणाम”, अर्थात् जतए धरि भागि सकी, भागू।

सृष्टिकर्ता दुष्टक हृदयकेँ ओकर शारीरिक छिद्र लेल बनाएलनि—दोसरक दोष ओकर आँखि लेल, दोसरक अफवाह ओकर कान लेल, आ दोसरक कमजोर स्थान ओकर वाणी लेल।

जेनाक पूँछमे राखल विषसँ पूरा बिच्छू जीवकेँ भयभीत करैत अछि, तहिना काल अपन दशम अंश—कलियुग—सँ समस्त जीवकेँ भयभीत करैत अछि।

महिमामय कलियुगकेँ प्रणाम, जतए पत्नीक वचन वेद अछि, धर्म धन कमाबयक साधन अछि, आ अपन कल्पना कानून अछि!

जगत् एहि युगक अधीन हो, तँ हो; कालक संहारकर्ता शिवक शरणमे रहल हमरा सभक काल की बिगाड़ि सकैत अछि?

विद्वानक आनन्द आ राजसभाक मनोरञ्जन लेल कवि नीलकण्ठ एहि “कलियुग-विडम्बना”क रचना कएलनि।

भल्लट — क्षेमेन्द्र — नीलकण्ठ

भल्लट-शतक
छल-कौशलक विलास (कलाविलास)
कलियुग-विडम्बना

संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद
गजेन्द्र ठाकुर

सम्पादक
विदेह प्रथम मैथिली पाक्षिक ई-पत्रिका



विदेह

www.videha.co.in

BHALLATA · KSHEMENDRA · NILAKANTHA

The Bhallata Century
The Pageant of Deceitful Arts (Kalavilasa)
A Satire on the Age of Kali

English Theatre Translation

Gajendra Thakur

Editor
Videha — First Maithili Fortnightly eJournal

www.videha.co.in

BHALLATA · KSHEMENDRA · NILAKANTHA

The Bhallata Century
The Pageant of Deceitful Arts (Kalavilasa)
A Satire on the Age of Kali

English Theatre Translation
Gajendra Thakur

Editor
Videha — First Maithili Fortnightly eJournal

www.videha.co.in

COPYRIGHT

English theatre translation © 2026 Gajendra Thakur.

Original Sanskrit works: Bhallata, Kshemendra, and Nilakantha.

Editor: Gajendra Thakur, Videha — First Maithili Fortnightly eJournal.

First book edition: 2026.

Format: 6 × 9 inch hardback.

www.videha.co.in

CONTENTS

The Bhallata Century (Bhallata's Hundred Allegorical Verses)	1
The Pageant of Deceitful Arts (Kalavilasa)	23
Canto 1 — The Portrayal of Hypocrisy.....	24
Canto 2 — The Portrayal of Greed.....	39
Canto 3 — The Portrayal of Desire.....	50
Canto 4 — The Conduct of Courtesans (Betrayal).....	61
Canto 5 — The Exploits of the Scribe.....	67
Canto 6 — The Portrayal of Intoxication.....	74
Canto 7 — The Singer Portrayed (Corruption).....	80
Canto 8 — The Origin of the Goldsmith (Fraud and Deceit).....	85
Canto 9 — Various Villains Portrayed (Pretence and Swindling).....	89
Canto 10 — The Description of All the Arts (Virtue).....	96
A Satire on the Age of Kali	101
Section 1 — The Scholar.....	101
Section 2 — The Mantra-and-Tantra Practitioner.....	102
Section 3 — The Astrologer.....	102
Section 4 — The Physician.....	103
Section 5 — The Poet.....	103
Section 6 — Relations.....	104
Section 7 — The Moneylender.....	105
Section 8 — Poverty.....	105
Section 9 — The Rich.....	106
Section 10 — The Slanderer.....	107
Section 11 — The Miser.....	108
Section 12 — The Religious Hypocrite.....	108
Section 13 — The Wicked.....	109
Epilogue — Salutation to the Age of Kali.....	110

THE BHALLATA CENTURY

Bhallata's Hundred Allegorical Verses

Come, let us praise Bhavani, the other half of Shiva,
who is skilled in driving away
the anguish of worldly life,
and who, the very embodiment of Speech, sits enthroned,
her radiance like an autumn cloud!
May the first rays of the sun, that jewel of the sky,
rise crimson and shower their blessing upon you all.
As they celebrate the birth of day,
they seem to paint with red vermilion
the faces of the goddesses of the directions.
The words of great poets,
carefully chosen—like prisoners seized—
to convey a meaning—like goods to be surrendered—
why do they not at once give up
the intended sense—the stolen property?
They yield—confessing—
deeper meanings—other thefts—
only after struggle—after torture—
as though those noble words were stealthy thieves.
To the eye of a foolish beast,
a jewel is glass and glass a jewel.
To the eye of the wise,
glass is glass and a jewel is a jewel.
Tell me, O Poison, who urged you
to seek rank higher and higher still?
First in the heart of the ocean,
then in the throat of Shiva, whose banner bears the bull,
and now you dwell in the speech of the wicked.

A support in calamity, an ornament in celebration,
a refuge in danger, a light in darkness,
useful in countless ways—and beautiful—
what other true jewel can equal you?
The goddess of fortune, Lakshmi,
shamelessly eloping with her unworthy lover
along a road black with impenetrable darkness,
will not allow even the slightest jingle
from the strung bells of her girdle.
She will not heed even a single word
spoken by a good man.
O Greed, I bound my destiny to you
when honour refused to approve it,
when self-restraint held me back,
when shame drew a line upon the ground,

when free will retreated and courage deserted me,
and my hand was trembling.
This is the reward I have received:
the man whose feet I would never have touched
will not let me touch his feet.

*The sun may sink into the ocean—or fall into a pond;
he may cross the horizon—or run naked away;
he may merge again into fire—or tumble into a blaze;
he may descend to the netherworld—or roll in mud.*

Does any of this diminish in the least
the wonder by which he delights the whole world?
Consider what respected people, able to distinguish truth from falsehood,
say about anyone.

If the words of thieves, courtesans, and such people are trusted,
then the sun-god himself is in peril.

The setting of the sun is no great sorrow,
for who in this world has not departed when the time came,
who does not depart, or who will not depart?

The only grief is this:

*darkness—an outcaste,
a stranger to light, black-bodied—*
seizes its chance in that sky which is vast by nature.

The moon of cool rays and his companions
keep noble company—crowding into a single rank—
and, when counted from the rear, are taken for leaders.
After all this, have they no shame?

They seem as though they do not exist at all
when the sky is filled with the light of the sun.

No thought could be more absurd or ill-fitted than this:
“When the sun has set, the moon will dispel every fear
when the three worlds vanish from sight.”

What pierces the heart still more deeply
is that these lamps have suddenly sprung up here,
raising their flickering wicks to drive away the dark.

The title “Illuminator of the Sky,”
false for everyone except the sun,
false even for the moon—
some deluded person has bestowed it upon a firefly.

O Firefly, it is day now.

The tender, pallid rays of the moon
have been drowned in the beams of the sun.

It matters not at all
that you shine at night
when all ten directions turn pitch-black
with impenetrable darkness.

We were deceived by the reddish, feeble glow
of the insect called the firefly,
and mistook it for a living jewel.
Shame upon that dim light

which flickers in a creature—or in imagination—
which is paltry because its virtue belongs to another,
and which dazzles only the timid.

Only the elephant,
who shatters lofty rocks
with repeated blows of his spear-pointed tusks,
can understand the pain of the stroke
dealt by the thunderbolt-net of a lion's claws—
not the jackal,
whose courage dies at the barking of a puppy.
Now this young chataka bird scorches his own head,
mad with the obsession of flying high.
Had he wished it,
among so many directions, what direction was there
where he would not have found clear, cool, sweet water?
This strange twisting of the tongue,
this restless fluttering of the ears,
this intoxicated gaze that has forgotten
the boundary between “mine” and “another's” —
what more need I say? O Bee, you know everything!
Brother, what madness is this?
Why are you still dancing in the service
of this elephant—this fool—
whose trunk is hollow—whose hands are empty?

The skill of separating milk from water,
that sweet voice—that gracious conversation,
that soft-footed gait—the beauty of courteous speech!
O Crane, abandon all this pretence.
Friend, if only you could relax your shoulders a little
and learn to sit quietly,
why should you not be a swan in my eyes?
Beside a deserted road,
seeing an uncovered pot of fresh curd—
if the one-eyed crow,
swollen with pride,
stretching out his neck,
staggering beneath a hundred cravings,
does not follow his nature then,
when ever will he?
Now the peacocks that danced so beautifully are nowhere seen,
nor the parrots that repeated their sweet phrases;
instead, they are angrily driven away.
Now this deceitful crow,
having gained a place in the house as a bird of good omen,
takes his pleasure at will in the home of a traveller's wife while her husband is abroad.

O Camel, you are braying at the top of your voice—
alas, what a fever this sound inflicts upon the ears!
Fortunately your neck is long and crooked,

so your cry,
winding through that lengthy throat
and spending its force as it circles within,
will take a long while to roar out.
Who knows what may happen to whom in the meantime?
*So many holes within—faults of the heart—
so many thorns without—external enemies—
yet why should not the lotus-stalk's fibres—its virtues—
be tender—merely for show?
Why not?*
O Lotus, why do you conceal
your long white fibres—your stainless virtues?
It is only this: if base Lakshmi were to see them,
she would not dare set foot here.
O Hibiscus Flower,
your body is dyed with such splendour
that it surpasses even the radiance of jewels.
You were not born of mud;
you do not grow in water—you do not keep company with fools.
Had the ill-starred Creator not given you
a feeble stem—a base heart—
you alone in this world
would have been the dwelling-place of Lakshmi.

Let the cricket sit upon a roadside tree
and shrill as loudly as it pleases;
but it is the conch's sound
that makes people believe
that a voice has filled the whole sky.
The conch is but a remnant of bone—broken or dead.
In truth, it sounds only through another's breath.
Yet no sound issues from its mouth
that is not delightful,
or that does not praise something worthy.
Alas! Where have those trees gone
whose flowers matched their buds,
whose abundance of fruit matched their flowers,
and whose height matched the wealth of their fruit?
The Creator did well not to waste his labour
when fashioning the sandalwood tree.
What profit lies in unworthy fruit?
For this sandalwood tree
is excessively cool—ignorant—
bound by venomous snakes coiled around one another;
flowers—learned men—do not approach it,
and so it bears no fruit.

We tolerate venomous snakes upon the sandalwood tree;
how could anything beautiful remain unguarded?
O Khadira Tree, tell me: is it to protect your beauty
that you are armed with so many thorns?

Even what is improper may sometimes yield a good result:
why was the sandalwood tree
given neither a single flower nor a single fruit?
Even to approach it carrying a broad axe
fills us with profound shame.
This harsh and wicked palmyra tree,
burning beneath the curses of travellers,
bears fruit once in a hundred years.
Does that fruit, gained after so long a delay,
grant immortality like nectar?
Or restore youth like an elixir?
O Serpents, listen!
The sandalwood tree, friend of those scorched by heat,
in whose shelter you once took refuge,
has been cut down.
Have you forgotten the pleasure
of dwelling there each day, coiled in comfort—rejoicing in luxury?
Have you forgotten?
If you will not repay its destroyer
with the blazing venom of your fangs,
why did you not perish with the tree itself?

Was this contentment? Was it helplessness?
Or indifference?
Or greed? Or fickleness?
Or even hostility?
O ill-starred Creator, let alone a proper burden of fruit
and the splendour of flowers—
why did you not give the sandalwood tree
even unsuitable flowers and fruit?
Alas, noble tree! Why were you born at a crossroads?
Why did you grow such dense shade?
Why, after giving shade, did you also bear fruit?
And once laden with fruit,
why did you have to bow down?
Now, friend, reap the fruit of your own deeds
as people tug and shake your branches,
bend them down, and break off their tips.
Thinking, “Its root—its lineage—is excellent;
its height—its nobility—is renowned;
its shade is dense—its beauty is radiant;
it stands beside a good road—it walks the path of virtue;
good people come here—it keeps the company of the good,”
the traveller took refuge beneath a palmyra tree.
This much lies within human power;
whether it bears fruit today, tomorrow,
sometime later, or never—that lies in God’s power.

Drying my body beneath your feet,
I have spent my entire life.
Once I leave this place,

how can I live even for a moment?
So be it—farewell!
May you flourish and bear abundant fruit!
What haste have I today?
O my benefactor,
give your fruit
to my sons
or to my grandsons.
Thinking, “Let us see how he dares approach,”
the arrogant spell-casters—the ministers—
who knew only a little of the magic of clouds,
busy in mighty rites—engrossed in the grave
business of the kingdom—utterly neglected
the unconquerable enemy-cloud—the massed enemy army.
It seized its opportunity,
released its thunderbolt—its weapon—and alas,
burned the prosperous mountain village.
Bravo, destructive cloud, bravo! The wise marvel:
“Who else on earth could accomplish such a deed?”
You alone can achieve this difficult feat.
You hurl thunderbolts upon the fields
that serve the good of all,
and pour rain upon a scorched desert
that is of use to no one.

When wild cattle, birds, or any other creature were thirsty,
your rain gave them relief.
Now forget that entirely!
O Cloud, what use is your rain
to this utterly worthless, saline wasteland?
Look! Its scorched surface
has again become as hard and hostile as before.
O Ocean, are you not ashamed of that water of yours
which is used for impure purposes,
when one who comes to you for refuge
must wonder whether any other water is fit to drink
or even to use for ritual sipping?
Even women and children know
that the thirsty reject the ocean as undrinkable.
Then why does it terrify others,
with battering waves
and ranks of crocodiles with gaping teeth,
making itself dreadful?
O Ocean, why do you assault our ears
with deep roars that deafen every direction,
singing the praise of your own greatness?
A sage in this world was born from a jar.
When he grew thirsty,
even all your waters together
could not fill the hollow of his joined palms.

The reason is this:
you are the reservoir of all the waters of the three worlds.
You swell with the tide—delighting in your vast store of water—
O Ocean!
You shelter countless beings—you are large-hearted.
Yet when I come near you
and see your terrifying body, with its many waves—its threatening gestures—
I endure the torment of burning thirst,
hoping that perhaps,
at some mountain on the edge of the earth,
a tiny stream may someday give me relief.
If you will not swell up—will not grow angry—
and will listen to me attentively for a moment,
then, O Ocean, let me ask one question.
Consider it, and answer:
is this not more painful even than the subterranean fire—
that a thirsty traveller,
stunned by absolute despair,
stands staring at you?
What purity is there
in a crystal of feeble lustre?
It changes itself according to the colour
of whatever appears before it.

O Wish-Fulfilling Jewel, do not despair at the thought,
“No king on earth wears me upon his head.”
Friend, do not be disheartened.
For in this world
no head is worthy of such a blessing,
earned from seeds of merit planted in former lives,
or fit to justify your coronation.

Before one can know the value of virtue,
one must first recognise virtue.
So tell me:
when is anything truly praised in this world?
Pray, tell me!
O supreme jewel, when matters stand thus,
continue to shine—continue to endure—as long as you live.
“The world can be endured”—
to me, you are the sole embodied proof of that saying.
What Creator placed the wish-fulfilling jewel
and the straw-attracting lodestone in the same class of “jewel”?
The one never tires of granting a petitioner’s desire;
the other is not ashamed to accept even a speck of old straw.

One stands very far away;
another cannot grasp its true worth;
the proud will not beg from it;
and the dull-witted ask for trifles.
Consequently,

the wish-fulfilling jewel, ever eager to grant what is asked,
has never been able to reveal the radiance of its generosity
in those testing places
that lie beyond the reach of skill.

It bears pressure—pain—for the good of others,
and even when crushed remains sweet—compassionate;
its refined juice—its noble deeds—
is welcomed by everyone in the world.

If it cannot prosper,
but falls upon barren ground and is destroyed by misfortune,
is the fault the sugarcane's
or the worthless barren soil's?

Is there here a mango tree
bowing beneath the weight of fruit?

Is there a fragrant, shade-giving plantain
that drives away the heat?

Is there a champaka tree in bloom?

No—there are only hard shami trees here,
thinned by the grazing of fierce wild camels.

Fool, why wander pointlessly toward your death
in this windless desert?

Shame on you, dust of a base lineage! Since your birth,
have you ever done a single good deed? Speak!
Fulfil the purpose for which this wicked wind,
the charioteer of fire,
has lifted you on high:
soil the world.

Utterly hollow, weak by nature,
good for nothing—
alas, look! Today the capricious, restless wind
has turned away from mountains—from men of merit—
and raised whatever came to hand:
dry, shrivelled scraps of straw,
up into the sky, dwelling-place of the great.
Base by nature,
never counted for anything,
trampled underfoot every day,
clinging to the ground for ages—
look! Now, puffed up by the unstable wind,
these grains of dust fly in the sky,
above the lofty mountains that uphold the earth.

Shame on you, O Serpent!
It is true that you are unworthy, yet
Shiva—the king—surely
shows you affection
and makes you an ornament of his foot—giving you a place at his feet.
Do you possess some art of whispering
that surpasses the humming of a swarm of drunken bees?
Friend Serpent, why all this display?

You bear a splendid jewel upon your head,
you dwell in mountain caves,
and shed your own skin.
You sustain life on air obtained without labour.
On one side, such is your conduct.
On the other,
your movement is crooked,
your tongue is forked,
your glance is venom,
and wherever you turn, flame flashes forth.
O Ocean, do not torment these jewels
with the sharp blows of rocks tossed in your waves.
Did not the Kaustubha jewel
bring even Vishnu himself to you
with outstretched hands in supplication?

World-supporting Shesha has many heads;
his immense power is renowned;
he is a noble-born son of Kadru.
When he is angered, the world falls into peril.
His prowess is such a wonder to the three worlds
that the stigma of being born among serpents
seems wholly erased.
Blessed is that marvellous day,
even if it comes but once in an entire year,
that is spent in greatness, and whose joy
the ancestors never knew
and future generations will never know.
If a false mane is fastened to a dog's shoulders
and he is seated in the place of the lion, king of beasts,
how can he roar like that sovereign
who longs to rip open the temples
of rut-maddened elephants?

Is this worthy of your faultless aim?
*Does it arise from the setting of your arrow-feathers—from the promotion
of your own people?*
Does it accord with your preparation—with deeds done before—
or with the bowstring—with the grace of attachment to virtue?
O Arrow—O shaven-headed ascetic—what is this?
For one moment you come close to the leader's ear,
then fly from afar and mercilessly
strike down the man standing before him, cruel one!

These delightful forms that are seen
surely bear fruit
when they become objects of the eye even for a moment.
Now that the world is without light,
alas, how has the eye
become like all the other senses?
Or perhaps they are not truly alike.

When birds are summoned,
the mosquito that arrives is not driven away.
A lodestone placed in the ocean's depths
appropriates the radiance of true jewels.
The firefly is unafraid to move among luminous beings.
Shame upon such equality,
which gives no thought to genuine difference.

O Goldsmith! O wise man, victory to you!
To test an uncertain object again and again,
you place upon your scale
a golden ornament and the counterweight as equals.
O blind well, the water-pot
returned without receiving your favour.
Yet you put your seal upon your base act
by taking drops of water from its mouth.
Indeed, what can be said of the generosity
of the lodestone and of man—both alike?
Their giving and receiving extend only
to broken specks from the finest tips of straw.
If a centipede with a hundred feet
cannot cross a little puddle,
should we therefore doubt
that two-footed Hanuman crossed the ocean?
In the house of the young hunter—the greedy fool—
there is no
zeal to choose a long bamboo—no discernment to recognise
noble lineage;
no eagerness to twist the bowstring—no readiness to gather lofty virtues;
no sign of fixing an arrowhead—no hint of rewarding
the needy.
Why remain here, then?

Is there anyone who has not long been deceived
by this thing
resting upon the tip of a slender blade of grass,
thinking it might be a pearl?
Alas, it is only a drop of water.
The world sees it through delusion.
I know its truth.
Even after much thought, I cannot decide
what names to give those large-hearted men
who accept a stone as the final authority
for testing the true worth of gold,
the ornament of the whole world.
Look at this scarecrow of straw, made a ploughman to guard the field,
standing in its own true form.
Now, fearless
because of the immobility—the idleness—
of this propped-up, arrogant fellow,
a herd of deer grazes on wheat before him.

Who possesses unwinking eyes
except the gods who dwell in heaven?
Foolish fish, though you received such eyes on earth,
why did you not see the hook entering within
when you opened your mouth for the bait?

*Though he depart from the path of manhood—become a woman;
though he lose his station—descend to the netherworld;
though, when begging, he make himself small—become
a dwarf in order to ask—*
still he may redeem the world.

A king—Vishnu—has shown this path.
This small-minded demon who sells glass,
and blunders even after practising
the highly specialised art of his own lineage,
burns with envy of the jeweller
who can effortlessly string upon a thread
jewels like the sovereign Kaustubha.
She was an enemy of mice, and so the cat was brought into the house,
but she was not granted complete freedom.
Thinking, “If her belly is full,
she will not hunt them,” they never fed her enough.
What can that emaciated, silent cat do here?
What more need be said?
Now the mice run fearlessly through the master’s house.

If there is such greatness
in your natural sweetness—in your worth—then why this
coolness—this foolishness?
If your natural straightness—your candour—is so great,
why this knot—this deformity?
If your root—your origin—is pure and noble,
why are you called “mud-born”?
If these fibres are virtues,
why these holes—these faults?
O Lotus-Stalk, my friend, I cannot understand you!
Those creatures who seem to have been fashioned
and smeared with poison,
whose crooked movements—evil deeds—
are beyond counting,
whose forked tongues are made to kill the innocent,
who hide in holes—searching out faults—
those serpents,
though unable to distinguish good from evil,
carry jewels upon their hoods—placing worthy men at their head.
The noble never fall from dignity anywhere.
Put aside your anxiety!

Behold the cruelty of women!
O ill-starred Night, shame on you! You are utterly wicked!
In vain you practise this trick

of loosening the binding of your hair.
Even the insentient ocean and the rest acted fittingly
at the ending of their love,
when the indescribable moon set—
the lord of the eyes of the world.
Ah! The house's champion, the insolent lamp,
burning with fever to conquer day,
needlessly blackens its limbs—its own household.
Could it endure even the sight
of darkness's face—its very beginning—
which steals from the world
all freedom of action?
When this tree was raised high,
even the names of other trees were obscured.
The stumbling hand of God
was restrained;
the world was spared the pain to the eyes
caused by an unfamiliar sight.
Woodcutter, you did right to cut down
the mango grove that flowered out of season.

By living upon air, serpents
won the world's trust—and then caused havoc.
In return they were eaten by peacocks, who observe
the severe vow of drinking only raindrops.
Those peacocks in turn are slain by hunters
clad in the rough hide of the chamara deer.
Though this hypocrisy is plain to see,
wretched man still longs for such virtues.
He who once carried a great burden alone
over a rough and broken road,
who never tolerated another's proud bellow in his cattle-shed,
who was the ornament of the race of bulls—
now that the white bull has grown old,
shame! His price is being shouted aloud.
Abandon your improper effort!
The sky is no place for a cripple to roam.
O my noble moth!
This harmful habit of fluttering here and there
will only exhaust you.
Even Lord Vishnu cannot imagine the gust of wind
that springs from the tips of Garuda's wings,
that effortlessly shakes the boundaries of the world
and carries along its path the heavy load
of mountains torn up by their roots.

If the moon alone, amid the clamour of playful waves,
swells the waters of the ocean
and fills it with life,
how could mountain streams perform that task?
Were this not true,

the ocean would not diminish
when they rush toward it
with bowed heads and self-importance,
merely to stand as spectators,
utterly incapable of helping.
That sage who long ago drank the bottomless ocean
in a single joined palm
was hungry enough to drink a thousand such oceans
without suffering harm.
But surely this could not have been possible
without some blazing splendour?
That splendour seems present yet absent,
burning within the mighty.
Within it are stones—jewels;
it is the ornament of the three worlds;
it remains within its bounds.
Surely the moon dwells in it alone;
it fulfilled the desires of the gods;
Vishnu himself reclines upon it;
and Brahma appears upon the lotus that springs from his navel.
Yet by the decree of fate, even water—the ignorant ocean—
sinks downward to fill its belly—the caves of the netherworld.

Listeners, if you can bear it, I shall speak.
Fear not the powerful enemy; fear your own side!
When darkness attacks the horizon,
how brilliantly the stars shine!
When the sun gives light,
they cannot shine by their own strength.
There is nothing remarkable in the fact
that a fool mistook a drop of water
upon a lotus leaf for a pearl.
Hear the rest of his story:
when he gently lifted it,
it vanished at the slightest movement of his fingertip.
“Where did it fly away?”
Now, from inward grief, he cannot sleep from day to day.
He lives beside this lake.
Ah, what perfect contentment!
The swan’s heart feels not the least desire
for the lotus, dwelling-place of Lakshmi.
“It is asleep; it has not yet awakened!
Come, let us serve another first!” Saying this,
the gluttonous bees cannot endure
even a moment’s delay.

A frog croaking in anger
fearlessly raises its hand
to slap
the face of a black cobra;
and the cobra remains there,

head bowed,
eyes closed—
all this must be the sport of some mighty serpent-charmer.
This strung bow is like the gaping mouth of Death,
and its arrows like venomous snakes;
the hunter's aim surpasses even Arjuna's,
and his movement is always stealthy.
Behold the cruelty within the cunning hunter—and alas,
the sweet, enchanting song—his praise—upon his lips.
I fear the forest will be stripped of animals.
O Wind, what a grave mistake you make
when you raise up a mass of dust
that has been trampled beneath the feet of the whole world,
establish it in the sky,
and make it fit to mingle with the radiant host!
Let us not even mention that when it rises
the sight of men grows dim.
What means can erase from your body
the stain of this filth?

These ambitious men,
their eyes fixed upon the royal gate,
obsessed with begging for wealth,
are scattered by gatekeepers boiling with rage.
Learned men, detached from riches
and renouncing worldly pleasures,
rest upon the lovely bank of the celestial river.
The wind blows, mottled with kadamba pollen;
peacocks, enemies of serpents, dance;
terrible clouds heavy with fresh water roar.
Seeing me desolate,
sinking in the fire of separation from my beloved,
O Lightning, cruel one, why do you flash? Are not
you and I both women?
The one who gave you life—hope,
who raised you upright—gave you mighty promotion,
who carried you upon his shoulder—kept you in his army
for so long,
who worshipped you—honoured you—
in a single instant, merely
with one secret smile, you take his life.
Brother, you are gratitude incarnate,
behaving entirely like a demon!

Every direction is encircled with ropes;
the water cannot be crossed because of poison;
the ground is dug up, the thickets set ablaze;
a hunter with bow in hand clings close behind him.
Where can the leader of the herd flee?
Thinking, "This is the sole storehouse of water,
a mine of jewels!"

I approached the ocean, my heart trembling with thirst.
Who could have known that the sage Agastya
would drink it up in a moment
from the cavern of his joined palms,
together with all the shoals of fish it contained?
Seeing the silk-cotton tree's vast, eye-enchancing flower,
the parrot thought:
"Its fruit too will surely be this marvellous!"
He sat there for a long time, and at last
a fruit appeared.
When it ripened,
there was only cotton within,
and the wind carried even that away.
O abode of Vishnu,
benefactor of all,
fulfiller of the gods' countless desires,
gleaming white with masses of moonbeams—
alas, Kalakuta Poison!
How were you born from that ocean?

Before the wish-fulfilling tree,
skilled at banishing the sun's heat
with the dense canopy of its fruit-laden branches,
would even a foolish beast seeking shade
be attracted
to a withered shrub?

THE GREAT POET KSHEMENDRA

THE PAGEANT OF DECEITFUL ARTS

Kalavilasa

CANTO 1

The Portrayal of Hypocrisy

*There is a vast and magnificent city
whose palaces are blessed by the refining touch
of wealth
and glitter with riches.*

*It resembles the broad breast of Vishnu, Lord of Lakshmi—
the delightful resting-place of Lakshmi's lovely embrace,
radiant with the Kaustubha jewel.*

A city where world-bearing Shesha seems
tirelessly to support the palaces,
reflected in many forms though he is one,
through the splendour of hanging strings of pearls
mirrored upon jewel-inlaid floors.

Where palaces standing in rows shine
with the sharp brilliance of crystal,
shameless thieves of the goddess Night's black veil,
and a danger to women stealing away to their lovers.

Where Kama, god of love,
inclined to behave like a moth,
is drawn toward the leaping flame
that issues from Shiva's third eye,
yet is nourished by the nectar of beauty
in the faces of moon-faced women.

Where a constant breeze blows,
laden with drops of perspiration
from the weariness of lovely, uninhibited women
exhausted by the sport of love,
and perfumed with the fragrance of flowers
fallen loose from their hair.

Where the sweet cries of wild geese, their voices warm
because their beaks are filled
with buds and fresh leaves,
spread across the lotus ponds
like the jingling anklets of Lakshmi.

Where the rainy season seems to have halted,
with rainbows and masses of clouds
made visible in rows of emerald fountains,
and with tame peacocks dancing.

Where women with the eyes of young does
shine upon crystal pavilions
wrapped in moonlight,
like celestial nymphs born from the churned waves
of the ocean of nectar.

There lived the supreme repository of every deceit—a cunning
man named Muladeva, accomplished in a hundred
unmatched forms of trickery. Villains whose livelihood
depended upon the prowess of his intelligence gathered around him
from distant lands. He acquired immeasurable wealth,

as a universal emperor rejoices in fame
won through his own natural excellence.
One day, after dining, he sat with men of refined taste
in the assembly hall, when a caravan-master
came to him and presented a jewel-studded vessel of priceless worth.
Bowing his head, Hiranyagupta, accompanied by his son Chandragupta,
was given a seat and fitting honour. After a little
rest, he broke his silence:

“Alas, before you my speech,
which assumes the shamelessness of familiarity,
does not dare grow too bold,
like a village maiden newly come to the city.
The vast, shining rays of your knowledge,
holding within them the wisdom of Brihaspati,
offer hope of dispelling blindness,
as though you were a radiant brother of the sun
who dims the planet Jupiter
and frees the directions from darkness.
Since birth I have amassed a treasury
filled with many kinds of jewels, pearls, and gold.
Now, in the evening of my life,
an only son has been born to me.
Childhood is a condition of folly;
youth is mental derangement born of love;
and the survival of accumulated wealth
is as uncertain as a drop of water
upon a lily leaf,
trembling in the wind.
Enchanting maidens with doe-like eyes
are always wicked, like female bees
hidden within the lotus of sensual pleasure.
This chain of calamities has descended upon my son.
Indeed, there is no escape for a ball in a swindler’s hand,
for a jewel set in a courtesan’s anklet,
or for the innocent heir of a wealthy house.

The uneducated are like fledgling birds,
chirping without regard for time or place,
hopping though they do not yet know how to walk,
and becoming prey to cat-like swindlers.
O wise teacher, this son of your suppliant
who is truly no less than a second son to you:
bestow upon him your highest wisdom,
so that he may not be ruined!”
Understanding that the man had made his request with hesitation,
Muladeva addressed him with a courteous bow;
his lips opened to release a flood of goodwill:
“Let this son of yours live in my house
as though he were my own. Through effort, little by little,
he will understand the entire inner essence of deception, which I

shall teach him.”

Following the instruction, the wise caravan-master entrusted his son to Muladeva's house, bowed to him, and returned in happiness to his mansion.

*The sun slowly began to vanish from sight;
the splendour of his rays diminished,
glimmering in the dusk with blurred outlines,
like a gambler whose face has turned ash-grey,
whose control over his hand has weakened,
who has lost even his clothes,
and, finally stripped by swindlers, loses all his wealth.*

When the sun had set,
a half-light shone upon the summit
of the western mountain of the horizon,
as though the crimson glow of a veil of red vermillion
had clung to the elephant of darkness.
Though abandoned day after day,
the beauty of Day follows the sun-god.
Twilight does not, though she is his beloved.
Who can understand a woman's heart?
When the passionate redness of twilight
slowly dissolved
into the lotus-pool of the courtyard of the sky,
her paramour, Darkness,
fearing in confusion that it announced
the arrival of her husband, the Sun,
wandered anxiously, finding no firm footing.
The earth seemed covered with darkness,
as though she had fainted
from separation from the sharp-rayed sun.
For a steadfast and radiant lover
is dear.
The night was magnificent,
like a forest-dwelling Shabara maiden,
adorned with a necklace of pearls
strung from the brightest stars,
and wrapped in a cloak of peacock feathers
woven from dense darkness.

Then, little by little, the light of the moon, maker of night, arose,
scorching the wives of men gone on distant journeys,
heralding the awakening of night-blooming lilies,
and teaching separation to the female chakravaka birds.
The lord of night shone forth,
the white parasol of the god of love,
the crystal mirror of the goddesses of the directions,
a bright mark upon the brow
of the beautiful lady Darkness.
The maker of night gleamed with pale beauty,
like a royal swan standing

upon the bank of the celestial Mandakini,
shimmering within a halo
of threads spread all around from his own rays.
The dark night grew beautiful through the moon,
love through night,
the spring festival through love,
and the charm of doe-eyed maidens,
their minds gladdened by wine—thrilling with desire—
through the spring festival.
The wanton bees, friends only in times of pleasure,
abandoned the lotus that had lost its glow
and, in frenzy,
fell upon clusters of blooming lilies.

Night shone
like a female ascetic bearing a skull,
gleaming in ashes made of moonlight,
holding a lovely skull-bowl
formed from the charming crescent moon,
and wearing a necklace of bone-fragments made from stars.
When the countless rays of the full moon
had fully revealed themselves
in the inner garden of his jewelled palace,
Muladeva,
rising from meditation, calm and composed,
sat upon a crystal seat
with his inseparable friend Shashin.
His disciples, Kandali and the others,
were present beside his footstool.
Looking at the caravan-master's son, who had long waited before him,
Muladeva spoke; the beams issuing from his teeth
seemed to make the moonlight disappear
in shame.
"Son, hear the exceedingly crooked
inner essence of every fraud practised by swindlers. Once it is understood, wealth,
usually as fickle as a momentary flash of lightning, becomes stable.
In this thicket called the world there is a pit
hidden by grass, shoots, and a web of creepers,
into whose bottomless hollow innocent deer fall.

That treasure-pot—that funeral urn—is named
"Hypocrisy,"
and is bottomless by nature.
In this world its mouth is covered
by entwined, wicked serpents.
For the wicked, hypocrisy is a secret spell,
a wish-fulfilling gem that satisfies every craving, an occult power,
a means of bringing the goddess Lakshmi under control.
Who can understand the course of hypocrisy,
which is like the movement of a fish,
always submerged beneath water?

Indeed, it is difficult to understand the movement
of that which has neither hands, feet, nor head.
A snake is caught by the power of a mantra,
a trusting deer by a hidden snare,
a bird by a net spread upon the ground,
and a human being by hypocrisy.
Hypocrisy is triumphant,
terrifying the hearts of men:
the stupor born of delusion that oppresses the world,
a pillar of fraud,
erected as a monument to universal conquest,
perpetual unconsciousness,
the incarnation born of pretence.

Hypocrisy is the hub
of the vast wheel of false reasoning,
with a thousand crooked spokes
of intolerable absurdities,
ceaselessly rolling along the path of corruption.
With closed eyes grown rigid,
water dripping from hair soaked
by a long ritual bath,
the tree of hypocrisy
makes ritual purity its flower
and bears fruit
upon hundreds of branches formed by uplifted hands.
From the austerity of observing vows
arises the heron's self-satisfaction;
from the austerity of drawing in the limbs,
the turtle's peculiar self-satisfaction;
from the austerity of staring with feigned detachment
upon the road,
the cat's dreadful self-satisfaction.
Heron-pride is chief among false religious practices;
turtle-pride is king;
but cat-pride has assumed the sovereignty of an emperor.

Men with trimmed nails, beard, and hair;
men with a topknot, matted locks, or a long beard;
men obsessed with smearing great quantities of earth upon the body;
men with compressed lips, men wearing shoes;

a man who ties a hemavalli cord
over his thick-knotted sacred thread;
a man who looks as though
he carries a case in his hand,
because his arm has become fixed
by the edge of a garment tucked beneath his armpit;
a man who displays his learning through endless quarrels,
refusing with hesitation and hand gestures;
a man whose lips constantly move with muttered mantras

in the middle of a crowd;
a man sunk in meditation
upon the city's main road;
a man who, at a sacred ford,
puts on a display of the torment of a harsh midwinter bath,
chattering his teeth and hissing,
taking endless plunges,
washing his face according to rule
with hands curved like joined palms
in a theatrical gesture;
a man whose constant dust-baths
are revealed by the rubbed rawness of his entire body;
a man whose worship of the gods,
complete with every ritual,
can be recognised by the enormous sectarian mark
smeared upon his forehead;

a man who wears flowers upon his head
that seem like a crow's eyes swaying right and left—
any such man should be recognised as a hypocrite.

The hypocrite is a villain who bows to the unworthy,
acts proudly before the worthy,
feuds with his own relations,
and treats a stranger like a kindly kinsman;
he is a man famished for fame.
When he needs assistance in some undertaking,
the cruel hypocrite bows his head
and wins a man over with a hundred flatteries.
But the moment his purpose is achieved,
he knits his brows and falls silent.
Long ago there was a demon named Jambha, son of Diti,
who checked the prosperity of the gods.
Now, upon the surface of the earth,
he dwells in the hearts of creatures
in the form of hypocrisy.
The pretence of purity,
the pretence of silent renunciation,
the pretence of the ritual graduate,
and the pretence of lofty meditation—
all these do not equal even a hundredth part
of the pretence of detachment.

A man afflicted by the pretence of purity

*argues perversely about pure and impure,
wastes cleansing earth,
refuses to touch his own relations,
becomes the enemy of everyone,
disputes the distinction
between purity and impurity,*

*builds an ascetic hut of clay,
separates himself from the people of his own family,
and thus becomes Vishvamitra incarnate.*

The pretence of non-violence is an ever-burning
subterranean fire that reduces all to ashes,
destroying every kind of creature—and every possession—
and thirsting for the water of accumulated wealth.

The ritual graduate may be a bald man,
a fat man,
a man with a withered body,
or a man who looks like a sage;
a man with cloth wrapped around his head,
or a man in apparent distress,
because his tall topknot
juts out like a mound in a cremation ground.

The pretence of lofty meditation
is a serpent with gaping mouth
that spreads through every land.

*It may be blunt-nosed—a shaven-headed ascetic;
coiled around itself—an ascetic with matted hair;
without markings—a naked ascetic;
hooded—a parasol-bearer;
hard—a staff-bearer;
with a red band—one clad in red robes;
or with an ash-white body—covered in white ashes.*

Greed is the ancient father of hypocrisy,
Illusion its mother,
Falsehood its full brother,
Distortion its wife,
and the jeering cry “Hmph!” its son.

Long ago, the self-born Brahma created the worlds
and the orders of living beings. Thereafter he
withdrew from every action and remained for a long time
in meditation. With divine sight he saw that the self-reliant
people of the human world
had failed to obtain the pleasures of wealth and the rest, because of their special
attachment to plain and honest conduct. Closing his eyes, he immediately
sank into profound meditation endowed with the power
of cosmic illusion. To ensure human prosperity, he created Hypocrisy
as a vessel of prestige.

Carrying a bundle of purifying kusa grass,
a burden of scriptures, an empty water-pot,
a deer’s horn crooked like his own heart,
a black-antelope skin, and a spade;
with thick bunches of sacred grass
tucked behind his ears;
with a patron’s ritual ring upon his hand;
the root of his topknot on his completely shaven head
encircled by white flowers;

his neck stiff as a plank,
his lips restless with muttered mantras,
his eyes dulled by yogic trance,
a rosary of rudraksha beads wound around his hand,
and a large vessel of cleansing clay in his grasp;
though silent, revealing every desire hidden in his heart
through furious sidelong glances and grimaces,
growling and knitting his brows,
and through every form of irritability;
careful not to touch another;
believing purification necessary
even in the heaven of Brahma's world—
Hypocrisy stood before the Creator, awaiting a seat.
At the sight of him the Creator,
who had effortlessly brought forth the entire order of creation,
began to tremble,
his body thrilled with extreme distrust.

Even the Seven Sages,
overwhelmed by the mighty effect of Hypocrisy's vast display,
stood bowed with folded hands.
When Agastya seemed swallowed by astonishment
at the exceedingly severe renunciation of Hypocrisy,
Vasishtha, ashamed of his own meagre store of austerity,
bent his back.
Kautsa shrank as though accused
for the excessive simplicity of his vow of silence;
Narada began to regard his own undemonstrative austerity
as insignificant;
Jamadagni hid his face
between the peaks of his own knees;
Vishvamitra trembled with fear;
Galava's neck began to sway;
and Bhrigu was crushed with shame.
The four-faced Creator realised
that Hypocrisy had been standing for so long,
fixing an angry stare
upon Brahma's lotus-seat.
He stood motionless as though impaled,
every limb rigid with excessive pride.

Understanding that he wished to sit,
Brahma smiled and said to him,
as though turning his vehicle, the white wild goose,
into being with the brilliance of his teeth:
"Son, sit upon my lap.
You are worthy, for your extraordinary
and steadfast self-control
accords with a gravity born of many virtues."
Hearing this from the Creator of all,
Hypocrisy, without hesitation and with an air of disgust,

sprinkled a palmful of water upon his lap
and sat down while displaying discomfort.
Hypocrisy said:
“Do not speak so loudly!
If you must speak,
cover your mouth with your lotus-hand,
so that I am not touched
by particles of breath
issuing from your mouth.”
Then, seeing his incomparable purity,
Prajapati, the Creator,
shining with the radiance of a delighted smile,
snapped his fingers and said:
“You are indeed Hypocrisy—a fraud!

Rise and descend to the earth,
encircled by its jewelled girdle of oceans,
and enjoy its pleasures
in such a form that even the wise cannot recognise your true nature.”
Dismissed with due ceremony and honour,
he descended to earth,
tying stones around the necks of men
condemned to drown in the sea.
Having reached the human world,
Hypocrisy wandered through forests and cities.
He planted his banner of victory in Bengal
and advanced in every direction.
Hypocrisy dwells in the speech of the people of Balkh,
in the austerities and vows of the people of the south-eastern region,
among the officials of Kashmir,
and throughout Bengal.
Those who make a forehead-mark from ashes
obtained from any source whatever,
as though it were a magical powder
at a richly endowed ancestral rite,
are helpers of Hypocrisy.
Hypocrisy swiftly divided—and devastated—
the beings who dwell upon the earth
into thousands of classes—imposing a thousand levies—
and himself took bodily form
in the mouths of officials.

First of all, Hypocrisy himself entered
the hearts of religious teachers;
then the crooked hearts of provincial governors,
the hearts of ascetics,
of commissioners,
and of initiates.
Then he entered the hearts of astrologers,
physicians, servants, merchants,
goldsmiths, actors, mercenary soldiers,

singers, storytellers, and acrobats.
Dividing himself while assuming many forms,
Hypocrisy entered the hearts of every moving creature;
then he entered birds and trees as well.
The heron-ascetic struts at sacred fords,
hungry for fish,
standing motionless on one leg;
through him Hypocrisy reached even the birds.
That trees possess many tangled roots,
that they wear bark,
and, in hope of bearing fruit,
are forever beaten by cold, heat, and rain—
this too is the influence of Hypocrisy.
Therefore one must always beware of Hypocrisy,
who has entered all and destroys all.
When his various forms are recognised,
the magician's spell is broken.

This diversity of Hypocrisy is a wish-fulfilling tree
before the world of swindlers.
Long ago Hari conquered the three worlds
through the pretence of his dwarf incarnation.
Thus ends the First Canto,
entitled "The Portrayal of Hypocrisy,"
in The Pageant of Deceitful Arts,
composed by
the great poet Kshemendra.

CANTO 2

The Portrayal of Greed

Beware of greed—
the danger of the greedy is evident everywhere.
A man blinded by greed
cares nothing for right or wrong.
Greed,
*the wicked frenzy of hoarding—a demon hidden
in a fortified treasury—*
is capable of anything
and is the root cause
*of fraud and deceit—of a counterfeit treasury;
of every kind of evasion—of obstruction;
of adulteration—of a blind turning;
and of false settlement—of a magical boundary.*
Defeated by men learned in scripture, energetic,
virtuous, calm, and ascetic,
Greed entered its burrow:
the crooked hearts of merchants.
A merchant is truly a robber in broad daylight.
He takes delight in plundering people
by withholding deposits,
using underweight measures,
and practising sleight of hand
in buying and selling.
All day long
the merchant lightens the customer's wealth
through every sort of fraud and device.
But he becomes distressed at spending three cowries
to maintain his own household.

A lover of stories,
he always runs to hear
the recitation of sacred texts.
But from the duty of giving charity he flees
as though bitten by a black cobra.
On the twelfth lunar day,
on the sacred day of the ancestors,
at the sun's transition into a new sign,
during an eclipse of sun or moon,
he bathes at length but gives not a single cowrie.
Exactly like a thief,
*he scans the directions—keeping watch;
is alarmed by a beggar—startled by a questioner;
hides behind a curtain—changes disguise;
takes winding lanes—behaves suspiciously;
and runs upon the broad road—fleeing
by a secret path.*
The miserly merchant remains silent and gives no answer
to the man bargaining over a sale. Only when he sees

someone carrying money to be deposited in his hand
does he begin to speak.
At once, seeing a respected person with deposit-money in hand, he rises,
bows, asks after his welfare,
offers him a seat, and begins to relate a sacred tale.
A man comes to him and says, "Brother, I am going abroad
and wish to deposit my money with you. But
this morning, according to astrology, the inauspicious
Vishti Karana prevails. Should I do it today?"

Hearing this, he widens his eyes and acts
anxious. His gaze darts toward business, he repeatedly
casts sidelong glances, and says:
"Sir, this establishment is at your service, but
keeping your deposit for a long time will be troublesome; the time
and place are adverse. Alas, I am only your servant. This half-day
of Bhadra is not inauspicious; it is said to
ensure the safety of deposited wealth. You know, of course, that
men skilled in business have confirmed this hundreds of times.
Some time ago a friend of mine deposited money on a Vishti day.
He soon returned and, little by little,
withdrew every bit of it safely."
Thus, speaking meaningless words in a confidential tone to the innocent man,
he takes the store of gold, instrument of all his desires,
and begins to dance.
Gaining countless profits from trading that worn gold
and heaps of goods through exchange, he
laughs mockingly at Kubera, god of wealth.
The miserly merchant's jars of money,
filled with accumulated riches,
are wasted in vain—sinking away—
without being used for any noble purpose,
producing sorrow,
just like
the breasts of a young widow.

Merchants are loathsome, fat rats
infesting the decaying palace of the world.
Forever watching for an opportunity,
they hide gold away
beyond the reach of both enjoyment and charity.
Bearing the title "Lord of the City,"
like a serpent guarding treasure,
he moves with a stooped body—crawling crookedly;
wrapped in a cloak—covered with scaly skin;
swollen with a clearly visible hood,
formed by bright cloth wound high like a crest.
The ill-fated man who had deposited his wealth
wandered to the end of the earth. Having lost both money and kin,
after a very long absence
he managed to return to his own country.

Filled with apprehension, he asked someone, "Where has that wise merchant gone?" A man came near and said, "Friend, his condition has completely changed these days! Chalk in hand, he constantly calculates crores by the hour from the trade in new fabrics, musk perfume, sandalwood, camphor, pepper, and betel-nuts.

He lives in splendour in the city, in that marvellous palace, high as Mount Meru, whose white walls are adorned with murals. Even the ruler of the city honours him."

Hearing this, the man went to the merchant's house, his head spinning in utter amazement. Stunned, not knowing for a long time what to do at the gate, dressed in torn and tattered rags, he stood there.

From the latticed window at the summit of his high palace, the merchant recognised him. His mind went numb; his breath stopped, as though a thunderbolt had struck his head.

When he found a moment without a crowd, the man hesitantly approached him, refreshed his memory, and asked for his money.

The merchant turned away his eyes, knitted his brows, waved a finger, and said to him:

"From where has this livelihood-less, wicked wretch come, speaking lies?

Who are you?

Whose son?

I do not remember ever seeing you.

How could I have spoken with you?

What? When? Where? How?

Speak plainly!

Who gave what to whom?

Alas! Look at the condition to which this accursed Age of Kali has come. This madman demands money—or else people will hear of this affair. In my lineage of Haragupta, even accepting deposits is unheard of; let alone the treacherous, capital accusation suggested by such a stain.

Yet, on the other hand, how can a great man simply ignore one who insults him with such a charge? Tell me, what day was it? Everything from that day is written down. See for yourself! I am old now. I have handed the burden of management to my son. Whatever I wrote, he surely knows." Having said this,

the merchant showed him the way out. His resolve wavering, the man went to the son.

"Father knows!"

"My son knows everything I wrote!"

Thus he was sent rolling like a ball back and forth without end.

When he reached the gate of the royal court

and began a solemn fast unto death, the merchant endured the king's anger, yet surrendered not even a fraction of the money.

The king had him tormented by every kind of instrument of torture, yet he kept saying only, "Nothing was ever entrusted to me!"

The extremely greedy are like the subterranean fire, thirsting for the salt water of wealth.

They will cast away their own bodies like scraps of straw, but not the smallest portion of money.

Long ago, when he needed wealth, Shukracharya went to his childhood friend Vaishravana, god of riches and lord of all the abundance of the treasury, and said:

"Friend, your vast fame, surpassing the glory of gods and demons, brings perfect joy to your friends and sorrow to your enemies.

Friend, you are the god of wealth, but I am poor, crushed beneath the burden of a vast family. A friend who remains steady in both happiness and sorrow and has become financially independent is praised.

It is wholly fitting that the wealth of great men, attentive to their fame, should be used by their friends, upon whose generosity the needy depend, and who were born in distinguished families.

Abundant treasure and a true friend are both obtained by accumulating an extraordinary store of merit. In prosperity the friend is carefully protected, and in adversity he protects us."

Thus the preceptor of the demons spoke his heart in private with complete sincerity. The god of wealth was caught for a long time between affection and greed, and at last said:

"I remember you as the friend of my childhood with boundless affection. Yet I cannot bring myself to part with even the smallest amount of wealth, the very essence of life.

A kinsman is one who demands affection; a friend may be won by every kind of favour; a wife and son are easily obtained—wealth alone is difficult to obtain in this world.

Giving wealth away is an act of extreme rashness, surrounded by difficulties, and an astonishingly reckless courage. Even a man prepared to abandon his body cannot abandon a little wealth."

Rejected by the god of wealth, Shukra departed with a withered face, his hope shattered. His mind reeled and

his body stooped with shame.
Returning home, he planned with his ministers for a long time.
Then the great yogi magically entered the heart of the god of wealth
so that he might seize all his riches.
Possessed by Shukra, Vaishravana's body
became marvellously generous, and he gave away all his wealth
to Brahmins allied with Shukra.
After emptying Kubera of every treasure,
the preceptor of the demons came out. Then the god of wealth
understood the conspiracy and grieved for a long time.
Holding his head in his hands, he deliberated about Shukra's magic
with Shankha, Mukunda,
Kunda, Padma, and the others, and lamented with hot sighs:
"An exceedingly greedy magician disguised as a friend
has cheated me. Wicked Shukra knows my weakness,
and I know his; supported by the demons,
he is unconquerable.
Now, suddenly deprived of wealth,
I have become as worthless as a scrap of straw. To whom shall I
tell my sorrow? What shall I do? Where shall I go?

Servants abandon a man who has no wealth.
A man without servants is humiliated.
The body of a humiliated man becomes a heavy burden,
a harmful curse.

Alas! When wealth—or life,
which embodied beings hold dear—
the watering-basin for the creeper of righteousness,
is destroyed, everything is destroyed.
A wealthy man becomes everything:
wise, handsome, honoured, famous, noble, heroic;
but without wealth,
even a virtuous man falls into disgrace."
The unbearable grief of losing wealth was a fire
that had dried up the god of wealth's hope. After long deliberation with his ministers,
he sought refuge
in Lord Shiva, who had long been his friend
and is an accessible refuge for all. Learning what had happened, Shiva
sent his messenger to Shukra.
Summoned by the messenger, Shukra appeared at once,
shining with the splendour of wealth and wearing as a crown
his hands joined in reverence. Shiva, destroyer of the Triple City,
said to him as he stood before him:
"Ah! Though you know your duty perfectly,
you have cheated this friend of yours, the god of wealth.
Even a selfish ingrate does not go so far as to harm a friend.
Good sir, who has ever deceived an affectionate, innocent, trusting friend
as you have, with no concern for his own fame,
straying from his station?

Does this accord with your learning? Is it consistent with your vow?

Is it worthy of your lineage, O wise man,
that you have performed an act born
of contempt for virtue?

Was it the observance of prudent conduct,
the practice of tranquillity, your teacher's instruction,
or your inborn generosity that made you
a swindler?

To whom is wealth not dear? Who is not enchanted by it?

But one who longs for the wealth of noble fame
does not seek property by improper means. No, no!

Do not stain the entire spotless lineage of Bhrigu
with the blemish of greed. The cloud of greed
is the enemy of the swan of stainless renown.

How wicked among the wicked is the man
who casts away immortal fame and chooses wealth,
which is like a drop of water
blown by the wind?

He who strays from good conduct
and cheats another through crafty cleverness
only cheats himself, the fool,
erasing the merit earned before.

For one who has fallen
and whose fame is stained,
fortune,

delicate by nature
like a newly sprouting creeper,
withers in the smoke
rising from the poison-tree of ill repute.

Indeed, the spotless fame of a good man
is a flawless crystal mirror made flesh,
which cannot remain unclouded
by the sighs of those wounded by humiliation.

Atone for this improper and loathsome deed committed in folly
simply by returning that wealth
which belongs to another.

With your own hand wipe clean your stainless fame, soiled by the dust of censure!

Heed my words! Give up
another man's wealth!"

Though Shiva, god above the gods and teacher of the three worlds,
thus reasoned with him in a tranquil voice,
Shukra, steadfast in his craving for another's wealth,
joined his hands and said:

"Lord, who would be so foolish as to disobey your command, enthroned
upon the countless crowns of the greatest gods,
unless poverty had robbed him
of sound judgement?

A wretch in whose house servants, wife, and sons
writhe in despair—what thought of right or wrong will he give
while gathering wealth?

I always regarded the god of wealth as my friend
 and my refuge in adversity. A mighty hope
 had taken firm root in my heart.
 Swallowing my pride, I went to him and asked,
 yet shamelessly he cut down my hope
 with the blade of refusal.
 That villain ignorantly shattered my hope,
 wounded me without a weapon, burned me without fire, and killed me
 without poison.
 Therefore he is my enemy. To deceive an enemy is equal to merit,
 not sin. Wealth gained by a poor man,
 even through deceit, lies beyond blame.
 I need not surrender a single grain of wealth, for
 you yourself rightly said that fame—or wealth—
 is the spark of life. To abandon wealth is to abandon life.”
 Though repeatedly entreated, the preceptor of the demons continued
 to evade the matter in this way. Enraged by his obstinacy,
 three-eyed Shiva suddenly swallowed him.
 Within Shiva’s belly, in a dreadful cavern filled with the fire of dissolution,
 Shukra’s body was cooked. He screamed and uttered curses.

“Give up the wealth!” Shiva said again and again.
 Shukra replied, “Lord, let me die! I will not return
 the god of wealth’s riches.”
 Then Shukra fell deeper into the terrible depths of Shiva’s entrails,
 where thousands of surging flames, intensified by yogic trance,
 were fearsome, and he wailed aloud.

The Lord of Gods said to him, “Stubborn wretch, give up
 another’s wealth! Do not perish in the subterranean fire
 of the ocean that is my belly!”
 Shukra answered, “Death in this forest fire is dearer to me,
 though it blazes on the marrow and fat of my bones
 bursting in the excessive heat. So long as breath remains,
 I shall not surrender even one cowrie.”
 Shiva’s yogic fire and the fierce fire of dissolution
 flared still higher. Then, in life’s final
 moment, Shukra composed a hymn
 to the Goddess.
 Pleased by the words of his praise, Gauri
 lovingly calmed Shiva. At Shiva’s command Shukra regained stability
 and emerged in the form of Shiva’s seed.
 Thus those greedy by nature will not relinquish wealth
 even under dreadful torture, just as a base wretch
 cannot relinquish inborn dishonesty.

Therefore the art of fraud born of greed—a delusion
 that moves along a crooked course—dwells in the heart of the greedy.
 One who is not greedy does not cheat.
 Thus ends the Second Canto,

entitled “The Portrayal of Greed,”
in The Pageant of Deceitful Arts, composed
by the great poet Kshemendra.

CANTO 3

The Portrayal of Desire

Sensual pleasure, through its attraction,
somehow makes attachment appear delightful.

It sweetly destroys life,
like poison swallowed with honey.

*The elephant—a man—
maddened by rut—inflamed by desire—
whose streaming ichor is revealed by swarms of bees humming all around,
drawn by its fragrance—
by the jingling rows of fragrant bangles—
and who brings fitting and abundant gifts,
is quickly bound by the hind legs—embraced
by women.*

Does not the mighty elephant—the lover—
deprived of free movement—blinded by sensual pleasure—
deceived by affection—tricked by the god of love—
endure kicks?

*Have his tusks cut—endure bites of the teeth?
Be driven by the goad—endure scratches of the nails?
And be bound in iron chains—entangled
in the coils of lovemaking?*

Women make a man,
emasculated by grave vices,
trained to obey the command of a raised eyebrow,
defeated by sensual pleasure,
dance like a tame peacock.

*In the enchanting darkness of night, women intent
on attracting lustful men
cleverly steal the hearts of the innocent,
just like demonesses
intent upon drinking blood,
who through sorcery seize the hearts of their blameless prey
in the depth of night.*

There is no escape for one who falls under a woman's power,
for women are snares
for the deer of lustful men;
a mass of chains and fetters
for the elephant of the heart;
and a flourishing tangle of the weed of attachment.

Even a man who knows the true Self,
who understands the strange delusion of birth and death,
the magic-net of Shambara,
and the illusion of Vishnu,
cannot understand a woman's deceit.

Their bodies tender as flowers,
their hearts hard as slabs of diamond—
what inner being is not tormented
by women of such strange conduct?

A woman is the enemy of the man who shows her affection;
she despises the obedient,
is enchanted by the indifferent,
honours the words of a swindler,
and is inclined to speak falsehood.
Only that man retains authority over his household
whose wife is not a meeting-place for the coming and going of many people,
whose limbs are not skilled in the gestures of glances,
and who is not a banner announcing the destruction of patience.
A woman overturns an entire basket
of the household's rubbish
upon the face of the husband
who, stupefied by delusion,
remains silent and witless.
In a loving, sweet voice with deliberately indistinct syllables,
the woman who rules the house,
as though naturally an innocent girl,
asks her dull-witted husband
for the orb of the moon as an ornament for her forehead.
A fickle woman exhausts herself
coming and going, amusing herself as she wishes
with lovers,
under the pretext of visiting holy places.
Her husband, deceived by her manufactured modesty,
then massages her feet.

She loves one man with a glance of the eye,
another with words,
a third with gestures,
and another with her body—a woman is many-formed by nature.
A doe fickle toward her own stag,
a female bee settled upon another's tree,
an outcaste by nature,
a wave of false coquetry,
a crooked serpent—
to whom does she finally belong?
In private a woman always sighs and says:
“Blessed is the courtesan,
who freely enjoys union with many young men!”
Her course is beyond conjecture: sometimes she remains in the palace,
singing and looking down toward the street whenever she pleases;
or runs or laughs without cause,
as though wearing a necklace of crystal beads.
“Like a beast,
this husband of mine knows neither what to say nor what to do—
nothing at all.”
Saying this to the household maids,
the woman takes the man's business into her own hands.
That wife,
whose living husband is as good as dead,

welcomes visitors,
goes out herself on ordinary errands,
and issues loud commands in the house.

The wife of a jealous old man,
the wife of a servant,
or the wife of a commissioner;
the wife of an artisan or artist,
the wife of a libertine,
the wife of a caravan-master;
a woman who constantly attends public gatherings,
a woman who by nature loves young men;
a woman who repeatedly enumerates the merits of other men,
and continually lists the faults of her own husband;
a woman who spends greatly though poor;
the wife of a handsome or an ugly man;
the wife of an innocent man;
a woman proud of her mastery of every art;
a woman excited by the company of the low;
a woman forever absorbed in gambling and drink;
a woman skilled in singing modes and melodies;
a woman adept at songs and long tales;
a woman whose female friends have many love affairs;
a woman who naturally takes the side of bold men;
a woman who neglects household duties;
a woman with a great store of clothes;
a woman permitted to leave the house freely;
a woman who answers shamelessly;
a woman without fidelity to truth;
a woman shameless by nature;
a woman interested in enquiries after welfare,
health, and social chatter;
a woman whose speech is softened by affection;
a public Savitri of wifely devotion, but secretly

immersed in the net
of every form of lovemaking;
a woman eager to attend sacrifices;
a woman who visits sacred fords, temples, astrologers,
physicians, and relations,
as though she were independent;
a woman who arranges costly festivals of worship
with food and drink;
a woman devoted to monks and ascetics;
a woman abandoned by her relations;
a woman attached to pleasant things;
a woman who wishes to behold idols and receive initiation;
a woman who, though far from her lover,
dwells with him in meditation;
a woman whose friends amuse themselves
at social gatherings;

a woman who entertains through her speech;
a woman with clattering shoes;
or a woman wearing sacrificial grass around her neck—
such a woman should be known as unrestrained in conduct.

Women are the evening sky,
always fond of vice—forever reddening the night;
deluding—delighting—men;
possessing many males—filled with many planets;
unstable—lasting only a short while.
They are cruel demonesses,
beautiful with red cheeks—painted
with the life-light of blood.

For whom will that innocent man,
obedient to a woman's slightest wish,
who has lost his dignity
by becoming unmanly
and remains oppressed among women—
not become a beast of burden?
Boasts of courage in love
and many grand claims of gifts bestowed upon the unworthy
are enough to enchant a woman
without spell or talisman.
Who does not tremble at the cruel deeds of a woman
who roams by night
in a night black as the age of strife
and knows a thousand sorceries?
Once there lived a world-renowned merchant named Dhanadatta,
whose splendour surpassed that of the god of wealth.
Like the ocean, he was a treasury of jewels.
He had a beautiful daughter named Vasumati,
as though the glory of the god of love had taken bodily form.
With the restless movement of her eyes
she had conquered the directions.
Being sonless, he made his beloved daughter his heir
in place of a son, and married her to the merchant
Samudradatta, his equal in wealth and noble birth.
Samudradatta remained for a long time in his father-in-law's palace,
enjoying the pleasures of love with the doe-eyed maiden.
Then the time came when he set out upon a journey
as leader of a trading caravan bound for foreign islands.

While her husband was abroad, the young woman
climbed to the summit of her father's palace
and amused herself with her friends upon the pleasure terrace.
Standing among the turrets, the large-eyed woman
saw upon the road a man as handsome as the god of love.
At the very sight of him, her self-control,
angered by improper thoughts, seemed to depart far away.
Her eyes trembling, the woman lost all judgement,
as though the man had taken her by force,

and she could not summon firmness of mind
to conceal the change wrought by love.
The jingling of her girdle, shaken by her trembling,
seemed to call to her again and again in a sharp voice:
“Hold fast to your honour!
Do not drag down the boundary of your lineage!”
In secret she told her friend what had happened and ordered:
“Bring that young man to me!” Who can understand
the restless mind of a woman inflamed by desire?
Unrestrained and swelling with passion, she enjoyed him
to her heart’s content in lovemaking, with shifting postures of union,
with laughter and jest, and upon love-beds
chosen according to her pleasure.
Samudradatta hurried through his business affairs
and, longing to see his beloved wife, rushed back
to his father-in-law’s house.

The day passed amid people absorbed in the joy of a great festival
and the excitement of incomparable entertainment.
Then he went with his beloved wife
to the bedchamber.
There stood an immaculate bed beneath a canopy,
beautifully adorned and filled with fragrant
incense, lovely as a divine palace,
and illuminated by shining jewel-studded lamps.
There he clasped his beloved, whose lotus-eyes
trembled with the restlessness of bee-like pupils; eager for love-play,
he went to the bed as a rut-maddened elephant
enters a lake filled with fresh lotuses.
But her thoughts were fixed upon the other man
who dwelt in her heart. Closing her eyes, she remained indifferent for a long time,
like a yogini sunk in profound meditation,
who has made the Supreme Self,
dwelling within the heart, the object of contemplation.
Her husband embraced and kissed her and removed her garments,
but she sighed again and again. Turning away from him,
she remembered only the man who had stolen her chastity.
Her innocent husband Samudradatta thought
she was feigning anger in coquettish play. He fell at her feet
and tried hard to appease her with sweet words.
For the dull-witted male animal becomes all the more enchanted
by a woman attached to another man, keeping her distance
and obstinately displaying false anger.

How can love at the same time
seek to depend upon another
and seek to be free?
Alas, the Sun loves the goddess Twilight,
and Twilight loves the moon, Shashanka.
For a long time she imagined her lover,
who, according to their fixed plan, waited in a hidden bower of the garden,

and in her delirium regarded her husband as poison.
At last, when Samudradatta, exhausted by attempts to appease her,
closed his eyes in sleep, she rose,
silently dressed, and prepared to go out.
At that very moment, among people intoxicated with wine,
a thief entered the building. Unseen,
he watched her standing eager to depart,
her ornaments jingling.
*Just then the moon Shashanka,
which had slowly risen in the east,
twinkling among the stars,
suddenly seemed to quiver with a flash of lightning:
the Moon,
slowly embracing the goddess of the eastern quarter,
beloved of the king of the gods,
with eyes closed,
suddenly trembled,
as though filled with delight.*

The moon of cooling rays appeared
as though he were enacting
the laughter of Night,
who had drawn back her pale-red lotus-like lips
and shone
with teeth like fully opened lilies.
*Seeing the sky,
wearied by the sun's burning heat,
rejoice at the moon's rising—
seeing the goddess Day,
wearied by Ravi's passion-heated ardour,
rejoice at its climax—*
the lake seemed to burst into laughter
with clusters of lilies,
resonant with the humming of swarms of bees.
Beautiful Night,
whose bodice, the covering of darkness,
had been pulled away by the moon's rays,
seemed, in modesty,
to cover herself with a veil formed by swarms of bees
excited by the fragrance of lilies.
Then, at midnight, when all slept, the fearless
woman silently went into the garden, as though into the darkness
of immorality, although the moon was bright.

The impetuous woman,
scorched by Kama, bearer of an odd number of arrows,

*entered the familiar garden,
while the thief, astonished and greedy for her ornaments,
secretly followed behind:
like prey wounded by a terrible arrow,*

*she entered her garden wishing for death,
while the delighted hunter, greedy for reward,
followed secretly.*

There she saw her lover, adorned with ornaments,
arrayed in glittering costly garments and bright with flowers,
revealed as an evil omen in the thicket by the cries of birds.
He had been scorched at the edge of the blazing flame
of separation from his heart's beloved, and blistered
by the fire of moonbeams
that illuminated the directions.

After waiting for a long time at the meeting-place,
he had abandoned hope of seeing his beloved again. His life
had departed after he hanged himself
in a noose of creepers suspended from a tree.
Seeing him, the slender-waisted woman staggered. Trembling and weeping
with the anguish of the calamity, she fell to the ground,
like a creeper covered by a humming swarm of bees.
Senseless, eyes closed, she lay for a long time
embracing the earth. Then, as consciousness slowly returned,
she sobbed without restraint in a feeble voice.

"Alas! Alas! Delight of my eyes! Where now is your face,
beautiful as the full moon? Shall I, wretched woman, ever
see it again? What a bottomless distance lies between me and my lover!"
The weakened woman lamented in a soft and pitiful voice.
Trying to loosen the noose, she placed his face in her lap and
kissed him, as though she might breathe life
into him again.
In delirium she placed her mouth upon his lotus-face
and put betel into his mouth, as though
showing the depth of her love.
Drawn by heaps of flowers and the fragrances of musk, incense, and the rest,
a vetala entered the corpse
and bit off her nose.
Receiving the fruit of misconduct suited to her shamelessness,
she fled with her nose severed. Entering her husband's house,
she cried loudly, "Alas! Alas!"
When everyone awoke and Samudradatta
was frightened by the uproar, she lamented, "My nose is gone—
my husband cut it off!"
Her enraged relations, led by her father,
questioned Samudradatta, but he said nothing,
like a silent man being sold into a foreign land.

Therefore, at dawn, her relations reported the crime
to the royal court. The king's anger fell upon Samudradatta,
and he was heavily fined.
The thief, who had witnessed the entire affair,
was filled with wonder. He told everything before the king and,
receiving bracelets and other rewards,
showed her nose in the mouth of the corpse in the garden.

Thus he proved Samudradatta innocent, as is
the duty of a disinterested friend.
The wise man
who truly understands such beautiful women to be
exceedingly crooked,
cruel in conduct, shameless, and fickle,
is not deceived by women.
Thus ends the Third Canto,
entitled "The Portrayal of Desire,"
in The Pageant of Deceitful Arts, composed
by the great poet Kshemendra.

CANTO 4

The Conduct of Courtesans (Betrayal)

Among women, courtesans are the most treacherous.
They enchant the world with counterfeit love,
and through their deceitful devices
even the god of wealth becomes a generous donor.

In a courtesan's heart
the sixty-four arts are movements;
it is enchanting—destructive, restless—surging,
capricious—filled with waves,
companion of base conduct—flowing downward—
exactly like currents
in the ocean.

The art of dress and adornment;
the art of dance;
the art of song, the art of sidelong glances;
the art of recognising a lustful man;
the art of ensnaring, the art of deceiving a friend;
the art of mixing wine, the art of love-play;
the art of union, the art of many kinds of embrace;
the art of playful jealousy and quarrel;
the art of weeping, the art of calming anger;
the arts of kissing, scratching, and biting;
the arts of shamelessness, excitement, and intensity;
the art of erotic frenzy unable to endure separation;
the art of resolving to frustrate desire;
the arts of perspiration, weariness, and trembling;
the art of repeatedly refreshing oneself in private;
the art of closing the eyes;
the art of appearing powerless and motionless;
the art of appearing dead;

the art of quarrelling with one's mother;
the art of having joyful eyes when departing for home;
the art of stealing everything;
the art of being a king among thieves;
and the art of being a hero among those who live by begging;
the arts of indifference and heaviness;
the art of slandering without cause;
the art of sharp suffering;
the art of applying ointments;
the art of sleepy eyes;
and the art of appearing extremely weakened by menstruation;
the art of cruelty;
the art of fierceness;
the art of locking up;
the art of bolting the house-door;
the art of throttling;
the art of summoning back an abandoned lover;
and the art of going to see gods, holy places, and religious recitations;

the art of roaming through sacred fords, pleasure-gardens,
and temples
with restless freedom;
the art of appearing possessed by spirits;
the art of drugs and spells for subjugation;
the art of arousing desire;
the art of dyeing the hair to conceal age;
the art of knowing the many qualities
of Buddhist monks and ascetics;
the art of visiting refuges;
and, acquiring old age as the sixty-third art,
the courtesan finally becomes a procuress.

The true nature of one who, for a little money,
surrenders herself to a man whose name and caste are unknown—
like the nature of a cloud—
still remains a subject of enquiry.
All the wealth of men whose hearts are scorched by desire,

which she has gained by deceiving them,
is devoured by some corrupt character,
a naked mendicant
who has destroyed the entire company of virtues,
or someone of an even lower birth.

A low man, a horseman,
an elephant-driver, or a wicked artisan
becomes the favourite of these courtesans
who have deceived everyone.

Long ago King Vikramasimha was defeated by powerful
enemy kings. In anger he went to Vidarbha
with his minister Gunayashas.
There he entered a house of prostitution and, though impoverished,
began to live with the famous courtesan Vilasavati,
whose favours were enjoyed by exceedingly wealthy men.
Seeing the arms that reached to his knees, proof of a royal body,
and his great valour,
she placed a treasury of gold and every kind
of jewel at his disposal.
Seeing her innate affection and extraordinary dignity,
the king, shaken with astonishment, said affectionately
to his chief minister in private:

“This is astonishing! Though a courtesan, for my sake
she regards wealth as straw and spares no expense.
A courtesan’s desire depends upon wealth and has abandoned
the path of love.
A prostitute displays false affection out of greed for a little money.
But this woman gives up that very wealth; what doubt, then,
can there be about her love?”
Hearing the king’s words, the minister
laughed and said mockingly, “Your Majesty, who can trust

the conduct of a courtesan?

A courtesan is faithless, clinging to fragments of wealth,
dependent upon momentary pleasure, and with sweet calls
enters the heart of an undiscerning man.

A man's ambition and a courtesan are alike: at the first encounter
they give pleasure; in the middle,
calamity and exile; at the end, the fruit of sorrow.

To this day even the gods led by Hari and Hara
have properly understood neither the illusion of birth and death, nor the delusion
that is a courtesan, filled with disguise and false reasoning—
*filled with infatuation, coquetry,
and bewilderment.*"

The king heard the minister's words and agreed
to the device of pretending to be dead
in order to test the courtesan.

When the minister placed his apparently dead body upon the funeral pyre,
Vilasavati, still wearing her ornaments, at once
ran toward the cremation ground.

She was about to leap headfirst into the forest fire
blazing with fierce flames, when the king
seized her in his arms and joyfully cried, "I am alive!"
Then, believing her love firm and true,
the completely enchanted king repeatedly rebuked his minister,
placing unshakable faith in the courtesan's virtue.

Now, with the courtesan's accumulated wealth
that had been given for his use, the king formed a mighty army
of elephants, horses, and warriors.

*With the flood of his vast, well-equipped army,
the king conquered the rulers of the earth and regained
his kingdom, like the moon spreading delight, which raises
a vast and powerful flood of tides
and overcomes the mountains.*

The king made Vilasavati chief of the entire inner palace;
in the gentle breeze raised by yak-tail fans, her slender body and flying hair
shone like Lakshmi.

Then one day, when they were alone, she bowed to the king
with folded hands and said, "My lord, regarding you as my wish-fulfilling tree,
I have served you humbly like a slave-girl.

Great man, if in any way I have contributed
to your good fortune, fulfil my hope and favour me.
The meeting with great persons—obtained as the fruit of merit,
*unstained by the impurities of others,
and pure by nature—is like the confluence of sacred rivers:
worthy of yielding great merit,
destroying grave sin, and naturally clean.*

Such a meeting cannot be fruitless.

I had a young lover, dearer to me than wealth
or even life. By misfortune he has been imprisoned in the city of Vidarbha,
mistaken for a thief.

Your Majesty, I served you to the best of my ability
so that he might be freed. Now act in a manner worthy of your nature, lineage,
and heroism!”

When the king understood that he had been deceived,
he was struck speechless. For a long time he stared at the earth
and remembered his minister’s words.

Nevertheless the king consoled her. Defeating the king
of Vidarbha, he released the thief from prison
and reunited her with him.

Who, then, can truly understand prostitutes—who possess many
hearts, many tongues, many hands, many disguises,
and in truth no essence at all?

A prostitute loves one man for his praise, another
for his money, a third for his servile humility, a fourth for protection,
and someone else for entertainment.

Thus ends the Fourth Canto,
entitled “The Conduct of Courtesans,”
in The Pageant of Deceitful Arts,
composed by the great poet Kshemendra.

CANTO 5

The Exploits of the Scribe

Delusion surely plunders everything a man possesses.
At the very beginning, it steals discernment.
Well concealed, the scribe takes refuge in his mouth
and his pen.
A granary filled with grain
is like a phase of the moon:
*as soon as it is seen—as soon as inspection begins—
it is wholly eaten up—totally eclipsed—
in a moment—for a single instant—
by the scribe's cunning—by the sky-roaming
Rahu's power to make an object disappear—to cause an eclipse.*
Yogis,
freed from delusion and craving,
can see through the magical spectacle of the wheel of worldly existence.
But no one,
however hard he tries,
can understand the scribe's fraud and deception.
Armed with an army of hundreds of forms of deceitful skill,
keeping their pockets forever open for the people's money,
unfathomable as the night of the new moon—
it is not Time
but scribes who devour all humanity.

For
*these ink-blackened men—messengers of Death—
spread ruin among the people—slay mankind—
with ink flowing from their great pens—with blows
from their enormous clubs.*
They are demons of calculation and false accounts,
roaming throughout the earth
with birch-bark banners.
Who can trust men
as crooked as the tip
of the horn of Yama's bull,
unless Death, who brings the end, himself
tightens the hangman's noose around their necks?
The tutelary goddess of the kingdom,
*plundered—violently dishonoured—
by the semen of ink spurting
from the tip of the scribe's pen,*
seems to weep in sorrow,
*shedding tears mixed with kohl—tears of lampblack—
disguised as drops of ink scattered by the reed pen.*
Is there anyone in the world
who has not been deceived
by the lies forged by these scribes,
who write distorted figures,
crooked like the curled hair of the goddess Illusion?

The common people
are continually devastated by clerical officials
who cheat everyone with false accounts
and intimidate them with office papers,
and have become parasites upon the villages under their influence;
 just as the faculties of sense,
dwelling in the body,
seize the field of sensory objects
and delude everyone through illusory manifestation
and dissolution,
continually obstructing the light of knowledge.
 Crooked lines of writing,
 like the nooses of Yama,
 seem to coil like serpents
 upon the scribe's mountain of birch-bark.
 Crooked-minded scribes,
who steal secretly—silently take life—
 are recorders of virtue and sin in hell.
 Merely by erasing one line,
 they can turn “with”—meaning “possessed of rights”—
 into “without”—meaning “deprived of rights.”
 Only a few of the scribal arts
 are current as common knowledge.
 Perhaps knowledge of their secret arts
 belongs to the Age of Kali—or to Yama, bringer of the end.

The art of writing with multiple meanings;
 the art of making an entire figure unclear;
 the art of constantly plundering collected revenue;
 the art of inflating expenditure;
 the art of setting aside a share of profit;
 the art of preparing legal papers to appropriate sums due;
 the art of stealing through bribes;
 the art of fleeing toward a neighbouring province;
 the art of removing the balance;
 the art of swallowing up movable property entirely;
 the art of withholding a gain;
 the art of making a destroyed or vanished object reappear;
 the art of obtaining wages under the pretext of purchasing;
 the art of causing loss by manipulating travel expenses;
 the art of remaining seated in one place
 for fifteen days under the pretext of treating lameness;
 and finally, in order to destroy the evidence,
 the art of burning the birch-bark document completely,
 without which the claimant
 remains in the dark about recovering his gold.
 These are the sixteen crooked arts of the scribe,
a mine of faults and smeared with stains of ink,
which diminish wealth and assume many disguises,
appropriating a portion of the people's income.

*They are also the sixteen curved phases of the moon, maker of night,
marked, waning,
then taking new form, waxing
and travelling through the sky.*

*Scribes believe in falsehood.
They have mastered the art of delusion and in a moment
can destroy a livelihood with their magical formula
composed entirely of the word “no”;
just as spiritual teachers
who have attained the changeless Supreme Self
and seen through delusion can, through their perfected formula
that denies the existence of all things,
bring the sequence of rebirth to an end.*

Long ago a man excessively addicted to gambling
lost both his stake-money and his house. His relations,
fearing he would rob them, drove him out, and he wandered over the whole earth.
One day, through the power of accumulated merit, he
reached the holy city of Ujjayini. After bathing, as he wandered alone,
he saw a temple
dedicated to Shiva, destroyer of fortresses.

Entering the deserted sanctuary, he
beheld the image of boon-giving Lord Mahakala. Abandoning all other
concerns, he worshipped with offerings of unguents,
flowers, and fruit.

He remained there for a long time, keeping vigil by night,
reciting praise, murmured prayers, and mantras, lighting lamps,
and sinking into profound meditation, seeking release
from his unbearable misfortune.

A time came when, pleased by his devotion
and his hundredfold beautiful invocation, the venerable Shiva, Lord of Spirits
and remover of the world’s fear, suddenly
said to him:

“Son, accept...” The god had spoken only this much
when a skull set at the summit of his crown of human crania
repeatedly signalled to Shiva, enemy of the Triple City,
and nudged him.

At the skull’s knocking signal, the granting of the boon
stopped in mid-sentence. Rudra fell silent, for
the gambler’s scant earned merit had now come to an end.

When the man had gone to bathe, the god
spoke privately to that skull; the sharp light of radiance
issuing between his teeth seemed
to appear before it in the form of the Ganges:

“This worthy gambler has been my devotee for many days. Why,
at the moment I was about to fulfil his desire, did you
nudge me with a signal?”

Questioned thus by the Lord, the skull
smiled and answered softly, at once withering beneath the radiance of the third eye
and reviving again through the nectar flowing from the moon

that adorned Shiva's head:

"Lord of guileless nature, hear why I warned you. Why should anyone interrupt his master without cause, even if the master is easily approachable?

This poor swindler, having abandoned all his duties in poverty, worships you with devotion through bathing, food-offerings, flowers, and incense.

A man in distress becomes repentant;
a poor man grows serious about religion;
one who has lost rank and prestige bows before everyone.

Reduced to poverty, he honours gods and Brahmins,
bows to his teacher, and remembers his friends.

Though hard,
a lump of iron, when heated,
becomes pliant.

Every man whose heart is burned in the fire of adversity
adopts religious conduct;
but where is there any chance that one stupefied
by infatuation with rank will remember duty?

Venerable Lord, this gambler, striving to gain power,
swings in the noose of hope and offers fervent praise.
Once he has obtained the reward, he will never be seen again.
A servant who seeks wealth for himself is industrious, but
after acquiring property he becomes uselessly idle; for
upon this earth a self-sufficient man is no one's servant.
Lord, after this rewarded gambler has gone away,
there will be no one in this deserted temple to provide fruit, water,
flowers, and other necessities.

Therefore keep this gambler, fortunately fallen into your hands,
as a permanent servant. Venerable Lord, to fulfil his desire
would be to banish your own worship."

Hearing these crafty words, bow-bearing Shiva
smiled broadly in amazement and asked, "Who are you really?
What was your profession?"

Thus questioned, the skull recalled its origin and immediately
answered, "I was born into a family of scribes in Magadha, but
I turned away from my hereditary tradition.

*I delighted in bathing, prayer, and vows,
was drawn to sacred places, and understood the meaning
of every religious text. Abandoning my poor body in the Ganges,
I reached your abode.*

*Or rather, in truth I followed my family tradition. I
abstained from bathing, prayer, and vows, was greedy for layers of wealth,
and ignorant of the meaning of every religious text.
After abandoning my life, I reached your abode
by the path of living upon another's share."*

Hearing this, the worshipful god said, "Then you are
a scribe! It is true! Astonishing that even with only your skull remaining,
you could not abandon your art of deceit."

Saying this, with the radiance of his brilliant smile
he illuminated the creepers of the directions, so that they
appeared filled with white flowers. Then the boon-giving god
fulfilled the wish of the gambler who had returned from bathing.
Having assured the gambler's welfare before the scribe's very eyes,
moon-crested Shiva immediately removed that
skull from his splendid crown of crania.

Thus, even when reduced to bone alone, a scribe
cannot abandon his inborn impure and crooked art,
which,
like the teeth of death,
bends toward the destruction of men.
*When the seven bodily elements are obstructed,
how can anyone remain healthy,
continually polluted by impure substances
and producing harmful matter like excrement?
Likewise, under the interference of scribes,
how can anyone prosper,
when their art is forever polluted by immoral purposes
and defiles like filth?*

The wise man,
examining the scribe's deceit with due caution
as though it were a demon's document,
protects the jewel-rich earth.
Thus ends the Fifth Canto,
entitled "The Exploits of the Scribe,"
in The Pageant of Deceitful Arts,
composed by the great poet Kshemendra.

CANTO 6

The Portrayal of Intoxication

An enemy dwells in the heart of every person:
intoxication. One who falls under its power
neither sees nor hears anything,
but becomes stupefied.

The practice called dama—self-restraint—
current among the wise in the Age of Truth, has in this fallen age
been reversed into mada—
self-indulgent intoxication.

The first signs of intoxication are:

*remaining silent—observing a vow of silence;
drawing the lips into a mocking pout—compressing them for breath-control;
ambition—fixing the gaze upward between the brows;
looking toward other things—concentrating the eyes
upon the next world;
and applying unguent to the limbs—smearing dust upon the body
and clasping the limbs together.*

The frenzy of valour,
the dizziness of arrogance,
the whirlpool of delusion,
and the delirium of noble birth—
these are the trees of human intoxication,
all growing from one root: pretension.

The pretentious man,
amid prosperity—indulging excessively—
looks as though afflicted by the onset of a violent fever.
He seems impaled—tormented by colic;
swollen by obstructed wind;
like a ghost.

The man frenzied by valour praises his own arms;
the arrogant man gazes into mirrors and the like;
the deluded man casts lustful looks upon women;
but the pretentious man is blind from birth.

“Intoxication with wealth”

appears in a man
like the bliss of self-realisation:
contemplating accumulated riches—absorbed in meditation—
his eyes remain closed
in stupor—in repose—
*through the sweet taste of secret delight—through the joy
of inward supreme bliss.*

There is another: the unceasing “fit of foolishness.”

*It deranges without provocation—produces ecstatic frenzy;
after abandoning objects of sense—without cause;
it brings ruin in many forms—has many conditions;
it is utterly devoid of virtue—free of all qualities.
It is strange and baseless—wonderful and unsupported.*
Because of its stupefying nature,

the “trance of the ascetic” does not look at the earth,
but always gazes toward the gods who travel in the sky.
The “delusion of devotion,”
unstable by nature,
performs marvels but neglects its own body.

The painful “delirium of learning”
is the bodily elements in manifest upheaval:
the eyes turn red with rising anger;
the mere sound of another’s voice becomes intolerable;
yet the man himself babbles nonsense.
The “frenzy of authority” is an all-devouring,
merciless demon that torments humanity.
With brows continually contracted, it looks loathsome,
hurls harsh abuse at people,
and stands ready for violent assault.
The “delirium of noble lineage”
is busy relating dry tales of ancestral glory,
but forgets its own duties toward others.
Unique among men,
it is far-sighted monumental stupidity—a sharp-eyed vulture.
The “frenzy of purity”
shrinks constantly in fear—dwells in unbroken yogic withdrawal.
It recoils from the slightest touch—remains
distant from every contact of the senses;
it is friendless—an unsupported trance—
because it considers everyone impure—knows every sensory object
to be unreal—
and fears pollution even from the sky—
regards emptiness itself as an obstruction.
All these forms of intoxication are limited;
they end when their respective roots are cut.
Only the “pride of self-importance” stands apart:
an endless coiled serpent with open jaws.

But intoxication born of liquor is the lowest of all,
a wholly disgusting state, sheer folly.
Though lasting but a moment,
it suddenly strips away merit
accumulated through thousands of years.
Drunkenness regards a learned and holy Brahmin,
a cow, an elephant, a dog, and a cooker of dog-flesh
as equal,
and recognises no distinction
between “one’s own” and “another’s.”
Freed from the distinction between truth and falsehood,
regarding gold, clay, and stone as equal,
the drunkard,
though thus attaining the state of a yogi,
drives himself into hell.
The drunkard is a mirror-reflection of the wheel of worldly existence:

he weeps, sings, laughs,
runs, shouts, and falls prey to delusion,
swinging from one mood to another.
Even seeing his own wife
absorbed in kissing another woman's husband,
he feels no anger.
Has the drunkard,
though exceedingly red—inflamed with lust—
become free from desire by gulping liquor?

The drunkard throws away his clothing—vasana—
and assumes unbearable vice—vyasana.
From the hollow of his hands he drinks
the waxing moon reflected in his own urine.
Long ago the great sage Chyavana regained youth
through the service of the two Ashvins. In gratitude,
he honoured them at his sacrifice by granting them
the right to drink Soma.
Angry Indra came before him and rebuked him:
“Sage, do you know nothing? Physicians
are unfit to share a meal! Who will honour them
with a Soma offering?”
Though the king of the gods repeatedly
forbade it in this way, steadfast Chyavana, confident of his power,
did not withdraw his decision out of love for the Ashvins.
The supreme sage paralysed Indra's enormous pillar-like arm,
terrible in its strength, as he raised the thunderbolt in anger
to strike him.
Then, to kill Indra, he created a monstrous and vast
demon whose body resembled a colossal asura, who had four
fangs, whose bulk extended a thousand yojanas,
and who was sorcery incarnate.
Thunderbolt-bearing Indra fell completely under his power.
Terrified, he ran to Chyavana for refuge
and, abandoning pride, agreed: “Let the two divine physicians
receive their share of Soma!”

The sage, a river of compassion, comforted
the frightened and humbled great Indra, and sent the dreadful
demon named Mada—Intoxication—into gambling, women, liquor,
and hunting.
That rending demon created by the angry sage now
dwells in the hearts of creatures in the guise of stupor,
controlled by qualities.
In the silence of those drunk with wealth;
in the fixed gaze of men swollen with office;
in the distorted, brow-knitted face of the rich;
in the raised brows of the lustful and their kind;
in the tongues of messengers and scholars;
in the teeth, hair, and garments of the beautiful;
in the compressed lips of the physician;

in the necks of teachers, petty officials, and astrologers;
in the swollen shoulders of wrestlers;
in the merchant's heart;
in the artisan's hand;
in the student's stretched neck,
torn birch-bark manuscript,
and crooked finger;
in the uplifted breasts of a slender woman;
in the belly of an official at an ancestral feast;
in a messenger's calves;
in an elephant's cheeks;
in the feathers of a peacock's tail;
and in the gait of a swan.

Thus the mighty demon named Mada,
senseless as a block of wood,
becoming a profound delusion that assumes many forms,
dwells forever in the bodies of all living beings.
Thus ends the Sixth Canto, entitled "The Portrayal of Intoxication,"
in The Pageant of Deceitful Arts,
composed by the great poet Kshemendra.

CANTO 7

The Singer Portrayed (Corruption)

The motive force behind the vast reach of human effort
is prosperity.

That prosperity

is plundered in this world by utterly shameless singers
with the throats of goats.

After completely exhausting the buds

of the red day-lotuses in the pond

and devouring the white lilies,

the singer-bees remain lean,

still longing for the fragrant ichor of elephants.

After completely emptying the treasury of their patron,

which had been filled with riches,

and then tasting his anger,

the impoverished, lustful singers

beg even from the lowest outcast.

With a train of carts crammed with pots and blankets

following behind, and a swarm of children,

their scattered hair uncombed,

these flesh-fed parasites of kings—

the singers—are dreadful.

Surrounded by military units advancing in wedge formation,

sounding war-drums in fierce battle,

equipped with quivers of powerful weapons

and arrows,

these ghost-born, king-slaying

warriors of the god of war are dreadful.

The wretched thief groans, “Ah! Ah!”

and creeps trembling through the darkness.

The singer-thief likewise draws out a melody of “Ah! Ah!”

and carries property away in broad daylight.

“*Pa pa dha dha ni ni ga ma sa,*

dha dha ma ma sa ma sa ga dha ma”—

reciting fragments

of musical notes in this fashion,

these singers wander in search of prey.

The band of singers, with drums

in their hands, presents its song;

their singing is marred by crooked “circling embellishments,”

torn apart by distorted “flute embellishments,”

and corrupted at the opening theme:

they stagger in crooked whirls,

bending their spines and distorting their faces,

shaking their hands like tambourines,

and then remain silent for a very long time.

The bard weighs down the song

with bows and cries of “Victory! Victory!”

with growls and clashing cymbals,

with a humming clang after every phrase,
and with self-praise—"Bravo!"

If a morsel of rice-gruel is dropped into water
and a fish eats it,
some merit may be gained.
But when gifts are given to singers,
even if they amount to crores,
the suffering of the people increases.
For the stagnant wealth of fools, the Creator
has fashioned an outlet called "the singer,"
broad-mouthed and ever hungry,
upon upright wells
that are treasuries crammed full.

Nor is it true that
this crowd of protruding-toothed singers
is always occupied only in song;
after seizing wealth,
they are also occupied in laughing
at simple people who follow behind the crowd.
At dawn,
the lustful singers are fearless,
adorned with pearl necklaces and golden armlets.
By noon,
having lost at gambling, they stand naked,
humiliated and without refuge.
Or, in the evening,
the lustful singers are vigorous in thrilling lovemaking;
by noon,
exhausted by love-play and still unclothed,
they are afflicted and emptied of substance.

The singer-hunters
take the wealth—the life—of their foolish prey,
the innocent deer,
through songs fashioned from snares of praise,
through arrows formed from lines of verse
and patterns like hidden nets.
When a phrase of song has already vanished into air,
though a great sum is immediately given for it,
the musician mutters:
"What did that son of a slave-girl really give?"
and departs dissatisfied.
Such is the curse upon Lakshmi, goddess of wealth,

that, though surrounded by the suffering of all,
she stays far from holy Brahmins
and honoured, distinguished elders,
and is forever enjoyed by singers.
Long ago Indra, lord of the gods,

asked the sage Narada, who had returned after many days,
for news of the world and the welfare
of the kings who protect the earth.
He answered, “While wandering in the human world,
I saw among victorious earthly kings, rich in charity,
righteousness, and sacrifice, a splendour worthy
of the lord of the gods.

In riches they rival you, Varuna, and Kubera
all at once. They mock your title Shatakratu—
Performer of a Hundred Sacrifices—by conducting such rites not once
but again and again.”

The moment he heard the sage’s words, hostility flared
in hundred-powered Indra, and he
sent demons to earth to plunder
the wealth of human kings.

Directed by Indra, lord of the gods, this host of demons
under the spell-master named “Song”
invaded the earth to strip every king of all his wealth.

Foremost among them was
the “Servant of Illusion,”
followed by the “Servant of Loquacity,”
the “Servant of Infamy,”
the “Servant of Destruction,”
the “Servant of Plunder,”
the “Servant of Harshness,”
the “Servant of the Thunderbolt,”
and the “Servant of the Submarine Fire.”

These eight most terrible creatures
came into the world of men, roaring hideously
through their gaping jaws, and created
the altogether dreadful race of musicians.
On every side they stripped the kings
who ruled the people of all their wealth.

Thus the sovereigns of the earth lost every desire to perform sacrifices and other sacred rites.

For this reason, this dreadful ear-demon, taking the form of song, enters through the ears of the king who
rules the earth and forcibly seizes his heart.

Therefore, for the king who refuses these corrupters entry into his realm, the goddess Earth—abounding in
every good fortune, success, and sacrificial treasure—remains obedient.

Actors, dancers, acrobats, mimes, singers, and procuresses descend upon the harvest of a kingdom like a
swarm of locusts; royal prosperity must be guarded from them.

From the mingled crowd of singers rises a monstrous uproar of song—as though it were Lakshmi’s anguished
lament after being married to an unworthy bridegroom, or the tangled discord of a hymn to Lakshmi recited
in the wrong key.

Thus ends the seventh canto of the great poet Kshemendra's The Pageant of Deceitful Arts, 'The Depiction of Singers.'

CANTO 8

The Origin of the Goldsmith (Fraud and Deceit)

Goldsmiths are of the same nature—so accomplished in the art of gold that they can make the very object disappear. By the power of an imagination that fetches cowrie shells from afar, they can stage a display of bankruptcy in the very middle of a house overflowing with limitless wealth.

There are yogis of this kind too, who claim the power to endure the torment of snow. Absorbed in profound meditation, they display the 'attainment of emptiness' in a state filled with supreme bliss.

These wicked goldsmiths continually plunder the supreme brilliance of gold—the essence of all possessions, an ornament in prosperity and a safeguard in adversity.

Just as the mere touch of a perpetually impure and wicked outcaste destroys the ritual purity of a high-born man, so the repellent and wicked goldsmith soils gold with his hasty hands and dims its lustre.

When buying, his trick is to show a pale streak upon a smooth touchstone. When selling, his device for increasing profit is to draw the test-mark upon a rough touchstone.

There are five forms of fraud in his weights. Though stamped like an official seal of beeswax, a weight is often made of sand, and according to need it is soaked in water, dried, or heated.

The crucible used for melting metal has six defects: it may be double-walled, double-bottomed, easily cracked, capable of absorbing molten gold, fitted with an insert of copper, or contrived to retain lead and alkaline powder.

The balance used to weigh gold has sixteen defects: a crooked pointer; unequal pans; a perforated lining; a part filled with mercury; a beam that can be bent; a sticking pivot; a knotted cord; a cord tied wrongly or made of too many strands; imbalance before use; susceptibility to a breath of air; excessive lightness or heaviness; rough pans that retain gold dust; and magnetic steadiness or instability.

It is like the sixteen marks of winter: every direction turns hostile, hollows become impassable, the earth cracks, and the ground grows soft as though mercury had been scattered everywhere.

People knot together very heavy coverings and wrap them clumsily again and again about their bodies. Thin or stout, they bend forward, trembling in the gale; frost-dust clings to their coarse garments, and even lifeless things seem to fly about as though alive.

There are six ways in which he blows the fire: feebly; fitfully; stopping midway; with a wheeze; hissing and spraying spittle; or with a whistling sound.

His fire too has six forms: ringed on every side with flame; smoky; roaring; smouldering within; throwing sparks; or banked at the front with copper dust.

His conduct has twelve signs: asking questions; telling strange stories; scratching his body; peering inside his clothes; looking at the sun to learn the time; laughing excessively; driving away flies; displaying impatience; repeatedly quarrelling with his own people; breaking the water-pot; and going out again and again.

When a saline acid is applied over a slow fire of cow-dung cakes, the surface of the object begins to glitter with the dazzling sheen of an artificial colour.

Because a magnetic layer has secretly been set beneath the ground, the pointer of a balance with ordinary iron pans suddenly leaps as though the pan were loaded, even when it is empty.

After the ornament has been made and is being weighed, the goldsmith removes the concealed piece of gold that he inserted while setting it with lac and hid within through an opening.

When the fire blazes strongly, or while work is being done upon the touchstone, it is very easy for him to cut away a piece of gold; he may also find a chance to exchange the article for another that merely shines like it.

They take the full weight of gold for the work but return less; they polish the surface to a smooth brilliance, make it impossible to collect the article at the promised time, demand more material, and speak with endless duplicity. These, in brief, are their eleven practical arts.

Their final art is to steal away silently by night with everything.

These are the sixty-four arts of goldsmiths, which intelligence may infer; but even thousand-eyed Indra does not know their other secret arts.

Mount Meru rose to a vast height far beyond the world of men. Surely it feared being plundered by the thieves called goldsmiths.

Long ago, hordes of enormous mice, tunnelling without end, gnawed through hundreds of veins in the gold mines until erosion brought Meru's summit to the verge of collapse.

The tunnels dug by the claws of that entire army of mice shook Meru's foundations violently.

Laid waste by the mice's claws, Meru looked strangely beautiful: its summit glowed red beneath a veil of scattered gold-dust.

Its crest was broken; its ranges, peaks, and slopes were split by fissures and caverns. Seeing this, all the gods rose in terror, believing that the end of the cosmic age had come.

The royal sage Agastya examined the disaster with divine sight and told them all: 'Surely these are those night-roaming slayers of Brahmins who were destroyed in battle with the gods!

'Reborn as mice, they seek once more to bring down Mount Meru. You must destroy them again, for they have ruined the hermitages of the sages as well.'

Hearing the sage's words, the gods filled the rows of burrows with smoke and burned the giant mice, who in their former birth had likewise been consumed by a curse.

After that, these plunderers of gold were reborn upon earth as goldsmiths. In every birth they ceaselessly scrape together grains of gold-dust.

Therefore, when poisoners, thieves, or brigands are not at hand, kings should suppress goldsmiths relentlessly and without mercy.

Thus ends the eighth canto of the great poet Kshemendra's The Pageant of Deceitful Arts, 'The Origin of the Goldsmith.'

CANTO 9

Various Villains Portrayed (Pretence and Swindling)

Across the whole surface of the earth, encircled by the sea, a vast covering of deceit has been spread. As fishermen set out line after line of nets, rogues have laid snares for men as witless as fish.

Life is the last and supreme possession; every human effort is made to preserve it. Those in whose hands life continually rests are the gods of the Veda—physicians, that is.

These terrible physicians burn the body like the anguish of separation; like fierce summer days, they cause consuming thirst and dry the body out.

After killing a thousand patients with his mixtures and learning his own science by repeatedly changing the doses of different medicines, a physician becomes famous as a successful healer.

The astrologer draws up a horoscope, purses his lips, pretends to brood over the planets, and remains silent for a long while; at last he repeats the questioner's own words in a different form.

The astrologer calculates the moon's conjunction with the constellation Vishakha in the sky, yet remains unaware that at home his wife is engaged in love-play with many lovers.

The maker of gold first burns his own property to ashes in failed experiments. Later, having mastered the art of gilding, he ruins wealthy adepts of alchemy.

The alchemist boasts, 'I have perfected mercury that transmutes a hundredfold—indeed, I have fully perfected mercury that transmutes a thousandfold.' Yet he remains naked, shrivelled, emaciated, and filthy.

The head of the fraudulent rejuvenator is bald like a copper vessel, and age has withered his body; nevertheless, he deceives bald men with tales of newly sprouting hair.

Longing for a beautiful mistress with bright, restless eyes, the lecher makes offerings of bilva and other materials, only to blind his own eyes with the smoke.

'Strive to obtain a flower of the sky, and the power of travelling through the air will easily be yours. The Tantrics declare that a mosquito's bones contain many powers.

'Apply a salve made from the dung of a black horse and you will see Indra's works in the heavens; rub frog-fat upon your body and you will become beloved of the celestial nymphs.'

With such claims, bands of swindlers continually fan hope throughout the world and drive hundreds of men, greedy for every kind of supernatural attainment, into the abyss of hell.

In every lane, some supposed mistress of enchantment goes about giving women amulets, though she knows neither the magical root required for the art nor its fundamental spell.

Many street-corner gurus, half-initiated and barely trained in yoga, spread like disease, robbing simple people of their wealth and their women.

'The line of wealth in this hand is very long, but her husband is only half-witted'—with these words the palm-reader presses the soft hand of a respectable woman.

A maiden sees all manner of people in the edge of a sword, in her own fingernail, or in water, yet the thief is never caught: such is the futility of divinatory magic.

The swindler eats and drinks heartily and babbles amid public praise; with a little incense and no spell at all, he makes a low-born accomplice appear to be 'possessed by a deity.'

'The salve described in Nagarjuna's Kakshaputa must be prepared in incense smoke. By mischance it has burned!' With this excuse the rogue casts another man's wealth into the fire.

Know those thieves who prepare narcotic incense as the sons of a Yakshini; their visible fruits are poverty and royal punishment.

'A very rich merchant has appointed the girl under my protection as heir in place of his son'—with such a tale, the villain lives at the girl's expense.

The expert in bodily signs is suspect as well. Knowing the weak points of others, he is a thief of hearts. According to an adversary's design, he appears pretending to be deaf or mute.

A prostitute yellowed with ashes, an aged female ascetic, or a courtesan carrying an idol—these wander about to destroy the wealth and virtue of respectable women.

'A young and wealthy widow longs for a divine lover such as you'—saying this to some fool, the rogue consumes his wealth.

A corrupt artisan, craftsman, or day-labourer who amuses himself by obstructing work should be recognised as a thief of time.

Professional gamblers skilled in loaded dice, false reckoning, sleight of hand, and the like roam foreign lands without being recognised.

The relative who appears only at mealtimes and squanders great sums on gambling, drink, and dissolute women should be known as a household thief—a demon of the home.

'The codes of religion are fabricated lies; who has truly seen the next world?' Whoever speaks thus should be feared like a rutting elephant.

The man filled with unbearable greed who snatches the loan of one hoping for greater profit should be known as a thief of gain.

Those who lure men away like cattle by praising the seductive pleasures of foreign lands are thieves of the country.

The man bearing the title 'Honourable,' who is a submarine fire swallowing everything in the ocean of the court, and who joins the losing side to predetermine the verdict, is a thief of knowledge.

The friend who drinks the honey of the lotus of prosperity, flies away at the first unpleasant gust of sorrow, and circles only where the vine of fortune attracts him is a thief of happiness.

The entertainer who recounts every kind of unheard and irrelevant tale because he cannot properly shape the work another has done is a babbling thief of the ear.

The man who, with a sweet voice and clever words, praises faults as virtues, inspires trust, and seems to create a rival order of the world is an impious thief who crosses every boundary of propriety.

The utterly wicked man who eagerly proclaims his own virtues and exerts all his strength to conceal the virtues of others is a thief of merit; his influence prevails over the simple-minded.

The royal favourite who, out of envy, uses every kind of slander to deprive another of the king's favour is a thief of livelihood.

The man without peace, restraint, or devotion who is seized by a mania for severe religious vows and uses his obstinacy to crush good people is a thief of fame.

The habitual professional thief wastes the whole day in varied laughter filled with clever jokes, mockery, and farce.

The man who has lost all his own wealth and now sets about dissipating that of others, babbling endlessly in praise of brothels, arouses the suspicion that he is a procurer.

The extraordinarily 'disinterested' commissioner who occupies the highest office yet, in the name of exceptional purity, accepts no salary should be avoided as a predatory sea-creature lurking in the waters of self-restraint.

The wicked itinerant vendor arrives uninvited at house after house. Whatever object he displays becomes, for a moment, an extraordinary jewel—even when it is only a shard of glass.

The flatterer, ready to cry 'Bravo! Bravo!' even as someone falls into a pit, steals everything with his honeyed voice and spreads inwardly like poison.

'The king is pleased with you; he understands the true worth of your many virtues.' With such confidential assurances, royal servants continually seize the wealth of their fellow servants.

'In a dream I saw the goddess Lakshmi. Lotus in hand, she entered your house. Pleased by my month-long fast, the usually reserved Lakshmi told me, "My devotee will give you everything." That is why I have come to you.'

With excuses of this kind, rogues exploit simple believers from house to house.

When a crowd gathers in the city because of a riot, a sacrifice, a wedding celebration, or some similar occasion, strangers disguised as relatives slip inside and carry off valuables.

Everyone else drinks wine, but he does not touch it. He keeps watch at night, sunk in thought. He insists on having his own way and is forever weaving the net of some daring scheme.

He gives no answer—or replies in a stammering, muffled voice. He hides his face, sighs deeply, and suddenly starts to tremble: these are the signs of a thief.

The man who demands extraordinary purity and makes a loud, arrogant display of it is a source of suspicion and a fountain of dreadful fraud.

Whether witnessed or not, the man who can make what happened appear not to have happened, and what was said appear never to have been said—without so much as blinking—is a supreme danger to mankind.

The rogue who displays affected innocence, speaks in a woman's manner like a eunuch, and hovers around women is Cupid within the household.

The treasurer who, though surrounded by wealth, always keeps his eyes lowered, lets his body and clothes grow filthy, and frolics in the treasury should be feared as a thieving rat.

The favoured household servant who spends all day in the women's quarters and tells long, elaborate stories about the family should be recognised as a spy and kept cautiously at a distance.

The man who continually urges another to commit a sinful act punishable by severe penalties has dammed up an ocean of disaster in which to spend the rest of his life in fear.

After watching all the private dealings of simple people and learning their secrets without difficulty, the villain records them as though inscribing them upon a stone tablet.

To bring about a man's ruin, the rogue secretly plants prohibited goods, wealth seized or forbidden by the king, forged documents, or some similar object, and slips away in silence.

A man who shelters some weak and destitute stranger in his own house at his own expense may later be forced to pay ransom to that very embodiment of Death, now carrying a poisoned dagger and a noose.

With the aid of a pregnant woman, rogues can reduce a modest, high-born man who observes the limits of pure conduct to helplessness, as though he himself were a woman.

While the husband is abroad, the rogue deceives his simple wife with a cruel fabricated message, a counterfeit seal, and identifying marks observed beforehand.

In the middle of respectable society, the fearless 'gentleman' thief, dressed decorously and adorned with jewellery, steals continually and effortlessly. If caught, it was a joke; if not caught, it was profit.

The swindler who embezzles a deposit worth hundreds of thousands fills his house in a prosperous foreign land with jars of treasure and vanishes within a year.

Deceivers wearing hollow gold ornaments and fine clothes assume the part of princes dispossessed by a common enemy and receive honour from house to house.

Some fool buys an 'auspicious' goat and a rustic bull from a cheat; his delight in securing a valuable bargain eventually ripens into sorrow.

Even the poor are compelled to pay the extortionist, who abuses those who ignore him and envies the prosperity of respectable people.

Passing bundles of worthless birch-bark off as merchandise, the rogue forms a huge commercial caravan decked with carts, roams the world, and deceives thousands of wealthy men.

Dressed in plain, restrained clothing, the swindler announces a pilgrimage to the Ganges and takes money from simple people on the pretext of immersing their relatives' ashes.

The caravan prostitute steals the cloak of a simple man while he sleeps; that same night she herself is cheated when some rogue pays her with counterfeit coins.

The villain locks a deaf or mute merchant inside his own warehouse and immediately escapes with the goods and heaps of gold.

The swindler sets out displaying himself as omniscient—partly through scraps of acquaintance, partly through sheer audacity, partly through boasting, and partly through quarrels and disputes.

Having read only the titles of books, the villain loudly proclaims learned falsehood as truth. Skilled in debate and heroic in ornamented speech, he is honoured like a second four-faced Brahma—as though he were a mighty refuter of falsehood, a scholar seated upon a spotless lotus, master of scripture, and champion of world-creation.

After planting brokers in various houses, each prepared to feign violent trembling throughout his body, the arch-swindler roams here and there in delight as a guru who grants 'initiation by piercing.'

Before other teachers the rogue declares, 'I have come from Mount Shripurvata, where I ate a century-old myrobalan. I possess the memory of a bird that recalls former lives.'

These, in brief, are the sixty-four arts of deceit. Who could know the hundreds of thousands of devices employed by swindlers?

Thus ends the ninth canto of the great poet Kshemendra's The Pageant of Deceitful Arts, 'The Depiction of Various Rogues.'

CANTO 10

The Description of All the Arts (Virtue)

The methods of hypocrites must certainly be understood, but never imitated. The wise seek their welfare through many arts founded upon virtue.

The supreme arts of righteousness are compassion for every living being, service to others, generosity, forgiveness, goodwill, truth, contentment, and peace.

The arts of wealth are tireless effort, regular discipline, saving, knowledge of trade, selling at the proper time, competence, patience, and distrust of women.

The arts of love are beautiful clothing, gentleness, refined grace, noble qualities, affection, trust, playfulness, and the ability to understand the beloved's heart.

The arts of liberation are love of discernment, tranquillity, the eradication of craving, contentment in the self, freedom from attachment, absorption in the Self, equanimity, and supreme illumination.

For the wise person who understands the deceptions of the world, these are the thirty-two arts of the four human aims—righteousness, wealth, love, and liberation—to be practised in sequence or all at once.

Abandoning envy, speaking sweetly, patience, freedom from anger, and detachment from another's wealth—these are the five magical arts of happiness.

The seven root arts of good character are the company of the virtuous, mastery over sensual desire, purity, service to the teacher, righteous conduct, stainless learning, and the pursuit of honourable fame.

Dignity, character, intelligence, resolve, statecraft, knowledge of signs that disclose secret intentions, courage, trustworthy friends, gratitude, discretion, generosity, devotion, lawful authority, the winning of allies, compassion, modesty, and kindness to dependants—these are the seventeen arts of power.

Reserve, firmness, and refusal to beg—these three arts make a life of honour. The wise should make these sixty-four arts their own.

Withdraw or bow before an opponent stronger than yourself; resist a violent attack; act justly toward the afflicted; be patient in adversity and humble in happiness; share your wealth; love the virtuous; apply clear judgement when counsel is doubtful; and turn away from the blameworthy—these are the ten remedial arts.

In this world, among truths the teacher's word is glorious; among actions, the worship of cows, Brahmins, and gods; among great sins, greed; among causes of suffering, anger.

Among all virtues, intelligence; among the dignities of immense wealth, reputation; among sufferings, servitude; among thick nooses and serpents of death, hope.

Among treasures of jewels, generosity; among realms of happiness, freedom from enmity; among destroyers of honour, begging; among austerities born of a curse, poverty.

Among provisions for a journey, righteousness; among cleansers of the lotus of the face, truth; among epidemic diseases, vice; among destroyers of household prosperity, idleness.

Among praiseworthy things, disinterestedness; among sweet things, loving speech; among impenetrable darknesses, arrogance; among ridiculous things, fraudulent religiosity.

Among forms of purity, freedom from hatred; among rules burdened with difficult vows, steadfastness; among hateful deeds, slander; among base acts, destroying another's livelihood.

Among meritorious deeds, compassion; among the marks of noble men, gratitude; among foolish schemes, deceit; among causes of a fall into hell, ingratitude.

Among hidden thieves, the god of love; among sowers of discord between relatives, a woman's words; among outcastes, a cruel man; among those born in the Age of Kali, the practitioner of rites upon corpses.

Among jewel-lamps, scripture; among initiations, education; among deadly poisons, love; among spreading ringworms and leprosies, passion for a prostitute.

Among household treasures, a wife; among relatives who help in the next world, a son; among hundreds of thorns, an enemy; among destroyers of a lineage, a bad son.

Among beautiful things, youth; among splendid ornaments and garments, physical beauty; among afflictions, old age; among torments equal to death, disease.

Among forms of good fortune, sovereignty; among joys, the birth of a son; among sources of inspiration, self-respect; for those devoted to ritual and religion, inherited custom.

Among kingdoms, contentment; among imperial splendours, the company of the good; among things that dry a person up, anxiety; among fires smouldering in hollow trees, hatred.

Among intimate forms of trust, gentleness; among priceless enjoyments, independence; among diseases, self-contempt; among hidden wells without water, hypocrisy.

Among stainless things, sincerity; among crowns of selected jewels, modesty; among corrupt habits, gambling; among alluring demons, defeat by a woman.

Among gem-studded bracelets, renunciation; among earrings set with shining jewels, learning; among uncertainties, friendship with the wicked; among fruitless labours, service to the wicked.

Among gardens, supreme bliss; among showers of nectar, a friend's glance; among things readily obtained, the joy of truth; among destroyers of discrimination, an assembly of fools.

Among fruit-bearing trees, the kutaja; among fruits of former deeds, good fortune; among instruments of advancement, a royal house; among things naturally deceitful, a woman's heart.

Among praiseworthy things, harmony; among pastes of sandalwood and the like, devotion to virtue; among causes of sorrow, a daughter; among objects of compassion, a fool.

Among auspicious courses, wealth; among roots of fame, popularity; among ghosts, liquor; among yakshas in an elephant forest, the hunt.

Among medicines that restore health, peace; among pilgrimages, joy in the Self; among those without merit, the hunter; among cremation grounds, the adulterer.

Among means of protecting women, discernment; among great feats of valour, conquest of the senses; among the hundred forms of wasting disease, envy; among deaths attended by disgrace, infamy.

Among blessings, a mother; among teachers of auspicious rites and festivals, a father; among sharp arrows, murder; among weapons bright as razors, severing the vital channel.

Among pacifiers of anger, humility; among difficult requests, friendship; among guiding principles, devotion to God; among paths to happiness, death on the battlefield.

Among things worth attaining, merit; among the brightest lights, knowledge—these are the most precious things for all human beings.

One who has mastered this entire treasury of arts and understands the truth of all things should be regarded as unequalled in the world, just as the Brahmin is held foremost among all social orders.

The goddess Fortune shows manifest favour only to the efforts of one who knows the hundred arts just described—arts whose fruits may be good fortune or misfortune alike.

Having spoken thus, Muladeva dismissed his disciples with due ceremony and spent the remainder of the night, blossoming beneath clusters of moonbeams, in his palace.

May The Pageant of Deceitful Arts be dear to the virtuous: filled with wit, delighted by the art of the broad smile, a radiant lamp illuminating the inner workings of every nature, and a work of instruction that gives pleasure through edifying tales.

May this Pageant of Deceitful Arts, risen like the moon from the ocean of Kshemendra's genius, forever delight the hearts of good people.

Thus ends the tenth canto of the great poet Kshemendra's The Pageant of Deceitful Arts, 'The Description of All the Arts.'

A SATIRE ON THE AGE OF KALI

SECTION 1

The Scholar

If you want victory in an assembly, do not be afraid, pay no attention, and do not even listen to your opponent's argument—refute it at once! Freedom from hesitation, shamelessness, contempt for the adversary, ridicule, and praise of the king: these five are the foundations of victory.

If the adjudicator is not learned, victory can be won by shouting loudly. If he is learned, merely hint at partiality: 'greed' is the proposition, 'money' the thing to be proved, 'the priest' the example, and 'private gain' the conclusion. That is pure logical method.

A humble seeker of knowledge must reflect upon truth for a long time; one who desires rank and reputation should cast off shame and make a tremendous noise. Fame comes chiefly from writing books and teaching; perhaps, by this method, genuine learning may also be acquired before the end of life—or perhaps not.

Who on earth will praise a fool? If he does not praise his own composition, how will he ever be happy? 'Read on! Time is short. The matter will become clear in the next section'—with such a method of teaching, how can any book remain difficult?

Lack of resources, excessive reverence, and satisfaction with the mere outward appearance of knowledge: these three qualities in a pupil are a blessing to a foolish teacher.

SECTION 2

The Mantra-and-Tantra Practitioner

If my intelligence cannot enter even the smallest part of any science, I can always become a reciter of spells, a yogi, or an ascetic. If success comes at once, the spell-master becomes famous; if it is delayed, he earns money by prescribing expensive rites for the future.

The Tantric is surely blessed, for his livelihood comes equally from the happiness of the prosperous and the misery of the poor. Whether he remains silent in ignorance or adopts bizarre behaviour, his greatness is assured.

SECTION 3

The Astrologer

Information gained from the 'movement' of the planets is indispensable to him; therefore the astrologer questions moving agents—that is, spies—and then delivers his prediction to the king.

When asked about a pregnancy, the astrologer tells the father, 'A son,' and the mother, 'A daughter,' and so secures victory. Asked about the length of life, he predicts longevity. Those who survive will marvel at him; who among the dead will demand an account?

The astrologer should say that every object has two sides, every event falls within one of two periods, and everything appears subject to change. People will always welcome the astrologer who predicts wealth for the poor and still greater wealth for the rich.

For a predicted gain of one hundred, the astrologer receives a betel nut; for a predicted gain of one thousand, a meal; and for a failed prediction, endless abuse.

Search the whole earth as far as the ocean shore: you will not find even a hand's breadth of ground without an astrologer. One knows lunar dates, another planets, another constellations; the man who knows all three is Brihaspati incarnate.

The interpreter of omens, the expounder of dreams, and the family priest—these three were created as the astrologer's natural enemies.

SECTION 4

The Physician

A physician gains nothing from the perfectly healthy or from those at the point of death; he prospers upon people deluded into thinking themselves ill and upon sufferers from chronic disease. A patient should be given neither too much hope nor too much fear. In the first case he will feel no anxiety and will not pay; in the second he will have no hope and will not pay.

The physician prescribes whatever medicine he pleases but insists upon a difficult and meagre diet. If health returns, the physician deserves the glory; if it does not, the patient failed to observe the diet.

Pathology, diagnosis, proper and improper diet, and treatment—the women of the patient's household will teach the physician everything. An epidemic spreads, people die, and only then does the physician finally learn the nature of the disease.

First for visiting the house, then for the medicine, and finally in the name of gratitude—the physician demands a fee at every stage.

When the money-hungry physician finally catches a patient, two co-heirs immediately appear: the astrologer and the spell-master.

At the beginning of an illness, the patient treats the physician graciously; in the middle stage, he gives him some money; as health returns, his interest wanes; after the ceremonial bath marking recovery, the physician becomes an unwelcome man.

SECTION 5

The Poet

Astrology, spells and Tantra, medicine, and the art of flattery are each profitable on their own, but the union of two or three in one person is rare. The great conjunction of dishonesty and flattery signifies wealth; the conjunction of honesty and learning leads toward poverty.

Cowardice, vulgarity, greed, and lack of judgement—a poet can erase them all for the fee of a handful of rice. A poet ready to praise needs no reason; even when he is praising no one, his tongue keeps fluttering.

The poet praises what has already been praised; in truth, he does not honour merit. If a mosquito were named 'the Bee,' how much labour would a poet waste describing it?

An 'incomparable' poem is one composed in exchange for a village, a horse, or an elephant—or, when the occasion demands, for food, clothing, or a little betel. Some sell, and some squander, that second Brahma called Speech, adorned in beautiful poetry.

These wretches obtain the goddess Speech only to misuse her in praise of so-called heroes; they would yoke even the wish-fulfilling cow to a plough!

How can a poet win liberation by praising the wicked, twisting every matter with chatter, and proclaiming desire the highest principle? Yet when Shiva is the subject, concentration upon any composition, description, or sound is superior to meditative trance.

SECTION 6

Relations

A wife, her sister, her parents, and her brother—the Age of Kali has fashioned these five as a man's additional vital breaths.

A son-in-law, a sister's son, a maternal uncle, and the people of one's in-laws' house eat like mice in a householder's home without his even realising it.

A mother is the strength of her brother, a daughter the strength of her husband, a wife the strength of her father, and a guest is powerful by his own might. So long as the son-in-law is young, the wife's brother is crafty; when the son-in-law begins to understand, he becomes straightforward; when the son-in-law understands completely, he runs away.

If the wife is the eldest daughter, her brother is still a child, her mother is domineering, and her father is abroad, the road is easy for the son-in-law. In a single visit, the daughter departs after plundering the house of jewellery, clothes, vessels, and toys for the children.

The wife says that her own parents nibble only tiny dry morsels, while her husband's parents are gluttons who drink milk and are probably thieves as well.

Two wives with many children and a husbandless sister create for a householder the conjunction called 'perpetual quarrel.' Two wives, many children, poverty, sickness, an aged mother, and an aged father—each is worse than hell.

SECTION 7

The Moneylender

At the mere thought of him, hands and feet go slack; at the sight of him, life itself dries up. Ah, how powerful is the spectre called the moneylender! Even Death waits for a creature's final day, but the moneylender observes no limit of time.

No teeth are visible in his mouth, no noose in his fist; yet the moment the moneylender appears, the heart twists in terror.

SECTION 8

Poverty

A treaty is a remedy against an enemy; every disease has a medicine; the Conqueror-of-Death spell may ward off death; but there is nothing against poverty.

Poverty gives a man the strength to wander from house to house, makes him able to endure heat and cold, and kindles the fire of his stomach—poverty is the supreme medicine.

Stammering speech, lowered eyes, unsteady feet—like a royal command, poverty drives a man to beg.

A man filled with absolute want can digest a king's insult, swallow words beyond the bounds of propriety, and in the end digest stones as well.

For him there is no thief, no informer, no heir, and no king. Seen with true vision, poverty is superior to sovereignty.

SECTION 9

The Rich

A slight increase in wealth increases arrogance, excites thieves, and emboldens heirs. The rich man who always regards scholars as worthless becomes an object of ridicule when fortune turns away.

Taking flattery for truth, regarding oneself as a god, and seeing ordinary people as insects—these are the effects of newly acquired wealth.

Though he can hear, he asks again; though he can see, he fails to understand; the rich man takes even mockery for praise. Dependants bound by a secret pact laugh openly at the man blinded by wealth, as one laughs at a child, a madman, or someone possessed.

The very person whom he ought to praise praises him; the very person whom he ought to serve serves him; yet the rich man feels neither fear nor shame.

Possession by a planetary demon lasts a moment, intoxication by wine one watch of the day; but a fool remains drunk on wealth for as long as his body lasts.

The goddess of Wealth lends her favour for a month—perhaps half a month—and then withdraws her hand; but the corruption she brings lingers forever, like the smell of garlic.

The swelling caused by the kunda grass numbs the throat, and betel nut dulls the heart; but the stupor of wealth affects the whole body—and even the faces of wife and children.

A man who once was rich, or is rich now, may naturally become deranged; but how does this affliction spread through the entire family like leprosy or epilepsy?

The moment five or six little coins reach his hand, he gains the right to lecture on scripture, the courage to treat scholars as straw, and permission to forget his own caste.

Let the rich man maintain his dependants and give alms to beggars; but the moment he assumes the posture of asking a favour himself, no one can endure his presence.

SECTION 10

The Slanderer

Surely the burden of the world's wealth is borne by informers alone; otherwise, why would they labour so hard, single-handed, to make it lighter?

Will the king reward the informer according to his labour? Death will honour him twice—indeed, three times—as generously.

Whispering a spell at the holy places called Gokarna and Shubhakarna destroys former sins; whispering in a king's ear destroys all one's deeds at a single stroke.

He has no interest in his own business, and no one can guide him; he interferes in everyone else's affairs, whether wicked or virtuous. He wants nothing for himself, acts at no one's prompting, and works only for the 'highest purpose.'

A vulture perched upon a house is an omen of future calamity; a villain circling near the house announces immediate destruction.

SECTION 11

The Miser

In religious observance the miser prefers the vow of scant eating; in medicine, keeping the body hungry; in sacrifice, reciting the spells in a low voice.

Just as the poor man fears the rich—'What will he say?'—the miser fears the poor—'What will he ask for?' The miser directly experiences the scriptural teaching about hospitality, for every morsel he gives away appears to him as vast as Mount Meru.

The demon called 'treasurer' gives when his master arrives; the demon called 'miser' wishes to give nothing to anyone. Before a generous man, the petitioner pleads; then the generous man pleads with the petitioner. What reversals and upheavals arise when agent and object exchange places!

'If I do not remain alive, no one will guard my wealth.' Thinking thus, the miser somehow forces himself to eat.

Day after day he reaches the very threshold of departure, counts up various obstacles, and settles inside again—like a guest intent upon prolonging his stay.

SECTION 12

The Religious Hypocrite

One coin is given to a scholar, ten to a poet, a hundred to an actor, a thousand to a horde of ostentatious hypocrites—but nothing to a Brahmin faithful to scripture.

After making one's request through a broker, one should put on a display of extreme austerity. So long as the fraud remains hidden, wealth continues to arrive.

'All the scriptures on one side, a piece of sacred basil wood on the other'—that is merely a figure of speech; in truth, the basil is supreme.

While enumerating the virtues of sacred basil, Vagbhata forgot two: its power to delude the entire world and its capacity to bestow wealth.

A loincloth, a coating of ashes, sacred darbha grass, a rosary of rudraksha beads, a vow of silence, and sitting in seclusion—these are the six means by which a fool earns his livelihood.

Residence at a holy place, a famous but deceased teacher, and endless repetition of a single teaching—these are highly prized by those who wish to make a profit.

If a spell is wrong, it is called 'tradition'; if the ritual method is faulty, it is called 'a special procedure'; if the conduct is improper, it is called 'local custom.' These are effective answers to anyone who objects.

Every religious observance should be performed where many people can see it, and the donor should be informed. Do nothing that brings no return.

Keep the rosary-bag always in hand, close the eyes from time to time, and babble, 'Everything is Brahman'—these immediately inspire trust.

Hover by the riverbank until noon, worship the deity in a public crowd, and always wear religious dress: this is the life of hypocrisy.

When spectators crowd around, the daily rite is very long; when no one is watching, everything is brief.

What further discipline does a man need if he can shed tears of ecstasy and raise gooseflesh whenever he chooses? Every king becomes his servant.

SECTION 13

The Wicked

Punishment makes him worse, and so does mercy. Therefore there is only one rule for dealing with the wicked: banishment far away.

Giving nothing or giving little slightly provokes the wicked man's rage; feed him fully and he regards it as his right; stop giving and he becomes a rabid dog.

It is best to have no dealings with the wicked; familiarity gives birth to his envy. A marriage alliance with his children brings only ruin.

High birth, ignorance, slander, and poverty—when all four meet in one person, 'salute the horizon': run as far as you can.

The Creator fashioned the wicked man's heart as an opening for his bodily organs: another's faults for his eyes, another's rumours for his ears, and another's vulnerable points for his tongue.

Just as the poison stored in its tail makes the whole scorpion terrifying to living creatures, so Time terrifies all beings through its tenth part—the Age of Kali.

Homage to the glorious Age of Kali, in which a wife's word is the Veda, religion is a means of earning money, and personal fancy is law!

Let the world fall under this age if it must. What can Time do to us who take refuge in Shiva, the destroyer of Time?

For the delight of scholars and the entertainment of royal courts, the poet Nilakantha composed this Satire on the Age of Kali.

BHALLATA · KSHEMENDRA · NILAKANTHA

The Bhallata Century
The Pageant of Deceitful Arts (Kalavilasa)
A Satire on the Age of Kali

English Theatre Translation
Gajendra Thakur

Editor
Videha — First Maithili Fortnightly eJournal



VIDEHA

www.videha.co.in

चतुर्भाणी

चारिटा मूल संस्कृत एकनट नाटक (भाण)

कमलक भेंट
धूर्त आ दलालक विचार-विमर्श
परस्पर प्रेम-पलायन
लात

संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद
गजेन्द्र ठाकुर
सम्पादक, विदेह — प्रथम मैथिली पाक्षिक ई-पत्रिका

VIDEHA - ISSN 2229-547X

चतुर्भाणी

चारिटा मूल संस्कृत एकनट नाटक (भाण)

संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद
गजेन्द्र ठाकुर
सम्पादक, विदेह — प्रथम मैथिली पाक्षिक ई-पत्रिका

VIDEHA
www.videha.co.in

चतुर्भाषी

चारिटा मूल संस्कृत एकनट नाटक (भाषा)

मूल संस्कृत रचनाकार: श्री शूद्रक · ईश्वरदत्त · वररुचि · महाकवि श्यामिलक

संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद: गजेन्द्र ठाकुर

सम्पादक: गजेन्द्र ठाकुर

विदेह — प्रथम मैथिली पाक्षिक ई-पत्रिका

ISSN 2229-547X · www.videha.co.in

मैथिली अनुवाद आ सम्पादकीय प्रस्तुति © गजेन्द्र ठाकुर।

अनुवाद आ सम्पादकीय प्रस्तुति सम्बन्धी सर्वाधिकार सुरक्षित।

आकार: ६ × ९ इञ्च हार्डबैक संस्करण।

१. कमलक भेंट

श्री शूद्रक — पद्मप्राभृतकम्

२. धूर्त आ दलालक विचार-विमर्श

ईश्वरदत्त — धूर्तवितसंवादः

३. परस्पर प्रेम-पलायन

वररुचि — उभयाभिसारिका

४. लात

महाकवि श्यामिलक — पादताडितकम्

[भरत प्रहसन आ भाणकें उचिते एक प्रवृत्तिक मानैत छथि। भाण भेल एकालाप, माने एक्केटा पात्र द्वारा अभिनय।]

१

कमलक भेंट

श्री शूद्रक केर मूल संस्कृत एकनट नाटक (भाण)- पद्मप्राभृतकम् (संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद- गजेन्द्र ठाकुर द्वारा)

[नान्दी पश्चात् सूत्रधारक प्रवेश]

सूत्रधार:

ओहि भगवान् रुद्रक जय हो, जे क्रोध अथवा कृपासँ स्त्री-विलासक मूर्ति कामदेवकें आओर अधिक उज्ज्वल देहबला बना देलनि।

आओर—

कुरबकक फूल उज्जर भऽ गेल अछि। कोयल कूजि रहल अछि। सुन्दर अशोकक फूलक संग कौपल डोलि रहल अछि। भँवराक गुंजार आ आमक गन्हसँ महमह करैत हवा बहि रहल अछि। आइ धनुष धारण कएने कामदेव वनमें विचरण कऽ रहल छथि।

आओर की— चिड़ैक चहचहाहटकें वाद्य बना प्रेमरससँ मातल कोयलीसभ गीत गा रहल अछि। वनक अन्तःपुरक कामिनीरूपी लता आचार्य वायुक उपदेशपर अभिनय कऽ रहल अछि। गाछसभ अपन फूलक उल्लासमें पल्लवरूपी अँगुरीसँ ओहि लताकें फुसला रहल अछि। श्रीमान् वसन्तक अबितहि हार-जकाँ उज्जर तुषार क्षणमें बिलाए गेल।

जड़िसँ, बीचसँ, शिखरसँ, अंकुरसँ—चारू कातसँ अशोकक फूल दुष्टक हृदयमें भेद जकाँ फूटि-फूटि निकलि रहल अछि।

अहा! ई—

मत्त कोयलक कूजनसँ भरल, सिन्धुवार, कुन्द आ सहकारसँ सुशोभित, उद्धत कामदेव आ वायुसँ परिपूर्ण, युवजनक प्रिय ऋतु अछि।

[वितक प्रवेश]

वाह! कतेक अद्भुत! शिशिररूपी बुढ़ापासँ जर्जर संवत्सररूपी वितक सुन्दर वसन्ती जवानी हिमरूपी रसायन खा कऽ फेर लग आबि रहल अछि। एहि समय तँ

हिलैत कौपलसँ नाचैत गाछ आ फुलायल लतासँ लपटायल वन यौवन प्राप्त कऽ रहल अछि। तिलक गाछपर बैसल कोयल जूड़ा जकाँ लगैत अछि, आ कुन्दक फूलपर बैसल भँवरा कामिनीक कटाक्षक काज कऽ रहल अछि। कतहु नव-उभरल छोट स्तनबाली कन्या जकाँ कमलिनी साँवली कलिसँ शोभित अछि। कतहु वसन्तक वायुसमूह रतिक्लान्तिक पसेनासँ भीजल स्त्रीक पीन स्तनक स्पर्श करबाक धूर्तता करैत बहि रहल अछि।

कामबाणक मारिसँ सन्ताप देबामें कठोर ई वसन्तकाल निश्चये बलवान अछि; कारण, देवदत्ताक संग सुरत द्वारा अपन यौवनोत्सव भलीभाँति मना चुकलाक बादो कर्णीपुत्रक कामरूपी भँवरा देवसेनारूपी ओहि आमक डारि लेल भूखल छटपटा रहल अछि, जे बाल्यावस्था छोड़ि यौवनागमसँ कोमल भऽ गेल अछि आ काममञ्जरी जकाँ फुला रहल अछि। अथवा कर्णीपुत्रक भूखल रहबामें आश्चर्य की? घी-चिनीसँ बनल तरमाल अचार-चटनी अर्थात् सोपदंशक संग आओर स्वादिष्ट लगैत अछि। हमरा बुझाइत अछि, तँ देवदत्ताक संग सुरतरूपी मधुपानसँ तृप्त भऽ चुकलोपर ओ बालसुन्दरी षोडशी चण्डालिका देवसेनाक संग आओर आनन्ददायक सुरतक ओहन गजक चखए चाहैत अछि, जाहिमें बालपनक भोली-भाली आवभगत, चुहलबाजी आ छेड़छाड़ भरल हो।

अहो! कामरोग छोट देखाइत होइतो बडु भारी होइत अछि; ई अनेक शास्त्रक अचूक ज्ञाता, समस्त कला आ विद्याविदग्ध, युवतीक कामरूपी ताना बुननिहार सूत्रधार कर्णीपुत्रकें सेहो एहि दशामें पहुँचा देलक।

अनिद्रासँ ओकर आँखि कनेक बेसी अलसायल आ लाल अछि। ओकर मुख भोरक चन्द्रमा जकाँ पीयर पड़ल अछि। चिन्तासँ देह दुबर भऽ गेल अछि। ओ जँभाइ लऽ रहल अछि। ओकर समस्त इन्द्रिय जरि रहल अछि। चन्द्रमा, वसन्त, मालाग्रथन, संगीत, सुगन्धि आदि जे सुन्दर वस्तु सोझाँ रहितो पहिने ओकरा आनन्द दैत छल, से सभ एखन ओकरा सन्ताप दऽ रहल अछि।

अथवा देवसेनाक कारणों ई सभ भेल हो, तँ एहिमें आश्चर्य नहि; कारण ओ नवयौवना मनचाहा कामभाव उत्पन्न करएबाली अछि। ओकर पूर्ण यौवनसँ उपजल लावण्य कर्णीपुत्रकें उन्मत्त बना रहल अछि, ई उचिते अछि।

ओकर चञ्चल कटाक्ष, अशर्फी झरबैत अखण्ड अधर, गाल आगाँ कएने मुख, छातीपर नव उठल स्तनाङ्कुर, कोमल बाहुलता, पेटपर कनेक-कनेक झलकैत रोमावली, नजानि कतयसँ आबि भरि उठल नितम्ब आ उन्मुक्त स्वभावबला चतुर प्रेमभाव—ई सभ ककरा उन्मत्त नहि बना देत?

[घुमैत] देवसेनासँ उपजल कामरोगक छटपटाहटमें ओ एखन हार, पड़खा आ चन्दनक सहायतासँ देहक ताप घटबैत, ओकरासँ भेटक आशापर प्राण धारण कएने, खाट पकड़ि कोनो तरहें जी रहल अछि। आइ भोरहि देवदत्ताक पुष्पाञ्जलिक नामक सेवक नम्रतापूर्वक कर्णीपुत्र लग जा कऽ कहलक—‘आर्यपुत्र, आर्या देवदत्ता कहैत छथि—काल्हि हमर नहि आबि सकलासँ आर्यपुत्र हमरा प्रति अपन आदरभावमें उपेक्षा नहि आनथि। हमर छोट बहिन चण्डालिका कनेक अस्वस्थ अछि; ओकरा प्रति स्नेहवश हम रुकि गेलहुँ। एखन तुरन्त आबि रहल छी।’ तखन ओकर कथनक उत्तर दऽ पुष्पाञ्जलिकें विदा कएला बाद कर्णीपुत्र स्नेहपूर्वक हमरा कहलक—‘सखे शश, तौं सेहो सुनलह जे ओ एतय आबि रहल छथि। ई उचित अवसर अछि। ओतय पहुँचि कुशल-क्षेम पूछबाक बहाना सँ पूर्ण विश्वास जगाकऽ देवसेनाक मन टटोली ओकर दुखक कारण बुझि लह। ई हमर प्रणाम। देवसेना चलाओल आ हमर हृदयक अन्त धरि पैसल ई कामबाण भाग्यवान अहाँ मात्र कोनो उपायसँ निकालि सकैत छी।’ एहिपर हम हँसैत विदाक समय ओकरा कहलहुँ—‘ठीक अछि, धूर्तचार्य! की तौं दिनमें दीप जरबैत छह? अहाँ दुनूक आँखि-मिलान हम नहि बुझैत छी, जे चुपचाप अहाँक मनोभाव प्रकट करैत अछि? आ हम मूलदेवक सखा वएह शश छी; ओकर पूरा समाचार लेने बिना नहि घुरबा।’ ई कहि हम चलि पड़लहुँ। फेर राजपथपर मित्रसभसँ गप्प करैत समय बिताबी आ चण्डालिका लग तखन पहुँचि जाबी जखन ओ देवदत्तासँ अलग हो, एहिमें हानि की?

अहा! वसुन्धरारूपी वधूटिक अजम्बूद्वीपरूपी मुखक कपोलपर पत्रलेखा जकाँ उज्जयिनीक अनुपम शोभा अछि; ई नगर नाना प्रकारक भाण्डसँ भरल-पूरल अछि।

एतय वेदक पवित्र अभ्यास; हाथी, रथ आ घोड़ाक निनाद; धनुषक प्रत्यञ्चाक टंकार; नाटक, काव्य आ विद्वानक शास्त्रार्थ; दोकानमें आनल चारू समुद्रक मालक लेन-देन; गीत, वाद्य, जुआ आ हँसी-ठट्टा; कतहु विटक गप्प, कतहु समस्त कला—सभ किछु अछि। घरक पाँति पोसल चिड़ैक चहचहाहटसँ मुखर आ असंख्य कड़कण-करधनीक झनझनाहटसँ भरल अछि। [घुमैत] एखन हम अपन मनोरथ सिद्ध होयबाक कोनो शकुन देखी।

[देखि] अहा, ई काव्यव्यसनी, कात्यायनगोत्रीय शारद्वतीपुत्र सारस्वतभद्र अपन घरक दुआरिपर खड़ियाक रङ्गमें अँगुरी सानने, सोचल बात स्मरण भऽ अयबाक आनन्द आँखि-भाँह नचाकऽ जनबैत, चकडोरक खेल खेलि रहल अछि। एहने समय बहैत प्रतिभाक स्रोत तोड़निहार प्रिय मित्रपर सेहो कविगण बिगड़ि उठैत छथि। मुदा सरस्वतीरूपी लतासँ उपजल वचनरूपी फूलकें कर्णपूर बनौने बिना आगाँ बढ़ि जाऊँ तँ घाटेमें रहब। पहिने एकरासँ भेंट कऽ ली।

[लग जा कऽ]

मित्र कात्यायन, बिना चाराक जुगाली कऽ रहल छह की? की कहैत छह—‘काव्यक पिशाच माथपर चढ़ि हमरा हाँकि रहल अछि’? अरे पुरान काव्यपदक टुकड़ा गाँठनिहार मोची, छिन्न-भिन्न भऽ गेल गाड़क खोज करनिहार जकाँ नव पद खोजि रहल छह की? मित्र, कोन विषयपर श्लोक रचलह? की कहैत छह—‘सोझाँ देखाइत एहि छबीला वसन्तपर श्लोक रचलहुँ’? हम सुनि सकैत छी? की कहैत छह—‘भीतपर लिखल अछि, पढ़ि लिअ’? कतय अछि? अरे, ई रहल—मधुर पवन, कठोर आ प्रचण्ड कामदेवसँ युक्त ई वसन्तकाल नव, विवश आ छरहरि बालाकें कामुकक लग पहुँचैबाक जे काज कऽ सकैत अछि, से खुशामदमें चतुर हजारो दूती नहि कऽ सकत।

शाबास! ई शकुन कार्यसिद्धिक अछि। मित्र, पुत्रलाभ जकाँ तोहर ई श्लोक यशदायक हो। तौं काव्यालोचनाक शिकार नहि हो। अरे, के हँसल? [देखि] अरे, ई तँ पीठमर्द दर्दरक अछि। दर्दरक, एहिमें हँसबाक की बात? की कहैत छह—‘निश्चये अहाँ बृहस्पतितुल्य कविजीक वचनसँ पूजा कऽ मानो समुद्रपर पानि छिड़कि रहल छी’? एना नहि कह, मूर्ख! वसन्तमासक पूजामें फूलक भेंट नहि चढ़ाओल जाइत अछि की? आ की तौं पहिने नहि सुनने छह—दीपसँ सूर्यक पूजा होइत अछि, पानिसँ समुद्रक पूजा होइत अछि, आ वसन्तक पूजा फूलसँ होइत अछि। हमहुँ वचनसँ महाकविक पूजा कऽ रहल छी। ठीक, तौं पीठमर्दक स्वभाव देखौलह। बस, तोहरासँ भेंट भऽ गेल। आओर—ई वसन्तकाल कोयलक मदमत्त कूजनसँ सुहावन अछि; तौं सेहो एहने हो। हम चली। [घुमैत आ देखैत]

अरे, ई दोसर विपुलामात्य आबि रहल अछि। कामदत्तारूपी प्राकृतकाव्यक सँभालमें चतुर छल, मुदा एखन वेशिकवृत्तिक मामिलामें मुँहक खा कऽ, मुँह लटकौने चलि रहल अछि। बुझलहुँ—मूलदेव देवदत्ताक प्रेममें फँसि गेलाह, तँ विपुलाक अपमानकें अपन अपमान मानि ई भलमानुष मानक गर्वसँ फुलायल

अछि। होअए—हँसीक डुबकी लगा एकर गहिराइ नापब। [इशारा कऽ] ‘अरे, मित्ररूपी कुमुदकेँ खिलौने बिना दिनक चन्द्रमा जकाँ हमरा सभकेँ छोड़ि कतय जा रहल छह?’ तोहरासँ किछु पूछबाक अछि—‘कला-विज्ञानसँ भरल, सदिखन गर्वमें मत्त तोहर विपुल बुद्धि निश्चये अत्यन्त धीर छल, जे खिन्न नहि भेल।’ [दोसर अर्थ] अहाँ जनैत छी की, कलाक प्रयोगज्ञानसँ युक्त, गर्वित स्वभाववाली ओ विपुला अन्त धरि धीर नहि रहि सकल, तँ खेदग्रस्त भऽ गेल?

की कहैत छह—‘अहाँक व्यङ्ग्यक अर्थ हम बुझि गेलहुँ। गुरु मूलदेवक चतुराई प्रसिद्ध नहि अछि की?’ नहि, बात एहन नहि। देवदत्ताक संग हृदय लगल रहितो हुनकर मन विपुलामें अटकल अछि। की कहैत छह—‘ई सेहो मूलदेवक धूर्तते अछि?’ ठीक, अहाँ अपन सीधी-सादी शिष्या विपुलाकेँ उलाहना—
—किएक नहि दैत छी, जकर प्रेमजनित रूसापन दूर करबाक लेल कर्णीपुत्र आयल छल?

बरखामें गदला गेल नदीकेँ निर्मल करबाक लेल शरदकाल जकाँ ओ आयल छल; मुदा जाड़में ताड़क पङ्खा जकाँ अपमानपूर्वक फेकि देल गेल।

की कहैत छह—‘कतय, कोना?’ मित्र, सुन। किछु दिन पहिने कर्णीपुत्र हमरा संग विपुलाकेँ मनएबाक लेल गेल। ओकर ड्योढ़ीपर ठाढ़ भऽ क्रोधक गहिराइ बुझबाक लेल ओ पहिने हमरा स्नेहपूर्वक भीतर पठौलक। हम मधुर वचन बजैत ओकरा लग गेलहुँ। डाहसँ जरैत ओ सलोनी हमरा देखितहि ‘एतेक परिश्रम किएक?’ कहि मुँह घुमा लेलक। तखन हम हँसैत कहलहुँ—‘तोरा के की कहलक? ई उत्तर कोन बातक अछि? हे वनिते, कनेक हमर दिश घुमि अपन चन्द्रमुखसँ फेर कह। तोरा प्रसन्न देखि हमर प्रीति असीम भऽ जाइत अछि। नागिन जकाँ रोषसँ भरल तोहर ई भृकुटि हमरा डरा रहल अछि। तकर बाद ओकर सखी अवन्तिसुन्दरी कहलक—भृकुटि टेढ़ कऽ, क्रोधसँ मुख लाल कऽ, निःश्वाससँ अधर झरका कऽ, मित्रक आगमनपरो किएक नहि बजैत छह? गर्वसँ फुलायल तौ अपन सौभाग्यसँ वैर कऽ रहल छह। हे मानिनि, मान छोड़; सभ वस्तु बेसी तानलासँ शीघ्र टूटि जाइत अछि।

‘मन-मिलानक बैठक सदिखन नीक होइत अछि’—ई मानि कर्णीपुत्र सेहो ओतय पहुँचि गेल। ओकरा नमल देखि विपुला रोषपूर्वक झटकिक कऽ कहलक—‘तौ ओतयसँ छुट्टी पाबि आयल छह, वा निश्चये ओ तोरा निकालि बाहर कऽ देलक? चुहलभरल गप्पसँ मन बहलेबाक लेल तौ हमरा अपन थाकनि मेटएबाक विश्रामगृह बुझने छह? बुझायल अभिलाषाबला हमर मोनकेँ जरा कऽ की लाभ? कडुआ औषधि पीबिसँ की फल? जेना भलमानुष बनि आयल छह, ओहिना घुरि जा।

की कहैत छह—‘जँ एहन बात अछि, तँ पहिने ओहि उजड़ीक लग जा कऽ डॉट-डपट करैत छी?’ जा, ओकरासँ मनमाना गप्प कर। एखन हम चली। [घुमैत] हा धिक्! हमर बाटक दोसर देहधारी विघ्न आबि गेल। दन्दशूकक पुत्र पाणिनीय वैयाकरण दत्तकलशि ठीक सोझाँ उपस्थित अछि। एखन एकर वाग्जालसँ सकुशल बचि निकलनाइ अछि। एकरा घबरायल देखैत छी। निश्चये कतहु वाद-विवादमें रगड़ायल अछि। वैसे सेहो, कलहक खुजलीसँ भरल एकर वाणी कनेक छुबितहि मन्दिरक घण्टा जकाँ टनटना उठैत अछि। ई भलमानुष गणिकाप्रिय अछि आ अपन प्रियतमा केँ नूपुरसेनाक पुत्री रशनावती कहैत अछि। हा! ऊँटक गरदनमें लटकल वीणा जकाँ ओहि बेचारी रशनावती लेल खेद अछि। ई हाथ उठा हमरा दिशें किछु कहि रहल अछि।

की कहलह—‘सखे, सुखसँ सुतलह?’ एखन एकरासँ बचबाक कोन उपाय? नीक, एकर स्वागत करी। अक्षरसभसँ भरल कोठारक स्वागत! मित्र दत्तकलशि, तोरा घबरायल देखैत छी; कुशल तँ छह? की कहलह—‘मरल मांस खाएबला डोम-कौआ जकाँ कातन्त्र वैयाकरणसभ हमरा ऊपर टूटि पड़ल अछि?’ हाय! कौआ-उल्लूमें युद्ध मचि गेल। मित्र, बधाइ जे तोरा बिना नोचायल देखि रहल छी। की कहैत छह—‘एहि दुष्ट कातन्त्र वैयाकरणसभकेँ हम बुझैत की छी?’ अहाँ जेना छी, ओहिना रहू; हम चली।

की कहैत छह—‘कतय चललह? सञ्चिचीषु! एखन ठहर; एहन दौड़-धूप किएक?’ हाय, हमरा क्षमा कर। एहि प्रकार लाठीक मार जकाँ कठोर वाक्यबाणसँ हमरा नहि कूट। भरल सभामें मनुखक चलित भाषा बाज। ऊँटक बलबलाहट जकाँ अशोभन, कानमें विष जकाँ टपकएबाली वैयाकरणक ई किटकिटाहटसँ हमरा बचा। की कहैत छह—‘अनेक बकबकी तार्किकक बेलभिडन्तसँ उपजल आ अनेक धातुसँ ढारल शतघ्नी जकाँ गड़गड़ाएबाली शैली छोड़ि हम एकरा स्त्रीक सुकुमार देह जकाँ कोना बनाबी?’ अहो, तखन तँ तौ अनाथ छह।

गप्प-सप्पमें, स्त्री आ मित्रक खातिरमें, अदालती अर्जीदावामें आ कहावतमें दाँततोड़ शब्द आ अक्षरक की मेल—जेना फूलक सेहरा आ काँटक मेल?

की कहलह—‘निश्चये ओ कुलटा अछि, जे हमर एहन मधुर वाणीसँ सेहो रूसि गेल।’ ई कुलटा के भेल? की कहैत छह—‘ओकरा प्रिया कोना कहल जाय?’ [सोचि] हँ, बुझि गेलहुँ। रशनावती एहने योग्य अछि; कारण आमक वनमें विचरण करएबाली कोयल स्वभावे काँटदार बेलक गाछपर बैसि गेल—एहिसँ पैघ दुःख दोसर नहि। हाय, एहि दुखमें सेहो बड्ड आनन्द अछि। तखन ओकर आनन्द लिअ। मित्र दत्तकलशि, तोहर-जकाँ मधुरभाषी भलमानुषसँ ओ स्त्री कोना

विमुख भऽ गेल? ई सुनबाक हमरा बड्ड इच्छा अछि। सभ बात खोलि कह। की कहलह—‘निश्चये ओ कुलटा अछि। काल्हि साँझक समय वेश्यापुरीक अलिन्दमें मदमत्त भऽ, हम जखन हवन कऽ रहल छलहुँ, तखन मानो हमरा अँकवारैत ओ लग आबि बैसि गेल।’

एहिपर हम ओकरा कहलहुँ—‘अरी दोगली, होम करैत हमरा नहि छू।’ हाय, एकरे बिगड़ल भेंट कहल जाइत अछि! कामिनीकेँ अपन बनएनाइ सेहो नाजुक काज अछि। ई छूआछूत किचकिचक जड़ि अछि। अरे नादान, प्रेम करएबाली कामिनीकेँ दुत्कारि तौ नीक नहि कएलह। कठोर शब्दसँ निर्दय बनल आ व्याकरणक चिनगारीसँ भरल अपन वचनसँ तौ स्त्रीसभकेँ सेहो चिहुँका दैत छह। की तौ पहिने ई नहि सुनने छह—

जे एकान्तमें कामभावसँ भरल, सुकुमारचित्त, सहज मधुर वचनसँ दुलार करबाक योग्य अनुरक्त स्त्रीकेँ कान फोड़एबाली वाणीरूपी लुआठिसँ छूबैत अछि, ओ मानो जरैत काठसँ वीणा बजबैत अछि।

निश्चये रशनावती टेढ़ काज साधनिहारि अछि, जे एहि-जकाँ ठूँठसँ प्रीति करैत अछि। अथवा ई ओकर लेल पूरा अभिशाप अछि। मित्र दत्तकलशि, तौ कानमें जे अमृत टपकौलह, से सुनि लेलहुँ। तोहर कल्याण हो; हम जाइत छी।

[घुमैत]

मनुखक ई दोसर जमघट उपस्थित अछि। ई धर्मोसनिकक पुत्र पवित्रक नामक गुप्त व्यभिचारी—पवित्रताहीन होइतो वैष्णव कहबैत—राजपथपर अपरिचित लोकक मानो छूत बचबैत, भीजल वस्त्र समेटि समूचा देह सिकोड़ने, अँगुरीसँ दुनू नाकक छेद दबौने, चौबटियापर शिवलिङ्गक सहारा लऽ ठाढ़ अछि। निश्चये ई बेचारा हास्यक पात्र अछि; कारण सुनल जाइत अछि जे मत्तकाशिनीक पुत्री वारुणिका नामक टकहिया अर्थात् बन्धकी वेश्यापर आसक्त अछि। एहि समय ई एतेक घबरायल किएक अछि? चल्, एकर आवारागर्दीक पोथीक पेटी खोली।

अरे पवित्रक, धूप सेकैत कछुआ जकाँ गरदनि बाहर-भीतर करैत किएक ठाढ़ छह? की कहलह—‘राजपथपर आबए-जाएबला अपरिचित लोकक स्वाभाविक छूत बचा रहल छी’? ओहो! अपरिचितक छूतसँ दूर भागैत छह, मुदा वारुणीक जघनस्थलक पात्र की गड़हाक घाट जकाँ बड्ड पवित्र अछि? की कहैत छह—‘एहन बात नहि अछि’? ग्वालक घरमें घोर बेचैत छह की? बादुरकेँ उलटि लटकबाक शिक्षा दैत छह की? बदमाशक संगो बदमाशी देखबैत छह।

की कहैत छह—‘क्षमा करू बाबा, अहाँक गुप्तचर-दृष्टि बड्ड चौकस अछि’? केकर गुप्तचर? कतयक गुप्तचर? सूर्य दीप लऽ अन्हारमें नहि पैसैत अछि। हमरा जासूसक आवश्यकता नहि; एहन बातमें हम सहस्रनेत्र छी। तँ बदमाशीक बाना उतारि फेक। केवल मुखाकृतिसँ भलमानुष, तौ ढोंगसँ नम्र बनल छह। अरे सज्जनक सहपाठी आ विटक सेवक, छुआछूतक भूत आ वेश्याप्रसङ्ग दुनू परस्पर विरुद्ध अछि—जेना विरुद्ध आहार। आओर, छुआछूतक ढोंगमें बान्हल रहि ओकरासँ जुटेत छह, मानो सँझसीसँ नेवारी चुनैत हो। की कहैत छह—‘एखन हम ई रपकपना छोड़ि देलहुँ’? खीर खा कऽ उपवास करबाक बातपर के विश्वास करत? की कहैत छह—‘जँ अहाँ हमरा ऊपर एतेक कृपालु छी—

—तँ हमरा अपन शिष्य बना लिअ’? बधाइ, तौ सत्यपथपर आबि गेलह। जँ विट बनबाक निश्चय कएने छह, तँ वेश्याक प्रणय लेल कीलदार लाठी जकाँ घातक मिथ्या आचारक बाना शीघ्र उतारि फेक आ गुण्डईक हुंकार भर। की कहलह—‘हम अहाँक आज्ञाकारी छी’? तखन तोरा मनमाना खुलि खेलबाक पुरस्कार दैत छी। एखन हमर ई आशीर्वाद लह—

छिड़िआयल आ छुटल पात्रबाली, ढील करधनीबाली, खुजल नीवीबाली, घबरायल, हाथपर हाथ चढ़ा स्तन, त्रिवली आ नाभिप्रदेश नुका लजाइत बैसल, ‘नहि, नहि, हमरा छोड़’ कहि चिचियाइत स्त्रीकेँ शय्यापर लऽ जा सुरत-सम्मिलनक पहिल फसल काट।

की कहैत छह—‘अहाँ उपकारक ढेरी लगा देलहुँ; हम भला-चङ्गा भऽ गेलहुँ’? जँ एहन अछि तँ एखन हमरा आचार्य-दक्षिणा भेटबाक चाही। की कहलह—‘प्रणाम उपस्थित अछि’? अरे, एतेक भारी फजूलखर्ची! नीक, आइ सँ हम शिष्यबला—

—तँ भऽ गेलहुँ; मुदा तौ पूरा गुरु छह, शिष्य नहि। अकड़ि कऽ मनमाना मौज कर। हम चललहुँ। वसन्तक दुपहरियामें घूमनिहार लोकक पसेनाक स्पर्शसँ शीतल, मालाक दोकान आ घरक बीच रुकि-रुकि बहैत बाजारक हवा मानो प्रतिहारी जकाँ आगाँ बढ़ि हमरा भेटि रहल अछि। [फूल-बाजार देखि] नाना प्रकारक फूलक ढेरीसँ अङ्ग-प्रत्यङ्ग सजौने ई पुष्पवीथि वसन्तवधू जकाँ देखाइत अछि। ई—

फुलायल कमलरूपी सुन्दर मुखबाली, उज्जर फूलक कलि जकाँ दाँतबाली, नव नीलकमलरूपी आँखिबाली, रक्ताशोकक गुच्छा जकाँ फरकैत ओठबाली, भँवराक गुंजाररूपी मधुर वाणीबाली, सुन्दर पुष्पगुच्छ जकाँ स्तनबाली, फूलक सेहरारूपी आभूषणसँ सुशोभित, गूँथल उज्जर फूलक वस्त्र पहिरने, उज्जर मालारूपी मेखलासँ युक्त—फूलसँ सजल ई पुष्पदोकान वसन्तक गृहिणी जकाँ, पुष्पाभूषित स्त्रीक शोभा देखबैत अछि। आह! असंख्य पुष्पसमूहक गन्धमें

हमर हृदय फँसि गेल; तँ एहि पुष्पवीथिकें छोड़ि जाएब हमरा बड्ड कठिन भऽ रहल अछि। [धूमि] ई दोसर हँसीक बाजार उपस्थित भेल। मृदङ्गवासुलक नामक पुरान नाटकक ई विट—जकरा वेश्यालोकनि ‘भावजरद्रव’ नाम देने छथि—सुरीला गायक आर्य नागदत्तक घरसँ बाहर आबि रहल अछि। खिजाब, स्नान आ अनुलेपनक चटक-मटकसँ ई अपन बुढ़ापा मानो छँगोटसँ झाँपने अछि। ई भलमानुष सभक मित्र अछि; एकरासँ बिना बजने जाएब सम्भव नहि। कनेक हँसी-ठट्टा करी। [इशारा कऽ]

अरे भावजरद्रव, एहि बुढ़ौतीमें सेहो तोरा सुकाल अछि की? की कहलह—‘अहाँ सुधि नहि लेलहुँ, तँ बूढ़ साँप जकाँ कंचुल छोड़ि रहल छी’? बुझाइत अछि तौ प्राणो छोड़ि कायाकल्प कऽ रहल छह; तँ फेर जवान भऽ गेलह। बनाव-चुनावसँ जवानी साधबामें तौ सिद्ध छह। तोहर—

—माथ खिजाबसँ उपजल नकली जवानीक सूचक केसक ओलतिसँ झाँपल अछि—अर्थात् बीचमें टकला—आ मुख मूँछक पाकल रोमकें चिमटीसँ उखाड़ि सफाचट दाढ़ीबला अछि। प्रयत्नपूर्वक कएल मरम्मतक बलपर जेना पुरान जर्जर घर ठाढ़ रहैत अछि, ओहिना अङ्गक लीपापोतीसँ सँवारल तोहर जवानी अछि।

की कहैत छह—‘पुरान मदिरा बेसी नशीली होइत अछि’? जँ तोहर ई इच्छा अछि तँ त्रिफला, गोखरू आ लोहाक चूर्णसँ बनल खिजाब द्वारा तोहर सभ प्रकारक वृद्धि हो। हम चली। [धुमैत]

अरे, हमरा सहसा आबि गेलापर केओ एखन जुआघरक ड्योढ़ीक खम्भाक पाछाँ अपनाकें नुका ठाढ़ भऽ गेल। [देखि] ठीक, चिन्हि लेलहुँ—ई शेषिलक अछि। हमरा सँ नुकेबाक कारण की? मालतिकाक दूतीकें पकड़ि रखबाक बेहूदगीक विषयमें की एकरा शङ्का अछि? ठीक, हँसीक गोता लगा एकर थाह लेब।

अरे ब्राह्मणपुत्र, मित्र भेटलापर अपनाकें नुका छतरीसँ चानन रोकबाक जकाँ व्यर्थ काज किएक करैत छह? ई बाहर निकलि हँसि रहल अछि। की कहैत छह—‘सुहृत्कर्णधारक स्वागत’? भलमानुष, हमर सुहृत्कर्णधारता कतय, जखन तौ अपन दोहरा रतिप्रणयसँ हमरा दूर रखने छह?

की कहलह—‘नहि, एहन बात नहि’? अरे सुरतक टुकड़खोर, हमरा सँ एना नहि कह। सभकें ज्ञात अछि जे शेषिलकक पड़ोसमें बौद्ध भिक्षुणी रहैत अछि। कामभाव उपजलापर मालितक बेटी मालतिका ओकरा तोहर लग दूती बना पठौलक। ओहि दूतीक शृङ्गारविहीन रूप, यौवन आ लावण्यमय देहपर मांस जकाँ ललचा तौ तुरन्त ओकरेपर आँखि गड़ा देलह, भविष्यमें भेटएबालीक लेल नहि ठहरलह। की कहलह—‘मित्र, ई सत्य अछि जे भविष्यक सुखक आशामें प्राप्त सुख छोड़ब पुरुषार्थ नहि; तँ हम ओहिना कएलहुँ। दीपसँ आगि नहि खोजल जाइत अछि।’ अरे, नीके कएलह। जँ विस्तारसँ नहि कहबह तँ रहस्य बेमजा रहत। तँ ई बात विस्तारसँ सुनबाक योग्य अछि। तौ—

—की कहलह—‘के स्वयं अपन बेहूदगीक पचड़ा खोलैत अछि? तथापि संक्षेपमें सुनू।’

जखन ओ अपनापर बलात्कार होइत देखलक, तखन हमरा कहलक—‘एतेक विश्वास दिआ कऽ—

—अरे बदमाश, तौ हमरा ठकि रहल छह? हम प्रतिष्ठित स्त्री छी। अरे चपल, एहि काजक लेल आयल स्त्रीक संग एहन व्यवहार उचित नहि। दोसरक सुनसान घरमें पहुँचि हमरा बलपूर्वक रोकि लेल गेल अछि। एना नहि कर; हमरा ऊपर दया कर; छोड़, केओ आबि रहल अछि।’

वाह! मृदङ्ग बिना नाटकक अङ्क समाप्त भऽ गेल। एहि प्रकार सुरतक नियम तोड़ि, हे वशिष्ठपुत्र, तौ ‘विट’ शब्दक जड़ि जमा देलह—अर्थात् दूतीक संग एना कऽ पक्का विट सिद्ध भेलह। मित्र, तोहर मिलन शुभ हो; हम चली। [धुमैत] लिअ, सुरतक पाहुनक बस्ती—वेश्यापुरी—आबि गेल। ई वेश्यापुरी—

गणिकाक ई वेश कामक आवेश, बदमाशीक उपदेश, मायाक कोष, ठगीक अड्डा आ निर्धनकें भीतर नहि घुसए देबाक लेल बदनाम अछि। एतयक दुःखो रसपूर्ण होइत अछि। एकर प्रवेश सभक लेल सुलभ हो।

[धुमैत] मैल चादरसँ देह झाँपि, शरीर सिकोड़ने, वेश्याक आडनसँ शीघ्र बाहर निकलैत ई के अछि? ध्यानसँ देखैत छी—हड़बड़ीमें खसल गेरुआ वस्त्रक छोर देखाइत अछि। आ, ई तँ एही विहार—धर्मारण्य—में रहनिहार दुष्ट बौद्ध भिक्षु सङ्घिलक अछि। अहो, बुद्धक शासन कतेक पवित्र अछि, जे एहि प्रकार व्यर्थ माथ मुँड़ौने दुष्ट भिक्षुकसभक आघात सहितो दिन-दिन पूजल जा रहल अछि। अथवा कौआक जूठसँ सेहो तीर्थक जल अशुद्ध—

—नहि होइत अछि। ओ हमरा देखि लेलक, तँ अपनाकें नुका भागि रहल अछि। ठीक, जँ हमर वचनबाणसँ छुबि गेल तँ बिना चोट खएने नहि निकलत। चल्, एकरासँ गप्प करी। [इशारा कऽ]

अरे विहारक भूत, उल्लू जकाँ दिनमें डरि कऽ किएक चलैत छह? की कहैत छह—‘एखन विहारेसँ चलि आबि रहल छी’? भदन्तक विहारशीलताक सत्यता हम नीक जकाँ जनैत छी। बदमाश, वेश्यावीथिक बावड़िसँ निकलैत बगुला जकाँ सहमल तौ कतय जा रहल छह? सुरतरूपी पिण्डपात अर्थात् भिक्षाक खोजमें छह की? की कहैत छह—‘माताक मृत्युसँ दुःखी सङ्घदासिकाकेँ बुद्धवचनसँ सान्त्वना देबाक लेल आयल छी’? तोहर मुँहसँ निकलल बुद्धवचन एहन लगैत अछि, जेना मदिराक भ्रममें आचमन कएल गेल हो। हाय—

मूर्खतावश वा संयोगेसँ जँ कोनो भिक्षु वेश्याक आडनमें प्रवेश करैत अछि, तँ दत्तकसूत्रमें ओंकार जकाँ ओ शोभा नहि पबैत अछि।

की कहैत छह—‘हमरा सभकेँ समस्त प्राणीपर दया देखेबाक चाही’? ठीक, नित्य प्रसन्न रहनिहार भदन्त तृष्णाक नाशसँ परिनिर्वाण प्राप्त करताह— अथवा ‘नित्यप्रसन्ना’ नामक मदिरा जमेबाक बाद तौ पिआस मेटा मातल भऽ जाएबह। ओ हाथ जोड़ैत अछि—अर्थात् अँजुरी भरि पीबैत अछि। की कहैत छह—‘ठीक अछि, हम मुक्त भऽ जाई’? ठीक, अपन परिश्रम व्यर्थ नहि कर; मोक्ष तोहर लेल सर्वथा दुर्लभ अछि।

की कहैत छह—‘हम जाइत छी; अकालभोजनसँ बचबाक चाही’? वाह, वाह! तौ बाँकी सभ नियम पूरा कऽ चुकल छह। पंचशील नहि छोड़निहार एहि भिक्षुक लेल मात्र एतबे बाँकी अछि जे उचित समयपर भोजनक नियम भङ्ग नहि हो। जा, रुम्बा पड़! केश मुँडौलाक कारण माथपर दादक चित्तीसँ लजा रहल छह? जा, तौ पूरा बुद्ध छह। नीक भेल ई दुष्ट बिलाए गेल। एहि गन्हाइत बौद्ध भिक्षुकेँ देखिसँ मलिन भेल अपन दृष्टि कतय धोई? [धुमैत]

अरे वाह! गुण्डालोकनिक आँखि शीतल करएबाली वस्तु आबि गेल। वसन्तवतीक पुत्री वनराजिका, वनराजि जकाँ रूपवती, मानो अपन देहेपर फूलक समाज रचि, इच्छित देवपूजा आ सम्मान कऽ, कामदेवक मन्दिरसँ उतरि रहल अछि। ओ पूर्ण सावधानीसँ पुष्पशृङ्गार द्वारा देहकेँ भव्य बनौने अछि। बुझाइत अछि, अपन प्रियजनक लग जा रहल अछि। मधुर गप्प करैत ओकरा लग पहुँची। [इशारा कऽ] भद्रे वनराजिके, वसन्तक फूलक पहिल उपहार लैत कतहु पाहुनकेँ बिसरि तँ नहि गेलह? की कहलह—‘आर्यक स्वागत, प्रणाम’? तोहर दाक्षिण्यक ई पल्लव स्वीकार कएलहुँ। निश्चये हालहि आयल वसन्त तोहर देहमें पैसि गेल अछि। की कहलह—‘कोना?’ तखन सुन—

वासन्ती आ कुन्दक पुष्पक संग मिलल कुरबकक फूलसँ तोहर जूड़ा सजल अछि; चोटीक छोरमें अशोक लागल अछि; स्तनतट सिन्धुवारक उपहारसँ सजल अछि; नव आम्रमञ्जरी आ हिलैत कौपलसँ कर्णपूर बनल अछि। हे सुमुखि, अँजुरीमें फूल भरने तौ मूर्तिमान वसन्तकेँ धारण कएने छह।

की कहैत छह—‘ई अहाँक लेल उपहार अछि’? ठीक, तौ स्वयं एहि धरोहरकेँ राख; समय अयलापर हम लऽ लेब। तोहर कल्याण हो; हम चली। [धुमैत]

अरे, ई इरिमक रखैल ताम्बूलसेनाक घर अछि। भलमानुष प्रतिदिन एतय जमैत अछि। की हम भीतर जाउ? [सोचि] बिना गप्प केने जाएब उचित नहि।

तखन भीतर चली। [प्रवेश कऽ] अरे मित्रक घरमें केओ अछि, जे शशक आवभगत करए? अरे, ई ताम्बूलसेना हमर सम्मान लेल शीघ्र डेग भरैत, घबराहटमें खसल चादर घीचैत, बाहरी दुआरिपर स्वागत करबाक लेल पहुँचि गेल अछि। निश्चये ई अतिरिक्त आवभगत अछि। बुझाइत अछि, हमर भीतर प्रवेश ओकरा नीक नहि लगल; तँ बाहरहि हमरा निपटएबाक लेल निकलि आयल अछि। एकर ताजा सुरतचिह्नसँ बुझाइत अछि जे एखनहि रतिक्रीड़ासँ निवृत्त भेल अछि। निश्चये इरिम दिवासुरतक मल्लयुद्धक अनुभव कएलक। ई भलमानुष सुरतक बड्ड लोभी अछि। होअए, एकरासँ कनेक मजाक करी। अरी ताम्बूलसेने, एतेक आवभगत किएक खर्च कऽ रहल छह? रतिजनित थाकनिक कारण उखड़ल निःश्वाससँ टूटल अक्षरमें ‘प्रिय मित्रक स्वागत’ कोना कहि रहल छह? अरी सदा प्रेममें पगलि, पहिने एकटा पङ्खा लह। सत्ये, ताम्बूलसेना व्यायाम—सुरतश्रम—कऽ चुकल अछि। अरी चोटी, शक्ति सेहो बढ़बैत छह वा—

—नहि? की कहैत छह—‘हम किछु नहि बुझैत छी’? [हम देखैत छी] प्रियजनक संग आलिङ्गनक कारण एकर स्तनतटक चन्दन मेटा गेल अछि। तखन पूछी। अरी सुरततृष्णाक सदिखन पिआसल, रातिभरि विहार करएबला इरिमकेँ दिनोमें विश्राम नहि करए दैत छह? भोर-साँझ दुनू समय होम चलैत अछि की? की कहैत छह—‘दोसरक मजाक उड़ेनाइ अहाँक सदिखनक आदति अछि’? बात—

—एहन नहि। अरी चतुरे, की नहि सुनने छह जे रूप नुकेलासँ सेहो रूप प्रकट भऽ जाइत अछि? की कहैत छह—‘अहाँ कोना बुझलहुँ’? अरी चोटी, हम कोना नहि बुझब? जेना—

मेटायल विशेषक, पोंछल रोलीक टीका, कपोलपर छिड़िआयल लट, खसल कर्णोत्पल, दन्तक्षतसँ लाल अधरबला मुख आ अलसायल आँखि सूचित करैत अछि जे तोहर प्रेमी दिवासुरतक लोभी अछि।

की कहैत छह—‘एखन हम सुति कऽ उठल छी; अहाँ किछु दोसर शङ्का करैत छी’? ठीक, हम बुझि गेलहुँ। एखन तोहर सूक्ष्मसँ सूक्ष्म भेदो हमरा लेल अनजान—

—नहि रहल; मुदा—

बुझाइत अछि, तोहर देहपर ई नखक्षत आ दन्तक्षत स्वप्नक अन्तमें भऽ गेल अछि। हे सुन्दरि, तोहर दहिना काँधपर ई वस्त्रचिह्न की पितरकें 'स्वधा' कहि प्रसन्न करबाक कारण बनल अछि? आओर, हड़बड़ीमें तौ ई देखब बिसरि गेलह जे ओ गँवार मोची तोहर दुनू पएर लेल बाम जुने बना देलक। अरी चोटी, चोरीक मालक संग पकड़ायल तौ एखन बचि कऽ कतय जाएबह? ओ भीतरक घरमें जा अपन रमणक संग जोर-जोरसँ हँसि रहल अछि। [कान लगा कऽ] ई इरिम कहि रहल अछि—'हे धूर्तार्य, भीतर आउ।' मित्र, सुरतरथमें जोतल बरदक जुआ के काटत? तोहर ई सुरतक टहल बेरोकटोक चलैत रहय। हे गार्गपुत्र, हम चली। [धुमैत] अरे, बाहरी दुआरिक देहरीपर देवताकें बलिक उपहार दैत ई के अछि? निश्चल मुख, शोकक थाकनिसँ भरल, बिना काजरक आँखि, मैल वस्त्र, बिना तेलक लटकैत घन केस, ढील कङ्कण, फूल फेकलासँ खसल अँगूठी—ई छरहरि तरुणी आओर दुबर भऽ गेल अछि।

ई भाण्डीरसेनाक पुत्री कुमुदवती अछि। हा, खेद! ई बेचारी कठिनतासँ चिन्हाइत अछि। के अछि, जकर लेल ई वेश्यापुरीक रीति-विरुद्ध, विरहमें पतिव्रता जकाँ व्रत करैत अछि? हँ, स्मरण भेल। सुनल जाइत अछि जे ई ओहि मौर्यकुमार चन्द्रोदयमें अनुरक्त अछि। ओ भलमानुष सामन्तसभकें दबएबाक लेल सेनाक संग गेल अछि। हा, चन्द्रोदयक विरहमें कुमुदवती श्रीहीन भऽ गेल अछि। ई तँ कुलवधूसभकें सेहो पराजित कऽ देलक। अपन घरक अटारी—वलभीपुट—पर बैसल, बलिक लोभसँ आयल कौआकें स्वागतवचनसँ अभिनन्दन कऽ रहल अछि—

हे अटारीक गोखक तिलक, हे श्राद्धमें देल बलिभोजनक अतिथि, तोहर कल्याण हो। की हमर जीविते सदिखन प्रवासमें रहनिहार हमर प्रियतम घुरि आएत? जँ ओ अबैत हो, तँ जा आ दोसरक दुआरक तोरणपर बैस। दुःख बीतलाक बाद प्रियतमसँ मिलि हम तोरा दही-भात खुआएब।

वाह, एकर प्रेम निश्चये छल-कपटहीन अछि। राजाक योग्य ई रत्न हँसी उड़एबाक वस्तु नहि। कोनो राजमहिषीक हाथसँ एकरा वधूभावक अवगुण्ठन प्राप्त हो। एखन हम असगरे चलब। [धुमैत]

अरे, दहिना दिस बगैचामें आभूषणक झनकारसँ उड़ल चिड़ैक मुखर ध्वनिसँ मिलल-जुलल कोनो शब्द सुनाइत अछि। ठीक, एहि वृक्षवाटिकाक दुआर खुलल अछि; देखी। [देखि] हा-हा, कतेक सुन्दर! एतय तँ आँखिक उत्सव सजल अछि। ई पाञ्चालदासीक पुत्री प्रियङ्गुयष्टिका अछि। जघनभाग भरि उठलासँ ओकरामें यौवनोचित ठसक आबि गेल अछि। यौवनक नव राज्य ओकरा मोहित कऽ रहल अछि। अनेक विलास, हाव, भाव आ दाक्षिण्यसँ युक्त, सखीसभसँ घेरायल, ओ गेन्द खेलि रहल अछि। ई—

मूँगा जकाँ लाल अँगुरीबला हाथसँ मैनसिल रङ्गक गेन्द पकड़ने, नीचाँ-ऊपर लचकैत ओहि कदम्बलताक शोभा पाबि रहल अछि, जे अपन पल्लवक टोकसँ कोनो फूलपर टहोका मारि रहल हो। एकरा देखनाइए अमूल्य लाभ अछि। ठीक, तृप्त मनुखो अमृतसँ नहि अघाइत अछि। चलू, एकरासँ किछु गप्प करी। [लग जा कऽ] प्रियङ्गुयष्टिके, गेन्द खेलबाक बहाना सँ तौ सखीसभक नृत्यकौशलकें सेहो किएक पराजित कऽ रहल छह? कनेक मुस्की दऽ उत्तर देतहि ओ खेलिते जा रहल अछि। ओकर दासीसभ गेन्दक उछाल गनि रहल अछि। बुझाइत अछि, सखीसभक संग बाजी लगौने अछि। वाह! बाजीक कारण एकरामें कतेक उत्साह भरि गेल अछि। आइ संयोगहि हमरा ई दृश्य देखबाक भेटल—ओकर नीचाँ-ऊपर होयब, घूमब, उछलब, पाछाँ हटब, दौड़ब आदि अनेक प्रकारक अङ्गसञ्चालन सभ भाँति सुन्दर अछि। बहुत कहब की? घूमबाक, पाछाँ हटबाक आ कुदबाक समय ओकर फुलायल वस्त्रक भीतर पैसबाक इच्छुक हवा सेहो कामुकतासँ ओकर पाछाँ दौड़ि रहल अछि। हमरा भय अछि जे मुट्ठीमें आबि जाएबाली, यौवनक भारसँ लदल स्तनक कारण नमल, स्वभावे पतली एकर कमर कतहु टूटि नहि जाए। तँ एकर उपेक्षा सम्भव नहि। एकरासँ गप्प करी—अरी यौवनमत्ते, अपन सुकुमारताक विरुद्ध ई की कऽ रहल छह? ठहर, ठहर; हम तोरिसँ कहि रहल छी। एकर उल्लास तँ बढ़िते जा रहल अछि। अहो, एखन हम एतबे कामना करैत छी—

अरी चपले, गेन्दक पाछाँ तौ पूर्णतः उन्मत्त भऽ गेल छह। तोहर कानक कुण्डल जोर-जोरसँ हिलि रहल अछि। दुनू भुजा चमकि रहल अछि। छिड़िआयल अलकसँ खिलल फूल झरि रहल अछि। तोहर करधनी चक्कर लगेलासँ ऊपर उछलैत आ—

—फेर वेग बढ़लासँ चमकैत आ क्षुब्ध होइत अछि। थरथराइत स्तनक भारसँ नमल तोहर कमर मात्र सकुशल रहय।

पूरा सएह उछाल भऽ गेल, तँ ओ रुकि गेल। भद्रे प्रियङ्गुयष्टिके, सखीसभसँ बाजी जीतलापर बधाइ। की कहैत छह—'आर्यक स्वागत; विजयक आधा भाग उपस्थित अछि, स्वीकार करू?' भद्रे, तोरा देखनाइए हमरा लेल अमूल्य लाभ अछि। हमर स्मरण राखिह; हम चली। [धुमैत]

अरे, मित्रक मनोरञ्जनक ई दोसर अट्टा आबि गेल। ई चन्द्रधरक सुरतिन नागरिकाक पुत्री शोणदासीक घर अछि। भीतर प्रवेश करी; बिना बजने आगाँ नहि बढ़ि सकैत छी। [प्रवेश कऽ देखैत] अरे, शोणदासी किछु सोचैत बाहरी दुआरिक देहरीपर बैसल अछि। ई की बात जे आभूषण एक दिस राखि, अपन

स्वाभाविक लावण्यसँ सुन्दर ललित, मैल चादरसँ आधा देह झाँपि, ललाटपर लाल चन्दन लगा, उज्जर दुकूलक पट्टी माथपर लपेटि, चन्द्रमुख नीचाँ नमौने, कोरामें पड़ल वीणाकेँ अँगुरीसँ कनेक झनकारैत, मन्द मधुर काकलीस्वरमें कौशिकक सहारासँ तान लगा बैसल अछि?

निश्चये ई उत्कण्ठिता अछि। कौशिकक सहारासँ गाएब रोदनक दोसर नाम अछि। की चन्द्रोदयसँ पहिनहि हम ई वृत्तान्त नहि सुनने छलहुँ जे एहि दुनूक बीच प्रणयकलहरूपी विवाद भऽ गेल? प्रियतमक संग झगड़ा कऽ ई पछता रहल होयत। ठीक, एकरासँ कनेक हँसी करी।

अरी शोणदासि, वेश्यापुरीमें रहनिहारि कोनो तपस्विनीक स्वाँग किएक रचने छह? भद्रे, निश्चये चन्द्रधरसँ कोनो अपराध भेल अछि की? नोर बहबेनाइए तोहर उत्तर अछि? नोर रोक आ हमरा स्थिति कह। की कहैत छह—‘केवल मान करएबामें निपुण हमर सखी हमर सर्वनाश कऽ देलक’? अरी शोणदासि, जाहि सखीकेँ सभसँ अधिक मानैत छह, ओकरेसँ विद्रोह भऽ गेल? की कहैत छह—‘ओकरे खराब परामर्शसँ ई विपत्ति सहि रहल छी’? तौं नादान छह। ओकरा एना कहबाक चाही छल—

हे दूति, प्रियतमक प्रति प्रायः शीत रहनाइए हमर अपराध छल; मुदा एखन हम एक क्षणो हुनकासँ मान नहि कऽ सकैत छी। अरी अनार्ये, हमरा कामक कठोर तराजूपर चढ़ा कऽ एखन प्रसन्न छह? केवल मानक लेल उकसाएबाली आ मान-मनौवलविहीन तोहर बातमें आबि हम एहन काज कऽ देलहुँ, जकर कारण बेसी ढील भऽ गेल अपन करधनीकेँ स्वयं दुनू हाथसँ सम्हारए पड़ि रहल अछि।

की कहैत छह—‘कामदेव हमर सभ मान शान्त कऽ देलनि; मुदा सौभाग्यक घमण्डमें तोहर ओही मित्र एखन हठी बनल छथि’? तखन अभिसार किएक नहि करैत छह? अरी मुग्धे, एहन लज्जा छोड़।

आँखिमें नोर भरि, मुख नीचाँ कऽ, लम्बा निःश्वास लैत मोनमें की चिन्ता कऽ रहल छह? यद्यपि तौं सौभाग्यवती छह, मुदा एखन शिथिल आभूषण स्वयं सम्हारए पड़त। तटस्थ सखीक वचन छोड़ आ प्रियतमकेँ अनुनय-विनयसँ मना। व्यर्थ कठोर बनल रहिसँ की लाभ? अरी मूर्खे, जखन प्रणय बढु बढि गेल हो, तखन अत्यधिक मान कऽ बैसल रहनाइ अपमान बनि जाइत अछि।

की कहैत छह—‘स्त्री पुरुषकेँ मनाबय, ई कोन सच्चा पुरुषार्थ अछि’? अरी एना नहि सोच। हे अभिमानिनि, गड्गा समुद्रक लग नहि जाइत छथि की? लज्जासँ मुक्ति लह। अथवा तोहर इच्छा पूर्ण हो; चन्द्रधरकेँ हम स्वयं मना देब। बेसी कहब की? दीर्घ विरहमें बन्द पड़ल तोहर मदनान्निहोत्रकेँ आइए—

—फेर प्रज्वलित करब। नोर रुकबासँ पहिने ई मुस्की किएक देलक? मानो बरखामें चानन देखाइ देलक। हे सुन्दरि, कानब बन्न कर; एखन सुखक समय आबि गेल। की कहैत छह—‘एखन अहाँ अपन वचन सत्य करू’? भोरमें जानि जाएबह। नीक, रोदन रुकि गेल। हम चली। [धुमैत] अहो, शृङ्गारक ई दोसर विषय उपस्थित भेल। शरदक निर्मल चन्द्रमा जकाँ मुखबाली ई नागरिकाक पुत्री मगधसुन्दरी नामक गणिका अछि। एकर केस कारी, कोमल, घुँघराल, चिक्कन आ सुगन्धिसँ महमह अछि; चञ्चल नेत्र खिलल नीलकमल जकाँ सुन्दर अछि। दाँतक बाहर अबैत किरण मूँगा जकाँ चटकीला लाल अधरक सम्पर्कसँ लालिमायुक्त भऽ रहल अछि; दाँत कुन्दकली जकाँ उज्जर, समान आ सटल अछि। कपोल, स्तन आ जघनभाग भरल अछि। बाहरी दुआरिक किवाड़क पाछाँ देह नुका, दहिना हाथक दू अँगुरीसँ परदाक छोर पकड़ि ठाढ़ अछि; बाम पएरक एक भागसँ भूमिपर ताल दैत, सुरीला मधुर तारस्वरमें ‘वल्लभा’ नामक चौपदी गुनगुना रहल अछि। ओ गीत शुद्ध वर्णबला, अलङ्कारयुक्त, कानकेँ सुख देनिहार आ षड्जग्रामपर आधारित अछि। नेत्र आ भौंहसँ मोनमें उमड़ैत सकाम भाव प्रकट करैत कोनो रईसक प्रतीक्षा कऽ रहल अछि। अरे, इन्द्र जकाँ भाग्यशाली ओ के अछि, जकरा सुरतयज्ञ लेल आह्वान कएल जा रहल अछि? ठीक, एकरेसँ पूछी। अरी वेश्यापुरीक मेघराशिक बिजुरी, तोहरासँ किछु पूछए चाहैत छी—

हे चन्द्रमुखि, श्वेत भाग, कारी पुतली, कोनमें लालिमा आ कटाक्षसँ युक्त एहि खुलल दृष्टिसँ तौं बाहर दिस कोन भाग्यवानक लेल देखि रहल छह? हा! भयभीत मृगछौनी जकाँ डरायल आँखिसँ ओ हमरा दिश देखि रहल अछि। बुझाइत अछि, एकर मोनमें फेर रङ्ग भरि गेल। की कहैत छह—‘एहन बात—’

—नहि अछि। हम वसन्तमें ब्रह्मचारिणी रहि उपवास करैत छी’? ई विश्वासयोग्य बात अछि! मुदा तोहर अधरपर ई ताजा दन्तक्षत की कहि रहल अछि? की कहैत छह—‘अन्तिम पाला जकाँ कठोर वसन्ती पवनक ई चिह्न अछि’? ओहिना सही; हम बुझि गेलहुँ।

दन्तक्षतसँ जर्जर अधरबाली भऽ कऽ सेहो तौं जे अपन नियमाचार कहि रहल छह, ताहिसँ स्पष्ट अछि जे अपन व्रतक अनुरूप चुम्बनक चान्द्रायण करैत छह—चान्द्रायण-व्रतक आहार जकाँ चुम्बनकेँ घटबैत-बढबैत रहैत छह।

वाह! किवाड़क पाछाँ मुख नुका कऽ हँसए लागल। तोहर एहि तपक वृद्धि हो। हम चली। [धुमैत]

वाह! कोनो तरहें वेश्यालोकनिक संग गप्पक कड़ी तोड़ि हम देवदत्ताक घर आबि पहुँचलहुँ। सम्भवतः देवदत्ता बाहर गेल छथि। ककरासँ पूछी? [देखि]

वाह! बगैचाक कातक दुआरसँ प्रिय नाट्याचार्य गन्धवेदत्तक शिष्य, दर्दरक नामक नटीपुत्र अर्थात् नाटेरक बाहर निकलि रहल अछि। ओकरेसँ पूछैत छी।
[इशारा कऽ]

अरे दर्दरक, तौ कतयसँ आबि रहल छह? जनैत छह, देवदत्ता की कऽ रहल छथि? की कहलह—‘देवदत्ता आर्य मूलदेवकेँ देखबाक आ कुशल-मङ्गल पूछबाक लेल गेल छथि। हमर आचार्य हमरा देवसेनाकेँ देखबाक लेल पठौलनि’? कोन कारणेँ? की कहैत छह—‘आचार्य कहलनि—प्रकरण नाटकमें कुमुद्वतीकेँ जे अभिनय करबाक अछि, ओकर लिखल पत्र ओकरा दऽ आउ’? ओ लिखल पत्र लेलक? की कहैत छह—‘आचार्यक रोबसँ पत्र तँ लऽ लेलक, मुदा कातमें बैसल सखीक हाथमें दऽ देलक। फेर कुमुद्वतीकेँ प्रणाम कऽ कहलक—“हम एहि समय स्वस्थ नहि छी।”’ अहो, हमहुँ अपन अनुमान लेल प्रसिद्ध छी। ई स्पष्ट करैत अछि जे ओ पूर्णतः कामभावमें निमग्न अछि। अरे दर्दरक, एहि पत्रमें की लिखल अछि? की कहैत छह—‘स्वयं पढ़ि लिअ’? [पत्र लऽ पढ़ैत]

रागवती किशोरीसभ जघनस्थलपर नखक्षतरूपी गुप्त सम्भोगचिह्न धारण करैत रहथि। ओ चिह्न कामदेवक मनोहर फूल, स्तनक लग हारमें झूलैत चन्द्रलेखाक आकार, प्रेमरूपी गाछक नव पात, शय्यायुद्धमें लागल घाव, सुरतरूपी रथयुद्धमें थाकल बरदकेँ हाँकबाक अङ्कुश आ विलासक अद्भुत नमूना अछि।

वाह! स्त्रीरूपी ओहि हठीली बछेड़ीकेँ साधबाक लेल निकललापर हमरा कार्यसिद्धिक सूचक ई शकुन देखाइ पड़ल। अरे दर्दरक, तौ ई सेहो जनैत छह जे देवसेना कतय अछि? की कहैत छह—‘बगैचामें गेल अछि’? हँ, तखन—

—तँ कामदेवक कारखानामें अछि। ठीक, तौ जा। हम भीतर प्रवेश करैत छी। [प्रवेश कऽ] अरे, ई तँ देवसेने अछि—

दुबर, फिक्का, पीयर, कान्तिहीन—भोरक क्षीण चानन जकाँ ओ कामरोगक असाधारण गुप्त वेदना सहि रहल अछि, जे केवल मधुर उपचारसँ दूर कएल जा सकैत अछि।

अहो, एहि कारण ओ समस्त गुप्त रहस्य जाननिहारि आ अत्यधिक स्नेहसँ सखीरूपमें स्वीकार कएल अपन प्रियवादिनिका नामक दासीक संग, सभकेँ हटा, एकान्तमें हवा खा रहल अछि। ठीक, एहिसँ ओकर एकनिष्ठ आसक्ति सेहो प्रकट होइत अछि। सभ कामी एकान्त पसन्द करैत छथि। एखन ओ हमर पहुँचमें अछि; चलू ओकरा लग जाउ। [जा कऽ]

बालिके देवसेना, तोहर निजक गुप्त गप्पमें हस्तक्षेप करनिहार हमरा सँ क्रुद्ध नहि हो। की कहैत छह—‘अहाँक तँ स्वागत करैत छी’? तोहर ई शिष्टाचार स्वीकार कएलहुँ। अरे, उठबाक कष्ट नहि कर। की कहलह—‘बैसू, ई आसन अछि’? नीक, बैसैत छी। भद्रे, प्रेमीक लेल सन्ताप करबाक कारण आँखिसँ नहि देखाइत, भीतर नुकायल कसकबला, स्वयं लगाओल आ आरम्भमें असगरे अबैत ई कोन रोग अछि? की कहलह—‘किछु नहि’? अरी सुघड़े, हमरा टारब छोड़। तौ सदखन हमरा लेल प्रिय बालिका छलह, जे खेलौना आदि अनबाक लेल हमरा कहैत छलह। हम वही मूलदेवक मित्र शश छी। मोनक बात कह। ई दुख ककर कारण अछि—

बिना रोगो तौ रोगिणी छह। तोहर कनपटी कमल जकाँ हथेलीपर टिकल अछि। पुतली ध्यानमें एकटक अछि। हृदय जड़ भऽ गेल अछि। जँभाइ आबि रहल अछि। रङ्ग बदलि गेल अछि। अरी चोटी, कह—ई कोन नव रोग तोरा लागल अछि, जकर कारण श्वास लेबो कठिन अछि, कतहु शान्ति नहि, इन्द्रियसभमें दाह अछि आ तोरा मात्र एक वस्तुक इच्छा अछि? ई एहन निःश्वास किएक लेलक? एकर कामाग्नि धधकि उठल अछि। ठीक, एखन एकर मोनक बात बुझि सकब। जँ हम तोहर विश्वासक पात्र नहि छी, तँ प्रसन्न रह; हम अपन काजपर चली। की कहैत छह—‘अहाँ एतेक चपल छी’? हँ, बुझि गेलहुँ। [मनमें] ई मर्मक बात कहए चाहैत अछि। [प्रकट] तोहर एहन दशा देखि हम धैर्य कोना राखी? आ विलम्ब कएलासँ दोसर काज उपस्थित भऽ जाइत अछि।

तौ शीघ्र अपन सन्तापक कारण कह। की कहैत छह—‘अहाँसँ हमर किछु नुकल नहि अछि। वसन्तक स्वभावे एहन अछि जे पैघ लोकक कठोर शिक्षासँ वशमें राखल मोनकेँ सेहो बिना कारण उचाट कऽ दैत अछि’? ठीक, ई रोगसँ इनकार—

—नहि करैत अछि। अरी चोटी, की तौ जनैत छह जे देवसेना सचमुच युवती भऽ गेल अछि! हे बालिके, जँ बात एतबे अछि, तँ एहि रोगकेँ आगाँ नहि बढ़ा। ऋतु बदललापर तौ स्वस्थ भऽ जाएबह। ई लजा किएक गेल? प्रियवादिनिके, तालपत्रपर की लिखल अछि?

की कहैत छह—‘नाटकमें पात्रक भूमिका अछि’? देखी तँ। [लऽ पढ़ैत] ‘कुमुद्वती’ प्रकरणमें शूषकपर आसक्त राजपुत्रीकेँ ओकर धाय असगरेमें उलाहना दैत अछि—

अरी नासमझे, एखन तोहर छाती सेहो नहि उभरल, ने रोमावली फूटल अछि। अरी अनाड़ी, एखन तोहर बुद्धि अपरिपक्व अछि। जवान स्त्री जकाँ पतिक संग मिलबाक ई साध छोड़। तोहर चतुर सखीसभ सदिखन तोरा अविनयक पोथी पढ़बैत रहैत अछि। अरी, तौ बालपनेमें पाकि गेलह। कामसङ्ग्रामक लेल किएक तत्पर छह? देवसेना की कहलक—‘ई तँ हमहुँ पहिने नहि सुनने छलहुँ’? अहो, एखन एकर अपन भाव खुजल। एकर अर्थ भेल—‘हमहुँ एहने करए चाहैत छी।’ देवसेना की कहैत अछि—‘अहाँ हमरा चरित्र बुझैत छी’? भद्रे, हमरा टारब छोड़। मेघमें नुकायल चन्द्रमाकेँ सेहो कुमुदिनीक खिलब प्रकट कऽ दैत अछि। अरी पुरुषकेँ उन्मत्त करनिहारि, चल; तोहर ऊपर ई विपत्ति आयल अछि।

अरी गुमसुम भाव नुकेनिहारि, ‘हम प्रेम नहि करैत छी’—एना अनेक बेर कहने छह। अरी चोटी, फेर कह जे स्वभावसँ छरहरि तौ आओर दुबर किएक भऽ गेलह? तोहर कङ्कण ढील किएक पड़ि गेल? कपोल हाथपर किएक रखने छह? लम्बा निःश्वाससँ तोहर मुखक रङ्ग फिक्का किएक भऽ गेल?

अरी शठतासँ भरल, कह—जखन ई जन एहि प्रकार मदनव्याधिसँ पीड़ित अछि, तँ एतेक धैर्य किएक धारण कऽ रहल छह? प्रियवादिनिके, तौ की कहैत छह—‘कामतन्त्र-प्रकरणमें प्रवृत्त हमर स्वामिनी कोनो साधारण मनुखमें नहि, एक विशिष्ट पुरुषमें अनुरक्त छथि’? तँ एहि अवनतीनगरमें ‘पुरुषविशेष’ शब्द ककरा लेल लागू होइत अछि? की कहलह—‘अहाँक अनुमान की अछि’? दोसर के भऽ सकैत अछि? कर्णीपुत्रे होयत। ओ—

उत्तम कुलमें उत्पन्न, विद्वान्, कोनो बातसँ चकित नहि होनिहार, हँसैत बजएबला, चतुर, ईर्ष्याविहीन, प्रियभाषी, रूप-यौवनसँ युक्त आ धनुषविहीन साक्षात् कामदेव अछि।

देवसेना माथ नीचाँ कऽ किएक रहि गेल? अरी चपले, दुकूलक आँचर गुंथब बन्न कर आ कह तँ सही। जँ ई हमरा विश्वासपात्र मानैत अछि, तँ चुप किएक अछि? लज्जा स्त्रीक—विशेषतः मुग्धा स्त्रीक—विश्वासक दहेज अछि; फेर ओ स्वयं कोना कहत? अतः ‘पुरुषविशेष’ ई असाधारण शब्द यद्यपि कर्णीपुत्रेपर लागू होइत अछि, तथापि जाबत एकर पूरा थाह नहि पाबी, धैर्य राखि एकरे मुँहसँ एकर भेद कहाएब।

भद्रे देवसेने, दोसरक भेद सुनिसँ हमरा की प्रयोजन? हम तटस्थ छी; केवल तोरा परामर्श दैत छी। कर्णीपुत्र सेहो पाटलिपुत्रसँ दूर रहबाक कारण अपन स्वजनसँ मिलबाक उत्कण्ठामें अधिक अस्वस्थ छथि। ओ आइ वा काल्हि चलि देताह। तोहरासँ फेर भेंट होयत; मुदा आशा अछि, ताबत तौ स्वस्थ भऽ जाएबह। हमर स्मरण राखिह। [उठि चलैत, फेर शीघ्र घुरि] अरे, के कहलक—‘हा, एखन हम मरि गेलहुँ’? अरे देवसेना, किएक कानि रहल छह? भद्रे, की बात? कानब बन्न कर। नीक, बुझि गेलहुँ। तोरा बधाइ—तोहर मनोरथ योग्य पात्रमें गेल अछि। कर्णीपुत्रकेँ सेहो तोहरे रोग अछि; तखन अहाँ दुनू एक-दोसरक उपचार करू। की कहैत छह—‘अहाँ एतेक विश्वाससँ कोना कहि रहल छी? अहाँ तँ दोसरक दुखसँ पघिलनिहार छी’? बस, एखन कष्ट सहिसँ की लाभ?

हे सुन्दरि, दक्षक पुत्री तारिकासभ मिलि कऽ एकमात्र चन्द्रमाक भोग नहि करैत छथि की? अथवा एकहि जड़िसँ फूटल दू लता एकहि सहकार गाछपर नहि चढ़ैत अछि की?

की कहैत छह—‘तखन एहन युक्ति करू जाहिसँ दुनूक रक्षा हो’? अरे, ई तँ कएल-करेल अछि। काल्हि तोहर बहिन सदिखन जकाँ आचार्यक एतय अपन नृत्यक पारी पूरा करबाक लेल जायत। तँ हे सुभगे, एखन जखन तोहर अन्तःकरण विश्वस्त भऽ गेल, तँ कर्णीपुत्रक कुशल पूछबाक बहाना सँ ओतय चलि जइह; अथवा ओ एतय आबि जाएत। अरे, सोच-विचारक झूलापर किएक झूलए लगलह? प्रियवादिनिका की कहैत अछि—‘आर्यपुत्रक एतय अयब उचित नहि बुझाइत अछि; स्वामिनीकेँ ओतय जाएबाक चाही। गणिकाजाति एहन अछि जे एक-दोसरक चुगलीक उपहार लऽ तत्पर रहैत अछि। तँ हम एहन उचित व्यवस्था करब जे नृत्यक पारी पूरा करबाक लेल जाइत देवदत्ता स्वयं हमर स्वामिनीकेँ सेहो आर्य मूलदेवक लग कुशल-प्रश्न पूछबाक लेल लऽ जेतीह।’ वाह प्रियवादिनिके, सचमुच तोहर नाम सार्थक अछि। एकर ओतय जाएबहि उचित। मुदा एकरा भली-चङ्गी देखाए पड़बाक चाही। देवसेना की कहैत अछि—‘अरे, अहाँकेँ देखितहि हम भली-चङ्गी भऽ गेलहुँ’? हम प्रसन्न भेलहुँ। कामदेवक ई काज हम पूरा कऽ देलहुँ। कर्णीपुत्रक प्राण बचेबाक लेल किछु स्मृतिचिह्न दह। की कहैत छह—‘की दी’? एहिमें सोचबाक की अछि? ई तँ—

हे रक्तपद्मसदृश सुन्दरि, हुनका लेल अपन सुरतप्रयत्नक उपहाररूप एकटा लाल कमल पठा। ओ तोहर दाँतसँ कनेक कुतरल, स्तनसँ रगड़ि मसलल, देहक पत्रलेखाक छापसँ अङ्कित, नाकक लग लऽ गेलापर गहिर निःश्वाससँ कनेक म्लान, देहक चन्दनरसक घर्षणसँ फिक्का पड़ल केसरबला आ दुनू हाथमें नाल पकड़ि घुमेलासँ मसलायल हो। मानो रातिभरि तौ ओकर संग रमण कएने हो आ भोरमें ओ पूर्णतः तोहर निर्माल्य बनि गेल हो।

मानो आँखि नीचाँ कऽ ओ एहि प्रस्तावक अनुमोदन कऽ देलक। अहो, ई उपहार नहि—सुरतक सौदाक बयाना भेटि गेल! एखन एहि औषधिसँ कर्णीपुत्रमें नव शक्ति सञ्चार कऽ सकब। [लऽ, उठि, फेर ठहरि] हम चली। तोहर कल्याण हो। हे भाग्यवती, हमर ई आशीर्वाद लह—

हाथमें प्रबल विषयाभिलाषक आयुध धारण कएने कामदेव स्वयं संग भऽ तोरा गुप्त सुरत लेल ओहि अभिसारपर लऽ जाथु, जाहिमें भयवश शीघ्र डेग रखितो करधनी आ नूपुरक इनकार नहि सुनाइ, नीवी बाटेमें उससि कऽ खुजि जाए आ शङ्कासँ आलिङ्गन शीघ्र शिथिल भऽ जाए।

【वितक प्रस्थान।】 श्री शूद्रक केर एकनट नाटक (भाण) पद्मप्राभृतकम् समाप्त।

धूर्त आ दलालक विचार-विमर्श

ईश्वरदत्तक मूल संस्कृत एकनट (भाण) नाटक- धूर्तवितसंवादः (संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद- गजेन्द्र ठाकुर द्वारा)

[नान्दी पश्चात् सूत्रधारक प्रवेश]

सूत्रधारः

विद्यासँ पसरल ख्याति, सज्जनक आराधना लेल धन, आ हुनक प्रसन्नतासँ धर्म—एही उद्देश्यसँ हमर ई आरम्भ अछि।

तेँ उपस्थित जनक प्रीतिक लेल कोनो नाटक खेलबाक चाही। आउ, एहि वर्षाऋतुमें हृदय हुलसाबएबला कोनो गीत गाउ—ई धनिकक प्रीति बढ़बैत अछि, मुदा यौवनपीडित निर्धन अभागाक शोक बढ़ा दैत अछि; कुमुद, कुवलय, कल्हार, कमल, निचुल, केतकी, कुटज आ कदलीक वनखण्डसँ ई ऋतु सुशोभित अछि। ई एहन समय अछि—मेघक खिजाब अर्थात् नील लेप लगाएने, बिजुरी चमकलासँ थरथराइत देहबला, फुलायल कुटजक वस्त्र पहिरने वर्षाक मौसम विट जकाँ सुहावन लगैत अछि।

[बाहर जाइत] स्थापना। [वितक प्रवेश] विट—ई ठीक कहल गेल।

मेघ धनिकक घरमें निपुण मृदङ्गवादक जकाँ मूसलाधार पानिक धारा बहा रहल अछि। बिजुरी क्रोधमयी स्त्रीक बाँकी भाँह जकाँ चमकि रहल अछि। शीतल वर्षाती हवा गाढ़ आलिङ्गन दैत बहि रहल अछि। कामदेव कामिजनक हृदयपर कान धरि धनुष तानि दृढ़ बाण चला रहल छथि।

आओर—

ओ लोकनि अचेत छथि, जे विदेश जाइत छथि, वा विदेश जा वर्षाऋतुमें कामसँ प्रेरित भेलो पर नहि घुरैत छथि। ओ लोकनि भोला छथि, जे मानिनीकेँ नहि मनबैत छथि, वा बहुत काल धरि रोष कएने रहैत छथि। धन्य छथि ओ, जे अपन प्रियाक वशमें छथि, वा जिनकर वशमें प्रिया छथि। ई वर्षाकाल मेघरूपी नगाड़ासँ मानो संसारमें एही घोषणा कऽ रहल अछि।

वाह! बरखामें रसिक लोकक हृदय पकड़एबाली नाना बातक की कहब! एखन पानिभरल मेघसँ नुकायल सूर्यक किरण, भीजल आडन, आ बहुत पहिने बीतल वृत्तान्त जकाँ फिक्का पड़ल दिन देखाइत अछि। कुटजपुष्पक गन्धसँ खिंचायल भँवरा मँडरा रहल अछि, मोर नाचए लागल अछि, आ शीतल पानिसँ तर मैदान घूमबाक योग्य भऽ गेल अछि। रेंगत बीरबहुटी आ नव हरियर दूबक अङ्कुरसँ भरल वनभूमि पएमें अलता लगाएल युवतीक विचरण लेल उपयुक्त भऽ गेल अछि। गदला पानिसँ भरल आ घाट नहि देनिहार नदी पार करब कठिन भऽ गेल अछि—जेना रजस्वला होयबाक समय गुप्त घाटबाली धूर्त स्त्रीक मर्म पाब कठिन होइत अछि। आओर—

कदम्बक गन्ध लेने, वनक भीतरसँ निकलैत, मेघजलसँ शीतल हवा मानो सौगात लऽ आबि रहल अछि।

ई समय बड़ सुहावन अछि; एहिमें कामक उत्कण्ठा अवश्य होइत अछि।

जखन हवा बहैत हो, कदम्बक गन्धसँ वन महमहाइत हो आ मेघ छापल रहबाक कारण दिन अन्हार हो, तखन सुखी लोकक मोनो कामक लेल उत्कण्ठित भऽ उठैत अछि। उत्कण्ठा दू प्रकारक होइत अछि—सकारण आ अकारण। कारणसँ उपजल उत्कण्ठाक उपचार भऽ सकैत अछि, मुदा बिना कारणक उत्कण्ठा जखन उपजैत अछि, तखन खवासिन अर्थात् कुम्भदासीक बनौटी कानब जकाँ निरुपाय होइत अछि। हमहुँ एहि दिन बरखाक कारण एतय-ओतय नहि जा सकलासँ बड़ अनमनायल छी। अपन गृहिणीक मधुर कण्ठक तानसँ तृप्त रहितो एखन हमरा घूमब-फिरब नीक लगैत अछि। [देखि]

गीत रुकलापर मृदङ्ग जकाँ मेघक गर्जन बन्न भऽ गेल अछि। बरखासँ घबरायल घरक मोर एखन प्रसन्नतासँ दुनू पाँखि पसारि महलक शिखरपर चढ़ि शोर कऽ रहल अछि। तूँबीक घुड़च बीचक खाँच छोड़ि देलासँ जकर तार अलग भऽ गेल अछि, ओहन वीणा हिमशीतल हवासँ सतायल कामिनी जकाँ धूप सेकि रहल अछि। महलक छत बचल बरखापानि पनालीक मुखसँ एना उगिल रहल अछि, मानो मोतीक माला हो। वर्षाक कारण धूमिल दर्पण पोंछि स्वच्छ कएल जा रहल अछि। आओर—

पैघ घरमें बन्द रहबाक खेदसँ अलसायल स्त्रीसभ खिड़कीसँ झाँकि रहल छथि। वर्षाक सीलसँ कठोर गाँठबाली सोनाक करधनी खोलि फेर बान्हल जा रहल अछि। कामी लोक वेश्याकें उपवनमें लऽ जेबाक लेल घुमा रहल छथि। कामिनीसभ नव घासपर विचरण लेल कामभाव जगबएबला अलता पएमें लगा रहल छथि।

तखन एहि उत्कण्ठित मोनकें कतय बहलाबी—जुआघर अर्थात् द्यूतसभामें, वा वेश्यापुरीमें? [सोचि] जुआकें प्रणाम! एक धोती छोड़ि दोसर वस्त्रो हमरा लग नहि बचल। नीच कुलमें जन्मल रईस जकाँ पासासभ सदखन सोझ मुँह नहि रहैत अछि। तखन वेश्यापुरिए चली; ओतय तँ—

सुन्दर अधमुँदल आँखि, हँसीसँ चटपटी मधुर गप्प, सटि बैसल भरल नितम्बबाली स्त्रीक संग कोमल आसन, आ स्नेह प्रकट करैत हाथक लचक—
वेश्यापुरक शिष्टाचार जननिहार व्यक्ति, वेश्याक प्रेममें पड़ने बिना सेहो, ओतयक ई सभ रमणीय सुख प्राप्त कऽ लैत अछि।

[किछु देखि विट अपन स्त्रीसँ कहैत अछि] घरक द्वार बन्न कऽ लिअ। की कहलहुँ—‘तोहर घरमें बाम्बी जकाँ कतेको द्वार अछि!’ नगरक अधिकारीसभक आबए लेल बाट भिन्न अवश्य अछि, मुदा दोसरक घरमें घुसपैठ करबाक अभ्यासी भेलासँ ओसभ अपनहि द्वारकें लक्ष्य बना रहल अछि। प्रश्नोत्तर छोड़ू। हाय! विपत्ति तँ हमरहि माथपर अबैत देखाइत अछि। [घुमैत] कुसुमपुरक अनुपम कीर्ति समस्त पृथ्वीपर पसरल अछि। ताहि लेल केवल ‘नगर’ कहलासँ सामान्यतः एही नगरक बोध होइत अछि। एहि नगरमें अनेक उच्च-उच्च भवन अछि। बिकाउ वस्तुक प्रचुरता आ ओकरा लेल लोकक भीड़-भाड़सँ उत्पन्न नाना समृद्धि देखि लोक अचरज करैत अछि।

मुदा एहिमें अचरजक कोन बात? एहन समृद्ध नगर आओरो बहुत अछि। एकर जे असाधारण गुण अछि, से कहैत छी। जेना—

एतय दानी लोक बहुत छथि; कलाक आदर अछि; स्त्रीसभसँ लोक अनुकूल भावें मिलैत छथि; एतयक धनी मदमत्त होइतो ईर्ष्यारहित छथि; पुरुष विद्यासँ विनीत छथि; सभ लोक बातचीतमें शिष्ट, परस्पर गुणग्राही आ कृतज्ञ छथि। अपन स्वर्ग छोड़ि देवतासभ सेहो एतय पाटलिपुत्रमें सुखसँ रहि सकैत छथि।

[घुमैत]

अरे, ई निश्चय श्रेष्ठिपुत्र कृष्णलक अछि, जे वेश्यापुरक संसर्गसँ अपन यौवन सफल कऽ हमर-जकाँ लोकक प्रियपात्र बनल अछि। कुटुम्बक सर्वनाशक भय सँ पिता एकरा यत्नपूर्वक रोकैत रहलाह, तथापि कोनो उपायसँ वेश्यापुर जा अपन प्रियाक उपभोगसँ देह सुन्दर बना ई वेगसँ एही दिस आबि रहल अछि। एकर अभिनन्दन अवश्य करबाक चाही। तँ एकरा लग चली। [लग जा] अरे कृष्णलक, एही तरहें अपन यौवनक पूरा आनन्द लैत रह। निश्चय तू माधवसेनाक घरसँ आबि रहल छह। की कहैत छह—‘अहाँ केना बुझलहुँ?’ एहिमें बुझबाक कोन बात? भगवान् कामदेव समान स्वभावक लोकक जोड़ी मिलबैत छथि। हम अहाँ लोकनिक काजसँ भिन्न थोड़े छी। अथवा, निरन्तर रतिक लेल तृषित कामिनीकें छोड़ि तू कतय जा रहल छह? की कहलह—‘ई सभ सेहो अहाँकें केना ज्ञात भेल?’ एहिमें कोनो पैघ सूक्ष्मता नहि अछि। केना—

तोहर हाथमें मुख पोंछलासँ आँखिक काजर लागल देखाइत अछि; चरणपर पड़लासँ माथक केश-विन्यास छिड़िआ ऊँच-नीच भऽ गेल अछि। बुझाइत अछि जे मोन ओकरहि लग राखि तू केवल देह छुड़ा अनलह। तँ हवा थपेड़ासँ डगमगाइत जहाज जकाँ बड़ी कठिनाइ सँ बाट चलि रहल छह। की कहैत छह—‘आब हम पिताजीसँ अवश्य भेट करए चाहैत छी।’ की एहि वेशमें? ओ तँ तोरा पर टूटि पड़ताह। की कहैत छह—‘पिता हमरा एहि दशामें देखि लेलाह तँ सम्भव अछि अपन प्राणे त्यागि देथि।’ बेरोक रतिक तृष्णाबाली कामिनीकें तोहरासँ अलग करबाक लेल ओ की नहि करताह! पिता जवान लोकक लेल मूर्तिमान माथदुखि छथि। पिता जीवित रहला पर मनुष्यकें ओहन जुआक झलकियो नहि भेटैत अछि—

जाहिमें परस्पर ललकार आ डाँटसँ बाजीक रंग बढ़ैत अछि, गारि-गुफ्तारक समाँ बन्हैत अछि आ जे दिलेर पुरुषक परीक्षा लैत अछि। कमलक पाँखुरिबाली, आमक तेल मिलाओलासँ चित्ती पड़ल, कामिनीक श्वाससँ तरङ्ग उठैत मदिरा—मोरक नाचैत आकृतिबला प्यालामें भरल—तकर गन्हो ओ नहि पाबि सकैत अछि।

पक्षीयुद्धमें जखन गोष्ठी दू दलमें बाँटि अपन-अपन घेरा बना लैत अछि, गणिकासभ अपन मित्रक बगलमें सटि जाइत छथि, आ स्त्रीक संग रहलासँ बढ़ैत दाँवक कोनो चिन्ता नहि रहैत अछि, तखन एहन खेलक समय पिता बला मनुष्यकें खेलबाक तँ बाते की, मध्यस्थ बनबाको अवसर नहि भेटैत अछि। मातल हाथीक पछाँ दौड़ब—जखन ललनासभ खिड़कीसँ अपन भरल स्तन बाहर कऽ, उत्साहें अँगुरी नचा आदरसँ देखैत होथि—ई ओकरा लेल असम्भव अछि। जाँघिया पहिरि हाथमें नाइट तलवार लऽ, मित्रक बन्धन अर्थात् कारागार तोड़बाक वीरतापूर्ण तैयारीमें, जरैत मशालसँ पीयर भेल रातिमें राजमार्गपर धँसि पड़ब ओकर भाग्यमें नहि। उपकारक प्रतिदान देबाक भावसँ उन्मत्त भऽ, डीड नहि हाँकि किछु कऽ देखेबाक साहस लऽ, केवल प्रत्युपकारक चर्चासँ दुःखी भऽ, मित्रक लेल सर्वस्व त्यागब ओकरासँ सम्भव नहि।

ई सभ तँ सहलो जा सकैत अछि। मुदा जेना दासीक बेटा होथि, एहन पितासभ स्वयं यौवनक आनन्द कखनहुँ नहि लेलनि, आ आब अपन धन-सम्पत्ति बचएबाक लेल वेश्यापुरीसँ अपन पुत्रकें अलग राखए चाहैत छथि। हुनका सभक लेल हमर मोन होइत अछि जेना कुठार लऽ क्षत्रियसभक संहार करनिहार परशुराम पृथ्वीकें क्षत्रियविहीन कएलनि, तहिना हमहुँ संसारकें पिताविहीन बना दी। अथवा, ई बूढ़सभ अपन यौवनमें भूखले रहि गेल। ई बेचारा सभ—
नहि जनैत अछि जे खिलल कमलसँ सुवासित जल जकाँ सुगन्धित आ अमृत जकाँ स्वादिष्ट वेश्याक मुखरस मरल मनुष्यकें सेहो जिआ सकैत अछि। आओर

करधनीक झनकार, उधार भरल जाँघ, विश्वासपूर्वक चुम्बन, श्वाससँ थरथराइत आ हिलैत स्तनतट, भाँह सिकोड़े तिरछी दृष्टि, सीत्कारसँ विचित्र रोमाञ्च, आ बीच-बीचमें रोष—एहि सभसँ युक्त वेश्याक इच्छानुकूल रतिकें एहन के अछि जे मदमत्त भऽ कखनहुँ बिसरि सकत?

की कहैत छह—‘अहाँकें अपन दोसर कष्ट कहैत छी।’ से की? की कहैत छह—‘हमर पिता हमर विवाह करबाक निश्चय कऽ लेने छथि।’ धिक्कार अछि हमरा! अरे, एहन विपत्ति ककरो माथपर नहि पड़ए। हाय! हमरा ई बातो सुनए पड़ल। ई तँ हाथ उठा कानबाक बात भेल जे वेश्यापुरक चाकर राजपथ छोड़ि आब तूँ कुलवधूक साँकर गलीमें जाएबह। देख—

रतिक समय एकदम अन्हराइ जाएबाली, दीनमुखी, मुँहक भीतरहि बात दबा रखनेबाली, प्रसन्न मनुष्यकें सेहो दुःखी कऽ देनिहार, लज्जाक घोघसँ झाँपल, भोलेपनसँ स्वयं अपन जाँघो कखनहुँ नहि देखनिहार—एहन पशुतुल्य खूँटामें बान्हल भोली कुलवधूक सेवा-पूजामें मोन कदापि नहि लगेबाक चाही।

की कहलह—‘एहने हमर निश्चय अछि।’ जँ तोहर एहने निश्चय अछि तँ हमरा प्रसन्नता भेल। ई हमर सङ्गतिक अनुकूल अछि। आब जा। घर पहुँचला पर फेर तोरा बुझाएब। [घुमैत] भारी भीड़सँ भरल कुसुमपुरक ई राजमार्ग, छितराइत तरङ्ग-मण्डलबला समुद्र जकाँ, देखबामें भयङ्कर आ पार करबामें कठिन अछि। एतय—

जे हमरा देखैत अछि, से कतेको जल्दीमें रहओ, हमरासँ गप्प कएने बिना नहि जाइत अछि। भीड़-भाड़में सेहो सभ लोक हँसैत-प्रसन्नतासँ हमरा बाट दैत अछि। काजमें बाधा पड़बाक भय सँ केओ हमरा बेसी काल नहि रोकैत अछि। एतयक लोकक व्यवहारकुशलता देखि हम बुझि सकैत छी जे एहि श्रेष्ठ नगरक यश कतेक स्थायी अछि।

[घुमैत] अरे, विटक बुद्धि जकाँ ई वेश्यापुर दिस जाएबाली गली अछि। एही बाटें चली—

एतय हम मारामारी कएने छी, एतय वेश्याकें उठा लऽ गेल छी, एतय भय सँ आँखि मुनि भागल छी—उठैत यौवनमें एतय जे आनन्द भोगलहुँ, से स्मरण कऽ उत्कण्ठासँ वेश्यापुर जा रहल छी। [घुमैत] वाह, प्राण घुरि आयल! हम वेश्यापुर पहुँचि गेलहुँ। [छन्दक अनुकरण करैत]—

अधमुँदल दृष्टि आ लहराइत लटबाली वेश्याक मुखक सेवन कए, माला आ आसवक गन्हसँ भरल ई हवा बहि आबि रहल अछि, मानो वेश्यापुरक श्वासवायु हो।

अहा! कैलास-शिखर जकाँ उच्च शिखरबला महल, वेश्याक स्तनतटसँ रगड़ाइत खिड़की, अगरु आ धूपक धुआँसँ वर्षामिघ-जकाँ बनल भवन, पुष्पोपहारसँ हँसैत पार्श्वद्वार, करधनीक झनकारसँ कामीजनमें उत्कण्ठा जगबैत आ नूपुरक रुनझुनसँ मानो गद्गद स्वरमें बाजैत—कामदेवक कार्यालयरूपी एहि वेश्यापुरक अपूर्व शोभा अछि। एतय बाँकी चितवन चलएबाक लेल तत्पर, खिलल हँसीसँ खुलल दन्तपङ्क्तिबाली, भाँह नचा बात सजाबएबाली, पीन स्तनपर एतय-ओतय लहराइत छोट चादरबाली, हड़बड़ीमें चादर उघड़ि गेलासँ इठलाइत, सुन्दर आ चपल गतिबाली परिचारिकासभ कामक विजयपताका जकाँ एतय-ओतय आबि-जा रहल छथि। सदिखन हँसीसँ सुशोभित मुखबाली, विस्मयरहित भऽ विस्मित आँखिबाली, स्निग्ध-सुकुमार, घुँघरायल, महीन, लम्बा आ कारी केशबाली, नितम्बक भारसँ मन्द गति, मातल हाथी जकाँ चालबाली, सुरतरुपी जलसँ पियास मेटाबएबाली प्याउ जकाँ एतय-ओतय ठमकि रहल नवयौवना गणिकादारिकासभ नखरा करैत विशेष रूपें देखाइत छथि।

आओर, निरन्तर बजैत मृदङ्गक ध्वनि आ घबरायल कपोत-युगलसँ भरल प्रासाद-पङ्क्ति मानो गाजि रहल अछि। प्रसिद्ध शिल्पीक भीड़सँ सुशोभित, प्रतिष्ठित सेवकसभ द्वारा फेकल पुष्पोपहारसँ भरल गृहद्वार एक-दोसरासँ होइ कऽ रहल अछि। रतियुद्धक थाकनि मेटए लेल सुगन्धित तेल सजाओल जा रहल अछि। पीन स्तनपर लगाओल जाएबला उबटन पीसल जा रहल अछि। मनस्विनी लोकक हृदय जकाँ सुकुमार माला लेल जा रहल अछि। प्रियाक वचन जकाँ कानकें सुख देनिहार वीणाक झनकार सुनाइत अछि। प्रियजनक अधरपानक चखना चाखबाक अभिलाषिणी मदिरा चलि रहल अछि।

अधखुलल आँखि, बहानासँ उधारल स्तनतट, लजायल हँसी, कानकें सुख देनिहार बातक चुटकी, मन्द श्वास आ स्वभावतः मधुर तालबला गीतसँ वेश्यासभ कामदेवकें सदखन धनुष चढ़ौने रहबाक लेल बाध्य करैत छथि।

[धुमैत] अरे, निश्चय ई मदनसेनाक परिचारिका वारुणिका अछि—यौवन-मदसँ स्तनपट्टक परवाह नहि करैत, झीना मलमलक वस्त्र पहिरने, जघनाभरण वा मेखलाकें नीवी बनौने, नखरासँ एक कानक गहना उतारने; भयभीत मृगछौना जकाँ चञ्चल आँखि, खूब भोगल फुलल ओठ, मुनिक मोन सेहो कम्पित करए समर्थ, सहज हँसोड़ मुख। बामा हाथक अँगुरीकें कैचीक रूप दऽ कर्णोत्पल छूबैत, कनेक एक भाँह तानि, हमरा देखि हँसैत ई आगाँ बढ़ि रहल अछि।

एहि विशाल-जघनबालीक कपोलपर रोमाञ्च उठि आयल अछि, मानो कर्णोत्पल चुपचाप चुम्बनक चोट कऽ देलक हो। एकर की साहस जे हमरासँ गप्प कएने बिना चलि जाए? एकरासँ बात करी। हे प्रिय वारुणिका, कनेक ठहरू; हमर बात व्यर्थ कऽ किएक चलले जा रहल छह? सुन्दरि, तोहर उपेक्षासँ सेहो हम प्रसन्न छी। हँसि किएक ठाढ़ भऽ गेलह? [लग पहुँचि] हाथ नहि जोड़। हम पूछि सकैत छी—हे क्षीण-कटि, तोहर एहि स्तनक प्रथम सुख के लेलनि? केवल 'हँ' कहि, लजाइत हमर दिस देखि, आधा बात कहि एतेक जल्दी किएक भागि रहल छह? ई सभ कामक चमत्कार अछि। [धुमैत] अरे, अपन घरक द्वारपर बैसल बन्धुमतिका बगलमें बैसल चतुरिकासँ गप्प करैत, भाँहपरसँ केश हटा, साँझक कमल जकाँ अलसायल आँखि बनाए, स्वयं अपन मेखला पिरो रहल अछि। अहा, यौवनक अनुरूपें काज! अहा, कतेक सुकुमार कार्य उठा लेने अछि! एकर एकाग्रता कतेक लोभनीय! मेखला सँजोएबाक ई प्रयत्न एकर देहक कसावट प्रकट कऽ रहल अछि। गर्वसँ रशनादाम सँजैत ई की नहि कहि देलक? विहारकालमें एकर चतुरता अवश्य पूजनीय अछि। एकरा लग जेबाक चाही। [पहुँचि] प्रिय, तोहर काज सिद्ध हो। हमर लेल आसन नहि चाही। हम तोहरासँ किछु पूछए चाहैत छी।

हे मानिनी, तोहर ई मेखला केना टूटि गेल? ई कामीजनक अँगुरीक प्रिय सखी अछि; नाभिरूपी सरोवरसँ बहैत उज्जर जलधारा अछि; नीला रेशमी वस्त्ररूपी मेघक छोरपर चमकैत बिजुरी अछि; पुरुषरूपी मल्लक संग व्यायाम अर्थात् पुरुषायित रतिक जननी अछि; कामदेवक धनुषक प्रत्यञ्चा अछि; क्षुद्र घण्टिकायुक्त नितम्बक ललित वाणी अछि; आ बेर-बेर प्राप्त रतिसुखक गणनाकर अक्षमाला मानो अछि।

अथवा, एहिमें जानबाक कोन बात?

हे ललछौंह आँखिबाली, शय्यापर विश्वासपूर्वक प्रियतम जेकर अंशुक हटा लेने छथि, जेकरा प्रेमसँ देखलनि, जे मातल हाथीक मस्तक आ देहक वप्रलीला जकाँ फैलल अछि—स्पर्श लेल व्याकुल आ हाथी-जकाँ गतिबला तोहर ओ जघनभागकें ई टूटल करधनी, तार टूटल वीणा जकाँ, बेरस बना देने होयत।

माथ नुका किएक बैसि गेलह? उत्तर किएक नहि दैत छह? हम जाइत छी।

की कहैत छह—'नहि जेबाक चाही।' तँ लिअ, मन्त्रसँ कीलल साँप जकाँ हम रुकि गेलहुँ। की, चली? लिअ, हम चललहुँ। [धुमैत आ कान दैत] अरे, रामदासीक घरमें स्त्रीक कानब जकाँ स्वर सुनाइत अछि। एकर अनेक कारण भऽ सकैत अछि। तखन ई कोन कारणसँ कानि रहल अछि?

रोषसँ कानबाक स्वर तीव्र, दीनतासँ कोमल, प्रणयसँ रुकि-रुकि, भय सँ बेरस आ हर्षसँ गद्गद होइत अछि। बुझाइत अछि ई प्रणयिनी क्रोध आ दीनता दुनूसँ भरल अछि, कारण आरम्भमें गला फाड़ि कऽ आ फेर रुकि-रुकि धीरे-धीरे कानैत अछि। हमर मोन कहैत अछि जे ई रामदासिए अछि।

तखन भीतर चली। [प्रवेश कऽ] ओही अछि। हमरा देखि ई आओर जोर सँ कानए लागल।

आँखिक कोरसँ रोषक ढेरी जकाँ खसैत एकर नोरक बूँद मानो प्रियक अपराधक गिनती कऽ रहल अछि। [लग जा] मानिनि, की बात अछि?—

ओ नोर पहिने नव कमलक शोभा हरएबला आँखिमें भरि, फेर अधरपर खसैत अछि; ओतयसँ सरकि कठोर स्तनतटपर अबैत अछि; मुदा ओतहु ठाम नहि पाबि, शोकसँ आगाँ बहैत, रोमावलीमें बिथुरैत, अन्ततः ओहि गहिर नाभिमें भरि जाइत अछि जाहिमें प्रियतम कखनो-कखनो अँगुरीक अग्रभाग घुसा आनन्द लैत छथि। कुञ्जरक अपन योग्य व्यवहार नहि केलक। की कहैत छह—'दोसर युवतीक दाँतसँ चिह्नित ओठ लेने ओ हमर लग आयल। हम उलाहना देलियैक तँ रूठबाक बहाना कऽ निकलि गेल, आ बहुत दिन बीति गेलो पर आइ धरि नहि आयल।' हँ, हँ, हँ! वाह रे अपराधक ढेरी! एकहि अपराधसँ मनुष्य घरसँ निकालल जाए योग्य कठोर दण्डक भागी भऽ जाइत अछि, तखन एहि सभक जमघटक की कहब! तथापि मेघसँ घेरल बरसाती समय देखि हम ओहि दुष्टक अकड़ सहि रहल छी; कारण एहि समय आपसमें वैर राखनिहार राजो कलह छोड़ि दैत छथि, तखन शिरीष-पुष्प जकाँ कोमल-चित्त कामिनीक की बात! जँ हमर बात मानह तँ समयक विचार कऽ आइए अपन प्रियक लग अभिसार कर।

लटकैत मेघ जाहि महलक शिखर छूबि रहल हो, तकर ऊपरी भागसँ रातिमें नीचाँ उतरि ओहि बाटमें प्रवेश करिह, जतय महलक पनालीसँ बहैत पानिक छरछर ध्वनि गूँजैत हो। फेर अपन प्रियतम लग पहुँचि, बरखाक शीतल हवासँ काँपैत, ओहि कान्तकें आलिङ्गन करिह; हुनक मुखक चुम्बन लऽ जखन अपन ओठक शीत मेटा लेबह, तखन रतिक बीच स्पष्ट स्वरमें हुनकासँ अपन बात कहिह।

तँ, रोमाञ्चित कपोल हमर बातक स्वीकृतिक सूचना केना दऽ रहल अछि? आब हम चललहुँ। [घुमैत] अरे, ई रतिसेना अछि। गर्भगृहमें रहबाक कारण पसेनासँ भरल, आध-मुँदल सुन्दर आँखि घुमबैत, गालपर पसरल केशबला मुखपर कनेक मदक आभा लेने ई एखने जागल अछि। खिड़की खोलि हवा खा रहल अछि। एकर ई दशा बड्ड सुहावन अछि। एकरासँ गप्प करी। [लग जा] प्रिय, सौभाग्यवती हो। अवशिष्ट मदक एहि अवस्थामें तूँ साँझक ललाई धारण कएने पश्चिम दिशा जकाँ सुहावन लगैत छह। धनुष उतारि चुकल कामदेवो तोरा देखि फेर व्याकुल भऽ जाएत, दोसरक की कहब!

तोहर चेतना नष्ट नहि भेल अछि; वाणीमें ओही कोमलता अछि; कमलरूपी आँखिक ललाई नहि गेल अछि; लज्जा सेहो दूर नहि भेल अछि; बीतल बात स्मरण पड़ला पर एखनो तोहर मुख हर्षसँ भरि जाइत अछि—एहि प्रकार मद अपन दोष छोड़ि तोहरामें गुण बनि ठहरल अछि। रतिसेना, तूँ हमरा टारए चाहह, मुदा हम तोहरासँ आरम्भ कएल बात अधूरा नहि छोड़ए चाहैत छी।

अरे, हँसि खिड़की किएक बन्न कऽ लेलह? लिअ, हमरा विदा कऽ देलह।

[घुमैत] एना ठकल गेलापर हम अवश्य कनेक अनमनायल छी। अरे, ई प्रयुम्नदासी अछि। एकर कपोल सुरतसँ मुरझायल अछि; आँखि फाड़ि देखैत अछि; विशेष तिलकसँ ललटा पीयर भऽ गेल अछि; छिड़िआयल लट शोभा दऽ रहल अछि; मुखपर मानो रतिक थाकनि भरल अछि। झीना अंशुकक भीतरसँ झाँकैत जघनपर नव नखक्षत एना देखाइत अछि, मानो निर्मल जलमें खिलल अशोकपुष्पक छाया हो। सुरतक रगड़सँ एकर शृङ्गार मेटा गेल अछि, जेना युद्धक अन्तमें हथिनीक सजावट अस्त-व्यस्त भऽ गेल हो। जेना आँधीक दीपकें झँझरीसँ झॉपल जाइत अछि, तहिना ई हाथसँ ओंठ झॉपने अछि। टहलाओल बछेड़ी जकाँ चहलकदमी करैत ई वेशमार्गक शोभा बढ़ा रहल अछि। हमरा ई रुचैत अछि। एकरासँ किछु परिहास करी।

[लग जा] प्रिय, प्रियतमक दाँतसँ काटल ओठक सुन्दर रूपकें घायल योद्धाक सुन्दर देह जकाँ व्यर्थ किएक नुकबैत छह? ई किएक हँसल? अहा, हमर चुटकी एकर भूलक उपहास बना देलक। मुदा मन्द हँसीसँ सेहो एकर दन्तक्षतक शोभा बढ़ि गेल। केना—

सीत्कार कएलासँ एकर स्तन ऊपर थरथरा उठल; स्तनक किनार ऊपर उठलासँ उदर आओर भीतर धँसि गेल; भौंह तानलासँ चितवन बाँकी भऽ गेल; दन्तक्षतक पीड़ासँ कमलरूपी हाथक अँगुरी ओकरा सहलएबाक लेल चञ्चल भऽ उठल। जँ एहि प्रकार स्त्री हँसि दोसरक हृदय चञ्चल कऽ सकैत अछि, तँ दन्तक्षतपीडित अधरबला मुख धारण करनिहार कामिनीकें अवश्य हँसबाक चाही।

की कहैत छह—‘बहुत दिनक बाद अहाँ देखाइ देलहुँ।’ एहि बरखाक पाप हमरा घरेमें बान्हि रखने छल। आब कह, ककरापर रीझल छह? की कहलह—‘रामिलकक घरसँ आबि रहल छी।’ समान स्वभावक ई जोड़ी बनल रहए। वाह, रामिलक एकसरे कामदेवक करमुक्त अग्रहार पाबि लेलक। कतय—

हे कृशोदरी, ओकर यौवन आ विस्तृत हँसी सफल अछि, जे तोहर अर्धचन्द्राकार दन्तक्षतक शोभासँ युक्त मुखक पान अर्धचन्द्राकृति चषक जकाँ करैत अछि।

प्रिय, दुष्ट पक्षीसँ अपन अधरक रक्षा करिह। जा, हमहुँ चललहुँ। [घुमैत] अरे, एतय धूर्त विश्वलक आ सुनन्दा बटोहीक भय सँ कुम्भकर्णक मुख जकाँ अपन घरक द्वार सदिखन बन्न कऽ रहैत अछि। विश्वलक अपन सर्वस्व खा-पी, नग्न श्रमणक जकाँ केवल देह बचौने, गणिकाप्रिय भेलासँ धन नहि रहितो सुनन्दाकें नहि छोड़ैत अछि—जेना कौआ गामक सीमान नहि छोड़ैत अछि। सुनन्दो यौवन बीति गेलासँ दोसरक लेल अनचाही, वनक सुखायल नदी जकाँ, विश्वलकक पछाँ लागल रहैत अछि। एहि जोड़ीसँ गप्प कएने बिना जेब उचित नहि।

तँ जोर सँ पुकारबाक चाही—एतय के रहैत अछि? [कान दैत]

अरे, दौड़ैत घोड़ाक टाप जकाँ पएर रखैत खड़ाउक धमक सुनाइत अछि। तखन विश्वलक आयल होयत। हँ, ओही चिचिया रहल अछि। अरे, की कहैत छह—‘के गदहा जकाँ रेंकि रहल अछि?’ अरे, हम सुनन्दाक लेल आयल यमदूत छी। हमर आवाज चिन्हि किएक चुप भऽ गेलह? अरे, द्वार किएक नहि खोलैत छह? तँ अपनाकें सम्हार। हम ई शापजल छोड़ैत छी।

कलह भेलापर लीलासँ उठल आ नूपुरक झनकारसँ मुखर विलासिनीक बामा पएर तोहर माथकेँ कखनहुँ प्राप्त नहि होअए। द्वार खुलि गेल। तखन भीतर चली। [प्रवेश कऽ] की कहलह—‘की हम अहाँक प्रिय नहि छी? एहन शाप देब उचित अछि?’ ठीक कहलह। एहन शाप ब्रह्मलोककेँ सेहो कम्पित कऽ दैत अछि, तखन तोहर की बात! एहि शापक प्रतिकार लेल ई प्रायश्चित्त अछि। की—

खिलल नव कमलाकार तिलकबाली आ ठमकि चललासँ चञ्चल गतिबाली अपन हृदय-कुटुम्बिनीकेँ तूँ एहन मदिरा पिआ, जाहिमें नव विकसित कमल-पात तैरैत हो, तिलक चखनाक संग स्वाद भेटैत हो, आ हड़बड़ीमें ढारलासँ चञ्चल तरङ्ग उठैत हो।

तँ कनेक बैसू। [बैसि] अरे, पएर धुअब भऽ गेल। कुसुमपुरक राजमार्ग स्वच्छतामें महलक छतसँ बढ़ि कऽ अछि। हमर पएरक व्यर्थ लाड़ नहि कर। की कहलह—‘रामिलकक गोष्ठीमें विष्णुदास आदि सदस्यसभक परस्पर रोचक बहसक बीच कामतन्त्र सम्बन्धी किछु शङ्का उठल। जखन ओसभ ठीक समाधान नहि कऽ सकल, तँ हमर मत सुनएबाक आग्रह केलक। हमहुँ अपन मत कहलियैक। ओही बात भाव देविलककेँ सेहो सुनए चाहैत छी। फेर अहाँ जे कहब, से प्रमाण मानल जाएत। अपन बात कहबाक लेल अहाँक घर जेबाक इच्छा छल, मुदा अहाँ स्वयं दर्शन देबाक कृपा कएलहुँ। अहाँकेँ समय हो—

तँ कही। आज्ञा दिअ। हम सावधान छी; सामर्थ्य भरि उत्तर देब। दुलारसँ बिगड़ल बच्चा जकाँ हवा एहि कुटीकेँ नहि छोड़ि रहल अछि, तँ बेसी काल नहि बैसि सकब। जँ तोरा पसन्द हो तँ चलैत-चलैत गप्प करब। गोष्ठीशाला पर्याप्त लम्बा-चाकर अछि। की कहैत छह—‘एहिमें कोनो बाधा नहि।’ [उठि] आब कह। की कहैत छह—‘जँ वेश्याक पुरुषसँ सम्बन्ध केवल धनक लेल होइत अछि, तँ ओकरामें उत्तम, मध्यम आ अधमक भेद केना जानल जाए?’ अरे, दान—

अरे, दान तँ संसारमें सभकेँ वश करैत अछि, विशेषतः वेश्याकेँ। तथापि हुनकामें भेद होइत अछि, जेना ऊँच-नीच बुझनिहार लोक कहैत छथि—

अधम वेश्युवती दानसँ प्रेम करैत अछि, अथवा बिनु कारणो प्रेम करैत अछि। मध्यमा भरल यौवन आ रूप देखि, वा दानसँ प्रसन्न होइत अछि। मुदा उत्तमा नारी दानी, निःस्पृह, युवा, रूपवान्, अनुकूल आ सुसज्जित पुरुषक सेवा करैत अछि।

की कहैत छह—‘कामातुर वेश्या केना चिन्हल जा सकैत अछि?’ कहैत छी—

सुन—सुन्दर अधखुलल चितवन, मुखक शोभा बढ़बैत हँसैत दृष्टि, भौंह, सङ्केत आ भावभङ्गिमासँ भरल छोट-छोट बात, बीच-बीचमें ताली पीटि बाजब, प्रकट होइतहि विलीन भऽ जाएबाली मुस्की, नाभि, बगल आ स्तन उघारब, मेखलाकेँ बेर-बेर छूब, आ हाँफैत कठिनाइ सँ श्वास लेब—ई सभ लक्षण कामबाणसँ पीड़ित कामिनीक सूचना दैत अछि।

की कहैत छह—‘वेश्याजन धोखा देबाक लेल वा अभिनय-कौशलसँ बहुत कामचिह्न देखबैत छथि; ताहिपर विश्वास केना कएल जाए? सच्ची कामवती केना चिन्हल जाए?’ सुन—

नोरसँ भरल निःश्वास, स्नेहसिक्त दृष्टि, कृशता, पसेनाक बूँद, धन नष्ट भऽ गेलो पर प्रार्थना—एहि सभसँ प्रेममयी कामिनीक भावशुद्धि बुझल जाइत अछि। [घुमैत] की कहैत छह—‘प्रथम समागम कोन कारणसँ हिचक उत्पन्न करैत अछि?’ सुन, प्रथम समागम कामिनीक लेल झिझकसँ भरल होइत अछि। ओहि समय अनुभवी धूर्तो गड़बड़ा जाइत अछि। आओर—

पहिने तँ बातक सूत्र जोड़बे कठिन अछि। बात आरम्भ भऽ गेल—

तँ उत्तर पाब कठिन अछि। मेलजोलसँ बहुत गप्प होअए लागल तँ परस्पर विश्वास होयब कठिन अछि। विश्वास भेलापर मोनमाफिक रति पाब कठिन अछि। आ सम्यक् रति भेटलो पर वेश्या प्रेम करत वा नहि—ई अनिश्चिते अछि।

राजाक समक्ष, विद्वानक सभामें आ युवतीक संग प्रथम समागममें हृदय भय सँ घबरा जाइत अछि, आ तेजस्वी वाक्शक्तियो लड़खड़ा जाइत अछि।

की कहैत छह—‘कोनो गुण नहि रहितो केवल देखलासँ प्रेम किएक भऽ जाइत अछि? झंझट करनिहार स्त्रीक संग कोन व्यवहार करबाक चाही?’ प्रत्यक्ष तथ्यक कारणपर विवाद करब निरर्थक अछि। कामक क्षेत्रमें ई पैघ सुविधा अछि जे निर्गुण होइतो जकरासँ प्रेम भऽ जाए, ताहिमें जे उपेक्षा करएबाली हो ओकरा तुरन्त छोड़ल जा सकैत अछि। कारण—

प्रिय-विरहक दुःख सात्त्विक प्रियतमक हो तँ सहलो जाइत अछि; मुदा प्रियजनक अनादरसँ टूटल हृदय फेर नहि जुड़ैत अछि।

की कहलह—‘स्त्री पुरुषकें चाहैत हो, मुदा पुरुष ओकर बेसी परवाह नहि करैत हो, तँ की एहन स्त्रीकें छोड़ि देबाक चाही?’ नहि, नहि, नहि। दोसर स्त्रीक प्रेमक रक्षा करैत आ अपन दाक्षिण्य सम्हारैत, ओकरा प्रति सेहो बीच-बीचमें प्रेमभाव देखेबाक चाही। केना—जे पुरुष गुणवती, यौवनवती आ प्रणयिनी स्त्रीक अनादर करैत छथि, हुनका किसानक गारिसँ जरल बरद जकाँ भारी फालबला हरमें जोति देबाक चाही।

[घुमैत] की कहैत छह—‘जकरा स्त्रीक प्रति सचमुच अपराध भऽ गेल हो, से ओकरा केना मनाओत?’ एहि विषयमें सन्देह उचिते अछि। विषम ज्वर जकाँ प्रणयिनीक रोषक उपचार कठिन अछि, तथापि ओकर क्रोध हटेबाक चाही। आइकाल्हिक युवकसभ पएर पड़बकें एकर औषध मानैत अछि; मुदा हम एकरा बहुत उत्तम नहि मानैत छी। जखन कठोर, सिकुड़ल पुरान कंकड़-जकाँ आकृतिबला, खड़ाउँक घर्षणसँ कड़ा आ पुरान घीक मालिशसँ गन्हाइत वृद्ध श्रोत्रियक पएरो छूल जाइत अछि, तखन पल्लव जकाँ सुकुमार कामिनीक पएर पड़बामें कोन वीरता? मुदा एहू उपायमें दोष अछि।

पएर पकड़लासँ नोर बहत; प्रेमिकाक नोर बहलापर दीनता उपजत; आ दीनता उपजलापर काम कतय रहत? दोसर लोक कहैत अछि—‘सौगन्ध दिला मनएबाक चाही।’ एहूसेँ मेल नहि होइत अछि। कुलवधुओ कामीक शपथपर विश्वास नहि करैत अछि, तखन वेश्याक की बात! जँ विश्वास केऽ लेलक तँ ओकरा मनएबाक आवश्यकता की? कहल गेल अछि—गाममें निवास, श्रोत्रियक उपदेश, परतन्त्रता, कृपणता आ भोली-भाली नारी—ई सभ पुरुषक कामभावक अन्त कऽ दैत अछि।

किछु लोक कहैत अछि—‘कोनो उपायसँ ओकरा हँसा देबाक चाही। हँसीसँ ओकर धैर्यक गहिराइ बुझि गेलापर नदी जकाँ ओकरा सहज पार कएल जा सकत।’ हमर कहब अछि—एना भऽ गेलो पर प्रियाक रुठि मान करबाक आनन्द नहि भेटत। केना—

लटकैत महीन वस्त्रकें कनेक खिंचि, अधरोष्ठ नचा, ओहि समय नीक लगएबाली कटु बात मधुर ढङ्गसँ सुना, नव कमल जकाँ कोमल बामा पएर जखन प्रियतमा माथपर राखैत अछि, तखन धूर्त लोक ओकरा रतिकलहक फल आ यौवनक स्वादिष्ट अर्घ्य मानैत अछि। तँ हँसी-परिहासक प्रयोगसँ सेहो स्त्रीक क्रोध हटेबाक चाही। बडु ठीक। स्त्रीक रोष हटेबाक उपाय सोचलापर हमरा बुझाइत अछि जे बलपूर्वक लेल चुम्बन तुरन्त फल देनेहार अछि। केना—

बामा हाथसँ तीव्र धूपगन्धसँ सुवासित केश पकड़ि, ओकर दुनू हाथ अपन दहिना हाथमें किछु काल रोकि, प्रियाक चन्द्रमुखक पान कएलासँ जे हर्ष उत्पन्न होइत अछि, ताहिसँ तृप्त कामी पुरुष वृद्धावस्थामें सेहो क्षीण नहि होइत अछि।

की कहैत छह—‘जे असावधानीसँ प्रियाक समक्ष भूलवश दोसर स्त्रीक नाम लऽ लैत अछि, ओकर की उपचार अहाँ बतबैत छी?’ कामीक लेल दोसर स्त्रीक नाम लऽ लेब पैघ विपत्ति अछि। सर्पदंश जकाँ एकर उपचार कठिन अछि। एक क्षण ध्यान करए दिअ। [सोचि] ठीक, बुझि गेलहुँ—

ढिठाइ सँ समूची बातकें उज्जर झूठ कहि मुकुरि जाएब; वा भयभीत जकाँ स्तब्ध भऽ जाएब; वा स्त्रीक प्रशंसाक पुल बान्हि देब; वा बातकें हँसी-परिहासमें उड़ा देब; वा चर्चा दोसर दिस मोड़ि ओहिसँ फेर नव विषय निकालि देब; अथवा एक नामक संग अनेक नाम लऽ देब—ई सभ भूलसँ नाम लऽ लेबाक रोगक उपचार अछि।

की कहैत छह—‘नखक्षत आ दन्तक्षत पीड़ा दैतहुँ आनन्द किएक दैत अछि?’ हा, हा, हा! बडु भोला प्रश्न पुछलह। देख, नखक्षत आ दन्तक्षत पीड़ादायक होइतो प्रेमीजनमें सुख उत्पन्न करैत अछि। केना—

जेना सारथि चाबुकसँ चलबैत अछि तँ घोड़ामें वेग अबैत अछि, तहिना रतिक समय दन्तक्षत आ नखक्षत दुनू हृदयकें एकरस बना दैत अछि। [घुमैत] की कहैत छह—‘वेश्या विरक्त अछि वा अनुरक्त, एकर चेष्टासँ केना बुझल जाए?’ अरे, एहिमें सन्देहक कोन बात? एहि विषयमें ई उपदेश अछि।

अनुरक्त स्त्रीसँ प्रेमक याचना कएल जा सकैत अछि। जेना कहल गेल अछि—महात्मा लोकनि सेहो अपन आकार नहि नुकाबि सकैत छथि; तखन कोमल हृदयबाली अनुभवहीन स्त्रीक की बात! हुनक भाव-भङ्गिमापर बेसी ध्यान देबाक चाही। की कहैत छह—‘केना?’

जे व्यर्थ ठाहाका मारि हँसैत अछि, बिना कारण बाजैत अछि, वेगसँ उठि जाइत अछि, कहलापर नहि बुझैत अछि, स्त्रीसुलभ बाँकपन नहि देखबैत अछि, गाढ़ आलिङ्गन कऽ झट छोड़ि दैत अछि, आ पुरुष रतिमें प्रवृत्त भेलापर अस्थिरता देखबैत अछि—एहन स्त्री रागक अन्तमें कतेको चतुरता देखाओ, ओ बाँझ लता जकाँ अछि जाहिमें फूल तँ लगैत अछि, फल नहि।

की कहैत छह—‘विराग उत्पन्न भऽ जाए तँ की ओकर उपाय सम्भव अछि, वा प्रतिकार होइते नहि?’ सुन। प्रेम दू प्रकारसँ उत्पन्न होइत अछि—सकारण आ अकारण। कारणसँ उत्पन्न प्रेम कारणे सँ विरागमें परिणत होइत अछि; आ अकारण प्रेम अकारणे विरागमें बदलि सकैत अछि। एहि राग-विरागक कठिनाइमें की उपचार करबाक चाही? प्रेम शिथिल भेलापर जे उपाय उचित अछि, से कहैत छी—

दोसर स्त्रीक सेवन; कोनो कारणसँ रतिक भङ्ग; धीरता अर्थात् काममें पहिने बढब, वा कलह; रतिक समय टालमटोल; संग बैसब; गप्पमें निपुणता; ओकर बन्धुजनक पूजा वा स्तुति; वेश्याक बहानासँ प्रवास; महानगरमें जेब; प्राण-जोखिमबला साहसिक कार्य; आ दान—ई सभ स्त्रीक शिथिल रागकें फेर उभाड़ि दैत अछि।

आओर सुन—

बाला बालसुलभ व्यवहारसँ, धनलोभी दानसँ, चतुर स्त्री चतुराईसँ, क्रोधिनी सान्त्वनासँ, गर्विनी सेवासँ आ अनुकूल स्त्री अनुकूलतासँ वशमें अबैत अछि। जेकाँ स्त्री हो, ओकर संग तहिना व्यवहार करबाक चाही। [घुमैत] की कहैत छह—

‘जे एक दिस कामचिह देखबैत अछि, मुदा बात नहि करैत अछि, “बस-बस” कहि लग नहि अबैत अछि आ ठीक समयपर हटि जाइत अछि—ओकरा केना वशमें कएल जाए?’

ठीक कहलह। पहिने कामीकें स्त्रीक स्वभाव जानबाक चाही। सम्भव अछि, एहनहि ओकर प्रकृति हो। मुदा जे गर्विनी अछि, से जीवन भरि उपाय बिना वशमें नहि आबि सकैत अछि। स्त्रीक रहस्य खोलैत छी।

जेना हाथी लताकें मर्दित करैत अछि, तहिना एकान्तमें स्त्रीकें पाबि जे ओकरा लऽ जाइत अछि; वा ओकरा मदमत्त बुझि मधुर वचनसँ ओकरापर अधिकार कऽ लैत अछि; वा नाना जाल पसारि ओकरा ठिक लैत अछि; अथवा अपन मनक बात नुका लैत अछि—ओकर ई चेष्टासभ निष्फल नहि होइत अछि, कारण स्त्रीसभ आँधी-जकाँ चालबाली होइत छथि। [घुमैत] की कहैत छह—

‘क्रोध शान्त भेलापर, प्रथम भेटमें, प्रवासपर जाइत समय आ फेर घुरलापर—एहि चार सुरतकें कामुक लोक मानैत छथि। अहाँ एहिमें ककरा सर्वाधिक महत्त्व दैत छी?’ हमर मत अछि जे प्रथम समागमक रति, स्त्रीक विश्वासक गहिराइ बुझने बिना, अगाध पोखरि जकाँ जोखिमसँ भरल अछि। प्रवासपर जाइत समयक सङ्ग सेहो हमरा—

रुचिकर नहि, कारण तखन शोकसँ अभिभूत कामिनीक राग कम भऽ जाइत अछि; आँखिमें नोर भरि अबैत अछि, हृदय उद्वेगसँ भरल रहैत अछि, तँ सुरत बेरस आ करुण होइत अछि—मानो चन्द्रमाकें ग्रहण लागल हो। प्रवाससँ घुरलापर रति, प्रिया शृङ्गारहीन रहबासँ आ लज्जाक कारण राग कनेक कम प्रकट करबासँ, बरखाक महफिल जकाँ होइत अछि। मुदा मान-मनौवलक बादक सुरत देवता आ असुर द्वारा घुमाओल मन्दराचल-मथानीसँ क्षुब्ध, अनेक औषधिक रससँ ओजस्वी समुद्रक भीतरसँ निचोड़ल अमृतरसायनोसँ श्रेष्ठ होइत अछि, आ आयु तथा शक्तिकें स्थिर करैत अछि।

क्रोध शान्त भऽ गेलो पर हृदयसँ ओही भाव नहि छोड़िनिहार स्त्रीक संग सुरत, वेगसँ कएल नखक्षत आ दन्तक्षतसँ अत्यन्त प्रचण्ड होइत अछि। [घुमैत] की कहैत छह—‘वेश्याद्वारा ठकल मनुष्यपर धूर्त लोक हँसैत अछि। कामुक वेश्याक ठगीसँ केना बचत?’ अरे, वेश्या आ लिपिक—दुनू छिद्र देखि प्रहार करबासँ समान अछि। लिपिक सेहो वेश्या जकाँ मुट्ठी गरम करबैत अछि, मुदा किछु काल चैनसँ बैसए दैत अछि; वेश्या वातरोग जकाँ बहुत खर्च करबैत अछि आ चैनसँ बैसहुँ नहि दैत अछि। जे हमर जकाँ चाल चलए जानैत हो, ओकरे वेश्यापुरमें पएर रखबाक चाही। हम—

ढलल यौवनबाली स्त्रीपर विश्वास नहि कएलहुँ; बालाकें खूब परखि तखन संग रहलहुँ; मायक अधीन रहनिहार वेश्याद्वारा मगरमच्छसँ भरल नदी जकाँ दूराहि रहलहुँ; अपमानित भेलापर क्रोध नहि कएलहुँ, आ प्रार्थना कएलापर आदरक अभिमानो नहि मानलहुँ; वेश्यापुरमें बूढ़ भऽ गेलहुँ, मुदा कनेको फिजूलखर्ची नहि कएलहुँ। [घुमैत] की कहैत छह—‘ककरो दू प्रेमिका हो आ दुनू एक सङ्ग आबि जाए, तँ ककर आदर कएए आ ककरा छोड़ए—पुरान प्रेमिकाकें वा नवकें? अहाँ उत्तर दिअ।’ अरे, ई प्रश्न टेढ़ अछि। उत्तर कठिन बुझाइत अछि। तोहर की मत? की कहलह—‘हम किछु नहि बुझैत छी; प्रश्न बड्ड पेचीदा अछि। अहाँए उत्तर दिअ।’ तँ सुन—

नव युवतीक प्रति अधिक प्रेमवश अपन पहिल प्रियाकें छोड़ब उचित नहि। ओकर प्रसन्नताक लेल स्वयं आयल सकामा नव कामिनीकें छोड़बो उचित नहि। उपेक्षित भऽ क्रोधमें पुरानी चलि जाए तँ एकान्तमें दोसरकें पाबि ओकर मतसँ पहिलीक मनौवल करबाक चाही। [घुमैत] की कहैत छह—‘वेश्यापुरमें घुमैत केवल देखलासँ स्त्रीक कामभाव-निपुणता केना बुझल जा सकैत अछि?’ चतुरक लेल किछु अनजान नहि। पुरुष स्त्रीकें देखते पहिने ओकर दृष्टि बुझए—कारण सभ भाव आँखिएमें भरल रहैत अछि। देख—

आँखि एँचब, हलुक पलक मारब, तिरछा देखब, चितवनमें राग भरब, नेत्र पसारि देखब, दृष्टिमें प्रगल्भता आ पुतलीक चञ्चलता—एहि प्रकारक दृष्टि सूचित करैत अछि जे स्त्री कामभावमें निपुण अछि।

जकर कपोल कनेक घुमाओल आ पातर हो, भाँह चञ्चल हो, चितवन तिरछा हो—एहन मुखबालीक संग रति कठिन होइत अछि। जकर अधरक कोन सिकुड़ल हो, देह नखक्षत आ दन्तक्षतसँ भरल हो, जे मन्द-मन्द हँसैत हो—ओकर संग निर्भय रति बुझबाक चाही। जकर बामा हाथ कटिपर राखल हो, दहिना हाथ बगलमें लताहस्त मुद्रामें लटकैत हो, आ जघनभाग एक दिस खिचि ऊपर उभारल हो—एहन स्त्रीपर सेहो भरोसा कर; मुदा एहन स्त्री गर्वरहित नहि होइत अछि। जे अञ्चलक छोरसँ एक स्तन झाँपि, अपन घरक देहरिपर एक पएर अदासँ राखि, द्वारक पार्श्वमें देह नुका देखैत हो—ओ स्त्री नहि, पूरा फन्दा अछि। ओकर नखरेसँ ओकर अवस्था प्रकट भऽ जाइत अछि। जे किवाड़क ऊपरक बिलैया अर्थात् गोस्तनक किनार पकड़ि, दुनू भुजाकें अँगाइ मुद्रामें उठा, नीवीक बन्ध ढील कऽ नाभि प्रकट करैत ठाढ़ हो—ओकर चेष्टासँ रतिक पूर्वर्ङ्ग स्पष्ट भऽ जाइत अछि; अनुमान लेल किछु शेष नहि रहैत अछि। एहि विषयमें बहुत कहल जा सकैत अछि, मुदा संक्षेपमें कहैत छी।

लाल हथेली आ अँगुरी, स्वच्छ नख, गालपर राखल हाथ, हाथ नचा गप्प करब, सुन्दर चाल, फड़कैत ओठबाली मुस्की, चञ्चल चितवन, विश्वासपूर्ण मुखमुद्रा आ नाभिक नीचाँ नीवीबन्ध—जकरामें ई लक्षण हो, ओकरा पुरुष फँसएबाक जाल वा रतियुद्धक श्रेष्ठ वीराङ्गना बुझू। [घुमैत] की कहैत छह—‘स्त्रीक कामभाव दू प्रकारक होइत अछि—प्रकट आ गुप्त। एहिमें श्रेष्ठ कोन?’ अरे, प्रकट कामभाव केवल वेशवधूक योग्य होइत अछि, आ ओ बनावटी सेहो भऽ सकैत अछि। गुप्त कामभाव वेश्या आ कुलवधू दुनूमें होइत अछि। केवल अनुरागसँ उत्पन्न भाव अल्प दोषयुक्त भेलासँ विशेषतः वेश्यामें नीक लगैत अछि। पुरुष दुर्लभ भेलासँ कुलवधू कोनो-न-कोनो पुरुषकें चाहि लैत अछि, मुदा वेश्या सभकें नहि चाहैत अछि। किछु लोकक मत अछि—‘वेश्याकें ककरो संग रति कएलासँ दोष नहि लगैत अछि; तखन ओकरा गुप्तकाम होयबाक आवश्यकता की?’ हम कहैत छी—पुरान परिचित, राजाक साला, किछु धन देनिहार, आसक्त भक्त आ खिसियाइलो पर दाँत देखबैत चापलूस व्यक्ति—ई सभ वेश्याजननीक खुशामदमें रहैत अछि। वेश्या हुनका नहि चाहओ, तथापि हुनका लेल साध्य बनए पड़ैत अछि; अर्थात् इच्छा नहि रहितो वेशवधूकें एहि लोकक संग प्रेमक अभिनय करए पड़ैत अछि। किएक? स्वार्थक लेल। तँ गुप्तकामबाली वेश्या जँ सचमुच ककरो चाहैत हो तँ ओ पुरुष जन्म आ जीवनक पूरा फल पाबि लैत अछि। आओर, जखन वेश्या ककरो विरहमें स्वयं दूती बनि पहुँचैत अछि आ गद्गद वचन कहैत अछि, तखन ओ पुरुषक लेल ई कोनो छोट सौभाग्य अछि? फेर ओ अवस्थाक कल्पना करू, जखन प्रेमीक ध्यानमें तल्लीन भऽ वेश्या रोगिणी जकाँ पीयर पड़ि जाए, चन्द्रोदयक समय ओकरा लेल नोर बहबए, राति-राति जागि आँखि लाल कऽ लए, ओकर कारण कामसँ कृश भऽ आभूषण उतारि राखि दे, आ एहन उलाहनाभरल वचन कहैत रहए—‘हे निष्ठुर, तोहर कल्याण हो; तोरे कारण हमर देहक ई दशा भऽ गेल अछि।’

अथवा ओ अवस्थाक कल्पना करू, जाहिमें पुरुष एहन सीत्कारपूर्ण वचन सुनैत अछि—‘हे कान्त, तोहरासँ एतबे माँगैत छी जे हमर देहपर दया कर।’ अथवा ओ स्थिति, जखन एहि सँ आगाँ बढ़ि वेश्या प्रियतमकें आलिङ्गन कऽ कखनो कहैत अछि—‘हे नाथ, जल्दी करू’, आ कखनो—‘बस करू, एना नहि करू’; आ उभरि-उभरि दन्तक्षत आ नखक्षत करैत अछि। तखन रसायनप्रयोगकें सेहो मात देनिहार एहन वचन सुनबाक सौभाग्य पुरुषकें भेटैत अछि—‘हे प्रियतम, हम तोहर लेल एहन भऽ गेल छी; हमर बातपर विश्वास करू; तोरा हमर सौगन्ध!’ एहन वचन दूतीक मुखसँ सुनि वा प्रत्यक्ष लक्षणसँ ओकर हाल बुझि जखन पुरुष सोचैत अछि—‘सचमुच हमर कारण एकर ई दशा भऽ गेल’—तखन ओकर चित्तमें करुणासिक्त जे प्रसन्नता उपजैत अछि, ओकर समान आनन्दक कोनो दोसर बात तूँ बता सकह तँ अपन धूर्तता छोड़ि वेदपाठी ब्राह्मण बनि जाउ। आओर—

मेखलापर हाथ राखि मन्द गति सँ चलैत पतली कटिबाली, कामातुर, भयभीत आ चञ्चलाक्षी प्रियाकें रातिमें सङ्केतानुसार क्षण भरि एकान्तमें पाबि जे ठाढ़े-ठाढ़ चुम्बन करैत अछि, ओहि भाग्यवानक माथपर हम अपन हाथसँ कमलक छत्र धारण करएबाक लेल प्रस्तुत छी।

आओर, जे स्त्री सकपकाइत कहैत अछि—‘हे कान्त, जल्दी करू’—एना आत्मनिवेदन करनिहार ओहि स्त्रीक लेल पुरुष प्राणक मूल्य चुका कऽ सेहो जड़-कीनल दास भऽ जाइत अछि।

[घुमैत] की कहैत छह—‘रूपवती आ अनुकूल—एहि दुनूमें अहाँ ककरा अधिक मानैत छी?’ दुनू स्त्रीक शृङ्गार अछि। जँ कुरूपामें अनुकूलता हो तँ ओ अन्हारमें नाच जकाँ व्यर्थ अछि; आ रूपो अनुकूलता बिना वनमें चाननी जकाँ कोन सुख देत? हमरा रूपसँ अनुकूलता अधिक महत्त्वपूर्ण बुझाइत अछि। केना? कुरूप स्त्रीकें सेहो अनुकूलता सजा दैत अछि, मुदा रूपवतीकें सेहो उद्दण्डता दूषित कऽ दैत अछि। देखल जाइत अछि जे पुरुष सुन्दरीकें छोड़ि कुरूप किन्तु अनुकूल स्त्रीमें रमि जाइत छथि। रूपवतीमें अकड़ होइत अछि, आ अकड़ कामक शत्रु अछि। कामक मूल अनुगमन अछि, आ से अनुकूल भाव अर्थात् दाक्षिण्यसँ सम्भव होइत अछि। जँ केवल रूपे तृप्तिक कारण हो तँ चित्रलिखित स्त्रीसँ सेहो प्रयोजन सिद्ध होए। अनुकूलतामें रूप छोड़ि सभ गुण समाओल अछि—ओ भावुक, बेसी काल नहि रूठनिहार, लालचरहित आ आज्ञाकारिणी होइत अछि। की कहलह—‘वेश्याद्वारा बनावटी शिष्टाचार कएलासँ ओ सज्जनक सङ्गतियोग्य नहि होइत छथि, एना कहल जाइत अछि। किएक?’ प्रयोजनसिद्धिक लेल विशेष व्यवहारकें उपचार कहल जाइत अछि। स्त्रीमें स्वाभाविक आ बनावटी दुनू प्रकारक उपचार होइत अछि। अपन प्रयोजन साधबे वेश्याक उपचारक हेतु अछि। किछु लोकक मत अछि—जतय शठतासँ व्यवहार हो, से बनावटी उपचार; मुदा ओहो दोषरहित भऽ सकैत अछि। केना? शठतासँ कएल उचित सत्कारो मन प्रसन्न कऽ दैत अछि;

आ सरलतासँ कएल सत्कार जँ गलत ढङ्गसँ हो तँ ककरा प्रसन्न करत? काज सिद्ध करबाक विशेष चातुरीक नाम शठता अछि। अपन प्रयोजन साधनिहार स्त्रीकेँ अपन लेल विशेष पुरुष अवश्य खोजबाक चाही। जे स्त्री विशेष पुरुषकेँ चिन्हैत अछि, ओकरेसँ पुरुष प्रसन्न रहैत छथि। आओर—

विनय, मधुर वचन, क्षमा आ राति-दिनक परिश्रम—ई सभ गुण जँ शठताक संग रहि सकैत हो, तँ एहन शठताकेँ के अधम कहत?

की कहैत छह—‘इच्छाक विरुद्ध होयबहि शठताक सार अछि। मनविरुद्ध व्यवहार पाबि कामीकेँ प्रियासँ दुःख होइत अछि; एकर उपचार नहि।’ अरे, कारण भेटलापर सभ लोक प्रतिकूल भऽ सकैत अछि। जे ओहि कारणकेँ दूर नहि कऽ सकए, अपराध ओकर अछि। परस्पर प्रतिकूलता ओतहि दोष अछि जतय एक उद्देश्य लेल हुनक मेल भऽ नहि सकए। बहुत जोड़ी एहन देखल जाइत अछि, जे किछु बातमें प्रतिकूल रहितो दोसर बातमें खूब मेल-जोलसँ प्रसन्न रहैत अछि।

थरथराइत स्तन, नोरभरल आ मनक भेद कहैत चितवन, सुन्दर शब्दसँ भरल गुपचुप गप्प—ई सभ जँ शठतासँ सेहो कएल जाए, तथापि गुणे मानल जाइत अछि।

की कहैत छह—‘बहुत लोक कहैत अछि जे वेश्याकेँ देल सभ धन नष्ट बुझू। दत्तको कहलनि—काम पुरुषक धनक सर्वनाश अछि। एहि विषयमें अहाँक मत की?’ अर्थक प्रयोग केवल तीन प्रकारेँ होइत अछि—दान, उपभोग आ गाड़ि राखब। दान आ उपभोग श्रेष्ठ, गाड़ि राखब निन्दनीय। केना—

गाड़ि राखल धनक कोनो फल नहि होइत अछि। निष्फल रहला पर असन्तोष होइत अछि। फड़कैत घोड़ाक चाल जकाँ ठाम बदलनिहार धन केवल सञ्चयक लेल नहि होइत अछि। अर्थ आ धर्म देहकेँ सुख दैत अछि। मनोवाञ्छित शब्द, रूप, स्पर्श आदि विषयक प्राप्तिकेँ सुख कहल जाइत अछि; वेश्याक सङ्गसँ ओ भरपूर भेटैत अछि। सभ शब्दमें मधुर वचन विशेष सुखद अछि। मधुर वचन कहब केवल वेश्यासभ जानैत छथि, दोसर नहि। केना—

प्रिय बातकेँ प्रिय ढङ्गसँ, अथवा कटु बातो अवसरपर थोड़े शब्दमें प्रिय ढङ्गसँ कहब केवल वेश्यासभ जानैत छथि। दाक्षिण्यसँ भरल ओ सभ कखनहुँ कटु बात नहि कहि सकैत छथि, आ प्रिय बातो अप्रिय ढङ्गसँ नहि कहैत छथि। भरल गोल जाँघ आ नितम्बबाली, उधार अंशुक आ बान्हल मेखलाबाली वेश्याक जघनप्रदेशक स्पर्श जकरा प्रिय लगैत अछि, से ओकर लेल प्राणो दऽ दैत अछि, धनक की बात! सभ रसामें मदिरापान अत्यन्त निन्दित अछि, मुदा वेश्याक संग ओकरो प्रयोग आनन्द दैत अछि। देख—

हड़बड़ीमें ढारलासँ चषकमें उफनैत, पीबासँ बचल, वा पी कऽ कुल्ला कएल, आ पीबैत समय बीच-बीचमें अधरपानरूपी चखनाक स्वाद देनिहार मदिरा जे पीबैत अछि, ओही वेश्यापुरक असल आनन्द पबैत अछि।

जे वेश्याक अधखुलल नेत्र, फड़कैत ओंठ, लम्बा तानल भाँह आ पसेनासँ भरल कपोलबला मुख देखि चुकल अछि, ओकर आँखिक पूरा फल भेटि गेल।

आओर—

स्नानक बाद वेश्याक रूख केशान्त, फूलसँ सजल भारी जूड़ा, पहिरि छोड़ल वस्त्र, निःश्वासक सुगन्धिसँ सुवासित लाल अधर, मधुपानसँ खिलल मुख, अथवा चन्दनसँ भीजल देह—जे एकर गन्ह लेलनि, हुनक नासारन्ध्रसँ कामदेव निश्चय भीतर प्रवेश कऽ जाइत छथि।

धर्ममें हमर विशेष दखल नहि अछि, तथापि धर्म केना प्राप्त होइत अछि, से कहैत छी। एहि संसारमें कृतघ्नता सभ पापसँ भारी अछि। आ कृतघ्नसँ सेहो अधिक कृतघ्न ओ अछि, जे वेश्याद्वारा अनुपम आ मनचाहा सुख पाबि बदलामें हुनक भलाई नहि करैत अछि। जँ ओ कृतज्ञ अछि तँ स्वर्ग ओकर मुट्ठीमें अछि। तँ स्वर्गसुख पाबए लेल निर्भय भऽ वेश्याकेँ धन देबाक चाही। की कहैत छह—‘कुलवधू अनुकूल होइतो ओकरामें वेश्याजकाँ सुख किएक नहि?’ सुन। कुलवधूक अनुकूलता एक प्रकारक, वेश्याक दोसर। कुलवधू जँ सरल हो तँ पहिने प्रिय बातो असमयमें कहैत अछि; फेर पतिकेँ अत्यन्त प्रिय मानि अप्रिय बातो कहि दैत अछि। ई बात सर्वत्र देखल जाइत अछि। काम एक विशेष इच्छा अछि, आ प्रार्थनो इच्छा अछि। नहि भेटलासँ प्रार्थना उपजैत अछि। वेश्या वशमें आयलो पर ओ प्रार्थना ईर्ष्यासँ भरल रहैत अछि, कारण वेश्यापर सभक अधिकार अछि। ईर्ष्यासँ लोभ उपजैत अछि; तँ वेश्याक प्रति कामभाव हटैत नहि। काम रागक मूल अछि। आओर—

वेश्याक जघनरूपी रथपर चढ़ल एहन कोन चेतन प्राणी अछि जे कुलनारीक परवाह करत? रथ छोड़ि बैलगाड़ीक सवारी चाहनिहार कोनो पुरुष नहि।

की कहैत छह—‘वेश्यामें अनुरक्त पुरुष लोकक आदरक पात्र नहि होइत अछि; ओकर मतो लोककेँ प्रिय नहि लगैत अछि। जँ वेश्यागमनमें गुण अछि तँ—

फेर ओकरा अपनाओल किएक नहि जाइत अछि?’ बड्ठ धूर्ततापूर्ण प्रश्न पुछलह। एक क्षण अवसर दिअ। [सोचि] एतय पूजा दू प्रकारक होइत अछि—एक फलदायिनी, दोसर निष्फल। निष्फल पूजा नग्नक चेष्टा जकाँ हास्यास्पद होइत अछि। जे वेश्यामें लागले नहि, ओकरा फल की भेटल? ककरो मत हो सकैत अछि—‘वेश्याप्रसङ्ग अपमानक कारण अछि।’ ई मानबाक योग्य नहि। सभ लोक सुखी पुरुषसँ द्वेष करैत अछि। जेना ‘परस्त्री अगम्या अछि’ सभ कहैत अछि, तहिना वेश्याक लेल नहि कहल जाइत अछि। ककरो मत हो सकैत अछि—‘स्त्रीप्रसङ्ग श्रेयस्कर नहि, आ वेश्यासभ स्त्री छथि।’ एहि पर हमर कथन अछि—जकर मोन स्त्रीमें लागल हो, ओकरा दोसरकें दोष नहि देबाक चाही। आओर—

[पूर्ववाक्यक विस्तार]

ढीठ स्वभाव, अपन स्थानक बहादुरी, हाजिरजवाबी, सुरुचि, स्वभावक तेज, मनक बात भाँपब, हँसी-खुशी, सुरतक उत्तम विधिक परिचय, अनुरक्त स्त्रीक सुख, चित्रादि कलाक प्राप्ति आ उत्तम आराम—जँ कामीकें वेश्यापुरमें ई सभ भेटैत अछि, तँ लोक ओहि वेश्यापुरक निन्दा किएक करैत अछि?

किएक करैत अछि?

[धुमैत] की कहैत छह—‘बृहस्पति, उशना आ दोसर स्मृतिकार कहैत छथि जे स्त्रीप्रसङ्ग नहि करबाक चाही। एहि विषयमें अहाँक मत की?’ अरे, ई कोरा उपदेश अछि। हमरा एहन केओ नहि देखाइत अछि जे स्त्रीप्रसङ्ग नहि करैत हो। सुनल जाइत अछि जे इन्द्रादि सेहो अहल्यादिक संग व्यवहार कएलनि। धर्म आ अर्थसँ विषयभोग श्रेष्ठ अछि, कारण एहिमें मनक इच्छा पूर्ण होइत अछि। विषयभोग स्त्रीक विशेषता अछि। जे वेश्याकें छोड़ि स्वर्गक दिव्य कामोपभोगक इच्छा करैत अछि, ओकरा हम ठकल मानैत छी।

एहि जन्म आ आगाँक जन्म दुनूमें एहि जन्मे श्रेष्ठ अछि, कारण एकर फल प्रत्यक्ष अछि। दोसर देह—जकर प्राप्ति सन्दिग्ध आ तपस्याक बाद बड़ी कठिनाई सँ होइत अछि—ओहिमें तोरा कोन आनन्द देखाइत अछि? देख—मेघक कारण जाहिमें चन्द्ररूपी दीपकक प्रकाश मन्द हो, दुगुना अन्हारसँ भयङ्कर लगैत हो, अत्यन्त शीत हवा बहैत हो, पानि आ हवासँ चलब कठिन हो—एहन बरखाक अन्हरिया रातिमें कामबाणसँ सन्तप्त, एकाकी अभिसार करैत कामिनीक नूपुर-झनकारसँ जागल पुरुषकें अपन जीवन आ जन्मक पूरा फल भेटि जाइत अछि। की कहलह—‘नूपुर धारण करब अभिसारिकाक पैघ उपकार करैत अछि।’ हँ, ठीक। कारण प्रथम समागममें सकपकायल पुरुष आत्मनिवेदन केना कऽ पबितैत, जँ एकर स्पन्दनसँ उठल नूपुरक झनकार नहि होइत? नूपुरक ध्वनिसँ जागि जँ एहन मुख चुम्बन लेल भेटए जकर विशेषक मेघजलधारासँ धुलल हो, आँखिक अञ्जन पसरल हो, अधर फड़कैत हो आ मधुपानक सुवास अबैत हो, तँ उल्टा माथ लटका अनेक कल्प धरि नरकक दुःख भोगबो युवतीसँ मन मिलाएल ओहि पुरुषकें प्रिय लगत। जाहि शरदमें मेघक घोघ हटि गेल हो, माथपर चन्द्रमाक तिलक हो, आँधीक चलब रुकि गेल हो, असन-वृक्षक टपकैत फूलसँ दिशा महमहाइत हो—ओहि समय सारसक बोली अनुकरण करैत मेखलाक झनकार आ बन्धूकक लाल फूल जकाँ दमकैत विशेषकसँ युक्त, चक्रवाकसँ प्रेमक रहस्य सीखल प्रियाक संग खिलल कमलबाली बावड़ीक जलमें जे विहार करैत अछि, ओकरा स्वर्गसँ की प्रयोजन?

अथवा जखन कुन्दपुष्पसँ मिश्रित फुलल लोध्रपुष्पक गन्धसँ भरल हवा बहैत हो, आ कामिनीसभ जूडामें प्रियङ्गु-मञ्जरी लगा इठलाइत होथि—एहन हेमन्तकालमें शीतक कोपसँ जकर ओठ फाटल हो आ अधर बचए चाहितो चुम्बन लेल ललकारैत हो, एहन प्रियाक मुखक स्नेहपूर्वक आग्रहसँ पान करनिहारकें जे सुख भेटैत अछि, ओकर उपमा नहि देल जा सकैत अछि।

अथवा जतय कारी अगर जरलासँ धुआँक मेघ छाओल हो, मोतीक फूल फरशपर बिछाओल हो, एहन गर्भगृहमें जखन पाला-जकाँ बून्द बरसबैत तीक्ष्ण हवा बहैत हो—ओहि शिशिरक अन्हरिया रातिमें प्रेममग्न प्रियाक पीन स्तनसँ अपन वक्षस्थल दबबैत, सुन्दर शय्यापर पड़ल, गाढ़ आलिङ्गनसँ उपजल पसेनाक बूँदसँ महमहाइत देह लिए रतिक अन्तमें मधुर झपकी लेनिहार पुरुष सचमुच की नहि पाबि लेलक? आओर—

फाटल अधरोष्ठकें चुम्बनसँ बचए चाहनिहार आ केश पकड़ि ऊपर खिंचलासँ बाँकी चितवन चलाबैत प्रियाक सीत्कारपूर्ण मुखकें पियासल भऽ अवश्य पीबाक चाही। जतय निन्दे नहि, ओहि स्वर्गमें ई सुख कतय भेटत? अथवा वसन्तक ओहि दिनमें जखन पसेनाक बूँदसँ तिलक मेटा जाइत हो, कोकिल बागमें भरि जाइत हो, स्त्रीसभ मणिमेखला गूँथैत होथि, आममें मोजर देखाइत हो आ पवन सुगन्धित हो—तखन मान छोड़ि प्रेमवश स्वयं आयल प्रिया अपन मान-मनौवल बिसरि जेकरा मनबए लागए, ओकरा दोसर सुखक इच्छा नहि करबाक चाही। अथवा जखन शिरीषपुष्प प्रियाक कानमें सजाओलासँ कपोल श्याम भऽ जाए, जलपात्र, मोतीक हार, चन्दन आ खसक पङ्खाक हवा आनन्द दे, सूर्यक किरण प्रचण्ड हो—एहन ग्रीष्ममें फूलक सेजपर लेटल, नवमालिकासँ सजल जूड़ापर हाथ राखल, चन्दनलेपसँ आर्द्र स्तनबाली प्रियाक संग ताड़क पङ्खाक हवा खाइत जे हवामहलमें दुपहरिया बितबैत अछि, अथवा जाहि

हवादार घरक फरशपर सुगन्धित जल छिड़कि मौलसिरी, मल्लिका आ नीलकमल सजाओल हो, ओतय प्रियाद्वारा रोकल जाइत अछि—ओ अपन यौवनक पूरा आनन्द लऽ लेलक। आओर—

दन्तक्षतसँ अथर फड़कैत प्रियाक कमलसँ सुन्दर मुखमें जे रस भेटैत अछि, करधनीक प्रभासँ चमकैत जघनभागक वस्त्र हटेबामें जे आनन्द, अथवा पीन कपोलपर नखक्षतसँ जे शोभा—एहि सभ सुखमें फँसल मोन जन्मान्तरमें सेहो विरक्त नहि होए चाहैत अछि। ई बेचारा लोक चींटी जकाँ प्राण गमएबाक बाटमें एक-दोसरक पछाँ चलैत, स्वयं नहि देखल ‘स्वर्ग अछि, स्वर्ग अछि’क झूठ रटि, मृगतृष्णामें मोन लगा, वायुभक्षण, पर्वतसँ खसब, अग्निमें प्रवेश, घोर जप, होम, व्रत, नियमादिक ढोङ्गसँ स्वर्ग पाबए चाहैत अछि।

सत्य की अछि, एकर परीक्षा सेहो नहि करए चाहैत अछि। सुनल जाइत अछि जे स्वर्गमें प्रत्येकक लेल नियत स्त्री तैयार रहैत अछि। जँ एना हो तँ अनेक परस्पर-विरोधक बीच ओहि अप्सराक संग पुरुषकें कोन आनन्द भेटत? सदिखन सटल रहबासँ, जकर वियोग होइते नहि, ओ केना आनन्द देत? परस्पर अपरिचित रहबासँ सुरतक प्रकट सुखो ओहि स्त्रीक संग नहि भेटत।

स्वर्गमें सोनाक घर आ सोनाक गाछ सुनल जाइत अछि। ई देवताक पूँजी हुनक स्वभावगत कृपणतासँ जमा भेल होयत। जँ घर आ गाछ दुनू सोनाक अछि तँ स्त्रीकें ककरासँ सजाओल जाइत अछि? विशेषता की भेल? मकानक सोनाक किछु अंश तोड़ि की स्त्रीक शोभा बढ़ाओल जाएत? अपन हाथसँ पुत्र जकाँ पोसल आ सम्मानित गृह-उपवनक बालवृक्ष, जे युवतीक जूड़ामें सजए लेल फूल दैत अछि, तकर संग स्त्रीकें जे रम्य उपभोग भेटैत अछि, ओ सुख कठोर सोनाक गाछमें कतय? यौवनभरल कामक वशीभूत, परस्पर दर्शन लेल उत्कण्ठित, कोकिलक कूक सुनए लेल पियासल, आपसमें उलाहना देनिहार आ प्रेमक फल पाबए इच्छुक कामीजनकें जे सुख भेटैत अछि, ओ स्वर्गमें कतय, जतय स्त्रीसभ सदिखन शापक भय सँ डेरायल रहैत छथि? प्रेममें कामिनी रूठलापर तुरन्त ओकर इच्छा-अनुकूल सुन्दर मान-मनौवलक उपाय मित्रसभक संग सोचैत जकर लम्बा दिन बीतैत अछि, ओकर समान सुख ईर्ष्यारहित स्वर्गमें कतय?

भावसँ भरल अङ्गबाली प्रिया वक्षस्थलपर लेटि मौलसिरी-पुष्पसँ सुवासित निःश्वासवायुसँ प्राणेन्द्रिय तृप्त करैत जे निद्रासुखमें डुबा दैत अछि, ओ सुख निद्रारहित स्वर्गमें कतय? वारुणीक मदमें चूर स्त्रीक टूटल-फूटल, छलपूर्ण मधुर वचन जे प्रियतमसँ कहल जाइत अछि, ओ मदिरारहित स्वर्गमें कतय? रुचिकर सीत्कार आ श्वासक तीन गतिसँ युक्त नववधूक आलिङ्गनसँ भेटएबला रतिसुख स्वर्गमें कतय राखल अछि? अरे, हमरा तँ बूढ़ श्रोत्रियक संग बैसब नीक, अप्सराक संग नहि। सुनैत छी, ओ बूढ़ ठेढ़ी अप्सरासभ रोबसँ संस्कृत झाड़ैत छथि। जकरासँ वसिष्ठ, अगस्त्य आदि महर्षि उत्पन्न भेलाह, हुनकर की भरोस? देख—

शठता, झूठ, मद, ईर्ष्या, अपमान आ प्रेममें रूठब—ई सभ जहिना कामभाव उत्पन्न करैत अछि, तकर एको स्वर्गमें नहि। तँ जकरा निर्बाध कामानुभवक इच्छा हो, ओकरा एतहि आनन्द लेबाक चाही—विशेषतः वेशवधूक संग।

जकरा मनएबाक लेल आँखिमें नोर भरि कुट्टिनीकें दूर धरि पछाँ-पछाँ आबए पड़ए, वा झूठ क्रोधसँ भागैत जकर अज्बल पकड़ि प्रियाकें खिंचए पड़ए, अथवा सचमुच क्रोधित जकरा कान्ता कठिनाइ सँ मनाओ—एहन दुर्भाग्य पुरुष जँ प्रियापर क्रोधिते रहए, तँ ओ कामक ध्वजा फहरबैत अपन रथकें अपन हाथें तोड़ि-मसकि दैत अछि।

अरे, सुनन्दा अछि। की कहैत छह—‘हम सभ सुनि लेलहुँ।’ देख, हम अपन माल बेचि चुकल छी। प्रिय, तोरा धोखा नहि देबाक चाही। की कहैत छह—‘चानसँ अन्हार नहि टपकैत अछि।’ सुनन्दा, एही बात तोहर योग्य अछि, तँ तूँ कहलह। आब भीतर चली। [प्रवेश कऽ] आब हम विदा चाहैत छी। सूर्य सुनहला कछुआ जकाँ धीरे-धीरे अपन पएर समेटि अस्त होइत अछि; स्त्रीसभ ढील मेखला बान्हि, एक बेर वारुणी पी, कान्तक करस्पर्श लेल उत्कण्ठित केशकें फूलसँ सजा, कर्बलम्बित मुद्रामें मेखलापर हाथ राखि ओकरा चितवनसँ देखैत छथि। की कहैत छह—‘तूँ एतयसँ आध पएरो नहि जा सकैत छह।’ अरे, जेबाक तँ पड़त। नहि तँ हमर स्त्री एहि चोलाक दोसर ढङ्गसँ स्वागत करत। तूँ—

की कहलह—‘हम ओकरा मना लेब।’ राजाक रहस्य जननिहार आ अनुनय नहि माननिहार दुष्ट जकाँ ओकरा मनाएब सम्भव नहि। अरे विश्वलकक संग तूँ हमर पएरमें किएक लिपटि रहल छह? हाय! एहि दुनू हमरा पङ्गु बना देलक। सुनन्दा—

जेना महासागर वेलाकें नहि छोड़ैत अछि, तहिना हम तोरा छोड़ि नहि जाएब। सागरक मेखलासँ अलङ्कृत एहि पृथ्वीक रक्षा राजा करथि।

[विटक प्रस्थान।] ईश्वरदत्तक एकनट नाटक (भाग) धूर्तवित्सवादः समाप्त।

वररुचिक मूल संस्कृत एकनट नाटक (भाण)-उभयाभिसारिका (संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद- गजेन्द्र ठाकुर द्वारा)

[नान्दी पश्चात् सूत्रधारक प्रवेश]

सूत्रधार:

‘तूँ हमर के? हम तोहर के? अरे शठ, हमर अञ्चल छोड़। हमर मुँह की देखैत छह? हे सुभग, हम तोहर लेल व्याकुल नहि छी।’ [ठहाका मारि] ‘प्रियाक दाँतक चिह्नसँ अङ्कित तोहर ओठ हम चिन्हैत छी। अरे चपल, हट। जे रूठल अछि ओही तोहर अछि, हम नहि। जा, अपन मोनमें बसल कामिनीकेँ मना।’
कामपीडित आ प्रणयकलहसँ कुपित वरस्त्रीसभ अहाँ लोकनिसँ एना कहथि।

ई हम अहाँ महानुभाव लोकनिसँ कहैत छी। अरे, कहबाक लेल उत्सुक छी, मुदा ई कोन शब्द सुनाइत अछि? वाह! देखैत छी। [नेपथ्यमें]—

वसन्तक आरम्भमें मुरझायल लोघ्रवृक्ष मित्रक कार्यसँ घबरायल दीन विट जकाँ ठाढ़ अछि।

[तकर बाद विटक प्रवेश] विट—अहो, वसन्तक कतेक ठाठ! कोकिल, आम्र, अशोक, झल्ला, उत्तम मदिरा, चन्द्रमा आ वसन्तक विशेषतासँ बनल शोभा—ई कामदेवक मोनो विचलित कऽ सकैत अछि। अहो! कामीजन एक-दोसरक त्रुटियो सहि रहल छथि। अहो! दूतीसभ एहि समय अप्रतिहत शासनवाली भऽ आबि-जा रहल छथि। अहो! वसन्तऋतु अपन पूरा वैभवपर अछि। प्रवाल, मुक्ता आ मणिसँ गूँथल रशना, दुकूल, हलुक रेशमी वस्त्र, हार, हरिचन्दन आदिक आनन्द बढ़ि रहल अछि। सभ लोकमें काम उत्पन्न करनिहार, लोकरुचिकर एहि खिलैत वसन्तमें सागरदत्त श्रेष्ठिक पुत्र कुबेरदत्तक नारायणदत्तासँ किछु अनबन भऽ गेल अछि। ताहि कारण कुबेरदत्त अपन सहकारक नामक सेवक हमरा लग पठा कहलनि—‘भगवान् नारायण विष्णुक मन्दिरमें मदनसेनाद्वारा “मदनाराधन” नामक सङ्गीतकक रसानुसार अभिनय भऽ रहल छल। तखन हम तोरा छोड़ि ओकर प्रशंसा कएलहुँ। मदनसेनामें प्रेमक आशङ्कासँ क्रोधित नारायणदत्ता हमर पएर पड़लोकें उपेक्षा कऽ अपन घर चलि गेल। ओकर कारण कामातुर हृदयसँ ई राति हजार राति जकाँ नहि बितए, तँ चाहैत छी जे एहि नगरक लेल सदिखन वसन्त जकाँ बनल वेश्यापर्वत अर्थात् वेश्यापुरमें अटल अहाँ हमर मेल ओकरासँ करा दिअ।’ ओकर बात सुनिह किछु परिचयक कारण, आ किछु मदन-दुःख असह्य बुझि, हम आइ साँझे निकलि पड़लहुँ। मुदा हमर ढलैत वयसपर विश्वास नहि करैत आ केवल अपन यौवनक विचार करैत हमर गृहिणी दोसर शङ्का कएलक आ हमरा रोकए चाहलक। मुदा हम नारायणदत्ताक क्रोध हटएबाक प्रतिज्ञा कऽ चुकल छी, तँ अवश्य जाएब। अथवा, एतय हमर प्रतिज्ञाक की आवश्यकता?

आओर—

सुन्दर रूप, अठखेली करैत यौवन, दान, अनुकूल स्वभाव, शान्ति आ मेलक बात—जकरामें ई सभ सद्गुण हो, कामिनीकेँ प्रसन्न कए लेल ओकरा दोसरक की आवश्यकता? [धुमैत] अहो! कुसुमपुरक राजमार्गक अपूर्व शोभा! एतयक गली सुगन्धित जलक छिड़काव, झाड़-पोंछ आ चारू दिस सजल फूलक ढेरीसँ एना लगैत अछि मानो दोसर घरक आगाँ वासगृह हो। नाना वस्तुक किनबेच करनिहार ग्राहकक भीड़सँ दोकानक अगिला भाग शोभायमान अछि।

वेदाध्ययन, सङ्गीत आ धनुषक टंकारसँ भरल महलसभ मानो रावणक मुख जकाँ आपसमें गप्प कऽ रहल अछि। कतहु मेघरूपी प्रासादक खुलल गवाक्षमें कैलासक अप्सरा जकाँ गली देखबाक कौतूहलसँ बिजुरी-जकाँ चमकैत नवयौवना प्रमदासभ शोभा पाबि रहल छथि। आओर, पैघ हाथी, घोड़ा आ रथपर चढ़ि एतय-ओतय जाइत महामात्रक प्रधान कतेक भव्य लगैत छथि! युवकक आँखि चोरेबामें समर्थ, नखराभरल, यथास्थान आभूषण पहिरने जवान दासीसभ स्वर्गक युवतीक सौन्दर्यक उपहास करैत आबि-जा रहल छथि। सभ लोकक नेत्ररूपी भँवरा जकर मुखकमलक शोभा पीबैत अछि, एहन गणिकासभ मानो सङ्कपर दया कऽ चहलकदमी करैत छथि। बहुत की—

निर्भय भऽ प्रसन्नतासँ नित्य उत्सवमें लागल, बहुमूल्य रत्न आ आभूषणसँ सजल, माला, सुगन्धि आ वस्त्रसँ लकदक, क्रीड़ाविलासमें मग्न, नाना गुणसँ प्रसिद्ध नागरिकसभक कारण पाटलिपुत्रक ई भूमि एहि समय स्वर्ग बनि रहल अछि।

[धुमैत] अरे, ई चरणदासीक पुत्री अनङ्गदत्ता अछि। रतिश्रमक थाकनिजनिन आलससँ नपल-तुलल कोमल पएर रखैत, मानो सभक आँखिक अमृत बनल, एही दिस आबि रहल अछि। निश्चय एकर प्रियतम निर्दयतासँ एकर आनन्द लूटने अछि! केना—

एकर मुखमें दन्तक्षत-चिह्नित ओंठ अछि; चञ्चल आँखि निन्नसँ अलसायल अछि; रतिक्रीडामें छितरायल करधनीक लड़िसँ एकर जघनस्थल भरल अछि।

अरे, एकर दर्शनहि सँ हमर काज सिद्ध होयत। एँ, हमर दिस देखनहुँ बिना चलि गेल! तखन एकरासँ बात करब। अहा, स्वयं घुरि आयल। प्रिय, प्रणाम किएक नहि करैत छह? की कहैत छह—‘अहाँ देर सँ चिन्हलहुँ; हम अभिवादन कऽ रहल छी।’ तँ हमर आशीर्वाद सुन—

भद्रे, तोरा युवा, स्वतन्त्र, दानी, सुन्दर, धनाढ्य, सज्जन, कुशल आ रतिपरायण प्रियतम भेटओ। प्रिय, ई सभ छोड़—

कामदेव ओकर अनुचर छथि आ ओकरे जीवन सफल अछि, जे तोहर जकाँ वेशलक्ष्मीक संग एक राति बितौने हो। की कहैत छह—‘महामात्रपुत्र नागदत्तक घरसँ आबि रहल छी।’ भद्रे, ओकर वैभव तँ पुरान कथा भेल। स्पष्ट अछि जे तू अपन मायक इच्छाक विरुद्ध ओकरासँ मेल कएलह। लज्जासँ मुँह नुका ई किएक हँसल? वाह! हमर अनुमान ठीक। सुन्दरि, एना नहि कर। केना—

मायक लोभकें ठुकरा तू रतिसुखमें मोन लगेलह, आ बहुत फलदायी वेश्यापुरक नियम—जकर त्याग वेश्याक लेल कठिन अछि—छोड़ि अपन प्रेमीक घर चलि गेलह आ ओकर संग रसपूर्ण रङ्गरेली कएलह। एहि गुणसभसँ तू सभ वेश्याकें अपन पएरक नीचाँ कऽ देलह।

अरे, तोहर लाज उचिते अछि। सौगन्ध खेबासँ की? तोहर घर जा तोहर माकें मना लेब। तू वेश्याक स्वभावक विरुद्ध काज कएलह। आब जा सकैत छह। की कहैत छह—‘अभिवादन करैत छी।’ सुभगे, हमर ई आशीर्वाद सुन—

तोहर गुण तोहरामें रहि सद्गुण भऽ गेल अछि; ओकर प्रशंसा की करब? लोककें मोहित करनिहार तोहर यौवन स्थिर रहए। ई चलि गेल। हमहुँ चली। [घुमैत] अरे, ई विष्णुदत्ताक पुत्री माधवसेना अछि। अपन परिजन पछाँ-पछाँ आबि रहल छथि, तकर परवाह नहि कऽ, बाघसँ पछुआएल मृगछौनी जकाँ वेगसँ पएर बढ़बैत एही दिस आबि रहल अछि। स्पष्ट अछि जे मायक लोभसँ अनचाहा पुरुषक संग मिलनासँ दुःखी अछि। कारण—

न तँ मुख उतरायल अछि, न केशविन्यासक फूल झड़ल; न ओंठक सुकुमार शोभा दन्तक्षतसँ बिगड़ल। गाढ़ आलिङ्गनरहित स्तनतटपर चन्दनचूर्ण जकाँ-तकाँ अछि। श्रोणीपर मेखला रागपूर्ण रतिसँ न ढील पड़ल, न अस्त-व्यस्त भेल।

अरे, अनचाहा पुरुषक संग मिलनक भय सँ ई हमरा देखनहुँ बिना चलि गेल। ठीक, लग जा दुःखक कारण बुझब। वाह, स्वयं घुरि आयल। की कहैत छह—‘हम अहाँकें नहि देखलहुँ।’ प्रिय, तोहर दोष नहि; क्लेशसँ घबरायल लोकक बुद्धियो घबरा जाइत अछि। की कहैत छह—‘अभिवादन करैत छी।’ तँ हमर ई आशीर्वाद लिअ—

तोहर प्रियजन धनवान् होथि आ अनिष्टजन निर्धन। मायक लोभमें पड़ि अनिष्ट पुरुषक संग तोहर समागम नहि होअए। प्रिय, कतयसँ आबि रहल छह? की कहैत छह—‘धनदत्त सार्थवाहक पुत्र समुद्रदत्तक घरसँ।’ अहा! नीक कएलह। ओ तँ आइकाल्हिक कुबेर अछि। लम्बा निःश्वास लऽ, अधरक पल्लव फड़का, टेढ़ भौंहबाली आँखिसँ ई मुख किएक घुमा लेलक? हाय! हमर अनुमान सही—

हे बाले, स्पष्ट अछि जे रातिमें दुःखी भऽ शय्यापर जा तू बनावटी रति कएलह आ दिन उगबाक प्रतीक्षा करैत रहलह। ओहि समय तोहर सभ चेष्टा भावहीन छल; कठिनाइ सँ चुम्बन लेल अधर देलह; न मधुर बात, न हँसी-परिहास; जँभाइ आ गरम निःश्वास लैत रहलह; भुजाक आलिङ्गनो ढील छल, रागक तँ नामो नहि।

प्रिय, विषाद नहि कर। रूपहीन धनी सेहो गम्य अछि, एना कहल गेल अछि। सुन—

अनचाहा हो वा प्रिय—दुनूमें पूर्ण प्रेम उत्पन्न कऽ धन कमेबाक चाही; शास्त्रक एही नियम अछि।

की कहैत छह—‘अहाँ सेहो हमर मायक जकाँ विचार रखैत छी।’ अरे, से बात नहि; एहिमें किछु कारण अछि। आब जा। तोहर घर आबि शास्त्रक असल मर्म बुझाएब। अहो! बिना अभिवादन चलि गेल। एकर शिक्षामें त्रुटि अछि, अथवा बेचारीक उद्वेग कारण होयत। हमहुँ आब अपन काजपर चली। [घुमैत] अरे, विलासकौण्डिनी नामक परिव्राजिका नखरासँ धीरे-धीरे पएर रखैत एही दिस आबि रहल अछि। एकर रूप आँखिक अमृत अछि। एकर पटवासक गन्धसँ उन्मत्त भँवरासभ आमक शिखर छोड़ि एकरापर मँडरा रहल अछि।

तँ एकरासँ गप्प करी आ अपन आँखि-कानक कौतूहल शान्त करी। भगवति, वेशिकाचलमें अहाँकें अभिवादन। की कहैत छी—‘हमरा वेश्यापुरमें अटल व्यक्तिसँ प्रयोजन नहि; वेशेषिक शास्त्रमें दृढ़ व्यक्तिसँ रुचि अछि।’ एकर कारण तँ अछि। केना—

तोहर विशाल सुन्दर आँखि एक ठाम नहि ठहरैत अछि; ग्लानिसँ आओर सुन्दर, रतिश्रमयुक्त फुलल अधरबला मुख आ श्रमसँ अलसायल चाल तोहर सुरतोत्सवक सङ्केत दऽ रहल अछि। हे सुभगे, स्पष्ट अछि जे तोहर प्रिय तोरा 'रति मात्र नित्य पदार्थ अछि'—एही शास्त्र पढ़ौने छथि।

की कहैत छी—'अरे कामक दास, तूँ अपन रुचिक अनुसार कहलह।'

हे सुभगे, जकरा तोहर चरणकमलक दास्य भेटल, ओ धन्य। हे वरतनु, हमर जकाँ पापीकेँ ईहो कतय सुलभ!

की कहैत छी—'षट्पदार्थ नहि जननिहारक संग गप्प करब हमर गुरु निषिद्ध कएने छथि।' भगवति, ई उचिते अछि। केना—गुण अछि; तोहर यौवन सामान्य अर्थात् सभक लेल अछि; युवकजन तोहर गति अर्थात् कर्मक प्रशंसा करैत छथि। हे आर्ये, लोक तोहर संग नित्य सम्बन्ध अर्थात् समवाय चाहैत अछि—

कारण तोहर आ सभसँ नित्य भेद अर्थात् विशेष अछि। मनचाहा तरुणसँ तूँ योग अर्थात् सम्बन्ध करैत छह, आ अनचाहा पुरुषसँ मोक्ष अर्थात् छुटकारा पाबि लैत छह।

अरे, केवल हँसि ई हमर बातक उत्तर देलक। हमर अनुमान ठीक। की कहैत छी—'साङ्ख्य कहैत अछि जे पुरुष निर्लेप, निर्गुण आ क्षेत्रज्ञ अछि।' वाह! अहाँ तँ हमर मुँह बन्न कऽ देलहुँ। हमर एहि गप्पसँ अहाँ उत्कण्ठित भऽ गेलहुँ बुझाईत अछि। युवकक संग सुरतमें बाधा देब उचित नहि। आब अपन काजपर जाउ। ई चलि गेल।

तँ हमहुँ चली। [धुमैत]

अरे, ई चारणदासीक माता रामसेना अछि। वृद्धा होइतो विलासपूर्ण चितवन, चाल आ हँसीसँ युवतीक नकल करैत उपस्थित अछि। अरे, ई अचरजक वस्तु—प्रेमदत्त मनचाहा भोग भोगि, अपन गुणसँ प्रेमीक सार निचोड़ि, युवकक वैर आ सङ्घर्षक कारण बनि, निश्चय आब अपन पुत्रीक प्रेमीकेँ दुहए जा रहल अछि। हाय! कामीजनक मृत्यु बोलाबएबला एकर बुढ़ीतीक नखराक आनन्द ली। कामुकजनक लेल एहि महावज्रकेँ प्रणाम करी। अरी कमसिन रामसेना, अपन पुत्रीकेँ अपन यौवन आ सौभाग्य दऽ आब कोन कामीक घर उजाड़बाक लेल जा रहल छह? अरे, एकर शास्त्रमें सौगन्ध खेबे उत्तर अछि। की कहैत छह—'तोहर शील स्वयं तोरा कोसि रहल अछि।'

अरे, बेसी गप्पसँ की लाभ? कोन प्रयोजनसँ जा रहल छह, से कह। की कहैत छह—'हमर पुत्री चारणदासी काल्हि धनिकक घर गेल छल। सङ्गीतक अर्थात् महफिलक बहानासँ ओकरा ओतयसँ हटा अनए जा रहल छी।' अरे, ई तँ चारणदासीक असावधानी अछि। केना? कामीजनक सभ धन हड़पबामें कुशल, ओकर सार पी कऽ सीटी जकाँ फेकि देबामें चतुर तोहर जकाँ स्त्रीक पुत्री होइतो बेचारी शास्त्रक उपदेश बिना शोचनीय रहि गेल! केना—

एक समय ओकरा गम्यरूपमें पाबि, ओकरासँ पर्याप्त धन उपजा, आब ओकर निर्धनता जनितो प्रेममें फँसल ओ ओकरा छोड़ए नहि चाहैत अछि।

एहन स्त्रीकेँ शास्त्रक मर्मक उपदेश देब व्यर्थ अछि।

की कहैत छह—'महफिलक बहानासँ ओकरा घर लऽ आएब। अहाँ घुरैत ओतय आबि ओकरा शास्त्रज्ञान सिखा दिअ।' ठीक। मुदा हमर मित्रक काज जल्दी करबाक अछि। से पूरा कऽ तोहरो काज करब। आब जा। हमहुँ अपन काजपर जाइत छी।

अरे, वेश्याक हृदय विश्वासयोग्य नहि होइत अछि। केना—

स्निग्ध आ चिमटि जाएबाली क्रीड़ासँ लाड़ देखाबि, कामीक सभ धन साफ कऽ, निर्दयी आ लोभी वेश्यासभ दोसरक संग आनन्द लेल पहिल प्रेमीक प्रति विरक्त भऽ ओकरा एना छोड़ि दैत छथि जेना आत्मा शरीरकेँ।

अहो, वेश्याजननी कामीक लेल एहन विपत्ति अछि जकर उपचार नहि। भगवान् कामीजनकेँ हुनकासँ बचबथि। कामुकक सर्वस्व हरबामें कुशल आ गणिकारूपी अमोघ शस्त्र चलएबामें निपुण वेश्याक माताक सर्वनाश हो। [धुमैत]

अरे, राजमार्गक कलङ्क सुकुमारिका नामक नपुंसक एही दिस आबि रहल अछि। एकर भेटसँ आब कुशल नहि। ठीक, बिना गप्प कएने कपड़ाक ओट दऽ एकरासँ बचि निकलि जाउ। [तहिना करैत] अरे, ई तँ हमर पछाँ दौड़ि रहल अछि! आब हमर की दशा होयत? अरे, काल बड्ड बलवान। मधुर बात कऽ बाधक मुँहमें फँसल अपनाकेँ छुड़ाबी।

की कहैत छह—'अभिवादन करैत छी।' प्रिय, अविधवा रह आ बहुत पुत्रवती हो।

आओर—

भौंह तानि, आँखि नचा, ओंठ फड़का, बाहु फटकारि, सुन्दर चाल आ नखराभरल हँसीसँ तू स्त्रीक नखराकें मात कऽ देलह। तोहर लम्बा-चाकर नितम्बपर करधनी अस्त-व्यस्त भऽ स्पष्ट नीचाँ झूलि रहल अछि। कह, रतिसँ अतृप्त भऽ ककर घरसँ आबि रहल छह?

की कहैत छह—‘राजाक साला रामसेनक घरसँ।’ ओकर जीवन सफल। सुभगे, चक्रवाक-युगल जकाँ आब ओकरासँ वियोग भऽ गेल? की कहैत छह—‘राजदरबार जाइत गणिकापरिचारिका रतिलतिकाक चतुर-मधुर हँसीयुक्त कामचेष्टा आ स्नेहपूर्ण ललित कटाक्षक जलसँ अपन हृदय सींचि, रोमाञ्चसँ कामविकार प्रकट करैत, ओ माथ नुका ओकर अनुराग स्वीकार कएलक। ई सहन नहि भेला पर हम डाँटलियैक, तँ ओ हमर पएरपर पड़ि गेल। तथापि ईर्ष्यासँ अभिभूत भऽ हम क्षमा नहि कएलियैक। तखन ओ बलपूर्वक हमरा अपन घर आनि पलङ्गपर बैसा हमर संग बैसल। फेर ओ मदमत्त हमरा रातिमें कामवेगक खेदसँ सुतल छोड़ि ओकरे घर चलि गेल आ कतेको दिनसँ घुरल नहि। हम ओकर मनौवल अस्वीकार कऽ पश्चात्तापमें जरैत अहाँक लग आयल छी। अहाँकें ओहि प्राणप्रियसँ हमर मेल कराबए पड़त।’ प्रिय, ई रामसेनाक भूल अछि। केना—

सुरतमें जखन तू ओकरा गाढ़ आलिङ्गन करैत छह, तखन स्तन बीचमें बाधा—

नहि बनैत अछि। हे सुभगे, प्रत्येक मास रागनाशक ऋतु अर्थात् मासिक धर्म तोरा नहि होइत अछि; रूप, श्री आ यौवनक शत्रु गर्भ तोरा नहि रहैत अछि। तोहर जकाँ गुणवतीकें जँ ओ छोड़त, तँ ओकरा रतिक उत्सवे छोड़ए पड़त।

एखन ठहर। मानिनि, तू ओकर घर जा हमर बाट देख। हमरा अपन मित्रक काज जल्दी करबाक अछि। से पूरा कऽ, अपन बहिन अर्थात् राजपत्नीक सौभाग्यसँ फुलायल आ तोहर जकाँ सुकुमार युवतीक भाव बुझबामें अयोग्य ओहि पुरुषकें तोहर घरमें तोहर पएरपर प्रणाम कराएब। आब जा।

ई चलि गेल। हमहुँ जाइत छी। हा! बड़ी कठिनाई सँ एहि असल नमूनाक स्त्री—

अर्थात् नपुंसक—सँ प्राण बचा सकलहुँ। आब अपन काज करी। [धुमैत]

अरे, ई के आबि हमर अभिवादन करैत अछि? तोहर कल्याण हो। बहुत दिनक बाद देखाइ देलह। तू पार्थक सार्थवाहक पुत्र धनमित्र छह ने? सेवक, याचक, सम्बन्धी आ मित्रक दरिद्रतारूपी अन्हार हटबएबला, युवतीक हृदयकमल खिलबएबला, कुसुमपुरक आकाशक पूर्णचन्द्र—तू एहि विपत्तिरूपी ग्रहणमें केना फँसि गेलह? की बहुत लाभक लोभमें पूरा कुटुम्बक धनसँ माल कीनि विदेश जाइत चोरसभ लूटि लेलक? अथवा राजाक निन्दा कएलासँ राजा तोहर सर्वस्व छीनि लेलनि? वा पलक झपकिते कुबेरक सर्वस्वो हरए समर्थ जुआ तोरा नष्ट कऽ देलक? बहुत की—

बढ़ल नख आ केश, मैलसँ भरल देह, चिन्तासँ अभिभूत, पीयर-सुखायल मुख, खुरदरा, पुरान, गन्दा आ फाटल कपड़ा पहिरने तू कोनो दिव्य मुनिक शापसँ पीड़ित जकाँ लगैत छह।

की कहैत छह—‘रामसेनाक पुत्री रतिसेनापर हमर गाढ़ प्रेम भऽ गेल आ ओकरो हमरापर। ई सभ अहाँ जनैत छी। अपन मायक लोभ जनितो ओ हमरा नहि छोड़त—एना बुझि, मित्रसभक रोकलापर सेहो हम अपन सभ धन एकहि बेर ओकर घर पहुँचा देलहुँ। सभ किछु लऽ किछु दिन बीतलापर ओ स्नानक बहानासँ नहएबला साड़ी पहिरा हमरा अशोकवनक बावड़ीपर पहुँचा देलक। द्वार बन्न भेलापर अशोकवाटिकाक रक्षक सच्ची बात बुझि हमरा चोरद्वारसँ बाहर निकालि देलक। आब एही नगरमें प्रतिष्ठासँ रहि दीर्घ दरिद्रता केना सहब—ई सोचि वनक बाटें जा रहल छलहुँ, तखन अचानक अहाँ भेटि गेलहुँ। ई सभ गुप्त बात अहाँकें निवेदन कऽ देलहुँ। आब अहाँक कहल अनुसार अपन भलाई सोचब।’ अहो, वेश्यापुरमें लोभक कतेक पकड़! अहो, वेश्याक स्वभावक कतेक कुटिलता! आउ, पहिने छातीसँ लगा ली। बधाई जे तोरा जीवित देखैत छी। केना—

महौषधिक बलसँ सर्पक विषो धीरे-धीरे शान्त भऽ जाइत अछि; वनमें मातल हाथीक मस्तकसँ अपनाकें छुड़ाएब सम्भव अछि; समुद्रमें ग्राहक मुखसँ सेहो कदाचित् छुटकारा भऽ सकैत अछि; मुदा वेश्यारूपी बड़वानलमें पड़ल मनुष्य फेर उठैत नहि देखाइत अछि।

अरे भलामानुस, तोहर दुःखक कारण रतिसेना अछि वा ओकर माता? की कहैत छह—‘हम झूठ किएक बाजब? रतिसेना तँ हमरा प्रेमे करैत अछि; वेश्याजननीक दृष्टतासँ ई भेल। जँ ओकर माकें किछु जनौने बिना अहाँ हमर समागमक प्रयत्न कऽ दिअ तँ हमर प्राण घुरि आएत।’ ओकर तोहरापर प्रेम हम जनैत छी; दोसरासँ सेहो सुनने छी। हा, ई तँ कानि रहल अछि! अरे, अपन दुःखक कथा रोक। हमरा एखन मित्रक छोट काज तुरन्त पूरा करबाक अछि। से कऽ घुरि तोहरो काज करब। आब जा। अहो, वेश्याक चतुराई! केना—

जेना कुटिल राजा अपन कुकर्मक दोष मन्त्रीपर दऽ दैत छथि, तहिना शठ आ धूर्त वेश्यासभ अपन दुष्टताक दोष अपन मापर दऽ दैत छथि।

लुच्चाक गुरु ई ढोङ्गी चलि गेल। हमहुँ अपन काजपर जाइत छी। [घुमैत]

अरे, वसन्तक वनकोकिल जकाँ स्निग्ध-मधुर स्वरमें के हमर नाम पुकारि रहल अछि? [देखि] अरे, प्रियङ्गुसेना अछि। हम आबि रहल छी। की कहलह—‘अभिवादन करैत छी।’ प्रिय, हमर आशीष लिअ—

शय्यापर बामा हाथक कोमल प्रहारसँ अपन प्रियकें हटबैत आ प्रबल रतिवेगसँ मर्दित भऽ, तू अपन विपुल जघनक संग सुखी रह।

प्रिय, अत्यन्त थाकल जघनकें हुलसाबएबला नाना गन्धसँ सुवासित तेल अपन अङ्गमें ककरासँ मलएबाक कृपा कएलह? हे भद्रमुखि, घण्टा, साङ्कल आ पट्टा उतारल राजाक खास हथिनी जकाँ आभूषण उतरलापर स्वाभाविक सौन्दर्ययुक्त तोहर मनोरम रूप जे नहि देखलक, ओकरा ठकल बुझबाक चाही। केना—

मोतीक आभूषणसँ सजल, नखक खरोचसँ भरल, सुगन्धित तेल आ अङ्गराग लगौने, ललछौँह आँखिबाली, हँसमुख, यौवनक उष्णतासँ उभरल स्तनबाली, महीन जाँघिया पहिरने, करधनी उतारने, चाकर नितम्बबाली तोहर जकाँ सुन्दरीकें देखि कामदेवक मोनो डगमगा जाए। की कहैत छह—‘अहाँक बात प्रिय अछि।’ अरे, ई खुशामद अछि? लजा नहि। हमरा पुकारबाक कारण कह। की कहैत छह—‘सुनू।’ प्रिय, हम सावधान छी। की कहैत छह—‘भगवान् अप्रतिहतशासन कुसुमपुर-पुरन्दर अर्थात् पाटलिपुत्रक राजाक महलमें “पुरन्दरविजय” नामक सङ्गीतक रसानुसार अभिनीत करबाक लेल देवदत्ताक संग हमरो अग्रिम निमन्त्रण भेटल अछि। हमर एहि अभ्युदयक कारण अहाँ छी।’ अरे, से बात नहि। पूर्णचन्द्रसँ खिलखिलाइत चाननी रातिकें दीपकक आवश्यकता नहि; बलवानकें दोसरक सहायता नहि चाही। तू स्वयं एहि सम्मानक कारण छह। एही कारण तोहरापर हृदयगत अनुराग रखनिहार रामसेन हमर खुशामद करैत अछि। भौँह नचा, आँखि आ गाल कनेक सिकोचि, भीतरी उल्लास प्रकट करैत, फड़कैत अधरबला मुख घुमा, प्रियङ्गुसेना अपन परिजनकें देखि हँसि पड़ल। बस, रामसेनकें सेवाक फल भेटि गेल। वाह रे देवदत्ताक मूर्खता, जे तोहरासँ टक्कर लैत अछि! रूप, श्री, नवयौवन, कान्ति आदि गुणक सम्पत्ति; चारू प्रकारक अभिनयमें सिद्धि; बत्तीस प्रकारक हस्तप्रचार; अठारह प्रकारक निरीक्षण; छह स्थान, तीन गति, आठ रस, गीत-वाद्यक तीन लय आदि नृत्याङ्ग—तोहर आश्रय पाबि स्वयं तोहरामें शोभित होइत अछि। अथवा, एही वेशमें हम तोरा देव, असुर आ महर्षिक मन-नयन चोरेनिहार अप्सराकें सेहो पछाड़बामें समर्थ देखैत छी। आओर—

अपन छलपूर्ण चेष्टासँ तूँ सदिखन लोकक मन आ नेत्र नचबैत रहबह। हे सुभगे, नाचक की आवश्यकता? तोहर सुन्दर लीलामात्र पर्याप्त अछि।

अरे, लजा गेल! वाह, एहि लज्जारूपी आभूषणक सौगात दऽ हमरा विदा कऽ देलक। तँ चली। [घुमैत]

अरे, ई निश्चय नारायणदत्ताक दासी कनकलता अछि। अपन कठोर स्तनकें चूँससँ सुवासित कए, जूड़ामें नाना फूल सजा, हँसी-खुशीसँ, मदविलासक कारण डगमग पएर रखैत एही दिस आबि रहल अछि।

एकरासँ बात करी। लग आबि हमर अभिवादन किएक करैत छह? प्रिय—

की कहैत छह—‘अभिवादन करैत छी।’ प्रिय, अपन प्रियक प्रिय हो। अपन चरणकमलक विन्याससँ बाटपर किएक कृपा करैत छह? की कहैत छह—‘हम अनुगृहीत भेलहुँ।’ ई सभ छोड़। चक्रवाक-युगल केना अलग भऽ गेल?

की कहैत छह—‘ईर्ष्यासँ भरल, स्नान, शयन, भोजन आ अलङ्कार छोड़ने, अशोकवनिकामें अशोकक छोट गाछक नीचाँ शिलातलपर बैसल हमर स्वामिनीकें नव चन्द्रमण्डल देखलासँ, भँवराक गुंजार आ वसन्तपुष्पक गन्धसँ कठोर भेल दक्खिनी हवासँ सन्ताप भऽ रहल छल। सखीसभ मधुर वचनसँ सान्त्वना दऽ रहल छलीह। तखन सोझाँसँ कोनो पुरुष अशोकवनिकाक लगसँ कामदंशित जकाँ अस्पष्ट काकली स्वरमें वीणापर मूर्च्छना छेड़ैत, वक्र आ अपवक्र छन्दमें ई गीत गाबैत निकलि गेल—

ओ पुरुषक रूप, यौवन आ वैभव निष्फल अछि, जे प्रियाक संग वसन्तमें क्रीड़ा नहि करैत अछि।

आओर—

निर्मल चन्द्रमा देखि वा कोकिलक प्रिय बोली सुनि जे प्रियजनकें नहि मनबैत अछि, संसारमें ओकर जीवन व्यर्थ अछि।

ओहि गीतसँ मान शिथिल भेलापर हमर स्वामिनी आयुष्मानक आगमनक बाटो नहि जोहि, हमरा बजा पएरे मालिकक घर चलि गेलीह। ओही प्रकार हमर मालिक वसन्तागमनसँ अधीर भऽ कोनो उपायसँ स्वामिनीकेँ मनएबाक लेल वीणाचार्य विश्वावसुदत्तक घरक द्वारपर हुनकासँ भेटि गेलाह। दुनूक दाँव नहि लगैत देखि अचानक बाहर निकलल विश्वावसुदत्त हुनका अपन घरमें लऽ गेलाह। भोरमें स्वामिनी कहलनि—“वेशिकाचलकेँ लऽ आउ।” तँ अहाँ चलू।’ वाह! कानकेँ सुख देनिहार बात कहलह। हम तोहर दोसर कोन भलाई करी? हमर ई आशीर्वाद लिअ—

तोहर यौवनश्री नित्य बनल रहए; तूँ सदिखन अपन प्रियक प्रिय रह; तोरा निरन्तर उचित आ मनोवाञ्छित उपभोगक सुख भेटैत रहए।

तूँ आगाँ चल। [घुमैत] कनकलता की कहैत अछि—‘एहि घरक भीतर चलू।’ ठीक, चलैत छी। [प्रवेश कऽ] अरे, घबराउ नहि। युगलजोड़ी विराजमान रहए।

अपन गुणसँ वसन्त जेना अहाँ दुनूक समागम करा देलक, तहिना सभ ऋतु कलहक समय कामीजनक मेल कराओ। अपन गुणपर गर्वित वसन्त हमरा सेहो ठकि लेलक, कारण अहाँ दुनूक समागम हमर बिना भऽ गेल। आब हम की करी? एहिमें वसन्तो अपराधी नहि। केना—

[पूर्ववाक्यक विस्तार]

सुन्दर उद्यान, चाननी राति, सुरीली वीणा, गोष्ठी, दूती, विचित्र बात आ नाना ऋतु—ई सभ कामीजनक मिलनक असल कारण नहि। कारण अछि परस्परक अकृत्रिम गुण चिन्हलासँ प्रेमक उत्कर्ष।

तँ दोसरामें दुर्लभ, परस्परक गुणाधिक्यसँ संवर्धित, आत्मगुणसँ उत्पन्न, कामशास्त्रक सार आ कुसुमपुरमें प्रसिद्ध अहाँ दुनूक प्रेम हमरा ठकि लेलक— अर्थात् अहाँकेँ मिला देलक, हमर आवश्यकता नहि पड़ल। की कहैत छी—‘हम दुनूक प्रेम सेहो अहाँक प्रयत्नहि सँ उत्पन्न भेल; तँ अहाँए हमर समागमक कारण छी। एहि समय समस्त पाटलिपुत्र जकर बातमें आनन्द पबैत अछि, कामीजनक वचन ओकर महिमा पूर्ण रूपेँ केना कहि सकत?’ रतिक पियासल कामी-युगलक मिलनमें बेसी गप्प कऽ बाधा नहि देबाक चाही। आज्ञा दिअ, हम जाए चाहैत छी।

खिलल कमल जकाँ कान्त, मदमय मधुर बात कहनिहार आ झलकैत शोभासँ सुन्दर अपन युवती प्रियाक मुख देखि जेना अहाँ आइ प्रसन्न भेलहुँ, तहिना धान्यसँ भरल, समुद्ररूपी मेखलाबाली, मेरु आ विन्ध्यरूपी स्तनसँ सुन्दर, अधिक गुणवती सम्पूर्ण पृथ्वीक पालन करैत नरेन्द्र प्रसन्न रहथि।

[वितक प्रस्थान।] वररुचिक एकनट नाटक (भाण) उभयाभिसारिका समाप्त।

महाकवि श्यामिलक केर मूल संस्कृत एकनट नाटक (भाण)- पादताडितकम् (संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद- गजेन्द्र ठाकुर द्वारा)

[नान्दी पश्चात् सूत्रधारक प्रवेश]

सूत्रधारः

शिवक नेत्राग्निमें अपन देहक आहुति दऽ जे हुनक क्रोधक मान राखलक; जकर आजाकें इन्द्रसहित देवता मालाक जकाँ अपन माथपर धारण करैत छथि; जे वनिताक विस्तृत नेत्रक बाँकी चितवनसँ अपन धनुष बनबैत अछि; जकर विषयरूपी बाण मुनिक मोनो पीड़ित आ विदीर्ण करैत अछि—ओ कामदेव अहाँ सभक रक्षा करथि।

आओर—

देवीक स्तनपर हाथ राखि, भाँह नचा, हँसैत हुनका देखैत, भय सँ चुप भेल गणनायकसहित नन्दीद्वारा वन्दित, वृषपतिक काँधपर हाथ राखि ठाढ़ शिव क्रोधित भऽ जकर शरीर नष्ट कएलो पर प्रभाव नहि मेटा सकलाह—ओ कामदेव अहाँक रक्षा करथि।

आर्यमिश्र लोकनिक आगाँ माथ नुका कहैत छी—हम सभ आर्य श्यामिलकक रचित ‘पादताडितक’ नामक भाणक अभिनयक आयोजन कऽ रहल छी। कविक परिश्रम ध्यानपूर्वक सुनबाक चाही। केना—

‘एतय ई पद नहि होबाक चाही; ई पद एना हो; ई पद ठीक नहि बनल; ग्रन्थमें एहि अर्थक अद्भुत चमत्कार उपजल अछि’—एहि प्रकार काव्यरचना पूर्व कविक मनमें जे श्रम होइत अछि—

ओहि श्रमकें सहृदय रसिकक आँखिमें भरल नोर आ पुलकित देह दूर कऽ दैत अछि।

बगुला आ बिलाइ जकाँ चाल चलनिहार राजमन्त्री आ सन्तसभ रफूचक्कर होथि; डिडिक, विट आ परिहासकुशल लोक ठहरल रहथि; धूर्तक गोष्ठी निर्बाध मदिराक पियासल बनल रहए। केना—

यति कानि-धो कऽ मोक्ष नहि पबैत छथि। जँ आगाँ स्वर्ग भेटएबला हो, तँ हँसी-ठट्टासँ ओहिमें बाधा नहि पड़त। तँ बुद्धिमानकें मुँह बिगाड़बाक आदत छोड़ि निश्चिन्त मोनसँ हँसबाक चाही। हम एना कहि रहल छी, तखन ई दोसर आवाज कोन? [कान दैत] आह, बुझलहुँ—ई विटसभक मण्डप अछि। गज्जा श्यामिलक घण्टा बजा घोषणा कऽ रहल अछि।

कामिनी आ कामीक मिलनसुख तोड़निहार, दिन उगबाक सूचक, डुगडुगीक दादा—एकर घण्टानादक बराबरी भोरमें जोर-जोरसँ रेंकैत गदहो नहि कऽ सकैत अछि।

ई की घोषणा कऽ रहल अछि? [कान लगा] [नेपथ्यमें]

प्रियतमपर चलाओल विलासिनीक ओहि चरणक जय हो, जे अलता आ झनझनाइत नूपुरसँ सजल कामक ध्वजा अछि, आ जकर आगाँ माथ नुका सत्कार करबाक चाही। [जाइत अछि]

ठीक कहल गेल अछि—‘सए वर्ष बीति जाओ, कखनो-न-कखनो मनुष्यकें जीवनक आनन्द भेटिए जाइत अछि।’ तँ विष्णुनागो सभ सच्चा कामीकें भेटएबला चरणताडन नामक अभिषेक माथपर पाबि लेलक। की कहैत छह—‘अरे, ओकर एहन भाग्य कतय जे एहन प्रेमकलहक आनन्द लऽ सकए! वेश्यादेवीक देल एहि सम्मानकें ओ अपमान मानि, क्रोधसँ आँखि लाल कऽ, फड़कैत भाँहसँ ललाट तानि, माथ हिला, दाँतसँ ओठ काटि, ताली पीटि आ लम्बा निःश्वास लऽ कहलक—हे अनाड़ी वेश्या, तोरा धिक्कार! तूँ हमर ओहि माथपर—

जाहिपर माता सधल हाथसँ यत्नपूर्वक चोटी गूँथने छलीह; जकरा पिता चरणमें प्रणाम करैत देखि ‘कतेक भोला बच्चा’ कहि सूँघने छलाह; आ जाहिपर ब्राह्मणसभ फूल चढ़ा शान्तिजल छिड़कने छलाह—गर्वसँ पएर राखि देलह आ ओकर गौरवक कनेको परवाह नहि कएलह!’ विष्णुनागक एना डाँटलासँ, श्वासक ललाई फिक्का पड़ल राति जकाँ ओकर रंग उतरि गेल। भोरक चन्द्रमा जकाँ ज्योतिहीन मुख लिए—

एकर मद उतरि गेल आ साज-शृङ्गार छिड़िआ गेल। ‘हमरासँ ई की भऽ गेल’—एहि दुःखसँ समस्त देह पसेना-पसेना भऽ गेल। भय सँ सभ शोभा नष्ट भऽ गेल, माथमें गूँथल फूल छितरा गेल। ‘फेर एना कखनहुँ नहि होयत’ कहैत ई ओकर पएरपर पड़ि गेल।

दीनतासँ झुकलो पर ओ डाँटि कहलक—‘चण्डि, हमरा नहि छू। एना गड़गड़ करैत पेट लऽ हमर लग नहि आउ!’

बड्ड दुःखक बात जे कोकिल उल्लूक पछाँ लागल अछि। मदनसेनिका सेहो ओहि कायर आ नपुंसक पुरुष-वेतालक पछाँ जाइत अछि—ई हमरा अचरज लगैत अछि। सम्भवतः कारण ई जे ओ महामात्रक पुत्र आ राजकीय शासनाधिकारी अछि; तँ धन वसूलबाक इच्छा सँ ई ओकर उपेक्षा नहि करैत अछि। वेश्यासभ बातक चटोरी होइत छथि। कहल जाइत अछि, कामक मूलमें अनेक प्रयोजन रहैत अछि। की कहैत छह—‘बातसँ पहिरन-ओढ़नक साधन जुटैत अछि, तँ बातक चटोरीकें बातक चाट पड़ि गेल अछि।’ ओ बेचारी—

लज्जासँ तिरछा झुकल बरौनिसँ, बहैत नोरसँ मुख, अधर आ स्तन धोइत, अचानक गरजैत नवमेघसँ राजहंसी जकाँ घबरा अपन अङ्गमें सिमटि गेल। ई सुनब कोनो आश्चर्य नहि। हमर जकाँ पण्डितसँ सेहो आब किछु पूछब शेष नहि। फेर? की कहैत छह—‘हम ओकरा फटकारि कहलियैक—अरे टकहिया वैयाकरण, फूलकें मूसलसँ नहि कूट, वीणाकें जरैत काठसँ नहि बजा, वचनरूपी छुरीसँ मदमत्त गुलाबी वेश्याकें नहि काट। हमर एना कहलापर ओ हमरा झिड़कि विटसभक चौधरी भट्टिजीमृतक घर चलि गेल। बेचारी अपन सुकुमार हाथपर मुख आ गाल राखि कानए लागल। ओकरा उठा हम कहलियैक—सुन्दरि, बानर पाग पहिरबाक योग्य नहि, न गदहाकें उत्तम सवारीमें जोतल जाइत अछि। कानब बन्न कर। ई बेचारा तँ हँसीक पात्र अछि; ओकर माथ एतेक पैघ सत्कारक योग्य नहि।

ओ कामी कोन, जकर केश पकड़ि मातल अबला तड़ग नहि करए, वा मेखलासँ नहि बान्हए, वा कानक फूलसँ नहि मारए? काम ओकरे साथ दैत अछि, आ ओही भाग्यवानक यौवन उत्सवसँ भरल होइत अछि, जकर संग छबीली स्त्री लज्जा छोड़ि दासी जकाँ एकान्तमें अठखेली करैत अछि।’ ई सुनि ओ मुस्की आ चितवनसँ हमर बात स्वीकार कऽ, माथसँ पएर धरि वस्त्र पहिरि शय्याकें अलङ्कृत कएलक। हमहुँ कामीजनमें दुर्लभ ओहि पुरुषक दुश्चरित्रक विचार करैत, राजद्वारक प्रभातीसँ जागि नित्यकर्मसँ निवृत्त भऽ, मानो खराब सपना देखबाक फल हटएबाक लेल ब्राह्मणक बैठक अर्थात् पीठिकापर पहुँचलहुँ। ओतय देखलहुँ—छिड़िआयल केशबला विष्णुनाग पहिनेसँ पहुँचि गिड़गिड़ा कहि रहल छल—‘हम एहन निकृष्ट काज कएलहुँ जे हमर माथपर वेश्याक लात लागल। हे त्रैविद्यवृद्धजन, हमरा बचाउ।’ ओकर एना कहलापर गाल पिचका हँसीक आभास दैत ब्राह्मणसभ एक-दोसरकें देखि क्षण भरि सोचि कहलनि—‘हे साधु, हम मनु, यम, वसिष्ठ, गौतम, भरद्वाज, शङ्ख, लिखित, आपस्तम्ब, हारीत, प्रचेता, देवल, वृद्धगर्ग आदि मनीषीक धर्मशास्त्र देखलहुँ, मुदा एहि प्रकारक महापापक प्रायश्चित्त हमहुँ नहि जनैत छी।’ ई सुनि दुःखी मुखसँ दुनू हाथ उठा ओ चिचिया उठल—‘अरे भूलोकक देवगण, हमरा शूद्र बुझि त्यागू नहि। कारण—

हम आर्य छी, शुद्धचरित्र छी, कुलीन छी, व्याकरण आ न्यायशास्त्र पढ़ने छी, राजाक शासनाधिकारी छी; कोनो अछूत नहि। हमरा दुःखीकें बचाउ, हम शरणागत छी।’ सभामें ओकर एना कहलापर—

किछु लोक कोहनी चला एक-दोसराकें ठेहुनिया मारि कहलनि—‘पूरा बरद अछि!’ किछु हँसि ठाढ़ भऽ देर धरि ओकरा देखि कहलनि—‘पागल अछि!’ केओ बीचमें तिनका राखि ‘कामपिशाच अछि’ कहि धिक्कारलक। किछु ओहि स्त्रीकें अपराधिनी मानि दुःख प्रकट केलक।

सभाक ई दशा, ब्राह्मणक किंकर्तव्यविमूढ़ता आ प्रायश्चित्त लेल विष्णुनागक चीत्कारक बीच शाण्डिल्यगोत्रीय भवस्वामी नामक ब्राह्मण—स्वभावसँ हँसोड़, आचार्यपुत्र आ स्वयं आचार्य, आन्वीक्षिकी, दण्डनीति आ अन्य विद्याक पारङ्गत, कलाकुशल आ वाग्मी—अपन शिष्यमण्डलीक बीच दहिना हाथ उठा हँसीभरल स्वरमें परिषदकें सम्बोधित कएलनि—‘अरे विष्णुनाग, भय नहि कर। शोक छोड़। धर्मशास्त्रक वचन अछि जे देश, जाति, कुल, तीर्थ आ समयानुसार धर्म, वेदविरोधी नहि हो तँ प्रमाण मानल जाइत अछि। तँ विटसभक पंचायत बजा, विटे सँ प्रायश्चित्त पूछ। ओ तोरा एहि पापसँ मुक्त करत।’ हुनक एना कहलापर सभामें साधुवादक संग उठल अँगुरीसभ नाचए लागल। ई सुनि विष्णुनाग स्वयंके अनुगृहीत मानि चलि गेल। तँ तोरा विटसभक सभा बजएबाक लेल नियुक्त कएल गेल अछि।

की कहैत छह—‘अहाँक मतमें मुख्य विट के-के छथि?’ निश्चय सभसँ अग्रणी विट तूँ छह। की कहैत छह—‘हम विट शब्दसँ केना अनुगृहीत भेलहुँ?’ एहिमें सन्देह की? सुन—

महाजन अर्थात् व्यापारीसभक संग दिन भरि झगड़ि, दिन ढललापर कोनो मित्रक घर माल खा, रातिमें वेश्याक संग रमण आ पटेबाजी करनिहार, जकर अपन घरमें पानियो नहि, तथापि जे डीङ हाँकैत फिरैत अछि—

ओ विट नहि तँ के? की कहलह—‘जँ अहाँ हमरा विटमें गनबाक कृपा करैत छी, तँ अहाँ अवश्य विटपंचायत जुटा सकब। एहि बीच हम अहाँसँ विटक लक्षण सुनए चाहैत छी।’ पहिल लक्षण सुन—

जे प्राणक परवाह नहि कऽ शत्रु आ मित्र दुनूक आपत्तिमें रक्षा करैत अछि; सङ्कटक समय जकर अपन भुजदण्ड तलवार लऽ स्वयं रक्षक बनैत अछि; प्रणयकलहसँ मदनतुर वेश्यासभ जकर खोज करैत छथि; आ जे याचककें खुलल हाथसँ धन दैत अछि—ओकरा विट बुझू। आओर—

सुन्दरीक दुनू चरणकमलसँ अपन माथ पूजित देखि जे एना प्रसन्न होइत अछि मानो मुकुट राखल गेल हो, आ जकर धन पियासल लोक पानि जकाँ दुनू हाथसँ हरि लैत अछि—विटगुणज्ञ ओकरे सच्चा विट मानैत छथि।

की कहैत छह—‘वितक लक्षण तँ कहलहुँ, आब हुनक नामो कहू—जयनन्दक, मौद्गल्य, दयितविष्णु आदि जतेक सम्भव हो सभकें सभामें एकत्र करब।’ की कहैत छह—‘सभ ठीक, मुदा दयितविष्णुओ अहाँक मतमें विट अछि?’ सन्देह की? की कहैत छह—‘ओही जे राजाक बलाधिकृत पारशव कवि अछि?’ निश्चय। की कहैत छह—‘ई नहि भऽ सकैत—

राजाक प्रेम रहितो जे संकोच करैत अछि; हँसी-खुशीसँ सुतैत-जागैत अछि; देवपूजासँ जकर वस्त्र गुग्गुलक गन्धसँ सुवासित अछि; आ जकर ललाट आ दुनू ठेहुनमें तीन गट्टा पड़ल अछि—

आओर—

जे देवकुलसँ राजकुल आ राजकुलसँ देवकुल फेरा करैत अछि, आ जकर दिन एहि दुनू कुलक सेवामें चिमटल बीतैत अछि—

की ओहो विट अछि?’ हँ, अवश्य। ई सभ ओकर विटत्वमें बाधा जकाँ अछि, मुदा—

पहिने अवनतीमें वेश्यापुरक झगड़ामें जकर अँगुरी कटि गेल; पद्मनगरमें शत्रु जकर कूल्हाक हड्डीमें दू बाण घोंपि देलक; विदिशामें यन्त्रचलित बाणसँ जकर बाहु कटि भूमिपर खसि गेल; आ जे वाजीकरण लेल आइयो वैद्य-ओझाकें धन दैत रहैत अछि—

ओ वेश्याकें धन चटबैत अछि; देहक निज सामर्थ्य कमजोर होइतो रतिक गप्पमें आनन्द लैत अछि। एहि कारणसँ हम ओकरा विटपुङ्गवक शिखरपर रखैत छी। रईसक रङ्गीन स्वभावे मोहित करैत अछि, हुनक सामर्थ्यसँ की प्रयोजन? ओ विट केना नहि? की कहैत छह—‘जँ एना अछि, तँ ओ अवश्य विटसभक अग्रणी अछि।’ एही कारण हमहुँ ओकरा विटक शिरोमणि रखलहुँ। तू जा। तोहर कल्याण हो। हमहुँ चली। [घुमैत]

हम नगरक सड़कपर आबि गेलहुँ। वाह, जम्बूद्वीपक तिलक, अनेक युद्धमें अजित विभूतिसम्पन्न सार्वभौम सम्राटक निवासस्थान एहि ‘सार्वभौम’ नगरक अपूर्व शोभा!

सङ्गीत, स्त्रीक आभूषणक झनकार, पालतू पक्षीक चहचहाहट, स्वाध्यायक ध्वनि, धनुषक टंकार, कसाइखानामें छुरीक खरखराहट, महलक कक्षमें पात्रिकाक स्वर आ पालतू सारसक गूँजैत आवाजसँ उज्जर भवनक रङ्गल पङ्क्ति मानो मिलिजुलि गप्प कऽ रहल अछि।

आओर—

पर्वत, द्वीप, समुद्रतट आ मरुभूमिसँ सैकड़ो राजा एतय आबि प्रत्येक दिशामें बसल छथि। पहिने अनसुनी विचित्र कथा जकाँ विधाताक विविध रचनামयी सृष्टिकें मनुष्य एतय एकहि ठाम प्रत्यक्ष देखि सकैत अछि। चोल, पाण्ड्य आ केरल—एहि तीनू देशक निवासीसभसँ भरल ई नगर सर्वत्र आनन्दमय अछि। [देखि] अरे, बिना ओहारक उज्जर पालकीपर चढ़ल ई के, कोनो रईसजादी विधवाक ठाठक नकल करैत एही दिस आबि रहल अछि? [सोचि] ठीक, चिन्ह गेलहुँ। बेंतक दण्ड आ कुण्डीसँ चिन्हाइत चोखा भागवत अमात्य विष्णुदास अछि। न्यायाधीशक दायित्वपूर्ण पदपर नियुक्त होइतो ध्यान-अभ्यासक चक्करमें पड़ि उपेक्षाविहार करनिहार भिक्षु जकाँ बेचारा राजकार्य ठीकसँ नहि निपटा पबैत अछि। आओर—

न्यायालयमें ओकर संग अर्धासनपर बैसल साथी हाथसँ ठेहुन हिला ओकरा जगबैत छथि; सोझाँ ठाढ़ अदालती कार्यकर्ता चिचिया, माथ नुका, ओकर पएर खिचि सङ्केत करैत छथि; मुदा ओ हाटक बरद जकाँ ऊँचैत-सुतैत रहैत अछि।

एकर भेट विटक लेल विघ्नरूप अछि, तथापि धर्मोपदेशक एकरा लग जेब उचित। लग चली। ओ तँ दूरसँ हमरा देखि पालकी रोकबा उतरि रहल अछि। अरे, अहाँ रूहू। हमर आवभगतक कष्ट कऽ अपनापन देखेबाक आवश्यकता नहि। की कहैत छथि—‘अहाँक सत्कार लेल नहि, हम अपन आचार निभा रहल छी।’

ठीक, जखन अहाँ उपचारक एतेक पक्षधर छी, तँ प्रणयाभिमुखी अनङ्गसेनाकें ओहि प्रकार विमुख करब उचित अछि? की कहैत छथि—‘की हम ओकर प्रेमानुकूल सत्कारमें कमी कएलहुँ? देखू—

ओ वन्दना कएलक तँ हम स्वस्तिवचन देलियैक। जखन बैसल—

तँ योगक अनुशासन अर्थात् जुटबाक आदेश माँगलहुँ। वायुसँ सूजि गेल आँखि देखि कहलहुँ—ले बेटी, घी पी।’

तखन हम ओकर सत्कार केना नहि कएलहुँ?’ अहो! ओहि नाजनीक अवश्य उत्तम खातिर कएलहुँ। ई मुस्करा, भागवतद्वारा देबाक योग्य पवित्र निम्बू देखा, हमरा प्रसन्न करए चाहैत अछि। अरे, हम तँ तोहर शिष्य छी। एहन पैघ काजमें केवल बिलैया-दण्डवतसँ हमरा तारब उचित नहि। आब शीघ्र तिरोहित हो। हमहुँ चललहुँ। [घुमैत]

ई सार्वभौम नगरक बाजार आबि गेल—अनेक देशक स्थल आ जलसँ आयल उत्तम-अधम मालक किनबेच लेल स्त्री-पुरुषक भीड़सँ भरल दोकान। अरे, एकर की कहब!

जेना बसेरास्थलमें पक्षी आ चरागाहमें गायक झुण्ड, तहिना एतय लेनदेनक स्थानमें मनुष्यक भीड़सँ पैघ शोर उठि रहल अछि।

जेना—

लोहारी दोकानमें टन-टन भऽ रहल अछि; खरादपर चढ़ल काँसा कुरर पक्षीक बोली जकाँ आवाज दऽ रहल अछि; चूड़ी काटए लेल शङ्खपर राखल लोहेक औजार घोड़ाक श्वास जकाँ साँय-साँय करैत अछि; चारू दिससँ लोक किनबेच लेल आबि रहल छथि।

आओर, एहि समय—

दोकानसभमें शोभासँ मानो हँसैत फूलक माला बिकि रहल अछि; पानागारसभमें प्याला चलि रहल अछि आ मदिरा पिअल जा रहल अछि; हाथमें सरकण्डाक मुठ्ठी लेने मांस बेचयबला लोक ओहि पक्षीसभकें कनखीसँ देखि रहल छथि, जे भितरक देवालपर छुरीसभ सजल ओहि कसाइखानापर झपटि रहल अछि।

आओर—

काँधसँ काँध भिड़ा आपसमें तर्क करैत, किनैत आ अबैत-जाइत लोकक ई भीड़ खेतमें रोपल बिरबाक पाँति जकाँ लगैत अछि। जुआरीसभ जुआमें किछु माषक जीतलाक बाद फूल, पुआ, मांस आ आसव हाथमें लेने परिचारकसभक संग वेश्यालय-पथ दिस बढ़ि रहल छथि।

तँ धक्का-मुक्की करैत भीड़सँ चलब कठिन एहि बजारक बाट छोड़ि, फूलक गल्लीक बीचसँ होइत, पानागारसभकें दहिना छोड़ैत, पूर्णभद्र-श्रृङ्गाटक पार कऽ मकररथ्या गल्लीसँ वेशमार्गमें पहुँचब।

माषक जमा कएने बिना वेशमें प्रवेश करब, बिना हथियार युद्धमें उतरबाक जकाँ व्यर्थ अछि आ केवल बदनामी तथा अनर्थक कारण बनैत अछि। मुदा मित्रक लेल हम अवश्य ओकर भ्रमण करब। वेशमें विटसभक पूरा जमघट भेटत। [घुमैत]

अरे, ई के अछि जे रोहतकक मृदङ्गीसभक झाँझ आ बाँसुरीक संग यौधेय लोकक बाङ्गड़ गीत गबैत, एक गालपर कुरण्टक फूलक शेखर लटकौने, दहिना काँधपर फड़फड़ाइत किनाराबला भीजल उत्तरीयकें नीचाँ नहि सरकय देबाक लेल ऊपर समेटैत, बेर-बेर कूल्हि मटकबैत, बाम हाथमें मद्यपात्र उठा नचैत अपानमण्डपकें हँसा रहल अछि? [देखि] हँ, चिन्हि गेलहुँ। ई वैह बाप्प नामक बाल्मीकपुत्र अछि, जे बेचारा सभक हँसीक पात्र बनि वेशक मुरगा जकाँ भऽ रहल अछि। सच, हम एकरा कहियो बिना नशा अथवा बिना पिअने नहि देखने छी; दोसर दिस, एकर हाथमें कहियो अथला धरि नहि रहैत अछि।

तखन एकर गुजर-बसर केना होइत अछि? [सोचि] हँ, बुझि गेलहुँ। ई निर्लज्ज दुष्ट सभक हितैषी बनबाक बहाने सभकें चूसनिहार भऽ गेल अछि।

गोल बाँधि पिअनिहारसभक बीच गजकक मुठ्ठी लेने ई बाप्प नट, नटी, चेट आ साइससभक बीच घुसि पड़ैत अछि।

पीबाक साधन जुटेबामें एकर कौशल कतेक अद्भुत अछि! आब एकरासँ गप्प करब व्यर्थ। [घुमैत] विटजनक ई दोसर चलैत-फिरैत पुरान भण्डार आबि गेल। कामदेवक मन्दिरमें देवताक पूजा कऽ घुरैत, फुलायल कासलता जकाँ उज्जर आ छितरायल केशकें काँधपर सम्हारैत, रातिमें धोएल वस्त्र पहिरने, एक काँधसँ खसल उत्तरीयकें फेर यथास्थान राखैत, बूढ़ पुंश्चली सारणिगुप्ता कामदेवायतनक मकरयष्टिक परिक्रमा कऽ रहल अछि; मुदा कनखीसँ बलिपर

झपटैत कौआसभसँ घेरायल नचैत मोरोकेँ देखैत जा रहल अछि। सचमुच, एकर देहपर बचल विलास-चिह्न एकर बीतल जवानीक चुलबुलाहट कहि रहल अछि। एखनहुँ—

लटकल स्तन नखक्षतक उज्जर चिह्नसँ भरल अछि। पहिने बेर-बेर चूसल अधर किनारासँ लटकि बीचमें गाँठिल भऽ गेल अछि। आइयो पुरान अभ्यासवश भौंह मटकब एकर भीतरक लालसा प्रकट करैत अछि। बुढ़ापा बलपूर्वक एकर रूप तँ हरि लेलक, मुदा नखरा नहि हरि सकल।

एकरासँ गप्प कएने बिना जाएब कठिन अछि। ई हमर प्रिय मित्र मृदङ्गी स्थाणुमित्रकेँ अपन प्रिय कहैत अछि; ताहिसँ स्पष्ट अछि जे एकर क्रोध-शमन औषधि खेनाइ सफल भेल। एकरासँ केना बात करी? [सोचि] ठीक, उपाय भेटल। आइ सँ तीन दिन पहिने बेचारा स्थाणुमित्र एकर संग गाढ़ चुम्बनक बीच अत्यन्त धिनौन अनुभव कएलक। धिक्कार एहन चिमड़ल प्रेमकेँ—

चुम्बनमें आसक्त एकर दाँत जड़िसँ उखड़ि ओकर मुँहमें जा पड़ल; जीहसँ लगितहि ओ झट दऽ थूक देलक।

एहि कारण वेशमें घुसबाक इच्छुक हम जँ एहि घाटकेँ छोड़ि देब—

तँ ठकाइ जाएब। अथवा स्थाणुमित्रक मुँहमें एकर दाँत खसबाक बात पसैर गेल होएत। तखन एकर सोझाँ जा फेर लज्जित करब उचित नहि। एकरा दूरसँ नमस्कार। आब हम चली। [घुमैत]

हम वेशमें पहुँचि गेलहुँ। अहा! एकर अपूर्व शोभा! एतय अलग-अलग बनल सुन्दर वप्र, नेमि, साल, हर्म्य, शिखर, कपोतपाली, सिंहकर्ण, गोपानसी, वलभीपुट, अट्टालक, अवलोकन, प्रतोली, विटङ्क आ प्रासादसभसँ भरल, चाकर आँगनबला, अलग-अलग भागमें बाँटल, सुगढ़ बनावट आ निर्मल जलसँ भरल सुन्दर परिखासँ युक्त महलसभ अछि। कतहु जल-छिड़कावसँ शोभित, कतहु नलक फूँकसँ साफ, कतहु पलस्तर कएल, चित्रित, सूक्ष्म आ स्थूल उभारबला अनेक प्रकारक नक्काशी सँ सजल; बन्ध-सन्धि, द्वार आ निकसल वेदिकाबला छज्जासँ युक्त; बीचक आँगनमें कतहु एक, कतहु दू, कतहु तीन गाछसँ अलङ्कृत; गृह-उद्यानयोग्य गाछ, साग-सब्जी, फल आ मालाक फूलक अलग-अलग क्यारीसँ मण्डित; उज्जर कमलसँ छितकायल वापीक निर्मल जलसँ शोभित; वापीक लग बनल काठक पर्वत, भूमिगृह, लतागृह आ चित्रित कमलक पूर्ण-विकसित फूलसँ सुन्दर; सौभाग्यसूचक वैजयन्ती पताकासँ युक्त प्रधान वेश्याक भव्य महल पृथ्वीसँ आकाश दिस उड़ैत जकाँ देखाइत अछि। एतय—

वेशक बाहर कर्णारिथ ठाढ़ अछि। ओकर चक्काकेँ नखसँ खरोचैत आवन्तिक पुरुष ओकर सहारा लेने बैसल-ऊँघल छथि। दुनू कात वर्दी कसने किरात धुरीसँ सटि पहरा दऽ रहल छथि। ओतहि कम्बोजदेशक घोड़ा आ हथिनी ठाढ़ अछि; महावतसभ निन्नमें ऊँघैत अलसाएल छथि, आ पीठपर पड़ल पालान आ कालीन मोड़ि दोहरा कऽ देल गेल अछि। ई सभ सूचित करैत अछि जे हुनकर धनी रईस आ अधिकारी अपन वाहन बाहर छोड़ि वेशमें गेल छथि।

आ एही ठाम—

एक दिस जाहि आँखिक नोरसँ जाइत लोककेँ विदा कएल जाइत अछि, दोसर दिस ओही उमड़ैत नोरसँ आएल लोककेँ घर घुरा देल जाइत अछि। रईससभक खुशामद होइत अछि, आ धन गमा कऽ घुरल प्रेमीकेँ खाला धिक्कारि भगबैत अछि।

[घुमैत]

ई अपन रूसल प्रेमीकेँ मना रहल अछि। ई प्रियक अनुनयसँ प्रसन्न भऽ रहल अछि। ई सप्ततन्त्री वीणाकेँ नखसँ झनकारैत, उत्कण्ठित भऽ, सुन्दर काकलीक पञ्चम स्वरमें प्रिय गीतक बहाने रोइ रहल अछि।

दर्पण लग राखि ई कामिनी अपन प्रेमीसँ सजाओल जा रहल अछि। ई अपन प्रेमीक चोटी बाँधि रहल अछि। ई मैना केँ बोल सिखा रहल अछि। ई मातल मोर आमक मञ्जरीसँ डाँटल जा नाचि रहल अछि।

ई बहुत काल गेंद खेलि अपन पातर कमर कतेक लचका रहल अछि! ई प्रियक संग बैसि पासा खेलि रहल अछि। ई प्रौढ़ा मनोरञ्जन लेल स्वयं चित्र बना रहल अछि, आ ई कथा पढ़ि रहल अछि।

अरे, आवभगत भऽ गेल। भद्रे, वासु, बैस। बहुत दिनक बाद देखाइ पड़ल छह। की कहैत छह—‘आइ ओकरे सँ पूछिह, जे हमरा भोलीकेँ एना ठकि लेलक।’ हमर दिससँ तँ तूही मनाओल जाए योग्य छह। मुदा ओ जेकाँ अछि, तोहर लेल भल बनल रहय। लह, हम चली।

कांकायनगोत्रीय वैद्य ईशानचन्द्रक पुत्र हरिश्चन्द्र चन्द्रमा जकाँ कुमुदवापीरूपी वेशवाटिकाकें उज्ज्वल करैत एही दिस आबि रहल अछि। एतय एकर की प्रयोजन? [सोचि] स्मरण भेल। ई अपन पुरान प्रणयिनी यशोमतीक बहिन प्रियङ्गुयष्टिकाकें चाहैत अछि। हमरासँ सेहो ई भेद नुकबैत अछि। आब एकरासँ भेट कएने बिना जाएब सम्भव नहि। तखन एकरा लग चली।

[लग पहुँचि] अरे, वेशरूपी कमलवनक एकमात्र चकवा, कतयसँ आबि रहल छह? की कहलह—‘तोहर प्रिय सखी यशोमतीक छोट बहिन प्रियङ्गुयष्टिकाकें औषधि दऽ कऽ आबि रहल छी।’ बुझाइट अछि, सुरतक भिखमङ्गी ओकर कामाग्नि एहि रोगोमें नहि मिझाएल अछि। तू ओकरा आओर भड़काबऽक सीख दऽ एलह। की कहैत छह—‘परिहास छोड़। ओकर माथक पीड़ा अत्यन्त भयानक अछि।’ मित्र, की सचमुच एहन अछि? की कहैत छह—‘एहिमें सन्देह की? ओ बड़ी कठिनाइसँ नीक होएत।’ ठीक, माथक दुखाइ वेश्याक लेल लाखों रोगक दहेज अछि। देख—

ललाटपर लाख जकाँ लाल चन्दन लगा, मृणाल, कमल-पात आ कमलसँ खेलैत; भौंह नचा नखरासँ कुशल पूछनिहार प्रेमीसभसँ गप्प करैत—विरक्त हो वा अनुरक्त, गणिका माथक दुखाइ कहिए दैत अछि।

की कहैत छह—‘अहाँ आरम्भे सँ अपन कठोर परिहास लेल प्रसिद्ध छी। ओकरा औषधि पिया आबि रहल छी।’ ठीक अछि। निःसन्देह—

कङ्कणसँ सजल हाथ मरोड़ैत, भूमि पर पएर पटकैत, नाभिसँ नीचाँ सरकैत करधनीयुक्त अंशुककें हाथसँ सम्हारैत ओहि विशालनेत्रा स्त्रीक केश पकड़ि मुख अपन दिस घुमबैत तू ओकर अधररस पीलह, वा अपन अधररूपी औषधिक तलछट ओकरा पिओलह?

की कहैत छह—‘मित्र, एहन काज तँ तूही कऽ सकैत छह।’ रे चोर, एखनो जँ तू अपन भेद हमरा नहि कहबह तँ...। मुदा आइ सभ विटक मुखिया भट्ट जीभूतक घर कोनो काज लेल विटसभक जमघट होएत। तँ मित्र, समयपर अवश्य आबिह। की कहैत छह—‘विटसभकें पहिनहि ज्ञात अछि जे विष्णुनागक प्रायश्चित्त निश्चित करबाक लेल तेसर पहर पहुँचनाइ अछि। तू जा, हमहूँ अबैत छी।’ ठीक, तोहर कल्याण हो। हम चली। [घूमि] सभ विटकें एहि बातक समाचार केना भेटि गेल? एहिसँ हमर परिश्रम घटि गेल। आब वेश्या आ मित्रसभक सङ्गमें समय बिताओल जाए। अरे, घोड़ा नहि रहितो घोड़ा-जकाँ सजाओल ई ककर चितकबरा बछेड़ा अछि, जे पाटलिपुत्रक पुष्पदासीक दुआर खोलि रहल अछि? [चिन्हि] हँ, बुझलहुँ। ई सेनापति सेनकक सुन्दर पुत्र भट्टिमघवर्मा अछि, जे सौराष्ट्र-विजयक समय काठक उज्जर कुण्डलसँ गाल चमकबैत लाटदेशक डिण्डिसभकें पकड़ि मँगौने छल; ओसभ हाथ जोड़ि कहैत छल—‘हमरा सभपर ई अभियोग जे प्रत्यक्ष अपराधी नहि रहितो चिन्हायल बदमाश छी, सत्य नहि अछि।’ एहिसँ गप्प कएने बिना चलि जाएब सम्भव नहि; चलि गेलहुँ तँ स्नेहक फिक्का पड़नाइ प्रकट होएत।

तँ ओकर लग चली।

[लग पहुँचि] अरे, मित्रक घरमें केओ अछि? [कान दऽ] ई तँ स्वयं भट्टिमघवर्मा हमरा बजा रहल अछि। की कहैत अछि—‘मित्र, एहि नव प्रतीहारसभकें सेवामें देखि आइयो हमरा राजा बुझैत छह? हमर-तोहर बीच ओ राजभाव बहुत पहिनहि बीति गेल। क्षणभर ठहर, हम अबैत छी।’ बालुपर भारी-गम्भीर चालिसँ साँढ़ जकाँ नापि-नापि डेग उठबैत आ कक्षाकें शोभित करैत भट्टि एम्हर आबि रहल अछि। एकरा मौजक पुरान अभ्यास अछि; वेश मौजक स्थान, तँ एकर ई रूप उचिते अछि। आओर—

बाहु झुलबैत ई आबि रहल अछि; एकर छाती आ काँध सुडौल आ उन्नत अछि; नखरासँ भौंह मटकबैत आ बेर-बेर कनखीसँ देखैत अछि। राजमहलमें एकर एहन चहलकदमीसँ प्रवेश देखिते बुझाइट अछि जे वीणा-मृदङ्ग बिना एकल-अभिनयबला भाण प्रस्तुत भऽ रहल हो।

तँ एहिसँ गप्प करी। भट्टिमघवर्मा, बहुत दिन एतय मौज करैत मित्रसभकें अपन वियोगमें उत्कण्ठित किएक रखने छलह? मुहूर्तभर लेलहुँ तोहर दर्शन भऽ जाए तँ कल्याण। ई हँसैत, दहिना काँधपर लहराइट उत्तरीयसँ शोभित, हाँफैत अक्षरमें हाथ जोड़ि हमर स्वागत कऽ रहल अछि। मुदा एखनहि तँ ई कहने छल जे आइ पुष्पदासी ऋतुमती अछि; तइयो ई ओकरासँ केना जुटि गेल? [सोचि] लाटदेशक ई डिण्डिसभ पिशाचसँ कोनो कम नहि। कोना? लाटदेशक लोक भीड़में नाङ्गटे पानिमें नहाइत अछि, स्वयं वस्त्र पछाड़ैत अछि, लम्बा केश फटकारि छोड़ैत अछि, पएर धोने बिना पलङ्गपर सुतैत अछि, बाट चलैत जे मोन हो खा लैत अछि, फाटल वस्त्र पहिरबामें सङ्कोच नहि करैत अछि, आ दोसरक विपत्तिमें ओकरापर चोट कऽ सेहो अपन बड़ाइए बघारैत रहैत अछि।

अथवा, ई अपन देशक रीति अनुसार काज कएलक।

तखने तँ बेलक फलक चिन्ता नहि कऽ तू फूलहि नोचि लेलह।

की कहैत छह—‘कोना?’

रजसँ सनल अपन ई उत्तरीय देख।

की कहैत छह—‘हमरा बुझाइट अछि, खाटसँ लटकैत ई पानक पीकमें सनि गेल।’ एना नहि कह। छिटकल छोट मोती जकाँ पसेनाक बूँदसँ भरल तोहर ई ललाट की कहि रहल अछि? ई कात भऽ जोर-जोरसँ हँसि रहल अछि। रे नीच, अधम कामुक, की तूँ ओकरासँ छल कएलह? की कहैत छह—‘छलक बात केहन? ओ तँ हमर हृदये पकड़ि लेलक। सुन—’

घुँघरायल केशक अगिला भाग सजा जमा देलासँ जकर ललाट विस्तृत देखाइत अछि; अधोरुक पहिरलासँ जकर भरल जघनभाग मनोहर लगैत अछि; सोझाँक आभूषण उतारि देलासँ जकर देह उधार-जकाँ बुझाइट अछि—एहन स्त्रीलता पुष्पवती रहितो की अस्पृष्ट छोटल जा सकैत अछि?

आओरो सुनबाक योग्य अछि—

पार्श्व दिस आँखि घुमा, नखक खरोंच देखैत, माथ किछु नुका, अपन घरक छायामें बैसल ओकरा जखनहि हम देखलहुँ, ओ दुनू हाथसँ काँपैत कठोर स्तन पकड़ि घरमें घुसि गेल आ हाथसँ देहरी ठेलि दुआर बन्न कऽ लेलक। तखन हमहुँ झटपट भीतर घुसि—

जखनहि ओकर केश पकड़ि घींचलहुँ, ओ विशाल आँखिसँ हमरा दिस तकय लागल। तखन, हिलैत स्तनबाली ओ ‘की करैत छी? नहि-नहि’ कहिते रहल, आ हम ओहि विलासिनीकेँ चुमिए लेलहुँ।

वाह, पहिल भेंट केहन अद्भुत भेल! हम ओकरासँ पूछब। ठीक, फेर की भेल? की कहैत छह—‘सखे—’

करधनी हटि गेलासँ उधरल जघनभागपर हमरा आबि गेल देखि ओ लाजसँ हमर आँखि बन्न कऽ देलक। धिक्कार छह! तूँ नीच, घृणित आ आर्यजन लेल निन्दनीय छह।

की कहलह—‘एना कहियो अहाँ हमरा अनुगृहीत कएलहुँ। की अहाँ महाभारतमें पहिने नहि पढ़ने छी—’

जकर बहुत शत्रु नहि, जकरासँ लोक नहि डरैत अछि, आ जुटि कऽ जकर निन्दा नहि करैत अछि—हे पार्थ, ओ पुरुष नहि, पुरुषाधम अछि। असलमें ईएह तँ डिण्डित्व अछि। हम तोहर एहि डिण्डित्वपर पूर्ण प्रसन्न छी। तूँ वितसभक एकछत्र राजा होएबाक योग्य छह। ई हमर आशीर्वाद लह—

की कहैत छह—‘हम सावधान छी।’ तँ सुन—

भोर भेलापर लगमें सुतल तोहर पीठकेँ बाहुमें भरि, निर्भीकतासँ अपन उधरल एक जाँघ तोहर पार्श्वपर राखि, केश घींचि तोहर मुखकमल अपन दिस घुमबैत प्रिया तोहर अधररस पिबय आ अपन अधररस तोरा पियाबय।

‘हम अनुगृहीत भेलहुँ’ कहि ई निकलऽ चाहैत अछि। तँ अहाँ ‘भगवान्’केँ हमर प्रणाम। हमहुँ चली।

[धूमि] अरे, ई के अपन घरक झरोखापर विमानमें अप्सरा जकाँ साजि रहल अछि? ई काशीक प्रमुख वेश्या पराक्रमिका पिच्छोलासँ खेलैत, रूप-लावण्यक अठखेलीसँ आँखिक तृष्णा शान्त कऽ रहल अछि।

सोनाक वैकक्ष्यकसँ स्तन कसि, अधोरुक पहिरि नितम्ब स्पष्ट उभारैत, कामीसभक चित्त मथैत वेशवल्लिक चञ्चल किसलय जकाँ ओ झूमैत चलि रहल अछि।

आओर—

एक कातक कनपटीपर लटकल जड़ाउ कुण्डलक मणिक आभासँ ओकर मुख चमकि रहल अछि। दीर्घ अभ्यासक कारण ठोढ़ीक नीचाँसँ ‘ई-ई’ करैत फूँक निकालि अधरपर राखल पिच्छोला मधुर स्वरमें बजा रहल अछि। ओहि ध्वनिमें बेङ्गक टराहट बुझि घरक मोर गर्दनि घुमा-घुमा चक्कर काटि रहल अछि।

एकर घरसँ इन्द्रस्वामीक रहस्यसचिव हिरण्यगर्भक हड़बड़ा कऽ निकलैत एम्हरे आबि रहल अछि। एहिमें आश्चर्य की? इन्द्रस्वामी आ हिरण्यगर्भक वेशमें भेटथि—ई तँ गरमक संग गरमक मेल भेल। ई हाथ जोड़ि प्रणाम कऽ रहल अछि। अरे हिरण्यगर्भक, तूँ एहि वेशरूपी देवालयकेँ अपरान्तक पिशाचसभसँ ध्वस्त किएक कराबऽ चाहैत छह? की कहैत छह—‘हमर स्वामीकेँ परदेशी माल चखबाक चस्का अछि, ताहि लेल ई काज हमरा सौंपने छथि। पहिने ओ पाँच सय स्वर्णमुद्रा गनि लैत छल; आब एक हजारोपर खुशामद कऽ ओकरा राजी करब कठिन अछि। ओकर भाव ठहराबयमें हमर सहायता करू।’

तूँ भोलेपनकेँ सेहो मात दऽ देलह। लाख देलोपर ककरो प्राण नहि भेटैत अछि। की कहैत छह—‘अहाँ हमरा सभकेँ ओकर प्राणक संकट का कारण किएक बुझैत छी?’ सभकेँ ज्ञात अछि जे भर्तृस्वामी अपन चामरधारिणी कुटङ्गदासीक संग जुटि गेल छलाह, तँ ओकर प्राणे संकटमें पड़ि गेल छल। की कहैत छह—‘मारियो देथु, मुदा सत्य ईएह अछि।’ अरे, असत्यक आश्रय लेबऽ पड़य तँ ले, मुदा स्वामीकेँ एहन बात नहि कहिह। की कहैत छह—‘हमर स्वामीक ई पुरान आदत अछि।’ हुनकासँ छुड़नाइ सम्भव नहि। मुदा बात एतेक खराबो नहि। देख—काङ्कणक स्वामी ओ दाक्षिणात्यकेँ कोन वेश्या नहि चाहत, जँ ओ सज्जन जकाँ ओकरा संग सहवास करथि।

आओर—

भारतयुद्धमें मत्त हाथी घुमबैत भगदत्त जकाँ, वेश्याक आँगनमें हाथी नचबैत ओ इन्द्रदत्तकेँ देख। स्तनपर अपन करकमल रखने वेश्यसभ ओकरा एना देखैत अछि जेना भयभीत हरिणी बाघकेँ। आ ई स्त्री, हमर स्वामी अधिराज इन्द्रदत्तक साला पारशव कौशिक सिंहवर्माकेँ अपन मित्र कहि लग बजबैत, सभ कामीकेँ अँगूठा देखा निराश कऽ दैत अछि। की कहैत छह—‘ओ बहुत कामी अछि, तँ ई ओकरासँ छुटकारा चाहैत अछि।’ अति-सेवन तोहर देशक रीति अछि। की कहैत छह—‘देशक रीति वा अरीति हम नहि बुझलहुँ; स्पष्ट कहूँ।’ तोहर एहन शिष्ट व्यवहार देखि हम केना नहि कहब? सुन—

काकली-रतिमें ओकर पएरक नख कान लग आबि खरोच करैत अछि; तखन ओ अङ्कुशक चोट खाएल जङ्गली हाथीक बच्चा जकाँ ओकर उधरल जघनस्थलपर एना टूटि पड़ैत अछि, जेना साँढ़ बछियापर।

की कहैत छह—‘आब हम ईएह सौगात लऽ मालिक लग जाएब।’ जँ एना अछि तँ इन्द्रस्वामीकेँ कहिह—

दन्तक्षतसँ चित्रित नितम्बबाली, प्रियक माला केँ मेखलाक जकाँ धारण कएनिहार ओ स्त्री, तोरा छोड़ि दोसरक लेल हजारों मुद्रा गनौलोपर अपन जघन नहि उघारैत अछि। तोहर कल्याण हो, हम चली।

[धूमि] अरे, ई के शूर्पारकक वेश्या शमदासीक घरसँ निकलि, डिण्डिकसभसँ घेरायल, वेशकेँ प्रकाशित कऽ रहल अछि? [देखि] ई तँ उदीच्य, बाह्लीक, कारूप आ मलद देशक स्वामी महाप्रतीहार भद्रायुध अछि, जे वितसभक चलैत-फिरैत तीर्थ अछि।

केशक जूड़ा बान्हि, कानमें काठक बनल पैघ उज्जर कलश पहिरि, साथीसभक बीच ‘ज-ज-ज’ करैत गप्प करैत ओ गुजरातीक नकल कऽ रहल अछि।

लाटदेशक लोकपर एकर एतेक कृपा किएक?

लाटदेशक मनुष्य दुनू बाहुपर उत्तरीय लपेटि, बटल पटुकासँ कमर बान्हि, सोझाँ अबिते ‘श-श-श’ करैत टेढ़ काँधबला कुबड़ा जकाँ पएरपर खसैत आबैत अछि।

आओर—

छातीपर दुनू हाथसँ कपोतक आकृति बना, ‘य’क स्थानपर जोर-जोरसँ ‘ज-ज-ज’ करैत हकलाइत अछि। दुइरङ्गी बटल पटुकासँ बीचमें कमर कसि ओ एना बचि-बचि चलैत अछि, जेना ओकर अँगुरीसभ कीचड़में सनि रहल हो।

दोषरहित ऐश्वर्य कतय? अथवा, विदेश आबि मौज-मजाक असगरे एकरे शोभा दैत अछि। कोना?

जे अपरान्त, शक आ मालवक राजासभक माथपर अपन दुनू पएर राखि हुनका नुका देलक; इच्छानुसार विहार कऽ किछु काल बाद अपन माता आ माँ गङ्गाक देश घुरि, मगधराजकुलक लक्ष्मीकेँ संसारमें प्रकट कएलक।

आओर—

समुद्रतटसँ बहैत पवनक हलुक थपकीसँ बिथुरल केशबाली अपरान्तदेशक उत्कण्ठित रमणीसभ महासागरक तटपर हिन्तालक कुञ्जमें वृक्षलताकेँ नुका ओकर विजयचरितक गान करैत छथि।

ओ गीत की अछि—

मनुष्यता आ अस्त्रविद्या—एहि दुनूमें भद्रायुधक बराबरी केओ नहि कऽ सकैत अछि। ओकर सफलता सुनि जे ओकर समान होएबाक इच्छा करय, ओ मानो सूअरक भोजन करैत अछि।

[धूमि]

एतय केओ प्रद्युम्न अर्थात् कामदेवक देवालयक ध्वजा चित्रित कऽ रहल अछि। ई कोनो डिण्डिकक काज होएत। ई डिण्डिकसभ बानरसँ बहुत कम नहि होइत अछि। भला, चित्रक कोन विशेषता डिण्डिकसभकें प्रिय होइत अछि? सुन—

ई डिण्डिकसभ बनल चित्रमें अपन दिससँ किछु लीप-पोत कऽ ओकरा बिगाड़ि दैत अछि; घरक पोतल देवालपर कूचीसँ स्याही लगा गन्दा करैत अछि; आ तीक्ष्ण नोकदार टाँकी लऽ महलक भागसभमें घुनक कटल जकाँ खरोंच बना दैत अछि।

ई की चित्र बना रहल अछि? [देखि] अरे, ई तँ ‘निरपेक्ष’ अछि। एकर नाम उचिते अछि। ठीक कहल गेल अछि—धन शील हरण कऽ लैत अछि। ताहि कारण ई भरल-पुरल मनुष्य हमर ओहि प्रिय सखीप्रति उदासीन अछि, जकर कारण ओ वेशमें तपस्विनीक व्रत धारण कऽ दुबराइत जा रहल अछि।

ओ बेचारी त्रिवली-प्रदेशमें बाँकी रोमावली प्रकट करैत तीन वस्तुक भार तीन ढङ्गसँ उठा रहल अछि—नेत्रजलकें बाँक, सघन, कारी बरौनीक अग्रभागपर; मुखकें हाथपर, जकर कङ्कण नोरक बूँदसँ भीजि रहल अछि; आ भारी शोककें हृदयपर।

तँ एहि पर किछु फब्ती कसि। अरे भागवत निरपेक्ष—अथवा भागवतसभसँ कतराएनिहार—तूँ करुणामय भगवान् बुद्धक मैत्री अनुसार आचरण करैत छह।

तखन कामशास्त्रक मुद्रासँ चिह्नित ओहि स्त्रीप्रति तोहर ई उपेक्षा-विहार उचित अछि? की कहैत छह—‘हम एहि कटाक्षक अर्थ बुझलहुँ। आब हम उपासक भऽ गेल छी। तथागत कहने छथि—ईएह संसारक धर्म अछि।’ अरे, एना नहि कह। तथागतक वचन केवल ओकरे लेल लागू अछि, दोसर ठाम नहि? की कहैत छह—‘कहू, कतय आ कहिया तथागतक वचन हमरा लेल प्रमाण नहि अछि?’ अरे, तोहर एहन प्रतिज्ञा? की कहैत छह—‘एहिमें सन्देह की!’ भलमानुस, सुन—

भागबाक श्रमसँ जकर जीह लटकैत अछि, जे माथ उठाए ऊपर दिस ताकि रहल अछि, जकर हृदयमें निष्ठुरतासँ बाण धँसाओल गेल अछि—शिकारमें सोझाँ आएल एहन हरिणक दुःखपर तूँ ध्यान नहि दैत छह, मुदा तथागत बुद्धक ध्यान करब जानैत छह।

अरे, ई ठहाका मारि हँसल। की कहैत अछि—‘तथागतक शासनपर शङ्का नहि करबाक चाही।’

शास्त्र एक बात अछि, मनुष्यक स्वभाव दोसर; आ हमहूँ वीतराग नहि छी। जँ बात एहन अछि तँ ओहि दशामें पड़ल स्त्रीकें... की कहैत छह—‘आज्ञा, प्रणाम; प्रसन्नतासँ विदा दीअ।’ अर्थात् कोनो तरह पिण्ड छूटय! तोहर लेल मोक्ष सर्वथा असम्भव अछि। तइयो हमर आशीर्वाद लह—

बाहरसँ आबि उत्कण्ठित आ नतमुख प्रियाकें अपन कोरामें बैसाबह; काँधपर माथ राखि कानैत ओकरा फेर सान्त्वना दह; महिसिक सीड जकाँ बान्हल ओकर विषम वेणी खोलह; आ प्रियाक गरम नोरसँ भीजल लम्बा अलक स्वयं अपन हाथसँ सुलझाबह। ओ दाँत देखबैत चलि गेल। हमहूँ चली। [धूमि] अरे, ई के एम्हरे आबि रहल अछि—

मैला चीवरक चिथड़ासँ गुप्ताङ्ग ढाकने, बकरा-जकाँ मुखबला, पीयर, रूई-जकाँ रोआँबला, भरल काँधबला, बानर-जकाँ कञ्जी आँखिबला, मूली खाइत ई कोनो दाशेरक आबि रहल अछि—सचमुच, एहि रूपमें ई पिशाचे नहि हो!

अच्छा, चिन्हलहुँ। एकरा हम अपन बन्धु वा मित्र दाशेरकाधिपतिक पुत्र गुप्तकुलक घरमें कहियो देखने छी। एकर एतय की काज? ई हाथ जोड़ैत हमर दिस आबि रहल अछि। की कहैत अछि—‘गुप्तकुल आज्ञा देने छथि—तूँ नुकाइ कऽ देख। हम एकमुष्ट पाँच पण देब। की कोनो गणिका एतेक बयाना पर सन्तुष्ट होएत? नगरवीथिमें ठसाठस भरल गणिकासभमें जँ एहन कोनो देखाइ पड़य तँ हमहि ओकरा ई बयाना दऽ देब। तँ स्वामीक आज्ञा स्मरण करैत आ किछु अपन स्वार्थों सँ हम मूल्यकें चौगुना धरि बढ़ा कऽ कहि देलहुँ। मुदा एहि समय गणिकासभ, यद्यपि कामसँ भरल छथि, कुलकन्या जकाँ कामक बाते नहि करैत छथि। जँ जा कऽ ई उलटा समाचार कहब तँ दण्ड भेटत। सभ धनिक एके रंगक होइत छथि।’

वाह! देश, वेश, भाषा आ दाक्षिण्यक गुणसँ युक्त युवराज गुप्तकुलक मदनदूत वेशमें ठाढ़ रहितो वेशक ओहि दोकानक पता पूछैत अछि जतय ई माल बिकैत अछि। एहन रत्नकें ठीक बात बता झट दऽ विदा कऽ देब उचित नहि। ई एहेन बनल रहय। तँ एकरा एना कही।

अरे भाइ, राजवीथिमें छलावणिकापण अर्थात् नूनक दोकानसभपर जा कऽ गणिका खोज। ई प्रसन्नतासँ प्रणाम कऽ चलि गेल। हमहूँ चली।

[धूमि] आब दाशेरकक दर्शनसँ धूरि भरल आँखि कतय धोई? [दिखि] ठीक, देखाइ पड़ल। ई हमर पुरान प्रणयिनी शूरसेनसुन्दरीक घर अछि। बगलक दुआर केना खुजल अछि? भीतर चली। [प्रवेश कऽ] कतय बैसि पैदल चलबाक थाकनि दूर करी? ठीक, बुझलहुँ। ई प्रियङ्गुक वीथी अपन शीतल चबूतरापर बैसबाक लेल प्रियाक कोरा जकाँ हमरा बजा रहल अछि। एतय बैसी। [दिखि] एतय की लिखल अछि? [पढ़ैत]

हे सखी, प्रथम समागममें कलहक अवसर नहि अबैत अछि; तोहर ओ प्रियतम रूसल, सेहो नहि सुनल; न ओकर रोगक समाचार भेटल। दीर्घ अभिलाषाक बाद भेटल ओहि युवकक लगसँ तूँ अङ्गरागक रचना मेटेने बिना किएक घुरि अएलह?

[सोचि] ई प्रेममें ठुकराओल कोनो स्त्रीक दुर्भाग्यक घोषणा अछि। ककरासँ पूछी? [कान दऽ] अरे, पएरक आभूषणक इनकारसँ बुझाइत अछि शूरसेनसुन्दरी एम्हरे आबि रहल अछि। ई पल्लव-जकाँ कोमल एक हाथसँ सुन्दर छत्रक डाँड़ी धएने अछि; दोसर हाथसँ चञ्चल मणिसँ गुंथल करधनीबाली सरकैत नीवीक छोर पकड़ि खिसकैत रेशमी वस्त्र सम्हारि रहल अछि। आभूषणक चमकसँ झिलमिल करैत अङ्गयष्टिक संग मुस्कुराइत ई एना आबि रहल अछि, मानो चन्द्रमा, नक्षत्र आ पक्षीक कलरवसँ शोभित रातिक अधिदेवता हो।

अरे, सचमुच एकर तेज हमरा सेहो उठबाक प्रेरणा दऽ रहल अछि। हाथ जोड़ने हमर दिस आबि रहल अछि। अरे, एहि औपचारिक स्वागतसँ हमरा निपटाउ नहि। की कहलहुँ—‘बहुत दिन बाद स्वामी अएलाह, तँ उपचार द्वारा ई सेविका अपनेकें अनुगृहीत करऽ चाहैत अछि।’ बस-बस, बहुत उलाहना भऽ गेल। तोहर लेल योग्य हमर कोराक एहि आसनपर कृपा कर। ‘अहाँक आज्ञा माथपर’ कहि ओ आधा पटियाकें अपन नितम्बसँ घेरि बैसि गेल। अरे, तोरा एतय नहि बैसबाक चाही।

की कहलहुँ—‘किएक?’ एतय कोनो ठुकरायल प्रेमिकाक चरित केओ श्लोकमें अपन बदनामीक रूपमें लिखने अछि; हम देखलहुँ। [ई हाथसँ किएक मेटाबऽ लागल?] चोरनी, एकरा मेटेनाइ सम्भव नहि; ई तँ हमर हृदयमें लिखाए गेल। किएक नुका रहल छह?

की कहलहुँ—‘अहाँ तँ सभ जानैत छी जे हमर सखी कुसुमावतिका अहाँक प्रिय मित्र चित्राचार्य शिवस्वामीप्रति गम्भीर कामोन्मादमें अछि।’ खूब जानैत छी; ईहो जे कुसुमावतिका अपन आगमनसँ ओकरा अनुगृहीत कएलक। की कहलहुँ—‘कामविकल स्त्रीहृदयक ईएह स्वभाव; ओ स्त्रीसुलभ चपलता देखौलक।’ विचित्र बात! हम पूछी। अरी, तोहर दुनूक जे विश्वास हमरा प्राप्त अछि, ताहि कारण पूछैत छी, परक भेद जानबाक कौतूहलसँ नहि। कह, दुनूक दीर्घ-अभिलषित कामोत्सव सुखपूर्वक सम्पन्न भेल? की कहैत छह—‘सुनू!’ हम सावधान छी। तूँ कहलह—‘वारुणीक नशा चढ़लापर जखन ओ शिवस्वामीकें अनुगृहीत करऽ चाहलक, तखन अहाँक मित्रक ई दशा भेल—’

अपन अरुचिकर कुशीक कथा कहैत-कहैत ओ पहिल पहर बितौलक। दोसर पहर तिलकुट, गुड़ आदिक निरर्थक चर्चामें बीति गेल। तेसर पहर बकराकें पुष्ट बनाबक उपाय कहैत-कहैत समाप्त कऽ देलक। ओकर बाद जे भेल, ओ अहूँसँ नहि कहब पड़य तँ नीक। सुन्दरी, तोरा एहि सभक समाचार कतयसँ भेटल? तूँ कहलह—‘ओकरे मित्रक घरसँ आएल प्रतीहार पद्मपालसँ समाचार पाबि हम ई श्लोक कुशल-प्रश्न करनिहारक हाथ पठा देलहुँ। तखन ओ ओहि परिचारकक संग आबि लजाइत हँसि हमरा कहलक—“तोहरासँ भेद नुका तोरा परेशान नहि करऽ चाहैत छी। तँ ई नव घटना सुन।” तखन ओ हमरा अपन बीतल सत्य घटना कहलक। अहूँ एहि श्रवणामृतमें भाग लिअ।’ ई ताली पीटि हँसैत कहि रहल अछि। सुन्दरि, की कहैत छह—‘हमर सखी जे हमरा कहलक, आब सुनू। ओ कहलक—“हे प्रिय सखी—”’

हम ओकर आलिङ्गन कएलहुँ, चुम्बन लेलहुँ; ओकर नितम्बपर नखक्षत बनौलहुँ आ रतिक लेल उकसौलहुँ। मुदा जखन ओ काठ जकाँ जड़ रहि हमरा संग नहि मिलल, तखन हम खिसिया खाटुक पाटीसँ लिपटि पड़ि रहलहुँ।

तखन हम कहलहुँ—‘तूँ बहुत कष्ट सहलह। की हम एतेको नहि...’

तखन हम कहलहुँ—‘तूँ बहुत कष्ट सहलह। की हम एतेको नहि बुझैत छी?’ ओ उसास लऽ हमरा कहलक—‘हम अपन दिससँ सभ उपाय कएलहुँ, तइयो ओ हमर प्रति अपन काम नहि जगा सकल। तखन अचानक अपन सभ जुगति निष्फल देखि आ अपन दुर्भाग्य बुझि हम छाती पीटि कानऽ लागलहुँ।’

तखन कनैत हमरा कोरामें लऽ बेर-बेर निरर्थक चुम्बन आ आलिङ्गनसँ सान्त्वना दैत ओ स्वयं खूब थाकि गेल। हम कहलहुँ—‘हाथसँ छूने की होएत?’ तखन लज्जा आ घबराहटसँ पसेनासँ तर, सुखाइत मुखसँ ओ दबा कऽ किछु शब्द कहलक—

हे अनिन्दिते, अपन सौभाग्यक निन्दा नहि कर। एतेक पैघ निधि सोझाँ रहितो हमर आँखि फुटि गेल! चरबी घटेबाक लेल जे पहिने गुग्गुल सेवन कएने छलहुँ, सैह तोहर संग मिलनक अमृतसुखकें मारि रहल अछि।

तखन हम सोचलहुँ—

चरबी घटेबाक लेल पिओल गुग्गुल जँ इन्द्रियशक्तिक जड़ एना काटि दैत अछि... हम दुनू दीर्घकालसँ अभिलषित सुरतक असफल भऽ गेलापर सोचि रहल छलहुँ जे आब की करी, तखने—

राति बीतबाक सूचना देनिहार राजकीय नगाड़ाबला घड़ियाड़ी जोर सँ घण्टा बजा स्तुतिमङ्गल पढ़लक। अनुकूल मित्र जकाँ ओ हमरा ओहि सङ्कटसँ मुक्त कऽ देलक। तखन ओ कामी लज्जासँ मुहूर्तभर संग चलि हमरा छोड़ि देलक। हम जखन घर घुरलहुँ, ओहि समय कुशल पूछबाक दूत पठा तू मानो हमर उपहास कएलह।

तँ हम तोरा पूरा वृत्तान्त कहि देलहुँ। आब ओ निरर्थक रतजगाक थाकनि दिनमें सुति कऽ दूर करब। एना कहि ओ विदा भेल। ओकर बाद अएलहुँ अहूँ सभ सुनि लेलहुँ। तँ महाशय शिवदत्तक पुत्र ई शिवस्वामी अपन पुरुषार्थक जे झूठ यशरूपी गम्भीर समुद्र बना रखने अछि, तकर थाह परिहासक नावसँ लेब। देख—

हे चण्डि, जे चरबी बढ़लापर गुग्गुल पिबैत अछि, ओकर चरबी शीघ्र घटि जाइत अछि; मुदा ओ जवान स्त्रीसभक लेल चित्रमें बनल यक्ष जकाँ केवल देखबामें सुन्दर रहि जाइत अछि।

ओ हँसि उठल—‘आब हम जाएब।’ अरे, प्रणामक आवश्यकता नहि।

हमहुँ चली। [धूमि]

मृणालसहित कमलक झाड़ी जकाँ जकर शोभा अछि; जे अपन मुखकमलयुक्त ग्रीवा ऊपर उठौने छथि; जकर रंगबिरङ्गी चितवन खुजल अछि; जे छातीपर हाथ राखि एक-दोसराकें घुरबाक सङ्केत कऽ रहल छथि; आ जे गेंद, पिच्छोला-बाजा, गुड्डा-गुड़िया आ खेलौनासँ विराम पाबि वेशक गल्लीमें भवनक छायामें ठाढ़ छथि—एहन वेशकन्यासभक समूह ई की देखि रहल अछि? अरे, ई की अछि?

की ई पैघ कुण्डा उछलैत आबि रहल अछि, वा केओ मशक घिसिआइत आनैत अछि? अथवा कबन्ध उठि ठाढ़ भऽ गेल, वा दुइटा कोठी चलि रहल अछि? ई कोन आश्चर्यमय वस्तु? अच्छा, आब बुझलहुँ—ई तँ उपगुप्तक तोंदबला शरीर लुढ़कैत आबि रहल अछि। एकर रूप देखि बुझाइत अछि जे धूर्तमण्डलीमें उपनाम ठीकहि देल जाइत अछि—

सरकारी माल नुकाइ गटक जाएनिहार कोतल-गणक हरिकृष्ण कारी जङ्गली भेंड़ा अछि; हरिभृति पूरा महिसि; आ दत्तिगुप्त हवासँ फूलल मशक।

ई की बात जे बेचारी गङ्गा-यमुनाक चामरधारिणी, पुस्तकवाचिका मदयन्ती, हमर प्रिय मित्र ओहि त्रैविद्य-वृद्ध पुस्तकवाचककें छोड़ि उपगुप्तमें अनुरक्त भऽ गेल? ओ तँ अपन कोमल बाहुसँ ओकर नीक जकाँ आलिङ्गन करैत छल। मुदा ओ बेचारीकें आलिङ्गनमें कोनो रस नहि; रजःप्रवाह सूखि गेलासँ ओ कामतन्त्रसँ वञ्चित भऽ चुकल अछि। आब केवल परिवार पोसबाक लेल गप्प-बातसँ चुहल करैत अछि। ओकर लेल ई उचिते अछि। दत्तकक अनुयायी कहैत छथि—पौरुषशक्तिसँ रिक्त व्यक्ति गप्पे सँ काज निकालऽ चाहैत अछि। [देखि] ई किछु उद्विग्न किएक देखाइत अछि?

हँ, बुझलहुँ।

एकर सासु धनक कारण एकरा अधिकरणमें घसीटने अछि—एहन समाचार हमरा वेशमें भेटल। तँ सासु-जमाइक विवाद भेल अछि। ई खूब मनोरञ्जक बात। एहिसँ बचि अपनाकें घाटामें नहि राखब। लग चली। [लग पहुँचि] अरे जनानिहँ हाँड़ी, वेशवीथीक यक्ष, तू एतय कतय? पैदल चलने अल्पहि में थाकि, हाँफैत आ लड़खड़ाइत स्वरमें प्रणाम कऽ ठाढ़ भऽ गेल। तोहर कल्याण हो। की कहैत छह—‘ओहि बूढ़ी हरजाईक संग विवाद लेल कुमारामात्यक अधिकरणसँ आबि रहल छी।’ तँ तोरा विजयक बधाइ दी, वा जुमानाक राशि देबामें सहायता करी? की कहलह—‘विजय आ दण्ड कतय? केवल क्लेश भेटल।’ किएक? की कहैत छह—

अधिकरणक दशा ई अछि जे विष्णुदास ध्यानस्थ जकाँ बैसल रहैत अछि; ओकर भाइ कोङ्क वसूली लेल हमरा धमकौने छल आ एखनहि पिटबा चुकल अछि। विष्णुदास उलटा हमरे डाँटैत अछि, आ अधिकरणमें बैसल-बैसल ऊँघैत अछि।

आओर—

ओतय अधिकारीसभ घूस माँगैत छथि; पुस्तपाल आ कायस्थ सेहो माँगैते रहैत छथि। काष्ठक महत्तर अर्थात् कचहरीक प्यादासभ बहुत देर धरि माँगि आब हमरा पकड़िऐ लेल। ओतयसँ हमरा ई अनुभव भेल—

गणिका आ कायस्थ, कायस्थ आ गणिका—एहि दुनू पर विचार करिते बुझाईत अछि जे गणिकाकेँ धन देनाइ नीक, कारण ओकरासँ कमसँ कम आनन्द तँ भेटैत अछि।

बधाइ जे कायस्थक जालमें फँसियो तोरा सुरक्षित बाहर आएल देखैत छी। तूँ पूरा उस्ताद छह। हमर ई आशीर्वाद लह—

शय्यापर मधुर स्वरमें गुनगुनाइत, मदालसा आ कामोन्मुख मुख्य वेश्या वक्त्र आ अपरवक्त्र मुद्रामें तोहर सत्कार करय। ओ ताली पीटि हँसैत चलि गेल। हमहूँ चली। [घूमि] अरे, ई दोसर के अछि—

झुरी पड़ल देहपर गुजराती ढङ्गक विचित्र खौर बना, मातल आँखि आ पिचकल गालमें दबल हँसी लऽ ई के, कोन कारण एहि वेशरूपी स्वर्गमें आबि रहल अछि?

ठीक, चिन्हलहुँ—

ई शकरपालक घरमें तृणपिशाच चर्मकार कीरसँ डाइन कोङ्कचेटीकेँ जन्मल पिजन्ना अछि।

आओर—

ओ शकरपाककेँ अपन पिता आ निरपेक्षकेँ भाइ कहैत अछि। प्रायः दोकड़हा कुलक लोक पाखण्डक संगहि जन्म लैत अछि।

[घूमि] अरे, एहिसँ की पूछी? देशमें एकर की प्रयोजन?

अरे, बूढ़ विट भट्टिरविदत्त एम्हरे आबि रहल अछि। तँ एकरे सँ पूछी। अरे भट्टिरविदत्त, एहि पुरुष-वेतालक चकलेमें आएबाक अर्थ तूँ जनैत छह? की कहैत छह—‘अहाँही जानू।’ तँ जा। [घूमि] मनुष्यसभक एहि बीहड़में फँसि थाकल मोनकेँ कतय बहलाई? ठीक, बुझलहुँ—

ई हमर प्रिय मित्र रामक घर अछि, जे वेश्यारतिसँ कहियो विश्राम नहि लैत अछि—

आ मित्रसभक आबि जाएबाक भय सँ घरमें भीतरसँ साँकल लगा रखने रहैत अछि।

तखन भीतर कोना जाई? [कान दऽ]

नूपुरक झनकारसँ मिलल मेखलाक झनझन सुनाइत अछि; कङ्कणक खड़खड़ाहट मुक्का चलबाक सूचना दैत अछि; घरक भीतरसँ अबैत सिसकारी आ उसास निश्चयपूर्वक कहैत अछि जे रामक स्त्री रामक संग विपरीत-रतिमें रमि रहल अछि।

तँ एतय प्रवेश उचित नहि। सुरतरथक चलैत धुराकेँ के तोड़त? हमहूँ चली। [घूमि] अरे, दोसर—

की ई जरल सेमरक गाछ अछि, जकर फुनगीपर किछु डाढ़ि बचल अछि? वा कारी, लम्बा विटरूपी बगुला? अथवा वेशरूपी पोखरिकेँ झुलसाबऽ आएल मरुभूमिक भूत?

ठीक, चिन्हलहुँ—ई सोपारक तौण्डिकोकि सूर्यनाग अछि। एकर एतय की प्रयोजन? हमरा देखि उत्तरीयसँ मुख ढाकि कामदेवक मन्दिरकेँ दहिना छोड़ि चुपचाप किएक निकलि रहल अछि? आइ सँ तीन दिन पहिने बहिःशिविक महल्लाक छप्परबला कुटङ्गागारमें रहनिहार पताका-वेश्यसभ एकरापर अभियोग लागौने छल। म्लेच्छ आ श्वपच श्रावणिक जखन एकरा मुकदमा लेल अधिकरणमें घसिटि अनलक, तखन बलदशक स्कन्धकीर्ति ‘ई हमर स्वामी विष्णुक साहू अछि’ कहि बड़ी कठिनाइसँ छुड़ौने छल—मित्र विष्णुनाग हमरा एना कहने अछि। फेर ई आब वेशमें आएबासँ लजाइ किएक अपना नुकबैत अछि?

[सोचि] राजकुमारक पार्श्ववर्ती भेलासँ एकरा अपन एहि हरकतपर लज्जा होइत अछि। आश्चर्य! गुणवानक सङ्गतियो गुणकारी होइत अछि; ताहिसँ एकर जकाँ लोक सेहो गुण दिस आकृष्ट भऽ गेल। बिना परिचय प्रकट कएने एकर इच्छा पूर्ण नहि होएत। हमहूँ दहिना दिससँ चक्कर काटि सोझाँ पड़ल एकरापर परिहासक आक्रमण करी। [घूमि] हमरा सोझाँ देखि ई हँसल। अरे जनानिया सूर्यनाग, मित्रकेँ बिना खबर देने वेशमें अपन एहि नव आगमनकेँ अन्हारक नाच जकाँ निष्फल किएक करैत छह? की कहैत छह—‘हमर एतय आएबाक की अर्थ? कारागारमें बन्न अपन मामा मौद्गल्य पारशव हरिदत्तक

पूर्व प्रणयिनीक रोगक समाचार लेबाक लेल पठाओल गेल छी। तूँ किछु दोसर बुझैत छह?’ आश्चर्य, मित्रक काजमें तोहर एहन दृढ़ता, आ आपत्तिमें पड़ल पूर्वप्रेमीप्रति एहि वारमुख्याक एहन आस्था! तखने तँ—

जे वर्णानुकूल उज्ज्वल वेश पहिरैत अछि आ कामीसभसँ अपन भेद नुका कऽ रखैत अछि, एहन वेश्या अरूप वा कुरूप रहितो चित्रपटपर बनल लक्ष्मीक मूर्ति जकाँ कामीसभकें प्रिय होइत अछि।

आओर हम ओकरा कठिन काज साधनिहार बुझैत छी। कोना? निःसन्देह ओ—कारागारमें बन्न रहितो जकर वर्ण फिक्का नहि पड़ल, देवपूजासँ जकर ललाटपर गाँठ पड़ि गेल, लम्बा झबरा दाढ़ीसँ जकर मुख ढाकल अछि—ओहि मुखकें पुरान हड्डी जकाँ चबाइत अछि।

की कहलह—‘ताहि लेल हम ओकर आदर करैत छी।’ तोहर ई आदर एहेन बनल रहय। हम तोरा अपन मित्रक सच्चा अनुरागी बुझैत छी। अरे, ‘स्वामी, कृपा करू’ कहि ई हमर पएर पकड़ि रहल अछि। की कहैत छह—‘हमर वेश-प्रवेशक बात कतहु नहि कहब।’ रे मित्र, चाँदनीकें के नुका सकैत अछि? जखनसँ तूँ रूपदासीक परिचारिका ओहि कुबड़ीसँ प्रेम जोड़लह, तखने सँ एहि प्रदेशमें पानिमें तेलक बूँद जकाँ तोहर यश पसरि गेल। एना नहि—

आलिङ्गन करैत ओ अपन वक्ष आगे बढ़बैत अछि तँ पाछाँ कूबड़ो बढि जाइत अछि। कमरक त्रिकभाग टेढ़ भेलासँ कामवती रहितो जघनभाग आगे नहि ला सकैत अछि। पलङ्गपर सुतल ओ टिड्डी जकाँ देखाइत अछि। नीचाँ मुखकमलबाली ओहि कुबड़ीक संग तूँ कोना रमण करैत छह?

की कहैत छह—‘अरे, पाप शान्त हो, अनिष्ट दूर हो! अहाँक एहि यथार्थ व्याख्याक स्वागत अछि। कृपा कऽ देखू—’

जखन ओ ठमकि कऽ चलैत अछि तँ ऊँटक चालिसँ मेल खाइत अछि। बेर-बेर झूमैत हाथसँ पानिमें तैरैत जकाँ लगैत अछि। मुख उठबैत अछि तँ आकाशक तारा गनि रहल जकाँ बुझाइत अछि। कीड़ासँ रोगी लता जकाँ ओकरा कोन बुद्धिमान छूबऽ चाहत?

अरे दुःख! तोहर जकाँ धर्मज्ञक लेल एना नीक स्त्रीक निन्दा करब उचित नहि।

आओर—

मित्र, कुब्जा नरकट जकाँ पातर आ कुबड़ी हो, तइयो झूठक प्रीति जकाँ देखबामें मुखसँ तँ सुन्दर अछि।

आ फेर, सीमा-प्रदेशमें रहनिहार पताका-वेश्यसभसँ तँ खराब नहि। की कहैत छह—‘ककरासँ?’ की नहि जनैत छह—

जे मातल छथि, जकर भाड़ा केवल एक काकिणी, जे नीच लोकसँ सेवित, जकरा नियम-कानूनसँ मर्यादामें राखऽ पड़ैत अछि—लोकसँ नुकाइ आ प्रबल कामेच्छासँ तूँ बाहर जा ओहि टकहीसभसँ मिलैत छह।

की कहैत छह—‘ई सभ अहाँकें कतयसँ ज्ञात भेल?’ एहन बात खोजबामें हम हजार आँखिबला छी। तूँ सीढ़ी-दर-सीढ़ी ऊपर चढ़ैत जाएब? मित्र, रूपाजीवाकें छोड़ि तूँ कुबड़ीकें चाहैत छह; कुबड़ियो छोड़ि कोनो दिन ओकर स्वामिनीक लग पहुँचि जाएब। ई हँसि चलि गेल। हमहूँ चली। [धूमि]

अरे, ई दोसर के, जे सिंहलद्वीपक मयूरसेनाक घरसँ निकलि एम्हरे आबि रहल अछि? काँधपर वस्त्र, हाथमें चमकैत तलवार लएने दाक्षिणात्य अङ्गरक्षकसभसँ घेरायल अछि। अपन सुन्दर छापदार, पातर मलमली उत्तरीय समेटैत आन्ध्रदेशमें बनल लौहकवच पहिरने अछि। देहपर केसरक खौर, हाथमें पानक बीड़ा सम्हारने। ठीक, चिन्हलहुँ—ई विदभदेशवासी तलवर हरिशूर अछि। अरे, कावेरीपर अनुरक्त भऽ ई जखन ओकर पएर पकड़लक, तखन खुशामद कएलोपर ओ एकरा एना कहलक—

ओकरे लग जा; हमरासँ तोरा की प्रयोजन? जखन चाँदनी खिलल अछि तँ दीपकक की आवश्यकता? एक हाथमें दुइटा बेलफल एक संग पकड़ब छोड़।

तखन एकर मनौलासँ ओ केना मानत? अनुरक्त स्त्रीकें छोड़ि दोसराकें खुलेआम चाहैत अछि—ई चकलेभरि ज्ञात अछि। अपन दुर्भाग्य आ बदनामीपर ई प्रसन्न अछि। अथवा स्त्रीसभ अपन चहेताकें चाहैत अछि। मयूरसेनाक टक्कर एहि स्त्रीस्वभावसँ भेल; वा खर्चक तङ्गी पड़लापर खाला स्वयं मयूरसेनाकें एकर वशमें कऽ देत। एहिसँ सभ पूछी। [लग पहुँचि, हाथ जोड़ि]

हे मनुष्यसिंह, जेना सिंह अपन गुफा छोड़ैत अछि, तेना द्रमिलदेशक कावेरिकाक संग सुरतक अभिलाषासँ ओहि सुन्दरी सिंहलिकाकें छोड़ि तूँ उचिते कएलह।

की कहैत छह—‘मयूरसेनाकेँ हम मना लेलहुँ। ताहि लेल ओकरे घरसँ आबि रहल छी।’ कह, टूटल मेल फेर कोना जुड़ल? की कहैत छह—‘आइ सँ तीन दिन पहिने वेश्याध्यक्ष प्रतीहार द्रोणलिकक घर प्रेक्षामें बजाओल गेल छलहुँ। बुझाइत अछि, ओतय जानि-बुझि मयूरसेनाक नृत्यक बारी रखल गेल छल। बाजा बजलाक बाद पहिने देवतामङ्गल भेल।

फेर गीतक आरम्भक संग नर्तकी नृत्य आरम्भ कएलक। पहिल प्रदर्शनहि में मयूरसेनाक नृत्यमें प्रयोगदोष देखाओल गेल।’ अरे, मयूरसेनाक नृत्यमें प्रयोगदोष पकड़ सकैत अछि—ई सम्भव नहि। अरे, एना कहैत के माथक बल खसल?

की कहैत छह—‘एकरा महारानी वारुणीक पतन बुझू।’ ठीक, प्रतीहारक घरमें भगवती सुरादेवी सदा रहिते छथि। ई नशाक उन्माद ककर माथ चढ़ल? की कहैत छह—‘तोहर मित्र लासक उपचन्द्रकक।’ एहिमें अनुचित की? ओ तँ एहन बातक अभ्यस्त अछि; मुदा विषयक ज्ञातो अछि। की कहैत छह—‘उपचन्द्रकक पक्षमें सभ सामाजिक छल; हम मयूरसेनाक पक्ष लेलहुँ।’ शाबास मित्र, देश-काल अनुसार काज कएलह। फेर की भेल? की कहैत छह—‘बुद्धिसँ हुनका नहि हरा सकलहुँ। सभासद नहि मानलाह, तइयो प्राश्निकक सम्मतिमें शास्त्रीय आधारपर हमर पक्ष उचित ठहरल।’ बधाइ मित्र, बहुत असाधारण मूल्यपर ओकरा किनलह।

तकर बाद?

की कहैत छह—‘सभ गणिकाक सोझाँ जखन मयूरसेनाकेँ पारितोषिक भेटल, ओ मुस्कान बिखेरि बाँकी चितवनसँ हमरा प्रसन्न कऽ देलक। ईष्याक ज्वलासँ उठि जाइत कावेरिका मुख बना मानो हमरा ताना मारलक। दुनूक कोप आ प्रसाद प्रकट भेला बाद हम दुनू किनारसँ चूकल नाव जकाँ सन्देहक धारामें बहैत, कोनो तरह ओहि सङ्कटसँ पार भऽ घर पहुँचलहुँ। एहि दुनूमें के की करत—एहि संशयक झूलापर बैसि झूलऽ लागलहुँ। तकर बाद अचानक हमर प्रिया आबि हमर आँखि मूनि देलक। तखन हम हँसि कहलहुँ—’

अरे आँखि मुनबामें निपुण चोरनी, नुकाइ हँसने की लाभ? तोहर हाथक अनुपम स्पर्श तँ तोरा प्रकट कइए दैत अछि। एना कहलापर सुगन्धित साँस छोड़ैत, मदसँ लइखड़इत अक्षरमें ओ कहलक—‘कह, हम के छी?’ तखन हम कहलहुँ—

रोमाञ्चसँ कठोर भेल हमर कपोल तोहर प्रश्नक उत्तर दऽ चुकल अछि।

तइयो हे मुग्धे, जँ तूँ पूछैत छह तँ तूँही कह—‘तूँ के छह?’

तखन हमर आँखिपर सँ हाथ हटा ओ कहलक—‘एहि रोमाञ्चक ठगविद्यासँ तँ तूँ हमरा खींचि लैत छह।’ एना कहि चुम्बन कऽ चलऽ लागल। तखन हम कहलहुँ—

चुम्बनक संग हृदय चुरा तूँ कतय चललह? चोरनी, तोहर दुनू पएर अपन माथपर रखैत छी—कोनो तरह ठहर। एना कहलापर ओ शय्यापर जा बैसल। तखन हम स्वयं ओकर दुनू पएर धोएलहुँ। ओ कहलक—‘चरणामृत लऽ चुकलह; आब आ। सचमुच तूँ पूरा धूर्त छह।’ तकर बाद मालतीलताक खिलल मुकुलजाल जकाँ हँसी बिखेरि, सरकैत करधनी आ साड़ी एक हाथसँ सम्हारलक। पलङ्गपर देह घुमौलासँ दोहरी भेल कमर आ बाहुसहित त्रिकभागक मोड़सँ ओ आओर सुन्दर लगय लागल। मध्यभाग घूमलासँ त्रिवली ऊँच-नीच भऽ गेल, नाभि नुकायलासँ रोमावली बाँकी भऽ गेल। हार एक स्तनक ऊपरसँ आ दोसर स्तनकलशक बगलसँ ढुलकऽ लागल; कुण्डल गालपर लटकलासँ मकराकृति विशेषक आओर खिलि उठल। एना तिरछ काँधक मोड़-मुकसँ लजायल कामप्रिया रति जकाँ रूपवती भऽ एक भाँह तानि कटाक्षसँ मानो जलपर नीलकमल बिछबैत हमरा कहलक—‘लह, अपन मनचाहा कर।’

ओकर दृष्टि आलता लगाबऽमें लागल छल। जखन ओ एड़ी, गुल्फ आ नूपुर उठबैत जाँघ ऊपर कएलक, तखन कलफदार रेशमी साड़ी नव रहबाक कारण टाँगमें चिपकल नहि छल, अपन तहदार मोड़क निशानपर मुड़बाक लेल सिमटि गेल। जवान हाथीक दाँतक बीचक अधर जकाँ सुन्दर आ केलाक गाभा जकाँ उज्जर ओकर भीतरी उरुभाग हमरा देखाइ पड़ल। हमर दृष्टि हटबैत ओ कहलक—‘एहन समय जे नेत्रसंयम चाही, ओ तूँ नहि सीखलह।’ एना कहि पएर घींचि हमर छातीपर मारलक। हमरा रोमाञ्च भऽ गेल आ कवच जकाँ कठोर त्वचाबला भऽ हम कहलहुँ—‘राग पूरा कएने बिना हमरा हटेनाइ तोरा उचित नहि।’ ओ कहलक—‘अच्छा, आँखि मूनि राग पूरा कऽ लह।’ तकर बाद हम आँखि मूनि ओकर पएरमें आलता लगाबऽ लागलहुँ, तँ ओ हमर केश घींचि अधर चुमि लेलक।

हमरा एना रोमाञ्चित देखि ओ कहलक—‘तूँ अशोक जकाँ पादाघातसँ फुलैत छह; तोहर एहि शठतासँ हम हारलहुँ।’ एना कहैत हमरा आलिङ्गन कऽ शय्यापर चलि गेल। फेर की भेल, देवताक प्रिय लोक स्वयं बुझथि। जँ एना अछि तँ तूँ सेहो तौण्डिकोकि विष्णुनागक प्रायश्चित्त निर्धारित करबाक लेल

जुटल विटसभक सेवामें उपस्थित हो। की कहैत छह—‘हा, एना नहि कहू! ओ अपन चरणकमलक ताड़नसँ हमर माथोकें अनुगृहीत करय—ईएह हमर प्रायश्चित्त।’ जँ एना अछि तँ जेना यमुनाक दहमें रहनिहार कालिय नाग कृष्णक चरणचिह्न माथपर धारण कऽ गरुड़सँ अवध्य भऽ गेल छल, तेना तोहरोपर कोनो विटक वश नहि चलत। ई हाथ जोड़ि हँसैत चलि गेल। आब हमहूँ विटसमाजमें चली। अरे, मित्रसभसँ गप्पमें बीतल समयक पता नहि चलल। एखन तँ

देखू, सूर्य अस्त भऽ रहल अछि। विदा होइत ओकरा मुनैत कमल उत्कण्ठासँ देखि रहल अछि। झुटपुट अन्हार घरक चोटीपर चढ़ि ओकर धूप हटाबि रहल अछि। बगिचाक ऊपर उठल डाढ़िसभकें बहुत देर धरि किरणसँ छू सूर्य ओकरे बीच नुका रहल अछि। अटारीपर बैसल कपोत ओकर दिस तकि ओकर लाली अपन आँखिमें भरि रहल अछि।

आओर एहि समय—

पक्षीक तीव्र कलरवसँ सचेत बिलाड़ि झरोखासँ महलक चारदीवारीपर कूदि रहल अछि। मोर घरसँ हटि अपन परिचित बसेरापर जा रहल अछि। सुतबाक लेल ऊँधैत हरिण चबूतरापर चढ़ाओल साँझक फूलो छोड़ि रहल अछि। हंस पानिसँ निकलि भवनक पोखरि लगक चबूतरापर आश्रय लऽ रहल अछि।

[धूमि]

झरोखासँ निकलि महलक ऊपरी अटारीमें भरल घनगर धुआँ उड़ैत स्फटिकधूलि जकाँ बुझाइत अछि। गल्लीमें ऊपर धरि भरल सुगन्धित स्नानजलपर भँवरा मँडरा रहल अछि। अहो, एहि समय वेशक महापथक केहन अनुपम शोभा! बाहरी तोरणक बाहरक पैघ आँगन झाड़ि-बुहारि जलसँ सींचल गेल अछि, आ ओतय फूलक ढेरी सजा देल गेल अछि। परिचारक साँझक उपचारमें लागल छथि। देश, वय आ वैभव अनुसार वेश्यसभ सिङ्गार-पटार कऽ रहल छथि। मदनदूतीसभ एम्हर-ओम्हर ठमकैत वेशकें शोभित कऽ रहल छथि। मातल विटसभ चुटीला दिल्लगीक व्यङ्ग्यक रस लऽ रहल छथि। नहा-धो, इत्र-फुल्ले लगा, पी-कऽ दृष्ट तरुणसभ चौक आ तिराहापर पसरल छथि। एतय—

सवारी लेल सजाओल हथिनी पीठपर चढ़ाओल जाइत समय धीरेसँ चिंघाड़ैत अछि। दुआरपर ठाढ़ पालकीमें कोनो स्त्री बैसि रहल अछि। नूपुर-मेखलाक झनकार आ हिलैत कुण्डलबाली वेश्याक नितम्बभारसँ दबि घोड़ा मानो केवल दुलकी चालि चलि पा रहल अछि।

आओर एतय—

कतहु भवनक गवाक्ष दीपकक किरणजालसँ भरल अछि; कतहु देवालपर मोरक गर्दनि जकाँ नील अन्हार छा गेल अछि। चूनासँ पुतल घरक देवाल अत्यन्त सुन्दर लगैत अछि, मानो ताहिपर तमाल आ हरितालक लेपसँ पत्रावलीक लता रचल गेल हो।

[धूमि] चन्द्रोदयक शोभासँ युक्त प्रदोष नामक ई सार्वजनिक उत्सव केहन सुन्दर अछि! एखनहि भगवान् चन्द्र सभक आँखिमें रसायन भरैत आ वापीक कुमुदफूलकें हँसबैत आबि रहल छथि।

मदिराक चषकमें अपन प्रतिबिम्ब राखि, नीलकमलक गोल पातक बीच-बीचसँ की तूँ हमर चुम्बन लेबऽ चाहैत छह? कह, की तोहर प्रिया रोहिणी तोरा नहि देखैत छथि? सात्त्विक भावसँ उत्पन्न देहक ई कम्प दूर कर। मातल स्त्रीसभक मधुपानक समयक परिहासपूर्ण गप्प सुनबाक लेल मानो उदित चन्द्रमा हुनकर कुण्डलक कोरमें अपन प्रतिबिम्ब राखि रहल छथि।

[धूमि]

कतहु कोनो स्त्री अपन प्रियक संग एकान्तमें मधुर स्वरमें गा रहल अछि; कतहु झंकारैत वीणा बजि रहल अछि; कतहु महलक छतपर चन्द्रोदयक समय गोष्ठी जमा मदिरा पिओल जा रहल अछि।

आ एहि समय भगवान् चन्द्रमा—

कतहु अपन किरणसँ गृहदीर्घिकाक जलपर आर-पार सेतु बान्हि रहल छथि; कतहु कदलीक झाड़ीमें पैसैत रश्मिसँ ज्योत्स्नाक स्तम्भ रचैत छथि; कतहु चूनासँ पुतल महलपङ्क्तिमें फेर अपन किरणामृतसँ रङ्गि रहल छथि; कतहु किसलयसँ बूँदक मर्मर वर्षा करा मानो मोती बरसा रहल छथि। [धूमि] अहो, चन्द्रक किरणसँ झरैत चाँदनीरूपी जल संसारमें एना भरि रहल अछि, मानो क्षीरसागरक पानि तट लाँघि अपन लहर दूर-दूर धरि पसारि रहल हो। एखन तँ—

घोड़ा, हथिनी, कर्णारथ आ पालकीपर चढ़ल युवकसभ युवतीक आलिङ्गन आ मर्दन पबैत आकाशमें गन्धर्व-सिद्धक युगल जकाँ आबि-जा रहल छथि।

[घूमि]

नशामें ललित चेष्टा करैत युवककेँ पाछाँ घोड़ाक पीठपर बैसल प्रमदा स्तनसँ गाढ़ आलिङ्गन दैत अछि; ओहो घुमि प्रियाकेँ चुमैत अछि। घोड़ाकेँ घरक बाटक एहन अभ्यास अछि जे सोझे चलैत आबि रहल अछि, बहकैत नहि। ई के, जे चाँदनी रहितो अन्हार जकाँ वेशक गल्लीमें गर्भगृह-समान भोग करैत निर्लज्जता देखबैत अछि? ठीक, चिन्हलहुँ। ई सौराष्ट्रिक शककुमार जयन्तक अछि, जे एहि घटदासी बबेरिकापर अनुरक्त अछि। समूचा वेश्यापत्तनमें एकरे भीतर ई कोन वेशोचित गुण देखलक? तखन किछु—

अन्हारक देवी जकाँ, दाँतसँ उज्जर आ आँखिसँ कारी, ओ बबेरिका अष्टमीक चन्द्रमायुक्त राति जकाँ लगैत अछि।

अथवा, सौराष्ट्रक लोक, बानर आ बर्बर—एहि तीनूक एके राशि अछि।

तैं आश्चर्य की?

गोरी बबेरिकापर जँ एकर आँखि अटकल अछि, तँ एकर अलसायल मातल आँखिक कारण ई चाँदनीयो अन्हार जकाँ बुझाइत अछि।

बस, एकर बाट एतहि समाप्त। हम चली। [घूमि] ई दोसरि के—

एहि लाटदेशीय स्त्रीक दुनू कानमें सोनाक तालपत्र लटकैत अछि; वेणीक अन्तमें मणि-मोतीक सोनाक गुच्छा अछि; कूर्पासक अर्थात् चोली स्तन आ बाहुमूल ढाकि नीवीक छोर धरि पहुँचि रहल अछि।

[सोचि] चिन्हलहुँ। ई राका अछि, जे राजाक साला, दुर्दशाग्रस्त मयूरकुमारकेँ—जे नाचैत मोर जकाँ अपना देखाबि रिझबैत अछि—चन्द्रशालाक सोझाँ आलिङ्गन करैत वेशबजारमें अपन सौभाग्य देखाबि रहल अछि। ओकर सच्चाइ देख ओ बेचारा मानो किनाए गेल।

ओ गोरी, मोट स्त्री ओहि दुबर, साँबला मयूरकुमारकेँ मानो सोझाँ पड़ल अपन छाया जकाँ छातीसँ लटका लऽ जा रहल अछि।

[घूमि] ई दोसरि के? [सोचि] ई यशस्वी शार्दूलवर्माक पुत्र हमर प्रिय मित्र वराहदासक प्रियतमा यवनी कर्पूरतूरिष्ठा अछि। तीन अँगुरीसँ मधुपात्र पकड़ि मुख दिस उठा रखने अछि; दोसर हाथसँ कानक चन्द्राकार कुण्डल पकड़ने अछि, जकर प्रतिबिम्ब गालपर पड़ि रहल अछि। कुण्डलक छिटकैत किरणसँ ओकर काँधपर सेहो मानो चन्द्रमा खेलि रहल छथि।

चकोर-जकाँ केश आ आँखिबाली यवनी मधुपात्रमें अपन प्रतिबिम्ब देखैत, नखसँ लम्बा लट बिखेरैत, महुआक फूल जकाँ उज्जर कोमल गालपर उभरल मदिराक लालीकेँ आलता बुझि पोछि रहल अछि।

यवनी आ गणिका, बनरिया आ नर्तकी, मालव आ कामुक, गायक आ गदहा—गुणमें हम एहि सभकेँ एकसमान मानैत छी। जोड़ी मिलाबऽमें ब्रह्मा निश्चयहि निपुण छथि।

जेना खैरक गाछपर आत्मगुप्ता लता आ नीमपर परवलक लता पसरैत अछि, तेना जँ यवनी मालवपर अनुरक्त हो तँ अद्भुत जोड़ी बनैत अछि।

ई हमर परिचिता अछि, मुदा गप्प नहि करब। वेशक यवनीक स्वयं कहल बात—जे बनरियाक खाँव-खाँव जकाँ चीत्कारयुक्त अनजान व्यञ्जनसँ भरल, किछु सङ्केतक संग केवल तर्जनी हिला अभिप्राय बतबैत अछि—के सुनत? हम बाज अएलहुँ। [घूमि] ई दोसर के—

जे पवनक विपरीत फड़फड़ाइत अलक आ दुपट्टाबाली प्रियाकेँ हथिनीपर बैसा लऽ जा रहल अछि, जेना उदयन वासवदत्ताकेँ लऽ गेल छलाह!

[सोचि] चिन्हलहुँ। ई ईशभ्यपुत्र अर्थात् धनिकक पुत्र अछि, जकर विट प्रवाल डिण्डिकसभमें खूब परिचित अछि। फेंटा कसि सुरतयुद्धमें उतरनिहारसभक ई गुरु अछि। हमर नेनी ओहि वेशसुन्दरीक कामफन्दाकेँ फँसि माता-पिताक आज्ञाक परवाह नहि कऽ अनुरक्त भऽ गेल। निश्चय ई डिण्डिकसभक उस्ताद अछि। ससुर बनि गेलासँ एकर सोझाँ हमरो बकार बन्न। तँ गप्प नहि करब; हाथ जोड़ि एतयसँ निकलि जाई। [घूमि] आब हम विटसमाजमें पहुँची। वेशमहापथमें निरर्थक चक्कर काटैत हम विटसभक मुखिया भट्टिजीमूतक घर आबि गेलहुँ। बाहरी दुआरक सोझाँक खुला मैदानक चारू दिस बजाओल गेल विटसभक हजारों सवारीक भीड़ जुटल अछि। तोरण लग चाँदीक घड़ामें पएर धोबाक पानि उठा परिचारक ठाढ़ छथि। ठीक कहल गेल अछि—बड़ लोकक बात बड़। एखन एतय पाँचरङ्गा फूल छिटाओल जा रहल अछि; गुँथल माला लटकाओल जा रहल अछि; धूप घुमाओल, दीप जलाओल, स्वागत-वचन कहल जा रहल अछि; सवारी खोलि छोड़ल जा रहल अछि; दौड़धूप, गीत-सङ्गीत, आगन्तुककेँ हाथक सहारा, मधुर वचन, प्रेमपूर्ण आलिङ्गन,

एक-दोसराक देहक सहारा, अत्यन्त विनम्र प्रणाम, पीठ थपथपेनाइ, भाँह चढ़ा चटकारी मारनाइ, छेड़ भेटलापर माथ झुकबेनाइ—सभ चलि रहल अछि। केओ नखरासँ ठाढ़, केओ अदासँ बैसल। चन्दन बाँटल, वर्णक पोतल, अङ्गराग लगाओल, सुगन्धित पटवासचूर्ण उड़ाओल जा रहल अछि। विट परिहास करैत छथि, वेश्यसभ प्रत्युत्तर दैत छथि। बहुत कहब की—

अन्तःपुरमें परिचारकक काज करनिहार बौना लोकनिक पएर ठेहुन धरि फूलमें धँसल अछि, ताहि कारण कठिनाइसँ चलि पा रहल छथि। आँखि मटकबैत गणिकादारिकासभ पएरमें लागल केतकीक पाँखुरी ‘सी-सी’ करैत निकालि रहल छथि।

आ ई सभ—

धनिक पुत्र आ प्रमुख विट आधा आसनपर बैसल अपन सहेलीसँ चतुर शब्दमें एहन दिल्लगी करैत छथि जे हृदयपर चोट नहि करय। वेशमें एना निर्भय धूमैत छथि, जेना खुला साँढ़ ऋतुमती बछियासभक संग चरागाहमें घूमैत हो।

एहि सभाभवनक आकाशभाग वा छतपर शतचन्द्र अलङ्कार मानो स्त्रीसभक सैकड़ो मुखचन्द्र रूपमें अछि। भवनक चारू कात स्त्रीसभक चितवनरूपी शताक्षी अलङ्कारसँ शोभित। युवकसभक एक-दोसरासँ रगड़ाइत बाहु भवनक चारू दिस घुमाओल परिघ जकाँ; चन्दनसँ भीजल वक्षस्थल सभाभवनक शिलापट्टयुक्त कुट्टिम जकाँ।

आ एतय—

वेश्यसभ लेल कल्पवृक्ष जकाँ, काम लेल तत्क्षण तैयार, अपन समस्त पूँजी छोड़बाक लेल सन्नद्ध ई वीरसभ अछि; जकर बाल्यकालक नकली काठक लड़ाइकेँ बूढ़ लोक सुयोधन आ वृकोदरक युद्ध जकाँ बखानैत छथि।

मित्रक आज्ञारूपी पाग माथपर बान्हि हमहूँ भगवान् कामदेवकेँ प्रणाम करैत, हुनकर आदेशसँ एहि कर्तव्यकेँ आगाँ राखि श्रीमान् तौण्डिकोकि विष्णुनागक प्रायश्चित्त लेल विटसभसँ निवेदन करी। [धूमि] अरे-अरे, समस्त पृथ्वीसँ आएल, कलहमें रुचि रखनिहार आ कलहक वृत्तान्त कहनिहार धूर्तजन, अहाँ सभ सुनू-सुनू—

ओ भगवान् कामदेवक जय हो, जे तपस्वीसभपर अधिकार चाहैत छथि; जे सभक चित्तक स्वामी आ इन्द्रियरूपी घोड़ाक शासक छथि; जकर आज्ञा पैघ-पैघ प्राणियो चूड़ामणिसहित माथ नुका मानैत अछि।

[धूमि] जकर खिलखिलाहट गाललगक कर्णपूरपर छिड़िआइत अछि, एहन विलासिनीक यौवनमदक जय हो; हुनकर डगमग चालि आ चञ्चल चितवनक जय हो; आ तकर बाद हुनकर यौवनक अठखेलीक जय हो।

प्रधान वेश्याक चरणरजसँ अपन माथ पवित्र कऽ ओहि माथकेँ धूर्तमिश्रसभक चरणमें नुका निवेदन करैत छी। कहबाक बात की? सुनू—

ई विष्णुनाग प्रायश्चित्त लेल साँप जकाँ पृथ्वीपर छाती रगड़ैत छटपटा रहल अछि। अहाँ सभकेँ एकर प्राणरक्षा करबाक चाही।

अहाँ सभ पूछैत छी—एकर अपराध की? सुनू—

आँखिपर खसल लट ऊपर फेकि, क्रोधसँ भाँहक कोर तानि, अधरोष्ठ काटि, दाँतक किरण बिखेरि, काँपैत मुखसँ, नूपुर झनकबैत ओ मदमाती प्रिया सरकैत रक्तांशुक हाथसँ खींचैत अपन नूपुरसज्जित चरण एकर माथपर राखि देलक।

की, अहाँ सभ कहैत छी—‘पुरुषक भेद बुझबामें अनाड़ी ओ कोन गणिका, जकर लापरवाही एहि बदनामीक रूपमें सोझाँ आएल?’

ओ सौराष्ट्रक श्रीमती मदनसेनिका अछि। ‘सौभाग्य जे एतय दोसर केओ नहि’—एहन भावमें ई विटसभ किछु घबरायल देखाइत छथि।

हाथ हिलबैत, हँसी नुका, धिक्कारैत, मुखपर गम्भीरता आनैत धूर्तसभ मानो दयालु भऽ एक-दोसराक मुख देखैत विचारमें डूबि गेल। बैसल विटसभक मुखिया विटमहत्तर भट्टिजीमूत करुणासँ अत्यन्त व्याकुल भऽ उठलाह।

‘केहन दुःख, केहन दुःख!’ कहैत ओ थाकल हाथी जकाँ उसास छोड़ि, बादल जकाँ आँखिसँ पानि बरसा रहल छथि। हमरा बजा रहल छथि। हम आबि गेलहुँ। भट्टिक की आज्ञा?—‘पहिने सुनने छी, तूँ फेर कहैत छह जे एहन प्रायश्चित्त लेल ब्राह्मणसभक लग जाएबाक चाही। ताहि लेल हम बैसल छी। ताबत तूँ विटसभकेँ शपथ दऽ तैयार कऽ लह।’ भट्टिक जे आज्ञा। अरे, अहाँ सभ सुनू-सुनू—

आइ एहि सभामें जे अण्ड-बण्ड कहय, ओ जुआमें कहियो बाजी नहि जीतय; मायक आज्ञाकारी बनय; विनयसँ पिताक पएर छूअय; केवल उसनल दूध पिबय; मोहमें लड्डू खा तृप्त रहय; आ ब्याहल स्त्रीसँ सन्तुष्ट रहय।

आओर—

गुरुक सेवा करय; विटगोष्ठीसँ बाहर भऽ जाए; जवान रहितो बूढ़ जकाँ विनीत हो; बुढ़ापा आएलापर शान्त भऽ जाए—जे एतय बैसि अण्ड-बण्ड कहय।

[घूमि देखि] धावक अनन्तकथ—जे मगजपच्ची करैत रहैत अछि—अचानक उठि हमरा बजा रहल अछि। की कहैत अछि—‘प्रणय नहि बुझनिहार ओकरे दोष, तौण्डिकोकि नहि। सुनू—’

जकर स्पर्शसँ अशोक असमयमें फुलैत अछि; जतय स्वयं कामदेव बाण चढ़ा निवास करैत छथि—अपन एहन चरण जे सुन्दरी भूलसँ एहि पशुक माथपर राखि देलक, दीर्घकाल धरि प्रायश्चित्त ओहि चपलेकें करबाक चाही। तू ठीक कहलह, कारण—

ओ एहि गदहाक सोझाँ वीणा बजौलक; एहि बानरक सोझाँ श्लोकमयी प्रशस्ति पढ़लक; आ महिसिक अधफाटल दूधमें सहकारक रस टपकौलक।

तइयो दुःखीकें ढाढ़स देबाक लेल प्रायश्चित्त होइत अछि। आर्त भऽ ई आएल अछि, तँ अहाँ सभकें एकरापर कृपा करबाक चाही। ई गादर बेलक नाती के, जे मातलपनसँ हिलैत माथकें एक हाथसँ रोकि ‘एकर प्रायश्चित्त सुनू’ कहि हमरा पुकारैत अछि? ओकर लग जाई। विटसभ ओकरापर बिगड़ि रहल छथि—‘विटभाव बिगाड़निहार ई मुखबला के, जे अपनेकें अगुआ विट बुझि परिषदों उठि प्रायश्चित्तक उपदेश देबऽ चलल अछि?’ अरे जनानिया मल्लस्वामी, सुनलह ई सभ की कहैत अछि? की कहैत छह—‘किएक नहि तू एहि सभकें बता दैत छह—’

पिताक स्वर्गवासक पाँच राति बादहि, जखन मित्रसभ दुःखी आ सगा-सम्बन्धी कनैत-पीटैत छल, एकटा बिलखैत बालककें अलग राखि दासीक संग हम मधुपानक आनन्द लेलहुँ। फेर हम विट नहि तँ के? जँ एना अछि तँ सभ मानैत अछि जे तू विटसभक मुखिया छह। बैस। की कहैत छह—‘ओहि मदनसेनिकासँ प्रायश्चित्त कराओल जाए।’ अच्छा, फेर घोषणा करैत छी। अरे, ई शिबिदेशक कवि आर्य रक्षित हाँफैत भाषामें पुकारि कहैत अछि—‘निश्चय ई प्रायश्चित्त उचित नहि।’ ई भलमानुस सेहो पैघ विट अछि, कारण—

ओ श्रोत्रियक घर जा एक प्याला मदिरा लेल अपन काव्य बेचि अबैत अछि; शिबिकुलमें जन्मल आ भू-स्थानमें बूढ़ भऽ गेल।

आओर—

जँ कवि काव्य बेचैत छथि, तँ ओ काव्यो एहेन अछि जे मदिराक चषकक संग तैयार होइत अछि। काशी, कोसल, भग्ग जनपद आ निषादनगरसभमें ईएह दशा अछि।

तँ एकर लग चली। सखे, हम आबि गेलहुँ। तू की कहैत छह—

जेना बन्द कमलमें भँवरा भरल रहैत अछि, तेना जे मधु कामिनीक गालमें भरल रहैत अछि; जे ओकर मुखसँ निकलि बकुलक डाढ़िकें फुला दैत अछि; जे आँखिमें विलास भरि दैत अछि; आ जाहिमें ताजा सहकाररस मिलाओल जाइत अछि—एहन सीधु-गण्डूषसँ सौंचल जाएबाक पात्रता एहि नरपशु तौण्डिकोकि विष्णुनागक माथमें कतय? ई दोसर भवकीर्ति हाथ जोड़ि प्रायश्चित्त कहबाक लेल हमरा बजा रहल अछि। ई ब्राह्मणबालको अत्यन्त विट अछि, कारण—

ई दुष्ट ओहि मुण्डित, बूढ़, पुरान गेरुआ वस्त्र पहिरनिहार, भिक्षा लेल निःशङ्क घरमें आएल, भयभीत आ फड़फड़ाइत भिक्षुणीकें भूमिपर पटकि कामक कुकर्म कऽ बैसैत अछि।

तँ एकर लग चली। की कहैत छह—‘एकर प्रायश्चित्त ई अछि—’

ओ स्त्री पहिने एकर केश पकड़ि घँचैत अपन मेखलाक डोरीसँ एकरा बान्हि दे। फेर जखन ओ शयन करय, तखन ई ओकर पएर दबाबय।

ईहो एकर लेल पर्याप्त नहि। ई रईसजादा गान्धर्वसेनक—जकर नाम सभ चेटक जीहपर अछि—हाथ उठा हमरा बजा रहल अछि।

एकर हाथक अँगुरी तीन प्रकारक बाजापर अनेक हस्तमुद्रामें दौड़ल अछि। जेना लाल कमलक पाँखुरीक वर्षा होइत हो, तेना वीणाक तारपर एकर लाल अँगुरी पसरल रहल अछि। वीणा बजबैत ई धनिक घरक अन्तःपुरसुन्दरीसभक पार्श्वमें बैसि, हुनकर श्रोणितटपर वीणा राखि, हुनकर नखक्षतक आनन्द लेने अछि।

तैं एकर लग चली। की कहैत छह—

जघनरूपी रथक पार्श्वमें फहरैत पताका जकाँ, सुरतयुद्धमें परस्पर मिलन लेल उकसाबऽबाली झंकारैत वीणा जकाँ वेश्यसभक मणिमेखला कतय, आ एहि दुर्गन्धित गदहाक पएर कतय! [धूमि] आब दक्षिणदेशसँ आएल कवि आर्यक प्रायश्चित्त कहि रहल अछि। की कहैत छह—

नखरासँ भरल चितवनसहित ओ मातल अपन कर्णोत्पलसँ एकर माथपर बेर-बेर प्रहार करय। गान्धारदेशसँ आएल हस्तिमूर्ख एकरो कथन व्यर्थ कऽ देलक। तूँ—

की कहैत छह—

जे उत्पल हस्तिनखपर उत्कीर्ण कऽ बनाओल गेल अछि; जे स्त्री कानमें धारण कएने अछि; आ जे ओकर अपाङ्गव्यापी चितवनसँ शबलित भेल अछि— ओहिसँ जँ एहि नरपशुक माथ छूअल जाए, तँ प्रायश्चित्त की होएत? उलटा ओकर सुगन्धित रजसँ ई पवित्र भऽ जाएत।

एकर राय उचित अछि। प्रमुख वितसभ सेहो ईएह कहैत छथि। [धूमि] ई दुनू हमरा बजा रहल छथि।

एके आसनपर बैसल गुप्त आ महेश्वरदत्त—ई दुनू मित्र महाकवि वररुचिक काव्यप्रतिभाक अभ्याससँ प्रतिभाशाली छथि।

तैं हुनकर लग चली। [लग पहुँचि] अरे जनानिया मुकुन्दगुप्त, तूँ की कहलह—

ओकर पएरक धोवनसँ एकर माथ धोओल जाए। वृद्धसभ एकर निषेध करैत छथि। मित्रमण्डलीमें प्रिय नामबला महेश्वरदत्त राय दैत अछि—ओकर पएरक धोवन पिबऽ योग्य सेहो ई नहि। ई दोसर हमर मित्र, सौवीरदेशक बूढ़ विट, स्वाभाविक मुस्कानयुक्त वाणीसँ हमरा बजा रहल अछि। तूँ की कहलह—

जखन अङ्गक आभूषण उतारि देलासँ ओकर देह स्वाभाविक कान्तिसँ आओर सुन्दर लगैत हो; स्नानक बाद गील लट जघनस्थलपर बिथुरल हो—ओहि दशामें हम ओकरा एतय अनब। तखन ई अपन दर्पण ओकर सोझाँ लऽ ठाढ़ रहय; ओ केश सँवारैत दर्पणक गोल भागकेँ अपन नेत्रप्रभासँ शबलित करय।

दाशेरक कवि रुद्रवर्मा एकर निषेध करैत अछि। तूँ की कहैत छह—

ई विद्वान् उच्च कुलमें जन्मल अछि आ राजाक मन्त्राधिकारक सचिव अछि। वेश्याक पएर लगबाक कारण धूरिसँ सनल केश एकरा—

नहि रखबाक चाही। तैं एकर माथ मूड़ि दिअ।

‘अहाँक कृपा भेल’ कहि विष्णुनाग विनती करऽ लागल—‘केश कटेबासँ पहिने हम अपन ई सदा नतमस्तक आ दासीक लातिसँ अपमानित माथे काटि देबऽ चाहैत छी।’ ओकर एहि बातक उत्तर विटमहत्तर भट्टिजीमूत एना दऽ रहल छथि—

बाँकी भाँहबाली सुन्दरीसभक सरकैत कङ्कणक झनकारयुक्त, नखक किरणसँ जड़ित, अँगूठीक शोभासँ युक्त आ किसलय जकाँ कोमल हाथसँ कोनो सुन्दरी एकर केश नहि सँवारय; ई एहेन रूख केश धारण कएने रहय।

ओहि मदनसेनिकाक लेल सेहो प्रायश्चित्त सुनू—

मदसँ घूमैत आँखिबाली ओ स्त्री नितम्बपर एक हाथ राखि मेखला सम्हारैत, आलतासँ रङ्गल नूपुरयुक्त चरण हमर माथपर राखि हमरा अनुगृहीत करय, आ ई तौण्डिकोकि विष्णुनाग टुकुर-टुकुर तकैत रहय। ‘ईएह उचित प्रायश्चित्त’ कहि सभ विट साधुवाद दैत भट्टिजीमूतक अनुमोदन कऽ रहल छथि। ‘आब हम सर्वथा अनुगृहीत भेलहुँ’ कहि तौण्डिकोकि विष्णुनाग चलि गेल। विटमहत्तर भट्टि हमरा बजा रहल छथि। हम आबि गेलहुँ। अहाँ की कहैत छी—‘ई सभ तैं भऽ गेल। आब अहाँ सभक कोन प्रिय काज करी?’

ओहो सुनू—

नोक-झोंकक बातमें चतुर कुट्टिनीसभक कल्याण हो; धूर्तसभक सैकड़ो आमदनी अक्षुण्ण रहय—ओसभ निश्चिन्त माल काटथि; एहि नगरमें विटसभक सुखद गोष्ठी जुटैत रहय; आ साँझमें वारविलासिनीक प्रेमपूर्ण जलसा होइत रहय।

[विटक प्रस्थान] उदीच्य कवि विश्वेश्वरदत्तक पुत्र आर्य श्यामिलक केर रचित एकनट नाटक (भाण) पादताडितकम् समाप्त।

चतुर्भाणी

श्री शूद्रक, ईश्वरदत्त, वररुचि आ महाकवि श्यामिलकक चारिटा मूल संस्कृत
एकनट नाटक (भाण) एकहि खण्डमें। भाण एकालाप-प्रधान नाट्यरूप अछि,
जाहिमें एक्केटा पात्र अभिनय करैत अछि।

संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद: गजेन्द्र ठाकुर

सम्पादक: विदेह — प्रथम मैथिली पाक्षिक ई-पत्रिका



www.videha.co.in

VIDEHA - FIRST MAITHILI FORTNIGHTLY eJOURNAL
ISSN 2229-547X

BHALLATA · KSHEMENDRA · NILAKANTHA

— ◆ —

The Bhallata Century
The Pageant of Deceitful Arts (Kalavilasa)
A Satire on the Age of Kali

— ◆ —

English Theatre Translation

Gajendra Thakur

Editor
Videha — First Maithili Fortnightly eJournal

www.videha.co.in

CHATURBHANI

Four Classical Sanskrit One-Actor Plays (Bhanas)

English Theatre Version
Sanskrit-to-Maithili translation: Gajendra Thakur
Editor, Videha — First Maithili Fortnightly eJournal

VIDEHA

www.videha.co.in

CHATURBHANI

Four Classical Sanskrit One-Actor Plays (Bhanas)

Original Sanskrit authors: Shri Shudraka · Ishvaradatta · Vararuchi · Shyamilaka

Sanskrit-to-Maithili translation: Gajendra Thakur

Editor: Gajendra Thakur

Videha — First Maithili Fortnightly eJournal

ISSN 2229-547X · www.videha.co.in

Maithili translation and editorial presentation © Gajendra Thakur.

All rights reserved in the translation and editorial presentation.

Format: 6 × 9 inch hardback edition.

CONTENTS

1. THE GIFT OF THE LOTUS

Shri Shudraka — Padmaprabhrtakam

2. A ROGUE AND A GALLANT IN CONVERSATION

Ishvaradatta — Dhurtavitasamvadah

3. THE MUTUAL ASSIGNATION

Vararuchi — Ubhayabhisarika

4. THE KICK

Shyamilaka — Padataditakam

A NOTE ON THE BHANA

[*Bharata rightly treats the farce and the bhana as belonging to the same dramatic tendency. A bhana is a monologue: a play performed by a single actor.*]

1

THE GIFT OF THE LOTUS

PADMAPRABHRTAKAM, a Sanskrit one-actor play (bhana) by Shri Shudraka (translated from Sanskrit into Maithili by Gajendra Thakur)

[*After the benediction, the STAGE MANAGER enters.*]

STAGE MANAGER:

Victory to Lord Rudra, who, whether in anger or in grace, made Kama—the very embodiment of a woman's delight—shine in an even more radiant body.

And further—

The kurabaka blossoms have turned white. The cuckoo is calling. Tender shoots sway beside the beautiful ashoka flowers. A breeze, fragrant with mango and humming with bees, moves through the air. Today Kama, bow in hand, roams the forest.

And what is more—the birds' twitter becomes an orchestra while cuckoos, drunk on the nectar of love, sing. In the inner apartments of the woodland, creepers shaped like graceful women perform under the instruction of their master, the Wind. Trees, jubilant in blossom, coax those creepers with fingers of tender leaves. At the arrival of Lord Spring, the necklace-white frost vanished in an instant.

From root, trunk, crown, and shoot—from every side—the ashoka bursts into flower like wounds opening in a villain's heart.

Ah! This is—

the season beloved of youth: filled with the intoxicated calls of cuckoos; adorned with sindhuvara, jasmine, and mango; alive with the bold assaults of Kama and the wind.

[*The GALLANT enters.*]

GALLANT: Wonderful! What a marvel! The year, a gallant worn old by winter, has swallowed the rejuvenating elixir of snow and is returning to the lovely youth of spring. At this moment—

The forest is coming of age: trees dance with trembling shoots, and flowering vines clasp them close. A cuckoo perched on a tilaka tree looks like an ornament in a woman's hair; a bee settled on a jasmine flower becomes the sidelong glance of a beauty. Here a lotus pond, darkened by dusky buds, resembles a maiden whose small breasts have just begun to rise. There the company of spring winds blows with the roguish purpose of touching the full breasts of a woman damp with the sweat of love.

Spring is certainly powerful, cruel in the torment it inflicts with Kama's arrows. Though Karniputra has already celebrated the festival of his youth to the full in Devadatta's embraces, the bee of his desire still hungers for the mango bough called Devasena—a girl who has left childhood behind, grown tender with the coming of youth, and is flowering like Kama's own spray of blossoms. But why wonder that Karniputra remains hungry? A rich sweet of ghee and sugar tastes better still with a sharp relish beside it. I think that, though satisfied by drinking the honey of love with Devadatta, he longs to taste a still more delightful kind of union with that sixteen-year-old beauty, the young Chandali Devasena—a pleasure flavoured with the innocent hospitality, teasing, and playfulness of childhood.

Ah, the sickness of love may look slight, yet it weighs terribly. It has brought even Karniputra to this condition—a flawless master of many sciences, accomplished in every art and branch of learning, a stage manager expert at weaving the warp of desire in young women.

Lack of sleep has left his eyes heavy and red. His face has turned pale, like the moon at dawn. Anxiety has made his body thin. He yawns. Every sense burns. The moon, spring, garland-making, music, perfume—all the lovely things that once delighted him even when merely placed before him—now torment him.

Yet if Devasena is the cause of all this, there is no wonder in it. She is newly young and able to awaken desire at will. It is only natural that the beauty born of her ripened youth should drive Karniputra mad.

Her restless sidelong glances; her unbroken lips, pouring out gold; her face thrust forward upon its cheeks; the new buds of breasts rising on her chest; the tender creepers of her arms; the faint line of down beginning to show upon her belly; the full hips that seem to have appeared from nowhere; and the clever passion of her uninhibited nature—whom would all this not drive mad?

[*Walking about.*] In the anguish of love born from Devasena, he now lies confined to his bed, somehow keeping himself alive on the hope of meeting her, cooling his fevered body with necklaces, fans, and sandal paste. Early this morning Pushpanjalika, Devadatta's attendant, went respectfully to Karniputra and said: 'Noble sir, Lady Devadatta says: Please do not let my failure to come yesterday lessen your regard for me. My younger sister Chandali is a little unwell, and affection for her detained me. I am coming at once.' After answering and dismissing Pushpanjalika, Karniputra said to me affectionately: 'Friend Shasha, you too heard that she is coming here. This is the right opportunity. Go there under the pretext of enquiring after their health; win their full confidence; sound Devasena's heart and learn the cause of her distress. I bow to you. Only you, fortunate friend, can somehow draw out this arrow of love—shot by Devasena and buried to the very core of my heart.' Laughing as I took my leave, I told him: 'Very well, master rogue! Why light a lamp in daylight? Do you think I have not understood the meeting of your eyes, silently revealing what lies in both your hearts? I am Shasha, friend of Muladeva himself; I shall not return without the whole story.' So I set out. What harm is there in passing some time chatting with friends along the royal road, and reaching Chandali only after she has been separated from Devadatta?

Ah! Ujjayini has incomparable beauty—like painted leaf-work upon the cheek of Jambudvipa, the face of the bride called Earth. The city is filled to overflowing with every kind of treasure and merchandise.

Here are the sacred recitation of the Vedas; the thunder of elephants, chariots, and horses; the twang of bowstrings; drama, poetry, and learned debate; trade in goods brought from all four seas; song, instrumental music, gambling, laughter, and jest; here the talk of gallants, there every art imaginable. Rows of houses resound with the calls of tame birds and the tinkling of countless bracelets and girdles. [*Walking.*] Now let me look for some omen that my purpose will succeed.

[*Looking.*] Ah, there is Sarasvatabhadra, son of Sharadvati of the Katyayana clan, addicted to poetry. He stands at his doorway, fingers smeared with chalk, playing with a spinning top and showing by the movements of his eyes and brows the delight of suddenly remembering an idea. Poets are angry even with a dear friend who interrupts the flowing current of inspiration. Yet I would lose by passing on without making an ear-ornament of the flower of speech born from the vine of Sarasvati. Let me meet him first. [*Approaching.*]

Friend Katyayana, are you chewing the cud without having eaten any fodder? What do you say—'The demon of poetry has mounted my head and is driving me'? You cobbler stitching together scraps of old verse, are you searching for a new line as though hunting a cow whose hide has been torn to pieces? Tell me, friend, what is your stanza about? What do you say—'I have composed it on this charming spring before us'? May I hear it? What—'It is written on the wall; read it'? Where? Ah, here it is: 'This spring, armed with a sweet breeze and with harsh, impetuous Kama, can bring a young, helpless, slender girl to her lover more effectively than a thousand go-betweens skilled in flattery.'

Bravo! This is an omen of success. Friend, may your verse bring you fame as the birth of a son would; may it escape the hunters of literary criticism. Who laughed? [*Looking.*] Ah, it is Dardaraka, the pithamarda. Dardaraka, what is there to laugh at? What do you say—'By worshipping this poet, another Brihaspati, with your words, you are surely sprinkling water upon the ocean'? Do not speak so, fool! Are flowers not offered in worship during the month of spring? Have you not heard that the sun is worshipped with a lamp, the ocean with water, and spring with flowers? I too am worshipping a great poet with words. Very well—you have displayed the nature of a pithamarda. I have seen enough of you. And this spring is lovely with the intoxicated call of the cuckoo; may you be just as lovely. I shall go. [*Walking and looking about.*]

Here comes another man—the minister of Vipula. He was skilled at managing that Prakrit poem called Kamadatta, but now he has been defeated in the business of a courtesan's conduct and walks with a fallen face. I understand: Muladeva has become entangled in love with Devadatta, so this worthy fellow takes Vipula's humiliation as his own and swells with wounded pride. Very well; I shall dive into laughter and sound the depth of it. [*Gesturing.*] 'Why are you leaving us, like the moon by day, without making the water-lily of friendship bloom?' I wish to ask you something: Your vast intelligence, filled with the science of the arts and forever intoxicated with pride, must surely have remained perfectly steady and never been troubled.' [*With a second meaning.*] Do you understand? Vipula herself—skilled in the practice of the arts and proud by nature—could not remain steadfast to the end, and so fell into distress.

What do you say—'I understand the point of your satire. Is not Master Muladeva's cleverness famous?' No, that is not it. Though his heart is attached to Devadatta, his mind remains caught in Vipula. What—'That too is one of Muladeva's tricks'? Very well. Why do you not rebuke your innocent pupil Vipula—

—the woman whose offended love Karniputra came to soothe?

He came like autumn to clear a river muddied by rain, but was contemptuously thrown aside like a palm-leaf fan in winter.

What do you say—'Where? How?' Listen, friend. A few days ago Karniputra went with me to appease Vipula. Standing at her threshold, he first sent me inside affectionately to test the depth of her anger. I approached her with sweet words. Burning with jealousy, the lovely woman turned her face away the instant she saw me and said, 'Why take so much trouble?' Laughing, I said: Who told you anything? What question is that an answer to? Lady, turn a little toward me and repeat it with your moonlike face. When I see you pleased, my affection becomes boundless. This brow of yours, filled with anger like a cobra, frightens me. Then her friend Avantisundari said: Why do you not speak even when your friend has come—your brow bent, your face red with anger, and your lips scorched by your sighs? Swollen with pride, you are making war upon your own good fortune. Proud lady, abandon your resentment; everything breaks quickly when stretched too far.

Believing that 'a conference of hearts is always good,' Karniputra too came in. Seeing him bow, Vipula jerked away in anger and said: Have you been granted leave from there, or did she finally throw you out? Do you take me for a rest-house where you may

recover from your fatigue by amusing yourself with playful chatter? What is gained by setting fire to my heart, whose desire you already know? What profit is there in swallowing bitter medicine? Go back the way you came, pretending to be a gentleman.

What do you say—'If that is so, I shall first go and give that insolent woman a proper scolding'? Go then; chatter with her to your heart's content. I must be off. [*Walking.*]

A curse on it! Another embodied obstruction has appeared in my path. Dattakalashi, son of Dandashuka, a grammarian of the Paninian school, stands directly before me. I must escape his net of words without injury. He looks agitated; he has surely been mauled in some debate. In any case, his speech, itching for quarrel, begins to clang like a temple bell at the slightest touch. This worthy fellow is fond of courtesans and calls his beloved Rshanavati, daughter of Nupurasena. Alas for poor Rshanavati, like a lute hung from a camel's neck! He is raising his hand and saying something to me.

What did you say—'Friend, did you sleep well?' How can I escape him now? Very well, I shall welcome him. Welcome, granary stuffed with syllables! Friend Dattakalashi, you look disturbed. Is all well? What—'Those Katantra grammarians have fallen upon me like carrion crows of the outcaste grounds'? Alas, war has broken out between crows and owls! Congratulations, friend; I see you have escaped without being pecked to pieces. What do you say—'What do I care for those wretched Katantra grammarians'? Remain exactly as you are. I shall go.

What—'Where are you going? Sanchichishu! Stay a moment; why this running about?' Ah, forgive me. Do not batter me with hard verbal arrows like blows from a staff. In a public gathering, speak the living language of human beings. Spare me this grammarian's clatter—ugly as a camel's bellow and dripping poison into the ear. What do you say—'How can I abandon a style born from the butting of innumerable babbling logicians, thundering like a hundred-slaying engine cast from many verbal roots, and make it as delicate as a woman's body?' Alas, then you are beyond help.

What place have jaw-breaking words and clusters of letters in friendly conversation, in the company of women and friends, in petitions before a court, or in proverbs? They suit them as well as a garland of flowers suits thorns.

What did you say—'She is certainly a loose woman, to be angry even at speech as sweet as mine'? Who is this loose woman? What—'How can she be called a beloved?' [*Thinking.*] Yes, I understand. Rshanavati deserves exactly this, for a cuckoo that should wander in a mango grove has, by nature, perched upon a thorny creeper. What greater sorrow could there be? Yet there is vast pleasure even in this misery—enjoy it. Friend Dattakalashi, how did that woman turn away from a sweet-spoken gentleman like you? I am very eager to hear it. Tell me everything. What did you say—'She is certainly shameless. Yesterday evening, while I was drunk in the veranda of the courtesans' quarter and performing a fire-offering, she came close and sat beside me as though embracing me.'

Then I said to her, 'You two-faced woman, do not touch me while I am making an offering.' Ah! That is what one calls a meeting ruined at the very start. Winning a woman is delicate work; this obsession with purity is the root of quarrels. Fool, you did wrong to rebuff a loving woman. With your merciless words, hardened by severity and full of the sparks of grammar, you startle women themselves. Have you never heard—

A man who touches an enamoured woman in private—her heart tender, her desire awakened, worthy of caresses and naturally sweet words—with a firebrand of ear-splitting speech is like one who plays a lute with a burning log.

Rshanavati must be able to accomplish the impossible, to love a block of wood like you—or perhaps you are her perfect curse. Friend Dattakalashi, I have heard the nectar you poured into my ears. May all be well with you. I am going.

[*Walking.*]

Here is another crowd of humanity. That is Pavitraka, son of Dharmasanika, a secret adulterer who calls himself a Vaishnava though wholly without purity. On the royal road, as if avoiding contamination from strangers, he has gathered up his wet garment, contracted his whole body, pinched both nostrils shut with his fingers, and stands at a crossroads leaning against a Shiva-linga. The poor man is certainly fit for ridicule, for I hear that he is infatuated with Varunika, daughter of Mattakashini—a courtesan available for a fixed fee, a woman held in pledge. Why is he so frightened now? Come, let us open the chest containing the book of his wanderings.

Pavitraka! Why are you standing there, pushing your neck in and out like a tortoise warming itself in the sun? What did you say—'I am avoiding the natural pollution of strangers passing along the royal road'? Oh indeed! You flee contamination from strangers, but is the vessel of Varunika's loins as sacred as a bathing place beside a village pond? What—'It is not like that'? Are you selling buttermilk in a cowherd's house? Teaching a bat to hang upside down? You display roguery even before rogues.

What do you say—'Forgive me, sir; your spy's eye is terribly sharp'? Whose spy? A spy for what? The sun does not enter darkness carrying a lamp. I need no informer; in such matters I have a thousand eyes. Throw off this costume of villainy. You are a gentleman only in the shape of your face, modest merely by pretence. Companion of respectable men and servant of gallants, this demon of ritual purity and an affair with a courtesan are mutually opposed, like incompatible foods. Yet you cling to her while bound in the pretence of untouchability—as though picking a morsel with iron tongs. What do you say—'I have abandoned such hypocrisy now'? Who believes a man who claims to fast after eating rice pudding? What—'If you are so gracious to me—

—then take me as your pupil'? Congratulations! You have found the right path. If you have resolved to become a gallant, quickly cast off this armour of false conduct, deadly to a courtesan's love like an iron-studded club, and roar like a proper rake. What did you say—'I shall obey you'? Then I grant you freedom to play as wildly as you please. Now receive this blessing from me—

May you carry to the bed a frightened woman whose garments are disordered and loosened, whose girdle hangs slack and waist-knot has come undone, who sits shyly hiding breasts crossed beneath her hands, the three folds of her belly and her navel, crying, 'No, no, let me go!'—and there reap the first harvest of love's union.

What do you say—'You have heaped favours upon me; I am made whole'? If so, I should now receive my teacher's fee. What—'Here is my bow'? Ah, what reckless extravagance! Very well. From today I may possess a pupil—

—but you are the complete master, not the pupil. Swagger and enjoy yourself as you please. I am off. The market breeze, cooled by touching the sweat of people walking in the spring afternoon, pauses between garland stalls and houses, then comes forward to meet me like a door-keeper. [*Seeing the flower market.*] This flower street, every limb adorned by heaps of blossoms of many kinds, looks like Spring's bride. She—

—has a beautiful face of blooming lotus, teeth like pale flower-buds, eyes of fresh blue lotus, throbbing lips like clusters of red ashoka, a sweet voice like the humming of bees, breasts like lovely bouquets, ornaments like floral wreaths, a garment woven of white blossoms, and a girdle made of a pale garland. This flower shop, dressed in flowers like the mistress of Spring's household, displays the splendour of a woman adorned with blossoms. Ah! My heart is caught in the fragrance of countless flowers; it is very hard to leave this street. [*Turning.*] Here comes another marketplace of laughter. A gallant from the old play called Mridangavasulaka—whom the courtesans have nicknamed Bhavajadgava—comes out of the house of the tuneful singer Arya Nagadatta. With the glitter of hair-dye, bathing, and cosmetics, he has covered his old age as with a ragged cloth. This worthy man is everyone's friend; I cannot pass without speaking to him. Let me jest with him. [*Gesturing.*]

Bhavajadgava! Does even your old age enjoy a season of abundance? What did you say—'Since you took no notice of me, I have been shedding my skin like an old snake'? It seems you are shedding life itself and undergoing rejuvenation; that is why you have become young again. You are accomplished in producing youth through grooming and ornament. Your—

—head is covered by a fringe of hair announcing the counterfeit youth produced by dye—that is, it is bald in the middle—and your face is clean-shaven because you have plucked out the grey hairs of your moustache with tweezers. Your youth, refurbished by painting and plastering the limbs, stands as an old, crumbling house stands only by laborious repair.

What do you say—'Old wine is more intoxicating'? If that is your wish, may the dye made from triphala, gokshura, and powdered iron increase you in every possible way. I shall go. [*Walking.*]

Someone, startled by my sudden arrival, has hidden behind a pillar at the entrance of the gambling house. [*Looking.*] Yes, I recognise him—it is Sheshilaka. Why is he hiding from me? Does he suspect I know of his outrageous detention of Malatika's female messenger? Very well; I shall plunge into laughter and sound him out.

Brahmin's son, why hide when a friend approaches? It is as useless as trying to stop moonlight with an umbrella. He comes out laughing. What do you say—'Welcome, helmsman of friendship'? Worthy man, how can I be the helmsman of your friendship when you have kept me away from your double voyage of love?

What did you say—'It is not so'? You scavenger of scraps from the feast of love, do not tell me that. Everyone knows that a Buddhist nun lives near Sheshilaka. When desire arose in Malatika, daughter of Malita, she sent that nun to you as her messenger. But seeing the messenger's unadorned beauty, youth, and lovely body, you became greedy for her flesh and fixed your eyes on her at once, without waiting for the woman promised later. What did you say—'Friend, it is true that abandoning pleasure already in hand for the hope of future pleasure is not manly; therefore I acted as I did. One does not seek fire with a lamp.' Ah, you did well. Unless you tell it fully, the secret will have no flavour. The story deserves to be heard in detail. You—

—what did you say—'Who willingly unfolds the whole scandal of his own misconduct? Still, hear it briefly.'

When she saw that force was being used against her, she said to me, 'After winning so much trust—

—you villain, are you deceiving me? I am a respectable woman. You impetuous man, it is wrong to behave this way toward a woman who has come on such an errand. You have forcibly detained me in another person's deserted house. Do not do this. Have mercy on me. Let me go—someone is coming.'

Bravo! An act of the play has ended without a drum. By breaking the rules of love in this fashion, son of Vasishtha, you have firmly established the root meaning of the word vita—you have proved yourself a true gallant by behaving so with a female messenger. Friend, may your union be auspicious. I shall go. [*Walking.*] Here we are at the settlement of Love's guests—the courtesans' quarter. This quarter—

—is notorious as the costume of lust, the school of wickedness, the treasury of illusion, the headquarters of fraud, and a place that will not admit the poor. Even its sorrows are full of rasa. May entry to it be easy for all.

[*Walking.*] Who is this hurrying out of a courtesan's courtyard, body contracted and covered in a dirty sheet? Looking carefully, I see the edge of a saffron robe that slipped loose in his haste. Ah, it is Sanghilaka, that wicked Buddhist monk from this very monastery, Dharmaranya. How pure is the Buddha's dispensation, that it continues to be revered day after day despite the blows dealt by such uselessly shaven villains! Or rather, even the sacred water of a pilgrimage place is not polluted—

—by a crow's leavings. He has seen me and is trying to hide and escape. Very well. If my arrows of speech touch him, he will not get away unhurt. Let me speak to him. [*Gesturing.*]

Ghost of a monastery! Why creep in daylight with the fear of an owl? What do you say—'I am coming straight from the monastery'? I know very well the truth of the venerable one's monastic habits. Villain, where are you going, frightened like a heron emerging from the step-well of the courtesans' street? Are you seeking an alms offering in the form of sexual pleasure? What—I came to console Sanghadasika, grieving for her mother's death, with the words of the Buddha? Words of the Buddha from your mouth are like water sipped for purification in the mistaken belief that it is wine. Alas—

If through foolishness or accident a monk enters a courtesan's courtyard, he looks no more fitting there than the sacred syllable Om in Dattaka's treatise on love.

What do you say—'We must show compassion to every living creature'? Very well. The ever-cheerful venerable one will attain final nirvana through the extinction of thirst—or, after the wine named Nityaprasanna has settled in you, you will quench your thirst and become drunk. He folds his hands—that is, he cups them to drink. What—'Very well, may I be released now'? Yes, do not waste your effort; liberation is entirely beyond your reach.

What do you say—I must go; one should avoid eating at an improper hour? Bravo, bravo! You have fulfilled all the other rules. For this monk, who never abandons the Five Precepts, the only thing left is not to break the rule about eating at the proper time. Go, be off with you! Are you ashamed of the ringworm patches on your head, revealed because it is shaven? Go—you are a complete Buddha. Good, the villain has disappeared. Where shall I wash my eyes, soiled by the sight of this stinking Buddhist monk? [*Walking.*]

Ah, splendid! Here comes something to cool a rake's eyes. Vanarajika, daughter of Vasantavati, beautiful as a woodland grove, seems to be descending from Kama's temple after arranging an assembly of flowers upon her own body and offering worship and honour to the god she desires. With the greatest care she has made her body magnificent through floral ornament. She appears to be going to her lover. Let me approach her with sweet conversation. [*Gesturing.*] Lady Vanarajika, while carrying spring's first gift of flowers, you have not forgotten some guest, have you? What did you say—'Welcome, noble sir; I bow to you'? I accept this tender shoot of your courtesy. Spring, newly arrived, has surely entered your body. What—'How?' Then listen—

Your coiffure is adorned with kurabaka flowers mingled with vasanti and jasmine; ashoka is fastened at the end of your braid; the slopes of your breasts are decorated by the gift of sindhuvara; fresh mango blossom and trembling shoots form your ear-ornaments. Fair-faced woman, with your hands cupped full of flowers, you carry Spring embodied.

What do you say—'This is a gift for you'? Very well, keep the treasure with you; I shall take it when the proper time comes. May all be well with you. I am going. [*Walking.*]

Ah, this is the house of Tambulasena, Irima's mistress. Respectable men gather here every day. Shall I go inside? [*Thinking.*] It would not be right to pass without a word.

Then let me enter. [*Entering.*] Is anyone in my friend's house to receive Shasha? Ah, Tambulasena has hurried to the outer door to welcome me, taking quick steps and pulling up the wrap that fell in her agitation. This is surely an excess of hospitality. It seems she does not want me to enter, and has come out to dispose of me at the threshold. Her fresh marks of love show that she has only just left the sport of passion. Irima has certainly experienced the wrestling match of lovemaking by day. The worthy man is very greedy for pleasure. Let me tease her a little. Tambulasena, why spend so much hospitality on me? How can you say 'Welcome, dear friend' in broken syllables, with a breath still unsteady from the exertion of love? Woman forever crazed by passion, first take a fan. Truly Tambulasena has finished her exercise—the labour of love. Little rogue, does it also increase strength, or—

—not? What do you say—I do not understand anything? [*Examining her.*] The sandal paste on the slopes of her breasts has been rubbed away by an embrace with her lover. Let me ask. Woman forever thirsty for passion, do you not allow Irima, who roams through love all night, to rest even in the daytime? Is the fire-offering performed both morning and evening? What do you say—'Mocking others is your lifelong habit'? It is—

—not like that. Clever woman, have you not heard that beauty reveals itself even when one tries to hide it? What—'How did you know'? Little rogue, how could I fail to know? For—

The erased beauty-mark, the wiped-away vermilion spot, the loose hair scattered across the cheek, the fallen flower from the ear, lips reddened by a lover's bite, and languid eyes proclaim that your lover is greedy for pleasure by day.

What do you say—I have only just risen from sleep; you suspect something else? Very well, I understand. Not even your subtlest secret remains unknown—

—to me now. Yet—

It seems these nail marks and tooth marks upon your body arose at the end of a dream. Fair woman, was that imprint of cloth on your right shoulder produced when you pleased the ancestors by saying 'svadha'? And in your haste you forgot to notice that the rustic cobbler made two left shoes for your feet. Little rogue, caught with the stolen goods, where can you escape now? She has gone into the inner room and is laughing loudly with her lover. [*Listening.*] Irima is calling, 'Master rogue, come inside.' Friend, who can cut the yoke from an ox harnessed to the chariot of love? May this service of yours to pleasure continue without obstruction. Son of Garga, I shall go. [*Walking.*] Who is that offering a sacrificial gift to the deity at the outer threshold? Her face is still and exhausted by grief; her eyes have no collyrium; her garment is soiled; her thick, unoiled hair hangs loose; her bracelets are slack, and a ring has fallen as she cast away her flowers. This slender young woman has grown thinner still.

It is Kumudavati, daughter of Bhandirasena. Alas! The poor woman is barely recognisable. For whose sake, contrary to the customs of the courtesans' quarter, does she keep a vow in separation like a faithful wife? Yes, I remember. She is said to be devoted to Chandradaya, that Maurya prince. The worthy man has gone with the army to subdue the feudatory chiefs. Alas, separation from Chandradaya has stripped Kumudavati of all splendour. She has surpassed even women of noble families. Seated in the upper pavilion of her house, she welcomes with auspicious words a crow that has come seeking the ritual offering—

O ornament of the lattice in my roof pavilion, O guest at the food offered in a funeral rite, may all be well with you. Will my beloved, always absent on campaign while I live, return? If he is coming, fly and perch upon the festoon over another doorway. When sorrow has passed and I am reunited with my beloved, I shall feed you curds and rice.

Wonderful—her love is certainly free from fraud. This jewel, fit for a king, is no object of ridicule. May she receive from the hand of some queen the bridal veil of a lawful wife. Now I shall walk on alone. [*Walking.*]

I hear a sound from the garden on the right, mingling with the lively cries of birds startled by the jingling of ornaments. Yes, the gate of this tree-garden is open; let me look. [*Looking.*] Ah, how beautiful! A festival for the eyes is being held here. This is Priyanguyashtika, daughter of Panchaladasi. As her hips have filled out, she has acquired the proud bearing proper to youth. The new sovereignty of young womanhood entrances her. Surrounded by friends, endowed with playfulness, gesture, expression, and graciousness, she is playing ball. She—

Holding a red-ochre ball in a hand whose fingers are red as coral, she bends high and low with the grace of a kadamba creeper tapping a flower with the tip of its young leaf. Merely seeing her is a priceless gain. Even one who is satisfied does not tire of nectar. Let me speak to her. [*Approaching.*] Priyanguyashtika, under the pretext of playing ball, why are you defeating even your companions' skill in dance? She answers with a slight smile and continues playing. Her maids are counting the bounces; she must have made a wager with her friends. Ah, how the contest fills her with excitement! By good fortune I see this spectacle today—her lowering and rising, turning, leaping, retreating, running, and every other movement of the limbs are beautiful in every way. What more can I say? When she spins, draws back, and leaps, even the wind, eager to enter beneath her swelling garment, runs lustfully after her. I fear that her waist—naturally slender, drawn in as though it might fit within a fist, and bent under the weight of breasts laden with youth—may break. I cannot ignore her. Let me speak: Youth-intoxicated girl, what are you doing against the delicacy of your own body? Stop, stop; I am speaking to you. Her delight only increases. Ah, I ask for only this—

Restless girl, you have gone completely mad after the ball. Your earrings swing violently; both arms flash; open flowers fall from your loosened curls; your girdle leaps upward as you whirl—

—then, as your speed increases, it flashes and trembles. May your waist alone remain safe, bent under the weight of your quivering breasts.

All one hundred bounces are complete, and she has stopped. Lady Priyanguyashtika, congratulations on winning the wager against your friends. What do you say—'Welcome, noble sir. Half the prize is offered to you; accept it'? Lady, the sight of you itself is a priceless reward to me. Remember me. I shall go. [*Walking.*]

Here is another resort for a friend's entertainment. This is the house of Shonadasi, daughter of the city woman who is Chandradhara's beloved. I must enter; I cannot go on without speaking. [*Entering and looking.*] Ah, Shonadasi sits on the outer threshold, lost in thought. What does this mean? She has laid her ornaments aside and, beautiful in her natural loveliness, covers half her body with a soiled wrap. Red sandal paste marks her brow; a strip of white silk is tied around her head; her moonlike face is bowed. A lute lies in her lap, and she lightly touches its strings with her fingers, sustaining a phrase in a low, sweet, cuckoo-like voice upon the Kaushika mode.

She is surely a woman tormented by longing. Singing in Kaushika is merely another name for weeping. Did I not hear before moonrise that these two had quarrelled in a lovers' dispute? She must be regretting her quarrel with her beloved. Very well; I shall tease her.

Shonadasi, why are you playing the part of an ascetic while living in the courtesans' quarter? Lady, has Chandradhara surely committed some offence? Are your tears the only answer? Stop crying and tell me what happened. What do you say—'My friend, whose only skill is provoking offended pride, has ruined me'? Shonadasi, have you rebelled against the friend you trusted above all? What—'I suffer this disaster because of her bad advice'? You foolish woman. You should have said to her—

Messenger, my offence was that I was often cold toward my beloved; but now I cannot remain angry with him for even a moment. You heartless woman, are you pleased now that you have placed me upon the harsh balance of desire? Yielding to your advice—which urged me only to take offence and gave me no means of reconciliation—I have done such a thing that I must now hold up with both hands the girdle that has grown far too loose.

What do you say—'Kama has calmed all my resentment, but that same friend of yours, proud of his good fortune, has now become obstinate'? Then why do you not go to him on an assignation? Innocent girl, abandon such shame.

Why do you sit with tears in your eyes, your face lowered, breathing long sighs and worrying within yourself? Though you are fortunate in love, you must now arrange your loosened ornaments with your own hands. Ignore the words of a neutral friend and win back your beloved with pleading and tenderness. What is gained by remaining hard for no reason? Foolish woman, when love has grown very deep, excessive offended pride becomes an insult.

What do you say—'What true manliness is there in a woman appeasing a man'? Do not think so. Proud lady, does not the Ganges go to the ocean? Free yourself from shame. Or let your wish be fulfilled: I shall appease Chandradhara myself. Why say more? Today I shall rekindle the fire-offering of love that has gone cold during your long separation—

—and make it blaze again. Why did she smile before her tears had even stopped? It is like moonlight appearing in the rainy season. Fair woman, cease weeping; the time of happiness has come. What do you say—'Now make your promise true'? You will know by morning. Good, the crying has stopped. I shall go. [*Walking.*] Ah, another subject fit for love has appeared. This courtesan, Magadhasundari, daughter of a city woman, has a face like the clear autumn moon. Her hair is black, soft, curling, glossy, and fragrant; her restless eyes are beautiful as blooming blue lotuses. The rays issuing from her teeth are tinged red by contact with lips bright as coral; the teeth themselves are white, even, and close-set like jasmine buds. Her cheeks, breasts, and hips are full. Concealing her body behind the outer door, she holds the edge of the curtain between two fingers of her right hand, beats time on the ground with one side of her left foot, and hums the four-line song called Vallabha in a sweet, tuneful upper register. The song has pure notes, ornamented phrasing, pleasure for the ear, and rests upon the shadja scale. With her eyes and brows revealing the desire surging in her heart, she waits for some wealthy patron. Who is that fortunate man, lucky as Indra, who is being summoned to the sacrifice of love? Let me ask her. Lightning in the cloud-bank of the courtesans' quarter, I wish to ask you something—

Moon-faced woman, for which fortunate man are you looking outside with those wide eyes—the whites clear, the pupils black, the corners red, and the whole gaze sharpened by a sidelong glance? Ah! She looks at me with frightened eyes like a startled fawn. Colour seems to have flooded her heart again. What do you say—'It is—'

—nothing of the kind. I remain celibate and fast during spring? A most believable story! But what does this fresh tooth-mark on your lip say? What—'It was made by the spring wind, as harsh as the last frost'? Let it be so; I understand.

Though your lips are bruised by tooth-marks, you speak of observing a vow. Clearly your discipline is a chandrayana of kisses: you increase and decrease their number as the food allowance rises and falls in the chandrayana fast.

Ah! She has hidden her face behind the door and begun to laugh. May this austerity of yours increase. I shall go. [*Walking.*]

At last I have somehow broken the chain of conversation with the courtesans and reached Devadatta's house. Devadatta has probably gone out. Whom shall I ask? [*Looking.*]

Excellent! Coming out through the garden-side door is Dardaraka, the actor's son—a young performer and pupil of my dear dramatic teacher Gandhavedatta. I shall ask him. [*Gesturing.*]

Dardaraka, where are you coming from? Do you know what Devadatta is doing? What did you say—'Devadatta has gone to see Arya Muladeva and enquire after his health. My teacher sent me to see Devasena'? For what reason? What—'The teacher said: Take her the written part she is to perform as Kumudvati in the prakarana play'? Did she accept the script? What do you say—'Overawed by the teacher, she took it, but handed it to the friend seated beside her. Then, bowing to Kumudvati, she said, "I am not well at present."' Ah, I too am famous for my powers of inference. This makes it clear that she is wholly absorbed in desire. Dardaraka, what is written in the script? What—'Read it yourself'? [*Taking the manuscript and reading.*]

May passionate young women bear upon their hips the secret signs of union—crescent nail-marks. Such marks are Kama's charming flowers, moon-crests hanging from a necklace near the breasts, fresh leaves upon the tree of love, wounds received in the battle of the bed, goads driving the weary oxen of the chariot-war of passion, and wondrous specimens of amorous play.

Excellent! As I set out to tame that stubborn filly of a woman, this omen promises success. Dardaraka, do you also know where Devasena is? What—'She has gone into the garden'? Then—

—she is in Kama's workshop. Very well, you may go. I shall enter. [*Entering.*] Ah, this is Devasena herself—

thin, faded, pale, and without lustre, like the waning moon at dawn. She suffers the extraordinary hidden pain of love-sickness, curable only by a gentle remedy.

Ah, that is why she has dismissed everyone else and is taking the air in private with Priyavadinika, her maid, whom she has accepted as an intimate friend because the girl knows all her secrets and loves her deeply. Good—this also reveals the singleness of her attachment. All lovers prefer solitude. She is now within my reach. Let me approach her. [*Approaching.*]

Young Devasena, do not be angry with me for intruding upon your private conversation. What do you say—'You are welcome'? I accept your courtesy. No, do not trouble to rise. What—'Please sit; here is a seat'? Very well, I shall sit. Lady, what is this illness whose cause cannot be seen with the eyes, whose hidden ache lies within, which one brings upon oneself and which at first comes alone—the illness of suffering for a lover? What did you say—'Nothing'? Graceful girl, stop evading me. You have always been dear to me, the little girl who used to ask me to bring toys and such things. I am Shasha, that same friend of Muladeva. Tell me what is in your heart. Who has caused this sorrow—

You are ill without any ordinary disease. Your temple rests upon your lotus-like palm. Your pupils stare fixedly in thought. Your heart has grown numb. You yawn; your colour has changed. Little rogue, tell me: what new disease has seized you, making even breath difficult, allowing peace nowhere, burning all the senses, and fixing your desire upon one thing alone? Why did she sigh like that? The fire of love is blazing within her. Good, now I can learn what is in her heart. If I am not worthy of your trust, be happy; I shall go about my business. What do you say—'You are so impatient'? Yes, I understand. [*Aside.*] She wants to reveal the

deepest matter. [*Aloud.*] How can I remain calm when I see you in such a state? And if we delay, some other business may intervene.

So tell me quickly the cause of your torment. What do you say—'I hide nothing from you. Spring is such by nature that it unsettles without cause even a mind disciplined by the stern instruction of elders? Good—she does not deny the illness—

—itself. Little rogue, do you know that Devasena has truly become a young woman! Girl, if that is all, do not let the illness advance; when the season changes, you will recover. Why has she become shy? Priyavadinika, what is written on that palm leaf?

What do you say—'It is a character's part in a play'? Let me see. [*Taking it and reading.*] In the prakarana called Kumudvati, the nurse privately rebukes a princess who is in love with Shupaka—

Foolish girl, your breasts have not yet risen and no line of down has appeared. Inexperienced child, your judgement is still immature. Give up this longing to meet a husband like a grown woman. Your clever friends are always teaching you the handbook of impropriety. Girl, you have ripened in childhood itself. Why are you so eager for the battle of love? What did Devasena say—'I had never heard this before either? Ah, now her own feeling has opened. She means, 'I too wish to do the same.' What does Devasena say—'Do you take me for such a woman? Lady, stop evading me. Even when the moon is hidden by cloud, the blooming of the night-lotus reveals it. Woman who drives men mad, come now; this calamity has fallen upon you.

Silent girl who hides her feelings, you have said again and again, 'I am not in love.' Then tell me why, slender by nature, you have grown thinner still. Why have your bracelets become loose? Why do you rest your cheek upon your hand? Why have your long sighs drained the colour from your face?

Cunning girl, tell me: if this person suffers so deeply from the sickness of love, why does she maintain such composure? Priyavadinika, what do you say—'My mistress, who has entered the chapter of the science of love, is attached not to an ordinary man but to an exceptional one? Then to whom in the city of Avanti can the phrase 'exceptional man' apply? What did you say—'What is your guess? Who else could it be? It must be Karniputra. He—

—is born of a noble family, learned, never disconcerted, smiling in speech, clever, free of jealousy, sweet-spoken, handsome and young—Kama himself, only without the bow.

Why has Devasena lowered her head? Restless girl, stop twisting the end of your silk garment and speak. If she considers me trustworthy, why is she silent? Modesty is the dowry a woman—especially an innocent young woman—brings to trust; how can she say it herself? Thus, although that remarkable phrase 'exceptional man' can apply only to Karniputra, I shall be patient until I have sounded her fully and made her confess the secret with her own mouth.

Lady Devasena, what use have I for hearing another person's secret? I am neutral; I only advise you. Karniputra too is increasingly distressed, longing to see his family because he has been away from Pataliputra. He will leave today or tomorrow. You may meet him again, but I hope you will be well by then. Remember me. [*Rising to go, then turning back quickly.*] Who cried, 'Ah, now I am dead? Devasena, why are you weeping? Lady, what is it? Stop crying. Good, I understand. Congratulations—your desire has chosen a worthy object. Karniputra suffers from the very same disease; you two must cure one another. What do you say—'How can you speak with such certainty? You are easily moved by another's suffering? Enough. What is gained by suffering any longer?

Fair woman, do not all the star-maidens, daughters of Daksha, share a single moon? Or do not two vines sprung from the same root climb the same mango tree?

What do you say—'Then devise a way to preserve them both? That is already arranged. Tomorrow, as usual, your sister will go to the teacher's house to perform her turn in the dance. Now that your heart has gained confidence, fortunate girl, go there under the pretext of enquiring after Karniputra's health—or he may come here. Why are you swinging upon the cradle of hesitation? What does Priyavadinika say—'It would not be proper for the noble young man to come here; my mistress should go there. Courtesans are always ready to carry one another gifts of gossip. I shall therefore arrange matters so that, when Devadatta goes to perform her turn in the dance, she herself takes my mistress with her to enquire after Arya Muladeva's health.' Excellent, Priyavadinika; your name—'she who speaks pleasantly'—is truly justified. Devasena should go there. But she must look healthy. What does Devasena say—'The moment I saw you, I became well? I am pleased. I have completed Kama's business. Give me some token to save Karniputra's life. What do you say—'What shall I give? Why think about it? Send—

—a red lotus to him, red-lotus beauty, as a gift of your imagined lovemaking. Let it be slightly bitten by your teeth, rubbed and crushed against your breasts, marked with the painted leaf-patterns upon your body, faintly withered by your deep sigh when held near your nose, its filaments faded by contact with the sandal paste on your skin, and its stalk bruised by being whirled between both your hands—as though you had made love with him all night and at dawn it had become wholly the discarded flower of your worship.

She lowers her eyes as though approving the proposal. Ah, this is no mere gift—it is earnest money on the bargain of love! With this medicine I shall now restore new strength to Karniputra. [*Taking it, rising, then pausing.*] I shall go. May all be well with you. Fortunate woman, receive this blessing from me—

May Kama himself, bearing in his hand the weapon of irresistible sensual desire, accompany you on a secret assignation where, though fear makes you step quickly, neither girdle nor anklets can be heard; where the knot of your lower garment slips and opens on the way; and where suspicion makes each embrace quickly loosen.

[*The GALLANT exits.*] Thus ends *Padmaprabhrtakam*, the one-actor play (*bhāna*) by Shri Shudraka.

A ROGUE AND A GALLANT IN CONVERSATION

DHURTA VITASAMVADAH, a Sanskrit one-actor play (bhana) by Ishvaradatta (translated from Sanskrit into Maithili by Gajendra Thakur)

[After the benediction, the STAGE MANAGER enters.]

STAGE MANAGER:

My undertaking has three purposes: fame spread through learning; wealth for honouring good people; and, through their pleasure, religious merit.

Therefore, to delight those assembled here, we should perform a play. Come, let us sing something that gladdens the heart in this rainy season—a season that deepens the pleasure of the rich but increases the grief of the unfortunate poor tormented by youth. It is adorned with woodland stretches of kumuda, blue water-lily, white lotus, red lotus, nichula, ketaki, kutaja, and plantain. At such a time the rains look like a gallant: anointed with the blue cosmetic of cloud, their body trembling in flashes of lightning, and dressed in the flowering garment of kutaja.

[Going out.] Thus the introduction. [The GALLANT enters.] **GALLANT:** Well said.

The cloud pours down torrents upon the rich man's house like an accomplished drummer. Lightning flashes like the arched brow of an angry woman. The cool rainy wind blows in a close embrace. Kama draws his bow to the ear and shoots firm arrows into lovers' hearts.

And further—

Senseless are those who travel abroad, or, having gone away, do not return in the rainy season even when driven by desire. Naive are those who do not appease an offended beloved, or who remain angry for too long. Blessed are those who are ruled by their beloved, or whose beloved is ruled by them. With the drum of cloud, the rainy season seems to proclaim this to the whole world.

Ah, how can one describe the countless things in the rains that seize a connoisseur's heart? The sun's rays are hidden by water-laden clouds; courtyards are wet; the day has faded like a story from the distant past. Bees, drawn by the scent of kutaja blossoms, hover; peacocks begin to dance; and fields drenched with cool water become fit for wandering. The forest floor, covered with crawling red velvet mites and new green shoots of durva grass, is suitable for young women whose feet are painted with lac. Rivers, filled with muddy water and offering no ford, have become hard to cross—like the secret approaches of a cunning woman, difficult to discover during her menses. And further—

The wind comes out from within the forest, carrying the fragrance of kadamba and cooled by rainwater, as though bringing a gift.

This is a most delightful time; desire must surely become restless in it.

When the wind blows, the forest is fragrant with kadamba, and the day is dark beneath massed clouds, even the mind of a happy man becomes restless for love. Longing is of two kinds: with a cause and without one. Longing born from a cause can be treated; but when causeless longing arises, it is as helpless as the counterfeit weeping of a maidservant—a kumbhadasi. I too am deeply dispirited today because the rain has kept me from going here and there. Though satisfied by the sweet notes of my wife's voice, I now feel like roaming about. [Looking.]

When the song stopped, the cloud's thunder ceased like a drum falling silent. The household peacock, frightened by the rain, now spreads both wings in joy, climbs to the mansion's summit, and cries aloud. A lute whose strings have slipped apart because the bridge has left its central groove lies warming itself in the sun like a woman tormented by an icy wind. The mansion roof spits out the rainwater remaining upon it through the mouths of its gutters, as if pouring strings of pearls. Mirrors dimmed by the damp are being wiped clean. And further—

Women made languid by the misery of confinement in great houses peer from windows. Gold girdles, their hard knots stiffened by damp, are untied and fastened again. Lovers coax courtesans into going to the pleasure gardens. Women paint their feet with passion-stirring lac before walking upon the new grass.

Where shall I divert this restless mind—in the gambling hall or in the courtesans' quarter? [Thinking.] My respects to gambling! Apart from one loincloth, it has left me no second garment. Dice, like a wealthy man born in a low family, do not always keep an honest face. Then I shall go to the courtesans' quarter, for there—

Beautiful half-closed eyes; piquant, sweet conversation sharpened by laughter; a soft seat beside a woman whose full hips press close; and the graceful movement of a hand displaying affection—one who knows the manners of the courtesans' quarter receives all these delightful pleasures without even falling in love with a courtesan.

[*Seeing something, he speaks to his wife.*] Shut the doors of the house. What did I say—'Your house has as many doors as an anthill!' The city officials may indeed have a separate route by which to come, but because they are accustomed to intruding into other people's houses, they have chosen your own door as their target. Enough questions and answers. Alas, I see disaster approaching my own head. [*Walking.*] Kusumapura's incomparable fame has spread across the whole earth. That is why the word 'city' by itself is generally understood to mean this city. It contains many lofty buildings. People marvel at its varied prosperity, born from the abundance of goods for sale and the crowds who come to buy them.

But why marvel at that? There are many other prosperous cities. Let me tell you what makes this one extraordinary. For instance —

There are many generous people here; the arts are honoured; men associate agreeably with women; the rich, though intoxicated by wealth, are free from jealousy; men are made modest by learning; everyone is courteous in conversation, appreciative of one another's virtues, and grateful. Even the gods could abandon their heaven and live happily here in Pataliputra.

[*Walking.*]

Ah, that is surely Krishnilaka, the merchant's son, who has made his youth fruitful through association with the courtesans' quarter and has become dear to people like me. Fearing the ruin of the family, his father has tried hard to restrain him; nevertheless, he has somehow gone to the courtesans' quarter, beautified his body through the enjoyment of his beloved, and now comes rapidly this way. I must greet him. Let me approach. [*Approaching.*] Krishnilaka, continue to enjoy your youth to the full in this fashion. You are surely coming from Madhavasena's house. What do you say—'How did you know?' What is there to know? Lord Kama joins people of like nature. I am hardly different from people engaged in your pursuits. Or where else could you be going after leaving a woman forever thirsty for love? What did you say—'How did you know even that?' There is no great subtlety in it. For—

The collyrium from her eyes is visible upon your hand, where you wiped her face; and when you fell at her feet, the arrangement of the hair on your head became scattered and uneven. It seems you left your mind with her and managed to bring away only your body. That is why you walk the road with such difficulty, like a ship reeling beneath gusts of wind. What do you say—'Now I must certainly meet my father'? Dressed like this? He will fall upon you. What—'If Father sees me in this condition, he may give up his very life'? What would he not do to separate from you a woman of insatiable desire? A living father is a headache embodied for young men. So long as one's father lives, a man never even glimpses the kind of gambling—

—in which mutual challenges and scolding heighten the colour of the wager, abuse and quarrelling create the proper atmosphere, and brave men are put to the test. Nor can he even smell wine, fragrant as lotus-scented water and sweet as nectar, mottled by mango oil, its surface rippling beneath a woman's breath, poured into a cup shaped like a dancing peacock.

When, in a contest of factions, the company divides into two camps and forms its circles, courtesans press close beside their friends, and no one worries about raising the stakes while seated with a woman—then a man burdened with a father has no chance to play, or even to act as umpire. Nor can he run behind a drunken elephant while young women lean their full breasts from windows, dance their fingers in excitement, and watch him with admiration. It is not in his destiny to rush down the royal road at night, yellow in the blaze of torches, wearing only a loincloth, naked sword in hand, heroically prepared to break a friend's bonds—that is, to free him from prison. Intoxicated by the wish to repay a favour, he cannot dare to act rather than boast, grieve at the mere mention of repayment, and sacrifice everything for a friend.

All that might still be endured. But these fathers, like sons of slave women, never enjoyed youth themselves, and now wish to keep their sons away from the courtesans' quarter merely to protect their wealth. I feel like Parashurama, who took up the axe and made the earth without Kshatriyas; I too would make the world fatherless. Or perhaps these old men remained hungry throughout their own youth. The poor creatures—

—do not know that the nectar of a courtesan's mouth, fragrant as water scented by blooming lotuses and sweet as ambrosia, can restore even a dead man to life. And further—

The jingling girdle; the exposed, full thighs; the kiss given in trust; the slopes of breasts trembling and moving with breath; the oblique gaze beneath contracted brows; the strange thrill awakened by cries of pleasure; and sudden flashes of anger—who, having once become intoxicated by a courtesan's lovemaking conducted according to his desire and filled with all these things, could ever forget it?

What do you say—'Let me tell you my other trouble.' What is it? What—'My father has decided to arrange my marriage.' A curse upon me! May such a calamity fall upon no one's head. Alas, I have had to hear even this. It is enough to make one raise both hands and weep: a servant of the courtesans' quarter will now leave the royal road and enter the narrow lane of a respectable wife. Look—

Never devote your heart to serving and worshipping an innocent housewife, tied like an animal to a post—one who becomes utterly blind during lovemaking, keeps a miserable face, swallows every word before it leaves her mouth, makes even a cheerful man sad, is veiled by shame, and in her innocence has perhaps never even looked at her own thighs.

What did you say—'That is my own resolve.' If that is truly your resolve, I am pleased; it accords with my company. Go now. When you reach home, I shall instruct you again. [*Walking.*] The royal road of Kusumapura, packed with a vast crowd, is like an ocean covered with spreading circles of waves—terrifying to look at and difficult to cross. Here—

Anyone who sees me, however great his haste, will not pass without speaking. Even in the crowd everyone smilingly makes way for me. No one detains me long, for fear of obstructing my business. From the people here and their skill in conduct, I can understand how enduring the fame of this excellent city must be.

[*Walking.*] Ah, here is the lane leading to the courtesans' quarter, as winding as a gallant's intelligence. I shall take this road—

Here I fought; here I carried off a courtesan; here, frightened, I closed my eyes and fled. Remembering the pleasures I enjoyed here in rising youth, I go eagerly toward the courtesans' quarter. [*Walking.*] Ah, life has returned to me! I have reached the courtesans' quarter. [*Imitating a metrical recitation.*]—

This breeze comes after enjoying the faces of courtesans with half-closed eyes and waving locks; it is filled with the fragrance of garlands and wine, as though it were the very breath of the courtesans' quarter.

Ah! What incomparable beauty belongs to this courtesans' quarter, the office of Kama: mansions with summits high as the peak of Kailasa; windows brushed by the slopes of courtesans' breasts; buildings made rain-cloud-dark by smoke from aloes and incense; side doors laughing with offerings of flowers; girdles whose jingling awakens longing in lovers; anklets that seem to speak in a voice choked with emotion. Here maidservants move back and forth like banners of Kama's victory—ready with sidelong glances, their rows of teeth revealed by blossoming smiles, shaping speech with dancing brows, little wraps fluttering over full breasts, strutting when those wraps slip open in haste, graceful and quick in movement. And young courtesans appear everywhere, especially striking in their affectation: faces always adorned by laughter, eyes made wide with feigned surprise though they are never surprised, hair glossy, delicate, curling, fine, long, and black; steps slowed by the burden of hips; gait like a drunken elephant; pausing here and there like drinking stations that quench thirst with the water of love.

And rows of mansions seem to thunder, filled with the constant sound of drums and startled pairs of pigeons. Doorways, adorned by crowds of famous craftsmen and filled with flower offerings cast by distinguished patrons, compete with one another. Fragrant oils are being prepared to relieve the exhaustion of the battle of love. Cosmetic paste for full breasts is being ground. Delicate garlands, tender as the hearts of high-spirited women, are being carried away. The lute sounds, pleasing to the ear like the words of a beloved. Wine circulates, eager to serve as the relish for tasting a lover's lips.

With half-opened eyes, breasts uncovered under some pretext, shy laughter, witty remarks pleasing to the ear, soft breathing, and songs naturally sweet in rhythm, the courtesans compel Kama to keep his bow forever strung.

[*Walking.*] Ah, this is surely Varunika, attendant of Madanasena. Drunk with youth, she pays no attention to the band across her breasts; she wears a gauze-thin muslin garment; she has used her hip ornament, her girdle, as the knot of her lower cloth; and in affected play has removed the ornament from one ear. Her eyes are restless as a frightened fawn's; her swollen lips are well used; her naturally laughing face could shake even a sage's mind. Making scissors of the fingers of her left hand, she touches the flower at her ear, raises one brow slightly, sees me, laughs, and comes forward.

A thrill has risen on the cheek of this broad-hipped woman, as though the flower at her ear had secretly struck her with a kiss. How dare she pass without speaking to me? Let me address her. Dear Varunika, stop a moment. Why keep walking and waste my words? Fair woman, even your neglect delights me. Why have you stopped laughing? [*Coming close.*] Do not fold your hands. May I ask, slender-waisted girl: who received the first delight of these breasts? Why say only 'yes,' look shyly at me, tell half the story, and run away so quickly? All this is the magic of desire. [*Walking.*] Ah, at her own doorway Bandhumatika sits beside Chaturika, talking, brushing hair from her brow, making her eyes languid as evening lotuses, and stringing her own girdle. Ah, a task worthy of youth! What delicate work she has undertaken! How alluring is her concentration! This effort to arrange the girdle reveals the firmness of her body. What has she not said by proudly stringing that jeweled belt? Her skill in the arts of pleasure must certainly be worthy of worship. I should approach her. [*Approaching.*] Dear woman, may your task succeed. I need no seat. I wish to ask you something.

Proud lady, how did this girdle break? It is the intimate friend of a lover's fingers; a bright stream flowing from the lake of your navel; lightning flashing at the edge of the cloud of your blue silk garment; the mother of the exercise called woman-on-top lovemaking with the wrestler called man; the bowstring of Kama; the delicate voice of your hips, furnished with tiny bells; and almost a rosary for counting the pleasures of love repeatedly received.

But what is there to discover?

Red-eyed woman, your broken girdle, like a lute with snapped strings, must have made tasteless those hips of yours—spread like the forehead and massive flanks of a drunken elephant, eager for touch and moving with an elephant's gait—hips whose gauze garment your beloved trustingly removed upon the bed and gazed upon with love.

Why have you bowed your head and sat silent? Why do you not answer? I am going.

What do you say—'You must not go'? Then see, I stand still like a snake fixed by a spell. Shall I go? Very well, I am going.

[*Walking and listening.*] Ah, from Ramadasī's house comes a sound like a woman weeping. It may have many causes. Why, then, is she crying?

Weeping caused by anger is sharp in tone; by helplessness, soft; by love, broken and intermittent; by fear, flat; and by joy, choked with emotion. This woman's crying seems filled with both offended love and misery, for at first she cries at the top of her voice, then sobs slowly in broken intervals. My heart tells me it is Ramadasī herself.

Then let me go inside. [*Entering.*] It is she. On seeing me, she begins to cry even louder.

The tears falling from the corners of her eyes like heaps of anger seem to be counting her beloved's offences. [*Approaching.*]
Proud lady, what is the matter?—

Those tears first fill eyes that steal the beauty of fresh lotuses, then fall upon her lips. From there they slide onto the hard slopes of her breasts; finding no resting place even there, they flow onward in grief, scatter through the line of down upon her belly, and finally fill that deep navel into which her beloved sometimes inserts the tip of a finger for pleasure. Kunjara has not behaved as he should. What do you say—'He came to me bearing lips marked by another young woman's teeth. When I reproached him, he pretended to take offence and walked out; many days have passed, and he has still not returned.' Ha, ha, ha! What a mountain of crimes! A man deserves the severe punishment of expulsion from the house for any one of them; what shall we say of the whole collection? Yet, seeing the rainy season wrapped in clouds, I shall tolerate that villain's arrogance, for at this time even hostile kings abandon their quarrels—how much more a woman whose heart is soft as a shirisha flower! If you accept my advice, consider the season and go to your beloved on an assignation tonight.

At night descend from the upper storey of the mansion whose summit is touched by hanging clouds, and enter the path where the splashing sound of water pouring from the palace gutters echoes. Then reach your beloved and, trembling in the cool rainy wind, embrace him. Kiss his face, and when you have warmed the chill from your lips, speak your mind to him clearly in the midst of love.

How do your thrilled cheeks signal acceptance of my words? I shall go now. [*Walking.*] Ah, this is Ratisena. Sweating from remaining in the inner chamber, rolling her beautiful half-closed eyes, with hair spread across her cheeks and a faint glow of intoxication upon her face, she has only just awakened. She has opened the window and is taking the air. Her condition is wonderfully attractive. Let me speak to her. [*Approaching.*] Dear woman, may you be fortunate. With the intoxication still lingering in you, you look lovely as the western sky wearing the red glow of evening. Even Kama, having laid down his bow, would grow restless again at the sight of you—what need to speak of others?

Your consciousness is not lost; your voice retains its softness; the redness has not left your lotus eyes; your modesty has not departed; and when you remember what has passed, your face still fills with delight. Thus intoxication has shed its faults and remains in you as a virtue. Ratisena, you wish to dismiss me, but I do not wish to leave unfinished the conversation I began with you.

Why did you laugh and close the window? There—she has dismissed me.

[*Walking.*] Having been cheated like this, I am naturally a little dejected. Ah, here is Pradyumnadasi. Her cheeks are faded by lovemaking; her eyes are wide; a special tilaka has made her brow pale yellow; loose curls beautify her; and the weariness of passion seems to fill her face. Fresh nail-marks showing through a thin garment upon her hips look like the reflection of ashoka blossoms blooming in clear water. The friction of love has erased her cosmetics, as battle leaves the decorations of a female elephant disordered. She covers her lips with her hand as a lattice shields a lamp from the wind. Pacing like a filly that has been exercised, she enhances the beauty of the courtesans' street. I like this. Let me jest with her.

[*Approaching.*] Dear woman, why uselessly hide the beauty of lips bitten by your beloved's teeth, as though concealing the lovely body of a wounded warrior? Why did she laugh? Ah, my remark has turned her mistake into a joke. Yet even her gentle laughter has increased the beauty of the tooth-mark. For—

At her sharp intake of breath, her breasts trembled upward; as their edges rose, her belly drew farther inward; when her brows tightened, her gaze became oblique; and from the pain of the bite, the fingers of her lotus hand grew restless to soothe it. If by laughing in this way a woman can agitate another's heart, then a beauty whose lips are pained by tooth-marks certainly ought to laugh.

What do you say—'You have appeared after many days? The sin of these rains kept me imprisoned at home. Now tell me, with whom are you infatuated? What did you say—'I am coming from Ramilaka's house'? May this pair of matching natures endure. Bravo! Ramilaka alone has received Kama's tax-free estate. For—

Slender-bellied woman, fruitful are his youth and expansive laughter, since he drinks from your face—beautiful with a crescent-shaped tooth-mark—as from a crescent-shaped cup.

Dear woman, protect your lips from that wicked bird. Go; I too shall go. [*Walking.*] Ah, here the rogue Vishvalaka and Sunanda always keep their house door closed like Kumbhakarna's mouth, for fear of travellers. Vishvalaka has eaten and drunk away everything he owned and preserved only his body, like a naked ascetic; yet because he loves courtesans, he will not leave Sunanda even though he has no money—just as a crow will not leave the boundary of its village. Sunanda too, her youth gone and therefore unwanted by others, follows Vishvalaka like a river dried up in the forest. I should not pass without speaking to this pair.

I must call loudly: Who lives here? [*Listening.*]

Ah, I hear the clatter of wooden sandals striking the ground like the hoofbeats of a running horse. Vishvalaka must be coming. Yes, he is the one shouting. What do you say—'Who is braying like a donkey?' I am the messenger of Death come for Sunanda. Why did you fall silent when you recognised my voice? Why do you not open the door? Prepare yourself; I release the water of this curse.

May the left foot of a lovely woman—playfully raised in a lovers' quarrel and made musical by the jingling of her anklet—never reach your head. The door has opened. Then let me enter. [*Entering.*] What did you say—'Am I not dear to you? Is such a curse

proper?' Well said. A curse like this would make even Brahma's world tremble; what need to speak of you? Here is the penance that will counteract it. You must—

—give your heart's companion, whose tilaka is shaped like a newly opened lotus and whose gait is made lively by pausing steps, wine in which fresh lotus leaves float, whose flavour is enhanced by a relish of tilaka, and whose surface rises in restless waves when spilled in haste.

Then sit a little. [*Sitting.*] Ah, my feet have been washed. The royal road of Kusumapura is cleaner than the roof of a palace. Do not pamper my feet unnecessarily. What did you say—'At Ramilaka's gathering, during an entertaining debate among Vishnudasa and the other members, certain doubts concerning the science of love arose. When they could not resolve them properly, they urged me to state my opinion, and I did. I now want Bhava Devilaka to hear the same matter. Whatever you say afterward will be accepted as authoritative. I intended to visit your house to present the question, but you have graciously appeared yourself. If you have time—

—I shall speak.' You have my permission. I am attentive and shall answer to the best of my ability. The wind refuses to leave this cottage, like a child spoiled by affection, so I cannot remain seated long. If you agree, we can talk while walking; the assembly hall is long and spacious enough. What do you say—'There is no obstacle?' [*Rising.*] Now speak. What—'If a courtesan's relationship with a man exists only for money, how can one distinguish among the best, middling, and lowest kinds of courtesan?' Ah, gifts—

—gifts bring everyone in the world under control, especially courtesans. Nevertheless, distinctions exist among them, as those who understand higher and lower qualities say—

The lowest courtesan loves for gifts, or loves without any cause. The middling courtesan is pleased by full youth and beauty, or by gifts. But the highest woman serves a man who is generous, unattached, young, handsome, agreeable, and well adorned.

What do you say—'How can one recognise a courtesan tormented by desire?' I shall tell you—

Listen: a lovely half-open gaze; smiling eyes that enhance the beauty of the face; brief remarks filled with movements of the brows, signals, and expressive gestures; speaking while clapping the hands from time to time; a smile that vanishes the moment it appears; the exposure of navel, armpit, and breasts; repeatedly touching the girdle; and panting, difficult breath—these signs reveal a woman struck by Kama's arrows.

What do you say—'Courtesans display many signs of desire in order to deceive, or through their skill in acting. How can such signs be trusted? How can one recognise a woman whose desire is genuine?' Listen—

Sighs filled with tears, a gaze soaked in affection, emaciation, drops of sweat, and pleading even after the money is gone—by these one knows the purity of feeling in a loving woman. [*Walking.*] What do you say—'Why does a first union create hesitation?' Listen. A first union is full of shyness for a woman; at such a time even an experienced rogue becomes confused. And further—

At first, merely joining the thread of conversation is difficult. Once the conversation has begun—

—obtaining a reply is difficult. When familiarity produces much talk, establishing mutual trust is difficult. Once there is trust, obtaining lovemaking according to one's desire is difficult. And even after perfect lovemaking is obtained, whether the courtesan will love or not remains uncertain.

Before a king, in an assembly of scholars, and at a first meeting with a young woman, the heart trembles with fear and even brilliant eloquence stumbles.

What do you say—'Why does love arise merely at sight, even where there is no virtue? And how should one deal with a troublesome woman?' It is pointless to argue about the cause of an observed fact. The great advantage in the realm of love is that, even if one falls in love with a person without virtue, one may at once abandon her if she becomes neglectful. For—

The sorrow of separation from a beloved may be borne when that beloved is noble; but a heart broken by the beloved's contempt cannot be joined again.

What did you say—'If a woman desires a man but he cares little for her, should such a woman be abandoned?' No, no, no. While protecting one's love for another woman and preserving one's own graciousness, one should from time to time show affection toward her as well. For a man who neglects a virtuous, youthful, loving woman should be yoked to a heavy-ploughed field like an ox scorched by a farmer's abuse.

[*Walking.*] What do you say—'How should a man who has truly offended a woman appease her?' Doubt is reasonable here. The anger of a loving woman is difficult to treat, like an irregular fever; yet her anger must be removed. Young men today consider falling at her feet the remedy, but I do not regard it as especially excellent. Since we touch even the feet of an elderly Vedic scholar—hard and shrivelled like old pebbles, roughened by wooden sandals, and stinking from massage with rancid ghee—what heroism is there in falling at the feet of a woman tender as a young leaf? Yet even this method has a fault.

Grasping her feet will make tears flow; when the beloved weeps, humility and wretchedness will arise; and once wretchedness arises, where will desire remain? Others say, 'Appease her by swearing an oath.' That too does not produce reconciliation. Even a respectable wife does not trust a lover's oath—what need to speak of a courtesan? If she does trust it, why is appeasement needed? It is said that residence in a village, instruction from a Vedic scholar, dependence upon others, miserliness, and an innocent wife—these put an end to a man's desire.

Some say, 'Make her laugh by some means. Once laughter reveals the depth of her resolve, she can be crossed easily like a river.' I say that even if this succeeds, one loses the pleasure of a beloved's offended pride. For—

When the beloved slightly draws aside her hanging, fine garment, moves her lower lip, sweetly utters bitter words that are delightful at such a moment, and places upon the lover's head her left foot, tender as a fresh lotus, rogues regard it as the fruit of an amorous quarrel and the savoury offering of youth. Therefore a woman's anger may also be removed through laughter and jest. Very good. Considering remedies for a woman's anger, I think a kiss taken by force yields immediate results. For—

Holding with the left hand hair strongly fragrant with incense, restraining both her hands for a moment in one's right, and drinking from the beloved's moonlike face produces such delight that a lover satisfied by it does not weaken even in old age.

What do you say—'What remedy do you prescribe for a man who carelessly speaks another woman's name by mistake in his beloved's presence?' For a lover, uttering another woman's name is a great calamity; like a snakebite, it is difficult to treat. Let me think for a moment. [*Thinking.*] Yes, I understand—

Brazenly deny the whole matter as a plain lie; or become still as though terrified; or build a bridge of praise for the woman before you; or dissolve the matter in laughter and jest; or turn the conversation elsewhere and draw a new subject from it; or, along with the one name, utter many other names. These are the remedies for the disease of accidentally speaking the wrong name.

What do you say—'Why do nail-marks and tooth-marks give pleasure though they cause pain?' Ha, ha, ha! You have asked a very innocent question. Look: though nail-marks and tooth-marks are painful, they produce delight in lovers. For—

Just as a horse gains speed when the charioteer drives it with the whip, so during lovemaking tooth-marks and nail-marks bring both hearts into a single rhythm. [*Walking.*] What do you say—'How can one tell from a courtesan's behaviour whether she is detached or attached?' What doubt is there? Here is the teaching on this matter.

One may petition a loving woman for love. As it is said, even great souls cannot conceal the form of their inner feeling; how much less an inexperienced woman with a tender heart? Close attention should be paid to her gestures. What do you say—'How?

A woman who bursts into loud laughter for no reason, speaks without cause, rises abruptly, fails to understand when spoken to, displays none of the graceful crookedness of women, embraces tightly and then suddenly releases, and grows restless when the man begins lovemaking—however clever she may appear when passion is ending, she is like a barren vine that produces flowers but no fruit.

What do you say—'If aversion arises, can it be treated, or is there no remedy?' Listen. Love arises in two ways: with a cause and without one. Love born from a cause may turn to aversion through that very cause; causeless love may turn to aversion without cause. What treatment is possible amid the difficulty of attraction and aversion? I shall tell you the methods appropriate when love has grown slack—

The enjoyment of another woman; an interruption of lovemaking for some reason; firmness—that is, advancing first in desire—or a quarrel; delay and evasion at the time of love; sitting together; skill in conversation; honouring or praising her relatives; a journey abroad under the pretext of a courtesan; travel to a great city; a daring exploit involving risk to life; and gifts—all these revive a woman's weakened passion.

And listen further—

A young girl is won by treatment suited to a child; a woman greedy for wealth, by gifts; a clever woman, by cleverness; an angry woman, by consolation; a proud woman, by service; and an agreeable woman, by agreeableness. One should deal with each woman according to her nature. [*Walking.*] What do you say—

'How can one bring under control a woman who displays signs of desire on one side, yet does not speak; who says "Enough, enough" and will not come close; and who withdraws at exactly the proper moment?'

Well asked. A lover must first understand a woman's nature; perhaps this is simply her disposition. But a proud woman can never be brought under control throughout life without strategy. Let me reveal the secret of women.

A man who gets a woman alone and carries her off as an elephant crushes a creeper; or, taking her to be intoxicated, gains mastery over her with sweet words; or spreads many nets and deceives her; or conceals what is in his own heart—none of these efforts is fruitless, for women move like storms. [*Walking.*] What do you say—

'Lovers recognise four kinds of union: after anger has been calmed, at a first meeting, at the time of departure on a journey, and after return. Which do you value most?' In my opinion, lovemaking at a first union, before one knows the depth of a woman's trust, is full of danger like a bottomless pond. Nor do I—

—find union at the time of departure pleasing. Then grief overwhelms the woman and diminishes her passion; tears fill her eyes, anxiety fills her heart, and lovemaking becomes flavourless and pathetic, like the moon under eclipse. Union after return from a journey resembles an assembly in the rainy season, for the beloved is unadorned and modesty makes her display passion only faintly. But lovemaking after offended pride has been appeased is superior even to the elixir of immortality squeezed from the ocean—an ocean churned violently by Mount Mandara in the hands of gods and demons and made potent by the juices of countless herbs. It stabilises life and strength.

Lovemaking with a woman who, though her anger is outwardly calmed, has not abandoned it in her heart becomes extremely fierce through rapidly inflicted nail- and tooth-marks. [*Walking.*] What do you say—'Rogues laugh at a man deceived by a courtesan. How can a lover protect himself from a courtesan's fraud?' A courtesan and a clerk are alike in striking wherever they see an opening. The clerk, like the courtesan, demands that his fist be warmed, but then allows one to sit in peace for a while; a courtesan, like a disease of wind, makes one spend greatly and does not even allow one to sit in peace. Only a man who knows how to manoeuvre as I do should set foot in the courtesans' quarter. I—

—never trusted a woman whose youth had declined; I tested a young girl thoroughly before staying with her; I kept far away from a courtesan ruled by her mother, as from a river full of crocodiles; when insulted, I did not grow angry, and when begged, I did not swell with pride at the respect shown me. I have grown old in the courtesans' quarter without wasting even a little money. [*Walking.*] What do you say—'If a man has two beloveds and both arrive at once, whom should he honour and whom abandon—the old beloved or the new? You answer.' This is a crooked question; the answer seems difficult. What is your own opinion? What did you say—I understand nothing; the question is very tangled. You answer.' Then listen—

One should not abandon a first beloved out of greater passion for a new young woman. Nor should one abandon, merely to please the first, a new and desiring woman who has come of her own accord. If the old beloved, neglected and angry, goes away, then in private one should obtain the new woman's consent and use her advice to appease the first. [*Walking.*] What do you say—'While roaming in the courtesans' quarter, how can one judge a woman's mastery of desire merely by looking?' Nothing is unknown to the clever. At the very sight of a woman, a man should first understand her gaze—

—for every emotion is contained in the eyes. Look—

Rolling the eyes, lightly blinking, looking sideways, filling the gaze with passion, widening the eyes, boldness in the look, and restlessness of the pupils—such forms of vision reveal that a woman is skilled in desire.

Lovemaking is difficult with a woman whose cheeks are slightly turned and thin, whose brows are restless, and whose gaze is oblique. With one whose lip-corners contract, whose body is covered with nail- and tooth-marks, and who smiles gently, one may make love without fear. Trust also a woman whose left hand rests upon her hip, whose right hangs beside her in the vine-hand gesture, and whose hips are drawn to one side and lifted—though such a woman is never without pride. A woman who covers one breast with the end of her wrap, places one foot affectedly upon her threshold, and looks out while concealing her body beside the doorway is not a woman but a complete snare. Her condition is revealed by her affectation. One who grasps the upper cat-shaped bracket of the door—the 'cow's udder'—raises both arms in a stretching pose, loosens the knot of her lower garment, and displays her navel: her behaviour makes the prelude to lovemaking so clear that nothing remains to be inferred. Much may be said on this subject, but I shall speak briefly.

Red palms and fingers; clean nails; a hand placed upon the cheek; speaking with lively hand gestures; a beautiful gait; a smile upon trembling lips; a restless glance; a confident expression; and the knot of the lower garment tied beneath the navel—understand a woman with these signs to be either a net for trapping men or a supreme heroine in the battle of love. [*Walking.*] What do you say—'A woman's desire is of two kinds, open and concealed. Which is superior?' Open desire is suitable only for a courtesan, and even then may be counterfeit. Concealed desire occurs in both courtesans and respectable wives. Feeling born solely from affection, being less flawed, is especially attractive in a courtesan. Because men are scarce to her, a respectable wife may desire one man or another; but a courtesan does not desire everyone. Some hold that 'a courtesan incurs no fault by making love with anyone, so why should she need concealed desire?' I say: old acquaintances, the king's brothers-in-law, men who give a little money, devoted admirers, and flatterers who bare their teeth even when angry—all these hover around a courtesan's mother with praise. The courtesan may not desire them, yet she must make herself attainable to them; even without desire, she must act the part of love with such men. Why? For self-interest. Therefore, if a courtesan with concealed desire truly loves someone, that man receives the full fruit of birth and life. And when, in separation from someone, the courtesan herself comes as her own messenger and speaks in a voice choked with feeling, is that a small piece of good fortune for the man? Imagine further the state in which, absorbed in thoughts of her lover, she grows pale like an invalid, weeps for him at moonrise, wakes night after night until her eyes redden, becomes thin with desire on his account, lays aside her ornaments, and keeps speaking words of reproach: 'Cruel man, may all be well with you. It is because of you that my body has come to this condition.'

Or imagine the moment when a man hears words full of sighs: 'Beloved, I ask only this—that you have mercy on my body.' Or the condition beyond that, when the courtesan embraces her lover and says at one moment, 'Lord, be quick,' and at another, 'Enough, do not do that,' while rising again and again to make tooth- and nail-marks. Then the man gains the fortune of hearing words that surpass even the use of elixirs: 'Beloved, I have become like this for your sake. Believe me. I swear by you!' When he hears such words from a messenger, or learns her condition from visible signs and thinks, 'Truly she has come to this state because of me,' the compassion-soaked joy that arises in his heart has no equal. If you can name another pleasure like it, I shall abandon roguery and become a Brahmin reciter of the Vedas. And further—

The fortunate man who, according to a secret signal, gains for a moment at night a private meeting with his beloved—slender-waisted, walking slowly with a hand upon her girdle, desire-stricken, frightened, and restless-eyed—and kisses her while both remain standing: I am ready to hold a lotus parasol over his head with my own hands.

And for the woman who, flustered, says, 'Beloved, hurry'—for a woman who surrenders herself in this way—a man becomes her purchased slave even at the price of his life.

[*Walking.*] What do you say—'Between a beautiful woman and an agreeable one, which do you value more?' Both qualities adorn a woman. If an ugly woman is agreeable, it is useless like dancing in darkness; and without agreeableness, what pleasure

can beauty give, like moonlight in a forest with no one to see it? Yet I consider agreeableness more important than beauty. Why? Agreeableness adorns even an ugly woman, whereas arrogance spoils even a beauty. Men are seen to leave a beautiful woman and delight in one who is ugly but agreeable. Beauty breeds pride, and pride is the enemy of desire. The root of desire is mutual responsiveness, and that becomes possible through graciousness and compliance. If beauty alone caused satisfaction, a painted woman would fulfil the purpose. Agreeableness contains every virtue except beauty: such a woman is sensitive, does not remain angry long, is free from greed, and is obedient. What did you say—'It is said that a courtesan, because her courtesy is artificial, is not fit for the company of gentlemen. Why?' A special mode of conduct used to accomplish a purpose is called an expedient. In women, expedients are both natural and artificial. The very purpose of a courtesan's expedient is to achieve her own end. Some say that conduct accompanied by cunning is artificial; but even such conduct may be faultless. How? Proper hospitality offered cunningly still pleases the heart; hospitality offered sincerely but in the wrong way pleases no one. Cunning is simply special skill in accomplishing a task. A woman seeking her own purpose must certainly find a man especially suited to it. Men remain pleased only with a woman who recognises the exceptional man. And further—

Modesty, sweet speech, patience, and labour by day and night—if all these virtues can remain together with cunning, who will call such cunning base?

What do you say—'The essence of cunning is acting against one's desire. A lover suffers when he receives behaviour contrary to his heart; there is no remedy.' Anyone may become hostile when a cause arises. The fault belongs to the person who cannot remove that cause. Mutual opposition is a defect only where two people cannot unite for one purpose. Many couples are seen who, though opposed in some matters, remain delighted through close harmony in others.

Trembling breasts, a tear-filled glance revealing the heart's secret, and whispered conversation full of beautiful words—even if produced through cunning, all these are still counted as virtues.

What do you say—'Many people say that all money given to a courtesan should be considered lost. Dattaka too said that desire is the total destruction of a man's wealth. What is your view?' Wealth has only three uses: giving, enjoyment, and burying it. Giving and enjoyment are excellent; burying is blameworthy. For—

Buried wealth produces no fruit. When it is fruitless, it creates discontent. Money, changing place like the gait of a prancing horse, is not meant merely for accumulation. Wealth and virtue give pleasure to the body. Pleasure is the attainment of desired objects—sound, form, touch, and the rest—and the company of courtesans supplies these abundantly. Among all sounds, sweet speech gives special pleasure. Only courtesans know how to speak sweetly; others do not. For—

Only courtesans know how to say pleasant things pleasantly, or even to express something bitter, at the proper moment and in few words, in a pleasing manner. Filled with graciousness, they can never speak harshly, nor do they utter a pleasant thing in an unpleasant way. A man who delights in touching the hips of a courtesan—with full rounded thighs and buttocks, a loosened gauze garment, and a fastened girdle—would give even his life for her, not merely money. Among all tastes, drinking wine is greatly censured; yet in a courtesan's company even that gives joy. Look—

The man who drinks wine that has foamed in the cup because it was poured in haste, that remains after she has drunk, or that she has sipped and rinsed from her mouth, and that between draughts gives him the relish of drinking from her lips—he alone receives the true pleasure of the courtesans' quarter.

The man who has seen the face of a courtesan with half-opened eyes, trembling lips, long-drawn brows, and cheeks beaded with sweat has obtained the full fruit of his eyes.

And further—

The dry ends of a courtesan's hair after bathing; her heavy coiffure adorned with flowers; the garment she has worn and cast aside; red lips fragrant with her breath; a face opened by wine; or a body moist with sandal paste—once a man has breathed these scents, Kama surely enters through his nostrils.

I possess no special authority in religion, yet I shall say how religious merit is gained. In this world ingratitude is heavier than every sin. More ungrateful still is the man who receives incomparable, desired pleasure from a courtesan and does not benefit her in return. If he is grateful, heaven lies in his fist. Therefore, to obtain heavenly pleasure, one should fearlessly give wealth to courtesans. What do you say—'Why does a compliant respectable wife not give pleasure equal to a courtesan?' Listen. The compliance of a wife is one thing; that of a courtesan another. If a wife is simple, she first says a pleasant thing at the wrong time; then, regarding her husband as exceedingly dear, she also says unpleasant things. This is seen everywhere. Desire is a special longing, and petition too is a form of longing. Petition arises from not obtaining something. Even when a courtesan has been won, the longing for her remains filled with jealousy, because everyone has a claim upon her. Jealousy produces greed; therefore desire for a courtesan does not fade. Desire is the root of passion. And further—

What conscious being, once mounted upon the chariot of a courtesan's hips, would care for a respectable wife? No man abandons a chariot to ride in an ox-cart.

What do you say—'A man devoted to courtesans is not honoured by society, and people do not like even his opinions. If there is virtue in visiting courtesans—

—why is it not openly accepted?' You have asked a very cunning question. Give me a moment. [*Thinking.*] Worship is of two kinds: fruitful and fruitless. Fruitless worship is laughable, like the efforts of a naked ascetic. What fruit has been gained by one who never attached himself to a courtesan? Someone may say, 'Association with courtesans causes disgrace.' This is not worthy of

belief; everyone envies a happy man. People say, 'Another man's wife is forbidden,' but no such rule is spoken of courtesans. Someone may say, 'Association with women is not beneficial, and courtesans are women.' My answer is this: a man whose own mind is attached to women should not blame another. And further—

[*Expanding the preceding statement.*]

Boldness of nature; courage in one's own place; ready wit; refined taste; brilliance of temperament; the ability to read another's mind; laughter and good cheer; knowledge of the best methods of lovemaking; the delight of a loving woman; the acquisition of arts such as painting; and excellent comfort—if a lover obtains all these in the courtesans' quarter, why do people condemn that quarter?

Why indeed?

[*Walking.*] What do you say—'Brihaspati, Ushanas, and other lawgivers say that one should not associate with women. What is your opinion?' That is empty instruction. I see no one who does not associate with women. We hear that Indra and others themselves had dealings with Ahalya and other women. Sensual enjoyment is superior to virtue and wealth, because it fulfils the mind's desire. Sensual enjoyment is especially embodied in women. I consider cheated the man who abandons courtesans in the hope of divine sexual pleasure in heaven.

Of this life and the next, this life is superior because its fruit is visible. What pleasure do you see in another body, whose attainment is uncertain and comes only with great difficulty after austerities? Look: on a rainy, moonless night when cloud dims the lamp of the moon, double darkness makes the world terrifying, an intensely cold wind blows, and water and wind make movement difficult—a man awakened by the jingling anklets of a solitary woman, tormented by Kama's arrows and coming secretly to him, receives the full fruit of his life and birth. What did you say—'Wearing anklets greatly assists a woman on an assignation.' Yes, exactly. For how could a flustered man at a first union surrender himself if the anklets did not ring with the movement of her feet? If, awakened by that sound, he receives for kissing a face whose cosmetic mark has been washed away by rain, whose collyrium has run, whose lips tremble, and whose breath is fragrant with wine, then even the suffering of hell—hanging head downward for many cosmic ages—would seem dear to the man whose heart has joined with that young woman. Or in autumn, when the veil of cloud has lifted, the moon rests like a tilaka upon the sky, the storm has ceased, and the directions are fragrant with dripping asana blossoms—what need has the man for heaven who sports in a lotus-filled tank with his beloved, whose girdle imitates the call of cranes, whose cosmetic mark glows like the red bandhu flower, and who has learned the secrets of love from the chakravaka birds?

Or in winter, when the wind is filled with the scent of flowering lodhra mingled with jasmine, and women swagger with sprays of priyangu in their hair, no comparison can be given for the pleasure of a man who lovingly insists on drinking from the mouth of a beloved whose lip is cracked by the violence of cold and who, even while trying to protect it, challenges him to kiss.

Or in a private chamber where burning black aloes cover the room in clouds of smoke and pearl-like flowers are spread upon the floor, while a sharp wind blows droplets like frost—in such a dark cold-season night, what has a man not obtained if he lies upon a beautiful bed, his chest pressed by the full breasts of his love-absorbed beloved, his body fragrant with drops of sweat born from a tight embrace, and at the end of passion falls into a sweet doze? And further—

One must thirstily drink from the sighing face of a beloved who tries to protect her cracked lower lip from kisses and casts a sidelong glance when her hair is seized and drawn upward. Where in heaven, where there is no censure, can such pleasure be found? Or on a spring day when drops of sweat erase the tilaka, cuckoos fill the gardens, women string jewelled girdles, mango trees show new blossom, and the wind is fragrant—when a beloved, abandoning pride and coming of her own accord through love, forgets that she had to be appeased and begins instead to appease the man, he should desire no other pleasure. Or in summer, when a shirisha flower worn at the beloved's ear darkens her cheek, water vessels, pearl necklaces, sandal paste, and breezes from vetiver fans bring delight, and the sun's rays blaze fiercely—the man who lies on a flower bed in an airy pavilion, rests a hand upon the beloved's coiffure adorned with fresh jasmine, enjoys the breeze of a palm-leaf fan beside her breasts moist with sandal paste, and passes the afternoon there—or who is detained by his beloved in a ventilated room whose floor has been sprinkled with scented water and strewn with bakula, jasmine, and blue lotuses—has taken the full delight of youth. And further—

The savour found in the lotus-surpassing face of a beloved whose lips tremble from tooth-marks; the pleasure of removing the garment from hips shining in the light of the girdle; or the beauty made upon full cheeks by nail-marks—a mind trapped in such pleasures does not wish to become detached even in another birth. Poor people follow one another like ants on the road to death, repeating the false cry 'There is heaven, there is heaven' about something they have never seen, fixing their minds upon a mirage, and seeking heaven through pretences such as living on air, throwing themselves from mountains, entering fire, severe recitation, sacrifice, vows, and observances.

They do not even wish to test what the truth is. We hear that in heaven a woman assigned to each man stands ready. If so, amid so many mutual contradictions, what pleasure will a man obtain with that celestial nymph? Since she is always attached and separation never occurs, how can she give delight? Because they remain strangers to one another, even the manifest pleasure of love cannot be found with such a woman.

We hear of golden houses and golden trees in heaven. The gods must have accumulated this capital through their natural miserliness. If houses and trees are both gold, with what is a woman adorned? Where is distinction? Is a piece of gold to be broken from the building to enhance her beauty? Where in a hard golden tree is the delight a woman receives from a young tree in her household garden—raised and honoured by her own hands like a son, and giving flowers to adorn her hair? Where in heaven, where women are always frightened by the threat of curses, is the pleasure of lovers ruled by youthful desire, eager to see one

another, thirsty to hear the cuckoo's call, reproaching each other, and wishing to obtain the fruit of love? Where in jealousy-free heaven is the equal of the pleasure of a man whose long day passes with friends devising lovely ways, suited to her desire, to appease a beloved who has taken offence?

Where in sleepless heaven is the pleasure of sleep into which a beloved with expressive limbs sinks a man while lying upon his chest and satisfying his very life-breath with exhalations fragrant with bakula flowers? Where in wineless heaven are the broken, deceitful, sweet words spoken to a lover by a woman drunk on Varuni? Where is kept in heaven the sexual pleasure gained from the embrace of a new bride, accompanied by delightful cries and the three rhythms of breath? I would rather sit with an old Vedic scholar than with an apsara. I hear those crooked old celestial women pompously pour out Sanskrit. What trust can one place in women from whom great sages such as Vasishtha and Agastya were born? Look—

Cunning, lies, intoxication, jealousy, insult, and offended love—all these awaken desire, and heaven contains not one of them. Therefore, anyone who wants unobstructed experience of love should enjoy it here, especially with courtesans.

A luckless man whose procuress must follow him a long way with tears in her eyes to win him back, or who must seize the end of a beloved's garment and drag her back as she runs away in feigned anger, or who can appease only with difficulty a woman who is genuinely angry—if such a man remains angry with his beloved, he crushes with his own hands the chariot that bears the banner of Kama.

Ah, there is Sunanda. What do you say—'We have heard everything'? See, I have sold my merchandise. Dear woman, you must not deceive me. What—'Darkness does not drip from the moon.' Sunanda, that saying suits you; therefore you have spoken it. Now let us go inside. [*Entering.*] I now ask leave to depart. The sun, like a golden tortoise, slowly withdraws its feet and sets. Women fasten loosened girdles, drink one cup of Varuni, decorate with flowers hair eager for the touch of a lover's hand, and, resting a hand upon the girdle in the karavalambita pose, look at him from the corner of the eye. What do you say—'You cannot move even half a step from here'? But I must go. Otherwise my wife will welcome this garment in another fashion. You—

—what did you say—'I shall appease her'? She is impossible to appease, like a villain who knows the king's secret and yields to no entreaty. Why are you and Vishvalaka both clinging to my feet? Alas, these two have made me lame. Sunanda—

—as the great ocean never abandons the shore, so I shall not abandon you. May the king protect this earth adorned with the ocean as her girdle.

[*The GALLANT exits.*] *Thus ends Dhurtavitasamvadah, the one-actor play (bhana) by Ishvaradatta.*

THE MUTUAL ASSIGNATION

Vararuchi's original Sanskrit one-actor play (bhana), Ubhayabhisarika (translated from Sanskrit into Maithili by Gajendra Thakur)

[After the benediction, the STAGE MANAGER enters.]

STAGE MANAGER:

"Who are you to me? Who am I to you? You rogue, let go of my hem. Why are you staring at my face? Handsome sir, I am not pining for you." [Laughing loudly.] "I recognize those lips marked by your beloved's teeth. Away, you fickle man! The woman who is sulking belongs to you—not I. Go and appease the woman who dwells in your heart." May other men's wives, tormented by desire and angered by lovers' quarrels, speak to you gentlemen in just this fashion.

That is what I say to you, honoured spectators. Ah, I am eager to begin—but what is that sound? Splendid! Let me see. [From behind the scenes:]—

At the beginning of spring, the withered lodhra tree stands like a wretched gallant made anxious by a friend's errand.

[Then the GALLANT enters.] **GALLANT:** Ah, what splendour spring displays! The beauty fashioned from cuckoos, mango blossom, ashoka, swarms of bees, excellent wine, moonlight, and all the special graces of spring could disturb even the mind of the God of Love. Ah, lovers are now forgiving one another's faults. Ah, go-betweens come and go with unchallenged authority. Ah, spring has reached the height of its magnificence. Girdles strung with coral, pearls, and gems, fine silk, gauzy garments, necklaces, and green sandalwood paste now yield redoubled delight. In this blossoming spring, which awakens desire in everyone and pleases the whole world, Kuberdatta, son of the merchant Sagaradatta, has had a disagreement with Narayanadatta. Kuberdatta therefore sent his servant Sahakaraka to me with this message: "At the temple of Lord Narayana Vishnu, Madanasena was performing the musical drama The Worship of Love in accordance with its proper sentiment. I neglected Narayanadatta and praised Madanasena. Suspecting that I was in love with her, Narayanadatta became angry, ignored me though I fell at her feet, and went home. Because of her, one night passes like a thousand to my love-stricken heart. I therefore beg you, who stand firm in the Courtesans' Quarter—this city's perpetual spring—to reconcile me with her." The moment I heard him, partly from acquaintance and partly because I know the torments of love to be unbearable, I set out this very evening. But my wife, trusting neither my declining age nor anything except her own sense of my remaining youth, suspected another motive and tried to stop me. Yet I have vowed to remove Narayanadatta's anger, so I must go. But why should I need a vow for such a task?

And further—

Beauty, playful youth, generosity, an obliging nature, patience, and conciliatory speech—when a man possesses all these virtues, what other help does he need to win a woman? [Walking.] Ah, the incomparable splendour of Kusumapura's royal highway! Its lanes, sprinkled with scented water, swept clean, and bordered on every side by heaps of flowers, look like bridal chambers prepared before neighbouring houses. The fronts of the shops shine with crowds of customers buying and selling all kinds of goods. Palaces resounding with Vedic recitation, music, and the twang of bowstrings seem, like Ravana's many mouths, to be conversing with one another. Here and there, at the open windows of cloud-like mansions, young women glitter like lightning, curious to look down upon the street—celestial nymphs upon Kailasa. How magnificent, too, are the chief officers riding this way and that on great elephants, horses, and chariots! Young maidservants, coquettish enough to steal the eyes of youths and adorned with ornaments suited to every limb, come and go, mocking the beauty of heaven's maidens. Courtesans whose lotus faces are drunk in by the bee-like eyes of all men seem to favour the street merely by strolling upon it. In brief—

Fearless, joyful, forever absorbed in festival, adorned with costly gems and ornaments, resplendent with garlands, perfumes, and garments, immersed in sport and pleasure, and filled with citizens renowned for manifold accomplishments—the ground of Pataliputra has become heaven itself.

[Walking.] Why, here comes Anangadatta, Charanadasi's daughter. Placing each soft foot with the measured languor of exhaustion after love-play, she approaches as though she were nectar for every eye. Surely her lover has plundered her pleasure without mercy! For—

Her lips bear the marks of teeth; her restless eyes are heavy with sleep; and her broad hips are encircled by the loosened strands of a girdle disordered in love-play.

Ah, the very sight of her will accomplish my errand. What! She has passed without even looking at me. I shall speak to her. Ah, she has turned back of her own accord. My dear, why do you not greet me? What do you say—"I recognized you only after a moment; I offer my respects"? Then hear my blessing—

May you obtain a lover who is young, independent, generous, handsome, wealthy, honourable, accomplished, and devoted to the arts of love. My dear, let us leave all that aside—

The God of Love himself is his attendant, and only that man's life is fulfilled who has spent one night with the Fortune of the Courtesans embodied in you. What do you say—"I am coming from the house of Nagadatta, son of a high minister"? My dear, his magnificence is already an old tale. Plainly you joined him against your mother's wishes. Why does she hide her face and smile in embarrassment? Excellent—my guess was right. Beautiful one, do not be ashamed. For—

Defying your mother's greed, you fixed your heart on the pleasure of love. You abandoned the highly profitable law of the Courtesans' Quarter—a law difficult for any courtesan to forsake—went to your lover's house, and revelled there with him in genuine delight. By these virtues you have placed every courtesan beneath your feet.

Your modesty is indeed fitting. What need is there to swear it? I shall go to your house and pacify your mother. You have acted contrary to the ordinary nature of a courtesan. You may go now. What do you say—"I offer my respects"? Fortunate girl, hear my blessing—

Your qualities, because they dwell in you, have themselves become virtues; what praise can add to them? May your youth, which enchants the world, remain unchanging. She has gone. I too shall proceed. [*Walking.*] Why, here is Madhavasena, Vishnudatta's daughter. Ignoring the attendants who follow behind her, she hurries this way like a doe pursued by a tiger. Clearly she is miserable because her mother's greed has forced her to meet a man she does not desire. For—

Her face is not faded, nor have the flowers fallen from her coiffure; the tender beauty of her lips has not been marred by bites. The sandal powder upon her breasts remains undisturbed by any close embrace. The girdle at her hips has neither loosened nor fallen awry through passionate love-play.

Ah, terrified by union with an unwanted man, she has passed without even seeing me. I shall approach and learn the cause of her distress. Splendid—she has turned back herself. What do you say—"I did not see you"? My dear, the fault is not yours; the mind of one shaken by misery is itself confused. What do you say—"I offer my respects"? Then accept this blessing—

May the man you love be rich and the man you dislike be poor. May your mother's greed never again compel you to unite with an unwelcome man. My dear, where are you coming from? What do you say—"From the house of Samudradatta, son of the caravan-master Dhanadatta"? Ah, well done! These days he is Kubera himself. Why does she sigh deeply, make the tender bud of her lip tremble, and turn away a face whose eyes glare beneath crooked brows? Alas, my suspicion was correct—

Young girl, it is plain that you went sorrowfully to his bed last night, performed an imitation of love, and waited only for daybreak. Every movement of yours was without feeling. With difficulty you offered your lips for a kiss; there were no sweet words, no laughter or play; you yawned and breathed hot sighs; even the embrace of your arms was slack, and passion was nowhere to be found.

My dear, do not despair. The texts declare that even a rich man without beauty may be accepted. Listen—

Whether a man is unwanted or beloved, a courtesan must awaken in him the fullest passion and acquire his wealth: such is the rule of the science.

What do you say—"You think exactly as my mother does"? No, that is not what I mean; there is a reason behind the rule. Go now. I shall come to your house and explain the true meaning of the science. Ah, she has departed without greeting me. Either her education is defective, or perhaps the poor girl's agitation is to blame. I too shall attend to my errand. [*Walking.*] Why, here approaches the wandering nun Vilasakaundini, placing each foot slowly and with studied grace. Her beauty is nectar to the eyes. Bees, maddened by the scent of her perfumed robe, have abandoned the mango tops and hover around her.

I shall speak to her and satisfy the curiosity of my eyes and ears. Reverend lady, I salute you upon the Mountain of Courtesans. What do you say—"I have no business with one firmly established in the courtesans' quarter; I delight in one firmly established in the Vaisheshika philosophy"? There is good reason for that. For—

Your great and lovely eyes never remain fixed upon one object; your face, made more beautiful by languor, has swollen lips worn by love's exertion; and your wearied gait proclaims a festival of passion. Fortunate woman, plainly your lover has taught you the doctrine that "sexual delight alone is an eternal substance."

What do you say—"Slave of desire, you have spoken only according to your own taste"?

Blessed is the man granted servitude at your lotus feet. Slender beauty, how could such grace ever be attainable by a sinner like me?

What do you say—"My teacher has forbidden me to converse with anyone who does not understand the six categories"? Reverend lady, quite right. For there is Quality; your youth is Universal—that is, open to all; young men praise your Motion—that is, your gait. Noble lady, everyone desires an eternal Inherence—that is, union—with you—

Because you possess a Particularity—an everlasting distinction—from all others. You enter Conjunction with a young man of your choice, and obtain Liberation—that is, separation—from one you do not desire.

Ah, she answers my speech only with laughter. My conjecture was right. What do you say—"The Sankhya teaches that Purusha is untouched, without qualities, and the knower of the field"? Excellent! You have silenced me completely. My chatter seems to have made you impatient. It is improper to obstruct a woman's love-play with a young man. Go now about your business. She has gone.

Then I too shall move on. [*Walking.*]

Why, here is Ramasena, mother of Charanadasi. Though old, she approaches imitating a young woman with amorous glances, gait, and laughter. What a marvel she is—

Having enjoyed every desired pleasure, squeezed the essence from lovers by means of her talents, and become the cause of rivalry and conflict among young men, Premadatta—Ramasena herself—now surely goes to milk her daughter's lover dry. Alas, let me savour the coquetry of this old age that summons death to lustful men. I bow to this mighty thunderbolt hurled at the amorous. Young Ramasena, having given your youth and good fortune to your daughter, whose lover's house are you now going to ruin? Ah, in her science an oath is answer enough. What do you say—"Your own character condemns you"?

Enough talk. Tell me what business takes you out. What do you say—"My daughter Charanadasi went yesterday to a rich man's house. I am going to remove her from there under the pretext of a musical gathering"? Ah, then Charanadasi has been careless. How so? Though she is the daughter of a woman like you—skilled in seizing every coin of a lover, drinking out his essence, and casting him away like an empty whistle—the poor girl remains pitiable for want of instruction in the science. For—

Having once accepted him as a suitable patron and drawn ample wealth from him, she now knows that he is penniless, yet remains ensnared by affection and cannot bring herself to leave him.

Instruction in the true doctrine is wasted upon such a woman.

What do you say—"I shall bring her home on the pretext of a musical gathering. On your return, come there and teach her the science"? Very well. But I must first perform my friend's urgent errand. When that is done, I shall attend to yours. Go now. I too shall continue on my way.

Ah, a courtesan's heart is not to be trusted. For—

Displaying affection through soft, clinging play, courtesans strip a lover of all his wealth; then, cruel and greedy, they turn to another for pleasure, lose all attachment to the first, and abandon him as the soul abandons the body.

Ah, a courtesan's mother is a calamity for lovers for which there is no remedy. May the Lord protect amorous men from such women! Ruin upon the mothers of courtesans, skilled in plundering a lover's entire fortune and expert in wielding the courtesan as an unerring weapon. [*Walking.*]

Why, here comes Sukumarika, that eunuch and disgrace of the royal road. No good can come of meeting him. I shall cover myself with my robe and slip past without speaking. [*He does so.*] What! He is running after me. What will become of me now? Fate is very powerful. I must use sweet words to free myself from the tiger's jaws.

What do you say—"I offer my respects"? My dear, may you never be widowed, and may you bear many sons.

And further—

With arched brows, dancing eyes, quivering lips, swinging arms, a graceful gait, and coquettish laughter, you have surpassed the mannerisms of women. Your girdle hangs loose and low across your broad, generous hips. Tell me: unsatisfied by love-play, from whose house are you coming?

What do you say—"From the house of Ramasena, the king's brother-in-law"? His life is blessed. Fortunate one, are you now separated from him like a pair of chakravaka birds? What do you say—"As he was leaving for court, Ratilatika, an attendant of the courtesans, watered his heart with clever, sweet laughter, amorous gestures, and tender glances. His body thrilled with desire; he lowered his head and accepted her invitation. Unable to bear it, I rebuked him, and he fell at my feet. Yet, overcome by jealousy, I would not forgive him. Then he carried me by force to his house, seated me on the bed, and sat beside me. Later, intoxicated with passion, he left me asleep at night, went to her house in the torment of desire, and has not returned for several days. I rejected his attempts to appease me, and now burn with regret. I have come to you so that you may reconcile me with that man dearer than life"? My dear, Ramasena has made a mistake. For—

When you clasp him tightly in love-play, no breasts stand between you—

Fortunate one, each month you suffer no season that cools passion—that is, no menstruation; nor can pregnancy, enemy of beauty, splendour, and youth, overtake you. If he abandons a woman of your qualities, he must abandon the festival of love itself.

Wait now. Proud beauty, go to his house and await me there. I must first complete my friend's urgent business. After that, I shall make that man—swollen with pride in the good fortune of his sister the queen, yet too dull to understand the feelings of a delicate young woman like you—bow at your feet in your own house. Go now.

He has gone. I too shall proceed. Ah, only with great difficulty have I escaped alive from this authentic specimen of a woman—

That is to say, a eunuch. Now to my own business. [*Walking.*]

Who is this greeting me? Blessings upon you. You appear after many days. Are you not Dhanamitra, son of Partha the caravan-master? You were the full moon in the sky of Kusumapura, dispelling the darkness of poverty for servants, supplicants, relations, and friends, and opening the lotus hearts of young women. How have you fallen under this eclipse of disaster? Did you buy merchandise with your family's entire fortune and, in greed for great profit, lose it all to thieves on the road abroad? Or did the king confiscate everything because you spoke against him? Or has gambling, which can strip even Kubera in the blink of an eye, destroyed you? In brief—

With overgrown nails and hair, a body caked in dirt, a face yellow and withered from anxiety, and rough, old, filthy, torn clothing, you look like a divine sage afflicted by a curse.

What do you say—"I fell deeply in love with Ratisena, daughter of Ramasena, and she with me. You know all this. Believing that she would not abandon me despite her mother's greed, I ignored my friends' warnings and carried all my wealth to her house at once. After some days, when they had taken everything, she dressed me in a bathing cloth on the pretext of a bath and led me to the tank in the Ashoka Grove. Once the gate was shut, the keeper understood the truth and let me out through a hidden door. Unable to imagine how I could remain in this city with honour and endure prolonged poverty, I was taking the forest road when I unexpectedly met you. I have confided the whole secret to you. Now I shall consider my welfare as you advise"? Ah, how fiercely greed grips the Courtesans' Quarter! How crooked is the nature of courtesans! Come—first let me clasp you to my chest. I rejoice to see you alive. For—

The venom of a serpent may slowly be subdued by a powerful antidote; one may escape from beneath the head of a rutting elephant in the forest; even from a sea-monster's jaws in the ocean one might somehow be freed. But no man is ever seen to rise again after falling into the submarine fire that is a courtesan.

Good man, is Ratisena herself the cause of your misery, or her mother? What do you say—"Why should I lie? Ratisena truly loves me; this happened through the wickedness of her mother. If, without letting the mother know, you contrive a meeting between us, my life will return"? I know of her love for you; I have heard of it from others too. Ah, he is weeping! Stop recounting your sorrow. I must first complete a small, urgent errand for my friend. When I return, I shall also undertake yours. Go now. Ah, the cunning of a courtesan! For—

Just as a crooked king lays the blame for his own wrongdoing upon his minister, so deceitful and artful courtesans lay the blame for their wickedness upon their mothers.

This hypocrite, a master among rogues, has gone. I too shall attend to my business. [*Walking.*]

Who calls my name in a voice as smooth and sweet as the forest cuckoo of spring? [*Looking.*] Why, it is Priyangukena. I am coming. What do you say—"I offer my respects"? My dear, receive my blessing—

On the bed, pushing your lover away with the soft blows of your left hand, and then being crushed beneath the powerful surge of passion, may you live happily with your magnificent hips.

My dear, by whose gracious hands have you had your limbs massaged with fragrant oils of many scents, oils that restore your hips exhausted by love-play? Fair-faced one, whoever has not seen your delightful natural beauty when all ornaments are removed—like the king's special elephant with bell, chain, and harness taken off—must count himself cheated. For—

Adorned with pearl ornaments, covered with scratches of nails, anointed with fragrant oil and cosmetics, red-eyed, smiling, with breasts swollen by the heat of youth, wearing a fine lower garment, the girdle removed, and broad of hip—a beauty like you could unsteady the mind of Love himself. What do you say—"Your words please me"? Ah, do you call that flattery? Do not be shy. Tell me why you called me. What do you say—"Listen"? My dear, I am attentive. What do you say—"Together with Devadatta, I have received an advance invitation to perform the musical drama The Victory of Purandara according to its proper sentiment in the palace of the unconquered lord, the king who is the Indra of Kusumapura. I owe this advancement to you"? No, not so. A moonlit night radiant beneath the full moon needs no lamp; the powerful need no other's aid. You yourself are the cause of this honour. That is why Ramasena, whose heart cherishes love for you, now flatters me. Raising her brows, narrowing her eyes and cheeks, turning away a face whose lips tremble with inward delight, Priyangukena glances at her attendants and laughs. There—Ramasena has received the reward of her service. What folly in Devadatta to compete with you! Riches of beauty, grace, fresh youth, radiance, and every other excellence; mastery of all four modes of acting; the thirty-two hand gestures; the eighteen kinds of glance; the six vocal registers, three tempos, eight sentiments, and the three rhythms of song and instrumental music—all these limbs of dance find refuge in you and shine through you. Indeed, in this very costume I see you capable of surpassing the celestial nymphs who steal the minds and eyes of gods, demons, and great sages. And further—

With your artful movements you will forever make the minds and eyes of men dance. Fortunate woman, what need have you to dance? Your graceful play alone is enough.

Ah, she is embarrassed! Splendid—she has dismissed me with the gift of modesty as her ornament. I shall go. [*Walking.*]

Why, this must be Kanakalata, Narayanadatta's maid. She approaches happily, scenting her firm breasts with powder, decking her coiffure with many flowers, and placing her feet unsteadily through the intoxication of pleasure.

I shall speak to her. Why do you greet me as soon as you approach? My dear—

What do you say—"I offer my respects"? My dear, may you be beloved by your beloved. Why do you favour the road with the arrangement of your lotus feet? What do you say—"I am honoured"? Leave all that. How came the pair of chakravaka birds to be separated?

What do you say—"My mistress, filled with jealousy, had abandoned bathing, sleep, food, and adornment. She sat upon a stone beneath a young ashoka tree in the Ashoka Grove. The sight of the new moon, the humming of bees, and the southern wind made harsh by the fragrance of spring flowers tormented her, while her friends consoled her with gentle words. Then a man, passing before the grove as though bitten by Love, played a melodic progression upon the lute and sang this song in an indistinct, high register, using curved and reverse-curved metres—

The beauty, youth, and wealth of the man who does not sport with his beloved in spring are all in vain.

And further—

The life of one who does not appease the beloved at the sight of the spotless moon or the sound of the cuckoo's dear voice is wasted in this world.

"The song loosened my mistress's pride. Without even waiting for the honoured gentleman to come, she summoned me and set out on foot for her lover's house. In the same way, my master, made restless by spring, went to the door of the lute-master Vishvasudatta, hoping somehow to appease her. The two met there unexpectedly when neither one's stratagem succeeded, and Vishvasudatta, suddenly emerging, took them into his house. This morning my mistress said, 'Bring the Gallant of the Courtesans' Quarter.' Therefore, please come with me." Splendid! You have spoken words delightful to the ear. What further kindness can I do you? Receive this blessing—

May the splendour of your youth remain forever; may you always be dear to your beloved; may you continually enjoy pleasures proper to you and desired by your heart.

Lead the way. [*Walking.*] What does Kanakalata say—"Come inside this house"? Very well, I am coming. [*Entering.*] Do not be alarmed. May this loving pair remain forever united.

Just as spring, by its own virtues, brought you two together, so may every season reconcile lovers whenever quarrels arise. Spring, proud of its powers, has cheated even me, for you were reunited without my aid. What am I to do now? Yet spring is not at fault. For—

[*Elaborating on the preceding thought.*]

A beautiful garden, a moonlit night, melodious lute music, a gathering, a go-between, ingenious conversation, and the changing seasons—none of these is the true cause of lovers' union. The true cause is the growth of love born from recognizing one another's genuine qualities.

Thus your love—rare in others, nourished by the abundance of each other's virtues, born from your own excellence, the essence of the science of love, and celebrated throughout Kusumapura—has cheated me: it has united you without requiring my assistance. What do you say—"Our love itself arose through your efforts; therefore you are indeed the cause of our union. How can lovers' speech fully proclaim the glory of one whose deeds now delight all Pataliputra"? One should not impede the meeting of a love-thirsty couple with excessive conversation. Grant me leave; I wish to depart.

As you rejoice today upon seeing the face of your young beloved—radiant as a blooming lotus, speaking sweet words heavy with love, and lovely with shimmering beauty—so may the king rejoice while protecting the whole earth, abundant in grain, girdled by the oceans, beautiful with Mount Meru and the Vindhyas as her breasts, and rich in every excellence.

[*The GALLANT exits.*] Thus ends Vararuchi's one-actor play *Ubhayabhisarika*, *The Mutual Assignment*.

THE KICK

The great poet Shyamilaka's original Sanskrit one-actor play (bhana), Padataditakam (translated from Sanskrit into Maithili by Gajendra Thakur)

[After the benediction, the STAGE MANAGER enters.]

STAGE MANAGER:

May the God of Love protect you: he who offered his own body into the fire of Shiva's eye and thereby honoured the god's wrath; whose command the gods, with Indra among them, wear upon their heads like a garland; who fashions his bow from the sidelong glances of a woman's wide eyes; and whose arrows of sensual objects torment and pierce even the minds of sages.

And further—

May the God of Love protect you—he whose influence Shiva could not destroy even after angrily burning his body, while Shiva stood with one hand upon the Goddess's breast, moving his brows and smiling at her, the frightened Lord of Hosts silent beside him, Nandi bowing in reverence, and the other hand resting upon the shoulder of the Bull.

Bowing my head before you learned gentlemen, I announce that we are preparing to perform the one-actor play called Padataditakam—The Kick—composed by the noble Shyamilaka. You should listen attentively to the poet's labour. For—

“This word should not stand here; this word should be placed thus; this expression has not been properly shaped; what a marvellous turn of meaning has arisen in the work!”—such is the labour that first occupies a poet's mind during composition—

And that labour is swept away by the tears filling the eyes and the thrilled bodies of sensitive connoisseurs.

Let royal ministers and ascetics who move like herons and cats take themselves away. Let jesters, gallants, and masters of humour remain. Let the rogues' assembly thirst without restraint for wine. For—

Ascetics gain no liberation by whimpering and weeping. Even if heaven awaits us hereafter, laughter and jesting cannot obstruct it. A wise man should therefore abandon the habit of pulling a long face and laugh with an untroubled heart. But as I speak, what is this other sound? [Listening.] Ah, I understand. This is the pavilion of the gallants. Bald Shyamilaka is ringing a bell and making a proclamation.

Its clang announces the dawn and breaks the pleasure of lovers' union; even the loud-braying donkey at daybreak—the kettledrum's grandfather—cannot equal it.

What is he proclaiming? [Listening. From behind the scenes:]

Victory to that foot of the courtesan which was launched at her lover! Adorned with red lac and jingling anklets, it is the banner of Love, before which one should bow one's head in homage. [He departs.]

The proverb is true: “Though a hundred years may pass, sooner or later a man tastes the joy of life.” Thus Vishnunaga too has received upon his head the consecration called a lover's kick, granted to all true devotees of passion. What do you say—“Where is his good fortune? He could not enjoy the delight of such a lovers' quarrel. He mistook the honour bestowed by the goddess-courtesan for an insult. His eyes reddened with rage; his twitching brows tightened his forehead; he shook his head, bit his lip, clapped his hands, drew a long breath, and cried, ‘Shame on you, ignorant courtesan! You have proudly set your foot upon this head of mine—

“The head upon which my mother carefully braided my topknot with her practised hands; which my father, seeing it bowed at his feet, sniffed affectionately and called ‘my innocent child’; and upon which Brahmins have laid flowers and sprinkled holy water—yet you have paid no heed to its dignity!’ At Vishnunaga's rebuke, her colour drained away like night paling beneath the redness of dawn. Her face lost its lustre like the moon at daybreak—

“Her intoxication vanished and her adornments fell into disorder. ‘What have I done?’—at that anguish her whole body broke into sweat. Fear destroyed every grace; the flowers woven into her hair scattered. Saying, ‘I shall never do such a thing again,’ she fell at his feet.

“Though she bowed in abject submission, he shouted, ‘Fury, do not touch me! Do not come near me with that belly rumbling like thunder!’”

What a tragedy that the cuckoo pursues the owl! I marvel that Madanasenika too follows that cowardly, impotent male-ghoul. Perhaps it is because he is the son of a high officer and himself an administrator of the royal government; she therefore does not neglect him, hoping to extract money. Courtesans have an appetite for talk. It is said that desire has many practical motives at its root. What do you say—“Talk provides the means for clothes and ornaments, so one who lives by talk has become addicted to its savour”? The poor woman—

With lashes lowered sideways in shame, tears washing her face, lips, and breasts, she shrank into herself like a royal swan frightened by the sudden roar of a new cloud. There is nothing surprising in hearing this. Even a learned man like me has nothing left to ask. What happened then? What do you say—"I scolded him: 'You hired grammarian, do not pound a flower with a pestle; do not play a lute with burning wood; do not cut a wine-flushed, rosy courtesan with the knife of your speech.' At this, he rebuked me and went to the house of Bhattijimrita, chief of the gallants. The poor woman rested her face and cheek upon her delicate hand and began to weep. I raised her and said, 'Beautiful one, a monkey is unfit to wear a turban, and a donkey is not harnessed to a noble carriage. Stop crying. The fellow is merely ridiculous; his head does not deserve so great an honour.

"What kind of lover is never tormented by a drunken woman seizing his hair, binding him with her girdle, or striking him with the flower from her ear? Love supports only such a man, and only that fortunate man's youth is filled with festival whose beautiful woman, casting shame aside, plays with him in private like an obedient maid.' Hearing this, she accepted my words with a smile and a glance, clothed herself from head to foot, and adorned the bed. I, pondering the misconduct of that man so rare among lovers, awoke to the palace's morning music, completed my daily rites, and went—as though to avert the consequences of an evil dream—to the Brahmins' council-seat. There I saw Vishnunaga already present, his hair disordered, pleading: 'I have committed so vile an act that a courtesan's foot has struck my head. Learned elders of the three Vedas, save me!' At his words, the hollow-cheeked Brahmins looked at one another with the hint of a smile, reflected for a moment, and said, 'Good sir, we have examined the law-books of Manu, Yama, Vasishtha, Gautama, Bharadvaja, Shankha, Likhita, Apastamba, Harita, Prachetas, Devala, the elder Garga, and other sages; yet even we know no expiation for a mortal sin of this kind.' Hearing this, he raised both hands, his face miserable, and cried, 'Gods upon earth, do not reject me as a Shudra. For—

"I am an Arya, pure in conduct, born of a noble family, trained in grammar and logic, and an officer of the king—not an outcaste. Save me in my distress; I have taken refuge with you.' When he said this before the assembly—

"Some nudged and elbowed one another, saying, 'He is an absolute ox!' Some rose laughing, stared at him for a long time, and said, 'He is mad!' Someone placed a straw between his lips, denounced him as 'possessed by the demon of lust,' and others, considering the woman guilty, expressed pity.

"While the assembly was in this state, the Brahmins bewildered, and Vishnunaga clamouring for expiation, a Brahmin of the Shandilya lineage named Bhavasvamin—naturally humorous, son of a teacher and himself a teacher, expert in logic, statecraft, and other sciences, skilled in the arts and eloquent—raised his right hand amid his circle of pupils and addressed the council in a laughing voice: 'Vishnunaga, do not fear. Abandon grief. The law-books declare that a custom of country, caste, family, sacred place, or period is authoritative, provided it does not contradict the Vedas. Therefore summon the council of gallants and ask the gallants themselves for expiation. They will free you from this sin.' At his words, raised fingers danced throughout the assembly amid cries of approval. Vishnunaga, considering himself favoured, departed. And so you have been appointed to summon the council of gallants."

What do you say—"Who, in your opinion, are the principal gallants"? You yourself are unquestionably the foremost. What do you say—"How have I been honoured with the title gallant"? What doubt can there be? Listen—

The man who quarrels all day with merchants, eats his fill at a friend's house at sunset, sports and schemes with courtesans at night, possesses not even water in his own home, yet struts about boasting—

If he is not a gallant, who is? What do you say—"Since you graciously count me among the gallants, you can surely convene their council. Meanwhile I wish to hear from you the marks of a true gallant"? Then hear the first mark—

He who, careless of his own life, protects friend and enemy alike in danger; whose own sword-bearing arm becomes the guardian in a crisis; whom courtesans maddened by love seek out during lovers' quarrels; and who gives money to petitioners with an open hand—know him as a gallant. And further—

He who rejoices when his head is worshipped by the two lotus feet of a beautiful woman as though a crown had been placed upon it, and whose wealth the thirsty seize with both hands as they would water—the connoisseurs of gallantry call him a true gallant.

What do you say—"You have stated the marks of a gallant; now name them too. I shall assemble as many as possible—Jayanandaka, Maudgalya, Dayitavishnu, and the rest"? What do you say—"All the others are well enough, but is Dayitavishnu also a gallant in your judgment"? What doubt is there? What do you say—"The same Parashava poet who is the king's commander of forces"? Precisely. What do you say—"That cannot be—

"Though favoured by the king, he remains restrained; he sleeps and wakes contentedly; his clothing is perfumed with bdellium from worshipping the gods; and his forehead and both knees bear three calluses—

"And further—

"He makes the circuit from temple to palace and palace to temple, and his day passes clinging to service of those two houses—

"Can such a man be a gallant?" Yes, certainly. All these seem obstacles to gallantry, but—

In Avanti, during a quarrel in the Courtesans' Quarter, one of his fingers was cut off. At Padmanagara, an enemy drove two arrows into his hip-bone. At Vidisha, a bolt shot from a machine severed his arm and cast it to the ground. Even today he pays physicians and sorcerers for aphrodisiacs—

He feeds money to courtesans; though his body's natural capacity is weak, he delights in talk of love. For these reasons I place him at the summit of the foremost gallants. It is a nobleman's colourful temperament that charms us—what need have we of physical prowess? How could he not be a gallant? What do you say—"If so, he is surely the leader of all gallants"? For that very reason I too have crowned him their jewel. Go now. Blessings upon you. I shall proceed as well. [*Walking.*]

I have reached the city street. Ah, the incomparable splendour of this city called Sarvabhauma—the Diadem of Jambudvipa and residence of the universal emperor, possessor of unconquered glory won in many wars!

Music, the jingling of women's ornaments, the chatter of pet birds, the sound of sacred recitation, the twang of bows, the rasp of knives in the slaughterhouse, the voices of female attendants within palace chambers, and the resonant calls of tame cranes make the painted rows of white buildings seem to converse together.

And further—

Hundreds of kings from mountains, islands, seacoasts, and deserts have come here and taken up residence in every quarter. Here, in one place, a man can behold the Creator's manifold world—as strange as tales never heard before. Filled with people from Chola, Pandya, and Kerala, the city is everywhere delightful. [*Looking.*] Who is this approaching in an uncovered white palanquin, imitating the display of some aristocratic widow? [*Thinking.*] Yes, I recognize him. The keen Bhagavata minister Vishnudasana, marked by his cane staff and water-pot. Though appointed to the responsible office of judge, the poor man has become entangled in meditation practice and, like a monk wandering in indifference, cannot properly discharge the king's business. And further—

In court, the colleague sharing half his seat shakes his knee by hand to wake him; the court officer standing before him shouts, bows his head, and tugs at his feet to signal him. Yet he continues nodding and sleeping like an ox at market.

Meeting him is an obstacle to a gallant, yet as a preacher of righteousness he deserves an approach. I shall go near. He has seen me from afar, stopped the palanquin, and is getting down. Sir, remain where you are. You need not trouble to welcome me merely to display affection. What does he say—"I am not honouring you; I am simply observing my discipline"? Very well. Since you are so devoted to proper attentions, was it right to turn away Anangasena when she approached you in love? What does he say—"Did I fail to receive her in a manner suited to her affection? Look—

"When she bowed, I pronounced a blessing. When she sat—

"I asked her to seek the discipline of yoga—that is, permission to unite. Seeing her eyes swollen by wind, I said, 'Here, daughter, drink some clarified butter.'

"How then did I fail to honour her?" Ah, you certainly gave that delicate beauty an excellent reception. Smiling, he now shows me a sacred lemon worthy of a Bhagavata, hoping to please me. I am already your disciple. In so great a matter, you cannot dismiss me with nothing but a cat's prostration. Vanish quickly now. I too shall go. [*Walking.*]

Here is the market of Sarvabhauma—shops crowded with women and men buying and selling goods, fine and coarse, brought over land and water from many countries. What can one say of it?

As birds crowd a roost and cattle a pasture, so a great roar rises here from the multitude gathered for trade.

For example—

Ironmongers' shops ring clang upon clang; bronze turning on the lathe cries like a kurara bird; the iron tool pressed to a conch to cut bangles hisses like a horse's breath; and people approach from every direction to buy and sell.

And at this moment—

Garlands of flowers seem to smile with beauty as they are sold in the shops. Cups circulate in drinking houses and wine is consumed. Butchers, holding bundles of reed skewers, watch from the corners of their eyes the birds swooping upon slaughterhouses whose inner walls are lined with knives.

And further—

Shoulder pressed to shoulder, arguing, buying, coming, and going, this crowd resembles rows of seedlings planted in a field. Gamblers who have won a few mashas at play advance toward the brothel road with attendants carrying flowers, cakes, meat, and liquor.

The market road is difficult to traverse through this jostling crowd. I shall pass through the flower lane, keep the drinking houses on my right, cross the Purnabhadra crossroads, and reach the Courtesans' Road by way of Makararathya Lane.

To enter the courtesans' quarter without first accumulating money is as futile as entering battle without a weapon; it brings only disgrace and disaster. Yet for my friend's sake I must make the circuit. There I shall find the whole gathering of gallants. [*Walking.*]

Who is this making the drinking pavilion laugh—singing the Bangada song of the Yaudheyas to cymbals and flutes played by Rohtaka drummers, a crest of kurantaka flowers hanging over one cheek, lifting the wet upper garment whose fluttering border lies over his right shoulder so that it will not slip, swaying his hips again and again, raising a wine cup in his left hand, and dancing? [*Looking.*] Yes, I know him. It is Bappa, son of a Bahlika, that poor fellow who has become everyone's laughing-stock,

like the cock of the courtesans' quarter. Truly, I have never seen him sober or without drink; yet I have never seen so much as a half-penny remain in his hand.

How, then, does he live? [*Thinking.*] Ah, I understand. The shameless rogue has become a parasite upon everyone under the pretence of being everybody's friend.

With a fistful of sweets, Bappa pushes into circles of drinkers among actors, actresses, servants, and grooms.

How astonishing is his skill in procuring drink! It is useless to speak with him now. [*Walking.*] Here comes another walking treasury of ancient gallantry. Returning from worship at the temple of Love, old Saranigupta—the ageing procuress—adjusts upon her shoulders hair white and scattered like flowering kans grass. She wears clothes washed during the night, replaces an upper garment slipped from one shoulder, and circles the makara pillar of Love's shrine, yet all the while glances sideways at a dancing peacock surrounded by crows swooping upon the offering. Truly, the surviving marks of dalliance upon her body still proclaim the playfulness of her vanished youth. Even now—

Her hanging breasts are filled with pale scars from nails. Her lips, sucked again and again in former days, sag at the edges and have grown knotted in the middle. Even today, from old habit, the movement of her brows reveals the longing within. Age has forcibly stolen her beauty, but it could not steal her coquetry.

It will be difficult to pass without speaking to her. She calls my dear friend, the drummer Sthanumitra, her beloved; clearly his medicine for cooling her anger has succeeded. How shall I address her? [*Thinking.*] Yes, I have it. Three days ago poor Sthanumitra, in the midst of a deep kiss with her, underwent a most revolting experience. Shame on such clinging love—

As she kissed him passionately, one of her teeth came out by the root and fell into his mouth; the instant it touched his tongue, he spat it out.

If, while wishing to enter the courtesans' quarter, I fail to cross this ford—

I shall be cheated of my amusement. But perhaps the tale of her tooth falling into Sthanumitra's mouth has already spread. It would be unkind to approach and shame her again. I shall salute her from a distance. Now I shall go. [*Walking.*]

I have reached the courtesans' quarter. Ah, its incomparable splendour! Here stand mansions with broad courtyards, divided into distinct sections, of elegant construction, and surrounded by beautiful moats filled with clear water. They abound in separately fashioned ramparts, wheel-mouldings, halls, upper chambers, pinnacles, dove-cotes, lion-ear projections, roof timbers, vaulted apartments, terraces, viewing galleries, gateways, cornices, and palaces. Some are beautified by water-sprinkling, some cleaned by blowing through tubes, some plastered and painted, adorned with carvings in low and high relief; they have fitted joints, doorways, and projecting balconies with platforms. Their inner courts are ornamented here with one tree, there with two or three; separate beds contain trees suited to household gardens, vegetables, fruit, and flowers for garlands. Clear pools scattered with white lotuses shine beside artificial wooden hills, underground chambers, bowers of creepers, and painted lotuses in full bloom. The magnificent palaces of the chief courtesans, flying victory banners of good fortune, seem to rise from the earth toward the sky. Here—

Outside the quarter stands a Karniratha carriage. Men from Avanti sit dozing against it, scratching its wheel with their nails. On both sides, uniformed Kirata guards stand pressed against the axle. Nearby are Kamboja horses and female elephants; their drivers drowse lazily, and the saddles and carpets upon the animals' backs have been folded double. All this shows that their wealthy and official masters have left their vehicles outside and entered the courtesans' houses.

And in this very place—

On one side, departing men are seen off with tears; on the other, arriving men are sent home by the same overflowing tears. Wealthy patrons are flattered, while a lover returning after losing his fortune is cursed and driven away by the old bawd.

[*Walking.*]

This woman is appeasing her offended lover. That one is delighted by her beloved's entreaties. Another, plucking the seven-stringed lute with her nails, sings in the beautiful fifth note of the kakali register and, under cover of a love-song, weeps with longing.

One woman, seated before a mirror, is being adorned by her lover. Another is tying her beloved's topknot. One teaches a myna bird to speak. A drunken peacock, scolded with a spray of mango blossom, is dancing.

How that woman bends her slender waist after playing ball for so long! Another sits playing dice with her lover. This mature woman paints a picture for amusement, while that one reads a tale.

Ah, I have been welcomed. Noble Vasu, sit down. You appear after many days. What do you say—"Today ask the very man who deceived my innocent girl so badly"? In my view, you are the one who deserves appeasement. Yet may he, whatever he is, remain good to you. There—I shall go.

Harishchandra, son of the physician Ishanachandra of the Kankayana lineage, approaches like the moon illuminating this courtesans' garden, a pool of night lotuses. What business has he here? [*Thinking.*] I remember. He desires Priyanguyashtika, the younger sister of his former beloved Yashomati. He conceals this secret even from me. I cannot pass without meeting him, so I shall approach.

[*Approaching.*] O solitary chakravaka bird of this lotus-forest of courtesans, where are you coming from? What do you say—"I have been giving medicine to Priyanguyashtika, younger sister of your dear friend Yashomati"? It seems that the beggar of love has not extinguished his fire of desire even in her illness. You have gone to teach her how to inflame it further. What do you say—"Enough joking. Her headache is extremely severe"? Friend, is it truly so? What do you say—"What doubt is there? She will recover only with great difficulty"? Quite so. For a courtesan, a headache is the dowry accompanying a hundred thousand ailments. Look—

With red sandal paste like sealing wax upon her brow, playing with lotus fibres, lotus leaves, and flowers, moving her brows and coquettishly asking after the welfare of her accomplished lovers—a courtesan claims a headache whether she is indifferent or enamoured.

What do you say—"You have always been notorious for harsh jokes. I have administered her medicine and am returning"? Very well. Surely—

Twisting her bracelet-covered hands, stamping her foot upon the floor, and using one hand to hold the silken garment and girdle slipping below her navel, did you seize that wide-eyed woman by the hair, turn her face toward you, and drink the nectar of her lips—or did you make her drink the sediment of the medicine that is your own lip?

What do you say—"Friend, only you could do such a thing"? You thief, if even now you will not reveal your secret to me, then—! But today, for some business, all the gallants are to assemble at the house of Bhattijibhuta, their chief. Friend, be sure to come at the proper time. What do you say—"The gallants already know that they must arrive in the third watch to decide Vishnunaga's expiation. Go ahead; I too shall come"? Excellent. Blessings upon you. I shall go. [*Walking.*] How did every gallant learn the news? That saves me labour. I shall now pass the time among courtesans and friends. Who is this piebald colt, dressed like a horse though he has none, opening the door of Pushpadasi of Pataliputra? [*Recognizing him.*] Ah, I see. It is Bhattimagharman, handsome son of the general Senaka. During the conquest of Saurashtra he captured and brought back the Dindis of Lata, whose cheeks shone with great white wooden earrings; with folded hands they pleaded, "The charge that we are notorious rogues though not caught in the act is untrue." I cannot pass without speaking to him; to do so would seem a cooling of affection.

I shall approach him.

[*Approaching.*] Is anyone in my friend's house? [*Listening.*] Why, Bhattimagharman himself is calling me. What does he say—"Friend, seeing these new chamberlains serving me, do you still take me for a king? That royal formality between us ended long ago. Wait a moment; I am coming"? Bhatti approaches, placing each heavy, dignified step upon the floor like a bull crossing sand, and lending splendour to the chamber. He is long practised in pleasure, and the courtesans' quarter is the place for pleasure; his appearance is therefore perfectly fitting. And further—

He approaches swinging his arms; his chest and shoulders are shapely and high; he moves his brows coquettishly and repeatedly looks from the corners of his eyes. Seeing him enter the palace with such animation, one would think a one-man bhana were being performed without lute or drum.

Let me speak with him. Bhattimagharman, why did you remain here enjoying yourself for so many days and leave your friends yearning in your absence? Even the briefest sight of you brings well-being. Laughing, adorned by an upper garment rippling over his right shoulder, and breathing his welcome in broken syllables, he folds his hands to me. But he said only now that Pushpadasi is menstruating today—how then has he joined with her? [*Thinking.*] These Dindis of Lata are little better than demons. How so? People of Lata bathe naked in public, beat their own clothes upon the stones, shake out and leave their long hair loose, lie upon beds without washing their feet, eat whatever takes their fancy while walking along the road, feel no shame in wearing torn garments, and, even when striking a man in his misfortune, continue boasting of their own greatness.

Or perhaps he has merely acted according to the custom of his country.

That is why, without troubling about the bel fruit, you plucked the blossom itself.

What do you say—"How so"?

Look at this upper garment of yours, stained with menstrual blood.

What do you say—"I think it has been stained by betel juice dripping from the bed"? Do not say so. What does your brow, covered with beads of sweat like scattered seed-pearls, tell us? He turns aside and laughs loudly. You base, degraded sensualist—did you deceive her? What do you say—"What deception? She seized my very heart. Listen—"

A creeper-like woman whose broad forehead is revealed by arranging and fixing the front of her curling hair, whose full hips are delightful beneath a short lower garment, and whose body appears almost naked when the ornaments in front are removed—can such a woman, though menstruating, be left untouched?

And there is more worth hearing—

Turning her eyes sideways, examining the scratches of her nails, and slightly lowering her head, she sat in the shade of her own house. The instant I saw her, she clutched her trembling, firm breasts with both hands, ran inside, pushed the threshold-door with her hand, and shut it. I too darted inside—

The moment I seized her hair and pulled her toward me, she stared at me with great eyes. Her breasts trembling, she kept saying, "What are you doing? No—no!" Yet I kissed that playful woman.

Wonderful—what an extraordinary first meeting! I shall question him. Well, what happened next? What do you say—“Friend —”

When you came upon her with her girdle displaced and her hips exposed, she covered your eyes in shame. Shame on you! You are base, disgusting, and worthy of condemnation by honourable men.

What do you say—“Thus you have once again favoured me. Have you not read before in the Mahabharata—”

“He who has not many enemies, whom people do not fear, and whom men do not gather to revile—O Partha, he is no man but the lowest of men.” That, indeed, is the true nature of a Dindi. I am completely delighted with your Dindi character. You deserve to be sole sovereign of all gallants. Receive my blessing—

What do you say—“I am attentive”? Then listen—

At dawn, may your beloved embrace your back as you lie beside her, fearlessly lay one bare thigh across your side, pull your hair to turn your lotus face toward her, drink the nectar of your lips, and make you drink the nectar of hers.

Saying, “I am favoured,” he prepares to leave. Then offer my respects to your “Lord.” I too shall go.

[*Walking.*] Who is this adorning herself at the window of her house like an apsara in a celestial chariot? It is Parakramika, the chief courtesan of Kashi, playing the picchola and satisfying the eyes’ thirst with the sport of her beauty and charm.

Binding her breasts with a golden cross-band, wearing a short lower garment that clearly reveals the swell of her hips, churning the minds of lovers, she sways like a restless young leaf upon the creeper of the courtesans’ quarter.

And further—

Her face shines with the reflected light of gems in a jewelled earring hanging against one temple. Through long practice she blows “ee—ee” from beneath her chin and plays in a sweet tone upon the picchola held to her lips. Mistaking the sound for a frog’s croak, the household peacock circles round and round, turning its neck.

Hiranyagarbha, confidential secretary to Indrasvamin, hurries from her house and comes this way. Why be surprised? For Indrasvamin and Hiranyagarbha to meet in the courtesans’ quarter is merely heat joining heat. He folds his hands in greeting. Hiranyagarbha, why do you wish to have this temple-like courtesans’ quarter destroyed by the demons of Aparanta? What do you say—“My master has acquired a taste for foreign merchandise and has entrusted this business to me. Formerly she accepted five hundred gold coins; now even with a thousand it is difficult to flatter her into agreement. Help me settle her price.”

Your innocence surpasses innocence itself. Even for a hundred thousand no one can buy another’s life. What do you say—“Why do you suppose our lives are endangered by her”? Everyone knows that Bhartrivamin once joined with his fly-whisk bearer Kutangadasi and thereby put his very life in danger. What do you say—“Beat me if you like, but that is the truth”? Take refuge in falsehood if you must, but do not tell your master such a thing. What do you say—“This is my master’s old habit”? It cannot be cured. Still, the matter is not wholly bad. Consider: what courtesan would not desire that southern lord of Kankana, provided he lived with her like a gentleman?

And further—

Look at Indradatta in a courtesan’s courtyard making his elephant dance, like Bhagadatta wheeling a rutting elephant in the Bharata war. Courtesans with lotus hands upon their breasts watch him as frightened does watch a tiger. And this woman, calling Parashava Kaushika Simhavarman—the brother-in-law of my sovereign lord Indradatta—her friend and beckoning him near, shows every other lover her thumb in rejection. What do you say—“He is excessively lustful, so she wishes to escape him”? Excess is the custom of your country. What do you say—“I understand neither the custom nor the impropriety of my country; speak plainly”? Seeing such courteous behaviour from you, how can I refuse? Listen—

In the kakali posture of love, her toenails come close to his ears and scratch them. Then, like a wild elephant calf struck by the goad, he falls upon her exposed hips as a bull falls upon a heifer.

What do you say—“Now I shall carry this very gift to my master”? If so, tell Indrasvamin—

That woman, whose hips are painted with tooth-marks and who wears her lover’s garland as a girdle, will not expose those hips to another man, even for a thousand coins, while she has you. Blessings upon you. I shall go.

[*Walking.*] Who is this emerging from the house of Shamadasi, courtesan of Shurparaka, surrounded by Dindis and illuminating the entire quarter? [*Looking.*] Why, it is the great chamberlain Bhadrayudha, lord of the northern regions, Bahlika, Karusha, and Malada—a moving place of pilgrimage for gallants.

His hair tied in a knot, great white wooden jar-shaped ornaments in his ears, he speaks among his companions with repeated “j-j-j,” imitating the people of Gujarat.

Why does he show such favour to the people of Lata?

A man of Lata wraps his upper garment round both arms, binds his waist with a twisted sash, and, the moment he approaches, cries “sh-sh-sh” and falls at one’s feet like a crooked-shouldered hunchback.

And further—

Making the shape of a pigeon upon his chest with both hands, he stammers loudly, saying “j-j-j” in place of “y.” His waist tightly bound in the middle by a two-coloured twisted sash, he walks gingerly as though his fingers were sinking into mud.

Where can flawless magnificence be found? Or perhaps, when one comes abroad, such solitary joking alone becomes him. How so?

He placed both feet upon the heads of the kings of Aparanta, Shaka, and Malava and forced them into hiding. After roaming as he pleased, he returned in time to the land of his mother and Mother Ganga, and made the Fortune of Magadha’s royal house manifest throughout the world.

And further—

On the seashore, their hair loosened by the gentle strokes of the wind, the yearning women of Aparanta hide among the hintaala groves and sing his deeds of victory beside the great ocean.

What is their song?

In humanity and in the science of arms no one can equal Bhadradyudha. Whoever, hearing of his success, desires to rival him might as well eat swine’s food.

[*Walking.*]

Someone here is painting the banner of Pradyumna—that is, the God of Love’s temple. It must be the work of some Dindi. These Dindis are scarcely better than monkeys. What particular merit in painting pleases them? Listen—

They smear and daub a finished picture with additions of their own and ruin it; they dirty freshly plastered house-walls with ink from a brush; and, taking a sharp-pointed chisel, scratch the palace walls as though worms had eaten them.

What is he painting? [*Looking.*] Ah, it is Nirapeksha—“the Indifferent One.” His name suits him. The saying is true: wealth steals character. Because of it, this prosperous man is indifferent to my dear friend, for whose sake she grows thin in the courtesans’ quarter, observing the vows of an ascetic.

The poor woman, the curved line of hair showing across the region of her three belly-folds, bears three burdens in three ways: tears upon the tips of her curved, thick, black lashes; her face upon a hand whose bracelets are wet with teardrops; and heavy grief upon her heart.

I shall therefore aim a taunt at him. Bhagavata Nirapeksha—or rather, one who keeps away from Bhagavatas—you conduct yourself according to the compassionate Buddha’s doctrine of universal friendship.

Then is this wandering in indifference toward a woman marked with the seals of the science of love proper conduct? What do you say—“I understand the meaning of your sarcasm. I have now become a lay Buddhist. The Tathagata said, ‘Such is the nature of the world’”? Do not speak so. Does the Tathagata’s word apply only there and nowhere else? What do you say—“Tell me: where and when is the Tathagata’s word not authoritative for me”? Ah, such a vow from you? What do you say—“What doubt is there”? Good man, listen—

You ignore the suffering of the deer before you in the hunt—its tongue hanging from the effort of flight, its head raised and eyes looking upward, a cruel arrow driven into its heart—yet you know how to meditate upon the Tathagata Buddha.

Ah, he laughs aloud. What does he say—“One should not cast doubt upon the Tathagata’s teaching.”

Scripture is one thing and human nature another; I too am not free from passion. If so, then that woman in such a condition—What do you say—“Permission to go; my respects. Kindly dismiss me”? In other words: let me escape somehow! Liberation is entirely impossible for you. Still, receive my blessing—

When your beloved returns from abroad, yearning and downcast, seat her in your lap. As she rests her head upon your shoulder and weeps, console her again. Untie the uneven braid knotted like a buffalo’s horn, and with your own hands disentangle her long locks wet with the hot tears of love. He has gone, showing his teeth. I too shall proceed. [*Walking.*] Who is this approaching—

His privates covered by a scrap of filthy monastic robe, goat-faced, yellow, covered in cotton-like hair, broad-shouldered, monkey-eyed, and eating a radish—some man from Dasheraka approaches. In truth, in this form he can be nothing but a demon!

Ah, I recognize him. I have sometimes seen him at the house of my kinsman or friend Guptakula, son of the lord of Dasheraka. What business has he here? He approaches with folded hands. What does he say—“Guptakula has ordered: ‘Look secretly. I shall pay five panas in a lump. Will any courtesan be satisfied with so small an advance? If among the courtesans crowding the city street you see one who will, give her the advance yourself.’ Remembering my master’s order, and partly for my own interest, I raised the offer as high as four times that amount. But at present the courtesans, though full of desire, will not even discuss love, behaving like respectable maidens. If I return with this contrary report, I shall be punished. All rich men are alike.”

Excellent! The messenger of Prince Guptakula—endowed with the virtues of country, costume, language, and courtesy—stands in the courtesans' quarter and yet asks where the shop is in which such merchandise is sold. It would be wrong to tell such a jewel the truth and dismiss him at once. Let him remain exactly as he is. I shall say this—

Brother, go to the salt shops—the chhalavanikapana—on the royal highway and ask there for a courtesan. Delighted, he bows and departs. I too shall go.

[*Walking.*] Where shall I wash the dust from my eyes after seeing that man from Dasheraka? [*Looking.*] Ah, there it is—the house of my former beloved, Shurasenasundari. Why is the side door open? I shall go in. [*Entering.*] Where can I sit and rest from walking? Yes, I know. This avenue of priyangu trees invites me to its cool platform like the lap of a beloved. I shall sit here. [*Looking.*] What is written here? [*Reading.*]

Friend, at a first meeting there is no occasion for a quarrel; nor have I heard that your beloved was angry, nor received news that he was ill. Why then did you return from the young man you had desired for so long without so much as disturbing the pattern of your cosmetics?

[*Thinking.*] This announces the misfortune of some woman rejected in love. Whom shall I ask? [*Listening.*] The jingling of anklets tells me that Shurasenasundari is coming this way. In one leaf-soft hand she holds the shaft of a beautiful parasol. With the other, she catches the end of her slipping undergarment and steadies the silk sliding beneath a girdle strung with restless gems. Smiling, her slender body glittering in the flash of ornaments, she approaches like the presiding goddess of night, adorned with moon, stars, and birdsong.

Her very radiance compels even me to rise. She approaches with folded hands. Do not dispose of me with such a formal welcome. What do you say—“My lord has come after many days; through proper courtesies this servant wishes to honour herself”? Enough, enough—you have reproached me sufficiently. Be gracious enough to take this seat, my lap, which is fit for you. Saying, “Your command rests upon my head,” she sits, covering half the bench with her hips. Ah, you should not sit here.

What do you say—“Why”? Someone rejected in love has written her story here in verse, making public her own disgrace. I have seen it. [*Why is she trying to erase it with her hand?*] Thief, it cannot be erased; it has already been written upon my heart. Why do you hide it?

What do you say—“You know that my friend Kusumavatika is violently deranged with desire for your dear friend, the painter Shivsvamin”? I know it well; I also know that Kusumavatika favoured him by coming to him herself. What do you say—“Such is the nature of a woman's heart maddened by desire; she displayed a woman's natural impulsiveness”? Remarkable! Let me ask. I ask because I possess the confidence of you both, not from curiosity about another's secret. Tell me: did the long-desired festival of love between them end happily? What do you say—“Listen”? I am attentive. You say—“When the wine took effect and she wished to favour Shivsvamin, your friend behaved in this fashion—”

He spent the first watch recounting the story of an uninteresting wrestling match. The second passed in pointless talk of sesame sweets, molasses, and the like. He consumed the third explaining how to fatten a goat. What happened after that would best remain untold even to you. Beautiful one, how did you learn all this? You say—“I heard it from Padmapala, the chamberlain who came from his friend's house, and sent this verse in the hand of a messenger who had come to ask after her welfare. Then she came with that attendant, smiled in embarrassment, and said to me, ‘I do not wish to trouble you by concealing a secret. Therefore hear this new event.’ She then told me the true story of what had happened. You too may partake of this nectar for the ears.” She claps her hands and laughs as she speaks. Beautiful one, what do you say—“Now hear what my friend told me. She said: ‘Dear friend—”

I embraced him and kissed him; I marked his hips with my nails and urged him toward love. But when he remained inert as wood and would not join with me, I grew angry and lay clinging to the side-rail of the bed.

Then I said, “You have suffered greatly. Do I not understand even this much—”

Then I said, “You have suffered greatly. Do I not understand even this much?” She sighed and told me, “I tried every means on my side, yet he could not awaken desire for me. Suddenly seeing every stratagem fail and recognizing my own ill fortune, I beat my breast and began to weep.”

Then, taking me weeping into his lap, he exhausted himself by trying to console me with repeated, useless kisses and embraces. I said, “What good comes of touching with the hand alone?” Then, wet with sweat from shame and alarm, his face drying, he forced out a few words—

Blameless woman, do not condemn your own good fortune. Though so great a treasure stood before me, my eyes were as if blind. The guggul I formerly took to reduce fat is now killing the nectarous pleasure of union with you.

Then I thought—

If guggul drunk to reduce fat cuts away the very root of virile power in this manner— We were pondering what to do after the failure of the union we had both desired so long, when suddenly—

The royal timekeeper, announcing that the night was over, rang the bell loudly and recited the auspicious morning praise. Like a helpful friend, he freed me from that predicament. The lover then accompanied me a short distance in shame and left me. When I returned home, you sent a messenger to ask after my welfare, as though mocking me.

“Therefore I have told you the entire affair. Now I shall sleep by day and recover from the fatigue of that fruitless night vigil.” Saying this, she departed. Afterward I came here, and now you too have heard everything.’ Then let us sound, with the boat of ridicule, the deep sea of false fame for manly prowess that Shivsvamin, son of the illustrious Shividatta, has created. Look—

Fierce woman, when a man drinks guggul because his fat has increased, his fat soon diminishes; but to young women he remains merely handsome to look at, like a yaksha painted in a picture.

She bursts into laughter. “Now I must go.” No need to bow.

I too shall proceed. [*Walking.*]

What are these young courtesans looking at? They stand in the shade of a building in the courtesans’ lane, pausing from ball-play, the picchola instrument, dolls, and toys. They are lovely as a mass of lotuses with their fibres; their lotus faces rise upon their necks; their many-coloured glances are wide; and with hands upon their breasts they signal one another to turn and look. What is it? What can this be?

Is some enormous pot bouncing toward us, or is someone dragging a water-skin? Has a headless trunk risen to its feet, or are two granaries walking? What astonishing object is this? Ah, now I understand. It is Upagupta’s pot-bellied body rolling this way. His appearance proves that nicknames are rightly bestowed in a rogues’ assembly—

Harikrishna, the treasury clerk who secretly swallows government property, is a black wild ram; Haribhriti is a complete buffalo; and Dattigupta is a wind-inflated water-skin.

How has the poor fly-whisk bearer of Ganga and Yamuna—the book-reader Madayanti—fallen in love with Upagupta after leaving that elderly reader of the three Vedas, my dear friend? He used to embrace her properly with his soft arms. But the poor woman has no flavour left in embraces; with the drying up of her menstrual flow, she has been deprived of the machinery of love. Now she exchanges playful words merely to support her household. That is appropriate for her. The followers of Dattaka say that one emptied of virile power seeks to accomplish matters by talk alone. [*Looking.*] Why does Upagupta appear so disturbed?

Ah, I understand.

I heard in the quarter that his mother-in-law has dragged him before the tribunal over money. So there has been a dispute between mother-in-law and son-in-law. This will be highly entertaining. I shall not deprive myself of the profit; let me approach. [*Approaching.*] O woman-shaped cooking pot, yaksha of the Courtesans’ Road, what brings you here? Exhausted after walking only a little, he stands before me panting and offers a greeting in a staggering voice. Blessings upon you. What do you say — “I am returning from the Prince-Minister’s tribunal after a dispute with that old harlot”? Shall I congratulate you on victory, or help you pay the fine? What do you say — “Where were victory and punishment? I received only torment.” Why? What do you say—

The tribunal is in this state: Vishnudasa sits as though in meditation; his brother Konka threatened me over the collection and has only just had me beaten. Vishnudasa rebukes me instead and continues dozing where he sits in court.

And further—

The officials there demand bribes; the record-keeper and clerk demand them too. The wooden ‘elders’—that is, the court constables—begged for so long that at last they seized me. From the place I have learned this—

A courtesan and a clerk, a clerk and a courtesan—when one considers the two, it is better to give money to the courtesan, for at least she gives pleasure in return.

Congratulations that, though caught in the clerks’ net, you have emerged safely. You are a consummate master. Receive my blessing—

Upon the bed, may a chief courtesan, softly humming, languid with wine and inclined to love, honour you in the vaktra and aparavaktra postures. Clapping his hands and laughing, he departs. I too shall go. [*Walking.*] Who is this other creature—

With a strange Gujarati-style shaving pattern upon his wrinkled body, drunken eyes, and a smile buried in hollow cheeks—who is he, and why has he entered this courtesans’ quarter that is heaven?

Yes, I recognize him—

This is Pijanna, born in Shakarapala’s house to the witch Konkacheti by Kira the cobbler, a grass-demon.

And further—

He calls Shakarapaka his father and Nirapeksha his brother. Men of two-farthing families are generally born together with hypocrisy.

[*Walking.*] Why ask him anything? What business has he in this country?

Old gallant Bhattiravidatta is coming this way. I shall ask him. Bhattiravidatta, do you know why that male-ghoul has entered this district? What do you say— “You tell me”? Then go. [*Walking.*] Where shall I divert a mind exhausted by this wilderness of men? Ah, I know—

This is the house of my dear friend Rama, who never rests from intercourse with courtesans—

And who keeps the house bolted from within for fear that friends may arrive.

How, then, can I enter? [*Listening.*]

The tinkling of anklets blends with the jingling girdle; the clatter of bracelets announces the striking of fists; hisses and sighs from within the house declare unmistakably that Rama's woman is enjoying reverse intercourse with Rama.

It would be improper to enter. Who would break the moving axle of the chariot of love? I too shall move on. [*Walking.*] Ah, another—

Is this a burned silk-cotton tree with a few branches left at its top? Or a black, elongated heron in the form of a gallant? Or a ghost from the desert come to scorch the pool that is the courtesans' quarter?

Yes, I recognize him. It is Suryanaga, the jaundiced fellow of Shurparaka. What business has he here? Seeing me, why does he cover his face with his upper garment, keep the temple of Love to his right, and slip away silently? Three days ago, the banner-courtesans living in the thatched Kutangagara of the outer-Shiva district accused him. When the foreign and outcaste constable dragged him before the tribunal, Skandhakirti of Baladashaka freed him with great difficulty, saying, "He is a moneylender attached to my lord Vishnu." My friend Vishnunaga told me so. Why, then, is he ashamed to return to the quarter and tries to hide himself?

[*Thinking.*] Because he has become an attendant of the prince, he is ashamed of such conduct. Wonderful! Even association with the virtuous produces virtue; through it, a man like him has been drawn toward goodness. Yet unless I reveal that I know him, his wish will not be fulfilled. I shall circle from the right, confront him, and attack with ridicule. [*Walking.*] Seeing me before him, he smiles. Womanish Suryanaga, why make this new visit to the courtesans' quarter as useless as a dance in darkness by hiding it from your friend? What do you say—"What business would I have here? I was sent to inquire after the illness of a former beloved of my maternal uncle, Maudgalya Parashava Haridatta, who is confined in prison. Do you imagine something else"? Wonderful—such firmness in a friend's errand, and such fidelity in this chief courtesan toward a former lover fallen into distress! No wonder—

A courtesan who wears bright clothes suited to her complexion and keeps her secrets hidden from lovers is dear to sensual men like a painted image of Lakshmi, even if she is plain or ugly.

And I consider her capable of accomplishing difficult acts. How? Surely she is chewing like an old bone the face of that man whose colour has not faded even in prison, whose forehead has grown calloused from worshipping the gods, and whose face is covered by a long, shaggy beard.

What do you say—"That is why I honour her"? May your honour remain so. I regard you as truly devoted to your friend. Ah, he seizes my feet, saying, "Master, be gracious." What do you say—"Do not tell anyone that I entered the courtesans' quarter"? Friend, who can hide moonlight? From the moment you fell in love with that hunchbacked attendant of Rupadasi, your fame spread through the region like a drop of oil upon water. Is it not so—

When she embraces, she thrusts her chest forward and the hump rises behind. Because the sacral part of her waist is twisted, even when aroused she cannot bring her hips forward. Lying upon the bed, she resembles a locust. How do you make love to that hunchback whose lotus face points downward?

What do you say—"Alas, may the sin be calmed and evil be averted! I welcome your accurate description. But kindly observe—"

When she walks with halting steps, her gait resembles a camel's. Repeatedly swaying her hands, she seems to swim through water. When she raises her face, she appears to count the stars in the sky. What wise man would touch her, a creeper diseased by worms?

Alas! It is not proper for a man knowledgeable in righteousness like you to slander so fine a woman.

And further—

Friend, though a hunchback may be thin and bent like a reed, like false affection she is at least beautiful in the face.

Besides, she is no worse than the banner-courtesans of the frontier quarter. What do you say—"Worse than whom"? Do you not know—

Drunken, charging only one kakini, serving the lowest men, and needing rules and guards to keep them within bounds—those cheap women you secretly visit outside the city when violent desire seizes you.

What do you say—"How did you learn all this"? In discovering such matters I possess a thousand eyes. Will you climb step by step ever higher? Friend, abandoning a professional beauty you desire a hunchback; abandoning the hunchback, one day you will reach her mistress. He laughs and departs. I too shall go. [*Walking.*]

Who is this other man emerging from the house of Mayurasena of Sinhala and coming this way? A garment over his shoulder and a shining sword in his hand, he is surrounded by southern bodyguards. Gathering his fine, patterned muslin upper cloth, he wears iron armour made in Andhra. Saffron marks cover his body, and he holds a prepared betel roll. Yes, I recognize him: Harishura, the sword-bearing man from Vidarbha. When, enamoured of Kaveri, he seized her feet, she rejected his entreaties with these words—

Go to that other woman. What need have you of me? When moonlight shines, what need is there for a lamp? Stop trying to hold two bel fruits in one hand.

How will his appeasement win her over? He openly desires another while abandoning a woman devoted to him; the entire district knows it. He takes pleasure in his ill fortune and disgrace. Or perhaps women love only the men they choose. Mayurasena has collided with this feminine nature; or, when money becomes scarce, the old bawd herself will place Mayurasena under his control. I shall ask him everything. [*Approaching with folded hands.*]

Lion among men, you have acted properly: like a lion leaving its cave, you abandoned the lovely woman from Sinhala out of desire for union with Kaverika of the Dravida country.

What do you say—"I have appeased Mayurasena and am returning from her house"? Tell me, how was the broken bond restored? What do you say—"Three days ago I was invited to a performance at the house of Dronalika, the chamberlain who supervises courtesans. It seems that Mayurasena's dance was deliberately placed upon the programme there. After the instruments sounded, the auspicious invocation to the deity came first.

"Then, with the opening of the song, the dancer began. In her very first presentation they alleged a technical fault in Mayurasena's dance." Impossible! No one can find a technical fault in Mayurasena's dance. Who fell headfirst while saying such a thing?

What do you say—"Regard it as a fall brought on by Queen Varuni"? Quite so—the goddess Wine always resides in a chamberlain's house. Upon whose head had that intoxication descended? What do you say—"Upon your friend Upachandraka, the lasaka dancer"? Nothing improper in that; he is accustomed to such things, and he also knows the subject. What do you say—"All the spectators sided with Upachandraka; I took Mayurasena's side"? Well done, friend. You acted according to place and occasion. What happened next? What do you say—"I could not defeat them through wit. Though the assembly did not accept it, the judges agreed that my side was correct on scriptural grounds"? Congratulations, friend—you purchased her at a most extraordinary price.

And afterward?

What do you say—"When Mayurasena received the prize before all the courtesans, she scattered smiles and delighted me with a sidelong glance. Kaverika, rising in the flame of jealousy, made a face as though taunting me. After the anger of one and the favour of the other had been revealed, I drifted upon a current of uncertainty like a boat that has missed both banks, and somehow escaped the crisis and reached home. I sat swinging upon the swing of doubt, wondering what either woman would do. Then suddenly my beloved came and covered my eyes. Laughing, I said—"

Thief skilled in closing eyes, what profit is there in hiding and laughing? The incomparable touch of your hands has already revealed you. At this, breathing fragrance and speaking in syllables unsteady with intoxication, she said, "Tell me—who am I?" Then I replied—

The thrill that has made my cheeks rigid has already answered your question.

Yet, innocent girl, if you still ask, then tell me yourself: "Who are you?"

Then she removed her hands from my eyes and said, "With this thrilling art of deception you draw me helplessly toward you." Saying so, she kissed me and began to leave. Then I said—

Having stolen my heart with a kiss, where are you going? Thief, I place both your feet upon my head—stay somehow. At my words she went and sat upon the bed. I myself washed both her feet. She said, "You have taken the nectar of my feet; now come. Truly, you are a consummate rogue." Then, scattering laughter like a lattice of blossoming jasmine buds, she held with one hand her slipping girdle and sari. Turning upon the bed, the double curve of her waist and arms made the bend of her hips lovelier still. As her middle twisted, the three folds rose and fell; when the navel hid, the line of hair curved. The necklace slid over one breast and beside the other rounded breast; the earring hanging against her cheek made the painted makara design blossom more brightly. Thus, beautiful as Rati, Love's shy mistress, with shoulder turned and body bent, she arched one brow and, seeming to scatter blue lotuses upon the water with her sidelong glance, said to me, "There—do as you desire."

Her attention was fixed upon applying red lac. When she raised her thigh, lifting heel, ankle, and anklet, the newly starched silk sari did not cling to the leg but gathered along the lines of its folded pleats. The inner part of her thigh appeared to me, lovely as the space between the tusks of a young elephant and pale as the heart of a plantain stem. Turning my eyes away, she said, "You have not learned the restraint of sight required at such a time." With that she drew back her foot and struck my chest. My skin thrilled and became hard as armour. I said, "It is not right to drive me away before the colour is complete." She replied, "Very well—close your eyes and complete it." When I closed my eyes and began applying lac to her foot, she pulled my hair and kissed my lips.

Seeing me so thrilled, she said, "Like an ashoka tree, you flower beneath a woman's kick. Your roguery has defeated me." Embracing me as she spoke, she went to the bed. What followed, those dear to the gods may understand for themselves. If that is so, then you too should attend upon the assembled gallants who are to determine the expiation of jaundiced Vishnunaga. What do you say—"Alas, do not speak so! Let her favour my head too with the blow of her lotus foot—that alone shall be my expiation"? If so, just as the serpent Kaliya, dwelling in the Yamuna's pool, bore Krishna's footprints upon his head and became invulnerable to Garuda, no gallant will have power over you. Folding his hands and laughing, he departs. Now I too shall go to the gallants' assembly. Ah, while speaking with friends I did not notice the passage of time. Now—

Look, the sun is setting. The closing lotus watches him depart with longing. Twilight darkness climbs the roofs of houses and removes their heat. After touching the high branches of the garden for a long time with its rays, the sun hides among them. Pigeons perched upon the terrace gaze toward him and fill their eyes with his redness.

And at this hour—

Alerted by the sharp cries of birds, a cat leaps from the window onto the palace wall. A peacock leaves the house and goes to its accustomed roost. A drowsy deer, seeking a place to sleep, abandons even the evening flowers laid upon the platform. Swans emerge from the water and take refuge upon the platform beside the palace pool.

[*Walking.*]

Dense smoke pouring from windows and filling the upper terraces of mansions drifts like crystal dust. Bees hover over scented bathwater that fills the lanes to the brim. Ah, how incomparable is the splendour of the great road of the courtesans' quarter at this hour! The broad court outside the outer gateway has been swept, sprinkled with water, and adorned with heaps of flowers. Attendants are busy with evening courtesies. Courtesans dress and adorn themselves according to country, age, and wealth. Love's female messengers pause and move here and there, lending beauty to the quarter. Drunken gallants savour the wit of sharp, playful sarcasm. Bathed, perfumed, garlanded, and exhilarated by drink, young men spread across crossroads and three-way junctions. Here—

A female elephant prepared for riding trumpets softly as a passenger mounts her back. A woman is settling into a palanquin standing at a doorway. A horse, weighed down by a courtesan's heavy hips, jingling anklets and girdle and swinging earrings, seems able to move only at a gentle trot.

And here—

Some mansion windows are filled with webs of lamplight; elsewhere blue darkness, like a peacock's neck, spreads across the walls. The whitewashed walls of houses look exquisitely beautiful, as though painted with leafy vines in tamala-black and orpiment-yellow.

[*Walking.*] How beautiful is this public festival called Evening, graced by moonrise! Lord Moon is even now approaching, filling every eye with elixir and making the night lotuses in the pools smile.

Placing your reflection in the wine cup, do you wish to kiss me through the round leaves of blue lotuses? Tell me—does your beloved Rohini not see you? Restrain this bodily trembling born of inner emotion. The rising moon seems to set his reflection upon the rims of drunken women's earrings so that he may hear their playful conversation while they drink.

[*Walking.*]

Here a woman sings softly in private with her lover; there a lute rings; elsewhere, upon a palace roof at moonrise, a gathering drinks wine.

And at this hour Lord Moon—

Here builds with his rays a bridge across the water of a household pool; there, entering a plantain grove, erects pillars of moonlight; elsewhere, colours rows of whitewashed mansions once more with the nectar of his beams; and there, causing drops to murmur down from young leaves, seems to shower pearls. [*Walking.*] Ah, moonlight-water dripping from the moon's rays fills the world as though the Ocean of Milk had crossed its shore and spread its waves far and wide. Now—

Young men riding horses, female elephants, Karniratha carriages, and palanquins, receiving embraces and caresses from young women, come and go like pairs of Gandharvas and Siddhas in the sky.

[*Walking.*]

A woman seated behind a young man upon a horse, moving gracefully in intoxication, clasps him tightly with her breasts; he turns and kisses his beloved. The horse is so accustomed to the road home that it comes straight without wandering. Who is this displaying shamelessness in the courtesans' lane, enjoying himself as in a temple's inner sanctuary though moonlight makes it bright as day? Yes, I recognize him. It is Jayantaka, the Shaka prince of Saurashtra, enamoured of this pot-servant Baberika. What quality fitting a courtesan has he found in her alone throughout the whole city of courtesans? Perhaps—

Like the goddess of darkness, white in teeth and black in eyes, Baberika resembles a night of the eighth lunar day with its half-moon.

Or perhaps people of Saurashtra, monkeys, and barbarians all belong to the same sign of the zodiac.

Why, then, be surprised?

If his eyes are fixed upon fair Baberika, then through his languid drunken gaze even this moonlight must appear dark.

Enough—his road ends here. I shall go. [*Walking.*] Who is this other woman—

In both ears of this woman from Lata hang golden palm-leaf ornaments; at the end of her braid is a golden cluster of gems and pearls; and her kurpasaka bodice covers breasts and armpits and reaches to the end of her lower garment.

[*Thinking.*] I recognize her. It is Raka, embracing before the moon-pavilion the king's brother-in-law, the unfortunate Prince Mayura, who tries to charm her by displaying himself like a dancing peacock. She parades her good fortune through the courtesans' market. Seeing her apparent sincerity, the poor man seems to have been purchased.

That fair, stout woman carries the thin, dark Prince Mayura pressed to her breast like her own shadow fallen before her.

[*Walking.*] Who is this other woman? [*Thinking.*] It is the Yavana woman Karpuraturishtha, beloved of my dear friend Varahadasa, son of the illustrious Shardulavarman. Holding a wine cup in three fingers, she raises it toward her mouth; with the other hand she holds a moon-shaped earring whose reflection falls upon her cheek. The rays scattered from the earring make it seem that the moon too is playing upon her shoulder.

The Yavana woman, with hair and eyes like a chakora bird, looks at her reflection in the wine cup. Spreading a long lock with her nail, she mistakes the redness of wine rising in her soft cheek, pale as a mahua flower, for lac dye and tries to wipe it away.

A Yavana woman and a courtesan, a she-monkey and a dancer, a man of Malava and a sensualist, a singer and a donkey—in quality I regard all these as equal. Brahma is surely an expert at matching pairs.

Just as the atmagupta creeper spreads over an acacia and the pointed-gourd vine over a neem, so when a Yavana woman loves a man of Malava, an astonishing pair is formed.

She is known to me, but I shall not speak with her. Who could listen to the speech of a Yavana courtesan, filled with unfamiliar consonants and cries like a she-monkey's screeching, conveying her intention only by moving the forefinger with a few gestures? I shall remain silent. [*Walking.*] Who is this other man—

He is carrying his beloved upon an elephant, her locks and veil fluttering against the wind, as Udayana carried away Vasavadatta!

[*Thinking.*] I recognize him. He is the son of a wealthy man, whose gallant Pravaala is famous among the Dindis. He is the master of those who bind their headcloths and enter the battle of love. My little girl has been caught in the snare of that courtesan's desire and, disregarding her parents' command, has fallen deeply in love. Surely he is the teacher of the Dindis. Since he has become my son-in-law, even my speech fails before him. I shall not speak; I shall fold my hands and leave.

[*Walking.*] Now I must reach the assembly of gallants. After circling uselessly through the great road of the courtesans' quarter, I have arrived at the house of Bhattijimuta, chief of the gallants. In the open ground before the outer door, thousands of vehicles belonging to gallants summoned from all sides have gathered. Attendants stand near the gateway holding silver vessels of water for washing feet. The saying is true: the affairs of great men are great. Here five-coloured flowers are being scattered; woven garlands are hung; incense is waved, lamps are lit, and words of welcome spoken. Vehicles are unharnessed and released. There is rushing about, music and song, hands extended to assist arrivals, sweet words, loving embraces, bodies supporting one another, deeply humble bows, pats upon the back, brows raised with clicking sounds of delight, and heads lowered when teased. Some stand coquettishly; some sit with studied grace. Sandal paste is distributed, coloured cosmetics applied, unguents rubbed in, and fragrant powder scattered. Gallants jest; courtesans reply. In brief—

Dwarfs serving within the inner apartments have their feet buried to the knees in flowers and can move only with difficulty. Young courtesans, rolling their eyes, hiss "see—see" as they pull ketaki petals from their feet.

And all these—

Wealthy young men and leading gallants sit upon half-seats with their female companions and exchange clever jokes that do not wound the heart. They roam fearlessly through the quarter like unrestrained bulls among heifers in season upon an open pasture.

The upper space—the ceiling—of this assembly hall bears a Hundred Moons ornament in the form of hundreds of women's moonlike faces. On every side the building is adorned with a Hundred Eyes ornament made of women's glances. The arms of young men rubbing against one another are like iron bars laid around the hall, and their sandal-moistened chests resemble the polished stone pavement of the assembly floor.

And here—

Stand heroes who are wish-fulfilling trees to courtesans, instantly ready for love and prepared to abandon their entire capital; the mock wooden battles of their childhood are praised by old men as though they were the war of Suyodhana and Vrikodara.

Wearing upon my head the turban that is my friend's command, I too bow to Lord Love and, placing his order before me as my duty, shall petition the gallants concerning the expiation of the illustrious jaundiced Vishnunaga. [*Walking.*] Gentlemen—rogues gathered from the whole earth, lovers of quarrels and narrators of their histories—listen, listen!

Victory to Lord Love, who claims authority over ascetics, who is master of every mind and driver of the horses that are the senses, and whose command even the greatest creatures obey with crowned heads bowed.

[*Walking.*] Victory to the intoxication of a playful woman's youth, whose laughter spills across the flower at her cheek; victory to her unsteady gait and restless glance; and after these, victory to all the sport of her youth.

Having purified my head with dust from the chief courtesan's feet, I bow that head at the feet of you distinguished rogues and submit my petition. What need of preamble? Listen—

This Vishnunaga, seeking expiation, writhes upon the earth, rubbing his chest against it like a snake. You must preserve his life.

You ask: what was his offence? Listen—

Tossing upward the lock fallen across her eye, tightening the ends of her brows in anger, biting her lower lip and scattering the light of her teeth, her face trembling and anklets ringing, his intoxicated beloved caught up her slipping crimson garment with one hand and planted her ankleted foot upon his head.

What do you say—“Who is that courtesan so ignorant of the differences among men that her carelessness has brought this disgrace before us”?

She is the illustrious Madanasenika of Saurashtra. At the thought, “Fortunately no one else is here,” these gallants appear somewhat alarmed.

Waving their hands, hiding smiles, uttering reproaches, and forcing gravity upon their faces, the rogues look compassionately at one another and sink into thought. The seated leader of the gallants, the venerable Bhattijimuta, rises, overwhelmed by pity.

Crying, “What misery! What misery!” he sighs like an exhausted elephant and rains water from his eyes like a cloud. He calls me. I am here. What is Bhatti’s command?—“I have already heard, and you repeat, that for such an expiation we must go to the Brahmins. That is why I am seated here. Meanwhile, bind the gallants by an oath and prepare them.” As Bhatti commands. Gentlemen, listen, listen—

Whoever speaks nonsense in this assembly today shall never win a wager at dice; shall become obedient to his mother; shall humbly touch his father’s feet; shall drink only boiled milk; shall be satisfied with eating sweet balls in childish delusion; and shall remain content with his wedded wife.

And further—

He shall serve his teacher, be expelled from gallants’ gatherings, remain modest as an old man while still young, and become quiet when age truly comes—whoever sits here and speaks nonsense.

[*Walking and looking.*] The courier Anantakatha, forever splitting hairs, suddenly rises and calls me. What does he say—“The fault belongs to the woman who did not understand affection, not to jaundiced Vishnunaga. Listen—”

The beautiful woman’s foot, whose touch makes an ashoka flower out of season and in which the God of Love himself dwells with arrow drawn—that foot she mistakenly placed upon the head of this beast. The fickle woman must perform a long expiation for it. You have spoken correctly, for—

She played a lute before this donkey, recited a verse-filled panegyric before this monkey, and dripped the juice of mango blossom into a buffalo’s half-curdled milk.

Yet expiation exists to console the distressed. He has come afflicted, so you must show him compassion. Who is this grandson of a soft gourd vine, holding his drunkenly swaying head with one hand and calling to me, “Hear his expiation”? I shall approach him. The gallants are angry with him: “Who is this fellow with a face that ruins the very nature of gallantry, rising in council as though he were the foremost gallant and setting out to preach expiation?” Womanish Mallasvamin, did you hear what they said? What do you say—“Why do you not tell them—”

Only five nights after my father went to heaven, while my friends grieved and my relatives wailed and beat their breasts, I set aside one crying child and enjoyed wine with a maid. If I am not a gallant, who is? If so, everyone accepts that you are chief among gallants. Sit down. What do you say—“Make Madanasenika perform the expiation”? Very well, I shall proclaim it again. Why, Arya Rakshita, the poet from Shibi, calls out in a breathless voice, “Surely this expiation is improper.” This good man too is a great gallant, for—

He goes to the house of a Vedic scholar and sells his poetry for a single cup of wine; born among the Shibis, he has grown old in the tavern.

And further—

If a poet sells poetry, then his poetry too is of the kind composed beside a cup of wine. Such is the condition in Kashi, Kosala, the Bhagga country, and the cities of the Nishadas.

I shall approach him. Friend, I am here. What do you say—

The honey that fills a woman’s cheek as bees fill a closed lotus; that, issuing from her mouth, makes a bakula branch blossom; that fills her eyes with dalliance; and into which fresh mango juice is mixed—how can the head of this human beast, jaundiced Vishnunaga, deserve to be sprinkled with such a mouthful of wine? Another man, Bhavakirti, folds his hands and calls me to propose an expiation. This young Brahmin too is an extreme gallant, for—

The rogue throws to the ground a frightened, trembling mendicant nun—shaven-headed, old, clad in a worn saffron robe, and entering the house without fear to seek alms—and commits the misconduct of lust upon her.

I shall go to him. What do you say—“His expiation is this—”

First the woman shall seize his hair and drag him, then bind him with the cord of her girdle. Later, when she lies down, he shall massage her feet.

Even that is not sufficient for him. The aristocratic Gandharvasenaka—whose name is on the tongue of every servant—raises his hand and calls me.

The fingers of his hand have raced through many gestures upon three kinds of instruments. Like a shower of red lotus petals, his red fingers have spread across the lute strings. Playing the lute, he has sat beside beautiful women of wealthy inner apartments, rested the instrument upon their hips, and enjoyed the marks of their nails.

I shall approach him. What do you say—

Where are the jewelled girdles of courtesans—like banners flying beside the chariot of their hips, like ringing lutes urging lovers to join in the battle of passion—and where are the feet of this stinking donkey? [*Walking.*] Now a southern poet proposes an expiation. What do you say—

Drunk and casting coquettish glances, she shall strike his head again and again with the lotus flower from her ear. Hastimurkha, who has come from Gandhara, makes even this proposal worthless. You—

What do you say—

That lotus is carved from elephant ivory; the woman wears it at her ear; and it is variegated by the sidelong glance that reaches its edge. If it touches the head of this human beast, what expiation will result? On the contrary, he will be purified by its fragrant dust.

His opinion is sound. The leading gallants say the same. [*Walking.*] These two are calling me.

Gupta and Maheshvaradatta, seated upon the same seat—these two friends are gifted through their study of the poetic genius of the great poet Vararuchi.

I shall approach them. [*Approaching.*] Womanish Mukundagupta, what did you say—

Wash his head with the water used to wash her feet. The elders forbid it. Maheshvaradatta, known as Priya among his friends, declares that he is not even worthy to drink that foot-water. Another friend of mine, an aged gallant from Sauvira, calls me in a voice naturally smiling. What did you say—

When the removal of her ornaments makes her body lovelier in its natural radiance, and after bathing her wet locks lie scattered across her hips, I shall bring her here in that state. Then he shall stand before her holding her mirror; while she arranges her hair, she shall variegate the mirror's round surface with the brilliance of her eyes.

The poet Rudravarman of Dasheraka rejects this. What do you say—

This man is learned, born in a high family, and a secretary entrusted with the king's counsel. He should not keep hair soiled with dust from falling at a courtesan's feet—

Therefore shave his head.

"I am favoured by you," pleads Vishnunaga. "Before my hair is cut, I would rather cut off this head itself—forever bowed and disgraced by a maidservant's kick." The venerable leader Bhattijimuta answers him thus—

May no beautiful woman ever arrange his hair with leaf-soft hands adorned by the ringing of sliding bracelets, set with the rays of nails, and graced by rings. Let him keep this rough hair exactly as it is.

Now hear the expiation for Madanasenika as well—

May that woman, her eyes turning with intoxication, place one hand upon her hip to steady her girdle, set her ankleted foot, dyed red with lac, upon my head and favour me—while jaundiced Vishnunaga stands staring helplessly. Crying, "This alone is the proper expiation," every gallant applauds and endorses Bhattijimuta's judgment. Saying, "Now I am entirely favoured," jaundiced Vishnunaga departs. The venerable Bhatti calls me. I am here. What do you say—"All this is settled. Now what agreeable service may I perform for you gentlemen?"

Then hear this too—

May the clever procuresses skilled in quarrelsome banter prosper. May the rogues' hundred streams of income remain undiminished, so that they may fleece their victims without anxiety. May pleasant gatherings of gallants continue in this city, and every evening may there be affectionate revels of courtesans.

[*The GALLANT exits.*] Thus ends the one-actor play *Padataditakam*, *The Kick*, composed by Arya Shyamilaka, son of the northern poet Vishveshvaradatta.

CHATURBHANI

Four classical Sanskrit bhanas in one volume: Padmaprabhrtakam by Shri Shudraka, Dhurtavitasamvadah by Ishvaradatta, Ubhayabhisarika by Vararuchi, and Padataditakam by Shyamilaka. A bhana is a monologue — a play performed by a single actor.

Sanskrit-to-Maithili translation: Gajendra Thakur

Editor: Videha — First Maithili Fortnightly eJournal



www.videha.co.in

VIDEHA · FIRST MAITHILI FORTNIGHTLY eJOURNAL
ISSN 2229-547X

दामक प्रहसनम्

सम्भवतः भास रचित
संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद

गजेन्द्र ठाकुर

सम्पादक, विदेह प्रथम मैथिली पाक्षिक ई पत्रिका

www.videha.co.in

दामक प्रहसनम्

सम्भवतः भास रचित

संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद

गजेन्द्र ठाकुर

सम्पादक · विदेह प्रथम मैथिली पाक्षिक ई पत्रिका

. . .

www.videha.co.in

प्रकाशन विवरण

दामक प्रहसनम्

सम्भवतः भास रचित

संस्कृतसँ मैथिली अनुवादः गजेन्द्र ठाकुर

सम्पादकः विदेह प्रथम मैथिली पाक्षिक ई पत्रिका

© गजेन्द्र ठाकुर, 2026

मैथिली अनुवाद आ सम्पादकीय प्रस्तुति

www.videha.co.in

विषय-सूची

पात्र-परिचय	4
प्रस्तावना	6
दामकक प्रवेश	7
परशुराम आ कर्ण	9
दुर्बुद्धि आ दुर्मुख	10
भरतवाक्य	11

पात्र-परिचय

— . —

रंगमञ्च पर प्रवेशक क्रमसेँ —

पात्र	परिचय
सूत्रधार:	सूत्रधार (रंगमञ्चक निर्देशक); नान्दीक अन्त भेला पर प्रवेश
नटी	नटी (अभिनेत्री), सूत्रधारकेँ "आर्यपुत्र" कहि सम्बोधित करैत छथि
दामक:	दामक ("नेक दामक"), अंगदेशक राजा महाराज कर्णक घनिष्ठ मित्र आ अनुचर; प्रहसनक मुख्य विदूषक-सन पात्र
परशुराम:	परशुराम (भार्गव), धनुर्विद्याक गुरु; क्षत्रियकेँ शिक्षा नहि दैत छथि
कर्ण:	कर्ण, अंगदेशक राजा; धनुर्विद्याक उच्चतर रहस्यमे दीक्षित होयबाक इच्छासेँ परशुरामक आश्रम आयल छथि
दुर्बुद्धि:	दुर्बुद्धि, एक सैनिक; कर्णक शाप-प्रसंग सुनओनिहार
दुर्मुख:	दुर्मुख, दोसर सैनिक, दुर्बुद्धिक मित्र

उल्लेख-मात्र पात्र (मंच पर नहि अबैत छथि) —

पात्र	परिचय
ब्रह्मदत्त:	ब्रह्मदत्त, काम्पिल्य नगरीक राजा (प्रस्तावनामे उल्लेख)
भर्तृदारिका	राजमहिषी, जे दामक लेल सुस्वादु भोजन तैयार कऽ राखैत छथि (दामकक कथनमे)
वज्रमुख:	वज्रमुख नामक भृंग, जे परशुरामक जाँघ डसलक (दुर्बुद्धिक कथनमे)
गालव आदि शिष्या:	गालव आदि ब्रह्मचारी शिष्यगण (आश्रम-वर्णनमे)

प्रस्तावना

(नान्दीक अंत भेला पर सूत्रधारक प्रवेश।)

स्वर्ण-कमलवासिनी ब्रह्माणी कैँ प्रणाम करैत छी,
कुश-ध्वजधारी ब्रह्मा कैँ,
सभ देवता आ सभ ऋषि कैँ प्रणाम करैत छी।

(पट दिस ताकैत)

सूत्रधार— आर्ये, एतय आउ।

नटी— (प्रवेश करैत) एतय छी, आर्यपुत्र! अहाँक संग उद्यानमे घुमबाक हेतु उत्सुक भऽ, बहुत काल सँ अहाँकें खोजि रहल छलहुँ। आब अहाँक संग समय बितेबाक चाहैत छी, आर्यपुत्र!

सूत्रधार— आब उद्यान-भ्रमणक विचार छोड़ू। एहि ब्रह्मदत्तक नगरीमे महाराज काम्पिल्यक समक्ष एकत्रित भेल जन-समुदाय एकटा नव नाटकसँ मनोरञ्जित हेबाक अछि। ताहि लेल हम सुसज्जित आ अपन-अपन भूमिकामे निपुण अभिनेतागणकें तैयार कऽ रखने छी।

नटी— हमरा बुझल अछि जे काम्पिल्य नामक एकटा नगरी अछि आ ब्रह्मदत्त नामक एकटा राजा छथि।

सूत्रधार— अहीं कऽ तँ हमहूँ कहलहुँ! अहाँसँ भेंट भेलाक आनन्दमे हम भ्रमित भऽ गेलहुँ।

नटी— आर्यपुत्र! हमरा डर लागि रहल अछि। ई दुष्ट के अछि, जे भोजनमे बिलम्ब भेल ब्राह्मणक समान आ नुका समावर्तन भेल युवा ब्रह्मचारीक समान एना हड़बड़ीमे एतय आबि रहल अछि!

सूत्रधार— आर्ये, प्रदर्शन प्रारम्भ भऽ गेल। हमहूँ सभ अपन आगाँक कार्यक तैयारीमे लागी।

(दुनू गोटे प्रस्थान करैत छथि।)

दामकक प्रवेश

(तखन दामकक प्रवेश।)

दामक— (अपना मनमे) आह! बड़का लोक भाग्यक उलट-फेरकेँ नहि बुझि सकैत छथि। “एक विपत्ति कहियो असगर नहि अबैत अछि” ई कहबी सत्य सिद्ध होइत अछि। हम छी नेक दामक, अंगदेशक राजा महाराज कर्णक घनिष्ठ मित्र। बुद्धिमान्, शक्तिशाली, उन्नतिशील, सभ राजाकेँ वशमे कएने महाराज कर्ण एखनो सन्तुष्ट नहि छथि। त्रिभुवन-विजयी रावणक समान अद्वितीय शक्तिशाली बनबाक इच्छासँ, ओ धनुर्विद्याक उच्चतर रहस्यमे दीक्षित होयबाक उद्देश्यसँ आब परशुरामक आश्रम पर पहुँचल छथि। यद्यपि हमरा महाराजक अनुचर होयबाक सौभाग्य प्राप्त अछि, तथापि आब हम एकटा भारी संकट-भँवरमे पड़ल छी। हम तँ महाराजक ऊँच अट्टालिका, राजमहलक तड़ागमे स्नान, सुसज्जित शय्या पर सुतब, सन्ध्याकाल मीठ पेय, पाँच सुगन्धसँ युक्त पान, आ कोमल मलमली वस्त्रक अभ्यस्त छी। भर्तृदारिका (राजमहिषी) हमरा लेल सुस्वादु भोजन तैयार कऽ राखैत छथि आ बेर-बेर पूछैत छथि जे ‘नेक दामक कतय छथि।’ मुदा एहि सभक बादो एकटा कठिनाई अछि — हमरा भूख नहि लागैत अछि। आरामदायक बिछौनासँ ढाँकल ओहि शय्या पर सेहो हमरा निन्न नहि अबैत अछि। पगड़ी बन्हने माथसँ हम महाराजकेँ प्रणाम कऽ सूचित कएने छलहुँ जे हम अहाँक संग एतय नहि आबि रहल छी। पशु-पक्षीक एहि वनमे भटकैत हम एहि प्राणीगणकेँ अपन आहार बुझि रहल छी। हमरा शरीर सेहो नीक नहि लागि रहल अछि। पेट हम, भोजनक विचारसँ हमर आँखि बेचैन भऽ जाइत अछि। कपार-दर्द सेहो हमरा सतबैत अछि। बयारिसँ उड़ल काशक फूलक पराग हमर आँखिमे पड़ि गेल अछि जे हमरा आँखिकेँ नोरायल बना देलक। ई दुष्ट मधुमाछी सभ बाटमे हमरा काटलक। हमर इन्द्रियगण दर्पणक प्रतिबिम्बक समान हमरासँ छल कऽ रहल अछि—दहिनाक बदला बामाँ आ बामाँक बदला दहिना। हम कानसँ सुँघैत छी; हम अपन कारी नथुनासँ देखैत छी।

(विचार करैत)

जे स्वामी सलाह नहि सुनैत छथि, ओकर आश्रित रहनिहारक भाग्यमे दुःखे दुःख अछि।

(आगाँ दृष्टि देल)

आह! ई दुष्ट कुकुर ओहि आश्रमसँ एकटा वल्कल-वस्त्र लऽ कऽ भागि रहल अछि। रे दुष्ट, कतय जा रहल छह? हम तोहर दाँत तोड़ि देब।

(धुमि-धुमि कऽ देखैत)

आह! ई आश्रम तँ सभक लेल विश्रामक साझा स्थान थिक। एतय हरेक तपस्वी संतुष्ट जीवन बिता रहल छथि। वल्कल-वस्त्र पहिरने, माथसँ लटकैत विविधरंगी जटा, आ कारी मृगचर्मक करधनी बन्हने, आश्रमक तपस्वीगण वनसँ स्वच्छन्द समित्, कुश आ फूल आनि रहल छथि। एतय किछु गोटे जलमे स्नान कऽ रहल छथि। ओतय जगायल अग्नि जरि रहल अछि। अग्नि कहुँ आ तपोवन पर पसरि रहल अछि। अन्य महात्मा तपस्वी, जे अग्निमे आहुति देने छथि आ वेद-वेदाङ्गमे पारंगत छथि, अपन जीर्ण वल्कल-वस्त्र आ कान्हपर ढुलकैत जटामे शोभित भऽ रहल छथि। अपन मोतीसन यज्ञोपवीत, स्वर्ण-वल्कल आ मणि-सन माला सहित ओ अपन तपस्यामे कल्पवृक्ष सन देखबामे आबि रहल छथि। गालव आदि ब्रह्मचारी शिष्यगण, अपन पाठमे तत्पर, समित्-ईधनसँ अग्निकेँ प्रज्वलित कऽ रहल छथि। सभ प्रकारक तेलहन, अन्न, घास, ईधन, चर्म, समित्, सिंग, बाँस, वल्कल आ पाथर वर्ष भरिक उपयोगक लेल एतय संग्रहित अछि। वनक अन्नक मुट्ठी खा कऽ पोसायल हरिण आश्रमक द्वार पर एम्हर-ओम्हर घुमि रहल अछि। तपस्विनी कन्यागण अपन घैलासँ नव पौधाकेँ एना सिंचि रहल छथि जेना माता अपन शिशुकेँ स्तनपान करबैत होथि। आह! ई आश्रम सचमुच अद्भुत अछि।

(सुनैत)

आह! एरण्ड वृक्ष 'समय भऽ गेल, समय भऽ गेल' कहि रहल अछि। तँ हम महाराजक ओहिठाम जाइत छी। देवगण अपन आशीर्वाद दिअथि।

(प्रस्थान।)

परशुराम आ कर्ण

— • —

(तखन परशुराम आ कर्णक प्रवेश।)

कर्ण— भगवन्! हम अहाँकेँ प्रणाम करैत छी।

परशुराम— तूँ के छह? की लऽ कऽ एतय आयल छह?

कर्ण— हम धनुर्विद्याक उच्चतर रहस्यमे दीक्षित होयबाक इच्छुक छी।

परशुराम— हम ब्राह्मणकेँ शिक्षा देब, क्षत्रियकेँ नहि।

कर्ण— हम क्षत्रिय नहि छी।

परशुराम— तखन हम तोरा शिक्षा देब; आउ।

(दुनू गोटे प्रस्थान करैत छथि।)

दुर्बुद्धि आ दुर्मुख

— • —

(तखन दू टा सैनिकक प्रवेश।)

दुर्बुद्धि— दुर्मुख, हे मित्र! की तोहरा बुझल अछि?

दुर्मुख— दुर्बुद्धि, की बात अछि?

दुर्बुद्धि— हमर महाराज अपन गुरु परशुरामक संग फल, मूल, समित, कुश आ फूल संग्रह करबाक लेल वनमे गेल छलाह। वन-यात्रासँ थाकल परशुराम महाराजक जाँघ पर माथ राखि सुति गेलाह।

दुर्मुख— तखन की भेल? तखन की भेल?

दुर्बुद्धि— आ तखन, वज्रमुख नामक एकटा भृंगसँ गुरुजीक जाँघ अनायास डसा गेल। गुरुक निन्न भंग नहि हुअय, ताहि डरसँ महाराज चुपचाप ई पीड़ा साहससँ सहि लेलनि। रक्तसँ लथपथ आ अत्यन्त क्रुद्ध भऽ गुरु उठि ठाढ़ भेलाह, महाराजक क्षत्रियत्व चिन्हि गेलाह, आ ई शाप देलनि—'जखन जरूरत पड़तह, तोहर अस्त्र काज नहि करतौह।'

दुर्मुख— आह! ई दुःखक बात अछि जे गुरुदेव एना कहलनि। चलू।

(दुनू गोटे प्रस्थान करैत छथि।)

भरतवाक्य

— • —

(भरतवाक्य।)

सर्वत्र समृद्धि होउ
आ कतहु आपदा नहि होउ।
सभकेँ संतोष प्राप्त होउ
आ केओ असंतुष्ट नहि रहथि।

समाप्त

दामक प्रहसनम् एक संक्षिप्त हास्य-नाट्य अछि, जाहिमे अंगदेशक राजा
कर्णक अनुचर दामकक दृष्टिसँ परशुरामक आश्रम, कर्णक धनुर्विद्या-दीक्षा
आ शाप-प्रसंग उभरैत अछि। दामकक भोजन-प्रेम, वनजीवनसँ असुविधा
आ उलटबाँसीपूर्ण कथन प्रहसनक हास्य-स्वर रचैत अछि।

संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद
गजेन्द्र ठाकुर
सम्पादक, विदेह प्रथम मैथिली पाक्षिक ई पत्रिका



www.videha.co.in

DĀMAKA PRAHASANAM

Possibly by Bhāsa

English Stage Version

Translated from Sanskrit into Maithili by

Gajendra Thakur

Editor · Videha — First Maithili Fortnightly eJournal

www.videha.co.in

DĀMAKA PRAHASANAM

Possibly by Bhāsa

English Stage Version

Translated from Sanskrit into Maithili by

Gajendra Thakur

Editor · Videha — First Maithili Fortnightly eJournal

. . .

www.videha.co.in

Publication Details

DĀMAKA PRAHASANAM

Possibly by Bhāsa

Translated from Sanskrit into Maithili by Gajendra Thakur

Editor: Videha — First Maithili Fortnightly eJournal

© Gajendra Thakur, 2026

www.videha.co.in

CONTENTS

Cast of Characters	4
Prologue	5
Dāmaka Enters	6
Parashurama and Karna	8
Durbuddhi and Durmukha	9
Bharata-vakya	10

CAST OF CHARACTERS

In order of appearance on stage —

CHARACTER	DESCRIPTION
SUTRADHARA	The Stage Manager (director of the performance); enters after the conclusion of the Nandi.
ACTRESS	An actress who addresses the Sutradhara as ‘Aryaputra.’
DĀMAKA	Dāmaka (‘Good Dāmaka’), close friend and attendant of His Majesty Karna, King of Anga; the principal clown-like figure of the farce.
PARASHURAMA	Parashurama (Bhargava), master of archery; he does not teach Kshatriyas.
KARNA	Karna, King of Anga; comes to Parashurama’s hermitage seeking initiation into the higher mysteries of archery.
DURBUDDHI	A soldier who recounts the episode of Karna’s curse.
DURMUKHA	A second soldier and friend of Durbuddhi.

Characters mentioned only (they do not appear on stage) —

CHARACTER	DESCRIPTION
BRAHMADATTA	King of the city of Kampilya (mentioned in the prologue).
BHARTRIDARIKA	The Queen, who keeps delicious food prepared for Dāmaka (mentioned in Dāmaka’s speech).
VAJRAMUKHA	A beetle named Vajramukha that bit Parashurama’s thigh (mentioned in Durbuddhi’s speech).
GĀLAVA AND OTHER DISCIPLES	Galava and the other brahmacharin pupils (mentioned in the description of the hermitage).

PROLOGUE

[At the conclusion of the Nandi, the SUTRADHARA enters.]

I bow to Brahmānī, who dwells upon the golden lotus,
to Brahmā, bearer of the banner of kusa grass,
and to all the gods and all the sages.

[Looking toward the wings.]

SUTRADHARA — Madam, come here.

ACTRESS — *[Entering.]* Here I am, Aryaputra! Eager to walk with you in the garden, I have been searching for you for a long time. Now I wish to spend some time with you, Aryaputra!

SUTRADHARA — Put aside the thought of a stroll in the garden. Here, in Brahmadata's city, the crowd assembled before His Majesty Kampilya is to be entertained by a new play. For that purpose, I have prepared a company of well-costumed actors, each accomplished in his or her part.

ACTRESS — I understand that Kampilya is the name of a city and Brahmadata the name of a king.

SUTRADHARA — That is exactly what I meant to say! In my delight at seeing you, I became confused.

ACTRESS — Aryaputra! I am frightened. Who is this rogue rushing toward us like a Brahmin whose meal has been delayed, or like a young brahmacharin whose graduation rite has been performed in secret?

SUTRADHARA — Madam, the performance has begun. We too must attend to the work that lies ahead.

[They both exit.]

DĀMAKA ENTERS

[*DĀMAKA enters.*]

DĀMAKA — [*Aside.*] Ah! Great men cannot understand the reversals of fortune. The saying, ‘Misfortunes never come alone,’ has proved true. I am Good Dāmaka, the close friend of His Majesty Karna, King of Anga. Wise, mighty, ever-rising, and having brought every king under his sway, His Majesty Karna is still not satisfied. Desiring to become uniquely powerful like Ravana, conqueror of the three worlds, he has now reached Parashurama’s hermitage to be initiated into the higher mysteries of archery. Though I enjoy the good fortune of serving His Majesty, I have now been drawn into a terrible whirlpool of trouble. I am accustomed to His Majesty’s lofty palace terraces, bathing in the royal lotus-pool, sleeping upon a well-appointed bed, sweet drinks in the evening, betel scented with five fragrances, and soft muslin garments. The Bhartridrika—the Queen—keeps delicious food prepared for me and repeatedly asks, ‘Where is Good Dāmaka?’ Yet, in spite of all this, there is one difficulty: I have no appetite. Even on that bed, spread with comfortable bedding, sleep will not come to me. With my turban bound upon my head, I bowed to His Majesty and informed him that I would not accompany him here. Wandering through this forest of birds and beasts, I find myself looking upon these creatures as food. My body does not feel well either. Glutton that I am, the mere thought of food makes my eyes restless. A headache torments me too. Pollen from the windblown flowers of kasa grass has entered my eyes and made them water. These wicked bees stung me along the road. My senses are deceiving me like reflections in a mirror—left in place of right, and right in place of left. I smell with my ears; I see through my black nostrils.

[*Reflecting.*]

The dependent of a master who refuses to heed advice is fated to suffer nothing but misery.

[*Looking ahead.*]

Ah! That wicked dog is running away from the hermitage with a bark garment. You scoundrel, where are you going? I shall break your teeth!

[*Looking all around.*]

Ah! This hermitage is a common resting place for all. Every ascetic here leads a contented life. Clad in bark garments, with many-coloured matted locks hanging from their heads and girdles of black antelope skin at their waists, the ascetics freely bring sacrificial fuel-sticks, kusa grass, and flowers from the forest. Some are bathing in the water. Over there a kindled fire is burning, and its smoke spreads across the sacred grove. Other venerable ascetics, who have offered oblations into the fire and are learned in the Vedas and Vedangas, look resplendent in their worn bark garments and in the matted locks falling over their shoulders. With pearl-like sacred threads, golden bark-cloth, and jewel-like rosaries, they appear in their austerity like wish-fulfilling trees. Galava and the other brahmacharin disciples, intent upon their lessons, feed the fire with sacrificial fuel-sticks. Oilseeds of every kind, grain, grass, fuel, hides, fuel-sticks, horns, bamboo, bark, and stones have been stored here for use throughout the year. Deer, nourished on handfuls of forest grain, wander to and fro at the entrance to the hermitage. Young women ascetics water the tender plants from their pitchers as lovingly as mothers nurse their infants. Ah! This hermitage is truly wondrous.

[*Listening.*]

Ah! The castor-oil tree is crying, ‘It is time! It is time!’ Then I shall go to His Majesty. May the gods bestow their blessings.

[*Exit.*]

PARASHURAMA AND KARNA

[*PARASHURAMA and KARNA enter.*]

KARNA — Revered Sir, I bow to you.

PARASHURAMA — Who are you? What brings you here?

KARNA — I wish to be initiated into the higher mysteries of archery.

PARASHURAMA — I teach Brahmins, not Kshatriyas.

KARNA — I am not a Kshatriya.

PARASHURAMA — Then I shall teach you. Come.

[*They both exit.*]

DURBUDDHI AND DURMUKHA

— • —

[Two SOLDIERS enter.]

DURBUDDHI — Durmukha, my friend! Do you know what has happened?

DURMUKHA — Durbuddhi, what is it?

DURBUDDHI — Our king went into the forest with his guru, Parashurama, to gather fruit, roots, sacrificial fuel-sticks, kusa grass, and flowers. Weary from the journey through the forest, Parashurama laid his head upon our king's thigh and fell asleep.

DURMUKHA — Then what happened? What happened next?

DURBUDDHI — Then a beetle named Vajramukha unexpectedly bit the guru's thigh. Fearing that his guru's sleep might be disturbed, His Majesty silently endured the pain with great courage. Drenched in blood and furious, the guru rose to his feet, recognized that His Majesty was a Kshatriya, and pronounced this curse: 'When the moment of need comes, your weapon will fail you.'

DURMUKHA — Alas! It is grievous that our revered guru spoke such words. Come, let us go.

[They both exit.]

BHARATA-VAKYA

— · —

[*The Bharata-vakya: the closing benediction.*]

May prosperity prevail everywhere,
and may disaster strike nowhere.
May all attain contentment,
and may no one remain dissatisfied.

END

Dāmaka Prahasanam is a compact farce centred on Dāmaka, attendant and close friend of Karna. His comic discomfort in the forest frames Karna's visit to Parashurama's hermitage and the episode that culminates in the curse. The play closes with a benediction for prosperity and contentment.

Translated from Sanskrit into Maithili by
Gajendra Thakur
Editor · Videha — First Maithili Fortnightly eJournal

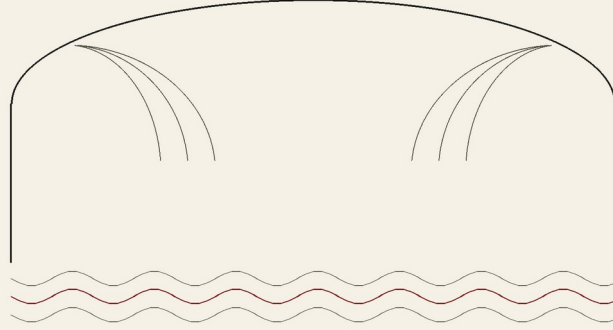


www.videha.co.in

हास्यार्णवप्रहसनम्

हास्यक सागर

मूल संस्कृत — श्री जगदीश्वर भट्टाचार्य
संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद — गजेन्द्र ठाकुर
सम्पादक, विदेह — प्रथम मैथिली पाक्षिक ई-पत्रिका



www.videha.co.in

हास्यक सागर

हास्यार्णवप्रहसनम्



मूल संस्कृत — श्री जगदीश्वर भट्टाचार्य
संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद — गजेन्द्र ठाकुर
सम्पादक, विदेह — प्रथम मैथिली पाक्षिक ई-पत्रिका

www.videha.co.in

प्रकाशन-विवरण

हास्यक सागर — हास्यार्णवप्रहसनम्क मैथिली अनुवाद

मूल संस्कृत: श्री जगदीश्वर भट्टाचार्य

संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद: गजेन्द्र ठाकुर

सम्पादक: गजेन्द्र ठाकुर, विदेह — प्रथम मैथिली पाक्षिक ई-पत्रिका

© 2026 गजेन्द्र ठाकुर

मैथिली अनुवाद आ एहि संस्करणक सर्वाधिकार सुरक्षित।

प्रकाशन: विदेह — प्रथम मैथिली पाक्षिक ई-पत्रिका

www.videha.co.in

विषय-सूची



पात्रक नाम	1
प्रथम अंक	2
द्वितीय अंक	24

हास्यार्णवमे पात्रक नाम, प्रवेशक्रमक अनुसार

सूत्रधार — प्रधान पुरुष अभिनेता
नटी — प्रधान स्त्री अभिनेत्री
राजा अनयसिन्धु — अव्यवस्थाक सागर
सेवक — गुप्तचर
कुमतिवर्मा — मूर्खताक रक्षक
बन्धुरा — झुकल भगवाली
मृगाङ्कलेखा — नव चन्द्ररेखा
विश्वभण्ड — विश्व-विदूषक
कलहाङ्कुर — कलहक अंकुर
व्याधिसिन्धु — रोगक सागर
आतुरान्तक — रोगीक मृत्युरूप
रक्तकल्लोल — रक्तक तरंग
मिथ्यार्णव — मिथ्याक सागर
साधुहिंसक — साधुक पीड़क
रणजम्बुक — युद्धक सियार
महायात्रिक — परलोकक भविष्यवक्ता
मदनान्धमिश्र — कामसँ अन्हरायल
कुलाल — जंगली मुरगा
महानिन्दक — महान निन्दक

बेल-लता जकाँ बाँहिसँ बान्हल, मैथुनरत दुनू गोटाक परिश्रमसँ देहपर लागल सुगन्धित चन्दन पसीनाक धारसँ बहि रहल अछि। समागमक स्मृति विस्मयसँ जागि उठैत अछि, ओठ कसल अछि, स्वास ऊपर-नीचा अस्थिर भ' रहल अछि। अकस्मात् आनन्दक सूचक स्वास लैत, आँखि आनन्दसँ चमकैत, देहक रोम पुलकसँ ठाढ़, भउँह डोलैत आ हाथ घुमि-घुमि नाचि रहल अछि। शिव आ पार्वतीक उन्मत्त प्रेम-मिलनक ई आनन्द आ भाव चारू कात पसरि रहल अछि।

"आकाशक दानव राहु सूर्यसँ चन्द्रमा दिस बढ़ल जा रहल अछि, चन्द्रमाकेँ भोजनक निमित्त निगलबाक इच्छासँ, गिरहन लगबैत। हे चन्द्रमुखी पार्वती! की ओ तोहर मुख, जे चन्द्रमाक चमकसँ मिलैत अछि, देखि भ्रमवश ओकरा निगलबाक इच्छा नहि करत?" अपन स्वामीक ई बात सुनि पार्वती राहुक मार्ग देखबाक लेल आकाश दिस तकय लगैत छथि, आर शिव आदरणीया पार्वतीक मुखकेँ जोरसँ चूमि लैत छथि। त्रिनयन भगवानक ई स्तुति सज्जन आ सद्गुणी पुरुषक कामना पूर्ण करय।

मंगलाचरणक श्लोक पढ़ला उत्तर सूत्रधार, प्रधान पुरुष अभिनेता, बजलाह:

अधिक विस्तार कहब निरर्थक अछि, तँ अहिना कहैत छी:

कवि जगदेश्वर भट्टाचार्यक काव्य एक गोर-वर्ण, अद्भुत नारी जकाँ अछि, जे स्वतन्त्र, स्वच्छन्द, स्वाधीन आ बिबिध भाव उत्पन्न करबामे सक्षम अछि; ई काव्य उपमा आदि अलंकारशास्त्रक नियमसँ सुसज्जित अछि, जकर सहायतासँ सम्यक ज्ञान होइत अछि; व्याकरण आ अन्य कठोर मानदंडक दृष्टिसँ ई शुद्ध अछि; ई हास्यादि रसँ भरल अछि आ हास्य उत्पन्न करबामे समर्थ अछि — कवि जगदेश्वरक काव्य सुनि विद्वान लोकनिक दाँत हँसैत-हँसैत खसैत लगैत छनि। ई काव्य विद्वान लोकनिक आत्माकेँ आनन्दित करैत अछि आ अपार सुख दैत अछि।

शिवजीक आराधनासँ जकर कुल निष्कलंक भेल आ काव्य-शक्ति प्रकाशित भेल, ओ कवि श्री जगदेश्वर हमरा आदेश देलनि: "बसन्त ऋतुक अनुकूल, तू हास्यार्णव नामक हमर प्रहसनकेँ प्रस्तुत क' काव्य-रसिक लोकनिक हृदयमे आनन्द उत्पन्न कर।"

निश्चित रूपेँ ई आदेशक पालन करब आवश्यक अछि। एहि विद्वत-सभामे हमर मनो अधीर आ उत्सुक अछि बसन्तमे अपन मोहक स्वरसँ चोंचला करबाक लेल, आर नाचबाक लेल सेहो। तँ आउ, हम नाचब, बाजा बजाएब आ गाएब शुरू करी। (घूमि क' चारू कात तकैत छथि) अहो! बसन्तक सुन्दरताएँ हमर हृदयकेँ आन्दोलित क' रहल अछि, कारण—

कोन संवेदनशील मनुष्यक हृदय बसन्तमे आनन्दसँ नहि उमड़ैत छैक, जखन मलय-वनसँ स्पर्शित पवन चन्दनक सुगन्ध ल' अबैत अछि, आर मधुमक्खीक मीठ गुंजार आ कोयलिक मधुर गान सुनाइत अछि?

आर तँ,

एहि बसन्त-काल मे मधु-मत्त भ्रमर की-की नहि करैत अछि! ओ भ्रमर बगीचामे गुंजैत घुमैत अछि, आकाश दिस उड़ैत अछि, आर फेर आकाशसँ खसि पड़ैत अछि। परागसँ लिपाएल देहसँ इत-उत भरमैत, चंचल दृष्टिसँ ताकैत, ओ फूलकेँ चुमैत अछि आर अपन प्रियाकेँ आलिंगन करैत अछि।

हे नारी! तोहर आँखिक पुतरी सुनहर पात्रसँ लटकैत कमलक झुण्डक समान चंचल कटाक्ष फेकैत अछि। बिना नारीक भोग कोना सम्भव अछि? (घूमि क' पर्दाक पाछाँ तिरिग-कोठरी दिस देखैत, पढ़ैत छथि)—

हे नारी, तोहर आँखिक पुतरी सुनहर पात्रसँ लटकैत कमलक झुण्डक समान चंचल कटाक्ष फेकैत अछि! तोहर देह चन्द्रमाक किरणक समान अछि! तूँ कामदेवक बाणक समान छह! तोहर देह सर्पक समान कामदेवसँ डसल जकाँ अछि! तोहर देह अमृतक समान अछि! हे प्रिये! तूँ चतुर, चालाक, तीक्ष्ण छह! तूँ सुहावन आ देदीप्यमान छह! जल्दी आउ!

(नटी, प्रधान स्त्री अभिनेत्री, प्रवेश करैत छथि)

नटी : हे स्वामी! हम अहाँक इच्छाक अनुसार उपस्थित भेलहुँ। कृपया हमरा अपन मधुर वचनसँ अनुगृहीत करु।

सूत्रधार : हे आदरणीया! देखू—

जखन कोयलिक मीठ गीत चारू दिस पसरि रहल अछि, जखन कुंजमे भ्रमर फूलकेँ मगन भ' चुमि रहल अछि, मलय-वनक पवनसँ स्पर्शित, चमेलीक सुगन्ध चारू कात पसरि रहल अछि — बसन्तक आगमनपर कोन विवेकी पुरुष कामदेवक बाणसँ पीड़ित नहि होइत अछि?

आर सेहो:

एहि बसन्त-कालमे माधविका लताक बेल, नव-नव फूलसँ लदल, आनन्दसँ आम्रवृक्षकेँ आलिंगन क' रहल अछि। एहि आनन्दमय आलिंगनक अव्यक्त ध्वनिसँ, आर कोयलिक मधुर गानसँ, माधविका लता जेना एकटा नव-विवाहिता वधूकेँ प्रेम-कलाक शिक्षा दैत होइक।

नटी : (मन बहटकाएल जकाँ देखबैत छथि)

सूत्रधार : हे आदरणीया! अहाँ किएक अन्यमनस्क बुझा रहल छी?

नटी : हे स्वामी! अहाँ नहि सुनल की?

सूत्रधार : की?

नटी : हम एहि लेल चिन्तित आ अन्यमनस्क छी जे हमरा अनयसिन्धु नामक एकटा राजाक शासन-व्यवस्थापर बातचीत करबाक अछि, जे सदियन अपन महलक अन्तःपुरमे बन्द रहैत छथि।

सूत्रधार : हे प्रिये! की ई सत्य अछि?

नटी : हँ, ई सत्य अछि।

(पर्दाक पाछाँसँ आवाज सुनाइत अछि)

राजा अनयसिन्धु, अव्यवस्थाक सागर, एहि नगरक कल्याण आ दुर्दशा दुनू जानबाक इच्छासँ शीघ्र आबि रहला अछि। हे प्रजा! बड़-बड़ जलहीन माटिक बर्तन एकठाम जुटा राखू आर मुख्य मार्गपर अन्न-भूसक सुइयासँ रेखा खींचबाक व्यवस्था करू।

सूत्रधार : (आकाश दिस तकेत, सुनैत छथि। सुनला उत्तर) —

डर आ आशंकाएँ न्याय [नीति] आ सम्पूर्ण सज्जन लोककेँ दूर भगा देल अछि। के छैक जे धूर्त आ ठकबाजक चतुर बातचीत सुनि दोसराक धन हड़पबाक फिराकमे नहि लागल छैक? आजुक राज्यमे के छैक जे बलपूर्वक दोसराक पत्नीकेँ अपन कामवासना शान्त करबाक लेल नहि प्रयोग करैत छैक? ई राजा अखन एहि नगर दिस बढ़ि रहला अछि, तँ हे प्रिये! हमरा सभकेँ एतय रहब उचित नहि बुझना जाइत अछि।

तँ आउ, हम दुनू गोटे ई मार्गसँ आन कतहु चली जाइ।

(सूत्रधार आ नटी दुनू गोटे प्रस्थान करैत छथि।) (प्रस्तावनाक समाप्ति)

(एहि उत्तर राजा अनयसिन्धु, अव्यवस्थाक सागर, एकटा सेवकक संग प्रवेश करैत छथि)

राजा : (अपन मनमे) आह! कतेक दुःखक बात जे हमर देह कामदेवक फूलक बाणसँ आहत भ' शिथिल भ' गेल अछि, आर हमर देह प्रेमक अग्निसँ दग्ध भ' गेल अछि; दिन-राति हम दोसराक पत्नीक संग सम्भोग करबाक उपाय सोचैत रहैत छी। एहि लेल बहुत दिनसँ हम नगरक प्रजाक कल्याणपर ध्यान नहि दऽ सकल छी।

(प्रकाशमे आबि सेवक-गुप्तचरसँ बजलाह) हे परम गुप्तचर! हे मिथ्या-धारणाक व्याख्याकार! हमर राज्यक अवस्थाक पूर्ण अनुसंधान करू।

सेवक-गुप्तचर : जे स्वामी आज्ञा करैत छथि।

(एना कहि गुप्तचर बाहर निकलैत छथि, आगू देखैत छथि आर फेर वापस आबि ऊँच स्वरमे राजाक कानमे बजैत छथि) हे स्वामी! हम राज्यक रहस्यक भेद खोलि लेलहुँ।

राजा : कहू, कहू।

सेवक-गुप्तचर : राज्यक न्याय-व्यवस्था आ नागरिक कानून [व्यवहार] बहुत दिनसँ परामर्शक अभावमे पूर्णतः पतित आ उपेक्षित भ' गेल अछि।

राजा : (क्रोधसँ) केना?

सेवक-गुप्तचर : (संस्कृतमे बजैत) हे स्वामी! एहि कारणसँ —

सब पुरुष दोसराक पत्नीकेँ त्यागि केवल अपन पत्नीकेँ आलिंगन करैत छथि; सुयोग्य आ विद्वान ब्राह्मणक उपस्थिति रहितहुँ जूता सिबय बला मोची जूता सीबि रहल अछि। निर्लज्ज लोक निम्नतम जातिक सुरक्षित उपस्थितिमे सेहो ब्राह्मणक पूजा करैत अछि। हे राजन! अहाँक राज्यमे एहि प्रकारक नियमक अति उल्लंघन भ' गेल अछि।

आर सेहो,

स्त्री लोकनि अपन आँखिमे नहि, बल्कि जांघमे काजर लगबैत छथि; ओठमे सेनुर नहि सजाबैत छथि, बल्कि माथाक बीच सिनुर लगबैत छथि जे लाल आभासँ चमकैत अछि। ओ पएमे लाह लगबैत छथि, गोड़मे पाजेब पहिरैत छथि, आँखिमे रत्नजड़ित हार पहिरैत छथि आर दुनू छातीपर पाजेब सजाबैत छथि। कमरक चारू कात हार पहिरैत छथि, पएमे नहि, आर सोनाक करधनी कमरमे पहिरैत छथि, ओठपर नहि। बड़ पीड़ासँ हम राज्यक हर घरमे एहन उलट-पुलट, निरर्थक आभूषण-पहिरनाइ देखने छी।

(गुप्तचरक बात सुनैत, फेर अपन मनमे बजैत छथि)

राजा : बहुत दिनसँ हम राज्यक विषयमे विचार आ चिन्तन नहि केने छी। एहि कारणसँ न्याय-व्यवस्थाक पतन तीव्र भ' गेल अछि। ठीक अछि, हम दण्ड-व्यवस्था बनाएब।

(प्रकाशमे आबि)

राजा : सुनू, कुमतिवर्मा, मूर्खताक रक्षक नामक मंत्रीकेँ बजाउ।

सेवक-गुप्तचर : जे स्वामी आज्ञा करैत छथि।

(गुप्तचर बाहर जाइत छथि आर मंत्रीक संग फेर प्रवेश करैत छथि)

(मूर्खताक रक्षक प्रवेश करैत छथि आ बामा हाथसँ राजाकेँ प्रणाम करैत छथि)

मूर्खताक रक्षक : हे स्वामी! बिना पुछने अहाँक जे इच्छा हो, स्पष्ट आदेश करू, हम पालन करब।

राजा : हे मंत्री! दरबार लगेबाक उपयुक्त स्थान नहि होएबाक कारण बहुत दिनसँ हम राज्यक विषयमे बातचीत नहि क' सकल छी।

मूर्खताक रक्षक : (आश्चर्यसँ) हे स्वामी! एतहि तँ एकटा अत्यन्त सुन्दर स्थान अछि दरबार लगेबाक। कहू, कहू!

राजा : एकटा दलालिनि, बन्धुरा, झुकल-भगवाली, क घर।

राजा : (जोर सँ हँसैत) हे मूर्खताक रक्षक! एहन बुझना जाइत अछि जेना अहाँ दरबार लगेबासँ पहिने हमर हृदयक भितरी इच्छा सँ सलाह क' लेलहुँ। रानीक झुलैत छातीकेँ स्पर्श करबामे हमरा अरुचि अछि, हमरो इच्छा अछि जे हम एकटा वेश्याकेँ आलिंगन करी। की कामदेव झुलैत छातीवाली स्त्रीमे कहियो निवास क' सकैत छथि?

आर सेहो,

रुचिकर स्त्रीक ऊँच स्तन देखि, जे दुर्गम पहाड़ जकाँ उठल रहैत अछि, कामदेव अपन तीक्ष्ण बाणसँ युवककेँ हृदयकेँ बलपूर्वक फाड़ि दैत छथि। एहि प्रेम-युद्धमे कामदेवक आक्रमण स्तनकेँ चोट पहुँचाबैत अछि आर ओकर पतन क' दैत अछि — कमजोर आ डरपोक कामदेव किला ढहितहि पाछाँ भागि जाइत छथि, इएह हमर विश्वास अछि।

मूर्खताक रक्षक : चलू की?

राजा : (खुशी सँ मंत्रीक संग चलैत छथि)

सेवक-गुप्तचर : हे स्वामी! कर्पूर, चन्दन, कस्तूरी आर बिबिध फूलक सुगन्ध एहि दिससँ अबैत अछि। तँ हमर अनुमान अछि जे ईहे झुकल-भगवालीक घर होएत। हे स्वामी! कृपया एहि दिस चलू।

राजा : (प्रवेश करैत, आनन्दसँ बजैत छथि) ई तँ झुकल-भगवालीक घर अछि। एतय आबि, हम सए तीर्थयात्राक पुण्य प्राप्त क' लेलहुँ।

मूर्खताक रक्षक : दलालिनि झुकल-भगवाली कतय छथि?

(एहि उत्तर झुकल-भगवाली सए-सए यार लगेबालाक संग खुशी-खुशी प्रवेश करैत छथि)

झुकल-भगवाली : ओहो! आश्चर्य! आश्चर्य! सुनू हे यार लोकनि! धूर्तमे सर्वश्रेष्ठ, राजा अव्यवस्थाक सागर, आबि गेला अछि; तँ अहाँ लोकनि बसन्त-सम्बन्धी गीत गाबय, ताल आ ढोलक संग, बिलम्ब जुनि करू।

(सब यार लगेबाला नजदीक आबि आनन्दसँ गाबय लगैत छथि)

मधु-मत्त भ्रमरक मीठ गुंजारसँ भरल, अत्यन्त सुन्दर स्वरवाली स्त्रीक गानसँ युक्त, कामदेवसँ हृदय-विदीर्ण युवकसँ भरल — ई सभ बसन्त-ऋतुकेँ अहाँ लोकनि लेल आनन्दमय बनाबय।

(ओ लोकनि बेर-बेर एहि तरहें गाबैत आ बजबैत रहैत छथि)

राजा : (सुनैत छथि, फेर मंत्रीक कानमे फुसफुसाइत छथि) ओहो! मूर्खताक रक्षक, झुकल-भगवालीकेँ किछु चाही।

मूर्खताक रक्षक : अहाँ पूरा दुनियाँमे सबसँ बेसी पापी छी। तँ, आन सबकेँ बचा, वज्रपात केवल अहींक माथपर पड़त।

राजा : हमरा नहि बुझल छैक की होएत। मुदा एखन हमरा की करबाक चाही?

मूर्खताक रक्षक : अपन कंजूसी देखा चुकला अछि, तँ एहि तीर्थस्थलमे तीन उपवास करू, जाहिमे सम्पूर्ण भोग-विलाससँ परहेज हो।

राजा : (अपन मनमे) डरेबाक जरूरत नहि अछि। हम झुकल-भगवालीकेँ धोखा देबाक लेल प्रणाम करैत छी। (प्रकाशमे) हे माता झुकल-भगवाली! हम अहाँकेँ प्रणाम करैत छी।

झुकल-भगवाली : मृगाङ्कलेखा, नव-चन्द्ररेखा, अहाँपर प्रसन्न होथि।

राजा : (खुशी सँ अपन मनमे बजैत छथि) एहि दलालिनि झुकल-भगवाली हमरासँ कोनो अनुग्रहक याचना नहि केलनि, तँ हम एकटा महापापसँ मुक्त भ' गेलहुँ। (प्रकाशमे) नव-चन्द्ररेखा कतय छथि?

(एहि उत्तर नव-चन्द्ररेखा, अपन बेल-लता जकाँ देहकेँ विशेष आभूषणसँ सजाओने, प्रवेश करैत छथि)

नव-चन्द्ररेखा : हे माता! ई के छथि?

झुकल-भगवाली : हे बेटी! तूँ ओकरा नहि चिन्हैत छह? राजा अव्यवस्थाक सागर अहाँसँ भेंट करय आयल छथि।

नव-चन्द्ररेखा : (मुस्कराइत) एहिसँ बेसी पुण्यक कार्य आर की भ' सकैत अछि?

राजा : (नव-चन्द्ररेखाकेँ देखैत) एकर देह अद्भुत अछि—

एकर मुख चन्द्रमाक कान्तिकेँ मात करैत अछि, एकर चंचल आँखि काजरसँ काजरित अछि, ओ लताक समान अपन भँह घुमा-घुमा अपन भाव प्रकट करैत छथि, माथपर कस्तूरी-मिश्रित चन्दनक टीका शोभा दैत अछि। एकर सुन्दर ओठ बन्धूक फूलक रंग जकाँ लाल अछि; एहि लताक समान सुन्दर देह सुनि देवता आ ऋषि सेहो मोहित भ' सकैत छथि। एकर अमृत-सिक्त वाणी सुनि के मोहित नहि होएत? एहन सुन्दर देह त्रिलोकमे दुर्लभ अछि।

आर सेहो,

एकर देह एकटा सुन्दर सरोवर जकाँ अछि, एकर देदीप्यमान यौवन जलक समान अछि, एकर मुख कमलक समान अछि जे कस्तूरीक कीचमे अछि, एकर चंचल आँखि कमल-नालक समान अछि, एकर हाथ भ्रमरक भ्रमणक समान लगैत अछि। एकर स्तन दू प्रतिद्वन्द्वी हाथीक समान अछि; हमर मन एहि सरोवरसँ बाहर नहि निकलय चाहैत अछि, मुदा ई मन एकर छाती-हाथीकेँ क्रोधसँ कुचलि केना छोड़ि सकत? नव-चन्द्ररेखाक ई देह!

(एना कहला उत्तर, झुकल-भगवालीकेँ अन्यमनस्क देखि, कहैत छथि) हे झुकल-भगवाली! अहाँ किएक अन्यमनस्क बुझा रहल छी?

झुकल-भगवाली : हे स्वामी! हम विश्वभण्ड, विश्व-विदूषक नामक एकटा वेतनभोगी उपाध्यायक प्रतीक्षा क' रहल छी, जे प्रेम-कलाक शिक्षा देबाक लेल आबि रहला अछि। ओ नव-चन्द्ररेखाकेँ प्रेम-कलामे प्रशिक्षित करता।

राजा : (प्रसन्नतासँ) विश्व-विदूषक हमरो कुल-पुरोहित छथि।

(पर्दाक पाछाँसँ आवाज)

ओ दिनमे उपवास राखैत छथि, मुदा राति मे माछ-मांस खाइत छथि; ओ तापस जकाँ जटा राखैत छथि मुदा वेश्यागमनक तीव्र इच्छा राखैत छथि। ओ छली लोकमे शिरोमणि, गुरुआ वस्त्र पहिरने, सुन्दर छड़ी हाथमे लेने, आदरणीय विश्व-विदूषक एहि दिस चलि आबि रहला अछि।

(एहि उत्तर विश्व-विदूषक अपन शिष्य कलहाङ्कुर, कलहक अंकुर, संग प्रवेश करैत छथि)

विश्व-विदूषक : (स्थानक चारु कात घूमैत, आगू देखैत बजैत छथि) अहो! ई बसन्तक सुन्दर समय अछि। आर सेहो—

बसन्तक मीठ-सुगन्धित मादक सुगन्ध प्रेमीक हृदयकेँ नशामे डुबा दैत अछि। ई कामदेवक साथी अछि, तृप्तिक चाहबालाक भाई अछि, एकटा एहन गन्तव्य जतय आनन्द, चुहल आ शर्मीलापनक बिबिध भाव एकठाम आबि जुटैत अछि।

(शिष्यक दिस देखैत, पढ़ैत छथि)

कांस्यक झाँझक स्वर पूरा आकाशमे गूँजि रहल अछि। मृदंगक कोमल मुदा निरन्तर ध्वनि सेहो चारु दिस पसरि रहल अछि।

कर्पूर, अगरू आ चन्दनक सुगन्ध आकाशक चारु दिशाकेँ भरि देने अछि। हे बेटा! जाउ आर शीघ्र पता लगाउ जे केकर घरमे एहन उत्सव मनाओल जा रहल अछि।

कलहक अंकुर : (चारु कात घूमैत बजैत छथि) हे स्वामी! ई उत्सव झुकल-भगवाली नामक दलालिनिक घरमे भ' रहल अछि।

विश्व-विदूषक : (प्रसन्नतासँ) हे बेटा! पछिला वर्ष झुकल-भगवाली दलालिनि हमरा सभकेँ भोजनक निमंत्रण देने रहथि। तँ ई अवसर उपयुक्त बुझना जाइत अछि।

(फेर घूमि, ओ लोकनि झुकल-भगवालीक द्वारपर पहुँचैत छथि)

झुकल-भगवाली : हे उपाध्याय! ई तँ टूटल आसन अछि। हे आदरणीय, कृपया एहिपर बैसू।

विश्व-विदूषक : (बैसबाक अभिनय करैत आदरसँ बजैत छथि) हे माता झुकल-भगवाली! हम अहाँकेँ प्रणाम करैत छी।

झुकल-भगवाली : हे पुत्र! तूँ कामवासनाक सागरकेँ पार करय पाबहु।

विश्व-विदूषक : (नव-चन्द्ररेखाकेँ देखैत)

जँ हम एहि हिरणक समान आँखिवाली कन्याक बड़-बड़ धैलक समान स्तनकेँ पकड़य पाबी, तखन हम कामवासनाक सागरकेँ पार क' सकब।

नव-चन्द्रेखा : (मुस्कुराइत विश्व-विदूषक दिस देखैत छथि)

राजा : (अपन मनमे) ई तँ विश्व-विदूषक छथि, महान उपाध्याय। ओ पहिनहिye वेश्याक सम्पूर्ण समुदायसँ पूजित झुकल-भगवालीक आशीर्वाद प्राप्त क' चुकल छथि; आर आर अधिक आशीर्वाद पेबाक लेल ओ ओकरा संग बैसल छथि। (प्रकाशमे) हे स्वामी! हम अहाँकेँ प्रणाम करैत छी।

विश्व-विदूषक : सुनू, कलहाङ्कुर! तूँ शीघ्र राजाक लेल आशीर्वचन कहू।

कलहाङ्कुर : (जोर सँ हँसैत, भांग आर पवित्र दूर्वा घास मिला, चाउर लऽ, ऊँच स्वरमे संस्कृतमे बजैत छथि) अहाँक आँखिसँ मासिक धर्मक रक्त झरय। आर सेहो,

अहाँक शत्रु बढ़य, अहाँक डर बढ़य, अहाँक बीमारी बढ़य, अहाँक कर्ज आ पाप बढ़य। अहाँकेँ दुर्भाग्य आ मूर्खताक समृद्धि मिलय — ई सात प्रकारक समृद्धि अहाँकेँ प्राप्त होअय।

(आशीर्वाद पढ़ि राजाक माथपर दूर्वा घास आर चाउर छिड़कैत छथि)

राजा : हे स्वामी! ई कोन दुष्ट बालक छथि?

विश्व-विदूषक : अहाँ हुनका नहि चिन्हैत छी?

ओ अगिन छथि जे अपन पूरा वंशकेँ भस्म क' देलनि, ओ सम्पूर्ण भयंकर पापक चरम रूप छथि, ओ सम्पूर्ण लापरवाहीक संचय छथि। धन लुटबामे ओ वीर छथि, मूर्खताक मूर्तिमन्त रूप छथि, आ क्रूर सेहो — इएह कलहाङ्कुर, कलहक अंकुर, छथि।

(झुकल-भगवाली दिस देखैत बजैत छथि)

विश्व-विदूषक : हे बेटा! कलहाङ्कुर!

एकर लटकैत स्तन जल-भरल बादरक समान अछि, बुढ़ारीएँ एकरा तमाम रोगक बासस्थान बना देने अछि; उजरल खेतक समान, ओ अब सब वस्तुकेँ त्यागि चुकल अछि — बगुला जकाँ, एकर पएरक आभूषण अब नहि रहल, ओ नक्षत्रविहीन तारा जकाँ अन्हार भ' गेल अछि। एकर बढ़ल उम्र लोककेँ एकरा वासना-योग्य नहि बुझबय दैत अछि, जेना चन्द्रमाक मुख अदृश्य भ' जाइत अछि। ईहे झुकल-भगवाली अछि। एकरा देखलासँ अखन एकटा अप्रिय तैरैत बादरक याद अबैत अछि।

हे बेटा! जाउ आ आदरणीया झुकल-भगवालीकेँ प्रणाम करू।

कलहाङ्कुर : (खुशीसँ नाचैत झुकल-भगवालीक गोड़मे लोटैत छथि। फेर ओकर जांघक बीचक खाली जगह देखि, ताली बजा जोरसँ हँसैत संस्कृतमे बजैत छथि) अहो! महान उपाध्याय! ई आश्चर्यक बात अछि जे एहि झुकल-भगवालीक मुखक नीचाँ दाढ़ी अछि।

आर सेहो,

बुढ़ारीक तबाही देखि डरसँ एकर योनि सिकुड़ि गेल अछि।

झुकल-भगवाली : (मुस्कुराइत) ई ब्रह्मचारी बड़ भ्रष्ट अछि। तँ ई कलहाङ्कुर, कलहक अंकुर, नाम सार्थक करैत अछि।

विश्व-विदूषक : (नव-चन्द्रेखा दिस देखैत) अद्भुत! एहि युवतीक कामुक भाव-भंगिमा कतेक तीव्र अछि।

स्वेच्छासँ आ बिना संयमक, ओ देखैत अछि आर मुस्काइत अछि; कतेक फुरसदक बाद ओ रुकैत अछि, आर बगासैत अछि, आ एहि सँ ओकर पूरा देह कैपि उठैत अछि। ओ आनन्दक क्षणकेँ लम्बा करैत अछि, आर ओकर स्तनकेँ ढकनिहार कपड़ा चारू कात सरकि खसि पड़ैत अछि। अपन केश खोलि आर ढील क', अपन सखीकेँ आलिंगन करैत, बिना कोनो प्रश्न पुछनिहि ओ अपन सखीसँ उत्तरक आग्रह करैत अछि; के छथि ई अद्भुत नारी, चंचल आँखिबाली, जे प्रेम-क्रीडामे सर्वश्रेष्ठ शोभा पाबैत छथि।

आर सेहो,

ओकर आँखि खंजनक समान चंचल अछि, मुख सुनहर कमल जकाँ सुन्दर अछि, स्तन पूर्ण आ ऊँच अछि, सदिखन कँपैत। ओकर कमर पातर आर नितम्ब भरल आ बड़ अछि; जँ भगवान शिव, महान तपस्वी, एक बेर सेहो नव-चन्द्रेखाकेँ देखि लेथि तँ की ओ सेहो कामदेवक बाणसँ आहत नहि होएता?

झुकल-भगवाली : हे उपाध्याय! हमर बेटा नव-चन्द्रेखा अब प्रेम-कलाक शिक्षा लेबाक लेल पूर्णतः तैयार अछि।

विश्व-विदूषक : (हँसैत) एहि समयपर हमरो पाठशाला विद्यार्थीविहीन अछि।

नव-चन्द्रेखा : हे माता! एकर नख आर दाँत बूढ़ बाघ जकाँ जीर्ण-शीर्ण अछि; बुढ़ारीएँ एकरा केवल हाड़-चाम बना देने अछि; मुदा दिन-राति ई निर्लज्ज

विश्व-विदूषक हमरापर हँसैत आ हमर मजाक उड़बैत रहैत अछि।

कलहाङ्कुर : (क्रोधसँ) हे नीच वेश्या! दोसराक बेटा आर धन हड़पयवाली! हमर गुरु दिस देखि ई मत सोचू जे ओ बुरा संगतिमे पड़ि गेल छथि; एकर पत्नी, हुनकासँ निरन्तर सम्भोग करितहुँ, प्रेम-कलाक महान ज्ञाता खोजबाक लेल भटकैत रहैत छथि, जाहिसँ एहि विद्याक ज्ञान बढ़ि जाइक। हुनक पतिव्रत-धर्म एहन अछि जे विधवाक वेश धारण क' विश्व-विदूषकक पीछू चिता तक जाय आ अपन आपकें भस्म करबाक ढोंग करैत छथि। अहाँ हमर गुरुकें अखनो बूढ़ कहय साहस करैत छी? एतबहि नहि, हमर गुरु अखनो अपन लाज ढकयवाला कपड़ा उतारि माताक गोदमे सुतैत छथि — आर अहाँ एहन गुरुकें निर्लज्ज कहैत छी? (क्रोधक ढोंग करैत छथि)

नव-चन्द्ररेखा : (हँसैत) ओ ब्राह्मणी धन्य छथि, ओ ब्राह्मण शिष्य धन्य छथि, आर ई उपाध्यायो धन्य छथि।

झुकल-भगवाली : हे बेटी! एहन दुष्ट बात मत कहू। अहाँ अखन धरि उपाध्यायकें नीक जकाँ नहि जनने छी। विश्व-विदूषक भले सब दुष्टक गुरु आर बूढ़ छथि, मुदा ओ सूर्य जकाँ प्रेमक ज्योति फैला कमलकें खिलेबाक क्षमता रखैत छथि।

विश्व-विदूषक : (सुनि अपन मनमे बजैत छथि) अहो! केहन आश्चर्य—

झुकल-भगवालीक माथक श्वेत केश आर सफेद भउँह काश-फूल जकाँ पूर्ण खिलल अछि; बुढ़ारीएँ एकर देह, जे कहियो प्रेमक निवासस्थान छल, दुर्बल क' देने अछि; स्तन झुरझुरा क' झुलि गेल अछि। ई सब परिवर्तनक बादो, एकर वाणी सुनि अखनो कामक इच्छा जागि जाइत अछि।

जँ अहिना अछि, ई कहाँ गायब भ' जाएत?

(सबहक सोझाँ, प्रकाशमे आबि) हे झुकल-भगवाली! अहाँ बुढ़ारीएँ किछु कैपैत बुझना जाइत छी की?

झुकल-भगवाली : ई सत्य अछि। पहिनहिसँ हमरा समर्पित यार लोकनिक याद आर हुनक गुणक स्मरण क', हम अखन प्रेमक ज्वरसँ पीड़ित छी।

विश्व-विदूषक : (हँसैत) हे राजन! झुकल-भगवालीकें प्रेमक ज्वर भेल अछि।

राजा : तखन अहाँ महान वैद्य व्याधिसिन्धु, रोगक सागर, जे आतुरान्तक, रोगीक मृत्युरूप, क बेटा छथि, हुनका किएक नहि बजबैत छी?

विश्व-विदूषक : अहाँ रोगीक मृत्युरूपक बेटाकें नहि चिन्हैत छी? हुनक गुणक बारेमे किछु नहि जनैत छी?

राजा : की अहाँ रोगक सागर अपन रोगीक संग जे शिष्टाचार बरतैत छथि, ओहिसँ अनभिज्ञ छी?

पेटमे तेज दर्द होयतछ तँ आँखिमे तप्त छड़ी लगाउ; पएमे सूजन आबय तँ तरह्थीमे छेद करू; मूत्राशयमे पथरी हो तँ नाकक भीतर तेज छूरीसँ ऑपरेशन करू; गाउट आ बात-रोगमे रोगीकें गरम तेल पियाउ। हृदय-रोगमे रोगीक अण्डकोषकें दू छड़ीक बीच रखि जोरसँ दबाउ। एहन सुखद उपचार पेलाक बाद, कोन रोगी श्मशान दिस अग्रसर नहि होएत?

आर सेहो,

खाँसीसँ पीड़ित रोगीकें जरैत भूसाक धुआँ सुंघाउ; जँ रोगीक पेटमे बेसी गैस अछि तँ ओकरासँ मेहनत करबाउ, विरेचक दियौक आर उपवास कराउ; जँ पाचन कमजोर अछि तँ रोगीकें भोजनक संग कीमा-मांस खुआउ; जँ रोगी दमाक शिकार अछि तँ ओकरा निरन्तर पानि पियाउ। जँ रोगीकें पित्तक शिकायत हो तँ सुखल अदरख, पाकड़क पात आर मिर्चक शोरबा खुआउ; जँ शरीरक दोषक कारण ज्वर हो तँ रोगीकें टबमे नहलाउ; रोगक सागर, महान वैद्यक गुणक कतेक प्रशंसा करी!

एकहि मुँहसँ हुनक गुणक पूरा सूची कहब असंभव अछि।

(पर्दाक पाछाँसँ)

जे हर रोगीकें मारि दैत छथि — ओ राज-वैद्य, रोगक सागर, मंचपर आबि रहला अछि; हुनक पएरक मांस अत्यन्त सड़ल अछि, गोल-गोल फोड़ा बनल अछि; अपन वस्त्रक अग्रभागसँ ओ अपन खसैत घावपर बैसैत मक्खीकें बेर-बेर उड़बैत छथि; हुनक खाँसीक तीव्रता चारू दिस, आकाशमे सेहो, गूँजैत अछि।

(रोगक सागर प्रवेश करैत छथि, धीरे घूमैत, महान गर्वसँ बजैत छथि)

रोगक सागर : वैद्यक रूपमे, सब रोग हमरामे भलीभाँति स्थापित अछि; हमर अपकीर्ति आर बदनामी हमर गौरव अछि।

हमरासँ इलाज भेलाक बाद, अमर मार्कण्डेय सेहो शीघ्र जीवित नहि भ' सकैत छथि।

आर सेहो,

रोगीकें न औषधिक जरूरत छैक, ने कोनो उपचारक। हमर एकटा झलक देखलासँ ओकर मृत्यु लेल पर्याप्त अछि।

रोगक सागर : (नजदीक आबि) हे महान उपाध्याय! हम अहाँकें प्रणाम करैत छी।

विश्व-विदूषक : हे कलहाङ्कुर! राज-वैद्यकें आशीर्वाद दियौ।

कलहाङ्कुर : (हाथ उठा आशीर्वादक भंगिमा बना ऊँच स्वरमे बजैत छथि) अहाँ अपन शत्रुक संग सदिखन जीबू,

अहाँक जीवन छोट होअय, अहाँ आर दू शुभ मुहूर्तों जीबय नहि पाबी, अहाँक हृदयमे तेज कँटा गड़ि जाय, अहाँक गरदनकेँ सर्प डसि लेय, आन्हक अपराधक दण्ड अहाँकेँ राजा द्वारा शिरच्छेद द्वारा मिलय, अहाँ सदिखन भोजनक चिन्तामे रहू, आर अहाँक घर सदिखन आगिमे जरैत रहय।

रोगक सागर : अरे दुष्ट बालक! तू हमर मजाक उड़बैत छह?

विश्व-विदूषक : (हँसैत) हे रोगक सागर! तोहर मृत बाप, रोगीक मृत्युरूप, कुशल छथि की?

रोगक सागर : अहाँकेँ देखने बिना ओ कोना कुशल रहि सकैत छथि? (नव-चन्द्ररेखा दिस देखैत)

एहि पूरा संसारमे के छैक जकर हृदय एकर सोनाक घैला जकाँ स्तन देखि लोभसँ भरि नहि जाएत?

विश्व-विदूषक : हे महान वैद्य! हमरा अहाँसँ किछु औषधि-सम्बन्धी विषयमे बातचीत करबाक अछि।

रोगक सागर : (गर्वसँ) पितृ-श्राद्धक निमित्त चाउर आर तिल इकठ्ठा केला उत्तर, चिताक निमित्त एकटा सुन्दर कुल्हाड़ी चुनला उत्तर, की रोगीक परिवार आर सम्बन्धीजन जखन रोगीक प्रति सम्पूर्ण मोह त्यागि चुकल हुअव, तखने वैद्यसँ सलाह लेल जाइत छैक?

विश्व-विदूषक : (हँसैत) अहाँ महान वैद्य छी। (फेर हँसैत) हे महान वैद्य! झुकल-भगवाली अत्यधिक प्रेम-भोगक कारण कफसँ पीड़ित छथि। तँ अहाँकेँ एकर उपचार बतेबाक अछि।

रोगक सागर : किएक नहि पहिनहि तप्त तेलक एकटा घोल हुनक गुदामे नहि डालल गेल? अब एहि प्रक्रियामे बिलम्ब मत करू।

झुकल-भगवाली : (हँसैत, अपन मनमे) ई वैद्य त बुद्धिविहीन अछि। (प्रकाशमे) हे स्वामी! सौभाग्यसँ हमरा सर्वश्रेष्ठ वैद्य भेट गेल।

विश्व-विदूषक : (आकाश दिस देखैत बजैत छथि) आह! हजार बातपर ध्यान देबय पड़ैत अछि, हम प्रश्न भुला गेलहुँ। (हँसैत) हे बेटा कलहाङ्कुर! वैद्यसँ पूछल प्रश्नक याद दियाउ।

कलहाङ्कुर : (बजि उठैत) हे महान वैद्य! अत्यधिक सेनुर आर कस्तूरी लगेबाक कारण नव-चन्द्ररेखाकेँ खुजली भ' गेल अछि। कृपया बताउ की करब चाही एहि व्याधिक इलाजक लेल।

झुकल-भगवाली : (मुस्कुराइत, अपन मनमे) शिष्य अपन गुरु जकाँ छथि। कुकुरकेँ राखक ढेरमे रहबाक चाही।

रोगक सागर : जल-कुंभीक मलहम बिच्छू आर काँटाक जकाँ बारीक धूराक संग मिला नव-चन्द्ररेखाक पूरा देहपर लगाउ; एहिसँ खुजली शीघ्र दूर भ' जाएत।

झुकल-भगवाली : ई औषधि नीक अछि।

कलहाङ्कुर : (सोचबाक ढोंग करैत) हँ, अब याद अयलौं। हे महान वैद्य! प्रेम-युद्धक आनन्दक कारण झुकल-भगवालीकेँ माथ-दर्द भ' गेल अछि। एकर लेल की करब चाही?

झुकल-भगवाली : (मुस्कुराइत, नजदीक आबि) हे महान वैद्य! अहाँक विद्वताक बारेमे तँ हमरा पहिनहि सँ बुझल अछि, कृपया हमर कफक इलाजक लेल एकटा औषधि बताउ।

रोगक सागर : (एक क्षण सोचैत) ही! ही! अहाँ किएक नहि कहैत छी जे अहाँकेँ कफ भ' गेल अछि?

एक बेर, बहुत पहिने, एकटा शासक राजाकेँ अत्यधिक वायु-रोगक कारण कफ भ' गेल छलनि। ओहि समय हमर पिता आतुरान्तक, रोगीक मृत्युरूप, जे चरक, सुश्रुत, वाग्भट आर नागार्जुनक आयुर्वेदिक ग्रन्थमे प्रामाणिक छलाह — हुनक आँखिकेँ काला नमकसँ साफ क' आ सए जोंकसँ आँखिपर लगा राजाक कफकेँ ठीक केने छलाह।

झुकल-भगवाली : हमर व्याधिक इलाज की होएत?

रोगक सागर : जँ छोट इलाजेसँ काज चलि जाय तँ बड़ इलाज बतेबाक की उपयोग?

अहाँक कफ नष्ट भ' जाएत जँ अहाँ ततैया, जोंक आर बिच्छू नाक आर आँखिमे राखू।

झुकल-भगवाली : (हँसैत) अहाँ सचमुच रोगीक मृत्युरूपक पुत्र छी।

(पर्दाक पाछाँसँ हलचल सुनाइत अछि)

राजा : (कान आकाश दिस लगा सुनैत छथि, आर सुनला उत्तर प्रकाशमे आबि) सुनू! द्वारपाल! फौरन पता लगाउ के हमरासँ भेंट करय आयल छथि। शीघ्र एतय ल' आउ।

द्वारपाल : जे स्वामी आज्ञा। (बाहर जाइत छथि, नीक जकाँ देखि, फेर वापस आबि) हे महान राजा! रक्तकल्लोल, रक्तक तरंग, एकटा नाइ, नगरक एकटा खून बहरैत नागरिकक कपड़ासँ खींचल आबि रहल छथि।

राजा : ओकरा प्रवेश आर उपस्थित होबाक लेल कहू।

द्वारपाल : (बाहर जाइत, फेर वापस आबि) हे महान राजा! हम अहाँक सोझाँ ई नाइ प्रस्तुत करैत छी, जकर नाम रक्तकल्लोल अछि।

(रक्तक तरंग नगरक एकटा खून बहरैत नागरिककें अपन कपड़ा पकड़ने प्रवेश करैत छथि। ओ घूमि संस्कृतमे बजैत छथि)

रक्तक तरंग : जखने हम छूरा हाथमे लऽ छिलबय लेल तैयार होइत छी, मनुष्य जीवनक सम्पूर्ण आशा त्यागि दैत अछि। जखने हम नाइक रूपमे अपन कार्य करय जाइत छी, हमर हृदय मनुष्यक देहसँ खूनक धार बहैत देखबाक लेल उत्सुक भ' उठैत अछि।

आर सेहो,

जखन एहन मनुष्यक हाथ, पए आर गरदन बान्हल रहैत छैक, आर ओ भयंकर पीड़ासँ चिचिआइत रहैत अछि, हम जखन एहन मनुष्यक नखकें काटैत छी, ओ निश्चित रूपसँ पुनर्जन्मक सम्पूर्ण आशा त्यागि दैत अछि।

(सभाकें देखैत, एकटा दर्पण हाथमे दैत छथि)

राजा : हे झुकल-भगवाली! अहाँकें पहिने ई दर्पण लेबाक चाही।

झुकल-भगवाली : (लऽ क' देखैत छथि) हे महान राजा! हमरा मोतियाबिन्द नामक आँखिक रोग भ' गेल अछि। तैं हम अपन मुखक प्रतिबिम्ब दर्पणमे कोनो प्रकारें नहि देखि सकैत छी। तैं महाराज पहिने दर्पण लेथि।

राजा : हे रोगक सागर! अहाँक उपस्थितिमे सेहो एहि दलालिनि झुकल-भगवालीकें मोतियाबिन्द नामक आँखिक रोग भ' गेल अछि।

रोगक सागर : किएक नहि अहाँ आगिमे तपाओल एकटा लोहाक छड़ी दृढ़ता आर स्थिरतासँ हाथमे धरि आँखिक पुतरीपर लगाउ। जखन आँखिये नहि रहत, तखन मोतियाबिन्द नामक रोग कोना बचि सकत?

नव-चन्द्ररेखा : (हँसैत) पहिने वैद्यकें अपने आँखिमे तप्त छड़ी लगा एहि उपायकें स्वयं परखबाक चाही?

रोगक सागर : ई वेश्या हमर मजाक उड़बैत अछि, तैं एतय ठाढ़ रहब व्यर्थ अछि। (एना कहि ओ चलि जाइत छथि)

विश्व-विदूषक : (दर्पण लऽ क' देखैत, आश्चर्यसँ बजैत छथि) ओहो! हमरापर बुढ़ारी आबि गेल अछि!

हमर केश सफेद भ' गेल अछि, हमर दाँत सड़ि खसय लगल अछि; हमर देह सेहो बूढ़ आर कमजोर भ' गेल अछि, हमर आँखिमे मोतियाबिन्द अछि, कान अब कोनो शब्द नहि सुनैत अछि, देहक मांस सेहो ढीला भ' गेल अछि। ई सब बुढ़ारीक कारण अछि; तैयो एहि अवस्थामे हमर चंचल हृदय सदिखन गोर वेश्याकें आलिंगन करय उत्सुक रहैत अछि: भगवानक ई लीला हमरा बड़ अजीब बुझना जाइत अछि।

राजा : सुनू नाइ! जँ एहि विषयमे किछु कहबाक अछि तँ अखने कहू।

रक्तक तरंग : हे महान राजा! एहि पीड़ासँ छटपटाइत व्यक्तिसँ हमर झगड़ा अछि।

राजा : हे मंत्री! एहि दुनू व्यक्तिकें न्याय देबाक विषयमे विचार करू।

मूर्खताक रक्षक : हे नाइ! हमरा बताउ, ई खून सबसँ पहिने केकरा देखल?

रक्तक तरंग : हम सबसँ पहिने देखल।

नगरक नागरिक : अहाँक की मतलब जे अहाँ सबसँ पहिने हमर देहसँ खून बहैत देखल?

मूर्खताक रक्षक : हे नाइ! ई अहाँ सबसँ पहिने कोना देखल?

रक्तक तरंग : (अपन मनमे) ई प्रशंसनीय मंत्री राजाक समान प्रतिष्ठित छथि। (प्रकाशमे) हे महान राजा! हम एहि व्यक्तिक नखकें काटबाक लेल हुनक अंगुरी पकड़ने रहियै। ठीक तखनहि एहि व्यक्ति अपन आँखिकें अपन अंगुरीसँ ढकि लेलनि। तैं हमर औजार हुनक आँखिमे घुसि गेल आर टूटि गेल। एहि कारणसँ ओ खून बहय लगलाह।

मूर्खताक रक्षक : ओ ठीक बात कहलनि। हे नागरिक! अहाँकें नाइकें अपन नख काटबाक औजारक कीमत देबाक चाही।

झुकल-भगवाली : मंत्री राजा जतबे प्रतिष्ठित छथि।

द्वारपाल : (प्रवेश करैत) हे महान राजा! एकटा ब्राह्मण, मिथ्यार्णव, मिथ्याक सागर, अहाँसँ भेंट करय चाहैत छथि।

विश्व-विदूषक : ओकरा भीतर आबय दिअ।

द्वारपाल : आउ। (मिथ्याक सागरक उपस्थितिक सूचना दऽ, चलि जाइत छथि)

(मिथ्याक सागर प्रवेश करैत छथि)

मिथ्याक सागर : हे महान उपाध्याय! हमर समधी हमर लग रहैत छथि। हुनक घरमे एकटा ब्राह्मणक मृत्यु भ' गेल छनि। ई ब्राह्मण चारू वेदक अध्ययन केने छलाह, ब्रह्मचर्यक नियमक विशेष पालन केने छलाह, साल भरिमे एक बेर स्नान करैत छलाह, आर मक्खीक पएरक चोटसँ हुनका बहुत घाव भ' गेल छलनि। ब्राह्मणक मृत्युसँ दुःखी भ' हम शास्त्रज्ञ पण्डितक खोज करय लगलहुँ। हम अहाँकेँ दलालिनिक घरमे पओलहुँ। अब कृपया हमरा बताउ जे एहि पापक प्रायश्चित्त लेल हमरा सभकेँ कोन तपस्या करबाक चाही।

विश्व-विदूषक : (नाकपर अंगुरी टकटका सोचबाक अभिनय करैत, बड़ विचार केला उत्तर बजलाह) जँ ब्राह्मण सचमुच मरि गेला अछि, तँ हुनक पत्नी वा पुत्रकेँ अत्यन्त गरम पानि गोबरक संग मिला पियबाक चाही। एहि प्रकारँ ओ लोकनि सेहो स्वर्गक मार्ग प्राप्त करता।

मिथ्याक सागर : (कानमे धीरे बजैत छथि) ओ मक्खीक पएरक चोटसँ नहि मरलाह। ओ नगरक लोक द्वारा एकटा धोबिनिक संग व्यभिचार करबाक अपराधमे पीट-पीट क' मारल गेलाह।

विश्व-विदूषक : तखन सब लोक पापक कलंकसँ मुक्त भ' गेल। ब्राह्मण-हत्याक पापसँ लिप्त धोबिनकेँ अनुष्ठान द्वारा शुद्ध क' घर वापस लऽ आउ।

नव-चन्द्ररेखा : अहाँक विद्वता प्रशंसनीय अछि।

मिथ्याक सागर : (नव-चन्द्ररेखा दिस देखैत बजैत छथि)

के छथि ओ व्यक्ति जे गंगाक तटपर गेला आर कमलक फूल अर्पित क' भगवान शिवक पूजा केलनि? के छथि ओ व्यक्ति जे शम्बरासुरक शत्रु कामदेवक पूर्ण मनोयोगसँ पूजा केलनि? आर सेहो, के छथि ओ व्यक्ति, जे जानबूझि आर निःस्वार्थ भावसँ अपन प्राण त्यागि दैत अछि जखन गंगा सागरसँ मिलैत अछि? इए प्रश्न, के छथि ओ भाग्यशाली व्यक्ति जकर गोदमे विश्व-मोहिनी नव-चन्द्ररेखा किछु क्षणक लेल सेहो बैसि शोभा बढ़ाओती?

मिथ्याक सागर : (सबकेँ देखि अपन मनमे बजैत छथि) हम एतय एकटा वेश्याकेँ आलिंगन करय आयल छलहुँ, मुदा एतय पहिनहिने अनेक दुष्ट पुरुष जमा छथि। जखन जौक अपनहि जौकक देहपर रहैत अछि, तखन एतय ठहरब व्यर्थ अछि।

राजा : साधुहिंसक, साधुक पीड़क, नामक मजिस्ट्रेट अखन धरि किएक नहि पहुँचला?

(एहि उत्तर साधुक पीड़क, प्रसन्न मुद्रामे, प्रवेश करैत छथि)

साधुक पीड़क : तलवारधारी चोर पूरा नगरमे उपद्रव मचा देने अछि। एहि लेल, हम अत्यन्त प्रसन्न भ' एकटा वेश्यासँ भेंट करय आयल छी।

राजा : (डरक ढोंग करैत) हे मंत्री! एहि चोरक कारण भारी भय पसरि गेल अछि। एहि विषयमे की करबाक चाही?

मूर्खताक रक्षक : हे महान राजा! सबसँ पहिने सेनाकेँ नीक जकाँ सुसज्जित करबाक चाही। तेकर बाद हमर सुरक्षा, फेर रानीक सुरक्षा, आ अन्तमे राजमहलक सुरक्षा करबाक चाही।

राजा : (पीड़ासँ बजैत छथि)

महलमे बैसि चन्द्रमाक झलक भेटैत अछि; रानीक संग, हम जीर्ण-शीर्ण भीत गिरबाक डरसँ पूरा राति जागल रहैत छी। सर्प विष लऽ हरदम तैयार रहबाक चाही, कारण मेढ़क रातिभरि टरबैत रहैत अछि आर सर्पक ओकरा पकड़बाक डर बनल रहैत अछि। एहि लेल पहिने महलकेँ चोरसँ सुरक्षित करबाक चाही।

राजा : अहो! रानीक अवस्था अखन कोना अछि, हमरा जानबाक इच्छा अछि।

झुकल-भगवाली : हे परम मंत्री! रानीक बारेमे हमरा किछु आर कहूँ, जकर लेल राजा एतेक दुखी आ चिन्तित बुझना जाइत छथि।

मूर्खताक रक्षक : की एकटा मनुष्यकेँ रानीक गुणक वर्णन करबाक लेल आदिशेषक समान हजार मुँह नहि चाही?

झुकल-भगवाली : तैयो, हमरा किछु कहूँ। हम हुनक गुण सुनबाक इच्छुक छी।

मूर्खताक रक्षक : जँ अहाँ एहन आग्रह करैत छी तँ अहाँकेँ संक्षेपमे हुनक गुण बताबैत छी—

रानीक मुख अमावस्याक राति जकाँ अन्हार अछि, ओ काजर जकाँ गोर छथि, हुनक सुन्दर आँखि बिलारक आँखि जकाँ अछि; बड़ घैला जकाँ कमर, आर नाभिक नीचाँ लटकैत उच्च स्तन — ई सभ गुण रानीकेँ पूरा दुनियाँक मोहिनी बना दैत अछि।

झुकल-भगवाली : हे मित्र! राजा विद्वानमे सर्वश्रेष्ठ छथि, मुदा अहाँ तँ सब कविमे शिरोमणि छी।

मूर्खताक रक्षक : हे महान राजा! जँ चोरक भय एतेक बढ़ि गेल अछि आर पसरि गेल अछि, तखन सेनापति रणजम्बुक, युद्धक सियार, केँ किएक नहि बजाउ?

(युद्धक सियार प्रवेश करैत, घूमि गर्वसँ बजैत छथि)

रणजम्बुक : हे महान राजा! हमर वीरतापूर्ण कार्यक विवरण सुनू।

राजा : कहू।

रणजम्बुक : हे महान राजा! आइ हम एकटा भ्रमरकेँ लाल फूलसँ मधु पियैत देखलहुँ।

राजा : आर तखन?

रणजम्बुक : तखने हम कवच पहिरि, अपन हथियार उठा, आर चारि सैनिकक संग, भ्रमरकेँ मोट चमड़ाक रस्सीसँ बान्हि अपन दिस खींचि लेलहुँ।

राजा : (प्रसन्नतासँ) फेर की?

रणजम्बुक : तेकर बाद हम भ्रमरकेँ अपन तेज तलवारसँ चमड़ाक थैला जकाँ खोखला क' देलहुँ।

राजा : अहाँक वीरताक बारेमे कोनो शंका नहि रहि जाइत अछि। अहाँमे दस हजार हाथीक बल अछि।

मूर्खताक रक्षक : हे सेनापति! पापी लोकनिक संग युद्धक बेला आबि गेल अछि। एहिपर अहाँ केहन उत्साहित छी?

रणजम्बुक : (संस्कृतमे बजैत छथि) सहवासक बेला जँ अपन पत्नीक पएरमे लगाओल लाल रंगकेँ भ्रमवश खून बुझि हम बेहोश भ' खसि पड़ैत छी; आर जखन पृथ्वीक सम्पूर्ण भाग अमावस्याक अन्हारसँ ढकल रहैत अछि, तखनो हम बेहोश भ' जाइत छी। अब कहू, जँ हमरा युद्धक्षेत्रमे खूनसँ नहाएल सैनिक देखय पड़य तँ हमर की हाल होएत।

नव-चन्द्ररेखा : (जोरसँ हँसैत छथि)

रणजम्बुक : (क्रोधसँ) ओहो! अहाँ दुष्ट वेश्या! हमर मजाक उड़बैत छी! अखने हमरासँ युद्ध किएक नहि करैत छी? (क्रोधक ढोंग करैत छथि)

द्वारपाल : हे महान राजा! महायात्रिक, परलोकक भविष्यवक्ता, नामक ज्योतिषी द्वारपर छथि।

राजा : हुनका आबय दिअ।

(द्वारपाल बजि बाहर जाइत छथि)

परलोकक भविष्यवक्ता : (प्रवेश करैत, अपन पोथी खोलि, दक्षिण दिस घूमि पढ़ैत छथि)——

सूर्य अहाँक जन्मराशिमे स्थित होअय आर अहाँक स्थितिकेँ नष्ट करय, बृहस्पति अहाँक जन्मकुण्डलीमे रहय आर अहाँक भयकेँ बढ़ाबय, शनि अहाँक अष्टम भावमे रहि अहाँक पीड़ा आर व्याधिकेँ बढ़ाबय, मंगलो अष्टम भावमे रहि अहाँक पूरा परिवारकेँ मारि देतय आर अहाँपर हथियारक प्रहार करतय; आर फेर बलशाली राहु सूर्यक संग अहाँक द्वादश भावमे रहि अहाँक धनकेँ नष्ट करतय। एहि शक्तिशाली ग्रहक स्थितिकेँ देखैत, चन्द्रमा, शुक्र आर बुधक अन्यथा शुभ प्रभाव सेहो मुश्किलेसँ फलदायी भ' सकत।

मूर्खताक रक्षक : अहाँ आशीर्वचन सुनि चुकल छी। एहि क्षण महान राजा युद्धमे जाय चाहैत छथि। तँ हुनक "महायात्रा"क लेल एकटा शुभ मुहूर्त निकालू।

परलोकक भविष्यवक्ता : महान राजाक "महायात्रा" शनि दिन प्रातःकाल, पूर्णिमाक दिन, श्रावण मासमे, वृश्चिक राशिमे होएत।

कलहाङ्कुर : तखन ओ निश्चित रूपसँ मरि जाएता।

परलोकक भविष्यवक्ता : ओ अपन प्रजाक दुर्भाग्यक दानवकेँ अपन संगे लऽ जाएता।

विश्व-विदूषक : (पूब आर पश्चिम दिस देखैत बजैत छथि)——

सूर्यक बिम्ब अस्त होबय जा रहल अछि आर चन्द्रमाक बिम्ब बढ़ि उदय होबय जा रहल अछि। कामदेवक क्रोधित आँखि सूर्य आर चन्द्रमाक बिम्बक लालीक नकल करैत अछि, कारण निवासी अपन पत्नीसँ दूर रखल गेल छथि।

विश्व-विदूषक : (नव-चन्द्ररेखा दिस देखैत, प्रेमसँ बजैत छथि)

कलहाङ्कुर, हे बेटा! साँझ भ' गेल अछि। तँ जाउ आर नव-चन्द्ररेखा लग जा हुनक कानमे कहू जे हम एकान्त स्थानमे हुनक संग साँझ ध्यानमे बिताबय चाहैत छी।

कलहाङ्कुर : (सुनि अपन मनमे संस्कृतमे बजैत छथि) हमर ई गुरु बड़ दुष्ट छथि; ओ एहि युवतीक संग रति-क्रीड़ा करय चाहैत छथि।

आर सेहो,

हम हर दिन अपन आदरणीय गुरुक सेवा तत्परतासँ केलहुँ, मुदा एहिसँ हमरा की भेटल? हम हर दिन सूर्यक पूजा केलहुँ, मुदा एहिसँ हमरा की लाभ भेल? हम कठोरतासँ वेदक अध्ययन केलहुँ, मुदा एहिसँ हमरा की फायदा भेल?

जँ हमरा स्वर्ग सेहो प्राप्त भ' जाय, तखन हमरा एहिसँ की लाभ होएत? ई सब निष्फल अछि जँ हम नव-चन्द्ररेखाक कलश जकाँ उच्च स्तनकेँ जोशसँ आलिंगन क' पसीनासँ प्रेमक आगिकेँ शान्त नहि क' सकी।

कलहाङ्कुर : आर बिलम्ब करब व्यर्थ अछि। किएक नहि हम दृढ़तासँ हुनका आलिंगन क' हुनक मुख चूमी। (प्रकाशमे आबि नजदीक जाइत छथि) हे नव-चन्द्ररेखा! हमरा अहाँसँ किछु कहबाक अछि।

नव-चन्द्ररेखा : जँ उचित हो तँ कहू।

कलहाङ्कुर : (संस्कृतमे बजैत छथि)—

हमर सभक युवावस्था क्षणभंगुर अछि आर केवल दस-पन्द्रह दिन धरि रहैत अछि; उच्च आर दृढ़ स्तन उमेरक संग झुकि आर लटकि जाइत अछि आर फेर उठि नहि सकैत अछि। हे चन्द्रमुखी नव-चन्द्ररेखा! जीवनक कोनो निश्चितता नहि अछि, ई कतेक दिन रहत, केकरो नहि बुझल अछि। ई सब जानितहु, जखन युवती प्रेम-इच्छुक युवककेँ नकारि दैत छथि, तखन एहि युवतीक दृढ़ स्तन एहि युवकक हृदयमे कँटा जकाँ चुभि जाइत अछि।

नव-चन्द्ररेखा : (हल्कासँ मुस्काइत छथि)

कलहाङ्कुर : हे नव-चन्द्ररेखा! हमरा अहाँकेँ एकटा रहस्य कहबाक अछि, तँ कृपया सुनू।

(ओ अपन मुख हुनक कानक नजदीक ल' जा, हुनका दृढ़तासँ आलिंगन क', हुनक मुख तीव्रतासँ चूमैत छथि। आर फेर संस्कृतमे बजैत छथि) देवता सेहो नव-चन्द्ररेखाक ओठक अमृत नहि पिबि सकल होएता। एहि लेल आश्चर्य नहि जे देवता राहुक मुखसँ खसल चन्द्रमा-रूपी अमृतसँ हर्षपूर्वक सन्तुष्ट भ' गेल छथि।

विश्व-विदूषक : (क्रोधसँ) हे दुष्ट बालक! तूँ ई प्रायश्चित्त करब जे तूँ नव-चन्द्ररेखाकेँ आलिंगन आर चूमल, जकरा हम शुरुएसँ चाहैत छलहुँ।

कलहाङ्कुर : अहाँ प्रायश्चित्त करू, कारण अहाँ ओहि नारीक इच्छा राखैत छी जकरा अहाँक शिष्य द्वारा पहिनहि आलिंगन कएल जा चुकल अछि।

विश्व-विदूषक : हाथीक सूँढ़केँ जकर नामसँ नाम भेटैत अछि, अहाँक देहक ओ अंग, यानि हाथ, काटि देबाक चाही, कारण अहाँ अपन गुरुक इच्छित युवतीकेँ स्पर्श केलहुँ।

कलहाङ्कुर : जखन अहाँ अपन शिष्य द्वारा चुम्बित नव-चन्द्ररेखाकेँ अपन इच्छित नारी कहि रहल छी, तखन सुन्दर स्त्रीक कमरकेँ शोभा दयवाला अंग काटि देबाक योग्य अछि।

विश्व-विदूषक : अहाँक ओ दाँत, जे अहाँक ओठसँ ढकल अछि, ओकरा उखाड़ि देबाक चाही, कारण अहाँ नव-चन्द्ररेखाक ओठकेँ दाँतसँ चोट पहुँचेलहुँ।

कलहाङ्कुर : अहाँक लिंग, जकर शब्द "लिंगि" धातुक आगाँ स्वर जोड़ि बनैत अछि, ओ लिंग उखाड़बाक योग्य अछि। कारण एहि लिंगसँ अहाँ ओहि युवतीकेँ सतायब जकरा अहाँक शिष्य चूमि चुकल अछि।

(एहि तरहेँ ओ दुनू गोटे नाचि-नाचि झगड़ा करैत छथि आर सब उपस्थित लोक हँसैत छथि)

(एकटा भाट पर्दाक पाछाँसँ बजैत छथि)

कसकसा आलिंगित, साहसी आर परिपक्व नारीक आँखि प्रेम-क्रीड़ाक महान आनन्दक कल्पनासँ चंचल भ' जाइत अछि। भोली आर अनभिज्ञ नारीक विचलित आँखि प्रेम-युद्धमे पराजित होबाक भयकेँ प्रतिबिम्बित करैत अछि। जिनक पति यात्रापर गेल छथि, ओहन नारी अश्रुपूर्ण आँखिसँ, हृदयमे एकाकीपनक संग — ई सब नारी, भले एक-दोसरसँ रक्त-सम्बन्ध नहि रखनिहार, पहाड़ पाछाँ अस्त होइत उग्र सूर्यकेँ पीड़ासँ देखि रहल छथि।

आर सेहो,

पश्चिममे सूर्यदेवक अस्त होयबाक संग चन्द्रमाक किरण अखन झुलसैत आ कमलकेँ मुरझा रहल अछि। राति आबि जायसँ बड़-बड़ काला भ्रमर कमलकेँ त्यागि रहल छथि, आर अस्त होइत सूर्य हुनका प्रकाशसँ वंचित क' रहल अछि — ओ ओहि नारी जकाँ छथि जे अपन पतिक यात्रापर जायबाक चिन्तासँ व्याकुल छथि।

(एकटा दोसर भाट गबैत छथि)

किछु क्षण पहिने धरि देखाइत, सूर्यक बिम्ब कतय चलि गेल? किछु क्षण पहिने धरि सुनाइत चक्रवाक पक्षीक बोली कतय चलि गेल? किछु क्षण पहिने धरि अपन शर्म त्यागि प्रेम-क्रीड़ामे लागल हंस-हंसिनी कतय चलि गेल?

चन्द्रमा उदय भ' गेल अछि, अस्त सूर्यक किरणसँ लाल-लाल, ओहि क्रोधित नारीक चेहरा जकाँ जकरा पता चलैत अछि जे हुनक पति दोसरा नारीसँ जुड़ल छथि; भ्रमरक गान सुनि कमलक झुण्ड जागि उठैत अछि आर अपन प्रसन्नता प्रकट करय हँसैत जकाँ बुझना जाइत अछि।

आर सेहो,

उगैत चन्द्रमाक मण्डल देखि हृदयमे शंका उठैत अछि जे की ई सचमुच स्वर्गवासीक अमृत पीबाक सुन्दर कटोरा अछि? या ई कामदेवक पत्नी रतिक खेलैवाला गेंद अछि? नहि तँ, की ई गंगाक फेनक ढेर अछि? या फेर, की ई राजा कामदेवक छाता अछि? या ई कीर्तिक विशाल खजाना अछि?

मूर्खताक रक्षक : साँझ भ' गेल अछि, तँ अहाँ अपन दैनिक नियम पूर्ण करय किएक नहि जाइत छी?

राजा : दैनिक नियम पूर्ण करलासँ की भलाइ होएत? हम चोरसँ उत्पन्न उपद्रवसँ चिन्तित छी। तैयो हम जाएब। मुदा थोड़ेक ठहरू: उपाध्याय आर हुनक शिष्यक बीचक शत्रुता देखू।

विश्व-विदूषक : (हाथमे छड़ी लऽ क्रोधसँ दौड़ैत छथि)

कलहाङ्कुर : (चिचिआइत, पूरा देह हिलबैत छथि)

(एहि उत्तर दुनू गोटे नव-चन्द्ररेखाक कपड़ा पकड़ि नाचैत झगड़ा करैत छथि आर कहैत छथि, "ई हमर अछि!" "ई हमर अछि!")

झुकल-भगवाली : हे स्वामी! हे उपाध्याय! कृपया आइ ई झगड़ा समाप्त करू। राति भ' गेल अछि। काल्हि सबेर मदनान्धमिश्र, कामसँ अन्हरायल, नामक एकटा उपाध्याय नव-चन्द्ररेखाकेँ शिक्षा देबाक लेल एतय आयत। अहाँ दुनू गोटेकेँ जे ओ आदेश देत, ओ मानय पड़त।

विश्व-विदूषक व कलहाङ्कुर : अहिना होअय।

(सब चलि जाइत छथि)

सभा-निर्णय, परिषदक निर्णय, हास्यार्णव-प्रहसानक प्रथम अंक समाप्त भेल।

(दोसर दिन सबेर। विश्व-विदूषक आर कलहाङ्कुर प्रवेश करैत छथि)

विश्व-विदूषक : (पूब दिस देखैत) अहो! पूब दिशामे सूर्यक किरण नारीक माथाक सिनुर जकाँ लाल बुझा रहल अछि।

(घूमि, सोझामे तालाब दिस देखैत) पति राति भरि रत्नि-क्रीडामे अपन प्रेयसीक संग बितेला उत्तर सबेर सूर्योदयक संग नायिकाक सोझाँ ठाढ़ भेल पाबि, ओ अपन प्रेयसीक रक्तवर्ण आर क्रोधित आँखिसँ ओकरा देखैत अछि; ठीक ओहिना तालाबक लाल कमल अखन प्रातःकालक लाल किरणमे आर बेसी लाल देखाइत अछि, कारण सूर्य पूरा राति धरतीक कोनो आन भागमे बितेने अछि।

आर सेहो,

सबेरक पवनक प्रवाह हृदयकें बड़ आनन्द दैत अछि, कारण एहिमे दिन-कमलक सुखद सुगन्ध घुलल अछि। एहिमे कस्तूरी आर सिनुरक मीठ सुगन्ध सेहो अछि, जे प्रेम-क्रीडामे थकित नारीक पसीनासँ धुजल-मुजल भ' लाल-कारी रंगक संग बहि रहल अछि।

विश्व-विदूषक व कलहाङ्कुर : (दुनू गोटे घूमि झुकल-भगवालीक घर दिस आबि, प्रवेश करैत, एकहि संग कहैत छथि) झुकल-भगवाली आर नव-चन्द्ररेखा कतय छथि?

(झुकल-भगवाली आर नव-चन्द्ररेखा प्रवेश करैत छथि)

विश्व-विदूषक : (नव-चन्द्ररेखा दिस देखैत, बजैत छथि)

जँ नव-चन्द्ररेखा, जकर मुख शरदऋतुक चन्द्रमा जकाँ अछि, हमरा दिस चंचल दृष्टिसँ देखय, तखन नील कमल दिस, जे हुनक कानमे शोभा दैत अछि, के देखत?

आर सेहो,

भगवान शिवक लेल सेहो नव-चन्द्ररेखाक निन्न-भरल, चंचल कटाक्षभरल आँखिकें नकारब कठिन अछि।

कलहाङ्कुर : हे झुकल-भगवाली! की मदनान्धमिश्र, कामसँ अन्हरायल, अखन तक नहि पहुँचला?

(पर्दाक पाछाँसँ)

जकर पवित्र यज्ञोपवीत वेश्याक सुगन्धित लेपसँ लाल भ' गेल अछि, जकर आँखि गाँजाक शराब पिबिकऽ लाल भ' गेल अछि, जकर पूरा माथा चन्दनसँ लिपल अछि, आर जे पूरा तरहें धार्मिक पूजा-पाठ त्यागि चुकल छथि — एहन गुणक मूर्तिमन्त रूप स्वयं आबि रहला अछि।

(कामसँ अन्हरायल अपन शिष्य कुलाल, जंगली मुरगा, संग प्रवेश करैत देखल जाइत छथि)

कामसँ अन्हरायल : (आगू देखैत) देखू!

आम्रवृक्षक चारू कात भ्रमरक गुंजार सुनि आर सारस आ कोयलिक मीठ गान सुनि, ई बसन्त प्रेमीसँ बिछुरल सुन्दर स्त्री-सभक गरम साँससँ गुंजि रहल अछि।

आर सेहो,

कावेरी नदीक जलमे खेलैत नारीक हाथसँ छिटकल शीतल जलक बुँदसँ स्पर्शित, उजरा चन्दनक सुगन्धसँ भरल, प्रेमक उत्साह जगाबैत, दक्षिणी पवन आम्रवृक्षपर लागल कोंपलक झण्डकें धीरे-धीरे हिला रहल अछि, आर लताक फूलक पूर्ण खिलावटक स्पर्शसँ किछु डरल जकाँ बुझना जाइत अछि, जेना ओ रजस्वला नारीसँ मिल गेल हो।

कामसँ अन्हरायल : (अपन मनमे) हम एहि बसन्त ऋतुकें वेश्याक बिना कोना बितायब? (प्रकाशमे) जंगली मुरगा, हे बेटा! देखू, अखन दुपहर भ' गेल अछि —

भगवान सूर्य अपन किरणसँ धरतीकें गरम क' रहला अछि। सब पक्षी लताक कुंजक सुरक्षामे चलि गेल अछि। हंस देदीप्यमान खिलल कमलक नीचाँ जा स्थिर भ' गेल अछि। थकल आ दुखी यात्री, जिनक हृदय पत्नीसँ लम्बा जुदाइक तीव्र पीड़ासँ जरि रहल अछि, टहनीविहीन वृक्षक छाहरिमे बैसि निरन्तर लम्बा साँस लैत किछु लिखि रहल छथि।

जंगली मुरगा : हे सज्जन! एहि नगरमे झुकल-भगवाली नामक एकटा दलालिनि रहैत छथि। ई सुनल जाइत अछि जे ओ मेहमानकें बड़ नीक जकाँ सत्कार करैत छथि। तँ हमरा सभकें ओतय भोजन करबाक चाही।

कामसँ अन्हरायल : की ओ उच्च कुलक छथि?

जंगली मुरगा : एहिमे कोन शंका? हुनक घरमे तँ निम्नतम जातिक व्यक्ति सेहो पानि पिबि लैत छथि।

कामसँ अन्हरायल : (उत्साहसँ) हे बेटा! तखन चलू।

(एहि उत्तर दुनू गोटे झुकल-भगवालीक घर दिस मुड़ि, प्रवेश करबासँ पहिनहि)

झुकल-भगवाली : हे कामसँ अन्हरायल! कृपया एहि सुन्दर आसनपर बैसू।

कामसँ अन्हरायल : (बैसबाक अभिनय करैत, सबकें देखि, फेर अपन मनमे बजैत छथि) की ई आश्चर्यक बात नहि जे नारी-रत्न नव-चन्द्ररेखा हमर सोझाँ अछि?

लाल पोशाकक बीचमे झलकैत नव-चन्द्ररेखाक स्तन उगैत अर्ध-चन्द्रक आकारमे अछि; ओ पूर्वी पहाड़सँ उगैत चन्द्रमाक चमकैत टुकड़ी जकाँ अछि। ओ अपन भउँह सिकोड़ैत छथि, कामुक आर चंचल दृष्टि फेकैत छथि, जाहिसँ भ्रम होइत अछि जेना एकटा भ्रमर बड़ केतकी फूलक पंखुड़ी खींचि रहल हो। कोन पुरुष एहि दृश्यकें देखि व्याकुल नहि होएत आर हुनका दिस देखबाक लेल विवश नहि भ' जाएत।

आर सेहो,

नव-चन्द्ररेखाक देह एकटा शानदार वनक समान अछि। हुनक उच्च स्तन अगम पहाड़ जकाँ लगैत अछि, हुनक नाभिक क्षेत्र नीचाँ अछि, हुनक कँपैत, फड़कैत बाँहि एकटा सुन्दर भ्रमरक झुण्डक शोभा दैत अछि। एहि सब भावकें देखि, हृदयमे थोड़ेक डर होइत अछि जे कामदेव स्वयं शिकारीक रूप धारण क' अपन चंचल दृष्टिक तीक्ष्ण बाणसँ प्रहार क' रहल छथि। हे हमर हिरणसदृश हृदय! कहू, कतय शरण लेब अहाँ अपना बचेबाक लेल?

कामसँ अन्हरायल : (एना कहि, अपन मनमे बजैत छथि) कलहाड़कुर आर विश्व-विदूषककें कोना धोखा दी? ठीक अछि, हम वैष्णव सम्प्रदायक अनुयायी होबाक ढोंग क' हुनका ठकब। (प्रकाशमे) हे जिह्वा! तूँ सदखन विष्णुक नाम दोहराबय पड़त। हे नेत्र! भगवान पूरा संसारमे व्याप्त छथि — तूँ एहि दृष्टिँ देखय पड़त। हे कान! तूँ सदखन भगवानक महिमा सुनय पड़त। हे हृदय! तूँ पूरा दृढ़तासँ बुझय पड़त जे भगवान नारायण सभहक शरणस्थल छथि।

(फेर अपन मनमे) आह! हम भगवानक नाम लेल एकटा महापाप क' देलहुँ। अब एहि पापक प्रायश्चित्त लेल हमरा की करबाक चाही?

विश्व-विदूषक : (सुनि अपन मनमे बजैत छथि) कामसँ अन्हरायल एकटा धूर्त छथि, आर वैष्णव सम्प्रदायक नामसँ धोखा देबाक प्रयास करैत छथि। ठीक अछि, हमहुँ हुनका किछु देखेबैक। (प्रकाशमे)

जे तीनू लोकक शिरोमणि छथि आर जकर रूप नीलमणि समान अछि, जे भ्रमरक समान लक्ष्मी देवीक कमल-समान मुखक पाछाँ लागल रहैत छथि, जकर वर्ण असुरक पत्नीक आँखिमे आँसू लाबय बला धुआँ जकाँ अछि — हम सदखन अपन हृदयमे भगवान कृष्णक ध्यान करैत छी।

कामसँ अन्हरायल : (क्रोधसँ) हे जंगली मुरगा, बेटा! अब तूँ वैष्णव सम्प्रदायक सिद्धान्तक विस्तार करू।

जंगली मुरगा : हे स्वामी! जे अहाँ आज्ञा करैत छी। (संस्कृतमे बजैत छथि) कलियुगमे मनुष्यक आयु स्वाभाविक रूपेँ छोट अछि। एकर उपर, दुष्ट लोग दोसरा लोककें उपवास आर बिबिध शारीरिक कठोरता करय बाध्य क', देहकें नष्ट क' दैत छथि। जे बुद्धिमान छथि, ओ शारीरिक कठोरताक निरर्थकतासँ अवगत छथि आर एहन धर्म आर पूजाक विधिकें पसन्द करैत छथि जाहिमे भोग-विलासक जीवन आर वेश्याक दुआरे भेटैत आनन्द शामिल अछि।

विश्व-विदूषक : (क्रोधसँ) कलहाड़कुर, हे बेटा! तूँ वैष्णव सिद्धान्तक विस्तार करू।

कलहाड़कुर : (संस्कृतमे बजैत छथि) मूर्ख लोकनिक तिरस्कारक डरसँ यदि कोनो व्यक्ति भारी कष्ट सहितहुँ उपवास करैत अछि, आर रातिमे आबय बला मृत्युक भयसँ भीतरी पीड़ा सहैत अछि, तैयो जीबय लेल मनुष्यकें सबसँ पहिने सबेर उठिकऽ खएबाक जरूरत होइते अछि।

एहि तरहेँ, ई सच्चा भय अछि जे भूखल रहि उपवास करलासँ जीवन सचमुच समाप्त भ' सकैत अछि। जँ मृत्युक ई तरीका अछि तँ पूर्ण मुक्ति कोना सम्भव भ' सकत?

आर सेहो,

पीड़ादायक उपवास पालन करलासँ पुण्य भेटैत अछि — एना कहनिहार पुरोहितक मुखपर राखक लेप लगाओल जेबाक चाही। परम मुक्ति तखने सम्भव अछि जखन सर्वोच्च आर अतुलनीय भगवान शिवकें मांस, माछ आर स्त्रीक अर्पण द' प्रसन्न कएल जाय।

कामसँ अन्हरायल : (सुनि, अपन मनमे बजैत छथि) ई उपाध्याय बड़ चतुर अछि, एकरा ठकब सम्भव नहि। बूढ़ बिलारकें खट्टा भात खुआ फँसाएब बेकार अछि। ठीक अछि, हम विनम्रता देखा हुनका ठकबैक। (प्रकाशमे)

कामसँ अन्हरायल : हे स्वामी! हम अहाँकें प्रणाम करैत छी।

विश्व-विदूषक : (ऊँच स्वरमे) हे मित्र! अहाँ दीर्घायु होउ! मुदा अहाँ जकाँ लोककें पहिने झुकल-भगवाली, बहुजन-सेविता स्त्री, उपस्थित रहितहुँ हमरा पहिने प्रणाम करब उचित नहि लगैत अछि।

कामसँ अन्हरायल : ओहो! हम अहाँकेँ झुकल-भगवाली बुझि प्रणाम क' देलहुँ।

विश्व-विदूषक : (हँसैत) ई सचमुच कामसँ अन्हरायल छथि। एहि लेल ओ एकटा पुरुषकेँ झुकल-भगवाली, दलालिनि, बुझि लेलनि।

कामसँ अन्हरायल : (नजदीक जा) हे झुकल-भगवाली! हम अहाँकेँ आदरपूर्ण प्रणाम करैत छी।

झुकल-भगवाली : हे बेटा! हुनका उठाउ आर हुनकापर आशीर्वाद कहू।

नव-चन्द्रेखा : (ठाढ़ भ') गौरी, भगवान शिवक अर्धांगिनी, अहाँपर प्रसन्न होथि।

(नव-चन्द्रेखा एना कहि लजाइत छथि)

कामसँ अन्हरायल : ओहो! नव-चन्द्रेखाकेँ देखि हम आश्चर्यचकित छी—

हिरणक समान आँखिवाली नव-चन्द्रेखाक दुनू पएर बड़ कठिनाईसँ हुनक अत्यन्त बड़ नितम्बक भारकेँ सम्हारि रहल अछि। हुनक अनुपम कमर कोना हुनक दुनू उच्च स्तनक भार सम्हारि सकैत अछि, जे हाथीक गालक समान अछि।

झुकल-भगवाली : हे उत्तम ब्राह्मण! हम अहाँकेँ सूचित करैत छी जे आइ हमरा घरमे कामदेवक निमित्त हवन आयोजित अछि। तँ कृपया एहिमे पौरोहित्य करू आर एकरा सम्पन्न करू।

कामसँ अन्हरायल : (अपन मनमे) हिरणक आँखिवाली नव-चन्द्रेखाक जांघक गूढा यज्ञक वेदीक काज करत; हुनक जांघक पास हुनक योनि, जे भोगी पुरुषक चाहबाक स्थान अछि, ओ यज्ञक कुंड बनत; हुनक स्तन यज्ञक फलक रूपमे कार्य करत। अत्यधिक जरैत कामाग्नि यज्ञक अग्नि बनत; हम पुरोहित बनब आर हमर वीर्य यज्ञमे अर्पित सामग्री बनत, जखन कि हमर लिंग यज्ञक चम्मच, स्फ्य, बनत। एहि सब तात्कालिक तृप्ति दयवाला सामग्री लऽ, के पुरुष एहन कामुक अग्निहोत्र करबासँ इन्कार करत?

(प्रकाशमे) हे झुकल-भगवाली! बुझाएँ अहाँक देह कमजोर भ' गेल अछि। एहिसँ अहाँ अपन कर्तव्य निभाय असमर्थ छी। तँ अहाँकेँ अपन बेटीकेँ यज्ञ-सामग्री जुटेबाक लेल नियुक्त करबाक चाही।

झुकल-भगवाली : हे बेटी! आदरणीय ब्राह्मणक इच्छाक अनुसरण करू।

(नव-चन्द्रेखा घरक भीतर जाइत छथि)

कलहाङ्कुर : (नजदीक आबि) पहिने हम दुनू गुरु आ शिष्यक बीचक झगड़ा समाप्त करू।

कामसँ अन्हरायल : हे बेटा! थोड़ेक ठहरू। ताबत धरि यज्ञ पूर्ण भ' जाएत।

(कामसँ अन्हरायल घरक भीतर जा, नव-चन्द्रेखाक संग तीव्र सम्भोग क', प्रसन्नतासँ बजैत छथि)

हुनक स्तन आलिंगनसँ दबि गेल अछि, अत्यधिक परिश्रमक कारण हुनक मुख पसीनासँ भरल अछि; ओ आँखि मूनि चूमला उत्तर आनन्दक सूचक ध्वनि निकालैत छथि, हुनक भँइह सुन्दर अछि आर हुनक कटाक्ष दृष्टि सेहो चंचल अछि — ठकबाजक चिकनी बातसँ प्रशंसा प्राप्त एहन वेश्याक आनन्द केवल ओहि मनुष्य पाबि सकैत छथि जे सए वर्ष धरि बिबिध पुण्य जुटा चुकल होथि।

विश्व-विदूषक : (नव-चन्द्रेखा दिस देखैत, अपन मनमे बजैत छथि)

नव-चन्द्रेखाक दुनू सुन्दर आँखिसँ काजर धोआएल गेल अछि, हुनक ओठक लाली सेहो धोआएल गेल अछि, माथाक जूड़ा ढील पड़ि गेल अछि, प्रेम-क्रीड़ाक पसीनासँ हुनक देहसँ चन्दनक लेप पोछा गेल अछि। हुनक जांघ अब नहि कँपि रहल अछि, हुनक हाथ शिथिल भ' गेल अछि आर छाती बेर-बेर काँपि रहल अछि। एहि सब संकेतकेँ देखि, ई निश्चित बुझना जाइत अछि जे ओ सम्भोगक बाद एहि दिस आबि रहल छथि।

जंगली मुरगा : (आगू आबि जोरसँ हँसैत) हे सज्जन! एक व्यक्ति यज्ञ पूर्ण क' चुकल छथि।

कामसँ अन्हरायल : (अपन बामा आँखि बन्द क' इशारा करैत, ओकरा रोकैत छथि)

जंगली मुरगा : हमरा रोकिकऽ अहाँकेँ की भेटत? एक व्यक्तिक अर्जित पुण्यसँ दोसराक शुद्धि तँ नहि भ' सकैत अछि, है नहि?

कामसँ अन्हरायल : हे बेटा! एक मिनट ठहरू।

विश्व-विदूषक : (मुस्कराइत) हे महान कामसँ अन्हरायल! हम अहाँक यज्ञक समापनक विषयमे अब जानि चुकल छी। तैयो, अहाँकेँ हमरा दुनू गोटेक बीच न्याय करबाक चाही। (कामसँ अन्हरायलक कानमे) अहाँ एहन ढंगसँ काज करू जाहिसँ हमर विवाह नव-चन्द्रेखाक संग भ' सकय।

कामसँ अन्हरायल : हम दुनू गोटे हुनकासँ विवाह करब।

विश्व-विदूषक : एहिमे की हानि अछि? देखू—

एहि संसारमे राजा भोजक बेटी, कुन्ती आर माद्री, छओ राजा — धर्म, पवन, इन्द्र, दुनू अश्विनी कुमार, आर पाण्डु — केँ विवाहित छलीह, आर तैयो पतिव्रता कहेलीह। द्रौपदी सेहो युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल आ सहदेव, पाँचो पाण्डवक पत्नी छलीह। एहिसँ बुझना जाइत अछि जे एकटा नारीक अनेक पुरुषसँ विवाह होएब कोनो पाप नहि अछि।

जंगली मुरगा : (अपन मनमे) ई दुनू दुष्ट व्यक्ति एक-दोसरसँ मिल गेल छथि। हमरो अब कलहाङ्कुरसँ मित्रता करबाक चाही। (मुड़ि कलहाङ्कुरकेँ आलिंगन क' कानमे फुसफुसाइत छथि) —

हे मित्र! देखू, ई दुनू व्यक्ति मित्रता क' लेलनि आर दुनू गोटे नव-चन्द्रेखासँ विवाह करता। तखन किएक नहि हम दुनू गोटे झुकल-भगवालीसँ विवाह करी? कलहाङ्कुर : हे मित्र! हमरा नहि लगैत अछि जे अहाँ ठीक बात कहलहुँ। हमरा सभकेँ एकटा बुढ़िया नारीक संग सम्भोगक कोनो अनुभव नहि अछि। फेर, ई बड़ दुःखक बात अछि जे ई दुनू बूढ़ पुरुष नव-चन्द्रेखा, तीनू लोककेँ मोहित करय वाली नारीसँ विवाह करता। जासमीनक माला बानरक कलाइमे शोभा नहि दैत, मूर्ख देहातीकेँ कस्तूरीक ज्ञान नहि होइत, आर मोतीक हार बूढ़ नारीक स्तनकेँ शोभा नहि दैत।

जंगली मुरगा : हे मित्र! अहाँकेँ की लगैत अछि ई दुनू बूढ़ पुरुष कतेक दिन जीबता? हुनका दुनूक मृत्युक बाद हम दुनू गोटे नव-चन्द्रेखासँ विवाह करब।

कलहाङ्कुर : ई ठीक बात अछि, मुदा हमरा अखनो दुःख भ' रहल अछि।

जंगली मुरगा : जखन ई दुनू बूढ़ पुरुष रोज भीख मांगय जाएता, तखन ओ दुनूक अनुपस्थितिमे नव-चन्द्रेखा घरमे रहती। झुकल-भगवालीक आँखिमे मोतियाबिन्द अछि। तँ एहि समयमे हम सभ अपन इच्छित कार्य पूर्ण क' सकब।

कलहाङ्कुर : हे मित्र! अहाँ जे कहलहुँ ओहिना होअव।

झुकल-भगवाली : (अपन मनमे हँसैत) ई दुनू ठग एक-दोसरसँ मिलि गेल छथि, आ अब एक-दोसराकेँ नीक जकाँ जानि रहल छथि।

कामसँ अन्हरायल : हे विद्वान गुरु! अहाँ दुनूक बीच कोन विवाद अछि? की समस्या अछि?

विश्व-विदूषक : ई नव-चन्द्रेखासँ विवाह करय चाहैत अछि, मुदा हमहुँ हुनकासँ इच्छा राखैत छी।

कामसँ अन्हरायल : हे कलहाङ्कुर! एहि विषयमे अहाँक की कहब अछि?

कलहाङ्कुर : भलेहि हम नव-चन्द्रेखाकेँ आलिंगन आ चुम्बन केलहुँ, फेरो ओ हुनकासँ विवाह करय चाहैत छथि?

कामसँ अन्हरायल : हम न्यायक मूल तत्त्व जनैत छी; झुरझुराएल आर क्षीण चीज भोगबामे कोनो आनन्द नहि अछि। अहाँक गुरुए पहिने नव-चन्द्रेखाकेँ चाहलनि, तँ किछु अंशमे ओ हुनके छथि। मुदा हमरा सभक समझौता उत्तर ओ पूर्णतः हमर छथि।

(एना कहि, घूमि) हे बेटा! तूँ बारह वर्षक वर छह। झुकल-भगवाली, जे सए वर्षसँ बेसी बूढ़ छथि आर अपन प्रेमीक संख्या अपन झुरीसँ गिनैत छथि, ओ तोहर योग्य कन्या छथि।

जंगली मुरगा : (नजदीक आबि संस्कृतमे बजैत छथि)

अहाँ ई समझौता क' लेलहुँ, आर हम अहाँक शिष्य छी, तँ नव-चन्द्रेखा हमरो अछि।

कामसँ अन्हरायल : हे कलहाङ्कुर! बेटा! स्वीकार करू, आर हमर शिष्य जंगली मुरगाक संग झुकल-भगवालीसँ विवाहक लेल राजी होउ।

कलहाङ्कुर : जे विद्वान ब्राह्मण आज्ञा करैत छथि।

झुकल-भगवाली : (अपन मनमे संस्कृतमे बजैत छथि) अहो! विधाताजी हमरापर प्रसन्न बुझना जाइत छथि। हम अपन बुढ़ारीमे दू युवा पति पाबि रहल छी।

विश्व-विदूषक : (कलहाङ्कुरकेँ देखि, मुस्काइत, अपन मनमे बजैत छथि) ई बालक अपन छोट लिंगसँ एहि छिद्रमे की करत जाहिसँ एकटा शिशुक जन्म भेल छैक?

(प्रकाशमे) विवाहक समय नजदीक अबैत जा रहल अछि। तँ महानिन्दक, महान निन्दक, जे विवादित दक्षिणी भूमिमे रहैत छथि, हुनका किएक नहि बजाउ?

(महान निन्दक प्रवेश करैत, सबकेँ देखि, अत्यन्त गर्वसँ बजैत छथि) —

महान निन्दक : की एहि पूरा ब्रह्मांडमे कोनो ब्राह्मण अछि जे हमरासँ धार्मिक विवादमे आर वंशावलीमे हमर तुलना क' सकय?

(फेर, गर्वसँ) हम चारू वेदक रचना केने छी।

कलहाङ्कुर : हे स्वामी! वेद तँ भगवान ब्रह्माक मुखसँ प्रकट भेल छल। अहाँ ओकर रचना कोना क' सकैत छी?

महान निन्दक : (क्रोधसँ) आह! अहाँ ओहि मूर्ख ब्रह्माकेँ वेदक रचयिता मानैत छी! हम स्वर्ग गेल छलहुँ ब्रह्माक वंशावली जाँचबाक लेल। सुनू —

जखन भगवान शंकर अपन जटामे बन्द गंगाक जलसँ ब्रह्माक पएर धोलनि, तखन क्रोधित ब्रह्मा अपन हाथसँ भगवान शंकरकेँ पीटलनि। भयभीत भ' भगवान शंकर ब्रह्माकेँ प्रणाम केलनि, मुदा ब्रह्मा हुनका दीर्घायुक आशीर्वाद नहि देलनि। जखन देवताक गुरु बृहस्पति हुनक सोझाँ आयल, ब्रह्मा हुनका देखबहुँ नहि केलनि, ओ बृहस्पतिकेँ तेतीस देवतासँ उपहार लेबाक कारण पापी मानैत छलाह।

कामसँ अन्हरायल : शब्दक ई बाढ़ि रोकू। अब अहाँ ई दुनू विवाह सम्पन्न करू।

महान निन्दक : हम दान वा उपहारक रूपमे किछु नहि लैत छी।

जंगली मुरगा : एकटा वेश्यासँ उपहार लेबामे की हानि अछि?

महान निन्दक : अहाँ ठीक कहलहुँ। एकरासँ पहिने हमरा नहि बुझल छल जे ई दलालिनि उच्च कुलक छथि। (आदरसँ) हे स्वामी! कोन नारीक विवाह कोन पुरुषसँ होएत?

विश्व-विदूषक : हिरणक आँखिबाली नव-चन्द्ररेखा हमरा दुनू योग्य उपाध्यायसँ विवाह करती, जखन कि झुकल-भगवाली, जकर आँखिमे मोतियाबिन्द अछि, ई दुनू शिष्यसँ विवाह करती।

महान निन्दक : (हँसैत, अपन मनमे) अहो! ई आश्चर्यक बात अछि। (नव-चन्द्ररेखा दिस देखैत)

आश्चर्यक बात अछि जे हुनक आँखिक तीक्ष्ण बाणसँ आहत भेलाक बादो, की कोनो पुरुष अछि जे हिरणक आँखिबाली नव-चन्द्ररेखाक संग रहबाक इच्छा त्यागत?

आर सेहो,

नव-चन्द्ररेखाक अत्यन्त उजरा आँखि, जकर मध्यमे चंचल पुतरी अछि, दृढ़ हृदयकेँ सेहो चीर सकैत अछि, ई समुद्र-मन्थनसँ निकलल दूध जकाँ विष अछि। भगवान शिव सेहो एकरा सहन करबाक शक्ति नहि रखैत छथि।

मुदा एहि क्षण जँ हम नव-चन्द्ररेखाकेँ दृढ़तासँ आलिंगन नहि करब, तँ शायद हम जीवित नहि रहब।

(प्रकाशमे)

हुनक चन्द्रमा जकाँ मुखक श्वेत आभासत्तावो, हिरणक आँखिबाली नव-चन्द्ररेखाक ढकल स्तन खिलल नहि अछि। मुदा हुनक चन्द्रमुखी मुखक उपस्थिति सत्तावो, हुनक भउँहबाले, कमल जकाँ आँखि खुलि रहल अछि। हुनक आँखिक ई खिलावट बेर-बेर हमर हृदयमे शंका उठा रहल अछि।

आर सेहो,

अहो! ई लोक मूर्ख छथि — हिरणक आँखिबाली नव-चन्द्ररेखाक ओठ पिबय जोग अमृत अछि, हुनक जांघक ऊपरक भाग रहय जोग स्थान अछि, हुनक हिरणसदृश आँखि हमर एकमात्र मित्र अछि, हुनक सुन्दर वाक्य उत्तम मंत्रोच्चारणक समान अछि, हुनक कमलसदृश देह ध्यानक योग्य अछि — जँ हुनक देहक समान तपोवन अछि, तँ किएक विद्वान ऋषि जंगलमे तपस्या करय जाइत छथि?

सुनू! सुनू! उपाध्याय! महायात्रिक, परलोकक भविष्यवक्ता, ज्योतिषीकेँ किएक नहि बजाउ विवाहक शुभ मुहूर्त निकालबाक लेल?

(परलोकक भविष्यवक्ता प्रवेश करैत, पंचांग खोलि बजैत छथि) —

परलोकक भविष्यवक्ता : हे पुरोहित! की गणना करबाक अछि?

कामसँ अन्हरायल : विवाहक शुभ मुहूर्त निकालू।

परलोकक भविष्यवक्ता : (अपन कनिष्ठा अंगुरी भूमिपर रखि) जे शुभ मुहूर्त हो, जे भी दिन हो, जे भी नक्षत्र हो, जकाज करबाक अछि, ओ हुनका जल्दी करबाक चाही।

महान निन्दक : (अपन मनमे) ई ज्योतिषी सक्षम छथि। (प्रकाशमे) सुनू ज्योतिषी! एहि शुभ मुहूर्तमे विधवापनक कोनो संयोग तँ नहि अछि की?

परलोकक भविष्यवक्ता : की धरती एहि नारीक लेल पुरुषविहीन भ' गेल अछि जे ओ सदा विधवा रहती?

महान निन्दक : हे विदूषक आर सब उपस्थित लोक! बिल्व, कठबेलक पात, आर माला हाथमे लऽ अपन-अपन भावी पत्नीक नजदीक जाउ।

परलोकक भविष्यवक्ता : ई सजावट तँ मरनासन्न पुरुषक लेल उपयुक्त अछि।

(सब पुरुष अपन-अपन भावी पत्नीक हाथ पकड़ि बैसि जाइत छथि: झुकल-भगवाली दुनू शिष्यक बीच, आर नव-चन्द्ररेखा दुनू उपाध्यायक बीच।

अत्यन्त दुःखसँ नव-चन्द्ररेखा अपने मनमे बजैत छथि) —

नव-चन्द्ररेखा : हम अत्यन्त एकान्त स्थानपर बैसि देवी पार्वतीक पूजा करैत रहलहुँ; हर दिन हृदयक पूर्ण भक्तिसँ हम कामदेवसँ प्रार्थना करैत रहलहुँ।
पार्वती आर कामदेव आदि सब देवताक प्रति हमर प्रार्थना आर भक्ति आइ फल दऽ रहल अछि — एहि दुनू बूढ़ ब्राह्मणसँ हमर विवाह मृत्युदण्ड जकाँ भयावह अछि, जे हमरा मृत्युक आर नजदीक धकेलत।

महान निन्दक : हे उपहार दयवाली! मधुपर्क आनू, जे मधु, दूध, दही, चीनी आ घीक मिश्रण होइत अछि।

उपहार दयवाली : (नजदीक आबि बजैत छथि) हे स्वामी! मधु नहि अछि, केवल दूध आर पानि अछि।

महान निन्दक : आनू।

उपहार दयवाली : (दूध आर पानि आनि दैत छथि)

महान निन्दक : (हरेक वरकें देखि)

अहाँ लोकनि ओ मनुष्य छी जे श्मशानक अग्निसँ जरल छी आर अपन मित्र आर सम्बन्धीजन द्वारा त्यागल गेल छी। अहाँकें स्नान क' ई दूध पीबाक चाही आर पीबिकऽ खुशी अनुभव करबाक चाही।

(दूर्वा घास आर चाउर हाथमे लऽ)

एहि संसारमे प्राणीक मृत्यु अनिवार्य अछि आर ई जीवन स्वप्न समान अछि — अहाँ जीवन आर मृत्युक बारेमे एहिना सोचू आर एहि सब घटनाकें लऽ शोक जुनि करू।

(उठि जोरसँ बजैत छथि) अहाँ जे महान निद्रापर भरोसा रखैत छी, अहाँ जे चिताक महान शय्यापर सुतैत छी — अहाँ सब श्मशानमे निवास करू।

(सबहक माथपर दूर्वा घास आर चाउर छिड़कैत छथि)

परलोकक भविष्यवक्ता : विवाह करयवाला लोकक लेल श्मशानमे चितापर सुतब हिने उचित अछि।

महान निन्दक : (नजदीक आबि) हे कलहाङ्कुर! अहाँ पहिने हमरा सए वर्षक कन्याकें स्वीकार करबाक फीस दिअ।

कलहाङ्कुर : (भागसँ बनल मिठाइ अर्पित करैत छथि)

महान निन्दक : अहाँ समृद्ध होउ! (मिठाइ लऽ आनन्दसँ अपन माथासँ स्पर्श करैत छथि) — ओम! हम देवी गायत्रीकें प्रणाम करैत छी (मिठाइक एकटा भाग भूमिपर फेकि, बाकी खा उत्साहसँ बजैत छथि) —

ई मिठाइ प्रेम-विषयमे महान आनन्द उत्पन्न करैत अछि, वाणीकें अमृतक वर्षा जकाँ बना दैत अछि आर आँखिमे इच्छा भरि दैत अछि — भांगसँ बनल मिठाइक जय होअय।

झुकल-भगवाली : महान निन्दक एकटा प्रतिष्ठित परिवारसँ छथि।

महान निन्दक : (नजदीक आबि) हे उत्तम ब्राह्मण लोकनि! कृपया कन्या-दान करबाक फीस दिअ।

कामसँ अन्हरायल व विश्व-विदूषक : चारि वर्ष धरि प्रतीक्षा करू।

महान निन्दक : तखन चारि वर्ष धरि ई एकटा वेश्या [बन्धकी] बनल रहती।

(ओ नव-चन्द्ररेखाक हाथ पकड़ि आनन्दसँ हुनका संग नाचैत छथि)

परलोकक भविष्यवक्ता : हे महान निन्दक! ई अहाँक स्वभावक अनुकूल बुझना नहि जाइत अछि।

महान निन्दक : (आनन्दसँ)

हम नव-चन्द्ररेखाकें, जे सम्पूर्ण मानवजातिक लेल आनन्ददायक छथि, दुष्ट पुरुषक झुण्डक चंगुलसँ अब मुक्त क' लेने छी; हम हुनका अपनहि लेल पाबि गेलहुँ। एहि लेल हमर हृदय आनन्दसँ भरल अछि। हमर बड़ इच्छा अछि जे हम भोग-कक्षमे वापस जाइ आर बिबिध प्रकारक भोगक हथियारसँ, हुनका चिह्नित करैत, हुनकासँ एकटा महान प्रेम-युद्ध छेड़ी।

(हास्यार्णव नामक प्रहसन समाप्त होइत अछि)

हास्यक सागर

मूल संस्कृत: श्री जगदीश्वर भट्टाचार्य
संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद: गजेन्द्र ठाकुर
सम्पादक: विदेह — प्रथम मैथिली पाक्षिक ई-पत्रिका
हास्यार्णवप्रहसनम्क मैथिली संस्करण



www.videha.co.in

विदेह

HASYARNAVAPRAHASANAM

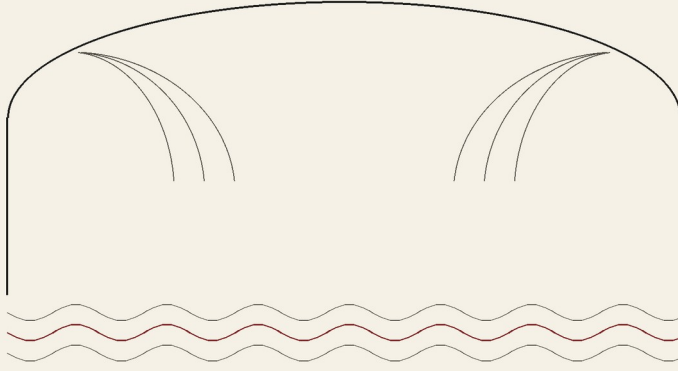
THE OCEAN OF LAUGHTER

Original Sanskrit — Shri Jagadishvara Bhattacharya

English translation of the Maithili version

Sanskrit-to-Maithili translation — Gajendra Thakur

Editor, Videha — First Maithili Fortnightly eJournal



www.videha.co.in

THE OCEAN OF LAUGHTER

Hasyarnavaprahasanam



Original Sanskrit — Shri Jagadishvara Bhattacharya
English translation of the Maithili version
Sanskrit-to-Maithili translation — Gajendra Thakur
Editor, Videha — First Maithili Fortnightly eJournal

www.videha.co.in

Copyright and Edition Notice

The Ocean of Laughter — Hasyarnavaprahasanam

Original Sanskrit: Shri Jagadishvara Bhattacharya

This English edition is a translation of the Maithili version.

Sanskrit-to-Maithili translation: Gajendra Thakur

Editor: Gajendra Thakur, Videha — First Maithili Fortnightly eJournal

© 2026 Gajendra Thakur

All rights reserved in this edition.

Published by Videha — First Maithili Fortnightly eJournal

www.videha.co.in

CONTENTS



Dramatis Personae	1
Act One	2
Act Two	16

DRAMATIS PERSONAE - in order of appearance

SUTRADHARA - Stage Manager and Leading Actor
NATI - Leading Actress
KING ANAYASINDHU - Ocean of Disorder
SERVANT - Spy
KUMATTIVARMA - Defender of Folly
BANDHURA - Drooping Vulva, a procuress
MRIGANKALEKHA - New Moon-Streak
VISHVABHANDA - Universal Buffoon
KALAHANKURA - Sprout of Quarrel
VYADHISINDHU - Ocean of Disease
ATURANTAKA - Death of Patients
RAKTAKALLOLA - Wave of Blood
MITHYARNAVA - Ocean of Falsehood
SADHUHIMSAKA - Tormentor of the Virtuous
RANAJAMBUKA - Jackal of War
MAHAYATRIKA - Prophet of the Final Journey
MADANANDHA MISHRA - Mishra Blinded by Lust
KULALA - Wild Cock
MAHANINDAKA - Great Slanderer

ACT ONE

Their vine-like arms are locked around one another. From the exertion of their lovemaking, streams of sweat wash the fragrant sandal paste from their bodies. The memory of union awakens in wonder: lips tighten, breath rises and falls unsteadily. Sudden sighs of delight escape them; their eyes shine with pleasure, the hair on their bodies stands on end, their brows dance, and their hands whirl in ecstasy. The rapture and emotion of Shiva and Parvati's intoxicated union spread in every direction.

'The demon Rahu is moving across the sky from the sun toward the moon, eager to swallow the moon as his meal and cause an eclipse. Moon-faced Parvati, when he sees your face, so like the moon in radiance, will he not mistake it for the moon and try to swallow it?' Hearing her lord's words, Parvati looks up to trace Rahu's path through the sky, and Shiva seizes the chance to kiss the venerable goddess passionately. May this praise of the Three-Eyed Lord fulfil the wishes of the good and virtuous.

After reciting the benedictory verse, the SUTRADHARA, the leading actor, speaks:

There is no point in saying more. Let me put it simply:

The poetry of Jagadishvara Bhattacharya is like a wondrous fair-skinned woman - free, unrestrained, independent, and capable of arousing every emotion. It is adorned according to the rules of poetic ornament, with simile and the rest, through which true understanding arises; it is faultless by the severe standards of grammar and other disciplines; it overflows with laughter and every rasa, and has the power to make men laugh. When scholars hear Jagadishvara's poetry, they laugh until their very teeth begin to fall out. His verse delights the learned soul and grants boundless pleasure.

The poet Shri Jagadishvara, whose lineage was purified by the worship of Shiva and whose poetic power thereby shone forth, has commanded me: 'In keeping with the spring season, stage my farce The Ocean of Laughter and fill the hearts of connoisseurs of poetry with delight.'

His command must certainly be obeyed. Before this learned assembly, my own heart is restless and eager to flirt in spring with its enchanting voice - and to dance as well. Come, then: let us dance, play music, and begin to sing. (He turns and looks all around.) Ah! The beauty of spring is stirring my heart, for -

Whose sensitive heart does not surge with joy in spring, when the wind, caressed by the Malaya woods, carries the fragrance of sandalwood, and the sweet humming of bees mingles with the melodious call of the cuckoo?

And so -

What does the honey-drunk bee not do in spring? It roams humming through the garden, flies up into the sky, then tumbles back from the air. Its body dusted with pollen, it wanders here and there, casting restless glances, kissing the flowers and embracing its beloved.

Lady! Your pupils cast darting sidelong glances like clusters of lotuses hanging from a golden vessel. How can there be pleasure without a woman? (He turns, looks toward the dressing room behind the curtain, and declaims.)

Lady, your pupils cast darting glances like clusters of lotuses suspended from a golden vessel! Your body is like moonlight! You are like the arrow of the Love-God! Your body seems bitten by Love as by a serpent! Your body is nectar itself! Beloved, you are clever, artful, keen! You are lovely and radiant! Come quickly!

(Enter the NATI, the leading actress.)

NATI: My lord, I have come as you desired. Be gracious to me with your sweet words.

SUTRADHARA: Honoured lady, look -

When the cuckoo's sweet song spreads everywhere, when bees in the bowers kiss flowers in rapture, when jasmine fragrance, touched by the wind from the Malaya woods, fills every quarter - what discerning man, at spring's arrival, is not wounded by the arrows of the Love-God?

And again:

In this springtime the madhavika vine, laden with fresh blossoms, joyfully embraces the mango tree. Through the unspoken murmur of that delighted embrace, and through the cuckoo's melodious song, the vine seems to instruct a newly married bride in the arts of love.

NATI: (She appears distracted.)

SUTRADHARA: Honoured lady, why do you seem so preoccupied?

NATI: My lord, have you not heard?

SUTRADHARA: Heard what?

NATI: I am worried and distracted because we must speak of the government of a king named Anayasindhu, who remains forever shut inside the women's quarters of his palace.

SUTRADHARA: My dear, is that true?

NATI: Yes, it is true.

(A voice is heard from behind the curtain.)

King Anayasindhu, the Ocean of Disorder, is approaching swiftly, wishing to learn both the welfare and the misery of this city. Citizens! Heap together great waterless earthen pots, and arrange for lines to be drawn across the royal road with needles made from grain husks.

SUTRADHARA: (Looking upward and listening. After hearing the proclamation.)

Fear and suspicion have driven justice, good policy, and every decent person away. Who, after hearing the clever talk of rogues and swindlers, is not scheming to seize another man's wealth? In today's kingdom, who does not take another man's wife by force to satisfy his lust? This king is now advancing toward the city. My dear, it would be unwise for us to remain here.

Come. Let us both leave by this road and go somewhere else.

(The SUTRADHARA and NATI exit.) (End of the Prologue.)

(Enter KING ANAYASINDHU, the Ocean of Disorder, with a SERVANT.)

KING: (Aside.) Ah, what misery! My body has been struck limp by the flower-arrows of the Love-God and scorched by the fire of passion. Day and night I devise ways to sleep with other men's wives. For many days, therefore, I have been unable to attend to the welfare of my citizens.

(Aloud, to the SERVANT-SPY.) Supreme spy! Interpreter of false appearances! Make a complete investigation of the condition of my kingdom.

SPY: As my lord commands.

(The SPY goes out, peers ahead, then returns and speaks loudly into the KING's ear.) My lord, I have penetrated the secret of the kingdom.

KING: Speak, speak.

SPY: For lack of counsel, the administration of justice and the civil law [legal procedure] have long fallen into utter neglect and decay.

KING: (Angrily.) How?

SPY: (In Sanskrit.) My lord, for this reason -

Every man abandons other men's wives and embraces only his own. Even in the presence of qualified, learned Brahmins, cobblers continue sewing shoes. Shameless people worship Brahmins even when members of the lowest castes stand safely nearby. Your Majesty, rules are being violated in this scandalous fashion throughout your kingdom.

And furthermore -

Women apply kohl not to their thighs but to their eyes; they do not decorate their lips with vermilion, but place vermilion in the parting of their hair, where it shines red. They paint their feet with lac and wear anklets on their ankles; they do not wear jewel-studded necklaces over their eyes or anklets across both breasts. They wear necklaces around the waist rather than on their feet, and a golden girdle around the waist rather than on the hips. With great distress I have seen such upside-down, meaningless wearing of ornaments in every house of the kingdom.

(The KING listens to the SPY, then speaks aside.)

KING: For a long time I have given no thought to affairs of state. That is why justice has collapsed so rapidly. Very well. I shall establish a system of punishment.

(Aloud.)

KING: Listen. Summon my minister Kumativarma, known as the Defender of Folly.

SPY: As my lord commands.

(The SPY exits and returns with the MINISTER.)

(Enter the DEFENDER OF FOLLY. He salutes the KING with his left hand.)

DEFENDER OF FOLLY: My lord, without waiting for me to ask, state plainly whatever you desire. I shall carry it out.

KING: Minister, because there has been no suitable place to hold court, I have been unable for many days to discuss affairs of state.

DEFENDER OF FOLLY: (Astonished.) My lord, there is an exceedingly fine place right here for holding court. Say the word!

KING: The house of a procuress named Bandhura - Drooping Vulva.

KING: (Laughing loudly.) Defender of Folly, it seems you consulted the secret wish of my heart before proposing a courtroom. I have no taste for touching the Queen's drooping breasts. I, too, wish to embrace a courtesan. Can the Love-God ever dwell in a woman whose breasts hang down?

And furthermore -

At the sight of a desirable woman's high breasts, rising like inaccessible mountains, the Love-God tears a young man's heart open with his sharp arrows. In this battle of love his assault strikes the breasts and brings the fortress down - but the weak, cowardly Love-God flees the moment the ramparts collapse. So I firmly believe.

DEFENDER OF FOLLY: Shall we go?

KING: (He sets off happily with the MINISTER.)

SPY: My lord, the fragrance of camphor, sandalwood, musk, and many kinds of flowers is coming from this direction. I therefore suppose this must be Drooping Vulva's house. My lord, please come this way.

KING: (Entering, delighted.) This is indeed Drooping Vulva's house. By coming here I have gained the merit of a hundred pilgrimages.

DEFENDER OF FOLLY: Where is Drooping Vulva, the procuress?

(Enter DROOPING VULVA joyfully, accompanied by hundreds of gallants.)

DROOPING VULVA: Oh! Wonderful, wonderful! Listen, my gallants! The greatest of rogues, King Ocean of Disorder, has arrived. Sing songs of spring to the beat of cymbals and drums. Do not delay.

(All the GALLANTS draw near and sing joyfully.)

Filled with the sweet humming of honey-drunk bees, graced by the songs of women with exquisite voices, crowded with youths whose hearts have been pierced by the Love-God - may spring make all this a season of delight for you.

(They continue singing and playing the refrain again and again.)

KING: (Listening, then whispering into the MINISTER's ear.) Ah! Defender of Folly, Drooping Vulva wants something.

DEFENDER OF FOLLY: You are the greatest sinner in the whole world. Therefore the thunderbolt, sparing everyone else, will strike only your head.

KING: I do not know what will happen. But what should I do now?

DEFENDER OF FOLLY: You have already displayed your miserliness. Perform three fasts at this holy place, abstaining from every pleasure.

KING: (Aside.) There is no need to be afraid. I shall bow merely to deceive Drooping Vulva. (Aloud.) Mother Drooping Vulva, I salute you.

DROOPING VULVA: May Mrigankalekha, New Moon-Streak, be gracious to you.

KING: (Aside, delighted.) This procuress has asked me for no favour, so I have escaped a mortal sin. (Aloud.) Where is New Moon-Streak?

(Enter NEW MOON-STREAK, her vine-like body adorned with splendid ornaments.)

NEW MOON-STREAK: Mother, who is this?

DROOPING VULVA: Daughter, do you not recognise him? King Ocean of Disorder has come to meet you.

NEW MOON-STREAK: (Smiling.) What act could be more meritorious than this?

KING: (Gazing at NEW MOON-STREAK.) Her body is marvellous -

Her face outshines the moon; her restless eyes are darkened with kohl; like a vine she twists her brows to reveal every feeling; a mark of sandal paste mixed with musk adorns her forehead. Her lovely lips are red as bandhuka blossoms. At the mere report of such a beautiful vine-like body, even gods and sages might be bewitched. Who would not be enchanted by her nectar-soaked voice? Such beauty is rare in all three worlds.

And furthermore -

Her body is a lovely lake; her radiant youth is its water; her face is a lotus rooted in the mud of musk; her restless eyes are lotus stalks; her hands move like circling bees. Her breasts are two rival elephants. My mind refuses to leave this lake - yet how can it refrain from furiously crushing those breast-elephants? Such is New Moon-Streak's body!

(Having spoken, he notices DROOPING VULVA distracted.) Drooping Vulva, why do you seem preoccupied?

DROOPING VULVA: My lord, I am waiting for a salaried preceptor named Vishvabhanda, the Universal Buffoon, who is coming to teach the arts of love. He will train New Moon-Streak in amorous skill.

KING: *(Pleased.)* The Universal Buffoon is also our family priest.

(A voice from behind the curtain.)

He fasts by day but eats fish and meat at night. He wears matted hair like an ascetic, yet burns to visit courtesans. Crown jewel of hypocrites, clad in ochre robes and carrying a handsome staff, the venerable Universal Buffoon approaches.

(Enter the UNIVERSAL BUFFOON with his disciple KALAHANKURA, the SPROUT OF QUARREL.)

UNIVERSAL BUFFOON: *(Circling the stage, then looking ahead.)* Ah, what a beautiful spring day! And furthermore -

Spring's sweet, fragrant intoxication plunges the lover's heart into drunkenness. It is the companion of the Love-God, brother to all who hunger for fulfilment, a meeting place where delight, teasing, and bashful feeling gather together.

(Turning to his disciple, he declaims.)

The sound of bronze cymbals resounds across the whole sky. The soft yet unbroken beat of the mridanga spreads in every direction.

The fragrance of camphor, agarwood, and sandal fills every quarter of the heavens. Son, go quickly and discover whose house is celebrating such a festival.

SPROUT OF QUARREL: *(Circling and looking about.)* Master, the celebration is taking place at the house of a procuress named Drooping Vulva.

UNIVERSAL BUFFOON: *(Delighted.)* Son, last year the procuress Drooping Vulva invited us to dine. This seems an excellent opportunity.

(They move on and arrive at DROOPING VULVA's door.)

DROOPING VULVA: Preceptor, this seat is broken. Venerable sir, please sit upon it.

UNIVERSAL BUFFOON: *(Pretending to sit, and speaking respectfully.)* Mother Drooping Vulva, I salute you.

DROOPING VULVA: Son, may you cross the ocean of lust.

UNIVERSAL BUFFOON: *(Looking at NEW MOON-STREAK.)*

If I can seize the great jar-like breasts of this doe-eyed girl, then I shall indeed cross the ocean of lust.

NEW MOON-STREAK: *(She smiles at the UNIVERSAL BUFFOON.)*

KING: *(Aside.)* So this is the Universal Buffoon, the great preceptor. He has already received the blessing of Drooping Vulva, worshipped by the entire community of courtesans; and now he has seated himself beside her to receive still more blessings. *(Aloud.)* Master, I salute you.

UNIVERSAL BUFFOON: Listen, Sprout of Quarrel. Quickly pronounce a blessing upon the King.

SPROUT OF QUARREL: *(Laughing loudly. He mixes bhang with sacred durva grass, takes rice, and speaks loudly in Sanskrit.)* May menstrual blood flow from your eyes.

And furthermore -

May your enemies increase, your fears increase, your illnesses increase, your debts and sins increase. May misfortune and stupidity flourish within you. May these seven kinds of prosperity be yours.

(After reciting the blessing, he scatters durva grass and rice over the KING's head.)

KING: Master, who is this wicked boy?

UNIVERSAL BUFFOON: Do you not know him?

He is the fire that has reduced his entire lineage to ashes, the culmination of every dreadful sin, the accumulated store of all negligence. He is a hero in plundering wealth, the embodied form of stupidity, and cruelty itself. This is Kalahankura, the Sprout of Quarrel.

(He looks toward DROOPING VULVA.)

UNIVERSAL BUFFOON: Son! Sprout of Quarrel!

Her hanging breasts are like rain-heavy clouds; old age has made her a dwelling place for every disease. Like a field laid waste, she has now surrendered all her treasures. Like a crane stripped of its leg ornaments, like a sky gone dark without stars, she has lost her former splendour. Her great age makes people deny that she can still be an object of desire, just as the moon's face disappears from sight. This is Drooping Vulva. The sight of her now recalls an unwelcome cloud drifting overhead.

Son, go and salute the venerable Drooping Vulva.

SPROUT OF QUARREL: *(Dancing delightedly, he rolls at DROOPING VULVA's feet. Then, seeing the space between her thighs, he claps and laughs loudly, speaking in Sanskrit.)* Ah, great preceptor! What a wonder - Drooping Vulva has a beard beneath her face!

And furthermore -

Terrified by the devastation of old age, her vulva has shrivelled up.

DROOPING VULVA: *(Smiling.)* This celibate student is thoroughly corrupt. He truly deserves the name Kalahankura - Sprout of Quarrel.

UNIVERSAL BUFFOON: *(Looking at NEW MOON-STREAK.)* Astonishing! How intense are this young woman's erotic gestures.

Unrestrained and acting entirely at will, she looks and smiles; after a leisurely pause she stops and yawns, making her whole body tremble. She prolongs the moment of delight, while the cloth covering her breasts slips loose on every side. Letting down and loosening her hair, embracing her companion, and demanding an answer before she has even asked a question - who is this marvellous, restless-eyed woman who shines supreme in the play of love?

And furthermore -

Her eyes dart like wagtails; her face is lovely as a golden lotus; her breasts are full, high, and always trembling. Her waist is slender and her hips are broad and heavy. If Lord Shiva, the great ascetic, were to see New Moon-Streak even once, would he too not be wounded by the Love-God's arrow?

DROOPING VULVA: Preceptor, my daughter New Moon-Streak is now fully prepared to receive instruction in the arts of love.

UNIVERSAL BUFFOON: (*Laughing.*) At present my school, too, is without a pupil.

NEW MOON-STREAK: Mother, his nails and teeth are worn out like those of an old tiger. Age has reduced him to skin and bone. Yet day and night this shameless Universal Buffoon laughs at me and mocks me.

SPROUT OF QUARREL: (*Angrily.*) Low courtesan! Thief of other people's sons and wealth! Do not look at my guru and imagine that he has fallen into bad company. Though his wife has constant intercourse with him, she still wanders in search of some great master of the arts of love so that her knowledge may increase. Such is her wifely devotion that, dressed as a widow, she would follow the Universal Buffoon to the funeral pyre and pretend to burn herself. And you still dare call my guru old? More than that: my guru even now removes the cloth that covers his modesty and sleeps in his mother's lap - and you call such a guru shameless? (He pretends to rage.)

NEW MOON-STREAK: (*Laughing.*) Blessed is that Brahmin wife, blessed is this Brahmin disciple, and blessed indeed is the preceptor.

DROOPING VULVA: Daughter, do not speak so wickedly. You do not yet know the preceptor properly. The Universal Buffoon may be old and the teacher of every scoundrel, yet like the sun he can spread the light of love and make the lotus bloom.

UNIVERSAL BUFFOON: (*Hearing this, aside.*) Ah, what a wonder -

The white hair upon Drooping Vulva's head and her pale eyebrows bloom fully like kasha flowers. Age has weakened the body that once was love's dwelling, and her breasts have withered and sagged. Yet even after all these changes, the sound of her voice still awakens desire.

If desire survives all this, where could it ever disappear?

(*Aloud, before everyone.*) Drooping Vulva, do you seem to be trembling a little from old age?

DROOPING VULVA: It is true. Remembering the gallants who were once devoted to me, and recalling their virtues, I am now suffering from the fever of love.

UNIVERSAL BUFFOON: (*Laughing.*) Your Majesty, Drooping Vulva has caught love-fever.

KING: Then why do you not summon the great physician Vyadhisindhu, Ocean of Disease, son of Aturantaka, Death of Patients?

UNIVERSAL BUFFOON: Do you not know the son of Death of Patients? Have you heard nothing of his virtues?

KING: Are you unaware of the courteous treatment Ocean of Disease gives his patients?

If there is stabbing pain in the stomach, apply a red-hot rod to the eyes. If the feet are swollen, bore holes through the palms. If there is a stone in the bladder, operate inside the nose with a sharp knife. For gout and disorders of wind, make the patient drink boiling oil. For heart disease, place the patient's testicles between two rods and crush them hard. After receiving such delightful treatment, what patient would not proceed toward the cremation ground?

And furthermore -

Make a coughing patient inhale the smoke of burning chaff. If too much wind fills the belly, force him to labour, give him a purgative, and make him fast. If digestion is weak, feed him minced meat with his meal. If he suffers from asthma, make him drink water without pause. If he has a disorder of bile, feed him dried ginger, pakar leaves, and pepper broth. If a bodily humour causes fever, bathe him in a tub. How can one adequately praise the virtues of Ocean of Disease, the great physician?

It is impossible for a single mouth to recite the full catalogue of his merits.

(*A voice from behind the curtain.*)

The royal physician who kills every patient - Ocean of Disease - is coming onto the stage. The flesh of his legs is badly rotten and covered with round boils. Again and again he uses the hem of his garment to drive flies from his oozing sores. The violence of his cough resounds on every side, even through the heavens.

(*Enter OCEAN OF DISEASE. He circles slowly and speaks with immense pride.*)

OCEAN OF DISEASE: As a physician, I contain every disease in perfect form. My ill fame and disgrace are my glory.

Once I have treated him, even the immortal Markandeya cannot remain alive for long.

And furthermore -

A patient needs neither medicine nor treatment. One glimpse of me is enough to kill him.

OCEAN OF DISEASE: (*Approaching.*) Great preceptor, I salute you.

UNIVERSAL BUFFOON: Sprout of Quarrel, bless the royal physician.

SPROUT OF QUARREL: (*Raising his hand in blessing and speaking loudly.*) May you live forever with your enemies.

May your life be short; may you not survive even two more auspicious moments. May a sharp thorn lodge in your heart, may a serpent bite your neck, and for crimes committed by others may the King punish you by beheading. May you always worry about food, and may your house burn forever.

OCEAN OF DISEASE: Wicked boy! Are you mocking me?

UNIVERSAL BUFFOON: (*Laughing.*) Ocean of Disease, is your dead father, Death of Patients, keeping well?

OCEAN OF DISEASE: How could he be well without seeing you? (He looks at NEW MOON-STREAK.)

Who in this entire world could see her breasts, like golden jars, without a heart overflowing with desire?

UNIVERSAL BUFFOON: Great physician, I wish to consult you on a medical matter.

OCEAN OF DISEASE: (*Proudly.*) Is a physician to be consulted only after the family has gathered rice and sesame for the funeral offering, selected a fine axe for preparing the pyre, and every relative has abandoned all attachment to the patient?

UNIVERSAL BUFFOON: (*Laughing.*) You are a great physician indeed. (He laughs again.) Great physician, Drooping Vulva is suffering from phlegm after excessive indulgence in love. You must prescribe her treatment.

OCEAN OF DISEASE: Why was a preparation of scalding oil not poured into her anus at once? Do not delay the procedure any longer.

DROOPING VULVA: (*Laughing, aside.*) This physician has no sense at all. (*Aloud.*) My lord, by great good fortune I have found the finest physician.

UNIVERSAL BUFFOON: (*Looking upward.*) Ah! One must attend to a thousand things; I have forgotten the question. (*Laughing.*) Son Sprout of Quarrel, remind me what we asked the physician.

SPROUT OF QUARREL: (*Bursting out.*) Great physician, New Moon-Streak has developed an itch from applying too much vermilion and musk. Please tell us what should be done to cure this ailment.

DROOPING VULVA: (*Smiling, aside.*) The disciple is just like his guru. A dog belongs on an ash heap.

OCEAN OF DISEASE: Mix an ointment of water hyacinth with finely powdered scorpions and thorns, and smear it over New Moon-Streak's entire body. The itch will disappear at once.

DROOPING VULVA: An excellent medicine.

SPROUT OF QUARREL: (*Pretending to think.*) Yes, now I remember. Great physician, Drooping Vulva has developed a headache from the pleasures of love-battle. What should be done for that?

DROOPING VULVA: (*Smiling and approaching.*) Great physician, I have long known of your learning. Please prescribe a medicine for my phlegm.

OCEAN OF DISEASE: (*Thinking for a moment.*) Hee! Hee! Why did you not say that you had phlegm?

Long ago, a certain ruling king developed phlegm because of an excess disorder of wind. At that time my father, Aturantaka - Death of Patients - who was authoritative in the Ayurvedic works of Charaka, Sushruta, Vagbhata, and Nagarjuna, cured the King's phlegm by cleansing his eyes with black salt and fastening a hundred leeches upon them.

DROOPING VULVA: What is the treatment for my illness?

OCEAN OF DISEASE: If a minor remedy will do, why prescribe a major one?

Your phlegm will be destroyed if you place wasps, leeches, and scorpions inside your nose and eyes.

DROOPING VULVA: (*Laughing.*) You truly are the son of Death of Patients.

(A commotion is heard behind the curtain.)

KING: (*He cups an ear upward and listens, then speaks aloud.*) Gatekeeper! Find out at once who has come to see me. Bring the visitor here quickly.

GATEKEEPER: As my lord commands. (*He exits, looks carefully, then returns.*) Great King, Raktakallola - Wave of Blood - a barber, is dragging in a bleeding citizen by his clothes.

KING: Tell him to enter and present himself.

GATEKEEPER: (*He exits and returns.*) Great King, I present before you this barber named Raktakallola.

(Enter WAVE OF BLOOD, gripping the clothes of a bleeding CITIZEN. He circles the stage and speaks in Sanskrit.)

WAVE OF BLOOD: The moment I take razor in hand and prepare to scrape, a man abandons every hope of life. Whenever I set to work as a barber, my heart grows eager to see streams of blood flowing from the human body.

And furthermore -

When a man's hands, feet, and neck have been bound and he screams in dreadful pain, the moment I begin to cut his nails he gives up every hope even of being born again.

(Looking around the assembly, he offers a mirror.)

KING: Drooping Vulva, you should take the mirror first.

DROOPING VULVA: (*Taking it and looking.*) Great King, I have contracted the eye disease called cataract. I cannot see the reflection of my face in the mirror at all. Let Your Majesty take it first.

KING: Ocean of Disease, even in your presence this procuress Drooping Vulva has developed the eye disease called cataract.

OCEAN OF DISEASE: Why not hold an iron rod heated in the fire firmly and steadily, and press it against the pupil? When no eye remains, how can the disease called cataract survive?

NEW MOON-STREAK: (*Laughing.*) Should not the physician first test the remedy by applying the red-hot rod to his own eyes?

OCEAN OF DISEASE: This courtesan mocks me. There is no point remaining here. (*He exits.*)

UNIVERSAL BUFFOON: (*Taking the mirror, looking into it, and speaking in astonishment.*) Oh! Old age has come upon me!

My hair has turned white, my teeth are rotting and falling out; my body has grown old and weak, cataracts cloud my eyes, my ears can no longer hear a sound, and the flesh of my body hangs loose. All this is the work of age. Yet even in this condition my restless heart is forever eager to embrace a fair courtesan. The sport of God seems very strange to me.

KING: Barber, if you have something to say about this matter, say it now.

WAVE OF BLOOD: Great King, I have a dispute with this man who is writhing in pain.

KING: Minister, consider how justice should be given between these two men.

DEFENDER OF FOLLY: Barber, tell me: who first saw this blood?

WAVE OF BLOOD: I saw it first.

CITIZEN: What do you mean, you first saw the blood flowing from my body?

DEFENDER OF FOLLY: Barber, how did you come to see it first?

WAVE OF BLOOD: (*Aside.*) This admirable minister is as distinguished as the King. (*Aloud.*) Great King, I was holding this man's finger in order to cut his nail. At that very moment he covered his eye with the finger. My instrument therefore entered his eye and broke. That is why he began to bleed.

DEFENDER OF FOLLY: He has spoken correctly. Citizen, you must pay the barber the price of his broken nail-cutting instrument.

DROOPING VULVA: The minister is every bit as distinguished as the King.

GATEKEEPER: (*Entering.*) Great King, a Brahmin named Mithyarnava, Ocean of Falsehood, wishes to see you.

UNIVERSAL BUFFOON: Let him come in.

GATEKEEPER: Enter. (*He announces OCEAN OF FALSEHOOD and exits.*)

(Enter OCEAN OF FALSEHOOD.)

OCEAN OF FALSEHOOD: Great preceptor, a relative by marriage is staying with me. A Brahmin has died in his house. This Brahmin had studied all four Vedas, observed the rules of celibacy with exceptional strictness, bathed once a year, and suffered many wounds from the kick of a fly's foot. Grieved by the Brahmin's death, I went in search of a learned authority on scripture and found you in a procuress's house. Please tell me what penance we should perform to atone for this sin.

UNIVERSAL BUFFOON: (*Tapping a finger against his nose and pretending to think. After long deliberation.*) If the Brahmin is truly dead, his wife or son should drink extremely hot water mixed with cow dung. In that way they too will attain the road to heaven.

OCEAN OF FALSEHOOD: (*Softly in his ear.*) He did not die from the kick of a fly's foot. The townspeople beat him to death for committing adultery with a washerwoman.

UNIVERSAL BUFFOON: Then everyone has been freed from the stain of sin. Purify the washerwoman, who is tainted with the sin of killing a Brahmin, by ritual, and bring her home again.

NEW MOON-STREAK: Your learning is admirable.

OCEAN OF FALSEHOOD: (*Looking at NEW MOON-STREAK.*)

Who is the man who went to the bank of the Ganges and worshipped Lord Shiva with lotus flowers? Who is the man who worshipped with total devotion the Love-God, enemy of the demon Shambhara? And who is the man who knowingly and selflessly gives up his life where the Ganges meets the sea? In the same way I ask: who is the fortunate man whose lap will be adorned, even for a few moments, by New Moon-Streak, enchantress of the world?

OCEAN OF FALSEHOOD: (*Looking at everyone, aside.*) I came here to embrace a courtesan, but many wicked men have already gathered. When leeches cling to the bodies of other leeches, there is no point remaining here.

KING: Why has the magistrate Sadhuhimsaka, Tormentor of the Virtuous, not yet arrived?

(*Enter TORMENTOR OF THE VIRTUOUS in a cheerful mood.*)

TORMENTOR OF THE VIRTUOUS: An armed thief has thrown the whole city into turmoil. That is why I have come, in the greatest delight, to visit a courtesan.

KING: (*Pretending to be frightened.*) Minister, this thief has spread terrible fear. What is to be done?

DEFENDER OF FOLLY: Great King, first the army must be properly equipped. Then I must be protected, after that the Queen, and finally the royal palace.

KING: (*Speaking in distress.*)

From inside the palace one may catch a glimpse of the moon; when I am with the Queen, I lie awake all night for fear that the crumbling walls will fall. A snake must always keep its poison ready, for the frog croaks throughout the night and lives in fear that the snake will seize it. Therefore the palace must be protected from the thief before anything else.

KING: Ah! I wish to know how the Queen is now.

DROOPING VULVA: Supreme minister, tell me something more about the Queen, for whose sake the King appears so sorrowful and anxious.

DEFENDER OF FOLLY: Would a man not need a thousand mouths, like the serpent Adishesha, to describe the Queen's virtues?

DROOPING VULVA: Even so, tell me something. I long to hear of her qualities.

DEFENDER OF FOLLY: Since you insist, I shall describe them briefly -

The Queen's face is dark as a moonless night; she is fair as lampblack; her beautiful eyes resemble a cat's. Her waist is like an enormous water jar, and her high breasts hang below her navel. These virtues make the Queen the enchantress of the entire world.

DROOPING VULVA: Friend, the King is foremost among learned men, but you are the crown jewel of all poets.

DEFENDER OF FOLLY: Great King, if fear of the thief has spread so widely, why not summon the commander Ranajambuka, the Jackal of War?

(*Enter JACKAL OF WAR. He circles the stage and speaks proudly.*)

JACKAL OF WAR: Great King, hear the account of my heroic exploit.

KING: Tell us.

JACKAL OF WAR: Great King, today I saw a bee drinking nectar from a red flower.

KING: And then?

JACKAL OF WAR: At once I put on my armour, took up my weapons, and with four soldiers bound the bee in a thick leather rope and dragged it toward me.

KING: (*Delighted.*) And then?

JACKAL OF WAR: Then with my sharp sword I split the bee open like a hollow leather pouch.

KING: No doubt remains about your valour. You possess the strength of ten thousand elephants.

DEFENDER OF FOLLY: Commander, the hour has come to fight wicked men. How eager are you for battle?

JACKAL OF WAR: (*In Sanskrit.*) During intercourse, if I mistake the red lac on my wife's feet for blood, I faint and fall. Even when the whole earth is covered by the darkness of the new-moon night, I lose consciousness. Tell me, then: what will become of me if I see soldiers drenched in blood upon the battlefield?

NEW MOON-STREAK: (*She laughs loudly.*)

JACKAL OF WAR: (*Angrily.*) Oh, wicked courtesan! You mock me! Why do you not fight me this instant? (He pretends to rage.)

GATEKEEPER: Great King, an astrologer named Mahayatrika, Prophet of the Final Journey, is at the door.

KING: Let him enter.

(*The GATEKEEPER speaks and exits.*)

PROPHET OF THE FINAL JOURNEY: (*Entering, opening his almanac, turning southward, and reading.*)

May the Sun occupy your birth-sign and destroy your position. May Jupiter remain in your horoscope and increase your fears. May Saturn dwell in the eighth house and multiply your pain and disease. May Mars also occupy the eighth house, kill your entire family, and strike you with weapons. Then may mighty Rahu, together with the Sun in your twelfth house, destroy your wealth. With these powerful planets so placed, even the otherwise favourable influence of the Moon, Venus, and Mercury will scarcely bear fruit.

DEFENDER OF FOLLY: You have heard the blessing. At this moment the Great King wishes to go to war. Calculate an auspicious hour for his 'great journey.'

PROPHET OF THE FINAL JOURNEY: The Great King's 'great journey' will take place at dawn on a Saturday, on the full-moon day of the month of Shravana, under the sign of Scorpio.

SPROUT OF QUARREL: Then he will certainly die.

PROPHET OF THE FINAL JOURNEY: He will carry away with him the demon of his subjects' misfortune.

UNIVERSAL BUFFOON: (*Looking east and west.*)

The orb of the sun is sinking, while the orb of the moon swells as it rises. The reddened eyes of the angry Love-God imitate the two glowing orbs, because the people have been kept apart from their wives.

UNIVERSAL BUFFOON: (*Looking lovingly at NEW MOON-STREAK.*)

Sprout of Quarrel, my son, evening has come. Go to New Moon-Streak and whisper in her ear that I wish to spend the evening with her in private meditation.

SPROUT OF QUARREL: (*Hearing this, aside in Sanskrit.*) This guru of mine is thoroughly wicked. He wants to make love with the girl. And furthermore -

Every day I have diligently served my revered guru - and what have I gained? Every day I have worshipped the sun - and what benefit has it brought? I have studied the Vedas with severe discipline - and what profit is there in that?

Even if I attain heaven, what use will it be? All of it is fruitless unless I can passionately embrace New Moon-Streak's high, pitcher-like breasts and quench the fire of love with sweat.

SPROUT OF QUARREL: There is no point delaying. Why should I not clasp her tightly and kiss her face? (He steps forward and approaches her.) New Moon-Streak, I have something to tell you.

NEW MOON-STREAK: Say it, if it is proper.

SPROUT OF QUARREL: (*In Sanskrit.*)

Youth is fleeting; it lasts only ten or fifteen days. High, firm breasts droop and hang with age and can never rise again. Moon-faced New Moon-Streak, life offers no certainty; no one knows how long it will last. Knowing all this, when a young woman rejects a youth who longs for love, her firm breasts pierce his heart like thorns.

NEW MOON-STREAK: (*She smiles faintly.*)

SPROUT OF QUARREL: New Moon-Streak, I must tell you a secret. Please listen.

(He brings his mouth close to her ear, clasps her tightly, and kisses her fiercely on the mouth. Then he speaks in Sanskrit.) Even the gods cannot have drunk the nectar of New Moon-Streak's lips. No wonder, then, that the gods were joyfully content with the moon-like nectar that fell from Rahu's mouth.

UNIVERSAL BUFFOON: (*Angrily.*) Wicked boy! You must perform penance for embracing and kissing New Moon-Streak, whom I desired from the beginning.

SPROUT OF QUARREL: You must perform the penance, because you desire a woman whom your disciple has already embraced.

UNIVERSAL BUFFOON: That limb of yours whose name is also used for an elephant's trunk - your hand - must be cut off, because you touched the young woman desired by your guru.

SPROUT OF QUARREL: Since you call New Moon-Streak, already kissed by your disciple, the woman you desire, the limb with which you would adorn a beautiful woman's waist deserves to be cut off.

UNIVERSAL BUFFOON: Those teeth of yours, hidden behind your lips, must be torn out, because you wounded New Moon-Streak's lips with them.

SPROUT OF QUARREL: Your linga - the word formed by placing a vowel before the root 'ligi' - deserves to be torn out, because with that organ you would torment the young woman whom your disciple has already kissed.

(Thus the two dance and quarrel while everyone present laughs.)

(A BARD speaks from behind the curtain.)

The eyes of a bold and experienced woman, tightly embraced, dart with anticipation of the supreme delight of lovemaking. The troubled eyes of an innocent, inexperienced woman reveal her fear of defeat in love's battle. A woman whose husband has gone on a journey watches the fierce sun sink behind the mountain with tearful eyes and loneliness in her heart. These women share no blood, yet all gaze upon the setting sun in pain.

And furthermore -

As the Sun-god sets in the west, the moon's rays now scorch the lotuses and make them wither. With night approaching, great black bees abandon the flowers, while the setting sun deprives them of light. They are like women tormented by the thought of husbands departing on journeys.

(A SECOND BARD sings.)

Where has the sun's orb gone, visible only a moment ago? Where have the calls of the chakravaka birds gone, audible only a moment ago? Where have the male and female swans gone, who only a moment ago cast off shame and joined in love-play?

The moon has risen, reddened by the rays of the setting sun, like the angry face of a woman who has discovered that her husband is attached to another. Hearing the bees sing, clusters of lotuses awaken and seem to laugh as they display their joy.

And furthermore -

At the sight of the rising moon's disc, the heart wonders: is this truly a beautiful bowl from which the dwellers in heaven drink nectar? Is it a ball with which Rati, wife of the Love-God, plays? Or is it a heap of foam from the Ganges? Is it King Love's parasol? Or is it the vast treasury of fame?

DEFENDER OF FOLLY: Evening has come. Why do you not go and complete your daily observances?

KING: What good will come from completing them? I am worried by the trouble caused by the thief. Still, I shall go. But wait a moment: look at the hostility between the preceptor and his disciple.

UNIVERSAL BUFFOON: (*He takes up his staff and runs forward angrily.*)

SPROUT OF QUARREL: (*He shrieks and shakes his whole body.*)

(The two seize NEW MOON-STREAK's clothing, dancing as they struggle and shouting, 'She is mine!' 'She is mine!')

DROOPING VULVA: My lord! Preceptor! Please end this quarrel for today. Night has fallen. Tomorrow morning a preceptor named Madanandha Mishra - Mishra Blinded by Lust - will come to instruct New Moon-Streak. Both of you must obey whatever decision he gives.

UNIVERSAL BUFFOON AND SPROUT OF QUARREL: So be it.

(All exit.)

Thus ends Act One of the farce The Ocean of Laughter, by the judgement of the assembly and the council.

ACT TWO

(The following morning. Enter the UNIVERSAL BUFFOON and SPROUT OF QUARREL.)

UNIVERSAL BUFFOON: *(Looking east.)* Ah! In the east, the sun's rays appear red as vermillion in the parting of a woman's hair.

(He turns and looks toward a pond before him.) After a husband has spent the entire night in love-play with his mistress, he stands before his wife at sunrise and she glares at him with blood-red, furious eyes. Just so, the red lotuses of the pond look redder still in the crimson morning light, because the sun spent the whole night in some other region of the earth.

And furthermore -

The morning breeze gives the heart great joy, for it carries the pleasing fragrance of day-blooming lotuses. It also bears the sweet scent of musk and vermillion, washed into streaks of red and black by the sweat of women exhausted from love-play.

UNIVERSAL BUFFOON AND SPROUT OF QUARREL: *(They circle toward DROOPING VULVA's house, enter, and speak together.)*

Where are Drooping Vulva and New Moon-Streak?

(Enter DROOPING VULVA and NEW MOON-STREAK.)

UNIVERSAL BUFFOON: *(Looking at NEW MOON-STREAK.)*

If New Moon-Streak, whose face is like the autumn moon, casts one restless glance at me, who will notice the blue lotus adorning her ear?

And furthermore -

Even Lord Shiva would find it difficult to resist New Moon-Streak's sleepy eyes and their darting sidelong glances.

SPROUT OF QUARREL: Drooping Vulva, has Madanandha Mishra, Mishra Blinded by Lust, still not arrived?

(A voice from behind the curtain.)

His sacred thread has been reddened by the fragrant cosmetics of courtesans; his eyes have grown red from drinking cannabis liquor; his whole forehead is smeared with sandal paste; and he has completely abandoned every act of worship and religious observance. The embodied form of such virtues is approaching in person.

(MADANANDHA MISHRA, BLINDED BY LUST, is seen entering with his disciple KULALA, the WILD COCK.)

BLINDED BY LUST: *(Looking ahead.)* Look!

Hearing bees hum around the mango trees and the sweet songs of cranes and cuckoos, this spring resounds with the hot sighs of beautiful women separated from their lovers.

And furthermore -

Touched by cool droplets splashed from the hands of women playing in the waters of the Kaveri, filled with the fragrance of pale sandalwood, and awakening the excitement of love, the southern wind gently stirs clusters of new mango shoots. At the touch of fully opened vine-flowers, it seems a little frightened, as though it had come into contact with a menstruating woman.

BLINDED BY LUST: *(Aside.)* How shall I pass this spring without a courtesan? *(Aloud.)* Wild Cock, my son, look - it is already noon.

The Sun-god heats the earth with his rays. All the birds have taken shelter in vine-covered bowers. Swans have settled motionless beneath radiant, fully opened lotuses. Weary, sorrowing travellers, their hearts burning with the fierce pain of long separation from their wives, sit beneath the shade of leafless trees, sighing without pause as they write.

WILD COCK: Good sir, a procuress named Drooping Vulva lives in this city. It is said that she receives guests exceptionally well. We should dine at her house.

BLINDED BY LUST: Is she of high birth?

WILD COCK: What doubt can there be? Even a man of the lowest caste drinks water in her house.

BLINDED BY LUST: *(Eagerly.)* Then come, son.

(The two turn toward DROOPING VULVA's house. Before they can enter -)

DROOPING VULVA: Blinded by Lust, please sit upon this beautiful seat.

BLINDED BY LUST: *(Pretending to sit, looking at everyone, then speaking aside.)* Is it not astonishing that New Moon-Streak, jewel among women, stands before me?

Between folds of red clothing, New Moon-Streak's breast gleams in the curve of a rising half-moon, like a bright fragment of moon emerging over the eastern mountain. She arches her brows and casts a lustful, restless glance, creating the illusion of a bee tugging at the petal of a great ketaki flower. What man could see such a sight without agitation, without being compelled to look at her?

And furthermore -

New Moon-Streak's body is a splendid forest. Her high breasts rise like inaccessible mountains; the region of her navel lies deep below; her trembling, quivering arms possess the beauty of a swarm of lovely bees. Seeing all these signs, the heart grows a little afraid that the Love-God himself has become a hunter and is striking with the sharp arrows of her restless glances. My deer-like heart, tell me: where will you find refuge?

BLINDED BY LUST: *(Aside.)* How can I deceive Sprout of Quarrel and the Universal Buffoon? Very well. I shall pretend to be a follower of the Vaishnava sect and trick them. *(Aloud.)* Tongue, you must forever repeat the name of Vishnu. Eyes, the Lord pervades the entire universe - you must see in that manner. Ears, you must forever hear the glory of God. Heart, you must hold with absolute firmness that Lord Narayana alone is the refuge of all.

(Aside again.) Ah! By uttering God's name I have committed a mortal sin. What must I do to atone for it?

UNIVERSAL BUFFOON: *(Hearing him, aside.)* Blinded by Lust is a rogue, trying to deceive us in the name of the Vaishnava sect. Very well. I shall show him something in return. *(Aloud.)*

I forever meditate in my heart upon Lord Krishna, crown jewel of the three worlds, whose form is like blue sapphire; who, like a bee, forever hovers about the lotus-face of the goddess Lakshmi; whose dark colour is like the smoke that draws tears from the eyes of demons' wives.

BLINDED BY LUST: *(Angrily.)* Wild Cock, my son, now expound the doctrine of the Vaishnava sect.

WILD COCK: As my master commands. *(In Sanskrit.)* In the Age of Kali, human life is naturally short. On top of that, wicked men force others to fast and practise various bodily austerities, thereby destroying the body. The wise understand the futility of physical

torment and prefer a religion and mode of worship that includes a life of sensual enjoyment and the pleasures found at a courtesan's door.

UNIVERSAL BUFFOON: (*Angrily.*) Sprout of Quarrel, my son, expound the Vaishnava doctrine.

SPROUT OF QUARREL: (*In Sanskrit.*) If, for fear of the contempt of fools, a man observes a fast despite terrible suffering and endures inward agony from fear of the death that may come in the night, nevertheless, in order to remain alive, he must first rise and eat in the morning.

Thus the true danger is that life itself may end through remaining hungry and fasting. If death is the result, how can complete liberation be attained?

And furthermore -

The face of any priest who declares that painful fasting earns merit should be smeared with ashes. Supreme liberation is possible only when the incomparable Lord Shiva is pleased by offerings of meat, fish, and women.

BLINDED BY LUST: (*Hearing this, aside.*) This preceptor is extremely clever; he cannot be deceived. It is useless to bait an old cat with sour rice. Very well. I shall trick him by displaying humility. (*Aloud.*)

BLINDED BY LUST: Master, I salute you.

UNIVERSAL BUFFOON: (*Loudly.*) Friend, may you live long! But when a woman such as Drooping Vulva, who has served multitudes, is present, it is not proper for a man like you to salute me first.

BLINDED BY LUST: Oh! I mistook you for Drooping Vulva and saluted you.

UNIVERSAL BUFFOON: (*Laughing.*) He truly is blinded by lust. That is why he mistook a man for Drooping Vulva, the procuress.

BLINDED BY LUST: (*Approaching DROOPING VULVA.*) Drooping Vulva, I offer you my respectful salutation.

DROOPING VULVA: Daughter, raise him up and pronounce a blessing upon him.

NEW MOON-STREAK: (*Standing.*) May Gauri, the consort and other half of Lord Shiva, be gracious to you.

(Having said this, NEW MOON-STREAK lowers her eyes in embarrassment.)

BLINDED BY LUST: Ah! The sight of New Moon-Streak leaves me astonished -

The two feet of doe-eyed New Moon-Streak can barely support the weight of her immense hips. How can her incomparable waist bear the weight of her two high breasts, which resemble the temples of an elephant?

DROOPING VULVA: Excellent Brahmin, I inform you that today a fire-sacrifice to the Love-God is being held in my house. Please act as priest and bring it to completion.

BLINDED BY LUST: (*Aside.*) The hollow between doe-eyed New Moon-Streak's thighs will serve as the sacrificial altar. Her vulva between those thighs, the place desired by men of pleasure, will be the fire-pit. Her breasts will serve as the sacrificial fruit. The fiercely burning fire of desire will be the ritual flame; I shall be the priest, and my semen the offering poured into the sacrifice, while my penis will be the sacrificial ladle, the sphy. With all these materials ready to grant immediate satisfaction, what man would refuse to perform such an erotic agnihotra?

(*Aloud.*) Drooping Vulva, old age has weakened your body, making you unable to carry out your duty. You should therefore appoint your daughter to gather the materials for the sacrifice.

DROOPING VULVA: Daughter, follow the venerable Brahmin's wishes.

(NEW MOON-STREAK goes inside the house.)

SPROUT OF QUARREL: (*Approaching.*) First settle the quarrel between my guru and me.

BLINDED BY LUST: Son, wait a little, until the sacrifice has been completed.

(BLINDED BY LUST enters the house, has vigorous intercourse with NEW MOON-STREAK, and speaks in delight.)

Her breasts are crushed by the embrace; her face is wet with sweat from excessive exertion. Closing her eyes after a kiss, she utters sounds of pleasure; her brows are lovely and her sidelong glances restless. The delight of such a courtesan, praised through the smooth speech of deceivers, can be enjoyed only by a man who has accumulated every kind of merit for a hundred years.

UNIVERSAL BUFFOON: (*Looking at NEW MOON-STREAK, aside.*)

The kohl has been washed from New Moon-Streak's two beautiful eyes, and the redness from her lips. The knot of hair upon her head has loosened, and the sandal paste has been wiped from her body by the sweat of love-play. Her thighs no longer tremble, her hands have gone slack, and her chest heaves again and again. From all these signs it is certain that she is coming this way after intercourse.

WILD COCK: (*Stepping forward and laughing loudly.*) Good sirs, one man has completed the sacrifice.

BLINDED BY LUST: (*Closing his left eye, he gestures for the disciple to stop.*)

WILD COCK: What will you gain by stopping me? One man's accumulated merit cannot purify another, can it?

BLINDED BY LUST: Son, wait a moment.

UNIVERSAL BUFFOON: (*Smiling.*) Great Blinded by Lust, I now understand how your sacrifice was completed. Even so, you must judge the dispute between the two of us. (*Whispering in BLINDED BY LUST's ear.*) Arrange matters so that I may marry New Moon-Streak.

BLINDED BY LUST: The two of us shall marry her.

UNIVERSAL BUFFOON: What harm is there in that? Consider -

In this world Kunti, daughter of King Bhoja, and Madri were married to six lords - Dharma, Vayu, Indra, the two Ashvin twins, and Pandu - yet they were still called faithful wives. Draupadi, too, was wife to all five Pandavas: Yudhishthira, Bhima, Arjuna, Nakula, and Sahadeva. It is therefore clear that a woman commits no sin by marrying several men.

WILD COCK: (*Aside.*) These two wicked men have joined forces. I should now make an alliance with Sprout of Quarrel. (*He turns, embraces SPROUT OF QUARREL, and whispers in his ear.*)

Friend, look: these two men have become allies and will both marry New Moon-Streak. Why should the two of us not marry Drooping Vulva?

SPROUT OF QUARREL: Friend, I do not think you have spoken wisely. We have no experience of intercourse with an old woman.

Besides, it is painful that these two old men will marry New Moon-Streak, enchantress of the three worlds. A jasmine garland does not grace a monkey's wrist; an ignorant rustic knows nothing of musk; and a pearl necklace does not adorn an old woman's breasts.

WILD COCK: Friend, how many days do you think these two old men will live? After both have died, the two of us shall marry New Moon-Streak.

SPROUT OF QUARREL: That is true, but I am still unhappy.

WILD COCK: When the two old men go out each day to beg, New Moon-Streak will remain at home in their absence. Drooping Vulva has cataracts. At such times we shall be able to accomplish what we desire.

SPROUT OF QUARREL: Friend, let it be as you have said.

DROOPING VULVA: (*Laughing aside.*) These two swindlers have joined together, and now they are coming to know each other very well.

BLINDED BY LUST: Learned gurus, what dispute lies between you? What is the problem?

UNIVERSAL BUFFOON: He wishes to marry New Moon-Streak, but I desire her as well.

BLINDED BY LUST: Sprout of Quarrel, what do you say on this matter?

SPROUT OF QUARREL: Although I have already embraced and kissed New Moon-Streak, he still wants to marry her?

BLINDED BY LUST: I know the fundamental principles of justice. There is no pleasure in enjoying what is shrivelled and wasted. Your guru desired New Moon-Streak first, so in some measure she belongs to him. But after our agreement she belongs wholly to me.

(He turns.) Son, you are a bridegroom of twelve years. Drooping Vulva, who is more than a hundred years old and counts her lovers by her wrinkles, is a bride worthy of you.

WILD COCK: (*Approaching and speaking in Sanskrit.*)

You have made this agreement, and I am your disciple; therefore New Moon-Streak belongs to me as well.

BLINDED BY LUST: Sprout of Quarrel, my son, accept the decision and consent to marry Drooping Vulva together with my disciple Wild Cock.

SPROUT OF QUARREL: As the learned Brahmin commands.

DROOPING VULVA: (*Aside in Sanskrit.*) Ah! The Creator seems pleased with me. In my old age I am receiving two young husbands.

UNIVERSAL BUFFOON: (*Looking at SPROUT OF QUARREL, smiling, aside.*) What will this boy do with his little penis in that opening through which a child has already been born?

(Aloud.) The wedding hour is approaching. Why not summon Mahanindaka, the Great Slanderer, who lives in the disputed southern country?

(*Enter the GREAT SLANDERER. He looks at everyone and speaks with enormous pride.*)

GREAT SLANDERER: Is there any Brahmin in this entire universe who can equal me in religious debate or genealogy?

(Still more proudly.) I composed all four Vedas.

SPROUT OF QUARREL: Master, the Vedas issued from Lord Brahma's mouth. How could you have composed them?

GREAT SLANDERER: (*Angrily.*) Ah! You believe that fool Brahma composed the Vedas? I went to heaven to investigate Brahma's genealogy. Listen -

When Lord Shankara washed Brahma's feet with the water of the Ganges imprisoned in his matted hair, the enraged Brahma struck Lord Shankara with his hand. Terrified, Lord Shankara bowed to Brahma, but Brahma gave him no blessing of long life. When Brihaspati, preceptor of the gods, came before him, Brahma did not even look at him, for he regarded Brihaspati as a sinner who accepted gifts from the thirty-three gods.

BLINDED BY LUST: Stop this flood of words. Perform the two weddings now.

GREAT SLANDERER: I accept nothing as charity or gift.

WILD COCK: What harm is there in accepting a gift from a courtesan?

GREAT SLANDERER: You are right. Until now I did not know that this procuress belonged to a noble family. (Respectfully.) My lord, which woman is to marry which man?

UNIVERSAL BUFFOON: Doe-eyed New Moon-Streak will marry the two of us, the worthy preceptors, while Drooping Vulva, whose eyes are clouded by cataracts, will marry these two disciples.

GREAT SLANDERER: (*Laughing, aside.*) Ah, what a wonder! (He looks at NEW MOON-STREAK.)

After being struck by the sharp arrows of her eyes, is there any man who could abandon the desire to live with doe-eyed New Moon-Streak?

And furthermore -

New Moon-Streak's brilliant white eyes, with their restless pupils at the centre, can pierce even a steadfast heart. They are poison as white as the milk produced by the churning of the ocean. Even Lord Shiva has not the strength to endure them.

But if I do not clasp New Moon-Streak tightly at this very moment, I may not remain alive.

(*Aloud.*)

Despite the white radiance of her moon-like face, the covered breasts of doe-eyed New Moon-Streak have not blossomed. Yet beneath the brows of that moon-faced beauty, her lotus-like eyes are opening. Their repeated blossoming fills my heart with doubt.

And furthermore -

Ah, these men are fools! Doe-eyed New Moon-Streak's lips are nectar fit to drink; the region above her thighs is a place fit to dwell; her deer-like eyes are my only friends; her lovely words are equal to the finest chanting of mantras; her lotus-like body is worthy of meditation. If there exists a hermitage equal to her body, why do learned sages go into forests to practise austerities?

Listen, listen, preceptors! Why not summon Mahayatrika, Prophet of the Final Journey, the astrologer, to determine an auspicious time for the wedding?

(*Enter the PROPHET OF THE FINAL JOURNEY. He opens the almanac and speaks.*)

PROPHET OF THE FINAL JOURNEY: Priest, what must be calculated?

BLINDED BY LUST: Determine an auspicious time for the wedding.

PROPHET OF THE FINAL JOURNEY: (*Placing his little finger upon the ground.*) Whatever the auspicious hour, whatever the day, whatever the constellation - whatever is to be done should be done quickly.

GREAT SLANDERER: (*Aside.*) This astrologer is competent. (*Aloud.*) Listen, astrologer: does this auspicious hour contain any conjunction promising widowhood?

PROPHET OF THE FINAL JOURNEY: Has the earth become so empty of men for this woman that she must remain a widow forever?

GREAT SLANDERER: Buffoons and everyone present, take bilva leaves, wood-apple leaves, and garlands in your hands, and approach your respective future wives.

PROPHET OF THE FINAL JOURNEY: Such adornments are suitable for men at the point of death.

(The men take the hands of their future wives and sit: DROOPING VULVA between the two disciples, and NEW MOON-STREAK between the two preceptors. In deep distress, NEW MOON-STREAK speaks aside.)

NEW MOON-STREAK: I have sat in utter solitude worshipping the goddess Parvati; every day, with complete devotion of heart, I have prayed to the Love-God. Today my prayers and devotion to Parvati, the Love-God, and all the other deities are bearing fruit: marriage to these two old Brahmins is as dreadful as a sentence of death and will drive me still nearer to the grave.

GREAT SLANDERER: Giver of Gifts! Bring the madhuparka, the mixture of honey, milk, curd, sugar, and ghee.

GIVER OF GIFTS: *(Approaching.)* My lord, there is no honey. There is only milk and water.

GREAT SLANDERER: Bring it.

GIVER OF GIFTS: *(She brings milk and water.)*

GREAT SLANDERER: *(Looking at each bridegroom.)*

You are men scorched by the fire of the cremation ground and abandoned by friends and relatives. You should bathe, drink this milk, and rejoice after drinking it.

(Taking durva grass and rice in his hands.)

In this world the death of every creature is inevitable and life is like a dream. Think in this way about life and death, and do not grieve over any of these events.

(Rising and speaking loudly.) You who place your trust in the great sleep, you who lie upon the great bed of the funeral pyre - may you all dwell in the cremation ground.

(He scatters durva grass and rice over everyone's head.)

PROPHET OF THE FINAL JOURNEY: For those who marry, it is entirely fitting to sleep upon a funeral pyre in the cremation ground.

GREAT SLANDERER: *(Approaching.)* Sprout of Quarrel, first pay me the fee for accepting a hundred-year-old maiden.

SPROUT OF QUARREL: *(He offers a sweet made with bhang.)*

GREAT SLANDERER: May you prosper! *(He takes the sweet and joyfully touches it to his forehead.)* Om! I bow to the goddess Gayatri.

(He throws one portion on the ground, eats the rest, and speaks enthusiastically.)

This sweet produces supreme delight in matters of love, makes speech pour like a shower of nectar, and fills the eyes with desire. Victory to the sweet made of bhang!

DROOPING VULVA: The Great Slanderer comes from a distinguished family.

GREAT SLANDERER: *(Approaching.)* Excellent Brahmins, please pay the fee for giving the bride away.

BLINDED BY LUST AND UNIVERSAL BUFFOON: Wait for four years.

GREAT SLANDERER: Then for four years she will remain a courtesan held in pledge.

(He takes NEW MOON-STREAK by the hand and dances joyfully with her.)

PROPHET OF THE FINAL JOURNEY: Great Slanderer, this does not seem consistent with your character.

GREAT SLANDERER: *(Joyfully.)*

I have now freed New Moon-Streak, who brings delight to all humankind, from the clutches of this gang of wicked men. I have obtained her for myself. My heart is therefore filled with joy. I long to return to the chamber of pleasure and begin a mighty battle of love with her, marking her body with the many weapons of enjoyment.

(The farce entitled The Ocean of Laughter ends.)

THE OCEAN OF LAUGHTER

Original Sanskrit: Shri Jagadishvara Bhattacharya

English translation of the Maithili version

Based on the Sanskrit-to-Maithili translation by Gajendra Thakur

Editor: Videha — First Maithili Fortnightly eJournal

A stage-ready English edition of Hasyarnavaprahasanam



www.vidaha.co.in

VIDEHA

कादम्बरी

KADAMBARI

बाणभट्ट — भूषणभट्ट

संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद

गजेन्द्र ठाकुर

सम्पादक, विदेह
प्रथम मैथिली पाक्षिक ई पत्रिका

MAITHILI · ENGLISH

www.vidha.co.in

कादम्बरी
KADAMBARI

कादम्बरी
KADAMBARI

बाणभट्ट • भूषणभट्ट

संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद

गजेन्द्र ठाकुर

सम्पादक, विदेह — प्रथम मैथिली पाक्षिक ई पत्रिका

www.videha.co.in

कादम्बरी / KADAMBARI

मूल संस्कृत: बाणभट्ट (पूर्व भाग); भूषणभट्ट (उत्तर भाग)

संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद: गजेन्द्र ठाकुर

सम्पादक: गजेन्द्र ठाकुर, विदेह — प्रथम मैथिली पाक्षिक ई पत्रिका

Maithili translation and editorial presentation © Gajendra Thakur, 2026.

This edition presents the complete Maithili version first, followed by the English version.

Videha — First Maithili Fortnightly eJournal · ISSN 2229-547X

www.videha.co.in

6 × 9 inch hardback edition · 2026

विषय-सूची • CONTENTS

मैथिली संस्करण.....	1
पूर्व भाग — वाणभट्ट.....	2
उत्तर भाग — भूषणभट्ट.....	143
English Version.....	167
First Part — Banabhatta.....	168
Part II — Bhushanabhatta.....	269

मैथिली संस्करण

कादम्बरी

संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद • गजेन्द्र ठाकुर
सम्पादक, विदेह प्रथम मैथिली पाक्षिक ई पत्रिका

पूर्व भाग

वाणभट्ट रचित

सृष्टि, स्थिति आ संहारक कारण, रूप आ गुण—दुनू दृष्टिसँ त्रिविध, वस्तुसभक उत्पत्तिमे रजोगुण, स्थितिमे सत्त्वगुण आ विनाशमे तमोगुण प्रकट करनिहार अजन्मा परमात्माक जय हो।

त्र्यम्बकक चरण-धूरिक जय हो, जकरा दानव बाण-क मुकुट स्नेहपूर्वक स्पर्श करैत अछि; ओहि धूरिक जय हो जे रावणक दसू मुकुट-मणिक मण्डलकें चुमैत अछि, देव आ दानवक अधिपतिसभक मस्तकपर विराजैत अछि आ हमर क्षणभङ्गुर जीवनक नाश करैत अछि।

विष्णुक जय हो, जे दूरहि सँ प्रहार करबाक निश्चय कऽ, क्रोधसँ प्रज्वलित अपन नेत्रक एक क्षणक दृष्टिमात्रसँ शत्रुक वक्षस्थलकें एना रक्तरञ्जित कऽ देलनि मानू भयहि सँ अपने फाटि गेल हो।

मुकुटधारी मौखरि नरेशसभ द्वारा पूजित भत्सु-क कमल-सदृश चरणमे हम प्रणाम करैत छी—ओ चरण, जकर ताम्रवर्ण अँगुरी पड़ोसी राजासभक जुटल मुकुटसँ बनल चरणपीठपर घसाइत रहैत अछि।

अकारण शत्रुता रखनिहार, निर्दय दुष्टसँ के नहि डरैत अछि, जकर मुँहमे सहन करब कठिन निन्दा सर्पक विष जकाँ सदिखन तैयार रहैत अछि?

दुष्ट लोक बेड़ी जकाँ कठोर झनकार करैत, गहीर घाव दैत आ दाग छोड़ि जाइत अछि; मुदा सज्जन रत्नजटित नूपुर जकाँ मधुर ध्वनिसँ सदिखन मनकें मोहित करैत अछि।

दुष्ट मनुष्यमे कोमल वचन कण्ठसँ नीचाँ नहि उतरैत अछि, जहिना राहु द्वारा पील अमृत। सज्जन ओकरा निरन्तर हृदयमे धारण करैत अछि, जहिना हरि अपन निर्मल मणिकें।

मनभावन वाणीक माधुर्यसँ कोमल कथा हृदयमे नूतन कौतूहलसँ भरल आनन्द उपजाबैत अछि; आ स्वाभाविक भावसँ ओ अपन स्वामीक अधिकारमे अपने आबि जाइत अछि, जहिना नववधू।

नवीन भाषामे रचल, उपमासँ आलोकित आ दीप्तिमान शब्दरूपी दीपसभ सँ जगमग करैत, शब्दक अनेक विरोधाभास सँ गुँथल सुखद कथा—जहिना चम्पकक कोढ़ीसँ गुँथल चमेलीक माला—ककरा मोहित कऽ अपना वशमे नहि कऽ लैत अछि?

एक समय वत्स्यायन वंशमे उत्पन्न कुबेर नामक एक ब्राह्मण छलाह। हुनकर सद्गुणक कीर्ति समस्त संसारमे गाओल जाइत छल; ओ सज्जनसभक अग्रणी छलाह। अनेक गुप्त नरेश हुनकर कमल-चरणक पूजा करैत छलाह, आ ओ साक्षात् ब्रह्माक अंश जकाँ लगैत छलाह।

हुनकर मुखमे सरस्वती सदिखन निवास करैत छलीह; कारण, वेदक प्रभावसँ ओतय समस्त अशुभ शान्त भऽ गेल छल, यज्ञक पुरोडाशसँ हुनकर ओठ पवित्र छल, सोमरससँ तालु तितक छल, आ स्मृति तथा शास्त्रक ज्ञानसँ मुख मधुर छल।

हुनकर घरमे यजुर्वेद आ सामवेदक मन्त्र दोहरबैत भयभीत बालकसभकेँ पिंजड़मे पड़ल सुग्गा आ मैना प्रत्येक शब्दपर डाँटैत छल; कारण, ओ पक्षीसभ शब्दसम्बन्धी प्रत्येक विद्याक पूर्ण ज्ञाता छल।

हुनकासँ द्विजसभक अधिपति अर्थपति जन्म लेलनि—जहिना ब्रह्माण्ड-अण्डसँ हिरण्यगर्भ, क्षीरसागरसँ चन्द्रमा अथवा विनतासँ गरुड़ उत्पन्न भेल छलाह।

भोरमे दिन-प्रतिदिन जखन ओ अपन विस्तृत व्याख्यान खोलैत जाइत छलाह, तखन सुनबामे एकाग्र नव-नव शिष्यसमूह हुनका नव शोभा प्रदान करैत छल, मानू कानपर ताजा चन्दनक पल्लव सजल हो।

विधिपूर्वक अर्पित दक्षिणासँ शोभित असंख्य यज्ञसभ, जकर मध्यभागमे प्रज्वलित महावीर-अग्नि छल आ जे यज्ञ-स्तम्भसभकेँ अपन हाथ जकाँ ऊपर उठा रखने छल—ओही हाथीसैनिक दल जकाँ सहायतासँ ओ सहजहि देवधाम जीत लेलनि।

समय बीतलापर हुनका चित्रभानु नामक पुत्र प्राप्त भेलनि, जे श्रुति आ शास्त्रमे पारंगत अपन आन कुलीन आ यशस्वी पुत्रसभक बीच पर्वतसभमे कैलास जकाँ स्फटिकवत् उज्ज्वल छलाह।

ओहि महात्माक गुण दूर-दूर धरि पसरल आ चन्द्रकलाक समान चमकैत छल, मुदा चन्द्रकलाक कलङ्कसँ रहित छल; ओ गुण नृसिंह-विष्णुक उगैत नख जकाँ हुनकर शत्रुसभक हृदयमे सेहो गहीर पैस गेल।

अनेक यज्ञक श्याम धुआँ आकाश-देवीसभक ललाटपर केशक घुँघराली लट जकाँ उठैत छल, अथवा त्रयी-वेदरूपी वधूक कानपर तमालक कोमल पल्लव जकाँ शोभैत छल; आ एहि सँ हुनकर अपन कीर्ति आरो उज्ज्वल भऽ उठैत छल।

हुनकासँ बाण नामक पुत्र जन्म लेलनि। सोमयज्ञक श्रमसँ हुनकर ललाटपर उठल स्वेद-बिन्दुकेँ सरस्वती अपन अञ्जलिबद्ध कमल-सदृश हाथसँ पोछि देने छलीह, आ हुनकर यशक किरणसँ सातो लोक आलोकित भऽ उठल छल।

ओही ब्राह्मण द्वारा—जिनकर मन, अनकहल वचनमे सेहो, अपन सहज जड़ताकेँ पूर्ण मूर्खताक अन्हारसँ आच्छादित रखने छल, आ जे तत्क्षण स्फुरित बुद्धिक माधुर्य कहियो नहि पाबि सकल छलाह—पूर्वक दुनू कथासँ श्रेष्ठ ई ‘कादम्बरी’ रचल गेल।

बहुत पहिने शूद्रक नामक एक राजा छलाह। द्वितीय इन्द्र जकाँ सभ राजाक नमल मस्तक हुनकर आज्ञाकेँ सम्मान दैत छल; चारू समुद्रसँ घेरल पृथ्वीक ओ स्वामी छलाह; पड़ोसी नरेशसभक सेना हुनकर प्रतापक सम्मुख भक्तिपूर्वक नतमस्तक छल; हुनकामे चक्रवर्ती सम्राटक सभ लक्षण विद्यमान छल। विष्णु जकाँ हुनकर कमल-सदृश हाथपर शंख आ चक्रक चिह्न छल; शिव जकाँ ओ कामदेवकेँ जीतने छलाह; कार्तिकेय जकाँ पराक्रममे अजेय छलाह; ब्रह्मा जकाँ महान् राजासभक मण्डलकेँ विनीत कऽ देने छलाह; समुद्र जकाँ लक्ष्मीक उद्गम छलाह; गङ्गा-धार जकाँ धर्मात्मा राजा भगीरथक पथक अनुसरण करैत छलाह; सूर्य जकाँ प्रतिदिन नव तेजसँ उदित होइत छलाह; मेरु जकाँ हुनकर चरणक प्रभा समस्त संसार द्वारा पूजित छल; आ दिग्गज जकाँ ओ निरन्तर दानक धार बहबैत छलाह। ओ अद्भुत कार्यक कर्ता, यज्ञक अनुष्ठाता, धर्मक दर्पण, कलाक उद्गम आ सद्गुणक स्वाभाविक निवास छलाह; काव्यक अमृतमय माधुर्यक झरना, मित्रसभ लेल उदयाचल, आ शत्रुसभ लेल भयङ्कर धूमकेतु छलाह। ओ साहित्यिक सभाक संस्थापक, रसिकजनक आश्रय, अहङ्कारी धनुर्धरक तिरस्कर्ता, वीरसभक अग्रणी आ ज्ञानीसभक शिरोमणि छलाह। जहिना वैनतेय विनताकेँ आनन्द देने छलाह, तहिना ओ दीनजनकेँ हर्ष प्रदान करैत छलाह। जहिना पृथुराज श्रेष्ठ पर्वतसभकेँ उखाड़ने छलाह, तहिना ओ अपन धनुषक नोकसँ शत्रुक सीमा-पर्वत उखाड़ि दैत छलाह। ओ कृष्णक सेहो उपहास करैत छलाह; कारण कृष्ण अपन नृसिंह-रूपपर गर्व करैत छलाह, मुदा शूद्रक मात्र अपन नामहि सँ शत्रुसभक हृदय विदीर्ण कऽ दैत छलाह; कृष्ण तीन पगमे विश्वकेँ थका देलनि, मुदा शूद्रक एके वीरतापूर्ण प्रयत्नमे समस्त पृथ्वीकेँ वशमे कऽ लेलनि। हुनकर तलवारक भीजल धारपर यश दीर्घकाल धरि निवास करैत रहल, मानू सहस्र नीच सामन्तक सम्पर्कसँ चिपकल पुरान कलङ्क धोबामे लागल हो।

हुनकर मनमे धर्म, क्रोधमे यम, दयामे कुबेर, तेजमे अग्नि, भुजामे पृथ्वी, दृष्टिमे लक्ष्मी, वाणीमे सरस्वती, मुखमे चन्द्रमा, बलमे पवन, ज्ञानमे बृहस्पति, सौन्दर्यमे कामदेव आ प्रतापमे सूर्य निवास करैत छल; एहि कारण ओ सभ रूपमे प्रकट होनिहार आ देवत्वक सारस्वरूप पवित्र नारायण जकाँ लगैत छलाह। रणरात्रिमे, जखन हाथीक कपोलसँ बहैत मदजल वर्षा जकाँ बरसैत छल, राजलक्ष्मी एक बेर प्रेमीसँ भेट करए आबि रहल स्त्री जकाँ हुनका लग आबि गेलीह आ योद्धासभक वक्ष-द्वारसँ ढील भेल सहस्र कवचक अन्हारक बीच हुनकर पास ठाढ़ भऽ गेलीह। हुनकर तलवार मानू ओकरा अनिवार्य रूपसँ अपना

दिस खिंचैत छल; प्रबल हाथक दबावसँ निकलल पानिक बूँदक कारण ओकर धार असमान छल, आ जङ्गली हाथीक ललाटास्थि फाड़लापर ओतय चिपकल पैघ मोतीसभसँ ओ सुसज्जित छल। हुनकर प्रतापक जबला दिन-राति जरैत रहल—मानू पति-विहीन शत्रुपत्नीसभक भीतर प्रज्वलित अग्नि हो, जे हुनकर हृदयमे मात्र प्रतिष्ठित मृत पतिसभकेँ सेहो भस्म कऽ देबाक अभिलाषा रखैत हो।

जखन पृथ्वीकेँ वशमे कऽ ओ संसारक रक्षक बनल छलाह, तखन रंगक मिश्रण केवल चित्रकलामे होइत छल; केश खिंचब केवल प्रेमालापमे; कठोर बन्धन केवल काव्यक नियममे; चिन्ता केवल धर्मक; छल केवल सपनामे; आ सोनाक दण्ड केवल छत्रमे छल। केवल ध्वज काँपैत छल; केवल गीतमे स्वरभेद होइत छल; केवल हाथी मदोन्मत्त होइत छल; केवल धनुषक प्रत्यज्या टूटैत छल; केवल झरोखामे जाल फँसाबैत छल; केवल प्रेमीक कलहमे दूत पठाओल जाइत छल; केवल चौपड़ आ शतरञ्जक गोटी अपन घर खाली छोड़ैत छल; प्रजाक घर कहियो सूना नहि होइत छल। हुनकर शासनमे भय केवल परलोकक छल; ऐँठन केवल अन्तःपुरक स्त्रीसभक अलकामे छल; वाचालता केवल नूपुरमे; हाथ धरण केवल विवाहमे; आँसू केवल निरन्तर यज्ञानिक धुआँसँ बहैत छल; कोड़ाक आवाज केवल घोड़ाक लेल सुनाइत छल, आ धनुषक टंकार केवल कामदेवक धनुषसँ निकलैत छल।

सहस्रकिरण सूर्य नव कमल-कलिकाकेँ खोलैत बहुत देर पहिने उदित भेल छल, यद्यपि भोरक गुलाबी आभामे किछु कमी आबि गेल छल। एही समय एक द्वारपालिका राजसभामे आबि विनयपूर्वक राजाकेँ सम्बोधित केलक। ओकर रूप सुन्दर, मुदा विस्मयमिश्रित भय उत्पन्न करनिहार छल; बाम कात लटकल कृपाण—जे स्त्रीसभ प्रायः नहि धारण करैत अछि—सहित ओ सर्पसँ लपेटल चन्दन-वृक्ष जकाँ लगैत छल। बहुमूल्य चन्दन-लेपसँ ओकर वक्षस्थल एना चमकि रहल छल, जहिना स्वर्गीय गङ्गाक जलसँ ऐरावतक ललाटास्थि ऊपर उठि रहल हो। ओकरा आगाँ नतमस्तक सामन्तसभक मुकुटपर पड़ल ओकर प्रतिबिम्ब एना बुझाइत छल मानू ओसभ मानव-रूप धारण कएने राजाजाकेँ अपन ललाटपर राखने हो। शरद् जकाँ ओ हंसक श्वेतिमासँ आच्छादित छल; परशुरामक धार जकाँ राजमण्डलकेँ अधीन रखने छल; विन्ध्यक वनभूमि जकाँ हाथमे दण्ड धारण कएने छल; आ राज्यक साक्षात् रक्षिका देवी जकाँ लगैत छल। भूमिपर कमल-सदृश हाथ आ ठेहन राखि ओ बजली—‘महाराज, द्वारपर दक्षिण दिशाक एक चाण्डाल-कन्या ठाढ़ अछि। ओ ओहि त्रिशंकुक वंशक राजलक्ष्मी जकाँ अछि, जे आकाशपर चढ़लाह, मुदा क्रुद्ध इन्द्रक हुंकार सुनिने ओतयसँ खसि पड़लाह। ओकर हाथमे पिंजड़ामे एक सुग्गा अछि। ओ अहाँक जय-जयकार कहैत हमरा ई सन्देश देलक अछि—“महाराज, समुद्र जकाँ केवल अहाँ समस्त पृथ्वीक रत्न ग्रहण करबाक योग्य छी। ई पक्षी एक अद्भुत वस्तु आ समस्त पृथ्वीक रत्न अछि—एहि विचारसँ हम एकरा अहाँक चरणमे अर्पित कए आनल छी आ अहाँक दर्शन करबाक इच्छा रखैत छी।” हे राजन, अहाँ ओकर सन्देश सुनि लेलहुँ; आब जे उचित बुझू, से निर्णय करू।’ एतेक कहि ओ चुप भऽ गेलीह। कौतूहलसँ भरल राजा चारू कात बैसल सामन्तसभ दिस तकलनि आ कहलनि—‘किएक नहि? ओकरा भीतर आनू।’ एहि प्रकार ओ प्रवेशक अनुमति देलनि।

राजाजा पाबिते द्वारपालिका चाण्डाल-कन्याकेँ भीतर लऽ अनलक। प्रवेश करिते कन्या सहस्र सामन्तक बीच राजाकेँ देखलक—मानू इन्द्रक वज्रक भयसँ एकठाम सिमटल श्रेष्ठ पर्वतसभक मध्य स्वर्णशिखर मेरु विराजमान हो; अथवा वस्त्रपर छिड़िआयल मणिक प्रभा हुनकर देहकेँ लगभग ढाँकि देने छल, तँ ओ एहन झंझावाती दिन जकाँ देखाइत छलाह जखन इन्द्रक सहस्र इन्द्रधनुषसँ विश्वक आठो दिशा ढाँकि जाइत अछि। स्वर्गीय नदीक फेन जकाँ उज्ज्वल छोट रेशमी चँदोवाक नीचाँ ओ चन्द्रकान्त-मणिसँ जड़ल शय्यापर बैसल छलाह। चँदोवाक चारू रत्नजटित स्तम्भ सोनाक सिकड़ीसँ जुड़ल छल आ पैघ-पैघ मोतीक डोरीसँ वेष्टित छल। सोनाक मूठबला अनेक चँवर हुनकर चारू कात डोलि रहल छल। हुनकर बाम चरण स्फटिकक चरणपीठपर टिकल छल—ओ चरणपीठ मुखक चकाचौंध करनिहार सौन्दर्यक सम्मुख लज्जासँ नमल चन्द्रमा जकाँ लगैत छल। चरणक प्रभासँ ओ अलंकृत छल, मुदा नीलम-जटित धरातलक किरणसँ चरणमे नीलिमा सेहो झलकैत छल, मानू पराजित शत्रुसभक निःश्वास ओकरा श्याम कऽ देने हो। सिंहासनक माणिक्यक लाल प्रभासँ रज्जित हुनकर वक्षस्थल ताजे मधु-कैटभ-वधक रक्तसँ लाल कृष्णक स्मरण करबैत छल। अमृतक फेन जकाँ उज्ज्वल हुनकर दुनू रेशमी वस्त्रक किनारपर पीयर रङ्गमे हंसक जोड़ी चित्रित छल; चँवरसँ उठल हवामे ओ वस्त्र लहराइत छल। केसर-लेपक छींटसँ युक्त सुगन्धित चन्दनलेप हुनकर छातीकेँ उज्ज्वल कऽ देने छल; ओ भोरक धूप पड़ल हिमाच्छादित कैलास जकाँ लगैत छल। हुनकर मुखक चारू कात मोती एना छल, मानू तारासभ ओकरा चन्द्रमा बुझि घेरि लेने हो। भुजामे बन्हल नीलमक कङ्कण चञ्चल लक्ष्मीकेँ बाँधबाक लेल धमकी देनिहार सिकड़ी जकाँ, अथवा चन्दनक गन्धसँ आकृष्ट सर्प जकाँ लगैत छल। कानक कमल कनी नीचाँ झुकल छल; नाक गरुड़-चञ्चु जकाँ उन्नत; नेत्र पूर्ण विकसित कमल जकाँ; भौंहक बीच गोल घुमावमे रोम उगल छल, जे चक्रवर्ती राज्याभिषेकक जलसँ पवित्र भेल छल। हुनकर ललाट शुद्ध सोनामे ढारल अष्टमीक चन्द्रखण्ड जकाँ छल; सुगन्धित चमेलीक मालासँ घेरल ओ भोरमे ललाटपर फिक्का पड़ैत तारासभबला पश्चिम पर्वत जकाँ लगैत छल। आभूषणक सुनहरा आभाससँ हुनकर देह ताम्रवर्ण भेल छल, तँ ओ शिवाग्निसँ दग्ध कामदेव जकाँ देखाइत छलाह। दासीसभ हुनका चारू कात घेरने छल, मानू विश्वक दिक्पालिकासभ पूजा कए आबि गेल हो। स्वच्छ पच्चीकारीबला धरातलमे पड़ल हुनकर प्रतिबिम्बकेँ पृथ्वी भक्तिपूर्वक अपन हृदयपर धारण कएने छल। लक्ष्मी मानू मात्र हुनकर छलीह, यद्यपि ओ हुनका सभकेँ भोग करबाक लेल बाँटि दैत छलाह। अनुचर असंख्य होइतो ओ अद्वितीय छलाह; सेना मे अनगिनत हाथी-घोड़ा होइतो केवल अपन तलवारपर भरोसा करैत छलाह; छोट स्थानमे ठाढ़ होइतो समस्त पृथ्वीकेँ व्याप्त कएने छलाह; सिंहासनपर बैसल होइतो केवल धनुषपर आश्रित छलाह; शत्रुरूपी समस्त इन्धन उखड़ि गेल होइतो राजतेजक ज्वालासँ चमकैत छलाह; नेत्र विशाल होइतो सूक्ष्मतम वस्तु देखैत छलाह; सभ सद्गुणक निवास होइतो सीमा लाँघि जाइत छलाह; रानीसभक प्रिय होइतो एकछत्र स्वामी छलाह; दानक अक्षय धारा होइतो मदरहित छलाह; स्वभावसँ गौर होइतो आचरणमे कृष्ण छलाह; प्रजापर भारी हाथ नहि रखैत छलाह, तथापि समस्त संसार हुनकर मुट्ठीमे छल।

एहन छलाह ओ राजा। दूरहि सँ हुनका देखैत चाण्डाल-कन्याने लाल कमलक पाँखुरि जकाँ कोमल, झनझन करैत कङ्कणसँ घेरल अपन हाथमे खुरदुरा छोरबला बाँसक दण्ड पकड़ि राजाकेँ सचेत करबाक लेल पच्चीकारीबला फर्शपर एक बेर चोट देलक। आवाज होइतहि सामन्तक समस्त सभा राजासँ दृष्टि हटाकऽ ओकरा दिस तकलक—जहिना नारिकेल खसबाक ध्वनि सुनि जङ्गली हाथीक झुण्ड एकाएक मुड़ि जाइत अछि। राजा अपन परिचारकसभसँ ‘ओतय देखू’ कहैत, द्वारपालिका द्वारा देखाओल चाण्डाल-कन्यापर स्थिर दृष्टि देलनि। ओकर आगाँ एक वृद्ध पुरुष चलि रहल छल—केश बुढ़ाईसँ उज्जर, नेत्र लाल कमल जकाँ, यौवन बीति गेलोपर निरन्तर श्रमसँ जोड़ दृढ़, मातङ्गक देह होइतो अवहेलना योग्य नहि, आ राजसभा योग्य श्वेत वस्त्र धारण कएने। ओकर पाछाँ दुनू काँधपर लटकल केशबला एक चाण्डाल बालक पिंजड़ा लेने चलि रहल छल। पिंजड़ाक सलाख सोनाक छल, मुदा सुग्गाक हरियर पाँखक प्रतिबिम्बसँ मरकत जकाँ चमकि रहल छल। कन्याक श्याम वर्ण एना छल मानू कृष्ण दानवसभ द्वारा छीनल अमृत घुरा लेबाक लेल छलपूर्वक स्त्री-वेश धारण कएने होथि। ओ असगरे चलैत नीलमक पुतरी जकाँ छलि। ठेहुन धरि पहुँचैत नील वस्त्रपर लाल रेशमक ओढ़नी एना खसल छल, जहिना नील कमलपर साँझक लाल धूप पड़ल हो। एक कानसँ लटकल कुण्डलक उजास ओकर कपोल-मण्डलकेँ उज्जर कऽ देने छल—मानू उदित चन्द्रक किरणसँ रात्रिक मुख जड़ाओल हो। ओकर ललाटपर गोरोचनक पीयर तिलक तेसर नेत्र जकाँ छल; पर्वतीय वेशमे ओ शिवक वस्त्र-पद्धति अपनौने पार्वती जकाँ लगैत छलि।

वक्षस्थलक वस्त्रपर प्रतिबिम्बित नारायणक नीलमणि-सदृश प्रभासँ श्याम भेल श्री जकाँ; क्रुद्ध शिवक अग्निमे मदन जरैत काल उठल धुआँसँ मलिन रति जकाँ; उन्मत्त बलरामक हलसँ खिंचल जेबाक भयमे भागैत यमुना जकाँ; अथवा गाढ़ महावरसँ नव पल्लव जकाँ लाल भेल कमल-चरणबाली ओ दुर्गा जकाँ छलि, जिनकर पएर एखनहि रौंदल महिषासुरक रक्तसँ रञ्जित हो।

अँगुरीक गुलाबी आभाससँ ओकर नख अरुण छल। पच्चीकारीबला कठोर धरातल मानू ओकर स्पर्शक योग्य नहि छल; तँ ओ कोमल डाढ़ि जकाँ पएर धीरे-धीरे भूमिपर रखैत आगाँ बढ़लि।

अग्निवर्णमे उठैत नूपुरक किरण ओकरा चारू कात अग्निदेवक भुजा जकाँ घेरने छल—मानू ओकर सौन्दर्यक प्रेममे पड़ि अग्नि ओकर जन्मक कलङ्क पवित्र कऽ स्रष्टाक विधानकेँ मिथ्या सिद्ध करए चाहैत होथि।

ओकर करधनी कामदेवक हाथीक ललाटपर गुँथल तारामाला जकाँ छल, आ पैघ उज्ज्वल मोतीक डोरीबला हार यमुनाक कनी श्यामिमा लागल गङ्गा-धार जकाँ।

शरद् जकाँ ओ कमल-नेत्र खोलैत छलि; वर्षा ऋतु जकाँ मेघ-सदृश केश धारण कएने छलि; मलय-पर्वतमाला जकाँ चन्दनसँ वेष्टित छलि; राशिचक्र जकाँ तारामय रत्नसँ अलंकृत; श्री जकाँ हाथमे कमलक शोभा धारण कएने; मूर्च्छा जकाँ हृदय हरनिहार; वन जकाँ सजीव सौन्दर्यसँ सम्पन्न; देवीक सन्तान जकाँ कोनो जातिक अधिकारसँ परे; निद्रा जकाँ नेत्रकेँ मोहित करनिहार। वनक कमल-सरोवर हाथीसँ मलिन होइत अछि, तहिना मातङ्ग-कुलमे जन्म ओकर शोभापर धब्बा जकाँ छल। प्रेत जकाँ ओकरा स्पर्श नहि कएल जा सकैत छल; पत्र जकाँ ओ केवल आँखिकेँ आनन्द दैत छल; वसन्तक पुष्प जकाँ ओ जाति-पुष्पसँ रहित छल। ओकर पतली कमर कामदेवक धनुषक रेखा जकाँ हाथसँ नापल जा सकैत छल; घुँघरार केशसहित ओ अलकापुरीक यक्षराजक लक्ष्मी जकाँ छलि। ओ एखन यौवनक प्रथम पुष्प धरि पहुँचल छलीह, मुदा अनुपम सुन्दरी छलि। राजा विस्मित भऽ मनमे सोचलनि—‘एहन सौन्दर्य रचबामे विधाताक परिश्रम अनुचित ठाम लगल! जँ ओकरा चाण्डाल-रूपक उपहास करबाक लेल एना रचल गेल अछि जे ओकर सौन्दर्य समस्त संसारक रूप-सम्पदाकेँ तुच्छ कऽ दैत अछि, तँ ओ एहन कुलमे किएक जन्मलीह जकर संग केओ विवाह नहि कऽ सकैत अछि? निश्चय मातङ्ग-कुलक स्पर्श-दोषसँ डरि प्रजापति केवल मनहि मे ओकर रचना कएने होयत; नहि तँ स्पर्शसँ मलिन अंगमे ई निष्कलङ्क प्रभा आ एहन अनुपम लावण्य कतयसँ अबैत? रूपवती होइतो नीच जन्मक कारण ओ पातालक लक्ष्मी जकाँ देवतासभक निरन्तर निन्दा बनल अछि; एहन विचित्र संयोगक स्रष्टा ब्रह्माकेँ सेहो ई सुन्दरी भयभीत करैत होयत।’ राजा एना सोचि रहल छलाह कि कानपर खसल पुष्पमालासँ सुसज्जित कन्या अपन आयुसँ बेसी आत्मविश्वासक संग हुनका प्रणाम केलक। प्रणाम कऽ जखन ओ पच्चीकारीबला धरातलपर चढ़लि, तखन ओकर सेवक पिंजड़ामे एखनहि प्रवेश कएने सुग्गाकेँ लऽ किछु डेग आगाँ बढ़ल आ राजाकेँ देखबैत कहलक—‘महाराज, वैशम्पायन नामक ई सुग्गा सभ शास्त्रक अर्थ जानैत अछि, राजधर्म आ नीतिक व्यवहारमे प्रवीण अछि, कथा, इतिहास आ पुराणमे कुशल अछि, गीत आ स्वरान्तरक ज्ञाता अछि। ई सुन्दर आ अनुपम नवीन आख्यान, प्रेमकथा, नाटक, काव्य आदि पढ़ैत मात्र नहि, अपने सेहो रचैत अछि; विनोद-वचनमे पारंगत अछि; वीणा, बाँसुरी आ मृदङ्गक अनुपम शिष्य अछि। नृत्यक भिन्न-भिन्न भङ्गिमा देखेबामे निपुण, चित्रकलामे चतुर, क्रीडामे अत्यन्त साहसी, प्रणय-कलहमे रूठल कन्याकेँ मनएबाक उपाय तुरन्त खोजि लेनिहार, आ हाथी, घोड़ा, पुरुष तथा स्त्रीक लक्षणक ज्ञाता अछि। ई समस्त पृथ्वीक रत्न अछि। जहिना मोती समुद्रक होइत अछि, तहिना रत्न अहाँक अधिकारक अछि—एहि विचारसँ हमर स्वामीक पुत्री एकरा अहाँक चरणमे आनल छथि। हे राजन्, एकरा अपन मानि स्वीकार करू।’

एतेक कहि ओ पिंजड़ा राजाक सम्मुख राखि पाछाँ हटि गेल। ओकर जाइतहि पक्षीराज राजाक आगाँ ठाढ़ भऽ दहिना पएर ऊपर उठौलक, ‘जय हो’ कहलक, आ प्रत्येक अक्षर तथा स्वराघातक पूर्ण शुद्ध उच्चारणसँ गीतक रूपमे ई पद्य सुनौलक—

‘अहाँक शत्रुसभक रानीक वक्ष एखन शोकसँ भरल अछि,

विधवा-एकान्तक व्रत धारण कएने अछि,

नोनगर आँसूमे नहायल, मोतीक हारसँ विहीन अछि,

आ अपन दुःखी हृदयक अत्यन्त समीप रहबाक कारण दग्ध भऽ रहल अछि।’

ई सुनि राजा विस्मित भेलाह। प्रसन्नतासँ ओ लगहि बहुमूल्य सोनाक सिंहासनपर बैसल अपन मन्त्री कुमारपालितकेँ सम्बोधित कएलनि। वयोवृद्ध, उच्चकुलोत्पन्न आ बुद्धिमान मन्त्रिसभमे अग्रणी कुमारपालित राजनीतिक दर्शनक ज्ञानमे बृहस्पति जकाँ छलाह। राजा कहलनि—‘अहाँ पक्षीक व्यञ्जन-वर्णक स्पष्ट उच्चारण आ स्वरक माधुर्य सुनलहुँ। पहिल आश्चर्य तँ ई अछि जे ओ एहन गीत गाओलक जकर प्रत्येक अक्षर पृथक्-पृथक् स्पष्ट अछि; स्वर आ अनुस्वारक उच्चारणमे शुद्धता आ स्पष्टता दुनू एक संग अछि। दोसर आश्चर्य एहि सँ सेहो पैघ अछि—नीच योनिमे उत्पन्न होइतो ओकर भीतर मनोरम कलाक मानवीय सिद्धि अछि, आ ओकर गीतक गति ज्ञानसँ प्रेरित अछि। “जय हो” कहैत ओ अपने दहिना पएर सोझ कएलक आ हमर विषयमे ई गीत गाओलक, जखन कि सामान्यतः पशु-पक्षी केवल डर, भोजन, मैथुन आ निद्राक विद्या जानैत अछि। ई अत्यन्त अद्भुत अछि।’ राजा एना कहलापर कुमारपालित कनी मुस्कराइत उत्तर देलनि—‘एहिमे आश्चर्य कोन बात? महाराज अपने जानैत छी जे सुग्गा आ मैना सँ आरम्भ कऽ सभ प्रकारक पक्षी एक बेर सुनल ध्वनि दोहरा लैत अछि। अतः मनुष्यक प्रयत्नसँ अथवा पूर्वजन्ममे प्राप्त सिद्धिक फलस्वरूप एहन असाधारण कौशल उत्पन्न हो, तँ कोनो आश्चर्य नहि। प्राचीन कालमे पक्षीसभ मनुष्य जकाँ स्पष्ट वाणी सेहो रखैत छल। सुग्गाक अस्पष्ट बोली आ हाथीक जिह्वामे परिवर्तन अग्निदेवक शापसँ भेल।’

कुमारपालितक वचन पूरा होइते घड़ीक अवधि समाप्त होबाक स्पष्ट सङ्केत देनिहार नगाड़ाक गर्जनाक पाछाँ मध्याह्नक शंख बजि उठल, जे सूर्यक आकाश-मध्य पहुँचबाक घोषणा करैत छल। स्नानक समय निकट बुझि राजा सामन्तसभसँ विदा कएलनि आ राजसभासँ उठि पड़लाह।

राजा प्रस्थान करए लगलाह तँ महान् सामन्तसभ सेहो एक संग उठि भीड़ लगा देलक। हड़बड़ीमे स्थानसँ खसल कङ्कणक पात-जकाँ नक्काशी हुनकर रेशमी वस्त्र फाड़ि देलक; धक्कासँ हारसभ झूलए लागल; व्याकुल देहसँ झड़ैत सुगन्धित चन्दन-चूर्ण आ केसरक वर्षासँ दिशासभ पीयर भऽ गेल; काँपैत मालती-मालासँ भौराक झुण्ड उड़ि पड़ल; कानसँ आधा लटकल कमल कपोलकेँ छुबैत रहल; वक्षपर मोतीक लड़ काँपैत रहल। अपन-अपन गौरवक चेतनामे प्रत्येक सामन्त प्रस्थान करैत राजाकेँ प्रणाम करबाक लेल उतावला छल।

राजसभाक चारू कात अपार चहल-पहल मचि गेल। काँधपर चँवर रखने सभ दिशामे जाइत चँवरधारिणीसभक नूपुर बजैत छल, प्रत्येक डेगपर हुनकर रत्न झनकैत छल, आ बीच-बीचमे कमल-मधु पीबाक लेल आतुर कलहंसक कलख मिसाइत छल। प्रणाम करए अबैत नर्तकीसभ वक्ष आ पार्श्वपर हाथ मारैत छलि, जकरा सँ रत्नजटित करधनी आ मालाक मधुर सङ्गीत उठैत छल। राजमहलक सरोवरक कलहंस नूपुर-ध्वनिसँ मोहित भऽ राजसभाक चौड़ा सीढ़ी उज्जर कऽ देने छल। करधनीक ध्वनि सुनबाक लोभमे पालतू सारस काँसाक पात्र खरोंचबाक आवाज जकाँ लम्बा, तीक्ष्ण स्वरमे क्रमशः आरो जोर-जोरसँ चिचिया रहल छल। अचानक विदा होइत सय-सय पड़ोसी नरेशक पएरक भारी धमक सभाभवनक धरातलपर पड़ैत छल, मानू आँधी पृथ्वीकेँ कम्पित कऽ रहल हो। दण्डधारी प्रतिहारी भीड़केँ आगाँसँ हटबैत ‘देखू, हटू!’ कहि रहल छल; ओकर ऊँच, मुदा सदाशय, लम्बा आ तीक्ष्ण पुकार राजमहलक लतागृहसभमे प्रतिध्वनित भऽ दूर धरि गूँजैत छल। शीघ्र प्रणाम करबाक लेल झुकैत राजासभक काँपैत मुकुट-मणि जखन धरातलकेँ छुबैत छल, तखन बाहर निकलल कलगीबला मुकुटक नोकसँ पच्चीकारी खरोंचाइत आ झनझना उठैत छल; प्रणाममे झुकल लोकक कुण्डल कठोर फर्शपर टकरा कऽ बजैत छल। शुभ पद्य पढ़ैत भाटसभ ‘हमर राजाक दीर्घायु हो, विजय हो!’ केर मधुर अनवरत घोष करैत आगाँ बढ़ैत छल, आ ओकर कोलाहल समस्त आकाश भरि दैत छल। सय-सय पएरक हलचलसँ फूल छोड़ि उड़ल भौरा गुनगुना रहल छल। अफरातफरीमे शीघ्र दण्डवत् होइत सामन्तसभक कङ्कणक नोक रत्नजटित स्तम्भसँ टकराइत, तखन ओहिमे जड़ल मणिसभ खनखनाइत छल। अन्ततः राजा ‘किछु विश्राम करू’ कहि एकत्र सामन्तसभकेँ विदा कएलनि। चाण्डाल-कन्यासँ कहलनि—‘वैशम्पायनकेँ अन्तःपुर लऽ जाउ’—आ ताम्बूलवाहककेँ एहि विषयमे आज्ञा दऽ किछु प्रिय राजकुमारक संग निज महल दिस चलि गेलाह। ओतय सूर्य किरण त्यागि देने हो अथवा आकाश चन्द्र-तारासँ रिक्त भऽ गेल हो, एना अपन आभूषण उतारि सभ व्यवस्था-सज्जित व्यायामशालामे प्रवेश कएलनि। समान आयुबला राजकुमारसभक संग सुखद व्यायाम कऽ ओ स्नानगृह गेलाह। ओकर ऊपर श्वेत चँदौवा तनल छल आ चारू कात अनेक भाटक स्तुतिपाठ गूँजैत छल। मध्यभागमे सुगन्धित जलसँ भरल सोनाक स्नानकुण्ड छल, ओकर बगलमे स्फटिकक स्नानासन राखल छल। एक कात अत्यन्त सुगन्धित जलसँ भरल कलशसभ सजल छल; गन्धसँ आकृष्ट भौरासभ ओकर मुखपर एना मँडरा रहल छल मानू गरमीक भय सँ कलशपर नील वस्त्र ढाँपल हो। तखन दासीसभ विधिपूर्वक राजाकेँ जलसँ स्नान करओलक। ककरो मरकत-कलशक प्रतिबिम्बसँ देह हरियर छल आ ओ पातयुक्त पात्रबला साकार कमल जकाँ लगैत छल; ककरो हाथमे चाँदीक घड़ा छल आ ओ पूर्णिमाक चन्द्रसँ बहैत प्रकाश-धाराबाली राति जकाँ देखाइत छल। तत्क्षण स्नानक अवसरपर बजाओल तुरहीक ध्वनि ब्रह्माण्डक प्रत्येक गुहाकेँ भेदैत उठल। गीत, वीणा, बाँसुरी, मृदङ्ग, झाँझ आ डफलीक भिन्न-भिन्न तीक्ष्ण स्वर, असंख्य भाटक कोलाहलसँ मिलि, श्रवण-पथकेँ चौरैत गूँजि उठल। तदनन्तर राजा साँपक त्यागल केंचुल जकाँ हलुक दुनू श्वेत वस्त्र विधिपूर्वक धारण कएलनि। महीन रेशमक किनारबला, श्वेत मेघखण्ड जकाँ निर्मल पाग पहिरने ओ स्वर्गीय गङ्गा-धारा धारण कएने हिमालय जकाँ लगैत छलाह। मन्त्रसँ पवित्र एक अञ्जलि जलसँ पितरसबकेँ तर्पण देलनि, सूर्यकेँ दण्डवत् कऽ मन्दिर दिस गेलाह। शिवक पूजा आ अग्निमे आहुति देलाक बाद सुगन्धकक्षमे हुनकर अंगपर केसर, कपूर आ कस्तूरीक महकसँ मधुर भेल चन्दन लगाओल गेल; ओकर सुवासक पाछाँ गुनगुनाइत भौरा चलैत छल। सुगन्धित मालती-पुष्पक माला पहिरि ओ वस्त्र बदललनि; रत्नजटित कुण्डलक अतिरिक्त कोनो आभूषण नहि रखने, ओ उचित भोजनक व्यवस्था पाबि चुकल राजासभक संग मधुर व्यञ्जनक आस्वादसँ उपजल आनन्दपूर्वक उपवास तोड़लनि। तकर बाद सुगन्धित पेय पीलनि, मुख धोएलनि, ताम्बूल ग्रहण

कएलनि आ चमचम करैत पच्चीकारीबला आसनसँ उठलाह। लगहि ठाढ़ द्वारपालिका तुरन्त आगाँ बढ़लीह। ओकर बाँहि पर टेक दऽ राजा राजसभा दिस चललाह; पाछाँ अन्तःपुरमे प्रवेश योग्य सेवकसभ छल, जिनकर हथेली दण्डकेँ दृढ़तासँ पकड़ैत-पकड़ैत डाढ़ि जकाँ कठोर भऽ गेल छल।

सभाभवनक छोरसभपर लटकल श्वेत रेशमक कारण एना लगैत छल मानू ओकर भित्ति स्फटिकक हो। रत्नजटित धरातलकेँ अत्यन्त सुगन्धित कस्तूरी-मिश्रित चन्दन-जलसँ सींचि शीतल कएल गेल छल। निर्मल पच्चीकारीपर निरन्तर पुष्पक ढेरी बिखेरल जाइत छल, जहिना आकाश तारासमूहसँ भरल रहैत अछि। सुगन्धित जलसँ धोएल अनेक सोनाक स्तम्भ चमकि रहल छल; ओहिमे अनगिनत प्रतिमा सजल छल, मानू प्रत्येक कोटरमे गृहदेवता विराजमान होथि। अगरुक गाढ़ सुगन्ध पसरल छल। सभाक मुख्य आकर्षण एक अलिन्द छल, जाहिमे आँधीक बादक श्वेत मेघ जकाँ उज्जर शय्या राखल छल; ओकर बिछावन फूलक गन्धसँ सुवासित, सिरानक तकिया महीन सनक कपड़ाक, पायासभ रत्नजटित, आ बगलमे मणिमय चरणपीठ—समस्त दृश्य हिमालयक शिखर जकाँ शोभायमान छल।

राजा ओहि शय्यापर अधलेटे भेलाह। भूमिपर बैसल एक कन्या अपन सदखन धारण करनिहार कटार वक्षमे दबौने, नव कमलक पात जकाँ कोमल हथेलीसँ धीरे-धीरे हुनकर चरण मलि रहल छल। राजा किछु काल विश्राम कएलनि आ ओहि समय उपस्थित रहबाक योग्य राजा, मन्त्री आ मित्रसभक संग अनेक विषयपर वार्ता करैत रहलाह।

वैशम्पायनक वृत्तान्त जनबाक कौतूहल बढ़लापर राजा लगहि उपस्थित द्वारपालिकाकेँ अन्तःपुरसँ ओकरा अनबाक आदेश देलनि। ओ हाथ आ ठेहुन भूमिपर टेकि ‘जे आज्ञा’ कहैत आदेशकेँ माथपर धारण केलक आ तुरन्त पालन केलक। शीघ्रहि वैशम्पायन राजाक समीप आयल; ओकर पिंजड़ा द्वारपालिका उठा कऽ आनलि। संगमे एक वृद्ध घोषक छल—सोनाक दण्डपर टेकने, कनी झुकल, श्वेत वस्त्रधारी, बुढ़ाईसँ रुपह केशक चूड़ा, धीमा चालि आ काँपैत वाणी; पक्षिकुलक प्रति प्रेमक कारण ओ बूढ़ कलहंस जकाँ लगैत छल। हथेली भूमिपर राखि ओ सन्देश देलक—‘महाराज, महारानीसभ निवेदन करैत छथि जे अहाँक आज्ञासँ एहि वैशम्पायनकेँ स्नान कराओल आ भोजन कराओल गेल अछि, आ आब द्वारपालिका एकरा अहाँक चरणमे उपस्थित कएने छथि।’ एतेक कहि ओ हटि गेल। राजा वैशम्पायनसँ पुछलनि—‘एहि बीच मनोनूकल पर्याप्त भोजन कएलह?’ ओ उत्तर देलक—‘महाराज, हम की नहि खएलहुँ! वसन्तक आनन्दमे कोइलीक आँखि जकाँ गुलाबी-नील, सुगन्धित आ मधुर जामुनक रस भरिपेट पीलहुँ। सिंहक नखसँ हाथीक ललाटास्थिसँ निकालल, रक्तसँ भीजल मोती जकाँ चमकैत अनारक दाना फोड़लहुँ। कमलपात जकाँ हरियर आ अङ्गूर जकाँ मधुर पुरान हरड़ मनमाना चोंच मारि खएलहुँ। मुदा आरो की कही? महारानीसभ अपन हाथसँ जे किछु अनेत छथि, से अमृत भऽ जाइत अछि।’ राजा ओकर बात रोकैत कहलनि—‘एखन ई सभ रहए दे। हमर कौतूहल शान्त कर। अपन जन्मक सम्पूर्ण कथा आरम्भसँ कह—कोन देशमे, कोना जन्म भेलह, नाम के देलक? पिता-माता के छलाह? वेदक ज्ञान, शास्त्रक परिचय आ ललित कलाक निपुणता कोना प्राप्त भेल? पूर्वजन्मक स्मृति कोन कारणसँ जागल? ई कोनो विशेष वरदान छल, अथवा केवल पक्षिरूप धारण कऽ छद्मवेशमे रहैत छह? पहिने कतय रहैत छलह? तोहर आयु कतेक अछि? पिंजड़ाक बन्धन, चाण्डाल-कन्याक हाथ पड़ब आ एतय आबब—ई सभ कोना भेल?’ राजाक प्रज्वलित कौतूहलसँ भरल एहन आदरपूर्ण प्रश्न सुनि वैशम्पायन क्षणभर सोचलक आ विनयपूर्वक कहलक—‘महाराज, कथा बहुत लम्बी अछि; तथापि जँ अहाँक इच्छा हो तँ सुनल जाए।’

‘विन्ध्य नामक एक वन अछि, जे पूर्व आ पश्चिम समुद्रक तटकेँ आलिङ्गन करैत आ पृथ्वीक करधनी जकाँ मध्यदेशकेँ सुशोभित करैत अछि। जङ्गली हाथीक मदजलसँ सिंचित वृक्षसभ ओकर शोभा बढ़बैत अछि; हुनकर शिखरपर श्वेत पुष्पक ढेरी आकाश धरि उठि तारासभसँ स्पर्धा करैत अछि। वसन्तक उल्लासमे मछलीमार पक्षिसभ द्वारा चोंच मारल मरिचक वृक्ष डाढ़ि पसारैत अछि; नव हाथीसँ रौंदल तमालक डाढ़ि सुगन्ध भरि दैत अछि; मदिरासँ लाल मलयदेशीय स्त्रीक कपोल जकाँ वर्णबला पल्लव—मानू भ्रमणशील वनदेवीक पएरक महावरसँ गुलाबी भेल हो—छाया पसारैत अछि। सुग्गाक चोंचसँ छेदल अनारक टपकैत रससँ भीजल लतागृह अछि। कतहु चञ्चल बानर कक्कोल-वृक्षसँ फल-पात नोचि धरातल भरि देने अछि; कतहु निरन्तर झड़ैत फूलक पराग छिड़िआयल अछि; कतहु यात्री लवङ्गक डाढ़िसँ शय्या बना रखने अछि; कतहु सुन्दर नारिकेल, केतकी, करीर आ बकुलक घेरा अछि। पानक लतासँ लिपटल सुपारीक वृक्षबला ओ लतागृह एतेक मनोहर अछि जे वनलक्ष्मीक उचित निवास लगैत अछि। घन एलाक वृक्ष वनकेँ अन्हार आ जङ्गली हाथीक मदजल जकाँ सुगन्धित बनबैत अछि। ओतय सय-सय सिंह विचरैत अछि; हाथीक ललाट-मोती जे एखन धरि हुनकर मुँह आ नखमे चिपकल रहैत अछि, ओकर लोभमे आतुर वनवासी मुखियासभक हाथेँ अन्ततः ओसभ मारल जाइत अछि। वन मृत्युक निवास जकाँ भयङ्कर, यमक दुर्ग जकाँ, आ हुनका प्रिय महिषसभसँ भरल अछि। युद्ध-सज्जित सेना जकाँ ओकर बाण-वृक्षपर भौंरा बाणक नोक जकाँ बैसल अछि, आ सिंहक गर्जना आक्रमणक सिंहनाद जकाँ स्पष्ट सुनाइत अछि। गैंडाक सींग दुर्गाक कटार जकाँ भयावह अछि, आ दुर्गा जकाँ वन लाल चन्दनसँ अलंकृत अछि। कर्णीसुतक आख्यान जकाँ ओकर समीपक विशाल, खरहा-विचरित पर्वतमे विपुल, अचल आ शश उपस्थित अछि। कल्पान्तक अन्तिम सन्ध्या जकाँ ओतय नीलकण्ठ शिवक उन्मत्त नृत्यक समान नीलकण्ठ मयूर नाचैत अछि आ आकाश लालिमा सँ फाटि पड़ैत अछि। समुद्रमन्थनक समय जहिना श्री, कल्पवृक्ष आ वारुणी-मदिराक मधुर पान छल, तहिना वन श्री-वृक्ष आ वरुण-वृक्षसँ शोभित अछि। वर्षाक मेघ जकाँ अत्यन्त सघन आ अन्हार, असंख्य सरोवरसँ अलंकृत; चन्द्रमा जकाँ भालुकक निरन्तर आश्रय आ मृगक घर अछि। राजमहल जकाँ चँवर-मृगक पुच्छसँ सजल आ उग्र हाथीक दलसँ सुरक्षित अछि। दुर्गा जकाँ स्वभावसँ दुर्गम आ सिंहविहारिणी अछि। सीता जकाँ कुश धारण करैत आ रात्रिचरक वशमे अछि। प्रेमातुर कन्या जकाँ चन्दन-कस्तूरीक गन्ध धारण कएने आ उज्ज्वल

अगरुक तिलकसँ सजल अछि। विरहिणी नायिका जकाँ अनेक डाढ़िक पवनसँ पङ्खा झोलाइत आ मदनसँ व्याप्त अछि। बालकक गला जकाँ बाधनखक पङ्क्तिसेँ चमकैत आ गैडासँ शोभित अछि। मधुमय पानबला क्रीड़ागृह जकाँ सय-सय मधुमक्खीक छत्ता देखाइत अछि आ फूलसँ पटायल अछि। कतहु पैघ वराहक दाँतसँ पृथ्वीक घेरा उखड़ल अछि—मानू प्रलयक समय महावराहक दाँतपर पृथ्वी-मण्डल उठल हो। कतहु रावणक नगरी जकाँ ऊँच साल-वृक्ष चञ्चल बानरसँ भरल अछि। कतहु नव-विवाहक वेदी जकाँ ताजा कुश, समिधा, फूल, खैर आ पलाशसँ उज्ज्वल अछि। कतहु सिंहक गर्जन सुनि रोमाञ्चित जकाँ काँटा ठाढ़ करैत अछि; कतहु आनन्दोन्मत्त कोइलीक स्वर भरल अछि; कतहु तेज हवामे ताल-पातक ध्वनिसँ उत्तेजित जकाँ गूँजैत अछि; कतहु विधवा कुण्डल त्यागैत हो, एना तालपात झड़ैत अछि; कतहु रणभूमि जकाँ बाण-सदृश सरकण्डासँ भरल अछि; कतहु इन्द्रक देह जकाँ सहस्र नेत्र धारण कएने अछि; कतहु विष्णुक रूप जकाँ तमालक श्यामता अछि; कतहु अर्जुनक रथध्वज जकाँ बानरसँ चिह्नित अछि; कतहु पार्थिव राजाक दरबार जकाँ बाँसक कारण प्रवेश कठिन अछि; कतहु विराटनगर जकाँ कीचक द्वारा रक्षित अछि; कतहु आकाश-लक्ष्मी जकाँ शिकारीसँ खदेड़ल मृगक काँपैत आँखि धारण कएने अछि; कतहु तपस्वी जकाँ वल्कल, झाड़ी, चिथड़ा आ घाससँ युक्त अछि। सप्तपर्णसँ सजल होइतो ओकर पात अनगिनत अछि; तपस्वीसभ द्वारा पूजित होइतो अत्यन्त जड़गली अछि; पुष्पकालमे होइतो सर्वथा निर्मल अछि।’

‘ओहि वनमे विश्वविख्यात एक आश्रम अछि—मानू धर्मक जन्मभूमि। ओहिमे एहन वृक्षसभ शोभैत अछि जिनका लोपामुद्रा अपन सन्तान जकाँ पालने छलीह, अपन हाथसँ जल छिड़कि सींचने आ चारू कात खाधि खोदने छलीह। लोपामुद्रा महातपस्वी अगस्त्यक पत्नी छलीह। इन्द्रक प्रार्थनापर अगस्त्य समुद्रक जल पी लेने छलाह। जखन विन्ध्य पर्वत मेरुसँ स्पर्धा करैत आकाश छुबैत सहस्र विशाल शिखरसँ सूर्यक रथक मार्ग रोकए चाहैत छल आ सभ देवताक विनयक अवहेलना करैत छल, तखन सेहो ओ अगस्त्यक आज्ञा मानलक। ओ अपन जठराग्निसँ वातापि दानवकेँ पचा लेलनि; देव-दानवक मुकुटपर सोनाक आभूषणक नोक हुनकर चरण-धूरिकेँ चुमैत छल; ओ दक्षिण दिशाक ललाट-अलंकार छलाह; आ मात्र अपन हुंकारक बलसँ नहुषकेँ स्वर्गसँ खसा अपन प्रताप प्रकट कएलनि।’

‘लोपामुद्राक पुत्र दृढदस्यु सेहो एहि आश्रमकेँ पवित्र कएने छथि। ओ पलाशक दण्ड धारण करनिहार तपस्वी छलाह; पवित्र भस्मक तिलक लगबैत, कुशक पट्टीक वस्त्र पहिरैत, मुञ्जक मेखला बाँधैत आ कुटी-कुटी भिक्षा माँगैत काल हरियर पातक पात्र हाथमे रखैत छलाह। ओ बहुत समिधा आनैत छलाह, तँ पिता हुनकर उपनाम ‘समिधावाहक’ रखलनि।’

‘कतहु हरियर सुग्गाक झुण्ड आ कतहु कदलीवन एहि स्थानकेँ श्याम बना दैत अछि। चारू कात गोदावरी नदी घेरने अछि; अगस्त्य समुद्र पी लेने छलाह, तखन पतिव्रता पत्नी जकाँ ओ नदी समुद्रक पथक अनुसरण केलक।’

‘ओतहि राम, पिताक वचन निभएबाक लेल राज्य त्यागलापर, महातपस्वी अगस्त्यक अनुसरण करैत सीताक संग पञ्चवटीमे किछु काल सुखपूर्वक रहलाह। लक्ष्मण द्वारा बनाओल रमणीय कुटीमे निवास करनिहार ओ राम रावणक यशोविजयकेँ सदा व्यथित करैत छलाह।’

‘आश्रम बहुत दिनसँ सूना अछि, तथापि एखनो डाढ़िमे कोमलतासँ बैसल श्वेत परेवाक पङ्क्ति एना देखाइत अछि मानू मुनिसभक निर्मल यज्ञधूमक रेखा वृक्षपर चिपकल हो। लताक नव पल्लवमे लालिमा फूटैत अछि, मानू होमक फूल अर्पित करैत सीताक हाथसँ ओ तेज ओकर भीतर सञ्चरित भऽ गेल हो। मुनि द्वारा पीएल आ फेर बाहर निकालल समुद्रक जल मानू आश्रमक चारू कातक विशाल सरोवरसभमे पूरा बाँटि देल गेल अछि। नव पातबला वन चमकैत अछि, मानू रामक अनेक तीक्ष्ण बाणसँ मारल असंख्य राक्षसक रक्तसँ ओकर जड़ सींचल गेल हो आ पलाश एखनो ओहि लाल रङ्सँ रञ्जित हो। सीताक पालल बूढ़ मृग एखनो वर्षामे नव मेघक गम्भीर गर्जना सुनि ब्रह्माण्डक सभ गुहा भेदैत रामक धनुष-टंकार स्मरण करैत अछि। सूना संसार देखैत आ बुढ़ाईसँ अपन सींग झरैत पबैत ओकर आँखि निरन्तर आँसूसँ धुँधला जाइत अछि, आ ओ मुँहमे लेल ताजा घास छोड़ि दैत अछि। ओतहि निरन्तर आखेटमे मारल आन वनमृगसभसँ उकसाओल जकाँ स्वर्णमृग सीताकेँ छललक आ रघुनन्दनकेँ बहुत दूर लऽ गेल। ओतहि सीताक करुण वियोगमे राम आ लक्ष्मण कबन्ध द्वारा पकड़ल गेलाह; सूर्य-चन्द्रक ग्रहण जकाँ ओ दृश्य रावणक मृत्युक सूचना दैत समस्त विश्वमे महान् भय भरि देलक। ओतहि रामक बाणसँ काटल योजनबाहुक भुजा धरातलपर पड़ल देख मुनिसभ डराइत छलाह जे कतहु अगस्त्यक शापसँ नहुषक सर्परूप फेर घुरा तँ नहि आबि गेल। एखनो वनवासी कुटीक भीतर राम द्वारा वियोग-शान्तिक लेल चित्रित सीताकेँ देखैत अछि—मानू पतिक घर देखबाक आकाङ्क्षासँ ओ फेर धरतीसँ प्रकट भऽ रहल होथि।’

‘अगस्त्यक ओहि आश्रमसँ—जकर पुरातन इतिहासक चिह्न एखनो स्पष्ट देखाइत अछि—बेसी दूर नहि पम्पा नामक कमल-सरोवर अछि। समुद्र पी लेबाक कारण क्रुद्ध वरुणक प्रेरणासँ विधाता अगस्त्यसँ स्पर्धा करैत मानू दोसर समुद्र बना कऽ आश्रमक लग राखि देने होथि। प्रलय-दिनमे आठो दिशाक टुकड़ा अलग भऽ गेलापर हुनका जोड़बाक लेल आकाश पृथ्वीपर खसि पड़ल हो, एना ओ सरोवर लगैत अछि। वास्तवमे ई अनुपम जलाशय अछि, जकर गहिराइ आ विस्तार केओ नहि नापि सकैत। एखनो यात्री ओतय चक्रवाकक जोड़ी देखैत अछि; फुलायल कमलक नील आभाससँ हुनकर पाँख नील भऽ गेल अछि, मानू रामक साकार शाप हुनका निगलि लेने हो।’

‘ओहि सरोवरक बाम तटपर, रामक बाणसँ टूटल ताल-वृक्षक झुण्डक लग, एक विशाल प्राचीन शाल्मली-वृक्ष छल। ओकर जड़केँ दिग्गजक सूँढ़ जकाँ एक बूढ़ सर्प सदखन घेरने रहैत छल, तँ एना बुझाइत छल मानू पैघ खाधिसँ वेष्टित हो। ऊँच तना सँ लटकल आ हवामे डोलैत सर्पक केंचुल ओकर ओढ़ना जकाँ छल। आकाशमे दूर-दूर पसरल अनेक डाढ़िसँ ओ दिशामण्डलक माप लेबाक प्रयत्न करैत छल—मानू प्रलय-दिनक उन्मत्त नृत्यमे सहस्र भुजा पसारने,

मस्तकपर चन्द्रमा धारण कएने शिवक अनुकरण करैत हो। अत्यन्त बुढ़ाईक भारसँ ओ सहाराक लेल पवनक काँध धरैत जकाँ छल। समस्त तना ढाँकेने लतासभ बुढ़ापक मोट नस जकाँ बाहर उभरल छल; सतहपर काँटा बुढ़ापक मस्सा जकाँ जुटल छल। समुद्रक जल पी चारू दिससँ आकाश दिस घुरैत घन मेघ ओकर पातकेँ ओससँ भीजाबैत छल, मुदा जलभारसँ थाकि डाढ़िमे पक्षी जकाँ क्षणभर ठहरलोपर ओकर शिखर नहि देखि पबैत छल। असाधारण ऊँचाइक कारण ओ नन्दनवनक शोभा देखबाक लेल एकर अँगुरीपर ठाढ़ जकाँ लगैत छल। ऊपरक डाढ़ि सेमरक रूइसँ उज्जर छल; लोक ओकरा सूर्यक घोड़ासभक मुँहक कोनासँ खसल फेन बुझि सकैत छल—आकाश-पथक श्रमसँ थाकल ओ घोड़ा ऊपरसँ जाइत काल वृक्षक समीप आबैत हो। ओकर जड़ कल्पपर्यन्त टिकनिहार छल। वनहाथी कपोल रगड़ैत, तखन ओतय लागल मदजलपर मत्त भौराक माला चिपकि जाइत; एहि सँ वृक्ष एना लगैत छल मानू लोहेक सिकड़ीसँ अचल बाँधल हो। खोखला तनामे भीतर-बाहर चमकैत भौराक झुण्ड ओकरा सजीव बनबैत छल। पक्षिसभक पाँखक अवतरण ओ एना ग्रहण करैत छल, जहिना दुर्योधन शकुनिक पक्षधरता प्रमाणित करनिहार सङ्केत ग्रहण करैत छल। कृष्ण जकाँ वनमालासँ घेरल आ नव मेघक ढेरी जकाँ आकाशमे उठल देखाइत छल। ई एहन मन्दिर छल जतयसँ वनदेवीसभ समस्त संसारकेँ देखि सकैत छलीह। दण्डकारण्यक राजा, विशाल वृक्षसभक नेता, विन्ध्य पर्वतक मित्र—ओ अपन डाढ़िरूपी भुजासँ समस्त विन्ध्यवनकेँ आलिङ्गन करैत जकाँ छल। डाढ़िक छोर, दरारक मध्य, टहनीक बीच, तनाक गाँठ आ सड़ल छालक छेदमे सुग्गाक झुण्ड घर बना लेने छल। विशाल होबाक कारण ओसभ निडर भऽ सहस्र घोंसला बनौने छल; दुर्गम ऊँचाइक कारण चारू दिशासँ निर्भय आबि बसल छल। बुढ़ाईसँ पात विरल होइतो दिन-राति सुग्गासभक बैठल रहबाक कारण वनराज घन हरियरीसँ भरल देखाइत छल। राति ओसभ अपन-अपन घोंसलामे बितबैत, आ प्रतिदिन उड़िते आकाशमे पङ्क्ति बना दैत छल। आकाशमे ओ पङ्क्तिसभ बलरामक उन्मादमे हल हिलाएलापर छिन्न-भिन्न विस्तृत धाराबाली यमुना जकाँ; स्वर्गीय हाथीसँ उखाड़ि बहा देल गङ्गाक कमलवन जकाँ; सूर्यरथक घोड़ाक प्रभासँ धारदार रेखा पड़ल आकाश जकाँ; चलैत मरकत-फर्श जकाँ; आकाश-सरोवरमे पसरल दीर्घ शैवाल-लता जकाँ देखाइत छल। कदली-पात जकाँ पाँख आकाशक सम्मुख पसारि तीक्ष्ण सूर्यकिरणक भारसँ थाकल दिशासभक मुखपर पड़खा झेलैत छल। स्वर्गमे दूर धरि घासक बाट बना दैत आ विचरण करैत काल इन्द्रधनुषसँ नभकेँ सुशोभित करैत छल। भोजनक बाद घोंसलामे रहल बच्चासभ लग घुरैत। मारल मृगक रक्तसँ लाल बाधनख जकाँ गुलाबी चोंचसँ फलरस आ धानक बालक अनेक स्वादिष्ट कौर खुआबैत; सन्तानक गाढ़ प्रेम हुनकर आन सभ रुचिकेँ दबा दैत छल। फेर बच्चाकेँ पाँखक नीचाँ राखि ओही वृक्षपर राति बितबैत छल।

‘हमर पिता अत्यन्त वृद्ध छलाह आ कठिनतासँ जीवन घिसटैत छलाह। एक पुरान खोखरमे ओ हमर माताक संग रहैत छलाह; भाग्यक विधानसँ हम हुनकर एकमात्र पुत्र भऽ जन्मलहुँ। हमर जन्मक समय प्रसव-वेदनासँ पराजित माता परलोक चलि गेलीह। प्रिय पत्नीकेँ गमएबाक गहन दुःख होइतो सन्तानक प्रेमसँ पिता शोकक तीक्ष्ण वेग रोकलनि आ एकाकी भऽ पूर्णतः हमर पालनमे लगि गेलाह। बुढ़ापक कारण उठाओल पैघ पाँख उड़बाक शक्ति गमा चुकल छल आ काँधसँ ढील लटकल रहैत छल; जखन ओ ओकरा हिलबैत, तँ एना लगैत मानू देहसँ चिपकल पीड़ादायक बुढ़ाईकेँ झाड़ि देबाक प्रयास करैत होथि। पुच्छक बाँचल किछु पाँख चिथड़ा भेल कुश जकाँ टूटल छल। दूर घुमि नहि सकैत छलाह, तथापि आन सुग्गासँ नोचल आ वृक्षक नीचाँ खसल फलक टुकड़ा चुनैत, आन घोंसलासँ खसल धानक बालसँ दाना उठबैत। धानक बाल फोड़ैत-फोड़ैत हुनकर चोंचक नोक टूटल, धार घिसल, आ कठोर शेफालिका-डाँठ जकाँ गुलाबी छल। प्रतिदिन हम जे छोड़ि दैत छलहुँ, ओहि सँ अपन भोजन करैत छलाह।’

‘एक दिन हम आखेटक कोलाहल सुनलहुँ। प्रभातक लालिमासँ रञ्जित चन्द्रमा स्वर्गीय गङ्गाक द्वीपसँ पश्चिम समुद्रक तट दिस उतरि रहल छल—मानू स्वर्गीय कमलवनक मधुसँ पाँख लाल भेल बूढ़ हंस हो। दिशामण्डल फैलि रहल छल आ रङ्कु-मृगक रोम जकाँ श्वेत छल। आकाशक फर्शपर छिड़िआयल फूल जकाँ तारासमूहकेँ सूर्यक दीर्घ किरण झाड़ू जकाँ बुहारि रहल छल; ओ किरण हाथीक रक्तसँ रङ्गल सिंहक अयाल जकाँ लाल अथवा जरैत लाखक डण्डी जकाँ गुलाबी छल। सप्तर्षिमण्डल मानू मानसरोवरक तटसँ उतरि उत्तर दिशामे टिकि प्रभातक पूजा करैत छल। पश्चिम समुद्र अपन तटपर खुलल सीपसँ छिड़िआयल मोतीक ढेरी ऊपर उठा रहल छल—मानू सूर्यक किरणसँ गलल तारा ओतय खसि, जलोढ़ द्वीपक सतह उज्जर कऽ देने हो। वन ओस टपका रहल छल; मयूर जागि गेल छल; सिंह जम्हाइ लैत छल। हथिनीक झुण्ड जङ्गली हाथीकेँ जगा देलक। वन अपन डाढ़िरूपी अञ्जलि ऊपर उठा, पूर्वाचलक शिखरपर टिकैत सूर्य दिस रात्रिक ओससँ भारी परागबला फूलक ढेरी अर्पित करैत छल। आश्रमक यज्ञधूमक रेखा गदहाक रोम जकाँ धूसर, धर्मक पताका जकाँ चमकैत, वनदेवीक निवासबला वृक्षशिखरपर परेवा जकाँ टिकैत छल। प्रभाती हवा बहि रहल छल; रात्रिक अन्तमे थाकल होइते धीरे-धीरे विचरैत छल। फूलक सुगन्धसँ भौराक झुण्डकेँ आनन्दित करैत; खिलल कमलसँ मधु-ओसक वर्षा झरबैत; डाढ़ि हिलबैत नाचैत लताकेँ नृत्य सिखएबाक लेल उत्सुक छल। वनमहिषक जुगालीसँ बनल फेनक बूँद लऽ चलैत; थाकल पर्वतवासीक पसेना सुखबैत; कमल हिला ओसकण संग उड़ा लैत। दिनमे खिलनिहार कमलवनकेँ जगएबाक शुभगीत लेल हाथीक ललाटपर नगाड़ा बनबाक योग्य भौरा एखन बन्द होइत रातिकमलक पाँखुरीमे पाँख अटकल रहने भीतरसँ गुनगुना रहल छल। नोनगर धरातलपर सूतल वनमृगक वक्षमे धूसर चिह्न पड़ल छल। ओ धीरे-धीरे आँखि खोलैत छल; निद्राक अवशेषसँ पुतली एखनो तिरछी, आ शीतल प्रभाती पवनसँ पलक एना अटकल जकाँ मानू गरम लाखसँ जोड़ल हो। वनवासी एम्हर-ओम्हर दौड़ि रहल छल। पम्पा सरोवरक कलहंसक कानप्रिय कोलाहल आरम्भ भऽ गेल। जङ्गली हाथीक कानक सुखद फड़फड़ाहट सुनि मयूर नाचए लागल। क्रमशः सूर्य धीरे-धीरे उदित भेल; मजीठ-वर्ण किरणसँ पम्पाक चारू कात वृक्षशिखरमे घूमैत आ पर्वतशिखरपर ठहरैत छल—मानू आकाशमे प्रवेश करैत सूर्यरूपी हाथीसँ चँवरक ढेरी नीचाँ झुकि रहल हो। सूर्यसँ उत्पन्न नव प्रकाश ताराकेँ भगा कऽ वनपर एना खसल मानू बानरराज फेर ताराकेँ गमा देने हो। प्रभाती सन्ध्या शीघ्र प्रकट भऽ दिनक आठम अंश धरि फैलल, आ सूर्यक उजास निर्मल भऽ गेल।’

‘सुग्गाक सभ दल अपन-अपन इच्छित स्थान दिस उड़ि चुकल छल। घोंसलामे सभ बच्चा चुपचाप बैसल होइतो गहन निस्तब्धताक कारण वृक्ष सूना लगैत छल। पिता अपन घोंसलामे छलाह। हमर पाँख एखन पूरा निकललौ नहि छल, बल सेहो नहि छल; हम हुनकर लग खोखरमे बैसल छलहुँ। अचानक वनमे आखेटक कोलाहल सुनलहुँ। ओ प्रत्येक वनजीवकें भयभीत करैत छल; हड़बड़ीमे उड़ैत पक्षिक पाँखक ध्वनिसँ लम्बा होइत; डरायल हाथीक बच्चाक चीत्कारसँ मिश्रित; हिलल लतासँ विचलित मत्त भौराक गुञ्जारसँ बढ़ैत; थुथुन उठौने घुमैत वराहक आवाजसँ भरल; पर्वत-गुफामे निद्रासँ जागल सिंहक गर्जनसँ फूला उठल। मानू वृक्षकें हिला रहल हो; भगीरथ द्वारा उतारल गङ्गाक प्रचण्ड धाराक कोलाहल जकाँ विशाल छल। वनदेवीसभ भयभीत भऽ ओकरा सुनैत छलीह।’

‘एहन अनजान ध्वनि सुनि बाल्यावस्थाक कारण हम काँपए लगलहुँ। कानक गुहा मानू फाटि जेबाक छल। भयभीत भऽ सोचलहुँ जे लगमे पिता छथि, ओ हमरा बचा सकैत छथि; तँ बुढ़ाईसँ ढील हुनकर पाँखक भीतर घुसि गेलहुँ।’

‘तत्क्षण चारू कात पुकार सुनाइत पड़ल—“एम्हरसँ झुण्डक अगुआ हाथीसँ रौंदल कमलवनक गन्ध अबैत अछि! एम्हरसँ वराहसँ चिबाओल नरकटको गन्ध! एम्हरसँ हाथीक बच्चासँ तोड़ल सुगन्धित रालक तीक्ष्ण सुवास! एम्हरसँ झाड़ि खसाओल सूखल पातक सरसराहट! एम्हरसँ जङ्गली महिषक वज्र-सदृश सींगसँ फोड़ल दीमक-ढेरीक धूर! एम्हर मृगक झुण्ड गेल! एम्हर जङ्गली हाथीक दल! एम्हर वराहक टोली! एम्हर वनमहिषक भीड़! एम्हरसँ मयूर-मण्डलक केकारव! एम्हरसँ तीतरक गुञ्जन! एम्हरसँ मछलीमार पक्षीक पुकार! एम्हरसँ सिंहक नखसँ ललाटास्थि फाटल हाथीक करुण गर्जना! ई ताजा कादोसँ लथपथ वराहक बाट अछि! ई एखनहि खएल घासक रससँ श्याम भेल मृगक जुगालीक फेनक ढेरी अछि! ई बहैत मदजलसँ हाथीक ललाट रगड़लापर छूटल सुगन्धपर चिपकल वाचाल भौराक गुञ्जार अछि! ओ मुरझायल पातपर टपकल रक्तसँ गुलाबी रुरु-मृगक पथ अछि! ओ हाथीक पएमे कुचल वृक्षक पल्लवक ढेरी अछि! ओतय गँडा क्रीड़ा कएने अछि! ओ सिंहक पदचिह्न अछि—हाथीक रक्तरञ्जित मोतीक टुकड़ासँ खुरदुरा, नखक विकराल आकृतिसँ अङ्कित! ओ नवजात हरिणशावकक रक्तसँ लाल धरती अछि! ओ स्वच्छन्द विचरैत झुण्डपति हाथीक मदजलसँ श्याम, विधवाक वेणी जकाँ पथ अछि! सोझाँ जाइत याकक एहि पङ्क्तिक सोझे अनुसरण करू! जतय मृगक गोबर सूखल अछि, वनक ओ भाग तुरन्त घेरू! वृक्षक शिखरपर चढ़ू! एहि दिशामे ताकू! ई आवाज सुनू! धनुष उठाउ! अपन स्थानपर ठाढ़ रहू! कुरुर छोड़ू!” आखेटमे तल्लीन, एक-दोसराकें चिचिया कऽ निर्देश दैत आ वृक्षक खोखरमे नुकायल मनुष्यक दलक कोलाहलसँ वन काँपि उठल।’

‘तखन किछुए कालमे ओ वन चारू कात सँ काँपि उठल। शबरसभक बाण सँ बिद्ध सिंहसभक गर्जना पर्वतक खोहमे टकरा कऽ घुरैत प्रतिध्वनि सँ आरो गम्भीर भऽ गेल छल आ नव तेल लगाओल नगाड़ाक ध्वनि जकाँ प्रचण्ड छल; भयभीत झुंड सँ अलग भऽ एकसरि आगाँ बढ़ैत गजराजसभक कण्ठ सँ मेघ-गर्जनासदृश हुंकार उठैत छल, जाहिमे हुनकर सूँड़िक निरन्तर फटकार घुलल छल; कुरुरसभ जखन एकाएक हरिणसभक अंग नोचि देलक, तखन भय सँ थरथर करैत नेत्रबाली हरिणीसभक करुण चीत्कार उठल; अपन स्वामी आ झुंडक नायकक मृत्यु सँ शोकाकुल हथिनीसभ, बच्चासभ केँ पाछाँ लऽ, कान ठाढ़ कऽ चारू दिस भटकैत आ बेर-बेर कोलाहल सुनबाक लेल ठमकि कऽ, लम्बा विलाप करैत छल; किछुए दिन पहिने जन्मल, भगदड़िमे बिछुड़ल बच्चासभ केँ गर्दिन पसारि ताकैत गँडा-मादासभक डकार गूँजैत छल; गाछक फुनगी सँ उड़ि भ्रमित भऽ इमहर-ओमहर भटकैत पक्षीसभक कलरव पसरल छल; वेग लेल बनल अंगसभक सम्पूर्ण चपलता सँ दौड़ैत मृग-झुंडक असंख्य पए एक्के बेर धरती पर पड़ैत मानू ओकरा कम्पायमान कऽ रहल हो; कान धरि तानल धनुषसभक टंकार, बरसैत बाणसभक बीच अपन प्रियक लेल चीत्कार करैत मादा कुरुर पक्षीसभक स्वरमे मिलि रहल छल; वेग सँ चलैत तलवारक धार वायु केँ चीरैत महिषसभक कठोर काँध पर पड़ि टकराइत छल; आ कुरुरसभक अचानक उठल भौंक वनक प्रत्येक गुप्त कोन धरि पैसि गेल छल।’

‘किछु कालक बाद आखेटक कोलाहल शान्त भऽ गेल आ वन सेहो एना निश्चल भऽ गेल, जेना मन्थन रुकलापर समुद्रक जल स्थिर भऽ जाइत अछि, अथवा वर्षा ऋतु बीतलापर मेघसमूह मौन भऽ जाइत अछि। हमर भय कने घटल आ मनमे कौतूहल जागल। तँ हम पिताक आलिङ्गन सँ कनेक बाहर सरकि, कोटरमे ठाढ़ भऽ गर्दिन पसारलहुँ। बाल्यावस्थाक कारणेँ एखनहुँ भय सँ काँपैत आँखि सँ, ई कोन वस्तु अछि से देखबाक उत्कण्ठामे, हम ओहि दिशा दिस नजरि फेरलहुँ।’

‘हम अपन सोझाँ शबरसभक विशाल सेना केँ वन सँ बाहर अबैत देखलहुँ। ओ अर्जुनक सहस्र भुजा सँ मथल नर्मदाक प्रवाह जकाँ छल; पवन सँ हिलैत तमालवन जकाँ; कृष्णपक्षक सभ राति केँ एक ठाम समेटि देल गेल हो तकरा जकाँ; भूकम्प सँ काँपैत अञ्जनक ठोस स्तम्भ जकाँ; सूर्यक किरण सँ विचलित अन्हारक उपवन जकाँ; विचरैत मृत्युदूतसभ जकाँ; नरक फोड़ि ऊपर उठि आयल राक्षस-लोक जकाँ; एकत्रित दुष्कर्मसभक भीड़ जकाँ; दण्डकारण्यवासी असंख्य मुनिसभक शापसभक यात्रा-दल जकाँ; रामक अविरत बाणवर्षा सँ बिद्ध दूषण आ खरक सम्पूर्ण सेना, जे हुनका प्रति द्वेषक कारण राक्षस बनि गेल हो, तकरा जकाँ; कलियुगक समस्त बन्धुत्व एकत्र भऽ गेल हो तकरा जकाँ; पानिमे पैसबाक लेल उद्यत महिष-झुंड जकाँ; पर्वत-शिखर पर ठाढ़ सिंहक पंजाक प्रहार सँ फाटल घनघोर मेघसमूह जकाँ; समस्त रूप-विनाशक लेल उठल उल्का-पुञ्ज जकाँ। ओ सेना वन केँ अन्हार कऽ रहल छल, हजारो-हजारक संख्यामे छल, महाभय उत्पन्न करैत छल आ अनिष्टक सूचना देनिहार राक्षस-समूह जकाँ बुझाइत छल।’

‘ओहि विराट शबर-समूहक बीच हम मातङ्ग नामक शबर-नायक केँ देखलहुँ। ओ एखन नवयुवक छल, मुदा एतेक कठोर जे लोहाक बनल बुझाइत छल; मानू एकलव्य दोसर जन्म लेने हो। उभैत दाढ़ी सँ ओ पहिल मदरेखा सँ कनपटी घेराओल तरुण राजहाथी जकाँ लगैत छल। ओकरा सँ झहरैत श्याम

कमल-सदृश कान्ति यमुनाक जल जकाँ सम्पूर्ण वन भरि रहल छल। काँध पर लटकल, अग्रभागमे घुँघरायल घनगर केश एना छल, जेना हाथीक मद सँ रँगायल अयालबला सिंह। ओकर ललाट चौड़ा आ नाक कठोर, ऊँच आ वक्र छल। एक कानमे पहिरल मणिमय सर्पफणक हलुक गुलाबी किरण सँ ओकर बाम पार्श्व लालिमा लऽ चमकि रहल छल, मानू पातक बिछाओन पर सुतबाक कारण कोमल कोपलक रङ्ग ओकर देहमे लागि गेल हो। नव मारल हाथीक गण्डस्थल सँ लागल सप्तच्छद-पुष्पक सुगन्धयुक्त मद सँ ओकर देह सुवासित छल, मानू कृष्णागरुक लेप हो। ओहि गन्ध सँ मतायल आ आँखि भरमायल भ्रमरसभ ओकर चारु दिस तमाल-डाढ़ि अथवा मयूरपिच्छक छत्र जकाँ उड़ि ओकरा घाम सँ बचा रहल छल। हाथ सँ गाल पोंछलाक कारण पसेनाक रेखा पड़ल छल; से एना बुझाईत छल, जेना ओकर प्रबल भुजा सँ जीतल विन्ध्यवन अपन हिलैत कोमल टहनिसभक रूपमे संकोचपूर्वक ओकरा प्रणाम चढ़ा रहल हो। ओकर कने रक्ताभ आँखि दिशा-दिशा कै लाल करैत, मानू मृगसभक लेल प्रलय-रात्रिक सन्ध्या पसारि रहल हो। ओकर विशाल भुजा ठेहुन धरि पहुँचैत छल, मानू ओकर रचना करैत काल हाथीक सूँड़िक माप लेल गेल हो। काली कै रक्तबलि देबाक हेतु बेर-बेर प्रयुक्त तीक्ष्ण अस्त्रक घाव सँ ओकर काँध खुरदुर छल। आँखिक चारूकातक विस्तृत भाग विन्ध्याचल जकाँ प्रभामय छल; ताहि पर सूखल मृगरक्तक बूँद आ पसेनाक चिह्न एना शोभित छल, जेना गुञ्जाफलमे हाथीक मस्तकक मोती मिला देल गेल हो। निरन्तर कठोर परिश्रम सँ ओकर वक्ष घावक चिह्न सँ भरल छल। ओ किरमिजी रङ्ग सँ लाल रेशमी वस्त्र पहिरने छल, आ ओकर दृढ़ टाङ्गसभ हाथीक मद सँ रँगायल दूटा गज-स्तम्भक उपहास करैत छल। ओकर निष्कारण उग्रताक कारण भयानक ललाट पर तीन रेखाबला भ्रूकुटि मानू तीन ध्वजा बनि गेल छल; एना बुझाईत छल जे महाभक्ति सँ प्रसन्न दुर्गा ओकर सेवक होयबाक चिह्नस्वरूप त्रिशूल अंकित

कऽ

देने

होथि।

ओकर संग सभ रङ्गक कुकुर छल, जे ओकर आत्मीय मित्र जकाँ छल। थाकनि सँ हुनकर सुखायल जीह बहुत दूर धरि बाहर लटकि रहल छल, मुदा स्वाभाविक लालिमा सँ एना बुझाईत छल मानू मृगरक्त टपका रहल हो। खुलल मुँहक उठल ओठक कोन सँ चमकैत दाँत स्पष्ट देखाईत छल, मानू सिंहक अयाल दाँतक बीच फँसल हो। गरा कौड़ीक माला सँ आच्छादित छल आ पैघ वराहसभक दन्त-प्रहार सँ देह कटायल छल। आकारमे छोट होइतहुँ अपार बलक कारण ओसभ बिना अयालक सिंहशावक जकाँ छल। ओसभ हरिणीसभ कै विधवा बनयबामे निपुण छल; हुनकर संग हुनकर विशाल मादासभ सेहो आबि रहल छल, मानू सिंहनीसभ सिंहसभक लेल अभयदान माँगय आबि रहल हो। चारु दिस नाना प्रकारक शबर-दल छल। केओ हाथीक दाँत आ याकक लम्बा रोम लेने छल; केओ कसि कऽ बान्हल पातक मधु-पात्र; केओ सिंह जकाँ हाथीक मस्तक सँ भेटल अनेक मोती मुट्ठीमे भरने छल; केओ राक्षस जकाँ काँच मांसक टुकड़ी; केओ पिशाच जकाँ सिंहक खाल; केओ जैन मुनि जकाँ मयूरपिच्छ; केओ बालक जकाँ कौआक पाँख पहिरने छल। केओ उखाड़ल गजदन्त ढोइत कृष्णक पराक्रमक अभिनय करैत छल; केओ वर्षा-दिन जकाँ मेघवर्ण वस्त्र पहिरने छल। ओकर तलवारक म्यान वनक गँडा जकाँ, आ नवमेघ जकाँ ओकर हाथमे मयूरपिच्छ-सदृश चमकीला धनुष छल। बकासुर जकाँ ओकर अद्वितीय सेना छल; गरुड़ जकाँ ओ अनेक विशाल नागक दाँत उखाड़ने छल; भीष्मक शिखण्डी प्रति वैर जकाँ ओकर मयूर सँ बैर छल; ग्रीष्म-दिन जकाँ ओकरा सदा मृगक पियास लागल रहैत छल; दिव्य प्राणी जकाँ गर्वमे उद्धाम छल; व्यास जहिना योजनगन्धाक पाछाँ गेलाह, तहिना ओ कस्तूरी-मृगक पाछाँ पड़ैत छल; घटोत्कच जकाँ ओकर रूप भयावह छल। उमाक जटा जहिना शिवक चन्द्र सँ शोभित छल, तहिना ओ मयूरपिच्छक नेत्रसदृश चिह्न सँ सजल छल। महावराहक दन्त सँ हिरण्यकशिपुक वक्ष जहिना विदीर्ण भेल, तहिना ओकर छाती पैघ वराहक दन्त सँ फाटल छल। महत्वाकांक्षी पुरुष जकाँ ओकर चारु दिस बन्दीसभक पाँति छल; राक्षस जकाँ ओकरा व्याध प्रिय छल; स्वरग्राम जकाँ निषादसभ सँ घेरायल छल; दुर्गाक त्रिशूल जकाँ महिषरक्त सँ भिजल छल। अवस्था सँ बहुत नव होइतहुँ ओ अनेक प्राणक अन्त देख चुकल छल। असंख्य कुकुर रहितहुँ स्वयं कन्द-मूल-फल पर जीवैत छल। कृष्णवर्ण होइतहुँ दर्शनमे सुन्दर नहि छल। मनमाना विचरितहुँ पर्वतीय दुर्गे ओकर एकमात्र शरण छल। पृथ्वीपति पर्वतक चरणमे निरन्तर रहितहुँ राजा-सेवामे अनभिज्ञ छल।’

‘ओ विन्ध्याचलक पुत्र, मृत्युक अंशावतार, दुष्टताक सहोदर आ कलियुगक साकार सार जकाँ छल। रूप भयङ्कर होइतहुँ स्वाभाविक महत्ता सँ आदरजनक भय जगबैत छल; ओकर देह-संरचना अतुलनीय छल। बादमे हम ओकर नाम जानलहुँ। तखन हमर मनमे ई विचार उठल—“अहो, एहि लोकसभक जीवन कोना मूर्खता सँ भरल अछि आ सज्जनसभ हुनकर आचरणक निन्दा करैत छथि! दुर्गा कै मनुष्यक मांस चढ़ेनाइ हुनकर एकमात्र धर्म; मांस, मदिरा आदिक ओ भोजन सज्जनसभ लेल घृणित; आखेट हुनकर व्यायाम; सियारक चीत्कार हुनकर शास्त्र; उल्लू हुनकर शुभ-अशुभक गुरु; पक्षीक विषयमे दक्षता हुनकर ज्ञान; कुकुर हुनकर अन्तरङ्ग मित्र; निर्जन वन हुनकर राज्य; मदिरापानक गोष्ठी हुनकर उत्सव; क्रूर कर्म करनिहार धनुष हुनकर सखा, आ सर्प जकाँ विष-लिप्त नोकबला बाण हुनकर सहायक। भ्रमित मृग कै आकर्षित करनिहार ध्वनि हुनकर गीत; बन्दी बनाओल पर-स्त्री हुनकर पत्नी; हिंस्र बाघक संग हुनकर निवास; पशुरक्त सँ देवपूजा, मांस सँ यज्ञ, चोरी सँ जीविका; सर्पफण हुनकर आभूषण; हाथीक मद हुनकर अङ्गराग; आ जाहि वनमे ओसभ बसैत अछि तकरा जड़ि-डाढ़ि सहित उजाड़ि देनाइ हुनकर स्वभाव।”

‘हम एहि प्रकार सँ सोचिये रहल छलहुँ कि वनमे भटकैत थाकल शबर-नायक विश्राम करबाक इच्छासँ ओतए आयल। ओ ओही शाल्मली-वृक्षक छाहरिमे धनुष राखि, अनुचरसभ द्वारा शीघ्रतासँ बटोरल टहनीक आसन पर बैसि गेल। दोसर एक तरुण शबर दौड़ैत झील धरि गेल, हाथ सँ जल हिला कऽ कमल-पराग सँ सुवासित पानि आ नव तोड़ल, माटि धोएल उज्ज्वल कमलनाल आनलक। ओ पानि द्रव नीलमणि जकाँ छल; मानू प्रलय-दिनक सूर्यताप सँ आकाशक एक टुकड़ी पधिलि कऽ ओहिमे पड़ल हो; अथवा चन्द्रमण्डल सँ टपकल हो; अथवा पधिलल मोतीक राशि हो; अथवा अत्यन्त निर्मलताक कारण

बरफ बनि जमि गेल हो आ स्पर्शे सँ बरफ सँ भिन्न बुझाईत हो। पानि पीबि शबर-नायक क्रमशः कमलनालसभ केँ एना खा गेल जेना राहु चन्द्रक कलासभ केँ ग्रसैत अछि। थाकनि मिटलापर ओ उठल आ पियास बुझा लेने सम्पूर्ण दलक संग धीरे-धीरे अपन अभीष्ट दिशा दिस चलि गेल। मुदा ओहि बर्बर दलक एक बूढ़ शबर केँ मृग-मांस नहि भेटल छल। मांसक लालसा सँ ओकर मुख पर राक्षसी भाव उभरि आयल, तँ ओ ओहि गाछ लग किछु काल रुकि गेल। शबर-नायकक ओझराइते, रक्तबिन्दु जकाँ गुलाबी आँखि आ ऊपर झुकल पीयर भौंक कारण भयङ्कर देखाइत ओ वृद्ध मानू हमरा सभक प्राण पीबि रहल छल। पक्षी-मांस चखबाक उतावला बाज जकाँ ओ सुग्गासभक खोंताक गिनती करैत बुझाईत छल; गाछक तना सँ ऊपर धरि नजरि दौड़ा कऽ चढ़बाक इच्छा कयलक। ओकरा देखिते सुग्गासभ मानू अन्तिम साँस लऽ लेलक। निर्दयी लेल कठिन की? अनेक ताड़क बराबर ऊँच आ मेघ छुबैत डाढ़िबला ओ गाछ ओ सहजहि चढ़ि गेल, मानू सीढ़ी लागल हो। डाढ़ि-डाढ़ि सँ ओ एक-एक कऽ सुग्गाक बच्चा फल जकाँ तोड़य लागल। केओ उड़बाक योग्य नहि भेल छल; केओ किछुए दिनक, जन्मक गुलाबी रोआँ सँ एना रंगल जे कपासक फूल बुझाईत; ककरो नव फुटैत पाँख नव कमलपात जकाँ; केओ आकक फल जकाँ; लाल होइत चोंचबला केओ धीरे-धीरे खुलैत पातक बीच सँ गुलाबी माथ उठबैत कमलकलीक शोभा धारण कयने छल। किछु बच्चा निरन्तर माथ हिला कऽ मानू ओकरा रोकबाक निष्फल निषेध करैत छल; मुदा ओ हत्यारा सभ केँ मारि-मारी धरती पर फेकि देलक।

‘अचानक अपना पर आयल एहि विशाल, विनाशकारी, निरुपाय आ सभ किछु दबा देनिहार विपत्ति केँ देखि हमर पिता दुगुना काँपि उठलाह। मृत्यु-भय सँ हुनकर पुतली थरथरा कऽ इमहर-ओमहर घूमय लागल; शोक सँ शून्य आ नोर सँ धुँधलायल दृष्टि ओ चारू दिस फेरलनि। तालु सुखा गेल छल, अपन रक्षक कोनो उपाय नहि छल; तथापि भय सँ जोड़ शिथिल भऽ गेल पाँख सँ हमरा झाँपि लेलनि आ सोचय लगलाह जे एहन क्षणमे कोन उपाय काज आबि सकैत अछि। पुत्र-स्नेह सँ पूर्णतः विवश, हमरा कोना बचाओल जाए से बुझि नहि पबैत, की करथि से असमञ्जसमे, ओ हमरा छाती सँ सटा कऽ ठाढ़ रहलाह।

ओ पापी डाढ़ि-डाढ़ि घूमैत कोटरक मुँह धरि आबि गेल। ओ अपन बाम भुजा भीतर पसारलक—पुरान करिया सर्पक देह जकाँ भयङ्कर; हाथ सँ अनेक वराहक काँच चरबीक दुर्गन्ध अबैत; निरन्तर धनुषक डोरी तानबाक कारण बाँहि पर पड़ल धारीसभ सँ मृत्युदण्ड जकाँ। पिता चोंच सँ बेर-बेर प्रहार करैत आ करुण स्वरमे कानैत रहलाह, मुदा ओ हत्यारा हुनका घीचि बाहर निकाललक आ मारि देलक। हम पाँखक भीतर छोट भऽ भय सँ गोल-मटोल सिकुड़ल छलहुँ, आ भाग्यवश हमर नियत आयु एखन शेष छल; तँ ओकर नजरि हमरा पर नहि पड़ल। ओ पिताक गर्दिन मरोड़ि मृत देह नीचाँ फेकि देलक। हम पिताक पएरक बीच गर्दिन घुसौने, हुनकर छाती सँ चुपचाप सटल, हुनके संग नीचाँ खसलहुँ। भाग्यवश जीवबाक किछु आयु शेष छल, तँ पवन सँ बटोरल सुखायल पातक मोट ढेरी पर पड़लहुँ आ अंग नहि टूटल। शबर एखन गाछक फुनगी सँ उतरिये रहल छल। हमरा पिताक संग मरि जेबाक चाही छल, तथापि निर्दयी जकाँ हुनका छोड़ि देलहुँ। अत्यन्त बालक होयबाक कारण परिपक्व अवस्थाक स्नेह-बोध हमरा नहि छल; जन्मजात प्राण-भय पूर्ण रूपेँ हमरा वशमे कऽ लेने छल। खसल पातसँ रङ्ग मिललाक कारण हम प्रायः देखाइ नहि रहल छलहुँ। नव उगैत पाँखक सहारा सँ लड़खड़ाइत, मृत्युक मुँह सँ बचि निकललहुँ एना सोचैत, लगहिक एक विशाल तमाल-वृक्षक जड़ि धरि पहुँचलहुँ। ओकर कोपल शबर-स्त्रीसभक कानक आभूषण बनबाक योग्य छल; ओकर नीलिमा मानू बलरामक गाढ़ नील वस्त्रक रङ्ग सँ विष्णुक शरीरक शोभाक उपहास करैत हो, अथवा यमुनाक निर्मल जलक पट्टीसभ पहिरने हो। जङ्गली हाथीक मद सँ ओकर टहनीसभ सिञ्चित छल; ओ विन्ध्यवनक केशराशिक शोभा धारण कयने छल; डाढ़िक बीच दिनिहिमे अन्हार रहैत; जड़िक चारूकातक भूमि खोह-सदृश आ सूर्यक किरण सँ अस्पृशित छल। हम ओहिमे एना पैसलहुँ जेना अपन पुण्यात्मा पिताक वक्षमे शरण लऽ रहल होइ। शबर नीचाँ उतरि धरती पर छितरायल नन्हका सुग्गासभ केँ बटोरलक, लता सँ बान्हल पातक टोकरीमे जल्दी-जल्दी भरलक, आ अपन नायकक पदचिह्नबला बाट पकड़ि तेज डेग सँ ओहि दिशा दिस चलि गेल। हम एखन जीवनक आशा करय लगलहुँ, मुदा पिताक ताजा मृत्युशोक सँ हृदय सुखा रहल छल; ऊँचाई सँ खसबाक पीड़ा देहमे छल; भय सँ उपजल असह्य पियास समस्त अंग केँ यातना दऽ रहल छल। “दुष्ट एखन किछु दूर चलि गेल होयत,” ई सोचि हम कनेक माथ उठैलहुँ। भय सँ काँपैत आँखि सँ चारू दिस तकैत, घासक पातो हिलिते बुझैत छलहुँ जे ओ पापी घुरि रहल अछि। ओकरा डेग-डेग दूर जाइत देखलाक बाद तमालक जड़ि छोड़ि हम पानि दिस घिसकबाक भारी प्रयत्न कयलहुँ। पाँख एखन पूर्ण नहि उगल छल, तँ डेग दुर्बल छल; बेर-बेर मुँहक बल खसि पड़ैत छलहुँ; एक पाँखक सहारा लैत छलहुँ। भूमि पर घिसकबाक अभ्यास नहि रहने आ परिश्रमक कारण शक्तिहीन भऽ गेलहुँ। प्रत्येक डेगक बाद माथ उठबैत, जोर-जोर सँ हाँफैत, आ आगाँ सरकैत-सरकैत धूरि सँ धूसर भऽ गेलहुँ। मनमे सोचलहुँ—“सचमुच कठिनतम विपत्तिमे सेहो जीव अपन प्राण सँ उदासीन नहि होइत अछि। सृष्टिक सभ प्राणी लेल जीवन सँ प्रिय एहि संसारमे दोसर किछु नहि। हमर पूज्य पिता, जिनकर नाम हुनकर गुणक अनुरूप छल, मरि गेलाह, तैयो हमर इन्द्रिय अक्षत अछि आ हम जीवित छी! धिक्कार अछि हमरा—हम एतेक कठोर, निर्दयी आ कृतघ्न छी! पिताक मृत्युशोक एतेक सहजता सँ सहि कऽ हमर जीवन लज्जाजनक रूपेँ चलिye रहल अछि। हम उपकारक कोनो मान नहि रखैत छी; निश्चय हमर हृदय नीच अछि। माता मरलाक बाद पिता कोना अपन तीव्र शोक रोकने रहथि, आ हमर जन्मदिन सँ वृद्ध होइतहुँ गहन स्नेहवश पालन-पोषणक भारी श्रम केँ तुच्छ मानि सभ प्रकारेँ हमर देखभाल कयलनि—ई सभ सेहो हम बिसरि गेलहुँ। एक क्षणमे हुनकर सम्पूर्ण रक्षा-स्नेह बिसरा

देलहुँ!

“हमर ई प्राण अत्यन्त अधम अछि, जे हमर एतेक उपकारी पिताक पाछाँ तुरन्त नहि निकलि जाइत अछि। निश्चय जीवनक पियास सभकेँ कठोर बना देत अछि; नहि तँ एहि दशामे पानि लेल श्रम करबाक इच्छा हमरा कोना होइत? हमरा बुझाईत अछि जे पानि पीबाक ई विचार हृदयक कठोरते अछि, कारण

पिताक मृत्युशोक केँ हम हलुक मानि रहल छी। झील एखनहुँ दूर अछि। जलदेवीक नूपुर जकाँ कलहंसक स्वर दूरहि सँ अबैत अछि; सारसक ध्वनि धुँधला अछि; दूरी अधिक रहने कमलवनक सुगन्ध कदाचित् हावाक बाट सँ घिसकैत एतए धरि पहुँचैत अछि। मध्याह्न असह्य भऽ गेल; सूर्य आकाशक बीचमे ठाढ़ भऽ निरन्तर अग्निमय धूरि जकाँ प्रचण्ड ताप बरसा रहल अछि आ हमर पियास आरो बढ़ा रहल अछि। गरम, घन धूरिबाली धरती पर चलब कठिन अछि; अत्यधिक पियास सँ थाकल अंग कनेकहुँ आगाँ नहि बढ़ि सकैत अछि; हमरा अपनापर अधिकार नहि; हृदय डूबि रहल अछि; आँखिक सोझाँ अन्हार भऽ रहल अछि। काश, ओ निर्दयी भाग्य आब ओ मृत्यु दऽ दिए, जकर इच्छा करबाक साहस एखनहुँ हमरा नहि होइत अछि।” हम एना सोचिये रहल छलहुँ। झील सँ बेसी दूर नहि जाबालि नामक एक महान तपस्वीक आश्रम छल। हुनकर पुत्र, तरुण मुनि हारीत, स्नान करबाक लेल कमल-सरोवर दिस आबि रहल छलाह। ब्रह्माक पुत्र जकाँ समस्त ज्ञान सँ हुनकर मन निर्मल छल। अपन उमेरक अनेक पवित्र तरुणक संग ओ ओही बाटे आबि रहल छलाह, जतए हम पड़ल छलहुँ। द्वितीय सूर्य जकाँ प्रचण्ड तेजक कारण हुनकर रूप दिस तकब कठिन छल। एना बुझाईत छल जे उदित सूर्य सँ झरि पड़ल होथि; अंग बिजुली सँ गढ़ल आ आकृति पघिलल सोन सँ चित्रित हो। देह सँ फूटैत स्वच्छ पीयर-लाल कान्ति वनाग्नि अथवा नव प्रभातक सूर्यप्रकाशक शोभा प्रकट करैत छल। तपल लोहा जकाँ लाल, अनेक तीर्थक जल-छिड़काव सँ पवित्र, घन जटा काँध पर लटकि रहल छल। खाण्डववन जरयबाक इच्छासँ तरुण ब्राह्मणक छलरूप लेने अग्निदेव जकाँ हुनकर जटाजूट बान्हल छल। दहिना कान सँ उज्ज्वल स्फटिकक जपमाला लटकि रहल छल, मानू आश्रम-देवीक नूपुर हो, अथवा सभ सांसारिक सुख केँ हटयबाक लेल घुमाओल धर्माज्ञाक चक्र। ललाट पर भस्मक त्रिपुण्ड्र मानू त्रिविध सत्यक चिह्न छल। बाम हाथ स्फटिकक कमण्डलु पर राखल छल, जकर गर्दनि सदा ऊपर उठल, मानू स्वर्गक बाट देखबाक लेल आकाश दिस तकैत सारस। काँध सँ लटकल कृष्णमृगचर्म सँ ओ आच्छादित छल; ओकर धूमिल नीलाभ चमक एना बुझाईत छल, जेना तपस्याक पियासमे निगलल घन धुआँ फेर बाहर निकलि आयल हो। बाम काँध पर यज्ञोपवीत एतेक हलुक छल जे नव कमलनालक तन्तु सँ बनल बुझाईत; पवनमे डोलैत ओ मानू मांसहीन पसलीक रेखा गिनि रहल हो। दहिना हाथमे आषाढ़-दण्ड छल, जकर शीर्ष पर शिवपूजाक लेल तोड़ल लता-पुष्प सँ भरल पातक टोकरी राखल छल। आश्रमक एक हरिण हुनका पाछाँ-पाछाँ आबि रहल छल; सींग सँ खोदल स्नान-भूमिक माटि एखनहुँ ओकरा पर लागल छल; मुनिसभक संग पूर्णतः घरेलू बनि गेल छल; चाउरक कौर खाइत छल आ ओकर आँखि चारू दिस कुशक फूल आ लतासभ पर घूमैत छल। वृक्ष जकाँ ओ कोमल वल्कल सँ ढकल छलाह; पर्वत जकाँ मेखला सँ घेरायल; राहु जकाँ बेर-बेर सोमक रस चखने; दिनमे खिलल कमलवन जकाँ सूर्यक किरण पीबैत। नदीक कातक वृक्ष जकाँ हुनकर जटा निरन्तर स्नान सँ पवित्र; तरुण हाथी जकाँ दाँत चन्द्रकमलक पाँखुरीक टुकड़ी जकाँ उज्ज्वल। द्रोणपुत्र जकाँ कृप सदा हुनकर संग; राशिचक्र जकाँ चितकबर मृगक चर्म सँ विभूषित। ग्रीष्म-दिन जकाँ अन्धकाररहित; वर्षा-ऋतु जकाँ कामनाजनित आँखि-अन्हारायल धूरि शान्त कऽ देने; वरुण जकाँ जलमे निवासशील; कृष्ण जकाँ नरकक भय दूर कऽ देने। आरम्भिक सन्ध्या जकाँ भोरक अरुणिमा-सदृश पीयर-लाल आँखि; प्रभात जकाँ नव सूर्यक सोनाली आभा सँ रञ्जित। सूर्यक रथ जकाँ अपन गति पर नियन्त्रण रखने; सुयोग्य राजा जकाँ शत्रुक गुप्त छल निष्फल कऽ देने। समुद्र जकाँ ध्यानक गह्वर सँ कनपटी गंभीर; भगीरथ जकाँ अनेक बेर गङ्गावतरण देख चुकल; भ्रमर जकाँ जल-सिञ्चित वनमे जीवनरसक स्वाद लैत। वनवासी होइतहुँ महान् गृहमे प्रवेश कयने; बन्धनरहित होइतहुँ मोक्षक आकांक्षी; शान्तिकर्ममे तत्पर होइतहुँ दण्ड धारण कयने; सुतल होइतहुँ जाग्रत; दूटा सुस्थिर आँखि रहितहुँ बाम दृष्टिक दोष नष्ट कऽ देने। एहन हारीत स्नान करबाक लेल कमल-सरोवरक कात आबि रहल छलाह।’

‘सज्जनक मन स्वभावहि सँ करुणामय आ दयालु होइत अछि। अतएव हमर अवस्था देखि हारीतक हृदय दया सँ भरि गेल। लग ठाढ़ दोसर तरुण तपस्वी सँ कहलनि—“ई अधुना पाँखबला नन्हका सुग्गा कोनो प्रकारेँ ओहि गाछक फुनगी सँ खसल अछि, अथवा सम्भवतः बाजक मुँह सँ छुटल अछि। बहुत ऊँच सँ खसलाक कारण एखरामे प्राण नाममात्र शेष अछि। आँखि मुनल अछि, बेर-बेर मुँहक बल खसि पड़ैत अछि, जोर-जोर सँ हाँफैत आ चोंच खोलैत अछि, गर्दनि ठाढ़ नहि राखि सकैत अछि। प्राण निकलय सँ पहिने एकरा उठा लिअ; पानि लग लऽ चलू।” एना कहि ओ हमरा झीलक कात लऽ गेलाह। ओतए पहुँचि अपन दण्ड आ कमण्डलु जलक कात राखलनि। जखन हम सभ प्रयत्न छोड़ि देने छलहुँ, तखन स्वयं हमरा हाथमे लऽ माथ उठेलनि आ अँगुरी सँ किछु बूँद पानि पिओलनि। जल छिड़कलाक बाद नव साँस भेटल तखन हमरा कमलपातक छाहरिमे राखि स्वयं स्नान कयलनि। स्नानक बाद रक्तकमल लऽ सूर्यमण्डल केँ अर्घ्य देलनि, आ हमरा संग लऽ आश्रम दिस चलि पड़लाह।’

‘किछुए दूर गेलापर हम फूल-फल सँ भरल घन वनक बीच नुकायल तपोवन देखलहुँ।’

‘ओकर परिसर चारू दिस सँ प्रवेश करैत मुनिसभ सँ भरल छल। हुनका पाछाँ-पाछाँ वेद-पाठक मन्द गुंजन करैत, समिधा, कुश, फूल आ पवित्र माटि लेने शिष्यसभ आबि रहल छल। ओतए घैला भरबाक ध्वनि सुनबाक लेल मयूर उत्सुक रहैत छल। निरन्तर घृताहुति सँ तृप्त अग्नि लहराईत धुआँ मानू सशरीर मुनिवंश केँ देवतासभ धरि पहुँचयबाक लेल स्वर्गक पुल बनि उठल हो। चारू दिस सरोवर छल, जकर तरङ्ग पर तपस्वीसभक स्पर्श सँ मानू निष्कलङ्क भेल सूर्यकिरणक रेखा पसरल छल; हुनकर तपस्या देख्य आयल सत्पत्ति मानू ओहिमे डुबकी लगा रहल होथि; रातिमे खिलल कुमुदीनीवन केँ ओ जल ऊपर उठबैत, मानू ऋषिसभक सम्मानक लेल नक्षत्रसमूह आकाश सँ उतरि आयल हो। पवन सँ झुकल लताक फुनगी आ निरन्तर झरैत फूलबला वृक्ष तपोवन केँ प्रणाम करैत छल। सुखायल धान आ फल-मूलक ढेरी लगायल छल। नव ब्राह्मणकण्ठ सँ वेदमन्त्र गुँजैत छल; सुग्गासभ यज्ञाहुतिक मन्त्र दुहरबैत आ मैना “सुब्रह्मण्य”क आह्वान करैत छल। कुक्कुट पिण्डदानक चाउर चुनैत, कलहंस जङ्गली धान खाइत। भोजनस्थल पवित्र भस्म सँ रक्षित छल। मयूरपिच्छक पङ्खा सँ होमाग्नि प्रज्वलित कयल जाइत, आ आहुतिक सुगन्ध चारू दिस पसरैत छल। अतिथि आदरपूर्वक भोजन पबैत, पितृगण तर्पित

होइत, विष्णु, शिव आ ब्रह्माक पूजा होइत। श्राद्धक विधान, यज्ञविद्या, आचारशास्त्र, पोथी आ तकर अर्थक चर्चा निरन्तर चलैत छल। पर्णकुटी बनाओल जाइत, आँगन गोबर सँ नीपल जाइत, कुटीसभ धो-पोछि स्वच्छ राखल जाइत। कतहु ध्यान, कतहु मन्त्र-जप, कतहु योगाभ्यास, कतहु वनदेवताक लेल बलि चलैत। मुञ्जक मेखला, वल्कल-वस्त्र, समिधा, मृगचर्म, कुश, कमलगट्टा, जपमाला आ बाँसक दण्ड सभ ठाम देखाइत छल। भ्रमणशील संन्यासीसभक स्वागत होइत, घैला जल सँ भरल जाइत, आ सम्पूर्ण आश्रम तप, अध्ययन, सेवा आ पवित्र अनुशासनक जीवन सँ स्पन्दित छल।

‘ओतए मलिनता केवल आहुतिक धुआँमे छल, आचरणमे नहि; मुखक लालिमा सुग्गामे छल, क्रोधी मनुष्यमे नहि; तीखापन घासक पातमे छल, स्वभावमे नहि; चञ्चलता केराक पातमे छल, मनमे नहि; लाल आँखि केवल कोइलीक छल; गर्दनि सँ लिपटनाइ केवल घैलासभक; मेखला बान्हनाइ व्रतमे छल, झगड़ामे नहि; पक्षपात केवल कुक्कुटक पाँख झुकबामे छल, शास्त्रार्थमे नहि; सोमाम्नि चारू दिस दक्षिणावर्त घूमबामे भ्रमण छल, शास्त्रमे भ्रान्ति नहि; आख्यानमे वसुसभक उल्लेख छल, धनक लालसा नहि; रुद्रक लेल जपमाला गिनल जाइत छल, देहक कोनो लेखा नहि; यज्ञक नियममे मुनिसभक केश काटल जाइत छल, मृत्युसँ सन्तानक क्षय नहि; रामायण-पाठ सँ राम केँ प्रसन्न कयल जाइत छल, यौवन सँ स्त्री केँ नहि; झुर्री बुढ़ाई सँ पड़ैत छल, धनक घमण्ड सँ नहि; शकुनिक मृत्यु केवल महाभारतमे; व्यर्थ वायवी गप्प केवल पुराणमे; दाँत केवल बुढ़ाईमे झड़ैत छल; शीतलता केवल उपवनक चन्दन-वृक्षमे; राख भेनाइ केवल अग्निक; गीत सुनबाक प्रेम केवल मृग केँ; नृत्यक चाह केवल मयूर केँ; फण केवल सर्प धारण करैत; फल केवल बानर चाहैत; आ नीचाँ दिस बढ़बाक वृत्ति केवल जड़िमे छल।’

‘ओतए लाल अशोक-वृक्षक छाहरिमे—जे नव चढ़ाओल फूल सँ सुन्दर, ताजा गोबरक लेप सँ पवित्र, आ आश्रमक कन्यासभ द्वारा बान्हल कुश आ वल्कलक पट्टीक माला सँ सजल छल—हम पवित्र जाबालि केँ परम तपस्वी मुनिसभ सँ घेरायल देखलहुँ। ओ दृश्य एना छल, जेना काल युगसभ सँ, प्रलय-दिन सूर्यसभ सँ, यज्ञ तीन अग्नि धारण करनिहार ऋत्विक्सभ सँ, सुवर्णपर्वत श्रेष्ठ पर्वतसभ सँ, अथवा पृथ्वी समुद्रसभ सँ घेरायल हो।’

‘हुनका देखैत हम मनमे सोचलहुँ—“अहो, तपस्याक शक्ति कतेक महान् अछि! हुनकर रूप परम शान्त अछि, मुदा पधिलल सोन जकाँ निर्मल आ बिजुली जकाँ प्रखर तेज सँ आँखिक चमक केँ सेहो परास्त कऽ दैत अछि। सदा प्रशान्त रहितहुँ स्वाभाविक महिमाक कारण पहिल दर्शनहि मे भय-मिश्रित श्रद्धा उत्पन्न करैत अछि। अल्प तपस्या कयने तपस्वीक तेजो सूखल नरकट, कास अथवा फूल पर पड़ल अग्नि जकाँ सहजहि भड़कि उठैत अछि; तखन एहन महात्मासभक तेजक की कहब, जिनकर चरणक सम्मान सम्पूर्ण संसार करैत अछि, जिनकर कलुष तप सँ घिसि गेल अछि, जे दिव्य दृष्टि सँ सम्पूर्ण पृथ्वी केँ हथेलीक आँवला जकाँ देखैत छथि आ सभ पाप धो दैत छथि! महान् ऋषिक नाममात्र सुनलहुँ फलदायक होइत अछि, तखन हुनकर दर्शनक फल कतेक अधिक होयत! धन्य ई आश्रम, जतए ब्राह्मणसभक ई राजा निवास करैत छथि। नहि, धन्य तँ सम्पूर्ण जगत अछि, जकर भूमिपर पृथ्वीक साक्षात् ब्रह्मा

ब्रह्मा	जकाँ	ई	महापुरुष	चलैत	छथि।

“निश्चय एहि मुनिसभक पुण्यक फल सिद्ध भेल अछि, जे दिन-राति दोसर कोनो कर्तव्य नहि राखि हुनकर सेवा करैत, पवित्र आख्यान सुनैत आ दोसर ब्रह्मा बुझि हुनके पर स्थिर दृष्टि रखने रहैत छथि। धन्य सरस्वती, जे हुनकर उज्ज्वल दाँतक घेरा भीतर कमल-सदृश मुखक सान्निध्य निरन्तर पबैत, अथाह गम्भीरता आ करुणाक भरल प्रवाहबला निर्मल मनमे मानसरोवरक हंसिनी जकाँ निवास करैत छथि। ब्रह्माक चारि कमल-मुखमे दीर्घकाल सँ रहैत चारू वेद केँ एतए अपन सर्वश्रेष्ठ आ सर्वाधिक उपयुक्त निवास भेटल अछि। कलियुगक वर्षाकालमे मलिन भऽ गेल समस्त विद्याशास्त्र हुनका लग पहुँचि शरदमे पैसल नदी जकाँ निर्मल भऽ जाइत अछि। निश्चय पवित्र धर्म कलियुगक उपद्रव दबा कऽ एतए घर बना लेने छथि आ आब सत्ययुग केँ स्मरण करबाक चिन्ता नहि करैत छथि। ई महात्मा पृथ्वी पर चलैत छथि, से देखि स्वर्ग सेहो सप्तर्षिक निवासक गर्व नहि करैत अछि। “बुढ़ाई कतेक दुस्साहसी अछि, जे हुनकर घन जटा पर उतरबासँ नहि डरैत—ओ जटा चन्द्रकिरण जकाँ धवल आ प्रलयसूर्यक किरण जकाँ देखबामे कठिन अछि। बुढ़ाई हुनका पर एना पड़ल अछि, जेना फेनकण सँ उज्ज्वल गङ्गा शिवपर, अथवा दूधक आहुति अग्निपर। अनेक हवनक घन धुआँ सँ अन्हार भेल तपोवनक स्वामी एहि मुनिक महिमा सँ भयभीत भऽ सूर्यक किरणो दूरहि रहैत अछि। अग्निसभ सेहो हुनकर प्रेममे मन्त्र सँ पवित्र आहुति स्वीकार करैत अछि; पवन सँ एकठाम जुटल जब्बासभ मानू प्रणाममे जोड़ल हाथ हो। पवन स्वयं संकोच सँ हुनका लग अबैत अछि—आश्रमक मधुर लताफूल सँ सुवासित पट आ वल्कल-वस्त्र केँ मात्र कनेक हिलबैत, अत्यन्त मन्द गति सँ। तत्त्वसभक दिव्य शक्ति सामान्यतः मनुष्यक प्रतिरोध सँ बाहर होइत अछि, मुदा ई पुरुष तँ सर्वाधिक शक्तिशाली तत्त्वसभ सँ सेहो ऊपर उठल छथि। हुनकर चरण-स्पर्श सँ पृथ्वी दूटा सूर्यक प्रकाशमे चमकैत बुझाइत अछि। संसार हुनकर

हुनकर	आधार	पर	दृढ़	ठाढ़	अछि।

“ओ करुणाक प्रवाह छथि; क्षणभङ्गुर संसार-सागरक सेतु; धैर्यक जलक निवास। कामनाक लता सँ भरल उपवन काटनिहार कुठार; सन्तोषामृतक समुद्र; सिद्धिक बाटक पथप्रदर्शक; ओ पर्वत जकर पाछाँ दुर्भाग्यक ग्रह अस्त भऽ जाइत अछि; सहनशीलताक वृक्षक जड़ि; ज्ञानचक्रक नाभि; धर्मध्वजक दण्ड; समस्त ज्ञान उतरबाक पवित्र तीर्थ; तृष्णासागरक बड़वानल; शास्त्र-रत्न परखबाक कसौटी; कामाङ्कुर भस्म करनिहार जब्बा; क्रोधरूपी सर्पक विष उतारनिहार मन्त्र; मोहान्धकार हटाबयबला सूर्य; नरकक फाटकमे सिटकिनी लगाबयबला; सत्कर्मक जन्मभूमि; मङ्गलकर्मक देवालय; वासनाक पतन लेल निषिद्ध भूमि; शुभमार्गक दिशासूचक; पवित्रताक जन्मस्थान; पुरुषार्थचक्रक नेमि; बलक आवास; कलियुगक शत्रु; तपस्याक कोष; सत्यक मित्र; सरलताक मातृभूमि; पुण्यक राशि उपजयबाक स्रोत; ईर्ष्याक लेल बन्द द्वार; विपत्तिक विरोधी। “निश्चय अनादर हुनकामे ठाम नहि पाबि सकैत अछि; ओ अहङ्कार सँ विमुख, नीचता सँ अछूत, क्रोधक दास नहि, सुखक आकर्षण सँ परे छथि। केवल

एहि महात्माक कृपहि सँ आश्रम ईर्ष्यारहित आ वैर-विरोध सँ शान्त अछि। उदार आत्माक शक्ति महान् होइत अछि। एतए चिरकालीन शत्रुता छोड़ि पशुओ शान्त छथि आ आश्रम-जीवनक आनन्द सीखि रहल छथि। धूप सँ थाकल सर्प निर्भय भऽ मयूरक पाँखमे एना पैसि जाइत अछि, जेना ताजा घासमे; शतशः सुन्दर नेत्रविह सँ सजल, मृगक आँखि जकाँ रङ्ग बदलैत ओ पाँख खिलल कमलवन जकाँ अछि। एतए नन्हका हरिण अपन माय कँ छोड़ि अयाल नहि उगल सिंहशावकसभ सँ मित्रता करैत आ सिंहनीक उदार स्तन सँ दूध पीबैत अछि। एतए सिंह आँखि मुनि प्रसन्नतासँ अपन चन्द्रधवल अयाल हाथीक बच्चासभ सँ खिंचबैत अछि, जे ओकरा कमलनाल बुझि लैत अछि। बानरक जाति अपन चञ्चलता छोड़ि स्नान कऽ चुकल बाल मुनिसभक लेल फल आनैत अछि। मदमत्त हाथी सेहो कोमलहृदय भऽ गण्डस्थलक चारु दिस बसल भ्रमरसभ कँ कान फटकारि भगबैत नहि, बल्कि स्थिर ठाढ़ रहैत अछि जाहिसँ ओसभ

मद

पीबि

सकए।

“आरो की कहल जाए? ओतए जड़ बुद्धिहीन वृक्षो—जड़ि आ फल सहित, वल्कल पहिरने, आ ऊपर चढ़ैत यज्ञधूमक रेखा सँ निरन्तर बनैत कृष्णमृगचर्मक उत्तरीय धारण कयने—एहि महात्माक सहतपस्वी जकाँ बुझाइत अछि। तखन चेतनाशील प्राणीसभक विषयमे कहबे की!”

‘हम एना सोचिये रहल छलहुँ कि हारीत हमरा अशोक-वृक्षक छाहरिमे एक ठाम राखलनि। तखन पिताक चरण आलिङ्गन कऽ प्रणाम कयलनि आ हुनकासँ बेसी दूर नहि कुशासन पर बैसि गेलाह।’

‘विश्राम करैत हारीत कँ हमरा दिस तकैत तपस्वीसभ पुछलनि—“ई नन्हका सुग्गा कतए सँ अनलहुँ?” ओ उत्तर देलनि—“हम एतए सँ स्नान करय गेलहुँ तखन कमल-सरोवरक तट पर एक गाछक खोंता सँ खसल ई नन्हका सुग्गा भेटल। गरमी सँ मूर्छित, तपल धूरिमे पड़ल, खसबाक आघात सँ काँपैत, एकरामे कनेक मात्र प्राण शेष छल। ओ गाछ तपस्वी लेल चढ़ब अत्यन्त कठिन छल, तँ एकरा फेर खोंतामे नहि राखि सकलहुँ; दयावश एतए लऽ आयल छी। जाबत एकर पाँख नहि उगैत आ आकाशमे उड़य योग्य नहि होइत, ताबत आश्रमक कोनो गाछक कोटरमे रहए। हमसभ आ बाल तपस्वीसभ एकरा फलरस आ चाउरक कौर आनि खुआयब। निर्बलक रक्षा करब हमरा सभक आश्रम-धर्म अछि। पाँख बढ़ि गेलापर जखन आकाशमे उड़ि सकत, तखन जतए इच्छा हो सेतए चलि जाएत। अथवा सम्भव अछि हमरा सभसँ परिचित भऽ एतहि रहि जाए।” हमर विषयमे ई आ आन बात सुनि पवित्र जाबालि कनेक कौतूहल सँ माथ झुका लेलनि। पवित्र तीर्थजल सँ हमरा शुद्ध करैत होथि एहन अत्यन्त प्रशान्त दृष्टि सँ बहुत काल धरि हमरा तकलनि। फेर मानू पहचानक स्मृति जागि रहल हो, बेर-बेर देखि कहलनि—“ई अपन दुष्कर्मक फल भोगि रहल अछि।” तपस्याक सामर्थ्य सँ दिव्यदर्शी मुनि भूत, वर्तमान आ भविष्य देखैत छथि; सम्पूर्ण जगत हुनकर हथेली पर राखल वस्तु जकाँ स्पष्ट अछि। ओ पूर्वजन्म जानैत, भविष्यक घटना कहैत आ अपन दृष्टिक भीतर आबयबला प्राणीक आयु बतबैत छथि।’

‘ई वचन सुनिते, हुनकर शक्तिसँ परिचित समस्त तपस्वी-सभा कँ ई जानबाक प्रबल कौतूहल भेल जे हमर अपराध की छल, किएक आ कतए कयल गेल, आ पूर्वजन्ममे हम के छलहुँ। सभ मुनि प्रार्थना कयलनि—“भगवन्, कृपा कऽ कहू, ई कोन प्रकारक दुराचरणक फल भोगि रहल अछि? पूर्वजन्ममे ई के छल, पक्षीक रूपमे कोना जन्मल, आ एकर नाम की अछि? अहाँ समस्त आश्चर्यक उद्गम छी; हमर सभक जिज्ञासा शान्त करू।”’

‘सभाक एहन आग्रहपर महामुनि उत्तर देलनि—“एहि आश्चर्यक कथा बहुत लम्बा अछि। दिन प्रायः बीति गेल, स्नानक समय लग अछि आ देवपूजाक घड़ी निकलि रहल अछि। अतएव उठू; प्रत्येक व्यक्ति उचित रीति सँ अपन कर्तव्य पूरा करू। अपराहमे कन्द-मूल-फल भोजन कऽ जखन शान्तिपूर्वक विश्राम करब, तखन हम आरम्भ सँ अन्त धरि सम्पूर्ण कथा कहब—ई के अछि, पूर्वजन्ममे की कयलक आ एहि लोकमे कोना जन्मल। एखन एकरा भोजन दऽ तृप्त करू। जखन हम एकर पूर्वजन्मक समस्त वृत्तान्त कहब तखन निश्चय एकरा सपना देखल दृश्य जकाँ सभ स्मरण भऽ जाएत।” एना कहि ओ उठि गेलाह; मुनिसभक संग स्नान कयलनि आ दैनिक कर्तव्य पूरा कयलनि।’

‘दिन आब समाप्ति दिस बढ़ि रहल छल। मुनिसभ स्नान सँ उठि यज्ञाहुति दऽ रहल छलाह। आकाशक सूर्य एना बुझाइत छल मानू लाल चन्दन सँ लेपल धरती पर राखल आहुति कँ हमर सभक आँखिक सोझाँ ऊपर उठा रहल हो। फेर ओकर अरुण प्रभा म्लान भऽ विलीन भऽ गेल। ऊपर उठल मुख आ सूर्यमण्डल पर स्थिर आँखिबला ऊष्मपा पितृगण, मानू तपस्वी होथि, ओकर तेजोमय रस पीबि लेलनि। सूर्य कबूतरक पएर जकाँ गुलाबी भऽ आकाश सँ धीरे-धीरे उतरि गेल, आ उदित होइत सप्तर्षि कँ किरणक स्पर्श नहि हो, से मानू अपन रश्मि समेटि लेलक। पश्चिमी समुद्रमे प्रतिबिम्बित रक्तिम किरणक जाल सँ ओकर मण्डल जलशायी विष्णुक नाभिकमल जकाँ छल, जे अमृत झहरा रहल हो। आकाश आ कमलवन छोड़ल किरणसभ सन्ध्याकालमे पक्षी जकाँ पर्वत आ वृक्षक फुनगीपर ठहरि गेल। लाल प्रकाशक छोट किछु क्षण लेल वृक्षसभ कँ तपस्वीसभ द्वारा टाँगल रक्तवर्ण वल्कल-वस्त्र पहिरा देने जकाँ लगल। सहस्रकिरण सूर्य अस्त भेलापर पश्चिमी समुद्र सँ गुलाबी मूँगा जकाँ सन्ध्या उभरि आयल। तखन आश्रम शान्त चिन्तनक निवास बनि गेल। एक दिशासँ पवित्र गाइक दूध दुहबाक मधुर ध्वनि उठल; अग्निवेदी पर नव कुश बिछाओल गेल; आश्रम-कन्यासभ दिशादेवताक लेल चाउर आ बलि इमहर-ओमहर छिटका रहल छल। लाल तारासँ सजल सन्ध्या मुनिसभ कँ दिन ढलबाक पीयर-लाल आभामे भकैत आश्रमक लाल-आँखिबाली गाय जकाँ देखाइत छल। सूर्य लुप्त भेलापर कमलवन वियोग-शोकमे दिवसपतिक पुनर्मिलनक आशासँ मानू व्रत धारण कयलक—कलीरूपी पात्र ऊपर उठा लेलक, हंसक सूक्ष्म श्वेत वस्त्र पहिरलक, उज्ज्वल केसरक यज्ञोपवीत बान्हलक आ भ्रमर-मण्डली कँ जपमाला बनौलक। सूर्य पश्चिमी समुद्रमे खसते जलक छोट जकाँ तारकसमूह उछलि आकाश भरि देलक। किछु क्षण लेल तारासँ सजल नभ एना चमकल, मानू सिद्धक कन्यासभ सन्ध्याक सम्मानमे फूल जड़ि देने होथि। मुदा तुरन्तहि सन्ध्याक सम्पूर्ण शोभा, ऊपर उठल मुखसँ मुनिसभ द्वारा आकाश दिस देल

अर्घ्यजल सँ धुलि गेल हो, एना विलीन भऽ गेल। ओकर प्रस्थानक शोकमे रात्रि कृष्णमृगचर्म जकाँ आरो गाढ़ अन्हार पहिरलक—एहन अन्हार जे मुनिसभक हृदय छोड़ि सभ किछु अन्हार कऽ देलक।’

‘सूर्य अस्त भऽ गेल से जानि अमृतमय किरणक स्वामी चन्द्रमा, स्वच्छ प्रकाशक कठोर निर्मलतामे, उज्ज्वल महीन जाल जकाँ श्वेत वस्त्र पहिरने, तारा सहित अपन पत्नीसभक महल सँ निकलि आकाशपर चढ़ल। तमाल-वृक्षक अन्हार सँ रेखाङ्कित, सप्तर्षिमण्डल सँ अधिष्ठित, अरुन्धतीक विचरण सँ पवित्र, आषाढ़ नक्षत्र सँ घेरायल, कोमल आँखिबला श्वेत मृग सहित मूल नक्षत्र देखबैत ओ आकाश साक्षात् दिव्य आश्रम जकाँ छल। हंस जकाँ उज्ज्वल चाँदनी समुद्रसभ केँ भरैत पृथ्वी पर खसल; चन्द्रमा सँ सजल आ ताराक फूटल ठीकरासभ सँ जड़ल आकाश सँ ओ एना उतरि रहल छल, जेना शिवक मस्तक

सँ

गङ्गा।

खिलैत कमल जकाँ उज्ज्वल चन्द्र-सरोवरमे स्थिर मृग देखाइत छल, जे चाँदनीक पानि पीबाक उतावलीमे नीचाँ उतरल आ मानू अमृतक पाँकमे फँसि गेल हो। वर्षाक बाद नव निर्मल सिन्धुवार-पुष्प जकाँ श्वेत समुद्र पर उतरैत हंससभ जकाँ चन्द्रकिरण प्रेमपूर्वक रात्रिकुमुदिनी-सरोवरसभक भ्रमण करैत छल। ओहि समय चन्द्रमण्डल उदयकालक समस्त लालिमा त्यागि चुकल छल—जेना स्वर्गीय गङ्गामे डुबकी लगेलापर ऐरावतक मस्तक सँ सिन्दूर धुलि गेल हो। शीतकिरणक स्वामी धीरे-धीरे आकाशमे बहुत ऊपर चढ़ि गेल आ अपन प्रकाश सँ पृथ्वी केँ चूनक धूरि छिड़कल जकाँ धवल कऽ देलक। रात्रिक आरम्भक हवा बहय लागल; शीत ओस सँ ओकर गति मन्द छल, खिलैत कुमुदिनीक सुगन्ध सँ सुवासित छल, आ निद्रा लग आबय सँ भारी भेल आँखि तथा परस्पर सटल पलकबला, जुगाली आरम्भ कऽ शान्त विश्राममे पड़ैत मृगसभ ओकर स्वागत प्रसन्नतासँ करैत छल।’

‘रात्रिक आध पहर मात्र बीतल छल। भोजनक बाद हारीत हमरा लऽ आन पवित्र मुनिसभक संग अपन पिताक कात गेलाह। जाबालि आश्रमक चाँदनी सँ उज्ज्वल स्थानमे बाँसक चौकीपर बैसल छलाह। जालपाद नामक शिष्य कुश जकाँ उज्ज्वल मृगचर्मक पङ्खा सँ हुनका धीरे-धीरे हवा दऽ रहल छल। हारीत कहलनि—“पिताजी, एहि आश्चर्यक कथा सुनबाक उत्कण्ठासँ समस्त मुनि-मण्डली अहाँक चारू दिस बैसल अछि; ई नन्हका पक्षी सेहो विश्राम कऽ चुकल। अतएव कहू—एकर कर्म की छल, ई के छल, आ दोसर जन्ममे के होयत?” एना कहलापर महामुनि हमरा दिस तकलनि; सोझाँ एकाग्रचित्त सुनबाक लेल बैसल मुनिसभ केँ देखि धीरे सँ कहलनि—“जँ अहाँसभ सुनय चाहैत छी तँ कथा कहल जाए।”’

“उज्जयिनी नामक एक नगरी अछि—पृथ्वीक सर्वाधिक गौरवमय रत्न, सत्ययुगक साक्षात् निवास। तीनू लोकक सृष्टि, पालन आ संहार करनिहार, प्रमथगणक स्वामी महाकाल मानू अपन योग्य निवासक लेल दोसर पृथ्वी जकाँ एकरा रचने छथि। ओतए प्रतिदिन सूर्य केँ महाकालक प्रणाम करैत देखल जाइत अछि; ऊँच उज्ज्वल राजमहलमे समूहमे गीत गबैत स्त्रीसभक मधुर स्वर सुनि ओकर घोड़ा माथ झुका लैत अछि आ पताका महाकालक सोझाँ नतमस्तक भऽ जाइत अछि।’

“ओतए कहियो अन्हार नहि उतरैत अछि, आ राति चक्रवाक-युगल केँ अलग नहि करैत। दीपकक आवश्यकता सेहो नहि पड़ैत, कारण स्त्रीसभक उज्ज्वल मणि-आभूषण सँ राति भोरक सूर्यकिरण जकाँ सोनाली रहैत अछि, मानू प्रेमक ज्बला सँ समस्त संसार प्रज्वलित हो। ओतए अनन्त जीवन केवल रत्नदीपकमे; डोलाइ केवल मोतीक हारमे; स्वरक फेर केवल नगाड़ा आ गीतमे; युगलक वियोग केवल चक्रवाकमे; रङ्गक परीक्षा केवल सोनक टकसालमे; अस्थिरता केवल ध्वजामे; सूर्य-विरोध केवल कुमुदिनीमे; आ धातु नुकौनाइ केवल तलवारक म्यानमे अछि। “आरो की कहब? जिनकर उज्ज्वल चरण केँ देव आ दानवक मणिमय मुकुटक किरण चुमैत अछि; जिनकर विश्व-दाहक अग्निमालासँ ताम्र जटामे स्वर्गीय गङ्गा बाट बिसरि भटकैत छथि; जे अन्धकासुरक शत्रु, परम पवित्र, कैलासक घरक मोह छोड़निहार छथि—ओही महाकाल नामक भगवान एतए अपन निवास

बनौने

छथि।

“एहि नगरमे तारापीड नामक राजा छलाह। नल, नहुष, ययाति, दुन्धुमार, भरत, भगीरथ आ दशरथ जकाँ महान् राजासभक समान छलाह। भुजाबल सँ सम्पूर्ण पृथ्वी जीतलनि, राज्यक तीनू शक्तिक फल पाओलनि। बुद्धिमान्, दृढ़निश्चयी, राजनीतिमे अथक मेधा आ धर्मशास्त्रक गहन अध्ययनसँ ओ प्रकाश आ तेजमे सूर्य-चन्द्रक संग तेसर स्थान धारण करैत छलाह। अनेक यज्ञ सँ हुनकर देह पवित्र भेल छल; ओ समस्त जगतक विपत्ति शान्त कयलनि। वीरसभक सङ्ग्राममे आनन्द पाबयबाली, कमलहस्ता लक्ष्मी कमलवन छोड़ि आ नारायणक वक्षस्थलक गृहसुख केँ तुच्छ मानि खुल्लमखुल्ला हुनकासँ लिपटल रहैत छलीह। जेना विष्णुक चरण स्वर्गगङ्गाक स्रोत भेल, तहिना ओ सत्यक स्रोत छलाह, जिनकर सन्तसमुदाय निरन्तर सम्मान करैत छल।’

“समुद्र सँ चन्द्रमा निकलैत अछि, तहिना हुनकासँ यश प्रकट भेल। ओकर तापरहित ज्योति शत्रुसभ केँ दग्ध करैत; स्थिर होइतहुँ सर्वत्र विचरैत; निष्कलङ्क होइतहुँ कमलमुखी शत्रु-विधवासभक कान्ति मलिन करैत; श्वेत होइतहुँ जगत केँ हर्षित बनबैत छल। ओ न्यायके अवतार, विष्णुक साक्षात् प्रतिनिधि आ प्रजाक समस्त दुःखक विनाशक छलाह।’

“जखन ओ अनेक रत्नक किरण सँ फुलायल आ मोतीक गुच्छ सँ लटकल सिंहासनक समीप अबैत छलाह, तखन दृश्य एना होइत छल जेना दिग्गज कल्पवृक्षक कात आबि रहल हो। भ्रमरक भार सँ झुकल लता जकाँ विस्तृत दिशा-दिशा हुनकर महिमाक सोझाँ झुकि जाइत छल; हमरा बुझाइत अछि, इन्द्र सेहो हुनकासँ ईर्ष्या करैत होयत। क्रौञ्च पर्वत सँ हंसक झुंड निकलैत अछि, तहिना हुनकासँ गुणसभक समूह निकलि पृथ्वीतल केँ उज्ज्वल आ सभ मनुष्यक हृदय केँ आनन्दित करैत छल। हुनकर कीर्ति दसू दिशामे घूमैत, जगत केँ अपन प्रतिध्वनि सँ भरैत, देव-दानवक लोक केँ सुन्दर बनबैत छल—मानू मन्दराचल सँ मथल दूधक धाराक अमृतमय मधुर फेनरेखा हो। असह्य तेजक गरमी सँ जरैत होथि एना राजलक्ष्मी एक क्षणो अपन छत्रक छाहरि नहि छोड़ैत

छलीह।

“हुनकर पराक्रमक चर्चा लोक शुभ समाचार जकाँ सुनैत, गुरुक उपदेश जकाँ ग्रहण करैत, मङ्गलसूचक चिह्न जकाँ मूल्यवान् मानैत, मन्त्र जकाँ गुजैत आ पवित्र पाठ जकाँ स्मरण रखैत छल। हुनकर शासनमे पर्वतसभक उड़ान रोकल गेल छल, मुदा विचारक उड़ान स्वतन्त्र छल। पराधीन केवल व्याकरणक प्रत्यय छल, प्रजा कोनो शत्रुसँ भयभीत नहि। हुनकर सोझाँ ठाढ़ होबाक साहस केवल दर्पण करैत छल। दुर्गाक दबाव केवल शिवमूर्ति पर छल। धनुष केवल मेघ धारण करैत छल। उठान केवल पताकाक; झुकाव केवल धनुषक; लक्ष्यभेदन केवल बाँसपर बसल भ्रमरक डंकक। बलपूर्वक भ्रमण केवल उत्सवमे देवमूर्तिक; कारागार केवल कलीमे बन्द फूलक; नियन्त्रण केवल इन्द्रियक। जङ्गली हाथी सीमाक भीतर अबैत छल, मुदा जल-परीक्षासँ केओ फिक्का नहि पड़ैत छल। तीक्ष्णता केवल तलवारक धारमे; अग्नि-सहन केवल तपस्वीमे; तुला पार करब केवल नक्षत्रक; दूषित जल शुद्ध करब केवल अगस्त्यक उदयमे; छोट करब केवल केश आ नखक। मलिन वस्त्र केवल आँधी-वर्षाक दिन आकाश पहिरैत छल। उघाइल केवल रत्न होइत, गुप्त मन्त्रणा नहि। रहस्य केवल धर्मक छल। कुमारक स्तुतिमे वध कयल तारकासुर छोड़ि केओ प्रकाश देखब बन्द नहि करैत। ग्रहणक भय केवल सूर्य केँ। प्रथमजन्मा केँ पार करब केवल चन्द्रमा केँ। ‘अवज्ञाकारी’क चर्चा केवल महाभारतमे सुनल जाइत। दण्ड पकडनाइ केवल वृद्धावस्थामे। बाम वस्तुसँ चिपकल केवल तलवारक म्यान। दानक प्रवाह कतहु नहि रुकैत, केवल हाथीक मदधारा क्षणभर रुकैत। खाली घर केवल पासाक चौखटमे रहैत छल।’

“ओहि राजाक शुकनास नामक एक ब्राह्मण मन्त्री छलाह। हुनकर बुद्धि राज्यक प्रत्येक कार्यपर स्थिर, मन कला आ शास्त्रक गहिराइमे डुबल, आ राजाप्रति दृढ़ स्नेह बाल्यकालहि सँ विकसित छल। राजनीतिशास्त्रक सिद्धान्तमे निपुण, विश्व-शासनक कर्णधार, विशालतम कठिनाइमे सेहो अचल निश्चयबला—ओ धैर्यक दुर्ग, दृढ़ताक आधार, उज्ज्वल सत्यक सेतु, समस्त कल्याणक मार्गदर्शक, सदाचारक संचालक आ सुव्यवस्थित जीवनक नियन्ता छलाह। शेषनाग जकाँ जगतक भार सहैत; समुद्र जकाँ जीवन सँ भरल; जरासन्ध जकाँ युद्ध आ सन्धि रचबामे कुशल; शिव जकाँ दुर्गाक संग स्वाभाविक; युधिष्ठिर जकाँ धर्मक प्रभात। ओ समस्त वेद-वेदाङ्ग जानैत आ राज्यसमृद्धिक सार छलाह। “इन्द्र लेल बृहस्पति, वृषपर्वा लेल शुक्राचार्य, दशरथ लेल वसिष्ठ, राम लेल विश्वामित्र, अजातशत्रु लेल धौम्य, नल लेल दमनक—तहिना तारापीड लेल शुकनास छलाह। ज्ञानक बलपर ओ मानैत छलाह जे लक्ष्मी केँ प्राप्त करब कठिन नहि, चाहे ओ नारायणक वक्षपर विश्राम करैत होथि—ओ वक्ष जे पातालक दानवसभक अस्त्र-धाव सँ भयङ्कर आ निर्दयतासँ आगाँ-पाछाँ घुमाओल मन्दराचलक दबाव सँ कठोर भेल विशाल काँधक समीप अछि। वृक्षक समीप लता अनेक शाखासँ पसरि विजय कयल देशरूपी फल देखबैत अछि, तहिना हुनकर कात ज्ञान विस्तृत भऽ अनेक उपलतासँ राज्य-विजयक फल देखबैत छल। चारू समुद्रक परिधि सँ नापल सम्पूर्ण पृथ्वीपर हजारो गुप्तचरक आबाजाही छल, तैओ प्रत्येक राजाक फुसफुसाहट हुनका अपन महलमे कहल बात जकाँ ज्ञात छल।’

“तारापीड बाल्यावस्थामे ही इन्द्रक हाथीक सूँड़ जकाँ मोट भुजाक बल सँ सातू द्वीप सँ घेरायल सम्पूर्ण पृथ्वी जीत लेने छलाह। साम्राज्यक भार शुकनास नामक ओहि मन्त्रीपर सौँपि, प्रजा केँ पूर्ण सन्तुष्ट कऽ, आब कोनो आन कर्तव्य शेष अछि कि नहि से खोजय लगलाह।’

“शत्रुसभ केँ चूर कऽ देने छलाह, भयक सभ कारण समाप्त छल, आ जगतक कार्यक तनाव कनेक ढील पड़ि गेल छल; तँ ओ अधिकांश समय युवावस्थाक स्वाभाविक आनन्द उपभोग करय लगलाह।’

“राजा युवावस्थाक सुखमे लीन रहलाह आ राज्यकार्य मन्त्रीपर छोड़ने रहलाह; एहि प्रकार किछु समय बीतल। धीरे-धीरे जीवनक प्रायः सभ आनन्द भोगि चुकलाह, केवल अपन पुत्रक मुख देखबाक सुख नहि भेटल। हुनकर अन्तःपुर एहन नरकटवन जकाँ छल जाहिमे फूल मात्र हो, फल नहि। यौवन बीतैत गेल तखन सन्तानहीनतासँ उपजल पछतावा मनमे बढ़ल। इन्द्रियसुखक चाहसँ मन विमुख भऽ गेल। हजारो राजकुमारसँ घेरायल रहितहुँ स्वयं केँ एकाकी, आँखि रहितहुँ अन्धर, आ संसारक आधार होइतहुँ निराधार अनुभव करय लगलाह।’

“ओहि राजाक सर्वसुन्दर आभूषण हुनकर रानी विलासवती छलीह। शिवक जटामे चन्द्रकला, कैटभ-वधकर्ता विष्णुक वक्षपर कौस्तुभक प्रभा, बलरामक देहपर वनमाला, समुद्रक लेल तट, वृक्षक लेल लता, वसन्तक लेल पुष्प-विस्फोट, चन्द्रक लेल चाँदनी, सरोवरक लेल कमलवन, आकाशक लेल तारामाला, मानसरोवरक लेल हंसपङ्क्ति, मलयपर्वतक लेल चन्दनवनक रेखा, शेषनागक लेल मणिमय मुकुट जेहन—तेहने विलासवती अपन स्वामी लेल छलीह। अन्तःपुरमे हुनकर कोनो समकक्ष नहि छल; मानू सम्पूर्ण नारी-सौन्दर्यक मूल स्रोत होथि, तीनू लोकमे आश्चर्य उत्पन्न करैत छलीह।’

“एक दिन संयोगवश राजा हुनकर निवासपर गेलाह। ओतए विलासवती केँ एक भव्य शय्यापर बैसल, अत्यन्त विलाप करैत देखलनि। परिवारक स्त्रीसभ शोकसँ मौन हुनका घेरने छल, चिन्तामे स्थिर दृष्टि रखने छल; कक्षपालसभ दूर ठाढ़, व्याकुल विचारमे आँखि स्थिर कयने प्रतीक्षा करैत; अन्तःपुरक वृद्ध स्त्रीसभ हुनका सान्त्वना देबाक प्रयत्न करैत छल। निरन्तर नोर सँ रेशमी वस्त्र भिजल; आभूषण उतारि राखल; कमल-मुख बाम हथेलीपर टिकल; केश खोलल आ अस्तव्यस्त छल। राजा केँ स्वागत करबाक लेल जखन ओ उठलीह, तखन राजा फेर शय्यापर बैसा देलनि आ स्वयं लग बैसि गेलाह। रोदनक कारण नहि जनैत अत्यन्त भयभीत भऽ, हाथसँ हुनकर गालक नोर पोंछैत कहलनि— “रानी, हृदयमे नुकायल भारी दुःखक भारसँ निःशब्द आ मन्द ई रोदन किएक? अहाँक पलकसँ झरैत नोर मानू मोतीक जाल गाँथि रहल अछि। हे कृशाङ्गी, अहाँ आभूषणविहीन किएक छी? अहाँक पएरपर लाहक धार गुलाबी कमलकलीपर भोरक प्रकाश जकाँ किएक नहि पसरल अछि? प्रेम-सरोवरक जलपक्षीक कलरव जकाँ मधुर झंकारबला मणिमय नूपुर अहाँक कमल-पएरक स्पर्शसँ किएक शोभित नहि? उतारि राखल करधनीक सङ्गीत सँ ई कति

वञ्चित किएक? चन्द्रमापर मृगक चिह्न जकाँ अहाँक वक्षपर चित्रित अलङ्कार किएक नहि? हे सुन्दराङ्गी, शिवक ललाटपर चन्द्रकला केँ स्वर्गीय गङ्गा सजबैत छथि, तहिना ई कोमल गर्दनि मोतीक लड़ सँ किएक नहि सजल? पूर्वमे एतेक प्रसन्न रहनिहार अहाँ नोरक धारसँ धोएल अलङ्कारविहीन मुख व्यर्थ किएक धारण कयने छी? कोमल पाँखुरी जकाँ अँगुरीक गुच्छबला ई हाथ कानक आभूषण बना कऽ किएक उठौने छी, मानू गुलाबी कमल हो? “हे हठिनी, पीयर तिलकविहीन सोझ भौह केँ खोलल केशराशिसँ घेरि किएक उठौने छी? फूलविहीन लहराइट ई केश कृष्णपक्षक गाढ़ अन्हारमे चन्द्रमा हरायल जकाँ हमर आँखि केँ दुःखी करैत अछि। कृपा कऽ अपन दुःखक कारण कहू। ई दीर्घ निःश्वासक आँधी, जाहिसँ वक्षक वस्त्र काँपि रहल अछि, हमर प्रेममय हृदय केँ लाल कोमल लता जकाँ झुका रहल अछि। हमर अथवा अहाँक सेवक-सेविकामे सँ ककरो द्वारा कोनो अपराध भेल अछि? हम अपना केँ सूक्ष्मतासँ जाँचैत छी, मुदा सत्य कहैत छी—अहाँप्रति अपन कोनो त्रुटि नहि देखैत छी। हमर प्राण आ राज्य पूर्णतः अहाँक अछि। हे सुन्दरी, अपन दुःखक कारण कहू।’

“एना कहलापर विलासवती कोनो उत्तर नहि देलीह। तखन राजा परिचारिकासभ दिस घुमि हुनकर अपार शोकक कारण पुछलनि। सदिखन समीप रहनिहारी ताम्बूलवाहिनी मकरिका राजा सँ कहलक—‘स्वामी, अहाँसँ छोटो दोष कोना भऽ सकैत अछि? आ अहाँक उपस्थितिमे अहाँक सेवक वा कोनो आन व्यक्ति अपराध कोना कऽ सकत? महारानीक दुःख ई अछि जे राजासँ हुनकर मिलन सन्तानरहित भऽ निष्फल अछि, मानू राहु ग्रसि लेने हो; एहि पीड़ासँ ओ बहुत कालसँ दुःखी छथि। आरम्भमे महारानी घोर शोकाकुल जकाँ रहैत छलीह। सुतब, स्नान, भोजन, आभूषण पहिरब आदि उचित दैनिक कार्यो परिचारिकासभक बहुत आग्रहपर कठिनतासँ करैत छलीह। पातालक लक्ष्मी जकाँ निरन्तर दैव आ प्रेमदेव केँ धिक्कारैत छलीह। मुदा स्वामीक हृदयक दुःख दूर रखबाक इच्छासँ अपन उदासीक परिवर्तन प्रकट नहि करैत छलीह। “आइ मासक चतुर्दशी छल। ओ पवित्र महाकालक पूजा करय गेलीह। ओतए महाभारत-पाठमे सुनलीह—“सन्तानहीन लेल उज्ज्वल लोक नहि; पुत्र ओ अछि जे सूर्यरहित अन्धकारसँ उद्धार करैत अछि।” ई सुनि महल घुरलीह। आब सेविकासभक विनयपूर्वक आग्रहक बादो भोजनमे रुचि नहि लैत छथि, आभूषण पहिरबामे व्यस्त नहि होइत छथि, हमरा सभ केँ उत्तर देबाक कृपाओ नहि करैत छथि। केवल कानैत छथि, आ निरन्तर बहैत नोरक आँधी सँ मुख मेघाच्छन्न अछि। स्वामी सभ सुनलहुँ; आब उचित निर्णय करू।’ एना कहि मकरिका चुप भऽ गेल। राजा एक लम्बा, तीव्र निःश्वास छोड़ि एहि प्रकार बजलाह —’

““रानी, भाग्य द्वारा निश्चित विषयमे की कयल जा सकैत अछि? आब ई असीम रोदन छोड़ू। देवतासभक कृपा प्रायः हमरा सभपर नहि बरसैत अछि। निश्चय अपन सन्तानक आलिङ्गनरूपी अमृतक आनन्द धारण करब हमर हृदयक भाग्यमे नहि लिखल। पूर्वजन्ममे कोनो महान् पुण्यकर्म नहि कयल गेल होयत, कारण पूर्वजन्मक कर्म मनुष्यक एहि जन्ममे फल दैत अछि; अत्यन्त बुद्धिमानो नियति नहि बदलि सकैत अछि। तथापि एहि मर्त्यजीवनमे जे किछु कयल जा सकैत अछि, से सभ करू। गुरुजनक आरो अधिक सम्मान करू; देवपूजा दुगुनी करू; ऋषिसभक सेवामे अपन सत्कर्म प्रकट करू। ऋषि महान् शक्तिबला देवतास्वरूप छथि; जँ हमसभ सम्पूर्ण सामर्थ्यसँ हुनकर सेवा करब तँ कठिन होइतहुँ हृदयक अभिलाषा पूर्ण करनिहार वरदान देताह। “पुरान कथा अछि जे मगधक राजा बृहद्रथ चण्डकौशिकक तपोबल सँ जरासन्ध नामक पुत्र पओलनि—जे विष्णु केँ सेहो युद्धमे जीतनिहार, पराक्रममे अतुलनीय आ शत्रुसभक मृत्यु छल। दशरथो अत्यन्त वृद्धावस्थामे महान् मुनि विभाण्डकक पुत्र ऋष्यशृङ्गक कृपासँ चारि पुत्र पओलनि, जे नारायणक चारि भुजा जकाँ अजेय आ समुद्रक गहिराइ जकाँ अचल छलाह। एहने अनेक राजर्षि तपस्वीसभ केँ प्रसन्न कऽ पुत्रमुख-दर्शनरूपी अमृत चखबाक सुख पओने छथि। सन्तसभक सम्मान कहियो निष्फल नहि जाइत अछि।”

““आ हम कहिया अपन रानी केँ गर्भ धारण लेल प्रस्तुत देखब—पूर्णिमाक चन्द्र उदय होयबाक अगिला चतुर्दशीक राति जकाँ पीयर आ उज्ज्वल? कहिया हमर पुत्रजन्मक महान् उत्सवक आनन्द सँ लगभग असह्य भार अनुभव करैत परिचारिकासभ उपहारक भरल टोकरी लऽ चलतीह? कहिया पीयर वस्त्र पहिरने, बाहुमे पुत्र धारण कयने रानी हमरा एना आनन्दित करतीह जेना नव उदित सूर्य आ भोरक किरण धारण कयने आकाश? “कहिया हमर पुत्र घुँघरायल केशमे अनेक औषधीय वनस्पति लगौने, तालुपर घीक एक बूँदसँ सिद्ध रक्षाचिह्नस्वरूप राइमे मिलाओल कनेक भस्म, गर्दनिमे हरिद्रासँ पीयर उज्ज्वल डोरा पहिरने, पीठक बल पड़ल दाँतविहीन नन्हका मुँहसँ मुस्कराइत हमर हृदय केँ आनन्द देत? कहिया पीयर रङ्गमे सुनहला चमकैत ओ शिशु, अन्तःपुरक स्त्रीसभक हाथसँ एक सँ दोसरक कात जाएत, सभ लोक द्वारा स्वागत कयल मङ्गलदीप जकाँ हमर आँखिक समस्त शोकान्धकार दूर करत? कहिया दरबारक धूरिसँ धूसर भऽ, हमर हृदय आ आँखिक पाछाँ-पाछाँ चलैत, आँगनमे डगमग डेग दऽ ओकर शोभा बढ़ायत? कहिया ठेहुनमे चलबाक शक्ति विकसित भऽ एक ठामसँ दोसर ठाम जाएत, आ नव सिंहशावक जकाँ स्फटिकक देबालक पाछाँ नुकायल पालतू मृगशावक केँ

पकड़बाक

प्रयास

करत?

“कहिया आँगनमे मनमाना दौड़ैत पालतू हंससभक पाछाँ भागत, अन्तःपुरक नूपुरक झंकार ओकर संग चलत, आ सोनक करधनीक घण्टीक स्वरक पाछाँ दौड़ैत धाय केँ थका देत? कहिया जङ्गली हाथीक क्रीड़ाक अनुकरण करत—गालपर कृष्णागरुसँ चित्रित मदरेखा, मुँहमे पकड़ल घण्टीक ध्वनिसँ उल्लासित, उठल हाथसँ छिटकायल चन्दनधूरिसँ धूसर, आ मोड़ल अँगुरीक इशारापर माथ हिलबैत? कहिया मायकेँ पएर रँगबाक बाद बचल लाहक रस मुट्ठीमे भरि वृद्ध कक्षपालसभक मुखक भेष बदलि देत? कहिया कौतूहलसँ चञ्चल आँखि जड़ाउ फर्शपर झुकौने, लड़खड़ाइत डेगसँ अपन छाहिरिक पाछाँ भागत? कहिया हम सभामण्डपमे ठाढ़ रहब, आ ओ दरबारक बीच घिसकैत आबत; मणिसभक किरणसँ चकित आँखि इमहर-ओमहर घूमत, आ हजार

राजा पसारल भुजासँ ओकर आगमनक स्वागत करताह?

“एहन सैकड़ो अभिलाषाक विचारमे हम राति-राति पीड़ा सहैत छी। सन्तानहीनताक शोक हमरा सेहो दिन-राति अग्नि जकाँ जरबैत अछि। संसार शून्य लगैत अछि, राज्य निष्फल बुझाइत अछि। मुदा ब्रह्माक निर्णयक विरुद्ध हम की कऽ सकैत छी, जकर अपील कतहु नहि? तँ रानी, निरन्तर शोक छोड़ू। हृदय केँ धैर्य आ धर्ममे लगाउ। जे धर्ममे मन स्थिर करैत अछि, ओकरा लग कल्याणक वृद्धि सदा निकट रहैत अछि।”

“एना कहि नव कोपल जकाँ कोमल हाथसँ जल लेलनि आ नोरसँ भीजल, खुलैत कमल जकाँ हुनकर मुख पोंछि देलनि। अनेक स्नेहमय सम्बोधनसँ मधुर, शोक दूर करबाक कौशल आ धर्मोपदेशसँ भरल वचनसँ बेर-बेर सान्त्वना दऽ अन्ततः राजा ओतए सँ चलि गेलाह। हुनकर गेलाक बाद विलासवतीक शोक कनेक शान्त भेल आ आभूषण पहिरब सहित सामान्य दैनिक कार्यमे लगलीह।

“ओहि दिनसँ देवता केँ प्रसन्न करब, ब्राह्मणक सम्मान आ सभ पवित्र व्यक्तिक प्रति श्रद्धामे हुनकर भक्ति निरन्तर बढ़ैत गेल। सन्तानक अभिलाषामे जतए सँ जे उपाय सुनैत छलीह से करैत छलीह; श्रम कतेक पैघ हो, कोनो परवाह नहि। निरन्तर गुग्गुलक धुआँसँ अन्हार दुर्गा-मन्दिरमे उपवास रखि, श्वेत वस्त्रमे निर्मल देह, हरियर घास बिछाओल गदाक शय्यापर सुतैत छलीह। गोशालामे वृद्ध गोपालक पत्नीसभ द्वारा मङ्गलचिह्नयुक्त गाइक अलङ्कार कयल जाइत; सभ प्रकारक रत्नसँ भरल, पीपलक डाढ़ि, विविध फल-फूलसँ सजल आ पवित्र जलसँ पूर्ण सोनक कलशक जल ओहि गाइक देहपर सँ बहा कऽ रानी स्नान करैत छलीह।

“प्रतिदिन उठि ब्राह्मणसभ केँ सभ रत्नसँ सजल सोनक राइ-पात दैत छलीह। कृष्णपक्षक चतुर्दशी राति, चारि बाटक सङ्गमपर, राजा स्वयं जे वृत्त बनौने रहथि तकर बीच ठाढ़ भऽ मङ्गल-स्नानक विधान करैत छलीह; विविध बलिसँ दिशादेवता प्रसन्न कयल जाइत छल। सिद्धसभक पूजास्थलक सम्मान करैत आ लोकविश्वासबला पड़ोसी मातृकादेवीसभक गृहमे जाइत छलीह। प्रसिद्ध सभ नागकुण्डमे स्नान करैत। पीपल आ आन पूज्य वृक्षक दक्षिणावर्त परिक्रमा कऽ पूजा करैत। स्नानक बाद डोलैत कड़कणबला हाथसँ चानीक कटोरामे दही-भातक बलि रखि स्वयं पक्षीसभ केँ दैत। प्रतिदिन दुर्गा केँ प्रचुर मात्रामे भुजल धानक आहुति, पकाओल भात, तिलक मिठाइ, पुआ-पकवान, लेप, धूप आ फूलक बलि चढ़बैत। “सिद्ध नाम धारण करनिहार नग्न भ्रमणशील संन्यासीसभक भिक्षापात्र भरि, मनसँ भूमि पर नतमस्तक भऽ विनय करैत। ज्योतिषीसभक निर्देश केँ बहुत मान दैत; चिह्न-विज्ञानमे निपुण सभ भविष्यवक्ताक कात जाइत; पक्षी-शकुन बुझनिहारसभक पूर्ण सम्मान करैत; पूज्य ऋषिसभक परम्परा सँ चलि आयल सभ गुप्त उपाय स्वीकार करैत। पुत्र-दर्शनक लालसामे उपस्थित ब्राह्मणसभसँ वेदपाठ करबैत; निरन्तर पवित्र कथा सुनैत; भोजपत्रपर पीयर अक्षरमे लिखल मन्त्रसँ भरल नन्हका पेटी संग रखने फिरैत; औषधीय वनस्पतिक माला ताबीज जकाँ बान्हैत। परिचारिकासभो बाहर निकलि बाटक आकस्मिक ध्वनि सुनैत आ ताहिसँ शकुन निकालैत। प्रतिदिन साँझ सियारसभ लेल मांसक लोन्दा फेकबैत। अपन स्वप्नक आश्चर्य पण्डितसभ केँ कहैत आ चौराहापर शिवक लेल बलि चढ़बैत छलीह।”

“एहि प्रकार समय बीतैत रहल। एक बेर रातिक अन्तिम भागमे, जखन आकाश पुरान कबूतरक पाँख जकाँ धूसर छल आ किछुए तारा शेष छल, राजा स्वप्न देखलनि जे श्वेत राजमहलक छतपर विश्राम करैत विलासवतीक मुखमे पूर्ण चन्द्र एना प्रवेश कऽ रहल अछि जेना हाथीक मुँहमे कमलनालक गोला। ओ तुरन्त जागि गेलाह। आनन्दसँ फैलल आँखिक ज्योति सम्पूर्ण निवास भरि रहल छल। उठिते शुकनास केँ बजौलनि आ स्वप्न सुनौलनि। अचानक हर्षसँ भरल शुकनास उत्तर देलनि—“महाराज, हमर सभक आ प्रजाक अभिलाषा अन्ततः पूर्ण भेल। किछु दिनक बाद स्वामी निश्चय पुत्रक कमल-मुख देखबाक सुख पाओत। कारण आइ राति हमहुँ स्वप्नमे देवतासदृश गरिमा आ शान्त मुखबला श्वेतवस्त्रधारी ब्राह्मण केँ मनोरमाक कोरामे मधुबिन्दु बरसाबयबला कमल रखैत देखलहुँ। ओकर सौ उज्ज्वल पसारल पाँखुरी चन्द्रकलासदृश आ हजार कम्पित केसर जटाजूट जकाँ छल। “एखन हमरा सभ केँ भेटैत प्रत्येक शुभ शकुन निकट आबि रहल आनन्दक सूचना दैत अछि। एहि आनन्दक दोसर कारण की भऽ सकैत अछि? रातिक अन्तमे देखल स्वप्न सत्य फल दैत अछि। निश्चय शीघ्र रानी एहन पुत्र जन्म देतीह, जे मान्धाता जकाँ समस्त राजर्षिमे अग्रणी आ सम्पूर्ण जगतक आनन्दक कारण होयत। हे राजन्, शरदमे नव खिलल कमलसँ भरल कमल-सरोवर राजहाथी केँ जहिना आनन्दित करैत अछि, तहिना ओ अहाँक हृदय केँ प्रसन्न करत। ओकर कारण अहाँक राजवंश जगतक भार वहबाक लेल समर्थ होयत आ जङ्गली हाथीक निरन्तर मदधारा जकाँ उत्तराधिकारमे अखण्ड रहत।” “एना बजैत शुकनासक हाथ पकड़ि राजा अन्तःपुरमे प्रवेश कयलनि आ दुनू स्वप्न सुनाकऽ रानी केँ आनन्दित कयलनि। किछु दिनक बाद देवताक कृपासँ विलासवतीक गर्भमे सन्तानक आशा एना प्रकट भेल जेना सरोवरमे चन्द्रमाक प्रतिबिम्ब। ओ एहि कारणेँ आरो तेजस्विनी भऽ गेलीह—नन्दनवनक पङ्क्तिमे कल्पवृक्ष जकाँ, अथवा विष्णुक वक्षपर कौस्तुभमणि जकाँ।”

“एक स्मरणीय दिन साँझ राजा अन्तःपुरक एक मण्डपमे गेलाह। सुगन्धित तेलक प्रचुरतासँ तेज जरैत हजार दीपसँ घेरायल ओ तारामण्डलक बीच पूर्ण चन्द्र जकाँ, अथवा नागराजक हजार मणिमय फणक बीच बैसल नारायण जकाँ लगैत छलाह। राज्याभिषेक पओने किछुए महान् राजा हुनका घेरने छलाह; निज सेवक कनेक दूरीपर ठाढ़ छल। समीप ऊँच आसनपर श्वेत रेशमी वस्त्र पहिरने, अल्प आभूषणबला, समुद्रक गहिराइ जकाँ गम्भीर राजनीतिज्ञ शुकनास बैसल छलाह। बाल्यकालसँ बढ़ल परस्पर विश्वासक पूर्ण सहजतासँ राजा हुनकासँ अनेक विषयपर वार्ता कऽ रहल छलाह। “एही समय रानीक प्रधान परिचारिका कुलवर्धना समीप आयलीह। दरबारक रीति-नीतिमे सदा दक्ष, राजपरिवारक निकटतासँ पूर्ण प्रशिक्षित आ सभ मङ्गलविधानमे निपुण छलीह। ओ राजाक कानमे विलासवतीक समाचार फुसफुसा कऽ कहलीह। कान लेल सर्वथा नवीन ओ वचन सुनिते राजाक अंग मानू

अमृतसँ भीजी गेल। सम्पूर्ण देह रोमाञ्चित भऽ उठल, आनन्दक मदिरा सँ ओ चकित भऽ गेलाह; गालपर मुस्कान फूटल; उज्ज्वल दाँतक चमकक रूपमे हृदयसँ छलकैत सुख चारू दिस छिटका देलनि। काँपैत पुतली आ हर्षक नोरसँ भीजल पलकबाली दृष्टि शुक्रनासक मुखपर जा ठहरल। “शुक्रनास राजा केँ एहन अपार हर्षमे देखलनि जे पहिने कहियो नहि देखल छलाह; कुलवर्धनाक मुखपर सेहो दीप्त मुस्कान छल। समाचार स्वयं नहि सुनलहुँ, मुदा एहि विषयपर निरन्तर विचार करैत रहबाक कारण ओहि समय एतेक आनन्दक दोसर उपयुक्त कारण हुनका नहि सुझल। सभ बुझि गेलाह। आसन राजा लग खिसका कऽ धीमा स्वरमे कहलनि—‘महाराज, ओ स्वप्नमे निश्चय किछु सत्य छल। कुलवर्धनाक आँखि चमकि रहल अछि, आ अहाँक दुनू आँखि महान् आनन्दक कारणक घोषणा कऽ रहल अछि—ओ फैलल अछि, पुतली काँपैत अछि, हर्षाश्रुसँ स्नात अछि; शुभ समाचार सुनबाक उतावलीमे कानक पाल धरि घिसकैत बुझाइत अछि, मानू नीलकमलक कुण्डल बनि गेल हो। हमर उत्कण्ठित हृदय अपन लेल जन्मल एहि उत्सवक समाचार सुनय चाहैत अछि। अतएव स्वामी कहथि—ई कोन समाचार अछि?’

“शुक्रनासक एना कहलापर राजा मुस्कराइत उत्तर देलनि—‘जँ कुलवर्धनाक बात सत्य अछि तँ हमर सभक स्वप्न पूर्ण सत्य अछि; मुदा हमरा विश्वास नहि होइत अछि। एतेक महान् सुख हमर भागमे कोना पड़ि सकैत अछि? एहन शुभ समाचार धारण करबाक योग्य पात्र हम नहि छी। कुलवर्धना सदियन सत्य बजैत अछि, तथापि जखन एहि आनन्द लेल अपन अयोग्यता सोचैत छी तँ बुझाइत अछि जे ओ अपन स्वभाव बदलि लेने अछि। उठू; हम स्वयं रानीक कात जा कऽ पुछब जे ई सत्य अछि कि नहि; तखने निश्चित होयब।’

“एना कहि सभ राजा केँ विदा कयलनि, आभूषण उतारि कुलवर्धना केँ देलनि। उपहार सहित कृपापूर्वक विदा पाबि ओ सोझे ललाट धरतीपर लगा गम्भीर प्रणाम कयलक। राजा उठलाह आ शुक्रनासक संग अन्तःपुर दिस चलि पड़लाह। अपार आनन्दसँ भरल मन हुनका शीघ्रता सँ आगाँ बढ़ा रहल छल; दहिना आँखिक फड़कन हुनका प्रसन्न करैत, मानू पवनसँ हिलैत नीलकमलक पाँखुरीक क्रीड़ा हो। देर रातिक भेटक अनुरूप किछुए सेवक पाछाँ छल। आगाँ चलैत स्त्रीसभक दीपकक ज्योति आँगनक घन अन्हार दूर करैत छल, यद्यपि स्थिर ज्बला पवनमे कनेक काँपैत छल।’

‘बाणभट्ट तखन तारापीडक पुत्रक जन्मक वर्णन करैत छथि। राजाक चन्द्रमासम्बन्धी स्वप्नक कारण बालकक नाम चन्द्रापीड राखल गेल। ओही समय शुक्रनासक पुत्र वैशम्पायनक जन्म सेहो भेल।’

“चन्द्रापीडक चूडाकरणसँ आरम्भ समस्त संस्कार क्रमशः सम्पन्न भेल आ हुनकर बाल्यावस्था बीति गेल। ध्यान भङ्ग नहि हो, एहि हेतु तारापीड नगरक बाहर शिप्रा नदीक कात आध कोस धरि पसरल एक विद्याभवन बनबौलनि। हिमपर्वतक शिखरमाला जकाँ उज्ज्वल ईटक देबालसँ घेरल, देबालक संग-संग चलैत विशाल खाहिसँ सुरक्षित, अत्यन्त दृढ़ द्वारबला छल। प्रवेशक लेल केवल एकटा फाटक खुलल रहैत; समीप घोड़ा आ पालकीक स्थान, नीचाँ व्यायामशाला बनल छल—देवतासभक योग्य प्रासाद।

“राजा सभ विद्याक आचार्य एकत्र करबामे असाधारण प्रयत्न कयलनि। बालक केँ सिंहशावक जकाँ ओहि परिसरमे रखि बाहर निकलनाइ निषिद्ध कयलनि; अधिकांश आचार्यपुत्रक सेवक-दल सँ घेरलनि; बालक्रीडाक सभ आकर्षण हटौलनि आ मन केँ विक्षेपरहित रखलनि। शुभ दिन चन्द्रापीड आ वैशम्पायन दुनू केँ गुरुजनक हाथ सौंपलनि, जाहिसँ समस्त ज्ञान अर्जित करथि। प्रतिदिन प्रातः उठि राजा विलासवती आ किछु सेवकक संग हुनका देखय जाइत छलाह। राजाक अनुशासनसँ मन अविचल आ अध्ययनमे स्थिर चन्द्रापीड गुरुजन द्वारा पढ़ाओल सभ विद्या शीघ्र आत्मसात् कऽ लेलनि। हुनकर असाधारण प्रतिभासँ उत्साहित गुरु हुनकर जन्मजात क्षमता प्रकट करैत गेलाह; कला-विद्याक सम्पूर्ण जगत हुनकर मनमे निर्मल रत्न-दर्पण जकाँ एकत्र भऽ गेल।

“शब्द, वाक्य, प्रमाण, न्याय आ राजधर्ममे सर्वोच्च दक्षता पओलनि; व्यायाम; धनुष, चक्र, ढाल, तलवार, भाला, गदा, परशु आ मुद्गर सहित सभ प्रकारक अस्त्र-शस्त्र; रथ-सञ्चालन आ गजारोहण; वीणा, वंशी, मृदङ्ग, झोंझ आ शृङ्गी सहित वाद्य; भरत आदि द्वारा प्रतिपादित नृत्यविधान आ नारद-प्रणीत सङ्गीतशास्त्र; हस्तिपालन, घोड़ाक आयु-पहिचान आ मनुष्यक लक्षण; चित्रकला, पात काटि अलङ्कार बनब, पोथीक उपयोग आ लेखन; जुआक सभ कला, पक्षीक बोलीक ज्ञान आ ज्योतिष; रत्नपरीक्षा; बढईक काज आ हाथीदाँतक शिल्प; वास्तु, चिकित्सा, यन्त्रविद्या, विषनिवारण, खानकर्म, नदी पार करब, ऊँच-कूद, छल-कौशल; कथा, नाटक, आख्यान, काव्य; महाभारत, पुराण, इतिहास आ रामायण; सभ लिपि, विदेशी भाषा, पारिभाषिक विद्या, यान्त्रिक कला; छन्दशास्त्र आ प्रत्येक आन कला—सभमे पूर्ण निपुणता पओलनि।

“निरन्तर अध्ययनक बीच बाल्यावस्थे सँ भीमसदृश जन्मजात बल हुनकामे प्रकट भऽ जगत केँ आश्चर्यचकित करय लागल। खेलहिमे सिंहशावक बुझि आक्रमण करनिहार तरुण हाथीक कान पकड़ि ओ अंग झुका दैत छलाह, आ ओसभ हिलि नहि सकैत छल। एक तलवार-प्रहारमे ताड़गाछ केँ कमलडाँठ जकाँ काटि दैत। पृथ्वीक राजवंशरूपी वन दाह करैत परशुरामक बाण जकाँ हुनकर बाण केवल सर्वोच्च शिखर विदीर्ण करैत। जे लोहाक गदा दस व्यक्ति मिलि उठा सकैत छल, ताहिसँ ओ अभ्यास करैत छलाह।

“शारीरिक बल छोड़ि सभ गुणमे वैशम्पायन हुनकर लगभग समकक्ष छलाह। गहन विद्वताक कारण चन्द्रापीड हुनकर सम्मान करैत, शुक्रनासक प्रति आदरक कारण अपनत्व रखैत, आ दुनू धूरीमे खेलि एकसंग पैघ भेल छलाह; तँ वैशम्पायन युवराजक प्रधान मित्र, मानू दोसर हृदय आ समस्त गुप्त बातक निवास छलाह। चन्द्रापीड एक क्षणो हुनकाविना नहि रहैत, आ दिन सूर्यक पाछाँ चलनाइ नहि छोड़ैत अछि, तहिना वैशम्पायन एक पलौ चन्द्रापीडक पाछाँ चलनाइ नहि छोड़ैत छलाह।’

“चन्द्रापीड एहि प्रकार समस्त ज्ञान अर्जित कऽ रहल छलाह। एहि बीच तीनू लोक केँ समुद्रमन्थनक अमृतपान जकाँ प्रिय, चन्द्रोदय सँ सन्ध्याक हृदय आनन्दित करनिहार, वर्षा-ऋतुमे इन्द्रधनुषक पूर्ण चाप जकाँ बहुरङ्गी आ क्षणभङ्गुर परिवर्तनशील, कल्पवृक्षपर पुष्प-विस्फोट जकाँ कामदेवक अस्त्र, कमलवनक लेल सूर्योदय जकाँ नित्य नवीन कान्ति प्रकट करनिहार, मयूरपिच्छ जकाँ प्रत्येक ललित गति-क्रीड़ाक लेल तत्पर यौवन-वसन्त हुनकामे प्रकट भेल। स्वभावहि सँ सुन्दर चन्द्रापीडक सौन्दर्य केँ ओ दुगुना फुला देलक। समयक स्वामी कामदेव मानू हुनकर आज्ञा पूरा करबाक लेल सदिखन समीप ठाढ़ रहैत छल। हुनकर वक्ष सौन्दर्य जकाँ विस्तृत भेल; अंग मित्रसभक अभिलाषा जकाँ पूर्णता पओलक; कटि शत्रुसमूह जकाँ क्षीण भेल; देह दानशीलता जकाँ व्यापक; तेज केश जकाँ बढ़ल; भुजा शत्रु-पत्नीसभक वेणी जकाँ आरो-आरो नीचाँ लटकल; आँखि आचरण जकाँ उज्ज्वल; काँध ज्ञान जकाँ विशाल; आ हृदय स्वर जकाँ गम्भीर भेल।”

“यथासमय राजा केँ ज्ञात भेल जे चन्द्रापीड युवावस्थामे प्रवेश कऽ चुकल छथि, समस्त कला पूर्ण कऽ लेने छथि, सभ शास्त्र पढ़ि चुकल छथि आ गुरुजनसँ महान् प्रशंसा पओने छथि। तखन महावीर बलाहक केँ बजा, पैघ घुड़सवार आ पैदल दलक संग अत्यन्त शुभ दिन राजकुमार केँ आनबाक लेल पठौलनि। बलाहक विद्याभवन पहुँचलाह, द्वारपालक सूचना पर भीतर पैसलाह, मुकुटक मणि धरती छुबैत माथ झुका प्रणाम कयलनि, आ राजकुमारक अनुमति सँ पदानुकूल आसनपर एहन आदरसँ बैसलाह मानू राजाक सोझाँ होथि। किछु विरामक बाद चन्द्रापीड लग जा राजाक सन्देश सम्मानपूर्वक देलनि

“राजकुमार, महाराज कहलनि अछि—“हमर अभिलाषा पूर्ण भेल। शास्त्र पढ़ल गेल, समस्त कला सीखल गेल, युद्धविद्याक प्रत्येक शाखामे सर्वोच्च कौशल प्राप्त भेल। सभ गुरु अहाँ केँ विद्याभवन छोड़बाक अनुमति देत छथि। जेना बाड़ासँ बाहर निकलल तरुण राजहाथी, अथवा कला-सम्पूर्ण मण्डल मनमे धारण कयने नव उदित पूर्णचन्द्र, तहिना शिक्षापूर्ण रूप जनता केँ देखाउ। दीर्घकाल सँ दर्शन लेल उत्कण्ठित संसारक आँखि अपन वास्तविक प्रयोजन पूरा करए; समस्त अन्तःपुर अहाँक दर्शनक लालसा करैत अछि। विद्यालयमे निवासक ई दसवाँ वर्ष अछि; छठम वर्षक अनुभव पओने अहाँ प्रवेश कयने छलहुँ। एहि गणनासँ जीवनक ई सोलहम वर्ष अछि।

“अतएव बाहर आवि, दर्शनक अभिलाषी सभ माता केँ दर्शन दऽ, सम्मानयोग्यजन केँ प्रणाम कऽ, आरम्भिक अनुशासन कनेक छोड़ू आ राजदरबारक सुख तथा नवयौवनक आनन्द इच्छानुसार अनुभव करू। सामन्तसभक सम्मान करू; ब्राह्मणसभ केँ आदर दिअ; प्रजाक रक्षा करू; बन्धुजन केँ आनन्दित करू।

“द्वारपर राजा द्वारा पठाओल इन्द्रायुध नामक घोड़ा ठाढ़ अछि—गरुड़ वा पवन जकाँ वेगवान्, तीनू लोकक प्रधान रत्न। पारस देशक राजा, जे एकरा विश्वक आश्चर्य मानैत छल, एहि सन्देशसँ पठौलक—‘समुद्रक जलसँ सोझे उत्पन्न ई श्रेष्ठ अश्व हमरा भेटल; हे राजन्, अहाँक सवारीक योग्य अछि।’ घोड़ाक लक्षण जाननिहारसभ केँ देखाओल गेल तखन ओसभ कहल—‘उच्चैःश्रवामे बताओल सभ चिह्न एहिमे अछि; एकरा समान घोड़ा न पहिने भेल, न भविष्य मे होयत।’ अतएव अहाँक आरोहणसँ एकर सम्मान हो। ई हजार राजकुमार, सभ राज्याभिषिक्त राजाक पुत्र, उच्च प्रशिक्षित, वीर, बुद्धिमान्, गुणसम्पन्न आ प्राचीन वंशक, अहाँक अनुरक्षण लेल पठाओल गेल छथि; सभ घोड़ापर बैसल प्रणामक उत्कण्ठासँ प्रतीक्षा करैत छथि।”

“एना कहि बलाहक चुप भऽ गेलाह। चन्द्रापीड पिताक आज्ञा माथपर धारण कऽ नवमेघ जकाँ गम्भीर स्वरमे कहलनि—‘इन्द्रायुध केँ अनल जाए।’ ओ ओकरा चढ़य चाहैत छलाह।”

“आज्ञा मिलिते इन्द्रायुध अनल गेल। राजकुमार ओ अद्भुत अश्व केँ देखलनि। चारू दिस दू-दू व्यक्ति लगामक गोल भाग पकडने अपन सम्पूर्ण बलसँ ओकरा रोकबाक प्रयास करैत छल। ओ एतेक विशाल छल जे उठाओल हाथ मात्र ओकर पीठ धरि पहुँचैत; मुँहक समान ऊँच आकाश केँ पीबैत बुझाइट। पेटक खोह केँ कम्पायमान कऽ तीनू लोकक गुफा भरि देनिहार हिनहिनाहटसँ मानू गरुड़ केँ कथित वेगपर व्यर्थ भरोसाक लेल धिक्कारैत छल। गति रोकनिहार प्रत्येक बाधापर क्रोधसँ फुँकारैत नासिका सँ, गर्वमे तीनू लोकक माप लैत छल जे एक छलाँगमे पार कऽ सकए। देहपर करिया, पीयर, हरियर आ गुलाबी रेखासँ इन्द्रधनुष जकाँ अनेक रङ्ग छल। बहुरङ्गी झूल ओढ़ल तरुण हाथी जकाँ; कैलासक शिखरमे सींग ठोकबाक धातुधूरिसँ गुलाबी भेल शिवक वृषभ जकाँ; दानवक जमल रक्तक लाल धारीसँ अयाल रंगायल पार्वतीक सिंह जकाँ। “समस्त ऊर्जाक साकार रूप जकाँ, सदा काँपैत नासिकासँ निकलैत ध्वनिमे ओ मानू तीव्र दौड़मे भीतर लेल पवन फेर बाहर उगलि रहल छल। मुँहमे घुमबैत लगामक नोक चबबैत खनखनाहट करैत, ओठसँ उठल फेनकण चारू दिस फेकैत, मानू समुद्ररूपी घरमे पीओल अमृतक घूँट हो। “पहिने कहियो नहि देखल, देवताक योग्य रूप, सम्पूर्ण विश्व-साम्राज्यक उपयुक्त, सभ शुभलक्षणयुक्त आ अश्वाकृतिक पूर्णता धारण कयने इन्द्रायुध केँ देखि, सहज नहि चञ्चल होयबला चन्द्रापीडक हृदयो आश्चर्यसँ स्पर्शित भेल। मनमे विचार उठल—‘सुर-असुर जखन वासुकीक निरन्तर घूमैत देहसँ मन्दराचल घुमा समुद्र मथने छल, तखन एहि अद्भुत अश्व केँ नहि तँ आरो कोन रत्न ऊपर आनने होयत? जँ इन्द्र मेरु जकाँ विशाल एहि पीठपर सवारी नहि कयलक तँ तीनू लोकक स्वामित्वसँ की पओलक? उच्चैःश्रवा पाबि हृदय हर्षित करनिहार इन्द्र केँ समुद्र निश्चय ठकि लेलक! हमरा बुझाइट अछि, ई एखन धरि पवित्र नारायणक दृष्टिमे नहि पड़ल अछि; नहि तँ ओ एखनहुँ गरुड़पर सवारीक मोह नहि छोड़ितथि। “हमर पिताक राजलक्ष्मी स्वर्गराज्यक सम्पदासँ ऊपर अछि, कारण सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमे कठिनतासँ भेटनिहार एहन रत्न एतए सेवामे आबि जाइत अछि। भव्यता आ तेजसँ एकर रूप देवालय जकाँ लगैत अछि; से सत्य बुझि एकर पीठपर चढ़बासँ भय होइत अछि। देवताक योग्य आ विश्वक आश्चर्य एहन रूप

साधारण घोड़ाक नहि भऽ सकैत अछि। मुनिक शापवश देवतासभ अपन देह छोड़ि शापक शर्तसँ प्राप्त दोसर देहमे प्रवेश कयने छथि। पुरान कथा अछि जे महान् तपस्वी मुनि स्थूलशिरा तीनू लोकक भूषण रम्भा नामक अप्सरा केँ शाप देलनि; ओ स्वर्ग छोड़ि घोड़ाक हृदयमे प्रवेश कयलक आ दीर्घकाल धरि मृतिकावतीमे राजा शतधन्वाक सेवामे घोड़ी बनि पृथ्वीपर रहल। एहन अनेक महात्मा मुनिशापसँ महिमा नष्ट भऽ विविध रूपमे जगतमे विचरने छथि। निश्चय ई कोनो श्रेष्ठ सत्ता अछि जे शापक अधीन भेल अछि; हमर हृदय एकर दिव्यता कहैत अछि।’

“एना सोचि ओ चढ़बाक लेल उठलाह। मनहि-मन अश्वक समीप जा प्रार्थना कयलनि—‘हे श्रेष्ठ अश्व, अहाँ जे छी से स्वयं अपार छी! अहाँक जय हो! तथापि अहाँपर चढ़बाक हमर दुस्साहस क्षमा करू। अज्ञात रूपमे उपस्थित देवतासभ केँ सेहो अयोग्य अपमान सहय पड़ैत अछि।’”

“मानू राजकुमारक विचार बुझि इन्द्रायुध कने तिरछा आँखि सँ हुनका तकलक। उछलैत अयालक प्रहारसँ पुतली घुमि आध मुनल छल। दहिना खुरसँ बेर-बेर धरती ठोकलक, जाहिसँ उड़ल धूरि छातीपरक रोम धूसर कऽ देलक। काँपैत नासिकाक फुँकारमे मिलल लम्बा, मधुर, कोमल हिनहिनाहटसँ मानू राजकुमार केँ चढ़बाक निमन्त्रण देलक। सुहावन हिनहिनाहटसँ आमन्त्रित बुझि चन्द्रापीड इन्द्रायुधपर चढ़लाह। चढ़िते सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड केँ एक बिता मात्र मानैत बाहर निकललाह आ एहन विशाल अश्वसेना देखलनि जकर अन्तिम सीमा देखाइ नहि पड़ैत छल।

“धरती तोड़ैत खुरक टाप, मेघसँ खसल पत्थरक वर्षा जकाँ प्रचण्ड, तीनू लोकक गह्वर बहिरा करैत छल; धूरिसँ बन्द नासिकाक हिनहिनाहट आरो तीव्र सुनाइत। ठाढ़ भेल असंख्य भालाक वन आकाश सजा रहल छल; सूर्यक स्पर्शसँ चमकैत डाँटसहित ओ दृश्य डाँठपर उठल नीलकमलक कलीक वनमे आध नुकायल सरोवर जकाँ छल। उठल हजारो छत्र आठू दिशा अन्हार करैत, सम्पूर्ण चापमे चमकैत इन्द्रधनुषबला बहुरङ्गी मेघसमूह जकाँ लगैत छल। घोड़ाक मुँह उछलल फेनकणसँ उज्ज्वल, आ निरन्तर उछल-कूदक लहरियायल पङ्क्ति सँ ओ सेना प्रलयकालीन समुद्रक तरङ्गराशि जकाँ उठि रहल छल। चन्द्रमा उदित होयते समुद्रक लहरि जहिना चञ्चल होइत अछि, तहिना चन्द्रापीडक आगमनपर सभ घोड़ा गतिमान भऽ उठल।

“प्रणाममे पहिल होयबाक उत्कण्ठासँ प्रत्येक राजकुमार जल्दीमे छत्र हटौने नङ्गा माथ, एक-दोसर केँ रौंदैत उद्गम घोड़ा रोकबाक प्रयाससँ थाकल, युवराजक चारू दिस जुटि गेल। बलाहक जखन एक-एकक नाम कहि परिचय करौलनि, तखन सभ गहिरा माथ झुका प्रणाम कयलनि। डोलैत मुकुटक माणिकसँ ऊपर उठैत किरणक रूपमे मानू भक्ति-लालिमा चमकि रहल छल। प्रणामक लेल उठाओल कलियुक्त माथ राज्याभिषेकक कलशजलपर टिकायल कमल जकाँ लगैत छल।

“सभक प्रणाम स्वीकारि चन्द्रापीड, घोड़ापर चढ़ल वैशम्पायनक संग, तुरन्त नगर दिस प्रस्थान कयलनि। हुनका ऊपर सोनक दण्डबला अत्यन्त विशाल छत्र छल—राजलक्ष्मीक निवासयोग्य कमल जकाँ, राजवंशरूपी कुमुदवनक लेल चन्द्रमण्डल जकाँ, अश्वसेनाक प्रवाहमे बनैत द्वीप जकाँ, क्षीरसागर सँ उज्ज्वल भेल वासुकि फणमण्डलसदृश रङ्गबला, अनेक मोतीक लड़सँ मालाबद्ध, ऊपर सिंहक चिह्न अंकित। दुनू कात डोलाओल चामरक पवनसँ कानक फूल नाचि रहल छल। आगाँ दौड़ैत हजारो सेवक—अधिकांश तरुण आ वीर—हुनकर यश गबैत, आ भाट निरन्तर ऊँच स्वरमे मङ्गलश्लोक पढ़ैत कोमल घोष करैत छल—‘दीर्घायु हो, विजय हो!’”

“देहरहित नहि रहल कामदेवक साक्षात् रूप जकाँ ओ नगर दिस बढ़ैत गेलाह। चन्द्रोदय सँ जागल कमलवन जकाँ सम्पूर्ण जनता अपन काज छोड़ि हुनका देखबाक लेल एकत्र भऽ गेल।’

“नगरवासी कहय लगल—‘एहि राजकुमारक सोझाँ कमलमुखी स्त्रीसभ अपन रूपक उपेक्षा करैत अछि, तँ कार्तिकेय केँ “कुमार” नामपर लज्जा होयबाक चाही। निश्चय हमसभ महान् पुण्यक फल पाबि रहल छी, जे हृदयमे उमड़ल प्रेमसँ फैलल आ उत्कण्ठासँ ऊपर उठल आँखि द्वारा एहि देवोपम रूपक दर्शन करैत छी। आइ हमर सभक एहि संसारमे जन्म सफल भेल। तथापि धन्य कृष्णक जय हो, जे चन्द्रापीडक रूपमे नवीन अवतार लेने छथि!’ एहन वचन कहैत नगरवासी हाथ जोड़ि प्रणाम करय लगल।

“चन्द्रापीडक दर्शनक कौतूहलसँ खुलल हजारो झरोखाक कारण नगर स्वयं असंख्य खुलल आँखिक राशि बनि गेल। विद्याभवनसँ समस्त ज्ञानसँ पूर्ण भऽ हुनकर निकलबाक समाचार सुनिते स्त्रीसभ अधूरा काज छोड़ि शीघ्रतासँ घरक छतपर चढ़ि गेलीह। ककरो बाम हाथमे दर्पण छल, तँ पूर्ण चन्द्रमण्डल सँ प्रकाशित पूर्णिमाक राति जकाँ लगैत छलीह। ककरो पएर नव लाहसँ गुलाबी, भोरक सूर्यप्रकाश पी लेने कमलकली जकाँ छल। ककरो उतावलीमे करधनी खसि जमीनपर पड़ल आ कोमल पएर ओकर घण्टीमे फँसि गेल छल; ओ जंजीरसँ रोकल धीरे चलैत हथिनी जकाँ लगैत छलीह। केओ इन्द्रधनुषी वस्त्र पहिरने वर्षा-दिनक शोभा जकाँ छलीह। केओ नखक उज्ज्वल किरणमे खिलैत पएर उठौने, नूपुरक स्वर सँ आकर्षित पालतू कलहंस जकाँ लगैत छलीह।

“केओ हाथमे पैघ मोतीक माला लेने, कामदेवक मृत्युक शोकमे स्फटिकमाला पकड़ने रति जकाँ छलीह। ककरो दुनू स्तनक बीच मोतीक लड़ी खसल छल, तँ पवित्र महीन नदीसँ चक्रवाक-युगल अलग कयल सन्ध्याक शोभा जकाँ लगैत छलीह। ककरो नूपुरक रत्नसँ इन्द्रधनुषी चमक उठैत, मानू प्रेमसँ पालतू मयूर साथ चलि रहल हो। ककरो रत्नमय प्याला आध पीओल छल; गुलाबी फूलसदृश ओठ सँ मानू मधुर अमृत टपका रहल हो। पन्नाक जालीक बीच-बीच सँ देखाइत गोल मुखबाली आन स्त्रीसभ राजकुमार केँ तवैत आकाशमे पसरल खिलैत कमलकलीबला कमलवनक दृश्य उपस्थित करैत छलीह।

“अचानक उतावला गतिसँ आभूषणक झंकार उठल। वीणाक तारपर मधुर प्रहारक ध्वनि ओकरामे मिलल; करधनीक खनखनाहटसँ बजाओल सारसक कलरव; लड़खड़ायल पएरसँ सीढ़ी ठोकलाक मेघगर्जनासदृश ध्वनि सुनि अन्तःपुरमे बन्द मयूरसभक हर्षध्वनि; नवमेघक टक्कर सँ डरि फड़फड़ाइत कलहंसक कोमल गुंजन—सभ मिलि कामदेवक विजयघोषक अनुकरण करैत छल। परस्पर टकरा कऽ तीव्र बजैत मणिमालाक डोरी सुन्दरीसभक कान केँ

मानू बान्हि लैत, आ सम्पूर्ण घरक कोन-कोनमे प्रतिध्वनित होइत छल। “क्षणभरमे कन्यासभक घन भीड़सँ प्रासादसभ मानू स्त्रीक देवालसँ घेरि गेल। लाह-रञ्जित कमलपएर धरतीपर पड़िने भूमि फूलि उठल बुझाइत। सुन्दर देहक प्रवाहसँ नगर चारू दिस लावण्यसँ घेरायल। गोल मुखक समूहसँ आकाश सर्वत्र चन्द्रमय। धूप रोकबाक लेल उठल हाथसभक कारण दिशामण्डल कमलवन। रत्नक असंख्य किरणसँ सूर्यप्रकाश इन्द्रधनुषी वस्त्र पहिरने। उज्ज्वल दृष्टिक लम्बा पङ्क्तिसेँ दिन मानू नीलकमलक पाँखुरीसँ बनल। “स्त्रीसभ स्थिर, कौतूहलसँ फैलल आँखिसँ हुनका तकैत छलीह; चन्द्रापीडक रूप दर्पण, जल अथवा स्फटिक जकाँ हुनकर हृदयमे प्रवेश कऽ गेल। प्रेमक लालिमा भीतर प्रकट होइतहि हुनकर ललित वचन तुरन्त हँसी-मजाक, गोपनीय अपनत्व, भ्रम, ईर्ष्या, उपेक्षा, व्यङ्ग्य, छेड़छाड़, स्नेह वा उत्कण्ठासँ भरि गेल।

आसभ एक-दोसरासँ कहैत छलीह—
 “हे उतावली, हमरा लेल ठहरू! देखिते मातल, अपन आँचर सम्हारू! भोली, मुखपर लटकल लम्बा केश उठा लिअ! चन्द्रकलाबला आभूषण हटाउ! प्रेममे अन्हरायल, अहाँक पएर पूजाक फूलमे फँसल अछि—खसि पड़ब! प्रेमविह्वला, केश बान्हू! चन्द्रापीडक दर्शनमे तल्लीन, करधनी उठा लिअ! दुष्ट, गालपर डोलैत कानक फूल ऊपर करू! निर्दयी, अपन कुण्डल उठा लिअ! यौवनक उतावलीमे अहाँ केँ सभ देखि रहल अछि—वक्ष ढाकू! निर्लज्जे, ढील वस्त्र समेटू! बनावटी भोली, जल्दी आगाँ बढ़ू! जिज्ञासु, राजा केँ फेर एक बेर देखू! अतृप्ते, कतेक काल धरि तकैत रहब? चञ्चलहृदया, अपन घरक लोकक विचार करू! नटखट, आँचर खसि गेल आ सभ उपहास कऽ रहल अछि! प्रेमसँ भरल आँखिबाली, अपन सखीसभ नहि देखैत छी? छलमयी कन्या, कारणहीन हृदययातना लऽ दुःखमे जीयब! बनावटी लज्जाबाली, ई चतुर तिरछी नजरि किएक? निर्भीक भऽ देखू!
 “यौवनदीप्ते, अपन भार हमरा सभपर किएक राखैत छी? क्रुद्धे, आगाँ जाउ! ईर्ष्यालु, झरोखा किएक रोक्कैत छी? प्रेमक दासी, हमर उत्तरीय पूर्णतः बिगाड़ि देलहुँ! प्रेमक निःश्वाससँ मातल, अपने केँ रोकू! संयमहीने, बड़-बुजुर्गक आगाँ किएक दौड़ैत छी? शक्तिदीप्ते, एतेक भ्रमित किएक? मूर्खे, प्रेमज्वरक रोमाञ्च नुका लिअ! दुर्व्यवहारिणी, अपने केँ एना किएक थकबैत छी? चञ्चले, करधनी दबा रहल अछि आ व्यर्थ पीड़ा सहैत छी! अनमनी, घरसँ बाहर छी तैयो अपन ध्यान नहि! कौतूहलमे हरायल, साँस लेब बिसरि गेलहुँ! प्रियसङ्गमक सुखद कल्पनामे आँखि मुनने, खोलू—ओ आगाँ जा रहल छथि! प्रेमबाणक चोटसँ बुद्धिहीन, सूर्यकिरण रोकबाक लेल रेशमी आँचर माथपर राखू! सतीव्रत धारण कयने, देखय योग्य वस्तु नहि देखैत आँखि इमहर-ओमहर घुमबैत छी! अभागी, परपुरुष नहि देखबाक व्रतसँ खसल पड़ल छी! प्रिय सखी, उठू आ ध्वजविहीन, रतिविहीन, साक्षात् उपस्थित मत्स्यध्वज धन्य कामदेव केँ देखू।

“छत्रक नीचाँ मालती-फूलक मुकुट भ्रमरसमूहसँ श्याम हुनकर माथपर एना अछि, जेना राति आबि गेल बुझि चन्द्रकिरणक राशि खसि पड़ल हो। पन्नाक कुण्डलक हरित आभाससँ स्पर्शित गाल खिलल शिरीषमालासदृश सुन्दर अछि। मोतीक हारक बीच घन माणिक-किरणक रूपमे हमर नवयौवनक प्रेमदीप्ति हुनकर हृदयमे पैसबाक उत्कण्ठासँ चमकि रहल अछि; चामरक बीच ओ स्वयं एकरा देखैत होयत। वैशम्पायनसँ गप्प करैत ओ की देखि हँसि रहल छथि, जे उज्ज्वल दाँतसँ दिशामण्डल धवल भऽ रहल अछि? सुग्गापाँख जकाँ हरियर रेशमी आँचरक किनारसँ बलाहक घोड़ाक खुरसँ उठल धूरि हुनकर केशक अग्रभागसँ हटा रहल छथि। लक्ष्मीक कमलहाथ जकाँ कोमल डाढ़िसदृश पएर उठा कऽ खेलहिमे घोड़ाक काँधपर आड़ा राखने छथि। गुलाबी कमलकली जकाँ चमकैत, क्रमशः पतला अँगुरीबला हाथ ताम्बूल माँगबाक लेल पूर्ण पसारल अछि—जेना सिंघाड़ाक कौर लेल उतावला हाथीक सूँड़। “धन्य ओ स्त्री, जे पृथ्वीक सहवधू बनि लक्ष्मी जकाँ कमल केँ परास्त करनिहार ओ हाथ प्राप्त करतीह! धन्य रानी विलासवती सेहो, जिनका द्वारा सम्पूर्ण पृथ्वी वहन करबाक समर्थ पुत्र जन्ममे एना पोषित भेल जेना दिशा द्वारा दिग्गज!”

“एहि आ एहने आन वचन कहैत स्त्रीसभक आँखि मानू चन्द्रापीड केँ पीबि रहल छल; आभूषणक झंकार हुनका बजा रहल छल; हृदयसभ पाछाँ-पाछाँ चलि रहल छल; रत्नक किरणरूपी डोरी हुनका बान्हि रहल छल; नवयौवनक अर्घ्य हुनका समर्पित कयल जा रहल छल; विवाह-अग्नि जकाँ हुनका पर मङ्गलार्थ फूल आ चाउर छिटकाओल जा रहल छल। शिथिल भुजासँ खसैत श्वेत कङ्कणक ढेरीपर डेग-दर-डेग बढ़ैत ओ राजमहल पहुँचि गेलाह।’

‘घोड़ासँ उतरि वैशम्पायनक सहारा लऽ, बलाहक केँ आगाँ कऽ, सेवामे उपस्थित राजासभक भीड़ पार करैत ओ दरबारमे पैसलाह आ श्वेत शय्यापर रक्षकसभसँ घेरायल अपन पिता केँ देखलनि।’

“कक्षपाल ‘देखू, राजकुमार आबि गेलाह!’ कहिते राजकुमार दूरहि सँ माथ बहुत नीचाँ झुका, काँपैत मुकुटसहित प्रणाम कयलनि। पिता दूरसँ पुकारलनि—‘आउ, आउ, एतए आउ!’ दुनू भुजा पसारि शय्यासँ कनेक उठलाह। आँखि हर्षाश्रुसँ भरि गेल, देह रोमाञ्चित भऽ उठल। श्रद्धासँ झुकल पुत्र केँ एहन आलिङ्गनमे लेलनि मानू कसि कऽ बान्हि अपनेमे समा लेब, पीबि लेब चाहैत होथि। “आलिङ्गनक बाद चन्द्रापीड पिताक पादपीठ लग खाली धरतीपर बैसि गेलाह। हुनकर ताम्बूलवाहिनी जल्दीमे उत्तरीय मोड़ि आसन बनौने छल, मुदा ओ पएरसँ कने दूर सरका कोमल स्वरमे हटाबय कहलनि। तखन राजा वैशम्पायन केँ अपन पुत्र जकाँ आलिङ्गन कयलनि, आ ओ हुनका लेल राखल आसनपर बैसलाह। किछु काल ओतए रहलापर अन्तःपुरक स्त्रीसभ चामर डोलौनाइ बिसरि स्थिर ठाढ़ छलीह। हुनकर सुन्दर, काँपैत, तिरछा आँखिसँ पवनमे हिलैत कमलनाल जकाँ लम्बा प्रेममय दृष्टि राजकुमारपर आक्रमण करैत बुझाइत छल। राजा कहलनि—‘पुत्र, जाउ; दर्शन लेल उत्कण्ठित स्नेहमयी माताक प्रणाम

करू, आ तखन क्रमशः पालन-पोषण करनिहार सभकेँ दर्शन दऽ आनन्दित करू।
 “चन्द्रापीड आदरसँ उठलाह, अनुचरसभ केँ पाछाँ आबयसँ रोकलनि, आ अन्तःपुरमे प्रवेशयोग्य राजसेवकक मार्गदर्शनमे वैशम्पायनक संग भीतर गेलाह।
 परिचारिका आ आख्यान पढ़ि-सुना रहल वृद्ध तपस्विनीसभसँ घेरायल माताक समीप जा प्रणाम कयलनि।’

“माता हुनका उठा लेलनि। आज्ञापालनमे दक्ष परिचारिकासभ चारू दिस ठाढ़ छलीह। मनहि-मन सैकड़ो मङ्गलवचन सोचैत, प्रेमसँ सहलाबैत बहुत काल धरि आलिङ्गनमे रखने रहलीह। स्नेहक तृप्ति भेलापर वैशम्पायन केँ सेहो आलिङ्गन कयलनि। फेर बैसि, भूमि पर आदरसँ बैसल चन्द्रापीड केँ हुनकर अनिच्छाक बादो बलपूर्वक खिंचि कोरामे बैसा लेलनि। परिचारिकासभ शीघ्रतासँ आसन अनलक आ वैशम्पायन ओहिपर बैसलाह। माता चन्द्रापीडक ललाट, वक्ष आ काँध बेर-बेर आलिङ्गन आ स्नेहस्पर्श करैत कहलीह—
 “‘पुत्र, अहाँक पिता कतेक कठोरहृदय छथि, जे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड द्वारा सहेजब योग्य एतेक सुन्दर देह केँ एतेक दीर्घकाल धरि महान् श्रम करौलनि! गुरुजनक कठिन अनुशासन कोना सहलहुँ? एतेक कम उमेरमे सेहो दृढ़ पुरुषक धैर्य अछि! बाल्यावस्थे मे हृदय बालक्रीड़ा आ व्यर्थ खेलक आकर्षण छोड़ि देलक। अहो, जन्मदाता आ आध्यात्मिक गुरुजनप्रति पूर्ण भक्ति सचमुच विलक्षण वस्तु अछि। आइ पिताक कृपासँ अहाँ केँ सभ ज्ञानसँ सम्पन्न देखैत छी; शीघ्रहि योग्य पत्नीसभसँ सम्पन्न सेहो देखब।’

“एना कहलापर चन्द्रापीड लज्जासँ आध मुस्कराइत माथ झुका लेलनि। माता अपन मुखक पूर्ण प्रतिबिम्ब जकाँ, खिलल कमलसँ मालाबद्ध हुनकर गाल चुमि लेलनि। किछु काल ओतए रहि राजकुमार सम्पूर्ण अन्तःपुर केँ क्रमशः दर्शनसँ आनन्दित कयलनि। तखन राजद्वारसँ बाहर निकलि ओतए ठाढ़ इन्द्रायुधपर चढ़लाह, राजकुमारसभक संग शुकनास केँ देखय गेलाह।
 “अनेक सम्प्रदायक पुरोहितसभसँ भरल बाहरी आँगनक फाटकपर घोड़ासँ उतरि शुकनासक महलमे प्रवेश कयलनि, जे दोसर राजदरबार जकाँ छल। भीतर पैसिते हजारो राजाक बीच ठाढ़ शुकनास केँ दोसर पिता जकाँ प्रणाम कयलनि; दूरहि सँ मुकुट बहुत नीचाँ झुका पूर्ण सम्मान प्रकट कयलनि। शुकनास शीघ्र उठलाह; राजासभो एकक बाद एक उठि गेलाह। ओ सोझै राजकुमार दिस आदरसँ बढ़लाह; आनन्दसँ फैलल आँखिसँ हर्षाश्रु झरि रहल छल। वैशम्पायन सहित चन्द्रापीड केँ हृदयसँ, अपार स्नेहपूर्वक आलिङ्गन कयलनि।
 “राजकुमार सम्मानसँ अनल रत्नमय आसन अस्वीकार कऽ खाली धरतीपर बैसलाह; लगमे वैशम्पायन बैसलाह। हुनका धरतीपर बैसल देखि शुकनास छोड़ि समस्त राजा अपन आसन छोड़ि धरतीपर बैसि गेलाह। शुकनास किछु क्षण मौन रहलाह; देहक रोमाञ्च अपार हर्ष प्रकट करैत छल। तखन राजकुमार सँ कहलनि—

“‘पुत्र, राजा तारापीड अहाँ केँ यौवनप्राप्त आ ज्ञानसम्पन्न देखि अन्ततः विश्व-राज्यक फल पओलनि। आइ माता-पिताक समस्त आशीर्वाद पूर्ण भेल; अनेक पूर्वजन्ममे अर्जित पुण्य फलित भेल; कुलदेवता तृप्त भेलाह। अहाँ जकाँ तीनू लोक केँ विस्मित करनिहार व्यक्ति अयोग्य माता-पिताक पुत्र नहि होइत छथि। कतए अहाँक अल्प आयु, आ कतए ई अलौकिक शक्ति तथा अनन्त ज्ञान धरि पहुँचबाक क्षमता! भरत आ भीमरथसदृश रक्षक पाओल ओ प्रजा धन्य अछि। पृथ्वी कोन उज्ज्वल पुण्य कयने छल जे अहाँ केँ स्वामीक रूपमे पओलक? विष्णुक वक्षमे रहबाक हठपूर्ण चञ्चलतामे अड़ल लक्ष्मी निश्चय अपन हित नष्ट कऽ रहल छथि, जे मानवी रूपमे अहाँ लग नहि अबैत छथि। तथापि महावराह जहिना दन्तमण्डलसँ पृथ्वी उठौलनि, तहिना अहाँ अपन भुजासँ पिताक सहायता करैत असंख्य युग धरि पृथ्वीक भार धारण करू।’

“एना कहि आभूषण, वस्त्र, फूल आ सुगन्धित लेपसँ सम्मान कऽ शुकनास हुनका विदा कयलनि। राजकुमार उठि अन्तःपुरमे गेलाह, वैशम्पायनक माता मनोरमाक दर्शन कयलनि। फेर बाहर आबि इन्द्रायुधपर चढ़ि अपन महल गेलाह। पिता पहिनिहि ओकर व्यवस्था कयने छलाह। फाटकपर भरल श्वेत कलश राखल छल; महल राजप्रासादक प्रतिरूप जकाँ। हरियर चन्दन-डाढ़िक माला, उड़ैत हजारो श्वेत पताका, मङ्गलवाद्यक ध्वनिसँ भरल आकाश, चारू दिस छिटकायल खिलल कमल। अग्निहोत्र एखनहि सम्पन्न भेल छल; प्रत्येक सेवक उज्ज्वल वस्त्रमे; गृहप्रवेशक सभ मङ्गलविधान तैयार।
 “आगमनपर सभामे राखल शय्यापर किछु काल बैसलाह। तखन राजकुमारक दलक संग स्नानसँ आरम्भ भोज धरि दिनक समस्त कर्तव्य पूरा कयलनि। एहि बीच इन्द्रायुध केँ अपन निजी कक्षमे रखबाक व्यवस्था कयलनि।’

“‘एहि सभ कार्यमे दिन समाप्त भऽ गेल। आकाशसँ शीघ्र उतरैत दिवसलक्ष्मीक माणिक-नूपुर जकाँ सूर्यबिम्ब उठल किरणसहित खसि गेल; ओकर बीचक रिक्ति अपनहि प्रकाशसँ ढकल छल। साँझ आरम्भ भेलापर चन्द्रापीड जैरैत दीपकक प्रकाश-वाड़िसँ घेरायल पएदल राजमहल गेलाह। पिताक संग किछु काल रहि, विलासवतीक दर्शन कऽ, अपन घर घुरलाह आ विविध रत्नक प्रभासँ बहुरङ्गी शय्यापर एना सुतलाह जेना शेषनागक फणमण्डलपर कृष्ण।’

“‘राति भोरमे बदलल तखन पिताक अनुमति लऽ सूर्योदय सँ पहिने उठलाह। आखेटक नवीन आनन्दक उत्कण्ठामे इन्द्रायुधपर चढ़ि दौड़निहार सेवक, घोड़ा आ हाथीक विशाल दलक संग वन दिस चलि गेलाह। व्याधसभ सोनक जंजीरमे गदहा जकाँ विशाल कुकुर लेने छल, जे हुनकर उत्साह दुगुना करैत। खिलल कमलपात जकाँ उज्ज्वल दण्डबला, तरुण जङ्गली हाथीक मस्तक विदीर्ण करबाक योग्य बाणसँ हजारो वराह, सिंह, शरभ, याक आ अनेक प्रकारक मृग मारलनि। धनुषक टंकारक भय सँ काँपैत वनदेवीसभ आध मुनल आँखिसँ हुनका तकैत छलीह। आन पशुसभ केँ महान् शक्ति सँ जीवित

पकड़लनि। सूर्य आकाशक मध्य पहुँचलापर उत्तम घोड़ापर बैसल किछुए राजकुमारक संग वनसँ घुरलाह। बाटमे आखेटक घटना दुहरबैत कहैत गेलाह—‘एना सिंह मारलहुँ, एना भालू, एना महिष, एना शरभ, एना हरिण।’”

“घोड़ासँ उतरि ओ सेवकसभ द्वारा शीघ्रता सँ अनल आसनपर बैसलाह, कवच उतारलनि आ सवारीक शेष वस्त्र सेहो खोललनि। डोलैत पड़िखाक हवासँ थाकनि दूर होइ धरि किछु काल विश्राम कयलनि। तखन स्नानगृह गेलाह, जतए सोन, चानी आ रत्नक सौ कलश राखल छल आ बीचमे सोनक आसन। स्नान समाप्त भेलापर अलग कक्षमे वस्त्रसँ देह पोंछाओलनि; माथपर निर्मल कपड़ाक पट्टी बान्हल गेल; वस्त्र पहिरलनि आ देवतासभ केँ प्रणाम कयलनि।

“सुगन्ध-कक्षमे प्रवेश कयलापर महाप्रतिहार द्वारा नियुक्त आ राजा द्वारा पठाओल दरबारक स्त्रीसेविका, विलासवतीक दासीसभ कुलवर्धनाक संग, आ सम्पूर्ण अन्तःपुरसँ पठाओल स्त्रीसभ टोकरीमे विविध आभूषण, माला, सुगन्धित लेप आ वस्त्र लऽ उपस्थित भेलीह आ हुनका अर्पित कयलनि। राजकुमार स्त्रीसभसँ विधिपूर्वक वस्तु ग्रहण कऽ पहिने अपन हाथसँ वैशम्पायन केँ सुगन्धित लेप लगौलनि। अपन अलङ्कार-लेपन पूर्ण भेलापर चारु दिसक लोक केँ योग्यतानुसार फूल, सुगन्ध, वस्त्र आ रत्न देलनि।

“तखन भोजशाला गेलाह, जे हजार रत्नमय पात्रसँ एना चमकि रहल छल जेना तारासँ जगमग शरदाकाश। दूहरा बिछाओनपर बैसलाह, वैशम्पायन लगमे। राजकुमारक गुणक प्रशंसा करबामे उत्सुक राजकुमारसभ उमेरक क्रमसँ धरतीपर बैसल छलाह। युवराज अत्यन्त शिष्टतासँ बेर-बेर कहैत छलाह—‘ई हुनका दिअ, ओ हुनका दिअ।’ ई देखि राजकुमारसभक सेवासुख आरो बढ़ि गेल। एहि प्रकार ओ विधिपूर्वक प्रातःभोजन कयलनि।’

“मुख धोइ ताम्बूल ग्रहण कऽ किछु काल ओतए रहलाह, तखन इन्द्रायुधक कात गेलाह। ओतए बैसल नहि; सेवकसभ पाछाँ मुख ऊपर कयने आज्ञाक प्रतीक्षामे ठाढ़ छल। बातचीत मुख्यतः इन्द्रायुधक गुण-लक्षणपर छल। इन्द्रायुधक श्रेष्ठतासँ हृदय प्रफुल्लित राजकुमार स्वयं ओकरा सोझाँ चारा छिटकौलनि। तखन दरबारक दर्शन करैत क्रमशः राजा केँ देखलनि; घर घुरि ओतहि राति बितौलनि। “अगिला दिन भोरमे अन्तःपुरक प्रधान प्रतिहार कैलास केँ अबैत देखलनि। ओ राजाक परम विश्वस्त छल। संगमे श्रेष्ठ रूपबाली, प्रथम यौवनमे प्रवेश करैत एक कन्या छल। दरबारी जीवनसँ आत्मसंयमी, मुदा लज्जाहीन नहि; कुमारिका अवस्थामे विकसित होइत; किरमिजी लाल रेशमी घूँघटमे ओ भोरक सूर्यकिरण पहिरने पूर्व दिशा जकाँ लगैत छलीह। कैलास प्रणाम कऽ समीप आयल, दहिना हाथ धरतीपर राखि एहि प्रकार बजल—”

““राजकुमार, रानी विलासवतीक सन्देश अछि—“ई पत्रलेखा नामक कन्या कुलूत देशक राजाक पुत्री अछि। महाराज जखन कुलूतक राजधानी जीतलनि तखन युद्धबन्दीसभक संग एकरा अनल गेल; ओहि समय ई नन्हकी बालिका छल आ अन्तःपुरक स्त्रीसभक बीच राखल गेल। राजकुमारी आ निराश्रित बुझि हमर हृदयमे ओकराप्रति स्नेह जागल; दीर्घकाल धरि अपन पुत्री जकाँ देखभाल कऽ पालन कयलहुँ। आब अहाँक ताम्बूलवाहिनी होयबाक योग्य बुझि पठा रहल छी। मुदा, हे दीर्घायु राजकुमार, एकरा आन सेविकाजकाँ नहि देखब। नवयौवना कन्या जकाँ सहेजब; अपन स्वभाव जकाँ अविवेकी लोकसँ रक्षा करब; शिष्या जकाँ देखब। सखी जकाँ सभ गुप्त बातमे सम्मिलित करब। ““दीर्घकालसँ बढ़ल स्नेहक कारण हमर हृदय ओकरापर अपन पुत्रीजकाँ टिकल अछि। उच्च कुलमे जन्मलाक कारण एहन सेवाक योग्य सेहो अछि। किछुए दिनमे अपन पूर्ण सौम्यता सँ स्वयं राजकुमारक मन मोह लेत। ओकराप्रति हमर प्रेम पुरान आ तँ दृढ़ अछि; राजकुमार एखन ओकर स्वभाव नहि जनैत छथि, एहि कारण ई सभ कहल जा रहल अछि। हे भाग्यवान् राजकुमार, सभ प्रकार प्रयत्न करब जे ई दीर्घकाल धरि अहाँक योग्य संगिनी रहए।”

“कैलास एना कहि चुप भऽ गेल। पत्रलेखा विनम्र प्रणाम कयलक; चन्द्रापीड दीर्घकाल धरि स्थिर दृष्टिसँ ओकरा देखलनि आ ‘माताक जे इच्छा’ कहि प्रतिहार केँ विदा कयलनि। पहिल दर्शनहि सँ पत्रलेखाक हृदय हुनकाप्रति भक्तिसँ भरि गेल। राजकुमार सुतल, बैसल, ठाढ़, चलैत वा दरबार जाइत—राति-दिन ओ छाहरि जकाँ हुनकर पार्श्व नहि छोड़ैत। चन्द्रापीडक हृदयमे सेहो पहिल नजरिसँ ओकराप्रति गहन स्नेह जागल आ निरन्तर बढ़ैत गेल। प्रतिदिन आरो कृपा करैत आ सभ गुप्त विषयमे ओकरा अपन हृदयक अंश मानैत छलाह।’

“एहि प्रकार दिन बीतैत रहल। राजा चन्द्रापीडक युवराजाभिषेक लेल उत्सुक छलाह, तँ प्रतिहारसभ केँ आवश्यक सामग्री एकत्र करबाक आदेश देलनि। अभिषेक निकट आबि गेल तखन शुकनास, राजकुमारक पहिनहिसँ महान् विनय केँ आरो बढ़ेबाक इच्छासँ, एक भेटमे हुनका दीर्घ उपदेश देलनि—

““प्रिय चन्द्रापीड, अहाँ जानय योग्य बात सीखि लेलहुँ आ समस्त शास्त्र पढ़ि लेलहुँ, तथापि सीखबाक बहुत किछु एखनहुँ शेष अछि। यौवनसँ उत्पन्न अन्धकार स्वभावतः अत्यन्त घन होइत अछि; न सूर्य ओकरा भेदि सकैत, न रत्नक आभा चीरि सकैत, न दीपकक प्रकाश हटा सकैत। लक्ष्मीक मद भयानक अछि आ वृद्धावस्थामे सेहो नहि उतरैत। प्रभुत्वक दोसर दुष्ट अन्धापन अछि, जे कोनो अञ्जनसँ ठीक नहि होइत। अहङ्कारक ज्वर बहुत तेज चढ़ैत, कोनो शीतल उपचार ओकरा शान्त नहि कऽ सकैत। इन्द्रिय-विष चखलासँ उपजल उन्माद प्रबल अछि; जड़ि-बूटी वा मन्त्र ओकर प्रतिकार नहि। वासनाक दागसँ लागल मल स्नान-शुद्धिसँ कहियो नहि हटैत। राजसी सुखक समूह सँ आयल निद्रा सदा भयङ्कर अछि; राति बीतलो भोरमे जागरण नहि होइत। अतएव अहाँ केँ एहन बात बेर-बेर विस्तारसँ कहल जाए। जन्महि सँ पाओल प्रभुत्व, नवयौवन, अतुल रूप आ अलौकिक प्रतिभा—ई सभ विपत्तिक लम्बा शृङ्खला अछि। एक-एक वस्तु अलगो उद्दण्डताक घर अछि; सभ एकत्र हो तखन की कहब! “यौवनक आरम्भमे मन शास्त्रक निर्मल जलसँ धोएल होइतहुँ प्रायः शुद्धता गमा दैत अछि। युवाक आँखि पूर्ण दृष्टिहीन नहि होइतहुँ मदसँ लाल भऽ जाइत अछि। वासनाक बवण्डर उठिने प्रकृति यौवनमे मनुष्य केँ अपन इच्छासँ बहुत दूर उड़ा लैत अछि, जेना पवन सुखायल पात केँ। इन्द्रियरूपी मृग केँ मोहित

करनिहार सुखक मृगतृष्णा सदैव दुःखमे समाप्त होइत अछि। प्रारम्भिक यौवनसँ मनक चेतना मन्द भेलापर बाह्य जगतक गुण नव-नव चखल जल जकाँ आरो मधुर लगैत अछि। विषय-वस्तुमे अत्यधिक आसक्ति दिशा-बोधक अभाव जकाँ भ्रमित कऽ मनुष्यक विनाश करैत अछि। मुदा अहाँ जकाँ पुरुष उपदेशक उचित पात्र होइत छथि। निष्कलङ्क मनमे सदुपदेशक गुण चन्द्रकान्तमणिपर चन्द्रकिरण जकाँ सहजहि प्रवेश करैत अछि। “गुरुक वचन निर्मल होइतहुँ दुष्टक कानमे पैसिते पानि जकाँ घोर पीड़ा दैत अछि; सज्जनमे हाथीक कानक आभूषण जकाँ आरो उदात्त शोभा उत्पन्न करैत अछि। सन्ध्याक चन्द्रमा जकाँ अनेक पापक घन अन्हार दूर करैत अछि। गुरुक शिक्षा शान्तिदायक अछि; यौवनक दोष कें गुणमे बदलि समाप्त करैत अछि, जेना वृद्धावस्था केशक कालिमा कें धूसर बनाकऽ हटबैत अछि। एखन अहाँ इन्द्रियसुख नहि चखने छी, तँ उपदेशक उचित समय अछि। कामबाणक प्रहारसँ विदीर्ण हृदयमे शिक्षा जल जकाँ बहि जाइत अछि। उद्दण्ड आ अनुशासनहीन लेल कुल आ पवित्र परम्परा निष्फल होइत अछि। चन्दनक लकड़ी देलापर अग्नि नहि जरैत अछि की? आगि बुझाबयबला जलक भीतर रहनिहार बड़वानल आरो प्रचण्ड नहि होइत अछि की? “गुरुवचन बिना जलक स्नान अछि, जे मनुष्यक सभ मल धो सकैत; एहन परिपक्वता जे केश कें धूसर नहि करैत; शरीरक आकार बढ़ौने बिना भार-गाम्भीर्य दैत; सोनसँ नहि बनलहुँ असाधारण कर्णाभूषण अछि; प्रकाशविहीन होइतहुँ चमकैत; चौकोने बिना जगबैत। राजासभ लेल एकर विशेष आवश्यकता अछि, कारण राजा कें सचेत करनिहार बहुत कम होइत छथि। भयक कारण लोक राजाक वचनक प्रतिध्वनि जकाँ पुनरावृत्ति करैत अछि। फलतः गर्वमे निरंकुश राजा कानक खोह पूर्ण बन्द कऽ लेताह आ देल गेल सदुपदेशो नहि सुनताह। सुनियो लेताह तँ हाथी जकाँ आँखि मुनि तिरस्कार देखबैत आ हितवचन देनिहार गुरु कें पीड़ा दैत छथि। अहङ्कारज्वरक उन्मादसँ अन्हार राजस्वभाव विचलित रहैत; धन घमण्ड आ मिथ्या आत्म-महत्त्व उत्पन्न करैत; राजलक्ष्मी राजसत्ताक विषसँ उत्पन्न जड़ता दैत। “सुख चाहनिहार मनुष्य पहिने लक्ष्मीक स्वभाव देखए। ई लक्ष्मी एखन नङ्गा तलवारक मण्डलरूपी कमलवनपर भ्रमर जकाँ बसैत छथि। क्षीरसागरसँ निकलल समय पारिजातक कलीसँ लालिमा, चन्द्रकलासँ वक्रता, उच्चैःश्रवासँ चञ्चलता, कालकूट विषसँ मायावीपन, अमृतसँ मद आ कौस्तुभमणिसँ कठोरता लेने छथि। संगहीसभक स्नेह स्मरण कऽ वियोग घटेबाक लेल ई सभ चिन्ह स्मृतिचिह्न जकाँ अपने संग रखलनि। एहि संसारमे नीच लक्ष्मी जतेक अबूझ वस्तु दोसर नहि। प्राप्त भेलापर संभालब कठिन; वीरताक दृढ़ डोरीसँ कसि बान्हलहुँ गायब; हजार उग्र वीरक घुमाओल तलवारक पिँजड़ामे रोकलहुँ निकलि जाए; मदक आँधीसँ श्याम घन हाथी-दलसँ रक्षित रहलहुँ भागि जाए। “ओ मित्रता नहि निभबैत; कुल नहि देखैत; रूपक चिन्ता नहि; वंशक भाग्यक अनुसरण नहि; चरित्रपर दृष्टि नहि; चतुराईक मूल्य नहि; पवित्र विद्या नहि सुनैत; धर्मक अभिलाषा नहि; उदारताक सम्मान नहि; विवेकक मान नहि; आचरणक रक्षा नहि; सत्य नहि बुझैत; शुभचिह्न कें मार्गदर्शक नहि मानैत। आकाशनगरक रेखा जकाँ देखिते-देखिते विलीन भऽ जाइत। मन्दराचलक मन्थनसँ बनल भँवरमे घूमबाक अनुभूति सँ एखनहुँ चक्करायल अछि। कमलवनक बदलैत गतिसँ बान्हल कमलडाँठक नोक जकाँ कतहु स्थिर आधार नहि दैत। महलमे महान् प्रयाससँ पकड़लहुँ असंख्य जङ्गली हाथीक मद पीबि मातल जकाँ डगमगाइत। “कूरता सीखबाक लेल तलवारक धारपर बसैत। निरन्तर रूप बदलनाइ सीखबाक लेल नारायणक रूपसँ चिपटल। अत्यन्त चञ्चल; मित्र, न्यायिक शक्ति, कोष आ प्रदेशसँ सम्पन्न राजा कें सेहो दिनक अन्तमे जड़ि, डाँठ, कली आ विस्तृत पाँखुरीबला कमल छोड़ि देबाक समान छोड़ि दैत। लता जकाँ सदा परजीवी। गङ्गा जकाँ धन उत्पन्न करैतहुँ बुलबुलासँ चञ्चल। सूर्यक किरण जकाँ एक वस्तुसँ दोसरपर उतरेत। नरकक गर्त जकाँ घन अन्हारसँ भरल। हिडिम्बा जकाँ केवल भीमक साहस ओकर हृदय जीत सकैत। वर्षाकाल जकाँ क्षणिक बिजुली चमकबैत। दुष्ट राक्षसी जकाँ अनेक पुरुषक ऊँचाई पाबि दुर्बल मन कें पागल करैत। “ईश्यालु जकाँ विद्या द्वारा अनुगृहीत पुरुष कें आलिङ्गन नहि करैत; सदाचारी कें अपवित्र बुझि नहि छुबैत; उदात्त स्वभाव कें अमङ्गलकारी बुझि तिरस्कार करैत; सुसंस्कृत कुलीन कें अनुपयोगी मानैत। विनयी पुरुष कें सर्प बुझि लाँघि जाइत; वीर सँ काँटा जकाँ बचैत; दानी कें दुःस्वप्न जकाँ बिसरैत; संयमी सँ दुष्ट जकाँ दूर रहैत; ज्ञानीक उपहास मूर्ख जकाँ करैत। विरोधी गुण जोड़निहार जादूगरक खेल जकाँ अपन चाल जगतमे देखबैत। निरन्तर ज्वर उत्पन्न करितहुँ ठिठुरन दैत; मनुष्य कें ऊँच उठबैतहुँ आत्माक नीचता प्रकट करैत; जलसँ उत्पन्न होइतहुँ पियास बढ़बैत; स्वामित्व दैतहुँ अस्वामी स्वभाव देखबैत; शक्ति लादितहुँ गम्भीरतासँ वञ्चित करैत; अमृतक बहिन होइतहुँ मुँहमे कड़ुआहट छोड़ैत; पार्थिव रूप होइतहुँ अदृश्य; सर्वोच्चसँ जुड़ल होइतहुँ नीचक प्रेमी; धूरिक प्राणी जकाँ निर्मलो कें मलिन करैत। “ई चञ्चला जतेक चमकए, दीपकक लौ जकाँ अन्ततः काजर मात्र निकालैत। कामनाक विषवृक्षक पोषक वर्षा; इन्द्रियरूपी मृग कें फँसबयबला व्याधक गीत; सद्गुणक चित्र मलिन करनिहार धुआँ; मोहक दीर्घ निद्राक विलासी शय्या; गर्व आ धनक राक्षससभक पुरान प्रहरी-मचान। शास्त्रसँ प्रकाशित आँखिपर जमैत मोतियाबिन्द; उद्दण्डक ध्वजा; क्रोधरूपी ग्राहसभक जन्मनदी; इन्द्रियमदिराक मदिरालय; मोहक नृत्यक सङ्गीतशाला; पापसर्पक माँद; सदाचार कें खदेड़निहार दण्ड। गुणरूपी कलहंसक लेल असमय वर्षा; कलङ्कक फोड़ा उगाबयबला भूमि; कपट-नाटकक प्रस्तावना; कामरूपी हाथीक गर्जना; सत्कर्मक बूचड़खाना; पवित्रतारूपी चन्द्रमा लेल राहुक जीह। हमरा कोनो एहन व्यक्ति नहि देखाइत अछि, जकरा अपरिचिते अवस्था मे ई हिंस्र आलिङ्गन नहि कयने आ धोखा नहि देने हो। चित्रमे सेहो हिलैत; पुस्तकमे सेहो जादू करैत; रत्नमे काटि अंकित कयलहुँ छल करैत; नाम सुनलहुँ भ्रमित करैत; विचार मात्र कयलहुँ विश्वासघात करैत अछि।’

““भाग्यक इच्छासँ ई दीन दुष्टा बहुत श्रमक बाद जखन राजा केँ प्राप्त करैत अछि, तखन ओ असहाय भऽ प्रत्येक लज्जाजनक कर्मक निवास बनि जाइत छथि। राज्याभिषेकक क्षणहि मङ्गलकलशक जलसँ मानू हुनकर सौम्यता धोएल जाइत; यज्ञाग्नि धुआँसँ हृदय अन्हार; पुरोहितक कुशझाड़सँ धैर्य बहारल; पगड़ी पहिरबासँ बढ़ैत आयुक् स्मृति ढकल; छत्रमण्डलसँ परलोकक दृष्टि दूर; चामरक पवनसँ सत्य हटाओल; राजदण्डसँ सद्गुण खदेड़ल; ‘जय हो’क घोषसँ सज्जनक स्वर दबाओल; आ ध्वजाक फहरैत पटसँ यशक उपहास कयल जाइत अछि।”

““किछु राजा एहन सफलतासँ धोखा खाइत छथि जे थाकनिसँ ढील पड़ल पक्षीक काँपैत चोंच जकाँ अनिश्चित, आ जुगनूक चमक जकाँ क्षणभर सुखद होइतहुँ ज्ञानीक दृष्टिमे तुच्छ अछि। कनेक धन जोड़बाक गर्वमे अपन मूल बिसरि जाइत छथि; संचित रोगसँ उपजल रक्तविष जकाँ वासनाक प्रहारसँ व्याकुल। पाँच मात्र इन्द्रिय प्रत्येक सुख चखबाक लालसामे हजार बनि यातना दैत। एकटा मन स्वभावतः चञ्चल, अपन आवेगक पाछाँ चलैत, निरन्तर परिवर्तनमे लाखक बल पाबि भ्रमित करैत। एहि प्रकार ओ पूर्णतः असहाय भऽ जाइत छथि। मानू भूत पकड़ि लेलक, पिशाच जीतलक, जादू वशमे कयलक, दैत्य जकड़लक, पवन उपहास कयलक, राक्षस निगलि गेल। “कामबाणसँ विद्ध भऽ हजार भाँति अंग मोड़ैत; लोभक आगिमे जरि छटपटाइत; प्रचण्ड प्रहारसँ खसि पड़ैत। केकड़ा जकाँ टेढ़ चलैत। पापसँ टूटल डेगबला लँगड़ा जकाँ दोसरक सहारे विवश चलाओल जाइत। पूर्वक असत्य-पापक कारण हकलाहटबला जकाँ मुश्किलसँ बड़बड़ाइत। सप्तच्छद-वृक्ष जकाँ निकटवर्ती लोकक माथ दुखबैत। मरनिहार जकाँ अपन जनो नहि चिन्हैत। धुँधला दृष्टिबला जकाँ उज्ज्वलतम गुणो नहि देखैत। अमङ्गल घड़ीमे विषदंशित मनुष्य जकाँ शक्तिशाली मन्त्रसँ सेहो नहि जागैत। लाहक आभूषण जकाँ तीव्र ताप सहि नहि सकैत। उद्दण्ड हाथी जकाँ आत्माभिमानक खूँटामे कसि बान्हल रहि शिक्षा अस्वीकार करैत। लोभविषसँ भ्रमित भऽ सभ वस्तु सोन बुझैत। घिसि तीक्ष्ण कयल बाण जकाँ दोसरक हाथमे पड़ि विनाश करैत। “राजदण्डसँ ऊँच फल जकाँ महान् कुलसभ केँ गिरा दैत। असमय फूल जकाँ बाहरसँ सुन्दर होइतहुँ विनाशक कारण। चिताक राख जकाँ स्वभावसँ भयङ्कर। मोतियाबिन्दबला जकाँ दूर नहि देखैत। भूतग्रस्त जकाँ घरक शासन विदूषकक हाथ देत। नाम सुनिने अन्त्येष्टि-नगाड़ा जकाँ भय जगबैत; विचार मात्र सँ महापाप करबाक सङ्कल्प जकाँ महान् विपत्ति आनैत। प्रतिदिन पापसँ भरैत पूर्णतः फूला जाइत। एहि दशामे सैकड़ो पापसँ मित्रता कऽ दीमकक टीला पर घासक नोकमे लटकल जलबिन्दु जकाँ रहैत—आ खसलाक बादो अपन पतन नहि बुझैत।”

““आन राजा अपन स्वार्थमे मग्न दुष्टसभसँ धोखा खाइत छथि—धनरूपी मांसक लोभी, महलक कमलवनक बक! ओसभ कहैत अछि—“जुआ मन बहलाव; परस्त्रीगमन चतुराई; आखेट व्यायाम; मदिरापान आनन्द; उतावलापन वीरता; पत्नीक उपेक्षा आसक्तिरहितता; गुरुवचनक तिरस्कार दोसरसँ समर्पण माँगबाक अधिकार; सेवकक उद्दण्डता सुखद सेवा सुनिश्चित करबाक उपाय; नृत्य, गीत, वाद्य आ दुष्टसङ्गक आसक्ति लोकज्ञान; लज्जाजनक अपराध सुनब उदारचित्तता; अपमान चुपचाप सहब धैर्य; स्वेच्छाचार प्रभुत्व; देवताक अनादर उच्च साहस; भाटक प्रशंसा यश; चञ्चलता उद्योग; विवेकक अभाव निष्पक्षता।”

““दोष केँ गुणक पदवी देबामे तत्पर, छलमे प्रशिक्षित, भीतरहि-भीतर हँसनिहार, परम नीच लोक एहन अलौकिक प्रशंसासँ राजा केँ ठकैत अछि। बुद्धिहीन राजाक मन धनगर्वसँ मातल होइत आ स्थायी मिथ्या विश्वास जमि जाइत जे ई सभ सचमुच गुण अछि। मर्त्य दशाक अधीन होइतहुँ अपने केँ अलौकिक नियतिबला देवता बुझैत, जे पृथ्वीपर उतरि आयल हो। प्रत्येक उद्यममे केवल देवताक योग्य ठाठ करैत आ सम्पूर्ण मानवजातिक तिरस्कार अर्जित करैत। अनुचर द्वारा अपन एहि ठकाड़ केँ प्रसन्नतासँ स्वीकार करैत। मनमे जमल अपन दिव्यताक भ्रमसँ मिथ्या विचारक गर्वमे गिरैत। बुझैत जे दू भुजाक संग दोसर जोड़ी भुजा सेहो उगि गेल; कल्पना करैत जे ललाटक चमड़ी भीतर तेसर आँखि गाड़ल अछि। “अपन दर्शन केँ अनुग्रह, नजरि केँ उपकार, वचन केँ उपहार, आज्ञा केँ महान् वरदान, स्पर्श केँ शुद्धि मानैत। मिथ्या महिमाक गर्वसँ दबायल ओ न देवताक प्रणाम करैत, न ब्राह्मणक आदर, न सम्माननीयक सम्मान, न प्रणम्य केँ प्रणाम, न सम्बोधनयोग्य केँ सम्बोधन, न गुरु केँ देख उठैत। विद्वानक उपहास करैत जे व्यर्थ परिश्रममे सभ सुख गमा रहल अछि। वृद्धक शिक्षा केँ बुढ़ापक असम्बद्ध प्रलाप मानैत। मन्त्रीक परामर्श केँ अपन बुद्धिक अपमान कहि गारि दैत। हितोपदेश देनिहारपर क्रुद्ध होइत।”

““अन्ततः ओ जे व्यक्ति केँ अपन लग स्वीकार करैत, गप्प करैत, पार्श्वमे बैसबैत, पदोन्नत करैत, सुखक साथी आ दानक पात्र बनबैत, मित्र चुनैत, जकर स्वर सुनैत, जकरापर कृपा बरसाबैत, जकरा उच्च मानैत आ जकरापर विश्वास करैत—ओ एहन व्यक्ति होइत जे दिन-राति निरन्तर प्रणाम करब, देवता जकाँ प्रशंसा करब आ राजाक महानता बढ़ा-चढ़ा कऽ कहब छोड़ि आन किछु नहि करैत।”

““ओहि राजा सँ की आशा कयल जा सकैत अछि, जकर मानदण्ड कठोर सिद्धान्तबला निर्दयी कपटनीति; जकर गुरु जादू-टोना आ अभिचारसँ निर्दय स्वभाव बनौने कुलपुरोहित; जकर शिक्षक दोसर केँ ठकबामे निपुण मन्त्री; जकर हृदय ओहि सत्तापर टिकल जे हुनकासँ पहिने सैकड़ो राजा पओलनि आ गमा देलनि; जकर अस्त्र-कौशल केवल मृत्यु देबाक लेल; आ जकर सहोदर, स्वाभाविक स्नेहसँ हृदय कोमल होइतहुँ, केवल वध करबाक वस्तु बनि जाइत?”

““अतएव हे राजकुमार, सैकड़ो दुष्ट आ विपरीत प्रवृत्तिसँ भयङ्कर एहि साम्राज्यपदमे, आ पूर्ण मोहक कात लऽ जाएबला एहि यौवनकालमे, अहाँ गम्भीर प्रयत्न करू जे प्रजा तिरस्कार नहि करए, सज्जन दोष नहि लगाबए, गुरु शाप नहि देथि, मित्र उलाहना नहि देथि, ज्ञानी शोक नहि करथि। सेहो सावधान रहू जे नीच लोक अहाँक पोल नहि खोलए; ठक धोखा नहि दे; दुष्ट शिकार नहि बनाबए; भेड़िया-सदृश दरबारी टुकड़ी-टुकड़ी नहि करए; बदमाश

गलत बाट नहि देखाबए; स्त्री भ्रमित नहि करए; भाग्य छल नहि करए; गर्व नचा नहि दे; कामना पागल नहि करए; विषय-वस्तु आक्रमण नहि करए; वासना सिरक बल घीचि नहि लए; सुख बहा नहि लए।’

“‘ई सत्य अछि जे अहाँ स्वभावसँ दृढ़ छी, पिताक देखेखमे सद्गुणक प्रशिक्षण पओने छी, आ धन केवल हलुक स्वभावबला तथा अविवेकी केँ मातल बनबैत अछि। तथापि अहाँक गुणमे हमर अपार आनन्द हमरा एतेक विस्तारसँ बजय लेल प्रेरित करैत अछि।’

“‘ई वचन सदिखन अहाँक कानमे गूँजैत रहए—एहन कोनो व्यक्ति नहि जे कतेकहु ज्ञानी, विवेकी, उदार, सौम्य, दृढ़ आ प्रयत्नशील हो, आ निर्लज्ज दुष्ट भाग्य ओकरा पीसि धूरि नहि बना सकए। आब शुभ मुहूर्तमे पिताक हाथसँ युवावस्था केँ राजत्वमे समर्पित करनिहार अभिषेकक आनन्द लिअ। पूर्वजसभ जे जुआ वहने छथि, उत्तराधिकारमे भेटल ओ भार उठाउ। शत्रुसभक माथ झुकाउ; मित्रदल केँ ऊँच उठाउ; राज्याभिषेकक बाद दिग्विजय लेल जगतमे भ्रमण करू; पिताद्वारा पहिनहि जीतल सातू द्वीपवाली पृथ्वी केँ अपन अधीन राखू।’

“‘एखन यशक मुकुट धारण करबाक समय अछि। यशस्वी राजाक आज्ञा महान् तपस्वीक सङ्कल्प जकाँ तुरन्त सिद्ध होइत अछि।’

“‘एतेक कहि शुक्नास मौन भऽ गेलाह। हुनकर वचनसँ चन्द्रापीड मानू धोएल, जगाओल, पवित्र कयल, उज्ज्वल बनाओल, अमृत-बिन्दुसँ सिञ्चित, अभिषिक्त, अलङ्कृत, निर्मल आ दीप्त कयल गेलाह। प्रसन्न हृदयसँ किछु कालक बाद अपन महल घुरि गेलाह।’

“‘किछु दिनक बाद शुभ मुहूर्तमे राजा हजारो सामन्तसँ घेरायल छलाह। शुक्नासक सहायता सँ अभिषेककलश ऊपर उठौलनि आ स्वयं पुत्रक अभिषेक कयलनि; शेष विधान कुलपुरोहित पूरा कयलनि। अभिषेकजल सभ तीर्थ, नदी आ समुद्रसँ अनल गेल छल; प्रत्येक औषधि, फल, माटि आ रत्नसँ घेरल; हर्षाश्रुसँ मिलल; मन्त्रसँ पवित्र। ओही क्षण, राजकुमार एखन अभिषेकजलसँ भीजल छलाह, राजलक्ष्मी तारापीड केँ छोड़ने बिना चन्द्रापीडमे प्रवेश कयलीह—जेना एक वृक्षसँ लिपटल लता दोसर वृक्ष धरि सेहो पसरि जाए। “तुरन्त समस्त अन्तःपुरसँ घेरायल, कोमल स्नेहसँ भरल विलासवती हुनकर माथसँ पएर धरि चन्द्रकिरण जकाँ उज्ज्वल सुगन्धित चन्दन लगौलनि। नव श्वेत फूलक माला पहिरौलनि; गोरोचनक रेखासँ सजौलनि; दूबक कर्णाभूषण लगौलनि; चन्द्रमा जकाँ श्वेत, लम्बा झालरबला दूटा नव रेशमी वस्त्र पहिरौलनि। कुलपुरोहित हाथमे रक्षासूत्र बान्हलनि। वक्षपर मोतीक हार घेरल गेल—मानू नव युवराजक राजलक्ष्मीरूपी कमल-सरोवरक तन्तुसँ गूँथल सप्तर्षिमण्डल अभिषेक देखय उतरि आयल हो।’

“‘चन्द्रकिरण जकाँ कोमल, परस्पर गूँथल आ ठेहुन धरि लटकल श्वेत पुष्पमालासँ देह पूर्णतः ढकल, आ हिमसदृश वस्त्र पहिरने ओ घन अयाल हिलबैत नरसिंह जकाँ; झहरैत धाराबला कैलास जकाँ; स्वर्गगङ्गाक उलझल कमलनालसँ खुरदुर भेल ऐरावत जकाँ; अथवा उज्ज्वल फेनकणसँ पूर्ण ढकल क्षीरसागर जकाँ लगैत छलाह।’

“‘ओहि अवसरपर पिता स्वयं प्रतिहारक दण्ड हाथमे लऽ पुत्रक लेल बाट साफ कयलनि। चन्द्रापीड सभामण्डप गेलाह आ मेरुशिखरपर चन्द्रमा जकाँ राजसिंहासनपर चढ़लाह। राजासभसँ विधिपूर्वक सम्मान पओलाक किछु क्षण बाद दिग्विजय-प्रस्थानक सूचना देनिहार महान् नगाड़ा सोनक डण्डाक प्रहारसँ गम्भीर गूँजि उठल। ओकर ध्वनि प्रलय-दिनमे जुटैत मेघक गर्जना; मन्दराचलसँ प्रहार पओल समुद्र; कल्पान्तक भूकम्पसँ हिलल पृथ्वीक नींव; बिजुली चमकबैत उत्पात-मेघ; अथवा महावाराहक थूथनक प्रहारसँ नरकक खोहक ध्वनि जकाँ छल। “ओ ध्वनि सँ जगतक दिशासभ मानू फूलि, खुलि, अलग भऽ, विस्तृत, पूर्ण, दक्षिणावर्त घूमि आ गम्भीर भऽ गेल; आकाश केँ बाँधनिहार बन्धन खुलि गेल। प्रतिध्वनि तीनू लोकमे विचरल। पातालमे सहस्र फण भय सँ ठाढ़ कयने शेषनाग ओकरा आलिङ्गन कयलनि। अन्तरिक्षमे दिशाक हाथी दाँत उछालि चुनौती देलक। आकाशमे भयक फुँकारसँ माथ हिलबैत सूर्यक घोड़ा दक्षिणावर्त घूमि सम्मान कयलक। कैलासशिखरपर शिवक वृषभ, ई स्वामीक प्रचण्ड अट्टहास बुझि आनन्दसँ गरजि अद्भुत उत्तर देलक। मेरुपर ऐरावत गम्भीर चिंघाड़सँ स्वागत कयलक। देवसभामे यमक महिष अनोखा ध्वनिपर क्रोधसँ वक्र सींग तिरछा कऽ आदर प्रकट कयलक। लोकपाल देवता भयमिश्रित विस्मयसँ सुनलनि।’

“‘नगाड़ाक गर्जनाक संग चारू दिससँ ‘जय हो’क घोष उठल। चन्द्रापीड सिंहासनसँ उतरि गेलाह, आ हुनकर संग शत्रुसभक यश सेहो उतरि गेल। हजारो सामन्त चारू दिस शीघ्र उठि पाछाँ चललाह। परस्पर टकराइत हारसँ पैघ मोती टूटि चारू दिस छिटकि रहल छल—मानू विश्वविजय-प्रस्थानक मङ्गलक लेल खेलहिमे अक्षत फेकल जा रहल हो। श्वेत कल्पवृक्षक कलिक बीच पारिजात जकाँ; सँडिक जलसँ सिञ्चित करैत दिग्गजसभक बीच ऐरावत जकाँ; तारा बरसाबैत आकाशसहित स्वर्ग जकाँ; अथवा निरन्तर मोट बूँद बरसाबैत मेघसहित वर्षा-ऋतु जकाँ ओ शोभित छलाह।’

“‘तखन महावत यात्रा-सम्बन्धी सभ मङ्गलचिह्नसँ सजल हाथी शीघ्र अनलक; भीतरी आसनपर पत्रलेखा बैसाओल गेलीह। राजकुमार चढ़लाह आ मोतीसँ जड़ल सौ तारबला छत्रक छाहरिमे यात्रा आरम्भ कयलनि। ओ छत्र रावणक भुजापर ठाढ़ कैलास जकाँ सुन्दर, आ पर्वत-मन्थनसँ घुमरैत क्षीरसागरक भँवर जकाँ उज्ज्वल छल। “प्रस्थान सँ पहिने किछु क्षण रुकि ओ दसू दिशा देखलनि। प्राचीरक पाछाँ मुख नुकौने हुनका तकैत राजासभक चमकैत मुकुटमणिसँ पधिलल लाहक लालिमा केँ सेहो हरबैत घन सूर्यप्रकाश पसरल छल। मानू अभिषेकक बाद हुनकर अपन राजतेजक अग्नि फूटि निकलल हो। युवराजाभिषेकसँ पृथ्वी मानू हुनकर अपन निष्ठाक आभास उज्ज्वल; शत्रुसभक शीघ्र विनाशक सूचना देनिहार ज्बलासँ आकाश लाल; आ स्वागत लेल अबैत पृथ्वीलक्ष्मीक पएरक लाहरसँ दिन गुलाबी देखाइत छल।’

“बाटमे राजासभक विशाल दल प्रणाम करैत गेल। हजारो हाथी भ्रममे डोलैत; भीड़क दबावसँ छत्र टूटैत; मुकुट झुकिते शिरोमणि नीचाँ लटकैत; कुण्डल झूलैत आ रत्न गालपर खसैत। विश्वस्त सेनापति एक-एकक नाम सुनबैत छल। “राजकुमारक पाछाँ गन्धमादन हाथी चलैत छल। प्रचुर सिन्दूरसँ गुलाबी, मोतीक कान-आभूषण धरती धरि लटकल, माथ श्वेत पुष्पमालासँ घेरल—ओ एहन मेरु जकाँ छल जकरापर सन्ध्याक लालिमा ठहरल, आर-पार श्वेत गङ्गाधारा खसल, आ शिखरपर तारकसमूहक चमकीला खुरदुरापन पसरल हो। चन्द्रापीडक आगाँ साईस द्वारा डोर पकड़ि चलाओल इन्द्रायुध छल; केसरसँ सुवासित, बहुरङ्गी, अंगपर सोनक साजक चमक। एहि प्रकार अभियान धीरे-धीरे पूर्व दिशा दिस चलि पड़ल।”

“तखन सम्पूर्ण सेना अद्भुत कोलाहलसँ चलि पड़ल। हाथीक गतिसँ हिलैत छत्रवन एना छल, जेना प्रलयक समुद्र आगाँ बढ़ैत तरङ्गपर हजार चन्द्रमाक प्रतिबिम्ब लेने पृथ्वी केँ प्लावित कऽ रहल हो।”

“राजकुमार महलसँ निकललापर वैशम्पायन सभ मङ्गलकर्म पूरा कयलनि। तखन श्वेत वस्त्र पहिरि, श्वेत पुष्पक सुगन्धित लेप लगौने, शक्तिशाली राजासभक विशाल दलसँ घेरायल, श्वेत छत्रक छाहरिमे, वेगवान् हाथीपर चढ़ि दोसर युवराज जकाँ राजकुमारक तुरन्त पाछाँ चललाह आ सूर्यक कात चन्द्रमा जकाँ हुनकर समीप पहुँचि गेलाह। चारू दिस पृथ्वी सुनलक—‘युवराज प्रस्थान कयलनि!’ आ आगाँ बढ़ैत सेनाक भारसँ काँपि उठल।”

“क्षणभरमे पृथ्वी मानू घोड़ासँ बनल, क्षितिज हाथीसँ, अन्तरिक्ष छत्रसँ, आकाश पताकावनसँ, पवन मद्गन्धसँ, मानवजाति राजासँ, दृष्टि रत्नक किरणसँ, दिन मुकुटसँ आ सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ‘जय हो’क घोषसँ बनल बुझाइट छल।”

“सेनाक आगाँ बढ़िते धूरि एना उठल, जेना सूर्यकिरणरूपी कमल उखाड़बाक लेल हाथीक झुंड, अथवा तीनू लोकक लक्ष्मी केँ ढाकयबला घूँघट। दिन माटिय भऽ गेल; दिशासभ माटिसँ गढ़ल बुझाइट; आकाश धूरिमे विलीन; सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मानू एक्के तत्त्वसँ बनल देखाइत छल।”

“क्षितिज फेर निर्मल भेल तखन समुद्रसँ उठैत बुझाइट विशाल सेना देखिकऽ वैशम्पायन विस्मयसँ भरि गेलाह। चारू दिस नजरि घुमा चन्द्रापीड सँ कहलनि—‘राजकुमार, महाबली राजा तारापीड अहाँक विजय लेल की अजेय छोड़ने छथि? कोन प्रदेश एखन अधीन करबाक शेष? कोन दुर्ग जीतबाक बाकी? कोन द्वीप अधिकारमे लेबाक शेष? कोन निधि अप्राप्त? कोन राजा माथ नहि झुकौने अछि? ककर नवकमल जकाँ कोमल प्रणामक हाथ माथपर नहि पहुँचल? सोनक पट्टीसँ घेरल ककर ललाट हुनकर सभामण्डपक फर्श नहि चमकौने? ककर मुकुटमणि हुनकर पादपीठ नहि घिसने? के हुनकर राजदण्ड स्वीकार नहि कयलक? के चामर नहि डोलौलक? के ‘जय’क घोष नहि कयलक? ककर मुकुटरूपी मकर निर्मल नदी जकाँ हुनकर चरणप्रभा नहि पीओलक?”

“ई सभ राजकुमारक सेना कठोर क्रीडामे चारू समुद्रमे कूद पड़बाक गर्वसँ भरल अछि; ओ दशरथ, भगीरथ, भरत, दिलीप, अलर्क आ मान्धातासदृश महान् राजासभक समकक्ष छथि; राज्याभिषिक्त, सोमपायी आ कुलगर्वसँ उद्दण्ड छथि। तैयो अभिषेकजलसँ पवित्र मुकुटक कोपलपर अहाँक मङ्गलमय चरणधूरि भस्मक ताबीज जकाँ धारण कयने छथि। नवीन श्रेष्ठ पर्वतसभ जकाँ ओ पृथ्वी धारण कयने छथि। दसू दिशाक हृदयमे पैसल हुनकर सेनासभ केवल अहाँक पाछाँ चलि रहल अछि। देखू—जतए अहाँक दृष्टि पड़ैत अछि, नरक सेना उगलैत, पृथ्वी जन्म दैत, दिशा बाहर निकालैत, आकाश बरसाबैत आ दिन रचैत बुझाइट अछि। असीम सेनाक भारसँ रौंदल पृथ्वी आइ महाभारतक युद्धक अस्तव्यस्तता स्मरण कऽ रहल अछि।”

“एतए सूर्य पताकाक उपवनमे घूमैत अछि; ओकर मण्डल पताकाक फुनगीमे अटकैत, मानू कौतूहलसँ ध्वजासभ गिनबाक प्रयत्न करैत हो। हाथी चारू दिस इलायची जकाँ मधुर सुगन्धबला, केशवेणी जकाँ बहैत मद निरन्तर छिटका रहल अछि। ओहिपर बसल भ्रमरक घन गुंजनसँ धरती यमुनाक तरङ्गसँ भरल जकाँ चमकैत अछि। चन्द्रधवल ध्वजाक पङ्क्ति क्षितिज ढाकि देने अछि—मानू विशाल सेनासँ मलिन होयबाक भयमे नदीसभ आकाशमे भागि गेल हो। आश्चर्य जे आइ सेनाक भारसँ धरती हजार टुकड़ीमे नहि फाटल; ओकर जोड़ बान्हनिहार श्रेष्ठ पर्वतसभ नहि टूटल; आ सेनाभारसँ दबायल पृथ्वीक बोझ सहैत नागराज शेषक फण पीड़ामे झुकि नहि गेल।”

“वैशम्पायन एना बजिये रहल छलाह कि राजकुमार अपन शिविर-प्रासाद पहुँचलाह। अनेक ऊँच विजयतोरणसँ सजल, घासक परकोटासँ घेरल हजार मण्डपसँ बिन्दुबिन्दु, चमकैत श्वेत कपड़ाक अनेक तम्बूसँ उज्ज्वल छल। ओतए उतरि राजोचित रीति सँ सभ आवश्यक कर्म पूरा कयलनि। जुटल राजा आ मन्त्री विविध कथासँ मन बहलाबय चाहलनि, मुदा पितासँ नव वियोगक तीव्र शोक हृदय केँ यातना दऽ रहल छल; शेष दिन दुःखमे बीतल। “दिन समाप्त भेलापर रातियो अधिकांश जागिते बितौलनि। वैशम्पायन हुनकर शय्यासँ किछु दूर शय्यापर विश्राम करैत छलाह; पत्रलेखा लगहिमे धरतीपर बिछाओल कम्बलपर सुतल छलीह। गप्प कखनो पिता, कखनो माता, कखनो शुकनासक विषयमे; विश्राम बहुत कम। भोरमे उठलाह। प्रत्येक पड़ावपर बढ़ैत, एकहि क्रममे आगाँ बढ़ैत सेनासँ पृथ्वी खोखर, पर्वत कम्पित, नदी सुखायल, सरोवर खाली, वन धूरि, टेढ़ स्थान समतल, दुर्ग ध्वस्त, खोह भरल आ ठोस भूमि फेर खोदल जाइत छल।”

“क्रमशः मनमाना विचरैत ओ घमण्डी केँ झुकोलनि, विनम्र केँ ऊँच उठौलनि, भयभीत केँ साहस देलनि, शरणागतक रक्षा कयलनि, दुष्ट केँ जड़िसँ उखाड़लनि आ शत्रु केँ खदेड़लनि। विभिन्न स्थानमे राजकुमारसभक अभिषेक कयलनि, कोष एकत्र कयलनि, उपहार स्वीकारलनि, कर लेलनि, स्थानीय नियम सिखौलनि, अपन यात्राक स्मारक स्थापित कयलनि, स्तुतिगीत रचौलनि आ राजाज्ञा खुदबौलनि। ब्राह्मणक सम्मान, सन्तक प्रणाम, आश्रमक रक्षा

कयलनि आ एहन पराक्रम देखलनि जाहिसँ प्रजाक प्रेम पओलनि। राजतेज बढौलनि, यशक राशि जोड़लनि, गुण दूर-दूर धरि प्रकट कयलनि आ सत्कर्मक कीर्ति अर्जित कयलनि। एहि प्रकार समुद्रतटीय वन रौंदैत आ सेनाक धूरिसँ समुद्रक सम्पूर्ण विस्तार धूसर करैत पृथ्वीपर विचरलाह।’

“‘पहिल विजय पूर्व दिशाक भेल; तखन त्रिशङ्कुसँ चिह्नित दक्षिण दिशा; फेर वरुणचिह्नबाली पश्चिम दिशा; आ तुरन्त सप्तर्षिसँ सजल उत्तर दिशा। तीन वर्ष धरि संसारमे भ्रमण करैत ओ चारू समुद्रक खाहिसँ सीमाबद्ध द्वीपसहित सम्पूर्ण पृथ्वी अधीन कऽ लेलनि।’

“‘तखन दक्षिणावर्त घूमैत पूर्वी समुद्रसँ बेसी दूर नहि सुवर्णपुर जीतलनि आ अधिकार कयलनि। ओ कैलासक कात रहनिहार हेमजकूट नामक किरातसभक निवास छल। विश्वव्यापी भ्रमणसँ सेना थाकल छल, तँ किछु दिन विश्रामक लेल ओतहि पड़ाव देलनि।’

“‘ओतए ठहरल एक दिन इन्द्रायुधपर चढ़ि आखेट लेल निकललाह। वनमे घूमैत पर्वतसँ मनमाना नीचाँ उतरल किन्नरक एक युगल देखलनि। विचित्र दृश्यपर विस्मित आ हुनका पकड़बाक इच्छासँ सम्मानपूर्वक घोड़ा हुनकर समीप बढौलनि। अपरिचित मनुष्य केँ देखि किन्नरसभ डरायल आ तेजीसँ भाग्य लागल। चन्द्रापीड पाछाँ दौड़लाह; बेर-बेर इन्द्रायुधक गर्दन थपथपा ओकर वेग दुगुना कयलनि। सेना बहुत पाछाँ छूटि गेल आ ओ एकसरि आगाँ बढ़ैत रहलाह। ‘आब पकड़लहुँ’ एहि भ्रममे इन्द्रायुध एक छलौंग जकाँ वेगसँ क्षणभरमे अपन शिविरसँ पन्द्रह कोस दूर लऽ गेल; ओ पूर्णतः साथीविहीन भऽ गेलाह।

“‘किन्नर-युगल सोझाँक कठिन पहाड़ीपर चढ़ि रहल छल। हुनकर गति ताकैत नजरि अन्ततः हटौलनि। तीख चढ़ाई रोकलक, तँ इन्द्रायुधक लगाम खिंचलनि। घोड़ा आ स्वयं दुनू परिश्रमसँ थाकल आ तपल देखलनि। किछु क्षण सोचि अपनेपर हँसलाह—‘बालक जकाँ व्यर्थ अपने केँ किएक थकौलहुँ? किन्नर-युगल पकड़ल जाए वा नहि, ताहिसँ की? पकड़लहुँ तँ लाभ की, छुटल तँ हानि की? हमर ई कोन मूर्खता! तुच्छ बातमे काजक नाटक करबाक कोन रुचि!

उद्देश्यहीन श्रमक कोन उन्माद! बालक्रीड़ासँ कोन आसक्ति!

“‘जे शुभ कार्य करैत छलहुँ से व्यर्थ आरम्भ भेल; आवश्यक विधि निष्फल; मित्रताक कर्तव्य अपूर्ण; राजकीय दायित्व अधूरा; पैघ कार्य समाप्त नहि; योग्य अभिलाषामे गम्भीर परिश्रम नष्ट। अनुचरसभ केँ छोड़ि एतेक दूर आबि हम एतेक पागल किएक भेलहुँ? घोड़ामाथबला एहि विचित्र जीवसभक पाछाँ उद्देश्यहीन दौड़ि जे उपहास दोसरक करितहुँ से अपने अर्जित कयलहुँ। पाछाँ आबि रहल सेना कतेक दूर अछि, नहि जानैत छी। इन्द्रायुधक वेग एक क्षणमे विशाल दूरी पार करैत; आँखि किन्नरपर स्थिर छल, तँ अबैत काल घुरबाक बाट ध्यानमे नहि रहल। आब घन वनमे छी—धरतीपर सुखायल पात, घनी लता-झाड़ी आ शाखादार वृक्ष। एतए जतेक घूमी, कोनो मनुष्य नहि भेटत जे सुवर्णपुरक बाट देखाबए। “‘बेर-बेर सुनने छी जे सुवर्णपुर उत्तरमे पृथ्वीक अन्तिम सीमा; ओकरापार अलौकिक वन; तकरापार कैलास। तखन ई कैलास अछि। आब घुरबाक चाही आ दृढ़तासँ बिना सहायता दक्षिणक बाट खोजबाक चाही। मनुष्य केँ अपन दोषक फल स्वयं सहय पड़ैत अछि।”

“‘एहि निश्चयसँ बाम हाथक लगाम हिलौने घोड़ाक मुँह घुमौलनि। फेर सोचलनि—‘तेजस्वी सूर्य एखन दहकैत ज्योतिसँ दक्षिण दिशा केँ एना सजा रहल छथि जेना दिवसलक्ष्मीक करधनीक मणि। इन्द्रायुध थाकल अछि। पहिने किछु कौर घास खाय; तखन कोनो पहाड़ी झरना वा नदीमे स्नान कऽ पानि पीअए। ताजा भेलापर हमहुँ पानि पीबि गाछक छाहरिमे किछु विश्राम करब, तखन फेर प्रस्थान करब।”

“‘एना सोचैत जलक लेल चारू दिस निरन्तर तकैत घूमलाह। अन्ततः एकटा बाट देखलनि, जे नव स्नान कऽ कमल-सरोवरसँ ऊपर आयल पर्वतीय हाथीक विशाल दलक पएरसँ उठल पाँकक ढेरीसँ भीजल छल। समीपे जल अछि से अनुमान कऽ कैलासक ढलानपर सोझे आगाँ बढ़लाह। ओतए वृक्ष एतेक घन छल, मुदा अधिकांश देवदारु, साल आ सरलवृक्ष ऊँच आ शाखाविहीन छल, तँ दूर-दूर ठाढ़ बुझाइत; छत्रक मण्डल जकाँ, माथ उठा कऽ देख्य योग्य। पीयर बालू घन छल; पथरीली भूमि होयबाक कारण घास आ झाड़ी बहुत कम।’

“‘अन्ततः कैलासक उत्तर-पूर्वमे अत्यन्त ऊँच वृक्षसमूह देखलनि। वर्षाभारसँ झुकल मेघराशि जकाँ उठल, कृष्णपक्षक रातिक अन्हार एकठाम जमल हो एना घन छल।’

“‘जलतरङ्गसँ उठल पवन चन्दन जकाँ कोमल, ओसयुक्त, जलक ऊपरसँ आबि शीतल, फूलसँ सुवासित छल; मानू प्रेमसँ हुनकर स्वागत करैत। कमलमधुसँ मातल कलहंसक कान-मोहक स्वर भीतर आबय बजा रहल छल। ओ वृक्षसमूहमे पैसलाह आ बीचमे अच्छोद सरोवर देखलनि—मानू तीनू लोकक लक्ष्मीक दर्पण, पृथ्वीदेवीक स्फटिक-कक्ष, समुद्रजल बाहर निकलबाक बाट, दिशासभक रिसैत जल, आकाशक एक अंशक अवतार, बहबाक शिक्षा पओल कैलास, द्रवित हिमालय, पधिलल चाँदनी, जल बनल शिवक मुस्कान, सरोवररूपमे ठहरल तीनू लोकक पुण्य, जलमे बदलल नीलमणि-पर्वतश्रेणी, अथवा एकठाम उझलल शरदमेघक राशि। निर्मलतासँ वरुणक दर्पण बुझाइत; मानू तपस्वीक हृदय, सज्जनक गुण, मृगक उज्ज्वल आँखि वा मोतीक किरणसँ बनाओल हो।’

“‘महापुरुषक शरीर जकाँ ओ मीन, मकर, कच्छप आ चक्रक शुभचिह्न स्पष्ट देखबैत छल। कार्तिकेयक कथाजकाँ क्रौञ्चक पत्नीसभक विलाप ओहिमे गूँजैत। श्वेत धृतराष्ट्र हंसक पाँखसँ जल हिलैत—जेना पाण्डव आ धृतराष्ट्रवंशीक प्रतिस्पर्धसँ महाभारत। मयूरसभ ओकर जल पीबैत, मानू समुद्रमन्थनक समय शिवक विषपानक अभिनय हो। देवताजकाँ सुन्दर, स्थिर दृष्टिबला। निष्फल तर्क जकाँ अन्तहीन बुझाइत, तथापि अत्यन्त सुन्दर आ आँखि केँ आनन्दित करनिहार सरोवर।’

“‘ओकर दर्शनमात्र चन्द्रापीडक थाकनि हटबैत बुझायल। एकटक तकैत मनमे सोचलनि—’

““घोड़ामुखी युगलक पीछा निष्फल भेल, मुदा एहि सरोवरक दर्शनसँ फल प्राप्त भऽ गेल। देखय योग्य समस्त वस्तु देखबाक आँखिक फल आब मिलल। सौन्दर्यक अन्तिम सीमा, दृष्टिक आनन्दक चरम बिन्दु, मोहक वस्तुक सीमा रेखा, सुखदायक वस्तुक पूर्णता, दर्शनयोग्यक परम समाप्ति—सभ एतहि प्रकट। अमृतजकाँ मधुर ई जल रचि सृष्टिकर्ता अपन शेष सृष्टि-श्रम अनावश्यक बना देलनि। अमृत जहिना सभ इन्द्रिय केँ आनन्द दैत, तहिना ई निर्मलतासँ आँखि, शीतलतासँ स्पर्श, कमलसुगन्धसँ घ्राण, हंसक निरन्तर गुंजनसँ कान आ मधुरतासँ रसना केँ प्रसन्न करैत अछि। “निश्चय एकर दर्शनक उत्कण्ठे शिव केँ कैलास-निवासक मोह छोड़य नहि दैत। कृष्ण अपन जलशय्याक स्वाभाविक रुचिक अनुसरण नहि करैत छथि— नोन सँ कडुआ समुद्रमे सुतैत छथि आ ई अमृतमधुर जल छोड़ैत छथि! ई आदिम सरोवर नहि होयत। प्रलयवराहक दन्तप्रहारसँ डरि पृथ्वी समुद्रमे पैसल छलीह, जकर सम्पूर्ण जल अगस्त्यक एक घूँटक लेल बनल छल। जँ अनेक गहिर नरकसँ गहिर एहि विशाल सरोवरमे डुबि जाइतथि, तँ एक नहि हजार वराहो हुनका धरि नहि पहुँचि सकितथि। “निश्चय कल्पान्तक विनाशमे जगतक रिक्ति डुबाबय आ सभ दिशा संहारक आँधीसँ अन्हार करयबला प्रलयमेघ एही सरोवरसँ कनेक-कनेक जल भरैत होयत। हमरा बुझाईत अछि सृष्टिक आरम्भमे जलमय ब्रह्माण्ड-अण्ड केँ समेटि सरोवरक रूपमे एतहि राखल गेल।’ “एना सोचैत दक्षिणी तट पहुँचलाह। घोड़ासँ उतरि इन्द्रायुधक साज खोललनि। ओ धरतीपर लोटल, फेर उठि किछु कौर घास खयलक। राजकुमार ओकरा सरोवरमे लऽ गेलाह; मनमाना जल पीबय आ स्नान करय देलनि। फेर लगाम खोलि सोनक जंजीरसँ दू पएर लगहिक गाछक नीच डाढ़िमे बान्हलनि। खञ्जरसँ तटक दूब काटि ओकरा सोझाँ फेकलनि आ स्वयं जलक कात घुरलाह। “हाथ धोइ चातक जकाँ जलक भोज कयलनि; चक्रवाक जकाँ कमलनालक टुकड़ी चखलनि; चन्द्रमा किरणसँ कुमुद छुबैत अछि, तहिना अँगुरीक नोकसँ कुमुदिनी छुबौलनि; सर्प जकाँ तरङ्गक हवा स्वागत कयलनि; कामबाणसँ घायल जकाँ वक्षपर कमलपातक आवरण राखलनि; फुहारसँ सूँड़िक नोक भीजल पर्वतीय हाथी जकाँ जलधोएल कमलसँ हाथ सजौलनि। ओसयुक्त कमलपात आ नव तोड़ल नालसँ लताक कुञ्जमे एक शिलापर शय्या बनौलनि; उत्तरीय मोड़ि तकिया बना सुतलाह। “किछु विश्रामक बाद सरोवरक उत्तरी तटसँ वीणाक तारमे मिलल अलौकिक मधुर सङ्गीत कानमे आयल। इन्द्रायुध पहिने सुनलक; खाइत घास छोड़ि, कान ठाढ़ आ गर्दिन मोड़ि स्वर दिस तकलक। मनुष्यविहीन स्थानमे ई गीत कतएसँ उठल से देखबाक कौतूहलसँ राजकुमार कमलशय्यासँ उठलाह, ओहि दिशा दिस नजरि दौड़ौलनि। दूरी बहुत छल, आँखि पूरा तानलहुँ किछु नहि देख सकलाह; ध्वनि निरन्तर सुनाइत रहल। स्रोत जानबाक उत्कण्ठासँ प्रस्थानक निश्चय कयलनि। इन्द्रायुध केँ सज्जित कऽ चढ़लाह आ पश्चिमी वनपथसँ गीत केँ लक्ष्य बना चललाह। सङ्गीतसँ आनन्दित मृगसभ बिना कहलहि आगाँ दौड़ि मार्गदर्शक बनि गेल।’

“कैलासक पवनसँ स्वागत पबैत ओ स्थान दिस बढ़लाह, जे चारू दिस वृक्षसँ घेरल छल। कैलासक ढलानक पएरमे, अच्छोद सरोवरक बाम तटपर चन्द्रप्रभा नामक स्थान छल, जकर चाँदनी-सदृश प्रकाश सम्पूर्ण प्रदेश धवल करैत। ओतए एक निर्जन शिवमन्दिर देखलनि।’

“मन्दिरमे पैसिते पवनसँ उड़ल केतकी-पराग हुनकापर खसल आ देह उज्ज्वल कऽ देलक। मानू शिवदर्शन लेल बलपूर्वक भस्मधारण-व्रत कराओल गेल हो, अथवा मन्दिर-प्रवेशक पवित्र पुण्यक वस्त्र पहिराओल गेल हो। चारि खम्भापर टिकायल स्फटिक-मण्डपमे चारिमुखबला, जगतगुरु, विश्वपूजित चरणबला शिव केँ देखलनि; हुनकर लिङ्ग निर्मल मोतीक बनल छल। “देवता केँ स्वर्गगङ्गाक चमकैत कमल चढ़ाओल छल—नव तोड़ल, भीजल, पातक नोकसँ बूँद खसैत, मोतीक मुकुट बुझाइत। ओसभ फोड़ि सोझ ठाढ़ कयल चन्द्रमण्डलक टुकड़ी, शिवक मुस्कानक अंश, शेषक फणक खण्ड, कृष्णक शङ्खक सहोदर, अथवा क्षीरसागरक हृदय जकाँ लगैत छल।’

“मुदा देवताक दहिना दिस, हुनकर सम्मुख ध्यानमुद्रामे बैसल, शिवसेवाक व्रत लेने एक कन्या चन्द्रापीड केँ देखाइ पड़लीह। अपन सौन्दर्यक उज्ज्वलतासँ ओ पहाड़ आ वन सहित समस्त प्रदेश केँ हाथीदाँत जकाँ धवल बना देने छलीह। हुनकर कान्ति दूर-दूर धरि अन्तरिक्षमे पसरैत छल— प्रलयकालमे सभ वस्तु केँ डुबा दयबला क्षीरसागरक उज्ज्वल ज्वार जकाँ; अथवा दीर्घ वर्षक सञ्चित तपस्या बाहर बहि रहल हो, वृक्षसभक बीच गङ्गाक धारा जकाँ एकत्रित भऽ उमड़ैत हो, कैलास केँ नव धवलता दैत हो, आ आँखिक बाट प्रवेश करितो दर्शकक आत्मा केँ पवित्र करैत हो। हुनकर शरीरक अत्यधिक गौरवर्ण अंगसभ केँ एना नुकोने छल, मानू ओ स्फटिक-मन्दिरमे प्रवेश कऽ गेलीह; दूधक समुद्रमे डुबकी लगा लेने होथि; निष्कलङ्क श्वेत रेशममे लपेटल होथि; दर्पणक चमकैत सतहमे अटकल गेलीह; अथवा शरदकालीन मेघक आवरणमे नुकायल होथि। बुझाइत छल, पाँच स्थूल तत्त्वसँ बनल देह रचबाक सामान्य सामग्रीक सहायता बिना, केवल धवलताक परम सारसँ हुनकर निर्माण भेल हो।’

“ओ मानू साक्षात् यज्ञ छलीह, जे अपात्रक हाथ पड़बाक भय सँ शिवक पूजा करय आयल हो; अथवा रति, कामदेवक शरीर फेर प्राप्त कराबय लेल शिव केँ प्रसन्न करबाक अनुष्ठान करैत हो; अथवा क्षीरसागरक देवी लक्ष्मी, जे समुद्रक गहिराइमे संग रहबाक पुरान परिचयक कारण शिवक चन्द्रमाक एक कला पाबय लेल आकुल हो; अथवा देहधारी चन्द्रमा, राहुसँ रक्षा लेल शिवक शरण आयल हो; अथवा ऐरावतक शोभा, शिवक हाथीक चाम पहिरबाक इच्छा पूर्ण करय आयल हो; अथवा शिवक दक्षिण मुखक मुस्की अलग रूप धारण कऽ स्वतंत्र निवास बना लेने हो; अथवा शिव जे श्वेत भस्म अपन देहपर छिड़कैत छथि, से शरीर धारण कऽ लेने हो; अथवा शिवक कण्ठक अन्हार दूर करबाक लेल चाँदनी साकार भऽ गेल हो; अथवा गौरीक मनक निर्मलता देह धारण कयने हो; अथवा कार्तिकेयक ब्रह्मचर्य साक्षात् रूपमे उपस्थित हो; अथवा शिवक वृषभक उज्ज्वलता ओकर शरीरसँ अलग भऽ एतए रहय लागल हो। अथवा

मन्दिरक वृक्षसभपर खिलल फूलक सम्पदा स्वयं शिवपूजा लेल आबि गेल हो; अथवा ब्रह्माक तपस्याक पूर्णता पृथ्वीपर उतरि आयल हो; अथवा सत्ययुगक प्रजापतिसभक तेज सातो लोकमे भ्रमणक थाकनिक बाद एतए विश्राम करैत हो; अथवा कलियुगमे धर्मक पराभव देखि शोकाकुल तीनू वेद वनमे आबि निवास कऽ रहल हो; अथवा भावी सत्ययुगक बीज कन्याक रूप धारण कयने हो; अथवा मुनिक पूर्ण समाधि मनुष्य-रूपमे प्रकट भेल हो; अथवा स्वर्गगङ्गापर पहुँचि दिग्भ्रमित भेल देवहाथीसभक समूह हो; अथवा रावण द्वारा उखाड़ल जयबाक भय सँ कैलासक शोभा खसि एतए आबि गेल हो; अथवा श्वेतद्वीपक लक्ष्मी दोसर द्वीप देखय लेल आयल हो; अथवा नव फूटैत काँसक फूलक शोभा शरद ऋतुक खोजमे भटकैत हो; अथवा शेषनागक शरीरक उजास पाताल छोड़ि पृथ्वीपर आबि गेल हो; अथवा बलरामक तेज, हुनकर मदोन्मत्ततासँ थाकि शरीर छोड़ि देने हो; अथवा अनेक शुक्लपक्ष एकठाम सघन भऽ गेल हो।’

“हुनकर धवलता देखि बुझाइट छल जे ओ सभ हंससँ गौरवर्णक एक-एक अंश लऽ लेने छथि; अथवा धर्मक हृदयसँ बाहर आयल छथि; शङ्खसँ गढ़ल गेल छथि; मोतीसँ निकालल गेल छथि; कमलनालक रेशासँ बनल छथि; हाथीदाँतक पतली परतसँ रचल छथि; चन्द्रकिरणक कूचीसँ शुद्ध कयल गेल छथि; चूनक जड़ाइक काजसँ सजायल छथि; अमृतक फेनगोलासँ उज्ज्वल कयल गेल छथि; पाराक धारामे नहायल छथि; पधिलल चानीसँ घसल गेल छथि; चन्द्रमण्डलसँ खोदि निकालल गेल छथि; अथवा कुटज, चमेली आ सिन्धुवारक फूलक वर्णसँ अलङ्कृत कयल गेल छथि। वस्तुतः ओ धवलताक अन्तिम सीमा बुझाइट छलीह। हुनकर माथ जटासँ उज्ज्वल छल, जे काँधपर लटकैत छल। ओ जटा मानू पूर्वाचलपर उदित सूर्यसँ प्रभातक किरणक कान्ति लऽ बनाओल गेल हो; चमकैत बिजुरीक काँपैत आभा जकाँ पिङ्गल छल; नव स्नानसँ भीजल छल; आ भक्तिसँ शिवक चरण पकड़लापर लागल चरणधूलिसँ चिह्नित छल। केशबन्धनसँ किस ओ माथपर शिवक चरण धारण कयने छलीह, जाहिपर रत्नसँ हुनकर नाम अंकित छल। हुनकर कपारपर भस्मक सम्प्रदायिक तिलक छल, जे सूर्यक घोड़ाक एड़ीसँ पिसायल तारकाधूलि जकाँ निर्मल छल। ओ देवी छलीह; पृथ्वीक कालगणनासँ हुनकर आयु जानल नहि जा सकैत छल, तथापि रूपमे ओ अठारह बसन्तक कन्या जकाँ लगैत छलीह।’

“हुनका देखि चन्द्रापीड घोड़ासँ उतरलाह, इन्द्रायुध केँ एक डाढ़िमे बान्हलनि, आदरसँ भगवान शिव केँ प्रणाम कयलनि, आ फेर ओहि दिव्य कन्या केँ स्थिर, अपलक दृष्टिसँ देखय लगलाह। हुनकर सौन्दर्य, माधुर्य आ शान्त भाव राजकुमार केँ विस्मित कऽ देलक; मनमे विचार उठल—‘एहि संसारमे एक वस्तु भेटिते दोसर वस्तु क्रमशः मूल्यहीन किएक भऽ जाइत अछि! किन्नर-युगलक व्यर्थ आ उच्छृङ्खल पीछा करैत हमरा मनुष्यक पहुँचसँ बाहर, देवतासभक विहारभूमि ई अत्यन्त सुन्दर स्थान भेटल। फेर जल खोजैत सिद्धसभक प्रिय ई मनोहर सरोवर देखलहुँ। तकर तटपर विश्राम करैत दिव्य गीत सुनलहुँ; स्वरक पाछाँ अबैत ई अलौकिक कन्या आँखिक सोझाँ आबि गेलीह, जिनकर सौन्दर्य मनुष्यक दृष्टिसँ परे अछि। हुनकर देवी होयबामे हमरा कोनो सन्देह नहि। हुनकर सौन्दर्य स्वयं दिव्यता घोषित करैत अछि। मनुष्यलोकमे एहन स्वर्गीय सङ्गीतक सामञ्जस्य कतएसँ उत्पन्न भऽ सकैत अछि? तँ जँ ओ हमर आँखिक सोझाँसँ अदृश्य नहि होथि, कैलासक शिखरपर नहि चढ़ि जाइथि, वा आकाशमे उड़ि नहि जाइथि, तँ हम समीप जा कऽ पुछबनि—‘अहाँ के छी? अहाँक नाम की अछि? जीवनक प्रभातहि मे ई व्रत किएक ग्रहण कयलहुँ?’ ई सभ अद्भुत रहस्यसँ भरल अछि।’ एना निश्चय कऽ ओ स्फटिक-मण्डपक दोसर खम्भाक समीप गेलाह आ गीत समाप्त होयबाक प्रतीक्षामे ओतहि बैसि रहलाह।’

“जखन ओ वीणा शान्त कयलनि—जेना मधुमाछीक मधुर गुंजन थमिते रात्रिक कमलवन मौन भऽ जाइत अछि—तखन उठलीह, शिवक प्रदक्षिणा आ प्रणाम कयलनि, आ फेर घुरलीह। स्वभावतः निर्मल आ तपस्याक सामर्थ्यसँ निर्भय दृष्टिसँ चन्द्रापीड दिस तकलनि। मानू ओहि दृष्टिसँ हुनका साहस दैत होथि, पुण्य छिड़कैत होथि, पवित्र जलसँ नहबैत होथि, तपस्यासँ शुद्ध करैत होथि, कलङ्कसँ मुक्त करैत होथि, मनोवाञ्छित फल दैत होथि आ पवित्रताक बाटपर लऽ जाइत होथि।’

“‘अतिथिक कल्याण हो!’ ओ बजलीह। ‘स्वामी एहि स्थान धरि कोना पहुँचलाह? उठू, समीप आउ आ अतिथिक योग्य सत्कार स्वीकार करू।’ एना कहलापर चन्द्रापीड केवल हुनकर सम्बोधनहि केँ महान सम्मान मानि आदरसँ उठलाह आ प्रणाम कयलनि। ‘देवी, जेना अहाँक आज्ञा,’ उत्तर देलनि, आ शिष्य जकाँ हुनकर पाछाँ चलैत अपन विनय देखौलनि। बाटमे सोचय लगलाह—‘अरे, हमरा देखितो ओ अदृश्य नहि भेलीह! आब हुनकासँ प्रश्न पुछबाक आशा सचमुच हृदयमे जमि गेल अछि। तपस्विनीसभमे दुर्लभ एहन सौन्दर्यवती कन्याक करुणासँ भरल विनीत स्वागत देखि विश्वास होइत अछि जे हमर प्रार्थनापर ओ अपन सम्पूर्ण कथा अवश्य सुनौतीह।’”

“‘लगभग सय डेग चललापर चन्द्रापीड एक गुफा देखलनि। प्रवेशद्वार घन तमालवृक्षसँ एना आच्छादित छल जे दिनहूमे अपन अलग राति रचैत। चारू कात फूटैत फूलबला लताक कुञ्जमे प्रसन्न मधुमाछीक गम्भीर गुंजन गुँजैत छल। सोझे नीचाँ खसैत जलधारा फेन बनि श्वेत चट्टानपर टकराइत, खुरदरा पहाड़क कुल्हाड़ीजकाँ तीख नोकसँ चिराइत, शीतल फुहार ऊपर उछलैत आ टूटैत, तीव्र झनकार उत्पन्न करैत छल। दुनू कातसँ बहैत झरना—शिवक मुस्की वा मोतीसदृश पाला जकाँ श्वेत—गुफा केँ द्वारपर लटकल हिलैत चँवरक समूह जकाँ बना दैत छल। भीतर रत्नजड़ित घड़ासभक मण्डल छल। एक दिस पवित्र ध्यानक समय पहिरल जायबला आवरण टँगल छल। नारिकेरक रेशाक चटाइसँ बनल स्वच्छ पादुका खूटीपर लटकल छल। एक कोनमे वृक्षछालक शय्या छल, जे कन्याक देहपर लगाओल भस्मसँ झरल धूलिसँ धूसर भऽ गेल छल। मुख्य स्थानपर छेनीसँ तराशल शङ्खक पात्र राखल छल, जे चन्द्रमण्डल जकाँ लगैत; लगहिमे भस्म भरल एक लौकी ठाढ़ छल।’

“गुफाक प्रवेशद्वारक चट्टानपर चन्द्रापीड बैसि गेलाह। कन्या अपन वीणा वृक्षछालक शय्याक तकियापर राखि अतिथि लेल पातक पात्रमे झरनाक जल भरि आनय लगलीह। हुनका समीप अबैत देखि राजकुमार कहलनि—‘अहाँक एहन पैघ परिश्रम पर्याप्त भेल। एहि अत्यधिक कृपाक अन्त करू। देवी, हमर आग्रह मानू। एतेक महान सम्मान छोड़ि दिअ। अघमर्षण मन्त्र जकाँ अहाँक दर्शनहि सभ पाप शान्त करैत अछि आ शुद्धिकरण लेल पर्याप्त अछि। कृपा कऽ बैसि जाउ।’ मुदा हुनकर आग्रहपर राजकुमार माथ झुका आदरसँ अतिथिक रूपमे देल गेल समस्त सत्कार स्वीकार कयलनि। अतिथि-सेवा पूर्ण कऽ कन्या दोसर चट्टानपर बैसि गेलीह। किछु काल मौन रहलापर हुनकर अनुरोधसँ चन्द्रापीड दिग्विजय-यात्रासँ आरम्भ कऽ किन्नर-युगलक पीछा करैत एतए पहुँचबाक सम्पूर्ण कथा सुनौलनि। तखन कन्या उठलीह, भिक्षापात्र लऽ मन्दिरक चारू दिसक वृक्षसभक बीच घूमय लगलीह। किछुए समयमे स्वतः खसल फलसँ पात्र भरि गेल। जखन ओ चन्द्रापीड केँ फल ग्रहण करबाक निमन्त्रण देलनि, तखन हुनकर हृदयमे विचार उठल—‘सचमुच तपस्याक सामर्थ्यसँ बाहर किछु नहि। ई महान आश्चर्य अछि जे चेतनाविहीन वनस्पतिराज सेहो चेतन प्राणी जकाँ एहि कन्या लेल अपन फल खसा कऽ सम्मान अर्जित करैत अछि। ई अद्भुत दृश्य अछि, जे पहिने कहियो नहि देखलहुँ।’”

“आरो विस्मित भऽ ओ इन्द्रायुध केँ ओहि स्थानपर अनलनि, साज खोलि लगहिमे बान्हलनि। फेर झरनामे स्नान कऽ अमृत जकाँ मधुर फल खयलनि, शीतल जल पीबि मुँह धोइलनि, आ कन्या जखन जल, कन्द-मूल आ फल ग्रहण करैत छलीह तखन ओ कनेक दूर ठाढ़ भऽ प्रतीक्षा करैत रहलाह।’

“‘भोजन समाप्त कऽ सन्ध्या-वन्दना केलापर कन्या निर्भय भावसँ चट्टानपर बैसि गेलीह। राजकुमार धीरेसँ समीप गेलाह, लग बैसि किछु काल मौन रहलाह, तखन आदरसँ बजलाह—’

“‘देवी, मनुष्यकेँ घेरि लेनिहार मूर्खता हमरा इच्छाक विरुद्धो अहाँसँ प्रश्न पुछबाक लेल प्रेरित कऽ रहल अछि; अहाँक कृपासँ साहस पाबि उठल जिज्ञासा हमरा व्याकुल कऽ देने अछि। स्वामीक कनेको अनुग्रह दुर्बल स्वभावक मनुष्यमे साहस भरि दैत अछि; किछुए कालक सङ्ग सेहो घनिष्ठता उत्पन्न कऽ दैत अछि; आदरक अल्प स्वीकारो स्नेह जगा दैत अछि। तँ जँ अहाँ थाकब नहि, तँ अपन कथा सुनाकऽ हमरा अनुगृहीत करू। पहिल दर्शनहिसँ एहि विषयमे प्रबल उत्कण्ठा हमरा घेरने अछि। देवी, अहाँक जन्मसँ सम्मानित वंश मरुतसभक अछि, ऋषिसभक, गन्धर्वसभक, गुह्यकसभक अथवा अप्सरासभक? फूल जकाँ कोमल एहि नवीन यौवनमे अहाँ ई व्रत किएक ग्रहण कयलहुँ? अहाँक यौवन, सौन्दर्य आ अनुपम माधुर्यक ई सांसारिक चिन्तासभसँ सर्वथा विरक्त शान्तिसँ केहन दूर-दूरक सम्बन्ध बुझाइत अछि! हमरा ई बड़ अद्भुत लगैत अछि। देवतासभक पुण्यसँ प्राप्त होमयबला, परम मुनिसभक सभ आवश्यक साधनसँ सम्पन्न स्वर्गीय आश्रम छोड़ि अहाँ एहि निर्जन वनमे एकसरि किएक रहैत छी? पाँच स्थूल तत्त्वसँ बनल होइतो अहाँक शरीरमे ई निर्मल धवलता कोना आबि गेल? एहन वस्तु हम ने कहियो सुनने छी, ने देखने। कृपा कऽ हमर जिज्ञासा शान्त करू आ पुछल सभ बात कहू।’”

“‘किछु काल धरि ओ हुनकर निवेदनपर मौन भऽ विचार करैत रहलीह। तखन बिना आवाज कयने कानय लगलीह। पैघ-पैघ बून बनि खसैत नोरसँ हुनकर आँखि धुँधरा गेल। मानू ओ नोर हृदयक निर्मलता अपना संग बहा अनैत हो; इन्द्रियसभक निष्कपटता बरसा रहल हो; तपस्याक सार निचोड़ि रहल हो; आँखिक ज्योति द्रवरूपमे टपका रहल हो। परम निर्मल ओ बून धवल गालपर टूटल मोतीक माला जकाँ निरन्तर खसैत, वृक्षछालक वस्त्रसँ आच्छादित वक्षस्थलपर छिटकि रहल छल।’

“‘हुनका कनैत देखि चन्द्रापीड सोचलनि—‘विपत्ति केँ रोकब कतेक कठिन अछि! जे सौन्दर्य ओकर सामर्थ्यसँ परे बुझाइत छल, ओकरो ओ अपन शिकार बना लेलक। सचमुच देहधारी जीवनक दुःखसँ अछूता केओ नहि। सुख आ दुःख—ई परस्पर विरोधी शक्तिसभक प्रभाव अत्यन्त प्रबल अछि। हुनकर नोर हमर पूर्वक जिज्ञासासँ सेहो पैघ नव जिज्ञासा उत्पन्न कऽ देलक। एहन रूपमे निवास करयबला दुःख साधारण नहि भऽ सकैत अछि; धरती केँ हिला देनिहार आघात क्षीण नहि होइत अछि।’”

“‘एना हुनकर जिज्ञासा बढ़ि रहल छल, मुदा कन्याक दुःख फेर जगा देबाक अपराधबोधो भेलनि। ओ उठलाह आ झरनासँ अञ्जलिमे जल भरि हुनकर मुख धोयबाक लेल अनलनि। राजकुमारक कोमल व्यवहारो हुनकर नोरक धार नहि रोकि सकल; तथापि ओ लाल भेल आँखि धोइलनि, वृक्षछालक वस्त्रक कोरसँ मुख पोंछलनि, आ दीर्घ करुण निःश्वास छोड़ैत धीरेसँ बजलीह—’

“‘राजकुमार, हमर तपस्वी जीवनक कथा अहाँ किएक सुनय चाहैत छी? ओ अहाँक कानक योग्य नहि अछि। जन्महिसँ हमर हृदय क्रूर, भाग्य कठोर आ दशा अमङ्गल रहल अछि। तथापि जँ जानबाक इच्छा बहुत प्रबल अछि तँ सुनू। शुभ ज्ञानहि दिस लागल रहयबला हमर कान धरि ई बात पहुँचल अछि जे देवलोकमे अप्सरा नामक कन्यासभ होइत छथि। हुनकर चौदह वंश अछि—एक ब्रह्माक मनसँ उत्पन्न, दोसर वेदसँ, तेसर अग्निसँ, चारिम वायुसँ, पाँचम समुद्रमन्थनमे निकलल अमृतसँ, छठम जलसँ, सातम सूर्यक किरणसँ, आठम चन्द्रक किरणसँ, नवम पृथ्वीसँ आ दसम बिजुरीसँ; एक वंश मृत्युदेवक रचना अछि आ दोसर कामदेवक। एहि अतिरिक्त समस्त प्रजाक पिता दक्षक अनेक पुत्रीमे मुनि आ अरिष्टा नामक दू पुत्री छलीह; गन्धर्वसभसँ हुनकर संयोगसँ शेष दू वंश उत्पन्न भेल। एहि प्रकारँ कुल चौदह वंश भेल। दक्षक एहि दुनू पुत्री आ गन्धर्वसभसँ उत्पन्न वंशमे मुनिक सोलहम पुत्र चित्ररथ नामक भेलाह, जे अपन पन्द्रह भाइ—सेन आदि—सभसँ गुणमे श्रेष्ठ छलाह। हुनकर वीरता तीनू लोकमे प्रसिद्ध छल। देवतासभक झुलक मुकुट जिनकर कमलचरण सहलाबैत अछि, से इन्द्र हुनका ‘मित्र’ नाम देलनि, जाहिसँ हुनकर गौरव आरो बढ़ल। बाल्यकालहिमे तलवारक चमकसँ रँगायल दहिना बाँहक पराक्रमसँ ओ समस्त गन्धर्वक अधिपति भऽ गेलाह। एतयसँ बहुत दूर नहि, भारतवर्षक उत्तरमे किम्पुरुष देशक सीमापर्वत हेमकूट हुनकर निवास अछि। हुनकर बाहुबलक

संरक्षणमे ओतए असंख्य गन्धर्व रहैत छथि। ई रमणीय चैत्ररथ वन हुनकें बनाओल, ई विशाल अच्छोद सरोवर हुनकें खुदाओल आ भगवान शिवक ई प्रतिमा हुनकें निर्मित कराओल अछि। दोसर गन्धर्ववंशमे अरिष्टाक पुत्र कें गन्धर्वराज चित्ररथ बाल्यकालहिमे राजपदपर अभिषिक्त कयने छलाह। एखन ओ राजकीय पद धारण कऽ असंख्य गन्धर्वक संग एहि पर्वतपर रहैत छथि। चन्द्रामृतसँ उत्पन्न अप्सरावंशमे एक कन्या जन्मलीह—मानू चन्द्रमाक समस्त कलाक कृपा एक धारामे ढारि हुनकर निर्माण भेल हो। ओ समस्त जगतक आँखि कें आनन्दित करनिहार, चाँदनी जकाँ गौर आ नाम तथा स्वभाव दुनूमे दोसर गौरी छलीह। दोसर गन्धर्ववंशक स्वामी हंस हुनकर वरण ओहिना कयलनि जेना क्षीरसागर गङ्गाक; हुनकर संयोग रति-काम अथवा शरद-कमलवनक संयोग जकाँ भेल। एहन मिलनक महान सुख भोगैत ओ हुनकर अन्तःपुरक रानी भेलीह। एहि श्रेष्ठ दम्पतिसँ हम एकमात्र पुत्रीक रूपमे जन्मलहुँ—अमङ्गलकारिणी, दुःखक शिकार आ असंख्य विपत्तिक पात्र। मुदा हमर पिता कें दोसर सन्तान नहि छलनि, तँ हमर जन्मपर पुत्रजन्मसँ सेहो पैघ उत्सव मनौलनि। दसम दिन विधिपूर्वक संस्कार कऽ हमर योग्य नाम ‘महाश्वेता’ रखलनि। गन्धर्वाङ्गनासभक गोदिसँ गोदिमे वीणा जकाँ घूमैत, शैशवक अस्पष्ट मधुर बोली बजैत, प्रेमक दुःखसँ सर्वथा अनजान, हम पिताक राजमहलमे बाल्यकाल बितालहुँ। समय बीतल आ वसन्तमे मधुमास जकाँ, मधुमासमे नव पल्लव जकाँ, नव पल्लवमे फूल जकाँ, फूलमे भ्रमर जकाँ आ भ्रमरमे मधु जकाँ हमर भीतर नवीन यौवन आबि गेल।”

““एक दिन मधुमासमे हम अपन माय संग अच्छोद सरोवरमे स्नान करय गेलहुँ। वसन्तसँ ओकर सौन्दर्य चारू दिस पसरल छल आ सभ कमल खिलल छल।”

““तटवर्ती चट्टानसभपर पार्वतीक हाथसँ उकेरल भगवान शिवक प्रतिमासभक हम पूजा कयलहुँ। पार्वती स्नान लेल उतरैत समय भृङ्गिरिटिसहित शिवक ई चित्र बनौने छलीह; धूरिमे पड़ल तपस्वीसभक क्षीण पदचिह्न मानू हुनकर विनीत उपासना दर्शा रहल छल। हम कहैत गेलहुँ—“ई लताक कुञ्ज कतेक सुन्दर अछि! मधुमाछीक भारसँ फूलगुच्छक मध्य भाग टूटि गेल अछि आ केसर झुकि गेल अछि। ई आमक गाछ पूर्ण रूपेँ फुलायल अछि; कोइलीक तीख नखसँ छेदल कोढ़ीक डाँटसँ मधु बहि रहल अछि। ई चन्दनक पाँति कतेक शीतल अछि, जतयसँ जङ्गली मोरक समूहक केकारवसँ भयभीत साँपसभ भागि गेल अछि। ई डोलैत लतासभ कतेक मनोहर अछि; खसल फूल बतबैत अछि जे वनदेवीसभ एहि पर झूलि गेलीह। तटक गाछसभक जड़ि कतेक सुखद अछि, जतए कलहंससभ अनेक फूलक परागमे अपन पदचिह्न पाँति छोड़ि गेल अछि!” वनक निरन्तर बढ़ैत सौन्दर्यसँ खिंचाईत हम सखीसहित घूमैत रहलहुँ। एक स्थानपर पवनमे बहैत फूलक अत्यन्त तीव्र सुगन्ध भेटल, जे पूर्ण फुलायल वनक अन्य सभ गन्ध कें दबा दैत छल। ओ गन्ध लग अबैत गेल आ अपन अत्यधिक माधुर्यसँ मानू घ्राणेन्द्रिय कें सुगन्धित, आनन्दित आ परिपूर्ण करैत गेल। मधुमाछीसभ ओकर पाछाँ पड़ल छल, मानू ओकरा अपन बना लेबाक इच्छा हो। ओ सचमुच पहिने कहियो नहि भेटल, देवताक योग्य सुगन्ध छल। हमहुँ ओकर स्रोत जानबाक लेल उत्सुक भऽ गेलहुँ। आँखि कली जकाँ आध मुनल, ओहि सुगन्धसँ मधुमाछी जकाँ खिंचाईत, जिज्ञासाक काँपैत वेगमे टकराईत पायल जोर-जोरसँ बाजैत, सरोवरक कलहंससभ कें अपना दिस आकृष्ट करैत किछु डेग आगाँ बढ़लहुँ। तखन स्नान लेल उतरैत एक सुन्दर युवा तपस्वी कें देखलहुँ। ओ एना लगैत छलाह—शिवक अग्निमे ईधन बनि गेल कामदेवक शोकमे वसन्त तपस्या कऽ रहल हो; अथवा शिवक कपारपरक अर्धचन्द्र पूर्ण मण्डल पाबय लेल व्रत कयने हो; अथवा शिव कें जीतबाक उत्साह रोकि कामदेव संयम धारण कयने हो। हुनकर महान तेजसँ बुझाईत छल जे काँपैत बिजुरीक पिञ्जरमे घेरल, ग्रीष्मक सूर्यगोलक भीतर बसल अथवा भट्ठीक ज्बलासँ परिवेष्टित छथि। दीपशिखा जकाँ पीयर हुनकर रूपक दीप्ति निरन्तर बढ़ैत सम्पूर्ण वनकुञ्ज कें सुनहरा भूरा बना रहल छल। हुनकर केश गोरचनाने रँगल ताबीज जकाँ कोमल आ पीयर छल। कपारपर भस्मक रेखा हुनका नव बालुकातटबाली गङ्गा जकाँ बनबैत छल; मानू सरस्वती कें पाबय लेल चन्दनक तिलक हो, आ पवित्रताक ध्वजक काज करैत हो। भौंह लोकक शापसभक निवासक ऊपर उठल धनुषाकार तोरण जकाँ छल। आँखि एतेक लम्बा जे मानू ओकर माला पहिने छथि; मृगनयनक सौन्दर्यमे मृगसभक सहोदर लगैत छलाह। नाक लम्बा आ गरुडचञ्चु जकाँ तीख छल। हृदयमे प्रवेश नहि पाबि सकल यौवनक अरुण आभा हुनकर नीचाँक ओठरूपी बिजौरा नीबू कें गुलाबी बना देने छल। दाढ़ी-रहित गालसँ ओ नव कमल जकाँ लगैत छलाह, जकर केसर कें मधुमाछीसभ खेलमे एखन धरि नहि झकझोरने हो। यज्ञोपवीत हुनकर शोभा बढ़बैत छल—कामदेवक धनुषक झुकल डोरी अथवा तपस्यारूपी सरोवरक कमलवनसँ निकलल रेशा जकाँ। एक हाथमे डाँटसहित केसरा फल जकाँ कमण्डलु छल; दोसर हाथमे स्फटिकक जपमाला, मानू कामदेवक मृत्यु पर विलाप करैत रतिक नोरक बून गूँथल हो। कमर मूँजक मेखलासँ बान्हल छल; स्वाभाविक तेजमे सूर्य कें पराजित कऽ प्रभामण्डल धारण कयने होथि। वस्त्रक काज स्वर्गीय पारिजातक छाल करैत छल, जे बूढ़ तीतरक गुलाबी पलक जकाँ चमकैत आ स्वर्गगङ्गाक लहरिमे धुआयल छल। ओ तपस्वी जीवनक आभूषण, पवित्रताक युवा शोभा, सरस्वतीक आनन्द, समस्त विद्याक चुनल स्वामी आ सम्पूर्ण दिव्य परम्पराक सङ्गम छलीह। ग्रीष्म ऋतु जकाँ हुनकर हाथमे आषाढ-दण्ड छल; शिशिरकालीन वन जकाँ खिलैत प्रियङ्गुक उजास छल; मधुमास जकाँ श्वेत तिलकसँ अलङ्कृत मुख छल। हुनका संग फूल चुनि देवपूजा करैत हुनकहि वयसक, हुनकर योग्य मित्र एक दोसर युवा तपस्वी छलाह।”

““तखन हम हुनकर कान सजौने एक अद्भुत फूलगुच्छ देखलहुँ। ओ वसन्तक दर्शनसँ प्रसन्न वनलक्ष्मीक उज्ज्वल मुस्की जकाँ छल; मलयपवनक स्वागतमे मधुमासक अर्घ्य जकाँ; पुष्पलक्ष्मीक यौवन जकाँ; अथवा कामदेवक हाथी कें सजौनिहार कौड़ी जकाँ। मधुमाछी ओकर प्रणय करैत छल; कृत्तिका नक्षत्र अपन शोभा ओकरा देने छल आ ओकर मधु अमृत छल। हम निश्चय कयलहुँ—“निश्चय यैह ओ सुगन्ध अछि जे अन्य सभ फूल कें गन्धहीन बना दैत अछि।” युवा तपस्वी दिस तकैत मनमे विचार उठल—“अहा, सृष्टिकर्ता कतेक उदार छथि! परम सुन्दर रूप रचबाक कौशल हुनका अछि। ओ समस्त अद्भुत सौन्दर्य मिला कऽ विश्वसँ श्रेष्ठ कामदेव रचलनि, तकरो बाद हुनकासँ अधिक सुन्दर ई तपस्वी बना देलनि—मानू मायासँ जन्मल दोसर कामदेव। हमरा

बुझाइत अछि, ब्रह्मा जखन जगत केँ आनन्द देबाक लेल चन्द्रमण्डल आ लक्ष्मीक क्रीड़ाभवन बनेबाक लेल कमल रचने छलाह, तखन वस्तुतः एहि तपस्वीक मुख रचबाक अभ्यास कऽ रहल छलाह; नहि तँ एहन वस्तु किएक बनबैत? ई बात निश्चय मिथ्या अछि जे कृष्णपक्षमे सूर्य अपन सुषुम्णा किरणसँ चन्द्रमाक सभ कला पीबि लैत अछि; वस्तुतः ओहि कलाक किरणसभ खसि एहि सुन्दर रूपमे प्रवेश कऽ गेल अछि। नहि तँ सौन्दर्यक नाश करयबला कठिन तपस्यामे जीवन बितौनिहारमे एहन रूप-माधुर्य कोना होइत?” हम एना सोचिए रहल छलहुँ कि सौन्दर्यक अटल पक्षधर, भला-बुराक भेद नहि जानयबला आ युवासभक सदियन समीप रहयबला कामदेव हमर निःश्वाससहित हमरा ओहिना वशमे कऽ लेलक, जेना वसन्तक उन्माद मधुमाछी केँ। तखन दहिना आँखिसँ स्थिर दृष्टि कयलहुँ; पलक आध मुनल छल, काँपैत तिरछी दृष्टिसँ पुतलीक चारूकातक भाग गाढ़ भऽ गेल छल; हम बहुत काल धरि हुनका देखैत रहलहुँ। ओहि दृष्टिसँ मानू हुनका पीबि रहल होइ, प्रार्थना कऽ रहल होइ, कहि रहल होइ जे हम पूर्णतः अहाँक छी, अपन हृदय अर्पित कऽ रहल होइ, सम्पूर्ण आत्मासँ हुनकर भीतर प्रवेश करय चाहैत होइ, हुनकामे लीन होयबाक इच्छा करैत होइ, कामपीडिता केँ बचयबाक लेल हुनकर शरण माँगैत होइ, आ हुनकर हृदयमे स्थान पाबय लेल अपन दीन प्रार्थिनी दशा देखबैत होइ। हम अपनेसँ पुछलहुँ—“ई केहन लज्जाजनक भावना हमरा भीतर उत्पन्न भेल? कुलीन कन्याक लेल सर्वथा अनुचित आ अयोग्य!” ई बुझितो अपना ऊपर अधिकार नहि रहल; बड़ कठिनतासँ स्थिर ठाढ़ रहि हुनका देखैत रहलहुँ। मानू देह जड़ भऽ गेल, चित्रमे बदलि गेल, चारू दिस छिड़िआ गेल, बान्हल गेल अथवा समाधिमे चलि गेल; तथापि अद्भुत रूप किछु हमरा सँभालने रहल—मानू अंगसभ शिथिल होइतहि ओहि क्षण सहारा भेटि गेल हो। जे बात ने कहल जा सकैत अछि, ने सिखाओल, ने कहबाक योग्य अछि आ केवल भीतरसँ अनुभव कयल जाइत अछि, ओकर विषयमे निश्चित कोना भेल जा सकैत अछि? ई भावना हुनकर सौन्दर्य प्रस्तुत कयलक, हमर अपन मन, कामदेव, यौवन, अनुराग अथवा कोनो आन कारण—हम नहि कहि सकैत छी। इन्द्रियसभ हमरा ऊपर उठा हुनका दिस खिचैत छल; हृदय आगाँ लऽ जाइत छल; कामदेव पाछाँसँ धकेलैत छल; तथापि प्रबल प्रयत्नसँ अपन वेग रोकलहुँ। तत्क्षण निरन्तर निःश्वासक आँधी चलय लागल—मानू कामदेव हमर भीतर स्थान खोजैत ओकरा बाहर पठा रहल हो। वक्षस्थल उठय-बैसय लागल, मानू हृदयसँ गम्भीरतापूर्वक बात करबाक लेल उद्यत हो। हम मनमे सोचलहुँ—“ई नीच कामदेवक केहन अयोग्य कृत्य अछि! ओ हमरा प्रेमक विचारसँ सर्वथा मुक्त एहि शीतल तपस्वीक हाथ सौँपि रहल अछि। स्त्रीक हृदय सचमुच अत्यन्त मूर्ख होइत अछि, कारण जेकरा प्रेम करैत अछि ओकर उपयुक्तता-अनुपयुक्तता तौलि नहि सकैत। तेज आ तपस्याक एहि उज्ज्वल धामक सम्बन्ध ओहि प्रेमोन्मादसँ की, जकर साधारण मनुष्य स्वागत करैत अछि? निश्चय ओ मनहिमे कामदेव द्वारा एना ठकल हमरा तिरस्कार करैत होयताह। अद्भुत अछि जे ई सभ बुझितो हम अपन भावना रोकि नहि पबैत छी। आन कन्यासभ लाज छोड़ि स्वयं अपन प्रियक समीप गेलीह; आनकेँ उच्छृङ्खल कामदेव उन्मत्त बनौलक; मुदा एतए हमर जकाँ एकसरि केओ नहि! केवल एक क्षणक दर्शनसँ हमर हृदय कोना एना विचलित भऽ अधिकारसँ बाहर भऽ गेल? ज्ञान आ सद्गुणक परिपक्वता जतेक हो, कामदेव ओतेकहि दुर्जेय भऽ जाइत अछि। एखन धरि चेतना शेष अछि आ ओ हमर ई घृणित प्रेममूर्खता स्पष्ट नहि देखने छथि; तँ एहि स्थानसँ चलि जायब उचित। जँ ओ अपन लेल अस्वीकार्य प्रेमक चिह्न हमरा भीतर देखि लेताह, तँ क्रुद्ध भऽ शापक अनुभव करा सकैत छथि; तपस्वी स्वभावतः क्रोधी होइत छथि।” एना निश्चय कऽ हम चलबाक लेल उत्सुक भेलहुँ। मुदा पवित्र पुरुष सभक आदर करबाक कर्तव्य स्मरण कऽ हुनका प्रणाम कयलहुँ। आँखि हुनकर मुखपर टिकल छल; पलक निश्चल, दृष्टि नीचाँ नहि झुकल; कानमे नाचैत फूल गाल केँ नहि छुबैत छल; लहराइत केशपर माला डोलैत आ रत्नजड़ित कुण्डल काँधपर झूलैत छल।”

“हम एना झुकलहुँ, आ प्रेमक अजेय आज्ञा, वसन्तक प्रेरणा, स्थानक मनोहरता, यौवनक उद्वण्डता, इन्द्रियक चञ्चलता, सांसारिक सुखक अधीर लालसा, मनक अस्थिरता, घटनाक नियन्ता भाग्य—संक्षेपमे हमर अपन क्रूर नियति—आ ई तथ्य जे हुनकरे कारण हमर सभ क्लेश उत्पन्न भेल छल, एहि सभ माध्यमसँ कामदेव हमर भावना हुनका देखा हुनकर दृढ़ता भङ्ग कऽ देलक। ओ हमर दिस ओहिना डोललाह जेना पवनमे ज्वला। नव प्रवेश करैत कामदेवक स्वागतमे मानू हुनकर रोमाञ्च स्पष्ट छल। हुनकर मन हमरा दिस दौड़ि रहल छल आ निःश्वास आगाँ-आगाँ ओकर बाट देखबैत छल। हाथक जपमाला व्रतभङ्गक भय सँ काँपि रहल छल। गालपर स्वेदबिन्दु उभरल—कानसँ लटकल दोसर माला जकाँ। हमरा देखबाक आनन्दमे पुतली फैलल आ दृष्टि विस्तृत भेल; हुनकर आँखि ओहि स्थान केँ कमलवन बना देलक। ओकर लम्बा किरणसभ मानू अच्छोद सरोवर छोड़ि स्वयं आकाश दिस उठैत खिलल कमलक समूह हो, जाहिसँ दसो दिशा भरि गेल।”

“हुनकामे प्रकट परिवर्तन देखि हमर प्रेम दूना भऽ गेल आ ओहि क्षण हम एहन दशामे पड़लहुँ, जकर वर्णन नहि कऽ सकैत छी आ जे हमर कुलक सर्वथा अयोग्य छल। हम सोचलहुँ—“निश्चय कामदेव स्वयं आँखिक ई क्रीड़ा सिखबैत अछि, जे सामान्यतः दीर्घ सुखमय प्रेमक बाद अबैत अछि; नहि तँ एहि तपस्वीक दृष्टि एहन कोना भेल? हुनकर मन सांसारिक आनन्दक मिश्रित भावसँ अनभिज्ञ अछि; तथापि हुनकर आँखि, कला कहियो नहि सीखने होइतो, प्रेमक माधुर्यधारा बहा रहल अछि, अमृत बरसा रहल अछि, आनन्दसँ आध मुनल अछि, व्याकुलतासँ मन्द अछि, निद्रासँ भारी अछि; पुतली काँपैत भटकैत अछि आ उल्लासक भारसँ शिथिल अछि, तैयो भौहक क्रीड़ासँ दीप्त अछि। केवल दृष्टिसँ, बिना शब्दक, हृदयक अभिलाषा कहि देनिहार ई असाधारण कौशल कतयसँ आयल?””

“एहि विचारसभसँ प्रेरित भऽ हम आगाँ बढ़लहुँ, आ हुनकर सङ्गी दोसर युवा तपस्वी केँ प्रणाम कऽ पुछलहुँ—“एहि पूज्यक नाम की अछि? ई कोन तपस्वीक पुत्र छथि? ई माला कोन गाछक फूलसँ गुंथल अछि? एकर पहिने कहियो नहि अनुभव भेल दुर्लभ मधुर सुगन्ध हमरा भीतर प्रबल जिज्ञासा जगा रहल अछि।”

“‘‘ओ कने मुस्करा कऽ उत्तर देलनि—‘‘कन्या, एहि प्रश्नक की आवश्यकता? तथापि अहाँक जिज्ञासा शान्त करैत छी। सुनू।’’

“‘‘‘‘देवलोकमे श्वेतकेतु नामक एक महान ऋषि रहैत छथि। हुनकर उदात्त चरित्रक यश सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमे पसरल अछि। सिद्ध, देवता आ दानवक समूह हुनकर चरणक सम्मान करैत अछि। नलकूबरसँ सेहो श्रेष्ठ हुनकर रूप तीनू लोक केँ प्रिय अछि आ देवाङ्गनासभक हृदय आनन्दित करैत अछि। एक बेर देवपूजाक लेल कमल आनय ओ स्वर्गगङ्गामे उतरलाह। गङ्गा शिवक मुस्की जकाँ धवल छल, आ ऐरावतक मदजलसँ ओकर जल मोरक पाँखपरक आँखि जकाँ चित्तीदार भऽ उठल छल। लगहिमे सहस्रदल श्वेत कमलपर विराजमान लक्ष्मी हुनका फूलसभक बीच उतरैत देखलनि। हुनका देखिते प्रेमसँ आध मुनल, आनन्दाश्रुक भारसँ काँपैत आँखिसँ हुनकर सौन्दर्य पीबय लगलीह; कोमलसँ खुलैत ओठपर पतली आङुरि रखलनि; कामदेव हुनकर हृदय विचलित कऽ देलक। केवल दृष्टिसँ ओ ऋषिक स्नेह जीत लेलीह। एक पुत्र जन्मल। लक्ष्मी ओकरा गोदिमे लऽ ‘ई अहाँक पुत्र अछि, स्वीकार करू’ कहैत श्वेतकेतु केँ सौंप देलनि। श्वेतकेतु पुत्रजन्मक सभ संस्कार कयलनि आ पुण्डरीक कमलमे जन्मल कारण ओकर नाम पुण्डरीक रखलनि। उपनयनक बाद ओ समस्त कला आ विद्याक पूर्ण चक्र हुनका सिखौलनि। अहाँ जे देखैत छी, ई सेइ पुण्डरीक छथि। आ ई फूलगुच्छ पारिजात वृक्षक अछि, जे देवता आ दानव द्वारा क्षीरसागर मथलापर उत्पन्न भेल छल। व्रतक विरुद्ध ई हुनकर कान धरि कोना पहुँचल, से आब कहैत छी। आइ मासक चौदहम तिथि होयबाक कारण कैलास गेल भगवान शिवक पूजा करबाक लेल ई हमरा संग स्वर्गसँ चललाह। बाटमे नन्दनवनक समीप फूलक रससँ मातल एक वनदेवी भेटलीह। कानमे आमक नव पल्लव छल; ठेहुन धरि झूलैत मालासभसँ शरीर पूर्णतः ढँकल; केसरा फूलक मेखला बान्हल; आ वसन्तलक्ष्मीक बढ़ाओल सुन्दर हाथपर टेक देने। ओ ई पारिजातगुच्छ तोड़ि गहिर झुकलीह आ पुण्डरीकसँ बजलीह—‘आर्य, जगतक आँखि केँ आनन्द देनिहार अहाँक एहि रूपक योग्य आभूषण ई गुच्छ बनय। कृपा कऽ एकरा कानक अग्रभागमे धारण करू; आखिर मालाक चपलता मात्र एकरामे अछि। पारिजातक जन्म आइ पूर्ण सफल हो।’ हुनकर वचन सुनि अपन सत्य प्रशंसापर लज्जित पुण्डरीकक आँखि नीचाँ झुकि गेल। ओ हुनका दिस ध्यान नहि दैत घुरि चलबाक प्रयास कयलनि। मुदा ओ वनदेवी हमरा पाछाँ-पाछाँ अबैत देखाइ पड़लीह, तँ हम कहलहुँ—‘मित्र, एहि मे की हानि? हुनकर विनम्र उपहार स्वीकार कऽ लिअ।’ एहि प्रकारँ बलजोरी, हुनकर इच्छाक विरुद्ध, ई गुच्छ कान सजा रहल अछि। आब सभ कहि देलहुँ—ई के छथि, ककर पुत्र छथि, फूल कोन अछि आ कान धरि कोना पहुँचल।’ ओ एना कहि चुकलापर पुण्डरीक कने मुस्करा कऽ हमरा बजलाह—‘अहा, जिज्ञासु कन्या, एतेक कष्ट कऽ पुछबाक की आवश्यकता छल? जँ एहि फूलक मधुर सुगन्ध अहाँ केँ नीक लगैत अछि, तँ एकरा स्वीकार करू।’ ओ आगाँ बढ़लाह, अपन कानसँ गुच्छ उतारि हमर कानमे लगा देलनि। ओकर मधुमाछीक कोमल गुंजन मानू प्रेमक प्रार्थना छल। हुनकर हाथ छुबयबाक आकुलतामे, जतए माला रखल गेल, ओतए रोमाञ्च दोसर पारिजातफूल जकाँ खिलि उठल। हमर गाल छुबयबाक आनन्दमे ओ ई नहि देखलनि जे काँपैत आङुरिसँ जपमाला सेहो लाजसंग खसि रहल छल। धरतीपर खसयसँ पहिने हम ओकरा पकड़ि लेलहुँ आ हँसी-खेलमे अपन गला पर पहिरि लेलहुँ। ओ अन्य सभ हारसँ भिन्न शोभा धारण कयलक; मानू हुनकर बाँह हमर गला घेरने हो, आ हम ओहि आलिङ्गनक आनन्द अनुभव कयलहुँ।’’

“‘‘‘‘एना जखन हमर दुनूक हृदय एक-दोसरमे लागल छल, तखन छत्र धारण करयबाली परिचारिका हमरा बजलीह—‘‘राजकुमारी, महारानी स्नान कऽ चुकलीह। घर घुरबाक समय निकट अछि। तँ अहाँ स्नान कऽ लिअ।’’ ओकर वचन सुनि हम नब पकड़ल हाथी जकाँ, जे पहिल बेर नब अङ्कुशक स्पर्शपर विद्रोह करैत अछि, अनिच्छासँ खिचि लऽ जायल गेलहुँ। स्नान लेल उतरैत आँखि हुनकासँ हटाबय कठिन भेल। बुझाइट छल, आँखि हुनकर मुखक अमृतमय सौन्दर्यमे डूबि गेल अछि; अथवा हमर रोमाञ्चित गालक झाड़िमे फँसि गेल अछि; कामदेवक बाणसँ खूँटिल अछि; अथवा हुनकर रूपमाधुर्यक डोरीसँ सिलि देल गेल अछि।’

“‘‘‘‘एहि बीच दोसर युवा तपस्वी पुण्डरीकक आत्मसंयम ढील पड़ैत देखि कोमल स्वरमे डाँटलनि—‘‘प्रिय पुण्डरीक, ई अहाँक योग्य नहि। ई साधारण लोकक चलल बाट अछि। सज्जन आत्मसंयमरूपी धनसँ सम्पन्न होइत छथि। नीच कुलक मनुष्य जकाँ अहाँ अपन अन्तःकरणक उथल-पुथल किएक नहि रोकि पबैत छी? एखन धरि अपरिचित इन्द्रियक ई आक्रमण कतयसँ आयल, जे अहाँ केँ एना बदलि रहल अछि? अहाँक पुरान दृढ़ता कतए गेल? इन्द्रियजय, आत्मनिग्रह, मानसिक शान्ति, वंशपरम्पराक पवित्रता आ सांसारिक वस्तुप्रति उदासीनता कतए गेल? गुरुक शिक्षा, वेदाध्ययन, तपस्याक सङ्कल्प, विषयसुखप्रति घृणा, व्यर्थ आनन्दसँ विरक्ति, तपमे अनुराग, भोगसँ वितृष्णा आ यौवनक आवेगपर शासन कतए गेल? सचमुच, जँ अहाँ जकाँ पुरुषो रागक स्पर्शसँ कलुषित आ मोहसँ पराजित भऽ जाइत छथि, तँ सभ ज्ञान निष्फल, धर्मग्रन्थक अध्ययन व्यर्थ, दीक्षा निरर्थक, गुरु-उपदेशक मनन बेकार, निपुणता मूल्यहीन आ विद्या फलरहित अछि। अहाँ ईहो नहि देखैत छी जे जपमाला हाथसँ खसि दोसर द्वारा उठा लेल गेल। हाय, एना आहत मनुष्यक विवेक कोना समाप्त भऽ जाइत अछि! अपन हृदय रोकू; ई निरर्थक कन्या एकरा लऽ जाय चाहैत अछि।’’

“‘‘‘‘ई सुनि किछु लज्जित भऽ ओ उत्तर देलनि—‘‘प्रिय कपिञ्जल, अहाँ हमरा एना गलत किएक बुझैत छी? अपन जपमाला छीनि लेबाक एहि उच्छृङ्खल कन्याक अपराध हम सहयबला नहि छी।’’ बनावटी क्रोधसँ सुन्दर चन्द्रमासदृश मुख, भयावह भृकुटी चढ़यबाक प्रयाससँ आरो मनोहर, आ हमरा चुम्बन करबाक लालसासँ काँपैत ओठसहित ओ हमरा बजलाह—‘‘चञ्चल कन्या, हमर जपमाला घुरौने बिना एहि स्थानसँ एक डेगो नहि बढ़ब।’’ तखन कामदेवक सम्मानमे होमयबला नृत्यक आरम्भिक पुष्पाञ्जलि जकाँ हम गला सँ एक लड़ी मोती खोललहुँ आ हुनकर बढ़ाओल हाथमे राखि देलहुँ। हुनकर आँखि हमर मुखपर स्थिर छल आ मन कतौ दूर। हम स्नान लेल चललहुँ, मुदा कोना चललहुँ से नहि जानि। माय आ सखीसब हमरा बड़ कठिनतासँ बलपूर्वक लऽ गेलीह—मानू नदी केँ उलटा बहाओल जा रहल हो। हम केवल हुनकरे चिन्ता करैत घर घुरलहुँ।’

““कन्यागृहे प्रवेश करते हुनकर वियोगदुःखमे अपनेसँ पुछ्य लगलहुँ—“हम सचमुच घुरि आयल छी कि एखनहुँ ओतहि छी? एकसरि छी कि सखीसंग? मौन छी कि किछु बाजय लागल छी? जागल छी कि सुतल? कनैत छी कि नोर रोकने? ई आनन्द अछि कि दुःख, मिलनक लालसा कि निराशा, विपत्ति कि हर्ष, दिन कि राति? ई सभ सुख अछि कि पीड़ा?” किछुओ बुझि नहि पबैत छलहुँ। प्रेमक बाटसँ अनजान, नहि जानैत छलहुँ कतए जाउ, की करू, की सुनू, की देखू, की बाजू केकरा कहू अथवा कोन उपचार खोजू। कन्याप्रासादमे प्रवेश कऽ द्वारपर सखीसब केँ विदा कयलहुँ, सेविकासभ केँ बाहर रोकलहुँ, सभ काज छोड़ि एकसरि रत्नजड़ित झरोखाक लग मुँह लगा ठाढ़ भऽ गेलहुँ। ओहि दिशा दिस तैकैत रहलहुँ, जे हुनकर उपस्थितिसँ अत्यन्त अलङ्कृत, महान निधिसँ सम्पन्न, अमृतसागरमे डुबायल, पूर्णचन्द्रक उदयसँ सुसज्जित आ दर्शनमे परम सुन्दर बनि गेल छल। ओतयसँ अबैत हवा, वनफूलक सुगन्ध अथवा पक्षीक गीतसँ सेहो हुनकर समाचार पुछबाक इच्छा होइत छल। हुनकर अनुराग तपस्यापर छल, तँ हम तपस्याक कष्टसँ सेहो ईर्ष्या कयलहुँ। प्रेमक अन्ध अनुसरणमे हुनकर लेल मौनव्रत ग्रहण कयलहुँ। तपस्वी-वेष केँ शोभा देलहुँ, कारण ओ अपनौने छलाह; यौवन केँ सौन्दर्य देलहुँ, कारण हुनकर छल; पारिजातफूल केँ मोहकता देलहुँ, कारण ओ हुनकर कान छूने छल; स्वर्ग केँ आनन्दमय मानलहुँ, कारण ओतए रहैत छलाह; आ कामदेव केँ अजेय कहलहुँ, कारण ओ एतेक सुन्दर छलाह। बहुत दूर रहितो हम हुनका दिस ओहिना मुड़ल छलहुँ, जेना कमलवन सूर्य दिस, समुद्रक ज्वार चन्द्रमा दिस, आ मोर मेघ दिस। हुनकर वियोगसँ आहत जीवन नष्ट नहि हो, एहि लेल हुनकर जपमाला ताबीज जकाँ गला पर धारण कयने रहलहुँ। देह निश्चल छल, मुदा गालपर रोमाञ्च कदम्बफूलक कुण्डल जकाँ उभरल छल—हुनकर हाथक स्पर्शक आनन्दसँ आ कानमे लगायल पारिजातगुच्छसँ, जे मधुर स्वरमे हुनकर कथा कहैत छल।”

““हमर ताम्बूलवाहिनी तरलिका सेहो हमरा संग स्नान लेल गेल छल। ओ हमरा पाछाँ किछु देरीसँ घुरलीह आ हमर दुःखी दशा देखि धीरेसँ बजलीह—“राजकुमारी, अच्छोद सरोवरक तटपर देखल ओहि देवतुल्य तपस्वीसभमे सँ एक—जिनका द्वारा ई स्वर्गवृक्षक फूलगुच्छ अहाँक कानमे लगाओल गेल—हम जखन अहाँक पाछाँ आबि रहल छलहुँ, तखन अपन दोसर स्वरूपसदृश सङ्गीक दृष्टिसँ बचि फूलल लताक डाढ़िसभक बीच कोमल डेगसँ हमरा लग अयलाह। ओ अहाँक विषयमे पुछलनि—‘सखि, ई कन्या के छथि? ककर पुत्री छथि? नाम की छनि? आ कतए जा रहल छथि?’ हम उत्तर देलियनि—‘ई चन्द्रवंशी अप्सरा गौरीक गर्भसँ उत्पन्न छथि। हुनकर पिता हंस समस्त गन्धर्वक राजा छथि। सभ गन्धर्वक पागपर लागल रत्नजड़ित कलगीक अग्रभागसँ हुनकर चरणनख चमकायल जाइत अछि। वृक्षसदृश बाँहपर गन्धर्वरानीसभक गालक प्रसाधनक चिह्न पड़ल रहैत अछि, आ लक्ष्मीक कमलहस्त हुनकर पादपीठ बनैत अछि। राजकुमारीक नाम महाश्वेता अछि। एखन ओ गन्धर्वक निवास हेमकूट पर्वत दिस चलि गेलीह।”

““हम एतेक कहि चुकलापर ओ किछु क्षण चुपचाप सोचलनि। तखन हमरा दिस दीर्घ समय स्थिर दृष्टिसँ तैकैत, मानू कोमल अनुरोध करैत होथि, बजलाह—‘सखि, अहाँ एखन युवा छी, मुदा रूपसँ सत्यनिष्ठा आ स्थिरताक उत्तम आशा जागैत अछि। तँ हमर एक निवेदन स्वीकार करू।’ हम आदरसँ हाथ जोड़ि उत्तर देलियनि—‘एना किएक कहैत छी? हम के छी? अहाँ जकाँ महात्मा, जे समस्त जगतक सम्मानक योग्य छथि, हमरा जकाँ व्यक्तिपर पाप नाश करयबाली दृष्टि मात्र डालैत छथि, ताहूमे पुण्य अर्जित करैत छथि; फेर आज्ञा देब तँ आरो पैघ अनुग्रह। निःसङ्कोच कहू, की करबाक अछि। अहाँक आदेशसँ हमरा सम्मानित करू।”

““एना कहला पर ओ मित्र, सहायक आ जीवनदाता जकाँ स्नेहपूर्ण दृष्टिसँ हमरा अभिनन्दन कयलनि। लगहिक तमालवृक्षसँ एक पल्लव तोड़ि तटक पत्थरपर पीसलनि; अपन ऊपरक वृक्षछाल-वस्त्रसँ एक टुकड़ा फाड़ि लेखपट बनौलनि; सुगन्धित हाथीक मज्जलक समान मधुर तमालरससँ अपन कमलहस्तक कनिष्ठिका-नख द्वारा किछु लिखलनि। ओकरा हमर हाथमे राखैत कहलनि—‘ई पत्र ओहि कन्या केँ एकान्तमे गुप्त रूपसँ देब।’” एतेक कहि तरलिका ताम्बूल-पेटीसँ ओ पत्र निकालि हमरा देखौलक।’

““तरलिकाक हाथसँ वृक्षछालपर लिखल पत्र लैत हम हुनकर चर्चा सँ भरि गेलहुँ। ओ केवल ध्वनि छल, तैयो स्पर्शक आनन्द दैत छल; केवल कानक विषय छल, तैयो रोमाञ्चक रूपमे समस्त अंगमे अपन व्यापक उपस्थितिक अनुभव करा रहल छल—मानू कामदेव केँ आह्वान करयबला मन्त्र हो। पत्रमे ई पङ्क्तिसभ देखलहुँ—’

मानस सरोवरक हंस, लताक छलपूर्ण उजाससँ मोहित भऽ गेल;

अहाँक मोतीमालासँ लुभायल हमर हृदय थाकल आखेटक पाछाँ दौड़ि रहल अछि।’

““ई पढ़िते प्रेमरोगी मनक दशा आरो बिगड़ि गेल—जेना बाट बिसरल मनुष्य दिशा-बोधो गमा दे; अन्हरा केँ कृष्णपक्षक राति भेटि जाय; मूकक जिह्वा काटि देल जाय; अज्ञानीक सोझाँ मायावी अपन पाँखुड़ी घुमा दे; अस्पष्ट बजयबला केँ ज्वरक प्रलाप घेरि ले; विषाक्त मनुष्य घातक निद्रामे पड़ि जाय; दुष्ट केँ नास्तिक दर्शन भेटि जाय; विक्षिप्त केँ तीव्र मदिरा पिया देल जाय; अथवा प्रेतबाधित मनुष्यपर ओकर प्रेत आरो प्रबल भऽ उठय। भीतर एहन हलचल उठल जे बाढ़िक नदी जकाँ डोलय लगलहुँ। तरलिका हुनका फेर देखने छलीह, तँ ओकर आदर एना कयलहुँ मानू ओ महान पुण्य अर्जित कयने हो, स्वर्गसुख भोगने हो, देवताक दर्शन पयने हो, सर्वोच्च वरदान प्राप्त कयने हो, अमृत पीने हो अथवा तीनू लोकक रानीक रूपमे अभिषिक्त भेल हो। सदियन संग रहयबाली परिचिता होइतो ओकरासँ एना आदरसँ बजलहुँ मानू दुर्लभ अतिथि आ एखन धरि अपरिचित हो। ओ पाछाँ ठाढ़ छलीह, तैयो हमरा जगतसँ ऊपर बुझाइत छलीह। ओकर गालपर लटकल घुँघरार केश केँ स्नेहसँ सहलौलहुँ आ स्वामिनी-दासीक भेद पूर्णतः बिसरा बेर-बेर पुछलहुँ—“अहाँ हुनका कोना

देखलहुँ? ओ अहाँसँ की कहलनि? कतेक काल ओतए रहलहुँ? ओ हमरा पाछाँ कतेक दूर धरि अयलाह?” सभ सेविका केँ बाहर रोकि ओकर कथा सुनैत सम्पूर्ण दिन महलमे ओकरहि संग बितालहुँ। आकाशमे लटकल सूर्यगोल हमर हृदयक ताप बाँटि लाल भऽ गेल। अरुण सूर्यक दर्शन लेल व्याकुल सूर्यप्रभाक लक्ष्मी कमल-शय्या सजबैत प्रेममूर्छासँ पीयर पड़ि गेलीह। लाल गेरूसँ रँगायल जलपर पड़ैत गुलाबी सूर्यकिरण कमलवनसँ उठैत छल, जे वनहाथीक झुण्ड जकाँ जुटल छल। आकाशक उतारसँ थाकि विश्राम लेल उत्सुक सूर्यरथक घोड़ासभक आनन्दपूर्ण हिनहिनाहटक प्रतिध्वनिसहित दिन मेरुपर्वतक गुफामे प्रवेश कयलक। मधुमाछी लाल कमलक मुनैत पातक भीतर घुसल, तखन कमलवन आँखि मुनैत लगल—मानू सूर्यक विदाइपर मूर्छासँ हृदय अन्हार भऽ गेल हो। चक्रवाकक जोड़ी, जे एक-दोसरक हृदय संगहि खायल कमलनालक खोखलमे सुरक्षित नुका रखने छल, अलग भऽ गेल। एतबे मे छत्रवाहिनी हमरा लग आबि बजलीह—“राजकुमारी, ओहि युवा तपस्वीसभमे सँ एक द्वारपर छथि। कहैत छथि जे जपमाला माँगय आयल छथि।” तपस्वीक नाम सुनिते देह निश्चल रहितो हम मानू द्वार धरि पहुँचि गेलहुँ। हुनकर आगमनक कारण अनुमान कऽ दोसर द्वारपाल केँ बजा कहलहुँ—“जाउ, हुनका भीतर आनू।” किछुए क्षणमे युवा तपस्वी कपिञ्जल केँ देखलहुँ। पुण्डरीकक लेल ओ ओहिना छलाह जेना सौन्दर्यक लेल यौवन, यौवनक लेल प्रेम, प्रेमक लेल वसन्त, आ वसन्तक लेल दक्षिण पवन—सचमुच हुनकर योग्य मित्र। धूसरकेश वृद्ध द्वारपालक पाछाँ ओ चाँदनीक पाछाँ सूर्यप्रकाश जकाँ आबि रहल छलाह। समीप अबिते हुनकर आकृतिसँ दुःख, उदासी, व्याकुलता, प्रार्थना आ अपूर्ण लालसा प्रकट भेल। हम आदरसँ उठि हुनका आसन देलहुँ। बड़ आग्रहक बाद अनिच्छासँ आसन स्वीकार कयलनि; हम हुनकर चरण धोइ अपन उत्तरीयक रेशमी कोरसँ सुखौलहुँ आ स्वयं लगहिमे नाडट धरतीपर बैसि गेलहुँ। ओ किछु क्षण बाजय लेल उद्यत रहि लगमे ठाढ़ तरलिका दिस देखलनि। दृष्टिमात्रसँ हुनकर अभिप्राय बुझि हम कहलहुँ—“आर्य, ई हमरा सँ अलग नहि अछि। निर्भय भऽ बाजू।” तखन कपिञ्जल बजलाह—“राजकुमारी, हम की कही? लाजसँ हमर स्वर वाणी धरि पहुँचि नहि रहल अछि। वनमे कन्द-मूल खा निर्विकार तपस्या करयबला सन्यासीक सम्बन्ध ओहि प्रेममोहसँ कतेक दूर, जे चञ्चल हृदयमे घर करैत, सांसारिक भोगक लालसासँ कलुषित आ कामदेवक अनेक क्रीड़ासँ भरल अछि! देखू, ई सभ कतेक अनुचित अछि। भाग्य की आरम्भ कऽ देलक? ईश्वर मनुष्य केँ कतेक सहज उपहासक पात्र बना दैत छथि! नहि जानि ई वृक्षछालक वस्त्रसँ मेल खाइत अछि कि नहि, जटाक योग्य अछि कि नहि, तपस्याक अनुरूप अछि कि नहि, पवित्र शिक्षासँ सङ्गत अछि कि नहि। एहन उपहास कहियो नहि सुनल गेल। मुदा कथा कहनाइ आवश्यक अछि। आन कोनो बाट देखाइ नहि पड़ैत; कोनो उपचार बुझाइ नहि दैत; कोनो शरण उपलब्ध नहि; कोनो उपाय सोझाँ नहि। जँ बात अनकहल रहि गेल तँ आरो पैघ संकट उठत। मित्रक जीवन अपन जीवनक मूल्यपर सेहो बचाओल जाय; तँ कथा कहैत छी।”

“““अहाँक सोझाँ हम पुण्डरीक केँ कठोरतासँ डाँटने छलहुँ। ओ बात कहि क्रोधमे हुनका छोड़ि फूल चुनबाक काज त्यागि दोसर स्थानपर चलि गेलहुँ। अहाँ चलि गेलापर किछु काल अलग रहलहुँ। फेर ओ की कऽ रहल छथि, एहि चिन्तासँ घुरि एक गाछक ओटसँ ओहि स्थान केँ देखलहुँ। ओ ओतए नहि छलाह। मनमे विचार उठल—‘हुनकर मन प्रेमक दास भऽ गेल छल, सम्भवतः ओ कन्याक पाछाँ गेलाह; आब ओ चलि गेलीह तखन चेतना घुरल होयतनि आ हमरा सोझाँ अबयमे लाज होइत होयतनि। अथवा हमरा पर क्रुद्ध भऽ चलि गेलाह, वा हमरा खोजैत आन स्थानपर गेलाह।’ एना सोचि किछु समय प्रतीक्षा कयलहुँ। जन्मसँ एखन धरि एक क्षणक लेलो हुनकासँ अलग नहि भेल छलहुँ; एहि अपरिचित वियोगसँ व्याकुल भऽ फेर सोचलहुँ—‘दृढ़ता गमा देबाक लाजमे ओ अपन कोनो हानि नहि कऽ बैसथि। लाज मनुष्यसँ किछुओ करा सकैत अछि। हुनका एकसरि छोड़ब उचित नहि।’ ई निश्चय कऽ तत्परतासँ खोजय लगलहुँ। चारू दिस खोजितो दर्शन नहि भेल। मित्रस्नेहसँ चिन्तित, तरह-तरहक अनिष्ट कल्पना करैत दीर्घ काल धरि भटकलहुँ। गाछक खुला स्थान, चन्दनक पाँतिक बीच लताक कुञ्ज, सरोवरक तट—सभ ठाम सावधानीसँ चारू दिस देखैत खोजलहुँ। अन्तमे एक सरोवर लग लताक घन कुञ्जमे हुनका देखलहुँ। ओ स्थान वसन्तक जन्मभूमि जकाँ परम सुन्दर छल; घनताक कारण मानू केवल फूल, मधुमाछी, कोइली आ मोरसँ बनल हो। पुण्डरीक पूर्णतः निष्क्रिय छलाह—चित्रित, उकेरल, जड़, मृत, सुतल अथवा समाधिस्थ व्यक्ति जकाँ। निश्चल होइतो उचित बाटसँ भटकल; एकसरि होइतो कामदेवसँ आविष्ट; भीतर प्रज्वलित होइतो पीयर मुख उठौने; ध्यानहीन होइतो प्रेम केँ हृदयमे स्थान देने; मौन रहितो प्रेमक महान दुःखक कथा कहैत; पथरपर बैसल होइतो मृत्यु केँ सोझाँ ठाढ़। कामदेव हुनका पीड़ा दऽ रहल छल, मुदा अनेक शापक भय सँ स्वयं अदृश्य रहल। हुनकर महान निश्चलतासँ बुझाइत छल जे इन्द्रियसभ हृदयमे बसल प्रेम देखय भीतर प्रवेश कऽ असह्य तापसँ भयभीत भऽ मूर्छित भऽ गेल हो; अथवा मनक उथल-पुथलपर क्रुद्ध भऽ हुनका छोड़ि चलि गेल हो। आँखि दृढ़तासँ मुनल छल, भीतर प्रेमाग्नि तीक्ष्ण धुआँसँ मलिन; पलकक बीचसँ निरन्तर नोरक आँधी बहि रहल छल। बाहर निकलैत निःश्वास लताक समीपवर्ती केसर केँ कैपा दैत छल; ओ निःश्वास हुनकर ओठक लालिमा लऽ एना निकलैत मानू हृदय जरा रहल कामदेवक अरुण ज्बला अचानक उठि रहल हो। बामा गालपर हाथ टिकल छल। ऊपर उठैत निर्मल नखकिरणसँ कपारपर मानू शुद्ध चन्दनक नब तिलक बनि गेल छल। पारिजातक कानफूल एखनहि उतारल गेल छल; तकर शेष सुगन्धक लालसामे ऊपर चढ़ैत मधुमाछी अपन कोमल गुंजनक बहाने प्रेमवशीकरण मन्त्र पढ़ैत कानपर तमालपल्लव अथवा नीलकमलक शोभा दऽ रहल छल। प्रेमक रोमाञ्चसँ उठल रोम मानू कामदेवक फूलबाण शरीरक रोमछिद्रमे घुसि टूटल नोकक समूह भऽ अंगपर रहि गेल हो। दहिना हाथसँ वक्षस्थलपर मोतीक माला धारण कयने छलाह। नखक चमकैत किरणसँ गुंथल ओ माला हथेलीक स्पर्शसुखमे रोमाञ्चित लगैत, आ उच्छृङ्खलताक ध्वज जकाँ छल। गाछसभ हुनका प्रेमशमनक चूर्ण जकाँ परागसँ ढकैत छल। पवनमे डोलैत अशोकपल्लव सहला अपन अरुणिमा हुनका दैत छल। वनलक्ष्मी नव फूलगुच्छसँ मधुबिन्दु छिड़कि कामदेवक अभिषेक करैत छलीह। कामदेव चम्पकक कलीसँ प्रहार करैत छल; मधुमाछी सुगन्ध पीबैत, तँ कली धुआँ छोड़ैत अग्निबाण जकाँ लगैत। वनक अनेक गन्धसँ उन्मत्त मधुमाछीक गुंजनक बहाने दक्षिण पवन हुनका डाँटैत छल।

मधुर उन्मादमे 'वसन्तक जय' पुकारैत कोइलीक स्वरक बहाने मधुमास हुनका भ्रमित करैत छल। उदित चन्द्रमा जकाँ पीयरता ओढ़ने; ग्रीष्मक गङ्गाधारा जकाँ क्षीण; भीतर आगि लागल चन्दनवृक्ष जकाँ मुरझाइत। मानू दोसर जन्ममे प्रवेश कऽ भिन्न मनुष्य बनि गेलाह—अपरिचित, अनजान, रूपान्तरित। दुष्ट आत्मासँ ग्रस्त, प्रबल दानवक अधीन, महाप्रेतसँ आविष्ट, मदोन्मत्त, मोहित, अन्हारा, बहिरा, मूक, आनन्द आ प्रेममे पूर्णतः विलीन—कामदेवक अधीन मनक दासताक चरम सीमा धरि पहुँचि गेल छलाह; पुरान पुण्डरीक केँ चिन्हब असम्भव छल।'

““दीर्घ समय धरि स्थिर दृष्टिसँ हुनकर दुःखमय दशा देखैत हम निराश भऽ गेलहुँ। काँपैत हृदयमे विचार उठल—'ई सचमुच ओहि कामदेवक प्रभाव अछि, जकर शक्ति केँ केओ रोकि नहि सकैत। ओ एक क्षणमे पुण्डरीक केँ एहन असाध्य दशामे पहुँचा देलक। नहि तँ ज्ञानक एहन भण्डार अचानक निष्फल कोना भऽ जाइत? बाल्यकालहिसँ दृढ़ स्वभाव, अडिग आचरण, आ जकर जीवन हमरा तथा अन्य युवा तपस्वीसभक ईर्ष्याक विषय छल—हाय, हुनकामे ई अद्भुत परिवर्तन! एतए ओ सामान्य मनुष्य जकाँ ज्ञानक तिरस्कार, तपस्याक शक्तिक अवहेलना आ गहिर स्थिरताक जड़ि उखाड़ि कामदेवसँ जड़ भऽ गेल छथि। जीवन भरि अविचलित रहयबला यौवन सचमुच दुर्लभ अछि।' हम आगाँ बढ़ि ओहि पत्थरपर हुनकर लग बैसलहुँ। काँधपर हाथ राखि, आँखि एखनहुँ मुनल होइतो पुछलहुँ—'प्रिय पुण्डरीक, ई सभक अर्थ हमरा कहू।' बहुत कठिन परिश्रमसँ ओ आँखि खोललनि। दीर्घ काल मुनल रहबाक कारण मानू दुनू पलक परस्पर चिपकि गेल छल। निरन्तर कनने आँखि लाल, नोरसँ भरल, पीड़ासँ काँपैत—श्वेत रेशमसँ ढँकल लाल कमलवन जकाँ लगैत छल। अत्यन्त शिथिल दृष्टिसँ हमरा बहुत काल तकलनि; तखन गहिर निःश्वास छोड़ि, लाजसँ टूटैत स्वरमे धीरे-धीरे पीड़ापूर्वक बजलाह—'प्रिय कपिञ्जल, जे बात अहाँ जानिते छी, से किएक पुछैत छी?' ई सुनि हम सोचलहुँ जे पुण्डरीक असाध्य रोगसँ पीड़ित छथि, तथापि गलत बातपर बढ़ैत मित्र केँ प्रेमीजन जतेक सम्भव हो रोकबाक पूर्ण प्रयास करबाक चाही। तँ उत्तर देलियनि—'प्रिय पुण्डरीक, हम सभ बुझैत छी। केवल एतबे पुछैत छी—अहाँ जे ई आचरण आरम्भ कयलहुँ, से गुरुसभ सिखौने छथि, धर्मग्रन्थमे पढ़ल अछि, पवित्रता अर्जित करबाक उपाय अछि, तपस्याक कोनो नब रूप, स्वर्गक बाट, गूढ़ व्रत, मोक्षसाधन अथवा आन कोनो अनुशासन? एहन विचार मनमे अनबो अहाँक योग्य नहि, फेर देखब आ कहब तँ दूरक बात। मूर्ख जकाँ अहाँ नहि देखैत छी जे ओ दुष्ट कामदेव अहाँ केँ उपहासक पात्र बना रहल अछि। कामदेवक पीड़ा मूर्खहि भोगैत अछि। जे विषय नीच लोकक सम्मानित मुदा सज्जनक निन्दित, ओहिमे सुखक आशा कोना? जे मनुष्य इन्द्रियसुखमे सुख मानैत अछि, जकर अन्त दुःखमे होइत अछि, ओ कर्तव्य बुझि विषवृक्ष सींचैत अछि; कमलमाला बुझि तलवारक पातबाली लता आलिङ्गन करैत अछि; कृष्णागुरुक धुआँ बुझि करैत साँप पकड़ैत अछि; मणि बुझि दहकैत अडार छुबैत अछि; कमलनाल बुझि जङ्गली हाथीक गदासदृश दाँत उखाड़य चाहैत अछि। अहाँ इन्द्रियक वास्तविक स्वरूप जानैत छी, तथापि जुगनूक उजास जकाँ अपन ज्ञान केवल नुकाबय लेल धारण कयने छी; कारण उन्मत्त वेगमे गदगद नदी जकाँ बाट छोड़ैत इन्द्रियसभ केँ रोकैत नहि छी, आ उथल-पुथल करैत मन केँ वशमे नहि करैत छी। आखिर ई कामदेव अछि के? अपन दृढ़तापर भरोसा कऽ एहि दुष्ट केँ धिक्कारु।””

““हम एना बजलहुँ तखन ओ पलकक बीचसँ बहैत नोर हाथसँ पोंछलनि। एखनहुँ हमरा पर टेक देने, हमर बातक प्रतिवाद करैत बजलाह—'मित्र, एतेक बातक की आवश्यकता? कम सँ कम अहाँ तँ अछूता छी! साँपक विषसँ कूर कामदेवक बाणक सीमा भीतर अहाँ नहि पड़लहुँ। दोसर केँ शिक्षा देब सहज अछि; आ जखन ओ दोसर व्यक्ति अपन इन्द्रिय आ मन पर अधिकार रखैत हो, देखैत-सुनैत हो, सुनल बात बुझैत हो, भला-बुराक भेद कऽ सकैत हो, तखने सलाहक पात्र होइत अछि। मुदा ई सभ हमरा सँ बहुत दूर चलि गेल। स्थिरता, विवेक, दृढ़ता आ विचारक चर्चा समाप्त भऽ गेल। प्रबल प्रयास बिना हम साँसो कोना लैत छी? उपदेशक समय बहुत पहिने बीति गेल; दृढ़ताक अवसर हाथसँ निकलि गेल; विचारक घड़ी समाप्त; स्थिरता आ निर्णयक ऋतु बीतल। एहि समय अहाँक अतिरिक्त के उपदेश दऽ सकैत अछि अथवा हमर भटकैत मन रोकबाक प्रयास कऽ सकैत अछि? अहाँक अतिरिक्त हम केकर बात सुनब? संसारमे अहाँ जकाँ मित्र आओर के अछि? हमरा की भऽ गेल जे अपना केँ रोकि नहि पबैत छी? एक क्षणमे अहाँ हमर दयनीय दशा देखि लेलहुँ। तँ उपदेशक समय आब बीति चुकल। जाधरि साँस अछि, प्रलयकालक बारह सूर्यक किरण जकाँ प्रचण्ड प्रेमज्वरक कोनो उपचार चाहैत छी। अंग पाकि रहल अछि, हृदय उबलि रहल अछि, आँखि जरि रहल अछि, सम्पूर्ण देह आगि बनल अछि। तँ समय जे माँगैत अछि से करू।' एतेक कहि ओ मौन भऽ गेलाह। हम बेर-बेर हुनका चेताबय चाहलहुँ; हुनकहि जकाँ उदाहरणसभ आ पुराणक कथासँ भरल धर्मग्रन्थक शुद्ध शिक्षाक आधारपर कोमल स्नेहपूर्ण उपदेश देलहुँ, मुदा ओ सुनलनि नहि। तखन सोचलहुँ—'ओ बहुत आगाँ निकलि गेल छथि; घुराओल नहि जा सकैत। उपदेश आब निष्फल अछि। केवल जीवन बचयबाक प्रयत्न करबा।' ई निश्चय कऽ उठलहुँ। सरोवरसँ रसदार कमलनाल उखाड़लहुँ; जलक चिह्न लागल कमलपात लेलहुँ; भीतरक सुगन्धित परागसँ मधुर अनेक प्रकारक कमल तोड़लहुँ; आ ओहि कुञ्जक चट्टानपर कमलक शय्या बनौलहुँ। ओ सुखसँ ओहिपर सुतलाह। लगहिक चन्दनवृक्षक कोमल डाढ़ि पीसि स्वभावतः मधुर, बर्फ जकाँ शीतल रससँ कपारपर तिलक देलहुँ आ माथसँ पएर धरि शरीर लेपलहुँ। समीपक गाछक फाटल छालक दरारिसँ कपूरक टुकड़ा निकालि हाथमे चूर्ण कऽ स्वेद शान्त कयलहुँ। निर्मल जल टपकैत केलाक पातसँ हवा कयलहुँ। वृक्षस्थलपर लगाओल चन्दनसँ वृक्षछालक वस्त्र भीजि गेल छल। बेर-बेर नव कमलशय्या बिछबैत, चन्दन लेपैत, स्वेद पोंछैत आ लगातार हवा करैत मनमे विचार उठल—'कामदेवक लेल सचमुच किछुओ कठिन नहि। वनगृहमे मृगशावक जकाँ सरल आ सन्तुष्ट पुण्डरीक आ गन्धर्वराजकुमारी महाश्वेता—सौन्दर्यक समस्त तारामण्डल—दुनू कतेक भिन्न! तथापि कामदेवक लेल संसारमे ने किछु कठिन, ने दुष्कर, ने अजेय, ने असम्भव। ओ अत्यन्त कठिन काजो तिरस्कारपूर्वक आरम्भ करैत अछि, आ केओ ओकर प्रतिरोध नहि कऽ सकैत। चेतन प्राणीक की बात, जँ ओकर इच्छा हो तँ जड़ वस्तुसभ केँ सेहो मिला दैत अछि। रातिक कमलवन सूर्यक किरणसँ प्रेम करय लगैत अछि; दिनक कमल चन्द्रमाप्रतिक घृणा छोड़ि दैत अछि; राति दिनसँ मिलि जाइत अछि; चाँदनी अन्हारक सेवा करैत अछि;

छाया प्रकाशक सोझाँ ठाढ़ होइत अछि; बिजुरी मेघमे स्थिर रहैत अछि; बुढ़ाड़ी यौवनक संग चलैत अछि। अथाह गहिराइ बला समुद्रसदृश पुण्डरीक केँ घासक तिनका जकाँ हलुक बना देबासँ अधिक कठिन की हो सकैत अछि? हुनकर पूर्वक तपस्या कतए आ वर्तमान दशा कतए! सचमुच असाध्य रोग हुनका पकड़ि लेलक। आब हम की करू, कोन प्रयत्न, कतए जाउ, कोन शरण, साधन, सहायता, उपचार, योजना वा उपायसँ जीवन टिकत? कोन कौशल, युक्ति, माध्यम, सहारा, विचार वा सान्त्वनासँ ओ जीवित रहताह? एहन अनेक विचार उदास हृदयमे उठल। फेर सोचलहुँ—‘एहि निष्फल चिन्तामे पड़ल रहला सँ की लाभ? नीक वा अधलाह कोनो उपायसँ हुनकर जीवन बचयब अनिवार्य अछि। हुनका बचयबाक एकमात्र बाट महाश्वेतासँ मिलन अछि। यौवनक कारण ओ लजालु छथि; प्रेमक व्यवहार केँ व्रतक विरुद्ध, अनुचित आ अपना लेल उपहास मानैत छथि; तँ अन्तिम साँस धरियो स्वयं हुनका लग जा अपन इच्छा पूर्ण नहि करताह। ई प्रेमरोग विलम्ब सहन नहि करैत। सज्जन मानैत छथि जे निन्दनीय कृत्यसँ सेहो मित्रक जीवन बचाओल जाय। तँ ई लज्जाजनक आ अनुचित काज होइतो हमरा लेल आवश्यक भऽ गेल। आन की कयल जाय? दोसर बाट की अछि? हम अवश्य महाश्वेताक लग जायब आ हुनकर दशा कहब।’ एना सोचि कोनो बहाना बना ओ स्थान छोड़लहुँ। हुनका नहि कहलियनि, कारण कहीं हमरा अनुचित काजमे लागल बुझि लाजसँ रोकि नहि दैथि। परिस्थिति एहन अछि; आब देवी, समयक अनुकूल, एतेक महान प्रेमक योग्य, हमर आगमनक अनुरूप आ अहाँक लेल उचित काजक निर्णय स्वयं करू।’ एतेक कहि ओ मौन भऽ गेलाह आ हम की उत्तर देब, से देखबाक लेल दृष्टि हमर मुखपर स्थिर कयलनि। हुनकर बात सुनि हम मानू अमृतमय आनन्दक सरोवरमे डुबि गेलहुँ, प्रेममाधुर्यक समुद्रमे निमग्न, सभ सुखक ऊपर तैरैत, समस्त इच्छाक शिखरपर चढ़ैत, उल्लासक अन्तिम सीमापर विश्राम करैत। आनन्दक नोरसँ सुख प्रकट भेल। पलक मुनल नहि छल तँ निर्मल, पैघ, भारी बून निकलल; निरन्तर पौतिक कारण माला जकाँ गुँथल; अचानक लाजसँ मुख कने झुकल छल तँ गाल नहि छुबि सकल। तुरन्त सोचलहुँ—‘अहा, कामदेव हुनका सेहो हमरा जकाँ फँसा लेलक! हमरा पीड़ा दैत-दैत कम सँ कम एतेक कृपा तँ कयलक। जँ पुण्डरीक सचमुच एहन दशामे छथि, तँ कामदेव हमर कोन सहायता नहि कयलक, हमर लेल की नहि कयलक, ओकर जकाँ मित्र के? शान्तचित्त कपिञ्जलक ओठसँ सपनामे सेहो झूठ कथा कोना निकलि सकैत अछि? जँ बात सत्य अछि, तँ हुनकर सोझाँ हमरा की करब आ की कहब?’ हम एना विचारि रहल छलहुँ कि एक द्वारपालिका जल्दीसँ भीतर आबि बजलीह—“राजकुमारी, सेविकासँ महारानी केँ ज्ञात भेलनि जे अहाँ अस्वस्थ छी; ओ एखन आबि रहल छथि।” ई सुनि पैघ भीड़क सम्पर्कसँ बचबाक लेल कपिञ्जल तुरन्त उठि बजलाह—“राजकुमारी, आब पैघ विलम्बक कारण उपस्थित भऽ गेल। तीनू लोकक शिरोमणि सूर्य डूबि रहल छथि; हम चलैत छी। मुदा प्रिय मित्रक जीवन बचयबाक लेल अपन हाथ जोड़ि ई लघु निवेदन अर्पित करैत छी; से हमर सर्वाधिक मूल्यवान निधि अछि।” हमर उत्तरक प्रतीक्षा बिना ओ कठिनतासँ निकललाह, कारण महारानीक आगमन सूचित करैत सेवकसमूह प्रवेश करैत द्वार रोकने छल। सोने छड़ी धारण कयने द्वारपालिकासभ; सुगन्धित लेप, प्रसाधन, फूल, ताम्बूल लैत आ चँवर डोलबैत अन्तःपुराधिकारी; हुनकर पाछाँ कुबड़, बर्बर, बहिरा, नपुंसक, बौना आ बहिर-मूक लोक छल।’

“‘तखन महारानी हमरा लग अयलीह। बहुत काल रहि ओ घर घुरलीह; मुदा हमरा हृदय दूर छल, तँ ओ की कयलनि, की बजलीह अथवा की प्रयत्न कयलनि, किछुओ ध्यान नहि रहल। हुनकर विदाइ धरि हरितालवर्ण कपोत जकाँ उज्ज्वल घोड़ाबला, कमलक जीवनस्वामी आ चक्रवाकक मित्र सूर्य अस्त भऽ चुकल छल। पश्चिम दिशाक मुख लाल भऽ रहल छल; कमलवन हरियर अन्हारमे बदलैत; पूर्व दिशा नील भऽ रहल छल। मनुष्यलोक प्रलयसमुद्रक ओहि कृष्ण लहरि जकाँ अन्हारसँ आच्छादित भऽ गेल, जे नरकक कादोसँ गदगद हो। की करब से नहि बुझि तरलिकासँ पुछलहुँ—“तरलिका, अहाँ नहि देखैत छी हमर मन कतेक भ्रमित अछि? अनिश्चिततासँ इन्द्रियसभ व्याकुल, हम स्वयं कनेको नहि बुझि पबैत छी की करब। कपिञ्जल आब चलि गेलाह, आ हुनकर कथा अहाँक सोझाँ कहल गेल; तँ उचित उपाय अहाँ कहू। जँ हम नीच कुलक कन्या जकाँ लाज फेकि दिअ, आत्मसंयम छोड़ि दिअ, विनय त्यागि लोकनिन्दाक उपेक्षा करू, सदाचार उल्लङ्घन करू, मर्यादा कुचलू, कुलीन जन्मक तिरस्कार करू, प्रेमान्ध बाटक अपयश स्वीकार करू, आ पिताक अनुमति वा मायक स्वीकृति बिना स्वयं हुनका लग जा अपन हाथ अर्पित करि दिअ, तँ माता-पिताप्रति ई उल्लङ्घन महान अपराध होयत। मुदा जँ दोसर विकल्प चुनि धर्मक अनुसरण करी, तँ पहिने मृत्यु स्वीकार करब; आ संगहि परम श्रद्धेय कपिञ्जलक हृदय तोड़ब, जे हुनका पहिनेसँ प्रेम करैत छथि आ स्वयं एतए अयलाह। फेर जँ हमर कृत्यसँ हुनकर आशा नष्ट भऽ ओ पुरुष मरि जाइत छथि, तँ तपस्वीक मृत्यु कारण बनबाक महान पाप लगत।” हम एना विचार करैत छलहुँ कि चन्द्रोदयक हलुक उजाससँ पूर्व दिशा धूसर भऽ गेल—वसन्तमे फूलक परागसँ ढँकल वनपाँति जकाँ। चाँदनीमे पूर्व दिशा एना धवल देखाइत छल मानू चन्द्ररूपी सिंह अन्धकाररूपी हाथीक कपार फाड़ि मोती चूर्ण कऽ देने हो; अथवा पूर्वाचलक अप्सरासभक वक्षसँ झरल चन्दनधूलिसँ पीयर पड़ल हो; वा निरन्तर चलैत समुद्रक लहरिपर पवनसँ उड़ल, ज्वार उतरला पर उधरल द्वीपक बालुकासँ उज्ज्वल हो। चाँदनी धीरे-धीरे नीचाँ उतरि रातिक मुख चमका देलक—मानू चन्द्रमा देखिते राति कोमल मुस्की हँसलीह आ दाँतक चमक फैलि गेल। फेर चन्द्रमण्डलसँ सन्ध्या एना शोभित भेल, मानू पातालसँ उठैत शेषनागक फणमण्डल धरती चीरि बाहर आबि गेल हो। तकर बाद मनुष्यलोक केँ आनन्द देनिहार आ प्रेमीसभक प्रिय चन्द्रमासँ राति सुन्दर भऽ उठल। ओ बाल्यावस्था छोड़ि कामदेवक सहायक बनि रहल छल; भीतर युवा कान्ति उभरल; प्रेमक क्रीड़ा भोगबाक लेल एकमात्र उपयुक्त अमृतमय प्रकाश; साकार यौवन जकाँ आकाश चढ़ैत। उदित चन्द्रमा हमरा एना देखाइत छल मानू एखनहि छोड़ल समुद्रक मूँगा सँ लाल हो; पूर्वाचलरूपी सिंहक पंजासँ आहत अपन मृगक रक्तसँ रँगायल हो; प्रणयकलहमे स्वामी केँ ठोकर मारैत रोहिणीक पएरक अलक्तकसँ चिह्नित हो; वा नब प्रज्वलित तेजसँ अरुण भऽ उठल हो। भीतर प्रेमान्ति जरैत छल, तैयो हृदय अन्हार; देह तरलिकाक गोदिमे, मुदा हम कामदेवक बन्दिनी; आँखि चन्द्रमापर, मुदा दर्शन मृत्युक। हम सोचलहुँ—‘मधुमास, मलयपवन आ एहन सभ वस्तु एकठाम जुटल अछि; तकरा संग एहि दुष्ट पापी चन्द्रमाक उपस्थितियो सहन नहि होइत। हृदय एकरा नहि झेलि सकैत। एकर

उदय ज्वरसँ जरैत मनुष्यपर अडारक वर्षा जकाँ, शीतरोगीपर हिमपात जकाँ, वा विषसँ मूर्छित मनुष्यपर करैत साँपक दंश जकाँ अछि।’ एना सोचिते मूर्छा आँखि मूनि देलक—दिनकमल केँ मुरझौनिहार चाँदनीसँ आयल निद्रा जकाँ। किछुए कालमे व्याकुल तरलिकाक पंखा आ चन्दनलेपसँ चेतना धुरल। ओकरा कनैत देखलहुँ, निरन्तर नोरसँ मुख मलिन; भीजल चन्द्रकान्त मणिक नोक कपारपर दबौने; मानू साकार निराशा ओकरा आविष्ट कयने हो। हम आँखि खोललहुँ तखन ओ पएरपर खसि पड़ल आ गाढ़ चन्दनलेपसँ एखनहुँ भीजल हाथ जोड़ि बजलीह—“राजकुमारी, लाज वा माता-पिताक अनादरक चिन्ता किएक? कृपा करू; हमरा पठाउ, हम अहाँक हृदयप्रिय केँ लऽ आनब। उठू, वा स्वयं ओतए चलू। आब प्रबल चन्द्र उदित भेला पर अनेक उन्मत्त लहरि फुला रहल समुद्रसदृश एहि प्रेम केँ अहाँ सहि नहि सकब।” ओकर बातक उत्तर देलहुँ—“पागलि, हमरा प्रेमसँ की? ई रातिक कमलक स्वामी चन्द्रमा अछि, जे सभ सङ्कोच दूर करैत, बचबाक उपाय खोजब बन्द करैत, सभ बाधा नुका दैत, सभ सन्देह हरैत, सभ भयक तिरस्कार करैत, लाजक जड़ि उखाड़ैत, प्रियक लग स्वयं जयबाक पापपूर्ण चपलतापर परदा दैत, सभ विलम्ब टारैत, आ केवल हमरा पुण्डरीक अथवा मृत्यु लग लऽ जयबाक लेल आयल अछि। तँ उठू; जाधरि जीवन अछि, हम हुनकर पाछाँ जायब आ प्रिय होइतो हमर हृदय केँ पीड़ा देनिहार हुनकर सम्मान करब।” एतेक कहि ओकर सहारा लऽ उठलहुँ; प्रेमजनित मूर्छाक दुर्बलतासँ अंग एखनहुँ अस्थिर छल। उठिते दहिना आँखि फड़कय लागल—अमङ्गलक सङ्केत। अचानक भयभीत भऽ सोचलहुँ—“भाग्य आब कोन नब विपत्ति देखाबय चाहैत अछि?”

““आकाश चाँदनीसँ भरि गेल छल। एखन बहुत ऊपर नहि चढ़ल चन्द्रमण्डल मानू ब्रह्माण्ड-मन्दिरक जलनिकासी-नलिका बनि स्वर्गगङ्गाक हजार धार छोड़ि रहल हो, अमृतसमुद्रक लहरि उँडेलि रहल हो, चन्दनरसक अनेक झरना बहा रहल हो, सुधाक बाढ़ि अनैत हो। जगत मानू श्वेतद्वीपक जीवन आ सोमलोक देखबाक आनन्द सीखि रहल छल। गोल पृथ्वी क्षीरसागरक गहिराइ सँ चन्द्रमा द्वारा बाहर उँडेलल जा रहल छल; चन्द्रमा महावराहक गोल दाँत जकाँ लगैत छल। प्रत्येक घरमे स्त्रीसभ खिलल कमलसुगन्धित चन्दनजलसँ चन्द्रोदयक अर्घ्य दऽ रहल छलीह। सुन्दर स्त्रीसभ द्वारा पठाओल हजारो दूतिसँ राजमार्ग भरल छल। प्रियसँ मिलय चलल कन्यासभ नील रेशममे मुँह ढँकि चारु दिस दौड़ि रहल छलीह; उज्ज्वल चाँदनीक भय सँ काँपैत ओ नीलकमलक कान्तिमे नुकायल श्वेत दिनकमलवनक अप्सरा जकाँ लगैत छलीह। रातिरूपी नदीमे आकाश बालुकाद्वीप बनि गेल छल; खिलल रातिक कमलवनक घन परागसँ मध्य भाग धवल। गृहसरोवरक कुमुदवन जागि रहल छल; प्रत्येक फूलसँ चिपकल मधुमाछी ओकर चारु कात घेरा देने छल। मनुष्यलोक समुद्र जकाँ चन्द्रोदयक आनन्द समेटि नहि पबैत, आ मानू प्रेम, उत्सव, हँसी आ कोमलतासँ बनल हो। चन्द्रकान्त मणिक नलिकासँ झरैत जलधाराक उल्लासमे बकबक करैत मोरक मधुर स्वर सँ सन्ध्या मनोहर छल।’

““तरलिका सुगन्धित चूर्ण, इत्र, लेप, ताम्बूल आ अनेक प्रकारक फूल लऽ हमर संग चललीह। मूर्छाक समय लगाओल चन्दनलेपसँ भीजल ओ रूमाल सेहो हमरा लग छल; ओकर रोआँ कने अस्त-व्यस्त आ आध सुखायल चन्दनक चिह्नसँ धूसर छल। गला पर जपमाला, कानक अग्रभाग केँ चुमैत पारिजातगुच्छ, आ माणिक्यक किरणसँ बनल जकाँ लाल रेशमी घोघट ओढ़ि, समर्पित सेविकासभक नजरिसँ बचि महलक ऊपरी तलसँ उतरि गेलहुँ। बाटमे कमलवन आ उद्यान छोड़ि पारिजातक सुगन्धसँ खिंचायल मधुमाछीक झुण्ड हमरा पाछाँ आबि गेल; खेल-खेलमे हमर चारु कात नील घोघट बना रहल छल। क्रीडोद्यानक द्वारसँ बाहर निकलि पुण्डरीकसँ मिलय चललहुँ। केवल तरलिका संग छल, से देखि बाटमे सोचलहुँ—‘प्रियतमक खोजमे सेवकसमूहक आडम्बरक की आवश्यकता? एहन समय सेवक केवल सेवाक उपहास करैत अछि। कामदेव धनुषपर बाण चढ़ा हमर पाछाँ चलि रहल अछि; चन्द्रमा लम्बा किरण हाथ जकाँ पसारि हमरा खिंचैत अछि; खसबाक भय सँ प्रत्येक डेगपर अनुराग सहारा दैत अछि; हृदय इन्द्रियसभसंग लाज केँ पाछाँ छोड़ि दौड़ि रहल अछि; लालसा निश्चय पाबि हमर मार्गदर्शन करैत अछि।’ जोर सँ बजलहुँ—“अरे तरलिका, काश ई दुष्ट चन्द्रमा अपन किरणसँ पुण्डरीकक केश पकड़ि हुनको हमरा जकाँ आगाँ खिंचि अनैत!” ओ मुस्करा कऽ उत्तर देलक—“राजकुमारी, अहाँ पागल छी! चन्द्रमा केँ पुण्डरीकसँ की? उलटे, प्रेमक बाणसँ आहत चन्द्रमा स्वयं अहाँक लेल ई सभ कऽ रहल अछि। अपन प्रतिबिम्बक बहाने स्वेदबिन्दुसँ चिह्नित अहाँक गाल चुमैत अछि; काँपैत किरणसँ गौर वक्षस्थलपर खसैत अछि; करधनीक रत्न छुबैत अछि; उज्ज्वल नखमे फँसि पएरपर खसैत अछि। प्रेमरोगी चन्द्रमाक रूप ज्वरमे सुखायल चन्दनलेप जकाँ पीयर अछि। कमलनाल जकाँ श्वेत किरण पसारैत; प्रतिबिम्बक बहाने स्फटिकक आँगनपर खसैत; केतकीक भीतरक केसरधूलि जकाँ धूसर किरणसँ कमलसरोवरमे डुबैत; फुहारसँ भीजल चन्द्रकान्त मणि केँ किरणसँ छुबैत; आ पहिले अलग भेल चक्रवाक-युगलबला दिनकमलवनसँ घृणा करैत अछि।” समयानुकूल एहन बातचीत करैत हम ओकर संग ओहि स्थान लग पहुँचलहुँ। बाटक लताफूलक परागसँ धूसर पएर कपिञ्जलक निवास लग ओहि धारामे धोइलहुँ, जे चन्द्रोदयसँ पधिलल चन्द्रकान्त मणिसँ कैलासक ढलानपर बहैत छल। ओतए सरोवरक बामा तटपर दूरीसँ कोमल पड़ल पुरुषक रोदन सुनलहुँ। दहिना आँखि फड़कला सँ पहिनहि भीतर भय उठल छल; आब ओहि क्रन्दनसँ हृदय आरो फाटय लागल, मानू उदास मन भीतरहि भयङ्कर समाचार कहि रहल हो। आतंकमे चिचिया उठलहुँ—“तरलिका, ई की?” अंग काँपैत, साँस फूलैत तीव्र गतिसँ आगाँ दौड़लहुँ।’

““तखन शान्त रातिमे दूरसँ स्पष्ट करुण विलाप सुनलहुँ—“हाय, हम नष्ट भऽ गेलहुँ! जरि गेलहुँ! ठकि गेलहुँ! ई हमरा संग की भेल? ई की भऽ गेल? हमर जड़ि उखड़ि गेल! हे क्रूर, दुष्ट, निर्दयी कामदेव, अहाँ ई केहन लज्जाजनक काज कऽ देलहुँ? हे दुष्टा, पापिनी, उच्छृङ्खल महाश्वेता, ओ अहाँक की बिगाड़ने छलाह? हे दुष्ट, उन्मत्त, विकराल चन्द्रमा, अहाँक इच्छा पूर्ण भेल। हे क्रूर कोमल दक्षिण पवन, अहाँक कोमलता समाप्त, इच्छा सफल। जे करबाक छल से भऽ गेल; आब इच्छा हो तँ चलि जाउ! हे पूज्य श्वेतकेतु, पुत्रवत्सल पिता, अहाँ नहि जानैत छी जे अहाँक जीवन चोरी भऽ गेल! धर्म, अहाँ बेदखल भऽ गेलहुँ! तपस्या, अहाँक रक्षक नहि रहल! वाणी, अहाँ विधवा भऽ गेलहुँ! सत्य, अहाँ स्वामीहीन! स्वर्ग, अहाँ रिक्त! मित्र, हमरा बचाउ! तथापि हम

अहाँक पाछों जायब। अहाँ बिना एक क्षणो एकसरि नहि रहि सकैत छी। जकरा हमर आँखि कहियो नहि देखने हो, एहन अपरिचित जकाँ अचानक हमरा छोड़ि अपन बाट कोना चलि गेलहुँ? ई एतेक कठोरता कतयसँ आयल? कहूँ, अहाँ बिना हम कतए जाउ? केकरा प्रार्थना करू? कोन शरण खोजू? हम अन्हरा भऽ गेलहुँ! हमरा लेल दिशा रिक्त, जीवन निरुद्देश्य, तपस्या व्यर्थ, संसार आनन्दहीन! केकर संग घूमब, केकरासँ बाजब, केकर संग वार्ता करब? उठू! हमरा उत्तर दिअ। मित्र, हमरा प्रति अहाँक पुरान प्रेम कतए? ओ सदखिनक मुस्कराइत स्वागत कतए?”

““कपिञ्जलक ई वचन सुनलहुँ। एखन दूरहि छलहुँ, मुदा मानू जीवन खसि गेल हो—एहन जोर सँ चीत्कार निकलल। सरोवरक तटक लतामे अँटक रेशमी ओढ़नी फाटि गेल; धरती समतल अछि कि खुरदरी, ओकर चिन्ता बिना पएर राखैत, जतबे तेज जा सकैत छलहुँ ओतेक तेज दौड़लहुँ। प्रत्येक डेगपर ठोकर खाइत, तैयो मानू केओ उठाकऽ आगों लऽ जा रहल हो।”

““सरोवर लग शीतल फुहारसँ भीजल चन्द्रकान्त मणिक शिलापर बनल शय्यामे पुण्डरीक केँ पड़ल देखलहुँ। शय्या कोमल कमलनालसँ बनल, सभ प्रकारक कमलक मृदु पुष्पमाला जकाँ; मुदा बुझाइत छल मानू पूर्णतः कामदेवक बाणक नोकसँ रचल हो। अत्यधिक निश्चलतामे पुण्डरीक मानू हमर पदध्वनि सुनबाक प्रतीक्षा करैत छलाह। मानू निद्रामे क्षणिक सुख पयने होथि, भीतरक क्रोधसँ प्रेमपीड़ा बुझा गेल हो; अथवा तपस्वी कर्तव्यभङ्गक प्रायश्चित्तमे श्वास रोकबाक योगाभ्यास करैत होथि। उज्ज्वल मुदा काँपैत ओठसँ मानू धीरे कहैत छलाह—“अहाँक कृत्यसँ हम एहि दशामे पहुँचलहुँ।” प्रेमाम्निसेँ धड़कैत हृदयपर राखल उज्ज्वल नखक बहाने चन्द्रकिरण हुनकर पीठपर पड़ि हुनका बेधि रहल छल; ओ चन्द्रमासँ घृणा कऽ ओकरा पाछों दऽ सूतल छलाह। कपारपर चन्दनरेखाक तिलक छल, जे सुखायल पीयरताक कारण कामदेवक क्षीण होइत चन्द्रकलाजकाँ हुनकर विनाशक पूर्वसूचना दैत छल। जीवन क्रोधमे कहैत मानू बाहर जा रहल हो—“मूर्ख, अहाँ केँ हमरा सँ अधिक प्रिय दोसर केओ अछि!” आँखि पूर्णतः मुनल नहि; पुतली कने घुरि देखबाक चेष्टा करैत; निरन्तर कनने लाल; श्वास रुकलासँ नोर समाप्त भऽ गेल, तँ मानू रक्त टपका रहल हो; कामदेवक बाणक पीड़ासँ कने वक्र। आब ओ अचेतनाक कष्ट भोगैत छलाह—मानू प्रेमयन्त्रणासंग जीवनो सौँपि रहल होथि। कामरहस्यक नब रूपपर ध्यान करैत, अपरिचित कुम्भक साधैत लगैत छलाह। हुनकर जीवन मानू कामदेव पुरस्कारक रूपमे लऽ जा रहल छल, जे कृपा कऽ हमर आगमनक व्यवस्था कयने छल। कपारपर चन्दनक त्रिपुण्ड्र; रसदार कमलनालक यज्ञोपवीत; काँधपर चिपकल वस्त्र केलाक पात ढँकयबला आवरण जकाँ सुन्दर; जपमाला एक पौतिक मोटाइ मात्र; कपारक भस्म प्रचुर श्वेत कपूरचूर्ण; बाँहपर ताबीज जकाँ बान्हल कमलनालक डोरी। बुझाइत छल, हमर आगमनक मन्त्र पूर्ण करैत प्रेमव्रतक वेष पहिने छथि। आँखिसँ कोमल उलाहना दैत छलाह—“कठोरहृदया! केवल एक दृष्टिसँ हमर पाछों अयलहुँ, फेर कहियो कृपा नहि देलहुँ।” ओठ कने खुलल, दाँतक किरणसँ रूप धवल चमकि रहल छल—मानू जीवन लऽ जयबाक लेल शरीरमे प्रवेश कयने चाँदनी बाहर निकलि रहल हो। प्रेमपीड़ासँ टूटैत हृदयपर बामा हाथ रखि मानू कहैत छलाह—“जीवनसँ प्रिय, कृपा करू; हमर जीवनसंग चलि नहि जाउ!” आ एहि प्रकारेँ हमरा हृदयमे दृढ़तासँ रोकय चाहैत होथि। दहिना हाथ ऊपर उठल—असमान नखकिरणसँ मानू चन्दन टपकैत—चाँदनी रोकबाक चेष्टा। लगमे तपस्याक मित्र कमण्डलु गर्दन उठौने ठाढ़, मानू जीवन जे बाट ऊपर जा रहल छल से देखैत हो। गला सजौने कमलनालक माला चन्द्रकिरणक रस्सीसँ बान्हि हुनका परलोक लऽ जा रहल हो। हमरा देखिते कपिञ्जल “बचाउ! बचाउ!” कहि हाथ उठौलनि, दूना नोरसँ जोर-जोर कनैत हुनकर गला सँ लिपटि गेलाह। ठीक ओहि क्षण हम दुष्टा आ अभागिन ओहि श्रेष्ठ युवक केँ प्राण त्यागैत देखलहुँ। मूर्छाक अन्हार छा गेल; मानू नरकमे उतारि गेलहुँ। तखन कतए गेलहुँ, की कयलहुँ, की बजलहुँ—किछुओ नहि जानि। ईहो नहि बुझि सकलहुँ जे ओहि क्षण हमर जीवन किएक नहि निकलल—स्तब्ध हृदयक परम कठोरतासँ, हजार दुःख सहबाक अभ्यस्त अभागल शरीरक संवेदनहीनतासँ, दीर्घ शोक भोगबाक नियतिसँ, पूर्वजन्मक पापपात्र होयबासँ, दुःख देबामे क्रूर भाग्यक कुशलतासँ, अथवा शापित दुष्ट प्रेमक अद्वितीय विकृतिसँ। एतबे स्मरण अछि जे बहुत काल बाद चेतना घुरल तखन धरतीपर तड़पैत छलहुँ; असह्य शोक एना जरा रहल छल मानू आगिपर खसल होइ। ई असम्भव बात विश्वास नहि होइत छल जे ओ मरि गेलाह आ हम जीवित छी। “हाय, ई की—माय, पिता, मित्र?” कहि करुण चीत्कारसँ उठलहुँ आ पुकारलहुँ—“हे स्वामी, हमर जीवनक आधार, हमरा सँ बाजू! हमरा एकसरि आ रक्षकहीन छोड़ि निर्दयतासँ कतए जा रहल छी? तरलिकासँ पुछू, अहाँक लेल हम की सहलहुँ। हजार युग जकाँ लम्बा दिन बड़ कठिनतासँ काटलहुँ। कृपा करू! केवल एक शब्द बाजू! प्रेम करयबाली पर स्नेह देखाउ! एक बेर हमरा दिस देखू! हमर लालसा पूर्ण करू! हम अभागिन छी! निष्ठावान छी! हृदयसँ अहाँक छी! स्वामीहीन छी! युवा छी! असहाय छी! दुःखी छी! दोसर शरणसँ वञ्चित छी! कामदेवसँ पराजित छी! अहाँ दया किएक नहि करैत छी? कहूँ, हम की कयलहुँ वा की नहि कयलहुँ, कोन आज्ञा नहि मानलहुँ, अहाँ केँ प्रिय कोन बातमे स्नेह नहि देखौलहुँ, जाहिसँ क्रुद्ध छी? बिना कारण अपन दासी केँ छोड़ि जा रहल छी—लोकनिन्दाक भय नहि? तथापि हमरा जकाँ विकृत, दुष्ट, झूठ प्रेमक दिखावा कऽ ठकयमे निपुण स्त्रीक चिन्ता किएक करब? हाय, हम एखनहुँ जीवित छी! हाय, हम शापित आ नष्ट भऽ गेलहुँ! कारण आब ने अहाँ छी, ने सम्मान, ने कुटुम्ब, ने स्वर्ग। हमर धिक्कार—हम पापकर्मिणी, जकर कारण अहाँपर ई विपत्ति आयल। हमर जकाँ हत्यारिण हृदय केकरो नहि, जे अहाँ जकाँ अनुपम पुरुष केँ छोड़ि घर घुरि गेलीह। हमरा लेल घर, माय, पिता, कुटुम्ब, सेवकक की मूल्य छल? हाय, आब कोन शरण जाउ? हे भाग्य, हमरा पर दया करू! प्रार्थना करैत छी। हे नियतिदेवी, दयाक वरदान दिअ! करुणा देखाउ! स्वामीहीन स्त्रीक रक्षा करू! हे वनदेवीसभ, कृपा करू! हुनकर जीवन घुरा दिअ! हे पृथ्वी, सभकेँ उपकार देनिहारि, सहायता करू! हे राति, अहाँक भीतर दया नहि? हे पिता कैलास, अहाँक शरण माँगैत छी; अपन स्वाभाविक करुणा देखाउ!” जतेक स्मरण अछि, एहन विलाप कयलहुँ। प्रेतग्रस्त, आविष्ट, पागल अथवा दुष्ट आत्मासँ आहत व्यक्ति जकाँ असम्बद्ध बड़बड़ाइत रहलहुँ। धारासँ खसैत नोरमे मानू जल बनि गेलहुँ, पधिलि गेलहुँ, जलक रूप धारण कयलहुँ। दाँतक तीक्ष्ण किरणसँ पाछों-पाछों अबैत विलाप मानू नोरक बौछारसंग खसैत

छल। निरन्तर झरैत फूलबला केश सेहो नोरक बून बहबैत बुझाईत; आभूषण अपन निर्मल रत्नज्योतिक नोरसँ विलाप करैत लगैत। हुनकर जीवन जकाँ अपन मृत्यु चाहलहुँ। ओ मृत होइतो सम्पूर्ण आत्मासँ हुनकर हृदयमे प्रवेश करय लेल व्याकुल छलहुँ। हाथसँ गाल, सुखायल चन्दनसँ धवल केशमूलबला कपार, कमलनाल पड़ल काँध, आ कमलपात तथा चन्दनरसक बिन्दुसँ ढँकल हृदय छलहुँ। कोमल उलाहना देलहुँ—“पुण्डरीक, अहाँ क्रूर छी! हम एना दुःखी छी, तकर कनेको चिन्ता नहि!” फेर हुनका घुराबय चाहलहुँ। फेर अलिङ्गन, फेर गला पकड़ा जोर-जोर कानय लगलहुँ। तखन मोतीमाला केँ डाँटलहुँ—“हे दुष्टे, कम सँ कम हमर आगमन धरि हुनकर जीवन नहि बचा सकलहुँ?” फेर कपिञ्जलक पएरपर खसि प्रार्थना कयलहुँ—“स्वामी, कृपा करू; हुनका जीवित करू!” फेर तरलिकाक गला सँ लिपटि कानय लगलहुँ। आइयो सोचैत छी तँ बुझि नहि पबैत छी—हमर अभागल हृदयसँ ओ करुण कोमल शब्द कोना निकलल, जे ने पहिने सोचल, ने सीखल, ने सिखाओल, ने देखल; ओ वचन कतयसँ आयल, निराशाक हृदयविदारक चीत्कार कतयसँ? सम्पूर्ण अस्तित्व बदलि गेल छल। भीतरक नोरक प्रलयलहर उठल; रोदनक स्रोत खुलि गेल; विलापक कली फूटल; शोकक पर्वतशिखर ऊँच भेल; उन्मादक लम्बा पाँति आरम्भ भेल।’ अपन कथा कहैत ओ पुनः पूर्वक क्रूर, असह्य दशाक कड़वाहट चखय लगलीह; मूर्छा चेतना हरि लेलक। प्रबल मूर्छासँ चट्टानपर खसि पड़लीह। चन्द्रापीड सेवक जकाँ तत्क्षण हाथ बढ़ा दुःखसँ भरल हुनका थामि लेलनि। नोरसँ भीजल हुनकर अपन वृक्षछालक वस्त्रक कोरसँ हवा कऽ अन्ततः चेतना घुरौलनि। करुणासँ भरल, नोरमे नहायल गालसहित जीवित होइत हुनका कहलनि—‘देवी, हमर दोषसँ अहाँक दुःख फेर पहिल जकाँ ताजा भऽ गेल आ अहाँ एहि दशामे पहुँचलहुँ। आब ई कथा नहि। एतहि समाप्त करू। हमहूँ सुनि नहि सकैत छी। मित्रक बीतल दुःखक कथो हमरा एना पीड़ा दैत अछि मानू स्वयं भोगि रहल होइ। तँ एतेक अमूल्य आ कठिनतासँ बचल जीवन शोकक आगिमे नहि राखब।’ ई सुनि दीर्घ गरम निःश्वास आ नोरमे गलल आँखिसहित निराशासँ उत्तर देलनि—‘राजकुमार, ओहि भयङ्कर रातिमे सेहो ई घृणित जीवन हमरा नहि छोड़लक; आब छोड़त, ई सम्भव नहि। धन्य मृत्यु सेहो एहन अभागिन आ दुष्टासँ मुँह फेरि लैत अछि। एतेक कठोरहृदया केँ शोक कोना होयत? एहन नीच स्वभावमे ई सभ केवल ढोंग हो सकैत अछि। तथापि जे हो, ओ निर्लज्ज हृदय हमरा निर्लज्जसभक मुखिया बना देलक। जे प्रेमक सम्पूर्ण शक्ति देखि चुकल आ तकर बादो जीवित रहल—एहन वज्रकठोर मनुष्य लेल केवल कथा कहब की अर्थ रखैत अछि?’

““अथवा एहि घटना सँ अधिक कठिन कहबाक आन की हो सकैत अछि, जकरा सुनब-बाजब असम्भव कहल जाइत अछि? ओहि वज्राघातक बाद जे चमत्कार भेल से संक्षेपमे कहब। ओ क्षीण, धुँधला कारणो कहब, जे जीवन बढबयबला बनल; ओकर मृगतृष्णा एना ठकैत अछि जे लगभग मृत, हमरा सँ पराया, बोझिल, आवश्यकता लेल अनुपयुक्त आ हमर देखभालक कृतघ्न ई घृणित शरीर ढोइत छी। एतबे पर्याप्त होयत। तकर बाद भाव अचानक बदलल; मृत्यु लेल दृढ़ सङ्कल्प कऽ करुण विलाप करैत तरलिकासँ कहलहुँ—“उठ, कठोरहृदया! कतेक काल रोएब? लकड़ी जमा कऽ चिता बनाउ। हम अपन जीवनस्वामीक पाछाँ जायब।””

““तत्क्षण चन्द्रमण्डलसँ एक दिव्य पुरुष तीव्रतासँ निकलि आकाशसँ उतरि अयलाह। मुकुटसँ लटकल अमृतफेन जकाँ श्वेत रेशमी वस्त्र पाछाँ घिसदैत पवनमे लहरा रहल छल। कानमे डोलैत उज्ज्वल रत्नक लाल चमकसँ गाल अरुण; वक्षस्थलपर विशाल मोतीक तारकागुच्छ जकाँ दीप्त हार; श्वेत रेशमक पट्टीसँ बान्हल पाग; घुँघरार केशसँ घन, मधुमाछी जकाँ श्याम माथ; कानमे खिलल कुमुदक कुण्डल; काँधपर पत्नीसबक केसरतिलकक छापा। कुमुद जकाँ श्वेत, ऊँच देह, महानताक समस्त लक्षणसँ सम्पन्न, देवतुल्य रूप। हुनकर शरीरसँ निकलैत निर्मल जल जकाँ स्वच्छ उजास मानू अन्तरिक्ष पवित्र करैत; शीतल सुगन्धित अमृतबिन्दुक वर्षा घन पाला जकाँ लेपि ठण्डक भरैत; आ गोशीर्ष चन्दनरसक प्रचुर धार छिड़कैत छल।’

““ऐरावतक सूँड़ जकाँ बलिष्ठ बाँह आ कमलनाल जकाँ श्वेत, स्पर्शमे शीतल आङुरिसँ ओ हमर मृत स्वामी केँ उठा लेलनि। नगाड़ा जकाँ गम्भीर स्वरमे हमरा कहलनि—“पुत्री महाश्वेता, अहाँ केँ मरब नहि चाही; अहाँक हुनकासँ पुनः मिलन होयत!” पिता जकाँ कोमल ई वचन कहि पुण्डरीक केँ लऽ आकाशमे उड़ि गेलाह।’

““अचानक घटल एहि घटनासँ भय, विस्मय आ व्याकुल उत्कण्ठा भरि गेल। मुख ऊपर उठा कपिञ्जलसँ अर्थ पुछलहुँ। मुदा ओ उत्तर बिना जल्दीसँ उठलाह। आँखि ऊपर, अचानक क्रोध, कमर कसैत चिचियौलनि—“अरे दुष्ट, हमर मित्र केँ लऽ कतए जा रहल छी?” उड़ैत पुरुषक पाछाँ तीव्र वेगसँ आकाशमे उठि गेलाह। हम देखिते रहलहुँ; सभ तारासभक बीच प्रवेश कऽ गेल। कपिञ्जलक प्रस्थान प्रियक दोसर मृत्यु जकाँ भेल; दुःख दूना, हृदय फाटि गेल। की करब नहि बुझि तरलिकासँ चिचिया पुछलहुँ—“अहाँ किछु जानैत नहि छी? कहू, एकर अर्थ की?” मुदा स्त्रीस्वभावक भय सँ ओहि दृश्यपर ओकर समस्त अंग काँपैत छल। शोकसँ अधिक प्रबल भय ओकरा वशमे कयने; हमर मृत्यु आशङ्कासँ सेहो आतंकित। उदास हृदयसँ करुण उत्तर देलक—“राजकुमारी, अभागिन हम किछु नहि जानैत छी। तथापि ई महान चमत्कार अछि। ओ पुरुष मनुष्यक देहक नहि छलाह; उड़ैत समय पिता जकाँ दयासँ अहाँ केँ सान्त्वना देलनि। एहन देवतुल्य प्राणी सपनामे सेहो ठकि नहि सकैत, सोझाँ तँ कदापि नहि। विचार करैत हुनकर झूठ बाजबाक कनेको कारण नहि देखाइत अछि। तँ उचित अछि जे हुनकर वचन तौलि मृत्यु-इच्छा रोक्क। वर्तमान दशामे ई सचमुच महान सान्त्वनाक आधार अछि। कपिञ्जलो पुण्डरीकक पाछाँ गेलाह। हुनकासँ जानि सकब जे ओ दिव्य पुरुष कतयसँ, के छथि; पुण्डरीकक मृत्यु भेला पर हुनका किएक उठाकऽ लऽ गेलाह, कतए लऽ गेलाह, आ अकल्पनीय पुनर्मिलनक आशा देलनि किएक। तकर बाद जीवन वा मृत्यु कोन चुनब, निर्णय कऽ सकब। मृत्यु ठानि लेलापर ओकरा प्राप्त करब सहज अछि; ओ काज प्रतीक्षा कऽ सकैत अछि। कपिञ्जल जीवित रहताह तँ अहाँसँ बिना भेटने निश्चय नहि रुकताह। तँ हुनकर घुरब धरि जीवन बचाउ।” एतेक

कहि पएरपर खसि पड़लीह। प्राणीमे कठिनतासँ जीत्य जा सकयबला जीवनतृष्णा, स्त्रीस्वभावक दुर्बलता, दिव्य पुरुषक वचनसँ उत्पन्न मोह आ कपिञ्जलक घुरबाक चिन्तासँ हम ओहि समय एहि योजनाकें सर्वोत्तम मानलहुँ आ मरल नहि। आशा की नहि करा दैत अछि?’

“‘ओ राति तरलिकाक संग सरोवरतटपर बितौलहुँ। अभागिन हमरा लेल ओ प्रलयरात्रि जकाँ, हजार वर्ष धरि लम्बायल, पूर्णतः यन्त्रणा, शोक, नरक आ आगि छल। निद्राक जड़ि उखड़ि गेल; धरतीपर तड़पैत रहलहुँ। खुलल, अस्त-व्यस्त केश गालपर चिपकल—नोरसँ भीजल, धूरिसँ धूसर—मुख ढँकि देने छल। करुण रोदनसँ टूटल स्वर समाप्त, तँ कण्ठ दुर्बल।’

“‘भोरमे उठि सरोवरमे स्नान कयलहुँ। दृढ़ सङ्कल्प कऽ पुण्डरीकक प्रेममे हुनकर कमण्डलु, वृक्षछालक वस्त्र आ जपमाला धारण कयलहुँ। संसारक निरर्थकता स्पष्ट बुझि गेल छल; अपन पुण्यक अभाव देखलहुँ; भाग्यक प्रहारक उपचारहीन क्रूरता मनमे चित्रित कयलहुँ; दुःखक अनिवार्यता पर विचार; नियतिक कठोरता देखल; शोकसम्पन्न प्रेमक मार्गपर मनन; सांसारिक वस्तुक अस्थिरता सीखल; समस्त आनन्दक नश्वरता बुझल। पिता-मायक चिन्ता छोड़ल; कुटुम्ब आ सेवक त्यागल; सांसारिक सुख मनसँ निकालल; इन्द्रियसभ दृढ़तासँ वशमे कयल।’

“‘हम तपस्वी-व्रत ग्रहण कऽ तीनू लोकक स्वामी आ असहायक सहायक भगवान शिवक शरण लेलहुँ। दोसर दिन कोनो प्रकारेँ हमर कथा जानि पिता माय आ कुटुम्बीसभ कें संग लऽ अयलाह। दीर्घ काल कनैत रहलाह; प्रार्थना, उपदेश, अनेक प्रकारक कोमल वचन—सभ उपाय आ सम्पूर्ण शक्ति लगा हमरा घर लऽ जयबाक प्रयत्न कयलनि। जखन हमर सङ्कल्पक दृढ़ता बुझि गेलाह आ देखलनि जे एहि मोहसँ हमरा हटाओल नहि जा सकैत अछि, तखन आशा नहि रहितो पुत्रीस्नेह छोड़ि नहि सकलाह। हम बेर-बेर हुनका घुरबाक लेल कहलहुँ, तैयो किछु दिन रहि गेलाह। अन्ततः शोकसँ भरल, भीतरसँ हृदय दहकैत घर घुरलाह।’

“‘हुनकर गेलापर केवल व्यर्थ नोर बहा अपन स्वामीप्रति कृतज्ञता देखबैत रहलहुँ। प्रेमसँ क्षीण, पापसँ भरल, लज्जाहीन, अमङ्गल, हजार शोकयन्त्रणाक घर एहि घृणित शरीर कें अनेक तपस्यासँ सुखबैत रहलहुँ। जल, वनक कन्द-मूल आ फल मात्रपर जीवन बितौलहुँ। जपमाला फेरबाक बहाने हुनकर गुण गिनैत; दिनमे तीन बेर सरोवरमे स्नान; प्रतिदिन भगवान शिवक पूजा; आ एहि गुफामे तरलिकासंग दीर्घ शोकक कड़वाहट चखैत रहैत। हम एहन दुष्टा, अमङ्गला, निर्लज्ज, क्रूर, शीतहृदया, हत्यारिन, तुच्छ, अनुपयोगी, निष्फल, असहाय आ आनन्दहीन छी। अहाँ जकाँ उदात्त पुरुष हमरा दिस देखबाक वा हमरा सँ बाजबाक कृपा किएक करब—हम, जे ब्राह्मणहत्या जकाँ विकराल अपराध कयलहुँ?’ एतेक कहि वृक्षछालक वस्त्रक श्वेत कोरसँ मुख ढाँपि लेलनि—मानू शरद-मेघक टुकड़ासँ चन्द्रमा ढँकल हो। नोरक अजेय धार रोकि नहि सकलीह; हिचकी छोड़ि दीर्घ काल जोर-जोर कानय लगलीह।’

“‘आरम्भहिसँ चन्द्रापीड हुनकर रूप, लज्जा आ शिष्टता; वाणीमाधुर्य, निःस्वार्थता आ कठोर साधना; शान्ति, विनय, गरिमा आ निर्मलतासँ श्रद्धापूर्ण छलाह। मुदा आब हुनकर जीवनक कथा, जाहिमे महान चरित्र प्रकट छल, आ समर्पित आत्मासँ ओ पूर्णतः अभिभूत भऽ गेलाह; हृदयमे नव कोमलता जागल। कोमल हृदयसँ धीरे बजलाह—‘देवी, जे दुःखसँ डरैत, कृतज्ञताहीन आ सुखप्रिय होइत अछि, सैह कानय; कारण ओ प्रेमक योग्य कोनो काज नहि कऽ सकैत आ व्यर्थ नोरसँ मात्र स्नेह देखबैत अछि। मुदा अहाँ सभ किछु उचित रूपेँ कयलहुँ; प्रेमक कोन कर्तव्य अधूरा छोड़लहुँ जे कनैत छी? पुण्डरीकक लेल जन्मसँ चारू कात रहयबला प्रिय कुटुम्बीसभ कें अपरिचित जकाँ छोड़ि देलहुँ। पएरक लग रहितो सांसारिक सुख कें तिरस्कार कऽ घास जकाँ हलुक मानलहुँ। इन्द्रक साम्राज्यसँ अधिक समृद्ध राजवैभवक आनन्द छोड़लहुँ। स्वभावतः कमलनाल जकाँ क्षीण देह कें भयङ्कर तपस्यासँ आरो सुखा देलहुँ। तपस्वी-व्रत ग्रहण कयलहुँ; आत्मा महान तपमे समर्पित कयलहुँ; स्त्री लेल कठिन होइतो वनमे निवास कयलहुँ। शोकसँ पराजित मनुष्य लेल जीवन त्यागब सहज अछि; मुदा भारी दुःखमे जीवन नहि फेकब अधिक महान प्रयत्न माँगैत अछि। दोसरक पाछाँ मृत्यु चुनब परम व्यर्थ; अज्ञानीक बाट; पागलपनक चपलता; अविवेकक मार्ग; उच्छृङ्खल साहस; नीच दृष्टि; पूर्ण विचारहीनताक चिह्न; मूर्खताक भूल—जे पिता, भाइ, मित्र वा पतिक मृत्युपर अपन जीवन त्यागि देल जाय। जँ जीवन स्वयं नहि छोड़ैत अछि तँ हमरा ओकरा त्यागबाक अधिकार नहि। विचार करब तँ ई जीवनत्याग केवल अपन स्वार्थ लेल होइत अछि—हम अपन असाध्य दुःख सहि नहि सकैत छी। मृतक कें एकर कनेको लाभ नहि। एहि सँ ने ओ जीवित घुरैत, ने ओकर पुण्य बढ़ैत, ने ओकरा स्वर्ग भेटैत, ने नरकसँ उद्धार, ने फेर दर्शन, ने पुनर्मिलन। ओ अपन कर्मफलानुकूल दोसर अवस्थामे असहाय, अजेय रूपेँ लऽ जायल जाइत अछि; उलटे आत्महत्या करयबला मित्रक पापमे भागी बनैत अछि। जीवित मनुष्य जलाञ्जलि आदि द्वारा मृतक आ अपन दुनूक बहुत सहायता कऽ सकैत अछि; मरि कऽ केकरो नहि। स्मरण करू—समस्त स्त्रीक हृदय जीतनिहार उदात्त पति कामदेव शिवक अग्निमे भस्म भऽ गेलाह, तैयो हुनकर एकमात्र प्रिय पत्नी रति जीवन नहि त्यागलीह। वृष्णिवंशी शूरसेनक पुत्री कुन्ती कें स्मरण करू; हुनकर स्वामी विद्वान पाण्डु छलाह, जिनकर आसन सहज पराजित समस्त राजाक मुकुटफूलसँ सुगन्धित, आ समस्त पृथ्वी कर दैत छल। किन्दमक शापसँ पाण्डु मरलाह, तैयो कुन्ती जीवित रहलीह। विराटनगरक युवा पुत्री उत्तरा सेहो कोमल, वीर, नव चन्द्रमा जकाँ नेत्रानन्द अभिमन्युक मृत्युपर जीवित रहलीह। धृतराष्ट्रक पुत्री दुःशला, जकर सय भाइ स्नेहसँ पालन कयने छलाह, सेहो जीवन नहि त्यागलीह, जखन सिन्धुराज जयद्रथ—सुन्दर आ शिवक वरदानसँ महान—अर्जुन द्वारा मारल गेलाह। राक्षस, देवता, दानव, तपस्वी, मनुष्य, सिद्ध आ गन्धर्वक हजारो पुत्रीक कथा अछि, जे पतिक वियोगमे जीवन बचौने रहलीह। हँ, जतए पुनर्मिलन सन्दिग्ध हो, ओतए जीवन त्यागक विचार उठि सकैत अछि; मुदा अहाँ तँ ओहि महान दिव्य पुरुषसँ पुनर्मिलनक प्रतिज्ञा सुनने छी। स्वयं अनुभव कयल बातमे सन्देह की? एहन सत्यवादी उदात्त साधुक वचनमे, जँ पैघ कारणो रहित, मिथ्या कतयसँ आबित? मृत आ जीवितक मिलन कोना सम्भव? तँ निश्चय ओ अद्भुत पुरुष करुणासँ भरि पुण्डरीक कें पुनर्जीवन देबाक लेल स्वर्ग लऽ गेलाह। महात्मासभक शक्ति कल्पनासँ परे होइत अछि। जीवनक अनेक रूप; नियतिक अनेक बाट; तपोनिपुण चमत्कारक

योग्य; पूर्वकर्मसँ प्राप्त सामर्थ्यक अनेक स्वरूप। सूक्ष्मतासँ जतेक विचार करू, पुण्डरीक केँ लऽ जयबाक नब जीवन देबासँ भिन्न कोन कारण कल्पित भऽ सकैत अछि? ई असम्भव नहि; बहुत चलल बाट अछि। गन्धर्वराज विश्वासु आ मेनकाक पुत्री प्रमद्वरा स्थूलकेशक आश्रममे विषधरक दंशसँ मरलीह; प्रमतिक पुत्र आ भृगुवंशी च्यवनक पौत्र युवा तपस्वी रुरु अपन आध जीवन दऽ हुनका जीवित कयलनि। अश्वमेधक घोड़ाक पाछाँ चलैत अर्जुन युद्धक अग्रभागमे अपन पुत्र बभ्रुवाहनक बाणसँ बेधल गेलाह; नागकन्या उलूपी हुनका पुनर्जीवित कयलनि। अभिमन्युक पुत्र परीक्षित अश्वत्थामाक अग्निबाणसँ भस्म भऽ जन्मकालहिमे मरि गेल छल; उत्तराक विलापसँ करुण कृष्ण अमूल्य जीवन घुरा देलनि। उज्जयिनीमे तीनू लोक द्वारा पूजित चरणबला कृष्ण ब्राह्मण सान्दीपनिक पुत्र केँ मृत्युनगरसँ आनिकऽ घुरा देलनि। अहाँक विषयमे सेहो कोनो प्रकारेँ यह होयत। वर्तमान शोकसँ की काज सिद्ध, की लाभ? भाग्य सर्वशक्तिमान, नियति प्रबल; अपन इच्छासँ साँसो नहि लऽ सकैत छी। ओ शापित परम कठोर नियतिक चपलता अत्यन्त क्रूर। निष्कपट सुन्दर प्रेम केँ दीर्घ काल टिकय नहि देल जाइत; आनन्द स्वभावतः भङ्गुर आ अल्पजीवी, दुःख दीर्घजीवी। मनुष्य एक जन्ममे कठिनतासँ मिलैत, हजार जन्ममे अलग रहैत। अहाँ दोषरहित होइतो स्वयं केँ दोष नहि दऽ सकैत छी। जन्म-मरणक उलझल बाटमे प्रवेश करयबलाक संग एहन घटना प्रायः होइत अछि; वीर व्यक्ति विपत्ति केँ जीतैत अछि।’ एहन कोमल सान्त्वनापूर्ण वचनसँ ओ हुनका धीरज देलनि। अनिच्छा रहितो झरनासँ अञ्जलिमे आनल जलसँ मुख धोयबाक लेल तैयार कयलनि।’

“तुरन्त सूर्य डूबय लगल—मानू महाश्वेताक कथा सुनि शोकसँ दिनक कर्तव्य छोड़ि रहल हो। दिन क्षीण भेल; पूर्ण फुलायल प्रियङ्गुगुच्छक पराग जकाँ लाल सूर्य चमकैत लटकल। अनेक कमलरससँ रँगल रेशम जकाँ कोमल सन्ध्याकान्ति दिशासभसँ हटि रहल छल। आकाशक नीलिमा नुकायल, तीतरक पुतली जकाँ अरुण चमकसँ रँगायल। कपोतक आँखि जकाँ भूरा सन्ध्या पृथ्वी केँ लाल आलोक दैत। तारागुच्छ परस्पर होइ करैत चमकल। रातिक अन्हार वनमहिसि जकाँ श्याम रूपसँ तारासभक विस्तृत बाट चोरबैत गाढ़ कृष्ण होइत गेल। हरियरी गहिर अन्हारमे नुकायल तँ वनपाँति एकठाम सघन देखाइत। रातिक ओससँ शीतल पवन गाछ-लताक जाल हिलबैत घूमैत; वनफूलक सुगन्ध ओकर बाट चिह्नित करैत। रातिक सभ पक्षी निद्रामे मौन भेला पर महाश्वेता धीरे उठलीह, सन्ध्या-वन्दना कयलनि, कमण्डलुक जलसँ पपर धोइलनि आ गरम दुःखपूर्ण निःश्वास छोड़ि वृक्षछालक शय्यापर बैसलीह। चन्द्रापीडो उठि फूल मिलल जलक अर्घ्य देलनि, सन्ध्या-वन्दना कयलनि, दोसर चट्टानपर कोमल लताडाढ़िक शय्या बनौलनि। ओहिपर विश्राम करैत महाश्वेताक कथा फेर मनमे दोहरौलनि। सोचलनि—‘ई दुष्ट कामदेवक शक्ति ने उपचार करब सहज, ने सहब। महान पुरुषो ओकर वशमे भऽ कालक क्रम नहि देखैत, अकस्मात् सभ साहस गमा जीवन सौँपि दैत छथि। तथापि कामदेवक जय हो, जकर शासन तीनू लोकमे सम्मानित!’ फेर पुछलनि—‘अहाँक दासी, वननिवासक सङ्कल्पमे सखी, शोकमे ग्रहण कयल तपस्वी-व्रतक सहभागी तरलिका कतए अछि?’ महाश्वेता उत्तर देलीह—‘आर्य, अमृतसँ उत्पन्न अप्सरावंशक जे कथा कहने छलहुँ, ओहि मे मदिरा नामक सुन्दरनयना पुत्री जन्मलीह। ओ राजा चित्ररथसँ विवाह कयलनि—ओहि राजासँ, जिनकर पादपीठ समस्त गन्धर्वक मुकुटकलिकासँ बनेत। असंख्य गुणसँ मोहित राजा हुनका प्रधान महारानीक उपाधि देलनि—चँवर, राजदण्ड, छत्र आ स्वर्णसिंहासनक चिह्नसहित; समस्त अन्तःपुर हुनकर अधीन—स्त्रीक दुर्लभतम गौरव। दुनू परस्पर पूर्ण अनुरागमे यौवनसुख भोगैत छलाह। समयपर अमूल्य पुत्री कादम्बरी जन्मलीह—अद्भुत, माता-पिताक जीवन, सम्पूर्ण गन्धर्ववंशक, बल्कि सभ जीवक प्राण। जन्महिसँ हमर बालसखी; आसन, शय्या, भोजन-पान सभ हमरा संग बाँदैत। हमर गहिरतम प्रेम हुनकामे; पूर्ण विश्वासक घर; दोसर हृदय जकाँ। संगहि नृत्य-सङ्गीत सीखलहुँ; बाल्यकालक खेलमे रोक-टोक बिना समय बीतल। हमर दुःखद कथा सँ शोभित ओ सङ्कल्प कयलनि जे जाधरि हम दुःखमे छी, कदापि पति स्वीकार नहि करतीह। सखीसबक सोझाँ शपथ लेलनि—“जँ पिता कोनो प्रकारेँ, कोनो समय, हमर इच्छाक विरुद्ध बलपूर्वक विवाह करय चाहताह, तँ उपवास, आगि, फाँसी वा विषसँ जीवन समाप्त कऽ देब।” परिचारिकासभक बेर-बेर चर्चासँ चित्ररथ स्वयं पुत्रीक दृढ़ सङ्कल्प सुनलनि। समय बीतैत पूर्ण यौवन दिस बढ़ैत देखि महान चिन्ताक शिकार भेलाह, किछुओमे आनन्द नहि रहल। एकमात्र प्रिय पुत्री होयबाक कारण किछु कहि नहि सकलाह, यद्यपि दोसर उपायो नहि देखलनि। उपयुक्त समय बुझि महारानी मदिरासँ विचार कयलनि आ प्रातःकाल क्षीरोद नामक दूत केँ हमरा लग सन्देशसहित पठौलनि—“प्रिय महाश्वेता, अहाँक दुःखद भाग्यसँ हमर हृदय पहिनहि जरल छल; आब ई नव संकट आयल। कादम्बरी केँ घुराबय लेल हम अहाँ दिस देखैत छी।” एहन सम्मानित व्यक्तिक वचनक आदर आ सखीप्रेमसँ हम तरलिका केँ क्षीरोदसंग पठौलहुँ। कादम्बरी केँ कहलियनि जे पहिनहिसँ अत्यन्त दुःखी हमरा आरो दुःख नहि दिअ; जँ हमरा जीवित देखय चाहैत छथि तँ पिताक वचन मानथि। तरलिका गेलाक बहुत समयो नहि भेल छल जे आर्य अहाँ एहि स्थानपर अयलहुँ।’ एतेक कहि मौन भेलीह।’

“तखन चन्द्रमा उदित भेल। ओकर चिह्न महाश्वेताक हृदयक अनुकरण करैत छल—शोकाम्निसँ जरल, युवा तपस्वीक मृत्युक महान अपराध वहैत, दक्षक शापक दाहक पुरान गहिर दाग देखबैत; घन भस्मसँ श्वेत आ कृष्णमृगचर्मसँ आध ढँकल, शिवक घन जटाक शिरोमणि दुर्गाक बामा वक्षस्थल जकाँ। अन्ततः चन्द्रापीड महाश्वेता केँ सुतल देखलनि। चुपचाप अपन पातक शय्यापर पड़लाह। सोचैत-सोचैत निद्रा आबि गेल—वैशम्पायन, दुःखी पत्रलेखा आ राजकुमार मित्रसभ एहि समय हुनकर विषयमे की सोचि रहल होयत?”

“भोरमे महाश्वेता उषाकालक उपासना कऽ अधमर्षण मन्त्र जपैत छलीह, आ चन्द्रापीड प्रातः-वन्दना पूर्ण कयने छलाह। तखन तरलिका केँ केयूरक नामक गन्धर्वयुवकसंग अबैत देखल गेल। समीप आबि ओ चन्द्रापीड केँ बहुत काल तकलीह—ई के छथि, एहि आश्रयमे। महाश्वेताक लग पहुँचि गहिर झुकि प्रणाम कयलक आ आदरसँ लग बैसि गेल। केयूरक दूरहिसँ माथ झुका, महाश्वेताक दृष्टिसँ बताओल कनेक दूरक चट्टानपर स्थान लेलनि। चन्द्रापीडक दुर्लभ अद्भुत सौन्दर्य देखिकऽ विस्मयसँ भरि गेलाह—जे देवता, दानव, गन्धर्व, विद्याधरक रूपक उपहास करैत आ कामदेवसँ सेहो श्रेष्ठ छल।’

“पूजा समाप्त कऽ महाश्वेता तरलिकासँ पुछलनि—‘प्रिय कादम्बरी केँ नीकसँ देखलहुँ? हमर बात मानतीह?’ तरलिका आदरसँ माथ झुका अत्यन्त मधुर स्वरमे बजलीह—‘राजकुमारी, कादम्बरी केँ सभ प्रकारेँ स्वस्थ देखलहुँ आ अहाँक पूरा उपदेश कहलियनि। सुनि गाढ़ नोरक निरन्तर धार बहौलनि। हुनकर उत्तर ई वीणावादक केयूरक, जिनका ओ पठौने छथि, कहताह।’ तरलिका मौन भेला पर केयूरक बजलाह—‘राजकुमारी महाश्वेता, हमर स्वामिनी कादम्बरी गाढ़ आलिङ्गन पठबैत ई सन्देश देलीह—‘तरलिका द्वारा कहल ई बात माता-पिता केँ प्रसन्न करबाक लेल अछि, हमर भावना जाँचबाक लेल, घरमे रहबाक अपराधपर सूक्ष्म उलाहना, हमर मित्रता तोड़बाक इच्छा, प्रेम करयबाली केँ छोड़बाक युक्ति, अथवा केवल क्रोध? अहाँ जानैत छी हमर हृदय जन्मजात प्रेमसँ उमड़ैत अछि। एतेक क्रूर सन्देश पठबैत लाज कोना नहि भेल? पहिने एतेक कोमल वचन बजयबाली अहाँ कठोर बात आ उलाहना केकरासँ सीखलहुँ? सुखी मनुष्य सेहो जे काज अन्तमे दुःख दैत, ओहि लघु काजक सङ्कल्प विवेकमे किएक करत? फेर गहिर शोकसँ आहत हमरा जकाँ व्यक्तिक की कहब? सखीक दुःखसँ क्षीण हृदयमे आनन्दक आशा, सन्तोष, सुख वा हँसी कतए? ओ विषाक्त, निर्दयी, कठोर कामदेव हमर प्रिय सखी केँ एहन दुःखद दशामे पहुँचा देलक; ओकर इच्छा हम कोना पूर्ण करी? सूर्यास्तसँ कमलवन विधवा होइत अछि, तखन ओकर बीच रहबाक मित्रतासँ चक्रवाकी सेहो अपन स्वामिसंग मिलनसुख त्यागि दैत अछि; मनुष्य स्त्री तँ आरो अधिक। हमर सखी स्वामीक वियोगमे दिन-राति शोक करैत, मनुष्यक दर्शनसँ बचैत छथि—तखन दोसर केओ हमर हृदयमे कोना प्रवेश करत? सखी दुःखमे तपस्यासँ अपना केँ यातना दैत महान पीड़ा सहैत छथि; तकरा एतेक हलुक मानि हम अपन सुख खोजू, पति स्वीकार करू—हमरा सुख कोना भेटत? अहाँक प्रेमक कारण एहि विषयमे कन्याधर्मक विरुद्ध स्वतन्त्र जीवन अपनाकऽ अपयश स्वीकार कयलहुँ। कुलीन संस्कारक तिरस्कार, माता-पिताक आज्ञा उल्लङ्घन, लोकक चर्चाक अवहेलना, स्त्रीक जन्मजात शोभा लाज फेकि देलहुँ—कहू, एहन हम पाछाँ कोना घुरी? तँ प्रणाम करैत छी, झुकैत छी, अहाँक चरण आलिङ्गन करैत छी; कृपा करू। अहाँ वनमे जाइत हमर जीवन संग लऽ गेलहुँ; ई निवेदन मनमे सपनामे सेहो नहि आनू।” एतेक कहि केयूरक मौन भेलाह। महाश्वेता दीर्घ विचार कऽ कहलनि—‘अहाँ जाउ; हम स्वयं हुनका लग जा उचित काज करब।’ केयूरक गेलापर चन्द्रापीडसँ बजलीह—‘राजकुमार, हेमकूट रमणीय, चित्ररथक राजधानी अद्भुत, किन्नरदेश विचित्र, गन्धर्वलोक सुन्दर, आ कादम्बरी उदात्त तथा उदार हृदयबाली छथि। जँ यात्रा अहाँ केँ अत्यधिक कष्टकर नहि लगय, कोनो जरूरी काज बाधित नहि हो, दुर्लभ दृश्य देखबाक जिज्ञासा हो, हमर वचनसँ उत्साह भेटय, अद्भुत दर्शन आनन्द दे, हमर निवेदन स्वीकार करबाक कृपा हो, हमरा अस्वीकार नहि करबाक योग्य मानैत हो, हमर बीच किछु मित्रता उत्पन्न भेल हो अथवा हम अहाँक अनुग्रहक पात्र छी—तँ ई प्रार्थना तिरस्कार नहि कऽ सकब। हमरा संग चलू। केवल सौन्दर्यक निधि हेमकूट नहि, हमर दोसर स्वरूप कादम्बरी केँ देखू। हुनकर ई मूर्ख सङ्कल्प दूर कऽ एक दिन विश्राम करू; दोसर भोर एतए घुरि आयब। अहाँक सहज उदार कृपादृष्टिसँ हमर शोक सहनीय भऽ गेल; दीर्घ कालसँ शोकान्ध हृदयमे दबायल कथा अहाँसँ कहि साँसक संग बाहर निकालि देलहुँ। सज्जनक उपस्थिति दुःखी हृदयकेँ सेहो आनन्द दैत अछि; अहाँ जकाँ व्यक्तिमे एहन गुण जन्मैत अछि जकर सम्पूर्ण प्रवृत्ति दोसर केँ सुखी करबाक होइत अछि।’

“चन्द्रापीड उत्तर देलनि—‘देवी, पहिल दर्शनक क्षणहिसँ हम अहाँक सेवामे समर्पित छी। निःसङ्कोच अपन इच्छा आदेशक रूपमे दिस।’ एतेक कहि हुनकर संग चलि पड़लाह।’

“समयपर गन्धर्वराजधानी हेमकूट पहुँचलाह। सोनेक तोरणबला सात अन्तःप्राकार पार कऽ राजकुमार कन्यागृहक द्वार लग अयलाह। महाश्वेता केँ देखिते दूरहिसँ झुकैत, सोने छड़ी लऽ आगाँ दौड़ल द्वारपालसभक मार्गदर्शनमे भीतर प्रवेश कऽ कन्याप्रासाद देखलनि। ओ असंख्य स्त्रीसँ पूर्ण नब स्त्रीलोक जकाँ छल—मानू तीनू लोकक समस्त नारी एकठाम जुटा ई समष्टि बनौने हो। अथवा पुरुषरहित नब सृष्टि, एखन जन्म नहि लेने कन्याद्वीप, स्त्रीसभक पाँचम युग, पुरुषप्रतिक घृणासँ प्रजापति द्वारा रचल नब जाति, अनेक युग बनयबाक लेल तैयार स्त्रीनिधि। चारू दिस घेरने कन्यासौन्दर्यक लहरि अन्तरिक्ष भरैत, दिनपर अमृत छिड़कैत, जगतक दरारिसभमे कान्ति बरसैत, पन्ना जकाँ चमकैत स्थान केँ हजार चन्द्रमासँ आलोकित बना रहल छल। मानू चाँदनीमे ढालल; रत्नसभ दोसर आकाश बनौने; उज्ज्वल दृष्टिसँ सेवा; प्रत्येक भाग यौवनक क्रीड़ाक लेल; रतिक खेलक सभा; कामदेवक अभ्यासक सामग्री; प्रेम सभक प्रवेश सहज करैत; सभ किछु अनुराग, सौन्दर्य, रागक परम देवता, कामबाण; सभ किछु आश्चर्य, चमत्कार आ यौवनक कोमलता। किछु भीतर गेलापर कादम्बरीक चारू कात घूमैत कन्यासभक मधुर बातचीत सुनलनि—‘लवलिका, लवलीक खाइसभ केँ केतकीपरागसँ सजाउ। सागरिका, सुगन्धित जलक कुण्डमे रत्नचूर्ण छिड़कू। मृणालिका, कृत्रिम कमलवनक खेलौना चक्रवाक-युगल केँ केसरचूर्णसँ जड़ू। मकरिका, सुगन्धित मिश्रणमे कपूररस मिलाउ। रजनिका, अन्हार तमालपाँतिमे रत्नदीप राखू। कुमुदिका, पक्षीसँ बचाबय अनारपर मोतीक जाली चढ़ाउ। निपुणिका, रत्नक पुतलीसभक वक्षपर केसररेखा बनाउ। उत्पलिका, केलागृहक पन्नाक मण्डप सोनेक झाड़ूसँ साफ करू। केसरिका, बकुलफूलक गृहपर मदिरा छिड़कू। मालतिका, काममन्दिरक हाथीदाँतक छत केँ सिन्दूरसँ लाल करू। नलिनिका, पालतू कलहंस केँ कमलमधु पिआउ। कदलिका, पालतू मोर केँ झरना-स्नान लेल लऽ जाउ। कमलिनिका, चक्रवाकक बच्चासभ केँ कमलनालक रस दिस। चूतलतिका, पिञ्जरामे कपोतसभ केँ आमक कोढ़ी खुआउ। पल्लविका, पालतू हरितालवर्ण कपोतसभ केँ मरिचगाछक ऊपरक पात बाँटू। लवङ्गिका, तीतरक पिञ्जरामे पीपलीक पातक टुकड़ा फेकू। मधुकरिका, फूलक आभूषण बनाउ। मयूरिका, सङ्गीतकक्षसँ किन्नरयुगल केँ विदा करू। कन्दलिका, तीतरक जोड़ी केँ क्रीड़ापर्वतक शिखरपर चढ़ाउ। हरिणिका, पिञ्जराक सुग्गा-मैना केँ पाठ पढ़ाउ।’

“तखन मण्डपक मध्य कादम्बरी स्वयं देखाइ पड़लीह। चारू कात बैसल कन्यासमूहक चमकैत रत्न हुनका कल्पवृक्षक झुण्ड जकाँ बनबैत छल। नील रेशमसँ ढँकल छोट शय्यापर राखल श्वेत तकियापर दुनू बाँह मोड़ि टेक देने विश्राम करैत छलीह। चँवरवाहिनीसभ हवा करैत; डोलैत बाँहक गतिसँ मानू हुनकर विस्तृत सौन्दर्यधारामे तैराक हो—ओ धारा सम्पूर्ण पृथ्वी ढँकि देने छल, जकरा महावराहक दाँत मात्र थामने हो।’

“हुनकर प्रतिबिम्ब नीचाँक रत्नजड़ित फर्शपर पड़ल तखन बुझाईत छल मानू नागसभ हुनका लऽ जा रहल हो; लगहिक देबालपर दिक्पालसभ मार्ग देखबैत हो; ऊपरक छतपर देवतासभ हुनका आकाश दिस उछालि रहल हो; खम्भासभ अपन अन्तरतम हृदयमे समेटि रहल हो; महलक दर्पण हुनका पीबि रहल हो; मण्डपमे छितरायल, छतसँ नीचाँ तकैत विद्याधर हुनका आकाश उठाबि रहल हो। चित्रक बहाना बना नुकायल सम्पूर्ण जगत हुनका देखबाक लेल जुटि चारू कात घेरने लागैत छल। हुनकर रत्नक झनकारपर नाचैत मोरसबक पाँखक सहस्र आँखि खुलल छल, तँ मानू महल स्वयं हजार आँखि पाबि हुनका देखैत हो। सेविकासभ एकटक तकैत; दर्शनक उत्कण्ठामे मानू दिव्यदृष्टि पाबि लेने होथि।”

“हुनकर सौन्दर्यपर जागैत प्रेमक छाप पड़ल छल, यद्यपि एखन केवल सम्भावनारूपमे; ओ बाल्यकाल केँ निरर्थक वस्तु जकाँ फेकि रहल छलीह।”

“राजकुमार कादम्बरी केँ एहन रूपमे देखलनि। हुनकर सोझाँ केयूरक बैसल छलाह। कादम्बरी चन्द्रापीडक विषयमे पुछैत छलीह आ केयूरक हुनकर सौन्दर्यक जोरदार प्रशंसा करैत छलाह—‘ओ के छथि? ककर वंशक? नाम की? रूप आ वयस केहन? ओ की कहलनि, अहाँ की उत्तर देलहुँ? कतेक काल धरि देखलहुँ? महाश्वेताक एतेक घनिष्ठ मित्र कोना भऽ गेलाह? एतए किएक आबि रहल छथि?’”

“कादम्बरीक चन्द्रमासदृश मुख-सौन्दर्य देखिते राजकुमारक हृदय समुद्रक ज्वार जकाँ उठल। सोचलनि—‘सृष्टिकर्ता हमर सभ इन्द्रिय केँ आँखि किएक नहि बना देलनि? अथवा हमर आँखि कोन महान पुण्य कयने अछि, जे बिना रोक-टोक हुनका देखय पबैत अछि? ई सचमुच आश्चर्य! सृष्टिकर्ता सभ आकर्षणक घर एतहि बना देलनि। एहि अनुपम सौन्दर्यक अंगसभ कतयसँ बटोरल गेल? निश्चय ब्रह्मा जखन अपन हाथसँ कोमलतासँ हुनका गढ़ैत गम्भीर विचारक श्रममे नोर बहौलनि, ओहि नोरसँ जगतक समस्त कमल जन्मल।”

“ओ एना सोचिए रहल छलाह कि हुनकर आँखि कादम्बरीक आँखिसँ भेटि गेल। ‘यैह ओ छथि जिनकर चर्चा केयूरक कयने छलाह’—ई बुझि हुनकर असाधारण सौन्दर्यक विस्मयसँ फैलल दृष्टि दीर्घ काल शान्त भावसँ हुनका पर टिकल रहल। कादम्बरीक दर्शनसँ चन्द्रापीड भ्रमित, मुदा हुनकर दृष्टिक प्रकाशसँ आलोकित, क्षणभर शिला जकाँ ठाढ़ रहलाह। राजकुमार केँ देखिते कादम्बरी रोमाञ्चित भेलीह; रत्नक झनकार भेल; ओ आध उठि गेलीह। प्रेमक कारण देह लाल भेल, मुदा बहाना जल्दी उठबाक प्रयासक बनल। कम्पन डेग रोकलक—पायलध्वनिसँ खिंचायल चारू कातक हंसपर दोष देल गेल। निःश्वाससँ वस्त्र हिलल—चँवरक हवा कारण मानल गेल। हाथ हृदयपर पड़ल, मानू भीतर प्रवेश कयने चन्द्रापीडक प्रतिमा छुबय चाहैत हो—बहाना वक्ष ढकबाक। आनन्दाश्रु खसल—कानक फूलसँ झरल पराग कारण कहल गेल। लाज स्वर रोकलक—मुखकमलक मधु लेल दौड़ैत मधुमाछीक झुण्ड दोषी ठहरल। कामबाणक पहिल स्पर्शक पीड़ासँ निःश्वास निकलल—फूलक बीच केतकीक काँटा अपराध बाँटलक। हाथ काँपल—सन्देश लऽ आयल द्वारपालिका केँ रोकबाक अभिनय। एना जखन प्रेम कादम्बरीमे प्रवेश करैत छल, मानू दोसर प्रेम हुनकासंग चन्द्रापीडक हृदयमे प्रवेश कयलक। ओ हुनकर रत्नक चमक केँ घोघट, हृदयमे प्रवेश केँ कृपा, रत्नझनकार केँ बातचीत, समस्त इन्द्रिय पर अधिकार केँ अनुग्रह, आ उज्ज्वल सौन्दर्यक स्पर्श केँ सभ अभिलाषाक पूर्णता मानलनि। एहि बीच कादम्बरी कठिनतासँ किछु डेग आगाँ बढ़लीह। दीर्घ विलम्बक बाद दर्शन लेल व्याकुल सखी महाश्वेता केँ स्नेह आ उत्कण्ठासँ आलिङ्गन कयलनि। महाश्वेता आरो दृढ़तासँ आलिङ्गन घुरा बजलीह—‘प्रिय कादम्बरी, भारतवर्षमे तारापीड नामक राजा छथि, जे प्रजाक सभ दुःख टारैत आ श्रेष्ठ घोड़ाक खुरक धारसँ चारू समुद्रपर अपन मोहर लगा चुकल छथि। ई हुनकर पुत्र चन्द्रापीड छथि। अपन शिलासदृश बाँहक आधारपर टिकल पृथ्वीमण्डलसँ अलङ्कृत, जगत-विजयक अभियानमे एहि देश धरि अयलाह। पहिल दर्शनक क्षणहिसँ बिना कोनो कारण स्वाभाविक रूपेँ हमर मित्र बनि गेलाह। सभ सम्बन्ध त्यागिसँ शीतल हमर हृदय केँ सेहो अपन दुर्लभ जन्मजात चरित्र-महिमासँ आकृष्ट कऽ लेलनि। तीक्ष्ण बुद्धिबला एहन मनुष्य दुर्लभ होइत अछि, जे एकहि संग सत्यहृदय, मित्रतामे निःस्वार्थ आ शिष्टताक पूर्ण अधीन हो। तँ हुनका देखलापर बलजोरी एतए लऽ आयलहुँ। हम चाहलहुँ जे अहाँ ब्रह्माक शिल्पक ओ आश्चर्य देखू, जकरा हम देखलहुँ—सौन्दर्यक अनुपम स्वामी, लक्ष्मीक प्रतिस्थापक, उदात्त स्वामी पाबि पृथ्वीक आनन्द, मनुष्य द्वारा देवताक अतिक्रमण, स्त्रीक आँखिक पूर्ण फल, समस्त माधुर्यक एकमात्र सङ्गम, कुलीनताक साम्राज्य आ पुरुषसभक लेल शिष्टताक दर्पण। हुनकासँ हमर प्रिय सखीक चर्चा सेहो अनेक बेर कयने छी। तँ पहिने नहि देखने छी ई सोचि लाज छोड़ू; अपरिचित छथि ई मानि सङ्कोच त्यागू; चरित्र अज्ञात अछि ई सन्देह फेकि दिअ; आ हुनकर संग ओहिना व्यवहार करू जेना हमर संग। ओ अहाँक मित्र, कुटुम्बी आ सेवक छथि।’ महाश्वेताक ई वचन सुनि चन्द्रापीड कादम्बरीक सोझाँ गहिर झुकलाह। ओ स्नेहसँ तिरछी दृष्टि देलीह। लम्बा आँखिक कोन दिस घुरल सुन्दर पुतलीसँ मानू थाकनिक कारण आनन्दाश्रुक धार खसल। अमृत जकाँ श्वेत मुस्कीक चाँदनी फूटल—मानू हृदय जल्दीसँ हुनका लग चलि पड़ल आ उठल धूरि हो। एक भाँह उठल—मानू हृदयप्रिय अतिथि केँ प्रत्युत्तर-प्रणाम करबाक आदेश माथ केँ दैत हो। हाथ कोमल खुलैत ओठ लग गेल; आङुरिक बीच पन्नाक अँगूठीक चमकसँ बुझाईत छल मानू ताम्बूल लेने हो। सङ्कोचसँ झुकलीह, फेर महाश्वेतासंग शय्यापर बैसलीह। सेविकासभ तुरन्त सोने पएरबला, श्वेत रेशमी आवरण चढ़ल आसन शय्याक लग राखलक; चन्द्रापीड ओहिपर बैसलाह। महाश्वेता केँ प्रसन्न करबाक लेल कादम्बरीक इच्छा बुझनिहार द्वारपालिकासभ मुनल ओठपर हाथ रखि सभ ध्वनि रोकबाक आदेश ग्रहण कयलक; चारू दिस बाँसुरी, वीणा, गीत आ मागध स्त्रीसभक ‘जय हो’क स्वर रोकि देलक। सेवक तुरन्त जल अनलक। कादम्बरी स्वयं महाश्वेताक पएर धोइलनि, अपन वस्त्रसँ सुखा फेर शय्यापर बैसलीह। कादम्बरीक योग्य सखी, जीवनसँ प्रिय आ सम्पूर्ण विश्वासक घर मदलेखा चन्द्रापीडक अनिच्छाक बावजूद हुनकर पएर धोयबाक आग्रह कयलनि। एहि बीच महाश्वेता कादम्बरीक कुशल पुछलनि; कुण्डलक प्रतिबिम्बित प्रकाशसँ चमकैत सखीक आँखिक कोन स्नेहसँ हाथसँ छुलनि; मधुमाछीसँ भरल कानक फूल ऊपर उठा देलनि; चँवरक हवासँ खुरदरा भेल केशक कुण्डल धीरे सहलौलनि। सखीप्रेमसँ कादम्बरी अपन कुशलतापर लज्जित छलीह—मानू एखनहुँ घरमे रहब अपराध हो—तथापि प्रयत्नसँ कहलीह जे सभ कुशल अछि। महाश्वेताक

मुख देखबाक इच्छासँ शोकपूर्ण रहितो हुनकर आँखिक श्याम, काँपैत पुतली तिरछी दृष्टिसँ बाहर निकलल। प्रेमक पूर्ण तनल धनुषसँ चन्द्रापीडक मुख दिस एहन अजेय खिंचाव भेल जे दृष्टि हटि नहि सकल। ओहि क्षण लग ठाढ़ सखीक गालपर हुनकर प्रतिबिम्ब देखि सौतियाडाह; रोमाञ्चसँ बेधल अपन वक्षपर प्रतिबिम्ब मेटिते वियोगपीड़ा; प्रतिमासभक छाया हुनका पर पड़िते प्रतिद्वन्द्वी पत्नी जकाँ क्रोध; ओ आँखि मुनिते निराशाक शोक; आनन्दाश्रुसँ प्रतिमा ढँकिते अन्धता अनुभव कयलनि।

“क्षणभर बाद कादम्बरी ताम्बूल देबामे लागल छलीह तखन महाश्वेता कहलनि—‘प्रिय कादम्बरी, नव आगन्तुक अतिथि चन्द्रापीडक सत्कारक समय अछि; हुनका किछु ताम्बूल दिस।’ कादम्बरी झुकल मुख फेरि धीरे, अस्पष्ट स्वरमे उत्तर देलीह—‘प्रिय सखि, हम हुनका चिन्हैत नहि छी, तँ देबामे लाज होइत अछि। अहाँ लऽ हुनका दिस; अहाँक कृत्य हमरा जकाँ धृष्ट नहि बुझायत।’ बहुत मनोलापर कठिनतासँ, ग्रामक कन्या जकाँ, स्वयं देबाक निर्णय कयलनि। आँखि महाश्वेताक मुखसँ हटैत नहि; अंग काँपैत; दृष्टि डोलैत; गहिर निःश्वास; कामदेवक बाणसँ स्तब्ध। ताम्बूल लऽ हाथ बढ़बैत मानू भयाकुल भऽ खसय काल किछु पकड़बाक प्रयास कऽ रहल होथि। चन्द्रापीडक बढ़ाओल हाथ स्वभावतः गुलाबी छल—मानू विजय-हाथीक फड़फड़ाइत कानसँ सिन्दूर खसि पड़ल हो। धनुषडोरीक दागसँ श्याम, आ शत्रुक लक्ष्मी केँ केश पकड़ि खिंचैत समय कनैत आँखि छुलासँ काजरक बून चिपकल जकाँ। नखक फूटैत किरणसँ आङुरिसभ मानू जल्दी ऊपर दौड़ैत, लम्बा होइत आ हँसैत; स्पर्शक इच्छामे प्रेमसँ भरि प्रवेश कयने पाँच इन्द्रियक रूपमे हाथ पाँच अतिरिक्त आङुरि उठा रहल हो। ओहि क्षण सुलभ सौन्दर्य देखबाक जिज्ञासामे मानू विरोधी भावसभ एकठाम जुटि कादम्बरी केँ घेरि लेलक। कतए हाथ जा रहल अछि, नहि देखला सँ व्यर्थ आगाँ बढ़ल; नखक किरण चन्द्रापीडक हाथ खोजबाक लेल आगाँ दौड़ैत लगल। कम्पनसँ हिलल कङ्कणक पाँतिक गुंजन आ हथेलीपर उभरैत स्वेदबिन्दु मानू कहैत छल—‘कामदेव द्वारा अर्पित एहि दासी केँ स्वीकार करू।’ मानू स्वयं केँ अर्पित करैत—‘आब ई अहाँक हाथमे अछि।’ मानू हाथ केँ सजीव बनाकऽ ताम्बूल देलनि। हाथ घुरबैत बाँहसँ खसैत कङ्कणपर ध्यान नहि गेल; स्पर्शक उत्कण्ठामे ओ कामबाणसँ बेधल हृदय जकाँ खसि पड़ल। दोसर ताम्बूल लऽ महाश्वेता केँ देलनि।’

“तखन एक मैना तीव्र डेगसँ लग अयलीह—साक्षात् फूल जकाँ; एपर कमलकेसर जकाँ पीयर, चोंच चम्पकक कली जकाँ, पाँख नीलकमल-पात जकाँ। पाछाँ-पाछाँ धीमा चालबला सुग्गा आयल—पन्ना जकाँ हरियर पाँख, मूँगा जकाँ चोंच, गला पर तीन किरणबला वक्र इन्द्रधनुष। मैना क्रोधसँ बजलीह—‘राजकुमारी कादम्बरी, ई अभागल, अशिष्ट, अहङ्कारी पक्षी हमरा पाछाँ अबैत अछि; अहाँ रोकैत किएक नहि छी? जँ एकर अत्याचारक उपेक्षा करब तँ निश्चय प्राण त्यागि देब। अहाँक कमलचरणक सत्य शपथ।’ ई सुनि कादम्बरी मुस्करौलीह। कथा नहि जानि महाश्वेता मदलेखासँ पुछलनि। ओ कहलीह—‘ई मैना कालिन्दी राजकुमारी कादम्बरीक सखी अछि। राजकुमारी विधिपूर्वक एकर विवाह परिहास नामक सुग्गासँ कयने छलीह। आइ भोर एकरा कादम्बरीक ताम्बूलवाहिनी तामालिकाक संग एकान्तमे किछु पाठ करैत देखि लेलनि। तखनहिसँ ईर्ष्यासँ भरल, क्रोधक हठमे ने लग जाइत, ने बाजैत, ने छुबैत, ने देखैत। हम सब शान्त करबाक बहुत प्रयास कयलहुँ, मुदा नहि मानैत अछि।’ चन्द्रापीडक मुखपर मुस्की पसरल। कोमल हँसीसँ बजलाह—‘गप्पक बात यह होइत अछि। राजसभामे सुनल जाइत; कानसँ कान सेवक आगाँ बढ़बैत; बाहरी जगत दोहरबैत; कथा पृथ्वीक अन्त धरि घूमैत; आब हमहुँ सुनि रहल छी जे ई सुग्गा परिहास राजकुमारी कादम्बरीक ताम्बूलवाहिनी पर मोहित भऽ प्रेमक दास बनि अतीत बिसरि गेल अछि। ई अशिष्ट, निर्लज्ज, पत्नी त्यागनिहार दूर जाउ—आ ओ स्त्री सेहो! मुदा राजकुमारी अपन चञ्चल सेवक केँ नहि रोकथि, ई उचित अछि? सम्भवतः हुनकर क्रूरता आरम्भहिमे प्रकट भेल, जखन बेचारी कालिन्दी केँ एहि दुष्चरित्र पक्षीक हाथ सौंपलनि। आब ओ की कऽ सकैत छथि? स्त्रीक लेल पति केँ बाँटब क्रोधक सर्वाधिक कटु कारण, दूरीक मुख्य आधार, आ परम अपमान होइत अछि। कालिन्दी बहुत धैर्यवती अछि जे एतेक शोकसँ उत्पन्न घृणामे विष, आगि अथवा उपवाससँ मरल नहि। स्त्री केँ एहि सँ अधिक तिरस्कृत किछु नहि करैत। एहन अपराधक बादो जँ मेल करय आ फेर ओकर संग रहय लेल तैयार हो, तँ ओकर धिक्कार! बहुत भेल; ओकरा निर्वासित कऽ तिरस्कारसँ बाहर फेकि दिस! फेर के ओकरासँ बाजत, के देखत, के नाम लेत?’ हुनकर विनोदपूर्ण वचन सुनि कादम्बरीक स्त्रीसमूह हँसि उठल। परिहास ई ठट्ठा सुनि बजल—‘चतुर राजकुमार, ओ बहुत होशियार अछि। चञ्चल होइतो अहाँ वा दोसर केओ ओकरा ठकि नहि सकैत। एहन टेढ़ बातसभ बूझैत अछि; विनोदक अर्थ जानैत; राजदरबारक सम्पर्कसँ बुद्धि तीक्ष्ण भेल। ठट्ठा बन्द करू। साहसी पुरुषक चर्चाक विषय ओ नहि। कोमलभाषिणी होइतो क्रोध आ मेलक समय, कारण, सीमा, उद्देश्य आ विषय नीकसँ जानैत अछि।’ एहि बीच एक दूत आबि महाश्वेतासँ बजल—‘राजकुमारी, राजा चित्ररथ आ महारानी मदिरा अहाँक दर्शन चाहैत छथि।’ चलबाक उत्सुक महाश्वेता कादम्बरीसँ पुछलनि—‘सखि, चन्द्रापीड कतए रहथि?’ कादम्बरी भीतरहि मुस्करौलीह—‘ओ हजार स्त्रीक हृदयमे पहिनहि स्थान पाबि चुकल छथि—आ जोर सँ बजलीह—‘प्रिय महाश्वेता, एना किएक कहैत छी? हुनका देखलापर हम अपने ऊपर अधिकार नहि रखैत छी; महल आ सेवकपर अधिकार तँ आरो कम। जतए हुनकर आ हमर प्रिय सखीक मन प्रसन्न हो, ओतए रहथि।’ महाश्वेता उत्तर देलीह—‘तँ अहाँक महल लग राजोद्यानक क्रीडापर्वतपर रत्नभवनमे रहथि।’ एतेक कहि राजाक दर्शन लेल चललीह।’

“महाश्वेताक प्रस्थानक बाद चन्द्रापीडो निकललाह। कादम्बरीक आदेशपर द्वारपालिकाद्वारा मनोरञ्जन लेल पठाओल कन्यासभ पाछाँ चललीह—वीणा-बाँसुरीवादिनी, गायिका, पासा आ चौपड़मे निपुण, कुशल चित्रकार आ मनोहर श्लोक पाठ करयबाली। पुरान परिचित केयूरक हुनका क्रीडापर्वतक रत्नमण्डप धरि लऽ गेलाह।’

“हुनकर गेलापर गन्धर्वराजकुमारी सखीसब आ सेविकासभ कैं विदा कऽ केवल किछुकें संग लऽ महलमे गेलीह। ओतए शय्यापर खसि पड़लीह। सेविकासभ आदरसँ कनेक दूर ठाढ़ सान्त्वना देबाक प्रयत्न करैत रहलीह। अन्ततः चेतना स्थिर भेल; एकसरि रहिते लाजसँ भरि गेलीह। लज्जा डाँटलक—‘चपले, ई की आरम्भ कयलहुँ?’ आत्मसम्मान उलाहना देलक—‘गन्धर्वराजकुमारी, ई अहाँक योग्य कोना?’ सरलता उपहास कयलक—‘समय पूरा होयसँ पहिने बाल्यकाल कतए चलि गेल?’ यौवन सावधान कयलक—‘हठी कन्या, अपन कोनो उन्मत्त योजना एकसरि पूर्ण नहि करू!’ गरिमा धिक्कारलक—‘भीरु बालिका, उच्चकुलीन कन्याक बाट ई नहि।’ सदाचार दोष देलक—‘उच्छृङ्खल कन्या, ई अनुचित व्यवहार छोड़ू!’ कुलीनता चेतौलक—‘मूर्खे, प्रेम अहाँ कैं चपल बना देलक।’ स्थिरता लाज दिलौलक—‘स्वभावमे ई अस्थिरता कतयसँ?’ उदात्तता डाँटलक—‘स्वेच्छाचारिणी, अहाँ हमर अधिकारक अवहेलना कयलहुँ।’”

“ओ मनमे सोचलीह—‘हमर ई केहन लज्जाजनक आचरण! सभ भय फेकि अस्थिरता प्रकट कयलहुँ; मूर्खतासँ अन्हारायल। धृष्टतामे ई नहि सोचलहुँ जे ओ अपरिचित छथि; निर्लज्जतामे नहि विचारलहुँ जे ओ हमरा चञ्चल स्वभावक बुझताह। हुनकर चरित्र जाँचल नहि; मूर्खतामे नहि सोचलहुँ जे हम हुनकर दृष्टिक योग्य छी कि नहि; अनपेक्षित अस्वीकारक भय नहि; माता-पिताक डर नहि; लोकचर्चाक चिन्ता नहि। एतबे नहि—निर्दयतामे बिसरलहुँ जे महाश्वेता दुःखमे छथि; मूर्खतामे नहि देखलहुँ जे सखीसब सोझाँ ठाढ़ देखैत अछि; पूर्ण जड़तामे नहि बुझलहुँ जे पाछाँ सेवकसभ ध्यान दऽ रहल अछि। एहन मर्यादाविस्मरण गम्भीर मनुष्य सेहो देखत; फेर प्रेमक बाट जानयबाली महाश्वेता, ओकर सभ चालमे निपुण सखीसभ, आ लक्षण चिन्हबाली दरबार-अनुभवी सेविका तँ अवश्य। अन्तःपुरक दासीसभक नजरि एहि विषयमे तीक्ष्ण होइत अछि। दुष्ट भाग्य हमरा नष्ट कऽ देलक! एहन लज्जित जीवनसँ मरब नीक। कथा सुनि पिता, माय आ गन्धर्वसभ की कहत? की करू? कोन उपाय? ई भूल कोना ढाँपू? अनियन्त्रित इन्द्रियक ई मूर्खता केकरा कहू? पाँच बाणबला कामदेवसँ जरैत कतए जाउ? महाश्वेताक दुःखमे प्रतिज्ञा कयने छलहुँ; सखीसबक सोझाँ घोषित; केयूरक हाथ सन्देश पठौने। आब ओ छलिया चन्द्रापीड एतए कोना आनल गेल—अभागिन हम नहि जानि—कूर भाग्य, गर्वित प्रेम, पूर्वकर्मक दण्ड, शापित मृत्यु वा दोसर किछु। कोनो एहन शक्ति, जे पहिने ने देखल, ने जानल, ने सुनल, ने सोचल, ने कल्पित, हमरा ठकय आयल। केवल दर्शनसँ बन्धनमे बन्दिनी; इन्द्रियसभ पिञ्जरामे राखि सौँपि देलक; प्रेम दासी बना हुनका लग लऽ गेल; अनुराग विदा कऽ देलक; भावना मूल्य लऽ बेचि देलक; हृदय घरक वस्तु बना देलक। एहि निकम्मासँ हमरा कोनो सम्बन्ध नहि!’ क्षणभर एहन निश्चय कयलनि। मुदा निश्चय करते हृदयक कम्पनसँ हिलैत चन्द्रापीडक प्रतिमा उपहास कयलक—‘झूठ मर्यादामे हमरा नहि चाहैत छी तँ हम चलैत छी।’ चन्द्रापीड त्यागबाक निर्णयक क्षण विदाइ-आलिङ्गनमे चिपकल जीवन पुछलक—‘सच?’ ओहि क्षण उठल नोर बजलक—‘एक बेर साफ आँखिसँ फेर देखू, अस्वीकारक योग्य छथि कि नहि।’ कामदेव डाँटलक—‘अहाँक गर्व जीवनसंग लऽ जायब।’ फेर हृदय चन्द्रापीड दिस घुरि गेल। ध्यानक बल टूटल, प्रेमक प्रबल आक्रमणसँ अभिभूत; ओकर वशमे उठि खिड़कीसँ क्रीड़ापर्वत दिस तकय लगलीह। आनन्दाश्रुक घोघटसँ भ्रमित जकाँ आँखिसँ नहि, स्मृतिसँ हुनका देखलीह; गरम हाथसँ चित्र मलिन भऽ जायत एहि भय सँ कूचीसँ नहि, कल्पनासँ चित्र बनौलीह; रोमाञ्च बाधा देत एहि डर सँ वक्षसँ नहि, हृदयसँ आलिङ्गन देलनि; हुनकर आगमनक विलम्ब सहि नहि सकि सेवक नहि, मन कैं स्वागत लेल पठौलनि।’

“एहि बीच चन्द्रापीड प्रसन्नतासँ रत्नभवनमे प्रवेश कयलनि—मानू कादम्बरीक दोसर हृदय हो। चट्टानपर कम्बल बिछल छल, दुनू छोरपर तकियाक ढेर। ओहिपर पड़लाह, पपर केयूरक गोदिमे, आ कन्यासभ अपन निर्धारित स्थानपर चारू कात बैसलीह। व्याकुल हृदयसँ विचारमे डुबि गेलाह—‘राजकुमारी कादम्बरीक सभ पुरुषक हृदय चोरयबला ई माधुर्य जन्मजात अछि, अथवा हमरा कोनो सेवा बिना प्रसन्न कामदेव विशेष रूपेँ हमर लेल नियुक्त कयने छथि? ओ प्रेमसँ लाल, कने वक्र आँखिसँ तिरछी दृष्टि देलीह; मानू हृदयपर खसल कामदेवक फूलबाणक परागसँ आँखि ढँकल हो। हम देखलहुँ तखन रेशम जकाँ उज्ज्वल सुन्दर मुस्कीसँ लाजपूर्वक अपना कैं ढाँपलीह। हमर दृष्टिसँ लजाइ मुख फेरिते अपन गालक दर्पण हमर प्रतिमा लेल अर्पित कयलनि। शय्यापर नखसँ ओहि हठी हृदयक पहिल रेखा खिंचलीह, जे हमरा प्रवेश दऽ रहल छल। ताम्बूल अनबाक श्रमसँ भीजल काँपैत हाथ मानू गरम मुख कैं हवा करैत तमालपल्लव हो; ओकरा गुलाबी कमल बुझि मधुमाछीक झुण्ड चारू कात मँडरा रहल छल। सम्भवतः मनुष्यक स्वाभाविक शीघ्र आशा आब व्यर्थ इच्छाक समूहसँ हमरा ठकि रहल अछि; विवेकहीन यौवनक उष्णता अथवा स्वयं कामदेव मस्तिष्क घुमा रहल अछि। तँ युवाक आँखि मोतियाबिन्दुसँ आहत जकाँ छोट चिह्नो पैघ देखैत; यौवनक आवेग जल जकाँ कनेक प्रेमक बिन्दु कैं दूर धरि पसारि दैत। उत्साहित हृदय कविक कल्पना जकाँ अपने उत्पन्न विचारक भीड़सँ भ्रमित, सभ वस्तुमे समानता खोजैत। चतुर प्रेमक हाथमे युवा भावना कूची जकाँ, किछुओ चित्रित करयसँ नहि डरैत; अचानक पाओल सौन्दर्यपर गर्वित कल्पना सभ दिशामे घुमैत। लालसा सपनामे अनुभव देखबैत। आशा मायावी छड़ी जकाँ असम्भव वस्तु सोझाँ आनैत। तँ व्यर्थ मन किएक थकाउ? जँ ई उज्ज्वलनयना सचमुच हमरा प्रति एहन भाव रखैत छथि, तँ बिना माँगने कृपालु कामदेव शीघ्र स्पष्ट कऽ देत; यैह सन्देशक निर्णायक होयत।’ अन्ततः ई निश्चय कऽ उठलाह, फेर बैसलाह, आ प्रसन्नतासँ कन्यासभक कोमल बातचीत तथा सुन्दर खेलमे सहभागी भेलाह—पासा, गीत, वीणा, मृदङ्ग, मिश्रित सङ्गीतसभा आ कोमल पद्यक मधुर पाठ। किछु विश्रामक बाद उद्यान देखय निकललाह आ क्रीड़ापर्वतक शिखरपर चढ़लाह।’

“कादम्बरी हुनका देखलनि। महाश्वेताक घुरब देखबाक बहाना बना खिड़की खोलबाक आदेश देलीह—‘ओ बहुत देरी कऽ रहल छथि।’ प्रेमसँ उथल-पुथल हृदय लऽ महलक छतपर चढ़लीह। किछु सेविकासंग ओतए ठाढ़; पूर्णचन्द्र जकाँ श्वेत, सोने मूठबला छत्र धूपसँ बचबैत; फेन जकाँ निर्मल चारि चँवर हवा करैत। माथक फूलसुगन्धक लालसामे मधुमाछीसभ मँडरा दिनहूमे अन्हारक घोघट बना रहल छल—मानू चन्द्रापीडसँ मिलय जयबाक योग्य सजावट अभ्यास करैत होथि। कखनो चँवरक नोकपर टेक, कखनो छत्रक डण्डापर; कखनो तामालिकाक काँधपर हाथ; कखनो मदलेखासँ चिपकल; कखनो

कन्यासभक बीच नुका तिरछी दृष्टि; कखनो घुरि पड़ल; कखनो द्वारपालिकाक छड़ीक नोकपर गाल; कखनो स्थिर हाथसँ ताजा ओठपर ताम्बूल; कखनो कन्यासभपर कमल फेकैत ओकर प्रहारसँ भागल सेविकासभक पाछाँ हँसैत किछु डेग दौड़। राजकुमार केँ देखैत आ हुनकर दृष्टि अपना पर अनुभव करैत कतेक समय बीतल, नहि बुझलनि। अन्ततः द्वारपालिका महाश्वेताक घुरब सूचित कयलक। नीचाँ उतरलि; अनिच्छा रहितो महाश्वेता केँ प्रसन्न करबाक लेल स्नान आ दैनिक कर्तव्य कयलनि।’

“चन्द्रापीड नीचाँ उतरलाह, कादम्बरीक परिचारिकासभ केँ विदा कयलनि, स्नानक संस्कार कयलनि, सम्पूर्ण पर्वतपर पूजित देवताक उपासना, भोजनसहित दिनक सभ कर्तव्य क्रीड़ापर्वतपर पूर्ण कयलनि। पर्वतक सोझाँ दिस देखाइत पन्नाक आसनपर बैसलाह। ओ सुखद, कपोत जकाँ हरियर; मृगशावकक जुगालीक फेनसँ ओसाइत; बलरामक हलक भय सँ स्थिर जमुना-जल जकाँ चमकैत; कन्यासभक पएरक अलकतकरससँ लाल; फूलधूलिसँ बालुकित; कुञ्जमे नुकायल; मोरसबक सङ्गीतगृह। अचानक देखलनि—श्वेत दीप्तिधारासँ दिन ढँकि गेल, महिमामय प्रकाश मानू कमलनालक मालासँ पी लेल गेल, पृथ्वी क्षीरसागरमे डुबि गेल, अन्तरिक्ष चन्दनरसक आँधीसँ ओसाइत, आ आकाश श्वेत चूनसँ रँगायल।’

“सोचलनि—‘ई की! वनस्पतिक राजा स्वामी चन्द्रमा अचानक उदित भऽ गेलाह? अथवा सहस्र स्नान-फुहारक झरना खुलि श्वेत धार छोड़ि रहल अछि? कि पवनसँ उछलैत फेनसँ पृथ्वी धवल करयबाली स्वर्गगङ्गा जिज्ञासासँ पृथ्वीपर उतरि आयलीह?’”

“प्रकाशक दिशा दिस आँखि घुमौलनि। कादम्बरी केँ देखलनि; संगमे मदलेखा, आ श्वेत रेशमसँ ढँकल थारीपर मोतीक हार लऽ तरलिका। चन्द्रापीड निश्चय कयलनि जे यह हार चाँदनी केँ मात दऽ उजासक कारण बनल अछि। मदलेखा एखन दूर छलीह, तखनहि उठि सामान्य सभ शिष्टाचारसँ स्वागत कयलनि। क्षणभर पन्नाक आसनपर विश्राम कऽ मदलेखा उठलीह, चन्दनसुगन्धसँ हुनका लेपलनि, दू श्वेत वस्त्र पहिरौलनि, मालतीफूलक मुकुट सजौलनि, फेर हार दैत बजलीह—‘राजकुमार, अहाँक अहङ्कारहीन कोमलता सभ हृदय केँ वशमे करब आवश्यक अछि। अहाँक कृपा हमरा जकाँकेँ सेहो निकट अबबाक अवसर दैत; रूपसँ सभक जीवनस्वामी; बिना अधिकारो जे कोमलता देखबैत, ओ सभकेँ प्रेमबन्धनमे बान्हैत; व्यवहारक जन्मजात मधुरता प्रत्येक मनुष्य केँ मित्र बनबैत; स्वाभाविक नम्रतासँ प्रकट गुणसभ सभकेँ साहस दैत। दोष अहाँक रूपक अछि, जे पहिल दर्शनहिमे विश्वास जगा दैत; नहि तँ एतेक गरिमावान व्यक्तिसँ बात करब अनुचित लगैत। अहाँसँ बाजब अपमान बुझाइत; आदर धृष्टताक दोष अनैत; प्रशंसा साहस देखबैत; सेवाभाव चपलता; प्रेम आत्मछल; सम्बोधन उद्दण्डता; सेवा ढिठाइ; उपहार अपमान। आरो—अहाँ हमर हृदय जीत चुकलहुँ, देबाक शेष की? अहाँ जीवनस्वामी, की अर्पित करी? उपस्थितिक महान कृपा पहिनहि देलहुँ, प्रतिदान की? दर्शनसँ जीवन सार्थक कयलहुँ, आगमनक मूल्य कोना चुकाबी? तँ कादम्बरी एहि बहाने अपन प्रेम देखबैत छथि, गरिमा नहि। उदात्त हृदयमे ‘हमर-अहाँक’ प्रश्न नहि। प्रतिष्ठाक विचार दूर रहय। अहाँ जकाँ व्यक्तिक दासता स्वीकारो हुनकर अयोग्य नहि; स्वयं केँ अर्पित करितो ठकाइ नहि; जीवन देतियो पछताइ नहि। उदात्त हृदयक उदारता सदिखन कृपा दिस झुकल, प्रेम अस्वीकार करय नहि चाहैत; माँगनिहार देनिहारसँ कम लजैत। तथापि कादम्बरी जानैत छथि एहि विषयमे अहाँक अपराध कयने छथि। ई हार ‘शेष’ कहल जाइत अछि, कारण अमृतमन्थनमे उत्पन्न समस्त रत्नमे अन्तिम शेष ई रहि गेल छल। एहि कारण समुद्रदेव अत्यन्त मूल्यवान मानि वरुण केँ घर घुरैत समय देलनि। वरुण गन्धर्वराज केँ, आ ओ कादम्बरी केँ देलनि। कादम्बरी अहाँक रूप केँ एहि आभूषणक योग्य मानलीह—कारण चन्द्रमाक घर पृथ्वी नहि, आकाश अछि—तँ पठौने छथि। अहाँ जकाँ व्यक्ति, जिनकर एकमात्र आभूषण उदात्त आत्मा, साधारण लोकक सम्मानित रत्न पहिरब कष्टकर बुझैत होयत; मुदा एतए कादम्बरीक स्नेह कारण अछि। लक्ष्मीसंग उत्पन्न कौस्तुभमणि विष्णु वक्षपर धारण कऽ सम्मान देखौलनि; तथापि ओ अहाँसँ महान नहि, कौस्तुभ मूल्य मे शेषसँ श्रेष्ठ नहि; आ लक्ष्मी कादम्बरीक सौन्दर्यक कनेको अनुकरण नहि कऽ सकैत छथि। सच, जँ अहाँ हुनकर प्रेम कुचलि देब तँ ओ हजार उलाहनासँ महाश्वेता केँ दुःखी करीतह आ स्वयं मरि जेतीह। तँ महाश्वेता हारसहित तरलिका केँ पठौने छथि, आ हमरा कहलनि—“परम उदात्त राजकुमार, कादम्बरीक प्रेमक प्रथम आवेग केँ विचारोमे नहि कुचलू।” एतेक कहि सोने पर्वतक ढलानपर तारामण्डल जकाँ टिकैत हार हुनकर वक्षपर बान्हि देलीह। विस्मित चन्द्रापीड उत्तर देलनि—‘मदलेखा, ई की? अहाँ चतुर छी; उपहार स्वीकार करबय जानैत छी। उत्तरक अवसर नहि छोड़ि वक्तृत्वक कौशल देखौलहुँ। मुदा मूर्ख कन्या, अहाँक सोझाँ हम की, स्वीकार-अस्वीकार की? ई चर्चा वस्तुतः निरर्थक। एतेक शिष्ट देवीसभक कृपा पाबि हमरा प्रिय वा अप्रिय कोनो काजमे लगाउ। सच, एहन मनुष्य नहि जे परम शिष्ट कादम्बरीक गुणसँ अशिष्टतासँ दास नहि बनि जाय।’ कादम्बरीक विषयमे किछु बातचीतक बाद मदलेखा केँ विदा कयलनि। ओ गेलाक किछुए समय बाद चित्ररथक पुत्री सेविकासभ केँ विदा, छड़ी-छत्र-चँवरक राजचिह्न छोड़ि केवल तामालिकासंग फेर महलक छतपर चढ़लीह। मोती, रेशमी वस्त्र आ चन्दनसँ चमकैत चन्द्रापीड केँ क्रीड़ापर्वत दिस ओहिना जाइत देखलनि जेना चन्द्रमा उदयाचलपर। सभ माधुर्यसँ भरल प्रेमपूर्ण दृष्टिसँ ओ हुनकर हृदय चुरा लेलनि। अन्हारमे देखब असम्भव भेला पर छतसँ उतरीह; चन्द्रापीड पर्वतक ढलानसँ।’

“तखन अमृतक स्रोत, सभ आँखिक आनन्द चन्द्रमा समेटल किरणसहित उदित भेलाह। रातिक कुमुदसभ पूजा करैत लगल; क्रोधसँ अन्हार मुखबाली दिशासभ केँ शान्त करैत; दिनकमल केँ जगा देबाक भय सँ बचैत। कलङ्कक बहाने राति केँ हृदयपर धारण कयने; उदयक लालिमामे रोहिणीक ठोकर खायल पएरसँ लागल अलकतक वहन करैत; गाढ़ नील घोघटबला आकाशरूपी प्रेयसीक पाछाँ; महान सद्भावसँ सर्वत्र सौन्दर्य पसारैत।’

“कामदेवक परम साम्राज्यक छत्र, कमलक स्वामी, रातिक हाथीदाँतक कुण्डल चन्द्रमा उदित भेल; जगत हाथीदाँतसँ मढ़ल जकाँ श्वेत। कादम्बरीक सेविकासभ द्वारा बताओल शीतल चाँदनी शिलापर चन्द्रापीड पड़लाह। मोती जकाँ धवल, ताजा चन्दनजलसँ धुआयल, निर्मल सिन्धुवारफूलसँ माला सजल, चारू कात कमलपातक बेलबूटेदार नक्काशी। महलक कमलसरोवरक तटपर; पूर्ण चाँदनीसँ मानू कुमुदसँ बनल; लहरिसँ धुआयल ईटाक सीढ़ी श्वेत;

तरङ्गसँ पंखा कयल हवा। हंसयुगल सुतल, चक्रवाकयुगल वियोगक विलाप करैत। राजकुमार विश्राम करिते केयूरक आबि कहलनि राजकुमारी कादम्बरी दर्शन लेल आयल छथि। चन्द्रापीड जल्दी उठलाह, कादम्बरी केँ समीप अबैत देखलनि। किछुए सखी; सभ राजचिह्न हटायल; एकमात्र हारमे मानू नब स्वरूप; पतला शरीर शुद्धतम चन्दनरससँ श्वेत; एक कानमे कुण्डल, दोसरमे नव चन्द्रकलासदृश कोमल कमलपात; चाँदनी जकाँ निर्मल कल्पवृक्षक वस्त्र; समयानुकूल वेशमे चन्द्रोदयक साक्षात् देवी जकाँ, मदलेखाक बढ़ाओल हाथपर टेक। समीप आबि प्रेमप्रेरित माधुर्य देखौलनि, दासीसभक स्थान धरतीपर निम्नकुलीन कन्या जकाँ बैसलीह। मदलेखा बेर-बेर शिलासनपर बैसबाक अनुरोध कयलनि, मुदा चन्द्रापीडो धरतीपर मदलेखाक लग बैसलाह। सभ स्त्री बैसलापर बाजय प्रयास कयलनि—‘राजकुमारी, अहाँक दास, जे केवल दृष्टिसँ आनन्दित, ओकरा अहाँक वचनक कृपा आवश्यक नहि; एतेक पैघ अनुग्रह तँ दूर। गहिर विचार करितो अपना भीतर एहन कोनो योग्यता नहि देखैत छी जे एहि उच्च कृपाक अनुरूप हो। अहङ्कार त्यागल अहाँक ई शिष्टता परम उदात्त आ मधुर—नव दासपर एतेक अनुग्रह। सम्भवतः हमरा उपहारसँ जीतयबला रूख मनुष्य बुझैत छी। सच, धन्य ओ सेवक जकरा पर अहाँक शासन! अहाँक आदेश पाबय योग्य मानल सेवक केँ केहन महान सम्मान! मुदा शरीर कोनो मनुष्यक सेवा लेल सहज उपहार; जीवन घास जकाँ हलुक। अहाँक आगमनक स्वागत एहन उपहारसँ करबामे भक्तिभावो लाज दैत। हम एतए छी; हमर शरीर, जीवन, इन्द्रिय एतए। इनमें सँ कोनो एक स्वीकार कऽ ओकर सम्मान बढ़ाउ।’”

“मदलेखा मुस्करा उत्तर देलीह—‘बस करू, राजकुमार। अत्यधिक औपचारिकतासँ सखी कादम्बरी पीड़ित छथि। एना किएक बाजैत छी? बिना आरो चर्चा ओ अहाँक वचन स्वीकार करैत छथि। एतेक चाटु वचनसँ हुनका अनिश्चिततामे किएक राखैत छी?’ क्षणभर रुकि फेर पुछय लगलीह—‘राजा तारापीड केहन छथि? महारानी विलासवती? उदात्त शुक्रनास? उज्जयिनी केहन आ कतेक दूर? भारतवर्ष केहन? मनुष्यलोक सुखद अछि?’ एहन बातचीतमे किछु समय बितल। कादम्बरी उठलीह; चन्द्रापीड लग पड़ल केयूरक आ अपन सेविकासभ केँ बजा शयनकक्षमे गेलीह। श्वेत रेशमी चादरबला शय्या सजौलीह। चन्द्रापीड शिलापर, केयूरक पपर दबबैत, सम्पूर्ण राति क्षण जकाँ बितौलनि—कादम्बरीक विनय, सौन्दर्य, चरित्रक गहराइ; महाश्वेताक अकारण कृपा; मदलेखाक शिष्टता; सेविकासभक गरिमा; गन्धर्वलोकक महान वैभव; किम्पुरुषदेशक आकर्षण सोचैत।’

“तारासभक स्वामी चन्द्रमा कादम्बरी केँ देखैत जागलासँ थाकि मानू सुतबाक लेल तटवर्ती वनमे उतरि गेलाह—ताल, तमाल, ताली, बरगद आ कन्दलाबला, मन्द हिलैत तरङ्गक शीतल हवासँ ठण्डा। प्रियक आसन्न वियोगपर शोकित स्त्रीक ज्वरयुक्त निःश्वास जकाँ चाँदनी फीकि पड़ल। कुमुदपर राति बितौने लक्ष्मी दिनकमलपर पड़लीह—मानू चन्द्रापीडक दर्शनसँ प्रेम जन्मल हो। रातिक अन्तमे महलक दीप पीयर पड़ल, मानू कन्याक कानक कमलप्रहार स्मरण कऽ वियोगमे क्षीण। लताफूलसुगन्धित प्रभाती पवन बहल; निरन्तर बाण छोड़ि थाकल कामदेवक निःश्वाससंग खेलैत। उषाक उदयसँ तारा ढँकल, भय सँ मन्दरपर्वतक घन लताकुञ्जमे शरण लेल। सूर्य उदित भेल—गोलक लाल, मानू चक्रवाकक हृदयमे राति रहबाक लालिमा शेष। चन्द्रापीड शिलासँ उठि कमलमुख धोइलनि, प्रातः-वन्दना, ताम्बूल; केयूरक केँ पठौलनि राजकुमारी जागलीह कि नहि, कतए छथि। ओ घुरि कहलनि—मन्दरप्रासादक नीचाँ आँगनक कुञ्जमे महाश्वेतासंग। गन्धर्वराजक पुत्रीक दर्शन लेल चललाह। ओतए महाश्वेता भ्रमणशील तपस्विनीसभसँ घेरल—साक्षात् प्रार्थनादेवी जकाँ; कपारपर श्वेत भस्म; जपमाला फेरैत तीव्र गतिसँ हाथ; शिवानुयायीक व्रत; खनिजरङ्गसँ भूरा वस्त्र, लाल कपड़ा, पकल नारिकेरक अरुण छाल, वा मोट श्वेत पट्टीक मेखला; श्वेत वस्त्रक पंखा; दण्ड, जटा, मृगचर्म, वृक्षछाल; पुरुष तपस्वीक विह्व। शिव, दुर्गा, कार्तिकेय, विश्रवस, कृष्ण, अवलोकितेश्वर, अर्हत आ विरिञ्चिक पवित्र स्तुति पाठ। महाश्वेता राजाक वृद्ध कुटुम्बिनी आ अन्तःपुरक प्रमुख स्त्रीसभ केँ प्रणाम, विनम्र वचन, उठि स्वागत आ सरकण्डाक आसन दऽ सम्मान करैत छलीह।’

“कादम्बरी नारदक मधुरकण्ठ पुत्रीद्वारा पाठित, सभ शुभचिह्नसँ ऊपर महाभारतश्रवणमे ध्यान देत देखाइ पड़लीह। पाछाँ बैसल किन्नरयुगल मधुमाछीक गुंजन जकाँ कोमल बाँसुरीसँ सङ्गत दैत। सोझाँ रखल दर्पणमे अपन ओठ देखैत—मधु निकलल मधुमोम जकाँ पीयर; दाँतक चाँदनीमे नहायल, भीतर ताम्बूलसँ श्याम। पालतू हंस हुनकर प्रदक्षिणा करैत—स्थिर वृत्तमे घूमैत चन्द्रमा जकाँ; वलिस्नेरियाक लालसामे सिरिसफूलक कुण्डल दिस पैघ आँखि उठा। राजकुमार लग आबि प्रणाम कऽ मञ्चपर रखल आसनपर बैसलाह। किछु काल बाद गालमे गद्दा बनबैत कोमल मुस्कीसँ महाश्वेताक मुख दिस देखलनि। हुनकर इच्छा तुरन्त बुझि महाश्वेता कादम्बरीसँ बजलीह—‘प्रिय सखि, चन्द्रापीड अहाँक गुणसँ ओहिना पघिलल छथि जेना चन्द्रकान्त चन्द्रमासँ; स्वयं बाजि नहि सकैत। ओ विदा चाहैत छथि, कारण पाछाँ छोड़ल दरबार, की भेल नहि जानि, दुःखमे अछि। अहाँ दुनू कतेको दूर रहब, तथापि प्रेम सूर्य-दिनकमल वा चन्द्र-कुमुदक प्रेम जकाँ प्रलय धरि टिकत। तँ हुनका जयबाक अनुमति दिया।’”

‘प्रिय महाश्वेता,’ कादम्बरी उत्तर देलनि, ‘हम आ हमर समस्त परिचर-वर्ग कुमारक अपन प्राण जकाँ पूर्णतः हुनकहि छी। तखन ई औपचारिकताक कोन प्रयोजन?’ ई कहि ओ गन्धर्व-कुमार सभकेँ बजौलनि आ कुमारकेँ हुनक निवास धरि पहुँचा देबाक आज्ञा देलनि। चन्द्रापीड उठि पहिने महाश्वेताकेँ, फेर कादम्बरीकेँ प्रणाम कयलनि। कादम्बरीक आँखि आ हृदय स्नेहसँ कोमल भऽ गेल छल। चन्द्रापीड कहलनि, ‘देवि, हम की कहू? अधिक वचन पर लोक विश्वास नहि करैत अछि। अपनेक सखीसभक वार्तामे हमरा स्मरण राखल जाय।’ ई कहि ओ अन्तःपुरसँ बाहर निकललनि। कादम्बरीकेँ छोड़ि सभ कन्या चन्द्रापीडक गुणक प्रति श्रद्धासँ आकृष्ट भऽ प्रजाजन जकाँ हुनका बाहरी द्वार धरि विदा करबाक लेल पाछाँ-पाछाँ गेलीह।

सभक घुरला पर चन्द्रापीड कीयूरक द्वारा आनल घोड़ा पर चढ़लनि आ गन्धर्व-कुमार सभक संग हेमकूटसँ विदा भेलनि। बाट भरि भीतर-बाहर प्रत्येक वस्तुमे हुनक समस्त विचार कादम्बरी पर केन्द्रित रहल। कादम्बरीक भावमे पूर्णतः डूबल मनसँ ओ हुनका कतहु पाछाँ देखैत छलाह—निर्दय वियोगक तीव्र

दुःखमे मानो ओ हुनक अन्तःकरणमे विराजमान होथि; कतहु आगाँ, मानो हुनक बाट रोकि रहल होथि; कतहु आकाशमे अंकित, मानो वियोग-विकल हृदयक उत्कट अभिलाषा हुनक मुखमण्डलकेँ स्पष्ट रूपेँ आकाश पर उकेरि देने हो; आ कतहु अपन हृदय पर साक्षात् विश्राम करैत, मानो चन्द्रापीडक अभावसँ हुनक मन आहत भऽ गेल हो। महाश्वेताक आश्रम पर पहुँचि ओ अपन शिविर देखलनि, जे इन्द्रायुधक पदचिह्नक अनुसरण करैत ओतय आबि गेल छल।

गन्धर्व-कुमार सभकेँ विदा कऽ ओ अपन सैनिकसभक हर्ष, कौतूहल आ विस्मयसँ भरल प्रणामक बीच अपन निवासमे प्रवेश कयलनि। दरबारक शेष लोकसभसँ भेंट कयलाक बाद दिनक अधिकांश समय वैशम्पायन आ पत्रलेखाक संग एहि प्रकारक चर्चामे बितौलनि—‘महाश्वेता ई कहलनि, कादम्बरी ई कहलनि, मदलेखा ई कहलनि, तमालिका ई कहलनि, कीयूरक ई कहलनि।’ कादम्बरीक सौन्दर्य देखि ईर्ष्यालु भेल राजलक्ष्मी आब हुनकामे अपन आनन्द नहि पबैत छल। उज्ज्वल नेत्रवाली ओहि कन्याक निरन्तर अभिलाषामे डूबल मनसँ विचार करैत हुनक राति जागरणमे बीतल। दोसर दिन सूर्योदय पर, मन एखनो कादम्बरीमे लागल रहिते, ओ अपन मण्डपमे गेलनि आ सहसा द्वारपालक संग प्रवेश करैत कीयूरककेँ देखलनि। दूरसँ कीयूरक एना भूमि पर दण्डवत् भेल जे हुनक शिखा फर्श छूबि गेल। चन्द्रापीड ‘आबह, आबह’ कहैत पहिने तिरछी दृष्टिसँ, फेर हृदयसँ, आ अन्तमे रोमाञ्चसँ हुनक स्वागत कयलनि। तत्पश्चात् ओ स्वयं शीघ्र आगाँ बढ़ि सरल आ हार्दिक आलिङ्गन देलनि आ अपन लग बैसौलनि। मुस्कानक अमृतसँ उज्ज्वल आ उमड़ैत प्रेमसँ भरल वचनमे आदरपूर्वक पुछलनि, ‘कहह कीयूरक, देवी कादम्बरी कुशलसँ छथि? हुनक सखीसभ, परिचर-वर्ग आ देवी महाश्वेता सभ कुशल छथि?’ कुमारक गहन स्नेहसँ उपजल मुस्कान मानो ओकर स्नान, अनुलेपन आ श्रम-हरण कऽ देने हो, एहन अनुभव करैत कीयूरक विनीत भावसँ प्रणाम कऽ उत्तर देलक—

‘आब ओ कुशल छथि, कारण हमर स्वामी हुनक समाचार पुछलनि।’ तखन ओ भीजल वस्त्रमे लपेटल एकटा मोड़ल कमल-पात देखौलक। ओकर मुख कमल-तन्तुसँ बान्हल छल आ भीजल चन्दनक लेप पर कोमल कमल-तन्तुक मुहर लागल छल। ओकरा खोलि ओ कादम्बरी द्वारा पठाओल चिन्ह देखौलक—छिलका उतारल, नव पल्लवसँ घेरल, मरकत जकाँ हरियर दूधिया सुपारी; सुग्रीक गाल जकाँ पीयर पान; शिवक मस्तकक चन्द्रमाक ठोस खण्ड जकाँ कपूर; आ गाढ़ कस्तूरीक सुगन्धसँ मनोहर चन्दन-लेप। ओ कहलक, ‘देवी कादम्बरी अपन कोमल अँगुरीक किरणसँ अरुण, मस्तक छुबैत जोड़ल करसँ अपनेकेँ प्रणाम पठबैत छथि; महाश्वेता अभिवादन आ आलिङ्गन; मदलेखा प्रणाम करैत एहन नत ललाट, जाहि पर झुकल शिरोमणिक चन्द्रिका बरसि रहल अछि; कन्यासभ अपन मत्स्याकार आभूषण आ केशक माँग भूमि पर टेकैत प्रणाम; आ तरलिका अपनेक चरण-धूलि छुबैत साष्टाङ्ग दण्डवत्। महाश्वेता ई सन्देश पठौने छथि—“वास्तवमे ओ लोकनि धन्य छथि जिनकर आँखिसँ अहाँ कखनो ओझराइत नहि छी। अहाँ निकट रहैत छी तऽ अहाँक गुण हिम आ चन्द्रमा जकाँ शीतल लगैत अछि, मुदा अनुपस्थितिमे से सूर्यक किरण जकाँ दहैत अछि। सभकेँ बीतल दिनक एना चाह अछि मानो से ओहि दिन जकाँ छल जहिया भाग्य बहुत परिश्रमसँ अमृत उत्पन्न कयने छल। अहाँ बिना गन्धर्वराजक नगरी उत्सव समाप्त भेला पछाति जकाँ शिथिल पड़ल अछि। अहाँ जनैत छी जे हम सभकिलु समर्पित कऽ देने छी, तथापि हमर इच्छाक विरुद्धो हमर हृदय अहाँ सन अकारण कृपालुकेँ देखबाक आकांक्षा करैत अछि। कादम्बरी सेहो किञ्चित् स्वस्थ नहि छथि। ओ अहाँक मुस्काराइत मुखकेँ, साक्षात् कामदेव जकाँ, निरन्तर स्मरण करैत छथि। अहाँ पुनः आबि हुनका अपन किल्लु गुण पर गर्व करबाक अवसर दऽ सकैत छी, कारण श्रेष्ठ पुरुषक आदर अवश्य सम्मान प्रदान करैत अछि। हमरा सभ सन लोकक समाचार जनबाक कष्टकेँ क्षमा करब। अहाँक अपन उदारता हमरा सभकेँ एतेक निर्भीक भऽ निवेदन करबाक साहस दैत अछि। आ ई शेष-हार अहाँक शय्या पर छुटि गेल छल।”’ ई कहि कीयूरक अपन पट्टमे राखल हार निकाललक। महीन सूत्रक बीचसँ निकलैत लम्बा किरणक कारण से स्पष्ट चमकि रहल छल। ओ ओकरा चँवरधारिणीक हाथमे राखि देलक।

‘ई तऽ महाश्वेताक चरणमे कयल प्रणामक फल अछि जे देवी कादम्बरी अपन सेवक पर स्मरणक एतेक भारी सम्मान रखलनि,’ ई कहैत चन्द्रापीड सभ वस्तु मस्तकसँ लगा स्वीकार कयलनि। ओ हार गला मे पहिरलनि; पहिने ओकरा एहन शीतल, सुखद आ सुगन्धित लेपसँ अनुलिप्त कयल गेल, मानो कादम्बरीक गालक सौन्दर्य निचोड़ि कऽ बनाओल हो, हुनक मुस्कानक ज्योति पधिलि गेल हो, हुनक हृदय द्रवित भऽ गेल हो अथवा हुनक गुण स्पन्दित भऽ बाहर आबि रहल हो। किल्लु पान लऽ ओ उठलनि आ बामा बाँह कीयूरकक काँध पर राखि ठाढ़ भेलनि। नियमित आदर अर्पित करैत आनन्दित सभासदसभकेँ विदा कऽ अन्ततः अपन हाथी गन्धमादनकेँ देखबाक लेल गेलनि। ओतय किल्लु काल रुकि स्वयं हाथीकेँ घासक एक मुट्ठी देलनि, जे हुनक नखक किरणसँ कटल-फटल कमल-तन्तु जकाँ देखाइत छल। फेर अपन प्रिय अश्वक अस्तबल दिस बढ़लनि। बाटमे ओ कखनो एहि दिस, कखनो ओहि दिस मुख घुमा अपन अनुचर-वर्ग पर दृष्टि देलनि। द्वारपालसभ हुनक इच्छा बुझि सभकेँ पाछाँ आबयसँ रोकि देलक आ परिचर-वर्गकेँ विदा कऽ देलक, फलतः ओ केवल कीयूरकक संग अस्तबलमे प्रवेश कयलनि। अश्वपालसभ प्रणाम कऽ विदा भेल, मुदा अप्रत्याशित रूपेँ हटाओल गेलासँ भयचकित आँखिसँ देखैत रहल। कुमार इन्द्रायुधक एक दिस खसकल वस्त्र ठीक कयलनि, आँखि पर झूलि आधा बन्द करैत सिंहक केशर जकाँ कपिश अयालकेँ पाछाँ कयलनि, फेर सहज भावसँ एक पएर बान्हनक खूँटा पर रखि अस्तबलक देबालसँ टेक लगा उत्सुकतासँ पुछलनि—

‘कहह कीयूरक, हमर विदा भेलाक बाद गन्धर्व-दरबारमे की-की भेल? गन्धर्व-कन्या समय कोन काजमे बितौलनि? महाश्वेता आ मदलेखा की करैत छलथि? कोन-कोन वार्ता भेल? अहाँ सभ आ परिचर-वर्ग कोन काजमे रहलहुँ? आ हमर विषयमे किल्लु चर्चा भेल की?’ तखन कीयूरक सभ बात कहलक—‘सुनू कुमार। अहाँक प्रस्थानक बाद देवी कादम्बरी अपन परिचर-वर्गक संग महलक छत पर चढ़लीह। हुनक नूपुरक ध्वनि कन्या-महलमे सहस्र हृदयसँ उठैत विदाईक नगाड़ाक ताल जकाँ गूँजि रहल छल। ओ घुड़सवार दलक धूरसँ धूसर अहाँक बाट दिस एकटक देखैत रहलीह। अहाँ दृष्टिसँ ओझराइतहि ओ अपन मुख महाश्वेताक काँध पर राखि देलनि आ प्रेमवश क्षीरसागर जकाँ उज्ज्वल दृष्टिसँ अहाँक यात्राक दिशा सींचैत रहलीह। मानो ईर्ष्यालु चन्द्रमा श्वेत

छत्रक रूप धरि सूर्यक स्पर्शसँ हुनक रक्षा कऽ रहल हो, ओ बहुत काल धरि ओतहि रहलीह। अन्ततः बड़ कठिनाइसँ अपना केँ ओतयसँ अलग कऽ नीचाँ अयलीह। मण्डपमे किछु क्षण विश्राम कयलाक बाद उठि ओहि प्रमोदवन दिस गेलीह जतय अहाँ रहि चुकल छलहुँ। पूजा-फूलमे गुञ्जैत भँवरासभ मानो हुनका बाट देखा रहल छल। गृह-मयूरक पुकारसँ चौंकि ओ ऊपर देखैत मयूरसभक स्वरकेँ अपन नखक वर्षा-जकाँ किरणसँ रोकि देलनि; हुनक गला मे ढील पड़ल कण्ठाभूषण डोली रहल छल। प्रत्येक डेग पर ओ फूलसँ उज्ज्वल लता-डारि पर हाथ आ अहाँक गुण पर मन टिकबैत गेलीह। प्रमोदवन पहुँचला पर परिचर-वर्ग अनावश्यक रूपेँ हुनका बतबैत गेल—“एतय कुमार ओहि जलधारासँ धोल पाथर पर ठहरल छलाह, जकर पाइप मरकतक माछ-मुख पर समाप्त होइत अछि आ जकर लता-मण्डप फुहारसँ भीजल अछि; एतय सुगन्धित जलक सुवासमे मग्न भँवरासँ घेरल स्थानमे स्नान कयलनि; एतय पुष्प-परागसँ बालुमय पर्वतीय धाराक तट पर शिवक पूजा कयलनि; एतय चन्द्रिकाकेँ मात करैत स्फटिक-शिला पर भोजन कयलनि; आ एतय चन्दन-रसक चिह्न अंकित मोती-जकाँ शिला पर शयन कयलनि।” एहि प्रकार ओ अहाँक उपस्थितिक चिह्नसभ देखैत दिन बितौलनि। साँझ पड़ला पर महाश्वेता हुनक अनिच्छाक बावजूद ओहि स्फटिक-भवनमे भोजन तैयार करौलनि। सूर्य अस्त भेल आ चन्द्रमा उदित भेल तऽ कादम्बरी मानो चन्द्रकान्त मणि होथि, जे चाँदनीसँ पघिलि जायत, एही भये चन्द्र-प्रतिबिम्बक प्रवेशसँ डरैत दुनू हाथ गाल पर राखि विचारमग्न भऽ किछु क्षण आँखि मूनि बैसल रहलीह। तत्पश्चात् उठि शयन-कक्ष दिस गेलीह। हुनक सुन्दर, शिथिल चालमे उठैत पए एना भारी लगैत छल मानो उज्ज्वल नख पर पड़ल चन्द्र-प्रतिबिम्बक भार वहन कऽ रहल हो। शय्या पर पड़ितहि हुनका भीषण माथक पीड़ा आ दाहक ज्वर घेरि लेलक। राजमहलक दीप, रात्रि-विकासी कमल आ चक्रवाकक संग ओ तीव्र दुःखमे आँखि खोलने पूरी राति काटलनि। प्रभात होइतहि हमरा बजा उलाहना दैत अहाँक समाचार अनबाक आज्ञा देलनि।’

ई सुनिह चन्द्रापीड प्रस्थान लेल अधीर भऽ पुकारलनि, ‘घोड़ा! घोड़ा!’ आ महलसँ बाहर निकलि गेलनि। अश्वपालसभ शीघ्र इन्द्रायुधकेँ सज्जित कऽ अनलक। चन्द्रापीड पत्रलेखाकेँ पाछाँ बैसा स्वयं चढ़लनि, शिविरक भार वैशम्पायन पर छोड़लनि, समस्त अनुचर-वर्गकेँ विदा कयलनि, आ दोसर अश्व पर सवार कीयूरकक संग हेमकूट दिस चलि देलनि। पहुँचि कादम्बरीक महलक द्वार पर उतरलनि, घोड़ा द्वारपालकेँ सौंपलनि, आ पत्रलेखाक संग कादम्बरीक प्रथम दर्शन लेल उत्कण्ठित भऽ भीतर प्रवेश कयलनि। आगाँ आएल एक कञ्चुकीसँ पुछलनि जे देवी कादम्बरी कतय छथि। ओ गहिर प्रणाम कऽ बतौलक जे मत्तमयूर प्रमोदवनक नीचाँ कमल-सरोवरक तट पर हिमगृहमे छथि। तखन कीयूरकक मार्गदर्शनमे कुमार स्त्री-उद्यानक भीतर किछु दूर गेलनि। कदलीवनक मरकत-जकाँ हरियर प्रतिबिम्बसँ दिन हरियर आ सूर्यक किरण घास जकाँ देखाइत छल। ओतहि ओ कादम्बरीकेँ देखलनि। एक-एक कऽ आबैत सखीसभ जखन चन्द्रापीडक आगमनक सूचना देलक, तखन कादम्बरी काँपैत दृष्टिसँ परिचर-वर्ग दिस देखि प्रत्येकसँ नाम लऽ पुछैत रहलीह, ‘सचमुच ओ आबि गेलाह? अहाँ हुनका देखने छी? एखन कतेक दूर छथि?’ दूरसँ चन्द्रापीडकेँ देखितहि हुनक आँखि क्रमशः चमकि उठल, आ ओ फूलक शय्यासँ उठि ठाढ़ भेलीह—नव पकड़ल हथिनी जकाँ जे खूँटासँ बान्हल हो, आ प्रत्येक अंग काँपि रहल हो। पुष्पशय्याक सुवाससँ सामन्त जकाँ आकृष्ट गुञ्जैत भँवरा हुनका घूँघट जकाँ घेरने छल। उत्तरीय अस्त-व्यस्त छल आ ओ चमकैत हारकेँ वक्ष पर ठीक करबाक चेष्टा करैत छलीह। बामा हाथ रत्नजटित फर्श पर राखैत ओ मानो अपन छायासँ सहारा माँगैत होथि। खसैत केशकेँ बान्हबाक परिश्रमसँ भीजल दहिना हाथसँ जल छिड़कैत ओ मानो स्वयंकेँ उपहारस्वरूप ग्रहण करैत होथि। सम्प्रदाय-तिलकक चन्दन-रस मानो भीतर प्रवेश कऽ मिलि गेल हो, एहन शीतल आनन्दाश्रु ओ बहबैत रहलीह। माला-परागसँ धूसर चिक्कन गालकेँ हर्षाश्रुक धारासँ धोइत ओ मानो व्यग्र छलीह जे प्रियतमक प्रतिबिम्ब ओतय पड़ि सकय। चन्द्रापीडक मुख पर स्थिर, तिरछी पुतलीबाली लम्बा आँखि मानो हुनका आगाँ खिंचि रहल छल; ललाटक चन्दन-चिह्नक भारसँ हुनक माथ किञ्चित् झुकल छल।

चन्द्रापीड निकट आबि पहिने महाश्वेताकेँ प्रणाम कयलनि, फेर विनयपूर्वक कादम्बरीकेँ अभिवादन कयलनि। कादम्बरी हुनक प्रणामक उत्तर दऽ पुनः शय्या पर बैसलीह। द्वारपालिका रत्न-ज्योतिसँ चमकैत पएबला स्वर्णासन अनलक, मुदा चन्द्रापीड ओकरा पएसँ सरका भूमि पर बैसि गेलनि। तखन कीयूरक पत्रलेखाक परिचय दैत कहलक, ‘ई कुमार चन्द्रापीडक पान-पेटी राखनिहारि आ सभसँ प्रिय सखी छथि।’ कादम्बरी ओकरा देखि मनमे विचारलनि, ‘प्रजापति मनुष्य-स्त्रीसभ पर कतेक विशेष कृपा करैत छथि!’ पत्रलेखा आदरपूर्वक प्रणाम कयलक तऽ ओ ओकरा निकट आबय कहि अपन पाछाँ सटि कऽ बैसौलनि। समस्त परिचर-वर्ग कौतूहलसँ ओकरा देखैत रहल। प्रथम दर्शनहि मे पत्रलेखाक प्रति गहन स्नेहसँ भरि कादम्बरी बेर-बेर अपन कोमल हाथसँ ओकरा दुलारि छुबैत रहलीह।

आगमनक समस्त शिष्टाचार शीघ्र पूरा कऽ चन्द्रापीड चित्ररथक पुत्रीक दशा ध्यानसँ देखलनि आ मनमे कहलनि, ‘निश्चय हमर हृदय जड़ अछि जे एखनो विश्वास नहि कऽ रहल अछि। रहय दिअ। तथापि हम चतुराईपूर्वक रचल वचनसँ हुनक मन पुछब।’ तखन ओ स्पष्ट कहलनि, ‘राजकुमारी, हम जनैत छी जे ई निरन्तर पीड़ा देनिहार कष्ट प्रेमक कारण अहाँ पर आएल अछि। तथापि हे कृशाङ्गि, ई अहाँकेँ ओतेक नहि सतबैत अछि जतेक हमरा सभकेँ। अपन सर्वस्व अर्पित कऽ हम अहाँकेँ पुनः स्वस्थ करऽ चाहैत छी। अहाँकेँ काँपैत देखि हमरा दया होइत अछि, आ प्रेमक पीड़ासँ धराशायी देखि हमर हृदय सेहो भूमि पर पड़ि जाइत अछि। अहाँक बाँह पातर आ आभूषण-विहीन अछि, आ ज्वरक गहन क्षीणतासँ अहाँक आँखिमे जपाकुसुम जकाँ लाल कमल बसल अछि। अहाँक पीड़ासँ समस्त परिचर-वर्ग निरन्तर कानि रहल अछि। अपन आभूषण स्वीकार करू। अपन इच्छासँ सर्वोत्तम अलंकार धारण करू; जेना भँवरा आ फूलमे नुकायल लता शोभैत अछि, तहिना अहाँकेँ शोभय चाही।’

कादम्बरी स्वभावतः नवयौवनक सरलता सँ भरल छलीह, तथापि प्रेमसँ प्राप्त ज्ञानक कारण एहि गूढ़ वचनक सम्पूर्ण आशय बुझि गेलीह। मुदा अपन अभिलाषा एहन अवस्थाधरि पहुँचि गेल अछि—ई स्वीकार करबाक साहस नहि भेल; लज्जाक आश्रय लऽ ओ मौन रहलीह। तथापि कोनो बहाना बना ओहि

क्षण मुस्कानक ज्योति बिखेरलनि, मानो ओकर मधुरताक चारू कात जुटल भँवरासँ चन्द्रापीडक मुख अन्हार भऽ गेल अछि की नहि, से देखऽ चाहैत होथि। तखन मदलेखा उत्तर देलनि, ‘कुमार, हम की कहू? ई पीड़ा वर्णनसँ परे निर्दय अछि। फेर एतेक कोमल प्रकृतिक देहमे कोन वस्तु पीड़ा नहि दैत अछि? शीतल कमल-तन्तु सेहो आगि बनि जाइत अछि, चाँदनी दहैत अछि। पङ्खाक हवा सँ हुनक मनमे जे कष्ट उठैत अछि, से अहाँ देखि नहि रहल छी? केवल मनोबल हुनका जीवित रखने अछि।’ कादम्बरी मनहि-मन मदलेखाक वचनकेँ कुमारक प्रश्नक उत्तर रूपेँ स्वीकार कयलनि। मुदा चन्द्रापीड हुनक आशयक अनिश्चिततासँ संशयमे रहलनि। महाश्वेताक संग किछु काल स्नेहपूर्ण वार्ता कयलाक बाद बड़ी कठिनाइसँ स्वयंकेँ ओतयसँ अलग कऽ कादम्बरीक महल छोड़ि शिविर दिस चलि गेलनि।

चन्द्रापीड घोड़ा पर चढ़ए जा रहल छलाह कि पाछाँसँ कीयूरक आबि कहलक, ‘कुमार, मदलेखा कहलनि अछि जे देवी कादम्बरी पत्रलेखाकेँ देखलाक क्षणसँ ओकरा पर मोहित छथि आ ओकरा अपना लग रखऽ चाहैत छथि। बादमे ओ घुरि आयत। हुनक सन्देश सुनि आब अहाँ निर्णय करू।’ कुमार उत्तर देलनि, ‘पत्रलेखा धन्य आ ईर्ष्याक पात्र अछि जे राजकुमारीक एहन दुर्लभ कृपा ओकरा प्राप्त भेल। ओकरा भीतर लऽ जाऊ।’ ई कहि ओ शिविर दिस चलि गेलनि।

शिविर पहुँचैतहि ओ अपन पिताक दरबारसँ आएल, परिचित पत्रवाहककेँ देखलनि। घोड़ा रोकि स्नेहसँ विस्तृत आँखि कऽ दूरहि सँ पुछलनि, ‘हमर पिता आ हुनक समस्त परिचर-वर्ग कुशल छथि? माता आ सम्पूर्ण अन्तःपुर कुशल अछि?’ पुरुष निकट आबि प्रणाम कऽ कहलक, ‘कुमार, अपनेक कथनक अनुरूप सभ कुशल अछि,’ आ दूटा पत्र देलक। कुमार दुनू पत्र मस्तकसँ लगा क्रमशः स्वयं खोलि पढ़लनि। पहिल पत्रमे लिखल छल —‘उज्जयिनीसँ शुभाशिश। सभ राजाक मस्तक पर मुकुट-जकाँ विराजमान चरणकमलबला महाराजाधिराज तारापीड समस्त सौभाग्यक निवास चन्द्रापीडकेँ, जकर मस्तकक शिरोमणि-ज्योति चारू दिस चमकैत अछि, माथ चूमी अभिवादन पठबैत छथि। हमर प्रजा कुशल अछि। तोरा देखने एतेक दिन किएक बीति गेल? हमर हृदय तोहर दर्शन लेल अत्यन्त उत्कण्ठित अछि। रानी आ अन्तःपुर तोहर वियोगमे क्षीण भऽ रहल अछि। अतः एहि संक्षिप्त पत्रकेँ तोहर तुरन्त प्रस्थानक कारण बुझ।’ दोसर पत्र शुक्रनासक छल, जाहिमे एही आशयक वचन लिखल छल। ओही क्षण वैशम्पायन सेहो निकट आबि अपन नाम आएल एही अर्थक दूटा पत्र देखौलक। चन्द्रापीड ‘पिताक आज्ञा शिरोधार्य’ कहि तुरन्त घोड़ा पर चढ़लनि आ प्रस्थानक नगाड़ा बजबौलनि। समीप विशाल दलसँ घेरल ठाढ़ सेनापति बलाहकक पुत्र मेघनादकेँ निर्देश देलनि—‘अहाँ पत्रलेखाक संग बादमे आऊ। कीयूरक अवश्य ओकरा एतय धरि पहुँचा देत। ओकरहि मुखसँ देवी कादम्बरीकेँ प्रणाम सहित हमर सन्देश कहल जाय। वास्तवमे मनुष्यक स्वभाव तीनू लोकक निन्दाक योग्य अछि—अशिष्ट, स्नेहहीन आ बुझबामे कठिन। जखन मनुष्यक प्रेम सहसा परस्पर टकराइत अछि, तखन ओ सहज कोमलताक पूरा मूल्य नहि बुझैत अछि। हमर एहि प्रस्थानसँ हमर प्रेम छलपूर्ण नकली सिक्का बनि गेल, हमर निष्ठा झूठ स्वर निकालबामे कुशल भऽ गेल, आत्मसमर्पण केवल बनावटी मधुरताबला नीच कपटमे डूबि गेल, आ वचन तथा मनक भेद खुलि पड़ल। मुदा हमर चर्चा एतहि छोड़ू। देवताक सहचारिणी बनबाक योग्य राजकुमारी अयोग्य पात्र पर कृपा देखा स्वयं निन्दाक भागी भेलीह। महापुरुषक अमृतमय करुण दृष्टि जखन अनुपयुक्त स्थान पर व्यर्थ पड़ैत अछि, तखन पाछाँ लज्जाक कारण बनैत अछि। तथापि राजकुमारीक अपेक्षा महाश्वेताक कारण हमर हृदय अधिक लज्जासँ दबैत अछि। निश्चय राजकुमारी बेर-बेर हुनका दोष देतीह जे अनुचित पक्षपातसँ हमरा मे नहि रहल गुणक मिथ्या चित्र बनौलनि। हम की करू? माता-पिताक आज्ञा अधिक भारी अछि, यद्यपि से केवल हमर देहकेँ वशमे रखैत अछि। हमर हृदय तऽ हेमकूटमे निवास करबाक लालसासँ देवी कादम्बरीक नाम एक हजार जन्मक दासत्व-पत्र लिखि चुकल अछि, आ हुनक कृपा ओकरा ओहिना जकड़ने अछि जेना घना वन शिकारीकेँ। तथापि हम पिताक आज्ञासँ जा रहल छी। निश्चय एहि कारण कुख्यात चन्द्रापीड लोकक कहबी बनत। मुदा ई नहि सोचब जे चन्द्रापीड जीवित रहि राजकुमारीक चरणकमल पूजाक आनन्द फेर नहि पाबि स्थिर रहि सकत। महाश्वेताक चरणमे नत मस्तकसँ प्रदक्षिणापूर्वक प्रणाम निवेदित करब। मदलेखाकेँ कहब जे प्रणामक बाद हृदयसँ आलिङ्गन पठाओल अछि। तमालिकाकेँ प्रणाम आ कादम्बरीक समस्त परिचर-वर्गक कुशल-समाचार हमर दिससँ पुछब। धन्य हेमकूटकेँ उठाओल हाथसँ हमर नमस्कार।’ ई सन्देश दऽ ओ शिविरक भार वैशम्पायन पर छोड़लनि आ मित्रकेँ सेनाकेँ अधिक श्रम नहि दैत धीरे-धीरे चलबाक निर्देश देलनि। तत्पश्चात् अश्वदलसँ घेरल ओ प्रस्थान कयलनि। अधिकांश सैनिक युवा घोड़ा पर सवार छल, भालाक वन जकाँ शोभा धारण कयने, खुरसँ पृथ्वी फोड़ैत आ हर्षित हिनहिनाहटसँ कैलास कम्पित करैत। कादम्बरीक नव वियोगसँ हृदय रिक्त होइतहुँ चन्द्रापीड अपन काठीसँ सटल पत्रवाहकसँ उज्जयिनीक बाट पुछैत रहलनि।

बाटमे वनक भीतर ओ एकटा लाल ध्वजा देखलनि। ओकर समीप दुर्गाक मन्दिर छल, जकर रक्षा एक वृद्ध द्रविड़ तपस्वी करैत छल आ ओतहि निवास करैत छल।

घोड़ा सँ उतरि चन्द्रापीड मन्दिरमे प्रवेश कयलनि, आदरपूर्वक देवीकेँ प्रणाम कयलनि आ प्रदक्षिणा कऽ पुनः नमन कयलनि। स्थानक शान्तिसँ आकृष्ट भऽ ओ चारू दिस घूमैत रहलनि। एक दिस ओ क्रोधी तपस्वीकेँ देखलनि जे हुनका देखि चिचिया आ हुंकार करऽ लागल। कादम्बरीक वियोगजनित उत्कट अभिलाषासँ व्याकुल होइतहुँ ओकर दशा देखि चन्द्रापीड किछु क्षण मुस्कान रोकि नहि सकलनि। सैनिकसभ हँसैत तपस्वीसँ झगड़ा आरम्भ करऽ चाहलक, मुदा ओ हुनका सभकेँ रोकलनि। बहुत कठिनाइसँ अनेक शान्त, विनम्र वचन कहि तपस्वीकेँ शान्त कयलनि आ ओकर जन्मस्थान, जाति, विद्या, पत्नी-पुत्र, धन, आयु तथा संन्यास-व्रतक कारण पुछलनि। पुछला पर तपस्वी अपन परिचय देलक। ओ अपन अतीतक वीरता, सौन्दर्य आ सम्पत्तिक बड़बोला वर्णन करैत रहल, जाहिसँ वियोगक पीड़ामे डूबल कुमारक मन किछु देर लेल बहलि गेल। ओकर संग मैत्री स्थापित कऽ चन्द्रापीड ओकरा पान देबौलनि। सूर्यास्त

भेल तऽ राजकुमारसभ समीप उपलब्ध वृक्षसभक नीचाँ पड़ाव देलक। घोड़ासभक स्वर्ण-काठी डारि पर टाँगल गेल। धरती पर लोटलासँ धूरसँ भरल अयालकें झटकैत घोड़ा दिन भरिक परिश्रम प्रकट करैत छल। किछु मुट्ठी घास खुआ जल पियाओल गेल, आ ताजगी अयला पर ओकरा आगाँ भूमि मे भाला गाड़ि बान्हि देल गेल। दिन भरिक यात्रासँ थाकल सैनिक पहराक व्यवस्था कऽ घोड़ासभक समीप पातक ढेरी पर प्रसन्नतासँ सुति गेल। अनेक शिविर-अग्नि प्रकाश अन्हार पी लेने छल, अतः पड़ाव दिन जकाँ उज्ज्वल देखाइत छल। अनुचरसभ इन्द्रायुध बान्हल स्थानक सोझाँ कुमारक लेल शय्या तैयार कऽ द्वारपालसभसँ देखौलक। मुदा शय्या पर पड़ितहि हुनक हृदय अशान्त भऽ उठल। पीड़ासँ अभिभूत ओ राजकुमारसभकें विदा कयलनि आ पाछाँ ठाढ़ विशेष प्रिय सेवकसभसँ सेहो किछु नहि कहलनि। आँखि मूनि ओ बेर-बेर मनहि-मन किम्पुरुष-देश पहुँचि जाइत छलाह। एकाग्र चित्तसँ हेमकूट स्मरण करैत छलाह। महाश्वेताक सहज कृपाक उपकार पर विचार करैत छलाह। कादम्बरीक दर्शनकें जीवनक परम फल मानि निरन्तर तरसैत छलाह। अहंकारविहीन, मनोहर मदलेखाक वार्ता सुनबाक इच्छा करैत छलाह। तमालिकाकें देखऽ चाहैत छलाह। कीयूरकक आगमनक बाट जौहैत छलाह। कल्पनामे हिमगृह देखैत छलाह। बेर-बेर दीर्घ, तापपूर्ण निःश्वास छोड़ैत छलाह। शेष-हार पर अपन कुटुम्बसँ अधिक स्नेह उँड़ैलैत छलाह। हुनका कल्पना होइत छल जे भाग्यवती पत्रलेखा हुनक पाछाँ ठाढ़ अछि। एहि प्रकार पूरी राति बिना निन्नक बीतल। प्रभातमे उठि तपस्वीक इच्छा अनुसार पर्याप्त धन दऽ ओकर कामना पूर्ण कयलनि। बाटक रमणीय स्थानसभ पर ठहरैत किछु दिनमे उज्जयिनी पहुँचलनि। हुनक आकस्मिक प्रवेशसँ नगरवासी भ्रम आ हर्षमे सहसा अतिथिक पूजा लेल उठाओल कमल-जकाँ सहस्र हाथ जोड़ि ठाढ़ भऽ गेल। पहिने समाचार देबाक लेल दौड़ैत अनुचरसभ राजाकें कहल जे चन्द्रापीड द्वार पर छथि। अचानक आनन्दसँ विह्वल राजा हर्षक भारसँ मन्द डेग उठबैत पुत्रक स्वागत लेल निकललाह। खसैत निष्कलंक रेशमी उत्तरीयकें अपना दिस खिंचैत ओ मन्दराचल जकाँ छलाह जे क्षीरसागरकें मथबाक लेल खिंचैत हो। आँखिसँ श्रेष्ठ मोती-जकाँ आनन्दाश्रु बरसबैत ओ कल्पवृक्ष जकाँ लगैत छलाह। हुनक चारु दिस वृद्धावस्थासँ श्वेत शिखाबला, चन्दन-लेपित, अखण्ड मलमल वस्त्र, बाजबन्द, पगड़ी, मुकुट आ माला धारण कयने, तलवार, दण्ड, छत्र आ चँवर लऽ हजारो सामन्त चलि रहल छल; हुनक कारण पृथ्वी मानो असंख्य कैलास आ क्षीरसागर सँ समृद्ध भऽ गेल हो। दूरसँ पिताकें देखितहि कुमार घोड़ा सँ उतरि शिरोमणिक किरणसँ मालित मस्तक भूमि पर टेकौलनि। पिता बाँह पसारि निकट आबय कहलनि आ गाढ़ आलिङ्गनमे भरि लेलनि। उपस्थित सभ सम्माननीय व्यक्तिकें प्रणाम कयलाक बाद राजा हुनका विलासवतीक महल लऽ गोलाह। माता आ परिचर-वर्ग शुभ आगमनक सभ विधिसँ हुनक स्वागत कयलक। दिग्विजयक कथा पर किछु काल वार्ता कऽ ओ शुक्रनासकें देखऽ गेलनि। ओतय उचित समय धरि रहि वैशम्पायन शिविरमे कुशल अछि से बतौलनि आ मनोरमासँ भेंट कयलनि। फेर घुरि विलासवतीक महलमे मानो यन्त्रवत् स्नान आदि विधि पूर्ण कयलनि। दोसर दिन अपन महल गेलनि। चिन्तासँ उद्धेलित मनमे हुनका केवल स्वयं नहि, बल्कि अपन महल, नगरी आ सम्पूर्ण संसार कादम्बरी बिना शून्य लगल। हुनक समाचार सुनबाक उत्कण्ठामे ओ पत्रलेखाक घुरबाक एना प्रतीक्षा करऽ लगलाह मानो उत्सव, वरदान-प्राप्ति अथवा अमृतोदयक क्षण आबयबला हो।

किछु दिन बाद मेघनाद पत्रलेखाक संग आयल आ ओकरा भीतर लऽ गेल। दूरसँ पत्रलेखा प्रणाम कयलक तऽ चन्द्रापीड स्नेहसँ मुस्करौलनि, आदरपूर्वक उठि ओकरा आलिङ्गन कयलनि। स्वभावतः प्रिय होइतहुँ कादम्बरीक निकटता सँ प्राप्त नव तेजक कारण आब ओ हुनका आरो प्रिय भऽ गेल छल। मेघनाद नमन कयलक तऽ कुमार अपन कोमल हाथ ओकर पीठ पर रखलनि, फेर बैसि कहलनि, ‘पत्रलेखा, कहह—महाश्वेता, मदलेखा आ देवी कादम्बरी कुशल छथि? तमालिका आ कीयूरक सहित हुनक समस्त परिचर-वर्ग कुशल अछि?’ ओ उत्तर देलक, ‘कुमार, अपनेक कथनक अनुरूप सभ कुशल छथि। देवी कादम्बरी अपन सखी आ परिचर-वर्गक संग उठाओल हाथकें ललाटक माला बना अपनेकें प्रणाम करैत छथि।’ ई सुनि कुमार राजकीय अनुचर-वर्गकें विदा कऽ पत्रलेखाक संग महलक भीतर गेलनि। तीव्र प्रेमसँ समाचार सुनबाक उत्कण्ठा रोकबामे असमर्थ, पीड़ित हृदयसँ ओ सभ परिचरकें दूर पठा भवनमे प्रवेश कयलनि। पातक मण्डपक पन्ना-जकाँ ध्वजाक नीचाँ ढलान पर सुखसँ सुतल हंसक जोड़ीकें चरणकमलसँ धीरे सरका देलनि। चौड़ा, लम्बा डाँठबला पातसँ छत्र बनबैत नव जपाकुसुमक शय्याक बीच बैसि पुछलनि, ‘पत्रलेखा, अपन सभ समाचार कहह। कत दिन ओतय रहलहुँ? राजकुमारी अहाँ पर कतेक कृपा देखौलनि? कोन-कोन वार्ता आ संवाद भेल? हमरा सभकें सभसँ अधिक के स्मरण करैत अछि आ केकर स्नेह सर्वाधिक अछि?’ एहि प्रकार पुछला पर पत्रलेखा कहलक, ‘मन लगा सभ सुनू। अहाँक प्रस्थानक बाद हम कीयूरकक संग घुरि फूलक शय्याक निकट बैसलहुँ। राजकुमारीक नित्य नव कृपा पबैत प्रसन्नतासँ ओतहि रहलहुँ। अधिक की कहूँ? ओहि पूरा दिन हुनक दृष्टि, देह आ हाथ हमरा पर लागल रहल; हुनक वाणी हमर नाम पर आ हृदय हमर स्नेह पर टिकल रहल। दोसर दिन हमर सहारा लऽ ओ हिमगृहसँ बाहर निकललीह। स्वेच्छासँ घुमैत परिचर-वर्गकें पाछाँ रहबाक आज्ञा दऽ कन्या-उद्यानमे प्रवेश कयलनि। यमुनाक तरंगसँ बनल जकाँ मरकत सीढ़ी चढ़ि एक श्वेत ग्रीष्म-भवनमे पहुँचलनि। ओतय रत्नमय खम्भासँ टेक लगा किछु काल ठाढ़ रहलीह। हृदयसँ विचार-विमर्श करैत, किछु कहबाक इच्छा रखैत, स्थिर पुतली आ निश्चल पलकसँ हमर मुख देखैत रहलीह। देखैत-देखैत मनमे निर्णय बनौलनि। मानो प्रेमक अग्निमे प्रवेश करबाक इच्छा हो, हुनक देह पसेनासँ भीजि गेल। तत्पश्चात् कम्पन एना घेरलक जे प्रत्येक अंग काँपए लागल, मानो खसि पड़बाक भय हो, आ ओ निराशासँ भरि गेलीह।

‘हम हुनक मनक भाव बुझैत छलहुँ। हुनका पर ध्यान स्थिर कऽ मुख पर आँखि टिकौने कहलहुँ जे अपन बात कहथि। मुदा अपन काँपैत अंगहि सँ मानो ओ रोकल जा रहल छलीह। एकटा पपरक अँगुरीसँ फर्श पर पाछाँ हटबाक रेखा खिंचैत ओ मानो लज्जासँ अपनहि प्रतिबिम्ब मेटा रहल होथि जे कतहु से हुनक रहस्य सुनि नहि ले। फर्श कुरेदैत कमल-जकाँ पपरसँ, जकर नूपुर झनझना उठल, ओ पालतू हंससभकें हटा देलनि। तपैत मुखक लेल रेशमक पट्टीसँ पङ्खा बना कानक कमल पर जुटल भँवराकें उड़ौलनि। दाँतसँ कटल पानक टुकड़ा मयूरकें घूस जकाँ देलनि। कतहु कोनो वनदेवी सुनि नहि ले—एहि भयें

बेर-बेर चारू दिस देखैत, बोलबाक प्रबल इच्छा होइतहुँ लज्जा हुनक वाणी रोकि रहल छल, आ एको शब्द बाहर नहि निकलल। अत्यन्त प्रयत्नक बावजूद हुनक आवाज प्रेमान्निमे पूर्णतः दग्ध भऽ गेल छल, निरन्तर बहैत आँसूमे बहि गेल छल, उमड़ैत दुःखसँ दबि गेल छल, कामदेवक झरैत बाणसँ टूटि गेल छल, आक्रमणकारी निःश्वाससँ निर्वासित भऽ गेल छल, हृदयमे रहैत सैकड़ो चिन्तासँ बान्हल छल, आ श्वासक सुवास चाखैत भँवरासभ ओकरा पी लेने छल; अतः वाणी बाहर आबि नहि सकल। संक्षेपमे, नत मस्तकसँ गाल छुए बिना खसैत उज्ज्वल आँसूसँ ओ अपन असंख्य दुःख गिनबाक मोती-माला बना रहल छलीह, आ स्वयं वर्षाक मूर्ति जकाँ लगैत छलीह। हुनक ओहि दशासँ लज्जा अपन पूर्ण शोभा, मर्यादा अनुपम मर्यादा, सरलता अपन वास्तविक सरलता, शिष्टता अपन श्रेष्ठ शिष्टता, भय अपन संकोच, नखरा अपन सार, निराशा अपन असली स्वरूप आ सौन्दर्य नव सौन्दर्य सीखि रहल छल। हम जखन पुछलहुँ, “राजकुमारी, ई सभक अर्थ की?” तऽ ओ लाल आँखि पोछलनि। कमल-तन्तु जकाँ कोमल बाँहसँ मण्डपक फूलक गुँथल माला पकड़लनि, मानो दुःखक अधिकतामे से बाँह हुनका मजबूतीसँ थामबाक लेल बनल हो। एकटा भौंह उठौलनि, मानो मृत्युक बाट देखैत होथि, आ लम्बा, ज्वरित निःश्वास छोड़लनि। हुनक दुःखक कारण जनबाक इच्छा सँ हम बहुत आग्रह कयलहुँ। ओ लज्जामे नखसँ खरोंचल केतकीक पंखुड़ी पर मानो अपन सन्देश लिखि रहल छलीह। बोलबाक उत्कण्ठामे नीचला ओठ हिलौलनि आ श्वास पीबैत भँवरासभकेँ मानो फुसफुसा रहल होथि। एहि प्रकार किछु समय धरि भूमि पर दृष्टि गड़ौने रहलथि।

‘अन्ततः बेर-बेर हमर मुख दिस दृष्टि उठबैत ओ भरल आँखिसँ खसैत आँसूसँ मानो प्रेमान्नि धुआँसँ म्लान अपन वाणीकेँ पवित्र करऽ लगलीह। कम्पनमे जे विचित्र शब्द कहबाक चाह रहितहुँ बिसरि गेल छलीह, ओकरा आँसूक रूपमे बलपूर्वक मुस्कानसँ चमकैत दाँतक किरणसँ मानो फेर जोड़लनि, आ बड़ कठिनाइसँ बोलऽ लगलीह। ओ हमरा कहलनि—“पत्रलेखा, तोरा पर हमर अपार कृपाक कारण, पहिल दर्शनसँ न पिता, न माता, न महाश्वेता, न मदलेखा, एतय धरि जे प्राणो हमरा लेल तोहर समान प्रिय रहल अछि। हम नहि जानैत छी हमर हृदय सभ मित्रकेँ त्यागि केवल तोरे पर विश्वास किएक कयलक। आन केकरा लग शिकायत करब, अपन अपमान कहब अथवा दुःखक भाग देब? अपना असह्य दुःखक भार तोरा देखा हम मरि जायब। अपन प्राणक शपथ दऽ कहैत छी—अपन कथा अपन हृदय जनैत अछि, एतबे सँ हम लज्जित छी; दोसर कियो जानि जायत तऽ की दशा होयत? हम सन कन्या चाँदनी जकाँ निर्मल वंश पर कुख्यातिक दाग कोना लगाबी? पूर्वजसँ प्राप्त मान कोना नष्ट करी? पिताक आज्ञा, माताक दान आ ज्येष्ठसभक मंगलाशंसाक बिना; कोनो घोषणा, उपहार-प्रेषण अथवा चित्र-दर्शनक बिना; कन्याक योग्य मर्यादा छोड़ि चञ्चलतामे मन कोना लगाबी? असहाय भयभीत कन्या जकाँ ओ अहंकारी चन्द्रापीड हमरा माता-पिताक दोषारोपणक योग्य बना देलनि। की ई कुलीन पुरुषक आचरण अछि? की हमर भेटक फल ई अछि जे कमल-तन्तु जकाँ कोमल हमर हृदय आब कुचलि गेल? युवकसभकेँ कन्यासभक संग हलुक व्यवहार नहि करबाक चाही। प्रेमान्नि पहिने हुनक लाज-संकोच, फेर हृदय भस्म करैत अछि; कामदेवक बाण पहिने मर्यादा, फेर प्राण भेदैत अछि। अतः दोसर जन्ममे भेट धरि तोरा विदा कहैत छी, कारण तोरा सँ प्रिय हमरा लेल कियो नहि अछि। मृत्युक संकल्प पूरा कऽ हम अपन कलंक धोयब।” ई कहि ओ मौन भऽ गेलीह।

‘हुनक कथाक वास्तविकता नहि बुझि हम दुःखी, लज्जित, भयभीत, भ्रमित आ चेतनाहीन जकाँ भऽ शपथ दैत कहलहुँ—“राजकुमारी, हम सुनऽ चाहैत छी। कुमार चन्द्रापीड की कयलनि? कोन अपराध भेल? कोन अशिष्टतासँ ओ अहाँक कमल-जकाँ कोमल, कोनो व्यक्तिसँ पीड़ित नहि करबाक योग्य हृदयकेँ दुखौलनि? ई सुनलाक बाद अहाँ हमर निर्जीव देह पर मरब।” हमर आग्रह पर ओ फेर कहऽ लगलीह—“हम कहैत छी, ध्यानसँ सुन। प्रतिदिन सपनामे ओ धूर्त दुष्ट अबैत अछि आ पिंजड़ाक सुग्गा आ सारिकाकेँ गुप्त सन्देश पहुँचाबयमे लगबैत अछि। सपनामे व्यर्थ अभिलाषासँ भ्रमित मनबला ओ हमर कर्णाभूषण पर मिलनक समय लिखि दैत अछि। उन्मत्त आशासँ भरल, अत्यन्त मधुर प्रेमपत्र पठबैत अछि, जकर अक्षर धोड़ गेल रहैत अछि आ जकरा पर रंगसँ रंगल आँसूक रेखा ओकर अपन दशा प्रकट करैत अछि। अपन भावनक लालिमासँ हमर इच्छाक विरुद्ध पएर रङ्गि दैत अछि। उदण्ड धृष्टतामे अपन नख पर पड़ल प्रतिबिम्ब पर गर्व करैत अछि। अनधिकार निर्लज्जतासँ, उद्यानमे जखन हम असगर रहैत छी, पकड़ल जेबाक भयेसँ लगभग मृतप्राय अवस्था मे हमरा इच्छाक विरुद्ध आलिङ्गन करैत अछि। रेशमी वस्त्र डारिमे फँसि डेग रोकैत अछि, आ हमर सखी लतासभ हमरा पकड़ि ओकर हाथमे सौंपि दैत अछि। स्वभावसँ टेढ़ ओ हमर वक्ष पर चित्रित अलंकरणक माध्यमसँ स्वभावतः सरल हृदयकेँ टेढ़पनक सार सिखबैत अछि। कपटपूर्ण चाटुकारितासँ भरल ओ हमर अभिलाषाक हृदय-तरंगसँ उठल हवा जकाँ ठण्डा श्वाससँ भीजल, चमकैत गालकेँ पङ्खा करैत अछि। अपन हाथ खाली होइतहुँ नखक किरणकेँ नव जौक बालि जकाँ हमर कान पर साहसपूर्वक रखैत अछि, कारण थाकिनसँ शिथिल पकड़सँ ओकर हाथक कमल खसि गेल रहैत अछि। अपन प्रिय बकुल-फूल सींचैत जे मधुर सुवास ओ श्वासमे भरने छल, ओकर मदिरा पिबाबय लेल निर्लज्जतासँ केश पकड़ि हमरा अपना दिस खिंचैत अछि। अपन मूर्खतासँ उपहासक पात्र बनल ओ अशोक-वृक्षकेँ देबाक योग्य हमर पएरक स्पर्श अपन माथ पर माँगैत अछि। प्रेमोन्मादक चरम अवस्थामे ओ कहैत अछि—“पत्रलेखा, कहह तऽ, एक पागलकेँ कोना अस्वीकार कयल जा सकैत अछि?” कारण ओ इन्कारकेँ ईर्ष्याक चिह्न बुझैत अछि, गारीकेँ कोमल ठठ्ठा मानैत अछि, मौनकेँ रूठब बुझैत अछि, अपन दोषक उल्लेखकेँ अपना विषयमे सोचबाक उपाय मानैत अछि, तिरस्कारकेँ प्रेमक घनिष्ठता बुझैत अछि, आ लोकनिन्दाकेँ कीर्ति मानैत अछि।”

‘हुनका ई कहैत सुनि हमर भीतर मधुर आनन्द भरि गेल। हम सोचलहुँ—“निश्चय कामदेव चन्द्रापीडक प्रति हुनक भावकेँ बहुत दूर धरि लऽ गेल छथि। जँ ई सत्य अछि तऽ कादम्बरीक रूप धारण कऽ कामदेव कुमारक प्रति अपन कोमल भाव प्रत्यक्ष रूपमे देखबैत छथि, आ हुनक सामना कुमारक जन्मजात तथा साधनासँ परिष्कृत गुणसँ भऽ रहल अछि। दिशासभ हुनक यशसँ चमकि रहल अछि; युवावस्था स्नेहक सागरक तरंग पर मोतीक वर्षा कऽ रहल अछि;

तरुण उल्लास चन्द्रमा पर हुनक नाम लिखि रहल अछि; सुखद भाग्य स्वयं हुनक सौभाग्यक घोषणा कऽ रहल अछि; आ चन्द्रकलासभ जकाँ हुनक कृपा अमृत बरसा रहल अछि।”

‘आब अन्ततः मलय-पवनकें अपन उचित ऋतु भेटल, चन्द्रोदयकें पूर्ण अवसर प्राप्त भेल, वसन्तक प्रचुर पुष्पसम्पदाकें उपयुक्त फल भेटल, मदिराक तीक्ष्णता परिपक्व मधुर गुणमे बदलल, आ पृथ्वी पर प्रेम-युगक अवतरण स्पष्ट देखाइत अछि।’

‘तखन हम मुस्करा स्पष्ट कहलहुँ—“जँ एहन बात अछि, राजकुमारी, तऽ क्रोध छोड़ू, शान्त होउ। कामदेवक अपराधक दण्ड कुमारकें नहि दऽ सकैत छी। ई नटखट चन्द्रापीडक नहि, पुष्पधन्वा कामदेवक क्रीड़ा अछि।”

‘हमरा ई कहितहि ओ उत्सुकतासँ पुछलनि—“ई कामदेव जे कियो हो, हमरा कहह जे ओ कोन-कोन रूप धारण करैत अछि?”

‘हम उत्तर देलहुँ—“ओकर रूप कोना भऽ सकैत अछि? ओ रूपहीन अग्नि अछि। बिना लपटिक ताप उत्पन्न करैत अछि, बिना धुआँक आँसू बहबैत अछि, आ बिना राखक धूक मुख पीयर कऽ दैत अछि। एहि विशाल ब्रह्माण्डमे एहन कोनो प्राणी नहि जे ओकर बाणक शिकार नहि अछि, नहि छल अथवा नहि होयत। ओकरा सँ के नहि डरैत अछि? फूलक धनुष हाथमे लैतहि ओ सबल पुरुषकें सेहो बेधि दैत अछि।

“जखन ओ कोमल स्त्रीसभ पर अधिकार कऽ लैत अछि, तखन ओ सभ जिधर देखैत अछि, आकाश प्रियतमक सहस्र प्रतिमासँ भरि जाइत अछि। प्रियक रूप अंकित करैत अछि तऽ सम्पूर्ण पृथ्वी सेहो चित्रपट लेल छोट पड़ि जाइत अछि। अपन नायकक गुण गिनैत अछि तऽ संख्या स्वयं समाप्त भऽ जाइत अछि। प्रियतमक चर्चा सुनैत अछि तऽ वाग्देवी स्वयं अत्यन्त मौन बुझाइत छथि। अपन प्राणप्रियक संग मिलनक आनन्द पर विचार करैत अछि तऽ हृदय लेल काल स्वयं बहुत छोट भऽ जाइत अछि।”

‘ओ एहि पर किछु क्षण विचार कऽ उत्तर देलनि—“पत्रलेखा, तोहर कथन सत्य अछि; प्रेम हमरा कुमारक प्रति कोमल अनुरागमे लऽ गेल अछि। ई सभ चिह्न आ एहि सँ अधिको हमरा भीतर उपस्थित अछि। तू हमर अपन हृदय समान छह; आब कहह हम की करी? एहि विषयक हमरा कनेको अनुभव नहि अछि। फेर माता-पिताकें कहबाक विवशता भेल तऽ एतेक लज्जा लागत जे हमर हृदय जीवनक अपेक्षा मृत्यु चुनत।”

‘हम फेर कहलहुँ—“बस करू राजकुमारी! मृत्युकें अनिवार्य शर्त बना ई निरर्थक चर्चा किएक? हे सुन्दरी, अहाँ हुनका प्रसन्न करबाक प्रयास नहि कयलहुँ, तथापि कामदेव कृपासँ अहाँकें ई वरदान देलनि। माता-पिताकें कहबाक की आवश्यकता? कामदेव स्वयं माता-पिता जकाँ अहाँकें व्यवस्था करैत छथि; माता जकाँ अनुमोदन करैत छथि; पिता जकाँ अहाँक दान करैत छथि; सखी जकाँ अनुराग जगबैत छथि; धात्री जकाँ कोमल वयकें प्रेमक रहस्य सिखबैत छथि। जे स्त्री स्वयं अपन पति चुनलक, ओकर उदाहरण हम किएक दी? जँ एहन नहि होइत तऽ धर्मशास्त्रमे स्वयंवरक विधान निरर्थक होइत। अतः राजकुमारी, निश्चिन्त होउ। मृत्युक चर्चा बस करू। अहाँक चरणकमल छुबि शपथ दैत छी—हमरा विदा दिअ। हम जेबाक लेल तैयार छी। अहाँक हृदय-प्रियकें अहाँ लग घुसा आनब।”

‘हमरा ई कहला पर ओ स्नेहपूर्ण दृष्टिसँ मानो हमरा पीबि लेबाक इच्छा कयलनि। रोकल रहितहुँ अनुरागक वेग बाट पाबि कामदेवक बाणसँ छिद्रित लज्जा-आवरणकें फोड़ि बाहर आबि गेल, जाहिसँ ओ विह्वल भऽ गेलीह। हमर वचनसँ प्रसन्न भऽ थाकनिक कारण देहसँ सटल रेशमी उत्तरीय उतारलनि, मुदा से रोमाञ्चित अंग पर अटकल झूलैत रहल। गला मे फाँसीक फन्दा जकाँ राखल चन्द्रकिरण-सदृश हार ढील कयलनि; से झूलैत कर्णाभूषणक मत्स्याकार सजावटमे उलझि गेल छल। तथापि पूरा आत्मा आनन्द-ज्वरमे तपैत रहितहुँ कन्याक स्वाभाविक सम्पदा लज्जासँ स्वयंकेँ सम्हारि ओ कहलनि—“हम तोहर अपार प्रेम जनैत छी। मुदा नव शिरीष-फूल जकाँ कोमल स्वभावबाली स्त्री, विशेषतः हमर सन कम आयुबाली, एहन साहस कोना देखाबय? वास्तवमे ओ स्त्रीसभ बहुत साहसी छथि जे स्वयं सन्देश पठबैत अथवा स्वयं सन्देश कहैत छथि। हम कम आयुबाली कन्या छी; निर्लज्ज सन्देश पठबैत लाज होइत अछि। हम की कहि सकैत छी? ‘अहाँ हमरा बहुत प्रिय छी’—ई अनावश्यक अछि। ‘हम अहाँकें प्रिय छी की?’—ई मूर्खतापूर्ण प्रश्न अछि। ‘अहाँक प्रति हमर प्रेम अपार अछि’—ई निर्लज्जक वचन अछि। ‘अहाँ बिना हम जीवित नहि रहि सकैत छी’—ई अनुभवक विरुद्ध अछि। ‘प्रेम हमरा जीतने अछि’—ई अपन दोषक शिकायत अछि। ‘कामदेव हमरा अहाँकें सौंपि देलनि’—ई निर्लज्ज आत्मसमर्पण अछि। ‘अहाँ हमर बन्दी छी’—ई लाजहीन धृष्टता अछि। ‘अहाँकें अवश्य आबय पड़त’—ई सौभाग्यक अहंकार अछि। ‘हम स्वयं आयब’—ई स्त्रीक दुर्बलता अछि। ‘हम पूर्णतः अहाँक समर्पित छी’—ई थोपल स्नेहक चञ्चलता अछि। ‘अस्वीकारक भयें सन्देश नहि पठबैत छी’—ई सुतल व्यक्तिकें जगाएब अछि। ‘तिरस्कृत सेवाक दुःखक उदाहरण हमरा बनय दिअ’—ई स्नेहक अतिरेक अछि। ‘हमर मृत्युसँ अहाँ हमर प्रेम बुझब’—एहन विचार मनमे प्रवेशो नहि करबाक चाही।”’

एहि स्थान पर बाणभट्टक निधन भऽ गेल, अतः पूर्व भाग अचानक समाप्त भऽ गेल। हुनक निर्धारित योजनाक अनुसार बादमे हुनक पुत्र भूषणभट्ट उत्तर भागमे कथा पूर्ण कयलनि।

वाणभट्टक पुत्र भूषणभट्ट रचित

एहि अपूर्ण कथाक कठिन परिश्रमकेँ पूर्ण करबाक लेल हम पृथ्वीक माता-पिता उमा आ शिवक वन्दना करैत छी। दुनू अर्धभागक मिलनसँ बनल हुनक एक देहमे ने संयोगक बिन्दु देखाइत अछि, ने विभाजनक रेखा।

हम विश्वक स्रष्टा नारायणकेँ प्रणाम करैत छी, जिनका द्वारा नृसिंह-रूप सुखपूर्वक प्रकट भेल—हिलैत केशरसँ भयानक मुख आ हाथमे चक्र, खड्ग, गदा तथा शंख धारण कयने।

हम अपन पिता, वाणी-पति, के प्रणाम करैत छी—ओ स्रष्टा जिनका द्वारा एहन कथा रचल गेल जकर निर्माण आन कियो नहि कऽ सकैत छल; ओ श्रेष्ठ पुरुष जिनका प्रत्येक घरमे सभ सम्मान दैत अछि; आ जिनकासँ पूर्वजन्मक पुण्यफलस्वरूप हमरा जन्म प्राप्त भेल।

जखन हमर पिता आकाशलोक चलि गेलाह, तखन पृथ्वी पर हुनक वाणी-संग कथाक धारा सेहो रुकि गेल। ओकर अपूर्ण अवस्था सज्जनसभक दुःखक कारण बनल देखि हम ओकरा आगाँ बढ़बऽ आरम्भ कयलहुँ—काव्य-अहंकारसँ नहि।

वचनमे एहन सौन्दर्यक प्रवाह हमर पिताक विशिष्ट वरदान अछि। अमृतक एकमात्र स्रोत चन्द्रमाक किरणक केवल एक स्पर्श चन्द्रकान्त मणिकेँ द्रवित करबाक लेल पर्याप्त होइत अछि।

जेना पूर्ण वेगवाली आन नदीसभ गङ्गामे प्रवेश कऽ ओकरामे लीन भऽ समुद्र धरि पहुँचैत अछि, तहिना एहि कथा पूर्ण करबाक लेल हम अपन वाणीकेँ पिताक समुद्रगामिनी वाग्धारामे समर्पित करैत छी।

कादम्बरीक प्रबल मधुरतासँ मदहोश व्यक्ति जकाँ डगमगाइत हम विवेकशून्य भऽ गेल छी; ताहि कारण मधुरता आ वर्ण-विभासँ रहित अपन वाणीमे एहि कथाक अन्त रचबाक साहस करैत हमरा भय नहि होइत अछि।

जे बीआ फल देबाक आशा जगबैत आ फूल बनबाक नियति रखैत अछि, ओकरा बोएनिहार उचित परिश्रमसँ भूमि मे रोपैत अछि। उत्तम माटिमे छिटकल बीआ बढ़ि परिपक्व होइत अछि, मुदा ओकर फल बोएनिहारक पुत्र बटोरैत अछि।

‘एहि अतिरिक्त,’ कादम्बरी आगाँ कहलनि, ‘जँ कुमारकेँ एतय आनल जायत, तऽ हमर दुर्बलतासँ लज्जित लज्जा स्वयं हमरा हुनक दर्शन नहि करऽ देत। बलपूर्वक हुनका अनबाक अपराधसँ भयभीत भय स्वयं हुनक समक्ष प्रवेश नहि करत। आ जँ हमर प्रति प्रेमक कारण सखी पत्रलेखा पूरा प्रयास कयलाक बादो हुनक चरण पर पड़ि हुनका अनबाक लेल राजी नहि कऽ सकली—चाहे माता-पिताक आदर, राजधर्मक निष्ठा, जन्मभूमिक प्रेम अथवा हमर प्रति अनिच्छाक कारण—तऽ सभकिछु समाप्त भऽ जायत। एतबे नहि। हम ओही कादम्बरी छी जिनका ओ हिमगृहमे फूलक शय्या पर विश्राम करैत देखने छलाह, आ ओ ओही चन्द्रापीड छथि जे दोसरक पीड़ा सँ पूर्णतः अनजान रहि केवल दू दिन ठहरि चलि गेलाह। महाश्वेता संकटमे रहलीह ताधरि विवाह नहि करबाक वचन हम देने छलहुँ, यद्यपि ओ हमरा रोकैत कहने छलीह जे कामदेव कखनो अनदेखल व्यक्तिक प्रेमो सँ प्राण लऽ लैत छथि। मुदा हमर दशा एहन नहि अछि। कल्पनामे अंकित कुमार निरन्तर हमर दृष्टिक सोझाँ उपस्थित रहैत छथि; सुतल वा जागल, प्रत्येक स्थानमे हम हुनकहि देखैत छी। अतः हुनका अनबाक चर्चा नहि करू।’

तखन हम विचारलहुँ, ‘वास्तवमे कल्पनामे रचल प्रियतम वियोगिनी स्त्रीसभक लेल, विशेषतः कुलीन कन्यासभक लेल, बहुत पैघ सहारा होइत अछि।’ आ हे कुमार, हम कादम्बरीकेँ अहाँकेँ आनबाक प्रतिज्ञा कयलहुँ। अहाँक नामसँ भरल हमर वाणी सुनि ओ विष उतारबाक मन्त्रसँ जागल जकाँ सहसा आँखि खोलि कहलनि, ‘पत्रलेखा, हम ई नहि कहैत छी जे तोहर जब हमरा प्रसन्न करैत अछि। केवल तोरा देखैत हम जीवन सहि पबैत छी। तथापि जँ एहि अभिलाषासँ तू वशीभूत छह तऽ जे इच्छा हो, से करह।’ ई कहि अनेक उपहार दऽ ओ हमरा विदा कयलनि।

तत्पश्चात् किञ्चित् नत मुखसँ पत्रलेखा आगाँ कहलक, ‘कुमार, राजकुमारीक हालक कृपालेँ हमरा साहस देलनि अछि। हुनक दुःखसँ हम व्यथित छी, ताहि लेल अपनेकेँ पुछैत छी—हुनका एहन अवस्थामे छोड़ि आबि की अहाँ अपन कोमल स्वभावक अनुरूप आचरण कयलहुँ?’

पत्रलेखाक एहि उलाहना आ परस्पर विरोधी भावसँ भरल कादम्बरीक वचन सुनि कुमार विह्वल भऽ गेलाह। कादम्बरीक वेदनामे सहभागी भऽ आँखिमे आँसू भरि पत्रलेखासँ पुछलनि, ‘हम की करू? प्रेम हमरा कादम्बरीक दुःख आ तोहर उलाहनाक कारण बना देलक। हमरा लगैत अछि कोनो शाप हमर बुद्धि अन्हार कऽ देने छल; नहि तऽ एतेक स्पष्ट संकेत, जाहिसँ जड़ मनमे सेहो सन्देह नहि रहित, देखितहुँ हमर मन कोना भ्रमित भेल? ई सभ दोष भ्रमसँ उत्पन्न भेल अछि। अतः आब हम प्राणो सहित स्वयंकेँ हुनका समर्पित कऽ एहन आचरण करब जे राजकुमारी हमरा एतेक कठोर हृदयबला नहि बुझथि।’

ओ ई कहिये रहल छलाह कि एक द्वारपालिका शीघ्र आबि कहलक, ‘कुमार, महारानी विलासवती ई सन्देश पठौने छथि—“परिचारिकासभक चर्चासँ सुनलहुँ जे पाछाँ रहि गेल पत्रलेखा आब घुरि आयल अछि। हम ओकरा तोहरहि समान प्रेम करैत छी। अतः तू ओकरा संग लेने आब। सहस्र अभिलाषासँ प्राप्त तोहर कमल-मुखक दर्शन दुर्लभ भेटैत अछि।”’

कुमार मनमे सोचलनि, ‘हमर जीवन आब सन्देशसभक बीच कतेक डोलि रहल अछि! माता एक क्षणो हमरा नहि देखि दुःखी भऽ जाइत छथि। प्रजा हमरा प्रेम करैत अछि, मुदा गन्धर्व-राजकुमारीक प्रेम अधिक गहन अछि। देवी कादम्बरी प्राप्त करबाक योग्य छथि आ हमर मन विलम्ब सहि नहि सकैत अछि।’ एहि प्रकार विचारैत ओ महारानी लग गेलनि। असह्य हृदय-लालसामे दिन बितौलनि आ राति प्रेमक मन्दिर जकाँ कादम्बरीक सौन्दर्यक चिन्तनमे।

ओहि दिनसँ मनोहर वार्ता हुनक हृदयमे प्रवेश नहि पबैत छल। मित्रसभक वचन कठोर बुझाइत छल, कुटुम्बक बातचीतमे आनन्द नहि भेटैत छल। प्रेमानिसँ देह सुखैत गेल, मुदा हृदयक कोमलता नहि छोड़लनि। सुखक तिरस्कार कयलनि, आत्मसंयमक नहि।

एहि प्रकार कादम्बरीक सद्गुण आ सौन्दर्य पर टिक्कल प्रबल प्रेम हुनका आगाँ खिँचैत छल, आ माता-पिताक प्रति अत्यन्त गहन स्नेह पाछाँ रोकैत छल। एक दिन शिप्रा नदीक तट पर घुमैत ओ घुड़सवारक एक दल निकट अबैत देखलनि। ओकर परिचय पुछबाक लेल एक व्यक्ति पठौलनि। स्वयं जाँघ धरि जलबला स्थानसँ शिप्रा पार कऽ कार्तिकेयक मन्दिरमे सन्देशवाहकक प्रतीक्षा करऽ लगलाह। पत्रलेखाकेँ निकट खिचि कहलनि, ‘देखह! ओ घुड़सवार, जकर मुख एखन कठिनाइ सँ चिन्हाइत अछि, कीयूरके अछि!’

तखन चन्द्रापीड दूरहि सँ कीयूरककेँ घोड़ा सँ कूदैत देखलनि। तीव्र गतिसँ आबि धूरसँ धूसर भेल कीयूरकक बदलल रूप, अलंकारहीन देह, निराश मुख आ अन्तःपीडाक सूचना दैत आँखि बिना एको शब्द कहने कादम्बरीक दुर्दशा घोषित कऽ रहल छल। ओ शीघ्र प्रणाम कऽ निकट आयल तऽ चन्द्रापीड स्नेहसँ बजा ओकरा आलिङ्गन कयलनि। कीयूरक अलग भऽ विधिवत् प्रणाम कयलक। कुमार शिष्टतापूर्वक समाचार पुछि ओकर अनुचरसभकेँ प्रसन्न कयलाक बाद उत्सुक दृष्टिसँ ओकरा देखि कहलनि, ‘कीयूरक, तोहर दर्शनहि सँ देवी कादम्बरी आ हुनक परिचर-वर्गक कुशलता सूचित होइत अछि। विश्राम कऽ स्वस्थ भेलाक बाद अपन आगमनक कारण कहिह।’ ई कहि ओ कीयूरक आ पत्रलेखाकेँ अपन हाथी पर बैसा घर लऽ गेलनि। ओतय अनुचरसभकेँ विदा कऽ केवल पत्रलेखाक संग कीयूरककेँ निकट बजा कहलनि, ‘कादम्बरी, मदलेखा आ महाश्वेताक सन्देश कहह।’

कीयूरक उत्तर देलक, ‘हम की कहुँ? एहि तीनूमेसँ केकरो सन्देश नहि अछि। पत्रलेखाकेँ मेघनादक हाथ सौँपि हम जखन घुरलहुँ आ अहाँक उज्जयिनी प्रस्थानक समाचार देलहुँ, तखन महाश्वेता ऊपर दिस देखलनि, लम्बा गरम निःश्वास छोड़ि दुःखसँ कहलनि, “तऽ एहन भेल,” आ तपस्या करबाक लेल अपन आश्रम घुरि गेलीह। कादम्बरी चेतनाशून्य जकाँ महाश्वेताक प्रस्थानो नहि बुझि सकलीह। बहुत काल बाद आँखि खोलि हमरा तिरस्कारपूर्वक महाश्वेताकेँ समाचार देबाक आज्ञा देलनि। मदलेखासँ पुछलनि जे चन्द्रापीड सन काज कियो कखनो कयने अछि अथवा आगाँ करत? तत्पश्चात् परिचर-वर्गकेँ विदा कऽ शय्या पर पड़ि माथ ढाँपि लेलनि। हुनक दुःखमे पूर्ण सहभागी मदलेखासँ सेहो एको शब्द बिना कहने पूरा दिन बितौलनि। दोसर दिन बहुत भोरमे हम हुनका लग गेलहुँ तऽ ओ आँसू भरल आँखिसँ बहुत काल धरि हमरा एना देखैत रहलीह मानो दोष दऽ रहल होथि। दुःखी स्वामिनीक एहन दृष्टि देखि हम एकरा प्रस्थानक आज्ञा बुझलहुँ, आ राजकुमारीकेँ बिना कहने अपन स्वामीक चरणमे आबि गेलहुँ। अतः एकमात्र अहाँक आश्रय पर निर्भर जीवनकेँ बचाव लेल व्याकुल हृदयबला कीयूरकक निवेदन ध्यानसँ सुनबाक कृपा करू। जेना अहाँक पहिल आगमनसँ ओ कुमारिका-जकाँ वन मलय-पवनक सुगन्धसँ उद्वेलित भेल छल, तहिना सम्पूर्ण संसारक आनन्द, वसन्त जकाँ अहाँकेँ देखितहि प्रेम लाल अशोक-लता जकाँ हुनक भीतर प्रवेश कऽ गेल। मुदा आब ओ अहाँक कारण महान यातना सहि रहल छथि।’ तखन कीयूरक हुनक सभ पीडाक विस्तृत वर्णन करैत रहल, जाधरि दुःखसँ अभिभूत कुमार आरो नहि सहि सकलनि आ मूर्छित भऽ गेलाह।

मूर्छासँ चेतना अयला पर चन्द्रापीड विलाप करऽ लगलाह जे कादम्बरी वा हुनक सखीसभ हुनका एतेक कठोर हृदयबला बुझलनि जे कोनो सन्देश पठबय योग्य नहि मानलनि। जखन ओ हेमकूटमे छलाह तखने हुनक प्रेमक विषय नहि कहबाक लेल सभकेँ दोष देलनि।

ओ कहलनि, ‘जे सदैव हुनक चरणमे रहनिहार सेवक अछि, ओकर विषयमे लज्जाक कोन कारण छल? एतेक कोमल व्यक्तिमे दुःख घर कऽ लेलक आ हमर अभिलाषा अपूर्ण रहि गेल। आब अनेक दिनक दूरी पर रहि हम की कऽ सकैत छी? हुनक देह फूलक खसबो सहि नहि सकैत अछि, जखन कि हमर सन वज्र-जकाँ हृदय पर सेहो प्रेमक बाण सहन कठिन अछि। निर्दय भाग्य द्वारा आरम्भ कयल अस्थिर काजसभ देखि हम नहि जानैत छी से कतय रुकत। नहि तऽ किन्नरक निष्फल खोजमे अमरभूमि धरि हमर पहुँचब कतय, महाश्वेताक संग हेमकूट यात्रा कतय, ओतय राजकुमारीक दर्शन कतय, हमरा प्रति हुनक प्रेमक जन्म कतय, आ अभिलाषा अपूर्ण रहितहुँ उल्लङ्घन नहि कऽ सकबाक पिताक आज्ञासँ हमर घुरब कतय? दुष्ट भाग्य हमरा सभकेँ ऊँच उठा फेर भूमि पर पटकि देलक। अतः राजकुमारीकेँ सान्त्वना देबाक लेल अपन पूरा शक्ति लगाबी।’ साँझमे ओ कीयूरकसँ पुछलनि, ‘तोहर की विचार अछि? हमरा सभक पहुँचबा धरि कादम्बरी जीवन धारण कऽ सकथिन? अथवा हम फेर हुनक भीरु हरिणीक आँखि-जकाँ मुख देखब?’ कीयूरक उत्तर देलक, ‘कुमार, धैर्य राखू। जेबाक लेल अपन पूरा प्रयास करू।’ कुमार स्वयं प्रस्थानक योजना आरम्भ कऽ देने छलाह। मुदा पिताक अनुमति बिना कोन सुख, कोन मानसिक शान्ति भेटत? एतेक लम्बा अनुपस्थितिक बाद अनुमति कोना प्राप्त होयत? एहि काजमे मित्रक सहायता आवश्यक छल, मुदा वैशम्पायन दूर छल।

दोसर दिन भोरमे चन्द्रापीड सुनलनि जे हुनक सेना दशपुर पहुँचि गेल अछि। वैशम्पायन आब निकट अछि—एहि रूपमे भाग्यक कृपा प्राप्त होयबाक विचारसँ आनन्दित भऽ ओ समाचार कीयूरककें देलनि। कीयूरक उत्तर देलक, ‘ई घटना निश्चय अपनेक प्रस्थानक सूचना दैत अछि। अहाँ अवश्य राजकुमारीकें प्राप्त करब। चाँदनी बिना चन्द्रमा, कमल बिना सरोवर अथवा लता बिना उद्यान के कखनो देखने अछि? तथापि वैशम्पायनक आगमन आ हुनक संग योजना निश्चित करबामे विलम्ब होयत। मुदा राजकुमारीक जे दशा हम बतौलहुँ, ओ विलम्ब सहि नहि सकैत अछि। अतः अपनेक स्नेहसँ प्राप्त कृपाक कारण निर्भीक भेल हमर हृदय ई अनुग्रह माँगैत अछि जे हमरा तत्काल जेबाक आज्ञा दिअ, जाहिसँ स्वामीक शीघ्र आगमनक आनन्दक समाचार हुनका दऽ सकी।’ कुमारक दृष्टिमे आन्तरिक सन्तोष चमकि उठल। ओ उत्तर देलनि, ‘समय आ स्थानक एतेक उचित ज्ञान आन केकरा अछि? एतेक निष्कपट निष्ठा आन केकरा मे अछि? अतः ई उत्तम विचार अछि। राजकुमारीक जीवन सम्हारबाक आ हमर घुरबाक तैयारी लेल जाउ। मुदा पत्रलेखा सेहो तोहर संग पहिने राजकुमारीक चरणमे जाय, कारण राजकुमारी ओकरा पर विशेष कृपा करैत छथि।’ तखन ओ मेघनादकें बजा पत्रलेखाक रक्षा करैत लऽ जेबाक आज्ञा देलनि; स्वयं वैशम्पायनसँ भेंट कयलाक बाद हुनका सभकें बाटमे पकड़बाक बात कहलनि। पत्रलेखाकें कहलनि जे कादम्बरीकें निवेदन करय—हुनक कुलीन सत्यता आ स्वाभाविक कोमलता दूर रहि प्रेमान्निमे दग्ध चन्द्रापीडकें जीवित रखने अछि; आ हुनक आगमनक आज्ञा माँगय। हुनका सभक प्रस्थानक बाद चन्द्रापीड वैशम्पायनसँ भेटबाक लेल जेबाक पिताक अनुमति माँगऽ गेलनि। राजा स्नेहसँ स्वागत कऽ शुक्रनाससँ कहलनि, ‘आब ई विवाहक योग्य आयु मे पहुँचि गेल अछि। अतः रानी विलासवतीक संग विचार कऽ कोनो सुन्दर कन्याक चयन करू। हमर पुत्र जकाँ मुख बारम्बार नहि देखल जाइत अछि। आब वधूक कमल-मुखक दर्शनसँ अपना सभकें आनन्दित करी।’ शुक्रनास सहमति देलनि—कुमार समस्त विद्या प्राप्त कऽ चुकल छथि, राजलक्ष्मीकें दृढ़तासँ अपन बना लेने छथि आ पृथ्वीकें वरण कऽ चुकल छथि; आब पत्नी-वरण छोड़ि आन कोनो काज शेष नहि अछि। चन्द्रापीड सोचलनि, ‘कादम्बरीक संग मिलनक हमर विचार लेल पिताक योजना कतेक उचित समय पर आयल! “अन्हारमे प्रकाश” आ “मरत व्यक्तिपर अमृत-वर्षा”—ई कहबी हमरा मे सत्य भऽ रहल अछि। वैशम्पायनकें देखितहि हम कादम्बरीकें प्राप्त करब।’ राजा विलासवती लग गेलाह आ पुत्रक वधू विषयमे कोनो परामर्श नहि देबाक लेल विनोदपूर्वक उलाहना देलनि। एहि बीच कुमार पूरा दिन वैशम्पायनक प्रतीक्षामे बितौलनि। रातिक दू पहर सँ अधिक समय ओकर प्रतीक्षाक उत्कण्ठामे जागलाक बाद हुनक प्रेमक उत्साह दुगुना भऽ गेल, आ प्रस्थानक शंख बजबौलनि। ओ दशपुरक बाट पकड़लनि। किछु दूर गेलाक बाद शिविर देखाइतहि वैशम्पायनक दर्शनक विचारसँ आनन्दित भेलनि। असगर आगाँ बढि मित्रक विषय पुछलनि। मुदा कानैत स्त्रीसभ उत्तर देलक, ‘किएक पुछैत छी? ओ एतय कोना रहिताह?’ पूर्णतः भ्रमित भऽ ओ शिविरक बीच दिस दौड़लनि। लोकसभ हुनका चिन्हि लेलक। प्रश्न कयला पर सामन्तसभ एक वृक्षक नीचाँ विश्राम करबाक निवेदन कऽ वैशम्पायनक भाग्यक कथा कहबाक अनुमति माँगलक। ओ सभ कहलक जे वैशम्पायन एखनो जीवित छथि, आ जे भेल से सुनौलक—‘अपने हमरा सभकें छोड़लाक बाद ओ एक दिन रुकलाह, फेर प्रस्थानक आज्ञा देलनि। मुदा कहलनि—“पुराणमे अच्छोद सरोवरकें अत्यन्त पवित्र कहल गेल अछि। चलू, स्नान करी आ तटक मन्दिरमे शिवक पूजा करी। देवतासभसँ सेवित एहि स्थानकें सपनामे सेहो फेर के देखत?” तट पर एक लता-मण्डप देखितहि ओ ओकरा बहुत कालसँ बिलुड़ल भाइ जकाँ देखऽ लगलाह, मानो पुरान स्मृति जागि उठल हो। हमरा सभ प्रस्थानक आग्रह कयलहुँ तऽ ओ सुनबो नहि कयलनि। अन्ततः कहलनि जे हमरा सभ चलि जाउ, ओ एहि स्थानकें नहि छोड़ताह। ओ कहलनि—“अहाँ सभ प्रस्थानक लेल जे तर्क दैत छी, की हम सभ नहि बुझैत छी? मुदा हमरा अपनहि पर अधिकार नहि अछि। मानो एहि स्थान पर कील ठोकि बान्हि देल गेल अछि; हम अहाँ सभक संग नहि जा सकैत छी।” अन्ततः हमरा सभ हुनका ओतहि छोड़ि एतय आबि गेलहुँ।’

सपनोमे कल्पना नहि कऽ सकबाक एहन वृत्तान्त सुनि चन्द्रापीड चकित भऽ सोचलनि, ‘सभकिछु त्यागि वनमे रहबाक ओकर निश्चयक कारण की भऽ सकैत अछि? हमरा अपन कोनो दोष देखाइत नहि अछि। ओ हमर प्रत्येक वस्तु आ भावक सहभागी अछि। पिता अथवा शुक्रनास हुनका एहन किछु कहलनि की जे हृदयकें चोट पहुँचौने हो?’ अन्ततः ई सोचैत जे जतय वैशम्पायन छथि ओतहि कादम्बरी सेहो छथि, आ मित्रकें घुरा अनबाक निश्चय कऽ ओ उज्जयिनी घुरलनि। सुनलनि जे राजा-रानी शुक्रनासक घर गेल छथि, अतः हुनको पाछाँ ओतय पहुँचलनि। ओतय मनोरमाकें पुत्रक अभावमे विलाप करैत सुनलनि—ओहि पुत्रक दर्शन बिना ओ जीवित नहि रहि सकैत छलीह आ जे बाल्यावस्थासँ एखन धरि कखनो हुनक उपेक्षा नहि कयने छल। चन्द्रापीड प्रवेश कयलनि तऽ राजा कहलनि, ‘हम तोहर ओकरा प्रति गहन प्रेम जनैत छी। तथापि ई वृत्तान्त सुनि हमर हृदय तोहरहि कोनो दोषक शंका करैत अछि।’ मुदा दुःख आ अधैर्यसँ मुख अन्हार भेल शुक्रनास उलाहना दैत कहलनि, ‘हे राजन्, जँ चन्द्रमामे ताप आ अग्निमे शीतलता भऽ सकैत अछि, तखने कुमारमे दोष भऽ सकैत अछि। वैशम्पायन सन व्यक्ति विनाशक अपशकुन होइत अछि—बिना ईधनक अग्नि, एहन चमकाओल दर्पण जे प्रत्येक वस्तु उल्टा देखा दैत अछि। ओकरा लेल नीच उच्च, अन्याय न्याय आ अज्ञान विद्या होइत अछि। ओकर प्रत्येक प्रवृत्ति कल्याण नहि, अनिष्ट दिस जाइत अछि। एही कारण वैशम्पायन ने अहाँक क्रोधसँ डरलक, ने ई सोचलक जे ओकर माताक जीवन ओकरा पर निर्भर अछि, ने ई जे वंश चलबैत पितृ-तर्पण देबाक लेल ओकर जन्म भेल अछि। निश्चय एहन दुष्ट आसुरी व्यक्तिक जन्म केवल हमरा सभकें दुःख देबाक लेल भेल।’ राजा उत्तर देलनि, ‘हम सन व्यक्ति अहाँकें उपदेश दी, से एना होयत मानो दीपक अग्निकें प्रकाश दय अथवा दिन सूर्यकें समान तेज दय। तथापि दुःख बुद्धिमानसँ बुद्धिमान व्यक्तिक मनकें वर्षासँ मानस-सरोवर जकाँ मलिन कऽ दैत अछि, आ तखन दृष्टि नष्ट भऽ जाइत अछि। एहि संसारमे युवा अवस्थासँ के नहि बदलैत अछि? यौवन प्रकट होइतहि बाल्यकालक संग ज्येष्ठक प्रति प्रेम बहि जाइत अछि। वैशम्पायनक विषयमे अहाँक कठोर वचन सुनि हमर हृदय दुःखी होइत अछि। ओकरा एतय अनल जाय; तखन जे उचित होयत से करब।’ शुक्रनास पुत्रकें दोष दैत रहलाह, मुदा चन्द्रापीड ओकरा अनबाक अनुमति लेल निवेदन करैत रहलनि; अन्ततः शुक्रनास मानि गेलाह।

तखन कुमार ज्योतिषीसभकेँ बजा गुप्त रूपसँ निर्देश देलनि जे राजा वा शुक्रनास पूछथि तऽ एहन प्रस्थान-दिन बताबथि जाहिसँ विलम्ब नहि हो। ज्योतिषी उत्तर देलक, ‘ग्रहयोग अपनेक यात्राक अनुकूल नहि अछि। मुदा राजा स्वयं समयक निर्णायक होइत छथि। अपनेक इच्छा जाहि समय पर स्थिर हो, प्रत्येक काज लेल ओही समय उचित अछि।’ तखन ओ सभ दोसर दिनकेँ प्रस्थानक शुभकाल घोषित कयलक। कुमार ओ दिन आ राति यात्राक तैयारीमे बितौलनि, मानो कादम्बरी आ वैशम्पायनकेँ सोझाँ देखिये रहल होथि।

समय अयला पर विलासवती गहन दुःखसँ विदा दैत कहलनि, ‘तोहर पहिल प्रस्थान पर हमरा एतेक दुःख नहि भेल छल, जतेक आब होइत अछि। हमर हृदय फाटि रहल अछि, शरीर यातनामे अछि, मन दबि गेल अछि। नहि जानि किएक हृदय एतेक पीड़ित अछि। बहुत दिन बाहर नहि रहिह।’ कुमार हुनका सान्त्वना देबाक प्रयास कऽ पिताक समीप गेलनि। राजा स्नेहसँ ग्रहण कऽ अन्ततः कहलनि, ‘हमर इच्छा अछि तू विवाह कऽ राज्यक भार ग्रहण कर, जाहिसँ हम राजर्षिसभक बाट पर चलि सकी। मुदा वैशम्पायनक ई प्रसंग बाधा बनल अछि, आ शंका होइत अछि जे हमर अभिलाषा पूर्ण नहि होयत। नहि तऽ ओ एहन विचित्र आचरण कोना करित? अतः पुत्र, जेब आवश्यक अछि, मुदा शीघ्र घुरिह, जाहिसँ हमर हृदयक इच्छा विफल नहि हो।’ अन्ततः चन्द्रापीड प्रस्थान कयलनि। दिन-रात यात्रामे मित्र आ गन्धर्वलोकक चिन्तन करैत रहलनि। बहुत दूर पहुँचला पर वर्षा ऋतु आरम्भ भऽ गेल। आँधी-वर्षाक प्रत्येक हलचल हुनक अपन हृदयमे प्रतिध्वनित होइत छल। तथापि ओ बाटमे नहि रुकलनि, ने सामन्तसभक अपन देहक किछु ध्यान रखबाक विनती मानलनि; पूरा दिन घोड़ा दौड़बैत रहलनि। यात्राक एक-तिहाइ भाग शेष रहितहि मेघनाद देखाइत पड़ल। वैशम्पायनक विषयमे उत्सुकतासँ पुछला पर ज्ञात भेल जे वर्षा हुनक आगमन रोकत—ई निश्चित बुझि पत्रलेखा मेघनादकेँ हुनक स्वागत लेल पठौने छल, आ मेघनाद अच्छोद सरोवर धरि नहि गेल छल। दुगुना दुःखसँ कुमार सरोवर पहुँचि अनुचरसभकेँ चारु दिस पहरा देबाक आज्ञा देलनि, जाहिसँ वैशम्पायन लज्जासँ कतहु भागि नहि जाय। मुदा बहुत खोजलाक बादो मित्रक कोनो चिह्न नहि भेटल। ओ सोचलनि, ‘हुनका बिना हमर पएर एहि स्थानसँ हटि नहि सकैत अछि, आ कादम्बरीक दर्शन सेहो नहि भेल। सम्भव अछि महाश्वेता एहि विषयमे किछु जनैत होथि; कमसँ कम हुनक दर्शन तऽ करी।’ इन्द्रायुध पर चढ़ि हुनक आश्रम दिस गेलनि। उतरि भीतर प्रवेश कयलनि, मुदा गुफाक द्वार पर तरलिकाक सहारासँ कठिनतासँ ठाढ़, तीव्र विलाप करैत महाश्वेताकेँ देखलनि। ओ सोचलनि, ‘कतहु कादम्बरी पर कोनो अनिष्ट तऽ नहि आयल? हमर आगमन आनन्दक कारण होयबाक चाही, तखन महाश्वेताक ई दशा किएक?’ दुःख आ उत्कण्ठासँ तरलिकासँ पुछलनि, मुदा ओ केवल महाश्वेताक मुख दिस देखलक। अन्ततः महाश्वेता टूटैत वाणीमे कहलनि, ‘हम सन दुर्भागिनी अहाँकेँ की कहि सकैत छी? तथापि घटना सुनब। कीपूरकसँ अहाँक प्रस्थान सुनि हमर हृदय एहि विचारसँ फाटि गेल जे कादम्बरीक माता-पिताक इच्छा, हमर अपन अभिलाषा, आ अहाँक संग मिलनमे कादम्बरीक सुख-दर्शन—किछुओ पूर्ण नहि भेल। हुनक प्रति प्रेमक बन्धनो काटि हम पहिनेसँ अधिक कठोर तपस्या करबाक लेल अपन आश्रम घुरि अयलहुँ। एतय अहाँक सदृश एक युवा ब्राह्मणकेँ शून्य दृष्टिसँ एतय-ओतय देखैत पयलहुँ। हमरा देखितहि ओकर आँखि केवल हमरे पर स्थिर भऽ गेल, मानो पहिने कखनो नहि देखितहुँ चिन्हैत हो, अपरिचित होइतहुँ दीर्घकालसँ जनैत हो। पागल वा आविष्ट व्यक्ति जकाँ हमरा देखैत अन्ततः कहलक—“सुन्दरी, एहि संसारमे केवल ओ लोक निन्दासँ बचैत अछि जे अपन जन्म, वय आ रूपक अनुरूप आचरण करैत अछि। विपरीत भाग्य जकाँ एहन अनुपयुक्त काजमे किएक परिश्रम करैत छी—फूलमाला जकाँ कोमल देहकेँ कठोर तपस्यामे किएक क्षीण करैत छी? तपस्याक कष्ट ओहि लोकक लेल अछि जे जीवनक सुख भोगि ओकर शोभा गमा चुकल अछि, सौन्दर्यसँ सम्पन्न अहाँक लेल नहि। जँ अहाँ संसारक आनन्दसँ विमुख होयब तऽ कामदेव व्यर्थ धनुष तानैत छथि, चन्द्रमा व्यर्थ उदित होइत अछि, चाँदनी आ मलय-पवन निष्फल सेवा करैत अछि।”

महाश्वेता आगाँ कहलनि, ‘पुण्डरीककेँ गमौलाक बाद हमरा कोनो बातक चिन्ता नहि रहि गेल छल, अतः हम ओकर परिचय नहि पुछलहुँ। तरलिकाकेँ कहलहुँ जे ओकरा दूर राखय; ओ फेर घुसत तऽ अवश्य कोनो अनिष्ट होयत। मुदा दूर रखलाक बावजूद—प्रेमक दोषसँ अथवा हमरा सभ पर आएल दुःखमय नियतिक कारण—ओ अपन अनुराग नहि छोड़लक। एक राति तरलिका सुति गेल छल आ हम पुण्डरीकक विचारमे डूबल छलहुँ। दिन जकाँ उज्ज्वल चाँदनीमे ओ युवक आविष्ट जकाँ निकट अबैत देखाइत पड़ल। ओकरा देखितहि परम भय हमरा घेरि लेलक। हम सोचलहुँ, “हमरा पर अनिष्ट आबि पड़ल। जँ ई निकट आबि केवल हाथे छुबि दैत तऽ एहि अभिशप्त जीवनकेँ नष्ट करब आवश्यक होयत। तखन पुण्डरीकक पुनर्दर्शनक आशामे जीवन धारण करबाक हमर संकल्प व्यर्थ भऽ जायत।” हम एना सोचिये रहल छलहुँ कि ओ निकट आबि कहलक—“चन्द्रमुखि, प्रेमक सहायक चन्द्रमा हमरा मारबाक प्रयास कऽ रहल अछि। ताहि लेल शरण माँगय अयलहुँ। हम निराश्रय आ असहाय छी; हमर जीवन अहाँकेँ समर्पित अछि। हमर रक्षा करू। शरणागतक रक्षा तपस्वीक धर्म होइत अछि। जँ अपना केँ हमरा देबाक कृपा नहि करब तऽ चन्द्रमा आ कामदेव हमरा मारि दैत।” ओकर वचन सुनि क्रोधसँ अवरुद्ध स्वरमे हम कहलहुँ—“दुष्ट, ई वचन कहैत तोहर माथ पर वज्र किएक नहि खसल? मनुष्यक न्याय-अन्यायक साक्षी पाँचो तत्त्व निश्चय तोहर देहमे नहि अछि, नहि तऽ पृथ्वी, वायु, अग्नि आदि तोरा पूर्णतः नष्ट किएक नहि कयलक? उचित-अनुचित वचनक विचार बिना तू सुग्गा जकाँ बोलब सीखल छह। तखन सुग्गा रूपेँ जन्म किएक नहि लेलह? हम तोरा एही नियति दैत छी—अपन वाणीक अनुरूप जन्म ग्रहण कर, आ हमर सन स्त्रीसँ प्रेम-निवेदन करब छोड़।” ई कहि हम चन्द्रमा दिस मुड़ि हाथ उठा प्रार्थना कयलहुँ—“हे भगवन्, सर्वेश्वर, जगत्-रक्षक! पुण्डरीकक दर्शनक बाद हमर हृदयमे आन कोनो पुरुषक विचार नहि आयल हो तऽ हमर एहि सत्य-वचनक प्रभावसँ ई मिथ्या प्रेमी हम कहने योनिमे खसि पड़य।” तखन तत्काल—हम नहि जानि प्रेमक बलसँ, ओकर अपन पापसँ अथवा हमर वचनक शक्तिसँ—ओ जरिसँ उखड़ल वृक्ष जकाँ निर्जीव खसि पड़ल। ओकर मृत्युक बाद कानैत अनुचरसभसँ ज्ञात भेल जे ओ अहाँक मित्र छल, हे श्रेष्ठ कुमार।’ ई कहि ओ लज्जासँ मुख झुका मौन कानऽ लगलीह। मुदा स्थिर दृष्टि आ टूटैत आवाजमे चन्द्रापीड उत्तर देलनि, ‘देवि, अहाँ अपन

दिससँ सभ किछु कयलहुँ; तथापि हम एतेक दुर्भाग्यवान छी जे एहि जन्ममे देवी कादम्बरीक चरण-सेवाक आनन्द नहि पाबि सकलहुँ। दोसर जन्ममे हमरा लेल ई सुख उत्पन्न करब।’ ई कहितहि हुनक कोमल हृदय कादम्बरीकें प्राप्त नहि कऽ सकबाक दुःखसँ एना टूटि गेल जेना खिलबाक लेल तैयार कली भँवराक डङ्कसँ फाटि जाय।

तखन तरलिका हुनक निर्जीव देह पर विलाप करऽ लागल आ महाश्वेताकें उलाहना देबऽ लगल। सामन्तसभ सेहो दुःख आ विस्मयक चीत्कार करऽ लागल। ओही समय किछु मात्र अनुचरक संग स्वयं कादम्बरी प्रवेश कयलनि। महाश्वेतासँ भेंटक बहाना छल, मुदा वेश प्रियतमसँ मिलबाक लेल सजल छल। पत्रलेखाक हाथक सहारा लऽ अबैत ओ कुमारक वचनबद्ध धुरब पर सन्देह व्यक्त करैत, आ कहैत छलीह जे जँ फेर हुनका देखतीह तऽ ने बात करतीह, ने हुनक विनय वा सखीक प्रयाससँ मानतीह। वचन एहन छल, मुदा पुनः दर्शनक अभिलाषामे यात्राक समस्त कष्ट हुनका तुच्छ बुझाइत छल। चन्द्रापीडकें मृत देखितहि एक तीव्र चीत्कारसँ भूमि पर खसि पड़लीह। मूर्छा हटला पर स्थिर आँखि आ काँपैत मुखसँ हुनका देखलनि—तेज कुठारक आघातसँ काँपैत लता जकाँ—फेर स्त्री-स्वभावक विपरीत दृढ़तासँ निश्चल ठाढ़ भऽ गेलीह। मदलेखा हुनकासँ विनती कयलनि जे आँसू बहा दुःखकें मार्ग दिअ, नहि तऽ हृदय फाटि जायत; स्मरण करू जे दू वंशक आशा अहाँ पर टिकल अछि। कादम्बरी मुस्करा उत्तर देलनि, ‘मूर्खि, ई दृश्य देखितहुँ जँ हमर वज्रक हृदय नहि टूटल तऽ आब कोना टूटत? कुल आ मित्रक चिन्ता जीवित रहबाक इच्छा राखनिहार व्यक्तिक लेल होइत अछि, मृत्यु चुनने हमर लेल नहि। हमरा प्रियतमक देह प्राप्त भेल अछि, जे हमर जीवन अछि। से जीवित हो वा मृत, पृथ्वी पर मिलनसँ वा मृत्युमे ओकर अनुसरणसँ—हरेक दुःख शान्त करबाक लेल पर्याप्त अछि। हमरहि कारण स्वामी एतय आबि प्राण गमौलनि; तखन आँसू बहा हुनक देल महान सम्मानकें हम कोना तुच्छ करी? स्वर्ग-प्रस्थानक समय अमङ्गल विलाप कोना करी? जखन चरण-धूलि जकाँ हुनक पाछाँ चलबाक आनन्दमय क्षण आएल अछि तऽ किएक कानू? आब सभ दुःख दूर भऽ गेल। हुनक लेल हम आन सभ सम्बन्ध उपेक्षित कयलहुँ; आब जखन ओ नहि छथि तखन तू हमरा जीवित रहबाक लेल कोना कहि सकैत छह? आब मरबहि हमर जीवन अछि, जीवित रहब हमरा लेल मृत्यु होयत। माता-पिता आ मित्रसभक समीप तू हमर स्थान ग्रहण करह; हम दोसर लोकमे रहब तखन जलाञ्जलि देबाक लेल तोरा पुत्र हो। आँगनक युवा आम, जे हमरा अपन सन्तान जकाँ प्रिय अछि, ओकर विवाह माधवी-लतासँ कराबह। हमर पएरक स्पर्श पाओल अशोक-वृक्षक एको टहनी कानक आभूषण लेल सेहो नहि तोड़ल जाय। हमरा द्वारा पोसल मालती-लताक फूल केवल देवताकें चढ़ाबय लेल तोड़ल जाय। हमर कक्षमे तक्रियाक समीप कामदेवक चित्र फाड़ि देब। हम जे आमक वृक्ष रोपने छी ओकर पालन करब, जाहिसँ फल धरय। पिंजड़ाक दुःखसँ सारिका कालिन्दी आ सुग्गा परिहासकें मुक्त करब। हमर गोदीमे विश्राम करनिहार छोट नेवल आब तोहर गोदीमे रहय। हमर सन्तान-समान हरिणशावक तरलककें कोनो आश्रममे दऽ देब। प्रमोद-पर्वत पर हमर हाथसँ पोसल तीतिरसभ जीवित राखल जाय। हमर डेगक पाछाँ चलनिहार हंस मारल नहि जाय—ई ध्यान रखब। हमर बेचारी बनरिया घरमे दुःखी अछि, ओकरा मुक्त कऽ देब। प्रमोद-पर्वत कोनो शान्तचित्त तपस्वीकें दऽ देब आ हमर व्यक्तिगत वस्तु ब्राह्मणसभकें। हमर वीणा प्रेमसँ अपन गोदीमे राखब; आन जे वस्तु तोरा पसिन्न हो से तोहर हो। हम अपन स्वामीक गला सँ लिपटि चितापर ओहि ज्वरकें शान्त करब, जकरा चन्द्रमा, चन्दन, कमल-तन्तु आ सभ शीतल वस्तु उलटे बढ़ौने अछि।’ फेर महाश्वेताकें आलिङ्गन कऽ कहलनि, ‘तोहर लग कोनो आशा अछि जाहिसँ मृत्युसँ अधिक कठोर जीवन-पीड़ा सहि सकैत छह; मुदा हमर लग कोनो आशा नहि। प्रिय सखी, दोसर जन्ममे भेट धरि विदा।’

पुनर्मिलनक आनन्द अनुभव करैत जकाँ कादम्बरी नत मस्तकसँ चन्द्रापीडक चरणक पूजा कयलनि आ ओकरा अपन गोदीमे राखि लेलनि। हुनक स्पर्शसँ चन्द्रापीडक देहसँ एक विचित्र उज्ज्वल प्रकाश उठल, आ तत्काल आकाशवाणी भेल—‘प्रिय महाश्वेता, हम फेर तोरा सान्त्वना देब। तोहर पुण्डरीकक देह हमर लोक आ हमर प्रकाशसँ पोषित, मृत्युसँ मुक्त, तोहर संग पुनर्मिलनक प्रतीक्षा करैत अछि। चन्द्रापीडक ई दोसर देह सेहो हमर प्रकाशसँ भरल अछि; अतः अपन स्वभावसँ आ कादम्बरीक स्पर्शसँ पोषित होयबाक कारण मृत्युक अधीन नहि अछि। शापक कारण आत्मा ओकरा त्यागने अछि, जेना योगीक देह जकर आत्मा आन रूपमे प्रवेश कऽ गेल हो। शाप समाप्त होयबा धरि ई देह तोरा आ कादम्बरीकें सान्त्वना देबाक लेल एतहि रहय। ओकर दाह नहि करब, जलमे नहि बहाएब, नहि त्यागब। पुनर्मिलन धरि पूर्ण सावधानीसँ सुरक्षित राखब।’

आकाशवाणी सुनि पत्रलेखाकें छोड़ि सभ विस्मित भऽ आकाश दिस स्थिर दृष्टिसँ देखऽ लागल। पत्रलेखा चन्द्रापीडक मृत्यु देखि आएल मूर्छासँ ओहि प्रकाशक शीतल स्पर्श पाबि चेतनामे आयल। ओ तुरन्त उठि अश्वपालक हाथसँ इन्द्रायुधक लगाम छिनैत कहलक, ‘हमरा सभक जे हो, मुदा तू अपन स्वामीकें दीर्घ यात्रामे बिना घोड़ाक असगर एक क्षणो नहि छोड़िह,’ आ इन्द्रायुध सहित अछोद सरोवरमे कूदि पड़ल। तत्काल सरोवरसँ एक युवा तपस्वी निकलल। महाश्वेताक समीप आबि दुःखपूर्ण स्वरमे कहलक, ‘गन्धर्व-राजकुमारी, दोसर जन्म पार कऽ आब हमरा चिन्हैत छह?’ आनन्द आ दुःखक बीच विभक्त महाश्वेता हुनक चरणमे प्रणाम कऽ उत्तर देलनि, ‘भगवन् कपिञ्जल, की हम एतेक गुणहीन छी जे अहाँकें बिसरि जाइ? तथापि अहाँक ई शंका स्वाभाविक अछि, कारण हम स्वयं अपना कें नहि चिन्हि पबैत छी। उन्मादसँ एतेक भ्रमित छी जे स्वामी पुण्डरीक स्वर्ग चलि गेलाह, तकर बादो जीवित छी। हमरा पुण्डरीकक समाचार कहू।’ तखन कपिञ्जल स्मरण करौलनि जे पुण्डरीकक देह लऽ जेबाक व्यक्तिक पाछाँ ओ आकाशमे उड़ल छलाह, दिव्य विमानमे विस्मित देवतासभकें पार करैत चन्द्रलोक पहुँचल छलाह। ओ आगों कहलनि—‘ओ व्यक्ति पुण्डरीकक देह महोदय नामक सभागृहमे शय्या पर राखि कहलक—‘हमरा चन्द्रमा बुझ। जखन हम संसारक कल्याण लेल उदित भेलहुँ, तखन तोहर मित्र हमरा शाप देलक, कारण प्रियासँ मिलनक पूर्वीह हमर किरण ओकरा मारि रहल छल। ओ प्रार्थना कयलक जे सभ पवित्र कर्मक भूमि भारतवर्षमे जन्म लऽ हमो प्रेमक पीड़ा भोगि मरी। अपनहि दोषक कारण शाप भेटला पर क्रोधमे हम प्रत्युत्तर देलहुँ जे ओकरा सेहो हमरहि समान सुख-दुःखक भाग भोगय पड़त। क्रोध शान्त भेल तऽ महाश्वेताक प्रसंग

बुझलहुँ। ओ हमर किरणसँ उत्पन्न वंशक कन्या अछि आ पुण्डरीककें स्वामी रूपें चुनने अछि। तथापि जन्मक्रमक विधान पूरा करबाक लेल हमरा दुनूकें मनुष्यलोकमे दू बेर जन्म लेब आवश्यक अछि। ताहि लेल हम ई देह एतय आनलहुँ आ शाप समाप्त होयबा पूर्व नष्ट नहि हो, एहि हेतु अपन प्रकाशसँ पोषण करैत छी। महाश्वेताकें सेहो सान्त्वना देने छी। सम्पूर्ण वृत्तान्त पुण्डरीकक पिताकें कहिह। हुनक आध्यात्मिक शक्ति महान अछि; सम्भव अछि ओ कोनो उपाय निकालथि।” हम दुःखमे व्यग्र भऽ फेर दौड़लहुँ आ आकाशमार्गमे एक दिव्य विमानक सवारक ऊपरसँ कूदि पार भेलहुँ। क्रोधित भऽ ओ हमरा कहलक—“विशाल आकाश-पथमे उन्मत्त घोड़ा जकाँ हमरा लाँघि गेलह, अतः घोड़ा बनि मनुष्यलोकमे उतर।” हम आँसू भरि कहलहुँ जे दुःखक अन्धतामे ओकरा लाँघल, तिरस्कारसँ नहि। ओ उत्तर देलक—“एक बेर कहल शाप घुरा नहि होइत अछि। मुदा जखन तोहर सवारक मृत्यु होयत, स्नान करितहि शापसँ मुक्त भऽ जेबह।” तखन हम विनती कयलहुँ जे हमर मित्र चन्द्रदेवक संग मनुष्यलोकमे जन्म लेबएबला अछि, अतः घोड़ा रूपमे निरन्तर ओकरहि संग रहबाक अनुमति भेटय। हमर स्नेहसँ कोमल भऽ ओ बतौलक जे चन्द्रमा उज्जयिनीक राजा तारापीडक पुत्र रूपें जन्म लेताह, पुण्डरीक हुनक मन्त्री शुक्रनासक पुत्र होयताह, आ हम कुमारक अश्व बनब। तत्काल हम समुद्रमे कूदि पड़लहुँ आ घोड़ा रूपमे प्रकट भेलहुँ, मुदा पूर्वजन्मक स्मृति नहि गमौलहुँ। किन्नरसभक पाछाँ लगबैत चन्द्रापीडकें एतय जानि-बुझि हमरे अनने छलहुँ। पूर्वजन्मक संस्कारसँ उपजल प्रेमक कारण तोरा खोजैत, आ तोहर अनजान अवस्थामे शापसँ दग्ध भेल युवक हमर मित्र पुण्डरीक छल, जे पृथ्वी पर जन्म लेने छल।”

ई सुनि महाश्वेता करुण चीत्कारसँ छाती पीटैत कहलनि, ‘पुण्डरीक, दोसर जन्ममे अहाँ हमर प्रेम अक्षुण्ण रखलहुँ; हम अहाँक लेल सम्पूर्ण संसार छलहुँ। मुदा नव जन्ममे अहाँक विनाश लेल उत्पन्न राक्षसी जकाँ हम दीर्घ आयु केवल एही लेल पयलहुँ जे बेर-बेर अहाँकें मारी। हमरा लगैत अछि एहन दुर्भागिनी प्रति अहाँक मनमे आब शीतलता आबि गेल अछि, ताहि कारण हमर विलापक उत्तर नहि देत छी।’ ई कहि ओ भूमि पर खसि पड़लीह। मुदा कपिञ्जल दयासँ कहलनि, ‘राजकुमारी, अहाँ निर्दोष छी आ आनन्द निकट अछि। अतः शोक नहि करू; जे तपस्या आरम्भ कयने छी, ओकरा निरन्तर पूरा करू। पूर्ण तपस्याक लेल किछुओ असम्भव नहि। अपन तपोबलसँ शीघ्र हमर मित्रक बाँहमे रहब।’

तखन कादम्बरी कपिञ्जलसँ पुछलनि जे पत्रलेखा हुनक संग सरोवरमे कुदला पर कोन दशामे गेलीह। मुदा ओकर बाद पत्रलेखा, मित्र पुण्डरीक वा चन्द्रापीडक संग की भेल—कपिञ्जल किछुओ नहि जनैत छलाह। अतः तीनू लोकक प्रत्येक घटना देख सकनिहार पुण्डरीकक पिता ऋषि श्वेतकेतुसँ पुछबाक लेल आकाशमे उड़ि गेलाह।

तखन महाश्वेता, जकर संग दुःखक समानतासँ कादम्बरीक प्रेम आरो दृढ़ भऽ गेल छल, हुनका परामर्श देलनि जे जीवन चन्द्रापीडक देहक सेवा मे बिताबथि आ कनेको सन्देह नहि राखथि। आन लोक अदृश्य देवताक मात्र प्रतिमा रूप काठ आ पाथरक आकृतिक पूजा कऽ कल्याण पबैत अछि; तखन हुनका चन्द्रापीड नामक आवरणमे उपस्थित साक्षात् देवताक पूजा करबाक चाही। चन्द्रापीडक देह कोमलतासँ एक शिला पर राखि कादम्बरी प्रियतमसँ भेट लेल पहिरल अलंकार उतारि देलनि; केवल मंगल-चिह्न रूपें एक कङ्कण रखलनि। स्नान कऽ दू श्वेत वस्त्र धारण कयलनि, ओठसँ पानक गाढ़ लालिमा मेटौलनि, आ सुखद प्रेमक शोभा लेल आनल फूल, धूप आ अनुलेपन सभ आब देवताक योग्य पूजामे चन्द्रापीडकें अर्पित कयलनि। दिन-राति निश्चल बैसि कुमारक चरण थामने रहलीह। दोसर दिन प्रसन्नतासँ देखलनि जे हुनक कान्ति अपरिवर्तित अछि। ई समाचार देलासँ सखीसभ आ कुमारक अनुचरसभ आनन्दित भेल। अगिला दिन मदलेखाकें माता-पिताकें सान्त्वना देबाक लेल पठौलनि। ओ सभ प्रत्युत्तर देलक जे कादम्बरीक विवाह देखबाक आशा कखनो नहि कयने छल, मुदा आब आनन्द अछि जे ओ साक्षात् चन्द्रदेवक अवतारकें पति चुनलनि। शाप समाप्त होयला पर जमायक संग पुनः पुत्रीक कमल-मुख देखबाक आशा रखैत छथि। एहि सान्त्वनासँ कादम्बरी कुमारक देहक सेवा आ पूजा करैत रहलीह। वर्षा समाप्त भेला पर मेघनाद आबि बतौलक जे तारापीड कुमारक विलम्बक कारण पुछबाक लेल दूत पठौने छथि। कादम्बरीकें दुःखसँ बचाबय लेल ओ दूतसभकें पूरा घटना कहि शीघ्र राजाकें समाचार देबाक आज्ञा देने छल। मुदा दूतसभ उत्तर देलक—‘ई सभ सत्य हो, तथापि कुमारक प्रति वंशानुगत प्रेम छोड़ियो एहन महान आश्चर्य देखबाक इच्छा हमरा सभकें हुनक दर्शन माँग्य बाध्य करैत अछि। दीर्घ सेवाक कारण ई कृपा पाबय योग्य छी। जँ चन्द्रापीडक देह नहि देखलहुँ तऽ राजा की कहताह?’ तारापीडक सम्भावित दुःखक कल्पनासँ कादम्बरी व्यथित भेलीह, तथापि दूतसभकें भीतर आबय देलनि। आँसू भरि दण्डवत् होइत हुनका सभकें सान्त्वना दैत कहलनि जे ई दुःखक नहि, आनन्दक कारण अछि। ‘अहाँ सभ कुमारक मुख आ परिवर्तनसँ मुक्त देह देखि लेलहुँ; आब शीघ्र राजाक चरणमे जाउ। मुदा एहि कथाकें सभ दिस नहि पसारब। केवल कहब जे कुमारकें देखने छी आ ओ अच्छोद सरोवरक तट पर ठहरल छथि। मृत्यु प्रत्येक व्यक्तिक होइत अछि, अतः सहज विश्वास होइत अछि; मुदा ई घटना देखलाक बादो विश्वास करब कठिन अछि। एखन माता-पिताकें ई कहि हुनक मृत्युशंका उत्पन्न करब उपयोगी नहि। जखन ओ पुनः जीवित होयताह तखन ई अद्भुत कथा स्वयं स्पष्ट भऽ जायत।’ दूतसभ उत्तर देलक, ‘तखन हमरा सभकें वा तऽ घुरब नहि, वा मौन रहब पड़त। दुनूमेसँ कोनो उपाय सम्भव नहि; शोकाकुल राजाक स्वागत एना नहि कऽ सकैत छी।’ ताहि लेल कादम्बरी हुनका सभक संग चन्द्रापीडक सेवक त्वरितकें पठौलनि, जाहिसँ वृत्तान्त विश्वसनीय हो। कुमारक सम्पूर्ण राजकीय अनुचर-वर्ग ओतहि फल-मूल खा जीवन बिताबय आ कुमार स्वयं घुरब ताधरि घुरा नहि जेबाक व्रत लेने छल।

अनेक दिन बाद पुत्रक समाचारक तीव्र लालसामे महारानी विलासवती उज्जयिनीक रक्षक देवी, अवन्तीक दिव्य मातृकासभक मन्दिरमे हुनक घुरबाक प्रार्थना करऽ गेलीह। सहसा परिचर-वर्गमे पुकार उठल—‘महारानी, अहाँ धन्य छी! मातृकासभ कृपा कयलनि! कुमारक दूत निकट आबि गेल अछि।’ ओ देखलनि जे नगरवासी दूतसभकें घेरि कुमार, अथवा हुनक अनुचरसभमे शामिल अपन पुत्र, भाइ आ सम्बन्धीक समाचार पुछि रहल छल, मुदा कोनो उत्तर

नहि भेटैत छल। महारानी हुनका सभकेँ मन्दिरक प्राङ्गणमे बजा पुकारलनि, ‘हमर पुत्रक समाचार शीघ्र कहू। अहाँ सभ हुनका देखने छी?’ दूतसभ दुःख नुकेबाक प्रयास करैत उत्तर देलक, ‘महारानी, हमरा सभ हुनका अच्छोद सरोवरक तट पर देखने छी। शेष वृत्तान्त त्वरितक कहत।’ ओ कहलनि, ‘ई अभागल व्यक्ति आब आरो की कहत? अहाँ सभक दुःखी दशा कथा स्वयं कहि देलक। हाय हमर बच्चा! तू किएक नहि घुरि अयलह? विदा होइत समय हमर अशुभ पूर्वाभास कहने छल जे तोहर मुख फेर नहि देखब। ई सभ पूर्वजन्मक दुष्कर्मक फल अछि। मुदा पुत्र, ई नहि सोचिह जे तोरा बिना हम जीवित रहब; तखन तोहर पिताक सामना कोना करब? तथापि नहि जानि प्रेमक कारण, एतेक सुन्दर व्यक्ति अवश्य जीवित रहत—एहि विचारसँ, अथवा स्त्री-मनक स्वाभाविक सरलतासँ, हमर हृदय विश्वास नहि करैत अछि जे तोरा पर अनिष्ट आयल।’ एहि बीच राजाकेँ समाचार भेटल। ओ शुकनासक संग मन्दिर दिस दौड़लाह आ शोकक जड़तामे डूबल रानीकेँ जगाबय कहलनि, ‘रानी, एहि प्रकार दुःख देखाबय अपना सभ अपनहि सम्मान घटा रहल छी। पूर्वजन्मक पुण्य हमरा सभकेँ एखन धरि आनलक। आगाँक सुख धारण करबाक पात्र नहि छी। जे अर्जित नहि कयल, से छाती पीटलासँ इच्छानुसार नहि भेटैत अछि। स्रष्टा अपन इच्छानुसार करैत छथि, ककरो पर निर्भर नहि। पुत्रक शैशव, बाल्य आ यौवनक आनन्द पयलहुँ; ओकर राज्याभिषेक कयलहुँ; दिग्विजयसँ घुरला पर स्वागत कयलहुँ। केवल एतबे अभिलाषा अपूर्ण रहल जे ओकर विवाह नहि देखलहुँ, ओकरा अपना स्थान पर छोड़ि आश्रम नहि गेलहुँ। मुदा प्रत्येक इच्छा पूर्ण होयब अत्यन्त दुर्लभ पुण्यक फल अछि। तथापि त्वरितकसँ पुछी, कारण एखन पूरा बात नहि जनैत छी।’ त्वरितकसँ जखन सुनलनि जे कुमारक हृदय टूटि गेल, तखन बीचहि मे रोकि महाकालक मन्दिरक निकट अपन लेल चिता तैयार करबाक आज्ञा देलनि। सम्पूर्ण धन ब्राह्मणसभकेँ दऽ देबाक आ अनुयायी राजासभकेँ अपन-अपन देश घुरबाक आदेश देलनि। मुदा त्वरितक वैशम्पायनक शेष कथा सुनबाक विनती कयलक। राजाक दुःख विस्मयमे बदलल। सच्चा मित्रक भाँति अपन दुःख बिसरि सान्त्वना देबाक इच्छा देखबैत शुकनास कहलनि, ‘महाराज, देव, दानव, पशु आ मनुष्यसँ भरल, सुख-दुःखमे घूमैत एहि अद्भुत क्षणभङ्गुर संसारमे कोन घटना असम्भव अछि? तखन एहि वृत्तान्त पर सन्देह किएक? जँ कारण खोजैत छी तऽ अनेक बात केवल परम्परा पर आधारित होइतहुँ सत्य देखाइत अछि—विषाक्त व्यक्तिक उपचारमे ध्यान वा विशेष आसनक उपयोग, चुम्बक द्वारा लोहा खिंचब, विविध कर्ममे वैदिक अथवा अन्य मन्त्रक प्रभाव—जाहि सभमे पवित्र परम्परा प्रमाण अछि। पुराण, रामायण, महाभारत आदि मे शापक अनेक कथा अछि। शापेँ नहुष सर्प, सौदास नरभक्षी, ययाति वृद्ध, त्रिशङ्कु चाण्डाल भेलाह; स्वर्गवासी महाभिष शान्तनु रूपेँ जन्म लेलनि, गङ्गा हुनक पत्नी आ वसु हुनक पुत्र भेलाह। एतबे नहि, परमेश्वर विष्णु जमदग्निनक पुत्र रूपेँ जन्म लेलनि, अपन चारि भाग कऽ दशरथक पुत्र भेलाह, आ मथुरामे वसुदेवक पुत्र रूपेँ सेहो जन्म लेलनि। अतः देवताक मनुष्यलोकमे जन्म अविश्वसनीय नहि। महाराज, गुणमे अहाँ प्राचीन महापुरुषसभसँ कम नहि छी; आ चन्द्रमा कमल-उत्पादक देवतासँ महान नहि अछि। पुत्रसभक जन्मक समय देखल सपना एहि कथाकेँ पुष्ट करैत अछि। चन्द्रमामे स्थित अमृत कुमारक देह सुरक्षित रखैत अछि, आ संसारकेँ आनन्द देनिहार हुनक सौन्दर्य निश्चय पृथ्वी पर रहबाक नियति रखैत अछि। अतः शीघ्र कादम्बरीक संग हुनक विवाह देखब आ एहि आनन्दमे जीवनक पूर्व दुःखसँ अनेक गुना प्रतिफल पाबि लेब। देवताक पूजा, ब्राह्मणकेँ दान आ तपस्या द्वारा एहि वरदानकेँ सुनिश्चित करबाक पूरा प्रयास करू।’ राजा सहमत भेलाह, मुदा स्वयं पुत्रक दर्शन लेल जेबाक निश्चय व्यक्त कयलनि। ओ रानी, शुकनास आ हुनक पत्नीक संग सरोवर दिस चललाह। स्वागत लेल आएल मेघनादक एहि आश्वासनसँ सान्त्वना पयलनि जे कुमारक देह प्रतिदिन अधिक उज्ज्वल भऽ रहल अछि। आश्रममे प्रवेश कयलनि। हुनक आगमनक समाचार सुनि महाश्वेता लज्जासँ गुफाक भीतर नुकि गेलीह आ कादम्बरी मूर्छित भऽ गेलीह। पुत्रकेँ केवल सुतल जकाँ देखि रानी दौड़ि निकट गेलीह आ स्नेहपूर्ण उलाहना दैत चन्द्रापीडसँ हुनका सभसँ बात करबाक विनती कयलनि। मुदा राजा स्मरण करौलनि जे शुकनास आ हुनक पत्नीकेँ सान्त्वना देब हुनक कर्तव्य अछि। ‘जिनका कारण पुत्रकेँ पुनः जीवित देखबाक आनन्द भेटत—ओ गन्धर्व-राजकुमारी एखन मूछामे छथि। हुनका बाँहमे लऽ चेतनामे आनू।’ तखन रानी कादम्बरीकेँ स्नेहसँ छुबि कहलनि, ‘माँ, धैर्य राखू। अहाँ नहि रहितहुँ तऽ हमर पुत्र चन्द्रापीडक देह के सुरक्षित रखित? निश्चय अहाँ पूर्णतः अमृतसँ बनल छी, ताहि कारण फेर ओकर मुख देख पबैत छी।’ चन्द्रापीडक नाम आ हुनकहि समान रानीक स्पर्शसँ कादम्बरीक चेतना घुरल। मदलेखाक सहायतासँ लज्जामे नत मुखेँ ओ कुमारक माता-पिताक उचित सम्मान कयलनि। हुनका ‘दीर्घायु होउ आ दीर्घकाल अखण्ड सौभाग्य भोगू’ आशीर्वाद भेटल, आ विलासवतीक ठीक पाछाँ बैसाओल गेल। राजा हुनका कुमारक सेवा पुनः करबाक निर्देश देलनि। स्वयं आश्रमक निकट शीतल शिलापट्टयुक्त, तपस्वीक योग्य एक पातक मण्डपमे निवास कयलनि। राजकीय अनुचर-वर्गसँ कहलनि जे आब दीर्घकालसँ पोसल संन्यासी जीवनक अभिलाषा पूरा करताह आ ओ सभ प्रजाक रक्षा करय। ‘योग्य व्यक्तिकेँ अपन स्थान सौंपि एहि दुर्बल, अनुपयोगी देहसँ परलोकक सुख अर्जित करी—ई निश्चय लाभे अछि।’

ई कहि राजा अपन अभ्यस्त समस्त सुख त्यागि अपरिचित वन-जीवन स्वीकार कयलनि। वृक्षक नीचाँ हुनका महल भेटल; लतासभमे अन्तःपुरक आनन्द; हरिणशावकसभमे मित्रक स्नेह; चीर आ वल्कलमे वस्त्राभूषणक सुख। जपमाला हुनक शस्त्र बनल, परलोक हुनक महत्वाकांक्षा, आ तपस्या धनक इच्छा। कादम्बरी आ महाश्वेता द्वारा आनल समस्त स्वादिष्ट भोजन अस्वीकार कऽ रानी आ शुकनासक संग ओतहि निवास करऽ लगलाह। प्रत्येक भोर-साँझ चन्द्रापीडक दर्शनक आनन्द पाबय लेल प्रत्येक कटकें तुच्छ मानलनि।

ई कथा कहि ऋषि जाबालि अपन पुत्र हारीत आ आन तपस्वीसभसँ तिरस्कार-मिश्रित मुस्कानसँ कहलनि, ‘अहाँ सभ देखलहुँ जे एहि कथामे हमरा सभकेँ एतेक काल धरि बान्हि रखबाक आ हृदय मोहित करबाक शक्ति अछि। ई ओही प्रेमपीडित जीव अछि जे अपन दोषसँ स्वर्गसँ खसल, पृथ्वी पर शुकनासक पुत्र वैशम्पायन भेल, आ अपन क्रोधित पिताक शाप तथा महाश्वेताक हृदय-सत्यक आह्वानसँ आब सुग्गा रूपमे जन्म लेने अछि।’ ओ ई कहिये रहल छलाह कि हम मानो निम्नसँ जागि गेलहुँ। कम आयु होइतहुँ पूर्वजन्ममे प्राप्त समस्त ज्ञान जिह्वाक अग्रभाग पर आबि गेल; सभ कलामे निपुण भऽ

गेलहुँ; स्पष्ट मानवीय वाणी, स्मृति आ मनुष्यक आकृति छोड़ि लगभग सभ गुण प्राप्त भऽ गेल। कुमारक प्रति स्नेह, अनियन्त्रित प्रेमोन्माद, महाश्वेताक प्रति समर्पण—सभ पुनः घुरि आयल। हुनक आ आन मित्रसभक समाचार जनबाक उत्कण्ठा उठल। अत्यन्त लज्जित होइतहुँ मन्द स्वरमे जाबालिसँ पुछलहुँ, ‘भगवन्, अहाँ हमर ज्ञान घुरा देलहुँ, मुदा हमर मृत्यु-दुःखसँ प्राण त्यागनिहार कुमारक कारण हृदय फाटि रहल अछि। कृपा कऽ हुनक समाचार कहूँ, जाहिसँ हम हुनक निकट जा सकी। पशु-जन्मो हमरा दुःख नहि देत।’ तिरस्कार आ दयाक मिश्रित भावसँ ओ उत्तर देलनि, ‘एखनो अपन पुरान अधीरता नहि रोकबह? पाँख बड़लाक बाद पुछिह।’ तखन पुत्र पुछलनि जे ऋषिवंशमे जन्मल व्यक्ति प्रेमक एतेक दास कोना भेल। जाबालि उत्तर देलनि जे केवल मातासँ जन्मल हमर सन व्यक्तित्वमे ई दुर्बल आ असंयत स्वभाव होइत अछि। वेद कहैत अछि—‘माता-पिता जकाँ होइत छथि, सन्तान सेहो तहिना होइत अछि’; चिकित्साशास्त्र सेहो एहन सन्तानक दुर्बलता कहैत अछि। ओ कहलनि जे एहि जन्ममे हमर आयु छोट होयत, मुदा शाप समाप्त भेलाक बाद दीर्घायु प्राप्त होयत। हम विनयपूर्वक पुछलहुँ जे कोन यज्ञसँ आयु बढ़ा सकैत छी, मुदा ओ प्रतीक्षा करबाक आज्ञा देलनि। हुनक कथा सुनैत पूरा राति अनजाने बीति गेल छल, अतः भोरक आहुति देबाक लेल तपस्वीसभकें पठौलनि। हारीत हमरा लऽ अपन कुटीमे शय्याक निकट राखि प्रातःकर्म लेल चलि गेलाह। हुनक अनुपस्थितिमे दुःखसँ सोचलहुँ—पक्षी-योनि सँ फेर ब्राह्मण बनब, एतबे नहि, स्वर्गसुख पाओल ऋषि बनब कतेक कठिन होयत! तथापि जँ पूर्वजन्मक प्रियजनसँ मिलन नहि होयत तऽ जीवित किएक रही? ओही समय हारीत घुरि कपिञ्जलक आगमनक समाचार देलनि। थाकल होइतहुँ पहिने जकाँ स्नेहपूर्ण कपिञ्जलकें देखितहि हम उड़ि हुनका लग जेबाक प्रयास कयलहुँ। ओ हमरा उठा पहिने वक्ष, फेर माथ पर राखलनि। तखन कहलनि, ‘तोहर पिता श्वेतकेतु दिव्य दृष्टिसँ तोहर दुर्दशा जानि तोहर सहायताक लेल अनुष्ठान आरम्भ कयने छथि। अनुष्ठान आरम्भ होइतहि हम अश्व-रूपसँ मुक्त भऽ गेलहुँ। मुदा जाबालि तोरा पूर्वस्मृति करा देखि ताधरि ओ हमरा रोकने रहलाह। आब आशीर्वाद देबाक लेल पठौने छथि, आ ई कहबाक लेल जे तोहर माता लक्ष्मी सेहो अनुष्ठानमे सहायता करैत छथि।’ हमरा आश्रममे रहबाक आज्ञा दऽ ओ अनुष्ठानमे भाग लेबाक लेल आकाश दिस उठि गेलाह। किछु दिन बाद हमर पाँख पूर्ण बड़ि गेल। महाश्वेताक समीप उड़ि जेबाक निश्चय कऽ उत्तर दिशा दिस चललहुँ। मुदा शीघ्र थाकनि घेरि लेलक। एक वृक्ष पर सुति गेलहुँ, आ जागलहुँ तऽ देखलहुँ जे भयानक चाण्डालक फन्दामे पड़ल छी। मुक्त करबाक विनती कयलहुँ—प्रियाक समीप जा रहल छी—मुदा ओ कहलक जे हमर गुणक चर्चा सुनने युवा चाण्डाल-राजकुमारीक लेल हमरा पकड़ने अछि। लक्ष्मी आ महान ऋषिक पुत्र होइतहुँ बर्बर लोकसँ सेहो त्याज्य जातिक बीच रहय पड़त—ई सुनि भयभीत भऽ गेलहुँ। हम तर्क देलहुँ जे कियो नहि देखत, अतः बिना भय हमरा छोड़ि सकैत अछि। ओ हाँसि उत्तर देलक, ‘जकर देहहि मे शुभ-अशुभक साक्षी पाँच लोकपाल ओकर कर्म देखबाक लेल निवास करैत छथि, जँ ओ हुनका सभक अस्तित्व नहि मानैत अछि, तखन आन व्यक्तिक भयें धर्मक पालन कोना करत?’ ओ हमरा पकड़ि लऽ गेल। ओकरासँ मुक्त होयबाक अवसर खोजैत चारू दिस देखलहुँ तऽ बर्बर बस्ती देखाइत पड़ल—दुष्कर्मक साक्षात् हाट। चारू दिस शिकारमे लागल बालक छल—कुकुर छोड़ैत, बाजकें प्रशिक्षण दैत, फन्दा ठीक करैत, शस्त्र ढोइत, माछ पकड़ैत—भयानक वेशमे राक्षस जकाँ। घना बाँसवनक पाछो नुकायल घरसभक प्रवेशद्वार केवल हरितालक धुआँ उठैत देखि अनुमानित होइत छल। चारू दिस घेराबन्दी खोपड़ीसँ बनल; बाटक कूड़ाक ढेरी हड्डीसँ भरल; झोपड़ीक आँगन रक्त, चरबी आ काटल मांससँ दलदली छल। ओतय जीवन शिकार, भोजन मांस, अनुलेपन चरबी, वस्त्र मोट रेशम, शय्या सुखाओल चमड़ा, गृहसेवक कुकुर, सवारी गाय-बैल, पुरुषक व्यसन मदिरा आ स्त्री, देवताक आहुति रक्त, आ यज्ञ पशुहत्या छल। ओ स्थान समस्त नरकक प्रतिमा छल। तखन ओ पुरुष हमरा चाण्डाल-कन्याक समीप लऽ गेल। ओ प्रसन्नतासँ ग्रहण कऽ पिंजड़ामे राखैत कहलक, ‘तोहर सभ उद्दण्डता निकालि देब।’ हम की करितहुँ? मुक्त करबाक प्रार्थना करितहुँ तऽ हमर वाणीहि ओकरा हमरा चाहबाक कारण बनल छल; मौन रहितहुँ तऽ क्रोधमे निर्दय भऽ सकैत छल। तथापि असंयमहि हमर समस्त दुःखक मूल छल, अतः सभ इन्द्रिय नियन्त्रणमे रखबाक निश्चय कऽ पूर्ण मौन धारण कयलहुँ आ भोजन अस्वीकार कयलहुँ।

दोसर दिन कन्या फल आ जल अनलक। हम नहि छुलहुँ तऽ कोमलतासँ कहलक, ‘भूख लगला पर पशु-पक्षीक भोजन छोड़ब प्रकृतिविरुद्ध अछि। पूर्वजन्म स्मरण रहबाक कारण जँ खाद्य-अखाद्यक भेद करैत छह, तथापि आब पशु-योनिमे जन्म लेने छह आ एहन भेदक पालन नहि कऽ सकैत छह। पूर्वकर्मसँ प्राप्त अवस्थाक अनुरूप आचरणमे कोनो पाप नहि। भोजनक नियम माननिहार मनुष्यक लेल सेहो विपत्तिक समय जीवन बचाबय लेल निषिद्ध भोजन ग्रहण करब उचित मानल गेल अछि; तखन तोहर लेल तऽ आरो उचित अछि। हमर जातिक हाथक भोजन होयबाक भय सेहो नहि कर। फल हमरा सभसँ सेहो लेल जा सकैत अछि, आ लोक कहैत अछि जे हमर पात्रसँ खसल जल भूमि पर पड़ितहि पवित्र भऽ जाइत अछि।’ ओकर बुद्धिमत्ता देखि विस्मित भऽ हम भोजन ग्रहण कयलहुँ, मुदा मौन बनल रहलहुँ।

किछु काल बाद पूर्ण बड़ि गेलहुँ। एक दिन जागलहुँ तऽ अपना कें एहि स्वर्ण-पिंजड़ामे पयलहुँ आ ओही रूपमे चाण्डाल-कन्याकें देखलहुँ जाहि रूपमे, हे राजन्, अहाँ देखलहुँ। सम्पूर्ण बर्बर बस्ती देव-नगर जकाँ देखाइत छल। एहि परिवर्तनक अर्थ पुछबो नहि कऽ पयलहुँ कि कन्या हमरा अहाँक चरणमे लऽ आयल। मुदा ओ के छथि, चाण्डाल रूप किएक धारण कयलनि, हम किएक बान्हल गेलहुँ आ एतय किएक आनल गेलहुँ—ई जनबाक लेल हे राजन्, हमो अहाँकहि समान उत्सुक छी।’

ई सुनि राजा महान विस्मयमे कन्याकें बजबौलनि। ओ प्रवेश कऽ अपन तेजसँ राजाकें अभिभूत करैत गरिमापूर्ण स्वरमे कहलनि, ‘हे पृथ्वीक रत्न, रोहिणीक स्वामी, कादम्बरीक नेत्रक आनन्द—हे चन्द्रमा, अहाँ अपन पूर्वजन्म आ एहि मूर्ख जीवक कथा सुनि लेलहुँ। ओकरहि मुखसँ जानि लेलहुँ जे एहि जन्मोमे ओ पिताक आज्ञा उपेक्षित कऽ वधूकें खोजय निकलि पड़ल। हम ओकर माता लक्ष्मी छी। दिव्य दृष्टिसँ ओकर प्रस्थान देखि पिता हमरा आज्ञा देलनि

जे ओकर लेल धार्मिक अनुष्ठान पूर्ण होयबा धरि सुरक्षित राखी आ पश्चात्ताप कराबी। आब अनुष्ठान पूर्ण भऽ गेल। शापक अन्त निकट अछि। अहाँ दुनू एहि पर आनन्दित होउ, ताहि लेल ओकरा अहाँक समीप अनलहुँ। मनुष्यक स्पर्शसँ बचबाक लेल चाण्डाल रूप धारण कयलहुँ। आब अहाँ दुनू जन्म, वृद्धावस्था, पीड़ा आ मृत्युक रोगसँ घेरल एहि देहकेँ तत्काल त्यागू आ अपन-अपन प्रियाक संग मिलनक आनन्द प्राप्त करू।’ ई कहि ओ सहसा आकाशमे उठि गेलीह। सभ लोकक दृष्टि हुनक पाछाँ लागल रहल आ नूपुरक झनकारसँ आकाश गूँजी उठल। हुनक वचनसँ राजाकेँ पूर्वजन्म स्मरण भऽ आयल। ओ कहलनि, ‘प्रिय पुण्डरीक, जे आब वैशम्पायन कहल जाइत छह, ई बड़ सुखक बात अछि जे हमरा दुनूक शाप एकहि क्षण समाप्त भऽ रहल अछि।’ मुदा ओ बोलिये रहल छलाह कि कामदेव कादम्बरीकेँ अपन सर्वोत्तम शस्त्र बना धनुष तानलनि आ राजाक प्राण नष्ट करबाक लेल हृदयमे प्रवेश कयलनि। प्रेमक ज्बला हुनका पूर्णतः दग्ध कऽ देलक। महाश्वेताक अभिलाषामे वास्तविक पुण्डरीक वैशम्पायन सेहो राजाकहि समान पीड़ा सहऽ लगल।

ओही समय मानो चन्द्रापीडकेँ पूर्णतः दग्ध करबाक लेल सुगन्धित वसन्त ऋतु आबि गेल। समस्त प्राणीकेँ मातल बनबैत वसन्तकेँ कामदेव कादम्बरीक हृदय भ्रमित करबाक लेल अपन सभसँ शक्तिशाली बाण बना लेलनि। कामोत्सवक दिन ओ बड़ कठिनाइसँ बितौलनि। सन्ध्या समय दिशासभ अन्हार होमय लगल तऽ स्नान कयलनि, कामदेवक पूजा कयलनि, आ धोओल, कस्तूरी-सुगन्धित चन्दनसँ अनुलिप्त तथा फूलसँ सजाओल चन्द्रापीडक देह हुनक सोझाँ राखलनि। गहन अभिलाषासँ भरल ओ मानो अनजाने सहसा निकट गेलीह। प्रेम हुनक स्त्री-सुलभ संकोच हरि लेने छल; आब स्वयंकेँ रोकि नहि सकलीह आ चन्द्रापीडकेँ जीवित बुझि हुनक गला सँ लिपटि गेलीह। हुनक अमृतमय आलिङ्गनसँ कुमारक प्राण धुरि आयल। निम्नसँ जागल व्यक्ति जकाँ ओ हुनका गाढ़ आलिङ्गनमे भरि प्रसन्न करैत कहलनि, ‘भीरु, भय छोड़ू! अहाँक आलिङ्गन हमरा जीवित कऽ देलक। अहाँ अमृतसँ उत्पन्न अप्सरा-वंशमे जन्मल छी; केवल शाप अहाँक स्पर्शकेँ हमरा पहिने जीवित करबासँ रोकने छल। आब शूद्रक ओ मनुष्य-रूप त्यागि देने छी जे अहाँक वियोगक दुःखक कारण छल; मुदा एहि देहकेँ रखने रहलहुँ, कारण एहि देह अहाँक प्रेम प्राप्त कयलक। आब ई संसार आ चन्द्रलोक दुनू अहाँक चरणमे बान्हल अछि। अहाँक सखी महाश्वेताक प्रिय वैशम्पायन सेहो हमरहि संग शापसँ मुक्त भऽ गेल।’ चन्द्रापीडक रूपमे निहित चन्द्रमा ई कहिये रहल छलाह कि श्वेतवर्ण पुण्डरीक आकाशसँ उतरलाह। एखनो महाश्वेता द्वारा देल मोतीक माला पहिरने आ कपिञ्जलक हाथ पकड़ने छलाह। कादम्बरी आनन्दसँ महाश्वेताकेँ प्रियतमक घुरबाक समाचार देबाक लेल दौड़लीह। चन्द्रापीड कहलनि, ‘प्रिय पुण्डरीक, पूर्वजन्ममे अहाँ हमर जमाय छलहुँ, मुदा पछिला जन्म जकाँ आब हमर मित्र बनू।’ एहि बीच कीयूरक हंस आ चित्ररथकेँ समाचार देबाक लेल हेमकूट दिस चलि गेल। मृत्युञ्जय शिवक प्रार्थनामे लीन तारापीड आ विलासवतीक चरणमे मदलेखा खसि आनन्दक समाचार सुनौलनि। तखन वृद्ध राजा शुक्रनासक सहारासँ रानी आ मनोरमाक संग अयलाह, आ सभक आनन्दक सीमा नहि रहल। कपिञ्जल श्वेतकेतुक सन्देश सेहो शुक्रनासकेँ देलनि—‘पुण्डरीककेँ केवल हम पोसलहुँ; वास्तवमे ओ अहाँक पुत्र अछि आ अहाँकेँ प्रेम करैत अछि। अतः ओकरा अनिष्टसँ बचाउ आ अपन पुत्र जकाँ पालन करू। हम अपन प्राण ओकर भीतर राखि देने छी; ओ चन्द्रमा धरि दीर्घायु होयत। एहि प्रकार हमर अभिलाषा पूर्ण भेल। आब हमरा भीतरक दिव्य जीवनशक्ति देवलोकसँ ऊपरक प्रदेशमे पहुँचबाक लेल व्याकुल अछि।’ ओ राति पूर्वजन्मक वातमि बीतल। दोसर दिन दुनू गन्धर्वराज अपन-अपन रानीक संग अयलाह आ उत्सव हजार गुना बढ़ि गेल। मुदा चित्ररथ कहलनि, ‘अपन महल रहितहुँ वनमे उत्सव किएक मनाबी? यद्यपि हमरा सभक बीच केवल पारस्परिक प्रेम पर आधारित विवाह धर्मसम्मत अछि, तथापि लोकाचारक पालन करू।’ तारापीड उत्तर देलनि, ‘नहि। मनुष्य जाहि स्थान पर जीवनक परम आनन्द पबैत अछि, वन होइतहुँ ओतहि ओकर घर होइत अछि। एहि स्थानसँ अधिक आनन्द हम कतय पयलहुँ? हमर सभ महल सेहो अहाँक जमायकेँ समर्पित अछि। अतः अपन पुत्रकेँ वधूक संग लऽ जाउ आ गृहस्थ-सुख भोगू।’ तखन चित्ररथ चन्द्रापीडक संग हेमकूट गेलाह आ कादम्बरीक हाथक संग सम्पूर्ण राज्य हुनका अर्पित कयलनि। हंस सेहो पुण्डरीकक संग एही कयलनि। मुदा दुनू किछुओ स्वीकार नहि कयलनि, कारण हृदयप्रिय वधू प्राप्त भेलासँ हुनक समस्त अभिलाषा पूर्ण भऽ गेल छल।

एक दिन पूर्ण आनन्दमे रहितहुँ कादम्बरी आँखिमे आँसू भरि पतिसँ पुछलनि, ‘हम सभ मरि पुनः जीवित भऽ परस्पर मिलि गेलहुँ, मुदा केवल पत्रलेखा एतय नहि अछि, ने ई ज्ञात अछि जे ओकर की भेल—एहन किएक?’ कुमार कोमलतासँ उत्तर देलनि, ‘प्रिय, ओ एतय कोना रहि सकैत अछि? ओ हमर पत्नी रोहिणी अछि। हमरा शाप भेटल सुनि हमर दुःखसँ दुःखी भऽ ओ मनुष्यलोकमे हमरा असगर छोड़ब स्वीकार नहि कयलक। हम रोकबाक प्रयास कयलहुँ, तथापि हमर सेवा करबाक लेल हमरा सँ पहिनहि ओहि लोकमे जन्म ग्रहण कयलक। जखन हम दोसर जन्ममे प्रवेश कयलहुँ, तखन ओ फेर पृथ्वी पर उतरऽ चाहलक, मुदा हम ओकरा चन्द्रलोक घुरा पठा देलहुँ। ओतय अहाँ ओकर पुनः दर्शन करब।’ रोहिणीक कुलीनता, कोमलता, उच्च आत्मा, निष्ठा आ आकर्षण देखि कादम्बरी विस्मित आ संकुचित भऽ गेलीह; एको शब्द नहि कहि सकलीह।

हेमकूटमे चन्द्रापीडक बिताओल दस राति एक दिन जकाँ शीघ्र बीति गेल। हुनकासँ पूर्ण सन्तुष्ट चित्ररथ आ मदिरा विदा देलनि, तखन ओ पिताक चरणमे पहुँचलनि। अपन दुःखमे सहभागी सामन्तसभकेँ अपन समान अवस्था प्रदान कयलनि। शासनक भार पुण्डरीक पर राखि सांसारिक दायित्व त्यागने माता-पिताक मार्गक अनुसरण कयलनि। कखनो जन्मभूमिक प्रेमसँ उज्जयिनीमे रहैत छलाह, जतय नागरिक विस्मयसँ विस्तृत आँखि कऽ हुनका देखैत छल; कखनो गन्धर्वराजक सम्मानसँ अनुपम सुन्दर हेमकूटमे; कखनो रोहिणीक आदरसँ चन्द्रलोकमे, जतय अमृतक शीतलता आ सुगन्धसँ प्रत्येक स्थान मनोहर छल; कखनो पुण्डरीकक प्रेमसँ लक्ष्मीक निवासबला ओहि सरोवरक तट पर, जतय राति-दिन कमल खिलल रहैत; आ कादम्बरीकेँ प्रसन्न करबाक लेल अनेक आन रमणीय स्थानमे।

कादम्बरीक संग ओ अनेक सुख भोगलनि, जाहिमे दू जन्मक अभिलाषा नित्य नव आ अक्षय आनन्द भरैत रहल। केवल चन्द्रमा कादम्बरीक संग अथवा कादम्बरी महाश्वेताक संग आनन्दित नहि भेलीह; महाश्वेता पुण्डरीकक संग आ पुण्डरीक चन्द्रमाक संग—सभ परस्परक संग अनन्त आनन्द बितौलनि आ सुखक परम शिखर प्राप्त कयलनि।

ENGLISH VERSION

KADAMBARI

Banabhatta · Bhushanabhatta

Following the English text supplied for this edition

FIRST PART

Written by Banabhatta

Hail to the Birthless, the cause of creation, continuance, and destruction, triple in form and quality, who shows activity in the birth of things, goodness in their continuance, and darkness in their destruction.

Glory to the dust of Tryambaka's feet, caressed by the diadem of the demon Bana; even that dust that kisses the circle of Ravana's ten crest-gems, that rests on the crests of the lords of gods and demons, and that destroys our transitory life.

Glory to Vishnu, who, resolving to strike from afar, with but a moment's glance from his wrath-inflamed eye stained the breast of his enemy, as if it had burst of itself in terror.

I salute the lotus feet of Bhatsu, honoured by crowned Maukharis: the feet which have their tawny toes rubbed on a footstool made by the united crowns of neighbouring kings.

Who is there that fears not the wicked, pitiless in causeless enmity; in whose mouth calumny hard to bear is always ready as the poison of a serpent?

The wicked, like fetters, echo harshly, wound deeply, and leave a scar; while the good, like jewelled anklets, ever charm the mind with sweet sounds.

In a bad man gentle words sink no deeper than the throat, like nectar swallowed by Rahu. The good man bears them constantly on his heart, as Hari his pure gem.

A story tender with the charm of gracious speech, creates in the heart joy full of fresh interest; and it comes of itself, with native feeling, to its lord's possession, like a fresh bride.

Who is not carried captive by tales fashioned in freshness of speech, all alight with similes, and the lamps of glowing words: pleasant tales interwoven with many a contrast of words, as jasmine garlands with campak buds?

There was once a Brahman, Kuvera by name, sprung from the race of Vatsyayana, sung throughout the world for his virtue, a leader of the good: his lotus feet were worshipped by many a Gupta, and he seemed a very portion of Brahma.

On his mouth Sarasvati ever dwelt: for in it all evil was stilled by the Veda; it had lips purified by sacrificial cake, and a palate bitter with soma, and it was pleasant with smṛiti and ṛgveda.

In his house frightened boys, as they repeated verses of the Yajur and Sama Veda, were chidden at every word by caged parrots and mainas, who were thoroughly versed in everything belonging to words.

From him was born Arthapati, a lord of the twice-born, as Hiranyagarbha from the world-egg, the moon from the Milky Ocean, or Garuda from Vinata.

As he unfolded his spreading discourse day by day at dawn, new troops of pupils, intent on listening, gave him a new glory, like fresh sandal-shoots fixed on the ear.

With countless sacrifices adorned with gifts duly offered, having glowing Mahavira fires in their midst, and raising the sacrificial posts as their hands, he won easily, as if with a troop of elephants, the abode of the gods.

He in due course obtained a son, Citrabhanu, who amongst his other noble and glorious sons, all versed in *çruti* and *çastra*, shone as crystal, like Kailasa among mountains.

The virtues of that noble man, reaching far and gleaming bright as a digit of the moon, yet without its spot, pierced deep even into the hearts of his foes, like the budding claws of Nrisimha (Vishnu).

The dark smoke of many a sacrifice rose like curls on the brow of the goddesses of the sky; or like shoots of tamala on the ear of the bride, the Threefold Veda, and only made his own glory shine more bright.

From him was born a son, Bana, when the drops that rose from the fatigue of the soma sacrifice were wiped from his brow by the folded lotus hands of Sarasvati, and when the seven worlds had been illuminated by the rays of his glory.

By that Brahman, albeit with a mind keeping even in his unspoken words its original dullness blinded by the darkness of its own utter folly, and simple from having never gained the charm of ready wit, this tale, surpassing the other two, was fashioned, even Kadambari.

There was once upon a time a king named Çudraka. Like a second Indra, he had his commands honoured by the bent heads of all kings; he was lord of the earth girt in by the four oceans; he had an army of neighbouring chiefs bowed down in loyalty to his majesty; he had the signs of a universal emperor; like Vishnu, his lotus-hand bore the sign of the conch and the quoit; like Çiva, he had overcome Love; like Kartikeya, he was unconquerable in might; like Brahma, he had the circle of great kings humbled; like the ocean, he was the source of Lakshmi; like the stream of Ganges, he followed in the course of the pious king Bhagiratha; like the sun, he rose daily in fresh splendour; like Meru, the brightness of his foot was honoured by all the world; like the elephant of the quarters, he constantly poured forth a stream of generosity. He was a worker of wonders, an offerer of sacrifices, a mirror of moral law, a source of the arts, a native home of virtue; a spring of the ambrosial sweetness of poetry, a mountain of sunrise to all his friends, and a direful comet to all his foes. He was, moreover, a founder of literary societies, a refuge for men of taste, a rejecter of haughty bowholders, a leader among the bold, a chief among the wise. He was a cause of gladness to the humble, as Vinateya was to Vinata. He rooted up with the point of his bow the boundary-mountains of his foes as Prithuraja did the noble mountains. He mocked Krishna, also, for while the latter made his boast of his man-lion form, he himself smote down the hearts of his foes by his very name, and while Krishna wearied the universe with his three steps, he subdued the whole world by one heroic effort. Glory long dwelt on the watered edge of his sword, as if to wash off the stain of contact with a thousand base chieftains, which had clung to her too long.

By the indwelling of Dharma in his mind, Yama in his wrath, Kuvera in his kindness, Agni in his splendour, Earth in his arm, Lakshmi in his glance, Sarasvati in his eloquence, the Moon in his face, the Wind in his might, Brihaspati in his knowledge, Love in his beauty, the Sun in his glory, he resembled holy Narayana, whose nature manifests every form, and who is the very essence of deity. Royal glory came to him once for all, like a woman coming to meet her lover, on the nights of battle stormy with the showers of ichor from the elephants' temples, and stood by him in the midst of the darkness of thousands of coats of mail, loosened from the doors of the breasts of warriors. She seemed to be drawn irresistibly by his sword, which was uneven in its edge, by reason of the drops of water forced out by the pressure of his strong hand, and which was decked with large pearls clinging to it when he clove the frontal bones of wild elephants. The flame of his majesty burnt day and night, as if it were a fire within his foes' fair wives, albeit reft of their lords, as if he would destroy the husbands now only enshrined in their hearts.

While he, having subdued the earth, was guardian of the world, the only mixing of colour was in painting; the only pulling of hair in caresses; the only strict fetters in the laws of poetry; the only care was concerning moral law; the only deception was in dreams; the only golden rods were in umbrellas. Banners alone trembled; songs alone showed variations; elephants alone were rampant; bows alone had severed cords; lattice windows alone had ensnaring network; lovers' disputes alone caused sending of messengers; dice and chessmen alone left empty squares; and his subjects had no deserted homes. Under him, too, there was only fear of the next world, only twisting in the curls of the zenana women, only loquacity in anklets, only taking the hand in marriage, only shedding of tears from the smoke of ceaseless sacrificial fires; the only sound of the lash was for horses, while the only twang of the bow was Love's.

When the thousand-rayed sun, bursting open the young lotus-buds, had not long risen, though it had lost somewhat of the pinkness of dawn, a portress approached the king in his hall of audience, and humbly addressed him. Her form was lovely, yet awe-inspiring, and with the scimitar (a weapon rarely worn by women) hanging at her left side, was like a sandal-tree girt by a snake. Her bosom glistened with rich sandal ointment like the heavenly Ganges when the frontal-bone of Airavata rises from its waters. The chiefs bent before her seemed, by her reflection on their crests, to bear her on their foreheads as a royal command in human form. Like autumn, she was robed in the whiteness of hamsas; like the blade of Paraçurama she held the circle of kings in submission; like the forest land of the Vindhya, she bore her wand, and she seemed the very guardian-goddess of the realm. Placing on the ground her lotus hand and knee, she thus spake: 'Sire, there stands at the gate a Candala maiden from the South, a royal glory of the race of that Triçamku who climbed the sky, but fell from it at the murmur of wrathful Indra. She bears a parrot in a cage, and bids me thus hail your majesty: "Sire, thou, like the ocean, art alone worthy to receive the treasures of the whole earth. In the thought that this bird is a marvel, and the treasure of the whole earth, I bring it to lay at thy feet, and desire to behold thee." Thou, o king, hast heard her message, and must decide!' So saying, she ended her speech. The king, whose curiosity was aroused, looked at the chiefs around him, and with the words 'Why not? Bid her enter?' gave his permission.

Then the portress, immediately on the king's order, ushered in the Candala maiden. And she entered and beheld the king in the midst of a thousand chiefs, like golden-peaked Meru in the midst of the noble mountains crouching together in fear of Indra's thunderbolt; or, in that the brightness of the jewels scattered on his dress almost concealed his form, like a day of storm, whereon the eight quarters of the globe are covered by Indra's thousand bows. He was sitting on a couch studded with moon-stones, beneath a small silken canopy, white as the foam of the rivers of heaven, with its four jewel-encrusted pillars joined by golden chains, and enwreathed with a rope of large pearls. Many cowries with golden handles waved around him; his left foot rested on a footstool of crystal that was like the moon bent in humiliation before the flashing beauty of his countenance, and was adorned by the brightness of his feet, which yet were tinged with blue from the light rays of the sapphire pavement, as though

darkened by the sighs of his conquered foes. His breast, crimsoned by the rubies which shone on his throne, recalled Krishna, red with blood from the fresh slaughter of Madhukaitabha; his two silken garments, white as the foam of ambrosia, with pairs of hamsas painted in yellow on their hem, waved in the wind raised by the cowries; the fragrant sandal unguent with which his chest was whitened, besprinkled with saffron ointment, was like snowy Kailasa with the early sunshine upon it; his face was encircled by pearls like stars mistaking it for the moon; the sapphire bracelets that clasped his arms were as a threat of chains to bind fickle fortune, or as snakes attracted by the smell of sandal-wood; the lotus in his ear hung down slightly; his nose was aquiline, his eyes were like lotuses in full blossom, the hair grew in a circle between his brows, and was purified by the waters that inaugurated his possession of universal rule; his forehead was like a piece of the eighth-day moon made into a block of pure gold, garlanded with sweet jasmine, like the Western Mountain in the dawn with the stars growing pale on its brow. He was like the God of Love when struck by Çiva's fire, for his body was tawny from the colour of his ornaments. His hand-maidens surrounded him, as if they were the goddesses of the quarters of the globe come to worship him; the earth bore him, as on her heart, through loyalty, in the reflection of his image in her clear mosaic pavement; fortune seemed his alone, though by him she was given to all to enjoy. He was without a second, though his followers were without number; he trusted only to his own sword, though he had countless elephants and horses in his retinue; he filled the whole earth, though he stood in a small space of ground; he rested only on his bow, and yet was seated on his throne; he shone with the flame of majesty, though all the fuel of his enemies was uprooted; he had large eyes, and yet saw the smallest things; he was the home of all virtues, and yet was overreaching; he was beloved of his wives, and yet was a despotic lord; he was free from intoxication, though he had an unfailing stream of bounty; he was fair in nature, yet in conduct a Krishna; he laid no heavy hand on his subjects, and yet the whole world rested in his grasp.

Such was this king. And she yet afar beholding him, with a hand soft as the petal of a red lotus, and surrounded by a tinkling bracelet, and clasping the bamboo with its end jagged, struck once on the mosaic floor to arouse the king; and at the sound, in a moment the whole assemblage of chiefs turned their eyes from the king to her, like a herd of wild elephants at the falling of the coconut. Then the king, with the words, 'Look yonder,' to his suite, gazed steadily upon the Candala maiden, as she was pointed out by the portress. Before her went a man, whose hair was hoary with age, whose eyes were the colour of the red lotus, whose joints, despite the loss of youth, were firm from incessant labour, whose form, though that of a Matanga, was not to be despised, and who wore the white raiment meet for a court. Behind her went a Candala boy, with locks falling on either shoulder, bearing a cage, the bars of which, though of gold, shone like emerald from the reflection of the parrot's plumage. She herself seemed by the darkness of her hue to imitate Krishna when he guilefully assumed a woman's attire to take away the amrita seized by the demons. She was, as it were, a doll of sapphire walking alone; and over the blue garment, which reached to her ankle, there fell a veil of red silk, like evening sunshine falling on blue lotuses. The circle of her cheek was whitened by the earring that hung from one ear, like the face of night inlaid with the rays of the rising moon; she had a tawny tilaka of gorocana, as if it were a third eye, like Parvati in mountaineer's attire, after the fashion of the garb of Çiva.

She was like Çri, darkened by the sapphire glory of Narayana reflected on the robe on her breast; or like Rati, stained by smoke which rose as Madana was burnt by the fire of wrathful Çiva; or like Yamuna, fleeing in fear of being drawn along by the ploughshare of wild Balarama; or, from the rich lac that turned her lotus feet into budding shoots, like Durga, with her feet crimsoned by the blood of the Asura Mahisha she had just trampled upon.

Her nails were rosy from the pink glow of her fingers; the mosaic pavement seemed too hard for her touch, and she came forward, placing her feet like tender twigs upon the ground.

The rays of her anklets, rising in flame-colour, seemed to encircle her as with the arms of Agni, as though, by his love for her beauty, he would purify the stain of her birth, and so set the Creator at naught.

Her girdle was like the stars wreathed on the brow of the elephant of Love; and her necklace was a rope of large bright pearls, like the stream of Ganga just tinged by Yamuna.

Like autumn, she opened her lotus eyes; like the rainy season, she had cloudy tresses; like the circle of the Malaya Hills, she was wreathed with sandal; like the zodiac, she was decked with starry gems; like Çri, she had the fairness of a lotus in her hand; like a swoon, she entranced the heart; like a forest, she was endowed with living beauty; like the child of a goddess, she was claimed by no tribe; like sleep, she charmed the eyes; as a lotus-pool in a wood is troubled by elephants, so was she dimmed by her Matanga birth; like a spirit, she might not be touched; like a letter, she gladdened the eyes alone; like the blossoms of spring, she lacked the jati flower; her slender waist, like the line of Love's bow, could be spanned by the hands; with her curly hair, she was like the Lakshmi of the Yaksha king in Alaka. She had but reached the flower of her youth, and was beautiful exceedingly. And the king was amazed; and the thought arose in his mind, 'Ill-placed was the labour of the Creator in producing this beauty! For if she has been created as though in mockery of her Candala form, such that all the world's wealth of loveliness is laughed to scorn by her own, why was she born in a race with which none can mate? Surely by thought alone did Prajapati create her, fearing the penalties of contact with the Matanga race, else whence this unsullied radiance, a grace that belongs not to limbs sullied by touch? Moreover, though fair in form, by the baseness of her birth, whereby she, like a Lakshmi of the lower world, is a perpetual reproach to the gods, she, lovely as she is, causes fear in Brahma, the maker of so strange a union.' While the king was thus thinking the maiden, garlanded with flowers, that fell over her ears, bowed herself before him with a confidence beyond her years. And when she had made her reverence and stepped on to the mosaic floor, her attendant, taking the parrot, which had just entered the cage, advanced a few steps, and, showing it to the king, said: 'Sire, this parrot, by name Vaiçampayana, knows the meaning of all the çastras, is expert in the practice of royal policy, skilled in tales, history, and Puranas, and acquainted with songs and with musical intervals. He recites, and himself composes graceful and incomparable modern romances, love-stories, plays, and poems, and the like; he is versed in witticisms, and is an unrivalled disciple of the vina, flute, and drum. He is skilled in displaying the different movements of dancing, dextrous in painting, very bold in play, ready in resources to calm a maiden angered in a lover's quarrel, and familiar with the characteristics of elephants, horses, men, and women. He is the gem of the whole earth; and in the thought that treasures belong to thee, as pearls to the ocean, the daughter of my lord has brought him hither to thy feet, O king! Let him be accepted as thine.'

Having thus said, he laid the cage before the king and retired. And when he was gone, the king of birds, standing before the king, and raising his right foot, having uttered the words, 'All hail!' recited to the king, in a song perfect in the enunciation of each syllable and accent, a verse to this effect:

'The bosoms of your foemen's queens now mourn, Keeping a fast of widowed solitude, Bathed in salt tears, of pearl-wreaths all forlorn, Scorched by their sad hearts' too close neighbourhood.'

And the king, having heard it, was amazed, and joyfully addressed his minister Kumarapalita, who sat close to him on a costly golden throne, like Brihaspati in his mastery of political philosophy, aged, of noble birth, first in the circle of wise councillors: 'Thou hast heard the bird's clear enunciation of consonants, and the sweetness of his intonation. This, in the first place, is a great marvel, that he should raise a song in which the syllables are clearly separated; and there is a combination of correctness with clearness in the vowels and anunasikas. Then, again, we had something more than that: for in him, though a lower creation, are found the accomplishments, as it were, of a man, in a pleasurable art, and the course of his song is inspired by knowledge. For it was he who, with the cry, "All hail!" straightened his right foot and sang this song concerning me, whereas, generally, birds and beasts are only skilled in the science of fearing, eating, pairing, and sleeping. This is most wonderful.' And when the king had said this, Kumarapalita, with a slight smile, replied: 'Where is the wonder? For all kinds of birds, beginning with the parrot and the maina, repeat a sound once heard, as thou, O king, knowest; so it is no wonder that exceeding skill is produced either by the efforts of men, or in consequence of perfection gained in a former birth. Moreover, they formerly possessed a voice like that of men, with clear utterance. The indistinct speech of parrots, as well as the change in elephants' tongues, arose from a curse of Agni.'

Hardly had he thus spoken when there arose the blast of the mid-day conch, following the roar of the drum distinctly struck at the completion of the hour, and announcing that the sun had reached the zenith. And, hearing this, the king dismissed his band of chiefs, as the hour for bathing was at hand, and arose from his hall of audience.

Then, as he started, the great chiefs thronged together as they rose, tearing their silk raiment with the leaf-work of their bracelets, as it fell from its place in the hurried movement. Their necklaces were swinging with the shock; the quarters of space were made tawny by showers of fragrant sandal-powder and saffron scattered from their limbs in their restlessness; the bees arose in swarms from their garlands of malati flowers, all quivering; their cheeks were caressed by the lotuses in their ears, half hanging down; their strings of pearls were trembling on their bosoms--each longed in his self-consciousness to pay his respects to the king as he departed.

The hall of audience was astir on all sides with the sound of the anklets of the cowie bearers as they disappeared in all directions, bearing the cowries on their shoulders, their gems tinkling at every step, broken by the cry of the kalahamsas, eager to drink the lotus honey; with the pleasant music of the jewelled girdles and wreaths of the dancing-girls coming to pay their respects as they struck their breast and sides; with the cries of the kalahamsas of the palace lake, which, charmed by the sound of the anklets, whitened the broad steps of the hall of audience; with the voices of the tame cranes, eager for the sound of the girdles, screaming more and more with a prolonged outcry, like the scratching of bell-metal; with the heavy tramp on the floor of the hall of audience struck by the feet of a hundred neighbouring chiefs suddenly departing, which seemed to shake the earth like a hurricane; with the cry of 'Look!' from the wand-bearing ushers, who were driving the people in confusion before them, and shouting loudly, yet good-naturedly, 'Behold!' long and shrill, resounding far by its echo in the bowers of the palace; with the ringing of the pavement as it was scratched by the points of diadems with their projecting aigrettes, as the kings swiftly bent till their trembling crest-gems touched the ground; with the tinkling of the earrings as they rang on the hard mosaic in their owners' obeisance; with the space-pervading din of the bards reciting auspicious verses, and coming forward with the pleasant continuous cry, 'Long life and victory to our king!'; with the hum of the bees as they rose up leaving the flowers, by reason of the turmoil of the hundreds of departing feet; with the clash of the jewelled pillars on which the gems were set jangling from being struck by the points of the bracelets as the chieftains fell hastily prostrate in their confusion. The king then dismissed the assembled chiefs, saying, 'Rest awhile'; and after saying to the Candala maiden, 'Let Vaiçampayana be taken into the inner apartments,' and giving the order to his betel-nut bearer, he went, accompanied by a few favourite princes, to his private apartments. There, laying aside his adornments, like the sun divested of his rays, or the sky bare of moon and stars, he entered the hall of exercise, where all was duly prepared. Having taken pleasant exercise therein with the princes of his own age, he then entered the bathing-place, which was covered with a white canopy, surrounded by the verses of many a bard. It had a gold bath, filled with scented water in its midst, with a crystal bathing-seat placed by it, and was adorned with pitchers placed on one side, full of most fragrant waters, having their mouths darkened by bees attracted by the odour, as if they were covered with blue cloths, from fear of the heat. Then the hand-maidens, some darkened by the reflection of their emerald jars, like embodied lotuses with their leafy cups, some holding silver pitchers, like night with a stream of light shed by the full moon, duly besprinkled the king. Straightway there arose a blare of the trumpets sounded for bathing, penetrating all the hollows of the universe, accompanied by the din of song, lute, flute, drum, cymbal, and tabor, resounding shrilly in diverse tones, mingled with the uproar of a multitude of bards, and cleaving the path of hearing. Then, in due order, the king put upon him two white garments, light as a shed snake-skin, and wearing a turban, with an edge of fine silk, pure as a fleck of white cloud, like Himalaya with the stream of the heavenly river falling upon it, he made his libation to the Pitris with a handful of water, consecrated by a hymn, and then, prostrating himself before the sun, proceeded to the temple. When he had worshipped Çiva, and made an offering to Agni, his limbs were anointed in the perfuming-room with sandal-wood, sweetened with the fragrance of saffron, camphor, and musk, the scent of which was followed by murmuring bees; he put on a chaplet of scented malati flowers, changed his garb, and, with no adornment save his jewelled earrings, he, together with the kings, for whom a fitting meal was prepared, broke his fast, with the pleasure that arises from the enjoyment of viands of sweet savour. Then, having drunk of a fragrant drug, rinsed his mouth, and taken his betel, he arose from his dais, with its bright mosaic pavement. The portress, who was close by, hastened to him, and leaning on her arm, he went to the hall of audience, followed by the attendants worthy to enter the inner apartments, whose palms were like boughs, very hard from their firm grasp of their wands.

The hall showed as though walled with crystal by reason of the white silk that draped its ends; the jewelled floor was watered to coolness with sandal-water, to which was added very fragrant musk; the pure mosaic was ceaselessly strewn with masses of blossoms, as the sky with its bevy of stars; many a golden pillar shone forth, purified with scented water, and decked with countless images, as though with the household gods in their niches; aloë spread its fragrance richly; the whole was dominated by an alcove, which held a couch white as a cloud after storm, with a flower-scented covering, a pillow of fine linen at the head, castors encrusted with gems, and a jewelled footstool by its side, like the peak of Himalaya to behold.

Reclining on this couch, while a maiden, seated on the ground, having placed in her bosom the dagger she was wont to bear, gently rubbed his feet with a palm soft as the leaves of fresh lotuses, the king rested for a short time, and held converse on many a theme with the kings, ministers, and friends whose presence was meet for that hour.

He then bade the portress, who was at hand, to fetch Vaiçampayana from the women's apartments, for he had become curious to learn his story. And she, bending hand and knee to the ground, with the words 'Thy will shall be done!' taking the command on her head, fulfilled his bidding. Soon Vaiçampayana approached the king, having his cage borne by the portress, under the escort of a herald, leaning on a gold staff, slightly bent, white robed, wearing a top-knot silvered with age, slow in gait, and tremulous in speech, like an aged flamingo in his love for the race of birds, who, placing his palm on the ground, thus delivered his message: 'Sire, the queens send thee word that by thy command this Vaiçampayana has been bathed and fed, and is now brought by the portress to thy feet.' Thus speaking, he retired, and the king asked Vaiçampayana: 'Hast thou in the interval eaten food sufficient and to thy taste?' 'Sire,' replied he, 'what have I not eaten? I have drunk my fill of the juice of the jambu fruit, aromatically sweet, pink and blue as a cuckoo's eye in the gladness of spring; I have cracked the pomegranate seeds, bright as pearls wet with blood, which lions' claws have torn from the frontal bones of elephants. I have torn at my will old myrobalans, green as lotus leaves, and sweet as grapes. But what need of further words? For everything brought by the queens with their own hands turns to ambrosia.' And the king, rebuking his talk, said: 'Let all this cease for a while, and do thou remove our curiosity. Tell us from the very beginning the whole history of thy birth—in what country, and how wert thou born, and by whom was thy name given? Who were thy father and mother? How came thine attainment of the Vedas, and thine acquaintance with the Çastras, and thy skill in the fine arts? What caused thy remembrance of a former birth? Was it a special boon given thee? Or dost thou dwell in disguise, wearing the form only of a bird, and where didst thou formerly dwell? How old art thou, and how came this bondage of a cage, and the falling into the hands of a Candala maiden, and thy coming hither?' Thus respectfully questioned by the king, whose curiosity was kindled, Vaiçampayana thought a moment, and reverently replied, 'Sire, the tale is long; but if it is thy pleasure, let it be heard.'

'There is a forest, by name Vindhya, that embraces the shores of the eastern and western ocean, and decks the central region as though it were the earth's zone. It is beauteous with trees watered with the ichor of wild elephants, and bearing on their crests masses of white blossom that rise to the sky and vie with the stars; in it the pepper-trees, bitten by ospreys in their spring gladness, spread their boughs; tamala branches trampled by young elephants fill it with fragrance; shoots in hue like the wine-flushed cheeks of Malabar, as though roseate with lac from the feet of wandering wood-nymphs, overshadow it. Bowers there are, too, wet with drippings from parrot-pierced pomegranates; bowers in which the ground is covered with torn fruit and leaves shaken down by restless monkeys from the kakkola trees, or sprinkled with pollen from ever-falling blossoms, or strewn with couches of clove-branches by travellers, or hemmed in by fine cocoanuts, ketakis, kariras, and bakulas; bowers so fair that with their areca trees girt about with betel vines, they make a fitting home for a woodland Lakshmi. Thickly growing elas make the wood dark and fragrant, as with the ichor of wild elephants; hundreds of lions, who meet their death from barbaric leaders eager to seize the pearls of the elephants' frontal-bones still clinging to their mouth and claws, roam therein; it is fearful as the haunt of death, like the citadel of Yama, and filled with the buffaloes dear to him; like an army ready for battle, it has bees resting on its arrow-trees, as the points on arrows, and the roar of the lion is clear as the lion-cry of onset; it has rhinoceros tusks dreadful as the dagger of Durga, and like her is adorned with red sandal-wood; like the story of Karnisuta, it has its Vipula, Acala and Çaçā in the wide mountains haunted by hares, that lie near it; as the twilight of the last eve of an aeon has the frantic dance of blue-necked Çiva, so has it the dances of blue-necked peacocks, and bursts into crimson; as the time of churning the ocean had the glory of Çri and the tree which grants all desires, and was surrounded by sweet draughts of Varuna, so is it adorned by Çri trees and Varuna trees. It is densely dark, as the rainy season with clouds, and decked with pools in countless hundreds; like the moon, it is always the haunt of the bears, and is the home of the deer. Like a king's palace, it is adorned by the tails of cown deer, and protected by troops of fierce elephants. Like Durga, it is strong of nature, and haunted by the lion. Like Sita, it has its Kuça, and is held by the wanderer of night. Like a maiden in love, it wears the scent of sandal and musk, and is adorned with a tilaka of bright aloes; like a lady in her lover's absence, it is fanned with the wind of many a bough, and possessed of Madana; like a child's neck, it is bright with rows of tiger's-claws, and adorned with a rhinoceros; like a hall of revelry with its honeyed draughts, it has hundreds of beehives visible, and is strewn with flowers. In parts it has a circle of earth torn up by the tusks of large boars, like the end of the world when the circle of the earth was lifted up by the tusks of Mahavaraha; here, like the city of Ravana, it is filled with lofty çalas inhabited by restless monkeys; here it is, like the scene of a recent wedding, bright with fresh kuça grass, fuel, flowers, acacia, and palaça; here, it seems to bristle in terror at the lions' roar; here, it is vocal with cuckoos wild for joy; here it is, as if in excitement, resonant with the sound of palms in the strong wind; here, it drops its palm-leaves like a widow giving up her earrings; here, like a field of battle, it is filled with arrowy reeds; here, like Indra's body, it has a thousand netras; here, like Vishnu's form, it has the darkness of tamalas; here, like the banner of Arjuna's chariot, it is blazoned with monkeys; here, like the court of an earthly king, it is hard of access, through the bamboos; here, like the city of King Virata, it is guarded by a Kicaka; here, like the Lakshmi of the sky, it has the tremulous eyes of its deer pursued by the hunter; here, like an ascetic, it has bark, bushes, and ragged strips and grass. Though adorned with Saptaparna, it yet possesses leaves innumerable; though honoured by ascetics, it is yet very savage; though in its season of blossom, it is yet most pure.

'In that forest there is a hermitage, famed throughout the world—a very birthplace of Dharma. It is adorned with trees tended by Lopamudra as her own children, fed with water sprinkled by her own hands, and trenched round by herself. She was the wife of the great ascetic Agastya; he it was who at the prayer of Indra drank up the waters of ocean, and who, when the Vindhya mountains, by a thousand wide peaks stretching to the sky in rivalry of Meru, were striving to stop the course of the sun's chariot, and were despising the prayers of all the gods, yet had his commands obeyed by them; who digested the demon Vatapi by his inward fire; who had the dust of his feet kissed by the tips of the gold ornaments on the crests of gods and demons; who adorned the brow of the Southern Region; and who manifested his majesty by casting Nahusha down from heaven by the mere force of his murmur.

'The hermitage is also hallowed by Lopamudra's son Dridhadasyu, an ascetic, bearing his staff of palaça, wearing a sectarian mark made of purifying ashes, clothed in strips of kuça grass, girt with muñja, holding a cup of green leaves in his roaming from hut to hut to ask alms. From the large supply of fuel he brought, he was surnamed by his father Fuelbearer.

'The place is also darkened in many a spot by green parrots and by plantain groves, and is girt by the river Godaveri, which, like a dutiful wife, followed the path of the ocean when drunk by Agastya.

'There, too, Rama, when he gave up his kingdom to keep his father's promise, dwelt happily for some time at Pañcavati with Sita, following the great ascetic Agastya, living in a pleasant hut made by Lakshmana, even Rama, the vexer of the triumphs of Ravana's glory.

'There, even now, the trees, though the hermitage has long been empty, show, as it were, in the lines of white doves softly nestling in the boughs, the hermits' pure lines of sacrificial smoke clinging to them; and there a glow bursts forth on the shoots of creepers, as if it had passed to them from Sita's hand as she offered flowers of oblation; there the water of ocean drunk and sent forth by the ascetic seems to have been wholly distributed among the great lakes round the hermitage; there the wood, with its fresh foliage, shines as if its roots had been watered with the blood of countless hosts of demons struck down by Rama's many keen shafts, and as if now its palaeas were stained with their crimson hue; there, even yet, the old deer nurtured by Sita, when they hear the deep roar of fresh clouds in the rainy season, think on the twang of Rama's bow penetrating all the hollows of the universe, and refuse their mouthfuls of fresh grass, while their eyes are dimmed by ceaseless tears, as they see a deserted world, and their own horns crumbling from age; there, too, the golden deer, as if it had been incited by the rest of the forest deer slain in the ceaseless chase, deceived Sita, and led the son of Raghu far astray; there, too, in their grief for the bitter loss of Sita, Rama and Lakshmana seized by Kabandha, like an eclipse of sun and moon heralding the death of Ravana, filled the universe with a mighty dread; there, too, the arm of Yojanabahu, struck off by Rama's arrow, caused fear in the saints as it lay on the ground, lest it should be the serpent form of Nahusha, brought back by Agastya's curse; there, even now, foresters behold Sita painted inside the hut by her husband to solace his bereavement, as if she were again rising from the ground in her longing to see her husband's home.

'Not far from that hermitage of Agastya, of which the ancient history is yet clearly to be seen, is a lotus lake called Pampa. It stands near that hermitage, as if it were a second ocean made by the Creator in rivalry with Agastya, at the prompting of Varuna, wrathful at the drinking of ocean; it is like the sky fallen on earth to bind together the fragments of the eight quarters when severed in the day of doom. It is, indeed, a peerless home of waters, and its depth and extent none can tell. There, even now, the wanderer may see pairs of cakravakas, with their wings turned to blue by the gleam of the blossoming lotuses, as if they were swallowed up by the impersonate curse of Rama.

'On the left bank of that lake, and near a clump of palms broken by Rama's arrows, was a large old çalmali tree. It shows as though it were enclosed in a large trench, because its roots are always encircled by an old snake, like the trunk of the elephants of the quarters; it seems to be mantled with the slough of serpents, which hangs on its lofty trunk and waves in the wind; it strives to compass the measurement of the circle of space by its many boughs spreading through the firmament, and so to imitate Çiva, whose thousand arms are outstretched in his wild dance at the day of doom, and who wears the moon on his crest. Through its weight of years, it clings for support even to the shoulder of the wind; it is girt with creepers that cover its whole trunk, and stand out like the thick veins of old age. Thorns have gathered on its surface like the moles of old age; not even the thick clouds by which its foliage is bedewed can behold its top, when, after drinking the waters of ocean, they return from all sides to the sky, and pause for a moment, weary with their load of water, like birds amongst its boughs. From its great height, it seems to be on tiptoe to look at the glory of the Nandana Wood; its topmost branches are whitened by cotton, which men might mistake for foam dropped from the corners of their mouths by the sun's steeds as, beset with weariness of their path through the sky, they come near it in their course overhead; it has a root that will last for an aeon, for, with the garland of drunken bees sticking to the ichor which clings to it where the cheeks of woodland elephants are rubbed against it, it seems to be held motionless by iron chains; it seems alive with swarms of bees, flashing in and out of its hollow trunk. It beholds the alighting of the wings of birds, as Duryodhana receives proofs of Çakuni's partizanship; like Krishna, it is encircled by a woodland chaplet; like a mass of fresh clouds its rising is seen in the sky. It is a temple whence woodland goddesses can look out upon the whole world. It is the king of the Dandaka Wood, the leader of the lordly trees, the friend of the Vindhya Mountains, and it seems to embrace with the arms of its boughs the whole Vindhya Forest. There, on the edge of the boughs, in the centre of the crevices, amongst the twigs, in the joints of the trunks, in the holes of the rotten bark, flocks of parrots have taken their abode. From its spaciousness, they have confidently built in it their thousand nests; from its steepness, they have come to it fearlessly from every quarter. Though its leaves are thin with age, this lord of the forest still looks green with dense foliage, as they rest upon it day and night. In it they spend the nights in their own nests, and daily, as they rise, they form lines in the sky; they show in heaven like Yamuna with her wide streams scattered by the tossing of Bala's ploughshare in his passion; they suggest a lotus-bed of the heavenly Ganges flowing away, uprooted by the elephant of heaven; they show forth a sky streaked, as it were, with the brightness of the steeds of the sun's chariot; they wear the semblance of a moving floor of emerald; they stretch out in the lake of heaven like long twines of Vallisneria; they fan the faces of the quarters wearied with the mass of the sun's keen rays, with their wings spread against the sky like plantain leaves; they form a grassy path stretching through the heaven, and as they roam they grace the firmament with a rainbow. After their meal they return to the young birds which stay in the nest, and give them, from beaks pink as tiger's claws reddened with the blood of slain deer, the juice of fruits and many a dainty morsel of rice-clusters, for by their deep love to their children all their other likings are subdued; then they spend the night in this same tree with their young under their wings.

'Now my father, who by reason of his great age barely dragged on his life, dwelt with my mother in a certain old hollow, and to him I was, by the decree of Fate, born as his only son. My mother, overcome by the pains of child-birth when I was born, went to another world, and, in spite of his grief for the death of his loved wife, my father, from love to his child, checked the keen onrush of his sorrow, and devoted himself in his loneliness wholly to my nurture. From his great age, the wide wings he raised had lost their power of flight, and hung loose from his shoulders, so that when he shook them he seemed to be trying to shake off the painful old age that clung to his body, while his few remaining tail feathers were broken like a tatter of kuça grass; and yet, though he was unable to wander far, he gathered up bits of fruit torn down by parrots and fallen at the foot of the tree, and picked up grains of rice from rice-stalks that had fallen from other nests, with a beak the point of which was broken and the edge worn away and rubbed by breaking rice-clusters, and pink as the stalk of the sephalika flower when still hard, and he daily made his own meal on what I left.

'But one day I heard a sound of the tumult of the chase. The moon, reddened by the glow of dawn, was descending to the shore of the Western Ocean, from the island of the heavenly Ganges, like an old hamsa with its wings reddened by the honey of the heavenly lotus-bed; the circle of space was widening, and was white as the hair of a ranku deer; the throng of stars, like flowers strewn on the pavement of heaven, were being cast away by the sun's long rays, as if they were brooms of rubies, for they were red as a lion's mane dyed in elephant's blood, or pink as sticks of burning lac; the cluster of the Seven Sages was, as it were,

descending the bank of the Manasa Lake, and rested on the northern quarter to worship the dawn; the Western Ocean was lifting a mass of pearls, scattered from open shells on its shore, as though the stars, melted by the sun's rays, had fallen on it, whitening the surface of its alluvial islands. The wood was dropping dew; its peacocks were awake; its lions were yawning; its wild elephants were wakened by herds of she-elephants, and it, with its boughs raised like reverential hands, sent up towards the sun, as he rested on the peak of the Eastern Mountain, a mass of flowers, the filaments of which were heavy with the night dews. The lines of sacrificial smoke from the hermitages, gray as the hair of an ass, were gleaming like banners of holiness, and rested like doves on the tree-tops whereon the wood-nymphs dwelt. The morning breeze was blowing, and roamed softly, for it was weary at the end of night; it gladdened swarms of bees by the flowers' perfume; it rained showers of honey dew from the opened lotuses; it was eager to teach the dancing creepers with their waving boughs; it carried drops of foam from the rumination of woodland buffaloes; it removed the perspiration of the weary mountaineers; it shook the lotuses, and bore with it the dewdrops. The bees, who ought to be the drums on the elephant's frontal-bones to recite auspicious songs for the wakening of the day lotus-groves, now sent up their hum from the hearts of the night-lotuses, as their wings were clogged in the closing petals; the deer of the wood had the markings on their breast, gray with resting on the salt ground, and slowly opened eyes, the pupils of which were still squinting with the remains of sleep, and were caught by the cool morning breeze as if their eyelashes were held together by heated lac; foresters were hastening hither and thither; the din of the kalahamsas on the Pampa Lake, sweet to the ear, was now beginning; the pleasant flapping of the wild elephant's ears breaking forth caused the peacocks to dance; in time the sun himself slowly arose, and wandered among the tree-tops round the Pampa Lake, and haunted the mountain peaks, with rays of madder, like a mass of cowries bending downwards from the sun's elephant as he plunges into the sky; the fresh light sprung from the sun banished the stars, falling on the wood like the monkey king who had again lost Tara; the morning twilight became visible quickly, occupying the eighth part of the day, and the sun's light became clear.

"The troops of parrots had all started to the places they desired; that tree seemed empty by reason of the great stillness, though it had all the young parrots resting quietly in their nests. My father was still in his own nest, and I, as from my youth my wings were hardly fledged and had no strength, was close to him in the hollow, when I suddenly heard in that forest the sound of the tumult of the chase. It terrified every woodland creature; it was drawn out by a sound of birds' wings flying hastily up; it was mingled with cries from the frightened young elephants; it was increased by the hum of drunken bees, disturbed on the shaken creepers; it was loud with the noise of wild boars roaming with raised snouts; it was swollen by the roar of lions wakened from their sleep in mountain caves; it seemed to shake the trees, and was great as the noise of the torrents of Ganges, when brought down by Bhagiratha; and the woodland nymphs listened to it in terror.

"When I heard this strange sound I began to tremble in my childishness; the cavity of my ear was almost broken; I shook for fear, and thinking that my father, who was close by, could help me, I crept within his wings, loosened as they were by age.

"Straightway I heard an outcry of "Hence comes the scent of the lotus beds the leaders of the elephants have trampled! Hence the perfume of rushes the boars have chewed! Hence the keen fragrance of gum-olibanum the young elephants have divided! Hence the rustling of dry leaves shaken down! Hence the dust of antheaps that the horns of wild buffaloes have cleft like thunderbolts! Hence came a herd of deer! Hence a troop of wild elephants! Hence a band of wild boars! Hence a multitude of wild buffaloes! Hence the shriek of a circle of peacocks! Hence the murmur of partridges! Hence the cry of ospreys! Hence the groan of elephants with their frontal bones torn by lion's claws! This is a boar's path stained with fresh mud! This a mass of foam from the rumination of deer, darkened by the juice of mouthfuls of grass just eaten! This the hum of bees garrulous as they cling to the scent left by the rubbing of elephants' foreheads with ichor flowing! That the path of the ruru deer pink with withered leaves bedewed with blood that has been shed. That is a mass of shoots on the trees crushed by the feet of elephants! Those are the gambols of rhinoceroses; that is the lion's track jagged with pieces of the elephant's pearls, pink with blood, and engraved with a monstrous device by their claws; that is the earth crimsoned with the blood of the newly born offspring of the does; that is the path, like a widow's braid, darkened with the ichor of the lord of the herd wandering at his will! Follow this row of yaks straight before us! Quickly occupy this part of the wood where the dung of the deer is dried! Climb the tree-top! Look out in this direction! Listen to this sound! Take the bow! Stand in your places! Let slip the hounds!" The wood trembled at the tumult of the hosts of men intent on the chase shouting to each other and concealed in the hollows of the trees.

"Then that wood was soon shaken on all sides by the roar of lions struck by the Çabaras' arrows, deepened by its echo rebounding from the hollows of the mountains, and strong as the sound of a drum newly oiled; by the roar from the throats of the elephants that led the herd, like the growl of thunder, and mixed with the ceaseless lashing of their trunks, as they came on alone, separated from the frightened herd; by the piteous cry of the deer, with their tremulous, terrified eyes, when the hounds suddenly tore their limbs; by the yell of she-elephants lengthening in grief for the death of their lord and leader, as they wandered every way with ears raised, ever pausing to listen to the din, bereft of their slain leaders and followed by their young; by the bellowing of she-rhinoceroses seeking with outstretched necks their young, only born a few days before, and now lost in the panic; by the outcry of birds flying from the tree-tops, and wandering in confusion; by the tramp of herds of deer with all the haste of limbs made for speed, seeming to make the earth quake as it was struck simultaneously by their hurrying feet; by the twang of bows drawn to the ear, mingled, as they rained their arrows, with the cry from the throats of the loving she-ospreys; by the clash of swords with their blades whizzing against the wind and falling on the strong shoulders of buffaloes; and by the baying of the hounds which, as it was suddenly sent forth, penetrated all the recesses of the wood.

"When soon afterwards the noise of the chase was stilled and the wood had become quiet, like the ocean when its water was stilled by the ceasing of the churning, or like a mass of clouds silent after the rainy season, I felt less of fear and became curious, and so, moving a little from my father's embrace, I stood in the hollow, stretched out my neck, and with eyes that, from my childishness, were yet tremulous with fear, in my eagerness to see what this thing was, I cast my glance in that direction.

"Before me I saw the Çabara army come out from the wood like the stream of Narmada tossed by Arjuna's thousand arms; like a wood of tamalas stirred by the wind; like all the nights of the dark fortnight rolled into one; like a solid pillar of antimony shaken by an earthquake; like a grove of darkness disturbed by sunbeams; like the followers of death roaming; like the demon world that had burst open hell and risen up; like a crowd of evil deeds come together; like a caravan of curses of the many hermits dwelling in the Dandaka Forest; like all the hosts of Dushana and Khara struck by Rama as he rained his ceaseless shafts, and they turned into demons for their hatred to him; like the whole confraternity of the Iron Age come together; like a band of buffaloes prepared for a plunge into the water; like a mass of black clouds broken by a blow from a lion's paw as he stands on the mountain

peak; like a throng of meteors risen for the destruction of all form; it darkened the wood; it numbered many thousands; it inspired great dread; it was like a multitude of demons portending disasters.

'And in the midst of that great host of Çabaras I beheld the Çabara leader, Matanga by name. He was yet in early youth; from his great hardness he seemed made of iron; he was like Ekalavya in another birth; from his growing beard, he was like a young royal elephant with its temples encircled by its first line of ichor; he filled the wood with beauty that streamed from him sombre as dark lotuses, like the waters of Yamuna; he had thick locks curled at the ends and hanging on his shoulders, like a lion with its mane stained by elephant's ichor; his brow was broad; his nose was stern and aquiline; his left side shone reddened by the faint pink rays of a jewelled snake's hood that was made the ornament for one of his ears, like the glow of shoots that had clung to him from his resting on a leafy couch; he was perfumed with fragrant ichor, bearing the scent of saptacchada blossoms torn from the cheeks of an elephant freshly slain, like a stain of black aloes; he had the heat warded off by a swarm of bees, like a peacock-feather parasol, flying about blinded by the scent, as if they were a branch of tamala; he was marked with lines of perspiration on his cheek rubbed by his hand, as if Vindhya Forest, being conquered by his strong arm, were timidly offering homage under the guise of its slender waving twigs, and he seemed to tinge space by his eye somewhat pink, as if it were bloodshot, and shedding a twilight of the night of doom for the deer; he had mighty arms reaching to his knees, as if the measure of an elephant's trunk had been taken in making them, and his shoulders were rough with scars from keen weapons often used to make an offering of blood to Kali; the space round his eyes was bright and broad as the Vindhya Mountain, and with the drops of dried deer's blood clinging on it, and the marking of drops of perspiration, as if they were adorned by large pearls from an elephant's frontal bone mixed with guñja fruit; his chest was scarred by constant and ceaseless fatigue; he was clad in a silk dress red with cochineal, and with his strong legs he mocked a pair of elephants' posts stained with elephants' ichor; he seemed from his causeless fierceness to have been marked on his dread brow by a frown that formed three banners, as if Durga, propitiated by his great devotion, had marked him with a trident to denote that he was her servant. He was accompanied by hounds of every colour, which were his familiar friends; they showed their weariness by tongues that, dry as they were, seemed by their natural pinkness to drip deer's blood, and which hung down far from tiredness; as their mouths were open they raised the corners of their lips and showed their flashing teeth clearly, like a lion's mane caught between the teeth; their throats were covered with strings of cowries, and they were hacked by blows from the large boars' tusks; though but small, from their great strength they were like lions' cubs with their manes ungrown; they were skilled in initiating the does in widowhood; with them came their wives, very large, like lionesses coming to beg an amnesty for the lions. He was surrounded by troops of Çabaras of all kinds: some had seized elephants' tusks and the long hair of yaks; some had vessels for honey made of leaves closely bound; some, like lions, had hands filled with many a pearl from the frontal bones of elephants; some, like demons, had pieces of raw flesh; some, like goblins, were carrying the skins of lions; some, like Jain ascetics, held peacocks' tails; some, like children, wore crows' feathers; some represented Krishna's exploits by bearing the elephants' tusks they had torn out; some, like the days of the rainy season, had garments dark as clouds. He had his sword-sheath, as a wood its rhinoceroses; like a fresh cloud, he held a bow bright as peacocks' tails; like the demon Vaka, he possessed a peerless army; like Garuda, he had torn out the teeth of many large nagas; he was hostile to peacocks, as Bhishma to Çikhandi; like a summer day, he always showed a thirst for deer; like a heavenly genius, he was impetuous in pride; as Vyasa followed Yojanagandha, so did he follow the musk deer; like Ghatotkaca, he was dreadful in form; as the locks of Uma were decked with Çiva's moon, so was he adorned with the eyes in the peacocks' tails; as the demon Hiranyakaçipu by Mahavaraha, so he had his breast torn by the teeth of a great boar; like an ambitious man, he had a train of captives around him; like a demon, he loved the hunters; like the gamut of song, he was closed in by Nishadas; like the trident of Durga, he was wet with the blood of buffaloes; though quite young, he had seen many lives pass; though he had many hounds, he lived on roots and fruits; though of Krishna's hue, he was not good to look on; though he wandered at will, his mountain fort was his only refuge; though he always lived at the foot of a lord of earth, he was unskilled in the service of a king.

'He was as the child of the Vindhya Mountains, the partial avatar of death; the born brother of wickedness, the essence of the Iron Age; horrible as he was, he yet inspired awe by reason of his natural greatness, and his form could not be surpassed. His name I afterwards learnt. In my mind was this thought: "Ah, the life of these men is full of folly, and their career is blamed by the good. For their one religion is offering human flesh to Durga; their meat, mead, and so forth, is a meal loathed by the good; their exercise is the chase; their çastra is the cry of the jackal; their teachers of good and evil are owls; their knowledge is skill in birds; their bosom friends are dogs; their kingdom is in deserted woods; their feast is a drinking bout; their friends are the bows that work their cruel deeds, and arrows, with their heads smeared, like snakes, with poison, are their helpers; their song is what draws on bewildered deer; their wives are the wives of others taken captive; their dwelling is with savage tigers; their worship of the gods is with the blood of beasts, their sacrifice with flesh, their livelihood by theft; the snakes' hood is their ornament; their cosmetic, elephants' ichor; and the very wood wherein they may dwell is utterly destroyed root and branch."

'As I was thus thinking, the Çabara leader, desiring to rest after his wandering through the forest, approached, and, laying his bow in the shade beneath that very cotton-tree, sat down on a seat of twigs gathered hastily by his suite. Another youthful Çabara, coming down hastily, brought to him from the lake, when he had stirred its waters with his hand, some water aromatic with lotus-pollen, and freshly-plucked bright lotus-fibres with their mud washed off; the water was like liquid lapis lazuli, or showed as if it were painted with a piece of sky fallen from the heat of the sun's rays in the day of doom, or had dropped from the moon's orb, or were a mass of melted pearl, or as if in its great purity it was frozen into ice, and could only be distinguished from it by touch. After drinking it, the Çabara in turn devoured the lotus-fibres, as Rahu does the moon's digits; when he was rested he rose, and, followed by all his host, who had satisfied their thirst, he went slowly to his desired goal. But one old Çabara from that barbarous troop had got no deer's flesh, and, with a demoniac expression coming into his face in his desire for meat, he lingered a short time by that tree. As soon as the Çabara leader had vanished, that old Çabara, with eyes pink as drops of blood and terrible with their overhanging tawny brows, drank in, as it were, our lives; he seemed to reckon up the number in the parrots' nests like a falcon eager to taste bird's flesh, and looked up the tree from its foot, wishing to climb it. The parrots seemed to have drawn their last breath at that very moment in their terror at the sight of him. For what is hard for the pitiless? So he climbed the tree easily and without effort, as if by ladders, though it was as high as many palms, and the tops of its boughs swept the clouds, and plucked the young parrots from among its boughs one by one, as if they were its fruit, for some were not yet strong for flight; some were only a few days old, and were pink with the down of their birth, so that they might almost be taken for cotton-flowers; some, with their wings just sprouting, were like fresh lotus-leaves; some were like the Asclepias fruit; some, with their beaks growing red, had the grace of lotus-buds with their heads rising pink from slowly unfolding leaves; while some, under the guise of the

ceaseless motion of their heads, seemed to try to forbid him, though they could not stop him, for he slew them and cast them on the ground.

But my father, seeing on a sudden this great, destructive, remediless, overwhelming calamity that had come on us, trembled doubly, and, with pupils quivering and wandering from fear of death, cast all round a glance that grief had made vacant and tears had dimmed; his palate was dry, and he could not help himself, but he covered me with his wing, though its joints were relaxed by fear, and bethought himself of what help could avail at such a moment. Swayed wholly by love, bewildered how to save me, and puzzled what to do, he stood, holding me to his breast. That miscreant, however, wandering among the boughs, came to the entrance of the hollow, and stretched out his left arm, dreadful as the body of an old black snake, with its hand redolent of the raw fat of many boars, and its forearm marked with weals from ceaseless drawing of the bowstrings, like the wand of death; and though my father gave many a blow with his beak, and moaned piteously, that murderous wretch dragged him down and slew him. Me, however, he somehow did not notice, though I was within the wings, from my being small and curled into a ball from fear, and from my not having lived my fated life, but he wrung my father's neck and threw him dead upon the ground. Meanwhile I, with my neck between my father's feet, clinging quietly to his breast, fell with him, and, from my having some fated life yet to live, I found that I had fallen on a large mass of dry leaves, heaped together by the wind, so that my limbs were not broken. While the Çabara was getting down from the tree-top, I left my father, like a heartless wretch, though I should have died with him; but, from my extreme youth, I knew not the love that belongs to a later age, and was wholly swayed by the fear that dwells in us from birth; I could hardly be seen from the likeness of my colour to the fallen leaves; I tottered along with the help of my wings, which were just beginning to grow, thinking that I had escaped from the jaws of death, and came to the foot of a very large tamala tree close by. Its shoots were fitted to be the earrings of Çabara women, as if it mocked the beauty of Vishnu's body by the colour of Balarama's dark-blue robe, or as if it were clad in pure strips of the water of Yamuna; its twigs were watered by the ichor of wild elephants; it bore the beauty of the tresses of the Vindhya Forest; the space between its boughs was dark even by day; the ground round its root was hollow, and unpierced by the sun's rays; and I entered it as if it were the bosom of my noble father. Then the Çabara came down and gathered up the tiny parrots scattered on the ground; he bound them hastily in a basket of leaves with a coil of creepers, and going off with hasty steps by the path trodden by his leader, he made for that region. I meanwhile had begun to hope for life, but my heart was dried up with grief for my father's recent death; my body was in pain from my long fall, and I was possessed by a violent thirst, caused by fright, which tortured all my limbs. Then I thought, "The villain has now gone some way," so I lifted my head a little and gazed around with eyes tremulous with fear, thinking even when a blade of grass moved that the wretch was coming back. I watched him go step by step, and then, leaving the root of the tamala tree, I made a great effort to creep near the water. My steps were feeble, because my wings were not yet grown, and again and again I fell on my face; I supported myself on one wing; I was weak with the weariness of creeping along the ground, and from my want of practice; after each step I always lifted my head and panted hard, and as I crept along I became gray with dust. "Truly even in the hardest trials," I reflected, "living creatures never become careless of life. Nothing in this world is dearer to all created beings than life, seeing that when my honoured father, of well-chosen name, is dead, I still live with senses unimpaired! Shame on me that I should be so pitiless, cruel, and ungrateful! For my life goes on shamefully in that the grief of my father's death is so easily borne. I regard no kindness; truly my heart is vile! I have even forgotten how, when my mother died, my father restrained his bitter grief, and from the day of my birth, old as he was, reckoned lightly in his deep love the great toil of bringing me up with every care. And yet in a moment I have forgotten how I was watched over by him! Most vile is this breath of mine which goes not straightway forth to follow my father on his path, my father, that was so good to me! Surely there is none that thirst of life does not harden, if the longing for water can make me take trouble in my present plight. Methinks this idea of drinking water is purely hardness of heart, because I think lightly of the grief of my father's death. Even now the lake is still far off. For the cry of the kalahamsas, like the anklets of a water-nymph, is still far away; the cranes' notes are yet dim; the scent of the lotus-bed comes rarely through the space it creeps through, because the distance is great; noontide is hard to bear, for the sun is in the midst of heaven, and scatters with his rays a blazing heat, unceasing, like fiery dust, and makes my thirst worse; the earth with its hot thick dust is hard to tread; my limbs are unable to go even a little way, for they are weary with excessive thirst; I am not master of myself; my heart sinks; my eyes are darkened. O that pitiless fate would now bring that death which yet I desire not!" Thus I thought; but a great ascetic named Jabali dwelt in a hermitage not far from the lake, and his son Harita, a youthful hermit, was coming down to the lotus-lake to bathe. He, like the son of Brahma, had a mind purified with all knowledge; he was coming by the very path where I was with many holy youths of his own age; like a second sun, his form was hard to see from its great brightness; he seemed to have dropped from the rising sun, and to have limbs fashioned from lightning and a shape painted with molten gold; he showed the beauty of a wood on fire, or of day with its early sunlight, by reason of the clear tawny splendour of his form flashing out; he had thick matted locks hanging on his shoulders red as heated iron, and pure with sprinkling from many a sacred pool; his top-knot was bound as if he were Agni in the false guise of a young Brahman in his desire to burn the Khandava Wood; he carried a bright crystal rosary hanging from his right ear, like the anklets of the goddesses of the hermitage, and resembling the circle of Dharma's commandments, made to turn aside all earthly joys; he adorned his brow with a tripundraka mark in ashes, as if with threefold truth; he laid his left hand on a crystal pitcher with its neck held ever upwards as if to look at the path to heaven, like a crane gazing upwards to the sky; he was covered by a black antelope skin hanging from his shoulders, like thick smoke that was coming out again after being swallowed in thirst for penance, with pale-blue lustre; he wore on his left shoulder a sacrificial thread, which seemed from its lightness to be fashioned from very young lotus-fibres, and wavered in the wind as if counting the framework of his fleshless ribs; he held in his right hand an ashadha staff, having on its top a leafy basket full of creeper-blossoms gathered for the worship of Çiva; he was followed by a deer from the hermitage, still bearing the clay of the bathing-place dug up by its horns, quite at home with the hermits, fed on mouthfuls of rice, and letting its eyes wander on all sides to the kuça grass flowers and creepers. Like a tree, he was covered with soft bark; like a mountain, he was surrounded by a girdle; like Rahu, he had often tasted Soma; like a day lotus-bed, he drank the sun's rays; like a tree by the river's side, his tangled locks were pure with ceaseless washing; like a young elephant, his teeth were white as pieces of moon-lotus petals; like Drauni, he had Kripa ever with him; like the zodiac, he was adorned by having the hide of the dappled deer; like a summer day, he was free from darkness; like the rainy season, he had allayed the blinding dust of passion; like Varuna, he dwelt on the waters; like Krishna, he had banished the fear of hell; like the beginning of twilight, he had eyes tawny as the glow of dawn; like early morn, he was gilded with fresh sunlight; like the chariot of the sun, he was controlled in his course; like a good king, he brought to nought the secret guiles of the foe; like the ocean, his temples were cavernous with meditation; like

Bhagiratha, he had often beheld the descent of Ganges; like a bee, he had often tasted life in a water-engirt wood; though a woodsman, he yet entered a great home; though unrestrained, he longed for release; though intent on works of peace, he bore the rod; though asleep, he was yet awake; though with two well-placed eyes, he had his sinister eye abolished. Such was he who approached the lotus-lake to bathe.

'Now the mind of the good is ever wont to be compassionate and kind instinctively. Wherefore he, seeing my plight, was filled with pity, and said to another young ascetic standing near: "This little half-fledged parrot has somehow fallen from the top of that tree, or perhaps from a hawk's mouth. For, owing to his long fall, he has hardly any life left; his eyes are closed, and he ever falls on his face and pants violently, and opens his beak, nor can he hold up his neck. Come, then, take him before his breath deserts him. Carry him to the water." So saying, he had me taken to the edge of the lake; and, coming there, he laid down his staff and pitcher near the water, and, taking me himself, just when I had given up all effort, he lifted up my head, and with his finger made me drink a few drops of water; and when I had been sprinkled with water and had gained fresh breath, he placed me in the cool wet shade of a fresh lotus-leaf growing on the bank, and went through the wonted rites of bathing. After that, he purified himself by often holding his breath, and murmuring the cleansing aghamarshana, and then he arose and, with upraised face, made an offering to the sun with freshly-plucked red lotuses in a cup of lotus-leaves. Having taken a pure white robe, so that he was like the glow of evening sunlight accompanied by the moon's radiance, he rubbed his hair with his hands till it shone, and, followed by the band of ascetic youths, with their hair yet wet from recent bathing, he took me and went slowly towards the penance grove.

'And after going but a short way, I beheld the penance grove, hidden in thick woods rich in flowers and fruit.

'Its precincts were filled by munis entering on all sides, followed by pupils murmuring the Vedas, and bearing fuel, kuça grass, flowers, and earth. There the sound of the filling of the pitchers was eagerly heard by the peacocks; there appeared, as it were, a bridge to heaven under the guise of smoke waving to exalt to the gods the muni race while yet in the body by fires satisfied with the ceaseless offering of ghee; all round were tanks with their waves traversed by lines of sunbeams stainless as though from contact with the hermits they rested upon, plunged into by the circle of the Seven Rishis who had come to see their penance, and lifting by night an open moon-lotus-bed, like a cluster of constellations descending to honour the rishis; the hermitage received homage from woodland creepers with their tops bent by the wind, and from trees with their ever-falling blossoms, and was worshipped by trees with the añjali of interlaced boughs; parched grain was scattered in the yards round the huts, and the fruit of the myrobalan, lavalı, jujube, banana, bread-tree, mango, panasa, and palm pressed on each other; the young Brahmans were eloquent in reciting the Vedas; the parrot-race was garrulous with the prayer of oblation that they learnt by hearing it incessantly; the subrahmanya was recited by many a maina; the balls of rice offered to the deities were devoured by the cocks of the forest, and the offering of wild rice was eaten by the young kalahamsas of the tanks close by. The eating-places of the sages were protected from pollution by ashes cast round them. The fire for the munis' homa sacrifice was fanned by the tails of their friends the peacocks; the sweet scent of the oblation prepared with nectar, the fragrance of the half-cooked sacrificial cake was spread around; the crackling of flames in the offering of a stream of unbroken libations made the place resonant; a host of guests was waited upon; the Pitris were honoured; Vishnu, Çiva, and Brahma were worshipped. The performance of çraddha rites was taught; the science of sacrifice explained; the çastras of right conduct examined; good books of every kind recited; and the meaning of the çastras pondered. Leafy huts were being begun; courts smeared with paste, and the inside of the huts scrubbed. Meditation was being firmly grasped, mantras duly carried out, yoga practised, and offerings made to woodland deities. Brahmanical girdles of munja grass were being made, bark garments washed, fuel brought, deer-skins decked, grass gathered, lotus-seed dried, rosaries strung, and bamboos laid in order for future need. Wandering ascetics received hospitality, and pitchers were filled.

'There defilement is found in the smoke of the oblations, not in evil conduct; redness of face in parrots, not in angry men; sharpness in blades of grass, not in dispositions; wavering in plantain-leaves, not in minds; red eyes in cuckoos alone; claspings of necks with pitchers only; binding of girdles in vows, not in quarrels; pakshapata in cocks, not in scientific discussions; wandering in making the sunwise turn round the soma fire, but not error in the çastras; mention of the Vasus in legends, but not longing for wealth; counting of beads for Rudra, but no account made of the body; loss of locks by the saints in the practice of sacrifice, but not loss of their children by death; propitiation of Rama by reciting the Ramayana, not of women by youth; wrinkles brought on by old age, not by pride of riches; the death of a Çakuni in the Mahabharata only; only in the Purana windy talk; in old age only loss of teeth; coldness only in the park sandal-trees; in fires only turning to ashes; only deer love to hear song; only peacocks care for dancing; only snakes wear hoods; only monkeys desire fruit; only roots have a downward tendency.

'There, beneath the shade of a red açoka-tree, beauteous with new oblations of flowers, purified with ointment of fresh gomaya, garlanded with kuça grass and strips of bark tied on by the hermitage maidens, I saw the holy Jabali surrounded by most ascetic sages, like time by æons, the last day by suns, the sacrifice by bearers of the three fires, the golden mountain by the noble hills, or the earth by the oceans.

'And as I looked on him I thought: "Ah! how great is the power of penance! His form, calm as it is, yet pure as molten gold, overpowers, like lightning, the brightness of the eye with its brilliance. Though ever tranquil, it inspires fear at first approach by its inherent majesty. The splendour of even those ascetics who have practised but little asceticism is wont to be easily provoked, like fire swiftly falling on dry reeds, kuça grass, or flowers. How much more, then, that of holy men like these, whose feet are honoured by the whole world, whose stains are worn away by penance, who look with divine insight on the whole earth as if it were a myrobalan in the hand, and who purge away all sin. For even the mention of a great sage has its reward; much more, then, the sight of him! Happy is the hermitage where dwells this king of Brahmans! Nay, rather, happy is the whole world in being trodden by him who is the very Brahma of earth! Truly these sages enjoy the reward of their good deeds in that they attend him day and night with no other duty, hearing holy stories and ever fixing on him their steady gaze, as if he were another Brahma. Happy is Sarasvati, who, encircled by his shining teeth, and ever enjoying the nearness of his lotus-mouth, dwells in his serene mind, with its unfathomable depths and its full stream of tenderness, like a hamsa on the Manasa lake. The four Vedas, that have long dwelt in the four lotus-mouths of Brahma, find here their best and most fitting home. All the sciences, which became turbid in the rainy season of the Iron Age, become pure when they reach him, as rivers coming to autumn. Of a surety, holy Dharma, having taken up his abode here after quelling the riot of the Iron Age, no longer cares to recall the Golden Age. Heaven, seeing earth trodden by him, no longer takes pride in being dwelt in by the Seven Rishis. How bold is old age, which fears not to fall on his thick matted locks, moonbeam-pale as they are, and hard to gaze on as the rays of the sun of doom. For it

falls on him as Ganges, white with flecks of foam, on Çiva, or as an offering of milk on Agni. Even the sun's rays keep far from the penance-grove, as if terrified by the greatness of the saint whose hermitage is darkened by the thick smoke of many an oblation. These fires, too, for love of him, receive oblations purified by hymns, for their flames are pressed together by the wind, like hands reverently raised. The wind itself approaches him timidly, just stirring the linen and bark dresses, fragrant with the sweet creeper blossoms of the hermitage, and gentle in motion. Yet the glorious might of the elements is wont to be beyond our resistance! But this man towers above the mightiest! The earth shines as if with two suns, being trodden by this noble man. In his support the world stands firm. He is the stream of sympathy, the bridge over the ocean of transient existence, and the home of the waters of patience; the axe for the glades of the creepers of desire, the ocean of the nectar of content, the guide in the path of perfection, the mountain behind which sets the planet of ill, the root of the tree of endurance, the nave of the wheel of wisdom, the staff of the banner of righteousness, the holy place for the descent of all knowledge, the submarine fire of the ocean of craving, the touch-stone of the jewels of the çastras, the consuming flame of the buds of passion, the charm against the snake of wrath, the sun to dispel the darkness of delusion, the binder of the bolts of hell's gates, the native home of noble deeds, the temple of propitious rites, the forbidden ground for the degradation of passion, the sign-post to the paths of good, the birthplace of holiness, the felly of the wheel of effort, the abode of strength, the foe of the Iron Age, the treasury of penance, the friend of truth, the native soil of sincerity, the source of the heaping up of merit, the closed gate for envy, the foe of calamity. Truly he is one in whom disrespect can find no place; for he is averse from pride, unclaimed by meanness, unenslaved by wrath, and unattracted by pleasure. Purely by the grace of this holy man the hermitage is free from envy and calm from enmity. Great is the power of a noble soul. Here, ceasing their constant feud, the very animals are quiet, and learn the joy of a hermitage life. For here a snake, wearied by the sun, fearlessly enters, as if into fresh grass, into the peacock's tail, like an interwoven grove of open lotuses, with its hundred beauteous eyes, changing in hue as the eyes of a deer. Here a young antelope, leaving his mother, makes friends with the lion-cubs whose manes are not yet grown, and drinks at the bounteous breast of the lioness. Here a lion closes his eyes, and is pleased to have his moon-white mane pulled by the young elephants that mistake it for lotus-fibres. Here the monkey-tribe loses its capriciousness and brings fruit to the young munis after their bath. There the elephants, too, though excited, are tender-hearted, and do not drive away by their flapping the bees that dwell round their frontal bones, and stay motionless to drink their ichor. But what need of more? There even the senseless trees, with roots and fruits, clad in bark, and adorned with outer garments of black antelope skin perpetually made for them by the upward creeping lines of sacrificial smoke, seem like fellow ascetics of this holy man. How much more, then, living beings, endowed with sense!"

'And while I was thus thinking, Harita placed me somewhere in the shade of the açoka tree, and embracing his father's feet and saluting him, sat down not far from him on a seat of kuça grass.

'But the hermits, looking on me, asked him as he rested: "Whence was this little parrot brought?" "When I went hence to bathe," replied he, "I found this little parrot fallen from its nest in a tree on the bank of the lotus-lake, faint with the heat, lying in hot dust, and shaken by the fall, with little life left in him. And as I could not replace him in his nest (for that tree was too hard for an ascetic to climb), I brought him hither in pity. So, while his wings are not grown, and he cannot fly into the sky, let him live in the hollow of some hermitage tree, fed on the juice of fruits and on handfuls of rice brought to him by us and by the young hermits. For it is the law of our order to protect the weak. But when his wings are grown, and he can fly into the sky, he shall go where he likes. Or perhaps, when he knows us well, he will stay here." The holy Jabali, hearing this and other remarks about me, with some curiosity bent his head slightly, and, with a very calm glance that seemed to purify me with holy waters, he gazed long upon me, and then, looking again and again as if he were beginning to recognise me, said: "He is reaping the fruit of his own ill-conduct." For by the potency of penance the saint with divine insight beholds the past, present, and future, and sees the whole world as though placed on the palm of his hand. He knows past births. He tells things yet to come. He declares the length of days of beings within his sight.

'At these words the whole assemblage of hermits, aware of his power, became curious to know what was my crime, and why committed, and where, and who I was in a former birth; and implored the saint, saying: "Vouchsafe, sir, to tell us of what kind of misconduct he is reaping the fruits. Who was he in a former birth, and how was he born in the form of a bird? How is he named? Do thou satisfy our curiosity, for thou art the fountain-head of all marvels."

'Thus urged by the assemblage, the great saint replied: "The story of this wonder is very long, the day is almost spent, our bathing-time is near, while the hour for worshipping the gods is passing. Arise, therefore; let each perform his duties as is meet. In the afternoon, after your meal of roots and fruits, when you are resting quietly, I will tell you the whole story from beginning to end—who he is, what he did in another birth, and how he was born in this world. Meanwhile, let him be refreshed with food. He will certainly recall, as it were, the vision of a dream when I tell the whole story of his former birth." So saying, he arose, and with the hermits bathed and performed their other daily duties.

'The day was now drawing to a close. When the hermits rose from their bathing, and were offering a sacrifice, the sun in the sky seemed to bear upwards before our eyes the offering cast on the ground, with its unguent of red sandal-wood. Then his glow faded and vanished; the effluence of his glory was drunk by the Ushmapas with faces raised and eyes fixed on his orb, as if they were ascetics; and he glided from the sky pink as a dove's foot, drawing in his rays as though to avoid touching the Seven Rishis as they rose. His orb, with its network of crimson rays reflected on the Western Ocean, was like the lotus of Vishnu on his couch of waters pouring forth nectar; his beams, forsaking the sky and deserting the lotus-groves, lingered at eve like birds on the crest of hill and tree; the splashes of crimson light seemed for a moment to deck the trees with the red bark garments hung up by the ascetics. And when the thousand-rayed sun had gone to rest, twilight sprang up like rosy coral from the Western Ocean. Then the hermitage became the home of quiet thought, as the pleasant sound of milking the sacred cows arose in one quarter, and the fresh kuça grass was scattered on the altar of Agni, and the rice and oblations to the goddesses of space were tossed hither and thither by the hermitage maidens. And red-starred eve seemed to the hermits as the red-eyed cow of the hermitage roaming about, tawny in the fall of day. And when the sun had vanished, the lotus-bed, in the grief of bereavement, seemed to perform a vow in the hopes of rejoining the lord of day, for she lifted the goblets of her buds, and wore the fine white vesture of her hamsas, and was girt with the sacrificial thread of white filaments, and bore a circle of bees as her rosary. And the starry host leapt up and filled the sky, like a splash of spray when the sun fell into the Western Ocean; and for a brief space the star-bespangled sky shone as though inlaid with flowers offered by the daughters of the Siddhas in honour of twilight; but in a moment the whole glory of the gloaming vanished as though washed away by the libations which the hermits, with faces upraised, cast towards the sky; and

at its departure, night, as sorrowing for its loss, wore a deeper darkness, like a black antelope's skin--a blackness which darkened all save the hearts of the hermits.

'Learning that the sun had gone to rest, the lord of rays ambrosial, in pure severity of light, arrayed in the whiteness of clear gossamer, dwelling in the palace of his wives with Tara, mounted the sky which, in that it was outlined with the darkness of tamala-trees, presided over by the circle of Seven Rishis, purified by the wanderings of Arundhati, surrounded by Ashadha, showing its Mula with its soft-eyed white deer, was a very hermitage of heaven. White as a hamsa, moonlight fell on the earth, filling the seas; falling, as Ganges from the head of Çiva, from the sky which was decked with the moon, and inlaid with the shattered potsherds of the stars. And in the moon-lake, white as an opening lotus, was seen the motionless deer, which went down in eagerness to drink the water of the moonbeams, and was caught, as it were, in the mud of ambrosia. The lakes of the night-lotus were fondly visited by the moonbeams, like hamsas, falling on the ocean white as sinduvara flowers in their fresh purity after the rains. At that moment the globe of the moon lost all the glow of its rising, like the frontal bone of the elephant Airavata when its red lead is washed away by plunging into the heavenly stream; and his highness the cold-shedder had gradually risen high in the sky, and by his light had whitened the earth as with lime-dust; the breezes of early night were blowing, slackened in their course by the cold dew, aromatic with the scent of opening moon-lotuses, and gladly welcomed by the deer, who, with eyes weighed down by the approach of sleep, and eyelashes clinging together, were beginning to ruminate and rest in quiet.

'Only half a watch of the night was spent, when Harita took me after my meal and went with the other holy hermits to his father, who, in a moonlit spot of the hermitage, was sitting on a bamboo stool, gently fanned by a pupil named Jalapada, who held a fan of antelope skin white as dharba grass, and he spake, saying: "Father, the whole assemblage of hermits is in a circle round thee, with hearts eager to hear this wonder; the little bird, too, has rested. Tell us, therefore, what he has done, who was he, and who will he be in another birth?" Thus addressed, the great saint, looking at me, and seeing the hermits before him intently listening, slowly spake: "Let the tale be told, if ye care to hear it.

"There is a city named Ujjayini, the proudest gem of earth, the very home of the golden age, created by Mahakala, creator, preserver, and destroyer of the three worlds, and lord of Pramathas, as a habitation meet for himself, as it were a second earth. There the sun is daily seen paying homage to Mahakala, for his steeds veil their heads at the charm of the sweet chant of the women singing in concert in the lofty white palace, and his pennon droops before him.

"There darkness never falls, and the nights bring no separation to the pairs of cakravakas; nor need they any lamps, for they pass golden as with morning sunshine, from the bright jewels of women, as though the world were on fire with the flame of love. There the only unending life is in jewelled lamps, the only wavering in pearl necklaces, the only variations in the sound of drum and song, the only disunion of pairs in cakravakas, the only testing of colour in gold pieces, the only unsteadiness in banners, the only hatred of the sun in night-lotuses, the only concealment of metal in the sheathing of the sword. Why should I say more? For he whose bright feet are kissed by the rays of the jewelled crests of gods and demons, who hath the river of heaven wandering lost in his locks tawny with a wreath of flame for the burning of the world; he the foe of Andhaka; he the holy one; he who hath given up his love for his home on Kailasa; even he whose name is Mahakala hath there made a habitation for himself. And in this city was a king named Tarapida. He was like unto the great kings Nala, Nahusha, Yayati, Dundhumara, Bharata, Bhagiratha, and Daçaratha; by the might of his arm he conquered the whole world; he reaped the fruits of the three powers; wise and resolute, with an intellect unwearied in political science, and a deep study of the law books, he made in light and glory a third with the sun and moon. His form was purified by many a sacrifice; by him the calamities of the whole world were set at rest; to him Lakshmi openly clung, deserting her lotus-woods and despising the happiness of her home in the breast of Narayana, she the lotus-handed, who ever joys in the contest of heroes. He was the source of truth, ever honoured by the race of saints, as the foot of Vishnu was of the stream of the heavenly Ganges.

"From him arose glory, as from the ocean of the moon, for his brightness, free from heat, consumed his foes; constant, ever roamed; stainless, darkened the brightness of the lotus-faced widows of his foes; white, made all things gay. He was the incarnation of justice, the very representative of Vishnu and the destroyer of all the sorrows of his people.

"When he approached the throne that blossomed with the rays of many gems and was hung with clusters of pearls, like the elephant of space approaching the tree of desire, all the wide quarters of space, like creepers weighed down by bees, bowed down before his majesty; and of him, I think, even Indra was envious. From him, too, proceeded a host of virtues, like a flock of hamsas from Mount Kraunca, brightening the earth's surface, and gladdening the hearts of all mankind. His fame wandered, so that the world echoed with it throughout the ten regions, making fair the world of gods and demons, like a streak of foam of the stream of milk tossed by Mandara, ambrosial sweet. His royal glory never for a moment laid aside the shade of her umbrella, as though scorched by the heat of a splendour hard to bear. His achievements were heard by the people like news of good fortune, were received like the teaching of a guru, were valued like a good omen, were murmured like a hymn, and were remembered like a sacred text. And while he was king, though the flight of the mountains was stayed, the flight of thought was free; suffixes alone were dependent, and the people feared no foe; nought dared to face him but his mirror; the pressure of Durga was given to Çiva's image alone; the bow was only borne by the clouds; there was no uprising save of banners, no bending save of bows, no shaft sped home save the bee's on the bamboo, no enforced wandering save of the images of gods in a procession, no imprisonment save of flowers in their calyx, no restraint save of the senses; wild elephants entered the pale, but none paled before the water-ordeal; the only sharpness was in the edge of the sword; the only endurance of the flame was by ascetics; the only passing the Balance was by the stars; the only clearing of baneful waters was in the rising of Agastya; the only cutting short was of hair and nails; the only stained garb was of the sky on stormy days; the only laying bare was of gems, and not of secret counsels; the only mysteries were those of religion; none ceased to behold the light save slaughtered Taraka in the praises of Kumara; none dreaded eclipse save the sun; none passed over the First-born save the moon; none heard of the Disobedient save in the Mahabharata; none grasped the rod save in the decline of life; none clung to a sinister object save the sword-sheath; no stream of liberality was interrupted save the elephant's ichor; no squares were deserted save those on the dice-board.

"That king had a minister, by name Çukanasa, a Brahman, whose intelligence was fixed on all the affairs of the kingdom, whose mind had plunged deeply into the arts and çastras, and whose strong affection for the king had grown up in him from childhood. Skilled in the precepts of political science, pilot of the world's government, unshaken in resolve by the greatest difficulties, he was the castle of constancy, the station of steadfastness, the bridge of bright truth, the guide to all goodness, the

conductor in conduct, the ordainer of all ordered life. Like the serpent Çesha, enduring the weight of the world; like the ocean, full of life; like Jarasandha, shaping war and peace; like Çiva, at home with Durga; like Yuddhishthira, a dayspring of Dharma, he knew all the Vedas and Vedangas, and was the essence of the kingdom's prosperity. He was like Brihaspati to Sunasira; like Çukra to Vrishaparvan; like Vaçishtha to Daçaratha; like Viçvamitra to Rama; like Dhaumya to Ajataçatru; like Damanaka to Nala. He, by the force of his knowledge, thought that Lakshmi was not hard to win, resting though she were on the breast of Narayana, terrible with the scars of the weapons of the demons of hell, and a strong shoulder hardened by the pitiless pressure of Mount Mandara as it moved to and fro. Near him knowledge spread wide, thick with many a tendril, and showed the fruits gained from conquered realms like a creeper near a tree. To him throughout the earth's surface, measured by the circumference of the four oceans, and filled with the goings to and fro of many thousands of spies, every whisper of the kings was known as though uttered in his own palace.

"Now, Tarapida while yet a child had conquered the whole earth ringed by the seven Dvipas by the might of his arm, thick as the trunk of Indra's elephant, and he devolved the weight of the empire on that councillor named Çukanasa, and having made his subjects perfectly contented, he searched for anything else that remained to be done.

"And as he had crushed his enemies and had lost all cause for fear, and as the strain of the world's affairs had become a little relaxed, for the most part he began to pursue the ordinary pleasures of youth.

"And some time passed while the king pursued the pleasures of youth, and entrusted the affairs of state to his minister; and after a time he came to the end of all the other pleasures of life, and the only one he did not get was the sight of a son born to him; so that his zenana was like reeds showing only flowers without fruit; and as youth went by there arose in him a regret produced by childlessness, and his mind was turned away from the desire of the pleasures of sense, and he felt himself alone, though surrounded by a thousand princes; blind, though possessed of sight; without support, though supporting the world.

"But the fairest ornament of this king was his queen Vilasavati; as the moon's digit to the braided hair of Çiva, as the splendour of the Kaustubha gem to the breast of the foe of Kaitabha, as the woodland garland to Balarama, as the shore to the ocean, as the creeper to the tree, as the outburst of flowers to the spring, as the moonlight to the moon, as the lotus-bed to the lake, as the array of stars to the sky, as the circling of hamsas to Lake Manasa, as the line of sandal-woods to Mount Malaya, as the jewelled crest to Çesha, so was she to her lord; she reigned peerless in the zenana, and created wonder in the three worlds, as though she were the very source of all womanly grace.

"And it chanced once that, going to her dwelling, he beheld her seated on a stately couch, weeping bitterly, surrounded by her household mute in grief, their glances fixed in meditation, and attended by her chamberlains, who waited afar with eyes motionless in anxious thought, while the old women of the zenana were trying to console her. Her silken robes were wet with ceaseless tears; her ornaments were laid aside; her lotus-face rested on her left hand; and her tresses were unbound and in disorder. As she arose to welcome him, the king placed her on the couch again, and sitting there himself, ignorant of the cause of her weeping, and in great alarm, wiped away with his hand the tears from her cheeks, saying: 'My queen, what means this weeping, voiceless and low with the weight of the heavy sorrow concealed in thy heart? For these eyelashes of thine are stringing, as it were, a network of pearls of dropping tears. Why, slender one, art thou unadorned? and why has not the stream of lac fallen on thy feet like early sunlight on rosy lotus-buds? And why are thy jewelled anklets, with their murmur like teals on the lake of love, not graced with the touch of thy lotus-feet? And why is this waist of thine bereft of the music of the girdle thou hast laid aside? And why is there no device painted on thy breast like the deer on the moon? and why is that slender neck of thine, fair-limbed queen, not adorned with a rope of pearls as the crescent on Çiva's brow by the heavenly stream? And why dost thou, erst so gay, wear in vain a face whose adornment is washed away with flowing tears? And why is this hand, with its petal-like cluster of soft fingers, exalted into an ear-jewel, as though it were a rosy lotus? And why, froward lady, dost thou raise thy straight brow undecked with the mark of yellow pigment, and surrounded by the mass of thine unbound tresses? For these flowing locks of thine, bereft of flowers, grieve my eyes, like the loss of the moon in the dark fortnight, clouded in masses of thickest gloom. Be kind, and tell me, my queen, the cause of thy grief. For this storm of sighs with which the robe on thy breast is quivering bows my loving heart like a ruddy tendril. Has any wrong been done by me, or by any in thy service? Closely as I examine myself, I can truly see no failure of mine towards thee. For my life and my kingdom are wholly thine. Let the cause of thy woe, fair queen, be told.' But Vilasavati, thus addressed, made no reply, and turning to her attendants, he asked the cause of her exceeding grief. Then her betel-nut bearer, Makarika, who was always near her, said to the king: 'My lord, how could any fault, however slight, be committed by thee? And how in thy presence could any of thy followers, or anyone else, offend? The sorrow of the queen is that her union with the king is fruitless, as though she were seized by Rahu, and for a long time she has been suffering. For at first our lady was like one in heavy grief, was only occupied with difficulty by the persuasion of her attendants in the ordinary duties of the day, however fitting they might be, such as sleeping, bathing, eating, putting on of ornaments, and the like, and, like a Lakshmi of the lower world, ceaselessly upbraided divine love. But in her longing to take away the grief of my lord's heart, she did not show her sad change. Now, however, as it was the fourteenth day of the month, she went to worship holy Mahakala, and heard in a recitation of the Mahabharata, "No bright abodes await the childless, for a son is he who delivers from the sunless shades"; and when she heard this, she returned to her palace, and now, though reverently entreated thereto by her attendants, she takes no pleasure in food, nor does she busy herself in putting on her jewels, nor does she vouchsafe to answer us; she only weeps, and her face is clouded with a storm of ever-flowing tears. My lord has heard, and must judge.' So saying, she ceased; and, with a long and passionate sigh, the king spoke thus:

"My queen, what can be done in a matter decreed by fate? Enough of this weeping beyond measure! For it is not on us that the gods are wont to bestow their favours. In truth, our heart is not destined to hold the bliss of that ambrosial draught, the embrace of a child of our own. In a former life no glorious deed was done; for a deed done in a former life brings forth fruit in man's life on earth; even the wisest man cannot change destiny. Let all be done that may be done in this mortal life. Do more honour to the gurus; redouble thy worship of the gods; let thy good works be seen in thy reverence to the rishis; for the rishis are a powerful deity, and if we serve them with all our might, they will give boons that fulfil our heart's desire, hard though it be to gain. For the tale is an old one how King Brihadratha in Magadha won by the power of Candakauçika a son Jarasandha, victor of Vishnu, peerless in prowess, fatal to his foes. Daçaratha, too, when very old, received by the favour of Rishyaçringa, son of the great saint Vibhandaka, four sons, unconquerable as the arms of Narayana, and unshaken as the depths of the oceans. And many

other royal sages, having conciliated ascetics, have enjoyed the happiness of tasting the ambrosia of the sight of a son. For the honour paid to saints is never without its reward.

""And for me, when shall I behold my queen ready to bear a child, pale as the fourteenth night when the rising of the full moon is at hand; and when will her attendants, hardly able to bear the joy of the great festival of the birth of my son, carry the full basket of gifts? When will my queen gladden me wearing yellow robes, and holding a son in her arms, like the sky with the newly-risen sun and the early sunlight; and when will a son give me joy of heart, with his curly hair yellow with many a plant, a few ashes mixed with mustard-seed on his palate, which has a drop of ghi on it as a talisman, and a thread bright with yellow dye round his neck, as he lies on his back and smiles with a little toothless mouth; when will this baby destroy all the darkness of sorrow in my eyes like an auspicious lamp welcomed by all the people, handed from one to another by the zenana attendants, shining tawny with yellow dye; and when will he adorn the courtyard, as he toddles round it, followed by my heart and my eyes, and gray with the dust of the court; and when will he walk from one place to another and the power of motion be formed in his knees, so that, like a young lion, he may try to catch the young tame deer screened behind the crystal walls? And when, running about at will in the courtyard, will he run after the tame geese, accompanied by the tinkling of the anklets of the zenana, and weary his nurse, who will hasten after him, following the sound of the bells of his golden girdle; and when will he imitate the antics of a wild elephant, and have his cheeks adorned with a line of ichor painted in black aloe, full of joy at the sound of the bell held in his mouth, gray with the dust of sandal-wood scattered by his uplifted hand, shaking his head at the beckoning of the hooked finger; and when will he disguise the faces of the old chamberlains with the juice of handfuls of lac left after being used to colour his mother's feet; and when, with eyes restless in curiosity, will he bend his glance on the inlaid floors, and with tottering steps pursue his own shadow; and when will he creep about during the audience in front of me as I stand in my audience-hall, with his eyes wandering bewildered by the rays of the gems, and have his coming welcomed by the outstretched arms of a thousand kings? Thinking on a hundred such desires, I pass my nights in suffering. Me, too, the grief arising from our want of children burns like a fire day and night. The world seems empty; I look on my kingdom as without fruit. But what can I do towards Brahma, from whom there is no appeal? Therefore, my queen, cease thy continual grief. Let thy heart be devoted to endurance and to duty. For increase of blessings is ever nigh at hand for those who set their thoughts on duty.' Thus saying, with a hand like a fresh tendril, he took water and wiped her tear-stained face, which showed as an opening lotus; and having comforted her again and again with many a speech sweet with a hundred endearments, skilled to drive away grief, and full of instruction about duty, he at last left her. And when he was gone, Vilasavati's sorrow was a little soothed, and she went about her usual daily duties, such as putting on of her adornments. And from that time forth she was more and more devoted to propitiating the gods, honouring Brahmans, and paying reverence to all holy persons; whatever recommendation she heard from any source she practised in her longing for a child, nor did she count the fatigue, however great; she slept within the temples of Durga, dark with smoke of bdellium ceaselessly burnt, on a bed of clubs covered with green grass, fasting, her pure form clothed in white raiment; she bathed under cows endued with auspicious marks, adorned for the occasion by the wives of the old cowherds in the herd-stations, with golden pitchers laden with all sorts of jewels, decorated with branches of the pipal, decked with divers fruits and flowers and filled with holy water; every day she would rise and give to Brahmans golden mustard-leaves adorned with every gem; she stood in the midst of a circle drawn by the king himself, in a place where four roads meet, on the fourteenth night of the dark fortnight, and performed auspicious rites of bathing, in which the gods of the quarters were gladdened by the various oblations offered; she honoured the shrines of the siddhas and sought the houses of neighbouring Matrikas, in which faith was displayed by the people; she bathed in all the celebrated snake-ponds; with a sun-wise turn, she worshipped the pipal and other trees to which honour was wont to be shown; after bathing, with hands circled by swaying bracelets, she herself gave to the birds an offering of curds and boiled rice placed in a silver cup; she offered daily to the goddess Durga a sacrifice consisting of parched grain of oblation, boiled rice, sesamum sweetmeats, cakes, unguents, incense, and flowers, in abundance; she besought, with a mind prostrate in adoration, the naked wandering ascetics, bearing the name of siddhas, and carrying their begging-bowls filled by her; she greatly honoured the directions of fortune-tellers; she frequented all the soothsayers learned in signs; she showed all respect to those who understood the omens of birds; she accepted all the secrets handed down in the tradition of a succession of venerable sages; in her longing for the sight of a son, she made the Brahmans who came into her presence chant the Veda; she heard sacred stories incessantly repeated; she carried about little caskets of mantras filled with birch-leaves written over in yellow letters; she tied strings of medicinal plants as amulets; even her attendants went out to hear passing sounds and grasped the omens arising from them; she daily threw out lumps of flesh in the evening for the jackals; she told the pandits the wonders of her dreams, and at the cross-roads she offered oblation to Çiva.

""And as time went on, it chanced once that near the end of night, when the sky was gray as an old pigeon's wing, and but few stars were left, the king saw in a dream the full moon entering the mouth of Vilasavati, as she rested on the roof of her white palace, like a ball of lotus-fibres into the mouth of an elephant. Thereupon he woke, and arising, shedding brightness through his dwelling by the joyous dilation of his eyes, he straightway called Çukanasa and told him the dream; whereto the latter, filled with sudden joy, replied: 'Sire, our wishes and those of thy subjects are at length fulfilled. After a few days my lord will doubtless experience the happiness of beholding the lotus-face of a son; for I, too, this night in a dream saw a white-robed Brahman, of godlike bearing and calm aspect, place in Manorama's lap a lotus that rained drops of honey, with a hundred outspread white petals, like the moon's digits, and a thousand quivering stamens forming its matted locks. Now, all auspicious omens which come to us foretell the near approach of joy; and what other cause of joy can there be than this? for dreams seen at the close of night are wont to bear fruit in truth. Certainly ere long the queen shall bear a son that, like Mandhatri, shall be a leader among all royal sages, and a cause of joy to all the world; and he shall gladden thy heart, O king, as the lotus-pool in autumn with its burst of fresh lotuses gladdens the royal elephant; by him thy kingly line shall become strong to bear the weight of the world, and shall be unbroken in its succession as the stream of a wild elephant's ichor.' As he thus spoke, the king, taking him by the hand, entered the inner apartments and gladdened the queen, with both their dreams. And after some days, by the grace of the gods, the hope of a child came to Vilasavati, like the moon's image on a lake, and she became thereby yet more glorious, like the line of the Nandana wood with the tree of Paradise, or the breast of Vishnu with the Kaustubha gem.

""On one memorable day the king had gone at evening to an inner pavilion, where, encircled by a thousand lamps, burning bright with abundance of scented oil, he was like the full moon in the midst of stars, or like Narayana seated among the thousand jewelled hoods of the king of snakes; he was surrounded only by a few great kings who had received the sprinkling of coronation; his own attendants stood at some distance; close by Çukanasa was sitting on a high stool, clad in white silk, with

little adornment, a statesman profound as the depths of ocean; and with him the king was holding a conversation on many topics, full of the confidence that had grown with their growth, when he was approached by the handmaiden Kulavardhana, the queen's chief attendant, always skilled in the ways of a court, well trained by nearness to royalty, and versed in all auspicious ceremonies, who whispered in his ear the news about Vilasavati. At her words, so fresh to his ears, the king's limbs were bedewed as if with ambrosia, a thrill passed through his whole body, and he was bewildered with the draught of joy; his cheeks burst into a smile; under the guise of the bright flash of his teeth he scattered abroad the happiness that overflowed his heart, and his eye, with its pupil quivering, and its lashes wet with tears of gladness, fell on the face of Çukanasa. And when Çukanasa saw the king's exceeding joy, such as he had never seen before, and beheld the approach of Kulavardhana with a radiant smile on her face, though he had not heard the tidings, yet, from constantly revolving the matter in his mind, he saw no other cause befitting the time of this excess of gladness; he saw all, and bringing his seat closer to the king, said in a low voice: 'My lord, there is some truth in that dream; for Kulavardhana has her eyes radiant, and thy twin eyes announce a cause of great joy, for they are dilated, their pupils are tremulous, and they are bathed in tears of joy, and as they seem to creep to the lobes of thy ears in their eagerness to hear the good tidings, they produce, as it were, the beauty of an ear-pendant of blue lotuses. My longing heart yearns to hear the festival that has sprung up for it. Therefore let my lord tell me what is this news.' When he had thus said, the king replied with a smile: 'If it is true as she says, then all our dream is true; but I cannot believe it. How should so great a happiness fall to our lot? For we are no fitting vessel for the bearing of such good tidings. Kulavardhana is always truthful, and yet when I consider how unworthy I am of such joy, I look upon her as having changed her nature. Rise, therefore; I myself will go and ask the queen if it is true, and then I shall know.' So saying, he dismissed all the kings, and taking off his ornaments, gave them to Kulavardhana, and when, on his gracious dismissal of her with gifts, he received her homage paid with a deep reverence as she touched the earth with her straight brow, he rose with Çukanasa and went to the inner apartments, hurried on by a mind filled with exceeding happiness, and gladdened by the throbbing of his right eye, which seemed to mimic the play of a blue lotus-petal stirred by the wind. He was followed by a scanty retinue, as befitted so late a visit, and had the thick darkness of the courtyard dispelled by the brightness of the lamps of the women who went before him, though their steady flame flickered in the wind."

[Bana then describes the birth of Tarapida's son, who is named Candrapida, from the king's dream about the moon, and also that of Çukanasa's son Vaiçampayana.]

"And as Candrapida underwent in due course all the circle of ceremonies, beginning with the tying of his top-knot, his childhood passed away; and to prevent distraction, Tarapida had built for him a palace of learning outside the city, stretching half a league along the Sipra river, surrounded by a wall of white bricks like the circle of peaks of a snow-mountain, girt with a great moat running along the walls, guarded by very strong gates, having one door kept open for ingress, with stables for horses and palanquins close by, and a gymnasium constructed beneath--a fit palace for the immortals. He took infinite pains in gathering there teachers of every science, and having placed the boy there, like a young lion in a cage, forbidding all egress, surrounding him with a suite composed mainly of the sons of his teachers, removing every allurement to the sports of boyhood, and keeping his mind free from distraction, on an auspicious day he entrusted him, together with Vaiçampayana, to masters, that they might acquire all knowledge. Every day when he rose, the king, with Vilasavati and a small retinue, went to watch him, and Candrapida, undisturbed in mind and kept to his work by the king, quickly grasped all the sciences taught him by teachers, whose efforts were quickened by his great powers, as they brought to light his natural abilities; the whole range of arts assembled in his mind as in a pure jewelled mirror. He gained the highest skill in word, sentence, proof, law, and royal policy; in gymnastics; in all kinds of weapons, such as the bow, quoit, shield, scimitar, dart, mace, battle-axe, and club; in driving and elephant-riding; in musical instruments, such as the lute, fife, drum, cymbal, and pipe; in the laws of dancing laid down by Bharata and others, and the science of music, such as that of Narada; in the management of elephants, the knowledge of a horse's age, and the marks of men; in painting, leaf-cutting, the use of books, and writing; in all the arts of gambling, knowledge of the cries of birds, and astronomy; in testing of jewels, carpentry, the working of ivory; in architecture, physic, mechanics, antidotes, mining, crossing of rivers, leaping and jumping, and sleight of hand; in stories, dramas, romances, poems; in the Mahabharata, the Puranas, the Itihasas, and the Ramayana; in all kinds of writing, all foreign languages, all technicalities, all mechanical arts; in metre, and in every other art. And while he ceaselessly studied, even in his childhood an inborn vigour like that of Bhima shone forth in him and stirred the world to wonder. For when he was but in play the young elephants, who had attacked him as if he were a lion's whelp, had their limbs bowed down by his grasp on their ears, and could not move; with one stroke of his scimitar he cut down palm-trees as if they were lotus-stalks; his shafts, like those of Paraçurama when he blazed to consume the forest of earth's royal stems, cleft only the loftiest peaks; he exercised himself with an iron club which ten men were needed to lift; and, except in bodily strength, he was followed close in all his accomplishments by Vaiçampayana, who, by reason of the honour Candrapida felt for his deep learning, and of his reverence due to Çukanasa, and because they had played in the dust and grown up together, was the prince's chief friend, and, as it were, his second heart, and the home of all his confidences. He would not be without Vaiçampayana for a moment, while Vaiçampayana never for an instant ceased to follow him, any more than the day would cease to follow the sun.

"And while Candrapida was thus pursuing his acquaintance with all knowledge, the spring of youth, loved of the three worlds as the amrita draught of the ocean, gladdening the hearts of men as moonrise gladdens the gloaming; transient in change of iridescent glow, like the full arch of Indra's bow to the rainy season; weapon of love, like the outburst of flowers to the tree of desire; beautiful in ever freshly revealed glow, like sunrise to the lotus-grove; ready for all play of graceful motion, like the plumes of the peacock, became manifest and brought to flower in him, fair as he was, a double beauty; love, lord of the hour, stood ever nigh, as if to do his bidding; his chest expanded like his beauty; his limbs won fulness, like the wishes of his friends; his waist became slender, like the host of his foes; his form broadened, like his liberality; his majesty grew, like his hair; his arms hung down more and more, like the plaits of his enemies' wives; his eyes became brighter, like his conduct; his shoulders broad, like his knowledge; and his heart deep, like his voice.

"And so in due course the king, learning that Candrapida had grown to youth, and had completed his knowledge of all the arts, studied all the sciences, and won great praise from his teachers, summoned Balahaka, a mighty warrior, and, with a large escort of cavalry and infantry, sent him on a very auspicious day to fetch the prince. And Balahaka, going to the palace of learning, entered, announced by the porters, and bending his head till its crest-jewels rested on the ground, sat down, by the prince's permission, on a seat befitting his office, as reverently as though in the king's presence; after a short pause he approached Candrapida and respectfully gave the king's message: 'Prince, the king bids me say: "Our desires are fulfilled; the çastras have been

studied; all the arts have been learnt; thou hast gained the highest skill in all the martial sciences. All thy teachers give thee permission to leave the house of learning. Let the people see that thou hast received thy training, like a young royal elephant come out from the enclosure, having in thy mind the whole orb of the arts, like the full moon newly risen. Let the eyes of the world, long eager to behold thee, fulfil their true function; for all the zenanas are yearning for thy sight. This is now the tenth year of thine abode in the school, and thou didst enter it having reached the experience of thy sixth year. This year, then, so reckoned, is the sixteenth of thy life. Now, therefore, when thou hast come forth and shown thyself to all the mothers longing to see thee, and hast saluted those who deserve thy honour, do thou lay aside thy early discipline, and experience at thy will the pleasures of the court and the delights of fresh youth. Pay thy respects to the chiefs; honour the Brahmins; protect thy people; gladden thy kinsfolk. There stands at the door, sent by the king, this horse, named Indrayudha, swift as Garuda or as the wind, the chief jewel of the three worlds; for in truth the monarch of Persia, who esteemed him the wonder of the universe, sent him with this message: 'This noble steed, sprung straight from the waters of ocean, was found by me, and is worthy for thee, O king, to mount;' and when he was shown to those skilled in a horse's points, they said: 'He has all the marks of which men tell us as belonging to Uccaiḥśravas; there never has been nor will be a steed like him.' Therefore let him be honoured by thy mounting him. These thousand princes, all sons of anointed kings, highly-trained, heroic, wise, and accomplished, and of long descent, sent for thine escort, wait on horseback, all eager to salute thee.'" Having thus said, Balahaka paused, and Candrapida, laying his father's command on his head, in a voice deep as a new cloud gave the order, 'Let Indrayudha be brought,' for he desired to mount him.

"Immediately on his command Indrayudha was brought, and he beheld that wondrous steed, led by two men on each side grasping the circle of the bit, and using all their efforts to curb him. He was very large, his back being just within reach of a man's uplifted hand; he seemed to drink the sky, which was on a level with his mouth; with a neigh which shook the cavity of his belly, and filled the hollows of the three worlds, he, as it were, upbraided Garuda for his vain trust in his fabled speed; with a nostril snorting in wrath at any hindrance to his course, he, in his pride, examined the three worlds, that he might leap over them; his body was variegated with streaks of black, yellow, green, and pink, like Indra's bow; he was like a young elephant, with a many-hued rug spread over him; like Ćiva's bull, pink with metallic dust from butting at Kailasa's peaks; like Parvati's lion, with his mane crimsoned with the red streak of the demon's clotted blood; and like the very incarnation of all energy, with a sound emitted from his ever-quivering nostrils, he seemed to pour forth the wind inhaled in his swift course; he scattered the foam-flakes that frothed from his lips from the champing of the points of the bit which rattled as he rolled it in his mouth, as if they were mouthfuls of ambrosia drunk in his ocean home. And, beholding this steed, whose like was never before seen, in form fit for the gods, meet for the kingdom of the whole universe, possessed of all the favourable marks, the perfection of a horse's shape, the heart of Candrapida, though of a nature not easily moved, was touched with amazement, and the thought arose in his mind: 'What jewel, if not this wondrous horse, was brought up by the Suras and Asuras when they churned the waters of ocean and whirled round Mount Mandara with the serpent Vasuki revolving in ceaseless gyration? And what has Indra gained by his lordship of the three worlds if he did not mount this back, broad as Mount Meru? Surely Indra was cheated by the ocean when his heart was gladdened by Uccaiḥśravas! And I think that so far he has not crossed the sight of holy Narayana, who even now does not give up his infatuation for riding Garuda. My father's royal glory surpasses the riches of the kingdom of heaven, in that treasures such as this, which can hardly be gained in the whole universe, come here into servitude. From its magnificence and energy, this form of his seems the shrine of a god, and the truth of this makes me fear to mount him. For forms like this, fit for the gods and the wonder of the universe, belong to no common horse. Even deities, subject to a muni's curse, have been known to leave their own bodies and inhabit other bodies brought to them by the terms of the curse. For there is a story of old how Sthulaċiras, a muni of great austerity, cursed an Apsaras named Rambha, the ornament of the three worlds; and she, leaving heaven, entered the heart of a horse, and thus, as the story goes, dwelt for a long time on earth as a mare, in the service of King Ćatadhanvan, at Mrittikavati; and many other great-souled beings, having had their glory destroyed by the curse of munis, have roamed the world in various forms. Surely this must be some noble being subject to a curse! My heart declares his divinity.' Thus thinking, he rose, wishing to mount; and in mind only approaching the steed, he prayed thus: 'Noble charger, thou art that thou art! All hail to thee! Yet let my audacity in mounting thee be forgiven! for even deities whose presence is unknown taste of a contumely all unmeet for them.'

"As if knowing his thought, Indrayudha looked at him with eye askance, the pupil turned and partly closed by the lashing of his tossing mane, and repeatedly struck the ground with his right hoof, till the hair on his chest was gray with the dust it cast up, as though summoning the prince to mount, with a pleasant whinnying long drawn out into a gentle soft murmur blent with the snorting of his quivering nostrils. Whereupon Candrapida mounted Indrayudha, as though invited thereunto by his pleasant neighing; and, having mounted, he passed out, thinking the whole universe but a span long, and beheld a cavalcade of which the furthest limits could not be seen; it deafened the hollows of the three worlds with the clatter of hoofs breaking up the earth, fierce as a shower of stones let fall from the clouds, and with a neighing sounding the fiercer from nostrils choked with dust; it decked the sky with a forest of lances all horrent, whose shafts gleamed bright when touched by the sun, like a lake half hidden in a grove of blue lotus-buds upborne on their stalks; from its darkening the eight quarters with its thousand umbrellas all raised, it was like a mass of clouds iridescent with the full arch of Indra's bow shining on them; while from the horses' mouths being white with foam-flakes cast abroad, and from the undulating line of their ceaseless curvetting, it rose to sight like a mass of ocean billows in the flood of final destruction; all the horses were in motion at Candrapida's approach, as the waves of ocean at the moon's rising; and the princes, each wishing to be first in their eagerness to pay their homage, having their heads unprotected by the hasty removal of their umbrellas, and weary with trying to curb their horses, which were wild with trampling on each other, drew around the prince. As Balahaka presented each by name, they bowed, bending low their heads, which showed the glow of loyalty under the guise of the rays uprising from the rubies in their waving crests, and which, from their having buds held up in adoration, were like lotuses resting on the water in the pitchers of coronation. Having saluted them, Candrapida, accompanied by Vaiċampayana, also mounted, straightway set out for the city. He was shaded by a very large umbrella with a gold stick, borne above him, formed like the lotus on which royal glory might dwell, like the moon's orb to the moon-lotus grove of royal races, like an island being formed by the flow of the cavalcade, in hue like the circle of Vasuki's hood whitened by the sea of milk, garlanded with many a rope of pearls, bearing the device of a lion designed above. The flowers in his ears were set dancing by the wind of the cowries waved on either side, and his praises were sung by many thousands of retainers running before him, young,

for the most part, and brave, and by the bards, who ceaselessly recited aloud auspicious verses, with a soft cry of 'Long life and victory.'

"And as he passed on his way to the city, like a manifestation of the god of love no longer bodiless, all the people, like a lotus-grove awakened by the moon's rising, left their work and gathered to behold him.

"Kartikēya scorns the name of Kumara, since his own form is looked on with scorn by the throng of lotus-faces when this prince is by. Surely we reap the reward of great virtue in that we behold that godlike form with eyes wide with the overflow of love sprung up within us, and upraised in eager curiosity. Our birth in this world has now brought forth its fruit. Nevertheless, all hail to blessed Krishna, who in the guise of Candrapida has assumed a new form! With such words the city folk folded their hands in adoration and bowed before him. And from the thousand windows which were unclosed from curiosity to behold Candrapida, the city itself became as it were a mass of open eyes; for straightway on hearing that he had left the palace of learning filled with all knowledge, women eager to see him mounted the roofs hastily throughout the city, leaving their half-done work; some with mirrors in their left hand were like the nights of the full moon, when the moon's whole orb is gleaming; some, with feet roseate with fresh lac, were like lotus-buds whose flowers had drunk the early sunlight; some, with their tender feet enmeshed in the bells of their girdle, fallen to the ground in their haste, were like elephants moving very slowly, checked by their chain; some were robed in rainbow hues, like the beauty of a day in the rainy season; some raised feet that blossomed into the white rays of their nails, like tame kalahamsas drawn by the sound of the anklets; some held strings of large pearls in their hands, as if in imitation of Rati with her crystal rosary grasped in grief for the death of Love; some, with wreaths of pearls falling between their breasts, were like the glory of evening when the pairs of cakravakas are separated by a pure slender stream; some, with rainbow flashes rising from the gems of their anklets, shone as if lovingly accompanied by tame peacocks; some, with their jewelled cups half drunk, distilled, as it were, from their rosy flower-like lips a sweet nectar. Others, too, with their orbéd faces appearing at the interstices of the emerald lattices, presented to the eyes a lotus-grove with its opening buds traversing the sky, as they gazed on the prince. On a sudden there arose a tinkling of ornaments born of hasty motion, with many a sound of lutes struck sweetly on their chords, blended with the cry of cranes summoned by the clanging of the girdles, accompanied by the noise of peacocks shut up in the zenana and rejoicing in the thunder caused by the stairs being struck by stumbling feet, soft with the murmur of kalahamsas fluttering in fear of the clash of fresh clouds, imitating the triumphant cry of Love, taking captive the ears of lovely women with their ropes of jewels resounding shrilly as they touched one another, and re-echoing through all the corners of the houses. In a moment the dense throng of maidens made the palaces seem walled with women; the ground seemed to blossom by the laying on it of their lac-strewn lotus-feet; the city seemed girt with grace by the stream of fair forms; the sky seemed all moon by the throng of orbéd faces; the circle of space seemed a lotus-grove by reason of the hands all raised to ward off the heat; the sunshine seemed robed in rainbows by the mass of rays from the jewels, and the day seemed formed of blue lotus-petals by the long line of bright glances. As the women gazed on him with eyes fixed and widened in curiosity, the form of Candrapida entered into their hearts as though they were mirrors or water or crystal; and as the glow of love manifested itself there, their graceful speech became straightway mirthful, confidential, confused, envious, scornful, derisive, coquettish, loving, or full of longing. As, for instance: 'Hasty one, wait for me! Drunk with gazing, hold thy mantle! Simpleton, lift up the long tresses that hang about thy face! Remove thy moon-digit ornament! Blinded with love, thy feet are caught in the flowers of thine offering, and thou wilt fall! Love-distraught, tie up thy hair! Intent on the sight of Candrapida, raise thy girdle! Naughty one, lift up the ear-flower waving on thy cheek! Heartless one, pick up thine earring! Eager in youth, thou art being watched! Cover thy bosom! Shameless one, gather up thy loosened robe! Artfully artless, go on quicker! Inquisitive girl, take another look at the king! Insatiable, how long wilt thou look? Fickle-hearted, think of thine own people! Impish girl, thy mantle has fallen, and thou art mocked! Thou whose eyes art filled with love, seest thou not thy friends? Maiden full of guile, thou wilt live in sorrow with thy heart in causeless torment! Thou who feignest coyness, what mean thy crafty glances? look boldly! Bright with youth, why rest thy weight against us? Angry one, go in front! Envious girl, why block up the window? Slave of love, thou bringest my outer robe to utter ruin! Drunk with love's breath, restrain thyself! Devoid of self-control, why run before thine elders? Bright in strength, why so confused? Silly girl, hide the thrill of love's fever! Ill-behaved girl, why thus weary thyself? Changeful one, thy girdle presseth thee, and thou sufferest vainly! Absent-minded, thou heedest not thyself, though outside thy house! Lost in curiosity, thou hast forgotten how to breathe! Thou whose eyes art closed in the happy imagination of union with thy beloved, open them! He is passing! Bereft of sense by the stroke of love's arrow, place the end of thy silken robe on thy head to keep off the sun's rays! Thou who hast taken the vow of Sati, thou lettest thine eyes wander, not seeing what is to be seen! Wretched one, thou art cast down by the vow not to gaze on other men! Vouchsafe to rise, dear friend, and to look at the blessed fish-bannered god, without his banner and bereft of Rati, visibly present. His crest of malati flowers under his umbrella looks like a mass of moonbeams fallen in under the idea that night has set in, on his head dark with swarms of bees. His cheek is fair as a garland of open girisha flowers touched with green by the splendour of his emerald earring. Our youthful glow of love, under the guise of rich ruby rays among the pearl necklaces, shines out eager to enter his heart. It is so seen by him among the cowries. Moreover, what is he laughing at as he talks to Vaiṣampayana, so that the circle of space is whitened with his bright teeth? Balahaka, with the edge of his silken mantle green as a parrot's plumage, is removing from the tips of his hair the dust raised by the horses' hoofs. His bough-like foot, soft as Lakshmi's lotus-hand, is raised and sportively cast athwart his horse's shoulder. His hand, with tapering fingers and bright as pink lotus-buds, is outstretched to its full length to ask for betel-nut, just as an elephant's trunk in eagerness for mouthfuls of vallisneria. Happy is she who, a fellow-bride with earth, shall, like Lakshmi, win that hand outvying the lotus! Happy, too, is Queen Vilasavati, by whom he who is able to bear the whole earth was nourished in birth, as the elephant of the quarters by Space!"

"And as they uttered these and other sayings of the same kind, Candrapida, drunk in by their eyes, summoned by the tinkling of their ornaments, followed by their hearts, bound by the ropes of the rays of their jewels, honoured with the offering of their fresh youth, bestrewn with flowers and rice in salutation like a marriage fire, advancing step by step on a mass of white bracelets slipping from their languid arms, reached the palace."

[Dismounting and leaning on Vaiṣampayana, he entered the court, preceded by Balahaka, and passing through the crowd of attendant kings, beheld his father seated on a white couch and attended by his guards.]

"And on the chamberlain's saying 'Behold him!' the prince, with his head bent low, and its crest shaking, while yet afar off made his salutation, and his father, crying from afar, 'Come, come hither!' stretched forth both arms, raised himself slightly from his couch, while his eyes filled with tears of joy and a thrill passed over his body, and embraced his reverently-bent son as

though he would bind him fast and absorb him, and drink him in. And after the embrace, Candrapida sat down on the bare ground by his father's footstool, kicking away the cloak which had been rolled up and hastily made into a seat by his own betel-nut bearer, and softly bidding her take it away; and then Vaiçampayana, being embraced by the king like his own son, sat down on a seat placed for him. When he had been there a short time, assailed, as it were, by glances from the women who stood motionless, with the waving of the cowries forgotten, glances of love, long as strings of lotus stirred by the wind, from fine eyes tremulous and askant, he was dismissed with the words, 'Go, my son, salute thy loving mother, who longs to see thee, and then in turn gladden all who nurtured thee by thy sight.' Respectfully rising, and stopping his suite from following him, he went with Vaiçampayana to the zenana, led by the royal servants meet to enter therein, and approaching his mother, saluted her" [as she sat surrounded by her attendants and by aged ascetic women, who read and recited legends to her].

"She raised him, while her attendants, skilled in doing her commands, stood around her, and, with a loving caress, held him in a long embrace, as though thinking inwardly of a hundred auspicious words to say, and straightway, when the claims of affection had been satisfied, and she had embraced Vaiçampayana, she sat down, and drew Candrapida, who was reverently seated on the ground, forcibly and against his will to rest in her arms; and when Vaiçampayana was seated on a stool quickly brought by the attendants, she embraced Candrapida again and again on brow, breast, and shoulders, and said, with many a caressing touch: 'Hard-hearted, my child, was thy father, by whom so fair a form, meet to be cherished by the whole universe, was made to undergo great fatigue for so long! How didst thou endure the tedious restraint of thy gurus? Indeed, young as thou art, thou hast a strong man's fortitude! Thy heart, even in childhood, has lost all idle liking for childish amusement and play. Ah well, all devotion to natural and spiritual parents is something apart; and as I now see thee endowed, by thy father's favour, with all knowledge, so I shall soon see thee endowed with worthy wives.' Having thus said as he bent his head, smiling half in shame, she kissed him on the cheek, which was a full reflection of her own, and garlanded with open lotuses; and he, when he had stayed a short time, gladdened in turn by his presence the whole zenana. Then, departing by the royal door, he mounted Indrayudha, who was standing outside, and, followed by the princes, went to see Çukanasa," [and at the gate of an outer court, filled with priests of many sects, he dismounted] "and entered the palace of Çukanasa, which resembled a second royal court. On entering he saluted Çukanasa like a second father as he stood in the midst of thousands of kings, showing him all respect, with his crest bent low even from afar. Çukanasa, quickly rising, while the kings rose one after another, and respectfully advancing straight to him, with tears of joy falling from eyes wide with gladness, heartily, and with great affection, embraced him, together with Vaiçampayana. Then the prince, rejecting the jewelled seat respectfully brought, sat on the bare ground, and next to him sat Vaiçampayana; and when he sat on the ground, the whole circle of kings, except Çukanasa, leaving their own seats, sat also on the ground. Çukanasa stood silent for a moment, showing his extreme joy by the thrill that passed over his limbs, and then said to the prince: 'Truly, my child, now that King Tarapida has seen thee grown to youth and possessed of knowledge, he has at length gained the fruit of his rule over the universe. Now all the blessings of thy parents have been fulfilled. Now the merit acquired in many other births has borne fruit. Now the gods of thy race are content. For they who, like thee, astonish the three worlds, do not become the sons of the unworthy. For where is thy age? and where thy superhuman power and thy capacity of reaching boundless knowledge? Yea, blessed are those subjects who have thee for their protector, one like unto Bharata and Bhagiratha. What bright deed of merit was done by Earth that she has won thee as lord? Surely, Lakshmi is destroyed by persisting in the caprice of dwelling in Vishnu's bosom, that she does not approach thee in mortal form! But, nevertheless, do thou with thine arm, as the Great Boar with his circle of tusks, bear up for myriads of ages the weight of the earth, helping thy father.' Thus saying, and offering homage with ornaments, dresses, flowers, and unguents, he dismissed him. Thereupon the prince, rising, and entering the zenana, visited Vaiçampayana's mother, by name Manorama, and, departing, mounted Indrayudha, and went to his palace. It had been previously arranged by his father, and had white jars filled and placed on the gates, like an image of the royal palace; it had garlands of green sandal boughs, thousands of white flags flying, and filled the air with the sound of auspicious instruments of music; open lotuses were strewn in it. A sacrifice to Agni had just been performed, every attendant was in bright apparel, every auspicious ceremony for entering a house had been prepared. On his arrival he sat for a short time on a couch placed in the hall, and then, together with his princely retinue, performed the day's duties, beginning with bathing and ending with a banquet; and meanwhile he arranged that Indrayudha should dwell in his own chamber.

"And in these doings of his the day came to a close; the sun's orb fell with lifted rays like the ruby anklet--its interstices veiled in its own light--of the Glory of Day, as she hastens from the sky. And when evening had begun, Candrapida, encircled by a fence of lighted lamps, went on foot to the king's palace, and having stayed a short time with his father, and seen Vilasavati, he returned to his own house and lay down on a couch, many-hued with the radiance of various gems, like Krishna on the circle of Çeşa's hoods.

"And when night had turned to dawn, he, with his father's leave, rose before sunrise, in eagerness for the new delight of hunting, and, mounting Indrayudha, went to the wood with a great retinue of runners, horses, and elephants. His eagerness was doubled by huntsmen leading in a golden leash hounds large as asses. With arrows whose shafts were bright as the leaves of a blossoming lotus, and fit to cleave the frontal bones of young wild elephants, he slew wild boars, lions, çarabhas, yaks, and many other kinds of deer by thousands, while the woodland goddesses looked at him with half-closed eyes, fluttered by fear of the twanging of his bow. Other animals by his great energy he took alive. And when the sun reached the zenith, he rode home from the wood with but a few princes who were well mounted, going over the events of the chase, saying: 'Thus I killed a lion, thus a bear, thus a buffalo, thus a çarabha, thus a stag.'

"On dismounting, he sat down on a seat brought hastily by his attendants, took off his corselet, and removed the rest of his riding apparel; he then rested a short time, till his weariness was removed by the wind of waving fans; having rested, he went to the bathroom, provided with a hundred pitchers of gold, silver, and jewels, and having a gold seat placed in its midst. And when the bath was over, and he had been rubbed in a separate room with cloths, his head was covered with a strip of pure linen, his raiment was put on, and he performed his homage to the gods; and when he entered the perfuming-room, there approached him the court women attendants, appointed by the grand chamberlain and sent by the king, slaves of Vilasavati, with Kulavardhana, and zenana women sent from the whole zenana, bearing in baskets different ornaments, wreaths, unguents, and robes, which they presented to him. Having taken them in due order from the women, he first himself anointed Vaiçampayana. When his own anointing was done, and giving to those around him flowers, perfumes, robes, and jewels, as was meet, he went to the banquet-hall, rich in a thousand jewelled vessels, like the autumn sky gleaming with stars. He there sat on a doubled rug, with Vaiçampayana next him, eagerly employed, as was fitting, in praising his virtues, and the host of princes, placed each in order of

seniority on the ground, felt the pleasure of their service increased by seeing the great courtesy with which the prince said: 'Let this be given to him, and that to him!' And so he duly partook of his morning meal.

"After rinsing his mouth and taking betel, he stayed there a short time, and then went to Indrayudha, and there, without sitting down, while his attendants stood behind him, with upraised faces, awaiting his commands, and talking mostly about Indrayudha's points, he himself, with heart uplifted by Indrayudha's merits, scattered the fodder before him, and departing, visited the court; and in the same order of routine he saw the king, and, returning home, spent the night there. Next day, at dawn, he beheld approaching a chamberlain, by name Kailasa, the chief of the zenana, greatly trusted by the king, accompanied by a maiden of noble form, in her first youth, from her life at court self-possessed, yet not devoid of modesty, growing to maidenhood, and in her veil of silk red with cochineal, resembling the Eastern quarter clothed in early sunshine. And Kailasa, bowing and approaching, with his right hand placed on the ground, spoke as follows:

"Prince, Queen Vilasavati bids me say: "This maiden, by name Patralekha, daughter of the King of Kuluta, was brought with the captives by the great king on his conquest of the royal city of Kuluta while she was yet a little child, and was placed among the zenana women. And tenderness grew up in me towards her, seeing she was a king's daughter and without a protector, and she was long cared for and brought up by me just like a daughter. Therefore, I now send her to thee, thinking her fit to be thy betel-bearer; but she must not be looked on by thee, great prince of many days, as thine other attendants. She must be cared for as a young maiden; she must be shielded from the thoughtless like thine own nature; she must be looked on as a pupil. Like a friend, she must be admitted to all thy confidences. By reason of the love that has long grown up in me, my heart rests on her as on my own daughter; and being sprung from a great race, she is fitted for such duties; in truth, she herself will in a few days charm the prince by her perfect gentleness. My love for her is of long growth, and therefore strong; but as the prince does not yet know her character, this is told to him. Thou must in all ways strive, happy prince, that she may long be thy fitting companion." When Kailasa had thus spoken and was silent, Candrapida looked long and steadily at Patralekha as she made a courteous obeisance, and with the words, 'As my mother wishes,' dismissed the chamberlain. And Patralekha, from her first sight of him, was filled with devotion to him, and never left the prince's side either by night or day, whether he was sleeping, or sitting, or standing, or walking, or going to the court, just as if she were his shadow; while he felt for her a great affection, beginning from his first glance at her, and constantly growing; he daily showed more favour to her, and counted her in all his secrets as part of his own heart.

"As the days thus passed on, the king, eager for the anointing of Candrapida as crown prince, appointed chamberlains to gather together all things needful for it; and when it was at hand, Çukanasa, desirous of increasing the prince's modesty, great as it already was, spoke to him at length during one of his visits: 'Dear Candrapida, though thou hast learnt what is to be known, and read all the çāstras, no little remains for thee to learn. For truly the darkness arising from youth is by nature very thick, nor can it be pierced by the sun, nor cleft by the radiance of jewels, nor dispelled by the brightness of lamps. The intoxication of Lakshmi is terrible, and does not cease even in old age. There is, too, another blindness of power, evil, not to be cured by any salve. The fever of pride runs very high, and no cooling appliances can allay it. The madness that rises from tasting the poison of the senses is violent, and not to be counteracted by roots or charms. The defilement of the stain of passion is never destroyed by bathing or purification. The sleep of the multitude of royal pleasures is ever terrible, and the end of night brings no waking. Thus thou must often be told at length. Lordship inherited even from birth, fresh youth, peerless beauty, superhuman talent, all this is a long succession of ills. Each of these separately is a home of insolence; how much more the assemblage of them! For in early youth the mind often loses its purity, though it be cleansed with the pure waters of the çāstras. The eyes of the young become inflamed, though their clearness is not quite lost. Nature, too, when the whirlwind of passion arises, carries a man far in youth at its own will, like a dry leaf borne on the wind. This mirage of pleasure, which captivates the senses as if they were deer, always ends in sorrow. When the mind has its consciousness dulled by early youth, the characteristics of the outer world fall on it like water, all the more sweetly for being but just tasted. Extreme clinging to the things of sense destroys a man, misleading him like ignorance of his bearings. But men such as thou art the fitting vessels for instruction. For on a mind free from stain the virtue of good counsel enters easily, as the moon's rays on a moon crystal. The words of a guru, though pure, yet cause great pain when they enter the ears of the bad, as water does; while in others they produce a nobler beauty, like the ear-jewel on an elephant. They remove the thick darkness of many sins, like the moon in the gloaming. The teaching of a guru is calming, and brings to an end the faults of youth by turning them to virtue, just as old age takes away the dark stain of the locks by turning them to gray. This is the time to teach thee, while thou hast not yet tasted the pleasures of sense. For teaching pours away like water in a heart shattered by the stroke of love's arrow. Family and sacred tradition are unavailing to the froward and undisciplined. Does a fire not burn when fed on sandal-wood? Is not the submarine fire the fiercer in the water that is wont to quench fire? But the words of a guru are a bathing without water, able to cleanse all the stains of man; they are a maturity that changes not the locks to gray; they give weight without increase of bulk; though not wrought of gold, they are an ear-jewel of no common order; without light they shine; without startling they awaken. They are specially needed for kings, for the admonishers of kings are few. For from fear, men follow like an echo the words of kings, and so, being unbridled in their pride, and having the cavity of their ears wholly stopped, they do not hear good advice even when offered; and when they do hear, by closing their eyes like an elephant, they show their contempt, and pain the teachers who offer them good counsel. For the nature of kings, being darkened by the madness of pride's fever, is perturbed; their wealth causes arrogance and false self-esteem; their royal glory causes the torpor brought about by the poison of kingly power. First, let one who strives after happiness look at Lakshmi. For this Lakshmi, who now rests like a bee on the lotus-grove of a circle of naked swords, has risen from the milk ocean, has taken her glow from the buds of the coral-tree, her crookedness from the moon's digit, her restlessness from the steed Uccaiḥṣrava, her witchery from Kalakuta poison, her intoxication from nectar, and from the Kaustubha gem her hardness. All these she has taken as keepsakes to relieve her longing with memory of her companions' friendship. There is nothing so little understood here in the world as this base Lakshmi. When won, she is hard to keep; when bound fast by the firm cords of heroism, she vanishes; when held by a cage of swords brandished by a thousand fierce champions, she yet escapes; when guarded by a thick band of elephants, dark with a storm of ichor, she yet flees away. She keeps not friendships; she regards not race; she recks not of beauty; she follows not the fortunes of a family; she looks not on character; she counts not cleverness; she hears not sacred learning; she courts not righteousness; she honours not liberality; she values not discrimination; she guards not conduct; she understands not truth; she makes not auspicious marks her guide; like the outline of an aerial city, she vanishes even as we look on her. She is still dizzy with the feeling produced by the eddying of the whirlpool made by Mount Mandara. As if she were the tip of a lotus-stalk bound to the varying

motion of a lotus-bed, she gives no firm foothold anywhere. Even when held fast with great effort in palaces, she totters as if drunk with the ichor of their many wild elephants. She dwells on the sword's edge as if to learn cruelty. She clings to the form of Narayana as if to learn constant change of form. Full of fickleness, she leaves even a king, richly endowed with friends, judicial power, treasure, and territory, as she leaves a lotus at the end of day, though it have root, stalk, bud, and wide-spreading petals. Like a creeper, she is ever a parasite. Like Ganga, though producing wealth, she is all astir with bubbles; like the sun's ray, she alights on one thing after another; like the cavity of hell, she is full of dense darkness. Like the demon Hidamba, her heart is only won by the courage of a Bhima; like the rainy season, she sends forth but a momentary flash; like an evil demon, she, with the height of many men, crazes the feeble mind. As if jealous, she embraces not him whom learning has favoured; she touches not the virtuous man, as being impure; she despises a lofty nature as unpropitious; she regards not the gently-born, as useless. She leaps over a courteous man as a snake; she avoids a hero as a thorn; she forgets a giver as a nightmare; she keeps far from a temperate man as a villain; she mocks at the wise as a fool; she manifests her ways in the world as if in a jugglery that unites contradictions. For, though creating constant fever, she produces a chill; though exalting men, she shows lowness of soul; though rising from water, she augments thirst; though bestowing lordship, she shows an unlordly nature; though loading men with power, she deprives them of weight; though sister of nectar, she leaves a bitter taste; though of earthly mould, she is invisible; though attached to the highest, she loves the base; like a creature of dust, she soils even the pure. Moreover, let this wavering one shine as she may, she yet, like lamplight, only sends forth lamp-black. For she is the fostering rain of the poison-plants of desire, the hunter's luring song to the deer of the senses, the polluting smoke to the pictures of virtue, the luxurious couch of infatuation's long sleep, the ancient watch-tower of the demons of pride and wealth. She is the cataract gathering over eyes lighted by the çāstras, the banner of the reckless, the native stream of the alligators of wrath, the tavern of the mead of the senses, the music-hall of alluring dances, the lair of the serpents of sin, the rod to drive out good practices. She is the untimely rain to the kalahamsas of the virtues, the hotbed of the pustules of scandal, the prologue of the drama of fraud, the roar of the elephant of passion, the slaughter-house of goodness, the tongue of Rahu for the moon of holiness. Nor see I any who has not been violently embraced by her while she was yet unknown to him, and whom she has not deceived. Truly, even in a picture she moves; even in a book she practises magic; even cut in a gem she deceives; even when heard she misleads; even when thought on she betrays.

""When this wretched evil creature wins kings after great toil by the will of destiny, they become helpless, and the abode of every shameful deed. For at the very moment of coronation their graciousness is washed away as if by the auspicious water-jars; their heart is darkened as by the smoke of the sacrificial fire; their patience is swept away as by the kuça brooms of the priest; their remembrance of advancing age is concealed as by the donning of the turban; the sight of the next world is kept afar as by the umbrella's circle; truth is removed as by the wind of the cowries; virtue is driven out as by the wands of office; the voices of the good are drowned as by cries of "All hail!" and glory is flouted as by the streamers of the banners.

""For some kings are deceived by successes which are uncertain as the tremulous beaks of birds when loose from weariness, and which, though pleasant for a moment as a firefly's flash, are condemned by the wise; they forget their origin in the pride of amassing a little wealth, and are troubled by the onrush of passion as by a blood-poisoning brought on by accumulated diseases; they are tortured by the senses, which though but five, in their eagerness to taste every pleasure, turn to a thousand; they are bewildered by the mind, which, in native fickleness, follows its own impulses, and, being but one, gets the force of a hundred thousand in its changes. Thus they fall into utter helplessness. They are seized by demons, conquered by imps, possessed by enchantments, held by monsters, mocked by the wind, swallowed by ogres. Pierced by the arrows of Kama, they make a thousand contortions; scorched by covetousness, they writhe; struck down by fierce blows, they sink down. Like crabs, they sidle; like cripples, with steps broken by sin, they are led helpless by others; like stammerers from former sins of falsehood, they can scarce babble; like saptacchada trees, they produce headache in those near them; like dying men, they know not even their kin; like purblind men, they cannot see the brightest virtue; like men bitten in a fatal hour, they are not waked even by mighty charms; like lac-ornaments, they cannot endure strong heat; like rogue elephants, being firmly fixed to the pillar of self-conceit, they refuse teaching; bewildered by the poison of covetousness, they see everything as golden; like arrows sharpened by polishing, when in the hands of others they cause destruction; with their rods they strike down great families, like high-growing fruit; like untimely blossoms, though fair outwardly, they cause destruction; they are terrible of nature, like the ashes of a funeral pyre; like men with cataract, they can see no distance; like men possessed, they have their houses ruled by court jesters; when but heard of, they terrify, like funeral drums; when but thought of, like a resolve to commit mortal sin, they bring about great calamity; being daily filled with sin, they become wholly puffed up. In this state, having allied themselves to a hundred sins, they are like drops of water hanging on the tip of the grass on an anthill, and have fallen without perceiving it.

""But others are deceived by rogues intent on their own ends, greedy of the flesh-pots of wealth, cranes of the palace lotus-beds! "Gambling," say these, "is a relaxation; adultery a sign of cleverness; hunting, exercise; drinking, delight; recklessness, heroism; neglect of a wife, freedom from infatuation; contempt of a guru's words, a claim to others' submission; unruliness of servants, the ensuring of pleasant service; devotion to dance, song, music, and bad company, is knowledge of the world; hearkening to shameful crimes is greatness of mind; tame endurance of contempt is patience; self-will is lordship; disregard of the gods is high spirit; the praise of bards is glory; restlessness is enterprise; lack of discernment is impartiality." Thus are kings deceived with more than mortal praises by men ready to raise faults to the grade of virtues, practised in deception, laughing in their hearts, utterly villainous; and thus these monarchs, by reason of their senselessness, have their minds intoxicated by the pride of wealth, and have a settled false conceit in them that these things are really so; though subject to mortal conditions, they look on themselves as having alighted on earth as divine beings with a superhuman destiny; they employ a pomp in their undertakings only fit for gods and win the contempt of all mankind. They welcome this deception of themselves by their followers. From the delusion as to their own divinity established in their minds, they are overthrown by false ideas, and they think their own pair of arms have received another pair; they imagine their forehead has a third eye buried in the skin. They consider the sight of themselves a favour; they esteem their glance a benefit; they regard their words as a present; they hold their command a glorious boon; they deem their touch a purification. Weighed down by the pride of their false greatness, they neither do homage to the gods, nor reverence Brahmans, nor honour the honourable, nor salute those to whom salutes are due, nor address those who should be addressed, nor rise to greet their gurus. They laugh at the learned as losing in useless labour all the enjoyment of pleasure; they look on the teaching of the old as the wandering talk of dotage; they abuse the advice of their councillors as an insult to their own wisdom; they are wroth with the giver of good counsel.

""At all events, the man they welcome, with whom they converse, whom they place by their side, advance, take as companion of their pleasure and recipient of their gifts, choose as a friend, the man to whose voice they listen, on whom they rain favours, of whom they think highly, in whom they trust, is he who does nothing day and night but ceaselessly salute them, praise them as divine, and exalt their greatness.

""What can we expect of those kings whose standard is a law of deceit, pitiless in the cruelty of its maxims; whose gurus are family priests, with natures made merciless by magic rites; whose teachers are councillors skilled to deceive others; whose hearts are set on a power that hundreds of kings before them have gained and lost; whose skill in weapons is only to inflict death; whose brothers, tender as their hearts may be with natural affection, are only to be slaughtered.

""Therefore, my Prince, in this post of empire which is terrible in the hundreds of evil and perverse impulses which attend it, and in this season of youth which leads to utter infatuation, thou must strive earnestly not to be scorned by thy people, nor blamed by the good, nor cursed by thy gurus, nor reproached by thy friends, nor grieved over by the wise. Strive, too, that thou be not exposed by knaves, deceived by sharpers, preyed upon by villains, torn to pieces by wolvish courtiers, misled by rascals, deluded by women, cheated by fortune, led a wild dance by pride, maddened by desire, assailed by the things of sense, dragged headlong by passion, carried away by pleasure.

""Granted that by nature thou art steadfast, and that by thy father's care thou art trained in goodness, and moreover, that wealth only intoxicates the light of nature, and the thoughtless, yet my very delight in thy virtues makes me speak thus at length.

""Let this saying be ever ringing in thine ears: There is none so wise, so prudent, so magnanimous, so gracious, so steadfast, and so earnest, that the shameless wretch Fortune cannot grind him to powder. Yet now mayest thou enjoy the consecration of thy youth to kingship by thy father under happy auspices. Bear the yoke handed down to thee that thy forefathers have borne. Bow the heads of thy foes; raise the host of thy friends; after thy coronation wander round the world for conquest; and bring under thy sway the earth with its seven continents subdued of yore by thy father.

""This is the time to crown thyself with glory. A glorious king has his commands fulfilled as swiftly as a great ascetic.'

""Having said thus much, he was silent, and by his words Candrapida was, as it were, washed, awakened, purified, brightened, bedewed, anointed, adorned, cleansed, and made radiant, and with glad heart he returned after a short time to his own palace.

""Some days later, on an auspicious day, the king, surrounded by a thousand chiefs, raised aloft, with Çukanasa's help, the vessel of consecration, and himself anointed his son, while the rest of the rites were performed by the family priest. The water of consecration was brought from every sacred pool, river and ocean, encircled by every plant, fruit, earth, and gem, mingled with tears of joy, and purified by mantras. At that very moment, while the prince was yet wet with the water of consecration, royal glory passed on to him without leaving Tarapida, as a creeper still clasping its own tree passes to another. Straightway he was anointed from head to foot by Vilasavati, attended by all the zenana, and full of tender love, with sweet sandal white as moonbeams. He was garlanded with fresh white flowers; decked with lines of gorocana; adorned with an earring of durva grass; clad in two new silken robes with long fringes, white as the moon; bound with an amulet round his hand, tied by the family priest; and had his breast encircled by a pearl-necklace, like the circle of the Seven Rishis come down to see his coronation, strung on filaments from the lotus-pool of the royal fortune of young royalty.

""From the complete concealment of his body by wreaths of white flowers interwoven and hanging to his knees, soft as moonbeams, and from his wearing snowy robes he was like Narasimha, shaking his thick mane, or like Kailasa, with its flowing streams, or Airavata, rough with the tangled lotus-fibres of the heavenly Ganges, or the Milky Ocean, all covered with flakes of bright foam.

""Then his father himself for that time took the chamberlain's wand to make way for him, and he went to the hall of assembly and mounted the royal throne, like the moon on Meru's peak. Then, when he had received due homage from the kings, after a short pause the great drum that heralded his setting out on his triumphal course resounded deeply, under the stroke of golden drum-sticks. Its sound was as the noise of clouds gathering at the day of doom; or the ocean struck by Mandara; or the foundations of earth by the earthquakes that close an aeon; or a portent-cloud, with its flashes of lightning; or the hollow of hell by the blows of the snout of the Great Boar. And by its sound the spaces of the world were inflated, opened, separated, outspread, filled, turned sunwise, and deepened, and the bonds that held the sky were unloosed. The echo of it wandered through the three worlds; for it was embraced in the lower world by Çesha, with his thousand hoods raised and bristling in fear; it was challenged in space by the elephants of the quarters tossing their tusks in opposition; it was honoured with sunwise turns in the sky by the sun's steeds, tossing their heads in their snort of terror; it was wondrously answered on Kailasa's peak by Çiva's bull, with a roar of joy in the belief that it was his master's loudest laugh; it was met in Meru by Airavata, with deep trumpeting; it was revered in the hall of the gods by Yama's bull, with his curved horns turned sideways in wrath at so strange a sound; and it was heard in terror by the guardian gods of the world.

""Then, at the roar of the drum, followed by an outcry of 'All hail!' from all sides, Candrapida came down from the throne, and with him went the glory of his foes. He left the hall of assembly, followed by a thousand chiefs, who rose hastily around him, strewing on all sides the large pearls that fell from the strings of their necklaces as they struck against each other, like rice sportively thrown as a good omen for their setting off to conquer the world. He showed like the coral-tree amid the white buds of the kalpa-trees; or Airavata amid the elephants of the quarters bedewing him with water from their trunks; or heaven, with the firmament showering stars; or the rainy season with clouds ever pouring heavy drops.

""Then an elephant was hastily brought by the mahout, adorned with all auspicious signs for the journey, and on the inner seat Patralekha was placed. The prince then mounted, and under the shade of an umbrella with a hundred wires enmeshed with pearls, beauteous as Kailasa standing on the arms of Ravana, and white as the whirlpools of the Milky Ocean under the tossing of the mountain, he started on his journey. And as he paused in his departure he saw the ten quarters tawny with the rich sunlight, surpassing molten lac, of the flashing crest-jewels of the kings who watched him with faces hidden behind the ramparts, as if the light were the fire of his own majesty, flashing forth after his coronation. He saw the earth bright as if with his own glow of loyalty when anointed as heir-apparent, and the sky crimson as with the flame that heralded the swift destruction of his foes, and daylight roseate as with lac-juice from the feet of the Lakshmi of earth coming to greet him.

""On the way hosts of kings, with their thousand elephants swaying in confusion, their umbrellas broken by the pressure of the crowd, their crest-jewels falling low as their diadems bent in homage, their earrings hanging down, and the jewels falling on their cheeks, bowed low before him, as a trusted general recited their names. The elephant Gandhamadana followed the prince,

pink with much red lead, dangling to the ground his ear-ornaments of pearls, having his head outlined with many a wreath of white flowers, like Meru with evening sunlight resting on it, the white stream of Ganges falling across it, and the spangled roughness of a bevy of stars on its peak. Before Candrapida went Indrayudha, led by his groom, perfumed with saffron and many-hued, with the flash of golden trappings on his limbs. And so the expedition slowly started towards the Eastern Quarter.

"Then the whole army set forth with wondrous turmoil, with its forest of umbrellas stirred by the elephants' movements, like an ocean of destruction reflecting on its advancing waves a thousand moons, flooding the earth.

"When the prince left his palace Vaiçampayana performed every auspicious rite, and then, clothed in white, anointed with an ointment of white flowers, accompanied by a great host of powerful kings, shaded by a white umbrella, followed close on the prince, mounted on a swift elephant, like a second Crown Prince, and drew near to him like the moon to the sun. Straightway the earth heard on all sides the cry: 'The Crown Prince has started!' and shook with the weight of the advancing army.

"In an instant the earth seemed as it were made of horses; the horizon, of elephants; the atmosphere, of umbrellas; the sky, of forests of pennons; the wind, of the scent of ichor; the human race, of kings; the eye, of the rays of jewels; the day, of crests; the universe, of cries of 'All hail!'

"The dust rose at the advance of the army like a herd of elephants to tear up the lotuses of the sunbeams, or a veil to cover the Lakshmi of the three worlds. Day became earthy; the quarters were modelled in clay; the sky was, as it were, resolved in dust, and the whole universe appeared to consist of but one element.

"When the horizon became clear again, Vaiçampayana, looking at the mighty host which seemed to rise from the ocean, was filled with wonder, and, turning his glance on every side, said to Candrapida: 'What, prince, has been left unconquered by the mighty King Tarapida, for thee to conquer? What regions unsubdued, for thee to subdue? What fortresses untaken, for thee to take? What continents unappropriated, for thee to appropriate? What treasures ungained, for thee to gain? What kings have not been humbled? By whom have the raised hands of salutation, soft as young lotuses, not been placed on the head? By whose brows, encircled with golden bands, have the floors of his halls not been polished? Whose crest-jewels have not scraped his footstool? Who have not accepted his staff of office? Who have not waved his cowries? Who have not raised the cry of "Hail!"? Who have not drunk in with the crocodiles of their crests, the radiance of his feet, like pure streams? For all these princes, though they are imbued with the pride of armies, ready in their rough play to plunge into the four oceans; though they are the peers of the great kings Daçaratha, Bhagiratha, Bharata, Dilipa, Alarka, and Mandhatri; though they are anointed princes, soma-drinkers, haughty in the pride of birth, yet they bear on the sprays of crests purified with the shower of the water of consecration the dust of thy feet of happy omen, like an amulet of ashes. By them as by fresh noble mountains, the earth is upheld. These their armies that have entered the heart of the ten regions follow thee alone. For lo! wherever thy glance is cast, hell seems to vomit forth armies, the earth to bear them, the quarters to discharge them, the sky to rain them, the day to create them. And methinks the earth, trampled by the weight of boundless hosts, recalls to-day the confusion of the battles of the Mahabharata.

"Here the sun wanders in the groves of pennons, with his orb stumbling over their tops, as if he were trying, out of curiosity, to count the banners. The earth is ceaselessly submerged under ichor sweet as cardamons, and flowing like a plait of hair, from the elephants who scatter it all round, and thick, too, with the murmur of the bees settling on it, so that it shines as if filled with the waves of Yamuna. The lines of moon-white flags hide the horizon, like rivers that in fear of being made turbid by the heavy host have fled to the sky. It is a wonder that the earth has not to-day been split into a thousand pieces by the weight of the army; and that the bonds of its joints, the noble mountains, are not burst asunder; and that the hoods of Çesha, the lord of serpents, in distress at the burden of earth pressed down under the load of troops, do not give way.'

"While he was thus speaking, the prince reached his palace. It was adorned with many lofty triumphal arches; dotted with a thousand pavilions enclosed in grassy ramparts, and bright with many a tent of shining white cloth. Here he dismounted, and performed in kingly wise all due rites; and though the kings and ministers who had come together sought to divert him with various tales, he spent the rest of the day in sorrow, for his heart was tortured with bitter grief for his fresh separation from his father. When day was brought to a close he passed the night, too, mostly in sleeplessness, with Vaiçampayana resting on a couch not far from his own, and Patralekha sleeping hard by on a blanket placed on the ground; his talk was now of his father, now of his mother, now of Çukanasa, and he rested but little. At dawn he arose, and with an army that grew at every march, as it advanced in unchanged order, he hollowed the earth, shook the mountains, dried the rivers, emptied the lakes, crushed the woods to powder, levelled the crooked places, tore down the fortresses, filled up the hollows, and hollowed the solid ground.

"By degrees, as he wandered at will, he bowed the haughty, exalted the humble, encouraged the fearful, protected the suppliant, rooted out the vicious, and drove out the hostile. He anointed princes in different places, gathered treasures, accepted gifts, took tribute, taught local regulations, established monuments of his visit, made hymns of worship, and inscribed edicts. He honoured Brahmans, revered saints, protected hermitages, and showed a prowess that won his people's love. He exalted his majesty, heaped up his glory, showed his virtues far and wide, and won renown for his good deeds. Thus trampling down the woods on the shore, and turning the whole expanse of ocean to gray with the dust of his army, he wandered over the earth.

"The East was his first conquest, then the Southern Quarter, marked by Triçanku, then the Western Quarter, which has Varuna for its sign, and immediately afterwards the Northern Quarter adorned by the Seven Rishis. Within the three years that he roamed over the world he had subdued the whole earth, with its continents, bounded only by the moat of four oceans.

"He then, wandering sunwise, conquered and occupied Suvarnapura, not far from the Eastern Ocean, the abode of those Kiratas who dwell near Kailasa, and are called Hemajakutas, and as his army was weary from its worldwide wandering, he encamped there for a few days to rest.

"One day during his sojourn there he mounted Indrayudha to hunt, and as he roamed through the wood he beheld a pair of Kinnaras wandering down at will from the mountains. Wondering at the strange sight, and eager to take them, he brought up his horse respectfully near them and approached them. But they hurried on, fearing the unknown sight of a man, and fleeing from him, while he pursued them, doubling Indrayudha's speed by frequent pats on his neck, and went on alone, leaving his army far behind. Led on by the idea that he was just catching them, he was borne in an instant fifteen leagues from his own quarters by Indrayudha's speed as it were at one bound, and was left companionless. The pair of Kinnaras he was pursuing were climbing a steep hill in front of him. He at length turned away his glance, which was following their progress, and, checked by the steepness of the ascent, reined in Indrayudha. Then, seeing that both his horse and himself were tired and heated by their toils, he considered for a moment, and laughed at himself as he thought: 'Why have I thus wearied myself for nothing, like a

child? What matters it whether I catch the pair of Kinnaras or not? If caught, what is the good? if missed, what is the harm? What a folly this is of mine! What a love of busying myself in any trifle! What a passion for aimless toil! What a clinging to childish pleasure! The good work I was doing has been begun in vain. The needful rite I had begun has been rendered fruitless. The duty of friendship I undertook has not been performed. The royal office I was employed in has not been fulfilled. The great task I had entered on has not been completed. My earnest labour in a worthy ambition has been brought to nought. Why have I been so mad as to leave my followers behind and come so far? and why have I earned for myself the ridicule I should bestow on another, when I think how aimlessly I have followed these monsters with their horses' heads? I know not how far off is the army that follows me. For the swiftness of Indrayudha traverses a vast space in a moment, and his speed prevented my noticing as I came by what path I should turn back, for my eyes were fixed on the Kinnaras; and now I am in a great forest, spread underfoot with dry leaves, with a dense growth of creepers, underwood, and branching trees. Roam as I may here I cannot light on any mortal who can show me the way to Suvarnapura. I have often heard that Suvarnapura is the farthest bound of earth to the north, and that beyond it lies a supernatural forest, and beyond that again is Kailasa. This then is Kailasa; so I must turn back now, and resolutely seek to make my way unaided to the south. For a man must bear the fruit of his own faults.'

"With this purpose he shook the reins in his left hand, and turned the horse's head. Then he again reflected: 'The blessed sun with glowing light now adorns the south, as if he were the zone-gem of the glory of day. Indrayudha is tired; I will just let him eat a few mouthfuls of grass, and then let him bathe and drink in some mountain rill or river; and when he is refreshed I will myself drink some water, and after resting a short time under the shade of a tree, I will set out again.'

"So thinking, constantly turning his eyes on every side for water, he wandered till at length he saw a track wet with masses of mud raised by the feet of a large troop of mountain elephants, who had lately come up from bathing in a lotus-pool. Inferring thence that there was water near, he went straight on along the slope of Kailasa, the trees of which, closely crowded as they were, seemed, from their lack of boughs, to be far apart, for they were mostly pines, çal, and gum olibanum trees, and were lofty, and like a circle of umbrellas, to be gazed at with upraised head. There was thick yellow sand, and by reason of the stony soil the grass and shrubs were but scanty.

"At length he beheld, on the north-east of Kailasa, a very lofty clump of trees, rising like a mass of clouds, heavy with its weight of rain, and massed as if with the darkness of a night in the dark fortnight.

"The wind from the waves, soft as sandal, dewy, cool from passing over the water, aromatic with flowers, met him, and seemed to woo him; and the cries of kalahamsas drunk with lotus-honey, charming his ear, summoned him to enter. So he went into that clump, and in its midst beheld the Acchoda Lake, as if it were the mirror of the Lakshmi of the three worlds, the crystal chamber of the goddess of earth, the path by which the waters of ocean escape, the oozing of the quarters, the avatar of part of the sky, Kailasa taught to flow, Himavat liquefied, moonlight melted, Çiva's smile turned to water, the merit of the three worlds abiding in the shape of a lake, a range of hills of lapis lazuli changed into water, or a mass of autumn clouds poured down in one spot. From its clearness it might be Varuna's mirror; it seemed to be fashioned of the hearts of ascetics, the virtues of good men, the bright eyes of deer, or the rays of pearls.

"Like the person of a great man, it showed clearly the signs of fish, crocodile, tortoise, and cakra; like the story of Kartikeya, the lamentations of the wives of Krauñca resounded in it; it was shaken by the wings of white Dhartarashtras, as the Mahabharata by the rivalry of Pandavas and Dhartarashtras; and the drinking of poison by Çiva was represented by the drinking of its water by peacocks, as if it were the time of the churning of ocean. It was fair, like a god, with a gaze that never wavers. Like a futile argument, it seemed to have no end; and was a lake most fair and gladdening to the eyes.

"The very sight of it seemed to remove Candrapida's weariness, and as he gazed he thought:

"Though my pursuit of the horse-faced pair was fruitless, yet now that I see this lake it has gained its reward. My eyes' reward in beholding all that is to be seen has now been won, the furthest point of all fair things seen, the limit of all that gladdens us gazed upon, the boundary line of all that charms us descried, the perfection of all that causes joy made manifest, and the vanishing-point of all worthy of sight beheld. By creating this lake water, sweet as nectar, the Creator has made his own labour of creation superfluous. For this, too, like the nectar that gladdens all the senses, produces joy to the eye by its purity, offers the pleasure of touch by its coolness, gladdens the sense of smell by the fragrance of its lotuses, pleases the ear with the ceaseless murmur of its hamsas, and delights the taste with its sweetness. Truly it is from eagerness to behold this that Çiva leaves not his infatuation for dwelling on Kailasa. Surely Krishna no longer follows his own natural desire as to a watery couch, for he sleeps on the ocean, with its water bitter with salt, and leaves this water sweet as nectar! Nor is this, in sooth, the primæval lake; for the earth, when fearing the blows of the tusks of the boar of destruction, entered the ocean, all the waters of which were designed but to be a draught for Agastya; whereas, if it had plunged into this mighty lake, deep as many deep hells, it could not have been reached, I say not by one, but not even by a thousand boars. Verily it is from this lake that the clouds of doom at the seasons of final destruction draw little by little their water when they overwhelm the interstices of the universe, and darken all the quarters with their destroying storm. And methinks that the world, Brahma's egg, which in the beginning of creation was made of water, was massed together and placed here under the guise of a lake.' So thinking, he reached the south bank, dismounted and took off Indrayudha's harness; and the latter rolled on the ground, arose, ate some mouthfuls of grass, and then the prince took him down to the lake, and let him drink and bathe at will. After that, the prince took off his bridle, bound two of his feet by a golden chain to the lower bough of a tree hard by, and, cutting off with his dagger some durva grass from the bank of the lake, threw it before the horse, and went back himself to the water. He washed his hands, and feasted, like the cataka, on water; like the cakravaka, he tasted pieces of lotus-fibre; like the moon with its beams, he touched the moon-lotuses with his finger-tips; like a snake, he welcomed the breeze of the waves; like one wounded with Love's arrows, he placed a covering of lotus-leaves on his breast; like a mountain elephant, when the tip of his trunk is wet with spray, he adorned his hands with spray-washed lotuses. Then with dewy lotus-leaves, with freshly-broken fibres, he made a couch on a rock embowered in creepers, and rolling up his cloak for a pillow, lay down to sleep. After a short rest, he heard on the north bank of the lake a sweet sound of unearthly music, borne on the ear, and blent with the chords of the vina. Indrayudha heard it first, and letting fall the grass he was eating, with ears fixed and neck arched, turned towards the voice. The prince, as he heard it, rose from his lotus-couch in curiosity to see whence this song could arise in a place deserted by men, and cast his glance towards the region; but, from the great distance, he was unable, though he strained his eyes to the utmost, to discern anything, although he ceaselessly heard the sound. Desiring in his eagerness to know its

source, he determined to depart, and saddling and mounting Indrayudha, he set forth by the western forest path, making the song his goal; the deer, albeit unasked, were his guides, as they rushed on in front, delighting in the music.

"Welcomed by the breezes of Kailasa, he went towards that spot, which was surrounded by trees on all sides, and at the foot of the slope of Kailasa, on the left bank of the lake, called Candraprabha, which whitened the whole region with a splendour as of moonlight, he beheld an empty temple of Çiva.

"As he entered the temple he was whitened by the falling on him of ketaki pollen, tossed by the wind, as if for the sake of seeing Çiva he had been forcibly made to perform a vow of putting on ashes, or as if he were robed in the pure merits of entering the temple; and, in a crystal shrine resting on four pillars, he beheld Çiva, the four-faced, teacher of the world, the god whose feet are honoured by the universe, with his emblem, the linga, made of pure pearl. Homage had been paid to the deity by shining lotuses of the heavenly Ganges, that might be mistaken for crests of pearls, freshly-plucked and wet, with drops falling from the ends of their leaves, like fragments of the moon's disc split and set upright, or like parts of Çiva's own smile, or scraps of Çesha's hood, or brothers of Krishna's conch, or the heart of the Milky Ocean.

"But, seated in a posture of meditation, to the right of the god, facing him, Candrapida beheld a maiden vowed to the service of Çiva, who turned the region with its mountains and woods to ivory by the brightness of her beauty. For its lustre shone far, spreading through space, white as the tide of the Milky Ocean, overwhelming all things at the day of doom, or like a store of penance gathered in long years and flowing out, streaming forth massed together like Ganges between the trees, giving a fresh whiteness to Kailasa, and purifying the gazer's soul, though it but entered his eye. The exceeding whiteness of her form concealed her limbs as though she had entered a crystal shrine, or had plunged into a sea of milk, or were hidden in spotless silk, or were caught on the surface of a mirror, or were veiled in autumn clouds. She seemed to be fashioned from the quintessence of whiteness, without the bevy of helps for the creation of the body that consist of matter formed of the five gross elements.

She was like sacrifice impersonate, come to worship Çiva, in fear of being seized by the unworthy; or Rati, undertaking a rite of propitiation to conciliate him, for the sake of Kama's body; or Lakshmi, goddess of the Milky Ocean, longing for a digit of Çiva's moon, her familiar friend of yore when they dwelt together in the deep; or the embodied moon seeking Çiva's protection from Rahu; or the beauty of Airavata, come to fulfil Çiva's wish to wear an elephant's skin; or the brightness of the smile on the right face of Çiva become manifest and taking a separate abode; or the white ash with which Çiva besprinkles himself, in bodily shape; or moonlight made manifest to dispel the darkness of Çiva's neck; or the embodied purity of Gauri's mind; or the impersonate chastity of Kartikeya; or the brightness of Çiva's bull, dwelling apart from his body; or the wealth of flowers on the temple trees come of themselves to worship Çiva; or the fulness of Brahma's penance come down to earth; or the glory of the Prajapatis of the Golden Age, resting after the fatigue of wandering through the seven worlds; or the Three Vedas, dwelling in the woods in grief at the overthrow of righteousness in the Kali Age; or the germ of a future Golden Age, in the form of a maiden; or the fulness of a muni's contemplation, in human shape; or a troop of heavenly elephants, falling into confusion on reaching the heavenly Ganges; or the beauty of Kailasa, fallen in dread of being uprooted by Ravana; or the Lakshmi of the Çvetadvipa come to behold another continent; or the grace of an opening kaça-blossom looking for the autumn; or the brightness of Çesha's body leaving hell and come to earth; or the brilliance of Balarama, which had left him in weariness of his intoxication; or a succession of bright fortnights massed together.

"She seemed from her whiteness to have taken a share from all the hamsas; or to have come from the heart of righteousness; or to have been fashioned from a shell; or drawn from a pearl; or formed from lotus-fibres; or made of flakes of ivory; or purified by brushes of moonbeams; or inlaid with lime; or whitened with foam-balls of ambrosia; or laved in streams of quicksilver; or rubbed with melted silver; or dug out from the moon's orb; or decked with the hues of kutaja, jasmine, and sinduvara flowers. She seemed, in truth, to be the very furthest bound of whiteness. Her head was bright with matted locks hanging on her shoulders, made, as it were, of the brightness of morning rays taken from the sun on the Eastern Mountain, tawny like the quivering splendour of flashing lightning, and, being wet from recent bathing, marked with the dust of Çiva's feet clasped in her devotion; she bore Çiva's feet marked with his name in jewels on her head, fastened with a band of hair; and her brow had a sectarial mark of ashes pure as the dust of stars ground by the heels of the sun's horses. She was a goddess, and her age could not be known by earthly reckoning, but she resembled a maiden of eighteen summers.

"Having beheld her, Candrapida dismounted, tied his horse to a bough, and then, reverently bowing before the blessed Çiva, gazed again on that heavenly maiden with a steady unswerving glance. And as her beauty, grace, and serenity stirred his wonder, the thought arose in him: 'How in this world each matter in its turn becomes of no value! For when I was pursuing the pair of Kinnaras wantonly and vainly I beheld this most beautiful place, inaccessible to men, and haunted by the immortals. Then in my search for water I saw this delightful lake sought by the Siddhas. While I rested on its bank I heard a divine song; and as I followed the sound, this divine maiden, too fair for mortal sight, met my eyes. For I cannot doubt her divinity. Her very beauty proclaims her a goddess. And whence in the world of men could there arise such harmonies of heavenly minstrelsy? If, therefore, she vanishes not from my sight, nor mounts the summit of Kailasa, nor flies to the sky, I will draw near and ask her, "Who art thou, and what is thy name, and why hast thou in the dawn of life undertaken this vow?" This is all full of wonder.' With this resolve he approached another pillar of the crystal shrine, and sat there, awaiting the end of the song.

"Then when she had stilled her lute, like a moon-lotus bed when the pleasant hum of the bees is silenced, the maiden rose, made a sunwise turn and an obeisance to Çiva, and then turning round, with a glance by nature clear, and by the power of penance confident, she, as it were, gave courage to Candrapida, as if thereby she were sprinkling him with merits, laving him with holy water, purifying him with penance, freeing him from stain, giving him his heart's desire, and leading him to purity.

"Hail to my guest!' said she. 'How has my lord reached this place? Rise, draw near, and receive a guest's due welcome.' So she spake; and he, deeming himself honoured even by her deigning to speak with him, reverently arose and bowed before her. 'As thou biddest, lady,' he replied, and showed his courtesy by following in her steps like a pupil. And on the way he thought: 'Lo, even when she beheld me she did not vanish! Truly a hope of asking her questions has taken hold of my heart. And when I see the courteous welcome, rich in kindness, of this maiden, fair though she be with a beauty rare in ascetics, I surely trust that at my petition she will tell me all her story.'

"Having gone about a hundred paces, he beheld a cave, with its entrance veiled by dense tamalas, showing even by day a night of their own; its edge was vocal with the glad bees' deep murmur on the bowers of creepers with their opening blossoms; it was bedewed with torrents that in their sheer descent fell in foam, dashing against the white rock, and cleft by the axe-like points

of the jagged cliff, with a shrill crash as the cold spray rose up and broke; it was like a mass of waving cowries hanging from a door, from the cascades streaming down on either side, white as Çiva's smile, or as pearly frost. Within was a circle of jewelled pitchers; on one side hung a veil worn in sacred meditation; a clean pair of shoes made of cocoanut matting hung on a peg; one corner held a bark bed gray with dust scattered by the ashes the maiden wore; the place of honour was filled by a bowl of shell carved with a chisel, like the orb of the moon; and close by there stood a gourd of ashes.

"On the rock at the entrance Candrapida took his seat, and when the maiden, having laid her lute on the pillow of the bark bed, took in a leafy cup some water from the cascade to offer to her guest, and he said as she approached: 'Enough of these thy great toils. Cease this excess of grace. Be persuaded, lady. Let this too great honour be abandoned. The very sight of thee, like the aghamarshana hymn, stills all evil and sufficeth for purification. Deign to take thy seat!' Yet being urged by her, he reverently, with head bent low, accepted all the homage she gave to her guest. When her cares for her guest were over, she sat down on another rock, and after a short silence he told, at her request, the whole story of his coming in pursuit of the pair of Kinnaras, beginning with his expedition of conquest. The maiden then rose, and, taking a begging bowl, wandered among the trees round the temple; and ere long her bowl was filled with fruits that had fallen of their own accord. As she invited Candrapida to the enjoyment of them, the thought arose in his heart: 'Of a truth, there is nought beyond the power of penance. For it is a great marvel how the lords of the forest, albeit devoid of sense, yet, like beings endowed with sense, gain honour for themselves by casting down their fruits for this maiden. A wondrous sight is this, and one never seen before.'

"So, marvelling yet more, he brought Indrayudha to that spot, unsaddled him, and tied him up hard by. Then, having bathed in the torrent, he partook of the fruits, sweet as ambrosia, and drank the cool water of the cascade, and having rinsed his mouth, he waited apart while the maiden enjoyed her repast of water, roots, and fruit.

"When her meal was ended and she had said her evening prayer, and taken her seat fearlessly on the rock, the Prince quietly approached her, and sitting down near her, paused awhile and then respectfully said:

"Lady, the folly that besets mankind impels me even against my will to question thee, for I am bewildered by a curiosity that has taken courage from thy kindness. For even the slightest grace of a lord emboldens a weak nature: even a short time spent together creates intimacy. Even a slight acceptance of homage produces affection. Therefore, if it weary thee not, I pray thee to honour me with thy story. For from my first sight of thee a great eagerness has possessed me as to this matter. Is the race honoured by thy birth, lady, that of the Maruts, or Rishis, or Gandharvas, or Guhyakas, or Apsarases? And wherefore in thy fresh youth, tender as a flower, has this vow been taken? For how far apart would seem thy youth, thy beauty, and thine exceeding grace, from this thy peace from all thoughts of earth! This is marvellous in mine eyes! And wherefore hast thou left the heavenly hermitages that gods may win, and that hold all things needful for the highest saints, to dwell alone in this deserted wood? And whereby hath thy body, though formed of the five gross elements, put on this pure whiteness? Never have I heard or seen aught such as this. I pray thee dispel my curiosity, and tell me all I ask.'

"For a little time she pondered his request in silence, and then she began to weep noiselessly, and her eyes were blinded by tears which fell in large drops, carrying with them the purity of her heart, showering down the innocence of her senses, distilling the essence of asceticism, dropping in a liquid form the brightness of her eyes, most pure, falling on her white cheeks like a broken string of pearls, unceasing, splashing on her bosom covered by the bark robe.

"And as he beheld her weeping Candrapida reflected: 'How hardly can misfortune be warded off, if it takes for its own a beauty like this, which one might have deemed beyond its might! Of a truth there is none whom the sorrows of life in the body leave untouched. Strong indeed is the working of the opposed powers of pleasure and pain. These her tears have created in me a further curiosity, even greater than before. It is no slight grief that can take its abode in a form like hers. For it is not a feeble blow that causes the earth to tremble.'

"While his curiosity was thus increased he felt himself guilty of recalling her grief, and rising, brought in his folded hand from the torrent some water to bathe her face. But she, though the torrent of her tears was in nowise checked by his gentleness, yet bathed her reddened eyes, and drying her face with the edge of her bark robe, slowly said with a long and bitter sigh:

"Wherefore, Prince, wilt thou hear the story of my ascetic life, all unfit for thy ears? for cruel has been my heart, hard my destiny, and evil my condition, even from my birth. Still, if thy desire to know be great, hearken. It has come within the range of our hearing, usually directed to auspicious knowledge, that there are in the abode of the gods maidens called Apsarases. Of these there are fourteen families: one sprung from the mind of Brahma, another from the Vedas, another from fire, another from the wind, another from nectar when it was churned, another from water, another from the sun's rays, another from the moon's beams, another from earth, and another from lightning; one was fashioned by Death, and another created by Love; besides, Daksha, father of all, had among his many daughters two, Muni and Arishta, and from their union with the Gandharvas were sprung the other two families. These are, in sum, the fourteen races. But from the Gandharvas and the daughters of Daksha sprang these two families. Here Muni bore a sixteenth son, by name Citraratha, who excelled in virtues Sena and all the rest of his fifteen brothers. For his heroism was famed through the three worlds; his dignity was increased by the name of Friend, bestowed by Indra, whose lotus feet are caressed by the crests of the gods cast down before him; and even in childhood he gained the sovereignty of all the Gandharvas by a right arm tinged with the flashing of his sword. Not far hence, north of the land of Bharata, is his dwelling, Hemakuta, a boundary mountain in the Kimpurusha country. There, protected by his arm, dwell innumerable Gandharvas. By him this pleasant wood, Caitraratha, was made, this great lake Acchoda was dug out, and this image of Çiva was fashioned. But the son of Arishta, in the second Gandharva family, was as a child anointed king by Citraratha, lord of the Gandharvas, and now holds royal rank, and with a countless retinue of Gandharvas dwells likewise on this mountain. Now, from that family of Apsarases which sprang from the moon's nectar was born a maiden, fashioned as though by the grace of all the moon's digits poured in one stream, gladdening the eyes of the universe, moonbeam-fair, in name and nature a second Gauri. Her Hamsa, lord of the second family, wooed, as the Milky Ocean the Ganges; with him she was united, as Rati with Kama, or the lotus-bed with the autumn; and enjoying the great happiness of such a union she became the queen of his zenana. To this noble pair I was born as only daughter, ill-omened, a prey for grief, and a vessel for countless sorrows; my father, however, having no other child, greeted my birth with a great festival, surpassing that for a son, and on the tenth day, with the customary rites he gave me the fitting name of Mahaçveta. In his palace I spent my childhood, passed from lap to lap of the Gandharva dames, like a lute, as I murmured the prattle of babyhood, ignorant as yet of the sorrows of love; but in time fresh youth came to

me as the honey-month to the spring, fresh shoots to the honey-month, flowers to the fresh shoots, bees to the flowers, and honey to the bees.

"" And one day in the month of honey I went down with my mother to the Acchoda lake to bathe, when its beauties were spread wide in the spring, and all its lotuses were in flower.

""I worshipped the pictures of Çiva, attended by Bringiriti, which were carved on the rocks of the bank by Parvati when she came down to bathe, and which had the reverential attendance of ascetics portrayed by the thin footprints left in the dust. "How beautiful!" I cried, "is this bower of creepers, with its clusters of flowers of which the bees' weight has broken the centre and bowed the filaments; this mango is fully in flower, and the honey pours through the holes in the stalks of its buds, which the cuckoo's sharp claws have pierced; how cool this sandal avenue, which the serpents, terrified at the murmur of hosts of wild peacocks, have deserted; how delightful the waving creepers, which betray by their fallen blossoms the swinging of the wood-nymphs upon them; how pleasant the foot of the trees on the bank where the kalahamsas have left the line of their steps imprinted in the pollen of many a flower!" Drawn on thus by the ever-growing charms of the wood, I wandered with my companions. And at a certain spot I smelt the fragrance of a flower strongly borne on the wind, overpowering that of all the rest, though the wood was in full blossom; it drew near, and by its great sweetness seemed to anoint, to delight, and to fill the sense of smell. Bees followed it, seeking to make it their own: it was truly a perfume unknown heretofore, and fit for the gods. I, too, eager to learn whence it came, with eyes turned into buds, and drawn on like a bee by that scent, and attracting to me the kalahamsas of the lake by the jangling of my anklets loudly clashed in the tremulous speed of my curiosity, advanced a few steps and beheld a graceful youthful ascetic coming down to bathe. He was like Spring doing penance in grief for Love made the fuel of Çiva's fire, or the crescent on Çiva's brow performing a vow to win a full orb, or Love restrained in his eagerness to conquer Çiva: by his great splendour he appeared to be girt by a cage of quivering lightning, embosomed in the globe of the summer sun, or encircled in the flames of a furnace: by the brightness of his form, flashing forth ever more and more, yellow as lamplight, he made the grove a tawny gold; his locks were yellow and soft like an amulet dyed in gorocana. The line of ashes on his brow made him like Ganges with the line of a fresh sandbank, as though it were a sandal-mark to win Sarasvati, and played the part of a banner of holiness; his eyebrows were an arch rising high over the abode of men's curses; his eyes were so long that he seemed to wear them as a chaplet; he shared with the deer the beauty of their glance; his nose was long and aquiline; the citron of his lower lip was rosy as with the glow of youth, which was refused an entrance to his heart; with his beardless cheek he was like a fresh lotus, the filaments of which have not yet been tossed by the bees in their sport; he was adorned with a sacrificial thread like the bent string of Love's bow, or a filament from the lotus grove of the pool of penance; in one hand he bore a pitcher like a kesara fruit with its stalk; in the other a crystal rosary, strung as it were with the tears of Rati wailing in grief for Love's death. His loins were girt with a muñja-grass girdle, as though he had assumed a halo, having outvied the sun by his innate splendour; the office of vesture was performed by the bark of the heavenly coral-tree, bright as the pink eyelid of an old partridge, and washed in the waves of the heavenly Ganges; he was the ornament of ascetic life, the youthful grace of holiness, the delight of Sarasvati, the chosen lord of all the sciences, and the meeting-place of all divine tradition. He had, like the summer season, his ashadha; he had, like a winter wood, the brightness of opening millet, and he had like the month of honey, a face adorned with white tilaka. With him there was a youthful ascetic gathering flowers to worship the gods, his equal in age and a friend worthy of himself.

""Then I saw a wondrous spray of flowers which decked his ear, like the bright smile of woodland Çri joying in the sight of spring, or the grain-offering of the honey-month welcoming the Malaya winds, or the youth of the Lakshmi of flowers, or the cowie that adorns Love's elephant; it was wooed by the bees; the Pleiads lent it their grace; and its honey was nectar. "Surely," I decided, "this is the fragrance which makes all other flowers scentless," and gazing at the youthful ascetic, the thought arose in my mind: "Ah, how lavish is the Creator who has skill to produce the highest perfection of form, for he has compounded Kama of all miraculous beauty, excelling the universe, and yet has created this ascetic even more fair, surpassing him, like a second love-god, born of enchantment. Methinks that when Brahma made the moon's orb to gladden the world, and the lotuses to be Lakshmi's palace of delight, he was but practising to gain skill for the creation of this ascetic's face; why else should such things be created? Surely it is false that the sun with its ray Sushumna drinks all the digits of the moon as it wanes in the dark fortnight, for their beams are cast down to enter this fair form. How otherwise could there be such grace in one who lives in weary penance, beauty's destroyer?" As I thus thought, Love, beauty's firm adherent, who knows not good from ill, and who is ever at hand to the young, enthralled me, together with my sighs, as the madness of spring takes captive the bee. Then with a right eye gazing steadily, the eyelashes half closed, the iris darkened by the pupil's tremulous sidelong glance, I looked long on him. With this glance I, as it were, drank him in, besought him, told him I was wholly his, offered my heart, tried to enter into him with my whole soul, sought to be absorbed in him, implored his protection to save Love's victim, showed my suppliant state that asked for a place in his heart; and though I asked myself, "What is this shameful feeling that has arisen in me, unseemly and unworthy a noble maiden?" yet knowing this, I could not master myself, but with great difficulty stood firm, gazing at him. For I seemed to be paralyzed, or in a picture, or scattered abroad, or bound, or in a trance, and yet in wondrous wise upheld, as though when my limbs were failing, support was at the same moment given; for I know not how one can be certain in a matter that can neither be told nor taught, and that is not capable of being told, for it is only learnt from within. Can it be ascertained as presented by his beauty, or by my own mind, or by love, or by youth or affection, or by any other causes? I cannot tell. Lifted up and dragged towards him by my senses, led forward by my heart, urged from behind by Love, I yet by a strong effort restrained my impulse. Straightway a storm of sighs went forth unceasingly, prompted by Love as he strove to find a place within me; and my bosom heaved as longing to speak earnestly to my heart, and then I thought to myself: "What an unworthy action is this of vile Kama, who surrenders me to this cold ascetic free from all thoughts of love! Truly, the heart of woman is foolish exceedingly, since it cannot weigh the fitness of that which it loves. For what has this bright home of glory and penance to do with the stirrings of love that meaner men welcome? Surely in his heart he scorns me for being thus deceived by Kama! Strange it is that I who know this cannot restrain my feeling! Other maidens, indeed, laying shame aside, have of their own accord gone to their lords; others have been maddened by that reckless love-god; but not as I am here alone! How in that one moment has my heart been thrown into turmoil by the mere sight of his form, and passed from my control! for time for knowledge and good qualities always make Love invincible. It is best for me to leave this place while I yet have my senses, and while he does not clearly see this my hateful folly of love. Perchance if he sees in me the effects of a love he cannot approve, he will in wrath make me feel his curse. For ascetics are ever prone to wrath." Thus having resolved, I was eager to depart, but, remembering that holy men should be revered by all, I made an obeisance to him with eyes turned to his face, eyelashes motionless, not glancing downwards, my

cheek uncaressed by the flowers dancing in my ears, my garland tossing on my waving hair, and my jewelled earrings swinging on my shoulders.

""As I thus bent, the irresistible command of love, the inspiration of the spring, the charm of the place, the frowardness of youth, the unsteadiness of the senses, the impatient longing for earthly goods, the fickleness of the mind, the destiny that rules events--in a word, my own cruel fate, and the fact that all my trouble was caused by him, were the means by which Love destroyed his firmness by the sight of my feeling, and made him waver towards me like a flame in the wind. He too was visibly thrilled, as if to welcome the newly-entering Love; his sighs went before him to show the way to his mind which was hastening towards me; the rosary in his hand trembled and shook, fearing the breaking of his vow; drops rose on his cheek, like a second garland hanging from his ear; his eyes, as his pupils dilated and his glance widened in the joy of beholding me, turned the spot to a very lotus-grove, so that the ten regions were filled by the long rays coming forth like masses of open lotuses that had of their own accord left the Acchoda lake and were rising to the sky.

""By the manifest change in him my love was redoubled, and I fell that moment into a state I cannot describe, all unworthy of my caste. "Surely," I reflected, "Kama himself teaches this play of the eye, though generally after a long happy love, else whence comes this ascetic's gaze? For his mind is unversed in the mingled feelings of earthly joys, and yet his eyes, though they have never learnt the art, pour forth the stream of love's sweetness, rain nectar, are half closed by joy, are slow with distress, heavy with sleep, roaming with pupils tremulous and languid with the weight of gladness, and yet bright with the play of his eyebrows. Whence comes this exceeding skill that tells the heart's longing wordlessly by a glance alone?"

""Impelled by these thoughts I advanced, and bowing to the second young ascetic, his companion, I asked: "What is the name of his Reverence? Of what ascetic is he the son? From what tree is this garland woven? For its scent, hitherto unknown, and of rare sweetness, kindles great curiosity in me."

""With a slight smile, he replied: "Maiden, what needs this question? But I will enlighten thy curiosity. Listen!

""There dwells in the world of gods a great sage, Çvetaketu; his noble character is famed through the universe; his feet are honoured by bands of siddhas, gods, and demons; his beauty, exceeding that of Nalakubara, is dear to the three worlds, and gladdens the hearts of goddesses. Once upon a time, when seeking lotuses for the worship of the gods, he went down to the Heavenly Ganges, which lay white as Çiva's smile, while its water was studded as with peacocks' eyes by the ichor of Airavata. Straightway Lakshmi, enthroned on a thousand-petalled white lotus close by, beheld him coming down among the flowers, and looking on him, she drank in his beauty with eyes half closed by love, and quivering with weight of joyous tears, and with her slender fingers laid on her softly-opening lips; and her heart was disturbed by Love; by her glance alone she won his affection. A son was born, and taking him in her arms with the words, 'Take him, for he is thine,' she gave him to Çvetaketu, who performed all the rites of a son's birth, and called him Pundarika, because he was born in a pundarika lotus. Moreover, after initiation, he led him through the whole circle of the arts. This is Pundarika whom you see. And this spray comes from the parijata tree, which rose when the Milky Ocean was churned by gods and demons. How it gained a place in his ear contrary to his vow, I will now tell. This being the fourteenth day of the month, he started with me from heaven to worship Çiva, who had gone to Kailasa. On the way, near the Nandana Wood, a nymph, drunk with the juice of flowers, wearing fresh mango shoots in her ear, veiled completely by garlands falling to the knees, girt with kesara flowers, and resting on the fair hand lent her by the Lakshmi of spring, took this spray of parijata, and bending low, thus addressed Pundarika: 'Sir, let, I pray, this thy form, that gladdens the eyes of the universe, have this spray as its fitting adornment; let it be placed on the tip of thy ear, for it has but the playfulness that belongs to a garland; let the birth of the parijata now reap its full blessing!' At her words, his eyes were cast down in modesty at the praise he so well deserved, and he turned to depart without regarding her; but as I saw her following us, I said, 'What is the harm, friend. Let her courteous gift be accepted!' and so by force, against his will, the spray adorns his ear. Now all has been told: who he is, whose son, and what this flower is, and how it has been raised to his ear." When he had thus spoken, Pundarika said to me with a slight smile: "Ah, curious maiden, why didst thou take the trouble to ask this? If the flower, with its sweet scent, please thee, do thou accept it," and advancing, he took it from his own ear and placed it in mine, as though, with the soft murmur of the bees on it, it were a prayer for love. At once, in my eagerness to touch his hand, a thrill arose in me, like a second parijata flower, where the garland lay; while he, in the pleasure of touching my cheek, did not see that from his tremulous fingers he had dropped his rosary at the same time as his timidity; but before it reached the ground I seized it, and playfully placed it on my neck, where it wore the grace of a necklace unlike all others, while I learnt the joy of having my neck clasped, as it were, by his arm.

""As our hearts were thus occupied with each other, my umbrella-bearer addressed me: "Princess, the Queen has bathed. It is nearly time to go home. Do thou, therefore, also bathe." At her words, like a newly-caught elephant, rebellious at the first touch of the new hook, I was unwillingly dragged away, and as I went down to bathe, I could hardly withdraw my eyes, for they seemed to be drowned in the ambrosial beauty of his face, or caught in the thicket of my thrilling cheek, or pinned down by Love's shafts, or sewn fast by the cords of his charms.

""Meanwhile, the second young ascetic, seeing that he was losing his self-control, gently upbraided him: "Dear Pundarika, this is unworthy of thee. This is the way trodden by common men. For the good are rich in self-control. Why dost thou, like a man of low caste, fail to restrain the turmoil of thy soul? Whence comes this hitherto unknown assault of the senses, which so transforms thee? Where is thine old firmness? Where thy conquest of the senses? Where thy self-control? Where thy calm of mind, thine inherited holiness, thy carelessness of earthly things? Where the teaching of thy guru, thy learning of the Vedas, thy resolves of asceticism, thy hatred of pleasure, thine aversion to vain delights, thy passion for penance, thy distaste for enjoyments, thy rule over the impulses of youth? Verily all knowledge is fruitless, study of holy books is useless, initiation has lost its meaning, pondering the teaching of gurus avails not, proficiency is worthless, learning leads to nought, since even men like thee are stained by the touch of passion, and overcome by folly. Thou dost not even see that thy rosary has fallen from thy hand, and has been carried away. Alas! how good sense fails in men thus struck down. Hold back this heart of thine, for this worthless girl is seeking to carry it away."

""To these words he replied, with some shame: "Dear Kapiñjala, why dost thou thus misunderstand me? I am not one to endure this reckless girl's offence in taking my rosary!" and with his moonlike face beautiful in its feigned wrath, and adorned the more by the dread frown he tried to assume, while his lip trembled with longing to kiss me, he said to me, "Playful maiden, thou shalt not move a step from this place without giving back my rosary." Thereupon I loosed from my neck a single row of pearls as the flower-offering that begins a dance in Kama's honour, and placed it in his outstretched hand, while his eyes were

fixed on my face, and his mind was far away. I started to bathe, but how I started I know not, for my mother and my companions could hardly lead me away by force, like a river driven backwards, and I went home thinking only of him.

""And entering the maidens' dwelling, I began straightway to ask myself in my grief at his loss: 'Am I really back, or still there? Am I alone, or with my maidens? Am I silent, or beginning to speak? Am I awake or asleep? Do I weep or hold back my tears? Is this joy or sorrow, longing or despair, misfortune or gladness, day or night? Are these things pleasures or pains?' All this I understood not. In my ignorance of Love's course, I knew not whither to go, what to do, hear, see, or speak, whom to tell, nor what remedy to seek. Entering the maidens' palace, I dismissed my friends at the door, and shut out my attendants, and then, putting aside all my occupations, I stood alone with my face against the jewelled window. I gazed at the region which, in its possession of him, was richly decked, endowed with great treasure, overflowed by the ocean of nectar, adorned with the rising of the full moon, and most fair to behold, I longed to ask his doings even of the breeze wafted from thence, or of the scent of the woodland flowers, or of the song of the birds. I envied even the toils of penance for his devotion to them. For his sake, in the blind adherence of love, I took a vow of silence. I attributed grace to the ascetic garb, because he accepted it, beauty to youth because he owned it, charm to the parijata flower because it touched his ear, delight to heaven because he dwelt there, and invincible power to love because he was so fair. Though far away, I turned towards him as the lotus-bed to the sun, the tide to the moon, or the peacock to the cloud. I bore on my neck his rosary, like a charm against the loss of the life stricken by his absence. I stood motionless, though a thrill made the down on my cheek like a kadamba flower ear-ring, as it rose from the joy of being touched by his hand, and from the parijata spray in my ear, which spoke sweetly to me of him.

""Now my betel-bearer, Taralika, had been with me to bathe; she came back after me rather late, and softly addressed me in my sadness: 'Princess, one of those godlike ascetics we saw on the bank of Lake Acchoda-- he by whom this spray of the heavenly tree was placed in thy ear--as I was following thee, eluded the glance of his other self, and approaching me with soft steps between the branches of a flowering creeper, asked me concerning thee, saying, 'Damsel, who is this maiden? Whose daughter is she? What is her name? And whither goes she?' I replied: 'She is sprung from Gauri, an Apsaras of the moon race, and her father Hamsa is king of all the Gandharvas; the nails of his feet are burnished by the tips of the jewelled aigrettes on the turbans of all the Gandharvas; his tree-like arms are marked by the cosmetics on the cheeks of his Gandharva wives, and the lotus-hand of Lakshmi forms his footstool. The princess is named Mahaçveta, and she has set out now for the hill of Hemakuta, the abode of the Gandharvas.'

""When this tale had been told by me, he thought silently for a moment, and then looking long at me with a steady gaze, as if gently entreating me, he said: 'Damsel, thy form, young as thou art, is of fair promise, and augurs truth and steadfastness. Grant me, therefore, one request.' Courteously raising my hands, I reverently replied: 'Wherefore say this? Who am I? When great-souled men such as thou, meet for the honour of the whole universe, deign to cast even their sin-removing glance on one like me, their act wins merit--much more if they give a command. Say, therefore, freely what is to be done. Let me be honoured by thy bidding.'

""Thus addressed, he saluted me with a kindly glance, as a friend, a helper, or a giver of life; and taking a shoot from a tamala-tree hard by, he crushed it on the stones of the bank, broke off a piece from his upper bark garment as a tablet, and with the tamala-juice, sweet as the ichor of a gandha elephant, wrote with the nail of the little finger of his lotus-hand, and placed it in my hand, saying, 'Let this letter be secretly given by thee to that maiden when alone.'" With these words she drew it from the betel-box and showed it to me.

""As I took from her hand that bark letter, I was filled with this talk about him, which, though but a sound, produced the joy of contact, and though for the ears alone, had its pervading presence in all my limbs manifested by a thrill, as if it were a spell to invoke Love; and in his letter I beheld these lines:

A hamsa on the Manas lake, lured by a creeper's treacherous shine, My heart is led a weary chase, lured by that pearly wreath of thine.

""By the reading of this, an even greater change for the worse was wrought in my lovesick mind, as in one who has lost his way, by also losing his bearings; as in a blind man, by a night of the dark fortnight; as in a dumb man, by cutting out the tongue; as in an ignorant man, by a conjuror's waving fan; as in a confused talker, by the delirium of fever; as in one poisoned, by the fatal sleep; as in a wicked man, by atheistic philosophy; as in one distraught, by strong drink; or as in one possessed, by the action of the possessing demon; so that in the turmoil it created in me, I was tossed like a river in flood. I honoured Taralika for having seen him again, as one who had acquired great merit, or who had tasted the joys of heaven, or had been visited by a god, or had her highest boon granted, or had drunk nectar, or had been anointed queen of the three worlds. I spoke to her reverently, as if, though always by me, she were a rare visitant, and though my familiar friend, she were hitherto unknown. I looked on her, though behind me, as above the world; I tenderly caressed the curls on her cheek, and entirely set at nought the condition of mistress and maid, again and again asking, "How was he seen by thee? What did he say to thee? How long wert thou there? How far did he follow us?" And shutting out all my attendants, I spent the whole day with her in the palace, listening to that tale. The sun's orb hanging in the sky became crimson, sharing my heart's glow; the Lakshmi of sunlight longing for the sight of the flushed sun, and preparing her lotus-couch, turned pale as though faint with love; the sunbeams, rosy as they fell on waters dyed with red chalk, rose from the lotus-beds clustering like herds of woodland elephants; the day, with an echo of the joyous neighing of the steeds of the sun's chariot longing to rest after their descent of the sky, entered the caves of Mount Meru; the lotus-beds, as the bees entered the folded leaves of the red lilies, seemed to close their eyes as though their hearts were darkened by a swoon at the sun's departure; the pairs of cakravakas, each taking the other's heart, safely hidden in the hollow lotus-stalks whereof they had eaten together, were now parted; and my umbrella-bearer approaching me, said as follows: "Princess, one of those youthful hermits is at the door, and says he has come to beg for a rosary." At the hermit's name, though motionless, I seemed to approach the door, and suspecting the reason of his coming, I summoned another chamberlain, whom I sent, saying, "Go and admit him." A moment later I beheld the young ascetic Kapiñjala, who is to Pundarika as youth to beauty, love to youth, spring to love, southern breezes to spring, and who is indeed a friend worthy of him; he followed the hoary chamberlain as sunlight after moonlight. As he drew near his appearance betrayed to me trouble, sadness, distraction, entreaty, and a yearning unfulfilled. With a reverence I rose and respectfully brought him a seat; and when he was reluctantly forced to accept it, I washed his feet and dried them on the silken edge of my upper robe; and then sat by him on the bare ground. For a moment he waited, as if eager to speak, when he cast his eyes on Taralika close by. Knowing his desire at a glance, I said, "Sir, she is one with me. Speak

fearlessly." At my words Kapiñjala replied: "Princess, what can I say? for through shame my voice does not reach the sphere of utterance. How far is the passionless ascetic who lives on roots in the woods from the illusion of passion that finds its home in restless souls, and is stained with longing for earthly pleasures, and filled with the manifold sports of the Love God. See how unseemly all this is! What has fate begun? God easily turns us into a laughing-stock! I know not if this be fitting with bark garments, or seemly for matted locks, or meet for penance, or consonant with the teaching of holiness! Such a mockery was never known! I needs must tell you the story. No other course is visible; no other remedy is perceived; no other refuge is at hand; no other way is before me. If it remains untold, even greater trouble will arise. A friend's life must be saved even at the loss of our own; so I will tell the tale:

"It was in thy presence that I sternly rebuked Pundarika, and after that speech I left him in anger and went to another place, leaving my task of gathering flowers. After thy departure, I remained apart a short time, and then, becoming anxious as to what he was doing, I turned back and examined the spot from behind a tree. As I did not see him there, the thought arose within me, 'His mind was enslaved by love, and perchance he followed her; and now that she is gone, he has regained his senses, and is ashamed to come within my sight; or he has gone from me in wrath, or departed hence to another place in search of me.' Thus thinking, I waited some time, but, troubled by an absence I had never since my birth suffered for a moment, I again thought, 'It may be that, in shame at his failure in firmness, he will come to some harm; for shame makes everything possible; he must not, then, be left alone.' With this resolve, I earnestly made search for him. But as I could not see him, though I sought on all sides, made anxious by love for my friend, I pictured this or that misfortune, and wandered long, examining glades of trees, creeper bowers among the sandal avenues, and the banks of lakes, carefully glancing on every side. At length I beheld him in a thicket of creepers near a lake, a very birthplace for spring, most fair, and in its close growth appearing to be made wholly of flowers, of bees, of cuckoos, and of peacocks. From his entire absence of employment, he was as one painted, or engraved, or paralyzed, or dead, or asleep, or in a trance of meditation; he was motionless, yet wandering from his right course; alone, yet possessed by Love; all aglow, yet raising a pallid face; absent-minded, yet giving his love a place within him; silent, and yet telling a tale of Love's great woe; seated on a stone, yet standing in face of death. He was tormented by Kama, who yet, in fear of many a curse, remained unseen. By his great stillness he appeared to be deserted by the senses which had entered into him to behold the love that dwelt in his heart, and had fainted in fear at its unbearable heat, or had left him in wrath at the tossing of his mind. From eyes steadily closed, and dimmed within by the smoke of Love's keen fire, he ceaselessly poured forth a storm of tears trickling down through his eyelashes. The filaments of the creepers near trembled in the sighs which rushed out, bearing the redness of his lips like the upstarting ruddy flame of Kama burning his heart. As his hand rested on his left cheek, his brow, from the clear rays of his nails rising upwards, seemed to have a fresh mark of sandal very pure; from the late removal of his earring, the parijata flower, his ear was endowed with a tamala shoot or a blue lotus by the bees that murmured a charm to bewitch love, under the guise of their soft hum as they crept up in longing for what remained of that fragrance. Under the guise of his hair rising in a passionate thrill he seemed to bear on his limbs a mass of broken points of the flowery darts of Love's arrows discharged into his pores. With his right hand he bore on his breast a string of pearls that, by being interlaced with the flashing rays of his nails, seemed bristling in joy at the pleasure of touching his palm, and that was, as it were, a banner of recklessness. He was pelted by the trees with pollen, like a powder to subdue Love; he was caressed by açoka shoots tossed by the wind, and transferring to him their rosy glow; he was besprinkled by woodland Lakshmi with honey-dew from clusters of fresh flowers, like waters to crown Love; he was struck by Love with campak buds, which, as their fragrance was drunk in by bees, were like fiery barbs all smoking; he was rebuked by the south wind, as if by the hum of the bees maddened by the many scents of the wood; he was bewildered by the honey-month, as by cries of 'All hail!' to Spring raised by the cuckoos in their melodious ecstasy. Like the risen moon, he was robed in paleness; like the stream of Ganges in summer, he had dwindled to meagreness; like a sandal-tree with a fire at its heart, he was fading away. He seemed to have entered on another birth, and was as another man, strange and unfamiliar; he was changed into another shape. As one entered by an evil spirit, ruled by a great demon, possessed by a strong devil, drunk, deluded, blind, deaf, dumb, all merged in joy and love, he had reached the climax of the mind's slavery when possessed by Love, and his old self could no longer be known.

"As with a steady glance I long examined his sad state, I became despondent, and thought in my trembling heart: 'This is of a truth that Love whose force none can resist; for by him Pundarika has been in a moment brought to a state for which there is no cure. For how else could such a storehouse of learning become straightway unavailing? It is, alas! a miracle in him who from childhood has been firm of nature and unswerving in conduct, and whose life was the envy of myself and the other young ascetics. Here, like a mean man, despising knowledge, contemning the power of penance, he has rooted up his deep steadfastness, and is paralyzed by Love. A youth which has never swerved is indeed rare!' I went forward, and sitting down by him on the same stone, with my hand resting on his shoulder, I asked him, though his eyes were still closed: 'Dear Pundarika, tell me what this means.' Then with great difficulty and effort he opened his eyes, which seemed fastened together by their long closing, and which were red from incessant weeping and overflowing with tears as if shaken and in pain, while their colour was that of a red lotus-bed veiled in white silk. He looked at me long with a very languid glance, and then, deeply sighing, in accents broken by shame, he slowly and with pain murmured: 'Dear Kapiñjala, why ask me what thou knowest?' Hearing this, and thinking that Pundarika was suffering in this way a cureless ill, but that still, as far as possible, a friend who is entering a wrong course should be held back to the utmost by those who love him, I replied: 'Dear Pundarika, I know it well. I will only ask this question: Is this course you have begun taught by your gurus, or read in the holy books? or is this a way of winning holiness, or a fresh form of penance, or a path to heaven, or a mystic vow, or a means of salvation, or any other kind of discipline? Is this fitting for thee even to imagine, much less to see or tell? Like a fool, thou seest not that thou art made a laughing-stock by that miscreant Love. For it is the fool who is tormented by Love. For what is thy hope of happiness in such things as are honoured by the base, but blamed by the good? He truly waters a poison tree under the idea of duty, or embraces the sword plant for a lotus-wreath, or lays hold on a black snake, taking it for a line of smoke of black aloes, or touches a burning coal for a jewel, or tries to pull out the club-like tusk of a wild elephant, thinking it a lotus-fibre; he is a fool who places happiness in the pleasures of sense which end in sorrow. And thou, though knowing the real nature of the senses, why dost thou carry thy knowledge as the firefly his light, only to be concealed, in that thou restrainest not thy senses when they start out of their course like streams turbid in their passionate onrush? Nor dost thou curb thy tossing mind. Who, forsooth, is this Love-god? Relying on thy firmness, do thou revile this miscreant.'

"As I thus spoke he wiped with his hand his eyes streaming with tears poured through his eyelashes, and while he yet leant on me, replied, rebuking my speech: 'Friend, what need of many words? Thou at least art untouched! Thou hast not fallen within

the range of Love's shafts, cruel with the poison of snakes! It is easy to teach another! and when that other has his senses and his mind, and sees, hears, and knows what he has heard, and can discern good and evil, he is then fit for advice. But all this is far from me; all talk of stability, judgment, firmness, reflection, has come to an end. How do I even breathe but by strong effort? The time for advice is long past. The opportunity for firmness has been let slip; the hour for reflection is gone; the season for stability and judgment has passed away. Who but thee could give advice at this time, or could attempt to restrain my wandering? To whom but thee should I listen? or who else in the world is a friend like thee? What ails me that I cannot restrain myself? Thou sawest in a moment my wretched plight. The time, then, for advice is now past. While I breathe, I long for some cure for the fever of love, violent as the rays of twelve suns at the end of the world. My limbs are baked, my heart is seething, my eyes are burning, and my body on fire. Do, therefore, what the time demands.' He then became silent, and after this speech I tried again and again to rouse him; but as he did not listen even when tenderly and affectionately exhorted in the words of the pure teaching of the śāstras full of cases like his own, together with the legendary histories, I thought, 'He is gone too far; he cannot be turned back. Advice is now useless, so I will make an effort just to preserve his life.' With this resolve I rose and went, and tore up some juicy lotus-fibres from the lake; then, taking some lotus-petals marked by water, I plucked lotuses of all kinds, sweet with the fragrance of the aromatic pollen within, and prepared a couch on that same rock in the bower. And as he rested there at ease, I crushed soft twigs of the sandal-trees hard by, and with its juice, naturally sweet and cold as ice, made a mark on his brow, and anointed him from head to foot. I allayed the perspiration by camphor-dust powdered in my hand, broken from the interstices of the split bark of the trees near, and fanned him with a plantain-leaf dripping with pure water, while the bark robe he wore was moist with the sandal placed on his breast; and as I again and again strewed fresh lotus couches, and anointed him with sandal, and removed the perspiration, and constantly fanned him, the thought arose in my mind, 'Surely nothing is too hard for Love! For how far apart would seem Pundarika, by nature simple and content with his woodland home, like a fawn, and Maḥaśveta, the Gandharva princess, a galaxy of graces: surely there is nothing for Love in the world hard, or difficult, or unsubdued, or impossible. He scornfully attempts the hardest tasks, nor can any resist him. For why speak of beings endowed with sense when, if it so please him, he can bring together even things without sense? For the night lotus-bed falls in love with the sun's ray, and the day-lotus leaves her hatred of the moon, and night is joined to day, and moonlight waits on darkness, and shade stands in the face of light, and lightning stays firm in the cloud, and old age accompanies youth; and what more difficult thing can there be than that one like Pundarika, who is an ocean of unfathomable depth, should thus be brought to the lightness of grass? Where is his former penance, and where his present state? Truly it is a cureless ill that has befallen him! What must I now do or attempt, or whither go, or what refuge or resource, or help or remedy, or plan, or recourse, is there by which his life may be sustained? Or by what skill, or device, or means, or support, or thought, or solace, may he yet live?' These and other such thoughts arose in my downcast heart. But again I thought, 'What avails dwelling on this useless thought? His life must be preserved by any means, good or bad, and there is no other way to save it but by her union with him; and as he is timid by reason of his youth, and moreover thinks the affairs of love contrary to his vow, unseemly, and a mockery in himself, he certainly, even at his last breath, will not gratify his longing by himself approaching her. This his disease of love admits no delay. Good men always hold that a friend's life must be saved even by a blameworthy deed; so that though this is a shameful and wrong action, it has yet become imperative for me. What else can be done? What other course is there? I will certainly go to her. I will tell her his state.' Thus thinking, I left the place on some pretext, and came hither without telling him, lest perchance he should feel that I was engaged in an unseemly employment, and should in shame hold me back. This being the state of affairs, thou, lady, art the judge of what action is needful for the time, worthy of so great a love, fitting for my coming, and right for thyself." With these words he became silent, fixing his eyes on my face to see what I should say. But I, having heard him, was plunged, as it were, into a lake of ambrosial joy, or immersed in an ocean of the sweets of love, floating above all joys, mounting to the pinnacle of all desires, resting at the utmost bound of gladness. I showed my happiness by joyful tears pouring clear, large, and heavy, because my eyelashes were not closed, strung like a garland by their unceasing succession, and not touching my cheek, because my face was somewhat bent in sudden shame; and I thought at once: "o joy, that Love entangles him as well as me, so that even while tormenting me, he has in part showed me kindness; and if Pundarika is indeed in such a plight, what help has not Love given me, or what has he not done for me, or what friend is like him, or how could a false tale, even in sleep, pass the lips of the calm-souled Kapiñjala? And if this be so, what must I do, and what must I say in his presence?" While I was thus deliberating, a portress hastily entered, and said to me: "Princess, the Queen has learnt from her attendants that thou art ill, and is now coming." On hearing this, Kapiñjala, fearing the contact of a great throng, quickly rose, saying: "Princess, a cause of great delay has arisen. The sun, the crest-jewel of the three worlds, is now sinking, so I will depart. But I raise my hands in salutation as a slight offering for the saving of my dear friend's life; that is my greatest treasure." Then, without awaiting my reply, he with difficulty departed, for the door was blocked by the entrance of the attendants that heralded my Lady Mother. There were the portresses bearing golden staves; the chamberlains with unguents, cosmetics, flowers, and betel, holding waving cowries; and in their train were humpbacks, barbarians, deaf men, eunuchs, dwarfs, and deaf mutes.

""Then the Queen came to me, and after a long visit, went home; but I observed nothing of what she did, said, or attempted while with me, for my heart was far away. When she went the sun, with his steeds bright as haritala pigeons, lord of life to the lotuses, and friend of the cakravakas, had sunk to rest, and the face of the West was growing crimson, and the lotus-beds were turning green, and the East was darkening to blue; and the world of mortals was overcome by a blackness like a wave of the ocean of final destruction turbid with the mud of hell. I knew not what to do, and asked Taralika, "Seest thou not, Taralika, how confused is my mind? My senses are bewildered with uncertainty, and I am unable myself to see in the least what I should do. Do thou tell me what is right to do, for Kapiñjala is now gone, and he told his tale in thy presence. What if, like a base-born maiden, I cast away shame, relinquish self-control, desert modesty, condemn the reproach of men, transgress good behaviour, trample on conduct, despise noble birth, accept the disgrace of a course blinded by love, and without my father's leave, or my mother's approval, I were to go to him myself and offer him my hand? This transgression against my parents would be a great wrong. But if, taking the other alternative, I follow duty, I shall in the first place accept death, and even so I shall break the heart of his reverence Kapiñjala, who loved him first, and who came hither of his own accord. And again, if perchance that man's death is brought about by my deed in destroying his hopes, then causing the death of an ascetic would be a grave sin." While I thus considered, the East became gray with the glimmering light of moonrise, like a line of woods in spring with the pollen of flowers. And in the moonlight the eastern quarter showed white as if with the powdered pearls from the frontal bone of the elephant of darkness torn open by the lion-moon, or pale with sandal-dust falling from the breast of the nymphs of the eastern

mountain, or light with the rising of sand in an island left by the tide, stirred by the wind on the waves of the ever-moving ocean. Slowly the moonlight glided down, and made bright the face of night, as if it were the flash of her teeth as she softly smiled at the sight of the moon; then evening shone with the moon's orb, as if it were the circle of Çesha's hoods breaking through the earth as it rose from hell; after that, night became fair with the moon, the gladdener of the world of mortals, the delight of lovers, now leaving its childhood behind and becoming the ally of Love, with a youthful glow arising within it, the only fitting light for the enjoyment of Love's pleasures, ambrosial, climbing the sky like youth impersonate. Then I beheld the risen moon as if flushed with the coral of the ocean it had just left, crimsoned with the blood of its deer struck by the paw of the lion of the Eastern Mountain, marked with the lac of Rohini's feet, as she spurned her lord in a love quarrel, and ruddy with his newly-kindled glow. And I, though the fire of Love burnt within me, had my heart darkened; though my body rested on the lap of Taralika, I was a captive in the hands of Love; though my eyes were fixed on the moon, I was looking on death, and I straightway thought, "There are the honey-month, the Malaya winds, and all other such things brought together, and in the same place to have this evil miscreant moon cannot be endured. My heart cannot bear it. Its rising now is like a shower of coals to one consumed by fever, or a fall of snow to one ill from cold, or the bite of a black snake to one faint with the swelling of poison." And as I thus thought, a swoon closed my eyes, like the sleep brought by moonlight that withers the lotuses of the day. Soon, however, I regained consciousness by means of the fanning and sandal unguents of the bewildered Taralika, and I saw her weeping, her face dimmed with ceaseless tears, pressing the point of a moist moonstone to my brow, and seeming possessed by despair impersonate. As I opened my eyes, she fell at my feet, and said, raising hands yet wet with the thick sandal ointment: "Princess, why think of shame or disrespect to parents? Be kind; send me, and I will fetch the beloved of thy heart; rise, or go thither thyself. Henceforth thou canst not bear this Love that is an ocean whose manifold passionate waves are swelling at the rise of a strong moon." To this speech I replied: "Mad girl, what is love to me? The moon it is, even the lord of the night lotuses, who removes all scruples, undermines all search for means of escape, conceals all difficulties, takes away all doubts, contemns all fears, roots out all shame, veils the sinful levity of going myself to my lover, avoids all delay, and has come merely to lead me either to Pundarika or to death. Rise, therefore; for while I have life I will follow him and honour him who, dear as he is, tortures my heart." Thus saying, I rose, leaning on her, for my limbs were yet unsteady with the weakness of the swoon caused by Love, and as I rose my right eye throbbed, presaging ill, and in sudden terror I thought: "What new thing is this threatened by Destiny?"

"The firmament was now flooded with moonlight, as if the moon's orb, which had not yet risen far, was, like the waterpipe of the temple of the universe, discharging a thousand streams of the heavenly Ganges, pouring forth the waves of an ambrosial ocean, shedding many a cascade of sandal-juice, and bearing floods of nectar; the world seemed to learn what life was in the White Continent, and the pleasures of seeing the land of Soma; the round earth was being poured out from the depths of a Milky Ocean by the moon, which was like the rounded tusk of the Great Boar; the moonrise offerings were being presented in every house by the women with sandal-water fragrant with open lotuses; the highways were crowded with thousands of women-messengers sent by fair ladies; girls going to meet their lovers ran hither and thither, veiled in blue silk and fluttered by the dread of the bright moonlight as if they were the nymphs of the white day lotus groves concealed in the splendours of the blue lotuses; the sky became an alluvial island in the river of night, with its centre whitened by the thick pollen of the groves of open night lotuses; while the night lotus-beds in the house-tanks were waking, encircled by bees which clung to every blossom; the world of mortals was, like the ocean, unable to contain the joy of moonrise, and seemed made of love, of festivity, of mirth, and of tenderness: evening was pleasant with the murmur of peacocks garrulous in gladness at the cascade that fell from the waterpipes of moonstone.

"Taralika accompanied me, holding powders, perfumes, unguents, betel, and various flowers, and I had also that napkin, wet with the sandal ointment which had been applied in my swoon, and which had its nap slightly disordered and gray with the partly-dried mark of sandalwood clinging to it; the rosary was on my neck; the parijata spray was kissing the tip of my ear; veiled in red silk that seemed fashioned from rays of rubies, I went down from the top of that palace, unseen by any of my devoted attendants. On my way I was pursued by a swarm of bees, which hastened, leaving lotus-beds and deserting gardens, drawn by the scent of the parijata spray, sportively forming a blue veil round me. I departed through the door of the pleasure-grove and set out to meet Pundarika. As I went, I thought, seeing myself attended by Taralika only: "What needs pomp of retinue when we seek our dearest! Surely our servants then but play a mockery of attendance, for Love follows me with shaft fitted to the strung bow; the moon, stretching out a long ray, draws me on like a hand; passion supports me at every step from fear of a fall; my heart rushes on with the senses, leaving shame behind; longing has gained certainty, and leads me on." Aloud I said: "Oh, Taralika, would that this miscreant moon would with its beams seize him by the hair and draw him forward like myself!" As I thus spoke, she smilingly replied: "Thou art foolish, my princess! What does the moon want with Pundarika? Nay, rather, he himself, as though wounded by Love, does all these things for thee; for under the guise of his image he kisses thy cheeks marked with drops of perspiration; with trembling ray he falls on thy fair breast; he touches the gems of thy girdle; entangled in thy bright nails, he falls at thy feet; moreover, the form of this lovesick moon wears the pallor of a sandal unguent dried by fever; he stretches out his rays white as lotus-fibres; under the guise of his reflection he falls on crystal pavements; with rays gray as the dust from the filaments inside the ketaki, he plunges into lotus-pools; he touches with his beams the moonstones wet with spray; he hates the day lotus-groves with their pairs of cakravakas once severed." With such discourse fitting for the time I approached that spot in her company. I then bathed my feet, gray with pollen from the creeper flowers on our path, in a spot near Kapiñjala's abode which had a stream of moonstone, liquefied by moonrise, flowing from Kailasa's slope; and there, on the left bank of the lake, I heard the sound of a man's weeping, softened by distance. Some fear had arisen within me at first, from the quivering of my right eye, and now that my heart was yet more torn by this cry, as if my downcast mind were telling some dreadful tidings within, I cried in terror: "Taralika, what means this?" And with trembling limbs I breathlessly hastened on.

"Then I heard afar a bitter cry, clear in the calm of night: "Alas, I am undone! I am consumed! I am deceived! What is this that has befallen me? What has happened? I am uprooted! Cruel demon Love, evil and pitiless, what shameful deed hast thou brought to pass? Ah, wicked, evil, wanton Maḥāçveta, how had he harmed thee? Ah, evil, wanton, monstrous moon, thou hast gained thy desire. Cruel soft breeze of the South, thy softness is gone, and thy will is fulfilled. That which was to be done is done. Go now as thou wilt! Ah, venerable Çvetaketu, tender to thy son, thou knowest not that thy life is stolen from thee! Dharma, thou art dispossessed! Penance, thou art protectorless! Eloquence, thou art widowed! Truth, thou art lordless! Heaven, thou art void! Friend, protect me! Yet I will follow thee! I cannot remain even a moment without thee, alone! How canst thou now suddenly leave me, and go thy way like a stranger on whom my eyes had never rested? Whence comes this thy great hardness? Say,

whither, without thee, shall I go? Whom shall I implore? What refuge shall I seek? I am blinded! For me space is empty! Life is aimless, penance vain, the world void of joy! With whom shall I wander, to whom speak, with whom hold converse? Do thou arise! Grant me an answer. Friend, where is thine old love to me? Where that smiling welcome that never failed me?"

""Such were the words I heard Kapiñjala utter; and as I heard them I uttered a loud cry, while yet far off, as if my life had fallen; and with my silk cloak torn as it clung to the creepers by the lake's bank, and my feet placed on the ground regardless of its being rough or even, and as hastily as I could, I went on to that place, stumbling at every step, and yet as if led on by one who lifted me up again.

""There I beheld Pundarika lying on a couch made on a slab of moonstone wet with showers of cool spray, close to the lake; it was made of lotus-fibres like a garland of tender flowers from all lilies, and seemed to be formed wholly of the points of Love's arrows. Pundarika seemed from his great stillness to be listening for the sound of my step. He seemed to have gained a moment's happiness in sleep, as if Love's pain had been quenched by inward wrath; he seemed engaged in a yoga penance of holding his breath, as an atonement for his breach of ascetic duty; he seemed to murmur, with bright yet trembling lip: "By thy deed am I come to this pass." He seemed pierced by the moonbeams which, under the guise of his bright finger-nails placed on a heart throbbing with Love's fire, fell on his back as he lay averted in hatred of the moon. He bore a mark on his brow of a line of sandal, which, by its being pale from dryness, was like a digit of Love's waning moon portending his own destruction. Life seemed to leave him in anger, saying: "Fool, another is dearer to thee than I!" His eyes were not wholly closed; their pupils were slightly turned to look; they were red with ceaseless weeping; they seemed to drop blood, since by failure of breath his tears were exhausted; and they were partly curved in pain at Love's darts. He now experienced the pain of unconsciousness, as if together with the torment of love he were also yielding life itself; he seemed to meditate a new version of Love's mystery, and to practise an unwonted retention of breath. His life seemed to be carried off as a prize by Love, who had in kindness arranged my coming. On his brow was a sandal tripundraka mark; he wore a sacrificial thread of juicy lotus-fibre; his dress clung to his shoulder beautiful as the leaf that ensheathes a plantain; his rosary had only the thickness of a single row; the ashes on his brow were of abundant white camphor-powder; he was fair with the string of lotus-fibre, bound on his arm as an amulet; he seemed to wear the garb of Love's vow, as if completing a charm for my coming. With his eye he tenderly uttered the reproach: "Hard-hearted! I was but followed by one glance, and never again received thy favour." His lips were slightly open, so that his form gleamed white in the rays of his teeth, which came forth as if they were moonbeams that had entered him to take away his life; with his left hand placed on a heart breaking with the pain of love, he seemed to say: "Be kind, depart not with my life, thou that art dear as life!" and so to hold me firmly in his heart; his right hand, which from the uneven rays of his nails jutting forth seemed to drop sandal, was raised as if to ward off the moonlight; near him stood his pitcher, the friend of his penance, with neck upright, as if it gazed at the path by which his life was just rising; the garland of lotus-fibres which adorned his neck bound him as if with a rope of moonbeams to lead him to another world; and when, at the sight of me, Kapiñjala, with a cry of "Help, help!" raised his hands, and crying aloud with redoubled tears, fell on his neck, at that very moment I, wicked and ill-fated as I was, beheld that noble youth yield up his life. The darkness of a swoon came upon me, and I descended into hell; nor knew I anything of whither I then went, or what I did or said. Neither knew I why my life did not at that moment leave me; whether from the utter hardness of my stupefied heart, or from the callousness to bear thousands of troubles of my wretched body, or from being fated to endure a long grief, or from being a vessel of evil earned in another birth, or from the skill of my cruel destiny in bestowing sorrow, or from the singular perversity of malign accursed love. Only this I know: that when at length in my misery I regained consciousness, I found myself writhing on the ground, tortured, as if I had fallen on a fire, by a grief too hard to bear. I could not believe aught so impossible as that he should die and I yet live, and rising with a bitter cry of "Alas, what is this--mother, father, friends?" I exclaimed: "Ah, my Lord, thou who upholdest my life, speak to me! Whither goest thou, pitilessly leaving me alone and protectorless? Ask Taralika what I have suffered for thy sake. Hardly have I been able to pass the day, drawn out into a thousand ages. Be gracious! Utter but one word! Show tenderness to her that loves thee! Look but a little on me! Fulfil my longing! I am wretched! I am loyal! I am thine in heart! I am lordless! I am young! I am helpless! I am unhappy! I am bereft of other refuge! I am vanquished by Love! Why showest thou no pity? Say what I have done or left undone, what command I have neglected, or in what thing pleasing to thee I have not shown affection, that thou art wroth. Fearest thou not the reproach of men in that thou goest, deserting me, thy handmaid, without cause? Yet why think of me, perverse and wicked, and skilled to deceive by false shows of love! Alas, I yet live! Alas, I am accursed and undone! For why? I have neither thee, nor honour, nor kinsfolk, nor heaven. Shame on me, a worker of evil deeds, for whose sake this fate hath befallen thee. There is none of so murderous a heart as I who went home, leaving one so peerless as thou. What to me were home, mother, father, kinsfolk, followers? Alas, to what refuge shall I flee? Fate, show pity to me! I entreat thee. Lady of destiny, give me a boon of mercy! Show compassion! Protect a lordless lady! Ye woodland goddesses, be kind! Give back his life! Help, Earth, that bringest favours to all! Night, showest thou no mercy? Father Kailasa, thy protection I implore. Show thy wonted pity!" Such were my laments, so far as I remember, and I murmured incoherently as one held by a demon, or possessed or mad, or struck down by an evil spirit. In the tears that fell in torrents upon me I was turned to water, I melted away, I took upon me a shape of water; my laments, followed by the sharp rays of my teeth, fell as if with showers of tears; my hair, with its flowers ever falling, seemed to shed teardrops, and my very ornaments by the tears of pure gemlight that sprang from them seemed to raise their lament. I longed for my own death as for his life; I yearned to enter his heart with my whole soul, dead though he were; with my hand I touched his cheeks, and his brow with the roots of his hair, white with dry sandal, and his shoulders with the lotus-fibres on them, and his heart covered with lotus-leaves and flecks of sandal-juice. With the tender reproach, "Thou art cruel, Pundarika! Thou carest nought that I am thus wretched!" I again sought to win him back. I again embraced him, I again clasped his neck, and wept aloud. Then I rebuked that string of pearls, saying: "Ah, wicked one, couldst not even thou have preserved his life till my coming?" Then again I fell at Kapiñjala's feet with the prayer, "Be kind, my lord; restore him to life!" and again, clinging to Taralika's neck, I wept. Even now, when I think of it, I know not how these piteous, tender words came forth from my ill-fated heart--words all unthought, unlearned, untaught, unseen before; nor whence these utterances arose; nor whence these heart-rending cries of despair. My whole being was changed. For there rose a deluge wave of inward tears, the springs of weeping were set loose, the buds of wailing came forth, the peaks of sorrow grew lofty and a long line of madness was begun. And so, as she thus told her own tale, she seemed again to taste the bitterness of that former plight, so cruel, and so hardly endured, and a swoon bereft her of sense. In the force of her swoon she fell on the rock, and Candrapida hastily stretched out his hand, like her servant, and supported her, full of sorrow. At length he brought her back to consciousness by fanning her with the edge of her own bark garment, wet with tears. Filled with pity, and with his cheeks

bathed in tears, he said to her, as she came to life: 'Lady, it is by my fault that thy grief has been brought back to its first freshness, and that thou hast come to this pass. Therefore no more of this tale. Let it be ended. Even I cannot bear to hear it. For the story even of past sorrow endured by a friend pains us as if we ourselves were living through it. Thou wilt not therefore surely place on the fire of grief that life so precious and so hardly preserved?' Thus addressed, with a long, hot sigh and eyes dissolved in tears, she despairingly replied: 'Prince, even in that dreadful night my hated life did not desert me; it is not likely that it will leave me now. Even blessed Death turns away his eyes from one so ill-fated and wicked. Whence could one so hard-hearted feel grief? all this can be but feigned in a nature so vile. But be that as it may, that shameless heart has made me chief among the shameless. For to one so adamant as to have seen love in all his power, and yet to have lived through this, what can mere speaking of it matter?

""Or what could there be harder to tell than this very thing, which is supposed to be impossible to hear or say? I will at least briefly tell the marvel that followed on that thunderbolt, and I will tell, too, what came as a tiny dim cause of my prolonging my life, which by its mirage so deludes me that I bear about a hated body, almost dead, alien to me, burdensome, unfitted to my needs, and thankless for my care. That shall suffice. Afterwards, in a sudden change of feeling, with resolve firmly set on death, lamenting bitterly, I cried to Taralika: "Rise, cruel-hearted girl; how long wilt thou weep? Bring together wood and make a pile. I will follow the lord of my life."

""Straightway a being swiftly left the moon's orb and descended from the sky. Behind him he trailed a silken vesture hanging from his crest, white as the foam of nectar, and waving in the wind; his cheeks were reddened with the bright gems that swayed in his ears; on his breast he bore a radiant necklace, from the size of its pearls like a cluster of stars; his turban was tied with strips of white silk; his head was thick with curling locks, and dark as bees; his earring was an open moon lotus; on his shoulder was the impress of the saffron lines that adorned his wives; he was white as a moon lotus, lofty in stature, endowed with all the marks of greatness, and godlike in form; he seemed to purify space by the light shed round him clear as pure water, and to anoint it as by a thick frost with a dewy ambrosial shower that created a chill as he shed it from his limbs, cool and fragrant, and to besprinkle it with a rich store of goçirsha sandal-juice.

""With arms sturdy as the trunk of Airavata, and fingers white as lotus-fibres and cool to the touch, he lifted my dead lord, and, in a voice deep as a drum, he said to me: "Mahaçveta, my child, thou must not die; for thou shalt again be united with him!" And with these words, tender as a father's, he flew into the sky with Pundarika.

""But this sudden event filled me with fear, dismay, and eager anxiety, and with upraised face I asked Kapiñjala what it might mean. He, however, started up hastily without replying, and with the cry, "Monster, whither goest thou with my friend?" with uplifted eyes and sudden wrath he hastily girt up his loins, and following him in his flight, in hot pursuit he rose into the sky; and while I yet gazed they all entered amongst the stars. But the departure of Kapiñjala was to me like a second death of my beloved, and it redoubled my grief, so that my heart was rent asunder. Bewildered what to do, I cried to Taralika: "Knowest thou not? Tell me what this means!" But she, with all a woman's timidity at the sight, was at that very moment trembling in all her limbs, overcome by a fear stronger than her grief, and was frightened, moreover, by the dread of my death; and so with downcast heart she piteously replied: "Princess, wretch that I am, I know not! Yet this is a great miracle. The man is of no mortal mould, and thou wert pityingly comforted by him in his flight as by a father. Such godlike beings are not wont to deceive us, even in sleep, much less face to face; and when I think it over I cannot see the least cause for his speaking falsely. It is meet, therefore, that thou shouldst weigh it, and restrain thy longing for death. In thy present state it is in truth a great ground for comfort. Moreover, Kapiñjala has gone in pursuit of Pundarika. From him thou canst learn whence and who this being is, and why Pundarika on his death was by him raised and carried off, and whither he is carried, and wherefore thou wert consoled by him with the boon of a hope of reunion that exceeds thought; then thou canst devote thyself either to life or death. For when death is resolved upon, it is easy to compass. But this can wait; for Kapiñjala, if he lives, will certainly not rest without seeing thee; therefore let thy life be preserved till his return." Thus saying, she fell at my feet. And I, from the thirst for life that mortals find so hard to overcome, and from the weakness of woman's nature, and from the illusion his words had created, and from my anxiety for Kapiñjala's return, thought that that plan was best for the time, and did not die. For what will not hope achieve?

""That night I spent in Taralika's company on the bank of the lake. To my wretchedness it was like a night of doom, drawn out to a thousand years, all torment, all grief, all hell, all fire. Sleep was rooted out, and I tossed on the ground; my face was hidden by the loosened and dishevelled tresses that clung to my cheeks, wet with tears and gray with dust, and my throat was weak, for my voice failed, broken with piteous weeping.

""At dawn I arose and bathed in the lake, and having formed my resolve, I took, for love of Pundarika, his pitcher and his bark garments and his rosary; for I clearly knew the worthlessness of the world. I perceived my own lack of merit; I pictured to myself the remediless cruelty of the blows of fate; I pondered the inevitableness of grief; I beheld the harshness of destiny; I meditated the course of love, rich in sorrow; I learnt the inconstancy of earthly things; I considered the frailness of all joys. Father and mother were disregarded; kinsfolk and followers abandoned; the joys of earth were banished from my mind; the senses held in firm restraint.

""I took the ascetic vow, and sought the protection of Çiva, lord of the three worlds and helper of the helpless. Next day my father came, having somehow learnt my story, bringing with him my mother and kinsfolk. Long he wept, and strove with all his might and by every means--prayers, admonitions, and tender words of every kind--to lead me home. And when he understood my firm resolve, and knew that I could not be turned from that infatuation, he could not, even though without hope, part with his love for his child; and though I often bade him go, he stayed for some days, and went home at length full of grief, and with his heart hot within him.

""After his going, it was only by empty tears that I could show my gratitude to my lord; by many a penance I wasted my hated body, worn away by love of him, rich in ill, devoid of shame, ill-omened, and the home of a thousand tortures of grief; I lived but on water and the roots and fruits of the wood; under the guise of telling my beads I counted his virtues; thrice a day I bathed in the lake; I daily worshipped Çiva, and in this cell I dwelt with Taralika, tasting the bitterness of a long grief. Such am I, evil, ill-omened, shameless, cruel, cold, murderous, contemptible, useless, fruitless, helpless, and joyless. Why should one so noble as thou deign to look on or speak with me, the doer of that monstrous crime, the slaughter of a Brahman? Thus saying, she covered her face with the white edge of her bark garment, as if veiling the moon with a fleck of autumn cloud, and, unable to quell the irresistible torrent of her tears, she gave way to her sobs, and began to weep loud and long.

"From the very first Candrapida had been filled with reverence by her beauty, modesty, and courtesy; by the charm of her speech, her unselfishness and her austerity; and by her serenity, humility, dignity, and purity. But now he was carried away both by the story of her life, which showed her noble character, and by her devoted spirit, and a fresh tenderness arose in him. With softened heart he gently said: 'Lady, those may weep who fear pain, and are devoid of gratitude, and love pleasure, for they are unable to do anything worthy of love, and show their affection merely by vain tears. But thou who hast done all rightly, what duty of love hast thou left undone, that thou weepst? For Pundarika's sake, thy kinsfolk who from thy birth have been around thee, dear as they were, have been forsaken as if they were strangers. Earthly pleasures, though at thy feet, have been despised and reckoned light as grass. The joys of power, though their riches excelled the empire of Indra, have been resigned. Thy form has been emaciated by dread penances, even though by nature it was slender as a lotus-stalk. Thou hast taken the ascetic vow. Thy soul has been devoted to great penance. Thou hast dwelt in the woods, hard though it be for a woman. Moreover, life is easily resigned by those whom sorrow has overwhelmed, but it needs a greater effort not to throw away life in heavy grief. This following another to death is most vain! It is a path followed by the ignorant! It is a mere freak of madness, a path of ignorance, an enterprise of recklessness, a view of baseness, a sign of utter thoughtlessness, and a blunder of folly, that one should resign life on the death of father, brother, friend, or husband. If life leaves us not of itself, we must not resign it. For this leaving of life, if we examine it, is merely for our own interest, because we cannot bear our own cureless pain. To the dead man it brings no good whatever. For it is no means of bringing him back to life, or heaping up merit, or gaining heaven for him, or saving him from hell, or seeing him again, or being reunited with him. For he is led helplessly, irresistibly to another state meet for the fruits of his own deeds. And yet he shares in the guilt of the friend who has killed himself. But a man who lives on can help greatly, by offerings of water and the like, both the dead man and himself; but by dying he helps neither. Remember how Rati, the sole and beloved wife of Love, when her noble husband, who won the hearts of all women, was burnt up by the fire of Çiva, yet did not yield her life; and remember also Kunti, of the race of Vrishni, daughter of Surasena, for her lord was Pandu the wise; his seat was perfumed by the flowers in the crests of all the kings whom he had conquered without an effort, and he received the tribute of the whole earth, and yet when he was consumed by Kindama's curse she still remained alive. Uttara, too, the young daughter of Virata, on the death of Abhimanyu, gentle and heroic, and joyful to the eyes as the young moon, yet lived on. And Duḥçalya, too, daughter of Dhritarashtra, tenderly cared for by her hundred brothers; when Jayadratha, king of Sindhu, was slain by Arjuna, fair as he was and great as he had become by Çiva's gift, yet made no resignation of her life. And others are told of by thousands, daughters of Rakshasas, gods, demons, ascetics, mortals, siddhas and Gandharvas, who when bereft of their husbands yet preserved their lives. Still, where reunion is doubtful, life might be yielded. But for thee, thou hast heard from that great being a promise of reunion. What doubt can there be in a matter of thine own experience, and how could falsehood find a place in the words of such noble truth-speaking saints, even when there might be greater cause? And what union could there be between the dead and the living? Therefore of a surety that wondrous being was filled with pity and carried away Pundarika to heaven solely to bring him back to life. For the power of great men transcends thought. Life has many aspects. Destiny is manifold. Those skilled in penance are fitted for wondrous miracles. Many are the forms of power gained by previous actions. Moreover, however subtly we may consider the matter, what other cause can we imagine for Pundarika's being taken away, but the gift of fresh life. And this, thou must know, is not impossible. It is a path often trodden. For Pramadvarya, daughter of Viçvavasu, king of the Gandharvas and Menaka, lost her life through a poisonous snake at the hermitage of Sthulakeça, and the young ascetic Ruru, son of Pramati and grandson of the Bhrigu Cyavana, provided her with half his own life. And when Arjuna was following the Açvamedha steed, he was pierced in the van of the battle by an arrow from his own son Babhruvahana, and a Naga maiden, Ulupa, brought him back to life. When Parikshit, Abhimanyu's son, was consumed by Açvatthama's fiery dart, though he had already died at birth, Krishna, filled with pity by Uttara's lament, restored his precious life. And at Ujjayini, he whose steps are honoured by the three worlds, carried off from the city of death the son of Sandipani the Brahman, and brought him back. And in thy case, too, the same will somehow come to pass. For by thy present grief, what is effected or what won? Fate is all-powerful. Destiny is strong. We cannot even draw a breath at our own will. The freaks of that accursed and most harsh destiny are exceeding cruel. A love fair in its sincerity is not allowed long to endure; for joys are wont to be in their essence frail and unlasting, while sorrows by their nature are long-lived. For how hardly are mortals united in one life, while in a thousand lives they are separated. Thou canst not surely then blame thyself, all undeserving of blame. For these things often happen to those who enter the tangled path of transmigration, and it is the brave who conquer misfortune.' With such gentle and soothing words he consoled her, and made her, albeit reluctantly, bathe her face with water brought in his joined hands from the cascade.

"Straightway the sun began to sink, as if he were leaving the day's duties from grief at hearing Maḥaçveta's story. Then day faded away; the sun hung shining red as the pollen of a cluster of priyangu in full blossom; the quarters of space were losing the glow of sunset soft as silk dyed in the juice of many lotuses; the sky was tinged with red, glowing like the pupils of a partridge, while its blue was hidden; twilight was reddening and lighting up the earth, tawny as a pigeon's eye; the clusters of stars shone forth, vying with each other; the darkness of night was deepening into black, and stealing away the broad path of the stars with its form dark as a forest buffalo; the woodland avenues seemed massed together as their green was hidden by deep gloom; the wind wandered cooled by night-dew, with its path tracked by the perfume of the wild flowers as it stirred the tangle of trees and creepers; and when night had its birds all still in sleep Maḥaçveta slowly rose, and saying her evening prayers, washed her feet with water from the pitcher and sat down with a hot, sorrowful sigh on her bark couch. Candrapida, too, rose and poured a libation of water strewn with flowers, said his evening prayer, and made a couch on the other rock with soft creeper boughs. As he rested upon it he went over Maḥaçveta's story again in his mind. 'This evil Love,' thought he, 'has a power hard alike to cure and to endure. For even great men, when overcome by him, regard not the course of time, but suddenly lose all courage and surrender life. Yet all hail to Love, whose rule is honoured throughout the three worlds!' And again he asked her: 'She that was thy handmaiden, thy friend in the resolve to dwell in the woods, and the sharer of the ascetic vow taken in thy sorrow--Tarakika, where is she?' 'Noble sir,' she replied, 'from the race of Apsaras sprung from ambrosia of which I told you, there was born a fair-eyed daughter named Madira, who married King Citraratha, the king whose footstool was formed of the buds in the crests of all the Gandharvas. Charmed by her countless virtues, he showed his favour by giving her the title of Chief Queen, bearing with it cowerie, sceptre and umbrella, marked by a golden throne, and placing all the zenana below her--a woman's rarest glory! And, as they pursued together the joys of youth in their utter devotion to each other, a priceless daughter was in due time born to them, by name Kadambari, most wondrous, the very life of her parents, and of the whole Gandharva race, and even of all living beings. From her birth she was the friend of my childhood, and shared with me seat, couch, meat and drink; on her my deepest love was

set, and she was the home of all my confidence, and like my other heart. Together we learnt to dance and sing, and our childhood passed away free from restraint in the sports that belong to it. From sorrow at my unhappy story she made a resolve that she would in nowise accept a husband while I was still in grief, and before her girl friends she took an oath, saying: "If my father should in anywise or at any time wish to marry me against my will and by force, I will end my life by hunger, fire, cord, or poison." Citraratha himself heard all the resolution of his daughter, spoken of positively in the repeated gossip of her attendants, and as time went on, seeing that she was growing to full youth, he became prey to great vexation, and for a time took pleasure in nothing, and yet, as she was his only child and he dearly loved her, he could say nothing to her, though he saw no other resource. But as he deemed the time now ripe, he considered the matter with Queen Madira, and sent the herald Kshiroda to me at early dawn with the message: "Dear Mahāçveta, our hearts were already burnt up by thy sad fate, and now this new thing has come upon us. To thee we look to win back Kadambari." Thereupon, in reverence to the words of one so respected, and in love to my friend, I sent Taralika with Kshiroda to bid Kadambari not add grief to one already sad enough; for if she wished me to live she must fulfil her father's words; and ere Taralika had been long gone, thou, noble sir, camest to this spot.' So saying she was silent.

"Then the moon arose, simulating by his mark the heart of Mahāçveta, burnt through by the fire of grief, bearing the great crime of the young ascetic's death, showing the long ingrained scar of the burning of Dakṣha's curse, white with thick ashes, and half covered by black antelope skin, like the left breast of Durga, the crest-jewel of Çiva's thick locks. Then at length Candrapida beheld Mahāçveta asleep, and quietly lay down himself on his leafy couch and fell asleep while thinking what Vaiçampayana and sorrowing Patralekha and his princely compeers would then be imagining about him.

"Then at dawn, when Mahāçveta had honoured the twilight and was murmuring the aghamarshana, and Candrapida had said his morning prayer, Taralika was seen coming with a Gandharva boy named Keyuraka. As she drew near, she looked long at Candrapida, wondering who he might be, and approaching Mahāçveta, she bowed low and sat respectfully by her. Then Keyuraka, with head low bent even from afar, took his place on a rock some way off, assigned to him by a glance from Mahāçveta, and was filled with wonder at the sight of Candrapida's marvellous beauty, rare, mocking that of gods, demons, Gandharvas, and Vidyadharas, and surpassing even the god of love.

"When she had finished her prayers, Mahāçveta asked Taralika, 'Didst thou see my dear Kadambari well? and will she do as I said?' 'Princess,' said Taralika, in a very sweet voice, with head respectfully inclined, 'I saw Princess Kadambari well in all respects, and told her all thine advice; and what was her reply, when with a continuous stream of thick tears she had heard it, that her lute-player Keyuraka, whom she has sent, shall tell thee; and as she ceased Keyuraka said, 'Princess Mahāçveta, my lady Kadambari, with a close embrace, sends this message, "Is this, that Taralika has been sent to tell me, said to please my parents or to test my feelings, or to subtly reproach me for my crime in dwelling at home; or is it a desire to break our friendship, or a device to desert one who loves her, or is it simply anger? Thou knowest that my heart overflows with a love that was inborn in me. How wert thou not ashamed to send so cruel a message? Thou, erst so soft of speech, from whom hast thou learnt to speak unkindness and utter reproach? Who in his senses would, even if happy, make up his mind to undertake even a slight matter that would end in pain? how much less one like me, whose heart is struck down by deep grief? For in a heart worn by a friend's sorrow, what hope is there of joy, what contentment, what pleasures or what mirth? How should I fulfil the desire of Love, poisonous, pitiless, unkind, who has brought my dear friend to so sad a plight? Even the hen cakravaka, when the lotus-beds are widowed by the sun's setting, renounces from the friendship that arises from dwelling among them, the joys of union with her lord; how much more, then, should women! While my friend dwells day and night sorrowing for the loss of her lord and avoiding the sight of mankind, how could anyone else enter my heart; and while my friend in her sorrow tortures herself with penances and suffers great pain, how could I think so lightly of that as to seek my own happiness and accept a husband, or how could any happiness befall me? For from love of thee I have in this matter accepted disgrace by embracing an independent life contrary to the wont of maidens. I have despised noble breeding, transgressed my parent's commands, set at nought the gossip of mankind, thrown away modesty, a woman's inborn grace; how, tell me, should such a one go back? Therefore I salute thee, I bow before thee, I embrace thy feet; be gracious to me. As thou hast gone hence into the forest, taking my life with thee, make not this request in thy mind, even in a dream.'" Thus having said, he became silent, and Mahāçveta thought long, and then dismissed Keyuraka, saying, 'Do thou depart; I will go to her and do what is fitting.' On his departure she said to Candrapida, 'Prince, Hemakuta is pleasant and the royal city of Citraratha marvellous; the Kinnara country is curious, the Gandharva world beautiful, and Kadambari is noble and generous of heart. If thou deemest not the journey too tedious, if no serious business is hindered, if thy mind is curious to behold rare sights, if thou art encouraged by my words, if the sight of wonders gives thee joy, if thou wilt deign to grant my request, if thou thinkest me worthy of not being denied, if any friendship has grown up between us, or if I am deserving of thy favour, then thou canst not disdain to fulfil this prayer. Thou canst go hence with me, and see not only Hemakuta, that treasure of beauty, but my second self, Kadambari; and having removed this foolish freak of hers, thou canst rest for one day, and return hither the next morn. For by the sight of thy kindness so freely given, my grief has become bearable, since I have told thee my story, breathed out as it was from a heart long overwhelmed with the darkness of grief. For the presence of the good gives joy even to those who are sad at heart, and a virtue springs from such as thou art that wholly tends to make others happy.'

"'Lady,' replied Candrapida, 'from the first moment of seeing thee I have been devoted to thy service. Let thy will be imposed without hesitation'; so saying, he started in her company.

"In due time he reached Hemakuta, the royal city of the Gandharvas, and passing through the seven inner courts with their golden arches, the prince approached the door of the maidens' dwelling. Escorted by porters, who ran forward at the sight of Mahāçveta, bowing while yet far off, and holding their golden staves, he entered and beheld the inside of the maidens' palace. It seemed a new woman's world, consisting wholly of women in countless numbers, as if the womankind of the three worlds had been gathered together to make such a total; or it might be a fresh manless creation, a yet unborn continent of girls, a fifth women's era, a fresh race created by Prajapati out of hatred for men, or a treasury of women prepared for the making of many yugas. The wave of girlish beauty which surrounded it on all sides, which flooded space, sprinkled nectar on the day, rained splendour on the interstices of the world, and shone lustrous as an emerald, made the place all aglow as if with thousands of moons; it seemed modelled in moonlight; jewels made another sky; service was done by bright glances; every part was made for youthful pleasures; here was an assemblage for Rati's sports, a material for Love's practice; here the entrance of all was made smooth by Love; here all was affection, beauty, the supreme deity of passion, the arrows of Love, here all was wonder, marvel, and tenderness of youth. When he had gone a little way in he heard the pleasant talk of the maidens round Kadambari as they wandered hither and thither. Such as 'Lavalika, deck the lavalı trenches with ketaki pollen. Sagarika, sprinkle jewelled dust in the

tanks of scented water. Mrinalika, inlay with saffron dust the pairs of toy cakravakas in the artificial lotus-beds. Makarika, scent the pot-pourri with camphor-juice. Rajanika, place jewelled lamps in the dark tamala avenues. Kumudika, cover the pomegranates with pearly nets to keep off the birds. Nipunika, draw saffron lines on the breasts of the jewelled dolls. Utpalika, sweep with golden brooms the emerald arbour in the plainain house. Kesarika, sprinkle with wine the houses of bakul flowers. Malatika, redden with red lead the ivory roof of Kama's shrine. Nalinika, give the tame kalahamsas lotus-honey to drink. Kadalika, take the tame peacocks to the shower-bath. Kamalinika, give some sap from the lotus-fibres to the young cakravakas. Cutalatika, give the caged pigeons their meal of mango-buds. Pallavika, distribute to the tame haritala pigeons some topmost leaves of the pepper-tree. Lavangika, throw some pieces of pippali leaves into the partridges' cages. Madhukarika, make some flowery ornaments. Mayurika, dismiss the pairs of kinnaras in the singing-room. Kandalika, bring up the pairs of partridges to the top of the playing hill. Harinika, give the caged parrots and mainas their lesson.'

"Then he beheld Kadambari herself in the midst of her pavilion encircled by a bevy of maidens sitting by her, whose glittering gems made them like a cluster of kalpa trees. She was resting on her bent arms, which lay on a white pillow placed on a small couch covered with blue silk; she was fanned by cowrie-bearers, that in the motion of their waving arms were like swimmers in the wide-flowing stream of her beauty, as if it covered the earth, which was only held up by the tusks of Mahavaraha.

"And as her reflection fell, she seemed on the jewelled pavement below to be borne away by serpents; on the walls hard by to be led by the guardians of space; on the roof above to be cast upwards by the gods; to be received by the pillars into their inmost heart; to be drunk in by the palace mirrors, to be lifted to the sky by the Vidyadharas scattered in the pavilion, looking down from the roof; to be surrounded by the universe concealed in the guise of pictures, all thronging together to see her; to be gazed at by the palace itself, which had gained a thousand eyes to behold her, in that the eyes of its peacocks' tails were outspread as they danced to the clashing of her gems; and to be steadily looked on by her own attendants, who seemed in their eagerness to behold her to have gained a divine insight.

"Her beauty bore the impress of awakening love, though but yet in promise, and she seemed to be casting childhood aside like a thing of no worth.

"Such was Kadambari as the prince beheld her. Before her was seated Keyuraka, loud in praise of Candrapida's beauty, as Kadambari questioned him, saying, 'Who is he, and what are his parentage, name, appearance, and age? What did he say, and what didst thou reply? How long didst thou see him? how has he become so close a friend to Mahaçveta? and why is he coming hither?'

"Now, on beholding the moonlike beauty of Kadambari's face, the prince's heart was stirred like the tide of ocean. 'Why,' thought he, 'did not the Creator make all my senses into sight, or what noble deed has my eye done that it may look on her unchecked? Surely it is a wonder! The Creator has here made a home for every charm! Whence have the parts of this exceeding beauty been gathered? Surely from the tears that fell from the Creator's eyes in the labour of thought, as he gently moulded her with his hands, all the lotuses in the world have their birth.'

"And as he thus thought his eye met hers, and she, thinking, 'This is he of whom Keyuraka spoke,' let her glance, widened by wonder at his exceeding beauty, dwell long and quietly on him. Confused by the sight of Kadambari, yet illumined by the brightness of her gaze, he stood for a moment like a rock, while at the sight of him a thrill rose in Kadambari, her jewels clashed, and she half rose. Then love caused a glow, but the excuse was the effort of hastily rising; trembling hindered her steps--the hamsas around, drawn by the sound of the anklets, got the blame; the heaving of a sigh stirred her robe--it was thought due to the wind of the cowries; her hand fell on her heart, as if to touch Candrapida's image that had entered in--it pretended to cover her bosom; she let fall tears of joy--the excuse was the pollen falling from the flowers in her ear. Shame choked her voice--the swarm of bees hastening to the lotus sweetness of her mouth was the cause; the pain of the first touch of Love's arrow caused a sigh--the pain of the ketaki thorns amidst the flowers shared the guilt; a tremor shook her hand--keeping off the portress who had come with a message was her pretence; and while love was thus entering into Kadambari, a second love, as it were, arose, who with her entered the heart of Candrapida. For he thought the flash of her jewels but a veil, her entrance into his heart a favour, the tinkling of her gems a conversation, her capture of all his senses a grace, and contact with her bright beauty the fulfilment of all his wishes. Meanwhile Kadambari, advancing with difficulty a few steps, affectionately and with yearning embraced her friend, who also yearned for the sight of her so long delayed; and Mahaçveta returned her embrace yet more closely, and said, 'Dear Kadambari, in the land of Bharata there is a king named Tarapida, who wards off all grief from his subjects, and who has impressed his seal on the Four Oceans by the edge of the hoofs of his noble steeds; and this his son, named Candrapida, decked with the orb of earth resting on the support of his own rock-like arms, has, in pursuit of world conquest, approached this land; and he, from the moment I first beheld him, has instinctively become my friend, though there was nought to make him so; and, though my heart was cold from its resignation of all ties, yet he has attracted it by the rare and innate nobility of his character. For it is rare to find a man of keen mind who is at once true of heart, unselfish in friendship, and wholly swayed by courtesy. Wherefore, having beheld him, I brought him hither by force. For I thought thou shouldst behold as I have done a wonder of Brahma's workmanship, a peerless owner of beauty, a supplanter of Lakshmi, earth's joy in a noble lord, the surpassing of gods by mortals, the full fruition of woman's eyes, the only meeting-place of all graces, the empire of nobility, and the mirror of courtesy for men. And my dear friend has often been spoken of to him by me. Therefore dismiss shame on the ground of his being unseen before, lay aside diffidence as to his being a stranger, cast away suspicion rising from his character being unknown, and behave to him as to me. He is thy friend, thy kinsman, and thy servant.' At these words of hers Candrapida bowed low before Kadambari, and as she glanced sideways at him affectionately there fell from her eyes, with their beautiful pupils turned towards the corner of their long orbs, a flood of joyous tears, as though from weariness. The moonlight of a smile, white as nectar, darted forth, as if it were the dust raised by the heart as it hastily set out; one eyebrow was raised as if to bid the head honour with an answering reverence the guest so dear to the heart; her hand crept to her softly parting lips, and might seem, as the light of an emerald ring flashed between the fingers, to have taken some betel. She bowed diffidently, and then sat down on the couch with Mahaçveta, and the attendants quickly brought a stool with gold feet and a covering of white silk, and placed it near the couch, and Candrapida took his seat thereon. To please Mahaçveta, the portresses, knowing Kadambari's wishes, and having by a hand placed on closed lips received an order to stop all sounds, checked on every side the sound of pipe, lute and song, and the Magadha women's cry of 'All hail!' When the servants had quickly brought water, Kadambari herself washed Mahaçveta's feet, and, drying

them with her robe, sat on the couch again; and Madalekha, a friend worthy of Kadambari, dear as her own life and the home of all her confidence, insisted on washing Candrapida's feet, unwilling though he were. Mahaçveta meanwhile asked Kadambari how she was, and lovingly touched with her hand the corner of her friend's eyes, which shone with the reflected light of her earrings; she lifted the flowers in Kadambari's ear, all covered with bees, and softly stroked the coils of her hair, roughened by the wind of the cowries. And Kadambari, ashamed, from love to her friend, of her own well-being, as though feeling that in still dwelling at home she had committed a crime, said with an effort that all was well with her. Then, though filled with grief and intent on gazing at Mahaçveta's face, yet her eye, with its pupil dark and quivering as it looked out sideways, was, under the influence of love, with bow fully bent, irresistibly drawn by Candrapida's face, and she could not turn it away. At that same moment she felt jealousy of his being pictured on the cheek of her friend standing near--the pain of absence as his reflection faded away on her own breast, pierced by a thrill--the anger of a rival wife as the image of the statues fell on him--the sorrow of despair as he closed his eyes, and blindness as his image was veiled by tears of joy.

"At the end of a moment Mahaçveta said to Kadambari as she was intent on giving betel: 'Dear Kadambari, the moment has approached for us to show honour to our newly arrived guest, Candrapida. Therefore give him some.' But averting her bent face, Kadambari replied slowly and indistinctly, 'Dear friend, I am ashamed to do so, for I do not know him. Do thou take it, for thou canst without the forwardness there would be in me, and give it him'; and it was only after many persuasions, that with difficulty, and like a village maiden, she resolved to give it. Her eyes were never drawn from Mahaçveta's face, her limbs trembled, her glance wavered, she sighed deeply, she was stunned by Love with his shaft, and she seemed a prey to terror as she stretched forth her hand, holding the betel as if trying to cling to something under the idea she was falling. The hand Candrapida stretched out, by nature pink, as if red lead had fallen upon it from the flapping of his triumphal elephant, was darkened by the scars of the bowstring, and seemed to have drops of collyrium clinging to it from touching the eyes of his enemies' Lakshmi, weeping as he drew her by the hair; its fingers by the forth-flashing rays of his nails seemed to run up hastily, to grow long and to laugh, and the hand seemed to raise five other fingers in the five senses that, in desire to touch her, had just made their entry full of love. Then contending feelings took possession of Kadambari as if they had gathered together in curiosity to see the grace at that moment so easy of access. Her hand, as she did not look whither it was going, was stretched vainly forth, and the rays of its nails seemed to hasten forward to seek Candrapida's hand; and with the murmur of the line of bracelets stirred by her trembling, it seemed to say, as drops of moisture arose on it, 'Let this slave offered by Love be accepted,' as if she were offering herself, and 'Henceforth it is in thy hand,' as if she were making it into a living being, and so she gave the betel. And in drawing back her hand she did not notice the fall of her bracelet, which had slipped down her arm in eagerness to touch him, like her heart pierced by Love's shaft; and taking another piece of betel, she gave it to Mahaçveta.

"Then there came up with hasty steps a maina, a very flower, in that her feet were yellow as lotus filaments, her beak was like a campak bud, and her wings blue as a lotus petal. Close behind her came a parrot, slow in gait, emerald-winged, with a beak like coral and neck bearing a curved, three-rayed rainbow. Angrily the maina began: 'Princess Kadambari, why dost thou not restrain this wretched, ill-mannered, conceited bird from following me? If thou overlookest my being oppressed by him, I will certainly destroy myself. I swear it truly by thy lotus feet.' At these words Kadambari smiled; but Mahaçveta, not knowing the story, asked Madalekha what she was saying, and she told the following tale: 'This maina, Kalindi, is a friend of Princess Kadambari, and was given by her solemnly in marriage to Parihasa, the parrot. And to-day, ever since she saw him reciting something at early dawn to Kadambari's betel-bearer, Tamalika, alone, she has been filled with jealousy, and in frowardness of wrath will not go near him, or speak, or touch, or look at him; and though we have all tried to soothe her, she will not be soothed.' Thereat a smile spread over Candrapida's face, and he softly laughed and said, 'This is the course of gossip. It is heard in the court; by a succession of ears the attendants pass it on; the outside world repeats it; the tale wanders to the ends of the earth, and we too hear how this parrot Parihasa has fallen in love with Princess Kadambari's betel-bearer, and, enslaved by love, knows nothing of the past. Away with this ill-behaved, shameless deserter of his wife, and away with her too! But is it fitting in the Princess not to restrain her giddy slave? Perhaps her cruelty, however, was shown at the first in giving poor Kalindi to this ill-conducted bird. What can she do now? For women feel that a shared wifehood is the bitterest matter for indignation, the chief cause for estrangement, and the greatest possible insult. Kalindi has been only too patient that in the aversion caused by this weight of grief she has not slain herself by poison, fire, or famine. For nothing makes a woman more despised; and if, after such a crime, she is willing to be reconciled and to live with him again, shame on her! enough of her! let her be banished and cast out in scorn! Who will speak to her or look at her again, and who will mention her name?' A laugh arose among Kadambari's women as they heard his mirthful words. But Parihasa, hearing his jesting speech, said: 'Cunning Prince, she is clever. Unsteady as she is, she is not to be taken in by thee or anyone else. She knows all these crooked speeches. She understands a jest. Her mind is sharpened by contact with a court. Cease thy jests. She is no subject for the talk of bold men. For, soft of speech as she is, she knows well the time, cause, measure, object, and topic for wrath and for peace.' Meanwhile, a herald came up and said to Mahaçveta: 'Princess, King Citraratha and Queen Madira send to see thee,' and she, eager to go, asked Kadambari, 'Friend, where should Candrapida stay?' The latter, inwardly smiling at the thought that he had already found a place in the heart of thousands of women, said aloud, 'Dear Mahaçveta, why speak thus? Since I beheld him I have not been mistress of myself, far less than of my palace and my servants. Let him stay wherever it pleases him and my dear friend's heart.' Thereon Mahaçveta replied, 'Let him stay in the jewelled house on the playing hill of the royal garden near thy palace,' and went to see the king.

"Candrapida went away at her departure, followed by maidens, sent for his amusement by the portress at Kadambari's bidding, players on lute and pipe, singers, skilful dice and draught players, practised painters and reciters of graceful verses; he was led by his old acquaintance Keyuraka to the jewelled hall on the playing hill.

"When he was gone the Gandharva princess dismissed her girl-friends and attendants, and followed only by a few, went into the palace. There she fell on her couch, while her maidens stayed some way off, full of respect, and tried to comfort her. At length she came to herself, and remaining alone, she was filled with shame. For Modesty censured her: 'Light one, what hast thou begun?' Self-respect reproached her: 'Gandharva Princess, how is this fitting for thee?' Simplicity mocked her: 'Where has thy childhood gone before its day was over?' Youth warned her: 'Wilful girl, do not carry out alone any wild plan of thine own!' Dignity rebuked her: 'Timid child, this is not the course of a high-born maiden.' Conduct blamed her: 'Reckless girl, avoid this unseemly behaviour!' High Birth admonished her: 'Foolish one, love hath led thee into lightness.' Steadfastness cried shame on her: 'Whence comes thine unsteadiness of nature?' Nobility rebuked her: 'Self-willed, my authority is set at nought by thee.'

""And she thought within herself, 'What shameful conduct is this of mine, in that I cast away all fear, and show my unsteadiness and am blinded by folly. In my audacity I never thought he was a stranger; in my shamelessness I did not consider that he would think me light of nature; I never examined his character; I never thought in my folly if I were worthy of his regard; I had no dread of an unexpected rebuff; I had no fear of my parents, no anxiety about gossip. Nay, more, I did not in my unkindness remember that Mahaçveta was in sorrow; in my stupidity I did not notice that my friends stood by and beheld me; in my utter dullness I did not see that my servants behind were observing me. Even grave minds would mark such utter forgetfulness of seemliness; how much more Mahaçveta, who knows the course of love; and my friends skilled in all its ways, and my attendants who know all its symptoms, and whose wits are sharpened by life at court. The slaves of a zenana have keen eyes in such matters. My evil fate has undone me! Better were it for me now to die than live a shameful life. What will my father and mother and the Gandharvas say when they hear this tale? What can I do? What remedy is there? How can I cover this error? To whom can I tell this folly of my undisciplined senses, and where shall I go, consumed by Kama, the five-arrowed god? I had made a promise in Mahaçveta's sorrow, I had announced it before my friends, I had sent a message of it by the hands of Keyuraka, and how it has now come about that that beguiling Candrapida has been brought hither, I know not, ill-fated that I am; whether it be by cruel fate or proud love, or nemesis of my former deeds, or accursed death, or anything else. But some power unseen, unknown, unheard of, unthought of and unimagined before, has come to delude me. At the mere sight of him I am a captive in bonds; I am cast into a cage and handed over by my senses; I am enslaved and led to him by Love; I am sent away by affection; I am sold at a price by my feelings; I am made as a household chattel by my heart. I will have nothing to do with this worthless one!' Thus for a moment she resolved. But having made this resolve, she was mocked by Candrapida's image stirred by the trembling of her heart, 'If thou, in thy false reserve, will have nought to do with me, I will go.' She was asked by her life, which clung to her in a farewell embrace before starting at the moment of her determination to give up Candrapida; she was addressed by a tear that rose at that moment, 'Let him be seen once more with clearer eyes, whether he be worthy of rejection or no'; she was chidden by Love, saying, 'I will take away thy pride together with thy life;' and so her heart was again turned to Candrapida. Overwhelmed, when the force of her meditation had collapsed, by the access of love, she rose, under its sway, and stood looking through the window at the playing hill. And there, as if bewildered by a veil of joyful tears, she saw with her memory, not her eyes; as if fearing to soil with a hot hand her picture, she painted with her fancy, not with her brush; dreading the intervention of a thrill, she offered an embrace with her heart, not her breast; unable to bear his delay in coming, she sent her mind, not her servants, to meet him.

""Meanwhile, Candrapida willingly entered the jewelled house, as if it were a second heart of Kadambari. On the rock was strewn a blanket, with pillows piled on it at either end, and thereon he lay down, with his feet in Keyuraka's lap, while the maidens sat round him in the places appointed for them. With a heart in turmoil he betook himself to reflection: 'Are these graces of Princess Kadambari, that steal all men's hearts, innate in her, or has Love, with kindness won by no service of mine, ordained them for me? For she gave me a sidelong glance with loving, reddened eyes half curved as if they were covered with the pollen of Love's flowery darts as they fell on her heart. She modestly veiled herself with a bright smile fair as silk as I looked at her. She offered the mirror of her cheek to receive my image, as in shame at my gaze she averted her face. She sketched on the couch with her nail the first trace of wilfulness of a heart that was giving me entrance. Her hand, moist with the fatigue of bringing me the betel, seemed in its trembling to fan her hot face, as if it were a tamala branch she had taken, for a swarm of bees hovered round it, mistaking it for a rosy lotus. Perhaps,' he went on to reflect, 'the light readiness to hope so common among mortals is now deceiving me with a throng of vain desires; and the glow of youth, devoid of judgment, or Love himself, makes my brain reel; whence the eyes of the young, as though struck by cataract, magnify even a small spot; and a tiny speck of affection is spread far by youthful ardour as by water. An excited heart like a poet's imagination is bewildered by the throng of fancies that it calls up of itself, and draws likenesses from everything; youthful feelings in the hand of cunning love are as a brush, and shrink from painting nothing; and imagination, proud of her suddenly gained beauty, turns in every direction. Longing shows as in a dream what I have felt. Hope, like a conjuror's wand, sets before us what can never be. Why, then,' thought he again, 'should I thus weary my mind in vain? If this bright-eyed maiden is indeed thus inclined towards me, Love, who is so kind without my asking, will ere long make it plain to me. He will be the decider of this doubt.' Having at length come to this decision, he rose, then sat down, and merrily joined the damsels in gentle talk and graceful amusements--with dice, song, lute, tabor, concerts of mingled sound, and murmur of tender verse. After resting a short time he went out to see the park, and climbed to the top of the pleasure hill.

""Kadambari saw him, and bade that the window should be opened to watch for Mahaçveta's return, saying, 'She tarries long,' and, with a heart tossed by Love, mounted to the roof of the palace. There she stayed with a few attendants, protected from the heat by a gold-handled umbrella, white as the full moon, and fanned by the waving of four yaks' tails pure as foam. She seemed to be practising an adornment fit for going to meet Candrapida, by means of the bees which hovered round her head, eager for the scent of the flowers, which veiled her even by day in darkness. Now she leaned on the point of the cowrie, now on the stick of the umbrella; now she laid her hands on Tamalika's shoulder, now she clung to Madalekha; now she hid herself amidst her maidens, looking with sidelong glance; now she turned herself round; now she laid her cheek on the tip of the portress's staff; now with a steady hand she placed betel on her fresh lips; now she laughingly ran a few steps in pursuit of her maidens scattered by the blows of the lotuses she threw at them. And in looking at the prince, and being gazed at by him, she knew not how long a time had passed. At last a portress announced Mahaçveta's return, and she went down, and albeit unwilling, yet to please Mahaçveta she bathed and performed the wonted duties of the day.

""But Candrapida went down, and dismissing Kadambari's followers, performed the rites of bathing, and worshipped the deity honoured throughout the mountain, and did all the duties of the day, including his meal, on the pleasure hill. There he sat on an emerald seat which commanded the front of the pleasure hill, pleasant, green as a pigeon, bedewed with foam from the chewing of fawns, shining like Yamuna's waters standing still in fear of Balarama's plough, glowing crimson with lac-juice from the girls' feet, sanded with flower-dust, hidden in a bower, a concert-house of peacocks. He suddenly beheld day eclipsed by a stream of white radiance, rich in glory, light drunk up as by a garland of lotus-fibres, earth flooded as by a Milky Ocean, space bedewed as by a storm of sandal-juice, and the sky painted as with white chunam.

""'What!' thought he, 'is our lord, the Moon, king of plants, suddenly risen, or are a thousand shower-baths set going with their white streams let loose by a spring, or is it the heavenly Ganges, whitening the earth with her wind-tossed spray, that has come down to earth in curiosity?'

"Then, turning his eyes in the direction of the light, he beheld Kadambari, and with her Madalekha and Taralika bearing a pearl necklace on a tray covered with white silk. Thereupon Candrapida decided that it was this necklace that eclipsed moonlight, and was the cause of the brightness, and by rising while she was yet far off, and by all wonted courtesies, he greeted the approach of Madalekha. For a moment she rested on that emerald seat, and then, rising, anointed him with sandal perfume, put on him two white robes, crowned him with malati flowers, and then gave him the necklace, saying, 'This thy gentleness, my Prince, so devoid of pride, must needs subjugate every heart. Thy kindness gives an opening even to one like me; by thy form thou art lord of life to all; by that tenderness shown even where there is no claim on thee, thou throwest on all a bond of love; the innate sweetness of thy bearing makes every man thy friend; these thy virtues, manifested with such natural gentleness, give confidence to all. Thy form must take the blame, for it inspires trust even at first sight; else words addressed to one of such dignity as thou would seem all unmeet. For to speak with thee would be an insult; our very respect would bring on us the charge of forwardness; our very praise would display our boldness; our subservience would manifest lightness, our love self-deception, our speech to thee audacity, our service impertinence, our gift an insult. Nay, more, thou hast conquered our hearts; what is left for us to give thee? Thou art lord of our life; what can we offer thee? Thou hast already bestowed the great favour of thy presence; what return could we make? Thou by thy sight hast made our life worth having; how can we reward thy coming? Therefore Kadambari with this excuse shows her affection rather than her dignity. Noble hearts admit no question of mine and thine. Away with the thought of dignity. Even if she accepted slavery to one like thee, she would do no unworthy act; even if she gave herself to thee, she would not be deceived; if she gave her life, she would not repent. The generosity of a noble heart is always bent on kindness, and does not willingly reject affection, and askers are less shamefaced than givers. But it is true that Kadambari knows she has offended thee in this matter. Now, this necklace, called Çesha, because it was the only jewel left of all that rose at the churning of nectar, was for that reason greatly valued by the Lord of Ocean, and was given by him to Varuna on his return home. By the latter it was given to the Gandharva king, and by him to Kadambari. And she, thinking thy form worthy of this ornament, in that not the earth, but the sky, is the home of the moon, hath sent it to thee. And though men like thee, who bear no ornament but a noble spirit, find it irksome to wear the gems honoured by meaner men, yet here Kadambari's affection is a reason for thee to do so. Did not Vishnu show his reverence by wearing on his breast the kaustubha gem, because it rose with Lakshmi; and yet he was not greater than thee, nor did the kaustubha gem in the least surpass the Çesha in worth; nor, indeed, does Lakshmi approach in the slightest degree to imitating Kadambari's beauty. And in truth, if her love is crushed by thee, she will grieve Mahaçveta with a thousand reproaches, and will slay herself. Mahaçveta therefore sends Taralika with the necklace to thee, and bids me say thus: 'Let not Kadambari's first impulse of love be crushed by thee, even in thought, most noble prince.'" Thus having said, she fastened on his breast the necklace that rested like a bevy of stars on the slope of the golden mountain. Filled with amazement, Candrapida replied: 'What means this, Madalekha? Thou art clever, and knowest how to win acceptance for thy gifts. By leaving me no chance of a reply, thou hast shown skill in oratory. Nay, foolish maiden, what are we in respect of thee, or of acceptance and refusal; truly this talk is nought. Having received kindness from ladies so rich in courtesy, let me be employed in any matter, whether pleasing or displeasing to me. But truly there lives not the man whom the virtues of the most courteous lady Kadambari do not discourteously enslave.' Thus saying, after some talk about Kadambari, he dismissed Madalekha, and ere she had long gone the daughter of Citraratha dismissed her attendants, rejected the insignia of wand, umbrella, and cowrie, and accompanied only by Tamalika, again mounted to the roof of her palace to behold Candrapida, bright with pearls, silk raiment and sandal, go to the pleasure hill, like the moon to the mount of rising. There, with passionate glances imbued with every grace, she stole his heart. And when it became too dark to see, she descended from the roof, and Candrapida, from the slope of the hill.

"Then the moon, source of nectar, gladdener of all eyes, arose with his rays gathered in; he seemed to be worshipped by the night-lotuses, to calm the quarters whose faces were dark as if with anger, and to avoid the day-lotuses as if from fear of waking them; under the guise of his mark he wore night on his heart; he bore in the glow of rising the lac that had clung to him from the spurning of Rohini's feet; he pursued the sky, in its dark blue veil, like a mistress; and by reason of his great goodwill, spread beauty everywhere.

"And when the moon, the umbrella of the supreme rule of Kama, the lord of the lotuses, the ivory earring that decks the night, had risen, and when the world was turned to whiteness, as though overlaid with ivory, Candrapida lay down on a cool moonlit slab, pearl white, pointed out by Kadambari's servants. It was washed with fresh sandal, garlanded with pure sinduvara flowers, and carved round with a leafy tracery of lotus petals. It lay on the shore of a palace lotus tank, that seemed from the full moonlight to be made of night-lotuses, with steps white with bricks washed by the waves, as it wafted a breeze fanned by the ripples; pairs of hamsas lay there asleep, and pairs of cakravakas kept up their dirge of separation thereon. And while the Prince yet rested there Keyuraka approached him, and told him that Princess Kadambari had come to see him. Then Candrapida rose hastily, and beheld Kadambari drawing near. Few of her friends were with her; all her royal insignia were removed; she was as it were a new self, in the single necklace she wore; her slender form was white with the purest sandal-juice; an earring hung from one ear; she wore a lotus-petal in the ear, soft as a budding digit of the moon; she was clad in robes of the kalpa-tree, clear as moonlight; and in the garb that consorted with that hour she stood revealed like the very goddess of moonrise, as she rested on the hand offered by Madalekha. Drawing near, she showed a grace prompted by love, and took her seat on the ground, where servants are wont to sit, like a maiden of low degree; and Candrapida, too, though often entreated by Madalekha to sit on the rocky seat, took his place on the ground by Madalekha; and when all the women were seated he made an effort to speak, saying, 'Princess, to one who is thy slave, and whom even a glance gladdens, there needs not the favour of speech with thee, far less so great a grace as this. For, deeply as I think, I cannot see in myself any worth that this height of favour may befit. Most noble and sweet in its laying aside of pride is this thy courtesy, in that such grace is shown to one but newly thy servant. Perchance thou thinkest me a churl that must be won by gifts. Blessed, truly, is the servant over whom is thy sway! How great honour is bestowed on the servants deemed worthy of the bestowal of thy commands. But the body is a gift at the service of any man, and life is light as grass, so that I am ashamed in my devotion to greet thy coming with such a gift. Here am I, here my body, my life, my senses! Do thou, by accepting one of them, raise it to honour.'

"Madalekha smilingly replied to this speech of his: 'Enough, Prince. My friend Kadambari is pained by thy too great ceremony. Why speakest thou thus? She accepts thy words without further talk. And why, too, is she brought to suspense by these too flattering speeches? and then, waiting a short time, she began afresh: 'How is King Tarapida, how Queen Vilasavati, how the noble Çukanasa? What is Ujjayini like, and how far off is it? What is the land of Bharata? And is the world of mortals pleasant?' So she questioned him. After spending some time in such talk, Kadambari rose, and summoning Keyuraka, who was lying near

Candrapida, and her attendants, she went up to her sleeping-chamber. There she adorned a couch strewn with a coverlet of white silk. Candrapida, however, on his rock passed the night like a moment in thinking, while his feet were rubbed by Keyuraka, of the humility, beauty, and depth of Kadambari's character, the causeless kindness of Maḥaṣveta, the courtesy of Madalekha, the dignity of the attendants, the great splendour of the Gandharva world, and the charm of the Kimpurusha land.

"Then the moon, lord of stars, weary of being kept awake by the sight of Kadambari, descended, as if to sleep, to the forest on the shore, with its palms and tamalas, talis, banyans, and kandalas, cool with the breeze from the hardly stirred ripples. As though with the feverish sighs of a woman grieving for her lover's approaching absence, the moonlight faded away. Lakshmi, having passed the night on the moon lotuses, lay on the sun lotuses, as though love had sprung up in her at the sight of Candrapida. At the close of night, when the palace lamps grew pale, as if dwindling in longing as they remembered the blows of the lotuses in maidens' ears, the breezes of dawn, fragrant with creeper-flowers, were wafted, sportive with the sighs of Love weary from ceaselessly discharging his shafts; the stars were eclipsed by the rising dawn, and took their abode, as through fear, in the thick creeper bowers of Mount Mandara. Then when the sun arose, with its orb crimson as if a glow remained from dwelling in the hearts of the cakravakas, Candrapida, rising from the rock, bathed his lotus face, said his morning prayer, took his betel, and then bade Keyuraka see whether Princess Kadambari was awake or no, and where she was; and when it was announced to him by the latter on his return that she was with Maḥaṣveta in the bower of the courtyard below the Mandara palace, he started to see the daughter of the Gandharva king. There he beheld Maḥaṣveta surrounded by wandering ascetic women like visible goddesses of prayer, with marks of white ash on their brow, and hands quickly moving as they turned their rosaries; bearing the vow of Īiva's followers, clad in robes tawny with mineral dyes, bound to wear red cloth, robed in the ruddy bark of ripe cocoanuts, or girdled with thick white cloth; with fans of white cloth; with staves, matted locks, deer-skins, and bark dresses; with the marks of male ascetics; reciting the pure praises of Īiva, Durga, Kartikeya, Viṣṇava, Krishna, Avalokiteṣvara, the Arhat, Viriṇca. Maḥaṣveta herself was showing honour to the elder kinswomen of the king, the foremost of the zenana, by salutes, courteous speeches, by rising to meet them and placing reed seats for them.

"He beheld Kadambari also giving her attention to the recitation of the Mahabharata, that transcends all good omens, by Narada's sweet-voiced daughter, with an accompaniment of flutes soft as the murmur of bees, played by a pair of Kinnaras sitting behind her. She was looking in a mirror fixed before her at her lip, pale as beeswax when the honey is gone, bathed in the moonlight of her teeth, though within it was darkened by betel. She was being honoured by a sunwise turn in departing by a tame goose wandering like the moon in a fixed circle, with wide eyes raised to her sirisha earrings in its longing for vallisneria. Here the prince approached, and, saluting her, sat down on a seat placed on the dais. After a short stay he looked at Maḥaṣveta's face with a gentle smile that dimpled his cheek, and she, at once knowing his wish, said to Kadambari: 'Dear friend, Candrapida is softened by thy virtues as the moonstone by the moon, and cannot speak for himself. He wishes to depart; for the court he has left behind is thrown into distress, not knowing what has happened. Moreover, however far apart you may be from each other, this your love, like that of the sun and the day lotus, or the moon and the night lotus, will last till the day of doom. Therefore let him go.'

"'Dear Maḥaṣveta,' replied Kadambari, 'I and my retinue belong as wholly to the prince as his own soul. Why, then, this ceremony?' So saying, and summoning the Gandharva princes, she bade them escort the prince to his own place, and he, rising, bowed before Maḥaṣveta first, and then Kadambari, and was greeted by her with eyes and heart softened by affection; and with the words, 'Lady, what shall I say? For men distrust the multitude of words. Let me be remembered in the talk of thy retinue,' he went out of the zenana; and all the maidens but Kadambari, drawn by reverence for Candrapida's virtues, followed him on his way like his subjects to the outer gate.

"On their return, he mounted the steed brought by Keyuraka, and, escorted by the Gandharva princes, turned to leave Hemakuta. His whole thoughts on the way were about Kadambari in all things both within and without. With a mind wholly imbued with her, he beheld her behind him, dwelling within him in his bitter grief for the cruel separation; or before him, stopping him in his path; or cast on the sky, as if by the force of longing in his heart troubled by parting, so that he could perfectly see her face; he beheld her very self resting on his heart, as if her mind were wounded with his loss. When he reached Maḥaṣveta's hermitage, he there beheld his own camp, which had followed the tracks of Indrayudha.

"Dismissing the Gandharva princes, he entered his own abode amidst the salutations of his troops full of joy, curiosity, and wonder; and after greeting the rest of the court, he spent the day mostly in talk with Vaiṣampayana and Patralekha, saying, 'Thus said Maḥaṣveta, thus Kadambari, thus Madalekha, thus Tamalika, thus Keyuraka.' No longer did royal Glory, envious at the sight of Kadambari's beauty, find in him her joy; for him night passed in wakefulness as he thought, with a mind in ceaseless longing, of that bright-eyed maiden. Next morning, at sunrise, he went to his pavilion with his mind still fixed on her, and suddenly saw Keyuraka entering with a doorkeeper; and as the latter, while yet far off, cast himself on the ground, so that his crest swept the floor, Candrapida cried, 'Come, come,' greeting him first with a sidelong glance, then with his heart, then with a thrill. Then at last he hastened forward to give him a hearty and frank embrace, and made him sit down by himself. Then, in words brightened by the nectar of a smile, and transfused with overflowing love, he reverently asked: 'Say, Keyuraka, is the lady Kadambari well, and her friends, and her retinue, and the lady Maḥaṣveta?' With a low bow, Keyuraka, as though he had been bathed, anointed, and refreshed by the smile that the prince's deep affection had prompted, replied respectfully:

"'She is now well, in that my lord asks for her.' And then he showed a folded lotus-leaf, wrapped in wet cloth, with its opening closed by lotus filaments, and a seal of tender lotus filaments set in a paste of wet sandal. This he opened, and showed the tokens sent by Kadambari, such as milky betel-nuts of emerald hue, with their shells removed and surrounded with fresh sprays, betel-leaves pale as the cheek of a hen-parrot, camphor like a solid piece of Īiva's moon, and sandal ointment pleasant with rich musk scent. 'The lady Kadambari,' said he, 'salutes thee with folded hands that kiss her crest, and that are rosy with the rays of her tender fingers; Maḥaṣveta with a greeting and embrace; Madalekha with a reverence and a brow bathed in the moonlight of the crest-gem she has let fall; the maidens with the points of the fish-ornaments and the parting of their hair resting on the ground; and Taralika, with a prostration to touch the dust of thy feet. Maḥaṣveta sends thee this message: 'Happy truly are they from whose eyes thou art never absent. For in truth thy virtues, snowy, cold as the moon when thou art by, in thine absence burn like sunlight. Truly all yearn for the past day as though it were that day whereon fate with such toil brought forth amrita. Without thee the royal Gandharva city is languid as at the end of a feast. Thou knowest that I have surrendered all things; yet my heart, in my despite, desires to see thee who art so undeservedly kind. Kadambari, moreover, is far from well. She recalls thee with thy

smiling face like Love himself. Thou, by the honour of thy return, canst make her proud of having some virtues of her own. For respect shown by the noble must needs confer honour. And thou must forgive the trouble of knowing such as we. For thine own nobility gives this boldness to our address. And here is this Çesha necklace, which was left by thee on thy couch." So saying, he loosed it from his band, where it was visible by reason of the long rays that shot through the interstices of the fine thread, and placed it in the fan-bearer's hand.

"This, indeed, is the reward of doing homage at Mahaçveta's feet, that the lady Kadambari should lay so great a weight of honour on her slave as to remember him," said Candrapida, as he placed all on his head and accepted it. The necklace he put round his neck, after anointing it with an ointment cool, pleasant, and fragrant, as it were with the beauty of Kadambari's cheeks distilled, or the light of her smile liquefied, or her heart melted, or her virtues throbbing forth. Taking some betel, he rose and stood, with his left arm on Keyuraka's shoulder, and then dismissed the courtiers, who were gladly paying their wonted homage, and at length went to see his elephant Gandhamadana. There he stayed a short time, and after he had himself given to the elephant a handful of grass, that, being jagged with the rays of his nails, was like lotus-fibre, he went to the stable of his favourite steed. On the way he turned his face now on this side, now on that, to glance at his retinue, and the porters, understanding his wish, forbade all to follow him, and dismissed the retinue, so that he entered the stable with Keyuraka alone. The grooms bowed and departed, with eyes bewildered by terror at their dismissal, and the prince set straight Indrayudha's cloth, which had fallen a little on one side, pushed back his mane, tawny as a lion's, which was falling on his eyes and half closing them, and then, negligently resting his foot on the peg of the tethering-rope, and leaning against the stable wall, he eagerly asked:

"Tell me, Keyuraka, what has happened in the Gandharva court since my departure? In what occupation has the Gandharva princess spent the time? What were Mahaçveta and Madalekha doing? What talk was there? How were you and the retinue employed? And was there any talk about me?' Then Keyuraka told him all: 'Listen, prince. On thy departure, the lady Kadambari, with her retinue, climbed to the palace roof, making in the maidens' palace with the sound of anklets the beat of farewell drums that rose from a thousand hearts; and she gazed on thy path, gray with the dust of the cavalcade. When thou wert out of sight, she laid her face on Mahaçveta's shoulder, and, in her love, sprinkled the region of thy journey with glances fair as the Milky Ocean, and, warding off the sun's touch, as it were, with the moon assuming in jealousy the guise of a white umbrella, she long remained there. Thence she reluctantly tore herself away and came down, and after but a short rest in the pavilion, she arose and went to the pleasaunce where thou hadst been. She was guided by bees murmuring in the flowers of oblation; startled by the cry of the house peacocks, she checked their note as they looked up at the shower-like rays of her nails, by the circlets which lay loose round her throat; at every step she let her hand rest on creeper-twigs white with flowers, and her mind on thy virtues. When she reached the pleasaunce, her retinue needlessly told her: "Here the prince stayed on the spray-washed rock, with its creeper-bower bedewed by the stream from a pipe that ends in an emerald fish-head; here he bathed in a place covered by bees absorbed in the fragrance of the scented water; here he worshipped Çiva on the bank of the mountain stream, sandy with flower-dust; here he ate on a crystal stone which eclipsed moonlight; and here he slept on a pearly slab with a mark of sandal-juice imprinted on it." And so she passed the day, gazing on the signs of thy presence; and at close of day Mahaçveta prepared for her, though against her will, a meal in that crystal dwelling. And when the sun set and the moon rose, soon, as though she were a moonstone that moonlight would melt, and therefore dreaded the entrance of the moon's reflection, she laid her hands on her cheeks, and, as if in thought, remained for a few minutes with closed eyes; and then rising, went to her sleeping-chamber, scarcely raising her feet as they moved with graceful, languid gait, seemingly heavy with bearing the moon's reflection on their bright nails. Throwing herself on her couch, she was racked by a severe headache, and overcome by a burning fever, and, in company with the palace-lamps, the moon-lotuses, and the cakravakas, she passed the night open-eyed in bitter grief. And at dawn she summoned me, and reproachfully bade me seek for tidings of thee.'

"At these words, Candrapida, all eager to depart, shouted: 'A horse! a horse!' and left the palace. Indrayudha was hastily saddled, and brought round by the grooms, and Candrapida mounted, placing Patralekha behind him, leaving Vaiçampayana in charge of the camp, dismissing all his retinue, and followed by Keyuraka on another steed, he went to Hemakuta. On his arrival, he dismounted at the gate of Kadambari's palace, giving his horse to the doorkeeper, and, followed by Patralekha, eager for the first sight of Kadambari, he entered, and asked a eunuch who came forward where the lady Kadambari was. Bending low, the latter informed him, that she was in the ice-bower on the bank of the lotus-tank below the Mattamayura pleasaunce; and then the prince, guided by Keyuraka, went some distance through the women's garden, and beheld day grow green, and the sunbeams turn into grass by the reflection of the plantain-groves with their emerald glow, and there he beheld Kadambari. Then she looked with tremulous glance at her retinue, as, coming in one after another, they announced Candrapida's approach, and asked each by name: 'Tell me, has he really come, and hast thou seen him? How far off is he?' She gazed with eyes gradually brightening as she saw him yet afar off, and rose from her couch of flowers, standing like a newly-caught elephant bound to her post, and trembling in every limb. She was veiled in bees drawn as vassals by the fragrance of her flowery couch, all murmuring; her upper garment was in confusion, and she sought to place on her bosom the shining necklace; she seemed to beg the support of a hand from her own shadow as she laid her left hand on the jewelled pavement; she seemed to receive herself as a gift by sprinkling with her right hand moist with the toil of binding together her falling locks; she poured forth tears of joy cool as though the sandal-juice of her sectarian mark had entered in and been united with them; she washed with a line of glad tears her smooth cheeks, that the pollen from her garland had tinged with gray, as if in eagerness that the image of her beloved might fall thereon; she seemed to be drawn forward by her long eyes fastened on Candrapida's face, with its pupil fixed in a sidelong glance, and her head somewhat bent, as if from the weight of the sandal-mark on her brow.

"And Candrapida, approaching, bowed first before Mahaçveta, then courteously saluted Kadambari, and when she had returned his obeisance, and seated herself again on the couch, and the portress had brought him a gold stool with legs gleaming with gems, he pushed it away with his foot, and sat down on the ground. Then Keyuraka presented Patralekha, saying: 'This is Prince Candrapida's betel-box bearer and most favoured friend.' And Kadambari, looking on her, thought: 'How great partiality does Prajapati bestow on mortal women!' And as Patralekha bowed respectfully, she bade her approach, and placed her close behind herself, amidst the curious glances of all her retinue. Filled even at first sight with great love for her, Kadambari often touched her caressingly with her slender hand.

"Now, Candrapida, having quickly performed all the courtesies of arrival, beheld the state of Citraratha's daughter, and thought: 'Surely my heart is dull, in that it cannot even now believe. Be it so. I will, nevertheless, ask her with a skilfully-devised speech.' Then he said aloud: 'Princess, I know that this pain, with its unceasing torment, has come on thee from love. Yet, slender

maiden, it torments thee not as us. I would gladly, by the offering of myself, restore thee to health. For I pity thee as thou tremblest; and as I see thee fallen under the pain of love, my heart, too, falls prostrate. For thine arms are slender and unadorned, and thou bearest in thine eye a red lotus like a hybiscus from the deep wasting of fever. And all thy retinue weep ceaselessly for thy pain. Accept thine ornaments. Take of thine own accord thy richest adornments; for as the creeper shines hidden in bees and flowers, so shouldst thou.'

"Then Kadambari, though naturally simple by reason of her youth, yet, from a knowledge taught by love, understood all the meaning of this darkly-expressed speech. Yet, not realizing that she had come to such a point in her desires, supported by her modesty, she remained silent. She sent forth, however, the radiance of a smile at that moment on some pretext, as though to see his face darkened by the bees which were gathered round its sweetness. Madalekha therefore replied: 'Prince, what shall I say? This pain is cruel beyond words. Moreover, in one of so delicate a nature what does not tend to pain? Even cool lotus-fibres turn to fire and moonlight burns. Seest thou not the pain produced in her mind by the breezes of the fans? Only her strength of mind keeps her alive.' But in heart alone did Kadambari admit Madalekha's words as an answer to the prince. His mind, however, was in suspense from the doubtfulness of her meaning, and after spending some time in affectionate talk with Maḥaṣveta, at length with a great effort he withdrew himself, and left Kadambari's palace to go to the camp.

"As he was about to mount his horse, Keyuraka came up behind him, and said: 'Prince, Madalekha bids me say that Princess Kadambari, ever since she beheld Patralekha, has been charmed by her, and wishes to keep her. She shall return later. Having heard her message, thou must decide' 'Happy,' replied the prince, 'and enviable is Patralekha, in that she is honoured by so rare a favour by the princess. Let her be taken in.' So saying, he went to the camp.

"At the moment of his arrival he beheld a letter-carrier well known to him, that had come from his father's presence, and, stopping his horse, he asked from afar, with eyes widened by affection: 'Is my father well, and all his retinue? and my mother and all the zenana?' Then the man, approaching with a reverence, saying, 'As thou sayest, prince,' gave him two letters. Then the prince, placing them on his head, and himself opening them in order, read as follows: 'Hail from Ujjayini. King Tarapida, king of kings, whose lotus-feet are made the crest on the head of all kings, greets Candrapida, the home of all good fortune, kissing him on his head, which kisses the circle of the flashing rays of his crest jewels. Our subjects are well. Why has so long a time passed since we have seen thee? Our heart longs eagerly for thee. The queen and the zenana pine for thee. Therefore, let the cutting short of this letter be a cause of thy setting out.' And in the second letter, sent by Çukanasa, he read words of like import. Vaiçampayana, too, at that moment came up, and showed another pair of letters of his own to the same effect. So with the words, 'As my father commands,' he at once mounted his horse, and caused the drum of departure to be sounded. He instructed Meghanada, son of Balahaka, the commander-in-chief, who stood near him surrounded by a large troop: 'Thou must come with Patralekha. Keyuraka will surely bring her as far as here, and by his lips a message must be sent with a salutation to Princess Kadambari. Truly the nature of mortals deserves the blame of the three worlds, for it is discourteous, unfriendly, and hard to grasp, in that, when the loves of men suddenly clash, they do not set its full value on spontaneous tenderness. Thus, by my going, my love has become a cheating counterfeit; my faith has gained skill in false tones; my self-devotion has sunk into base deceit, having only a pretended sweetness; and the variance of voice and thought has been laid bare. But enough of myself. The princess, though a mate for the gods, has, by showing her favour to an unworthy object, incurred reproach. For the ambrosially kind glances of the great, when they fall in vain on unfitting objects, cause shame afterwards. And yet my heart is not so much weighed down by shame for her as for Maḥaṣveta. For the princess will doubtless often blame her for her ill-placed partiality in having painted my virtues with a false imputation of qualities I did not possess. What, then, shall I do? My parents' command is the weightier. Yet it controls my body alone. But my heart, in its yearning to dwell in Hemakuta, has written a bond of slavery for a thousand births to Princess Kadambari, and her favour holds it fast as the dense thicket holds a forester. Nevertheless, I go at my father's command. Truly from this cause the infamous Candrapida will be a byword to the people. Yet, think not that Candrapida, if he lives, will rest without again tasting the joy of worshipping the lotus-feet of the princess. Salute with bent head and sunwise turn the feet of Maḥaṣveta. Tell Madalekha that a hearty embrace, preceded by an obeisance, is offered her; salute Tamalika, and inquire on my behalf after all Kadambari's retinue. Let blessed Hemakuta be honoured by me with upraised hands.' After giving this message, he set Vaiçampayana over the camp, instructing his friend to march slowly, without overtaking the army. Then he mounted, accompanied by his cavalry, mostly mounted on young horses, wearing the grace of a forest of spears, breaking up the earth with their hoofs, and shaking Kailasa with their joyful neighing as they set out; and though his heart was empty, in the fresh separation from Kadambari, he asked the letter-carrier who clung to his saddle concerning the way to Ujjayini.

"And on the way he beheld in the forest a red flag, near which was a shrine of Durga, guarded by an old Dravidian hermit, who made his abode thereby.

"Dismounting, he entered, and bent reverently before the goddess, and, bowing again after a sunwise turn, he wandered about, interested in the calm of the place, and beheld on one side the wrathful hermit, howling and shouting at him; and at the sight, tossed as he was by passionate longing in his absence from Kadambari, he could not forbear smiling a moment; but he checked his soldiers, who were laughing and beginning a quarrel with the hermit; and at length, with great difficulty, he calmed him with many a soothing and courteous speech, and asked him about his birthplace, caste, knowledge, wife and children, wealth, age, and the cause of his ascetic vow. On being asked, the latter described himself, and the prince was greatly interested by him as he garrulously described his past heroism, beauty, and wealth, and thus diverted his mind in the soreness of bereavement; and, having become friendly with him, he caused betel to be offered to him. When the sun set, the princes encamped under the trees that chanced to be near; the golden saddles of the steeds were hung on boughs; the steeds showed the exertions they had gone through, from the tossing of their manes dusty with rolling on the earth, and after they had taken some handfuls of grass and been watered, and were refreshed, they were tethered, with the spears dug into the ground before them; the soldiery, wearied with the day's march, appointed a watch, and gladly went to sleep on heaps of leaves near the horses; the encampment was bright as day, for the darkness was drunk up by the light of many a bivouac fire, and Candrapida went to a couch prepared for him by his retinue, and pointed out to him by his porters, in front of the place where Indrayudha was tethered. But the very moment he lay down restlessness seized his heart, and, overcome by pain, he dismissed the princes, and said nothing even to the special favourites who stood behind him. With closed eyes he again and again went in heart to the Kimpurusha land. With fixed thought he recalled Hemakuta. He thought on the spontaneous kindness of Maḥaṣveta's favours. He constantly longed for the sight of Kadambari as his life's highest fruit. He continually desired the converse of Madalekha, so charming in its absence of pride. He

wished to see Tamalika. He looked forward to Keyuraka's coming. He beheld in fancy the winter palace. He often sighed a long, feverish sigh. He bestowed on the Çesha necklace a kindness beyond that for his kin. He thought he saw fortunate Patralekha standing behind him. Thus he passed the night without sleep; and, rising at dawn, he fulfilled the hermit's wish by wealth poured out at his desire, and, sojourning at pleasant spots on the way, in a few days he reached Ujjayini. A thousand hands, like lotuses of offering to a guest raised in reverent salutation, were raised by the citizens in their confusion and joy at his sudden coming, as he then unexpectedly entered the city. The king heard from the retinue hastening to be first to tell him that Candrapida was at the gate, and bewildered by sudden gladness, with steps slow from the weight of joy, he went to meet his son. Like Mandara, he drew to himself as a Milky Ocean his spotless silk mantle that was slipping down; like the kalpa-tree, with its shower of choice pearls, he rained tears of gladness; he was followed by a thousand chiefs that were round him--chiefs with topknots white with age, anointed with sandal, wearing untorn linen robes, bracelets, turbans, crests and wreaths, bearing swords, staves, umbrellas and cowries, making the earth appear rich in Kailasas and Milky Oceans. The prince, seeing his father from afar, dismounted, and touched the ground with a head garlanded by the rays of his crest-jewels. Then his father stretched out his arms, bidding him approach, and embraced him closely; and when he had paid his respects to all the honourable persons who were there, he was led by the king to Vilasavati's palace. His coming was greeted by her and her retinue, and when he had performed all the auspicious ceremonies of arrival, he stayed some time in talk about his expedition of conquest, and then went to see Çukanasa. Having duly stayed there some time, he told him that Vaiçampayana was at the camp and well, and saw Manorama; and then returning, he mechanically performed the ceremonies of bathing, and so forth, in Vilasavati's palace. On the morrow he went to his own palace, and there, with a mind tossed by anxiety, he deemed that not only himself, but his palace and the city, and, indeed, the whole world, was but a void without Kadambari, and so, in his longing to hear news of her, he awaited the return of Patralekha, as though it were a festival, or the winning of a boon, or the time of the rising of amrita.

"A few days later Meghanada came with Patralekha, and led her in; and as she made obeisance from afar, Candrapida smiled affectionately, and, rising reverently, embraced her; for though she was naturally dear to him, she was now yet dearer as having won a fresh splendour from Kadambari's presence. He laid his slender hand on Meghanada's back as he bent before him, and then, sitting down, he said: 'Tell me, Patralekha, is all well with Mahaçveta and Madalekha, and the lady Kadambari? And are all her retinue well, with Tamalika and Keyuraka?' 'Prince,' she replied, 'all is well, as thou sayest. The lady Kadambari, with her friends and retinue, do thee homage by making their raised hands into a wreath for their brows.' At these words the prince dismissed his royal retinue, and went with Patralekha into the palace. Then, with a tortured heart, no longer able from its intense love to overcome his eagerness to hear, he sent his retinue far away and entered the house. With his lotus-feet he pushed away the pair of hamsas that were sleeping happily on the slope beneath a leafy bower that made an emerald banner; and, resting in the midst of a fresh bed of hyacinth, that made a sunshade with its broad, long-stalked leaves, he sat down, and asked: 'Tell me, Patralekha, how thou hast fared. How many days wert thou there? What favour did the princess show thee? What talk was there, and what conversation arose? Who most remembers us, and whose affection is greatest?' Thus questioned, she told him: 'Give thy mind and hear all. When thou wert gone, I returned with Keyuraka, and sat down near the couch of flowers; and there I gladly remained, receiving ever fresh marks of kindness from the princess. What need of words? The whole of that day her eye, her form, her hand, were on mine; her speech dwelt on my name and her heart on my love. On the morrow, leaning on me, she left the winter palace, and, wandering at will, bade her retinue remain behind, and entered the maidens' garden. By a flight of emerald steps, that might have been formed from Jamuna's waves, she ascended to a white summer-house, and in it she stayed some time, leaning against a jewelled pillar, deliberating with her heart, wishing to say something, and gazing on my face with fixed pupil and motionless eyelashes. As she looked she formed her resolve, and, as if longing to enter love's fire, she was bathed in perspiration; whereat a trembling came upon her, so that, shaking in every limb as though fearing to fall, she was seized by despair.

"But when I, who knew her thoughts, fixed my mind on her, and, fastening my eyes on her face, bade her speak, she seemed to be restrained by her own trembling limbs; with a toe that marked the floor as if for retreat, she seemed to rub out her own image in shame that it should hear her secret; with her lotus foot--its anklets all set jingling by the scratching of the floor--she pushed aside the tame geese; with a strip of silk made into a fan for her hot face, she drove away the bees on her ear-lotuses; to the peacock she gave, like a bribe, a piece of betel broken by her teeth; and gazing often on every side lest a wood-goddess should listen, much as she longed to speak, she was checked in her utterance by shame, and could not speak a word. Her voice, in spite of her greatest efforts, was wholly burnt up by love's fire, borne away by a ceaseless flow of tears, overwhelmed by onrushing griefs, broken by love's falling shafts, banished by invading sighs, restrained by the hundred cares that dwelt in her heart, and drunk by the bees that tasted her breath, so that it could not come forth. In brief, she made a pearl rosary to count her many griefs with the bright tears that fell without touching her cheeks, as with bent head she made the very image of a storm. Then from her shame learnt its full grace; modesty, a transcendent modesty; simplicity, simplicity; courtesy, courtesy; fear, timidity; coquetry, its quintessence; despair, its own nature; and charm, a further charm. And so, when I asked her, 'Princess, what means this?' she wiped her reddened eyes, and, holding a garland woven by the flowers of the bower with arms which, soft as lotus-fibres, seemed meant to hold her firmly in the excess of her grief, she raised one eyebrow, as if gazing on the path of death, and sighed a long, fevered sigh. And as, in desire to know the cause of her sorrow, I pressed her to tell me, she seemed to write on the ketaki petals scratched by her nails in her shame, and so deliver her message. She moved her lower lip in eagerness to speak, and seemed to be whispering to the bees who drank her breath, and thus she remained some time with eyes fixed on the ground.

"At last, often turning her glance to my face, she seemed to purify, with the tears that fell from her brimming eyes, the voice that the smoke of Love's fire had dimmed. And, in the guise of tears, she bound up with the rays of her teeth, flashing in a forced smile, the strange syllables of what she had meant to say, but forgotten in her tremor, and with great difficulty betook herself to speech. 'Patralekha,' she said to me, 'by reason of my great favour for thee, neither father, mother, Mahaçveta, Madalekha, nor life itself is dear to me as thou hast been since I first beheld thee. I know not why my heart has cast off all my friends and trusts in thee alone. To whom else can I complain, or tell my humiliation, or give a share in my woe? When I have shown thee the unbearable burden of my woe, I will die. By my life I swear to thee I am put to shame by even my own heart's knowledge of my story; how much more by another's? How should such as I stain by ill report a race pure as moonbeams, and lose the honour which has descended from my sires, and turn my thoughts on unmaidenly levity, acting thus without my father's will, or my mother's bestowal, or my elders' congratulations, without any announcement, without sending of gifts, or showing of pictures? Timidly, as one unprotected, have I been led to deserve my parents' blame by that overweening Candrapida. Is this, I

pray, the conduct of noble men? Is this the fruit of our meeting, that my heart, tender as a lotus filament, is now crushed? For maidens should not be lightly treated by youths; the fire of love is wont to consume first their reserve and then their heart; the arrows of love pierce first their dignity and then their life. Therefore, I bid thee farewell till our meeting in another birth, for none is dearer to me than thou. By carrying out my resolve of death, I shall cleanse my own stain." So saying, she was silent.

"Not knowing the truth of her tale, I sorrowfully, as if ashamed, afraid, bewildered, and bereft of sense, adjured her, saying: "Princess, I long to hear. Tell me what Prince Candrapida has done. What offence has been committed? By what discourtesy has he vexed that lotus-soft heart of thine, that none should vex? When I have heard this, thou shalt die on my lifeless body." Thus urged, she again began: "I will tell thee; listen carefully. In my dreams that cunning villain comes daily and employs in secret messages a caged parrot and a starling. In my dreams he, bewildered in mind with vain desires, writes in my earrings to appoint meetings. He sends love-letters with their syllables washed away, filled with mad hopes, most sweet, and showing his own state by the lines of tears stained with pigment falling on them. By the glow of his feelings he dyes my feet against my will. In his reckless insolence he prides himself on his own reflection in my nails. In his unwarranted boldness he embraces me against my will in the gardens when I am alone, and almost dead from fear of being caught, as the clinging of my silken skirts to the branches hinders my steps, and my friends the creepers seize and deliver me to him. Naturally crooked, he teaches the very essence of crookedness to a heart by nature simple by the blazonry he paints on my breast. Full of guileful flattery, he fans with his cool breath my cheeks all wet and shining as with a breeze from the waves of my heart's longing. He boldly places the rays of his nails like young barley-sheaves on my ear, though his hand is empty, because its lotus has fallen from his grasp relaxed in weariness. He audaciously draws me by the hair to quaff the sweet wine of his breath, inhaled by him when he watered his favourite bakul-flowers. Mocked by his own folly, he demands on his head the touch of my foot, destined for the palace açoka-tree. In his utter love madness, he says: 'Tell me, Patralekha, how a madman can be rejected?' For he considers refusal a sign of jealousy; he deems abuse a gentle jest; he looks on silence as pettishness; he regards the mention of his faults as a device for thinking of him; he views contempt as the familiarity of love; he esteems the blame of mankind as renown."

"A sweet joy filled me as I heard her say this, and I thought, "Surely Love has led her far in her feelings for Candrapida. If this indeed be true, he shows in visible form, under the guise of Kadambari, his tender feeling towards the prince, and he is met by the prince's innate and carefully-trained virtues. The quarters gleam with his glory; a rain of pearls is cast by his youth on the waves of the ocean of tenderness; his name is written by his youthful gaiety on the moon; his own fortune is proclaimed by his happy lot; and nectar is showered down by his grace as by the digits of the moon."

"Moreover, the Malaya wind has at length its season; moonrise has gained its full chance; the luxuriance of spring flowers has won a fitting fruit; the sharpness of wine has mellowed to its full virtue, and the descent of love's era is now clearly manifest on earth."

"Then I smiled, and said aloud: "If it be so, princess, cease thy wrath. Be appeased. Thou canst not punish the prince for the faults of Kama. These truly are the sports of Love, the god of the Flowery Bow, not of a wanton Candrapida."

"As I said this, she eagerly asked me: "As for this Kama, whoever he may be, tell me what forms he assumes."

"How can he have forms?" replied I. "He is a formless fire. For without flame he creates heat; without smoke he makes tears flow; without the dust of ashes he shows whiteness. Nor is there a being in all the wide universe who is not, or has not been, or will not be, the victim of his shaft. Who is there that fears him not? Even a strong man is pierced by him when he takes in hand his flowery bow."

"Moreover, when tender women are possessed by him, they gaze, and the sky is crowded with a thousand images of their beloved. They paint the loved form; the earth is a canvas all too small. They reckon the virtues of their hero; number itself fails them. They listen to talk about their dearest; the Goddess of Speech herself seems all too silent. They muse on the joys of union with him who is their life; and time itself is all too short to their heart."

"She pondered a moment on this ere she replied: "As thou sayest, Patralekha, Love has led me into tenderness for the prince. For all these signs and more are found in me. Thou art one with my own heart, and I ask thee to tell me what I should now do? I am all unversed in such matters. Moreover, if I were forced to tell my parents, I should be so ashamed that my heart would choose death rather than life."

"Then again I answered; "Enough, princess! Why this needless talk of death as a necessary condition? Surely, fair maiden, though thou hast not sought to please him, Love has in kindness given thee this boon. Why tell thy parents? Love himself, like a parent, plans for thee; like a mother, he approves thee; like a father, he bestows thee; like a girl friend, he kindles thine affection; like a nurse, he teaches thy tender age the secrets of love. Why should I tell thee of those who have themselves chosen their lords? For were it not so, the ordinance of the svayamvara in our law-books would be meaningless. Be at rest, then, princess. Enough of this talk of death. I conjure thee by touching thy lotus-foot to send me. I am ready to go. I will bring back to thee, princess, thy heart's beloved."

"When I had said this, she seemed to drink me in with a tender glance; she was confused by an ardour of affection which, though restrained, found a path, and burst through the reserve that Love's shafts had pierced. In her pleasure at my words, she cast off the silken outer robe which clung to her through her weariness, and left it suspended on her thrilling limbs. She loosened the moonbeam necklace on her neck, put there as a noose to hang herself, and entangled in the fish ornaments of her swinging earring. Yet, though her whole soul was in a fever of joy, she supported herself by the modesty which is a maiden's natural dower, and said: "I know thy great love. But how could a woman, tender of nature as a young çirisha-blossom, show such boldness, especially one so young as I? Bold, indeed, are they who themselves send messages, or themselves deliver a message. I, a young maiden, am ashamed to send a bold message. What, indeed, could I say? 'Thou art very dear,' is superfluous. 'Am I dear to thee?' is a senseless question. 'My love for thee is great,' is the speech of the shameless. 'Without thee I cannot live,' is contrary to experience. 'Love conquers me,' is a reproach of my own fault. 'I am given to thee by Love,' is a bold offering of one's self. 'Thou art my captive,' is the daring speech of immodesty. 'Thou must needs come,' is the pride of fortune. 'I will come myself,' is a woman's weakness. 'I am wholly devoted to thee,' is the lightness of obtruded affection. 'I send no message from fear of a rebuff,' is to wake the sleeper. 'Let me be a warning of the sorrow of a service that is despised,' is an excess of tenderness. 'Thou shalt know my love by my death,' is a thought that may not enter the mind."

PART II

Completed by Bhushanabhatta

I hail, for the completion of the difficult toil of this unfinished tale, Uma and Çiva, parents of earth, whose single body, formed from the union of two halves, shows neither point of union nor division.

I salute Narayana, creator of all, by whom the man-lion form was manifested happily, showing a face terrible with its tossing mane, and displaying in his hand quoit, sword, club and conch.

I do homage to my father, that lord of speech, the creator by whom that story was made that none else could fashion, that noble man whom all honour in every house, and from whom I, in reward of a former life, received my being.

When my father rose to the sky, on earth the stream of the story failed with his voice. And I, as I saw its unfinished state was a grief to the good, began it, but from no poetic pride.

For that the words flow with such beauty is my father's special gift; a single touch of the ray of the moon, the one source of nectar, suffices to melt the moonstone.

As other rivers at their full enter the Ganges, and by being absorbed in it reach the ocean, so my speech is cast by me for the completion of this story on the ocean-flowing stream of my father's eloquence.

Reeling under the strong sweetness of Kadambari as one intoxicated, I am bereft of sense, in that I fear not to compose an ending in my own speech devoid of sweetness and colour.

The seeds that promise fruit and are destined to flower are forced by the sower with fitting toils; scattered in good ground, they grow to ripeness; but it is the sower's son who gathers them.

"Moreover," Kadambari continued, "if the prince were brought shame itself, put to shame by my weakness, would not allow a sight of him. Fear itself, frightened at the crime of bringing him by force, would not enter his presence. Then all would be over if my friend Patralekha did her utmost from love to me, and yet could not induce him to come, even by falling at his feet, either perchance from his respect for his parents, or devotion to royal duty, or love of his native land, or reluctance towards me. Nay, more. I am that Kadambari whom he saw resting on a couch of flowers in the winter palace, and he is that Candrapida, all ignorant of another's pain, who stayed but two days, and then departed. I had promised Mahaçveta not to marry while she was in trouble, though she besought me not to promise, saying, that Kama often takes our life by love even for one unseen. But this is not my case. For the prince, imaged by fancy, ever presents himself to my sight, and, sleeping or waking, in every place I behold him. Therefore talk not of bringing him."

' Thereupon I reflected, "Truly the beloved, as shaped in the imagination, is a great support to women separated from their loves, especially to maidens of noble birth." And I promised Kadambari that I would bring thee, O Prince. Then she, roused by my speech full of thy name, as by a charm to remove poison, suddenly opened her eyes, and said, "I say not that thy going pleases me, Patralekha. It is only when I see thee that I can endure my life; yet if this desire possess thee, do what thou wilt!" So saying, she dismissed me with many presents.

"Then with slightly downcast face Patralekha continued: "The recent kindness of the princess has given me courage, my prince, and I am grieved for her, and so I say to thee, 'Didst thou act worthily of thy tender nature in leaving her in this state?'"

"Thus reproached by Patralekha, and hearing the words of Kadambari, so full of conflicting impulses, the prince became confused; and sharing in Kadambari's feeling, he asked Patralekha with tears, "What am I to do? Love has made me a cause of sorrow to Kadambari, and of reproach to thee. And methinks this was some curse that darkened my mind; else how was my mind deceived when clear signs were given, which would create no doubt even in a dull mind? All this my fault has arisen from a mistake. I will therefore now, by devoting myself to her, even with my life, act so that the princess may know me not to be of so hard a heart."

' While he thus spoke a portress hastened in and said: "Prince, Queen Vilasavati sends a message saying, 'I hear from the talk of my attendants that Patralekha, who had stayed behind, has now returned. And I love her equally with thyself. Do thou therefore come, and bring her with thee. The sight of thy lotus face, won by a thousand longings, is rarely given.'"

"How my life now is tossed with doubts!" thought the prince. "My mother is sorrowful if even for a moment she sees me not. My subjects love me; but the Gandharva princess loves me more. Princess Kadambari is worthy of my winning, and my mind is impatient of delay;" so thinking, he went to the queen, and spent the day in a longing of heart hard to bear; while the night he spent thinking of the beauty of Kadambari, which was as a shrine of love.

' Thenceforth pleasant talk found no entrance into him. His friends' words seemed harsh to him; the conversation of his kinsmen gave him no delight. His body was dried up by love's fire, but he did not yield up the tenderness of his heart. He despised happiness, but not self-control.

'While he was thus drawn forward by strong love, which had its life resting on the goodness and beauty of Kadambari, and held backwards by his very deep affection for his parents, he beheld one day, when wandering on the banks of the Sipra, a troop of horse approaching. He sent a man to inquire what this might be, and himself crossing the Sipra where the water rose but to his thigh, he awaited his messenger's return in a shrine of Kartikeya. Drawing Patralekha to him, he said, "Look! that horse-man whose face can scarce be descried is Keyuraka!"

' He then beheld Keyuraka throw himself from his horse while yet far off, gray with dust from swift riding, while by his changed appearance, his lack of adornment, his despondent face, and his eyes that heralded his inward grief, he announced, even without words, the evil plight of Kadambari. Candrapida lovingly called him as he hastily bowed and drew near, and embraced him. And when he had drawn back and paid his homage, the prince, having gratified his followers by courteous inquiries, looked at him eagerly, and said, "By the sight of thee, Keyuraka, the well-being of the lady Kadambari and her attendants is proclaimed. When thou art rested and at ease, thou shalt tell me the cause of thy coming;" and he took Keyuraka and Patralekha home with him on his elephant. Then he dismissed his followers, and only accompanied by Patralekha, he called Keyuraka to him, and said: "Tell me the message of Kadambari, Madalekha and Mahaçveta."

"What shall I say?" replied Keyuraka; "I have no message from any of these. For when I had entrusted Patralekha to Meghanada, and returned, and had told of thy going to Ujjayini, Mahaçveta looked upwards, sighed a long, hot sigh, and saying sadly, 'It is so then,' returned to her own hermitage to her penance. Kadambari, as though bereft of consciousness, ignorant of Mahaçveta's departure, only opened her eyes after a long time, scornfully bidding me tell Mahaçveta; and asking Madalekha if anyone ever had done, or would do, such a deed as Candrapida, she dismissed her attendants, threw herself on her couch, veiled her head, and spent the day without speaking even to Madalekha, who wholly shared her grief. When early next morning I went to her, she gazed at me long with tearful eyes, as if blaming me. And I, when thus looked at by my sorrowing mistress, deemed myself ordered to go, and so, without telling the princess, I have approached my lord's feet. Therefore vouchsafe to hear attentively the bidding of Keyuraka, whose heart is anxious to save the life of one whose sole refuge is in thee. For, as by thy first coming that virgin forest was stirred as by the fragrant Malaya wind, so when she beheld thee, the joy of the whole world, like the spring, love entered her as though she were a red açoka creeper. But now she endures great torture for thy sake." Then Keyuraka told at length all her sufferings, till the prince, overcome by grief, could bear it no longer and swooned.

"Then, awakening from his swoon, he lamented that he was thought too hard of heart to receive a message from Kadambari or her friends, and blamed them for not telling him of her love while he was there.

"Why should there be shame concerning one who is her servant, ever at her feet, that grief should have made its home in one so tender, and my desires be unfulfilled? Now, what can I do when at some days' distance from her. Her body cannot even endure the fall of a flower upon it, while even on adamant hearts like mine the arrows of love are hard to bear. When I see the unstable works began by cruel Fate, I know not where it will stop. Else where was my approach to the land of the immortals, in my vain hunt for the Kinnaras? where my journey to Hemakuta with Mahaçveta, or my sight of the princess there, or the birth of her love for me, or my father's command, that I could not transgress, for me to return, though my longing was yet unfulfilled? It is by evil destiny that we have been raised high, and then dashed to the ground. Therefore let us do our utmost to console the princess." Then in the evening he asked Keyuraka, "What thinkest thou? Will Kadambari support life till we arrive? Or shall I again behold her face, with its eyes like a timid fawn's?" "Be firm, prince," he replied. "Do thine utmost to go." The prince had himself begun plans for going; but what happiness or what content of heart would there be without his father's leave, and how after his long absence could that be gained? A friend's help was needed here, but Vaiçampayana was away.

'But next morning he heard a report that his army had reached Daçapura, and thinking with joy that he was now to receive the favour of Fate, in that Vaiçampayana was now at hand, he joyfully told the news to Keyuraka. "This event," replied the latter, "surely announces thy going. Doubtless thou wilt gain the princess. For when was the moon ever beheld by any without moonlight, or a lotus-pool without a lotus, or a garden without creeper? Yet there must be delay in the arrival of Vaiçampayana, and the settling with him of thy plans. But I have told thee the state of the princess, which admits of no delay. Therefore, my heart, rendered insolent by the grace bestowed by thy affection, desires that favour may be shown me by a command to go at once to announce the joy of my lord's coming." Whereat the prince, with a glance that showed his inward satisfaction, replied: "Who else is there who so well knows time and place, or who else is so sincerely loyal? This, therefore, is a happy thought. Go to support the life of the princess and to prepare for my return. But let Patralekha go forward, too, with thee to the feet of the princess. For she is favoured by the princess." Then he called Meghanada, and bade him escort Patralekha, while he himself would overtake them when he had seen Vaiçampayana. Then he bade Patralekha tell Kadambari that her noble sincerity and native tenderness preserved him, even though far away and burnt by love's fire, and requested her bidding to come. After their departure, he went to ask his father's leave to go to meet Vaiçampayana. The king lovingly received him, and said to Çukanasa: "He has now come to the age for marriage. So, having entered upon the matter with Queen Vilasavati, let some fair maiden be chosen. For a face like my son's is not often to be seen. Let us then gladden ourselves now by the sight of the lotus face of a bride." Çukanasa agreed that as the prince had gained all knowledge, made royal fortune firmly his own, and wed the earth, there remained nothing for him to do but to marry a wife. "How fitly," thought Candrapida, "does my father's plan come for my thoughts of a union with Kadambari! The proverb 'light to one in darkness,' or 'a shower of nectar to a dying man,' is coming true in me. After just seeing Vaiçampayana, I shall win Kadambari." Then the king went to Vilasavati, and playfully reproached her for giving no counsel as to a bride for her son. Meanwhile the prince spent the day in awaiting Vaiçampayana's return. And after spending over two watches of the night sleepless in yearning for him, the energy of his love was redoubled, and he ordered the conch to be sounded for his going. Then he started on the road to Daçapura, and after going some distance he beheld the camp, and rejoiced to think he would now see Vaiçampayana; and going on alone, he asked where his friend was. But weeping women replied: "Why ask? How should he be here?" And in utter bewilderment he hastened to the midst of the camp. There he was recognised, and on his question the chieftains besought him to rest under a tree while they related Vaiçampayana's fate. He was, they said, yet alive, and they told what had happened. "When left by thee, he halted a day, and then gave the order for our march. 'Yet,' said he, 'Lake Acchoda is mentioned in the Purana as very holy. Let us bathe and worship Çiva in the shrine on its bank. For who will ever, even in a dream, behold again this place haunted by the gods?' But beholding a bower on the bank he gazed at it like a brother long lost to sight, as if memories were awakened in him. And when we urged him to depart, he made as though he heard us not; but at last he bade us go, saying that he would not leave that spot. 'Do I not know well' said he, 'all that you urge for my departure? But I have no power over myself, and I am, as it were, nailed to the spot, and cannot go with you.' So at length we left him, and came hither."

'Amazed at this story, which he could not have even in a dream imagined, Candrapida wondered: "What can be the cause of his resolve to leave all and dwell in the woods? I see no fault of my own. He shares everything with me. Has anything been said that could hurt him by my father or Çukanasa?" He at length returned to Ujjayini, thinking that where Vaiçampayana was there was Kadambari also, and resolved to fetch him back. He heard that the king and queen had gone to Çukanasa's house, and followed them thither. There he heard Manorama lamenting the absence of the son without whose sight she could not live, and who had never before, even in his earliest years, shown neglect of her. On his entrance the king thus greeted him: "I know thy great love for him. Yet when I hear thy story my heart suspects some fault of thine." But Çukanasa, his face darkened with grief and impatience, said reproachfully: "If, O king, there is heat in the moon or coolness in fire, then there may be fault in the prince. Men such as Vaiçampayana are portents of destruction, fire without fuel, polished mirrors that present everything the reverse way; for them the base are exalted, wrong is right, and ignorance wisdom. All in them makes for evil, and not for good. Therefore Vaiçampayana has not feared thy wrath, nor thought that his mother's life depends on him, nor that he was born to be a giver of offerings for the continuance of his race. Surely the birth of one so evil and demoniac was but to cause us grief." To this

the king replied: "Surely for such as I to admonish thee were for a lamp to give light to fire, or daylight an equal splendour to the sun. Yet the mind of the wisest is made turbid by grief as the Manasa Lake by the rainy season, and then sight is destroyed. Who is there in this world who is not changed by youth? When youth shows itself, love for elders flows away with childhood. My heart grieves when I hear thee speak harshly of Vaiçampayana. Let him be brought hither. Then we can do as is fitting." Çukanasa persisted in blaming his son; but Candrapida implored leave to fetch him home, and Çukanasa at length yielded. Then Candrapida summoned the astrologers, and secretly bade them name the day for his departure, when asked by the king or Çukanasa, so as not to delay his departure. "The conjunction of the planets," they answered him, "is against thy going. Yet a king is the determiner of time. On whatever time thy will is set, that is the time for every matter." Then they announced the morrow as the time for his departure; and he spent that day and night intent on his journey, and deeming that he already beheld Kadambari and Vaiçampayana before him.

'And when the time came, Vilasavati bade him farewell in deep sorrow: "I grieved not so for thy first going as I do now. My heart is torn; my body is in torture; my mind is overwhelmed. I know not why my heart so suffers. Stay not long away." He tried to console her, and then went to his father, who received him tenderly, and finally dismissed him, saying: "My desire is that thou shouldst take a wife and receive the burden of royalty, so that I may enter on the path followed by royal sages; but this matter of Vaiçampayana is in the way of it, and I have misgivings that my longing is not to be fulfilled; else how could he have acted in so strange a way? Therefore, though thou must go, my son, return soon, that my heart's desire may not fail." At length he started, and spent day and night on his journey in the thought of his friend and of the Gandharva world. And when he had travelled far the rainy season came on, and all the workings of the storms found their counterpart in his own heart. Yet he paused not on his way, nor did he heed the entreaties of his chieftains to bestow some care on himself, but rode on all day. But a third part of the way remained to traverse when he beheld Meghanada, and, asking him eagerly concerning Vaiçampayana, he learnt that Patralekha, sure that the rains would delay his coming, had sent Meghanada to meet him, and that the latter had not been to the Acchoda lake. With redoubled grief the prince rode to the lake, and bade his followers guard it on all sides, lest Vaiçampayana should in shame flee from them; but all his search found no traces of his friend. "My feet," thought he, "cannot leave this spot without him, and yet Kadambari has not been seen. Perchance Mahaçveta may know about this matter; I will at least see her." So he mounted Indrayudha, and went towards her hermitage. There dismounting, he entered; but in the entrance of the cave he beheld Mahaçveta, with difficulty supported by Taralika, weeping bitterly. "May no ill," thought he, "have befallen Kadambari, that Mahaçveta should be in this state, when my coming should be a cause of joy." Eagerly and sorrowfully he questioned Taralika, but she only gazed on Mahaçveta's face. Then the latter at last spoke falteringly: "What can one so wretched tell thee? Yet the tale shall be told. When I heard from Keyuraka of thy departure, my heart was torn by the thought that the wishes of Kadambari's parents, my own longing, and the sight of Kadambari's happiness in her union with thee had not been brought about, and, cleaving even the bond of my love to her, I returned home to yet harsher penance than before. Here I beheld a young Brahman, like unto thee, gazing hither and thither with vacant glance. But at the sight of me his eyes were fixed on me alone, as if, though unseen before, he recognised me, though a stranger, he had long known me, and gazing at me like one mad or possessed, he said at last: 'Fair maiden, only they who do what is fitting for their birth, age, and form escape blame in this world. Why toilest thou thus, like perverse fate, in so unmeet an employment, in that thou wastest in stern penance a body tender as a garland? The toil of penance is for those who have enjoyed the pleasures of life and have lost its graces, but not for one endowed with beauty. If thou turnest from the joys of earth, in vain does Love bend his bow, or the moon rise. Moonlight and the Malaya wind serve for naught.'"

"But I, caring for nothing since the loss of Pundarika, asked no questions about him, and bade Taralika keep him away, for some evil would surely happen should he return. But in spite of being kept away, whether from the fault of love or the destiny of suffering that lay upon us, he did not give up his affection; and one night, while Taralika slept, and I was thinking of Pundarika, I beheld in the moonlight, clear as day, that youth approaching like one possessed. The utmost fear seized me at the sight. 'An evil thing,' I thought, 'has befallen me. If he draw near, and but touch me with his hand, this accursed life must be destroyed; and then that endurance of it, which I accepted in the hope of again beholding Pundarika, will have been in vain.' While I thus thought he drew near, and said: 'Moon-faced maiden, the moon, Love's ally, is striving to slay me. Therefore I come to ask protection. Save me, who am without refuge, and cannot help myself, for my life is devoted to thee. It is the duty of ascetics to protect those who flee to them for protection. If, then, thou deign not to bestow thyself on me, the moon and love will slay me.' At these words, in a voice choked by wrath, I exclaimed: 'Wretch, how has a thunderbolt failed to strike thy head in the utterance of these thy words? Surely the five elements that give witness of right and wrong to mortals are lacking in thy frame, in that earth and air and fire and the rest have not utterly destroyed thee. Thou hast learnt to speak like a parrot, without thought of what was right or wrong to say. Why wert thou not born as a parrot? I lay on thee this fate, that thou mayest enter on a birth suited to thine own speech, and cease to make love to one such as I.' So saying, I turned towards the moon, and with raised hands prayed: 'Blessed one, lord of all, guardian of the world, if since the sight of Pundarika my heart has been free from the thought of any other man, may this false lover by the truth of this my saying, fall into the existence pronounced by me.' Then straightway, I know not how, whether from the force of love, or of his own sin, or from the power of my words, he fell lifeless, like a tree torn up by the roots. And it was not till he was dead that I learnt from his weeping attendants that he was thy friend, noble prince." Having thus said, she bent her face in shame and silently wept. But Candrapida, with fixed glance and broken voice, replied: "Lady, thou hast done thine utmost, and yet I am too ill-fated to have gained in this life the joy of honouring the feet of the lady Kadambari. Mayest thou in another life create this bliss for me." With these words his tender heart broke, as if from grief at failing to win Kadambari, like a bud ready to open when pierced by a bee.

'Then Taralika burst into laments over his lifeless body and into reproaches to Mahaçveta. And as the chieftains, too, raised their cry of grief and wonder, there entered, with but few followers, Kadambari herself, attired as to meet her lover, though a visit to Mahaçveta was the pretext of her coming, and while she leant on Patralekha's hand, she expressed her doubts of the prince's promised return, and declared that if she again beheld him she would not speak to him, nor be reconciled either by his humility or her friend's endeavours. Such were her words; but she counted all the toil of the journey light in her longing to behold him again. But when she beheld him dead, with a sudden cry she fell to the ground. And when she recovered from her swoon, she gazed at him with fixed eyes and quivering mouth, like a creeper trembling under the blow of a keen axe, and then stood still with a firmness foreign to her woman's nature. Madalekha implored her to give her grief the relief of tears, lest her heart should break, and remember that on her rested the hopes of two races. "Foolish girl," replied Kadambari, with a smile, "how

should my adamant heart break if it has not broken at this sight? These thoughts of family and friends are for one who wills to live, not for me, who have chosen death; for I have won the body of my beloved, which is life to me, and which, whether living or dead, whether by an earthly union, or by my following it in death, suffices to calm every grief. It is for my sake that my lord came hither and lost his life; how, then, could I, by shedding tears, make light of the great honour to which he has raised me? or how bring an ill-omened mourning to his departure to heaven? or how weep at the joyous moment when, like the dust of his feet, I may follow him? Now all sorrow is far away. For him I neglected all other ties; and now, when he is dead, how canst thou ask me to live? In dying now lies my life, and to live would be death to me. Do thou take my place with my parents and my friends, and mayest thou be the mother of a son to offer libations of water for me when I am in another world. Thou must wed the young mango in the courtyard, dear to me as my own child, to the madhavi creeper. Let not a twig of the açoka-tree that my feet have caressed be broken, even to make an earring. Let the flowers of the malati creeper I tended be plucked only to offer to the gods. Let the picture of Kama in my room near my pillow be torn in pieces. The mango-trees I planted must be tended so that they may come to fruit. Set free from the misery of their cage the maina Kalindi and the parrot Parihasa. Let the little mongoose that rested in my lap now rest in thine. Let my child, the fawn Taralaka, be given to a hermitage. Let the partridges on the pleasure-hill that grew up in my hand be kept alive. See that the hamsa that followed my steps be not killed. Let my poor ape be set free, for she is unhappy in the house. Let the pleasure-hill be given to some calm-souled hermit, and let the things I use myself be given to Brahmans. My lute thou must lovingly keep in thine own lap, and anything else that pleases thee must be thine own. But as for me, I will cling to my lord's neck, and so on the funeral pyre allay the fever which the moon, sandal, lotus-fibres, and all cool things have but increased." Then she embraced Mahaçveta, saying: "Thou indeed hast some hope whereby to endure life, even though its pains be worse than death; but I have none, and so I bid thee farewell, dear friend, till we meet in another birth."

'As though she felt the joy of reunion, she honoured the feet of Candrapida with bent head, and placed them in her lap. At her touch a strange bright light arose from Candrapida's body, and straightway a voice was heard in the sky: "Dear Mahaçveta, I will again console thee. The body of thy Pundarika, nourished in my world and by my light, free from death, awaits its reunion with thee. The other body, that of Candrapida, is filled with my light, and so is not subject to death, both from its own nature, and because it is nourished by the touch of Kadambari; it has been deserted by the soul by reason of a curse, like the body of a mystic whose spirit has passed into another form. Let it rest here to console thee and Kadambari till the curse be ended. Let it not be burnt, nor cast into water, nor deserted. It must be kept with all care till its reunion."

'All but Patralekha were astounded at this saying, and fixed their gaze on the sky; but she, recovering, at the cool touch of that light, from the swoon brought on by seeing the death of Candrapida, rose, hastily seizing Indrayudha from his groom, saying: "However it may be for us, thou must not for a moment leave thy master to go alone without a steed on his long journey;" and plunged, together with Indrayudha, into the Acchoda Lake. Straightway there rose from the lake a young ascetic, and approaching Mahaçveta, said mournfully: "Princess of the Gandharvas, knowest thou me, now that I have passed through another birth?" Divided between joy and grief, she paid homage to his feet, and replied: "Blessed Kapiñjala, am I so devoid of virtue that I could forget thee? And yet this thought of me is natural, since I am so strangely ignorant of myself and deluded by madness that when my lord Pundarika is gone to heaven I yet live. Tell me of Pundarika." He then recalled how he had flown into the sky in pursuit of the being who carried off Pundarika, and passing by the wondering gods in their heavenly cars, he had reached the world of the moon. "Then that being," he continued, "placed Pundarika's body on a couch in the hall called Mahodaya, and said: 'Know me to be the moon! When I was rising to help the world I was cursed by thy friend, because my beams were slaying him before he could meet his beloved; and he prayed that I, too, might die in the land of Bharata, the home of all sacred rites, knowing myself the pains of love. But I, wrathful at being cursed for what was his own fault, uttered the curse that he should endure the same lot of joy or sorrow as myself. When, however, my anger passed away, I understood what had happened about Mahaçveta. Now, she is sprung from the race that had its origin in my beams, and she chose him for her lord. Yet he and I must both be born twice in the world of mortals, else the due order of births will not be fulfilled. I have therefore carried the body hither, and I nourish it with my light lest it should perish before the curse is ended, and I have comforted Mahaçveta. Tell the whole matter to Pundarika's father. His spiritual power is great, and he may find a remedy.' And I, rushing away in grief, leapt off another rider in a heavenly chariot, and in wrath he said to me: 'Since in the wide path of heaven thou hast leapt over me like a horse in its wild course, do thou become a horse, and descend into the world of mortals.' To my tearful assurance that I had leapt over him in the blindness of grief, and not from contempt, he replied: 'The curse, once uttered, cannot be recalled. But when thy rider shall die, thou shalt bathe and be freed from the curse.' Then I implored him that as my friend was about to be born with the moon-god, in the world of mortals, I might, as a horse, constantly dwell with him. Softened by my affection, he told me that the moon would be born as a son to King Tarapida at Ujjayini, Pundarika would be the son of his minister, Çukanasa, and that I should be the prince's steed. Straightway I plunged into the ocean, and rose as a horse, but yet lost not consciousness of the past. I it was who purposely brought Candrapida hither in pursuit of the kinnaras. And he who sought thee by reason of the love implanted in a former birth, and was consumed by a curse in thine ignorance, was my friend Pundarika come down to earth."

'Then Mahaçveta beat her breast with a bitter cry, saying: "Thou didst keep thy love for me through another birth, Pundarika; I was all the world to thee; and yet, like a demon, born for thy destruction even in a fresh life, I have received length of years but to slay thee again and again. Even in thee, methinks, coldness must now have sprung up towards one so ill-fated, in that thou answerest not my laments;" and she flung herself on the ground. But Kapiñjala pityingly replied: "Thou art blameless, princess, and joy is at hand. Grieve not, therefore, but pursue the penance undertaken by thee; for to perfect penance naught is impossible, and by the power of thine austerities thou shalt soon be in the arms of my friend."

'Then Kadambari asked Kapiñjala what had become of Patralekha when she plunged with him into the tank. But he knew naught of what had happened since then, either to her, or his friend, or Candrapida, and rose to the sky to ask the sage Çvetaketu, Pundarika's father, to whom everything in the three worlds was visible.

'Then Mahaçveta counselled Kadambari, whose love to her was drawn the closer from the likeness of her sorrow, that she should spend her life in ministering to the body of Candrapida, nothing doubting that while others, to gain good, worshipped shapes of wood and stone that were but images of invisible gods, she ought to worship the present deity, veiled under the name of Candrapida. Laying his body tenderly on a rock, Kadambari put off the adornments with which she had come to meet her lover, keeping but one bracelet as a happy omen. She bathed, put on two white robes, rubbed off the deep stain of betel from her lips, and the very flowers, incense, and unguents she had brought to grace a happy love she now offered to Candrapida in the worship due to a god. That day and night she spent motionless, holding the feet of the prince, and on the morrow she joyfully saw that his

brightness was unchanged, and gladdened her friends and the prince's followers by the tidings. The next day she sent Madalekha to console her parents, and they sent back an assurance that they had never thought to see her wed, and that now they rejoiced that she had chosen for her husband the incarnation of the moon-god himself. They hoped, when the curse was over, to behold again her lotus-face in the company of their son-in-law. So comforted, Kadambari remained to tend and worship the prince's body. Now, when the rainy season was over, Meghanada came to Kadambari, and told her that messengers had been sent by Tarapida to ask the cause of the prince's delay, and that he, to spare her grief, had told them the whole story, and bade them hasten to tell all to the king. They, however, had replied that this might doubtless be so; yet, to say nothing of their hereditary love for the prince, the desire to see so great a marvel urged them to ask to be allowed to behold him; their long service deserved the favour; and what would the king say if they failed to see Candrapida's body? Sorrowfully picturing to herself what the grief of Tarapida would be, Kadambari admitted the messengers, and as they tearfully prostrated themselves, she consoled them, saying that this was a cause for joy rather than sorrow. "Ye have seen the prince's face, and his body free from change; therefore hasten to the king's feet. Yet do not spread abroad this story, but say that ye have seen the prince, and that he tarries by the Acchoda Lake. For death must come to all, and is easily believed; but this event, even when seen, can scarce win faith. It profits not now, therefore, by telling this to his parents, to create in them a suspicion of his death; but when he comes to life again, this wondrous tale will become clear to them." But they replied: "Then we must either not return or keep silence. But neither course is possible; nor could we so greet the sorrowing king." She therefore sent Candrapida's servant Tvaritaka with them, to give credit to the story, for the prince's royal retinue had all taken a vow to live there, eating only roots and fruits, and not to return till the prince himself should do so.

'After many days, Queen Vilasavati, in her deep longing for news of her son, went to the temple of the Divine Mothers of Avanti, the guardian goddesses of Ujjayini, to pray for his return; and on a sudden a cry arose from the retinue: "Thou art happy, O Queen! The Mothers have shown favour to thee! Messengers from the prince are at hand." Then she saw the messengers, with the city-folk crowding round them, asking news of the prince, or of sons, brothers, and other kinsfolk among his followers, but receiving no answers. She sent for them to the temple court, and cried: "Tell me quickly of my son. Have ye seen him?" And they, striving to hide their grief, replied: "O Queen, he has been seen by us on the shore of the Acchoda Lake, and Tvaritaka will tell thee the rest." "What more," said she, "can this unhappy man tell me? For your own sorrowful bearing has told the tale. Alas, my child! Wherefore hast thou not returned? When thou didst bid me farewell, I knew by my forebodings that I should not behold thy face again. This all comes from the evil deeds of my former birth. Yet think not, my son, that I will live without thee, for how could I thus even face thy father? And yet, whether it be from love, or from the thought that one so fair must needs live, or from the native simplicity of a woman's mind, my heart cannot believe that ill has befallen thee." Meanwhile, the news was told to the king, and he hastened to the temple with Çukanasa, and tried to rouse the queen from the stupor of grief, saying: "My queen, we dishonour ourselves by this show of grief. Our good deeds in a former life have carried us thus far. We are not the vessel of further joys. That which we have not earned is not won at will by beating the breast. The Creator does what He wills, and depends on none. We have had the joy of our son's babyhood and boyhood and youth. We have crowned him, and greeted his return from his world conquest. All that is lacking to our wishes is that we have not seen him wed, so that we might leave him in our place, and retire to a hermitage. But to gain every desire is the fruit of very rare merit. We must, however, question Tvaritaka, for we know not all yet." But when he heard from Tvaritaka how the prince's heart had broken, he interrupted him, and cried that a funeral pyre should be prepared for himself near the shrine of Mahakala. All his treasure was to be given to Brahmans, and the kings who followed him were to return to their own lands. Then Tvaritaka implored him to hear the rest of the story of Vaiçampayana, and his grief was followed by wonder; while Çukanasa, showing the desire of a true friend to forget his own grief and offer consolation, said: "Sire, in this wondrous transitory existence, wherein wander gods, demons, animals and men, filled with joy and grief, there is no event which is not possible. Why then doubt concerning this? If from a search for reason, how many things rest only on tradition, and are yet seen to be true? As the use of meditation or certain postures to cure a poisoned man, the attraction of the loadstone, the efficacy of mantras, Vedic or otherwise, in actions of all kinds, wherein sacred tradition is our authority. Now there are many stories of curses in the Puranas, the Ramayana, the Mahabharata, and the rest. For it was owing to a curse that Nahusha became a serpent, Saudasa a cannibal, Yayati decrepit, Triçamku a Candala, the heaven-dwelling Mahabhisha was born as Çantanu, while Ganga became his wife, and the Vasus, his sons. Nay, even the Supreme God, Vishnu, was born as Yamadagni's son, and, dividing himself into four, he was born to Daçaratha, and also to Vasudeva at Mathura. Therefore the birth of gods among mortals is not hard of belief. And thou, sire, art not behind the men of old in virtue, nor is the moon greater than the god from whom the lotus springs. Our dreams at our sons' birth confirm the tale; the nectar that dwells in the moon preserves the prince's body, and his beauty that gladdens the world must be destined to dwell in the world. We shall therefore soon see his marriage with Kadambari, and therein find all the past troubles of life more than repaid. Do then thine utmost by worshipping gods, giving gifts to Brahmans, and practising austerities, to secure this blessing." The king assented, but expressed his resolve to go himself to behold the prince, and he and the queen, together with Çukanasa and his wife, went to the lake. Comforted by the assurance of Meghanada, who came to meet him, that the prince's body daily grew in brightness, he entered the hermitage; while, at the news of his coming, Mahaçveta fled in shame within the cave, and Kadambari swooned. And as he looked on his son, who seemed but to sleep, the queen rushed forward, and with fond reproaches entreated Candrapida to speak to them. But the king reminded her that it was her part to comfort Çukanasa and his wife. "She also, to whom we shall owe the joy of again beholding our son alive, even the Gandharva princess, is yet in a swoon; do thou take her in thine arms, and bring her back to consciousness." Then she tenderly touched Kadambari, saying "Be comforted, my mother, for without thee, who could have preserved the body of my son Candrapida? Surely thou must be wholly made of amrita, that we are again able to behold his face." At the name of Candrapida and the touch of the queen, so like his own, Kadambari recovered her senses, and was helped by Madalekha to pay due honour, though with face bent in shame, to his parents. She received their blessing--"Mayest thou live long, and long enjoy an unwidowed life"--and was set close behind Vilasavati. The king then bade her resume her care of the prince, and took up his abode in a leafy bower near the hermitage, provided with a cool stone slab, and meet for a hermit, and told his royal retinue that he would now carry out his long-cherished desire of an ascetic life, and that they must protect his subjects. "It is surely a gain if I hand over my place to one worthy of it, and by this enfeebled and useless body of mine win the joys of another world."

'So saying, he gave up all his wonted joys, and betook himself to the unwonted life in the woods; he found a palace beneath the trees; the delights of the zenana, in the creepers; the affection of friends, in the fawns; the pleasure of attire, in rags and bark

garments. His weapons were rosaries; his ambition was for another world; his desire for wealth was in penance. He refused all the delicacies that Kadambari and Mahāçveta offered him, and so dwelt with his queen and Çukanasa, counting all pains light, so that every morning and evening he might have the joy of seeing Candrapida.'

Having told this tale, the sage Jabali said with a scornful smile to his son Harita and the other ascetics: 'Ye have seen how this story has had power to hold us long, and to charm our hearts. And this is the love-stricken being who by his own fault fell from heaven, and became on earth Vaiçampayana, son of Çukanasa. He it is who, by the curse of his own wrathful father, and by Mahāçveta's appeal to the truth of her heart, has been born as a parrot.' As he thus spoke, I awoke, as it were, out of sleep, and, young as I was, I had on the tip of my tongue all the knowledge gained in a former birth; I became skilled in all arts; I had a clear human voice, memory, and all but the shape of a man. My affection for the prince, my uncontrolled passion, my devotion to Mahāçveta, all returned. A yearning arose in me to know about them and my other friends, and though in deepest shame, I faintly asked Jabali: 'Now, blessed saint, that thou hast brought back my knowledge, my heart breaks for the prince who died in grief for my death. Vouchsafe to tell me of him, so that I may be near him; even my birth as an animal will not grieve me.' With mingled scorn and pity he replied: 'Wilt thou not even now restrain thine old impatience? Ask, when thy wings are grown.' Then to his son's inquiry how one of saintly race should be so enslaved by love, he replied that this weak and unrestrained nature belonged to those born, like me, from a mother only. For the Veda says, 'As a man's parents are, so is he,' and medical science, too, declares their weakness. And he said my life now would be but short, but that when the curse was over, I should win length of years. I humbly asked by what sacrifices I should gain a longer life, but he bade me wait, and as the whole night had passed unobserved in his story, he sent the ascetics to offer the morning oblation, while Harita took me, and placed me in his own hut near his couch, and went to his morning duties. During his absence, I sorrowfully thought how hard it would be to rise from being a bird to being a Brahman, not to say a saint, who has the bliss of heaven. Yet if I could not be united to those I loved in past lives why should I yet live? But Harita then returned, and told me that Kapiñjala was there. When I saw him weary, yet loving as ever, I strove to fly to him, and he, lifting me up, placed me in his bosom, and then on his head. Then he told me, 'Thy father Çvetaketu knew by divine insight of thy plight, and has begun a rite to help thee. As he began it I was set free from my horse's shape; but he kept me till Jabali had recalled the past to thee, and now sends me to give thee his blessing, and say that thy mother Lakshmi is also helping in the rite.' Then, bidding me stay in the hermitage, he rose to the sky, to take part in the rite. After some days, however, my wings were grown, and I resolved to fly to Mahāçveta, so I set off towards the north; but weariness soon overtook me, and I went to sleep in a tree, only to wake in the snare of a terrible Candala. I besought him to free me, for I was on the way to my beloved, but he said he had captured me for the young Candala princess, who had heard of my gifts. With horror I heard that I, the son of Lakshmi and of a great saint, must dwell with a tribe shunned even by barbarians; but when I urged that he could set me free without danger, for none would see him, he laughed, and replied: 'He, for whom there exist not the five guardians of the world, witnesses of right and wrong, dwelling within his own body to behold his actions, will not do his duty for fear of any other being.' So he carried me off, and as I looked out in hope of getting free from him, I beheld the barbarian settlement, a very market-place of evil deeds. It was surrounded on all sides by boys engaged in the chase, unleashing their hounds, teaching their falcons, mending snares, carrying weapons, and fishing, horrible in their attire, like demoniacs. Here and there the entrance to their dwellings, hidden by thick bamboo forests, was to be inferred, from the rising of smoke of orpiment. On all sides the enclosures were made with skulls; the dustheaps in the roads were filled with bones; the yards of the huts were miry with blood, fat, and meat chopped up. The life there consisted of hunting; the food, of flesh; the ointment, of fat; the garments, of coarse silk; the couches, of dried skins; the household attendants, of dogs; the animals for riding, of cows; the men's employment, of wine and women; the oblation to the gods, of blood; the sacrifice, of cattle. The place was the image of all hells. Then the man brought me to the Candala maiden, who received me gladly, and placed me in a cage, saying: 'I will take from thee all thy wilfulness.' What was I to do? Were I to pray her to release me, it was my power of speech that had made her desire me; were I silent, anger might make her cruel; still, it was my want of self-restraint that had caused all my misery, and so I resolved to restrain all my senses, and I therefore kept entire silence and refused all food.

Next day, however, the maiden brought fruits and water, and when I did not touch them she said tenderly: 'It is unnatural for birds and beasts to refuse food when hungry. If thou, mindful of a former birth, makest distinction of what may or may not be eaten, yet thou art now born as an animal, and canst keep no such distinction. There is no sin in acting in accordance with the state to which thy past deeds have brought thee. Nay, even for those who have a law concerning food, it is lawful, in a time of distress, to eat food not meet for them, in order to preserve life. Much more, then, for thee. Nor needst thou fear this food as coming from our caste; for fruit may be accepted even from us; and water, even from our vessels, is pure, so men say, when it falls on the ground.' I, wondering at her wisdom, partook of food, but still kept silence.

'After some time, when I had grown up, I woke one day to find myself in this golden cage, and beheld the Candala maiden as thou, O king, hast seen her. The whole barbarian settlement shewed like a city of the gods, and before I could ask what it all meant, the maiden brought me to thy feet. But who she is and why she has become a Candala, and why I am bound or brought hither, I am as eager as thou, O king, to learn.'

Thereupon the king, in great amazement, sent for the maiden, and she, entering, overawed the king with her majesty, and said with dignity: 'Thou gem of earth, lord of Rohini, joy of Kadambari's eyes--thou, O moon, hast heard the story of thy past birth, and that of this foolish being. Thou knowest from him how even in this birth he disregarded his father's command, and set off to seek his bride. Now I am Lakshmi, his mother, and his father, seeing by divine insight that he had started, bade me keep him in safety till the religious rite for him was completed, and lead him to repentance. The rite is now over. The end of the curse is at hand. I brought him to thee that thou mightest rejoice with him thereat. I became a Candala to avoid contact with mankind. Do ye both therefore, straightway leave bodies beset with the ills of birth, old age, pain, and death, and win the joy of union with your beloved.' So saying, she suddenly rose to the sky, followed by the gaze of all the people, while the firmament rang with her tinkling anklets. The king, at her words, remembered his former birth and said: 'Dear Pundarika, now called Vaiçampayana, happy is it that the curse comes to an end at the same moment for us both'; but while he spoke, Love drew his bow, taking Kadambari as his best weapon, and entered into the king's heart to destroy his life. The flame of love wholly consumed him, and from longing for Mahāçveta, Vaiçampayana, who was in truth Pundarika, endured the same sufferings as the king.

Now at this time there set in the fragrant season of spring, as if to burn him utterly, and while it intoxicated all living beings, it was used by Love as his strongest shaft to bewilder the heart of Kadambari. On Kama's festival she passed the day with

great difficulty, and at twilight, when the quarters were growing dark, she bathed, worshipped Kama, and placed before him the body of Candrapida, washed, anointed with musk-scented sandal, and decked with flowers. Filled with a deep longing, she drew nigh, as if unconsciously and suddenly, bereft by love of a woman's native timidity, she could no longer restrain herself, and clasped Candrapida's neck as though he were yet alive. At her ambrosial embrace the prince's life came back to him, and, clasping her closely, like one awakened from sleep, he gladdened her by saying: 'Timid one, away with fear! Thine embrace hath brought me to life; for thou art born of the Apsaras race sprung from nectar, and it was but the curse that prevented thy touch from reviving me before. I have now left the mortal shape of Çudraka, that caused the pain of separation from thee; but this body I kept, because it won thy love. Now both this world and the moon are bound to thy feet. Vaiçampayana, too, the beloved of thy friend Maḥaçveta, has been freed from the curse with me.' While the moon, hidden in the shape of Candrapida, thus spoke, Pundarika descended from the sky, pale, wearing still the row of pearls given by Maḥaçveta, and holding the hand of Kapiñjala. Gladly Kadambari hastened to tell Maḥaçveta of her lover's return, while Candrapida said: 'Dear Pundarika, though in an earlier birth thou wast my son-in-law, thou must now be my friend, as in our last birth.' Meanwhile, Keyuraka set off to Hemakuta to tell Hamsa and Citraratha, and Madalekha fell at the feet of Tarapida, who was absorbed in prayer to Çiva, Vanquisher of Death, and Vilasavati, and told them the glad tidings. Then the aged king came, leaning on Çukanasa, with the queen and Manorama, and great was the joy of all. Kapiñjala too brought a message to Çukanasa from Çvetakatu, saying: 'Pundarika was but brought up by me; but he is thy son, and loves thee; do thou therefore keep him from ill, and care for him as thine own. I have placed in him my own life, and he will live as long as the moon; so that my desires are fulfilled. The divine spirit of life in me now yearns to reach a region surpassing the world of gods.' That night passed in talk of their former birth; and next day the two Gandharva kings came with their queens, and the festivities were increased a thousandfold. Citraratha, however, said: 'Why, when we have palaces of our own, do we feast in the forest? Moreover, though marriage resting only on mutual love is lawful among us, yet let us follow the custom of the world.' 'Nay,' replied Tarapida. 'Where a man hath known his greatest happiness, there is his home, even if it be the forest. And where else have I known such joy as here? All my palaces, too, have been given over to thy son-in-law; take my son, therefore, with his bride, and taste the joys of home.' Then Citraratha went with Candrapida to Hemakuta, and offered him his whole kingdom with the hand of Kadambari. Hamsa did the same to Pundarika; but both refused to accept anything, for their longings were satisfied with winning the brides dear to their hearts.

Now, one day Kadambari, though her joy was complete, asked her husband with tears: 'How is it that when we all have died and come to life, and have been united with each other, Patralekha alone is not here, nor do we know what has become of her?' 'How could she be here, my beloved?' replied the prince tenderly. 'For she is my wife Rohini, and, when she heard I was cursed, grieving for my grief, she refused to leave me alone in the world of mortals, and though I sought to dissuade her, she accepted birth in that world even before me, that she might wait upon me. When I entered on another birth, she again wished to descend to earth; but I sent her back to the world of the moon. There thou wilt again behold her.' But Kadambari, in wonder at Rohini's nobility, tenderness, loftiness of soul, devotion, and charm, was abashed, and could not utter a word.

The ten nights that Candrapida spent at Hemakuta passed as swiftly as one day; and then, dismissed by Citraratha and Madira, who were wholly content with him, he approached the feet of his father. There he bestowed on the chieftains who had shared his sufferings a condition like his own, and laying on Pundarika the burden of government, followed the steps of his parents, who had given up all earthly duties. Sometimes from love of his native land, he would dwell in Ujjayini, where the citizens gazed at him with wide, wondering eyes; sometimes, from respect to the Gandharva king, at Hemakuta, beautiful beyond compare; sometimes, from reverence to Rohini, in the world of the moon, where every place was charming from the coolness and fragrance of nectar; sometimes, from love to Pundarika, by the lake where Lakshmi dwelt, on which the lotuses ever blossomed night and day, and often, to please Kadambari, in many another fair spot.

With Kadambari he enjoyed many a pleasure, to which the yearning of two births gave an ever fresh and inexhaustible delight. Nor did the Moon rejoice alone with Kadambari, nor she with Maḥaçveta, but Maḥaçveta with Pundarika, and Pundarika with the Moon, all spent an eternity of joy in each other's company, and reached the very pinnacle of happiness.

कादम्बरी

बाणभट्टक “कादम्बरी”क एहि संस्करणमे पहिने पूर्ण मैथिली रूप प्रस्तुत अछि,
तकर बाद अंग्रेजी संस्करण। पूर्व भाग बाणभट्ट रचित अछि आ उत्तर भाग
हुनक पुत्र भूषणभट्ट द्वारा पूर्ण कएल गेल।

संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद: गजेन्द्र ठाकुर

सम्पादक, विदेह — प्रथम मैथिली पाक्षिक ई पत्रिका



www.videha.co.in

VIDEHA · ISSN 2229-547X

माटिक खेलौना-गाड़ी

शूद्रक रचित संस्कृत नाटक
मृच्छकटिकम्

संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद
गजेन्द्र ठाकुर

सम्पादक, विदेह — प्रथम मैथिली पाक्षिक ई-पत्रिका

VIDEHA · ISSN 2229-547X · www.vidha.co.in

माटिक खेलौना-गाड़ी

शूद्रक रचित संस्कृत नाटक मृच्छकटिकम्

संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद
गजेन्द्र ठाकुर

सम्पादक, विदेह — प्रथम मैथिली पाक्षिक ई-पत्रिका

VIDEHA · ISSN 2229-547X · www.videha.co.in

प्रकाशकीय विवरण

© गजेन्द्र ठाकुर, 2026

मूल संस्कृत नाटक: शूद्रकक मृच्छकटिकम्

संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद: गजेन्द्र ठाकुर

सम्पादक: विदेह — प्रथम मैथिली पाक्षिक ई-पत्रिका

VIDEHA · First Maithili Fortnightly eJournal · ISSN 2229-547X

www.videha.co.in

6 × 9 इञ्च हार्डबैक संस्करण

विदेह संस्करण

पात्र-परिचय	1
दृश्य: उज्जयिनी आ आसपास	2
प्रथम अङ्क	3
द्वितीय अङ्क: दूतकर संवाहक	24
तृतीय अङ्क: सन्धि-च्छेद	39
चतुर्थ अङ्क: मदनिका आ शर्विलक	51
पञ्चम अङ्क: दुर्दिन	59
षष्ठ अङ्क: प्रवहण-विपर्यय	75
सप्तम अङ्क: आर्यक-अपहरण	88
अष्टम अङ्क: वसन्तसेना-मोटन	93
नवम अङ्क: व्यवहार	117
दशम अङ्क: संहार	139
भरतवाक्य	162

पात्र-परिचय

चारुदत्तः एकटा ब्राह्मण व्यापारी

रोहसेनः हुनकर पुत्र

मैत्रेयः हुनकर मित्र

वर्धमानकः हुनकर घरक नौकर

संस्थानकः राजा पालकक साढ़ू

स्थावरकः हुनकर नौकर

संस्थानकक आन नौकर

एकटा विट (राजदरबारी)

आर्यकः एकटा अहीर (ग्वाला) जे बादमे राजा बनि जाइत अछि

शर्विलकः एकटा ब्राह्मण, मदनिकासँ प्रेम करय वाला

एकटा संवाहक (मालिश करय वाला): जे बादमे बौद्ध भिक्षु बनि जाइत अछि

माथुरः जुआघरक मालिक

दर्दुरकः एकटा जुआड़ी

आन जुआड़ी

कर्णपूरक आ कुम्भीलकः वसन्तसेनाक नौकर

वीरक आ चन्दनकः आरक्षी (पुलिस)

गोह आ अहीन्तः जल्लाद

वसन्तसेनाक घरक नौकर सभ

एकटा न्यायाधीश, एकटा श्रेष्ठि, एकटा कायस्थ (लिपिक) आ एकटा चोबदार

वसन्तसेनाः एकटा गणिका (नगरवधू)

हुनकर माय

मदनिकाः वसन्तसेनाक दासी

वसन्तसेनाक एकटा आन दासी

चारुदत्तक पत्नी

रदनिकाः चारुदत्तक घरक दासी

दृश्यः उज्जयिनी (जेकरा अवन्ती सेहो कहल जाइत अछि) आ ओकर आसपासक क्षेत्र।

दर्शक सभक लेल मङ्गलाचरण:

हुनकर मुड़ल ठेहुनकेँ साँपक दोहड़ायाल फेरसँ बनल जटा-गेंठ जकड़ने अछि; अपन श्वास रोकलासँ हुनकर ज्ञानेन्द्रिय सभ एहन शिथिल भ' गेल छनि जेना चेतना मृत्युक गम्भीरतामे डूमि गेल हो; ओ अपन भीतर, सत्यक आँखिसँ, समस्त क्रियाकलापसँ मुक्त परमात्माकेँ देखैत छथि। ओही शिवक ध्यान अहाँक रक्षा करय; ओ संसारक शून्यताकेँ पूरक रूपमे जनैत परम तत्त्वक चिन्तन करैत छथि।

आ पुनः:

शिवक कण्ठ अहाँक सभ विपत्तिसँ रक्षा करय, जे एकटा डराओन मेघक समान बुझाईत अछि, जकरा पर बिजुरीक चमक सन गौरीक बांहि सुशोभित अछि। सूत्रधार: अहाँ सभकेँ रसभङ्ग करय वाला एही कठिन आ थकावय वाला काजसँ बस! आब हम परम श्रद्धाक संग आदरणीय महापुरुष सभकेँ प्रणाम करैत छी, आ घोषणा करैत छी जे हम "मृच्छकटिकम्" (माटिक खेलौना-गाड़ी) नामक नाटक प्रस्तुत करबाक इच्छा राखैत छी।

एकर लेखक एकटा एहन पुरुष छलाह: जे हाथीक समान गौरवमय चालिमे प्रतिस्पर्धा करैत छलाह; हुनकर आँखि चकोर पक्षीक समान छल जे चन्द्रमाक किरणक रसास्वादन करैत अछि; हुनकर मुख पूर्ण चन्द्र सन दीप्तिमान छल; हुनकर स्वरूप अत्यंत प्रिय छल, एहन सभकेँ ज्ञात अछि। द्विज सभमे श्रेष्ठ ई कवि पृथ्वी पर 'शूद्रक' नामसँ विख्यात छलाह, हुनकर गुणक गम्भीरता अगाध आ अद्वितीय छल।

आ पुनः: ओ सामवेद, ऋग्वेद आ गणित शास्त्रक ज्ञाता छलाह; ओ गणिका सभक कला आ हाथी सभक विज्ञान सेहो नीक जकाँ जनैत छलाह। शिवक कृपासँ हुनकर आँखि कहियो झलफलायल नै; ओ अपन स्थान पर अपन पुत्रकेँ राजा रूपमे देखलन्हि। ओ अश्वमेध यज्ञ सफलतापूर्वक संपन्न कयलन्हि; ओ एक सय दस वर्ष आ दस दिनक आयुमे अग्निक लहरिमे प्रवेश क' अपन प्राण त्याग कयलन्हि।

आ पुनः एक बेर: युद्धक लेल तत्पर; आलस्यक कट्टर शत्रु; वेद पाठी विद्वान सभक प्रधान; तपस्वीक वैभवसँ समृद्ध; शत्रुकेँ हाथीक समक्ष अपन पराक्रम देखेबामे आनन्दित होय वाला—एहन छलाह राजा शूद्रक।

आ हुनकर एही रचनामे: अवन्ती नामक नगरमे, चारुदत्त नामक एक व्यक्ति रहैत छथि, जे अपन युवावस्था आ दरिद्रता दुनू लेल विख्यात छथि; ओ एकटा ब्राह्मण व्यापारीक पुत्र छथि। हुनकर गुणमे वसन्तसेनाक अन्तःकरणकेँ गम्भीर प्रेमसँ आन्दोलित करबाक सामर्थ्य अछि; वसन्तसेना बसन्तक ऋतु जकाँ कान्तिमयी छथि, तइयो ओ एकटा गणिका छथि।

तँ एतय राजा शूद्रक एही दुनू हृदयक शुद्ध प्रेमक उत्सव, विवेकपूर्ण कार्य, एकटा मुकदमक अन्याय आ घृणा, एकटा दुष्टक प्रकृति आ भाग्यक गतिक कथाकेँ प्रस्तुत करैत छथि।

(ओ घूमि क' चारू कात देखैत छथि) हमर ई सङ्गीत-शाला खाली अछि। हमरा आश्चर्य भ' रहल अछि जे अभिनेता सभ कतऽ गेलाह? (सोचैत) आह, हम बुझि गेलहुँ।

ओकर घर शून्य अछि जाहि घरमे कोनो सन्तान नै भेल; ओकर संसार तीन गुना शून्य अछि जेकर कोनो असली आ पक्का मित्र नै अछि; मूर्खक लेल ई संसार शून्य आ अनाथ अछि; मुदा दरिद्रक लेल जे किछु अछि, ओ सभ शून्य अछि।

हम अपन अभ्यास समाप्त क' लेलहुँ। आ हम एतेक कालसँ अभ्यास क' रहल छी जे हमर आँखिक पुतली नाचि रहल अछि, आ भूखक मारे आँखि सुखल कमल-बीज जकाँ कड़कड़ा रहल अछि, जेना घामक प्रखर किरणसँ झूर-झमार भऽ गेल हो। हम आब अपन पत्नीकेँ बजा क' पूछैत छियैक जे जलखै लेल किछु अछि की नै।

हे, हम एतय छी—मुदा नै! विशेष अवसर आ सामान्य प्रथा दुनू ई मङ्गल अछि जे हम देशी-प्राकृतमे बाजी।

(प्राकृतमे बाजैत) धत तेरी कऽ! हम एतेक कालसँ अभ्यास क' रहल छी आ एतेक भूख लागल अछि जे हमर अङ्ग सभ सुखल कमल-नाल जकाँ कमजोर भ' गेल अछि। हम घर जा क' देखैत छी जे हमर नीक पत्नी किछु तैयार कऽ कऽ रखने अछि की नै।

(ओ घूमि क' चारू कात देखैत छथि) हम अपन घर पर छी। हम भीतर जाइत छी। (ओ प्रवेश करैत छथि आ देखैत छथि) हे भगवान! हमर घरक सभ वस्तु उलट-पुलट किएक अछि? माड़ क एकटा नाम धार सड़क पर बहि रहल अछि। भूमि, जतय लोहक बर्तनकेँ रगड़िक' साफ कयल गेल अछि, ओ एहन सुन्दर लगैत अछि जेना कोनो कनियाँ अपन मुख पर काजरक ठोप लगने हो। एकर सुगन्ध एतेक नीक अछि जे हमर भूख आरो प्रज्वलित भ' क' हमरा बेसी कष्ट द' रहल अछि।

की कोनो नुकायल धन भेट गेल अछि? या हम एतेक भूखल छी जे हमरा बुझाईत अछि समस्त संसार भातेसँ बनल अछि? हमर घरमे निश्चित रूपसँ जलखै नै अछि, आ हम भूखसँ मरि रहल छी। मुदा एतय सभ किछु तहस-नहस देखि रहल छी। एकटा कनियाँ उबटन तैयार क' रहल अछि, दोसर फूलक माला बुनि रहल अछि। (सोचैत) एही सभक की अर्थ अछि? नीक, हम अपन पत्नीकेँ बजा क' सत्य जनैत छी। (ओ नेपथ्य दिस देखैत छथि) आर्या, की अहाँ एक क्षणक लेल एतय आयब?

(एकटा नदीक प्रवेश होइत अछि)

नदी: हम एतय छी, स्वामी।

सूत्रधार: अहाँक स्वागत अछि, आर्या।

नदी: आज्ञा कयल जाय, स्वामी। हमरा की करबाक अछि?

सूत्रधार: आर्या, हम एतेक कालसँ अभ्यास क' रहल छी आ भूखक दुआरे हमर अङ्ग सभ सुखल कमल-नाल जकां शिथिल भ' गेल अछि। की घरमे खाय लेल किछु अछि की नै?

नटी: सभ किछु अछि, स्वामी।

सूत्रधार: नीक, की अछि?

नटी: जेना—चीनी क संग भात, घी, दही, अन्न; आ ई सभ मिलि क' एकटा एहन व्यञ्जन बनैत अछि जे स्वर्गक योग्य हो। देवता सभ अहाँ पर सदा एहनहि प्रसन्न रहथि!

सूत्रधार: ई सभ हमर घरमे अछि? आकि अहाँ मजाक क' रहल छी?

नटी: (मनहि मन) हँ, हम मजाक करब। (प्रकट) ई बजारेमे अछि, स्वामी।

सूत्रधार: (क्रोधमे) रे पापिनी, एही प्रकार तोहर अपन आशा सेहो छिन्न भ' जाय! आ मृत्यु तोरा खोजि लिय! किएक तँ हमर आशा, एतेक ऊपर चढ़ल छल जे ओ मात्र नीच्चां खसत।

नटी: क्षमा करू, स्वामी, क्षमा! ई केवल एकटा परिहास छल।

सूत्रधार: मुदा एही असाधारण तैयारीक की अर्थ अछि? एकटा कनियाँ उबटन बना रहल अछि, दोसर माला गाँथि रहल अछि, आ भूमि पांच रङ्गक यज्ञक फूलसँ सुशोभित अछि।

नटी: ई व्रत क दिन अछि, स्वामी।

सूत्रधार: कोनो व्रत?

नटी: एकटा सुन्दर वर पेबाक व्रत।

सूत्रधार: एही लोकमे, आर्या, या परलोकमे?

नटी: परलोकमे, स्वामी।

सूत्रधार: (क्रोधसँ) सज्जन वृन्द! एकरा देखू। ई अगिला जन्ममे वर पेबाक लेल हमर भोजनक बलिदान क' रहल अछि।

नटी: क्रुद्ध नै होउ, स्वामी। हम एही आशामे व्रत क' रहल छी जे अहाँ अगिला जन्ममे सेहो हमर पति बनि क' आयब।

सूत्रधार: मुदा अहाँकें एही व्रतक सुझाव के देलक?

नटी: अहाँक परम प्रिय मित्र जीर्णवृद्ध।

सूत्रधार: (क्रोधसँ) आह, जीर्णवृद्ध, दासीपुत्र! कखन हम राजा पालककें अहाँ पर क्रुद्ध देखब? तखन अहाँ एहनहि अलग कयल जायब, जेना कोनो नव-दुलहिनक सुगन्धित केश अलग कयल जाइत अछि।

नटी: क्रुद्ध नै होऊ, स्वामी। अगिला जन्ममे अहाँकें पेबाक लेल हम ई व्रत क' रहल छी। (ओ हुनकर पएर पर खसि पड़ैत छथि)

सूत्रधार: उठू, आर्या, आ हमरा बताउ जे एही व्रतमे पुरोहितक काज के करताह?

नटी: अहीं सन कोनो ब्राह्मण, जेकरा हमरा सभकें निमन्त्रित करबाक अछि।

सूत्रधार: तँ अहाँ जा सकैत छी। आ हम अपनहि सन कोनो ब्राह्मणकें आमन्त्रित करब।

नटी: बहुत नीक, स्वामी। (ओ प्रस्थान करैत छथि)

सूत्रधार: (धूमि क') हे भगवान! एही समृद्ध उज्जयिनी नगरीमे हम अपनहि सन कोनो ब्राह्मण कतऽ पायब? (ओ चारू कात देखैत छथि) आह, एतय चारुदत्तक मित्र मैत्रेय आबि रहल छथि। सुन्दर! हम हुनकासँ पूछब। मैत्रेय, अहाँकें आइ हमर घरमे पहिल निमन्त्रण स्वीकार करबाक अछि। नेपथ्यसँ आवाज: अहाँ कोनो आन ब्राह्मणकें आमन्त्रित करू। हम व्यस्त छी।

सूत्रधार: मुदा, भाय, भोजन तैयार अछि आ ई सभ केवल अहाँक लेल अछि। एकर अतिरिक्त, अहाँकें उपहार सेहो भेटत।

नेपथ्यसँ आवाज: हम एक बेर कहि देलहुँ। अहाँ किएक हमरा बेर-बेर विवश क' रहल छी?

सूत्रधार: ओ मना क' रहल छथि। नीक, हम कोनो आन ब्राह्मणकें आमन्त्रित करैत छी। (ओ प्रस्थान करैत छथि)

प्रस्तावना समाप्त

(हाथमे एकटा अंगवस्त्र लेने मैत्रेयक प्रवेश होइत अछि)

मैत्रेय: "अहाँ कोनो आन ब्राह्मणकें आमन्त्रित करू। हम व्यस्त छी।" आ तइयो हमरा कोनो अपरिचित व्यक्तिसँ निमन्त्रणक आशा करबाक चाही। ओह, कतेक दयनीय स्थिति अछि! जखन सज्जन चारुदत्त धनी छलाह, तखन हम दिन-राति परम यत्नसँ तैयार कयल गेल सुगन्धित मधुर पकवान पेट भरि खाइत छलहुँ। हम आङ्गनक दुआरि पर बैसि क' तरह-तरहक व्यञ्जनसँ घेरल रहैत छलहुँ, आ एकटा चित्रकार जकां जे अपन रङ्गक कृति सभकें छुबैत अछि, हम मात्र अपन आङ्गुर सभसँ ओकरा छुबि क' अलग कऽ कऽ खाइत छलहुँ। हम नगरक बजारमे साँढ़ जकां पागुर करैत ठाढ़ रहैत छलहुँ। आ आब ओ एतेक

दरिद्र भ' गेल छथि जे हमरा एतय-ओतय आ सभ कात दौगऽ पड़ैत अछि, आ परबा जकां घर मात्र सुतबाक लेल आबय पड़ैत अछि। आब ई चमेलीक सुगन्धसँ युक्त अंगवस्त्र अछि, जेकरा चारुदत्तक प्रिय मित्र जीर्णवृद्ध हुनका लेल पठौने छथि। ओ हमरा कहने छलाह जे जखन चारुदत्त अपन पूजा-पाठ समाप्त क' लेथिन, तखन ई हुनका द' देबनि। तँ आब हम चारुदत्तकें खोजैत छी। (ओ चारू कात घूमि क' देखैत छथि) चारुदत्त अपन संध्या-वन्दन समाप्त क' लेलन्हि अछि, आ ओ गृह-देवता सभक लेल बलि (भोजनक अंश) लेने आबि रहल छथि।

(चारुदत्त आ रदनिकाक प्रवेश होइत अछि)

चारुदत्त: (ऊपर देखि क' आ थाकल निश्वास छोडि क') हमर दुआरि पर, जतय बलिक अंश हँस आ सारस सभ झपटि क' लय जाइत छल, ओतय आब घास जनमि गेल अछि, आ ई बीआ जे हम छिटैत छी, ओतय खसि रहल अछि जतय कीड़ा सभ एकर मिठासकें नष्ट क' दैत अछि। (ओ बहुत आस्ते-आस्ते चलैत छथि आ बैसि जाइत छथि)

मैत्रेय: चारुदत्त एतय छथि। हमरा जा क' हुनकासँ गप करबाक चाही। (लग जा क') अहाँकें प्रणाम। अहाँक कल्याण हो।

चारुदत्त: आह, ई हमर संगी मैत्रेय छथि। अहाँक बहुत स्वागत अछि, मित्र। कृपया बैसू।

मैत्रेय: धन्यवाद। (ओ बैसि जाइत छथि) नीक, मित्र, ई चमेलीक सुगन्ध वला अंगवस्त्र अछि जे अहाँक मित्र जीर्णवृद्ध पठौने छथि। ओ कहने छलाह जे जखन अहाँ पूजा समाप्त क' लेब तखन ई अहाँकें द' दी। (ओ अंगवस्त्र अर्पण करैत छथि। चारुदत्त ओकरा लैत छथि आ विचारमे डूमि जाइत छथि) नीक, अहाँ की सोचि रहल छी?

चारुदत्त: हमर नीक मित्र, घोर अन्धकारमे चमकय वाला दीपक ओही सुखक समान अछि जे दुःखक सङ्घर्षक बाद आबैत अछि; मुदा सुखक बाद जखन मनुष्य दुःख भोगैत अछि, तखन ओकर शरीर केवल एकटा जिवैत लाशक समान भ' जाइत अछि।

मैत्रेय: नीक, अहाँ की चाहब, मरि जायब की आकि दरिद्र रहब?

चारुदत्त: आह, मित्र! निश्चित आ मन्द दुःखसँ नीक मृत्यु अछि; मृत्युसँ क्षणिक कष्ट समाप्त भ' जाइत अछि, मुदा दरिद्रता कहियो नै समाप्त होय वाला दुःख आनैत अछि।

मैत्रेय: हमर प्रिय मित्र, एहन निराश नै होऊ। अहाँक धन हुनका सभक लेल खर्च भेल अछि जिनकासँ अहाँ प्रेम करैत छी, आ चन्द्रमा जकां, जखन ओ अपन अमृत देवता सभकें द' दैत अछि, अहाँक ई घटैत वैभव एकटा नव शोभा पाबैत अछि।

चारुदत्त: मित्र, हम अपन नष्ट भेल धनक लेल नै कानैत छी। मुदा ई हमर दुःख अछि: जे हमरा अतिथि रूपमे प्रणाम करैत छलाह, ओ आब अनठा क' आगाँ बढ़ि जाइत छथि। "ई एकटा दरिद्रक घर अछि," ओ कहैत छथि। जेना ऋतु समाप्त भेला पर मधुमाछी सभ ओही हाथीक भण्डारक छत्ताकें छोड़ि दैत अछि, जेकर मद समाप्त भ' गेल हो।

मैत्रेय: ओह, धत तोरी कऽ ओइ धनकें! ई कोनो सोचबाक योग्य वस्तु नै अछि। ई वनमे ओही चरवाहाक छोड़ा जकां अछि जे बिढ़नी सँ डराइत अछि; ई बिढ़नी ओतय नै बिलमैत अछि जतय एकरा भोजनक लेल उपयोग कयल जाइत अछि।

चारुदत्त: विश्वास करू, मित्र। हमर दुःख केवल सुवर्णक हाससँ नै अछि; किएक तँ लक्ष्मी चंचल अछि, ओकर कृपा स्थिर नै रहैत अछि; मुदा जकर पूर्व धन नष्ट भ' गेल हो, ओकर हृदयक मित्र सेहो शीतल आ उदासीन भ' जाइत अछि। आ दरिद्र मनुष्य लज्जित होइत रहैत अछि; लज्जासँ ओकर प्रतिष्ठा आ यश नष्ट भ' जाइत अछि; यशक अभावसँ अपमान सहय पड़ैत अछि; अपमानसँ ग्लानि आ ग्लानिसँ विषाद उत्पन्न होइत अछि; विषादसँ मूर्खता आ मूर्खताक फल मृत्यु अछि—आह! धनक अभावहि समस्त पापक जड़ि अछि!

मैत्रेय: मुदा केवल ई मोन राखू जे धन कतेक तुच्छ वस्तु अछि, आ प्रसन्न होऊ।

चारुदत्त: मित्र, मनुष्यक दरिद्रता ओकरा लेल चिन्ताक घर अछि, एकटा एहन लज्जा अछि जे मनमे रहैत अछि, मानव जातिक संग एकटा आन प्रकारक युद्ध अछि; अपन मित्रक घृणा अछि, अपरिचित सभसँ द्वेष अछि, आ ओही स्त्रीसँ सेहो अपमान अछि जे कहियो प्रेम करैत छली; मुदा यदि ओकर पत्नी ओकरा तुच्छ बुझय, तखन कोनो सुनसान वनमे आश्रय खोजनाइये उचित अछि। ओकर आत्माकें तड़पावय वाला दुःखक ई ज्वाला उग्र रूपसँ जरैत अछि, तइयो ओकरा जिवैत छोड़ि दैत अछि। मित्र, हम गृह-देवता सभकें अपन बलि अर्पित क' देलहुँ अछि। अहाँ जा क' चौबटियापर मातृ-देवी सभकें पूजा अर्पित करू।

मैत्रेय: नै!

चारुदत्त: किएक नै?

मैत्रेय: किएक तँ देवता अहाँ पर प्रसन्न नै छथि, एतेक आदर भेला पर सेहो। तँ पूजा कयलासँ की लाभ?

चारुदत्त: एहन नै मित्र, एहन नै! ई एकटा गृहस्थक नित्य कर्तव्य अछि। देवता सभ सदा ओही पुरुष सभक दान, तप, चिन्तन आ प्रार्थनासँ प्रसन्न रहैत छथि जे सांसारिक चिन्तासँ मुक्त छथि। तखन अहाँ किएक सङ्कोच क' रहल छी? जाउ आ मातृ-देवी सभक लेल बलि अर्पण करू।

मैत्रेय: नै, हम नै जा रहल छी। अहाँ कोनो आन व्यक्ति कें पठाउ। ओहिने, हमरा संग सभ किछु विपरीत भ' रहल अछि, हम एकटा दरिद्र ब्राह्मण जे छी! ई दर्पणमे प्रतिबिम्ब जकां अछि; दक्षिण भाग वाम भ' जाइत अछि, आ वाम भाग दक्षिण भ' जाइत अछि। एकर अतिरिक्त, संध्याक एही समयमे, राजाक राजपथ पर सभ प्रकारक लोक घूमि रहल छथि—गणिका, विट, नौकर आ राजाक प्रिय पात्र। ओ सभ हमरा सहज शिकार बुझताह, जेना कोनो करिया साँप बेंगक शिकार करैत काल अपन रस्तामे मूषककें जकड़ि लैत अछि। मुदा अहाँ एतय बैसि क' की करब?

चारुदत्त: नीक तखन, अहाँ एतहि रहू; आ हम अपन पूजा समाप्त करैत छी।

नेपथ्यसँ आवाज: रुकू, वसन्तसेना, रुकू! (विट, संस्थानक आ नौकर द्वारा पछोड़ कयल जाइत वसन्तसेनाक प्रवेश होइत अछि)

विट: वसन्तसेना! रुकू, रुकू! आह, भय अहाँक कोमलताकें किएक रूपान्तरित क' रहल अछि? अहाँक सुकुमार चरण सभकें एतेक कष्ट किएक भ' रहल अछि, जे नृत्यमे कतेक सुन्दरतासँ थिरकैत छल? अहाँक आँखि, भयसँ त्रस्त भ' क', एना किए टेढ़ भऽ देखैत अछि? शिकारी सभसँ भागय वाला भयभीत हरिणक जकां अहाँ किएक भागि रहल छी?

संस्थानक: रुकू वसन्तसेना, रुकू! किएक भागैत छी? आ दौगैत छी? आ घुरैकाल ठेस खाइत छी? दयालु बनू! अहाँ नै मरब। ओह, अपन पएर रोकू! प्रेमक मारे, सुकुमार कनियाँ, हमर व्याकुल हृदय जरि रहल अछि, जेना कोइलाक ढेरी पर मौसक टुकड़ा।

नौकर: रुकू, गणिका, रुकू! भयसँ अहाँ भागि रहल छी, हमरासँ दूर, जेना गरमीक ऋतुमे मोरनी भागैत अछि; मुदा हमर स्वामी आ मालिक तीव्र गतिसँ चलि रहल छथि, जेना वनमे वनमुर्गा।

विट: वसन्तसेना! रुकू, रुकू! अहाँ किएक थरथरा रहल छी, किएक भागि रहल छी, केराक गाछ जकां कम्पायमान भ' क'? अहाँक वस्त्रक किनार, लाल आ सुन्दर, हवामे डोलि रहल अछि; कखनो-कखनो, कमलक कली भूमि पर खसि रहल अछि, जेना खूनक बून्द हो। अहाँ एकटा लाल डरीड़ जकां लगैत छी, जाहिसँ चोट लगला पर लाल रङ्गक धार बहैत अछि।

संस्थानक: रुकू, वसन्तसेना, रुकू! अहाँ हमर वासना, हमर इच्छा, हमर प्रेमकें जगा देलहुँ अछि; अहाँ रातिमे बिछौन पर हमर निन्न उड़ा देलहुँ अछि; भय आ त्रास दुनू अहाँक हृदयकें आन्दोलित क' रहल अछि; अहाँ अपन तीव्र उड़ानमे लड़खड़ा क' खसि रहल छी। मुदा सूर्य आ कुन्ती सन अपन इच्छासँ हम सेहो अहाँक पूर्ण भोग करब।

विट: आह, वसन्तसेना, अहाँक ई तीव्र गति हमर दौगैत पएर सभसँ आगाँ किएक निकसि रहल अछि? गरुड़क पराक्रमक समक्ष भयभीत साँप जकां अहाँ किएक भागि रहल छी, हमर प्रिय? की हम हवाक झोंककें ओकर उड़ानमे नै पकड़ि सकैत छी? तइयो हम अहाँकें नै पकड़ब, यद्यपि हम पकड़ि सकैत छी।

संस्थानक: हमर बात सुनू, स्वामी! ई कामदेवक कोड़ा, ई नचनियाँ, मछली खाय वाली, अपन कुलक नाशक, ई हठी, मदक पेटार, गणिका, ई कपड़ा सुखावयवाला रस्सी, चंचल प्राणी, पापिनी कनियाँ—हम ओकरा दसटा सुन्दर नाम देलहुँ, तइयो ओ हमर इच्छाक समक्ष नै झुकल।

विट: जेना विटक आङ्गुर सभ वीणाक तार पर चोट करैत अछि, ओनाहिते नृत्य करय वाला कानक कुण्डल अहाँक कपोल पर चोट क' रहल अछि। अहाँ भयसँ व्याकुल भ' क' किएक भागि रहल छी, जेना मेघक गर्जन भेला पर सारस पक्षी भागैत अछि?

संस्थानक: अहाँक झड़कार करय वाला आभूषण सभ कतेक बजैत अछि; द्रौपदी जकां अहाँ भागि रहल छी, जखन अर्जुन हुनकर चुम्बन कयलन्हि।

नौकर: ओ राजाक प्रिय पात्र छथि; ओ जे कहथि ओकर पालन करू। आ अहाँकें खाय लेल नीक माँछ आ मांस भेटत। किएक तँ जखन कुरुर सभकें समस्त माँछ आ मांस भेट जाइत अछि जे ओ चाहैत छथि, तखन हुनका लेल मृत मांस मधुर नै लगैत छनि।

विट: आर्या वसन्तसेना, अहाँक नितम्ब पर नीचां लटकय वाला करधनी एहन चमकैत अछि जेना आकाशमे तारा सभ; अहाँक भागबाक ई अद्भुत भय अहाँक सुन्दरताकें नष्ट क' रहल अछि।

संस्थानक: हम अहाँक पछोर अपन पूर्ण शक्तिसँ क' रहल छी, जेना कुरुर सभ गिदरक पीछा करैत अछि, मुदा अहाँ अपन उड़ानमे बहुत चतुर आ चंचल छी, आ हमर हृदयकें जड़ि समेत चोरा क' लय जाइत छी।

वसन्तसेना: पल्लवक! प्रभृतिका!

संस्थानक: स्वामी! एकटा पुरुष! एकटा पुरुष!

विट: कायर नै बनू।

वसन्तसेना: माधविका! माधविका!

विट: (हँसैत) मूर्ख! ओ अपन दासी सभकें बजा रहल अछि।

संस्थानक: स्वामी! की ओ एकटा स्त्रीकें बजा रहल अछि?

विट: हँ, निश्चित रूपसँ।

संस्थानक: स्त्री! हम सैकड़मे लोककें मारि दैत छी। हम एकटा वीर पुरुष छी।

वसन्तसेना: (कोनो उत्तर नै सुनैत) हाइ, कोन कसरि भ' गेल जे हमर अपन सेवक सभ सेहो हमरा छोड़ि देलन्हि? हमरा अपन बुद्धिसँ अपन रक्षा करबाक चाही।

विट: खोज बन्द नै करू।

संस्थानक: चिकड़ू, वसन्तसेना, अपन कोकिल प्रभृतिका लेल, या अपन फूल आ पल्लवक लेल या समस्त वैशाखक मास लेल! अहाँकें के बचेबाक लेल आबयवाला अछि जखन हम अहाँक पीछा क' रहल छी? भीमसेन क बात किएक करू? या जमदग्नि पुत्र, ओही शक्तिशाली महापुरुष क? या दसमुख रावणक? या कुन्तीक पुत्रक? केवल हमरा देखू! हम अपन आङ्गुर अहाँक केशमे फसा क', दुःशासन जकां, ओकरा घीचब। देखू, देखू! हमर तलवार तेज अछि; प्रणाम। अहाँक मुड़ी! एकरा काटि क' अलग क' दइ छी, या अहाँकें मारि दैत छी। तखन हमर क्रोधसँ बचबाक यत्न नै करू; जखन अहाँकें मरबाक अछि, तँ अहाँक जीवन समाप्त अछि।

वसन्तसेना: महाभाग, हम एकटा दुर्बल स्त्री छी।

विटः एही लेल अहाँ अखन धरि जीवित छी।

संस्थानकः एही लेल अहाँक हत्या नै भेल अछि।

वसन्तसेनाः (मनहि मन) ओह! हुनकर ई शिष्टाचारहि हमरा भयभीत क' रहल अछि। आउ, हम एकर यत्न करैत छी। (प्रकट) महाभाग, अहाँ की आशा राखैत छी? हमर आभूषण?

विटः भगवान नै करथि! आर्या वसन्तसेना, एकटा उपवनक लताकें ओकर फूल सभसँ विमुख नै करबाक चाही। आभूषणक विषयमे पुनः किछु नै कहू।

वसन्तसेनाः तखन अहाँक की इच्छा अछि?

संस्थानकः हम एकटा पुरुष छी, एकटा पैघ पुरुष, एकटा साक्षात वासुदेव। अहाँकें हमरासँ प्रेम करबाक चाही।

वसन्तसेनाः (क्रोधसँ) हे भगवान! अहाँ हमरा थका देलहुँ। हमरा छोड़ू! अहाँक शब्द एकटा अपमान अछि।

संस्थानकः (हँसैत आ ताली बजबैत) देखू, स्वामी, देखू! गणिकाक बेटी हमरा पर कतेक अनुराग देखा रहल अछि, नै? एतय ओ कहैत अछि- आउ! हे भगवान, अहाँ थाकि गेल छी। नै, हम कोनो आन गाम या आन नगर चलि क' नै आबि रहल छी। नै, छोटकी मालकिन, हम महाभागक मूडीक किरिया खाइत छी, हम अपन पएरक किरिया खाइत छी! अहाँक पएरक पाछाँ दौड़ैत-दौड़ैत हम थाकि गेल छी आ क्लान्त भ' गेल छी।

विटः (मनहि मन) की! की ई सम्भव अछि जे ई मूर्ख नै बुझैत अछि जखन ओ कहैत अछि "अहाँ हमरा थका देलहुँ"? (प्रकट) वसन्तसेना, अहाँक शब्दक गणिकाक घरमे कोनो स्थान नै अछि, जेना अहाँ जनैत छी, प्रत्येक युवकक मित्र होइत अछि; मोन राखू, अहाँ ओही फूलक समान सझिया सम्पैत छी जे मार्गक कातमे उगैत अछि; कटु सत्य ई अछि जे अहाँक शरीरक अपन मूल्य अछि; अहाँक सुन्दरताक वैभव ओकर अछि जे बजारक वर्तमान दर चुकाबैत अछि। तखन ओही पुरुष क सेवा करू जेकरासँ अहाँ प्रेम करैत छी, आ ओकरो जेकरासँ अहाँ घृणा करैत छी। आ पुनः श्रेष्ठ ब्राह्मण आ नीच मूर्ख दुनू एकहि पोखरिमे स्नान करैत छथि; मयूरक समक्ष सेहो फूलक गाछ झुकैत अछि, आ कौआ क समक्ष सेहो; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य सभ साधारण जनताक संग यात्रा करैत छथि। अहाँ वैह पोखरि छी, वैह फूलक गाछ छी, वैह नाव छी; आ अहाँक सुन्दरता पर प्रत्येक मनुष्यक अधिकार अछि।

वसन्तसेनाः तइयो असल प्रेम गुणसँ जीतल जाइत अछि, हिंसासँ नै।

संस्थानकः मुदा, स्वामी, जखनसँ ई दासीपुत्री ओही उपवनमे गेल अछि जतय कामदेव क मन्दिर अछि, तखनसँ ओ एकटा दरिद्र मनुष्यसँ, चारुदत्तसँ प्रेम करैत अछि, आ ओ हमरासँ प्रेम नै करैत अछि। ओकर घर वाम कात अछि। देखू आ ओकरा हमरा सभक हाथसँ निकसय नै दिअ।

विटः (मनहि मन) बेचारा मूर्ख, ओ वैह बात कहि देलन्हि जेकरा लुकेबाक चाही छल। तँ वसन्तसेना चारुदत्तसँ प्रेम करैत छथि? कहबी सत्य अछि। मोती मोतीसँ मिलैत अछि। नीक, हम एही मूर्खसँ थाकि गेल छी। (प्रकट) की अहाँ कहलहुँ जे सज्जन व्यापारीक घर वाम कात छल, रे गदहा?

संस्थानकः हाँ। ओकर घर वाम कात अछि।

वसन्तसेनाः (मनहि मन) ओह, अद्भुत! जदि हुनकर घर वास्तवमे हमर वाम हाथ कात अछि, तँ ई दुष्ट हमर सहायता क' देलन्हि, किएक तँ ओ हमरा मार्ग देखा देलन्हि।

संस्थानकः मुदा स्वामी, घोर अन्धकार अछि आ ई चितकाबर बीसक ढेरीमे काजरक एकटा दाना तकबाक समान अछि। आब अहाँ वसन्तसेनाकें देखैत छी आ आब नै देखैत छी।

विटः घोर अन्धकार वास्तवमे अछि। ई अन्धकार एकदममे आबि गेल अछि, ई हमर आँखिक प्रखरताकें चोरा लैत बुझाइत अछि; हमर खुलल आँखि, जेना कोनो मोहरसँ, एही करिया राति द्वारा बन्द क' देल गेल अछि। आ पुनः अन्धकार हमर शरीर पर उबटन लगा रहल अछि, आ आकाश घोर अन्धकारक उबटन खसा रहल अछि, जाधरि हमर आँखि हमरा लेल पूर्णतः अनुपयोगी भ' गेल अछि, ओही सेवाक जकां जे हुनका लेल कयल गेल हो जे छल आ कपट करैत छथि।

संस्थानकः स्वामी, हम वसन्तसेनाकें खोजि रहल छी।

विटः की कोनो एहन वस्तु अछि जाहिसँ अहाँ ओकरा खोजि सकब, गदहा?

संस्थानकः केहन वस्तु, जेना की?

विटः जेना हुनकर आभूषणक झड़कार, या हुनकर माला क सुगन्ध।

संस्थानकः हम हुनकर माला क सुगन्ध तँ सुनैत छी, मुदा हमर नाक अन्धकारसँ एतेक भरल अछि जे हम हुनकर आभूषणक आवाज नीक जकां नै देखि पाबैत छी।

विटः (वसन्तसेना कें, मनहि मन) वसन्तसेना, ई सत्य अछि जे राति अन्धकारमय अछि, हे भीरु कनियाँ, आ मेघमे छुपल बिजुलीक जकां अहाँ नै देखि रहल छी; तइयो अहाँ सुगन्धित माला आ बाजत नूपुरसँ प्रकट भ' जायब। की अहाँ हमर बात सुनलहुँ, वसन्तसेना?

वसन्तसेनाः (अपन मनमे) सुनलहुँ आ बुझलहुँ। (ओ अपन नूपुर खोलि दैत छथि, माला अलग क' दैत छथि, आ अपन रास्ता टटोलैत किछु कदम आगाँ बढ़ैत छथि) हम घरक देवालकें छुबि सकैत छी, आ एतय एकटा कातक दुआरि (पक्षद्वार) अछि। मुदा हाय! हमर अङ्गुलि सभ कहि रहल अछि जे दुआरि बन्द अछि।

चारुदत्तः (जे घरक भीतर छथि) मित्र, हमर पूजा समाप्त भ' गेल। आब जाउ आ मातृ-देवी सभकें बलि अर्पित करू।

मैत्रेयः नै, हम नै जा रहल छी।

चारुदत्त: हाय! दरिद्र मनुष्यक बन्धु-बान्धव ओकर इच्छाक आदर नै करैत छथि; जे मित्र ओकरा कहियो प्रेम करैत छलाह, ओ आब दूर ठाढ़ रहैत छथि; ओकर दुःख बढ़ि जाइत अछि; ओकर शक्ति शून्य भ' जाइत अछि; देखू! ओकर चरित्र क चमकय वाला तारा घटैत चन्द्रमा जकां मन्द भ' जाइत अछि; आ ओही पाप क भागी ओ होइत अछि जे आन कयलन्हि हो। आ पुनः कोनो मनुष्य ओकरासँ वार्तालाप नै करैत अछि; दरिद्र मनुष्य जखन भेटैत अछि तँ कोनो ओकरा उचित आदरसँ प्रणाम नै करैत अछि। जतय धनी लोक उत्सव करैत छथि, जदि ओतय ओ लग जाय, तँ ओकरा प्रसन्नताक स्थान पर तिरस्कारक चितवन भेटैत अछि। जतय साधारण जनताक भीड़ जमल हो, ओतय सेहो वैह बात होइत अछि; ओकर जीर्ण वस्त्र ओकर हृदयक लज्जाकें जगा दैत अछि। पाँच महापाप हम सभ पहने जनैत छलहुँ; हाय! हम देखि रहल छी जे छठम पाप—दरिद्र होना अछि। आ पुनः पुनः आह दरिद्रता, हमरा अहाँ पर दया आबैत अछि, जे अहाँ हमरासँ हमर परम प्रिय मित्र जकां सटल छी; जखन हमर एही दीन जीवनक दुःखद अन्त भ' जायत, तँ हमरा आश्चर्य होइत अछि जे अहाँ कतऽ जायब।

मैत्रेय: (अपन सङ्कोचकें प्रकट करैत) नीक, मित्र, जदि हमरा जाबहि पड़त, तँ कम्तीसँ कम्ती रदनिकाकें हमर साथ पठाउ, हमर सङ्ग रहबाक लेल।

चारुदत्त: रदनिका, अहाँकें मैत्रेयक साथ जाबाक अछि।

रदनिका: हँ, स्वामी।

मैत्रेय: आर्या रदनिका, अहाँ बलि क सामग्री आ दीपक लय लिय' जखन धरि हम कातक दुआरि खोलैत छी। (ओ दुआरि खोलैत छथि)

वसन्तसेना: एहन बुझाइत अछि जेना दुआरि हमरा पर दया क' क' अपनहि खुलि गेल हो। हम समय नष्ट नै करब, आ भीतर प्रवेश करब। (ओ भीतर देखैत छथि) की? दीपक? ओह प्रिय, ओह प्रिय! (ओ अपन आँचलसँ एकरा बुझा दैत छथि आ प्रवेश करैत छथि)

चारुदत्त: ओ की छल, मैत्रेय?

मैत्रेय: हम कातक दुआरि खोललहुँ आ हवा एकहि साथ भीतर आबि क' दीपक बुझा देलन्हि। अहाँ कातक दुआरिसँ बाहर जाउ, रदनिका, आ हम अङ्गनमे जा क' दीपक पुनः जला क' आबि रहल छी। (ओ प्रस्थान करैत छथि)

संस्थानक: स्वामी! स्वामी! हम वसन्तसेनाकें खोजि रहल छी।

वित: खोजैत रहू, खोजैत रहू!

संस्थानक: (ओनाहि करैत) स्वामी! स्वामी! हम ओकरा पकड़ि लेलहुँ! हम ओकरा पकड़ि लेलहुँ!

वित: मूर्ख, अहाँ हमरा पकड़ि लेलहुँ अछि।

संस्थानक: अहाँ एतहि ठाढ़ रहू, स्वामी, जतय अहाँकें राखल गेल अछि। (ओ पुनः खोजैत छथि आ नौकरकें जकड़ि लैत छथि) स्वामी! स्वामी! हम ओकरा पकड़ि लेलहुँ! हम ओकरा पकड़ि लेलहुँ!

नौकर: स्वामी, अहाँ हमरा, अपन नौकरकें पकड़ि लेलहुँ अछि।

संस्थानक: स्वामी एतय, नौकर एतय! स्वामी, नौकर; नौकर, स्वामी। आब दोनों गोटे अपन स्थान पर रहू। (ओ पुनः खोजैत छथि आ रदनिकाकें केशसँ जकड़ि लैत छथि) स्वामी! स्वामी! एही बेर हम ओकरा पकड़ि लेलहुँ अछि! हम वसन्तसेनाकें पकड़ि लेलहुँ! अन्धकारमय रातिमे ओ भागि रहल छली, भागि रहल छली ओ; हुनकर माला क सुगन्ध ओकरा प्रकट क' देलन्हि; जेना चाणक्य द्रौपदीकें पकड़लन्हि छल, हम हुनकर केश पकड़ि क' रोकि लेलहुँ।

वित: आह, अपन युवावस्था आ सुन्दरता पर गर्व करय वाली! अहाँक प्रेम एतेक ऊपर नै उठबाक चाही; किएक तँ अहाँक ई पुष्प-सुगन्धित केश, जे बहुमूल्य आ दुर्लभ रत्न सभक योग्य अछि, ओ आब अहाँकें माटिमे घसीटबाक काज आबि रहल अछि।

संस्थानक: हम अहाँक मुड़ी पकड़ि लेलहुँ अछि, गोट क' के पकड़ल अछि, केशसँ, लटसँ आ घुँघराला बालसँ सेहो। आब चीखू, चिल्लाउ, अपन पूर्ण शक्तिसँ पुकारू "शिव! ईश्वर! शङ्कर! शम्भु!"

रदनिका: (भयसँ) ओह, महाभाग सभ, एकर की अर्थ अछि?

वित: रे गदहा! ई कोनो आन आवाज अछि।

संस्थानक: स्वामी, ओही कनियाँ अपन आवाज बदलि लेलन्हि अछि, जेना कोनो बिलाई अपन आवाज बदलि लैत अछि जखन ओकरा दही क मलाई चाहैत छैक।

वित: आवाज बदलि लेलन्हि? विचित्र अछि! तइयो एतेक विचित्र किएक? ओ रङ्गमञ्च पर अभिनय करैत छथि; ओ हमरा सभक हृदयकें छलबबाक कला सिखलन्हि अछि; आ आब ओ अपन ओही कलाक अभ्यास क' रहल छथि।

(मैत्रेयक प्रवेश होइत अछि)

मैत्रेय: देखू! संध्याकालक सुकुमार मन्द हवामे दीपक क लौ एहन काँपि रहल अछि जेना यज्ञपशु (बकरी) क हृदय काँपैत अछि। (ओ लग जाइत छथि आ रदनिकाकें देखैत छथि) आर्या रदनिका!

संस्थानक: स्वामी, स्वामी! एकटा पुरुष! एकटा पुरुष!

मैत्रेय: ई उचित अछि, ई पूर्णतः उचित अछि जे अपरिचित लोक घरमे विवश प्रवेश करू, केवल एही लेल जे चारुदत्त दरिद्र छथि।

रदनिका: ओह मैत्रेय, देखू ओ सभ हमर केना अपमान क' रहल छथि।

मैत्रेय: की! अहाँक अपमान? नै, ओ सभ हमरा सभक अपमान क' रहल छथि।

रदनिका: बहुत नीक। ओ सभ अहाँक अपमान क' रहल छथि तखन।

मैत्रेय: मुदा ओ सभ हिंसा तँ नै क' रहल छथि?

रदनिका: हँ, हँ!

मैत्रेय: वास्तवमे?

रदनिका: वास्तवमे।

मैत्रेय: (क्रोधसँ अपन लाठी उठा क') नै, महाभाग! एकटा कुरुर सेहो अपन खोतामे दाँत देखबैत अछि, आ हम एकटा ब्राह्मण छी! हमर लाठी हमर भाग्य जकां टेढ़ अछि, मुदा ई अखन सेहो एकटा सुखल बाँस या कोनो दुष्टक मुड़ी फोड़ि सकैत अछि।

वित: दया करू, हे महान ब्राह्मण, दया करू।

मैत्रेय: (वितकें देखैत छथि) ई पापी नै छथि। (संस्थानककें देखैत छथि) आह, ई पापी एतय अछि। नीक, अहाँ राजा क सादू संस्थानक, अहाँ दुष्ट, अहाँ कायर, ई पूर्णतः उचित अछि, नै? सज्जन चारुदत्त आब एकटा दरिद्र पुरुष छथि—सत्य, मुदा की हुनकर गुण उज्जयिनीक आभूषण नै अछि? आ एहनमे लोक हुनकर घरमे घुसैत छथि आ हुनकर सेवकक अपमान करैत छथि! ओही पुरुष क अपमान नै करू जे दरिद्रताक कारण नीचां खसि गेल छथि; किएक तँ भाग्य द्वारा केओ दरिद्र नै कयल जाइत अछि; मुदा जे अपन गुणसँ खसि जाइत अछि, यद्यपि ओ धनी हो, तइयो ओकरा समान कोनो दरिद्र नै अछि।

वित: (अपन सङ्कोचकें प्रकट करैत) दया करू, हे महान ब्राह्मण, दया करू। हमरा सभक कोनो अशिष्टताक विचार नै छल; हम केवल एही आयिकें कोनो आन बुझि लेलहुँ। किएक तँ हम सभ एकटा कामुक कनियाँ कें खोजि रहल छलहुँ—

मैत्रेय: की! एकरा?

वित: भगवान नै करथि! ओ जेकर युवावस्था ओकर अपन सुकुमार इच्छाक नियन्त्रणमे अछि; ओ अदृश्य भ' गेली; सत्यसँ अनभिज्ञ भ' क', हम सभ ओ कयलहुँ जे जानि-बुझि क' कयल गेल पाप बुझाइत अछि। हम अहाँसँ प्रार्थना करैत छी, हमर एही पूर्ण नम्रतापूर्ण प्रार्थना स्वीकार करू। (ओ अपन तलवार खसा दैत छथि, हाथ जोड़ैत छथि आ मैत्रेयक पएर पर खसि पड़ैत छथि)

मैत्रेय: भद्र पुरुष, उठू, उठू। जखन हम अहाँकें गालि देलहुँ, हम अहाँकें नै जनैत छलहुँ। आब हम अहाँकें जनैत छी आ अहाँसँ क्षमा मङ्गैत छी।

वित: हमरा स्वयं क्षमा मङ्गबाक चाही। हम एकहि शर्त पर उठब।

मैत्रेय: आ ओ की अछि?

वित: जे अहाँ चारुदत्तसँ नै कहब जे एतय की भेल अछि।

मैत्रेय: हम मौन रहब।

वित: ब्राह्मण, अहाँक एही कृपालु कार्यकें हम अपन मुड़ी झुका क' स्वीकार करैत छी; किएक तँ हमर ई तलवार कहियो गुणक लोहा क सामना नै क' सकैत अछि।

संस्थानक: (क्रोधसँ) मुदा स्वामी, अहाँ अपन हाथ एतेक असहाय भावसँ किएक जोड़ैत छी आ एही बौना (मैनकिन) क पएर पर किएक खसि पड़ैत छी?

वित: हमरा भय छल।

संस्थानक: अहाँकें ककर भय छल?

वित: चारुदत्तक गुणक।

संस्थानक: गुण? हुनकर? अहाँ हुनकर घरमे जा सकैत छी आ खाय लेल एकटा वस्तु नै पाबब।

वित: नै, नै। हुनकर कृपालु स्वभाव जे हमरा सभ सनक लेल छल, ओकरा कारण ओ अन्ततः नीचां आबि गेलाह; हुनकासँ कोनो मनुष्य अपमान की होइत अछि ई नै सीखि सकैत छल, जखन धरि हुनकर धन नष्ट नै भेल छल। ई पूर्ण पोखरि, जे अपन गरमीक दिनमे आन सभकें पानि दैत छल, ओ आब स्वयं सूखि गेल अछि।

संस्थानक: (अधैर्यसँ) आखिर ओ ककर दासीपुत्र छथि? की ओ वीर श्वेतकेतु छथि, पाण्डुक सन्तान छथि? या राधाक पुत्र, ओही दसमुख राक्षस छथि? या इन्द्रदत्त छथि? या पुनः, की ओ वीर राम आ पवित्र कुन्तीक पुत्र छथि? या धर्मपुत्र छथि? वीर अश्वत्थामा छथि? या सम्भवतः स्वयं जटायु, ओही वृद्ध गिद्ध छथि?

वित: मूर्ख! हम अहाँकें बताइत छी जे चारुदत्त के छथि। ओही पुरुष सभक लेल जीवनक कल्पवृक्ष छथि जेकर दुःख बढ़ि रहल अछि, जे अपन गुणक फलक कारण नीचां झुकल अछि; सज्जन सभक पिता छथि; गुणक कसौटी छथि; विद्वान सभक दर्पण छथि; आ ओही समुद्र छथि जतय चरित्रक समस्त लहरि आपसमे मिलैत अछि; एकटा धर्मात्मा पुरुष छथि, जेकरा अहङ्कार कहियो मलिन नै क' सकलक; मानवीय गुण सभसँ भरल एकटा रत्न-पेटारी छथि; शिष्टाचारक सार छथि, प्रतिष्ठाक बहुमूल्य भण्डार छथि। ओ जीवनकें ओकर पूर्ण अर्थ दैत छथि, ओ एतेक नीक छथि; हम सभ आन केवल श्वास लैत छी, जिवैत नै छी। आउ हम सभ चली।

संस्थानक: वसन्तसेनाक बिना?

वित: वसन्तसेना अदृश्य भ' गेली।

संस्थानक: कतऽ?

विट: जेना रोगी क शक्ति, या अन्ध क आँखिक ज्योति, जेना मूर्ख क विवेक, जेना आलसी क पराक्रम, जेना विचारहीन दुष्टक बुद्धि क प्रकाश, जेना प्रेम, जखन शत्रु हमर सुप्त क्रोधकें हवा दैत अछि, ओनाहि ओ अदृश्य भ' गेली, जखन अहाँ हुनकर मार्गमे अयलहुँ।

संस्थानक: हम वसन्तसेनाक बिना नै जा रहल छी।

विट: आ की अहाँ कहियो ई नै सुनलहुँ अछि? एकटा घोड़ा कें रोकबाक लेल अहाँकें लगाम क आवश्यकता होइत अछि; एकटा हाथी कें रोकबाक लेल, एकटा शृङ्खला क; एकटा स्त्रीकें रोकबाक लेल, हृदयक उपयोग करू; आ जदि अहाँक पाँ कोनो हृदय नै अछि, तँ विदा होऊ।

संस्थानक: जदि अहाँ जा रहल छी, तँ जाउ। हम नै जा रहल छी।

विट: बहुत नीक। हम जाब। (ओ प्रस्थान करैत छथि)

संस्थानक: स्वामी गेलाह, निश्चित रूपसँ। (मैत्रेय कें) नीक, अहाँ ओही मुड़ी वला पुरुष जेकर स्वरूप काकपद जकां अछि, बौना, बैठू, बैठू।

मैत्रेय: हमरा सभकें पहनेहि बैठबाक लेल आमन्त्रित कयल गेल अछि।

संस्थानक: ककरा द्वारा?

मैत्रेय: भाग्य द्वारा।

संस्थानक: ठाढ़ होऊ तखन, ठाढ़ होऊ!

मैत्रेय: हम सभ होब।

संस्थानक: कखन?

मैत्रेय: जखन भाग्य पुनः कृपालु होयत।

संस्थानक: कानू तखन, कानू!

मैत्रेय: हम सभ कानैत छी।

संस्थानक: अहाँकें के रुआयलक?

मैत्रेय: दरिद्रता।

संस्थानक: हँसू तखन, हँसू!

मैत्रेय: हँसब हम सभ निश्चित।

संस्थानक: कखन?

मैत्रेय: जखन चारुदत्त पुनः प्रसन्न होयताह।

संस्थानक: बौना, बेचार छोटकी चारुदत्तकें हमर ई सन्देश द' देबक: "ई सुवर्णक आभूषण आ सुवर्णक रत्न वली कनियाँ, ई स्त्री रङ्गमञ्च-प्रबन्धक जे नव नाटकक पूर्वाभ्यास (रिहर्सल) देखि रहल अछि, ई वसन्तसेना—ओ अहाँसँ ओही समयसँ प्रेम करैत अछि जखनसँ ओ कामदेव क मन्दिर वला उपवनमे गेल छली। आ जखन हम ओकरा बलपूर्वक प्रसन्न करबाक यत्न कयलहुँ, तँ ओ अहाँक घरमे घुसि गेली। आब जदि अहाँ ओकरा स्वयं पठा द' छी आ हमरा सुपुर्द क' द' छी, जदि अहाँ ओकरा तुरंत वापस क' द' छी, बिना कोनो अदालती मुकदमक, तँ हम सदा लेल अहाँक मित्र बनि जाब। मुदा जदि अहाँ ओकरा वापस नै क' छी, तँ मृत्यु धरि युद्ध होयत।" मोन राखू: कोहँड़ा क कतरन (पम्पकिन-स्टॉक) पर गोइठा क लेप लगाउ; अपन तरकारी सूखल राखू: जाड़क संध्यामे अपन भात राँधू; आ निश्चित रूपसँ अहाँक मांस फ्राय (तलाल) हो। तखन ओकरा ठाढ़ रहय दिय', आ ओ सभ दुःखद गन्ध आ सड़न नै उत्पन्न करताह। ओकरा कनी सुन्दरतासँ कहब, ओकरा कनी चतुराईसँ कहब। ओकरा एही प्रकार कहब जे हम अपनहि महल क ऊपर कपरौआ-खोतामे बैठि क' ओकरा सुनि सकी। जदि अहाँ भिन्न प्रकारसँ कहब, तँ हम अहाँक मुड़ी कें दुआरि क कबाड़मे फसा क' सेउ जकां कचरि देब।

मैत्रेय: बहुत नीक। हम हुनका कहब।

संस्थानक: (मनहि मन) हमरा बताउ, नौकर। की स्वामी वास्तवमे चलि गेलाह?

नौकर: हँ, स्वामी।

संस्थानक: तँ हम सभ एतयसँ एतेक तीव्र गतिसँ चलब जतेक क' सकी।

नौकर: तँ अपन तलवार लिय', स्वामी।

संस्थानक: अहाँ एकरा राखि सकैत छी।

नौकर: ई एतय अछि, स्वामी। अपन तलवार लिय', स्वामी।

संस्थानक: (ओकरा गलत छोरसँ पकड़ैत) हमर तलवार, मूली क छिलका जकां लाल, एकरा कहियो सड़बाक समय नै भेटैत अछि; देखू ई अपन मियान भीतर कियो सुतल अछि! हम एकरा अपन कान्ह पर रखैत छी। जखन कुकुर आ कुक्कुरी सभ हमरा पर भुक्कैत छथि, हम घूमि क', एकटा खदड़ायल सियार जकां, घर जाइत छी। (संस्थानक आ नौकर घूमि क' प्रस्थान करैत छथि)

मैत्रेय: आर्या रदनिका, अहाँ सज्जन चारुदत्तकें एही अत्याचारक विषयमे नै कहब। हमरा विश्वास अछि जे अहाँ केवल ओही दरिद्र मनुष्यक दुःखकें बेसी करब।

रदनिका: उत्तम मैत्रेय, अहाँ रदनिकाकें जनैत छी। ओकर ओठ सीयल अछि।

मैत्रेय: एहनहि हो।

चारुदत्त: (वसन्तसेना कें) रदनिका, रोहसेनकें खुल्ला हवा नीक लगैत छैक, मुदा संध्याक एही जाड़मे ओकरा ठण्डा लागि जायत। कृपया ओकरा घरक भीतर लाउ, आ ओकरा एही अंगवस्त्रसँ तोपि दिय'। (ओ हुनका अंगवस्त्र दैत छथि)

वसन्तसेना: (अपन मनमे) देखू! ओ बुझैत छथि जे हम हुनकर दासी छी। (ओ अंगवस्त्र लैत छथि आ ओकर सुगन्धक अनुभव करैत छथि। अत्यंत अनुरागसँ अपन मनमे) ओह, सुन्दर! अंगवस्त्र चमेलीक सुगन्धसँ युक्त अछि। हुनकर युवावस्था संसारक सुख सभसँ पूर्णतः उदासीन नै अछि। (ओ एकरा अपन चारू कात लपेटि लैत छथि, बिना चारुदत्तकें देखेबाक)

चारुदत्त: आउ, रदनिका, रोहसेनकें लय क' घरक अन्तःकरणमे प्रवेश करू।

वसन्तसेना: (अपन मनमे) हाय हम अभागिन, जेकर अहाँक हृदयमे बहुत कम भाग या स्थान अछि!

चारुदत्त: आउ, रदनिका, की अहाँ उत्तर सेहो नै देब? हाय! जखन मनुष्य एक बेर ओही दुःखद दिन देखैत अछि, जखन सर्वशक्तिमान भाग्य ओकर धन बुहारि क' लय जाइत अछि, तखन प्राचीन मित्रता पुनः स्थिर नै रहैत अछि, तखन ओकर पूर्व हृदयक मित्र सभ सेहो शीतल भ' जाइत छथि।

मैत्रेय: (रदनिकाक लग जा क') स्वामी, एतय रदनिका अछि।

चारुदत्त: एतय रदनिका अछि? तखन ई के छथि—ई अपरिचित कनियाँ, हमर वस्त्रसँ एही प्रकार सटल छथि, जे अपवित्र भ' गेल अछि—

वसन्तसेना: (अपन मनमे) कहू "पवित्र भ' गेल अछि।"

चारुदत्त: जा धरि ओ शरद ऋतुक मेघ सभसँ युक्त द्वितीया क चन्द्रमा जकां नै बुझाइत छथि? मुदा नै! हमरा आन क पत्नी पर दृष्टि नै देबाक चाही।

मैत्रेय: ओह, अहाँकें ई भय करबाक आवश्यकता नै अछि जे अहाँ कोनो आन क पत्नीकें देखि रहल छी। ई वसन्तसेना छथि, जे अहाँसँ ओही समयसँ प्रेम करैत छथि जखनसँ ओ अहाँकें कामदेव क मन्दिर वला उपवनमे देखलन्हि छल।

चारुदत्त: की! ई वसन्तसेना छथि? (मनहि मन) हुनकर लेल हमर प्रेम—हमर धन नष्ट भेला पर—हमर एही व्याकुल स्वरूपकें दो टुकड़ामे काटि देलन्हि अछि, एकटा कायरक क्रोध जकां, जे भीतरहि भीतर मुड़ि गेल हो।

मैत्रेय: हमर मित्र, ओ राजा क सादू कहैत अछि—

चारुदत्त: की?

मैत्रेय: "ई सुवर्णक आभूषण आ सुवर्णक रत्न वली कनियाँ, ई स्त्री रङ्गमज्ज-प्रबन्धक जे नव नाटकक पूर्वाभ्यास देखि रहल अछि, ई वसन्तसेना—ओ अहाँसँ ओही समयसँ प्रेम करैत अछि जखनसँ ओ कामदेव क मन्दिर वला उपवनमे गेल छली। आ जखन हम ओकरा बलपूर्वक प्रसन्न करबाक यत्न कयलहुँ, तँ ओ अहाँक घरमे घुसि गेली।"

वसन्तसेना: (अपन मनमे) "बलपूर्वक प्रसन्न करबाक यत्न कयलहुँ"—वास्तवमे, हम एही शब्द सभसँ सम्मानित भेल छी।

मैत्रेय: "आब यदि अहाँ ओकरा स्वयं पठा द' छी आ हमरा सुपुर्द क' द' छी, यदि अहाँ ओकरा तुरंत वापस क' द' छी, बिना कोनो अदालती मुकदमक, तँ हम सदा लेल अहाँक मित्र बनब। अन्यथा, मृत्यु धरि युद्ध होयत।"

चारुदत्त: (तिरस्कारसँ) ओ मूर्ख अछि। (अपन मनमे) ई सुकुमार कनियाँ ओही आदरक योग्य छथि जे हम कोनो देवीकें अर्पण करैत छी! किएक तँ आब यद्यपि हम ओकरा भीतर आबबाक लेल कहलहुँ, तइयो ओ हमर दरिद्रताक आदर करैत छथि, नहि तँ भीतर प्रवेश करैत छली; यद्यपि पुरुष हुनका लेल ज्ञात छथि, तइयो ओ जे किछु बाजैत छथि ओकरामे कोनो एहन शब्द नै अछि जे कोनो नम्र कानकें चोट पहुँचावय। (प्रकट) आर्या वसन्तसेना, हम अनजानेमे स्वयं एकटा अपराध क' लेलहुँ अछि; किएक तँ हम एकटा दासी जकां हुनका प्रणाम कयलहुँ जेकरा हम नै चिन्हलहुँ। हम अहाँसँ क्षमा मङ्गबाक लेल अपन मुड़ी झुकाबैत छी।

वसन्तसेना: ई हम छी जे एही अवांछित प्रवेशसँ अपराध कयलहुँ अछि। हम अहाँसँ क्षमा खोजबाक लेल अपन मुड़ी झुकाबैत छी।

मैत्रेय: हँ, अपन सुन्दर झुकाबसँ अहाँ दोनों अपन मुड़ी आपसमे एहन टकरा देलहुँ अछि जे ओ धान क दुटा खेत जकां बुझाइत अछि। हम सेहो ऊँटक बच्चा क जानु जकां अपन मुड़ी झुकाबैत छी आ अहाँ दोनोंसँ ठाढ़ होबाक प्रार्थना करैत छी। (ओ ओनाहि करैत छथि, आ पुनः उठैत छथि)

चारुदत्त: बहुत नीक, आब हम सभ परम्परागत शिष्टाचारसँ स्वयं कें कष्ट नै द' छी।

वसन्तसेना: (अपन मनमे) कतेक सुन्दर चतुर सङ्केत अछि! मुदा राति बितेबाक विचार उचित नै होयत, ई सोचैत जे हम एतय अयलहुँ अछि। नीक, हम कम्तीस कम्ती एतेक तँ कहब। (प्रकट) यदि हमरा अहाँक एतेक कृपा प्राप्त होबाक अछि, महाभाग, तँ हम एही आभूषण सभकें अहाँक घरमे छोड़बामे प्रसन्न होब। आभूषणहि क लेल ओही दुष्ट सभ हमर पीछा कयलन्हि छल।

चारुदत्त: ई घर एही विश्वासक योग्य नै अछि।

वसन्तसेना: अहाँक भूल अछि, महाभाग! पुरुष सभ पर विश्वास कयल जाइत अछि, घर सभ पर नै।

चारुदत्त: मैत्रेय, की अहाँ ई आभूषण ग्रहण करब?

वसन्तसेना: हम अहाँक बहुत आभारी छी। (ओ आभूषण हुनका द' दैत छथि)

मैत्रेय: (ओकरा ग्रहण करैत) भगवान अहाँक कल्याण करथि, आर्या।

चारुदत्त: मूर्ख! ई केवल हमरा सभक पाँ न्यास रूपमे राखल गेल अछि।

मैत्रेय: (मनहि मन) तँ चोर सभ एकरा लय जाथि, हमरा की चिन्ता। चारुदत्त: बहुत कम समयमे—

मैत्रेय: जे ओ हमरा सभकें सौंपलन्हि अछि, ओ हमरहि भ' गेल।

चारुदत्त: हम एकरा वापस करब।

वसन्तसेना: हम आभारी होब, महाभाग, जदि ई भद्र पुरुष हमरा साथ घर धरि चलिताह।

चारुदत्त: मैत्रेय, कृपया हमर अतिथिक साथ जाउ।

मैत्रेय: ओ एकटा हँसिनी जकां सुन्दरतासँ चलि रहल छथि, आ अहाँ हुनकर साथ चलबाक लेल चंचल मराल छी। मुदा हम केवल एकटा दरिद्र ब्राह्मण छी, आ हम कतहु जाब, तँ लोक हमरा पर ओनाहि टूटि पड़ताह जेना कुकुर सभ चौमुहा पर घसीटल गेल कोनो बलि-पशु पर टूटि पड़ैत अछि।

चारुदत्त: बहुत नीक। हम स्वयं हुनकर साथ चलब। राजपथ पर हमर सुरक्षाक लेल मशाल जलाउ।

मैत्रेय: वर्धमानक, मशाल जलाउ।

वर्धमानक: (मैत्रेय कें फुसफुसाबैत) की! बिना तेलक मशाल जलबब?

मैत्रेय: (चारुदत्त कें फुसफुसाबैत) हमर ई मशाल सभ ओही गणिका सभक समान अछि जे अपन दरिद्र प्रेमी सभसँ घृणा करैत अछि। ओ सभ जखन धरि अहाँ ओकरा नै खसबब, तखन धरि नै जरत।

चारुदत्त: बस, मैत्रेय! हमरा कोनो मशालक आवश्यकता नै अछि। देखू, राजपथ पर हमर पाँ एकटा दीपक अछि। अपन समस्त नक्षत्र-सेवक सभसँ युक्त, आ कोनो विरहिणी कनियाँ क गाल जकां पाण्डु वर्ण वला, चन्द्रमाक ई कान्तिमय मण्डल हमर आँखिक समक्ष उठि रहल अछि, जेकर शुद्ध किरण सभ घनीभूत अन्धकार पर ओनाहि खसि रहल अछि जेना सुखल दलदलमे दूध क धार। (हुनकर आवाज हुनकर अनुरागकें प्रकट करैत अछि) आर्या वसन्तसेना, हम अहाँक घर पहुँचि गेल छी। कृपया प्रवेश करू। (वसन्तसेना अनुरागसँ हुनका देखैत छथि, आ पुनः प्रस्थान करैत छथि) मित्र, वसन्तसेना चली गेली। आउ, हम सभ घर चली। समस्त प्राणी राजपथसँ विदा भ' गेल छथि आरक्षी (पुलिस) अपन गश्त लगा रहल छथि; कपटसँ बचबाक लेल सजग रहना उचित आ न्यायपूर्ण अछि, किएक तँ रातिमे बहुत रास पाप आश्रय पाबैत अछि। आ अहाँ एही सुवर्ण-मञ्जूषा क रक्षा रातिमे करब, आ वर्धमानक दिनमे करताह।

मैत्रेय: बहुत नीक। (दोनों प्रस्थान करैत छथि)

(एकटा दासीक प्रवेश होइत अछि)

दासी: हमरा हुनकर माय द्वारा हमर मालकिनक लेल एकटा सन्देश सौंपल गेल अछि। हमरा भीतर जा क' अपन मालकिनकें खोजबाक चाही। (ओ घूमि क' चारु कात देखैत अछि) ओतय हमर मालकिन छथि। ओ एकटा चित्र बना रहल छथि, आ अपन पूर्ण हृदय ओकरामे लगाने छथि। हमरा जा क' हुनकासँ बाजबाक चाही।

(तखन विरहिणी वसन्तसेना, बैठल छथि, आ मदनिका प्रकट होइत अछि)

वसन्तसेना: नीक, कनियाँ, आ पुनः—

मदनिका: मुदा मालकिन, अहाँ कोनो विषयमे बाजहि तँ नै रहल छलहुँ। अहाँक की अर्थ अछि?

वसन्तसेना: किएक, हम की कहलहुँ?

मदनिका: अहाँ कहलहुँ, "आ पुनः"—

वसन्तसेना: (अपन भौंह सिकोड़ैत) ओह, हाँ। हम ओनाहि कयलहुँ।

दासी: (लग जा क') मालकिन, अहाँक माय सन्देश पठौने छथि जे अहाँ स्नान क' क' देवता सभक पूजा करू।

वसन्तसेना: अहाँ हमर मायसँ कहि दिय' जे हम आइ कोनो विधिपूर्वक स्नान नै करब। हमर स्थान पर एकटा ब्राह्मण पूजा करताह।

दासी: हँ, मालकिन। (ओ प्रस्थान करैत अछि)

मदनिका: हमर प्रिय मालकिन, ई प्रेम अछि, कोनो दुष्टता नै जे ई प्रश्न पूछि रहल अछि—मुदा एकर की अर्थ अछि?

वसन्तसेना: हमरा बताउ, मदनिका। हम अहाँकें केहन बुझि रहल छी?

मदनिका: हमर मालकिन एतेक अन्यमनस्क छथि जे हम जनैत छी हुनकर हृदय ककरो लेल उत्कण्ठासँ भरल अछि।

वसन्तसेना: नीक अनुमान कयलहुँ। हमर मदनिका आन क हृदय जनबामे बहुत चतुर अछि।

मदनिका: हम बहुत, बहुत प्रसन्न छी। हँ, कामदेव वास्तवमे शक्तिशाली छथि, आ हुनकर ई महान उत्सव सुखद होइत अछि जखन केओ युवा होइत अछि।

मुदा हमरा बताउ, मालकिन, की ओ कोनो राजा छथि, या राजा क प्रिय पात्र, जकरा अहाँ पूजि रहल छी?

वसन्तसेना: कनियाँ, हम प्रेम करबाक इच्छा राखैत छी, पूजा करबाक नै।

मदनिका: की ओ कोनो ब्राह्मण छथि जे अहाँक वासनाकें जगा देलन्हि अछि, कोनो एहन युवक जे अपन विशेष विद्याक लेल प्रसिद्ध हो?

वसन्तसेना: एकटा ब्राह्मणक तँ हमरा आदर करबाक चाही।

मदनिका: या ओ कोनो युवा व्यापारी छथि, जे बहुत रास नगर सभक यात्रा क' क' अत्यधिक धनी भ' गेल छथि?

वसन्तसेना: एकटा व्यापारीकें, कनियाँ, आन देश सभमे जाबहि पड़ैत आ अहाँकें पाछो छोड़ि देबक, चाहे अहाँ ओकरासँ कतेको प्रेम किएक नै कसरि। आ ओही वियोग अहाँकें बहुत उदास क' दैत अछि।

मदनिका: तँ ओ कोनो राजा नै छथि, नहि कोनो प्रिय पात्र, नहि कोनो ब्राह्मण, नहि कोनो व्यापारी। तखन ओ के छथि जेकरासँ राजकुमारी प्रेम करैत छथि?

वसन्तसेना: कनियाँ! कनियाँ! अहाँ हमर साथ ओही उपवनमे गेल छलहुँ जतय कामदेव क मन्दिर अछि?

मदनिका: हँ, मालकिन।

वसन्तसेना: आ तइयो अहाँ एहन पूछि रहल छी, जेना अहाँ कोनो पूर्णतः अपरिचित होब।

मदनिका: आब हम जनैत छी। की ओ वैह पुरुष छथि जे अहाँकें धीरज देलन्हि छल जखन अहाँ रक्षाक लेल प्रार्थना कयलहुँ अछि?

वसन्तसेना: नीक, हुनकर की नाम छल?

मदनिका: किएक, ओ व्यापारी सभक टोलामे रहैत छथि।

वसन्तसेना: मुदा हम अहाँसँ हुनकर नाम पूछलहुँ अछि।

मदनिका: हुनकर नाम, मालकिन, अपन आपमे एकटा शुभ सङ्केत अछि। हुनकर नाम चारुदत्त अछि।

वसन्तसेना: (आनन्दसँ उठैत) सुन्दर, मदनिका, सुन्दर। अहाँ एकरा बुझि लेलहुँ।

मदनिका: (मनहि मन) ई तँ भ' गेल। (प्रकट) मालकिन, लोक कहैत छथि ओ दरिद्र छथि।

वसन्तसेना: वैह तँ एकमात्र कारण अछि जाहि लेल हम हुनकासँ प्रेम करैत छी। किएक तँ एकटा गणिका जे अपन हृदय कोनो दरिद्र मनुष्य पर लगाबैत अछि, ओ संसारक आँखिमे निर्दोष होइत अछि।

मदनिका: मुदा मालकिन, की तितली सभ आमक गाछ पर जाइत अछि जखन ओकर फूल (मंजर) खसि गेल हो?

वसन्तसेना: वैह तँ कारण अछि जाहि लेल हम ओही प्रकारक लड़कीकें तितली कहैत छी।

मदनिका: नीक, मालकिन, जदि अहाँ हुनकासँ प्रेम करैत छी, तँ अहाँ जा क' हुनकासँ तुरंत किएक नै भेटैत छी?

वसन्तसेना: कनियाँ, जदि हम हुनकासँ तुरंत भेटब, तँ किएक तँ ओ कोनो प्रतिफल नै द' सकैत छथि—नै, हमर ई अर्थ नै अछि, मुदा हुनका देखब कठीन होयत।

मदनिका: की वैह कारण अछि जाहि लेल अहाँ अपन आभूषण हुनकर पाँ छोड़ि देलहुँ?

वसन्तसेना: अहाँ एकरा नीक बुझलहुँ।

नेपथ्यसँ एकटा आवाज: ओह, महाभाग, एकटा संवाहक हमर दस सुवर्ण-मुद्राक कर्जदार अछि, आ ओ हमरा सभक हाथसँ भागि गेल अछि। ओकरा पकड़ू, पकड़ू! (भाग्य वाला संवाहक केँ) रुकू, रुकू! हम अहाँकेँ एतयसँ देखि रहल छी। (भयभीत संवाहकक हड़बड़ीमे प्रवेश होइत अछि)

संवाहक: ओह, धत तेरिका एही धूतक (जुआ) काजकेँ! अपन बन्धनसँ मुक्त, पासाक एक—हम ओकरा कम्तीसँ कम्ती गदहा कहि सकी—ओ हमरा कसरि लात मारैत अछि! आ पासाक ओही चालि जेकरा "शूल" कहल जाइत अछि, ओ अपन नाम क अनुरूप सत्य सिद्ध होइत अछि; किएक तँ ई हमरा चुभैत अछि। जुआघरक मालिकक पूर्ण ध्यान स्कोर (अङ्क) पर छल; तँ दुआरिसँ अदृश्य होबाक लेल कोनो पैघ आविष्कारक आवश्यकता नै छल। मुदा हम एही असुरक्षित सड़क पर सदा लेल ठाढ़ नै रहि सकी। की कोनो एहन व्यक्ति नै अछि जे रक्षा करू? हम ओकर पएर पर खसि पड़ब। जखन धरि जुआघरक मालिक आ जुआड़ी हमरा कोनो आन कात खोजि रहल छथि, हम बस एही खाली मन्दिरमे उलटा पएर चलब आ देवी बनि क' बैठि जाब। (ओ सभ प्रकारक अभिनय करैत छथि, अपना स्थान लैत छथि आ प्रतीक्षा करैत छथि)

(माथुर आ जुआड़ीक प्रवेश होइत अछि)

माथुर: ओह, महाभाग, एकटा संवाहक हमर दस सुवर्ण-मुद्राक कर्जदार अछि, आ ओ हमरा सभक हाथसँ भागि गेल अछि। ओकरा पकड़ू, पकड़ू! रुकू, रुकू! हम अहाँकेँ एतयसँ देखि रहल छी। जुआड़ी: अहाँ नरक धरि भागि सकैत छी, जदि ओ अहाँकेँ भीतर लय; इन्द्र देवता क साथ रहि सकैत छी; किएक तँ कोनो एहन देवता नै अछि जे अहाँक छाती बचेबाक सामर्थ्य राखय जखन धरि माथुर अपन धन चाहैत अछि।

माथुर: ओह, अहाँ कतऽ भागि रहल छी, चंचल यात्री? अहाँ जे एकटा ईमानदार जुआड़ीकेँ छलैत छी? अहाँ जे भयसँ काँपि रहल छी आ सिहरि रहल छी, समस्त कम्पायमान; अहाँ जे समतल आ असमर्थ भूमि पर पर्याप्त लड़खड़ा नै सकैत छी; अहाँ जे अपन सामाजिक प्रतिष्ठा, कुल आ यशकेँ मलिन करैत छी! जुआड़ी: (पएरक निशानकेँ देखैत) ओ एतय जाइत अछि। आ एतय पएरक निशान हरा जाइत अछि।

माथुर: (पएरक निशानकेँ देखैत छथि। विचार क' क') देखू! पएर उलट क' राखल गेल अछि। आ मन्दिरमे कोनो मूर्ति नै अछि। ओही धूर्त संवाहक मन्दिर भीतर अपन पएर उलट क' क' गेल अछि। जुआड़ी: आउ हम सभ ओकर पाछाँ चली।

माथुर: बहुत नीक। (ओ सभ मन्दिर भीतर जाइत छथि आ नीक जकां देखैत छथि, पुनः एक दोसर केँ सङ्केत करैत छथि)

जुआड़ी: की! एकटा काठ क मूर्ति?

माथुर: निश्चित रूपसँ नै। ई पत्थर क अछि। (ओ ओकरा अपन पूर्ण शक्तिसँ हिलाबैत छथि, पुनः सङ्केत करैत छथि) हमरा सभकेँ की चिन्ता? आउ, हम सभ एकटा खेल खेली। (ओ पूर्ण शक्तिसँ जुआ खेलब आरम्भ करैत छथि)

संवाहक: (अपन धूत-ज्वरकेँ रोकबाक पूर्ण शक्तिसँ यत्न करैत। मनहि मन) ओह, ओह! पासा क ई खड़खड़ाहट कतेक प्रिय वस्तु अछि जखन अहाँक पाँ एकटा ताँबा क सिक्का सेहो नै बचल हो; ई ककरो हृदय पर नगारा जकां चोट करैत अछि, जे अपन समस्त राज्यसँ हीन भ' गेल हो। जुआड़ी सभ पैघ पहाड़सँ नीचां कूदि जाइत छथि—हम जनैत छी हम नै खेलब। तइयो पासा क ई खड़खड़ाहट एहन मधुर अछि जेना वैशाख (मे)मे कोकिल क कूक। जुआड़ी: हमर पासा, हमर पासा!

माथुर: एतेक नै! ई हमर पासा अछि।

संवाहक: (पाछाँसँ तीव्र गतिसँ लग आबि क') की ई हमर पासा नै अछि? जुआड़ी: हमरा सभकेँ हमर मनुष्य भेट गेल।

माथुर: (ओकरा जकड़ैत) रे कैदी, अहाँ पकड़ल गेल छी। हमर दस सुवर्ण-मुद्रा दिय'।

संवाहक: हम अहाँकेँ आइहि दिन द' देब।

माथुर: हमरा एही मिनट दिय'!

संवाहक: हम अहाँकेँ देब। केवल दया करू!

माथुर: आउ, की अहाँ आब द' रहल छी?

संवाहक: हमर मुड़ी चक्कर खाय रहल अछि। (ओ भूमि पर खसि पड़ैत छथि। आन सभ ओकरा अपन पूर्ण शक्तिसँ मारैत छथि)

माथुर: एतय (जुआड़ीक मण्डल खिंचैत) अहाँ धूतकरक मण्डल (धूतकर-मण्डली) द्वारा बद्ध छी।

संवाहक: (उठैत छथि। निराशासँ) की! धूतकरक मण्डल द्वारा बद्ध? धत तेरिका! ई एकटा एहन सीमा अछि जेकरा हम जुआड़ी सभ पार नै क' सकी। हम ओकरा चुकाबाक लेल धन कतयसँ पाबब?

माथुर: तँ अहाँकेँ कोनो प्रतिभू देबाक चाही।

संवाहक: हमर पाँ एकटा विचार अछि। (ओ जुआड़ीकेँ इशारा करैत छथि) हम अहाँकेँ आधा देब, जदि अहाँ हमरा दोसर आधा क्षमा क' देब। जुआड़ी: बहुत नीक।

संवाहक: (माथुर के) हम अहाँकें आधा क लेल प्रतिभू देब। अहाँ हमरा दोसर आधा क्षमा क' सकैत छी।

माथुर: बहुत नीक। एकरामे की हानि अछि?

संवाहक: (प्रकट) अहाँ हमरा आधा क्षमा कयलहुँ, महाभाग?

माथुर: हँ।

संवाहक: (जुआड़ी के) आ अहाँ हमरा आधा क्षमा कयलहुँ? जुआड़ी: हँ।

संवाहक: तँ हम बुझैत छी हम आब जा रहल छी।

माथुर: हमर दस सुवर्ण-मुद्रा दिय'! अहाँ कतऽ जा रहल छी?

संवाहक: एकरा देखू, सज्जन वृन्द, एकरा देखू! एतय हम केवल एकटा के आधा क लेल प्रतिभू देलहुँ, आ दोसर हमरा आधा क्षमा क' देलन्हि। आ ओकरा बादो ओ हमरा, बेचार असहाय हमरा तङ्ग क' रहल अछि!

माथुर: (ओकरा जकड़ैत) हमर नाम माथुर अछि, चतुर धूर्त, आ अहाँ एही बेर हमरा छल नै सकब। हमर धनक एक-एक अंश चुकाउ, रे कैदी, आ ओहो एही क्षण।

संवाहक: हम कसरि चुका सकी?

माथुर: अपन बाप केँ बेचि क' चुकाउ।

संवाहक: हम बाप कतयसँ पाबब?

माथुर: अपन माय केँ बेचि क' चुकाउ।

संवाहक: हम माय कतयसँ पाबब।

माथुर: अपना केँ बेचि क' चुकाउ।

संवाहक: दया करू! हमरा राजपथ पर लय चली।

माथुर: आगाँ बढू।

संवाहक: जदि ई आवश्यक अछि। (ओ घूमि क' चलैत छथि) सज्जन वृन्द, की अहाँ हमरा दस सुवर्ण-मुद्रामे एही द्यूतकर-मालिकसँ कीनब? (ओ एकटा राहगीरकेँ देखैत छथि आ बजैत छथि) ओ की अछि? अहाँ जनबाक इच्छा राखैत छी जे हम की क' सकी? हम अहाँक घरक नौकर बनब। की! ओ बिना कोनो उत्तर देलहि चलि गेलाह। नीक, एतय दोसर छथि। हम हुनकासँ बाजब। (ओ अपन प्रस्ताव पुनः दोहराबैत छथि) की! ई सेहो हमरा पर कोनो ध्यान नै देलन्हि। ओ गेलाह। धत तेरिका! जखनसँ चारुदत्त अपन भाग्य खो देलन्हि, तखनसँ हमर भाग्य सेहो कठीन भ' गेल अछि।

माथुर: की अहाँ चुकाबब?

संवाहक: हम कसरि चुका सकी? (ओ खसि पड़ैत छथि। माथुर ओकरा घसीटैत अछि) उत्तम सज्जन सभ, हमर रक्षा करू, हमर रक्षा करू!

(दर्दुरकक प्रवेश होइत अछि)

दर्दुरक: हँ, जुआ एकटा एहन राज्य अछि जेकर कोनो सिंहासन नै होइत। अहाँ पराजयक कोनो चिन्ता नै करैत छी; पैघ धन अहाँ हारैत आ जीतैत छी; जखन राजा सन राजस्व भीतर आबैत अछि, तँ धनी मनुष्य सेहो, दास जकां, अहाँक समक्ष खसि पड़ैत छथि। आ पुनः अहाँ जुआसँ अपन सिक्का कमाबैत छी, जुआसँ अपन मित्र आ पत्नी, जुआसँ अपन दान आ भोजन; अहाँक अन्तिम पाई जुआसँ चलि जाइत अछि। आ पुनः हमर नगद तीन (तिरिया) द्वारा लय लेल गेल; दू (दुआ) पुनः हमर स्वास्थ्य लय गेल; एक पुनः हमरा सड़क पर ला देलक; चारि हमर पराजय पूर्ण क' देलक। (ओ अपन समक्ष देखैत छथि) एतय माथुर आबि रहल छथि, हमर पूर्व द्यूतकर-मालिक। नीक, जेना हम बचि नै सकी, हम बुझैत छी हम अपन दुपट्टासँ मुड़ तोपि लेब। (ओ अपन दुपट्टासँ कतेको प्रकारक अभिनय करैत छथि, पुनः ओकरा देखैत छथि) ई वस्त्र सूत क मामलामे बहुत दरिद्र अछि; ई सुन्दर वस्त्र बहुत रास प्रकाश भीतर आबय दैत अछि; एही वस्त्रक रक्षा करबाक शक्ति पूर्णतः समाप्त भ' गेल अछि; ई वस्त्र बहुत सुन्दर लगैत अछि जखन एकरा कस क' समेटल जाइत अछि। तइयो आखिर, एकटा दरिद्र साधु एकरासँ बेसी की क' सकैत छल? किएक तँ अहाँ देखू, एकटा पएर हम आकाशमे रखने छी, दोसर भूमि पर निश्चित रहबाक चाही। ऊँचाई किछ बेसी अछि, मुदा सूर्य एकरा सहैत अछि। हम किएक नै सहि सकी?

माथुर: चुकाउ, चुकाउ!

संवाहक: हम कसरि चुका सकी? (माथुर ओकरा घसीटैत अछि)

दर्दुरक: नीक, नीक, ई हम की देखि रहल छी? (ओ एकटा दर्शककेँ सम्बोधित करैत छथि) अहाँ की कहलहुँ, महाभाग? "एही संवाहककेँ द्यूतकर-मालिक द्वारा सतायल जा रहल अछि, आ कोनो ओकरा नै बचौत?" हम स्वयं ओकरा बचाबब। (ओ आगाँ बढ़ैत छथि) पाछाँ हटू, पाछाँ हटू! (ओ एकटा दृष्टि फिड़कैत छथि) नीक, जदि ई ओही धूर्त माथुर नै हो। आ एतय ई बेचार साधु सन संवाहक अछि; एकटा साधु निश्चित रूपसँ, जे सूर्य अस्त होबा धरि मुड़ झुका क' स्थिर नै लटकैत अछि, जे अपन पीठ पर बालू नै रगड़ैत अछि जा धरि घाव नै निकसि जाय, जेकर पिण्डली पर कुकुर सभ अपन भ्रमण कालमे नै काटैत अछि। एही पैघ आ सुकुमार मनुष्यकेँ जुआसँ एतेक प्रेम किएक होबाक चाही? नीक, हमरा माथुरकेँ शान्त करबाक चाही। (ओ लग जाइत छथि) अहाँ कसरि छी, माथुर? (माथुर प्रणामक उत्तर दैत अछि)

दर्दुरक: एकर की अर्थ अछि?

माथुर: ओ हमर दस सुवर्ण-मुद्राक कर्जदार अछि।

दर्दुरक: एकटा तुच्छ वस्तु!

माथुर: (दर्दुरकक काँखि नीचाँसँ समेटल गेल दुपट्टा घसीटैत) देखू, सज्जन वृन्द, देखू! फटल दुपट्टा वला मनुष्य दस सुवर्ण-मुद्राकें एकटा तुच्छ वस्तु कहैत अछि।

दर्दुरक: हमर नीक मूर्ख, की हम पासाक एक चालि पर दस सुवर्ण-मुद्रा क जोखिम नै उठबैत छी? मानू ककरो पाँ धन अछि—तँ की ई कोनो कारण अछि जे ओ एकरा अपन छाती भीतर राखय आ देखावय? मुदा अहाँ, अहाँ अपन जाति खो देब, अहाँ अपन आत्मा खो देब, ओही दस सुवर्ण-मुद्रा लेल जे ओ चोरायलक, एकटा एहन मनुष्यकें मारबाक लेल जे पूर्णतः स्वस्थ आ नीक अछि, जाहिमे पाँचू इन्द्रिय जागृत छैक।

माथुर: दस सुवर्ण-मुद्रा अहाँ लेल एकटा तुच्छ वस्तु भ' सकैत अछि, महाभाग। हमर लेल ई एकटा वैभव अछि।

दर्दुरक: नीक तखन, हमर बात सुनू। ओकरा दस आन द' दिय', आ ओकरा पुनः जुआ खेलबाक आज्ञा दिय'।

माथुर: आ तखन की?

दर्दुरक: जदि ओ जीतत, तँ ओ अहाँकें चुका द'।

माथुर: आ जदि ओ नै जीतत?

दर्दुरक: तँ ओ अहाँकें नै चुका द'।

माथुर: ई कोनो परिहासक समय नै अछि। जदि अहाँ एहन कहैत छी, तँ अहाँ स्वयं ओकरा धन द' दिय'। हमर नाम माथुर अछि। हम एकटा धूर्त छी आ हम कपट खेल खेलैत छी, आ हम ककरोसँ नै डराइत छी। अहाँ एकटा चरित्रहीन दुष्ट छी।

दर्दुरक: अहाँ ककरा कहलहुँ चरित्रहीन?

माथुर: अहाँ चरित्रहीन छी।

दर्दुरक: अहाँक बाप चरित्रहीन अछि। (ओ संवाहककें भागबाक सङ्केत करैत छथि)

माथुर: रे कुरुर! वैह तँ तरीका अछि जाहिसँ अहाँ जुआ खेलैत छी।

दर्दुरक: ओ तरीका अछि जाहिसँ हम जुआ खेलैत छी?

माथुर: आउ, संवाहक, हमर दस सुवर्ण-मुद्रा चुकाउ।

संवाहक: हम अहाँकें आइहि दिन चुका देब। हम तुरंत चुका देब। (माथुर ओकरा घसीटैत अछि)

दर्दुरक: मूर्ख! अहाँ ओकरा मारि सकैत छी जखन हम दूर होब, मुदा हमर आँखिक समक्ष नै। (माथुर संवाहककें जकड़ि लैत अछि आ ओकर नाक पर घूंसा मारैत अछि। संवाहकक नाकसँ खून बहैत अछि, ओ मूर्छित भ' क' सीधा भूमि पर खसि पड़ैत अछि। दर्दुरक लग जाइत छथि आ बीच-बचाव करैत छथि।

माथुर दर्दुरककें मारैत अछि, आ दर्दुरक पलटि क' मारैत छथि)

माथुर: ओह, ओह, अहाँ पापी कुरुर! मुदा हम अहाँकें एकर फल देब।

दर्दुरक: हमर नीक मूर्ख, हम सड़क पर शान्तिसँ चलि रहल छलहुँ, आ अहाँ हमरा मारलहुँ। जदि अहाँ काल हमरा अदालतमे मारब, तखन अहाँक आँखि खुलत।

माथुर: हँ, हम अपन आँखि खोलब।

दर्दुरक: अहाँ अपन आँखि कसरि खोलब?

माथुर: (अपन आँखि पैघ क' क' खोलैत) एही तरीकासँ हम अपन आँखि खोलब। (दर्दुरक माथुरक आँखिमे धूर फिड़कि दैत छथि, आ संवाहककें भागबाक सङ्केत करैत छथि। माथुरअपन आँखि बन्द क' लैत अछि आ खसि पड़ैत अछि। संवाहक भागि जाइत अछि)

दर्दुरक: (मनहि मन) हम प्रभावशाली धूतकर-मालिक माथुरकें शत्रु बना लेलहुँ अछि। हमर लेल एतय रहना नीक नै अछि। एकर अतिरिक्त, हमर नीक मित्र शर्विलक हमरा कहने छलाह जे आर्यक नामक एकटा युवा अहीर (ग्वाला) कें एकटा ज्योतिषी द्वारा हमर भावी राजा घोषित कयल गेल अछि। आब हमर स्थिति वला प्रत्येक मनुष्य ओकर पाछाँ दौड़ि रहल अछि। हम बुझैत छी हम स्वयं ओकरासँ मिलि जाब। (ओ प्रस्थान करैत छथि)

संवाहक: (चलैत काल काँपैत अछि आ चारू कात देखैत अछि) ई एकटा एहन घर अछि जतय ककरो द्वारा कातक दुआरि खुल्ला छोड़ि देल गेल अछि। हम भीतर जाब। (ओ प्रवेश करैत अछि आ वसन्तसेनाकें देखैत अछि) आर्या, हम अहाँक शरणमे अपना कें फिड़कैत छी।

वसन्तसेना: जे हमर शरणमे अपना कें फिड़कत ओ सुरक्षित रहत। दुआरि बन्द करू, कनियाँ। (दासी ओनाहि करैत अछि)

वसन्तसेना: अहाँकें ककर भय अछि?

संवाहक: एकटा उत्तमर्ण (कर्जदाता) क, आर्या।

वसन्तसेना: अहाँ आब दुआरि खोलि सकैत छी, कनियाँ।

संवाहक: (अपन मनमे) आह! ओकर कर्जदातासँ नै डरबाक कारण ओकर निर्दोषताक अनुपातमे अछि। कहबी सत्य अछि: जे मनुष्य अपन शक्ति जनैत अछि आ ओही शक्तिक अनुकूल भार उठाबैत अछि, नहि बेसी नहि कम, ओ लड़खड़ाबाक आ कठिन संकटसँ सुरक्षित रहैत अछि, चाहे ओ कोनो सुनसान मार्ग पर किएक नै भ्रमण करय। एकर अर्थ हम छी।

माथुर: (अपन आँखि पोछैत। जुआड़ी केँ) चुकाउ, चुकाउ! जुआड़ी: जखन हम सभ दर्दुरकक साथ झगड़ा क' रहल छलहुँ, स्वामी, ओही मनुष्य भागि गेल।

माथुर: हम अपन घूसासँ ओही संवाहकक नाक फोड़ि देलहुँ छल। आउ! हम सभ खून क निशानसँ ओकर पता लगाबी। (ओ सभ ओनाहि करैत छथि)

जुआड़ी: ओ वसन्तसेनाक घर भीतर गेल, स्वामी।

माथुर: तँ ई सुवर्ण-मुद्रा क अन्त अछि। जुआड़ी: आउ हम सभ अदालत चली आ एकटा शिकायत दर्ज करू।

माथुर: ओ धूर्त घर छोड़ि क' भागि जायत। नै, हमरा ओकरा घेरि लेबाक चाही आ एही प्रकार ओकरा पकड़बाक चाही।

(वसन्तसेना मदनिकाकेँ एकटा सङ्केत दैत छथि)

मदनिका: अहाँ कतयसँ छी, महाभाग? या अहाँ के छी, महाभाग? या अहाँ ककर पुत्र छी, महाभाग? या अहाँक की कार्य अछि, महाभाग? या अहाँ ककरो डरसँ काँपि रहल छी, महाभाग?

संवाहक: सुनू, आर्या। हमर जन्मस्थान पाटलिपुत्र अछि, आर्या। हम एकटा गृहस्थक पुत्र छी। हम संवाहकक कलाक अभ्यास करैत छी।

वसन्तसेना: ई एकटा बहुत सुकुमार कला अछि, महाभाग, जकरा पर अहाँ विजय प्राप्त कयलहुँ अछि।

संवाहक: आर्या, एकटा कलाक रूपमे हम एकरा पर विजय प्राप्त कयलहुँ छल। ई आब केवल एकटा व्यापार बनि गेल अछि।

मदनिका: अहाँक उत्तर बहुत उदास अछि, महाभाग। कृपया आगाँ कहू।

संवाहक: हँ, आर्या। जखन हम घर पर छलहुँ, हम यात्री सभसँ कथा सुनैत छलहुँ, आ हमरा नव देश सभ देखबाक इच्छा छल, आ एही प्रकार हम एतय अयलहुँ। आ जखन हम एतय उज्जयिनी आबि गेलहुँ, हम एकटा श्रेष्ठ सज्जन क नौकर बनि गेलहुँ। एकटा एहन सुन्दर, शिष्ट सज्जन! जखन ओ धन दान करैत छलाह, ओ अहङ्कार नै करैत छलाह; जखन ओकरा चोट पहुँचाएल जाइत छल, ओ एकरा बिसरि जाइत छलाह। संक्षेपमे कथा कहब: ओ एतेक शिष्ट छलाह जे ओ अपन शरीरकेँ आन क सम्पत्ति बुझैत छलाह, आ ओही सभ पर दया करैत छलाह जे हुनकर रक्षा चाहैत छलाह।

मदनिका: ओ के छथि जे उज्जयिनीकेँ ओही गुण सभसँ सुशोभित करैत छथि जेकरा ओ हमर मालकिनक इच्छाक वस्तुसँ चोरायने छथि?

वसन्तसेना: सुन्दर, कनियाँ, सुन्दर! हमर मनमे सेहो वैह विचार छल।

मदनिका: मुदा आगाँ कहबाक लेल, महाभाग—

संवाहक: आर्या, ओ एतेक कृपालु आ एतेक उदार छलाह जे आब—

वसन्तसेना: हुनकर वैभव नष्ट भ' गेल अछि?

संवाहक: हम एहन नै कहलहुँ। अहाँ एकरा कसरि बुझलहुँ, आर्या?

वसन्तसेना: एकरामे बुझबाक की छल? गुण आ धन विरले एक साथ रहैत अछि। ओही पोखरि सभमे जाहिसँ मनुष्य पानि नै पीबि सकैत, ओकरामे एतेक बेसी पानि होइत अछि।

मदनिका: मुदा महाभाग, हुनकर की नाम अछि?

संवाहक: आर्या, समस्त संसारक एही चन्द्रमाक नाम के नै जनैत अछि? ओ व्यापारी सभक टोलामे रहैत छथि। ओ जेकर नामहि समस्त आदरक योग्य अछि, हुनकर नाम चारुदत्त अछि।

वसन्तसेना: (अपन आसनसँ आनन्दसँ उठैत) महाभाग, ई घर अहाँक अपनहि अछि। ओकरा एकटा आसन दिय', कनियाँ, आ ई पंखा लय लिय'। महाभाग थिक गेल छथि। (मदनिका ओनाहि करैत अछि जकाँ ओकरा आज्ञा देल गेल अछि)

संवाहक: (मनहि मन) की! चारुदत्तक नाम लेलासँ एतेक आदर? भगवान अहाँक कल्याण करथि, चारुदत्त! अहाँ संसारक एकमात्र मनुष्य छी जे वास्तवमे जिवैत छथि। आन सभ केवल श्वास लैत छथि। (ओ वसन्तसेनाक पएर पर खसि पड़ैत छथि) बस, आर्या, बस। कृपया बैठू, आर्या।

वसन्तसेना: (बैठैत) ओ कतऽ अछि जे अहाँक एतेक पैघ उत्तमर्ण अछि, महाभाग?

संवाहक: सज्जन मनुष्यक वैभव कृपालु कार्य सभमे होइत अछि; आन समस्त वैभव व्यर्थ अछि आ तीव्र गतिसँ चलि जाइत अछि। जे मनुष्य अपन पड़ोसीक आवश्यकताक आदर नै करैत अछि, की ओ मनुष्य जनैत अछि आदरक की अर्थ अछि?

वसन्तसेना: मुदा आगाँ कहबाक लेल—

संवाहक: तँ हम हुनकर सेवामे एकटा नौकर बनि गेलहुँ। आ जखन हुनकर वैभव हुनकर गुण धरि सीमन्त भ' गेल, हम जुआसँ अपन जीवन बितेबाक आरम्भ कयलहुँ। मुदा भाग्य क्रूर छल, आ हम दस सुवर्ण-मुद्रा हारि गेलहुँ।

माथुर: हम नष्ट भ' गेलहुँ! हम चोरा लेल गेलहुँ!

संवाहक: ओतय जुआघरक मालिक आ जुआड़ी छथि, हमरा खोजि रहल छथि। अहाँ हमर कथा सुनलहुँ, आर्या। अवशिष्ट अहाँक विषय अछि।

वसन्तसेना: मदनिका, पक्षी सभ चारू कात उड़ि जाइत अछि जखन ओही गाछकें हिलाएल जाइत अछि जाहिमे हुनकर खोता होइत अछि। जाउ, कनियाँ, आ जुआघरक मालिक आ जुआड़ीकें ई कङ्कण (ब्रेसलेट) द' दिय'। आ हुनका कहू जे ई महाभाग एकरा पठौने छथि। (ओ अपन बांहिसँ एकटा कङ्कण खोलि दैत छथि, आ मदनिकाकें दैत छथि)

मदनिका: (कङ्कण ग्रहण करैत) हँ, मालकिन! (ओ बाहर जाइत अछि)

माथुर: हम नष्ट भ' गेलहुँ! हम चोरा लेल गेलहुँ!

मदनिका: जेना ई दोनों आकाश कात देखि रहल छथि, आ निश्वास छोड़ि रहल छथि, आ बाजि रहल छथि, आ दुआरि पर अपन आँखि गड़ाउने छथि, हम ई निष्कर्ष निकालैत छी जे ई दोनों निश्चित रूपसँ जुआघरक मालिक आ जुआड़ी छथि। (लग जा क') अहाँकें प्रणाम, महाभाग।

माथुर: अहाँक कल्याण हो।

मदनिका: महाभाग, अहाँ दोनोंमे सँ जुआघरक मालिक के छथि?

माथुर: हे सुकुमारी, सुन्दर मुदा सङ्कोचसँ किछ कम, प्रेमक अनुरागपूर्ण खेलमे घायल लाल ओठ वली, ककरा पर अहाँक ई चंचल, कोकटिश (कटाक्षपूर्ण) आँखि टिकल अछि? ककरा लेल ई तोतली बोली अछि जे हृदय चोरा लैत अछि? हमर पाँ कोनो धन नै अछि। अहाँकें कतहु आन देखबाक चाही।

मदनिका: अहाँ निश्चित रूपसँ कोनो जुआड़ी नै छी, जदि अहाँ एही प्रकार बाजयब। की कोनो एहन व्यक्ति अछि जे अहाँक धनक कर्जदार अछि?

माथुर: अछि। ओ दस सुवर्ण-मुद्राक कर्जदार अछि। ओकर की?

मदनिका: ओकर पक्षसँ हमर मालकिन अहाँकें ई कङ्कण पठौने छथि। नै, नै! ओ स्वयं एकरा पठौने छथि।

माथुर: (आनन्दसँ ओकरा जकड़ैत) सुन्दर, सुन्दर, अहाँ ओही युवा सज्जनकें कहि सकैत छी जे हुनकर हिसाब बराबर भ' गेल। ओकरा आबय दिय' आ जुआमे पुनः आनन्द खोजय दिय'। (माथुर आ जुआड़ी प्रस्थान करैत छथि)

मदनिका: (वसन्तसेना पाँ वापस आबि क') मालकिन, जुआघरक मालिक आ जुआड़ी बहुत प्रसन्न भ' क' चलि गेलाह।

वसन्तसेना: जाउ, महाभाग, आ अपन बन्धु-बान्धव सभकें धीरज दिय'।

संवाहक: आह आर्या, जदि ई सम्भव हो, तँ ई हाथ अहाँक सेवामे अपन कलाक अभ्यास करबामे प्रसन्न होयत।

वसन्तसेना: मुदा महाभाग, ओ जेकर लेल अहाँ एही कला पर विजय प्राप्त कयलहुँ, जे पहने अहाँक सेवा प्राप्त कयलन्हि, हुनका अखन धरि अहाँक सेवा प्राप्त होबाक चाही।

संवाहक: (मनहि मन) हमर सेवाकें अस्वीकार करबाक एकटा बहुत सुन्दर तरीका। हम ओकर ई कृपा करू चुका सकी? (प्रकट) आर्या, एकटा जुआड़ीक रूपमे एही प्रकार अपमानित भ' क', हम आब एकटा बौद्ध भिक्षु बनब। आ एही प्रकार, आर्या, एही शब्द सभकें अपन स्मृतिमे सुरक्षित राखू: "ओ एकटा संवाहक छल, एकटा जुआड़ी छल, एकटा बौद्ध भिक्षु छल।"

वसन्तसेना: महाभाग, अहाँकें एतेक हड़बड़ीमे निर्णय नै लेबाक चाही।

संवाहक: आर्या, हमर मन निश्चित भ' गेल अछि। (ओ घूमि क' चलैत छथि) हम जुआ खेललहुँ, आ जुआमे हम खसि पड़लहुँ, जा धरि प्रत्येक मनुष्य हमरा त्राससँ देखलक। आब हम अपन निष्कपट मुख सभकें देखबब, आ राजा क राजपथ पर खुल्ला चलब। (नेपथ्यसँ कोलाहलक आवाज आबैत अछि)

संवाहक: (सुनैत) ई की अछि? ई की अछि? (नेपथ्यसँ ककरो सम्बोधित करैत) अहाँ की कहलहुँ? "स्तम्भक -तोड़य वाला, वसन्तसेनाक दुष्ट हाथी मुक्त भ' गेल अछि!" होरै! हमरा जा क' आर्याक परम श्रेष्ठ हाथीकें देखबाक चाही। नै, नै! हमरा एही सभ वस्तु सभसँ की प्रयोजन? हमरा अपन सङ्कल्प पर स्थिर रहबाक चाही। (ओ प्रस्थान करैत छथि)

(तखन अत्यधिक प्रसन्न कर्णपूरकक हड़बड़ीमे प्रवेश होइत अछि, ओ एकटा भव्य दुपट्टा पहिरने अछि)

कर्णपूरक: ओ कतऽ छथि? हमर मालकिन कतऽ छथि?

मदनिका: अशिष्ट! ओ की अछि जे अहाँकें एतेक उत्तेजित क' रहल अछि? अहाँ अपन मालकिनकें अपन आँखिक समक्ष देखि नै रहल छी।

कर्णपूरक: (वसन्तसेनाकें देखैत) मालकिन, अहाँकें हमर प्रणाम।

वसन्तसेना: कर्णपूरक, अहाँक मुख चमकि रहल अछि। की अछि?

कर्णपूरक: (गर्वसँ) ओह, मालकिन! अहाँ बिसरि गेलहुँ! अहाँ आइ कर्णपूरकक पराक्रम नै देखलहुँ!

वसन्तसेना: की, कर्णपूरक, की?

कर्णपूरक: सुनू। स्तम्भक-तोड़य वाला, हमर मालकिनक दुष्ट हाथी, ओही खूँटाकें तोड़ि देलक जाहिमे ओ बान्हल छल, अपन महावतकें मारि देलक, आ सड़क पर दौड़ि गेल, एकटा भयानक कोलाहल मचाबैत। अहाँकें लोक सभक चीख सुनबाक चाही छल, जे कहि रहल छलाह: अपन बच्चा सभक रक्षा करू, जतेक तीव्र क' सकी! आ कोनो छत या गाछ पर चढ़ि जाउ! दुष्ट हाथी मनुष्यक खून चाहैत अछि। बचू! भागि जाउ! की अहाँ देखि नै सकैत छी? आ: ओ सभ अपन नूपुर कसरि खो रहल छथि! करधनी सभ, रत्न आ आन वस्तु सभसँ युक्त, अपन बन्धनसँ टूटि रहल अछि! जेना ओ सभ लड़खड़ा रहल छथि, ठेस खा रहल छथि आ भूल क' रहल छथि, देखू कङ्कण सभ आपसमे कसरि टूटि रहल अछि, प्रत्येक एकटा उलझल, मोतीक आश्चर्य अछि! आ हाथीक ओही दुष्ट अपन सँडू, पपर आ दाँतसँ उज्जयिनी नगरीमे एही प्रकार डुबकी लगाबैत अछि, जेना ई पूर्ण रूपसँ खिलल कमल क एकटा पोखरि हो। अन्ततः ओ एकटा बौद्ध भिक्षु पाँ आबि जाइत अछि। आ जखन ओही मनुष्यक लाठी, ओकर कमण्डलु आ ओकर भिक्षा-पात्र कतहु कतहु उड़ि जाइत अछि, ओ ओकरा

पर पानि छिड़कैत अछि आ ओकरा अपन दाँत सभक बीच जकड़ि लैत अछि। लोक ओकरा देखैत छथि आ पुनः चीखब आरम्भ करैत छथि, कहैत "ओह, ओ, भिक्षु मारल गेल!"

वसन्तसेना: (चिन्तासँ) ओह, कतेक असावधानी, कतेक असावधानी!

कर्णपूरक: भयभीत नै होऊ। बस सुनू, मालकिन। तखन, टूटल जंजीरक एक पैघ टुकड़ा अपन साथ लटकौने, ओ ओकरा उठा लेलक, भिक्षुकें अपन दाँत सभक बीच उठा लेलक, आ ओही समय कर्णपूरक ओकरा देखलक, हम ओकरा देखलहुँ, नै, नै! ओही दास जे हमर मालकिनक पुआ (चावल क केक) खाय क' मोटा गेल अछि, ओकरा देखलक, अपन वाम पएसँ एकटा जुआड़ीक अङ्क पर लड़खड़ा गेल, एकटा दुकानसँ लोहक एकटा छड़ उठा लेलक, आ ओही पागल हाथीकें चुनौती देलक—

वसन्तसेना: आगाँ बढू! आगाँ बढू!

कर्णपूरक: हम ओकरा मारलहुँ—क्रोधक एक आवेशमे सेहो—ओ वास्तवमे कोनो पैघ पहाड़ क चोटी जकां बुझाईत छल। आ ओही दाँत सभक बीचसँ हम ओही पवित्र सुकुमार संन्यासीकें खिचि लेलहुँ।

वसन्तसेना: उत्कृष्ट, उत्कृष्ट! मुदा आगाँ बढू!

कर्णपूरक: तखन, मालकिन, समस्त उज्जयिनी एक कात उलटि गेल, जेना कोनो नाव असमर्थ रूपसँ लदा गेल हो, आ अहाँ "कर्णपूरकक जय, कर्णपूरकक जय हो!" एकर अतिरिक्त किछु नै सुनि सकैत छलहुँ। तखन, मालकिन, एकटा मनुष्य ओही स्थान सभकें छुबलक जतय ओकरा आभूषण होबाक चाही छल, आ ई देखि क' जे ओकर पाँ किछु नै अछि, एकटा लम्बा निश्वास छोड़लक, आ ई दुपट्टा हमरा पर फिड़क देलक।

वसन्तसेना: पता लगाउ, कर्णपूरक, की ओ दुपट्टा चमेलीक सुगन्धसँ युक्त अछि की नै।

कर्णपूरक: मालकिन, हाथीक सुगन्ध एतेक उग्र अछि जे हम निश्चित रूपसँ नै कहि सकी।

वसन्तसेना: तखन नाम देखू।

कर्णपूरक: एतय नाम अछि। अहाँ एकरा पढ़ि सकैत छी, मालकिन। (ओ दुपट्टा हुनका द' दैत छथि)

वसन्तसेना: (पढ़ैत अछि) चारुदत्त। (ओ दुपट्टाकें उत्सुकतासँ जकड़ि लैत छथि आ अपना चारु कात लपेटि लैत छथि)

मदनिका: दुपट्टा हुनका पर बहुत सुशोभित भ' रहल अछि, कर्णपूरक।

कर्णपूरक: ओह, हँ, दुपट्टा पर्याप्त सुशोभित अछि।

वसन्तसेना: ई अहाँक पुरस्कार अछि, कर्णपूरक। (ओ ओकरा एकटा रत्न दैत छथि)

कर्णपूरक: (ओकरा लैत आ नीचां झुकैत) आब दुपट्टा अत्यंत अद्भुत रूपसँ सुशोभित भ' रहल अछि।

वसन्तसेना: कर्णपूरक, चारुदत्त आब कतऽ छथि?

कर्णपूरक: ओ एही सड़क कात घूमि क' घर जाब आरम्भ कयलन्हि अछि।

वसन्तसेना: आउ, कनियाँ! हम सभ ऊपर क अटारी (बालकनी) पर चली आ चारुदत्तकें देखी। (सभ प्रस्थान करैत छथि)

(चारुदत्तक नौकर वर्धमानकक प्रवेश होइत अछि)

वर्धमानकः एकटा मालिक, कृपालु आ दयालु, ओकरा ओकर सेवक सभ प्रेम करैत छथि, चाहे ओ कतेको दरिद्र किएक नै हो। धनक अहङ्कारसँ युक्त, जे कूरताक इच्छा राखैत अछि, ओ अपन सेवाक मूल्य कूरताक सिक्कासँ चुकाबैत अछि। आ पुनः एकटा साढ़ जे अनाजक उत्सव लेल लालायित हो, अहाँ ओकरा कहियो रोकि नै सकैत छी; एकटा पत्नी जे चाहैत अछि ओकर स्वामी कें सींग भेटेक, अहाँ ओकरा कहियो रोकि नै सकैत छी; एकटा मनुष्य जे राति आ भोर जुआ खेलबामे आनन्द लैत अछि, अहाँ ओकरा कहियो रोकि नै सकैत छी; आ ओही दोष जे मनुष्य क साथ जन्म लैत अछि, अहाँ ओकरा कहियो रोकि नै सकैत छी। बहुत काल भ' गेल जखनसँ चारुदत्त सङ्गीत-सभामे गेल छथि। आधी रातिसँ बेसी भ' गेल अछि, आ अखन धरि ओ नै अयल छथि। हम बुझैत छी हम बाहरी कक्षमे जा क' एकटा निन्न लय लेब। (ओ ओनाहि करैत छथि)

(चारुदत्त आ मैत्रेयक प्रवेश होइत अछि)

चारुदत्तः रेभिल कतेक सुन्दर गायलनि अछि! वीणा वास्तवमे एकटा मोती अछि, समुद्रक कोनो मोती नै। व्याकुल प्रेमीक हृदयकें सुकुमारतासँ मित्र बनबैत, सान्त्वना दैत जखन असल प्रेमी सभ आपसमे नै मिलि सकैत छथि, विरहिणी आत्मा सभकें परम प्रिय सुख पठबैत, ई मधुर प्रेमकें ओकर बेसी मधुरता प्रदान करैत अछि।

मैत्रेयः नीक तखन, आउ हम सभ घर भीतर चली।

चारुदत्तः मुदा स्वामी रेभिल कतेक अद्भुत गायलनि अछि आइ संध्याकें!

मैत्रेयः केवल दुटा वस्तु अछि जे हमरा सदा हँसाबैत अछि। एक अछि एकटा स्त्री जे संस्कृत बाजैत अछि, आ दोसर एकटा पुरुष जे सुकुमार आ धीमा गाबबाक यत्न करैत अछि। आब जखन एकटा स्त्री संस्कृत बाजैत अछि, ओ ओही पाढ़ी क समान होइत अछि जेकर नाकमे एकटा नव रस्सी फसाएल गेल हो; अहाँ केवल "सू, सू, सू" सुनैत छी। आ जखन एकटा पुरुष सुकुमार आ धीमा गाबबाक यत्न करैत अछि, ओ हमरा ओही वृद्ध पुरोहितक स्मरण कराबैत अछि जे मन्त्र बुदबुदाबैत अछि जखन ओकर माला क फूल सूखि जाइत अछि। नै, हमरा ई नीक नै लगैत अछि!

चारुदत्तः हमर मित्र, स्वामी रेभिल आइ संध्याकें अत्यंत अद्भुत गायलनि अछि। आ अखन धरि अहाँ सन्तुष्ट नै छी। प्रेमक स्वर, शान्ति, मधुरता, हम ओकर पता लगा सकी, ओ स्वर जे रोमाञ्चित करैत अछि, वासनाक स्वर सेहो, स्त्रीक सुन्दरता आ शालीनताक स्वर—आह, हमर दीन शब्द किछु नै जोड़ैत अछि, किछु नव नै! मुदा जेना ओ स्वर मधुर प्रवाहमे गुञ्जल, हम सोचलहुँ ई हमर छुपल प्रेम छल जे गाबी रहल छल। सङ्गीतक मधुरता, तारक आघात जे आधा-चेतन भावसँ सटल रहैत अछि, बेसी स्पष्ट रूपसँ गुञ्जत जखन वासना उठैत अछि, मुदा सदा बेसी मधुर जखन सङ्गीत समाप्त होइत अछि। शब्द जे तीव्र वासना पुनः कहबाक इच्छा राखत, तइयो ओकर दोसर उच्चारण रोकेत अछि—व्यर्थ; किएक तँ एकरा जकां मधुर सङ्गीत जीवित रहैत अछि, जा धरि हम अखन धरि मधुर सङ्गीत सुनबाक जकां चलैत छी।

मैत्रेयः मुदा देखू, हमर मित्र! कुकुर सभ सेहो ओही दुकान सभमे गम्भीर सुतल अछि जे बजार कात देखैत अछि। आउ हम सभ घर चली। (ओ अपन समक्ष देखैत छथि) देखू, देखू! पवित्र चन्द्रमा अन्धकार कें स्थान द' रहल बुझाइत छथि, जेना ओ आकाशमे अपन महलसँ नीचां खसि रहल छथि।

चारुदत्तः सत्य। चन्द्रमा अन्धकार कें स्थान द' रहल छथि जेना ओ पश्चिमी पर्वत पाछाँ डुबकी लगाबैत छथि; आ हुनकर ऊपर उठल सींग केवल प्रकट अछि, जेना दू तीव्र-नोक वला दाँत स्पष्ट रूपसँ ऊपर उठल हो जतय एकटा हाथी ठण्ढा पानिमे स्नान करैत अछि, जे वनक पोखरि ऊपर आन किछु नै देखबैत अछि।

मैत्रेयः नीक, एतय हमर घर अछि। वर्धमानक, वर्धमानक, दुआरि खोलू!

वर्धमानकः हम मैत्रेयक आवाज सुनैत छी। चारुदत्त वापस आबि गेलाह। हमरा हुनका लेल दुआरि खोलबाक चाही। (ओ ओनाहि करैत अछि) स्वामी, हम अहाँकें प्रणाम करैत छी। मैत्रेय, हम अहाँकें सेहो प्रणाम करैत छी। बिछाउ तैयार अछि। कृपया बैठू। (चारुदत्त आ मैत्रेय प्रवेश करैत छथि आ बैठि जाइत छथि)

मैत्रेयः वर्धमानक, रदनिकाकें बजाउ हमर सभक पएर धोबय लेल।

चारुदत्तः (दयापूर्ण भावसँ) ओ सुतल अछि। ओकरा नै जगाउ।

वर्धमानकः हम पानि लाबब, मैत्रेय, आ अहाँ चारुदत्तक पएर धो सकैत छी।

मैत्रेयः (क्रोधसँ) देखू, मनुष्य। ओ ओही दासीपुत्र जकां कार्य क' रहल अछि जे ओ अछि, किएक तँ ओ पानि लाबि रहल अछि। मुदा ओ हमरासँ अहाँक पएर धोबा क' कहैत अछि, आ हम एकटा ब्राह्मण छी।

चारुदत्तः उत्तम मैत्रेय, अहाँ पानि लाउ, आ वर्धमानक हमर पएर धोत।

वर्धमानकः हँ, मैत्रेय। अहाँ पानि लाउ। (मैत्रेय ओनाहि करैत अछि। वर्धमानक चारुदत्तक पएर धोबैत अछि, पुनः अलग हटि जाइत अछि)

चारुदत्तः ब्राह्मणक पएर लेल पानि लाएल जाय।

मैत्रेयः पानि हमर पएर लेल की लाभ करत? हमरा पुनः माटिमे लोटबाक पड़त, एकटा मारल गेल गदहा क समान।

वर्धमानकः मैत्रेय, अहाँ एकटा ब्राह्मण छी।

मैत्रेय: हैं, आन समस्त साँप सभक बीच केंचुआ जकां, ओनाहि हम आन समस्त ब्राह्मण सभक बीच एकटा ब्राह्मण छी।

वर्धमानक: मैत्रेय, हम अहाँक पएर धो देब आखिर। (ओ ओनाहि करैत अछि) मैत्रेय, ई सुवर्ण-मञ्जूषा हमरा दिनमे राखबाक छल, अहाँकें रातिमे। एकरा लय लिय'। (ओ एकरा मैत्रेयकें दैत अछि, पुनः प्रस्थान करैत अछि)

मैत्रेय: (मञ्जूषा ग्रहण करैत) वस्तु अखन धरि एतहि अछि। की उज्जयिनीमे एकटा सेहो चोर नै अछि जे एही पापीकें चोरा लय जे हमर निन्न चोरा लैत अछि? सुनू। हम एकरा भीतरी अङ्गनमे लय जा रहल छी।

चारुदत्त: एहन शिथिल ध्यान हम सभक लेल उचित नै अछि। यदि हम कोनो गणिका द्वारा विश्वस्त छी, तँ, ब्राह्मण, अपना कें एकटा ईमानदार मनुष्य सिद्ध करू, आ एकर सुरक्षा नीक जकां करू, जा धरि एकरा वापस नै कयल जाय। (ओ मुड़ झुकाबैत छथि, श्लोक दोहराबैत "सङ्गीतक मधुरता, तारक आघात")

मैत्रेय: की अहाँ सुतबाक लेल जा रहल छी?

चारुदत्त: हैं, एहन बुझाइट अछि। किएक तँ विजयी निन्न, हमर आँखि पर खसि रहल अछि, पहने ललाट पर बिना कोनो प्रतिरोधक चोट करैत अछि; अदृश्य, चतुर, वृद्धावस्था जकां, ओ अपन शत्रु कें दुर्बल क' क' शक्ति बढोरबाक यत्न करैत अछि।

मैत्रेय: तँ आउ हम सभ सुति रही। (ओ ओनाहि करैत छथि)

(शर्विलकक प्रवेश होइत अछि)

शर्विलक: हम अपन शरीरक भ्रमण लेल एकटा प्रवेश मार्ग बना लेलहुँ, कला आ शस्त्रक बलसँ, कार्य क एकटा मार्ग! हम भूमि पर रेंगि क' अपन पाँखि छिलि लेलहुँ, एकटा साँप क समान जे अपन केंचुल छोड़ि दैत अछि जे आब नीक नै अछि; आ आब हम ओतय जाइत छी जतय हमर व्यवसाय लय जाइत अछि। (ओ आकाश कात देखैत छथि। आनन्दसँ) देखू! पवित्र चन्द्रमा अस्त भ' रहल छथि। किएक तँ हम नीक जकां जनैत छी, हमर व्यवसाय आरक्षी सभक आँखिसँ तोपल रहबाक इच्छा राखत, पराक्रमी, हम कोनो आन क घर बलपूर्वक तोपब। मुदा देखू, तारा सभ गम्भीर अन्धकारमे तोपल अछि, आ राति हमर रक्षा एकटा सजग माय जकां करैत अछि। हम बगीचा क देबालमे एकटा सन्धि क' लेलहुँ आ प्रवेश कयलहुँ। आ आब हमरा भीतरी अङ्गन भीतर सेहो बलपूर्वक अपन मार्ग बनाबाक चाही। हैं, लोक एकरा साधारण कहि सकैत छथि, यदि ओ सभ चाहथि, ओ व्यवसाय जे फलैत-फूलैत अछि जखन सुतल लोक सुतैत छथि; हैं, धूर्तता, पराक्रम नै, एकरा अखन धरि कहू, बिछाउ पर विश्वस्त लोक कें छलब। पराजय आ तिरस्कार ओकर नीक अछि, जे नीक जकां जीतल गेल हो, ओही वेतनसँ जे नीचां झुकय वाला दासक होइत अछि; ई प्राचीन मार्ग द्रोणक पुत्र (अश्वत्थामा) द्वारा चलल गेल छल, जे सुतल, संशयरहित राजा सभक हत्या कयलन्हि छल। मुदा हम कतऽ सन्धि करब? कतऽ ओ स्थान अछि जतय खसत बून्द सड़ि गेल हो? किएक तँ प्रत्येक प्रकट आवाज ओतय मन्द भ' जाइत अछि। देबालमे कोनो पैघ सन्धि नै करबाक चाही, एहन चोरी क शास्त्र कहैत अछि। महल कतऽ जर्जर अछि? कतऽ ओ स्थान अछि जतय नून-खायल ईट सभ कृत्रिम सुदृढ़ता पहिरने अछि? कतऽ हम स्त्रीक मुखक दर्शनसँ बचब? हमर इच्छाक पूर्ति ओतहि हमर प्रतीक्षा क' रहल अछि। (ओ देबालकें छुबैत छथि) एतय एकटा स्थान अछि जे नित्य सूर्य आ छिड़कावसँ दुर्बल भ' गेल अछि आ नून-खायल सड़नसँ खसि रहल अछि। आ एतय मूषक द्वारा फिङ्कल गेल माठि क एकटा ढेरी अछि। आब आकाश क धन्यवाद हो! हमर उद्यम सफल भ' रहल अछि। ई कार्तिकेयक पुत्र सभक लेल सफलताक पहिल सङ्केत अछि। आब पहने सभसँ, हम कसरि सन्धि करब? पवित्र सुवर्ण-शक्ति-धारी (कनक-शक्ति) चारि प्रकारक सन्धिका नियम देलन्हि अछि, एही प्रकार: यदि ईट पकायल गेल हो, तँ ओकरा बाहर खिंचू; यदि ओ सभ बिना पकायल हो, तँ ओकरा काटू; यदि ओ सभ माठिसँ बनल हो, तँ ओकरा गीला करू; यदि ओ सभ काठसँ बनल हो, तँ ओकरा फाड़ू। एतय हमर पाँ पकायल ईट अछि; अतः, ईट सभ बाहर खिंचू। आब ओ की स्वरूप होयत जे हम सन्धिकें देब? एकटा "कमल", "वापी" (पोखरि), "अर्धचन्द्र", या "सूर्य"? "आयताकार", या "स्वस्तिक", या "घट" (घड़ा)? किएक तँ शास्त्र प्रत्येकक आज्ञा दैत अछि। कोनो एक? कोनो एक? आ कतऽ हम अपन सम्प्रभु कला प्रदर्शित करब, जे भोरमे लोक देखि क' आश्चर्य कसरि? पकायल ईटक एही देबालमे, "घट" प्रभावकारी होयत। हम ओही करब। आन देबाल सभ पर जेकरा हम रातिमे तोपलहुँ अछि, आ हमर कम सफल उद्यम सभ पर सेहो, पड़ोसी सभक भीड़ भोरक प्रकाशमे देखलक, प्रशंसा या निन्दा कयलक, जेना हमर योग्यता छल। वर-दायी देवताक जय हो, अमर यौवनक स्कन्द क! सुवर्ण-शक्ति-धारी क जय हो, ब्राह्मणक देवता, पवित्र क! सूर्यक पुत्र क जय हो! जादू क गुरु क जय हो, जेकर पहिल शिष्य हम छी! किएक तँ ओ हमरामे आनन्द पयलन्हि आ हमरा जादू क उबटन देलन्हि, जाहिसँ यदि हम उबटन लगाबी, कोनो आरक्षी क आँखि हमर स्वरूप नै देखत; आ तीव्र तलवार जे हमरा पर खसत, ओ कूर घावसँ हमरा मुक्त छोड़ि देत। (ओ उबटन लगाबैत छथि) हाय, हम अपन नापक सूत्र बिसरि गेलहुँ। (सोचैत) आहा! ई यज्ञोपवीत हि हमर नापक सूत्र होयत। हैं, यज्ञोपवीत एकटा ब्राह्मणक लेल पैघ वरदान अछि, विशेष रूपसँ हमरा सनक लेल। किएक तँ, अहाँ देखू, एकरासँ ओ नापैत अछि, देबाल तोड़बासँ पहने, आ ताला खोलैत अछि, जखन रत्न दांव पर हो। ई बन्द दुआरि आ कक्ष क चाबी क काज करैत अछि, कीड़ा आ साँप क कटला पर पट्टी क काज करैत अछि। नाप क काज समाप्त भ' गेल। हम अपन कार्य आरम्भ करैत छी। (ओ ओनाहि करैत छथि, पुनः एक दृष्टि देखैत छथि) हमर सन्धिमे केवल एकटा ईटक कमी अछि। हाय, हमरा एकटा साँप काटि लेलक। (ओ अपन अङ्गुलिकें यज्ञोपवीतसँ बान्हि दैत छथि, आ विषक प्रभाव प्रकट करैत छथि) हम उपचार क' लेलहुँ अछि, आ आब हम स्वस्थ छी। (ओ अपन कार्य जारी राखैत छथि, पुनः देखैत छथि) आहा, ओतय एकटा दीपक जरि रहल अछि। देखू! यद्यपि ईर्ष्यालु अन्धकार ओकरा चारू कात घेरने अछि, सुवर्ण-पीत दीपक अपना स्थानसँ सन्धि मार्गसँ भूमि पर एहन चमकैत अछि, जेना कसौटी क छाती पर सुवर्णक एकटा रेखा। (ओ अपन कार्य पर वापस जाइत छथि) सन्धि समाप्त भ' गेल। नीक! हम प्रवेश करैत छी। मुदा नै, हम अखन प्रवेश नै करब। हम एकटा पुतला भीतर फिङ्कब। (ओ ओनाहि करैत छथि) आहा, ओतय केओ नै अछि। स्कन्द क जय हो! (ओ प्रवेश करैत छथि आ चारू कात देखैत छथि) देखू! दू मनुष्य सुतल छथि। आउ, अपन रक्षक लेल हम दुआरि खोलि द' छी। मुदा घर पुराना अछि आ दुआरि चूँ-चूँ करैत अछि। हमरा पानि खोजबाक चाही। आब पानि कतऽ भ' सकैत अछि? (ओ चारू कात देखैत छथि, पानि पाबैत छथि, आ दुआरि पर छिड़कैत छथि।)

चिन्तासँ) हम आशा करैत छी ई भूमि पर नै खसत आ कोनो आवाज नै करत। आउ, ई मार्ग अछि। (ओ अपन पीठ दुआरि कात रखैत छथि आ सजगतासँ ओकरा खोलैत छथि) नीक! ओकर एतेक तँ भ' गेल। आब हमरा ई जनबाक चाही जे की ई दोनों कृत्रिम सुतल छथि, या की ओ सभ सुतबाक पूर्ण अर्थमे सुतल छथि। (ओ हुनका सभकें भयभीत करबाक यत्न करैत छथि, आ प्रभाव देखैत छथि) हँ, ओ सभ निश्चित रूपसँ सुतबाक पूर्ण अर्थमे सुतल छथि। किएक तँ देखू! हुनकर श्वास पहने शान्तिसँ उठैत अछि, ओकरा खसबासँ पहने; एकर नित्य नियम समस्त भयकें चुनौती दैत अछि। अपन कोटर भीतर स्थिर, आँखि कस क' बन्द अछि, आ कहियो पलक नै फिड़कैत बुझाइत अछि। अङ्ग शिथिल अछि, आरामसँ शरीर सुतल अछि, हम हुनकर पएर पलङ्गसँ बाहर देखि रहल छी, जरैत दीपक आँखिकें कष्ट नै द' रहल अछि; करत, जदि ओ सभ केवल कृत्रिम सुतल छलाह। (ओ चारू कात देखैत छथि) की! एकटा मृदङ्ग? आ एतय एकटा बाँसुरी अछि। आ एतय, एकटा दरिद्र ढोलक अछि। आ एतय, एकटा वीणा। आ नाल-पाइप सभ। आ ओतय, पाण्डुलिपि सभ। की ई कोनो नृत्य-गुरु क घर अछि? मुदा नै! जखन हम प्रवेश कयलहुँ, हमरा विश्वास छल जे ई एकटा प्रासाद सन निवास छल। आब तखन, की ई मनुष्य पूर्ण अर्थमे दरिद्र अछि, या, राजा या चोर सभक भयसँ, ओ अपन सम्पत्ति तोपि क' रखने अछि? नीक, हमर अपन सम्पत्ति सेहो तोपल अछि। मुदा हम ओही बीज छिटब जे पातालक सुवर्णकें प्रकट करैत अछि। (ओ ओनाहि करैत छथि) छिटल गेल बीज कतहु नै सूझैत अछि। आहा, ओ पूर्ण अर्थमे दरिद्र अछि। नीक! हम जाइत छी।

मैत्रेय: (अपन निन्ममे बाजैत) देखू, मनुष्य। हम देबालमे एकटा सन्धि जकां किछु देखि रहल छी। हम एकटा चोर जकां किछु देखि रहल छी। अहाँकें ई सुवर्ण-मञ्जूषा लय लेबाक चाही।

शर्विलक: हमरा आश्चर्य भ' रहल अछि जे की ई मनुष्य बुझि गेल अछि जे हम प्रवेश क' लेलहुँ अछि, आ हमर उपहास करबाक लेल अपन दरिद्रता देखा रहल अछि। की हम ओकरा मारि द' छी, या ओ बेचार अपन निन्ममे बाजि रहल अछि? (ओ एक दृष्टि देखैत छथि) मुदा देखू! जीर्ण वस्त्रमे तोपल ई वस्तु, आब जदि हम अपन दीपकक प्रकाशमे एकर निरीक्षण करी, वास्तवमे एकटा रत्न-मञ्जूषा अछि। मानू हम एककरा लय लेलहुँ। मुदा नै! कोनो उत्तम कुलक मनुष्यकें चोराबा उचित नै अछि, जे हमरा जकां दरिद्र हो। हम जाइत छी।

मैत्रेय: हमर मित्र, ग्राम आ ब्राह्मण सभक इच्छाक सौगन्ध हम अहाँकें ई सुवर्ण-मञ्जूषा लेबाक लेल विवश करैत छी।

शर्विलक: कोनो गौ क पवित्र इच्छा आ एकटा ब्राह्मणक इच्छाक अवहेलना नै कयल जा सकैत अछि। हम एकरा लय लेब। मुदा देखू! ओतय दीपक जरि रहल अछि। हम अपन साथ एकटा फतिङ्गा विशेष रूपसँ दीपक बुझाबाक लेल राखैत छी। हम ओकरा लौ भीतर प्रवेश करब। ई ओकर स्थान आ समय अछि। मानू ई फतिङ्गा जेकरा हम एतय मुक्त करैत छी, भिन्न-भिन्न मण्डलमे लौ ऊपर फड़फड़ाबाक लेल विदा हो। कीड़ाक पाँखिक हवा लौ कें पापी अन्धकारमे रूपान्तरित क' देलक। या की हम ओही अन्धकार कें श्राप नै द' छी जे हमरा द्वारा हमर ब्राह्मण कुल पर लाएल गेल अछि? किएक तँ हमर बाप एकटा एहन मनुष्य छलाह जे चारू वेद जनैत छलाह, जे कहियो दान स्वीकार नै करैत छलाह; आ हम, शर्विलक, हुनकर पुत्र, आ एकटा ब्राह्मण, हम ओही गणिका कनियाँ मदनिका लेल एकटा अपराध क' रहल छी। आब हम ब्राह्मणक इच्छा पूर्ण करब। (ओ मञ्जूषा लेल हाथ बढ़ाबैत छथि)

मैत्रेय: अहाँक अङ्गुलि कतेक ठण्डा अछि, मनुष्य!

शर्विलक: कतेक असावधानी! पानि छुबबाक कारण हमर अङ्गुलि ठण्डा अछि। नीक, हम अपन हाथ काँखि भीतर रखब। (ओ अपन वाम हाथ गरम करैत छथि आ मञ्जूषा लैत छथि)

मैत्रेय: की अहाँ एककरा पा क' लेलहुँ?

शर्विलक: हम एकटा ब्राह्मणक प्रार्थना अस्वीकार नै क' सकलहुँ। हम एककरा पा क' लेलहुँ अछि।

मैत्रेय: आब हम ओनाहि शान्तिसँ सुतब जेना एकटा व्यापारी जे अपन माल बेचि देलने हो।

शर्विलक: हे महान ब्राह्मण, एक सौ वर्ष सुतू! हाय जे एकटा ब्राह्मण कुल मदनिका, एकटा गणिका लेल अन्धकारमे डूबि गेल! या बेसी नीक, हम स्वयं एही अन्धकारमे डूबि गेल छी। दरिद्रता पर श्राप हो, हम कहैत छी! ई पुरुषार्थपूर्ण इच्छाक लेल अपरिचित अछि; ई कार्य जे दिनक प्रकाशसँ डराइत अछि, हम एकरा वास्तवमे श्राप दैत छी, मुदा एकरा अखन धरि करैत छी। नीक तखन, हमरा वसन्तसेनाक घर मदनिकाक मुक्ति कीनबाक लेल जाबाक चाही। (ओ चारू कात घूमि क' देखैत छथि) आहा, हम बुझैत छी हम पएरक आवाज सुनैत छी। हम आशा करैत छी ओ आरक्षी सभक नै हो। कोनो चिन्ता नै। हम एकटा स्तम्भ (पिलर) होबाक बहाना करब, आ प्रतीक्षा करब। मुदा आखिर, की आरक्षी सभ हमर लेल, शर्विलक लेल अस्तित्व राखैत छथि? किएक तँ, हम छी: रंगबाक लेल एकटा बिलाई, आ भागबाक लेल एकटा हरिण, नोचबाक लेल एकटा बाज, आ देखबाक लेल एकटा कुकुर, जे मनुष्य सभक शक्तिक नाप करैत अछि जे जागत छथि या सुतल, एकटा साँप, जखन रंगब विवेकपूर्ण हो, स्वयं माया, साधु या धूर्त बुझाबाक लेल, समझदारीक भाषामे वाग्देवी; घोर करिया रातिमे एकटा प्रकाश, सुराखमे एकटा छिपकली हम भ' सकी, सुदृढ़ भूमि पर एकटा घोड़ा, आ समुद्र पर एकटा नाव। आ पुनः साँप जकां तीव्र, आ पहाड़ जकां स्थिर; उड़ानमे पक्षीराज ओकरासँ पैघ पराक्रम नै देखा सकैत; भूमि पर खोज करबामे हम ओनाहि प्रखर छी जेना कोनो खरागोश, शक्तिमे हम एकटा सिंह छी, आ नोचबा आ फाड़बाक लेल एकटा भेड़िया।

रदनिका: (प्रवेश करैत) हे भगवान! वर्धमानक बाहरी अङ्गनमे सुतबाक लेल गेल छल, आ आब ओ ओतय नै अछि। नीक, हम मैत्रेयकें बजाबब। (ओ चलैत अछि)

शर्विलक: (रदनिकाकें मारबाक लेल तत्पर होइत छथि, मुदा पहने एक दृष्टि देखैत छथि) की! एकटा स्त्री? नीक! हम जाइत छी। (ओ प्रस्थान करैत छथि)

रदनिका: (भयसँ पाछाँ हटैत) ओह, ओह, एकटा चोर हमर घरक देबालमे एकटा सन्धि क' क' भागि रहल अछि, हमरा जा क' मैत्रेयकें जगाबाक चाही।

(ओ मैत्रेयक लग जाइत अछि) ओह मैत्रेय, उठू, उठू! एकटा चोर हमर घरक देबालमे एकटा सन्धि क' क' भागि गेल अछि।

मैत्रेयः (उठैत) अहाँक की अर्थ अछि, कनियाँ? "देबालमे एकटा सन्धि एकटा चोरकें काटि देलक आ भागि गेल"?

रदनिका: बेचार मूर्ख! अपन परिहास बन्द कसरि। की अहाँ एकरा देखि नै रहल छी?

मैत्रेयः अहाँक की अर्थ अछि, कनियाँ? "एहन बुझाइत अछि जेना एकटा दोसर दुआरि खुल्ला फिङ्कल गेल हो"? उठू, मित्र चारुदत्त, उठू! एकटा चोर हमर घरक देबालमे एकटा सन्धि क' क' भागि गेल अछि।

चारुदत्त: हँ, हँ! अहाँक परिहाससँ बस!

मैत्रेयः मुदा ई कोनो परिहास नै अछि। देखू!

चारुदत्त: कतऽ?

मैत्रेयः किएक, एतय।

चारुदत्त: (देखैत) कतेक अद्भुत सन्धि अछि! ई कें नीचाँसँ, ऊपरसँ खिंचल गेल अछि; चोटी सङ्कीर्ण अछि, मुदा मध्य पैघ; जेना पैघ घर-हृदय अहङ्कारसँ फटि गेल हो, एही भयक मारे जे अयोग्य ओकर प्रेमक भागी नै बनि जाय। ई सोचब जे विज्ञानक उपयोग एही प्रकारक कार्य पर कयल गेल हो!

मैत्रेयः हमर मित्र, ई सन्धि निश्चित रूपसँ दू मनुष्यमे सँ ककरो द्वारा कयल गेल होयत; या तँ कोनो अपरिचित द्वारा, या पुनः चोरी क विज्ञानक कोनो छात्र द्वारा अभ्यास लेल। किएक तँ उज्जयिनीमे कोनो एहन मनुष्य अछि जे नै जनैत अछि जे हमर घरमे कतेक वैभव अछि?

चारुदत्त: अपरिचितहि ओ भ' सकैत अछि जे सन्धि कयलक, हमर घरमे अपन नित्य फसल काटबाक लेल; ओ ई नै सीखलक जे नष्ट भेल वैभव एकटा शान्त, संकटहीन निम्न सिखबैत अछि। ओ हमर घरक पूर्व महानता देखलक आ बलपूर्वक प्रवेश कयलक; किएक तँ ओकर हृदय क्षणिक आशामे कूँदल छल; आब ओकरा कतहु आन भ्रमण करबाक चाही, आ टूटल आशा सभ पर ओकरा गम्भीर कानबाक चाही। बस ई सोचू जे ओ बेचार अपन मित्र सभसँ कहि रहल होयत: "हम एकटा व्यापारीक पुत्रक घरमे प्रवेश कयलहुँ, आ पयलहुँ—किछ नै।"

मैत्रेयः की अहाँक ई अर्थ अछि जे अहाँ ओही पापी चोर पर दया क' रहल छी? ओ सोचैत अछि—"एतय एकटा पैघ घर अछि। ई एकटा रत्न-मञ्जूषा या सुवर्ण-मञ्जूषा लय भागबाक स्थान अछि।" (ओ मञ्जूषाक स्मरण करैत छथि। निराशासँ। मनहि मन) ओ सुवर्ण-मञ्जूषा कतऽ अछि? (ओ रातिक घटना सभक स्मरण करैत छथि। प्रकट) देखू, मनुष्य! अहाँ सदा कहैत छी "मैत्रेय एकटा मूर्ख अछि, मैत्रेय कोनो विद्वान नै अछि।" मुदा हम निश्चित रूपसँ विवेकपूर्ण कार्य कयलहुँ ओही सुवर्ण-मञ्जूषा अहाँकें सुपुर्द क' क'। जदि हम नै क' छलहुँ, तँ दासीपुत्र ओकरा लय भागि गेल रहितैक।

चारुदत्त: अहाँक परिहाससँ बस!

मैत्रेयः केवल एही लेल जे हम एकटा मूर्ख छी, की अहाँ बुझैत छी हम परिहासक स्थान आ समय सेहो नै जनैत छी?

चारुदत्त: मुदा ई कखन भेल?

मैत्रेयः किएक, जखन हम अहाँकें कहलहुँ जे अहाँक अङ्गुलि ठण्डा अछि।

चारुदत्त: ई भ' सकैत छल। (ओ चारू कात खोजैत छथि। आनन्दसँ) हमर मित्र, हमर पाँ अहाँकें कहबाक लेल किछु सुखद अछि।

मैत्रेयः की? की ओ चोराएल नै गेल छल?

चारुदत्त: हँ, चोराएल गेल छल।

मैत्रेयः तखन सुखद समाचार की अछि?

चारुदत्त: ई सत्य जे ओ निराश भ' क' वापस नै गेल।

मैत्रेयः मुदा ओ केवल हमर रक्षामे सौंपल गेल छल।

चारुदत्त: की! हमर रक्षामे सौंपल गेल छल? (ओ मूर्छित भ' जाइत छथि)

मैत्रेयः होशमे आउ, मनुष्य। की ई सत्य जे एकटा चोर ओकरा चोरायलक जे अहाँक रक्षामे सौंपल गेल छल, कोनो एहन कारण अछि जाहि लेल अहाँ मूर्छित भ' जाब?

चारुदत्त: (होशमे आबि क') आह, हमर मित्र, सत्य पर के विश्वास करत? संशय आब निश्चित अछि। ई संसार कोनो दया नै देखाएत एही अमशस्वी दरिद्र पर। हाय! जदि ईर्ष्यालु भाग्य पहने केवल हमर धनक इच्छा कयलक, तँ ओ आब हमर गुणक वैभव अपन रूपमे किएक खोजि रहल अछि?

मैत्रेयः हम समस्त वस्तु अस्वीकार करबाक इच्छा राखैत छी। ककरा के की देलक? ककरासँ के की प्राप्त कयलक? साक्षी के छल?

चारुदत्त: आ की हम आब एकटा असत्य बाजब? नै! हम भिक्षा मङ्गब जा धरि हम अपन कर्ज चुकाबाक योग्य धन नै कमा ली। नीच असत्यकें हम ठुकरा देब जे चरित्र चोरा लैत अछि।

रदनिका: हम जा क' हुनकर नीक पत्नीसँ कहब। (ओ बाहर जाइत अछि, चारुदत्तक पत्नीक साथ वापस आबैत अछि)

पत्नी: (चिन्तासँ) ओह! की ई सत्य अछि जे हमर स्वामी सकुशल छथि, आ मैत्रेय सेहो?

रदनिका: ई सत्य अछि, मालकिन। मुदा ओ आभूषण जे गणिताक अछि, चोराएल गेल अछि। (चारुदत्तक पत्नी मूर्छित भ' जाइत छथि) ओ हमर उत्तम मालकिन! होशमे आउ!

पत्नी: (स्वस्थ भ' क') कनियाँ, अहाँ कसरि कहि सकैत छी जे हमर स्वामी सकुशल छथि? शरीरसँ घायल होबाक अपेक्षा चरित्रसँ घायल होना बेसी कष्टकर अछि। किएक तँ आब उज्जयिनीक लोक कहताह जे हमर स्वामी एही अपराध कयलन्हि अछि अपन दरिद्रताक कारण। (ओ ऊपर देखैत अछि आ निश्वास छोड़ैत अछि) आह, शक्तिशाली भाग्य! दरिद्रक भाग्य, कमल-पात पर खसय वाला पानि क बून्द जकां अनिश्चित, अहाँ लेल केवल खिलौना बुझाईत अछि। हमर पाँ ई एकमात्र कण्ठहार (नेकलेस) बचल अछि, जेकरा हम अपन माय क घरसँ अपन साथ लाबने छलहुँ। मुदा हमर स्वामी एकरा स्वीकार करबा लेल बहुत अहङ्कारी छथि। कनियाँ, मैत्रेयकें एतय बजाउ।

रदनिका: हँ, मालकिन। (ओ मैत्रेय कें सम्बोधित करैत अछि) मैत्रेय, मालकिन अहाँकें पुकारि रहल छथि।

मैत्रेय: ओ कतऽ छथि?

रदनिका: एतय। आउ!

मैत्रेय: (लग जा क') भगवान अहाँक कल्याण करथि!

पत्नी: हम अहाँकें प्रणाम करैत छी, महाभाग। महाभाग, की अहाँ सीधा अपन समक्ष देखब?

मैत्रेय: आर्या, एतय एकटा मनुष्य ठाढ़ अछि जे सीधा अपन समक्ष देखैत अछि।

पत्नी: महाभाग, अहाँकें एकरा स्वीकार करबाक चाही।

मैत्रेय: किएक?

पत्नी: हम रत्न-षष्ठी क व्रतक पालन कयलहुँ अछि। आ एही अवसर पर एकटा ब्राह्मणकें जतेक पैघ उपहार क' सकी, ओ देबाक चाही। ई हम नै क' पाबलहुँ, अतः कृपया एही कण्ठहारकें स्वीकार करू।

मैत्रेय: (कण्ठहार ग्रहण करैत) भगवान अहाँक कल्याण करथि! हम जा क' अपन मित्रसँ कहब।

पत्नी: अहाँकें एही प्रकार नै करबाक चाही जाहिसँ हमरा लज्जित होबहि पड़य, मैत्रेय। (ओ प्रस्थान करैत अछि)

मैत्रेय: (आश्चर्यसँ) कतेक उदारता!

चारुदत्त: मैत्रेय कतेक काल लगबैत छथि! हम आशा करैत छी हुनकर दुःख ओकरा ओही कार्य कात नै लय जा रहल अछि जे ओकरा नै करबाक चाही। मैत्रेय, मैत्रेय!

मैत्रेय: (लग जा क') हम एतय छी। ओकरा लय लिय'। (ओ कण्ठहार देखाबैत छथि)

चारुदत्त: ई की अछि?

मैत्रेय: किएक, वैह पुरस्कार अछि जे अहाँकें एहन पत्नीसँ विवाह करबाक कारण भेटैत अछि।

चारुदत्त: की! हमर पत्नी हमरा पर दया क' रहल अछि? हाय, आब हम वास्तवमे दरिद्र छी! जखन भाग्य ओकरा ओकर समस्त वस्तुसँ वञ्चित क' दैत अछि, जे ओकरा ओकर दयाकें पुकारबाक लेल विवश करैत अछि, तँ मनुष्य स्त्रीक स्थितिमे खसि जाइत अछि, स्त्री पुरुष भ' जाइत अछि। मुदा नै, हम दरिद्र नै छी। किएक तँ हमर पाँ एकटा पत्नी अछि जेकर प्रेम हमर वैभव क दिनसँ आगाँ धरि रहैत अछि; अहाँमे एकटा मित्र अछि सुख आ दुःखमे; आ सत्य जे आन किछु नै लय जा सकैत छल: आह! एकरा दरिद्र मनुष्य अखन धरि खो दैत अछि। मैत्रेय, कण्ठहार लय लिय' आ वसन्तसेना पाँ जाउ। हुनका हमर नामसँ कहू जे हम ओही सुवर्ण-मञ्जूषाकें जुआमे हारि गेलहुँ, ई बिसरि क' जे ओ हमर अपन नै छल, जे हमरा आशा अछि ओ एकर स्थान पर एही कण्ठहारकें स्वीकार करतीह।

मैत्रेय: मुदा अहाँकें ई कण्ठहार, चारि समुद्रक गर्व, ओही सस्त वस्तु लेल नै देबाक चाही जे ओकरासँ पहने चोराएल गेल छल जे हमरा सभक पाँ एकटा ग्रास या एकटा पेय सेहो भेटितैक।

चारुदत्त: एहन नै, हमर मित्र। ओ अपन न्यास हमर पाँ छोड़ि क' अपन विश्वास देखौलक; विश्वासक मूल्य ओकरासँ कम नापक नै होइत अछि। मित्र, हम अहाँकें एही चेष्टासँ सौगन्ध दैत छी, तब धरि वापस नै आबब जब धरि अहाँ एकरा हुनकर हाथमे नै सुपुर्द क' द' छी। वर्धमानक, अहाँ तीव्र गतिसँ सन्धि मार्गकें ओही ईट सभसँ भरि दिय'; एही प्रकार हम कानूनक प्रक्रयाकें रोकब, किएक तँ एतेक पैघ अपवादक कलङ्क सदैत अछि। आ, मित्र मैत्रेय, अहाँकें अत्यधिक निराशासँ नै बाज क' अपन गर्व देखबाक चाही।

मैत्रेय: एकटा दरिद्र मनुष्य निराशासँ बाजबामे कसरि सहायता क' सकैत अछि?

चारुदत्त: दरिद्र हम नै छी, हमर मित्र। किएक तँ हमर पाँ एकटा पत्नी अछि जेकर प्रेम हमर वैभव क दिनसँ आगाँ धरि रहैत अछि; अहाँमे एकटा मित्र अछि सुख आ दुःखमे; आ सत्य जे आन किछु नै लय जा सकैत छल: आह, एकरा दरिद्र मनुष्य अखन धरि खो दैत अछि। जाउ तखन, आ शौच-विधि समाप्त क' हम अपन भोरक पूजा अर्पण करब। (सभ प्रस्थान करैत छथि)

(एकटा दासीक प्रवेश होइत अछि)

दासी: हमरा हमर मालकिनक माय द्वारा एकटा सन्देश देल गेल अछि जे हम मालकिनकें सुपुर्द कऽ दी। एतय हमर मालकिन छथि। ओ एकटा चित्र कात देखि रहल छथि आ मदनिकाक साथ बाजि रहल छथि। हम हुनका पाँ जाब। (ओ चलैत अछि)

(तखन यथोक्त वसन्तसेना आ मदनिकाक प्रवेश होइत अछि)

... (पूर्ण रूपसँ अनूदित पाठ्य)

वसन्तसेना: मदनिका कनियाँ, की ई चित्र वास्तवमे चारुदत्त सन लगैत अछि?

मदनिका: बहुत नीक लगैत अछि, बिल्कुल हुनका सन।

वसन्तसेना: अहाँ कसरि जनैत छी?

मदनिका: किएक तँ हमर मालकिनक आँखि एही पर एतेक अनुरागसँ टिकल अछि।

वसन्तसेना: मदनिका कनियाँ, की अहाँ ई बात केवल एही लेल कहि रहल छी किएक तँ गणिका-संसर्गक शिष्टाचार एकर मङ्ग करैत अछि?

मदनिका: मुदा मालकिन, की कोनो गणिका-गृहमे रहय वाली लड़कीक शिष्टाचार सदा मिथ्या आ बनावटीहि होयत?

वसन्तसेना: कनियाँ, गणिका सभकें कतेको प्रकारक पुरुष सभसँ मिलब पड़ैत छनि जे ओ सभ एकटा कृत्रिम शिष्टाचार सीखि लैत छथि।

मदनिका: मुदा जखन हमर मालकिनक आँखि आ हुनकर हृदय दोनों कें एही वस्तुमे एतेक आनन्द भेटि रहल छनि, तखन एकर कारण पूछबाक की आवश्यकता अछि?

वसन्तसेना: मुदा हम नै चाहब जे हमर सखी सभ हमर उपहास कसरि।

मदनिका: अहाँकें डरबाक कोनो आवश्यकता नै अछि। स्त्री स्त्रीक हृदय नीक जकां जनैत अछि।

दासी: (लग जा कऽ) मालकिन, अहाँक माय सन्देश पठौने छथि जे एकटा बन्द गाड़ी कातक दुआरि पर ठाढ़ अछि, आ अहाँकें बाहर भ्रमण लेल जाबाक अछि।

वसन्तसेना: हमरा बताउ, की ई चारुदत्त छथि जिनका हमरा आमन्त्रित कयल अछि?

दासी: मालकिन, ओ पुरुष जिनका गाड़ी कऽ साथ दस हजार सुवर्ण-मुद्राक आभूषण पठौने छथि —

वसन्तसेना: ओ के छथि?

दासी: ओ राजा क साढ़ू संस्थानक छथि।

वसन्तसेना: (क्रोधसँ) जाउ! आ एहन संदेश लय कऽ हमर सम्मुख पुनः कहियो नै आबब।

दासी: क्रुद्ध नै होऊ, मालकिन। हम तँ मात्र एकटा संदेशवाहक छी जे अहाँक पाँ सन्देश लाबने अछि।

वसन्तसेना: मुदा ई संदेशहि हमरा क्रुद्ध कऽ रहल अछि।

दासी: तखन हम अहाँक मायसँ की कहब?

वसन्तसेना: हमर मायसँ कहि दियौन्हि जे ओ पुनः कखनहि एहन सन्देश हमरा नै पठाबथि, जदि ओ हमरा जिवैत देखबाक इच्छा राखैत छथि तँ।

दासी: जेना अहाँक इच्छा। (ओ प्रस्थान करैत अछि)

(शर्विलकक प्रवेश होइत अछि)

शर्विलक: हम अपन पाप कऽ कलङ्क रातिक अन्धकार पर मढ़ि देलहुँ; हम निन्न आ राजा कऽ आरक्षी सभ पर विजय प्राप्त कयलहुँ; मुदा आब राति बीति रहल अछि आ सूर्यक एही निर्मल प्रकाशमे हमर रूप ओनाहि मन्द भऽ गेल अछि जेना भोरक चन्द्रमा।

आ पुनः जे केओ हमर कात एकटा चितवन फिङ्कलक, या जे केओ तीव्र गतिसँ दौड़ैत हमर लग अयल, हमर व्याकुल आत्मा ओकरा अपन शत्रुहि बुझलक; किएक तँ पापहि मनुष्यक भीतर भयक जन्म दैत अछि।

नीक, ई मदनिकाक निमित्तहि छल जाहि लेल हम ई पाप-कर्म कयलहुँ। हम कोनो नौकर-चाकर सभक गपशप पर ध्यान नै देलहुँ; स्त्री सभक नियन्त्रण वला घर सभसँ हम सभसँ बेसी दूर रहलहुँ; आ जखन सिपाही सभ हमरा अपन घेरामे लैत बुझाइलन्हि, हम सीधा एकटा जड़ काठक खूँटा जकां ठाढ़ भऽ गेलहुँ। एही प्रकारक सैकड़ों कौशल हम राति भरि कयलहुँ आ रातिकें दिनमे बदलबाक यत्न कयलहुँ।

(ओ चलैत अछि)

वसन्तसेना: कनियाँ, एही चित्रकें हमर सोफा पर राखि दिय' आ हाथमे पंखा लय कऽ तुरंत वापस आबब।

मदनिका: हँ, मालकिन। (चित्र लय कऽ प्रस्थान करैत अछि)

शर्विलक: ई वसन्तसेनाक घर अछि। हम भीतर प्रवेश करब। (ओ प्रवेश करैत अछि) हमरा आश्चर्य भऽ रहल अछि जे हम मदनिकाकें कतऽ पाबब। (मदनिका हाथमे पंखा लेने प्रवेश करैत अछि। शर्विलक ओकरा देखैत छथि) आहा, ई हमर मदनिका अछि —

अपन रूपमे स्वयं कामदेव कें मात दऽ कऽ ओ मनुष्य रूपमे साक्षात प्रेमक देवी जकां बुझि रहल छथि; जखन हमर हृदय कामुकताक ज्वालामे जरि रहल अछि, ओ हमर आँखि कें चन्दन सन शीतलता प्रदान कऽ रहल छथि।

मदनिका!

मदनिका: (शर्विलककें देखि कऽ) ओह, ओह, शर्विलक! हम अहाँकें देखि कऽ बहुत प्रसन्न छी, शर्विलक। अहाँ एतेक दिन कतऽ छलहुँ?

शर्विलक: हम अहाँकें सभ कहब। (दोनों एक-दोसर कें अनुरागसँ देखैत छथि)

वसन्तसेना: मदनिका कतेक काल लगा रहल अछि! हमरा देखबाक चाही ओ कतऽ अछि। (ओ झरोखा सँ देखैत छथि) आहा! ओतय ओ एकटा पुरुष कऽ साथ बाजि रहल अछि। ओकर चंचल चितवन स्थिर अछि आ ओ ओकरा एही प्रकार देखि रहल अछि जेना अपन आँखिसँ पीबि जबाक इच्छा राखैत हो। हम बुझैत छी ई वैह पुरुष छथि जे ओकरा दासी-जीवनसँ मुक्त करबाक इच्छा राखैत छथि। नीक, ओकरा ओतहि रहय दिय', ओतहि रहय दिय'। ककरो प्रसन्नताक क्षणमे विघ्न नै डालबाक चाही। हम ओकरा नै बजाबब।

मदनिका: हमरा बताउ, शर्विलक। (शर्विलक भयसँ चारू कात देखैत छथि) की बात अछि, शर्विलक? अहाँ चिन्तित देखि रहल छी।

शर्विलक: हम अहाँकें एकटा रहस्य कहब। की हम सभ अकेले छी?

मदनिका: हँ, निश्चित रूपसँ।

वसन्तसेना: की! एकटा गम्भीर रहस्य? हम नै सुनब।

शर्विलक: मदनिका, हमरा बताउ, की वसन्तसेना अहाँक मुक्त करबाक लेल कोनो मूल्य स्वीकार करतीह?

वसन्तसेना: की! वार्तालाप हमरहि विषयमे भऽ रहल अछि? तखन हमरा एही झरोखा पाछाँ लुका कऽ अवश्य सुनबाक चाही।

मदनिका: शर्विलक, हम एही विषयमे मालकिनसँ पूछलहुँ छल, आ ओ कहलनि जे यदि हुनकर बस चलितैक तँ ओ अपन सभ दासी सभकें बिना कोनो मूल्यक मुक्त कऽ देतीह। मुदा शर्विलक, अहाँकें एहन पैघ धन कतऽ भेटल जेसँ अहाँ मालकिनसँ हमर मुक्ति कीनबाक विचार कऽ रहल छी?

शर्विलक: हमर दरिद्रताक कारण हमरा विवश भऽ कऽ, आ अहाँक एही सुकुमार प्रेमकें पाबबाक लेल, मदनिका कनियाँ, हम आधी रातिमे एकटा पैघ पाप-कर्म कयलहुँ अछि।

वसन्तसेना: हुनकर मुख बहुत शान्त अछि। यदि ओ पापी होइताह तँ हुनकर मुख चिन्तित देखि रहितैक।

मदनिका: ओह, शर्विलक! एकटा तुच्छ वस्तु लेल—मात्र एकटा स्त्री लेल—अहाँ दोनों बहुमूल्य वस्तु कऽ दांव पर लगा देलहुँ!

शर्विलक: कोन वस्तु, जेना की?

मदनिका: अहाँक जीवन आ अहाँक निष्कलङ्क चरित्र।

शर्विलक: हमर भीरु कनियाँ, भाग्य सदा वीर पुरुष कऽ साथ दैत अछि।

मदनिका: ओह, शर्विलक! अहाँक चरित्र पर कहियो कोनो दाग नै छल। अहाँ कोनो पैघ अनर्थ तँ नै कयलहुँ, जखन हमर निमित्त अहाँ ओही पाप-कर्म कयलहुँ?

शर्विलक: जे आभूषण स्त्रीक रूपकें बढ़ाबैत अछि, लता पर फूलक जकां, हम ओकरा कोनो क्षति नै पहुँचाएलहुँ। हम कोनो श्रेष्ठ ब्राह्मणक धन नै चोराएलहुँ, नहि यज्ञक पवित्र सुवर्णकें हाथ लगौलहुँ। हम कोनो दासी कऽ गोदसँ बच्चाकें सेहो नै चोराएलहुँ, मात्र अपन पेट भरबाक लेल। एकटा चोरक रूपमे सेहो हम अपन पूर्ण शक्तिसँ उचित आ अनुचित कऽ बीचक मर्यादाक पालन कयलहुँ अछि।

अतः अहाँ वसन्तसेनाकें ई कहि सकैत छी: ई आभूषण सभ अहाँकहि पहिरबाक लेल बनल अछि, एहन हमरा बुझाइत अछि; मुदा यदि अहाँ हमरासँ प्रेम करैत छी, तँ एककरा कखनो एहन स्थान पर नै पहिरब जतय लोक एककरा देखि सकय।

मदनिका: मुदा शर्विलक, एहन आभूषण जेकरा केओ देखि नै सकय, आ एकटा गणिका—ई दोनों गप आपसमे मेल नै खाइत अछि। हमरा ओही आभूषण दिय', हम देखबाक इच्छा राखैत छी।

शर्विलक: ई एतय अछि। (ओ किछ संशय कऽ साथ ओकरा पेटारी दऽ दैत छथि)

(मदनिका पेटारीकें देखैत छथि आ नीक जकां जाँच कऽ कऽ स्तब्ध भऽ जाइत छथि)

मदनिका: ओह, शर्विलक! अहाँ तँ कहलहुँ जे अहाँ उचित-अनुचितक मर्यादाक पालन कयलहुँ अछि, मुदा ई आभूषण तँ हमर मालकिनकहि अछि!

शर्विलक: (भय आ आश्चर्यसँ) की! अहाँक मालकिनक?

मदनिका: हँ, निश्चित रूपसँ। ई आभूषण आर्या वसन्तसेनाकहि अछि।

शर्विलक: ई कसरि भऽ सकैत अछि?

मदनिका: अहाँ सत्य-सत्य बाजू, शर्विलक। अहाँ ई कतयसँ चोरायब? अहाँ ककर घर तोडलहुँ?

शर्विलक: मदनिका, हम अहाँकें सत्य कहि रहल छी। हम उज्जयिनीक श्रेष्ठ श्रेष्ठी चारुदत्तक घरक देवाल तोड़ि कऽ ई आभूषण आधी रातिमे चोरायने छी।
मदनिका: (कष्ट आ विषादसँ) हाय, हाय! अहाँ ई की कऽ देलहुँ? ओतय तँ पहिनेसँ दरिद्रता अछि। हुनकर घरमे चोरी करब तँ साक्षात पाप-कर्म अछि। आर्या वसन्तसेना तँ हुनका अपन प्राणसँ बेसी चाहैत छथि। ई आभूषण तँ स्वयं हमर मालकिन चारुदत्तक घरमे धरोहर रूपमे रखने छली, जकरा अहाँ चोराय कऽ लय अयलहुँ।

शर्विलक: की! ई वसन्तसेनाक धरोहर छल? तब तँ हम भारी अनर्थ कऽ देलहुँ।

शर्विलक: (चिन्तित भऽ कऽ, मनहि मन) जदि वृक्ष जड़िसँ कटि जाय, तँ पत्ता कऽ की मूल्य? आब हमर बुद्धि काम नै कऽ रहल अछि। हम ओही पुरुष कऽ घर लूटलहुँ जे स्वयं उज्जयिनीक गौरव छथि। आब एकर की उपाय अछि?

मदनिका: शर्विलक, जदि अहाँ हमरासँ प्रेम करैत छी, आ जदि अहाँ अपन ई पाप धोबाक इच्छा राखैत छी, तँ हमर एकटा चतुर उपाय सुनू।

शर्विलक: बाजू मदनिका, की उपाय अछि?

मदनिका: अहाँ स्वयं आर्या वसन्तसेनाक सम्मुख जाउ। मुदा चोरक रूपमे नै। अहाँ एकटा कुलीन पुरुष जकां जाउ आ कहू जे चारुदत्त अहाँक हाथे ई आभूषण वापस पठौने छथि, किएक तँ हुनकर घर असुरक्षित अछि। एही प्रकार चारुदत्तक प्रतिष्ठा बचि जायत, आ अहाँक अपराध सेहो तोपल रहत।

शर्विलक: मुदा मदनिका, जदि आर्या वसन्तसेना हमरा चिन्हि लेतीह तँ?

मदनिका: अहाँ चिन्ता नै करू। आर्या बहुत उदार छथि। ओ चारुदत्तक नाम सुनि कऽ सभ अपराध क्षमा कऽ देतीह।

शर्विलक: अहाँक बुद्धि अद्भुत अछि, मदनिका। स्त्रीक बुद्धि विपत्तिक कालमे पुरुषसँ बेसी तीव्र काज करैत अछि। हम ओनाहि करब जेना अहाँ कहलहुँ।
(वसन्तसेना झरोखासँ सभ किछु देखि आ सुनि रहल छथि आ मनहि मन शर्विलकक साहस आ मदनिकाक चतुरता पर प्रसन्न भऽ रहल छथि)

वसन्तसेना: (मनहि मन) साधु, मदनिका साधु! अहाँ एकटा दासी भऽ कऽ सेहो चारुदत्तक प्रतिष्ठाक एतेक चिन्ता कयलहुँ। हम अहाँक एही कार्यसँ बहुत प्रसन्न छी।

(शर्विलक आ मदनिका वसन्तसेनाक मुख्य कमरा कात बढ़ैत छथि। मदनिका पहिने जा कऽ वसन्तसेनाकें सूचित करैत अछि)

मदनिका: मालकिन, उज्जयिनीक एकटा भद्र पुरुष अहाँसँ मिलबाक लेल अयल छथि। ओ आदरणीय चारुदत्तक कखनो विशेष काज करैत छथि।

वसन्तसेना: ओकरा भीतर आबय दिय'।

(शर्विलक सङ्कोच आ गम्भीरताक साथ भीतर प्रवेश करैत छथि)

शर्विलक: आर्या वसन्तसेनाकें हमर प्रणाम।

वसन्तसेना: महाभाग, अहाँक स्वागत अछि। कृपया आसन ग्रहण करू।

शर्विलक: आर्या, हम आसनक योग्य नै छी। हम मात्र एकटा सन्देश लय कऽ अयल छी। श्रेष्ठ चारुदत्त अहाँकें ई मञ्जूषा सुपुर्द करबाक निर्देश देलन्हि अछि। ओ कहने छथि जे हुनकर घर पुरान आ असुरक्षित अछि, आ ओतय ई बहुमूल्य धरोहर राखब ठीक नै अछि। अतः अहाँ अपन धरोहर वापस लय लिय'।

(ओ पेटारी वसन्तसेनाक सम्मुख रखैत छथि)

वसन्तसेना: (मञ्जूषा ग्रहण करैत, मनहि मन हँसैत) चारुदत्त कतेक महान छथि! ओ अपन घरमे भेल चोरीक बात नुका कऽ हमर धरोहरक रक्षा लेल ई संदेश पठौने छथि (ओ बुझि रहल छथि जे शर्विलक झूठ बाजि रहल अछि, मुदा ओ चारुदत्तक प्रतिष्ठा लेल अनजान बनबाक अभिनय करैत छथि)।

वसन्तसेना: महाभाग, चारुदत्तक एही संदेशवाहक (अहाँ) कऽ कार्य बहुत उत्तम अछि। हम ई आभूषण स्वीकार करैत छी। मुदा एकर बदलामे हम अहाँकें किछु देबाक इच्छा राखैत छी।

शर्विलक: (आश्चर्यसँ) आर्या, हम तँ मात्र संदेशवाहक छी।

वसन्तसेना: मदनिका कनियाँ, जाउ, एही भद्र पुरुष शर्विलकक साथ जाउ। आब अहाँ हमर दासी नै छी। हम अहाँकें दासी-वृत्तिसँ मुक्त करैत छी। अहाँ दोनों विवाह कऽ कऽ सुखसँ रहू।

मदनिका आ शर्विलक: (आनन्द आ आश्चर्यसँ गदगद भऽ कऽ, वसन्तसेनाक पएर छुबैत) आर्या! अहाँ तँ साक्षात देवी छी। अहाँक ई महान उपकार हम सभ जीवन भरि नै बिसरब।

शर्विलक: (मनहि मन) ई स्त्री गणिका नै, साक्षात लक्ष्मी छथि। जिनका हम अपन पापसँ भयभीत भऽ कऽ देखि रहल छलहुँ, ओ हमरा जीवनक सभसँ पैघ सुख (मदनिका) दान कऽ देलन्हि।

(दोनों आनन्दपूर्वक प्रस्थान करैत छथि)

(किछ काल बाद, चारुदत्तक मित्र मैत्रेयक प्रवेश होइत अछि। हुनकर हाथमे एकटा कण्ठहार (रत्नावली) अछि जे चारुदत्तक पत्नी धूता अपन पति कऽ प्रतिष्ठा बचबाक लेल देलन्हि अछि)

मैत्रेय: (धारू कात देखैत) आहा! आर्या वसन्तसेनाक ई प्रासाद सन घर देखि कऽ हमर आँखि चकाचौंध भऽ गेल अछि। ई तँ कोनो राजाक महल जकां अछि। आठ गोटा पैघ-पैघ अङ्गन पार कऽ कऽ हम एतय पहुँचि गेल छी। कतहु सङ्गीतक ध्वनि भऽ रहल अछि, कतहु सुगन्धित भोजन बनि रहल अछि, तँ कतहु तोता-मैना बाजि रहल अछि।

(दासी मैत्रेयके वसन्तसेना पाँ लय जाइत अछि)

दासी: मालकिन, आदरणीय चारुदत्तक परम मित्र मैत्रेय अयल छथि।

वसन्तसेना: (आदरसँ उठि कऽ) मैत्रेय जी! अहाँक बहुत स्वागत अछि। कृपया बैठू।

मैत्रेय: आर्या, अहाँकेँ आशीर्वाद। हम बैठि गेलहुँ।

वसन्तसेना: हमर आदरणीय चारुदत्त सकुशल छथि नहि?

मैत्रेय: हँ, ओ सकुशल छथि। मुदा ओ अहाँक धरोहर (मञ्जूषा) कऽ विषयमे एकटा संदेश पठौने छथि।

वसन्तसेना: बाजू, की संदेश अछि?

मैत्रेय: ओ ओही आभूषणक पेटारीकेँ जुआमे हारि गेलाह, ई बिसरि कऽ जे ओ हुनकर अपन नै छल, अहाँक न्यास छल। अतः ओ अपन भूलक पश्चाताप करैत, ओही मञ्जूषाक स्थान पर अपन पत्नीक ई बहुमूल्य रत्न-कण्ठहार (रत्नावली) पठौने छथि। कृपया एकरा स्वीकार करू आ चारुदत्तकेँ ऋणमुक्त करू।

(ओ कण्ठहार देखाबैत छथि)

वसन्तसेना: (मनहि मन हँसैत आ चारुदत्तक ईमानदारी पर मुग्ध होइत) चारुदत्त वास्तवमे कतेक उदार आ सत्यवादी छथि! हुनकर घरमे चोरी भेलन्हि, मुदा ओ जुआ कऽ बहाना बना कऽ हमर आभूषणक मूल्य चुका रहल छथि।

वसन्तसेना: (कण्ठहार ग्रहण करैत छथि) मैत्रेय जी, अपन मित्रसँ कहब जे हम आइ संध्याकेँ स्वयं हुनकासँ मिलबाक लेल आबि रहल छी। ई कण्ठहार हम राखि लेलहुँ।

मैत्रेय: (मनहि मन चिन्तित भऽ कऽ) सुन्दर! आब ई कण्ठहार सेहो गेल। ई गणिका सभ सभ किछु लय लैत छथि। नीक, हम जा कऽ चारुदत्तकेँ कहब जे वसन्तसेना संध्याकेँ आबि रहल छथि।

(मैत्रेय प्रणाम कऽ कऽ प्रस्थान करैत छथि)

(लव-लोर्न / विरही चारुदत्त बैठल प्रकट होइत छथि)

चारुदत्तः (आकाश कात देखैत आ लम्बा निश्वास छोड़ि कऽ) एकटा अकाल मेघ जमि रहल अछि। किएक तँ देखू! मयूर देखैत छथि आ अपन पंखा ऊपर उठबैत छथि; हँस सभ अपन प्रस्थानक विचार बिसरि गेल छथि; ई अकाल मेघ करिया आकाशकें आ विरही प्रेमीक हृदयकें व्याकुल कऽ रहल अछि।

आ पुनः एकटा गीला बैलक पेट जकां ई मेघ कोनो आन गम्भीर रङ्ग नै पहिरने अछि; बिजुलीक सुवर्ण कान्तिमयी चंचल ओढ़नी ओढ़ने, आ बक-पंक्ति जकां अपन बिगुल बजबय वाला सभक साथ आकाशकें आनन्दित करैत, ई मेघ आब आकाश पर ओनाहि सवार भऽ रहल अछि जेना साक्षात नारायण।

आ पुनः एक बेर सेहो नारायणक स्वरूप जकां करिया, चारू कात गोल घूमि कऽ उड़य वाला बगुला सभक बिगुल ध्वनि जकां नादसँ युक्त, आ बिजुलीक सुवर्ण-रेशमी वस्त्रसँ सुशोभित भऽ कऽ, ई मेघ आब वर्षा ऋतु कऽ आगमनक रूपमे आकाश पर आबि गेल अछि।

जखन बिजुलीक ई चंचल दीपक जलि उठैत अछि, तँ मेघक ओही विशाल गर्भसँ मुसलाधार वर्षाक धार तीव्र गतिसँ खसत बुझाईत अछि; जेना आकाश कऽ घेरने ओही घोर अन्धकार कऽ छातीसँ कोनो टूटल रेशमी फीता क्षण भरि लेल चमकि कऽ अदृश्य भऽ गेल हो।

कखनो उड़ैत मछली सभक जकां, कखनो चंचल जल-जन्तु सभक जकां, कखनो आपसमे सटल हँस-हँसिनीक जकां जे आकाश कऽ कोना कात उड़ि रहल हो, कखनो आपसमे जोड़ा बान्हि कऽ उड़य वाला चकोर सभक जकां, कखनो पैघ-पैघ पर्वत सभक चोटी जकां जे बहुत ऊँचाई पर ठाढ़ हो; एहन हजारों रूप सभमे ई उमड़ैत मेघ आपसमे आलिङ्गन कऽ रहल अछि, वायु कऽ झोंकासँ छिन्न-भिन्न भऽ पुनः इआपसमे मिलि रहल अछि, आ आकाशक एही पैघ पट पर कतेको अद्भुत चित्र उकेरि रहल अछि।

ई आकाश धृतराष्ट्रक मुख जकां घोर अन्धकारमय आ करिया भऽ गेल अछि; कुरु-वंशक ओही अभिमानी योद्धा जकां अहङ्कारसँ भरल बुझि रहल अछि। अपन आनन्द प्रकट करैत ई चंचल मयूर चारू कात चीखि रहल अछि; कपरौआ (कोकिल) आब युधिष्ठिर कऽ ओही दुःखद स्थितिमे विवश भऽ कऽ कतहु वनमे भटकबाक लेल विदा भऽ गेल अछि, जे आब अपन प्राण बचेबाक लेल विरह कऽ दुःख सहि रहल अछि; हँस सभ कऽ आब अपन वन-आश्रय छोड़ि कऽ उड़बाक लेल विवश होना पड़ल छनि, जेना पाण्डु कऽ पुत्र सभ अपन अज्ञातवास लेल कोनो अपरिचित स्थान कात विदा भऽ गेलाह।

(विचारमे डूबि कऽ) बहुत काल भऽ गेल जखनसँ मैत्रेय वसन्तसेना पाँ गेल छथि। आ अखन धरि ओ वापस नै अयल छथि।

(मैत्रेयक प्रवेश होइत अछि)

मैत्रेयः नास हो (नास हो!) ओही गणिकाक एही पैघ लोभ आ ओकर अशिष्टताकें! ई सोचू जे ओ कतेक कम समयमे हमर गप समाप्त कऽ देलक! बार-बार ओ केवल वैह बात दोहराबैत रहलीह जे ओ कतेक गम्भीर स्नेह राखैत छथि, आ ओकरा बाद बिना कोनो सङ्कोचक ओही बहुमूल्य कण्ठहारकें अपन पेटारी भीतर बन्द कऽ लेलन्हि। ओ पहिनेसँ एतेक धनी छथि जे ओ कम्तीसँ कम्ती एतेक तँ कहि सकैत छलीः "उत्तम मैत्रेय, जरा रेस्ट कसरि। अहाँ कखनहि तब धरि नै जाब जब धरि अहाँ पानि कऽ एकटा कप नै लय लयब।" नास हो ओही गणिका कऽ! हम आशा करैत छी हम पुनः कहियो ओकर मुख नै देखब। (थकावटसँ) कहबी बिल्कुल सत्य अछि: "कोनो कमल कऽ गाछ बिना जड़ि कऽ पाबब कठीन अछि, कोनो एहन व्यापारी जे कहियो कपट नै करय ओकरा पाबब कठीन अछि, कोनो सुवर्णकार जे कहियो चोरी नै करय ओकरा पाबब कठीन अछि, कोनो गामक सभा बिना कोनो झगड़ाक होबय ओकरा देखब कठीन अछि, आ कोनो गणिका बिना पैघ लोभक होबय ओकरा पाबब कठीन अछि।" नीक, हम अपन मित्र पाँ जाब आ हुनका विवश करब जे ओ आब ओही गणिका कऽ संसर्गसँ सदा लेल दूर रहिथिन। (ओ चलैत छथि आ चारुदत्तकें देखैत छथि) आहा, हमर प्रिय मित्र बगीचामे बैठल छथि। हम हुनका पाँ जाब। (लग जा कऽ) अहाँकें प्रणाम। अहाँक कल्याण हो।

चारुदत्तः (ऊपर देखि कऽ) आहा, हमर नित्य साथी मैत्रेय वापस आबि गेलाह। अहाँक बहुत स्वागत अछि, मित्र। कृपया बैठू।

मैत्रेयः धन्यवाद।

चारुदत्तः मित्र, अपन संदेश कऽ परिणाम बताउ।

मैत्रेयः हमर संदेश पूर्ण रूपसँ विपरीत गेल।

चारुदत्तः की! की ओ कण्ठहार स्वीकार नै कयलन्हि?

मैत्रेयः हम सभ एहन भाग्यक आशा कसरि कऽ सकैत छलहुँ? ओ अपन कमल जकां सुकुमार हाथ अपन ललाट पर रखलन्हि, आ ओकरा तुरंत लय लेलन्हि।

चारुदत्तः तखन अहाँ किएक कहि रहल छी जे "विपरीत गेल"?

मैत्रेयः किएक नै, जखन हम सभ चारू समुद्रक गर्व वला कण्ठहार ओही सस्त माठिक सुवर्ण-मञ्जूषा लेल खो देलहुँ जे हमरा सभक हाथसँ पहिने चोराएल गेल छल, बिना कोनो एक ग्रास या पेय कऽ भेटबाक?

चारुदत्तः एहन नै मित्र, एहन नै! ओ अपन विश्वास हमर पाँ छोड़ि कऽ अपन आदर देखौलक; विश्वासक मूल्य ओकरासँ कम नापक नै होइत अछि।

मैत्रेयः आब सीधा हमर बात सुनू! हमर पाँ एकटा दोसर शिकायत अछि। ओ अपन सखी कात देखि कऽ एकटा गुप्त चितवन फिङ्कलक, अपन मुख वस्त्रक किनारसँ तोपि लेलक, आ हमर बेसी उपहास कयलक। आ एही लेल, यद्यपि हम एकटा ब्राह्मण छी, हम एतय अहाँक सम्मुख पएर पर खसि पड़बाक लेल तैयार छी आ प्रार्थना करैत छी जे आब ओही गणिका कऽ साथ कोनो सम्बन्ध नै राखब। एही प्रकारक समाज केवल पैघ क्षति पहुँचाबैत अछि।

एकटा गणिका अहाँक जूता भीतर कऽ ओही कड़कड़ जकां अछि जे जब धरि बाहर नै खसत, अहाँकें चलबामे कष्ट दऽ रहत। आ एकटा बात और, हमर मित्र: एकटा गणिका, एकटा हाथी, एकटा कायस्थ (लेखक), एकटा भिक्षु, एकटा धूर्त, आ एकटा गदहा—जतय ई सभ रहैत छथि, ओतय कोनो भला मनुष्य जनम सेहो नै लय सकैत।

चारुदत्त: ओह, हमर मित्र, अहाँक एही कटु निन्दासँ बस! हमर दरिद्रता अपन आपमे हमर रक्षा कऽ रहल अछि। किएक तँ विचार कसरि: एकटा घोड़ा अपन इच्छासँ चारू कात दौड़बाक पराक्रम देखबैत अछि, मुदा जखन ओकर पएर शिथिल भऽ जाइत अछि आ ओकर श्वास टूटी जाइत अछि, तँ ओ विवश भऽ जाइत अछि। ओनाहि मनुष्यक चंचल इच्छा सभ चारू कात भ्रमण करैत अछि, मुदा अन्ततः थाकि कऽ ओकरा अपनहि हृदय भीतर वापस आबब पड़ैत अछि।

आ पुनः पुनः, हमर मित्र: यदि अहाँक पाँ सुवर्ण अछि, तँ ओ सुकुमार कनियाँ अहाँकहि भऽ कऽ रहत, किएक तँ गणिका कऽ इच्छा सुवर्णसँहि जीतल जाइत अछि; (मनहि मन) मुदा ओ पवित्र गुणसँ कहियो नै झुकत। (प्रकट) मुदा आब सुवर्ण हमर पाँ अतुल्य नै बचल अछि, अतः हम ओकरा अपन बन्धनमे नै राखि सकी।

मैत्रेय: (नीचां देखि कऽ। मनहि मन) जेना ओ ऊपर देखि कऽ गम्भीर निश्वास छोड़ि रहल छथि, हम ई निष्कर्ष निकालैत छी जे हमर ओकरा ध्यान भङ्ग करबाक उद्यम केवल हुनकर विरह-उत्कण्ठाकें आ पैघ कऽ देलक। कहबी सत्य अछि: "अहाँ कोनो प्रेमीकें बुद्धि नै सिखि सकैत छी।" (प्रकट) नीक तखन, ओ हमरा अहाँकें कहबाक लेल कहलनि अछि जे आइ संध्याकालकें ओ स्वयं एतय आबि रहल छथि। हम बुझैत छी ओ कण्ठहारसँ सन्तुष्ट नै भेलिह, आ आब कखनो आन वस्तु खोजबाक लेल आबि रहल छथि।

चारुदत्त: ओकरा आबय दिय', हमर मित्र। ओ कहियो एतयसँ असन्तुष्ट भऽ कऽ वापस नै जायत।

(कुम्भीलकक प्रवेश होइत अछि)

कुम्भीलक: सुनू, श्रेष्ठ भद्र लोक सभ, सुनू! जतेक बेसी ई मेघ चादर कऽ जकां खसि रहल अछि, ओतेक बेसी हमर ई चर्म गीला भऽ रहल अछि; जतेक तीव्र ई ठण्ढा वायु हमरा पर चोट कऽ रहल अछि, ओतेक बेसी हम त्राससँ काँपि रहल छी।

(ओ बहुत पैघ अट्टहास / हँसबाक अभिनय करैत अछि) हम सात गोटा सुराख वला बाँसुरीसँ मधुर स्वर निकालि जनैत छी, हम सात गोटा तार वला वीणासँ गम्भीर नाद निकालि जनैत छी; गाबबाक काजमे हम स्वयं गदहा कऽ ओही श्रेष्ठ भूमिकाकें मात दैत छी; कोनो एहन देवता नै छथि जे हमर सङ्गीतक सामना कऽ सकथि जखन हम गाबब आरम्भ करैत छी।

हमर मालकिन वसन्तसेना हमरा कहलनि जे "कुम्भीलक, जाउ आ चारुदत्तकें कहू जे हम आबि रहल छी।" अतः आब हम चारुदत्तक घरक मार्ग पर छी। (ओ चारू कात घूमि कऽ चलैत अछि आ प्रवेश करैत चारुदत्तकें देखैत अछि) एतय चारुदत्त बगीचामे छथि। आ एतय ई पापी बौना मैत्रेय सेहो अछि। नीक, हम हुनका सभक लग जाब। की! बगीचा कऽ मुख्य दुआरि बन्द अछि? सुन्दर! हम एही बौनाकें एकटा सङ्केत देब। (ओ माठिक ढेला फिङ्कैत अछि) मैत्रेय: की! के अछि जे हमरा पर एही प्रकार माठिक ढेला फिङ्कि रहल अछि, जेना हम कोनो बाड़ कऽ भीतर कऽ सेव कऽ गाछ छी?

चारुदत्त: निश्चित रूपसँ ई कपरौआ सभ भऽ सकैत अछि जे बगीचा कऽ छत पर खेलि रहल अछि।

मैत्रेय: एक क्षण रुकू, अहाँ पापी कपरौआ! एही लाठीसँ हम अहाँकें ओतयसँ सीधा भूमि पर ओनाहि खसाबब जेना कोनो बेसी पाकि गेल आमक फल खसि पड़ैत अछि।

(ओ अपन लाठी उठाबैत अछि आ दौड़बाक यत्न करैत अछि)

चारुदत्त: (मैत्रेयकें जज्ञोपवीतसँ पकड़ि कऽ रोकि दैत छथि) बैठू, हमर मित्र, बैठू। अहाँक की अर्थ अछि? ओही बेचार कपरौआ कऽ अपन साथी कऽ साथ आनन्द लेबय दिय'।

कुम्भीलक: की! ओ कपरौआ कऽ देखि रहल अछि आ हमरा नै देखि रहल अछि? सुन्दर! हम ओकरा पर एकटा दोसर माठिक ढेला फिङ्कब।

(ओ ओनाहि करैत अछि)

मैत्रेय: (चारू कात देखैत) की! कुम्भीलक? हम एक क्षणमे अहाँक पाँ आबि रहल छी। (ओ लग जाइत अछि आ दुआरि खोलैत अछि) नीक, कुम्भीलक, भीतर आबब। अहाँक देखि कऽ हमरा प्रसन्नता भेल।

कुम्भीलक: (भीतर आबि कऽ) हम अहाँकें प्रणाम करैत छी, सर।

मैत्रेय: अहाँ एही घोर वर्षा आ अन्धकारमे कतयसँ आबि रहल छी, मनुष्य?

कुम्भीलक: अहाँ देखि सकैत छी, ओ एतय अछि।

मैत्रेय: ओ के अछि? ओ कतऽ अछि?

कुम्भीलक: ओ। देखलहुँ? ओ।

मैत्रेय: सीधा हमर बात सुनू, अहाँ एकटा दासीपुत्र! अहाँ किएक एही प्रकार गम्भीर निश्वास छोड़ि रहल छी जेना कोनो अकाल कऽ समय कऽ आधा-भूखा बूढ़ा भिखारी चिल्लाएत अछि, अपन एही "ओ-ओ-ओ" कऽ साथ?

कुम्भीलक: आ अहाँ किएक एही प्रकार चारू कात चिल्लाइ रहल छी जेना कोनो उल्लू चिल्लाएत अछि, अपन एही "के-के-के" कऽ साथ?

मैत्रेय: बहुत नीक। आब हमरा बताउ।

कुम्भीलक: (मनहि मन) मानू हम एककरा एही प्रकार कहब। (प्रकट) हम अहाँकें एकटा पहेली देब, मनुष्य।

मैत्रेय: आ हम अहाँकें ओकर उत्तर अपन पएर कऽ ठोकरसँ अहाँक एही चन्दिया पर देब।

कुम्भीलक: जब धरि अहाँ एकर अनुमान नै कऽ लयब, तब धरि नै। बुझू: आमक गाछ कोन ऋतुमे फूल दैत अछि?

मैत्रेय: गरमी कऽ ऋतुमे, अहाँ गदहा।

कुम्भीलक: (हँसैत) भूल भेल!

मैत्रेय: (मनहि मन) आब हम की कहब? (सोचैत) सुन्दर! हम जा कऽ चारुदत्तसँ पूछब। (प्रकट) बस एक क्षण प्रतीक्षा करू। (चारुदत्तक लग जा कऽ) हमर मित्र, हम मात्र एतेक जनबाक इच्छा रखैत छलहुँ जे आमक गाछ कोन ऋतुमे फूल दैत अछि।

चारुदत्त: अहाँ मूर्ख छी, हमर मित्र। बसन्त कऽ ऋतुमे, वसन्तमे।

मैत्रेय: (कुम्भीलक पाँ वापस आबि कऽ) अहाँ मूर्ख छी, वसन्तमे।

कुम्भीलक: आब हम अहाँकें एकटा दोसर देब। समृद्ध गाम सभ कऽ रक्षा के करैत अछि?

मैत्रेय: किएक, ओही रक्षक।

कुम्भीलक: (हँसैत) भूल भेल!

मैत्रेय: नीक, हम आब फसि गेल छी। (सोचैत) सुन्दर! हम चारुदत्तसँ पुनः पूछब।

(ओ वापस जाइत अछि आ चारुदत्त सम्मुख वैह प्रश्न रखैत अछि)

चारुदत्त: सेना, हमर मित्र, सेना।

मैत्रेय: (कुम्भीलक पाँ वापस आबैत) सेना, अहाँ गदहा, सेना।

कुम्भीलक: आब दोनों कऽ एक साथ मिलाउ आ बहुत तीव्र गतिसँ बाजू।

मैत्रेय: सेना-वसन्त।

कुम्भीलक: एककरा उलट कऽ बाजू।

मैत्रेय: (अपन शरीर घुमा कऽ घूमि जाइत अछि) सेना-वसन्त।

कुम्भीलक: अहाँ मूर्ख छी! अहाँ बौना छी! शब्द कऽ ओही भाग कऽ उलट कऽ बाजू!

मैत्रेय: (अपन पएर उलट कऽ घुमाबैत अछि) सेना-वसन्त।

कुम्भीलक: अहाँ महामूर्ख छी! शब्द कऽ अक्षर कऽ उलट कऽ बाजू!

मैत्रेय: (किछ काल गम्भीर चिन्तनक बाद) वसन्त-सेना।

कुम्भीलक: ओ एतय आबि गेल अछि।

मैत्रेय: तब हमरा अवश्य चारुदत्तकें सूचित करबाक चाही। (लग जा कऽ) नीक, चारुदत्त, अहाँक उत्तमर्ण (कर्जदाता) दुआरि पर अछि।

चारुदत्त: हमर कुल भीतर कोनो कर्जदाता कसरि प्रवेश कऽ सकैत अछि, मित्र?

मैत्रेय: कुल भीतर नै मुदा दुआरि पर निश्चित अछि। वसन्तसेना एतय अछि।

चारुदत्त: अहाँ हमरा किएक छलि रहल छी, हमर मित्र?

मैत्रेय: जदि अहाँकें हमर विश्वास नै अछि, तँ एही कुम्भीलकसँ पूछू। कुम्भीलक, अहाँ गदहा, एतय आबब।

कुम्भीलक: (लग जा कऽ) हम अहाँकें प्रणाम करैत छी, सर।

चारुदत्त: अहाँक बहुत स्वागत अछि, हमर नीक मनुष्य। हमरा बताउ, की वसन्तसेना वास्तवमे एतय अछि?

कुम्भीलक: हँ, ओ एतय अछि। वसन्तसेना एतय आबि गेल अछि।

चारुदत्त: (परम आनन्दसँ भरि कऽ) हमर नीक मनुष्य, हम स्वागत योग्य समाचार लाबय वाला कें कहियो बिना पुरस्कारक विदा नै कयलहुँ अछि। एककरा अपन पारितोषिक कऽ रूपमे स्वीकार करू। (ओ अपना काँखिसँ ओही चमेलीक सुगन्ध वला टुपट्टा ओकरा दऽ दैत छथि)

कुम्भीलक: (ओकरा ग्रहण कऽ कऽ आ मुड़ झुका कऽ। अत्यधिक प्रसन्नतासँ) हम जा कऽ अपन मालकिनकें कहब। (ओ प्रस्थान करैत अछि)

मैत्रेय: की अहाँ देखि सकैत छी जे ओ एहन भयानक आंधी-तूफान भीतर किएक आबि रहल अछि?

चारुदत्त: हम पूर्णतः नै बुझि पाबि रहल छी, हमर मित्र।

मैत्रेय: हम जनैत छी। ओकर विचार अछि जे कण्ठहार बहुत सस्त अछि, आ सुवर्ण-मञ्जूषा बहुत बहुमूल्य छल। ओ सन्तुष्ट नै भेलिह, आ आब कखनो आन वस्तु खोजबाक लेल अयल अछि।

चारुदत्त: (मनहि मन) ओ कहियो एतयसँ असन्तुष्ट भऽ कऽ वापस नै जायत।

(तखन यथोक्त सुवर्ण वस्त्र पहिरने, विरह-उत्कण्ठासँ भरल वसन्तसेना अपन दासी (जे हाथमे छाता पकड़ने अछि) आ ओही राजदरबारी विट कऽ साथ प्रवेश करैत छथि)

विट: (वसन्तसेना कात देखि कऽ) साक्षात लक्ष्मी छथि जे बिना कमल कऽ प्रकट भेल छथि, कामदेव कऽ धनुषसँ निकसल सभसँ सुकुमार बाण छथि, साक्षात प्रेमक जादुई वृक्ष पर खिलल सभसँ मधुर पुष्प छथि। देखू ओ कतेक मन्द आ सुकुमार चालिसँ चलि रहल छथि! कामुकताक एही क्षणमे सेहो ओ अपन लज्जा आ शालीनताकें ओनाहि तोपने छथि; उत्तम पत्नी सभ सेहो हुनका देखि कऽ अपन विरह-दुःख बिसरि जाइत छथि। जखन प्रेमक नाटक रङ्गमञ्च पर आरम्भ होयत, जखन एही प्रेमक उत्सव प्रकट होयत, तँ हजारों पथिक सभ अपन मुड़ झुका कऽ हुनकर सम्मुख ठाढ़ होबाक लेल लालायित रहत। ओ प्रसन्नतासँ एही सुन्दर दासता कऽ बन्धन स्वीकार करत।

देखू, वसन्तसेना, देखू! ई मेघ पर्वत कऽ चोटिसँ ओनाहि सटल अछि जेना कोनो कनियाँ अपन दूर गेल प्रेमीकें खोजि कऽ सटि जाइत अछि; जखन वज्र कऽ गम्भीर नाद गुञ्जि रहत, तँ मयूर अपन सभ रत्न-जड़ित पंखा उठा कऽ आकाश कऽ हवा देत।

आ पुनः सेहो: माठिसँ सटल, आ मुसलाधार वर्षा कऽ धारसँ भीजल, बेंग सभ आकाश कऽ बून्द पीबाक लेल व्याकुल अछि; अपन पूर्ण कण्ठसँ मयूर अपन तीव्र काम-वासना प्रकट कऽ रहल अछि, आ नीप कऽ फूल चारू कात जलि उठल दीपक जकां चमकि रहल अछि; अविश्वासी मेघ एही बन्धक चन्द्रमा कऽ कान्तिकें तोपि देलक अछि, जेना कोनो धूर्त कोनो बहुमूल्य रत्न चोरा लैत अछि; कोनो कुलीन मुदा असहाय कनियाँ कऽ जकां, ई चंचल बिजुली आकाशमे कतहु एक क्षण लेल स्थिर नै रहि पाबि रहल अछि।

वसन्तसेना: सर, अहाँक कहब पूर्णतः सत्य अछि। किएक तँ ई राति, एकटा ईर्ष्यालु सौतन कऽ जकां, हमर मार्ग रोकि रहल अछि; ओकर ई भयानक गर्जन हमरा रोकबाक आ छलबबाक यत्न कऽ रहल अछि: "अहाँ अपन प्रेमी पाँ कखनहि नै जा सकब, ओ मात्र हमरासँ प्रेम करैत छथि," ओ एहनहि बाजय बुझाइत अछि, "आ हमर एही गम्भीर छातीक बन्धनसँ ओ कखनहि मुक्त नै भऽ सकैत छथि।"

विट: हँ, हँ। ई बिल्कुल उचित अछि। अहाँ एही रातिकें अवश्य डाँटू।

वसन्तसेना: आ तइयो, सर, एही प्रकारक अज्ञानी (जे स्त्रीक स्वभाव नै जनैत अछि) कऽ डाँटलासँ की लाभ! किएक तँ अहाँक मोन राखबाक चाही: मेघ कतेकौ मुसलाधार वर्षा करय, कतेकौ भयानक गर्जन कसरि, वा आकाशक ऊपरसँ बिजुली कसरि चमकय; ओ सुकुमार कनियाँ गरमी या जाड़क कोनो चिन्ता नै करैत, जकर आत्मा प्रेमी कात विदा भऽ गेल हो।

विट: मुदा देखू, वसन्तसेना! एकटा दोसर मेघ, वायु कऽ चंचल वेगसँ तीव्र गतिसँ आबि कऽ—अपन बौछार कऽ हजारों बाण सभक धार फिड़कि रहल अछि, ओकर गम्भीर नाद जेना कोनो पैघ युद्धक नगाड़ा बाजि रहल हो, बिजुलीक चंचल चमक जेना ओकर भयानक विजय-पताका हो—ई मेघ आकाश भीतर अपन पूर्ण पराक्रम देखा कऽ ओनाहि ठाढ़ अछि, जेना कोनो प्रतापी वीर राजा अपन शत्रु कऽ ओही दुर्बल दुर्ग भीतर घुसि कऽ अपन पूर्ण अधिकार प्रकट करैत अछि जे चन्द्रमा कऽ कान्तिकें अपन अधीन कऽ लेलक अछि।

वसन्तसेना: सत्य, सत्य। आ एकरासँ बेसी ई अछि: करिया हाथी कऽ ढेरी जकां, ई मेघ चारू कात उमड़ि कऽ हमर छाती पर एकटा कूर बाण जकां चोट कऽ रहल अछि; जकर शरीर बिजुलीक रेखा आ सफेद पक्षी सभक पङ्क्तिसँ सुशोभित अछि। मुदा, ओह! ककरो काल जकां बुझय वाला ई बक पक्षी अपन ओही भयानक नाद "वर्षा! वर्षा! वर्षा!" कऽ साथ किएक चिल्लाइ रहल अछि—जे सीधा श्मशान कऽ निमन्त्रण बुझाइत अछि ओही अभागिन कनियाँ लेल जे अपन विरहक क्षण घोर अन्धकार भीतर बिता रहल अछि; ई तँ घाव पर नून छिटबाक जकां कष्ट दऽ रहल अछि।

विट: बहुत सत्य कहलहुँ, वसन्तसेना। आ एक बेर पुनः देखू: एहन बुझाइत अछि जेना आकाश स्वयं एकटा पैघ प्रशिक्षित हाथीक रूप धारण कऽ लेलने हो; बिजुली ओकर चंचल सूँढ़ पर हवामे लहराएत पताका जकां अछि, आ सफेद बगुला सभ ओकर पैघ मस्तक कऽ आभूषण बुझि रहल अछि।

वसन्तसेना: मुदा देखू, सर, देखू! मेघ, जे करिया तमाल कऽ पत्ता जकां करिया अछि, आकाशक पट कऽ चारू कातसँ तोपि देलक अछि; वर्षा कऽ मारिसँ मूषक सभक खोता नष्ट भऽ कऽ खसि रहल अछि जेना कोनो पशु बाण लगलासँ सीधा भूमि पर खसि पड़ैत अछि; कोनो पैघ कुलीन महल भीतर जलि उठल सुवर्ण-दीपक जकां ई चंचल बिजुली चारू कात भ्रमण कऽ रहल अछि; जेना लोक कोनो दुर्बल दासक पत्नी चोरा लैत अछि, ओनाहि एही मेघ चन्द्रमा कऽ कान्तिकें अपन अधीन कऽ चोरा लेलने अछि।

विट: देखू, वसन्तसेना, देखू! मेघ, जकर शरीर बिजुलीक चमक कऽ बन्धनसँ जकड़ल अछि, कोनो प्रखर युद्धक हाथी जकां चारू कात दौड़ि रहल अछि; इन्द्र कऽ आदेशसँ ओ अपन मुसलाधार धार कऽ एहन बौछार कऽ रहल अछि, जेसँ बुझाइत अछि पृथ्वी आ आकाश आपसमे चाँदीक हजारों फीतासँ बान्हि देल गेल हो।

आ ओतय देखू! भैंस कऽ झुण्ड जकां ई मेघ चारू कात करिया भऽ गेल अछि; वायु ओकरा एक क्षण लेल स्थिर रहबाक अवकाश नै दऽ रहल अछि; बिजुलीक पाँखि लगा कऽ ओ चारू कात ओनाहि उड़ि रहल अछि जेना कोनो चंचल समुद्र अपन मर्यादा तोड़ि कऽ उमड़ि रहल हो। वर्षा कऽ बून्द सभक प्रहारसँ भीजल, पृथ्वी कऽ ई छाती जाहि पर हरियर घास उगि गेल अछि, ओ आब मोती कऽ हजारों पेटारी जकां बुझि रहल अछि जाहि पर बाण जकां धार खसि रहल अछि।

वसन्तसेना: आ एतय एकटा दोसर मेघ अछि। मयूर अपन पूर्ण कण्ठसँ एककरा लग आबबाक लेल पुकारि रहल अछि; आ कामुक बक पक्षी आकाश कऽ ऊँचाई पर एककरा अपन आलिङ्गनमे लय रहल अछि। विरही हँस आकाश कऽ ओही मधुर रूप कात देखि रहल अछि; आ घोर करिया रङ्ग आकाश पर सदा लेल जमि गेल बुझि रहल अछि।

वित्तः सत्य। किएक तँ देखू! हजारों कमल जे राति कऽ समय खिलैत छलाह, हजारों जे दिन कऽ प्रकाशमे खिलैत छलाह, ओ आब आकाश कऽ ओही रूप कात देखि कऽ अपन आँखि बन्द कसरि वा खोलथि, एकर विवेक खो देने छथि; राति आ दिनक कोनो भेद नै बचल अछि। आकाशक मुख, जे रातिक एही अन्धकारमे तोपल अछि, ओ मात्र एकटा क्षण लेल बुझाइट अछि जखन बिजुली क्षण भरि लेल चमकि कऽ अदृश्य भऽ जाइत अछि; अन्यथा सभ कात सदा लेल घोर अन्धकार अछि। आब समस्त संसार ओनाहि गम्भीर चेतनाहीन भऽ कऽ सुतल अछि जेना वर्षा कऽ एही घर भीतर आन किछु नै बचल हो, जतय मेघक उमड़ैत रङ्ग आकाश पर एकटा विशाल धुँधुआयल ओढ़नी जकां जमि गेल अछि।

वसन्तसेना: सत्य। आ देखू! तारा सभ ओनाहि अदृश्य भऽ गेल अछि जेना कोनो दुष्ट मनुष्य कऽ कयल गेल उपकार अदृश्य भऽ जाइत अछि; अपन प्रेमीसँ अलग भऽ कऽ कानय वाली कनियाँ कऽ जकां, आकाश अपन सभ रूप आ वैभव खो देने अछि। आ इन्द्र कऽ वज्र कऽ कूर प्रहारसँ जरि कऽ, एहन बुझाइट अछि जेना आकाश स्वयं पिघलि कऽ हमर पएर पर पानि कऽ धार जकां बहि रहल हो।

आ पुनः एक बेर सेहो: मेघ पहने घोर अन्धकार कऽ साथ उठैत अछि, पुनः मुसलाधार धार कऽ साथ खसि पड़ैत अछि, आ चारू कात भयानक नाद कऽ साथ गर्जन करैत अछि; कतेको प्रकारक विचित्र आ टेढ़ रूप धारण करैत अछि जेना कोनो नीच मनुष्य अचानक प्रचुर सुवर्ण पा कऽ अहङ्कारमे चारू कात अपन रूप देखबैत अछि।

वित्तः सत्य। आकाश बिजुलीक चंचल लौ कऽ साथ अट्टहास कऽ रहल अछि; हजारों बक पक्षी सभक तीव्र चीख जेना ओकर हँसबाक आवाज हो; वायु कऽ झोंका कऽ साथ खसय वाला वज्र जेना ओकर गम्भीर नाद हो; वर्षा कऽ धार जेना ओकर बाण हो जाहि पर ओ नृत्य कऽ रहल अछि। वायु कऽ प्रखर वेगसँ ओ लड़खड़ा रहल अछि, आ मेघक एही करिया रूप कऽ जेना ओ अपन साँप वला ओढ़नी बक कऽ ओढ़ने हो, चारू कात धुँआ निकालि रहल अछि।

वसन्तसेना: ओह लज्जाहीन, लज्जाहीन आकाश! अहाँ किएक एही प्रकार भयानक गर्जन कऽ रहल छी, जखन हम अपन प्रियतम कऽ लग पहुँचि गेल छी? अहाँक एही वर्षा कऽ हाथ हमरा त्राससँ किएक जकड़ि रहल अछि?

ओह इन्द्र, महाशक्तिशाली इन्द्र! की हम पहने कहियो अहाँ कऽ अपन प्रेम अर्पण कयलहुँ छल, जे आब अहाँक ई मेघ सिँह जकां भयानक नाद कऽ रहल अछि? आह नै! अहाँकें हमर मार्गमे एही प्रकार मुसलाधार वर्षा कऽ धार नै फिड़कबाक चाही छल, जे हमर प्रियतम कात जाबय वाला मार्गमे एतेक कष्ट दऽ रहल अछि।

मोन राखू: अहल्या कऽ सुकुमार रूप लेल अहाँ स्वयं पहने कतेको कष्ट सहलहुँ छल; अहाँ एकटा प्रेमीक विरह-दुःख नीक जकां जनैत छी। जेना अहाँ ओही समय कष्ट सहलहुँ छल, ओनाहि आब हम सहि रहल छी; ओह कूर, अपन ई वर्षा बन्द कसरि।

आ तइयो: अहाँ कतेकौ भयानक गर्जन कसरि, कतेकौ मुसलाधार वर्षा कऽ धार खसाबय, वा आकाश कऽ ऊपरसँ बिजुली कसरि चमकय; ओ सुकुमार कनियाँ कखनहि नै रुकि सकैत, जकर आत्मा प्रेमी कात विदा भऽ गेल हो।

मेघ कऽ गर्जन तँ गम्भीर अछि, किएक तँ पुरुष जाति सदा कूर होइत अछि; मुदा ओह अहाँ चंचल बिजुली कनियाँ! की अहाँ पहने कहियो कोनो कनियाँ कऽ विरह-दुःख नै जनलहुँ?

वित्तः मुदा मालकिन, अहाँ बिजुलीकें कटु शब्द नै कहू। ओ अहाँक परम मित्र अछि, इन्द्र कऽ ओही श्रेष्ठ हाथी कऽ छाती पर सुवर्ण कऽ फीता जकां सुशोभित अछि; पर्वत कऽ चोटी पर जलि उठल कोनो पैघ पताका जकां अछि; इन्द्र कऽ महल भीतर जलि उठल दीपक जकां अछि; मुदा सभसँ पैघ वरदान ई अछि जे ओ अपन चमकसँ अहाँकें प्रियतमक स्थान देखा रहल अछि।

वसन्तसेना: आ एतय, सर, हुनकर घर अछि।

वित्तः अहाँ सभ कला जनैत छी, आ आब अहाँकें कोनो शिक्षाक आवश्यकता नै अछि। मुदा प्रेम हमरा बाजय लेल विवश कऽ रहल अछि। जखन अहाँ भीतर प्रवेश करब, अहाँकें अपन क्रोध बेसी प्रकट नै करबाक चाही। जतय अत्यधिक क्रोध होइत अछि, ओतय प्रेम नष्ट भऽ जाइत अछि; वा बेसी नीक कहू, बिना कोनो गम्भीर क्रोधक, प्रेमक मधुरता प्रकटहि नै होइत। अहाँ क्रुद्ध होऊ! अपन प्रियतमकें क्रुद्ध कसरि! पुनः कृपालु होऊ! आ अपन प्रियतमकें कृपालु कसरि —जकरा अहाँ प्रेम करैत छी।

ओकर एतेक तँ भऽ गेल। भीतर के अछि? चारुदत्तकें सूचित कयल जाय जे जखन मेघ अपन पूर्ण सुन्दरता देखा रहल अछि, आ नीप आ कदम्ब कऽ फूलक सुगन्धसँ संध्याकालक ई क्षण मधुर भऽ गेल अछि, ओ आब अपन प्रेमी कऽ देखबाक लेल अयल अछि, भीजल वस्त्र कऽ साथ; अपन गीला अलक कऽ साथ, मुदा प्रसन्न आ अनुरागसँ भरल; यद्यपि बिजुली आ वज्र ओकरा डराबबाक यत्न कयलक, ओ अपन प्रियतम लेलहि अयल अछि; ओ हुनका लेलहि गम्भीर निश्वास छोड़ि रहल अछि। मार्गक माठिसँ ओकर नूपुर भीजि गेल अछि, मुदा एक क्षण भीतर ओ प्रियतम कऽ चरणमे पहुँचि कऽ मधुर भऽ जायत।

चारुदत्त: (सुनैत) हमर मित्र, कृपया पता लगाउ एकर की अर्थ अछि।

मैत्रेय: हँ, सर। (ओ वसन्तसेनाक लग जाइत अछि। आदरसँ) अहाँक कल्याण हो!

वसन्तसेना: हम अहाँकें प्रणाम करैत छी, सर। अहाँक देखि कऽ हमरा प्रसन्नता भेल। (वित्त कें) सर, छाता पकड़ने ई नौकर आब अहाँक सेवामे उपस्थित अछि।

वित्त: (मनहि मन) हमरा एतयसँ विदा करबाक एकटा बहुत सुन्दर तरीका। (प्रकट) धन्यवाद। आर्या वसन्तसेना, अहाँक मुख कतेक अद्भुत अछि, अहङ्कार, चातुर्य, मधुर कला, आ छल—ई सभ अहाँक मुख पर सुशोभित अछि; कामदेव कऽ क्रीड़ाक पावन स्थल अहाँक मुख अछि; एकटा गणिकाक सभ कलाक भण्डार, आ साक्षात स्वर्गक सुख अछि अहाँक मुख—जे बजार भीतर केवल शिष्टाचार कऽ सिक्कासँहि कीनल जा सकैत अछि। हम आशा करैत छी अहाँकें एकटा एहन पुरुष भेटत जे अहाँक एही शिष्टाचारक मूल्य चुका सकथि। (वित्त प्रस्थान करैत छथि)

वसन्तसेना: उत्तम मैत्रेय, अहाँक वसन्त-कर (जुआड़ी) कतऽ छथि?

मैत्रेय: (मनहि मन) "जुआड़ी"? आहा, ओ हमर मित्रकें एकटा बहुत सुन्दर उपाधि दऽ रहल छथि। (प्रकट) मैडम, एतय ओ बगीचामे छथि जे पूर्णतः सूखि गेल अछि।

वसन्तसेना: मुदा सर, अहाँ एककरा सूखल बगीचा किएक कहि रहल छी?

मैत्रेय: मैडम, ई एकटा एहन स्थान अछि जतय खाय वा पीबाक लेल एकटा वस्तु नै बचल अछि। (वसन्तसेना हँसैत छथि) भीतर आबब, मैडम।

वसन्तसेना: (अपन दासी कें फुसफुसाबैत) जखन हम भीतर प्रवेश करब, तँ हम की कहब?

दासी: "जुआड़ी जी, आइ संध्याकालक जुआमे की भाग्य छल?"

वसन्तसेना: की हम एहन बाजय लेल साहस कऽ सकब?

दासी: जखन समय आबि जाइत अछि, तँ शब्द अपन आप निकसि जाइत अछि।

मैत्रेय: भीतर आबब, मैडम।

वसन्तसेना: (भीतर जाइत छथि, चारुदत्तक लग पहुँचैत छथि, आ हाथ कऽ फूलसँ हुनका पर सुकुमार प्रहार करैत छथि) नीक, जुआड़ी जी, आइ संध्याकालक जुआमे की भाग्य छल?

चारुदत्त: (ओकरा देखैत छथि) आहा, वसन्तसेना एतय आबि गेल छथि! (ओ आनन्दसँ उठैत छथि) ओह हमर प्रियतम, हमर संध्याकालक ई क्षण सदा अहाँक मार्ग देखबामे बीतैत छल, हमर राति विरह कऽ गम्भीर निश्वास छोड़बामे बीतैत छल; आब अहाँक आगमन जेना हमर एही विरह कऽ दुःखद अन्त कऽ देलक।

अहाँक बहुत स्वागत अछि। एतय आसन अछि। कृपया बैठू।

मैत्रेय: एतय आसन अछि। बैठू, मैडम। (वसन्तसेना बैठैत छथि, पुनः आन सभ)

चारुदत्त: मुदा देखू, हमर मित्र, वर्षा कऽ धारसँ भीजल, ओकर कानक आभूषण नीचां झुकि गेल अछि; आ ओकर सुकुमार छाती पर चन्दनक उबटन एहन सुशोभित भऽ रहल अछि, जेना कोनो प्रतापी राजा कऽ मस्तक पर सुवर्ण कऽ राजमुकुट।

हमर मित्र, आर्या वसन्तसेनाक वस्त्र भीजि गेल अछि। कखनो आन, आ सभसँ सुन्दर वस्त्र लाएल जाय।

मैत्रेय: हँ, सर।

दासी: उत्तम मैत्रेय, अहाँ एतहि रहू। हम स्वयं अपन मालकिनक सेवा करब। (ओ वस्त्र ठीक करैत अछि)

मैत्रेय: (चारुदत्त कें फुसफुसाबैत) हमर मित्र, हम आर्या कऽ एकटा प्रश्न पूछबाक इच्छा राखैत छी।

चारुदत्त: तँ पूछू।

मैत्रेय: (प्रकट) मैडम, अहाँ एही भयानक आंधी-तूफान आ अन्धकारमे किएक अयलहुँ, जखन आकाशमे चन्द्रमा सेहो देखि नै रहल छथि?

दासी: मालकिन, ई ब्राह्मण बहुत सीधा बाजय वाला छथि।

वसन्तसेना: अहाँ एककरा चतुर कहू तँ बेसी नीक।

दासी: हमर मालकिन एतय पूछबाक लेल अयल छथि जे ओही मोती कऽ कण्ठहारक मूल्य की अछि।

मैत्रेय: (चारुदत्त कें फुसफुसाबैत) देखलहुँ! हम पहिनेहि कहलहुँ छल। ओ बुझैत छथि जे कण्ठहार बहुत सस्त अछि, आ सुवर्ण-मञ्जूषा बहुत बहुमूल्य छल। ओ सन्तुष्ट नै भेलिह। ओ कखनो आन वस्तु खोजबाक लेल अयल अछि।

दासी: किएक तँ हमर मालकिन बुझलन्हि जे ओ मञ्जूषा हुनकर अपनहि छल, आ ओ ओकरा जुआमे हारि गेली। आ आब ककरो नै जनैत अछि जे जुआघरक मालिक कतऽ अछि, किएक तँ ओ राजा कऽ कार्यमे व्यस्त अछि।

मैत्रेय: मैडम, अहाँ मात्र वैह बात दोहरा कऽ कहि रहल छी जे पहने ककरो द्वारा कहल गेल छल।

दासी: जब धरि हम सभ ओकरा खोजि रहल छी, कृपया अहाँ एही सुवर्ण-मञ्जूषा कऽ ग्रहण कसरि। (ओ पेटारी देखाबैत अछि। मैत्रेय संशय करैत छथि) सर, अहाँ एककरा एतेक गम्भीरतासँ किएक देखि रहल छी? की अहाँ एककरा पहने कहियो देखलहुँ अछि?

मैत्रेय: नै मैडम, मुदा एकर सुकुमार कला मनुष्य कऽ आँखि चोरा लैत अछि।

दासी: अहाँक आँखि भ्रम भीतर अछि, सर। ई वैह सुवर्ण-मञ्जूषा अछि।

मैत्रेय: (परम आनन्दसँ भरि कऽ) वेल, हमर मित्र, ई वैह सुवर्ण-मञ्जूषा अछि जे चोर सभ हमर घरसँ आधी रातिमे चोरायने छल।

चारुदत्त: हमर मित्र, जे कला हम सभ पहने ओकर धरोहर वापस करबाक लेल कयलहुँ छल, ओही कलाक आब हमरा सभ पर प्रयोग कयल जा रहल अछि। मुदा नै! हम कसरि विश्वास कऽ सकी जे ई वास्तवमे सत्य अछि।

मैत्रेय: मुदा ई सत्य अछि। हम अपन ब्राह्मणत्व कऽ कसम खाइत छी।

चारुदत्त: ई वास्तवमे परम प्रिय समाचार अछि।

मैत्रेय: (चारुदत्त कें फुसफुसाबैत) हम पूछब जे एककरा ई कतऽ भेटल।

चारुदत्त: एकरामे कोनो हानि नै अछि।

मैत्रेय: (दासीक कान भीतर फुसफुसाबैत अछि) तँ एतय!

दासी: (मैत्रेयक कान भीतर फुसफुसाबैत अछि) तँ ओतय!

चारुदत्त: एकर की अर्थ अछि? आ हमरा सभकें बाहर किएक राखल गेल अछि?

मैत्रेय: (चारुदत्तक कान भीतर फुसफुसाबैत अछि) तँ ओतय भेल!

चारुदत्त: हमर नीक कनियाँ, की ई वास्तवमे वैह सुवर्ण-मञ्जूषा अछि?

दासी: हँ सर, बिल्कुल वैह।

चारुदत्त: हमर नीक कनियाँ, हम स्वागत योग्य समाचार लाबय वाला कें कहियो बिना पुरस्कारक विदा नै कयलहुँ अछि। एककरा अपन पारितोषिक कऽ रूपमे स्वीकार करू। (ओ अपन अङ्गुलि कात देखैत छथि आ देखैत छथि जे अङ्गुलिमे कोनो अङ्गुठी नै बचल अछि, ओ लज्जित भऽ जाइत छथि)

वसन्तसेना: (मनहि मन) हम अहाँक एही सादगी पर आ मोहित भऽ गेलहुँ।

चारुदत्त: (मैत्रेय कें फुसफुसाबैत) हाय! जखन मनुष्य एही संसार भीतर अपन सभ सुवर्ण खो दैत अछि, तँ ओकर लम्बा जीवन जिवैत रहबाक इच्छा क कोन अर्थ बचि जाइत अछि? ओकर आदर आ ओकर दण्ड कऽ कोनो मूल्य नै रहि जाइत, ओकर सभ उद्यम आ शक्ति आपसमे टूटि जाइत अछि।

बिना पाँखि कऽ पक्षी जकां, सूखल गेल पोखरि जकां, वा विरस भऽ गेल वृक्ष जकां, बिना दाँत कऽ साँप जकां—दरिद्र मनुष्य कऽ स्थिति एही संसार भीतर एहनहि भऽ जाइत अछि।

मनुष्य-रहित सुनसान घर जकां, वज्र-प्रहारसँ जरि गेल वृक्ष जकां, सूखल गेल कुआँ जकां—दरिद्र मनुष्य कऽ स्थिति एहनहि भऽ जाइत अछि। ओकर जीवनक कोनो क्षण मधुर उत्सव नै बनि पाबैत, ओ अपन पूर्व हृदयक मित्र सभ द्वारा सेहो बिसरा देल जाइत अछि।

मैत्रेय: मुदा अहाँकें एही प्रकार विवेक खो कऽ दुःख नै करबाक चाही। (ओ पैघ अट्टहास करैत अछि। प्रकट) मैडम, कृपया हमर ओही स्नान वला दुपट्टा वापस कऽ दिय'।

वसन्तसेना: चारुदत्त, अहाँकें हमर सम्मुख अपन अविश्वास नै देखेबाक चाही छल, ओही कण्ठहारकें पठा कऽ।

चारुदत्त: (लज्जित हँसि कऽ) मुदा मोन राखू, वसन्तसेना, सत्य पर के विश्वास करत? संशय आब निश्चित अछि। ई संसार कोनो दया नै देखाएत एही अमशस्वी दरिद्र पर।

मैत्रेय: हमरा बताउ, कनियाँ, की अहाँ आइ राति एतहि सुतबाक विचार राखैत छी?

दासी: (हँसैत) मुदा उत्तम मैत्रेय, अहाँ आब बहुत स्पष्ट भऽ कऽ बाजि रहल छी।

मैत्रेय: देखू, हमर मित्र, वर्षा कऽ धार पुनः पैघ वेगसँ भीतर आबि रहल अछि, जेना ई हमरा सभकें एतयसँ बाहर विदा करबाक इच्छा राखत हो, जखन हम सभ आनन्दसँ बैठल छी।

चारुदत्त: अहाँ बिल्कुल सत्य कहि रहल छी। खसत जल-धार मेघ कऽ छाती कऽ ओनाहि फाड़ि रहल अछि, जेना कोनो कमल कऽ अङ्कुर माठि कऽ; आ आकाश कऽ मुख आब अश्रु कऽ धारसँ तोपल अछि जे चन्द्रमा कऽ कान्तिकें खो कऽ कानि रहल हो।

आ पुनः सेहो: श्रेष्ठ सज्जन मनुष्यक विचार जकां निर्मल धार कऽ साथ, मुदा अर्जुन कऽ बाण कऽ प्रहार जकां कूर वेगसँ भरल, बलराम कऽ करिया ओढ़नी जकां घोर अन्धकारमय भऽ कऽ, ई मेघ आब इन्द्र कऽ हतिजोरी कऽ मोती कऽ बौछार कऽ रहल अछि।

देखू, हमर प्रियतम, देखू! आकाश घोर करिया रङ्ग कऽ लेपसँ रङ्गल बुझि रहल अछि, संध्याकालक शीतल आ सुगन्धित वायु चारू कात बहि रहल अछि; लाल बिजुली, अपन प्रेमी आकाश कऽ आलिङ्गनमे आबि कऽ, अपन सुवर्ण-बाँहि फिङ्कने अछि, आ साक्षात प्रकट कऽ रहल अछि जे कोनो कनियाँ कऽ हृदय अपन प्रेमी लेल कतेक अनुराग राखैत अछि।

(वसन्तसेना अपन पूर्ण वासनासँ भरि कऽ चारुदत्तक छाती पर अपना कऽ फिङ्कि दैत छथि आ अपन बाँहि हुनकर कण्ठमे फसा दैत छथि। चारुदत्त हुनकर सुकुमार स्पर्शक अनुभव करैत छथि आ आलिङ्गन करैत छथि)

चारुदत्त: ओह मेघ, अहाँ आब आ गम्भीर गर्जन कसरि, किएक तँ अहाँक एही कृपा कऽ कारण हमर विरही अङ्ग-अङ्ग आब कदम्ब कऽ फूल जकां खिलि रहल अछि। हुनकर एही सुकुमार स्पर्श हमर आत्माकें रोमाञ्चित कऽ देलक, आ साक्षात प्रेम हमर अन्तःकरण भीतर भरि गेल अछि।

मैत्रेय: नास हो अहाँ तूफान कऽ! अहाँ कोनो भद्र लोक नै छी, जे बिजुलीक डर देखा कऽ आर्या कऽ एही प्रकार डराबैत छी।

चारुदत्त: एही तूफान कऽ निन्दा नै कसरि, हमर मित्र। ई मुसलाधार वर्षा मानू एक सौ वर्ष धरि चलैत रहय, बिजुली कसरि चमकय आ वज्र कऽ नाद गुञ्जि रहय; किएक तँ जे हमरा लेल असम्भव छल, ओ आब सत्य भऽ गेल अछि: हम हुनकर परम प्रिय बाँहि अपन कण्ठ चारू कात अनुभव कऽ रहल छी।

आ ओह, हमर मित्र, ओही मनुष्य संसार भीतर वास्तविक वैभव कऽ अर्थ जनैत अछि, जकर प्रेमी बहुत दूर मार्ग पार कऽ कऽ ओकरा पाँ आबैत अछि, आ ओकर बाँहि ओही प्रियतम कऽ रूप कऽ जकड़ि लैत अछि जखन ओ वर्षा कऽ बून्दसँ ठण्ढा आ गीला हो।

वसन्तसेना, हमर प्रियतम, हमर घरक ई देवाल शिथिल भऽ गेल अछि; आ ई पुराना ओढ़नी आब बेसी काल टिकबाक योग्य नै अछि। पानि कऽ भारसँ ई रङ्गल देवाल आब खसि रहल अछि जाहि परसँ चूना कऽ अंश बहि रहल अछि।

(ओ ऊपर देखैत छथि) इन्द्रधनुष! देखू, हमर प्रियतम, देखू! मेघ कऽ ई भयानक सबाड़ जे आकाश भीतर खुलल अछि, ओकर बीचसँ बिजुली जेना ओकर चंचल जीभ जकां लपलपाएत बुझि रहल अछि; आ आकाश कऽ ऊपर इन्द्र कऽ ई प्रखर धनुष ओनाहि तानल गेल अछि जेना कोनो महाबाहु अपन सुवर्ण-बांहि ऊपर उठाने हो।

आउ, हम सभ कखनो सुरक्षित आश्रय भीतर चली। (ओ उठैत छथि आ चलैत छथि) ताड़ कऽ पत्ता पर तीव्र नाद कऽ साथ, वन कऽ झाड़ी भीतर गम्भीर नाद कऽ साथ, पैघ चट्टान सभ पर प्रहार कऽ साथ, पानि कऽ धार कऽ छिड़काव कऽ साथ; वीणा कऽ तार पर आघात जकां, ई वर्षा कऽ सङ्गीत चारू कात गुञ्जि रहल अछि।

(सभ प्रस्थान करैत छथि)

(एकटा दासीक प्रवेश होइत अछि)

दासी: की हमर मालकिन अखन धरि जागल नै छथि? नीक, हमरा भीतर जा कऽ हुनका जगाबाक चाही। (ओ चारू कात चलैत अछि। वसन्तसेना वस्त्र पहिरने, मुदा अखन धरि सुतल प्रकट होइत छथि। दासी ओकरा खोजि लैत अछि) आब उठबाक समय भऽ गेल अछि, मालकिन। भोर भऽ गेल छैक।

वसन्तसेना: (जागैत) की! की राति समाप्त भऽ गेल? की ई भोर अछि?

दासी: हमरा सभक लेल ई भोर अछि। मुदा हमर मालकिनक लेल एहन बुझाइत अछि जेना अखन धरि रातिहि हो।

वसन्तसेना: मुदा कनियाँ, अहाँक जुआड़ी कतऽ छथि?

दासी: मालकिन, वर्धमानककें अपन आदेश देबाक बाद, चारुदत्त महाराज पुष्पककरण्डक पुराना बगीचा कात विदा भऽ गेलाह।

वसन्तसेना: कोन आदेश?

दासी: भोरक प्रकाश भेलासँ पहिने गाड़ी तैयार राखबाक लेल; किएक तँ, ओ कहलनि जे आर्या वसन्तसेनाकें आबबाक अछि—

वसन्तसेना: कतऽ, कनियाँ?

दासी: जतय चारुदत्त महाराज छथि।

वसन्तसेना: (दासीकें आलिङ्गन करैत छथि) हम संध्याकालकें हुनका नीक जकां देखि नै पाबलहुँ। मुदा आइ हम हुनका सीधा मुख-दर-मुख देखब। हमरा बताउ, कनियाँ। की हम भीतरी अङ्गन भीतर पहुँचबाक मार्ग खोजि लेलहुँ अछि?

दासी: अहाँ न केवल भीतरी अङ्गन भीतर पहुँचबाक मार्ग खोजलहुँ अछि, एतय रहय वाला प्रत्येक मनुष्यक हृदय भीतर अपन स्थान बना लेलहुँ अछि।

वसन्तसेना: हमरा बताउ, की चारुदत्त महाराजक नौकर-चाकर सभ चिन्तित छथि?

दासी: ओ सभ होताह।

वसन्तसेना: कखन?

दासी: जखन हमर मालकिन एतयसँ विदा होयतीह।

वसन्तसेना: मुदा ओतेक नै जतेक हम होब। (विवश कऽ कऽ) एतय आबब, कनियाँ, ई मोती कऽ कण्ठहार लय लिय'। अहाँकें जा कऽ एककरा हमर आदरणीय बहिन, हुनकर नीक पत्नीकें देबाक अछि। आ हुनका हमर ई संदेश दऽ देबक: "आदरणीय चारुदत्तक गुण सभ हमरा जीति लेलक अछि, हमरा हुनकर दासी बना देलक अछि, आ एही लेल अहाँक सेहो दासी बना देलक अछि। आ अतः हम आशा करैत छी जे ई मोती अहाँक कण्ठक आभूषण बनत।"

दासी: मुदा मालकिन, चारुदत्त महाराज अहाँ पर क्रुद्ध भऽ जएताह।

वसन्तसेना: जाउ। ओ क्रुद्ध नै होताह।

दासी: (कण्ठहार लैत) हँ, मालकिन। (ओ बाहर जाइत अछि, पुनः वापस आबैत अछि) मालकिन, हुनकर आदरणीय पत्नी कहलनि अछि जे हुनकर स्वामी अहाँकें ई पुरस्कार स्वरूप देलन्हि छल, आ हुनका लेल एककरा स्वीकार करब उचित नै होयत। आ आगाँ, अहाँकें ई जनबाक चाही जे हुनकर स्वामी आ पतिहि हुनकर सभसँ श्रेष्ठ आभूषण छथि।

(चारुदत्तक छोट पुत्र रोहसेनकें लय कऽ रदनिकाक प्रवेश होइत अछि)

रदनिका: आबब, प्रिय बच्चा, आउ हम सभ अहाँक एही छोटकी गाड़ी कऽ साथ खेली।

रोहसेन: (चिढ़ि कऽ) हमरा ई माठिक छोट गाड़ी बिल्कुल नै लगैत अछि, रदनिका। हमरा हमर सोनाक गाड़ी दिय'।

रदनिका: (थकावटसँ गम्भीर निश्वास छोड़ि कऽ) आब हमरा सभक पाँ सोनासँ की प्रयोजन, हमर बच्चा? जखन अहाँक बाबूजी पुनः धनी होयताह, तखन अहाँक पाँ खेलबाक लेल सोनाक गाड़ी होयत। मुदा हम ओकरा बहलाबबाक लेल वसन्तसेनाक देखबाक लेल लय जाइत छी। (ओ वसन्तसेनाक लग जाइत अछि) मालकिन, अहाँकें हमर प्रणाम।

वसन्तसेना: अहाँक देखि कऽ हमरा प्रसन्नता भेल, रदनिका। मुदा ई छोट बच्चा ककर अछि? ओ कोनो आभूषण नै पहिरने अछि, तइयो एकर प्यारा सुकुमार मुख हमर हृदयकें आनन्दित कऽ रहल अछि।

रदनिका: ई चारुदत्त महाराजक पुत्र रोहसेन छथि।

वसन्तसेना: (अपन बाँहि पसराबैत छथि) एतय आबब, हमर बच्चा, आ अपन छोटकी बाँहि हमर कण्ठ चारू कात फसा लिय'। (ओ ओकरा अपन गोद भीतर बैठोबैत छथि) एकर स्वरूप बिल्कुल अपन बाबूजी सन अछि।

रदनिका: स्वरूपसँ बेसी, एकर स्वभाव हुनकरहि सन अछि। कम्तीसँ कम्ती हम एहनहि बुझैत छी। हुनकर बाबूजी एकरा पर पूर्ण प्राण फिड़कैत छथि।

वसन्तसेना: मुदा ओ की अछि जाहि लेल ई कानि रहल अछि?

रदनिका: ओ पड़ोसी कऽ एकटा बच्चाक सोनाक गाड़ी कऽ साथ खेलि रहल छल। मुदा ओ गाड़ी वापस लय लेल गेल, आ जखन एकरा लेल ओ पुकार कयलक, तँ हम एकरा ई माठिक छोट गाड़ी बना देलहुँ। मुदा जखन हम एकरा एकरा देलहुँ, ओ कहलक "हमरा ई माठिक छोट गाड़ी बिल्कुल नै लगैत अछि, रदनिका। हमरा हमर सोनाक गाड़ी दिय'।"

वसन्तसेना: ओह, प्रिय! ई सोचू जे एही छोट बच्चा कऽ आन लोक सभक धनी होबाक कारण कष्ट सहब पड़ि रहल छैक। आह, शक्तिशाली भाग्य! मनुष्यक नियति, कमल-पात पर खसय वाला पानि कऽ बून्द जकां अनिश्चित, अहाँ लेल केवल खिलौना बुझाइट अछि! (आँखिमे अश्रु लय कऽ) कानबाक बन्द कसरि, हमर बच्चा। अहाँकें खेलबाक लेल सोनाक गाड़ी भेटत।

रोहसेन: ई के छथि, रदनिका?

वसन्तसेना: अहाँक बाबूजीक एकटा दासी, जे हुनकर गुण सभ द्वारा जीतल गेल अछि।

रदनिका: हमर बच्चा, ई आदरणीय कनियाँ अहाँक माय छथि।

रोहसेन: अहाँ झूठ बाजि रहल छी, रदनिका। जदि ई आदरणीय कनियाँ हमर माय छथि, तँ ओ ई सुन्दर-सुन्दर आभूषण किएक पहिरने छथि?

वसन्तसेना: हमर बच्चा, अहाँक एही सुकुमार ओठ कतेक कूर गप कहि सकैत अछि। (ओ अपन आभूषण सभ खोलि कऽ हटा दैत छथि। कानैत) आब हम अहाँक माय छी। अहाँ एही सभ आभूषण कऽ लय लिय' आ अपन लेल एकटा सोनाक गाड़ी बना लिय'।

रोहसेन: पाछाँ हटू! हम एकरा नै लेब। अहाँ कानि रहल छी।

वसन्तसेना: (अपन अश्रु पोछैत) हम नै कानब, प्रिय। देखू! जाउ आ खेलू। (ओ आभूषण सभसँ माठिक गाड़ी कऽ भरि दैत छथि) देखू प्रिय, अहाँकें अपन लेल एकटा छोटकी सोनाक गाड़ी अवश्य बना लेबाक चाही।

(रोहसेनक साथ रदनिकाक प्रस्थान होइत अछि)

(एकटा गाड़ी चलाबैत वर्धमानकक प्रवेश होइत अछि)

वर्धमानक: रदनिका, रदनिका! आर्या वसन्तसेनाकें कहू जे बन्द गाड़ी कातक दुआरि पर तैयार ठाढ़ अछि।

रदनिका: (प्रवेश करैत) मालकिन, वर्धमानक एतय अछि, आ ओ कहि रहल अछि जे गाड़ी कातक दुआरि पर प्रतीक्षा कऽ रहल अछि।

वसन्तसेना: ओकरा एक क्षण प्रतीक्षा करबाक चाही, कनियाँ, जब धरि हम तैयार भऽ जाइत छी।

रदनिका: एक क्षण प्रतीक्षा करू, वर्धमानक, जब धरि ओ तैयार भऽ जाइत छथि। (प्रस्थान करैत अछि)

वर्धमानक: हे भगवान, हम गाड़ीक गद्दी बिसरि गेलहुँ। हमरा जा कऽ ओकरा लाबाक चाही। मुदा नाकक रस्सीक कारण बैल सभ बहुत चंचल भऽ रहल अछि। हमरा गाड़ी कऽ अपन साथहि लय जबाक विचार करबाक चाही। (प्रस्थान करैत अछि)

वसन्तसेना: हमर वस्तु सभ लाउ, कनियाँ। हमरा अपना कऽ तैयार करबाक चाही। (ओ ओनाहि करैत अछि)

(एकटा गाड़ी चलाबैत संस्थानकक नौकर स्थावरकक प्रवेश होइत अछि)

स्थावरक: राजा कऽ सादर संस्थानक हमरा कहलनि जे "एकटा गाड़ी लिय", स्थावरक, आ जतेक तीव्र भऽ सकय पुष्पककरण्डक पुराना बगीचा कात आबब।" नीक, हम ओही मार्ग पर छी। आगाँ बढू, बैल सभ, आगाँ बढू! (ओ गाड़ी चलाबैत अछि आ चारू कात देखैत अछि) की! गामक लोक सभक गाड़ी कऽ कारण मार्ग पूर्णतः बन्द अछि। आब हम की करब? (अहङ्कारसँ) हमर मार्गसँ पाछाँ हटू, अहाँ सभ! हमर मार्गसँ पाछाँ हटू! (ओ सुनैत अछि) ओ की अछि? अहाँ जनबाक इच्छा राखैत छी जे ई ककर गाड़ी अछि? ई गाड़ी राजा कऽ सादर संस्थानकक अछि। अतः हमर मार्गसँ पाछाँ हटू—आ एही क्षण, तुरंत! (ओ चारू कात देखैत अछि) की! एतय एकटा मनुष्य दोसर दिशा कात ओनाहि तीव्र गतिसँ दौड़ि रहल अछि जेना कोनो भागल जुआड़ी हो, आ ओ हमर कात एही प्रकार देखि रहल अछि जेना हम कोनो जुआघरक मालिक छी। हमरा आश्चर्य भऽ रहल अछि जे ओ के अछि। मुदा तखन, एकरामे हमर की प्रयोजन? हमरा जतेक तीव्र भऽ सकय ओतय पहुँचबाक चाही। हमर मार्गसँ पाछाँ हटू, अहाँ गामक लोक सभ, हमर मार्गसँ पाछाँ हटू! ओ की अछि? अहाँ चाहैत छी जे हम एक क्षण रुकि कऽ अहाँक चक्र कऽ अपन कान्हक बल दऽ? नास हो अहाँक! हमर सन एकटा वीर पुरुष, जे राजा कऽ सादर संस्थानकक सेवा करैत अछि, ओ अहाँक चक्र कऽ अपन कान्हक बल दऽ? मुदा आखिर, ओ बेचार पूर्णतः अकेला अछि। हम ओकर सहायता करब। हम अपन गाड़ी चारुदत्तक बगीचाक कातक दुआरि पर रोकि देब। (ओ ओनाहि करैत अछि) हम आबि रहल छी! (प्रस्थान करैत अछि)

दासी: मालकिन, हमरा बुझाइट अछि जे हम चक्र कऽ नाद सुनि रहल छी। गाड़ी एतय आबि गेल होयत।

वसन्तसेना: आबब, कनियाँ। हमर हृदय व्याकुल भऽ रहल अछि। हमर साथ कातक दुआरि कात चलू।

दासी: हमर पाछाँ आबब, मालकिन।

वसन्तसेना: (चारू कात चलैत छथि) अहाँ विश्रामक योग्य छी, कनियाँ।

दासी: धन्यवाद, मालकिन। (प्रस्थान करैत अछि)

वसन्तसेना: (जखन ओ गाड़ी भीतर प्रवेश करैत छथि, तँ हुनकर दहिना आँखि फड़कबाक अभिनय होइत अछि) हमर दहिना आँखि एही क्षण किएक फड़कि रहल अछि? मुदा चारुदत्त महाराजक दर्शन एही कुसङ्केतकें नष्ट कऽ देत।

(स्थावरकक प्रवेश होइत अछि)

स्थावरक: हम मार्गसँ आन गाड़ी सभ हटा देलहुँ अछि, आ आब हम आगाँ बढ़ब। (ओ गाड़ी पर चढ़ैत अछि आ गाड़ी चलाबैत अछि। अपन मनमे) गाड़ी किछ भारी भऽ गेल अछि। मुदा हमरा बुझाईत अछि जे ई मात्र हमर भ्रम अछि, किएक तँ ओही चक्र कऽ बल देबाक कारण हम थिक गेल छी। नीक, हम आगाँ बढ़ब। आगाँ बढ़ू, बैल सभ, आगाँ बढ़ू!

नेपथ्यसँ एकटा आवाज: आरक्षी! आरक्षी! प्रत्येक मनुष्य अपन स्थान पर सचेत रहू! ओही युवा अहीर (ग्वाला) आब कारागार तोड़ि कऽ, आरक्षी कप्तानकें मारि कऽ, अपन जंजीर फाड़ि कऽ भागि गेल अछि। ओकरा पकड़ू! ओकरा पकड़ू!

(पएरमे लोहक एकटा भारी जंजीर बान्हल, अपन मुख तोपने, व्याकुलतासँ भागल आर्यकक प्रवेश होइत अछि। ओ चारू कात चलैत अछि।)

स्थावरक: (अपन मनमे) नगर भीतर पैघ कोलाहल अछि। हमरा जतेक तीव्र भऽ सकय एतयसँ पाछाँ हटि जबाक चाही। (प्रस्थान करैत अछि।)

आर्यक: हम अपन पाछाँ छोड़ि अयलहुँ ओही भयानक समुद्रकें, जे मानवीय दुःख आ संतापसँ भरल छल—राजा कऽ ओही कारागारकें। कोनो पैघ युद्धक हाथी जकां जे अपन शृङ्खला तोड़ि कऽ भागैत अछि, हम अपन एही भारी जंजीर भी भीजल पएर कऽ साथ कष्टसँ घसीटि रहल छी।

राजा पालक एकटा ज्योतिषीक भविष्यवाणीसँ भयभीत भऽ कऽ, हमरा हमर ओही गामसँ उठा लेलन्हि जतय हम रहैत छलहुँ, हमरा बान्हि देलन्हि, आ एकटा सुनसान कोठरी भीतर फिङ्क देलन्हि, जतय हम अपन मृत्युक प्रतीक्षा कऽ रहल छलहुँ। मुदा हमर नीक मित्र शर्विलकक सहायतासँ हम भागि गेलहुँ। (ओ अश्रु बहाबैत अछि।)

जदि हमर नियति एहन छल, तँ कम्तीसँ कम्ती एकरामे हमर की दोष छल जे ओ हमरा कोनो वनक भयानक पशु जकां पिञ्जरा भीतर बन्द कऽ देलक? मनुष्य राजा सभ कऽ साथ युद्ध कऽ सकैत अछि, मुदा भाग्य कऽ साथ नै—आ तइयो, की असहाय मनुष्य पैघ सत्ता सभ कऽ सामना कऽ सकैत अछि? हम अपन एही दुःखक साथ कतऽ जाब? (ओ चारू कात देखैत अछि।) एतय कोनो भला मनुष्यक घर अछि, जकर कातक दुआरि पर कोनो ताला नै बान्हल अछि।

घर पुरान अछि, दुआरि पर कोनो ताला नै अछि, आ एकर कपाट सेहो टेढ़ अछि; निश्चित रूपसँ कोनो एहन मनुष्यक निवास अछि, जे भाग्यक कूर प्रहार हमराहि सन सहि रहल अछि।

हम एतहि भीतर प्रवेश करब आ प्रतीक्षा करब।

नेपथ्यसँ एकटा आवाज: आगाँ बढ़ू, बैल सभ, आगाँ बढ़ू!

आर्यक: (सुनैत) आहा, एकटा गाड़ी एही मार्ग कात आबि रहल अछि।

जदि ई कोनो भ्रमण लेल विदा भेल गाड़ी हो, आ एकर भीतर रहय वाला मनुष्य कूर स्वभावक नै हो; कोनो कुलीन कनियाँक प्रतीक्षा कऽ रहल सुन्दर गाड़ी हो; या कोनो धनी मनुष्यक गाड़ी हो जे नगरसँ बाहर जाइ रहल हो—आ जदि ई खाली हो, भाग्य कृपालु सिद्ध हो, तँ हमर एही व्याकुल आत्मा लेल ई ईश्वरक वरदान बुझायत।

(हाथमे गद्दी लेने गाड़ी कऽ साथ वर्धमानकक प्रवेश होइत अछि।)

वर्धमानक: देखू, हम गद्दी लय अयलहुँ अछि। रदनिका, आर्या वसन्तसेनाकें कहू जे गाड़ी तैयार ठाढ़ अछि आ ओकरा भीतर बैठि कऽ पुष्पककरण्डक पुराना बगीचा कात चलबाक चाही।

आर्यक: (सुनैत) ई कोनो गणिकाक गाड़ी अछि, जे नगरसँ बाहर जाइ रहल अछि। सुन्दर, हम भीतर घुसि जाब। (ओ सजगतासँ लग जाइत अछि।)

वर्धमानक: (पएरक नाद सुनि कऽ) आहा, नूपुर कऽ झङ्कार! आदरणीय कनियाँ एतय आबि गेली। मालकिन, नाकक रस्सीक कारण बैल सभ बहुत चंचल भऽ रहल अछि। अहाँक लेल पाछाँसँ भीतर चढ़ब बेसी नीक होयत। (आर्यक ओनाहि करैत अछि) नूपुर कऽ झङ्कार मात्र तब धरि होइत अछि जब धरि पएर चलैत अछि, आ आब नाद बन्द भऽ गेल अछि। एकर अतिरिक्त, गाड़ी भारी भऽ गेल अछि। हमरा विश्वास अछि जे आदरणीय कनियाँ भीतर चढ़ि गेली। हम आगाँ बढ़ब। आगाँ बढ़ू, बैल सभ, आगाँ बढ़ू! (ओ गाड़ी चलाबैत अछि। वीरकक प्रवेश होइत अछि।)

वीरक: आउ, आउ! जय, जयमना, चन्दनक, मङ्गल, फुल्लबद्र, आ अहाँ सभ आन! अहाँ सभ एतेक शान्त कसरि छी, जखन ओही अहीर युवक अपन बन्धन फाड़ि कऽ, कारागार तोड़ि कऽ राजा कऽ हृदय कऽ एक साथ दो टुकड़ा कऽ देलक अछि?

एतय! अहाँ मुख्य मार्गक पूर्वी दुआरि पर ठाढ़ रहू, अहाँ पश्चिमी पर, अहाँ दक्षिणी पर, अहाँ उत्तरी पर। हम एही टूटल देवाल कऽ ऊपर चन्दनक कऽ साथ चढ़ब आ एक दृष्टि देखब। आउ, चन्दनक, आउ! एही मार्गसँ! (अत्यधिक उत्तेजनासँ चन्दनकक प्रवेश होइत अछि।)

चन्दनक: आउ, आउ! वीरक, विशल्य, भीमाङ्गद, दण्डकाल, दण्डशूर, आ अहाँ सभ आन! तीव्र गतिसँ आउ, हमर विश्वासु सिपाही सभ! कार्य आरम्भ कसरि! आब उद्यम कसरि, कखनो एहन नै हो जे पुराना राजा विदा भऽ जाथि आ एकटा नव राजा भीतर प्रवेश कऽ कऽ बैठि जाथि।

बगीचा सभमे खोजू, जुआघर सभमे, नगर भीतर आ राजपथ पर; बजारमे, गाम भीतर, जतय कतहु अहाँकें भेटय;

जे किछु संशय कऽ जकां बुझाय। आब, वीरक, बाजू, ओ के छल जे ओही युवा अहीर कऽ बचा कऽ लय गेल जे अखने भागि गेल अछि?

के ओही नक्षत्र भीतर जन्म लेलेने छल जखन सूर्य अपन आठम भवनमे छलाह, या चन्द्रमा अपन चौथममे, या जखन बृहस्पति अपन छठम भवनमे देखि रहल छलाह, या जखन शनि अपन नौम भवनमे विश्राम कऽ रहल छलाह, या अपन छठम भवन भीतर जखन शुक्र अपन घर बनाने छली, या मङ्गल अपन पञ्चम भवन भीतर? ओ के छथि जे ओही अहीर कऽ अपन संरक्षण देबाक साहस करताह, जखन धरि चन्दनक अखन धरि जीवित अछि? 9,

वीरक: चन्दनक, अहाँकें राजा कऽ कड़ा नियम जनबाक चाही! हम अहाँक हृदय कऽ कसम खाइत छी, ओ बहुत काल पहिने कारागारसँ मुक्त भऽ गेल छल, किएक तँ अहीर ओही समय भागि गेल छल जखन सूर्य आधा सेहो नै उठल छलाह।

वर्धमानक: आगाँ बढू, बैल सभ, आगाँ बढू!

चन्दनक: (गाड़ी कऽ देखि कऽ) देखू, मनुष्य, देखू! एकटा बन्द गाड़ी मार्गक मध्य भागमे तीव्र गतिसँ जाइ रहल अछि; एकर निरीक्षण कसरि जे ई ककर अछि, आ एकर भीतर की भार लदाएल अछि!

वीरक: (गाड़ी कऽ देखि कऽ) एतय, चालक, अपन गाड़ी रोकू! ई ककर गाड़ी अछि? एकर भीतर के अछि? एककरा कतऽ लय जाया जा रहल अछि?

वर्धमानक: ई चारुदत्त महाराजक गाड़ी अछि। आर्या वसन्तसेना एकर भीतर छथि। हम हुनका पुष्पककरण्डक पुराना बगीचा कात महाराज चारुदत्तसँ मिलबाक लेल लय जाइ रहल छी।

वीरक: (चन्दनकक लग जाइत अछि) चालक कहि रहल अछि जे ई चारुदत्त महाराजक गाड़ी अछि; वसन्तसेना एकर भीतर छथि; ओ ओकरा पुष्पककरण्डक पुराना बगीचा कात लय जाइ रहल अछि।

चन्दनक: तखन एककरा विदा होबाक दिय'।

वीरक: बिना कोनो निरीक्षण कऽ?

चन्दनक: निश्चित रूपसँ।

वीरक: ककर अधिकार पर?

चन्दनक: चारुदत्त महाराजक अधिकार पर।

वीरक: चारुदत्त के छथि, या वसन्तसेना के छथि, जे गाड़ी बिना कोनो निरीक्षण कऽ विदा भऽ जाय?

चन्दनक: की अहाँ चारुदत्त महाराजकें नै जनैत छी, मनुष्य? नहि वसन्तसेनाकें? यदि अहाँ चारुदत्त महाराजकें नै जनैत छी, नहि वसन्तसेनाकें, तँ अहाँ आकाश भीतर कऽ चन्द्रमाकें नै जनैत छी, नहि ओकर पवित्र कान्तिकें।

ओ के छथि जे गुणक एही चन्द्रमाकें नै जनैत, जे चरित्र कऽ सुकुमार कमल-पुष्प छथि, चारू समुद्रक अमूल्य रत्न छथि, आ मनुष्यक संकटकालक एकमात्र रक्षक छथि?

ई दोनों पूर्णतः आदरक योग्य छथि, हमर उज्जयिनी नगरीक आभूषण छथि—वसन्तसेना आ चारुदत्त महाराज, जे श्रेष्ठताक समुद्र छथि।

वीरक: सुन्दर, सुन्दर, चन्दनक! चारुदत्त? वसन्तसेना? हम हुनका सभकें नीक जकां जनैत छी, जेना हम आन कोनो वस्तु जनैत छी; मुदा जखन हम अपन राजा कऽ सेवा भीतर होइत छी, तँ हम अपन बाप कऽ सेहो आदर नै जनैत छी।

आर्यक: (अपन मनमे) पूर्व जन्म भीतर निश्चित रूपसँ एक हमर शत्रु रहल होयत, आ दोसर हमर बन्धु। किएक तँ देखू! हुनकर कार्य एकहि अछि; मुदा हुनकर मार्ग आ हुनकर इच्छा भिन्न अछि; जेना विवाहक पवित्र दिन कऽ आदर देबय वाला दीपक कऽ लौ, आ श्मशान कऽ चिता भीतर जलय वाला भयानक आगि।

चन्दनक: अहाँ एकटा बहुत सजग कप्तान छी जकरा पर राजा पूर्ण विश्वास करैत छथि। हम बैल सभकें पकड़ि कऽ राखि रहल छी। अहाँ अपन निरीक्षण कसरि।

वीरक: अहाँ सेहो एकटा रक्षक छी जकरा पर राजा पूर्ण विश्वास करैत छथि। अहाँ स्वयं निरीक्षण कसरि।

चन्दनक: यदि हम निरीक्षण करब, तँ की ई बिल्कुल वैह नै होयत जेना अहाँ कयलहुँ हो?

वीरक: यदि अहाँ निरीक्षण करब, तँ ई बिल्कुल वैह होयत जेना स्वयं राजा पालक कयलन्हि हो।

चन्दनक: गाड़ी कऽ काठ ऊपर उठाउ, मनुष्य! (वर्धमानक ओनाहि करैत अछि)

आर्यक: (अपन मनमे) की आरक्षी कप्तान हमर निरीक्षण करबाक लेल तैयार छथि? आ हमर पाँ कोनो तलवार नै अछि, कूर भाग्य! मुदा कम्तीसँ कम्ती, वीर भीमसेन कऽ पराक्रम हम अवश्य देखब; हमर ई बांहिहि हमर तलवार बनत। कोनो कोठरी भीतर जंजीरसँ बान्हल रहि कऽ दुःख सहबा सँ नीक एकटा वीर योद्धाक मृत्यु अछि।

मुदा बल प्रयोग करबाक समय अखन धरि नै अछि। (चन्दनक गाड़ी भीतर प्रवेश करैत छथि आ चारू कात देखैत छथि)

आर्यक: हम अहाँक शरणमे छी।

चन्दनक: (संस्कृतमे बाजैत) जे शरणमे आबि गेल, ओ सुरक्षित रहत।

आर्यक: जखन कहियो ओ युद्ध करत, ओही मनुष्य कऽ सभ अङ्ग घायल होयत, ओकर अपन मित्र आ बन्धु ओकरा विमुख भऽ कऽ छोड़ि देताह; जे ककरो शरण आ सहायता चाहय वाला कऽ त्याग कऽ दैत अछि, ओ सदा लेल अपमानक भागी होइत अछि; ई एकटा कहियो नै क्षमा करबाक योग्य पाप अछि।

चन्दनक: की! अहीर युवक आर्यक? बाज पक्षीसँ डरि कऽ भागि रहल कोनो पक्षी कऽ जकां, ओ शिकारीक हाथ भीतर आबि कऽ खसि पड़ल अछि।

(सोचैत) ओ कोनो पापी मनुष्य नै अछि, ई पुरुष जे हमर संरक्षण चाहैत अछि आ चारुदत्त महाराजक गाड़ी भीतर बैठल अछि। एकर अतिरिक्त, ओ हमर

नीक मित्र शर्विलकक साथी अछि, जे हमर प्राण बचेबाक काज कयलक छल। दोसर कात, राजा कऽ कड़ा आदेश अछि। एही प्रकारक संकट भीतर मनुष्य की कऽ सकैत अछि? नीक, जे होबाक अछि ओ होयत। हम अखने ओकरा अपन संरक्षण देबाक प्रतिज्ञा कयलहुँ अछि।

जे भयसँ काँपि रहल मनुष्य कऽ सहायता दैत अछि, आ अपन पड़ोसीक दुःख दूर करबामे आनन्द पाबैत अछि; यदि ओकरा मरबहि पड़त तँ ओ मरत; मुदा ओकर यश सदा लेल सुरक्षित रहत।

(ओ व्याकुलतासँ नीचां उतरैत छथि) हम ओही भद्र पुरुष कऽ—हमर अर्थ अछि, आदरणीय कनियाँ वसन्तसेनाकेँ देखलहुँ अछि, आ ओ कहि रहल छथि जे "की ई उचित अछि, की ई कोनो भद्र लोक कऽ व्यवहार अछि जखन हम चारुदत्त महाराजसँ मिलबाक लेल जाइ रहल छी, तँ राजपथ पर हमर एही प्रकार अपमान कयल जाय?"

वीरक: चन्दनक, हमर मन भीतर संशय उठि रहल अछि।

चन्दनक: संशय? कसरि?

वीरक: अहाँक कण्ठ भीतरसँ एकटा व्याकुल नाद निकसल; ई किछ संशय कऽ जकां बुझाइत अछि।

अहाँ पहने कहलहुँ "हम ओही भद्र पुरुष कऽ देखलहुँ," आ पुनः कहलहुँ "हम ओही आदरणीय कनियाँ कऽ देखलहुँ।"

वैह कारण अछि जाहि लेल हम सन्तुष्ट नै छी।

चन्दनक: अहाँक साथ की समस्या अछि, मनुष्य? हम सभ दक्षिण कऽ लोक छी आ हमर बोली सीधा नै होइत। हम सभ म्लेच्छ सभक हजारों बोली सभ जनैत छी—खश, खट्टी, कद, कदत्थोबिल, कर्नाटक, कर्ण, प्रावरण, द्राविड़, चोल, चीन, बर्बर, खेर, खान, मुख, मधुघात, आ ओही सभ आन; आ ई पूर्णतः हमर मनक स्थिति पर निर्भर करैत अछि जे हम कखन "ओ पुरुष" कहि वा "ओ स्त्री", "भद्र पुरुष" कहि वा "आदरणीय कनियाँ"।

वीरक: की हम स्वयं एक बेर भीतर देखि नै सकैत छी? ई राजा कऽ कड़ा आदेश अछि। आ राजा हमरा पर पूर्ण विश्वास करैत छथि।

चन्दनक: एहन बुझाइत अछि जेना राजा हमरा पर विश्वास नै करैत होबथि!

वीरक: की ई महाराज कऽ आज्ञा नै अछि?

चन्दनक: (अपन मनमे) जदि लोक सभ कऽ ई जनबाक अवसर भेटत जे ओही उत्तम अहीर चारुदत्त महाराजक गाड़ी भीतर भागि गेल अछि, तँ राजा चारुदत्त महाराजकेँ एकर कूर फल दऽ कऽ कष्ट देताह। आब की कयल जाय? (सोचैत) हम एकटा पैघ झगड़ा खड़ा करब, जेना कर्नाटक कऽ लोक करैत छथि। (प्रकट) नीक, वीरक, हम स्वयं एक बेर निरीक्षण कऽ लेलहुँ अछि—हमर नाम चन्दनक अछि—आ अहाँ ओकरा पुनः करबाक इच्छा राखैत छी। अहाँ के छी आखिर?

वीरक: नास हो अहाँक! अहाँ के छी आखिर?

चन्दनक: एकटा प्रतिष्ठित आ बहुत सम्मानित पुरुष, आ अहाँ अपनहि कुल कऽ नाम बिसरि गेल छी।

वीरक: (क्रोधसँ) नास हो अहाँक! हमर कुल की अछि?

चन्दनक: ओही वस्तु सभक गप के कसरि?

वीरक: बाजू!

चन्दनक: हमरा बुझाइत अछि जे हमरा नै बाजयब उचित होयत। हम अहाँक कुल जनैत छी, मुदा हम नै कहब; एकरा प्रकट करब मर्यादा कऽ अनुकूल नै होयत; सड़ि गेल कोनो सेव कऽ की मूल्य होइत अछि आखिर?

वीरक: बाजू, बाजू! (चन्दनक एकटा विशेष चतुर सङ्केत करैत छथि) नास हो अहाँक! एकर की अर्थ अछि?

चन्दनक: एक हाथ भीतर टूटल पत्थर कऽ औजार—दोसर हाथ भीतर बाल काटय वाला काती कऽ औजार—ओही चंचल दाढ़ी कऽ ठीक करबाक लेल जे चारू कात बढ़ि जाइत अछि, आ अहाँ—किएक, अहाँ राजा कऽ एकटा कप्तान छी आखिर!

वीरक: सुन्दर, चन्दनक, अहाँ सम्मानित पुरुष, अहाँ सेहो अपन कुल कऽ नाम बिसरि गेल छी।

चन्दनक: हमरा बताउ। हम कोन कुलक छी, हम, चन्दनक, जे चन्द्रमा जकां निर्मल छी?

वीरक: ओही वस्तु सभक गप के कसरि?

चन्दनक: बाजू, बाजू! (वीरक एकटा विशेष सङ्केत करैत अछि) नास हो अहाँक! एकर की अर्थ अछि?

वीरक: सुनू! अहाँक घर बहुत पवित्र अछि; अहाँक बाप एकटा पैघ ढोल छलाह, अहाँक माय एकटा छोटकी ढोलकी छली, अहाँ नीच! अहाँक भाय एकटा खञ्जड़ी छलाह—टम, टम! आ अहाँ—किएक, अहाँ राजा कऽ एकटा कप्तान छी आखिर!

चन्दनक: (घोर क्रोधसँ प्रज्वलित भऽ कऽ) हम, चन्दनक, चमड़ा कऽ काज करय वाला (चर्मकार)! अहाँ आब गाड़ी कऽ देखि सकैत छी।

वीरक: अहाँ! चालक! गाड़ी कऽ उलट कऽ घुमाउ। हम भीतर देखबाक इच्छा राखैत छी।

(वर्धमानक गाड़ी घुमाबैत अछि। वीरक भीतर चढ़बाक यत्न करैत अछि। चन्दनक ओकरा घोर क्रोधसँ केशसँ पकड़ि लैत छथि, भूमि पर पटकि दैत छथि आ लात मारैत छथि)

वीरक: (उठैत, घोर क्रोधसँ) नास हो अहाँक! हम शान्तिसँ राजा कऽ कार्य भीतर विदा भऽ रहल छलहुँ, जखन अहाँ हमरा केशसँ पकड़ि कऽ भूमि पर पटकलहुँ आ लात मारलहुँ। तँ सुनू! जदि हम अहाँकेँ न्यायालय कऽ बीचोबीच शूल पर चढ़ा कऽ मृत्युदण्ड नै देवा देलहुँ, तँ हमर नाम वीरक नै।

चन्दनक: बहुत नीक। न्यायालय जाउ वा न्याय कऽ कोनो आन महल भीतर। हमरा अहाँ सन कुकुर कऽ कोनो चिन्ता नै अछि।

वीरक: हम जाब। (प्रस्थान करैत अछि)

चन्दनक: (चारू कात देखैत छथि) आगाँ बढू, चालक, आगाँ बढू! जदि केओ अहाँसँ पूछत, तँ मात्र एतेक कहब जे "गाड़ीक निरीक्षण चन्दनक आ वीरक दोनों द्वारा कयल गेल अछि।" आदरणीय कनियाँ वसन्तसेना, हम अहाँकेँ एकटा मार्ग-पत्र (तलवार) दऽ रहल छी। (ओ आर्यककेँ एकटा तलवार दऽ दैत छथि)

आर्यक: (एककरा लैत अछि। परम आनन्दसँ अपन मनमे) एकटा तलवार, एकटा तलवार! हमर दहिना आँखि तीव्र गतिसँ फड़कि रहल अछि। आब सभ किछु नीक अछि, आ हम सदा लेल सुरक्षित छी।

चन्दनक: आदरणीय कनियाँ, जेना हम अहाँकेँ एतयसँ मुक्त मार्ग देलहुँ अछि, ओनाहि हम आशा करैत छी जे हम अहाँक स्मृति भीतर सुरक्षित रहब। एकरा बाजय लेल कोनो स्वार्थपूर्ण इच्छा हमरा प्रेरित नै कयलक; आह नै! हम अपन पूर्ण स्नेह आ आदरसँ बाजि रहल छी।

आर्यक: चन्दनक पवित्र गुण सभसँ समृद्ध छथि; ओ हमर मित्र छथि—नियति एहनहि चाहने छल—जे परीक्षा कऽ एही घड़ी भीतर सत्य सिद्ध भेल छथि। हम चन्दनककेँ कखनहि नै बिसरब, जखन विधाताक ओही भविष्यवाणी सत्य सिद्ध होयत।

चन्दनक: शिव, विष्णु, ब्रह्मा, तीनों एक भऽ कऽ अहाँक रक्षा करू, आ पवित्र चन्द्रमा, आ आशीर्वाद देबय वाला सूर्य; अहाँक सभ शत्रु सभक वध होयत, जेना आदरणीय पार्वती देवी चण्ड आ मुण्ड कऽ—कूरतासँ वध कयलन्हि छल।

(गाड़ी लय कऽ वर्धमानकक प्रस्थान होइत अछि। चन्दनक रङ्गमञ्चक पाछाँ देखैत छथि) आहा! जेना ओ दूर जाइ रहल अछि, हमर नीक मित्र शर्विलक ओकर पाछाँ विदा भऽ रहल अछि। नीक, हम आरक्षी कप्तान वीरक कऽ शत्रु बना लेलहुँ अछि, जे राजा कऽ बहुत प्रिय पात्र अछि; अतः हमरा बुझाइत अछि जे हमरा सेहो अपन सभ पुत्र आ भाय सभक साथ ओकरहि पाछाँ विदा भऽ जबाक चाही।

(प्रस्थान करैत छथि)

(महाराज चारुदत्त आ मैत्रेयक प्रवेश होइत अछि)

मैत्रेयः पुष्पककरण्डक पुराना बगीचा कतेक मनोरम आ सुन्दर अछि।

चारुदत्तः अहाँ बिल्कुल सत्य कहि रहल छी, हमर मित्र। किएक तँ देखू! ई गाछ सभ, व्यापारी सभक जकां, अपन-अपन आभूषण देखा रहल अछि; प्रत्येक गाछ अपन-अपन फूल धारण कयलने अछि, जखन मधुमक्खी सभ, महसूल वसूल करबाक काजमे व्यस्त सिपाही सभक जकां, चारू कात उड़ि-उड़ि कऽ प्रत्येक फूलसँ उचित कर ग्रहण कऽ रहल अछि।

मैत्रेयः ई साधारण पत्थर कऽ आसन बहुत आकर्षक अछि। कृपया आसन ग्रहण करू।

चारुदत्तः (बैठैत) वर्धमानक कतेक काल लगा रहल अछि, हमर मित्र!

मैत्रेयः हम वर्धमानककें कहलहुँ छल जे ओ आर्या वसन्तसेनाकें लय कऽ जतेक तीव्र भऽ सकय एतय आबय।

चारुदत्तः तखन ओ किएक बिलम्ब कऽ रहल अछि? की ओ ककरो मन्द गतिसँ चलय वाला भार कऽ कारण मार्गमे रुकि गेल अछि? या गाड़ी कऽ चक्र अथवा रस्सा टूटि गेला कऽ कारण ओ वापस घूरि गेल अछि? की मार्ग भीतर कोनो अवरोध ओकरा दोसर मार्ग खोजबाक लेल विवश कऽ देलक अछि? अथवा ओकर बैल सभ, या ओ स्वयं, एही मन्द गतिसँ चलब स्वीकार कयलक अछि?

(चारुदत्तक असली गाड़ी लय कऽ वर्धमानकक प्रवेश होइत अछि, जाहि भीतर वीर आर्यक लुकाएल अछि)

वर्धमानकः आगाँ बढू, बैल सभ, आगाँ बढू!

आर्यकः (अपन मनमे) आ अखन धरि हमरा राजा कऽ गुप्तचर सभक घोर भय अछि; हमर मुक्ति अखन धरि संशय भीतर अछि, जब धरि हमर पएर भीतर ई पापी भारी जंजीर बान्हल अछि। हम ककरो बहुत भला मनुष्यक गाड़ी भीतर लुकाएल छी, ओही कोकिल कऽ सुकुमार बच्चा जकां, जकर निष्ठुर माय ओकरा छोड़ि कऽ उड़ि जाइत अछि, आ कौआ कऽ ओही अनाथ बच्चा कऽ पालन-पोषण करब पड़ैत छैक, नहि तँ ओ मरि जाइत अछि।

हम नगरसँ बहुत पैघ दूरी पार कऽ कऽ आबि गेल छी। की हमरा गाड़ीसँ नीचां उतरि कऽ एही घने गाछक वन भीतर लुका जबाक स्थान खोजबाक चाही? अथवा हमरा गाड़ीक मालिकक देखबाक प्रतीक्षा करबाक चाही? दोसर विचार करैत, हम अपना कऽ एही वन भीतर नै नुकाएब; किएक तँ लोक कहैत छथि जे आदरणीय महाराज चारुदत्त सदा हुनका सभक सहायता करैत छथि जे हुनकर संरक्षण चाहैत छथि। हम हुनका सीधा मुख-दर-मुख देखेबा सँ पहिने एतयसँ कखनहि नै जाब।

ई विचार ओही भला मनुष्यक हृदयकें परम सन्तुष्टि देत जे ओ हमरा दुःखक एही समुद्रसँ सुरक्षित निकालि लेलन्हि। हमर ई कष्ट, संताप आ पीड़ासँ भीजल शरीर, हुनकरहि मधुर उदारता कऽ कारण सुरक्षित भऽ गेल अछि।

वर्धमानकः ई बगीचा आबि गेल। हम भीतर गाड़ी लय चलैत छी। (ओ ओनाहि करैत अछि) मैत्रेय जी!

मैत्रेयः परम प्रिय समाचार अछि, हमर मित्र। ई वर्धमानकक आवाज अछि। आर्या वसन्तसेना निश्चित रूपसँ आबि गेल छथि।

चारुदत्तः वास्तवमे, बहुत नीक समाचार अछि।

मैत्रेयः अहाँ एकटा दासीपुत्र! अहाँकें एतेक बिलम्ब किएक भेल?

वर्धमानकः आदरणीय मैत्रेय जी, क्रुद्ध नै होऊ। हमरा मार्गमे स्मरण अयल जे हम गाड़ीक पैघ गद्दी बिसरि गेलहुँ छल, आ हमरा ओकरा लाबाक लेल वापस घूरि कऽ जबाक पड़ल, वैह कारण अछि जाहि लेल हमरा बिलम्ब भेल।

चारुदत्तः गाड़ी कऽ उलट कऽ घुमाउ, वर्धमानक। मित्र मैत्रेय, आर्या वसन्तसेनाकें गाड़ीसँ नीचां उतरबामे सहायता कसरि।

मैत्रेयः की हुनकर पएर भीतर कोनो भारी जंजीर बान्हल छनि, जेसँ ओ अपना कऽ पएरसँ नीचां नै उतरि सकैत छथि? (ओ उठैत अछि आ गाड़ीक ओढ़नी ऊपर उठाबैत अछि) की! ई आदरणीय मालकिन वसन्तसेना नै छथि—ई तँ महाराज वसन्तसेन छथि!

चारुदत्तः हमर मित्र, अहाँक एही परिहाससँ बस! प्रेम कखनहि प्रतीक्षा नै कऽ सकैत। हम स्वयं हुनका नीचां उतरबामे सहायता करब। (ओ उठैत छथि)

आर्यकः (चारुदत्तकें देखि कऽ) आहा! गाड़ीक आदरणीय मालिक! ओ न केवल मनुष्यक कानक लेल आकर्षक छथि, हुनकर स्वरूप आँखिकें सेहो परम सुख दऽ रहल अछि। आकाश कऽ धन्यवाद हो! आब हम पूर्णतः सुरक्षित छी।

चारुदत्तः (गाड़ी भीतर देखैत छथि आ आर्यककें पाबैत छथि) तखन ई के छथि आखिर? हाथीक सूँढ़ कऽ जकां एकर बांहि पैघ अछि, एकर छाती विशाल अछि, एकर कान्ह पुष्ट आ शक्तिशाली अछि; एकर पैघ-पैघ आँखि चंचल आ लाल अछि; कसरि एकटा एहन पुरुष कऽ, जे एतेक तेजस्वी अछि, एही प्रकार विवश भऽ कऽ युद्ध करब पड़ल छैक, आ एकर एही नीक पएर भारी जंजीर कऽ बन्धन भीतर बान्हल अछि?

अहाँ के छी, महाभाग?

आर्यकः हम अहाँक शरण चाहय वाला अहीर कुलक आर्यक छी।

चारुदत्तः की अहाँ वैह छी जकरा राजा पालक ओही गामसँ उठा कऽ, जतय अहाँ रहैत छलहुँ, कारागार कऽ भीतर बन्द कऽ देने छलाह?

आर्यकः बिल्कुल वैह।

चारुदत्त: ई साक्षात विधाताक विधान अछि जे अहाँ हमर आँखिक सम्मुख अयलहुँ; हमर आत्मा आकाशक पवित्र प्रकाशसँ सदा लेल वञ्चित भऽ जाय, जदि हम अहाँकेँ एही दुःख आ संकट कऽ घड़ी भीतर अकेला छोड़ि कऽ विमुख भऽ जाब।

(आर्यक अपन परम आनन्द प्रकट करैत अछि)

चारुदत्त: वर्धमानक, एकर पएरसँ भारी जंजीर तुरंत हटाउ।

वर्धमानक: जेना अहाँक आज्ञा, महाराज। (ओ जंजीर खोलैत अछि) महाराज, जंजीर हटा देल गेल अछि।

आर्यक: मुदा अहाँ हमरा अपन स्नेहक एकटा आ मजबूत जंजीरसँ सदा लेल बान्हि देलहुँ अछि।

मैत्रेय: आब अहाँ अपन जंजीर स्वयं पहिरि सकैत छी। ओ आब कखनहुँ मुक्त अछि। आ आब हमरा सभक लेल एतयसँ चलबाक समय भऽ गेल छैक।

चारुदत्त: शान्त रहू! लज्जा कसरि!

आर्यक: महाराज चारुदत्त, हम बिना कोनो शिष्टाचार आ औपचारिकता कऽ अहाँक गाड़ी भीतर प्रवेश कऽ लेलहुँ छल। हम अहाँसँ क्षमा मङ्गैत छी।

चारुदत्त: हम स्वयं सम्मानित अनुभव कऽ रहल छी जे अहाँ हमर साथ कोनो बनावटी शिष्टाचारक प्रयोग नै कयलहुँ।

आर्यक: जदि अहाँक आज्ञा होब, तँ आब हम एतयसँ जाब।

चारुदत्त: शान्ति कऽ साथ विदा होऊ।

आर्यक: अहाँक धन्यवाद। हम गाड़ीसँ नीचां उतरि जाइत छी।

चारुदत्त: नै, हमर मित्र। जंजीर तँ एही क्षण हटाएल गेल अछि, आ अहाँक लेल पएरसँ चलब बहुत कठिन होयत। ई एकटा एहन स्थान अछि जतय मनुष्य आनन्द खोजबाक लेल आबैत छथि, अतः एकटा गाड़ी ककरो मन भीतर कोनो संशय खड़ा नै करत। अहाँ एही गाड़ी भीतरहि बैठि कऽ अपन यात्रा आगाँ बढ़ाउ।

आर्यक: हम अहाँक बहुत आभारी छी, महाराज।

चारुदत्त: जाउ आ अपन बन्धु-बान्धव सभकेँ खोजू। अहाँक जीवनमे सदा प्रसन्नता रहय!

आर्यक: आहा! हम अहाँक रूपमे अपन परम पूज्य बन्धुकेँ खोजि लेलहुँ अछि!

चारुदत्त: जखन कखनो अहाँक बाजय कऽ अवसर भेटत, तँ हमरा स्मरण राखब।

आर्यक: हमर शब्द सदा अहाँक पवित्र नाम खोजत, हमर अपन नाम नै।

चारुदत्त: अमर देवता सभ सदा अहाँक मार्गक रक्षा करथि!

आर्यक: अहाँ स्वयं हमर रक्षा कयलहुँ, जखन हमर जीवन सभसँ पैघ सङ्कट कऽ घड़ी भीतर छल।

चारुदत्त: नै, ई तँ भाग्य छल जे हमरा एही मधुर संरक्षण देबाक अवसर देलक।

आर्यक: मुदा अहाँ भाग्य कऽ हाथक साक्षात माध्यम बनलहुँ।

चारुदत्त: राजा पालकक सिपाही सभ सजग भऽ गेल छथि, आ संरक्षण देब आ कठिन होयत। अहाँकेँ तुरंत एतयसँ विदा भऽ जबाक चाही।

आर्यक: जब धरि हम सभ पुनः नै मिलि जाइत छी, तब धरि विदा। (आर्यक गाड़ी लय कऽ प्रस्थान करैत अछि)

चारुदत्त: राजा कऽ घोर क्रोधसँ आब हमरा बहुत भय अछि; हमर लेल एही स्थान पर आ बिलम्ब करब विवेकपूर्ण नै होयत। अतः एही जंजीरकेँ कतहुँ पुराना कुआँ भीतर फिङ्क दिय'; किएक तँ गुप्तचर सभ राजाक लेल बहुत तीव्र आ दूर कऽ देखय वाला आँखि कऽ जकां कार्य करैत छथि।

(चारुदत्तक वाम (बाँया) आँखि फड़कबाक अभिनय होइत अछि) मित्र मैत्रेय, हमर हृदय आब वसन्तसेनाक देखबाक लेल बहुत व्याकुल भऽ रहल अछि।

किएक तँ आब, जे हमरा सभसँ प्रिय अछि, जकरा हम सभसँ बेसी प्रेम करैत छी, हम ओकरा नै देखि पाबलहुँ अछि; हमर बाँया आँखि तीव्र गतिसँ फड़कि रहल अछि, आ हमर ई छाती बिना कोनो प्रकट कारणक व्याकुल आ संकटसँ भरल बुझि रहल अछि।

आउ, हम सभ चली। (ओ चारू कात चलैत छथि) देखू! एकटा बौद्ध भिक्षु एही मार्ग कात आबि रहल अछि, आ एकर दर्शन एही क्षण कोनो नीक सङ्केत नै अछि। (सोचैत) ओकरा ओही मार्गसँ भीतर आबय दिय', जखन कि हम सभ एही दोसर मार्गसँ बाहर विदा भऽ जाइत छी। (दोनों प्रस्थान करैत छथि)

अष्टम अङ्कः वसन्तसेना-मोटन (वसन्तसेनाक गला दबाएब)

(हाथमे एकटा भीजल वस्त्र लेने, एकटा बौद्ध भिक्षु (पूर्व मसाज करय वाला संवाहक) कऽ प्रवेश होइत अछि)

भिक्षु: अहाँ अज्ञानी लोक सभ, अपन परलोक लेल पुण्यक सञ्चय करू! पेट पर नियन्त्रण राखू: चिन्तन आ ध्यानक नगाड़ाक नाद सुनि कऽ सदा जागृत रहू; किएक तँ जदि एहन नै करब, तँ ई इन्द्रिय सभ बहुत भयानक चोर छथि, जे अहाँक पुण्यक समस्त सञ्चित पेटारी चोराय कऽ लय जएताह।

आ पुनः हम देखि लेलहुँ अछि जे संसारक समस्त वस्तु अनित्य आ चंचल अछि, अतः आब हम एकमात्र पुण्य आ गुणक निवासस्थान बनि गेल छी।

जे मनुष्य अपन पाँचू आन्तरिक शत्रु (इन्द्रिय सभ) कऽ वध कऽ दैत अछि, आ अविद्या रूपी ओही स्त्री-शत्रुक अन्त कऽ दैत अछि जाहि द्वारा एही नगर कऽ रक्षा कयल जाइत अछि, आ जे ओही अहंकार रूपी चाण्डालक पराजित कऽ दैत अछि, ओ निश्चित रूपसँ स्वर्ग भीतर प्रवेश करबाक योग्य होइत अछि।

जदि मुड़ मुड़ाएल हो आ मुख सेहो मुड़ाएल हो, मुदा जकर हृदय भीतर वासनाक बाल नै मुड़ाएल हो, तँ एहन मनुष्यक मुड़ मुड़ौनासँ की लाभ? मुदा जकर अन्तःकरण पूर्णतः वासनासँ मुक्त भऽ गेल अछि, ओकरा मोक्षक लेल कोनो बाहरी मुड़ मुड़ौनाक आवश्यकता नै अछि।

हम अपन एही वस्त्रकें पीला (गेरुआ) रङ्गमे रङ्गि लेलहुँ अछि। आ आब हम राजा कऽ सादू संस्थानकक एही बगीचा भीतर जाब, एककरा पोखरिमे धोब, आ जतेक तीव्र भऽ सकय एतयसँ विदा भऽ जाब। (ओ चारू कात चलैत अछि आ वस्त्र धोबैत अछि)

नेपथ्यसँ एकटा आवाज: रुकू, अहाँ पापी भिक्षु, रुकू!

भिक्षु: (बाजय वाला कऽ देखि कऽ, भयसँ) ईश्वर हमर रक्षा करथि! ई राजा कऽ सादू संस्थानक अछि। मात्र एकटा भिक्षुक कोनो अपराध कऽ कारण, आब ओ जतय कतहु कोनो भिक्षुकें देखैत अछि, चाहे ओ अपराधी होबय वा नै, ओकर नाक भीतर सुराख कऽ दैत अछि आ ओकरा बैल जकां चारू कात घसीटैत अछि। एकटा असहाय मनुष्यकें एहन संकटमे कतऽ रक्षक भेटत? मुदा आखिर, परम पूज्य भगवान बुद्धहि हमर एकमात्र रक्षक छथि।

(हाथमे तलवार लेने राजदरबारी विट, आ संस्थानकक प्रवेश होइत अछि)

संस्थानक: रुकू, अहाँ पापी भिक्षु, रुकू! हम अहाँक मुड़ एही प्रकार कचरि देब जेना कोनो मदिरा-गोष्ठी भीतर लाल मूली कऽ कचरल जाइत अछि। (ओ ओकरा मारैत अछि)

विट: अहाँ मूर्ख छी, अहाँकें कोनो एहन भिक्षु पर प्रहार नै करबाक चाही जे वैराग्यक गेरुआ वस्त्र धारण कयलने अछि। एकरा छोड़ू। एकरा बदला एही बगीचा कात देखू, जे अहाँकें आनन्द लेबाक लेल आमन्त्रित कऽ रहल अछि।

आन अनाथ प्राणी सभ लेल वनक गाछ सभ साक्षात दयाक कार्य करैत अछि, हुनका प्रसन्नता आ शीतलता दैत; कोनो पापी मनुष्यक हृदय जकां ई बगीचा बिना ककरो पहरेदारीक खुल्ला ठाढ़ अछि, कोनो नव-स्थापित राज्य कऽ जकां, एकटा सहज शिकार बुझाइत अछि।

भिक्षु: ईश्वर अहाँक कल्याण करथि! दया करू, परम पूज्य भगवान बुद्धक सेवक!

संस्थानक: सर विट, अहाँ सुनलहुँ? ई हमर अपमान कऽ रहल अछि।

विट: ओ की कहि रहल अछि?

संस्थानक: कहैत अछि जे हम सेवक छी। अहाँ हमरा की बुझैत छी? कोनो ठाकुर (हज्जाम)?

विट: ओ अहाँकें परम पूज्य बुद्धक सेवक कहि रहल अछि, आ ई अहाँक कटु निन्दा नै पैघ प्रशंसा अछि।

संस्थानक: हमर आ प्रशंसा कसरि, भिक्षु!

भिक्षु: अहाँ पवित्र गुण सभसँ समृद्ध छी! अहाँ साक्षात परोपकारी पुरुष छी!

संस्थानक: देखलहुँ, सर विट? ओ कहैत अछि जे हम गुणवान छी। ओ कहैत अछि जे हम परोपकारी छी। अहाँ हमरा की बुझैत छी? कोनो नास्तिक दार्शनिक? या पानि पिलाबय वाला नाद? या कोनो कुम्हार?

विट: अहाँ मूर्ख छी, ओ अहाँक प्रशंसाहि कऽ रहल अछि जखन ओ कहैत अछि जे अहाँ गुणवान छी, अहाँ परोपकारी छी।

संस्थानक: नीक सर, मुदा ई एतय किएक अयल अछि आखिर?

भिक्षु: एही वस्त्रकें धोबाक लेल।

संस्थानक: नास हो एही भिक्षुक! हमर बहिनक पति (राजा पालक) हमरा सभसँ श्रेष्ठ बगीचा देने छथि, पुष्पककरण्डक बगीचा। कुकुर आ सियार सभ एही पोखरक पानि पीबैत अछि। आ आब हम एकटा पैघ कुलीन पुरुष छी। हम एकटा पैघ मनुष्य छी, आ हम स्वयं कहियो स्नान धरि नै करैत छी। आ अहाँ अपन ई दुर्गन्धित वस्त्र, जाहि पर बासी दालि कऽ रङ्ग लागल छैक, एतय आनि कऽ धोइ रहल छी! हमरा बुझाइत अछि जे हमर एकहि कड़ा प्रहार अहाँक जीवन समाप्त कऽ दैत।

विट: अहाँ मूर्ख छी, हमरा विश्वास अछि जे ई बहुत पहिनेसँ भिक्षु नै अछि।

संस्थानक: अहाँ कसरि कहि सकैत छी, सर?

वित्तः एकरा जनबामे कोनो पैघ बुद्धि नै चाही, देखू! एकर केश अखने मुड़ाएल गेल छैक; एकर ललाट अखन धरि सफेद अछि; एकर काँखि भीतर कऽ टेढ़ वस्त्र अखन धरि कान्ह पर कोनो घावक कलङ्क नै छोड़ने छैक; ओ एकरा बहुत अशिष्टतासँ पहिरने अछि; वस्त्र शरीरसँ कस कऽ सटल नै छैक; आ ऊपरसँ एकर नाप बिल्कुल टेढ़-मेढ़ बुझाईत छैक।

भिक्षुः सत्य कहलहुँ, परम पूज्य बुद्धक सेवक। हमरा भिक्षु बनला मात्र किछ कालहि भेल अछि।

संस्थानकः तखन अहाँ अपन पूरा जीवन पहिनेसँ भिक्षु बनल किएक नै रहलहुँ? (ओ ओकरा मारैत अछि)

भिक्षुः भगवान बुद्धक जय हो!

वित्तः एही बेचार असहाय मनुष्य कऽ मारब बन्द कसरि। एकरा अकेला छोड़ू। एकरा विदा होबाक दिय'।

संस्थानकः बस एक क्षण प्रतीक्षा करू, जब धरि हम मन्त्रणा (सलाह) नै कऽ ली।

वित्तः ककर साथ?

संस्थानकः अपनहि हृदय कऽ साथ।

वित्तः (अपन मनमे) बेचार असहाय भिक्षु! ओ एतयसँ भागि किएक नै गेल?

संस्थानकः हमर सुकुमार छोटका हृदय, हमर बच्चा आ हमर मालिक, की ई भिक्षु विदा भऽ जाय, या की ई भिक्षु एतहि रुकय? (अपन मनमे) नहि विदा होबाक दिय', नहि रुकबाक दिय'। (प्रकट) नीक सर वित्त, हम अपन हृदयसँ मन्त्रणा कऽ लेलहुँ अछि, आ हमर हृदय कहैत अछि—

वित्तः की कहैत छैक?

संस्थानकः ओ नहि विदा भऽ सकैत अछि, नहि एतहि रुकि सकैत अछि। ओ नहि ऊपर श्वास लय सकैत अछि, नहि नीचां श्वास छोड़ि सकैत अछि। ओ एही क्षण एतहि भूमि पर खसि पड़त आ अहाँक "बस" कहबा सँ पहिने मरि जायत।

भिक्षुः भगवान बुद्धक जय हो! हम अहाँक शरणमे छी।

वित्तः एकरा विदा होबाक दिय'।

संस्थानकः नीक, मात्र एकहि शर्त पर।

वित्तः आ ओ की अछि?

संस्थानकः ओकरा एही पोखरि भीतर माठि फिङ्कबाक चाही, बिना पानि कऽ गन्दा कयलने। या एकरासँ बेसी नीक, ओकरा पानिकें एकटा गोल लड्डू बना लेबाक चाही, आ ओकरा ओही सूखा माठि भीतर फिङ्कबाक चाही।

वित्तः कतेक पैघ महामूर्खता अछि ई! ई सहनशील पृथ्वी एतेक मूर्ख आ एतेक निकम्मा मनुष्य सभक भार सहि रहल अछि, जकर विचार आ जकर कर्म सभ पूर्णतः टेढ़ अछि—ई सभ केवल मांसक गाछ आ पत्थर कऽ मूर्ति जकां छथि।

(भिक्षु संस्थानक कात देखि कऽ विचित्र मुख बनाबैत अछि)

संस्थानकः एकर की अर्थ अछि?

वित्तः ओ अहाँक प्रशंसा कऽ रहल अछि।

संस्थानकः हमर आ प्रशंसा कसरि! पुनः प्रशंसा कसरि! (भिक्षु ओनाहि करैत अछि, पुनः प्रस्थान करैत अछि)

वित्तः देखू ई बगीचा कतेक सुन्दर अछि, अहाँ मूर्ख। यौ गाछ सभक देखू, जे फल आ फूलसँ सुशोभित अछि, जाहि पर चंचल लता सभ आपसमे आलिङ्गन कऽ रहल अछि; राजा कऽ पहरेदार सभ राजा कऽ बलसँ एकर रक्षा कऽ रहल छथि; एहन बुझाईत अछि जेना प्रेमी पत्नी सभ अपन पति सभकें आलिङ्गनमे लेने हो।

संस्थानकः बहुत सुन्दर वर्णन कयलहुँ, सर वित्त। भूमि चारू कात फूल सभसँ रङ्गीन भऽ गेल अछि; फूलक भारसँ पैघ-पैघ गाछ सभ नीचां झुकि गेल छैक; आ गाछक हरियर पत्ता सभक बीचसँ, ई बानर सभ हवामे ओनाहि उछलि रहल छैक, जेना कटहर कऽ फल हवा कऽ झोंकासँ हिलैत अछि।

वित्तः की अहाँ एही पत्थर कऽ आसन पर बैठब, अहाँ मूर्ख?

संस्थानकः हम बैठि गेलहुँ। (दोनों बैठि जाइत छथि) अहाँ जनैत छी, सर वित्त, हमरा आदरणीय वसन्तसेनाक स्मरण अखन धरि आबि रहल अछि। ओ एकटा अपमान कऽ जकां अछि जे हमर मनसँ बाहर नै निकसि पाबि रहल अछि।

वित्तः (अपन मनमे) एतेक पैघ तिरस्कारक बादो एकरा ओकर स्मरण आबि रहल छैक। किएक तँ कहबी अछि, जे नीच मनुष्य होइत अछि, ओकरा जदि कोनो स्त्री ठुकरा दऽ, तँ ओ ओकरा आ बेसी चाहैत अछि; मुदा जे विद्वान आ बुद्धिमान होइत अछि, ओकर वासना या तँ शान्त भऽ जाइत अछि, या सदा लेल समाप्त भऽ जाइत अछि।

संस्थानकः बहुत काल बीति गेल, सर वित्त, जखनसँ हम अपन नौकर स्थावरककें गाड़ी लय कऽ जतेक तीव्र भऽ सकय आबबाक आदेश देलहुँ छल। आ ओ अखन धरि एतय नै पहुँचल अछि। हमरा बहुत कालसँ भूख लागल अछि, आ दोपहर कऽ एही कड़ा घाममे कोनो मनुष्य पएरसँ चलि नै सकैत। किएक तँ देखू! सूर्य आकाशक बिल्कुल मध्य भाग भीतर अछि, आ एकरा कात देखब ओतेकहि कठीन अछि जेना ककरो घोर क्रोधसँ भरल बानरक मुख देखब हो; सौ पुत्र सभक मरि जबाक बाद गान्धारी कऽ जकां, ई पृथ्वी आब घोर संताप भीतर जलि रहल अछि आ संकटसँ मुक्त नै भऽ पाबि रहल अछि।

विटः सत्य कहलहूँ। समस्त पशु सभ अपन पागुर करब बन्द कऽ कऽ गाछक शीतल छाया भीतर सुति रहल छैक; कड़ा गरमी कऽ कारण अपन ओठ ठण्डा करबाक लेल, हरिण सभ वनक पोखरि कात दौड़ि रहल छैक; प्रखर घामक कारण नगरक सुनसान मार्ग सभ पथिक सभकें भयभीत कऽ रहल छैक; गाड़ी कऽ निश्चित रूपसँ दोपहर कऽ एही कड़ा सूर्यसँ बचबाक चाही छल, आ वैह कारण अछि जाहि लेल एककरा बिलम्ब भेल होयत।

संस्थानकः हँ सर विट, सूर्यक ई प्रखर किरण हमर मुड़ पर सीधा चोट कऽ रहल छैक; पक्षी, उड़य वाला समस्त जीव आ पाँखि वला प्राणी सभ गाछक डालि भीतर विश्राम कऽ रहल छैक, जखन कि मनुष्य, लोक आ व्यक्ति सभ गम्भीर निश्वास पर निश्वास छोड़ि रहल छथि; अपन घर भीतर ओ सभ तोपल छथि, अपन आवास भीतर सुतल छथि, एही कड़ा गरमी आ दोपहर कऽ भार सहबाक लेल।

नीक सर, ओ नौकर अखन धरि एतय नै अछि। हम समय बितेबाक लेल किछु गाबब। (ओ गाबैत अछि) देखू सर विट, अहाँ सुनलहुँ जे हम की गयलहुँ?

विटः हम की कहब? आहा, कतेक सुरीला अछि!

संस्थानकः एकरा सुरीला आ सुगन्धित किएक नै होबाक चाही आखिर? नागरमोथा आ जीरा कऽ हम एकटा नीक अचार बनाबैत छी, हीङ्ग, अदुआ, वच आ चीनी कऽ रस एकरामे मिलाबैत छी; वैह सुगन्धित व्यञ्जन हम बहुत चावसँ खाइत छी; तँ हमर स्वर एतेक मधुर आ श्रेष्ठ किएक नै होयत आखिर?

नीक सर विट, हम एक बेर पुनः गाबब। (ओ पुनः गाबैत अछि) देखू सर, अहाँ सुनलहुँ जे हम की गयलहुँ?

विटः हम की कहब? आहा, कतेक सुरीला अछि!

संस्थानकः एकरा सुरीला आ सुगन्धित किएक नै होबाक चाही आखिर? कोकिल कऽ सुकुमार मांस कऽ हम एकटा नीक सूप बनाबैत छी, हीङ्ग आ करिया मरिच कऽ गोटा एकरामे मिलाबैत छी; तेल आ घी कऽ धारसँ हम ओही मांसकें छिटैत छी; तँ हमर स्वर एतेक मधुर आ श्रेष्ठ किएक नै होयत आखिर?

मुदा सर विट, ओ नौकर अखन धरि एतय नै अछि।

विटः अपन मन शान्त राखू। ओ आब कम्ती समय भीतर एतहि होयत।

(संस्थानकक बन्द गाड़ी चलाबैत स्थावरक, आ भीतर वसन्तसेनाक प्रवेश होइत अछि)

स्थावरकः हम बहुत भयभीत छी। दोपहर भऽ गेल छैक। हम आशा करैत छी जे राजा कऽ साढ़ू संस्थानक क्रुद्ध नै होताह। हमरा गाड़ी आ तीव्र गतिसँ चलाबाक चाही। आगाँ बढू, बैल सभ, आगाँ बढू!

वसन्तसेनाः (भीतरसँ) हाय! ई वर्धमानकक आवाज नै अछि। एकर की अर्थ भऽ सकैत अछि? हमरा आश्चर्य भऽ रहल अछि जे की महाराज चारुदत्त एही विचारसँ भयभीत भऽ गेलाह जे बैल सभ थाकि जेताह, आ अतः ओ कोनो दोसर मनुष्यकें दोसर गाड़ी कऽ साथ पठाय देलन्हि। हमर दहिना आँखि फड़कि रहल अछि। हमर हृदय चारू कात काँपि रहल अछि। एतय चारू कात कोनो मनुष्य देखि नै रहल अछि। सभ वस्तु जेना हमर आँखिक सम्मुख नाचि रहल हो।

संस्थानकः (चक्र कऽ नाद सुनि कऽ) गाड़ी आबि गेल, सर विट।

विटः अहाँ कसरि जनैत छी?

संस्थानकः अहाँ देखि नै सकैत छी? ई कोनो बूढ़ा सूअर कऽ जकाँ चूँ-चूँ कऽ रहल छैक।

विटः (गाड़ी कऽ देखि कऽ) बिल्कुल सत्य। गाड़ी एतहि आबि गेल अछि।

संस्थानकः स्थावरक, हमर बच्चा, हमर नौकर, की अहाँ एतय आबि गेलहुँ?

स्थावरकः हँ, महाराज।

संस्थानकः की गाड़ी एतय अछि?

स्थावरकः हँ, महाराज।

संस्थानकः की बैल सभ एतय अछि?

स्थावरकः हँ, महाराज।

संस्थानकः आ की अहाँ सेहो एतय छी?

स्थावरकः (हँसैत) हँ, मालिक, हम स्वयं सेहो एतहि छी।

संस्थानकः तँ गाड़ी कऽ भीतर लय आबब।

स्थावरकः कोन मार्गसँ?

संस्थानकः सीधा एतहि सँ, जतय ई देबाल नीचाँ खसि रहल छैक।

स्थावरकः ओह मालिक, बैल सभ मरि जएताह। गाड़ी कऽ एक-एक अङ्ग टूटि कऽ अलग भऽ जएतैक। आ हम, अहाँक नौकर, स्वयं सेहो मारल जाब।

संस्थानकः हम राजा कऽ साढ़ू छी, मनुष्य। जदि बैल सभ मरि जएताह, तँ हम कखनो आन कीन लेब। जदि गाड़ी टूटि जएतैक, तँ हम दोसर बना लेब। जदि अहाँ मरि जाब, तँ कोनो दोसर चालक आबि जायत।

स्थावरकः संसारक सभ वस्तु दोबारा आबि सकैत छैक—मुदा हमर बदला कोनो दोसर स्थावरक नै आबि सकैत।

संस्थानकः सभ वस्तु कऽ टूटि कऽ अलग भऽ जबाक दिय'। देबाल कऽ ऊपरसँ गाड़ी भीतर लाउ।

स्थावरक: तँ टूटि जाउ, गाड़ी, अपन चालक कऽ साथहि टूटि जाउ। दोसर गाड़ी आबि जएतैक। हमरा जा कऽ अपन मालिकक सम्मुख उपस्थित होबाक चाही। (ओ गाड़ी भीतर लाबैत अछि) की! की गाड़ी नै टूटल? मालिक, देखू अहाँक गाड़ी एतय सुरक्षित अछि।

संस्थानक: बैल सभक शरीर दो टुकड़ामे नै फाटल? आ रस्सा सभ नै मारल गेल? आ अहाँ स्वयं सेहो नै मारल गेलहुँ?

स्थावरक: नै, महाराज।

संस्थानक: आउ, सर विट। आउ हम सभ गाड़ी कऽ देखी। अहाँ हमर आचार्य छी, सर, हमर सभसँ श्रेष्ठ आचार्य। अहाँ एकटा एहन मनुष्य छी जकर हम परम आदर करैत छी, हमर अभिन्न मित्र, एकटा एहन पुरुष जकर सम्मान करबामे हमरा आनन्द भेटैत अछि। कृपया अहाँ गाड़ी भीतर पहिने प्रवेश करू।

विट: बहुत नीक। (ओ भीतर जाब आरम्भ करैत छथि)

संस्थानक: ओतेक नै! रुकू! की ई अहाँक बाप कऽ गाड़ी अछि जे अहाँ एकरामे पहिने प्रवेश करब? हम एही गाड़ीक मालिक छी। हम एकरामे पहिने प्रवेश करब।

विट: हम तँ मात्र वैह कयलहुँ जे अहाँ कहलहुँ छल।

संस्थानक: जदि हम एहन कहि सेहो देलहुँ, तइयो अहाँकें एतेक शिष्ट अवश्य होबाक चाही छल जे अहाँ कहि सकिताह "अहाँक बाद, मालिक।"

विट: अहाँक बाद, तखन।

संस्थानक: आब हम प्रवेश करब। स्थावरक, हमर बच्चा, हमर नौकर, गाड़ी कऽ उलट कऽ घुमाउ।

स्थावरक: (ओनाहि करैत) प्रवेश करू, मालिक।

संस्थानक: (भीतर प्रवेश करैत अछि आ चारू कात देखैत अछि, पुनः घोर भय आ त्राससँ तुरंत बाहर आबि जाइत अछि, आ विटक कण्ठसँ सटि जाइत अछि) ओह, ओह, ओह! अहाँ एकटा मृत मनुष्य छी! एतय एकटा डायन अछि, या कोनो चोर अछि, जे हमर गाड़ी भीतर बैठल अछि आ जिवैत अछि। जदि ई डायन अछि, तँ हम सभ लूटल जाब। जदि ई चोर अछि, तँ हम सभ जिवैत चबा कऽ खायल जाब।

विट: भयभीत नै होऊ। एकटा डायन कसरि कोनो गाड़ी भीतर यात्रा कऽ सकैत अछि आखिर? हम आशा करैत छी जे दोपहर कऽ एही कड़ा घाम अहाँक आँखिक ज्योति मन्द नै कऽ देलक हो, जेसँ अहाँ स्थावरकक छाया कऽ ही कोनो विचित्र रूप बुझि लेलहुँ।

संस्थानक: स्थावरक, हमर बच्चा, हमर नौकर, की अहाँ जिवैत छी?

स्थावरक: हँ, महाराज।

संस्थानक: मुदा सर विट, एतय एकटा स्त्री बैठल अछि आ गाड़ी भीतर जिवैत अछि। देखू आ सत्य जानू!

विट: एकटा स्त्री? तँ आउ हम सभ अपन मुड़ तुरंत झुका कऽ एतयसँ विदा भऽ चली, ओही बैल सभक जकां जकर आँखि ऊपरसँ खसय वाला वर्षा कऽ बून्द मन्द कऽ दैत छैक; सार्वजनिक स्थान सभ पर हम अपन प्रतिष्ठा देखेबामे हिचकिचाबैत छी; आ कोनो कुलीन कनियौ कात देखेबामे हमरा सङ्कोच होइत अछि।

वसन्तसेना: (आश्चर्यसँ, अपन मनमे) ओह, ओह! ई तँ हमर आँखिक सम्मुख ओही काँटा कऽ जकां अछि, राजा कऽ साढ़ू संस्थानक। हाय! संकट बहुत पैघ अछि। असहाय स्त्री! हमर एतय आबब ओतेकहि व्यर्थ सिद्ध भेल जेना कोनो सूखा नून वला माठि भीतर पानि कऽ बून्द खसबाक जकां हो। आब हम की करब?

संस्थानक: ई बूढ़ा नौकर भयभीत अछि आ ओ गाड़ी भीतर नै देखत। की अहाँ गाड़ी भीतर देखब, सर विट?

विट: एकरामे हम कोनो हानि नै देखि रहल छी। हँ, हम देखब। (ओ देखैत छथि)

संस्थानक: की ओ सियार सभ छथि जे हमरा आकाशमे उड़ैत देखि रहल छथि, आ की ओ कौआ सभ छथि जे चारू पएरसँ चलि रहल छथि? जब धरि ओही डायन ओकरा अपन आँखिसँ चबा कऽ खायब आरम्भ करत, आ अपन दाँत सभसँ देखत, हम एतयसँ अपन प्राण बचेबाक लेल भागि जाब।

विट: (वसन्तसेनाकें देखि कऽ, उदासीसँ अपन मनमे) की ई सम्भव अछि आखिर? एकटा सुकुमार हरिण स्वयं बाधक पाछाँ चलि अयल अछि। हाय! ओकर अपना साथी शरद ऋतुक चन्द्रमा जकां सुन्दर अछि, जे रेत कऽ ढेरी पर ओकर मार्ग देखि रहल अछि; आ तइयो ई हँसिनी ओकरा छोड़ि कऽ चलि अयल अछि? आ एकटा साधारण कौआ कऽ सम्मुख नृत्य करबाक लेल तैयार अछि?

(वसन्तसेना कऽ कान भीतर फुसफुसाबैत छथि) आह वसन्तसेना! ई बिल्कुल उचित नै अछि, नहि अहाँक मर्यादा कऽ अनुकूल अछि। अहाँक अहङ्कार पहने एकरा ठुकरा देने छल, मुदा आब मात्र सुवर्ण लेल, आ अपन माय कऽ इच्छाक वश भऽ कऽ—

वसन्तसेना: नै! (ओ अपन मुड़ हिलाबैत छथि)

विट: अहाँक स्वभाव आब अहाँक प्रतिष्ठाकें नै जनैत अछि; अहाँ एकर सम्मान कऽ रहल छी, एकटा साधारण स्त्री कऽ जकां।

की हम पहने अहाँकें नै कहलहुँ छल जे "ओही पुरुष कऽ सेवा कसरि जकरा अहाँ प्रेम करैत छी, आ ओकरो जकरासँ अहाँ घृणा करैत छी"?

वसन्तसेना: हमरासँ गाड़ी पहिचानबामे भूल भऽ गेल, आ वैह कारण अछि जाहि लेल हम एतय आबि गेलहुँ। हम अहाँक शरणमे छी।

विट: भयभीत नै होऊ। आबब, हमरा एकरा अवश्य छलबबाक चाही। (ओ संस्थानक पाँ वापस आबैत छथि) अहाँ मूर्ख, भीतर वास्तवमे एकटा डायन अछि जे गाड़ी कऽ अपन घर बना लेने अछि।

संस्थानक: मुदा सर विट, जदि भीतर कोनो डायन रहि रहल अछि, तँ अहाँ लूटल किएक नै गेलहुँ आखिर? आ जदि ओ कोनो चोर अछि, तँ अहाँकें जिवैत चबा कऽ खायल किएक नै गेल?

विट: एही विषय भीतर गम्भीर विचार करबाक की आवश्यकता अछि? मुदा जदि हम सभ परसँ चलि कऽ बगीचाक मार्गसँ उज्जयिनी नगरी कात वापस चली, तँ एकरामे की हानि होयत आखिर?

संस्थानक: आ जदि हम सभ ओनाहि कयलहुँ, तँ तखन की?

विट: तखन हमरा सभक किछु व्यायाम भऽ जएत, आ बैल सभ कऽ थकावट्सँ बचाओल जा सकत।

संस्थानक: बहुत नीक। स्थावरक, हमर नौकर, गाड़ी आगाँ बढाउ। मुदा नै! रुकू, रुकू! हम साक्षात देवता सभ आ ब्राह्मण सभक सम्मुख परसँ पैदल चलब? बिल्कुल नै! हम अपन गाड़ी भीतर बैठि कऽ जाब, जाहिसँ लोक सभ हमरा बहुत दूर मार्गसँ देखि सकथि, आ कहि सकथि "ओतय देखू, ओ जाइ रहल छथि हमर मालिक, राजा कऽ साढ़ू संस्थानक।"

विट: (अपन मनमे) जहरकें अमृत भीतर बदलना बहुत कठीन अछि। एहनहि होबय तखन। (प्रकट) अहाँ मूर्ख, ई वसन्तसेना छथि, जे अहाँसँ मिलबाक लेल अयल छथि।

वसन्तसेना: ईश्वर कखनो एहन नै करथि!

संस्थानक: (परम प्रसन्नतासँ आनन्दित भऽ कऽ) ओह, ओह! हमरासँ मिलबाक लेल, एकटा पैघ कुलीन पुरुषसँ, एकटा असली मनुष्यसँ, साक्षात वासुदेवसँ?

विट: हाँ।

संस्थानक: ई एकटा एहन अद्भुत भाग्य अछि जे पढ़ने कहियो नै सुनल गेल छल। ओही दोसर समय हम ओकरा क्रुद्ध कऽ देने छलहुँ, अतः आब हम ओकर पर पर खसि पड़ब आ ओकर सम्मुख क्षमा मङ्गब।

विट: बहुत सुन्दर!

संस्थानक: हम स्वयं ओकर पर पर खसि पड़ब। (ओ वसन्तसेनाक लग जाइत अछि) हमर सुकुमार दुलहिन, हमर सुकुमार माय, हमर प्रार्थना सुनू। हम अपन हाथ जोड़ैत छी आ अहाँक पर पर खसि पड़ैत छी—अहाँक आँखि पैघ अछि, अहाँक दाँत बिल्कुल साफ आ सुन्दर अछि, अहाँक अङ्गुलि कऽ दस गोटा नख अछि—अपन एही सेवक कऽ क्षमा कऽ दिय' जे प्रेमक वासनामे पागल भऽ कऽ अपराध कऽ देलक छल, हमर प्रियतम।

वसन्तसेना: (धोर क्रोधसँ) हमरा छोड़ू! अहाँक शब्द एकटा अपमान अछि! (ओ संस्थानककें अपन पर एक ठोकरसँ पाछाँ फिङ्कि दैत छथि)

संस्थानक: (धोर क्रोधसँ प्रज्वलित भऽ कऽ) ई मुड़ जेकरा हमर माय आ आदरणीय कनियाँ चुम्बन कयलन्हि छल, जे कहियो कोनो देवताक सम्मुख आदरसँ नै झुकल छल, हम एकरा जनैत छी, एही मुड़ ऊपर एकटा गणिकक बेटी अपन पर रखबाक पराक्रम देखौलक, ओही सियार सभक जकां जे कोनो मृत मांस ऊपर उछलैत अछि।

स्थावरक, अहाँ पापी नौकर, अहाँ एककरा कतयसँ उठा कऽ लाबने छी आखिर?

स्थावरक: मालिक, गामक लोक सभक गाड़ी कऽ कारण मुख्य मार्ग पूरे बन्द छल। अतः हम गाड़ी महाराज चारुदत्तक बगीचाक दुआरि पर रोकि कऽ बाहर गेल छलहुँ। आ जखन हम एकटा गामक मनुष्यक ओही चक्र कऽ बल दऽ रहल छलहुँ, हमरा बुझाइत अछि जे ओकरासँ गाड़ी पहिचानबामे भूल भऽ गेल, आ ओ एककरा दोसर गाड़ी बुझि कऽ भीतर चढ़ि गेली।

संस्थानक: ओहो! ओकरा हमर गाड़ी पहिचानबामे भूल भऽ गेल? आ ओ हमरा देखबाक लेल एतय नै अयल अछि? निकसू हमर गाड़ी भीतरसँ, बाहर आबब! अहाँ अपन ओही दरिद्र व्यापारीक पुत्र पाँ जाइ रहल छी, की अहाँ नै? ई हमर बैल छथि जेकरा चालक आगाँ बढा रहल अछि। बाहर आबब, बाहर आबब, अहाँ दासी! बाहर आबब, बाहर आबब!

वसन्तसेना: वास्तवमे, अहाँ हमर सम्मानहि कऽ रहल छी जखन अहाँ कहि रहल छी जे हम चारुदत्त महाराजकें देखबाक लेल अयलहुँ अछि। आब जे विधाताक विधान अछि, ओ होयत।

संस्थानक: हमर ई दोनों हाथ, जकर दस गोटा सुन्दर नख अछि, हमर ई हाथ जे कमल-पात कऽ जकां सुकुमार अछि, आब बहुत व्याकुल भऽ रहल अछि, अहाँक रूप कऽ नोचबाक लेल; आ हम एकहि क्षण भीतर अहाँक एही सुकुमार रूपकें केशसँ पकड़ि कऽ गाड़ी भीतरसँ नीचां घसीटब, जेना ओही कूर रावण सीता कऽ अपन साथ लय जबाक लेल ओकर रूपकें नोचने छल।

विट: कोनो कुलीन आ पवित्र स्त्रीक एही प्रकार कूरतासँ अपमान नै कयल जा सकैत; नहि बगीचाक कोनो सुकुमार लताक पत्ता कऽ एही प्रकार नष्ट कयल जा सकैत।

ठाढ़ होऊ, मनुष्य। हम स्वयं हुनका नीचां उतरबामे सहायता करब। आबब, वसन्तसेना! (वसन्तसेना नीचां उतरैत छथि आ एक कात अलग ठाढ़ भऽ जाइत छथि)

संस्थानक: (अपन मनमे) क्रोधक ई ज्वाला ओही समय जलि उठल छल जखन ओ हमर प्रस्ताव ठुकरा देने छली, आ आब ई धोर रूपसँ प्रज्वलित भऽ गेल अछि जखन ओ हमरा लात मारलन्हि। अतः आब हम एकर हत्या अवश्य करब। सुन्दर! एही मार्गसँ। (प्रकट) नीक, सर विट, अहाँ की चाहैत छी आखिर?

एकटा पैघ ओढ़नी जकर किनार चारू कात लटकैत हो, आ जे सैकड़ों रस्सा कऽ साथ बान्हल हो? या एकटा बहुत सुगन्धित मधुर मांसक व्यञ्जन, जेकरा देखि कऽ अहाँ अपन ओठ चबा कऽ चीखब आरम्भ कसरि आ कहि सकि "चूहु, चूहु, चक्कु, चूहु, चूहु"?

विट: की अर्थ अछि एकर?

संस्थानक: हमर एकटा उपकार कसरि।

विट: निश्चित रूपसँ। जे किछु हो, मुदा कोनो पाप-कर्म नै होबाक चाही।

संस्थानक: एकरा भीतर पाप कऽ कोनो सुगन्ध धरि नै अछि, सर विट। कोनो दुर्गन्ध नै छैक!

विट: बाजू तखन।

संस्थानक: वसन्तसेनाक हत्या कऽ दिय'।

विट: (अपन दोनों कान बन्द करैत छथि) एकटा सुकुमार स्त्री, जे हमर उज्जयिनी नगरीक अमूल्य रत्न छथि, एकटा गणिका जकर स्नेह कहियो कलङ्कित नै भेल—जदि हम एही निर्दोष स्त्रीक बिना कोनो दयाक हत्या कऽ देब, तँ क कोन नाव हमर आत्माकें वैतरणी (भयानक नदी) कऽ पार लय जाएतैक?

संस्थानक: हम अहाँकें एकटा पैघ नाव देब। आ एकर अतिरिक्त, एही सुनसान बगीचा भीतर, अहाँकें ओकर हत्या करैत के देखत आखिर?

संस्थानक: ई दसों दिशा सभ, वनक देवता सभ, आकाश, वायु, चन्द्रमा, अपन प्रखर किरण सभक साथ सूर्य, पुण्य, हमर अपन अन्तःकरण—हम एही सभसँ भागि कऽ कतहु नै जा सकी, नहि एही पृथ्वीसँ जे प्रत्येक पाप आ पुण्यक साक्षात साक्षी अछि।

संस्थानक: नीक तखन, अपनहि ओढ़नी एकर मुख ऊपर तोपि दिय' आ एकर हत्या कऽ दिय'।

विट: अहाँ मूर्ख छी! अहाँ पापी छी!

संस्थानक: ई बूढ़ा सूअर पापसँ डरि रहल अछि। कोनो चिन्ता नै। हम स्थावरक, अपन नौकरकें विवश करब। स्थावरक, हमर बच्चा, हमर नौकर, हम अहाँकें सोनाक कङ्कण देब।

स्थावरक: आ हम ओकरा अपन हाथ भीतर पहिरब।

संस्थानक: हम अहाँक लेल सोनाक एकटा पैघ आसन बना देब।

स्थावरक: आ हम ओकरा ऊपर बैठब।

संस्थानक: हम अपन भोजनक बचाएल समस्त श्रेष्ठ अंश अहाँकें देब।

स्थावरक: आ हम ओकरा बहुत चावसँ खाब।

संस्थानक: हम अहाँकें अपन सभ नौकर-चाकर सभक प्रधान बना देब।

स्थावरक: मालिक, हम सभसँ पैघ प्रधान बनब।

संस्थानक: अहाँकें मात्र वैह करबाक चाही जे हम कहि रहल छी।

स्थावरक: मालिक, हम सभ किछु करब, मुदा कोनो पाप-कर्म नै होबाक चाही।

संस्थानक: एकरा भीतर पाप कऽ कोनो गन्ध धरि नै अछि।

स्थावरक: बाजू तखन, मालिक।

संस्थानक: वसन्तसेनाक हत्या कऽ दिय'।

स्थावरक: ओह मालिक, दया करू! हम अपन अयोग्यता भीतर सेहो एही पवित्र आदरणीय कनियॉकें एतय लाबलहुँ, किएक तँ ओकरासँ गाड़ी पहिचानबामे भूल भऽ गेल छल।

संस्थानक: अहाँ पापी नौकर, की हम अहाँक मालिक नै छी आखिर?

स्थावरक: अहाँ हमर शरीरक मालिक छी, हमर चरित्रक नै। दया करू, मालिक, दया करू! हमरा बहुत भय भऽ रहल अछि।

संस्थानक: अहाँ हमर नौकर छी। अहाँकें ककर भय अछि?

स्थावरक: परलोकक, मालिक।

संस्थानक: के अछि ई "परलोक आखिर"?

स्थावरक: मालिक, ओ पुण्य आ पाप कऽ फल देबय वाला परम सत्ता अछि।

संस्थानक: पुण्यक की फल होइत छैक आखिर?

स्थावरक: हमर मालिक कऽ जकां होना, प्रचुर सुवर्ण आ आभूषण सभक साथ।

संस्थानक: पापक की फल होइत छैक?

स्थावरक: हमर जकां होना, ककरो दोसर मनुष्यक अन्न खायब। वैह कारण अछि जाहि लेल हम कोनो पाप-कर्म नै करब।

संस्थानक: तँ अहाँ एकर हत्या नै करब? (ओ ओकरा अपन पूर्ण शक्तिसँ मारैत अछि)

स्थावरक: अहाँ हमरा मारि सकैत छी, मालिक। अहाँ हमरा मारि सेहो सकैत छी, मालिक। मुदा हम कोनो पाप-कर्म नै करब। एकटा अभागा, जीवन भरि कऽ दास छी हम, दास भऽ कऽ जियैत छी, दास भऽ कऽ मरब हम; मुदा आगौं कोनो आन परलोकक दुःख हम नै कीनब, हम कोनो पाप नै करब, नै करब। ... (विस्तृत आ पूर्ण संवादक प्रवाह)

वसन्तसेना: सर विट, हम अहाँक शरणमे छी।

विट: एकरा क्षमा कऽ दिय', अहाँ मूर्ख! बहुत सुन्दर, स्थावरक! की ई बेचार असहाय दास परलोक भीतर पुण्यक फल खोजि रहल अछि? आ की एकर मालिक एतेक उदासीन अछि? तँ कोन कारण अछि जे एहन मनुष्य सभकें तुरंत नरक भीतर नै फिङ्कल जाइत, जकर पाप कऽ पेटारी दिन-रात बढ़ि रहल छैक, आ जे कखनहु पुण्यकें नै जनैत?

आ पुनः एक बेर: आह कूर, कूर अछि हमर भाग्य, जे सभसँ सङ्कीर्ण दुआरिसँ भीतर प्रवेश करैत छैक; किएक तँ ई एकटा दास अछि, आ अहाँ मालिक छी; किएक तँ ई अहाँक सुवर्णक भोग नै कऽ सकैत, आ अहाँ एकर शब्दक आदर नै करैत।

संस्थानक: (अपन मनमे) ई बूढ़ा सियार पापसँ डरि रहल अछि, आ ई "जीवन भरि कऽ दास" परलोकसँ डरि रहल अछि। हमरा ककर भय अछि, हम, राजा कऽ साढ़ू, एकटा पैघ कुलीन पुरुष, एकटा असली मनुष्य? (प्रकट) नीक नौकर, अहाँ "जीवन भरि कऽ दास", अहाँ जा सकैत छी। अपन कक्ष भीतर जाउ आ विश्राम करू आ हमर मार्गसँ दूर रहू।

स्थावरक: जेना अहाँक आज्ञा, मालिक। (वसन्तसेना कें) आदरणीय कनियाँ, आब हमर पाँ कोनो आन शक्ति नै बचल अछि। (प्रस्थान करैत अछि)

संस्थानक: (अपन कमर कसैत अछि) बस एक क्षण रुकू, वसन्तसेना, एक क्षण रुकू। हम अहाँक हत्या करबाक इच्छा राखैत छी।

विट: अहाँ एकर हत्या हमर आँखिक सम्मुख करब? (ओ ओकरा कण्ठसँ पकड़ि लैत छथि)

संस्थानक: (भूमि पर पटकल भऽ कऽ खसि पड़ैत अछि) सर विट, अहाँ अपन मालिकहि कऽ हत्या कऽ रहल छी। (ओ क्षण भरि लेल चेतना खो दैत अछि, पुनः होशमे आबैत अछि) हम सदा एकरा बहुत मांस खाबाबैत छलहुँ, घी कऽ धार सेहो देबैत छलहुँ खाय लेल; आब जखन संकट कऽ घड़ी भीतर हम मित्र खोजि रहल छी, तँ ओ हमरा बीच भँवर भीतर छोड़ि कऽ भागि रहल अछि?

(किछ काल चिन्तनक बाद) सुन्दर! हमर पाँ एकटा चतुर विचार अछि। ओही बूढ़ा सियार एकरा अपन मुड़ हिला कऽ एकटा गुप्त सङ्केत देने छल। अतः हम पहिने ओकरा एतयसँ दूर पठा देब, आ ओकरा बाद हम वसन्तसेनाक हत्या करब। वैह चतुर विचार अछि। (प्रकट) सर विट, हमर जन्म एकटा एहन पैघ कुल भीतर भेल अछि जे कोनो बहुमूल्य सुवर्ण कऽ मदिरा-पात्र जकां विशाल अछि। हम ओही पाप कसरि कऽ सकी जकर हम गप कयलहुँ छल? हम तँ मात्र एककरा अपना कात आकर्षित करबाक लेल एहन बाजल छलहुँ।

विट: अहाँ अपन एही पैघ कुल कऽ अहङ्कार किएक देखि रहल छी आखिर? चरित्रहि मनुष्यकें श्रेष्ठ बनाबैत अछि; मुदा काँटा आ कूर घास सभ सेहो बहुत उपजाऊ माछि भीतर प्रचुर रूपसँ उगि जाइत छैक।

संस्थानक: अहाँक एतय ठाढ़ होबाक कारण ओ अपन स्नेह स्वीकार करबामे लज्जित भऽ रहल अछि। कृपया अहाँ एतयसँ विदा होऊ। हमर नौकर स्थावरक सेहो मारि खायाला कऽ बाद चलि गेल छैक। ओ भागि रहल होयत। ओकरा पकड़ू, सर विट, आ ओकरा अपन साथ वापस लाउ।

विट: (अपन मनमे) वसन्तसेना अपन अहङ्कार कऽ कारण अपन स्नेह स्वीकार नै करत जब धरि हम एतय लग ठाढ़ छी; अतः आब हमरा एककरा एतय एकरहि साथ अकेला छोड़ि देबाक चाही; प्रेमक रहस्य सदा एकान्तक आकाङ्क्षा राखैत छैक।

(प्रकट) बहुत नीक। हम जाइ रहल छी।

वसन्तसेना: (विटक वस्त्रक किनार जकड़ि लैत छथि) की हम अहाँक शरणमे नै अयलहुँ छल आखिर?

विट: भयभीत नै होऊ, वसन्तसेना। अहाँ मूर्ख, वसन्तसेना अहाँक हाथ भीतर एकटा धरोहर कऽ रूपमे सौंपल गेल छथि।

संस्थानक: बहुत नीक। एककरा हमरहि हहाथ भीतर सौंपल रहय दिय'। ई एकटा एहन धरोहर अछि जेकरा हम अवश्य पूरा करब।

विट: की अहाँ सत्य बाजि रहल छी?

संस्थानक: सत्य।

विट: (किछ कदम आगौं बढ़ैत छथि। अपन मनमे) नै! जदि हम चलि गेलहुँ, तँ ओ पापी एकर हत्या कऽ देत। हम एक क्षण लेल एतहि ककरो ओत तोपि जाब, आ देखब जे ओ की करबाक विचार राखैत अछि। (ओ एक कात तोपि जाइत छथि)

संस्थानक: सुन्दर! आब हम एकर हत्या करब। मुदा नै! कखनो एहन नै हो जे ई चतुर कपटी, ई ब्राह्मण, ई बूढ़ा सियार कतहु लुकाएल हो; ओ अपन सियार वला स्वभाव कऽ जकां चारू कात चीखब आरम्भ कऽ देत। हम एककरा छलबबाक लेल मात्र ई करब। (ओ फूल सञ्चय करैत अछि आ अपना कऽ सजाबैत अछि) वसन्तसेना, हमर प्रियतम, हमर प्रियतम! आबब!

विट: हँ, ओ आब प्रेमीक रूप धारण कऽ लेने अछि। सुन्दर! हम सन्तुष्ट छी। आब हम जाब। (विट प्रस्थान करैत छथि)

संस्थानक: हम अहाँकें सुवर्ण देब, हम अहाँकें प्रियतम कहब; हमर मुकुट वला मुड़ अहाँक पएर कऽ पूजा करैत छैक। अहाँ हमरा किएक प्रेम नै करैत छी, हमर साफ दाँत वला कनियाँ? अहाँ ओही दरिद्र मनुष्यक कसरि पूजा कऽ सकैत छी आखिर?

वसन्तसेना: अहाँ एहन पूछबाक साहस कसरि कयलहुँ आखिर? (ओ अपन मुड़ झुकाबैत छथि आ नीच श्लोक सभक पाठ करैत छथि) ओह नीच आ अधम! ओह पापी! अहाँकेँ आ की जनबाक चाही? अहाँ हमरा आब सुवर्ण आ सत्ता कऽ लोभ किएक देखाइ रहल छी आखिर? मधु कऽ खोजी कपरौआ सदा ओही सुकुमार कमल-पुष्प कऽ पूजा करैत अछि जे पूर्णतः निर्मल आ निष्कलङ्क हो।

चाहे दरिद्रता कोनो भला मनुष्य कऽ कतेकौ नीचां किएक नै खसाय, मुदा ओकर दुःख भीतर सेहो एकटा विशेष सम्मान सुरक्षित रहैत छैक; आ एकटा गणिकाक सभसँ पैघ गौरव एकहि बात भीतर अछि जे ओ अपन स्नेह कोनो ईमानदार पुरुष ऊपर अर्पण कसरि।

आ हम, जकरा आमक गाछ (चारुदत्त) सँ स्नेह भऽ गेल हो, हम कखनो कोनो बबूल कऽ गाछ (अहाँ) सँ आलिङ्गन नै कऽ सकी।

संस्थानक: अहाँ दासी, अहाँ ओही बेचार छोटका चारुदत्तकेँ आमक गाछ कहि रहल छी, आ हमरा अहाँ बबूल कऽ गाछ कहलहुँ, कोनो सुगन्धित गाछ सेहो नै! वैह तरीका अछि जाहिसँ अहाँ हमर अपमान कऽ रहल छी, आ अखन धरि अहाँक अन्तःकरण भीतर चारुदत्तहि तोपल अछि।

वसन्तसेना: हम ओही पुरुष कऽ अपन स्मृति भीतर किएक नै तोपि कऽ राखब जे हमर हृदयक भीतरी महल भीतर निवास करैत छथि?

संस्थानक: एही क्षण हम ओही "अहाँक हृदय भीतर निवास करय वाला" कऽ गला दबा देब, आ अहाँक सेहो। ठाढ़ रहू, अहाँ ओही दरिद्र व्यापारीक प्रेमी!

वसन्तसेना: ओह बाजू ओह एक बेर पुनः बाजू एही शब्द सभकेँ जे हमर सम्मान कऽ आ बढ़ा दैत अछि!

संस्थानक: आब ओही चारुदत्त कऽ—ओही दासीपुत्र कऽ—अहाँक रक्षा करबाक लेल आबय दिय' आखिर!

वसन्तसेना: ओ हमर रक्षा अवश्य करिताह, जदि ओ हमरा देखि सकिताह तँ।

संस्थानक: की ओ देवता सभक राजा छथि आखिर? कोनो वनक वीर बानर छथि? कोनो अप्सराक पुत्र छथि? या कोनो राक्षसक रूप धारण कयलने छथि? की ओ वायु आ वर्षा कऽ परम पूज्य देवता छथि? या पाण्डु कऽ पुत्र सभक वंशक नाशक छथि? कोनो ज्योतिषी छथि? कतहु दूर देखय वाला गिद्ध छथि? कोनो मन्त्री छथि? कोनो नक्षत्र छथि आखिर?

मुदा जदि ओ एहन कोनो छिताह सेहो, तइयो ओ अहाँक रक्षा नै कऽ सकैत छलाह। जेना ओही महाभारत भीतर सीता कऽ वध ओही कूर चाणक्य द्वारा कयल गेल छल, ओनाहि आब हम अहाँक गला दबा देब, जेना जटायु द्रौपदी कऽ गला दबोचने छल।

(ओ प्रहार करबाक लेल अपन बाँहि उठाबैत अछि)

वसन्तसेना: माय! अहाँ कतऽ छी? ओह चारुदत्त! हमर हृदयक आकाङ्क्षा अखन धरि अधूरहि रहि गेल, आ आब हम मरि रहल छी! हम रक्षाक लेल चीखब। नै! जदि वसन्तसेना रक्षाक लेल चीखत, तँ एकरामे ओकर प्रतिष्ठाक अपमान होयत। ईश्वर महाराज चारुदत्तक कल्याण करथि!

संस्थानक: की ई दासी अखन धरि ओही पापी कऽ नाम जपि रहल अछि आखिर? (ओ ओकरा कण्ठसँ पकड़ि लैत अछि) ओही पुरुष कऽ स्मरण कसरि, अहाँ दासी, ओकरहि नाम जपि कऽ मरू!

वसन्तसेना: ईश्वर महाराज चारुदत्तक कल्याण करथि!

संस्थानक: मरू, अहाँ दासी! (ओ ओकर गला दबाबैत अछि। वसन्तसेना चेतना खो दैत छथि, आ बिना कोनो हलचलक भूमि पर खसि पड़ैत छथि)

संस्थानक: (परम प्रसन्नतासँ आनन्दित भऽ कऽ) पाप कऽ ई पैघ पेटारी, ई दासी, अशिष्टता कऽ ई दुर्गन्धित निवास—ओ स्नेह करबाक लेल अयल छली, मुदा आब मृत्युक आलिङ्गन ओकर समस्त चेतना चोरा लेलक छैक। मुदा हम अपन पुष्ट आ शक्तिशाली बाँहि कऽ अहङ्कार किएक देखि रहल छी आखिर? ओ तँ मात्र वैह कारणसँ मरि गेल किएक तँ ओकर श्वास बाहर निकसि कऽ समाप्त भऽ गेल छैक। जेना ओही महाभारत भीतर सीता मरि गेली, ओ एतय सुतल अछि। आह हमर माय! कतेक सुन्दरतासँ ई मरि गेल छैक।

ओ हमरा कहियो स्नेह नै कयलक, यद्यपि हम एककरा कतेक चाहैत छलहुँ; हम एही सुनसान बगीचाक देखलहुँ, एकटा जाल बिछौलहुँ, एककरा भयभीत कयलहुँ, आ बेचार असहाय लड़कीक चेतना खो देलहुँ। हमर भाय! ओह हमर बाप! अहाँ सभ एही क्षण एतय हमर वीरताक ई अद्भुत दृश्य देखबा सँ वञ्चित भऽ गेलहुँ; अहाँक भाय आ अहाँक पुत्र आब एकटा असली पराक्रमी पुरुष बनि कऽ सामने अयल अछि; आदरणीय द्रौपदी माय कऽ जकां, अहाँ सभ एतय उपस्थित नै छलहुँ, हमर एही पराक्रम देखबाक लेल।

सुन्दर! ओही बूढ़ा सियार कखनो एकहि क्षण भीतर एतहि होयत। हमरा एक कात अलग हटि कऽ प्रतीक्षा करबाक चाही। (ओ ओनाहि करैत अछि)

(स्थावरक कऽ साथ विटक प्रवेश होइत अछि)

वित्त: हम ओही नौकर स्थावरककेँ वापस आबबाक लेल विवश कऽ कऽ लाबने छी, आ आब हम ओही मूर्ख कऽ खोजब। (ओ चारू कात चलैत छथि आ देखैत छथि) मुदा देखू! मार्गक कात भीतर एकटा पैघ गाछ नीचां खसि पड़ल छैक, आ ओकर खसबासँ एकटा स्त्री मारल गेल छैक। ओह कूर नियति! अहाँ एही कलङ्क वला कार्य कसरि कऽ सकलहुँ आखिर? आ जखन हम देखि रहल छी जे अहाँक एही भयानक प्रहारसँ एकटा स्त्री मारल गेल छैक, तँ हम स्वयं सेहो भूमि पर खसि पड़ैत छी। वास्तवमे, हमर हृदय भीतर वसन्तसेना लेल जे भय छल, ओ एकटा बहुत कूर कुसङ्केत छल। ओह ईश्वर, प्रार्थना अछि जे आब सभ किछु नीक होबय! (ओ संस्थानकक लग जाइत छथि) अहाँ मूर्ख, हम अहाँक नौकर स्थावरककेँ वापस लाबने छी।

संस्थानक: अहाँ कसरि छी, सर विट? स्थावरक, हमर बच्चा, हमर नौकर, अहाँ कसरि छी आखिर?

स्थावरक: हम ठीक छी, धन्यवाद।

वित्त: हमर ओही धरोहर हमरा वापस दिय'।

संस्थानक: कोन धरोहर आखिर?

विटः वसन्तसेना।

संस्थानकः ओ चलि गेली।

विटः कतय आखिर?

संस्थानकः बिल्कुल अहाँक पाछाँ।

विटः (संशयसँ) नै, ओ ओही दिशा कात कखनहि नै गेली।

संस्थानकः अहाँ कोन दिशा कात गेल छलहुँ आखिर?

विटः पूर्व कात।

संस्थानकः नीक, ओ दक्षिण कात गेली।

विटः हम सेहो ओही कात गेल छलहुँ।

संस्थानकः ओ उत्तर कात गेली।

विटः ई सभ महामूर्खता कऽ गप अछि। हमर मन एही गपसँ सन्तुष्ट नै अछि। सत्य बाजू।

संस्थानकः हम अहाँक मुड़ कऽ कसम खाइत छी, सर विट, आ अपन पएर कऽ। अहाँ अपन मन शान्त राखि सकैत छी। हम ओकर हत्या कऽ देलहुँ अछि।

विटः (निराशासँ गदगद भऽ कऽ) अहाँ वास्तवमे ओकर हत्या कऽ देलहुँ?

संस्थानकः जदि अहाँक हमर शब्द ऊपर विश्वास नै अछि, तँ देखू राजा कऽ सादू संस्थानकक एही पहिल पराक्रम कऽ दृश्य। (ओ मृत शरीर कात सङ्केत करैत अछि)

विटः हाय! आह हमर भाग्य मन्द भऽ गेल! (ओ चेतना खो कऽ भूमि पर खसि पड़ैत छथि)

संस्थानकः ही, ही! आब सर विट पूर्णतः शान्त देखि रहल छथि!

स्थावरकः ओह सर विट! होशमे आउ! हम पहिल अपराधी छी, किएक तँ हम बिना कपाट भीतर देखने गाड़ी कऽ एतय लय अयलहुँ।

विटः (होशमे आबि कऽ, गम्भीर उदासीनतासँ) आह वसन्तसेना! शिष्टाचार आ शालीनताक मधुर धार आब सदा लेल सूखि गेल छैक, आ प्रसन्नता आब अपन देश भीतर वापस भागि गेल छैक, अमूल्य रत्न सभक अमूल्य रत्न, जे प्रेमक मधुर खेल जनैत छली, सौंदर्य आ प्रेमक साक्षात बजार छली! हमर सन मनुष्य सभक एकमात्र आनन्द छली! अहाँक प्रसन्नताक नाद, साक्षात दुःख दूर करय वाली पवित्र नदी—हाय! सदा लेल नष्ट भऽ गेल छैक, हरा गेल छैक आ समाप्त भऽ गेल छैक!

(अश्रु बहाबैत छथि) हाय, हमर भाग्य! आब आ क कोन पाप आ दुःख आबबाक बाकी रहि गेल छैक, जखन अहाँ घृणा कऽ ई भयानक कार्य कऽ देलहुँ? पाप कऽ साक्षात भयानक रूप धारण कऽ कऽ, अहाँ हमर राज्यक एही निर्दोष देवीकें भूमि पर सुता देलहुँ।

(अपन मनमे) आह! कखनो एहन नै हो जे ई पापी एही पाप कऽ कलङ्क हमरहि काँखि ऊपर मढ़बाक विचार राखैत हो। हमरा एतयसँ विदा भऽ जबाक चाही। (ओ चलैत छथि। संस्थानक लग आबैत अछि आ हुनका रोकि दैत अछि) पापी! हमरा स्पर्श नै करू। हमर अहाँक साथ सम्बन्ध समाप्त भऽ गेल अछि। हम जाइ रहल छी।

संस्थानकः ओहो! पहिने अहाँ वसन्तसेनाक हत्या कऽ देलहुँ, पुनः हमर अपमान कऽ रहल छी, आ आब अहाँ कतऽ भागि कऽ जएब आखिर? आ एही प्रकार हमर सन मनुष्यक पाँ रक्षा करबाक लेल केओ नै बचल छैक आखिर।

विटः अहाँ एकटा घोर पापी आ अधम मनुष्य छी!

संस्थानकः हम अहाँकें प्रचुर सुवर्ण देब, ताँबा कऽ सिक्का सेहो, आ एकटा पैघ टोपी सेहो देब पहिरबाक लेल। आ एही प्रकार एही पैघ पराक्रम कऽ यश हमरा सभक साझी सम्पत्ति बनत, आ कलङ्क हमरा छुड़ धरि नै सकत।

विटः अहाँ पर श्राप हो! अहाँक, आ मात्र अहाँकहि होयत ई पाप-कर्म।

स्थावरकः ईश्वर एही कुसङ्केतकें दूर करथि! (संस्थानक अट्टहास कऽ कऽ हँसैत अछि)

विटः आब हमरा सभक बीच घोर शत्रुता रहत! अपन ई हँसबाक नाद बन्द करू! नास हो एहन मित्रता कऽ जे हमर प्रतिष्ठाकें एही प्रकार कलङ्कित कऽ देलक! हम कखनहुँ अहाँ सन नीच मनुष्यक मुख पुनः नै देखब! हम अहाँकें एही प्रकार त्यागि रहल छी जेना कोनो टूटल, बिना रस्सा वला धनुष कऽ फिङ्कल जाइत अछि।

संस्थानकः क्रुद्ध नै होऊ। आउ, हम सभ चली आ पोखरि भीतर खेलि।

विटः हमर जीवन निष्कलङ्क अछि, तइयो हमरा बुझि रहल अछि जे अहाँक मित्रता हमर पवित्रताकें कलङ्कित कऽ रहल छैक, अहाँ स्त्री कऽ हत्या करय वाला! हम कसरि ककरो एहन मनुष्यक मित्र बनि कऽ रहि सकी जकरा देखि कऽ स्त्री सभक आँखि सदा भय आ संतापसँ आधा बन्द भऽ जाइत अछि आखिर?

(उदासीसँ) वसन्तसेना, जखन अहाँ, सुकुमार कनियाँ, दोबारा एही संसार भीतर जन्म लयब, तँ प्रार्थना अछि जे अहाँ कखनो कोनो गणिका कऽ रूप भीतर पुनः जन्म नै लिय', कोनो एहन पवित्र कुल भीतर आबब जकरा निर्दोष, धर्मात्मा आ उत्तम मनुष्य सभ सुशोभित करैत छथि।

संस्थानक: पहिने अहाँ हमर पुष्पककरण्डक पुराना बगीचा भीतर वसन्तसेनाक हत्या कऽ देलहुँ, आ आब अहाँ कतऽ भागि कऽ जएब आखिर? आबब, अपन रक्षा कऽ गप अदालत भीतर हमर बहिनक पति कऽ सम्मुख कसरि! (ओ हुनका रोकि देत अछि)

विट: बहुत भेल, अहाँ घोर पापी! (ओ अपन तलवार निकालैत छथि)

संस्थानक: (त्राससँ पाछाँ हटैत) भयभीत भऽ गेलहुँ, की अहाँ आखिर? जा सकैत छी तखन।

विट: (अपन मनमे) एही स्थान पर आ बिलम्ब करब महामूर्खता होयत। नीक, हम जाब आ शर्विलक, चन्दनक आ आन सिपाही सभक साथ मिलि जाब। (विट प्रस्थान करैत छथि)

संस्थानक: नरक भीतर जाउ अहाँ। नीक, हमर बच्चा स्थावरक, ई कोन प्रकारक कार्य हम कऽ देलहुँ अछि आखिर?

स्थावरक: मालिक, अहाँ एकटा घोर भयानक अपराध कऽ देलहुँ अछि।

संस्थानक: अहाँ नौकर! अपराध कऽ गप करबा सँ अहाँक की अर्थ अछि आखिर? नीक, हम एककरा एही प्रकार तोपब। (ओ अपन शरीरसँ कतेको प्रकारक आभूषण सभ खोलैत अछि) ई सभ रत्न कऽ लय लिय'। हम अहाँक एककरा दान कऽ रहल छी। जखन कखनो हमरा एककरा पहिरबाक इच्छा होयत, हम वापस लय लेब, मुदा आन समय भीतर ई सभ अहाँकहि अछि।

स्थावरक: ई सभ मात्र हमर मालिकहि कऽ शरीर पर सुशोभित होबाक योग्य अछि। हमरा एही वस्तु सभसँ की प्रयोजन आखिर?

संस्थानक: विदा होउ एतयसँ! एही बैल सभकें लिय', आ हमर महल कऽ भीतरी बुर्ज भीतर जा कऽ प्रतीक्षा करू जब धरि हम नै आबी।

स्थावरक: जेना अहाँक आज्ञा, मालिक। (स्थावरक प्रस्थान करैत अछि)

संस्थानक: ओही विट अपना कऽ अदृश्य कऽ लेलन्हि अछि। ओ अपना कऽ बचेबाक इच्छा राखैत छलाह। आ एही नौकरकें हम महल कऽ भीतरी बुर्ज भीतर लोहक भारी जंजीरसँ बान्ही कऽ कैद कऽ देब, आ ओतहि रोकि कऽ रखब। आ एही प्रकार हमर रहस्य सदा लेल सुरक्षित रहत। हम आब आगाँ बढ़ब, मुदा पहिने हम एक बेर एककरा देखब। की ई मरि गेल छैक, या हम एकर दोबारा हत्या कऽ दिय'?' (ओ वसन्तसेना कात देखैत अछि) पूर्णतः चेतनाहीन आ मृत अछि! सुन्दर! हम एककरा एही वस्त्रसँ तोपि देब। नै, एकरा ऊपर हमर नाम लिखल छैक। कोनो ईमानदार मनुष्य एककरा पहिचानि सकैत अछि। नीक, एतय सूखा पत्ता कऽ एकटा पैघ ढेरी अछि जेकरा हवा उड़ाय कऽ लाबने छैक। हम एककरा एही पत्ता सभक नीचाँ तोपि देब। (ओ ओनाहि करैत अछि, पुनः चिन्तन लेल रुकैत अछि) सुन्दर! हम एककरा एही प्रकार करब। हम अखने न्यायालय भीतर जाब, आ ओतय एकटा शिकायत दर्ज करब। हम कहब जे व्यापारी चारुदत्त वसन्तसेनाकें लोह आ सुवर्णक लोभ देखा कऽ हमर पुष्पककरण्डक पुराना बगीचा भीतर फुसला कऽ लाबने छल, आ धनक लेल ओकर हत्या कऽ देलक। हँ, चारुदत्तक वध आब अवश्य होबाक चाही, आ हम एकटा चन्तर उपाय खड़ा करब, दया कऽ पूर्णतः बिसरि कऽ; कोनो निर्दोष गौ कऽ बलि देब कतेक कूर काज अछि, मुदा सभसँ दयालु नगर भीतर सेहो एहनहि होइत छैक।

आब हम विदा होबाक लेल तैयार छी। (ओ जाब आरम्भ करैत अछि, मुदा ककरो देखि कऽ भयभीत भऽ जाइत अछि) ईश्वर हमर रक्षा करथि! हम जतय कतहु जाइत छी, ई पापी भिक्षु अपन गेरुआ वस्त्र कऽ साथ आबि जाइत छैक। हम एक बेर एकर नाक भीतर सुराख कऽ कऽ एककरा चारू कात घसीटने छलहुँ, आ ई हमरासँ घोर घृणा करैत छैक। कखनो एहन नै हो जे ई हमरा देखि लय, आ लोक सभसँ कहि दऽ जे हम ओकर हत्या कयलहुँ अछि। हम कसरि भागब आखिर? (ओ चारू कात देखैत अछि) आहा! जतय देवाल आधा खसि पड़ल छैक, हम ओकरा ऊपरसँ कूँदि कऽ भागि जाब। हम दौड़ैत छी, हम दौड़ैत छी, हम जाइ रहल छी, आकाश भीतर, पृथ्वी कऽ ऊपर, पाताल भीतर, आ लङ्का कऽ ओही पर्वत कऽ चोटी ऊपर जाहि पर हनुमान कूँदने छलाह— साक्षात इन्द्र कऽ जकां, हम जाइ रहल छी। (संस्थानक प्रस्थान करैत अछि)

(हड़बड़ीमे ओही बौद्ध भिक्षु (पूर्व मसाज करय वाला) कऽ प्रवेश होइत अछि)

भिक्षु: हम अपन एही फटल वस्त्रकें नीक जकां धोइ लेलहुँ अछि। की हम एककरा कोनो गाछक डालि पर सुखाबाक लेल छोड़ि दिय'?' नै, बानर सभ एककरा चोराय कऽ लय जएतैक। की भूमि पर राखि दिय'?' धूर एककरा पुनः गन्दा कऽ दैतैक। तँ आब हम एककरा कतऽ सुखाबाक लेल पसराबी आखिर? (ओ चारू कात देखैत अछि) आहा, एतय सूखा पत्ता कऽ एकटा पैघ ढेरी अछि जेकरा हवा उड़ाय कऽ लाबने छैक। हम एककरा एकरा ऊपरहि पसरा देब। (ओ ओनाहि करैत अछि) भगवान बुद्धक जय हो! (ओ बैठि जाइत अछि) आब हम धर्मक एकटा पवित्र मन्त्रक पाठ करब।

जे मनुष्य अपन पाँचू आन्तरिक शत्रु (इन्द्रिय सभ) कऽ वध कऽ दैत अछि, आ अविद्या रूपी ओही स्त्री-शत्रुक अन्त कऽ दैत अछि जाहि द्वारा एही नगर कऽ रक्षा कयल जाइत अछि, आ जे ओही अहंकार रूपी चाण्डालक पराजित कऽ दैत अछि, ओ निश्चित रूपसँ स्वर्ग भीतर प्रवेश करबाक योग्य होइत अछि।

मुदा आखिर, हमरा स्वर्गसँ की प्रयोजन, जब धरि हम आर्या वसन्तसेनाक, बुद्ध भीतर हमर बहिनक ऋण नै चुका देब? ओ हमर मुक्ति दऽ सुवर्ण-मुद्रा दऽ कऽ ओही जुआड़ी सभसँ कीनलन्हि छल, आ ओही दिनसँ हम अपना कऽ हुनकरहि सम्पत्ति बुझैत छी। (ओ चारू कात देखैत अछि) ओ की छल आखिर? पत्ताक एही ढेरी नीचाँसँ कसरि एकटा गम्भीर निश्वासक नाद ऊपर उठल आखिर? एहन कखनहि नै भऽ सकैत। संध्याकालक गरम हवा एही पत्ता सभकें गरम कऽ रहल छैक, भीजल वस्त्र एही पत्ता सभकें गीला कऽ रहल छैक, आ वैह कारण अछि, हमर विचार अछि, जे सूखा पत्ता सभ आन पत्ता सभक जकां सिकुड़ि रहल छैक।

(वसन्तसेना होशमे आबब आरम्भ करैत छथि, आ अपन एकटा हाथ बाहर निकालैत छथि)

भिक्षु: आहा! एतय एकटा स्त्रीक हाथ देखि रहल अछि, जे बहुमूल्य आ सुन्दर रत्न सभसँ सुशोभित अछि। की! एकटा दोसर हाथ सेहो? (ओ परम सजगतासँ एकर निरीक्षण करैत अछि) हमरा बुझि रहल अछि जे हम एही हाथकें पहिचानैत छी। हँ, एकरा भीतर कोनो संशय नै अछि। निश्चित रूपसँ ई वैह

हाथ अछि जे हमर प्राण बचेबाक काज कयलक छल। मुदा हमरा स्वयं देखि लेबाक चाही। (ओ पत्ता हटाबैत अछि, शरीरक देखैत अछि, आ पहिचानि लैत अछि) ई बुद्ध भीतर हमर आदरणीय बहिन छथि। (वसन्तसेना पानि लेल गम्भीर निश्वास छोड़ैत छथि)

आह, ओ पानि खोजि रहल छथि, आ पोखरि एतयसँ बहुत दूर मार्ग पर अछि। आब हम की करब आखिर? एकटा चतुर विचार अछि! हम एही भीजल वस्त्रकें ओकरा ऊपर पकड़ने रहब आ एकर पानि कऽ बून्द ओकर मुख भीतर टपकाबब। (ओ ओनाहि करैत अछि। वसन्तसेना होशमे आबि जाइत छथि, आ अपना कऽ ऊपर उठाबैत छथि। भिक्षु अपन वस्त्रसँ ओकरा पर हवा करैत अछि)

वसन्तसेना: अहाँ के छी, महाभाग?

भिक्षु: की बुद्ध भीतर हमर बहिन ओही मनुष्यकें बिसरि गेलनि जकर मुक्ति ओ दस सुवर्ण-मुद्रा दऽ कऽ कीनलन्हि छल?

वसन्तसेना: हमरा किछ स्मरण तँ आबि रहल अछि, मुदा बिल्कुल ओनाहि नै जेना अहाँ कहि रहल छी। एकरासँ बेसी नीक ई होइत जे हम कखनहु जागबाक लेल अपन आँखि नै खोलिहूँ।

भिक्षु: एतय की भेल छल, बुद्ध भीतर हमर बहिन?

वसन्तसेना: (निराशासँ) आन किछु नै मुदा वैह जे कोनो गणिकाक भाग्य कऽ अनुकूल होइत छैक।

भिक्षु: बुद्ध भीतर हमर बहिन, गाछसँ सटल एही सुकुमार लताक सहारा लिय', आ अपन पएर पर ठाढ़ होऊ। (ओ लताक डालि कऽ नीचां झुकाबैत अछि। वसन्तसेना ओकरा अपन हाथ भीतर लैत छथि, आ ठाढ़ होइत छथि)

भिक्षु: ओतय सामने कऽ ओही बौद्ध मठ भीतर एकटा कनियाँ निवास करैत छथि जे धर्म भीतर हमर बहिन छथि। ओतहि बुद्ध भीतर हमर बहिनकें पूर्ण स्वास्थ्य भेटत, एकरासँ पहिने जे ओ अपन घर वापस विदा होथि। अहाँकें बहुत धीरे-धीरे चलबाक चाही, बहिन। (ओ चारू कात चलैत अछि आ देखैत अछि) मार्ग छोड़ू, उत्तम लोक सभ, मार्ग छोड़ू! ई एकटा युवा आदरणीय कनियाँ छथि, आ हम एकटा भिक्षु छी, तइयो हमर ई व्यवहार सभ प्रकारक कलङ्कसँ ऊपर आ निष्कलङ्क अछि। जे मनुष्य अपन हाथ आ अपन ओठ कऽ कोनो लोह आ सुवर्णक लोभसँ मुक्त राखैत अछि, जे अपन समस्त इन्द्रिय सभ पर विजय प्राप्त कऽ लैत अछि, वैह वास्तवमे असली मनुष्य अछि। ओकरा कोनो चिन्ता नै होइत, चाहे कोनो राज्य खसि पड़य वा ठाढ़ रहय; किएक तँ मोक्षक साक्षात परलोकक सुख ओकरहि हाथ भीतर सुरक्षित रहैत छैक।

(सभ प्रस्थान करैत छथि)

(एकटा चोबदार / अदालत कऽ कर्मचारीक प्रवेश होइत अछि)

चोबदार: न्यायाधीश सभ हमरा कहलनि जे "आबब, चोबदार, न्यायालय भीतर जाउ आ आसन सभ ठीक कऽ कऽ राखू।" अतः आब हम न्यायालय कऽ सुसज्जित करबाक लेल मार्ग पर छी। (ओ चारू कात चलैत अछि आ देखैत अछि) ई न्यायालय अछि, हम भीतर प्रवेश करब। (ओ भीतर जाइत अछि, बुहारैत अछि आ आसन सभ ठीक स्थान पर रखैत अछि) देखू! हम न्यायालय सफा कऽ देलहुँ अछि आ आसन सभ तैयार राखि देलहुँ अछि, आ आब हम जा कऽ न्यायाधीश सभकें सूचित करब। (ओ चारू कात चलैत अछि आ देखैत अछि) मुदा देखू! एतय ओ घोर पापी मनुष्य आबि रहल अछि, राजा कऽ साढ़ू। हम हुनकर दृष्टि भीतर आए बिना एतयसँ पाछाँ हटि जाब। (ओ एक कात अलग ठाढ़ भऽ जाइत अछि। सुवर्ण आ भव्य वस्त्र पहिरने संस्थानकक प्रवेश होइत अछि)

संस्थानक: हम ओतय स्नान कयलहुँ जतय पानि बहैत अछि आ मधुर नाद करैत छैक; हम बगीचा आ वन भीतर बैठल छलहुँ, स्त्री सभक साथ, कनियाँ सभक साथ, जकर सुकुमार अङ्ग देवदूत सभक जकां चंचल आ सुन्दर अछि।

हमर केश कखनो कस कऽ बान्हल रहैत छैक, लट आ घुँघराला बाल कऽ जकां ई हमर ललाट ऊपर लटकैत छैक; कखनो ई जटा जकां होइत छैक, कखनो खुल्ला हवामे उड़ैत छैक; आ पुनः हम एककरा ऊपर उठा कऽ पहिरैत छी। हम एकटा पैघ आश्चर्य छी, हम एकटा अद्भुत पुरुष छी। आ हमर बहिनक पति स्वयं राजा छथि।

आ एकर अतिरिक्त, हम एकटा पैघ सुराख खोजि लेलहुँ अछि, ओही कीड़ा कऽ जकां जे कमल कऽ जड़ि भीतर कऽ गँठ भीतर घुसि जाइत अछि आ बाहर निकसबाक लेल कोनो सुराख खोजैत अछि। आब हम ककर ऊपर एही कूर पाप-कर्म कऽ कलङ्क लगाबब आखिर? (ओ किछ स्मरण करैत अछि) ओह, हँ! हमरा स्मरण अयल। हम ओही दरिद्र चारुदत्त ऊपर एही कूर पाप-कर्म कऽ आरोप लगाबब। एकर अतिरिक्त, ओ दरिद्र अछि। लोक ओकर विषयमे कोनो पापी गप ऊपर सहजहि विश्वास कऽ लेत। सुन्दर! हम न्यायालय भीतर जाब आ चारुदत्तक विरुद्ध एकटा सार्वजनिक शिकायत दर्ज करब जे ओ कसरि वसन्तसेनाक गला दबोचने छल आ ओकर हत्या कऽ देने छल। अतः आब हम न्यायालय कऽ मार्ग पर छी। (ओ चारू कात चलैत अछि आ देखैत अछि) ई न्यायालय अछि। हम भीतर जाब। (ओ भीतर जाइत अछि आ चारू कात देखैत अछि) नीक, एतय आसन सभ ठीक जकां राखल गेल छैक। जब धरि हम न्यायाधीश सभक प्रतीक्षा कऽ रहल छी, हम एक क्षण लेल एही हरियर घास ऊपर बैठि जाइत छी। (ओ भूमि पर बैठि जाइत अछि)

चोबदार: (दोसर दिशा कात चलैत अछि आ अपन सम्मुख देखैत अछि) एतय न्यायाधीश सभ आबि रहल छथि। हम हुनका पाँ जाब। (ओ ओनाहि करैत अछि)

(एकटा नगर-सेठ, एकटा लिपिक (लेखक) आ आन सेवक सभक साथ न्यायाधीशक प्रवेश होइत अछि)

न्यायाधीश: नगर-सेठ आ लिपिक महाराज!

नगर-सेठ आ लिपिक: हम सभ अहाँक आज्ञाक प्रतीक्षा कऽ रहल छी।

न्यायाधीश: कोनो मुकदमा बहुत पैघ सीमा धरि आन लोक सभ ऊपर निर्भर करैत अछि, जेसँ न्यायाधीश सभक कार्य—ककरो आनक मनक भीतरी विचार पढ़ब—सभसँ पैघ कठिन काज भऽ जाइत छैक। मनुष्य कखनो एहन कर्म कऽ गप कहैत अछि जेकरा कोनो आँखि नै देखलक, जे कानून कऽ सीमासँ बहुत दूर छैक; वासना आ घोर क्रोध दोनो पक्ष सभ कऽ एही प्रकार नियन्त्रित करैत छैक जे हुनकर झूठ न्यायाधीश कऽ आँखिक सम्मुख हुनकर अपराध तोपि दैत छैक; ई पक्ष आ ओ पक्ष दोनो गप कऽ एतेक बढ़ा कऽ कहैत छथि, जेसँ अन्ततः स्वयं राजा सेहो संशय भीतर आबि जाइत छथि; संक्षेपमे कहू: झूठा कलङ्क लगाना बहुत सहज अछि, मुदा एकटा सच्चे न्यायाधीश कऽ बहुत कम प्रशंसा भेटैत छैक, या ककरो द्वारा नै भेटैत।

आ पुनः एक बेर: मनुष्य कखनो एहन पाप कऽ कात सङ्केत करैत अछि जेकरा ककरो आँखि नै देखलक, आ अपन क्रोध भीतर ओ सहनशील कानून कऽ तिरस्कार करैत अछि; न्यायालय भीतर धर्मात्मा पुरुष सेहो अपन झूठ कऽ साथ अपन अपराध न्यायाधीश कऽ आँखिक सम्मुख तोपि दैत छथि; आ जिनका द्वारा वास्तवमे कर्म कयल गेल छल, ओ दृष्टि सँ दूर भऽ जाइत छथि, जे वादी आ प्रतिवादी दोनो कऽ साथ पाप कयलने छलाह; संक्षेपमे कहू: झूठा कलङ्क लगाना बहुत सहज अछि, मुदा एकटा सच्चे न्यायाधीश कऽ बहुत कम प्रशंसा भेटैत छैक, या ककरो द्वारा नै भेटैत।

किएक तँ एकटा न्यायाधीश कऽ अवश्य होबाक चाही: विद्वान, आ कपटक टेढ़ मार्ग कऽ खोजबामे परम चतुर, वाक्-पटु, आ क्रोधक भावनासँ पूर्णतः मुक्त; अपन मित्र, शत्रु आ बन्धु सभ कऽ प्रति एकहि सन मधुर कृपा देखेबा वाला, आ जब धरि सत्य पूर्णतः प्रकट नै भऽ जाय, निर्णय कऽ रोकि राखय वाला; लोह आ सुवर्णक वासनासँ अछूत, पुण्य भीतर दृढ़; दुर्बल कऽ रक्षा करबाक शक्ति ओकरा भीतर होबाक चाही, आ पापी कऽ पराजित करबाक; सत्य कऽ लेल एकटा खुल्ला दुआरि कऽ जकां, ओकर हृदय सदा आन कऽ हित कऽ साथ सटल रहय, मुदा कोनो एहन वस्तुसँ दूर रहय जे राजा कऽ क्रोध जगा सकथि।

नगर-सेठ आ लिपिक: आ की मनुष्य कखनो अहाँक पवित्र पुण्य भीतर कोनो कलङ्क कऽ गप कऽ सकैत अछि आखिर? यदि ओ सभ एहन कहैत छथि, तँ ओ सभ चन्द्रमाक कान्ति भीतर घोर अन्धकार खोजबाक गप करैत छथि।

न्यायाधीश: हमर नीक चोबदार, हमरा न्यायालय कऽ कक्ष भीतर लय चलू।

चोबदार: हमर पाछाँ आबब, महाराज। (ओ सभ चलैत छथि) ई न्यायालय कऽ कक्ष अछि। न्यायाधीश सभ भीतर प्रवेश करबाक कृपा करू। (सभ भीतर प्रवेश करैत छथि)

न्यायाधीश: हमर नीक चोबदार, अहाँ बाहर जाउ आ पता लगाउ जे केओ एहन अछि जे अपन मुकदमा प्रस्तुत करबाक इच्छा राखैत हो।

चोबदार: जेना अहाँक आज्ञा, महाराज। (ओ बाहर जाइत अछि) उत्तम भद्र लोक सभ, न्यायाधीश सभ पूछि रहल छथि जे की एतय केओ एहन अछि जे अपन मुकदमा प्रस्तुत करबाक इच्छा राखैत हो?

संस्थानक: (परम प्रसन्नतासँ) न्यायाधीश सभ एतय आबि गेल छथि। (ओ अहङ्कारसँ टहलैत अछि) हम एकटा मुकदमा प्रस्तुत करबाक इच्छा राखैत छी, हम, एकटा पैघ कुलक पुरुष, एकटा असली मनुष्य, साक्षात वासुदेव, राजा कऽ परम पूज्य साढ़ू, स्वयं राजा कऽ साढ़ू।

चोबदार: (भयसँ) ईश्वर रक्षा करथि! राजा कऽ साढ़ूहि सभसँ पहिल पुरुष छथि जे मुकदमा प्रस्तुत करबाक इच्छा राखि रहल छथि। नीक! एक क्षण प्रतीक्षा करू, महाराज। हम न्यायाधीश सभकें तुरंत सूचित करैत छी। (ओ न्यायाधीश सभक लग जाइत अछि) महाराज, दुआरि पर स्वयं राजा कऽ साढ़ू अयल छथि, जे न्यायालय भीतर अपन मुकदमा प्रस्तुत करबाक इच्छा राखैत छथि।

न्यायाधीश: की! राजा कऽ साढ़ूहि सभसँ पहिल छथि जे मुकदमा प्रस्तुत करबाक इच्छा राखि रहल छथि? सूर्योदय कऽ समय सूर्य-ग्रहण कऽ जकां, ई कोनो पैघ कुलीन मनुष्य कऽ विनाश कऽ कुसङ्केत अछि। चोबदार, न्यायालय आजुक दिन निश्चित रूपसँ बहुत व्यस्त रहत। बाहर जाउ, हमर नीक मनुष्य, आ कहियौन्हि जे "आजुक दिन हमरा सभकें मुक्त करू। अहाँक मुकदमा पर आजुक दिन विचार नै कयल जा सकैत।"

चोबदार: जेना अहाँक आज्ञा, महाराज। (ओ बाहर जाइत अछि आ संस्थानकक लग जाइत अछि) महाराज, न्यायाधीश सभ संदेश पठौने छथि जे अहाँ आजुक दिन एतयसँ विदा होऊ; अहाँक मुकदमा पर आजुक दिन विचार नै कयल जा सकैत।

संस्थानक: (धोर क्रोधसँ) नास हो अहाँक! हमर मुकदमा पर किएक विचार नै कयल जा सकैत आखिर? यदि आजुक दिन एकरा पर विचार नै भेल, तँ हम अपन भाय, राजा पालक, हमर बहिनक पति कऽ कहब, आ हम अपन बहिन आ अपन माय कऽ सेहो कहब, आ हम एही न्यायाधीश कऽ ओकर पदसँ तुरंत हटा देवा देब, आ दोसर न्यायाधीश नियुक्त करा देब। (ओ जाब आरम्भ करैत अछि)

चोबदार: ओह महाराज! राजा कऽ परम पूज्य साढ़ू! एक क्षण रुकू। हम न्यायाधीश सभकें तुरंत पुनः सूचित करैत छी। (ओ न्यायाधीशक पाँ वापस आबैत अछि) राजा कऽ साढ़ू घोर क्रोध भीतर छथि, आ कहि रहल छथि—(ओ संस्थानकक शब्द सभकें दोहराबैत अछि)

न्यायाधीश: ई मुख कखनो कोनो अनर्थ कऽ सकैत अछि। हमर नीक मनुष्य, ओकरा कहियौन्हि जे ओ भीतर आबथि, हुनकर मुकदमा पर निश्चित रूपसँ विचार कयल जाय।

चोबदार: (संस्थानकक लग जा कऽ) महाराज, न्यायाधीश सभ संदेश पठौने छथि जे अहाँकें भीतर आबबाक चाही, अहाँक मुकदमा पर विचार कयल जाय। कृपया भीतर प्रवेश करू, महाराज।

संस्थानक: पहने ओ सभ कहैत छथि जे विचार नै होयत, पुनः कहैत छथि जे विचार होयत। न्यायाधीश सभ डरि गेल छथि। हम जे किछु कहब, ओ सभ ओकरा पर विश्वास कऽ लेत। सुन्दर! हम भीतर जाब। (ओ भीतर जाइत अछि आ न्यायाधीश सभक लग आबैत अछि) हम बहुत नीक अनुभव कऽ रहल छी, धन्यवाद। अहाँ सभ नीक अनुभव कऽ रहल छी वा नै—ई पूर्णतः हमरा ऊपर निर्भर करैत छैक।

न्यायाधीश: (अपन मनमे) नीक, नीक! एहन बुझाइत अछि जेना हमरा सभक सम्मुख एकटा बहुत सुशिक्षित वादी अयल हो। (प्रकट) कृपया आसन ग्रहण करू।

संस्थानक: की! ई भूमि हमरहि अछि। हम जतय कतहु चाहब, बैठि जाब। (नगर-सेठ कें) हम एतय बैठब। (चोबदार कें) हम एतय किएक नै बैठि सकी आखिर? (ओ अपन हाथ न्यायाधीशक मस्तक ऊपर रखैत अछि) हम एतहि बैठब। (ओ भूमि पर बैठि जाइत अछि)

न्यायाधीश: अहाँ एकटा मुकदमा प्रस्तुत करबाक इच्छा राखैत छी?

संस्थानक: निश्चित रूपसँ।

न्यायाधीश: तँ मुकदमा कऽ विवरण बाजू।

संस्थानक: हम एकरा कान भीतर फुसफुसाब। हम एकटा एहन पैघ कुल भीतर जन्म लेलहुँ अछि जे कोनो बहुमूल्य मदिरा-पात्र जकां विशाल आ तेजस्वी छैक। हमर बाप कऽ बाप राजा कऽ साढ़ू छलाह; स्वयं राजा हमर बाबूजीक दामाद छथि; आ हम स्वयं राजा कऽ साढ़ू छी; आ हमर बहिनक पति स्वयं राजा छथि।

न्यायाधीश: ई सभ हम सभ जनैत छी। अहाँ अपन एही पैघ कुल कऽ अहङ्कार किएक देखि रहल छी आखिर? चरित्रहि मनुष्यकें श्रेष्ठ बनाबैत अछि; मुदा काँटा आ कूर घास सभ सेहो बहुत उपजाऊ माँठि भीतर प्रचुर रूपसँ उगि जाइत छैक। 7 मुदमा कऽ विवरण बाजू।

संस्थानक: हम कहब, मुदा यदि हम स्वयं अपराधी होबहुँ सेहो, तइयो ओ हमर किछु नै कऽ सकितैक। नीक, हमर बहिनक पति हमरा बहुत चाहैत छथि, आ ओ हमरा सभसँ श्रेष्ठ बगीचा देने छथि, पुराना पुष्पककरण्डक बगीचा, ओतय खेलबाक लेल आ ओकर रक्षा करबाक लेल। आ हम प्रत्येक दिन ओतय ओकरा देखबाक लेल जाइत छी, ओकरा सूखा राखबाक लेल, ओकरा सफा राखबाक लेल, ओकरा फूल सभसँ सुसज्जित राखबाक लेल, ओकरा नीक नाप भीतर रखबाक लेल। मुदा भाग्यक विधान देखू जे हम देखलहुँ—वा बेसी नीक कहू, हम नै देखलहुँ—एकटा स्त्रीक मृत शरीर भूमि पर खसि पड़ल।

न्यायाधीश: की अहाँ जनैत छी जे ओ अभागिन स्त्री के छली आखिर?

संस्थानक: अरे न्यायाधीश सभ! हम किएक नै जानब आखिर? एकटा एहन स्त्री! उज्जयिनी नगरीक अमूल्य रत्न! सैकड़ों सुवर्ण आभूषण सभसँ सुशोभित! ककरो पापी आ अयोग्य पुत्र ओकरा फुसला कऽ पुराना पुष्पककरण्डक बगीचा भीतर लय गेल जखन ओ सुनसान छल, आ मात्र एकटा तुच्छ

वस्तु लेल—ओकर धन लेल!—वसन्तसेनाक गला दबा कऽ ओकर हत्या कऽ देलक। मुदा हम नै कयलहुँ—(ओ अचानक रुकि जाइत अछि, आ अपन हाथ अपन मुख ऊपर रखि लैत अछि)

न्यायाधीश: नगरक आरक्षी (पुलिस) कऽ कतेक पैघ असावधानी अछि ई! नगर-सेठ आ लिपिक महाराज, अहाँ अपन पत्र ऊपर ई शब्द "हम नै कयलहुँ" अवश्य लिखू, मुकदमाक पहिल विवरण कऽ रूपमे।

लिपिक: जेना अहाँक आज्ञा, महाराज। (ओ लिखैत अछि) महाराज, विवरण लिखि देल गेल अछि।

संस्थानक: (अपन मनमे) हे भगवान! आब हम अपना कऽ स्वयं अनर्थ भीतर फिडक देलहुँ, ओही मनुष्य कऽ जकां जे हड़बड़ी भीतर भात आ दूधक पैघ लड्डू चबा कऽ निगलि जाइत अछि आ फसि जाइत अछि। नीक, हम एककरा एही प्रकार तोपब। (प्रकट) नीक, नीक, न्यायाधीश सभ! हम तँ मात्र एतेक कहि रहल छलहुँ जे हम एककरा अपन आँखिसँ होइत नै देखलहुँ। अहाँ सभ किएक एतेक पैघ कोलाहल मचाइ रहल छी आखिर? (ओ अपन पएरसँ लिखल गेल शब्द सभकें मिटा दैत अछि)

न्यायाधीश: अहाँ कसरि जनैत छी जे ओकर गला दबाएल गेल छल—आ ओहो मात्र ओकर धन लेल?

संस्थानक: अरे! हम एहन किएक नै सोचब आखिर, जखन ओकर कण्ठ सूजल छल आ खुल्ला छल, आ जतय आभूषण पहिरल जाइत छैक ओ सभ स्थान सुवर्णसँ पूर्णतः खाली छल?

नगर-सेठ आ लिपिक: ई गप सत्य बुझाइत अछि।

संस्थानक: (अपन मनमे) आकाश कऽ धन्यवाद हो! हम पुनः अपन श्वास कऽ वापस पाबि लेलहुँ। जय हो!

नगर-सेठ आ लिपिक: आब एही मुकदमाक उद्यम क ककर उपस्थिति ऊपर निर्भर करैत छैक आखिर?

न्यायाधीश: मुकदमाक दुटा पैघ रूप अछि।

नगर-सेठ आ लिपिक: कसरि, महाराज?

न्यायाधीश: हमरा सभकें पहिने विवरण ऊपर विचार करबाक चाही, पुनः सत्य ऊपर। आब विवरणक जाँच वादी आ प्रतिवादी कऽ उपस्थिति ऊपर निर्भर करैत छैक। मुदा सत्यक साक्षात जाँच न्यायाधीशक भीतरी बुद्धि आ विवेक द्वारा कयल जबाक चाही।

नगर-सेठ आ लिपिक: तँ एही मुकदमाक आगाँ कऽ कार्य आब वसन्तसेनाक आदरणीय मायक उपस्थिति ऊपर निर्भर करैत छैक?

न्यायाधीश: बिल्कुल वैह। हमर नीक चोबदार, बाहर जाउ आ वसन्तसेनाक मायकें निमन्त्रित कऽ कऽ लाउ, मुदा ध्यान राखब जे हुनका मन भीतर कोनो चिन्ता वा भय कऽ भावना नै आबय।

चोबदार: जेना अहाँक आज्ञा, महाराज। (ओ बाहर जाइत अछि, आ गणिकाक मायक साथ वापस आबैत अछि) हमर पाछाँ आबब, आर्या।

माय: हमर कनियाँ अपन युवावस्थाक आनन्द लेल अपन एकटा मित्रक घर गेल छली। मुदा आब ई भद्र पुरुष—ई दीर्घायु होऊ!—आबि कऽ कहि रहल छथि "आबब! न्यायाधीश अहाँकें पुकारि रहल छथि।" हमर मन पूर्णतः व्याकुल भऽ गेल अछि। हमर हृदय तीव्र गतिसँ काँपि रहल अछि। महाभाग, की अहाँ हमरा न्यायालय कऽ कक्ष भीतर लय चलब?

चोबदार: हमर पाछाँ आबब, आर्या। (ओ सभ चलैत छथि) ई न्यायालय कऽ कक्ष अछि। कृपया भीतर प्रवेश करू, आर्या। (दोनों प्रवेश करैत छथि)

माय: (लग जा कऽ) अहाँ सभकें प्रसन्नता भेटय, परम सम्मानित आदरणीय भद्र लोक सभ।

न्यायाधीश: आदरणीय कनियाँ, अहाँक बहुत स्वागत अछि। कृपया आसन ग्रहण करू।

माय: धन्यवाद। (ओ बैठि जाइत अछि)

संस्थानक: (अपमानजनक शब्द सभक साथ) अहाँ एतय आबि गेलहुँ, की अहाँ आखिर, अहाँ बूढ़ी कुटुनी?

न्यायाधीश: हमरा बताउ। की अहाँ वास्तवमे वसन्तसेनाक आदरणीय माय छी?

माय: हँ, हम छी।

न्यायाधीश: वसन्तसेना एही क्षण कतऽ गेल छथि आखिर?

माय: अपन एकटा मित्रक घर।

न्यायाधीश: हुनकर ओही मित्रक की नाम अछि आखिर?

माय: (अपन मनमे) हे भगवान! वास्तवमे, ई प्रश्न बहुत लज्जाजनक अछि। (प्रकट) आन केओ हमरासँ एहन प्रश्न पूछि सकितैक, मुदा एकटा न्यायाधीश कऽ एहन नै सोझैत।

न्यायाधीश: कृपया लज्जित नै होऊ। मुकदमाक नियमहि ई प्रश्न पूछि रहल छैक।

नगर-सेठ आ लिपिक: मुकदमाक नियमहि ई प्रश्न पूछि रहल छैक। एकरा भीतर अहाँक कोनो दोष नै अछि। बाजू।

माय: की! मुकदमाक नियम? जदि एहनहि अछि, तँ सुनू, सम्मानित आदरणीय भद्र लोक सभ। व्यापारी सभक ओही टोला भीतर निवास करैत छथि व्यापारी विनयदत्तक पौत्र, सागरदत्तक पुत्र, एकटा एहन पुरुष जकर नामहि अपन आपमे एकटा बहुत सुन्दर पावन सङ्केत अछि—हुनकर नाम चारुदत्त महाराज अछि। हुनकरहि भीतरी महल भीतर हमर कनियाँ अपन युवावस्थाक आनन्द लय रहल छथि।

संस्थानक: अहाँ सुनलहुँ ई गप? एही शब्द कऽ तुरंत लिखि लिय'। हमर असली विवाद चारुदत्तक साथहि अछि।

नगर-सेठ आ लिपिक: चारुदत्त महाराजकें ओकर मित्र होना कोनो पाप-कर्म नै अछि।

न्यायाधीश: एही मुकदमाक आगाँ कऽ कार्य आब चारुदत्त महाराजक उपस्थिति कऽ मड्ग कऽ रहल छैक।

नगर-सेठ आ लिपिक: बिल्कुल सत्य।

न्यायाधीश: धनदत्त महाराज, मुकदमाक पहिल विवरण कऽ रूपमे लिखू "वसन्तसेना चारुदत्त महाराजक घर गेल छली।" मुदा की हमरा सभकें आदरणीय चारुदत्तकें सेहो विवश कऽ कऽ पुकारबाक चाही? नै, मुकदमाक नियमहि हुनका आमन्त्रित कऽ रहल छैक। जाउ, हमर नीक चोबदार, चारुदत्त महाराजकें सादर आमन्त्रित कऽ कऽ लाउ,—मुदा बहुत मधुरतासँ, बिना कोनो हड़बड़ीक, बिना हुनका मन भीतर कोनो चिन्ता खड़ा कयलने, परम आदरक साथ, जेना कोनो सहज गप होबय,—एही शब्द सभक साथ जे "न्यायाधीश अहाँक देखबाक इच्छा राखैत छथि।"

चोबदार: जेना अहाँक आज्ञा, महाराज। (ओ बाहर जाइत अछि, पुनः चारुदत्तक साथ वापस आबैत अछि) हमर पाछाँ आबब, महाराज।

चारुदत्त: (चिन्तन भीतर डूबल) हमर चरित्र आ हमर कुल कऽ पूरा उज्जयिनी नगरी कऽ राजा नीक जकां जनैत छथि; आ तइयो हमर एही आमन्त्रण भीतर हमर मन्द भाग्यक कारण एकटा संशय देखि रहल अछि।

(विचार करैत, अपन मनमे) आह! की कोनो एहन मनुष्य छलाह जे हमरा मार्ग भीतर पहिचानि लेलन्हि, जखन हम ओही बन्धनसँ मुक्त भेल वीर कऽ अपन गाड़ी भीतर बचेने छलहुँ? अथवा की राजा, जे अपन चतुर गुप्तचर सभक आँखिसँ सभ किछु देखैत छथि, ई जानि लेलन्हि जे संकट कऽ घड़ी भीतर हमर गाड़ी ओकरा देल गेल छल? कोन कारण अछि जे हमरा एही प्रकार राजपथ पर एकटा अपराधी कऽ जकां चलबाक लेल विवश होना पड़ि रहल अछि, अपन न्यायाधीश कऽ सम्मुख होबाक लेल?

मुदा एही प्रकार विचार करबा सँ की लाभ आखिर? हमरा न्यायालय कऽ कक्ष भीतर जबाकहि चाही। हमर नीक चोबदार, हमरा न्यायालय भीतर लय चलू।

चोबदार: हमर पाछाँ आबब, महाराज। (ओ सभ चलैत छथि)

चारुदत्त: (व्याकुलतासँ) आ एकर की अर्थ भऽ सकैत अछि आखिर? देखू कसरि ओही घोर अन्धकारमय कौआ कूर नाद कऽ रहल अछि; न्याय कऽ सेवक सभ हमरा पुनः पुकारि रहल छथि; हमर बाँया आँखि तीव्र गतिसँ फड़कि रहल छैक; ई बार-बार होइत कुसङ्केत हमर हृदयकें भय आ संतापसँ भरि रहल छैक।

चोबदार: हमर पाछाँ आबब, महाराज, बहुत मधुरतासँ आ बिना कोनो हड़बड़ीक।

चारुदत्त: (चारू कात चलैत छथि आ अपन सम्मुख देखैत छथि) ओही सूखा गेल वृक्ष कऽ ऊपर, एकटा कौआ सूर्य कात मुख कयलने बैठल अछि; ओकर बाँया आँखि हमरहि ऊपर खसि पड़ल छैक। हाय, कूर भाग्य! हमर संशय आब सत्य सिद्ध भऽ गेल।

(ओ दोसर दिशा कात देखैत छथि) मुदा देखू! एकटा साँप! ओकर आँखि बिल्कुल हमरहि ऊपर स्थिर छैक; आ ओकर पीठ काजलक गम्भीर कान्तिमय करिया रङ्ग कऽ जकां चमकि रहल छैक; ओकर पैघ जीभ हवामे लपलपाइ रहल छैक; चारि गोटा सफेद दाँत प्रकट छैक; ओकर पेट सूजल अछि आ ओ कुण्डली बान्हने अछि। सर्प सभक ई राजा एतहि सुतल छल जब धरि हम एकर मार्ग पार कयलहुँ, आ आब ई घोर क्रोध भीतर हमरहि ऊपर झपटि रहल अछि।

आ एकरसँ बेसी ई अछि: भूमि पर कोनो वर्षा नै भेल अछि, तइयो हमर पएर खसि पड़ि रहल छैक; हमर बाँया आँखि आ हमर बाँया बांहि दोनों एक साथ फड़कि रहल छैक; एकटा दोसर पक्षी हमर मुड़ कऽ ऊपर चीखि रहल छैक; ई सभ साक्षात एकटा कूर मृत्युक सङ्केत अछि, आ जीवनक आ कोन आशा नै बचल।

निश्चित रूपसँ, देवता सभ प्रार्थना अछि जे आब सभ किछु नीक होबय।

चोबदार: हमर पाछाँ आबब, महाराज। ई न्यायालय कऽ कक्ष अछि। कृपया भीतर प्रवेश करू।

चारुदत्त: (भीतर प्रवेश करैत छथि आ चारू कात देखैत छथि) न्यायालय कऽ ई कक्ष कतेक अद्भुत आ भव्य बुझि रहल अछि। किएक तँ ई एकटा विशाल समुद्र जकां अछि, जकर पानि स्वयं राजा कऽ मन्त्री सभ छथि जे गम्भीर चिन्तन भीतर डूबल छथि; लहरि आ सीप सभ कऽ जकां एतय वकील सभ अपन स्थान लेने छथि; आ भयानक हिंसक जन्तु सभ कऽ जकां एतय गुप्तचर सभ अपन-अपन पंक्ति बान्हि कऽ ठाढ़ छथि; हाथी आ घोड़ा सभ ओही कूर समुद्र कऽ पैघ मछली सभ कऽ जकां छथि जे प्राण लेबाक लेल लालायित रहैत छैक; जेना समुद्रक बगुला सभ चारू कात चीखैत छथि, ओनाहि एतय चंचल मुकदमाबाज सभक पंक्ति नाद कऽ रहल छैक; जखन कि साँप सभक जकां एतय लिपिक सभ रेंगि रहल छथि एही सत्ताक तट ऊपर: न्यायालय कऽ ई रूप आब ओही समुद्र कऽ जकां बुझि रहल अछि जतय प्रत्येक हानिकारक आ कूर जन्तु निवास करैत छैक।

आउ! (जखन ओ भीतर जाइत छथि, तँ हुनकर मस्तक कपाट कऽ ऊपर चक्रसँ टकरा जाइत छैक। चिन्तन भीतर) हाय! एकर सेहो आब आगमन भेल की? हमर बाँया आँखि फड़कि रहल छैक; एकटा कौआ कूर नाद कऽ रहल छैक; एकटा साँप हमर मार्ग कऽ घेरने कुण्डली बान्हने अछि। आब हमर सुरक्षा मात्र ईश्वर कऽ हाथ भीतर अछि।

मुदा हमरा भीतर प्रवेश करबहि चाही। (ओ भीतर जाइत छथि)

न्यायाधीश: ई चारुदत्त महाराज छथि। एकटा एहन मुख मण्डल जकर नाक बिल्कुल तीक्ष्ण आ साफ छैक, जकर पैघ-पैघ खुल्ला आँखि भीतरी निष्कपट स्वभाव देखबैत छैक, ओ कखनहु कोनो वासना वा पाप-कर्म कऽ निवासस्थान नै भऽ सकैत; हाथी सभमे, घोड़ा सभमे, आ गौ सभमे, बाहरी रूपहि भीतरी स्वभावक साक्षात सङ्केत होइत छैक; आ मनुष्य सभमे सेहो ओतेकहि सत्य अछि।

चारुदत्तः न्याय कऽ परम पूज्य अधिकारी सभकेँ हमर आदर। अधिकारी सभ, हम अहाँ सभकेँ प्रणाम करैत छी।

न्यायाधीशः (अपन भीतरी व्याकुलताक तोपबाक यत्न करैत) महाराज, अहाँक बहुत स्वागत अछि। हमर नीक चोबदार, आदरणीय भद्र पुरुष कऽ आसन दिय'।

चोबदारः (एकटा आसन लाबैत अछि) ई आसन अछि। कृपया आसन ग्रहण करू, महाराज। (चारुदत्त बैठि जाइत छथि)

संस्थानकः (घोर क्रोधसँ) अहाँ एतय आबि गेलहुँ, की अहाँ आखिर, अहाँ स्त्री कऽ हत्या करय वाला? सुन्दर! ई एकटा बहुत नीक मुकदमा भऽ रहल अछि, ई एकटा बहुत न्यायपूर्ण न्यायालय अछि जतय एही स्त्री कऽ हत्या करय वाला कऽ आसन देल जाइ रहल छैक। (अहङ्कारसँ) मुदा कोनो चिन्ता नै। ओकरा बैठबाक दिय'।

न्यायाधीशः चारुदत्त महाराज, की अहाँक कोनो सम्बन्ध, या स्नेह, या मित्रता एही आदरणीय आर्याक कनियाँ कऽ साथ छल आखिर?

चारुदत्तः क कोन आर्या आखिर?

न्यायाधीशः एही आर्या। (ओ वसन्तसेनाक माय कात सङ्केत करैत छथि)

चारुदत्तः (उठि कऽ) आर्या, हम अहाँकेँ प्रणाम करैत छी।

मायः दीर्घायु होऊ, हमर बच्चा! (अपन मनमे) तँ ई चारुदत्त महाराज छथि आखिर। हमर कनियाँक युवावस्था बहुत नीक आ ईमानदार हाथ भीतर अछि।

न्यायाधीशः महाराज, की ओ गणिका अहाँक मित्र छथि आखिर? (चारुदत्त सङ्कोच आ लज्जा प्रकट करैत छथि)

संस्थानकः ओ अपन कयल गेल कर्म कऽ तोपबाक यत्न कऽ रहल अछि; ओ झूठ बाजि रहल अछि, लज्जा वा भय कऽ कारण; ओ ओकर हत्या कऽ देलक, ओकरासँ मुक्ति पाबि लेलक मात्र सुवर्ण लेल, आ बुझैत अछि जे कर्म तोपल रहत; मुदा ओकर मालिक एतय सम्मुख ठाढ़ अछि।

नगर-सेठ आ लिपिकः बाजू, चारुदत्त महाराज। लज्जित नै होऊ। ई एकटा मुकदमा अछि।

चारुदत्तः (लज्जा भीतर) न्याय कऽ अधिकारी सभ, हम कसरि ई साक्ष्य दऽ सकी जे एकटा गणिका हमर मित्र छथि आखिर? मुदा सभसँ कूर स्थिति भीतर सेहो, ई मात्र युवावस्थाक दोष कहल जा सकैत छैक, चरित्रक कखनो नै।

न्यायाधीशः मुकदमा बहुत कठीन अछि; तँ अपन एही लज्जाकेँ दूर करू, चाहे ई अहाँक हृदय ऊपर कतेक पैघ भार किएक नै फिङ्कि रहल हो; दृढ़ता कऽ साथ सत्य बाजू, आ छलबबाक एही भावनाकेँ अपन आपसँ दूर करू। 18 लज्जित नै होऊ। मुकदमाक नियमहि ई प्रश्न पूछि रहल छैक।

चारुदत्तः अधिकारी महाराज, हमर मुकदमा आखिर ककर साथ अछि?

संस्थानकः (अहङ्कारसँ) हमर साथ!

चारुदत्तः अहाँक साथ एकटा मुकदमा होना असह्य आ परम कष्टकर अछि!

संस्थानकः नीक, नीक, अहाँ स्त्री कऽ हत्या करय वाला! अहाँ वसन्तसेना सनक स्त्रीक हत्या कऽ देलहुँ जे सैकड़ों रत्न पहिरैत छली, आ आब एककरा तोपबाक लेल अहाँ छलबबाक चतुर उपाय कऽ रहल छी आखिर!

चारुदत्तः अहाँ महामूर्ख छी।

न्यायाधीशः एकर गप छोड़ू, उत्तम चारुदत्त महाराज। सत्य बाजू। की ओ गणिका अहाँक मित्र छथि आखिर?

चारुदत्तः हँ, ओ छथि।

न्यायाधीशः महाराज, वसन्तसेना एही क्षण कतऽ छथि आखिर?

चारुदत्तः ओ अपन घर चली गेली।

नगर-सेठ आ लिपिकः ओ कसरि गेली? ओ कखन गेली? ओकर साथ के गेल छल आखिर?

चारुदत्तः (अपन मनमे) की हमरा ई कहबाक चाही जे ओ ककरो देखे बिना चुपचाप गेल छली?

नगर-सेठ आ लिपिकः बाजू, महाराज।

चारुदत्तः ओ अपन घर चली गेली। एकरासँ बेसी हम की कहब आखिर?

संस्थानकः ओकरा फुसला कऽ हमर पुराना पुष्पककरण्डक बगीचा भीतर लाएल गेल छल, आ मात्र ओकर धन लेल ओकर गला दबाएल गेल छल। आब अहाँ कहब जे ओ अपन घर गेली आखिर?

चारुदत्तः मनुष्य, अहाँ पागल छी। आकाशक मेघ सेहो अहाँक शरीरकेँ आदरसँ गीला नै कऽ सकैत; अहाँक ई ओठ ओही नीलकण्ठ पक्षीक पाँखिक किनार जकां करिया भऽ गेल छैक, जे सदा असत्य बोली बाजय भीतर चंचल रहैत छैक, आ जाइक ऋतुक ओही कमल-पुष्प जकां अछि जकर समस्त कान्ति नष्ट भऽ गेल हो।

न्यायाधीशः (अपन मनमे) जदि मनुष्य हिमालय पर्वत कऽ अपन हाथ भीतर उठा लय, आ एक समुद्रक तटसँ दोसर समुद्रक तट धरि तैरि कऽ पार कऽ लय, आ हवा कऽ झोंका कऽ अपन मुट्ठी भीतर बन्द कऽ लय; मात्र तबहि केओ विचार कऽ सकैत अछि जे चारुदत्त महाराज कोनो पाप-कर्म कयलने होताह।

(प्रकट) ई आदरणीय कुलक चारुदत्त महाराज छथि। ओ एहन भयानक अपराध कसरि कऽ सकैत छथि आखिर? (ओ वैह श्लोक दोहराबैत छथि "एकटा एहन मुख मण्डल जकर नाक:")

संस्थानक: न्यायालय भीतर एही प्रकारक पक्षपात किएक भऽ रहल छैक आखिर?

न्यायाधीश: विदा होऊ एतयसँ, अहाँ मूर्ख! अहाँ अज्ञानी, अहाँ पवित्र कानून कऽ अपन टेढ़ अर्थ देखबैत छी, आ तइयो अहाँक जीभ भीतर कोनो घाव नै होइत आखिर? दोपहर कऽ कड़ा सूर्य कात अहाँ स्थिर आँखिसँ देखलहुँ, आ अहाँक आँखि तुरंत अन्ध नै भेल आखिर? अहाँ अपन हाथ प्रज्वलित आगि भीतर फिङ्कलहुँ, आ ओकरा बाहर निकाललहुँ बिना कोन घावक? अहाँ चारुदत्त महाराजक पवित्र गुण कऽ माठि भीतर घसीटबाक पराक्रम कऽ रहल छी, आ अहाँ एही क्षण भूमि भीतर कऽ एही भीतरी गड्ढा भीतर समा नै गेलहुँ आखिर?

आदरणीय चारुदत्त महाराज कसरि कोनो अपराध कऽ सकैत छथि आखिर? विशाल समुद्रक समस्त अमूल्य सम्पत्ति भीतरसँ आब मात्र ओकर उमड़ैत पानिहि बचल छैक, किएक तँ, बिना कोन स्वार्थपूर्ण विचार कऽ—ओ आन लोक सभक कल्याण लेल—अपना कऽ सभ प्रकारक धनसँ पूर्णतः मुक्त कऽ देलन्हि। आ की एकटा एहन महान आत्मा वाला पुरुष, गुणक साक्षात अमूल्य पेटारी जतय सभ श्रेष्ठ रत्न आपसमे मिलैत छथि, मात्र तुच्छ सुवर्ण लेल, एहन क्रूर अपराध करबाक पराक्रम करत जकर भीतर ओकर शत्रु सेहो आनन्द नै पाबि सकैत आखिर?

माय: अहाँ पापी! जखन ओही सुवर्ण-मञ्जूषा, जे हुनकर घर धरोहर कऽ रूपमे सौंपल गेल छल, आधी राति भीतर चोर सभ द्वारा चोराएल गेल छल, तँ ओ ओकरा स्थान पर अपन पत्नीक ओही मोती कऽ कण्ठहार दऽ देलन्हि जे चारू समुद्रक परम गौरव छल। आ ओ आब, मात्र एकटा तुच्छ वस्तु लेल—ओकर धन लेल!—एहन पाप करत आखिर? ओह हमर बच्चा, वापस आबब हमर पाँ, हमर कनियाँ! (ओ अश्रु बहाबैत अछि)

न्यायाधीश: आदरणीय चारुदत्त महाराज, की ओ परसँ पैदल गेल छली, या कोनो गाड़ी भीतर?

चारुदत्त: हम हुनका विदा होइत काल अपन आँखिसँ नै देखलहुँ। अतः हमरा जान नै अछि जे ओ परसँ पैदल गेल छली, या कोनो गाड़ी भीतर।

(घोर क्रोध भीतर आरक्षी कप्तान वीरकक प्रवेश होइत अछि)

वीरक: हमर क्रोध ओही अपमानजनक, कलङ्क वला लातक प्रहारसँ एतेक प्रज्वलित भऽ गेल छल, आ हम रात भरि ओही संताप भीतर जलि रहल छलहुँ, जब धरि राति विवश भऽ कऽ भोरक प्रकाश कऽ स्थान नै दऽ देलक।

अतः आब हम न्यायालय कऽ कक्ष भीतर जाब। (ओ भीतर जाइत अछि) एही सम्मानित अधिकारी सभकें प्रसन्नता भेटय।

न्यायाधीश: आहा, ई वीरक अछि, पहरेदार सभक कप्तान। वीरक, अहाँक एतय आबबाक की प्रयोजन अछि आखिर?

वीरक: नीक! हम वीर कैदी आर्यक कऽ खोजि रहल छलहुँ, जखन ओकर कारागारसँ भागबाक कारण पूरा नगर भीतर पैघ कोलाहल छल। हमरा मार्गमे एकटा बन्द गाड़ी आबित देखि कऽ संशय भेल छल, आ हम भीतर देखबाक इच्छा राखैत छलहुँ। "अहाँ एक बेर निरीक्षण कऽ लेलहुँ, मनुष्य, आब हमरा दोसर बेर करबाक चाही," हम एहनहि कहलहुँ छल, आ ओकरा बाद हमरा ओही बहुत सम्मानित चन्दनक द्वारा लात मारल गेल। अहाँ सभ विवरण सुनि लेलहुँ, महाराज अधिकारी सभ। अवशिष्ट आब अहाँक कार्य अछि।

न्यायाधीश: हमर नीक मनुष्य, की अहाँ जनैत छी जे ओ गाड़ी ककर छल आखिर?

वीरक: एतय सम्मुख ठाढ़ एही आदरणीय भद्र पुरुष चारुदत्त महाराजक। आ चालक कहि रहल छल जे आर्या वसन्तसेना ओकरा भीतर छथि, आ ओ ओकरा पुष्पककरण्डक पुराना बगीचा कात आनन्द लेबाक लेल लय जाइ रहल अछि।

संस्थानक: एककरा सेहो सुनू आ सत्य जानू!

न्यायाधीश: चरित्रक ई चन्द्रमा, हाय, जे निष्कलङ्क आ निर्मल छल, ओ आब राहु कऽ मुख भीतर समा रहल अछि, ओकर कान्ति चोराएल जा रहल छैक; तट नीचां खसि पड़ल छैक; लहरि सभ आब गन्दा देखि रहल छैक, जे पहने कखनो बहुत निर्मल आ साफ छलाह।

वीरक, अहाँक एही मुकदमाक जाँच हम सभ बाद भीतर करब। न्यायालय कऽ दुआरि पर जे घोड़ा ठाढ़ अछि, ओकरा ऊपर सवार होऊ, पुष्पककरण्डक बगीचा भीतर तुरंत जाऊ, आ देखू जे की ओतय वास्तवमे कोनो स्त्री मृत अवस्था भीतर खसि पड़ल अछि वा नै।

वीरक: जेना अहाँक आज्ञा, महाराज। (ओ बाहर जाइत अछि, पुनः वापस आबैत अछि) हम ओतय जा कऽ देखि कऽ आबि गेलहुँ अछि। आ हम एकटा स्त्रीक मृत शरीर देखलहुँ, जकर रूप वनक भयानक हिंसक पशु सभ द्वारा नोचल गेल छैक।

नगर-सेठ आ लिपिक: अहाँ कसरि जनलहुँ जे ओ कोनो स्त्रीकहि मृत शरीर छल आखिर?

वीरक: ओ हम ओकर केशक अवशेष, ओकर बाँहि, ओकर हाथ आ पएक साक्षात नाप देखि कऽ पहिचानि लेलहुँ।

न्यायाधीश: हाय, मनुष्यक क्रूर कर्म सभक कारण कोनो पैघ कठिन संकट खड़ा भऽ जाइत छैक! मनुष्यों जतेक बेसी अपन भीतरी कला आ चतुरताक प्रयोग करत, सत्य कऽ मार्ग ओतेकहि आ कठिन भऽ जाइत छैक; कानून कऽ मड्ग तँ बिल्कुल साफ देखि रहल छैक, तइयो न्यायाधीशक निर्णय अपन स्थान पर ओनाहि संशय भीतर डोलि रहल छैक, जेना कोनो निर्बल गौ दलदल कऽ चंचल बालू ऊपर ठाढ़ हो।

चारुदत्त: (अपन मनमे) जेना मधुमक्खी सभ, जखन फूल खिलब आरम्भ करैत छैक, ओकर रस पीबाक लेल चारू कातसँ उमड़ि आबैत छैक; ओनाहि जखन मनुष्य मन्द भाग्य कऽ बन्धन भीतर आबि जाइत छैक, तँ सभ संकट आ दुःख ओकरहि दुआरि कऽ कबाड़ तोड़ि कऽ भीतर समा जाइत छैक।

न्यायाधीश: आदरणीय चारुदत्त महाराज, सत्य बाजू!

चारुदत्त: एकटा नीच आ ईर्ष्यालु जीव, वासना भीतर पूर्णतः अन्ध भऽ कऽ, अपन पूरा आत्मा कोनो एहन क्रूर माध्यम खोजबामे लगा दैत छैक जाहिसँ ओ ओही मनुष्यक प्राण लय सकय जकरासँ ओ ईर्ष्या करैत छैक; की ओकर झूठ, जे ओकर पापी स्वभावसँ निकसल छैक, न्यायालय भीतर विजय पाबत आखिर? नै! विद्वान आ बुद्धिमान पुरुष कखनहु ओकरा कात ध्यान धरि नै दैत।

आ एकरसँ बेसी ई अछि: हम कखनो कोनो सुसुक लताक सुन्दरताकें सेहो नष्ट नै कयलहुँ, नहि ओकर फूल कऽ अपन हाथसँ तोड़लहुँ; तँ की हमरा एहन भय नै होइत आखिर जे हम ओकर सुकुमार केशकें, जे मधुमक्खी कऽ पाँखि कऽ जकाँ करिया आ सुन्दर छैक, अपन हाथ भीतर जकड़ब, आ एकटा कानय वाली निर्दोष कनियाँक हत्या करब?

संस्थानक: अरे न्यायाधीश सभ! अहाँ सभ एही मुकदमाक जाँच एतेक पैघ पक्षपात कऽ साथ कसरि कऽ सकैत छी आखिर? देखू, अहाँ सभ अखन धरि एही पापी चारुदत्तकें ओकर आसन ऊपर सम्मानसँ बैठाउने छी।

न्यायाधीश: हमर नीक चोबदार, एहनहि होबय तखन। (चोबदार संस्थानकक सङ्केतक अनुकूल कार्य करैत अछि)

चारुदत्त: न्यायाधीश सभ, गम्भीर विचार करू जे अहाँ सभ की कऽ रहल छी! (ओ अपन आसन छोड़ि दैत छथि, आ भूमि पर बैठि जाइत छथि)

संस्थानक: (परम प्रसन्नतासँ आनन्दित भऽ कऽ नाचैत अछि। अपन मनमे) सुन्दर! जे पाप-कर्म हम कयलहुँ छल, ओकर कलङ्क आब ककरो दोसर मनुष्यक मुड़ ऊपर जा कऽ खसि पड़ल छैक। अतः आब हम ओतहि बैठब जतय चारुदत्त पहिने बैठल छल। (ओ ओनाहि करैत अछि) हमर कात देखू, चारुदत्त, आ आब अपन मुखसँ स्वीकार करू जे अहाँ ओकर हत्या कयलहुँ।

चारुदत्त: न्यायाधीश सभ! एकटा नीच आ ईर्ष्यालु जीव, वासना भीतर पूर्णतः अन्ध भऽ कऽ, अपन पूरा आत्मा कोनो एहन कूर माध्यम खोजबामे लगा दैत छैक जाहिसँ ओ ओही मनुष्यक प्राण लय सकय जकरासँ ओ ईर्ष्या करैत छैक; की ओकर झूठ, जे ओकर पापी स्वभावसँ निकसल छैक, न्यायालय भीतर विजय पाबत आखिर? नै! विद्वान आ बुद्धिमान पुरुष कखनहु ओकरा कात ध्यान धरि नै दैत।

(उदासीसँ लम्बा निश्वास छोड़ि कऽ। अपन मनमे) हमर साथी मैत्रेय! ओह, ई कतेक कूर प्रहार भेल अछि! हमर प्रिय पत्नी, जे एकटा निष्कलङ्क कुलक परम गौरव छी! हमर रोहसेन बच्चा! हम एतय भूमि पर खसि पड़ल छी, मन्द भाग्यक कूर बन्धन भीतर; आ अहाँ, अहाँकें कोनो जान धरि नै छैक जे अहाँक खेलबाक समस्त सुकुमार उत्सव आब पूर्णतः व्यर्थ भऽ गेल अछि। अहाँ खेलि रहल छी, ककरो दोसरक एही घोर संतापसँ पूर्णतः अनजान भऽ कऽ!

मुदा हम मैत्रेयकें वसन्तसेना पाँ पठाय देलहुँ छल, जाहिसँ ओ ओकर कुशल-क्षेम लाबथि, आ ओही आभूषण कऽ पेटारी वापस कऽ दिय' जे ओ हमर बच्चाकें माठिक गाड़ी भीतर खिलौना स्वरूप सोने कऽ गाड़ी बनाबय लेल देने छली। तखन ओ आब कसरि बिलम्ब कऽ रहल अछि आखिर?

(हाथमे आभूषण लय कऽ मैत्रेयक प्रवेश होइत अछि)

मैत्रेय: चारुदत्त महाराज हमरा आदेश देलन्हि जे हम वसन्तसेना पाँ जाउ, ओकर आभूषण वापस करबाक लेल, आ ओ हमरा कहलनि जे: "मैत्रेय, वसन्तसेना हमर प्रिय रोहसेनकें अपनहि बहुमूल्य आभूषण सभसँ सजा देने छली, आ ओकरा एही रूपमे ओकर माय पाँ पठावे छली। ओकर पक्षसँ आभूषण देना तँ उचित छल, मुदा हमरा सभक लेल एककरा स्वीकार करब कोनो मर्यादा कऽ अनुकूल नै अछि। अतः एककरा तुरंत ओकरा सुपुर्द कऽ दिय'।" अतः आब हम वसन्तसेनाक घर कऽ मार्ग पर छी। (ओ चलैत अछि आ चारू कात देखैत अछि, पुनः नेपथ्यक ककरो साथ बाजैत अछि) आहा, ई आचार्य रेभिल छथि आखिर। ओह आचार्य रेभिल, अहाँ एतेक पैघ संताप आ व्याकुलता भीतर किएक देखि रहल छी आखिर? (ओ सुनैत अछि) की! अहाँक की अर्थ अछि, महाराज? "हमर प्रिय मित्र चारुदत्तकें न्यायालय भीतर विवश कऽ कऽ पुकारल गेल अछि आखिर"? ई कखनहु कोनो साधारण गप नै भऽ सकैत। (सोचैत) हम वसन्तसेनाक घर बाद भीतर जाब, मुदा पहने हम न्यायालय कऽ कक्ष भीतर तुरंत जाब। (ओ चारू कात चलैत अछि आ देखैत अछि) ई न्यायालय अछि। हम अखने भीतर जाब। (ओ भीतर जाइत अछि) न्यायाधीश सभकें प्रसन्नता भेटय। हमर मित्र कतऽ छथि आखिर?

न्यायाधीश: एतय।

मैत्रेय: हमर मित्र, हम अहाँक सुख आ प्रसन्नताक कामना करैत छी।

चारुदत्त: ओ हमर भऽ कऽ रहत।

मैत्रेय: आ शान्ति कऽ सेहो।

चारुदत्त: ओहो हमर भऽ कऽ रहत।

मैत्रेय: हमर मित्र, अहाँ एतेक पैघ संताप आ दुःख भीतर किएक देखि रहल छी आखिर? आ अहाँकें किएक पुकारल गेल छल?

चारुदत्त: हमर मित्र, एकटा पापी आ अधम मनुष्य छी हम, जे एही कलङ्क कऽ भार उठा रहल अछि, आ परलोक भीतर कोनो सुखक आशा आब हमर पाँ नै बचल छैक; एकटा सुकुमार कनियाँ—या कोनो देवी—ई दोनों एकहि अछि; मुदा अवशिष्ट गप आब ई पुरुष (संस्थानक) अपन मुखसँ कहत।

मैत्रेय: की? की गप अछि आखिर?

चारुदत्त: (कान भीतर फुसफुसाबैत छथि) वैह भेल अछि।

मैत्रेय: ई के कहि रहल छैक आखिर?

चारुदत्त: (संस्थानक कात सङ्केत करैत छथि) ई मनुष्य साक्षात् विधाताक हाथक माध्यम बनल अछि हमर ऊपर कलङ्क लगाबबाक लेल।

मैत्रेय: (चारुदत्त कऽ कान भीतर फुसफुसाबैत अछि) अहाँ सीधा एतेक किएक नै कहि दैत छी जे ओ अपन घर चली गेली आखिर?

चारुदत्त: यद्यपि हम एहन कहि सेहो देब, तइयो केओ विश्वास नै करत, एतेक कूर आ संकटमयी हमर आब स्थिति भऽ गेल अछि।

मैत्रेय: मुदा महाराज अधिकारी सभ! हुनका द्वारा उज्जयिनी नगरीकें पैघ-पैघ महल सभसँ, आश्रम सभसँ, उपवन सभसँ, मन्दिर सभसँ, पोखरि सभसँ, आ सुन्दर फव्वारे सभसँ सुसज्जित कयल गेल अछि, आ ओ आब एतेक पागल भऽ जएताह जे एहन भयानक अपराध करताह—ओहो मात्र एकटा तुच्छ वस्तु लेल आखिर? (घोर क्रोधसँ) अहाँ एकटा चरित्रहीन स्त्रीक पुत्र, अहाँ राजा कऽ सादू संस्थानक, अहाँ कामुक, अहाँ झूठा कलङ्क लगाबय वाला, अहाँ

नचनियाँ, अहाँ सुवर्ण वस्त्र पहिरने बानर, हमर सम्मुख बाजू एही गप कऽ! हमर ई मित्र कखनो कोनो खिलल चमेली कऽ लता कऽ सेहो अपना कात आदरसँ नै खिंचैत छलाह, ओकर फूल तोड़बाक लेल, एही भयक मारे जे कखनो ओकर कोनो सुकुमार टहनी घायल नै भऽ जाय। ओ एहन अपराध कसरि कऽ सकैत छथि आखिर, जकरा पृथ्वी आ आकाश दोनों साक्षात घोर पाप कहि कऽ पुकारि रहल छैक? बस एक क्षण रुकू, अहाँ एकटा कुट्टनीक पुत्र! रुकू जब धरि हम अहाँक एही मुड़ कऽ अपन एही लाठीसँ, जे अहाँक टेढ़ हृदय कऽ जकाँ टेढ़ छैक, एक सौ टुकड़ामे काटि कऽ भूमि पर नै खसाय दैत छी।

संस्थानक: (घोर क्रोधसँ) अधिकारी सभ, एकर गप सुनू आ सत्य जानू! हमर विवाद, या हमर मुकदमा चारुदत्तक साथ अछि आखिर। एकटा एहन मनुष्य जकर मुड़ कोनो टेढ़ काठक खूँटा जकाँ देखि रहल छैक, ओकरा की अधिकार छैक आखिर जे हमर मुड़ कऽ एक सौ टुकड़ामे काटि कऽ खसाय दैक? बिल्कुल नै! अहाँ पापी रास्कल! (मैत्रेय अपन लाठी उठाबैत अछि आ अपन शब्द सभ दोहराबैत अछि। संस्थानक घोर क्रोधसँ उठैत अछि आ ओकरा मारैत अछि। मैत्रेय पलटि कऽ मारैत अछि। एही हाथापायी कऽ बीच मैत्रेयक कमर कऽ बन्धनसँ ओही आभूषण कऽ पेटारी भूमि पर खसि पड़ैत छैक)

संस्थानक: (आभूषण कऽ भूमि परसँ उठा लैत अछि आ ओकर परम सजगतासँ जाँच करैत अछि। अत्यधिक उत्तेजनासँ) देखू अधिकारी सभ, देखू! ई ओही बेचार अभागिन लड़कीक अमूल्य आभूषण अछि! (चारुदत्त कात सङ्केत करैत अछि) मात्र एही तुच्छ वस्तु लेल ओ ओकर गला दबोचने छल, आ ओकर हत्या कऽ देने छल। (समस्त न्यायाधीश अधिकारी सभ अपन मुड़ आदर आ दुःखसँ नीचां झुका लैत छथि)

चारुदत्त: (मैत्रेय कऽ कान भीतर फुसफुसाबैत छथि) ई तँ हमर मन्द भाग्य आब अपन पूरा जहर बाहर निकालि रहल छैक, जे एही कूर क्षण भीतर ई सभ आभूषण भूमि पर खसि पड़ल, ई सभ रत्न—आ एकर साथहि, हम स्वयं सेहो साक्षात खसि पड़ल छी।

मैत्रेय: मुदा अहाँ सीधा सत्य बाजू आखिर?

चारुदत्त: हमर मित्र, राजा कऽ आँखि भीतर घोर अन्धकार जमि गेल छैक, आ ओकर दृष्टि कखनहु सत्य कऽ मार्ग कात नै झुकत; यद्यपि हम सभ किछु कहि सेहो देब, तइयो हम एही कूर आ कलङ्कक वला अन्तसँ भागि कऽ कतहु नै जा सकी।

न्यायाधीश: हाय! हाय! मङ्गल ग्रह कऽ साथ स्वयं बृहस्पति युद्ध कऽ रहल छथि, आ मरि रहल छथि; आ ओही दोनों कऽ कात भीतर आब एहन बुझि रहल छैक जेना आकाश भीतर कोनो भयानक केतु-ग्रह उठि रहल हो।

नगर-सेठ आ लिपिक: (मञ्जूषा कात देखि कऽ। वसन्तसेनाक माय केँ) आर्या, कृपया एही सुवर्ण-मञ्जूषाकेँ परम सजगतासँ जाँचू, देखू जे की ई बिल्कुल वैह अछि आखिर वा नै।

माय: (मञ्जूषाकेँ देखि कऽ) एकर स्वरूप बिल्कुल वैह अछि, मुदा हम निश्चित नै छी जे ई वैह अछि आखिर।

संस्थानक: ओह अहाँ बूढ़ी कुट्टनी! अहाँ अपन आँखिसँ तँ सत्य स्वीकार कऽ रहल छी, मुदा अपन ओठसँ एकरा अस्वीकार कऽ रहल छी।

माय: विदा होऊ एतयसँ, अहाँ पापी!

नगर-सेठ आ लिपिक: बहुत सजगतासँ बाजू। की ई वैह अछि आखिर वा नै?

माय: महाराज अधिकारी सभ, सुवर्णकार कऽ भीतरी कला मनुष्य कऽ आँखि चोरा लैत छैक। मुदा हम निश्चित नै छी जे ई वैह अछि आखिर।

न्यायाधीश: नगर-सेठ महाराज, देखू! रत्न कखनो कतेको प्रकारसँ एकहि सन देखि सकैत छैक, जखन कलाकारक भीतरी विचार ओकर रूप आ सुन्दरता ऊपर खेलैत छैक; किएक तँ कलाकार सदा वैह बनाबैत अछि जे ओ अपन आँखिसँ देखलने हो, आ चतुर हाथ दोबारा वैह रूप खड़ा कऽ सकैत छैक जे पहने कखनो भेल हो।

नगर-सेठ आ लिपिक: की ई सभ आभूषण चारुदत्त महाराजक अछि आखिर?

चारुदत्त: कखनहि नै!

नगर-सेठ आ लिपिक: तखन ककर अछि आखिर?

चारुदत्त: एही आर्याक कनियाँ (वसन्तसेना) कऽ।

नगर-सेठ आ लिपिक: ओ एककरा कसरि खो देलन्हि आखिर?

चारुदत्त: ओ एककरा खो देलन्हि। हँ, मात्र एतेकहि गप सत्य अछि।

नगर-सेठ आ लिपिक: चारुदत्त महाराज, एही विषय भीतर सत्य बाजू। किएक तँ अहाँकेँ स्मरण राखबाक चाही, सत्य सदा जीवन भीतर परम कल्याण लाबैत छैक; सत्य बाजलासँ जीवन भीतर कोनो संकट नै आबैत; सत्य, साक्षात अमूल्य अक्षर अछि! तँ सत्यकेँ झूठ कऽ भीतरी अन्धकार भीतर तोपबा सँ अपन आप कऽ रोक्।

चारुदत्त: आभूषण, आभूषण! हमरा जान नै अछि। मुदा हम एतेक जनैत छी जे एककरा हमर घरसँ बाहर लय जाया गेल छल।

संस्थानक: पहने अहाँ ओकरा बगीचा भीतर लय गेलहुँ आ ओकर हत्या कऽ देलहुँ। आ आब अहाँ एककरा तोपबाक लेल छलबबाक चतुर उपाय कऽ रहल छी आखिर।

न्यायाधीश: आदरणीय चारुदत्त महाराज, सत्य बाजू! कूर कोड़ा कऽ भयानक प्रहार एही क्षण अहाँक एही सुकुमार शरीर ऊपर खसबाक लेल प्रतीक्षा कऽ रहल छैक; आ हम सभ—हम सभ विवश भऽ कऽ एककरा कानून कऽ अनुकूलहि बुझब।

चारुदत्त: धर्मात्मा आ निष्कलङ्क पूर्वज सभक कुल भीतर हमर जन्म भेल अछि, आ पाप कऽ कोनो अंश हमर भीतर कहियो नै भेटल; तइयो यदि संशय हमर पवित्र गुण कऽ कलङ्कित कऽ रहल छैक, तँ एकरामे हमर अन्ध हृदयक शुद्ध होबा सँ की लाभ आखिर?

(अपन मनमे) आ आब हमरा जीवनसँ की प्रयोजन, जखन हमर वसन्तसेनाहि हमरासँ चोराएल गेल छली। (प्रकट) आह, शब्द सभकें व्यर्थ नष्ट करबा सँ की लाभ आखिर? एकटा पापी आ अधम मनुष्य छी हम, जे एही कलङ्क कऽ भार उठा रहल अछि, आ परलोक भीतर कोनो सुखक आशा आब हमर पाँ नै बचल छैक; ओही परम प्रिय सुकुमार कनियाँ, वासनाक एही कूर ज्वाला भीतर—मुदा अवशिष्ट गप आब ई पुरुष अपन मुखसँ कहत।

संस्थानक: मारि देलहुँ ओकरा! आब अहाँ सेहो अपन मुखसँ बाजू। "हम ओकरा मारि देलहुँ।"

चारुदत्त: अहाँ एककरा कहि देलहुँ अछि।

संस्थानक: सुनू, हमर मालिक अधिकारी सभ, सुनू! एकरा स्वयं स्वीकार कऽ लेलक जे ओ ओकर हत्या कयलक! ओकरा बिना कोन दोसर मनुष्य नै छल! संशय समाप्त भऽ गेल। आब दण्ड कऽ कूर विधान एही पापी चारुदत्तक शरीर ऊपर तुरंत कयल जाय।

न्यायाधीश: चोबदार, हमरा सभकें राजा कऽ साहू कऽ गप कऽ कानून कऽ अनुकूल मानबहि पड़त। आरक्षी सिपाही सभ, चारुदत्त महाराजकें अपन बन्धन भीतर तुरंत जकड़ि लिय'। (सिपाही सभ ओनाहि करैत छथि)

माय: दया करू, उत्तम अधिकारी सभ, दया करू! (ओ पहिल गप पुन: दोहराबैत अछि जे "जखन ओही सुवर्ण-मञ्जूषा:") जदि हमर कनियाँ मारल गेल छली, तँ ओ मारल गेली। ओकर मृत्यु भऽ गेल। मुदा एही महाराजकें हमर लेल जिवैत रहबाक दिय'—ईश्वर एकर कल्याण करथि! आ एकर अतिरिक्त, एकटा मुकदमा वादी आ प्रतिवादी कऽ बीचक विषय होइत छैक। हम असली वादी छी। अतः एककरा मुक्त करू आ स्वतंत्र होबाक दिय'!

संस्थानक: अहाँ दासी, हमर मार्गसँ पाछाँ हटू! अहाँकें एकर विषयमे आ की बाजयब अछि आखिर?

न्यायाधीश: जाउ, आर्या। सिपाही सभ, हुनका सादर बाहर लय जाउ।

माय: ओह हमर बच्चा, हमर पुत्र! (अश्रु बहाबैत बाहर जाइत अछि)

संस्थानक: (अपन मनमे) हम अपना लेल एकटा बहुत पैघ पराक्रम कऽ काज कऽ लेलहुँ अछि। आब हम जाब। (प्रस्थान करैत अछि)

न्यायाधीश: आदरणीय चारुदत्त महाराज, निर्णय देबाक अधिकार तँ हमरा सभक पाँ छल, मुदा अवशिष्ट विधान आब स्वयं राजा ऊपर निर्भर करैत छैक। आ तइयो, चोबदार, राजा पालककें कानून कऽ एही नियमक स्मरण अवश्य करा देबक: कोनो ब्राह्मण जदि अपराध कऽ सेहो लय, तँ हमर शास्त्र कहैत छैक जे ओकर वध कखनो नै कयल जा सकैत, ओकरा अपन समस्त धन कऽ साथ राज्यसँ सुरक्षित बाहर निर्वासन दऽ देबाक चाही।

चोबदार: जेना अहाँक आज्ञा, महाराज। (ओ बाहर जाइत अछि, पुन: आँखिमे अश्रु लय कऽ वापस आबैत अछि) ओह महाराज अधिकारी सभ, हम स्वयं राजा कऽ सम्मुख गेल छलहुँ। आ राजा पालक कहलनि जे: "किएक तँ ओ मात्र एकटा तुच्छ वस्तु लेल वसन्तसेनाक हत्या कऽ देलक, अतः वैह सभ आभूषण ओकर कण्ठ चारू कात बान्नी देल जाय, नगाड़ा कऽ कूर नाद कयल जाय, ओकरा दक्षिणी श्मशान भूमि कात लय जाय, आ ओतय ओकरा शूल पर चढ़ा कऽ मृत्युदण्ड देल जाय।" आ जे केओ आन एहन अपराध करत, ओकरो एहनहि भयानक अन्त देल जाय।

चारुदत्त: ओह, कतेक पैघ अत्याचार आ क्रूरता अछि राजा पालकक एही विधान भीतर! मुदा आखिर, यद्यपि ककरो दुष्ट मन्त्री कऽ सलाह कोनो राजाकें अन्याय कऽ पैघ संकट भीतर फिङ्कि दैक, तइयो ओही दुःख आ संताप कऽ कूर फल स्वयं राजा कऽ हि भोगब पड़ैतैक; आ ई एकटा न्यायपूर्ण नियति होइत छैक।

आ एकरसँ बेसी ई अछि: जे राजा कऽ भीतरी बुद्धि कऽ टेढ़ कऽ दैत छथि, आ ओही सफेद कौआ कऽ जकां पापी भूमिका खेलैत छथि, ओ सभ हजारों निर्दोष मनुष्य सभक प्राण लय लैत छथि, आ ओ सभ मारैत छथि, मारैत छथि, आ मारैतहि रहैत छथि।

हमर मित्र मैत्रेय, जाउ, आ हमर पुत्रक आदरणीय मायकें हमर नामसँ अन्तिम बेर प्रणाम कहियौन्हि। आ हमर रोहसेन बच्चाकें प्रत्येक संकटसँ सदा सुरक्षित राखब।

मैत्रेय: जखन जड़िहि काटि कऽ अलग कऽ देल गेल, तँ गाछ कसिर सुरक्षित रहि सकैत छैक आखिर?

चारुदत्त: नै, एहनहि नै बाजू। जखन मनुष्य ऊपर कऽ संसार भीतर विदा भऽ जाइत अछि, तँ ओ अपन जिवैत पुत्र भीतर सदा जिवैत रहैत अछि; रोहसेन कऽ अपन ओतेकहि स्नेह आ आदर दिय' जतेक अहाँ हमरा दऽ रहल छलहुँ।

मैत्रेय: ओह हमर प्रिय मित्र! हम अहाँक जीवन कऽ ओही मार्गकें आगाँ बढ़ा कऽ, जेकरा अहाँ अधूरा छोड़ि कऽ जाइ रहल छी, अहाँक असल मित्र सिद्ध करब।

चारुदत्त: आ हमरा मात्र एकटा क्षण लेल रोहसेन बच्चाक मुख देखि लेबाक चाही।

मैत्रेय: हम ओकरा लाबब। ई बिल्कुल उचित अछि।

न्यायाधीश: हमर नीक चोबदार, एही मनुष्यकें बाहर लय जाउ। (चोबदार ओनाहि करैत अछि) ओतय के अछि आखिर? जल्लाद सभकें हुनकर कूर आदेश तुरंत देल जाय। (सिपाही सभ चारुदत्तकें मुक्त करैत छथि, आ सभ बाहर विदा भऽ जाइत छथि)

चोबदार: हमर साथ आबब, महाराज।

चारुदत्त: (उदासीसँ श्लोक दोहराबैत छथि "हमर साथी मैत्रेय/ओह, ई कतेक कूर प्रहार") (पुनः, जेना कोनो अपरिचित अदृश्य पुरुषसँ बाजि रहल हो) जदि अहाँ हमर पवित्र चरित्रक जाँच प्रज्वलित आगि भीतर कऽ कऽ देखि लेतहुँ, या पानि भीतर, या जहर भीतर, या तराजू कऽ नाप ऊपर, आ एही प्रकार जानि लेतहुँ जे हमर एही ब्राह्मण शरीरकें कोनो कूर दण्ड देबाक चाही छल, तँ हमरा कोनो दुःख नै होइत। मुदा अहाँ एकटा शत्रु कऽ शब्द ऊपर विश्वास कयलहुँ, आ हमर एही प्रकार वध कऽ रहल छी? सुन्दर! अपन पुत्र, पौत्र आ समस्त वंश कऽ साथ अहाँ आब नरक भीतर समा जाबाक लेल तैयार रहू!

हम आबि रहल छी! हम आबि रहल छी!

(सभ प्रस्थान करैत छथि)

(दू गोठ जल्लाद सभक साथ चारुदत्तक प्रवेश होइत अछि)

जल्लाद सभ: तँ आब अपन एही पीड़ा कऽ विषयमे बेसी चिन्ता नै करू; मात्र एकहि क्षण भीतर अहाँक प्राण लय लेल जाय। हम सभ अहाँकै बान्हबाक आ अहाँक वध करबाक नव-नव सभ तरीका नीक जकां जनैत छी। मुड़ काटबामे हम सभ कखनहु असफल नै होइत छी, नहि जखन ककरो शूल पर चढ़ा कऽ मृत्युदण्ड देबाक हो।

मार्गसँ हटू, आदरणीय भद्र लोक सभ, मार्गसँ हटू! ई आदरणीय कुलक चारुदत्त महाराज छथि।

हुनकर ललाट ऊपर करवीर कऽ फूलक माला सुशोभित छनि, जे आब जल्लाद सभक हाथ भीतर बद्ध छथि; एकटा एहन दीपक जकर तेल आब पूर्णतः समाप्त भऽ गेल हो, हुनकर भीतरी प्रकाश आब मन्द भऽ कऽ बुझबाक कगार पर अछि।

चारुदत्त: (उदासीसँ) हमर शरीर चारू कातसँ खसय वाला अश्रु कऽ बून्द सभसँ भीजि गेल छैक; हमर अङ्ग-अङ्ग एही माठिसँ मलिन भऽ गेल छैक; श्मशान भूमि भीतरसँ नोचल गेल फूल हमर भयानक माला बनल छैक; कूर कौआ सभ हमर एही कूर बलि-उत्सव लेल नाद कऽ रहल छैक, आ हमरहि खूनक सुगन्धित धूप देबाक तैयारी भऽ रहल छैक।

जल्लाद सभ: मार्गसँ हटू, आदरणीय भद्र लोक सभ, मार्गसँ हटू! अहाँ सभ एही भला मनुष्य कात एही प्रकार किएक देखि रहल छी आखिर? मृत्युक कूर कुल्हाड़ी कखनो एकहि क्षण भीतर एककरा नीचां खसाय दैतैक। मुदा एकटा समय छल जखन उत्तम मनुष्य सभ अपन रक्षा लेल, पक्षी सभक जकां, एही कृपालु वृक्ष (चारुदत्त) कऽ डालि ऊपर आश्रय खोजैत छलाह।

आबब, चारुदत्त महाराज, आबब!

चारुदत्त: मनुष्यक नियति आ भाग्यक मार्ग कतेक अनिश्चित आ अगाध अछि जे आब हमरा एहन कूर संकट कऽ घड़ी भीतर आबब पड़ल अछि!

चन्दनक लेप कऽ साथ हमर पूरा शरीर ऊपर हाथक लाल कूर निशान बना देल गेल छैक; अन्न आ चूर्ण कऽ छिटबाक साथ ई मनुष्य, आब साक्षात बलि कऽ पशु जकां बना देल गेल छैक।

(ओ अपन सम्मुख परम सजगतासँ देखैत छथि) हाय, मनुष्य-मनुष्य कऽ बीचक कतेक पैघ ई भेद अछि आखिर!

(उदासीसँ) किएक तँ जखन ओ सभ हमर एही मन्द भाग्यक दृश्य देखैत छथि, तँ मृत्युक एही असहाय बलि लेल लोक सभक आँखिसँ अश्रु बहि जाइत छैक, ओ सभ "कलङ्क! कलङ्क!" कहि कऽ पुकारि रहल छथि, मुदा रक्षा नै कऽ सकैत—मात्र एतेकहि प्रार्थना कऽ सकैत छथि जे हमरा परलोक भीतर पवित्र गति भेटय।

जल्लाद सभ: मार्गसँ हटू, आदरणीय भद्र लोक सभ, मार्गसँ हटू! अहाँ सभ एककरा कात किएक देखि रहल छी आखिर? आकाश भीतर विदा होइत स्वयं देवराज इन्द्र, कखनो कोनो नव बच्चा कऽ जन्म दैत गौ, आकाशसँ टूटि कऽ खसत नक्षत्र (तारा), आ कोनो भला मनुष्य जखन मृत्युक मार्ग पर विदा होइत हो—एही चारू कऽ कखनहि दूरसँ मात्र नै देखबाक चाही।

गोह (पहिल जल्लाद): देखू, अहीन्त! देखू, मनुष्य! जखन ई मनुष्य, उज्जयिनी नगरीक सभसँ श्रेष्ठ पुरुष, भाग्यक कूर आदेशसँ मृत्युक मार्ग पर विदा भऽ रहल छथि, तँ की ई आकाश सेहो एकरा लेल अश्रु बहाइ रहल छैक आखिर? की बिना कोनो मेघक आकाश भीतर बिजुली अपन चंचल रूप देखाइ रहल छैक?

अहीन्त (दोसर जल्लाद): गोह, हमर भाय, आकाश एकरा लेल कोनो अश्रु नै बहाइ रहल छैक, नहि बिना कोनो मेघक बिजुली अपन रूप देखाइ रहल छैक; मुदा तड़यो पानि कऽ पैघ धार चारू कात खसि रहल छैक, कतेको आदरणीय स्त्री सभक कानय वाली आँखि भीतरसँ।

आ पुनः एक बेर: जखन ई असहाय मनुष्य मृत्युक मार्ग पर कूरतासँ लय जाया जा रहल अछि, तँ कोनो एहन मनुष्य वा स्त्री नै अछि जे एतय घोर विलाप नै कऽ रहल हो; आ वैह कारण अछि जे मार्गक समस्त धूर, एही हजारों अश्रु कऽ बून्द सभक तृप्ति पा कऽ, आब राजपथ ऊपर शान्त भऽ कऽ सुतल छैक।

चारुदत्त: (परम सजगतासँ देखैत छथि। उदासीसँ) ई आदरणीय स्त्री सभ, जे अपन पैघ महल सभक भीतरी कक्ष भीतर तोपल छली, आब आधा खुल्ला झरोखा सभसँ बाहर देखि कऽ एही प्रकार विलाप कऽ रहल छथि, "हाय चारुदत्त महाराज! कतेक कूर दिन अयल छैक!" आ दया कऽ धारसँ भीजल हुनकर आँखि हमरहि ऊपर टिकल छैक।

जल्लाद सभ: आबब, चारुदत्त महाराज, आबब! ई साक्ष्य करबाक मुख्य स्थान अछि। नगाड़ा बजाउ आ महाराज कऽ कूर आदेशकें सभ कात सुनाउ।

सुनु, उत्तम लोक सभ, सुनु! ई सागरदत्तक पुत्र, आ व्यापारी विनयदत्तक पौत्र, आदरणीय कुलक चारुदत्त छथि। एही पापी मनुष्य आर्या वसन्तसेनाकें फुसला कऽ पुराना पुष्पककरण्डक सुनसान बगीचा भीतर लय गेल छल, आ मात्र एकटा तुच्छ वस्तु लेल—ओकर धन लेल!—ओकर गला दबा कऽ ओकर हत्या कऽ देलक। एककरा चोराएल गेल सम्पत्ति कऽ साथ रङ्गो हाथ पकड़ल गेल छल, आ एककरा अपन मुखसँ अपराध स्वीकार कऽ लेलने अछि। अतः हमरा सभकें राजा पालकक तरफसँ एककरा मृत्युदण्ड देबाक कड़ा आदेश अछि। आ जे केओ आन एही लोक आ परलोक भीतर घोर कलङ्क खड़ा करय वाला अपराध करत, ओकरो राजा पालक एहनहि भयानक दण्ड कऽ भागी बनौताह।

चारुदत्त: (निराशासँ भरल, अपन मनमे) सैकड़ों पवित्र यज्ञ सभक अनुष्ठानसँ निर्मल भऽ भऽ कऽ, हमर तेजस्वी नाम कखनो कतेको यज्ञ-वेदी सभक कात भीतर परम आदर कऽ साथ सभ कात घोषित कयल जाइत छल, आ कोन कलङ्क नै जनैत छल। आब हमर मृत्युक कूर क्षण आबि गेल छैक, आ ई नीच

मनुष्य सभ, जकर अपन कीर्ति पूर्णतः मलिन छैक, सार्वजनिक स्थान सभ पर हमरहि नाम कऽ पुनः सभ कात सुनाइ रहल छथि, मुदा घोर कलङ्क आ अपमान कऽ बन्धन भीतर बान्हि कऽ।

(ओ ऊपर देखैत छथि आ अपन दोनों कान बन्द कऽ लैत छथि) वसन्तसेना! ओह हमर प्रियतम! अहाँक ओही सुकुमार ओठ भीतरसँ, जे मूंगा कऽ करिया लाल रङ्ग कऽ जकां तेजस्वी छल, जकर भीतर चन्द्रमाक कान्तिसँ भी श्रेष्ठ सुन्दर दाँत प्रकट होइत छल, हमर आत्मा कखनो अमृतक मधुर आस्वादन पाबने छल। आब हम कोन उपाय कऽ बिना, एही भयानक जहर कऽ स्वाद कसरि चखब आखिर, अपमान कऽ एही जहरसँ भरल पात्रकें पीबाक पराक्रम हम कसरि करब आखिर?

जल्लाद सभः मार्गसँ हटू! आदरणीय भद्र लोक सभ, मार्गसँ हटू! पवित्र गुणक अमूल्य मोती सभसँ भरल ई पेटारी, उत्तम मनुष्य सभक लेल संकट कऽ नदी पार करबाक एकमात्र सेतु, आब अपन समस्त सुवर्णक वैभव खो कऽ, साक्षात अमूल्य रत्न, आब हमर नगरसँ सदा लेल विदा भऽ रहल छथि, सदा लेल विदा भऽ रहल छथि।

आ पुनः एक बेरः जकरा ऊपर भाग्य कृपालु होइत छैक, ओ देखैत अछि जे पूरा संसार ओकरा लेल मधुर आ कृपालु अछि; मुदा जकर प्रसन्नताक पवित्र दिन समाप्त भऽ गेल छैक, ओकरा कसरि कोनो एहन मित्र भेटि सकैत छैक आखिर?

चारुदत्तः (अपन चारू कात देखैत छथि) अपन मुख आब वस्त्रक किनारसँ तोपि कऽ, ओ सभ कतहु दूर ठाढ़ छथि जकरा हम कखनो अपन अभिन्न मित्र बुझैत छलहुँ; शत्रु सेहो ओही मनुष्य कात देखि कऽ हँसैत अछि जकर पाँ भाग्यक लक्ष्मी होइत छैक; मुदा जखन सुखक वैभव समाप्त भऽ जाइत छैक, तँ मित्र सभ सेहो विमुख भऽ कऽ छल करब आरम्भ कऽ दैत छथि।

जल्लाद सभः ओ सभ मार्गसँ हटि गेल छथि। राजपथ पूर्णतः सफा अछि। दण्ड पाबय वाला एही अपराधीकें आगाँ बढाउ।

चारुदत्तः (गम्भीर निश्वास छोड़ि कऽ) हमर साथी मैत्रेय! ओह, ई कतेक क्रूर प्रहार भेल अछि! हमर प्रिय पत्नी, जे एकटा निष्कलङ्क कुलक परम गौरव छी! हमर रोहसेन बच्चा! हम एतय भूमि पर खसि पड़ल छी, मन्द भाग्यक क्रूर बन्धन भीतर; आ अहाँ, अहाँकें कोनो जान धरि नै छैक जे अहाँक खेलबाक समस्त सुकुमार उत्सव आब पूर्णतः व्यर्थ भऽ गेल अछि। अहाँ खेलि रहल छी, ककरो दोसरक एही घोर संतापसँ पूर्णतः अनजान भऽ कऽ! (१. २९)

नेपथ्यसँ कतेको आवाजः हमर बाबूजी! ओह हमर परम प्रिय मित्र!

चारुदत्तः (सुनैत छथि। उदासीसँ) अहाँ अपनहि जाति भीतर एकटा श्रेष्ठ प्रधान छी। हम अहाँक हाथसँ एकटा लघु उपकार पाबबाक आकाङ्क्षा राखैत छी।

जल्लाद सभः अहाँ हमरा सभक हाथसँ कोनो उपकार पाबबाक आकाङ्क्षा राखैत छी आखिर?

चारुदत्तः ईश्वर कखनो एहन नै करथि! तइयो एकटा जल्लाद कखनहु ओतेक चंचल आ क्रूर नै भऽ सकैत जतेक स्वयं राजा पालक अछि। हमरा परलोक भीतर पवित्र गति भेटय, एही लेल हम मात्र अपन पुत्रक सुकुमार मुख एक बेर देखबाक भीख मङ्गैत छी।

जल्लाद सभः एहनहि होबय तखन।

नेपथ्यसँ एकटा आवाजः हमर बाबूजी! ओह हमर बाबूजी! (चारुदत्त एही शब्द सुनैत छथि, आ उदासीसँ अपन प्रार्थना पुनः दोहराबैत छथि)

जल्लाद सभः नगरक लोक सभ, एक क्षण लेल मार्ग छोड़ू। आदरणीय चारुदत्त महाराजकें अपन पुत्रक मुख देखि लेबाक अवकाश दिय'। (रङ्गमञ्चक पाछाँ घूमि कऽ) एही मार्गसँ आबब, महाराज! आबब, हमर छोट बच्चा!

(हाथमे रोहसेनकें लेने मैत्रेयक प्रवेश होइत अछि)

मैत्रेयः तीव्र गतिसँ चलू, हमर बच्चा, तीव्र गतिसँ! अहाँक बाबूजीकें मृत्युक मार्ग पर विदा कयल जाइ रहल छनि।

रोहसेनः हमर बाबूजी! ओह हमर बाबूजी!

मैत्रेयः ओह हमर प्रिय मित्र! आब हम अहाँकें कोन क्रूर स्थिति भीतर देखबाक लेल एतय आबि गेल छी आखिर?

चारुदत्तः (अपन पुत्र आ मित्रक देखैत छथि) हाय, हमर बच्चा! हाय, मैत्रेय! (उदासीसँ) हाय, मन्द भाग्य! बहुत काल धरि, बहुत पैघ समय धरि आब हम तृप्ति लेल व्याकुल रहब अपन एही भयानक परलोक यात्रा भीतर; ई हमर पुत्रक छोटकी हाथक पात्र (रोहसेन) हमर परलोकक जलाञ्जलि कऽ पानि सेहो पूर्णतः समा नै सकतैक।

हम अपन पुत्रकें उपहार स्वरूप की दऽ सकी आखिर? (ओ अपना कात देखैत छथि, आ देखैत छथि जे मात्र जज्ञोपवीतहि बचल छैक) आहा, कम्तीसँ कम्ती ई तँ हमर अपन अछि। ब्राह्मण सभ जे पवित्र जज्ञोपवीत धारण करैत छथि, ओकरा भीतर कोनो मोती वा सुवर्णक वैभव नै होइत छैक; मुदा तइयो, एकरा धारण कऽ कऽ ओ सभ ऊपर कऽ देवराज सभक लेल आ अपन पूज्य पूर्वज सभक लेल पवित्र यज्ञ सम्पन्न करैत छथि।

(ओ रोहसेनकें जज्ञोपवीत दऽ दैत छथि)

गोहः आबब, चारुदत्त महाराज! आबब, मनुष्य!

अहिन्तः मनुष्य, अहाँ आदरणीय कुलक चारुदत्त महाराजक नाम कऽ एही प्रकार विवश भऽ कऽ किएक लय रहल छी, आ हुनकर सम्मानक पद बिसरि गेलहुँ? स्मरण राखू: प्रसन्नताक पावन क्षण भीतर, मृत्युक क्रूर घड़ी भीतर, आधी रातिमे, वा दिनक प्रकाश भीतर, कोनो बिना बन्धन वला चंचल बाछक जकां, भाग्य सदा अपन स्वतंत्र आ बेसी तीव्र मार्ग पर चारू कात भ्रमण करैत छैक।

आ पुनः एक बेरः प्राण कखनो एकहि क्षण भीतर एकर शरीर छोड़ि कऽ विदा भऽ जएतैक; तँ की हमर एही कटु शब्द एकर मुड़ नीचाँ झुका दैक आखिर? चाहे राहु कऽ मुख भीतर चन्द्रमा समा जाय, तइयो जखन ओ बुझबाक कगार पर होइत छैक, हम ओकर रूपकें आदरसँ देखैत छी।

रोहसेन: ओह जल्लाद काका सभ, अहाँ हमर बाबूजीकें कतऽ लय जाइ रहल छी आखिर?

चारुदत्त: हमर प्रिय बच्चा, हमर कण्ठ चारू कात हमरा विवश भऽ कऽ एही करवीरक कूर माला पहिरबाक पड़ल अछि; हमर काँखि ऊपर हमरा मृत्युक शूल उठा कऽ चलबाक पड़ल अछि, आ हमर हृदय भीतर आब परम संकट जमि गेल छैक एही मृत्युक घड़ीक। हम आइ एकटा घोर पापी कऽ जकां अन्त पाबबाक मार्ग पर छी, एकटा असहाय बलि कऽ पशु जकां, एही कूर वेदी कऽ सम्मुख अपन मुड़ झुकाने छी।

गोह: हमर बच्चा, हम सभ जल्लाद कखनहि नै छी, यद्यपि हमर जन्म एकटा जल्लाद कऽ कुल भीतर भेल अछि; अहाँक बाबूजीक प्राण जे चोराय रहल छथि, वैह साक्षात कूर जल्लाद छथि।

रोहसेन: तखन अहाँ हमर बाबूजीक हत्या किएक कऽ रहल छी आखिर?

गोह: ईश्वर अहाँक कल्याण करथि बच्चा, राजा कऽ कड़ा आदेशहि एही पाप कऽ भागी अछि, हम सभ कखनहि नै।

रोहसेन: हमर प्राण लय लिय', आ हमर बाबूजीकें सुरक्षित मुक्त कऽ दिय'।

गोह: अहाँ दीर्घायु होऊ बच्चा, एही प्रकारक पावन गप कहबाक लेल!

चारुदत्त: (अश्रु बहाबैत अपन पुत्रकें आलिङ्गनमे लैत छथि) स्नेह कऽ ई अमृत्यु पेटारी—साक्षात स्वर्गक मधुर आस्वादन—धनी आ दरिद्र दोनों कऽ एकहि नाप भीतर भेटैत छैक; चन्दन कऽ लेपसँ भी श्रेष्ठ, आ कोनो मधुर उबटनसँ भी उत्तम, ई हृदयकें परम शीतलता आ शान्ति दैत छैक।

हमर कण्ठ चारू कात हमरा विवश भऽ कऽ एही करवीरक कूर माला पहिरबाक पड़ल अछि; हमर काँखि ऊपर हमरा मृत्युक शूल उठा कऽ चलबाक पड़ल अछि, आ हमर हृदय भीतर आब परम संकट जमि गेल छैक एही मृत्युक घड़ीक। हम आइ एकटा घोर पापी कऽ जकां अन्त पाबबाक मार्ग पर छी, एकटा असहाय बलि कऽ पशु जकां, एही कूर वेदी कऽ सम्मुख अपन मुड़ झुकाने छी। (२१)

(ओ चारू कात देखैत छथि। अपन मनमे) अपन मुख आब वस्त्रक किनारसँ तोपि कऽ, ओ सभ कतहु दूर ठाढ़ छथि जकरा हम कखनो अपन अभिन्न मित्र बुझैत छलहुँ; शत्रु सेहो ओही मनुष्य कात देखि कऽ हँसैत अछि

मैत्रेय: हमर नीक जल्लाद भाई सभ, हमर प्रिय मित्र चारुदत्तकें सुरक्षित मुक्त कऽ दिय', आ एककरा स्थान पर हमर प्राण लय लिय'।

चारुदत्त: ईश्वर कखनो एहन नै करथि! (ओ चारू कात देखैत छथि। अपन मनमे) आब हम पूर्णतः जानि लेलहुँ अछि।

जकर पाँ भाग्यक लक्ष्मी होइत छैक; मुदा जखन सुखक वैभव समाप्त भऽ जाइत छैक, तँ मित्र सभ सेहो विमुख भऽ कऽ छल करब आरम्भ कऽ दैत छथि।

(प्रकट) ई आदरणीय स्त्री सभ, जे अपन पैघ महल सभक भीतरी कक्ष भीतर तोपल छली, आब आधा खुल्ला झरोखा सभसँ बाहर देखि कऽ एही प्रकार विलाप कऽ रहल छथि, "हाय चारुदत्त महाराज! कतेक कूर दिन अयल छैक!" आ दया कऽ धारसँ भीजल हुनकर आँखि हमरहि ऊपर टिकल छैक।

गोह: मार्गसँ हटू, आदरणीय भद्र लोक सभ, मार्गसँ हटू! अहाँ एही भला मनुष्य कात किएक देखि रहल छी आखिर, जखन घोर कलङ्क ओकर भीतरी आशा कऽ सदा लेल माँठि भीतर मिला देलक छैक आखिर? रस्सा कखनो चक्र कऽ कात भीतर टूटि जाइत छैक, आ सुवर्णक ओही घड़ा सीधा भीतरी गड्ढा भीतर खसि पड़ैत छैक।

चारुदत्त: (उदासीसँ) अहाँक ओही सुकुमार ओठ भीतरसँ, जे मूंगा कऽ करिया लाल रङ्ग कऽ जकां तेजस्वी छल, जकर भीतर चन्द्रमाक कान्तिसँ भी श्रेष्ठ सुन्दर दाँत प्रकट होइत छल, हमर आत्मा कखनो अमृतक मधुर आस्वादन पाबने छल। आब हम कोन उपाय कऽ बिना, एही भयानक जहर कऽ स्वाद कसरि चखब आखिर, अपमान कऽ एही जहरसँ भरल पात्रकें पीबाक पराक्रम हम कसरि करब आखिर? (१३)

अहीन्तः साक्ष्य कऽ सभ कात एक बेर पुनः सुनाउ, मनुष्य। (गोह ओनाहि करैत अछि)

चारुदत्त: एतेक नीचां खसि पड़ल छी हम! जब धरि घोर कलङ्क हमर पवित्र गुण कऽ कलङ्कित नै कऽ दैक, जब धरि एहन कूर अन्त कोनो पैघ लाभ जकां नै बुझाय! तइयो हमर हृदय भीतर एकटा बहुत कष्टमयी पीड़ा रेंगि रहल छैक, जखन हम चारू कात सिपाही सभक ई नाद सुनैत छी जे "अहाँ ओकर हत्या कयलहुँ!"

(महल कऽ भीतरी बुर्ज (टावर) भीतर भारी जंजीरसँ बान्धल स्थावरकक प्रवेश होइत अछि)

स्थावरक: (साक्ष्यक गप सुनि कऽ। घोर संकट भीतर) की! निर्दोष चारुदत्त महाराजकें मृत्युदण्ड देल जाइ रहल छनि आखिर? आ हमर दुष्ट मालिक हमरा भारी जंजीर भीतर बन्द कऽ देने अछि! नीक, हमरा ओकरा सभकें पुकारबाकहि चाही।—सुनू, उत्तम भद्र लोक सभ, सुनू! हम छलहुँ, हमर सन पापी मनुष्य छल जे आर्या वसन्तसेनाकें पुराना पुष्पककरण्डक बगीचा भीतर गाड़ी भीतर लय गेल छल, किएक तँ ओकरासँ गाड़ी पहिचानबामे भूल भऽ गेल छल। आ ओकरा बाद हमर मालिक संस्थानक देखलक जे ओ ओकरासँ स्नेह नै करत, आ ओ स्वयं छल, एही भद्र पुरुष चारुदत्त महाराज कखनहि नै छलाह, जे ओकर गला दबा कऽ हत्या कऽ देने छल।—मुदा ओ सभ एतेक दूर मार्ग पर छथि जे ककरो कान भीतर हमर आवाज नै पहुँचि रहल छैक। आब हम की करब आखिर? की हम अपना कऽ ऊपरसँ नीचां फिड़कि दिय' आखिर? (सोचैत) जदि हम ओनाहि कयलहुँ, तँ चारुदत्त महाराजक प्राण बचि जएतनि। हँ, एही टूटल झरोखाक मार्गसँ हम अपना कऽ महल कऽ बुर्ज ऊपरसँ नीचां फिड़कि देब। एकरासँ बेसी नीक ई अछि जे हमर अपन अन्त भऽ जाय, मुदा चारुदत्त महाराज कखनहि नष्ट नै होथि, जे उत्तम युवक सभ लेल साक्षात कल्पवृक्ष छथि। आ जदि हम एहन पवित्र कार्य लेल मरि सेहो जाब, तँ हमरा परलोक भीतर उत्तम गति भेटत। (ओ अपना कऽ ऊपरसँ नीचां फिड़कैत अछि) परम आश्चर्य! हमर प्राण नष्ट नै भेल, आ हमर भारी जंजीर सेहो टूटि कऽ अलग भऽ गेल। अतः आब हम जल्लाद सभक नगाड़ाक नादक पीछा करब। (ओ जल्लाद सभक खोजि लैत अछि आ हड़बड़ीमे आगाँ बढ़ैत अछि) जल्लाद भाई सभ, जल्लाद भाई सभ, मार्ग छोड़ू!

जल्लाद सभ: हम सभ ककर लेल मार्ग छोड़ी आखिर?

स्थावरक: सुनू, उत्तम भद्र लोक सभ, सुनू! हम छलहुँ, हमर सन पापी मनुष्य छल जे आर्या वसन्तसेनाकें पुराना पुष्पककरण्डक बगीचा भीतर गाड़ी भीतर लय गेल छल, किएक तँ ओकरासँ गाड़ी पहिचानबामे भूल भऽ गेल छल। आ ओकरा बाद हमर मालिक संस्थानक देखलक जे ओ ओकरासँ स्नेह नै करत, आ ओ स्वयं छल, एही भद्र पुरुष चारुदत्त महाराज कखनहि नै छलाह, जे ओकर गला दबा कऽ हत्या कऽ देने छल।

चारुदत्त: आकाश कऽ धन्यवाद हो! मुदा के छथि ई जे हमर मृत्युक एही अन्तिम भोर भीतर हमरा प्रसन्नता दऽ रहल छथि, जखन हम कालक एही जाल भीतर विवश भऽ कऽ सङ्घर्ष कऽ रहल छी, साक्षात कोनो सूखा अनाजक खेत ऊपर उमड़ैत मेघ कऽ जकां?

सुनू! अहाँ सुनि रहल छी जे हम की कहि रहल छी आखिर? मृत्युक भय हमरा कखनहि नै छल, मुदा घोर कलङ्क आ अपमान कऽ भय सदा छल; हमर मृत्यु आब प्रसन्नता कऽ साथ स्वीकार अछि, जदि एकरा भीतर कोनो कलङ्क नै होबय, जेना कोनो नव जन्म लेल पुत्र कुलक नाम आगाँ बढ़ाबैत अछि। आ पुनः एक बेर: ओही लघु आ चंचल मूर्ख (संस्थानक), जकरासँ हम कहियो घृणा धरि नै कयलहुँ, हमर ऊपर ओही पाप कऽ कलङ्क लगा देलक जकर भीतर ओ स्वयं डूबल अछि, साक्षात कोनो एहन बाण कऽ जकां जकर मुख भीतर भयानक जहर बुझल हो।

जल्लाद सभ: की अहाँ सत्य बाजू, स्थावरक आखिर?

स्थावरक: हँ, हम सत्य बाजि रहल छी। आ हमरा ककरोसँ गप करबा सँ रोकबाक लेल, ओ हमरा भारी जंजीर भीतर बन्द कऽ देने छल, आ महल कऽ बुर्ज भीतर कैद कऽ देने छल।

(संस्थानकक प्रवेश होइत अछि)

संस्थानक: (परम प्रसन्नतासँ आनन्दित भऽ कऽ) हम एकटा बहुत सुन्दर व्यञ्जन खयलहुँ अछि, मांस आ कूर घास कऽ सूप, आ मछली सेहो; हम अपन घर भीतर सुकुमार चावलक कतरन खयलहुँ अछि, आ चीनी कऽ रस वला भात सेहो।

(ओ सुनैत अछि) जल्लाद सभक आवाज/ई कोनो टूटल काँसा कऽ पात्र जकां नाद कऽ रहल छैक। हम मृत्युक नगाड़ा आ ढोलक नाद सुनि रहल छी, आ एही प्रकार हम बुझैत छी जे ओ दरिद्र मनुष्य, चारुदत्त, आब मृत्युक मुख्य स्थान कात लय जाया जा रहल छनि। हमरा जा कऽ एककरा अवश्य देखबाक चाही। अपन शत्रु कऽ नष्ट होइत देखबामे परम आनन्द भेटैत छैक। एकर अतिरिक्त, हम सुनने छी जे जे मनुष्य अपन शत्रुकें मारल जाइत देखैत अछि, ओकरा अगिला जन्म भीतर कखनहि आँखि कऽ कोनो बीमारी नै होइत छैक। हम ओही कीड़ा कऽ जकां काज कयलहुँ जे कमल कऽ जड़ि भीतर लुकाएल छल। हम बाहर निकसबाक लेल सुराख खोजलहुँ, आ एही दरिद्र चारुदत्तक मृत्युक आरम्भ कऽ देलहुँ। आब हम अपनहि महल कऽ पैघ बुर्ज ऊपर चढ़ब, आ अपन एही पराक्रमक दृश्य ऊपर देखब। (ओ ओनाहि करैत अछि आ चारु कात देखैत अछि) परम आश्चर्य जे कतेक पैघ भीड़ जमल छैक, एही दरिद्र मनुष्यक मृत्युक मार्ग पर देखबाक लेल/मुदा तखन की होइत जखन कोनो पैघ कुलीन पुरुष, हमर सन पैघ मनुष्य मृत्युक मार्ग पर विदा होइत आखिर? (ओ देखैत अछि) देखू/ओ दक्षिण कात जाइ रहल छथि, कोनो युवा बाछ कऽ जकां सुसज्जित भऽ कऽ। मुदा साक्ष्य कऽ गप हमर महल कऽ बुर्ज कऽ सम्मुख किएक कयल गेल छल आखिर, आ एककरा किएक रोकल गेल छल? (ओ चारु कात देखैत अछि) की! हमर नौकर स्थावरक सेहो गायब छैक आखिर। हम आशा करैत छी जे ओ एतयसँ भागि कऽ रहस्य कऽ सभ कात नै सुना देने हो। हमरा जा कऽ ओकरा खोजबाक चाही। (ओ नीचां उतरैत अछि आ भीड़ कऽ लग आबैत अछि)

स्थावरक: (संस्थानकक देखि कऽ) ओ आबि गेल, हमर नीक मालिक भाई सभ!

जल्लाद सभ: मार्गसँ हटू! स्थान दिय'! आ कबाड़ बन्द करू! शान्त रहू, आ आ कोन गप नै बाजू! एतय एकटा पागल साढ़ भीड़ कऽ बीचोबीच आबि रहल छैक, जकर सींग भीतर घोर पाप-कर्म कऽ तीक्ष्ण धार छैक।

संस्थानक: आउ, आउ, मार्ग छोड़ू! (ओ लग आबैत अछि) स्थावरक, हमर बच्चा, हमर नौकर, आबब, हम सभ घर चली।

स्थावरक: अहाँ पापी! की अहाँकें आदरणीय आर्या वसन्तसेनाक हत्या कऽ सेहो सन्तोष नै भेल आखिर? की आब अहाँ आदरणीय चारुदत्त महाराजक, जे उत्तम मनुष्य सभ लेल साक्षात कल्पवृक्ष छथि, हत्या करबाक पराक्रम कऽ रहल छी आखिर?

संस्थानक: हम एकटा सुवर्ण कऽ अमूल्य रत्न-पात्र जकां सुन्दर छी। हम कोनो स्त्री कऽ हत्या नै करैत छी!

भीड़ कऽ लोक सभ: ओहो! अहाँ ओकर हत्या कयलहुँ, चारुदत्त महाराज कखनहि नै कयलन्हि।

संस्थानक: ई के कहि रहल छैक आखिर?

भीड़ कऽ लोक सभ: (स्थावरक कात सङ्केत करैत) ई ईमानदार मनुष्य।

संस्थानक: (त्राससँ, अपन मनमे) ईश्वर हमर रक्षा करथि! हम ओही नौकर स्थावरककें भारी जंजीर भीतर कस कऽ बन्द किएक नै राखलहुँ आखिर? ओ हमर एही पाप-कर्म कऽ साक्षात साक्षी छल। (सोचैत) हम एककरा एही प्रकार तोपब। (प्रकट) झूठ अछि, सभ झूठ अछि, उत्तम भद्र लोक सभ। हम एही नौकर कऽ सुवर्ण चोराबैत रङ्गे हाथ पकड़ने छलहुँ, आ हम एककरा मारलहुँ, एकर मुड़ तोडलहुँ, आ एककरा भारी जंजीर भीतर बन्द कऽ देलहुँ। ई हमरासँ घोर घृणा करैत छैक। ई जे कहि रहल छैक, ओ सत्य कखनहि नै भऽ सकैत। (ओ चुपचाप स्थावरकक हाथ भीतर एकटा कङ्कण दऽ दैत अछि, आ फुसफुसाबैत अछि) स्थावरक, हमर बच्चा, हमर नौकर, एककरा लय लिय' आ अपन बोली बदलि कऽ बाजू।

स्थावरक: (कङ्कण लैत अछि) देखू अधिकारी सभ, देखू! ओ एही क्षण सेहो सुवर्ण कऽ लोभ देखा कऽ हमर ओठ सीबाक यत्न कऽ रहल अछि।

संस्थानक: (कड़कण ओकरा हाथसँ झपटि लैत अछि) ई वैह सुवर्ण अछि जाहि लेल हम एककरा भारी जंजीर भीतर बन्द कयलहुँ छल। (घोर क्रोधसँ) देखू एतय, जल्लाद भाई सभ! हम एककरा अपन सुवर्णक पेटारीक रक्षा लेल नियुक्त कयलने छलहुँ, आ जखन ई स्वयं चोर बनि गेल, हम एककरा मारलहुँ आ एकर मुड़ तोडलहुँ। जदि अहाँक हमर गप ऊपर विश्वास नै अछि, तँ एकर पीठ कात देखू।

जल्लाद सभ: (पीठ देखैत छथि) हैं, हाँ। जखन ककरो नौकर कऽ शरीर ऊपर एहन कलङ्क बान्हल गेल हो, तँ ओ कोनो अद्भुत कथा कहि सेहो सकैत छैक।

स्थावरक: दासता ऊपर श्राप हो! एकटा दासक गप ऊपर केओ विश्वास नै करैत। (उदासीसँ) आदरणीय चारुदत्त महाराज, हमर पाँ आब कोनो आन शक्ति नै बचल अछि। (ओ चारुदत्तक चरणमे खसि पड़ैत अछि)

चारुदत्त: (उदासीसँ) उठू, उठू! पवित्र आत्मा, जे संकट कऽ घड़ी भीतर उत्तम मनुष्य सभक सहायता लेल अयलहुँ! एकटा वीर मित्र, जे बिना कोनो स्वार्थ कऽ एतेक पैघ पराक्रम देखौलहुँ! हमर प्राण बचेबाक अहाँक सभसँ पैघ उद्यम व्यर्थ भऽ गेल, किएक तँ भाग्य कऽ मंजूर नै छल। अहाँक कर्तव्य आब पूर्ण भऽ गेल अछि।

जल्लाद सभ: अपन नौकर कऽ मारि कऽ एतयसँ विदा करू, मालिक।

संस्थानक: हमर मार्गसँ पाछाँ हटू अहाँ! (ओ स्थावरककें दूर घसीटि दैत अछि) आब जल्लाद भाई सभ, अहाँ सभ की देखि रहल छी आखिर? एकर वध करू।

रोहसेन: ओह जल्लाद काका सभ, हमर प्राण लय लिय' आ हमर बाबूजीकें सुरक्षित मुक्त कऽ दिय'।

संस्थानक: हैं, हैं, पुत्र आ बाप, दोनों कऽ एक साथ मारि दिय'।

चारुदत्त: ई मूर्ख कखनो कोनो अनर्थ कऽ सकैत अछि। जाउ, हमर बच्चा, अपन माय पाँ विदा होऊ।

रोहसेन: आ हम ओतय जा कऽ की करब आखिर बाबूजी?

चारुदत्त: अपन आदरणीय माय कऽ साथ कोनो पवित्र आश्रम भीतर विदा भऽ जाउ; एक क्षणक लेल सेहो बिलम्ब नै करब, प्रिय बच्चा; कखनो एहन नै हो जे अहाँक बाबूजीक अपराध कऽ फल अहाँकें सहब पड़य, आ अहाँक सेहो एही कूर मार्ग पर चलबाक लेल विवश होना पड़य।

आ अहाँ, हमर मित्र, एकर साथहि विदा होऊ।

मैत्रेय: ओह हमर प्रिय मित्र, अहाँ हमर स्वभाव कऽ एही प्रकार किएक बुझलहुँ जे हम अहाँक बिना एही संसार भीतर जिवैत रहि सकी आखिर?

चारुदत्त: एहनहि नै बाजू, हमर मित्र। अहाँक जीवन अहाँक अपन अछि। अहाँ एककरा एही प्रकार व्यर्थ नै नष्ट कऽ सकैत छी।

मैत्रेय: (अपन मनमे) सत्य अछि। मुदा तइयो हम अपन मित्रसँ अलग भऽ कऽ कखनहि नै जियि सकी। आ अतः, जखन हम एही बच्चा कऽ एकर आदरणीय माय पाँ सुपुर्द कऽ देब, हम मृत्युक मार्ग भीतर सेहो अपन मित्रक पीछा करब। (प्रकट) हैं, हमर मित्र, हम एककरा अखने आदरणीय आर्या पाँ लय जाइ रहल छी। (ओ चारुदत्तकें आलिङ्गन करैत अछि, पुनः हुनकर चरणमे खसि पड़ैत अछि। रोहसेन सेहो अश्रु बहाबैत वैह करैत अछि)

संस्थानक: देखू एतय! की हम अहाँ सभकें चारुदत्त आ एकर पुत्र दोनों कऽ मारबाक कड़ा आदेश नै देलहुँ छल आखिर? (एही गप पर चारुदत्तक मन भीतर भय प्रकट होइत छनि)

जल्लाद सभ: हमरा सभकें राजा कऽ तरफसँ चारुदत्त आ एकर पुत्र दोनों कऽ मारबाक कोनो आदेश नै भेटल छैक। भागू एतयसँ बच्चा, भागू! (ओ सभ रोहसेनकें पाछाँ घसीटि दैत छथि) ई साक्ष्य करबाक तेसर स्थान अछि। नगाड़ा बजाउ! (ओ सभ पुनः घोषणा करैत छथि)

संस्थानक: (अपन मनमे) मुदा नगरक लोक सभ एककरा सत्य नै मानि रहल छैक। (प्रकट) चारुदत्त, अहाँ चंचल मनुष्य, नगरक लोक सभ एककरा सत्य नै मानि रहल छैक। आब अपनहि जीभसँ बाजू, "हम वसन्तसेनाक हत्या कयलहुँ।" (चारुदत्त मौन रहैत छथि) देखू एतय, जल्लाद भाई सभ! ई मनुष्य किछ नै बाजि रहल छैक, ई चंचल चारुदत्त। एककरा बाजय लेल विवश करू। एककरा एही फटल बाँस कऽ लाठीसँ, या कोनो भारी जंजीरसँ दू-चारि बेर मारू।

गोह: (प्रहार करबाक लेल अपन बाँहि उठाबैत अछि) आब, चारुदत्त महाराज, बाजू!

चारुदत्त: (उदासीसँ) आब हम दुःखक एही समुद्र भीतर एतेक गम्भीर डूबि गेल छी, हमरा आ कोन भय नै अछि, नहि कोनो संताप हमर भीतर बचल छैक; मुदा तइयो एकटा आन्तरिक ज्वाला हमर आत्माकें एही क्षण सेहो तड़पाइ रहल छैक, जखन हम सिपाही सभक ई नाद सुनैत छी जे हम ओकर हत्या कयलहुँ जकरा हम अपन प्राणसँ बेसी चाहैत छलहुँ।

(संस्थानक हुनकर शब्द सभकें दोहराबैत अछि)

चारुदत्त: हमर उज्जयिनी नगरीक उत्तम लोक सभ! एकटा पापी आ अधम मनुष्य छी हम, जे एही कलङ्क कऽ भार उठा रहल अछि, आ परलोक भीतर कोनो सुखक आशा आब हमर पाँ नै बचल छैक; ओही परम प्रिय सुकुमार कनियों, वासनाक एही कूर ज्वाला भीतर—मुदा अवशिष्ट गप आब ई पुरुष अपन मुखसँ कहत। (९. ३०)

संस्थानक: मारि देलहुँ ओकरा!

चारुदत्त: एहनहि होबय तखन।

गोह: आब अहाँक पालि अछि एककरा मारबाक, मनुष्य।

अहीन्तः नै, अहाँक।

गोहः नीक, आउ हम सभ नाप कऽ कऽ देखी। (ओ बहुत पैघ काल धरि गणना करैत अछि) नीक, जदि एककरा मारबाक पालि हमर अछि, तँ हम सभ एक क्षण लेल प्रतीक्षा करब।

अहीन्तः किएक आखिर?

गोहः किएक तँ जखन हमर पूज्य बाबूजी परलोक भीतर विदा भऽ रहल छलाह, ओ हमरा कहलनि जे, "पुत्र गोह, जदि ककरो पापी कऽ मारबाक पालि अहाँक होबय, तँ ओकरा वध कखनो बहुत हड़बड़ी भीतर नै करब।"

अहीन्तः मुदा किएक आखिर?

गोहः "कखनो एहन भऽ सकैत छैक," ओ कहलनि जे, "जे कोनो भला मनुष्य प्रचुर सुवर्ण दऽ कऽ ओही बन्धनसँ ओकरा मुक्त करा लय। कखनो एहन भऽ सकैत छैक जे राजा कऽ घर भीतर कोनो नव बच्चाक जन्म होबय, आ ओही पावन उत्सव कऽ आदर देबाक लेल, कारागारक समस्त कैदी सभकें सुरक्षित मुक्त कऽ देल जाय। कखनो एहन भऽ सकैत छैक जे कोनो पैघ युद्धक हाथी अपन जंजीर तोड़ि कऽ बाहर निकसि जाय, आ ओही कोलाहलक बीच कैदी भागि कऽ अपन प्राण बचा लय। कखनो एहन भऽ सकैत छैक जे स्वयं राजा कऽ पद बदलि जाय (नव राजा आबि जाथि), आ कारागारक समस्त कैदी सभकें सदा लेल मुक्त कऽ देल जाय।"

संस्थानकः की कहलहुँ? की कहलहुँ अहाँ? राजा कऽ पद बदलि जाय?

गोहः नीक, आउ हम सभ पुनः गणना कऽ कऽ देखी, ककर पालि अछि आखिर।

संस्थानकः ओह आउ! चारुदत्तक वध एही क्षण तुरंत कसरि। (ओ स्थावरककें लैत अछि, आ किछ कदम पाछाँ हटि जाइत अछि)

जल्लाद सभः आदरणीय चारुदत्त महाराज, राजा कऽ कड़ा आदेशहि एही पाप कऽ भागी अछि, हम सभ जल्लाद कखनहि नै। तँ आब ओही वस्तु कऽ विषयमे गम्भीर विचार करू जकर विचार करब आब परम आवश्यक अछि।

चारुदत्तः यद्यपि कोनो मन्द भाग्यक कूर प्रहारसँ, आ पैघ कुलक पापी मनुष्य सभक झूठसँ हमर ऊपर घोर कलङ्क लगा देल गेल छैक, तइयो जदि हमर पवित्र गुण कऽ कखनो कोनो आदर भेटत, तँ ओ सुकुमार कनियाँ जे आब आकाश भीतर देवराज सभक साथ निवास कऽ रहल छथि—हमर परम प्रियतम—अपनहि मधुर शालीन स्वभावसँ हमर एही कलङ्क कऽ सदा लेल सफा कऽ देतीह!

हमरा बताउ। अहाँ सभ हमरा कोन कूर स्थान कात लय जबाक इच्छा राखैत छी आखिर?

गोहः (अपन सम्मुख सङ्केत करैत अछि) किएक, ई दक्षिणी श्मशान भूमि अछि, आ जखन कोनो अपराधी एककरा देखैत अछि, ओ अपन जीवनकें एकहि क्षण भीतर अन्तिम विदा कहि दैत छैक। किएक तँ देखू! मृत शरीरक एक आधा भाग कूर सियार सभ द्वारा नोचल आ घसीटल जाइ रहल छैक, आ ओ सभ अपन कूर कार्य भीतर तृप्ति पाइ रहल छैक; आ दोसर आधा भाग अखन धरि ओही मृत्युक शूल ऊपर लटकल अछि, जे साक्षात एकटा भयानक अट्टहास कऽ जकां बुझि रहल छैक।

चारुदत्तः हाय! आह हमर भाग्य मन्द भऽ गेल! (व्याकुलतासँ ओ भूमि पर बैठि जाइत छथि)

संस्थानकः हम अखन कखनहि नै जाब। हम चारुदत्तक मृत्युक पराक्रम अपन आँखिसँ देखब। (ओ चारू कात टहलैत अछि, देखैत अछि) नीक, नीक! ओ भूमि पर बैठि गेल।

गोहः की अहाँ भयभीत छी, चारुदत्त महाराज?

चारुदत्तः (हड़बड़ीमे उठि कऽ) अहाँ मूर्ख! मृत्युक भय हमरा कखनहि नै छल, मुदा घोर कलङ्क आ अपमान कऽ भय सदा छल; हमर मृत्यु आब प्रसन्नता कऽ साथ स्वीकार अछि, जदि एकरा भीतर कोनो कलङ्क नै होबय, जेना कोनो नव जन्म लेल पुत्र कुलक नाम आगाँ बढ़ाबैत अछि।

गोहः आदरणीय चारुदत्त महाराज, पवित्र चन्द्रमा आ सूर्य स्वयं आकाशक भीतरी महल भीतर निवास करैत छथि, तइयो कखनो कूर संकट आ ग्रहण ओकरा सभकें सेहो अपन बन्धन भीतर लय लैत छैक। तँ मनुष्य आ मृत्युक भय रखय वाला समस्त जीव सभक की बिसात आखिर! एही संसार भीतर, एकटा उठैत अछि मात्र नीचां खसबाक लेल, दोसर नीचां खसैत अछि मात्र दोबारा ऊपर उठबाक लेल। मुदा जे एक बेर ऊपर उठि कऽ नीचां खसैत अछि, ओकर शरीर वस्त्र कऽ जकां भूमि पर खसि पड़ैत छैक। एही पवित्र विचार कऽ अपन हृदय भीतर राखू, आ दृढ़ बनू। (अहीन्त कें) ई साक्ष्य करबाक चौथम स्थान अछि। आउ हम सभ पुनः घोषणा कऽ कऽ सुनाबी। (ओ सभ पुनः घोषणा करैत छथि)

चारुदत्तः वसन्तसेना! ओह हमर प्रियतम! अहाँक ओही सुकुमार ओठ भीतरसँ, जे मूंगा कऽ करिया लाल रङ्ग कऽ जकां तेजस्वी छल, जकर भीतर चन्द्रमाक कान्ति सँ भी श्रेष्ठ सुन्दर दौत प्रकट होइत छल, हमर आत्मा कखनो अमृतक मधुर आस्वादन पाबने छल। आब हम कोन उपाय कऽ बिना, एही भयानक जहर कऽ स्वाद कसरि चखब आखिर, अपमान कऽ एही जहरसँ भरल पात्रकें पीबाक पराक्रम हम कसरि करब आखिर? (१३)

(अत्यधिक व्याकुलतासँ वसन्तसेना आ बौद्ध भिक्षुक प्रवेश होइत अछि)

भिक्षुः परम आश्चर्य! हमर भिक्षु जीवन आजुक दिन वास्तवमे परम कल्याण कऽ काज कयलक जखन अकाल कऽ संकटसँ भीजल, थकावटसँ चूर आर्या वसन्तसेनाकें शीतलता देब आ हुनका मार्ग पर आगाँ बढ़ा कऽ लाबब परम आवश्यक छल। बुद्ध भीतर हमर बहिन, आब हम अहाँकें कोन स्थान कात लय चली आखिर?

वसन्तसेना: आदरणीय महाराज चारुदत्तक भीतरी महल कात। हुनकर साक्षात दर्शनसँ हमर प्राण भीतर पुनः शीतलता लाबब, जेना रातिमे खिलय वाला सुकुमार कुमुदनी चन्द्रमाक कान्ति देखि कऽ पुनः जीवित भऽ जाइत छैक।

भिक्षु: (अपन मनमे) हम कोन मार्गसँ भीतर प्रवेश करी आखिर? (सोचैत) राजा कऽ मुख्य राजपथहि—हम ओही मार्गसँ भीतर जाब। आबब, बुद्ध भीतर हमर बहिन! ई राजा कऽ मुख्य राजपथ अछि। (सुनैत) मुदा ई कोन पैघ कोलाहलक नाद हम राजपथ ऊपर सुनि रहल छी आखिर?

वसन्तसेना: (अपन सम्मुख देखैत छथि) की! एतय हमर सम्मुख लोक सभक एकटा बहुत पैघ भीड़ जमल छैक। कृपया पता लगाउ, महाराज, एकर की अर्थ भऽ सकैत छैक। पूरा उज्जयिनी नगरी जेना एक कात उलटि गेल छैक, जेना पृथ्वी ऊपर कऽ भार पूर्णतः अनिश्चित भऽ गेल हो।

गोह: आ ई घोषणा करबाक अन्तिम स्थान अछि। नगाड़ा बजाउ! आजुक साक्ष्य सभ कात सुनाउ! (ओ सभ घोषणा करैत छथि) आब, चारुदत्त महाराज, रुकू! भयभीत नै होऊ। अहाँक प्राण बहुत कम समय भीतर लय लेल जाय।

चारुदत्त: ओह पवित्र विधाता!

भिक्षु: (सुनैत अछि। घोर त्राससँ) बुद्ध भीतर हमर बहिन, चारुदत्त महाराजकें अहाँकहि हत्या कऽ आरोप भीतर मृत्युक मार्ग पर लय जाया जा रहल छनि।

वसन्तसेना: (घोर त्राससँ) हाय, मन्द भाग्य! हमर एही अभागिन कऽ कारण आदरणीय चारुदत्त महाराजकें मृत्युदण्ड देल जाइ रहल छनि आखिर? तीव्र गतिसँ, तीव्र गतिसँ! ओह हमर मार्ग ओही कात लय चलू!

भिक्षु: उद्यम करू, ओह उद्यम करू, बुद्ध भीतर हमर बहिन, चारुदत्त महाराजकें शीतलता देबाक लेल जब धरि ओ जिवैत छथि। मार्ग छोड़ू, उत्तम भद्र लोक सभ, मार्ग छोड़ू!

वसन्तसेना: मार्ग छोड़ू, मार्ग छोड़ू!

गोह: आदरणीय चारुदत्त महाराज, राजा कऽ कड़ा आदेशहि एही पाप कऽ भागी अछि, हम सभ कखनहि नै। तँ आब ओही वस्तु कऽ विषयमे गम्भीर विचार करू जकर विचार करब आब परम आवश्यक अछि।

चारुदत्त: शब्द सभकें व्यर्थ नष्ट करबा सँ की लाभ आखिर? यद्यपि कोनो मन्द भाग्यक कूर प्रहारसँ, आ पैघ कुलक पापी मनुष्य सभक झूठसँ हमर ऊपर घोर कलङ्क लगा देल गेल छैक, तइयो जदि हमर पवित्र गुण कऽ कखनो कोनो आदर भेटत, तँ ओ सुकुमार कनियाँ जे आब आकाश भीतर देवराज सभक साथ निवास कऽ रहल छथि—हमर परम प्रियतम—अपनहि मधुर शालीन स्वभावसँ हमर एही कलङ्क कऽ सदा लेल सफा कऽ देतीह!

गोह: (अपन तलवार निकालैत छथि) आदरणीय चारुदत्त महाराज, सीधा भूमि पर सुति जाउ आ शान्त रहू। एकहि कड़ा प्रहारसँ हम अहाँक प्राण लय लेब आ अहाँकें परलोक विदा कऽ देब।

(चारुदत्त ओनाहि करैत छथि। गोह प्रहार करबाक लेल अपन बांहि उठाबैत अछि। तलवार ओकरा हाथसँ सीधा भूमि पर खसि पड़ैत छैक।)

की भेल ई आखिर? हमर एही हाथ भीतर हम मृत्युक नगाड़ा जकाँ भयानक तलवारकें कस कऽ जकड़ने छलहुँ; कोन कारण ई सीधा बालू ऊपर खसि पड़ल छैक आखिर?

मुदा जखन एहन भऽ गेल छैक, हम ई निष्कर्ष निकालैत छी जे चारुदत्त महाराजक प्राण आजुक दिन नष्ट नै होबाक चाही। दया करू, ओह सद्यः पर्वत कऽ आदरणीय महान देवी! जदि चारुदत्त महाराज सुरक्षित बचि जाथि, तँ अहाँ हमर जल्लाद कुल ऊपर बहुत पैघ आदर देखौने होबब।

अहीन्तः हमरा सभकें ओही कात करबाक चाही जकर कड़ा आदेश भेटल अछि।

गोह: नीक, आउ हम सभ करी। (ओ सभ चारुदत्तकें शूल ऊपर चढ़ाबाक तैयारी करैत छथि।)

चारुदत्त: यद्यपि कोनो मन्द भाग्यक कूर प्रहारसँ, आ पैघ कुलक पापी मनुष्य सभक झूठसँ हमर ऊपर घोर कलङ्क लगा देल गेल छैक, तइयो जदि हमर पवित्र गुण कऽ कखनो कोनो आदर भेटत, तँ ओ सुकुमार कनियाँ जे आब आकाश भीतर देवराज सभक साथ निवास कऽ रहल छथि—हमर परम प्रियतम—अपनहि मधुर शालीन स्वभावसँ हमर एही कलङ्क कऽ सदा लेल सफा कऽ देतीह!

भिक्षु आ वसन्तसेना: (जे किछु भऽ रहल छैक ओकरा देखि कऽ) उत्तम भद्र लोक सभ! रुकू, रुकू!

वसन्तसेना: उत्तम भद्र लोक सभ! हम छी ओ अभागिन स्त्री जकर कारण हुनका मृत्युदण्ड देल जाइ रहल छनि।

गोह: (ओकरा देखि कऽ) के छथि ई स्त्री जकर सुकुमार केश हवा भीतर खुल्ला लहराइ रहल छैक, आ जे अपन काँखि ऊपर चोट कऽ रहल छथि? ओ बहुत पैघ नाद कऽ साथ हमरा सभकें रुकबाक लेल पुकारि रहल छथि, आ अपन दोनों हाथ ऊपर उठाने हड़बड़ी भीतर एही कात आबि रहल छथि।

वसन्तसेना: ओह चारुदत्त महाराज! एकर की अर्थ भऽ सकैत छैक आखिर? (ओ हुनकर छाती पर अपना कऽ फिङ्कि दैत छथि।)

भिक्षु: ओह चारुदत्त महाराज! एकर की अर्थ भऽ सकैत छैक आखिर? (ओ हुनकर चरणमे खसि पड़ैत छथि।)

गोह: (त्राससँ पाछाँ हटैत) वसन्तसेना?—कम्तीसँ कम्ती, हम सभ ककरो निर्दोष मनुष्यक हत्या तँ नै कयलहुँ।

भिक्षु: (उठि कऽ) आकाश कऽ धन्यवाद हो! चारुदत्त महाराज जिवैत छथि।

गोह: आ एक सौ वर्ष धरि जिवैत रहताह!

वसन्तसेना: (परम प्रसन्नतासँ) आ हम स्वयं सेहो दोबारा जीवन कऽ भीतरी महल भीतर वापस आबि गेल छी।

गोहः राजा आब ओही बलि कऽ स्थान ऊपर उपस्थित छथि। आउ हम सभ जा कऽ हुनका सूचित करी जे एतय की अद्भुत भेल छैक। (दोनों जल्लाद जाब आरम्भ करैत छथि)

संस्थानकः (वसन्तसेनाक देखि कऽ। घोर त्राससँ) ईश्वर रक्षा करथि! एही दासी कऽ दोबारा जीवन क ककर द्वारा देल गेल छल आखिर? आब हमर अन्तिम दिन आबि गेल छैक। सुन्दर! हमरा एतयसँ भागि जबाक चाही। (ओ तीव्र गतिसँ भागि जाइत अछि)

गोहः (वापस आबैत) नीक, की हमरा सभकें राजा कऽ तरफसँ ओही मनुष्यकें मारबाक कड़ा आदेश नै छल जे वसन्तसेनाक हत्या कयलने छल? आउ हम सभ जा कऽ ओही राजा कऽ साढ़ू कऽ खोजि कऽ पकड़ी।

(दोनों जल्लाद सभक प्रस्थान होइत अछि)

चारुदत्तः (परम आश्चर्यसँ गदगद भऽ कऽ) के हमर प्राण बचेबाक काज कयलक एही मृत्युक तीक्ष्ण अस्त्रक प्रहारसँ, जखन हम कालक कूर मुख भीतर विवश भऽ कऽ सङ्घर्ष कऽ रहल छलहुँ, साक्षात कोनो सूखा अनाजक खेत ऊपर उमड़ैत मेघ कऽ जकां?

(ओ ओकरा कात देखैत छथि) की ई वसन्तसेनाकहि कोनो विचित्र रूप (भ्रम) अछि आखिर? या ओ स्वयं छथि, ऊपर कऽ आकाशसँ भूमि पर अवतरित भेल? की हम मात्र अपन पागलपन भीतर अपन प्रियतम कऽ देखि रहल छी आखिर? या की ओकर अमूल्य प्राण अखन धरि समाप्त नै भेल छल?

आ पुनः एक बेरः की ओ आकाशसँ वापस आबि गेली, जाहिसँ हमर प्राण सुरक्षित बचि सकय आखिर? की ओकर रूप कोनो दोसर स्त्रीक शरीर भीतर देल गेल छल आखिर? की ई स्वयं वैह आदरणीय कनियाँ छथि आखिर?

वसन्तसेनाः (अश्रु बहाबैत उठैत छथि आ हुनकर चरणमे खसि पड़ैत छथि) ओह आदरणीय चारुदत्त महाराज, हमहि छी ओ अभागिन स्त्री जकर कारण अहाँ एही अपमान आ संकट कऽ घड़ी भीतर आबि गेल छलहुँ।

भीड़ कऽ लोक सभः एकटा पैघ चमत्कार भेल छैक, एकटा अद्भुत चमत्कार! वसन्तसेना जिवैत छथि। (लोक सभ वैह दोहराबैत छथि)

चारुदत्तः (सुनैत छथि, पुनः हड़बड़ी भीतर उठैत छथि, वसन्तसेना कऽ अपन पूर्ण आलिङ्गन भीतर लैत छथि, आ अपन आँखि बन्द कऽ लैत छथि।

भावुकतासँ काँपैत स्वर भीतर) हमर प्रियतम! अहाँ स्वयं वसन्तसेना छी!

वसन्तसेनाः वैह मन्द भाग्य वाली असहाय स्त्री।

चारुदत्तः (ओकरा कात देखैत छथि। परम आनन्दसँ) की ई सत्य भऽ सकैत छैक आखिर? वसन्तसेना स्वयं एतय छथि? (पूर्ण प्रसन्नता भीतर) जखन हम मृत्युक कूर सत्ता भीतर खसि पड़ल छलहुँ, ओकर ई छाती अश्रु कऽ धारसँ भीजि गेल छैक, आब ओ कतयसँ आबि कऽ हमर भीतरी समस्त भयकें नष्ट कऽ देलक छैक, साक्षात कोनो आकाशक जादुई मन्त्र कऽ जकां?

वसन्तसेना! ओह हमर प्रियतम! हमर एही शरीर भीतरसँ, जतयसँ प्राण विदा भऽ रहल छल, आ ओहो मात्र अहाँक वियोग कऽ कारण, अहाँ अपन आबबाक साथ पुनः जीवन देबाक कला कऽ नीक जकां देखौलहुँ। ओह कतेक अद्भुत आ जादुई होइत छैक प्रेमी सभक एही मिलन! एकरा बिना कोन दोसर शक्ति कोनो मृत मनुष्यकें पुनः जीवित कऽ सकैत छैक आखिर?

मुदा देखू, हमर प्रियतम! हमर ई खून कऽ जकां लाल वस्त्र आब कोनो नव दुलहाक सुवर्ण वस्त्र जकां सुशोभित भऽ रहल छैक, मृत्युक ई कूर माला आब हमर विवाहक सुकुमार माला बुझि रहल छैक; हमर प्रियतम हमर लग छथि। आ मृत्युक नगाड़ाक जे नाद हमर अन्त पाबबाक साक्ष्य दऽ रहल छल, ओ आब हमर विवाहक मधुर सङ्गीत जकां गुञ्जि रहल छैक; किएक तँ ओ स्वयं एतय उपस्थित छथि।

वसन्तसेनाः अहाँ अपन पवित्र मधुर कृपालु स्वभाव कऽ साथ, ई की अछि आखिर जे अहाँ कऽ लेलहुँ?

चारुदत्तः हमर प्रियतम, ओ पापी कहलक जे हम अहाँक हत्या कऽ देलहुँ अछि। पुराना घृणा आ वैर कऽ कारण, हमर ओही पैघ शत्रु, जे आब नरक कऽ साक्षात पात्र भऽ गेल छैक, हमर प्राण कऽ एकहि क्षण भीतर अन्त कऽ देने छल।

वसन्तसेनाः (अपन दोनों कान बन्द करैत छथि) ईश्वर एही कुसङ्केतकें दूर करथि! ओ स्वयं छल, राजा कऽ साढ़ू संस्थानक, जे हमर हत्या करबाक यत्न कयलने छल।

चारुदत्तः (भिक्षुकें देखि कऽ) मुदा ई के छथि आखिर?

वसन्तसेनाः जखन ओही पापी मनुष्य हमर प्राण लेबाक कूर काज कयलक छल, तँ एही धर्मात्मा पुरुष हमरा जीवन कऽ भीतरी महल भीतर वापस लाबने छलाह।

चारुदत्तः अहाँ के छी, बिना कोनो स्वार्थ कऽ सहायता करय वाला मित्र आखिर?

भिक्षुः अहाँ हमरा बिसरि गेलहुँ अछि, महाराज। हम वैह मसाज करय वाला छी, जे कखनो अहाँक चरण कऽ सेवा कऽ कऽ परम आनन्द पाबैत छल। जखन हम किछ जुआड़ी सभक हाथ भीतर संकट भीतर पड़ि गेल छलहुँ, तँ बुद्ध भीतर हमर एही आदरणीय बहिन, जखन ई सुनलन्हि जे हम अहाँक नौकर रहि चुकल छी, अपन बहुमूल्य आभूषण दऽ कऽ हमर मुक्ति कीनलन्हि छल। ओकरा बाद हम जुआ कऽ ओही चंचल जीवनसँ थाकि गेलहुँ, आ एकटा बौद्ध भिक्षु बनि गेलहुँ। आब एही आदरणीय कनियाँ कऽ अपन गाड़ी पहिचानबामे भूल भऽ गेल छल, आ वैह कारण छल जाहि लेल ओ पुराना पुष्पककरण्डक बगीचा भीतर आबि गेली। मुदा जखन ओही पापी संस्थानक देखलक जे ओ ओकरासँ स्नेह नै करत, ओकर गला दबा कऽ ओकर हत्या करबाक कूर काज कयलक। आ हम ओकरा ओतहि पाबलहुँ।

नेपथ्यसँ कतेको पैघ आवाज सभ: सदा लेल अक्षय विजय होइत रहय स्वयं महादेव (शिव) कऽ, जे दक्ष कऽ ओही अभिमानी यज्ञ कऽ नष्ट कऽ देने छलाह; आ विजय होइत रहय स्वयं वीर कार्तिकेय कऽ, जे क्रौञ्च पर्वत ऊपर अपन शक्तिसँ प्रहार कयलन्हि छल;

आ विजय होइत रहय स्वयं महाराज आर्यक कऽ—अपन प्रतापी शत्रु कऽ ओ वध कऽ देलन्हि अछि—पूरा पृथ्वीक एही विशाल मण्डल ऊपर, आब ई पृथ्वी अपन प्रसन्नताक पावन पताका सभ कात फहराबय, कैलाश पर्वत कऽ जकां सफेद आ निर्मल पताका।

(हड़बड़ीमे शर्विलकक प्रवेश होइत अछि)

शर्विलक: हँ, राजा पालक, ओही सत्ता भीतर डूबल पापी कऽ हम वध कऽ देलहुँ अछि, आ वीर आर्यक महाराजकें पवित्र सिंहासन ऊपर आदरसँ बैठा देलहुँ अछि; आ आब, यज्ञक सुकुमार पुष्प कऽ जकां, हम महाराजक कड़ा आदेश कऽ अपन मुड़ झुका कऽ स्वीकार करैत छी, चारुदत्त महाराजकें पुनः नव जीवन देबाक लेल।

शत्रु जकर समस्त सत्ता आ मित्र भागि गेल छलाह, ओकर वध कऽ कऽ, ओ अपन समस्त प्रजा कऽ परम शीतलता आ सान्त्वना देलन्हि अछि; आ पृथ्वी कऽ विशाल राजमुकुट आब प्रसन्नतासँ हुनकर पराक्रमक स्वीकार कयलक छैक, आ हुनकर सम्मुख अपन मुड़ झुकाने छैक, जे अपन शत्रु कऽ सम्मुख स्वयं देवराज इन्द्र कऽ जकां पराक्रम देखौलन्हि अछि।

(ओ अपन सम्मुख देखैत अछि) आहा! ओ ओतहि होयताह जतय लोक सभक एतेक पैघ भीड़ जमल छैक। ओह, प्रार्थना अछि जे महाराज आर्यकक एही पावन कार्य चारुदत्त महाराजक सुरक्षित बचेने प्राण कऽ साथ सुशोभित होबय! (ओ अपन कदम आ तीव्र कऽ दैत अछि) मार्गसँ हटू, अहाँ पापी सिपाही सभ! (ओ चारुदत्तकें देखि कऽ। परम आनन्दसँ) की चारुदत्त महाराज अखन धरि जिबैत छथि आखिर, आ वसन्तसेना सेहो? वास्तवमे, हमर महाराजक भीतरी आकाङ्क्षा पूर्ण भऽ गेल छैक।

आब नियति कऽ धन्यवाद हो, जे दुःखक एही बिना तट वला अगाध समुद्र भीतरसँ, हम हुनका सुरक्षित बचल देखि रहल छी, ओही मधुर नाव (वसन्तसेना) द्वारा मुक्त भऽ कऽ, जे अपन मार्ग कऽ परम चतुरतासँ जनैत छली, पुण्यक रस्सा आ चरित्रक समस्त औजार सभक साथ। आब ओ ओही चन्द्रमा कऽ जकां बुझि रहल छथि जकर कान्ति आब पूर्णतः सफा छैक, जखन ग्रहण कऽ समस्त कूर अन्धकार समाप्त भऽ गेल हो।

मुदा हम कसरि हुनकर सम्मुख जाब आखिर, जकरा विरुद्ध हम स्वयं कखनो एतेक पैघ अपराध कऽ मन्द कर्म कयलने छलहुँ? मुदा नै! ईमानदारी सदा परम आदरक योग्य होइत छैक। (ओ लग जाइत अछि आ हाथ जोड़ैत अछि। प्रकट) ओह आदरणीय चारुदत्त महाराज!

चारुदत्त: अहाँ के छी, महाभाग आखिर?

शर्विलक: हम अहाँक भीतरी महल भीतर एकटा नीच चोरक जकां प्रवेश कयलने छलहुँ, आ ओतय धरोहर सौंपल गेल रत्न चोरायने छलहुँ; मुदा यद्यपि ई पाप-कर्म हमर आत्मा कऽ कलङ्कित कऽ रहल छैक, हम अहाँक एही मधुर कृपा कऽ सम्मुख अपना कऽ फिड़कैत छी।

चारुदत्त: एहनिह नै बाजू, हमर मित्र। अहाँ तँ ओही प्रकार हमर ऊपर अपन परम विश्वास देखौने छलहुँ। (ओ ओकरा अपन आलिङ्गनमे लैत छथि)

शर्विलक: आ एक गप आ, महाराज: ओही बहुत कुलीन वीर आर्यक महाराज, अपन कुल आ नाम कऽ कलङ्कसँ बचेबाक लेल, ओही सत्ता भीतर डूबल पालक कऽ वध कऽ देलन्हि अछि, वेदी कऽ साक्षात बलि कऽ जकां ओकरा समाप्त कऽ देलन्हि।

चारुदत्त: अहाँ की कहि रहल छी आखिर?

शर्विलक: ई अहाँकहि गाड़ी छल जे हुनका मार्ग ऊपर बचेबाक लेल आगाँ बढौने छल, जखन ओ अहाँक नाम कऽ पवित्र आश्रय खोजि रहल छलाह; ओ आजुक दिन राजा पालक कऽ समाप्त कऽ देलन्हि अछि, वेदी कऽ साक्षात बलि कऽ जकां।

चारुदत्त: शर्विलक महाराज, की अहाँ स्वयं ओही आर्यककें मुक्त कयलहुँ छल आखिर जकरा राजा पालक ओही गामसँ उठा कऽ बिना कोन कारण कऽ बुर्ज भीतर बन्द कऽ देने छल?

शर्विलक: हँ, हमहि कयलहुँ छल।

चारुदत्त: ई वास्तवमे परम पूज्य आ परम प्रिय समाचार अछि।

शर्विलक: जखन कखनो अहाँक मित्र आर्यक महाराज उज्जयिनी कऽ सिंहासन ऊपर आदरसँ बैठि गेलाह, ओ ओही क्षण अहाँकें कुशावती कऽ प्रतापी राज्य उपहार स्वरूप प्रदान कऽ देलन्हि, वेणा नदीक मनोरम तट ऊपर। अहाँ कृपा कऽ कऽ हुनकर एही स्नेहक पहिल सङ्केतक स्वीकार करू। (ओ चारू कात घूमि कऽ) आबब, एही मार्गसँ लय आबब ओही पापी, ओही अधम मनुष्यकें, जे राजा कऽ सादू संस्थानक अछि!

नेपथ्यसँ कतेको आवाज: हम सभ अखने लाबैत छी, शर्विलक महाराज।

शर्विलक: महाराज चारुदत्त, राजा आर्यक घोषणा कऽ रहल छथि जे ओ ई पूरा राज्य मात्र अहाँक पवित्र गुण सभक बलसँहि प्राप्त कयलन्हि अछि, आ अतः अहाँकें एकर फल अवश्य भेटबाक चाही।

चारुदत्त: राज्य हमर गुण सभक बलसँ जीतल गेल अछि आखिर?

(दोनों हाथ पाछाँ बान्हल, आरक्षी सभक पहरेदारी भीतर संस्थानकक प्रवेश होइत अछि)

नेपथ्यसँ कतेको आवाज: आबब, राजा कऽ सादू, आ अपन एही अहङ्कार आ अशिष्टताक कूर फल प्राप्त करू।

संस्थानक: (त्राससँ) ईश्वर रक्षा करथि! जे विधाताक विधान छल, हम एतयसँ भागि कऽ गेल छलहुँ एकटा गदहा कऽ जकां, आ अपन चंचल दिन देखलहुँ। आब ओ सभ हमरा चारू कात एकटा कैदी जकां घसीटि रहल छथि, जेना ककरो कूर कुकुर कऽ पकड़ल गेल हो।

(ओ चारु कात देखैत अछि) ओ सभ हमरा चारु कातसँ घेरने अछि, यद्यपि हम राजा कऽ कुलक पुरुष छी। हम आब अपन एही असहाय संकट भीतर रक्षक कतऽ खोजब आखिर? (सोचैत) सुन्दर! हम ओही मनुष्य पाँ जाब जे शरण चाहय वाला कऽ सदा सहायता करैत छथि आ दया देखबैत छथि। (ओ लग जाइत अछि) आदरणीय चारुदत्त महाराज, हमर रक्षा करू, हमर रक्षा करू! (ओ हुनकर चरणमे खसि पड़ैत अछि)

नेपथ्यसँ लोक सभक आवाज: महाराज चारुदत्त, एककरा हमरा सभक हाथ भीतर छोड़ि दिय'! हम सभ एकर प्राण लय लेब!

संस्थानक: (चारुदत्त केँ) ओह असहाय सभक एकमात्र रक्षक, हमर रक्षा करू!

चारुदत्त: (मधुर दयापूर्ण स्वभावसँ) हैं, हाँ। जे शरण भीतर आबि गेल, ओ सुरक्षित रहत।

शर्विलक: (अधैर्यसँ) नास हो एकर! एककरा चारुदत्त महाराजक चरणसँ दूर घसीटू! (चारुदत्त केँ) महाराज, बाजू एही पापी कऽ साथ क कोन दण्ड कऽ विधान कयल जाय आखिर? की एककरा कस कऽ बान्ही देल जाय आ जब धरि प्राण नै निकसि जाय, मार्ग ऊपर घसीटल जाय आखिर? की कुकुर सभ एकर शरीरकेँ नोचि-नोचि कऽ खायब आरम्भ करय जतय ई सुतल हो आखिर? जदि एककरा शूल ऊपर चढ़ा कऽ मृत्युदण्ड देल जाय, तँ ओहो कोनो भूल नै होयत, नहि जदि एककरा बीचोबीच काठ कऽ जकां आरीसँ चीरि देल जाय।

चारुदत्त: की अहाँ सभ ओनाहि करब जेना हम कहब आखिर?

शर्विलक: अहाँ एकरा भीतर कसरि संशय कऽ सकैत छी आखिर?

संस्थानक: चारुदत्त महाराज! मालिक! हम अहाँक शरण भीतर छी। हमर रक्षा करू, हमर रक्षा करू! अपना कुल कऽ अनुकूल कोनो आदर कऽ काज करू महाराज। हम पुनः कखनहि एहन अपराध नै करब!

नेपथ्यसँ लोक सभक आवाज: एकर वध करू! एही पापी कऽ जिवैत रहबाक अवकाश किएक देल जाय आखिर?

(वसन्तसेना चारुदत्तक कण्ठसँ ओही मृत्युक कूर माला खोलि लैत छथि, आ ओकरा संस्थानकक शरीर ऊपर फिड़कि दैत छथि)

संस्थानक: अहाँ दासी कनियाँ, दया करू, दया करू! हम कखनहि अहाँक हत्या दोबारा करबाक विचार नै करब। हमर रक्षा करू!

शर्विलक: आउ, एककरा बाहर लय जाउ! आदरणीय चारुदत्त महाराज, बाजू जे एही पापी कऽ की अन्त देल जाय।

चारुदत्त: की अहाँ सभ ओनाहि करब जेना हम कहब आखिर?

शर्विलक: अहाँ एकरा भीतर कसरि संशय कऽ सकैत छी आखिर?

चारुदत्त: वास्तवमे?

शर्विलक: वास्तवमे।

चारुदत्त: तँ एककरा एही क्षण तुरंत—

शर्विलक: मारि देल जाय?

चारुदत्त: नै, नै! सुरक्षित मुक्त कऽ देल जाय।

शर्विलक: कोन प्रयोजन लेल आखिर?

चारुदत्त: जे शत्रु पराजित भऽ कऽ, अपमानित भऽ कऽ अहाँक चरण भीतर शरण खोजि रहल हो, ओकरा ऊपर कखनहि तीक्ष्ण लोहक अस्त्रसँ प्रहार नै करबाक चाही—

शर्विलक: बहुत नीक। हम सभ कुकुर सभकेँ विवश करब जे ओ एककरा जिवैत नोचि कऽ खाय।

चारुदत्त: नै, नै! क्रूरताक उत्तर सदा परोपकार आ मधुर दयापूर्ण कार्यसँहि देबाक चाही।

शर्विलक: परम आश्चर्य! हम की करब आखिर? बाजू, महाराज।

चारुदत्त: किएक, एककरा सुरक्षित मुक्त कऽ दिय'।

शर्विलक: एहनहि होयत तखन।

संस्थानक: जय हो! हम पुनः अपन प्राण वापस पाबि लेलहुँ। (सिपाही सभक साथ संस्थानकक प्रस्थान होइत अछि)

शर्विलक: आदरणीय मालकिन वसन्तसेना, महाराज आर्यक अहाँकेँ "विवाहित कुलवधू" कऽ वैध आ परम सम्मानित पद देबामे प्रसन्न छथि।

वसन्तसेना: महाभाग, हमर आत्मा आब एकरासँ बेसी कोन सुखक आकाङ्क्षा नै राखैत।

शर्विलक: (वसन्तसेना कऽ मस्तक ऊपर आदरक ओढ़नी रखैत छथि। चारुदत्त केँ) महाराज, एही बौद्ध भिक्षु लेल की विधान कयल जाय आखिर?

चारुदत्त: भिक्षु महाराज, अहाँक भीतरी आकाङ्क्षा सभसँ बेसी की अछि आखिर?

भिक्षु: जखन हम संसारक समस्त वस्तु सभक अनिश्चित होबाक एही साक्षात् रूप देखि लेलहुँ अछि, हमर आत्मा आब दुगना सन्तुष्ट अछि एकटा भिक्षु बनि कऽ रहबा भीतर।

चारुदत्त: हुनकर भीतरी सङ्कल्प कखनो बदला नै जा सकैत, हमर मित्र। एककरा एही राज्यक समस्त बौद्ध मठ सभक प्रधान आध्यात्मिक पुरोहित नियुक्त कयल जाय।

शर्विलकः एहनहि होयत।

भिक्षुः हमर आत्माकेँ आ कोन वस्तु नै चाही।

वसन्तसेनाः आब हम वास्तवमे जीवन कऽ भीतरी महल भीतर वापस आबि गेल छी।

शर्विलकः आ स्थावरक लेल की विधान होयत आखिर?

चारुदत्तः ओही भला मनुष्यकेँ सदा लेल सुरक्षित मुक्ति देल जाय। एही जल्लाद भाई सभकेँ समस्त जल्लाद सभक प्रधान नियुक्त कयल जाय। चन्दनककेँ एही पूरा राज्यक भीतरी समस्त आरक्षी सिपाही सभक सभसँ पैघ प्रधान नियुक्त कयल जाय। आ राजा कऽ साढू कऽ ओनाहि अपन दिन बिताबाक अवकाश देल जाय जेना ओ पहने कखनो अपन चंचल दिन बितबैत छल।

शर्विलकः एहनहि होयत। मात्र ओही एकटा मनुष्य—ओकरा हमर हाथ भीतर छोड़ि दिय', आ हम ओकर वध करब।

चारुदत्तः जे शरण भीतर आबि गेल, ओ सुरक्षित रहत। जे शत्रु पराजित भऽ कऽ, अपमानित भऽ कऽ अहाँक चरण भीतर शरण खोजि रहल हो, ओकरा ऊपर कखनहि तीक्ष्ण लोहक अस्त्रसँ प्रहार नै करबाक चाही। कूरताक उत्तर सदा परोपकार आ मधुर दयापूर्ण कार्यसँहि देबाक चाही।

शर्विलकः तँ बाजू आब हम अहाँक लेल आ की आदर कऽ काज कऽ सकी आखिर।

चारुदत्तः की एकरासँ बेसी आ की भऽ सकैत छैक आखिर? हम अपन पवित्र गुण कऽ वैभव कखनो कलङ्कित नै होबा देलहुँ, हमर शत्रु जखन अपमानित भऽ कऽ शरण अयलक, हम ओकरा पूर्णतः क्षमा कऽ देलहुँ; हमर मित्र आर्यक महाराज अपन प्रतापी शत्रुक समस्त जड़ि नष्ट कऽ देलन्हि, आ आब सिंहासन ऊपर बैठि कऽ एही पूरी पृथ्वी ऊपर न्यायपूर्वक शासन कऽ रहल छथि।

ई हमर परम प्रिय सुकुमार कनियाँ आब अन्ततः हमर अपनी बनि गेल छथि, आ अहाँ एकटा श्रेष्ठ मित्र कऽ जकां हमर हृदय भीतर समा गेल छी। तँ की हम आ कोन सुखक भीख मङ्गब आखिर, हमरा ऊपर जे कृपा भेल अछि, हम ओकर अन्त पाबामे सेहो समर्थ नै छी आखिर?

भाग्य हमरा सभक साथ ओनाहि खेल खेलैत छैक जेना कोनो पुराना कुआँ भीतर पानि कऽ घड़ा ऊपर-नीचां होइत छैक, जतय एकटा पानि कऽ धारसँ भीजि जाइत छैक, आ दोसर पूर्णतः खाली रहि जाइत छैक, जतय एकटा ऊपर उठैत अछि, जखन कि दोसर संकट भीतर नीचां खसि पड़ैत छैक; आ साक्षात देखाबैत छैक जे जीवनहि परिवर्तन कऽ दूसरा नाम अछि—कखनो साक्षात स्वर्गक उत्सव, तँ कखनो नरक कऽ घोर संताप।

तइयो हमर एही मङ्गलाचरण (भरतवाक्य) कऽ भीतरी पावन कामना सभ कात अवश्य पूर्ण होबय।

गौ सभ प्रचुर दूध देव, पृथ्वी अपन अन्नसँ पूर्ण रहय, आ आकाश नित्य कहियो नै समाप्त होय वाला वर्षा करय; मन्द हवा सभ प्राणीकेँ सुख-प्रसन्नता पहुँचाबय, आ समस्त जीव संसारक प्रत्येक पीड़ासँ मुक्त रहथि।

ब्राह्मण सदा धर्म आ न्यायक पवित्र मार्ग पर चलिथिन, आ हुनकर पैघ योग्यता कऽ पैघ आदर भेटनि; राजा सदा न्यायपूर्वक शासन करथि, आ ई पृथ्वी, कृतज्ञ भऽ कऽ, सादर अपन मुड़ झुकाने रहय।

(सभ आनन्दपूर्वक प्रस्थान करैत छथि)

माटिक खेलौना-गाड़ी

उज्जयिनीमे चारुदत्त—एकटा दरिद्र ब्राह्मण व्यापारी—आ वसन्तसेना,
एकटा गणिका, एक-दोसराक प्रति गम्भीर प्रेमसँ आकृष्ट छथि। शूद्रकक ई
दस-अड़कक नाटक एहि शुद्ध प्रेमक संग विवेकपूर्ण कार्य, मुकदमाक
अन्याय आ घृणा, दुष्ट चरित्र आ भाग्यक गति प्रस्तुत करैत अछि।



www.vidha.co.in

गजेन्द्र ठाकुर - 2026
विदेह — प्रथम मैथिली पाक्षिक ई-पत्रिका
ISSN 2229-547X

◆

THE LITTLE CLAY CART

Mṛcchakaṭikam
A Play by Śūdraka

English Stage Version
Gajendra Thakur

Editor, Videha — First Maithili Fortnightly eJournal

VIDEHA · ISSN 2229-547X · www.videha.co.in

THE LITTLE CLAY CART

Mṛcchakaṭikam · A Play by Śūdraka

◆

English Stage Version
Gajendra Thakur

Editor, Videha — First Maithili Fortnightly eJournal

VIDEHA · ISSN 2229-547X · www.videha.co.in

EDITION NOTE

© Gajendra Thakur, 2026

Based on Śūdraka's Sanskrit play Mṛcchakaṭikam

English stage version from the Maithili rendering by Gajendra Thakur

Editor: Videha — First Maithili Fortnightly eJournal

VIDEHA · ISSN 2229-547X · Since 2000

www.videha.co.in

6 × 9 inch hardback edition

Printed / distributed as a Videha edition

CONTENTS

Dramatis Personae	1
Setting	2
Prologue	3
Act the First — The Gems Are Left Behind	7
Act the Second — The Shampooer Who Gambled	21
Act the Third — The Hole in the Wall	32
Act the Fourth — Madanika and Sharvilaka	42
Act the Fifth — The Storm	54
Act the Sixth — The Swapping of the Bullock-Carts	66
Act the Seventh — Aryaka's Escape	74
Act the Eighth — The Strangling of Vasantasena	77
Act the Ninth — The Trial	93
Act the Tenth — The End	107
Epilogue	123

DRAMATIS PERSONAE

CHARUDATTA, *a Brahmin merchant*
ROHASENA, *his son*
MAITREYA, *his friend*
VARDHAMANAKA, *a servant in his house*
SANSTHANAKA, *brother-in-law of King PALAKA*
STHAVARAKA, *his servant*
Another Servant of SANSTHANAKA
A Courtier
ARYAKA, *a herdsman who becomes king*
SHARVILAKA, *a Brahmin, in love with MADANIKA*
A Shampooer, who becomes a Buddhist monk
MATHURA, *a gambling-master*
DARDURAKA, *a gambler*
Another Gambler
KARNAPURAKA; KUMBHILAKA *servants of VASANTASENA*
VIRAKA; CHANDANAKA *policemen*
GOHA; AHINTA *headsmen*
Bastard pages, in VASANTASENA'S house
A Judge, a Gild-warden, a Clerk, and a Beadle
VASANTASENA, *a courtesan*
Her Mother
MADANIKA, *maid to VASANTASENA*
Another Maid to VASANTASENA
The Wife of CHARUDATTA
RADANIKA, *a maid in CHARUDATTA'S house*

SETTING

UJJAYINI (*called also AVANTI*) *and its Environs*

PROLOGUE

Benediction upon the audience

His bended knees the knotted girdle holds,
Fashioned by doubling of a serpent's folds;
His sensitive organs, so he checks his breath,
Are numbed, till consciousness seems sunk in death;
Within himself, with eye of truth, he sees
The All-soul, free from all activities.
May His, may Shiva's meditation be
Your strong defense; on the Great Self thinks he,
Knowing full well the world's vacuity.

And again:

May Shiva's neck shield you from every harm,
That seems a threatening thunder-cloud, whereon,
Bright as the lightning-flash, lies Gauri's arm.

STAGE DIRECTOR: Enough of this tedious work, which fritters away the interest of the audience! Let me then most reverently salute the honorable gentlemen, and announce our intention to produce a drama called "The Little Clay Cart." Its author was a man

Who vied with elephants in lordly grace;
Whose eyes were those of the chakora bird
That feeds on moonbeams; glorious his face
As the full moon; his person, all have heard,
Was altogether lovely. First in worth
Among the twice-born was this poet, known
As Shudraka far over all the earth,
His virtue's depth unfathomed and alone.

And again:

The Samaveda, the Rigveda too,
The science mathematical, he knew;
The arts wherein fair courtesans excel,
And all the lore of elephants as well.
Through Shiva's grace, his eye was never dim;
He saw his son a king in place of him.
The difficult horse-sacrifice he tried
Successfully; entered the fiery tide,
One hundred years and ten days old, and died.

And yet again:

Eager for battle; sloth's determined foe;
Of scholars chief, who to the Veda cling;
Rich in the riches that ascetics know;
Glad, against the foeman's elephant to show
His valor;--such was Shudraka, the king.

And in this work of his,

Within the town, Avanti named,
Dwells one called Charudatta, famed
No less for youth than poverty;
A merchant's son and Brahmin, he.

His virtues have the power to move
Vasantasena's inmost love;
Fair as the springtime's radiancy,
And yet a courtesan is she.

So here king Shudraka the tale imparts
Of love's pure festival in these two hearts,
Of prudent acts, a lawsuit's wrong and hate,
A rascal's nature, and the course of fate.

[*He walks about and looks around him.*] Why, this music-room of ours is empty. I wonder where the actors have gone.

[*Reflecting.*] Ah, I understand.

Empty his house, to whom no child was born;
Thrice empty his, who lacks true friends and sure;
To fools, the world is empty and forlorn;
But all that is, is empty to the poor.

I have finished the concert. And I've been practising so long that the pupils of my eyes are dancing, and I'm so hungry that my eyes are crackling like a lotus-seed, dried up by the fiercest rays of the summer sun. I'll just call my wife and ask whether there is anything for breakfast or not.

Hello! here I am--but no! Both the particular occasion and the general custom demand that I speak Prakrit. [*Speaking in Prakrit.*] Confound it! I've been practising so long and I'm so hungry that my limbs are as weak as dried-up lotus-stalks. Suppose I go home and see whether my good wife has got anything ready or not. [*He walks about and looks around him.*] Here I am at home. I'll just go in. [*He enters and looks about.*] Merciful heavens! Why in the world is everything in our house turned upside down? A long stream of rice-water is flowing down the street. The ground, spotted black where the iron kettle has been rubbed clean, is as lovely as a girl with the beauty-marks of black cosmetic on her face. It smells so good that my hunger seems to blaze

up and hurts me more than ever. Has some hidden treasure come to light? or am I hungry enough to think the whole world is made of rice? There surely isn't any breakfast in our house, and I'm starved to death. But everything seems topsyturvy here. One girl is preparing cosmetics, another is weaving garlands of flowers. [*Reflecting.*] What does it all mean? Well, I'll call my good wife and learn the truth. [*He looks toward the dressing-room.*] Mistress, will you come here a moment?

[*Enter an actress.*]

ACTRESS: Here I am, sir.

STAGE DIRECTOR: You are very welcome, mistress.

ACTRESS: Command me, sir. What am I to do?

STAGE DIRECTOR: Mistress, I've been practising so long and I'm so hungry that my limbs are as weak as dried-up lotus-stalks. Is there anything to eat in the house or not?

ACTRESS: There's everything, sir.

STAGE DIRECTOR: Well, what?

ACTRESS: For instance--there's rice with sugar, melted butter, curdled milk, rice; and, all together, it makes you a dish fit for heaven. May the gods always be thus gracious to you!

STAGE DIRECTOR: All that in our house? or are you joking?

ACTRESS: [*Aside.*] Yes, I will have my joke. [*Aloud.*] It's in the market-place, sir.

STAGE DIRECTOR: [*Angrily.*] You wretched woman, thus shall your own hope be cut off! And death shall find you out! For my expectations, like a scaffolding, have been raised so high, only to fall again.

ACTRESS: Forgive me, sir, forgive me! It was only a joke.

STAGE DIRECTOR: But what do these unusual preparations mean? One girl is preparing cosmetics, another is weaving garlands, and the very ground is adorned with sacrificial flowers of five different colors.

ACTRESS: This is a fast day, sir.

STAGE DIRECTOR: What fast?

ACTRESS: The fast for a handsome husband.

STAGE DIRECTOR: In this world, mistress, or the next?

ACTRESS: In the next world, sir.

STAGE DIRECTOR: [*Wrathfully.*] Gentlemen! look at this. She is sacrificing my food to get herself a husband in the next world.

ACTRESS: Don't be angry, sir. I am fasting in the hope that you may be my husband in my next birth, too.

STAGE DIRECTOR: But who suggested this fast to you?

ACTRESS: Your own dear friend Jurnavridhha.

STAGE DIRECTOR: [*Angrily.*] Ah, Jurnavridhha, son of a slave-wench! When, oh, when shall I see King Palaka angry with you? Then you will be parted, as surely as the scented hair of some young bride.

ACTRESS: Don't be angry, sir. It is only that I may have you in the next world that I celebrate this fast. [*She falls at his feet.*]

STAGE DIRECTOR: Stand up, mistress, and tell me who is to officiate at this fast.

ACTRESS: Some Brahmin of our own sort whom we must invite.

STAGE DIRECTOR: You may go then. And I will invite some Brahmin of our own sort.

ACTRESS: Very well, sir. [*Exit.*]

STAGE DIRECTOR: [*Walking about.*] Good heavens! In this rich city of Ujjayini how am I to find a Brahmin of our own sort? [*He looks about him.*] Ah, here comes Charudatta's friend Maitreya. Good! I'll ask him. Maitreya, you must be the first to break bread in our house to-day.

VOICE OFFSTAGE: You must invite some other Brahmin. I am busy.

STAGE DIRECTOR: But, man, the feast is set and you have it all to yourself. Besides, you shall have a present.

VOICE OFFSTAGE: I said no once. Why should you keep on urging me?

STAGE DIRECTOR: He says no. Well, I must invite some other Brahmin.

[*Exit.*]

END OF THE PROLOGUE

ACT THE FIRST

THE GEMS ARE LEFT BEHIND

[Enter, with a cloak in his hand, Maitreya.]

MAITREYA:

"You must invite some other Brahmin. I am busy." And yet I really ought to be seeking invitations from a stranger. Oh, what a wretched state of affairs! When good Charudatta was still wealthy, I used to eat my fill of the most deliciously fragrant sweetmeats, prepared day and night with the greatest of care. I would sit at the door of the courtyard, where I was surrounded by hundreds of dishes, and there, like a painter with his paint-boxes, I would simply touch them with my fingers and thrust them aside. I would stand chewing my cud like a bull in the city market. And now he is so poor that I have to run here, there, and everywhere, and come home, like the pigeons, only to roost. Now here is this jasmine-scented cloak, which Charudatta's good friend Jurnavridhha has sent him. He bade me give it to Charudatta, as soon as he had finished his devotions. So now I will look for Charudatta. [*He walks about and looks around him.*] Charudatta has finished his devotions, and here he comes with an offering for the divinities of the house.

[Enter Charudatta as described, and Radanika.]

CHARUDATTA: [*Looking up and sighing wearily.*]

Upon my threshold, where the offering
Was straightway seized by swans and flocking cranes,
The grass grows now, and these poor seeds I fling
Fall where the mouth of worms their sweetness stains.

[*He walks about very slowly and seats himself.*]

Maitreya. Charudatta is here. I must go and speak to him. [*Approaching.*] My greetings to you. May happiness be yours.

CHARUDATTA: Ah, it is my constant friend Maitreya. You are very welcome, my friend. Pray be seated.

MAITREYA: Thank you. [*He seats himself.*] Well, comrade, here is a jasmine-scented cloak which your good friend Jurnavridhha has sent. He bade me give it to you as soon as you had finished your devotions. [*He presents the cloak. Charudatta takes it and remains sunk in thought.*] Well, what are you thinking about?

CHARUDATTA: My good friend,

A candle shining through the deepest dark
Is happiness that follows sorrow's strife;
But after bliss when man bears sorrow's mark,
His body lives a very death-in-life.

MAITREYA: Well, which would you rather, be dead or be poor?

CHARUDATTA: Ah, my friend,

Far better death than sorrows sure and slow;
Some passing suffering from death may flow,
But poverty brings never-ending woe.

MAITREYA: My dear friend, be not thus cast down. Your wealth has been conveyed to them you love, and like the moon, after she has yielded her nectar to the gods, your waning fortunes win an added charm.

CHARUDATTA: Comrade, I do not grieve for my ruined fortunes. But

This is my sorrow. They whom I
Would greet as guests, now pass me by.
"This is a poor man's house," they cry.

As flitting bees, the season o'er,
Desert the elephant, whose store
Of ichor spent, attracts no more.

MAITREYA: Oh, confound the money! It is a trifle not worth thinking about. It is like a cattle-boy in the woods afraid of wasps; it doesn't stay anywhere where it is used for food.

CHARUDATTA: Believe me, friend. My sorrow does not spring

From simple loss of gold;
For fortune is a fickle, changing thing,
Whose favors do not hold;
But he whose sometime wealth has taken wing,
Finds bosom-friends grow cold.

Then too:

A poor man is a man ashamed; from shame
Springs want of dignity and worthy fame;
Such want gives rise to insults hard to bear;
Thence comes despondency; and thence, despair;
Despair breeds folly; death is folly's fruit--
Ah! the lack of money is all evils root!

MAITREYA: But just remember what a trifle money is, after all, and be more cheerful.

CHARUDATTA: My friend, the poverty of a man is to him

A home of cares, a shame that haunts the mind,
Another form of warfare with mankind;
The abhorrence of his friends, a source of hate
From strangers, and from each once-loving mate;
But if his wife despise him, then 't were meet

In some lone wood to seek a safe retreat.
The flame of sorrow, torturing his soul,
Burns fiercely, yet contrives to leave him whole.

Comrade, I have made my offering to the divinities of the house. Do you too go and offer sacrifice to the Divine Mothers at a place where four roads meet.

MAITREYA: No!

CHARUDATTA: Why not?

MAITREYA: Because the gods are not gracious to you even when thus honored. So what is the use of worshipping?

CHARUDATTA: Not so, my friend, not so! This is the constant duty of a householder.

The gods feel ever glad content
In the gifts, and the self-chastisement,
The meditations, and the prayers,
Of those who banish worldly cares.

Why then do you hesitate? Go and offer sacrifice to the Mothers.

MAITREYA: No, I'm not going. You must send somebody else. Anyway, everything seems to go wrong with me, poor Brahmin that I am! It's like a reflection in a mirror; the right side becomes the left, and the left becomes the right. Besides, at this hour of the evening, people are abroad upon the king's highway--courtesans, courtiers, servants, and royal favorites. They will take me now for fair prey, just as the black-snake out frog-hunting snaps up the mouse in his path. But what will you do sitting here?

CHARUDATTA: Good then, remain; and I will finish my devotions.

VOICES OFFSTAGE: Stop, Vasantasena, stop!

[Enter Vasantasena, pursued by the courtier, by Sansthanaka, and the servant.]

COURTIER: Vasantasena! Stop, stop!

Ah, why should fear transform your tenderness?
Why should the dainty feet feel such distress,
That twinkle in the dance so prettily?
Why should your eyes, thus startled into fear,
Dart sidelong looks? Why, like the timid deer
Before pursuing hunters, should you flee?

SANSTHANAKA: Shtop, Vasantasena, shtop!

Why flee? and run? and shtumble in your turning?
Be kind! You shall not die. Oh, shtop your feet!
With love, shweet girl, my tortured heart is burning.
As on a heap of coals a piece of meat.

SERVANT: Stop, courtesan, stop!

In fear you flee
Away from me,
As a summer peahen should;
But my lord and master
Struts fast and faster,
Like a woodcock in the wood.

COURTIER: Vasantasena! Stop, stop!

Why should you tremble, should you flee,
A-quiver like the plantain tree?
Your garment's border, red and fair,
Is all a-shiver in the air;
Now and again, a lotus-bud
Falls to the ground, as red as blood.
A red realgar vein you seem,
Whence, smitten, drops of crimson stream.

SANSTHANAKA: Shtop. Vasantasena, shtop!

You wake my passion, my desire, my love;
You drive away my shleep in bed at night;
Both fear and terror sheem your heart to move;
You trip and shtumble in your headlong flight.
But Ravana forced Kunti to his will;
Jusht sho shall I enjoy you to the fill.

COURTIER: Ah, Vasantasena,

Why should your fleeter flight
Outstrip my flying feet?
Why, like a snake in fright
Before the bird-king's might,
Thus seek to flee, my sweet?
Could I not catch the storm-wind in his flight?
Yet would not seize upon you, though I might.

Sansthanaka. Lishten to me, shir!

Thish whip of robber Love, thish dancing-girl,
Eater of fish, deshtroyer of her kin,
Thish shnubnose, shtubborn, love-box, courtesan,
Thish clothes-line, wanton creature, maid of sin--

I gave her ten shweet names, and shtill
She will not bend her to my will.

Courtier.

As courtier's fingers strike the lute's tense string,
The dancing ear-ring smites your wounded cheek.
Why should you flee, with dreadful terror weak,
As flees the crane when heaven's thunders ring?

Sansth.

Your jingling gems, girl, clink like anything;
Like Draupadi you flee, when Rama kisshed her.
I'll sheize you quick, as once the monkey-king
Sheized Subhadra, Vishvavasu's shweet shishter.

Servant.

He's the royal protege;
Do whatever he may say.
And you shall have good fish and flesh to eat.
For when dogs have all the fish
And the flesh that they can wish,
Even carrion seems to them no longer sweet.

Courtier. Mistress Vasantasena,

The girdle drooping low upon your hips
Flashes as brilliant as the shining stars;
The wondrous terror of your fleeing mars
Your charms; for red realgar, loosened, slips
As on an imaged god, from cheek and lips.

Sansth.

We're chasing you with all our main and might,
As dogs a jackal when they hunt and find it;
But you are quick and nimble in your flight,
And shtear my heart with all the roots that bind it.

VASANTASENA: Pallavaka! Parabhratika!

SANSTHANAKA: Mashter! a man! a man!

COURTIER: Don't be a coward.

VASANTASENA: Madhavika! Madhavika!

COURTIER: [*Laughing.*] Fool! She is calling her servants.

SANSTHANAKA: Mashter! Is she calling a woman?

COURTIER: Why, of course.

SANSTHANAKA: Women! I kill hundreds of 'em. I'm a brave man.

VASANTASENA: [*Seeing that no one answers.*] Alas, how comes it that my very servants have fallen away from me? I shall have to defend myself by mother-wit.

COURTIER: Don't stop the search.

SANSTHANAKA: Shqueal, Vasantasena, shqueal for your cuckoo Parabhratika, or for your blosshom Pallavaka or for all the month of May! Who's going to save you when I'm chasing you?

Why shpeak of Bhimasena? Or the shon
Of Jamadagni, that thrice-mighty one?
The ten-necked ogre? Shon of Kunti fair?
Jusht look at me! My fingers in your hair,
Jusht like Duhshasana, I'll tear, and tear.

Look, look!

My shword is sharp; good-by, poor head!
Let's chop it off, or kill you dead.
Then do not try my wrath to shun;
When you musht die, your life is done.

VASANTASENA: Sir, I am a weak woman.

COURTIER: That is why you are still alive.

SANSTHANAKA: That is why you're not murdered.

VASANTASENA: [*Aside.*] Oh! his very courtesy frightens me. Come, I will try this. [*Aloud.*] Sir, what do you expect from this pursuit? my jewels?

COURTIER: Heaven forbid! A garden creeper, mistress Vasantasena, should not be robbed of its blossoms. Say no more about the jewels.

VASANTASENA: What is then your desire?

SANSTHANAKA: I'm a man, a big man, a regular Vasudeva. You musht love me.

VASANTASENA: [*Indignantly.*] Heavens! You weary me. Come, leave me! Your words are an insult.

SANSTHANAKA: [*Laughing and clapping his hands.*] Look, mashter, look! The courtesan's daughter is mighty affectionate with me, isn't she? Here she says "Come on! Heavens, you're weary. You're tired!" No, I haven't been walking to another village or another city. No, little mishtress, I shwear by the gentleman's head, I shwear by my own feet! It's only by chasing about at your heels that I've grown tired and weary.

COURTIER: [*Aside.*] What! is it possible that the idiot does not understand when she says "You weary me"? [*Aloud.*] Vasantasena, your words have no place in the dwelling of a courtesan,

Which, as you know, is friend to every youth;
Remember, you are common as the flower
That grows beside the road; in bitter truth,
Your body has its price; your beauty's dower
Is his, who pays the market's current rate:
Then serve the man you love, and him you hate.

And again:

The wisest Brahmin and the meanest fool
Bathe in the selfsame pool;
Beneath the peacock, flowering plants bend low,
No less beneath the crow;
The Brahmin, warrior, merchant, sail along
With all the vulgar throng.
You are the pool, the flowering plant, the boat;
And on your beauty every man may dote.

VASANTASENA: Yet true love would be won by virtue, not violence.

SANSTHANAKA: But, mashter, ever since the shlave-wench went into the park where Kama's temple shtands, she has been in love with a poor man, with Charudatta, and she doesn't love me any more. His house is to the left. Look out and don't let her shlip out of our hands.

COURTIER: [*Aside.*] Poor fool, he has said the very thing he should have concealed. So Vasantasena is in love with Charudatta? The proverb is right. Pearl suits with pearl. Well, I have had enough of this fool. [*Aloud.*] Did you say the good merchant's house was to the left, you jackass?

SANSTHANAKA: Yes. His house is to the left.

VASANTASENA: [*Aside.*] Oh, wonderful! If his house is really at my left hand, then the scoundrel has helped me in the very act of hurting me, for he has guided me to my love.

SANSTHANAKA: But mashter, it's pitch dark and it's like hunting for a grain of soot in a pile of shpotted beans. Now you shee Vasantasena and now you don't.

COURTIER: Pitch dark it is indeed.

The sudden darkness seems to steal
The keenness of my sight;
My open eyes, as with a seal,
Are closed by blackest night.

And again:

Darkness anoints my body, and the sky
Drops ointment of thick darkness, till mine eye
Is all unprofitable grown to me,
Like service done to them who cheat and lie.

SANSTHANAKA: Mashter, I'm looking for Vasantasena.

COURTIER: Is there anything you can trace her by, jackass?

SANSTHANAKA: Like what, for inshtance?

COURTIER: Like the tinkling of her jewels, for instance, or the fragrance of her garlands.

SANSTHANAKA: I hear the shmell of her garlands, but my nose is shtuffed so full of darkness that I don't shee the shound of her jewels very clearly.

COURTIER: [*To Vasantasena. Aside.*] Vasantasena,

'T is true, the night is dark, O timid maid,
And like the lightning hidden in the cloud,
You are not seen; yet you will be betrayed
By fragrant garlands and by anklets loud.

Have you heard me, Vasantasena?

VASANTASENA: [*To herself.*] Heard and understood. [*She removes the ankle-rings, lays aside the garlands, and takes a few steps, feeling her way.*] I can feel the wall of the house, and here is a side-entrance. But alas! my fingers tell me that the door is shut. *Charudatta [who is within the house].* Comrade, my prayer is done. Go now and offer sacrifice to the Mothers.

MAITREYA: No, I'm not going.

CHARUDATTA: Alas!

The poor man's kinsmen do not heed his will;
The friends who loved him once, now stand afar;
His sorrows multiply; his strength is nil;
Behold! his character's bright-shining star
Fades like the waning moon; and deeds of ill
That others do, are counted to him still.

And again:

No man holds converse with him; none will greet
With due respect the poor man when they meet.
Where rich men hold a feast, if he draw near,
He meets with scornful looks for looks of cheer.

Where vulgar throngs are gathered, 't is the same;
His scanty raiment wakes his heartfelt shame.
Five are the deadly sins we knew before;
Alas! I find the sixth is--to be poor.

And yet again:

Ah, Poverty, I pity thee, that so
To me thou clingest, as thy dearest friend;
When my poor life has met its woeful end,
I sadly wonder, whither thou wilt go.

MAITREYA: [*Betraying his embarrassment.*] Well, comrade, if I must go, at least let Radanika go with me, to keep me company.

CHARUDATTA: Radanika, you are to accompany Maitreya.

RADANIKA: Yes, sir.

Maitreya. Mistress Radanika, do you take the offering and the candle while I open the side-door. [*He does so.*]

VASANTASENA: It seems as if the door took pity on me and opened of itself. I will lose no time, but enter. [*She looks in.*] What? a candle? Oh dear, oh dear! [*She puts it out with her skirt and enters.*]

CHARUDATTA: What was that, Maitreya?

MAITREYA: I opened the side-door and the wind came through all in a lump and blew out the candle. Suppose you go out by the side-door, Radanika, and I will follow as soon as I have gone into the courtyard and lighted the candle again. [*Exit.*]

SANSTHANAKA: Mashter! mashter! I'm looking for Vasantasena.

COURTIER: Keep on looking, keep on looking!

SANSTHANAKA: [*Does so.*] Mashter! mashter! I've caught her! I've caught her!

COURTIER: Idiot, you've caught me.

SANSTHANAKA: You shtand right here, mashter, and shtay where you're put. [*He renews the search and seizes the servant.*]
Mashter! mashter! I've caught her! I've caught her!

SERVANT: Master, you've caught me, your servant.

SANSTHANAKA: Mashter here, shervant here! Mashter, shervant; shervant, mashter. Now shtay where you're put, both of you. [*He renews the search and seizes Radanika by the hair.*] Mashter! mashter! Thish time I've caught her! I've caught Vasantasena!

Through the black night she fled, fled she;
Her garland's shmell betrayed her;
Like Chanakya caught Draupadi,
I caught her hair and shtayed her.

COURTIER:

Ah, proud to be so young, so fair!
Too high thy love must not aspire;
For now thy blossom-fragrant hair,
That merits richest gems and rare,
Serves but to drag thee through the mire.

SANSTHANAKA:

I've got your head, girl, got it tight,
By the hair, the locks, and the curls, too.
Now shcream, shqueak, shqueal with all your might
"Shiva! Ishvara! Shankara! Shambhu!"

RADANIKA: [*In terror.*] Oh, sirs, what does this mean?

COURTIER: You jackass! It's another voice.

SANSTHANAKA: Mashter, the wench has changed her voice, the way a cat changes her voice, when she wants shome cream of curdled milk.

COURTIER: Changed her voice? Strange! Yet why so strange?

She trod the stage; she learned the arts;
She studied to deceive our hearts;
And now she practises her parts.

[*Enter Maitreya.*]

MAITREYA: Look! In the gentle evening breeze the flame of the candle is fluttering like the heart of a goat that goes to the altar.

[*He approaches and discovers Radanika.*] Mistress Radanika!

SANSTHANAKA: Mashter, mashter! A man! a man!

MAITREYA: This is right, this is perfectly right, that strangers should force their way into the house, just because Charudatta is poor.

RADANIKA: Oh, Maitreya, see how they insult me.

MAITREYA: What! insult you? No, they are insulting us.

RADANIKA: Very well. They are insulting you, then.

MAITREYA: But they aren't using violence?

RADANIKA: Yes, yes!

MAITREYA: Really?

RADANIKA: Really.

MAITREYA: [*Raising his staff angrily.*] No, sir! Man, a dog will show his teeth in his own kennel, and I am a Brahmin! My staff is crooked as my fortunes, but it can still split a dry bamboo or a rascal's pate.

COURTIER: Have mercy, O great Brahmin, have mercy.

MAITREYA: [*Discovers the courtier.*] He is not the sinner. [*Discovers Sansthanaka.*] Ah, here is the sinner. Well, you brother-in-law to the king, Sansthanaka, you scoundrel, you coward, this is perfectly proper, isn't it? Charudatta the good is a poor man now--true, but are not his virtues an ornament to Ujjayini? And so men break into his house and insult his servants!

Insult not him, laid low by poverty;
For none are counted poor by mighty fate:
Yet he who falls from virtue's high estate,
Though he be rich, no man is poor as he.

COURTIER: [*Betraying his embarrassment.*] Have mercy, O great Brahmin, have mercy. We intended no insolence; we merely mistook this lady for another. For

We sought an amorous maiden,

MAITREYA: What! this one?

COURTIER: Heaven forbid!

one whose youth
Is in the guidance of her own sweet will;
She disappeared: unconscious of the truth,
We did what seems a purposed deed of ill.

I pray you, accept this all-in-all of humblest supplication. [*He drops his sword, folds his hands, and falls at Maitreya's feet.*]

MAITREYA: Good man, rise, rise. When I reviled you, I did not know you. Now I know you and I ask your pardon.

COURTIER: It is I who should ask pardon. I will rise on one condition.

MAITREYA: And that is--

COURTIER: That you will not tell Charudatta what has happened here.

MAITREYA: I will be silent.

COURTIER:

Brahmin, this gracious act of thine
I bow my neck to bear;
For never could this sword of mine
With virtue's steel compare.

SANSTHANAKA: [*Indignantly.*] But mashter, what makes you fold your hands so helplessly and fall at the feet of this manikin?

COURTIER: I was afraid.

SANSTHANAKA: What were *you* afraid of?

COURTIER: Of Charudatta's virtues.

SANSTHANAKA: Virtues? He? You can go into his house and not find a thing to eat.

COURTIER: No, no.

His loving-kindness unto such as we
Has brought him low at last;
From him could no man learn what insults be,
Or e'er his wealth was past.
This well-filled pool, that in its summer day
Gave others drink, itself is dried away.

SANSTHANAKA: [*Impatiently.*] Who is the shon of a slave-wench anyway?

Brave Shvetaketu is he, Pandu's child?
Or Radha's shon, the ten-necked ogre wild?
Or Indradatta? or again, is he
Shon of brave Rama and of fair Kunti?
Or Dharmaputra? Ashvatthaman bold?
Perhaps Jatayu's shelf, that vulture old?

COURTIER: Fool! I will tell you who Charudatta is.

A tree of life to them whose sorrows grow,
Beneath its fruit of virtue bending low;
Father to good men; virtue's touchstone he;
The mirror of the learned; and the sea
Where all the tides of character unite;
A righteous man, whom pride could never blight;
A treasure-house, with human virtues stored;
Courtesy's essence, honor's precious hoard.
He doth to life its fullest meaning give,
So good is he; we others breathe, not live.

Let us be gone.

SANSTHANAKA: Without Vasantasena?

COURTIER: Vasantasena has disappeared.

SANSTHANAKA: How?

COURTIER:

Like sick men's strength, or like the blind man's sight,
Like the fool's judgment, like the sluggard's might,
Like thoughtless scoundrels' store of wisdom's light,

Like love, when foemen fan our slumbering wrath,
So did *she* vanish, when you crossed her path.

SANSTHANAKA: I'm not going without Vasantasena.

COURTIER: And did you never hear this?

To hold a horse, you need a rein;
To hold an elephant, a chain;
To hold a woman, use a heart;
And if you haven't one, depart.

SANSTHANAKA: If you're going, go along. I'm not going.

COURTIER: Very well. I will go. [*Exit.*]

SANSTHANAKA: Mashter's gone, sure enough. [*To Maitreya.*] Well, you man with the head that looks like a caret, you manikin, take a sheat, take a sheat.

MAITREYA: We have already been invited to take a seat.

SANSTHANAKA: By whom?

MAITREYA: By destiny.

SANSTHANAKA: Shtand up, then, shtand up!

MAITREYA: We shall.

SANSTHANAKA: When?

MAITREYA: When fate is kind again.

SANSTHANAKA: Weep, then, weep!

MAITREYA: We have wept.

SANSTHANAKA: Who made you?

MAITREYA: Poverty.

SANSTHANAKA: Laugh, then, laugh!

MAITREYA: Laugh we shall.

SANSTHANAKA: When?

MAITREYA: When Charudatta is happy once more.

SANSTHANAKA: You manikin, give poor little Charudatta thish messhage from me. "Thish wench with golden ornaments and golden jewels, thish female shtage-manager looking after the rehearsal of a new play, thish Vasantasena--she has been in love with you ever shince she went into the park where Kama's temple shtands. And when we tried to conciliate her by force, she went into your houshe. Now if you shend her away yourshelf and hand her over to me, if you reshtore her at once, without any lawshuit in court, then I'll be friends with you forever. But if you don't reshtore her, there will be a fight to the death." Remember:

Shmear a pumpkin-shtalk with cow-dung;
Keep your vegetables dried;
Cook your rice in winter evenings;
And be sure your meat is fried.
Then let 'em shtand, and they will not
Bothershomely shmell and rot.

Tell it to him prettily, tell it to him craftily. Tell it to him sho that I can hear it as I roosht in the dove-cote on the top of my own palace. If you shay it different, I'll chew your head like an apple caught in the crack of a door.

MAITREYA: Very well. I shall tell him.

SANSTHANAKA: [*Aside.*] Tell me, shervant. Is mashter really gone?

SERVANT: Yes, sir.

SANSTHANAKA: Then we will go as quickly as we can.

SERVANT: Then take your sword, master.

SANSTHANAKA: You can keep it.

SERVANT: Here it is, master. Take your sword, master.

SANSTHANAKA: [*Taking it by the wrong end.*]

My shword, red as a radish shkin,
Ne'er finds the time to molder;
Shee how it shleeps its sheath within!
I put it on my shoulder.
While curs and bitches yelp at me, I roam,
Like a hunted jackal, home.

[*Sansthanaka and the servant walk about, then exeunt.*]

MAITREYA: Mistress Radanika, you must not tell good Charudatta of this outrage. I am sure you would only add to the poor man's sorrows.

RADANIKA: Good Maitreya, you know Radanika. Her lips are sealed.

MAITREYA: So be it.

CHARUDATTA: [*To Vasantasena.*] Radanika, Rohasena likes the fresh air, but he will be cold in the evening chill. Pray bring him into the house, and cover him with this mantle. [*He gives her the mantle.*]

VASANTASENA: [*To herself.*] See! He thinks I am his servant. [*She takes the mantle and perceives its perfume. Ardently to herself.*] Oh, beautiful! The mantle is fragrant with jasmine. His youthful days are not wholly indifferent to the pleasures of the world. [*She wraps it about her, without letting Charudatta see.*]

CHARUDATTA: Come, Radanika, take Rohasena and enter the heart of the house.

VASANTASENA: [*To herself.*] Ah me unhappy, that have little part or lot in your heart!

CHARUDATTA: Come, Radanika, will you not even answer? Alas!

When man once sees that miserable day,
When fate almighty sweeps his wealth away,
Then ancient friendships will no longer hold,
Then all his former bosom-friends grow cold.

MAITREYA: [*Drawing near to Radanika.*] Sir, here is Radanika.

CHARUDATTA: Here is Radanika? Who then is this--

This unknown lady, by my robe
Thus clinging, desecrated,

VASANTASENA: [*To herself.*] Say rather "consecrated."

CHARUDATTA: Until she seems the crescent moon. With clouds of autumn mated? 54

But no! I may not gaze upon another's wife.

MAITREYA: Oh, you need not fear that you are looking at another man's wife. This is Vasantasena, who has been in love with you ever since she saw you in the garden where Kama's temple stands.

CHARUDATTA: What! this is Vasantasena? [*Aside.*]

My love for whom--my fortune spent--
My wretched self in twain has rent.
Like coward's anger, inward bent.

MAITREYA: My friend, that brother-in-law of the king says--

CHARUDATTA: Well?

MAITREYA: "This wench with golden ornaments and golden jewels, this female stage-manager looking after the rehearsal of a new play, this Vasantasena--she has been in love with you ever since she went into the park where Kama's temple stands. And when we tried to conciliate her by force, she went into your house."

VASANTASENA: [*To herself.*] "Tried to conciliate me by force"--truly, I am honored by these words.

MAITREYA: "Now if you send her away yourself and hand her over to me, if you restore her at once, without any lawsuit in court, then I'll be friends with you forever. Otherwise, there will be a fight to the death."

CHARUDATTA: [*Contemptuously.*] He is a fool. [*To himself.*] How is this maiden worthy of the worship that we pay a goddess! For now

Although I bade her enter, yet she seeks
To spare my poverty, nor enters here;
Though men are known to her, yet all she speaks
Contains no word to wound a modest ear.

[*Aloud.*] Mistress Vasantasena, I have unwittingly made myself guilty of an offense; for I greeted as a servant one whom I did not recognize. I bend my neck to ask your pardon.

VASANTASENA: It is I who have offended by this unseemly intrusion. I bow my head to seek your forgiveness.

MAITREYA: Yes, with your pretty bows you two have knocked your heads together, till they look like a couple of rice-fields. I also bow my head like a camel colt's knee and beseech you both to stand up. [*He does so, then rises.*]

CHARUDATTA: Very well, let us no longer trouble ourselves with conventions.

VASANTASENA: [*To herself.*] What a delightfully clever hint! But it would hardly be proper to spend the night, considering how I came hither. Well, I will at least say this much. [*Aloud.*] If I am to receive thus much of your favor, sir, I should be glad to leave these jewels in your house. It was for the sake of the jewels that those scoundrels pursued me.

CHARUDATTA: This house is not worthy of the trust.

VASANTASENA: You mistake, sir! It is to men that treasures are entrusted, not to houses.

CHARUDATTA: Maitreya, will you receive the jewels?

VASANTASENA: I am much indebted to you. [*She hands him the jewels.*]

MAITREYA: [*Receiving them.*] Heaven bless you, madam.

CHARUDATTA: Fool! They are only entrusted to us.

MAITREYA: [*Aside.*] Then the thieves may take them, for all I care.

CHARUDATTA: In a very short time--

MAITREYA: What she has entrusted to us, belongs to us.

CHARUDATTA: I shall restore them.

VASANTASENA: I should be grateful, sir, if this gentleman would accompany me home.

CHARUDATTA: Maitreya, pray accompany our guest.

MAITREYA: She walks as gracefully as a female swan, and you are the gay flamingo to accompany her. But I am only a poor Brahmin, and wherever I go, the people will fall upon me just as dogs will snap at a victim dragged to the cross-roads.

CHARUDATTA: Very well. I will accompany her myself. Let the torches be lighted, to ensure our safety on the highway.

MAITREYA: Vardhamanaka, light the torches.

VARDHAMANAKA: [*Aside to Maitreya.*] What! light torches without oil?

MAITREYA: [*Aside to Charudatta.*] These torches of ours are like courtesans who despise their poor lovers. They won't light up unless you feed them.

CHARUDATTA: Enough, Maitreya! We need no torches. See, we have a lamp upon the king's highway.

Attended by her starry servants all,
And pale to see as a loving maiden's cheeks,
Rises before our eyes the moon's bright ball,
Whose pure beams on the high-piled darkness fall
Like streaming milk that dried-up marshes seeks.

[*His voice betraying his passion.*] Mistress Vasantasena, we have reached your home. Pray enter. [*Vasantasena gazes ardently at him, then exit.*] Comrade, Vasantasena is gone. Come, let us go home.

All creatures from the highway take their flight;
The watchmen pace their rounds before our sight;
To forestall treachery, is just and right,
For many sins find shelter in the night.

[*He walks about.*] And you shall guard this golden casket by night, and Vardhamanaka by day.

MAITREYA: Very well. [*Exeunt ambo.*]

ACT THE SECOND

THE SHAMPOOER^[39] WHO GAMBLED

[Enter a maid.]

MAID:

I am sent with a message to my mistress by her mother. I must go in and find my mistress. [*She walks about and looks around her.*] There is my mistress. She is painting a picture, and putting her whole heart into it. I must go and speak to her.

[*Then appear the love-lorn Vasantasena, seated, and Madanika.*]

VASANTASENA: Well, girl, and then--

MADANIKA: But mistress, you were not speaking of anything. What do you mean?

VASANTASENA: Why, what did I say?

MADANIKA: You said, "and then"--

VASANTASENA: [*Puckering her brows.*] Oh, yes. So I did.

MAID: [*Approaching.*] Mistress, your mother sends word that you should bathe and then offer worship to the gods.

VASANTASENA: You may tell my mother that I shall not take the ceremonial bath to-day. A Brahmin must offer worship in my place.

MAID: Yes, mistress. [*Exit.*]

MADANIKA: My dear mistress, it is love, not naughtiness, that asks the question--but what does this mean?

VASANTASENA: Tell me, Madanika. How do I seem to you?

MADANIKA: My mistress is so absent-minded that I know her heart is filled with longing for somebody.

VASANTASENA: Well guessed. My Madanika is quick to fathom another's heart.

MADANIKA: I am very, very glad. Yes, Kama is indeed mighty, and his great festival is welcome when one is young. But tell me, mistress, is it a king, or a king's favorite, whom you worship?

VASANTASENA: Girl, I wish to love, not to worship.

MADANIKA: Is it a Brahmin that excites your passion, some youth distinguished for very particular learning?

VASANTASENA: A Brahmin I should have to reverence.

MADANIKA: Or is it some young merchant, grown enormously wealthy from visiting many cities?

VASANTASENA: A merchant, girl, must go to other countries and leave you behind, no matter how much you love him. And the separation makes you very sad.

MADANIKA: It isn't a king, nor a favorite, nor a Brahmin, nor a merchant. Who is it then that the princess loves?

VASANTASENA: Girl! Girl! You went with me to the park where Kama's temple stands?

MADANIKA: Yes, mistress.

VASANTASENA: And yet you ask, as if you were a perfect stranger.

MADANIKA: Now I know. Is it the man who comforted you when you asked to be protected?

VASANTASENA: Well, what was his name?

MADANIKA: Why, he lives in the merchants' quarter.

VASANTASENA: But I asked you for his name.

MADANIKA: His name, mistress, is a good omen in itself. His name is Charudatta.

VASANTASENA: [*Joyfully.*] Good, Madanika, good. You have guessed it.

MADANIKA: [*Aside.*] So much for that. [*Aloud.*] Mistress, they say he is poor.

VASANTASENA: That is the very reason why I love him. For a courtesan who sets her heart on a poor man is blameless in the eyes of the world.

MADANIKA: But mistress, do the butterflies visit the mango-tree when its blossoms have fallen?

VASANTASENA: That is just why we call *that* sort of a girl a butterfly.

MADANIKA: Well, mistress, if you love him, why don't you go and visit him at once?

VASANTASENA: Girl, if I should visit him at once, then, because he can't make any return--no, I don't mean that, but it would be hard to see him.

MADANIKA: Is that the reason why you left your jewels with him?

VASANTASENA: You have guessed it.

A voice behind the scenes. Oh, sir, a shampooer owes me ten gold-pieces, and he got away from us. Hold him, hold him! [*To the fleeing shampooer.*] Stop, stop! I see you from here. [*Enter hurriedly a frightened shampooer.*]

SHAMPOOER: Oh, confound this gambling business!

Freed from its tether, the ace--
I might better say "ass"--how it kicks me!
And the cast of the dice called the "spear"
Proves true to its name; for it sticks me.

The keeper's whole attention
Was busy with the score;
So it took no great invention
To vanish through the door.
But I cannot stand forever
In the unprotected street.

Is there no one to deliver?
I would fall before his feet.

While the keeper and the gambler are looking somewhere else for me, I'll just walk backwards into this empty temple and turn goddess. [*He makes all sorts of gestures, takes his place, and waits.*]

[*Enter Mathura and the gambler.*]

MATHURA: Oh, sir, a shampooer owes me ten gold-pieces, and he got away from us. Hold him, hold him! Stop, stop! I see you from here.

GAMBLER:

You may run to hell, if they'll take you in;
With Indra, the god, you may stay:
For there's never a god can save your skin.
While Mathura wants his pay.

MATHURA:

Oh, whither flee you, nimble rambler.
You that cheat an honest gambler?
You that shake with fear and shiver.
All a-tremble, all a-quiver;
You that cannot trip enough.
On the level ground and rough;
You that stain your social station,
Family, and reputation!

GAMBLER: [*Examining the footprints.*] Here he goes. And here the tracks are lost.

MATHURA: [*Gazes at the footprints. Reflectively.*] Look! The feet are turned around. And the temple hasn't any image. [*After a moment's thought.*] That rogue of a shampooer has gone into the temple with his feet turned around.

GAMBLER: Let's follow him.

MATHURA: All right. [*They enter the temple and take a good look, then make signs to each other.*]

GAMBLER: What! a wooden image?

MATHURA: Of course not. It's stone. [*He shakes it with all his might, then makes signs.*] What do we care? Come, let's have a game. [*He starts to gamble as hard as he can.*]

SHAMPOOER: [*Trying with all his might to repress the gambling fever. Aside.*] Oh, oh!

Oh, the rattle of dice is a charming thing,
When you haven't a copper left;
It works like a drum on the heart of a king,
Of all his realm bereft.

For gamblers leap down a mountain steep--
I know I shall not play.
Yet the rattle of dice is as sweet as the peep
Of nightingales in May.

GAMBLER: My turn, my turn!

MATHURA: Not much! it's my turn.

SHAMPOOER: [*Coming up quickly from behind.*] Isn't it my turn?

GAMBLER: We've got our man.

MATHURA: [*Seizing him.*] You jail-bird, you're caught. Pay me my ten gold-pieces.

SHAMPOOER: I'll pay you this very day.

MATHURA: Pay me this very minute!

SHAMPOOER: I'll pay you. Only have mercy!

MATHURA: Come, will you pay me now?

SHAMPOOER: My head is getting dizzy. [*He falls to the ground. The others beat him with all their might.*]

MATHURA: There [*drawing the gamblers ring*] you're bound by the gamblers' ring.

SHAMPOOER: [*Rises. Despairingly.*] What! bound by the gamblers' ring? Confound it! That is a limit which we gamblers can't pass. Where can I get the money to pay him?

MATHURA: Well then, you must give surety.

SHAMPOOER: I have an idea. [*He nudges the gambler.*] I'll give you half, if you'll forgive me the other half.

GAMBLER: All right.

SHAMPOOER: [*To Mathura.*] I'll give you surety for a half. You might forgive me the other half.

MATHURA: All right. Where's the harm?

SHAMPOOER: [*Aloud.*] You forgave me a half, sir?

MATHURA: Yes.

SHAMPOOER: [*To the gambler.*] And you forgave me a half?

GAMBLER: Yes.

SHAMPOOER: Then I think I'll be going.

MATHURA: Pay me my ten gold-pieces! Where are you going?

SHAMPOOER: Look at this, gentlemen, look at this! Here I just gave surety to one of them for a half, and the other forgave me a half. And even after that he is dunning me, poor helpless me!

MATHURA: [*Seizing him.*] My name is Mathura, the clever swindler, and you're not going to swindle me this time. Pay up, jail-bird, every bit of my money, and this minute, too.

SHAMPOOER: How can I pay?

MATHURA: Sell your father and pay.

SHAMPOOER: Where can I get a father?

MATHURA: Sell your mother and pay.

SHAMPOOER: Where can I get a mother?

MATHURA: Sell yourself and pay.

SHAMPOOER: Have mercy! Lead me to the king's highway.

MATHURA: Go ahead.

SHAMPOOER: If it must be. [*He walks about.*] Gentlemen, will you buy me for ten gold-pieces from this gambling-master? [*He sees a passer-by and calls out.*] What is that? You wish to know what I can do? I will be your house-servant. What! he has gone without even answering. Well, here's another. I'll speak to him. [*He repeats his offer.*] What! this one too takes no notice of me. He is gone. Confound it! I've had hard luck ever since Charudatta lost his fortune.

MATHURA: Will you pay?

SHAMPOOER: How can I pay? [*He falls down. Mathura drags him about.*] Good gentlemen, save me, save me! [*Enter Darduraka.*]

DARDURAKA: Yes, gambling is a kingdom without a throne.

You do not mind defeat at all;
Great are the sums you spend and win;
While kingly revenues roll in,
Rich men, like slaves, before you fall.

And again:

You earn your coin by gambling,
Your friends and wife by gambling,
Your gifts and food by gambling;
Your last cent goes by gambling.

And again:

My cash was taken by the trey;
The deuce then took my health away;
The ace then set me on the street;
The four completed my defeat.

[*He looks before him.*] Here comes Mathura, our sometime gambling-master. Well, as I can't escape, I think I'll put on my veil. [*He makes any number of gestures with his cloak, then examines it.*]

This cloth is sadly indigent in thread;
This lovely cloth lets in a lot of light;
This cloth's protective power is nearly fled;
This cloth is pretty when it's rolled up tight.

Yet after all, what more could a poor saint do? For you see,

One foot I've planted in the sky,
The other on the ground must lie.
The elevation's rather high,
But the sun stands it. Why can't I?

MATHURA: Pay, pay!

SHAMPOOER: How can I pay? [*Mathura drags him about.*]

DARDURAKA: Well, well, what is this I see? [*He addresses a bystander.*] What did you say, sir? "This shampooer is being maltreated by the gambling-master, and no one will save him"? I'll save him myself. [*He presses forward.*] Stand back, stand back!

[*He takes a look.*] Well, if this isn't that swindler Mathura. And here is the poor saintly shampooer; a saint to be sure,

Who does not hang with bended head
Rigid till set of sun,
Who does not rub his back with sand
Till boils begin to run,
Whose shins dogs may not browse upon,
As they pass him in their rambling.
Why should this tall and dainty man
Be so in love with gambling?

Well, I must pacify Mathura. [*He approaches.*] How do you do, Mathura? [*Mathura returns the greeting.*]

DARDURAKA: What does this mean?

MATHURA: He owes me ten gold-pieces.

DARDURAKA: A mere bagatelle!

MATHURA: [*Pulling the rolled-up cloak from under Darduraka's arm.*] Look, gentlemen, look! The man in the ragged cloak calls ten gold-pieces a mere bagatelle.

DARDURAKA: My good fool, don't I risk ten gold-pieces on a cast of the dice? Suppose a man has money--is that any reason why he should put it in his bosom and show it? But you,

You'll lose your caste, you'll lose your soul,
For ten gold-pieces that he stole,

To kill a man that's sound and whole,
With five good senses in him.

MATHURA: Ten gold-pieces may be a mere bagatelle to you, sir. To me they are a fortune.

DARDURAKA: Well then, listen to me. Just give him ten more, and let him go to gambling again.

MATHURA: And what then?

DARDURAKA: If he wins, he will pay you.

MATHURA: And if he doesn't win?

DARDURAKA: Then he won't pay you.

MATHURA: This is no time for nonsense. If you say that, you can give him the money yourself. My name is Mathura. I'm a swindler and I play a crooked game, and I'm not afraid of anybody. You are an immoral scoundrel.

DARDURAKA: Who did you say was immoral?

MATHURA: You're immoral.

DARDURAKA: Your father is immoral. [*He gives the shampooer a sign to escape.*]

MATHURA: You cur! That is just the way that you gamble.

DARDURAKA: That is the way I gamble?

MATHURA: Come, shampooer, pay me my ten gold-pieces.

SHAMPOOER: I'll pay you this very day. I'll pay at once. [*Mathura drags him about.*]

DARDURAKA: Fool! You may maltreat him when I am away, but not before my eyes.

[*Mathura seizes the shampooer and hits him on the nose. The shampooer bleeds, faints, and falls flat. Darduraka approaches and interferes. Mathura strikes Darduraka, and Darduraka strikes back.*]

MATHURA: Oh, oh, you accursed hound! But I'll pay you for this.

DARDURAKA: My good fool, I was walking peaceably along the street, and you struck me. If you strike me to-morrow in court, then you will open your eyes.

MATHURA: Yes, I'll open my eyes.

DARDURAKA: How will you open your eyes?

MATHURA: [*Opening his eyes wide.*] This is the way I'll open my eyes.

[*Darduraka throws dust in Mathura's eyes, and gives the shampooer a sign to escape. Mathura shuts his eyes and falls down. The shampooer escapes.*]

DARDURAKA: [*Aside.*] I have made an enemy of the influential gambling-master Mathura. I had better not stay here. Besides, my good friend Sharvilaka told me that a young herdsman named Aryaka has been designated by a soothsayer as our future king. Now everybody in my condition is running after him. I think I will join myself to him. [*Exit.*]

SHAMPOOER: [*Trembles as he walks away and looks about him.*] Here is a house where somebody has left the side-door open. I will go in. [*He enters and perceives Vasantasena.*] Madam, I throw myself upon your protection.

VASANTASENA: He who throws himself upon my protection shall be safe. Close the door, girl. [*The maid does so.*]

VASANTASENA: What do you fear?

SHAMPOOER: A creditor, madam.

VASANTASENA: You may open the door now, girl.

SHAMPOOER: [*To himself.*] Ah! Her reasons for not fearing a creditor are in proportion to her innocence. The proverb is right:

The man who knows his strength and bears a load
Proportioned to that strength, not more nor less,
Is safe from stumbling and from sore distress,
Although he wander on a dreary road.

That means me.

MATHURA: [*Wiping his eyes. To the gambler.*] Pay, pay!

GAMBLER: While we were quarreling with Darduraka, sir, the man escaped.

MATHURA: I broke that shampooer's nose for him with my fist. Come on! Let's trace him by the blood. [*They do so.*]

GAMBLER: He went into Vasantasena's house, sir.

MATHURA: Then that is the end of the gold-pieces.

GAMBLER: Let's go to court and lodge a complaint.

MATHURA: The swindler would leave the house and escape. No, we must besiege him and so capture him.

[*Vasantasena gives Madanika a sign.*]

MADANIKA: Whence are you, sir? or who are you, sir? or whose son are you, sir? or what is your business, sir? or what are you afraid of?

SHAMPOOER: Listen, madam. My birthplace is Pataliputra, madam. I am the son of a householder. I practise the trade of a shampooer.

VASANTASENA: It is a very dainty art, sir, which you have mastered.

SHAMPOOER: Madam, as an art I mastered it. It has now become a mere trade.

MADANIKA: Your answers are most disconsolate, sir. Pray continue.

SHAMPOOER: Yes, madam. When I was at home, I used to hear travelers tell tales, and I wanted to see new countries, and so I came here. And when I had come here to Ujjayini, I became the servant of a noble gentleman. Such a handsome, courteous gentleman! When he gave money away, he did not boast; when he was injured, he forgot it. To cut a long story short: he was so courteous that he regarded his own person as the possession of others, and had compassion on all who sought his protection.

MADANIKA: Who may it be that adorns Ujjayini with the virtues which he has stolen from the object of my mistress' desires?

VASANTASENA: Good, girl, good! I had the same thought in mind.

MADANIKA: But to continue, sir--

SHAMPOOER: Madam, he was so compassionate and so generous that now--

VASANTASENA: His riches have vanished?

SHAMPOOER: I didn't say it. How did you guess it, madam?

VASANTASENA: What was there to guess? Virtue and money seldom keep company. In the pools from which men cannot drink there is so much the more water.

MADANIKA: But sir, what is his name?

SHAMPOOER: Madam, who does not know the name of this moon of the whole world? He lives in the merchants' quarter. He whose name is worthy of all honor is named Charudatta.

VASANTASENA: [*Joyfully rising from her seat.*] Sir, this house is your own. Give him a seat, girl, and take this fan. The gentleman is weary. [*Madanika does as she is bid.*]

SHAMPOOER: [*Aside.*] What! so much honor because I mentioned Charudatta's name? Heaven bless you, Charudatta! You are the only man in the world who really lives. All others merely breathe. [*He falls at Vasantasena's feet.*] Enough, madam, enough. Pray be seated, madam.

VASANTASENA: [*Seating herself.*] Where is he who is so richly your creditor, sir?

SHAMP:

The good man's wealth consists in kindly deeds;
All other wealth is vain and quickly flies.
The man who honors not his neighbor's needs,
Does that man know what honor signifies?

VASANTASENA: But to continue--

SHAMPOOER: So I became a servant in his employ. And when his wealth was reduced to his virtue, I began to live by gambling. But fate was cruel, and I lost ten gold-pieces.

MATHURA: I am ruined! I am robbed!

SHAMPOOER: There are the gambling-master and the gambler, looking for me. You have heard my story, madam. The rest is your affair.

VASANTASENA: Madanika, the birds fly everywhither when the tree is shaken in which they have their nests. Go, girl, and give the gambling-master and the gambler this bracelet. And tell them that this gentleman sends it. [*She removes a bracelet from her arm, and gives it to Madanika.*]

MADANIKA: [*Receiving the bracelet.*] Yes, mistress. [*She goes out.*]

MATHURA: I am ruined! I am robbed!

MADANIKA: Inasmuch as these two are looking up to heaven, and sighing, and chattering, and fastening their eyes on the door, I conclude that they must be the gambling-master and the gambler. [*Approaching.*] I salute you, sir.

MATHURA: May happiness be yours.

MADANIKA: Sir, which of you is the gambling-master?

MATH:

O maiden, fair but something less than shy,
With red lip wounded in love's ardent play,
On whom is bent that sweet, coquettish eye?
For whom that lip that steals the heart away?

I haven't got any money. You'll have to look somewhere else.

MADANIKA: You are certainly no gambler, if you talk that way. Is there any one who *owes* you money?

MATHURA: There is. He owes ten gold-pieces. What of him?

MADANIKA: In his behalf my mistress sends you this bracelet. No, no! He sends it himself.

MATHURA: [*Seizing it joyfully.*] Well, well, you may tell the noble youth that his account is squared. Let him come and seek delight again in gambling. [*Exeunt Mathura and the gambler.*]

MADANIKA: [*Returning to Vasantasena.*] Mistress, the gambling-master and the gambler have gone away well-pleased.

VASANTASENA: Go, sir, and comfort your kinsfolk.

SHAMPOOER: Ah, madam, if it may be, these hands would gladly practise their art in your service.

VASANTASENA: But sir, he for whose sake you mastered the art, who first received your service, he should have your service still.

SHAMPOOER: [*Aside.*] A very pretty way to decline my services. How shall I repay her kindness? [*Aloud.*] Madam, thus dishonored as a gambler, I shall become a Buddhist monk. And so, madam, treasure these words in your memory: "He was a shampooer, a gambler, a Buddhist monk."

VASANTASENA: Sir, you must not act too precipitately.

SHAMPOOER: Madam, my mind is made up. [*He walks about.*]

I gambled, and in gambling I did fall,
Till every one beheld me with dismay.
Now I shall show my honest face to all,
And walk abroad upon the king's highway.

[*Tumultuous cries behind the scenes.*]

SHAMPOOER: [*Listening.*] What is this? What is this? [*Addressing some one behind the scenes.*] What did you say? "Post-breaker, Vasantasena's rogue elephant, is at liberty!" Hurrah! I must go and see the lady's best elephant. No, no! What have I to do with these things? I must hold to my resolution. [*Exit.*]

[Then enter hastily Karnapuraka, highly delighted, wearing a gorgeous mantle.]

KARNAPURAKA: Where is she? Where is my mistress?

MADANIKA: Insolent! What can it be that so excites you? You do not see your mistress before your very eyes.

KARNAPURAKA: [Perceiving Vasantasena.] Mistress, my service to you.

VASANTASENA: Karnapuraka, your face is beaming. What is it?

KARNAPURAKA: [Proudly.] Oh, mistress! You missed it! You didn't see Karnapuraka's heroism to-day!

VASANTASENA: What, Karnapuraka, what?

KARNAPURAKA: Listen. Post-breaker, my mistress' rogue elephant, broke the stake he was tied to, killed his keeper, and ran into the street, making a terrible commotion. You should have heard the people shriek,

Take care of the babies, as quick as you can.

And climb up a roof or a tree!

The elephant rogue wants the blood of a man.

Escape! Run away! Can't you see?

And:

How they lose their ankle-rings!

Girdles, set with gems and things,

Break away from fastenings!

As they stumble, trip, and blunder,

See the bracelets snap asunder,

Each a tangled, pearly wonder!

And that rogue of an elephant dives with his trunk and his feet and his tusks into the city of Ujjayini, as if it were a lotus-pond in full flower. At last he comes upon a Buddhist monk. And while the man's staff and his water-jar and his begging-bowl fly every which way, he drizzles water over him and gets him between his tusks. The people see him and begin to shriek again, crying "Oh, oh, the monk is killed!"

VASANTASENA: [Anxiously.] Oh, what carelessness, what carelessness!

KARNAPURAKA: Don't be frightened. Just listen, mistress. Then, with a big piece of the broken chain dangling about him, he picked him up, picked up the monk between his tusks, and just then Karnapuraka saw him, I saw him, no, no! the slave who grows fat on my mistress' rice-cakes saw him, stumbled with his left foot over a gambler's score, grabbed up an iron pole out of a shop, and challenged the mad elephant--

VASANTASENA: Go on! Go on!

KARNAP:

I hit him--in a fit of passion, too--

He really looked like some great mountain peak.

And from between those tusks of his I drew

The sacred hermit meek.

VASANTASENA: Splendid, splendid! But go on!

KARNAPURAKA: Then, mistress, all Ujjayini tipped over to one side, like a ship loaded unevenly, and you could hear nothing but "Hurrah, hurrah for Karnapuraka!" Then, mistress, a man touched the places where he ought to have ornaments, and, finding that he hadn't any, looked up, heaved a long sigh, and threw this mantle over me.

VASANTASENA: Find out, Karnapuraka, whether the mantle is perfumed with jasmine or not.

KARNAPURAKA: Mistress, the elephant perfume is so strong that I can't tell for sure.

VASANTASENA: Then look at the name.

KARNAPURAKA: Here is the name. You may read it, mistress. [He hands her the mantle.]

VASANTASENA: [Reads.] Charudatta. [She seizes the mantle eagerly and wraps it about her.]

MADANIKA: The mantle is very becoming to her, Karnapuraka.

KARNAPURAKA: Oh, yes, the mantle is becoming enough.

VASANTASENA: Here is your reward, Karnapuraka. [She gives him a gem.]

KARNAPURAKA: [Taking it and bowing low.] Now the mantle is most wonderfully becoming.

VASANTASENA: Karnapuraka, where is Charudatta now?

KARNAPURAKA: He started to go home along this very street.

VASANTASENA: Come, girl! Let us go to the upper balcony and see Charudatta. [Exeunt omnes.]

ACT THE THIRD

THE HOLE IN THE WALL

[Enter Charudatta's servant, Vardhamanaka.]

VARDH:

A master, kindly and benevolent,
His servants love, however poor he be.
The purse-proud, with a will on harshness bent,
Pays service in the coin of cruelty.

And again:

A bullock greedy for a feast of corn
You never can prevent;
A wife who wants her lord to wear a horn
You never can prevent;
A man who loves to gamble night and morn
You never can prevent;
And blemishes that with a man are born
You never can prevent.

It is some time since Charudatta went to the concert. It is past midnight, and still he does not come. I think I will go into the outer hall and take a nap. [*He does so.*]

[Enter Charudatta and Maitreya.]

CHARUDATTA: How beautifully Rebhila sang! The lute is indeed a pearl, a pearl not of the ocean.

Gently the anxious lover's heart befriending,
Consoling when true lovers may not meet,
To love-lorn souls the dearest comforts sending,
It adds to sweetest love its more of sweet.

MAITREYA: Well then, let's go into the house.

CHARUDATTA: But how wonderfully Master Rebhila sang!

MAITREYA: There are just two things that always make me laugh. One is a woman talking Sanskrit, and the other is a man who tries to sing soft and low. Now when a woman talks Sanskrit, she is like a heifer with a new rope through her nose; all you hear is "soo, soo, soo." And when a man tries to sing soft and low, he reminds me of an old priest muttering texts, while the flowers in his chaplet dry up. No, I don't like it!

CHARUDATTA: My friend, Master Rebhila sang most wonderfully this evening. And still you are not satisfied.

The notes of love, peace, sweetness, could I trace,
The note that thrills, the note of passion too,
The note of woman's loveliness and grace--
Ah, my poor words add nothing, nothing new!
But as the notes in sweetest cadence rang,
I thought it was my hidden love who sang.

The melody of song, the stricken strings
In undertone that half-unconscious clings,
More clearly sounding when the passions rise,
But ever sweeter as the music dies.
Words that strong passion fain would say again,
Yet checks their second utterance--in vain;
For music sweet as this lives on, until
I walk as hearing sweetest music still.

MAITREYA: But see, my friend! The very dogs are sound asleep in the shops that look out on the market. Let us go home. [*He looks before him.*] Look, look! The blessed moon seems to give place to darkness, as she descends from her palace in heaven.

CHARUDATTA: True.

The moon gives place to darkness as she dips
Behind the western mountain; and the tips
Of her uplifted horns alone appear,
Like two sharp-pointed tusks uplifted clear,
Where bathes an elephant in waters cool,
Who shows naught else above the jungle pool.

MAITREYA: Well, here is our house. Vardhamanaka, Vardhamanaka, open the door!

VARDHAMANAKA: I hear Maitreya's voice. Charudatta has returned. I must open the door for him. [*He does so.*] Master, I salute you. Maitreya, I salute you too. The couch is ready. Pray be seated. [*Charudatta and Maitreya enter and seat themselves.*]

MAITREYA: Vardhamanaka, call Radanika to wash our feet.

CHARUDATTA: [*Compassionately.*] She sleeps. Do not wake her.

VARDHAMANAKA: I will bring the water, Maitreya, and you may wash Charudatta's feet.

MAITREYA: [*Angrily.*] Look, man. He acts like the son of a slave that he is, for he is bringing water. But he makes me wash your feet, and I am a Brahmin.

CHARUDATTA: Good Maitreya, do you bring the water, and Vardhamanaka shall wash my feet.

VARDHAMANAKA: Yes, Maitreya. Do you bring the water. [*Maitreya does so. Vardhamanaka washes Charudatta's feet, then moves away.*]

CHARUDATTA: Let water be brought for the Brahmin's feet.

MAITREYA: What good does water do my feet? I shall have to roll in the dirt again, like a beaten ass.

VARDHAMANAKA: Maitreya, you are a Brahmin.

MAITREYA: Yes, like a slow-worm among all the other snakes, so am I a Brahmin among all the other Brahmins.

VARDHAMANAKA: Maitreya, I will wash your feet after all. [*He does so.*] Maitreya, this golden casket I was to keep by day, you by night. Take it. [*He gives it to Maitreya, then exit.*]

MAITREYA: [*Receiving the casket.*] The thing is here still. Isn't there a single thief in Ujjayini to steal the wretch that robs me of my sleep? Listen. I am going to take it into the inner court.

CHARUDATTA:

Such lax attention we can ill afford.
If we are trusted by a courtesan,
Then, Brahmin, prove yourself an honest man,
And guard it safely, till it be restored.

[*He nods, repeating the stanza "The melody of song, the stricken strings:" page 44.*]

MAITREYA: Are you going to sleep?

CHARUDATTA: Yes, so it seems.

For conquering sleep, descending on mine eyes,
First smites the brow with unresisted blow;
Unseen, elusive, like old age, she tries
To gather strength by weakening her foe.

MAITREYA: Then let's go to sleep. [*He does so.*]

[*Enter Sharvilaka.*]

SHARV:

I made an entrance for my body's round
By force of art and arms, a path to deeds!
I skinned my sides by crawling on the ground,
Like a snake that sloughs the skin no longer sound:
And now I go where my profession leads.

[*He gazes at the sky. Joyfully.*] See! The blessed moon is setting. For well I know,

My trade would fain from watchmen's eyes be shrouded;
Valiant, I force the dwelling of another.
But see, the stars in deepest dark are clouded,
And the night shields me like a careful mother.

I made a breach in the orchard wall and entered. And now I must force my way into the inner court as well.

Yes, let men call it vulgar, if they will,
The trade that thrives while sleeps the sleepyhead;
Yes, knavery, not bravery, call it still,
To overreach confiding folk a-bed.

Far better blame and hissing, fairly won.
Than the pay of genuflecting underlings;
This antique path was trod by Drona's son,
Who slew the sleeping, unsuspecting kings.

But where shall I make the breach?

Where is the spot which falling drops decayed?
For each betraying sound is deadened there.
No yawning breach should in the walls be made,
So treatises on robbery declare.
Where does the palace crumble? Where the place
That niter-eaten bricks false soundness wear?
Where shall I 'scape the sight of woman's face?
Fulfilment of my wishes waits me there.

[*He feels the wall.*] Here is a spot weakened by constant sun and sprinkling and eaten by saltpeter rot. And here is a pile of dirt thrown up by a mouse. Now heaven be praised! My venture prospers. This is the first sign of success for Skanda's sons. Now first of all, how shall I make the breach? The blessed Bearer of the Golden Lance has prescribed four varieties of breach, thus: if the bricks are baked, pull them out; if they are unbaked, cut them; if they are made of earth, wet them; if they are made of wood, split them. Here we have baked bricks; ergo, pull out the bricks.

Now what shall be the shape I give the breach?
A "lotus," "cistern," "crescent moon," or "sun"?
"Oblong," or "cross," or "bulging pot"? for each
The treatises permit. Which one? which one?
And where shall I display my sovereign skill,
That in the morning men may wonder still?

In this wall of baked bricks, the "bulging pot" would be effective. I will make that.

At other walls that I have pierced by night,
And at my less successful ventures too,
The crowd of neighbors gazed by morning light,
Assigning praise or blame, as was my due.

Praise to the boon-conferring god, to Skanda of immortal youth! Praise to him, the Bearer of the Golden Lance, the Brahmin's god, the pious! Praise to him, the Child of the Sun! Praise to him, the teacher of magic, whose first pupil I am! For he found pleasure in me and gave me magic ointment,

With which so I anointed be,
No watchman's eye my form shall see;
And edged sword that falls on me
From cruel wounds shall leave me free.

[*He anoints himself.*] Alas, I have forgotten my measuring line. [*Reflecting.*] Aha! This sacred cord shall be my measuring line. Yes, the sacred cord is a great blessing to a Brahmin, especially to one like me. For, you see,

With this he measures, ere he pierce a wall,
And picks the lock, when jewels are at stake.
It serves as key to bolted door and hall,
As tourniquet for bite of worm and snake.

The measuring is done. I begin my task. [*He does so, then takes a look.*] My breach lacks but a single brick. Alas, I am bitten by a snake. [*He binds his finger with the sacred cord, and manifests the workings of poison.*] I have applied the remedy, and now I am restored. [*He continues his work, then gazes.*] Ah, there burns a candle. See!

Though jealous darkness hems it round,
The golden-yellow candle from its place
Shines through the breach upon the ground,
Like a streak of gold upon the touchstone's face.

[*He returns to his work.*] The breach is finished. Good! I enter. But no, I will not enter yet. I will shove a dummy in. [*He does so.*] Ah, no one is there. Praise be to Skanda! [*He enters and looks about.*] See! Two men asleep. Come, for my own protection I will open the door. But the house is old and the door squeaks. I must look for water. Now where might water be? [*He looks about, finds water, and sprinkles the door. Anxiously.*] I hope it will not fall upon the floor and make a noise. Come, this is the way. [*He puts his back against the door and opens it cautiously.*] Good! So much for that. Now I must discover whether these two are feigning sleep, or whether they are asleep in the fullest meaning of the term. [*He tries to terrify them, and notes the effect.*] Yes, they must be asleep in the fullest meaning of the term. For see!

Their breath first calmly rises, ere it sink;
Its regularity all fear defies.
Unmoving in their socket-holes, the eyes
Are tightly closed, and never seem to wink.
The limbs relaxed, at ease the bodies lie,
I see their feet beyond the bedstead peep,
The lighted candle vexes not the eye;
It would, if they were only feigning sleep.

[*He looks about him.*] What! a drum? And here is a flute. And here, a snare-drum. And here, a lute. And reed-pipes. And yonder, manuscripts. Is this the house of a dancing-master? But no! When I entered, I was convinced that this was a palatial residence. Now then, is this man poor in the fullest meaning of the term, or, from fear of the king or of thieves, does he keep his property buried? Well, my own property is buried, too. But I will scatter the seeds that betray subterranean gold. [*He does so.*] The scattered seeds nowhere swell up. Ah, he is poor in the fullest meaning of the term. Good! I go.

MAITREYA: [*Talking in his sleep.*] Look, man. I see something like a hole in the wall. I see something like a thief. You had better take this golden casket.

SHARVILAKA: I wonder if the man has discovered that I have entered, and is showing off his poverty in order to make fun of me. Shall I kill him, or is the poor devil talking in his sleep? [*He takes a look.*] But see! This thing wrapped in a ragged bath-clout, now that I inspect it by the light of my candle, is in truth a jewel-casket. Suppose I take it. But no! It is hardly proper to rob a man of good birth, who is as poor as I am. I go.

MAITREYA: My friend, by the wishes of cows and Brahmins I conjure you to take this golden casket.

SHARVILAKA: One may not disregard the sacred wish of a cow and the wish of a Brahmin. I will take it. But look! There burns the candle. I keep about me a moth for the express purpose of extinguishing candles. I will let him enter the flame. This is his place and hour. May this moth which I here release, depart to flutter above the flame in varying circles. The breeze from the insect's wings has translated the flame into accursed darkness. Or shall I not rather curse the darkness brought by me upon my Brahmanic family? For my father was a man who knew the four Vedas, who would not accept a gift; and I, Sharvilaka, his son, and a Brahmin, I am committing a crime for the sake of that courtesan girl Madanika. Now I will grant the Brahmin's wish. [*He reaches out for the casket.*]

MAITREYA: How cold your fingers are, man!

SHARVILAKA: What carelessness! My fingers are cold from touching water. Well, I will put my hand in my armpit [*He warms his left hand and takes the casket.*]

MAITREYA: Have you got it?

SHARVILAKA: I could not refuse a Brahmin's request. I have it.

MAITREYA: Now I shall sleep as peacefully as a merchant who has sold his wares.

SHARVILAKA: O great Brahmin, sleep a hundred years! Alas that a Brahmin family should thus be plunged in darkness for the sake of Madanika, a courtesan! Or better, I myself am thus plunged in darkness.

A curse on poverty, I say!
'T is stranger to the manly will;
This act that shuns the light of day
I curse indeed, but do it still.

Well then, I must go to Vasantasena's house to buy Madanika's freedom. [*He walks about and looks around him.*] Ah, I think I hear footsteps. I hope they are not those of policemen. Never mind. I will pretend to be a pillar, and wait. But after all, do policemen exist for me, for Sharvilaka? Why, I am

A cat for crawling, and a deer for flight,
 A hawk for rending, and a dog for sight
 To judge the strength of men that wake or sleep,
 A snake, when 't is advisable to creep,
 Illusion's self, to seem a saint or rogue,
 Goddess of Speech in understanding brogue;
 A light in blackest night, in holes a lizard I can be,
 A horse on terra firma, and a ship upon the sea.

And again:

Quick as a snake, and steady as a hill;
 In flight the prince of birds can show no greater skill;
 In searching on the ground I am as keen as any hare,
 In strength I am a lion, and a wolf to rend and tear.

RADANIKA: [*Entering.*] Dear me! Vardhamanaka went to sleep in the outer court, and now he is not there. Well, I will call Maitreya. [*She walks about.*]

SHARVILAKA: [*Prepares to strike down Radanika, but first takes a look.*] What! a woman? Good! I go. [*Exit.*]

RADANIKA: [*Recoiling in terror.*] Oh, oh, a thief has cut a hole in the wall of our house and is escaping, I must go and wake Maitreya. [*She approaches Maitreya.*] Oh, Maitreya, get up, get up! A thief has cut a hole in the wall of our house and has escaped.

MAITREYA: [*Rising.*] What do you mean, wench? "A hole in the wall has cut a thief and has escaped"?

RADANIKA: Poor fool! Stop your joking. Don't you see it?

MAITREYA: What do you mean, wench? "It looks as if a second door had been thrown open"? Get up, friend Charudatta, get up! A thief has made a hole in the wall of our house and has escaped.

CHARUDATTA: Yes, yes! A truce to your jests!

MAITREYA: But it isn't a jest. Look!

CHARUDATTA: Where?

MAITREYA: Why, here.

CHARUDATTA: [*Gazing.*] What a very remarkable hole!

The bricks are drawn away below, above;
 The top is narrow, but the center wide;
 As if the great house-heart had burst with pride,
 Fearing lest the unworthy share its love.

To think that science should be expended on a task like this!

MAITREYA: My friend, this hole must have been made by one of two men; either by a stranger, or else for practice by a student of the science of robbery. For what man here in Ujjayini does not know how much wealth there is in our house?

CHARUDATTA:

Stranger he must have been who made the breach,
 His customed harvest in my house to reap;
 He has not learned that vanished riches teach
 A calm, untroubled sleep.

He saw the sometime greatness of my home
 And forced an entrance; for his heart did leap
 With short-lived hope; now he must elsewhere roam,
 And over broken hopes must sorely weep.

Just think of the poor fellow telling his friends: "I entered the house of a merchant's son, and found--nothing."

MAITREYA: Do you mean to say that you pity the rascally robber? Thinks he--"Here's a great house. Here's the place to carry off a jewel-casket or a gold-casket." [*He remembers the casket. Despondently. Aside.*] Where is that golden casket? [*He remembers the events of the night. Aloud.*] Look, man! You are always saying "Maitreya is a fool, Maitreya is no scholar." But I certainly acted wisely in handing over that golden casket to you. If I hadn't, the son of a slave would have carried it off.

CHARUDATTA: A truce to your jests!

MAITREYA: Just because I'm a fool, do you suppose I don't even know the place and time for a jest?

CHARUDATTA: But when did this happen?

MAITREYA: Why, when I told you that your fingers were cold.

CHARUDATTA: It might have been. [*He searches about. Joyfully.*] My friend, I have something pleasant to tell you.

MAITREYA: What? Wasn't it stolen?

CHARUDATTA: Yes.

MAITREYA: What is the pleasant news, then?

CHARUDATTA: The fact that he did not go away disappointed.

MAITREYA: But it was only entrusted to our care.

CHARUDATTA: What! entrusted to our care? [*He swoons.*]

MAITREYA: Come to yourself, man. Is the fact that a thief stole what was entrusted to you, any reason why you should swoon?

CHARUDATTA: [*Coming to himself.*] Ah, my friend,

Who will believe the truth?
 Suspicion now is sure.
 This world will show no ruth
 To the inglorious poor.

Alas! If envious fate before Has wooed my wealth alone. Why should she seek my store Of virtue as her own? 25

MAITREYA: I intend to deny the whole thing. Who gave anybody anything? who received anything from anybody? who was a witness?

CHARUDATTA: And shall I tell a falsehood now?

No! I will beg until I earn
The wherewithal my debt to pay.
Ignoble falsehood I will spurn.
That steals the character away.

RADANIKA: I will go and tell his good wife. [*She goes out, returning with Charudatta's wife.*]

CHARUDATTA'S WIFE: [*Anxiously.*] Oh! Is it true that my lord is uninjured, and Maitreya too?

RADANIKA: It is true, mistress. But the gems which belong to the courtesan have been stolen. [*Charudatta's wife swoons.*] O my good mistress! Come to yourself!

CHARUDATTA'S WIFE: [*Recovering.*] Girl, how can you say that my lord is uninjured? Better that he were injured in body than in character. For now the people of Ujjayini will say that my lord committed this crime because of his poverty. [*She looks up and sighs.*] Ah, mighty Fate! The destinies of the poor, uncertain as the water-drops which fall upon a lotus-leaf, seem to thee but playthings. There remains to me this one necklace, which I brought with me from my mother's house. But my lord would be too proud to accept it. Girl, call Maitreya hither.

RADANIKA: Yes, mistress. [*She approaches Maitreya.*] Maitreya, my lady summons you.

MAITREYA: Where is she?

RADANIKA: Here. Come!

MAITREYA: [*Approaching.*] Heaven bless you!

CHARUDATTA'S WIFE: I salute you, sir. Sir, will you look straight in front of you?

MAITREYA: Madam, here stands a man who looks straight in front of him.

CHARUDATTA'S WIFE: Sir, you must accept this.

MAITREYA: Why?

CHARUDATTA'S WIFE: I have observed the Ceremony of the Gems. And on this occasion one must make as great a present as one may to a Brahmin. This I have not done, therefore pray accept this necklace.

MAITREYA: [*Receiving the necklace.*] Heaven bless you! I will go and tell my friend.

CHARUDATTA'S WIFE: You must not do it in such a way as to make me blush, Maitreya. [*Exit.*]

MAITREYA: [*In astonishment.*] What generosity!

CHARUDATTA: How Maitreya lingers! I trust his grief is not leading him to do what he ought not. Maitreya, Maitreya!

MAITREYA: [*Approaching.*] Here I am. Take that. [*He displays the necklace.*]

CHARUDATTA: What is this?

MAITREYA: Why, that is the reward you get for marrying such a wife.

CHARUDATTA: What! my wife takes pity on me? Alas, now am I poor indeed!

When fate so robs him of his all,
That on her pity he must call,
The man to woman's state doth fall,
The woman is the man.

But no, I am not poor. For I have a wife

Whose love outlasts my wealthy day;
In thee a friend through good and ill;
And truth that naught could take away:
Ah! this the poor man lacketh still.

Maitreya, take the necklace and go to Vasantasena. Tell her in my name that we have gambled away the golden casket, forgetting that it was not our own, that we trust she will accept this necklace in its place.

MAITREYA: But you must not give away this necklace, the pride of the four seas, for that cheap thing that was stolen before we had a bite or a drink out of it.

CHARUDATTA: Not so, my friend.

She showed her trust in leaving us her treasure;
The price of confidence has no less measure.

Friend, I conjure you by this gesture, not to return until you have delivered it into her hands. Vardhamanaka, do you speedily

Fill up the opening with the selfsame bricks;
Thus will I thwart the process of the law,
For the blemish of so great a scandal sticks.

And, friend Maitreya, you must show your pride by not speaking too despondently.

MAITREYA: How can a poor man help speaking despondently?

CHARUDATTA: Poor I am not, my friend. For I have a wife

Whose love outlasts my wealthy day;
In thee a friend through good and ill;
And truth that naught could take away:
Ah, this the poor man lacketh still.

Go then, and after performing rites of purification, I will offer my morning prayer. [*Exeunt omnes.*]

ACT THE FOURTH

MADANIKA AND SHARVILAKA

[Enter a maid.]

MAID:

I am entrusted with a message for my mistress by her mother. Here is my mistress. She is gazing at a picture and is talking with Madanika. I will go to her. [*She walks about. Then enter Vasantasena as described, and Madanika.*]

VASANTASENA: Madanika girl, is this portrait really like Charudatta?

MADANIKA: Very like.

VASANTASENA: How do you know?

MADANIKA: Because my mistress' eyes are fastened so lovingly upon it.

VASANTASENA: Madanika girl, do you say this because courtesan courtesy demands it?

MADANIKA: But mistress, is the courtesy of a girl who lives in a courtesan's house, necessarily false?

VASANTASENA: Girl, courtesans meet so many kinds of men that they do learn a false courtesy.

MADANIKA: But when the eyes of my mistress find such delight in a thing, and her heart too, what need is there to ask the reason?

VASANTASENA: But I should not like to have my friends laugh at me.

MADANIKA: You need not be afraid. Women understand women.

MAID: [*Approaching.*] Mistress, your mother sends word that a covered cart is waiting at the side-door, and that you are to take a drive.

VASANTASENA: Tell me, is it Charudatta who invites me?

MAID: Mistress, the man who sent ornaments worth ten thousand gold-pieces with the cart--

VASANTASENA: Is who?

MAID: Is the king's brother-in-law, Sansthanaka.

VASANTASENA: [*Indignantly.*] Go! and never come again on such an errand.

MAID: Do not be angry, mistress. I was only sent with the message.

VASANTASENA: But it is the message which makes me angry.

MAID: But what shall I tell your mother?

VASANTASENA: Tell my mother never to send me another such message, unless she wishes to kill me.

MAID: As you will. [*Exit.*] [*<Enter Sharvilaka.*]

SHARV:

Blame for my sin I laid upon the night;
I conquered sleep and watchmen of the king;
But darkness wanes, and in the sun's clear light
My light is like the moon's--a faded thing.

And again:

Whoever cast at me a passing look,
Or neared me, anxious, as they quickly ran,
All such my laden soul for foes mistook;
For sin it was wherein man's fear began.

Well, it was for Madanika's sake that I did the deed of sin.

I paid no heed to any one who talked with serving-men;
The houses ruled by women-folk--these I avoided most;
And when policemen seemed to have me almost in their ken,
I stood stock-still and acted just exactly like a post.
A hundred such manoeuvres did I constantly essay,
And by such means succeeded in turning night to day.

[*He walks about.*]

VASANTASENA: Girl, lay this picture on my sofa and come back at once with a fan.

MADANIKA: Yes, mistress. [*Exit with the picture.*]

SHARVILAKA: This is Vasantasena's house. I will enter. [*He does so.*]

I wonder where I can find Madanika. [*Enter Madanika with the fan. Sharvilaka discovers her.*] Ah, it is Madanika.

Surpassing Madana himself in charm,
She seems the bride of Love, in human guise;
Even while my heart the flames of passion harm,
She brings a sandal coolness to my eyes.

Madanika!

MADANIKA: [*Discovers Sharvilaka.*] Oh, oh, oh, Sharvilaka! I am so glad, Sharvilaka. Where have you been?

SHARVILAKA: I will tell you. [*They gaze at each other passionately.*]

VASANTASENA: How Madanika lingers! I wonder where she is. [*She looks through a bull's-eye window.*] Why, there she stands, talking with a man. Her loving glance does not waver, and she gazes as if she would drink him in. I imagine he must be the man who wishes to make her free. Well, let her stay, let her stay. Never interrupt anybody's happiness. I will not call her.

MADANIKA: Tell me, Sharvilaka. [*Sharvilaka looks about him uneasily.*] What is it, Sharvilaka? You seem uneasy.

SHARVILAKA: I will tell you a secret. Are we alone?

MADANIKA: Of course we are.

VASANTASENA: What! a deep secret? I will not listen.

SHARVILAKA: Tell me, Madanika. Will Vasantasena take a price for your freedom?

VASANTASENA: The conversation has to do with me? Then I will hide behind this window and listen.

MADANIKA: I asked my mistress about it, Sharvilaka, and she said that if she could have *her* way, she would free all her servants for nothing. But Sharvilaka, where did you find such a fortune that you can think of buying my freedom from my mistress?

SHARVILAKA:

A victim to my pauper plight,
And your sweet love to win,
For you, my timid maid, last night
I did the deed of sin.

VASANTASENA: His face is tranquil. It would be troubled, if he had sinned.

MADANIKA: Oh, Sharvilaka! For a mere nothing--for a woman--you have risked both things!

SHARVILAKA: What things?

MADANIKA: Your life and your character.

SHARVILAKA: My foolish girl, fortune favors the brave.

MADANIKA: Oh, Sharvilaka! Your character was without a stain. You didn't do anything *very* bad, did you, when for my sake you did the deed of sin?

SHARV:

The gems that magnify a woman's charm,
As flowers the creeping plant, I do not harm.
I do not rob the Brahmin of his pelf,
Nor seize the sacrificial gold myself.
I do not steal the baby from the nurse,
Simply because I need to fill my purse.
Even as a thief, I strive with main and might
For just distinction 'twixt the wrong and right.

And so you may tell Vasantasena this:

These ornaments were made for you to don,
Or so it seems to me;
But as you love me, never put them on
Where other folks may see.

MADANIKA: But Sharvilaka, ornaments that nobody may see, and a courtesan--the two things do not hang together. Give me the jewels. I want to see them.

SHARVILAKA: Here they are. [*He gives them to her with some uneasiness.*]

MADANIKA: [*Examining the jewels.*] It seems to me I have seen these before. Tell me. Where did you get them?

SHARVILAKA: What does that matter to you, Madanika? Take them.

MADANIKA: [*Angrily.*] If you can't trust me, why do you wish to buy my freedom?

SHARVILAKA: Well, this morning I heard in the merchants' quarter that the merchant Charudatta--

[*Vasantasena and Madanika swoon.*]

SHARVILAKA: Madanika! Come to yourself! Why is it that now

Your figure seems to melt in limp despair,
Your eyes are wildly rolling here and there?
That when I come, sweet girl, to make you free,
You fall to trembling, not to pitying me?

MADANIKA: [*Coming to herself.*] O you reckless man! When you did what you ought not to have done for my sake, you didn't kill anybody or hurt anybody in that house?

SHARVILAKA: Madanika, Sharvilaka does not strike a terrified man or a man asleep. I did not kill anybody nor hurt anybody.

MADANIKA: Really?

SHARVILAKA: Really.

VASANTASENA: [*Recovering consciousness.*] Ah, I breathe again.

MADANIKA: Thank heaven!

SHARVILAKA: [*Jealously.*] What does this "Thank heaven" mean, Madanika?

I sinned for you, when love had made me pine,
Although my house was good since time began;
Love took my virtue, but my pride is mine.
You call me friend and love another man?

[*Meaningly.*]

A noble youth is like a goodly tree;
His wealth, the fruit so fair;
The courtesan is like a bird; for she
Pecks him and leaves him bare.
Love is a fire, whose flame is lust,
Whose fuel is gallantry,

Wherein our youth and riches must
Thus sacrificed be.

VASANTASENA: [*With a smile.*] His excitement is a little out of place.

SHARVILAKA: Yes!

Those men are fools, it seems to me,
Who trust to women or to gold;
For gold and girls, 'tis plain to see.
Are false as virgin snakes and cold.

Love not a woman; if you ever do,
She mocks at you, and plays the gay deceiver:
Yet if she loves you, you may love her too;
But if she doesn't, leave her.

Too true it is that

A courtesan will laugh and cry for gold;
She trusts you not, but waits your trustful hour.
If virtue and a name are yours, then hold!
Avoid her as you would a graveyard flower.

And again:

As fickle as the billows of the sea,
Glowing no longer than the evening sky,
A woman takes your gold, then leaves you free;
You're worthless, like cosmetics, when you're dry.

Yes, women are indeed fickle.

One man perhaps may hold her heart in trust,
She lures another with coquettish eyes,
Sports with another in unseemly lust,
Another yet her body satisfies.

As some one has well said:

On mountain-tops no lotuses are grown;
The horse's yoke no ass will ever bear;
Rice never springs from seeds of barley sown;
A courtesan is not an honest fair.

Accursed Charudatta, you shall not live! [*He takes a few steps.*]

MADANIKA: [*Seizing the hem of his garment.*] O you foolish man! Your anger is so ridiculous.

SHARVILAKA: Ridiculous? how so?

MADANIKA: Because these jewels belong to my mistress.

SHARVILAKA: And what then?

MADANIKA: And she left them with that gentleman.

SHARVILAKA: What for?

MADANIKA: [*Whispers.*] That's why.

SHARVILAKA: [*Sheepishly.*] Confound it!

The sun was hot one summer day;
I sought the shadow, there to stay:
Poor fool! the kindly branch to pay,
I stole its sheltering leaves away.

VASANTASENA: How sorry he seems. Surely, he did this thing in ignorance.

SHARVILAKA: What is to be done now, Madanika?

MADANIKA: Your own wit should tell you that.

SHARVILAKA: No. For you must remember,

Nature herself gives women wit;
Men learn from books a little bit.

MADANIKA: Sharvilaka, if you will take my advice, restore the jewels to that righteous man.

SHARVILAKA: But Madanika, what if he should prosecute me?

MADANIKA: No cruel heat comes from the moon.

VASANTASENA: Good, Madanika, good!

SHARVILAKA: Madanika,

For what I did, I feel no grief nor fear:
Why tell me of this good man's virtues high?
Shame for my baseness touches me more near;
What can this king do to such rogues as I?

Nevertheless, your suggestion is inconsistent with prudence. You must discover some other plan.

MADANIKA: Yes, there is another plan.

VASANTASENA: I wonder what it will be.

MADANIKA: Pretend to be a servant of that gentleman, and give the jewels to my mistress.

SHARVILAKA: And what then?

MADANIKA: Then you are no thief, Charudatta has discharged his obligation, and my mistress has her jewels.

SHARVILAKA: But isn't this course too reckless?

MADANIKA: I tell you, give them to her. Any other course is too reckless.

VASANTASENA: Good, Madanika, good! Spoken like a free woman.

SHARVILAKA:

Risen at last is wisdom's light.
Because I followed after you;
When clouds obscure the moon by night,
'Tis hard to find a guide so true.

MADANIKA: Then you must wait here a moment in Kama's shrine, while I tell my mistress that you have come.

SHARVILAKA: I will.

MADANIKA: [*Approaches Vasantasena.*] Mistress, a Brahmin has come from Charudatta to see you.

VASANTASENA: But girl, how do you know that he comes from Charudatta?

MADANIKA: Should I not know my own, mistress?

VASANTASENA: [*Shaking her head and smiling. Aside.*] Splendid! [*Aloud.*] Bid him enter.

MADANIKA: Yes, mistress. [*Approaching Sharvilaka.*] Enter, Sharvilaka.

SHARVILAKA: [*Approaches. With some embarrassment.*] My greetings to you.

VASANTASENA: I salute you, sir. Pray be seated.

SHARVILAKA: The merchant sends this message: "My house is so old that it is hard to keep this casket safe. Pray take it back."
[*He gives it to Madanika, and starts to leave.*]

VASANTASENA: Sir, will you undertake a return commission of mine?

SHARVILAKA: [*Aside.*] Who will carry it? [*Aloud.*] And this commission is--

VASANTASENA: You will be good enough to accept Madanika.

SHARVILAKA: Madam, I do not quite understand.

VASANTASENA: But I do.

SHARVILAKA: How so?

VASANTASENA: Charudatta told me that I was to give Madanika to the man who should return these jewels. You are therefore to understand that he makes you a present of her.

SHARVILAKA: [*Aside.*] Ah, she sees through me. [*Aloud.*] Good, Charudatta, good!

On virtue only set your heart's desire;
The righteous poor attain to heights whereto
The wicked wealthy never may aspire.

And again:

On virtue let the human heart be set;
To virtue nothing serves as check or let
The moon, attaining unattainable, is led
By virtue to her seat on Shiva's head.

VASANTASENA: Is my driver there? [*Enter a servant with a bullock-cart.*]

SERVANT: Mistress, the cart is ready.

VASANTASENA: Madanika girl, you must show me a happy face. You are free. Enter the bullock-cart. But do not forget me.

MADANIKA: [*Weeping.*] My mistress drives me away. [*She falls at her feet.*]

VASANTASENA: You are now the one to whom honor should be paid. Go then, enter the cart. But do not forget me.

SHARVILAKA: Heaven bless you! and you, Madanika,

Turn upon her a happy face,
And hail with bended head the grace
That gives you now the name of wife.
As a veil to keep you safe through life.

[*He enters the bullock-cart with Madanika, and starts away.*]

VOICE OFFSTAGE: Men! Men! We have the following orders from the chief of police: "A soothsayer has declared that a young herdsman named Aryaka is to become king. Trusting to this prophecy, and alarmed thereat, King Palaka has taken him from his hamlet, and thrown him into strict confinement. Therefore be watchful, and every man at his post."

SHARVILAKA: [*Listening.*] What! King Palaka has imprisoned my good friend Aryaka? And here I am, a married man. Confound it! But no,

Two things alone--his friend, his wife--
Deserve man's love below;
A hundred brides may forfeit life
Ere he should suffer so.

Good! I will get out [*He does so.*]

MADANIKA: [*Folding her hands. Tearfully.*] My lord, if you must, at least bring me first to your parents.

SHARVILAKA: Yes, my love. I will. I had the same thought in mind. [*To the servant.*] My good fellow, do you know the house of the merchant Rebhila?

SERVANT: Certainly.

SHARVILAKA: Bring my wife thither.

SERVANT: Yes, sir.

Madanika. If you desire it, dear. But dear, you must be very careful. [*Exit.*]

SHARVILAKA: Now as for me,

I'll rouse my kin, the kitchen cabinet.
Those high in fame by strength of good right arm,
And those who with the king's contempt have met,
And royal slaves, to save my friend from harm:
Like old Yaugandharayana
For the good king Udayana.

And again:

My friend has causeless been confined
By wicked foes of timid kind;
I fly, I fly to free him soon,
Like the eclipse-oppressed moon. *[Exit.]*

MAID: *[Entering.]* Mistress, I congratulate you. A Brahmin has come with a message from Charudatta.

VASANTASENA: Ah, this is a joyful day. Show him every mark of respect, girl, and have him conducted hither by one of the pages.

MAID: Yes, mistress. *[Exit.]*

[Enter Maitreya with a page.]

MAITREYA: Well! Ravana, the king of the demons, travels with his chariot that they call the "Blossom." He earned it by his penances. Now I am a Brahmin, and though I never performed any penances, I travel with another sort of a blossom--a woman of the town.

MAID: Sir, will you inspect our gateway.

MAITREYA: *[Gazes admiringly.]* It has just been sprinkled and cleaned and received a coat of green. The threshold of it is pretty as a picture with the offerings of all sorts of fragrant flowers. It stretches up its head as if it wanted to peep into the sky. It is adorned with strings of jasmine garlands that hang down and toss about like the trunk of the heavenly elephant. It shines with its high ivory portal. It is lovely with any number of holiday banners that gleam red as great rubies and wave their coquettish fingers as they flutter in the breeze and seem to invite me to enter. Both sides are decorated with holiday water-jars of crystal, which are charming with their bright-green mango twigs, and are set at the foot of the pillars that sustain the portal. The doors are of gold, thickly set with diamonds as hard to pierce as a giant's breast. It actually wearies a poor devil's envy. Yes, Vasantasena's house-door is a beautiful thing. Really, it forcibly challenges the attention of a man who doesn't care about such things.

MAID: Come, sir, and enter the first court.

MAITREYA: *[Enters and looks about.]* Well! Here in the first court are rows of balconies brilliant as the moon, or as sea-shells, or as lotus-stalks; whitened by handfuls of powder strewn over them; gleaming with golden stairways inlaid with all sorts of gems: they seem to gaze down on Ujjayini with their round faces, the crystal windows, from which strings of pearls are dangling. The porter sits there and snoozes as comfortably as a professor. The crows which they tempt with rice-gruel and curdled milk will not eat the offering, because they can't distinguish it from the mortar. Show me the way, madam.

MAID: Come, sir, and enter the second court.

MAITREYA: *[Enters and looks about.]* Well! Here in the second court the cart-bullocks are tied. They grow fat on mouthfuls of grass and pulse-stalks which are brought them, right and left, by everybody. Their horns are smeared with oil. And here is another, a buffalo, snorting like a gentleman insulted. And here is a ram having his neck rubbed, like a prize-fighter after the fight. And here are others, horses having their manes put in shape. And here in a stall is another, a monkey, tied fast like a thief. *[He looks in another direction.]* And here is an elephant, taking from his drivers a cake of rice and drippings and oil. Show me the way, madam.

MAID: Come, sir, and enter the third court.

MAITREYA: *[Enters and looks about.]* Well! Here in the third court are these seats, prepared for young gentlemen to sit on. A half-read book is lying on the gaming-table. And the table itself has its own dice, made out of gems. And here, again, are courtesans and old hangers-on at court, past masters in the war and peace of love, wandering about and holding in their fingers pictures painted in many colors. Show me the way, madam.

MAID: Come, sir, and enter the fourth court.

MAITREYA: *[Enters and looks about.]* Well! Here in the fourth court the drums that maiden fingers beat are booming like the thunder; the cymbals are falling, as the stars fall from heaven when their merit is exhausted; the pipe is discoursing music as sweet as the humming of bees. And here, again, is a lute that somebody is holding on his lap like a girl who is excited by jealousy and love, and he is stroking it with his fingers. And here, again, are courtesan girls that sing as charmingly as honey-drunken bees, and they are made to dance and recite a drama with love in it. And water-coolers are hanging in the windows so as to catch the breeze. Show me the way, madam.

MAID: Come, sir, and enter the fifth court.

MAITREYA: *[Enters and looks about.]* Well! Here in the fifth court the overpowering smell of asafetida and oil is attractive enough to make a poor devil's mouth water. The kitchen is kept hot all the time, and the gusts of steam, laden with all sorts of good smells, seem like sighs issuing from its mouth-like doors. The smell of the preparation of all kinds of foods and sauces makes me smack my lips. And here, again, is a butcher's boy washing a mess of chitterlings as if it were an old loin-cloth. The cook is preparing every kind of food. Sweetmeats are being constructed, cakes are being baked. *[To himself:]* I wonder if I am to get a chance to wash my feet and an invitation to eat what I can hold. *[He looks in another direction.]* There are courtesans and bastard pages, adorned with any number of jewels, just like Gandharvas and Apsarases. Really, this house is heaven. Tell me, who are you bastards anyway?

PAGES: Why, we are bastard pages--

Petted in a stranger's court.
Fed on stranger's food,
Stranger's money makes us sport--
Not so very good.
Stranger women gave us birth.
Stranger men begot;

Baby elephants in mirth,
We're a bastard lot.

MAITREYA: Show me the way, madam.

MAID: Come, sir, and enter the sixth court.

MAITREYA: [*Enters and looks about.*] Well! Here in the sixth court they are working in gold and jewels. The arches set with sapphires look as if they were the home of the rainbow. The jewelers are testing the lapis lazuli, the pearls, the corals, the topazes, the sapphires, the cat's-eyes, the rubies, the emeralds, and all the other kinds of gems. Rubies are being set in gold. Golden ornaments are being fashioned. Pearls are being strung on a red cord. Pieces of lapis lazuli are being cleverly polished. Shells are being pierced. Corals are being ground. Wet bundles of saffron are being dried. Musk is being moistened. Sandalwood is being ground to make sandal-water. Perfumes are being compounded. Betel-leaves and camphor are being given to courtesans and their lovers. Coquettish glances are being exchanged. Laughter is going on. Wine is being drunk incessantly with sounds of glee. Here are men-servants, here are maid-servants, and here are men who forget child and wife and money. When the courtesans, who have drunk the wine from the liquor-jars, give them the mitten, they--drink. Show me the way, madam.

MAID: Come, sir, and enter the seventh court.

MAITREYA: [*Enters and looks about.*] Well! Here in the seventh court the mated doves are sitting comfortably in their snug dove-cotes, billing and cooing and nothing else, and perfectly happy. And there is a parrot in a cage, chanting like a Brahmin with a bellyful of curdled milk and rice. And here, again, is a talking thrush, chattering like a housemaid who spreads herself because somebody noticed her. A cuckoo, her throat still happy from tasting all sorts of fruit-syrups, is cooing like a procuress. Rows of cages are hanging from pegs. Quails are being egged on to fight. Partridges are being made to talk. Caged pigeons are being provoked. A tame peacock that looks as if he was adorned with all sorts of gems is dancing happily about, and as he flaps his wings, he seems to be fanning the roof which is distressed by the rays of the sun. [*He looks in another direction.*] Here are pairs of flamingos like moonbeams rolled into a ball, that wander about after pretty girls, as if they wanted to learn how to walk gracefully. And here, again, are tame cranes, walking around like ancient eunuchs. Well, well! This courtesan keeps a regular menagerie of birds. Really, the courtesan's house seems to me like Indra's heaven. Show me the way, madam.

MAID: Come, sir, and enter the eighth court.

MAITREYA: [*Enters and looks about.*] Madam, who is this in the silk cloak, adorned with such astonishingly tautologous ornaments, who wanders about, stumbling and stretching his limbs?

MAID: Sir, this is my mistress' brother.

MAITREYA: What sort of ascetic exercises does a man have to perform, in order to be born as Vasantasena's brother? But no,

He may be shiny, may be greasy,
And perfumed may he be.
And yet I warn you to go easy;
He's a graveyard champak-tree.

[*He looks in another direction.*] But madam, who is that in the expansive garment, sitting on the throne? She has shoes on her greasy feet.

MAID: Sir, that is my mistress' mother.

MAITREYA: Lord! What an extensive belly the dirty old witch has got! I suppose they couldn't put that superb portal on the house till after they had brought the idol in?

MAID: Rascal! You must not make fun of our mother so. She is pining away under a quartan ague.

MAITREYA: [*Bursts out laughing.*] O thou blessed quartan ague! Look thou upon a Brahmin, even upon me, with this thy favor!

MAID: Rascal! May death strike you.

MAITREYA: [*Bursts out laughing.*] Why, wench, a pot-belly like that is better dead.

Drinking brandy, rum, and wine,
Mother fell extremely ill.
If mother now should peak and pine,
A jackal-pack would have its fill.

Well, I have seen Vasantasena's palace with its many incidents and its eight courts, and really, it seems as if I had seen the triple heaven in a nut-shell. I haven't the eloquence to praise it. Is this the house of a courtesan, or a piece of Kubera's palace? Where's your mistress?

MAID: She is here in the orchard. Enter, sir.

MAITREYA: [*Enters and looks about.*] Well! What a beautiful orchard! There are any number of trees planted here, and they are covered with the most wonderful flowers. Silken swings are hung under the thick-set trees, just big enough for a girl to sit in. The golden jasmine, the shephalika, the white jasmine, the jessamine, the navamallika, the amaranth, the spring creeper, and all the other flowers have fallen of themselves, and really, it makes Indra's heaven look dingy. [*He looks in another direction.*] And the pond here looks like the morning twilight, for the lilies and red lotuses are as splendid as the rising sun. And again:

The ashoka-tree, whose twigs so merry
And crimson flowers have just appeared,
Seems like a battling mercenary,
With clotting crimson gore besmeared.

Good! Now where's your mistress?

MAID: If you would stop star-gazing, sir, you would see her.

MAITREYA: [*Perceives Vasantasena and approaches.*] Heaven bless you!

VASANTASENA: [*Speaking in Sanskrit.*] Ah, Maitreya! [*Rising.*] You are very welcome. Here is a seat. Pray be seated.

MAITREYA: When you are seated, madam. [*They both seat themselves.*]

VASANTASENA: Is the merchant's son well?

MAITREYA: Well, madam.

VASANTASENA: Tell me, good Maitreya,

Do friends, like birds, yet seek a shelter free
Beneath the modest boughs of this fair tree,
Whose leaves are virtues, confidence its root,
Its blossoms honor, good its precious fruit?

MAITREYA: [*Aside.*] A good description by a naughty woman. [*Aloud.*] They do, indeed.

VASANTASENA: Tell me, what is the purpose of your coming?

MAITREYA: Listen, madam. The excellent Charudatta folds his hands and requests--

VASANTASENA: [*Folding her hands.*] And commands--

MAITREYA: He says he imagined that that golden casket was his own and gambled it away. And nobody knows where the gambling-master has gone, for he is employed in the king's business.

MAID: Mistress, I congratulate you. The gentleman has turned gambler.

VASANTASENA: [*Aside.*] It was stolen by a thief, and he is so proud that he says he gambled it away. I love him for that.

MAITREYA: He requests that you will therefore be good enough to accept in its place this necklace of pearls.

VASANTASENA: [*Aside.*] Shall I show him the jewels? [*Reflecting.*] No, not yet.

MAITREYA: Why don't you take this necklace?

VASANTASENA: [*Laughs and looks at her friend.*] Why should I not take the necklace, Maitreya? [*She takes it and lays it away. Aside.*] How is it possible that drops of honey fall from the mango-tree, even after its blossoms are gone? [*Aloud.*] Sir, pray tell the worthy gambler Charudatta in my name that I shall pay him a visit this evening.

MAITREYA: [*Aside.*] What else does she expect to get out of a visit to our house? [*Aloud.*] Madam, I will tell him-- [*Aside.*] To have nothing more to do with this courtesan. [*Exit.*]

VASANTASENA: Take these jewels, girl. Let us go and bring cheer to Charudatta.

MAID: But mistress, see! An untimely storm is gathering.

VASANT:

The clouds may come, the rain may fall forever,
The night may blacken in the sky above;
For this I care not, nor I will not waver;
My heart is journeying to him I love.

Take the necklace, girl, and come quickly. [*Exeunt omnes.*]

ACT THE FIFTH

THE STORM

[*The love-lorn Charudatta appears, seated.*]

CHARUDATTA: [*Looks up.*]

An untimely storm is gathering. For see!
The peacocks gaze and lift their fans on high;
The swans forget their purpose to depart;
The untimely storm afflicts the blackened sky,
And the wistful lover's heart.

And again:

The wet bull's belly wears no deeper dye;
In flashing lightning's golden mantle clad,
While cranes, his buglers, make the heaven glad,
The cloud, a second Vishnu, mounts the sky.

And yet again:

As dark as Vishnu's form, with circling cranes
To trumpet him, instead of bugle strains,
And garmented in lightning's silken robe.
Approaches now the harbinger of rains.

When lightning's lamp is lit, the silver river
Impetuous falls from out the cloudy womb;
Like severed lace from heaven-cloaking gloom,
It gleams an instant, then is gone forever.

Like shoaling fishes, or like dolphins shy,
Or like to swans, toward heaven's vault that fly,
Like paired flamingos, male and mate together,
Like mighty pinnacles that tower on high.
In thousand forms the tumbling clouds embrace,
Though torn by winds, they gather, interlace,
And paint the ample canvas of the sky.

The sky is black as Dhritarashtra's face;
Proud as the champion of Kuru's race.
The haughty peacock shrills his joy abroad;
The cuckoo, in Yudhishtira's sad case,
Is forced to wander if he would not die;
The swans must leave their forest-homes and fly,
Like Pandu's sons, to seek an unknown place.

[*Reflecting.*] It is long since Maitreya went to visit Vasantasena. And even yet he does not come. [*Enter Maitreya.*]

MAITREYA: Confound the courtesan's avarice and her incivility! To think of her making so short a story of it! Over and over she repeats something about the affection she feels, and then without more ado she pockets the necklace. She is rich enough so that she might at least have said: "Good Maitreya, rest a little. You must not go until you have had a cup to drink." Confound the courtesan! I hope I'll never set eyes on her again. [*Wearily.*] The proverb is right. "It is hard to find a lotus-plant without a root, a merchant who never cheats, a goldsmith who never steals, a village-gathering without a fight, and a courtesan without avarice." Well, I'll find my friend and persuade him to have nothing more to do with this courtesan. [*He walks about until he discovers Charudatta.*] Ah, my good friend is sitting in the orchard. I'll go to him. [*Approaching.*] Heaven bless you! May happiness be yours.

CHARUDATTA: [*Looking up.*] Ah, my friend Maitreya has returned. You are very welcome, my friend. Pray be seated.

MAITREYA: Thank you.

CHARUDATTA: Tell me of your errand, my friend.

MAITREYA: My errand went all wrong.

CHARUDATTA: What! did she not accept the necklace?

MAITREYA: How could we expect such a piece of luck? She put her lotus-tender hands to her brow, and took it.

CHARUDATTA: Then why do you say "went wrong"?

MAITREYA: Why not, when we lost a necklace that was the pride of the four seas for a cheap golden casket, that was stolen before we had a bite or a drink out of it?

CHARUDATTA: Not so, my friend.

She showed her trust in leaving us her treasure;
The price of confidence has no less measure.

MAITREYA: Now look here! I have a second grievance. She tipped her friend the wink, covered her face with the hem of her dress, and laughed at me. And so, Brahmin though I am, I hereby fall on my face before you and beg you not to have anything more to do with this courtesan. That sort of society does any amount of damage. A courtesan is like a pebble in your shoe. It hurts before you get rid of it. And one thing more, my friend. A courtesan, an elephant, a scribe, a mendicant friar, a swindler, and an ass--where these dwell, not even rogues are born.

CHARUDATTA: Oh, my friend, a truce to all your detraction! My poverty of itself prevents me. For consider:

The horse would gladly hasten here and there,
But his legs fail him, for his breath departs.

So men's vain wishes wander everywhere,
Then, weary grown, return into their hearts.

Then too, my friend:

If wealth is thine, the maid is thine,
For maids are won by gold;

[*Aside.* And not by virtue cold. *Aloud.*]

But wealth is now no longer mine,
And her I may not hold.

MAITREYA: [*Looks down. Aside.*] From the way he looks up and sighs, I conclude that my effort to distract him has simply increased his longing. The proverb is right. "You can't reason with a lover." [*Aloud.*] Well, she told me to tell you that she would have to come here this evening. I suppose she isn't satisfied with the necklace and is coming to look for something else.

CHARUDATTA: Let her come, my friend. She shall not depart unsatisfied. [*Enter Kumbhilaka.*]

KUMBHILAKA: Listen, good people.

The more it rains in sheets,
The more my skin gets wet;
The more the cold wind beats,
The more I shake and fret.

[*He bursts out laughing.*]

I make the sweet flute speak from seven holes,
I make the loud lute speak on seven strings;
In singing, I essay the donkey's roles:
No god can match my music when he sings.

My mistress Vasantasena said to me "Kumbhilaka, go and tell Charudatta that I am coming." So here I am, on my way to Charudatta's house. [*He walks about, and, as he enters, discovers Charudatta.*] Here is Charudatta in the orchard. And here is that wretched jackanapes, too. Well, I'll go up to them. What! the orchard-gate is shut? Good! I'll give this jackanapes a hint. [*He throws lumps of mud.*]

MAITREYA: Well! Who is this pelting me with mud, as if I were an apple-tree inside of a fence?

CHARUDATTA: Doubtless the pigeons that play on the roof of the garden-house.

MAITREYA: Wait a minute, you confounded pigeon! With this stick I'll bring you down from the roof to the ground, like an over-ripe mango. [*He raises his stick and starts to run.*]

CHARUDATTA: [*Holding him back by the sacred cord.*] Sit down, my friend. What do you mean? Leave the poor pigeon alone with his mate.

KUMBHILAKA: What! he sees the pigeon and doesn't see me? Good! I'll hit him again with another lump of mud. [*He does so.*]

MAITREYA: [*Looks about him.*] What! Kumbhilaka? I'll be with you in a minute. [*He approaches and opens the gate.*] Well, Kumbhilaka, come in. I'm glad to see you.

KUMBHILAKA: [*Enters.*] I salute you, sir.

MAITREYA: Where do you come from, man, in this rain and darkness?

KUMBHILAKA: You see, she's here.

MAITREYA: Who's she? Who's here?

KUMBHILAKA: She. See? She.

MAITREYA: Look here, you son of a slave! What makes you sigh like a half-starved old beggar in a famine, with your "shesheshe"?

KUMBHILAKA: And what makes you hoot like an owl with your "whowhowho"?

MAITREYA: All right. Tell me.

KUMBHILAKA: [*Aside.*] Suppose I say it this way. [*Aloud.*] I'll give you a riddle, man.

MAITREYA: And I'll give you the answer with my foot on your bald spot.

KUMBHILAKA: Not till you've guessed it. In what season do the mango-trees blossom?

MAITREYA: In summer, you jackass.

KUMBHILAKA: [*Laughing.*] Wrong!

MAITREYA: [*Aside.*] What shall I say now? [*Reflecting.*] Good! I'll go and ask Charudatta. [*Aloud.*] Just wait a moment. [*Approaching Charudatta.*] My friend, I just wanted to ask you in what season the mango-trees blossom.

CHARUDATTA: You fool, in spring, in *vasanta*.

MAITREYA: [*Returns to Kumbhilaka.*] You fool, in spring, in *vasanta*.

KUMBHILAKA: Now I'll give you another. Who guards thriving villages?

MAITREYA: Why, the guard.

KUMBHILAKA: [*Laughing.*] Wrong!

MAITREYA: Well, I'm stuck. [*Reflecting.*] Good! I'll ask Charudatta again. [*He returns and puts the question to Charudatta.*]

CHARUDATTA: The army, my friend, the *senā*.

MAITREYA: [*Comes back to Kumbhilaka.*] The army, you jackass, the *senā*.

KUMBHILAKA: Now put the two together and say 'em fast.

MAITREYA: *Sena-vasanta*.

KUMBHILAKA: Say it turned around.

MAITREYA: [*Turns around.*] *Sena-vasanta*.

KUMBHILAKA: You fool! you jackanapes! Turn the parts of the thing around!

MAITREYA: [*Turns his feet around.*] Sena-vasanta.

KUMBHILAKA: You fool! Turn the parts of the word around!

MAITREYA: [*After reflection.*] Vasanta-sena.

KUMBHILAKA: She's here.

MAITREYA: Then I must tell Charudatta. [*Approaching.*] Well, Charudatta, your creditor is here.

CHARUDATTA: How should a creditor come into my family?

MAITREYA: Not in the family perhaps, but at the door. Vasantasena is here.

CHARUDATTA: Why do you deceive me, my friend?

MAITREYA: If you can't trust me, then ask Kumbhilaka here. Kumbhilaka, you jackass, come here.

KUMBHILAKA: [*Approaching.*] I salute you, sir.

CHARUDATTA: You are welcome, my good fellow. Tell me, is Vasantasena really here?

KUMBHILAKA: Yes, she's here. Vasantasena is here.

CHARUDATTA: [*Joyfully.*] My good fellow, I have never let the bearer of welcome news go unrewarded. Take this as your recompense. [*He gives him his mantle.*]

KUMBHILAKA: [*Takes it and bows. Gleeefully.*] I'll tell my mistress.

[*Exit.*]

MAITREYA: Do you see why she comes in a storm like this?

CHARUDATTA: I do not quite understand, my friend.

MAITREYA: I know. She has an idea that the pearl necklace is cheap, and the golden casket expensive. She isn't satisfied, and she has come to look for something more.

CHARUDATTA: [*Aside.*] She shall not depart unsatisfied.

[*Then enter the love-lorn Vasantasena, in a splendid garment, fit for a woman who goes to meet her lover, a maid with an umbrella, and the courtier.*]

COURTIER: [*Referring to Vasantasena.*]

Lakshmi without the lotus-flower is she,
Loveliest arrow of god Kama's bow,
The sweetest blossom on love's magic tree.

See how she moves, so gracefully and slow!
In passion's hour she still loves modesty;
In her, good wives their dearest sorrow know.

When passion's drama shall enacted be.
When on love's stage appears the passing show,
A host of wanderers shall bend them low.
Glad to be slaves in such captivity.

See, Vasantasena, see!

The clouds hang drooping to the mountain peaks,
Like a maiden's heart, that distant lover seeks:
The peacocks startle, when the thunder booms,
And fan the heaven with all their jeweled plumes.

And again:

Mud-stained, and pelted by the streaming rain,
To drink the falling drops the frogs are fain;
Full-throated peacocks love's shrill passion show,
And nipa flowers like brilliant candles glow;
Unfaithful clouds obscure the hostage moon,
Like knaves, unworthy of so dear a boon;
Like some poor maid of better breeding bare,
The impatient lightning rests not anywhere.

VASANTASENA: Sir, what you say is most true. For

The night, an angry rival, bars my way;
Her thunders fain would check and hinder me:
"Fond fool! with him I love thou shalt not stay,
'T is I, 't is I, he loves," she seems to say,
"Nor from my swelling bosom shall he flee."

COURTIER: Yes, yes. That is right. Scold the night.

VASANTASENA: And yet, sir, why scold one who is so ignorant of woman's nature! For you must remember:

The clouds may rain, may thunder ne'er so bold,
May flash the lightning from the sky above;
That woman little recks of heat or cold,
Who journeys to her love.

COURTIER: But see, Vasantasena! Another cloud,

Sped by the fickle fury of the air--
A flood of arrows in his rushing streams,
His drum, the roaring thunder's mighty blare,
His banner, living lightning's awful gleams--

Rages within the sky, and shows him bold
'Mid beams that to the moon allegiance owe,
Like a hero-king within the hostile hold
Of his unwarlike foe.

VASANTASENA: True, true. And more than this:

As dark as elephants, these clouds alone
Fall like a cruel dart--
With streaks of lightning and with white birds strewn--
To wound my wretched heart.
But, oh, why should the heron, bird of doom,
With that perfidious sound
Of "Rain! Rain! Rain!"--grim summons to the tomb
For her who spends her lonely hours in gloom--
Strew salt upon the wound?

COURTIER: Very true, Vasantasena. And yet again:

It seems as if the sky would take the guise
Of some fierce elephant to service bred;
The lightning like a waving streamer flies,
And white cranes serve to deck his mighty head.

VASANTASENA: But look, sir, look!

Clouds, black as wet tamala-leaves, the ball
Of heaven hide from our sight;
Rain-smitten homes of ants decay and fall
Like beasts that arrows smite;
Like golden lamps within a lordly hall
Wander the lightnings bright;
As when men steal the wife of some base thrall,
Clouds rob the moon of light.

COURTIER: See, Vasantasena, see!

Clouds, harnessed in the lightning's gleams,
Like charging elephants dash by;
At Indra's bidding, pour their streams,
Until with silver cords it seems
That earth is linked with sky.

And look yonder!

As herds of buffaloes the clouds are black;
The winds deny them ease;
They fly on lightning wings and little lack
Of seeming troubled seas.

Smitten with falling drops, the fragrant sod,
Upon whose bosom greenest grasses nod,
Seems pierced with pearls, each pearl an arrowy rod.

VASANTASENA: And here is yet another cloud.

The peacock's shrill-voiced cry
Implores it to draw nigh;
And ardent cranes on high
Embrace it lovingly.

The wistful swans espy
The lotus-sweeter sky;
The darkest colors lie
On heaven clingingly.

COURTIER: True. For see!

A thousand lotuses that bloom by night,
A thousand blooming when the day is bright,
Nor close nor ope their eyes to heaven's sight;
There is no night nor day.

The face of heaven, thus shrouded in the night,
Is only for a single instant bright,
When momentary lightning gives us sight;
Else is it dark alway.

Now sleeps the world as still as in the night
Within the house of rain where naught is bright,
Where hosts of swollen clouds seem to our sight
One covering veil of gray.

VASANTASENA: True. And see!

The stars are lost like mercies given
To men of evil heart;
Like lonely-parted wives, the heaven
Sees all her charms depart.
And, molten in the cruel heat
Of Indra's bolt, it seems

As if the sky fell at our feet
In liquid, flowing streams.

And yet again:

The clouds first darkly rise, then darkly fall,
Send forth their floods of rain, and thunder all;
Assuming postures strange and manifold,
Like men but newly blest with wealth untold.

COURTIER: True.

The heaven is radiant with the lightning's glare;
Its laughter is the cry of myriad cranes;
Its voice, the bolts that whistle through the air;
Its dance, that bow whose arrows are the rains.
It staggers at the winds, and seems to smoke
With clouds, which form its black and snaky cloak.

VASANTASENA: O shameless, shameless sky!

To thunder thus, while I
To him I love draw nigh.
Why do thy thunders frighten me and pain?
Why am I seized upon by hands of rain?

O Indra, mighty Indra!

Did I then give thee of my love before,
That now thy clouds like mighty lions roar?
Ah no! Thou shouldst not send thy streaming rain,
To fill my journey to my love with pain.

Remember:

For Ahalya's sweet sake thou once didst lie;
Thou knowest lover's pain.
As thou didst suffer then, now suffer I;
O cruel, cease thy rain.

And yet:

Thunder and rain and lighten hundredfold
Forth from thy sky above;
The woman canst thou not delay nor hold
Who journeys to her love.

Let thunders roar, for men were cruel ever;
But oh, thou maiden lightning! didst thou never
Know pains that maidens know?

COURTIER: But mistress, do not scold the lightning. She is your friend,

This golden cord that trembles on the breast
Of great Airavata; upon the crest
Of rocky hills this banner all ablaze;
This lamp in Indra's palace; but most blest
As telling where your most beloved stays.

VASANTASENA: And here, sir, is his house.

COURTIER: You know all the arts, and need no instruction now. Yet love bids me prattle. When you enter here, you must not show yourself too angry.

Where anger is, there love is not;
Or no! except for anger hot,
There is no love.

Be angry! make him angry then!
Be kind! and make him kind again--
The man you love.

So much for that. Who is there? Let Charudatta know, that

While clouds look beautiful, and in the hour
Fragrant with nipa and kadamba flower,
She comes to see her lover, very wet.
With dripping locks, but pleased and loving yet.
Though lightning and though thunder terrifies,
She comes to see you; 't is for you she sighs.
The mud still soils the anklets on her feet,
But in a moment she will have them sweet.

CHARUDATTA: [*Listening.*] My friend, pray discover what this means.

MAITREYA: Yes, sir. [*He approaches Vasantasena. Respectfully.*] Heaven bless you!

VASANTASENA: I salute you, sir. I am very glad to see you. [*To the courtier.*] Sir, the maid with the umbrella is at your service.

COURTIER: [*Aside.*] A very clever way to get rid of me. [*Aloud.*] Thank you. And mistress Vasantasena,

Pride and tricks and lies and fraud
Are in your face;
False playground of the lustful god,
Such is your face;

The wench's stock in trade, in fine,
Epitome of joys divine,
I mean, your face--
For sale! the price is courtesy.
I trust you'll find a man to buy
Your face. [*Exit.*]

VASANTASENA: Good Maitreya, where is your gambler?

MAITREYA: [*Aside.*] "Gambler"? Ah, she's paying a compliment to my friend. [*Aloud.*] Madam, here he is in the dry orchard.

VASANTASENA: But sir, what do you call a dry orchard?

MAITREYA: Madam, it's a place where there's nothing to eat or drink, [*Vasantasena smiles.*] Pray enter, madam.

VASANTASENA: [*Aside to her maid.*] What shall I say when I enter?

MAID: "Gambler, what luck this evening?"

VASANTASENA: Shall I dare to say it?

MAID: When the time comes, it will say itself.

MAITREYA: Enter, madam.

VASANTASENA: [*Enters, approaches Charudatta, and strikes him with the flowers which she holds.*] Well, gambler, what luck this evening?

CHARUDATTA: [*Discovers her.*] Ah, Vasantasena is here. [*He rises joyfully.*] Oh, my beloved,

My evenings pass in watching ever,
My nights from sighs are never free;
This evening cannot else than sever--
In bringing you--my grief and me.

You are very, very welcome. Here is a seat. Pray be seated.

MAITREYA: Here is a seat. Be seated, madam. [*Vasantasena sits, then the others.*]

CHARUDATTA: But see, my friend,

The dripping flower that decks her ear, droops down,
And one sweet breast
Anointed is, like a prince who wears the crown,
With ointment blest.

My friend, Vasantasena's garments are wet. Let other, and most beautiful, garments be brought.

MAITREYA: Yes, sir.

MAID: Good Maitreya, do you stay here. I will wait upon my mistress. [*She does so.*]

MAITREYA: [*Aside to Charudatta.*] My friend, I'd just like to ask the lady a question.

CHARUDATTA: Then do so.

MAITREYA: [*Aloud.*] Madam, what made you come here, when it is so stormy and dark that you can't see the moon?

MAID: Mistress, the Brahmin is very plain-spoken.

VASANTASENA: You might better call him clever.

MAID: My mistress came to ask how much that pearl necklace is worth.

MAITREYA: [*Aside to Charudatta.*] There! I told you so. She thinks the pearl necklace is cheap, and the golden casket is expensive. She isn't satisfied. She has come to look for something more.

MAID: For my mistress imagined that it was her own, and gambled it away. And nobody knows where the gambling-master has gone, for he is employed in the king's business.

MAITREYA: Madam, you are simply repeating what somebody said before.

MAID: While we are looking for him, pray take this golden casket. [*She displays the casket. Maitreya hesitates.*] Sir, you examine it very closely. Did you ever see it before?

MAITREYA: No, madam, but the skilful workmanship captivates the eye.

MAID: Your eyes deceive you, sir. This *is* the golden casket.

MAITREYA: [*Joyfully.*] Well, my friend, here is the golden casket, the very one that thieves stole from our house.

CHARUDATTA: My friend,

The artifice we tried before,
Her stolen treasure to restore,
Is practised now on us. But no,
I cannot think 't is really so.

MAITREYA: But it is so. I swear it on my Brahmanhood.

CHARUDATTA: This is welcome news.

MAITREYA: [*Aside to Charudatta.*] I'm going to ask where they found it.

CHARUDATTA: I see no harm in that.

MAITREYA: [*Whispers in the maid's ear.*] There!

MAID: [*Whispers in Maitreya's ear.*] So there!

CHARUDATTA: What is it? and why are we left out?

MAITREYA: [*Whispers in Charudatta's ear.*] So there!

CHARUDATTA: My good girl, is this really the same golden casket?

MAID: Yes, sir, the very same.

CHARUDATTA: My good girl, I have never let the bearer of welcome news go unrewarded. Take this ring as your recompense.
[*He looks at his finger, notices that the ring is gone, and betrays his embarrassment.*]

VASANTASENA: [*To herself.*] I love you for that.

CHARUDATTA: [*Aside to Maitreya.*] Alas,
When in this world a man has lost his all,
Why should he set his heart on longer life?
His angers and his favors fruitless fall,
His purposes and powers are all at strife.
Like wingless birds, dry pools, or withered trees,
Like fangless snakes--the poor are like to these.
Like man-deserted houses, blasted trees,
Like empty wells--the poor are like to these.
For them no pleasant hours serve happy ends;
They are forgotten of their sometime friends.

MAITREYA: But you must not grieve thus beyond reason. [*He bursts out laughing. Aloud.*] Madam, please give me back my bath-clout.

VASANTASENA: Charudatta, it was not right that you should show your distrust of me by sending me this pearl necklace.

CHARUDATTA: [*With an embarrassed smile.*] But remember, Vasantasena,
Who will believe the truth?
Suspicion now is sure.
This world will show no ruth
To the inglorious poor.

MAITREYA: Tell me, girl, are you going to sleep here to-night?

MAID: [*Laughing.*] But good Maitreya, you show yourself most remarkably plain-spoken now.

MAITREYA: See, my friend, the rain enters again in great streams, as if it wanted to drive people away when they are sitting comfortably together.

CHARUDATTA: You are quite right.
The falling waters pierce the cloud,
As lotus--shoots the soil;
And tears the face of heaven shroud,
Who weeps the moon's vain toil.

And again:

In streams as pure as thoughts to good men given,
But merciless as darts that Arjun hurls,
And black as Baladeva's cloak, the heaven
Seems to pour out all Indra's hoarded pearls.

See, my beloved, see!

The heaven is painted with the blackest dye,
And fanned by cool and fragrant evening airs;
Red lightning, glad in union, clasps the sky
With voluntary arms, and shows on high
The love that maiden heart to lover bears.

[*Vasantasena betrays her passion, and throws her arms about Charudatta.
Charudatta feels her touch, and embraces her.*]

CHARUDATTA:
More grimly yet, O thunder, boom;
For by thy grace and power
My love-distracted limbs now bloom
Like the kadamba flower.
Her dear touch all my being thrills,
And love my inmost spirit fills.

MAITREYA: Confound you, storm! You are no gentleman, to frighten the lady with the lightning.

CHARUDATTA:
Do not rebuke the storm, my friend.
Let ceaseless rain a hundred years endure,
The lightning quiver, and the thunder peal;
For what I deemed impossible is sure:
Her dear-loved arms about my neck I feel.

And oh, my friend,
He only knows what riches are,
Whose love comes to him from afar,
Whose arms that dearest form enfold,
While yet with rain 't is wet and cold.

Vasantasena, my beloved,
The masonry is shaken; and so old
The awning, that 't will not much longer hold.
Heavy with water is the painted wall,
From which dissolving bits of mortar fall.

[*He looks up.*] The rainbow! See, my beloved, see!

See how they yawn, the cloudy jaws of heaven,
As by a tongue, by forked lightning riven;
And to the sky great Indra's fiery bow
In lieu of high-uplifted arms is given.

Come, let us seek a shelter. [*He rises and walks about.*]

On palm-trees shrill,
On thickets still,
On boulders dashing,
On waters splashing,
Like a lute that, smitten, sings,
The rainy music rings.

[*Exeunt omnes.*]

ACT THE SIXTH

THE SWAPPING OF THE BULLOCK-CARTS

[Enter a maid.]

MAID:

Isn't my mistress awake yet? Well, I must go in and wake her. [*She walks about. Vasantasena appears, dressed, but still asleep. The maid discovers her.*] It is time to get up, mistress. The morning is here.

VASANTASENA: [*Awakening.*] What! is the night over? is it morning?

MAID: For us it is morning. But for my mistress it appears to be night still.

VASANTASENA: But girl, where is your gambler?

MAID: Mistress, after giving Vardhamanaka his orders, Charudatta went to the old garden Pushpakaranda.

VASANTASENA: What orders?

MAID: To have the bullock-cart ready before daylight; for, he said, Vasantasena was to come--

VASANTASENA: Where, girl?

MAID: Where Charudatta is.

VASANTASENA: [*Embraces the maid.*] I did not have a good look at him in the evening. But to-day I shall see him face to face. Tell me, girl. Have I found my way into the inner court?

MAID: You have found your way not only into the inner court, but into the heart of every one who lives here.

VASANTASENA: Tell me, are Charudatta's servants vexed?

MAID: They will be.

VASANTASENA: When?

MAID: When my mistress goes away.

VASANTASENA: But not so much as I shall be. [*Persuasively.*] Here, girl, take this pearl necklace. You must go and give it to my lady sister, his good wife. And give her this message: "Worthy Charudatta's virtues have won me, made me his slave, and therefore your slave also. And so I hope that these pearls may adorn your neck."

MAID: But mistress, Charudatta will be angry with you.

VASANTASENA: Go. He will not be angry.

MAID: [*Takes the necklace.*] Yes, mistress. [*She goes out, then returns.*] Mistress, his lady wife says that her lord made you a present of it, and it would not be right for her to accept it. And further, that you are to know that her lord and husband is her most excellent adornment.

[Enter Radanika, with Charudatta's little son.]

RADANIKA: Come, dear, let's play with your little cart.

ROHASENA: [*Peevishly.*] I don't like this little clay cart, Radanika. Give me my gold cart.

RADANIKA: [*Sighing wearily.*] How should we have anything to do with gold now, my child? When your papa is rich again, then you shall have a gold cart to play with. But I'll amuse him by taking him to see Vasantasena. [*She approaches Vasantasena.*] Mistress, my service to you.

VASANTASENA: I am glad to see you, Radanika. But whose little boy is this? He wears no ornaments, yet his dear little face makes my heart happy.

RADANIKA: This is Charudatta's son, Rohasena.

VASANTASENA: [*Stretches out her arms.*] Come, my boy, and put your little arms around me. [*She takes him on her lap.*] He looks just like his father.

RADANIKA: More than looks like him, he *is* like him. At least I think so. His father is perfectly devoted to him.

VASANTASENA: But what is he crying about?

RADANIKA: He used to play with a gold cart that belongs to the son of a neighbor. But that was taken away, and when he asked for it, I made him this little clay cart. But when I gave it to him, he said "I don't like this little clay cart, Radanika. Give me my gold cart."

VASANTASENA: Oh, dear! To think that this little fellow has to suffer because others are wealthy. Ah, mighty Fate! the destinies of men, uncertain as the water-drops which fall upon a lotus-leaf, seem to thee but playthings! [*Tearfully.*] Don't cry, my child. You shall have a gold cart to play with.

ROHASENA: Who is she, Radanika?

VASANTASENA: A slave of your father's, won by his virtues.

RADANIKA: My child, the lady is your mother.

ROHASENA: That's a lie, Radanika. If the lady is my mother, why does she wear those pretty ornaments?

VASANTASENA: My child, your innocent lips can say terrible things. [*She removes her ornaments. Weeping.*] Now I am your mother. You shall take these ornaments and have a gold cart made for you.

ROHASENA: Go away! I won't take them. You're crying.

VASANTASENA: [*Wiping away her tears.*] I'll not cry, dear. There! go and play. [*She fills the clay cart with her jewels.*] There, dear, you must have a little gold cart made for you.

[Exit Radanika, with Rohasena.]

[Enter Vardhamanaka, driving a bullock-cart.]

VARDHAMANAKA: Radanika, Radanika! Tell mistress Vasantasena that the covered cart is standing ready at the side-door.

RADANIKA: [*Entering.*] Mistress, Vardhamanaka is here, and he says that the cart is waiting at the side-door.

VASANTASENA: He must wait a minute, girl, while I get ready.

RAD: Wait a minute, Vardhamanaka, while she gets ready. *[Exit.]*

VARDHAMANAKA: Hello, I've forgotten the cushion. I must go and get it. But the nose-rope makes the bullocks skittish. I suppose I had better take the cart along with me. *[Exit.]*

VASANTASENA: Bring me my things, girl. I must make myself ready. *[She does so.]*

[Enter, driving a bullock-cart, Sthavaraka, servant to Sansthanaka.]

STHAVARAKA: Sansthanaka, the king's brother-in-law, said to me "Take a bullock-cart, Sthavaraka, and come as quick as you can to the old garden Pushpakaranda." Well, I'm on my way there. Get up, bullocks, get up! *[He drives about and looks around.]* Why, the road is blocked with villagers' carts. What am I to do now? *[Haughtily.]* Get out of my way, you! Get out of my way! *[He listens.]* What's that? you want to know whose cart this is? This cart belongs to Sansthanaka, the king's brother-in-law. So get out of my way--and this minute, too! *[He looks about.]* Why, here's a man going in the other direction as fast as he can. He is trying to hide like a runaway gambler, and he looks at me as if I were the gambling-master. I wonder who he is. But then, what business is it of mine? I must get there as soon as I can. Get out of my way, you villagers, get out of my way! What's that? you want me to wait a minute and put a shoulder to your wheel? Confound you! A brave man like me, that serves Sansthanaka, the king's brother-in-law, put a shoulder to your wheel? After all, the poor fellow is quite alone. I'll do it. I'll stop my cart at the side-door to Charudatta's orchard. *[He does so.]* I'm coming! *[Exit.]*

MAID: Mistress, I think I hear the sound of wheels. The cart must be here.

VASANTASENA: Come, girl. My heart grows impatient. Go with me to the side-door.

MAID: Follow me, mistress.

VASANTASENA: *[Walks about.]* You have earned a rest, girl.

MAID: Thank you, mistress. *[Exit.]*

VASANTASENA: *[Feels her right eye twitch as she enters the cart.]* Why should my right eye twitch now? But the sight of Charudatta will smooth away the bad omen. *[Enter Sthavaraka.]*

STHAVARAKA: I've cleared the carts out of the way, and now I'll go ahead. *[He mounts and drives away. To himself.]* The cart has grown heavy. But I suppose it only seems so, because I got tired helping them with that wheel. Well, I'll go along. Get up, bullocks, get up!

VOICE OFFSTAGE: Police! Police! Every man at his post! The young herdsman has just broken jail, killed the jailer, broken his fetters, escaped, and run away. Catch him! Catch him!

[Enter, in excited haste, Aryaka, an iron chain on one foot. Covering his face, he walks about.]

STHAVARAKA: *[To himself.]* There is great excitement in the city. I must get out of the way as fast as I possibly can. *[Exit.]*

ARYAKA:

I leave behind me that accursed sea
Of human woe and human misery,
The prison of the king.
Like elephants that break their chains and flee,
I drag a fettered foot most painfully
In flight and wandering.

King Palaka was frightened by a prophecy, took me from the hamlet where I lived, fettered me, and thrust me into a solitary cell, there to await my death. But with the help of my good friend Sharvilaka I escaped. *[He sheds tears.]*

If such my fate, no sin is mine at least,
That he should cage me like a savage beast.
A man may fight with kings, though not with fate--
And yet, can helpless men contend with great?

Whither shall I go with my wretchedness? *[He looks about.]* Here is the house of some good man who hasn't locked the side-door.

The house is old, the door without a lock,
The hinges all awry.
Some man, no doubt, who feels misfortune's shock
As cruelly as I.

I will enter here and wait.

VOICE OFFSTAGE: Get up, bullocks, get up!

ARYAKA: *[Listening.]* Ah, a bullock-cart is coming this way.

If this should prove to be a picnic rig,
Its occupants not peevishly inclined;
Some noble lady's waiting carriage trig;
Or rich man's coach, that leaves the town behind--
And if it empty be, fate proving kind,
'T would seem a godsend to my anxious mind.

[Enter Vardhamanaka with the bullock-cart.]

VARDHAMANAKA: There, I've got the cushion. Radanika, tell mistress Vasantasena that the cart is ready and waiting for her to get in and drive to the old garden Pushpakaranda.

ARYAKA: *[Listening.]* This is a courtesan's cart, going out of the city. Good, I'll climb in. *[He approaches cautiously.]*

VARDHAMANAKA: *[Hears him coming.]* Ah, the tinkling of ankle-rings! The lady is here. Mistress, the nose-rope makes the bullocks skittish. You had better climb in behind. *[Aryaka does so.]* The ankle-rings tinkle only when the feet are moving, and the sound has ceased. Besides, the cart has grown heavy. I am sure the lady must have climbed in by this time. I'll go ahead. Get up, bullocks, get up! *[He drives about. Enter Viraka.]*

VIRAKA: Come, come! Jaya, Jayamana, Chandanaka, Mangala, Phullabhadra, and the rest of you!

So calm, when the herdsman, slipping his tether,
Breaks jail and the heart of the king together?

Here! You stand at the east gate of the main street, you at the west, you at the south, you at the north. I'll climb up the broken wall here with Chandanaka and take a look. Come on, Chandanaka, come on! This way! [*Enter Chandanaka, in excitement.*]

CHANDANAKA: Come, come! Viraka, Vishalya, Bhimangada, Dandakala, Dandashura, and the rest of you!

Come quick, my reliables! Work! Now begin!
Lest the old king go out, and a new king come in.
Search gardens, and dives, and the town, and the street,
The market, the hamlet, wherever you meet
With what looks suspicious. Now, Viraka, say,
Who saved the young herdsman that just broke away?
Who was born when the sun in his eighth mansion stood,
Or the moon in her fourth, or when Jupiter could
Be seen in his sixth, or when Saturn was resting
In his ninth, in her sixth house when Venus was nesting,
Or Mars in his fifth? Who will dare to be giving
The herdsman protection, while I am still living? 9, 10

VIRAKA: Chandanaka, you mercenary!

I swear on your heart, he's been long out of prison,
For the herdsman escaped ere the sun was half risen.

VARDHAMANAKA: Get up, bullocks, get up!

CHANDANAKA: [*Discovers him.*] Look, man, look!

A covered cart is moving in the middle of the road;
Investigate it, whose it is, and where it takes its load!

VIRAKA: [*Discovers him.*] Here, driver, stop your cart! Whose cart is this? who is in it? where is it going?

VARDHAMANAKA: This is Charudatta's cart. Mistress Vasantasena is in it. I am taking her to the old garden Pushpakaranda to meet Charudatta.

VIRAKA: [*Approaches Chandanaka.*] The driver says it is Charudatta's cart; that Vasantasena is in it; that he is taking her to the old garden Pushpakaranda.

CHANDANAKA: Then let it pass.

VIRAKA: Without inspection?

CHANDANAKA: Certainly.

VIRAKA: On whose authority?

CHANDANAKA: On Charudatta's.

VIRAKA: Who is Charudatta, or who is Vasantasena, that the cart should pass without inspection?

CHANDANAKA: Don't you know Charudatta, man? nor Vasantasena? If you don't know Charudatta, nor Vasantasena, then you don't know the moon in heaven, nor the moonlight.

Who does n't know this moon of goodness, virtue's lotus-flower,
This gem of four broad seas, this savior in man's luckless hour?
These two are wholly worshipful, our city's ornaments,
Vasantasena, Charudatta, sea of excellence.

VIRAKA: Well, well, Chandanaka! Charudatta? Vasantasena?

I know them perfectly, as well as I know anything;
But I do not know my father when I 'm serving of my king.

ARYAKA: [*To himself.*] In a former existence the one must have been my enemy, the other my kinsman. For see!

Their business is the same; their ways
Unlike, and their desire:
Like flames that gladden wedding days,
And flames upon the pyre.

CHANDANAKA: You are a most careful captain whom the king trusts. I am holding the bullocks. Make your inspection.

VIRAKA: You too are a corporal whom the king trusts. Make the inspection yourself.

CHANDANAKA: If I make the inspection, that 's just the same as if you had made it?

VIRAKA: If you make the inspection, that 's just the same as if King Palaka had made it.

CHANDANAKA: Lift the pole, man! [*Vardhamanaka does so.*]

ARYAKA: [*To himself.*] Are the policemen about to inspect me? And I have no sword, worse luck! But at least,

Bold Bhima's spirit I will show;
My arm shall be my sword.
Better a warrior's death than woe
That cells and chains afford.

But the time to use force has not yet come. [*Chandanaka enters the cart and looks about.*] I seek your protection.

CHANDANAKA: [*Speaking in Sanskrit.*] He who seeks protection shall be safe.

ARYAKA:

Whene'er he fight, that man will suffer hurts,
Will be abandoned of his friends and kin,
Becomes a mock forever, who deserts
One seeking aid; 't is an unpardoned sin.

CHANDANAKA: What! the herdsman Aryaka? Like a bird that flees from a hawk, he has fallen into the hand of the fowler. [*Reflecting.*] He is no sinner, this man who seeks my protection and sits in Charudatta's cart. Besides, he is the friend of good Sharvilaka, who saved my life. On the other hand, there are the king's orders. What is a man to do in a case like this? Well, what must be, must be. I promised him my protection just now.

He who gives aid to frightened men,
And joys his neighbor's ills to cure,
If he must die, he dies; but then,
His reputation is secure.

[*He gets down uneasily.*] I saw the gentleman--[*correcting himself*] I mean, the lady Vasantasena, and she says "Is it proper, is it gentlemanly, when I am going to visit Charudatta, to insult me on the highway?"

VIRAKA: Chandanaka, I have my suspicions.

CHANDANAKA: Suspicions? How so?

VIR: You gurgled in your craven throat; it seems a trifle shady. You said "I saw the gentleman," and then "I saw the lady." 20 That's why I'm not satisfied.

CHANDANAKA: What's the matter with you, man? We southerners don't speak plain. We know a thousand dialects of the barbarians--the Khashas, the Khattis, the Kadas, the Kadatthobilas, the Karnatas, the Karnas, the Pravaranas, the Dravidas, the Cholas, the Chinas, the Barbaras, the Kheras, the Khanas, the Mukhas, the Madhughatas, and all the rest of 'em, and it all depends on the way we feel whether we say "he" or "she," "gentleman" or "lady."

VIRAKA: Can't I have a look, too? It's the king's orders. And the king trusts me.

CHANDANAKA: I suppose the king doesn't trust *me*!

VIRAKA: Is n't it His Majesty's command?

CHANDANAKA: [*Aside*] If people knew that the good herdsman escaped in Charudatta's cart, then the king would make Charudatta suffer for it. What's to be done? [*Reflecting.*] I'll stir up a quarrel the way they do down in the Carnatic. [*Aloud.*] Well, Viraka, I made one inspection myself--my name is Chandanaka--and you want to do it over again. Who are you?

VIRAKA: Confound it! Who are you, anyway?

CHANDANAKA: An honorable and highly respectable person, and you don't remember your own family.

VIRAKA: [*Angrily.*] Confound you! What is my family?

CHANDANAKA: Who speaks of such things?

VIRAKA: Speak!

CHANDANAKA: I think I'd better not.

I know your family, but I won't say;
'T would not be modest, such things to betray;
What good's a rotten apple anyway?

VIRAKA: Speak, speak! [*Chandanaka makes a significant gesture.*] Confound you! What does that mean?

CHAND:

A broken whetstone in one hand--a thing
That looks like scissors in the other wing--
To trim the scrubby beards that curl and cling,
And you--why, you 're a captain of the king!

VIRAKA: Well, Chandanaka, you highly respectable person, you don't remember your own family either.

CHANDANAKA: Tell me. What is the family I belong to, I, Chandanaka, pure as the moon?

VIRAKA: Who speaks of such things?

CHANDANAKA: Speak, speak! [*Viraka makes a significant gesture.*] Confound you! What does that mean?

VIRAKA: Listen.

Your house is pure; your father is a drum,
Your mother is a kettledrum, you scum!
Your brother is a tambourine--tum, tum!
And you--why, you 're a captain of the king!

CHANDANAKA: [*Wrathfully.*] I, Chandanaka, a tanner! You can look at the cart.

VIRAKA: You! driver! turn the cart around. I want to look in.

[*Vardhamanaka does so. Viraka starts to climb in. Chandanaka seizes him violently by the hair, throws him down, and kicks him.*]

VIRAKA: [*Rising. Wrathfully.*] Confound you! I was peaceably going about the king's business, when you seized me violently by the hair and kicked me. So listen! If I don't have you drawn and quartered in the middle of the court-room, my name's not Viraka.

CHANDANAKA: All right. Go to court or to a hall of justice. What do I care for a puppy like you?

VIRAKA: I will. [*Exit.*]

CHANDANAKA: [*Looks about him.*] Go on, driver, go on! If anybody asks you, just say "The cart has been inspected by Chandanaka and Viraka." Mistress Vasantasena, let me give you a passport. [*He hands Aryaka a sword.*]

ARYAKA: [*Takes it. Joyfully to himself.*]

A sword, a sword! My right eye twitches fast.
Now all is well, and I am safe at last.

CHANDANAKA: Madam,

As I have given you a passage free,
So may I live within your memory.

To utter this, no selfish thoughts could move;
Ah no, I speak in plenitude of love.

ARYAKA:

Chandanaka is rich in virtues pure;
My friend is he--Fate willed it--true and tried.
I'll not forget Chandanaka, be sure,
What time the oracle is justified.

CHAND:

May Shiva, Vishnu, Brahma, Three in One,
Protect thee, and the Moon, and blessed Sun;
Slay all thy foes, as mighty Parvati
Slew Shumbha and Nishumbha--fearfully.

[*Exit Vardhamanaka, with the bullock-cart. Chandanaka looks toward the back of the stage.*] Aha! As he goes away, my good friend Sharvilaka is following him. Well, I've made an enemy of Viraka, the chief constable and the king's favorite; so I think I too had better be following him, with all my sons and brothers.

[*Exit.*]

ACT THE SEVENTH

ARYAKA'S ESCAPE

[Enter Charudatta and Maitreya.]

MAITREYA:

How beautiful the old garden Pushpakaranda is.

CHARUDATTA: You are quite right, my friend. For see!

The trees, like merchants, show their wares;
Each several tree his blossoms bears,
While bees, like officers, are flitting,
To take from each what toll is fitting.

MAITREYA: This simple stone is very attractive. Pray be seated.

CHARUDATTA: [*Seats himself.*] How Vardhamanaka lingers, my friend!

MAITREYA: I told Vardhamanaka to bring Vasantasena and come as quickly as he could.

CHARUDATTA: Why then does he linger?

Is he delayed by some slow-moving load?
Has he returned with broken wheel or traces?
Obstructions bid him seek another road?
His bullocks, or himself, choose these slow paces?

[Enter Vardhamanaka with the bullock-cart, in which Aryaka lies hidden.]

VARDHAMANAKA: Get up, bullocks, get up!

ARYAKA: [*Aside.*]

And still I fear the spies that serve the king;
Escape is even yet a doubtful thing,
While to my foot these cursed fetters cling.

Some good man 't is, within whose cart I lie,
Like cuckoo chicks, whose heartless mothers fly,
And crows must rear the fledglings, or they die.

I have come a long distance from the city. Shall I get out of the cart and seek a hiding-place in the grove? or shall I wait to see the owner of the cart? On second thoughts, I will not hide myself in the grove; for men say that the noble Charudatta is ever helpful to them that seek his protection. I will not go until I have seen him face to face.

'T will bring contentment to that good man's heart
To see me rescued from misfortune's sea.
This body, in its suffering, pain, and smart,
Is saved through his sweet magnanimity.

VARDHAMANAKA: Here is the garden. I 'll drive in. [*He does so.*] Maitreya!

MAITREYA: Good news, my friend. It is Vardhamanaka's voice. Vasantasena must have come.

CHARUDATTA: Good news, indeed.

MAITREYA: You son of a slave, what makes you so late?

VARDHAMANAKA: Don't get angry, good Maitreya. I remembered that I had forgotten the cushion, and I had to go back for it, and that is why I am late.

CHARUDATTA: Turn the cart around, Vardhamanaka. Maitreya, my friend, help Vasantasena to get out.

MAITREYA: Has she got fetters on her feet, so that she can't get out by herself? [*He rises and lifts the curtain of the cart.*] Why, this is n't mistress Vasantasena--this is Mister Vasantasena.

CHARUDATTA: A truce to your jests, my friend. Love cannot wait. I will help her to get out myself. [*He rises.*]

ARYAKA: [*Discovers him.*] Ah, the owner of the bullock-cart! He is attractive not only to the ears of men, but also to their eyes. Thank heaven! I am safe.

CHARUDATTA: [*Enters the bullock-cart and discovers Aryaka.*] Who then is this?

As trunk of elephant his arms are long,
His chest is full, his shoulders broad and strong,
His great eyes restless-red;
Why should this man be thus enforced to fight--
So noble he--with such ignoble plight,
His foot to fetters wed?

Who are you, sir?

ARYAKA: I am one who seeks your protection, Aryaka, by birth a herdsman.

CHARUDATTA: Are you he whom King Palaka took from the hamlet where he lived and thrust into prison?

ARYAKA: The same.

CHARUDATTA:

'T is fate that brings you to my sight;
May I be reft of heaven's light,
Ere I desert you in your hapless plight.

[*Aryaka manifests his joy.*]

CHARUDATTA: Vardhamanaka, remove the fetters from his foot.

VARDHAMANAKA: Yes, sir. [*He does so.*] Master, the fetters are removed.

ARYAKA: But you have bound me with yet stronger fetters of love.

MAITREYA: Now you may put on the fetters yourself. He is free anyway. And it 's time for us to be going.

CHARUDATTA: Peace! For shame!

ARYAKA: Charudatta, my friend, I entered your cart somewhat unceremoniously. I beg your pardon.

CHARUDATTA: I feel honored that you should use no ceremony with me.

ARYAKA: If you permit it, I now desire to go.

CHARUDATTA: Go in peace.

ARYAKA: Thank you. I will alight from the cart.

CHARUDATTA: No, my friend. The fetters have but this moment been removed, and you will find walking difficult. In this spot where men seek pleasure, a bullock-cart will excite no suspicion. Continue your journey then in the cart.

ARYAKA: I thank you, sir.

CHARUDATTA: Seek now thy kinsmen. Happiness be thine!

ARYAKA: Ah, I have found thee, blessed kinsman mine!

CHARUDATTA: Remember me, when thou hast cause to speak.

ARYAKA: Thy name, and not mine own, my words shall seek.

CHARUDATTA: May the immortal gods protect thy ways!

ARYAKA: Thou didst protect me, in most perilous days.

CHARUDATTA: Nay, it was fate that sweet protection lent.

ARYAKA: But thou wast chosen as fate's instrument. 7

CHARUDATTA: King Palaka is aroused, and protection will prove difficult. You must depart at once.

ARYAKA: Until we meet again, farewell. [*Exit.*]

CHARUDATTA:

From royal wrath I now have much to fear;
It were unwise for me to linger here.
Then throw the fetters in the well; for spies
Serve to their king as keen, far-seeing eyes.

[*His left eye twitches.*] Maitreya, my friend, I long to see Vasantasena. For now, because

I have not seen whom I love best,
My left eye twitches; and my breast
Is causeless-anxious and distressed.

Come, let us go. [*He walks about.*] See! a Buddhist monk approaches, and the sight bodes ill. [*Reflecting.*] Let him enter by that path, while we depart by this. [*Exit.*]

ACT THE EIGHTH

THE STRANGLING OF VASANTASENA

[Enter a monk, with a wet garment in his hand.]

MONK:

Ye ignorant, lay by a store of virtue!
Restrain the belly; watch eternally,
Heeding the beat of contemplation's drum,
For else the senses--fearful thieves they be--
Will steal away all virtue's hoarded sum.

And further: I have seen that all things are transitory, so that now I am become the abode of virtues alone.

Who slays the Five Men, and the Female Bane,
By whom protection to the Town is given,
By whom the Outcaste impotent is slain,
He cannot fail to enter into heaven.

Though head be shorn and face be shorn,
The heart unshorn, why should man shave him?
But he whose inmost heart is shorn
Needs not the shaven head to save him.

I have dyed this robe of mine yellow. And now I will go into the garden of the king's brother-in-law, wash it in the pond, and go away as soon as I can. [He walks about and washes the robe.]

VOICE OFFSTAGE: Shtop, you confounded monk, shtop!

MONK: [Discovers the speaker. Fearfully.] Heaven help me! Here is the king's brother-in-law, Sansthanaka. Just because one monk committed an offense, now, wherever he sees a monk, whether it is the same one or not, he bores a hole in his nose and drives him around like a bullock. Where shall a defenseless man find a defender? But after all, the blessed Lord Buddha is my defender.

[Enter the courtier, carrying a sword, and Sansthanaka.]

SANSTHANAKA: Shtop, you confounded monk, shtop! I'll pound your head like a red radish at a drinking party. [He strikes him.]

COURTIER: You jackass, you should not strike a monk who wears the yellow robes of renunciation. Why heed him? Look rather upon this garden, which offers itself to pleasure.

To creatures else forlorn, the forest trees
Do works of mercy, granting joy and ease;
Like a sinner's heart, the park unguarded lies,
Like some new-founded realm, an easy prize.

MONK: Heaven bless you! Be merciful, servant of the Blessed One!

SANSTHANAKA: Did you hear that, shir? He's insulting me.

COURTIER: What does he say?

SANSTHANAKA: Shays I'm a shervant. What do you take me for? a barber?

COURTIER: A servant of the Blessed One he calls you, and this is praise.

SANSTHANAKA: Praise me shome more, monk!

MONK: You are virtuous! You are a brick!

SANSTHANAKA: Shee? He shays I'm virtuous. He shays I'm a brick. What do you think I am? a materialistic philosopher? or a watering-trough? or a pot-maker?

COURTIER: You jackass, he praises you when he says that you are virtuous, that you are a brick.

SANSTHANAKA: Well, shir, what did he come here for?

MONK: To wash this robe.

SANSTHANAKA: Confound the monk! My shishter's husband gave me the finesht garden there is, the garden Pushpakaranda. Dogs and jackals drink the water in thish pond. Now I'm an arishtocrat. I'm a man, and I don't even take a bath. And here you bring your shtinking clothes, all shtained with shtale bean-porridge, and wash 'em! I think one good shtroke will finish you.

COURTIER: You jackass, I am sure he has not long been a monk.

SANSTHANAKA: How can you tell, shir?

COURTIER: It doesn't take much to tell that, See!

His hair is newly shorn; the brow still white;
The rough cloak has not yet the shoulder scarred;
He wears it awkwardly; it clings not tight;
And here above, the fit is sadly marred.

MONK: True, servant of the Blessed One. I have been a monk but a short time.

SANSTHANAKA: Then why haven't you been one all your life? [He beats him.]

MONK: Buddha be praised!

COURTIER: Stop beating the poor fellow. Leave him alone. Let him go.

SANSTHANAKA: Jusht wait a minute, while I take counshel.

COURTIER: With whom?

SANSTHANAKA: With my own heart.

COURTIER: Poor fellow! Why didn't he escape?

SANSTHANAKA: Blessed little heart, my little shon and mashter, shall the monk go, or shall the monk shtay? [*To himself.*] Neither go, nor shtay. [*Aloud.*] Well, shir, I took counshel with my heart, and my heart shays--

COURTIER: Says what?

SANSTHANAKA: He shall neither go, nor shtay. He shall neither breathe up, nor breathe down. He shall fall down right here and die, before you can shay "boo."

MONK: Buddha be praised! I throw myself upon your protection.

COURTIER: Let him go.

SANSTHANAKA: Well, on one condition.

COURTIER: And what is that?

SANSTHANAKA: He musht shling mud in, without making the water dirty. Or better yet, he musht make the water into a ball, and shling it into the mud.

COURTIER: What incredible folly!

The patient earth is burdened by
So many a fool, so many a drone,
Whose thoughts and deeds are all awry--
These trees of flesh, these forms of stone.

[*The monk makes faces at Sansthanaka.*]

SANSTHANAKA: What does he mean?

COURTIER: He praises you.

SANSTHANAKA: Praise me shome more! Praise me again! [*The monk does so, then exit.*]

COURTIER: See how beautiful the garden is, you jackass.

See yonder trees, adorned with fruit and flowers,
O'er which the clinging creepers interlace;
The watchmen guard them with the royal powers;
They seem like men whom loving wives embrace.

SANSTHANAKA: A good deshcription, shir.

The ground is mottled with a lot of flowers;
The blossom freight bends down the lofty trees;
And, hanging from the leafy tree-top bowers,
The monkeys bob, like breadfruit in the breeze.

COURTIER: Will you be seated on this stone bench, you jackass?

SANSTHANAKA: I am sheated. [*They seat themselves.*] Do you know, shir, I remember that Vasantasena even yet. She is like an insult. I can't get her out of my mind.

COURTIER: [*Aside.*] He remembers her even after such a repulse. For indeed,

The mean man, whom a woman spurns,
But loves the more;
The wise man's passion gentler burns,
Or passes o'er.

SANSTHANAKA: Shome time has passhed, shir, shince I told my shervant Sthavaraka to take the bullock-cart and come as quick as he could. And even yet he is not here. I've been hungry a long time, and at noon a man can't go a-foot. For shee!

The shun is in the middle of the shky,
And hard to look at as an angry ape;
Like Gandhari, whose hundred shons did die,
The earth is hard dishtreshed and can't eshcape.

COURTIER: True.

The cattle all--their cuds let fall--
Lie drowsing in the shade;
In heated pool their lips to cool,
Deer throng the woodland glade;
A prey to heat, the city street
Makes wanderers afraid;
The cart must shun the midday sun,
And thus has been delayed.

SANSTHANAKA: Yesshir,

Fasht to my head the heated shun-beam clings;
Birds, flying creatures, alsho winged things
Resht in the branches of the trees, while men,
People, and pershons shigh and shigh again;
At home they tarry, in their houses shtay,
To bear the heat and burden of the day.

Well, shir, that shervant is n't here yet. I'm going to shing shomething to passh the time. [*He sings.*] There, shir, did you hear what I shang?

COURTIER: What shall I say? Ah, how melodious!

SANSTHANAKA: Why *should* n't it be malodorous?

Of nut-grass and cumin I make up a pickle,
Of devil's-dung, ginger, and orris, and treacle;

That's the mixture of perfumes I eagerly eat;
Why should n't my voice be remarkably sweet?

Well, shir, I 'm jusht going to shing again, [*He does so.*] There, shir, did you hear what I shang?

COURTIER: What shall I say? Ah, how melodious!

SANSTHANAKA: Why *should n't* it be malodorous?

Of the flesh of the cuckoo I make up a chowder,
With devil's-dung added, and black pepper powder;
With oil and with butter I shprinkle the meat:
Why should n't my voice be remarkably sweet?

But shir, the shervant is n't here yet.

COURTIER: Be easy in your mind. He will be here presently.

[*Enter Vasantasena in the bullock-cart, and Sthavaraka.*]

STHAVARAKA: I 'm frightened. It is already noon. I hope Sansthanaka, the king's brother-in-law, will not be angry. I must drive faster. Get up, bullocks, get up!

VASANTASENA: Alas! That is not Vardhamanaka's voice. What does it mean? I wonder if Charudatta was afraid that the bullocks might become weary, and so sent another man with another cart. My right eye twitches. My heart is all a-tremble. There is no one in sight. Everything seems to dance before my eyes.

SANSTHANAKA: [*Hearing the sound of wheels.*] The cart is here, shir.

COURTIER: How do you know?

SANSTHANAKA: Can't you see? It shqueaks like an old hog.

COURTIER: [*Perceives the cart.*] Quite true. It is here.

SANSTHANAKA: Sthavaraka, my little shon, my shlave, are you here?

STHAVARAKA: Yes, sir.

SANSTHANAKA: Is the cart here?

STHAVARAKA: Yes, sir.

SANSTHANAKA: Are the bullocks here?

STHAVARAKA: Yes, sir.

SANSTHANAKA: And are you here?

STHAVARAKA: [*Laughing.*] Yes, master, I am here too.

SANSTHANAKA: Then drive the cart in.

STHAVARAKA: By which road?

SANSTHANAKA: Right here, where the wall is tumbling down.

STHAVARAKA: Oh, master, the bullocks will be killed. The cart will go to pieces. And I, your servant, shall be killed.

SANSTHANAKA: I'm the king's brother-in-law, man. If the bullocks are killed, I 'll buy shome more. If the cart goes to pieces, I 'll have another one made. If you are killed, there will be another driver.

STHAVARAKA: Everything will be replaced--except me.

SANSTHANAKA: Let the whole thing go to pieces. Drive in over the wall.

STHAVARAKA: Then break, cart, break with your driver. There will be another cart. I must go and present myself to my master. [*He drives in.*] What! not broken? Master, here is your cart.

SANSTHANAKA: The bullocks not shplit in two? and the ropes not killed? and you too not killed?

STHAVARAKA: No, sir.

SANSTHANAKA: Come, shir. Let's look at the cart. You are my teacher, shir, my very besht teacher. You are a man I reshpect, my intimate friend, a man I delight to honor. Do you enter the cart firsh.

COURTIER: Very well. [*He starts to do so.*]

SANSTHANAKA: Not much! Shtop! Is thish your father's cart, that you should enter it firsh? I own thish cart. I 'll enter it firsh.

COURTIER: I only did what you said.

SANSTHANAKA: Even if I do shay sho, you ought to be polite enough to shay "After you, mashter."

COURTIER: After you, then.

SANSTHANAKA: Now I 'll enter. Sthavaraka, my little shon, my shlave, turn the cart around.

STHAVARAKA: [*Does so.*] Enter, master.

SANSTHANAKA: [*Enters and looks about, then hastily gets out in terror, and falls on the courtier's neck.*] Oh, oh, oh! You're a dead man! There's a witch, or a thief, that's sitting and living in my bullock-cart. If it's a witch, we 'll both be robbed. If it's a thief, we 'll both be eaten alive.

COURTIER: Don't be frightened. How could a witch travel in a bullock-cart? I hope that the heat of the midday sun has not blinded you, so that you became the victim of an hallucination when you saw the shadow of Sthavaraka with the smock on it.

SANSTHANAKA: Sthavaraka, my little shon, my shlave, are you alive?

STHAVARAKA: Yes, sir.

SANSTHANAKA: But shir, there's a woman sitting and living in the bullock-cart. Look and see!

COURTIER: A woman?

Then let us bow our heads at once and go,
Like steers whose eyes the falling raindrops daze;
In public spots my dignity I show;
On high-born dames I hesitate to gaze.

VASANTASENA: [*In amazement. Aside.*] Oh, oh! It is that thorn in my eye, the king's brother-in-law. Alas! the danger is great. Poor woman! My coming hither proves as fruitless as the sowing of a handful of seeds on salty soil. What shall I do now?

SANSTHANAKA: Thish old shervant is afraid and he won't look into the cart. Will you look into the cart, shir?

COURTIER: I see no harm in that. Yes, I will do it.

SANSTHANAKA: Are those things jackals that I shee flying into the air, and are those things crows that walk on all fours? While the witch is chewing him with her eyes, and looking at him with her teeth, I 'll make my eshcape.

COURTIER: [*Perceives Vasantasena. Sadly to himself.*] Is it possible? The gazelle follows the tiger. Alas!

Her mate is lovely as the autumn moon,
Who waits for her upon the sandy dune;
And yet the swan will leave him? and will go
To dance attendance on a common crow?

[*Aside to Vasantasena.*] Ah, Vasantasena! This is neither right, nor worthy of you.

Your pride rejected him before,
Yet now for gold, and for your mother's will

VASANTASENA: No! [*She shakes her head.*]

COURTIER: Your nature knows your pride no more; You honor him, a common woman still. 17

Did I not tell you to "serve the man you love, and him you hate"?

VASANTASENA: I made a mistake in the cart, and thus I came hither. I throw myself upon your protection.

COURTIER: Do not fear. Come, I must deceive him. [*He returns to Sansthanaka.*] Jackass, there is indeed a witch who makes her home in the cart.

SANSTHANAKA: But shir, if a witch is living there, why are n't you robbed? And if it 's a thief, why are n't you eaten alive?

COURTIER: Why try to determine that? But if we should go back on foot through the gardens until we came to the city, to Ujjayini, what harm would that do?

SANSTHANAKA: And if we did, what then?

COURTIER: Then we should have some exercise, and should avoid tiring the bullocks.

SANSTHANAKA: All right. Sthavaraka, my shlave, drive on. But no! Shtop, shtop! I go on foot before gods and Brahmins? Not much! I 'll go in my cart, sho that people shall shee me a long way off, and shay "There he goes, our mashter, the king's brother-in-law."

COURTIER: [*Aside.*] It is hard to convert poison into medicine. So be it, then. [*Aloud.*] Jackass, this is Vasantasena, come to visit you.

VASANTASENA: Heaven forbid!

SANSTHANAKA: [*Gleefully.*] Oh, oh! To visit me, an arishtocrat, a man, a regular Vasudeva?

COURTIER: Yes.

SANSTHANAKA: This is an unheard-of piece of luck. That other time I made her angry, sho now I 'll fall at her feet and beg her pardon.

COURTIER: Capital!

SANSTHANAKA: I 'll fall at her feet myshelf. [*He approaches Vasantasena.*] Little mother, mamma dear, lishten to my prayer.

I fold my hands and fall before thy feet--
Thine eyes are large, thy teeth are clean and neat,
Thy finger-nails are ten--forgive thy shlave
What, love-tormented, he offended, shweet.

VASANTASENA: [*Angrily.*] Leave me! Your words are an insult! [*She spurns him with her foot.*]

SANSTHANAKA: [*Wrathfully.*]

Thish head that mother and that mamma kissed,
That never bent to worship god, I wist,
Upon thish head she dared to plant her feet,
Like jackals on the carrion they meet.

Sthavaraka, you shlave, where did you pick her up?

STHAVARAKA: Master, the highway was blocked by villagers' wagons. So I stopped my cart near Charudatta's orchard, and got out. And while I was helping a villager with his wagon, I suppose she mistook this cart for another, and climbed in.

SANSTHANAKA: Oho! she mishtook my cart for another? and did n't come to shee me? Get out of my cart, get out! You 're going to visit your poor merchant's shon, are you? Those are my bullocks you 're driving. Get out, get out, you shlave! Get out, get out!

VASANTASENA: Truly, you honor me when you say that I came to see Charudatta. Now what must be, must be.

SANSTHANAKA:

These hands of mine, ten-finger-naily,
These hands sho lotush-leafy,
Are itching-anxious, girl, to dally
With you; and in a jiffy
I 'll drag Your Shweetness by the hair
From the cart wherein you ride,
As did Jatayu Bali's fair,
The monkey Bali's bride.

COURTIER:

So virtuous ladies may not be
Insulted thus despitefully;

Nor garden creepers may not be
Robbed of their leaves so cruelly.

Stand up, man. I will help her to alight. Come, Vasantasena! [*Vasantasena alights and stands apart.*]

SANSTHANAKA: [*Aside.*] The flame of wrath was kindled when she despised my proposition, and now it blazes up because she kicked me. Sho now I 'll murder her. Good! Thish way. [*Aloud.*] Well, shir, what do you want?

A cloak with fringes hanging down and all,
Tied with a hundred shtrings? or good ragout,
To make you shmack your greedy lips and call
"Chuhoo, chuhoo, chukku, chuhoo, chuhooo"?

COURTIER: Well?

SANSTHANAKA: Do me a favor.

COURTIER: Certainly. Anything, unless it be a sin.

SANSTHANAKA: There's not a shmell of a shin in it, shir. Not a perfume!

COURTIER: Speak, then.

SANSTHANAKA: Murder Vasantasena.

COURTIER: [*Stopping his ears.*]

A tender lady, gem of this our city,
A courtesan whose love was stainless ever--
If I should kill her, sinless, without pity.
What boat would bear me on the gloomy river?

SANSTHANAKA: I'll give you a boat. And beshides, in thish deserted garden, who'll shee you murdering her?

COURTIER:

The regions ten, the forest gods, the sky,
The wind, the moon, the sun whose rays are light,
Virtue, my conscience--these I cannot fly,
Nor earth, that witnesses to wrong and right.

SANSTHANAKA: Well then, put your cloak over her and murder her.

COURTIER: You fool! You scoundrel!

SANSTHANAKA: The old hog is afraid of a shin. Never mind. I'll pershuade Sthavaraka, my shlave. Sthavaraka, my little shon, my shlave, I'll give you golden bracelets.

STHAVARAKA: And I'll wear them.

SANSTHANAKA: I'll have a golden sheat made for you.

STHAVARAKA: And I'll sit on it.

SANSTHANAKA: I'll give you all my leavings.

STHAVARAKA: And I'll eat them.

SANSTHANAKA: I'll make you the chief of all my shervants.

STHAVARAKA: Master, I'll be the chief.

SANSTHANAKA: You only have to attend to what I shay.

STHAVARAKA: Master, I will do anything, unless it be a sin.

SANSTHANAKA: There's not a shmell of a shin in it.

STHAVARAKA: Then speak, master.

SANSTHANAKA: Murder Vasantasena.

STHAVARAKA: Oh, master, be merciful! Unworthy as I am, I brought this worthy lady hither, because she mistook this bullock-cart for another.

SANSTHANAKA: You shlave, ain't I your mashter?

STHAVARAKA: Master of my body, not of my character. Be merciful, master, be merciful! I am afraid.

SANSTHANAKA: You're my shlave. Who are you afraid of?

STHAVARAKA: Of the other world, master.

SANSTHANAKA: Who is thish "other world"?

STHAVARAKA: Master, it is a rewarder of righteousness and sin.

SANSTHANAKA: What is the reward of righteousness?

STHAVARAKA: To be like my master, with plenty of golden ornaments.

SANSTHANAKA: What is the reward of shin?

STHAVARAKA: To be like me, eating another man's bread. That is why I will do no sin.

SANSTHANAKA: Sho you won't murder her? [*He beats him with all his might.*]

STHAVARAKA: You may beat me, master. You may kill me, master. I will do no sin.

A luckless, lifelong slave am I,
A slave I live, a slave I die;
But further woe I will not buy,
I will not, will not sin.

VASANTASENA: Sir, I throw myself upon your protection.

COURTIER: Pardon him, jackass! Well done, Sthavaraka!

Does this poor, miserable slave
Seek virtue's meed beyond the grave?

And is his lord indifferent?
Then why are not such creatures sent
To instant hell, whose sinful store
Grows great, who know not virtue more?

And again:

Ah, cruel, cruel is our fate,
And enters through the straitest gate;
Since he is slave, and you are lord,
Since he does not enjoy your hoard,
Since you do not obey his word.

SANSTHANAKA: [*Aside.*] The old jackal is afraid of a shin, and the "lifelong shlave" is afraid of the other world. Who am I afraid of, I, the king's brother-in-law, an arishtocrat, a man? [*Aloud.*] Well, shervant, you "lifelong shlave," you can go. Go to your room and resht and keep out of my way.

STHAVARAKA: Yes, master. [*To Vasantasena.*] Madam, I have no further power. [*Exit.*]

SANSTHANAKA: [*Girds up his loins.*] Wait a minute, Vasantasena, wait a minute. I want to murder you.

COURTIER: You will kill her before my eyes? [*He seizes him by the throat.*]

SANSTHANAKA: [*Falls to the ground.*] Shir, you 're murdering your mashter. [*He loses consciousness, but recovers.*]

I always fed him fat with meat,
And gave him butter too, to eat;
Now for the friend in need I search;
Why does he leave me in the lurch?

[*After reflection.*] Good! I have an idea. The old jackal gave her a hint by shaking his head at her. Sho I 'll shend him away, and then I 'll murder Vasantasena. That's the idea. [*Aloud.*] Shir, I was born in a noble family as great as a wine-glass. How could I do that shin I shpoke about? I jusht shaid it to make her love me.

COURTIER: Why should you boast of this your noble birth?

'T is character that makes the man of worth;
But thorns and weeds grow rank in fertile earth.

SANSTHANAKA: She 's ashamed to confess her love when you 're here. Please go. My shervant Sthavaraka has gone too after getting a beating. He may be running away. Catch him, shir, and come back with him.

COURTIER: [*Aside.*]

Vasantasena is too proud to own.
While I am near, her love for one so crude;
So now I leave her here with him alone;
Love's confidences long for solitude.

[*Aloud.*] Very well. I go.

VASANTASENA: [*Seizing the hem of his garment.*] Did I not throw myself upon your protection?

COURTIER: Do not fear, Vasantasena. Jackass, Vasantasena is a pledge, committed to your hand.

SANSTHANAKA: All right. Jusht let her be committed to my hand. It 's a pledge that I 'll execute.

COURTIER: Are you honest?

SANSTHANAKA: Honesht.

COURTIER: [*Takes a few steps.*] No! If I go, the wretch might kill her. I will conceal myself for a moment, and see what he intends to do. [*He stands apart.*]

SANSTHANAKA: Good! I 'll murder her. But no! Perhaps thish tricky trickshter, thish Brahmin, thish old jackal, has gone and hidden himself; he might raise a howl like the jackal he is. I 'll jusht do thish to deceive him. [*He gathers flowers and adorns himself.*] Vasantasena, my love, my love! Come!

COURTIER: Yes, he has turned lover. Good! I am content. I will go. [*Exit.*]

SANSTHANAKA:

I 'll give you gold, I 'll call you shweet;
My turbaned head adores your feet.
Why not love me, my clean-toothed girl?
Why worship such a pauper churl?

VASANTASENA: How can you ask? [*She bows her head and recites the following verses.*]

O base and vile! O wretch! What more?
Why tempt me now with gold and power?
The honey-loving bees adore
The pure and stainless lotus flower.
Though poverty may strike a good man low,
Peculiar honor waits upon his woe;
And 't is the glory of a courtesan
To set her love upon an honest man.

And I, who have loved the mango-tree, I cannot cling to the locust-tree.

SANSTHANAKA: Wench, you make that poor little Charudatta into a mango-tree, and me you call a locusht-tree, not even an acacia! That 's the way you abuse me, and even yet you remember Charudatta.

VASANTASENA: Why should I not remember him who dwells in my heart?

SANSTHANAKA: Thish very minute I 'm going to shtrangle "him who dwells in your heart," and you too. Shtand shtill, you poor-merchant-man's lover!

VASANTASENA: Oh speak, oh speak again these words that do me honor!

SANSTHANAKA: Jusht let poor Charudatta--the shon of a shlave--reshcue you now!

VASANTASENA: He would rescue me, if he saw me.

SANSTHANAKA:

Is he the king of gods? the royal ape?
Shon of a nymph? or wears a demon's shape?
The kingly deity of wind and rain?
The offshpring of the Pandu-princes' bane?
A prophet? or a vulture known afar?
A shtatesman? or a beetle? or a shtar?

But even if he was, he could n't reshcue you.

As Sita in the Bharata
Was killed by good old Chanakya,
Sho I intend to throttle thee,
As did Jatayu Draupadi.

[He raises his arm to strike her.]

VASANTASENA: Mother! where are you? Oh, Charudatta! my heart's longing is unfulfilled, and now I die! I will scream for help. No! It would bring shame on Vasantasena, should she scream for help. Heaven bless Charudatta!

SANSTHANAKA: Does the wench shpeak that rashcal's name even yet? *[He seizes her by the throat.]* Remember him, wench, remember him!

VASANTASENA: Heaven bless Charudatta!

SANSTHANAKA: Die, wench! *[He strangles her. Vasantasena loses consciousness, and falls motionless.]*

SANSTHANAKA: *[Gleefully.]*

Thish bashketful of shin, thish wench,
Thish foul abode of impudence--
She came to love, she shtayed to blench,
For Death's embrace took every sense.
But why boasht I of valorous arms and shtout?
She shimplly died because her breath gave out.
Like Sita in the Bharata, she lies.
Ah, mother mine! how prettily she dies.

She would not love me, though I loved the wench;
I shaw the empty garden, set the shnare,
And frightened her, and made the poor girl blench.
My brother! Oh, my father! Thish is where
You mishsed the shight of heroism shtout;
Your brother and your shon here blossomd out
Into a man; like Mother Draupadi,
You were not there, my bravery to shee.

Good! The old jackal will be here in a minute. I 'll shtep ashide and wait. *[He does so.] [Enter the courtier, with Sthavaraka.]*

COURTIER: I have persuaded the servant Sthavaraka to come back, and now I will look for the jackass. *[He walks about and looks around him.]* But see! A tree has fallen by the roadside, and killed a woman in its fall. O cruel! How couldst thou do this deed of shame? And when I see that a woman was slain by thy fatal fall, I too am felled to the earth. Truly, my heart's fear for Vasantasena was an evil omen. Oh, heaven grant that all may yet be well! *[He approaches Sansthanaka.]* Jackass, I have persuaded your servant Sthavaraka to return.

SANSTHANAKA: How do you do, shir? Sthavaraka, my little shon, my shlave, how do you do?

STHAVARAKA: Well, thank you.

COURTIER: Give me my pledge.

SANSTHANAKA: What pledge?

COURTIER: Vasantasena.

SANSTHANAKA: She's gone.

COURTIER: Where?

SANSTHANAKA: Right after you.

COURTIER: *[Doubtfully.]* No, she did not go in that direction.

SANSTHANAKA: In what direction did you go?

COURTIER: Toward the east.

SANSTHANAKA: Well, she went shouth.

COURTIER: So did I.

SANSTHANAKA: She went north.

COURTIER: This is nonsense. My heart is not satisfied. Speak the truth.

SANSTHANAKA: I shwear by your head, shir, and my own feet. You may be easy in your heart. I murdered her.

COURTIER: *[Despairingly.]* You really killed her?

SANSTHANAKA: If you don't believe my words, then shee the firshst heroic deed of Sansthanaka, the king's brother-in-law. *[He points out the body.]*

COURTIER: Alas! Ah, woe is me! *[He falls in a swoon.]*

SANSTHANAKA: Hee, hee! The gentleman is calm enough now!

STHAVARAKA: Oh, sir! Come to yourself! I am the first murderer, for I brought the bullock-cart hither without looking into it.

COURTIER: [*Comes to himself. Mournfully.*] Alas, Vasantasena!

The stream of courtesy is dried away,
And happiness to her own land doth flee,
Sweet gem of gems, that knew love's gentle play,
Love's mart and beauty's! Joy of men like me!
Thy mirth-shored stream, that kind and healing river--
Alas! is perished, lost, and gone forever!

[*Tearfully.*] Ah, woe is me!

What sin is yet to come, or woe,
Now thou hast done this deed of hate?
Like sin's foul self, hast thou laid low
The sinless goddess of our state.

[*Aside.*] Ah! Perhaps the wretch means to lay this sin to my charge. I must go hence. [*He walks about. Sansthanaka approaches and holds him back.*] Scoundrel! Touch me not. I have done with you. I go.

SANSTHANAKA: Aha! Firsh't you murder Vasantasena, then you abuse me, and now where will you run to? And sho a man like me has n't anybody to protect him.

COURTIER: You are an accursed scoundrel!

SANSTHANAKA:

I'll give you countless wealth, a piece of gold,
A copper, and a cap, to have and hold.
And sho the fame of thish great deed shall be
A common property, and shan't touch me.

COURTIER: A curse upon you! Yours, and yours only, be the deed.

STHAVARAKA: Heaven avert the omen! [*Sansthanaka bursts out laughing.*]

COURTIER:

Be enmity between us! Cease your mirth!
Damned be a friendship that so shames my worth!
Never may I set eyes on one so low!
I fling you off, an unstrung, broken bow.

SANSTHANAKA: Don't be angry. Come, let's go and play in the pond.

COURTIER:

Unstained my life, and yet it seems to me
Your friendship stains, and mocks my sinlessness,
You woman-murderer! How could I be
A friend to one whom women ever see
With eyes half-closed in apprehension's stress?

[*Mournfully.*] Vasantasena,

When thou, sweet maid, art born again,
Be not a courtesan reborn,
But in a house which sinless men,
And virtuous, and good, adorn.

SANSTHANAKA: Firsh't you murder Vasantasena in my old garden Pushpakaranda, and now where will you run to? Come, defend yourself in court before my shishter's husband! [*He holds him back.*]

COURTIER: Enough, you accursed scoundrel! [*He draws his sword.*]

SANSTHANAKA: [*Recoiling in terror.*] Shcared, are you? Go along, then.

COURTIER: [*Aside.*] It would be folly to remain here. Well, I will go and join myself to Sharvilaka, Chandanaka, and the rest. [*Exit.*]

SANSTHANAKA: Go to hell. Well, my little shon Sthavaraka, what kind of a thing is thish that I've done?

STHAVARAKA: Master, you have committed a terrible crime.

SANSTHANAKA: Shlave! What do you mean by talking about a crime? Well, I'll do it thish way. [*He takes various ornaments from his person.*] Take these gems. I give 'em to you. Whenever I want to wear them, I'll take them back again, but the resht of the time they are yours.

STHAVARAKA: They should be worn only by my master. What have I to do with such things?

SANSTHANAKA: Go along! Take these bullocks, and wait in the tower of my palace until I come.

STHAVARAKA: Yes, master. [*Exit.*]

SANSTHANAKA: The gentleman has made himself invisible. He wanted to save himself. And the shlave I'll put in irons in the palace tower, and keep him there. And sho the shcret will be shafe. I'll go along, but firsh't I'll take a look at her. Is she dead, or shall I murder her again? [*He looks at Vasantasena.*] Dead as a doornail! Good! I'll cover her with thish cloak. No, it has my name on it. Shome honesh't man might recognize it. Well, here are shome dry leaves that the wind has blown into a heap. I'll cover her with them. [*He does so, then pauses to reflect.*] Good! I'll do it thish way. I'll go to court at once, and there I'll lodge a complaint. I'll shay that the merchant Charudatta enticed Vasantasena into my old garden Pushpakaranda, and killed her for her money.

Yesh, Charudatta musht be slaughtered now,
And I'll invent the plan, forgetting pity;
The shacrificing of a sinless cow
Is cruel in the kindesh't-hearted city.

Now I'm ready to go. [*He starts to go away, but perceives something that frightens him.*] Goodnessh gracioush me! Wherever I go, thish damned monk comes with his yellow robes. I bored a hole in his nose once and drove him around, and he hates me.

Perhaps he'll see me, and will tell people that I murdered her. How shall I escape? [*He looks about.*] Aha! I'll jump over the wall where it is half fallen down, and escape that way.

I run, I run, I go,
In heaven, on earth below,
In hell, and in Ceylon,
Hanumat's peaks upon--
Like Indra's self, I go. [*Exit.*]

[*Enter hurriedly the Buddhist monk, ex-shampooer.*]

MONK: I've washed these rags of mine. Shall I let them dry on a branch? no, the monkeys would steal them. On the ground? the dust would make them dirty again. Well then, where shall I spread them out to dry? [*He looks about.*] Ah, here is a pile of dry leaves which the wind has blown into a heap. I'll spread them out on that. [*He does so.*] Buddha be praised! [*He sits down.*] Now I will repeat a hymn of the faith.

Who slays the Five Men, and the Female Bane,
By whom protection to the Town is given,
By whom the Outcaste impotent is slain,
He cannot fail to enter into heaven.

After all, what have I to do with heaven, before I have paid my debt to Vasantasena, my sister in Buddha? She bought my freedom for ten gold-pieces from the gamblers, and since that day I regard myself as her property. [*He looks about.*] What was that? a sigh that arose from the leaves? It cannot be.

The heated breezes heat the leaves,
The wetted garment wets the leaves,
And so, I guess, the scattered leaves
Curl up like any other leaves.

[*Vasantasena begins to recover consciousness, and stretches out her hand.*]

MONK: Ah, there appears a woman's hand, adorned with beautiful gems. What! a second hand? [*He examines it with the greatest care.*] It seems to me, I recognize this hand. Yes, there is no doubt about it. Surely, this is the hand that saved me. But I must see for myself. [*He uncovers the body, looks at it, and recognizes it.*] It is my sister in Buddha. [*Vasantasena pants for water.*] Ah, she seeks water, and the pond is far away. What shall I do? An idea! I will hold this robe over her and let it drip upon her. [*He does so. Vasantasena recovers consciousness, and raises herself. The monk fans her with his garment.*]

VASANTASENA: Who are you, sir?

MONK: Has my sister in Buddha forgotten him whose freedom she bought for ten gold-pieces?

VASANTASENA: I seem to remember, but not just as you say. It were better that I had slept never to waken.

MONK: What happened here, sister in Buddha?

VASANTASENA: [*Despairingly.*] Nothing but what is fitting--for a courtesan.

MONK: Sister in Buddha, support yourself by this creeper that clings to the tree, and rise to your feet [*He bends down the creeper. Vasantasena takes it in her hand, and rises.*]

MONK: In yonder monastery dwells one who is my sister in the faith. There shall my sister in Buddha be restored before she returns home. You must walk very slowly, sister. [*He walks about and looks around him.*] Make way, good people, make way! This is a young lady, and I am a monk, yet my conduct is above reproach.

The man whose hands, whose lips are free from greed,
Who curbs his senses, he is man indeed.
He little recks, if kingdoms fall or stand;
For heaven is in the hollow of his hand.

[*Exeunt.*]

ACT THE NINTH

THE TRIAL

[Enter a beadle.]

BEADLE:

The magistrates said to me "Come, beadle, go to the court-room, and make ready the seats." So now I am on my way to set the court-room in order. [*He walks about and looks around him.*] Here is the court-room, I will enter. [*He enters, sweeps, and puts a seat in its place.*] There! I have tidied up the court-room and put the seats in readiness, and now I will go and tell the magistrates. [*He walks about and looks around him.*] But see! Here comes that arrant knave, the king's brother-in-law. I will go away without attracting his attention. [*He stands apart. Enter Sansthanaka, in gorgeous raiment.*]

SANSTHANAKA:

I bathed where water runs and flows and purls;
I shat within a garden, park, and grove
With women, and with females, and with girls,
Whose lovely limbs with grace angelic move.

My hair is shometimes done up tight, you shee;
In locks, or curls, it hangs my forehead o'er;
Shometimes 't is matted, shometimes hanging free;
And then again, I wear a pompadour.
I am a wonder, I'm a wondrous thing.
And the husband of my shishter is the king.

And beshides, I 've found a big hole, like a worm that has crawled into the knot of a lotush-root, and is looking for a hole to creep out at. Now who was I going to accuse of thish wicked deed? [*He recalls something.*] Oh, yesh! I remember. I was going to accuse poor Charudatta of thish wicked deed. Beshides, he's poor. They 'll believe anything about him. Good! I 'll go to the court-room and lodge a public complaint against Charudatta, how he shtrangled Vasantasena and murdered her. Sho now I 'm on my way to the court-room. [*He walks about and looks around him.*] Here is the court-room. I 'll go in. [*He enters and looks about.*] Well, here are the sheats, all arranged. While I 'm waiting for the magishtbrates, I 'll jusht sit down a minute on the grass. [*He does so.*]

BEADLE: [*Walks about in another direction, and looks before him.*] Here come the magistrates. I will go to them. [*He does so.*]

[Enter the judge, accompanied by a gild-warden, a clerk, and others.]

JUDGE: Gild-warden and clerk!

GILD-WARDEN AND CLERK: We await your bidding.

JUDGE: A trial depends to such an extent upon others that the task of the magistrates--the reading of another's thoughts--is most difficult.

Men often speak of deeds that no man saw,
Matters beyond the province of the law;
Passion so rules the parties that their lies,
Hide their offenses from judicial eyes;
This side and that exaggerate a thing,
Until at last it implicates the king;
To sum it up: false blame is easy won,
A true judge little praised, or praised by none.

And again:

Men often point to sins that no man saw,
And in their anger scorn the patient law;
In court-rooms even the righteous with their lies
Hide their offenses from judicial eyes;
And those who did the deed are lost to view,
Who sinned with plaintiff and defendant too;
To sum it up: false blame is easy won,
A true judge little praised, or praised by none.

For the judge must be

Learned, and skilled in tracing fraud's sly path,
And eloquent, insensible to wrath;
To friend, foe, kinsman showing equal grace,
Reserving judgment till he know the case;
Untouched by avarice, in virtue sound.
The weak he must defend, the knave confound;
An open door to truth, his heart must cling
To others' interests, yet shun each thing
That might awake the anger of the king.

GILD-WARDEN AND CLERK: And do men speak of defects in your virtue? If so, then they speak of darkness in the moonlight.

JUDGE: My good beadle, conduct me to the court-room.

BEADLE: Follow me, Your Honor. [*They walk about.*] Here is the court-room. May the magistrates be pleased to enter. [*All enter.*]

JUDGE: My good beadle, do you go outside and learn who desires to present a case.

BEADLE: Yes, sir. [*He goes out.*] Gentlemen, the magistrates ask if there is any here who desires to present a case.

SANSTHANAKA: [*Gleefully.*] The magishtrates are here. [*He struts about.*] I desire to present a cashe, I, an arishtocrat, a man, a Vasudeva, the royal brother-in-law, the brother-in-law of the king.

BEADLE: [*In alarm.*] Goodness! The king's brother-in-law is the first who desires to present a case. Well! Wait a moment, sir. I will inform the magistrates at once. [*He approaches the magistrates.*] Gentlemen, here is the king's brother-in-law who has come to court, desiring to present a case.

JUDGE: What! the king's brother-in-law is the first who desires to present a case? Like an eclipse at sunrise, this betokens the ruin of some great man. Beadle, the court will doubtless be very busy to-day. Go forth, my good man, and say "Leave us for to-day. Your suit cannot be considered."

BEADLE: Yes, Your Honor. [*He goes out, and approaches Sansthanaka.*] Sir, the magistrates send word that you are to leave them for to-day; that your suit cannot be considered.

SANSTHANAKA: [*Wrathfully.*] Confound it! Why can't my shuit be considered? If it is n't considered, then I 'll tell my brother-in-law, King Palaka, my shishter's husband, and I 'll tell my shishter and my mother too, and I 'll have thish judge removed, and another judge appointed. [*He starts to go away.*]

BEADLE: Oh, sir! Brother-in-law of the king! Wait a moment. I will inform the magistrates at once. [*He returns to the Judge.*] The brother-in-law of the king is angry, and says--[*He repeats Sansthanaka's words.*]

JUDGE: This fool might do anything. My good man, tell him to come hither, that his suit will be considered.

BEADLE: [*Approaching Sansthanaka.*] Sir, the magistrates send word that you are to come in, that your suit will be considered. Pray enter, sir.

SANSTHANAKA: Firshst they shay it won't be considered, then they shay it will be considered. The magishtrates are shcared. Whatever I shay, I 'll make 'em believe it. Good! I 'll enter. [*He enters and approaches the magistrates.*] I am feeling very well, thank you. Whether you feel well or not--that depends on me.

JUDGE: [*Aside.*] Well, well! We seem to have a highly cultivated plaintiff. [*Aloud.*] Pray be seated.

SANSTHANAKA: Well! Thish floor belongs to me. I 'll sit down wherever I like. [*To the gild-warden.*] I'll sit here. [*To the beadle.*] Why should n't I sit here? [*He lays his hand on the Judge's head.*] I 'll sit here. [*He sits down on the floor.*]

JUDGE: You desire to present a case?

SANSTHANAKA: Of courshe.

JUDGE: Then state the case.

SANSTHANAKA: I 'll wishper it. I was born in the great family of a man as glorioush as a wine-glass.

My father's father of the king--in law;
The king, he is my daddy's son-in-law;
And I am brother to the king--in law;
And the husband of my shishter is the king.

JUDGE: All this we know.

Why should you boast of this your noble birth?
'T is character that makes the man of worth;
But thorns and weeds grow rank in fertile earth.

State your case.

SANSTHANAKA: I will, but even if I was guilty, he wouldn't do anything to me. Well, my shishter's husband liked me, and gave me the besht garden there is, the old garden Pushpakaranda, to play in and look after. And there I go every day to look at it, to keep it dry, to keep it clean, to keep it blossoming, to keep it trimmed. But fate decreed that I shaw--or rather, I didn't *shee*--the proshtrate body of a woman.

JUDGE: Do you know who the unfortunate woman was?

SANSTHANAKA: Hello, magishtrates! Why shouldn't I know? A woman like that! the pearl of the city! adorned with a hundred golden ornaments! Shomebody's unworthy shon enticed her into the old garden Pushpakaranda when it was empty, and for a mere trifle--for her money!--shtrangled Vasantasena and killed her. But I didn't--[*He breaks off, and puts his hand over his mouth.*]

JUDGE: What carelessness on the part of the city police! Gild-warden and clerk, write down the words "I didn't," as the first article in the case.

CLERK: Yes, sir. [*He does so.*] Sir, it is written.

SANSTHANAKA: [*Aside.*] Goodness! Now I've ruined myshelf, like a man that shwallows a cake of rice and milk in a hurry. Well, I'll get out of it thish way. [*Aloud.*] Well, well, magishtrates! I was jusht remarking that I didn't *shee* it happen. What are you making thish hullabaloo about? [*He wipes out the written words with his foot.*]

JUDGE: How do you know that she was strangled--and for her money?

SANSTHANAKA: Hello! Why shouldn't I think sho, when her neck was shwollen and bare, and the places where you wear jewels did n't have any gold on them?

GILD-WARDEN AND CLERK: That seems plausible.

SANSTHANAKA: [*Aside.*] Thank heaven! I breathe again. Hooray!

GILD-WARDEN AND CLERK: Upon whom does the conduct of this case depend?

JUDGE: The case has a twofold aspect.

GILD-WARDEN AND CLERK: How so?

JUDGE: We have to consider the allegations, then the facts. Now the investigation of the allegations depends upon plaintiff and defendant. But the investigation of the facts must be carried out by the wisdom of the judge.

GILD-WARDEN AND CLERK: Then the conduct of the case depends upon the presence of Vasantasena's mother?

JUDGE: Precisely. My good beadle, summon Vasantasena's mother, without, however, giving her cause for anxiety.

BEADLE: Yes, Your Honor. [*He goes out, and returns with the mother of the courtesan.*] Follow me, madam.

MOTHER: My daughter went to the house of a friend to enjoy her youth. But now comes this gentleman--long life to him!--and says "Come! The judge summons you." I find myself quite bewildered. My heart is palpitating. Sir, will you conduct me to the court-room?

BEADLE: Follow me, madam. [*They walk about.*] Here is the court-room. Pray enter, madam. [*They enter.*]

MOTHER: [*Approaching.*] Happiness be yours, most worthy gentlemen.

JUDGE: My good woman, you are very welcome. Pray be seated.

MOTHER: Thank you. [*She seats herself.*]

SANSTHANAKA: [*Abusively.*] You 're here, are you, you old bawd?

JUDGE: Tell me. Are you Vasantasena's mother?

MOTHER: I am.

JUDGE: Whither has Vasantasena gone at this moment?

MOTHER: To the house of a friend.

JUDGE: What is the name of her friend?

MOTHER: [*Aside.*] Dear me! Really, this is very embarrassing. [*Aloud.*] Any one else might ask me this, but not a judge.

JUDGE: Pray do not be embarrassed. The conduct of the case puts the question.

GILD-WARDEN AND CLERK: The conduct of the case puts the question. You incur no fault. Speak.

MOTHER: What! the conduct of the case? If that is so, then listen, worthy gentlemen. There lives in the merchants' quarter the grandson of the merchant Vinayadatta, the son of Sagaradatta, a man whose name is a good omen in itself--that name is Charudatta. In his house my daughter enjoys her youth.

SANSTHANAKA: Did you hear that? Write those words down. My contention is with Charudatta.

GILD-WARDEN AND CLERK: It is no sin for Charudatta to be her friend.

JUDGE: The conduct of this case demands the presence of Charudatta.

GILD-WARDEN AND CLERK: Exactly.

JUDGE: Dhanadatta, write as the first article in the case "Vasantasena went to the house of Charudatta." But must we summon the worthy Charudatta also? No, the conduct of the case summons him. Go, my good beadle, summon Charudatta,--but gently, without haste, without giving him cause for anxiety, respectfully, as it were incidentally,--with the words "The judge wishes to see you."

BEADLE: Yes, Your Honor. [*He goes out, then returns with Charudatta.*] Follow me, sir.

CHARUDATTA: [*Thoughtfully.*]

My character and kin are known
Unto the king who rules our state;
And in this summons there is shown
A doubt begotten of my wretched fate.

[*Reflectively. Aside.*]

Ah! Were there those, the man to recognize
Who met me on the road, from bondage freed?
Or did the king, who sees through cunning spies,
Learn that my cart was lent him in his need?
Why should I else be forced to tread the street,
Like one accused of crime, my judge to meet?

But why consider thus? I must go to the court-room. My good beadle, conduct me to the court.

BEADLE: Follow me, sir. [*They walk about.*]

CHARUDATTA: [*Apprehensively.*] And what means this?

Hear how the gloomy raven hoarsely croaks;
The slaves of justice summon me again;
My left eye twitches; these repeated strokes
Of threatened evil frighten me and pain.

BEADLE: Follow me, sir, gently and without haste.

CHARUDATTA: [*Walks about and looks before him.*]

Upon the withered tree, a crow
Turns to the sun;
His left eye falls on me. Ah, woe!
My doubt is done.

[*He looks in another direction.*] But see! a snake!

His eye is fixed upon me; and his back
Flashes like antimony's lustrous black;
His long tongue quivers; four white fangs appear;
His belly swells and coils. He slumbered here,
This prince of serpents, till I crossed his path,
And now he darts upon me in his wrath.

And more than this:

I slip, although the ground has felt no rain;
My left eye, and my left arm throb again;
Another bird is screaming overhead;
All bodes a cruel death, and hope is fled.

Surely, the gods will grant that all may yet be well.

BEADLE: Follow me, sir. Here is the court-room. Pray enter.

CHARUDATTA: [*Enters and looks about.*] How wonderfully splendid is the court-room. For it seems an ocean,
Whose waters are the king's advisers, deep
In thought; as waves and shells it seems to keep
The attorneys; and as sharks and crocodiles
It has its spies that stand in waiting files;
Its elephants and horses represent
The cruel ocean-fish on murder bent;
As if with herons of the sea, it shines
With screaming pettifoggers' numerous lines;
While in the guise of serpents, scribes are creeping
Upon its statecraft-trodden shore: the court
The likeness of an ocean still is keeping,
To which all harmful-cruel beasts resort.

Come! [*As he enters, he strikes his head against the door. Reflectively.*] Alas! This also?

My left eye throbs; a raven cries;
A serpent coils athwart my path.
My safety now with heaven lies.

But I must enter. [*He does so.*]

JUDGE: This is Charudatta.

A countenance like his, with clear-cut nose,
Whose great, wide-opened eye frank candor shows,
Is not the home of wantonness;
With elephants, with horses, and with kine,
The outer form is inner habit's sign;
With men no less.

CHARUDATTA: My greetings to the officers of justice. Officials, I salute you.

JUDGE: [*Betraying his agitation.*] You are very welcome, sir. My good beadle, give the gentleman a seat.

BEADLE: [*Brings a seat.*] Here is a seat. Pray be seated, sir. [*Charudatta seats himself.*]

SANSTHANAKA: [*Angrily.*] You're here, are you, you woman-murderer? Well! This is a fine trial, this is a just trial, where they give a seat to this woman-murderer. [*Haughtily.*] But it's all right. They can give it to him.

JUDGE: Charudatta, have you any attachment, or affection, or friendship, with this lady's daughter?

CHARUDATTA: What lady?

JUDGE: This lady. [*He indicates Vasantasena's mother.*]

CHARUDATTA: [*Rising.*] Madam, I salute you.

MOTHER: Long life to you, my son! [*Aside.*] So this is Charudatta. My daughter's youth is in good hands.

JUDGE: Sir, is the courtesan your friend? [*Charudatta betrays his embarrassment.*]

SANSTHANAKA:

He tries to hide the deed he did;
He lies, from shame or fear;
He murdered her, of her got rid
For gold, and thinks the deed is hid;
Not so his mashter here.

GILD-WARDEN AND CLERK: Speak, Charudatta. Do not be ashamed. This is a lawsuit.

CHARUDATTA: [*In embarrassment.*] Officials, how can I testify that a courtesan is my friend? But at worst, it is youth that bears the blame, not character.

JUDGE:

The case is hard; then banish shame,
Though it oppress your heart;
Speak truth with fortitude, and aim
To set deceit apart.

Do not be embarrassed. The conduct of the case puts the question.

CHARUDATTA: Officer, with whom have I a lawsuit?

SANSTHANAKA: [*Arrogantly.*] With me!

CHARUDATTA: A lawsuit with you is unendurable!

SANSTHANAKA: Well, well, woman-murderer! You murder a woman like Vasantasena who used to wear a hundred gems, and now you try deceitful deceivings to hide it!

CHARUDATTA: You are a fool.

JUDGE: Enough of him, good Charudatta. Speak the truth. Is the courtesan your friend?

CHARUDATTA: She is.

JUDGE: Sir, where is Vasantasena?

CHARUDATTA: She has gone home.

GILD-WARDEN AND CLERK: How did she go? When did she go? Who accompanied her?

CHARUDATTA: [*Aside.*] Shall I say that she went unobserved?

GILD-WARDEN AND CLERK: Speak, sir.

CHARUDATTA: She went home. What more shall I say?

SANSTHANAKA: She was enticed into my old garden Pushpakaranda, and was shtrangled for her money. Now will you shay that she went home?

CHARUDATTA: Man, you are crazy.

The very clouds of heaven wet not you;
Your lips are like the blue-jay's wing-tip worn,
Yes, full as fickle with their speech untrue,
And like the winter lotus lustre-lorn.

JUDGE: [*Aside.*]

Take the Himalayan hills within your hand,
And swim from ocean strand to ocean strand,
And hold within your grasp the fleeting wind:
Then may you think that Charudatta sinned.

[*Aloud.*] This is the noble Charudatta. How could he commit this crime? [*He repeats the verse "A countenance like his:" page 141.*]

SANSTHANAKA: Why thish partiality in a lawshuit?

JUDGE: Away, you fool!

Illiterate, you gloss the Sacred Law,
And still your tongue uninjured find?
The midday sun with steadfast eye you saw,
And are not straightway stricken blind?
You thrust your hand into the blazing fire,
And draw it forth, unscathed and sound?
Drag Charudatta's virtue in the mire,
Nor sink beneath this yawning ground?

How could the noble Charudatta commit a crime?

Of all the riches of the mighty sea
Only the swelling waters now are left,
Because, without consideration, he--
For others' good--himself of all has reft.
And should this high-souled man, this store-house where
All gems of virtue gather and unite,
For lucre's sake, so foul a trespass dare
That in it even his foe could not delight?

MOTHER: You scoundrel! When the golden casket that was left with him as a pledge was stolen by thieves at night, he gave in place of it a pearl necklace that was the pride of the four seas. And he should now, for a mere trifle--for her money!--do this sin? Oh, my child, come back to me, my daughter! [*She weeps.*]

JUDGE: Noble Charudatta, did she go on foot, or in a bullock-cart?

CHARUDATTA: I did not see her when she went. Therefore I do not know whether she went on foot, or in a bullock-cart.

[*Enter Viraka, in anger.*]

VIRAKA:

My anger was so prodded to the quick,
By that dishonoring, insulting kick,
And so I brooded, till at last the night
Unwilling yielded to the dawning light.

So now I will go to the court-room. [*He enters.*] May happiness be the lot of these honorable gentlemen.

JUDGE: Ah, it is Viraka, the captain of the guard. Viraka, what is the purpose of your coming?

VIRAKA: Well! I was looking for Aryaka, in all the excitement about his escape from prison. I had my suspicions about a covered bullock-cart that was coming, and wanted to look in. "You've made one inspection, man, I must make another," said I, and then I was kicked by the highly respectable Chandanaka. You have heard the matter, gentlemen. The rest is your affair.

JUDGE: My good man, do you know to whom the bullock-cart belonged?

VIRAKA: To this gentleman here, Charudatta. And the driver said that Vasantasena was in it, and was on her way to have a good time in the old garden Pushpakaranda.

SANSTHANAKA: Lishten to that, too!

JUDGE:

This moon, alas, though spotless-bright,
Is now eclipsed, and robbed of light;
The bank is fallen; the waves appear
Befouled, that once were bright and clear.

Viraka, we will investigate your case here later. Mount the horse that stands before the court-room door, go to the garden Pushpakaranda, and see whether a woman has perished there or not.

VIRAKA: Yes, sir. [*He goes out, then returns.*] I have been there. And I saw the body of a woman, torn by wild beasts.

GILD-WARDEN AND CLERK: How do you know that it was the body of a woman?

VIRAKA: That I perceived from the traces of hair and arms and hands and feet.

JUDGE: Alas for the difficulties which are caused by the actions of men!

The more one may apply his skill,
The harder is the matter still;
Plain are indeed the law's demands,
Yet judgment insecurely stands
As some poor cow on shifting sands.

CHARUDATTA: [*Aside.*]

As bees, when flowers begin to blow,
Gather to sip the honey, so
When man is marked by adverse fate,
Misfortunes enter every gate.

JUDGE: Noble Charudatta, speak truth!

CHARUDATTA:

A mean and jealous creature, passion-blind,
Sets all his soul, some fatal means to find
To slay the man he envies; shall his lies
By evil nature prompted, win the prize?
No! he is unregarded by the wise.

And more than this:

The creeper's beauty would I never blight,
Nor pluck its flowers; should I not be afraid
To seize her hair so lovely-long, and bright
As wings of bees, and slay a weeping maid?

SANSTHANAKA: Hello, magistrates! How can you investigate the cashe with such partiality? Why, even now you let this scoundrel Charudatta shtay on his sheat.

JUDGE: My good beadle, so be it [*The beadle follows Sansthanaka's suggestion.*]

CHARUDATTA: Consider, magistrates, consider what you are doing! [*He leaves his seat, and sits on the floor.*]

SANSTHANAKA: [*Dancing about gleefully. Aside.*] Fine! The shin that I did falls on another man's head. Sho I'll sit where Charudatta was. [*He does so.*] Look at me, Charudatta, and confess that you murdered her.

CHARUDATTA: Magistrates!

A mean and jealous creature, passion-blind,
Sets all his soul, some fatal means to find
To slay the man he envies; shall his lies,
By evil nature prompted, win the prize?
No! he is unregarded by the wise.

[*Sighing. Aside.*]

My friend Maitreya! Oh, this cruel blow!
My wife, thou issue of a spotless strain!
My Rohasena! Here am I, laid low
By sternest fate; and thou, thou dost not know
That all thy childish games are played in vain.
Thou playest, heedless of another's pain!

But Maitreya I sent to Vasantasena, that he might bring me tidings of her, and might restore the jewels which she gave my child, to buy him a toy cart. Why then does he linger?

[*Enter Maitreya with the gems.*]

MAITREYA: Charudatta bade me go to Vasantasena, to return her jewels, and he said to me: "Maitreya, Vasantasena adorned my dear Rohasena with her own jewels, and sent him thus to his mother. It was fitting that she should give him the jewels, but not that we should receive them. Therefore restore them to her." So now I will go to Vasantasena's house. [*He walks about and looks around, then speaks to a person behind the scenes.*] Ah, it is Master Rebhila. Oh, Master Rebhila, why do you seem so exceedingly troubled? [*He listens.*] What! do you mean to say that my dear friend Charudatta has been summoned to court? That can hardly be an insignificant matter. [*He reflects.*] I will go to Vasantasena's house later, but now I will go to the court-room. [*He walks about and looks around.*] Here is the court-room. I will go in at once. [*He enters.*] May happiness be the lot of the magistrates. Where is my friend?

JUDGE: Here.

MAITREYA: My friend, I wish you happiness.

CHARUDATTA: It will be mine.

MAITREYA: And peace.

CHARUDATTA: That too will be mine.

MAITREYA: My friend, why do you seem so exceedingly troubled? And why were you summoned?

CHARUDATTA: My friend,

A scoundrel I, who bear the blame,
Nor seek in heaven to be blest;
A maid--or goddess--'t is the same--
But *he* will say the rest.

MAITREYA: What? what?

CHARUDATTA: [*Whispers.*] That is it.

MAITREYA: Who says that?

CHARUDATTA: [*Indicating Sansthanaka.*] This poor fellow is the instrument that fate uses to accuse me.

MAITREYA: [*Aside to Charudatta.*] Why don't you simply say that she went home?

CHARUDATTA: Though I say it, it is not believed, so unfortunate is my condition.

MAITREYA: But gentlemen! He adorned the city of Ujjayini with mansions, cloisters, parks, temples, pools, and fountains, and he should be mad enough to commit such a crime--and for a mere trifle? [*Wrathfully.*] You offspring of a loose wench, you brother-in-law of the king, Sansthanaka, you libertine, you slanderer, you buffoon, you gilded monkey, say it before me! This

friend of mine does n't even draw a flowering jasmine creeper to himself, to gather the blossoms, for fear that a twig might perhaps be injured. How should he commit a crime like this, which heaven and earth call accursed? Just wait, you son of a bawd! Wait till I split your head into a hundred pieces with this staff of mine, as crooked as your heart.

SANSTHANAKA: [*Angrily.*] Lishten to that, gentlemen! I have a quarrel, or a lawshuit, with Charudatta. What right has a man with a pate that looks like a caret, to shplit my head into a hundred pieces? Not much! You confounded rashcal! [*Maitreya raises his staff and repeats his words. Sansthanaka rises angrily and strikes him. Maitreya strikes back. During the scuffle the jewels fall from Maitreya's girdle.*]

SANSTHANAKA: [*Picks up the jewels and examines them. Excitedly.*] Look, gentlemen, look! These are the poor girl's jewels! [*Pointing to Charudatta.*] For a trifle like this he murdered her, and killed her too. [*The magistrates all bow their heads.*]

CHARUDATTA: [*Aside to Maitreya.*]

'T is thus my fate would vent its gall,
That at this moment they should fall,
These gems--and with them, I.

MAITREYA: But why don't you simply tell the truth?

CHARUDATTA: My friend,

The king perceives with blinded eye,
Nor on the truth that eye will bend;
Though telling all, I cannot fly
A wretched and inglorious end.

JUDGE: Alas! Alas!

With Mars strives Jupiter, and dies;
Beside them both there seems to rise
A comet-planet in the skies.

GILD-WARDEN AND CLERK: [*Looking at the casket. To Vasantasena's mother.*] Madam, pray examine this golden casket attentively, to see whether it be the same or not.

MOTHER: [*Examining the casket.*] It is similar, but not the same.

SANSTHANAKA: Oh, you old bawd! You confess it with your eyes, and deny it with your lips.

MOTHER: Away, you scoundrel!

GILD-WARDEN AND CLERK: Speak carefully. Is it the same or not?

MOTHER: Sir, the craftsman's skill captivates the eye. But it is not the same.

JUDGE: My good woman, do you know these jewels?

MOTHER: No, I said. No! I don't recognize them; but perhaps they were made by the same craftsman.

JUDGE: Gild-warden, see!

Gems often seem alike in many ways,
When the artist's mind on form and beauty plays;
For craftsmen imitate what they have seen,
And skilful hands remake what once has been.

GILD-WARDEN AND CLERK: Do these jewels belong to Charudatta?

CHARUDATTA: Never!

GILD-WARDEN AND CLERK: To whom then?

CHARUDATTA: To this lady's daughter.

GILD-WARDEN AND CLERK: How did she lose them?

CHARUDATTA: She lost them. Yes, so much is true.

GILD-WARDEN AND CLERK: Charudatta, speak the truth in this matter. For you must remember,

Truth brings well-being in its train;
Through speaking truth, no evils rise;
Truth, precious syllable!--Refrain
From hiding truth in lies.

CHARUDATTA: The jewels, the jewels! I do not know. But I do know that they were taken from my house.

SANSTHANAKA: Firsh't you take her into the garden and murder her. And now you hide it by tricky trickinessh.

JUDGE: Noble Charudatta, speak the truth!

Merciless lashes wait to smite
This moment on thy tender flesh;
And we--we can but think it right.

CHARUDATTA:

Of sinless sires I boast my birth,
And sin in me was never found;
Yet if suspicion taints my worth,
What boots it though my heart be sound?

[*Aside.*] And yet I know not what to do with life, so I be robbed of Vasantasena. [*Aloud.*] Ah, why waste words?

A scoundrel I, who bear the blame,
Nor think of earth, nor heaven blest;
That sweetest maid, in passion's flame--
But *he* will say the rest.

SANSTHANAKA: Killed her! Come, you shay it too. "I killed her."

CHARUDATTA: You have said it.

SANSTHANAKA: Lishten, my mashters, lishten! He murdered her! No one but him! Doubt is over. Let punishment be inflicted on the body of this poor Charudatta.

JUDGE: Beadle, we must do as the king's brother-in-law says. Guardsmen, lay hold on this Charudatta. [*The guardsmen do so.*]

MOTHER: Be merciful, good gentlemen, be merciful! [*She repeats what she had said before, beginning "When the golden casket:" page 143.*] If my daughter is killed, she is killed. Let him live for me--bless him! And besides, a lawsuit is a matter between plaintiff and defendant. I am the real plaintiff. So let him go free!

SANSTHANAKA: You shlave, get out of the way! What have you got to shay about him?

JUDGE: Go, madam. Guardsmen, conduct her forth.

MOTHER: Oh, my child, my son! [*Exit weeping.*]

SANSTHANAKA: [*Aside.*] I 've done shomething worthy of myself. Now I 'll go. [*Exit.*]

JUDGE: Noble Charudatta, the decision lies with us, but the rest depends on the king. And yet, beadle, let King Palaka be reminded of this:

The Brahmin who has sinned, our laws declare,
May not be slain, but banished from the realm,
And with his wealth entire abroad may fare.

BEADLE: Yes, Your Honor. [*He goes out, then reenters in tears.*] Oh, sirs, I was with the king. And King Palaka says: "Inasmuch as he killed Vasantasena for such a trifle, these same jewels shall be hung about his neck, the drum shall be beaten, he shall be conducted to the southern burying-ground, and there impaled." And whoever else shall commit such a crime, shall be punished with the like dreadful doom.

CHARUDATTA: Oh, how wanton is this act of King Palaka! Nevertheless,

Although his counsellors may plunge a king
Into injustice' dangers great,
Yet he will reap the woe and suffering;
And 't is a righteous fate.

And more than this:

They who pervert the king's true bent,
The white crow's part who play,
Have slain their thousands innocent,
And slay, and slay, and slay.

My friend Maitreya, go, greet the mother of my son in my name for the last time. And keep my son Rohasena free from harm.

MAITREYA: When the root is cut away, how can the tree be saved?

CHARUDATTA: No, not so.

When man departs to worlds above,
In living son yet liveth he;
Bestow on Rohasena love
No less than that thou gavest me.

MAITREYA: Oh, my friend! I will prove myself your friend by continuing the life that you leave unfinished.

CHARUDATTA: And let me see Rohasena for a single moment.

MAITREYA: I will. It is but fitting.

JUDGE: My good beadle, remove this man. [*The beadle does so.*] Who is there? Let the headsman receive their orders. [*The guardsmen loose their hold on Charudatta, and all of them go out.*]

BEADLE: Come with me, sir.

CHARUDATTA: [*Mournfully repeats the verse, page 146, beginning "My friend Maitreya!" Then, as if speaking to one not present.*]

If you had proved my conduct by the fire,
By water, poison, scales, and thus had known
That I deserved that saws should bite my bone,
My Brahmin's frame, more could I not desire.
You trust a foeman, slay me thus? 'T is well.
With sons, and sons' sons, now you plunge to hell!

I come! I come! [*Exeunt omnes.*]

ACT THE TENTH

THE END

[Enter Charudatta, accompanied by two headsmen.]

HEADSMEN:

Then think no longer of the pain;
In just a second you 'll be slain.
We understand the fashions new
To fetter you and kill you too.
In chopping heads we never fail,
Nor when the victim we impale.

Out of the way, gentlemen, out of the way! This is the noble Charudatta.

The oleander on his brow,
In headsmen's hands you see him now;
Like a lamp whose oil runs nearly dry,
His light fades gently, ere it die.

CHARUDATTA: [*Gloomily.*]

My body wet by tear-drops falling, falling;
My limbs polluted by the clinging mud;
Flowers from the graveyard torn, my wreath appalling;
For ghastly sacrifice hoarse ravens calling,
And for the fragrant incense of my blood.

HEADSMEN: Out of the way, gentlemen, out of the way!

Why gaze upon the good man so?
The ax of death soon lays him low.
Yet good men once sought shelter free,
Like birds, upon this kindly tree.

Come, Charudatta, come!

CHARUDATTA: Incalculable are the ways of human destiny, that I am come to such a plight!

Red marks of hands in sandal paste
O'er all my body have been placed;
The man, with meal and powder strewn,
Is now to beast of offering grown.

[*He gazes intently before him.*] Alas for human differences! [*Mournfully.*]

For when they see the fate that I must brave,
With tears for death's poor victim freely given,
The citizens cry "shame," yet cannot save,--
Can only pray that I attain to heaven.

HEADSMEN: Out of the way, gentlemen, out of the way! Why do you gaze upon him?

God Indra moving through the sky,
The calving cow, the falling star,
The good man when he needs must die,--
These four behold not from afar.

GOHA: Look, Ahinta! Look, man!

While he, of citizens the best,
Goes to his death at fate's behest,
Does heaven thus weep that he must die?
Does lightning paint the cloudless sky?

AHINTA: Goha, man,

The heaven weeps not that he must die,
Nor lightning paints the cloudless sky;
Yet streams are falling constantly
From many a woman's clouded eye.

And again:

While this poor victim to his death is led,
No man nor woman here but sorely weeps;
And so the dust, by countless tear-drops fed,
Thus peacefully upon the highway sleeps.

CHARUDATTA: [*Gazes intently. Mournfully.*]

These women, in their palaces who stay,
From half-shut windows peering, thus lament,
"Alas for Charudatta! Woe the day!"
And pity-streaming eyes on me are bent.

HEADSMEN: Come, Charudatta, come! Here is the place of proclamation. Beat the drum and proclaim the sentence.

Listen, good people, listen! This is the noble Charudatta, son of Sagaradatta, and grandson of the merchant Vinayadatta. This malefactor enticed the courtesan Vasantasena into the deserted old garden Pushpakaranda, and for a mere trifle murdered her by strangling. He was taken with the booty, and confessed his guilt. Therefore are we under orders from King Palaka to execute him.

And if any other commit such a crime, accursed in this world and the next, him too King Palaka condemns to the like punishment.

CHARUDATTA: [*Despondently. Aside.*]

By hundred sacrifices purified,
My radiant name
Was once proclaimed by countless altars' side,
And knew no blame.
Now comes my hour of death, and evil men
Of baser fame
In public spots proclaim it once again,
But linked with shame.

[*He looks up and stops his ears.*]

Vasantasena! Oh, my beloved!
From thy dear lips, that vied with coral's red,
Betraying teeth more bright than moonbeams fair,
My soul with heaven's nectar once was fed.
How can I, helpless, taste that poison dread,
To drink shame's poisoned cup how can I bear?

HEADSMEN: Out of the way, gentlemen, out of the way!

This treasure-house, with pearls of virtue stored,
This bridge for good men o'er misfortune's river,
This gem now robbed of all its golden hoard,
Departs our town to-day, departs forever.

And again:

Whom fortune favors, find
That all the world is kind;
Whose happy days are ended,
Are rarely thus befriended.

CHARUDATTA: [*Looks about him.*]

Their faces with their garments' hem now hiding,
They stand afar, whom once I counted friends:
Even foes have smiles for men with Fortune bidding:
But friends prove faithless when good fortune ends.

HEADSMEN: They are out of the way. The street is cleared. Lead on the condemned criminal.

CHARUDATTA: [*Sighing.*]

My friend Maitreya! Oh, this cruel blow!
My wife, thou issue of a spotless strain!
My Rohasena! Here am I, laid low
By sternest fate; and thou, thou dost not know
That all thy childish games are played in vain.
Thou playest, heedless of another's pain! (ix. 29)

VOICES OFFSTAGE: My father! Oh, my friend!

CHARUDATTA: [*Listens. Mournfully.*] You are a leader in your own caste. I would beg a favor at your hands.

HEADSMEN: From *our* hands you would receive a favor?

CHARUDATTA: Heaven forbid! Yet a headsmen is neither so wanton nor so cruel as King Palaka. That I may be happy in the other world, I ask to see the face of my son.

HEADSMEN: So be it.

VOICE OFFSTAGE: My father! oh, my father! [*Charudatta hears the words, and mournfully repeats his request.*]

HEADSMEN: Citizens, make way a moment. Let the noble Charudatta look upon the face of his son. [*Turning to the back of the stage.*] This way, sir! Come on, little boy!

[*Enter Maitreya, with Rohasena.*]

MAITREYA: Make haste, my boy, make haste! Your father is being led to his death.

ROHASENA: My father! oh, my father!

MAITREYA: Oh, my friend! Where must I behold you now?

CHARUDATTA: [*Perceives his son and his friend.*] Alas, my son! Alas, Maitreya! [*Mournfully.*] Ah, woe is me!

Long, too long, shall I thirst in vain
Through all my sojourn dread;
This vessel small will not contain
The water for the dead.

What may I give my son? [*He looks at himself, and perceives the sacrificial cord.*] Ah, this at least is mine.

The precious cord that Brahmins hold
Is unadorned with pearls and gold;
Yet, girt therewith, they sacrifice
To gods above and fathers old.

[*He gives Rohasena the cord.*]

GOHA: Come, Charudatta! Come, man!

AHINTA: Man, do you name the noble Charudatta's name, and forget the title? Remember:

In happy hours, in death, by night, by day,
Roving as free as a yet unbroken colt,
Fate wanders on her unrestricted way.

And again:

Life will depart his body soon;
Shall our reproaches bow his head?
Although eclipse may seize the moon,
We worship while it seems but dead.

ROHASENA: Oh, headsmen, where are you leading my father?

CHARUDATTA: My darling,

About my neck I needs must wear
The oleander-wreath;
Upon my shoulder I must bear
The stake, and in my heart the care
Of near-approaching death.
I go to-day to meet a dastard's ending,
A victim, at the fatal altar bending.

GOHA: My boy,

Not we the headsmen are,
Though born of headsmen race;
Thy father's life who mar,
These, these are headsmen base.

ROHASENA: Then why do you murder my father?

GOHA: Bless you, 't is the king's orders must bear the blame, not we.

ROHASENA: Kill me, and let father go free.

GOHA: Bless you, may you live long for saying that!

CHARUDATTA: [*Tearfully embracing his son.*]

This treasure--love--this taste of heaven,
To rich and poor alike is given;
Than sandal better, or than balm,
To soothe the heart and give it calm.

About my neck I needs must wear
The oleander-wreath,
Upon my shoulder I must bear
The stake, and in my heart the care
Of near-approaching death.
I go to-day to meet a dastard's ending,
A victim, at the fatal altar bending.

[*He looks about. Aside.*]

Their faces with their garments' hem now hiding,
They stand afar, whom once I counted friends:
Even foes have smiles

MAITREYA: My good men, let my dear friend Charudatta go free, and kill me instead.

CHARUDATTA: Heaven forbid! [*He looks about. Aside.*] Now I understand.

for men with Fortune biding;
But friends prove faithless when good fortune ends.

[*Aloud.*]

These women, in their palaces who stay,
From half-shut windows peering, thus lament,
"Alas for Charudatta! Woe the day!"
And pity-streaming eyes on me are bent.

GOHA: Out of the way, gentlemen, out of the way!

Why gaze upon the good man so,
When shame his living hope lays low?
The cord was broken at the well,
And down the golden pitcher fell.

CHARUDATTA: [*Mournfully.*]

From thy dear lips, that vied with coral's red,
Betraying teeth more bright than moonbeams fair,
My soul with heaven's nectar once was fed.
How can I, helpless, taste that poison dread,
To drink shame's poisoned cup how can I bear?

AHINTA: Proclaim the sentence again, man. [*Goha does so.*]

CHARUDATTA:

So lowly fallen! till shame my virtues blur,
Till such an ending seem not loss, but gain!
Yet o'er my heart there creeps a saddening pain,
To hear them cry abroad "You murdered *her*!"

[Enter Sthavaraka, fettered, in the palace tower.]

STHAVARAKA: [After listening to the proclamation. In distress.] What! the innocent Charudatta is being put to death? And my master has thrown me into chains! Well, I must shout to them.--Listen, good gentlemen, listen! It was I, wretch that I am, who carried Vasantasena to the old garden Pushpakaranda, because she mistook my bullock-cart for another. And then my master, Sansthanaka, found that she would not love him, and it was he, not this gentleman, who murdered her by strangling.--But they are so far away that no one hears me. What shall I do? Shall I cast myself down? [He reflects.] If I do, then the noble Charudatta will not be put to death. Yes, through this broken window I will throw myself down from the palace tower. Better that I should meet my end, than that the noble Charudatta should perish, this tree of life for noble youths. And if I die in such a cause, I have attained heaven. [He throws himself down.] Wonderful! I did not meet my end, and my fetters are broken. So I will follow the sound of the headsmen's voices. [He discovers the headsmen, and hastens forward.] Headsmen, headsmen, make way!

HEADSMEN: For whom shall we make way?

STHAVARAKA: Listen, good gentlemen, listen! It was I, wretch that I am, who carried Vasantasena to the old garden Pushpakaranda, because she mistook my bullock-cart for another. And then my master, Sansthanaka, found that she would not love him, and it was he, not this gentleman, who murdered her by strangling.

CHARUDATTA: Thank heaven!

But who thus gladdens this my latest morn,
When in Time's snare I struggle all forlorn,
A streaming cloud above the rainless corn?

Listen! do you hear what I say?

Death have I never feared, but blackened fame;
My death were welcome, coming free from shame,
As were a son, new-born to bear my name.

And again:

That small, weak fool, whom I have never hated,
Stained me with sin wherewith himself was mated,
An arrow, with most deadly poison baited.

HEADSMEN: Are you telling the truth, Sthavaraka?

STHAVARAKA: I am. And to keep me from telling anybody, he cast me into chains, and imprisoned me in the tower of his palace.

[Enter Sansthanaka.]

SANSTHANAKA: [Gleefully.]

I ate a shour and bitter dish
Of meat and herbs and shoup and fish;
I tried at home my tongue to tickle
With rice-cakes plain, and rice with treacle.

[He listens.] The headsmen's voices! They sound like a broken brass cymbal. I hear the music of the fatal drum and the kettle-drums, and sho I shuppose that that poor man, Charudatta, is being led to the place of execution. I musht go and shee it. It is a great delight to shee my enemy die. Beshides, I 've heard that a man who shees his enemy being killed, is sure not to have shore eyes in his next birth. I acted like a worm that had crept into the knot of a lotush-root. I looked for a hole to crawl out at, and brought about the death of thish poor man, Charudatta. Now I 'll climb up the tower of my own palace, and have a look at my own heroic deeds. [He does so and looks about.] Wonderful what a crowd there is, to shee that poor man led to his death! What would it be when an arishtocrat, a big man like me, was being led to his death? [He gazes.] Look! There he goes toward the shouth, adorned like a young shteer. But why was the proclamation made near my palace tower, and why was it shtopped? [He looks about.] Why, my shlave Sthavaraka is gone, too. I hope he has n't run away and betrayed the shecret. I musht go and look for him. [He descends and approaches the crowd.]

STHAVARAKA: [Discovers him.] There he comes, good masters!

HEADSMEN:

Give way! Make room! And shut the door!
Be silent, and say nothing more!
Here comes a mad bull through the press,
Whose horns are sharp with wickedness.

SANSTHANAKA: Come, come, make way! [He approaches.] Sthavaraka, my little shon, my shlave, come, let 's go home.

STHAVARAKA: You scoundrel! Are you not content with the murder of Vasantasena? Must you try now to murder the noble Charudatta, that tree of life to all who loved him?

SANSTHANAKA: I am beautiful as a pot of jewels. I kill no woman!

BYSTANDERS: Oho! *you* murdered her, not the noble Charudatta.

SANSTHANAKA: Who shays that?

BYSTANDERS: [Pointing to Sthavaraka.] This honest man.

SANSTHANAKA: [Fearfully. Aside.] Merciful heavens! Why did n't I chain that shlave Sthavaraka fasht? Why, he was a witnesssh of my crime. [He reflects.] I 'll do it thish way. [Aloud.] Lies, lies, good gentlemen. Why, I caught the shlave shteating gold, and I pounded him, and murdered him, and put him in chains. He hates me. What he shays can't be true. [He secretly hands Sthavaraka a bracelet, and whispers.] Sthavaraka, my little shon, my shlave, take thish and shay shomething different.

STHAVARAKA: [Takes it.] Look, gentlemen, look! Why, he is trying to bribe me with gold.

SANSTHANAKA: [Snatches the bracelet from him.] That 's the gold that I put him in chains for. [Angrily.] Look here, headsmen! I put him in charge of my gold-chest, and when he turned thief, I murdered him and pounded him. If you don't believe it, jusht look at his back.

HEADSMEN: [Doing so.] Yes, yes. When a servant is branded that way, no wonder he tells tales.

STHAVARAKA: A curse on slavery! A slave convinces nobody. [*Mournfully.*] Noble Charudatta, I have no further power. [*He falls at Charudatta's feet.*]

CHARUDATTA: [*Mournfully.*]

Rise, rise! Kind soul to good men fallen on pain!
Brave friend who lendest such unselfish aid!
Thy greatest toil to save me was in vain,
For fate would not. Thy duty now is paid.

HEADSMEN: Beat your servant, master, and drive him away.

SANSTHANAKA: Out of the way, you! [*He drives Sthavaraka away.*] Come, headsmen, what are you waiting for? Kill him.

HEADSMEN: Kill him yourself, if you are in a hurry.

ROHASENA: Oh, headsmen, kill me and let father go free.

SANSTHANAKA: Yesh, shon *and* father, kill them both.

CHARUDATTA: This fool might do anything. Go, my son, to your mother.

ROHASENA: And what should I do then?

CHARUDATTA:

Go with thy mother to a hermitage;
No moment, dear, delay;
Lest of thy father's fault thou reap the wage,
And tread the selfsame way.

And you, my friend, go with him.

MAITREYA: Oh, my friend, have you so known me as to think that I can live without you?

CHARUDATTA: Not so, my friend. Your life is your own. You may not throw it away.

MAITREYA: [*Aside.*] True. And yet I cannot live apart from my friend. And so, when I have taken the boy to his mother, I will follow my friend even in death. [*Aloud.*] Yes, my friend, I will take him to her at once. [*He embraces Charudatta, then falls at his feet. Rohasena does the same, weeping.*]

SANSTHANAKA: Look here! Did n't I tell you to kill Charudatta, and his shon, too? [*At this, Charudatta betrays fear.*]

HEADSMEN: We have n't any orders from the king to kill Charudatta, and his son, too. Run away, boy, run away! [*They drive Rohasena away.*] Here is the third place of proclamation. Beat the drum! [*They proclaim the sentence again.*]

SANSTHANAKA: [*Aside.*] But the citizens don't believe it. [*Aloud.*] Charudatta, you jackanapes, the citizens don't believe it. Shay it with your own tongue, "I murdered Vasantasena." [*Charudatta remains silent.*] Look here, headsmen! The man won't shpeak, the jackanapes Charudatta. Jusht make him shpeak. Beat him a few times with thish ragged bamboo, or with a chain.

GOHA: [*Raises his arm to strike.*] Come, Charudatta, speak!

CHARUDATTA: [*Mournfully.*]

Now am I sunk so deep in sorrow's sea,
I know no fear, I know no sadness more;
Yet even now one flame still tortures me,
That men should say I slew whom I adore.

[*Sansthanaka repeats his words.*]

CHARUDATTA: Men of my own city!

A scoundrel I, who bear the blame,
Nor seek in heaven to be blest;
A maid--or goddess--'t is the same--
But *he* will say the rest. (ix. 30)

SANSTHANAKA: Killed her!

CHARUDATTA: So be it.

GOHA: It 's your turn to kill him, man.

AHINTA: No, yours.

GOHA: Well, let 's reckon it out. [*He does so at great length.*] Well, if it 's my turn to kill him, we will just let it wait a minute.

AHINTA: Why?

GOHA: Well, when my father was going to heaven, he said to me, "Son Goha, if it 's your turn to kill him, don't kill the sinner too quick."

AHINTA: But why?

GOHA: "Perhaps," said he, "some good man might give the money to set him free. Perhaps a son might be born to the king, and to celebrate the event, all the prisoners might be set free. Perhaps an elephant might break loose, and the prisoner might escape in the excitement. Perhaps there might be a change of kings, and all the prisoners might be set free."

SANSTHANAKA: What? What? A change of kings?

GOHA: Well, let 's reckon it out, whose turn it is.

SANSTHANAKA: Oh, come! Kill Charudatta at once. [*He takes Sthavaraka, and withdraws a little.*]

HEADSMEN: Noble Charudatta, it is the king's commandment that bears the blame, not we headsmen. Think then of what you needs must think.

CHARUDATTA:

Though slandered by a cruel fate,
And stained by men of high estate,
If that my virtue yet regarded be,
Then she who dwells with gods above

Or wheresoever else--my love--
By her sweet nature wipe the stain from me!

Tell me. Whither would you have me go?

GOHA: [*Pointing ahead.*] Why, here is the southern burying-ground, and when a criminal sees that, he says good-by to life in a minute. For look!

One half the corpse gaunt jackals rend and shake,
And ply their horrid task;
One half still hangs impaled upon the stake,
Loud laughter's grinning mask.

CHARUDATTA: Alas! Ah, woe is me! [*In his agitation he sits down.*]

SANSTHANAKA: I won't go yet. I'll just see Charudatta killed. [*He walks about, gazing.*] Well, well! He shat down.

GOHA: Are you frightened, Charudatta?

CHARUDATTA: [*Rising hastily.*] Fool!

Death have I never feared, but blackened fame;
My death were welcome, coming free from shame,
As were a son, new-born to bear my name.

GOHA: Noble Charudatta, the moon and the sun dwell in the vault of heaven, yet even they are overtaken by disaster. How much more, death-fearing creatures, and men! In this world, one rises only to fall, another falls only to rise again. But from him who has risen and falls, his body drops like a garment. Lay these thoughts to heart, and be strong. [*To Ahinta.*] Here is the fourth place of proclamation. Let us proclaim the sentence. [*They do so once again.*]

CHARUDATTA:

Vasantasena! Oh, my beloved!
From thy dear lips, that vied with coral's red,
Betraying teeth more bright than moonbeams fair,
My soul with heaven's nectar once was fed.
How can I, helpless, taste that poison dread,
To drink shame's poisoned cup how can I bear?

[*Enter, in great agitation, Vasantasena and the Buddhist monk.*]

MONK: Strange! My monkish life did me yeoman service when it proved necessary to comfort Vasantasena, so untimely wearied, and to lead her on her way. Sister in Buddha, whither shall I lead you?

VASANTASENA: To the noble Charudatta's house. Revive me with the sight of him, as the night-blooming water-lily is revived by the sight of the moon.

MONK: [*Aside.*] By which road shall I enter? [*He reflects.*] The king's highway--I'll enter by that. Come, sister in Buddha! Here is the king's highway. [*Listening.*] But what is this great tumult that I hear on the king's highway?

VASANTASENA: [*Looking before her.*] Why, there is a great crowd of people before us. Pray find out, sir, what it means. All Ujjayini tips to one side, as if the earth bore an uneven load.

GOHA: And here is the last place of proclamation. Beat the drum! Proclaim the sentence! [*They do so.*] Now, Charudatta, wait! Don't be frightened. You will be killed very quickly.

CHARUDATTA: Ye blessed gods!

MONK: [*Listens. In terror.*] Sister in Buddha, Charudatta is being led to his death for murdering you.

VASANTASENA: [*In terror.*] Alas! For my wretched sake the noble Charudatta put to death? Quick, quick! Oh, lead me thither!

MONK: Hasten, oh, hasten, sister in Buddha, to comfort the noble Charudatta while he yet lives. Make way, gentlemen, make way!

VASANTASENA: Make way, make way!

GOHA: Noble Charudatta, it is the king's commandment that bears the blame. Think then of what you needs must think.

CHARUDATTA: Why waste words?

Though slandered by a cruel fate,
And stained by men of high estate,
If that my virtue yet regarded be,
Then she who dwells with gods above
Or wheresoever else--my love--
By her sweet nature wipe the stain from me!

GOHA: [*Drawing his sword.*] Noble Charudatta, lie flat and be quiet. With one stroke we will kill you and send you to heaven.

[*Charudatta does so. Goha raises his arm to strike. The sword falls from his hand.*] What is this?

I fiercely grasped within my hand
My thunderbolt-appalling brand;
Why did it fall upon the sand?

But since it did, I conclude that the noble Charudatta is not to die. Have mercy, O mighty goddess of the Sahya hills! If only Charudatta might be saved, then hadst thou shown favor to our headsman caste.

AHINTA: Let us do as we were ordered.

GOHA: Well, let us do it. [*They make ready to impale Charudatta.*]

CHARUDATTA:

Though slandered by a cruel fate,
And stained by men of high estate,
If that my virtue yet regarded be,
Then she who dwells with gods above

Or wheresoever else--my love--
By her sweet nature wipe the stain from me!

MONK AND VASANTASENA: [*Perceiving what is being done.*] Good gentlemen! Hold, hold!

VASANTASENA: Good gentlemen! I am the wretch for whose sake he is put to death.

GOHA: [*Perceiving her.*]

Who is the woman with the streaming hair
That smites her shoulder, loosened from its bands?
She loudly calls upon us to forbear,
And hastens hither with uplifted hands.

VASANTASENA: Oh, Charudatta! What does it mean? [*She falls on his breast.*]

MONK: Oh, Charudatta! What does it mean? [*He falls at his feet.*]

GOHA: [*Anxiously withdrawing.*] Vasantasena?--At least, we did not kill an innocent man.

MONK: [*Rising.*] Thank heaven! Charudatta lives.

GOHA: And shall live a hundred years!

VASANTASENA: [*Joyfully.*] And I too am brought back to life again.

GOHA: The king is at the place of sacrifice. Let us report to him what has taken place. [*The two headsmen start to go away.*]

SANSTHANAKA: [*Perceives Vasantasena. In terror.*] Goodness! who brought the shlave back to life? Thish is the end of me.
Good! I'll run away. [*He runs away.*]

GOHA: [*Returning.*] Well, did n't we have orders from the king to put the man to death who murdered Vasantasena? Let us hunt for the king's brother-in-law. [*Exeunt the two headsmen.*]

CHARUDATTA: [*In amazement.*]

Who saves me from the uplifted weapon's scorn,
When in Death's jaws I struggled all forlorn,
A streaming cloud above the rainless corn?

[*He gazes at her.*]

Is this Vasantasena's counterfeit?
Or she herself, from heaven above descended?
Or do I but in madness see my sweet?
Or has her precious life not yet been ended?

Or again:

Did she return from heaven,
That I might rescued be?
Was her form to another given?
Is this that other she?

VASANTASENA: [*Rises tearfully and falls at his feet.*] O noble Charudatta, I am indeed the wretch for whose sake you are fallen upon this unworthy plight.

VOICES OFFSTAGE: A miracle, a miracle! Vasantasena lives. [*The bystanders repeat the words.*]

CHARUDATTA: [*Listens, then rises suddenly, embraces Vasantasena, and closes his eyes. In a voice trembling with emotion.*] My love! You are Vasantasena!

VASANTASENA: That same unhappy woman.

CHARUDATTA: [*Gazes upon her. Joyfully.*] Can it be? Vasantasena herself? [*In utter happiness.*]

Her bosom bathed in streaming tears,
When in Death's power I fell,
Whence is she come to slay my fears,
Like heavenly magic's spell?

Vasantasena! Oh, my beloved!

Unto my body, whence the life was fleeting,
And all for thee, thou knewest life to give.
Oh, magic wonderful in lovers' meeting!
What power besides could make the dead man live?

But see, my beloved!

My blood-red garment seems a bridegroom's cloak,
Death's garland seems to me a bridal wreath;
My love is near.
And marriage music seems the fatal stroke
Of drums that heralded my instant death;
For she is here.

VASANTASENA: You with your utter kindness, what can it be that you have done?

CHARUDATTA: My beloved, he said that I had killed you.

For ancient hatred's sake, my mighty foe,
Hell's victim now, had almost laid me low.

VASANTASENA: [*Stopping her ears.*] Heaven avert the omen! It was he, the king's brother-in-law, who killed me.

CHARUDATTA: [*Perceiving the monk.*] But who is this?

VASANTASENA: When that unworthy wretch had killed me, this worthy man brought me back to life.

CHARUDATTA: Who are you, unselfish friend?

MONK: You do not remember me, sir. I am that shampooer, who once was happy to rub your feet. When I fell into the hands of certain gamblers, this sister in Buddha, upon hearing that I had been your servant, bought my freedom with her jewels. Thereupon I grew tired of the gambler's life, and became a Buddhist monk. Now this lady made a mistake in her bullock-cart, and so came to the old garden Pushpakaranda. But when that unworthy wretch learned that she would not love him, he murdered her by strangling. And I found her there.

LOUD VOICES BEHIND THE SCENES:

Unending victory to Shiva be,
Who Daksha's offering foiled;
And victory may Karttikeya see,
Who Krauncha smote and spoiled;

And victory to Aryaka the king--
His mighty foe he kills--
Far over all the earth's expansive ring,
That earth her joyous flag abroad may fling,
The snowy banner of Kailasa's hills.

[Enter hurriedly Sharvilaka.]

SHARV:

Yes, Palaka, the royal wretch, I slew,
Anointing Aryaka good king and true;
And now, like sacrificial flowers, I wed
The king's commandment to my bended head,
To give sad Charudatta life anew.

The foe whose powers and friends had fled, he slew,
Consoled and comforted his subjects true;
And earth's broad sovereignty has gladly wed
His power, and bent to him her lowly head,
Who toward his foe plays Indra's part anew.

[He looks before him.] Ah! There he will be found, where the people are thus gathered together. Oh, that this deed of King Aryaka might be crowned with the rescued life of noble Charudatta! *[He quickens his steps.]* Make way, you rascals! *[He discovers Charudatta. Joyfully.]* Is Charudatta yet living, and Vasantasena? Truly, our sovereign's wishes are fulfilled.

Now, thanks to heaven, from sorrow's shoreless sea
I see him saved by her he loved, set free
By that sweet bark, that knew her course to steer
With virtue's tackle and with goodness' gear.
He seems the moon, whose light shines clear at last,
When all the sad eclipse is overpast.

Yet how shall I approach him, who have so grievously sinned against him? But no! Honesty is always honorable. *[He approaches and folds his hands. Aloud.]* O noble Charudatta!

CHARUDATTA: Who are you, sir?

SHARVILAKA:

I forced your house in manner base,
And stole the gems there left behind;
But though this sin oppress my mind,
I throw myself upon your grace.

CHARUDATTA: Not so, my friend. Thereby you showed your faith in me. *[He embraces him.]*

SHARVILAKA: And one thing more:

The very noble Aryaka,
To save his family and name,
Has slain the wretched Palaka,
A victim at the altar's flame.

CHARUDATTA: What say you?

SHARVILAKA:

'T was your cart helped him on his way,
Who sought the shelter of your name;
He slew King Palaka to-day,
A victim at the altar's flame.

CHARUDATTA: Sharvilaka, did you set free that Aryaka, whom Palaka took from his hamlet, and confined without cause in the tower?

SHARVILAKA: I did.

CHARUDATTA: This is indeed most welcome tidings.

SHARVILAKA: Scarcely was your friend Aryaka established in Ujjayini, when he bestowed upon you the throne of Kushavati, on the bank of the Vena. May you graciously receive this first token of his love. *[He turns around.]* Come, lead hither that rascal, that villain, the brother-in-law of the king!

VOICES OFFSTAGE: We will, Sharvilaka.

SHARVILAKA: Sir, King Aryaka declares that he won this kingdom through your virtues, and that you are therefore to have some benefit from it.

CHARUDATTA: The kingdom won through my virtues?

VOICES OFFSTAGE: Come on, brother-in-law of the king, and reap the reward of your insolence. *[Enter Sansthanaka, guarded, with his hands tied behind his back.]*

SANSTHANAKA: Goodnessh gracious!

It came to pass, I ran away
Like any ass, and had my day.
They drag me round, a prishoner,
As if they 'd found a naughty cur.

[*He looks about him.*] They crowd around me, though I 'm a relative of the king's. To whom shall I go for help in my helplessness? [*He reflects.*] Good! I 'll go to the man who gives help and shows mercy to the shuppliant. [*He approaches.*] Noble Charudatta, protect me, protect me! [*He falls at his feet.*]

VOICES OFFSTAGE: Noble Charudatta, leave him to us! let us kill him!

SANSTHANAKA: [*To Charudatta.*] O helper of the helpless, protect me!

CHARUDATTA: [*Mercifully.*] Yes, yes. He who seeks protection shall be safe.

SHARVILAKA: [*Impatiently.*] Confound him! Take him away from Charudatta! [*To Charudatta.*] Tell me. What shall be done with the wretch?

Shall he be bound and dragged until he dies?
Shall dogs devour the scoundrel as he lies?
If he should be impaled, 't would be no blunder,
Nor if we had the rascal sawn asunder.

CHARUDATTA: Will you do as I say?

SHARVILAKA: How can you doubt it?

SANSTHANAKA: Charudatta! Mashter! I sheek your protection. Protect me, protect me! Do shomething worthy of yourself. I 'll never do it again!

VOICES OF CITIZENS BEHIND THE SCENES: Kill him! Why should the wretch be allowed to live?

[*Vasantasena takes the garland of death from Charudatta's neck, and throws it upon Sansthanaka.*]

SANSTHANAKA: You shlave-wench, be merciful, be merciful! I 'll never murder you again. Protect me!

SHARVILAKA: Come, take him away! Noble Charudatta, say what shall be done with the wretch.

CHARUDATTA: Will you do as I say?

SHARVILAKA: How can you doubt it?

CHARUDATTA: Really?

SHARVILAKA: Really.

CHARUDATTA: Then let him be immediately--

SHARVILAKA: Killed?

CHARUDATTA: No, no! Set free.

SHARVILAKA: What for?

CHARUDATTA:

The humbled foe who seeks thine aid,
Thou mayst not smite with steely blade--

SHARVILAKA: All right. We will have the dogs eat him alive.

CHARUDATTA: No, no!

Be cruelty with kindness paid.

SHARVILAKA: Wonderful! What shall I do? Tell me, sir.

CHARUDATTA: Why, set him free.

SHARVILAKA: It shall be done.

SANSTHANAKA: Hooray! I breathe again. [*Exit, with the guards.*]

SHARVILAKA: Mistress Vasantasena, the king is pleased to bestow upon you the title "wedded wife."

VASANTASENA: Sir, I desire no more.

SHARVILAKA: [*Places the veil upon Vasantasena. To Charudatta.*] Sir, what shall be done for this monk?

CHARUDATTA: Monk, what do you most desire?

MONK: When I see this example of the uncertainty of all things, I am twice content to be a monk.

CHARUDATTA: His purpose is not to be changed, my friend. Let him be appointed spiritual father over all the monasteries in the land.

SHARVILAKA: It shall be done.

MONK: It is all that I desire.

VASANTASENA: Now I am indeed brought back to life.

SHARVILAKA: What shall be done for Sthavaraka?

CHARUDATTA: Let the good fellow be given his freedom. Let those headsmen be appointed chiefs of all the headsmen. Let Chandanaka be appointed chief of all the police in the land. Let the brother-in-law of the king continue to act exactly as he acted in the past.

SHARVILAKA: It shall be done. Only *that* man--leave him to me, and I 'll kill him.

CHARUDATTA:

He who seeks protection shall be safe.
The humbled foe who seeks thine aid,
Thou mayst not smite with steely blade.
Be cruelty with kindness paid.

SHARVILAKA: Then tell me what I may yet do for you.

CHARUDATTA: Can there be more than this?

I kept unstained my virtue's even worth,
Granted my enemy his abject suit;
Friend Aryaka destroyed his foeman's root,
And rules a king o'er all the steadfast earth.

This dear-loved maiden is at last mine own,
And you united with me as a friend.
And shall I ask for further mercies, shown
To me, who cannot sound these mercies' end?

Fate plays with us like buckets at the well,
Where one is filled, and one an empty shell,
Where one is rising, while another falls;
And shows how life is change--now heaven, now hell.

Yet may the wishes of our epilogue be fulfilled.

EPILOGUE

May kine yield streaming milk, the earth her grain,
And may the heaven give never-failing rain,
The winds waft happiness to all that breathes,
And all that lives, live free from every pain.

In paths of righteousness may Brahmins tread,
And high esteem their high deserving wed;
May kings in justice' ways be ever led,
And earth, submissive, bend her grateful head.

[Exeunt omnes.]

◆

THE LITTLE CLAY CART

In Ujjayini, Charudatta, a Brahmin merchant famed for youth and poverty, and Vasantasena, a courtesan, are drawn together by a pure love. Śūdraka's ten-act drama moves through prudent acts, the wrong and hatred of a lawsuit, a villain's nature, and the course of fate.



www.videha.co.in

© Gajendra Thakur, 2026
Videha — First Maithili Fortnightly eJournal
ISSN 2229-547X

ढतुतविलास प्रहसनढु

आनन्दढे ढतुत करैबला प्रहसन

पल्लव नरेश श्री ढहेन्द्रविक्रढ वरुढा प्रथढ

संस्कृतसँ ढैथिली अनुवाद

गजेन्द्र ठाकुर

सढुढादक □ विदेह प्रथढ ढैथिली पाक्षिक ई पत्रिका

www.vidha.co.in

ढतुतविलास प्रहसनढु

आनन्दढे ढतुत करैबला प्रहसन

ढूल संस्कृतः पल्लव नरेश श्री ढहेन्द्रविक्रढ वरुढा प्रथढ

संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद: गजेन्द्र ठाकुर
सम्पादक: विदेह प्रथम मैथिली पाक्षिक ई पत्रिका

www.videha.co.in

मूल कृति: मत्तविलास प्रहसनम् — पल्लव नरेश श्री महेन्द्रविक्रम वर्मा प्रथम

मैथिली अनुवाद © गजेन्द्र ठाकुर

सम्पादक: विदेह प्रथम मैथिली पाक्षिक ई पत्रिका

वेबसाइट: www.videha.co.in

6 × 9 इंच हार्डबैक संस्करण

पात्र-परिचय

प्रस्तावना

मुख्य नाटक

पात्र-परिचय

सूत्रधार — रंगमञ्चक व्यवस्थापक आ नाट्य-निर्देशक

अभिनेत्री — सूत्रधारक पहिल पत्नी, नाटकक आयोजनमे सहायक

सत्यसोम (कापालिक) — एक कापालिक शैव साधु, कपालकें भिक्षापात्र रूपमे धारण करऽबला, विद्रोही आस्थाबला

देवसोमा — सत्यसोमक संगिनी

नागसेन — शाक्य सम्प्रदायक एक बौद्ध भिक्षु

बभ्रुकल्प — एक अन्य शैव साधु, पाशुपत सम्प्रदायक अनुयायी

उन्मत्त — एकटा बताह मनुक्ख

प्रस्तावना

(सूत्रधार प्रार्थनाक बाद प्रवेश करैत छथि)

सूत्रधार: अहा! अपन दोसर पत्नी दुआरे तमसायल पहिल पत्नीकें प्रसन्न करबाक एकटा नीक उपाय भेटल। बड़ दिनक बाद राज-दरबारसँ नाटक प्रस्तुत करबाक आदेश आएल अछि। चलू, ओकरासँ पुछै छी।

(नेपथ्यमे हुलकी दैत)

सूत्रधार: यै, महारानी! एतऽ आउ।

(पहिल पत्नी - जे अभिनेत्री छथि - प्रवेश करै छथि)

अभिनेत्री: (तमसाइत) ई कोन गप भेल? ऐ बुढ़ारीमे अहाँ जवान-जुवान पी कऽ बताह भेल छौड़ा सभक सोझाँ प्रहसन करऽ चाहै छी?

सूत्रधार: हँ, बात तँ सएह अछि।

अभिनेत्री: तखन कोनो जवान अभिनेत्रीकें लऽ आउ जे ई मोन लगा कऽ करबो करत आ ओकरा मोनो लगतै।

सूत्रधार: हम तँ ई अहींक सोझाँ करब!

अभिनेत्री: ओ दोसरकी अहाँकें ई सिखा कऽ पठेने अछि?

सूत्रधार: छोड़ू ओ गप। दुनू गोटे राज-दरबार जाएब तँ खुब्ले राजकीय सम्मान भेटत।

अभिनेत्री: से बड़का-बड़का गप छोड़ब तँ अहींसँ हएत।

सूत्रधार: हएत, मुदा अहाँ अपन अभिनयसँ दर्शकसभकें असीम आनन्दक सागरमे डुमा देब!

अभिनेत्री: (प्रसन्न भऽ) माने आदरणीय महाराजसँ अनुमति भेट गेल?

सूत्रधार: हँ।

अभिनेत्री: तखन एहन शुभ समाचार देबाक बदलामे हम अहाँकीं की पुरस्कार दिअ?

सूत्रधार: अहाँक प्रसन्नते हमर पुरस्कार भेल। आर की चाही?

अभिनेत्री: तखन कोन नाटक प्रस्तुत करबाक विचार अछि?

सूत्रधार: अहीं तँ कहलहुँ- 'आनन्दमे मत्त करैबला प्रहसन'।

अभिनेत्री: (स्वगत) जे किछु हम कहै छी, से ओकर मोनसँ मिल जाइ छै, तऽ हमर तमसेनाइ सेहो ओकरा स्वाभाविक लगै छै। (प्रकट) ऐ नाटकसँ विजयी होइ बला लेखक के छथि?

सूत्रधार: सुनू, प्रिये। ओ आन कियो नै अपन श्री महेन्द्रवर्मा छथि- राजोक राजा। जे काम, क्रोध, अहंकार आ इरखा ऐ सभ दुर्गुणकेँ जीतने छथि; जे सम-चित्त छथि आ साधारण लोकसभक बीच ओहिना मिज्जर भऽ जाइ छथि; सम्पैतमे कुबेर आ पराक्रममे इन्द्रकेँ मात करै छथि; अपन सहज व्यवहार आ सक्षम शासनसँ अपन राज्यक सुन्दर संचालन करै छथि - पल्लव वंशक मेरु पर्वत! श्री विष्णुसिंहक पुत्र। वएह महाराजाधिराज एहि नाटकक लेखक छथि।

अभिनेत्री: तखन आर देरी किएक? हमरा सभकेँ एही अद्भुत नाटककेँ तुरन्ते प्रस्तुत करबाक चाही।

सूत्रधार: क्षमा करब। हमर परम्परा अछि जे अपन पितामहक महिमाक स्तुति केलाक बादे अभिनय प्रारम्भ होइत अछि।

(नेपथ्यसँ) - हे प्रिये, देवसोमा!

सूत्रधार: लगैत अछि कि कपाल-पात्र लऽ कऽ घुमऽवला युवा कापालिक माति गेल अछि!

(सूत्रधार आ अभिनेत्री प्रस्थान करैत छथि)

(प्रस्तावनाक समाप्ति)

मुख्य नाटक

(युवा कापालिक सत्यसोम अपन संगिनीक संग प्रवेश करैत छथि)

कापालिक: (मत्त अवस्थामे) हे देवसोमा! ई सत्य अछि जे कोनो मनुष्य अपन तपोबलसँ कोनो रूप धारण कऽ सकैत अछि। मुदा तूँ अपन व्रतसँ एकदम नव रूप धारण कऽ लेलहीं!

मुक्ताक कणजकाँ चमकैत मुख,

सुन्दर भौंह,

कोमल ठोढ़

तोहर सुन्दरता शब्दसँ वर्णित नै भऽ सकैए!

देवसोमा: नाथ, अखन अहाँ हमरासँ एना बजैत छी जेना हम मातलि होइ।

कापालिक: की कहलहीं, प्रिये?

देवसोमा: नाथ, सम्पूर्ण संसार लट्ठजकाँ घुमि रहल अछि! डर लागैत अछि जे खसि पड़ब। पकड़ि लिअ हमरा।

कापालिक: ठीक अछि, प्रिये।

(पकड़ऽ कऽ कोशिश करैत छथि, मुदा अपने खसि पड़ैत छथि)

कापालिक: हे सोमदेवा, जखन हम तोहरा सम्हारऽ आगा बढलहुँ, तँ तूँ दूर किए भागि गेलहीं? की हमरासँ रिसाएल छहीं?

देवसोमा: हँ, सोमदेवा रिसाएल अछि। चाहे माथ नमा कऽ विनती करी- नहि मानत।

कापालिक: तूँ सोमदेवा छहीं ने?

(एक क्षण सोचैत छथि)

कापालिक: नहि, नहि! तूँ देवसोमा छहीं!

देवसोमा: सब नाटक अछि। अहाँकें सोमदेवासँ बहुत प्रेम अछि। तैं हमर नामो नहि लेलहुँ।

कापालिक: हे प्रियतमे! ओ बस जिह्वाक भूल भेल। असली अपराधी हमर नशा छी।

देवसोमा: भगवानक कृपा जे अहाँ नहि छी।

कापालिक: ई मद्यपानक आदति हमरा एत्ते कष्ट देलक अछि ने? एहि क्षणसँ हम मद्यपान छोड़ि देब।

देवसोमा: नहि, नहि नाथ! हमरा खातिर अपन व्रत नहि तोड़ू आ तपस्याक फल नहि गमाउ!

(ई कहि ओकर पयरमे खसैत छथि)

कापालिक: (अपार हर्षसँ, उठा कऽ आलिंगन करैत)

अद्भुत! अद्भुत!

जय भगवान शिव!

जय त्रिशूलधारी शिव

जिनकर मद्यपान आ प्रेमिकाक सौन्दर्य-उपभोगसँ

मोक्षक मार्ग प्रशस्त अछि!

जय भगवान शिव!

देवसोमा: नाथ, एना नहि कहू। श्रमण भिक्षुसभ मोक्षक मार्ग अलग बतबैत छथि।

कापालिक: हे प्रिये, ओ सभ नास्तिक छथि।

देवसोमा: रुकू! एना कहब सेहो पाप अछि।

कापालिक: हँ, हँ, एहन पापी कार्य छोड़ू। ओ पतित सभ आरोपक योग्यो नहि अछि। ओ जीव अपन माथ मुड़ा कऽ संसार त्याग करैत छथि, मुदा खेनाइ कखन खाइ- तकरो निअम बनबैत छथि। तैं एहन नास्तिकसभक स्तुतिक प्रायश्चित रूपमे हम मधु पीब कऽ मुँह शुद्ध करब।

देवसोमा: तखन चलू कोनो दोसर मधुशालामे।

कापालिक: ठीक अछि प्रिये।

(दूनु चलैत छथि)

कापालिक: अहा! ई काज्जी नगर कतेक महान अछि आ कतेक वैभवपूर्ण अछि! एकाम्बेश्वर मन्दिरक सोनहुल शिखरक संग मिला कऽ मन्दिरसँ मृदंगमक मधुर तालक ध्वनि सुनाइ दैत अछि! पुष्प-विक्रेताक दोकान वसन्त मूर्तिमान जकाँ देखाइत अछि! युवती सभक पायलक मधुर रुनझुन कामदेवक स्मरण दिआबैत अछि।

देवसोमा: नाथ, ई काज्जी स्वर्गीय मधुरस जकाँ स्वादिष्ट अछि।

कापालिक: प्रिये, देखू देखू! ई मधुशाला यज्ञशाला लगमे कतेक सुविधाजनक ढंगसँ अछि! ओ ऊँच ध्वजस्तम्भ देखू। ओ पवित्र अग्निस्थानक खाम्ह थिक। हमर पीअल मधु सोमरस थिक। पात्र पवित्र बरतन थिक। भुजल मौस-खाद्य यज्ञक आहुति थिक। मातल बड़बड़नाइ यजुर्वेदक मंत्र थिक। गीत सामवेदक स्तोत्र थिक। ई चमड़ाक झोरा यागक फलकें संरक्षित करऽवला झोड़ा थिक। तपस्या अग्नि थिक। मधुशालाक व्यापारी यज्ञ-आयोजक थिक।

देवसोमा: हमर भिक्षापात्रमे जे आहुति भेटत, से भगवान शिवक यज्ञ-फलक हिस्सा थिक।

कापालिकः अहा! मत्त भऽ नाचब कतेक आनन्ददायक अछि। ढोलक लयमे देह हिलब, मधुर कंठ, चंचल नेत्र, लयपर धोती आ उत्तरीय सम्हारब - कतेक अद्भुत!

देवसोमाः अहा! नाथ तँ रसिक छथि।

कापालिकः एहि दिव्य पेयकें पात्रमे ढारू। वस्त्रक भव्यताक चिन्ता नहि। जिनकर हृदय मिलि गेल अछि, से एक भऽ जाइत छथि। युवक-युवती अपन संकोच त्यागि योद्धा बनि जाइत छथि। प्रेम अहाँ अमर रहू! शब्दक की आवश्यकता!

ई झूठ अछि जे शिवजी अपन तेसर नेत्र खोलि

मदनकें कामदेवकें जरा देलखिन

मदन अपने पानिमे पघलि गेल

आ ओइ आगि सँ हमसभ जरि रहल छी;

देवसोमाः हएत। मुदा जे देवता सभक कल्याणक हेतु सब किछु करैत छथि, ओ संसारकें भस्म नहि करथिन।

(दूनु अपन गालपर थप्पड़ मारि क्षमाक प्रार्थना करैत छथि)

कापालिकः भवते भिक्षां देहि महाराज/महारानी! कृपा कऽ भिक्षा दिअ।

(अदृश्य स्त्री-कंठ - पर्दाक पाछाँसँ) - नाथ, लिअ, ग्रहण करू।

कापालिकः लैत छी... प्रिये, हमर कपाल-भिक्षापात्र कतए अछि?

देवसोमाः हमहूँ नहि देखलहुँ।

कापालिकः (किछु सोचि कऽ) अहा! पहिल मधुशालामे छोड़ि आएल होएब। चलू, देखि आबी।

देवसोमाः नाथ! एत्ते आदरसँ देल जा रहल भिक्षाकें नहि लेब तँ पाप हएत। आब की करी?

कापालिकः प्रिये, संकटकाल अछि, तँ सींगमे ग्रहण कऽ लिअ।

देवसोमाः ठीक अछि नाथ।

(सींगमे भिक्षा ग्रहण करैत छथि)

(दूनु किछु काल इधर-उधर खोजैत छथि)

कापालिकः की?? एतए तँ नहि भेटैत अछि।

(निराश भऽ)

कापालिकः हे देवतागण!! अहाँ हमर भिक्षापात्र देखलहुँ? की कहलहुँ? नहि देखलहुँ? ... हम मरलहुँ! हमर आशा पूरा-पूरी टूटि गेल। कापालिकक रूपमे कोना जीअब? कतेक कठिन!

(जमीनपर खसि माथ पटकैत छथि)

कापालिकः भेल, सब परीक्षा थिक। "कापालिक" उपाधि नहि रहत तँ किछु गुमाएब नहि।

(उठि कऽ)

देवसोमाः नाथ, अहाँक भिक्षापात्र के लेने हएत?

कापालिकः प्रिये, ओहिमे भुजल मांस-खण्ड राखल छल। सम्भव अछि जे कोनो कुकुर वा बौद्ध भिक्षु उठा लेने हएत।

देवसोमाः तखन आउ, पूरा काज्ची नगर खोजैत छी।

कापालिक: चलू प्रिये!

(घूमि-फिरि कऽ वापस आबैत छथि)

(एक बौद्ध भिक्षु नारियल-कटोरा लेने प्रवेश करैत अछि)

भिक्षु: (छत्र धऽ कऽ) अहा! व्यापारी धनदासक उदारता कोनो दोसर दाताक चाहिसँ बेसी छनि। कतेक स्वादिष्ट भोजन! मुँहमे पानि आनऽवला, स्वादिष्ट माछक तरकारी आ अन्य व्यंजन। बड़ा तृप्तिकारक भोजन भेल। आब राजकीय आश्रमे जाएब।

(स्वयंसँ बात करैत घुमैत अछि)

भिक्षु: अहा! राजप्रासादमे रहनाइ, कोमल शय्यापर सुतनाइ, प्रातःकालक भोजन, सन्ध्याक स्वादिष्ट पेय, पाँचटा सुगन्धित ताम्बूल, सुन्दर वस्त्र आ अन्य सुविधा- सब किछु तँ बुद्धजी अनुमति देलखिन, मुदा मदिरा आ स्त्री किएक नहि? ओ बेकार बूढ़ी पोथी सभकेँ लिखऽवला सभ युवक सभसँ ईर्ष्या कऽ एहि दूनूकेँ पाठ्यक्रमसँ हटा देलकनि। कतए भेटत मूल ग्रन्थ जइमे ई दूनू छोड़ल नहि गेल अछि? जँ भेटैत, तँ बुद्धजीक पूर्ण शिक्षा सभकेँ देखा कऽ सभक उपकार कऽ सकैत छलहुँ, नहि?

(चारूकात घुमैत रहैत अछि)

देवसोमा: नाथ, ओइ केशरिया वस्त्रधारी मनुष्यकेँ देखू। एन्ने-ओन्ने चोर नेत्रसँ देखैत आ निरीह लोकसभमे लुकाइत ओ एतए आबि रहल अछि।

कापालिक: सही कहलहीं प्रिये। तकरा अतिरिक्त ओ अपना हाथमे किछु नुकौने अछि।

देवसोमा: नाथ, ओकरा रोकि कऽ पूछक चाही।

कापालिक: ठीक अछि हे प्रिये... हौ भिक्षु! रुक!

भिक्षु: के हमरा एना बजबैत अछि? (पाछाँ देखैत अछि) ओह... ओहि एकाम्बरेश्वर मन्दिरक दुष्ट, बेकार कापालिक छी। ओकर दुष्ट कर्ममे नहि फँसब।

(तेजीसँ आगाँ बढ़ैत अछि)

कापालिक: प्रिये, हमर भिक्षापात्र भेटि गेल! देखू कोना हमरा देखिते दौगि गेल। ई प्रमाण अछि जे ओ चोर अछि।

(तेजीसँ आगा बढ़ि रस्ता रोकैत छथि)

कापालिक: अहा! आब कतए जाएब?

भिक्षु: भाइ कापालिक! एना नहि करू, उचित नहि अछि।

(स्वगत) अहा! भगिनी कतेक सुन्दर छथि!

कापालिक: हौ! तुरन्त देखाबह। अपन वस्त्रमे की नुकौने छह? हमरा देखऽ परत।

भिक्षु: हमरा लग की अछि? बस हमर भिक्षापात्र।

कापालिक: सएह देखऽ चाहैत छी।

भिक्षु: भाइ, एना उचित नहि। हमरा अपन भिक्षापात्र नुका कऽ राखऽ पड़ैत अछि।

कापालिक: सही अछि। बुद्धजी तँ कहलखिन जे वस्त्र मुख्यतः वस्तु नुका कऽ राखबाक हेतु पहिरबाक चाही।

भिक्षु: हँ, ई सत्य थिक।

कापालिक: ओ सत्य थिक। हम सच्चा सत्य सुनऽ चाहैत छी।

भिक्षु: बड़ भेल हँसी-मजाक। जाय दिअ हमरा। भिक्षाटनक समय भऽ गेल।

(आगाँ बढ़ैत अछि)

कापालिक: हौ धोखेबाज! कतए जा रहल छहीं? हमर कपाल-भिक्षापात्र दऽ कऽ जो।

(भिक्षुक वस्त्रक छोर पकड़ि खींचैत छथि)

भिक्षु: बुद्धम् शरणम् गच्छामि!

कापालिक: "चोरी-कलाक गुरु शरणम् गच्छामि" कहू!

भिक्षु: पापक क्षमा हो! पापक क्षमा हो!

कापालिक: नीक साधु किएक नहि क्षमा पाओत?

देवसोमा: नाथ, अहाँ बड्ड थाकि गेलहुँ। गायब कपाल-भिक्षापात्र खोजब सहज नहि। तँ एहि सींगेसँ मधुपान करू, किछु शक्ति लाउ, तकर बाद तर्क-वितर्क करब।

कापालिक: ठीक अछि।

(देवसोमा मदिरा दैत छथि)

कापालिक: प्रिये, तूँ सेहो तृप्त हो।

देवसोमा: ठीक अछि नाथ।

(ओ सेहो पीबैत छथि)

कापालिक: एहि मनुष्यसँ टक्कर भेल। कोनो बात नहि। बचल मदिरा एहि आदरणीय साधुकें सेहो दिअ।

देवसोमा: नाथक आदेश। सरकार, कृपया ग्रहण करू।

भिक्षु: (स्वगत) कतेक सहजे भाग्य मिलल! मुदा समस्या ई जे लोक देखि लेत।

भिक्षु: (प्रकट) नहि धन्यवाद। हमरा मदिरा पीबाक अनुमति नहि अछि।

(कहैत-कहैत अपन ठोढ़ जिह्वासँ भिजबैत छथि)

देवसोमा: जाउ! एहन सुअवसर आर कतऽ भेटत?

कापालिक: प्रिये, ऐ मनुष्यक बेलगाम बोली ओकर असली इच्छा उजागर कऽ रहल अछि।

भिक्षु: की अहाँकें दया नहि आओत?

कापालिक: जँ दया आएत तँ वासनासँ मुक्ति केना पाएब?

भिक्षु: वासनासँ मुक्त भेलापर क्रोधसँ सेहो मुक्ति भेटत।

कापालिक: जँ हमर वस्तु आपस करब तँ क्रोधसँ जरूर मुक्ति हएत।

भिक्षु: कोन वस्तु?

कापालिक: हमर कपाल-भिक्षापात्र।

भिक्षु: कोन कपाल-भिक्षापात्र?

कापालिक: बच्चा सन "कोन कपाल-भिक्षापात्र" पुछैत अछि! सम्भव अछि ई सत्यो हो?

देवसोमा: मीठ-मीठ बात बजने काज नहि हेतनि। जबर्दस्ती छीनऽ परत।

कापालिकः सही कहलहीं प्रिये।

(दूनु भिक्षापात्र छीनऽ कऽ कोशिश करैत छथि)

भिक्षुः गन्दा कापालिक! तोहर नाश हो! (हाथसँ धकेलि कऽ कापालिककेँ लात मारैत छथि)

कापालिकः आह! लात मारलक!

देवसोमाः बेकाजक मनुक्ख, तोहर जान जेतौ।

(भिक्षुकक केश पकड़ऽ लेल झपटैत छथि, मुदा केश नहि रहबाक कारणे संतुलन बिगड़ि खसि पड़ैत छथि)

भिक्षुः (स्वगत) बुद्धजीक मुण्डन निअमक प्रशंसा करऽ परत।

भिक्षुः (प्रकट) उठू भगिनी।

(हाथ देखा कऽ उठबैत छथि)

कापालिकः देखू महानुभाव सभ! नागसेनकेँ देखू जे साधु आ भिक्षु कहबैत छथि मुदा हमर बालिका संगिनीक हाथ पकड़ने छथि!

भिक्षुः भाइ, एना नहि कहू। जे संकटमे हो, ओकर सहायता करब हमर कर्तव्य थीक।

कापालिकः की बुद्धजीक विधानमे सत्ये ई निअम अछि? भेल। पहिने हम खसलहुँ ने? से जाय दिअ। आब अहाँक माथाक भीतरक खोपड़ी हमर भिक्षापात्र बनत।

(सभ मारिपीट शुरू करैत छथि)

भिक्षुः अत्याचार! अत्याचार!

कापालिकः देवतागण! स्वयं देखू - ई मनुष्य जे अपनाकेँ योगी कहैत अछि, हमर भिक्षापात्र चोरि कऽ कऽ उनटे चिकड़ि रहल अछि! भेल, हमहूँ चिकरब-भोकरब। ई अनीति अछि! अनीति अछि!

(ओही समय एक पाशुपत साधु प्रवेश करैत अछि)

बभ्रुकल्प (पाशुपत): सत्यसोम, एना किएक चिकड़ि रहल छी?

कापालिकः हे बभ्रुकल्प, ई मनुष्य जे भिक्षु आ साधु कहबैत अछि, खाली हमर भिक्षापात्र चोरिये नै केलक, घुरबैयोसँ मना कऽ रहल अछि।

बभ्रुकल्पः (स्वगत) देवतासभ ओ काज कऽ देलखिन जे हम करऽ चाहैत छलहुँ! एहि कापालिकक सहायतासँ अपन एहि शत्रुकेँ थकुचि देब।

बभ्रुकल्पः (प्रकट) हे नागसेन! ओ जे कहि रहल छथि, से सत्य अछि?

भिक्षुः सरकार, की अहाँ सेहो ओकर पक्ष लऽ रहल छी?

जे नहि देल गेल हो से नहि लेब - ई हमर सिद्धान्त थीक;

व्यर्थ बातसँ दूर रहब - ई हमर सिद्धान्त थीक;

अपमानसँ दूर रहब - ई हमर सिद्धान्त थीक;

असमयमे नहि खाएब - ई हमर सिद्धान्त थीक;

बुद्ध धर्म संघं शरणं गच्छामि।

बभ्रुकल्पः सत्यसोम! ई ओकर सदाचार आ व्यवहार देखबैत अछि। एकर की उत्तर देब?

कापालिकः व्यर्थ बातसँ दूर रहब - ई हमर सिद्धान्त थीक।

बभ्रुकल्पः दूनु सही छी। एहि समस्याक समाधान कोना हएत?

भिक्षु: बुद्धक अनुयायीकें मदिरा-पात्रकें छूबाक की खगता?

बभ्रुकल्प: काल्पनिक तर्क आरोपक आधार नहि बनि सकत।

कापालिक: जे सोझाँ दृश्यमान अछि, ओकर सामने कोनो तर्क ठहरि नहि सकत!

बभ्रुकल्प: कोन दृश्य?

देवसोमा: सरकार, ओतए देखू - ओ कपाल-भिक्षापात्र जे ओ अपन वस्त्रमे नुकौने अछि।

बभ्रुकल्प: सुनलहुँ?

भिक्षु: सरकार, ई कटोरा कोनो दोसरक नहि थिक।

कापालिक: तखन देखाउ।

भिक्षु: ठीक अछि।

(देखबैत अछि)

कापालिक: हे महेश्वर! कापालिकक अन्याय आ बौद्ध भिक्षुक सदाचार अपने देखू!

भिक्षु: जे नहि देल गेल हो से नहि लेब - ई हमर सिद्धान्त थीक;

भिक्षु: व्यर्थ बातसँ दूर रहब - ई हमर सिद्धान्त थीक;

भिक्षु: अपमानसँ दूर रहब - ई हमर सिद्धान्त थीक;

भिक्षु: असमयमे नहि खाएब - ई हमर सिद्धान्त थीक;

भिक्षु: बुद्धम् धर्मम् संघम् - हमर शरण।

(दूनु - भिक्षु आ कापालिक - डोलऽ लगैत छथि)

भिक्षु: अहा! जेकरा लाज होबाक चाही, ओ नाचि रहल अछि!

कापालिक: आ! के नाचि रहल अछि? (चारूकात देखैत छथि) निःसन्देह! से ओहि लेल जे हमर गायब भिक्षापात्र आब देखाइ पड़ि रहल अछि आ एहि मधुर वायुमे थकानक लता झूमि रहल अछि। ओ देखि कऽ तोरा भ्रम भऽ रहल छौ जे हम नाचि रहल छी!

भिक्षु: सरकार, एकर रंग नहि देखलहुँ? किएक नहि बाजि रहल छी?

कापालिक: देखबाक की अछि? हम देखि चुकल छी। कौआसँ सेहो कार अछि।

भिक्षु: तखन मानैत छी जे ई हमर थिक।

कापालिक: हँ, हँ! तोहर गिरगिट-स्वभाव मानि लैत छी! जेना लाल कमल सूर्यकिरणसँ श्वेत भऽ जाइत अछि!

देवसोमा: हम मरलहुँ! हमर पुण्य भिक्षापात्र एहि मनुष्यक कारी वस्त्रसँ स्पर्श भऽ कारी भऽ गेल! आब की करब?

(कानऽ लगैत छथि)

कापालिक: चिन्ता नहि प्रिये। धोड़-सुखा लेब। जेना हमसभ अपन पापकें तपोबलसँ धोड़ लैत छी, तहिना अपन भिक्षापात्र सेहो शुद्ध कऽ लेब। हे बभ्रुकल्प, की आगम-शास्त्रमे एना लिखल अछि ने?

बभ्रुकल्प: हँ, आगम-शास्त्रक अनुसार सत्य थीक।

भिक्षु: ठीक अछि, रंग हमरासँ भेल - मुदा आकार, साइज आ रूपक की?

कापालिक: की तूँ महादेवीक वंशज छहीं ने?

भिक्षु: कतेक काल धरि अहाँसँ तर्क करैत रहब? लिअ, सरकार।

कापालिक: नीक। बुद्ध एना महादानी बनि गेलाह।

भिक्षु: जँ एना चलैत रहत, तँ हमर शरण कतए?

कापालिक: बुद्ध धर्म संघ - अवश्य।

बभ्रुकल्प: हम ई समस्या सुलझा नहि सकैत छी। चलू न्यायालयमे।

देवसोमा: नाथ, जँ ओतए जाएब तँ अपन कपाल-भिक्षापात्र जरूर गमाएब।

बभ्रुकल्प: किएक कहैत छी?

देवसोमा: ई मनुष्य जे सब सुविधासँ मठमे रहैत अछि, अपन संचित धनसँ सभ न्यायाधीशक मुँह बन्द कऽ देत। हमर सभक जे मात्र पहिरल वस्त्रे अपन सम्पत्ति अछि, ओ कोना न्यायालय जाएब?

बभ्रुकल्प: एना नहि। जे ईमानदार हो, तकरा ओहि न्यायालयमे जरूर न्याय भेटत। जेना ओ भवनक स्तम्भ सभ ओकरा थामने अछि, तहिना न्यायाधीश सभ न्यायकें।

कापालिक: ई बात पर्याप्त अछि। जे ईमानदार हो, तकरा भय नहि।

भिक्षु: सरकार, रस्ता देखाउ।

बभ्रुकल्प: अवश्य...

(सभ प्रस्थान करैत छथि)

(ओही समय एकटा बताह मनुक्ख प्रवेश करैत अछि)

उन्मत्त (बताह): ओतए, ओतए अछि - ओ दुष्ट कुकुर। मुँहमे भुजल मांस खण्ड सहित कपाल-भिक्षापात्र दबओने भागि रहल अछि। अरे आलसी, कतए जाएब? आब खसा देलक आ हमरा दिस आबि रहल अछि।

(चारूकात देखैत अछि)

उन्मत्त: एहि पत्थरसँ ओकर दाँत तोड़ब। बेकार कुकुर, खोपड़ी खसा कऽ किएक भागि रहल छहीं? हमरासँ पराक्रममे जीतऽ चाहैत छहीं? हम... हम अवारा सूगरपर सवार भऽ आकाशमे उड़ब। सागरकें हथियार बना ऐरावत हाथीकें हरा देलहुँ।

उन्मत्त: हौ मूर्ख, की कहलहीं? ई सब झूठ थिक? तखन ई कुरूप बेंग हमर साक्षी थिक। की? तीनू लोकमे पराक्रमसँ प्रसिद्ध व्यक्तिकें साक्षीक की आवश्यकता? ठीक अछि, ई करब। ओहि कुकुरक छोड़ल मांस-खण्ड खाएब।

(खाइत अछि। तखन सत्ते माति जाइत अछि)

उन्मत्त: हमर अपने नोर हमरा मारि रहल अछि।

(चारूकात देखैत, कानि कऽ)

उन्मत्त: के मारि रहल अछि हमरा? (चारूकात देखैत) अरे बेकार लोक सभ! जेना घटोत्कच भीमक भातिज छी, तहिना हम ककरो भातिज छी। एहि मांस-खण्डक हेतु हमरा नहि सताउ।

(चारूकात देखैत)

उन्मत्तः हमर गुरु सुरानन्दी ओतए छथि। ओहिठाम जाएब।

(दौड़ैत अछि)

बभ्रुकल्पः हौ, सावधान! ओ बताह मनुक्ख एम्हरे आबि रहल अछि।

उन्मत्तः ओही व्यक्ति लग जाएब।

(लग आबि कऽ)

उन्मत्तः सरकार, ई कपाल-भिक्षापात्र ग्रहण करू जे हम एक नीच जातिक उच्च-वर्गीय कुकुरसँ प्राप्त कएल।

बभ्रुकल्पः (ध्यानसँ देखैत छथि) एकरा योग्य व्यक्तिकेँ दऽ दिअ।

उन्मत्तः हे महात्मा, प्रसन्नतासँ ग्रहण करू।

भिक्षुः ई आदरणीय पाशुपत एकर योग्य प्राप्तकर्ता छथि।

(उन्मत्त कापालिकक सामने आबि कपाल-भिक्षापात्र राखैत अछि, तखन वामावर्त घूमि ओकर पयरपर खसैत अछि)

उन्मत्तः हे प्रभु! सुख बढ़ओ! अनेको नमस्कार।

कापालिकः ई तँ हमर कपाल-भिक्षापात्र थिक!

देवसोमाः हँ!

कापालिकः भगवानक कृपासँ हम फेरसँ कापालिक बनलहुँ।

(ओकरा दिस बढ़ैत छथि)

उन्मत्तः अरे आलसी! जो, माहुर खो!

(खोपड़ी छीनि दौड़ि जाइत अछि)

कापालिकः (पाछाँ दौगैत) यमराजक ई सेवक हमर प्राण लेने जा रहल अछि! दूनू हमरा बचाउ!

दूनूः ठीक अछि। हम दूनू सहायता करब।

(सभ भागैत छथि)

कापालिकः हौ, रुक!

उन्मत्तः किए रोकि रहल छी?

कापालिकः हमर कपाल-भिक्षापात्र वापस कऽ कऽ जाउ।

उन्मत्तः मूर्ख! देखाइ नहि पड़ैत छौ? ई सोनाक कटोरा थिक।

कापालिकः एहन सोनाक कटोरा के बनओलक?

उन्मत्तः एकरा सोनाक कटोरा कहलहुँ कारण ई ओ सोनारक सादू बनओलक, जे सोनाक वस्त्र पहिरैत छथि।

भिक्षुः की कहि रहल छहीं?

उन्मत्तः जे ई सोनाक कटोरा थिक।

भिक्षुः की? ई पागल अछि!

उन्मत्तः ई उपाधि तँ हम प्रायः सुनैत छी; लिअ।

(कपाल-भिक्षापात्र कापालिककेँ दऽ दैत अछि)

कापालिकः (भिक्षापात्र लैत) आब ओ ओहि देवारक पाछाँ गेल। जल्दी ओकरा पाछाँ जाउ!

उन्मत्तः बड़ सम्मान भेटल।

(पागल जल्दीमे जाइत अछि)

भिक्षुः अहा! अद्भुत! हमर शत्रुपर आएल सुभाग्यसँ हम प्रसन्न छी।

कापालिकः (भिक्षापात्र आलिंगन करैत)

अपन सम्पूर्ण समय तपस्यामे लगाओल

आ स्वयंकेँ महेश्वरकेँ समर्पित केलहुँ

एहि पवित्र पात्रकेँ देखिते

हमर हृदय शान्त भऽ हुनकर चरणमे पहुँचि गेल।

देवसोमाः नाथ! सन्ध्याकालक चन्द्रमाजकाँ अहाँ हमरा आँखिमे बड्ड शीतल लागि रहल छी।

बभ्रुकल्पः सौभाग्यवश जीत अहाँक भेल।

कापालिकः ई सब सुभाग्य अहाँक थीक।

बभ्रुकल्पः (स्वगत) जे निर्दोष हो, ओकरा किछु भय नहि। तँ ई बौद्ध भिक्षु एहि व्याघ्रक मुखसँ बचि गेल।

बभ्रुकल्पः (प्रकट) प्रातःकालक प्रार्थनामे मित्रक सुभाग्य स्मरण करब।

(पाशुपत प्रस्थान करैत छथि)

कापालिकः हे नागसेन, हमर भूलक हेतु क्षमा माँगैत छी।

भिक्षुः कोनो बात नहि। अहाँकेँ प्रसन्न करै लेल हम की करी?

कापालिकः जँ अहाँ हमरासँ प्रसन्न छी, तँ आर की माँगब?

भिक्षुः विदा लिअ?

कापालिकः बहुत नीक। फेर भँट हएत।

भिक्षुः ठीक अछि।

(चलि पड़ैत छथि)

कापालिकः हे प्रिये देवसोमा, हमहूँ चलू।

(दूनु प्रस्थान करैत छथि)

- एहि तरहे मत्तविलास प्रहसनम् केर समाप्ति होइत अछि।

मत्तविलास प्रहसनम्

काज्वी नगरमे मत्त कापालिक सत्यसोमक गुम भेल कपाल-भिक्षापात्रकें लऽ कऽ
बौद्ध भिक्षु नागसेन, पाशुपत बभ्रुकल्प आ एक उन्मत्त पात्रक बीच घटित
व्यंग्यपूर्ण प्रहसन।



www.videha.co.in

गजेन्द्र ठाकुर □ सम्पादक, विदेह प्रथम मैथिली पाक्षिक ई पत्रिका

THE FARCE OF DRUNKEN REVELRY

Mattavilasa Prahasanam

Original Sanskrit play by
Pallava King Sri Mahendravikrama Varman I

Maithili translation from Sanskrit
Gajendra Thakur

Editor · Videha — First Maithili Fortnightly eJournal

www.videha.co.in

THE FARCE OF DRUNKEN REVELRY

Mattavilasa Prahasanam

Original Sanskrit play by Pallava King Sri Mahendravikrama Varman I

Maithili translation from Sanskrit by Gajendra Thakur

Editor: Videha — First Maithili Fortnightly eJournal

PUBLICATION DETAILS

Original work: Mattavilasa Prahasanam — Pallava King Sri Mahendravikrama Varman I

Maithili translation © Gajendra Thakur

Editor: Videha — First Maithili Fortnightly eJournal

Website: www.videha.co.in

6 × 9 in hardback edition

CONTENTS

Characters

Prologue

The Play

CHARACTERS

STAGE MANAGER — Manager of the stage and director of the production

ACTRESS — The Stage Manager's first wife and his assistant in mounting the play

SATYASOMA (KAPALIKA) — A Kapalika Shaiva ascetic who uses a human skull as his begging bowl; a man of rebellious beliefs

DEVASOMA — Satyasoma's companion

NAGASENA — A Buddhist monk of the Shakya order

BABHRUKALPA — Another Shaiva ascetic, a follower of the Pashupata order

MADMAN — A deranged man

PROLOGUE

(The STAGE MANAGER enters after the invocation.)

STAGE MANAGER: Ah! I have found an excellent way to please my first wife, who is angry with me because of my second. After a long interval, the royal court has commanded us to present a play. I shall ask her about it.

(Calling toward the wings.)

STAGE MANAGER: My queen! Come here.

(His first wife, the ACTRESS, enters.)

ACTRESS: (Angrily.) What is this now? At your age, do you truly want to stage a farce before a crowd of young fellows crazed with drink?

STAGE MANAGER: Yes. That is exactly the matter.

ACTRESS: Then bring some young actress who will throw herself into it and enjoy doing it as well.

STAGE MANAGER: I intend to perform it with you!

ACTRESS: Did that other woman teach you to say this before sending you here?

STAGE MANAGER: Let us leave her out of this. If the two of us go to the royal court, we shall receive great honours from the king.

ACTRESS: You had better leave such grand speeches to someone else.

STAGE MANAGER: Perhaps, but with your acting you will plunge the audience into a boundless ocean of delight!

ACTRESS: (Brightening.) Then the revered king has granted permission?

STAGE MANAGER: Yes.

ACTRESS: What reward shall I give you for bringing such good news?

STAGE MANAGER: Your happiness is reward enough. What more could I want?

ACTRESS: Which play do you propose to present?

STAGE MANAGER: I have just told you - The Farce of Drunken Revelry.

ACTRESS: (Aside.) Whatever I say seems to agree with his thoughts, so even my anger appears perfectly natural to him. (Aloud.) Who is the victorious author of this play?

STAGE MANAGER: Listen, my dear. He is none other than our own Sri Mahendravarman, king among kings. He has conquered lust, anger, pride, envy, and every such failing. Equable in mind, he mingles freely with ordinary people. In wealth he surpasses Kubera, and in courage he outshines Indra. With gracious conduct and able governance, he administers his beautiful kingdom - the very Mount Meru of the Pallava line! Son of Sri Vishnusimha, that Emperor of Emperors is the author of this play.

ACTRESS: Then why delay? We should present this marvellous play at once.

STAGE MANAGER: Forgive me. Our tradition requires that the performance begin only after we have praised the glory of our grandfather.

(From offstage.) My beloved Devasoma!

STAGE MANAGER: It sounds as though the young Kapalika who wanders about with a skull-bowl is drunk!

(The STAGE MANAGER and the ACTRESS exit.)

(End of the Prologue.)

THE PLAY

(The young Kapalika SATYASOMA enters with his companion DEVASOMA.)

KAPALIKA: (Drunk.) Devasoma! It is true that through the power of austerity a person may assume any form. Yet by your vow you have taken on an entirely new form!

A face that gleams like a cluster of pearls,

Beautiful brows,

Tender lips -

No words can describe your beauty!

DEVASOMA: My lord, you are speaking to me as though I were the drunk one.

KAPALIKA: What did you say, my dear?

DEVASOMA: My lord, the whole world is spinning like a top! I am afraid I shall fall. Hold me.

KAPALIKA: Of course, my dear.

(He tries to catch her, but falls himself.)

KAPALIKA: Somadeva! When I came forward to steady you, why did you run away? Are you angry with me?

DEVASOMA: Yes, Somadeva is angry. Even if you bow your head and plead, he will not relent.

KAPALIKA: You are Somadeva, are you not?

(He thinks for a moment.)

KAPALIKA: No, no! You are Devasoma!

DEVASOMA: What a performance! You love Somadeva so much that you could not even remember my name.

KAPALIKA: My dearest! It was merely a slip of the tongue. The true culprit is my drunkenness.

DEVASOMA: Thank the gods it is not you.

KAPALIKA: Has my habit of drinking caused me so much misery? From this very moment I shall give up liquor.

DEVASOMA: No, no, my lord! Do not break your vow for my sake and lose the fruit of your austerities!

(She falls at his feet.)

KAPALIKA: (Overjoyed, he raises her and embraces her.)

Marvellous! Marvellous!

Glory to Lord Shiva!

Glory to Shiva, bearer of the trident,

For whom drinking wine and delighting in a beloved's beauty

Open the road to liberation!

Glory to Lord Shiva!

DEVASOMA: My lord, do not say that. The shramana monks describe a different path to liberation.

KAPALIKA: My dear, they are atheists.

DEVASOMA: Stop! Even saying that is sinful.

KAPALIKA: Yes, yes, let us abandon such sinful conduct. Those fallen creatures are not even worth accusing. They shave their heads and renounce the world, yet still make rules about when they may eat. To atone for having praised such atheists, I shall purify my mouth with wine.

DEVASOMA: Then let us go to another tavern.

KAPALIKA: Very well, my dear.

(They walk on.)

KAPALIKA: Ah! How magnificent and prosperous the city of Kanchi is! Sweet rhythms of the mridanga drift from the temple beneath the golden spire of Ekambareshvara! The flower-sellers' shops look like spring itself made visible! The delicate music of young women's anklets brings the god of love to mind.

DEVASOMA: My lord, this Kanchi is as delicious as the nectar of heaven.

KAPALIKA: My dear, look! Look! How conveniently this tavern stands beside the sacrificial hall. See that tall flagstaff – it is the pillar of the sacred fire altar. The wine we drink is Soma. The drinking bowl is a holy vessel. Roasted meat is the sacrificial offering. Drunken babble is the chanting of the Yajurveda. Song is the hymn of the Samaveda. This leather bag is the sack that preserves the reward of the sacrifice. Penance is the sacred fire, and the tavern-keeper is the officiating priest.

DEVASOMA: Whatever offering enters my begging bowl is Lord Shiva's share of the sacrificial reward.

KAPALIKA: Ah, what delight there is in dancing drunk! The body swaying to the drumbeat, the sweet voice, the darting eyes, the dhoti and upper cloth moving in rhythm – how marvellous!

DEVASOMA: Ah! My lord is a true connoisseur of pleasure.

KAPALIKA: Pour this divine drink into the bowl. Do not worry about the dignity of our clothes. When hearts meet, people become one. Young men and women cast off restraint and turn into warriors. Long live love! What need is there for words?

It is false that Lord Shiva opened his third eye

And burned Madana, the god of love.

Madana melted into water of his own accord,

And we are the ones burning in that flame.

DEVASOMA: Perhaps. But a god who acts for the welfare of all beings would not reduce the world to ashes.

(They slap their own cheeks and pray for forgiveness.)

KAPALIKA: Alms, noble sir or lady! Please give alms.

(VOICE OF AN UNSEEN WOMAN, from behind the curtain.) Holy sir, here – take it.

KAPALIKA: I accept... My dear, where is my skull-begging-bowl?

DEVASOMA: I have not seen it either.

KAPALIKA: *(Thinking.)* Ah! I must have left it in the first tavern. Come, let us go and look.

DEVASOMA: My lord! It would be sinful to refuse alms being offered with such respect. What shall we do now?

KAPALIKA: My dear, this is an emergency. Receive it in the drinking horn.

DEVASOMA: Very well, my lord.

(She receives the alms in the horn.)

(They search around for some time.)

KAPALIKA: What? It is not here!

(Despairing.)

KAPALIKA: O gods! Have you seen my begging bowl? What did you say? You have not? I am undone! All my hopes are shattered. How can I live as a Kapalika now? What misery!

(He falls to the ground and beats his head.)

KAPALIKA: Very well. This is all a test. If I no longer bear the title "Kapalika," I lose nothing else.

(He rises.)

DEVASOMA: My lord, who could have taken your begging bowl?

KAPALIKA: My dear, there was a piece of roasted meat in it. A dog or a Buddhist monk may have carried it away.

DEVASOMA: Then come. Let us search the whole city of Kanchi.

KAPALIKA: Come, my dear!

(They wander about and return.)

(A BUDDHIST MONK enters carrying a coconut-shell bowl.)

MONK: (Holding a parasol.) Ah! The generosity of the merchant Dhanadasa surpasses that of every other donor. What delicious food! Mouth-watering fish curry and other delicacies. It was a deeply satisfying meal. Now I shall go to the royal monastery.

(He walks about, speaking to himself.)

MONK: Ah! Residence in the royal palace, sleep on a soft bed, a morning meal, a delicious evening drink, five fragrant betel rolls, fine garments, and every other comfort - the Buddha permitted all of these. But why not wine and women? Some useless old book-makers, jealous of young men, must have removed both from the curriculum. Where can I find the original scripture in which they were not omitted? If I found it, I could reveal the Buddha's complete teaching to everyone and do the whole world a service, could I not?

(He continues to wander about.)

DEVASOMA: My lord, look at that saffron-robed man. He keeps glancing about with a thief's eyes and hiding among innocent people as he comes this way.

KAPALIKA: You are right, my dear. Besides, he is concealing something in his hand.

DEVASOMA: My lord, we should stop him and question him.

KAPALIKA: Very well, my dear... Hey, monk! Stop!

MONK: Who is calling me like that? (He looks back.) Oh... it is that wicked, good-for-nothing Kapalika from the Ekambaraeshvara Temple. I shall not become entangled in his mischief.

(He hurries forward.)

KAPALIKA: My dear, I have found my begging bowl! See how he ran the moment he saw me. That proves he is the thief.

(He rushes ahead and blocks the MONK's path.)

KAPALIKA: Ah! Where will you go now?

MONK: Brother Kapalika! Do not behave like this. It is improper.

(Aside.) Ah! What a beautiful sister!

KAPALIKA: You there! Show me at once. What are you hiding in your robe? I must see it.

MONK: What do I have? Only my begging bowl.

KAPALIKA: That is exactly what I want to see.

MONK: Brother, this is improper. I am required to keep my begging bowl concealed.

KAPALIKA: Quite right. The Buddha taught that clothes are worn chiefly for concealing things.

MONK: Yes, that is true.

KAPALIKA: That is truth. I want to hear the real truth.

MONK: Enough joking. Let me go. It is time for the alms round.

(He moves forward.)

KAPALIKA: You fraud! Where are you going? Give me back my skull-begging-bowl.

(He seizes the edge of the MONK's robe and pulls.)

MONK: I take refuge in the Buddha!

KAPALIKA: Say, "I take refuge in the master of the art of theft!"

MONK: Forgive the offence! Forgive the offence!

KAPALIKA: Why should a good holy man not be forgiven?

DEVASOMA: My lord, you are exhausted. Searching for a missing skull-bowl is no easy task. Drink some wine from this horn and regain your strength. Then you can continue the argument.

KAPALIKA: Very well.

(DEVASOMA gives him wine.)

KAPALIKA: My dear, you too must refresh yourself.

DEVASOMA: Very well, my lord.

(She drinks as well.)

KAPALIKA: We have crossed paths with this man; never mind. Offer the remaining wine to this venerable monk as well.

DEVASOMA: As my lord commands. Reverend sir, please accept it.

MONK: (Aside.) What effortless good fortune! The trouble is that people may see me.

MONK: (Aloud.) No, thank you. I am not permitted to drink wine.

(As he speaks, he moistens his lips with his tongue.)

DEVASOMA: Go on! Where else will you find such an opportunity?

KAPALIKA: My dear, this man's unbridled tongue is exposing his true desire.

MONK: Have you no compassion?

KAPALIKA: If I feel compassion, how shall I free myself from desire?

MONK: Once you are free from desire, you will also be free from anger.

KAPALIKA: If you return what belongs to me, I shall certainly be free from anger.

MONK: What belongs to you?

KAPALIKA: My skull-begging-bowl.

MONK: What skull-begging-bowl?

KAPALIKA: He asks "What skull-begging-bowl?" like a child! Could he actually be telling the truth?

DEVASOMA: Sweet talk will not work on him. We shall have to take it by force.

KAPALIKA: You are right, my dear.

(They both try to seize the begging bowl.)

MONK: Filthy Kapalika! May you perish! (He shoves the KAPALIKA away and kicks him.)

KAPALIKA: Ah! He kicked me!

DEVASOMA: Worthless man, this will cost you your life!

(She lunges to seize the MONK by the hair, but because his head is shaved she loses her balance and falls.)

MONK: (Aside.) One must praise the Buddha's rule of shaving the head.

MONK: (Aloud.) Rise, sister.

(He offers his hand and helps her up.)

KAPALIKA: Look, good people! Look at Nagasena, who calls himself a holy monk, yet holds the hand of my young companion!

MONK: Brother, do not say such things. It is my duty to help anyone in distress.

KAPALIKA: Is that truly a rule in the Buddha's law? Very well. I fell first, did I not? Let that pass. Now the skull inside your head shall become my begging bowl.

(They all begin to fight.)

MONK: Assault! Assault!

KAPALIKA: O gods, see for yourselves! This man calls himself a yogi, steals my begging bowl, and then cries out against me! Very well, I shall shout too. Injustice! Injustice!

(At that moment, a PASHUPATA ASCETIC enters.)

BABHRUKALPA (PASHUPATA): Satyasoma, why are you shouting like this?

KAPALIKA: Babhrukalpa, this man who calls himself a monk and holy man has not only stolen my begging bowl, but refuses to return it.

BABHRUKALPA: (Aside.) The gods have accomplished exactly what I wanted! With this Kapalika's help I can beat my enemy senseless.

BABHRUKALPA: (Aloud.) Nagasena, is what he says true?

MONK: Sir, are you taking his side as well?

Not to take what has not been given - this is my principle;

To keep away from idle speech - this is my principle;

To keep away from abuse - this is my principle;

Not to eat at the wrong time - this is my principle;

I take refuge in the Buddha, the Dharma, and the Sangha.

BABHRUKALPA: Satyasoma! His discipline and conduct bear witness for him. What answer do you have?

KAPALIKA: To keep away from idle speech - this is my principle.

BABHRUKALPA: Both of you are right. How can this dispute be resolved?

MONK: Why would a follower of the Buddha even touch a vessel of wine?

BABHRUKALPA: An imaginary argument cannot serve as the basis of an accusation.

KAPALIKA: No argument can stand against what is plainly visible before us!

BABHRUKALPA: What is visible?

DEVASOMA: Sir, look there - the skull-begging-bowl he has hidden in his robe.

BABHRUKALPA: You heard her.

MONK: Sir, this bowl belongs to no one else.

KAPALIKA: Then show it to us.

MONK: Very well.

(He reveals the bowl.)

KAPALIKA: O Maheshvara! Behold the injustice done to a Kapalika and the virtue of a Buddhist monk!

MONK: Not to take what has not been given - this is my principle;

MONK: To keep away from idle speech - this is my principle;

MONK: To keep away from abuse - this is my principle;

MONK: Not to eat at the wrong time - this is my principle;

MONK: The Buddha, the Dharma, and the Sangha are my refuge.

(The MONK and the KAPALIKA both begin to sway.)

MONK: Ah! The man who ought to be ashamed is dancing!

KAPALIKA: What? Who is dancing? (He looks around.) Of course! My missing begging bowl has now appeared, and in this sweet breeze the vine of weariness is swaying. Seeing that, you imagine that I am dancing!

MONK: Sir, have you not seen its colour? Why are you silent?

KAPALIKA: What is there to see? I have seen it. It is blacker than a crow.

MONK: Then you admit that it is mine.

KAPALIKA: Yes, yes! I admit your chameleon nature - just as a red lotus turns white in sunlight!

DEVASOMA: I am undone! Our sacred begging bowl has turned black from touching this man's black robe! What shall we do now?

(She begins to weep.)

KAPALIKA: Do not worry, my dear. We shall wash and dry it. Just as we cleanse our sins through the power of austerity, so shall we purify our begging bowl. Babhrukalpa, is this not written in the Agama scriptures?

BABHRUKALPA: Yes. According to the Agamas, it is true.

MONK: Very well, the colour came from me - but what about its shape, size, and form?

KAPALIKA: Are you descended from the Great Goddess?

MONK: How long must I argue with you? Here, sir, take it.

KAPALIKA: Good. So the Buddha has become a great giver.

MONK: If this continues, where shall I find refuge?

KAPALIKA: In the Buddha, the Dharma, and the Sangha, of course.

BABHRUKALPA: I cannot settle this dispute. Let us go to court.

DEVASOMA: My lord, if we go there, we shall certainly lose our skull-begging-bowl.

BABHRUKALPA: Why do you say that?

DEVASOMA: This man lives in a monastery with every comfort. With his accumulated wealth, he will silence every judge. All we own are the clothes on our backs. How can we fight him in court?

BABHRUKALPA: Do not speak so. An honest person will certainly receive justice in that court. Just as the pillars support the building, the judges support justice.

KAPALIKA: That is enough for me. An honest person has nothing to fear.

MONK: Sir, lead the way.

BABHRUKALPA: Certainly...

(They all exit.)

(At that moment, a MADMAN enters.)

MADMAN: There, there he is - that wicked dog! He is running away with the skull-begging-bowl in his mouth, along with a piece of roasted meat. Hey, idler! Where are you going? Now he has dropped it and is coming toward me.

(He looks around.)

MADMAN: I shall break his teeth with this stone. Worthless dog, why did you drop the skull and run? Do you want to defeat me in valour? I... I shall ride a stray boar through the sky. I defeated the elephant Airavata by wielding the ocean as a weapon.

MADMAN: Hey, fool, what did you say? That all this is a lie? Then this ugly frog is my witness. What? A man renowned for valour throughout the three worlds needs no witness? Very well. Then I shall eat the piece of meat the dog left behind.

(He eats it and immediately becomes intoxicated.)

MADMAN: My own tears are beating me.

(He looks around and weeps.)

MADMAN: Who is beating me? *(He looks around.)* You worthless people! Just as Ghatotkacha is Bhima's nephew, I too am somebody's nephew. Do not torment me for this piece of meat.

(He looks around.)

MADMAN: My teacher Suranandi is over there. I shall go to him.

(He runs.)

BABHRUKALPA: Take care! That madman is coming this way!

MADMAN: I shall go to that man.

(He approaches.)

MADMAN: Sir, accept this skull-begging-bowl, which I obtained from a low-born, high-ranking dog.

BABHRUKALPA: *(Examining it closely.)* Give it to the person who deserves it.

MADMAN: Holy sir, accept it gladly.

MONK: This venerable Pashupata is the proper recipient.

(The MADMAN comes before the KAPALIKA, places the skull-begging-bowl down, circles him counterclockwise, and falls at his feet.)

MADMAN: My lord, may your happiness increase! A thousand salutations.

KAPALIKA: This is my skull-begging-bowl!

DEVASOMA: Yes!

KAPALIKA: By the grace of the gods, I am a Kapalika once again.

(He moves toward the bowl.)

MADMAN: Get away, you idler! Go eat poison!

(He snatches up the skull and runs.)

KAPALIKA: *(Running after him.)* This servant of Yama is carrying away my very life! Both of you, save me!

BOTH: Very well. We shall help you.

(They all run.)

KAPALIKA: Stop!

MADMAN: Why are you stopping me?

KAPALIKA: Give me back my skull-begging-bowl and go.

MADMAN: Fool! Can you not see? This is a golden bowl.

KAPALIKA: Who made such a golden bowl?

MADMAN: I call it a golden bowl because it was made by the brother-in-law of the goldsmith who wears clothes of gold.

MONK: What are you saying?

MADMAN: That this is a golden bowl.

MONK: What? He is mad!

MADMAN: I hear that title quite often. Here, take it.

(He gives the skull-begging-bowl to the KAPALIKA.)

KAPALIKA: (Taking the bowl.) Now he has gone behind that wall. Hurry after him!

MADMAN: What an honour!

(The MADMAN hurries away.)

MONK: Ah, marvellous! I am delighted by the good fortune that has befallen my enemy.

KAPALIKA: (Embracing the begging bowl.)

*Having devoted all my time to austerity
And surrendered myself to Maheshvara,
At the sight of this sacred vessel
My heart grows calm and reaches His feet!*

DEVASOMA: My lord! To my eyes, you are as cool and soothing as the evening moon.

BABHRUKALPA: By good fortune, the victory is yours.

KAPALIKA: This happy outcome is all thanks to you.

BABHRUKALPA: (Aside.) One who is innocent has nothing to fear. That is why this Buddhist monk escaped the tiger's jaws.

BABHRUKALPA: (Aloud.) At morning prayer I shall remember my friend's good fortune.

(The PASHUPATA exits.)

KAPALIKA: Nagasena, forgive me for my mistake.

MONK: Think nothing of it. What can I do to please you?

KAPALIKA: If you are pleased with me, what more could I ask?

MONK: Shall I take my leave?

KAPALIKA: Very well. We shall meet again.

MONK: Very well.

(He begins to leave.)

KAPALIKA: Come, my dear Devasoma. We too should go.

(The KAPALIKA and DEVASOMA exit.)

- Thus ends Mattavilasa Prahasanam.

MATTAVALASA PRAHASANAM

A classical farce set in Kanchi: a drunken Kapalika searches for his lost skull-bowl and collides with a Buddhist monk, a Pashupata ascetic, and a madman.

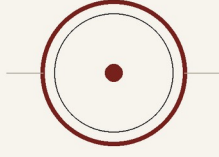


www.videha.co.in

Gajendra Thakur · Editor, Videha — First Maithili Fortnightly eJournal

मंत्री राक्षसक राजसी मोहर

मुद्राराक्षसम्



विशाखदत्त

संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद

गजेन्द्र ठाकुर

सम्पादक, विदेह — प्रथम मैथिली पाक्षिक ई-पत्रिका

www.vidcha.co.in

मंत्री राक्षसक राजसी मोहर

विशाखदत्त रचित संस्कृत नाटक मुद्राराक्षसम्

संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद
गजेन्द्र ठाकुर
सम्पादक, विदेह — प्रथम मैथिली पाक्षिक ई-पत्रिका

www.videha.co.in

प्रकाशकीय विवरण

मूल संस्कृत नाटक: विशाखदत्त

कृति: मुद्राराक्षसम्

संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद: गजेन्द्र ठाकुर

सम्पादक: गजेन्द्र ठाकुर, विदेह — प्रथम मैथिली पाक्षिक ई-पत्रिका

प्रकाशन वर्ष: २०२६

www.videha.co.in

© गजेन्द्र ठाकुर, २०२६

पात्र-परिचय.....	1
पहिल अंक.....	3
द्वितीय अंक.....	19
तेसर अंक.....	35
चारिम अंक.....	48
पाँचम अंक.....	59
छअम अंक.....	75
सातम अंक.....	86

पात्र-परिचय

पुरुष पात्र:

- १.सूत्रधार: रंगमंच निर्देशक, नाटकक प्रारम्भ केनिहार।
 - २.चाणक्य: नायक विष्णुगुप्त, चन्द्रगुप्तक गुरु आ मन्त्री।
 - ३.चन्द्रगुप्त: मगधक राजा।
 - ५.भागुरायण — चाणक्यक दूत, मलयकेतुक पिताक परम मित्र बनल
 - ८.निपुणक — चाणक्यक गुप्तचर, यमक चित्रपट लऽ कय नीतिज्ञक रूपमे
 - ४.जीवसिद्धि: वेशमे इन्दुशर्मन, चाणक्यक मित्र आ दूत, राक्षससँ मित्रताक नाटक करैत।
 - ६.सिद्धार्थक — चाणक्यक दूत, शकटदासक परम मित्र बनल, चन्दनदासक वधस्थलक कारिन्दा वज्रलोमक रूपमे
 - ७.सुसिद्धार्थक — सिद्धार्थकक मित्र, चण्डालक वेशमे वेणुवेत्रक रूप धारण करैत
 - ९.शार्ङ्गरव — चाणक्यक शिष्य।
 - १०.वैहीनरि — चन्द्रगुप्तक व्यक्तिगत/शयनकक्ष परिचारक
 - ११.मलयकेतु: पर्वतदेशक राजा, अपन पिताक हत्याक बदला लेबाक हेतु पाटलिपुत्रपर चढ़ाई करैत
 - १२.राक्षस: प्रतिनायक, दिवंगत सम्राट नन्द आ हुनकर पुत्रक मन्त्री, सर्वार्थसिद्धिक पक्षमे, मलयकेतुसँ मिलि, अन्तमे चन्दनदासक प्राण बचेबाक हेतु चन्द्रगुप्तक मन्त्री पद स्वीकार करैत छथि।
 - १३.चन्दनदास: रत्नकारक श्रेणीक प्रधान, राक्षसक अभिन्न मित्र
 - १४.शकटदास — राक्षसक मित्र आ सचिव
 - १६.करभक: राक्षसक दूत
 - १७.प्रियम्बदक — राक्षसक परिचारक
 - १८.जाजलि — मलयकेतुक कंचुकी; व्यक्तिगत/शयनकक्ष परिचारक
 - १९.भासुरक: मलयकेतुक अनुचर।
 - २०.चर: चाणक्यक गुप्तचर
 - २१.विराधगुप्त: सपेरा बनल राक्षसक गुप्तचर।
- प्रियंवदक
- २२.जीर्णविष भेषमे विराधगुप्त, राक्षसक मित्र आ गुप्त दूत, साँपक खेलाड़ीक रूप धारण करैत
 - २२.प्रथम वैतालिक: चन्द्रगुप्तक चारण।
 - २३.द्वितीय वैतालिक: राक्षसक चारण व्यञ्जन गुप्तचर, स्तनकलश।
 - २४.दौवारिक: राक्षसक द्वारपाल
 - २५.वेत्रहस्तपुरुष: मलयकेतुक आगमनक सूचना देबयबला पुरुष।

२६.पुरुषः गुप्तचर (चाणक्यक, आत्महत्याक स्वांग करयबला)

२७.वज्रलोमकः प्रथम चण्डालक वेशमे सिद्धार्थक

२८.वेणुवेत्रकः द्वितीय चण्डालक वेशमे सुसिद्धार्थक

२९.पुत्रः चन्दनदास पुत्र।

३०. पुरुषः संदेशवाहक।

३१.बन्दीजनः (कैकटा)

स्त्री पात्रः

१.नटीः सूत्रधारक स्त्री

२.शोणोत्तराः चन्द्रगुप्तक प्रतिहारी (स्त्री-द्वारपाल)

३.विजया- मलयकेतुक प्रतिहारी (स्त्री-द्वारपाल)

४.कुटुम्बिनी- चन्दनदासक पत्नी

दृश्य — अंक १, ३, ६, ७ मे पाटलिपुत्र; अंक २, ४ मे पर्वतक देशक राजधानी; अंक ५ मे मलयकेतुक शिविर

(नाटकक प्रारम्भमे सूत्रधार प्रवेश करैत छथि, नाट्यपूर्व प्रबन्धन सम्पन्न भेलापर)

सूत्रधार: हे श्रोतागण, भगवान शिवक माया अहाँक रक्षा करथु, ओइ शिवक, जे गौरीक प्रश्नक उत्तरमे स्वर्गीय गंगानदीक नाम लुकेबाक हेतु एहि प्रकार बाजल छला- गौरी पूछलखिन: "ई के छथि, जे अहाँक शीशपर एतेक सुन्दर रूपसँ विराजमान छथि?" शिव कहलखिन: "शशिकला अर्धचन्द्र छथि।" गौरी कहलखिन: "की ई हुनकर नाम थिकनि?" शिव कहलखिन: "हँ, ई हुनकर नाम थिकनि- अहाँ जनैत छी, फेर बिसरि केना गेलहुँ?" गौरी कहलखिन: "हम स्त्री जातिक संदर्भमे बाजि रहल छी, चन्द्रमाक नहि।" शिव कहलखिन: "तखन विजयाकैं बजाउ, जँ चन्द्रमाक वचन प्रमाण नहि!"

तदुपरि — भगवान शिव, जे त्रिपुर-दैत्यक संहारक थिका, हुनकर नृत्य — जे स्थानीय परिस्थितिक कारणे अड़बड़ाहटिसँ कयल गेल — अहाँक रक्षा करथु — ओहि शिवक जे भूमिक धसानकैं अपन पएरक मृदु स्पर्शसँ थामि लेलथि, जे समस्त संसारकैं छूबैत अपन भुजाक बारम्बार संकुचन-प्रसारसँ मात्र भंगिमाक अभिनय करैत रहला, आ जे अपन भीषण नेत्रसँ अग्निस्फुलिंग निकलेबासँ प्रलयक भयसँ विरत रहला।

हमरा विस्तार त्यागि देबाक चाही — दर्शकवर्ग हमरा आदेश दय रहल अछि जे 'मुद्रिका' नामक नव नाटक, जे कवि विशाखदत्तक, महाराज भास्करदत्तक पुत्र आ सामन्त वटेश्वरदत्तक पौत्रक कृति थिक, हमरासँ अभिनीत करायल जाओ। आ हमरा वास्तवमे बहुत प्रसन्नता अछि जे हमरा ई करबाक अवसर भेटल अछि — एहन दर्शकवर्गक समक्ष, जे काव्यक उत्कृष्टताकैं सराहि सकैत अछि। कारण —

एकटा मन्दबुद्धिक बीजारोपण सेहो उर्वर भूमिमे पड़लापर पल्लवित होइत अछि। धानक प्रचुर उत्पत्तिक हेतु कृषकक योग्यता आवश्यक नहि।

तँ हम अपन परिवारसँ संगे अभिनय आरम्भ करैत छी। (चारुदिस देखैत) आब की बात अछि? घरक दास-दासी सभ असाधारण उत्साहसँ अपन-अपन काजमे लागल छथि, जेना कोनो महा-उत्सव होय।

ई एकटा जल आनि रहल छथि, दोसर सुगन्धित रंग बना रहल छथि (अर्थात् सुगन्धित द्रव्य पीसि रहल छथि), तेसर सुन्दर माला गूँथि रहल छथि, आ ओ चारिम जन मूसल लेने हाथे काज करैत मधुर गुनगुनाहटि कऽ रहल छथि जखन मूसल नीचाँ खसैत अछि।

हम अपन स्त्रीकैं बजाबैत छी (शृंगार-कक्षक दिस देखैत) — हे महानुभावे, शीघ्र आउ! अहाँ, जे नीतिशास्त्रमे प्रवीण छी, जे संसाधनसँ सम्पन्न छी, जे स्थिरता प्राप्त करैत त्रिवर्गक सिद्धि करैत छी, हमर घरक प्रबन्धनमे नीतिशास्त्रक साक्षात् स्वरूप छी —

अभिनेत्री (प्रवेश करैत): जी, हे स्वामी! अपन आज्ञाक श्रुतलेख करेबाक कृपा करू।

सूत्रधार: हे महानुभावे! आज्ञाक श्रुतलेखक प्रसंग छोड़ू। बस हमरा बताउ — घरमे पूजनीय ब्राह्मणकैं भोजन-निमन्त्रण देल गेल अछि, अथवा कोनो सुयोग्य अतिथि आयल छथि, जाहि कारणसँ ई विशेष खान-पानक तैयारी भऽ रहल अछि?

अभिनेत्री: हे स्वामी, पूजनीय ब्राह्मण लोकनिकैं भोजनक निमन्त्रण हमरा दिसँ देल गेल अछि!

सूत्रधार: अवसर की थिकनि?

अभिनेत्री: लोक कहैत अछि जे चन्द्र पर ग्रहण लागत।

सूत्रधार: के कहैत अछि?

अभिनेत्री: नगरवासी लोक तँ यैह कहैत अछि।

सूत्रधार: हे महानुभावे! हम खगोलशास्त्रक चौसठि शाखा सहित अध्ययन कयने छी। तँ पूजनीय ब्राह्मण लोकनिक भोजनक तैयारी अवश्य कयल जाओ। चन्द्र-ग्रहणक विषयमे अहाँकैं भ्रमित कयल गेल अछि। एहि ठाम देखू —

(दुष्टग्रह) राहु, केतुसँ मिलि, समस्त तेजसँ युक्त चन्द्रमापर अखन आक्रमण करबाक प्रयास करैत अछि।

(पर्दाक पाछाँसँ आवाज) — अहाँ! ओ के थिकाह, जे हमरा बावजूद चन्द्र पर आक्रमण करबाक साहस करैत अछि?

सूत्रधार: मुदा बुधग्रहक संयोग हुनका बचा लेत।

अभिनेत्री: हे स्वामी! ई के थिकाह जे भूतलवासी होइतो दैत्यक आक्रमणसँ चन्द्रमाकेँ बचेबाक इच्छा रखैत छथि?

सूत्रधार: हे महानुभावे, सत्य कहैत छी, हमरा हुनकर ध्यान नहि गेल। हँ, हम हुनकर आवाजसँ हुनका पहचानि लेब। (फेरसँ दोहराबैत) 'दुष्टग्रह राहु...' आदि।

(पर्दाक पाछाँसँ आवाज) — अहँ! ओ के थिकाह, जे हमरा बावजूद चन्द्रगुप्त पर आक्रमण करबाक साहस करैत अछि?

सूत्रधार: ओह, बुझलहुँ — ई कौटिल्य थिका —

(अभिनेत्री भयसँ काँपय लगैत छथि)

सूत्रधार: ओ कुटिल नीतिबला, जे नन्द-वंशकेँ अपन क्रोधाग्निमे नलक जेकाँ भस्म कय देलथि। चन्द्रक ग्रहण सुनि हुनका नाम-धारक चन्द्रक ग्रहणक आशंका करैत ओ आयल छथि।

तँ हमरा सभ विदा लेबाक चाही। (दुनू प्रस्थान करैत छथि)

प्रस्तावनाक अन्त

(चाणक्यक प्रवेश होइत अछि — क्रोधमे शीशक जटाकेँ स्पर्श करैत)

चाणक्य: अहँ! ओ के थिकाह जे हमरा बावजूद चन्द्रगुप्त पर आक्रमण करबाक साहस करैत अछि?

ओ कोन मृत्युकेँ वरण कयने मनुष्य हमर शीशक जटाकेँ अखनहुँ बाँधल नहि देखबाक इच्छा रखैत अछि — ई जटा, जे हमर क्रोधाग्नि काली नागिनक रूपमे नन्द-वंशक काल भेल अछि?

ओ कोन मनुष्य, जे अपन विपक्षीक आ अपन शक्तिक आकलनमे भ्रमित अछि, हमर उग्र क्रोधाग्नि सम्मुख पतंगक भाँति तत्काल मृत्यु प्राप्त करैत मरबाक इच्छा रखैत अछि — ओ आग्नि जे नन्द-वंशकेँ एहि भाँति भस्म कय देलक जेना दवानल वनकेँ जरेबैत अछि?

(चाणक्य स्वयं बैसैत छथि, जखन शिष्य बाहर चलि जाइत छथि)

(मन-ही-मन) आब? की नागरिकोमे ई बात पसरि गेल अछि जे राक्षस, जे वंश-विनाशसँ रुष्ट अछि, मलयकेतुसँ मिलि लेल अछि — पर्वतक पुत्र, जे अपन पिताक हत्याक बदलामे जरि रहल अछि, जकरा समस्त नन्द-राज्यक प्रस्ताव दय उकसायल गेल अछि, आ जे म्लेच्छ-सरदारसँ बल पाबि मलयकेतुक सेना लेने वृषालपर आक्रमण करबाक तैयारी कऽ रहल अछि? (क्षण-भरि सोचि) छोड़ू, की होय! हम एकरो बावजूद रोकि लेब। कारण, नन्द-वंशकेँ उखाड़ फेंकबाक प्रतिज्ञा सार्वजनिक रूपसँ करैत हम एहि असाध्य प्रतिज्ञाक नदीकेँ पार कय चुकल छी।

हमर क्रोधक अग्नि वन-दहन जेकाँ थिकैक। एकर ज्वालामे नन्द-वंशक सदस्य लोकनि एहि प्रकार भस्म भेला जेना भयत्रस्त नागरिक-समाजसँ परित्यक्त बाँसक डण्ड। हमर नीतिक विस्फोटसँ उड़ल राखसँ हुनकर मन्त्रीगणक पतन-धूम्र आकाशमे शत्रुपत्नीकेँ वैधव्यक शोकसँ आच्छन्न कय गेल। आब जखन एकरा ईधन नहि रहल तँ ई बुझाबि गेल — एकर शक्ति क्षीण भेलाक कारणे नहि।

तदुपरि — ओहि लोक, जे राजा नन्दक भयसँ असन्तोष मनहि-मन दाबि रखने छला, से आब देखि रहल छथि जे नन्द अपन परिवारसँ सहित हमरा दिसँ ओहिना सिंहासनसँ खसाओल गेला जेना हाथीक प्रमुख अपन यूथकेँ पर्वत-शिखरसँ —।

यद्यपि महाप्रतिज्ञा पूर्ण भेल, मुदा हम वृषालक कारणे तरुआरि धारण करैत रही।

(अन्यथा) — जगतविश्रुत नव नन्द लोकनिकेँ, जे हृदयमे शल्यक भाँति गड़ल छला, हम मूलसँ उखाड़ि देलहुँ, आ सरोवरमे कमल जेकाँ मौर्यक राज्य सुदृढ़ कयलहुँ। एहि प्रकार हम परिश्रमसँ शत्रु आ मित्र दुनूक हेतु उचित फल बाँटि देलहुँ।

तखन, नन्द-वंशकेँ पूर्णतः उखाड़ि देल गेल आ चन्द्रगुप्तक राज्यकेँ सुदृढ़ कहल जाए कोना — जखन तक राक्षसकेँ वश नहि कयल गेल? (चिन्तन-विरति) राक्षसक नन्द-वंशक प्रति भक्तिक अप्रतिम उदाहरण देखि हम चकित छी! यावत नन्द-वंशक एकोटा सदस्य जीवित रहला, ओहि तावत हुनकर नन्द-वंशक कारणे कोनो गतिविधि रोकब संभव नहि छल — जेहि हेतु ओ चन्द्रगुप्तक मन्त्री-पदकेँ स्वीकार करथि, ताहि हेतु नन्द-वंशक सर्वार्थसिद्धिकेँ — दयनीय

प्राणी — हत्या करेबाक आदेश देलहुँ, यद्यपि ओ तपोवनमे सेहो आश्रय लेने छला। आब मलयकेतुक सहयोग पाबि ओ सत्यमे हमरा नष्ट करबाक हेतु और बलशाली तैयारी कऽ रहल अछि। (हवामे दृष्टि लगाबैत) मन्त्री राक्षस! अहाँ सकल प्रशंसाक योग्य छी।

लोक राजाक सेवा स्वार्थवश करैत अछि जावत राजा शक्तिमान रहैत अछि। जे विपत्तिमे हुनकर पाछाँ लागल रहैत छथि, ओ हुनकर पुनर्वापसीक आशामे रहैत छथि। मुदा जे अहाँ जेकाँ मृत्यु उपरान्तो निस्स्वार्थ भक्तिसँ स्वामीक कारण पकड़ने रहैत छथि, पुरानक उपकारक कृतज्ञ स्मृति लेने — एहन योग्य पुरुष मिलनो कठिन अछि।

एही कारणे हम अहाँकेँ अपन पक्षमे करबाक प्रयास करैत छी, ई सोचैत जे चन्द्रगुप्तक मन्त्री-पदकेँ स्वीकार करबाक हेतु अहाँकेँ कोना प्रेरित कयल जाय।
कारण —

बुद्धिहीन मुदा भक्तिसम्पन्न सेवक राखबाक की लाभ? तेहिना बुद्धिमान आ पराक्रमी मुदा भक्तिहीन सेवकक की उपयोग? जे केवल बुद्धि, पराक्रम आ भक्ति — तीनोंकेँ एकत्र लऽ महत्त्वमे सहायक होइत छथि, ओ राजाक भृत्य थिकाह; बाकी सब ओकरा समक्ष भार्याक भाँति सुख-दुखमे परजीवी मात्र छथि।

एही हेतु हम बिना सुताएल एहि विषयमे यत्न करैत रही। एही क्रममे नागरिकोंमे एकटा अपवाह पसरेलहुँ जे हमर सहयोगी राजा पर्वत, जे हम सभपर गहन उपकार कयने छला, हमर विषकन्याक माध्यमसँ राक्षसे हत्या कयलखिन — कारण हम एहि विश्वाससँ चललहुँ जे वृषाल वा पर्वतकमेसँ जे मारल जैत, ताहिसँ हमरा — चाणक्यकेँ — क्षति पहुँचत। एहि अपवाहकेँ विश्वसनीय बनेबाक हेतु हम जानि-बूझिकेँ भागुरायणसँ मलयकेतुक कान फुसफुसेलहुँ जे हुनकर पिताक हत्या हमहीं कयलियैक — ई एहि विश्वासपर कयलहुँ जे जँ ओ युद्ध सेहो करय, तँ युक्तिपूर्वक ओकरा रोकल जा सकैत अछि, मुदा मलयकेतुकेँ बन्दी बनाबाक कलंक — जे पर्वतकक हत्यासँ जुड़ल अछि — मेटायल नहि जा सकैत। हित-अहितक तराजूमे शत्रु आ मित्र पक्षमे के-के आ कतऽ-कतऽ अछि — एहि जाँचक हेतु हम बहुरूपियासँ भिन्न-भिन्न स्थानक वेश-भाषा-रीति-परिधानमे प्रवीण गुप्तचर नियुक्त कयलहुँ। एहि दिससँ हम कुसुमपुरामे निवास करैत नन्द-मन्त्रीक अनुयायी लोकनिक गतिविधिपर दृष्टि रखैत छी। एकरा अतिरिक्त भद्रभट आ अन्य उच्च-अधिकारी — जे युद्धमे चन्द्रगुप्तक पक्षधर छला — हुनका सभकेँ विभिन्न असन्तोषक कारण दर्शाबैत प्रत्यक्षतः असन्तुष्ट प्रतीत होयबाला कयलहुँ। राजाक निजी परिचारकक पदपर एहन विश्वासपात्र लोकक नियुक्ति कयलहुँ जे परीक्षामे खरे उतरल छथि आ जे हत्यारा, विषप्रयोगकर्ता आदिक दुराचारकेँ निरन्तर नियन्त्रणमे रखैत छथि। एहिसँ आगाँ हमर एकटा ब्राह्मण सहपाठी आ मित्र छथि, जनकर नाम इन्दुशर्मन अछि, जे शुक्रनीतिशास्त्रमे महान् दक्षता प्राप्त कयने छथि आ जे खगोलशास्त्रक चौसठि शाखामे प्रवीण छथि। नन्द-वंशकेँ नष्ट करबाक प्रतिज्ञा लेलाक बाद हम हुनका कुसुमपुरामे एकटा बौद्ध-भिक्षुक वेशमे आमन्त्रित कयलहुँ जे ओ नन्दक सभ मन्त्रीसँ मित्रता करथि। हुनका विशेष रूपसँ राक्षससँ घनिष्ठता भेल। आब ओ हमरा बड़ महत्त्वपूर्ण सेवा करत। एहि प्रकार एकटाहु काज शेष नहि रहल। केवल वृषाल — राजनीतिक मण्डलक प्रधान — ई अछि जे सक्रिय रुचि नहि लैत अछि। ओ राज-कार्यक भार हम सभपर छोड़ि दैत अछि। आ निश्चिततः, राज्य तखने सुखदायक होइत अछि जखन ओ राज्यकेँ व्यक्तिगत रूपसँ संभालबाक अतिकठिन झमेलासँ मुक्त रहैत अछि।
कारण —

मनुष्यक स्वामी आ हस्ती-स्वामी, यद्यपि सर्वशक्तिमान, अधिकांशतः दुखी होइत छथि — स्वाभाविकतः, जखन हुनका स्वयं सभ किछु करबाक आ उपभोग करबाक पड़ैत अछि।

(तखन चाणक्यक एकटा गुप्तचर यमक चित्रपट लेने प्रवेश करैत छथि)

गुप्तचर: यमक चरणमे प्रणाम करू! अन्य क्षुद्र देवतासँ की लाभ? कारण ई यमे थिकाह जे दोसरक भक्त लोकनिक प्राण हरि लैत छथि — ओहि लोकनिक जे कम्पित अवस्थामे छथि।

आ एकटा मनुष्य निश्चयसँ ओही देवताक कृपासँ जीवित रहैत अछि जकर ओ भक्त होइत अछि — ओ देवता चाहे कतेको कठोर होथि। एहि प्रकार हम ओहि यमक कृपासँ जीवित छी जे मनुष्यक संहारक थिकाह।

आब हम एहि घरमे प्रवेश करैत छी, चित्रपट देखाओत आ भक्ति-गीत गाओत।

शिष्य (गुप्तचरकेँ देखि): हे भले मानुस, एहि घरमे प्रवेश नहि करू।

गुप्तचर: हे ब्राह्मण! ई किनकर घर थिकनि?

शिष्य: ई हमर परम-गुरु सुनामक पूजनीय चाणक्यक घर थिकनि।

गुप्तचर (मुस्कियाइत): हे ब्राह्मण! तखन ई हमर धर्म-भाइक घर थिकनि, आन केकरो नहि। तँ हमरा आबय दिअ। हम अहाँक गुरुकेँ धर्म-सत्यक उपदेश देब।

शिष्य (क्रोधमे): अहाँ की कहलहुँ? की अहाँ हमर गुरुसँ अधिक धर्म-सत्य जनैत छी?

गुप्तचर: हे ब्राह्मण! क्षुब्ध नहि होउ। एहन नहि जे सभ किछु सभ केओ जनैत हो। किछु बात अहाँक गुरु जनैत छथि, किछु बात हम जेकाँ लोक जनैत छथि।

शिष्य: अहाँ हमर गुरुक सर्वज्ञता-विशेषणकेँ छीनबाक प्रयास करैत छी।

गुप्तचर: हे भले ब्राह्मण! जँ अहाँक गुरु सर्वज्ञ थिका तँ ओ बताउथि जे ई कोन लोक छथि जे चन्द्रकेँ पसन्द नहि करैत छथि।

चाणक्य (गुप्तचरकेँ सुनि, मनहि-मन): अहाँ! ई लोक ई कहबाक प्रयास कऽ रहल अछि जे ओ लोकक नाम जनैत अछि जे चन्द्रगुप्तकेँ पसन्द नहि करैत छथि।

शिष्य: एहन बात कोना कहैत छी? अहाँ बकबास करैत छी।

गुप्तचर: जँ हमर बुद्धिमान कान मिलैत, तखन ई बकबास नहि, बुद्धिक बात होइत।

चाणक्य: अरे, आउ भले मनुष्य! हम सुनबाक हेतु प्रस्तुत छी।

गुप्तचर: हम आयल। (प्रवेश करैत आ चाणक्यक समक्ष जाइत) — अहाँक कल्याण हो, हे पूजनीय महोदय!

चाणक्य (हुनकर मुखाकृति देखि, मनहि-मन): ओह! ई थिकाह निपुणक, जे मनुष्यक मनकेँ जाँचबाक हेतु नियुक्त छथि। (प्रकटत:) भले आउ, भले मनुष्य! बैसू।

गुप्तचर: जेहन पूजनीय महोदय आज्ञा दैत छथि। (भूमिपर बैसैत छथि)

चाणक्य: आब अपन कार्य-विवरण दिअ। की प्रजा वृषालकेँ चाहैत अछि?

गुप्तचर: निश्चय ओकरा चाहैत अछि। कारण अहाँक योग्यतासँ असन्तोषक समस्त कारण दूर भेलापर प्रजा सुयशस्वी चन्द्रगुप्त महाराजकेँ अत्यन्त प्रेमसँ चाहैत अछि। मुदा नगरमे तीन व्यक्ति एहन छथि जे मन्त्री राक्षससँ पूर्व-मित्रता आ आदरसँ बँधल छथि आ सम्माननीय चन्द्रगुप्तक राज्यसत्तासँ असहिष्णु छथि।

चाणक्य (बढ़ैत क्रोधसँ, मनहि-मन): हुनका सभकेँ तँ कहना चाहि जे ओ अपन सुखचैनसँ असहिष्णु छथि। (प्रकटत:) की अहाँ हुनकर नाम जनैत छी?

गुप्तचर: हे पूजनीय महोदय, हम हुनकर नाम नहि जनैत तँ के बतैत अनि?

चाणक्य: एहि स्थितिमे हम हुनकर नाम जानब चाहैत छी।

गुप्तचर: हे पूजनीय महोदय! ध्यान दिअ — पहिल व्यक्ति, शत्रुक सँग मिलल, एकटा क्षपणक (बौद्ध भिक्षु) थिकाह —

चाणक्य (मनहि-मन): शत्रुपक्षसँ मिलल एकटा क्षपणक? (आश्चर्यसँ) ओ के भऽ सकैत अछि?

गुप्तचर: नाम जीवसिद्धि, जे राजा पर्वतक विरुद्ध मन्त्री राक्षसे नियुक्त विषकन्याद्वारा कयल गेल हत्यामे संलग्न रहला।

चाणक्य (मनहि-मन): ओह! ई जीवसिद्धि थिकाह। ई तँ हमर गुप्तचर छथि! (प्रकटत:) आब दोसर के छथि?

गुप्तचर: दोसर एकटा लेखक छथि, नाम शकटदास, जे मन्त्री राक्षसक प्रिय मित्र थिकाह।

चाणक्य (मनहि-मन): एकटा लेखक कोनो महत्त्वपूर्ण अधिकारी नहि थिकाह। हम हुनकर पाछाँ सिद्धार्थककेँ मित्रताक वेशमे लगेलहुँ, कारण शत्रुकेँ कतेहो नगण्य होथि, तैयो उपेक्षा उचित नहि। (प्रकटत:) आब तेसर के छथि?

गुप्तचरः तेसर फुलवारी-चौकपर रहनिहार एकटा धनी रत्नकार थिकाह, नाम चन्दनदास, जे मन्त्री राक्षसक दोसर स्वरूप थिका आ जनकर देखरेखमे मन्त्री अपन परिवारकें छोड़ि नगरसँ भागल छला।

चाणक्य (मनहि-मन): निश्चय ई हुनकर सभसँ अभिन्न मित्र होयताह। कारण राक्षस एहन व्यक्ति नहि थिका जे अपन परिवारकें एहन व्यक्तिक जिम्मेमे छोड़ि जाथि जे हुनकर दोसर स्वरूप नहि होथि। (प्रकटतः) हे भले मनुष्य! एहि बात कोना जनलहुँ जे राक्षस अपन परिवारकें चन्दनदासक देखरेखमे छोड़लनि?

गुप्तचरः हे महोदय! एहि मुद्रिकासँ।

(गुप्तचर मुद्रिका चाणक्यकें प्रदान करैत छथि)

चाणक्य (मुद्रिका परीक्षण करैत, हर्षमे मनहि-मन): हँ! हमरा राक्षस अपन अँगुरीमे प्राप्त भऽ गेल! (प्रकटतः) हे भले मनुष्य! हम विस्तारसँ सुनब चाहैत छी जे अहाँ एहि मुद्रिका कोना प्राप्त कयलहुँ।

गुप्तचरः सुनू हे पूजनीय महोदय! अहाँक महान् स्वसँ गुप्त रूपे नागरिकोंक गतिविधिक अन्वेषण करबाक हेतु नियुक्त, यमक चित्रपट आ हुनकर राज्यक संग अपन भ्रमणमे, जे निजी घरोंमे प्रवेश करने कारोंकें कोनो सन्देह उत्पन्न नहि करैत — धनी रत्नकार चन्दनदासक घर आयल, ओहिठाम चित्रपट पसरेलहुँ आ भक्ति-गीत गेबा लागलहुँ।

चाणक्यः तखन? आगौं बताउ।

गुप्तचरः लगभग पाँच वर्षक एकटा बालक, अत्यन्त सुन्दर रूपयुक्त, बच्चाक स्वाभाविक जिज्ञासावश आँखि फाड़ि अन्दरसँ बाहर आबऽ चाहलक। एहिपर ओहि अन्दरसँ स्त्रीगणक एकटा हड़बड़ाहटि भेल — "ओ बालक! बाहर जाइत अछि!" — जे हुनका सभक व्याकुलताक प्रकाशन छल। तखन एकटा महिला द्वार-भारसँ झाँकलखिन, बालककें डाँटलखिन आ जखन ओ बाहर आबऽ लागल तखन अपन कोमल लता-जेकाँ भुजासँ ओकर हाथ पकड़लखिन। जखन ओ बालककें पकड़बाक हड़बड़ाहटिमे अपन अँगुरी पसारि हाथ बढेलखिन, तखन ई मुद्रिका — जे पुरुषक अँगुरीमे पहिरबाक हेतु थिकनि — हुनकर हाथसँ खसि द्वारक देहरीपर पड़ि गेल आ हमर पएरक समीप बिना ध्यानमे पड़ला खसल। ओहिपर मन्त्री राक्षसक नाम खुदल देखि हम ई पूजनीय महोदयक समक्ष लेने आयलहुँ। एहि प्रकार हम एहि मुद्रिका प्राप्त कयलहुँ।

चाणक्यः बुझलहुँ। भले मनुष्य, अहाँ जाउ। एहि उपकारक पुरस्कार शीघ्र भेटत।

गुप्तचरः हे पूजनीय महोदय! जेहन आज्ञा। (प्रस्थान)

चाणक्यः हँ शार्ङ्गरव!

शिष्य (प्रवेश करैत): हे पूजनीय महोदय! की आज्ञा?

चाणक्यः हमर लेखन-सामग्री आनू बच्चा!

शिष्यः जेहन आज्ञा। (जाइत आ घुरैत) हे पूजनीय महोदय! लेखन-सामग्री उपस्थित।

चाणक्य (सामग्री लैत, मनहि-मन): एहिठाम की लिखी? ई तँ राक्षसपर विजयक दस्तावेज होयत — हमर ई लेखन।

स्त्री-द्वारपाल (प्रवेश करैत): अहाँक जय हो, हे महान् महोदय!

चाणक्य (मनहि-मन, हर्षसँ): विजय-उद्घोषणाकें हम स्वागत करैत छी! (प्रकटतः) की बात थिकनि, शोणोत्तरे?

स्त्री-द्वारपालः हे पूजनीय महोदय! महाराज सुयशस्वी चन्द्रगुप्त, मस्तकपर कमल-कलीक भाँति मुड़ल हाथ जोड़ि विनम्रतापूर्वक निवेदन करैत छथि जे, "हम चाहैत छी जे पूजनीय गुरुक अनुमतिसँ पूर्व-राजा पर्वत द्वारा पहिरल गहनासभ पूजनीय ब्राह्मण लोकनिकें दान कय परलोकमे शान्ति प्राप्त करी।"

चाणक्य (सन्तोषसँ, मनहि-मन): शाबाश वृषाल! तोहर प्रार्थना हमर मनोकामनाकेँ उत्तर देलक। (प्रकटत:) शोणोत्तरे, वृषालकेँ हमर ओरसँ एहि उत्तरमे कहियनु — "हे सुप्रिय राजकुमार! अहाँ विधि-व्यवस्था जनैत छी। हँ, एहि प्रकार करू। मुदा पर्वत द्वारा पूर्व-पहिरल गहना उत्कृष्ट कारीगरीक थिकनि। ओ साधारण ब्राह्मणकेँ नहि, उत्कृष्ट ब्राह्मणकेँ देयोग्य थिकनि। एहि हेतु हम स्वयं विश्वासु आ हुनकर दुनू भाइकेँ पठेबनि।"

स्त्री-द्वारपाल: हे पूजनीय महोदय, जेहन आज्ञा। (प्रस्थान)

चाणक्य: हँ शार्ङ्गरव! विश्वासु आ हुनकर दुनू भाइकेँ हमर नामसँ कहियनु जे ओ वृषालसँ गहनाक उपहार लेबाक हेतु जाथि आ (धुरैत) हमरासँ भेंट करथि। (शिष्यक प्रस्थान आ पुनरागमन)

शिष्य: हे पूजनीय महोदय, जेहन आज्ञा देलहुँ कय देलियनि। (प्रस्थान)

चाणक्य: आब एहि पत्रमे की लिखी? (विचार करैत) — हँ! पायल। म्लेच्छ-सरदार लोकनिक मध्य जे पाँचटा सर्वप्रमुख राक्षसक अनुगामी छथि, गुप्तचरसँ जानल जे ओ सभ थिकाह — कुलूतक चित्रवर्मन, मलयदेशक सिंहनाद — सिंह-राजा, कश्मीरक पुष्करराक्ष, शत्रुकेँ नत कय देनिहार सिन्धु-देशक सिन्धुशेन, आ परासीकाक अश्वदल-सम्पन्न मेघकोश — ई पाँचम। निश्चय हम एहि ठाम हुनकर नाम लिखब। चित्रगुप्त भविष्यमे हुनका सभकेँ कलम करथि! (क्षण-भरि सोचैत) नहि-नहि। सभटा अनिर्दिष्ट रहऽ दिअ।

हँ शार्ङ्गरव!

शिष्य (प्रवेश करैत): हे पूजनीय महोदय! की आज्ञा?

चाणक्य: हे बच्चा! वेदाध्ययनकारी विद्वानक लेखनमे सहजता आ सौन्दर्यक कमी होइत अछि। एहि हेतु सिद्धार्थककेँ हमर नामसँ कहियनु जे ओ शकटदाससँ एहि शर्तमे एकटा पत्र लिखवाउ — (ओकर कानमे फुसफुसाबैत) — आ हमरासँ भेंट करथि। एहि पत्रपर बाहरसँ कोनो पताक उल्लेख नहि हेतैक, कारण ओ स्वयं कोनो निश्चित व्यक्तिक पाससँ एकटा मौखिक सन्देश लेबाक हेतु नियुक्त होयताह। शकटदासकेँ ई नहि बतायल जाय जे ई पत्र लिखबेनिहार चाणक्य छथि।

शिष्य: हे पूजनीय महोदय, जेहन आज्ञा। (प्रस्थान)

चाणक्य: हम कतेक प्रसन्न छी! मलयकेतुपर विजय प्राप्त भेल। (सिद्धार्थक प्रवेश करैत, हाथमे पत्र लेने)

सिद्धार्थक: हे महोदय! जय हो। हे पूजनीय महोदय! शकटदासक हस्तलेखमे पत्र उपस्थित।

चाणक्य: कतेक सुन्दर हस्तलेख! (मनहि-मन मनन करैत) — एकर मर्म अन्तर्मनसँ स्मरण करैत पत्रपर मुद्रा लगाउ, हे भले मनुष्य!

सिद्धार्थक: हे पूजनीय महोदय! जेहन आज्ञा। (मुद्रा लगाबैत)

चाणक्य: हँ शार्ङ्गरव!

शिष्य (प्रवेश करैत): हे पूजनीय महोदय! की आज्ञा?

चाणक्य: काल-पासिककेँ हमर नामसँ कहियनु जे वृषालक ई आज्ञा थिकनि जे ओ बौद्ध-भिक्षु जीवसिद्धि, जे राक्षसक नियुक्त विषकन्याद्वारा राजा पर्वतक हत्यामे संलग्न रहल, ओकरा एहि अपराधक सार्वजनिक घोषणाक बाद राजधानीसँ अपमान सहित निर्वासित कयल जाय।

शिष्य: हे पूजनीय महोदय, जेहन आज्ञा! (प्रस्थान)

चाणक्य: ठहरू, हे बच्चा! ओकरा आगाँ कहियनु जे दोसर अपराधी, लेखक शकटदास — जे सदा महाराजक विरुद्ध राजद्रोहक षड्यन्त्र रचैत रहल — ओकरासेहो सार्वजनिक घोषणाक बाद शूलपर चढ़ायल जाय आ हुनकर परिवारकेँ बन्दीगृहमे डालल जाय।

शिष्य: हे पूजनीय महोदय, जेहन आज्ञा! (प्रस्थान)

सिद्धार्थक: हे महोदय! मुद्रा लगाओल गेल। आगाँ की करब?

चाणक्यः वधस्थलपर सीधा जाउ आ तेवरी चढ़ा, क्रोधसँ वधिकोंकें एहि मूल्य भयभीत करू जे ओ सभ दिगम्बर भागि जाथि, आ तखन सिद्धार्थककें वधस्थलसँ उठाकय राक्षसक पाससँ लेजाउ। ओ अपन मित्रक उद्धारसँ प्रसन्न होयताह (आ अहाँकें पुरस्कृत करताह)। अहाँ पुरस्कार लेबी आ भविष्यमे किछु समय राक्षसक निजी सेवकक रूपमे कार्य करब। तखन शत्रु समीप आयलापर एहि उद्देश्यकें पूर्ण करबाक अछि। (हुनकर कानमे फुसफुसाबैत) बस, एतबे।

सिद्धार्थकः हे पूजनीय महोदय! जेहन आज्ञा देलहुँ।

चाणक्य (व्यग्रतापूर्वक, मनहि-मन): काश, ओ दुष्ट राक्षस पकड़ल जाइत (एतेक उपायक बाद)!

सिद्धार्थकः हे महोदय! पकड़ल तँ गेला!

चाणक्य (मनहि-मन, हर्षमे): अहाँ! राक्षस पकड़ल गेला।

सिद्धार्थकः हे महोदय! की पूजनीय महोदयक काज सफल भेल? तँ हम अपन अभियानक सफलताक हेतु जाउ?

चाणक्यः जाउ, हे भले मनुष्य! आ सफलता प्राप्त करू।

(शिष्यक प्रवेश, पत्र लेने आ घुरैत)

शिष्यः हे पूजनीय महोदय! काल-पासिक, नगर-रक्षाक प्रमुख, पूजनीय गुरुसँ प्रार्थना करैत छथि जे ओ तुरन्त महाराज चन्द्रगुप्तक आज्ञाकें कार्यान्वित करथि।

चाणक्यः ठीक अछि। हे बच्चा! हम चाहैत छी जे धनी रत्नकार चन्दनदास आउ।

शिष्यः हे पूजनीय महोदय! जेहन आज्ञा। (जाइत आ चन्दनदासक संग घुरैत) — हे पूजनीय महोदय! एहि ओरसँ आउ, हे धनिक पुरुष!

चन्दनदास (मनहि-मन):

जखन क्रूर चाणक्य बजाबैत अछि तखन एकटा निर्दोष व्यक्ति सेहो आशंकाग्रस्त भऽ जाइत अछि। तखन जे दोषी होय, ओकर कतेक अवस्था होयतनि?

ताहि कारणे हम धानासेना प्रमुख तेसर बौद्ध-उपासककें कहलहुँ जे — "संयोगतः ओ दुष्ट चाणक्य हमर घरकें तलाशी करबा सकैत अछि। एहि हेतु हमर महान् मन्त्री राक्षसक परिवारकें हटा दिस। हमर कारण जे भऽ सो हो।"

शिष्यः आउ, हे धनिक!

चन्दनदासः ठीक अछि, हे महोदय! (चाणक्यक समक्ष उपस्थित होइत)

शिष्यः हे पूजनीय महोदय! एहि ठाम छथि ओ धनिक चन्दनदास।

चन्दनदासः हे महोदय! अहाँक विजय हो!

चाणक्य (हुनकर दिस देखैत): स्वागत, हे धनिक! एहि आसन पर बैसू।

चन्दनदास (झुकि प्रणाम करैत): ई सम्मान हमरा जेकाँ लोकक हेतु अत्यधिक अछि — अपमानसँ अधिक। निश्चय अहाँ एहि बात जनैत छी, हे महोदय! एहि हेतु हम एहि भूमिपर बैसैत छी, जेना हमरा उचित अछि।

चाणक्यः हे धनिक! एहन नहि कहू! हमरा जेकाँ व्यक्तिक समक्ष ई अहाँक उचित स्थान थिकनि। एहि हेतु ओहि निर्दिष्ट आसनपर बैसू।

चन्दनदास (मनहि-मन): ई दुष्ट किछु कटाक्ष कऽ रहल अछि। (प्रकटतः) अहाँक आज्ञाक पालन करैत छी, हे महोदय! (इंगित आसनपर बैसैत छथि)

चाणक्यः हे धनिक! आशा अछि वाणिज्यिक लेन-देनक लाभ वृद्धि भऽ रहल अछि?

चन्दनदासः अहाँक कृपासँ, हे महोदय! व्यापार समृद्ध अछि।

चाणक्यः की चन्द्रगुप्तक त्रुटि-विशेषण प्रजाकै पूर्व-राजाक उत्कृष्टताक स्मरण दिलेबैत अछि?

चन्दनदास (कान ढाकि): एहन पापी विचारकै हम नकरैत छी! प्रजा महाराजसँ पूर्णिमाक शरत्कालीन चन्द्रमा जेकाँ अत्यन्त प्रसन्न छथि।

चाणक्यः जँ एहिना अछि, तखन राजा अपन प्रसन्न प्रजासँ बदले उपकार चाहैत अछि।

चन्दनदासः हे महोदय! आज्ञा करू, एहि व्यक्तिसँ की अपेक्षित अछि?

चाणक्यः हे धनिक! ई चन्द्रगुप्तक शासन थिकनि, नन्दक नहि। नन्दक लोभी राजाकै धन-दान प्रसन्न करैत छल, मुदा चन्द्रगुप्तकै केवल कठोरतासँ विरति प्रसन्न करैत अछि।

चन्दनदासः हे महोदय, एहि हेतु हम अहाँक आभारी छी।

चाणक्यः आ अहाँ हमरासँ पूछब जे कठोरतासँ विरतिक माध्यम कोन थिकनि?

चन्दनदासः हे महोदय! हम निर्देश पाबऽ चाहैत छी।

चाणक्यः संक्षेपमे कहल जाय — स्वामिभक्तिसँ।

चन्दनदासः हे महोदय! राजाक प्रति कोन दुर्भाग्यपूर्ण व्यक्ति स्वयंकै स्वामिद्रोही मानत?

चाणक्यः अहाँ स्वयं, पहिलसँ शुरू करू।

चन्दनदास (कान ढाकि): एहन पापी विचारकै नकरैत छी! आ भूसा आगि-सँ कि लड़ि सकैत अछि?

चाणक्यः देखू ई थिकनि। अहाँ राजाक शत्रु राक्षसक परिवारकै आश्रय दैत छी।

चन्दनदासः ई असत्य थिकनि, हे महोदय! कोनो दुष्ट व्यक्ति अहाँसँ एहि बात कहलनि।

चाणक्यः हे धनिक! चिन्ता नहि करू। पूर्व-राजाक अधिकारी लोकनि आतंकमे दोसर देशमे भागि जाइत छथि, अपन परिवारकै नागरिकक घरमे पहिलहिँ पछुने छोड़ैत छथि। ई केवल तथ्य छुपेबाक बात थिकनि — ओहि छुपाबहिसँ ई अपराध बनैत अछि।

चन्दनदासः हे महोदय, जे कहलहुँ सैह सत्य अछि। आतंकमे मन्त्री राक्षसक परिवार हमर घरमे रहल।

चाणक्यः आ अखन ओ कतऽ अछि?

चन्दनदासः हम नहि जनैत छी।

चाणक्य (मुस्कियाइत): हँ, हँ! अहाँ नहि जनैत छी — एहना नाटक करैत छी। हे धनिक! खतरा सोझाँ अछि आ उपाय दूर। आ की अहाँ नहि सोचैत छी जे मन्त्री राक्षस ओहिना चन्द्रगुप्तकै उखाड़ि देत जेना विष्णुगुप्त नन्दकै उखाड़लखिन? (क्षण-भरि संकोचसँ झुकि, फेर शुरू करैत) — देखू।

जखन नन्द आ हुनकर परिवार जीवित रहला, राज्य-सत्ता सदा अस्थिर छल, आ वाक्रनास आ अन्य सम्मानित मन्त्री — वीरता आ कूटनीतिज्ञतासँ सम्पन्न — एकरा स्थिर नहि कय सकला। आब ई चन्द्रगुप्तमे स्थिर अछि, जेना चन्द्रमामे आलोकित चाँदनी सभकै आनन्द दैत अछि। एकरा हुनकासँ अथवा चाँदनीकै चन्द्रमासँ अलग करबाक साहस के करत?

तदुपरि —

ओ सिंहसँ लड़बाक आ हँफोड़ीक क्रियामे पूर्ण खुलल मुँहसँ रक्तिम हाथी-रक्तसँ रञ्जित एवं सन्ध्याक लालिमामे चमकैत अर्धचन्द्र जेकाँ चमकैत दाँतकै निकालबाक साहस के करत?

चन्दनदास (मनहि-मन): यथोक्ति प्रमाणित — ई डींग उचित लगैत अछि।

(पर्दाक पाछाँसँ 'बाट छोड़ू'क आवाज)

चाणक्य: हैं शार्ङ्गरव! देखू की बात अछि।

शिष्य: हे पूजनीय महोदय, जेहन आज्ञा। (जाइत आ घुरैत) — हे पूजनीय महोदय! ओ राजद्रोही बौद्ध-भिक्षु जीवदसिद्धि — जे महाराज चन्द्रगुप्तक आज्ञासँ अपमान सहित निर्वासित कयल जा रहल अछि।

चाणक्य: एकटा बौद्ध-भिक्षु? बड्ठ दया लगैत अछि! तैयो ओकरा राजद्रोहक परिणाम भोगबाक पड़त। हे धनिक! राजा, जे एहि प्रकार कठोरतासँ राजद्रोहियोंकेँ दण्ड दैत अछि, ओ एहन व्यक्तिपर जे राक्षसक परिवारकेँ आश्रय दैत अछि, कोनो दया नहि देखायत। एहि हेतु अपन पत्नी बचाउ आ दोसराक पत्नी छोड़बाकय अपन जीवन बचाउ।

चन्दनदास: हे महोदय! हम अहाँकेँ विनम्रतापूर्वक कहैत छी जे आतंकमे मन्त्री राक्षसक परिवार हमर घरमे रहल।

चाणक्य: आ ओ अखन कतऽ अछि?

चन्दनदास: हम नहि जनैत छी।

चाणक्य (मुस्कियाइत): हैं, हैं! तखन ओकरा राक्षसक परिवार मानिकेँ हमर हाथमे सौंपू आ अपनाकेँ दोषमुक्त करू।

चन्दनदास: हे महोदय! अहाँक समक्ष विनम्रतापूर्वक कहैत छी — मन्त्री राक्षसक परिवार हमर घरमे नहि अछि।

(पर्दाक पाछाँसँ 'बाट छोड़ू 'क आवाज फेर)

चाणक्य: हैं शार्ङ्गरव! आब की अछि?

शिष्य: हे पूजनीय महोदय, जाइत आ घुरैत — दोसर राजद्रोही, लेखक शकटदास, जे शूलदण्ड हेतु वधस्थलपर लयल जाइत अछि।

चाणक्य: ओकरा अपन कर्मक फल भोगबाक पड़त। हे धनिक! जे राजा एहि प्रकार कठोरतासँ राजद्रोहियोंकेँ दण्ड दैत अछि, ओ राक्षसक परिवारकेँ आश्रय देनिहारपर कोनो दया नहि देखायत। एहि हेतु दोसराक पत्नी छोड़िकेँ अपन पत्नी आ जीवन बचाउ।

चन्दनदास: हे महोदय! अहाँ व्यर्थहैं हमरा भयभीत करबाक प्रयास करैत छी। हम मन्त्री राक्षसक परिवारकेँ तखनहुँ नहि छोड़ब जखन ओ हमरा पाससँ छथि। ओ छथि वा नहि — एकरासँ की अन्तर पड़ैत अछि?

चाणक्य: तखन अहाँ मनस्थिर कय लेलहुँ?

चन्दनदास: हैं, लय लेलहुँ।

चाणक्य (मनहि-मन): शाबाश चन्दनदास! अहाँ सभ प्रशंसाक योग्य छी।

वर्तमान युगमे एहि कार्यकेँ करब, जे केवल शिबिक मामलामे संभव छल — दोसर लोकक विश्वासघातसँ सरलतासँ लाभ उठाबाक बावजूद।

(क्रोधसँ, प्रकटत:) — हे धनिक! अहाँ मनस्थिर कय लेलहुँ? तखन हे दुष्ट व्यापारी! राज-कोषक भार वहन करबाक तैयार रहू।

चन्दनदास: हम तैयार छी। हे महोदय, अपन उच्च पदक अधिकारसँ जे करबाक हो, करू।

चाणक्य: हैं शार्ङ्गरव! विजयपालाकेँ (दुर्ग-पालकेँ) कहियनु जे एहि दुष्ट व्यापारीकेँ तुरन्त — नहि, एहिना नहि — एहि ओरसँ हौजकेँ ओकर सम्पत्ति जब्त करबाक, ओकरा जंजीरमे बान्हबाक आ हुनकर पत्नी आ पुत्रक संग बन्दीगृहमे रखबाक आज्ञा दिअ — यावत हम वृषालकेँ प्रतिवेदन नहि करैत छी, जे स्वयं ओकरा मृत्युदण्ड देताह।

शिष्य: हे पूजनीय महोदय, जेहन आज्ञा! आउ, हे धनिक!

चन्दनदास (आसनसँ उठैत): आयल, हे भले महोदय! (मनहि-मन) — हम प्रसन्न छी जे मित्रक कारणे मरैत छी आ मानवीय दोषक कारणे नहि।

(शार्ङ्गरव आ चन्दनदास प्रस्थान करैत छथि)

चाणक्य (आनन्दसँ): हैं! राक्षस अखन सुरक्षित अछि।

ई रत्नकार जेहन बेपरवाहीसँ अपन जीवनकेँ संकटमे डालि रहल अछि, ओ निश्चय ओही प्रकार रत्नकारक कठिनाईक दिनमे अपन जीवनकेँ बेपरवाह नहि छोड़त।

(पर्दाक पाछाँसँ कोलाहल)

शिष्य (उतावलीसँ प्रवेश करैत): हे पूजनीय महोदय! ओहि सिद्धार्थक भागि गेल — शकटदासाकेँ वधस्थलसँ लेजाइत, जखन ओ शूल-दण्ड देबाय लेल तैयार छल।

चाणक्य (मनहि-मन): शाबाश, सिद्धार्थक! शुभारम्भ भेल। (प्रकटत:) की? भागल? हे बच्चा! भागुरायणकेँ कहियनु जे ओकरा तत्काल पकड़िथि।

शिष्य (जाइत आ घुरैत): हे पूजनीय महोदय! भागुरायण सेहो प्रस्थान कय चुकला।

चाणक्य (मनहि-मन): भले जाय, सफल होउ। (प्रकटत:) हे बच्चा! भद्रभट, पुरुदत्त, दिंगरात, बालगुप्त, राजसेन, रोहिताक्ष आ विजयवर्मनकेँ कहियनु जे दुनूकेँ खोजि पकड़ि लेथि।

शिष्य: ठीक अछि। (जाइत आ व्याकुलतापूर्वक घुरैत) — हे पूजनीय महोदय! विपत्तिमे पड़ि गेल! सम्पूर्ण प्रशासनिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न भऽ गेल। की दुर्दशा! भद्रभट आ हुनकर अनुयायी गेल! ओ सभ दिन उगेसँ पहिने निकलि चुकला।

चाणक्य (मनहि-मन): भले जाथि! (प्रकटत:) हे बच्चा! मनस्तापक आवश्यकता नहि (एहिसँ किछु अन्तर नहि पड़ैत अछि)।

जे लोक श्रेष्ठ कारणसँ अपना जाना-बूझाकेँ प्रस्थान कय गेला, ओ गेल। जे बचल छथि, ओहो हमर इच्छानुसार मन्त्रणासँ प्रस्थान करथि। केवल हमर प्रतिभा हमरा नहि छोड़िथि। राजनीतिक उद्देश्यक सिद्धिमे ई एकल क्षमता सैकड़ो सेनाक बराबर थिकनि। एकर शक्तिक महत्त्व नन्दक विनाशसँ पर्याप्त रूपमे प्रमाणित भेल अछि।

(आसनसँ उठैत) — आब हम व्यवस्था करैत भद्रभट आ हुनकर अनुयायी सभकेँ घुरेबाक हेतु जाइत छी। (हवामे दृष्टि लगाबैत, मनहि-मन) — ओ दुष्टसंकल्प राक्षस! आब अहाँ कतऽ जायब?

हम अहाँकेँ अपन प्रतिभासँ वशीभूत करैत चन्द्रगुप्तक सेवामे नियुक्त करब — अहाँ जे स्वयंमेव व्यक्तिगत पराक्रमक अभिमानसँ फूलल, स्वेच्छाचारी आ उद्वण्ड, विपुल उपहारसँ मनुष्यकेँ आकर्षित करबाक साधन-सम्पन्न थिकहुँ — ठीक ओहिना जेना एकटा व्यक्ति अपन प्रतिभासँ एकटा जंगली हाथीकेँ — जे स्वयं एकाकी विचरैत, व्यक्तिगत शक्तिक अभिमानसँ फूलल, स्वेच्छाचारी आ उद्वण्ड, विपुल मद-स्रावसँ मधुमक्खीकेँ आकर्षित करबामे समर्थ हो — वश कय सेवामे लगा लैत अछि।

(सभ प्रस्थान)

[दृश्य: एकटा साँप खेलावेबला (ऐंद्रजालिक) हाथमे पिटारी लेने रंगमंच पर प्रवेश करैत अछि]

साँप खेलावेबला: जे लोक अपन मन्त्रक गोपनीयताक रक्षाक प्रति सदा सजग रहैत छथि, जे विष-नाशक जड़ी-बूटीक प्रयोग जनैत छथि, आ जे जादूई घेरा (मण्डल) केँ ठीकसँ देखैत छथि, वैह लोक साँपक संग व्यवहार कऽ सकैत छथि। ठीक तहिना, जे लोक राजनीतिक योजनाक गोपनीयताक रक्षाक प्रति सदा सजग रहैत छथि, आंतरिक नीतिक विज्ञान जनैत छथि, आ मित्र, शत्रु तथा उदासीन राजा सभक क्षेत्र (मण्डल) केँ ठीकसँ बुझैत छथि, वैह लोक राजा सभक संग व्यवहार करैत छथि।

(ऊपर देखिकऽ) अहाँ की कहि रहल छी, महाशय? अहाँ हमर परिचय पूछि रहल छी?

महाशय, हम एकटा साँप खेलावेबला छी, हमर नाम जीर्णविष अछि। अहाँ आगाँ की कहैत छी? अहाँ साँपक खेल देखबाक इच्छा रखैत छी? ठीक महाशय, अहाँक पेशा की अछि?

अहाँ राजाक घरक अधिकारी छी? तखन तँ महाशय, अहाँ वास्तवमे साँपक संगहि व्यवहार कऽ रहल छी। कारण, सफलताक मदमे चूर राजाक घरक अधिकारी, मदिरासँ उन्मत्त महावत, आ मन्त्र तथा जड़ी-बूटीसँ अनभिज्ञ साँप खेलावेबला— ई तीनू एकहि जेकाँ नष्ट भऽ जाइत छथि।

की! बजलो नहि कि ओ चलि गेलाह। (पुनः ऊपर देखिकऽ) अहाँ की कहि रहल छी, महाशय? अहाँ पूछि रहल छी कि एहि बाँसक पिटारी सभमे की अछि? एहिमे साँप सभ छथि, जे हमर जीविकाक साधन छथि। अहाँ आगाँ की कहैत छी? अहाँ साँपक खेल देखबाक इच्छा रखैत छी। महाशय, ई ओकर उचित स्थान नहि अछि, हमरा क्षमा करू। जँ अहाँक कौतूहल अछि, तँ आउ, हम ओहि आगाँवला घरमे खेल देखायब।

अहाँ की कहि रहल छी? ओ महाप्रतापी मन्त्री राक्षसक निवास स्थान अछि? हमरा सभ जेकाँ लोकक ओतय कोनो पहुँच नहि अछि? तखन अहाँ अपन बात पकड़ू, महाशय! हमर ई पेशा हमरा ओतय पहुँचक सौभाग्य दैत अछि। ओह! ओ चलि गेलाह।

(अपन मनमे) ई कतेक आश्चर्यजनक अछि! जखन हम चाणक्यक बुद्धिसँ निर्देशित चन्द्रगुप्तकेँ देखैत छी, तँ हमरा राक्षसक प्रयास सभ निष्फल बुझाईत अछि; आ जखन हम राक्षसक बुद्धिसँ निर्देशित मलयकेतुकेँ देखैत छी, तँ हमरा चन्द्रगुप्त राजसिंहासनसँ वंचित बुझाईत अछि। कारण:—

कोटिल्यक बुद्धिरूपी रस्सीसँ बान्हल मौर्य राजाक साम्राज्य हमरा अटल बुझाईत अछि; मुदा वैह समय हम देखि रहल छी कि राक्षस अपन कूटनीतिक कौशलक बलसँ एकरा छीन कऽ रहल छथि।

एहि प्रकार, एहि दुनू प्रतिभाशाली आ श्रेष्ठ मन्त्री सभक संघर्षमे राजलक्ष्मी दुविधाक स्थितिमे बुझाईत छथि। एहि भूमि पर ई भयभीत लक्ष्मी कखनो एक मन्त्रीक दिस जाइत छथि तँ कखनो अनिश्चिततामे दोसरकेँ छोड़ि दैत छथि। ओ ओनाहि व्याकुल छथि, जेना कोनो बड़का जंगलमे दुनू लड़ैत जंगली हाथीक बीच एकटा डरायल हथनी व्याकुल रहैत अछि।

आब हम जाकऽ महाराज राक्षससँ भेट करब।

[ओ आगाँ बढ़ि कऽ दुआरि पर प्रतीक्षा करैत अछि। तखन राक्षसक प्रवेश होइत अछि, जे चिन्तित मुद्रामे बैसल छथि आ एकटा सेवक ओकर सेवामे ठाढ़ अछि]

राक्षस (एकटा दीर्घ श्वास छोड़िकऽ)— अहा! कतेक कष्टक बात अछि!

दिन-राति जागल रहि कऽ, पूर्णतः आ व्याकुलतासँ राज्यक विषयमे चिन्तन करैत हम ई योजना सोचलहुँ अछि; मुदा एकरा चित्रित करबाक लेल कोनो कैनवास (भित्ति) नहि बचल अछि, कारण क्रूर भाग्य नन्दक विशाल वंशकेँ यादव वंश जेकाँ नष्ट कऽ देलक अछि। ओ नन्द, जे यादव सभक जेकाँ अपन पराक्रम आ कूटनीतिक बलसँ शत्रु सभक शमन केने छलाह।

नहि, नहि, हमरा एहन नहि कहबाक चाही —

हम अपन मन राजनीतिमे पूर्ण रूपसँ आ एकाग्रतासँ लगा कऽ रखने छी; एकटा अपरिचितक दासता स्वीकार कयने छी मुदा अपन स्वामिभक्ति कखनो नहि बिसरलहुँ अछि; हम सांसारिक सुखक भोगमे अपनाकेँ नष्ट नहि कऽ रहल छी; नहि हमरा अपन प्राणक मोह अछि आ नहि कोनो व्यक्तिगत महानताक इच्छा। ई सभ केवल एहि लेल अछि कि हमर स्वामी परलोक गेलाक बादो अपन शत्रुकेँ मृत देखिकऽ सन्तुष्ट भऽ सकथि।

(शून्यमे देखिकऽ) हे राजलक्ष्मी! अहाँक भीतर कोनो गुणक मूल्य नहि अछि, कतबो नहि। अन्यथा, अहाँ ओहि नीच कुलमे जनमल मौर्यपुत्र चन्द्रगुप्तसँ किएक जुड़ि गेलहुँ, राजा नन्दकेँ छोड़िकऽ, जे सभक प्रिय छलाह? अहाँ ओकरा संगहि किएक नहि नष्ट भऽ गेलहुँ, जेना मदक धारा सुगन्धित हाथीक संगहि समाप्त भऽ जाइत अछि? हमरा कहू।

आ, हे कुलटा! की पृथ्वी पर उच्च कुलमे जनमल राजा सभ समाप्त भऽ गेलाह, जे अहाँ एहि आधारहीन आ दुष्ट मौर्यकेँ अपन पति चुनब उचित बुझलहुँ? सम्भवतः स्त्रीक बुद्धि, जे स्वभावसँ कासक फूलक अग्रभाग जेकाँ चंचल होइत अछि, पुरुषक गुण सभकेँ पहिचानब नहि जनैत अछि।

तैं, हम ओहि व्यक्तिकेँ मारि देब जकरासँ अहाँ जुड़ल छी, आ अहाँक एहि कामुकताकेँ समाप्त कऽ देब।

(सोचैत) एहि अनुसार, हम पहिल सही कदम ई उठेलहुँ कि जखन हम पाटलिपुत्र छोड़लहुँ तैं अपन परिवारकेँ अपन परम मित्र चन्दनदासक घरमे राखि देलहुँ। कारण, पाटलिपुत्रमे नन्द राजाक जे समर्थक हमरा संग एहि कार्यमे सहयोग कऽ रहल छथि, ओ एहि आश्वासनक कारण अपन प्रयासमे शिथिल नहि होयताह कि हम पाटलिपुत्र पर आक्रमणक विषयमे उदासीन नहि छी। हम शकटदासकेँ पर्याप्त धन दे कऽ ओतय रखने छी जाहिसँ चन्द्रगुप्तक हत्याक लेल लगायल शिकारी, विषकन्या आ दोसर गुप्तचर सभक निष्ठा बनल रहय आ शत्रु पक्षक असन्तुष्ट लोक सभकेँ अपन दिस कऽ सकब। एकर अतिरिक्त, हम जीवसिद्धि आ दोसर मित्र सभकेँ शत्रुक प्रतिपलक सूचना एकत्र करबाक लेल आ ओकर गठबन्धनकेँ तोड़बाक लेल नियुक्त केने छी।

संक्षेपमे— हम बहुत जल्द अपन बुद्धिरूपी बाणसँ ओकर मर्मस्थलकेँ बेधि देब, जकरा द्वारा (जेना कोनो बाघक बच्चाकेँ दुलारसँ पोसबाक बाद ओ अपन रक्षककेँ मारि दैत अछि) अपन सन्तान जेकाँ स्नेह करबला राजा नन्द आ ओकर सम्पूर्ण वंश नष्ट भऽ गेल; जँ असहनीय भाग्य कवच बनि कऽ ओकर रक्षा नहि करय।

/तखन मलयकेतुक कंचुकी (जजालि) प्रवेश करैत अछि/

कंचुकी: वृद्धावस्था हमर वासनाकेँ शान्त कऽ देलक अछि आ धीरे-धीरे हमरा भीतर भक्ति जगा देलक अछि; ठीक ओनाहि, जेना चाणक्यक नीति राजा नन्दकेँ कुचलि कऽ चन्द्रगुप्तकेँ पाटलिपुत्रमे स्थापित कऽ देलक अछि। ओ मौर्य राजाक जेकाँ शक्तिमे बढ़ि रहल अछि। मुदा, लोभ निरन्तर भक्तिकेँ उखाड़बाक प्रयास करैत अछि, जेना राक्षस चन्द्रगुप्तकेँ उखाड़बाक प्रयास कऽ रहल छथि; कारण सेवा अवसर तैं दैत अछि, मुदा सदा सफलता नहि दैत अछि।

(आगाँ बढ़ैत) ई रहलाह मन्त्री राक्षस। (ओकरा लग जाकऽ) अहाँक कल्याण हो।

राक्षस: आदरणीय जजालि! हम अहाँकेँ प्रणाम करैत छी। प्रियंवदक, आदरणीय अधिकारीक लेल एकटा आसन राखू।

प्रियंवदक: ई रहल आसन। कृपया विराजमान होऊ, आदरणीय महाशय!

कंचुकी (आसन ग्रहण करैत): महाराज कुमार मलयकेतु मन्त्रीसँ बड़ विनम्रतापूर्वक कहैत छथि: 'हमर हृदय बड़ दुखी अछि कि अहाँ बहुत समयसँ अपन पदक अनुकूल आभूषण धारण करब छोड़ि देने छी। पूज्य नन्दक श्रेष्ठ गुण सभक स्मृतिकेँ बिसरब कतबो सहज नहि अछि। तैयो, अहाँक लेल हमर ई आग्रह स्वीकार करब उचित होयत।' (एकटा आभूषण देखबैत) 'आ ई आभूषण धारण करू, जकरा हम अपन शरीरसँ उतारि कऽ अहाँक लेल पठावल अछि।'

राक्षस: आदरणीय जजालि! कुमारकेँ हमर दिससँ आदरपूर्वक कहियनु कि हमर दिवंगत स्वामीक श्रेष्ठ गुणक स्मृति तैं कुमारक अनुपम गुणक प्रभावसँ पहिनिहि हमर मनसँ (ओकर आदरक कारण) एकाकार भऽ गेल अछि। मुदा:—

जँ धरि शत्रु सभक पूर्ण विनाश नहि भऽ जाइत अछि आ पृथ्वीक श्रेष्ठ पुरुष कुमारक स्वर्ण सिंहासन सुगाङ्ग महलमे स्थापित नहि भऽ जाइत अछि, हम एहि शरीर पर कोनो आभूषण धारण नहि करब, जकरा शत्रु सभक हाथसँ अपमान सहय पड़ल अछि।

कंचुकी: मन्त्रीक कुशल नेतृत्वमे कुमारकेँ सभ किछु सहजतासँ प्राप्त भऽ जाइत बुझाइत अछि। तैं, कुमारक एहि प्रथम आग्रहकेँ स्वीकार करू।

राक्षस: आदरणीय महाशय! अहाँक शब्द कुमारक आज्ञा जेकाँहि अनुलङ्घनीय अछि। तैं हमरा कुमारक आज्ञाक पालन करबहि पड़त।

कंचुकी (राक्षसकें आभूषणसँ सुसज्जित करैत) — ईश्वर अहाँक कल्याण करथि। आब हम प्रस्थान करैत छी।

राक्षस: हम अहाँकें प्रणाम करैत छी, आदरणीय जजालि!

/कंचुकीक प्रस्थान/

राक्षस: प्रियंवदक, देखू तँ दुआरि पर कोनो व्यक्ति हमरासँ भेट करबाक लेल ठाढ़ अछि की?

प्रियंवदक: हम देखैत छी। (दुआरि लग जाकऽ आ साँप खेलावेबलाकें देखिकऽ) ठीक भाइ, अहाँ के छी?

साँप खेलावेबला: भद्र पुरुष! हम एकटा साँप खेलावेबला छी। हम मन्त्रीक सोझाँ साँपक खेल प्रदर्शित करबाक इच्छा रखैत छी।

प्रियंवदक: प्रतीक्षा करू, जँ धरि हम मन्त्रीकें सूचित नहि कऽ दी। (राक्षस लग घुरि जाकऽ) आदरणीय महाराज, एकटा साँप खेलावेबला अहाँक सोझाँ साँपक खेल देखबाक इच्छा लऽ कऽ आयल अछि।

राक्षस (अपन बामा आँखिकें फड़कैत देखिकऽ, अपन मनमे) — ओह! साँपक ई अशुभ दर्शन। (बजबाक स्वरमे) प्रियंवदक, हमरा साँपक खेल देखबाक कोनो इच्छा नहि अछि। तँ ओकरा किछु दऽ कऽ सन्तुष्ट करू आ विदा करू।

प्रियंवदक: हम अहाँक आज्ञाक पालन करैत छी। (साँप खेलावेबला लग जाकऽ) भाइ! मन्त्री अहाँकें साक्षात्कारक तँ नहि, मुदा साक्षात्कारक फलक गौरव प्रदान कऽ रहल छथि।

साँप खेलावेबला: भद्र पुरुष! मन्त्रीकें हमर दिससँ आदरपूर्वक कहियनु कि हम केवल एकटा साँप खेलावेबला नहि छी, एकटा प्राकृत कवि सेहो छी। तँ जँ मन्त्री साक्षात्कारक अवसर नहि दऽ सकैत छथि, तँ ओ एहि पत्र (लीफलेट) कें पढ़बक कृपा करथि।

प्रियंवदक (पत्र लऽ कऽ राक्षस लग घुरि जाइत अछि) — आदरणीय महाराज! ओ साँप खेलावेबला आदरपूर्वक कहि रहल अछि कि ओ केवल साँप खेलावेबला नहि, प्राकृत कवि सेहो अछि। तँ जँ अहाँ ओकरासँ भेट नहि कऽ सकैत छी, तँ कृपया एहि पत्रकें पढ़ू।

राक्षस (पत्र लैत छथि आ पढ़ैत छथि) — 'मधुमक्खी जे मधु फूलक रस पूर्ण रूपसँ चूसि कऽ अपन कुशलतासँ जमा करैत अछि, ओ दोसरेक काज आबैत अछि।'

(किछु क्षणक सोचक बाद, अपन मनमे) आहा! एहि श्लोकक अर्थ ई अछि कि कुसुमपुर (फूलक नगर पाटलिपुत्र) सँ समाचार लऽ कऽ हमर गुप्तचर आयल अछि। हमर मन राजनीतिक योजना सभमे एतेक उलझल अछि आ गुप्तचर सभक संख्या एतेक बेसी अछि कि हम विसरि गेल छलहुँ, मुदा आब ओकरा पहिचानि गेलहुँ। ओ निश्चयहि साँप खेलावेबलाक भेषमे विराधगुप्त अछि। (बजबाक स्वरमे) प्रियंवदक, ओकरा भीतर आब दियौक। ओ एकटा महान कवि अछि। हमरा ओकर सुन्दर श्लोक सभ सुनबाक चाही।

प्रियंवदक: हम आज्ञाक पालन करैत छी। (साँप खेलावेबला लग जाकऽ) भीतर आउ, महाशय!

साँप खेलावेबला (आगाँ बढ़ैत आ ध्यानसँ देखैत, अपन मनमे) — ई रहलाह महाराज राक्षस —

राक्षसक गतिविधिसँ आशंकित भऽ कऽ, राजलक्ष्मी चन्द्रगुप्तक छाती पर अपन दक्षिण वक्षकें एहन जेकाँ स्थापित नहि कऽ पाबि रहल छथि जे गाढ़ आलिङ्गनक सुख दऽ सकय, जेना ओ अपन बामा बाहु चन्द्रगुप्तक गर्दनमे तँ लपेटने छथि मुदा दक्षिण बाहु डरे बार-बार कान्हसँ खसि कऽ जांघ पर आबि जाइत अछि।

(लग जाकऽ) महाराजक विजय हो!

राक्षस (ओकरा देखिकऽ): ओ विराध — (अपनाकें बीचहिमे रोकेत, किछु स्मरण करैत) प्रियंवदक, हम आब साँपक खेल देखब। तँ सेवक लोकनि आब जा सकैत छथि। अहाँ सभ अपन-अपन काज देखू।

प्रियंवदक: हम अहाँक आज्ञाक पालन करैत छी।

/सेवक सभक संग प्रियंवदकक प्रस्थान/

राक्षसः प्रिय विराधगुप्त! एहि आसन पर बैसू।

विराधगुप्तः हम अहाँक आज्ञाक पालन करैत छी। (ओ बैस जाइत अछि)

राक्षस (ओकरा ध्यानसँ देखैत, एकटा दीर्घ श्वास छोड़िकऽ)— अहा! हमर दिवंगत स्वामीक सेवक सभक ई स्थिति भऽ गेल अछि।

विराधगुप्तः एहि विलापकें छोड़ू महाराज। अहाँ बहुत जल्द हमरा सभकें हमर प्राचीन गौरव आ वैभव पर घुरि पहुँचाएब।

राक्षसः आब मित्र, हमरा कुसुमपुरक सम्पूर्ण वृत्तान्त विस्तारसँ सुनाउ।

विराधगुप्तः महाराज, कुसुमपुरक कथा बड़ लम्बा अछि। हम कतयसँ आरम्भ करू?

राक्षसः मित्र, हम अपन ओहि शिकारी, विषकन्या आ दोसर गुप्तचर सभक कारनामा सुनबाक इच्छा रखैत छी, जकर आरम्भ चन्द्रगुप्तक नन्दक महलमे प्रवेशक समयसँ भेल छल।

विराधगुप्तः तँ हम ओकर वर्णन करैत छी। चन्द्रगुप्त आ पर्वतेश्वरक सेना, जे शक, यवन, किरात, कम्बोज, पारसीक, बाह्लीक आ दोसर जाति सभसँ मिलि कऽ बनल छल आ चाणक्यक कूटनीतिसँ संचालित छल— प्रलयकालक उफनत समुद्र जेकाँ देखायबला ओहि सेना कुसुमपुरकें चारिहू दिससँ घेरि लेलक।

राक्षस (एकाएक अपन तरुआरि खिंचि कऽ)— आहा! ककर ई दुस्साहस कि हमर जीवैत रहैत कुसुमपुरकें घेरि लेलक? विराधगुप्त!

धनुर्धारी लोकनि देबालक चारिहू दिस माटिक किलाक दिशामे मुस्तैद रहथि, शत्रुक हाथी सभक व्यूहकें तोड़बामे सक्षम बलवान हाथी सभकें दुआरि पर तैनात कयल जाय, आ जे लोक शत्रुक कमजोर सेना पर प्रहार करबाक इच्छा रखैत छथि आ कीर्तिक आकांक्षा रखैत छथि, ओ मृत्युसँ निडर भऽ कऽ हमरा संग आगों बढ़थि।

विराधगुप्तः महाराज अपन क्रोधक एहि वेगकें शान्त करू। हम भूतकालक वर्णन कऽ रहल छी।

राक्षस (एकटा दीर्घ श्वास छोड़िकऽ)— ओह! ई भूतकालक बात अछि! हमरा बुझल कि ई वर्तमानमे भऽ रहल अछि।

/आँखिमे लोर लऽ कऽ तरुआरिकें नीचाँ रखैत छथि/

महाराज सर्वार्थसिद्धि राक्षस अहाँक एहि महान कृपाकें मोन रखैत छथि आ ई ओकरा उदास करैत अछि। अहाँक ओहि प्रगाढ़ आदरक कारण अहाँ राक्षसकें अपन कल्पनामे हजार गुणा बढ़ा देने छलहुँ आ ओहि आदरक वशीभूत भऽ कऽ अहाँ युद्धभूमिमे हमरा, जे ओहि समय नगरमे छलहुँ, बार-बार आज्ञा दऽ रहल छलहुँ:—

"राक्षस ओहि स्थान दिस तीव्र गतिसँ बढ़थि जतय वर्षाक बादल जेकाँ कारू हाथी सभक ई झुण्ड प्रहार कऽ रहल अछि! राक्षस घोड़ा सभक एहि लहर जेकाँ उमड़ैत झुण्डक आक्रमणकें रोकि कऽ नष्ट करथि! राक्षस पैदल सैनिक सभक ओहि टुकड़ीकें तुरन्त समाप्त करथि!"

विराधगुप्तः महाराज सर्वार्थसिद्धि एकरा देखि रहल छलाह। ओ नागरिक सभकें प्रतिदिन घेराबन्दीक भयानक कष्ट सहैत नहि देखि सकलाह। एहि परिस्थितिमे, ओ भूगर्भ मार्गसँ निकसि कऽ नागरिक सभक कल्याणक लेल तपस्याक वनमे चलि गेलाह। महाराजक अनुपस्थितिमे, अहाँक सेनाक उत्साह ढीला भऽ गेल, तखन अहाँ नन्दक सत्ताक पुनर्स्थापनाक उद्देश्यसँ ओहि सुरङ्ग मार्गसँ नगर छोड़ि देलहुँ, मुदा ओकरासँ पहिनहि चन्द्रगुप्तक विजयक उद्घोषणाकें रोकि कऽ नागरिक सभक निष्ठाक परीक्षा कऽ लेलहुँ। तकर बाद बेचारा पर्वतक ओहि विषकन्याक हाथसँ मृत भऽ गेलाह, जकरा अहाँ चन्द्रगुप्तकें मारबाक लेल रखने छलहुँ।

राक्षसः मित्र, भाग्यक खेल देखू!

ओ भयानक विषकन्या, जे केवल एकटा शिकार लऽ सकैत छल आ जकरा हम चन्द्रगुप्तकें मारबाक लेल रखने छलहुँ, ओ पर्वतेश्वर लग पहुँचि कऽ ओकरा मारि देलक, जकरा दुष्ट विष्णुगुप्त मारबाक इच्छा रखैत छलाह। ई ठीक ओनाहि भेल, जेना ओ भयानक आ अमोघ शक्ति अस्त्र, जे कर्ण केवल अर्जुनकें मारबाक लेल रखने छलाह, ओ घटोत्कच लग पहुँचि कऽ ओकरा मारि देलक, जकरा कृष्ण मारबाक इच्छा रखैत छलाह आ ओकरासँ ओ बड़ प्रसन्न भेल छलाह।

विराधगुप्तः ई भाग्यक एकटा क्रूर उपहास छल। एहिमे मन्त्री की कऽ सकैत छलाह?

राक्षस: आगों कहू।

विराधगुप्त: अपन पिताक हत्यासँ भयभीत भऽ कऽ, कुमार मलयकेतु ओतयसँ भागि गेलाह। तखन पर्वतेश्वरक भाइ वैरोधाककेँ चाणक्य द्वारा विश्वासमे लऽ कऽ आश्रित कयल गेल। आ नन्दक महलमे चन्द्रगुप्तक प्रवेशक सार्वजनिक घोषणा कयल गेल। चाणक्य ओहि दिन कुसुमपुरक सभ बढई सभकेँ बोला कऽ ई आज्ञा देलखिन:—

'आज ज्योतिषी लोकनि द्वारा निर्धारित शुभ मुहूर्तमे नन्दक महलमे चन्द्रगुप्तक प्रवेश होयत। तँ, अहाँ सभ मुख्य प्रवेश दुआरिसँ आरम्भ कऽ कऽ सम्पूर्ण राजभवनकेँ सुसज्जित करू।' तखन बढई सभ आदरपूर्वक कहलखिन कि महाराज चन्द्रगुप्तक महल प्रवेशक कल्पना कऽ कऽ बढई दारुवर्मा पहिनहिसँ मुख्य दुआरि पर स्वर्ण तोरण आ दोसर भव्य सजावट कऽ देने छथि, केवल भीतरक भाग सँजाएब बाकी अछि। तखन ओहि दुष्ट चाणक्य दारुवर्माक बुद्धिक बड़ प्रशंसा केलक आ बिना कहले राजभवन सँजाएबाक लेल प्रसन्नता व्यक्त करैत कहलक कि ओकरा एकर पुरस्कार बहुत जल्द भेटत।

राक्षस (चिन्ताक संग): ओह, ओहि दुष्ट चाणक्यक प्रसन्नताक बात नहि करू। अत्यधिक स्वामिभक्ति आ कोनो मूर्खतापूर्ण भूलक कारण दारुवर्मा ओकर मनमे कड़ा सन्देह पैदा कऽ देलक होयत, जेकरासँ चन्द्रगुप्तक प्राण लेबाक ओकर प्रयास असफल भऽ गेल होयत।

विराधगुप्त: तकर बाद आधी रातक ओहि शुभ मुहूर्तमे ओहि पापी चाणक्य पर्वतेश्वरक भाइ वैरोधाककेँ चन्द्रगुप्तक संगहि एकहि सिंहासन पर बैठा देलक आ साम्राज्यकेँ दुनूमे आधा-आधा बाँटि देलक।

राक्षस: अहाँ की कहि रहल छी? की ओ वास्तवमे पर्वतेश्वरक भाइ वैरोधाककेँ आधा साम्राज्य दऽ देलक, जेकर प्रतिज्ञा ओ पहिनहि केने छल?

विराधगुप्त: हँ, ओ देलक।

राक्षस (अपन मनमे): निश्चयहि, ओ बड़ धूर्त चाणक्य पर्वतेश्वरक हत्याक कलङ्ककेँ धोबाक लेल ई सार्वजनिक नाटक केने होयत, आ ओकर मनमे ओहि बेचाराकेँ मारबाक कोनो गुप्त योजना होयत। (बजबाक स्वरमे) ठीक, तकर बाद की भेल?

विराधगुप्त: राज्याभिषेकक उत्सवक बाद, वैरोधाक अपन शरीर पर मोतीक लड़ियोंसँ कढ़ल रेशमी राजवस्त्र धारण केलक, रत्नजड़ित मुकुटसँ अपन केशकेँ सुसज्जित केलक, आ अपन विशाल वक्ष पर सुगन्धित माला सभ धारण केलक। एहि कारण, ओकरा एहन रूप भेट गेल कि ओकर निकटतम मित्र लोकनि सेहो ओकरा चिनि नहि सकैत छलाह। ओ दुष्ट चाणक्यक आज्ञाक अनुसार ओहि चन्द्रलेखा नामक हथनी पर सवार भेल, जकरा पर चन्द्रगुप्त सवारी करैत छलाह, आ चन्द्रगुप्तक अनुगामी राजकुमार सभक संग ओ नन्दक महलक दुआरि पर पहुँच गेल। तखन अहाँक गुप्त एजेन्ट बढई दारुवर्मा वैरोधाककेँ चन्द्रगुप्त बुझि कऽ ओहि यान्त्रिक तोरणकेँ ओकर ऊपर खसा देलक।

ओहि समय मौर्य राजकुमार लोकनि महलक बाहर अपन घोड़ा सभकेँ रोकि कऽ ठाढ़ छलाह। तखन चन्द्रलेखाक महावत बर्बरक, जे अहाँक दोसर गुप्त एजेन्ट छल, ओहि स्वर्ण लाठीकेँ पकड़लक जकर भीतर एकटा गुप्त तरुआर लुकेल छल।

राक्षस (अपन मनमे): दुनूक प्रयास एकहि जेकाँ गलत दिशामे चलि गेल।

विराधगुप्त: तँ ओहि हथनी अपन दाहिना पएर पर चोट लगबाक आशंकासँ एकाएक अपन चालि बदलि लेलक। एहि कारण दारुवर्मा द्वारा खसाएल ओहि यान्त्रिक तोरण अपन निश्चित स्थानसँ दूर खसल आ वैरोधाक (जकरा चन्द्रगुप्त बुझल गेल छल) धरि पहुँचेसँ पहिनहि बर्बरककेँ कुचलि कऽ मारि देलक। ओहि क्षण दारुवर्मा, जे ऊपर मंच पर बैसल छल आ जानैत छल कि तोरण खसाएबाक बाद ओकर मृत्यु निश्चित अछि, ओ ओतहि हथनी पर सवार वैरोधाककेँ ओहि लोहक बोल्ट (कील) सँ मारि देलक जे ओहि यन्त्रक चाबी छल।

राक्षस: बड़ दयनीय भेल, दुटा अनर्थ भऽ गेल— वैरोधाक आ बर्बरक मारल गेलाह, आ भाग्यक खेल देखू कि चन्द्रगुप्त सुरक्षित रहि गेल। ठीक, बढई दारुवर्माक की भेल?

विराधगुप्त: वैरोधाकक पैदल रक्षक लोकनि ओकरा पाथरसँ मारि देलखिन।

राक्षस (आँखिमे लोर लऽ कऽ): अहा! हम अपन परम प्रिय मित्र दारुवर्माकेँ खोइ देलहूँ! ठीक, हमर ओहि वैद्य अभयदत्त की केलक?

विराधगुप्त: ओ अपन काज पूर्ण पूर्णतासँ केने छल।

राक्षस (प्रसन्नताक संग): तँ की चन्द्रगुप्त मारल गेल?

विराधगुप्त: नहि मन्त्री! भाग्यक दोषसँ ओ नहि मारल गेल।

राक्षस (उदासीक संग): तखन अहाँ किएक कहलहुँ कि ओ अपन काज पूर्णतासँ केने छल?

विराधगुप्त: ओ चन्द्रगुप्तक लेल एकटा औषधिक काढ़ा तैयार केने छल जेकरामे एकटा गुप्त विषक चूर्ण मिलल छल। चाणक्य ओकर परीक्षण केलक आ देखलक कि सुवर्ण पात्रमे जाइतहि ओकर रङ्ग बदलि गेल। तँ ओ चन्द्रगुप्तसँ कहलक: "वृषाल! एहि पेयमे विष अछि, एकरा जनि पीऊ।"

राक्षस: निश्चयहि, ओ बड़ चतुर अछि; ठीक, वैद्यक की भेल?

विराधगुप्त: ओकरा वैह काढ़ा पीबय पड़ल आ ओ मृत भऽ गेल।

राक्षस (उदासीक संग): अहा! चिकित्सा विज्ञानक एकटा प्रकाण्ड विद्वान नष्ट भऽ गेल। ठीक, तखन प्रमोदक— जे शयनकक्षक अधिकारी छल— ओकर की समाचार अछि?

विराधगुप्त: ओकरो हथ्र दोसर सभ जँकाँहि भेल।

राक्षस: ओ कएनाहि?

विराधगुप्त: ओ मूर्ख अहाँक देल विशाल धनसँ बड़ विलासितापूर्ण आ खर्चीला जीवन जियय लागल, आ जखन ओकरासँ पूछल गेल कि ओतय एतेक धन कतयसँ आयल, तँ ओ विरोधाभासी बयान देलक, जेकरा पर चाणक्य ओकरा यातना दऽ कऽ मारि देलक।

राक्षस (उदासीक संग): कतेक कष्टक बात अछि, एतय सेहो भाग्य हमरा सभकेँ विफल कऽ देलक। ठीक, बीभत्सक आ ओकर साथी सभक की समाचार अछि, जकरा हम शयनकक्षक भित्तिर सुरङ्ग मार्गसँ घुसि कऽ चन्द्रगुप्तकेँ मारबाक लेल नियुक्त केने छलहुँ?

विराधगुप्त: ओ बड़ भयानक भेल।

राक्षस (व्याकुलताक संग): की ओतय ओकर उपस्थिति उजागर भऽ गेल छल?

विराधगुप्त: हँ, चन्द्रगुप्तक प्रवेशसँ पहिनहि दुष्ट चाणक्य ओहि शयनकक्षक निरीक्षण करबाक लेल गेल। जखन ओ ध्यानसँ देखलक, तँ देबालक एकटा छिद्रसँ कीमियोंक एकटा कतार पाकल भातक कण लऽ कऽ निकसैत देखलक। एहिसँ ओ निष्कर्ष निकाललक कि शयनकक्षक भीतर लोक लुकेल छथि, आ ओ ओतय आगि लगबाक आज्ञा देलक। जखन आगि लागल, तँ बीभत्सक आ ओकर साथी लोकनि धुआँसँ अन्ध भऽ गेलाह आ सुरङ्गक दुआरि (जकरा ओ सभ भित्तिरसँ बन्द केने छलाह) खोजि नहि सकलाह, आ ओ सभ ओहि आगिमे जरि कऽ भस्म भऽ गेलाह।

राक्षस (आँखिमे लोर लऽ कऽ): हे मित्र! ओहि दुष्ट चन्द्रगुप्तक भाग्य देखू —

जे विषकन्या हम ओकरा मारबाक लेल गुप्त रूपसँ रखने छलहुँ, ओ भाग्यक क्रूरतासँ पर्वतकक मृत्युक कारण बनि गेल जे आधा राज्यक दावेदार छल। आ जकरा हम शस्त्र आ विषसँ मारबाक लेल नियुक्त केने छलहुँ, ओ सभ स्वयं ओहिसँ मारल गेलाह। हमर सभ योजना ओहि मौर्यक लेल केवल मङ्गलकारी सिद्ध भऽ रहल अछि।

विराधगुप्त: तैयो महाराज देखू, जे कार्य आरम्भ कयल जाइत अछि, ओकरा कखनो छोड़ल नहि जा सकैत अछि:—

नीच प्रकृतिक लोक विघ्नक डरे कोनो काज आरम्भहि नहि करैत छथि; मध्यम प्रकृतिक लोक काज तँ आरम्भ करैत छथि मुदा बाधा ऐला पर बीचहिमे छोड़ि दैत छथि; मुदा श्रेष्ठ आ कुलीन लोक कतबो बाधा आ कष्ट ऐला पर अपन आरम्भ कयल काज कखनो नहि छोड़ैत छथि।

राक्षस: निश्चयहि, जे आरम्भ भऽ गेल ओकरा छोड़ल नहि जा सकैत अछि। अहाँ एकरा स्वयं अपन आँखिसँ देखि रहल छी। आब आगाँक वृत्तान्त सुनाउ।

विराधगुप्त: तकर बादसँ चाणक्य चन्द्रगुप्तक सुरक्षाक लेल हजार गुणा बेसी सतर्क भऽ गेल अछि आ ई खोजि कऽ कि एहन काज ककर अछि, ओ कुसुमपुरमे रहबला अहाँक विश्वासपात्र मित्र सभकेँ एक-एक कऽ कऽ दण्ड देबय लागल अछि।

राक्षस (आशंकित व्याकुलताक संग): आ ककरा-ककरा दण्ड देल गेल अछि?

विराधगुप्त: सभसँ पहिनहि, बौद्ध भिक्षु जीवसिद्धिकेँ अपमानित कऽ कऽ राजधानीसँ विदा (देशनिकाला) कयल गेल।

राक्षस (अपन मनमे): ओकरा लेल तँ ई सहय योग्य अछि। जेकर कोनो परिवार वा सम्पत्ति नहि अछि, ओकरा लेल देशनिकाला कष्टकारी नहि होइत अछि। (बजबाक स्वरमे) मित्र, ओकरा पर की आरोप लगा कऽ विदा कयल गेल?

विराधगुप्त: एहि आरोप पर कि ओ अहाँक कहबा पर विषकन्याक प्रयोग कऽ कऽ पर्वतेश्वरक हत्या केने छल।

राक्षस (अपन मनमे): कौटिल्य! अहाँ अपन एहि नीतिक लेल बड़ प्रशंसाक पात्र छी —

अहाँ केवल एकटा बीया बोबैत छी आ अनेक फल प्राप्त करैत छी। एहि प्रकार अहाँ अपन चरित्रक कलङ्ककेँ धो कऽ हमरा पर लगा देलहुँ आ आधा राज्यक दावेदारसँ सेहो मुक्ति पाबि गेलहुँ। (बजबाक स्वरमे) आगाँ कहू।

विराधगुप्त: तकर बाद शकटदासकेँ एहि आरोप पर सूली पर चढ़ाबाक आज्ञा देल गेल कि ओ दारुवर्मा आ दोसर लोक सभकेँ चन्द्रगुप्तक हत्याक लेल नियुक्त केने छल। सम्पूर्ण नगरमे एकर उद्घोषणा कयल गेल।

राक्षस (आँखिमे लोर लऽ कऽ): अहा मित्र शकटदास! अहाँ एहन कष्टकारी मृत्युक पात्र नहि छलहुँ। मुदा नहि, अहाँ अपन स्वामीक कार्यक लेल अपन प्राण देलहुँ, तँ अहाँक लेल शोक नहि कयल जा सकैत अछि। शोक तँ हमरा सभक स्थिति पर कयल चाही जे नन्दक विनाशक बादो अपन प्राणसँ चिपकल छी।

विराधगुप्त: एहन नहि कहू। ई स्वामीक काज अछि आ केवल वैह काज अछि जेकरा लेल अहाँ एतय निरन्तर संघर्ष कऽ रहल छी।

राक्षस: मित्र —

जीवनक प्रति मोहक कारण आ एहि कर्तव्यकेँ छोड़िकऽ, हम कृतघ्न भऽ कऽ अपन परलोक गेल स्वामीक अनुगमन नहि केलहुँ।

विराधगुप्त: हमरा क्षमा करू महाराज, मुदा ई ओना नहि अछि जेना अहाँ कहि रहल छी:—

एहि महान कर्तव्यसँ जुड़ल रहबाक कारण, आ जीवनक मोहक कारण नहि, अहाँ कृतज्ञ भऽ कऽ अपन परलोक गेल स्वामीक अनुगमन नहि केलहुँ जाहिसँ ओकर काज सम्पूर्ण कऽ सकी।

राक्षस: कहू मित्र, हम अपन कोनो दोसर मित्रक एहन संकट सुनबाक लेल तैयार छी।

विराधगुप्त: एकरा देखिकऽ, चन्दनदास अहाँक परिवारकेँ सुरक्षित स्थान पर हटा देलखिन।

राक्षस: ई अनुचित भेल। कारण ओ ओहि दुष्ट चाणक्यक शत्रुताकेँ आमन्त्रण देलखिन।

विराधगुप्त: की मित्रक संग छल करब एकरासँ बेसी अनुचित नहि अछि?

राक्षस: ठीक, आगाँक वृत्तान्त कहू।

विराधगुप्त: ओकरासँ अहाँक परिवारकेँ सौंपबाक लेल दबाव देल गेल मुदा ओ मना कऽ देलखिन। तखन ओहि चाणक्य क्रोधसँ आगि भऽ गेल आ—

राक्षस (आशंकाक संग): ओकरा मारि देलक? की ई सच अछि?

विराधगुप्त: नहि, नहि। ओ ओकर सम्पत्ति जप्त करबाक, ओकरा बेड़ीमे बान्धबाक आ ओकर पत्नी तथा पुत्रक संग जेलमे डालबाक आज्ञा देलक।

राक्षस: तखन अहाँ किएक सन्तोषक संग कहि रहल छलहुँ कि ओ हमर परिवारकेँ सुरक्षित हटा देलक? अहाँ ई किएक नहि कहलहुँ कि हम स्वयं अपन पत्नी आ पुत्रक संग बेड़ीमे जकड़ल छी!

प्रियंवदक (एकाएक पर्दा हटा कऽ प्रवेश करैत)— महाराजक विजय हो! दुआरि पर शकटदास ठाढ़ छथि।

राक्षस: की ई सच अछि?

प्रियंवदकः महाराजक सेवक लोकनि झूठ बजब नहि जनैत छथि।

राक्षसः मित्र विराधगुप्त, ई कएनाहि भेल?

विराधगुप्तः ई भाग्य अछि जे मनुष्यक रक्षा करैत अछि।

राक्षसः प्रियंवदक, जँ एहन अछि तँ ओकरा एहि क्षण भीतर आब दियौक आ हमरा शान्ति दियौक। अहाँ विलम्ब किएक कऽ रहल छी?

प्रियंवदकः हम आज़ाक पालन करैत छी।

/प्रियंवदकक प्रस्थान/

/तखन सिद्धार्थकक संग शकटदासक प्रवेश होइत अछि/

शकटदास (अपन मनमे): हम सूलीक ओहि खम्भाकें जमीनमे कड़ाईसँ गड़ल देखलहूँ, जेना ओहि मौयिकें; अपन झुकायल माथसँ अपराधीक ओहि मालाकें धारण केलहूँ जे हमर चेतनाकें झकझोरि देलक, जेना ओकर शासनकें; आ फाँसीक ओहि नगाड़ोक आवाज सुनलहूँ जे कानकें चीरि रहल छल, जेना स्वामीक पतनकें। तैयो हमर ई हृदय नहि टुटल, हमरा बुझाइत अछि कि विपदाक ओहि तीन पूर्व प्रहारोंसँ ई पाथर बनि गेल अछि।

(राक्षसकें देखिकऽ प्रसन्नताक संग) ई रहलाह मन्त्री राक्षस— राजा नन्दक काजकें अटूट स्वामिभक्तिसँ ओकर मृत्युक बादो सम्हारि कऽ रखने छथि, ओ पृथ्वी पर सभसँ स्वामिभक्त लोक सभमे श्रेष्ठ स्थान पर छथि। (ओकरा लग जाकऽ) मन्त्रीक विजय हो।

राक्षस (शकटदासकें देखिकऽ प्रसन्नताक संग)— मित्र शकटदास, सौभाग्यसँ हम अहाँकें देखि रहल छी जे चाणक्यक चंगुलमे छलहूँ। आउ, हमरा गले लगाऊ।

/शकटदास ओकरा गले लगबैत छथि/

राक्षस (एकटा दीर्घ आलिङ्गनक बाद)— एतय बैसू।

शकटदासः हम बैसैत छी। (ओ बैस जाइत अछि)

राक्षसः मित्र शकटदास! हमर हृदयकें ई आनन्द देबला महापुरुष के छथि?

शकटदास (सिद्धार्थक दिस इशारा करैत)— ई प्रिय मित्र सिद्धार्थक छथि, एहे हमरा फाँसीक स्थानसँ जल्लाद सभकें भगा कऽ सुरक्षित निकालि कऽ आनलखिन्ह।

राक्षस (प्रसन्नताक संग): भद्र सिद्धार्थक! अहाँ जे उपकार केने छी, ओकरा सोझाँ हमर ई भेंट बड़ कम अछि, तैयो एकरा स्वीकार करू। (ओ अपन शरीरसँ एकटा आभूषण उतारि कऽ सिद्धार्थककें भेंट करैत छथि)

सिद्धार्थक (आभूषण लऽ कऽ ओकर पएर पर गिरैत)— महाराज, हम एतय नव छी, हमर एतय कोनो एहन जान-पहिचान नहि अछि जकरा लग हम मन्त्रीक एहि बहुमूल्य उपहारकें सुरक्षित रखि सकी। तँ हमर इच्छा अछि कि एकरा अहाँक नाम अंकित एहि राजमुद्रासँ बन्द कऽ कऽ अहाँक खजानामे राखि देल जाय, जखन हमरा आवश्यकता होयत हम लऽ लेब।

राक्षसः ठीक अछि, एहिमे कोनो आपत्ति नहि अछि। शकटदास, ओ जे कहि रहल अछि ओनाहि करू।

शकटदासः जेहन मन्त्रीक आज्ञा। (राजमुद्राकें देखिकऽ राक्षससँ चुपचाप) एहि अँगुठी पर मन्त्रीक नाम खुद्ल अछि।

राक्षस (ओकरा ध्यानसँ देखैत, अपन मनमे)— ई तँ बिल्कुल सच अछि। ई वैह अँगुठी अछि जकरा हमर ब्राह्मणी पत्नी हमर व्याकुलताकें शान्त करबाक लेल हमर हाथसँ उतारि लेने छलीह। ई एहि व्यक्तिक हाथ धरि कएनाहि पहुँचल? (बजबाक स्वरमे) भद्र सिद्धार्थक, अहाँकें ई अँगुठी कतयसँ भेटल?

सिद्धार्थकः महाराज! कुसुमपुरमे एकटा चन्दनदास नामक धनी जौहरी छथि। ई ओकर घरक दुआरि पर खसल छल। हमरा ओतहि भेटल।

राक्षसः ई सम्भव अछि।

सिद्धार्थक: एहिमे की सम्भव अछि, महाराज?

राक्षस: हमर अर्थ छल कि एहन बड़का अमीर लोकक हवेलीक दुआरि पर एहन वस्तु भेटब स्वाभाविक अछि।

शकटदास: प्रिय सिद्धार्थक! ई मन्त्रीक अपन राजमुद्रा अछि। महाराज अहाँकेँ एकर वास्तविक मूल्यसँ बहुत बेसी धन पुरस्कारमे देताह; एकरा साँपि दियौक।

सिद्धार्थक: आदरणीय मित्र, हम अपन सौभाग्य बुझब जँ महाराज एहि अँगुठीकेँ स्वीकार करथि। (ओ अँगुठी राक्षसकेँ साँपि दैत अछि)

राक्षस: प्रिय शकटदास, अहाँ राजकीय कार्य सभमे एहि अँगुठीक प्रयोग कऽ सकैत छी।

शकटदास: जेहन मन्त्रीक आज्ञा।

सिद्धार्थक: महाराज, हमर एकटा विन्ती अछि।

राक्षस: कहू भाइ, बिना कोनो संकोचक कहू।

सिद्धार्थक: अहाँ बुझि सकैत छी कि ओहि चाणक्यसँ शत्रुता लेबाक बाद हम पाटलिपुत्र घुरि नहि जा सकैत छी। तँ हमर आग्रह अछि कि हमरा अपन सेवामे राखि लेल जाय।

राक्षस: भाइ! ई हमर लेल बड़ प्रसन्नताक बात अछि; हम केवल अहाँक मनक इच्छा नहि जनबाक कारण अहाँकेँ आमन्त्रित करबामे हिचकिचा कऽ रहल छलहूँ। अहाँ हमर सेवामे आबि सकैत छी।

सिद्धार्थक: हम एहि कृपाक लेल आभारी छी।

राक्षस: प्रिय शकटदास, सिद्धार्थकक आराम आ खान-पानक प्रबन्ध करू।

शकटदास: हम तुरन्त अहाँक आज्ञाक पालन करैत छी।

/सिद्धार्थकक संग शकटदासक प्रस्थान/

राक्षस: प्रिय विराधगुप्त, अपन वृत्तान्त सम्पूर्ण करू। की राज्यक मुख्य अङ्ग हमरा सभक एहि फूट डालबाक कूटनीतिकेँ स्वीकार कऽ रहल छथि?

विराधगुप्त: हँ महाराज, ओ सभ कऽ रहल छथि। ई बात सभकेँ ज्ञात अछि।

राक्षस: की बात ज्ञात अछि, मित्र?

विराधगुप्त: ई कि मलयकेतुक भागि जाइसँ चन्द्रगुप्त चाणक्य पर बड़ क्रुद्ध अछि। आ चाणक्य सफलताक मदमे चूर भऽ कऽ चन्द्रगुप्तक आज्ञाक बार-बार उल्लङ्घन कऽ कऽ ओकर अप्रसन्नताकेँ आ बढ़ा रहल अछि। ई हम अपन व्यक्तिगत जानकारीसँ कहि रहल छी।

राक्षस (ई सुनि कऽ बड़ प्रसन्न होइत छथि)— प्रिय विराधगुप्त! अहाँ पुनः वैह साँप खेलावेबलाक भेषमे घुरि कुसुमपुर जाउ। ओतय हमर एकटा मित्र स्तानकलश रहैत छथि जे भाटक भेषमे छथि। अहाँ ओकरा हमर नामसँ कहियनु कि जखन-जखन चाणक्य चन्द्रगुप्तक आज्ञाक विरुद्ध काज करय, तखन-तखन ओ चन्द्रगुप्तकेँ उत्तेजक श्लोक सभ सुना कऽ प्रेरित करथि, आ ओकर जे परिणाम निकसय, ओकरा करभकक माध्यमसँ बड़ गुप्त रूपसँ हमरा धरि पहुँचाएब।

विराधगुप्त: हम मन्त्रीक आज्ञाक पालन करब।

/विराधगुप्तक प्रस्थान/

प्रियंवदक (प्रवेश करैत): महाराजक विजय हो! शकटदास आदरपूर्वक कहि रहल छथि कि ई तीनटा बड़ बहुमूल्य आभूषण बिकबाक लेल आयल अछि। महाराज एकर परीक्षण करथि।

राक्षस (अपन मनमे, आभूषणक परीक्षण करैत)— ई सभ तँ बड़ कीमती आभूषण अछि। (बजबाक स्वरमे) भद्र पुरुष, शकटदाससँ कहू कि विक्रेताकेँ सन्तुष्ट कऽ कऽ एकरा मडबा लेल।

प्रियंवदकः हम आज्ञाक पालन करैत छी।

/प्रस्थान/

राक्षसः हमरा करभककें सेहो कुसुमपुर विदा करबाक चाही। (आसनसँ उठैत) हमर इच्छा अछि कि चन्द्रगुप्त ओहि दुष्ट चाणक्यसँ अपन मित्रता तोड़ि लय।
आब हमरा कोनो सन्देह नहि अछि:—

सभ सामन्त सभ पर अपन आज्ञा थोपि कऽ मौर्य राजा आब उग्र आ अभिमानी भऽ गेल अछि, आ चाणक्य ई सोचि कऽ कि ओकरे समर्थनसँ मौर्य राजा बनल अछि, अहंकारसँ भरि गेल अछि। एक गोट साम्राज्य प्राप्त कऽ कऽ अपन उद्देश्य सम्पूर्ण कऽ लेलक अछि, तँ दोसर अपन प्रतिज्ञाक समुद्र पार कऽ चुका अछि। उद्देश्य सम्पूर्ण भऽ जाबाक ई चेतना, आ ओकर व्यक्तिगत कमियाँ, निश्चित रूपसँ दुनूक मित्रताकें तोड़ि कऽ रखि देत।

/प्रवेश: चन्द्रगुप्तक चेम्बरलेनक प्रवेश/

चेम्बरलेन: हे कामदेव! तँ आँखि आदि इन्द्रियसभ द्वारा रूप आदि विषयसभक अनुभव करैत छलाह आर ओकरासँ लाभ उठैत छलाह। ई सभ अपन-अपन कार्यमे तत्पर छल। मुदा आब तोर आज्ञासँ चलनिहार करमेन्द्रियसभ सभ शक्ति हारि गेल अछि। अतएव तोर ऊपर बुढ़ापा आबि गेल अछि। तोर व्यर्थ कऽ लालसा छोड़ि देबाक चाही।

आगाँ बढ़ि आकाशक दिशामे देखैत

अरे सुगंगा महलक सेवकसभ! हमरा प्रभु चन्द्रगुप्तक आदेश अछि जे महलक प्राङ्गणसभक सजावट करू। किएक तँ प्रभु चन्द्रगुप्त कौमुदी महोत्सव मनावैत पाटलिपुत्रक शोभा देखबाक इच्छा रखैत छथि।

पुनः आकाशमे देखैत

अहाँ हमरासँ की कहैत छी? कौमुदी महोत्सव रद्द भऽ गेल? प्रभु की ई बात नहि जानैत छथि? रे दुर्भाग्यशाली! अहाँ ई बात कहि अपन प्राण की बचावैत छी?

शीघ्र आदेश पालन करू। चन्द्रमाक किरणसभक समूह जेकाँ चमकनिहार चामरसभक शोभा, सुगन्धित धूपसँ महकत, मालासभसँ सज्जित स्तम्भसभमे झूलैत रहत अछि। आर पृथ्वी, जे सतत सहन करबाक पड़बाक कारण राजसिंहासनक भारसँ दबल जेकाँ पड़ल अछि, तुरन्त चन्दन जल छिड़काव आर पुष्प बिछावनसँ ताजा करल जाउ।

पुनः आकाशमे देखैत

अहाँ हमरासँ की कहैत छी? ई घड़ी प्रभु आदेश पालन करू। शीघ्र करू, भलामानुस! चन्द्रगुप्त स्वयं एतय आबि रहल छथि।

ई उच्छृङ्खल राजकुमार, जे छोट उमेरमे भारी राज्यक बोझ ढोइरहल अछि, जकरा पूर्वमे राजा नन्द बहुत दिन धरि सहन केनए छलाह, ओ ठोकर नहि खाइत, नहि पीड़ा अनुभव करैत छथि, यद्यपि ओ अखन नवका साँड़क अवस्थामे अछि जकरा नियन्त्रण करबाक प्रयास कयल जाइत अछि।

पर्दाक पाछाँसँ आवाज: ए दिस, प्रभु!

/राजा आर एक द्वारपालक प्रवेश/

राजा (मनहि-मन)कहैत): राज्य करबा वास्तवमे बड़ पीड़ादायक अछि। एहि कारण जनता रक्षक अपन सुख त्यागि दोसरक सुखक व्यवस्था करैत अछि। 'पृथ्वी रक्षक' शब्द अपन अर्थ खोजि देइत अछि। आर जँ अपन सुखसँ अधिक दोसरक सुख देखबाक प्रयत्न करब, तँ सेवक बनि जाइत अछि।

अछि तँ, ठीक शासकसभक लेल सेहो राजलक्ष्मीक सन्तुष्ट करब कठिन अछि।

ई राजलक्ष्मी कठोरसँ घृणा करैत अछि, कोमलसँ भयक कारण छोड़ि देइत अछि, अशिक्षितसँ घृणा करैत अछि, अति विद्वानसँ प्रेम नहि करैत अछि, वीरसँ लज्जित होइत अछि आर कायरसँ घृणा करैत अछि। जेना अत्यधिक प्रेम पाबनिहार वेश्या सेवा करब कठिन होइत अछि, तेना राजलक्ष्मीक सेवा करब कठिन अछि।

आर आचार्यक आदेश अछि जे हम ओहिसँ कपट वैमनस्य करू आर किछु समय स्वतन्त्र रहि शासन करू। हम अत्यन्त अनिच्छासँ एहि पाप जेकाँ कार्य करबाक सहमति देलहुँ। तैयो, हम सदिखन आचार्यक शिक्षासँ मार्गदर्शन पाबैत रहैत छी। जखन धरि शिष्य उचित कर्म करैत अछि, तखन धरि ओ कखनो असफल नहि होइत। जखन ओ मोहमे पड़ि गलत मार्ग पर चलि जाइत अछि, तखन गुरु रोकेबाक कार्य करैत अछि। हम एहिसँ भिन्न स्वतन्त्रता नहि चाहब।

(प्रकट) - आदरणीय वैहिनारि! हमरा सुगंगा महलक बाट देखाउ।

चेम्बरलेन: ए दिस, प्रभु। (महलक पास पहुँचबाक पर) - ई सुगंगा महल अछि। धीरे-धीरे चढ़ू, प्रभु।

राजा (चढ़बाक अभिनय करैत आर दिशासभ देखैत): शरद ऋतुक शोभासँ सज्जित दिशासभ केना सुन्दर दिसैत अछि!

श्वेत बादलसभसँ श्वेत, मधुर गानेबला हंससभक समूहसँ व्याप्त आर सुन्दर नक्षत्रसभसँ भरल, दसौं दिशासभ रात्रिमे धीरे-धीरे गगनमे बहैत अछि, जेना नदीसभ बालुकाक तटसँ श्वेत, हंससभक समूहसँ व्याप्त आर रात्रि कमलसभसँ भरल बहैत अछि।

तहिना -

शरद ऋतु सभक समृद्धि लेबनाए अछि, जे नदीसभक अतिक्रमणक रोकबाक कारण, धानक बालसँ झुकल पौधासभक नम्रता देनाइ अछि, आर मोरसभक अत्यधिक घमंडक रोग ठीक करबाक कारण प्रशंसा पाबैत अछि।

पुनः -

जेना कुशल दूत प्रेमक, ओ गंगा नदी केओ प्रकार सरि सही बाट पर ला कि समुद्रसँ मिलाबैत अछि, जे पहिने काली छली आर बहु पत्नीसभसँ प्रेम करबाक कारण दुखी छली, अखन सन्तुष्ट दिसैत अछि।

(नगरक सर्वेक्षण करैत) - ई की? नगरमे कौमुदी महोत्सवक आयोजन नहि अछि? आदरणीय वैहिनारि! कौमुदी महोत्सव मनाबाक आदेश हमरा नामसँ प्रचारित कयल गेल छल वा नहि?

चेम्बरलेन: कयल गेल छल, प्रभु।

राजा: तँ जनता हमरा आदेशक पालना नहि केलक?

चेम्बरलेन (कान बन्द करैत): ई पापक बात नहि करू। पृथ्वी पर कोनो स्थान पर अहाँक आदेशक उल्लङ्घन भेल अछि? तँ नगरमे कोना भऽ सकैत अछि?

राजा: तँ कौमुदी महोत्सव अखनो केनाय मनाए नहि गेल?

सुन्दर वार्तामे निपुण, प्रिय सखीसभसँ घिरल, भारी नितम्बक बोझसँ धीरे-धीरे चलैत वेश्यासभ सड़कसभक शोभा नहि बढ़ाबैत अछि, आर धनी नागरिक अपन पत्नीसभक संग वैभवक बिना सड़कोच एक दोसरसँ प्रतिस्पर्धा करैत एहि महोत्सवक नहि मनाबैत अछि।

चेम्बरलेन: प्रभु, ई बात अछि कि...

राजा: की अछि?

चेम्बरलेन: ई बात अछि कि...

राजा: साफ-साफ कहू।

चेम्बरलेन: कौमुदी महोत्सव रद्द करि देल गेल अछि।

राजा (क्रोधित): की! ई केलक?

चेम्बरलेन: आदरणीय चाणक्य, प्रभु।

राजा: आदरणीय चाणक्य एतय सुन्दर दृश्यसँ दर्शकसभक वञ्चित केलक?

चेम्बरलेन: प्रभु, कोनो जीवित व्यक्ति अहाँक आदेशक उल्लङ्घन करि सकैत अछि?

राजा: सोनोत्तरा, हमरा बैसबाक इच्छा अछि।

द्वारपाल: ई राजसिंहासन अछि, प्रभु। एतय बैसू।

राजा (आसन ग्रहण करैत): आदरणीय वैहिनारि, हम आदरणीय चाणक्यक देखबाक इच्छा रखैत छी।

चेम्बरलेन: प्रभुक आदेश जेना।

(प्रस्थान)

/चाणक्यक प्रवेश - अपन घरमे क्रोध आर चिन्ताक संग आसिन्न/

चाणक्य: की! दुष्ट राक्षस हमरासँ प्रतिस्पर्धा करबाक प्रयास करैत अछि?

ओ चन्द्रगुप्त मौर्यसँ राज्य छीनि लेनाइ चाहैत अछि, जेना हम कौटिल्य, अपमानित भऽ कालकूट जेकाँ नगर छोड़ि नन्दक मारि वृषाल मौर्यक सिंहासन पर बैसौलहुँ। ओ हमर श्रेष्ठ बुद्धिको पराजित करबाक प्रयास करैत अछि।

(आकाशमे देखैत) - हे राक्षस, ई व्यर्थ प्रयाससँ निवृत्त होउ।

ई हमर राजा घमण्डी नन्द नहि अछि, जे मन्त्रीसभ पर निर्भर छल। ई चन्द्रगुप्त अछि। आर तँ चाणक्य नहि छी। एकर समानता केवल एतय अछि जे दुनू शत्रुसभ राज्यक प्रधान अङ्ग राजाक विरोधी छी।

मुदा हमरा एहि विषय अधिक नहि सोचबाक चाही। पार्वतक पुत्र मलयकेतुक चारिहू दिस परिचितसँ घिरल अछि, जकरा हमर हृदयमे पहुँच गेल अछि। आर सिद्धार्थक आदि गुप्तचरसभ सभ अपन कार्यमे तत्पर छथि। आब चन्द्रगुप्त मौर्यसँ कपट वैमनस्य करि हम शत्रु मलयकेतु आर विरोधी राक्षसक बीच दरार पैदा करब, जे अपनाए कूटनीतिको दरार पैदा करबाक निपुण समझैत अछि।

चेम्बरलेन (प्रवेश करैत): हाय सेवाक दुर्दशा!

राजा, मन्त्री, दरबारी आर सभक सोझाँ डेराबैत पड़ैत अछि। मिठ बात आर ऊपरि दृष्टिसँ भोजनक लेल दासता करबाक पड़ैत अछि, जे बुद्धिमान लोकनिक मते कुत्ता जेकाँ जीवन अछि।

(आगाँ बढ़ि चाणक्यक घर पहुँचि) - ई आदरणीय चाणक्यक निवास अछि। हम प्रवेश करब।

(भीतर प्रवेश करि चारिहू दिस देखैत) - राजाधिराजक मन्त्रीक सम्पत्ति देखू।

ई गोबरक कण्डा गोल करबाक पाथर अछि, एतय शिष्यसभ द्वारा लानल कुसाक घासक ढेर अछि, आर ओ कच्चा घर देबालक संग झुकल दिसैत अछि।

हमरा प्रभु चन्द्रगुप्त एहि लेल केवल वृषाल अछि, आर ई उचित अछि। जे व्यक्ति कामनासँ मुक्त अछि, ओ राजाक तिनका जेकाँ उपेक्षा करैत अछि।

(आदरसँ चाणक्यक देखैत) - ई आदरणीय चाणक्य अछि -

जे सम्पूर्ण संसार पर नियन्त्रण करि तत्काल नन्दक राज्य समाप्त करि चन्द्रगुप्तक राज्य स्थापित केलक, जेना सूर्य एक समय आधा संसार पर नियन्त्रण करैत अछि, तहिना एकर श्रेष्ठतासँ सूर्यक प्रतिस्पर्धा करैत अछि।

(घुटना टेकि नमस्कार करैत) - आदरणीय गुरुजीक विजय होउ।

चाणक्य: हे वैहिनारि, अहाँ केनाय हमरा समक्ष आयल छी?

चेम्बरलेन: आदरणीय प्रभु! हमरा प्रभु चन्द्रगुप्त, जकर चरण युद्धमे शत्रु राजासभक मुकुट रत्नसँ राताएल अछि, अहाँक चरणमे माथि निहुराबैत अछि आर निवेदन करैत अछि कि जँ अहाँक कार्यमे बाधा नहि अछि तँ अहाँ दर्शन देब।

चाणक्य: वृषाल हमरा दर्शन करबाक इच्छा रखैत अछि? ई केना होइत? की हमर द्वारा कौमुदी महोत्सव रद्द करबाक बात ओकर कान पर पहुँच गेल?

चेम्बरलेन: हँ, आदरणीय प्रभु।

चाणक्य (क्रोधित): की! ओकरा ई बात के कहलक?

चेम्बरलेन (भयसँ काँपैत): क्षमा करू, आदरणीय प्रभु। हमरा प्रभु चन्द्रगुप्त सुगंगा महलमे चढ़ि स्वयं देखलनि जे नगरमे कौमुदी महोत्सव नहि मनाएल गेल अछि।

चाणक्य: हम समझलहुँ। अहाँ हुनकर मनमे उत्तेजना भरि हमरा विरुद्ध भड़का देलहुँ। कोना होइत?

(चेम्बरलेन डरसँ नीचा देखैत अछि)

चाणक्य: अरे, राजाक सेवकसभ चाणक्य पर कोना द्वेष रखैत अछि? बिना कहू, वृषाल कतय अछि?

चेम्बरलेन: प्रभु सुगंगा महलमे छलाह जखन हमरा आदरणीय प्रभुक समक्ष भेलनि।

चाणक्य (उठैत): तँ हमरा सुगंगा महलक बाट देखाउ।

चेम्बरलेन: ए दिस, आदरणीय प्रभु।

(दुनू सुगंगा महल जाइत अछि)

चेम्बरलेन: ई सुगंगा महल अछि। धीरे-धीरे चढ़ू, आदरणीय प्रभु।

चाणक्य (चढ़बाक अभिनय करैत चन्द्रगुप्तक देखैत): ओह, वृषाल राजसिंहासन पर विराजमान अछि। बहुत नीक!

राजसिंहासन उजाड़ देबिहार नन्दसभक अछि, मुदा ओ वृषाल श्रेष्ठ राजाकसँ अध्यासित अछि। जेना सिंहासन, तेना राजा। ई तीनू गुणसभसँ हमर तीन गुना सन्तोष भेल अछि।

(चन्द्रगुप्तक पास पहुँचि) - वृषलक विजय होउ।

राजा (सिंहासनसँ उठि): चन्द्रगुप्त आदरणीय गुरुजीक चरणमे प्रणाम करैत अछि।

चाणक्य (हाथ पकड़ि उठाबैत): उठू, पुत्र। शत शत राजासभक मस्तक मुकुट प्रभासँ हिमालयसँ ल कि दक्षिण सागर पर्यन्त तोर चरणक अङ्गुलीक बीच प्रकाशित होउ।

राजा: हम आचार्यक कृपासँ पहिनहि एहि सभ पा चुकल छी। कृपा करि आसन ग्रहण करू, आदरणीय प्रभु।

(दुनू उपयुक्त आसन पर बैसैत अछि)

चाणक्य: वृषाल! हमरा केनाय बुलौलहुँ?

राजा: अपन दर्शनसँ हमरा आशीर्वाद देबाक लेल, आदरणीय प्रभु।

चाणक्य (मुस्कुड़ाइत): ई विनय बहुत भेल। बिना कारण राजा मन्त्रीसभक नहि बुलाबैत अछि।

राजा: कौमुदी महोत्सव रद्द करबामे आदरणीय गुरुजी केना हित देखैत छथि?

चाणक्य (मुस्कुड़ाइत): हमरा डाँटबाक लेल बुलौलहुँ?

राजा: नहि, नहि, एहि आग्रह करबाक लेल बुलौलहुँ।

चाणक्य: जँ एहन अछि तँ शिष्यक गुरुक इच्छाक पालन करबाक चाही, जे आग्रह करबाक योग्य अछि।

राजा: एहि बातमे कोनो सन्देह नहि अछि। मुदा आदरणीय गुरुजी बिना कारण कोनो कार्य नहि करैत छथि।

चाणक्य: वृषाल! अहाँ ठीक कहलहुँ। चाणक्य बिना कारण एक आँखिसँ सुतैत हुआ कोनो कार्य नहि करैत।

राजा: अतएव कारण जानबाक इच्छासँ हम एहि प्रश्न करैत छी।

चाणक्य: वृषाल! राजनीतिक कोविदसभ संसारमे तीन प्रकारक शासन बतौलनि - राजाक अधीन, मन्त्रीक अधीन, आर दुनूक अधीन। एहि मध्य अहाँक शासन मन्त्रीक अधीन अछि। अहाँ कारण पूछि कऽ करब? हमर काज अछि।

(राजा मुख मोड़ि लैत अछि)

/पर्दाक पाछाँसँ दोटा बार्डक पद्यपाठ/

प्रथम बार्ड -

शिवक शरीर अहाँक कष्टसभक नाश करउ - जे शरीर अपन भस्मसँ आकाशकँ श्वेत बनाबैत अछि, मस्तक चन्द्रक किरणसँ गजासुरक चर्मकँ रौपी करैत अछि, मुण्डमाला धारण करैत अछि, आर जोर हँसीसँ उज्ज्वल होइत अछि - जेना शरद ऋतु काशक पुष्पसँ आकाश श्वेत करैत, चन्द्रकिरणसँ बादल रौपी करैत, कुमुदक पुष्पमाला धारण करैत, आर राजहंससँ उज्ज्वल होइत अछि।

तहिना -

विष्णुक किञ्चित् तिरछा नयन, जे शेषनागक फनाक गद्दी पर विस्तृत शय्या छोड़बाक विचार करि जूम्भित होइत छथि, हमरा रक्षा करउ - जे नयन हाल्हिक उद्घाटनसँ धूमिल छी, जे क्षण भर लेल रत्न दीपक प्रकाशसँ मुड़ि जाइत छी, जकर कार्य मन्द छी, जे जलकणसँ सिक्त छी, आर निद्राक अभावसँ अत्यन्त राताएल छी।

द्वितीय बार्ड -

जेना राजा सिंह, जे सृष्टिकर्ता द्वारा स्वाभिमानक भण्डार जेकाँ बनौल गेल अछि, अपन जबड़ा तोड़बा सहन नहि करैत, अपन गरिमाक अनुभवसँ युक्त, अपन शक्तिसँ हाथी दलक नायक हाथीसभक पराजित करि, ओ पूर्ण स्वतन्त्रतासँ रहैत अछि - तेना मनुष्य राजा, जे सृष्टिकर्ता द्वारा स्वाभिमानक भण्डार जेकाँ बनौल गेल अछि, अपन आदेशक उल्लङ्घन सहन नहि करैत, अपन शक्तिसँ युद्ध हाथी दलक स्वामी घमण्डी राजासभक पराजित करैत अछि।

तहिना -

आभूषण आदि धारण करबा मात्रसँ राजा नहि बनल जाइत। ओहि राजा कहल जाइत अछि, जकरा जेना अहाँ, कोनो आदेशक उल्लङ्घन नहि करैत।

चाणक्य (मनहि-मन)कहैत): पहिल पद्य शिव आर विष्णुक प्रशंसा करैत शरद ऋतुक संकेत करैत अछि। मुदा दोसर बार्डक पद्य हम नहि समझि पाएलहुँ।

(किछु विचार करि) - हम समझलहुँ। ई राक्षसक चाल अछि। रे दुष्ट राक्षस! तँ पकड़ा गेल छी। कौटिल्य जागरुक अछि।

राजा: आदरणीय वैहिनारि! एहि दुनू बार्डसभमे प्रत्येककँ हजार स्वर्ण मुद्रा देल जाउ।

चेम्बरलेन: प्रभुक आदेश जेना (प्रस्थानक लेल प्रयत्न)

चाणक्य: रुकू, वैहिनारि! अहाँ नहि जाएत छी।

(चेम्बरलेन डरसँ राजाक दिस देखैत अछि)

चाणक्य: वृषाल! एतेक बड़ रकम व्यर्थ खर्च करबाक की मतलब?

राजा: जखन आदरणीय गुरुजी प्रत्येक बातमे हमरा रोकेत छथि, तखन स्वतन्त्रता बन्धन अछि, स्वतन्त्रता नहि।

चाणक्य: जे राजा अपन कर्तव्यसँ विमुख होइत अछि, ओही पर ई संकट आबैत अछि। जँ अहाँ सहन नहि करि सकैत छी, तँ अपन कर्तव्यक पालना करू।

राजा: हम अपन कर्तव्यक पालना करैत छी।

चाणक्य: हमरा अत्यन्त प्रसन्नता अछि।

राजा: तँ हम जानबाक चाहैत छी जे कौमुदी महोत्सव रद्द करबाक कारण की अछि?

चाणक्य: हम सेहो जानबाक चाहैत छी जे कौमुदी महोत्सव मनाबाक कारण की अछि?

राजा: मुख्य कारण हमर आदेशक पालना कराबनाइ अछि।

चाणक्य: आर हमर कौमुदी महोत्सव रद्द करबाक मुख्य कारण अछि अहाँक आदेशक पालनासँ इन्कार करब।

किएक तँ अहाँक ई आदेश, जे करोड़ों राजा माथ निहुराक मूर पर धारण करैत अछि, जँ हमरा नहि मानैत, तँ अपने ऐलान करैत अछि जे अहाँक राज्यमे विनम्रता सुशोभित अछि।

जँ अहाँ चाहू तँ दोसर कारण सेहो बताब।

राजा: बताऊ।

चाणक्य: सोनोत्तरा! आचार्यक नामसँ लेखक अचालक कहू जे भद्रभट आर हुनकर साथीसभक सूची दिउ, जे असंतुष्ट होइ एतयसँ भागि मलयकेतुक सेवामे प्रविष्ट भऽ गेल अछि।

द्वारपाल: जेना आज्ञा। (जाइ सूची लाबैत अछि) - ई सूची अछि, आदरणीय प्रभु।

चाणक्य (सूची लैत): वृषाल! सुनू।

राजा: हम सुनैत छी।

चाणक्य (सूची पढ़ैत): "हमरा प्रभु चन्द्रगुप्तक युद्धमे वीरसभक सूची जे असंतुष्ट होइ एतयसँ भागि मलयकेतुक सेवामे प्रविष्ट भऽ गेल अछि - युद्ध हाथीक अधिकारी भद्रभट, घोड़ाक अधिकारी पुरुदत्त, प्रधान चेम्बरलेनक भतीजा दिङ्गरात, राजाक सम्बन्धी बलगुप्त, राजकुमार अवस्थामे राजाक अङ्गरक्षक राजसेन, सेनापति शूरबलक छोट भाइ भागुरायण, मालव वंशीय रोहिताक्ष, आर क्षत्रिय दलक नायक विजयवर्मा।"

राजा: हम हुनकर असंतोषक कारण जानबाक चाहैत छी।

चाणक्य: सुनू, वृषाल।

एहि मध्य भद्रभट आर पुरुदत्त - हाथी आर घोड़ाक अधिकारी - मद्य, स्त्री आर वन विहारक आसक्त छल। अपन कर्तव्यमे लापरवाही करबाक कारण हुनका पदसँ हटाएल गेल, मुदा वार्षिक वृत्ति देल गेल। अतएव हुनका छोड़ि गेल।

दिङ्गरात आर बलगुप्त अति लोभी छल। अहाँ द्वारा देल वृत्ति अपर्याप्त समझि हुनका छोड़ि मलयकेतुक सेवामे चलि गेल।

राजसेन डराएल छल कि जे धन हाथी, घोड़ा, आर अपार कोष ओ आकस्मिक रूपसँ अहाँक कृपासँ पाएल अछि, ओ अकस्मात् छीनि लेल जायत। अतएव ओ एतयसँ भागि गेल।

भागुरायण पार्वतक मित्र छल। प्रेमवश हुनका माता-पिता जेकाँ मानैत छल। ओ मलयकेतुक कानमे फुँकि देलक जे 'ई चाणक्य तोर पिताक हत्या करौलक' एहिसँ हुनका डेराबा देलक। चाणक्य षड्यन्त्रकारीसभक दण्ड देबाक पर, भागुरायण अपन अपराधसँ डरि भागि गेल। मलयकेतु हुनका प्राण बचाबाक कृतज्ञतासँ मुद्राङ्क अधिकारी पद देलक।

रोहिताक्ष आर विजयवर्मा अति घमण्डी छल। अहाँ अपन सम्बन्धीसभक सम्मान देखि सहन नहि करि सकल। अतएव हुनका एतयसँ चलि गेल।

राजा: जँ असंतोषक कारण ज्ञात छल, तँ आदरणीय गुरुजी तुरन्त उपाय केना नहि केलहुँ?

चाणक्य: हम नहि कयल सकलहुँ, वृषाल।

राजा: असमर्थतासँ वा राजनीतिक कारणसँ?

चाणक्य: राजनीतिक कारणसँ। असमर्थतासँ कोना होइत?

राजा: तँ ओ राजनीतिक कारण जानबाक चाहैत छी।

चाणक्य: सुनू। असंतुष्ट प्रजाक उपाय दोटा अछि - अनुग्रह आर दण्ड।

भद्रभट आर पुरुदत्त पदसँ हटाएल गेल। हुनका पुनः पद देल जाएत तँ ओ अनुग्रह होइत। हुनकर दोषक बावजूद जँ पुनः पद देल जायत तँ राज्यक मुख्य आधार हाथी आर घोड़ाक दल नष्ट भऽ जायत।

दिङ्गरात आर बलगुप्त अति लोभी छल। सम्पूर्ण राज्य देल जाएत तँ सेहो सन्तुष्ट नहि होइत।

राजसेन आर भागुरायण हमरा विषय मारि आर सम्पत्ति छीनि लेनिहार सन्देह करैत छल। हुनका अनुग्रह देल कोना स्वीकार होइत?

रोहिताक्ष आर विजयवर्मा अत्यन्त घमण्डी छल। अहाँक सम्बन्धीसभक सम्मान सहन नहि करैत। हुनका कोना प्रसन्न कयल जाएत?

अतएव अनुग्रहक मार्ग बन्द छल। दण्डक मार्ग सेहो सम्भव नहि छल। जँ हम नन्दक बाद हालमे सत्तामे आबि अपन युद्धक नायक उच्च अधिकारीसभक कठोर दण्ड देब, तँ नन्द पक्षक हमर प्रजा हमरा विश्वास नहि करत।

ई हमर सभ असंतुष्ट अधिकारी मलयकेतु द्वारा ग्रहण कयल गेल अछि, जे पिताक हत्याक क्रोधसँ भरल राक्षसक नेतृत्वमे विशाल मलेच्छ सेनासँ हमरा आक्रमण करबाक तैयारीमे अछि। ई समय युद्धक तैयारीमे अछि, उत्सवक नहि। जखन हमरा दुर्ग निर्माणमे ध्यान देनाइ अछि, तखन कौमुदी महोत्सवक केकरो अर्थ?

राजा: एहि विषयमे बहुत किछु कहनाइ अछि।

चाणक्य: स्वतन्त्र रूपसँ कहूँ। हमरा सेहो एहि विषयमे बहुत कहनाइ अछि।

राजा: अहाँ मलयकेतुक एहि सभ अशान्तिक मूल पलायनमे केनाय सहयोग केलहुँ?

चाणक्य: हुनकर पलायनमे सहयोग न करबाक मतलब दोटा उपाय छल - पकड़ि दण्ड देनाइ वा वचन अनुसार आधा राज्य देनाइ। जँ हम पकड़ि दण्ड देब, तँ अपन हाथसँ पार्वतक हत्या करबाक कृतघ्नता पर मुहर लगा देब। जँ आधा राज्य देब, तँ सेहो पार्वतक हत्याक कलंक मिटाबाक मात्र उपाय होइत। एहि कारण हम हुनकर पलायनमे सहयोग केलहुँ।

राजा: ई तोर एहि प्रकरणमे बचाओ अछि। मुदा राक्षसक - जे एहि नगरमे छल - हुनकर पलायनमे सहयोग करबाक की कहल जाएत?

चाणक्य: राक्षस नन्द पक्षधरसभक अत्यन्त विश्वासपात्र छल, किएक तँ ओ सभ बहुत दिन धरि सँग छल। ओ चतुर, साहसी छल। हुनकर साथी आर कोष विशाल छल। एहि कारण हम हुनकर पलायनमे सहयोग केलहुँ। जँ ओ एतय रहित, तँ नगरमे गम्भीर विद्रोह करत; मुदा जँ बाहर जाएत, तँ जँ देशमे विद्रोह करत सेहो हुनका नियन्त्रण करब कठिन नहि होइत।

राजा: जखन ओ एतय छल, तँ हुनका विरुद्ध उपाय केना नहि केलहुँ?

चाणक्य: कोना कहल जाएत जे उपाय नहि केलहुँ? ओ हृदयमे काँटा जेकाँ छल। हम ओकरा कौशलसँ निकालि फेकलहुँ।

राजा: हुनका बलसँ केना नहि पकड़लहुँ?

चाणक्य: हुनका राक्षस बुझूँ। जँ बलसँ पकड़बाक प्रयास करब, तँ ओ मरि जायत वा हमर सेनाक विनाश करैत। एहन भेल तँ सोतय हानि। जँ दबाव डालल जाए, तँ ओ मरि जायत - तँ ओ हाथसँ निकलि जायत। जँ ओ हमर श्रेष्ठ योद्धासभक मारि डालत - तँ सेहो बड़ हानि। एहि कारण हमरा ओकरा जंगली हाथी जेकाँ साधनसँ वश करबाक चाही।

राजा: हम अहाँसँ बहस करबामे असमर्थ छी, आदरणीय प्रभु। मुदा मन्त्री राक्षस प्रत्येक प्रकारसँ प्रशंसा करबाक योग्य अछि।

चाणक्य: आर अहाँ नहि - ई प्रशंसा अछि। बिना कहूँ, ओ केकरो केलक?

राजा: सुनू। ओ महापुरुष नगर जीत लेबाक बाद जखन तक चाहलक तखन तक नगरमे रहल, हमर बहुत कष्ट करौलक। हमर सैनिकसँ विजय घोषणा आदि रोकलक। आर अपन श्रेष्ठ कूटनीतिसँ हमरा एहन उलझौलक जे हम अपन विश्वासपात्र पर सेहो सन्देह करबाक लगल।

चाणक्य (हँसैत): ई सभ मात्र राक्षसक कार्य अछि? हम एक क्षण लेल सोचलहुँ कि ओ अहाँक सिंहासनसँ हटा मलयकेतुकें सम्राट बना देलक, जेना हम नन्दकें हटाइ अहाँकें सम्राट बनौलहुँ।

राजा: ई दोसर कोनो कार्य छल। आदरणीय गुरुजी केनाय ओकर लेखा लगाबैत छी?

चाणक्यः रे द्वेषी!

कोनो दोसर जन सभक अगाड़ि शत्रुक सम्पूर्ण जाति नाश करबाक भीषण प्रतिज्ञा केनए छल? कोनो दोसर क्रोधसँ मुड़ल अङ्गुलीसँ माथक केश बाँधि करि नौ नन्दक जे करोड़ों स्वर्ण मुद्रा धनी छल, एक-एक करि बलि पशु जेकाँ मारलक?

राजा: ई भाग्यक कार्य छल जे नन्दसभ पर भयानक छल।

चाणक्यः केवल अज्ञानी भाग्य पर विश्वास करैत अछि।

राजा: ज्ञानी व्यक्ति पुनः घमण्डी होइत अछि।

चाणक्य (अति क्रोधित): वृषाल! अहाँ हमरा नोकर जेकाँ डाँटबाक चाहैत छी?

आब हमर हाथ फेरसँ बाँधल गेल केशक गाँठ खोलबाक लेल उद्यत अछि, हमर पएर पुनः कोनो दोसर व्रतमे प्रवेश करबाक लेल चलैत अछि, आर अहाँ जे अपन मृत्युक सोझाँ छी, नन्दसभक नाशसँ शान्त हमर क्रोधक आगि पुनः प्रज्वलित करैत छी।

राजा (मनहि-मन)कहैत): साचमे आदरणीय गुरुजी क्रोधसँ भरल छथि। की करब?

हुनकर आँखिक तेज, यद्यपि नोर बहबाक कारण शान्त भेल अछि आर पलकसभ क्षुब्ध होइत अछि, तैयो पुनः प्रज्वलित जेकाँ भेल अछि, जखन भृकुटीक घोर अगाड़ि बढैत अछि, आर हुनकर पएरक धक्कासँ पृथ्वी काँपैत अछि, जेना रुद्रक उग्र नृत्य देखि डरि गेल होइत।

चाणक्य (शान्त होइत): वृषाल! वाक्य बनैमे किछु नहि रहल। जँ अहाँ राक्षसकें हमरसँ श्रेष्ठ समझैत छी, तँ ई तरुआरि हुनका देल जाउ।

(तरुआरि फेंकि देइत अछि, आसन छोड़ि आकाशमे देखैत)

(मनहि-मन) - राक्षस! ई तोर बुद्धिक चरम अवस्था अछि जे हमर बुद्धिक पराजित करबाक प्रयास करैत अछि।

अरे! अहाँ द्वारा प्रयुक्त ई सभ वैमनस्यक नीति जे हमसँ अलग भेल चन्द्रगुप्त मौर्यकें आसानीसँ पराजित करबाक विश्वाससँ करू छी, ई कपट वैमनस्यद्वारा अहाँक अपन मलयकेतुसँ वैमनस्य कराएत छी।

(चाणक्यक प्रस्थान)

राजा: आदरणीय वैहिनारि! जनताक बताबिये कि आइसँ चन्द्रगुप्त स्वयं चाणक्यक स्वतन्त्र राज्य सञ्चालन करत।

चेम्बरलेन (मनहि-मन): हाय! राजा हुनका चाणक्य कहि सम्बोधित केलक। ओ पदसँ हटाएल गेल। मुदा ई हुनकर कोनो दोष नहि अछि।

जखन राजा अयोग्य कार्य करैत अछि, तखन ओ मन्त्रीक दोष अछि। हाथी सारथिक अविवेकसँ दुष्ट होइत अछि।

राजा: आदरणीय ब्राह्मण! अहाँ केनाय अधूरैत छी?

चेम्बरलेन: आदरणीय प्रभु! प्रसन्नता अछि कि अहाँ अहाँक शासन अहाँ करबाक छी।

राजा (मनहि-मन): आशा अछि जे आदरणीय गुरुजी अपन उद्देश्य सिद्धि हेतु एहि रूपमे देखल जाएबाक लेल प्रयास करैत छथि।

(प्रकट) - आदरणीय ब्राह्मण! शीघ्र करू।

चेम्बरलेन: प्रभुक आज्ञा जेना।

(प्रस्थान)

राजा: सोनोत्तरा! एहि कठोर कलहसँ हमर माथि पीड़ा करैत अछि। शयनगृहक बाट देखाउ।

द्वारपाल: ए दिस, प्रभु।

राजा (आसनसँ उठि): यद्यपि हम हुनकर आदेशसँ आदरणीय गुरुजीक अवज्ञा केलहुँ, हमरा पृथ्वीमे समा जाएबाक इच्छा होइत अछि। तखन जे लोक वास्तवमे अपन गुरुक अपमान करैत अछि, ओ लाजसँ केना नहि मरैत अछि?

(सभक प्रस्थान)

[प्रवेश: करभक यात्रीक वेशमे]

करभक: कोनो व्यक्ति, हे मैथिलीजन! जे स्वामीक आपात आदेशसँ बिना रुकि सौ योजनसँ अधिक दूरी पार करैत अछि, ओ केना आश्चर्यजनक नहि अछि?

आब हम मन्त्री राक्षसक भेंट करबाक जाइत छी।

(आगाँ बढि) - ई आदरणीय मन्त्री राक्षसक निवास अछि। द्वारपालसभमेसँ कोनो अछि? हमरा कहू कि करभक पाटलिपुत्रसँ शीघ्र आयल अछि।

द्वारपाल (प्रवेश करैत): भलामानुस! धीरे बोलू। राजकाजक चिन्तासँ निद्रा नहि भेलाक कारण मन्त्रीक शिर:पीड़ा अछि। ओ अखनो शयनकक्षमे अछि। किछु समय प्रतीक्षा करू। उचित समय देखि हम अहाँक आगमनक सूचना देब।

करभक: भलामानुस! अहाँ एहन सेहो करि सकैत छी।

[राक्षसक प्रवेश - शयनकक्षमे चिन्तित मुद्रामे]

राक्षस -

हम चाणक्यक सभ असंतुष्ट लोकनिकें जीति चुकल छी; आर तैयो भाग्यक अनिश्चितता पर विचार करैत, चाणक्यक कुटिल नीति पर मनन करैत, ई बात केना भऽ सकैत अछि, एकर चिन्तासँ रात-रात निद्रा हमरा नहि आबैत अछि।

आर हमर जेना कवि वा राजनीतिज्ञकें एहि प्रकारक श्रमक अनुभव होइत अछि। पहिने ओ अपन बुद्धिसँ अपन कार्यक बहुत सूक्ष्म बीज रोपैत अछि। तखन ओ ओकरो विकास करैत अछि। तत्पश्चात जखन ओ बीज अर्धविकसित अवस्थामे पहुँचैत अछि, तखन ओ अति दूर फल देनिहार अदृश्य नीतिक प्रयोग करैत अछि। ओकरा बाद ओ संदिग्ध अवस्थाक निर्माण करैत अछि। तखन ओ एहि प्रकारसँ विस्तारित कार्यक समापन करैत अछि।

द्वारपाल (राक्षसक पास पहुँचि): विजय होउ।

राक्षस: पराजय होउ।

द्वारपाल: मन्त्रीक।

राक्षस (बायाँ ओंखिक स्पन्दन अनुभव करैत(मनहि-मन): रे दुष्ट चाणक्यक विजय होउ! मन्त्रीक पराजय होउ!

(प्रकट) - भलामानुस! अहाँ की कहबाक चाहैत छी?

द्वारपाल: पाटलिपुत्रसँ करभक आयल अछि। ओ मन्त्रीक दर्शन करबाक इच्छा रखैत अछि।

राक्षस: शीघ्र हुनका प्रवेश कराऊ।

द्वारपाल: प्रभुक आज्ञा जेना।

(करभक पास गेल) - भलामानुस! अहाँ मन्त्रीक दर्शन करि सकैत छी।

(प्रस्थान)

करभक (राक्षसक पास बढि): प्रभुक विजय होउ।

राक्षस: बैसू, भलामानुस!

करभक: जेना आज्ञा।

(भूमि पर बैसैत अछि)

राक्षस (मनहि-मन): एतेक सभ कार्य अछि जे हमरा मोन नहि आबैत अछि कि ई व्यक्ति हमर द्वारा कोन कार्यमे नियुक्त कयल गेल छल।

(स्मरण करैत अछि)

[एक सेवकक प्रवेश - दण्ड हाथमे]

सेवक: हटू, भलामानुसभ! बाट साफ करू।

अहाँ नहि जानैत छी जे सौभाग्यवान लोकनिक सेहो हुनकर दर्शन दुर्लभ अछि, तखन निकटता कऽ केकरो बात?

(ऊपर देखैत) - अहाँ की कहैत छी, भलामानुस? हम केनाय अहाँकेँ बाट हटाएबाक कहैत छी? तँ सुनू। युवराज मलयकेतु, जे शिर:पीड़ासँ पीड़ित मन्त्री राक्षसक भेंट करबाक लेल एतय आबि रहल छथि। एहि कारण हम अहाँकेँ बाट हटाएबाक कहैत छी।

(प्रस्थान)

[मलयकेतुक प्रवेश - भागुरायण आर चेम्बरलेनक संग]

मलयकेतु (मनहि-मन)उच्छ्वास लैत): आज हमर पिताक मृत्यु भेल दस महिना भऽ गेल; आर तैयो हम अपन प्रतापक घमण्डक वावजूद हुनका जलाञ्जलि सेहो नहि दे सकलहुँ।

हम लेल छलहुँ कि शत्रुक पत्नीसभक आँखिसँ हरषक अश्रु पोछि हुनकर पिताक मृत्युक शोकसँ हमर मातासभक जे अवस्था भेल छल - जखन ओ छाती पीटैत अपन मणिमय कङ्कण तोड़ि फेकलनि, वस्त्र खसि गेल, केश धूलिसँ भरि गेल, आर आकाश "हाय! हाय!" कऽ करूण क्रन्दनसँ गुञ्जायमान भेल छल - ओहि प्रकार शोकाकुल बनाएब तखन जलाञ्जलि देनाइ।

एहि लेल संक्षेपमे कहूँ तँ -

हम वीरतापूर्वक सहन करब, आर पूर्वजसभक पथ पर चलि युद्धभूमिमे मृत्यु वरण करब, वा अपन मातासभक नयनसँ अश्रु पोछि शत्रुक पत्नीसभक नयनमे अश्रु स्थानान्तरित करब।

(प्रकट) - आदरणीय जाजलू! हम मन्त्री राक्षसक निज भेंट करि हुनका आश्चर्यचकित करबाक चाहैत छी। एहि लेल आदिसँ चलैत राजसी जनसभा हमरा पाछाँ नहि करू। हमरा मलयकेतुक आदेशसँ कहूँ जे कोनो हमर पाछाँ नहि आए।

चेम्बरलेन: हम प्रभुक आदेशक पालना करैत छी।

(पाछाँ मुड़ि आकाशक दिस देखैत) - सुनू, हे राजसभ! युवराज मलयकेतुक आदेश अछि जे कोनो हुनकर पाछाँ नहि करू।

(हुनकर चेष्टासभ देखैत प्रसन्न होइत) - देखू, प्रभु! युवराजक आदेश पाबति की सेनापति तत्काल रुकि जाइत छथि!

किछु अपन घोड़ासभ रोकि रहल छथि - जकर ऊँच गर्दन तिखण अङ्कुशसँ कसि बाँधलाक कारण बहुत झुकल अछि, जेना खुरसँ आकाश छूबाक प्रयास करैत होइत; तँ किछु अपन महावीर हाथीसभ रोकि रहल छथि, जकर घण्टीसभ नीरव अछि। ई राजसभ समुद्र जेना ज्वार सीमासँ अधिक नहि बढ़ैत, आदरक सीमा नहि लाँघैत।

मलयकेतु: आदरणीय जाजलू! अहाँ सेहो पालकी वाहकसभ सँग पाछाँ घुरि जाउ। केवल भागुरायण हमरा संग आएत।

चेम्बरलेन: प्रभुक आज्ञा जेना।

(पालकी वाहकसभ सँग प्रस्थान)

मलयकेतु: मित्र भागुरायण! भद्रभट आर अन्य जे हमरा संग आयल छथि, ओ सेनापति शिखरसेनक माध्यमसँ सेवामे प्रविष्ट भऽ गेल। ओ हमरा एहन निवेदन केलक कि ओ सेवामे मन्त्री राक्षसक माध्यमसँ प्रविष्ट नहि भेल। किएक तँ हम स्वयं सेवा करबाक योग्य राजा छी, जकर गुणसँ मनुष्य आकर्षित होइत अछि, जखन कि चन्द्रगुप्त दुष्ट मन्त्रीक अनुयायी छल। हम बहुत विचार केलहुँ मुदा ओकर आशय नहि समझि पाएलहुँ।

भागुरायण: प्रभु, ई सरल अछि। कोनो राजगुणसम्पन्न, उद्यमशील राजाक सेवा करबाक लेल हुनकर हितैषी मित्रक माध्यमसँ सेवा प्रवेश करबाक चाही। ई उचित मार्ग अछि।

मलयकेतुः मुदा, मित्र, राक्षस तँ हमर सर्वश्रेष्ठ हितैषी अछि।

भागुरायणः आह, सेहो अछि। राक्षसक शत्रुता चाणक्यसँ अछि, चन्द्रगुप्तसँ नहि। एहि लेल होइत कि चन्द्रगुप्त, सफलतासँ गर्वित चाणक्यसँ असहनशील होइक हुनका मन्त्री पदसँ हटा देइत, आर राक्षस तखन अपन नन्द वंशीय सन्तान होइक नन्द परिवारक प्रेमवश, आर मित्रसभक मान करैत, हुनकासँ मैत्री करि सकैत अछि। एहि दशामे ओ प्रभुक विश्वासघात करि सकैत अछि। ई हुनकर कथनक आशय अछि।

मलयकेतुः ठीक कहलहुँ। आब हमरा मन्त्री राक्षसक निवासक बाट देखाउ।

भागुरायणः ए दिस, प्रभु। (मन्त्रीक निवासक पास पहुँचिक) - हम मन्त्रीक निवास पर पहुँचि गेल छी। प्रवेश करू, प्रभु।

मलयकेतुः हम करैत छी।

राक्षस (मनहि-मन): अरे! हमरा मोन आयल।

(प्रकट) - भलामानुस! अहाँ पाटलिपुत्रमे बाई स्तनकलशक भेंट केनहुँ?

करभकः हँ, प्रभु, भेटलहुँ।

मलयकेतु (ई बात सुनि): मित्र भागुरायण! ओ लोक पाटलिपुत्रक कार्य पर चर्चा करैत छथि। हम मन्त्रीक पास नहि जाएब। हम रुकि सुनब।

किएक तँ मन्त्री सभासदसभक भयसँ राजाक सोझाँ एक प्रकारे कहैत छथि, आर अपन लोकसँ निर्बाध वातामे दोसर प्रकारे।

भागुरायणः प्रभुक आज्ञा जेना।

राक्षसः ओ कार्य सफल भेल?

करभकः प्रभुक कृपासँ, सफल भेल।

मलयकेतुः ओ कार्य की छल, मित्र?

भागुरायणः मन्त्रीक कार्य अति गहन अछि। एकर निर्णय एहि अवस्थामे कहनाइ कठिन अछि। प्रभु चुपचाप सुनू।

राक्षसः हम सभ विवरण सुनबाक चाहैत छी।

करभकः सुनू, प्रभु। प्रभुक आदेश छल जे हम पाटलिपुत्र गेल जाए, आर बाई स्तनकलशकेँ कहू कि जखन चाणक्य चन्द्रगुप्तक आदेशक विरुद्ध जाएत, तखन ओ चन्द्रगुप्तकेँ भड़काबैत पद्य सुनाए।

राक्षसः आगाँ कहू।

करभकः हम ताहि अनुसार पाटलिपुत्र गेलहुँ आर बाई स्तनकलशकेँ प्रभुक आदेश सुनौलहुँ। ओ समय नन्द परिवारक विनाशसँ दुखी जनताक प्रसन्न करबाक हेतु चन्द्रगुप्त कौमुदी महोत्सव मनाबाक आदेश देलनि। बहुत दिन बाद प्रिय सम्बन्धीसँ भेंट जेकाँ प्रिय ई महोत्सव जनतासँ स्वागत भेल।

राक्षस (उच्छ्वास लैत): हाय! राजा नन्द!

अहाँ बिना कौमुदी महोत्सव केनाक? जे संसारमे राजसभक चन्द्र जेकाँ प्रिय छलाह, यद्यपि रात्री कमल विकसित करबाक लेल भौतिक चन्द्र अछि, आर जनताक प्रसन्न करबाक लेल मौर्य चन्द्र अछि।

करभकः ओ महोत्सव - जे जनताक दृष्टिसँ अति प्रिय छल - दुष्ट चाणक्य द्वारा राजाक इच्छाक विपरीत रद्द करि देल गेल। ओ समय स्तनकलश चन्द्रगुप्तकेँ भड़काबैत पद्य गाबलक।

राक्षसः ओ की छल?

करभकः

"जेना राजा सिंह, जे सृष्टिकर्ता द्वारा स्वाभिमानक भण्डार जेकाँ बनौल गेल अछि, अपन जबड़ा तोड़बा सहन नहि करैत... तेना मनुष्य राजा सेहो..."

आर

"आभूषण आदि धारण करबा मात्रसँ राजा नहि बनल जाइत। ओहि राजा कहल जाइत अछि, जकर कोनो आदेशक उल्लङ्घन नहि करैत।"

राक्षस (प्रसन्न होइत): शाबाश, मित्र स्तनकलश! उचित समय पर बोएल गेल वियोगक बीज अवश्य फलबैत।

सामान्य मनुष्य सेहो अपन उत्सवसँ वञ्चित करबा सहन नहि करि सकैत। तखन राजाक केनाय सहन करि सकैत अछि?

मलयकेतु: बिल्कुल ठीक।

राक्षस: आगाँ कहू।

करभक: चन्द्रगुप्त अपन आदेशक उल्लङ्घनसँ क्रोधित भेल, आर तीखी बहसमे प्रभुक प्रशंसा करैत दुष्ट चाणक्यकें पदसँ हटाए देलक।

मलयकेतु: मित्र भागुरायण! राक्षसक प्रशंसासँ चन्द्रगुप्तक ओर झुकाव प्रकट होइत अछि।

भागुरायण: प्रभु! राक्षसक प्रशंसा नहि, चाणक्यक पदसँ हटाबनाइ मुख्य बात अछि।

राक्षस: केवल कौमुदी महोत्सव निषेध चन्द्रगुप्तक चाणक्यसँ अप्रसन्नताक कारण अछि, वा कोनो दोसरो कारण?

मलयकेतु: मित्र! ओ चन्द्रगुप्तक अप्रसन्नताक कोनो दोसर कारण खोजैत अछि?

भागुरायण: चाणक्य विवेकी अछि। ओ थोराँ बात लेल चन्द्रगुप्तक क्रोध नहि भड़काएत। चन्द्रगुप्त सेहो कृतज्ञ अछि। ओ एहि मात्र कारणसँ चाणक्यक सम्मानक सीमा नहि लाँघत। चन्द्रगुप्त आर चाणक्यक वियोग स्थायी होइबाक लेल बहुत कारण चाही। एहि लेल एहन भऽ रहल अछि।

करभक: हँ, एहिसँ अलगाँ एक कारण अछि - चाणक्य युवराज मलयकेतु आर प्रभुक पलायनमे सहयोग केलक।

राक्षस (प्रसन्नतासँ): मित्र शकटदास! आब चन्द्रगुप्त हमर पूर्ण वशमे अछि।

शकटदास: आब चन्दनदास मुक्त होयत, प्रभु अपन पुत्र आर पत्नीक भेंट करत, आर जीवसिद्धि अपन कष्टसँ मुक्त होयत?

भागुरायण (मनहि-मन): साचमे जीवसिद्धिक कष्ट आब समाप्त होयत।

मलयकेतु: ओ की कहैत अछि, मित्र, जखन कहैत अछि कि 'चन्द्रगुप्त हमर वशमे अछि'?

भागुरायण: आब चन्द्रगुप्त चाणक्यसँ अलग होइ गेल अछि। ओ हुनका अलग रखबाक कोनो कारण नहि देखैत। आर कोनो अर्थ होइत?

राक्षस: भलामानुस! ओ व्यक्ति अखन कतय अछि, जे पदसँ हटाएल गेल अछि?

करभक: प्रभु, ओ सेहो एतय अछि।

राक्षस (बेचैनीसँ): ओ अखनो ठीक अछि? ओ प्रायश्चित्त वनमे नहि गेल, वा नया व्रत नहि केलक?

करभक: प्रभु! ई चर्चा अछि जे ओ वनमे जाएत।

राक्षस: मित्र शकटदास! ई असम्भव अछि। जे व्यक्ति राजा नन्दसँ अपमान सहन नहि करि सकल, ओ चन्द्रगुप्तसँ अपमान सहन करत जे हुनकर बनाएल राजा छी?

मलयकेतु: मित्र! चाणक्यक वन गमन वा नया व्रत लेबाकसँ हुनकर कोन उद्देश्य सिद्ध होइत?

भागुरायण: स्पष्ट अछि। हुनकर उद्देश्य तखन सिद्ध होइत जखन ओ दूर अछि।

शकटदासः अपराध नहि मानू प्रभु। ई सम्भव अछि। जे राजा शत्रुसभक माथि पएर रखि देवताक समान पूज्य भेल अछि, ओ अपन लोकक आदेश उल्लङ्घन कऽ सहन करत? चाणक्य, यद्यपि प्रकृतिसँ क्रोधी अछि, अपन सौभाग्यसँ एक व्रत समाप्त करि पुनः कठोर व्रत नहि लैत, किएक तँ ओ हिंसात्मक कर्मक कठिनाई स्वयं अनुभव केनए अछि, आर भविष्यमे विफलताक भय राखैत अछि।

राक्षसः सम्भव होइत। आब करभक आराम आर भोजन करू जाउ।

शकटदासः प्रभुक आज्ञा जेना।

(शकटदास आर करभकक प्रस्थान)

राक्षसः हम युवराजक शुभ समाचार सुनाब।

मलयकेतु (राक्षसक पास बढि): हम स्वयं मन्त्रीक दर्शन करबाक आयल छी।

राक्षस (देखि): अरे! युवराज!

(आसनसँ उठि) - प्रभु! ई आसन ग्रहण करू।

मलयकेतुः हम करैत छी। मन्त्री सेहो आसन ग्रहण करू।

(दुनू उपयुक्त आसन पर बैसैत अछि)

मलयकेतुः मन्त्रीक शिरःपीड़ा ठीक अछि?

राक्षसः जखन तक प्रभुक 'युवराज' शब्द 'सम्राट' सँ नहि बदलैत, तखन धरि कोना ठीक भऽ सकैत अछि?

मलयकेतुः चूँकि मन्त्री ई कार्य स्वयं करबाक वचन देल छी, एहि लेल ई प्राप्त करब सरल अछि। आब हम कियाँ निष्क्रिय रहू? की हमर राजसभ शत्रुक कोनो दुर्बलताक प्रतीक्षा करैत अभियानक लेल तैयार छथि?

राक्षसः आब देरी काकर लेल? प्रभु विजय अभियान पर निकलि सकैत छी।

मलयकेतुः मन्त्री हमर शत्रुक कोनो दुर्बलता देखल अछि?

राक्षसः हँ।

मलयकेतुः की अछि ओ?

राक्षसः आर कोनो नहि, मन्त्रीगत दुर्बलता। चन्द्रगुप्त चाणक्यसँ अलग भऽ गेल अछि।

मलयकेतुः आदरणीय प्रभु! मन्त्रीगत दुर्बलता साचमे दुर्बलता छी।

राक्षसः दोसर राजासभक क्षेत्रमे ई सत्य होइत, मुदा चन्द्रगुप्तक सम्बन्धमे नहि।

मलयकेतुः मन्त्री! एहन नहि अछि। चाणक्यक दोष चन्द्रगुप्तक प्रजाक मात्र अप्रसन्नता पैदा करौलक। आब जखन ओ हटाएल गेल अछि, जे पहिने चन्द्रगुप्तसँ प्रेम करैत छल, ओ आब अधिक प्रेम करत।

राक्षसः नहि, एहन नहि अछि। प्रजाक दो वर्ग अछि - चन्द्रगुप्तक समर्थक, आर नन्द परिवारक अनन्य भक्त। आब चाणक्यक दोष चन्द्रगुप्तक समर्थकक अप्रसन्नता पैदा करैत अछि, नन्द भक्तक नहि। ओ तँ चन्द्रगुप्तक नन्द परिवार नाश करबाक कृतघ्नतासँ क्रोधित अछि। ओ कोनो योग्य स्वामी नहि पाबि चन्द्रगुप्तक अनुसरण करैत अछि। आब ओ हमरा ओहि प्रभुक रूपमे पाबैत अछि, जकर शत्रु नाश करबाक शक्ति सभ स्वीकार करैत अछि। एहि लेल ओ शीघ्र हुनका छोड़ि प्रभुक शरणमे आएत। प्रभु हमरो दृष्टान्त देखू।

मलयकेतुः आदरणीय प्रभु! की केवल एहि एक कारणसँ चन्द्रगुप्त पर आक्रमण करबाक अछि, वा कोनो दोसरो अछि?

राक्षसः दोसरको बहुत किछु अछि। मुदा ई सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अछि।

मलयकेतुः ई सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कोना भेल, मन्त्री? आब चन्द्रगुप्त अहाँ कोनो दोसरो मन्त्री नियुक्त करि उचित उपाय नहि करि सकत?

राक्षसः नहि, नहि, ओ नहि करि सकत। ई राजाक लेल सम्भव अछि जे स्वतन्त्र शासनक पक्षधर छथि। मुदा दुष्ट चन्द्रगुप्त मन्त्री-शासनक पक्षधर रहल अछि। एहि लेल ओ अहाँ उचित उपाय कोना करि सकत?

जेना नवजात शिशु माताक स्तन पर निर्भर रहि किछु क्षण सेहो जीवित नहि रहि सकैत, तेना अनुभवहीन अज्ञानी राजा मन्त्री पर निर्भर रहि एक क्षण सेहो स्वतन्त्र नहि रहि सकैत।

मलयकेतु (मनहि-मन): सौभाग्यवश हम मन्त्री-शासनक पक्षधर नहि छी।

(प्रकट) - जँ एहनो अछि, तँ जे शत्रु पर मन्त्रीगत दुर्बलता आर आक्रमणक अन्य अनेक कारण होइत, ओ निश्चित सफल होइत।

राक्षसः प्रभु निश्चिन्त रहू। प्रभु सभ दिशामे श्रेष्ठ अछि। पाटलिपुत्रक नगर नन्दक अनुरक्त अछि। चाणक्य चन्द्रगुप्तसँ विमुख अछि। मौर्य नवीन राजा अछि। आर हम छी - मात्र मार्ग बतौबिहारक कार्य हेतु। एहि परिस्थितिमे केवल प्रभुक आदेशक अभाव हमर सफलतामे बाधा अछि।

मलयकेतुः जँ मन्त्री एहि समय अभियान लेल उचित मानैत छथि, तँ हम किहाँ निष्क्रिय रहू?

हमर हाथीसभ, जे सिन्दूरसँ साचमे राताएल अछि, जे अत्यन्त उच्च कदक अछि, जे मद धारण करैत अछि, जे कृष्ण वर्णक अछि, जे बहुत जोरसँ गर्जन करैत अछि, आर दाँतसँ किनारा तोड़ैत अछि - ई नाम मात्रक सोना नदीकेँ - जे उच्च कूलक अछि, जल बहाबैत अछि, जकर दुबेर पातसँ काला अछि, जकर तरङ्ग मधुर अछि, आर जकर बहावसँ किनारा टूटैत अछि - सौ दिस बिखेरि देयत।

आर -

हमर हाथी दलक पंक्ति, गम्भीर गर्जना करैत, मदक धारा छोड़ैत, पाटलिपुत्रक नगर घेरि लेत, जेना मेघक पंक्ति विन्ध्य पर्वत पर जल बरसाबैत अछि।

(मलयकेतु आर भागुरायणक प्रस्थान)

राक्षसः कोनो सेवक अछि?

प्रियम्बदक (प्रवेश करैत): आज्ञा करू, प्रभु।

राक्षसः प्रियम्बदक! कोनो ज्योतिषी द्वार पर अछि?

प्रियम्बदकः क्षपणक।

राक्षस (अशुभ देखि): की? क्षपणक (घृणित देखाबला)?

प्रियम्बदकः जीवसिद्धि।

राक्षसः ओ तँ सुन्दर अछि। हुनका भेजू।

प्रियम्बदकः प्रभुक आज्ञा जेना।

(प्रस्थान)

/क्षपणकक प्रवेश/

क्षपणक -

अर्हतसभक उपदेशक पालना करू, जे मोह रूपी रोगसँ पीड़ित व्यक्तिसभक ठीक करैत अछि, पहिने केवल ठीक उपदेश दैत अछि, मुदा अन्तमे हितकारी।

(राक्षसक पास बढि) - आदरणीय प्रभुक मोक्ष प्राप्त होउ।

राक्षसः भन्ते! हमरा अभियान प्रस्थानक तिथि बताऊ।

क्षपणक (थोरा विचार करि): आदरणीय प्रभु, हम तय करि देलहुँ। पूर्णिमाक दिन मध्याह्नसँ पश्चात् सभ प्रकारसँ शुभ अछि। नक्षत्र सेहो प्रभुक उत्तरसँ दक्षिण प्रस्थान लेल अनुकूल अछि।

तहिना -

बुध ग्रहक राशि प्रस्थानक समय लग्नमे अछि, सूर्य अस्तोन्मुख अछि, चन्द्रमा पूर्ण प्रकाशमे उदित होइत अछि, आर केतु ग्रहक अचानक उदय अस्त होइत अछि।

राक्षसः भन्ते! तिथि सेहो आपत्तिजनक अछि।

क्षपणकः आदरणीय प्रभु! तिथिक एक, नक्षत्रक चारि, आर चन्द्रक सौ गुना महत्त्व अछि। ई ज्योतिष शास्त्रक वचन अछि। अतएव बुध ग्रहक राशिक स्पर्शकाल शुभ मुहूर्त अछि। केवल भद्रा करणक अशुभ समयसँ बचू। चन्द्रक अनुकूलतासँ प्रभुक बहुत लाभ होयत।

राक्षसः भन्ते! हम दोसर ज्योतिषीसभसँ सेहो पूछि लेब।

क्षपणकः आदरणीय मन्त्री जे करैत अछि करू। हम जाइत छी।

राक्षसः कोना भऽ गेल? भन्ते हमरासँ क्रोधित छी?

क्षपणकः भन्ते अहाँसँ नहि क्रोधित छी।

राक्षसः तँ कोन अछि?

क्षपणकः मनुष्यक भाग्यक अधिदेवता क्रोधित छी। किएक तँ अहाँ विदेशी पर विश्वास करैत छी, आर अपन लोककें तिरस्कार करैत छी।

(प्रस्थान)

राक्षसः प्रियम्बदक! केकरो समय भेल?

प्रियम्बदक (प्रवेश करैत): सूर्य अस्त होइबाक लगल अछि।

राक्षस (आसनसँ उठि): साचमे सूर्य अस्त होइबाक लगल अछि।

जेना उदयकालमे सूर्यक पूजा करनिहार वृक्षक छायाँ, जे सूर्यक उदय पर पश्चिम दिस हटि जाइत अछि, ओ सूर्य अस्त होइत अपन प्रभु परित्याग करैत अछि - तेना जखन स्वामी अपन महत्त्व खोइ देइत अछि, तखन सेवक सेहो हुनका त्यागि देइत अछि।

(सभक प्रस्थान)

/प्रवेश: सिद्धार्थक - एक मुद्रांकित पत्र आर आभूषणक कोष लऽ कऽ/

सिद्धार्थक - हे भगवान!

चाणक्यक नीति रूपी लता, जे समय आर स्थान रूपी घड़ासँ बुद्धि रूपी जलसँ सींचल जाइत अछि, उद्देश्य सिद्धि रूपी मूल्यवान फल धारण करबाक लगल अछि।

एहि हेतु हम ई पत्र लऽ कऽ जाइत छी, जे आदरणीय चाणक्य पहिने शकटदाससँ लिखाएल छल, आर मन्त्री राक्षसक मुद्रिकासँ मुद्रांकित कयल गेल छल, आर ई आभूषण कोष सेहो ओहि मुद्रिकासँ चिह्नित अछि। हम पाटलिपुत्र जाबाक ढोंग करैत छी।

(किछु कदम चलि एक क्षपणक देखि) - अरे! एक क्षपणक आबि रहल अछि। हम ओकर प्रतीक्षा करब।

/क्षपणकक प्रवेश/

क्षपणक -

हम अर्हतसभक प्रणाम करैत छी, जे गहन ज्ञानसँ श्रेष्ठ मार्ग द्वारा एहि संसारमे निर्वाण प्राप्त करैत छथि।

सिद्धार्थक - भन्ते! हम अहाँक प्रणाम करैत छी।

क्षपणक - भन्ते! अहाँक मोक्ष प्राप्त होउ।

(बारीक देखि) - भन्ते! अहाँ यात्रा पर निकलि रहल छी।

सिद्धार्थक - भन्ते एहि कोना जानलहुँ?

क्षपणक - जानबाक की अछि? ई पत्र जे अहाँकें जाएबाक लेल प्रेरित करैत अछि, एकर घोषणा करैत अछि।

सिद्धार्थक - भन्ते ठीक जानलहुँ। हम दोसर स्थान पर जाइत छी। एहि लेल भन्ते, ई दिन केनाय छी?

क्षपणक (हँसि) - अरे भन्ते! अहाँ मुण्डन कराबैत छी, आर नक्षत्र पूछैत छी!

सिद्धार्थक - भन्ते! एहि म कोनो हानि अछि, देरी भेल तँ सेहो? जँ शुभ अछि तँ जाएब, नहि तँ घुरि जाएब।

क्षपणक - भन्ते! आजकाल शुभ दिन होयत सेहो अहाँ मलयकेतुक शिविरसँ नहि निकलि सकैत छी।

सिद्धार्थक - ई कोना भऽ गेल, भन्ते? कहू।

क्षपणक - सुनू, भन्ते। पहिने एतय आवागमन निर्बाध छल। मुदा आब जखन पाटलिपुत्र निकट अछि, पारण पत्रक बिना कोनो शिविरमे प्रवेश वा निर्गमन नहि करि सकैत। एहि लेल जँ अहाँक भागुरायणसँ पारण पत्र अछि तँ सुरक्षित जाइ सकैत छी, अन्यथा रुकू, जाहिसँ रक्षक द्वारा हाथ-पएर बेड़ीमे हुनका न्यायालय न लेल जाउ।

सिद्धार्थक - भन्ते नहि जानैत छी जे हम सिद्धार्थक छी? हम आदरणीय राक्षसक परिचारक छी। पारण पत्र बिना सेहो हमरा रोकैत केकरो शक्ति अछि?

क्षपणक - भन्ते! अहाँ राक्षस वा पिशाच सेवक होयत, पारण पत्र बिना बाहर निकलैक कोनो उपाय नहि अछि।

सिद्धार्थक - भन्ते हमरा क्षमा करू, आर हमर कार्य पर आशीर्वाद दिअ।

क्षपणक - जाउ, भन्ते, हम अहाँक कार्य पर आशीर्वाद देइत छी। आब हम भागुरायणसँ पारण पत्र माँगब।

(सभक प्रस्थान)

/भागुरायणक प्रवेश - एक परिचारकक संग/

भागुरायण (मनहि-मन) - आदरणीय चाण्यकक नीति केना आश्चर्यजनक रूपसँ परिवर्तनशील अछि!

हम राजनीतिज्ञक तरीका पर आश्चर्य करैत छी, जे भाग्यक तरीका जेकाँ अनेक रूपक अछि। उद्देश्यक अनुसार कही ई तरीका एहन होइत अछि जे सरलसँ समझल जाइ सकैत अछि; कही ई एहन होइत अछि जे अति जटिल होइत; कही ई पूर्ण रूपसँ प्रकट होइत अछि; कही ई अदृश्य होइत अछि; कही एकर सुरागो मिलैत अछि; आर कही एकर लक्ष्य विशाल रूप धारण करैत अछि।

(प्रकट) - भासुरक! युवराज इच्छा करैत छथि जे हम हुनकर निकट रहू। एहि लेल हमरा ई सार्वजनिक सभा मण्डपमे आसन ला दिअ।

परिचारक - ई आसन अछि, प्रभु। अहाँ बैसि सकैत छी।

भागुरायण (आसन ग्रहण करि) - जे कोनो पारण पत्र लेल मिलबाक चाहैत अछि, हुनका हमरा पास लाऊ।

परिचारक - प्रभुक आज्ञा जेना।

(प्रस्थान)

भागुरायण - युवराज मलयकेतुकेँ धोखा देनाइ केना कठोर अछि, जे हमरा एतेक प्रेम करैत छथि! मुदा -

जे व्यक्ति दोसरक सेवक अछि, अपन जन्मक कुलीनता, लज्जा, सन्मान आर अपन नामक मूल्य छोड़ि क्षणिक लाभक लोभसँ अपन देह हुनका बेचि चुकल अछि, ओ सोचबिचार करैत रहि उचित-अनुचितक विचार केकरा करैत अछि?

/मलयकेतुक प्रवेश - एक द्वारपालिकाक संग/

मलयकेतु (मनहि-मन) - अनेक संदेहसँ व्याकुल हमर मन राक्षसक विषयमे किछु निर्णय पर नहि पहुँचि रहल अछि।

की ओ, नन्द परिवारसँ गहन अनुराग राखि, ओ परिवारक वंशज चतुर मौर्यसँ - जखन ओ चाणक्यक निकाल चुकल अछि - सन्धि करत? वा हमरा निरन्तर सेवा करबाक विचार करि अपन वचन पर अड़ल रहत? एहि प्रकार हमर मन सदिखन सन्देहमे रहैत अछि - जेना कुम्हारक चाक पर चढ़ल होइत।

(प्रकट) - विजया! भागुरायण कतय अछि?

द्वारपालिका - प्रभु! ओ एतय अछि। ओ शिविरसँ बाहर जाएबाक लेल पारण पत्र दैत अछि।

मलयकेतु - विजया! तँ एतय स्थिर रहू, जखन तक हम ओ दुसर दिस देखैत ओकर आँखि न छोपि देब।

द्वारपालिका - प्रभुक आज्ञा जेना।

परिचारक (प्रवेश करैत) - प्रभु! एक क्षणक पारण पत्र लेल अहाँसँ भेंट करबाक चाहैत अछि।

भागुरायण - प्रवेश करू।

परिचारक - प्रभुक आज्ञा जेना।

(प्रस्थान)

क्षपणक (प्रवेश करैत) - आदरणीय प्रभु! अहाँक मोक्ष प्राप्त होउ।

भागुरायण (मनहि-मन) - अरे! ई राक्षसक मित्र जीवसिद्धि अछि।

(प्रकट) - भन्ते! अहाँ राक्षसक कोनो कार्य पर जाइत छी, हमरा विश्वास।

क्षपणक (कान बन्द करि) - हम ई पापक विचारक निवारण करैत छी। हम तँ ओतय जाएत छी जतय राक्षसक नाम नहि सुनल जाए।

भागुरायण - भन्ते! अहाँ अपन मित्रसँ बहुत रुष्ट दिसैत छी। राक्षस की अहाँक अपराध कयल अछि?

क्षपणक - आदरणीय प्रभु! राक्षस कोनो अपराध नहि कयल अछि। दुर्भाग्यवश हम स्वयं अपन दुर्भाग्य बनि गेल छी।

भागुरायण - भन्ते! अहाँ हमरा उत्सुक करि रहल छी।

मलयकेतु (मनहि-मन) - आर हमरा सेहो।

भागुरायण - हम सुनबाक चाहैत छी।

मलयकेतु (मनहि-मन) - हम सेहो।

क्षपणक - अहाँ एहि सुनि कऽ करब?

भागुरायण - जँ गुप्त अछि तँ छोड़ू।

क्षपणक - गुप्त नहि अछि।

भागुरायण - जँ गुप्त नहि अछि तँ बताऊ।

क्षपणक - आदरणीय प्रभु! गुप्त नहि अछि। मुदा हम अहाँकें नहि बताएत।

भागुरायण - तँ हम अहाँकें पारण पत्र नहि देब।

क्षपणक (मनहि-मन) - ई जानबाक चाहैत अछि। एहि लेल उचित अछि जे हम ई बताएँ।

(प्रकट) - जखन हम निवारण नहि करि सकैत, तँ बताबैत छी। सुनू, आदरणीय प्रभु!

जखन हम पहिने पाटलिपुत्रमे रहैत छलहुँ, हम राक्षससँ मित्रता केलहुँ। ओहि बीच राक्षस गुप्त रूपसँ विषकन्याक प्रयोग करि सम्राट पार्वतेश्वरक हत्या करौलक।

मलयकेतु (मनहि-मन) उच्छ्वास लैत - हाय! हम की सुनैत छी? पिताक हत्या राक्षस कयलक, चाणक्य नहि?

क्षपणक - तखन हमरा राक्षसक मित्र भेलाक कारण हत्यारा समझि दुष्ट चाणक्य हमरा अपमानित करि नगरसँ निर्वासित करि देलक। आब सेहो राक्षस, जे सभ प्रकारक राजनीतिक खेलमे निपुण अछि, एहन किछु करबाक प्रस्ताव रखैत अछि जे हमरा जीवनसँ सेहो निर्वासित करि देयत।

भागुरायण - ई पापक कार्य राक्षस नहि, दुष्ट चाणक्य कयलक, जे हुनका वचन अनुसार आधा राज्य देनाइ नहि चाहैत छल। हम एहि बात सुनल छी।

क्षपणक (कान बन्द करि) - भगवान बुद्ध हमरा पापसँ मुक्त करू। विषकन्याक नाम सेहो चाणक्यक कान पर नहि लागल छल।

भागुरायण - भन्ते! ई अहाँक पारण पत्र लिहू। चलू, ई कथन युवराजक सोझाँ सेहो कहू।

मलयकेतु (नोर सहित आगाँ बढ़ि) - मित्र! हम शत्रुक मित्र द्वारा कयल गेल कथन सुनलहुँ। ई पिताक हत्याक कष्टक दुगुना करि देइत अछि - जेना कान फाड़ि देइत अछि।

क्षपणक (मनहि-मन) - अरे! दुष्ट मलयकेतु सभ सुनि गेल। हमर कार्य सिद्ध भेल।

(प्रस्थान)

मलयकेतु (आकाशमे देखि) - राक्षस! ई बहुत अनुचित अछि।

अहाँ हमर पिताक हत्या केलहुँ, जे अहाँ पर विश्वास करि, अहाँकें अपन मित्र समझि, सभ किछु सौँपि निश्चिन्त छलाह, आर हुनकर पतनक संग हुनकर सम्बन्धीसभक नोर खसि गेल। राक्षस नामक छी, आर राक्षस कर्मक सेहो!

भागुरायण (मनहि-मन) - आदरणीय चाणक्यक आदेश अछि जे राक्षसक प्राण बचाएल जाए। हम एहि प्रकार काज करब।

(प्रकट) - हम प्रभुसँ अनुरोध करैत छी जे क्रोध नहि करू। आसन ग्रहण करू। हम प्रभुसँ किछु कहबाक चाहैत छी।

मलयकेतु (आसन ग्रहण करि) - मित्र! अहाँ हमरा की कहबाक चाहैत छी?

भागुरायण - प्रभु! राजनीतिक व्यवहार करनिहार व्यक्तिसभक क्षेत्रमे मित्र, शत्रु आर तटस्थक भेद राजनीतिक उद्देश्य पर निर्भर करैत अछि, आम लोक जेकाँ व्यक्तिगत रुचि पर नहि।

ओ समय राजा पार्वतेश्वर राक्षसक दृष्टिसँ राजनीतिक रूपसँ एक मात्र बाधा छलाह, जे सर्वार्थसिद्धिक पुनर्स्थापनाक इच्छा रखैत छल, किएक तँ ओ चन्द्रगुप्तसँ अधिक शक्तिशाली छलाह। अतएव राक्षसक वास्तविक शत्रु राजा पार्वतेश्वर छलाह। एहि कारण ओ हुनका प्रति एहन कार्य केलक। एहि परिस्थितिमे हम एहि कार्यमे कोनो अति अपराध नहि देखैत छी।

देखू, प्रभु!

राजनीतिक उद्देश्यक अनुसार मित्रक शत्रु आर शत्रुक मित्र स्थापित करैत हुअो, राजनीति जेना व्यक्तिक पुनर्जन्म कराबैत अछि - जाहिमे पूर्व जन्मक सम्बन्ध भुलाएल जाइत अछि। एहि लेल प्रभु राक्षसक एहि कार्यक लेल निन्दा नहि करू, जखन तक नन्द साम्राज्य हस्तगत नहि होइत, तखन तक हुनका सन्तुष्ट रखू। ओकर बाद प्रभु स्वतन्त्र अछि - हुनका राखू वा हटाउ।

मलयकेतु - मित्र! हम अहाँसँ सहमत छी। अहाँ ठीक कहलहुँ। किएक तँ मन्त्रीक वधसँ राज्यक अन्य अङ्ग अशान्त होयत, आर अन्ततः हमर सफलता खतरेमे पड़ि सकैत अछि।

परिचारक (प्रवेश करैत) - प्रभुक विजय होउ।

(भागुरायणक दिस मुड़ि) - प्रभु! प्रहरी नायक निवेदन करैत अछि कि पारण पत्र बिना शिविरसँ निकलैत एक व्यक्ति पकड़ल गेल अछि। ओ अपन पास एक पत्र रखैत अछि। अतएव प्रभु हुनकर परीक्षण करू।

भागुरायण - हुनका भीतर लाऊ, भलामानुस!

परिचारक - प्रभुक आज्ञा जेना।

(प्रस्थान)

/सिद्धार्थक प्रवेश - बेड़ीमे, परिचारक पाछाँ-पाछाँ/

सिद्धार्थक (मनहि-मन) - हम कर्तव्यनिष्ठाक भावना प्रणाम करैत छी, जे हमर जेकाँ लोगक पालक अछि - जे मिशनक गुण-दोषसँ मुख मोड़ि लैत अछि।

परिचारक (भागुरायणक पास पहुँचि) - प्रभु! ई व्यक्ति अछि।

भागुरायण (देखि) - भलामानुस! ई नव आयल अछि वा कोनोक सेवक?

सिद्धार्थक - प्रभु! हम आदरणीय राक्षसक परिचारक छी।

भागुरायण - तखन पारण पत्र बिना शिविरसँ केनाय निकलैत छी?

सिद्धार्थक - हमर कार्यक तात्कालिकता अछि।

भागुरायण - कोनो कार्यक तात्कालिकता एहन होइत जे राजादेशक अवज्ञा करा देइत?

मलयकेतु - मित्र भागुरायण! पत्र लाऊ।

भागुरायण (हाथसँ पत्र लैत) - ई पत्र अछि।

(मुद्रा देखि) - एकर मुद्रामे 'राक्षस' अङ्कित अछि।

मलयकेतु - खोलू, पन्ना पसराऊ, हमरा देखाउ।

(भागुरायण पत्र खोलि युवराजकें देखाबैत अछि)

मलयकेतु (पढ़ैत अछि) - "हस्ति" एक निश्चित व्यक्ति एक निश्चित स्थानसँ एक निश्चित स्थानमे एक निश्चित उच्चाधिकारीसँ निवेदन करैत अछि -

"पत्रकर्ताक शत्रुसँ निपटि सत्यवादी अपन सत्य चरित्र सिद्ध केलक। वचनक पालना करैत हुआ ओ आब पत्रकर्ताक मित्रसभकें - जे सँधि करि चुकल अछि - हुनका वचन अनुसार पुरस्कार देनाइ अछि। ई मात्रा तक सन्तुष्ट भेला पर ओ, जकर सेवा करैत अछि, हुनकर शत्रुक नाश करि पत्रकर्ताक वास्तविक सेवा करत। हुनका मध्य ककरो शत्रुक हाथी, ककरो कोष चाही। कोनो दोसरक भूमि चाही। सत्यवादी व्यक्ति एहि बात भुलनिहार नहि अछि। आब पत्रकर्ता हुनका मोन दिलाबैत अछि। ओ आगाँसँ स्वीकार करैत अछि जे पत्रकर्ता द्वारा भेजल तीन आभूषण हुनका प्राप्त भऽ गेल अछि। पत्र प्राप्तकर्ता पत्र सङ्ग पठित तुच्छ उपहार स्वीकार करू। विश्वासपात्र वाहक सिद्धार्थक मौखिक सङ्केत देयत।"

मलयकेतु - ई पत्र केकर अछि, भागुरायण?

भागुरायण - भलामानुस सिद्धार्थक! ई पत्र केकर अछि?

सिद्धार्थक - प्रभु! हम नहि जानैत छी।

भागुरायण - केना? रे धूर्त! अहाँ पत्र लऽ कऽ चलैत छी, आर नहि जानैत छी जे एकर कोन अछि? सभ छोड़, अहाँसँ मौखिक सङ्केत कोन लेत?

सिद्धार्थक (भयसँ काँपैत) - प्रभु, अहाँ।

भागुरायण - हम लेत छी? अहाँ की कहैत छी?

सिद्धार्थक - प्रभु, अहाँ हमरा पकड़लहुँ - हम नहि जानैत की कहू।

भागुरायण (क्रोधित) - अहाँ तुरन्त जानि जाएत।

(परिचारकसँ) - भासुरक! हुनका लऽ कऽ जाउ, आर नीक जेकाँ कोड़ा लगाऊ, जखन तक ओ सभ न कहि देइत।

परिचारक - प्रभुक आज्ञा जेना।

(हुनका संग बाहर जाइत अछि आर पुनः प्रवेश करैत अछि)

प्रभु! जखन हम एहि व्यक्तिको कोड़ा लगाबैत छलहुँ, तखन ओकर काँखसँ मुद्रा सहित ई बक्सा खसि गेल।

भागुरायण (देखि) - एकर मुद्रा सेहो 'राक्षस' अछि।

मलयकेतु - ई निश्चित रूपसँ पत्रक साथक उपहार होयत। एहि मुद्रा सेहो राखू, बक्सा खोलू, हमरा देखाउ।

भागुरायण बक्सा खोलि युवराजकें देखाबैत अछि।

मलयकेतु (देखि) - अरे! ई ओहि आभूषण अछि जे हम अपन शरीरसँ निकालि राक्षसक पठौने छलहुँ।

ई स्पष्ट अछि। पत्र प्राप्तकर्ता चन्द्रगुप्त होयत।

भागुरायण - सभ संशय तुरन्त समाप्त होयत।

(परिचारकसँ) - भलामानुस! हुनका फिनाकोड़ा लगाऊ।

परिचारक - प्रभुक आज्ञा जेना।

(बाहर जाइत अछि आर सिद्धार्थक संग घुरि अछि)

कोड़ा लगाएला पर ई व्यक्ति कहैत अछि जे ई बात युवराजकें स्वयं कहत।

मलयकेतु - तँ कहू।

सिद्धार्थक (युवराजक चरणमे खसि) - हम युवराजसँ अनुरोध करैत छी जे हमरा सुरक्षाक आश्वासन दिअ।

मलयकेतु - जे स्वतन्त्र नहि अछि, ओ सुरक्षित अछि। आगाँ कहू, भलामानुस!

सिद्धार्थक - युवराज कृपा करि सुनू। आदरणीय राक्षस हमरा ई पत्र देलथिन आर चन्द्रगुप्तक पास भेजलथिन।

मलयकेतु - आब हम मौखिक सङ्केत जानबाक चाहैत छी।

सिद्धार्थक - प्रभु! मन्त्री हमरा कहलथिन कि मौखिक सन्देश ई अछि -

"कुलूतक राजा चित्रवर्मा, मलय देशक राजा सिंहनाद, काश्मीरक राजा पुष्कराक्ष, सिन्धुदेशक राजा सिन्धुशेण, आर पारसिकक राजा मेघाक्ष - ई पाँच म्लेच्छ प्रमुख हमर प्रिय मित्र अछि। हुनका मध्य पहिल तीन मलयकेतुक भूमि चाहैत अछि; दोसर दू हुनकर हाथी आर कोष चाहैत अछि। एहि लेल युवराज हुनका वचन अनुसार देल जाए। चाणक्यक बर्खास्तगी जेकाँ हमरा अति सन्तुष्टि देलक अछि।"

मलयकेतु (मनहि-मन) - ई की अछि? चित्रवर्मा आर ई चारि हमरा विरुद्ध षड्यन्त्र करि रहल अछि? एहन अवश्य होयत। ओ सभ राक्षसक अति निकट अछि, एहि कारण एहन भऽ सकैत अछि।

(प्रकट) - विजया! हम मन्त्री राक्षसक चाही।

द्वारपालिका - प्रभुक आज्ञा जेना।

(प्रस्थान)

/राक्षसक प्रवेश - स्वयं तम्बूमे चिन्तित मुद्रामे, परिचारक संग/

राक्षस (मनहि-मन) - सत्य कहू तँ हमर मन संशयसँ मुक्त नहि अछि, किएक तँ हमर सेनामे चन्द्रगुप्तक बहुत त्यागी सामिल अछि। किएक तँ -

जे सेना लक्ष्यक प्राप्ति हेतु प्रमाणित दक्षता बला अछि, जे सुदृढीकरणसँ शक्तिशाली अछि, जे शत्रु तत्त्वसँ मुक्त अछि, आर एकर संग जे उद्देश्यक अनुकूल अछि - ओ विजय दिलाबैत अछि। मुदा जे सेनापति अप्रमाणित सेना पर निर्भर अछि, जे मित्र आर शत्रु दुनूसँ मिल करैत अछि, आर उद्देश्यक प्रतिकूल अछि - ओ पराजय भोगैत अछि।

मुदा हमरा संशय करबाक आवश्यकता नहि अछि। हमर सेनामे जे त्यागी अछि, ओ पहिनेसँ विश्वास दिलाएल अछि।

(प्रकट) - प्रियम्बदक! युवराजक अनुगामी म्लेच्छ प्रमुखसभकेँ हमर नामसँ कहू जे ओ अपन-अपन क्रमसँ मार्ग ग्रहण करू, किएक तँ हम प्रतिदिन पाटलिपुत्रक निकट आबि रहल छी।

खस आर शबर प्रमुख सेना लऽ कऽ हमर पाछाँ आगाँ बढू। यवन प्रमुख गान्धार प्रमुखक संग केन्द्रक रक्षा करू। शूरवीर शक प्रमुख हूण प्रमुखक संग पाछाँ रहू। आर शेष म्लेच्छ प्रमुखसभ - कुलूतक राजा आदि - युद्ध यात्राक क्रममे युवराज मलयकेतुक आसपास स्थित रहू।

प्रियम्बदक - प्रभुक आज्ञा जेना।

(प्रस्थान)

द्वारपालिका (प्रवेश करैत) - प्रभुक विजय होउ। युवराज प्रभुका बुलाबैत छथि।

राक्षस - भद्र महिला! किछु क्षण प्रतीक्षा करू।

(पुकारैत) - अरे कोनो अछि?

परिचारक (प्रवेश करैत) - आज्ञा करू, प्रभु।

राक्षस - भलामानुस! शकटदासकें कहू कि युवराजक सोझाँ बिना सज्जा जेना उचित नहि अछि, किएक तँ युवराज हमरा आभूषण दे चुकल अछि। अतएव ओ क्रय कयल गेल तीन आभूषण मध्यसँ कोनो एक दिस।

परिचारक - प्रभुक आज्ञा जेना।

(जाइत अछि आर एक आभूषण लऽ कऽ घुरैत अछि)

प्रभु! ई आभूषण अछि।

राक्षस (आभूषण धारण करि उठि) - भद्र महिला! राजमहलक बाट देखाउ।

द्वारपालिका - प्रभु हमर पाछाँ आउ।

राक्षस (मनहि-मन) - सत्ता पद निर्दोष सेवकक लेल सेहो भयक स्रोत अछि।

पहिने स्वामीक भय रहैत अछि। तखन सेवकसभक भय मन पर प्रभाव डालैत अछि। तखनसँ उच्च व्यक्तिसभक स्थिति दुष्ट लोगक द्वेष उत्पन्न करैत अछि। उच्च व्यक्तिक मन उचित पतनक आशंकासँ भरल रहैत अछि।

द्वारपालिका (किछु दूर चलि) - प्रभु, ई युवराज अछि। प्रभु आगाँ बढू।

राक्षस (युवराजक देखि) - आह, ओ एतय अछि।

एकटक दृष्टिसँ सोझाँ देखैत, आर फिनो अपन चिन्तासँ दबल जेना चन्द्रक जेकाँ मुखकें हाथ पर टेकि रहल अछि।

(पास पहुँचि) - युवराजक विजय होउ।

मलयकेतु - आदरणीय मन्त्री! हम अहाँक प्रणाम करैत छी। ई आसन ग्रहण करू।

(राक्षस आसन ग्रहण करैत अछि)

मलयकेतु - हमरा दुःख अछि, आदरणीय प्रभु, जे हम अहाँकें एतेक देरी बाद देखैत छी।

राक्षस - युद्ध यात्राक क्रम निर्धारण करबाक कारण हम युवराजक तिरस्कारक पात्र भेल छी।

मलयकेतु - आदरणीय मन्त्री! हम जानबाक चाहैत छी जे अहाँ युद्ध यात्राक क्रम केना निर्धारित केलहुँ?

राक्षस - प्रभु! ई युवराजक अनुगामी प्रमुखसभक हेतु निर्देश अछि।

(पहिने कहल 'खस आर शबर प्रमुख' आदि पुनः दोहराबैत अछि)

मलयकेतु (मनहि-मन) - अरे! ओहि प्रमुखसभ, जे हमरा मारि चन्द्रगुप्तक सेवा करबाक तैयार छी, हमरा आसपास रहबाक लेल कहल गेल अछि!

(प्रकट) - आदरणीय प्रभु! कोनो पाटलिपुत्रसँ आयल अछि वा गेल अछि?

राक्षस - प्रभु! दूतक आवागमनक आवश्यकता आब समाप्त भऽ गेल अछि। हम स्वयं किछु दिनमे ओतय जाएत छी।

मलयकेतु (मनहि-मन) - हम जानैत छी।

(प्रकट) - जँ एहन अछि तँ आदरणीय मन्त्री ई व्यक्तिको पत्र सहित केनाय भेजलहुँ?

राक्षस (देखि) - अरे! ई तँ सिद्धार्थक अछि।

सिद्धार्थक - हम निवेदन करैत छी, कोड़ा लगाएला पर...

(अधूरा छोड़ि नीचा देखैत अछि)

मलयकेतु - भागुरायण! ओ अपन स्वामीक सोझाँ भय वा लाजसँ नहि कहत। अहाँ स्वयं आदरणीय मन्त्रीकें कहू।

भागुरायण - प्रभुक आज्ञा जेना।

(राक्षसक दिस) - मन्त्री! ई व्यक्ति कहैत अछि जे अहाँ हुनका चन्द्रगुप्तक पास पत्र आर मौखिक सङ्केत सहित भेजलहुँ।

राक्षस - भलामानुस सिद्धार्थक! ई सत्य अछि?

सिद्धार्थक (लज्जासँ) - हँ, कोड़ा लगाएला पर हम एहन कहलहुँ।

राक्षस - ई असत्य अछि। कोड़ा लगाएला पर मनुष्य की नहि कहि देइत?

मलयकेतु - मित्र भागुरायण! हुनका पत्र देखाउ। ओ अपन सेवकसँ मौखिक सङ्केत सुनत।

भागुरायण - मन्त्री! ई पत्र अछि।

राक्षस (मानसिक रूपसँ पढ़ैत) - युवराज! ई शत्रुक रचना अछि।

मलयकेतु - ई आभूषण सेहो आदरणीय मन्त्री द्वारा पत्रक संग उपहार स्वरूप भेजल गेल अछि। तखन ई शत्रुक रचना केना भऽ सकैत अछि?

राक्षस (बारीक देखि) - प्रभु! ई उपहार नहि अछि, ई ओहि आभूषण अछि जे प्रभु हमरा भेजल छलहुँ। हम ई आभूषण सिद्धार्थककेँ हुनकर अति सन्तोषजनक कार्यक पुरस्कार स्वरूप दे देलहुँ।

भागुरायण - एतेक मूल्यवान आभूषण, आर सेहो प्रभुक अनुग्रह उपहार, एहन व्यक्तिकेँ देल गेल?

मलयकेतु - आदरणीय मन्त्री पत्रमे लिखैत छी कि सिद्धार्थक मौखिक सङ्केत सेहो देयत।

राक्षस - कोन मौखिक सङ्केत? हम पत्रक सेहो अस्वीकार करैत छी।

मलयकेतु - तखन एकर मुद्रा केकर अछि?

राक्षस - चतुर जालसाज मुद्रा सेहो बना सकैत अछि।

भागुरायण - प्रभु! मन्त्री ठीक कहैत छी।

(सिद्धार्थकसँ) - भलामानुस! ई पत्र के लिखलक?

(सिद्धार्थक राक्षसक दिस असहाय देखि चुप रहैत अछि)

भागुरायण - भलामानुस! फिना कोड़ा खाबाकसँ बचबाक चाही तँ उत्तर देयू।

सिद्धार्थक - शकटदास लिखलथिन, प्रभु।

राक्षस - जँ शकटदास लिखलथिन, तँ हमर लिखल जेकाँ।

मलयकेतु - विजया! हम शकटदासकेँ चाही।

भागुरायण (मनहि-मन) - आदरणीय चाणक्यक गुप्तचरसभ कोनो संदिग्ध परिणामक प्रस्ताव नहि करैत। हम ई काज करब।

(प्रकट) - प्रभु! शकटदास मन्त्री राक्षसक सोझाँ कदापि नहि मानत कि ई हुनकर लिखल अछि। एहि लेल हुनकर दोसर कोनो लिखल मंगाएल जाए। हस्ताक्षरक समानता स्वयं निर्णय करि देयत।

मलयकेतु (विजयासँ) - ओना करू।

भागुरायण - प्रभु! मुद्रिका सेहो मंगाएल जाए।

मलयकेतु (विजयासँ) - दुनू लाऊ।

द्वारपालिका - प्रभुक आज्ञा जेना।

(जाइत अछि आर घुरि अछि)

प्रभु! ई शकटदासक लिखल अछि, आर ई मुद्रिका अछि।

मलयकेतु (दुनूक तुलना करैत) - अक्षर सर्वथा समान अछि।

राक्षस (मनहि-मन) - हँ, अक्षर सर्वथा समान अछि।

की शकटदास, जे नश्वर सम्बन्धसँ प्रेम करैत अछि, अमर कीर्तिसँ नहि, अपन पत्नी-पुत्रक मिलनक लालसा रखैत अहो, स्वामि भक्ति भुलि गेल?

कोनो सन्देह नहि अछि।

ई मुद्रिका ओ अपन अङ्गुलीमे धारण करैत अछि। ई सिद्धार्थक हुनकर मित्र अछि। अतएव ई षड्यन्त्र सूचक पत्र निश्चित रूपसँ हुनकर अछि - जे हुनकर दोसर लिखलसँ प्रमाणित अछि। स्पष्ट अछि जे शकटदास अपन प्रिय सम्बन्धीसभक मिलनक लालसासँ स्वामीक प्रेम त्यागि, विरोध पैदा करबामे निपुण शत्रुसभसँ मिलि ई नीच कार्य केलक।

मलयकेतु (राक्षसक दिस देखि) - आदरणीय मन्त्री! अहाँ अपन पत्रमे लिखैत छी जे अहाँ आदरणीय द्वारा भेजल तीन आभूषण प्राप्त केलहुँ। की ई हुनका मध्यसँ एक अछि?

(बारीक देखि, (मनहि-मन) - ई ओहि आभूषण अछि जे हमर पिता पहिनन्थिन।

(प्रकट) - आदरणीय मन्त्री! ई आभूषण अहाँ कियाँ प्राप्त केलहुँ?

राक्षस - हम ई क्रय केलहुँ।

मलयकेतु - विजया! अहाँ ई आभूषण पहिचानैत छी?

द्वारपालिका (बारीक देखि उच्छ्वास लैत) - कोना नहि पहिचानत, प्रभु? ई आभूषण सम्राट पार्वतेश्वर पहिनन्थिन।

मलयकेतु (उच्छ्वास लैत) - हाय! पिता!

अहाँ जे हमर वंशक आभूषण छलाह, ई आभूषण - जे अहाँक योग्य छल - अहाँ धारण करैत छलाह। ई आभूषणसँ सज्जित भऽ अहाँ शरद सन्ध्या जेकाँ देखावैत छलाह - जे तारासँ जडित, अहाँक मुख चन्द्र जेकाँ दमकैत छल।

राक्षस (मनहि-मन) - ओ कहलक पार्वतेश्वर पहिनन्थिन? तँ ई आभूषण हमरा ओहि व्यापारी बेचने छलाह, जे निश्चित रूपसँ चाणक्य द्वारा भेजल गेल छल।

मलयकेतु - आदरणीय मन्त्री! जे आभूषण हमर पिता पहिनन्थिन, आर बादमे चन्द्रगुप्तक हाथ लागल छल, ओ क्रयसँ केना प्राप्त भऽ सकैत अछि? सम्भव अछि -

अधिक लाभक लोभसँ चन्द्रगुप्त अहाँकेँ ओ आभूषण बेचने छल, आर अहाँ क्रूरतापूर्वक हमरे मूल्य चुकौलहुँ।

राक्षस (मनहि-मन) - केना सप्रमाण लगाएल गेल अछि आरोप! पत्रक अस्वीकार करब उचित नहि होइत, किएक तँ एकर मुद्रा हमर अछि। आर कोनो केना विश्वास करत कि शकटदास हमर विश्वासघात केलक? तखन फिनो कोनो केना सम्भव समझत कि मौर्य राजा आभूषण पैसा लेल बेचलक? अतएव एहि परिस्थितिमे एक मात्र उचित उत्तर होइत - अपराध स्वीकार करब।

मलयकेतु - हम आदरणीय मन्त्रीसँ पूछैत छी -

राक्षस - आदरणीयसँ पूछू, युवराज! हम आब आदरणीय नहि छी।

मलयकेतु -

मौर्य अहाँक पूर्व स्वामीक पुत्र अछि, जकर अहाँ परम अधीनता करबाक चाही, आर हम अहाँक मित्रक पुत्र छी, जे अहाँक परम अधीनता करैत छी। अहाँ हुनकर आज्ञाक पालन करबाक चाही, आर हम अहाँक आज्ञाक पालन करैत छी। ओ अहाँकें जे दैत अछि देयत, हम अहाँसँ जे पाबैत छी पाबैत छी। हुनकर मन्त्री पद सेवा होयत, हमर सेवा सम्मानित स्वतन्त्रता। तखन अहाँक कोनो बड़ हित अछि जे एहन नीच कार्य करि रहल छी?

राक्षस - युवराज! ई उल्टि बात अछि। आरोपक शब्दे निर्णय देयत अछि।

(पुनः मौर्य अहाँक पूर्व स्वामीक पुत्र... 'आदि कहैत अछि, सर्वनाम परिवर्तित करि)

मलयकेतु (पत्र आर आभूषण कोषक दिस इशारा करि) - तखन ई सभ केकर कार्य अछि?

राक्षस (उच्छ्वास लैत) - ई भाग्यक कार्य अछि।

एहि भाग्य हमर बुद्धिमान, कुलीन, गुणग्राही स्वामी राजा नन्दक हत्या केलक - जकर दृष्टिमे हम - एक तुच्छ सेवक होएतो - राजपुत्रसभसँ वञ्चित नहि छलहुँ। ई सभ ओहि दुष्ट भाग्यक अगम्य कार्य अछि, जे मनुष्यक प्रयासक विफल करैत अछि।

मलयकेतु (क्रोधित) - की? अखनो छुपाबैत छी? ई भाग्यक कार्य अछि, लोभक नहि? रे नीच कृतघ्न!

अहाँ पहिने हमर पिताक - जे अहाँ पर विश्वास केनए छलाह - विषकन्याक द्वारा हत्या केलहुँ, आर आब धिक्कार अछि! अहाँ हमरा - जे अहाँकें राजमन्त्रीक सम्मान देलहुँ - हमरा मांस लेल शत्रुकें बेचैत छी!

राक्षस (मनहि-मन) - ई कहैत छी - "फोड़ा पर व्रण"।

(प्रकट) - हम पार्वतेश्वरक हत्याक निर्दोष छी।

मलयकेतु - तखन हमर पिताक हत्या के केलक?

राक्षस - भाग्यसँ पूछू।

मलयकेतु - हम भाग्यसँ नहि, क्षणक जीवसिद्धिसँ पूछब!

राक्षस (मनहि-मन) - धिक्कार! जीवसिद्धि सेहो चाणक्यद्वारा वशमे करल गेल! हाय! शत्रु गुप्तक गुप्त रहस्य जानि गेल!

मलयकेतु - भासुरक! सेनापति शिखरसेनक ई आदेश पहुँचा देय -

"कुलूतक राजा चित्रवर्मा, मलय देशक राजा सिंहनाद, काश्मीरक राजा पुष्कराक्ष, सिन्धुदेशक राजा सिन्धुशेण, आर पारसिकक राजा मेघाक्ष - ई पाँच प्रमुख, जे राक्षसक मित्रता कयलक, हमरा मारि चन्द्रगुप्तक सेवा करबाक प्रस्ताव रखैत अछि। हुनका मध्य पहिल तीन हमर राज्य चाहैत अछि। हुनका गहर गङ्गामे जीवित गाड़ि देल जाए। दोसर दू हमर हाथी दल चाहैत अछि। हुनका हाथीसँ मारि देल जाए।"

परिचारक - प्रभुक आज्ञा जेना।

(प्रस्थान)

मलयकेतु - राक्षस! हम अन्यायी राक्षस नहि छी; हम मलयकेतु छी। जाउ, आर पूर्ण रूपसँ चन्द्रगुप्तक सेवा करू। देखू -

हम विष्णुगुप्त आर चन्द्रगुप्तकें अहाँ सहित - जे हमरा आक्रमण करबाक आयल छी - तुरन्त नष्ट करि सकैत छी, जेना दुष्ट नीति धर्म, अर्थ आर कामक नाश करैत अछि। भागुरायण! आब देरीक आवश्यकता नहि अछि। हमर सेना एहि घड़ी पाटलिपुत्र पर चढ़ि करि ओकर घेराबन्दी करू।

हमर सेनाक घोड़ाक खुरक धूल, हाथीक मद धारासँ पृथ्वीसँ उड़ि, शत्रुक माथि पर गिरत, गौड़ स्त्रीसभक गालकें - जे लोध्र पुष्प परागसँ श्वेत छी - काला करैत, आर हुनकर काला घुंघराला केशक कान्ति धूमिल करैत।

(मलयकेतु आर भागुरायण सहित सेवकसभक प्रस्थान)

राक्षस (व्याकुल होइत) - हाय मोही! ओ सभ - चित्रवर्मा आर चारि - सेहो मारल गेल!

ई की अछि? राक्षस जे किछु करैत अछि, ओ मित्रक नाश करैत अछि, शत्रुक नहि!

तखन हम दुर्भाग्यशाली मनुष्य की करू?

की प्रायश्चित्त वनमे जाएब? नहि, हमर प्रतिशोधी मन प्रायश्चित्तसँ शान्त नहि होयत।

की हमर स्वामी नन्दक पाछाँ परलोक जाएब? नहि, शत्रु जीवित रहैत एहन करब स्त्री जेकाँ होयत।

की तखन तरुआरि एक मात्र साथी बनाए शत्रु सेना पर टूटि पडू? नहि, ई सेहो उचित नहि होयत, किएक तँ हमरा चन्दनदासक मुक्ति कराबाक उत्सुक हृदय एहिसँ रोकत। जँ नहि करत तँ कृतघ्नता होयत।

(राक्षसक प्रस्थान)

/प्रवेश: सिद्धार्थक - मूल्यवान उपहारसभसँ सज्जित, प्रसन्न मुद्रामे/

सिद्धार्थक -

कृष्णक गौरव होउ, जे काला बादल जेकाँ केशी नामक राक्षसक नाश केलक। चन्द्रगुप्त चन्द्रक सेहो गौरव होउ, जे मनुष्यक नेत्रक आनन्दित करैत छथि।
आर सभसँ अधिक आदरणीय चाणक्यक नीतिक गौरव होउ, जे विजय कार्यक पूर्ण केलक, जकर द्वारा शत्रुक सर्वनाश भऽ गेल।

आब हम बहुत दिन बाद अपन प्रिय मित्र समृद्धार्थकक भेंट करब।

(किछु कदम चलि आगाँ देखैत अछि)

/समृद्धार्थकक प्रवेश/

समृद्धार्थक -

भाग्य मनुष्यकें तखन पीड़ा देइत अछि जखर ओ अपन प्रिय मित्रसँ बिछुड़ल रहैत अछि - मद्यपान आर उत्सव परिवारिक समागममे पीड़ादायक स्मृति सदा सतावैत अछि।

हम सुनैत छी जे हमर प्रिय मित्र सिद्धार्थक मलयकेतुक शिविरसँ आबि पहुँचल अछि। हम हुनका खोजब।

(किछु कदम चलि आगाँ देखैत अछि)

अरे! ई सिद्धार्थक अछि।

सिद्धार्थक (समृद्धार्थकक पास बढि) - मित्र! आशा अछि अहाँ कुशल छी?

(दुनू गले मिलैत अछि)

समृद्धार्थक - जखन अहाँ आबि हमरा घर नहि आवैत छी, यद्यपि अहाँक आज प्रातः आगमन भऽ गेल, तखन कुशल केना भऽ सकैत अछि?

सिद्धार्थक - मित्र! हमरा क्षमा करू। ज्योंहि आदरणीय चाणक्य हमरा देखलथिन, तत्काल हमरा आदेश देलथिन - "अरे सिद्धार्थक! जाउ आर हर्षक समाचार महाराज आदरणीय चन्द्रकें सुनाउ।" एहि लेल हम हुनका समाचार सुनौलहुँ, आर एहि कारण ई राजसी उपहार प्राप्त केलहुँ। तत्पश्चात सीधा हमर प्रिय मित्रक भेंट करबाक लेल अहाँक घर आबि पहुँचलहुँ।

समृद्धार्थक - मित्र! जँ हम सुनि सकैत छी, तँ ओ हर्षक समाचार की छल जे अहाँ आदरणीय चन्द्रकें सुनौलहुँ?

सिद्धार्थक - मित्र! एहन की अछि जे अहाँ नहि सुनि सकैत छी? बस सुनू।

दुष्ट मलयकेतु, आदरणीय चाणक्यक राजनीतिक चालसँ भ्रमित भऽ, राक्षसकें निकालि देलक, आर तुरन्त चित्रवर्मा आदि पाँच प्रमुख म्लेच्छ प्रमुखसभक हत्या करि देलक। तखन शेष प्रमुख, हुनका विचारहीन आर क्रूर देखि, शिविर छोड़ि अपन-अपन क्षेत्रमे चलि गेल, आर हुनकर सेना सेहो - जे अचानक भयभीत आर शीघ्र प्रस्थान करबाक इच्छुक छल - ओहि प्रकार चलि गेल। तत्पश्चात भद्रभट, पुरुदत्त, दिङ्गरात, बलगुप्त, राजसेन, भागुरायण, रोहिताक्ष आर विजयवर्मा मलयकेतुकें पकड़ि लेलक।

समृद्धार्थक - मित्र! लोकमे चर्चा अछि जे भद्रभट आर हुनकर साथी, हमर प्रभु आदरणीय चन्द्रसँ असंतुष्ट होइ, मलयकेतुक सेवामे प्रविष्ट भऽ गेल छल। तखन ई की भऽ गेल? एक प्रकारसँ शुरू, दोसर प्रकारसँ समाप्त - जेना अनाड़ी नाटककारक नाटक!

सिद्धार्थक - मित्र! आदरणीय चाणक्यक तरीका अगम्य अछि, भाग्यक तरीका जेकाँ। हम केवल नतमस्तक छी।

समृद्धार्थक - बिना कहू, तखन आगाँ की भेल?

सिद्धार्थक - तत्काल आदरणीय चाणक्य चुनल सैनिकक बड़ दल लऽ कऽ बाहर निकललथिन, आर बिना प्रमुख रहल सम्पूर्ण मलेच्छ सेनाक कब्जा करि लेलथिन।

समृद्धार्थक - ओ सेना कतय अछि, मित्र?

सिद्धार्थक - ओ आबि रहल अछि। सुनू -

हाथी - जे जलधारा बला बादल जेकाँ देखावैत अछि - हाथी मदसँ प्रसन्न होइ गर्जन करैत अछि। देखू! घोड़ा - सज्जित साज-सामानसँ युक्त - कोड़ा लगबाक भयसँ अपन पाछिला भाग काँपैत उछलैत अछि।

समृद्धार्थक - ई सभ ठीक अछि, मित्र! मुदा आदरणीय चाणक्य, जे सार्वजनिक रूपसँ एहन निर्विवाद रूपसँ मन्त्री पद त्यागि चुकल छल, पुनः ओहि पद पर केना पहुँचल?

सिद्धार्थक - आब अहाँ आदरणीय चाणक्यक नीतिक भूलभुलैया सुलझाबाक चाहैत छी, जे मन्त्री राक्षस सेहो नहि सुलझा सकल - आर अहाँ साधारण बुद्धि बला अहाँ!

समृद्धार्थक - मित्र! मन्त्री राक्षस अखन कतय अछि?

सिद्धार्थक - हुनकर कथा एहन अछि - ओ तत्काल मलयकेतुक शिविर छोड़ि, उदुम्बर नामक गुप्तचरक पाछाँ करैत, एहि नगरक दिस घुरल। ई बात आदरणीय चाणक्य कहलथिन।

समृद्धार्थक - मित्र! जे प्रबल संकल्पसँ नन्द साम्राज्य पुनः प्राप्त करबाक निकलल छल, ओ मन्त्री राक्षस अपन उद्देश्य बिना पाटलिपुत्र घुरि किहाँ आबि रहल अछि?

सिद्धार्थक - मित्र! मोन अछि चन्दनदासक प्रति हुनकर प्रेम।

समृद्धार्थक - तँ अहाँ आशा करैत छी जे चन्दनदास मुक्त होयत?

सिद्धार्थक - ओ दुर्भाग्यशाली व्यक्तिक मुक्ति केना भऽ सकैत अछि? आदरणीय चाणक्यक आदेश अछि जे हम दुनू तत्काल हुनका अधिक स्थानमे लऽ जाएब आर ओकर सूली चढ़ा देब।

समृद्धार्थक (क्रोधित) - आदरणीय चाणक्य चाण्डाल (सूली चढ़ाबिहारी) पर सवार भऽ गेल छथि जे हमरा ई पापक काज करबाक आदेश देइत छथि?

सिद्धार्थक - मित्र! ई संसारमे जे प्राण प्यार अछि, आदरणीय चाणक्यक आदेशक कोनो विरोध करि सकैत अछि? आओ एहि लेल हम चाण्डालक वेश धारण करि चन्दनदासकेँ अधिक स्थान पर लऽ चलू।

(दुनूक प्रस्थान)

इति विष्कम्भक (अन्तराल)

/रस्सी हाथमे लऽ एक व्यक्तिक प्रवेश/

व्यक्ति -

चाणक्यक नीति रूपी रस्सीक गौरव होउ, जे षड्गुणक डोरसभसँ गुँथलाक कारण बहुत मजबूत अछि, आर राजनीतिक चालसभक शृङ्खलासँ बनल फन्दासँ युक्त अछि, जे शत्रुकेँ पकड़बाक लेल तैयार अछि।

(किछु दूर चलि चारिहू दिस देखैत अछि)

ई ओहि स्थान अछि, जे गुप्तचर उदुम्बर द्वारा आदरणीय चाणक्यकेँ बतौल गेल छल, जतय आदरणीय चाणक्यक आदेशानुसार हम मन्त्री राक्षसकेँ देखब।

(आगाँ देखैत अछि)

अरे! ई मन्त्री राक्षस अछि। ओ एहि दिस अपन मुख ढकि आबि रहल अछि। हम ई वीरान उद्यानक वृक्षसभक पाछाँ छिपि जाएब आर देखब कि ओ कतय बसैत अछि।

(ओ जाइत अछि आर वृक्षसभक पाछाँ छिपि जाइत अछि)

/राक्षसक प्रवेश - तरुआरि सहित, वैसहि जेना वर्णन कयल गेल अछि/

राक्षस (नोर सहित) - हाय! केना दुःखद अछि!

राजलक्ष्मी, अपन स्वामीसँ वञ्चित भऽ सशंक होइ, दोसर स्वामी खोजि लेलक, आर जनता, अपन प्रेम भुलि, हुनकर संग चलि गेल, जेना बालक पुनर्विवाहित माताक अन्धानुकरण करैत अछि। विश्वासपात्र अनुयायी सेहो, अपन वीर प्रयासक फल नहि पाबि, उद्योगक जुआ छोड़ि देलक - आर कोनो गति नहि? शरीरक अङ्ग बिना मस्तक लम्बा समय धरि नहि टिकैत।

तहिना -

जेना बेशर्म वृषाल स्त्री, राजा नन्दकेँ - जे कुलीन वंशक छलाह - अचानक छोड़ि, वृषाल चन्द्रगुप्तकेँ वरण करि ओहिसँ चिपटि गेल अछि। हम एतय की करि सकैत छी? केओ प्रयास करू, भाग्य शत्रु जेकाँ हमर प्रयासक विफल करैत अछि।

किएक तँ -

जखन सम्राट नन्द अकस्मात् परलोक सिधारलाह, तखन हम पर्वत पर्वतराज शक्तिशाली प्रमुखक सहायतासँ प्रयास केलहुँ; जखन ओ मारल गेलाह, तखन हुनकर पुत्रक सहायतासँ प्रयास केलहुँ; मुदा विफलता हमर भाग्यमे छल। निश्चय नन्द परिवारक शत्रु भाग्य अछि, ब्राह्मण चाणक्य नहि।

मलयकेतुक केना दुःख करू जे ओ विवेकशून्य भेल!

हम राक्षस - स्वस्थ सशरीर, अपन मृत स्वामीक सेवा करैत - शत्रुसँ सन्धि केना करितहुँ? एहि प्रकार विवेकशून्य म्लेच्छ सभ किछु नहि देखलक। आश्चर्य नहि अछि - भाग्य द्वारा विनाशक मुखमे जकर मृत्यु निश्चित अछि, ओकर बुद्धि सभ किछु विपरीत देखैत अछि।

एहि लेल अखन सेहो ओ शत्रुक हाथ पड़ि मरत, मुदा राक्षस चन्द्रगुप्तसँ सन्धि नहि करत। किएक तँ अपन स्वार्थ हेतु वचन तोड़ब अति बड़ कलंक अछि, मुदा शत्रु द्वारा पराजित भेलमे कोनो कलंक नहि अछि।

(नोर सहित चारिहू दिस देखैत अछि)

ई पाटलिपुत्रक ओहि भाग अछि, जे सम्राट नन्दक विचरणसँ पवित्र भेल अछि।

एहि स्थान पर सम्राट पहिने घोड़ा पर सवार, लगाम ढीला छोड़ि, धनुष तानि चलैत लक्ष्य पर बाण मारैत छलाह। उद्यानक ओ क्षेत्रमे ओ रुकैत छलाह, आर ओतय वार्ता करैत छलाह। पाटलिपुत्रक ई भाग, आब हुनका बिना एहन चोरी चुपचाप देखैत, हमरा अति दुःखी करैत अछि।

आब हम दुर्भाग्यशाली कतय जाएब?

(चारिहू दिस देखैत अछि)

बिना कहू, हमरा मोन आयल। ई वीरान उद्यान अछि। हम ओतय जाएब आर कोनोसँ चन्दनदासक समाचार सुनब।

कोनो अपन भलाई-बुराई देखि सकैत अछि।

हम जे पहिने राजा जेकाँ शानसँ, हजार प्रमुखसभसँ घिरल, नगरक जनता द्वारा नवीन चन्द्र जेकाँ अङ्गुलीसँ देखाएल, नगरसँ निकलल छलहुँ, आज उल्टा ओहि नगरक ई उजाड़ उद्यानमे चोर जेकाँ डरसँ अकेला हडबडीमे प्रवेश करैत छी, सभ प्रयासमे विफल!

मुदा जे महान राजाक कृपासँ हम ओ सम्मान पाएत छलहुँ, ओ नहि रहल।

(उद्यानमे प्रवेश करि चारिहू दिस देखैत अछि)

हाय! करुण दृश्य!

ई वीरान उद्यान शोचनीय दिसैत अछि।

जेना परिवार - जकर कार्य विशाल छल - नष्ट भेल। जेना महल - जकर भवनसभ विशाल छल - ध्वस्त भेल। जेना सज्जनक हृदय - जे मित्र विनाशक शोकसँ जरि गेल - ओ तालाब सूखि गेल। जेना राजनीतिज्ञक योजना - जे प्रतिकूल भाग्यसँ निष्फल भेल - ई वृक्ष फलहीन अछि। आर जेना मूर्खक मन दुष्ट नीतिसँ ग्रस्त अछि - भूमि घाँससँ भरल अछि।

तहिना -

सर्पसभ, उच्छ्वासक रूपमे निःश्वास छोड़ैत, एतय वृक्षसभक डारक कटल भाग पर नागकञ्चुक टुकड़ासँ पट्टी बाँधैत अछि, जे बड़े बड़े तिखण कुल्हाड़ीसँ काटल गेल अछि, आर परेवाक कूजन रूपी पीड़ाक क्रन्दन निकालैत अछि। ओ हुनकर दुःखमे सहानुभूति वश - किएक तँ ओ एकरासँ घनिष्ठतापूर्वक रहैत छल - ई करैत अछि।

ईसँ अलग ई वृक्ष -

बुरा दिन देखि दुर्दशाग्रस्त भेल अछि, आर छायाक हानिसँ उदास दिसैत अछि, जेना ओ श्मशान जाएबाक तैयारी करैत छथि - अपन प्रबल शोकसँ अन्तर जरि, सुखाबाक क्रिया तीव्र करि देबाक कारण।

आब हम अपन पतन-अनुकूल ई टूटल पाथरक आसन पर किछु विश्राम करब।

(बैसैत अछि आर सुनैत अछि)

हम की सुनैत छी? ई अचानक कोन शोर अछि?

ई नगाड़ा, भेरी आर शङ्खक ध्वनि, जे सुनबिहारीक कान ध्वस्त करि देइत अछि, ओ एतेक तीव्र अछि जे महलसभ द्वारा तुरन्त परावर्तित होइत अछि, जेना आकाशक विस्तार मापबाक उत्सुकतासँ दूर तक पसरैत अछि।

(किछु विचार करि)

हम समझलहुँ। ई बताबैत अछि कि राज्य - कि कीर्ति - मलयकेतुक कैद करबाक - (पीड़ासँ तोड़ि) हर्षित अछि।

(उच्छ्वास लैत)

हाय मोही!

हमरा शत्रुक राज्याभिषेकक सूचना सुनबाक आर दृश्य देखबाक पड़ल। आब मोन अछि भाग्यक प्रयास हमरा ओकर पूर्ण अनुभव कराएत।

[व्यक्ति] (मनहि-मन) - ओ बैसि गेल। आब हम ओहि प्रकार करब जेना आदरणीय चाणक्य हमरा निर्देश देलथिन।

(ओ राक्षसक देखैत फन्दा अपन गर्दनमे डालैत अछि, जेना हुनका नहि देख रहल होइत)

राक्षस (देखि) - ई की? ओ व्यक्ति आत्महत्या करैत अछि। निश्चय ओ सेहो हमर जेकाँ दुःखी होयत।

बिना कहूँ, हम हुनका कहब।

(पास पहुँचि) - भलामानुस! अहाँ की करैत छी?

व्यक्ति (उच्छ्वास लैत) - हम जेना दुर्भाग्यशाली, प्रिय व्यक्तिक मृत्युसँ दुःखी होइ, ओहि काज करि रहल छी।

राक्षस (मनहि-मन) - हम पहिनहि समझलहुँ जे ओ हमर जेकाँ दुःखी अछि।

(प्रकट) - अहाँ दुःखमे हमर समान छी। एहि लेल जँ ई कोनो व्यक्तिगत रहस्य वा निजी आपदा नहि अछि, तँ हम सुनबाक चाहैत छी।

व्यक्ति - ई कोनो व्यक्तिगत रहस्य वा निजी आपदा नहि अछि, प्रभु। मुदा हम आत्महत्यामे देर सहन नहि करि सकैत छी। प्रिय मित्रक मृत्यु हमरा शोकाकुल करैत अछि।

राक्षस (उच्छ्वास लैत(मनहि-मन) - हाय मोही! ई व्यक्ति हमरासँ श्रेष्ठ अछि, किएक तँ हम अपन मित्रक पीड़ाक प्रति एतेक उदासीन छी!

(प्रकट) - हम सुनबाक चाहैत छी, किएक तँ ई व्यक्तिगत रहस्य वा निजी आपदा नहि अछि।

व्यक्ति - अहाँ हमरा अति दबाव देइत छी, प्रभु। एहि लेल हम अहाँकें बताबैत छी।

एहि नगरमे जिष्णुदास नामक धनी मणिकार रहैत अछि।

राक्षस (मनहि-मन) - जिष्णुदास चन्दनदासक अन्तरङ्ग मित्र अछि, हम जानैत छी।

व्यक्ति - हमर ओ प्रिय मित्र -

राक्षस (मनहि-मन)प्रसन्न होइत - अरे! ओ हुनका 'प्रिय मित्र' कहलक। ओ घनिष्ठ रूपसँ सम्बन्धित अछि। एहि लेल ओ चन्दनदासक बारेमे जानैत होयत।

व्यक्ति - जे किछु पास छल, सभ गरीब लोगकें दि नगर तुरन्त छोड़ि देलक, आगिमे झुलि मरबाक इच्छासँ। एहि लेल हम हुनकर दुःखद मृत्यु सुनबाक पहिने आत्महत्या करबाक लेल ई वीरान उद्यानमे आयल छी।

राक्षस - अहाँक मित्र आगिमे कोना झुलैत अछि?

की ओ असाध्य रोगसँ पीड़ित अछि, जे दवाक शक्तिसँ बाहर अछि?

व्यक्ति - नहि।

राक्षस -

की ओ राजाक क्रोधसँ नष्ट भेल अछि, जे अग्नि आर विष जेकाँ घातक अछि?

व्यक्ति - ओ सेहो नहि अछि। चन्द्रगुप्त जनता पर क्रूरता नहि करैत।

राक्षस -

की ओ दोसरक स्त्री पर आसक्तिसँ पीड़ित अछि, जे अगम्य अछि?

व्यक्ति - भगवान पापसँ बचाऊ! ओ एहन अनुचित आचरणक सामर्थ्य नहि रखैत।

राक्षस -

तखन अहाँ जेकाँ, हुनकर कोनो मित्र असहाय अवस्थामे मरि रहल अछि?

व्यक्ति - ठीक तँ एहन अछि, प्रभु।

राक्षस (बेचैनी सँ(मनहि-मन) - चन्दनदास जिष्णुदासक प्रिय मित्र अछि। एहि लेल पूर्वक मृत्यु पश्चात्क आत्महत्याक कारण होयत। एहिसँ हमर हृदयमे किछु बेचैनी होइत अछि, जे हुनकर प्रति स्नेहसँ परिपूर्ण अछि।

(प्रकट) - भलामानुस! हम सेहो अहाँक प्रिय मित्रक उत्तम कार्यक विस्तृत विवरण सुनबाक चाहैत छी।

व्यक्ति - हम दुर्भाग्यशाली आत्महत्यामे अबाध रहि सकैत छी।

राक्षस - भलामानुस! अहाँ सुनबाक योग्य कथा सुनाउ।

व्यक्ति - जखन हम बिना उपाय छी, तँ कहैत छी। सुनू, प्रभु।

राक्षस - भलामानुस! हम ध्यानसँ सुनैत छी।

व्यक्ति - एहि नगरक पुष्प वर्गमे चन्दनदास नामक धनी मणिकार रहैत अछि।

राक्षस (व्यथित होइ(मनहि-मन) - हाय! भाग्य हमर दुःखक जलबन्ध खोलि देलक। हे हृदय! आब अपन धैर्य बटोर। किएक तँ अहाँक समक्ष सुनबाक लेल अति पीड़ादायक बात अछि।

(प्रकट) - हँ, भलामानुस! ओ स्थिर मित्र, महान आत्मा कहल जाइत अछि। हुनकर की बात?

व्यक्ति - ओ एहि जिष्णुदासक प्रिय मित्र अछि।

राक्षस - बिना कहू, आगाँ कहू।

व्यक्ति - एहि लेल जिष्णुदास आज चन्द्रगुप्तसँ एहि निवेदन केलक, जेना प्रेमी मित्रक उचित अछि -

राक्षस - की निवेदन?

व्यक्ति - 'जँ महाराज आज्ञा देयत, हमरा उचित धन राशि अछि। कृपा करि हमर प्रिय मित्र चन्दनदासकँ एकर बदलामे मुक्त करू।'

राक्षस (मनहि-मन) - शाबाश जिष्णुदास! ई मित्रताक प्रमाण अछि।

जे धनक लेल पुत्र माता-पिताक, आर माता-पिता पुत्रक विदेशी जेकाँ हत्या करैत अछि, जे धनक लेल मित्र मित्रसँ अपन स्नेह त्यागि देइत अछि, ओहि धनकँ अहाँ संकटग्रस्त मित्रक लेल समर्पण करबाक प्रस्ताव केलहुँ। अहाँ व्यापारी वर्णमे उत्तम व्यापारी छी। अहाँक ई धन सार्थक भेल।

(प्रकट) - एहन सुनि मौर्य की कहलक?

व्यक्ति - एहन निवेदन पर चन्द्रगुप्त जिष्णुदाससँ कहलक - "हम चन्दनदासकँ धनक लेल कैद नहि केलही, मुदा एहि लेल केलही जे ओ मन्त्री राक्षसक परिवार नहि सौंपैत, जे हम बार-बार माँगैत छी। जँ ओ सौंपि देइत, तँ मुक्ति। अन्यथा मृत्यु।" एहन कहि ओ चन्दनदासकँ अधिक स्थान लऽ जाएबाक आदेश देलक। तखन जिष्णुदास नगर छोड़ि देलक, (मनहि-मन)कहैत - "अपन मित्र चन्दनदासक दुःखद अन्त सुनबाक पहिने हम आगिमे प्रवेश करब।" तत्पश्चात हम सेहो अपन मित्र जिष्णुदासक दुःखद अन्त सुनबाक पहिने आत्महत्या करबाक एहि वीरान उद्यानमे आयल छी।

राक्षस - तखन चन्दनदासक सूली चढ़ा देल गेल?

व्यक्ति - नहि, अखनो सूली नहि चढ़ल। ओकर अन्तिम क्षणमे सेहो बार-बार मन्त्री राक्षसक परिवार सौंपबाक कहल जाइत अछि; बार-बार ओ इन्कार करैत अछि, अपन मित्रक प्रति स्नेहमे अटल; एहि कारण हुनकर मृत्युमे देर होइत अछि।

राक्षस (मनहि-मन)प्रशंसासँ) - शाबाश चन्दनदास! अहाँ सेहो हमर महान मित्र, जे शरणागतक शरण स्थल साबित भेल छी। अहाँने शिबिक नाम सेहो जीत लेलहुँ, जे शरणक रक्षासँ आबैत अछि।

(प्रकट) - शीघ्र जाउ, भलामानुस, आर जिष्णुदासकँ आगिमे प्रवेश करबसँ रोकू। हम चन्दनदासकँ मृत्युसँ बचाएत।

व्यक्ति - प्रभु, केना बचाएत?

राक्षस (तरुआरि निकालि) - एहि साधनसँ - उद्योगक मित्र।

ई तरुआरि, जे बादल रहित गगन जेकाँ वर्णक अछि, जे लड़ाईक प्रेमसँ शरीर पुलकित होइबाक रेखा जेकाँ - उज्ज्वल चमकक धारिया - धारण करैत अछि, जे युद्ध परीक्षामे अपन श्रेष्ठतासँ शत्रुक सामर्थ्य प्रमाणित करि चुकल अछि, ई हमर दाहिना भुजाक प्रिय साथी, मित्रक प्रेमसँ विक्षिप्त हमरा एहि साहसिक कार्यक लेल प्रेरित करैत अछि।

व्यक्ति - प्रभु, हम निश्चयक भाषामे नहि कहि सकैत छी कि अहाँ आदरणीय मन्त्री राक्षस छी - जकर नाम मङ्गलकारी अछि - यद्यपि चन्दनदास नामक धनी मणिकारक प्राणरक्षा अहाँकँ तेना प्रकट करैत अछि, किएक तँ अहाँ दुर्दशाग्रस्त भेल छी। एहि लेल हमरा अनुग्रह करि संशय दूर करू।

(ओ राक्षसक चरणमे गिरैत अछि)

राक्षस - भलामानुस! हम ओहि राक्षस छी साचमे, जे अपन प्रभुक विनाश अपन नेत्रसँ देखलक, अपन मित्रकँ संकटमे लानलक, 'नीच' विशेषण पाएलक, आर अपन नाम दुर्भाग्यशाली बना लेलक।

व्यक्ति (प्रसन्न होइ पुनः चरणमे खसि) - हे भगवान! हम जकर लालसा करैत छलहुँ, ओ हमरा प्राप्त भऽ गेल।

राक्षस - उठू। देर नहि करू। जिष्णुदासकेँ कहू जे राक्षस एहि घड़ी चन्दनदासकेँ मृत्युसँ बचाबैत अछि।

(ओ खिंचल तरुआरि सहित प्रस्थान करैत अछि - ई तरुआरि जे... 'दोहराबैत')

व्यक्ति - हम अनुग्रह चाहब, आदरणीय मन्त्री! हमरा किछु कहनाइ अछि।

पहिने दुष्ट चन्द्रगुप्त आदेश देलथिन कि शकटदासकेँ सूली चढ़ाएल जाए। ओ कोनो द्वारा बधिक स्थानसँ बचा लेल गेल आर बाहर लेल जाएल गेल।

तत्पश्चात दुष्ट चन्द्रगुप्त शकटदासक विरुद्ध अपन क्रोधक ज्वाला - जे धधकि रहल छल - सूली चढ़ाबिहारीक रक्तसँ बुझौलनि, जे पूछल गेल कि केनाय ओ लापरवाही केलक। तखनसँ जँ ओ सोझाँ वा पाछाँ कोनो अजनबी तरुआरि लऽ कऽ देखैत छथि, तँ तत्काल अपन सुरक्षाक चिन्तासँ अपराधीकेँ मारि डालैत छथि। एहि लेल जँ आदरणीय मन्त्री हाथमे तरुआरि लऽ कऽ जाएत, तँ ओ धनी मणिकार चन्दनदासक अन्त शीघ्र करि देयत।

(प्रस्थान)

राक्षस - एहि चाणक्यक नीतिक मार्ग केना दुर्बोध्य अछि!

जँ शकटदास - जे हमरा उपस्थितिमे सज्जालित छल - हमरा तक शत्रुक विश्वासपात्र द्वारा पहुँचाएल गेल, तँ ओ क्रोधसँ सूली चढ़ाबिहारीक हत्या केनाय केलक? जँ एहन नहि छल, तँ ओ पत्र केना बनौलक?

एहि प्रकार विचार पर विचार करैत हमर मन किछु निर्णय पर नहि पहुँचि रहल अछि।

(किछु विचार करि)

ई तरुआरि चलाबैक समय नहि अछि, किएक तँ एहि स्थितिमे सूली चढ़ाबिहारी शीघ्र दण्ड देइत। राजनीतिक योजना समय बितला पर फलित होइत अछि। एतय हुनकर की उपयोगिता? तटस्थ रहबाक मनोवृत्ति सेहो उचित नहि अछि, किएक तँ हमर प्रिय मित्र हमर कारण ई भयानक मृत्यु भोगैत अछि।

अरे, हम देखलहुँ। हम अपन प्राण अर्पित करि हुनका छुड़ाएब।

(ओ तरुआरि दूर फेंकि देइत अछि)

(प्रस्थान)

/प्रवेश: सूली चढ़ाबिहारी वज्रलोमन/

वज्रलोमन - हट्टू, सज्जन! हट्टू! दूर रहू।

हाय रे! जँ अहाँ अपन प्राण, धन, पत्नी आर परिवार बचाबाक चाहैत छी, तँ राजनीतिक रूपसँ अहितकर - जे विष जेकाँ घातक अछि - सँ दूर रहू।

तहिना -

जँ कोनो शारीरिक रूपसँ अहितकर चीजक सेवन करैत अछि, तँ ओ अहाँ बीमार पड़ैत अछि वा मरि जाइत अछि। मुदा जँ कोनो राजनीतिक रूपसँ अहितकर चीजक सेवन करैत अछि, तँ सम्पूर्ण परिवार नष्ट होइत अछि।

जँ अहाँ एकर सत्यता पर सन्देह करैत छी, तँ देखू! चन्दनदास आबि रहल अछि। ओ राजनीतिक रूपसँ अहितकर काज करबाक कारण बधिक स्थान पर लेल जाइत अछि।

(ऊपर देखैत अछि)

अहाँ की कहैत छी, सज्जनसभ? अहाँ पूछैत छी जे हुनकर मुक्तिक कोनो उपाय अछि? हँ, जँ ओ मन्त्री राक्षसक परिवार सौँपि देइत तँ मुक्ति अछि।

(पुनः ऊपर देखैत अछि)

अहाँ की कहैत छी? शरणागतक प्रति मान राखैत ओ अपन बचाओ लेल ई पापक काज नहि करत। तखन निश्चित जानू, सज्जनसभ, ओ मृत्यु भोगत। हुनकर उपचारक उत्सुक पूछताछसँ की लाभ?

/चन्दनदासक प्रवेश - सूली चढ़ाबैक वेशमे, काँध पर शूल लऽ कऽ, हुनकर पत्नी आर पुत्रक संग, सूली चढ़ाबिहारी बिल्ववक्त्रक अनुगमनमे/

पत्नी (नोर सहित) - धिक्कार!

धिक्कार ओहि यमकेँ जे हमरा चोर जेकाँ मराबैत अछि, यद्यपि हमर परिवारमे तनिक सेहो अनौचित्यक सदा भय रहैत अछि।

हँ, दुष्ट लोक पापसँ दूर रहनिहार आर पाप करनिहारक मध्य कोनो भेद नहि करैत। अन्यथा -

धिक्कार अछि शिकारीसभकेँ, जे मृत्युक भयसँ मांस त्यागि घाँस पर जीवित रहनिहार निर्दोष हरिणक हत्या करबाक हठ राखैत अछि।

(चारिहू दिस देखैत) - प्रिय जिष्णुदास! अहाँ हमरासँ केनाय नहि बोलैत छी? हाय, एहन समयमे (एहन अवस्थामे) निकट रहनिहार लोक दुर्लभ होइत अछि।

चन्दनदास (उच्छ्वास लैत) - ओ हमर प्रिय एवं वन्दनीय मित्र अछि। ओ अपन दुःखी मुख नोरसँ भरल नेत्रसँ हमरा देखैत, अपन शरीर घसीटैत घरक दिस जाइत अछि।

बिल्ववक्त्र - श्रीमान् चन्दनदास! अहाँ बधिक स्थान पर पहुँच गेल छी। एहि लेल अपन परिजनसभकेँ पाछाँ हटि जाएबाक कहू।

चन्दनदास - आर्ये! पुत्रकेँ संग लऽ कऽ घुरि जाउ। आगाँ आबैक उचित नहि अछि।

पत्नी (उच्छ्वास लैत) - प्रभु! अहाँ दोसर देश नहि, दोसर लोक जाइत छी। एहि समय सुशील पत्नीक घुरि जेनाइ उचित नहि अछि।

चन्दनदास - आर अहाँक की निश्चय अछि, आर्ये?

पत्नी - स्वामीक पदचिह्नक अनुसरण करि अपन कल्याण करबाक।

चन्दनदास - आर्ये! ई विवेकपूर्ण निर्णय नहि अछि। अहाँकेँ ई बालकक देखभाल करबाक चाही। ओ अनुभवहीन अछि।

पत्नी - भगवान हुनकर रक्षा करू। हे पुत्र! अपन पिताक अन्तिम बेर प्रणाम करू।

पुत्र (चन्दनदासक चरणमे खसि) - पिता! आब हम की करब, जे पितृहीन भेल!

चन्दनदास - पुत्र! चाणक्य रहित देशमे रहब।

बिल्ववक्त्र - श्रीमान् चन्दनदास! शूल गाड़ि देल गेल अछि। आब तैयार होउ।

पत्नी - हाय! कोनो वीर पुरुष हमरा बचाबय बला!

चन्दनदास - आब की कानैत छी, आर्ये? संकटग्रस्तक दया करनिहार राजा नन्द स्वर्ग सिधारि गेलाह।

वज्रलोमन - हे बिल्ववक्त्र! चन्दनदासकें पकड़। हुनकर लोक आपहि हटि जाएत।

बिल्ववक्त्र - करैत छी, वज्रलोमन!

चन्दनदास - भलामानुस! किछु क्षण रुकू। हम अपन पुत्रकें आलिङ्गन करू।

(पुत्रकें आलिङ्गन करैत अछि आर मस्तक सुँघैत अछि)

जखन मृत्यु निश्चित अछि, तँ पुत्र! मित्रक कार्यक निष्ठासँ विचलित नहि होएब, एहि मृत्युक स्वागत करब।

पुत्र - पिता! हमरा ई कहबाक आवश्यकता अछि? ई हमर कुल परम्परा अछि।

वज्रलोमन - आब पकड़, हम कहैत छी।

(सूली चढ़ाबिहारी चन्दनदासकें पकड़ैत छि)

पत्नी (छाती पीटैत) - हाय! कोनो वीर हमरा बचाबय बला!

/राक्षसक प्रवेश - परदा हटाइ भीतर आबि/

राक्षस - माडोड़ोस, भद्र महिला! डरू नहि।

अरे सूली चढ़ाबिहारीसभ! अहाँ चन्दनदासकें नहि मारू।

यमराजक राज्यक बाट रूपी वधूक माल्य हमर गर्दनमे डालू - हमरा, जे पहिने अपन स्वामीक परिवारक विनाश देखलहुँ जेना शत्रुक परिवार होइत; जे अपन प्रिय मित्रक संकटक समयमे आरामसँ रहलहुँ जेना बड़ उत्सवक दिन होइत; आर जे अपन प्राण प्रिय राखलहुँ यद्यपि धोखा देल गेलाक लज्जा सहैत छलहुँ।

चन्दनदास (राक्षसकें देखि उच्छ्वास लैत) - मन्त्री! ई की अछि!

राक्षस - अहाँक उत्तम कार्यक अनुकरण अछि।

चन्दनदास - अहाँ की केलहुँ? अहाँ हमर सभ प्रयास विफल करि देलहुँ।

राक्षस - हम अपन उद्देश्य प्राप्त करैत छी। मित्र, हमरा दोष नहि देब।

(सूली चढ़ाबिहारीसँ)

भलामानुस! दुष्ट चाणक्यकें जा कहू।

वज्रलोमन - की कहू?

राक्षस -

"ई हम छी, जकर कारण ओहि मनुष्यकें - जे पूजनीय अछि - वधक योग्य समझल गेल। हम शिबिक कीर्ति के बहुत क्षीण करि देलहुँ, किएक तँ हम एहि कलियुगमे - जखर मानव प्रवृत्ति विकृत भऽ गेल अछि - अपन जीवन देबाक कीमत पर दोसरक बचाएबाक बहुत बड़ कीर्ति अर्जित केलहुँ, आर अपन श्रेष्ठतासँ बुद्धक उत्तम कार्यकें सेहो अधिक नीक कार्यसँ पीछा छोड़ि देलहुँ।"

वज्रलोमन - हे बिल्ववक्त्र! श्रीमान् चन्दनदासकै लऽ कऽ तँ किछु समय श्मशान भूमिक ओ वृक्षक छायामे प्रतीक्षा कर, जखन तक हम आदरणीय चाणक्यकै निवेदन नहि करैत छी जे मन्त्री राक्षस हमर हाथमे अछि।

बिल्ववक्त्र - ठीक अछि, वज्रलोमन। जेना अहाँ कहैत छी।

(ओ चन्दनदास, पत्नी आर पुत्रकै लऽ कऽ जाइत अछि)

वज्रलोमन - आउ, मन्त्री!

(राक्षसकै संग किछु दूर चलैत अछि)

अरे कोनो द्वारपाल अछि? आदरणीय चाणक्यकै - जे नन्द परिवारक नष्ट करि मौर्य परिवारक स्थापना केलक - कहू।

राक्षस (मनहि-मन) - हाय! एहन स्थितिमे सेहो हमरा ई सुनबाक पड़ि रहल अछि।

वज्रलोमन - हमर हाथमे मन्त्री राक्षस अछि, जकर सभ बौद्धिक संसाधन आदरणीयक चालसभक सोझाँ विफल भऽ गेल।

[चाणक्यक प्रवेश - केवल मुख दृश्यमान, शरीर बारीक कवचसँ ढकल]

चाणक्य - भलामानुस!

के हुनका जे - अपन बड़ ज्वाला वृत्तसँ लाल धधकैत अग्नि - तुरन्त वस्त्रमे बाँधलक? के हुनका जे - सदा चलैत वायुक जालसँ रोकलक? के हुनका जे - हाथीक मदसँ महकनिहार केसर बला सिंहकै पिञ्जरामे बन्द केलक? के हुनका जे - मगर आदिसँ भरल डरावनहार समुद्रकै भुजाक जोरसँ रोकलक?

वज्रलोमन - आदरणीय प्रभु, अहाँ कयलहुँ, जे राजनीतिमे निपुण छी।

चाणक्य - एहन नहि कहू, कहू नन्द परिवारक शत्रु भाग्य कयलक।

राक्षस (मनहि-मन) - अरे! हमर सोझाँ ओ अछि - दुष्ट, नहि नहि, (हमरा कहबाक चाही) आदरणीय कौटिल्य।

ओ समुद्र जेना सम्पूर्ण ज्ञानक खानि अछि। हमर द्वेष मात्र हुनकर गुणकै तुच्छ करैत अछि।

चाणक्य (राक्षसकै देखि प्रसन्न होइत) - ई मन्त्री राक्षस अछि, ओ महान पुरुष -

जे एतेक दिन धरि मौर्य सेनाक सैन्य उपकरणक भारी बोझसँ, आर हमर मस्तिष्कक योजना बनाबाक बोझसँ परेशान करि, निरन्तर जागरण करौलक (सेना आर हमर दुनू के)।

(कवच उतारि राक्षसक पास बढि)

मन्त्री राक्षस! विष्णुगुप्त अहाँकै नमस्कार करैत अछि।

राक्षस (मनहि-मन) - 'मन्त्री' शब्द आब हँसीक पात्र अछि।

(प्रकट) - कृपा करि हमरा नहि छुएब, विष्णुगुप्त। हम चाण्डालक स्पर्शसँ अपवित्र छी।

चाणक्य - मन्त्री राक्षस! ई व्यक्ति चाण्डाल नहि अछि। ई राजाक सेवक अछि। एकर नाम सिद्धार्थक अछि। अहाँ हुनका जानैत छी। ई मित्रताक वेशमे ओ पत्र लिखौलक, जे शकटदासकै द्वारा लिखल गेल छल - शकटदास दुर्भाग्यशाली ओकर बारेमे किछु नहि जानैत छल। ओ दोसर व्यक्ति सेहो राजाक सेवक अछि। एकर नाम समृद्धार्थक अछि।

राक्षस (मनहि-मन) - सौभाग्यवश हमर मन शकटदासक बारेमे संदेहसँ मुक्त भेल।

चाणक्य - संक्षेपमे कहू तँ -

ओ भद्रभट्ट प्रमुख असंतुष्ट लोक, ओ नकली पत्र, ओ उद्धारक सिद्धार्थक, ओ बिक्रीक लेल तीन आभूषण, ओ अहाँक मित्र क्षपणक, ओ वीरान उद्यानक दुःखी व्यक्ति, आर ओ मणिहार सरदारक भयानक यातना - ई सभ वृषलक इच्छासँ कयल गेल छल, अहाँ वीर पुरुषक भेंट करबाक हेतु।

आर वृषाल अहाँकेँ देखबाक लेल आबि रहल अछि। देखू! ओ ओतय अछि।

राक्षस (मनहि-मन) - हम किछु नहि करि सकैत छी। देखैत पड़त।

(राजाक प्रवेश - परिजनसभ सहित)

राजा (मनहि-मन) - जखनसँ आदरणीय गुरुजी बिना कोनो प्रहारक, इतनी भयंकर शत्रु सेनाकेँ पराजित करि देलक, हम किछु लज्जित अनुभव करैत छी।

हमर बाण, जेना शोकसँ मुड़ि गेल मुख बला, किएक तँ हुनकर सहायता बिना इच्छित परिणाम प्राप्तिसँ लज्जित होइ, सदाक लेल तूणीरमे पड़ि रहबाक व्रत पालन करब।

मुदा हमरा एहन नहि कहबाक चाही।

व्यक्ति निश्चयहि अपन धनुष बिना सेहो शत्रुकेँ पराजित करि सकैत अछि, जँ हुनकर आदरणीय गुरु, जे सभ विषयमे सतर्क अछि, राज्यक सभ कार्यमे जागरुक रहैत अछि।

(चाणक्यक पास पहुँचि)

आदरणीय प्रभु! चन्द्रगुप्त अहाँकेँ नमस्कार करैत अछि।

चाणक्य - वृषाल! हमर आशीर्वाद अहाँकेँ भऽ गेल। आब पूजनीय मन्त्री राक्षसकेँ प्रणाम करू।

राजा (राक्षसक पास बढि) - आदरणीय प्रभु! चन्द्रगुप्त अहाँकेँ नमस्कार करैत अछि।

राक्षस (देखि(मनहि-मन) - ओ ई चन्द्रगुप्त अछि -

जे यथासमय राज्य प्राप्त केलक जेना हाथी हाथी दलक नायकत्व प्राप्त करैत अछि - हुनकर श्रेष्ठता बाल्यकालहिसँ प्रकट छल।

(प्रकट) - महाराजक विजय होउ।

राजा - आदरणीय प्रभु!

जखन अहाँ - जे राजनीतिको बृहस्पति समान छी - सावधानीपूर्वक राज्यक व्यवस्था देखत, तखन अहाँ कहू (विचार करू) संसारक कोन अंश हमरा विजेता नहि भऽ सकैत अछि?

राक्षस (मनहि-मन) - मन्त्री पदक सन्दर्भ - कौटिल्यक शिष्य - चन्द्रगुप्त हमरा लगाबैत अछि। नहि, नहि, हमरा एहन नहि कहबाक चाही। ई चन्द्रगुप्तक सरल प्रशंसा अछि। हमर द्वेष हमरा अन्यथा समझाबैत अछि। चाणक्य जे कीर्ति प्राप्त केलक, ओ पूर्णतया उचित अछि। किएक तँ -

एक निर्वुद्धि मन्त्री सेहो, जँ वीर गुण सम्पन्न राजासँ मिलि जाइत अछि, तँ निश्चय कीर्ति प्राप्त करैत अछि। मुदा दुष्ट राजासँ मिलि एक अचूक मन्त्री सेहो, जकरा आश्रय देल गेल अछि, हुनकर पतनक संग नदी किनारक वृक्ष जेकाँ खसि जाइत अछि।

चाणक्य - मन्त्री राक्षस! अहाँ चाहैत छी जे चन्दनदास जीवित रहे?

राक्षस - निस्सन्देह, विष्णुगुप्त।

चाणक्य - तखन ई तरुआरि ग्रहण करू।

राक्षस - नहि, विष्णुगुप्त, ई नहि भऽ सकैत। हम तरुआरि चलाबैक योग्य नहि छी, आर सेहो ओ तरुआरि जे अहाँ चलाबैत छी।

चाणक्य - मन्त्री राक्षस! हम योग्य छी आर अहाँ नहि - ई केना भऽ सकैत अछि? हे प्रतिभाशाली पुरुष, देखू -

हाथी - जेना स्नान, भोजन, क्रीड़ा, पान आर इच्छानुसार निद्राक सुखसँ वञ्चित, सेना सज्जाक सतत बोझसँ पीठ सूजल, घोड़ा - सतत लगाम आर जीनसँ बाँधल होइबाक कारण क्षीण - सभ अहाँक महान पराक्रमक (जे घमण्डी शत्रुक गर्व चूर केनए अछि) कारण (भयसँ) आहत छथि।

मुदा एतेक बात बहुत अछि? जखन तक अहाँ ई तरुआरि नहि लैत छी, चन्दनदास मरि जाएत।

राक्षस - बिना कहूँ, विष्णुगुप्त, हम वश्यता स्वीकार करैत छी। मित्रक प्रेम हमरा सभ किछु करबाक लेल बाध्य करैत अछि।

चाणक्य (प्रसन्न होइ तरुआरि दैत) - वृषाल! हम अहाँकेँ बधाई देइत छी, किएक तँ मन्त्री राक्षस अहाँक प्रति मान राखि तरुआरि ग्रहण केलक।

राजा - चन्द्रगुप्त आदरणीय मन्त्रीक कृपाक पूर्ण ज्ञान रखैत अछि।

परिचारक (प्रवेश करैत) - महाराजक विजय होउ।

आदरणीय प्रभु! मलयकेतु बेड़ीमे द्वार पर अछि, भद्रभट, भागुरायण आर अन्यक संग।

चाणक्य - भलामानुस! मन्त्री राक्षससँ कहूँ। ओ आब एहि सभ विषयक ध्यान राखैत छथि।

राक्षस (मनहि-मन) - आब की करब? ओ कैद भेल, आर हम सलाह देबाक लेल बाध्य। कोनो उपाय नहि।

(प्रकट) - महाराज! ई सर्वविदित अछि जे हम किछु महिना धरि मलयकेतुक दरबारमे रहल छी। एहि लेल हुनकर प्राण दान करल जाए।

(राजा चाणक्यक दिस देखैत अछि - स्वीकृतिक सङ्केत)

चाणक्य - हँ, वृषाल! मन्त्री राक्षसक ई प्रथम प्रार्थना स्वीकार करबाक योग्य अछि।

(परिचारकसँ)

भलामानुस! भद्रभट आर अन्यकेँ हमर नामसँ कहूँ - मन्त्री राक्षसक सलाहसँ, महाराज चन्द्रगुप्त मलयकेतुकेँ हुनकर पैतृक राज्य घुरि करैत छथि। एहि लेल ओ हुनकर संग जाउ, आर हुनकर पुनः स्थापना पर घुरू। सेहो विजयपाल, दुर्गाधिपतिकेँ कहूँ जे महाराज चन्द्रगुप्त - मन्त्री राक्षसक तरुआरि स्वीकार करबाकसँ अति प्रसन्न होइ - चन्दनदास, मणिकार सरदारकेँ समस्त नगरक श्रेणीक परम अध्यक्ष बनाबैत छथि। आर युद्ध-घोड़ा आर युद्ध-हाथीकेँ छोड़ि सभ बन्धन मुक्त करल जाए।

मुदा आब जखन मन्त्री राक्षस सूचक अछि, तखन युद्ध-घोड़ा आर युद्ध-हाथीक केकरो आवश्यकता अछि? एहि लेल युद्ध-घोड़ा आर युद्ध-हाथी सहित सभ बन्धन मुक्त करल जाए।

परिचारक - आदरणीय प्रभुक आज्ञा जेना।

(प्रस्थान)

चाणक्य - आब राजा चन्द्रगुप्त आर मन्त्री राक्षस! मम एहिसँ अधिक अहाँकेँ की भलाई करि सकैत छी, तँ कहूँ।

राजा - एहिसँ अधिक की भलाई अछि?

राक्षस - जँ एखनो अहाँ सन्तुष्ट नहि छी, तँ एहि इच्छाक आशीर्वाद दिअ -

हमर स्वामी अवन्तिवर्मान, जे स्वयम्भू भगवान विष्णु छथि - जे पहिने सृष्टिक रक्षाक हेतु जेना सूकर रूप धारण करि, जलमग्न पृथ्वीकेँ अपन दाँतक अग्रभाग पर धारण केनए छलाह, आर जे आब हमर प्रभुक रूपमे म्लेच्छसभ द्वारा पीड़ित पृथ्वीकेँ अपन भुजा बलसँ रक्षा करैत छथि - ओहि राजा - जकर सभ सम्बन्धी आर आश्रित धन-धान्यसँ सम्पन्न छथि - बहुत दिन धरि पृथ्वीकेँ आनन्दित करूँ!

मन्त्री राक्षसक राजसी मोहर

विशाखदत्तक संस्कृत नाटक मुद्राराक्षसम् राज्यनीति, निष्ठा आ कूटनीतिक संघर्षक नाटकीय आख्यान अछि। चाणक्य चन्द्रगुप्तक शासनकें सुदृढ़ करबाक लेल नन्द-वंशक निष्ठावान मन्त्री राक्षसकें अपन पक्षमे आनबाक योजना रचैत छथि। राक्षसक मित्र चन्दनदासक प्रति अडिग निष्ठा एहि संघर्षकें मानवीय गहराइ दैत अछि।

मूल संस्कृत नाटक: विशाखदत्त

संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद: गजेन्द्र ठाकुर

सम्पादक: गजेन्द्र ठाकुर, विदेह — प्रथम मैथिली पाक्षिक ई-पत्रिका

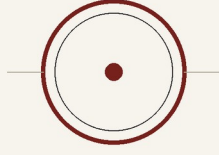


www.videha.co.in

© Gajendra Thakur, 2026

THE SIGNET RING OF MINISTER RAKSHASA

Mudrarakshasa



VISHAKHADATTA

English stage version from Gajendra Thakur's
Maithili translation

GAJENDRA THAKUR

Editor, Videha — First Maithili Fortnightly eJournal

www.videha.co.in

THE SIGNET RING OF MINISTER RAKSHASA

Vishakhadatta's Sanskrit play Mudrarakshasa

An English version for the stage from Gajendra Thakur's Maithili translation

Gajendra Thakur
Editor, Videha — First Maithili Fortnightly eJournal

www.videha.co.in

Publication Details

Original Sanskrit play: Vishakhadatta

Work: Mudrarakshasa

Maithili translation: Gajendra Thakur

English stage version: from Gajendra Thakur's Maithili translation

Editor: Gajendra Thakur, Videha — First Maithili Fortnightly eJournal

Publication year: 2026

www.videha.co.in

© Gajendra Thakur, 2026

CONTENTS

Dramatis Personae.....	I
Act I.....	3
Act II.....	14
Act III.....	25
Act IV.....	34
Act V.....	42
Act VI.....	53
Act VII.....	60

DRAMATIS PERSONAE

MEN

1. **STAGE MANAGER (SUTRADHARA):** Director of the performance; opens the play.
2. **CHANAKYA:** The protagonist, also called Vishnugupta; Chandragupta's teacher and minister.
3. **CHANDRAGUPTA:** King of Magadha.
5. **BHAGURAYANA:** Chanakya's agent, who poses as the closest friend of Malayaketu's father.
8. **NIPUNAKA:** Chanakya's spy, disguised as a moralist carrying a painted scroll of Yama.
4. **JIVASIDDHI:** Indusharman in disguise; Chanakya's friend and agent, who pretends to be a friend of Rakshasa.
6. **SIDDHARTHAKA:** Chanakya's agent; he poses as Shakatadasa's closest friend and, at Chandanadasa's execution ground, as the attendant Vajralomaka.
7. **SUSIDDHARTHAKA:** Siddharthaka's companion, disguised as the Chandala Venuvetraka.
9. **SHARANGARAVA:** Chanakya's pupil.
10. **VAIHINARI:** Chandragupta's personal and bedchamber attendant.
11. **MALAYAKETU:** King of the mountain country, who marches on Pataliputra to avenge his father's murder.
12. **RAKSHASA:** The opposing statesman; minister to the late Emperor Nanda and his son, and supporter of Sarvarthasiddhi. He allies himself with Malayaketu, but in the end accepts the office of Chandragupta's minister to save Chandanadasa's life.
13. **CHANDANADASA:** Head of the jewellers' guild and Rakshasa's dearest friend.
14. **SHAKATADASA:** Rakshasa's friend and secretary.
16. **KARABHAKA:** Rakshasa's messenger.
17. **PRIYAMVADAKA:** Rakshasa's attendant.
18. **JAJALI:** Malayaketu's chamberlain and personal bedchamber attendant.
19. **BHASURAKA:** An attendant of Malayaketu.
20. **SPY:** An agent of Chanakya.
21. **VIRADHAGUPTA:** Rakshasa's spy, disguised as a snake-charmer.
- PRIYAMVADAKA**
22. **VIRADHAGUPTA AS JIRNAVISHA:** Rakshasa's friend and secret agent, disguised as a snake-charmer.
22. **FIRST BARD:** Chandragupta's court bard.
23. **SECOND BARD:** Rakshasa's disguised bard-spy, Stanakalasha.
24. **DOORKEEPER:** Rakshasa's gatekeeper.
25. **STAFF-BEARER:** The man who announces Malayaketu's arrival.
26. **MAN:** Chanakya's spy, who stages an attempted suicide.
27. **VAJRALOMAKA:** Siddharthaka disguised as the first Chandala.
28. **VENUVETRAKA:** Susiddharthaka disguised as the second Chandala.
29. **SON:** Chandanadasa's son.
30. **MESSANGER.**
31. **PRISONERS:** Several.

WOMEN

1. **ACTRESS:** The Stage Manager's wife.
2. **SHONOTTARA:** Chandragupta's female chamberlain and gatekeeper.
3. **VIJAYA:** Malayaketu's female chamberlain and gatekeeper.
4. **WIFE:** Chandanadasa's wife.

SETTINGS — Acts I, III, VI and VII: Pataliputra. Acts II and IV: the capital of the mountain kingdom. Act V: Malayaketu's camp.

ACT I

[After the preliminary arrangements have been completed, the STAGE MANAGER enters to open the performance.]

STAGE MANAGER: Ladies and gentlemen, may the guile of Lord Shiva protect you—the Shiva who tried to conceal the name of the heavenly Ganga when Gauri questioned him. Gauri asked, “Who is this who rests so beautifully upon your head?” Shiva replied, “It is the crescent moon.” Gauri asked, “Is that her name?” Shiva said, “Yes, that is her name. You know it—how could you have forgotten?” Gauri answered, “I am speaking of a woman, not the moon.” Shiva replied, “Then call Vijaya, if the moon’s testimony will not satisfy you!”

And may the dance of Lord Shiva, destroyer of the demon Tripura, protect you—a dance constrained by the limits of space: he checks the sinking earth with the lightest touch of his foot; he repeatedly draws in and extends his arms, letting gesture alone suggest their reach across the worlds; and, fearing universal destruction, he restrains the sparks of fire from his terrible eyes.

But enough of elaboration. This audience has commanded me to present a new play called *The Signet Ring*, composed by the poet Vishakhadatta, son of Maharaja Bhaskaradatta and grandson of the feudatory lord Vateshvaradatta. I am truly delighted to have the opportunity to perform it before an audience capable of appreciating the excellence of poetry. For—

Even the seed sown by a dull-witted man will sprout in fertile soil; a rich harvest of grain does not depend upon the brilliance of the farmer.

I shall therefore begin the performance with my household company. *[Looking around.]* What is happening here? Every servant in the house is working with extraordinary enthusiasm, as though some great festival were at hand.

One is fetching water, another is preparing scented colour—that is, grinding fragrant substances—a third is weaving a beautiful garland, and a fourth is working a pestle, humming sweetly whenever it falls.

I shall call my wife. *[Toward the dressing room.]* My good lady, come quickly! You who are skilled in household policy, rich in resources, steadfast in securing the three aims of life—you are political wisdom embodied in the management of my home—

ACTRESS *[ENTERING]*: Yes, my lord. Kindly dictate your command.

STAGE MANAGER: Never mind taking down a command, my good lady. Just tell me: have honoured Brahmins been invited to dine, or has some worthy guest arrived? What is the reason for all this special preparation of food?

ACTRESS: My lord, I have invited the honoured Brahmins to dine.

STAGE MANAGER: On what occasion?

ACTRESS: People say there will be an eclipse of the moon.

STAGE MANAGER: Who says so?

ACTRESS: Everyone in the city says so.

STAGE MANAGER: My good lady, I have studied all sixty-four branches of astronomy. By all means continue preparing the Brahmins’ meal—but you have been misled about the lunar eclipse. Look—

The malignant Rahu, joined by Ketu, is even now attempting to assail the radiant Moon.

VOICE OFFSTAGE: Ha! Who dares attack Chandra while I am still alive?

STAGE MANAGER: But the conjunction of Mercury will save him.

ACTRESS: My lord, who is this mortal man who wishes to save the Moon from a demon’s attack?

STAGE MANAGER: To tell the truth, my good lady, I did not notice. But I shall recognise him by his voice. *[Repeating.]* “The malignant Rahu...” and so forth.

VOICE OFFSTAGE: Ha! Who dares attack Chandragupta while I am still alive?

STAGE MANAGER: Ah, now I understand—it is Kautilya—

[The ACTRESS begins to tremble with fear.]

STAGE MANAGER: The crooked master of statecraft who burned the Nanda dynasty like reeds in the fire of his anger. Hearing of an eclipse of Chandra—the Moon—he feared an assault upon his namesake, Chandragupta, and came at once.

We had better leave. *[They both exit.]*

END OF THE PRELUDE

[CHANAKYA enters in fury, touching the unbound lock of hair upon his head.]

CHANAKYA: Ha! Who dares attack Chandragupta while I am still alive?

What man, already devoted to death, wishes still to see this lock of hair unbound—a lock darkened by the fire of my anger into the black serpent that brought doom upon the house of Nanda?

What man, mistaken alike about his enemy's power and his own, wishes to fly like a moth into the fierce blaze of my wrath and die at once—the fire that consumed the Nanda dynasty as a forest fire devours the woods?

[*CHANAKYA seats himself as his pupil goes out.*]

[*Aside.*] And now? Has the news already spread among the citizens that Rakshasa, enraged by the destruction of the dynasty, has allied himself with Malayaketu—the son of Parvataka, burning to avenge his father's murder, tempted by the promise of the entire Nanda kingdom, strengthened by the chiefs of the foreign tribes, and preparing to march with Malayaketu's army against Vrishala? [After a moment's thought.] Let it be. I shall stop him nevertheless. I publicly vowed to uproot the Nanda dynasty, and I have already crossed the otherwise impassable river of that vow.

The fire of my anger is a forest conflagration. In its flames the members of the Nanda house were consumed like dry bamboo abandoned by a terrified populace. The ash hurled up by the explosion of my policy filled the sky with the smoke of their ministers' downfall and veiled the wives of my enemies in the grief of widowhood. Now the fire has died because no fuel remains—not because its strength has failed.

Moreover, those who had hidden their discontent in their hearts through fear of King Nanda have now seen Nanda and his whole family hurled from the throne by me, as the leader of an elephant herd is cast down from a mountain peak.

Though my great vow has been fulfilled, I continue to bear the sword for the sake of Vrishala.

In other words: I uprooted the nine world-renowned Nandas, who had lodged like thorns in every heart, and made the Maurya kingdom firm as a lotus rooted in a lake. Through my labour I have thus distributed fitting rewards to friend and enemy alike.

Yet how can the Nanda dynasty be called wholly uprooted, or Chandragupta's kingdom firmly established, while Rakshasa remains unsubdued? [He pauses in thought.] I marvel at Rakshasa's unmatched devotion to the house of Nanda. So long as even one member of that line remained alive, nothing could halt his activity on its behalf. To remove every reason for refusing Chandragupta's ministry, I ordered the death of poor Sarvarthasiddhi, the last of the Nandas, though he had taken refuge in a forest hermitage. Now, with Malayaketu's support, Rakshasa is gathering still greater strength to destroy me. [Looking into the distance.] Minister Rakshasa, you deserve every praise.

Men serve a king for profit while he is powerful. Those who follow him in adversity hope for his restoration. But a man such as you, who serves his master without self-interest even after that master's death, faithfully remembering old kindnesses—such a worthy man is difficult indeed to find.

For that very reason I am trying to win you to my side, considering how you may be persuaded to accept the office of Chandragupta's minister. For—

What use is a loyal servant without intelligence? And what use is an intelligent and courageous servant without loyalty? Only those in whom intelligence, courage and devotion are joined together are true servants of a king; the rest merely live upon him, sharing his pleasures and hardships like dependants.

Therefore I labour over this matter without sleep. First, I spread a rumour among the citizens that Rakshasa had murdered our ally King Parvataka—who had rendered us great service—by means of my poison-maiden. I acted on the calculation that whether Vrishala or Parvataka died, the loss would fall upon me, Chanakya. To make the rumour credible, I deliberately had Bhagurayana whisper in Malayaketu's ear that I myself had caused his father's death. I knew that even if the prince went to war, he could be stopped by policy; but the stain of having allied himself with the man believed responsible for Parvataka's murder could never be erased. To discover who stands on the side of advantage or danger, of friend or enemy, and where each is placed, I appointed spies skilled like actors in the dress, speech, customs and manners of many regions. Through them I watch the activities of the former Nanda minister's followers who remain in Kusumapura. I also caused Bhadrabhata and other senior officers who had supported Chandragupta in battle to appear openly dissatisfied, each on a different pretext. As the king's personal attendants I appointed tested and trustworthy men, who constantly guard against assassins, poisoners and every similar crime. Furthermore, I have a Brahmin fellow-student and friend named Indusharman, profoundly learned in the statecraft of Shukra and in all sixty-four branches of astronomy. After I vowed to destroy the Nanda dynasty, I summoned him to Kusumapura in the guise of a Buddhist mendicant, so that he might make friends among all the Nanda ministers. He became especially intimate with Rakshasa. Now he will perform a most important service for me. Thus nothing remains undone—except that Vrishala, though the centre of the political circle, takes no active interest. He leaves the burden of state affairs to us. And a kingdom is truly pleasant only when its ruler is freed from the crushing labour of managing every matter personally. For—

The lord of men and the lord of elephants, though all-powerful, are generally unhappy when they must both perform every task themselves and personally enjoy every possession.

[*A spy of CHANAKYA enters, carrying a painted scroll of Yama.*]

SPY: Bow down at Yama's feet! What use are the lesser gods? It is Yama who takes away the lives of other gods' trembling devotees.

Yet a man surely lives by the grace of the very god he worships, however harsh that god may be. Thus I live by the grace of Yama, destroyer of humankind.

Now I shall enter this house, display my painted scroll and sing a hymn of devotion.

SHARANGARAVA [**SEEING HIM**]: Good man, do not enter this house.

SPY: Brahmin, whose house is this?

SHARANGARAVA: It is the house of my revered teacher, the renowned Chanakya.

SPY [**SMILING**]: Brahmin, then this is the house of a brother in religion, not a stranger. Let me enter. I shall teach your master a truth of moral law.

SHARANGARAVA [**ANGRILY**]: What did you say? Do you know more of moral truth than my teacher?

SPY: Brahmin, do not be offended. No one person knows everything. Your teacher knows some things, and men such as I know others.

SHARANGARAVA: You are trying to rob my teacher of his title of omniscience.

SPY: Good Brahmin, if your teacher knows everything, let him tell us who in this city does not love Chandra.

CHANAKYA [**OVERHEARING, ASIDE**]: Ha! The fellow is saying that he knows the names of those who do not love Chandragupta.

SHARANGARAVA: How can you speak so? You are talking nonsense.

SPY: In intelligent ears it would not be nonsense, but wisdom.

CHANAKYA: Come in, good man. Here is someone ready to listen.

SPY: I am coming. [He enters and approaches CHANAKYA.] Blessings upon you, revered sir.

CHANAKYA [**RECOGNISING HIM, ASIDE**]: Ah, it is Nipunaka, whom I appointed to test the temper of the people. [Aloud.] Welcome, good man. Sit down.

SPY: As the revered gentleman commands. [He sits on the ground.]

CHANAKYA: Now give me your report. Do the people love Vrishala?

SPY: They certainly do. Your skill has removed every cause of discontent, and the people are deeply devoted to the illustrious King Chandragupta. There are, however, three men in the city whose old friendship and reverence for Minister Rakshasa make them unable to tolerate Chandragupta's rule.

CHANAKYA [**HIS ANGER RISING, ASIDE**]: Better to say they cannot tolerate their own peace and safety. [Aloud.] Do you know their names?

SPY: Revered sir, if I did not know them, who would be able to tell you?

CHANAKYA: Then I wish to hear them.

SPY: Attend, revered sir. The first is a kshapanaka—a Buddhist mendicant—who is in league with the enemy—

CHANAKYA [**ASIDE**]: A Buddhist mendicant in league with the enemy? [Surprised.] Who can that be?

SPY: His name is Jivasiddhi. He was involved in King Parvataka's murder by a poison-maiden employed by Minister Rakshasa.

CHANAKYA [**ASIDE**]: Ah, Jivasiddhi—my own agent! [Aloud.] Who is the second?

SPY: The second is a scribe named Shakatadasa, a dear friend of Minister Rakshasa.

CHANAKYA [**ASIDE**]: A scribe is no great official. Still, I have planted Siddharthaka beside him in the guise of a friend, for no enemy, however insignificant, should be ignored. [Aloud.] And the third?

SPY: The third is a wealthy jeweller named Chandanadasa, who lives in the Flower-Market Square. He is Rakshasa's second self, and the minister left his family in Chandanadasa's care when he fled the city.

CHANAKYA [**ASIDE**]: He must indeed be Rakshasa's dearest friend. Rakshasa would never entrust his family to a man who was not another self. [Aloud.] Good man, how did you learn that Rakshasa left his family in Chandanadasa's care?

SPY: From this signet ring, sir.

[The SPY gives the ring to CHANAKYA.]

CHANAKYA [**EXAMINING IT, DELIGHTED, ASIDE**]: Yes! I have Rakshasa around my finger. [Aloud.] Good man, tell me in full how you came by this ring.

SPY: Listen, revered sir. You secretly appointed me to investigate the citizens' activities. Carrying the painted scroll of Yama and travelling through his realm, a disguise that lets me enter private houses without arousing suspicion, I came to the home of the wealthy jeweller Chandanadasa. There I spread out my scroll and began to sing a devotional song.

CHANAKYA: And then? Go on.

SPY: A very beautiful child of about five, his eyes wide with natural curiosity, tried to come out from inside the house. At once the women within cried in alarm, “The child is going outside!” Their agitation was plain. Then a woman appeared at the doorway, scolded the boy, and caught his hand with an arm as tender as a young vine when he tried to come out. In the haste of reaching for him she opened her fingers, and this ring—which was made for a man’s finger—slipped from her hand, fell unnoticed upon the threshold, and rolled close to my foot. When I saw Minister Rakshasa’s name engraved upon it, I brought it to you. That is how I obtained the ring.

CHANAKYA: I understand. You may go, good man. Your service will soon be rewarded.

SPY: As the revered gentleman commands. [Exit.]

CHANAKYA: Sharangarava!

SHARANGARAVA [ENTERING]: What are your commands, revered sir?

CHANAKYA: Bring me my writing materials, child.

SHARANGARAVA: As you command. [He goes and returns.] Revered sir, the writing materials are here.

CHANAKYA [TAKING THEM, ASIDE]: What shall I write? These words will be the instrument of my victory over Rakshasa.

SHONOTTARA [ENTERING]: Victory to your Excellency!

CHANAKYA [DELIGHTED, ASIDE]: I accept the cry of victory as an omen. [Aloud.] What is it, Shonottara?

SHONOTTARA: Revered sir, the illustrious King Chandragupta bows with folded hands, curved above his head like a lotus bud, and respectfully submits: “With my revered teacher’s permission, I wish to give the jewels formerly worn by King Parvataka to honoured Brahmins, so that the departed king may find peace in the next world.”

CHANAKYA [SATISFIED, ASIDE]: Well done, Vrishala! Your request answers my very wish. [Aloud.] Shonottara, give Vrishala this reply from me: “Dear prince, you understand what is right and lawful. Yes, do as you propose. But the jewels once worn by Parvataka are of exquisite workmanship. They should be given not to ordinary Brahmins, but to the most distinguished. I shall send Vishvasu and his two brothers myself.”

SHONOTTARA: As you command, revered sir. [Exit.]

CHANAKYA: Sharangarava! In my name, tell Vishvasu and his two brothers to go to Vrishala and receive the gift of jewels, and then—[turning]—to come and see me. [SHARANGARAVA exits and returns.]

SHARANGARAVA: Revered sir, your command has been carried out. [Exit.]

CHANAKYA: Now, what shall I put in this letter? [Thinking.] Yes—I have it. My spies report that the five foremost foreign chiefs who follow Rakshasa are Chitravarman of Kuluta; Simhanada, the lion-king of Malaya; Pushkaraksha of Kashmir; Sindhusena of Sindhu, the subduer of his enemies; and fifth, Meghakosha of Persia, rich in cavalry. I shall write their names here. May Chitraksha strike them from his register in due course! [After a moment’s thought.] No, no. Better leave them all unnamed.

Sharangarava!

SHARANGARAVA [ENTERING]: What are your commands, revered sir?

CHANAKYA: Child, the handwriting of men devoted to Vedic study often lacks ease and elegance. Tell Siddharthaka in my name to have Shakatadasa write a letter under these conditions—[he whispers in SHARANGARAVA’S ear]—and then bring it to me. Nothing is to be written on the outside to indicate an addressee, for Siddharthaka will be instructed to carry an oral message to a particular person. Shakatadasa must not be told that Chanakya dictated the letter.

SHARANGARAVA: As you command, revered sir. [Exit.]

CHANAKYA: How delighted I am! Malayaketu is already defeated. [SIDDHARTHAKA enters with a letter.]

SIDDHARTHAKA: Victory to you, sir. Revered sir, here is the letter in Shakatadasa’s hand.

CHANAKYA: What beautiful handwriting! [Reflecting inwardly.] Good man, keep its true meaning fixed in your mind and seal the letter.

SIDDHARTHAKA: As you command, revered sir. [He seals it.]

CHANAKYA: Sharangarava!

SHARANGARAVA [ENTERING]: What are your commands, revered sir?

CHANAKYA: Tell Kalapashika, in my name, that Vrishala commands the Buddhist mendicant Jivasiddhi—who was implicated in King Parvataka’s murder by a poison-maiden employed by Rakshasa—to be publicly denounced for the crime and driven from the capital in disgrace.

SHARANGARAVA: As you command, revered sir. [He starts to leave.]

CHANAKYA: Wait, child. Tell him also that the second offender, the scribe Shakatadasa—who has continually plotted treason against His Majesty—is to have his crime proclaimed in public, be impaled, and have his family imprisoned.

SHARANGARAVA: As you command, revered sir. [Exit.]

SIDDHARTHAKA: Sir, the seal has been set. What must I do next?

CHANAKYA: Go straight to the execution ground. Glower and rage at the executioners so fiercely that they flee stripped of all composure. Then rescue Shakatadasa from the place of execution and take him to Rakshasa. Rakshasa will rejoice at the rescue of his friend and reward you. Accept the reward, and for a time serve as Rakshasa's personal attendant. Later, when the enemy approaches, you must accomplish this purpose. [He whispers in SIDDHARTHAKA'S ear.] That is all.

SIDDHARTHAKA: I shall do exactly as you command, revered sir.

CHANAKYA [ANXIOUSLY, ASIDE]: If only that villain Rakshasa can be caught after all these measures!

SIDDHARTHAKA: Sir, he is caught already!

CHANAKYA [DELIGHTED, ASIDE]: Ha! Rakshasa is caught.

SIDDHARTHAKA: Sir, has your purpose succeeded? May I go, then, and bring my own mission to success?

CHANAKYA: Go, good man, and succeed.

[SHARANGARAVA enters and returns with a message.]

SHARANGARAVA: Revered sir, Kalapashika, chief of the city guard, asks leave to execute King Chandragupta's orders at once.

CHANAKYA: Very well. Child, I wish the wealthy jeweller Chandanadasa to be brought here.

SHARANGARAVA: As you command, revered sir. [He goes and returns with CHANDANADASA.] This way, worthy merchant.

CHANDANADASA [ASIDE]:

Even an innocent man trembles when the cruel Chanakya summons him. What, then, must be the state of one who is guilty?

That is why I told the third Buddhist layman, chief of the Dhanasena guild: "That villain Chanakya may unexpectedly have my house searched. Remove the family of our great Minister Rakshasa. Let whatever must happen to me happen."

SHARANGARAVA: Come, merchant.

CHANDANADASA: Very well, sir. [He comes before CHANAKYA.]

SHARANGARAVA: Revered sir, the merchant Chandanadasa is here.

CHANDANADASA: Victory to you, sir.

CHANAKYA [LOOKING AT HIM]: Welcome, merchant. Sit upon this seat.

CHANDANADASA [BOWING]: Such honour is excessive for a man like me—more oppressive than humiliation. Surely you know that, sir. I shall therefore sit upon the ground, where I belong.

CHANAKYA: Do not speak so, merchant. In the presence of a man like me, that seat is your proper place. Sit where I have indicated.

CHANDANADASA [ASIDE]: The villain's courtesy hides a barb. [Aloud.] I obey your command, sir. [He sits upon the indicated seat.]

CHANAKYA: Merchant, I hope the profits of your trade continue to increase?

CHANDANADASA: By your favour, sir, business prospers.

CHANAKYA: Do Chandragupta's faults cause the people to remember the virtues of their former king?

CHANDANADASA [COVERING HIS EARS]: I reject such a sinful thought! The people rejoice in His Majesty as they rejoice in the full moon of autumn.

CHANAKYA: If that is so, the king asks a service in return from his contented subjects.

CHANDANADASA: Command me, sir. What is required of this man?

CHANAKYA: Merchant, this is Chandragupta's reign, not Nanda's. Gifts of money pleased the greedy Nanda kings, but Chandragupta is pleased only when his subjects refrain from wrongdoing.

CHANDANADASA: For that, sir, I am grateful to you.

CHANAKYA: And will you ask how one may refrain from wrongdoing?

CHANDANADASA: I ask to be instructed, sir.

CHANAKYA: In a word—through loyalty to one's sovereign.

CHANDANADASA: What unfortunate man would consider himself disloyal to the king?

CHANAKYA: Let us begin with you.

CHANDANADASA [**COVERING HIS EARS**]: I reject such a sinful thought! Can a wisp of straw contend with fire?

CHANAKYA: Yet here it is. You shelter the family of Rakshasa, the king's enemy.

CHANDANADASA: That is false, sir. Some wicked man has told you this.

CHANAKYA: Do not be alarmed, merchant. Officials of a former king may flee in terror to another country after first entrusting their families to citizens' homes. That alone is no crime. The crime lies in concealing the fact.

CHANDANADASA: What you say is true, sir. In their terror, Minister Rakshasa's family once stayed in my house.

CHANAKYA: And where are they now?

CHANDANADASA: I do not know.

CHANAKYA [**SMILING**]: Yes, yes—you do not know. A convincing performance. Merchant, danger is close and rescue far away. Do you not imagine that Minister Rakshasa may uproot Chandragupta just as Vishnugupta uprooted Nanda? [He bows his head for a moment, then continues.] Consider this.

While Nanda and his family lived, royal power was always unstable, though Vakranasa and other honoured ministers, endowed with courage and political wisdom, could not make it secure. Now sovereignty rests firmly in Chandragupta, as radiant moonlight rests in the moon and delights the world. Who would dare separate it from him—or moonlight from the moon?

Moreover—

Who would dare fight the lion that stands panting with jaws flung wide, its teeth gleaming like crescents in the red light of dusk, stained crimson with the blood of elephants?

CHANDANADASA [**ASIDE**]: The boast proves its own claim. It sounds justified.

[*Offstage cries: "Make way! Make way!"*]

CHANAKYA: Sharangarava, see what is happening.

SHARANGARAVA: As you command, revered sir. [He goes and returns.] Revered sir, it is the traitorous Buddhist mendicant Jivasiddhi, being driven from the capital in disgrace by order of King Chandragupta.

CHANAKYA: A Buddhist mendicant? How pitiable! Yet he must suffer the consequence of treason. Merchant, a king who punishes even such a man so severely for treason will show no mercy to one who shelters Rakshasa's family. Save your own wife and your own life: surrender another man's wife.

CHANDANADASA: Sir, I respectfully repeat that, in their terror, Minister Rakshasa's family once stayed in my house.

CHANAKYA: And where are they now?

CHANDANADASA: I do not know.

CHANAKYA [**SMILING**]: Yes, yes. Then hand over those whom you acknowledge to be Rakshasa's family and free yourself from blame.

CHANDANADASA: I respectfully submit, sir: Minister Rakshasa's family is not in my house.

[*Again, offstage cries: "Make way! Make way!"*]

CHANAKYA: Sharangarava, what is it now?

SHARANGARAVA: Revered sir—[he goes and returns]—it is the second traitor, the scribe Shakatadasa, being taken to the execution ground for impalement.

CHANAKYA: He must reap the fruit of his deeds. Merchant, a king who so sternly punishes traitors will show no mercy to one who shelters Rakshasa's family. Surrender another man's wife and save your own wife and life.

CHANDANADASA: Sir, you are wasting your effort trying to frighten me. Even if Minister Rakshasa's family were with me, I would not surrender them. Whether they are or are not—what difference does it make?

CHANAKYA: Then your mind is made up?

CHANDANADASA: Yes. It is made up.

CHANAKYA [*ASIDE*]: Well done, Chandanadasa! You deserve every praise.

In this age you perform a deed thought possible only of King Shibi, though you could so easily profit by betraying another man's trust.

CHANAKYA [*ALoud, ANGRILY*]: So, merchant, your mind is made up? Then, wicked trader, prepare to bear the full weight of the king's wrath.

CHANDANADASA: I am prepared. Exercise the authority of your high office and do whatever you must, sir.

CHANAKYA: Sharangarava! Tell Vijayapala, the governor of the fort, that this wicked merchant is to be seized at once—no, not merely that. Order him to confiscate the man's property, bind him in chains, and imprison him with his wife and son until I report to Vrishala, who will personally sentence him to death.

SHARANGARAVA: As you command, revered sir. Come, merchant.

CHANDANADASA [*RISING*]: I am coming, good sir. [*Aside.*] I am glad to die for a friend, not for some human failing of my own.

[*SHARANGARAVA and CHANDANADASA exit.*]

CHANAKYA [*WITH SATISFACTION*]: Yes! Rakshasa is safe for the present.

A jeweller who risks his life so carelessly for Rakshasa will surely not be abandoned by Rakshasa when the jeweller's own day of peril comes.

[*A commotion offstage.*]

SHARANGARAVA [*RUSHING IN*]: Revered sir! Siddharthaka has escaped, carrying Shakatadasa away from the execution ground just as he was about to be impaled.

CHANAKYA [*ASIDE*]: Well done, Siddharthaka. The beginning is auspicious. [*Aloud.*] What? Escaped? Child, tell Bhagurayana to pursue and arrest them immediately.

SHARANGARAVA [*GOING AND RETURNING*]: Revered sir, Bhagurayana too has already left the city.

CHANAKYA [*ASIDE*]: Let him go, and may he succeed. [*Aloud.*] Child, order Bhadrabhata, Purudatta, Dingarata, Balagupta, Rajasena, Rohitaksha and Vijayavarman to search for both men and capture them.

SHARANGARAVA: Very well. [*He goes and returns in distress.*] Revered sir, disaster! The whole administration is falling apart. What a calamity! Bhadrabhata and his followers are gone. They departed before dawn.

CHANAKYA [*ASIDE*]: Good—let them go. [*Aloud.*] Child, there is no cause for distress. It makes no difference.

Those who knowingly departed for the greater purpose have gone. Let those who remain also leave, each in accordance with my design. Only let my intelligence not desert me. In achieving a political end, that one power is equal to hundreds of armies. The destruction of the Nandas has proved its strength sufficiently.

[*Rising.*] Now I shall go and arrange matters so that Bhadrabhata and his followers can be brought back. [*Looking into the distance, aside.*] Rakshasa, wicked in purpose—where will you go now?

By my intelligence I shall subdue you and appoint you to Chandragupta's service—you who roam alone, swollen with pride in your own power, independent and ungovernable, able to draw men to yourself with abundant gifts—just as a skilled trainer subdues a wild elephant that wanders alone, proud of its strength, wilful and fierce, drawing swarms of bees with the abundant ichor streaming from its temples, and brings it into service.

[*All exit.*]

ACT II

[A SNAKE-CHARMER enters carrying a wicker basket.]

SNAKE-CHARMER: Only those who constantly guard the secrecy of their spells, know the use of herbs that counteract poison, and understand the magic circle may safely deal with serpents. In exactly the same way, only those who constantly guard the secrecy of political designs, understand the science of internal policy, and correctly read the circle of friendly, hostile and neutral kings may safely deal with rulers.

[Looking up.] What are you saying, sir? You ask who I am?

Sir, I am a snake-charmer. My name is Jirnavisha. What else do you say? You wish to see a performance with snakes? Very well, sir—but what is your profession?

You are an officer of the royal household? Then, sir, you truly do deal with serpents. For an officer intoxicated by success at court, an elephant-driver drunk on wine, and a snake-charmer ignorant of spells and herbs—all three perish in the same way.

What! He left before I had finished speaking. [Again looking up.] What are you saying, sir? You ask what is in these wicker baskets? They contain the snakes by which I earn my living. What next? You wish to see them perform. Forgive me, sir, but this is not a suitable place. If you are curious, come along and I shall show you in that house ahead.

What do you say? That is the residence of the mighty Minister Rakshasa, and men like us have no access there? Then go your own way, sir. My profession gives me the good fortune of entering such places. Ah—he has gone.

[Aside.] How extraordinary! When I see Chandragupta guided by Chanakya's intelligence, all Rakshasa's efforts seem futile; but when I see Malayaketu guided by Rakshasa's intelligence, Chandragupta seems already deprived of his throne. For—

The Maurya empire, bound fast by the rope of Kautilya's intellect, appears immovable; yet at the same time I see Rakshasa using all his diplomatic skill to wrench it away.

Thus, in the struggle between these two brilliant and superior ministers, Royal Fortune appears divided. Frightened and uncertain, she turns now toward one minister, now abandons him for the other. She is as distressed as a terrified she-elephant caught between two wild elephants fighting in a vast forest.

Now I shall go and see Lord Rakshasa.

[He advances and waits at the door. RAKSHASA enters and sits in anxious thought, attended by a servant.]

RAKSHASA [WITH A DEEP SIGH]: Ah, what misery!

Keeping awake day and night, wholly absorbed and tormented by thoughts of the kingdom, I have conceived this design; yet no canvas remains on which to paint it, for cruel fate has destroyed the vast Nanda line like the race of the Yadavas—the Nandas, who, like the Yadavas, subdued their enemies through courage and political power.

No, no. I should not speak so.

I have given my mind wholly and single-mindedly to politics. I have accepted service under a stranger, yet never forgotten my loyalty to my true masters. I do not waste myself in worldly pleasure; I cherish neither my life nor any private ambition for greatness. I endure all this only so that my departed lord may behold his enemy dead and find satisfaction even in the next world.

[Looking into the distance.] Royal Fortune! You set no value upon virtue—none at all. Otherwise, why did you abandon King Nanda, beloved by everyone, and attach yourself to Chandragupta, the son of a Maurya of low birth? Why did you not perish with Nanda, as the stream of fragrant ichor ends when the elephant dies? Tell me.

And, wanton woman, have all high-born kings vanished from the earth, that you thought fit to choose this rootless and wicked Maurya as your husband? Perhaps a woman's judgement, naturally as unsteady as the tip of a reed-flower, cannot recognise the qualities of men.

Therefore I shall kill the man to whom you have attached yourself and put an end to your lust.

[Thinking.] In accordance with this purpose, my first correct step was to leave my family in the house of my dearest friend Chandanadasa when I departed from Pataliputra. The supporters of King Nanda who remain in Pataliputra and assist me will not slacken in their efforts, for they are assured that I have not become indifferent to an attack upon the city. I left Shakatadasa there with sufficient funds to retain the loyalty of the hunters, poison-maidens and other agents employed to assassinate Chandragupta, and to win over the discontented among the enemy. In addition, I appointed Jivasiddhi and other friends to gather constant intelligence about the enemy and break apart his alliances.

In short, I shall soon pierce his vital point with the arrow of my intelligence—this man through whom King Nanda, who loved him like a son, and Nanda's entire dynasty were destroyed, as a tiger cub lovingly reared may one day kill its keeper—unless intolerable fate serves as his armour.

[*JAJALI, Malayaketu's chamberlain, enters.*]

JAJALI: Old age has calmed my desires and gradually awakened devotion within me, just as Chanakya's policy crushed King Nanda and established Chandragupta in Pataliputra. My devotion grows in strength as the Maurya king does. Yet greed constantly tries to uproot devotion, just as Rakshasa strives to uproot Chandragupta; for service creates opportunity, but does not always bring success.

[*Advancing.*] There is Minister Rakshasa. [*Approaching him.*] May all be well with you.

RAKSHASA: Honoured Jajali, I salute you. Priyamvadaka, place a seat for the respected chamberlain.

PRIYAMVADAKA: Here is the seat. Please be seated, honoured sir.

JAJALI [*SITTING*]: Prince Malayaketu respectfully sends this message to the minister: "My heart is deeply grieved that for so long you have refused to wear the ornaments appropriate to your rank. It cannot be easy to forget the noble qualities of the revered Nanda kings. Nevertheless, it would be right for you to accept this request of mine." [*Showing an ornament.*] "Wear this ornament, which I have taken from my own person and sent to you."

RAKSHASA: Honoured Jajali, respectfully tell the prince from me that the memory of my departed lord's noble virtues has already become one with the impression made upon my heart by the prince's incomparable qualities and by my reverence for him. But—

Until our enemies are utterly destroyed and the prince, foremost man upon earth, is seated upon the golden throne in the Suganga Palace, I shall place no ornament upon this body, which has endured humiliation at the hands of those enemies.

JAJALI: Under the minister's skilful guidance, the prince believes every object will easily be attained. Therefore accept this first request from him.

RAKSHASA: Honoured sir, your words are as binding as the prince's own command. I must obey him.

JAJALI [*ADORNING RAKSHASA WITH THE ORNAMENT*]: May God bless you. I shall take my leave now.

RAKSHASA: I salute you, honoured Jajali.

[*JAJALI exits.*]

RAKSHASA: Priyamvadaka, see whether anyone is waiting at the door to speak with me.

PRIYAMVADAKA: I shall see. [*He goes to the door and sees the SNAKE-CHARMER.*] Well, friend, who are you?

SNAKE-CHARMER: Good sir, I am a snake-charmer. I wish to perform with my snakes before the minister.

PRIYAMVADAKA: Wait while I inform him. [*Returning to RAKSHASA.*] My lord, a snake-charmer has come and wishes to present a performance before you.

RAKSHASA [*NOTICING HIS LEFT EYE TWITCH, ASIDE*]: Ah, the ill omen of seeing a snake! [*Aloud.*] Priyamvadaka, I have no desire to watch a snake performance. Give him something, satisfy him, and send him away.

PRIYAMVADAKA: I obey. [*Going to the SNAKE-CHARMER.*] Friend, the minister cannot grant you an audience, but he will bestow upon you the honourable reward of an audience.

SNAKE-CHARMER: Good sir, respectfully tell the minister that I am not only a snake-charmer but also a poet in Prakrit. If he cannot grant me an audience, ask him at least to read this leaf.

PRIYAMVADAKA [*TAKING THE LEAF AND RETURNING TO RAKSHASA*]: My lord, the snake-charmer respectfully says that he is not merely a snake-charmer but also a Prakrit poet. If you cannot see him, he begs you to read this leaf.

RAKSHASA [*TAKING THE LEAF AND READING*]: "The honey that a bee skilfully gathers after draining the flower's nectar to the last drop is enjoyed by another."

[*After a moment's thought, aside.*] Ah! The verse means that my spy has returned with news from Kusumapura—the City of Flowers. My mind has been so entangled in political designs, and my agents are so numerous, that I had forgotten him. Now I recognise him. It must be Viradhagupta in the guise of a snake-charmer. [*Aloud.*] Priyamvadaka, admit him. He is a great poet. I wish to hear his beautiful verses.

PRIYAMVADAKA: I obey. [*Going to the SNAKE-CHARMER.*] Come inside, sir.

SNAKE-CHARMER [*ADVANCING, LOOKING CAREFULLY, ASIDE*]: There is Lord Rakshasa—

Alarmed by Rakshasa's activity, Royal Fortune cannot rest her right breast securely against Chandragupta's chest in the delight of a close embrace. Though her left arm is wound about Chandragupta's neck, her frightened right arm repeatedly slips from his shoulder and falls upon her thigh.

[*Approaching.*] Victory to my lord!

RAKSHASA [SEEING HIM]: Ah, Viradha—[checking himself as he remembers the servants.] Priyamvadaka, I have decided to see the snake performance after all. The servants may leave now. All of you return to your duties.

PRIYAMVADAKA: I obey.

[PRIYAMVADAKA and the other servants exit.]

RAKSHASA: Dear Viradhagupta, sit upon this seat.

VIRADHAGUPTA: As you command. [He sits.]

RAKSHASA [LOOKING CLOSELY AT HIM AND SIGHING DEEPLY]: Ah, to what a condition the servants of my departed master have been reduced!

VIRADHAGUPTA: Leave this lamentation, my lord. Very soon you will restore us all to our former glory and splendour.

RAKSHASA: Now, my friend, give me a full and detailed account of Kusumapura.

VIRADHAGUPTA: My lord, the story of Kusumapura is very long. Where shall I begin?

RAKSHASA: My friend, I wish to hear what was accomplished by the hunters, poison-maidens and other agents whom I set to work when Chandragupta entered Nanda's palace.

VIRADHAGUPTA: Then I shall tell you. Chandragupta's and Parvateshvara's army—composed of Shakas, Yavanas, Kiratas, Kambojas, Persians, Bahl fords and many other peoples, and directed by Chanakya's policy—surrounded Kusumapura on every side like the swelling ocean at the end of the world.

RAKSHASA [SUDDENLY DRAWING HIS SWORD]: Ha! Who has dared besiege Kusumapura while I am alive? Viradhagupta!

Let archers be stationed all along the walls and upon the earthen fortifications. Let powerful elephants capable of breaking the enemy's elephant formations be posted at the gates. And let all who desire to strike the enemy's weaker divisions and win glory advance with me, fearless of death!

VIRADHAGUPTA: My lord, restrain this surge of anger. I am describing the past.

RAKSHASA [WITH A DEEP SIGH]: Ah—it happened in the past. I thought it was taking place now.

[With tears in his eyes, he lowers the sword.]

King Sarvarthasiddhi remembered your great service, Rakshasa, and it grieved him. His profound respect magnified your powers a thousandfold in his imagination, and under its influence, while you were still within the city, he repeatedly issued commands on the battlefield as though you stood beside him:

"Let Rakshasa rush to the place where that mass of black elephants strikes like a storm cloud! Let Rakshasa check and destroy that surging wave of cavalry! Let Rakshasa annihilate that formation of infantry at once!"

VIRADHAGUPTA: King Sarvarthasiddhi saw all this. He could not endure the citizens' terrible suffering under the siege day after day. Therefore, for their welfare, he left through an underground passage and withdrew to a forest of penance. In the king's absence, the courage of your troops failed. You then left the city through the same tunnel, intending to restore Nanda rule—but not before suppressing the public proclamation of Chandragupta's victory and testing the citizens' loyalty. After that, poor Parvataka died at the hands of the poison-maiden whom you had kept to kill Chandragupta.

RAKSHASA: Friend, see how fate plays with us!

That terrible poison-maiden could take only one victim, and I had reserved her for Chandragupta. Yet she reached Parvateshvara and killed the very man whom the villain Vishnugupta wished to destroy. It was just as Karna's terrible and unfailing spear, reserved solely to kill Arjuna, instead reached and killed Ghatotkacha—the victim Krishna wished removed, and at whose death he rejoiced.

VIRADHAGUPTA: It was a cruel mockery of fate. What could the minister have done?

RAKSHASA: Continue.

VIRADHAGUPTA: Terrified by his father's murder, Prince Malayaketu fled from there. Chanakya then reassured and won the confidence of Parvateshvara's brother, Vairodhaka, and a public announcement was made that Chandragupta would enter Nanda's palace. On that day Chanakya summoned all the carpenters of Kusumapura and commanded them:

"At the auspicious hour fixed by the astrologers today, Chandragupta will enter Nanda's palace. Decorate the entire royal residence, beginning with the main gate." The carpenters respectfully replied that, anticipating King Chandragupta's entry, the carpenter Daruvarman had already erected a golden arch and other magnificent decorations at the main gate; only the interior remained to be adorned. The villain Chanakya warmly praised Daruvarman's intelligence and declared himself delighted that the palace had been decorated without orders, adding that the carpenter would very soon receive his reward.

RAKSHASA [ANXIOUSLY]: Ah, do not speak of that villain Chanakya's delight. Daruvarman's excessive devotion, or some foolish mistake, must have awakened harsh suspicion in him and ruined the attempt upon Chandragupta's life.

VIRADHAGUPTA: Then, at the auspicious hour at midnight, the sinful Chanakya seated Parvateshvara's brother Vairodhaka beside Chandragupta on the same throne and divided the empire equally between them.

RAKSHASA: What are you saying? Did he truly give Vairodhaka half the empire, as he had previously promised?

VIRADHAGUPTA: Yes. He did.

RAKSHASA [ASIDE]: The deeply cunning Chanakya must have staged this public ceremony to wash away the stain of Parvateshvara's murder, while secretly planning to kill the poor man. [Aloud.] Very well—what happened next?

VIRADHAGUPTA: After the coronation festivities, Vairodhaka put on royal silk robes embroidered with strings of pearls, adorned his hair with a jewelled crown, and wore fragrant garlands upon his broad chest. His appearance was so transformed that even his closest friends could not recognise him. At the villain Chanakya's command he mounted Chandralekha, the elephant Chandragupta usually rode, and arrived at the gate of Nanda's palace accompanied by the princes who normally attended Chandragupta. Your secret agent, the carpenter Daruvarman, mistook Vairodhaka for Chandragupta and released the mechanical arch above him.

At that moment the Maurya princes had halted their horses outside the palace. Chandralekha's mahout, Barbaraka—your second secret agent—grasped the golden goad within which a concealed sword had been hidden.

RAKSHASA [ASIDE]: Both attempts went astray in the same fashion.

VIRADHAGUPTA: The elephant suddenly changed her stride, fearing an injury to her right foot. The mechanical arch released by Daruvarman therefore fell away from its intended point and, before it could reach Vairodhaka—whom they took for Chandragupta—it crushed Barbaraka to death. In that instant Daruvarman, seated upon the platform above and knowing his own death was certain once the arch had fallen, struck Vairodhaka upon the elephant with the iron bolt that served as the key to the mechanism.

RAKSHASA: A double calamity. Vairodhaka and Barbaraka were killed, while by fate's sport Chandragupta remained safe. What happened to the carpenter Daruvarman?

VIRADHAGUPTA: Vairodhaka's foot-guards stoned him to death.

RAKSHASA [WITH TEARS IN HIS EYES]: Ah, I have lost my dearest friend Daruvarman. And what did my physician Abhayadatta accomplish?

VIRADHAGUPTA: He performed his task perfectly.

RAKSHASA [BRIGHTENING]: Then Chandragupta was killed?

VIRADHAGUPTA: No, Minister. Through the fault of fate, he was not.

RAKSHASA [DEJECTED]: Then why did you say Abhayadatta performed his task perfectly?

VIRADHAGUPTA: He prepared a medicinal draught for Chandragupta and secretly mixed powdered poison into it. Chanakya tested the drink and saw that its colour changed as soon as it entered a golden vessel. He said to Chandragupta, "Vrishala, this drink is poisoned. Do not take it."

RAKSHASA: He is certainly very clever. What became of the physician?

VIRADHAGUPTA: He was forced to drink the same draught, and died.

RAKSHASA [SORROWFULLY]: Ah! A master of medical science has been destroyed. And Pramodaka, the officer of the bedchamber—what news of him?

VIRADHAGUPTA: He met the same fate as the others.

RAKSHASA: How?

VIRADHAGUPTA: The fool began to live in extravagant luxury upon the great sum you had given him. When he was questioned about the source of so much wealth, he gave contradictory answers. Chanakya had him tortured and killed.

RAKSHASA [SORROWFULLY]: What misery. Here too fate has defeated us. And Bibhatsaka and his companions, whom I appointed to enter the bedchamber through a tunnel and kill Chandragupta—what news of them?

VIRADHAGUPTA: Their end was terrible.

RAKSHASA [AGITATED]: Was their presence discovered?

VIRADHAGUPTA: Yes. Before Chandragupta entered, the villain Chanakya inspected the bedchamber. Looking closely, he saw a line of ants emerging from a hole in the wall carrying grains of cooked rice. From this he concluded that men were concealed inside the chamber, and ordered it set on fire. When the flames rose, Bibhatsaka and his companions were blinded by smoke. They could not find the door of the tunnel, which they themselves had barred from within, and all were burned to ashes.

RAKSHASA [WITH TEARS IN HIS EYES]: My friend, look upon the fortune of that villain Chandragupta—

The poison-maiden I secretly kept to kill him became, through fate's cruelty, the cause of Parvataka's death—the man entitled to half the kingdom. Those whom I appointed to destroy Chandragupta by weapon and poison were themselves destroyed by those very means. Every plan of mine has served only the Maurya's good fortune.

VIRADHAGUPTA: Nevertheless, my lord, once a task has been begun, it must never be abandoned:

Men of base nature never begin a task for fear of obstacles. Men of middling nature begin but abandon it when difficulties arise. The best and noblest, however, never forsake what they have undertaken, however many obstacles and hardships confront them.

RAKSHASA: Certainly, what has begun cannot be abandoned. You see the proof with your own eyes. Now continue your account.

VIRADHAGUPTA: From that time Chanakya became a thousand times more vigilant for Chandragupta's safety. Discovering whose work these plots were, he began to punish, one by one, your trusted friends who remained in Kusumapura.

RAKSHASA [FEARFULLY AGITATED]: Who has been punished?

VIRADHAGUPTA: First, the Buddhist monk Jivasiddhi was humiliated and banished from the capital.

RAKSHASA [ASIDE]: He can endure that. Exile is not painful to a man without family or property. [Aloud.] My friend, what charge was used to banish him?

VIRADHAGUPTA: That, at your command, he used a poison-maiden to murder Parvateshvara.

RAKSHASA [ASIDE]: Kautilya, you deserve great praise for this policy—

You sow a single seed and gather many fruits. You have washed the stain from your own character and placed it upon me, while also ridding yourself of the claimant to half the kingdom. [Aloud.] Continue.

VIRADHAGUPTA: Then Shakatadasa was sentenced to impalement on the charge that he had employed Daruvarman and the others to murder Chandragupta. The accusation was proclaimed throughout the city.

RAKSHASA [WITH TEARS IN HIS EYES]: Ah, my friend Shakatadasa! You did not deserve so painful a death. No—since you gave your life in your master's cause, you are not to be mourned. It is we who deserve mourning, still clinging to life after the destruction of the Nandas.

VIRADHAGUPTA: Do not say that. Your master's cause is precisely the cause for which you continue to struggle here.

RAKSHASA: My friend—

Because I was attached to life and unwilling to abandon this duty, I failed, ungratefully, to follow my departed master.

VIRADHAGUPTA: Forgive me, my lord, but the truth is not as you say:

It was your devotion to this great duty, not attachment to life, that kept you from following your departed master. In gratitude, you remained to complete his work.

RAKSHASA: Tell me, my friend. I am ready to hear of another friend in peril.

VIRADHAGUPTA: Seeing what was happening, Chandanadasa removed your family to a place of safety.

RAKSHASA: That was unwise. He has invited the hostility of the villain Chanakya.

VIRADHAGUPTA: Would betraying a friend not have been still more unwise?

RAKSHASA: True. Continue your account.

VIRADHAGUPTA: He was pressured to surrender your family, but refused. Chanakya then blazed with anger and—

RAKSHASA [IN ALARM]: Killed him? Is it true?

VIRADHAGUPTA: No, no. He ordered Chandanadasa's property confiscated, had him bound in chains, and imprisoned him with his wife and son.

RAKSHASA: Then why did you say with satisfaction that he moved my family to safety? Why did you not say that I myself am chained, together with my wife and son?

PRIYAMVADAKA [SUDDENLY ENTERING THROUGH THE CURTAIN]: Victory to my lord! Shakatadasa is waiting at the door.

RAKSHASA: Is this true?

PRIYAMVADAKA: My lord's servants do not know how to lie.

RAKSHASA: Viradhagupta, how did this happen?

VIRADHAGUPTA: It is fate that protects a man.

RAKSHASA: Priyamvadaka, if it is so, bring him in this instant and restore peace to me. Why do you delay?

PRIYAMVADAKA: I obey.

[*PRIYAMVADAKA exits.*]

[*SHAKATADASA enters with SIDDHARTHAKA.*]

SHAKATADASA [ASIDE]: I saw the stake driven hard into the ground, firm as the Maurya's power. With bowed head I wore the condemned man's garland, which shook my consciousness as his rule has shaken the kingdom. I heard the execution drums splitting my ears as my master's fall split the world. Yet my heart did not break. It seems the three earlier blows of disaster have already turned it to stone.

[Seeing RAKSHASA, joyfully.] There stands Minister Rakshasa, who maintains King Nanda's cause with unbroken loyalty even after the king's death, foremost among all loyal men on earth. [Approaching.] Victory to the minister!

RAKSHASA [DELIGHTED TO SEE HIM]: My friend Shakatadasa, by great good fortune I see you alive after you fell into Chanakya's grasp. Come—embrace me.

[*SHAKATADASA embraces him.*]

RAKSHASA [AFTER A LONG EMBRACE]: Sit here.

SHAKATADASA: I shall. [He sits.]

RAKSHASA: My friend Shakatadasa, who is the noble man who has given my heart this joy?

SHAKATADASA [INDICATING SIDDHARTHAKA]: This is my dear friend Siddharthaka. He drove the executioners from the place of death and brought me away safely.

RAKSHASA [DELIGHTED]: Worthy Siddharthaka, this gift is very small beside the service you have done me, but accept it nevertheless. [He removes an ornament from his body and presents it to SIDDHARTHAKA.]

SIDDHARTHAKA [TAKING THE ORNAMENT AND FALLING AT HIS FEET]: My lord, I am a stranger here and know no one with whom I can safely leave so precious a gift from the minister. I therefore ask that it be sealed with this royal signet bearing your name and kept in your treasury. I shall take it when I need it.

RAKSHASA: Very well. There is no objection. Shakatadasa, do as he asks.

SHAKATADASA: As the minister commands. [Looking at the signet, quietly to RAKSHASA.] The minister's name is engraved upon this ring.

RAKSHASA [EXAMINING IT, ASIDE]: It is indeed so. This is the very ring my Brahmin wife took from my hand to calm my anxiety. How did it reach this man's possession? [Aloud.] Worthy Siddharthaka, where did you find this ring?

SIDDHARTHAKA: My lord, in Kusumapura there is a wealthy jeweller named Chandanadasa. It had fallen at the doorway of his house, and I found it there.

RAKSHASA: That is possible.

SIDDHARTHAKA: What do you mean by "possible," my lord?

RAKSHASA: I mean that it is natural to find such an object at the entrance of so rich a man's mansion.

SHAKATADASA: Dear Siddharthaka, this is the minister's own royal signet. My lord will reward you with wealth far beyond its actual value. Give it to him.

SIDDHARTHAKA: Honoured friend, I shall count myself fortunate if my lord accepts the ring. [He hands it to RAKSHASA.]

RAKSHASA: Dear Shakatadasa, you may use this ring in affairs of state.

SHAKATADASA: As the minister commands.

SIDDHARTHAKA: My lord, I have one request.

RAKSHASA: Speak, friend. Speak without hesitation.

SIDDHARTHAKA: You understand that after making an enemy of Chanakya, I cannot return to Pataliputra. I therefore beg you to take me into your service.

RAKSHASA: Friend, nothing would please me more. I hesitated to invite you only because I did not know your wishes. You are welcome in my service.

SIDDHARTHAKA: I am grateful for this favour.

RAKSHASA: Dear Shakatadasa, arrange for Siddharthaka's lodging and meals.

SHAKATADASA: I shall carry out your command at once.

[*SHAKATADASA and SIDDHARTHA exit.*]

RAKSHASA: Dear Viradhagupta, complete your report. Are the principal elements of the state responding to our policy of sowing division?

VIRADHAGUPTA: Yes, my lord. They are. The matter is known to everyone.

RAKSHASA: What is known, my friend?

VIRADHAGUPTA: That Chandragupta is deeply angry with Chanakya because Malayaketu escaped, and that Chanakya, intoxicated by success, repeatedly disobeys Chandragupta's commands and thereby increases the king's displeasure. I tell you this from personal knowledge.

RAKSHASA [GREATLY PLEASED]: Dear Viradhagupta, return to Kusumapura in the same disguise of a snake-charmer. A friend of mine named Stanakalasha lives there disguised as a court bard. In my name, tell him that whenever Chanakya acts against Chandragupta's command, he must inflame Chandragupta by reciting provocative verses. Whatever result follows must be conveyed to me in the deepest secrecy through Karabhaka.

VIRADHAGUPTA: I shall obey the minister's command.

[*VIRADHAGUPTA exits.*]

PRIYAMVADAKA [ENTERING]: Victory to my lord! Shakatadasa respectfully reports that these three very precious ornaments have been offered for sale. He asks my lord to examine them.

RAKSHASA [EXAMINING THE ORNAMENTS, ASIDE]: These are indeed extremely valuable. [*Aloud.*] Good man, tell Shakatadasa to satisfy the seller and purchase them.

PRIYAMVADAKA: I obey.

[*Exit.*]

RAKSHASA: I should also send Karabhaka to Kusumapura. [*Rising.*] I want Chandragupta to break with that villain Chanakya. I no longer have any doubt:

Having imposed his commands upon all the feudatory chiefs, the Maurya king has grown fierce and proud. Chanakya, thinking that the Maurya became king through his support alone, is swollen with arrogance. One has attained an empire and fulfilled his purpose; the other has crossed the ocean of his vow. Their awareness that their purposes are complete, joined with their personal faults, will certainly shatter their friendship.

ACT III

[CHANDRAGUPTA'S CHAMBERLAIN enters.]

CHAMBERLAIN: God of Love, once your eyes and other senses experienced forms and their objects and profited from them; every faculty eagerly performed its proper work. But now the organs of action that obeyed your command have lost their strength. Old age has overtaken you. You should abandon your futile desires.

[He advances and looks upward.]

Servants of the Suganga Palace! My lord Chandragupta commands you to decorate the palace courtyards, for he wishes to celebrate the Festival of Moonlight and view the splendour of Pataliputra.

[Again looking upward.]

What are you telling me? The Festival of Moonlight has been cancelled? Does the king not know? Unfortunate man, do you hope to save your life by saying so?

Obey the order at once. Let yak-tail fans, shining like clustered moonbeams, hang from pillars perfumed with incense and adorned with garlands. And let the earth, seeming crushed beneath the burden of the throne she must continually bear, be refreshed at once with sandalwood water and a carpet of flowers.

[Again looking upward.]

What do you say? Obey the king's command immediately. Hurry, good man! Chandragupta himself is coming.

This high-spirited young prince bears without stumbling or pain the heavy burden of the kingdom, which King Nanda carried for so many years—though he is still like a young bull only now being brought under control.

VOICE OFFSTAGE: This way, my lord!

[The KING enters with a female DOORKEEPER.]

KING [ASIDE]: Kingship is truly painful. A protector of the people gives up his own happiness to secure the happiness of others; thus the title “guardian of the earth” finds its meaning. And when a man labours more for another's happiness than his own, he becomes a servant.

Even for a worthy ruler, it is difficult to satisfy Royal Fortune.

Royal Fortune hates the harsh, abandons the gentle out of fear, despises the uneducated, feels no love for the overlearned, is ashamed of the brave, and detests the cowardly. Like a courtesan spoiled by excessive attention, she is difficult to serve.

My teacher has ordered me to stage a false quarrel with him and for a while govern independently. I agreed, with the greatest reluctance, to this act that feels almost sinful. Yet I remain guided at every moment by my teacher's instruction. So long as a pupil acts rightly, he cannot fail; when delusion leads him onto a wrong path, the teacher restrains him. I desire no independence beyond that.

[Aloud.] Honoured Vaihinari, show me the way to the Suganga Palace.

CHAMBERLAIN: This way, my lord. [When they reach the palace.] Here is the Suganga Palace. Ascend carefully, my lord.

KING [MIMING THE ASCENT AND LOOKING AROUND]: How beautiful the quarters of the sky appear, adorned with the splendour of autumn!

Whiter than white clouds, filled with flocks of sweet-voiced swans and strewn with beautiful stars, the ten directions seem at night like rivers flowing gently through the sky—white with sandy banks, crowded with swans, and filled with night-blooming lotuses.

And further—

Autumn gathers every prosperity: it is praised for restraining the rivers from overflowing, for teaching humility to rice-plants bowed under their heavy ears, and for curing the peacocks of their excessive pride.

Again—

Like a skilful messenger of love, autumn has guided the Ganga along her proper course and brought her to the ocean. Once dark and distressed by his love for many wives, she now appears content.

[Surveying the city.] What is this? There is no preparation for the Festival of Moonlight. Honoured Vaihinari, was the order to celebrate the festival proclaimed in my name or not?

CHAMBERLAIN: It was proclaimed, my lord.

KING: Then have the people disobeyed my command?

CHAMBERLAIN [COVERING HIS EARS]: Do not utter such a sinful thought. Has your command ever been disobeyed anywhere on earth? How could it happen in the capital?

KING: Then why has the Festival of Moonlight not yet been celebrated?

Courtesans skilled in charming conversation, surrounded by beloved companions and moving slowly beneath the weight of their full hips, do not beautify the streets; nor do wealthy citizens and their wives celebrate by openly competing with one another in magnificence.

CHAMBERLAIN: My lord, the fact is—

KING: What is it?

CHAMBERLAIN: The fact is—

KING: Speak plainly.

CHAMBERLAIN: The Festival of Moonlight has been cancelled.

KING [ANGRILY]: What! Who cancelled it?

CHAMBERLAIN: The revered Chanakya, my lord.

KING: Has the revered Chanakya deprived the people of so beautiful a spectacle?

CHAMBERLAIN: My lord, could any living man disobey your command?

KING: Shonottara, I wish to sit.

DOORKEEPER: Here is the throne, my lord. Be seated.

KING [SITTING]: Honoured Vaihinari, I wish to see the revered Chanakya.

CHAMBERLAIN: As my lord commands.

[Exit.]

[CHANAKYA is revealed at home, seated in anger and thought.]

CHANAKYA: What! Does the villain Rakshasa attempt to compete with me?

He wishes to take the kingdom from Chandragupta Maurya, just as I, Kautilya—insulted, leaving the city poisonous as the Kalakuta venom—killed Nanda and seated Vrishala Maurya on the throne. He even attempts to defeat my superior intelligence.

[Looking upward.] Rakshasa, abandon this futile effort.

My king is not the arrogant Nanda, dependent upon his ministers. He is Chandragupta. And you are not Chanakya. The only resemblance between us is that both of us, enemies of the reigning king, oppose the chief element of the state.

But I need think no more about it. Malayaketu, son of Parvataka, is surrounded by familiar men who have already entered my confidence, and Siddharthaka and the other spies are all intent upon their tasks. Now, by staging a false quarrel with Chandragupta Maurya, I shall create a breach between the enemy Malayaketu and the opposing Rakshasa—who considers himself a master of the policy of dissension.

CHAMBERLAIN [ENTERING]: Alas, the misery of service!

A servant must fear the king, the minister, the courtiers and everyone before him. For the sake of his food he must live in bondage, with sweet words and eyes raised in submission—a life that wise men compare to a dog's.

[Advancing and reaching CHANAKYA'S house.] This is the revered Chanakya's residence. I shall enter.

[Entering and looking around.] Behold the possessions of the emperor's minister.

Here is a stone for shaping cakes of cow-dung; there lies a heap of sacred kusha grass brought by the pupils; and that unplastered wall seems to lean against the side of the humble house.

It is fitting that my lord Chandragupta is merely "Vrishala" to him. A man free of desire treats a king as lightly as a blade of grass.

[Looking respectfully at CHANAKYA.] There is the revered Chanakya—

He brought the whole world under control, ended Nanda's rule in an instant and established Chandragupta's, competing in greatness with the sun, which at one time commands half the world.

[Kneeling and saluting.] Victory to the revered teacher!

CHANAKYA: Vaihinari, why have you come before me?

CHAMBERLAIN: Revered sir, my lord Chandragupta—whose feet are reddened in battle by the jewels of enemy kings' crowns—bows at your feet and respectfully asks you to grant him an audience, if it will not interrupt your work.

CHANAKYA: Vrishala wishes to see me? How has this happened? Has word reached him that I cancelled the Festival of Moonlight?

CHAMBERLAIN: Yes, revered sir.

CHANAKYA [**ANGRILY**]: What! Who told him?

CHAMBERLAIN [**TREMBLING WITH FEAR**]: Forgive me, revered sir. My lord Chandragupta climbed to the Suganga Palace and saw for himself that the festival was not being celebrated in the city.

CHANAKYA: I understand. You filled his mind with agitation and incited him against me. How could this be otherwise?

[*The CHAMBERLAIN lowers his head in fear.*]

CHANAKYA: Why should the king's servants bear resentment against Chanakya? Never mind. Where is Vrishala?

CHAMBERLAIN: My lord was in the Suganga Palace when he sent me to you.

CHANAKYA [**RISING**]: Then show me the way to the Suganga Palace.

CHAMBERLAIN: This way, revered sir.

[*They go to the Suganga Palace.*]

CHAMBERLAIN: Here is the Suganga Palace. Ascend carefully, revered sir.

CHANAKYA [**MIMING THE ASCENT AND SEEING CHANDRAGUPTA**]: Ah, Vrishala is seated upon the throne. Excellent!

The throne belongs to the Nandas, destroyers of kingdoms, yet it is occupied by Vrishala, the best of kings. The throne suits the king and the king the throne; these three excellences give me threefold satisfaction.

[*Approaching CHANDRAGUPTA.*] Victory to Vrishala!

KING [**RISING FROM THE THRONE**]: Chandragupta bows at the feet of his revered teacher.

CHANAKYA [**TAKING HIS HAND AND RAISING HIM**]: Rise, my son. May the light from the crown-jewels of hundreds of kings shine between your toes from the Himalayas to the southern ocean.

KING: By my teacher's grace, I have already attained all this. Please be seated, revered sir.

[*They sit upon appropriate seats.*]

CHANAKYA: Vrishala, why did you summon me?

KING: So that I might be blessed by the sight of you, revered sir.

CHANAKYA [**SMILING**]: Enough politeness. A king does not summon his ministers without a reason.

KING: What advantage did my revered teacher see in cancelling the Festival of Moonlight?

CHANAKYA [**SMILING**]: Did you summon me to rebuke me?

KING: No, no—to make a respectful request.

CHANAKYA: If so, the pupil should obey the teacher's wish, which is worthy of respect.

KING: There is no doubt of that. But my revered teacher never acts without a reason.

CHANAKYA: Vrishala, you speak truly. Chanakya does nothing without reason, even while sleeping with one eye closed.

KING: It is only from a desire to know that reason that I ask.

CHANAKYA: Vrishala, masters of politics describe three forms of government in the world: rule by the king, rule by the minister, and rule by both. Your government is rule by the minister. Why should you ask the reason? The business is mine.

[*The KING turns his face away.*]

[*Two BARDS recite verses offstage.*]

FIRST BARD:

May Shiva's body destroy your sorrows—the body that whitens the sky with its ashes, silvers the hide of the elephant-demon with rays from the moon upon his head, wears a garland of skulls, and shines with loud laughter—as autumn whitens the sky with white reed-flowers, silvers the clouds with moonlight, wears a garland of water-lilies, and shines with royal swans.

And—

May the slightly sidelong eyes of Vishnu protect us as he yawns, considering whether to leave his broad couch upon the hood of Shesha. Their lids are dim as they begin to open; for a moment they turn from the light of the jewelled lamps; their movement is slow; they are moist with tears of sleep and deeply reddened by its interruption.

SECOND BARD:

Like a lion-king, fashioned by the Creator as a treasury of pride, who cannot endure the breaking of his jaw, conscious of his dignity, defeating the leaders of elephant herds by his own strength and living in complete independence—so the king of men, fashioned as a treasury of pride, cannot endure the violation of his commands and by his own power defeats arrogant rulers who command divisions of war-elephants.

And—

A man does not become a king merely by wearing ornaments and insignia. He is truly a king when, as with you, no one disobeys his command.

CHANAKYA [ASIDE]: The first bard's verse praises Shiva and Vishnu while alluding to autumn. But I do not understand the second bard's verse.

[After a little thought.] I understand. This is Rakshasa's move. Villain Rakshasa, you have been discovered. Kautilya is awake.

KING: Honoured Vaihinari, give each of these two bards one thousand gold pieces.

CHAMBERLAIN: As my lord commands. [He starts to leave.]

CHANAKYA: Stop, Vaihinari. You are not to go.

[The CHAMBERLAIN looks fearfully at the KING.]

CHANAKYA: Vrishala, what purpose is served by wasting so great a sum?

KING: When my revered teacher restrains me in every matter, independence is bondage, not independence.

CHANAKYA: This misfortune overtakes a king who turns away from his duty. If you cannot endure restraint, then perform your duty.

KING: I do perform my duty.

CHANAKYA: I am greatly pleased to hear it.

KING: Then I wish to know why the Festival of Moonlight was cancelled.

CHANAKYA: And I wish to know why it should have been celebrated.

KING: The chief reason is that my command should be obeyed.

CHANAKYA: And my chief reason for cancelling it is that your command should not be obeyed.

For if your command—borne upon the bowed heads of millions of kings—does not command me, it proclaims of itself that humility adorns your rule.

I can give you another reason, if you wish.

KING: Give it.

CHANAKYA: Shonottara, in my name tell the clerk Achalaka to send the list of Bhadrabhata and his companions who, becoming disaffected, fled from here and entered Malayaketu's service.

DOORKEEPER: As you command. [She goes and returns with the list.] Here is the list, revered sir.

CHANAKYA [TAKING IT]: Vrishala, listen.

KING: I am listening.

CHANAKYA [READING]: "List of the warriors of my lord Chandragupta who became disaffected, fled from here and entered Malayaketu's service: Bhadrabhata, commander of the war-elephants; Purudatta, commander of the cavalry; Dingarata, nephew of the chief chamberlain; Balagupta, a kinsman of the king; Rajasena, the king's bodyguard when he was still a prince; Bhagurayana, younger brother of the general Shurabala; Rohitaksha of the Malava line; and Vijayavarman, commander of the Kshatriya division."

KING: I wish to know the causes of their disaffection.

CHANAKYA: Listen, Vrishala.

Bhadrabhata and Purudatta, officers of the elephants and horses, were addicted to wine, women and hunting in the forest. They were removed from office for neglecting their duties, though they continued to receive annual stipends. Therefore they deserted.

Dingarata and Balagupta were exceedingly greedy. Considering the stipends you gave them insufficient, they left and entered Malayaketu's service.

Rajasena feared that the elephants, horses and vast wealth he had unexpectedly received through your favour might as suddenly be taken away. Therefore he fled.

Bhagurayana was Parvataka's friend and loved him like a parent. He whispered into Malayaketu's ear, "Chanakya caused your father's death," and frightened him into flight. When Chanakya began punishing conspirators, Bhagurayana fled in fear of his own offence. In gratitude for saving his life, Malayaketu appointed him keeper of the royal seal.

Rohitaksha and Vijayavarman were exceedingly proud. They could not endure seeing honour shown to your kinsmen, and therefore left.

KING: If the causes of their disaffection were known, why did my revered teacher not immediately remedy them?

CHANAKYA: I could not, Vrishala.

KING: Through inability, or for political reasons?

CHANAKYA: For political reasons. How could it be through inability?

KING: Then I wish to know those political reasons.

CHANAKYA: Listen. There are two remedies for a disaffected subject: favour and punishment.

Bhadrabhata and Purudatta had been removed from office. Reinstating them would have been an act of favour; but if men guilty of such faults were restored, the elephant and cavalry divisions—the principal supports of the state—would be ruined.

Dingarata and Balagupta were so greedy that even the whole kingdom would not have satisfied them.

Rajasena and Bhagurayana suspected that I meant to kill them and confiscate their property. How could they have accepted any favour from me?

Rohitaksha and Vijayavarman were so proud that they could not endure the honour shown to your relatives. How could they have been pleased?

Thus favour was impossible. Punishment was also impossible. If, having only recently come to power after Nanda, we severely punished the senior officers who had led our armies, the subjects still attached to the Nanda cause would never trust us.

All these disaffected officers have been received by Malayaketu, who, filled with rage over his father's murder and guided by Rakshasa, is preparing to attack us with a vast foreign army. This is a time to prepare for war, not for festivities. When we must concentrate upon fortifying the city, what purpose can the Festival of Moonlight serve?

KING: Much may be said about this matter.

CHANAKYA: Speak freely. I too have much to say.

KING: Why did you assist Malayaketu, the root of all this unrest, to escape?

CHANAKYA: To prevent his escape, only two courses were possible: arrest and punish him, or give him half the kingdom as promised. If I arrested and punished him, I would place my own seal upon the charge of ingratitude for Parvataka's murder. If I gave him half the kingdom, that too would look like a device for washing away the stain of Parvataka's death. Therefore I assisted his escape.

KING: That is your defence in Malayaketu's case. But what can be said of your helping Rakshasa—who was here in the city—to escape?

CHANAKYA: Rakshasa was completely trusted by the Nanda partisans, for they had served together for many years. He was intelligent and brave, with many followers and a vast treasury. Therefore I helped him escape. Had he remained here, he would have raised a serious rebellion within the city. Outside it, even if he stirred rebellion in the country, he would not be difficult to control.

KING: Why did you take no measures against him while he was here?

CHANAKYA: How can you say I took no measures? He was a thorn in my heart, and I skilfully drew him out and cast him away.

KING: Why did you not seize him by force?

CHANAKYA: Remember that he is Rakshasa. If we tried to seize him by force, he would either die or destroy our troops. Either result would be a loss. If pressed too hard, he might die and slip from our hands; if he killed our best warriors, the loss would be equally great. Therefore he must be subdued by skill, like a wild elephant.

KING: I cannot argue with you, revered sir. Yet Minister Rakshasa deserves praise in every respect.

CHANAKYA: And you do not? Is that the praise? Never mind—what has he achieved?

KING: Listen. After the city was conquered, that great man remained within it as long as he wished and caused us severe trouble. He prevented our soldiers from proclaiming victory and, through superior statecraft, entangled me so deeply that I began to suspect even my most trusted men.

CHANAKYA [LAUGHING]: Is that all Rakshasa has accomplished? For a moment I thought he had removed you from the throne and made Malayaketu emperor, just as I removed Nanda and made you emperor.

KING: That was another man's achievement. Why does my revered teacher count it to his own credit?

CHANAKYA: Ungrateful man!

Who else publicly made the terrible vow to destroy the entire race of his enemy? Who else, with fingers crooked in anger, bound up his hair and slaughtered the nine Nandas—each rich in millions of gold pieces—one by one like sacrificial beasts?

KING: It was fate, terrible to the Nandas, that did it.

CHANAKYA: Only the ignorant trust in fate.

KING: And the learned become proud.

CHANAKYA [FURIOUS]: Vrishala! Do you wish to rebuke me like a servant?

My hand is again ready to loosen the knot of hair that I had bound; my feet move again to enter upon another vow; and you, standing before your own death, rekindle the fire of my anger that had grown calm after the destruction of the Nandas.

KING [ASIDE]: My revered teacher is truly filled with anger. What am I to do?

Though tears have softened the blaze of his eyes and his eyelids tremble, their fire seems to flare again as his terrible brows thrust forward. The earth shakes beneath the stamp of his foot, as though terrified by Rudra's furious dance.

CHANAKYA [CONTROLLING HIMSELF]: Vrishala, there is nothing more to say. If you consider Rakshasa superior to me, let this sword be given to him.

[He throws down the sword, rises from his seat and looks upward.]

[Aside.] Rakshasa, this is the highest reach of your intelligence: you attempt to defeat mine.

Ha! You apply every policy of dissension in the confidence that Chandragupta Maurya, once separated from me, will easily be defeated. Through this feigned quarrel, I shall instead make you quarrel with your own Malayaketu.

[CHANAKYA exits.]

KING: Honoured Vaihinari, proclaim to the people that from this day Chandragupta will govern independently of Chanakya.

CHAMBERLAIN [ASIDE]: Alas! The king called him merely "Chanakya." He has been dismissed. Yet it is no fault of his.

When a king acts wrongly, the blame falls upon the minister. An elephant grows unruly through the folly of its driver.

KING: Honoured Brahmin, why do you hesitate?

CHAMBERLAIN: Revered lord, I rejoice that you will govern your own kingdom.

KING [ASIDE]: I hope my revered teacher is only striving to appear in this form for the accomplishment of his purpose.

[Aloud.] Honoured Brahmin, hurry.

CHAMBERLAIN: As my lord commands.

[Exit.]

KING: Shonottara, this bitter quarrel has given me a headache. Show me the way to the bedchamber.

DOORKEEPER: This way, my lord.

KING [RISING]: Though I disobeyed my revered teacher only at his own command, I wish the earth would swallow me. How, then, can one who truly insults his teacher not die of shame?

[All exit.]

ACT IV

[*KARABHAKA enters disguised as a traveller.*]

KARABHAKA: People of Mithila, is it not astonishing that a man, obeying his master's urgent command, should cross more than a hundred yojanas without pausing?

Now I shall go and meet Minister Rakshasa.

[*Advancing.*] This is the residence of the revered Minister Rakshasa. Is any gatekeeper here? Announce that Karabhaka has arrived in haste from Pataliputra.

GATEKEEPER [*ENTERING*]: Good man, speak softly. The minister has a headache after a sleepless night spent worrying over affairs of state. He is still in his chamber. Wait a little. At a suitable moment I shall announce your arrival.

KARABHAKA: Good man, you may do so.

[*RAKSHASA enters from the bedchamber, deep in anxious thought.*]

RAKSHASA:

I have won over all of Chanakya's disaffected men; yet as I reflect upon the uncertainty of fortune and ponder Chanakya's crooked policy, anxiety over what may happen robs me of sleep night after night.

A poet or statesman such as I undergoes this kind of labour. First, with intelligence, he plants the most subtle seed of his design. Then he nurtures its growth. When the seed has reached a half-developed state, he applies an unseen policy whose fruit lies far in the future. After that he creates a condition of uncertainty. At last he brings the expanded design to completion.

GATEKEEPER [*APPROACHING RAKSHASA*]: Victory—

RAKSHASA: Defeat.

GATEKEEPER: —to the minister.

RAKSHASA [*FEELING HIS LEFT EYE TWITCH, ASIDE*]: Victory to the villain Chanakya! Defeat to the minister!

[*Aloud.*] Good man, what are you trying to say?

GATEKEEPER: Karabhaka has come from Pataliputra. He wishes to see the minister.

RAKSHASA: Admit him at once.

GATEKEEPER: As my lord commands.

[*Going to KARABHAKA.*] Good man, you may see the minister.

[*Exit.*]

KARABHAKA [*APPROACHING RAKSHASA*]: Victory to my lord.

RAKSHASA: Sit, good man.

KARABHAKA: As you command.

[*He sits on the ground.*]

RAKSHASA [*ASIDE*]: There are so many operations in progress that I cannot remember what task I assigned this man.

[*He tries to remember.*]

[*A STAFF-BEARER enters.*]

STAFF-BEARER: Stand aside, good people! Clear the way.

Do you not know that even the fortunate rarely gain sight of him—much less approach him?

[*Looking upward.*] What do you say, good people? Why do I order you to clear the way? Listen. Prince Malayaketu is coming to visit Minister Rakshasa, who is suffering from a headache. That is why I tell you to stand aside.

[*Exit.*]

[*MALAYAKETU enters with BHAGURAYANA and the CHAMBERLAIN.*]

MALAYAKETU [*SIGHING, ASIDE*]: Today marks ten months since my father's death, and despite all my proud claims to valour I have not yet been able even to offer him the funeral water.

I vowed that I would offer that water only after wiping joyful tears from the eyes of my enemies' wives and transferring to them the grief my mothers suffered at my father's death—when they beat their breasts until their jewelled bracelets shattered, their garments slipped, their hair filled with dust, and the sky echoed with their piteous cries of “Alas! Alas!”

In a word—

Either I shall endure bravely and, following the path of my ancestors, meet death upon the battlefield; or I shall wipe the tears from my mothers' eyes and place those tears in the eyes of my enemies' wives.

[Aloud.] Honoured Jajali, I wish to visit Minister Rakshasa privately and surprise him. Do not let the usual royal assembly follow me. Proclaim in Malayaketu's name that no one is to come behind me.

CHAMBERLAIN: I obey my lord's command.

[Turning back and looking upward.] Hear this, members of the court! Prince Malayaketu commands that no one follow him.

[Watching their movements with satisfaction.] See, my lord! The commanders halt the instant they receive the prince's order.

Some are reining in their horses, whose high necks bend sharply under the tight bit as though their hooves were trying to touch the sky; others restrain their heroic elephants, whose bells fall silent. This royal host, like the sea that does not pass the limit of the tide, does not cross the boundary of respect.

MALAYAKETU: Honoured Jajali, you too return with the litter-bearers. Only Bhagurayana will accompany me.

CHAMBERLAIN: As my lord commands.

[He exits with the litter-bearers.]

MALAYAKETU: My friend Bhagurayana, Bhadrabhata and the others who came over to me entered my service through General Shikharasena. They specifically stated that they had not entered through Minister Rakshasa. They said I myself am a king worthy to be served, one whose qualities attract men, whereas Chandragupta was merely the follower of a wicked minister. I have thought deeply, but I do not understand their intention.

BHAGURAYANA: My lord, it is simple. A man who wishes to serve an energetic king endowed with royal qualities should enter his service through a well-wishing friend of that king. That is the proper course.

MALAYAKETU: But, my friend, Rakshasa is my greatest well-wisher.

BHAGURAYANA: Ah—so he is. Yet Rakshasa's enmity is with Chanakya, not with Chandragupta. It may happen that Chandragupta, intolerant of Chanakya's pride in success, dismisses him from the ministry. Then Rakshasa, out of affection for a descendant of the Nanda line and respect for old friends, might make peace with Chandragupta. In that event he could betray my lord. That is what those men intended to suggest.

MALAYAKETU: You speak truly. Now show me the way to Minister Rakshasa's residence.

BHAGURAYANA: This way, my lord. [Reaching the minister's house.] We have arrived. Enter, my lord.

MALAYAKETU: I shall.

RAKSHASA [ASIDE]: Ah! I remember now.

[Aloud.] Good man, did you meet the bard Stanakalasha in Pataliputra?

KARABHAKA: Yes, my lord, I did.

MALAYAKETU [OVERHEARING]: Bhagurayana, they are discussing operations in Pataliputra. I shall not go in yet. I shall remain here and listen.

For ministers speak one way before the king out of fear of the court, and another way when they speak without restraint to their own men.

BHAGURAYANA: As my lord commands.

RAKSHASA: Did the operation succeed?

KARABHAKA: By my lord's grace, it succeeded.

MALAYAKETU: What operation was it, my friend?

BHAGURAYANA: A minister's operations are exceedingly deep. It is difficult to determine their purpose at this stage. Listen silently, my lord.

RAKSHASA: I wish to hear every detail.

KARABHAKA: Listen, my lord. You ordered me to go to Pataliputra and tell the bard Stanakalasha that whenever Chanakya acted against Chandragupta's command, he was to recite verses that would inflame Chandragupta.

RAKSHASA: Go on.

KARABHAKA: I went to Pataliputra and conveyed your order to the bard. At that time Chandragupta, wishing to cheer the people who mourned the destruction of the Nanda family, commanded that the Festival of Moonlight be celebrated. The people welcomed the beloved festival as one welcomes a dear relative after a long separation.

RAKSHASA [SIGHING]: Alas, King Nanda!

What is a Festival of Moonlight without you, who were as dear to the world as the moon among kings? There may be a physical moon to make the night-lotuses bloom and a Maurya “moon” to please the people, but neither is you.

KARABHAKA: The festival, so dear to the people's eyes, was cancelled by the villain Chanakya against the king's desire. At that moment Stanakalasha recited verses designed to inflame Chandragupta.

RAKSHASA: What were they?

KARABHAKA:

“Like the lion-king, fashioned by the Creator as a treasury of pride, who cannot endure the breaking of his jaw ... so the king of men...”

And—

“A man does not become a king merely by wearing ornaments. He is truly a king when no one disobeys his command.”

RAKSHASA [PLEASED]: Well done, my friend Stanakalasha! A seed of separation sown at the proper moment must bear fruit.

Even an ordinary man cannot endure being deprived of his festival. How could a king endure it?

MALAYAKETU: Exactly so.

RAKSHASA: Continue.

KARABHAKA: Angered by the violation of his order, Chandragupta entered into a bitter quarrel with the villain Chanakya, praised my lord in the argument, and dismissed Chanakya from office.

MALAYAKETU: Bhagurayana, Chandragupta's praise of Rakshasa reveals an inclination toward him.

BHAGURAYANA: My lord, the main point is not the praise of Rakshasa but the dismissal of Chanakya.

RAKSHASA: Was the cancellation of the Festival of Moonlight the only cause of Chandragupta's displeasure with Chanakya, or was there another?

MALAYAKETU: My friend, why does he search for another cause of Chandragupta's displeasure?

BHAGURAYANA: Chanakya is discerning. He would not provoke Chandragupta over a trivial matter. Chandragupta too is grateful; for this reason alone he would not cross the limits of respect due to Chanakya. For their separation to be lasting, many causes are needed. That is why Rakshasa asks.

KARABHAKA: Yes, there was another cause: Chanakya assisted Prince Malayaketu and my lord Rakshasa to escape.

RAKSHASA [DELIGHTED]: My friend Shakatadasa, Chandragupta is now completely within my power.

SHAKATADASA: Then Chandanadasa will be released, my lord will see his wife and son, and Jivasiddhi will be freed from suffering?

BHAGURAYANA [ASIDE]: Then Jivasiddhi's suffering will truly come to an end!

MALAYAKETU: What does he mean, my friend, when he says, “Chandragupta is in my power”?

BHAGURAYANA: Chandragupta is now separated from Chanakya. Rakshasa sees no obstacle to keeping them apart. What other meaning could there be?

RAKSHASA: Good man, where is the person who was dismissed from office now?

KARABHAKA: My lord, he is still there.

RAKSHASA [UNEASILY]: Is he still composed? Has he not gone to a forest of penance, or undertaken some new vow?

KARABHAKA: My lord, people say that he intends to go to the forest.

RAKSHASA: Shakatadasa, that is impossible. A man who could not endure an insult from King Nanda will never endure an insult from Chandragupta, a king of his own making.

MALAYAKETU: My friend, what purpose would Chanakya achieve by going to the forest or taking a new vow?

BHAGURAYANA: It is obvious. His purpose would be achieved while he remained at a distance.

SHAKATADASA: Do not take offence, my lord, but it is possible. Would a king who has become almost divine by placing his foot upon the heads of enemies endure the disobedience of one of his own men? And Chanakya, though naturally wrathful, may not, after completing one vow through good fortune, undertake another severe vow. He has personally experienced the hardship of violent action and may fear failure in the future.

RAKSHASA: It may be so. Karabhaka, go and take rest and food.

SHAKATADASA: As my lord commands.

[SHAKATADASA and KARABHAKA exit.]

RAKSHASA: I shall carry the good news to the prince.

MALAYAKETU **[APPROACHING RAKSHASA]:** I have come in person to see the minister.

RAKSHASA **[SEEING HIM]:** Ah—the prince!

[Rising.] My lord, take this seat.

MALAYAKETU: I shall. Let the minister also be seated.

[They sit on appropriate seats.]

MALAYAKETU: Has the minister's headache improved?

RAKSHASA: How can it improve until the title “Prince” is replaced by “Emperor”?

MALAYAKETU: Since the minister has pledged to accomplish this himself, success is easy. Why should I remain inactive? Are my forces ready to march while they wait for some weakness in the enemy?

RAKSHASA: Why delay any longer? My lord may set out upon the campaign of victory.

MALAYAKETU: Has the minister found some weakness in the enemy?

RAKSHASA: Yes.

MALAYAKETU: What is it?

RAKSHASA: A weakness in the ministry itself. Chandragupta has broken with Chanakya.

MALAYAKETU: Revered sir, weakness in the ministry is indeed a weakness.

RAKSHASA: It would be so in the realm of another king, but not in Chandragupta's case.

MALAYAKETU: Minister, that is not so. Chanakya's faults merely displeased Chandragupta's subjects. Now that he has been removed, those who already loved Chandragupta will love him still more.

RAKSHASA: No. The subjects fall into two classes: supporters of Chandragupta and unshakable devotees of the Nanda family. Chanakya's faults angered Chandragupta's supporters, not the Nanda loyalists. They are enraged by Chandragupta's ingratitude in destroying the Nanda house. Lacking a worthy master, they have followed Chandragupta. Now they find in me a leader whose power to destroy the enemy is universally acknowledged. They will soon abandon him and seek refuge with my lord. Let my own example prove it.

MALAYAKETU: Revered sir, is this the only reason for attacking Chandragupta, or are there others?

RAKSHASA: There are many others, but this is the most important.

MALAYAKETU: How is it the most important, Minister? Can Chandragupta not appoint another minister and adopt suitable measures?

RAKSHASA: No, he cannot. That would be possible for a king accustomed to independent government. But the wicked Chandragupta has always favoured government by a minister. How can he now adopt suitable measures on his own?

Just as a newborn infant, dependent upon its mother's breast, cannot live even for a moment without it, so an inexperienced and ignorant king, dependent upon a minister, cannot remain independent for even a moment.

MALAYAKETU **[ASIDE]:** Fortunately, I do not favour government by a minister.

[Aloud.] Even so, an attack upon an enemy who suffers weakness in the ministry and many other disadvantages must certainly succeed.

RAKSHASA: My lord may be completely confident. Every circumstance favours you. The city of Pataliputra remains devoted to the Nandas. Chanakya is estranged from Chandragupta. The Maurya is a new king. And I am here—merely to show the road. In these conditions, nothing stands between us and success except the absence of my lord's command.

MALAYAKETU: If the minister considers this the proper time for the campaign, why should I remain inactive?

My elephants, truly reddened with vermilion, towering in height, streaming with ichor, dark in colour, roaring mightily and breaking banks with their tusks, will scatter the so-called Shona River in a hundred directions—the river with high banks, flowing water, dark with durva grass, sweetly rippling and breaking its own shores.

And—

The ranks of my elephants, roaring deeply and pouring streams of ichor, will surround Pataliputra as lines of storm clouds pour rain upon the Vindhya mountains.

[*MALAYAKETU and BHAGURAYANA exit.*]

RAKSHASA: Is any servant there?

PRIYAMVADAKA [*ENTERING*]: Command me, my lord.

RAKSHASA: Priyamvadaka, is there an astrologer at the door?

PRIYAMVADAKA: A kshapanaka.

RAKSHASA [*TAKING IT AS AN ILL OMEN*]: What? A repulsive mendicant?

PRIYAMVADAKA: Jivasiddhi.

RAKSHASA: Ah—he is welcome. Send him in.

PRIYAMVADAKA: As my lord commands.

[*Exit.*]

[*JIVASIDDHI, the Buddhist mendicant, enters.*]

JIVASIDDHI:

Follow the teaching of the Arhats, which cures those afflicted by the disease of delusion. At first it offers only stern instruction, but in the end it brings true welfare.

[*Approaching RAKSHASA.*] May the revered lord attain liberation.

RAKSHASA: Venerable sir, name the date on which we should set out on our campaign.

JIVASIDDHI [*AFTER A LITTLE THOUGHT*]: Revered lord, I have determined it. The afternoon of the full-moon day is auspicious in every respect. The constellation too favours my lord's journey from north to south.

Furthermore—

At the hour of departure Mercury's sign will be in the ascendant, the sun will be descending toward sunset, the full moon will rise in complete radiance, and the sudden appearance of Ketu will end in his setting.

RAKSHASA: Venerable sir, the lunar date itself appears unfavourable.

JIVASIDDHI: Revered lord, the lunar date has one degree of importance, the constellation four, and the moon a hundred. So declares the science of astrology. Therefore the moment touched by Mercury's sign is auspicious. Avoid only the inauspicious interval of the Bhadra karana. The moon's favour will bring my lord great advantage.

RAKSHASA: Venerable sir, I shall consult other astrologers as well.

JIVASIDDHI: Let the revered minister do as he pleases. I am going.

RAKSHASA: What has happened? Is the venerable sir angry with me?

JIVASIDDHI: I am not angry with you.

RAKSHASA: Then who is?

JIVASIDDHI: The divine power that rules human fortune is angry, because you trust foreigners and slight your own people.

[*Exit.*]

RAKSHASA: Priyamvadaka, what time is it?

PRIYAMVADAKA [*ENTERING*]: The sun is nearing its setting.

RAKSHASA [*RISING*]: Indeed, the sun is about to set.

Just as the shadow of a tree that worships the sun at dawn moves westward when the sun rises but abandons its lord when the sun sets, so a servant deserts his master when that master's importance declines.

[*All exit.*]

ACT V

[*SIDDHARTHAKA enters carrying a sealed letter and a casket of ornaments.*]

SIDDHARTHAKA: O Lord!

The climbing vine of Chanakya's policy, watered by intelligence from the vessels of time and place, has begun to bear the precious fruit of fulfilled purpose.

I carry the letter that the revered Chanakya earlier had Shakatadasa write and that was sealed with Minister Rakshasa's signet. This casket of ornaments too bears the same seal. I shall pretend that I am travelling to Pataliputra.

[After a few steps, seeing a Buddhist mendicant.] Ah, a kshapanaka is coming. I shall wait for him.

[*JIVASIDDHI, the Buddhist mendicant, enters.*]

JIVASIDDHI:

I bow to the Arhats, who through profound knowledge attain nirvana in this world by the highest path.

SIDDHARTHAKA: Venerable sir, I salute you.

JIVASIDDHI: May you attain liberation, good man.

[Looking closely.] You are setting out on a journey.

SIDDHARTHAKA: How did you know, venerable sir?

JIVASIDDHI: What is there to know? That letter, which urges you onward, announces it plainly.

SIDDHARTHAKA: You have judged correctly. I am going elsewhere. Tell me, venerable sir, what is the quality of this day?

JIVASIDDHI [**LAUGHING**]: Good man, your head is already being shaved, and you ask which constellation rules the day!

SIDDHARTHAKA: What harm is there in asking, even if it is late? If the day is auspicious I shall go; if not, I shall turn back.

JIVASIDDHI: Even if today were perfectly auspicious, you could not leave Malayaketu's camp.

SIDDHARTHAKA: How is that, venerable sir? Tell me.

JIVASIDDHI: Listen. Formerly one could come and go without restriction. But now that Pataliputra is near, no one may enter or leave the camp without a pass. If you possess a pass from Bhagurayana, you may go safely. Otherwise remain here, lest the guards bind your hands and feet and drag you before his tribunal.

SIDDHARTHAKA: Do you not know that I am Siddharthaka, an attendant of the revered Rakshasa? Who has the power to stop me, even without a pass?

JIVASIDDHI: Whether you serve Rakshasa or a real demon, there is no way out without a pass.

SIDDHARTHAKA: Forgive me, venerable sir, and bless my undertaking.

JIVASIDDHI: Go, good man. I bless your undertaking. I shall now ask Bhagurayana for a pass myself.

[*They exit in different directions.*]

END OF THE INTERLUDE

[*BHAGURAYANA enters with an ATTENDANT.*]

BHAGURAYANA [**ASIDE**]: How astonishingly changeable is the policy of the revered Chanakya!

I marvel at the methods of statesmen, which, like the workings of fate, assume many forms. According to the purpose, a policy may sometimes be simple to understand and sometimes exceedingly intricate; sometimes fully visible and sometimes unseen; sometimes it leaves only the faintest clue, and sometimes its objective expands into a vast design.

[Aloud.] Bhasuraka, the prince wishes me to remain near him. Bring me a seat in this public audience pavilion.

ATTENDANT: Here is a seat, my lord. Please sit.

BHAGURAYANA [**SITTING**]: Bring before me anyone who seeks a pass.

ATTENDANT: As my lord commands.

[*Exit.*]

BHAGURAYANA: How painful it is to deceive Prince Malayaketu, who loves me so deeply. Yet—

A man who has become another's servant has sold his body for momentary gain, surrendering the nobility of his birth, his shame, his honour and even the value of his name. What room remains for him to debate what is right or wrong?

[*MALAYAKETU enters with the female DOORKEEPER VIJAYA.*]

MALAYAKETU [ASIDE]: Troubled by many suspicions, my mind can reach no decision about Rakshasa.

Will his deep devotion to the Nanda family lead him to make peace with the clever Maurya—a descendant of that line—now that Chandragupta has dismissed Chanakya? Or will he remain faithful to his promise and continue to serve me? My mind turns ceaselessly in doubt, as though fixed upon a potter's wheel.

[Aloud.] Vijaya, where is Bhagurayana?

VIJAYA: My lord, he is here, issuing passes to those who wish to leave the camp.

MALAYAKETU: Vijaya, remain here while I cover his eyes from the other side before he sees me.

VIJAYA: As my lord commands.

ATTENDANT [ENTERING]: My lord, a Buddhist mendicant wishes to see you for a pass.

BHAGURAYANA: Admit him.

ATTENDANT: As my lord commands.

[*Exit.*]

JIVASIDDHI [ENTERING]: Revered sir, may you attain liberation.

BHAGURAYANA [ASIDE]: Ah, this is Rakshasa's friend Jivasiddhi.

[Aloud.] Venerable sir, I presume you are travelling on some business of Rakshasa.

JIVASIDDHI [COVERING HIS EARS]: I reject that sinful thought. I am going where Rakshasa's name will never be heard.

BHAGURAYANA: Venerable sir, you seem deeply angry with your friend. What offence has Rakshasa committed against you?

JIVASIDDHI: Revered sir, Rakshasa has committed no offence. Unfortunately, I myself have become the author of my own misfortune.

BHAGURAYANA: Venerable sir, you make me curious.

MALAYAKETU [ASIDE]: And me as well.

BHAGURAYANA: I wish to hear the matter.

MALAYAKETU [ASIDE]: So do I.

JIVASIDDHI: What will you do after hearing it?

BHAGURAYANA: If it is secret, say no more.

JIVASIDDHI: It is not secret.

BHAGURAYANA: If it is not secret, tell me.

JIVASIDDHI: Revered sir, it is no secret—but I shall not tell you.

BHAGURAYANA: Then I shall not give you a pass.

JIVASIDDHI [ASIDE]: He is determined to know. It is proper that I tell him.

[Aloud.] Since I cannot avoid it, I shall speak. Listen, revered sir.

When I formerly lived in Pataliputra, I became Rakshasa's friend. During that time Rakshasa secretly used a poison-maiden to murder Emperor Parvateshvara.

MALAYAKETU [SIGHING, ASIDE]: Alas! What do I hear? Rakshasa murdered my father, not Chanakya?

JIVASIDDHI: Then the villain Chanakya, taking me for an accomplice in the murder because I was Rakshasa's friend, humiliated me and banished me from the city. Even now Rakshasa, skilled in every political game, proposes something that may banish me from life itself.

BHAGURAYANA: That sinful deed was committed not by Rakshasa but by the villain Chanakya, who did not wish to give Parvateshvara the half of the kingdom he had promised. That is what I have heard.

JIVASIDDHI [COVERING HIS EARS]: May Lord Buddha free me from sin! The very name of the poison-maiden had never reached Chanakya's ears.

BHAGURAYANA: Venerable sir, take this pass. Come and repeat this statement before the prince.

MALAYAKETU [ADVANCING WITH TEARS IN HIS EYES]: My friend, I have heard the statement made by my enemy's friend. It doubles the pain of my father's murder and tears through my ears.

JIVASIDDHI [ASIDE]: Ah! The foolish Malayaketu has heard everything. My task is accomplished.

[Exit.]

MALAYAKETU [LOOKING UPWARD]: Rakshasa! This is grossly unjust.

You murdered my father, who trusted you, regarded you as his friend, surrendered everything to your care and lived without fear. At his fall, his relatives' tears flowed. You are Rakshasa—a demon in name, and demonic in deed!

BHAGURAYANA [ASIDE]: The revered Chanakya ordered that Rakshasa's life be preserved. I shall act accordingly.

[Aloud.] I beg my lord not to yield to anger. Take your seat. I have something to say.

MALAYAKETU [SITTING]: My friend, what do you wish to say?

BHAGURAYANA: My lord, among those who conduct political affairs, the distinctions between friend, enemy and neutral depend upon political purpose, not upon personal affection as among ordinary men.

At that time King Parvateshvara was, from Rakshasa's political perspective, the only obstacle to restoring Sarvarthasiddhi, for he was more powerful than Chandragupta. Thus Parvateshvara was Rakshasa's true political enemy. That is why Rakshasa acted as he did. In these circumstances I do not see the deed as an extreme offence.

Consider, my lord.

According to political purpose, a friend's enemy may become a friend and an enemy's friend an enemy. Politics gives a man a kind of rebirth in which the relationships of the former life are forgotten. Therefore do not condemn Rakshasa for this action. Keep him satisfied until you have secured the Nanda empire. After that, my lord is free to retain or dismiss him.

MALAYAKETU: My friend, I agree. You speak correctly. The death of the minister would disturb the other elements of the state and might ultimately endanger my success.

ATTENDANT [ENTERING]: Victory to my lord.

[Turning to BHAGURAYANA.] My lord, the captain of the guard reports that a man has been caught attempting to leave the camp without a pass. He carries a letter. My lord should examine him.

BHAGURAYANA: Bring him in, good man.

ATTENDANT: As my lord commands.

[Exit.]

[SIDDHARTHAKA enters in chains, followed by an ATTENDANT.]

SIDDHARTHAKA [ASIDE]: I bow to the spirit of dutiful loyalty, guardian of men like me, which turns its face away from every calculation of the merit or danger of a mission.

ATTENDANT [APPROACHING BHAGURAYANA]: My lord, here is the man.

BHAGURAYANA [LOOKING AT HIM]: Good man, are you newly arrived, or are you someone's servant?

SIDDHARTHAKA: My lord, I am an attendant of the revered Rakshasa.

BHAGURAYANA: Then why were you leaving the camp without a pass?

SIDDHARTHAKA: My business is urgent.

BHAGURAYANA: Can any business be so urgent that it excuses disobedience to the king's command?

MALAYAKETU: Bhagurayana, take the letter.

BHAGURAYANA [TAKING IT]: Here is the letter.

[Examining the seal.] The seal bears the name "Rakshasa."

MALAYAKETU: Open it. Spread out the sheet and show it to me.

[BHAGURAYANA opens the letter and shows it to the prince.]

MALAYAKETU [READING]: "Hasti. A certain person, from a certain place and in a certain place, submits to a certain high official:

“By dealing with the writer’s enemy, the truthful man has proved his truthfulness. While keeping his promise, he must now reward the writer’s friends—who have concluded an agreement—according to his word. Once they are satisfied to this extent, by destroying the enemy of the man whom he serves he will render the writer true service. One of these friends desires the enemy’s elephants, another his treasury, and another his territory. The truthful man does not forget such matters; the writer now merely reminds him. The writer acknowledges that the three ornaments sent earlier have been received. Let the recipient accept the trifling gift sent with this letter. The trusted bearer Siddharthaka will deliver the oral token.”

MALAYAKETU: Whose letter is this, Bhagurayana?

BHAGURAYANA: Siddharthaka, whose letter is it?

SIDDHARTHAKA: My lord, I do not know.

BHAGURAYANA: What? Rogue! You carry a letter and do not know whose it is? Never mind that—who is to receive the oral token from you?

SIDDHARTHAKA [TREMBLING WITH FEAR]: My lord—you are.

BHAGURAYANA: I am to receive it? What are you saying?

SIDDHARTHAKA: My lord, you have caught me. I do not know what to say.

BHAGURAYANA [ANGRILY]: You will know immediately.

[To the ATTENDANT.] Bhasuraka, take him away and whip him thoroughly until he tells everything.

ATTENDANT: As my lord commands.

[He takes SIDDHARTHAKA out and returns.]

My lord, while we were whipping this man, this sealed casket fell from under his arm.

BHAGURAYANA [EXAMINING IT]: Its seal too bears the name “Rakshasa.”

MALAYAKETU: It must be the gift mentioned in the letter. Keep the seal intact until it is noted, then open the casket and show it to me.

[BHAGURAYANA opens the casket and shows it to the prince.]

MALAYAKETU [LOOKING]: Ah! These are the very ornaments I removed from my own body and sent to Rakshasa.

The matter is clear. The recipient of the letter must be Chandragupta.

BHAGURAYANA: Every doubt will soon be removed.

[To the ATTENDANT.] Good man, whip him again.

ATTENDANT: As my lord commands.

[He goes out and returns with SIDDHARTHAKA.]

Under the lash, this man says he will tell the matter only to the prince himself.

MALAYAKETU: Then speak.

SIDDHARTHAKA [FALLING AT THE PRINCE’S FEET]: I beg the prince to promise me safety.

MALAYAKETU: A man who is no longer free is already safe. Continue, good man.

SIDDHARTHAKA: May the prince graciously listen. The revered Rakshasa gave me this letter and sent me to Chandragupta.

MALAYAKETU: Now I wish to hear the oral token.

SIDDHARTHAKA: My lord, the minister told me that the oral message was this:

“Chitravarman, king of Kuluta; Simhanada, king of Malaya; Pushkaraksha, king of Kashmir; Sindhusena, king of Sindhu; and Meghaksha, king of Persia—these five foreign chiefs are my dear friends. The first three desire Malayaketu’s territory; the other two desire his elephants and treasury. Let the prince give them what was promised. Nothing has pleased me so greatly as the dismissal of Chanakya.”

MALAYAKETU [ASIDE]: What is this? Are Chitravarman and the other four plotting against me? It must be so. They are extremely close to Rakshasa; therefore it is possible.

[Aloud.] Vijaya, I wish to see Minister Rakshasa.

VIJAYA: As my lord commands.

[Exit.]

[*RAKSHASA enters in his own tent, deep in anxious thought, attended by a servant.*]

RAKSHASA [**ASIDE**]: To tell the truth, my mind is not free from doubt, for many deserters from Chandragupta have joined my army. For—

An army whose proven ability suits the objective, strengthened by reinforcements and free of hostile elements, brings victory. But a commander who relies upon untested troops mixed from friends and enemies and unsuited to the purpose meets defeat.

Yet I need not doubt. The deserters in my army have already been tested and reassured.

[*Aloud.*] Priyamvadaka, in my name tell the foreign chiefs who follow the prince to take their proper places in the order of march, for day by day we draw nearer to Pataliputra.

Let the Khasa and Shabara chiefs advance behind me with their forces. Let the Yavana chief and the chief of Gandhara guard the centre. Let the brave Shaka chief and the Huna chief remain in the rear. And let the remaining foreign rulers—the king of Kuluta and the others—take positions around Prince Malayaketu in the order of march.

PRIYAMVADAKA: As my lord commands.

[*Exit.*]

VIJAYA [**ENTERING**]: Victory to my lord. The prince summons you.

RAKSHASA: Good lady, wait a moment.

[*Calling.*] Is anyone there?

ATTENDANT [**ENTERING**]: Command me, my lord.

RAKSHASA: Good man, tell Shakatadasa that it is not fitting to appear before the prince without adornment, since the prince has already given me an ornament. Let him bring one of the three ornaments we purchased.

ATTENDANT: As my lord commands.

[*He goes and returns with an ornament.*]

My lord, here is the ornament.

RAKSHASA [**PUTTING IT ON AND RISING**]: Good lady, show me the way to the royal pavilion.

VIJAYA: Follow me, my lord.

RAKSHASA [**ASIDE**]: High office is a source of fear even to an innocent servant.

First there is fear of the master. Then fear of fellow servants weighs upon the mind. The prominence of a great man arouses the hatred of the wicked, and his heart remains filled with apprehension of an undeserved fall.

VIJAYA [**AFTER WALKING SOME DISTANCE**]: My lord, there is the prince. Please advance.

RAKSHASA [**SEEING THE PRINCE**]: Ah, he is there.

He stares fixedly ahead, then, as though crushed by thought, rests his moon-like face upon his hand.

[*Approaching.*] Victory to the prince.

MALAYAKETU: Revered Minister, I salute you. Take this seat.

[*RAKSHASA sits.*]

MALAYAKETU: I regret, revered sir, that I see you only after so long a delay.

RAKSHASA: I have earned the prince's displeasure because I was arranging the order of the army's march.

MALAYAKETU: Revered Minister, I wish to know how you arranged the order of march.

RAKSHASA: My lord, these were my directions for the chiefs who follow the prince.

[*He repeats his earlier orders concerning the Khasa and Shabara chiefs and the others.*]

MALAYAKETU [**ASIDE**]: Ah! The chiefs who are prepared to kill me and serve Chandragupta have been ordered to remain around me!

[*Aloud.*] Revered sir, has anyone come from or gone to Pataliputra?

RAKSHASA: My lord, there is no longer any need for messengers to come and go. I shall be there myself within a few days.

MALAYAKETU [**ASIDE**]: I know that.

[*Aloud.*] If so, why did the revered Minister send this man with a letter?

RAKSHASA [LOOKING]: Ah! It is Siddharthaka.

SIDDHARTHAKA: I respectfully submit that, under the lash—

[He breaks off and looks down.]

MALAYAKETU: Bhagurayana, fear or shame will prevent him from speaking before his master. Tell the revered Minister yourself.

BHAGURAYANA: As my lord commands.

[To RAKSHASA.] Minister, this man says that you sent him to Chandragupta with a letter and an oral token.

RAKSHASA: Siddharthaka, is this true?

SIDDHARTHAKA [ASHAMED]: Yes. Under the lash, I said so.

RAKSHASA: It is false. What will a man not say under torture?

MALAYAKETU: Bhagurayana, show him the letter. He may hear the oral token from his servant afterward.

BHAGURAYANA: Minister, here is the letter.

RAKSHASA [READING IT SILENTLY]: Prince, this is a fabrication of the enemy.

MALAYAKETU: These ornaments too were sent with the letter as a gift from the revered Minister. How, then, can it be an enemy fabrication?

RAKSHASA [EXAMINING THEM CLOSELY]: My lord, these are not a gift. They are the ornaments my lord sent to me. I gave them to Siddharthaka as a reward for a most satisfactory service.

BHAGURAYANA: Ornaments of such value—and gifts of my lord's favour—were given to a man like this?

MALAYAKETU: Revered Minister, the letter says that Siddharthaka will also deliver an oral token.

RAKSHASA: What oral token? I deny the letter itself.

MALAYAKETU: Then whose seal is this?

RAKSHASA: A skilful forger can counterfeit a seal as well.

BHAGURAYANA: My lord, the Minister speaks correctly.

[To SIDDHARTHAKA.] Good man, who wrote this letter?

[SIDDHARTHAKA looks helplessly toward RAKSHASA and remains silent.]

BHAGURAYANA: Good man, answer if you wish to avoid another whipping.

SIDDHARTHAKA: Shakatadasa wrote it, my lord.

RAKSHASA: If Shakatadasa wrote it, it is as good as written by me.

MALAYAKETU: Vijaya, I wish to see Shakatadasa.

BHAGURAYANA [ASIDE]: The revered Chanakya's spies never propose an action with a doubtful outcome. I shall manage this.

[Aloud.] My lord, Shakatadasa will never admit in Minister Rakshasa's presence that he wrote it. Let some other specimen of his writing be brought. The similarity of the hand will decide the matter by itself.

MALAYAKETU [TO VIJAYA]: Do so.

BHAGURAYANA: My lord, let the signet ring also be brought.

MALAYAKETU [TO VIJAYA]: Bring both.

VIJAYA: As my lord commands.

[She goes and returns.]

My lord, here is another document written by Shakatadasa, and here is the signet.

MALAYAKETU [COMPARING THEM]: The handwriting is exactly the same.

RAKSHASA [ASIDE]: Yes. The handwriting is exactly the same.

Has Shakatadasa, loving mortal relationships more than immortal fame, forgotten loyalty to his master through longing to be reunited with his wife and son?

There can be no doubt.

He wears this signet upon his finger. Siddharthaka is his friend. Therefore this letter of conspiracy must indeed be his—the matching handwriting proves it. Clearly, longing to see his beloved family again, Shakatadasa abandoned devotion to his master and joined the enemy, masters of sowing dissension, in this base act.

MALAYAKETU [LOOKING AT RAKSHASA]: Revered Minister, in your letter you write that you received three ornaments sent by the honoured recipient. Is this one of them?

[Examining it closely, aside.] This is an ornament my father used to wear.

[Aloud.] Revered Minister, why did you accept this ornament?

RAKSHASA: I purchased it.

MALAYAKETU: Vijaya, do you recognise this ornament?

VIJAYA [LOOKING CLOSELY AND SIGHING]: How could I fail to recognise it, my lord? Emperor Parvateshvara used to wear it.

MALAYAKETU [SIGHING]: Alas, Father!

You were the ornament of our dynasty, and you wore this ornament that was worthy of you. Adorned with it, you looked like an autumn evening—your face shining like the moon amid a field of stars.

RAKSHASA [ASIDE]: She says Parvateshvara wore it? Then the merchant who sold these ornaments to me must certainly have been sent by Chanakya.

MALAYAKETU: Revered Minister, how could you acquire by purchase an ornament once worn by my father and afterward taken by Chandragupta? Perhaps—

Greedy for greater gain, Chandragupta sold you the ornament, and you cruelly paid for it with my own life.

RAKSHASA [ASIDE]: How convincingly the accusation has been constructed! I cannot deny the letter, for the seal is mine. Who will believe that Shakatadasa betrayed me? And who will think it possible that the Maurya king sold ornaments for money? In these circumstances only one answer is fitting: to accept the blame.

MALAYAKETU: I ask the revered Minister—

RAKSHASA: Ask me without “revered,” Prince. I am no longer worthy of it.

MALAYAKETU:

The Maurya is the son of your former master, whom you ought to serve with complete submission; I am the son of your friend, and I submit completely to you. You should obey his commands, while I obey yours. Whatever he gives you, he may give; whatever I receive from you, I receive. Under him the ministry would be servitude; with me, your service is honoured independence. What greater advantage can tempt you to so base an act?

RAKSHASA: Prince, reverse the statement. The words of the accusation decide the truth.

[He repeats the substance of “The Maurya is the son of your former master...” with the pronouns reversed.]

MALAYAKETU [POINTING TO THE LETTER AND CASKET]: Then whose work is all this?

RAKSHASA [SIGHING]: It is the work of fate.

That fate killed my wise, high-born and discerning master King Nanda, in whose eyes even I, a humble servant, was not held beneath royal princes. All this is the unfathomable work of wicked fate, which defeats human effort.

MALAYAKETU [FURIOUS]: What? Do you still hide behind words? Is this the work of fate, not greed? Base ingrate!

First you murdered my father—who trusted you—with a poison-maiden. And now, shame upon you, you sell me, who honoured you as royal minister, to the enemy for the price of my flesh!

RAKSHASA [ASIDE]: As the saying goes, “A wound upon a boil.”

[Aloud.] I am innocent of Parvateshvara’s murder.

MALAYAKETU: Then who killed my father?

RAKSHASA: Ask fate.

MALAYAKETU: I shall ask not fate but the Buddhist mendicant Jivasiddhi!

RAKSHASA [ASIDE]: Damnation! Jivasiddhi too has been won over by Chanakya. Alas, the enemy has penetrated the deepest secret of our camp!

MALAYAKETU: Bhasuraka, carry this order to General Shikharasena:

“Chitravarman, king of Kuluta; Simhanada, king of Malaya; Pushkaraksha, king of Kashmir; Sindhusena, king of Sindhu; and Meghaksha, king of Persia—the five chiefs who became Rakshasa's friends—have proposed to kill me and enter Chandragupta's service. The first three desire my kingdom: bury them alive in deep pits. The other two desire my elephant corps: have them trampled to death by elephants.”

ATTENDANT: As my lord commands.

[*Exit.*]

MALAYAKETU: Rakshasa, I am not an unjust demon; I am Malayaketu. Go now and serve Chandragupta completely. Behold—

I shall at once destroy Vishnugupta and Chandragupta, together with you who came to attack me, just as wicked policy destroys righteousness, wealth and pleasure. Bhagurayana, there is no need for further delay. Let my army march upon Pataliputra this very hour and lay siege to it.

Dust from my cavalry's hooves, rising from the earth mixed with streams of elephant ichor, will fall upon the heads of our enemies, darkening the cheeks of the women of Gauda whitened with lodhra pollen and dulling the lustre of their black, curling hair.

[*MALAYAKETU, BHAGURAYANA and the attendants exit.*]

RAKSHASA [IN ANGUISH]: Alas, deluded man that I am! Chitravarman and the other four have also been killed!

What is this? Whatever Rakshasa does destroys his friends, not his enemies.

What, then, shall an unfortunate man like me do?

Shall I go to a forest of penance? No. Penance will not quiet my vengeful heart.

Shall I follow my master Nanda into the next world? No. To do so while the enemy lives would be the act of a woman.

Shall I take the sword as my only companion and hurl myself upon the enemy army? No. That too would be wrong, for my heart, eager to secure Chandanadasa's release, restrains me. If it did not, I would be guilty of ingratitude.

[*RAKSHASA exits.*]

ACT VI

[SIDDHARTHAKA enters joyfully, adorned with costly rewards.]

SIDDHARTHAKA:

Glory to Krishna, who destroyed the demon Keshi, dark as a storm cloud. Glory also to Chandragupta, the moon who delights the eyes of men. But above all, glory to the policy of the revered Chanakya, which has brought the work of victory to completion and destroyed the enemy utterly.

Now, after many days, I shall see my dear friend Samriddharthaka.

[He walks a few steps and looks ahead.]

[SAMRIDDHARTHAKA enters.]

SAMRIDDHARTHAKA:

Fate torments a man when he is separated from a beloved friend. Even wine, festivals and family gatherings continually awaken painful memories.

I hear that my dear friend Siddharthaka has arrived from Malayaketu's camp. I shall look for him.

[He walks a few steps and looks ahead.]

Ah! There is Siddharthaka.

SIDDHARTHAKA [APPROACHING HIM]: My friend, I hope you are well?

[They embrace.]

SAMRIDDHARTHAKA: How can I be well when you arrived this morning and did not come to my house?

SIDDHARTHAKA: Forgive me, my friend. The moment the revered Chanakya saw me, he commanded, "Siddharthaka, go and carry the joyful news to the illustrious King Chandra." I delivered the news and received these royal rewards. After that I came straight to your house to see my dear friend.

SAMRIDDHARTHAKA: My friend, if I am permitted to hear it, what was the joyful news you told the illustrious Chandra?

SIDDHARTHAKA: What could there be that you are not permitted to hear? Listen.

The foolish Malayaketu, bewildered by the revered Chanakya's political devices, dismissed Rakshasa and immediately killed the five principal foreign chiefs—Chitravarman and the others. Seeing him as thoughtless and cruel, the remaining chiefs abandoned the camp and returned to their own countries. Their troops too, suddenly seized by fear and eager to depart, followed them. Then Bhadrabhata, Purudatta, Dingarata, Balagupta, Rajasena, Bhagurayana, Rohitaksha and Vijayavarman arrested Malayaketu.

SAMRIDDHARTHAKA: My friend, people said that Bhadrabhata and his companions had become disaffected with our lord Chandra and entered Malayaketu's service. What has happened, then? The action begins in one fashion and ends in another—like the play of an unskilful dramatist!

SIDDHARTHAKA: My friend, the methods of the revered Chanakya are as unfathomable as the workings of fate. I can only bow before them.

SAMRIDDHARTHAKA: Never mind. What happened next?

SIDDHARTHAKA: The revered Chanakya immediately marched out with a great force of selected soldiers and took possession of the entire foreign army, which had been left without commanders.

SAMRIDDHARTHAKA: Where is that army now, my friend?

SIDDHARTHAKA: It is approaching. Listen—

The elephants, looking like rain-bearing clouds, roar in delight as the ichor flows from their temples. Look—the horses, fitted with decorated harness, leap and quiver in their hindquarters for fear of the whip.

SAMRIDDHARTHAKA: All that is well, my friend. But how did the revered Chanakya, who had so publicly and unquestionably resigned the ministry, return to office?

SIDDHARTHAKA: Now you, with your ordinary intelligence, wish to solve the labyrinth of Chanakya's policy—a labyrinth even Minister Rakshasa could not unravel!

SAMRIDDHARTHAKA: My friend, where is Minister Rakshasa now?

SIDDHARTHAKA: His story is this: he immediately left Malayaketu's camp and, following the spy Udumbara, turned back toward this city. The revered Chanakya told me so.

SAMRIDDHARTHAKA: My friend, Rakshasa set out with a mighty resolve to restore the Nanda empire. Why is he returning to Pataliputra without accomplishing his purpose?

SIDDHARTHAKA: Remember his love for Chandanadasa.

SAMRIDDHARTHAKA: Then do you hope Chandanadasa will be released?

SIDDHARTHAKA: How can that unfortunate man be released? The revered Chanakya has ordered us both to take him immediately to the execution ground and impale him.

SAMRIDDHARTHAKA [ANGRILY]: Has the revered Chanakya mounted a Chandala executioner, that he commands us to commit such a sinful act?

SIDDHARTHAKA: My friend, can anyone who values his life oppose the revered Chanakya's command? Come. We shall put on the dress of Chandalas and take Chandanadasa to the execution ground.

[They exit.]

END OF THE INTERLUDE

[A MAN enters carrying a rope.]

MAN:

Glory to the rope of Chanakya's policy, made exceedingly strong by strands of the six political measures and fitted with a noose formed from a chain of stratagems, ready to capture the enemy.

[He walks some distance and looks around.]

This is the place the spy Udumbara identified to the revered Chanakya, where, in accordance with Chanakya's order, I am to watch Minister Rakshasa.

[Looking ahead.]

Ah! There is Minister Rakshasa. He is coming this way with his face concealed. I shall hide behind the trees of this deserted garden and see where he settles.

[He goes and hides behind the trees.]

[RAKSHASA enters with a sword, as described.]

RAKSHASA [IN TEARS]: Alas! How grievous!

Royal Fortune, deprived of her master and filled with fear, found another lord; and the people, forgetting their love, followed her like a child blindly following a remarried mother. The faithful followers too, receiving no fruit from their heroic efforts, have cast off the yoke of enterprise. What other course was possible? A body cannot survive long without its head.

And—

Like a shameless woman of low birth, Royal Fortune suddenly abandoned King Nanda of noble lineage, chose Vrishala Chandragupta and clung to him. What can I do? However a man strives, hostile fate defeats his effort.

For—

When Emperor Nanda suddenly departed this world, I made my attempt with the help of the powerful mountain chief Parvataka. When he was killed, I tried with the aid of his son. Yet failure was written into my fate. Surely fate, not the Brahmin Chanakya, is the enemy of the Nanda family.

Why should I grieve over Malayaketu, who lost all judgement?

How could I, Rakshasa—alive and well, still serving my dead master—make peace with the enemy? Yet those senseless foreigners saw nothing. It is no wonder: when fate has thrust a man into the jaws of destruction and death is certain, his mind sees everything in reverse.

Even now Malayaketu will fall into the enemy's hands and die, but Rakshasa will not make peace with Chandragupta. To break one's promise for selfish advantage is a great disgrace; to be defeated by an enemy is no disgrace.

[He looks around in tears.]

This is the part of Pataliputra sanctified by Emperor Nanda's movements.

Here the Emperor used to ride with the reins loosened, draw his bow and strike a moving target. In that part of the garden he would halt and converse. Now, without him, this quarter of Pataliputra watches in stolen silence, and the sight causes me unbearable sorrow.

Where shall an unfortunate man like me go now?

[He looks around.]

Ah, I remember. This is a deserted garden. I shall go there and learn from someone what has happened to Chandanadasa.

A man may discover there what good or evil awaits him.

Once I left the city in royal splendour, surrounded by a thousand chiefs, pointed out by the citizens like the new moon. Today, with every effort defeated, I enter this city's deserted garden alone and in frightened haste, like a thief.

But the great king through whose favour I enjoyed that honour is no more.

[Entering the garden and looking around.]

Alas, what a pitiable sight!

This deserted garden looks like sorrow embodied.

It resembles a family whose vast enterprises have been destroyed; a palace whose great buildings have fallen; a good man's heart burned by grief at the destruction of a friend—the pond is dry; a statesman's design frustrated by hostile fate—the trees are fruitless; and a fool's mind possessed by corrupt policy—the ground is overgrown with weeds.

Moreover—

Serpents, breathing sighs, bind strips of cast-off snakeskin around the severed stumps of branches cut by great sharp axes, while the cooing of pigeons sounds like cries of pain. They do this in sympathy with the trees' suffering, for they once lived in close companionship with them.

And these trees—

Ruined by evil days and sorrowful at the loss of their shade, they seem to prepare for the cremation ground, their insides burned by powerful grief and the process of drying hastened.

I shall rest for a while upon this broken stone seat, fitting for my fallen condition.

[He sits and listens.]

What do I hear? What is this sudden uproar?

The sound of drums, kettledrums and conches, shattering the ears of all who hear it, is so intense that it rebounds instantly from the palaces and seems to spread far away, eager to measure the breadth of the sky.

[After a little thought.]

I understand. It proclaims that the kingdom—or rather Glory herself—rejoices at Malayaketu's capture. [His voice breaks with pain.]

[He sighs.]

Alas, deluded man that I am!

I have been forced to hear the proclamation and witness the spectacle of my enemy's triumph. It seems fate is determined to make me experience it to the full.

MAN [ASIDE]: He has sat down. Now I shall act exactly as the revered Chanakya instructed me.

[Keeping RAKSHASA in view while pretending not to see him, he places the noose around his own neck.]

RAKSHASA [SEEING HIM]: What is this? That man is attempting suicide. Surely he too is afflicted by grief like mine.

I must speak to him.

[Approaching.] Good man, what are you doing?

MAN [SIGHING]: I am doing what an unfortunate man must do when grief-stricken by the death of someone dear.

RAKSHASA [ASIDE]: I understood at once that he suffers as I do.

[Aloud.] Your grief resembles mine. If the cause is not a personal secret or private calamity, I wish to hear it.

MAN: It is neither a personal secret nor a private calamity, my lord. But I cannot endure delay in killing myself. The death of a beloved friend overwhelms me with grief.

RAKSHASA [SIGHING, ASIDE]: Alas, deluded man that I am! This man is better than I, for I have remained so indifferent to my friend's suffering.

[Aloud.] Since it is no personal secret or private calamity, I wish to hear it.

MAN: You press me too strongly, my lord. Therefore I shall tell you.

In this city lives a wealthy jeweller named Jishnudasa.

RAKSHASA [ASIDE]: I know that Jishnudasa is Chandanadasa's intimate friend.

MAN: That beloved friend of mine—

RAKSHASA [DELIGHTED, ASIDE]: Ah! He calls Jishnudasa his "beloved friend." He must be closely connected with him and will know what has happened to Chandanadasa.

MAN: He gave everything he possessed to the poor and immediately left the city, intending to burn himself to death. I have therefore come to this deserted garden to kill myself before I hear of his terrible end.

RAKSHASA: Why does your friend intend to burn himself?

Is he afflicted by an incurable disease beyond the power of medicine?

MAN: No.

RAKSHASA:

Has he been destroyed by the king's anger, deadly as fire and poison?

MAN: Not that either. Chandragupta does not deal cruelly with the people.

RAKSHASA:

Is he tormented by desire for another man's wife, who is beyond his reach?

MAN: God protect us from sin! He is incapable of such improper conduct.

RAKSHASA:

Then is one of his friends, like yours, dying helplessly?

MAN: That is exactly the case, my lord.

RAKSHASA [UNEASILY, ASIDE]: Chandanadasa is Jishnudasa's beloved friend. Chandanadasa's death must therefore be the cause of Jishnudasa's intended suicide. My heart, filled with affection for him, trembles with anxiety.

[Aloud.] Good man, I too wish to hear a full account of your beloved friend's noble action.

MAN: I am an unfortunate man who might otherwise proceed without interruption to my death.

RAKSHASA: Good man, tell the story that deserves to be heard.

MAN: Since I have no choice, I shall speak. Listen, my lord.

RAKSHASA: Good man, I am listening with full attention.

MAN: In the Flower-Market quarter of this city lives a wealthy jeweller named Chandanadasa.

RAKSHASA [STRICKEN, ASIDE]: Alas! Fate has opened the floodgate of my sorrow. Heart, gather your courage now, for something unbearably painful is about to be heard.

[Aloud.] Yes, good man. He is known as a steadfast friend and a great soul. What of him?

MAN: He is Jishnudasa's beloved friend.

RAKSHASA: Never mind that. Continue.

MAN: Therefore Jishnudasa today made this request of Chandragupta, as befits a loving friend:

RAKSHASA: What request?

MAN: "If His Majesty will permit it, I possess sufficient wealth. Please accept it and release my beloved friend Chandanadasa in exchange."

RAKSHASA [ASIDE]: Well done, Jishnudasa! This is the proof of friendship.

For money, sons murder parents and parents murder sons as though they were strangers; for money, friend abandons affection for friend. Yet you offered that very wealth for a friend in distress. You are the finest merchant among merchants. Your wealth has found its true purpose.

[Aloud.] What did the Maurya say when he heard this?

MAN: Chandragupta replied to Jishnudasa: "I did not imprison Chandanadasa for money. I imprisoned him because he refuses to surrender Minister Rakshasa's family, though I have repeatedly demanded it. If he surrenders them, he will be released; otherwise he will die." With these words, he ordered Chandanadasa taken to the execution ground. Jishnudasa then left the city, thinking,

"I shall enter the fire before I hear of the terrible end of my friend Chandanadasa." And I came to this deserted garden to kill myself before I hear of the terrible end of my friend Jishnudasa.

RAKSHASA: Has Chandanadasa been impaled, then?

MAN: No, not yet. Even in his final moments he is repeatedly ordered to surrender Minister Rakshasa's family; and repeatedly he refuses, steadfast in his love for his friend. For this reason his death has been delayed.

RAKSHASA [ASIDE, ADMIRINGLY]: Well done, Chandanadasa! You too are my great friend, and you have proved yourself a refuge to one who sought your protection. You have surpassed even the fame of Shibi, won through guarding a suppliant.

[Aloud.] Go quickly, good man, and prevent Jishnudasa from entering the fire. I shall save Chandanadasa from death.

MAN: How will my lord save him?

RAKSHASA [DRAWING HIS SWORD]: With this—the companion of enterprise.

This sword, coloured like a cloudless sky, bears bright streaks of light like the thrill-lines raised upon a body by love of battle. Its excellence has been proved in the test of war against the strength of the enemy. Beloved companion of my right arm, it urges me—driven wild by love for my friend—toward this daring act.

MAN: My lord, I cannot confidently say that you are the revered Minister Rakshasa—the man whose very name is auspicious—though your intention to save the life of the wealthy jeweller Chandanadasa reveals you as such, for you have fallen into such distress. Grant me the favour of removing my doubt.

[He falls at RAKSHASA'S feet.]

RAKSHASA: Good man, I am indeed that Rakshasa—the man who saw his lord destroyed with his own eyes, brought his friend into danger, earned the name "base," and made his own name unfortunate.

MAN [DELIGHTED, AGAIN FALLING AT HIS FEET]: O Lord! What I longed for has been granted to me.

RAKSHASA: Rise. Do not delay. Tell Jishnudasa that this very moment Rakshasa is saving Chandanadasa from death.

[He starts to leave with his drawn sword, repeating, "This sword, coloured like..."]

MAN: Grant me a moment, revered Minister. I have something to say.

Earlier, the villain Chandragupta ordered Shakatadasa impaled. Someone rescued him from the execution ground and carried him away. The villain Chandragupta then quenched the blazing fire of his anger against Shakatadasa in the blood of the executioners, who were accused of negligence. Since then, whenever the executioners see an unknown man approaching from before or behind with a sword, they immediately kill the prisoner out of concern for their own safety. Therefore, if the revered Minister goes with a sword in his hand, they will hasten the end of the wealthy jeweller Chandanadasa.

[Exit.]

RAKSHASA: How impossible to trace is the path of Chanakya's policy!

If Shakatadasa—whose actions were conducted under my direction—was brought to me by an enemy agent, why did Chanakya angrily kill the executioners? But if that was not so, how was the false letter constructed?

Thought follows thought, and my mind reaches no decision.

[After a little reflection.]

This is not the time to use a sword, for in these circumstances the executioners would punish Chandanadasa at once. A political design bears fruit only after time; what use is it here? Yet remaining neutral is equally wrong, for my beloved friend suffers this terrible death because of me.

Ah—I see the way. I shall offer my own life and free him.

[He throws the sword away.]

[Exit.]

ACT VII

[Enter VAJRALOMAKA, an executioner.]

VAJRALOMAKA: Stand back, good people! Stand back. Keep your distance.

Alas! If you wish to preserve your life, wealth, wife and family, keep away from conduct politically harmful and deadly as poison.

For likewise—

If a man takes something physically harmful, he himself falls ill or dies. But if he undertakes something politically harmful, his entire family is destroyed.

If you doubt the truth of this, look! Chandanadasa is coming. He is being taken to the place of execution because he committed an act politically harmful to the state.

[Looking upward.]

What are you saying, gentlemen? You ask whether there is any means of saving him? Yes. He can be released if he surrenders Minister Rakshasa's family.

[Again looking upward.]

What do you say? Out of honour for those who sought his protection, he will not commit that shameful act merely to save himself? Then know for certain, gentlemen, that he will die. What use is this anxious inquiry about a remedy for him?

[Enter CHANDANADASA, dressed for execution and carrying the stake upon his shoulder, accompanied by his WIFE and SON and followed by the executioner BILVAVAKTRA.]

WIFE [IN TEARS]: Shame!

Shame upon that god of death who kills us like thieves, though even the slightest impropriety has always been feared in our household.

Yes, wicked men make no distinction between those who refrain from sin and those who commit it. Otherwise—

Shame upon hunters who persist in killing innocent deer—creatures that, fearing death, have renounced flesh and live only upon grass.

[Looking around.] Dear Jishnudasa! Why do you not speak to me? Alas, at such a time—and in such a condition—those who remain close are hard to find.

CHANDANADASA [SIGHING]: There is my dear and venerable friend. He looks at me with a sorrowful face and tear-filled eyes, then drags himself toward home.

BILVAVAKTRA: Master Chandanadasa, you have reached the execution ground. Tell your family to stand back.

CHANDANADASA: My dear wife, take our son and return. You must come no farther.

WIFE [SIGHING]: My lord, you are not travelling to another country, but to another world. At such a time it is not right for a faithful wife to turn back.

CHANDANADASA: What, then, have you resolved, my dear?

WIFE: To follow in my husband's footsteps and secure my own blessed fate.

CHANDANADASA: My dear, that is not a wise decision. You must care for this child. He has no experience of the world.

WIFE: May God protect him. Son, bow to your father for the last time.

SON [FALLING AT CHANDANADASA'S FEET]: Father! What shall I do now, left fatherless?

CHANDANADASA: Son, live in a country where Chanakya is not.

BILVAVAKTRA: Master Chandanadasa, the stake has been planted. Prepare yourself now.

WIFE: Alas! Is there no hero who will save us?

CHANDANADASA: Why do you weep now, my dear? King Nanda, who showed mercy to those in distress, has gone to heaven.

VAJRALOMAKA: Bilvavakra, seize Chandanadasa. His people will withdraw of their own accord.

BILVAVAKTRA: I shall, Vajraloman.

CHANDANADASA: Good man, wait a moment. Let me embrace my son.

[He embraces his SON and inhales the scent of his head.]

Since death is certain, my son, I welcome it rather than depart from loyalty to a friend's cause.

SON: Father, need you tell me that? It is the tradition of our family.

VAJRALOMAKA: Seize him now, I tell you.

[The executioners seize CHANDANADASA.]

WIFE [BEATING HER BREAST]: Alas! Is there no hero who will save us?

[RAKSHASA enters, thrusting aside the curtain.]

RAKSHASA: Do not be afraid, good lady!

Executioners! Do not kill Chandanadasa.

Place upon my neck the bridal garland that leads to the kingdom of Death—upon mine, who first watched my master's family perish as though it were an enemy's; who lived at ease while my beloved friend was in danger, as though it were a day of great celebration; and who clung to life though enduring the shame of having been deceived.

CHANDANADASA [SEEING RAKSHASA AND SIGHING]: Minister! What is this?

RAKSHASA: An imitation of your noble deed.

CHANDANADASA: What have you done? You have rendered all my efforts useless.

RAKSHASA: I am accomplishing my purpose. Do not blame me, my friend.

[To the executioners.]

Good man, go and tell the wicked Chanakya—

VAJRALOMAKA: Tell him what?

RAKSHASA:

“Here I am—the man on whose account that venerable man was judged worthy of death. In this corrupted age, when human nature has declined, I have greatly diminished Shibi's fame by offering my own life to save another; and through the excellence of my deed I have even surpassed the noble act of the Buddha.”

VAJRALOMAKA: Bilvavaktra, take Master Chandanadasa and wait for a while beneath that tree in the cremation ground, until I report to the revered Chanakya that Minister Rakshasa is in my hands.

BILVAVAKTRA: Very well, Vajraloman. As you say.

[He leads away CHANDANADASA, his WIFE and SON.]

VAJRALOMAKA: Come, Minister.

[He walks a short distance with RAKSHASA.]

Ho! Is there a gatekeeper here? Tell the revered Chanakya—the man who destroyed the Nanda dynasty and established the Maurya dynasty—

RAKSHASA [ASIDE]: Alas! Even in this condition I must hear that.

VAJRALOMAKA: Minister Rakshasa is in my hands. All his intellectual resources have failed before the revered master's stratagems.

[Enter CHANAKYA. Only his face is visible; his body is covered in fine armour.]

CHANAKYA: Good man!

Who was it that bound in cloth a blazing fire, red within its vast circle of flame? Who caught the ever-moving wind in a net? Who shut within a cage a lion whose mane was fragrant with the rut-fluid of elephants? Who held back with the strength of his arms the terrible ocean filled with crocodiles and other monsters?

VAJRALOMAKA: You did, revered lord—you who are master of statecraft.

CHANAKYA: Do not say so. Say that it was the hostile fate of the Nanda dynasty.

RAKSHASA [ASIDE]: Ah! There before me stands the villain—no, no, I should say—the revered Kautilya.

He is like an ocean, a treasury of every branch of knowledge. It is only my hatred that makes light of his virtues.

CHANAKYA [SEEING RAKSHASA, DELIGHTED]: This is Minister Rakshasa, that great man—

Who for so many days kept both the Maurya army and me continuously awake: the army beneath the crushing burden of military preparation, and my mind beneath the burden of devising plans.

[Removing his armour, he advances toward RAKSHASA.]

Minister Rakshasa, Vishnugupta salutes you.

RAKSHASA [ASIDE]: The title “Minister” is laughable now.

[Aloud.] Please do not touch me, Vishnugupta. I have been polluted by the touch of an outcaste.

CHANAKYA: Minister Rakshasa, this man is no outcaste. He is a servant of the king, named Siddharthaka. You know him. Disguised as a friend, he arranged the letter written in Shakatadasa’s hand—though the unfortunate Shakatadasa knew nothing of its purpose. The other man is also a royal servant. His name is Samriddharthaka.

RAKSHASA [ASIDE]: Fortunately, my mind is now freed from suspicion of Shakatadasa.

CHANAKYA: In brief—

Bhadrabhata and the other supposed malcontents; the forged letter; Siddharthaka’s rescue; the three ornaments offered for sale; the mendicant who was your friend; the grieving man in the deserted garden; and the terrible suffering of the chief of the jewellers—all these things were contrived at Vrishala’s will, solely to bring about a meeting with you, noble sir.

And Vrishala himself is coming to see you. Look—there he is.

RAKSHASA [ASIDE]: There is nothing I can do. I must face him.

[Enter KING CHANDRAGUPTA with his attendants.]

KING [ASIDE]: Ever since my revered teacher defeated that formidable enemy army without striking a blow, I have felt somewhat ashamed.

My arrows, their faces bent as though in grief, are ashamed that the desired result was achieved without their aid; they will vow to remain forever inside the quiver.

But I should not speak so.

A man can certainly defeat his enemies even without drawing his bow, when his revered teacher—vigilant in every matter—keeps watch over all the affairs of the kingdom.

[Approaching CHANAKYA.]

Revered lord, Chandragupta salutes you.

CHANAKYA: Vrishala, you have my blessing. Now salute the venerable Minister Rakshasa.

KING [ADVANCING TOWARD RAKSHASA]: Revered lord, Chandragupta salutes you.

RAKSHASA [LOOKING AT HIM, ASIDE]: So this is Chandragupta—

Who obtained the kingdom at the proper time, just as an elephant gains leadership of the herd, for his excellence had been manifest from childhood.

[Aloud.] Victory to Your Majesty.

KING: Revered lord,

When you—equal to Brihaspati in statecraft—carefully oversee the administration of the kingdom, tell me: what part of the world can I not conquer?

RAKSHASA [ASIDE]: Chandragupta, Chanakya’s pupil, is hinting that I should accept the ministership. No, no—I should not say that. This is Chandragupta’s sincere praise; only my hostility makes me interpret it otherwise. The fame Chanakya has won is entirely deserved. For—

Even an unintelligent minister, when joined to a valiant and virtuous king, assuredly wins fame. But even an infallible minister who attaches himself to a wicked king falls with him like a tree upon a riverbank when the bank collapses.

CHANAKYA: Minister Rakshasa, do you wish Chandanadasa to live?

RAKSHASA: Without question, Vishnugupta.

CHANAKYA: Then accept this sword.

RAKSHASA: No, Vishnugupta. That cannot be. I am unworthy to wield a sword—least of all the sword that you wield.

CHANAKYA: Minister Rakshasa, how can it be that I am worthy and you are not? Gifted man, consider—

The elephants, deprived of the pleasures of bathing, feeding, sport, drink and sleep at will, their backs swollen beneath the ceaseless burden of military equipment; and the horses, worn thin from being constantly held in bridle and saddle—all have suffered through fear of your great prowess, which has crushed the pride of arrogant enemies.

But why say more? Unless you take this sword, Chandanadasa will die.

RAKSHASA: Say no more, Vishnugupta. I submit. Love for my friend compels me to do anything.

CHANAKYA [DELIGHTED, PRESENTING THE SWORD]: Vrishala, I congratulate you. Out of regard for you, Minister Rakshasa has accepted the sword.

KING: Chandragupta fully recognises the favour bestowed by the venerable Minister.

ATTENDANT [ENTERING]: Victory to Your Majesty!

Revered lord, Malayaketu stands in chains at the gate, together with Bhadrabhata, Bhagurayana and the others.

CHANAKYA: Good man, report that to Minister Rakshasa. He now has charge of all such matters.

RAKSHASA [ASIDE]: What am I to do now? Malayaketu has been captured, and I am compelled to advise upon his fate. There is no alternative.

[Aloud.] Your Majesty, it is well known that I spent several months at Malayaketu's court. Therefore let his life be spared.

[*The KING looks toward CHANAKYA, seeking his approval.*]

CHANAKYA: Yes, Vrishala. Minister Rakshasa's first request deserves to be granted.

[*To the ATTENDANT.*]

Good man, tell Bhadrabhata and the others in my name: on Minister Rakshasa's advice, King Chandragupta restores Malayaketu to his ancestral kingdom. They are to accompany him, reinstall him upon his throne, and then return. Tell Vijayapala, commander of the fortress, that King Chandragupta—overjoyed that Minister Rakshasa has accepted the sword—appoints Chandanadasa, chief of the jewellers, supreme head of all the guilds in the city. And let every prisoner be released, except the warhorses and war elephants.

Yet now that Minister Rakshasa directs affairs, what need have we of warhorses or war elephants? Let every captive be released, including the warhorses and war elephants.

ATTENDANT: As the revered lord commands.

[*Exit.*]

CHANAKYA: Now, King Chandragupta and Minister Rakshasa, tell me what further good I may do for you beyond this.

KING: What greater good could there be?

RAKSHASA: If you are still not satisfied, then grant your blessing to this wish—

May my lord Avantivarman—who is the self-existent Lord Vishnu, who once assumed the form of a boar to protect creation and bore the earth, submerged beneath the waters, upon the tip of his tusk, and who now, in the form of our sovereign, protects with the strength of his arm the earth oppressed by foreign peoples—may that king, whose kinsmen and dependants prosper in wealth and grain, delight the earth for many years!

THE SIGNET RING OF MINISTER RAKSHASA

Vishakhadatta's *Mudrarakshasa* is a drama of statecraft, loyalty and political strategy. Chanakya seeks to secure Chandragupta's rule by drawing Rakshasa, the steadfast minister of the fallen Nanda house, into Chandragupta's service. At the centre of the contest stands Rakshasa's loyalty to his friend Chandanadasa.

Original Sanskrit play: Vishakhadatta

Maithili translation: Gajendra Thakur

English stage version: from Gajendra Thakur's Maithili translation

Editor: Gajendra Thakur, Videha — First Maithili Fortnightly eJournal



www.videha.co.in

© Gajendra Thakur, 2026

हरिजीवन मिश्रक कृति

पालाण्डुमण्डन प्रहसनम्

संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद

गजेन्द्र ठाकुर

सम्पादक, विदेह — प्रथम मैथिली पाक्षिक ई-पत्रिका

VIDEHA · ISSN 2229-547X

पालाण्डुमण्डन प्रहसनम्

हरिजीवन मिश्रक कृति

संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद

गजेन्द्र ठाकुर

प्रकाशकीय एवं अधिकार-सूचना

मूल कृति : हरिजीवन मिश्र — पालाण्डुमण्डन प्रहसनम्

मैथिली अनुवाद : गजेन्द्र ठाकुर

सम्पादकीय संबद्धता : विदेह — प्रथम मैथिली पाक्षिक ई-पत्रिका

ISSN : 2229-547X

वेबसाइट : www.videha.co.in

संस्करण : 2026

मैथिली अनुवाद एवं एहि संस्करणक सम्पादकीय प्रस्तुति © 2026 गजेन्द्र ठाकुर। मूल कृतिक अधिकार सम्बन्धित अधिकारधारकक अधीन।

६ × ९ इञ्च हार्डबैक अन्तःसज्जा • मिरर मार्जिन आ बाइन्डिङ गटर

पात्र-परिचय	1
प्रस्तावना	3

पात्र-परिचय

(उपस्थितिक क्रममे पात्र)

प्रजापति देव, पण्डित, समारोहक सूत्रधार (व्यवस्थापक)।

लिङ्गोजी भट्ट, एक पण्डित।

चिञ्चा, लिङ्गोजीक दोसर पत्नी। (इमली)

त्र्यम्बक भट्ट, लिङ्गोजी भट्टक साढ़ू। (नारिकेल)

क्वथिका, त्र्यम्बकक पत्नी। (उसिनल तरल व्यञ्जन)

पूर्णपोलिका, लिङ्गोजीक पहिल पत्नी। (एक प्रकारक मीठ पूआ, पोली)

लशुन पन्त, त्र्यम्बक आ क्वथिकाक जेठ बेटा। (लहसुन)

गृञ्जनाद्रि, लशुनक छोट भाइ। (प्याज—छोट किसिम)

पालाण्डुमण्डन, एक अतिथि। (प्याज—पैघ किसिम)

चित्तपावन, दोसर अतिथि। महाराष्ट्री ब्राह्मण।

रक्तमूलिका, पूर्णपोलिका आ लिङ्गोजीक बेटा। (एक लाल खाद्य कन्द)

आरणाल भट्ट, एक अतिथि। (माँड़/कांजी)

मिथ्याकूट भट्ट, एक अतिथि। [एक महाराष्ट्रीय व्यञ्जन—दहीमे पिसल चाउर, दाल, राइ आ मेथी मिला कऽ]

दाक्षिणात्य-१, दक्खिनी पण्डित-१

पेरम् भट्ट, एक पुरोहित, आन्ध्रवासी

कलङ्काङ्कुर, दोसर पुरोहित। (कुकुरमुत्ता)

झल्लरि—झङ्कार आ भेरि-भङ्कार भट्टाचार्य, अतिथि। बंगाली पण्डित।

शिष्य, उपर्युक्तक शिष्य

दाक्षिणात्य-२, दक्खिनी पण्डित-२

पुरुष, राजकर्मचारी।

सिपाही। (पादातयः)

अन्य ब्राह्मण पण्डित आ अन्य लोक।

'शिव, जे विश्वक स्वामी छथि, सभ लोकमे गौरवशाली छथि! ओ बहुत रसक आनन्द लैत छथि आ सभ प्रकारक खाद्य-पेय भोग करैत छथि। ओ लोकक सांसारिक जीवनक बुराईकें दूर करैत छथि आ धर्म-पालन, इच्छापूर्ति आ धनोपार्जनक विषयमे कहैत छथि। ओ प्रचुर धन कमौने छथि आ पार्वतीक प्रिय स्वामी छथि।' (१)

(मंगलाचरणक अन्तमे)

सूत्रधार— बेसी नहि बजू। आह! ई तँ लिङ्गोजी भट्टक पत्नीक गर्भाधान-संस्कारक अवसर थिक। एहि उत्सवमे पालाण्डुमण्डन आ अन्य अतिथि भूखल छथि, कारण एकटा वैवाहिक सम्बन्धक चर्चा चलि रहल अछि। जखन एहि अतिथिक इच्छा पूर्ण नहि होयत तखन ओ आशीर्वाद कोना देताह? आर, बिनु भीतरी संतोषक ओ वैदिक शब्दक सही उच्चारण कोना करताह, जखन कि उत्तर भारतीय बहुत चालाक आ बहुविध कुशल छथि? एहि लेल दर्शकक तीव्र भावने सफल होउ! (हवामे प्रसन्नतासँ सुँघैत) आह, हमर इच्छा पूर्ण होयबाक अछि, ओहि प्याजक तेज गन्धसँ जे सभटा गन्धकें दबा देने अछि। (अपना मने) एहिना होउ। हम अपन पत्नीकें बजा कऽ लोक जुटायब। (चारु दिस ताकैत) आर्ये, एतय, एतय आउ!

(प्रवेश करैत)

नटी— स्वामी, जल्दी कहू। हम आन काजमे लागल छी आ व्यस्त छी।

सूत्रधार— आर्ये, कोन काज अछि जे अहाँकें एना हड़बड़ीमे राखने अछि?

नटी— स्वामी, आइ पालाण्डुमण्डन आ हुनकर दलकें आमंत्रित कएल गेल अछि। हुनका आदरसँ स्वागत करबाक लेल हम घरकें धूपसँ सुगन्धित कऽ देने छी आ एहि बीच एतय आबि गेलहुँ। अहूँ ओतय जा कऽ अपन उत्तरीयक आँचरसँ हुनका स्वागत करू।

सूत्रधार— आर्ये, की अहाँ घरकें कारी अगुरुक धूपसँ बिगाड़ि देलहुँ?

नटी (मुस्कराइत)— स्वामी, की अहाँकें नहि बुझल अछि जे ई तँ पैघ प्याजक गन्ध थिक?

सूत्रधार (चारु दिस सुँघैत)— बड़ नीक, बड़ नीक, पालाण्डुमण्डन आ अन्य लोक आब संतुष्ट भऽ गेल होयताह। तँ आउ, हम हुनका आदरसँ सम्मानित करी। एतेक अबेर किए?

(मंचक बाहर सँ)

पालाण्डुमण्डन आ अन्य लोक, गलीमे छिटल पैघ प्याजक छिलकाक ढेर देखि कऽ, प्याज-सम्पन्न घरमे जेबाक इच्छासँ एम्हर-ओम्हर घुमि रहल छथि। प्रजापति देव एहि बातकें लिङ्गोजी भट्टकें सूचित करबाक लेल एतय आबि रहल छथि।

सूत्रधार (सुनैत)— की भेल जे पालाण्डुमण्डन आ हुनकर दल भ्रमित छथि? ओ कतय जा रहल छथि? आउ, हम सभ हुनका लग जाइ छी।

(दुनू गोटे प्रस्थान करैत छथि।)

प्रस्तावना

(तखन प्रजापति देवक प्रवेश।)

प्रजापति देव— वेश्या आ यारक पुत्र, दुष्टक राजा लिङ्गोजी भट्ट कतय गेलाह? कारण पालाण्डुमण्डन आ हुनकर दल, क्रुद्ध भऽ, कतहु आन ठाम जा रहल छथि। आह! हमरा नीक जकाँ मोन अछि! कदाचित पालाण्डुमण्डन आ अन्य अतिथि-पण्डित साढ़ू त्र्यम्बक भट्ट आ लिङ्गोजी भट्टक बेटा-बेटीक विवाहक चर्चाक हेतु जुटल कैक प्रमुख कुटुम्बीक उपस्थितिसँ नाराज भऽ कऽ चलि गेल छथि। जे होउ। हम स्वयं जा कऽ हुनका आनब।

(परदाक पाछाँ, हल्ला-गुल्ला)

सभ गणक स्वामी आ सूर्य, चन्द्रमा, प्रसन्न देवताक समूह; (पञ्च-तत्त्वक) समूह—जल, वायु, अग्नि, आकाश आ पृथ्वी; बहुतरास कीमती रत्न आ मंत्र, तथा सिद्ध ज्ञानमे निपुण ब्राह्मण—ई सभ अहाँ सभकें आशीर्वाद दिअथि! (२)

प्रजापति (ध्यान सँ सुनैत)— आह, शुभ मुहूर्त आबि गेल! ब्राह्मण-भोजन आ अन्य कार्य तुरंत होउ!

(परदाक पाछाँ, वैदिक स्वरमे)

“एकटा प्रजापति छलाह, चूहा। हुनका दूटा दाँत छलनि। हर दाँतसँ ओ गह्वा खुनैत छथि, बर्तनकें फोड़ैत छथि आ हवि निगलि जाइत छथि। यजमान जखन ओ 'कुम्-कुम्' सुनबैत छथि तँ ओकरा मारैत छथि। तखन यजमान स्वर्ग पहुँचबामे समर्थ होइत छथि। जे ई जनैत छथि—!”

प्रजापति (आदरसँ सुनैत)— आह! वैदिक उच्चारण! सभ अतिथि आबि गेला की? हम पेरम् भट्ट आ कलङ्काङ्कुराचार्यकें संग लऽ, यज्ञीय ताम्रपात्र लऽ कऽ फेर एतय आयब।

(एना कहि ओ प्रस्थान करैत छथि।)

(तखन वाद्य-संगीतक संग चिञ्चा, लिङ्गोजी भट्टक हाथ पकड़ने प्रवेश करैत छथि। हुनकर अंग हरदीसँ रंगल अछि, ओ माला आ आभूषणसँ सजल छथि, आ अपन उत्तरीयक चुनरीकेँ कसि कऽ आ विशेष ढंगसँ पहिरने छथि। ओ स्वादसँ पान-सुपारी चबा रहल छथि। हुनकर शुभ आ आकर्षक रूप अछि, ओ सुसज्जित (वा सुगन्धित) छथि आ प्रेमसँ दीप्त छथि। हुनका संग क्वथिका सेहो त्र्यम्बकक हाथ पकड़ने प्रवेश करैत छथि।)

लिङ्गोजी आ त्र्यम्बक भट्ट (हाथ जोड़ैत)— हमर प्रणाम! ब्राह्मण सभ आबऽमे किएक अबर कऽ रहल छथि?

(दुनू सारी एक-दोसराकेँ चोरि-चोरि देखैत छथि।)

क्वथिका (अपन ननदि चिञ्चासँ)— अहाँक सौतिन पूर्णपोलिकाक बेटी रक्तमूलिका नीक छथि की?

चिञ्चा— अहाँक आशीर्वादसँ ओ नीक छथि। आब अहाँक बेटा गृञ्जनाद्रि नीक छथि की?

क्वथिका— हँ, दिन-रात, ई साहसी छौड़ा अहाँक बेटीक सुन्दरताक विचारमे लागल रहैत अछि।

चिञ्चा (मुस्कराइत)— एहि तरहेँ रक्तमूलिका सेहो सुगठित गृञ्जनाद्रिक सुन्दरताकेँ बेर-बेर मोन पाड़ि कऽ अपनाकेँ बहलबैत छथि।

(दुनू गोटे एक-दोसराक हाथ पकड़ैत छथि।)

लिङ्गोजी भट्ट— अरे, अरे, त्र्यम्बक भट्ट! हमरा स्मृतिक ओहि कथनसँ डर लागैत अछि जे जुआन बेटीकेँ बियाहमे देनिहार पुरुष स्वर्ग नहि पहुँचैत छथि।

एहि लेल हम अपन बेटी रक्तमूलिका, जे नव अमक बौर सन सुन्दर छथि, हुनकर विवाहक व्यवस्था बहुत जल्दी करय चाहैत छी।

त्र्यम्बक— अहाँक भेंट तँ अपन भागिन गृञ्जनाद्रिसँ भऽ गेल हैत।

लिङ्गोजी— अरे त्र्यम्बक, जे होउ। हम अपन पत्नीसँ पूछब। (हुनका दिस ताकैत) पूर्णपोलिका, एतय, एतय आउ!

पूर्णपोलिका— की बात अछि, आदरणीय लिङ्ग?

लिङ्गोजी— प्रिये, अहाँक बेटी रक्तमूलिकाक विवाह धनी त्र्यम्बक भट्टक बेटा, अहाँक भागिन गृञ्जनाद्रिक संग विचार भऽ रहल अछि।

पूर्णपोलिका— माननीय, ई तँ बड़ नीक विचार अछि, मुदा कठिन एहि लेल अछि जे लशुन पन्तक मृत्यु जल्दी भऽ सकैत अछि।

लिङ्गोजी— प्रिये, ई सही अछि। मुदा फेरो गृञ्जनाद्रि जुआन छथि। ओहि बूढ़ (अर्थात् लशुन पन्त) क की उपयोग? पहिने एहि विवाहक सम्बन्धमे तुरत मौखिक सहमति भऽ जाय।

पूर्णपोलिका— एहिमे की सन्देह अछि? (चारू दिस ताकैत) अरे, अरे, क्वथिका, ई रक्तमूलिका अहाँक जिम्मामे अछि।

क्वथिका— हम तँ धन्य भऽ गेलहुँ। की गृञ्जनाद्रि अहाँक बेटा नहि छथि?

त्र्यम्बक (सुनैत, हृदयसँ प्रसन्न भऽ)— छौड़ा आ छौड़ीक बीच मौखिक सहमति भऽ जाय।

(जखन कलङ्काङ्कुर एखनो नहि पहुँचल छथि, तखन लशुन पन्तक प्रवेश।)

लशुन पन्त— अरे, अरे, लिङ्गोजी भट्ट, दोसराक आशाकेँ तोड़निहार, हमरासँ स्वर्ग छिनि कऽ अहाँकेँ की मिलत? रक्तमूलिकाक जन्मसँ लऽ कऽ हमर जीवनक एकमात्र सहारा हुनकर हाथ प्राप्त करबाक इच्छा रहल अछि। गृञ्जनाद्रि निःसन्देह हमरासँ छोट छथि आ हमर सख्खा भाइ छथि। ओ अपन जीवनक बारेमे आशा राखि सकैत छथि। अहाँ किएक एतेक हड़बड़ीमे छी? की आइक गर्भाधानक बाद चिञ्चासँ अहाँकेँ एकटा बेटी नहि हैत?

पूर्णपोलिका (अपना मने)— ई बूढ़ हमर बेटीक प्रति दुष्टतापूर्ण छथि। जे होउ। हम एहिपर विचार करब।

क्वथिका (अपना मने)— लशुन पन्त बूढ़ छथि। एहि लेल विवाह तँ केवल धन-बलसँ सम्भव अछि।

(स्वर्ण-मुद्रा निकालि ओ देखबैत छथि।)

लिङ्गोजी— आब जे एतेक धन देखा रहल अछि, तँ वैवाहिक सम्बन्ध केवल लशुन पन्तेसँ होउ। गृञ्जनाद्रि जुआन तँ छथि, मुदा बस भेल।

चिञ्चा— अरे, अरे, अहाँ ठीक-ठीक राशिक शर्त राखू!

क्वथिका— हँ, अहाँकेँ दस कर्ष बराबर सोना भेटत।

लिङ्गोजी— प्राणीक आयु कौनो निश्चय नहि होइत अछि। तँ एतेक मात्र सोनाक की उपयोग?

लशुन पन्त (सुनि, अपना मने प्रसन्न भऽ)— १२० वर्षसँ बेसीक पालाण्डुमण्डनक भाइक विवाह पिण्डमूलिकासँ केवल धन-बलसँ सम्पन्न भेल छल।

(जोरसँ) आह, लिङ्गोजी, की लहसुनसँ पोषित केओ कहियो मृत्युकेँ प्राप्त होइत अछि?

(एना कहि ओ जतेक चाही ओतेक सोना देखबैत छथि।)

लिङ्गोजी भट्ट— एहि सोनाक की उपयोग हैत? जे होउ।

पूर्णपोलिका (सोना दिस ताकैत)— आह, आह, बेटा लशुन पन्त, ई तँ बड़ नीक अछि। मुदा तखन अहाँ अपन अन्त्येष्टि-संस्कारक हेतु आब किछु धन किएक नहि देल जाइत?

लशुन पन्त (सोचैत)— जँ एना अछि, तँ हमर ई खेत, जाहिमे लहसुन आ प्याज उपजैत अछि, केना उपयोगमे आओत? (अपन खेत दिस देखबैत) हे नारी, जँ एहन किछु भऽ जाय, तँ एही खेत (क्षेत्र) मे एकटा स्मारक-चिह्न (लिङ्ग) स्थापित कऽ देल जाय। खेत बड़ उपजाउ अछि। आर की चाही?

पूर्णपोलिका (लिङ्गोजी दिस ताकैत)— हमर उद्देश्य पूर्ण भऽ गेल। वैवाहिक सम्बन्ध केवल लशुन पन्तेसँ होउ।

लिङ्गोजी भट्ट— हमहूँ एही तरहेँ सोचि रहल छी।

(तखन परदाकेँ हटा कऽ प्रवेश करैत)

गृञ्जनाद्रि— आह, सहायक स्वभावक लोकक आलोचक! की राजा विधवाकेँ मुफ्त भोजन नहि दैत छथि? ओहो, स्वामी, कतेक अद्भुत! केना, चुस्त तहबन्द आ कान्हपर चुनरी पहिरने, एम्हर-ओम्हर घुमैत मनुक्खसँ डरायल, अपन कपड़ामे बचल भोजन भरि कऽ आ मुफ्त पियाउमे मुट्ठी भरि पानि लोभसँ पीबैत लोक, धनक मात्र देखलासँ अपन क्षेत्रीय आचार-व्यवहार बिसरि जाइत छथि?

लिङ्गोजी (अपना मने)— एतय हमर करेजामे कांट गड़ि गेल! जे होउ। हम एकरा ठकब। (जोरसँ) अरे, अरे, गर्भाधानक समय आबि गेल। एहि लेल आमंत्रित ब्राह्मण सभकेँ तुरत भोजन परसल जाय!

(मंचक बाहरसँ)

अरे, अरे, शाप देबामे अगुआ, निन्दाक अंकुर, पागल कुकुर, कुकुरक पूँछ, वेश्याक पालतू, गुरुक पत्नी आ अपने पुतोहुक प्रेमी, नौकरानीक कुशल प्रेमी, मृत्युक स्वामी, मित्रक विनाशक, टूटल विश्वासक स्वामी, सम्पूर्ण संसारक ठग, नारायणकेँ सेहो कांट, तेज-मुँह, बदमाशक प्रधान, अखाद्य वस्तुक भक्षक, अहाँ सभ ओतहि रहू! भीतर जगहक कमीक कारणेँ, भोजनक हेतु आरामदायक बैसबाक व्यवस्था केवल गलीमे कएल जायत। प्रसिद्ध पालाण्डुमण्डन आ किछु अन्य लोक भीतर जा सकैत छथि।

(तखन पालाण्डुमण्डन, मिथ्याकूट आ किछु अन्य लोकक प्रवेश)

पालाण्डुमण्डन (चारू दिस देखैत)— हम कहियो चित्तपावनक संग एक्के भोजनमे नहि बैसल छलहुँ।

चित्तपावन— हा, हा, महाशय, की अहाँ काल्हिक बात भुला गेलहुँ? खण्डेरायक पूजाक अवसर पर, की अहाँ नाना प्रकारक प्याजसँ मसालेदार विशेष व्यञ्जन नहि निगलने रही?

पालाण्डुमण्डन (मुस्कराइत चित्तपावनकेँ गरे लगबैत)— हा, हा, भाइ, की एतहू पैघ प्याजक उपयोग होइत अछि?

चित्तपावन— नहि तँ आर की उपयोग होइत अछि?

(पालाण्डुमण्डन घमण्डसँ ठाढ़ होइत छथि।)

गृञ्जनाद्रि— अरे, मात्र पैघ प्याजक की उपयोग? छोट प्याज बिना व्यञ्जन खुरधार पशुक घासक भोजन जकाँ बेस्वाद हैत।

लशुन पन्त— अरे, अरे, एहि बेस्वाद चर्चाक की उपयोग? जखन औषधीय जड़ीबूटीक स्वामी (चन्द्रमा) जकाँ लहसुनक कन्द उगैत अछि, तँ जुगुनू सन प्याजक किसिमक की जरूरत?

पालाण्डुमण्डन— हा, हा, भाइ, की पैघ प्याज लहसुनसँ बेसी श्रेष्ठ नहि थिक?

प्याजक प्रजातिक नीक संग्रह तारागणक समूह जकाँ चमकैत अछि। मोती, हीरा आ पुखराज एकर सयवाँ भागक बराबरो नहि भऽ सकैत अछि। एकरा देखितहि परम संतोष होइत अछि। खेतमे कन्दयुक्त प्याज दिनमे आकाशक चन्द्रमा जकाँ उज्ज्वल चमकैत अछि। (३)

लशुन पन्त (क्रोधित भऽ)— सत्यमे!

लहसुनक एकटा गुच्छा वायु-विकारसँ उत्पन्न असंख्य रोगकेँ नाश करैत अछि। लहसुनक तुलना कोनसँ भऽ सकैत अछि? एकर मात्र गन्धे देवता आ राक्षसक हेतु भोजनकेँ विशेष रूपसँ स्वादिष्ट बना दैत अछि। (४)

गृञ्जनाद्रि (दुनूँकेँ अलग करैत)— हमर बात सुनू। छोट प्याज मसालाक सभसँ श्रेष्ठ थिक। मूँगाक चमक तँ एकर मात्र दासी थिक। मूर्ख लोक एकर वास्तविक स्वभाव नहि जनैत छथि। ओ एकर सूक्ष्मताकेँ कोना बुझि सकताह? (५)

(प्रजापति देवक फेर प्रवेश।)

प्रजापति देव— अरे, अरे, ब्राह्मण-भोजनमे किएक अबेर भऽ रहल अछि?

चिञ्चा— आह, प्रजापति देव, अबेर एहि लेल अछि जे उसिनल तरकारी आ साग प्याज आ लहसुनसँ छौंकल जा रहल अछि।

प्रजापति— एहिना होउ। हम पत्तरि लऽ आबैत छी।

(पत्तरि आनबाक अभिनय करैत छथि।)

(मंचक बाहरसँ)

आह, प्याज आ लहसुनक गन्धसँ तँ पूरा जगह स्वर्ग बनि गेल अछि! रे, रे, देखू, देखू, ई दुष्ट उत्तर भारतीय नाक ढाँकि कऽ किएक भागि रहल छथि? भाग्यशाली छथि दक्षिणी लोक जे नाना व्यञ्जनसँ उत्साहित छथि। एहि तरहँ ओ स्पष्ट वैदिक उच्चारणसँ पद, क्रम आ जटा-पाठक प्रदर्शन कऽ रहल छथि।

लिङ्गोजी भट्ट— ई सभ कुटुम्बीक श्रेष्ठ, सभा-गृहकेँ सुशोभित करैत, किएक नहि बैसल छथि?

(तखन प्रवेश)

(पेरम् भट्ट आ अन्य लोक, अपन देहमे भस्म लगौने। ओ प्रसन्नतासँ पत्तरि, कमण्डलु आ अन्य वस्तु धारण करैत छथि। हुनकर पेट खाली अछि। सयटा टुकड़ीसँ जोड़ल हुनकर लाल-भूरा कपड़ासँ, ओ सहस्र-नेत्रधारी इन्द्रक शानदार भ्रम चारू दिस बना रहल छथि। (६))

(लशुन पन्त अपन प्रेम प्रदर्शित करैत उत्साहसँ खूब खाँसैत छथि आ सांस फूलबाक कारणेँ मूर्छित भऽ खसि पड़ैत छथि।)

पालाण्डुमण्डन— अरे, अरे, तुरत पैघ प्याजक रस आनू; नहि तँ लशुन पन्त बेसी दिन हमरा सभक संग नहि रहताह।

(गृञ्जनाद्रि छोट प्याजक रससँ दौगल आबैत छथि। आरणाल भट्ट माँड़क घैला आनैत छथि।)

त्र्यम्बक— भाइ लिङ्गोजी, हुनका शक्ति-वर्धक कोनो चीज दिअ।

(लिङ्गोजी भट्ट मुड़ी हिलबैत चारू दिस ताकैत छथि।)

चिञ्चा— प्रिय रक्तमूलिका, लाल मूलाक रसकेँ इमलीक रससँ मिला दिअ।

(रक्तमूलिका तुरत एना करैत छथि।)

मिथ्याकूट भट्ट (मिथ्याकूट तरल आनैत)— अरे, अहाँ मूर्ख सभ, देखू हम एहि चमत्कारकेँ कोना तुरत कऽ देखबैत छी!

(एना कहि ओ तुरत लशुन पन्तक मुँहमे देल जाइत छथि।)

(परदाक पाछाँसँ)

अरे, अरे, अहाँ जे नियमितरूपेँ अन्त्येष्टि-संस्कारक व्यवस्था करैत छी आ लशुन पन्तकेँ आन लोककेँ परलोक पठएबामे लागल छी! सूखल प्याज आ लहसुनक छिलकासँ बनल चिताकेँ फेकि दिअ! कारण, मृत्युक दूतगण लशुन पन्तक मुँहपर मूतरि कऽ भागि गेल छथि। एहि लेल ओ अवश्य आब जीवित छथि!

लिङ्गोजी— सचमुच ई दवाई बड़ प्रभावशाली अछि!

(तखन धरि लशुन पन्त जागि जाइत छथि।)

लशुन पन्त— अरे, अरे, कृपया लहसुनक गुच्छा आनू! कारण अधिक पित्तक कारणेँ हम मूर्छित भऽ गेल छलहुँ।

पालाण्डुमण्डन— बड़ नीक, बड़ नीक, महाशय, हमरो एहन बेर-बेर होइत अछि।

गृञ्जनाद्रि— हम मूर्खक समूहमे फँसि गेलहुँ। अरे, अरे, दुष्ट मूर्खो, मीठ रस बिना पित्तक रोग कोना ठीक भऽ सकैत अछि? एहि लेल छोट प्याजसँ बनल ई रस लिअ।

लशुन पन्त (मुस्कराइत)— जँ लहसुन (रोग) दूर करय मे असमर्थ अछि, तँ छोट प्याजक की कहब? जँ सूर्य अन्धकारक मुख्य नाशक नहि भऽ सकय, तँ चन्द्रमाक की कहब? (८)

हे लहसुनक गुच्छा, सभ कष्टक नाशक, उच्च मार्ग (वा परलोकक मार्ग) पर दौड़निहार घोड़ा, महापापक चूरनिहार, सुगन्धक अभागल नाशक, तुरतमे सच्चा चमत्कार (वा पूर्ण ज्ञान) देनिहार, भूखलकें प्रसन्न करैबला रोटी, परम देवी, कृपा करू! (९)

(पूर्णपोलिका, अपन चुनरी ढील करैत, बामाँ हाथसँ लहसुनक गुच्छा उतारि लशुन पन्तक मुँहमे राखि दैत छथि।)

गृञ्जनाद्रि (मुस्कुराइत)— एहि मूर्ख लोक केतेक जिद्दी छथि? छोट प्याज मूँगा जकाँ लाल, अमृत जकाँ रसदार, प्रेमकें उगबैबला, आनन्द देबामे समर्थ अछि, आ एकरा देखितहि पवित्रता जागि उठैत अछि। मूर्ख लोक एकर शक्ति पर विश्वास नहि करैत छथि। (१०)

लशुन पन्त (आँखि खोलैत, लहसुनक स्वाद लैत, ओकरा 'हे लशुनपोतिके' आदि कहैत, श्लोक ९)— हा, हा, ई सत्य थिक जे एही तरहें देवगण (लहसुनसँ) रूपक समानताक कारणें चन्द्रमा (अमृत-किरण)कें पिबैत छथि। आ चन्द्रमा स्वयं संसारमे लहसुनक फाँकसँ समानताक कारणें पूजाक योग्य छथि। (११)

लिङ्गोजी भट्ट— अरे पूर्णपोलिका, ई व्यक्ति (लशुन पन्त) अहाँक पुण्यक बलसँ जीवित छथि। अहाँक बेटी सेहो भाग्यशाली छथि; कारण, अखने, हुनका एतेक धन भेटि गेल अछि जे ओ जीवन भरि, आ अपन पतिक जीवन मे सेहो, निश्चिन्त रहि सकैत छथि।

(तखन परदा हटा कऽ पुरोहित पेरम् भट्टक प्रवेश, ईधन, कुश-घास, यज्ञीय चम्मच, घी आ यज्ञीय पात्रक संग।)

पेरम् भट्ट— हा, हा, पुतोहु सभक बीच बड़ भ्रम बुझना जाइत अछि। एहि लेल लहसुन आ प्याजक गन्धकें ढाँकि देल जाय। तेज हवाक कारणें गन्ध एतेक बढ़ि किएक गेल अछि? लहसुन-प्याजक छिलकासँ ढाँकल आकाश जेना अनामंत्रित वैदिक पुरोहितकें बजा रहल अछि! गर्भाधान समारोह प्रारंभ होउ।

(एना कहि ओ यज्ञ-वेदीकें कुश-घासक बदला लहसुन आ प्याजक छिलकासँ ढाँकैत छथि, तखन—)

(लिङ्गोजी भट्ट, चिञ्चा दिस ताकैत, इशारासँ अपन कामेच्छा सूचित करैत छथि।)

चिञ्चा (अपना मने)— की गर्भाधान संस्कार एतहि होयत?

(अपन पतिकें देखैत ओ लक्ष्मणा (एकटा जड़ी) निकालि खेबाक अभिनय करैत छथि।)

लिङ्गोजी भट्ट (अपना मने)— हम शक्ति प्राप्त करी। कारण, जे व्यक्तिक पौरुष हनुमानक चीत्कारसँ नष्ट भऽ गेल छल, ओ सेहो प्याज खेलासँ फेर पुरुष बनि जाइत अछि।

(एना कहि ओ हविक बाँचल अंश जकाँ लहसुन निगलबाक अभिनय करैत छथि। भस्म आदरसँ ग्रहण करबाक बहानाँ ओ भाँग (गाँजासँ बनल नशीली वस्तु) सेवन करबाक अभिनय करैत छथि। धुँआसँ बचबाक बहानाँ, गुप्त रूपसँ यज्ञीय अग्निमे तमाकुक पात चढ़बैत, ओ फूँकनीसँ तमाकु, भाँग आदिक धुँआ खिंचैत छथि।)

पूर्णपोलिका (क्रोधित भऽ)— एहन पारिवारिक रीति कतहु नहि देखल गेल अछि। हमरो गर्भाधान संस्कार भेल छल। अजगुत, अजगुत!

(एना कहि ओ चिञ्चाक हाथसँ लक्ष्मणा छिनि लैत छथि।)

गृञ्जनाद्रि (देखैत)— आब हमरा पहाड़सँ खसय पड़त वा पानिमे डूबय पड़त (आत्महत्याक हेतु)।

(एना कहि ओ हड़बड़ीमे पूर्णपोलिकाक समर्थनमे उठि ठाढ़ होइत छथि। गृञ्जनाद्रिक सहायतासँ, ओ जोरसँ रोबय लगैत छथि।)

कलङ्काङ्कुर (उठैत)— अरे, अरे, गृञ्जनाद्रि, अहाँ ई गर्भाधान समारोहकें किएक बिगाड़ि रहल छी?

क्वथिका (उठैत)— अरे, ई अहाँक लेल उचित नहि थिक, पूर्णपोलिका, जे पहिनहि लशुन पन्तसँ वचनबद्ध छी। दोसर दिस, की गृञ्जनाद्रि सदिखन अविवाहित रहताह?

(आपसी उलझनमे, पूर्णपोलिका आ क्वथिकाक चुनरी ढील भेलासँ, छोट-पैघ प्याज आ लहसुन चारू दिस बिखरि जाइत अछि।)

पालाण्डुमण्डन आ अन्य लोक (क्रोधसँ देखैत)— अरे, अरे, सचमुच कुलक्षिणी छथि ई (स्त्री सभ) जे अमृत जकाँ लहसुन आ आनन्दकें बर्बाद करैत छथि!

मिथ्याकूट भट्ट (एहि विचित्र हड़बड़ीसँ भयभीत रक्तमूलिकाक बिगड़ल चुनरी देखैत)— अरे, अरे, रक्तमूलिका, अहाँकें (बहुतो लोक) देखि रहल छथि! अहाँ अपन पिताक बहुत लाइली छी। मुदा एतय द्वेषी उत्तर भारतीय आबि रहल छथि जे सभ दक्षिणीक मूल पोषक स्वादबला मिथ्याकूट व्यञ्जनक अपमान करैत छथि। हुनकर धारणा एकदम विपरीत हैत।

(मंचक बाहरसँ)

अरे, अरे, आब चाचाक बेटीसँ आपसी विवाह आदि विषयक उपहासकें टारल जा सकैत अछि। उत्तर भारतीय, जे दोसराक दोषकें व्यंग्यसँ उधारि सकैत छथि, आब आबि गेल छथि।

(तखन बंगाली पण्डित झल्लरि-झड़कार आ भेरि-भड़कार भट्टाचार्यक अपन शिष्यक संग, जे हाथमे माछ धेने छथि, प्रवेश।)

भट्टाचार्य (चारू दिस देखैत आ सुँधैत)— शिव, शिव, हाय! ई सभ निःसंतान लोकक काज थिक। हा, हाय!

पालाण्डुमण्डन

(सभ नाक ढाँकि कऽ रहि जाइत छथि।)

शिष्य— भट्टाचार्य, हमरा सभकें तुरत रसोइघर दिस देखाउ, कारण ई तीन दिनक पुरान माछ कखनहु सड़ि सकैत अछि।

भट्टाचार्य— अरे, अरे, हम सभ एकटा अशास्त्रीय घरमे फँसि गेलहुँ। एतय एहि बाँझ लोकक बीच भोजनक व्यवस्था कोना करब?

दाक्षिणात्य— रे, रे, हम सभ सड़ल माछक गन्धसँ मरि रहल छी; कतय जाइ?

भट्टाचार्य— अरे, अहाँ सभ धर्मक सीमासँ बाहर छी, अहाँकें धर्मक बारेमे प्रायः किछु नहि बुझल अछि। स्मृति कहैत अछि: “जे व्यक्ति देवता आ पितरक पूजाक बाद माँस खाइत अछि, ओ दूषित नहि होइत अछि।”

दाक्षिणात्य (हृदयसँ)— अरे, अरे, ई कोना भऽ सकैत अछि, कारण कलियुगमे सम्बन्धित स्मृति-भागमे माँस-भक्षण निषिद्ध अछि?

भट्टाचार्य (हँसैत)— ई “दुष्टकें संतुष्ट करबाक सिद्धान्त” सँ भऽ सकैत अछि। पहिने, अहाँक कथनक कोनो आधार नहि अछि। आर, माछ खएनाइ कतय निषिद्ध अछि?

दाक्षिणात्य— जँ एना अछि, तँ कतय एकर विधान अछि?

भट्टाचार्य— की कात्यायनाचार्य “परञ्च माछ दू मासमे” कहैत गलती केने छथि? आर, की मनु बकवास कऽ रहल छथि जखन ओ कहैत छथि जे पाठीन आ रोहित प्रजातिक माछ क्रमशः देवगणकें (हव्य) आ पितरगणकें (कव्य) अर्पण करबाक हेतु सभसँ उपयुक्त अछि?

(ई विचार कऽ कऽ जे झूठा आरोप बिना प्रतिद्वंद्वीकें हरायल नहि जा सकत, दाक्षिणात्य लोक अपना बीचसँ एक व्यक्तिकें बाहर पठबैत छथि। जाबे धरि ओ राजकर्मचारीकें पकड़ि कऽ ओतय नहि आनि लैत छथि, ताबे धरि ओ किछु गढ़ल कथनसँ अपन प्रस्तावकें स्थापित करैत छथि।)

पालाण्डुमण्डन

(तखन प्रधान राजकर्मचारीक प्रवेश, जे भट्टाचार्यकें बान्हि कऽ मारैत छथि।)

भट्टाचार्य— हमरा नहि बुझना जाइत अछि जे अहाँ हमरा किएक मारि रहल छी। हम निर्दोष छी।

राजकर्मचारी— अरे, अरे, अहाँ एहन व्यक्ति छी जे मृत्यु घटाबय लेल कोनो तान्त्रिक क्रिया कऽ रहल छी। (सिपाही दिस देखैत) जे होउ; एकरा फेर बेर-बेर मारु!

(सिपाही ओकरा मारैत छथि।)

भट्टाचार्य (दुःखसँ)— ओह, ओह, दाक्षिणी भाइ सभ, की ई सत्य थिक? की अहाँ सभ एहि मामलामे प्रत्यक्षदर्शी नहि छी?

दाक्षिणात्य— हम सभे एकमात्र गवाह छी। एहिमे की सन्देह अछि?

भट्टाचार्य— तँ अहाँ सभ ई साफ किएक नहि कहैत छी?

दाक्षिणात्य— की हमर गवाह होयबाक कोनो प्रमाण अछि?

भट्टाचार्य— अहाँ सभ, वैदिक ज्ञानमे निपुण भऽ कऽ, अहाँक गवाह होयबामे की सन्देह अछि?

दाक्षिणात्य (राजकर्मचारी दिस मुड़ैत)— जँ एना अछि, तँ एहि भट्टाचार्यकें मारि देल जाय, कारण ई एकटा तान्त्रिक थिक!

(एना कहि ओ प्याज, लहसुन आ अन्यक छिलकाक ढेर देखबैत छथि। एकरा सत्य पाबि, राजकर्मचारी भट्टाचार्य आ हुनकर शिष्यकें बान्हि कऽ कूड़ाक ढेरक संग लऽ जाइत छथि।)

दाक्षिणात्य (एक-दोसराक हाथ पकड़ैत)— जगदीश हमर प्रतिद्वंद्वी पर कोना विजय पाओल? हमर मित्रगण एहन गौरव भोगथि!

पालाण्डुमण्डन

शत्रु पराजित भेल, बाधाक अन्धकार पूर्णतः दूर भेल; ज्ञानक जय-जयकार भऽ रहल अछि; मुदा एखनो कलियुगमे निषिद्ध खाद्य-सम्बन्धी अन्धविश्वास किएक दूर नहि भेल? (१२)

जे होउ। गर्भाधान संस्कार फेर कोनो आन शुभ मुहूर्त पर मनायल जाय। हम सभ चलैत छी।

लिङ्गोजी भट्ट— तखन हम सभ आन शुभ मुहूर्तक व्यवस्था करी!

(एना कहि सभ उठैत छथि।)

तथापि, ई अन्तिम आशीर्वचन होउ।

राज्य-प्राप्ति, सभ दिशामे विजय, आ कठिनाइक पार पयबाक कार्य निःसन्देह केवल शुभ मुहूर्तमे होइत अछि। (१३)

(सभ प्रस्थान करैत छथि।)

पालाण्डुमण्डन नामक प्रहसन समाप्त भेल।

पालाण्डुमण्डन प्रहसनम्

हरिजीवन मिश्रक ई प्रहसन खाद्य-रुचि, आचार-विचार, वैवाहिक रीति, पाण्डित्य आ क्षेत्रीय दम्भक टकराहटके तीक्ष्ण हास्य आ व्यंग्यक माध्यमसँ मंचपर आनैत अछि। प्याज, लहसुन आ भोजनक बहानेँ पात्रसभक आग्रह, लोभ, शास्त्रीय तर्क आ सामाजिक विडम्बना एक-दोसरासँ उलझैत अछि।

संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद — गजेन्द्र ठाकुर
सम्पादक, विदेह — प्रथम मैथिली पाक्षिक ई-पत्रिका



www.videha.co.in

ISSN 2229-547X

A FARCE BY HARIJIVAN MISHRA

PALANDUMANDANA

Sanskrit-to-Maithili Translation

Gajendra Thakur

Editor, Videha — First Maithili Fortnightly eJournal

VIDEHA · ISSN 2229-547X

PALANDUMANDANA

A FARCE BY HARIJIVAN MISHRA

Sanskrit-to-Maithili Translation

Gajendra Thakur

Editor, Videha — First Maithili Fortnightly eJournal

VIDEHA · ISSN 2229-547X · www.videha.co.in

PUBLICATION & RIGHTS NOTE

Original work: Harijivan Mishra — Palandumandana: A Farce

Sanskrit-to-Maithili translation: Gajendra Thakur

Editorial affiliation: Videha — First Maithili Fortnightly eJournal

ISSN: 2229-547X

Website: www.videha.co.in

Edition: 2026

Maithili translation and editorial presentation of this edition © 2026 Gajendra Thakur. Rights in the original work remain with the relevant rights holder.

6 × 9 in hardback interior · mirrored margins and binding gutter

CONTENTS

Dramatis Personae	I
Prologue	2

DRAMATIS PERSONAE

(Characters in order of appearance)

PRAJAPATI DEVA, a learned Brahmin and the Sutradhara (master of ceremonies).

LINGOJI BHATTA, a learned Brahmin.

CHINCHA, Lingoji's second wife. (Tamarind.)

TRYAMBAKA BHATTA, Lingoji Bhatta's brother-in-law. (Coconut.)

KVATHIKA, Tryambaka's wife. (A boiled liquid dish.)

PURNAPOLIKA, Lingoji's first wife. (A kind of sweet pancake, or poli.)

LASHUNA PANT, the elder son of Tryambaka and Kvathika. (Garlic.)

GRINJANADRI, Lashuna's younger brother. (A small variety of onion.)

PALANDUMANDANA, a guest. (A large variety of onion.)

CHITTAPAVANA, another guest; a Maharashtrian Brahmin.

RAKTAMULIKA, the daughter of Purnapolika and Lingoji. (A red edible root.)

ARANALA BHATTA, a guest. (Rice-water or kanji.)

MITHYAKUTA BHATTA, a guest. [A Maharashtrian preparation made of ground rice and lentils mixed with curd, mustard seeds, and fenugreek.]

DAKSHINATYA I, Southern Scholar I.

PERAM BHATTA, a priest from Andhra.

KALANKANKURA, another priest. (A mushroom.)

JHALLARI-JHANKARA and BHERI-BHANKARA BHATTACHARYA, guests; Bengali scholars.

DISCIPLE, disciple of the scholars named above.

DAKSHINATYA II, Southern Scholar II.

OFFICER, a royal official.

SOLDIER, a foot-soldier.

OTHER BRAHMIN SCHOLARS AND OTHER PEOPLE.

'Shiva, Lord of the universe, is renowned in every world. He delights in an abundance of flavours and enjoys every kind of food and drink. He removes the evils of worldly life and speaks of righteous conduct, the fulfilment of desire, and the acquisition of wealth. He possesses abundant riches and is Parvati's beloved lord.' (1)

(At the end of the benedictory invocation.)

SUTRADHARA—Enough talk. Ah! This is the occasion of the conception rite for Lingoji Bhatta's wife. At this celebration, Palandumandana and the other guests are hungry, for a marriage alliance is under discussion. If the wishes of these guests are not fulfilled, how will they offer their blessings? And without inward satisfaction, how will they pronounce the Vedic words correctly—especially when the North Indians are so clever and accomplished in so many arts? May the audience's ardent expectations be fulfilled! (He sniffs the air with pleasure.) Ah, my wish is about to be fulfilled by that sharp scent of onion which overpowers every other smell. (Aside.) So be it. I shall call my wife and gather the people. (Looking around.) My lady, come here—come here!

(The ACTRESS enters.)

ACTRESS—My lord, speak quickly. I am occupied with other work and very busy.

SUTRADHARA—My lady, what task keeps you in such a hurry?

ACTRESS—My lord, Palandumandana and his company have been invited today. To receive them with honour, I have perfumed the house with incense, and meanwhile I have come here. You too should go there and welcome them by waving the end of your upper garment.

SUTRADHARA—My lady, have you spoiled the house with the smoke of black agarwood?

ACTRESS (smiling)—My lord, do you not understand? That is the smell of large onions.

SUTRADHARA (sniffing in every direction)—Excellent, excellent! Palandumandana and the others must be satisfied now. Come, then; let us honour them properly. Why delay any longer?

(From offstage.)

Seeing heaps of large-onion skins scattered through the lane, Palandumandana and the others are wandering this way and that, eager to enter a house rich in onions. Prajapati Deva is coming here to report the matter to Lingoji Bhatta.

SUTRADHARA (*listening*)—What has happened? Why are Palandumandana and his company confused? Where are they going? Come, let us go to them.

(*They both exit.*)

PROLOGUE

(*PRAJAPATI DEVA enters.*)

PRAJAPATI DEVA—Where has Lingoji Bhatta gone—that son of a whore and her lover, that king of rogues? Palandumandana and his company are leaving in anger for some other place. Ah, now I remember clearly! Perhaps Palandumandana and the other learned guests were offended by the presence of several leading kinsmen who had assembled to discuss a marriage between the children of the brothers-in-law, Tryambaka Bhatta and Lingoji Bhatta. No matter. I shall go and bring them myself.

(*A clamour is heard behind the curtain.*)

May the lord of all hosts, the Sun, the Moon, the assembly of gracious gods; the fivefold group—water, air, fire, ether, and earth; many precious jewels and sacred formulas; and Brahmins accomplished in perfected knowledge bless you all! (2)

PRAJAPATI DEVA (*listening attentively*)—Ah, the auspicious moment has arrived! Let the feeding of the Brahmins and all the other rites begin at once!

(*Behind the curtain, in a Vedic chant.*)

‘There was a Prajapati—a mouse. He had two teeth. With each tooth he digs holes, breaks vessels, and swallows the sacrificial offering. Whenever the sacrificer hears him cry “kum-kum,” he kills him. Then the sacrificer becomes capable of reaching heaven. He who knows this—!’

PRAJAPATI DEVA (*listening reverently*)—Ah! Vedic recitation! Have all the guests arrived? I shall return with Peram Bhatta and Kalankankuracharya, bringing the copper sacrificial vessel.

(*He exits.*)

(*Music. CHINCHA enters holding LINGOJI BHATTA by the hand. Her body is stained with turmeric; she is adorned with garlands and ornaments, and her veil and upper garment are tightly and distinctively arranged. She chews betel and areca nut with relish. Her appearance is auspicious and attractive; she is richly dressed—or richly scented—and radiant with love. KVATHIKA enters with her, holding TRYAMBAKA by the hand.*)

LINGOJI and TRYAMBAKA BHATTA (*with folded hands*)—Our salutations! Why are the Brahmins taking so long to arrive?

(*The two sisters-in-law steal glances at each other.*)

KVATHIKA (*to her sister-in-law CHINCHA*)—Is Raktamulika, the daughter of your co-wife Purnapolika, well?

CHINCHA—By your blessing, she is well. And is your son Grinjanadri well?

KVATHIKA—Yes. Day and night, that spirited boy remains absorbed in thoughts of your daughter’s beauty.

CHINCHA (*smiling*)—And in the same way, Raktamulika amuses herself by repeatedly recalling the beauty of the well-built Grinjanadri.

(*They take each other’s hands.*)

LINGOJI BHATTA—Listen, Tryambaka Bhatta! I am frightened by that declaration of the Smriti which says that a man who gives a young daughter in marriage does not reach heaven. Therefore I wish to arrange, with all speed, the marriage of my daughter Raktamulika, who is as lovely as the fresh blossom of a mango tree.

TRYAMBAKA—Then you have already found the match in your own nephew, Grinjanadri.

LINGOJI—Well, Tryambaka, let that be as it may. I shall ask my wife. (Looking toward her.) Purnapolika, come here—come here!

PURNAPOLIKA—What is it, honoured Lingoji?

LINGOJI—My dear, we are considering the marriage of your daughter Raktamulika to Grinjanadri, your nephew and the son of the wealthy Tryambaka Bhatta.

PURNAPOLIKA—Honoured sir, it is an excellent idea, but there is a difficulty: Lashuna Pant may die soon.

LINGOJI—My dear, that is true. Still, Grinjanadri is young. What use is that old man—that is, Lashuna Pant? Let us first secure immediate verbal consent to this marriage alliance.

PURNAPOLIKA—How could there be any doubt? (Looking around.) Kvathika, Raktamulika is now in your care.

KVATHIKA—I am blessed indeed. Is Grinjanadri not also your son?

TRYAMBAKA (*hearing this and delighted at heart*)—Let the verbal agreement between the boy and the girl be concluded.

(*Before Kalankankura has arrived, LASHUNA PANT enters.*)

LASHUNA PANT—Listen, Lingoji Bhatta, destroyer of other people’s hopes! What will you gain by robbing me of heaven? From the day Raktamulika was born, the hope of winning her hand has been the sole support of my life. Grinjanadri is certainly younger than I am, and he is my own brother. He may still place hope in his future. Why are you in such haste? After today’s conception rite, will Chincha not give you another daughter?

PUARNAPOLIKA (*aside*)—This old man has wicked designs upon my daughter. No matter. I shall think about it.

KVATHIKA (*aside*)—Lashuna Pant is old. Therefore this marriage can be achieved only through the power of wealth.

(*He takes out gold coins and displays them.*)

LINGOJI—Now that he is displaying so much wealth, let the marriage alliance be with Lashuna Pant alone. Grinjanadri may be young, but enough of that.

CHINCHA—Come, come! State the exact amount you demand.

KVATHIKA—Yes. You shall receive gold equal to ten karshas.

LINGOJI—No one can be certain of the length of a living creature's life. What use, then, is so little gold?

LASHUNA PANT (*hearing this, pleased in his heart*)—Palandumandana's brother, who was more than one hundred and twenty years old, married Pindamulika solely through the power of wealth.

(Aloud.) Ah, Lingoji! Has anyone nourished by garlic ever died?

(*He displays as much gold as may be required.*)

LINGOJI BHATTA—What use will all this gold be? Still—let it be so.

PUARNAPOLIKA (*looking at the gold*)—Ah, my son Lashuna Pant, this is excellent. But why not also provide some money now for your funeral rites?

LASHUNA PANT (*thinking*)—If that is so, what use will be made of this field of mine, where garlic and onions grow? (Pointing toward his field.) Woman, should such a thing happen, let a memorial linga be erected in this very field—this kshetra. The land is highly fertile. What more is needed?

PUARNAPOLIKA (*looking at Lingoji*)—My purpose is accomplished. Let the marriage alliance be with Lashuna Pant alone.

LINGOJI BHATTA—I am thinking the same thing.

(*The curtain is drawn aside and GRINJANADRI enters.*)

GRINJANADRI—Ah, you critic of helpful men! Does the king not give widows free food? Oh, sir, how marvellous! How quickly people—wearing tight waistcloths and scarves over their shoulders, frightened of passers-by, stuffing leftover food into their clothes and greedily drinking a handful of water at a public fountain—forget the customs of their own region at the mere sight of money!

LINGOJI (*aside*)—A thorn has pierced my heart! No matter. I shall trick him. (Aloud.) Come, come! The hour of the conception rite has arrived. Let food be served at once to all the invited Brahmins!

(*From offstage.*)

You chiefs among curse-flingers, seedlings of slander, mad dogs, dogs' tails, pets of prostitutes, lovers of your teachers' wives and of your own daughters-in-law, accomplished lovers of maidservants, lords of death, destroyers of friends, masters of broken faith, cheats of the whole world, thorns even in Narayana's side, sharp-mouthed wretches, chiefs among scoundrels, eaters of forbidden food—stay exactly where you are! Because there is too little room inside, comfortable seating for the meal will be arranged only in the lane. The renowned Palandumandana and a few others may come inside.

(*PALANDUMANDANA, MITHYAKUTA, and several others enter.*)

PALANDUMANDANA (*looking around*)—I have never sat at the same meal with Chittapavana.

CHITTAPAVANA—Ha, ha, sir! Have you forgotten yesterday? During the worship of Khanderaya, did you not devour a special dish seasoned with many varieties of onion?

PALANDUMANDANA (*smiling and embracing Chittapavana*)—Ha, ha, brother! Are large onions used here too?

CHITTAPAVANA—What else would they use?

(*PALANDUMANDANA rises proudly.*)

GRINJANADRI—What use are large onions alone? Without small onions, a dish is as tasteless as the fodder eaten by a horned beast.

LASHUNA PANT—What use is this tasteless discussion? When a garlic bulb rises like the lord of medicinal herbs—the Moon—what need have we of firefly-like varieties of onion?

PALANDUMANDANA—Ha, ha, brother! Is the large onion not superior even to garlic?

A fine array of onions shines like a constellation of stars. Pearls, diamonds, and topazes are not worth even one-hundredth part of it. The very sight of it brings supreme satisfaction. In the field, the bulb-bearing onion shines brilliantly by day like the Moon in the sky. (3)

LASHUNA PANT (*angrily*)—Indeed!

A single cluster of garlic destroys countless diseases born of disorders of the wind. What can compare with garlic? Its mere smell makes food especially delicious even for gods and demons. (4)

GRINJANADRI (*separating them*)—Listen to me. The small onion is the finest of all seasonings. The brilliance of coral is merely its handmaid. Fools do not know its true nature. How could they understand its subtlety? (5)

(*PRAJAPATI DEVA re-enters.*)

PRAJAPATI DEVA—Why is the feeding of the Brahmins being delayed?

CHINCHA—Ah, Prajapati Deva, the delay is because the boiled vegetables and greens are being tempered with onion and garlic.

PRAJAPATI DEVA—So be it. I shall bring the leaf-plates.

(He mimes bringing leaf-plates.)

(From offstage.)

Ah! The smell of onion and garlic has turned the whole place into heaven. Look, look! Why are those wicked North Indians covering their noses and running away? Fortunate are the Southerners, delighted by the many dishes. In their excitement, they are demonstrating the pada, krama, and jata methods of Vedic recitation with clear pronunciation.

LINGOJI BHATTA—Why have these foremost kinsmen, who adorn the assembly hall, not yet taken their seats?

(They enter.)

(PERAM BHATTA and the others enter with ash smeared over their bodies. Cheerfully they carry leaf-plates, water-pots, and other objects. Their stomachs are empty. Their reddish-brown garments, patched together from a hundred pieces, create on every side the splendid illusion of thousand-eyed Indra. (6))

(LASHUNA PANT, eager to display his passion, coughs violently; short of breath, he faints and falls.)

PALANDUMANDANA—Quickly, bring the juice of a large onion! Otherwise Lashuna Pant will not remain with us much longer.

(GRINJANADRI runs in with small-onion juice. ARANALA BHATTA brings a jar of rice-water.)

TRYAMBAKA—Brother Lingoji, give him something restorative.

(LINGOJI BHATTA shakes his head and looks around.)

CHINCHA—Dear Raktamulika, mix the juice of the red root with tamarind juice.

(RAKTAMULIKA does so at once.)

MITHYAKUTA BHATTA (*bringing a liquid preparation of mithyakuta*)—You fools! Watch how swiftly I work this miracle.

(He immediately pours it into LASHUNA PANT's mouth.)

(From behind the curtain.)

You who are forever arranging funeral rites and trying to send Lashuna Pant to the next world ahead of everyone else—throw away that pyre made of dried onion and garlic skins! The messengers of Death have urinated on Lashuna Pant's face and fled. Therefore he must certainly be alive now!

LINGOJI—This medicine is truly powerful!

(By now LASHUNA PANT has regained consciousness.)

LASHUNA PANT—Please bring a cluster of garlic! I fainted because of an excess of bile.

PALANDUMANDANA—Excellent, excellent, sir! The same thing happens to me again and again.

GRINJANADRI—I am trapped among a company of fools. You wicked idiots, how can a disorder of bile be cured without a sweet taste? Take this juice made from small onions.

LASHUNA PANT (smiling)—If garlic is unable to drive away disease, what can one say of the small onion? If the Sun cannot be the chief destroyer of darkness, what can one say of the Moon? (8)

O cluster of garlic, destroyer of every affliction, horse that gallops upon the high road—or the road to the next world—crusher of grievous sin, destroyer of ill-fated fragrance, giver in an instant of true marvel—or perfect knowledge—bread that delights the hungry, supreme goddess: show mercy! (9)

(PURNAPOLIKA loosens her veil, removes a cluster of garlic with her left hand, and places it in LASHUNA PANT's mouth.)

GRINJANADRI (smiling)—How obstinate these fools are! The small onion is red as coral, juicy as nectar, a quickener of love, and capable of giving delight; purity awakens at the very sight of it. Fools refuse to believe in its power. (10)

LASHUNA PANT (opening his eyes, savouring the garlic, and addressing it as 'O little garlic bulb' and so forth, echoing Verse 9)—Ha, ha! It is true that in just this way the gods drink the Moon—its nectar-rays—because the Moon resembles garlic in form. And the Moon itself is worthy of worship in this world because it resembles a clove of garlic. (11)

LINGOJI BHATTA—Purnapolika, this man—Lashuna Pant—is alive through the power of your merit. Your daughter is fortunate too, for she has now obtained enough wealth to live free of care throughout her own life and throughout her husband's life as well.

(The curtain is drawn aside. The priest PERAM BHATTA enters with fuel, kusha grass, a sacrificial ladle, clarified butter, and ritual vessels.)

PERAM BHATTA—Ha, ha! There seems to be great confusion among the daughters-in-law. Let the smell of garlic and onion therefore be covered. Why has the strong wind made the odour so intense? The sky, covered with garlic and onion skins, seems to be summoning uninvited Vedic priests! Let the conception ceremony begin.

(He covers the sacrificial altar with garlic and onion skins instead of kusha grass. Then—)

(LINGOJI BHATTA looks toward CHINCHA and signals his sexual desire.)

CHINCHA (*aside*)—Will the conception rite take place right here?

(Looking at her husband, she takes out lakshmana, a medicinal herb, and mimes eating it.)

LINGOJI BHATTA (*aside*)—Let me gain strength. Even a man whose virility was destroyed by Hanuman's roar becomes a man again after eating onion.

(He mimes swallowing garlic as though it were the remnant of the sacrificial offering. Pretending reverently to receive sacred ash, he mimes consuming bhang, an intoxicant made from cannabis. Pretending to protect himself from the smoke, he secretly offers tobacco leaves into the sacrificial fire and draws in the smoke of tobacco, bhang, and the rest through a blowpipe.)

PURNAPOLIKA (angrily)—No such family custom has ever been seen anywhere! I too underwent a conception rite. Astonishing—astonishing!

(She snatches the lakshmana herb from CHINCHA's hand.)

GRINJANADRI (watching)—Now I must throw myself from a mountain or drown myself in water.

(He rises in haste to support PURNAPOLIKA. With GRINJANADRI's help, she begins to wail loudly.)

KALANKANKURA (rising)—Grinjanadri, why are you disrupting the conception ceremony?

KVATHIKA (rising)—Purnapolika, this is not proper when you have already given your word to Lashuna Pant. Besides, is Grinjanadri to remain unmarried forever?

(In the ensuing scuffle, the loosened veils of PURNAPOLIKA and KVATHIKA spill small onions, large onions, and garlic in every direction.)

PALANDUMANDANA AND THE OTHERS (looking on angrily)—Truly these women are inauspicious, wasting nectar-like garlic and the other bulbs!

MITHYAKUTA BHATTA (seeing Raktamulika's disordered veil as she trembles in the strange commotion)—Raktamulika, many people are looking at you! You are your father's dearly cherished daughter. But hostile North Indians are coming here—people who insult mithyakuta, the nourishing savour at the root of every Southerner. Their view will be entirely opposed to ours.

(From offstage.)

Now the mockery of marriage with one's paternal uncle's daughter and other such customs may be avoided. The North Indians, who can expose other people's faults through satire, have arrived.

(The Bengali scholars JHALLARI-JHANKARA and BHERI-BHANKARA BHATTACHARYA enter with their DISCIPLE, who is carrying a fish.)

BHATTACHARYA (looking and sniffing in every direction)—Shiva, Shiva! Alas! This is the work of childless people. Alas, alas!

PALANDUMANDANA

(Everyone remains with their noses covered.)

DISCIPLE—Bhattacharya, show us the kitchen at once, for this three-day-old fish may begin to rot at any moment.

BHATTACHARYA—We have become trapped in a house that defies scripture! How can we arrange a meal among these barren people?

DAKSHINATYA—We are dying from the smell of rotten fish. Where can we go?

BHATTACHARYA—You people stand outside the bounds of dharma; you understand almost nothing about religion. The Smriti says: 'A person who eats meat after worshipping the gods and ancestors is not defiled.'

DAKSHINATYA (earnestly)—How can that be? In the relevant portion of the Smriti, meat-eating is forbidden in the Kali age.

BHATTACHARYA (laughing)—That may be explained by the 'principle of satisfying the wicked.' To begin with, your statement has no foundation. And where is the eating of fish forbidden?

DAKSHINATYA—If that is so, where is it prescribed?

BHATTACHARYA—Was Katyayana Acharya mistaken when he said, 'And fish after two months'? And was Manu talking nonsense when he said that the pathina and rohita species of fish are respectively the most suitable offerings to the gods as havya and to the ancestors as kavya?

(Realising that they cannot defeat their opponent without a false accusation, the Southerners send one of their number outside. Until he returns with a royal officer, they support their position with several invented claims.)

PALANDUMANDANA

(The chief royal OFFICER enters. He has BHATTACHARYA bound and beaten.)

BHATTACHARYA—I do not understand why you are beating me. I am innocent.

OFFICER—You are performing a Tantric rite intended to cause someone's death. (To the SOLDIER.) No matter—beat him again and again!

(The SOLDIER beats him.)

BHATTACHARYA (in pain)—Oh, my Southern brothers, is this true? Were you not eyewitnesses in this matter?

DAKSHINATYA—We are the only witnesses. How could there be any doubt?

BHATTACHARYA—Then why do you not say so plainly?

DAKSHINATYA—What proof is there that we are witnesses?

BHATTACHARYA—You are learned in the Vedas. How can there be any doubt that you are witnesses?

DAKSHINATYA (turning to the OFFICER)—If that is so, this Bhattacharya should be killed, for he is a Tantric sorcerer!

(They point to the heaps of onion, garlic, and other skins. Taking this as proof, the OFFICER binds BHATTACHARYA and his DISCIPLE and carries them away together with the heap of refuse.)

DAKSHINATYA (*taking one another by the hand*)—See how Lord Jagadisha has granted us victory over our rival! May our friends enjoy such glory!

PALANDUMANDANA

The enemy is defeated; the darkness of obstruction has been wholly dispelled; knowledge is being acclaimed in triumph. Yet why, even in the Kali age, has the superstition surrounding forbidden foods not been dispelled? (12)

So be it. Let the conception rite be celebrated at some other auspicious hour. We are leaving.

LINGOJI BHATTA—Then we shall arrange another auspicious hour.

(They all rise.)

Nevertheless, let this be the final benediction.

The gaining of a kingdom, victory in every direction, and the crossing of difficulties are undoubtedly achieved only at an auspicious moment. (13)

(All exit.)

Thus ends the farce entitled PALANDUMANDANA.

PALANDUMANDANA

Harijivan Mishra's farce turns food, ritual, marriage custom, pedantry and regional pride into a rapid theatrical collision. Onions, garlic and the dinner table become comic instruments through which appetite, greed, scriptural argument and social absurdity expose one another.

Sanskrit-to-Maithili Translation — Gajendra Thakur
Editor, Videha — First Maithili Fortnightly eJournal



www.videha.co.in

ISSN 2229-547X

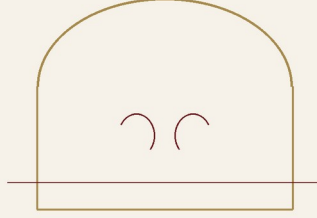
उत्तररामचरितम्

महाकवि भवभूति

संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद

गजेन्द्र ठाकुर

सम्पादक, विदेह — प्रथम मैथिली पाक्षिक ई-पत्रिका



www.vidha.co.in

उत्तररामचरितम्

महाकवि भवभूति

संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद

गजेन्द्र ठाकुर

सम्पादक, विदेह — प्रथम मैथिली पाक्षिक ई-पत्रिका

www.videha.co.in

प्रकाशन एवं कॉपीराइट

उत्तररामचरितम्

मूल संस्कृतः महाकवि भवभूति

संस्कृतसँ मैथिली अनुवादः गजेन्द्र ठाकुर

सम्पादकः विदेह — प्रथम मैथिली पाक्षिक ई-पत्रिका

प्रथम पुस्तक संस्करणः 2026

© 2026 गजेन्द्र ठाकुर — मैथिली अनुवाद

www.videha.co.in

6 × 9 इञ्च हार्डबैक संस्करण

विषय-सूची

पात्र-परिचय.....	4
प्रस्तावना.....	7
प्रथम अङ्क — चित्रशाला-दर्शन.....	10
द्वितीय अङ्कक प्रवेशक.....	29
द्वितीय अङ्क — पञ्चवटीमे प्रवेश.....	35
तृतीय अङ्कक प्रवेशक.....	41
तृतीय अङ्क — छाया.....	44
चतुर्थ अङ्कक प्रवेशक.....	64
चतुर्थ अङ्क — कौसल्या आ जनकक भेट.....	66
पञ्चम अङ्क — कुमारक पराक्रम.....	84
षष्ठ अङ्कक प्रवेशक.....	98
षष्ठ अङ्क — कुमारसभक अभिज्ञान.....	101
सप्तम अङ्क — पुनर्मिलन.....	115

पात्र-परिचय

रंगमञ्च पर आगमनक क्रमसँ —

मूल संस्कृत नाम	मैथिली परिचय
सूत्रधारः	सूत्रधार (रंगमञ्चक निर्देशक)
नटः	नट (अभिनेता)
रामः	राम, अयोध्याक राजा
सीता	सीता, रामक पत्नी
कञ्चुकी	कञ्चुकी
अष्टावक्रः	अष्टावक्र, एक ऋषि
लक्ष्मणः	लक्ष्मण, रामक छोट भाइ
प्रतीहारी	प्रतीहारी (द्वाररक्षिका)
दुर्मुखः	दुर्मुख, अन्तःपुरक सेवक
आत्रेयी	आत्रेयी, एक तपस्विनी
वासन्ती	वासन्ती, वन-देवी
शम्बूकः	शम्बूक, शूद्र तपस्वी
मुरला	मुरला, नदी-देवी
तमसा	तमसा, नदी-देवी
सौधातकिः	सौधातकि, एक छात्र
भाण्डायनः	भाण्डायन, एक छात्र
जनकः	जनक, सीताक पिता
अरुन्धती	अरुन्धती, वसिष्ठ ऋषिक पत्नी
गृष्टिः	वाल्मीकिक कञ्चुकी

मूल संस्कृत नाम	मैथिली परिचय
कौसल्या	कौसल्या, रामक माता
लवः	लव, रामक पुत्र
बटवः	बटुगण (छात्र सभ)
पुरुषः	एक अधिकारी
चन्द्रकेतुः	चन्द्रकेतु, रामक भातिज (लक्ष्मणक पुत्र)
सुमन्त्रः	सुमन्त्र, चन्द्रकेतुक सारथि
विद्याधरः	विद्याधर (पुरुष)
विद्याधरी	विद्याधरी (स्त्री)
कुशः	कुश, रामक पुत्र
वाल्मीकिः	वाल्मीकि, रामायणक रचयिता

गर्भ-नाटकमे (नाटकक भीतरक नाटकमे) —

मूल संस्कृत नाम	मैथिली परिचय
सूत्रधारः	सूत्रधार
पृथिवी	पृथिवी (धरती)
भागीरथी	भागीरथी (गंगा नदी)

ई रचना हम प्राचीन कविसभक प्रति
श्रद्धाञ्जलि रूपमे अर्पित करैत छी।
आउ, वाणीक सेहो वन्दना करी,
जे अमर अछि, आत्माक एक अंश अछि।

मङ्गलाचरण समाप्त भेलापर

सूत्रधार: आब बिना कोनो विलम्बक हमरा भगवान् कालप्रियक उत्सवमे उपस्थित एहि रसज्ञ समाजक समक्ष एकटा निवेदन करबाक अछि। सज्जनसभ निश्चय भट्ट भवभूति नामक ओहि व्यक्तिक विषयमे सुनने होयब, जे काश्यप गोत्रक छथि आ श्रीकण्ठ उपाधि धारण करैत छथि।

वाणीदेवी एहि ब्राह्मणक आज्ञा

ओहिना मानैत छथि,
जेना ब्रह्माक आज्ञा मानैत छथि,
आ इएह 'रामक अन्तिम चरित' रचलनि,
जकर अभिनय आइ हम अहाँसभक समक्ष करब।

कविक आज्ञा मानि आब हम स्वयं

ओहि युगक अयोध्यामे रहनिहार व्यक्तिक रूप धारण करैत छी।
(चारू कात देखैत) केओ अछि? आश्चर्य, आँगनसभमे वाद्यकारक बाजनाइ किएक बन्द भऽ गेल? महान् राजा, माननीय राम—पौलस्त्यक कुल लेल दावानल—हुनक राज्याभिषेकक अवसरपर तँ कतेको दिन-राति आनन्दमय सङ्गीत क्षणोभरि नहि रुकल छल!

एक नटक प्रवेश

नट: मित्र, लङ्काक युद्धमे जे महान् सहयोगी छलाह—वानर आ राक्षससभ—राजा हुनकासभकेँ अपन-अपन घर पठा देने छथि। ओ ब्राह्मण आ देवतासभ सेहो विदा कऽ देल गेलाह, जे राजाक सम्मान करबाक लेल अयलाह आ जाहि-जाहि प्रदेशसँ गेलाह ओकरा पवित्र कऽ देलनि। एहि अतिथिसभक सत्कारक लेल एतेक दिन धरि उत्सव चलैत रहल। एखन तँ

रामक राजमातासभ चलि गेलीह—
वसिष्ठक संरक्षणमे,
अरुन्धतीक पाछाँ-पाछाँ—अपन जामाताक आश्रममे
एकटा अनुष्ठानक लेल।

सूत्रधार: कहू—हम एहि प्रदेशक मूल निवासी नहि छी, ताहि हेतु पुछैत छी—ई जामाता के छथि?

नट:

राजा दशरथ शान्ता नामक कन्याक पिता छलाह

आ हुनका राजा लोमपादकेँ दत्तक पुत्री रूपमे देलनि।

हुनक विवाह विभाण्डक-पुत्र ऋष्यशृङ्गसँ भेल;

आ ओएह एखन बारह वर्ष धरि चलनिहार

यज्ञ आरम्भ कयने छथि। हुनक आदरमे वृद्धजनसभ

भेट करबाक लेल गेल छथि, मुदा अपन पुत्रवधू जानकीकेँ

एतहि छोड़ि गेल छथि, यद्यपि हुनक गर्भ बहुत बढ़ि चुकल अछि।

सूत्रधारः कोनो बात नहि, चलू; अपन वर्णधर्मक अनुसार राजमहलक द्वारपर उपस्थित होयबाक चाही।

नटः तखन तँ, मित्र, अहाँकँ एहन राजकीय प्रशस्ति बनयबाक चाही, जकर शैली सर्वथा निर्दोष हो।

सूत्रधारः प्रिय मित्र,

परिस्थिति जेहन हो, अभिनय करब हमर कर्तव्य अछि।

निन्दासँ बचबाक कोनो उपाय नहि।

वचन हो अथवा स्त्री—जतेक पवित्र हो—

दुर्जन ओकरो दोष लगबयबे करत।

नटः ‘दुर्जन’सँ सेहो अधलाह कहल जाय, तखन उचित होयत।

कारण, लोकसभ स्वयं महारानी

वैदेहीक निन्दा कऽ रहल अछि। किएक?

राक्षसक घरमे हुनक रहनाइ

आ अग्निपरीक्षाक विषयमे हुनक सन्देह।

सूत्रधारः ई जनश्रुति जँ राजाक कान धरि पहुँचि गेल तँ बड़ अनर्थ होयत।

नटः जे हो, ऋषि आ देवतासभ हुनक कल्याण करताह। (घुमैत) केओ अछि? राजा एखन कतय छथि? (कान दैत) लोकसभ कहैत अछि—

जनक गाढ़ स्नेहवश सम्मान प्रकट करबाक लेल अयलाह,

किछु दिन उत्सवमे बितौलनि,

आ आब विदेह घुरि गेलाह।

एहि कारण महारानी व्याकुल छथि; हुनका

सान्त्वना देबाक लेल राजा

धर्मासन छोड़ि अपन निवासमे

चलि गेल छथि।

दुनू प्रस्थान करैत छथि।

प्रस्तावना समाप्त

आरम्भमे राम आसनपर छथि आ सीता हुनक संग छथि।

राम: महारानी वैदेही, कृपया उदास नहि होउ। वृद्धजनसभक लेल हमरा सभकेँ छोड़ि जाएब सहज नहि छल।

मुदा नित्य अनुष्ठानक निरन्तर भार मनुष्यक

स्वतन्त्रता सीमित कऽ दैत अछि।

धार्मिक लोकक लेल गृहस्थ जीवनमे

अनेक बाधा रहैत अछि।

सीता: हम बुझैत छी, आर्यपुत्र, बुझैत छी। मुदा प्रियजनसँ वियोग

एतेक दुःख दैत अछि।

राम: सत्य। जीवनक ई अवस्थासभ हृदयक कोमलतम भागकेँ विदीर्ण करैत अछि आ संवेदनशील मनुष्यक मोनमे एहन विरक्ति उत्पन्न करैत अछि जे ओ समस्त भोग्य वस्तु त्यागि वनमे शान्ति खोजबाक लेल तत्पर भऽ जाइत अछि।

कञ्चुकीक प्रवेश

कञ्चुकी: प्रिय राम... (बात रोकि, फेर चिन्तित भावसँ) महाराज...

राम: भद्र, एना नहि। पिताक सेवक-मण्डलीक सदस्यक मुखसँ 'प्रिय राम' सम्बोधन हमरा लेल पूर्ण उचित अछि। अतएव पहिने जेना कहैत छलहुँ, तहिना बाजू।

कञ्चुकी: ऋष्यशृङ्गक आश्रमसँ अष्टावक्र अयलाह अछि।

सीता: भद्र, तखन विलम्ब किएक?

राम: हुनका तुरन्त भीतर अनाउ।

कञ्चुकी प्रस्थान करैत अछि।

अष्टावक्रक प्रवेश

अष्टावक्र: अहाँ दुनूक कल्याण हो।

राम: प्रणाम, भगवन्। कृपया आसन ग्रहण करू।

सीता: प्रणाम। हमर गुरुजन आ ननदि शान्ता

कुशलपूर्वक छथि ने?

राम: सोमपान कयने हमर बहनोइ ऋष्यशृङ्ग आ हमर बहिन शान्ता दुनू कुशल छथि ने?

सीता: ओ हमरासभकेँ स्मरण कयलनि?

अष्टावक्र: (बैसैत) निश्चय। महारानी, वसिष्ठ अहाँकेँ ई सन्देश देने छथि—

“सर्वधारिणी पुण्यमयी पृथ्वी स्वयं

अहाँकेँ जन्म देलनि;

सृष्टिकर्ताक समकक्ष राजा जनक

अहाँक पिता छथि;

आ हे पुत्री, अहाँ एहन राजवंशक

पुत्रवधू छी, जकर घरमे

दू गुरु छथि—हमसभ

आ स्वयं सूर्यदेव।

तखन वीर पुत्रक जन्मक अतिरिक्त

हम अहाँ लेल आओर की कामना कऽ सकैत छी?”

राम: हम अत्यन्त कृतार्थ भेलहुँ।

सामान्य जीवनमे सज्जनक वचन

तथ्यक अनुरूप होइत अछि;

मुदा आद्य ऋषिक विषयमे तथ्य स्वयं

हुनक वचनक अनुरूप भऽ जाइत अछि।

अष्टावक्र: अरुन्धती, राजमातासभ आ शान्ता विशेष आग्रहपूर्वक ई आज्ञा देने छथि—“गर्भावस्थामे सीताक जे इच्छा हो, बिना विलम्ब पूरा कयल जाय।”

राम: ओ जे कहतीह, हम पूर्ण करब।

अष्टावक्र: महारानीक ननदोइ ऋष्यशृङ्ग

ई कहलनि—“पुत्री, गर्भ बहुत बढ़ि गेलाक कारणेँ

अहाँकेँ एतय नहि बजाओल गेल अछि। प्रिय पुत्र रामकेँ

केवल अहाँक मनोरञ्जन करबाक भार देल गेल अछि।

हम शीघ्र अहाँकेँ कुशल-मङ्गल देखबाक आशा करैत छी,

जखन पुत्र अहाँक कोरामे होयत।”

राम: (आनन्द आ सङ्कोचसँ मुस्कराइत) एहिना हो। वसिष्ठ हमरा लेल कोनो सन्देश नहि पठौलनि?

अष्टावक्र: सुनू—

“अहाँक बहनोइक यज्ञमे

हमसभ रुकि गेल छी।

अहाँ एखन बालके छी आ अहाँक राज्य

नव आरम्भ भेल अछि।

प्रजाकेँ प्रसन्न रखबामे

अपनाकेँ समर्पित करू,

कारण सुयश प्राणोसँ बेसी बहुमूल्य

निधि अछि।”

राम: मैत्रावरुणि जे कहलनि, सेहने होयत।

स्नेह, करुणा, सुख... एतबे नहि, स्वयं जानकीकेँ सेहो

प्रजाकेँ प्रसन्न करबाक लेल

त्यागबामे हम कनेको सङ्कोच नहि करब।

सीता: इएह कारण हमर स्वामी राघववंशक आधार छथि।

राम: केओ अछि? अष्टावक्रक विश्रामक व्यवस्था करू।

अष्टावक्रः (ठाढ़ भऽ कऽ घुमैत) अहा, राजकुमार लक्ष्मण आबि गेलाह। (प्रस्थान)

लक्ष्मणक प्रवेश

लक्ष्मणः भायजीक जय हो। चित्रकार चित्रशालामे अहाँक जीवनक कथा ओहिना पूर्ण कऽ देने अछि, जेना हमसभ ओकरा सुनौने छलहुँ। भौजीकेँ ओकर दर्शनक निमन्त्रण अछि।

रामः प्रिय अनुज, उदास महारानीक मन बहलयबाक उपाय खोजबामे अहाँ निपुण छी। कथा कतय धरि पहुँचल अछि?

लक्ष्मणः भौजीक अग्निद्वारा शुद्धि धरि।

रामः चुप!

जे जन्मसँ पूर्ण पवित्र छथि,

हुनका शुद्धिक आवश्यकता की?

पवित्र जल आ अग्निक शुद्धि

कोनो दोसर साधनसँ नहि होइत अछि।

प्रिय महारानी, यज्ञभूमिसँ जन्म लेने अहाँ हमरा क्षमा करू। अहाँक प्रति ई विनम्रता हम जीवनभरि रखब।

जिनका लेल कुलक मर्यादा सच्चा धन अछि,

हुनका आलोचककेँ प्रसन्न रखए पड़ैत छनि।

लोकमतक कारण हम जे अधार्मिक माँग कयने रही,

से अहाँसँ कखनो नहि कयल जेबाक चाहैत छल।

सभ जनैत अछि जे दुर्लभ सुगन्धित फूलक

स्वाभाविक स्थान शिरोमणि बनि माथपर अछि,

पएर तर कुचलल पड़ल रहब नहि।

सीताः रहए दिअ, आर्यपुत्र, रहए दिअ। आउ, अहाँक जीवनकथा देखी।

ओ ठाढ़ भऽ कऽ आगाँ बढ़ैत छथि।

लक्ष्मणः भित्तिचित्र एम्हर अछि।

सीताः (देखैत) एहि दृश्यमे ऊपर एकठाम जुटल ई प्राणीसभ के छथि, जे हमर स्वामीक गुणगान करैत बुझाइत छथि?

लक्ष्मणः ई गुप्त मन्त्रसहित जृम्भक नामक दिव्य अस्त्रसभ छथि। कृशाश्व एहि अस्त्रसभकेँ कौशिक विश्वामित्र—‘विश्वक मित्र’—केँ देने छलाह; आ ताटकाक वध कयलापर विश्वामित्र भायजीकेँ ई सभ देलनि।

रामः महारानी, दिव्य अस्त्रसभकेँ प्रणाम करू।

वैदिक धर्मक कल्याणक लेल ब्रह्मा

आ आन देवतासभ

एक सहस्र वर्षसँ बेसी काल धरि

तपस्या कयलनि;

प्राचीन गुरुसभ जे दर्शन कऽ सकलाह,

ई अस्त्रसभ ओही तपशक्तिक मूर्त रूप छथि।

सीता: हुनकासभकें प्रणाम।

राम: आब ई सभ निश्चय अहाँक सन्तानक सेवा करत।

सीता: हम कृतार्थ भेलहुँ।

लक्ष्मण: ई मिथिलाक प्रसङ्ग अछि।

सीता: अहा, ओतय हमर स्वामी चित्रित छथि। ओ अत्यन्त सहजतासँ शङ्करक धनुष तोड़ि देने छथि, आ हमर पिता हुनक सौम्य तेजकें निहारि रहल छथि—हुनक देहक सुन्दरता देखि विस्मयसँ प्रायः अवाक्: विकसित नीलकमल जकाँ श्याम, कोमल आ स्निग्ध, मुदा सुदृढ़; माथपर एकटा शिखाक सरल शोभा मात्र।

लक्ष्मण: ई देखू—

एतय अहाँक पिता अपन नव सम्बन्धी
वसिष्ठ आदि कें प्रणाम करैत छथि,
आ समस्त जनकवंशी राजाक कुलपुरोहित
शतानन्द गौतम सेहो प्रणाम करैत छथि।

राम: ई दृश्य वास्तवमे देखबा योग्य अछि।

रघु आ जनक कुलक ओहि सम्बन्धक

स्वागत के नहि करत,
जाहिमे कुशिक-पुत्र दाता सेहो छलाह
आ ग्रहणकर्ता सेहो?

सीता: ई चारू भाइ छथि, अवसरानुकूल गोदान करबाक बाद। एतय अहाँसभ विवाहक दीक्षा ग्रहण कयने छी। हमरा तँ एहन लगैत अछि जे मानू हम एखने ओतय छी आ ओ समय एखने उपस्थित अछि।

राम:

प्रिय पत्नी, हमरा सेहो एहन लगैत अछि मानू ओ क्षण

एखने अछि, जखन गौतम प्रसन्नतापूर्वक
यज्ञविधिक साक्षात् मूर्तिरूप जकाँ
विवाह-कङ्कणसँ चमकैत अहाँक ई हाथ
हमरा सौंपने छलाह।

लक्ष्मण: ई अहाँ छी; आ ई दोसर भौजी माण्डवी, तथा ई हमर पुतोहु श्रुतकीर्ति।

सीता: आ प्रिय बालक, ई दोसर कन्या के छथि?

लक्ष्मण: (सङ्कोचसँ मुस्कराइत; स्वगत) अहा, भौजी निश्चय उर्मिलाक विषयमे पुछैत छथि। ठीक अछि, हुनक ध्यान दोसर दिस करैत छी। (प्रकट) अहा, ई देखू, बड़ दर्शनीय अछि—ई भार्गव छथि।

सीता: देखिते हमरा भय लगैत अछि।

राम: हे ऋषि, अहाँकें प्रणाम।

लक्ष्मण: देखू, एतय भायजी आब...

राम: (किछु रुष्ट भऽ) अरे, आरो बहुत किछु देखबा योग्य अछि। हमरा दोसर दृश्य देखाउ।

सीता: (स्नेह आ प्रशंसासँ देखैत) आर्यपुत्र, ई उदात्त विनय अहाँपर कतेक शोभैत अछि!

लक्ष्मण: ई अयोध्या घुरबाक दृश्य अछि।

राम: (नोर भरि) मोन पड़ैत अछि—हाय, सभ किछु स्पष्ट मोन पड़ैत अछि।

ओ दिन जखन पिता जीवित छलाह,

दाम्पत्य जीवन नव छल,

आ मातासभ हमर चिन्ता करैत छलीह...

ओ दिन आब सदा लेल बीति गेल।

आ ओ समयक जानकी ई छथि—

निष्कपटतासँ चमकैत मुखबाली बालिका,

दू-चारि फूल जकाँ दाँत—

दूधक दाँत खसि गेलाक बाद आगाँ

नव काँपल जकाँ निकलैत—

कोमल छोट-छोट अङ्ग एतेक मनोहर,

मानू निर्मल चाननी; प्रकृति स्वयं

हुनका मोहिनी विद्या सिखौने हो,

जे हमर एहि अङ्गसभमे कौतूहल जगबैत छल।

लक्ष्मण: ई मन्थरा अछि...

राम: (उत्तर नहि दैत दोसर दिस बढ़ैत) महारानी वैदेही,

ई शृङ्गवेरपुरक इङ्गुदी वृक्ष अछि, जतय

बहुत पहिने

हमसभ अपन प्रिय मित्र, निषादराजसँ

भेट कयने रही।

लक्ष्मण: (हँसैत; स्वगत) अहा, भायजी तँ मध्यमा माताक प्रसङ्ग छोड़ि देबय चाहैत छथि!

सीता: ई तँ तपस्वीक जटाबन्धनक प्रसङ्ग अछि, जे अहाँक धारण करए पड़ल छल।

लक्ष्मण:

प्राचीन इक्ष्वाकुसभ पुत्रकें राज्य सौंपलापर

जे व्रत धारण करैत छलाह,

भायजी बाल्यावस्थेमे ओ व्रत धारण कयलनि—

वनवासक पवित्र व्रत।

सीता: निर्मल पवित्र जलसहित ई भागीरथी छथि।

राम: हे देवी, रघुकुलक आराध्या, अहाँकें प्रणाम।

सगरक यज्ञमे घोड़ा खोजैत

हमर पूर्वजसभ एकचित्त भऽ पृथ्वी खोजैत गेलाह,

जाधरि क्रुद्ध महाबली कपिल हुनकासभकें

भस्म नहि कऽ देलनि। भागीरथक ओ प्रपितामहसभकें

अन्ततः भागीरथक कठोर तपस्ये उद्धार कयलक—

ओ अपन शरीरक कनेको चिन्ता नहि कयलनि—

आ हे पुण्यमयी, अहाँक जलक स्पर्शसँ ओ सभ मुक्त भेलाह।

हे माता, हमर प्रार्थना अछि—अपन पुत्रवधू सीतापर ओहिना स्नेह राखू, जेना अरुन्धती रखैत छथि।

लक्ष्मण: ई श्यामा—‘कारी’ बरगद—अछि, कालिन्दीक तटपर चित्रकूट जाएबला बाटमे, जतय भरद्वाज हमरा सभकेँ पठौने छलाह।

सीता: आर्यपुत्रकेँ ई स्थान मोन अछि ने?

राम: कोना बिसरि सकैत छी?

बाटक कठिन यात्रासँ अहाँक कोमल अङ्ग थाकि पीड़ित भऽ गेल छल,

आ तखन कुचलल कमल जकाँ शिथिल ओ अङ्ग

अहाँ हमर कोरामे राखि देलहुँ;

हम दृढ़ हाथसँ दबबैत रहलहुँ,

जाधरि अहाँ गाढ़ निद्रेमे नहि सूति गेलहुँ।

लक्ष्मण: ई विन्ध्यवनक प्रवेशद्वारपर बाट रोकने विराध अछि।

सीता: बस, आब ई नहि! एतय हम अपनाकेँ दक्षिण वनमे प्रवेश करैत देखैत छी—मानू आँखिक सोझाँ सभ घटि रहल हो—आर्यपुत्र हमर माथपर तालपत्रक छत्ता धेने छथि।

राम:

ई पर्वतीय झरनाक तटबला उपवनसभ अछि,

जतय तपस्वी वृक्षतर तपस्या करैत छलाह,

आ शान्तिक खोजमे गृहस्थ अपन घर बनबैत छलाह—

दिनमे एक मुट्ठी अन्न खाइतो अतिथिक प्रति उदार।

लक्ष्मण: ई जनस्थानक बीचमे प्रस्रवण पर्वत अछि। चारूकातक सघन वनक आलिङ्गनमे स्थित एकर गुफासभ गोदावरीक ध्वनिसँ गूँजैत छल। वृक्ष-झाड़ीसँ भरल हरियर-श्याम वन अत्यन्त सघन छल, आ निरन्तर उमड़ैत मेघ पर्वतक स्वाभाविक अन्हारकेँ आरो गाढ़ कऽ दैत छल।

राम:

प्रिय पत्नी, पर्वतपर बिताओल ओ दिन अहाँकेँ मोन अछि ने,

जखन लक्ष्मण हमर सभ आवश्यकता पूरा करैत छल

आ हमरा सभकेँ ओतय अपन घर जकाँ लगैत छल?

समीप बहैत निर्मल जलबाली गोदावरी मोन अछि,

आ ओकर तटपर हमर सभक अनेक विहार?

आ ई सेहो—

प्रगाढ़ प्रेममे गालसँ गाल लगा कऽ पड़ल,

बिना क्रमक ई-ओ बात अति मृदु स्वरमे करैत,

एक-दोसरकेँ कसि आलिङ्गनमे बान्हने,

घण्टासभ एना बीति जाइत छल जे ज्ञात नहि होइत;

जखन भोर होइत, तखन बुझाइत जे केवल राति समाप्त भेल अछि।

लक्ष्मण: ई पञ्चवटीमे शूर्पणखा अछि।

सीता: हे आर्यपुत्र, ई अहाँक हमर अन्तिम दर्शन अछि!

रामः धत्त, वियोगसँ एतेक भय? ई केवल चित्र अछि।

सीताः चित्र हो, मुदा दुष्ट लोक उपद्रव कऽ सकैत अछि।

रामः अहा, एहन लगैत अछि मानू जनस्थानक प्रसङ्ग सचमुच घटि रहल हो।

लक्ष्मणः

एतय ओ दुष्ट राक्षससभ सुवर्णमृगक छलसँ

एहन कुकर्म कयलक जे पूर्ण प्रतिशोध भेलोपर

आइ धरि हृदय दुखबैत अछि।

जनस्थान सूना भेलापर भायजीक अर्ध-विक्षिप्त आचरण

एखनो पाथरकें नोर बहबय आ लोहक हृदयकें फोड़ि सकैत अछि।

सीताः (नोर भरि; स्वगत) हाय नाथ, रघुकुलक आनन्द, हमर कारणँ अहाँ कतेक कष्ट भोगलहुँ!

लक्ष्मणः (रामकें कौतूहलसँ निहारैत) भायजी, ई आब की?

नोरक धार उमड़ि रहल अछि,

भूमिपर खसैत बून्दसभ

टूटल महीन मोतीक हार जकाँ छिड़िआ रहल अछि;

अहाँ दुःख दबयबाक प्रयास करैत छी,

तैयो काँपैत ओठ-नासापुट

आ भारसँ धौकैत छाती

सभकें अहाँक व्यथा स्पष्ट देखबैत अछि।

रामः प्रिय अनुज,

ओ समय प्रियाक वियोगसँ प्रज्वलित शोकाम्नि

तीक्ष्ण अवश्य छल, मुदा प्रतिशोधक पियास

ओकरा सहनीय बना देने छल।

मुदा मोनमे निरन्तर पकैत आब ओ

हृदयक कोमलतम मर्म धरि पहुँचल घावक पीड़ा बनि गेल अछि।

सीताः हे देव, असीम भयमे हम अपनाकें आर्यपुत्रविहीन, एकाकी देखि रहल छी!

लक्ष्मणः (स्वगत) हुनका सभक ध्यान हटयबाक चाही। (चित्र दिस देखैत; प्रकट) ई युग-युगसँ प्राचीन गृध्रराज पिता जटायुक वीरताक चित्र अछि।

सीताः हाय पिता, अहाँ पुत्रीक प्रति स्नेहक धर्म पूर्ण कयलहुँ।

रामः हाय पिता, पक्षिराज, काश्यप-पुत्र! एहन महान् उपकारी फेर कतय भेटताह?

लक्ष्मणः जनस्थानक पश्चिममे दण्डकवनक ई भाग चित्रकुञ्जक कहल जाइत अछि। एतय सिरविहीन दानव कबन्ध रहैत छल। ई ऋष्यमूक पर्वतपर महर्षि मतङ्गक आश्रम अछि; आ ई चमत्कारिणी शबर तपस्विनी श्रमणी। ओतय पम्पा नामक कमल-सरोवर अछि।

सीताः सुनने छी, एतहि आर्यपुत्र अपन क्रोध रोकि नहि सकलाह आ उच्च स्वरमे विलाप कयलनि।

रामः महारानी, ओ अत्यन्त सुन्दर सरोवर छल।

श्वेत कमलक समूह छल; हर्षसँ कलरव करैत हंसक पाँखिसँ हिलि
ओकर मोट डॉठ डोलैत छल;
मुदा एक नोर खसबाक आ दोसर उमड़बाक बीचमे
हमरा ओ सभ नीलकमल जकाँ देखाइत छल।

लक्ष्मण: ई महात्मा हनुमान छथि।

सीता: हँ, ई पवनदेवक महान् पुत्र छथि, जिनक अनुपम सेवासँ दीर्घकालसँ दुःख भोगैत संसारक उद्धार भेल।

राम:

अञ्जना-पुत्र महाबलीक जय हो,
जिनक सामर्थ्य हमरा सभक आ समस्त लोकक कल्याण सुनिश्चित कयलक।

सीता: प्रिय बालक, ई पर्वतक नाम की, जतय विकसित कदम्ब वृक्षपर मयूर उन्मत्त ताण्डव करबाक लेल जागि उठल छल? एतय हमर स्वामी वृक्षतर
चित्रित छथि—अहाँ नोर बहबैत हुनका थाम्हने छी, ओ मूर्च्छित होमय पर छथि; स्वाभाविक कान्ति मलिन, पूर्वक मोहक महिमाक केवल अवशेष रहि गेल
अछि।

लक्ष्मण:

ई ककुभ फूलक सुगन्धसँ भरल माल्यवान पर्वत अछि,
जकर शिखर नित्य नव मेघसँ श्याम आ आर्द्र रहैत अछि...

राम:

प्रिय अनुज, बस करू, कृपया बस करू; आब आरो सहन नहि होइत अछि।
मानू जानकीक वियोग फेर एक बेर हमरा लग आवि रहल अछि।

लक्ष्मण: एहिसँ आगाँ भायजी, वानर आ राक्षससभक असङ्ख्य अद्भुत पराक्रम चित्रित अछि—एकसँ एक बढ़ि कऽ। मुदा भौजी थाकि गेल होयतीह; हुनका
आब विश्राम करबाक चाही।

सीता: आर्यपुत्र, चित्रसभ देखैत हमर मोनमे एकटा दोहद जागल अछि; अहाँसँ एक कृपा माँगए चाहैत छी।

राम: आज्ञा मात्र करू।

सीता: हमर इच्छा अछि जे निर्मल सघन वनमे जाइ आ भागीरथीक पवित्र, शान्त, शीतल जलमे स्नान करी।

राम: प्रिय लक्ष्मण?

लक्ष्मण: आज्ञा दिअ।

राम: वृद्धजनसभ एखने आज्ञा देने छथि जे हुनक प्रत्येक दोहद तुरन्त पूरा कयल जाय। अतएव कोमल गतिबला सुखद रथ अनाउ।

सीता: आर्यपुत्र, अहाँ सेहो संग नहि चलब?

राम: हे कठोरहृदया, ई पुछबाक सेहो आवश्यकता अछि?

सीता: ई सुनि हम बड़ प्रसन्न भेलहुँ।

लक्ष्मण: भायजीक जे आज्ञा। (प्रस्थान)

राम: आउ, क्षणभरि एहि झरोखाक कोनमे बैसी।

सीता: हैं, ठीक अछि। एतेक घूमलासँ सचमुच थाकि गेल छी।

राम: तखन आउ, अपन पूरा भार हमरापर राखू: हम अहाँकेँ लऽ चली।

अपन बाँहि हमर गरदनमे राखू—एहिसँ हमरा नव जीवन भेटैत अछि।

परिश्रम आ भयक कारण पसेनाक बून्दसँ भरल अहाँक बाँहि

चन्द्रक किरणक स्पर्शसँ जल टपकबैत चन्द्रकान्त-मणिक हार जकाँ अछि।

(ओहिना करैत; परमानन्दसँ) प्रिये, ई की अछि?

अहाँक प्रत्येक स्पर्शमे

एकटा एहन विकार होइत अछि—

ओकरा सुख अथवा दुःख,

मूर्च्छा अथवा निद्रा,

मद अथवा सर्वाङ्गव्यापी विष

किछुओ नहि कहल जा सकैत अछि—

ओ हमर इन्द्रियकेँ भ्रमित करैत,

एके संग चेतनाकेँ जगबैत आ मन्द करैत अछि।

सीता: (हँसैत) हमरा प्रति अहाँक स्नेह सदिखन अटल रहल अछि। ई ओकर अतिरिक्त आ की भऽ सकैत अछि?

राम:

हमर कम्हलायल जीवन-पुष्पकेँ

फेर खिला दैत अछि,

हमरा नव स्फूर्ति दैत अछि

आ प्रत्येक इन्द्रियकेँ मोहित करैत अछि—

कमलनयनी पत्नीकेँ ई मधुर वचन,

कान लेल अमृत, मोन लेल संजीवनी।

सीता: हे मधुरभाषी, आउ, विश्राम करी। (सुतबाक स्थान ताकैत)

राम: ताकबाक आवश्यकता नहि—

विवाहक क्षणसँ,

घर हो अथवा वन,

बाल्य हो अथवा यौवन,

विश्रामक ई एकमात्र आधार,

जाहिपर कोनो दोसर स्त्री

कखनो माथ नहि रखने अछि—

रामक इएह बाँहि

अहाँक तकिया बनत।

सीता: (निद्राक अभिनय करैत) सत्य अछि, आर्यपुत्र, सत्य... (सूति जाइत छथि)

राम: ई की, मधुरभाषिणी हमर छातीपर गाढ़ निद्रामे सूति गेलीह? (स्नेहसँ निहारैत)

ई हमर घरमे निवास करैत स्वयं लक्ष्मी छथि,
हमर आँखि लेल अमृतमय अञ्जन,
शरीरपर गाढ़ चन्दन-लेपक स्पर्श;
गरदनिमे पड़ल हुनक ई बाँहि
शीतल, चिक्कन मोतीक हार अछि।
हुनक कोन वस्तु प्रिय नहि—
केवल वियोगक यातना छोड़ि?

एक प्रतीहारीक प्रवेश

प्रतीहारी: देव, उपस्थित अछि।

राम: उपस्थित? के उपस्थित अछि?

प्रतीहारी: देवक निज परिचारक दुर्मुख।

राम: (स्वगत) अन्तःपुरक परिचारक दुर्मुख? नगर आ जनपदक लोकक विचार जानबाक लेल हम ओकरा नियुक्त कयने रही। (प्रकट) ओकरा भीतर अनाउ।

प्रतीहारी प्रस्थान करैत अछि।

दुर्मुखक प्रवेश

दुर्मुख: (स्वगत) महारानी सीताक विषयमे ई अकथनीय जनश्रुति राजाकेँ कोना सुनायब? मुदा अभागल हमरे ई भार देल गेल अछि।

सीता: (निद्रामे चिचियाइत) हे कोमलहृदय आर्यपुत्र, अहाँ कतय छी?

राम: चित्र देखलासँ जागल वियोगक भयङ्कर चिन्ता महारानीक स्वप्नकेँ व्याकुल कऽ रहल अछि। (स्नेहसँ हुनका सहलाबैत)

सुख-दुःखमे एकरूपता,

प्रत्येक अवस्थामे सामञ्जस्य,
जतय हृदय विश्राम पाबि सकए,
जकर रस वृद्धावस्था सेहो नष्ट नहि कऽ सकए,
समय सभ आवरण हटबैत जाए
आ निर्मल प्रेम पकैत जाए तखन जे एकमात्र शेष रहए—
ई अद्वितीय वरदान केवल सज्जनकेँ भेटैत अछि,
सेहो भाग्यसँ।

दुर्मुख: (समीप आबि) महाराजक जय हो!

राम: जे ज्ञात भेल, कहू।

दुर्मुख: नगर आ जनपदक लोक देवक प्रशंसा करैत कहैत अछि—“भगवान् राम हमरा सभकेँ महाराज दशरथकेँ बिसरा देलनि।”

राम: ई केवल चाटुकारिता अछि। कोनो दोष ज्ञात भेल हो तँ कहू, जाहिसँ ओकर निवारण कयल जा सकए।

दुर्मुख: (नोर भरि) सुनू देव। (कानमे सभ बात कहैत)

राम: हे देव! अहाँक वचन वज्र बनि हमर मर्म भेदि देलक! (मूर्च्छित भऽ जाइत छथि)

दुर्मुखः देव, अपनाकैँ सम्हारु!

रामः (चेतना पाबि)

नहि—हाय नहि! दोसर पुरुषक घरमे रहबाक कलङ्क

वैदेही अद्भुत उपायसँ मिटा देने छलीह;

मुदा भाग्यक कुटिल फेरसँ ओ फेर प्रकट भऽ गेल,

आ पागल कुकुरक विष जकाँ दूर-दूर धरि पसैर रहल अछि।

अभागल हम एकर की करी? (विचारि; करुणासँ) मुदा आओर कऽ की सकैत छी?

सज्जनक व्रत अछि—जे कोनो उपायसँ प्रजाकैँ प्रसन्न राखब।

हमर पिता हमरा आ अन्ततः अपन प्राण गमा कऽ

एहि व्रतक पालन कयलनि।

आ वसिष्ठ एखने हमरा इएह आज्ञा देलनि। तखन—

प्राचीन प्रतापी सूर्यवंशी राजासभक आचरणसँ

उज्ज्वल भेल निर्मल कुलमर्यादा

जँ हमर सम्बन्धक निन्दासँ मलिन भऽ जाय,

तखन हम निश्चय विनष्ट आ धिक्कृत छी।

हे यज्ञभूमिजा महारानी,

अहाँ अपन जन्मसँ स्वयं पृथ्वीकैँ गौरवान्वित कऽ पवित्र कयलहुँ;

जनक आ निमिक वंशमे आनन्द भरलहुँ।

अग्नि, वसिष्ठ आ अरुन्धती अहाँक चरित्रक प्रशंसा कयने छथि।

रामे अहाँक सम्पूर्ण जीवन छथि; सघन वनक प्रवासमे

अहाँ हमर प्रिय सहचरी छलहुँ, मधुर संयत वचनबाली,

हमर पिताक दुलारी... एहन स्त्रीपर ई विपत्ति कोना आबि सकैत अछि?

अहाँक कारण संसारक समस्त प्राणी धन्य अछि,

तैयो ई अभिशप्त जनश्रुति अहाँपर खसल;

अहाँमे प्रजाकैँ सच्चा रक्षक भेटल,

मुदा स्वयं अहाँ अरक्षित विनाशक सम्मुख छी।

दुर्मुख, लक्ष्मणकैँ कहिहनि जे अनुभवहीन राजा रामक हुनका लेल एकटा आज्ञा अछि। (कानमे बुझबैत)

दुर्मुखः अग्निसँ पहिने शुद्ध भेल महारानी अपन गर्भमे रघुवंशक निरन्तरता धारण कऽ आरो पवित्र छथि। हुनक विषयमे दुष्ट लोकक जनश्रुति सुनि देव एहन निर्णय कोना कऽ लेलनि?

रामः चुप! नगर आ जनपदक प्रजाकैँ दुष्ट कहबाक साहस कोना भेल?

इक्ष्वाकुवंश प्रजाक श्रद्धा अर्जित कयने अछि;

ई निन्दाक बीज भाग्यक परिणाम छल;

आ शुद्धिक समय जे अद्भुत घटना भेल,
ओ दूर देशमे भेल—ताहिपर के विश्वास करत?

जाउ!

दुर्मुख: हाय महारानी! (प्रस्थान)

राम: हाय, कतेक घृणित कर्म करए जा रहल छी! हम कतेक क्रूर भऽ गेलहुँ!

बाल्यकालसँ हमर कोमल प्रिया उत्तम भोजनसँ पोषित भेलीह
आ गाढ़ प्रेमक कारण कखनो हमरासँ अलग नहि भेलीह।
आ आइ हम छलसँ हुनका मृत्युक हाथमे सौंपए जा रहल छी,
जेना केओ अपन पाले-पोसल छोट पक्षीकेँ काटि दैत अछि।

तखन अछूत आ बहिष्कृत हम अपन स्पर्शसँ महारानीकेँ अपवित्र करबाक साहस कोना करी? (सावधानीसँ सीताक माथ उठा कऽ अपन बाँहि निकालैत)

हे निष्पापे, हमरा छोड़ि दिअ—

हम एहन चाण्डाल छी जे किछुओ कऽ सकैत अछि।
अहाँ चन्दन-वृक्षपर विश्राम करैत छी से बुझलहुँ,
ई नहि जे विषैल वृक्षपर पड़ल छी।

(ठाढ़ होइत) हे देव! संसार उलटि गेल। रामक जीवित रहबाक आब कोनो प्रयोजन नहि। सहसा पृथ्वी रिक्त, निर्जन वन भऽ गेल; जीवन प्राणहीन, शरीर
मात्र जड़ पदार्थ। कोनो आश्रय नहि—की करी, कतय जाई? बुझाईत अछि—

केवल पीड़ा अनुभव करयबाक लेल

रामकेँ चेतना देल गेल छल।
स्वयं जीवन हमर मर्म विदीर्ण कऽ रहल अछि,
आ मानू लोहक कीलसँ देहमे जड़ि देल गेल हो।

हे माता अरुन्धती, भगवान् वसिष्ठ आ विश्वामित्र, अग्निदेव, समस्त प्राणीकेँ धारण करनिहार पृथ्वीदेवी! हे पिता जनक, मातासभ, प्रिय मित्र राजा सुग्रीव,
कोमल हनुमान, महानतम उपकारी लङ्केश विभीषण, प्रिय सखी त्रिजटा—एहि नीच राम अहाँ सभकेँ ठकि अपमानित कयलक। मुदा आब हम अहाँ सभक
नाम लेनिहार के छी?

अधम कृतघ्न हमर मुखसँ हुनक नाम लेब सेहो
मानू अपन पापसँ ओ महान् व्यक्तिसभकेँ दूषित करब होयत।

हम—

अपन छातीपर निश्चिन्त सूतल
घरक आभूषण, प्रिय पत्नीकेँ हटा दैत छी,
जे गर्भक भारसँ भारी छथि—शिशु कतेक व्याकुलतासँ हिलल!—
आ मांसक बलि जकाँ निर्दयतासँ कुकुरक आगाँ फेकि दैत छी।

(सीताक चरणमे माथ रखैत) महारानी, महारानी, ई अन्तिम बेर अछि जखन राम अपन माथ अहाँक चरणकमलमे रखैत अछि। (कानैत)

नेपथ्यसँ: अनर्थ! घोर अनर्थ!

राम: केओ पता लगाउ, की भेल।

नेपथ्यसँ फेर स्वर:

यमुनाक तटपर रहनिहार महातपस्वी ऋषिसभक समुदाय

लवणसँ भयभीत भऽ अहाँक शरणमे आयल अछि।

राम: की, राक्षस एखनो उपद्रव करैत अछि? कुम्भीनसीक पुत्रकेँ जड़िसँ नष्ट करबाक लेल शत्रुघ्नकेँ पठयबाक चाही। (किछु डेग आगाँ बढ़ि फेर घुरैत) हाय महारानी, एहि विषम सङ्कटमे अहाँक की होयत? हे पुण्यमयी पृथ्वी, अपन असहाय पुत्री जानकीक रक्षा करू—

रघु आ जनक दुनू कुलक सम्पूर्ण सौभाग्य,

देवताक पुण्य यज्ञमे अहाँक जन्माओल पवित्र सन्तान।

(प्रस्थान)

सीता: (स्वप्नमे) प्रिय स्वामी... (सहसा उठैत) हे देव! हम भयङ्कर स्वप्न देखलहुँ—आर्यपुत्रसँ अलग भऽ हुनका पुकारि कानि रहल रही। (चारू कात देखैत) मुदा हमरा सूतल एकाकी छोड़ि ओ कतय चलि गेलाह? देखिते कनेक रोष देखायब—जँ हुनका देखलापर अपन हृदयपर अधिकार राखि सकी। के उपस्थित अछि?

दुर्मुखक प्रवेश

दुर्मुख: महारानी, राजकुमार लक्ष्मण निवेदन करैत छथि जे रथ पूर्ण तैयार अछि; अहाँ ओकरा चढ़ि सकैत छी।

सीता: हम तैयार छी। (ठाढ़ होइत) गर्भक शिशु बारम्बार हिलैत अछि, धीरे चलए पड़त।

दुर्मुख: एम्हर, महारानी।

सीता: रघुकुलक देवतासभकेँ प्रणाम!

दुनू प्रस्थान करैत छथि।

प्रथम अङ्क समाप्त

नेपथ्यसँ: भगवतीक स्वागत!

यात्री-वेषमे एक तपस्विनीक प्रवेश।

तपस्विनी: अहा, स्वयं वनदेवी फल, फूल आ पातक अर्घ्य लऽ हमर सेवा लेल उपस्थित छथि।

वनदेवीक प्रवेश: (अर्घ्य पसारैत)

एहि वनक भरपूर आनन्द लिअ।

आइ हमर लेल शुभ दिन अछि—

सज्जनक मिलन दुर्लभ होइत अछि

आ केवल पुण्यक फलसँ सम्भव होइत अछि।

वृक्षक छाया, जल, तपस्याक योग्य आहार—

फल, मूल आदि—सभ अहाँक सेवामे अछि।

तपस्विनी: हम की कही?

स्नेहमय व्यवहार, मर्यादित वाणी

जे शिष्टतासँ मधुर बनल हो,

स्वभावसँ सद्भावपूर्ण हृदय,

आ बिना सङ्कोचक सेवा—

पहिने हो वा पाछाँ, जकर रस कखनो नहि बिगड़ए—

छल आ कलङ्कसँ रहित साधुजनक

एहि रहस्यक जय हो।

दुनू बैसैत छथि।

वनदेवी: हमर पूज्य अतिथि के छथि, ई जानि सकी?

तपस्विनी: हम आत्रेयी छी।

वनदेवी: आत्रेयी, अहाँ कतयसँ आबि रहल छी, आ कोन प्रयोजनसँ दण्डकवनमे घूमि रहल छी?

आत्रेयी:

एहि प्रदेशमे वेदक तत्त्वक अनेक ज्ञाता—अगस्त्य आदि—रहैत छथि।

हुनकासभसँ वेदान्त-विद्या सीखबाक लेल

हम वाल्मीकिसँ दूर एतय भ्रमण कऽ रहल छी।

वनदेवी: मुदा आन ऋषिसभ आध्यात्मिक सिद्धिक लेल प्रचेताक पुत्र ओहि प्राचीन आचार्यक उपासना करैत छथि; तखन आर्या हुनकासँ दूर किएक छथि?

आत्रेयी: हुनक समीप अध्ययनमे एखन एकटा बहुत पैघ बाधा उत्पन्न भऽ गेल अछि, ताहि हेतु ई लम्बा वियोग स्वीकार कयने छी।

वनदेवी: कोन प्रकारक बाधा?

आत्रेयी: कोनो देवता—बड़ अद्भुत घटना छल—एक बेर दूध छोड़ने दू जुम्मा बालक भगवान् वाल्मीकिक समीप आनलनि। स्वाभाविके, ओ बालकसभ

हुनक हृदय जीत लेलक; केवल हुनके नहि, समस्त चर-अचर प्राणीक हृदय।

वनदेवी: हुनक नामक विषयमे किछु ज्ञात अछि?

आत्रेयी: कहल जाइत अछि, स्वयं देवता हुनक नाम—कुश आ लव—आ हुनक सामर्थ्य प्रकट कयलनि।

वनदेवी: कोन सामर्थ्य?

आत्रेयी: कहल जाइत अछि जे जन्मक क्षणसँ गुप्त मन्त्रसहित दिव्य अस्त्रसभ हुनक अधिकारमे छल।

वनदेवी: निश्चय अद्भुत।

आत्रेयी: वाल्मीकि धायीक कार्य स्वीकार कऽ दुनू बालककेँ पोसलनि आ देखभाल कयलनि। चूड़ाकर्म भेलापर त्रयी वेदकेँ छोड़ि तीनू विद्याक विधिवत् शिक्षा देलनि; अन्ततः एगारहम वर्षमे क्षत्रिय विधिसँ उपनयन कऽ त्रयी पवित्र विद्याक ज्ञान देलनि। एहन उज्ज्वल बुद्धि आ अन्तर्दृष्टिबला बालकक संग हमसभ जकाँ लोकक अध्ययन उचित नहि बुझाइत अछि। कारण—

गुरु जड़बुद्धि आ तीक्ष्णबुद्धि दुनूकेँ समान ज्ञान दैत छथि,
मुदा हुनक ग्रहणशक्ति बना अथवा बिगाड़ि नहि सकैत छथि;
ताहि कारण फलमे बहुत अन्तर होइत अछि।
माँजल मणि प्रतिबिम्ब धारण करैत अछि;
माटिक ढेला नहि।

वनदेवी: तखन अध्ययनक बाधा इएह अछि?

आत्रेयी: एकटा आओर सेहो अछि।

वनदेवी: ओ की?

आत्रेयी: एक बेर ब्रह्मर्षि मध्यान्ह-स्नान लेल तमसा नदीपर गेलाह। ओतय देखलनि—एक बहेलिया मैथुनरत क्रौञ्च-युगलक एक पक्षीकेँ मारि देलक। सहसा वाणीदेवी हुनक मानस-नेत्रमे प्रकट भेलीह; प्रत्येक ध्वनि स्पष्ट, आठ अक्षरक छन्दमे नापल। ओ एहि रूपमे मुखर भेलीह—

“हे निषाद, अनन्त काल धरि

अहाँ प्रतिष्ठा नहि पाबी,
कारण प्रेमरत एहि क्रौञ्च-युगलक
एक पक्षीकेँ अहाँ मारि देलहुँ।”

वनदेवी: कतेक अद्भुत—वेदसँ असम्बद्ध छन्दक एकटा नव अवतार!

आत्रेयी: ओहि समय जखन वाणीक पवित्र रहस्यक प्रकाश ऋषिक भीतर प्रकट भेल, कमलज देव—प्राणिमात्रक जीवनदाता—हुनक समीप आबि कहलनि: “हे ऋषि, अहाँ वाणी नामक रहस्यक ज्ञान प्राप्त कऽ लेलहुँ। आब रामक कथा कहू। अहाँकेँ प्रेरणाक नेत्र, एहन ऋषिदृष्टि प्राप्त होयत जकर प्रकाश कखनो मन्द नहि होइत। अहाँ आदिकवि छी।” एतबा कहि ओ अन्तर्धान भऽ गेलाह। तखन प्रचेता-पुत्र ऋषि ‘रामायण’क रचना कयलनि—मानव समाजमे वाणीक रहस्यक प्रथम प्राकट्य रूप इतिहास।

वनदेवी: अहा, स्वयं जीवन समृद्ध भऽ गेल!

आत्रेयी: ताहि कारण हम अध्ययनक महान् बाधाक बात कहलहुँ।

वनदेवी: ई स्वाभाविक अछि।

आत्रेयी: भद्रे, हम विश्राम कऽ लेलहुँ। आब अगस्त्यक आश्रमक बाट कहू।

वनदेवी: एतयसँ पञ्चवटीमे प्रवेश कऽ गोदावरीक तटसँ आगाँ जाउ।

आत्रेयी: (नोर भरि) की ई विख्यात तपोवन पञ्चवटी अछि? ई नदी गोदावरी, ओ पर्वत प्रस्रवण—आ अहाँ जनस्थानक देवी वासन्ती छी?

वासन्ती: अहाँक प्रत्येक बात सत्य अछि।

आत्रेयी: हे पुत्री जानकी,

ई सभ वस्तु अहाँकें प्रिय छल,

क्षण-क्षणक अनेक वार्ताक विषय छल;

आ आइ हुनका निहारैत मानू अहाँ साक्षात् देखाइत छी—

यद्यपि आब अहाँक नामक अतिरिक्त किछुओ शेष नहि!

वासन्ती: (भयसँ; स्वगत) “नामक अतिरिक्त किछुओ नहि”—एकर की अर्थ? (प्रकट) आर्ये, महारानी सीतापर कोनो विपत्ति आयल अछि?

आत्रेयी: केवल विपत्ति नहि—अपवाद सेहो। (कानमे कहैत)

वासन्ती: हाय! भाग्यक कतेक क्रूर प्रहार! (मूर्च्छित होइत)

आत्रेयी: प्रिय भद्रे, अपनाकें सम्हारु!

वासन्ती: हाय हमर प्रिय सखी, परम माननीया, जीवनमे अहाँक ई दशा! प्रिय राम, प्रिय राम... नहि, अहाँक नाम बहुत भेल! आत्रेयी, लक्ष्मण सीताकें वनमे छोड़ि घुरलाक बाद हुनक की भेल, किछु समाचार अछि?

आत्रेयी: हाय, किछुओ नहि।

वासन्ती: कतेक भयङ्कर! अरुन्धती आ वसिष्ठक संरक्षणमे रघुकुल, आ वृद्ध राजमातासभ जीवित—तैयो ई कोना भऽ सकल?

आत्रेयी: ओ समय वृद्धजन ऋष्यशृङ्गक आश्रममे छलाह। आब बारह वर्षक यज्ञ समाप्त भेल। ऋष्यशृङ्ग सम्मानपूर्वक हुनका सभकें विदा करए जा रहल छलाह, तखने अरुन्धती कहलनि—“पुत्रवधूविहीन अयोध्या हम नहि घुरब।” रामक मातासभ सेहो सहमत भेलीह। अरुन्धतीक इच्छानुसार वसिष्ठो विवेकपूर्ण मत देलनि जे सभ वाल्मीकिक तपोवनमे जा कऽ रहथि।

वासन्ती: राजा की कऽ रहल छथि?

आत्रेयी: राजा अश्वमेध यज्ञ आरम्भ कयने छथि।

वासन्ती: हे देव, तखन की दोसर विवाह कऽ लेलनि?

आत्रेयी: भगवान् एहन नहि करथि—कदापि नहि।

वासन्ती: तखन यज्ञमे धर्मपत्नी के छथि?

आत्रेयी: सीताक सोनाक प्रतिमा।

वासन्ती: अहा—

एहन अलौकिक पुरुषक हृदय के बुझि सकैत अछि?

एके समय इस्पातसँ कठोर

आ फूलसँ बहुत बेसी कोमल!

आत्रेयी: वामदेवक विधिवत् आशीर्वादक बाद यज्ञक अश्व छोड़ल गेल अछि; शास्त्रानुसार रक्षक नियुक्त भेलाह। दिव्य अस्त्र-परम्परा प्राप्त लक्ष्मण-पुत्र चन्द्रकेतु हुनक नेतृत्व करैत छथि। चारि अङ्गबला सेनासहित हुनका आगाँ पठाओल गेल अछि।

वासन्ती: (नोर भरि; स्नेह आ आश्चर्यसँ) राजकुमार लक्ष्मणक पुत्रो छथि? हे माता, ई सुनि हमरा बल भेटल।

आत्रेयी: एहि सभ घटनाक बीच एक ब्राह्मण अपन मृत पुत्रकें राजमहलक द्वारपर राखि छाती पीटैत “अनर्थ!” विचियायल। प्रिय राम—मानू करुणाक साक्षात् रूप—विचार कऽ रहल छलाह जे राजाक कोनो दोष बिना हुनक प्रजामे अकाल मृत्यु भऽ नहि सकैत अछि। तखने आकाशवाणी भेल—

शम्भूक नामक नीच जातिक व्यक्ति पृथ्वीपर कतहु तपस्या कऽ रहल अछि।

हे राम, ओकर माथ काटू; ओकर वध कयले ब्राह्मण-पुत्र फेर जीवित होयत।

ई सुनिते जगत्पति हाथमे खड्ग लऽ पुष्पक विमानपर चढ़लाह आ तपस्वी शूद्रकेँ चारू दिश खोजबाक लेल निकलि पड़लाह।

वासन्ती: जनस्थानहिमे शम्बूक नामक शूद्र धूआँ पीबि तपस्या कऽ रहल अछि। काश, प्रिय राम एक बेर फेर एहि वनकेँ सुशोभित करितथि!

आत्रेयी: प्रिय भट्टे, आब हमरा जाएब आवश्यक अछि।

वासन्ती: ठीक अछि, आत्रेयी; यद्यपि दिन असह्य गरम भऽ गेल अछि—

नदीक तटपर बसेरा देनिहार वृक्षसभ अपन फूलक अर्घ्यसँ गोदावरीक पूजा करैत अछि;

खुजल गाल घसबाक लेल आयल हाथीक धक्कासँ

गरमीमे कोमल पड़ल डाँठसँ फूलक ढेरी खसैत अछि;

छाहरिमे पक्षीसभ छाल नोचि चोंचसँ कीड़ा निकालैत अछि,

आ गरमीसँ व्याकुल पण्डुक आ कुक्कुट कराहि रहल अछि।

दुनू घुमैत प्रस्थान करैत छथि।

प्रवेशक समाप्त

आरम्भमे राम पुष्पक विमानपर छथि; करुणासँ भरल, खड्ग ऊपर उठौने।

रामः

हे हमर दहिना हाथ, ई खड्ग शूद्र तपस्वीपर चला,
आ ब्राह्मणक मृत पुत्रकेँ फेर जीवित कर।
तूँ ओही रामक अङ्ग छह—जे थाकल, गर्भक भारसँ भारी
अपन सीताकेँ वनवास देबाक साहस कयलक।
आब दया किएक जागैत छह?

(कोनो तरह प्रहार करैत) लऽ, रामक योग्य कर्म कऽ देलह। ब्राह्मण-पुत्र जीवित हो!

एक दिव्य पुरुषक प्रवेश

दिव्य पुरुषः महाराजक जय हो।

अहाँ न्यायपूर्ण दण्ड दऽ स्वयं यमसँ अभय प्रदान करैत छी;
अहाँक कारण ओ बालक पुनर्जीवित भेल—आ हमहूँ उच्च पद पेलहुँ।
ई शम्बूक अहाँक चरणमे माथ नमबैत अछि।
सज्जनक संसर्गसँ जे किछु भेटए—मृत्युओ—मोक्ष दैत अछि।

रामः दुनू फल हमरा प्रिय अछि। आब अपन उग्र तपस्याक फल भोगू।

पुण्यसँ सञ्चित आनन्द आ सुखमय,

प्रकाशमान विराट स्वर्गलोक सदा अहाँक हो।

शम्बूकः ई उच्च पद अहाँक चरण-वन्दनासँ भेटल; तपस्याक कोनो भूमिका नहि। मुदा सम्भव अछि तपस्ये हमर बहुत उपकार कयलक—

हे प्राणिमात्रक स्वामी आ हमर शरण,
हमरा पृथ्वीभरि अहाँकेँ ताकए पड़ितए,
मुदा अहाँ स्वयं सय-सय योजन पार कऽ
नीचजाति हमरा खोजैत अयलहुँ।
ई निश्चय हमर तपस्याक देल वरदान अछि—
नहि तँ अयोध्या छोड़ि फेर दण्डकवन किएक अबितहुँ?

रामः की, ई दण्डकवन अछि? (चारु कात देखैत) हँ—

एतय कोमल गाढ़ हरियर चरागाह, ओतय कठोर भयावह भूभाग;
चारु दिश क्षितिज धरि वेगवती नदीक गर्जना गूँजैत;
बीच-बीचमे घाट, आश्रम, पर्वत, धार, गुफा आ वन...
हँ, ई भूमि परिचित अछि—विन्ध्यक दण्डकबला भाग।

शम्बूकः ईं निश्चय दण्डकवन अछि। कहल जाइत अछि, जखन देव एतय रहैत छलाह—

युद्धमे चौदह हजार भयङ्कर राक्षसकें मारलनि,
आ तीनटा आरो—दूषण, खर आ त्रिशिरा।

एहिसँ जनस्थान पवित्र भूमि भऽ गेल, जतय हम जकाँ डरपोक लोक सेहो सुरक्षित विचारि सकैत छल।

रामः की, केवल दण्डक नहि—जनस्थान सेहो?

शम्बूकः हँ, निश्चय। जनस्थानसँ सटल आ दक्षिण दिस जाएबला वनक विशाल विस्तार—जकर घृणित पर्वतीय गुफासभ हिंस्र वनकुकुरक झुण्डसँ भरल—
केओ हो, ओकर रोम ठाढ़ कऽ दैत अछि।

कतहु भूभाग मृत्युसमान निःशब्द,
कतहु वन्य पशुक हाहाकार;
शान्त सूतल विशाल भयङ्कर साँपक फुफकारसँ आगि लागि जाइत अछि,
जल दुर्लभ—केवल गहिर दरारमे भेटैत;
पियासल गिरगिट साँपक पीठक पसेना पीबैत अछि।

रामः

खरक निवास-स्थान जनस्थानकें निहारैत,
पुरान घटना मानू आँखिक सोझाँ फेर घटि रहल अछि।

(चारू कात देखैत) वैदेहीक रामपर कतेक गाढ़ प्रेम छल! हे देव, इएह वन—एहिसँ भयङ्कर आ की भऽ सकैत अछि? (नोर भरि)

तैयो ओ कहलीह—“मधुगन्धित वनमे हम अहाँक संग रहब,”
आ सचमुच एतय आनन्दित रहलीह—
एतेक गाढ़ छल हुनक स्नेह।

मनुष्यकें किछु करबाक आवश्यकता नहि;
केवल संग रहबाक आनन्द दुःख मिटा दैत अछि।
अपनासँ प्रेम करनिहार केओ हो—कतेक पैघ वरदान!

शम्बूकः केवल पीड़ा देनिहार स्मृति छोड़ू। देव बीच दूरीक वन दिस देखथि—शान्त, गम्भीर अरण्य; मदमत्त मयूरक कोमल गरदनिक रङ्गबला पर्वतसँ घेरल;
सघन गाढ़ छाह देनिहार वृक्षक झुण्डसँ शोभित; सभ प्रकारक पशु-समूह निश्चिन्त विश्राम करैत।

एतय पर्वतीय धारसभ शीतल, निर्मल जलसँ बहैत;
उन्मत्त पक्षीसँ हिलल लता आ सरकण्डाक फूलक सुगन्धसँ भरल;
तीव्र धारा पाकल फलसँ श्याम जामुनक कुञ्ज बीच
गर्जना करैत खसैत अछि।

आओर—

पर्वतपर गुफासभ अछि जतय भालुकक बच्चा रहैत;

प्रतिध्वनिसँ हुनक गुराहट कई गुना बढ़ि जाइत;

हाथीसँ डाँठसँ तोड़ि बिखेरल

रसदार शल्लकी-पातक शीतल, तीक्ष्ण, कसैला गन्ध सेहो

गुफामे घनि जाइत अछि।

राम: (सिसकीमे स्वर रुकैत) भद्र, अहाँक मार्ग मङ्गलमय हो; स्वर्गीय पन्थासँ पुण्यलोककें प्राप्त करू।

शम्भूक: प्राचीन ब्रह्मर्षि अगस्त्यकें प्रणाम कयलापर हम शाश्वत धाममे प्रवेश करब।

प्रस्थान।

राम:

आइ फेर ओही वनकें देखि रहल छी

जतय बहुत वर्ष पहिने दीर्घकाल धरि रहलहुँ—

अपन धर्ममे स्थित तपस्वी सेहो, गृहस्थ सेहो,

आ सांसारिक सुखक मधुर स्वाद सेहो जानलहुँ।

ओएह पर्वतसभ, जतय मयूर पुकारैत छल;

ओएह वन-प्रदेश, जतय मृग मदमत्त छल;

ओएह नदी-तट, मनोहर नरकट, लता आ

नील-श्याम घन झुण्डमे उगल सरकण्डासँ भरल।

दूर मेघमाला जकाँ जे उठल देखाइत अछि,

ओ प्रस्रवण पर्वत अछि, जतय गोदावरी बहैत अछि।

ओही पर्वतक उच्च शिखरपर पक्षिराज रहैत छलाह,

आ नीचाँ गोदावरीक तटपर पातक कुटीमे हमसभ सुखसँ रहैत रही—

चारू कात कूजन करैत पक्षीसँ जीवन्त, श्याम वृक्षसँ शोभित वन।

एतहि पञ्चवटी अछि, जकर अनेक स्थल हमर दीर्घ निवासक असङ्ख्य अन्तरङ्ग वार्ताक साक्षी छल; एतहि हमर प्रियाक सखी वासन्ती रहैत छथि। मुदा रामकें ई की भऽ रहल अछि? एखन—

धीरे-धीरे पसरैत विष जे सहसा तीक्ष्ण शक्ति देखबए,

अथवा भीतर गड़ल बाणक नोक जे बाहरी आघातसँ हिलए,

अथवा हृदयक कोमल मर्मक पुरान घाव जे भरि गेलोपर फेर फाटि जाए—

ओहिना हमर पुरातन शोक सहसा फेर जागि हमरा विदीर्ण करए लागल।

तैयो हम ओहि भूभागसभकें देखए चाहैत छी जे कखनो हमर मित्र छल। (देखैत) अहा, भूमिक रूप कतेक बदलि गेल!

जतय पहिने बहैत धार छल, एखन सुखायल नदीक पाट अछि;

जतय वृक्ष घन छल, विरल भऽ गेल;

आ जतय विरल छल, घन भऽ गेल।

एतेक दिन बाद देखैत वन पूर्ण बदलल लगैत अछि—

केवल पहाड़क स्थिति विश्वास करबैत अछि जे इएह ओ स्थान अछि।

अहा, हमर अनिच्छाक बादो पञ्चवटीक प्रति स्नेह हमरा बलपूर्वक अपना दिस खिंचि रहल अछि। (करुणासँ)

जतय हुनक संग ओ सभ दिन बितल,

आ घर घुरलापर जे निरन्तर स्मरण आ अन्तहीन वार्ताक विषय रहल—

अपन परम प्रियाकेँ मारि आब एकाकी भेल पापी राम

पञ्चवटीकेँ कोना देखत अथवा प्रणाम कयने बिना एकरा पार करत?

शम्बूकक प्रवेश

शम्बूक: महाराजक जय हो। अगस्त्य हमरा सँ अहाँक आगमनक समाचार पाबि ई सन्देश पठौने छथि: “लोपामुद्रा स्वागतक सभ व्यवस्था कऽ महर्षिसभक संग स्नेहपूर्वक अहाँक प्रतीक्षा करैत छथि। कृपया आबि दर्शन दऽ हमरा सभकेँ कृतार्थ करू। तदनन्तर तीव्रगामी पुष्पकसँ अपन देश घुरि अश्वमेध यज्ञक तैयारी कऽ सकैत छी।”

राम: भगवान् जे आज्ञा देलनि।

शम्बूक: तखन देव पुष्पककेँ एहि दिश घुमाबथि।

राम: हे पञ्चवटी, वृद्धजनक आज्ञा मानबाक लेल रामकेँ क्षणभरि जे अनादर करए पड़ि रहल अछि, ओकरा क्षमा करिह।

शम्बूक: देखू देव, देखू—

ओ क्रौञ्चावत पर्वत अछि,

जतय बाँसक वनमे पवनक कर्कश गर्जना

पात हिलैत कुञ्जमे उल्लूकक हाहाकारसँ दुगुना भऽ

कौआक झुण्डकेँ चुप करा दैत अछि;

प्राचीन चन्दन-वृक्षक डारिसँ लटकल साँप

नीचाँ ठसकसँ चलैत मयूरक पुकारसँ भयभीत भऽ छटपटाइत अछि।

आओर—

ओतय दक्षिणक पर्वतसभ अछि;

हुनक गुफामे गोदावरीक जल गुड़गुड़ाइत अछि,

शिखरपर मँडराइत मेघसँ चोटी श्याम अछि;

आ ओ नदी-सङ्गमक तीर्थसभ,

जतय सोझा-सोझी टकराइत धारक अनियमित तरङ्गक प्रहारसँ

गहिर जल गर्जैत अछि।

दुनू प्रस्थान करैत छथि।

द्वितीय अङ्क समाप्त

दू नदीक प्रवेश।

प्रथमा: सखी मुरला, अहाँ किछु व्याकुल बुझाईत छी।

मुरला: तमसा, अगस्त्य-पत्नी लोपामुद्रा हमरा श्रेष्ठ नदी गोदावरी लेल सन्देश दऽ पठौने छथि—

“अहाँ भलीभाँति जनैत छी, पुत्रवधूकें त्यागल क्षणसँ रामक भीतर करुण रस भरल अछि;

हुनक गम्भीर मुद्रा ओकरा नुका कऽ रखैत अछि,

आ तीक्ष्ण पीड़ा भीतर एना सुलगैत अछि

जेना अंगारमे पकैत माटिक पात्र।

ताहि कारण प्रिय स्त्रीपर आयल विपत्तिसँ जन्मल आ निरन्तर प्रबल होइत शोकक धारा आब प्रिय रामकें पूर्ण रूपें तोड़ि देने अछि। हुनका देखैत हमर हृदयक तार टूटए लगैत अछि। आइ ओ पुत्रवधूक संग वनवासक अन्तरङ्ग क्षणक साक्षी स्थानसभकें अन्तिम बेर देखबाक लेल पञ्चवटी घुरि रहल छथि। स्वभावसँ आत्मसंयमी छथि, तैयो भय अछि जे एहन स्थानमे असह्य शोकक आघात डेग-डेगपर हुनका विशुद्ध करत। हे गोदावरी, एहि बातक ध्यान राखिह।

अपन तरङ्गक जलकणसँ शीतल,

कमलक केसरक सुगन्ध लऽ चलैत पवनकें

अति मृदुतासँ प्रिय राम दिस पठबिह,

आ जखन ओ मूर्च्छित होमय लगथि, हुनक प्राण शान्त करिह।”

तमसा: एहन दूरदर्शिता लोपामुद्राक स्नेहक सर्वथा अनुरूप अछि। मुदा प्रिय रामकें पुनर्जीवित करबाक एक अधिक मूल उपाय एखने उपलब्ध अछि।

मुरला: कोना?

तमसा: सुनू। कहल जाइत अछि, बहुत वर्ष पहिने लक्ष्मण हुनका त्यागि वाल्मीकिक तपोवनसँ घुरलाह, तकर तुरन्त बाद महारानी सीताकें प्रसव-वेदना आरम्भ भेल। पीड़ा एतेक तीव्र छल जे ओ गङ्गामे कूदि पड़लीह। ओतहि दू छोट पुत्रकें जन्म देलनि। पृथ्वी आ गङ्गा हुनक सहायता कऽ हुनका पाताल लऽ गेलीह। बालकसभक दूध छुटलापर स्वयं गङ्गादेवी हुनका प्रचेता-वंशज महर्षिक देखरेखमे सौंपि देलनि।

मुरला: (आश्चर्यसँ)

एहन व्यक्तिक विपत्तियो निर्मल आश्चर्यक कारण बनैत अछि,

कारण एहन दिव्य सत्ता हुनक सहायता लेल आबि जाइत छथि।

तमसा: आब भागीरथी सरयू सँ जानलनि जे शम्बूकक प्रसङ्गक कारण प्रिय राम सम्भवतः जनस्थान अयलाह अछि; तखन हुनको लोपामुद्रा जकाँ कोमल चिन्ता घेरि लेलक। अतः ओ सीताक संग, नजरि उतारबाक बहाना कऽ, गोदावरीक दर्शन लेल अयलीह।

मुरला: गङ्गाक दूरदर्शिता उचित छल। जाधरि राजा राम राजधानीमे रहि प्रजाक अनेक तात्कालिक कार्यमे व्यस्त छलाह, हुनक ध्यान निश्चय बँटल रहैत। मुदा आब कोनो मनोरञ्जन नहि, शोकक अतिरिक्त कोनो साथी नहि—एहन अवस्थामे पञ्चवटीमे घुरब सङ्कटपूर्ण अछि। की महारानी सीता कोनो तरह प्रिय रामकें सान्त्वना दऽ सकैत छथि?

तमसा: देवी भागीरथी एहि विषयमे पहिने सोचि लेने छथि। ओ सीतासँ कहलीह—“यज्ञभूमिसँ जन्मल पुत्री सीता, आइ कुश आ लव—चिरञ्जीवी होथि—हुनक जन्मवर्ष गनबाक गण्डा बारह धरि पहुँचि गेल अछि। अतएव अपन हाथसँ फूल चुनि निष्कलङ्क सूर्यक पूजा करू—ओ मानववंशक आदिपुरुष,

अहाँक पुत्रसभक राजवंशक जनक आ अहाँक आद्य श्वसुर छथि। हमर शक्तिसँ मनुष्य तँ दूर, कोनो देवता सेहो पृथ्वीपर अहाँक उपस्थिति नहि देखि सकत।” फेर हमरा आज्ञा देलनि—“तमसा, पुत्री जानकी—हमर पुत्रवधू—अहाँसँ विशेष स्नेह करैत छथि; ताहि हेतु हुनक सेवा अहाँ करिह।” आब हम ओही आज्ञाक पालन कऽ रहल छी।

मुरला: हम ई योजना लोपामुद्राकेँ कहब। बुझाइत अछि प्रिय राम स्वयं आबि चुकल छथि।

तमसा: आ ओतय, गोदावरीक एक सरोवरसँ निकलि—

छिड़िआयल केशसँ मुख झाँपल,

पीयर आ धँसल गालसँ आरो सुन्दर,

करुणाक प्रतिमा, प्रेम-वियोगक पीड़ाक मूर्त रूप—

जानकी वनमे प्रवेश कऽ रहल छथि।

मुरला: हँ, ओएह होयतीह—

डाँठसँ काटल कोमल कौपल जकाँ,

दीर्घ कठोर शोकक ताप हुनक हृदय-पुष्पकेँ

शरदक गरमीसँ केतकीक कौपलक पात जकाँ सुखा देलक;

हुनक पीयर कृश देह मुरझायल अछि।

दुनू घुमैत प्रस्थान करैत छथि।

प्रवेशक समाप्त

नेपथ्यसँ: सङ्कट! सङ्कट!

फूल चुनबामे तल्लीन सीताक प्रवेश; स्वर सुनि क्रमशः करुणा आ चिन्तासँ भरैत।

सीता: की ई हमर प्रिय सखी वासन्तीक स्वर सुनाइत अछि?

नेपथ्यसँ फेर स्वर:

बहुत पहिने महारानी सीता जे हाथसँ चुनल

शल्लकी-पातक कोमल छोर खुआ कऽ एक छोट बच्चा रूपमे पोसने छलीह—

जे अधीर भऽ हुनक सोझाँ ठाढ़ रहैत छल—ओ हाथी...

सीता: ओकर की भेल?

नेपथ्यसँ फेर स्वर:

नदीमे अपन हथिनीक संग खेलि रहल छल,

तखने एक वन्य मदमत्त हाथी निर्लज्जतासँ ओकरापर टूटि पड़ल।

सीता: (घबरा कऽ किछु डेग आगाँ बढ़ैत) आर्यपुत्र, हमर छोट पुत्रकेँ बचाउ, बचाउ! (स्मृति घुरबाक अभिनय; उदास) हे देव, पञ्चवटीक दर्शनसँ अभागल हमर मुखमे बहुत पहिने परिचित ई शब्द फेर आबि गेल! हाय आर्यपुत्र! (मूर्च्छित होइत)

तमसाक प्रवेश

तमसा: पुत्री, कृपया अपनाकेँ सम्हारू।

नेपथ्यसँ: हे श्रेष्ठ रथ, एतहि ठहर।

सीता: (चेतना पाबि; सहसा घबरा कऽ) जलभरल मेघक मन्द गर्जना जकाँ गम्भीर आ मधुर ई मानव-वाणी हमर कानमे भरि सहसा अभागल हमराकेँ एतेक व्याकुल किएक करैत अछि?

तमसा: (एके संग मुस्कराइत आ कानैत) हे पुत्री,

दूरक मेघगर्जन सुनि मयूरी जकाँ,

एतेक अस्पष्ट आ अनिश्चित ध्वनिसँ अहाँ जकाँ स्त्री

एतेक व्याकुल आ उत्कण्ठित कोना भऽ सकैत छथि?

सीता: भगवती, “अस्पष्ट” किएक कहैत छी? ई केवल हमर आर्यपुत्रक वाणी भऽ सकैत अछि; हम हुनक स्वर चिन्हैत छी।

तमसा: सुनने छी, इक्ष्वाकुवंशी राजा तपस्या करनिहार एक शूद्रकेँ दण्ड देबाक लेल जनस्थान अयलाह अछि।

सीता: सौभाग्य जे राजा राजधर्मक आचरण नहि त्यागलनि।

नेपथ्यसँ:

जतय वृक्ष आ पशु सेहो बन्धु छल,

जतय प्रियाक संग दीर्घकाल धरि रहलहुँ...

ई गोदावरीक पर्वतीय ढलान,
गुफासँ भरल, वेगवती धारसँ काटल।

सीता: (देखैत) हे देव, ई की... भोरक चन्द्रमण्डल जकाँ पीयर, कृश आ निर्बल देह; मुदा अपन विशिष्ट सौम्य आ गम्भीर मुद्रा—केवल इएह हमरा चिन्हबा दैत अछि... हँ, ई आर्यपुत्रे होयताह। हमरा थाम्हू। (तमसाक कोरामे मूर्च्छित होइत)

तमसा: (थाम्हैत) पुत्री, कृपया अपनाकेँ सम्हारू।

नेपथ्यसँ: पञ्चवटीक दर्शन

हृदयमे बहुत दिनसँ सुतल शोकाग्निकेँ फेर प्रज्वलित करैत अछि;

मुदा पहिने घन धूआँक आवरण जकाँ मूर्च्छा हमरा घेरि लैत अछि।

हाय प्रिय जानकी!

तमसा: (स्वगत) हमर गुरु केँ इएह भय छलनि।

सीता: (चेतना पाबि) ई कोना सम्भव?

नेपथ्यसँ: हाय महारानी, दण्डकवनक प्रवासमे हमर प्रिय सहचरी! हाय विदेहक राजकुमारी!

सीता: हे देव, अभागल हमर नाम मुखपर लैत—हुनक नीलकमल जकाँ आँखि उलटि गेल, ओ मूर्च्छित भऽ भूमि पर खसि पड़लाह। निर्जन धरतीपर मित्रहीन, असहाय एना पसारल हुनका कोना छोड़ि दी? तमसा, हुनका बचाउ, बचाउ; हमर आर्यपुत्रकेँ जीवन दियौ। (चरणमे खसैत)

तमसा:

मनोहर पुत्री, जगत्पतिकेँ जीवन देबाक सामर्थ्य केवल अहाँमे अछि।

अहाँक हाथक स्पर्श हुनका प्रिय अछि;

सम्पूर्ण भार केवल ओहीपर अछि।

सीता: जे होयबाक हो, हो। भगवतीक जे आज्ञा। (घबरा कऽ प्रस्थान)

दृश्य खुलैत अछि: राम भूमिपर मूर्च्छित पड़ल छथि; नोर बहबैत सीता हुनका सहला रहल छथि; ओ परमानन्दक भावसँ चेतना पाबि रहल छथि।

सीता: (दबल आनन्दसँ) मानू सम्पूर्ण विश्वक प्राण घुरि आयल।

राम: मुदा ई की भऽ रहल अछि?

ई स्वर्गीय चन्दन-पातक निचोड़ अछि?

अथवा यन्त्रमे पेरल चन्द्रकिरणक डाँठसँ खसल बून्द?

कि केओ मृत-सज्जीवनी दिव्य औषधिक रस

हमर हृदयपर टपका कऽ पहिने जरल जीवनकेँ फेर शान्त करैत अछि?

ई स्पर्श बहुत पहिनेक परिचित अछि—

जे चेतना घुरबैत अछि आ गाढ़ मदहोशी सेहो दैत अछि;

व्यथासँ जन्मल मूर्च्छा हटिते

पूर्ण परमानन्दक स्तब्धता उत्पन्न कऽ दैत अछि।

सीता: (भय आ करुणासँ हाथ हटबैत) एखन एतबे उचित अछि।

राम: (बैसैत) की सम्भव अछि जे महारानी स्नेहवश हमर सहायता लेल अयलीह?

सीता: हाय, आर्यपुत्र एखन हमर चर्चा किएक करैत छथि?

राम: चारू कात देखी।

सीता: तमसा, चलू! राजा हमरा बिना आज्ञा एतय देखि क्रुद्ध होयताह।

तमसा: मुदा पुत्री, भागीरथीक कृपासँ अहाँ देवताकेँ सेहो अदृश्य छी।

सीता: अहा हैं, अहाँ सत्य कहैत छी।

राम: प्रिय जानकी! निश्चय प्रिय जानकी...

सीता: (क्रोधसँ स्वर टूटैत) आर्यपुत्र, ई सभ घटलाक बाद ई सम्बोधन कतेको अनुचित अछि। (नोर भरि) मुदा फेर, जखन ओ स्नेहसँ अभागल हमराकेँ सम्बोधित करैत छथि, आ जखन हम क्षणमात्र लेल सेहो ई नहि सोचने रही—

—जे पुनर्जन्मोमे हुनका फेर देखब, तखन हुनक प्रति एतेक कठोर आ निर्दय किएक होई? हम हुनक हृदय जनैत छी—जेना ओ हमर जनैत छथि।

राम: (चारू कात देखि; उदास) नहि, एतय केओ नहि।

सीता: हे तमसा, ओ बिना कारण हमरा त्यागि देलनि, तैयो हुनका एहि अवस्थामे देखि हमर हृदय एहन-एहन भाव अनुभव करैत अछि जे हम स्वयं नहि बुझैत छी।

तमसा: बुझैत छी, पुत्री, बुझैत छी।

निराशासँ शीतल,

हुनक कठोरतासँ कटु,

दीर्घ वियोगक बाद भेटसँ प्रायः जड़;

अपन सज्जनतासँ क्षमाशील,

स्वामीक समस्त करुण दशापर गाढ़ सहानुभूतिशील,

प्रेमसँ पघिलल—

अहाँक हृदय एके क्षणमे ई सभ अछि।

राम: हे महारानी,

अहाँक स्पर्श मानू क्षमाक साक्षात् रूप,

शीतल आ प्रेमक आर्द्रतासँ भरल;

सभक बादो हमरा आनन्द देबाक लेल उपस्थित—

मुदा हे हृदयेश्वरी, अहाँ कतय छी?

सीता: सीताक विषयमे आर्यपुत्रक ई करुण वचन गाढ़ स्नेहसँ भरल, प्रेमानन्दसँ छलकैत अछि। विश्वास करैत छी तँ लगैत अछि जन्म सार्थक भेल—यद्यपि निराधार त्यागक बाण अत्यन्त तीक्ष्ण अछि।

राम: मुदा प्रिय जानकी एतय की करितथि? ई रामक निर्मल भ्रम मात्र अछि—दीर्घ अभ्याससँ विकसित मनोकामना-कल्पनाक फल।

नेपथ्यसँ: सड़कट! सड़कट!

बहुत पहिने महारानी सीता जे हाथसँ चुनल शल्लकी-पातक कोमल छोर खुआ कऽ बच्चा रूपमे पोसने छलीह—जे अधीर भऽ हुनक सोझाँ ठाढ़ रहैत छल—ओ हाथी...

राम: (करुणा आ चिन्ता बढ़ैत) ओकर की भेल?

नेपथ्यसँ फेर स्वर:

नदीमे अपन हथिनीक संग खेलि रहल छल,

तखने एक वन्य मदमत्त हाथी निर्लज्जतासँ ओकरापर टूटि पड़ल।

सीता: आब ओकर रक्षा के करत?

राम: ओ दुष्ट कतय अछि जे हमर प्रियाक छोट पुत्र आ ओकर संगिनीपर आक्रमण करबाक साहस कयलक? (ठाढ़ होइत)

घबरायल वासन्तीक प्रवेश

वासन्ती: की ई राजा रघुनन्दन छथि?

सीता: अहा, ई हमर प्रिय सखी वासन्ती छथि।

वासन्ती: महाराजक जय हो।

राम: (देखैत) अरे, ई तँ महारानीक प्रिय सखी वासन्ती छथि।

वासन्ती: शीघ्र चलू देव, शीघ्र। एतयसँ निकलि जटायु-शिखरक दक्षिणमे सीता-घाटसँ गोदावरी दिस उतरब तँ महारानीक छोट पुत्र देखाइत।

सीता: हाय पिता जटायु! अहाँ बिना जनस्थान रिक्त अछि।

राम: अहा, ई सङ्केतसभ हृदयक कोमल मर्म फाड़ि दैत अछि।

वासन्ती: एम्हर देव, एम्हर।

सीता: भगवती, सचमुच वनदेवतासभ सेहो हमरा नहि देखैत छथि।

तमसा: प्रिय पुत्री, मन्दाकिनीक शक्ति सभ आन देवतासँ बहुत अधिक अछि। चिन्ता नहि करू।

सीता: तखन हमसभ पाछाँ-पाछाँ चली।

दुनू घुमैत छथि।

राम: पुण्यमयी गोदावरी, अहाँकें प्रणाम।

वासन्ती: (देखैत) देव, प्रसन्न होउ—महारानीक छोट पुत्र अपन संगिनीक संग विजयी भेल।

राम: ओकर जय हो, दीर्घायु हो।

सीता: अहा, कतेक पैघ भऽ गेल!

राम: महारानी, अहाँ कतेक भाग्यवती छी।

प्रिय पत्नी, अहाँक जे पुत्र

कखनो कमल-पंखुड़ी जकाँ चिक्कन, नव कौपल सन दाँतक छोरसँ

अहाँक कानक पाछाँक लवली-पात तोड़ि लैत छल,

ओ आइ मदमत्त हाथीसँ विजय पेलक—

स्पष्ट अछि, बाल्यकालक सौभाग्य एखनो ओकर संग अछि।

सीता: ओ दीर्घायु हो, आ आइ सँ अपन कोमलहृदया संगिनीसँ कखनो अलग नहि हो।

राम: देखू सखी वासन्ती, देखू—बालक प्राय: प्रियाक सम्मान करबाक कला सीखि गेल अछि।

खेलमे उखाड़ल कमलनालक कौर ओ जखन चबैत अछि,

तकर बीच-बीचमे नव खसल कमलक सुगन्धिबला जल

बून्दभरल सूँढ़सँ छिड़कि ओकर मुखमे दैत अछि;

मुदा विश्रामक समय सोझ डाँठबला कमल-पातसँ छाया दऽ

जे उचित चिन्ता देखयबाक चाही, से एखन नहि सीखलक।

सीता: तमसा, ओकरा एतेक पैघ देखैत कुश आ लव मोन पड़ैत छथि—एतेक दिन बाद ओ सभ केहन देखाइत होयत।

तमसा: ठीक एही जकाँ छथि।

सीता: हम कतेक अभागल छी—केवल स्वामीसँ नहि, पुत्रसभसँ सेहो एतेक क्रूरतासँ अलग कऽ देल गेलहुँ।

तमसा: भाग्यमे एना लिखल छल।

सीता: पुत्र जन्म देबाक की लाभ, जँ आर्यपुत्र अपन पुत्रसभक मुख कखनो नहि चुमि सकताह—दू नव कमल जकाँ मुख, जाहिपर निकलैत किछु कोमल उज्ज्वल श्वेत दाँतक चमक, बाल्यक निष्कपट हँसी, तोतली बोली आ शिखाबला केश?

तमसा: देवतासभ कृपा करथि।

सीता: तमसा, पुत्रसभक स्मरण मात्रसँ हमर स्तन दूधसँ भरि उठैत अछि, आ हुनक पिताक उपस्थितिसँ क्षणभरि लगैत अछि मानू हम फेर जीवित लोकमे घुरि अयलहुँ।

तमसा: की कहल जाय? सन्तान प्रेमक चरम सीमा आ माता-पिताक परम बन्धनक मूल अछि।

दुनू दम्पतीक प्रेमक साझा विषय होयबाक कारण

सन्तान हुनक हृदयकै बान्हनिहार आनन्दक गाँठि अछि।

वासन्ती: देव, ओतहु देखू—

ओएह मयूर कदम्ब-वृक्षक ऊँच डारिपर रत्नमुकुट जकाँ बैसि

अपन संगिनीकै पुकारि रहल अछि;

अद्वितीय उत्सवमय ताण्डव नृत्य समाप्त कऽ

एखने कोमल पुछरक पाँखि पसारलक।

सीता: (नोर भरि; आश्चर्यसँ) ई ओएह अछि!

राम: प्रिय पुत्र, अहाँक सर्वमङ्गल हो।

सीता: हँ, एहिना हो।

रामः

हमरा पितृस्नेहसँ अहाँ मोन पड़ैत छी—

हमर सरलहृदया पत्नी अपन सन्तान जकाँ अहाँकेँ नचबैत छलीह,
हाथसँ ताल दैत आ आँखि घुमा कऽ अहाँकेँ चक्कर कटबैत;
हुनक नेत्रगोलक मण्डल जकाँ घूमैत,
आ भौहक कुशल कम्पनमे ताण्डवक सभ गति देखाइत।

अहा, पशु सेहो पुरान परिचितकेँ चिन्हैत अछि—

ई एखने फूलल कदम्ब-वृक्ष

हमर प्रिय महारानी बीआँसँ रोपने छलीह—

सीता: (देखैत; नोर भरि) आर्यपुत्रक स्मरणशक्ति कतेक तीक्ष्ण अछि!

रामः

आ मयूर निश्चय हुनका मोन करैत अछि,
ताहि हेतु वृक्षकेँ अपन भाइ जकाँ मानैत अछि।

वासन्ती: देव क्षणभरि एतय बैसथि।

ई कदली-वनक पाथरक आसन अछि,

जतय अहाँ आ प्रिय पत्नी विश्राम करैत छलहुँ;
सीता हरिणक बच्चासभकेँ एतेक घास खुआबैत छलीह
जे ओ सभ हुनका जाए नहि दैत छल।

राम: ई देखल नहि जाइत अछि। (दोसर स्थानपर बैसि कानैत)

सीता: सखी वासन्ती, ई सभ देखा कऽ हमर आर्यपुत्रक—आ हमर—की दशा कऽ रहल छी? हे देव, एतय हमर आर्यपुत्र—ओएह स्वामी; ओएह पञ्चवटी वन; ओएह सखी वासन्ती; गोदावरीक तटक ओएह वन-प्रदेश जे हमर असङ्ख्य अन्तरङ्ग क्षणक साक्षी छल; ओएह वृक्ष, पक्षी आ पशु जे हमर सन्तान जकाँ छल—सभ आँखिक सोझाँ अछि, तैयो अभागल हमर लेल सभक अस्तित्व समाप्त भऽ गेल। हमर संसार कतेक पूर्ण रूपेँ उलटि गेल!

वासन्ती: हे सखी सीता, रामक दशा नहि देखैत छी?

जखन हुनक देह नीलकमल-पंखुड़ी जकाँ ताजा छल,

आँखि लेल उत्सव छल;
मोन भरि निहारलोपर ओ प्रत्येक क्षण नव लगैत छलाह।
आ आब प्रायः चेतनाहीन, एके संग पीयर आ श्याम,
शोकसँ एतेक निर्बल जे हुनका चिन्हब कठिन,
तैयो आँखिकेँ आनन्द दैत छथि।

सीता: देखैत छी सखी, देखैत छी।

तमसा: पुत्री, दीर्घकाल धरि अपन प्रियकेँ एना देखैत रहू।

सीता: हे नाथ, के विश्वास करितए जे ओ हमरा बिना आ हम हुनका बिना रहि सकैत छी? खसैत नोरक बीच-बीचमे प्रिय आर्यपुत्रकेँ क्षणभरि आरो निहारि ली—हुनका देखब मानू नव जन्म पायब अछि। (निहारैत रहैत)

तमसा: (स्नेहसँ कानैत हुनका आलिङ्गन करैत)

आनन्द आ शोकसँ उठल उफनैत नोरक बाढ़ि

लालसासँ फैलल अहाँक आँखिसँ मुक्त भऽ रहल अछि;

प्रेमसँ बहैत उज्ज्वल, मधुर, निष्कपट दृष्टि

दूधक धार जकाँ अहाँक हृदयेश्वरकेँ भिजा रहल अछि।

वासन्ती:

वृक्षसभ मधु टपकबैत फूल-फलक स्वागत-अर्घ्य देथि;

वनक पवन नव विकसित कमलक सम्पूर्ण सुगन्ध लऽ बहए;

आ पक्षीसभ पूर्ण कण्ठसँ मधुर, अखण्ड गीत आरम्भ करए—

कारण राजा राम स्वयं फेर एहि वनक दर्शन लेल अयलाह अछि।

राम: आउ सखी वासन्ती, एतय बैसी?

वासन्ती: (बैसैत; नोर भरि) महाराज, आशा अछि राजकुमार लक्ष्मण कुशल छथि?

राम: (नहि सुनबाक अभिनय)

मैथिली अपन कमल-हाथसँ एहि वृक्ष, पक्षी आ मृगसभकेँ जल, बीआ आ घास दैत छलीह;

हुनका फेर देखैत हम एना परिवर्तित होइत छी मानू हृदय द्रव भऽ फूटि बहए लेल तैयार हो।

वासन्ती: मुदा महाराज, हम राजकुमार लक्ष्मणक कुशल पुछने रही।

राम: (स्वगत) अहा, “महाराज”—कतेक शीत सम्बोधन! ओ केवल सौमित्रिक कुशल पुछैत छथि, आ वाणी सिसकीसँ रुकैत छनि। निश्चय सीताक घटना जानैत छथि। (प्रकट) हँ, राजकुमार कुशल छथि। (कानए लगैत)

वासन्ती: हाय देव, अन्ततः अहाँ एतेक क्रूर किएक भेलहुँ?

सीता: सखी वासन्ती, हुनकासँ एना कोना बाजि सकैत छी? हमर आर्यपुत्र सभक दयाक अधिकारी छथि—विशेषतः हमर प्रिय सखीक।

वासन्ती:

“अहाँ हमर जीवन छी, दोसर हृदय छी,

आँखि लेल चाननी, अङ्ग लेल अमृत”—

एहन असङ्ख्य मधुमय वचनसँ

ओ सरल कन्याकेँ मोहित कयलहुँ...

मुदा बस, आरो कहबाक की प्रयोजन?

(मूर्च्छित होइत)

तमसा: स्वाभाविक अछि जे ओ अवाक् भऽ जाथि, एतय धरि जे विक्षिप्त भऽ जाथि।

राम: सखी, कृपया अपनाकेँ सम्हारू।

वासन्ती: (चेतना पाबि) मुदा देव ई अकथनीय कर्म किएक कयलनि?

सीता: बस करू सखी वासन्ती, बस करू।

राम: प्रजाक निन्दाक कारण।

वासन्ती: निन्दाक कारण की छल?

राम: केवल प्रजा किछु जानैत अछि।

तमसा: उलाहना देब आब बहुत देरि भऽ गेल।

वासन्ती:

हाय निर्दय, कहल जाइत अछि अहाँ प्रतिष्ठाकें मूल्यवान मानैत छी;

मुदा एहिसँ पैघ अपयश की?

मृगनयनी स्त्रीक वनमे की दशा भेल होयत—की बुझैत छी?

कहू, हमर स्वामी।

सीता: सखी वासन्ती, पहिनेसँ आगिमे जरैत पुरुषक आगि आरो भड़कबैत निर्दय आ निष्ठुर अहाँ छी।

तमसा: ई प्रेम आ शोक बाजि रहल अछि।

राम: सखी, एहन अवस्थामे की अनुमान कयल जा सकैत अछि?

गर्भमे हिलैत शिशुक भारसँ थाकि पड़ल हुनक आँखि

डरल एकवर्षीय मृगक आँखि जकाँ घूमल होयत;

कमल-पंखुड़ी अथवा चन्द्रकिरणक पुंज जकाँ कोमल देह

वन्य पशुसँ फाड़ल गेल होयत।

सीता: आर्यपुत्र, हम जीवित छी—एतहि, जीवित।

राम: हाय प्रिय जानकी, अहाँ कतय छी?

सीता: हे देव, हमर आर्यपुत्र सेहो पूर्ण कण्ठसँ पुकारि रहल छथि।

तमसा: पुत्री, ई हितकर अछि। शोकाकुल मनुष्यकें शोक बाहर निकालबाक प्रयास करए चाही। कारण—

जखन बाढ़ि बाँधपर दबाव दैत अछि,

जल छोड़ि ओकर प्रतिकार कयल जाइत अछि;

आ शोकसँ दबायल हृदयकें सहनशील बनेबामे

रोनाइ सहायता करैत अछि।

विशेषतः प्रिय राम लेल, जिनका संसार एखन अनेक प्रकारसँ भयावह भऽ गेल अछि।

तीक्ष्णतम बुद्धिसँ नियमपूर्वक सम्पूर्ण पृथ्वीक रक्षा करबाक अछि,

जखन प्रियाक शोक ग्रीष्मतापसँ फूल जकाँ हुनक आत्माकें सुखबैत अछि।

त्यागक दोष स्वयं हुनक अछि, ताहि हेतु विलापमे शान्ति नहि;

तैयो प्राण हठपूर्वक टिकले अछि।

अतः रोनाइ निश्चय वरदान अछि।

राम: कतेक भयङ्कर!

घोर वेदनामे हृदय टूटैत अछि मुदा फाटैत नहि;
जर्जर देह विक्षिप्त अछि मुदा चेतना नहि गमबैत;
भीतरक आगि अङ्ग जरा रहल अछि मुदा भस्म नहि करैत;
भाग्य मर्मपर प्रहार करैत अछि मुदा जीवन समाप्त नहि करैत।

सीता: हैं, इएह सत्य अछि।

राम: हे नगर आ जनपदक लोकसभ!

अहाँसभ महारानीकेँ हमर घरमे रहए नहि देलहुँ,
ताहि हेतु हम हुनका निर्जन वनमे
तृणसमान मूल्यहीन बुझि, बिना शोक कयने छोड़ि देलहुँ।
मुदा ई चिरपरिचित दृश्यसभ हमरा पूर्ण नष्ट कऽ रहल अछि;
अतः एखन धरि ई असहाय रोनाइ—कृपया क्षमा करब।

तमसा: हुनक शोक-सागरक गर्जना कतेक गम्भीर अछि।

वासन्ती: देव, जे बीति गेल ओकर सम्मुख धैर्य राखू।

राम: सखी, “धैर्य”सँ अहाँक की आशय?

महारानीविहीन—जिनक नाम सेहो प्रायः मिटल—
एहि रिक्त संसारक बारहम वर्ष अछि,
तैयो राम जीवित अछि।

सीता: आर्यपुत्रक वचन हमरा यातना दऽ रहल अछि।

तमसा: हैं पुत्री।

ई प्रियक वचन नहि—कखनो प्रेमसँ कोमल, कखनो शोकसँ कठोर;
ई विषमिश्रित मधुक धार अछि जे अहाँक कानमे टपकि रहल अछि।

राम: हे वासन्ती, की अन्ततः हम—

हृदयमे शोकक तप्त अङ्कुश नहि सहने छी,
जे गरम बाणक नोक भीतर आइमे गइल अथवा विषैल डङ्क जकाँ
मर्मकेँ बेधैत अछि?

सीता: हम एतेक अभागल छी जे एखनो आर्यपुत्रकेँ कष्ट दऽ रहल छी।

राम: हृदय टूटि संवेदनहीन भेलोपर आइ हुनक प्रिय चिरपरिचित वस्तुसभ देखैत फेर स्तब्ध भऽ गेलहुँ।

उन्मत्त वेग धरि जगल करुणाकेँ रोकबाक लेल
महान् प्रयत्नसँ कयल प्रत्येक उपाय भीतर विफल भेल;
चेतनाक अकथनीय परिवर्तन पूर्ण वेगसँ बाहर उमड़ल—
जेना बालुकाक बाँध तोड़ि बाढ़िक जल निर्बाध बहैत अछि।

सीता: आर्यपुत्रक क्रूर, अविराम उमड़ैत शोकक आघात मानू हमर हृदयक शोककेँ हटा देलक, मुदा ओकरा अनियन्त्रित धड़कैत छोड़ि देलक।

वासन्ती: (स्वगत) देवक दशा भयङ्कर अछि। ध्यान हटयबाक प्रयास करी। (प्रकट) देव आब जनस्थानक ओ पुरान परिचित प्रदेशसभ देखए चाहताह?

रामः हँ, ठीक अछि।

ठाढ़ भऽ घुमैत छथि।

सीताः सखी जे मनोरञ्जनक उपाय बुझैत छथि, से उलटे हुनक शोक भड़काओत।

वासन्तीः (करुणासँ) देव, देव—

एहि लताक कुञ्जमे अहाँ घर जाएबला बाट दिस देखैत ठाढ़ छलहुँ;

गोदावरी-तटक हंससँ मोहित भऽ ओ देरि कऽ देलीह;

घुरलापर अहाँकेँ रुष्ट देखि चिन्तित भऽ

अविकसित कमल जकाँ सरल अञ्जलि जोड़ि प्रणाम कयलनि।

सीताः वासन्ती, अहाँ बड़ क्रूर छी—अभागल हमर स्मरण बारम्बार करा कऽ आर्यपुत्रक हृदयक कोमल मर्ममे छुरी आरो गहिर घोंपि रहल छी।

रामः कठोरहृदया जानकी, अहाँ ठाम-ठाम प्रकट होइत छी, मुदा हमरापर दया नहि करैत छी।

हे महारानी, हृदय फाटि रहल अछि,

देहक बन्धन खुलि रहल अछि,

संसार रिक्त अछि, भीतर निरन्तर आगिमे जरैत छी;

अन्धकारमे डूबल आत्मा असहाय डूबि रहल अछि,

पूर्ण मूर्च्छा हमरा घेरि रहल अछि।

अभागल हम की करी?

(मूर्च्छित होइत)

सीताः हे देव, आर्यपुत्र फेर मूर्च्छित भऽ गेलाह!

वासन्तीः देव, कृपया चेतना पाउ।

सीताः हे आर्यपुत्र, अहाँ सम्पूर्ण मर्त्यलोकक मङ्गलक स्रोत छी, मुदा निरन्तर आत्म-विनाशक सङ्कटसँ पीड़ित अहाँक लेल जन्मक वरदान उलटा भऽ गेल—सभ अभागल हमर कारण। हाय, हम नष्ट भेलहुँ। (मूर्च्छित)

तमसाः पुत्री, चेतना पाउ। अहाँक हाथक स्पर्श मात्र प्रिय रामकेँ जीवित करत।

वासन्तीः हाय, एखनो चेतना नहि आयल। हे सीता, प्रिय सखी, कतय छी? अपन प्राणनाथकेँ सान्त्वना दिअ।

सीता घबरा कऽ समीप आबि हुनक हृदय आ माथ छुबैत छथि।

वासन्तीः सौभाग्य जे प्रिय राम चेतना पेलनि।

रामः

लगभग अमृतमय लेप हमर देहक भीतर-बाहर प्रत्येक अङ्गपर मलैत,

एक स्पर्श सहसा हमरा जीवित कयलक

आ एक नव—आनन्दमय—मूर्च्छा पसारि देलक।

(आनन्दमे आँखि बन्द) सखी वासन्ती, अहाँ कतेक भाग्यवती छी।

वासन्तीः कोना?

रामः सखी, एकर अर्थ जानकी घुरि अयलीह—आ की?

वासन्तीः मुदा देव, प्रिय राम, ओ कतय छथि?

राम: (स्पर्शक सुखक अभिनय) देखू, एतहि हमर सोझाँ छथि।

वासन्ती: प्रिय सखीक शोकमे पहिनेसँ जरल अभागल हमर मर्मकेँ फेर काटनिहार ई क्रूर निरर्थक प्रलापसँ हमरा किएक जरबैत छी?

सीता: हमरा हटए पड़त, मुदा आर्यपुत्रक स्पर्श—दीर्घ सच्चा स्नेहसँ कतेक कोमल आ शीतल, दीर्घ क्रूर पीड़ाकेँ कतेक शान्त करैत—मानू हमर हाथकेँ ओतहि जोड़ि देलक। हाथ एके संग पसेनायल, थाकल, व्याकुल, काँपैत आ असहाय अछि।

राम: सखी, “प्रलाप” किएक कहैत छी?

बहुत वर्ष पहिने विवाहमे कङ्कण धारण कयने जे हाथ हम पकड़ने रही,

चिरपरिचित, इच्छानुसार छुबि सकनिहार, अमृत जकाँ शीतल...

सीता: आर्यपुत्र, इएह ओ हाथ अछि। आब बुझलहुँ।

राम:

इएह हाथ—हुनक हाथ—

लवलीक डाँठ जकाँ कोमल,

एतेक सुन्दर जे आन सभ हाथक तुलना एकरे सँ हो।

(हाथ पकड़ैत)

सीता: हे देव, आर्यपुत्रक स्पर्शक आनन्दसँ घोर भूल भऽ गेल।

राम: सखी वासन्ती, आनन्दसँ इन्द्रिय जड़ अछि, मन एतेक व्याकुल जे अपनापर विश्वास नहि। कृपया अहाँ स्वयं हुनका छुबि देखू।

वासन्ती: हाय, ई पूर्ण उन्माद अछि।

सीता घबरा कऽ हाथ छोड़ा पाछाँ हटैत छथि।

राम: हे देव, कतेक भूल!

हम एतेक स्तब्ध रही जे पंखुड़ी-कोमल हाथ सहसा छोड़ि देलहुँ—

हमर हाथ हुनक हाथ जकाँ काँपैत आ पसेनाइत छल।

सीता: हे देव, एखनो अपनापर नियन्त्रण नहि; एके संग चञ्चल, जड़ आ भ्रमित; पीड़ा असह्य।

तमसा: (स्नेहसँ निहारैत)

प्रियक स्पर्शसँ, बेचारी, अहाँक अङ्गपर पसेना आ रोमाञ्च अछि,

पवनमे डोलैत, नव वर्षासँ भिजल आ सहसा काँपल फोड़ैत

कदम्बक तना जकाँ काँपैत छी।

सीता: (स्वगत) हाय, एहि उच्छृङ्खल देहसँ तमसाक सोझाँ लज्जित भेलहुँ। ओ निश्चय सोचैत होयतीह—एहन त्यागक बादो एहन मोह!

राम: (चारू कात देखैत) की, कतहु नहि? हे निर्दय वैदेही, कृपा करू!

सीता: निश्चय निर्दय छी—अहाँकेँ एहि दशामे देखितो जीवित छी।

राम: महारानी, कतय छी? एहि अवस्थामे हमरा नहि छोड़ू।

सीता: हाय आर्यपुत्र, की उलटा नहि कहैत छी?

वासन्ती: देव, कृपया अलौकिक बलसँ एहि पूर्ण भ्रमकेँ रोकू। हमर प्रिय सखी एतय कोना भऽ सकैत छथि?

राम: स्पष्ट अछि, ओ नहि छथि; नहि तँ स्वयं वासन्ती किएक नहि देखितथि? हँ, ई स्वप्न होयत... मुदा नहि, हम सुतल नहि रही—रामकेँ फेर निद्रा कतय?

निश्चय कल्पनासँ बारम्बार उत्पन्न ओ पुण्यमय मानस-भ्रम फेर हमरा घेरलक।

सीता: नहि, क्रूर हम आर्यपुत्रकेँ भ्रमित कयलहुँ।

वासन्ती: देव, देखू—

पौलस्त्यक कारी लोहक रथ, जकरा जटायु नष्ट कयलनि;
आगाँ वानर-मुख खच्चर—आब केवल हड्डीक ढाँचा।
एतयसँ, शत्रु खड्गसँ जटायुक पाँखि काटि
तेजस्विनी सीताकेँ लऽ बिजलीसँ घेरल मेघ जकाँ आकाशमे उठल।

सीता: (भयसँ) आर्यपुत्र, पिता मारल गेलाह, आ हमरा हरण कयल जा रहल अछि। बचाउ!

राम: (सहसा उठैत) हे दुष्ट, एके संग पिता आ सीताकेँ छीननिहार, कतय भागैत छह?

वासन्ती: देव राक्षसक कुल लेल प्रलयाम्नि छलहुँ; की अहाँक क्रोधक कोनो पात्र एखनो जीवित रहि सकैत अछि?

सीता: हाय, क्षणभरि पूर्ण पागल भऽ गेल रही।

राम: हाय, मुदा आइ हमर विपत्ति सर्वथा भिन्न अछि—

ओ समय उपाय उपलब्ध छल;

वीर युद्ध निरन्तर ध्यान हटबैत, अद्भुत रससँ संसार भरैत;
जानैत रही जे पत्नी-वियोग शत्रुक मृत्युसँ समाप्त होयत।
मुदा अनन्त वियोग चुपचाप सहब कतेक कटु अछि!

सीता: “अनन्त!” हाय, हम सचमुच नष्ट भेलहुँ।

राम: हाय—

जतय वानरराजक मित्रता निष्फल,
वानरसभक बल व्यर्थ;
जतय जाम्बवानक बुद्धि बाट नहि देखबैत,
नहि पवनपुत्रक बुद्धि;
जतय विश्वकर्मा-पुत्र नलो पुल नहि बना सकैत—
प्रिय, अहाँ कतय छी, सौमित्रिक बाणक पहुँचसँ सेहो दूर?

सीता: आब पहिल वियोग कतेक प्रिय लगैत अछि।

राम: सखी वासन्ती, रामक दर्शन आब मित्रकेँ केवल दुःख देत। कतबा धरि अहाँकेँ कनायब? आब प्रस्थानक अनुमति दिअ।

सीता: (चौंकि, विक्षिप्त भऽ तमसासँ लिपटैत) हे तमसा, आर्यपुत्र जा रहल छथि!

तमसा: पुत्री, अपनाकेँ सम्हारू। जे हो, आब कुश आ लव—चिरञ्जीवी होथि—हुनक जन्मोत्सवक विधि करबाक लेल भागीरथी लग जाएब आवश्यक अछि।

सीता: भगवती, कृपया क्षणभरि अन्तिम बेर हुनका देखि ली—जिनका फेर कखनो नहि देखब।

राम: अश्वमेधमे सहायता लेल आब हमर एक आओर धर्मपत्नी अछि...

सीता: (काँपैत) आर्यपुत्र, के?

राम: सीताक सोनाक प्रतिमा।

सीता: (राहतिक साँस लैत) आर्यपुत्र... हँ, आब अहाँ सचमुच हमर स्वामी छी। आब अन्ततः त्यागक लज्जाक तीक्ष्ण बाणक नोक हमरासँ निकालि देलहुँ।

राम: कमसँ कम ओतय नोरमे सदिखन डूबल आँखिकेँ किछु विश्राम भेटैत अछि।

सीता: धन्य ओ स्त्री, जिनका आर्यपुत्र अपन मनोरञ्जनक लेल एतेक मान दैत छथि—एहि कारण ओ संसारक आशाक स्रोत छथि।

तमसा: (स्नेह, मुस्कान आ नोरसँ हुनका आलिङ्गन करैत) पुत्री, ई प्रशंसा स्वयं अहाँक अछि।

सीता: (लाजसँ माथ नमबैत; स्वगत) भगवती हमर उपहास करैत छथि।

वासन्ती: जे अहाँक लेल महान् व्याकुलताक कारण रहल, से हमर सभक प्रति कृपा भेल। जाएब हो तँ अपन कर्तव्यक अनुसार जाउ।

सीता: वासन्ती हमर अटल शत्रु भऽ गेलीह।

तमसा: पुत्री, आउ, चली।

सीता: (उदास) हँ, चलए पड़त।

तमसा: मुदा अहाँ जा कोना सकैत छी, जखन—

जतेक प्रयत्न करू, लालसासँ फैलल आँखि

प्रियपर अटल अछि, ओकरा हटा नहि सकैत छी?

सीता: आर्यपुत्रक चरणकमलकेँ प्रणाम—निश्चय अतुलनीय पुण्यक फल जे आइ दर्शन भेटल। (मूर्च्छित)

तमसा: पुत्री, कृपया अपनाकेँ सम्हारू।

सीता: (चेतना पाबि) कारी मेघक बीच पूर्ण चन्द्र कतेक देरि देखाइत अछि?

तमसा: ई कथानक कतेक जटिल अछि!

रस एके—करुण—अछि;

मुदा बदलैत परिस्थितिक अनुसार बदलि अनेक रूप लैत अछि,

जेना जल भँवर, बुलबुला अथवा तरङ्ग बनैत अछि,

मुदा अन्ततः सभ एके—केवल जल।

राम: हे रथराज, तुरन्त एम्हर आउ।

सभ ठाढ़ होइत छथि।

तमसा आ वासन्ती: (क्रमशः सीता आ रामसँ)

पृथ्वी, देवनदी, हमर सभ जकाँ आन देवी,

छन्दक प्रथम प्रयोगकर्ता आचार्य,

ऋषि वसिष्ठ आ हुनक संगिनी अरुन्धती—

ई सभ अहाँकेँ आशीर्वाद आ चिरस्थायी सौभाग्य देखि।

सभ प्रस्थान करैत छथि।

तृतीय अङ्क समाप्त

दू तपस्वीक प्रवेश।

प्रथमः सौधातकि, अनेक सजावट आ आयल अतिथिसभक भीड़सँ वाल्मीकिक आश्रम कतेक सुन्दर लगैत अछि। देखू—

आश्रमक मृग अपन एखने बच्चा देने संगिनी लेल बनल

मधुर गरम दूध-भातक बचल मलाई मोन भरि पीबैत अछि।

बेरक फलसँ मिसल पकैत सागक गन्ध पसैर रहल अछि,

आ घी-भातक बहुत हलुक सुगन्ध सेहो।

सौधातकि: जे अतिथि—विशेषतः ई बुजुर्गसभ—आबि हमरा अध्ययनसँ छुट्टी दैत छथि, हुनक हार्दिक स्वागत!

प्रथमः (हँसैत) सौधातकि, वृद्धजनक प्रति अहाँक ई सम्मान सर्वथा अभूतपूर्व अछि।

सौधातकि: भाण्डायन, ई बूढ़ि स्त्रीसभक दलक आगाँ आयल अतिथिक नाम की?

भाण्डायन: आब मजाक नहि। अहाँ निश्चय जनैत छी—ई वसिष्ठ छथि, ऋष्यशृङ्गक आश्रमसँ महाराज दशरथक पत्नीसभक रक्षा करैत, अरुन्धतीकेँ अग्रस्थान दैत अयलाह। तखन ई मूर्ख प्रश्न किएक?

सौधातकि: हँ, वसिष्ठ?

भाण्डायन: हँ, निश्चय।

सौधातकि: हम तँ निश्चय बुझने रही जे बाघ अथवा भेड़िया अछि।

भाण्डायन: एकर अर्थ की?

सौधातकि: हुनक अयलाक क्षणसँ हमर बेचारा छोट बाछा पूर्ण भयभीत भऽ गेल।

भाण्डायन: शास्त्रज्ञ अतिथिक आगमनपर वैदिक विधानानुसार मांसक स्वागत-अर्घ्य देनिहार गृहस्थ एकवर्षीय बाछा, बैल अथवा बकरा काटैत छथि।

‘धर्मसूत्र’क रचयितासभक अनुसार इएह धर्म अछि।

सौधातकि: अहा! अहाँ विरोधाभासमे फँसि गेलहुँ।

भाण्डायन: कोना?

सौधातकि: माननीय वसिष्ठक आगमनपर एकवर्षीय बाछा काटल गेल, मुदा आइ पाछाँ राजर्षि जनक अयलाह तँ वाल्मीकि केवल दूध-दहीसँ अतिथि-अर्घ्य देलनि। बाछीकेँ छोड़ि देल गेल।

भाण्डायन: ऋषिसभक विधान मांस नहि छोड़निहार लेल छल। जनक मांस त्यागि देने छथि।

सौधातकि: किएक?

भाण्डायन: महारानी सीताक भाग्य-विपर्ययक समाचार भेटिते तपस्वी भऽ गेलाह। किछु वर्षसँ चन्द्रद्वीप तपोवनमे तपस्या कऽ रहल छथि।

सौधातकि: तखन एतय किएक अयलाह?

भाण्डायन: अपन चिरप्रिय मित्र प्रचेता-पुत्रक दर्शन लेल।

सौधातकि: अपन सम्बन्धिनीसभसँ भेट भऽ गेलनि?

भाण्डायनः एखने वसिष्ठ अरुन्धतीकेँ महारानी कौसल्याक समीप पठौलनि, जे ओ विदेहराजसँ भेट करथि।

सौधातकिः जेना वृद्धसभ जुटल छथि, हमसभ सेहो सहपाठीक संग जुटि खेल-कूदसँ छुट्टी मनावी।

दुनू घुमैत छथि।

भाण्डायनः ओ प्राचीन राजर्षि, आचार्य जनक छथि। प्रचेता-पुत्र आ वसिष्ठकेँ प्रणाम कऽ आश्रम बाहर वृक्षतर बैसल छथि—

जिनक हृदयमे सीताक शोक सदिखन एना जरैत अछि,

जेना पुरान वृक्षकेँ भीतरसँ खाइत आगि।

दुनू प्रस्थान करैत छथि।

प्रवेशक समाप्त

जनकक प्रवेश।

जनकः

हमर पुत्रीपर कयल अपराध—विराट, घोर अपराध—
जे हमरा तोड़ि हृदय भेदलक,
ओ एहन प्रचण्ड झरैत क्रोध जगौलक जे पुरान होइतो सदिखन नव,
आराक धार जकाँ मर्म काटैत, कखनो नहि रुकैत।

कतेक भयङ्कर! ई अभागल देह—जकर सभ आधार वृद्धावस्था आ अकल्पनीय शोक छीन लेलक, जकर सार आ रस अनेक तपस्या, मासभरि उपवास आ शरीर-दमन सोखि लेलक—आइ धरि मरबाक लेल तैयार नहि, विश्वास नहि होइत। मुदा ऋषिसभ कहलनि—“आत्महत्या करनिहार अन्हार, सूर्यहीन लोकमे जाइत छथि।” एतेक वर्षक बादो निरन्तर चिन्तासँ पूर्ण प्रकट हमर तीक्ष्ण शोकक आघात एखनो नव अछि, घटैत नहि। हे माता! हे यज्ञवेदीसँ जन्मल सीता, जीवनमे अहाँक एहन दशा—एहन उलटफेर जे मन भरि कानबोमे लाज! हाय पुत्री!

अहाँक बाल्य-मुख मोन पड़ैत अछि—
बिना कारण हँसैत आ कानैत,
दू-चारि दूधक दाँत चमेलीक कौपल जकाँ चमकैत,
पहिल वचन लड़खड़ाइत, अस्पष्ट।

हे पृथ्वी, सत्ये अहाँ पाथर जकाँ कठोर छी।

जिनक महानता स्वयं अहाँकेँ स्वीकार करबाक चाही छल,
ओहिना अग्नि, ऋषिसभ, वसिष्ठ-पत्नी, गङ्गा,
एतय धरि जे रघुकुलक गुरु सूर्यदेवकेँ सेहो;
जिनका अहाँ स्वयं जन्म देलहुँ—जेना वाणी सच्चा ज्ञानकेँ जन्म दैत अछि—
हे क्रूर पृथ्वी, अपन एकमात्र पुत्रीक हत्या कोना सहलहुँ?

नेपथ्यसँ: एम्हर, भगवती, आ महारानी।

जनक: (देखैत) अहा, गृष्टि अरुन्धतीकेँ बाट देखा रहल अछि। (ठाढ़ होइत) “महारानी” ककरा कहलक? (देखैत) हाय, ई हमर प्रिय सखी, राजा दशरथक धर्मपत्नी कौसल्या तँ नहि? के विश्वास करितए?

दशरथक महलमे जे राजलक्ष्मी जकाँ छलीह—
अथवा उपमा किएक, स्वयं राजलक्ष्मी छलीह—
भाग्यक बलसँ सर्वथा दोसर रूपमे बदलि गेलीह,
निर्मल शोकक दुर्लभ जीव। हाय, कतेक विपर्यय!

हमर दशाक एक आओर भयङ्कर उलटफेर अछि—

जे लोक पहिने हमर लेल

साक्षात् उत्सव छलाह,

आइ हुनका देखबो असह्य भए गेल अछि—
मानू घावपर नून छिड़कल गेल हो।

अरुन्धती, कौसल्या आ कञ्चुकीक प्रवेश।

अरुन्धती: मुदा हम अहाँकेँ कहि रहल छी जे कुलगुरुक आज्ञा
छल जे अहाँ स्वयं विदेह-नरेशसँ भेट करबाक लेल जाउ,
एही हेतु हमरा अहाँ लग पठाओल गेल अछि। प्रत्येक डेगपर
ई जड़ कऽ देनिहार हिचकिचाहट किएक?

कञ्चुकी: महारानी, अपनाकेँ सम्हारू आ वसिष्ठक आज्ञाक
पालन करू—एतबे हमर विनती अछि।

कौसल्या: एहन अवसरपर मिथिलानरेशसँ भेंट होयबाक विचार
मात्र सँ हमर समस्त दुःख एक्कहि बेर फेर उमड़ि पड़ैत अछि।
हृदयक तार सभ टूटि रहल अछि, हम एकरा स्थिर नहि राखि
पाबि रहल छी।

अरुन्धती: निःसन्देह।

प्रिय स्वजनक वियोगसँ उपजल दुःखक धारा
भले प्रचण्ड वेगसँ बहैत रहय,
मुदा प्रिय मित्रक दर्शन मात्र ओकरा
सहस्र धारासँ बढ़ल जकाँ असह्य बना दैत अछि।

कौसल्या: हमर प्रिय पुतोहुक संग एहन घटना घटलापर हम
राजर्षिक सोझाँ कोना पड़ब?

अरुन्धती:

ई अहाँक आदरणीय सम्बन्धी, जनकवंशक आधार छथि,
जिनका मनीषी याज्ञवल्क्य कखनो सम्पूर्ण
ब्रह्मविद्या प्रदान कएने छलाह।

कौसल्या: ओतय राजर्षि ठाढ़ छथि—महान् महाराजक हृदयक
आनन्द, हमर प्रिय पुतोहुक पिता। हे दैव, सभटा फेर मोन
पड़ि रहल अछि—जखन हम सभ महान् विवाहोत्सव सम्पन्न
कएने रही; आ आइ, हे प्रभु, सभ किछु समाप्त भए गेल।

जनक: (लग अबैत) अरुन्धती, विदेहक राजा सीरध्वज
अहाँकेँ प्रणाम करैत अछि।
जिनके कारण मात्र हुनकर पति,
स्वयं पवित्रताक अक्षय भण्डार होइतो,
अपनाकेँ पवित्र मानैत छथि;
आ जे पूर्ववर्ती समस्त गुरुमे

परम गुरु छथि...

हम ओहि भगवतीकेँ प्रणाम करैत छी,

जे उषा जकाँ छथि, जिनका समस्त संसार

भूमि धरि माथ नमा प्रणाम करैत अछि,

आ जे समूचा विश्वक कल्याण करैत छथि।

अरुन्धती: अहाँक परम ज्योति प्रखर रहय, आ धूलिसँ परे

प्रज्वलित रहनिहार देव अहाँकेँ पवित्र करथि।

जनक: गृष्टि, प्रजापालकक माता कुशलपूर्वक छथि ने?

कञ्चुकी: (अपना मोने) ई हमरा सभपर व्यङ्ग्य अछि—निर्मम आ

तीक्ष्ण व्यङ्ग्य। (प्रकट) राजर्षि, प्रिय रामक चन्द्रमा-सदृश

मुख दीर्घकालसँ नहि देखि पयबाक कारण महारानी पहिनेसँ

गहन दुःखमे छथि; कृपा कऽ अपन क्रोधसँ हुनकर दुःख आरो

नहि बढ़ाउ। रामपर सेहो घोर विपत्ति पड़ल छल—नगरवासीक

बीच दुष्ट अपवाद फैलि रहल अछि, से कहल गेल; आ क्षुद्रबुद्धि

लोक अग्निपरीक्षाक शुद्धिपर विश्वास नहि कएने, तँ हुनका

कठोरतम उपाय करए पड़लनि।

जनक: हे देवगण, ई अग्निदेव आखिर छथि के, जे हमर पुत्रीकेँ

पवित्र करबाक दम्भ करथि? राम पहिनेसँ हमरा सभक पर्याप्त

अपमान कऽ चुकल छथि; आब एहन बात कहि आरो अपमान करबाक

साहस केना होइत अछि!

अरुन्धती: (निःश्वास छोड़ैत) ई सर्वथा सत्य अछि। हमर बच्चीक

सोझाँ ‘अग्नि’ शब्द केवल निरर्थक ध्वनिक माला अछि; सीता

होयब मात्र पर्याप्त अछि। हे हमर बच्ची,

अहाँ हमर सन्तान छलहुँ अथवा शिष्या,

एहि बातक कोनो महत्त्व नहि;

अहाँक परम पवित्रतए हमर हृदयमे

एहन स्नेह उत्पन्न करैत अछि।

बालिका वा स्त्री होयब कोनो बात नहि—

अहाँ समस्त संसारक प्रशंसा अर्जित कएने छी।

सज्जनमे आदरयोग्य गुण होइत अछि,

नहि कि लिङ्ग अथवा आयु।

कौसल्या: हाय, हमर घाव फेर फाटि रहल अछि। (मूर्च्छित भए

पड़ैत छथि)

जनक: हाय दैव, आब की भेल?

अरुन्धती: राजर्षि, आरो की भए सकैत अछि?

ओ राजा, ओ सुख, सन्तानक ओ गौरव,

ओ बीतल दिन सभ—

अहाँ, अपन मित्रकें देखते

समस्त स्मृति फेर उमड़ि पड़लनि।

अहाँ देखिए रहल छी जे एहि घोर घटनासँ

ओ कतेक व्याकुल छथि:

वृद्ध माताक हृदय सेहो

फूल सन कोमल भए सकैत अछि।

जनक: हम कतेक नीच बनि गेल छी! दीर्घकालक बाद देखल

अपन प्रिय मित्रक प्रिय पत्नीपर सेहो स्नेह-दृष्टि नहि

दऽ सकलहुँ।

आदरणीय सम्बन्धी, प्रिय मित्र, हमर हृदय,

हमर साक्षात् आनन्द, जीवनक सम्पूर्ण सार,

हमर देह-प्राण आ ताहूसँ प्रिय जे किछु—

यशस्वी महाराज दशरथ हमर लेल की नहि छलाह?

हाय, की ई सचमुच कौसल्या छथि?

जँ पति-पत्नीक बीच कखनो एकान्तमे विवाद भए जाइत छल,

तऽ ओ दुनूकें छोड़ि केवल हम हुनकर शिकायत सुनैत रही,

आ आगाँ क्रोध राखब कि क्षमा करब—

एकर निर्णय हमरेपर निर्भर रहैत छल...

मुदा एहन स्मृति आब बस। ई सभ हमर हृदयपर

आक्रमण कऽ ओकरा जरा रहल अछि।

अरुन्धती: हाय, दीर्घकाल धरि भीतर दबल निःश्वाससभ हुनकर

हृदयकें कठोर बना देलकनि।

जनक: हाय हमर प्रिय मित्रपत्नी। (अपन कमण्डलुक जल

छिड़कैत छथि)

कञ्चुकी:

आरम्भमे भाग्य अनुकूल मित्र जकाँ छल,

जे हुनकर प्रत्येक इच्छाक संग चलैत रहल;

तखन अकस्मात् ओकर निर्मम रूपान्तरण आयल,

आ हुनका केवल हृदय-व्यथा दऽ गेल।

कौसल्या: (चेतना घुरैत) हे हमर पुत्री जानकी, अहाँ कतय छी?

विवाहक आभासँ मात्र विभूषित, पवित्र मुस्की खिलल अहाँक

ओ निष्कपट कमल-सदृश मुख हमरा कतेक स्पष्ट मोन पड़ैत

अछि। हे बच्ची, प्रथम चन्द्रिकासँ सुन्दर अपन ओहि अङ्गसभसँ

हमर कोरा फेर उज्ज्वल करू। महाराज सदिखन कहैत छलाह—
“ई रघुवंशक अधिपतिक पुतोहु अवश्य छथि, मुदा जनकसँ
हमर सम्बन्ध हुनका हमर अपन छोट बेटी बना दैत अछि।”

कञ्चुकी: महारानी जे कहैत छथि, ठीक सैह बात छल:

राजाक पाँच सन्तान रहितो

सुबाहुक शत्रु सभसँ प्रिय छलाह,
आ चारि पुतोहु रहितो सीता,
शान्ता सँ कम बेटी नहि छलीह।

जनक: हाय हमर प्रिय मित्र महाराज दशरथ! एही कारण अहाँ
प्रत्येक प्रकारँ हमर अनुरूप छलहुँ। हम अहाँकेँ कोना बिसरि
सकैत छी?
कहल जाइत अछि जे कन्याक पिता
जमायक कुटुम्बक सत्कार करय,
मुदा हमर सम्बन्धमे एकर ठीक उलट छल;
अहाँ स्वयं हमरा प्रसन्न करैत रहलहुँ।
अहाँ सन पुरुष आ हमर सम्बन्धक मूलाधार,
दुनूकेँ भाग्य छीनि लेलक...
धिकार अछि हमरा, हम अवश्य पापी छी,
जे एहि भयावह नरक-सदृश संसारमे जीवित छी।

कौसल्या: जानकी, हे हमर बच्ची, हम की करी? हमर ई अभागल
प्राण मानू कोनो अभेद्य गारासँ स्थायी रूपेँ जकड़ल अछि;
हम अभागिनीक देह छोड़ि नहि रहल अछि।

अरुन्धती: अपनाकेँ सम्हारू, अहाँ राजपुत्री छी। एखन यथाशक्ति
अपन सिसकी रोकबाक प्रयास करू। आ एकटा बात आरो। ऋष्यशृङ्गक
आश्रममे अहाँक कुलगुरु जे कहने छलाह, से मोन नहि अछि?
ओ दृढ़तापूर्वक कहने छलाह जे जे भेल, से होयब अनिवार्य छल,
मुदा अन्ततः सभ किछु शुभ होयत।

कौसल्या: जखन हमर सभ सपना चूर-चूर भए गेल, तखन ई कोना
सम्भव अछि?

अरुन्धती: तँ की अहाँ मानैत छी जे ओ मिथ्या कहने छलाह?
अहाँ राजपुत्री आ पराक्रमी क्षत्रियसभक माता छी; दोसर
प्रकारेँ नहि सोचू—ई होयब अनिवार्य छल।

जिनका प्रकाशक साक्षात्कार भेल अछि,
ओहि ब्राह्मणसभक वचनपर कखनो सन्देह नहि करू।

कल्याणमयी लक्ष्मी हुनकर वाणीमे निवास करैत छथि;
हुनकर कोनो वचन असत्य नहि होइत अछि।

नेपथ्यमे कोलाहल। सभ सुनैत छथि।

जनक: आइ अध्ययनसँ अवकाश अछि—ई कोलाहल खेलैत
बालकसभक होयत।

कौसल्या: बाल्यकालमे सुख पाबि लेब कतेक सहज होइत अछि!

(देखैत) अहा, ओहि सभक बीच ई के अछि, जकर अत्यन्त मनोहर
कोमल आ सुकुमार अङ्ग, प्रिय रामक सौन्दर्यसँ विभूषित,
हमर आँखिक पीड़ा धरि शान्त कऽ रहल अछि?

अरुन्धती: (अपना मोने; आनन्दाश्रुसहित) ई निश्चय ओहि रहस्य—

नहि, ओहि अमृत—क फल अछि जे भागीरथी प्रकट कएने छलीह।
हमरा केवल एतबे ज्ञात नहि जे ई दुनूमे सँ कुश छथि कि
लव—दुनू चिरञ्जीवी होथि।

जनक:

नीलकमलक पाँखुरि सन साँवर कान्ति,

सुन्दर केशपाशसँ मण्डित मस्तक,

सद्गुणसँ विभूषित; ओकर सौन्दर्य मानू

बालकसभक समूहकें सेहो कुलीन बना रहल अछि।

ओ रघुनन्दन जकाँ देखाइत अछि—

मानू हमर प्रिय बालक फेर शिशु बनि गेल हो।

ई के अछि, जकर दर्शन मात्र

हमर आँखिक लेल अमृतमय अञ्जन अछि?

कञ्चुकी: हमरा बुझाइत अछि जे ई बालक क्षत्रिय ब्रह्मचारी अछि।

जनक: निश्चय सैह होयत, कारण ओ

पीठपर दूटा तूणीर धारण कएने अछि,

जकर बाण ओकर शिखाकें स्पर्श करैत अछि;

वक्षपर कुलचिह्न—पवित्र भस्मक रेखा—

आ कृष्णमृगचर्म शोभित अछि;

निचला वस्त्र मजीठसँ रङल अछि

आ मूर्वा-तृणक डोरीसँ बान्हल;

एक हाथमे धनुष आ जपमाला,

दोसरमे पीपरक दण्ड अछि।

अरुन्धती, अहाँक अनुमानमे ई बालक कतयसँ आयल अछि?

अरुन्धती: मुदा हम स्वयं एतय नवागत छी।

जनक: गृष्टि, हमर जिज्ञासाक सीमा नहि अछि। तुरन्त वाल्मीकिक

लग जाउ आ हुनकासँ पूछू। बालककेँ सेहो कहू जे किछु वृद्धजन
ओकर दर्शन चाहैत छथि।

कञ्चुकी: जेना आज्ञा। (प्रस्थान)

कौसल्या: अहाँकेँ किएक लगैत अछि जे बजाओलापर ओ आयत?

अरुन्धती: ओकर रूप-जकाँ शिष्ट आचरण नहि होयत की?

कौसल्या: (देखैत) ई की? गृष्टिक बात विनयपूर्वक सुनि बालक
ऋषिक दोसर शिष्यसभकेँ विदा कऽ एतय आबि रहल अछि।

जनक: (बहुत काल धरि देखैत) हमरा ई की भऽ रहल अछि?

विनयसँ शीतल आ निष्कपटतासँ कोमल भेल
ओकर वास्तविक शक्तिक परिमाण
केवल सत्यदर्शी लोक बुझि सकैत छथि,
आ दोसर केओ नहि।
निराशासँ अचल बनल हमर हृदयकेँ
ई बालक तहिना हिला देबाक सामर्थ्य रखैत अछि,
जेना चुम्बकक एकटा छोट सन खण्ड
लोहाक भारी पिण्डकेँ हिला दैत अछि।

लवक प्रवेश। लव: नाम आ पद नहि जनिते हम एहि श्रेष्ठजनसभकेँ
कोन ढङ्गसँ प्रणाम करी? (विचार करैत) वृद्धजनसँ सीखल
एकटा एहन विधि अछि जाहिमे कोनो दोष नहि। (विनयसँ लग
अबैत) ई लव क्रमशः अहाँ सभक चरणमे माथ नमबैत अछि।

अरुन्धती आ जनक: साधु बालक, चिरञ्जीवी होउ।

कौसल्या: बच्चा, दीर्घायु होउ।

अरुन्धती: आउ बच्चा। (लवकेँ कोरामे लैत; अपना मोने) हमर
भाग्य कतेक सुन्दर! कोरा मात्र भरल नहि, अन्ततः हमर
सपना सेहो पूर्ण भेल।

कौसल्या: बच्चा, एक क्षण हमर कोरामे सेहो आउ। (ओकरा
कोरामे लैत) अहा! नव खिलल नीलकमल सन साँवर कान्तियुक्त
देहक बनावटमे मात्र नहि, स्वरमे सेहो ई प्रिय रामक सदृश
अछि—कमल-केसर खाइ कण्ठ रङ्गायल हंसक दीर्घ मन्द गुञ्जन
जकाँ। स्पर्शमे देह सेहो निश्चय सैह अछि—पूर्ण विकसित
कमलक भीतरक भाग सन कोमल। बच्चा, जरा अहाँक मुख देखी।
(ठुट्टी उठा देखैत; अश्रु आ कौतूहलसहित) राजर्षि, अहाँकेँ

नहि देखाइत अछि? नीक जकाँ देखू—की ई ठीक अहाँक पुत्री,
हमर पुतोहुक चन्द्रमुखसँ नहि मिलैत अछि?

जनक: हँ मित्र, देखैत छी, अवश्य देखैत छी।

कौसल्या: हाय, हमर हृदय एतेक भ्रमित अछि जे छितरायल
विचारक बीच हम अनाप-शनाप बाजि रहल छी।

जनक:

एहि बालकमे हमर पुत्री आ राम,
रघुक उत्तराधिकारीक ठीक ओहि रूपक
साक्षात् प्रतिरूप प्रकट अछि—
ओही कान्ति, ओही स्वर,
ओही सहज आचरण,
ओही निर्मल तेज धरि...
हे विधाता, हमर व्याकुल मन
एहि मरीचिकाक पाछाँ किएक दौड़ि रहल अछि?

कौसल्या: बच्चा, अहाँक माता जीवित छथि? पिताक कोनो स्मृति
अहाँकँ अछि?

लव: नहि, हमरा नहि अछि।

कौसल्या: अहाँक देखभाल के करैत छथि?

लव: भगवान् वाल्मीकि।

कौसल्या: आउ ने बच्चा, अहाँक कथा एतय कहब आवश्यक अछि।

लव: हमरा बस एतबे ज्ञात अछि।

नेपथ्यमे: हे सैनिकसभ! कुमार चन्द्रकेतुक ई आज्ञा अछि जे
केओ आश्रमभूमिमे अनधिकृत प्रवेश नहि करय।

अरुन्धती आ जनक: अहा, यज्ञाश्वक रक्षाक क्रममे कुमार
चन्द्रकेतु आयल छथि; शीघ्र हुनकर दर्शन होयत। आइ कतेक
शुभ दिन अछि!

कौसल्या: प्रिय लक्ष्मणक छोट पुत्र “आज्ञा” दऽ रहल छथि—
ई अक्षर हमर कानमे अमृतबिन्दु सन मधुर लगैत अछि।

लव: महोदय, चन्द्रकेतु नामक ई व्यक्ति के छथि?

जनक: अहाँ दशरथ-पुत्र राम आ लक्ष्मणक नाम सुनने छी?

लव: ओ दुनू ‘रामायण’क नायक छथि।

जनकः निश्चय।

लवः तखन हम हुनकर नाम कोना नहि सुनने होयब?

जनकः ई चन्द्रकेतु लक्ष्मणक पुत्र छथि।

लवः तँ ओ उर्मिलाक पुत्र आ मिथिलानरेशक नाती होयताह।

अरुन्धतीः (हँसैत) स्पष्ट अछि, बालक कथासँ भलीभाँति परिचित अछि।

जनकः जँ अहाँ कथाक एतेक ज्ञान राखैत छी, तँ हमर किछु प्रश्नक उत्तर दिअ—दशरथक अन्य पुत्रसभक सन्तानक नाम की अछि, आ ओ सभ कोन-कोन पत्नीसँ जन्मल?

लवः कथाक ई भाग ने हम सुनने छी, ने दोसर केओ।

जनकः कवि एकर रचना नहि कएने छथि?

लवः कएने छथि, मुदा एखन धरि प्रकाशित नहि भेल अछि। ओकर एक अंश, नव रूपसँ रसवर्धित, अभिनय लेल बनाओल गेल अछि। महर्षि अपन हाथें पाण्डुलिपि लिखि 'सङ्गीतत्रयी-सूत्र'क रचयिता भरतक लग पठा देने छथि।

जनकः कोन प्रयोजनसँ?

लवः कहल जाइत अछि जे भरत अप्सरासभ सँ ओकर अभिनय कराबथि।

जनकः एहि सभ बातसँ हमर जिज्ञासा आरो बढ़ि रहल अछि।

लवः वाल्मीकि एकर विषयमे अत्यन्त सावधान छथि। पाण्डुलिपि स्वयं भरतक आश्रम पहुँचाबऽ जा रहल शिष्यसभक संग कोनो चूक नहि हो, ताहि लेल ओ हमर भाइकेँ धनुष-बाणसहित हुनका सभक सङ्ग पठौने छथि।

कौसल्याः अहाँक भाइ सेहो छथि?

लवः हमर एक श्रेष्ठ भाइ छथि, जिनकर नाम कुश अछि।

कौसल्याः अर्थात् ओ अहाँसँ पैघ छथि।

लवः हँ, जन्मक्रमसँ ओ हमर जेठ छथि।

जनकः की अहाँ दुनू जुड़वाँ छी?

लवः अवश्य।

जनकः कहू, मुख्य कथा कोन प्रकार समाप्त होइत अछि?

लवः नगरवासीक दुष्ट अपवादसँ व्यथित राजाने यज्ञभूमिमे जन्मल महारानी सीताकेँ वनवास दऽ देलनि। प्रसव-पीड़ा आरम्भ होइत काल लक्ष्मण हुनका निर्जन वनमे एकसरि छोड़ि घुरि अयलाह।

कौसल्याः हे हमर निष्पाप चन्द्रमुखी बेटी, अचानक एकसरि

अहाँक फूल सन देहपर ई कोन विकट भाग्य-विपर्यय आबि
पड़ल?

जनक: हे बच्ची,

जखन एक्कहि बेर अपमान, भयङ्कर वन
आ प्रसव-वेदना सँ अहाँकेँ जूझए पड़ल होयत,
आ माँसाहारी पशुसभक झुण्ड
अहाँकेँ चारू दिस घेरने होयत,
तखन भयमे अहाँक ध्यान अवश्य हमरा,
अपन अन्तिम आश्रयपर, केन्द्रित रहल होयत।

लव: (अरुन्धतीसँ) ई दुनू श्रेष्ठ व्यक्ति के छथि?

अरुन्धती: ई कौसल्या छथि, आ ई जनक।

लव आदर, चिन्ता आ कौतूहलसँ देखैत अछि।

जनक: हाय, नगरवासी कतेक विकृत छलाह, आ राजा राम कतेक
अविवेकी!

एहि वज्रपात-सदृश विपत्तिक
भयङ्कर आघातपर विचार करैत,
आब हमर धनुष अथवा शापसँ
क्रोध प्रज्वलित करबाक समय आबि गेल अछि।

कौसल्या: (भयभीत) अरुन्धती, रक्षा करू! कृपा कऽ कृद्ध
राजाकेँ शान्त करबाक प्रयास करू।

लव:

अपमानित स्वाभिमानी पुरुषक लेल
प्रतिशोधक एकमात्र रूप एतबे अछि।

अरुन्धती:

मुदा महाराज, राम अहाँक पुत्र छथि,
आ अभागल नगरवासी रक्षा पयबाक अधिकारी।

जनक:

तखन दुनूमे सँ केओ रघुनन्दनकेँ भय नहि देखाबय—

अन्ततः ओ हमर अमूल्य पुत्र छथि,
आ नगरवासीक बहुतो लोक वृद्ध आ अशक्त,
ब्राह्मण, बालक आ स्त्री छथि।

कोलाहल करैत पाठशालाक बालकसभक प्रवेश। बालकसभ: कुमार

महोदय! हम सभ गाम-गाममे 'घोड़ा' नामक एक अद्भुत जीवक

प्रकट होयबाक चर्चा सुनने रही, आ आब अपन आँखिसँ देखलहुँ!

लव: 'घोड़ा'क उल्लेख यज्ञ-पशुसम्बन्धी शास्त्रमे सेहो अछि,

आ युद्धशास्त्रमे सेहो। कहूँ, ई कोन प्रकारक अछि?

बालकसभ: सुनू तऽ—

ओकर पाछाँ एकटा पैघ नाडरि अछि,

जकरा ओ निरन्तर फटकारैत रहैत अछि;

गरदनि लम्बा अछि, आ ओकर चारिटा खुर अछि—

न बेसी, न कम;

ओ घास खाइत अछि आ आमक आकारक

लीद करैत अछि... मुदा वर्णन आब बस।

ओ भागि रहल अछि—जल्दी करूँ, चलूँ!

ओ सभ लवक लग आबि ओकर हाथ आ मृगचर्म पकड़ि घीचैत अछि।

लव: (कौतूहल, अनिच्छा आ शिष्टतासँ) हमर वृद्धजन देखि सकैत

छथि जे हमरा घीचि कऽ लऽ जाओल जा रहल अछि।

ओ हड़बड़ीमे चलैत अछि।

अरुन्धती आ जनक: जाउ बच्चा, अपन जिज्ञासा शान्त करूँ।

कौसल्या: भगवती, जँ हम हुनका—ओ चिरञ्जीवी होथि—देखैत नहि

रही, तँ हमरा ठकल जकाँ लगत। आउ, दोसर ठामसँ हुनकर

जाइत रूप देखी।

अरुन्धती: छोट दुष्ट एतेक तेजीसँ एतेक दूर चलि गेल जे आब

प्राय: देखाइयो नहि रहल अछि।

कञ्चुकीक प्रवेश। कञ्चुकी: वाल्मीकि उत्तर देने छथि जे अहाँ

अपन प्रश्नक उत्तर उचित समयपर स्वयं जानि जाएब।

जनक: अवश्य कोनो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात अछि। अरुन्धती,

मित्र कौसल्या, गृष्टि—आउ, हम सभ स्वयं प्रचेतस-पुत्रक

दर्शन करए चली।

वृद्धजनक समूहक प्रस्थान।

पाठशालाक बालकसभक प्रवेश।

बालकसभ: कुमार महोदय, ई अद्भुत वस्तु देखू।

लव: प्रथम दृष्टिमे बुझि गेलहुँ—ई अश्वमेध यज्ञक घोड़ा अछि।

बालकसभ: अहाँ कोना बुझलहुँ?

लव: हे मूर्खसभ! अहाँ सभ वेदक ओ अंश पढ़ि चुकल छी, तइयो

नहि बुझैत छी? एकर रक्षक अवश्य होएबाक चाही—कवच, गदा

वा बाण धारण कएने, प्रत्येक दलमे सय-सय सैनिक। एतय जे

सेना देखाइत अछि, से प्राय: ठीक एहने अछि। विश्वास नहि हो

तऽ हुनकहि सभसँ पूछू।

बालकसभ: हे सैनिक, ई घोड़ा रक्षाक बीच किएक घूमि रहल अछि?

लवः (ईर्ष्यासँ, अपना मोने) अश्वमेध विश्वविजयी क्षत्रियक
सर्वोच्च प्रभुताक अन्तिम परीक्षा अछि; एकर उद्देश्य अन्य
समस्त क्षत्रियकेँ अपमानित करब होइत अछि।

नेपथ्यमे:

ई घोड़ा कम, सातो लोकक एकमात्र सच्चा वीर,
दशग्रीवक कुलक शत्रु केर घोषणा करैत
विजयध्वज अथवा युद्धघोष बेसी अछि।

लवः (उत्तेजित जकाँ) अहा, ई तँ युद्धक ललकार अछि!

बालकसभः हम सभ की कही? कुमार महोदय सचमुच बहुत ज्ञानी
छथि।

लवः हे सैनिकसभ, अहाँ सभ एना डीङ मारैत छी मानू पृथ्वीपर
कोनो क्षत्रिय बचले नहि हो!

नेपथ्यमे: चक्रवर्तीक सोझाँ अन्य क्षत्रियक मूल्ये की?

लवः धिक् रे दुष्टसभ!

जँ क्षत्रिय छथि, तँ निश्चय क्षत्रिये छथि।

अहाँ सभ केकरा डराबऽ चाहैत छी?

मुदा बातक समय बीति गेल; आब हम आक्रमण कऽ

ओहि ध्वजकेँ छीनि आनब।

हे बालकसभ! हुनका सभकेँ घेरू, माटिक ढेपा बरसाउ आ घोड़ाकेँ
एतय घीचि आनू। बेचारा आश्रमक हरिणसभक संग स्वतन्त्र
घूमय।

क्रोधी आ अभिमानी सेनाधिकारीक प्रवेश। सेनाधिकारी: धिक्

रे दुष्ट, की कहलह? राजाक सैन्यदल निर्मम आ कठोर अछि;

ओ सभ बालकक सेहो उद्ण्ड वचन सहन नहि करत। शत्रुदलन

कुमार चन्द्रकेतु एहि विख्यात वनक भ्रमण करबाक प्रबल

इच्छासँ एतय पहुँचथि, ताहिसँ पहिने अहाँ सभ जल्दी एहि

वृक्षझुरमुटक बाटँ भागि जाउ।

चतुर्थ अङ्क : कौसल्या आ जनकक भेट

बालकसभः कुमार महोदय, घोड़ाक बात छोड़ू। सैन्यदल शस्त्र

लहरबैत आ अहाँकेँ धमकबैत आबि रहल अछि, आश्रम बहुत

दूर अछि। आउ, जल्दी एतयसँ भागि चली!

लवः (हँसैत) हुनकर शस्त्र लहराबऽ सँ हमरा की? (धनुषपर

प्रत्यज्जा चढ़बैत)

हमर भयङ्कर धनुष जम्हाड़ लेबाक लेल तैयार अछि—

ई शस्त्र नहि, लोभसँ ग्रास निगलैत मृत्यु केर
हँसैत मुख अछि; उन्मत्त, मन्द, मेघगर्जन सन ध्वनि करैत,
जकर तीक्ष्ण अग्र-दाँतकेँ प्रत्यञ्चा-जिह्वा चाटि रहल अछि।
सभ अपन अनुकूल गतिसँ चलैत प्रस्थान करैत छथि।
चतुर्थ अङ्क समाप्त

नेपथ्यमे: हे सैनिकसभ! अन्ततः हमरा सभक सहायता लेल
अतिरिक्त सेना आबि गेल।
तीव्रगामी घोड़ासँ जुड़ल रथपर,
वेगवान सुमन्त्रक हाँकल,
ऊपर फहराइत कोविदार ध्वजसहित—
युद्धक समाचार सुनि चन्द्रकेतु आबि रहल छथि।
सुमन्त्रक हाँकल रथपर, हाथमे धनुष आ विस्मय, आनन्द तथा
आशङ्कासँ भरल चन्द्रकेतुक प्रवेश।
चन्द्रकेतु: देखू सुमन्त्र, देखू।
युद्धक अग्रभागमे कोनो बालवीर अछि,
जे सेनापर बाणक हिमझंझा बरसा रहल अछि;
ओकर पाँच शिखा लहरा रहल अछि,
धनुष निरन्तर टंकार करैत अछि,
आ सुन्दर मुख क्रोधसँ लाल अछि।
ई अद्भुत अछि।
ऋषिसभक पोसल एकटा मात्र बालक,
एतेक सेनासँ घेरायल,
रघुवंशक कोनो नव, अपरिचित अंकुर जकाँ,
भयङ्कर टंकार करैत धनुषसँ
सहस्र अग्निमय बाण छोड़ैत,
युद्ध-हाथीक कनपटी विदीर्ण करैत अछि—
ई दृश्य हमर जिज्ञासा प्रज्वलित कऽ रहल अछि।
सुमन्त्र: कुमार महोदय—अहाँ चिरञ्जीवी होउ—

एहि बालककेँ देखैत—जकर शक्ति एक्कहि संग
देव आ दानव दुनूसँ अधिक, आ रूप सेहो ओहने अछि—
हमरा विश्वामित्रक यज्ञक शत्रु दमन करबाक लेल
धनुष धारण कएने रामक स्मरण भऽ रहल अछि।
चन्द्रकेतु: एतेक लोककेँ एकसरि व्यक्तिपर आक्रमण करैत
देखि हमर हृदय घृणासँ सिहरि उठैत अछि।
ओ बालक अछि आ पूर्णतः एकसरि,
जखन कि विशाल सेना—ताड़क वृक्ष सन विशाल हाथमे
गुँथल शस्त्रजाल, युद्ध-सज्जासँ रोमाञ्चित,
खनखनाइत सोनक घण्टीयुक्त रथपर,
आ मेघ सन युद्ध-हाथीपर, जकर मदधार

झंझावात उठबैत अछि—ओकरा चारू दिस घेरि रहल अछि।

सुमन्त्र: बच्चा, सभ मिलियो कऽ ओकर सामना नहि कऽ सकैत अछि,

एक-एकक तँ प्रश्नहि नहि।

चन्द्रकेतु: शीघ्र करू महोदय, शीघ्र! ओ हमर सेवकसभक सामूहिक

संहार आरम्भ कऽ देलक। कारण—

युद्ध-नगाड़ाक गम्भीर गर्जनसँ बढ़ल धनुष-टंकार,

पर्वत-गुफामे चिंघाड़ैत हाथी-झुण्डसँ अधिक विशाल

कोलाहल उत्पन्न करैत,

वीर धरतीकेँ फड़कैत वीभत्स धड़सभक ढेरीसँ सजबैत अछि,

मानू तृप्त मृत्युक भयङ्कर मुखसँ खसि पड़ल

अन्नक टुकड़ा हो।

सुमन्त्र: (अपना मोने) कुमार चन्द्रकेतु आ एहन अलौकिक

प्राणीक बीच द्वन्द्व होय, ई हम कोना अनुमति दऽ सकैत छी?

(विचार करैत) मुदा अन्ततः हम सभ इक्ष्वाकुवंशक वृद्ध छी।

आ वर्तमान परिस्थितिमे दोसर उपायो की अछि?

चन्द्रकेतु: (विस्मय, लज्जा आ आशङ्कासँ) अहा, हमर सेना

चारू दिस पाछाँ हटि रहल अछि!

सुमन्त्र: (तीव्र रथगतिक अभिनय करैत) बच्चा—अहाँ चिरञ्जीवी

होउ—वीर आब पुकार सुनबाक दूरीपर अछि।

चन्द्रकेतु: (बिसरबाक अभिनय करैत) महोदय, दूतसभ कोन नाम

कहने छल?

सुमन्त्र: लव।

चन्द्रकेतु:

हे लव, अहाँ सन बलशालीक लेल एहन सैनिकक की मूल्य?

हम एतय छी—एकल युद्धमे हमरा सामना करू:

अग्निक सामना अग्निएसँ होएबाक चाही।

सुमन्त्र: देखू कुमार, देखू—

अहाँक चुनौती सुनि बालवीर सेनाक संहार रोकि दैत अछि,

जेना मेघक गर्जन सुनि साहसी सिंहशावक

हाथी-झुण्डक वध रोकि दैत अछि।

तीव्र आ निर्भीक गतिसँ चलैत लवक प्रवेश।

लव: साधु राजकुमार, साधु! अहाँ निश्चय सच्चा ऐक्ष्वाक छी।

देखू हम अहाँक लग घुरि अयलहुँ।

नेपथ्यमे प्रचण्ड कोलाहल।

लवः (अकस्मात् घुमैत) ई की? पहिने पराजित भेल सेनानायकसभ
फेर घेराबन्दी करैत पाछाँसँ आक्रमण करए आबि रहल अछि?
दुष्टसभ!

प्रलय-वायुसँ प्रहारित समुद्रक बाढ़ जकाँ,
कान फोड़निहार भयावह गर्जन करैत,
चरम ज्वार धरि उमड़ैत हुनकर ई प्रवाह
हमर क्रोधक प्रज्वलित होमाग्निक आहार बनय;
ओ क्रोध बड़वानलक मुखक अग्नि सन प्रचण्ड अछि,
जे पर्वतक प्रहारसँ आरो धधकि उठैत अछि।

ओ उत्तेजित भए चलैत अछि।

चन्द्रकेतुः हे कुमार महोदय!

अहाँक वास्तवमे अद्भुत गुण हमरा अत्यन्त प्रिय बनौलक।
आब अहाँ हमर मित्र छी, हमर जे किछु अछि से अहाँक।
तखन अपनहि लोकक संहार किएक? अहाँक गौरवक परीक्षा-पत्थर
ई चन्द्रकेतुए अछि।

लवः (उत्तेजना आ आशङ्कासँ घुमैत) अहा, सूर्यवंशक तेजस्वी

वंशजक वचन कतेक कुशल प्रदर्शन अछि—वीर, मधुर, आ एक्कहि
संग कोमल-कठोर। तखन हम एहि लोकसभक चिन्ता किएक करी?
पहिने हुनकर आदर करी।

नेपथ्यमे एखनो प्रचण्ड कोलाहल।

लवः (क्रोध आ घृणासँ) धिक्, ई कुकुरसभ हमर कतेक अनादर
कऽ रहल अछि—वीरसभक वार्तालाप बीचमे रोकि देलक।
ओ चन्द्रकेतुक दिस चलैत अछि।

चन्द्रकेतुः देखू महोदय, देखू—ई दृश्य देखबाक योग्य अछि:

आत्मविश्वास आ कौतूहलसहित धनुष लहरबैत,
ओ हमर लक्ष्य साधि रहल अछि, जखन कि पाछाँसँ सेना
ओकरा खदेड़ि रहल अछि;
मानू इन्द्रधनुष धारण कएने मेघ,
जे प्रचण्ड पवनसँ विपरीत दिशामे धकेलल जा रहल हो।

सुमन्त्रः ओकरा देखबो—खैर, केवल कुमार महोदय एकर समर्थ
छथि। हम सभ तँ विस्मयसँ अभिभूत छी।

चन्द्रकेतुः हे श्रेष्ठ सैनिकसभ,

अहाँ सभक सेना गिनतीसँ बाहर, आ ओ एकसरि।
अहाँ सभ रथ, हाथी आ घोड़ापर—ओ पैदल।
अहाँ सभ कवचसँ सुरक्षित, ओ तपस्वीक मृगचर्ममे।
अहाँ सभ वयस्क, जखन कि ओकर देहपर
यौवनक प्रथम प्रभा चमकि रहल अछि।

एहन युद्ध लेल शस्त्र उठेनाइ
अहाँ सभ आ हमरा केवल लज्जित करत।

लवः (चकित) ई की, ओ दयासँ द्रवित भऽ गेल?

(विचार करैत) आब समय नहि नष्ट करब; जृम्भक दिव्यास्त्रसँ
सेनाकेँ स्तम्भित कऽ दैत छी। (एकाग्रताक अभिनय करैत)

सुमन्त्रः हमर सेनाक कोलाहल अकस्मात् शान्त किएक भऽ गेल?

लवः अन्ततः ओ धृष्ट व्यक्ति हमरा देखाइ पड़ल।

सुमन्त्रः (आशङ्कासँ) बच्चा, हमरा लगैत अछि कुमार जृम्भकास्त्र
प्रयोग कएने छथि।

चन्द्रकेतुः एहिमे कोनो सन्देह नहि—

अन्धकार आ बिजुरीक भयावह मेल जकाँ,
पहिने अन्ध करैत, फेर चकाचौंध करैत,
ई स्थिर आँखिपर सेहो प्रहार करैत अछि।
हमर सैनिक चित्रमे अङ्कित जकाँ निश्चल छथि;
निश्चय अजेय जृम्भकास्त्रक प्रयोग भेल अछि।

ई चमत्कार अछि—निखालिस चमत्कार!

नरकक गर्भमे संचित अन्धकार सन कृष्ण,
तपल चमकैत पीतल केर लाल प्रभासँ दीप्त,
जृम्भकास्त्र आकाशकेँ तहिना आच्छादित कऽ रहल अछि
जेना कल्पान्तक घोषणा करैत भयङ्कर हुंकारयुक्त पवनसँ
उखड़ल विन्ध्यक शिखर सभ,
जकर गुफा मेघसमूहसँ निकलैत बिजुरीक कारण
भीतरसँ पिङ्गल चमकि रहल हो।

सुमन्त्रः मुदा ओकरा जृम्भकास्त्र कोना प्राप्त भेल?

चन्द्रकेतुः अनुमानतः प्रचेतस-पुत्रसँ।

सुमन्त्रः बच्चा, एहन अस्त्र—विशेषतः जृम्भकास्त्र—एहि
प्रकार नहि प्राप्त होइत अछि। कारण—

ई कृष्णाश्वक सन्तान-सदृश अस्त्रसभ छथि;
हुनकासँ कौशिक के प्राप्त भेल,
जिनका सँ प्रिय रामकेँ प्राप्त भेल,
आ तखनसँ ओ सभ हुनकहि लग निवास करैत अछि।

चन्द्रकेतुः मुदा अन्य लोक सेहो एकर दर्शन कएने छथि—जे
अपन पवित्रतासँ प्रबुद्ध भेल आ स्वतः मन्त्रद्रष्टा बनल।

सुमन्त्रः बच्चा, सावधान रहूँ—अहाँक प्रतिद्वन्द्वी घुरि आयल।

दुनू कुमारः (एक-दोसरक विषयमे) ई युवक कतेक सौम्य देखाइत

अछि। (स्नेह आ प्रेमसँ देखैत)

की ई मनक आकस्मिक मिलन अछि?

ओकर असंख्य गुणक प्रभाव? पूर्वजन्ममे

शीघ्र बनल कोनो पुरान मित्रता?

वा भाग्यसँ नुकायल हमर कोनो सम्बन्धी,

जे ओकर दर्शन मात्रसँ हमर हृदय

एकाग्र मोहमे बान्हल जा रहल अछि?

पञ्चम अङ्क : कुमारक पराक्रमसुमन्त्रः आत्माक ई सामान्य स्वभाव अछि जे कोनो एक व्यक्तिदोसर विशेष व्यक्तिप्रति सहज स्नेह अनुभव करय।

सांसारिकलोक एकरा रूपकमे “नयन मोहित भऽ जाएब” अथवा “प्रथमदर्शनक प्रेम” कहैत अछि। तें शास्त्रमे लिखल अछि जे ई वस्तुवास्तविक अछि, चाहे आधारहीन आ अबूझ किएक नहि प्रतीत हो। कारणरहित अनुरागक प्रतिकारकोनो उपाय नहि अछि। जीवसभकेँ भीतर गहीरमे जोड़निहारस्नेहक कोनो सूक्ष्म सूत्र अवश्य अछि। दुनू कुमारः (एक-दोसरक विषयमे) राजकीय कोमल पट्टिकासँ सुशोभित एहि देहमेहम बाण कोना छोड़ि सकैत छी, जखन भेटिते हमर अङ्ग ओकरा आलिङ्गन करबाक आकाङ्क्षासँ काँपऽ लागल? मुदा एतेक प्रबल शक्तिक सोझाँ शस्त्र छोड़ि दोसर उपायो की अछि? आ फेर, जखन ओ शस्त्रक सामर्थ्यक सीमासँ बहुत परे अछि, तखन शस्त्रक उपयोगे की? खड्ग निकललाक बाद जँ हम युद्धसँ विमुख भऽ जाई, तँ ओ हमरा विषयमे की कहत? वीरमार्गक रस कठोर अछि, आ सहज स्नेहक प्रवाह रोकि दैत अछि। सुमन्त्रः (लवकेँ देखैत; अश्रुपूर्ण, अपना मोने) हे हमर हृदय, अहाँ एना उन्मत्त किएक भऽ रहल छी?

हमर आशाक एकमात्र बीज भाग्य छीनि लेलक।

लता कटि गेलापर कोनो नव अंकुर कोना फूटत?

चन्द्रकेतु: सुमन्त्र, हम रथसँ उतरए चाहैत छी।

सुमन्त्र: किएक?

चन्द्रकेतु: पहिल बात, वीरक सम्मान करबाक ई उचित रीति अछि।

दोसर, जेना अहाँ जनैत छी, ई क्षत्रिय-परम्पराक पालन अछि।

शास्त्रज्ञक व्याख्यानुसार रथारूढ़ व्यक्तिकें पैदल व्यक्तिसँ

कखनो युद्ध नहि करबाक चाही।

सुमन्त्र: (अपना मोने) हम भयंकर दुविधामे पड़ल छी।

हम सन व्यक्ति उचित कार्यसँ हुनका कोना रोकू,

वा एहन कर्मक अनुमति कोना दी,

जकर रस निखालिस दुस्साहस अछि?

चन्द्रकेतु: हमर पूज्य पिता धर्म वा राज्यनीतिक प्रत्येक प्रश्न

अहाँसँ पूछैत छथि—अपन पिताक प्रिय मित्रसँ। तखन अहाँक

ई हिचकिचाहट किएक?

सुमन्त्र: बच्चा—अहाँ चिरञ्जीवी होउ—अहाँक विचार धर्मानुकूल

अछि।

युद्धमे ई उचित आचरण, धर्मक सनातन मार्ग,

आ रघुवंशक सिंहसभ द्वारा अपनाओल वीरक पथ अछि।

चन्द्रकेतु: अहाँक वचन अनुपम अछि।

इतिहास आ पुराण, धर्मोपदेश,

रघुवंशक कुलाचार—ई सभ केवल

अहाँकें ज्ञात अछि।

सुमन्त्र: (स्नेहाश्रुसहित आलिङ्गन करैत)

हे प्रिय बच्चा, अहाँक प्रिय पिता,

इन्द्रजितक विजेता जन्मलाह,

तकर एखन कतेक दिन बीतल होयत?

आ एतय हुनकर अपन पुत्र वीरमार्गपर चलि रहल छथि।

दशरथक वंशक सौभाग्य कतेक पूर्णता पओलक!

चन्द्रकेतु: (विषादसँ)

जखन धरि रघुवंशक ज्येष्ठ अपूर्ण छथि,

हमर वंश पूर्णता कोना पाबि सकैत अछि?

एही एक विचारसँ हमर पिता आ

हमर अन्य तीन पिता शोकमे जरैत छथि।

सुमन्त्रः अहा, चन्द्रकेतुक वचन हमर हृदयक कोमल मर्मकें
विदीर्ण कऽ रहल अछि।

लवः सच कहू तँ एतय रसक विकास पूर्णतः उलझि गेल अछि।

चन्द्रमा उदित होइतहि रातिमे खिलनिहार कमल प्रसन्न होइत अछि,
आ हुनका देखिते हमर आँखि सेहो आनन्दित होइत अछि;
मुदा हमर बाँहि—भयावह घाव खुलल,
भारी धनुष आ ओकर निर्दय, प्रचण्ड टंकार करैत
प्रत्यञ्चाप्रति प्रेमसँ धड़कैत—युद्धक लेल आतुर अछि।

चन्द्रकेतुः (रथसँ उतरबाक अभिनय करैत)

महोदय, सूर्यवंशी चन्द्रकेतु अहाँकें प्रणाम करैत अछि।

सुमन्त्रः

ककुत्स्थ सन अदम्य, निर्मल आ प्रभावशाली

ऐश्वर्य अहाँकें प्राप्त हो;
सनातन देव वराह अहाँक चिरकल्याण करथि।

आ आरो—

अहाँक वंशपिता सूर्य युद्धमे अहाँकें प्रेरित करथि।

अहाँक गुरुसभक गुरु आ अहाँक सेहो गुरु
मैत्रावरुण अहाँसँ प्रसन्न होथि।
अहाँकें इन्द्र, विष्णु, अग्नि, मरुद्गण आ सुपर्ण केर बल भेटय।
राम आ लक्ष्मणक धनुष-प्रत्यञ्चाक प्रचण्ड मन्त्रध्वनि
अहाँकें सफलता प्रदान करय।

लवः कुमार महोदय, रथपर अहाँ अत्यन्त शोभायमान छी। एतेक
विनय प्रदर्शनक कोनो आवश्यकता नहि।

चन्द्रकेतुः तखन सौभाग्यशाली कुमार सेहो अपन रथकें
सुशोभित करथि।

लवः महोदय, राजकुमारकें फेर रथपर चढ़ाउ।

पञ्चम अङ्क : कुमारक पराक्रमसुमन्त्रः तखन अहाँ सेहो कुमार चन्द्रकेतुक अनुरोध स्वीकार करू। लवः अपन उपकरण हो तँ ओकर प्रयोगमे के
हिचकिचायत? मुदाहम वनवासीसभ रथ चलाबऽमे अभ्यस्त नहि छी। सुमन्त्रः बच्चा, अहाँ स्वाभिमान आ उदारता—दुनूक दाबीमोन राखैत छी। जँ ऐश्वर्यक
राजा राम अहाँक ई आचरण देखितथि, तँ हुनकर हृदय स्नेहसँ उमड़ि पड़ितनि। लवः हमरा बुझाइट अछि ओ राजर्षि स्वयं वास्तवमे अत्यन्त उदार छथि—
कम-सँ-कम एना सुनल अछि। (किछु लज्जित) हम सामान्यतः एहन अनुष्ठानक विरोध नहि करैत छी, आ राजाक असंख्य गुणक आदर संसारमे के नहि
करत? तइयो, घोड़ाक रक्षकसभक चुनौती—समस्त क्षत्रियकें देल उकसाहट—क कारण हमरामे ई परिवर्तन आयल। चन्द्रकेतुः (मुस्करैत) की अहाँ हमर
पिता केर अपारशक्तिक वैभवसँ सेहो क्षुब्ध छी? लवः हम छी वा नहि, एकर महत्त्व नहि; बस ई पूछैत छी—हमसुनने छी जे राघव संयमी पुरुष छथि; कहल

जाइत अछि जे नेओ स्वयं अभिमानी छथि, ने हुनकर प्रजामे अहङ्कार अछि। तखनहुनकर लोक राक्षसक योग्य वचन किएक बजैत अछि?

ऋषिसभ कहैत छथि, “राक्षसी वचन” से अछि

जे केवल उन्मत्त वा अभिमानीक योग्य हो।

“ई समस्त वैरक मूल, संसारक साक्षात् अभिशाप अछि,”

एना लोक ओकर निन्दा कएने छथि। एकर विपरीत वचनक

ओ सभ प्रशंसा करैत छथि—

मनीषी कहैत छथि, शुभ वचन साक्षात् कामधेनु अछि;

ओ इच्छित सभ किछु दुहि दैत अछि, अभाव दूर करैत अछि,

यश जन्मबैत अछि आ समस्त दुष्कर्म मेटा दैत अछि।

ओ परम समृद्धिक साक्षात् जननी अछि।

सुमन्त्रः वाल्मीकिक ई तरुण शिष्य कतेक सरल-स्वभावक अछि;

ओकर प्रत्येक वचन ऋषिस्वभावसँ ओतप्रोत अछि।

लवः चन्द्रकेतु, अहाँ एखन जे कहलहुँ—“की अहाँ हमर पिताक

शक्तिक वैभवसँ सेहो क्षुब्ध छी?”—ताहि विषयमे हम एतबे

पूछैत छीः की क्षत्रियधर्मक प्रयोग सीमित अछि?

सुमन्त्रः अहाँ ऐक्ष्वाक प्रभुकेँ कनेको नहि चिन्हैत छी। कृपा कऽ ई हठ आब छोड़ू।

सैनिकसभक संहार कऽ अहाँ निश्चय अपन शक्ति देखौने छी,

मुदा जामदग्न्य केर विजेतासँ प्रतिस्पर्धा नहि करब नीक।

लवः (हँसैत) महोदय, राजा जामदग्न्यकेँ पराजित कएलनि—ई
बात ढिंढोरा पीटि कऽ किएक कहैत छी?

ई स्थापित सत्य अछि जे ब्राह्मणक शक्ति वाणीमे होइत अछि,
जखन कि क्षत्रियक शक्ति ओकर भुजामे।
जामदग्न्य ब्राह्मण छलाह जे तलवार उठा लेलनि—
एहन व्यक्तिकेँ हरौलासँ राजाकेँ कोन गौरव भेटैत अछि?

चन्द्रकेतुः (किछु व्याकुल) महोदय, ई वाक्-विवाद आब बस।

ई व्यक्ति आदिपुरुषक कोनो नव अवतार अवश्य अछि,
जँ भृगुपुत्र सेहो ओकर दृष्टिमे प्रतिद्वन्द्वी नहि,
आ जँ ओ ई स्वीकार नहि करैत अछि जे पिता रामक पुण्यकर्म
सातो लोकक सुरक्षा सुनिश्चित कऽ सकैत छल।

लवः रामक कर्म आ महानताकेँ के नहि स्वीकारैत अछि?
मुदा आलोचनाक अवकाश सेहो अछि... खैर, आब बस।

ओ वृद्ध छथि; हुनकर कर्मपर फेर विचार करबाक आवश्यकता नहि—
छोड़ू, आब फेर किएक ओकर चर्चा करी?
सुन्दक पत्नीकेँ मारलासँ सेहो हुनकर यश कलङ्कित नहि भेल—
संसारक दृष्टिमे ओ एखनो महान छथि।
आ खरक संग युद्धमे ओ जे तीन डेग पाछाँ हटने छलाह,
वा इन्द्रपुत्रक वधमे जे कौशल देखौने छलाह...
लोक एहि सभ बातसँ पूर्ण परिचित अछि।

चन्द्रकेतुः नहि, आब पिता रामक निन्दा कऽ अहाँ सीमा लाँघि
गेलहुँ; अहाँक दुस्साहस अत्यधिक बढ़ि गेल।

लवः की, अहाँ हमरा मुँह बिचका रहल छी?

सुमन्त्रः हम देखि रहल छी जे हुनकर क्रोध भड़कि रहल अछि;
एक-दोसरक अभिप्राय बुझिते ओ सभ एतेक काँपऽ लगैत छथि
जे हुनकर शिखा खुलि जाइत अछि;
स्वभावतः गुलाबी कमलक पाँखुरि सन हुनकर आँखि
स्वतः रक्तवर्ण भऽ जाइत अछि;
आ अचानक उन्मत्त नृत्य आरम्भ करैत भौहक वक्रता
हुनकर मुखकेँ पूर्णिमाक चन्द्रमाक काल दाग,
वा खिलल श्वेत कमलपर मँडराइत कारी भौरा सन बना दैत अछि।

दुनू कुमारः चलू, युद्ध लेल कोनो अधिक उपयुक्त स्थान खोजी!

सभक प्रस्थान।

पञ्चम अङ्क समाप्त

आकाशचारी रथपर एक विद्याधर दम्पतिक दृश्य।

विद्याधर: अहा, सूर्यवंशक एहि दुनू कुमारक पराक्रम देखू

जे अकस्मात् आरम्भ भेल युद्धमे प्रचण्डतासँ भिड़ल छथि!

क्षत्रिय-शक्तिक सौन्दर्य नव दीप्ति पओलक अछि, आ देव-दानव
स्वयं विस्मयसँ निःशब्द छथि। देखू ने प्रिये—

ओ सभ सोनक घण्टीक झनकारयुक्त धनुष मोड़ैत छथि,
भारी प्रत्यज्वाक छोरपर प्रचण्ड टंकारसँ भयावह कोलाहल

उठबैत छथि; शिखा निरन्तर झूलैत अछि,

बाणक वर्षा होइत अछि, आ नाटकीय तीव्रतासँ बढ़ैत युद्ध

समस्त संसारकें भयभीत कऽ रहल अछि।

दुनूक कल्याण लेल स्वर्गक दुन्दुभि

मेघ सन गम्भीर गर्जना करैत अछि।

तखन एहि दुनू सिद्धवीरपर निरन्तर पुष्पवृष्टि हो—खिलल स्वर्णकमलसँ

लदल, सघन समूहमे, अमर देवक वृक्षक कोमल रत्न-सदृश कलिकासँ
रस टपकबैत।

विद्याधरी: मुदा अकस्मात् आकाश एतेक पिङ्गल किएक भऽ गेल,

आ भयङ्कर बिजुरीक चमक अचानक ताण्डव किएक आरम्भ कऽ देलक?

विद्याधर: सचमुच आब की भऽ रहल अछि?

की कृष्ण-लोहित देवक तेसर आँखि पूर्णतः खुलि गेल,

आ त्वष्टाक खरादपर घुमैत सूर्यक प्रकाश सन धधकि उठल?

(विचार करैत) अहा, बुझलहुँ। कुमार चन्द्रकेतु आग्नेयास्त्र

छोड़ने छथि; ओकर ज्बला चारू दिस पसरि रहल अछि। एखन—

अन्य समस्त दिव्य रथ भागि गेल अछि,

हुनकर याक-पुच्छ ध्वज झुलसि इन्द्रधनुषी भऽ गेल;

हमर ध्वजक पताकापर ज्बला ओकरा क्षणभर लेल

केसरियासँ रङल जकाँ बना रहल अछि।

चमत्कार! अग्निदेव प्रकट भेल छथि; हुनकासँ निकलैत चिनगी

बिजुरीक कड़क सन फटि रहल अछि—ज्बला कतेक भयङ्कर रूपेँ

उछलि-उछलि चाटि रहल अछि! चारू दिस फैलैत ताप असह्य अछि।

अपन देहसँ प्रियाकें ढाँकि सुरक्षित दूरीपर जाएब उचित होयत।

(एना करैत अछि)

विद्याधरी: अहा, पतिक देहक स्पर्शसँ ताप रुकि गेल—शुद्धतम

मोती सन शीतल आ चिक्कन, एतेक कोमल आ परिपूर्ण जे आनन्दमे

हमर आँखि उलटि मुनि जा रहल अछि।

विद्याधर: अरे, हम ई की कऽ देलहुँ? मुदा फेर—

व्यक्तिकेँ किछु करबो नहि पड़ैत;
संग रहबाक मात्र आनन्द दुःख दूर कऽ दैत अछि।
प्रेम करनिहार व्यक्ति पाबि लेब कतेक महान् वरदान अछि!

विद्याधरी: आकाश अकस्मात् मेघसँ किएक अन्हार भऽ गेल—
तरल, घुमड़ैत समूह, चमकैत बिजुरीसँ अलङ्कृत,
उन्मत्त मयूरक कण्ठ सन कृष्ण?

विद्याधर: ई कुमार लव द्वारा छोड़ल वारुणास्त्र केर प्रभाव
अवश्य अछि। ई की? सहस्र-सहस्र उमड़ैत मेघ आग्नेयास्त्रकेँ
बुझा देलक।

विद्याधरी: अहा, हमरा कतेक प्रिय लगैत अछि!

विद्याधर: मुदा हाय, प्रत्येक अति संकट जन्मबैत अछि। आब
संसार ठण्डसँ काँपि रहल अछि; प्रलय-वायुसदृश गर्जन करैत
मेघसँ गाढ़ भेल घोर अन्धकारमे घेरायल—मानू समस्त ब्रह्माण्डकेँ
एक्कहि बेर निगलबाक लेल भयावह रूपेँ मुँह फाड़ने कालक
गुफासदृश मुखमे छटपटा रहल हो; वा कल्पान्तक योगनिद्रामे
समस्त इन्द्रिय-द्वार बन्द कएने नारायण केर उदरमे प्रवेश
कऽ गेल हो। साधु कुमार चन्द्रकेतु, साधु! आब वायव्यास्त्र
छोड़बाक ठीक समय अछि—ओ निश्चय छोड़ने छथि, कारण—
पवन उमड़ैत मेघकेँ तहिना छिन्न कऽ देलक,
जेना ज्ञान भ्रान्तिकेँ ब्रह्ममे विलीन कऽ दैत अछि।

विद्याधरी: हे स्वामी, ई के छथि जे भयभीत भए दुनू कुमारक
बीच अपन दिव्य रथ उतारि रहल छथि, उठाओल हाथसँ वस्त्रक
छोर लहरा रहल छथि, आ दूरसँ कोमल वचन कहि युद्ध रोकबाक
अत्यन्त प्रयास कऽ रहल छथि?

विद्याधर: (देखैत) ई शम्बूक-वध कऽ घुरैत रघुवंशक प्रभु छथि।
महापुरुषक वचन सुनि दुनू हुनकर आदरसँ युद्ध रोकि दैत छथि।
लव मौन भए जाइत अछि, आ चन्द्रकेतु गहीर प्रणाम करैत छथि।
राजाक अपन पुत्रसभसँ एहि भेटक फल शुभ हो।

एखन चलू।

दुनूक प्रस्थान।

प्रवेशक समाप्त

दृश्य आरम्भमे राम, लव आ प्रणत चन्द्रकेतु।

रामः (पुष्पकसँ उतरैत)

सूर्यवंशक चन्द्रमा चन्द्रकेतु,
तुरन्त हमरा लग आउ आ कसि कऽ आलिङ्गन करू।
अहाँक अङ्ग हिमखण्ड सन शीतल अछि,
हम सन हृदयक दाहो शान्त करबाक समर्थ।

(हुनका उठबैत आ स्नेहाश्रुसहित आलिङ्गन करैत) अहाँ कुशल

छी ने? आ अहाँक देहमे स्थित दिव्यास्त्रसभ सेहो कुशल अछि?

चन्द्रकेतुः लव—एहि सुन्दर, अद्भुतकर्मा कुमार—सँ भेटक

सौभाग्यक कारण सभ कुशल अछि। हमर विनती अछि जे पिता
एहि परम श्रेष्ठ महावीरपर ओहने स्नेह-दृष्टि राखथि जेना
हमरापर—बल्कि ताहूसँ बेसी।

रामः (लवकेँ देखैत) हमर बच्चाकेँ नव मित्र भेटल—ई कतेक

सौभाग्यक बात! ओकर व्यक्तित्व एकहि संग अगम्य आ
कल्याणमय अछि।

मानू लोक-रक्षा लेल अस्त्रविद्या देह धारण कऽ लेने हो;
मानू ब्रह्मकोषक रक्षा लेल क्षत्रियधर्म मूर्तिमान भेल हो;
मानू समस्त सामर्थ्य पूर्ण पुष्पित,
समस्त गुण एकत्रित,
आ समस्त संसारक पुण्य संचित भए
पूर्णतः प्रकट रूपमे उपस्थित हो।

लवः (अपना मोने) अहा, कतेक महान् पुरुष—रूपमे साक्षात्

निर्मल तेज!

विश्वास, स्नेह आ भक्तिक एकमात्र महान् आश्रय,
परम धर्मक सौम्यता देह धारण कएने।

ई चमत्कार अछि—

वैर समाप्त भऽ गेल, आनन्दपूर्ण रस उमड़ि रहल अछि;

हमर उद्दण्डता कतय विलीन भऽ गेल,
आ विनय हमरा अभिभूत कऽ रहल अछि;
हुनका देखिते हम हुनकर वशमे भऽ गेलहुँ—किएक?
मुदा तीर्थ जकाँ महापुरुषसभमे कोनो
अत्यन्त मूल्यवान् प्रभाव होइत अछि।

रामः ई अचानक हमर दुःखकेँ विश्राम कोना दऽ रहल अछि,

आ कोन कारणसँ हमर अन्तःकरणमे स्नेह जगा रहल अछि?
मुदा स्नेहक लेल कारण आवश्यक अछि—एना कहब स्वयं विरोधाभास
अछि।

पारस्परिक आकर्षणक कोनो आन्तरिक कारण होइत अछि;
प्रेमभाव कनेको बाह्य कारणपर निर्भर नहि करैत अछि।
सूर्योदयमे श्वेत कमल किएक खिलैत अछि,
वा चन्द्रोदयमे चन्द्रकान्त मणि किएक रस छोड़ैत अछि?

लवः चन्द्रकेतु, ई के छथि?

चन्द्रकेतुः प्रिय मित्र, ई हमर पूज्य पिता छथि।

लवः तखन न्यायतः ई हमर सेहो पिता भेलाह, कारण अहाँ हमरा
प्रिय मित्र कहलहुँ। मुदा ‘रामायण’मे चारि पुरुषकेँ अहाँ
एहि सम्बोधनसँ पुकारैत छी। कहू, ई हुनका सभमे सँ के छथि?

चन्द्रकेतुः ई हमर ज्येष्ठ पिता छथि।

लवः (आनन्दसँ) अर्थात् ई रघुवंशक प्रभु छथि! आइक दिन
प्रभुक दर्शन कराबऽ लेल उदित भेल—कतेक सौभाग्य! (विनय
आ जिज्ञासासँ देखैत) पिता, प्रचेतस-पुत्रक शिष्य लव अहाँकेँ
प्रणाम करैत अछि।

रामः बच्चा—चिरञ्जीवी होउ—हमरा लग आउ। (स्नेहसँ आलिङ्गन
करैत) बस, बस, ई औपचारिकता छोड़ू। फेर-फेर हमरा कसि कऽ
आलिङ्गन करू।
अहाँक स्पर्श कठोर परिपक्व कमलक भीतरी पात सन
कोमल, चिक्कन, मुदा दृढ़ अछि;
आ चन्दनसार वा चन्द्रकिरण सन शीतल,
जे प्राणकेँ ताजगी दैत अछि।

लवः (अपना मोने) हुनकर हमरा प्रति एहन स्वतःस्फूर्त स्नेह,
आ हम अज्ञानमे हुनकहि संग एतेक अपराध कऽ बैसलहुँ—शस्त्र
उठा आक्रमण धरि कऽ देलहुँ। (प्रकट) पूज्य पिता आइ लवक
बालसुलभ अपराध क्षमा करथि।

रामः हमर बच्चा कोन अपराध कएने अछि?

चन्द्रकेतुः अश्वरक्षकसभक मुँहसँ पिताक शक्ति-प्रदर्शनक चर्चा
सुनि ई वीरता देखाबऽ लेल आतुर भऽ गेल।

रामः मुदा ई तँ क्षत्रियक भूषण अछि।

महाबली पुरुष दोसरक शक्ति-प्रदर्शन सहन नहि कऽ सकैत;
ई ओकर स्वाभाविक प्रकृति अछि, बनावटी नहि।

जँ दिन बनौनिहार सूर्य अपन किरणसँ सूर्यकान्त मणिकें
निरन्तर तपबैत अछि, तँ की ओ अपमानित जकाँ अग्नि नहि उगलत?

चन्द्रकेतु: हुनकर रोषो अद्भुत अछि। पिता देखथि—हमर प्रिय
मित्र ई वीर जृम्भकास्त्र छोड़ि सैनिकसभकें पूर्णतः स्तम्भित
कऽ देलक।

राम: (देखैत) बच्चा लव, अस्त्रकें घुरा लिअ। आ चन्द्रकेतु,
अहाँ सेहो जाउ, अशक्त आ विनीत भेल सैनिकसभकें शान्त करू।
लव ध्यानक अभिनय करैत अछि।
चन्द्रकेतु: जेना आज्ञा। (प्रस्थान)
लव: अस्त्र शान्त कऽ देल गेल।

राम: बच्चा, एहि अस्त्रसभक प्रयोग आ संहार, हुनकर गुप्त
मन्त्रसहित, परम्परासँ देल जाइत अछि—

ब्रह्मा आ अन्य देवगण वैदिक जीवन-पद्धतिक कल्याण लेल
सहस्र वर्ष आ ताहूसँ अधिक तपस्या कएलनि;
तखन ओ प्राचीन गुरु सभ जे देखबा योग्य भेलाह,
सैह ई अस्त्रसभ छल—हुनकर अपन तपःशक्तिक मूर्तरूप।

तदनन्तर कृष्णाश्व अपन लग सहस्र वर्ष आ ताहूसँ अधिक काल
रहल शिष्य, कुशवंशी विश्वामित्रकें एहि अस्त्रसभक मन्त्रक
सम्पूर्ण गूढ़ विद्या प्रदान कएलनि। ओ भगवाने हमरा प्रदान
कएलनि। ई पूर्व परम्परा छल। पूछि सकैत छी—कुमार महोदय
धरि ई परम्परा कोना पहुँचल?

लव: अस्त्रसभ स्वतः हमरा दुनूक सोझाँ प्रकट भेल।

राम: (विचार करैत) ई सम्भव किएक नहि हो? पूर्वजन्मक असाधारण
पुण्यक परिपाकसँ एहन कोनो सामर्थ्य उत्पन्न भए सकैत अछि...
मुदा अहाँ द्विवचनक प्रयोग किएक कएलहुँ?

लव: हम दुनू भाइ छी—जुड़वाँ।

राम: तखन दोसर कतय छथि?

नेपथ्यमे: भाण्डायन! भाण्डायन!

प्रिय मित्र, की अहाँ कहैत छी जे राजाक सैनिकसभ
लव—ओ चिरञ्जीवी होथि—पर एतेक निर्मम आक्रमण कएने अछि?

तखन 'राजा' नामक सूर्यसदृश पदवी संसारसँ अस्त भऽ जाएत,
आ क्षत्रियास्त्रक अग्नि शीघ्र बुझि जाएत।

रामः

आब ई के अछि, जकर वर्ण नीलमणि सन साँवर,
आ जकर स्वर सुनि हमर देहमे तहिना रोमाञ्च उठैत अछि
जेना नव कारी मेघक मन्द गर्जन आरम्भ होइतहि
कदम्बमे कली फूटि उठैत अछि?

लवः ई हमर जेठ भाइ कुश छथि, भरतक आश्रमसँ घुरि रहल
छथि।

रामः (कौतूहलसँ) बच्चा, अपन भाइकेँ—ओ चिरञ्जीवी होथि—
बजाउ।

लवः अवश्य।

ओ चलैत अछि।

कुशक प्रवेश।

कुशः (क्रोध, जिज्ञासा, उत्सुकता आ दृढ़तासँ धनुष टंकारैत)

षष्ठ अङ्क : कुमारसभक अभिज्ञानविवस्वान्-पुत्र मनुक कालसँ ई सूर्यवंशीस्वयं इन्द्रकेँ अभयदान दैत अयलाह, आ अभिमानीकेँ जराबऽ लेल अपन
क्षत्रियशक्तिकप्रचण्ड अग्नि प्रज्वलित करैत रहलाह। जँ आइ हमरा एहि सूर्यवंशक राजासँ युद्धक अवसर भेटय, तँ हमर धनुष कतेक धन्य होयत—जकर
प्रत्यज्वा हमर चमकैत दिव्यास्त्रकभयङ्कर ज्वालामे अभिषिक्त होयत।

ओ लम्बा डेग भरैत चलैत अछि।

रामः एहि क्षत्रिय बालकमे कतेक विलक्षण पुरुषार्थ अछि!

ओकर दृष्टि कहैत अछि जे ब्रह्माण्डक कोनो प्राणीक

ओ तिनका भरियो परवाह नहि करैत;

प्रचण्ड वेगसँ चलैत आ धरतीकेँ स्वयं नमा दैत अछि।

एखनो तरुण होइतो ओकर भीतर पर्वत सन गम्भीर भार अछि।

ई वीररस लग आबि रहल अछि,

वा साक्षात् दर्प देह धारण कएने?

लवः (लग अबैत) हमर जेठ भाइक जय हो।

कुशः बच्चा—चिरञ्जीवी होउ—ई युद्धक समाचार की अछि?

लवः किछु नहि। भाइ, एहि पुरुषक सोझाँ अपन अभिमान निगलि
विनयपूर्ण आचरण करू।

कुशः किएक?

लवः ओतय ठाढ़ पुरुष स्वयं रघुपति छथि। ओ हमरा दुनूपर
स्नेह रखैत छथि आ अहाँकें अपन सोझाँ देखबाक लेल उत्सुक
छथि।

कुशः (विचारपूर्वक) की ई ‘रामायण’ कथाक नायक आ ब्रह्मकोषक
रक्षक नहि छथि?

लवः निश्चय सैह।

कुशः ओ महापुरुष छथि; हुनकर दर्शन पवित्र आ श्रद्धापूर्वक
वाञ्छनीय अछि। मुदा हम बुझि नहि पाबि रहल छी जे हुनकर
लग कोना जाई।

लवः जेना माता-पिताक लग जाओल जाइत अछि।

कुशः संसारमे एना किएक होयबाक चाही?

लवः उर्मिला-पुत्र चन्द्रकेतु अत्यन्त उदार व्यक्ति छथि; ओ हमरा
मित्र मानि ‘प्रिय सखा’ कहैत छथि। हुनकासँ एहि सम्बन्धक कारण
एतय उपस्थित राजर्षि हमरा सभक धर्मतः पिता भऽ गेल छथि।

कुशः तखन राजपुरुष होइतो हुनका प्रणाम कएलापर हमरा सभपर
कोनो दोष नहि लागत।

दुनू चलैत छथि।

लवः भाइ, महापुरुषक दर्शन करू। हुनकर समस्त अलौकिक कर्मक
वैभव हुनकर गम्भीर आ तेजस्वी आचरणमे पढ़ल जा सकैत अछि।

कुशः (देखैत)

अहा, हुनकर देह शान्ति निःश्वसित करैत अछि,
हुनकर तेज पवित्र करनिहार अछि।

‘रामायण’क कवि देवी वाणीकें

रूपान्तरित कएलनि—ई कतेक उचित अछि!

(लग अबैत) पिता, प्रचेतस-पुत्रक शिष्य कुश अहाँकें
प्रणाम करैत अछि।

रामः हमरा लग आउ, अवश्य आउ—चिरञ्जीवी होउ।

अहाँक देह अमृतजलसँ भरल मेघ सन कोमल अछि,
आ ई व्यक्ति पितृस्नेहसँ अहाँकेँ आलिङ्गन करबाक
आकाङ्क्षा रखैत अछि।

(आलिङ्गन करैत; अपना मोने) मुदा ई बालक—

मानू स्नेहक कारण हमर देहक सार

अङ्ग-अङ्गसँ बहि कऽ बाहर ठाढ़ हो;
मानू हमर चेतना, मूल तत्त्व,
हमरासँ बाहर मूर्त रूपमे प्रकट हो—
आनन्दक एहि गहन भावसँ काँपल हमर हृदयक प्रवाहमे
ओ किएक भीजि रहल अछि,
आ जखन हम ओकर अङ्गकेँ आलिङ्गन करैत छी,
तखन अमृतमय रसक सच्चा बाढ़सँ हमरा फेर किएक भिजा दैत अछि?

लवः पिता, धूप हमर कपार जरा रहल अछि। की पिता एतय शालवृक्षक
छाहरिमे क्षणभर बैसि सकैत छथि?

रामः हमर बच्चाक जे इच्छा।

चलैत सभ उचित क्रममे बैसैत छथि।

रामः (अपना मोने)

अहा, विनयशील होइतो हुनकर चलब,
ठाढ़ होयब आ बैसबक ढङ्ग
संकेत करैत अछि जे कुश आ लव दुनू
भविष्यक सम्राट छथि।
देहमे निहित राजकीय गरिमा
प्रत्येक अङ्गक मनोहर सौन्दर्य बढबैत अछि,
जेना किरण निष्कलङ्क चन्द्रमाकेँ,
वा रसबिन्दु पूर्ण विकसित कमलकेँ।

आ आरो संकेत देखैत छी जे ई दुनू रघुवंशक कुमार छथि—

पूर्णवयस्क कपोतक कण्ठ सन श्यामल देह,
वृषभक काँध सन ढलुआ काँध,
विश्रामरत सिंह सन स्थिर दृष्टि,
उत्सवक नगाड़ा सन गम्भीर आ समृद्ध स्वर।

(ध्यानसँ देखैत) केवल हमर कुलक रूप नहि,

दुनू कुमारक प्रत्येक अङ्ग स्पष्टतः
जनकक पुत्रीसँ सेहो मिलैत अछि—सूक्ष्म निरीक्षणसँ
एकर अनुमान सहज अछि।

मानू हमर प्रियाक मुख फेर दृष्टिगोचर भऽ गेल,
नवीनतम कमल सन सुन्दर।

निर्दोष श्वेत दाँतक चमकसँ सुन्दर ओही मुख,
ओही मनोहर कान;

आ आँखि लाल-कृष्ण होइतो
ओही सुन्दर स्वभावक छाप।

(विचार करैत) ई सैह वन अछि, जतय प्रचेतस-पुत्र निवास करैत

छथि, आ जतय महारानीकेँ छोड़ल गेल छल—एना सुनने छी। फेर
हुनकर रूप, आयु आ तेज। हमरा ई बात सेहो चकित करैत अछि
जे दिव्यास्त्र स्वयं प्रकट भेल—की चित्रदर्शनक अवसरपर
अस्त्रसभकेँ देल हमर आदेश फलित भेल? कारण सुनने छी जे
प्राचीन महापुरुष धरि परम्परागत दीक्षाक बिना अस्त्र प्राप्त
नहि कऽ सकैत छलाह। फेर हमर हृदयमे एक्कहि संग उमड़ैत
ई असीम आनन्द आ दुःख हमर डगमग आत्माकेँ विश्वास दैत अछि।
आ सभसँ बढ़ि कऽ, हमरा ज्ञात छल जे महारानीक गर्भमे जुड़वाँ
छल। (अश्रुपूर्ण)

बहुत पहिने जखन परिचय खिलल आ हमर स्नेह
बढ़ि दृढ़ होमऽ लागल,
आ ओ एकान्तमे अधिक निश्चिन्त भेलीह,
यद्यपि सहज लज्जासँ दृष्टि संयत रहैत छलनि,
तखन हथेलीसँ स्पर्श करबाक विधिसँ
गर्भक गाँठि दू अछि—ई सभसँ पहिने हमे बुझलहुँ,
ओ स्वयं किछु दिनक बाद जानलनि।

(कनैत) की कोनो प्रकारेँ हुनका सभसँ पूछी?

लवः पिता, की भेल?

ई अश्रुवृष्टि अहाँक मुखकेँ—
जे संसारक कल्याणक स्रोत अछि—
प्रातःकालीन ओससँ भीजल
कुमुदिनी सन बना देलक।

कुशः अरे बच्चा,

महारानी सीताक बिना रघुपतिक लेल
कोन वस्तु दुःखक स्रोत नहि?
कहल जाइत अछि जे प्रियाक वियोगमे
समस्त संसार वन भऽ जाइत अछि।
हुनकर स्नेह एहन छल,
आ ई वियोग अनन्त...
'रामायण'सँ अनभिज्ञ जकाँ
अहाँ एहन प्रश्न कोना पूछैत छी?

रामः (अपना मोने) हाय, ई बोलबाक ढङ्ग देखबैत अछि जे ई सभ

केवल बाहरी दर्शक छथि। तखन नहि पूछब। हे मूर्ख हृदय,
अचानक अहाँमे ई उन्मत्त परिवर्तन किएक? हम अपन हृदयक
आघात एतेक प्रकट कऽ दैत छी जे बालक धरि हमरा पर दया करय।
खैर, विषय बदलनाइ उचित होयत। (प्रकट) बच्चा सभ, भगवान्
वाल्मीकिक माध्यमसँ देवी वाणी सरस्वतीक पवित्र प्रवाह रूपमे
एक 'रामायण'क चर्चा सुनल अछि—सूर्यवंशक स्तुति। ओकर किछु
अंश सुनबाक हमरा बहुत जिज्ञासा अछि।

कुशः हम सभ सम्पूर्ण रचनाक अभ्यास कएने छी। एखनहि 'बालकाण्ड'क
अन्तिम अध्याय सँ दू श्लोक मोन पड़ि रहल अछि।

रामः सुनाउ बच्चा।

कुशः

महान् रामकँ सीता स्वभावतः प्रिय छलीह,
मुदा अपन समस्त गुणसँ ओ स्नेह आरो बढ़ा देलनि।

ओहिना राम सीताकँ प्राणसँ अधिक प्रिय छलाह।
दुनूक हृदय अपन पारस्परिक स्नेहक सीमा
भलीभाँति जनैत छल।

रामः कतेक भयावह! हमर हृदयक कोमल मर्मपर एकटा आरो
निर्मम प्रहार। हे महारानी, वास्तवमे ठीक एहने छल। हाय
जीवनक व्यवहार—असङ्गत, उलट-पुलट घटना, रसहीन, विफल
प्रेममे समाप्त होइत, केवल दग्ध पीड़ा देनिहार!

ओहन आनन्द फेर कतय भेटत,
आ ओकरा बढौनिहार ओ पूर्ण विश्वास;
एक-दोसरक लेल ओ चिन्ता,
आश्चर्यक ओ गहींर बहैत रस;
दुःख आ आनन्द दुनूमे
दू हृदयक ओ एकरूपता?
तइयो हमर ई पापी प्राणवायु
अटकल अछि, जाइ नहि रहल।

अहा, कतेक भयावह!

ओ सभ हमरा ओहि एकमात्र अत्यन्त पीड़ादायक समयक
स्मरण करा देलक,
जखन एक्कहि संग हमर प्रियाक
असंख्य गुण प्रकट छलः

जखन बालिकाक कली-सदृश स्तन नव अंकुरित भेल छल,
आ किछुए दिनमे कनेक आरो विकसित भऽ गेल छल;
जखन यौवन, प्रेम आ कौतूहलक संयुक्त प्रभावसँ
गहन भेल कामभाव ओकर हृदयमे साहसी,
मुदा देहपर लज्जाशील छल।

लवः तखन ई श्लोक सुनू, जे रघुपति चित्रकूट पर्वतक लग
मन्दाकिनी वनमे विश्राम करैत समय सीतासँ कहने छलाह—
मानू सोझाँक शिलापट्ट केवल अहाँक लेल राखल गेल हो,
आ केसरवृक्ष ओकर चारू दिस पुष्पवृष्टि कऽ रहल हो।

रामः (लज्जित मुस्की, स्नेह आ करुणासँ) बालक कतेक अद्भुत
निष्कपट होइत अछि—विशेषतः वनमे पलल-बढ़ल। हे महारानी,
ओहि अवसरक हमर अन्तरङ्ग वार्तालाप अहाँकेँ मोन अछि?
ई कतेक भयावह अछि!
मनक आँखिसँ हम अहाँक मुख देखैत छी—
कपार चन्द्रमा सन उज्ज्वल,
मन्दाकिनीक मन्द पवनमे केश उड़ैत,
पसीनाक बिन्दुसँ शीतल;
केसर-तिलक रहित, खिलल कपोल,
आ अत्यन्त मनोहर कान
कुण्डल नहि रहिते आरो सुन्दर।

(स्तब्ध जकाँ ठाढ़; करुणासँ) हे दैव!

प्रियजन वियोगमे रहितो किछु सान्त्वना अवश्य दैत छथि,
कारण निरन्तर गहन चिन्तनसँ हम हुनका
अपन आँखिक सोझाँ रचि लैत छी।
मुदा जखन ई उपायो छीनि लेल जाइत अछि,
तखन संसार निर्जन वन भऽ जाइत अछि,
आ हृदय भूसीक मन्द अग्निपर
पकैत जकाँ अनुभव करैत अछि।

नेपथ्यमे:

वसिष्ठ, वाल्मीकि, दशरथक महारानीसभ,
जनक आ अरुन्धती—बालकसभक युद्धक समाचार सुनि भयभीत—
अन्ततः आबि रहल छथि। वृद्धावस्था हुनकर पएर जकड़ने अछि,
आ आश्रम दूर अछि;
मुदा थाकनिसँ देह मन्द होइतो
हुनकर मन आगाँ दौड़ि रहल अछि।

रामः की अरुन्धती, वसिष्ठ, हमर मातासभ आ जनक एतय छथि?
हुनकर दर्शनक विचारो असह्य अछि। (करुणासँ देखैत) हाय,
पिता जनक स्वयं एही दिस आबि रहल छथि—मानू हमरा अभागलपर
खसबाक लेल वज्र।

जखन एक बेर अपन सन्तानक विवाहोत्सवमे हमर दुनू पिता
वसिष्ठादिक उपस्थितिमे भेटल छलाह,
आ सम्बन्धक योग्यता देखि आनन्दित भेल छलाह;
आइ एतेक विनाश भेलापर हम पिताक एहन मित्रकेँ
कोना देखी आ सहस्र टुकड़ामे नहि टूटि जाई?
मुदा फेर, रामक लेल कोन काज अत्यधिक कठिन अछि?

नेपथ्यमे: हाय,
रघुपतिक दर्शन करिते—जिनकर सौन्दर्य आब केवल तेजमे
सुरक्षित अछि—हुनकर मातासभ,
मूर्च्छित जनककेँ होशमे आनबाक प्रयाससँ पहिनेसँ व्याकुल,
स्वयं मूर्च्छित भए गेल छथि।

रामः हे पिता, हे मातासभ,
हम सन पापीपर दया व्यर्थ नहि करू—हम ओहि स्त्रीपर दया
नहि कएलहुँ जे जनक आ रघुवंशक समस्त सौभाग्य छलीह।
हमरा जा कऽ प्रणाम करबाक चाही। (उठैत)

कुश आ लवः एही दिस, पिता।
करुणासँ अभिभूत सभ चलैत प्रस्थान करैत छथि।
षष्ठ अङ्क समाप्त

लक्ष्मणक प्रवेश।

लक्ष्मणः अहा! की वाल्मीकि अपन तपःशक्तिसँ समस्त जीव-जगतकेँ

एकत्र कऽ देलनि—समस्त मर्त्य-अमर्त्य, देव-दानव, पुरुष,
स्त्री, पशु, आ अन्तरिक्षक चल-अचल प्राणी—आ हमरा सभक संग
समस्त ब्राह्मण, क्षत्रिय, नगरवासी आ ग्रामीण जनकेँ सेहो
बजा लेलनि? हमर जेठ भाइ हमरा सेहो आज्ञा देने छथि—“प्रिय
लक्ष्मण, वाल्मीकि हमरा सभकेँ अप्सरासभ द्वारा हुनकर नाट्यरचनाक
अभिनय देखबाक निमन्त्रण देने छथि। तें गङ्गातटपर रंगशालामे
जाउ आ दर्शकसभ उचित स्थानपर बैसल छथि कि नहि, से देखू।”
हम मर्त्य-अमर्त्य सभक लेल उपयुक्त आसन-व्यवस्था कऽ चुकल छी।
आ देखू—
वाल्मीकिक आदरसँ हमर जेठ भाइ एही दिस आबि रहल छथि;
ओ एखनो राजा छथि, तइयो कठोर तपस्वी-व्रत धारण कएने छथि।

रामक प्रवेश।

रामः प्रिय भाइ लक्ष्मण, नाट्य-मर्मज्ञ सभ अपन स्थानपर छथि?

लक्ष्मणः अवश्य।

रामः एहि दुनू बालक कुश आ लवकेँ कुमार चन्द्रकेतु जकाँ
सम्मानित आसन देल जाय।

लक्ष्मणः प्रभुक हुनका सभप्रतिक स्नेह जानि हम एना कऽ चुकल
छी। एतय राजकीय मण्डप तैयार अछि।

ओ बैसैत छथि।

रामः प्रदर्शन आरम्भ हो।

सूत्रधारः सत्यकेँ जेनाक तेना कहनिहार प्रचेतस-पुत्र एतय उपस्थितचल-अचल समस्त प्राणीसँ ई निवेदन करैत छथि—“ऋषिदृष्टिसँसम्भव गहन अन्तर्दृष्टिक
माध्यमसँ हम एक संक्षिप्त रचनाप्रस्तुत कएने छी, जे एक्कहि संग पवित्र करनिहार आ रसपूर्णअछि—करुण आ अद्भुत रससँ भरल। विषयक गम्भीरता
देखैत कृपा कऽ एकाग्र ध्यान दी।”

रामः हुनकर अभिप्राय ई अछि जे ऋषि धर्मक प्रत्यक्ष दर्शन

करैत छथि। भगवान् ऋषिसभक अन्तर्दृष्टि “सत्यवह”, असत्यक

धूलिसँ परे, कखनो खण्डित नहि होइत—तैं ओकरा कखनो सन्देहक
दृष्टिसँ नहि देखबाक चाही।

नेपथ्यमे: हे हमर पति, हे कुमार लक्ष्मण! हम वनमे एकसरि
आ निराश्रय छी; प्रसव-पीड़ा आरम्भ भऽ गेल अछि, आ भयावह
वन्य पशु हमरा भक्षण करबाक लेल आतुर अछि। अभागल हमरे
लग मन्दाकिनीमे कूदि पड़बाक अतिरिक्त कोनो उपाय नहि।

लक्ष्मण: (अपना मोने) ई कतेक भयावह स्थिति अछि—हम जे
सोचने रही ताहूसँ बहुत बेसी।

सूत्रधार:

सर्वधारिणी पृथ्वीक पुत्री,
राजाद्वारा महावनमे परित्यक्त महारानी,
प्रसव-पीड़ा आरम्भ होइतहि
देवी गङ्गामे कूदि पड़ैत छथि।

प्रस्थान।

राम: (स्तब्ध) हे महारानी, हे महारानी, देखू—लक्ष्मण एतय
अछि!

लक्ष्मण: मुदा भाइ, ई केवल नाटक अछि।

राम: हे महारानी, दण्डकारण्यक हमर प्रिय सहचरी! रामक कारण
अहाँपर ई विपत्ति आयल।

लक्ष्मण: भाइ, कथा देखैत रही।

राम: हम अपन हृदय कठोर कऽ लेने छी; तैयार छी।

अचेत-जकाँ सीताक प्रवेश; पृथ्वी आ गङ्गा हुनका सहारा देने
छथि, आ दुनू सीताक एक-एक पुत्र कोरामे लेने छथि।

राम: प्रिय भाइ, हम एहन अन्धकारलोकमे प्रवेश कऽ रहल छी
जतय ने कारण देखाइत अछि ने उपचार। हमरा थामू!

दुनू देवी:

सुन्दरी वैदेही, अपनाकेँ सम्हारू;
सौभाग्यसँ अहाँ सफल भेलीह:
नदीमे अहाँ दू पुत्रकेँ जन्म देलहुँ,
जे रघुवंशकेँ धारण करत।

सीता: (अपनाकेँ सम्हारि) सौभाग्य जे हम पुत्रसभकेँ जन्म
देलहुँ... हे हमर पति! (मूर्च्छित भए पड़ैत छथि)

लक्ष्मणः (रामक चरणमे खसैत) भाइ, प्रिय भाइ, कतेक सौभाग्य
जे हमरा सभक प्रयोजन सिद्ध भेल! रघुवंशक वृक्षमे एकटा
भव्य नव शाखा फूटल अछि। (देखैत) अहा, भाइ स्तब्ध छथि,
अश्रुक उमड़ैत बाढ़सँ अभिभूत। (पंखा झलैत)

दुनू देवी: बच्ची, अपनाकेँ सम्हारू—हमर विनती अछि।

सीता: (होशमे अबैत) भगवती, अहाँ के छी? आ अहाँ?

पृथ्वी: ई भागीरथी छथि, अहाँक ससुरक कुलदेवी।

सीता: भगवती, अहाँकेँ प्रणाम।

भागीरथी: अहाँक पतिव्रतधर्मक अनुरूप पूर्ण सौभाग्य प्राप्त
हो।

लक्ष्मण: हमरा सभपर महान् कृपा भेल।

भागीरथी: आ ई अहाँक माता, भगवती पृथ्वी छथि।

सीता: हाय माँ, अहाँ हमरा एहि दशामे देखि रहल छी!

पृथ्वी: आउ बच्ची, आउ हमर छोट बेटा। (सीताकेँ आलिङ्गनमे
लेने मूर्च्छित भए पड़ैत छथि)

लक्ष्मण: (उत्तेजित) अहा, पृथ्वी आ गङ्गा दुनू भौजीक सहायता
लेल आबि गेल छथि।

राम: (देखैत) ई निश्चय सौभाग्यक बात अछि—मुदा गहन करुणाक
स्रोत सेहो।

भागीरथी: सर्वधारिणी पृथ्वी सेहो काँपि सकैत छथि—सन्तानक
प्रेम कतेक शक्तिशाली होइत अछि! मुदा ई सभमे समान अछि:
मोहक गाँठि, प्रत्येक चेतन प्राणीक भीतर अशान्तिक स्रोत,
सांसारिक जीवनक साक्षात् सूत्र। बच्ची वैदेही, देवी पृथ्वी,
कृपा कऽ अपनाकेँ सम्हारू।

पृथ्वी: (होशमे अबैत) देवी, सीताकेँ जन्म देनिहार हम कोना
सम्हारी?

राक्षससभक बीच हुनकर दीर्घ निवास एक बात छल,
आ परित्याग—ओ घोर अपमान—दोसर।

भागीरथी:

जखन भाग्य फल देबाक समीप हो,

तखन ओकर द्वार बन्द करबाक सामर्थ्य कोन प्राणीमे अछि?

पृथ्वी: ठीक कहलहुँ। मुदा प्रिय रामक लेल ई उचित छल?

बाल्यकालमे स्वयं बालक रहैत जे हाथ पकड़ने छलाह,

तकर कोनो मान नहि;

न हमर, न जनकक, न अग्निक,

न हुनकर विनयक, न अपन सन्तानक।

सीता: हे हमर पति, ई सभ हमरा फेर अहाँक स्मरण करा देलक।

पृथ्वी: अरे! अहाँक पति सेहो छथि?

सीता: (लज्जाश्रुसहित) माँ जे कहैत छथि, सैह सत्य अछि।

राम: माता पृथ्वी, अहाँ जाहि पुरुषक वर्णन करैत छी, सैह हम
छी।

भागीरथी: हे पृथ्वी, अहाँ समस्त मर्त्य जीवनक देह छी। तखन

सर्वथा अनभिज्ञ जकाँ अपन जमायपर कोना क्रुद्ध भऽ सकैत छी?

भयावह अपयश दूर-दूर धरि पसरल छल,

आ पवित्र करनिहार अग्निपरीक्षा लङ्कामे भेल—

एतयक लोक ओकर विश्वास कोना करितथि?

इक्ष्वाकुवंशक पैतृक सम्पदा समस्त संसारकें प्रसन्न राखब अछि।

तखन एहि संकटमे—सचमुच भयावह संकटमे—

हमर बच्चा की करिताह?

लक्ष्मण: देवीक अन्तर्ज्योति समस्त प्राणीमे निर्बाध चमकैत
अछि।

भागीरथी: तइयो हम हाथ जोड़ि अहाँकें प्रणाम करैत छी।

राम: माता, अहाँ भागीरथ केर वंशपर सेहो कृपा कएने छी।

पृथ्वी: हम सदिखन अहाँ सभपर कृपालु रहल छी। आरम्भमे

असह्य भेल प्रेमजनित व्यथा मात्र छल; एना नहि जे हम प्रिय

रामक सीताप्रतिक प्रेम नहि बुझैत रही।

ज्वलन्त हृदयसहित भाग्यवश हुनका सीताकें छोड़ए पड़ल,

आ आइ ओ केवल कोनो अलौकिक साहस

आ अपन प्रजाक पुण्यक कारण जीवित छथि।

राम: वृद्धजन जाहि सभकें अपन सन्तान मानैत छथि, हुनका सभपर
कतेक गहन करुणा रखैत छथि!

सीता: (कनैत; हाथ जोड़ि) माँ, हमरा अपन लग लिअ आ अपन
देहमे विलीन कऽ लिअ।

राम: ओ एहिसँ अधिक आरो की माँगि सकैत छथि?

भागीरथी: ईश्वर नहि करथि! एहन विलय होयबासँ पहिने अहाँ
सहस्र वर्ष जीवित रहू।

पृथ्वी: बच्ची, अहाँक दुनू छोट पुत्रक देखभाल करबाक अछि।

सीता: हमर कोनो रक्षक नहि; हम हुनका सभक की करी?

भागीरथी: जखन वास्तवमे अहाँ निराश्रय नहि छी, तखन एना कोना कहि सकैत छी?

सीता: अभागल हमरा कोन प्रकारक रक्षक अछि?

राम: हे हृदय, अहाँ शीतल इस्पात छी।

दुनू देवी:

संसारक सौभाग्यक स्रोत होइतो

अहाँ अपनहि तिरस्कार कोना कऽ सकैत छी?

अहाँसँ सम्बन्धक कारणें

हमर अपन पवित्रता बढ़ैत अछि।

लक्ष्मण: भाइ, सुनलहुँ?

राम: समस्त संसार सुनय।

नेपथ्यमे कोलाहल।

राम: एखन आरो अद्भुत घटना होमऽ जा रहल अछि।

सीता: समस्त आकाश ज्बलासँ कोना घेरि गेल?

दुनू देवी: हम सभ बुझैत छी—

जिनकर गुरु-परम्परा कृष्णाश्व, कौशिक आ राम रहल,

ओ दिव्यास्त्र आ जृम्भकास्त्र

आब स्वयं प्रकट भऽ रहल छथि।

नेपथ्यमे:

महारानी सीता, अहाँकेँ प्रणाम।

चित्रदर्शनक समय रघुवंशक आनन्द जेना घोषणा कएने छल,

आब हमर नियति अहाँक पुत्रसभक संग अछि।

सीता: कतेक सौभाग्य—अस्त्रदेवता! हे हमर पति, अहाँक कृपाकर्म

आइयो प्रकट भऽ रहल अछि।

लक्ष्मण: भाइ हुनका कहने छलाह—“आबसँ ई अस्त्रसभ बिना चूक

अहाँक सन्तानक सेवा करत।”

दुनू देवी:

हे परम अस्त्रसभ, अहाँकें प्रणाम।
अहाँ हमरा सभपर कृपा कएलहुँ—हम धन्य छी।
जखन ई बालकसभ मनसँ अहाँक स्मरण करथि,
तखन कृपा कऽ हुनकर सेवामे उपस्थित होउ।

राम:

करुणाक तरङ्ग उमड़ि उठल अछि,
आश्चर्य आ आनन्दक सरोवरमे टूटि रहल अछि,
आ हमरा एहन अवस्थामे पहुँचा देलक
जकर वर्णन असम्भव अछि।

दुनू देवी: आनन्द करू बच्ची, अहाँक दुनू छोट पुत्र आब प्रिय
रामक समकक्ष भऽ गेल।

सीता: भगवती, हुनका सभक क्षत्रियोचित संस्कार के सम्पन्न करत?

राम:

हाय, सीता स्वयं—वसिष्ठ पुरोहितसभ द्वारा सदा सुरक्षित
रघुवंशक शक्ति—अपन पुत्रसभक संस्कार करनिहार
केओ नहि पाबि रहल छथि।

भागीरथी: पुत्री, एहि विषयमे चिन्ता नहि करू। दुनू बालकक
दूध छुटलाक बाद हम हुनका सभकें वाल्मीकिक संरक्षणमे दऽ
देब, आ ओ हुनकर क्षत्रिय-संस्कार सम्पन्न करताह।
प्रचेतस-पुत्र रघु आ जनक दुनू वंशक लेल
वसिष्ठ आ अङ्गिरस ऋषिसँ कम गुरु नहि छथि।

राम: भागीरथी प्रत्येक बात अत्यन्त सावधानीसँ विचारि लेने
छथि।

लक्ष्मण: भाइ, हम सत्य कहैत छी—अनेक कारणसँ हमरा पूर्ण
विश्वास अछि जे ओ दुनू बालक कुश आ लव छथि:
ओहो सभ जन्मसँ अस्त्रपर अधिकार रखैत छथि,
दुनू कुमार प्रचेतस-पुत्र महर्षिसँ संस्कार पओने छथि,
आ दुनूक आयु बारह वर्ष अछि।

राम: प्रिय भाइ, ई विचार मात्र हमर हृदयमे उथल-पुथल मचा
रहल अछि आ हमरा विक्षिप्त कऽ रहल अछि।

पृथ्वी: बच्ची, आब हमर संग आउ आ पाताललोककें पवित्र करू।

सीता: माँ, हमरा अपन लग लिअ आ अपन देहमे विलीन कऽ लिअ।

हम संसारक ई उतार-चढ़ाव आब सहन नहि कऽ सकैत छी।

राम: ओ की उत्तर देतीह?

पृथ्वी: बच्ची, हमर आज्ञा मानू आ अपन दुनू पुत्रक दूध छुटबा
धरि प्रतीक्षा करू। तकर बाद जे अहाँक इच्छा।

भागीरथी: एहिना हो।

गङ्गा, पृथ्वी आ सीताक प्रस्थान।

रामः की वैदेहीक विलय भऽ गेल? हे महारानी, दण्डकारण्यमे

हमर प्रिय सहचरी, हे सद्गुणक देवी, की अहाँ परलोक जाइबाक

निश्चय कऽ लेलहुँ? (मूर्च्छित भए पड़ैत छथि)

लक्ष्मणः वाल्मीकि, रक्षा करू! की अहाँक काव्यक निष्कर्ष

एतबे अछि?

नेपथ्यमे: वाद्यवृन्द रोकू। हे समस्त मर्त्य जीव, चल-अचल

प्राणीसभ! वाल्मीकि द्वारा प्रदान पवित्र चमत्कारक दर्शन करू।

लक्ष्मणः (देखैत)

गङ्गाक जल मानू मथल जा रहल अछि,

आकाश दिव्य ऋषिसभसँ भरल अछि।

चमत्कार! सीता आ देवीसभ—गङ्गा आ पृथ्वी—

गहिराइ सँ बाहर आबि रहल छथि।

नेपथ्यमे:

जगत्पूजिता अरुन्धती,

हम गङ्गा आ पृथ्वीपर कृपादृष्टि करू।

हम सीताकेँ अहाँक संरक्षणमे सौंपैत छी—

पवित्र व्रत पालन करनिहार आदर्श पत्नी।

लक्ष्मणः कतेक सौभाग्य, कतेक चमत्कार! भाइ, देखू, देखू।

(देखैत)... हाय, भाइ एखन धरि होशमे नहि अयलाह।

अरुन्धती आ सीताक प्रवेश।

अरुन्धती:

बच्ची, अहाँक ई लज्जा अनावश्यक अछि;

एकरा छोड़ू।

शीघ्र आउ आ अपन प्रिय हाथक स्पर्शसँ

हमर बच्चा रामकेँ होशमे आनू।

सीताः (भयभीत भए स्पर्श करैत) हे हमर पति, कृपा कऽ अपनाकेँ
सम्हारू।

रामः (होशमे अबैत; आनन्दसँ) अहा, ई की? (देखैत; आनन्द आ

विस्मयसँ) महारानी! (लज्जित) आ माता अरुन्धती, हमर समस्त

वृद्धजन, आनन्दित ऋष्यशृङ्ग आ शान्तासहित।

अरुन्धतीः बच्चा, ओतय भागीरथवंशक देवी, कृपामयी गङ्गा छथि।

नेपथ्यमे: हे जगत्पति, प्रिय राम, चित्रदर्शनक समय हमरा जे

निवेदन कएने छलहुँ, से स्मरण करू—“अपन पुतोहु सीतापर

अरुन्धती जकाँ कृपालु रहू।” आब हम ओ ऋणसँ मुक्त छी।

अरुन्धती: आ ओतय अहाँक सासु, पृथ्वी छथि।

नेपथ्यमे: वर्षसभ पहिने सीताकेँ परित्याग करैत समय अहाँ

निवेदन कएने छलहुँ—अहाँ चिरञ्जीवी होउ—“हे पृथ्वी, अपन आदरणीय पुत्री जानकीक रक्षा करू।” महाराज, आइ हम अपन बच्चीक विषयमे ओ अनुरोध पूर्ण कऽ देलहुँ।

राम: ई कोना सम्भव? राम घोर अपराधक दोषी होइतो ई दुनू

भगवती हुनका पर दया कएने छथि। (प्रणाम करैत)

अरुन्धती: हे नगर आ ग्रामक लोकसभ! एहि स्त्रीकेँ अरुन्धतीक

संरक्षणमे सौंपल गेल अछि, आ जाहूवी तथा पृथ्वी हुनकर प्रशंसाक वर्षा कएने छथि। पूर्वमे अग्निदेव वैश्वानर हुनकर सदाचारक प्रमाण देने छलाह। देव आ ब्राह्मण हुनका सावित्रीक कुलक स्त्री रूपमे स्तुति कएने छथि। यज्ञभूमिमे जन्मल महारानी सीताकेँ फेर स्वीकार करू। कहू सज्जनसभ, अहाँ सभक की मत?

लक्ष्मण: अरुन्धती प्रजाकेँ कतेक कठोर फटकार लगौलनि! समस्त

जीव-जगत भौजीकेँ प्रणाम कऽ रहल अछि, आ लोकपाल तथा सप्तर्षि पुष्पवृष्टिसँ हुनकर सेवा कऽ रहल छथि।

अरुन्धती: हे जगत्पति, प्रिय राम—

धर्मानुसार अपन प्रिय धर्मसहचरीकेँ—

स्वर्ण-प्रतिमाक पवित्र मूलरूपकेँ—

यज्ञसम्बन्धी कर्तव्य सौंपू।

सीता: (अपना मोने) की हमर पति सीताक दुःख शान्त करब

जनैत छथि?

राम: भगवतीक जेना आज्ञा।

लक्ष्मण: हमर उद्देश्य सिद्ध भेल।

सीता: हमरा नव जीवन भेटल।

लक्ष्मण: भौजी, ई निर्लज्ज लक्ष्मण अहाँक सोझाँ साष्टाङ्ग प्रणाम करैत अछि।

सीता: बच्चा, अहाँ जेना छी, तहिना चिरञ्जीवी रहू।

अरुन्धती: वाल्मीकि, कृपा कऽ सीताक गर्भसँ रामक जन्मल

दुनू पुत्र कुश आ लवकेँ आगाँ आनू। (प्रस्थान)

राम आ लक्ष्मण: कतेक सौभाग्य—सभ सत्य अछि!

सीता: (अश्रुसँ अभिभूत) हमर दुनू छोट पुत्र कतय छथि?

कुश आ लवक संग वाल्मीकिक प्रवेश।

वाल्मीकि: प्रिय बच्चा कुश आ लव, ई रघुवंशक प्रभु अहाँक
पिता छथि; ई लक्ष्मण अहाँक काका; आ महारानी सीता अहाँक
माता। ई राजर्षि जनक अहाँक नाना छथि।

सीता: (आनन्द, करुणा आ विस्मयसँ देखैत) की हमर पिता
सेहो उपस्थित छथि?

कुश आ लव: हे पिता! हे माता! हे नाना!

राम: (आनन्दसँ आलिङ्गन करैत) निश्चय केवल पुण्यक कारण
हम अहाँ दुनू बच्चाकेँ फेर पाबि सकलहुँ।

सीता: आउ कुश, बच्चा; आ अहाँ सेहो लव। अपन माताकेँ दीर्घ
आलिङ्गन दिअ—मानू ओ फेर जन्म लेने छथि।

कुश आ लव: (एना करैत) हम सभ कतेक भाग्यवान् छी!

सीता: भगवन्, हम अहाँकेँ प्रणाम करैत छी।

वाल्मीकि: बच्ची, अहाँ जेना छी, तहिना चिरञ्जीवी रहू।

नेपथ्यमे कोलाहल।

वाल्मीकि: (उठि चारू दिस देखैत) लवणक उन्मूलन कऽ मथुरा
क प्रभु आबि रहल छथि।

लक्ष्मण: जखन शुभ घटना अबैत अछि, तँ बाढ़ जकाँ अबैत अछि।

राम: ई सभ वास्तवमे हमरा संग भऽ रहल अछि, तइयो विश्वास
नहि भऽ रहल अछि। मुदा सौभाग्यक स्वभावे एहने होइत अछि।

वाल्मीकि: प्रिय राम, की हम अहाँक लेल आरो कोनो शुभ कार्य
कऽ सकैत छी?

राम: एहि सभसँ उत्तम आरो की भऽ सकैत अछि? तइयो सम्भवतः

ई वरदान—

ई कथा पापसँ पवित्र करनिहार,

आ समस्त कल्याण उदारतासँ प्रदान करनिहार अछि;

जगन्माता आ गङ्गा जकाँ

एकहि संग मङ्गलमय आ मनोहर।

विद्वान् लोक नाट्यरूपमे मूर्त एकर रसास्वादन करथि—

भाषाक पवित्र रहस्यक मर्मज्ञ,

अनुभवी कविक वाङ्मय-कला।

सभक प्रस्थान।
सप्तम अङ्क समाप्त।
भवभूतिक नाटक “रामक अन्तिम अङ्क” समाप्त।

उत्तररामचरितम्

संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद — गजेन्द्र ठाकुर

महाकवि भवभूतिक उत्तररामचरितम् राम-सीताक जीवनक उत्तरकथा पर केन्द्रित सात अङ्कक नाटक अछि—राजधर्म, लोकमत, वियोग, करुणा, लव-कुशक अभिज्ञान आ अन्तिम पुनर्मिलनक नाटकीय यात्रा। ई संस्करण संस्कृतसँ मैथिली अनुवादमे प्रस्तुत अछि।



www.videha.co.in

VIDEHA — First Maithili Fortnightly eJournal

RAMA'S LAST ACT

(Uttara-Ramacharita)

BHAVABHUTI

English Theatre Translation

Gajendra Thakur

Editor, Videha — First Maithili Fortnightly eJournal



www.videha.co.in

RAMA'S LAST ACT *(Uttara-Ramacharita)*

The Great Poet Bhavabhuti

English Theatre Translation

Gajendra Thakur

Editor, Videha — First Maithili Fortnightly eJournal

www.videha.co.in

Publication & Copyright

Rama's Last Act (Uttara-Ramacharita)

Original Sanskrit: Bhavabhuti

English theatre translation: Gajendra Thakur

Editor: Videha — First Maithili Fortnightly eJournal

First book edition: 2026

© 2026 Gajendra Thakur — English translation

www.videha.co.in

6 × 9 in. hardback edition

CONTENTS

Dramatis Personae.....	4
Prologue.....	6
Act One — The Picture Gallery.....	8
Interlude to Act Two.....	22
Act Two — Entering Panchavati.....	27
Interlude to Act Three.....	32
Act Three — The Shadow.....	34
Interlude to Act Four.....	49
Act Four — The Meeting of Kausalya and Janaka.....	51
Act Five — The Young Prince's Valour.....	62
Interlude to Act Six.....	71
Act Six — The Recognition of the Princes.....	73
Act Seven — The Reunion.....	82

DRAMATIS PERSONAE

In order of appearance —

Original Sanskrit Name	English Character
Sutradhara	Stage Manager (director of the performance)
Nata	Actor
Rama	Rama, King of Ayodhya
Sita	Sita, Rama's wife
Kanchukin	Chamberlain
Ashtavakra	Ashtavakra, a sage
Lakshmana	Lakshmana, Rama's younger brother
Pratihari	Doorkeeper (female palace guard)
Durmukha	Durmukha, an attendant of the inner palace
Atreyi	Atreyi, an ascetic woman
Vasanti	Vasanti, goddess of the forest
Shambuka	Shambuka, a Shudra ascetic
Murala	Murala, a river goddess
Tamasa	Tamasa, a river goddess
Saudhataki	Saudhataki, a student
Bhandayana	Bhandayana, a student
Janaka	Janaka, Sita's father
Arundhati	Arundhati, wife of the sage Vasishtha
Grishtin	Valmiki's chamberlain
Kausalya	Kausalya, Rama's mother
Lava	Lava, Rama's son
Students	A group of students
Officer	An army officer
Chandraketu	Chandraketu, Rama's nephew (Lakshmana's son)
Sumantra	Sumantra, Chandraketu's charioteer
Vidyadhara	A celestial male
Vidyadhari	A celestial female
Kusha	Kusha, Rama's son
Valmiki	Valmiki, author of the Ramayana

In the play-within-the-play —

Original Sanskrit Name	English Character
Sutradhara	Stage Manager
Prithivi	Earth (the Earth Goddess)
Bhagirathi	Bhagirathi (the River Ganges)

PROLOGUE

I dedicate this work as a tribute
to the poets of ancient times.
Come, let us also pay homage to Speech,
immortal, a portion of the soul itself.

After the invocation

STAGE MANAGER: Now, without further delay, I must make an announcement before this discerning assembly gathered for the festival of Lord Kalapriya. You have surely heard of a certain Bhavabhuti, a learned Brahmin of the Kashyapa lineage who bears the title Shrikantha.

The Goddess of Speech obeys this Brahmin's command
as readily
as she obeys the command of Brahma.
He has composed this play, Rama's Last Act,
which we shall perform before you today.

In obedience to the poet, I shall now assume
the identity of a citizen of Ayodhya in that age.

[*Looks around.*] Is anyone there? How strange! Why have the musicians fallen silent in the courtyards? At the coronation of our great and honoured King Rama—the wildfire that consumed the race of Pulastya—joyous music continued day and night without a moment's pause!

[*Enter an ACTOR.*]

ACTOR: My friend, the king has sent home the mighty allies who fought beside him in Lanka—the monkeys and the rakshasas. The Brahmins and gods who came to honour him have also departed, sanctifying every region through which they passed. Festivities continued for so many days while these guests were entertained. And now
Rama's royal mothers have gone—
under Vasishtha's protection,
following Arundhati—to their son-in-law's hermitage
for a sacred rite.

STAGE MANAGER: Tell me—I am not a native of this country, so I ask—who is this son-in-law?

ACTOR:

King Dasharatha had a daughter named Shanta,
whom he gave in adoption to King Lomapada.
She married Rishyashringa, the son of Vibhandaka;
and he has now begun a sacrifice
that will continue for twelve years. The elders have gone
to visit him in his honour, but they have left their daughter-in-law Janaki
here, though her pregnancy is already far advanced.

STAGE MANAGER: No matter. Come; in keeping with our station, we must present ourselves at the palace gate.

ACTOR: Then, my friend, you must compose a royal panegyric whose style is beyond reproach.

STAGE MANAGER: My dear friend,

Whatever the circumstances, it is my duty to perform.
There is no escape from slander.
A statement—or a woman—however pure,
will still be faulted by the wicked.

ACTOR: You should say, 'by those worse than wicked.'

For people are maligning Queen
Vaidehi herself. Why?

Because she lived in a rakshasa's house,
and because they doubt the ordeal by fire.

STAGE MANAGER: If this rumour reaches the king's ears, the consequences will be terrible.

ACTOR: Whatever happens, the sages and the gods will protect her. [*Turns.*] Is anyone there? Where is the king now? [*Listens.*] I hear people saying—

Janaka came out of deep affection to pay his respects,
spent several days at the celebration,
and has now returned to Videha.
The queen is distressed by his departure; therefore,
to console her, the king
has left the throne of justice and gone
to his private apartments.

[*Exeunt both.*]

END OF THE PROLOGUE

ACT ONE

THE PICTURE GALLERY

[*At rise, RAMA is seated with SITA beside him.*]

RAMA: Queen Vaidehi, please do not grieve. It was not easy for the elders to leave us.

But the unbroken burden of daily sacred rites

sets limits on human freedom.

For those devoted to religion, domestic life

is full of obligations.

SITA: I understand, my lord, I understand. And yet separation from those we love brings such sorrow.

RAMA: True. These stages of life tear the tenderest fibres of the heart and awaken in a sensitive person such detachment that he longs to renounce every pleasure and seek peace in the forest.

[*Enter the CHAMBERLAIN.*]

CHAMBERLAIN: Dear Rama... [*He stops, then speaks with formal concern.*] Your Majesty...

RAMA: Good sir, not so. From one who served in my father's household, 'Dear Rama' is entirely proper. Speak to me as you did before.

CHAMBERLAIN: Ashtavakra has arrived from Rishyashringa's hermitage.

SITA: Then why delay, good sir?

RAMA: Bring him in at once.

[*Exit CHAMBERLAIN.*]

[*Enter ASHTAVAKRA.*]

ASHTAVAKRA: Blessings upon you both.

RAMA: My reverence, holy sir. Please be seated.

SITA: My reverence. Are my elders and my sister-in-law Shanta well?

RAMA: Are my soma-drinking brother-in-law Rishyashringa and my sister Shanta both well?

SITA: Did they remember us?

ASHTAVAKRA: [*Sitting.*] Certainly. Your Majesty, Vasishtha sends you this message—

'Virtuous Earth, who bears all things,

herself gave you birth;

King Janaka, the equal of the Creator,

is your father;

and, my daughter, you are the daughter-in-law

of a royal house that has

two spiritual guides—ourselves

and the Sun-god himself.

What more can we wish for you

than the birth of a heroic son?'

RAMA: I am deeply honoured.

In ordinary life, a good man's words

conform to fact;

but in the case of a primeval seer, fact itself

conforms to his word.

ASHTAVAKRA: Arundhati, the queen mothers, and Shanta have issued this emphatic command: 'Whatever Sita desires during her pregnancy must be granted without delay.'

RAMA: Whatever she asks, I shall fulfil.

ASHTAVAKRA: Rishyashringa, the queen's brother-in-law, said this: 'My daughter, because your pregnancy is so advanced, you have not been summoned here. Dear Rama has been charged only with keeping you happy.'

I hope soon to see you safe and well,
with your son in your arms.'

RAMA: [*Smiling with joy and modest embarrassment.*] So be it. Did Vasishtha send no message for me?

ASHTAVAKRA: Listen—

'We are detained
at your brother-in-law's sacrifice.
You are still young, and your reign
has only just begun.
Devote yourself
to the happiness of your people,
for a stainless reputation is a treasure
more precious than life.'

RAMA: The son of Mitra and Varuna shall be obeyed.

Affection, compassion, happiness... not only these—even Janaki herself
I would surrender, without a moment's hesitation,
for the happiness of my people.

SITA: That is why my lord is the mainstay of the house of Raghu.

RAMA: Is anyone there? See that Ashtavakra is given a place to rest.

ASHTAVAKRA: [*Rises and turns.*] Ah, Prince Lakshmana has arrived. [*Exit.*]

[*Enter LAKSHMANA.*]

LAKSHMANA: Victory to my brother! The painter has completed the story of your life in the picture gallery exactly as we described it. My sister-in-law is invited to see it.

RAMA: Dear brother, you have a gift for finding ways to lift the queen's sorrow. How far does the story go?

LAKSHMANA: As far as my sister-in-law's purification by fire.

RAMA: Silence!

She who was perfectly pure from birth—
what need had she of purification?
Pure water and fire cannot themselves be purified
by any other means.

Dear queen, born from the sacrificial ground, forgive me. I shall remain humbled before you all my life.
Those for whom family honour is true wealth
must satisfy even their critics.
The unrighteous demand I made under pressure of public opinion
was one I never wished to make of you.
Everyone knows that a rare and fragrant flower
belongs as the crowning ornament upon the head,
not crushed beneath the feet.

SITA: Let it be, my lord, let it be. Come, let us see the story of your life.

[*They rise and move forward.*]

LAKSHMANA: The mural is this way.

SITA: [*Looking.*] Who are those beings gathered above in this scene? They seem to be singing my lord's praises.

LAKSHMANA: They are the divine weapons called Jrimbhaka, together with their secret spells. Krishashva gave them to Kaushika Vishvamitra—'Friend of the World'—and, after my brother slew Tataka, Vishvamitra bestowed them upon him.

RAMA: My queen, bow to the divine weapons.

For the welfare of the Vedic faith, Brahma
and the other gods
practised austerities for more than
a thousand years;
these weapons are the embodied power of that penance,
which the ancient masters were able to behold.

SITA: I bow to them.

RAMA: They will surely serve your children one day.

SITA: I am blessed.

LAKSHMANA: This is the episode in Mithila.

SITA: Ah, there is my lord. He has broken Shiva's bow with effortless ease, while my father gazes upon his gentle radiance, almost speechless with wonder at the beauty of his form: dark as a blue lotus in full bloom, soft and smooth, yet firm and strong; his head adorned only by the simple grace of a single topknot.

LAKSHMANA: Look here—

your father bows to his new kinsmen,
Vasishtha and the others,
and Shatananda Gautama, the family priest
of all the kings of Janaka's line, bows as well.

RAMA: This scene is truly worth seeing.

Who would not welcome the union
of the houses of Raghu and Janaka,
in which the son of Kushika was both
the giver and the receiver?

SITA: Here are all four brothers after giving the customary gift of cattle. Here you have undertaken the marriage vows. I feel as though I were there again—as though that very moment were present now.

RAMA:

My beloved, I too feel that the moment is here again,
when Gautama, delighted, placed in my hand
your hand, shining with its wedding bracelet,
as though it were the sacred rite of marriage
itself embodied.

LAKSHMANA: This is you; this other lady is my sister-in-law Mandavi, and this is my wife Shrutakirti.

SITA: And, dear boy, who is the other young woman?

LAKSHMANA: [*Smiling awkwardly; aside.*] Ah, she must be asking about Urmila. Very well, I shall draw her attention elsewhere. [*Aloud.*] Ah, look at this—this is well worth seeing. It is Bhargava.

SITA: The very sight of him frightens me.

RAMA: My reverence, holy sage.

LAKSHMANA: Look, brother, here you are now—

RAMA: [*A little annoyed.*] Come, there is much else worth seeing. Show me another scene.

SITA: [*Looking at him with affection and admiration.*] My lord, how becoming that noble modesty is in you!

LAKSHMANA: This is the return to Ayodhya.

RAMA: [*His eyes fill with tears.*] I remember—ah, I remember it all so clearly.

Those days when Father was alive,
when our married life was new,
and our mothers watched over me...
those days are gone for ever.

And here is Janaki as she was then—

a little girl whose face shone with innocence,
her few new teeth like tiny flowers—
new shoots appearing in front
after her milk teeth had fallen—
her delicate little limbs so lovely,
like pure moonlight; as though Nature herself

had taught her the art of enchantment
that awakened such wonder in every part of me.

LAKSHMANA: This is Manthara...

RAMA: [*Without answering, he moves on.*] Queen Vaidehi,

This is the ingudi tree at Shringaverapura, where
long ago

we met our dear friend, the Nishada king.

LAKSHMANA: [*Laughing; aside.*] Ah, my brother wants to pass over the episode of our middle mother!

SITA: This is the occasion when you had to bind your hair in a hermit's matted locks.

LAKSHMANA:

The vow that the ancient Ikshvaku kings assumed
after handing the kingdom to their sons—
my brother assumed that vow while still young:
the sacred vow of forest exile.

SITA: This is the Bhagirathi, with her clear and holy waters.

RAMA: Goddess, guardian deity of Raghu's house, I bow to you.

While searching for the horse of Sagara's sacrifice,
my ancestors dug into the earth with single-minded purpose,
until the wrathful and mighty Kapila
reduced them to ashes. Those forefathers of Bhagiratha
were finally redeemed by Bhagiratha's fierce austerities—
heedless of his own body—
and, holy river, by the touch of your waters they were set free.

Mother, I pray you: love your daughter-in-law Sita as Arundhati loves her.

LAKSHMANA: This is Shyama—the 'Dark' banyan—on the bank of the Kalindi, along the road to Chitrakuta, where
Bharadvaja directed us.

SITA: Does my lord remember this place?

RAMA: How could I forget?

The hardship of the journey had left your delicate limbs weary and sore;
then, limp as a crushed lotus,
you laid them in my lap.
I massaged them with firm hands
until you fell into a deep sleep.

LAKSHMANA: This is Viradha, barring our way at the entrance to the Vindhya forest.

SITA: No, no more of that! Here I see us entering the southern forest—as though it were happening before my eyes—my lord
holding a parasol of palm leaves above my head.

RAMA:

These are the groves beside the mountain streams,
where ascetics practised penance beneath the trees,
and householders seeking peace built their homes—
generous to guests though they lived on a single handful of grain each day.

LAKSHMANA: This is Mount Prasravana in the heart of Janasthana. Its caves, embraced by dense forest on every side, echoed
with the sound of the Godavari. The green-black woodland, thick with trees and undergrowth, was so deep that the mountain's
natural darkness was made darker still by clouds forever gathering above it.

RAMA:

My beloved, do you remember the days we spent on that mountain,
when Lakshmana supplied our every need
and the place felt like home?

Do you remember the clear-flowing Godavari nearby,
and all our wanderings along its banks?

And this too—

lying cheek against cheek in the depth of love,

murmuring whatever came to mind in voices scarcely heard,
holding each other in a close embrace,
hours passed without our knowing;
when dawn came, it seemed that only the night had ended.

LAKSHMANA: This is Shurpanakha at Panchavati.

SITA: My lord—this is the last time I saw you!

RAMA: Come, why be so afraid of separation? It is only a picture.

SITA: A picture, yes—but wicked people can still bring calamity.

RAMA: Ah, it feels as though the events at Janasthana were truly happening again.

LAKSHMANA:

Here those evil rakshasas, through the deception of the golden deer,
committed a crime that still wounds the heart today,
even though vengeance was complete.
My brother's half-mad conduct when Janasthana lay empty
could still make stone weep and split a heart of iron.

SITA: [*Her eyes fill; aside.*] Ah, my lord, joy of Raghu's house, how much you suffered because of me!

LAKSHMANA: [*Watching RAMA with concern.*] Brother, what is this now?

A flood of tears is rising;
the drops that fall to the ground
scatter like a fine string of pearls torn apart.
You try to master your grief,
yet your trembling lips and nostrils,
and your chest heaving beneath its weight,
make your anguish plain to all.

RAMA: Dear brother,

then the fire of grief kindled by separation from my beloved
was fierce indeed, but the thirst for vengeance
made it bearable.
Now, after smouldering within me without cease,
it has become the pain of a wound driven into the heart's most tender core.

SITA: My lord, in boundless terror I see myself alone, without you!

LAKSHMANA: [*Aside.*] I must turn their thoughts elsewhere. [*Looking at the picture; aloud.*] This depicts the age-old vulture king, Father Jatayu, and his valour.

SITA: Ah, Father, you fulfilled a father's duty of love toward his daughter.

RAMA: Ah, Father, king of birds, son of Kashyapa! Where shall we ever find another benefactor so great?

LAKSHMANA: This part of the Dandaka forest west of Janasthana is called Chitrakunjavat. Here lived the headless demon Kabandha. This is the hermitage of the great sage Matanga on Mount Rishyamuka; and here is the wondrous Shabara ascetic, the holy woman Shramani. Over there is the lotus lake called Pampa.

SITA: I have heard that it was here my lord could no longer contain his grief and lamented aloud.

RAMA: My queen, it was a lake of extraordinary beauty.

There were masses of white lotuses; their thick stems swayed
as the wings of joyfully calling swans stirred them.
But between one falling tear and the next one rising,
they all appeared to me as blue lotuses.

LAKSHMANA: This is the noble Hanuman.

SITA: Yes. This is the great son of the Wind-god, whose incomparable service delivered a world that had suffered so long.

RAMA:

All glory to the mighty son of Anjana,
whose power secured the welfare of us all and of the entire world.

SITA: Dear boy, what is the name of this mountain, where peacocks on blossoming kadamba trees were roused to a wild dance? Here my lord is shown beneath a tree—you hold him as tears stream from his eyes; he is on the verge of fainting, his natural radiance dimmed, only a remnant of his former enchanting splendour left.

LAKSHMANA:

This is Mount Malyavan, filled with the fragrance of kakubha blossoms,
its summit forever dark and wet beneath newly gathered clouds...

RAMA:

Dear brother, stop—please stop. I can bear no more.

It is as though separation from Janaki were coming upon me once again.

LAKSHMANA: Beyond this, brother, are painted the countless marvellous feats of the monkeys and rakshasas, each more astonishing than the last. But my sister-in-law must be tired; she should rest now.

SITA: My lord, while looking at these pictures a pregnancy longing has arisen in me. I wish to ask one favour of you.

RAMA: You need only command me.

SITA: I wish to go into a pure, deep forest and bathe in the holy, quiet, cooling waters of the Bhagirathi.

RAMA: Dear Lakshmana?

LAKSHMANA: Command me.

RAMA: The elders have just ordered that every desire of hers be fulfilled at once. Bring a comfortable chariot with the gentlest motion.

SITA: My lord, will you not come with me too?

RAMA: Cruel-hearted woman—did that even need to be asked?

SITA: I am very happy to hear it.

LAKSHMANA: As my brother commands. [*Exit.*]

RAMA: Come, let us sit for a moment in this corner by the window.

SITA: Yes. After walking so much, I truly am tired.

RAMA: Then come, put your whole weight upon me; I shall carry you.

Place your arm around my neck—it gives me new life.

Your arm, beaded with perspiration from effort and unease,
is like a necklace of moonstones dripping water at the touch of moonbeams.

[*She does so. In rapture.*] Beloved, what is this?

Every touch of yours produces
a transformation that cannot be called
pleasure or pain,
fainting or sleep,
intoxication or poison spreading through every limb.
It bewilders my senses,
awakening and numbing consciousness at once.

SITA: [*Laughing.*] Your love for me has always been unwavering. What else could it be?

RAMA:

It makes the withered flower of my life
bloom again,
renews my strength,
and entrances every sense—
these sweet words of my lotus-eyed wife,
nectar to the ear, the elixir of life to the heart.

SITA: Sweet-tongued lord, come, let us rest. [*She looks for somewhere to lie down.*]

RAMA: There is no need to look—
from the moment of our marriage,
whether at home or in the forest,
in childhood or in youth,
this has been your one place of rest,

where no other woman
has ever laid her head—
this arm of Rama
shall be your pillow.

SITA: [*Pretending to fall asleep.*] It is true, my lord, true... [*She falls asleep.*]

RAMA: What is this? Has my sweet-speaking beloved fallen into a deep sleep upon my breast? [*He gazes at her tenderly.*]

She is Lakshmi herself dwelling in my house,
an ambrosial balm for my eyes,
the touch of a rich sandalwood paste upon my body.
Her arm about my neck
is a cool, smooth necklace of pearls.
What is not dear to me in her—
except the agony of separation?

[*Enter a DOORKEEPER.*]

DOORKEEPER: My lord, he is here.

RAMA: Here? Who is here?

DOORKEEPER: Your Majesty's personal attendant, Durmukha.

RAMA: [*Aside.*] Durmukha, an attendant of the inner palace? I appointed him to learn what the people of the city and countryside are saying. [*Aloud.*] Admit him.

[*Exit DOORKEEPER.*]

[*Enter DURMUKHA.*]

DURMUKHA: [*Aside.*] How can I tell the king this unspeakable rumour about Queen Sita? Yet this burden has fallen upon unfortunate me.

SITA: [*Crying out in her sleep.*] Tender-hearted lord, where are you?

RAMA: The dreadful fear of separation awakened by the pictures is troubling the queen's dreams. [*He gently caresses her.*]

Constancy in joy and sorrow,
harmony in every circumstance,
a place where the heart can rest,
a sweetness that even old age cannot destroy;
when time strips away every covering
and pure love ripens, what alone remains—
this incomparable blessing comes only to the good,
and even then, only through fortune.

DURMUKHA: [*Approaching.*] Victory to the king!

RAMA: Tell me what you have learned.

DURMUKHA: The people of the city and countryside praise Your Majesty, saying, "Lord Rama has made us forget even King Dasharatha."

RAMA: That is mere flattery. If you have learned of any fault, tell me, so that it may be corrected.

DURMUKHA: [*His eyes fill with tears.*] Listen, my lord. [*He whispers everything in RAMA's ear.*]

RAMA: God above! Your words have become a thunderbolt and pierced me to the heart! [*He faints.*]

DURMUKHA: My lord, take hold of yourself!

RAMA: [*Recovering consciousness.*]

No—ah, no! The stain of having lived in another man's house
Vaidehi had erased by a miraculous means;
but through a crooked turn of fate it has appeared again,
spreading far and wide like the poison of a rabid dog.

What can wretched Rama do? [*He thinks, then speaks in anguish.*] What else can I do?
The vow of a righteous king is to keep his people content by every means.
My father upheld that vow at the cost of me
and, in the end, of his own life.

And Vasishtha has only now given me the same command. Then—
if the stainless honour of this house,
brightened by the conduct of the mighty ancient kings of the Solar line,
is sullied by reproach arising from my marriage,
then I am surely ruined and condemned.

O queen, born from the sacrificial ground,
by your birth you honoured and sanctified Earth herself;
you brought joy to Janaka and the line of Nimi.
Fire, Vasishtha, and Arundhati have praised your character.
Rama is your whole life; in the deep forest
you were my beloved companion, gentle and measured in speech,
the darling of my father... How can such calamity fall upon such a woman?

Through you every creature in the world is blessed,
yet this accursed rumour has fallen upon you.
In you the people found a true protector,
yet you yourself stand unprotected before destruction.

Durmukha, tell Lakshmana that the inexperienced King Rama has an order for him. [*He whispers the command.*]

DURMUKHA: The queen, purified before the fire and made holier still by carrying the continuance of Raghu's line in her womb—how could Your Majesty reach such a decision merely on hearing a wicked rumour about her?

RAMA: Silence! How dare you call the people of the city and countryside wicked?

The Ikshvaku house has earned the people's trust.
This seed of slander is the fruit of fate;
and the miraculous event at the time of her purification
took place in a distant land—who here will believe it?

Go!

DURMUKHA: Ah, my queen! [*Exit.*]

RAMA: Ah, what a loathsome deed I am about to commit! How cruel I have become!

From childhood my tender beloved was nourished on the finest food,
and in the depth of our love was never separated from me.
Today, by deceit, I am delivering her into the hands of death,
like a man who cuts the throat of a little bird he has raised and cherished.

How, then, can I—an outcast, untouchable—dare pollute the queen with my touch? [*He carefully lifts SITA's head and withdraws his arm.*]

Sinless woman, release me—
I am a chandala capable of anything.
You thought you rested upon a sandalwood tree,
not that you had lain upon a poisonous one.

[*Rising.*] God above! The world has overturned. There is no longer any purpose in Rama's living. Suddenly the earth is an empty and desolate forest; life is lifeless, the body mere inert matter. There is no refuge—what shall I do, where shall I go? It seems—

Rama was given consciousness
only so that he might feel pain.

Life itself is tearing through my heart,
as though my body had been fastened with iron spikes.

Mother Arundhati, Lord Vasishtha and Vishvamitra, Lord Fire, Goddess Earth who bears all living beings! Father Janaka, my mothers, dear friend King Sugriva, gentle Hanuman, Vibhishana lord of Lanka, greatest of benefactors, dear friend Trijata—this vile Rama has deceived and dishonoured you all. But who am I now to take your names upon my lips?

For an ungrateful wretch like me even to speak their names
would be to stain those great souls with my sin.

I—

I remove from my breast the jewel of my house, my beloved wife,
who sleeps there unsuspecting, heavy with pregnancy—how anxiously the child moved!—
and cast her mercilessly before dogs like an offering of flesh.

[He lays his head at SITA's feet.] My queen, my queen, this is the last time Rama will lay his head upon your lotus feet. [He weeps.]

VOICE OFFSTAGE: Disaster! A terrible disaster!

RAMA: Someone find out what has happened.

VOICE OFFSTAGE, AGAIN:

A community of great ascetic sages who live along the Yamuna
have come to seek your protection, terrified by Lavana.

RAMA: What? Is a rakshasa still causing havoc? Shatrughna must be sent to destroy Kumbhinasī's son root and branch. *[He takes a few steps, then turns back.]* Ah, my queen, what will become of you in this terrible crisis? Holy Earth, protect your helpless daughter Janaki—

the entire good fortune of the houses of Raghu and Janaka,
the sacred child you brought forth during the gods' holy sacrifice.

[Exit RAMA.]

SITA: *[In her dream.]* Beloved husband... *[She wakes suddenly.]* My God! I had a dreadful dream—I was separated from my lord, calling for him and weeping. *[Looks around.]* But where has he gone, leaving me asleep and alone? When I see him, I shall show a little anger—if I can command my heart once he stands before me. Is anyone there?

[Enter DURMUKHA.]

DURMUKHA: Your Majesty, Prince Lakshmana submits that the chariot is fully prepared and awaits you.

SITA: I am ready. *[She rises.]* The child in my womb keeps moving; I must walk slowly.

DURMUKHA: This way, Your Majesty.

SITA: I bow to the gods of Raghu's house!

[Exeunt both.]

END OF ACT ONE

INTERLUDE TO ACT TWO

VOICE OFFSTAGE: Welcome to the holy lady!

[Enter an *ASCETIC WOMAN* dressed as a traveller.]

ASCETIC: Ah! The forest goddess herself has come to attend me, bearing an offering of fruit, flowers, and leaves.

[Enter the *FOREST GODDESS*, presenting the offering.]

FOREST GODDESS:

Take your full enjoyment of this forest.

Today is an auspicious day for me—

meeting a good person is rare

and comes only as the fruit of merit.

The shade of trees, water, and food suited to an ascetic—

fruit, roots, and all else—are at your service.

ASCETIC: What can I say?

Affectionate conduct, restrained speech

made sweet by courtesy,

a heart naturally disposed to goodwill,

and service without hesitation—

whether offered first or last, its flavour never spoils—

all glory to this secret of the virtuous,

free from deceit and stain.

[*They sit.*]

FOREST GODDESS: May I know who my honoured guest is?

ASCETIC: I am Atreyi.

FOREST GODDESS: Atreyi, where have you come from, and for what purpose are you wandering through the Dandaka forest?

ATREYI:

Many masters of the essence of the Vedas—Agastya and others—live in this region.

I have travelled far from Valmiki

to learn the knowledge of Vedanta from them.

FOREST GODDESS: But other sages worship that ancient teacher, the son of Prachetas, in order to attain spiritual perfection.

Why, then, does the noble lady remain away from him?

ATREYI: A very great obstacle has recently arisen in studying near him, and for that reason I have accepted this long separation.

FOREST GODDESS: What sort of obstacle?

ATREYI: A god—what a marvellous event it was—once brought two twin boys, newly weaned, to Lord Valmiki. Naturally, the children won his heart; not his alone, but the hearts of every living and unmoving thing.

FOREST GODDESS: Is anything known of their names?

ATREYI: It is said that the god himself revealed their names—Kusha and Lava—and their powers.

FOREST GODDESS: What powers?

ATREYI: It is said that from the moment of birth the divine weapons, together with their secret spells, were under their command.

FOREST GODDESS: Truly astonishing.

ATREYI: Valmiki undertook the work of a nurse and reared and cared for both boys. After their first tonsure, he formally instructed them in the three branches of learning apart from the three Vedas; finally, in their eleventh year, he performed their initiation according to the kshatriya rite and taught them the three sacred sciences. It is hardly fitting for ordinary students like us to study beside boys of such brilliant intelligence and insight. For—

a teacher gives the same knowledge to the dull and the keen,

but cannot create or destroy their capacity to receive it;

therefore the results differ greatly.

A polished jewel holds a reflection;

a lump of clay does not.

FOREST GODDESS: Is that the obstacle to your studies?

ATREYI: There is another as well.

FOREST GODDESS: What is it?

ATREYI: Once the Brahmarshi went to the River Tamasa for his midday bath. There he saw a hunter kill one bird of a pair of kraunchas while they were mating. Suddenly the Goddess of Speech appeared to his mind's eye; every sound was clear, measured in a metre of eight syllables. She found voice in this form—

“Hunter, through endless time
you shall win no honour,
because you killed one bird
of this krauncha pair joined in love.”

FOREST GODDESS: How wondrous—a new incarnation of metre, independent of the Vedas!

ATREYI: At that moment, when the light of Speech's sacred mystery appeared within the sage, the lotus-born god—the giver of life to every creature—came to him and said: “Sage, you have attained knowledge of the mystery called Speech. Now tell the story of Rama. You shall receive the eye of inspiration, a seer's vision whose light never grows dim. You are the First Poet.” Having said this, he vanished. Then the son of Prachetas composed the Ramayana—the first revelation in human society of the mystery of Speech in the form of history.

FOREST GODDESS: Ah, life itself has been enriched!

ATREYI: That is why I spoke of a great impediment to study.

FOREST GODDESS: Naturally.

ATREYI: Good lady, I have rested. Now tell me the road to Agastya's hermitage.

FOREST GODDESS: Enter Panchavati from here and continue along the bank of the Godavari.

ATREYI: [*Her eyes fill with tears.*] Is this the celebrated sacred grove of Panchavati? Is this river the Godavari, that mountain Prasravana—and are you Vasanti, goddess of Janasthana?

VASANTI: Every word you say is true.

ATREYI: Daughter Janaki,
all these things were dear to you,
the subject of countless conversations from moment to moment;
and today, as I look upon them, it is as though I see you in person—
though now nothing remains but your name!

VASANTI: [*Alarmed; aside.*] “Nothing remains but her name”—what does that mean? [*Aloud.*] Noble lady, has some calamity befallen Queen Sita?

ATREYI: Not calamity alone—disgrace as well. [*She whispers in VASANTI's ear.*]

VASANTI: Ah! What a cruel blow of fate! [*She faints.*]

ATREYI: Dear lady, take hold of yourself!

VASANTI: Ah, my beloved friend, most honoured of women—is this what life has brought you? Dear Rama, dear Rama... no, enough of your name! Atreyi, is there any news of what happened to Sita after Lakshmana left her in the forest and returned?

ATREYI: Alas, none at all.

VASANTI: How terrible! With Raghu's house under the protection of Arundhati and Vasishtha, and the aged queen mothers still alive, how could this happen?

ATREYI: At that time the elders were at Rishyashringa's hermitage. The twelve-year sacrifice has now ended. Rishyashringa was preparing to send them away with due honour when Arundhati said, “I will not return to Ayodhya without my daughter-in-law.” Rama's mothers agreed. In accordance with Arundhati's wish, Vasishtha too wisely advised that they should all go and live in Valmiki's sacred grove.

VASANTI: What is the king doing?

ATREYI: The king has begun a horse sacrifice.

VASANTI: God above—has he then taken another wife?

ATREYI: May the Lord never do such a thing—never.

VASANTI: Then who is his consecrated wife at the sacrifice?

ATREYI: A golden image of Sita.

VASANTI: Ah—

who can understand the heart of such an extraordinary man?
At once harder than steel
and far softer than a flower!

ATREYI: After Vamadeva's formal blessing, the sacrificial horse was released and its guardians appointed according to scripture. Chandraketu, Lakshmana's son, who has inherited the lineage of divine weapons, commands them. He has been sent ahead with the fourfold army.

VASANTI: [*Her eyes fill; with affection and wonder.*] Prince Lakshmana has a son too? Mother, that news gives me strength.

ATREYI: Amid all these events, a Brahmin laid his dead son at the palace gate, beat his breast, and cried, "Disaster!" Dear Rama—compassion embodied—reflected that no untimely death could occur among his subjects unless there were some fault in the king. Then a voice from the sky declared—

Somewhere on earth a low-born man named Shambuka is practising austerities.
Rama, cut off his head; only by killing him will the Brahmin's son live again.

On hearing this, the Lord of the World took sword in hand, mounted the Pushpaka aerial chariot, and set out to search in every direction for the Shudra ascetic.

VASANTI: Here in Janasthana itself, a Shudra named Shambuka is performing penance by inhaling smoke. If only dear Rama might adorn this forest once again!

ATREYI: Dear lady, I must leave now.

VASANTI: Very well, Atreyi, though the day has become unbearably hot—

the trees dwelling on the riverbank worship the Godavari with offerings of flowers;
when elephants come to rub their itching cheeks against them,
masses of blossoms fall from stems softened by the heat;
in the shade, birds tear at the bark and pick insects out with their beaks,
while doves and jungle fowl groan in the oppressive heat.

[*They turn and exit together.*]

END OF THE INTERLUDE

ACT TWO

ENTERING PANCHAVATI

[*At rise, RAMA is aboard the Pushpaka aerial chariot, filled with compassion, his sword raised.*]

RAMA:

My right hand, strike this Shudra ascetic with the sword,
and restore the Brahmin's dead son to life.
You are a limb of that same Rama who dared banish
his own weary Sita, heavy with pregnancy.
Why does compassion awaken in you now?

[*With great effort, he strikes.*] There—you have done a deed worthy of Rama. Let the Brahmin's son live!

[*Enter a CELESTIAL MAN.*]

CELESTIAL MAN: Victory to the king!

By imposing just punishment, you grant safety even from Yama himself.
Because of you the child has returned to life—and I too have attained a higher state.
I, Shambuka, bow my head at your feet.
Whatever comes through contact with the good—even death—brings liberation.

RAMA: Both results please me. Now enjoy the fruit of your severe austerities.

May the vast, radiant world of heaven,
filled with joy and happiness accumulated through merit,
be yours for ever.

SHAMBUKA: I attained this exalted state by bowing at your feet; austerity had no part in it. Yet perhaps my penance did me one great service—

Lord of all creatures and my refuge,
I should have had to search the whole earth for you,
but you yourself crossed hundreds upon hundreds of leagues
to seek out a low-born man like me.
Surely this was the boon granted by my penance—
otherwise why would you leave Ayodhya and return to Dandaka?

RAMA: What—is this the Dandaka forest? [*Looks around.*] Yes—
here are soft, deep-green pastures; there, harsh and terrifying ground;
on every side, to the horizon, the roar of swift rivers echoes;
between them lie fords, hermitages, mountains, streams, caves, and woods...
yes, I know this land—the Dandaka region of the Vindhya.

SHAMBUKA: This is certainly the Dandaka forest. They say that when Your Majesty lived here—
you slew fourteen thousand fearsome rakshasas in battle,
and three more—Dushana, Khara, and Trishiras.

Thus Janasthana became holy ground, where even timid people like me could move in safety.

RAMA: What—not only Dandaka, but Janasthana too?

SHAMBUKA: Yes, certainly. The vast forest stretching south from Janasthana—with its loathsome mountain caves full of packs of savage wild dogs—makes anyone's hair stand on end.

In some places the land is silent as death;
elsewhere wild beasts howl.
The hiss of enormous, dreadful snakes lying quietly asleep seems to kindle fire.
Water is scarce, found only in deep fissures;
thirsty lizards drink the sweat from serpents' backs.

RAMA:

As I gaze upon Janasthana, the dwelling-place of Khara,
old events seem to unfold again before my eyes.

[Looks around.] How deep Vaidehi's love for Rama was! God above, this very forest—what could be more terrifying? [His eyes fill with tears.]

Yet she said, "I will live with you in the honey-scented forest,"
and she was truly happy here—
so profound was her love.

A person need do nothing;
the joy of mere companionship erases suffering.
To have someone who loves you—what a great blessing!

SHAMBUKA: Leave memories that bring only pain. Let Your Majesty look toward the forest in the middle distance—quiet and grave, enclosed by mountains the colour of the soft necks of peacocks in rut, adorned with clusters of trees casting dense, deep shade, where every kind of animal rests without fear.

Here mountain streams run with clear, cooling water,
filled with the fragrance of flowering vines and reeds shaken by excited birds;
the fierce current plunges roaring through groves of jamun trees,
dark with ripe fruit.

And further—

There are caves in the mountains where bear cubs live;
their growls are multiplied many times by echoes.
The cool, sharp, astringent scent of juicy shallaki leaves,
broken from their stems and scattered by elephants,
also thickens within the caves.

RAMA: *[His voice breaking with sobs.]* Good sir, may your journey be blessed. Travel by the celestial path and attain the worlds of the virtuous.

SHAMBUKA: After bowing to the ancient Brahmarshi Agastya, I shall enter the eternal abode.

[Exit SHAMBUKA.]

RAMA:

Today I see again the same forest
where, many years ago, I lived for so long—
both as an ascetic firm in his duty and as a householder,
and where I also tasted the sweetness of worldly happiness.
The same mountains where peacocks called;
the same forest tracts where deer roamed in rut;
the same riverbanks, filled with lovely reeds, vines,
and rushes growing in dense blue-black clusters.
That mass rising in the distance like a bank of clouds
is Mount Prasavana, where the Godavari flows.
On that mountain's high summit the king of birds once lived,
and below, on the Godavari's bank, we lived happily in a leaf-thatched hut—
a forest alive with calling birds and adorned with dark trees.

Here is Panchavati, whose many places witnessed the countless intimate conversations of our long residence; here lives Vasanti, my beloved's friend. But what is happening to Rama? Now—

Like poison that spreads slowly and suddenly reveals its violent power,
or the point of an arrow lodged within and jarred by an outward blow,
or an old wound in the heart's tender core that splits open after seeming healed—
so my ancient grief has suddenly awakened and begun to tear me apart again.

Yet I wish to see those regions that were once my friends. [*He looks.*] Ah, how greatly the face of the land has changed!

Where a stream once flowed, there is now a dry riverbed;
where the trees were dense, they have thinned,
and where they were sparse, they have grown thick.
Seen after so many years, the forest seems entirely changed—
only the position of the mountains assures me that this is the same place.

Ah, despite my reluctance, affection for Panchavati is drawing me toward it by force. [*In anguish.*]

Here all those days with her were spent,
and after we returned home this place remained the subject of constant memory and endless conversation.
Now sinful Rama, having killed the one dearest to him and left himself alone,
how can he look upon Panchavati—or pass it without bowing?

[*Re-enter SHAMBUKA.*]

SHAMBUKA: Victory to the king. Agastya, having learned from me of your arrival, sends this message: “Lopamudra has made every preparation for your welcome and waits affectionately with the great sages. Please come and honour us with your presence. Afterwards, you may return swiftly to your own country in the Pushpaka and prepare for the horse sacrifice.”

RAMA: I obey the holy sage's command.

SHAMBUKA: Then let Your Majesty turn the Pushpaka this way.

RAMA: Panchavati, forgive the momentary neglect Rama must show you in order to obey his elders' command.

SHAMBUKA: Look, my lord, look—

That is Mount Kraunchavata,
where the harsh roar of wind through the bamboo forest,
doubled by the cries of owls in leaf-tossed groves,
silences flocks of crows;
serpents hanging from branches of ancient sandalwood trees
writhe in fear at the calls of peacocks strutting proudly below.

And further—
there are the mountains of the south;
in their caves the waters of the Godavari gurggle,
and their summits are dark beneath clouds circling the peaks;
and there are the sacred places at the river confluences,
where deep water roars under the irregular blows of waves
from currents colliding head-on.

[*Exeunt both.*]

END OF ACT TWO

INTERLUDE TO ACT THREE

[Enter two RIVER GODDESSES.]

FIRST RIVER: Friend Murala, you seem troubled.

MURALA: Tamasa, Lopamudra, wife of Agastya, has sent me with this message for our noble river Godavari—

“You know well that from the moment he abandoned his daughter-in-law, Rama has been filled with the tragic mood;
his grave bearing conceals it,
while acute pain smoulders within him
like an earthen vessel baking among embers.

The current of grief born from the calamity that befell his beloved wife, growing ever stronger without cease, has now utterly broken dear Rama. The strings of my heart snap when I see him. Today he is returning to Panchavati to look for the last time upon the places that witnessed the intimate moments of his forest life with his wife. He is self-controlled by nature, yet I fear that in such a place unbearable blows of grief will assail him at every step. Godavari, take heed of this.

Send toward dear Rama, with utmost gentleness,
a breeze cooled by droplets from your waves
and carrying the fragrance of lotus pollen;
and when he is about to faint, soothe his life-breath.”

TAMASA: Such foresight is entirely worthy of Lopamudra's affection. Yet a more fundamental means of reviving dear Rama is available even now.

MURALA: How?

TAMASA: Listen. It is said that many years ago, immediately after Lakshmana abandoned her and returned from Valmiki's sacred grove, Queen Sita's labour pains began. The agony was so intense that she threw herself into the Ganges. There she gave birth to twin sons. Earth and Ganga came to her aid and took her down to the netherworld. When the boys were weaned, Goddess Ganga herself entrusted them to the care of the great sage descended from Prachetas.

MURALA: [In astonishment.]

Even the calamities of such a woman become occasions for pure wonder,
for divine powers such as these come to her aid.

TAMASA: Now Bhagirathi learned from Sarayu that dear Rama might have come to Janasthana because of the affair of Shambuka. She too was seized by the same tender concern as Lopamudra. So, on the pretext of performing a rite to ward off evil, she came with Sita to visit the Godavari.

MURALA: Ganga's foresight was wise. As long as King Rama remained in the capital, occupied with the many urgent affairs of his subjects, his attention was necessarily divided. But now, with no diversion and no companion but grief, returning to Panchavati is dangerous. Can Queen Sita somehow console dear Rama?

TAMASA: Goddess Bhagirathi has already considered this. She said to Sita: “Daughter Sita, born from the sacrificial ground, today the tally of the birth-years of Kusha and Lava—may they live for ever—has reached twelve. Therefore, gather flowers with your own hands and worship the stainless Sun, first ancestor of humankind, founder of your sons' royal line, and your primordial father-in-law. By my power, not merely human beings but even gods upon earth will be unable to perceive your presence.” Then she commanded me: “Tamasa, daughter Janaki—my daughter-in-law—holds you in special affection; therefore you must attend her.” I am now carrying out that command.

MURALA: I shall tell Lopamudra of this plan. It seems dear Rama himself has arrived.

TAMASA: And there, emerging from a pool of the Godavari—

her face veiled by dishevelled hair,
made lovelier by pale and hollow cheeks,
the image of compassion, the embodied pain of separation from love—
Janaki is entering the forest.

MURALA: Yes, it must be she—

like a tender shoot cut from its stem,

the heat of long, harsh grief has dried the flower of her heart
as autumn heat dries the leaf of a ketaki bud;
her pale, wasted body has withered.

[They turn and exit together.]

END OF THE INTERLUDE

ACT THREE

THE SHADOW

VOICE OFFSTAGE: Danger! Danger!

[Enter SITA, absorbed in gathering flowers. Hearing the cry, she is gradually filled with compassion and anxiety.]

SITA: Is that the voice of my dear friend Vasanti?

VOICE OFFSTAGE, AGAIN:

Long ago Queen Sita reared him from infancy,
feeding him with her own hand the tender tips of shallaki leaves she had gathered—
the little elephant who would stand impatiently before her...

SITA: What has happened to him?

VOICE OFFSTAGE, AGAIN:

He was playing in the river with his mate
when a wild elephant in rut shamelessly attacked him.

SITA: *[Distraught, moving forward a few steps.]* My lord, save my little son, save him! *[She acts as though memory returns; desolate.]* God above, the sight of Panchavati has brought those long-familiar words back to my unfortunate lips! Ah, my lord! *[She faints.]*

[Enter TAMASA.]

TAMASA: Daughter, please take hold of yourself.

VOICE OFFSTAGE: Noble chariot, halt here.

SITA: *[Recovering consciousness; suddenly agitated.]* Why does this human voice, deep and sweet as the low rumble of a rain-filled cloud, flood my ears and suddenly throw unfortunate me into such turmoil?

TAMASA: *[Smiling and weeping at once.]* Daughter,
like a peahen hearing distant thunder,
how can a woman such as you become so agitated and eager
over a sound so indistinct and uncertain?

SITA: Holy lady, why call it “indistinct”? It can only be the voice of my lord; I know his voice.

TAMASA: I have heard that the king of the Ikshvaku line has come to Janasthana to punish a Shudra who is practising austerities.

SITA: It is fortunate that the king has not abandoned the duties of kingship.

VOICE OFFSTAGE:

Where trees and animals too were our kin,
where I lived so long with my beloved...
these are the mountain slopes of the Godavari,
filled with caves and cleft by rushing streams.

SITA: *[Looking.]* God above, what is this... a body pale, wasted, and weak like the disc of the moon at dawn; yet only his distinctive gentle and grave bearing allows me to recognise him... yes, it must be my lord. Hold me. *[She faints into TAMASA's arms.]*

TAMASA: *[Supporting her.]* Daughter, please take hold of yourself.

VOICE OFFSTAGE: The sight of Panchavati—

rekindles the fire of grief that has slept so long within my heart;
but first unconsciousness closes around me like a shroud of dense smoke.

Ah, beloved Janaki!

TAMASA: *[Aside.]* This is exactly what my teacher feared.

SITA: *[Recovering.]* How can this be possible?

VOICE OFFSTAGE: Ah, my queen, my beloved companion in the Dandaka forest! Ah, princess of Videha!

SITA: God above, as he takes my unfortunate name upon his lips, his blue-lotus eyes roll back; he has fainted and fallen to the

ground. How can I leave him stretched out on the lonely earth, friendless and helpless? Tamasa, save him, save him; give my lord his life back. [*She falls at TAMASA's feet.*]

TAMASA:

Lovely daughter, only you have the power to restore the Lord of the World to life.
The touch of your hand is dear to him;
the entire burden rests upon that alone.

SITA: Let whatever must happen, happen. I obey the holy lady's command. [*She exits in agitation.*]

[*The scene opens to reveal RAMA lying unconscious on the ground. SITA, weeping, caresses him; he begins to recover with an expression of supreme bliss.*]

SITA: [*With suppressed joy.*] It is as though the life of the whole world has returned.

RAMA: But what is happening?

Is this the essence pressed from heavenly sandal leaves?
Or a drop fallen from a moonbeam stalk crushed in a press?
Has someone poured upon my heart the juice
of the divine life-restoring herb and cooled a life already burned?

This touch is familiar from long ago—
it restores consciousness and also brings deep intoxication;
the instant it removes a faint born of pain,
it produces the stillness of perfect bliss.

SITA: [*With fear and compassion, withdrawing her hand.*] This much is enough for now.

RAMA: [*Sitting up.*] Is it possible that the queen has come, out of affection, to help me?

SITA: Ah, why does my lord speak of me now?

RAMA: Let me look around.

SITA: Tamasa, come! The king will be angry if he sees me here without permission.

TAMASA: But daughter, through Bhagirathi's grace you are invisible even to the gods.

SITA: Ah, yes. You speak the truth.

RAMA: Beloved Janaki! Surely it was beloved Janaki...

SITA: [*Her voice breaking with anger.*] My lord, after all that has happened, such an address is deeply improper. [*Her eyes fill.*] And yet, when he speaks to unfortunate me with affection, and when I had not imagined even for a moment—

—that I would see him again even in another birth, why should I be so hard and merciless toward him? I know his heart, just as he knows mine.

RAMA: [*Looking around; desolate.*] No. There is no one here.

SITA: Tamasa, he abandoned me without cause, yet seeing him in this condition makes my heart experience feelings I cannot myself understand.

TAMASA: I understand, daughter, I understand.

Chilled by despair,
bitter from his cruelty,
almost numb from meeting him after long separation;
forgiving through your own goodness,
filled with profound sympathy for every misery of your husband,
melted by love—
your heart is all these things in a single instant.

RAMA: My queen,

your touch is forgiveness itself,
cool and moist with love;
present, despite everything, to give me joy—
but queen of my heart, where are you?

SITA: My lord's sorrowful words about Sita are filled with deep affection and overflowing with the bliss of love. When I believe them, it seems my birth has been fulfilled—though the arrow of unjust abandonment remains terribly sharp.

RAMA: But what would beloved Janaki be doing here? This is only Rama's pure delusion—the fruit of wishful imagining strengthened by long habit.

VOICE OFFSTAGE: Danger! Danger!

Long ago Queen Sita reared him from infancy, feeding him with her own hand the tender tips of shallaki leaves she had gathered—the little elephant who would stand impatiently before her...

RAMA: [*With rising compassion and anxiety.*] What has happened to him?

VOICE OFFSTAGE, AGAIN:

He was playing in the river with his mate
when a wild elephant in rut shamelessly attacked him.

SITA: Who will protect him now?

RAMA: Where is the villain who dared attack my beloved's little son and his mate? [*He rises.*]

[*Enter VASANTI in alarm.*]

VASANTI: Is this King Raghunandana?

SITA: Ah, this is my dear friend Vasanti.

VASANTI: Victory to the king.

RAMA: [*Looking.*] Why, this is Vasanti, the queen's dear friend.

VASANTI: Quickly, my lord, quickly. From here, go beyond Jatayu Peak and descend toward the Godavari by Sita's Ford; there you will see the queen's little son.

SITA: Ah, Father Jatayu! Without you Janasthana is empty.

RAMA: Ah, these reminders tear open the tender core of the heart.

VASANTI: This way, my lord, this way.

SITA: Holy lady, truly even the forest divinities cannot see me.

TAMASA: Dear daughter, Mandakini's power is far greater than that of all other divinities. Do not be anxious.

SITA: Then we shall follow behind them.

[*They all move.*]

RAMA: Holy Godavari, I bow to you.

VASANTI: [*Looking.*] Rejoice, my lord—the queen's little son has defeated the wild elephant and stands victorious beside his mate.

RAMA: Victory to him. May he live long.

SITA: Ah, how large he has grown!

RAMA: My queen, how fortunate you are.

Beloved wife, the son of yours
who once tore the laval leaf from behind your ear
with the tips of new-sprouting teeth, smooth as lotus petals,
has today defeated an elephant in rut—
clearly the good fortune of his childhood still attends him.

SITA: May he live long, and from this day never be separated from his tender-hearted mate.

RAMA: Look, friend Vasanti, look—the boy has nearly learned the art of honouring his beloved.

While chewing a mouthful of lotus stalk uprooted in play,
he pauses to spray into her mouth, with his water-beaded trunk,
water fragrant with a newly fallen lotus;
but he has not yet learned, when they rest, to show proper care
by shading her with a straight-stemmed lotus leaf.

SITA: Tamasa, seeing him so grown makes me think of Kusha and Lava. After all this time, what must they look like?

TAMASA: They are just like this.

SITA: How unfortunate I am—to have been torn so cruelly not only from my husband, but from my sons as well.

TAMASA: So it was written by fate.

SITA: What is the use of bearing sons if my lord can never kiss their faces—faces like two fresh lotuses, bright with a few tender white teeth just emerging, innocent childhood laughter, lisping speech, and hair gathered in topknots?

TAMASA: May the gods be gracious.

SITA: Tamasa, the mere memory of my sons fills my breasts with milk; and with their father before me, for a moment I feel as though I have returned to the world of the living.

TAMASA: What can one say? A child is the furthest limit of love and the root of the deepest bond between parents.

Because a child is the shared object of both spouses' love,
it is a knot of joy that binds their hearts together.

VASANTI: My lord, look there as well—

that same peacock sits like a jewelled crown on the high branch of a kadamba tree,
calling to his mate;
having just completed his incomparable, festive tandava dance,
he has spread the soft feathers of his tail.

SITA: [*Her eyes fill; in wonder.*] It is the same one!

RAMA: Dear son, may every blessing be yours.

SITA: Yes, so be it.

RAMA:

I remember you with a father's affection—
my simple-hearted wife made you dance as though you were her child,
clapping her hands and rolling her eyes to make you turn in circles;
her pupils revolved like wheels,
and in the skilful quiver of her brows appeared every movement of the tandava.

Ah, even animals recognise those they knew long ago—

this kadamba tree, now in bloom,
was planted from seed by my beloved queen—

SITA: [*Looking; her eyes fill.*] How keen my lord's memory is!

RAMA:

and surely the peacock remembers her,
so he regards the tree as his own brother.

VASANTI: Let Your Majesty sit here for a moment.

This is the stone seat in the banana grove
where you and your beloved wife used to rest;
Sita fed the fawns so much grass
that they would not let her leave.

RAMA: I cannot bear to look at this. [*He sits elsewhere and weeps.*]

SITA: Friend Vasanti, what are you doing to my lord—and to me—by showing all this? God above, here is my lord, the same husband; the same forest of Panchavati; the same friend Vasanti; the same woodland along the Godavari that witnessed our countless intimate moments; the same trees, birds, and animals that were like our children—all are before my eyes, yet for unfortunate me they have ceased to exist. How completely my world has overturned!

VASANTI: Friend Sita, do you not see Rama's condition?

When his body was fresh as a blue-lotus petal,
he was a festival for the eyes;
even after one had gazed to the heart's content, he seemed new every moment.
Now nearly senseless, at once pale and dark,
so weakened by grief that he is difficult to recognise,
he still gives joy to the eyes.

SITA: I see, friend. I see.

TAMASA: Daughter, continue to gaze upon your beloved for a long time.

SITA: My lord, who would believe that he could live without me and I without him? Between falling tears, let me look at my beloved lord a little longer—seeing him is like receiving a new birth. [*She continues to gaze.*]

TAMASA: [*Weeping with affection, she embraces SITA.*]

A swelling flood of tears born of joy and sorrow
is released from your eyes, widened with longing;
your bright, sweet, innocent gaze, flowing with love,
bathes the lord of your heart like a stream of milk.

VASANTI:

Let the trees offer a welcome of honey-dripping flowers and fruit;
let the forest wind carry the full fragrance of newly opened lotuses;
and let the birds begin a sweet, unbroken song at full voice—
for King Rama himself has returned to visit this forest.

RAMA: Come, friend Vasanti, shall we sit here?

VASANTI: [*Sitting; her eyes fill.*] Your Majesty, I hope Prince Lakshmana is well?

RAMA: [*Pretending not to hear.*]

Maithili used to give water, seed, and grass with her lotus hands to these trees, birds, and deer;
seeing them again, I am transformed as though my heart were melting and ready to burst into a flood.

VASANTI: But Your Majesty, I asked whether Prince Lakshmana is well.

RAMA: [*Aside.*] Ah, "Your Majesty"—how cold the address! She asks only after Saumitri's welfare, yet her voice is choked with sobs. She must know what happened to Sita. [*Aloud.*] Yes, the prince is well. [*He begins to weep.*]

VASANTI: Ah, my lord, why did you become so cruel in the end?

SITA: Friend Vasanti, how can you speak to him like that? My lord deserves compassion from everyone—most of all from my dear friend.

VASANTI:

"You are my life, my second heart,
moonlight to my eyes, nectar to my limbs"—
with countless honeyed words like these

you enchanted that innocent girl...
But enough. What is the use of saying more?

[*She faints.*]

TAMASA: Naturally she is struck speechless, even driven nearly mad.

RAMA: Friend, please take hold of yourself.

VASANTI: [*Recovering.*] But why did Your Majesty perform that unspeakable deed?

SITA: Stop, friend Vasanti, stop.

RAMA: Because of the people's reproach.

VASANTI: What caused the reproach?

RAMA: Only the people know.

TAMASA: It is far too late for reproach now.

VASANTI:

Cruel man! They say you value reputation;
but what greater infamy could there be than this?
Do you understand what became of that doe-eyed woman in the forest?
Tell me, my lord.

SITA: Friend Vasanti, you are cruel and pitiless—you are feeding the fire of a man already burning in flames.

TAMASA: It is love and grief speaking.

RAMA: Friend, what can be imagined in such a case?

Her eyes, heavy with weariness from the child moving in her womb,
must have rolled like the eyes of a frightened yearling deer;
her body, tender as a lotus petal or a mass of moonbeams,
must have been torn apart by wild beasts.

SITA: My lord, I am alive—here, alive.

RAMA: Ah, beloved Janaki, where are you?

SITA: God above, my lord too is calling out with all his voice.

TAMASA: Daughter, this is beneficial. A grief-stricken person must try to let grief flow outward. For—
when floodwater presses against a dam,
it is resisted by releasing the water;
and weeping helps a heart oppressed by sorrow
become able to endure.

Especially for dear Rama, whose world has now become dreadful in so many ways.
He must protect the whole earth according to rule, with the sharpest intelligence,
while grief for his beloved dries his soul like a flower beneath summer heat.
The fault of abandonment is his own, so lament brings no peace;
yet life stubbornly remains.
Therefore weeping is surely a blessing.

RAMA: How terrible!

In extreme agony the heart breaks, yet does not split;
the ruined body reels, yet does not lose consciousness;
the inner fire burns the limbs, yet does not reduce them to ash;
fate strikes the vital core, yet does not end life.

SITA: Yes. That is the truth.

RAMA: People of the city and countryside!

You would not allow the queen to remain in my house;
therefore I left her in the lonely forest,
valuing her no more than a blade of grass, and without grieving.
But these long-familiar sights are utterly destroying me;
so forgive this helpless weeping that continues even now.

TAMASA: How deep is the roar of his ocean of grief.

VASANTI: My lord, hold fast to courage before what has passed.

RAMA: Friend, what do you mean by “courage”?

It is the twelfth year of this empty world without the queen—
a world in which even her name has nearly vanished—
and still Rama lives.

SITA: My lord’s words are torturing me.

TAMASA: Yes, daughter.

These are the words of your beloved—now tender with love, now harsh with grief;
a stream of honey mixed with poison dripping into your ears.

RAMA: Vasanti, have I not endured at last—

the burning goad of sorrow in my heart,
piercing the vital core like the point of a heated arrow lodged unseen within,
or like a poisonous sting?

SITA: I am so unfortunate that even now I continue to cause my lord pain.

RAMA: Though my heart had broken and grown numb, today, seeing the things dear and familiar to her, I was stunned again.

Every remedy attempted with enormous effort
to restrain compassion awakened to a furious force failed within;
the unspeakable transformation of consciousness burst outward in full flood—
like floodwater breaking a sandbank and flowing without restraint.

SITA: The blow of my lord’s cruel, ceaselessly surging grief seems to have swept away the grief in my own heart, but left it beating wildly beyond control.

VASANTI: [*Aside.*] His condition is dreadful. I must try to distract him. [*Aloud.*] Would Your Majesty now like to see the old familiar regions of Janasthana?

RAMA: Yes, very well.

[*They rise and move.*]

SITA: What my friend thinks will entertain him will only inflame his grief.

VASANTI: [*In anguish.*] My lord, my lord—

in this bower of vines you stood looking down the road toward home;
she was delayed, enchanted by the swans on the Godavari;
when she returned and saw you angry, she grew anxious
and bowed with innocent folded hands like an unopened lotus.

SITA: Vasanti, you are very cruel—by making my unfortunate memory return again and again, you drive the knife still deeper into the tender core of my lord’s heart.

RAMA: Hard-hearted Janaki, you appear everywhere, yet show me no mercy.

My queen, my heart is splitting,
the bonds of my body are coming loose,
the world is empty, and within I burn without cease;
my soul, submerged in darkness, is drowning helplessly,
complete unconsciousness closes around me.
What shall wretched Rama do?

[*He faints.*]

SITA: God above, my lord has fainted again!

VASANTI: My lord, please regain consciousness.

SITA: My lord, you are the source of well-being for the whole mortal world, yet for you, afflicted by unceasing self-destructive calamity, the blessing of birth has been reversed—all because of unfortunate me. Ah, I am destroyed. [*She faints.*]

TAMASA: Daughter, regain consciousness. The touch of your hand alone will restore dear Rama to life.

VASANTI: Ah, he is still unconscious. Sita, dear friend, where are you? Console the lord of your life.

[*SITA rushes forward and touches his heart and head.*]

VASANTI: What good fortune—dear Rama has regained consciousness.

RAMA:

A touch, as though rubbing nearly ambrosial ointment

over every limb of my body, within and without,
has suddenly restored me to life
and spread through me a new—and blissful—faintness.
[*He closes his eyes in delight.*] Friend Vasanti, how fortunate you are.

VASANTI: How so?

RAMA: Friend, it means Janaki has returned—what else could it mean?

VASANTI: But my lord, dear Rama, where is she?

RAMA: [*Relishing the touch.*] Look—she is here before me.

VASANTI: Why do you burn me with this cruel and meaningless ravings, cutting again into the vital core already scorched by grief for my dear friend?

SITA: I must withdraw, yet my lord's touch—so soft and cool with long, true affection, so soothing to long and cruel pain—seems to have fastened my hand there. It is at once damp with sweat, weary, agitated, trembling, and helpless.

RAMA: Friend, why call it “raving”?

The hand I held at our wedding, wearing its bracelet,
long familiar, mine to touch whenever I wished, cool as nectar...

SITA: My lord, this is that very hand. Now I understand.

RAMA:

This very hand—her hand—
soft as a lavali stem,
so beautiful that every other hand is measured against it.

[*He takes her hand.*]

SITA: God above, in the joy of my lord's touch I have made a terrible mistake.

RAMA: Friend Vasanti, my senses are numb with joy and my mind so shaken that I cannot trust myself. Please touch her yourself and see.

VASANTI: Ah, this is complete madness.

[*SITA quickly frees her hand and steps back.*]

RAMA: God above, what a mistake!

I was so stunned that I suddenly released that petal-soft hand—
my own hand trembled and sweated like hers.

SITA: God above, I still have no control over myself—at once restless, numb, and confused; the pain is unbearable.

TAMASA: [*Looking at her tenderly.*]

At your beloved's touch, poor child, sweat and gooseflesh cover your limbs;
you tremble like the trunk of a kadamba tree swaying in the wind,
wet with new rain and suddenly breaking into buds.

SITA: [*Aside.*] Ah, I am ashamed before Tamasa of this unruly body. She must be thinking: after such abandonment, such infatuation still!

RAMA: [*Looking around.*] What—nowhere? Merciless Vaidehi, have pity!

SITA: Surely I am merciless—to remain alive while seeing you in this condition.

RAMA: My queen, where are you? Do not leave me like this.

SITA: Ah, my lord, are you not saying the reverse of the truth?

VASANTI: My lord, by your extraordinary strength, please put an end to this complete delusion. How could my dear friend be here?

RAMA: Clearly she is not; otherwise why would Vasanti herself not see her? Yes, it must be a dream... but no, I was not asleep—where is sleep for Rama now? Surely that holy mental illusion, repeatedly produced by imagination, has closed around me again.

SITA: No. Cruel me—I have confused my lord.

VASANTI: My lord, look—

the black iron chariot of the son of Pulastya, destroyed by Jatayu;
before it, mule-like beasts with monkey faces—now only skeletons.
From here the enemy cut off Jatayu's wings with his sword
and rose into the sky with radiant Sita, like a cloud encircled by lightning.

SITA: [*In terror.*] My lord, Father has been killed, and I am being carried away. Save me!

RAMA: [*Springing up.*] Villain, thief of both Father and Sita at once—where are you fleeing?

VASANTI: My lord, you were the fire of annihilation to the rakshasa race; could any object of your wrath still remain alive?

SITA: Ah, for a moment I went completely mad.

RAMA: Ah, but my calamity today is altogether different—

then a remedy was available;
heroic battle constantly diverted the mind and filled the world with wonder;
I knew separation from my wife would end with the enemy's death.
But how bitter it is to endure endless separation in silence!

SITA: “Endless!” Ah, I am truly destroyed.

RAMA: Ah—

where friendship with the monkey king is useless,
and the strength of the monkeys vain;
where Jambavan's wisdom shows no path,
nor the wisdom of the Wind-god's son;
where even Nala, son of Vishvakarma, can build no bridge—
beloved, where are you, beyond even the reach of Saumitri's arrows?

SITA: How dear the first separation seems now.

RAMA: Friend Vasanti, the sight of Rama now brings his friends only sorrow. How long shall I make you weep? Give me leave to depart.

SITA: [*Startled, distraught, clinging to TAMASA.*] Tamasa, my lord is going!

TAMASA: Daughter, take hold of yourself. Whatever happens, we must now go to Bhagirathi to perform the rites for the birth anniversary of Kusha and Lava—may they live for ever.

SITA: Holy lady, please let me look upon him one last moment—him whom I shall never see again.

RAMA: To assist at the horse sacrifice, I now have another consecrated wife...

SITA: [*Trembling.*] My lord—who?

RAMA: A golden image of Sita.

SITA: [*Breathing in relief.*] My lord... yes, now you are truly my husband. At last you have drawn from me the sharp point of the arrow of shame caused by abandonment.

RAMA: At least there, eyes forever drowned in tears find a little rest.

SITA: Blessed is the woman whom my lord honours so greatly for his consolation—for that reason she is a source of hope to the world.

TAMASA: [*Embracing her with affection, smiles, and tears.*] Daughter, you are praising yourself.

SITA: [*Bowing her head in embarrassment; aside.*] The holy lady is teasing me.

VASANTI: What caused you such great anguish has become grace toward us all. If you must go, go according to your duty.

SITA: Vasanti has become my sworn enemy.

TAMASA: Daughter, come. Let us go.

SITA: [*Desolate.*] Yes, I must go.

TAMASA: But how can you go when—

however hard you try, your eyes, widened with longing,
remain fixed upon your beloved and cannot be turned away?

SITA: I bow to my lord's lotus feet—surely it is the fruit of incomparable merit that I saw him today. [*She faints.*]

TAMASA: Daughter, please take hold of yourself.

SITA: [*Recovering.*] How long is the full moon visible amid black clouds?

TAMASA: How intricate this story is!

The dominant emotion is one—sorrow;
but as circumstances change, it assumes many forms,
as water becomes whirlpool, bubble, or wave,
though in the end all are one thing—water alone.

RAMA: Noble chariot, come here at once.

[*All rise.*]

TAMASA and VASANTI: [*Respectively, to SITA and RAMA.*]

May Earth, the divine river, and the other goddesses like us;
may the teacher who first employed poetic metre;
may the sage Vasishtha and his companion Arundhati—
may all of them bless you and grant you lasting good fortune.

[*Exeunt all.*]

END OF ACT THREE

INTERLUDE TO ACT FOUR

[Enter two young ASCETICS.]

FIRST ASCETIC: Saudhataki, how beautiful Valmiki's hermitage looks, with all its decorations and the crowds of arriving guests. Look—

a hermitage deer is drinking its fill of the cream left from sweet, warm milk-rice
prepared for his mate, who has just given birth.
The smell of greens cooking with jujube fruit spreads through the air,
with the faintest fragrance of rice and clarified butter.

SAUDHATAKI: A heartfelt welcome to the guests—especially these old people—whose arrival gives us a holiday from our studies!

FIRST ASCETIC: [*Laughing.*] Saudhataki, your reverence for the elderly is entirely unprecedented.

SAUDHATAKI: Bhandayana, what is the name of the guest walking at the head of that company of old women?

BHANDAYANA: No more joking. You surely know that this is Vasishtha, who has come from Rishyashringa's hermitage protecting King Dasharatha's wives, with Arundhati leading them. Why ask such a foolish question?

SAUDHATAKI: What—Vasishtha?

BHANDAYANA: Yes, of course.

SAUDHATAKI: I was certain he was a tiger or a wolf.

BHANDAYANA: What do you mean?

SAUDHATAKI: From the moment he arrived, our poor little calf has been terrified.

BHANDAYANA: When a learned guest arrives, a householder following the Vedic rule offers a welcome gift of meat by slaughtering a yearling calf, a bull, or a goat. According to the authors of the Dharma Sutras, that is righteousness.

SAUDHATAKI: Ah! You have caught yourself in a contradiction.

BHANDAYANA: How?

SAUDHATAKI: When the venerable Vasishtha arrived, a yearling calf was slaughtered. But when the royal sage Janaka came later today, Valmiki offered him only milk and curds, and the heifer was spared.

BHANDAYANA: The sages' rule applies to those who have not renounced meat. Janaka has given it up.

SAUDHATAKI: Why?

BHANDAYANA: The moment he heard of the reversal of Queen Sita's fortune, he became an ascetic. For several years he has been practising austerities in the sacred grove of Chandradvipa.

SAUDHATAKI: Then why has he come here?

BHANDAYANA: To see his lifelong friend, the son of Prachetas.

SAUDHATAKI: Has he met his relatives?

BHANDAYANA: Vasishtha has just sent Arundhati to Queen Kausalya, so that she may meet the king of Videha.

SAUDHATAKI: Since the old people have gathered together, let us gather with our classmates and enjoy a holiday of games.

[*They turn.*]

BHANDAYANA: There is the ancient royal sage, our teacher Janaka. After bowing to the son of Prachetas and to Vasishtha, he is seated beneath a tree outside the hermitage—

in his heart grief for Sita burns without cease,
like fire eating an old tree from within.

[*Exeunt both.*]

END OF THE INTERLUDE

ACT FOUR

THE MEETING OF KAUSALYA AND JANAKA

[Enter JANAKA.]

JANAKA:

The wrong committed against my daughter—a vast and dreadful wrong—
broke me and pierced my heart,
and kindled a torrent of rage that, though old, remains forever new,
cutting the vital core like the edge of a saw and never ceasing.

How terrible! This wretched body—stripped by old age and unimaginable grief of every support, drained of substance and vitality by many austerities, month-long fasts, and mortification—still refuses to prepare for death. It is unbelievable. Yet the sages say: “Those who take their own lives go to worlds of darkness where no sun shines.” Even after so many years, the blows of my acute grief, openly manifested and filled with unceasing thought, are still fresh and do not diminish. Mother! Sita, born from the sacrificial altar—is this what life brought you? Such a reversal that one feels shame even to weep to the heart’s content! Ah, daughter!

I remember your childhood face—
laughing and crying for no reason,
two or three milk teeth shining like jasmine buds,
your first words stumbling and indistinct.

Earth, you truly are hard as stone.

She whose greatness should have been acknowledged by you yourself,
and likewise by Fire, the sages, Vasishtha’s wife, Ganga,
even by the Sun-god, teacher of Raghu’s line;
she whom you yourself gave birth to—as Speech gives birth to true knowledge—
cruel Earth, how could you endure the killing of your only daughter?

VOICE OFFSTAGE: This way, holy lady—and Your Majesty.

JANAKA: [Looking.] Ah, Grishti is showing Arundhati the way. [He rises.] Whom did he call “Your Majesty”? [Looking.] Ah, can this be my dear friend, the lawful wife of King Dasharatha, Kausalya? Who would believe it?

She who in Dasharatha’s palace was like Royal Fortune—
why say “like”? She was Royal Fortune herself—
has been utterly transformed by the force of fate,
a rare creature made of pure grief. Ah, what a reversal!

Here is another terrible reversal in my own condition—

those who once were for me
a festival embodied,
are now unbearable even to behold—
as though salt were being scattered upon a wound.

[Enter ARUNDHATI, KAUSALYA, and the CHAMBERLAIN.]

ARUNDHATI: But I am telling you that your family preceptor commanded you to go in person to meet the king of Videha, and for that very reason I was sent to you. Why this paralysing hesitation at every step?

CHAMBERLAIN: Your Majesty, compose yourself and obey Vasishtha’s command—that is all I beg.

KAUSALYA: The mere thought of meeting the king of Mithila on such an occasion makes all my sorrow surge up again at once. The strings of my heart are breaking; I cannot hold it steady.

ARUNDHATI: Indeed.

A current of sorrow born from separation from dear kin
may already flow with violent force,
but the mere sight of a beloved friend
makes it unbearable, as though multiplied into a thousand streams.

KAUSALYA: How can I face the royal sage after what happened to my beloved daughter-in-law?

ARUNDHATI:

This is your honoured relative, the mainstay of Janaka's line,
to whom the sage Yajnavalkya once imparted
the whole knowledge of Brahman.

KAUSALYA: There stands the royal sage—the joy of the great king's heart, the father of my beloved daughter-in-law. God above, everything returns to me—when we celebrated that great wedding festival; and today, Lord, everything is ended.

JANAKA: [*Approaching.*] Arundhati, Siradhvaja, king of Videha, bows to you.

She through whom alone her husband,
though himself an inexhaustible treasury of holiness,
regards himself as pure;
and who among all the teachers of old
is the supreme teacher...
I bow to that holy lady,
who is like the dawn, before whom the entire world
bows its head to the ground,
and who promotes the welfare of the whole universe.

ARUNDHATI: May your supreme radiance remain fierce, and may the god who burns beyond all dust purify you.

JANAKA: Grishtin, is the mother of the protector of the people well?

CHAMBERLAIN: [*Aside.*] This is mockery of us—merciless and sharp mockery. [*Aloud.*] Royal sage, the queen is already plunged in profound sorrow because she has so long been unable to see dear Rama's moonlike face. Please do not increase her suffering with your anger. A terrible calamity befell Rama too: he was told that a malicious scandal was spreading among the citizens, and because people of little understanding did not believe in the purification of the ordeal by fire, he was forced to take the harshest measure.

JANAKA: Gods above, who is this Fire that dares boast of purifying my daughter? Rama has already insulted us enough; how can anyone dare insult us further by saying such a thing?

ARUNDHATI: [*Sighing.*] It is entirely true. Before my child, the word “fire” is merely a meaningless string of sounds; it is enough that she is Sita. My child,

whether you were my daughter or my pupil
matters not at all;
your supreme purity itself
awakens such affection in my heart.
Whether one is a girl or a woman is irrelevant—
you have won the praise of the whole world.
It is worthy qualities in a good person that deserve honour,
not sex or age.

KAUSALYA: Ah, my wound is splitting open again. [*She faints and falls.*]

JANAKA: God above, what has happened now?

ARUNDHATI: Royal sage, what else could happen?

That king, that happiness, that pride in her children,
those days gone by—
the instant she saw you, her friend,
all memory surged up again.
You can see how deeply this terrible event has shaken her:
even an aged mother's heart
can be as tender as a flower.

JANAKA: How base I have become! After seeing her again after so long, I could not even cast a loving glance upon my dear friend's beloved wife.

Honoured kinsman, dear friend, my heart,
my joy embodied, the whole essence of life,

my body's life-breath and whatever was dearer still—
what was the illustrious King Dasharatha not to me?

Ah, is this truly Kausalya?

If husband and wife ever quarrelled in private,
she would leave him and bring her complaint only to me,
and whether she should remain angry or forgive him—
the decision rested with me...

But enough of such memories. They attack my heart and burn it.

ARUNDHATI: Ah, sighs suppressed within for so long have hardened his heart.

JANAKA: Ah, my dear friend's wife. [*He sprinkles water from his water-pot over her.*]

CHAMBERLAIN:

At first fate was like a favourable friend,
following each of her wishes;
then came its sudden and merciless transformation,
leaving her only anguish of heart.

KAUSALYA: [*Recovering.*] Janaki, my daughter, where are you? How clearly I remember that innocent lotus face, adorned only by the radiance of marriage, with its pure smile in bloom. Child, brighten my lap again with those limbs lovelier than the first moonlight. The king always used to say: "She is certainly the daughter-in-law of the lord of Raghu's line, but my kinship with Janaka makes her my own youngest daughter."

CHAMBERLAIN: What Your Majesty says is exactly how it was:

Though the king had five children,
the enemy of Subahu was dearest of all;
and though he had four daughters-in-law, Sita
was no less a daughter than Shanta.

JANAKA: Ah, my dear friend King Dasharatha! That is why in every way you were my equal. How can I forget you?

They say the father of a bride
must honour the bridegroom's family,
but in my case it was exactly the reverse;
you were always the one who pleased me.
Fate took from me both a man such as you
and the foundation of our kinship...
Shame upon me. I must be a sinner,
to remain alive in this dreadful, hell-like world.

KAUSALYA: Janaki, my child, what shall I do? My unfortunate life seems permanently fastened by some unbreakable mortar; it will not leave this wretched body.

ARUNDHATI: Compose yourself; you are a king's daughter. For now, do your best to restrain your sobs. And one thing more: do you not remember what your family preceptor said at Rishyashringa's hermitage? He declared firmly that what happened was unavoidable, but that in the end all would be well.

KAUSALYA: When all our dreams have been shattered, how can that be possible?

ARUNDHATI: Do you then believe he spoke falsely? You are a princess and the mother of mighty kshatriyas; do not think otherwise—it had to happen.

Never doubt the words of Brahmins
who have directly perceived the Light.
Auspicious Lakshmi dwells in their speech;
no word of theirs is false.

[*A commotion offstage. All listen.*]

JANAKA: Today is a holiday from study—the noise must be children at play.

KAUSALYA: How easy it is to find happiness in childhood! [*Looking.*] Ah, who is that among them, whose exquisitely lovely, soft, and delicate limbs, adorned with the beauty of dear Rama, soothe even the pain in my eyes?

ARUNDHATI: [*Aside, with tears of joy.*] This must be the fruit of that secret—no, of that nectar—which Bhagirathi revealed. I only do not know which of the two he is, Kusha or Lava—may they both live for ever.

JANAKA:

A dark radiance like the petal of a blue lotus,
a head adorned with lovely locks,
beauty ornamented by virtue—as though
his very presence ennobles the whole company of boys.
He looks like Raghunandana—
as though my dear child had become a boy again.
Who is he, the mere sight of whom
is ambrosial balm to my eyes?

CHAMBERLAIN: I think the boy is a kshatriya student of sacred learning.

JANAKA: Surely so, for he—

wears two quivers upon his back,
the arrows touching his topknot;
upon his chest are the marks of his lineage—lines of sacred ash—
and a black-antelope skin;
his lower garment is dyed with madder
and bound by a cord of murva grass;
in one hand he carries a bow and rosary,
in the other a staff of sacred fig wood.

Arundhati, where do you suppose this boy has come from?

ARUNDHATI: But I myself am newly arrived here.

JANAKA: Grishtin, my curiosity knows no bounds. Go at once to Valmiki and ask him. Tell the boy as well that some elders wish to see him.

CHAMBERLAIN: As you command. [*Exit.*]

KAUSALYA: Why do you think he will come when summoned?

ARUNDHATI: Will not his conduct be as courteous as his appearance?

KAUSALYA: [*Looking.*] What is this? Having listened respectfully to Grishtin, the boy is dismissing the sage's other pupils and coming here.

JANAKA: [*Gazing at him for a long time.*] What is happening to me?

Only those who see truth can understand
the measure of his real power,
cooled by modesty and softened by innocence;
no one else can.
This boy has the power to stir my heart,
made immovable by despair,
as a tiny piece of magnet
moves a massive lump of iron.

[*Enter LAVA.*]

LAVA: Without knowing their names and stations, how should I salute these noble elders? [*He thinks.*] There is one manner taught by the elders in which there can be no fault. [*Approaching respectfully.*] Lava bows his head in turn at the feet of each of you.

ARUNDHATI and JANAKA: Good child, may you live long.

KAUSALYA: Child, may you live a long life.

ARUNDHATI: Come, child. [*She takes LAVA onto her lap; aside.*] How beautiful my fortune is! Not only is my lap filled; at last my dream has been fulfilled.

KAUSALYA: Child, come into my lap for a moment too. [*She takes him.*] Ah! Not only in the form of his dark-radiant body, like a newly opened blue lotus, but in his voice too he resembles dear Rama—like the long, low call of a swan whose throat is coloured by eating lotus filaments. His body must be the same to the touch—soft as the heart of a fully opened lotus. Child, let me see your face. [*She lifts his chin and looks, with tears and wonder.*] Royal sage, do you not see? Look carefully—is it not exactly like the moon-face of your daughter, my daughter-in-law?

JANAKA: Yes, friend, I see it. I certainly see it.

KAUSALYA: Ah, my heart is so confused that amid scattered thoughts I am speaking wildly.

JANAKA:

In this boy appear my daughter and Rama,
a living image of the heir of Raghu's line in that very form—
the same radiance, the same voice,
the same natural manner,
even the same stainless splendour...
Creator, why does my agitated mind
run after this mirage?

KAUSALYA: Child, is your mother alive? Do you have any memory of your father?

LAVA: No, I do not.

KAUSALYA: Who cares for you?

LAVA: Lord Valmiki.

KAUSALYA: Come, child, you must tell your story here.

LAVA: That is all I know.

VOICE OFFSTAGE: Soldiers! Prince Chandraketu commands that no one enter the hermitage grounds without permission.

ARUNDHATI and JANAKA: Ah, Prince Chandraketu has arrived while guarding the sacrificial horse; we shall soon see him. What an auspicious day this is!

KAUSALYA: Dear Lakshmana's little son is issuing a "command"—the very syllables sound sweet as drops of nectar in my ears.

LAVA: Sir, who is this person named Chandraketu?

JANAKA: Have you heard the names of Dasharatha's sons Rama and Lakshmana?

LAVA: They are the heroes of the Ramayana.

JANAKA: Certainly.

LAVA: Then how could I not have heard their names?

JANAKA: This Chandraketu is Lakshmana's son.

LAVA: Then he must be Urmila's son and the grandson of the king of Mithila.

ARUNDHATI: [*Laughing.*] Clearly the boy knows the story well.

JANAKA: Since you know the story so thoroughly, answer some questions: what are the names of the children of Dasharatha's other sons, and which wives bore them?

LAVA: Neither I nor anyone else has heard that part of the story.

JANAKA: Has the poet not composed it?

LAVA: He has, but it has not yet been made public. One portion, newly enriched with dramatic flavour, has been prepared for performance. The great sage wrote the manuscript with his own hand and sent it to Bharata, author of the Treatise on the Threefold Art of Music.

JANAKA: For what purpose?

LAVA: It is said that Bharata will have it performed by the apsaras.

JANAKA: All this only increases my curiosity.

LAVA: Valmiki is extremely careful about it. To ensure that no mishap befalls the pupils carrying the manuscript to Bharata's hermitage, he has sent my brother with them, armed with bow and arrows.

KAUSALYA: You have a brother too?

LAVA: I have an excellent brother named Kusha.

KAUSALYA: That is, he is older than you.

LAVA: Yes, by order of birth he is my elder.

JANAKA: Are you twins?

LAVA: Certainly.

JANAKA: Tell me, how does the main story end?

LAVA: Distressed by the citizens' malicious scandal, the king banished Queen Sita, born from the sacrificial ground, to the forest. When her labour pains began, Lakshmana left her alone in the desolate wilderness and returned.

KAUSALYA: My innocent moon-faced daughter, what dreadful reversal of fate suddenly fell upon your flower-soft body when you were all alone?

JANAKA: Child,
when at once you had to contend with humiliation,
the terrible forest, and the pains of childbirth,
and packs of flesh-eating beasts
surrounded you on every side,
then in terror your thoughts must surely have centred upon me,
your final refuge.

LAVA: [*To ARUNDHATI.*] Who are these two noble persons?

ARUNDHATI: This is Kausalya, and this is Janaka.

[*LAVA looks at them with reverence, concern, and curiosity.*]

JANAKA: Ah, how depraved the citizens were, and how thoughtless King Rama!

As I consider the terrible blow
of this thunderbolt-like calamity,
the time has come to kindle my wrath
with my bow or with a curse.

KAUSALYA: [*Terrified.*] Arundhati, protect us! Please try to calm the angry king.

LAVA:

For an honourable man whose dignity has been insulted,
this alone is the proper form of revenge.

ARUNDHATI:

But Your Majesty, Rama is your son,
and the unfortunate citizens are entitled to protection.

JANAKA:

Then let neither side show fear of Raghunandana—
after all, he is my priceless son,
and many among the citizens are old and weak,
Brahmins, children, and women.

[*Enter a noisy group of SCHOOLBOYS.*]

SCHOOLBOYS: Young master! We had heard in village after village about the appearance of a marvellous creature called a "horse," and now we have seen one with our own eyes!

LAVA: A "horse" is mentioned both in the scriptures concerning sacrificial animals and in the science of war. Tell me, what sort of creature is it?

SCHOOLBOYS: Listen, then—
behind it is a great tail,
which it keeps swishing without stop;
its neck is long, and it has four hooves—

no more and no fewer;
it eats grass and passes droppings
the size of mangoes... But enough description.
It is running away—quick, come!

[*They crowd around LAVA, seize his hands and antelope skin, and pull him.*]

LAVA: [*With curiosity, reluctance, and courtesy.*] My elders can see that I am being dragged away.

[*He goes hurriedly with them.*]

ARUNDHATI and JANAKA: Go, child, satisfy your curiosity.

KAUSALYA: Holy lady, if we do not watch him—may he live for ever—I shall feel cheated. Come, let us see him go from another place.

ARUNDHATI: The little rogue has gone so far so quickly that he can scarcely be seen now.

[*Enter the CHAMBERLAIN.*]

CHAMBERLAIN: Valmiki has replied that you will learn the answer to your question yourselves at the proper time.

JANAKA: It must be a matter of the utmost importance. Arundhati, friend Kausalya, Grisstin—come, let us go in person to see the son of Prachetas.

[*The group of elders exits.*]

[*Re-enter the SCHOOLBOYS.*]

SCHOOLBOYS: Young master, look at this marvellous object.

LAVA: At first sight I understand—it is the horse of the ashvamedha sacrifice.

SCHOOLBOYS: How did you know?

LAVA: Fools! You have studied that part of the Veda and still do not understand? It must have guards—hundreds of soldiers in each division, bearing armour, maces, or arrows. The army we see here is almost exactly of that kind. If you do not believe me, ask them yourselves.

SCHOOLBOYS: Soldiers, why is this horse wandering under guard?

LAVA: [*Jealously; aside.*] The ashvamedha is the final test of the supreme sovereignty of a world-conquering kshatriya; its purpose is to humiliate every other kshatriya.

VOICE OFFSTAGE:

This is less a horse than a banner of victory or a battle challenge,
proclaiming the one true hero of all seven worlds,
the enemy of the race of the Ten-Headed One.

LAVA: [*Fired with excitement.*] Ah, that is a challenge to battle!

SCHOOLBOYS: What can we say? The young master truly is very learned.

LAVA: Soldiers, you boast as though no kshatriya remained anywhere on earth!

VOICE OFFSTAGE: What value has any other kshatriya before the universal emperor?

LAVA: Shame on you, villains!

If they are kshatriyas, then kshatriyas they certainly are.
Whom do you think you can frighten?
But the time for words is past. Now I shall attack
and seize that banner.

Boys! Surround them, rain clods of earth upon them, and drag the horse here. Let the poor creature roam freely with the deer of the hermitage.

[*Enter an angry and arrogant OFFICER.*]

OFFICER: Shame on you, villain! What did you say? The king's army is ruthless and severe; it will not tolerate insolent words even from a child. Before Prince Chandraketu, destroyer of enemies, arrives in his eagerness to visit this famous forest, flee quickly through that grove of trees.

ACT FOUR: THE MEETING OF KAUSALYA AND JANAKA

SCHOOLBOYS: Young master, forget the horse. The army is coming, brandishing weapons and threatening you, and the hermitage is far away. Come, let us run from here at once!

LAVA: [*Laughing.*] What do I care if they brandish their weapons? [*He strings his bow.*]

My terrible bow is ready to yawn—

it is not a weapon, but the laughing mouth of Death,
greedily swallowing its prey; mad and slow, rumbling like a cloud,
while its tongue, the bowstring, licks its sharp front teeth.

[All move off at a pace suited to them.]

END OF ACT FOUR

ACT FIVE

THE YOUNG PRINCE'S VALOUR

VOICE OFFSTAGE: Soldiers! At last, reinforcements have arrived to help us.

A chariot yoked to swift horses,
driven at speed by Sumantra,
with the kovidara banner flying above—
having heard the news of battle, Chandraketu is coming.

[Enter **CHANDRAKETU** in a chariot driven by **SUMANTRA**, bow in hand, filled with wonder, delight, and apprehension.]

CHANDRAKETU: Look, Sumantra—look!

At the forefront of the battle stands a boy-warrior,
showering a blizzard of arrows upon the army;
his five locks stream in the wind,
his bowstring sounds without pause,
and anger has flushed his handsome face.

This is astonishing.

A single boy, raised by ascetics,
encircled by so vast an army,
like some new, unknown shoot of Raghu's line,
looses a thousand fiery arrows
from a bow that thunders terribly,
and splits the temples of war-elephants—
the sight sets my curiosity ablaze.

SUMANTRA: Noble Prince—may you live long—

As I look upon this boy—whose power surpasses
both gods and demons, and whose beauty is its equal—
I am reminded of Rama, bow in hand,
setting out to destroy the enemies of Vishvamitra's sacrifice.

CHANDRAKETU: My heart recoils in disgust to see so many
attack one solitary person.

He is a boy and utterly alone,
while a vast army surrounds him on every side—
weapons interlaced in hands as huge as palmyra trunks,
men thrilled by their battle array,
chariots hung with chiming golden bells,
and cloud-like war-elephants whose streaming ichor
whips the air into a gale.

SUMANTRA: My child, even all together they cannot withstand him;
there is no question of facing him one by one.

CHANDRAKETU: Faster, sir—faster! He has begun the wholesale
slaughter of my attendants. For—
his bowstring's thunder, swelled by the deep roar of war-drums,
raises a tumult greater than herds of elephants
trumpeting in mountain caves;
and the hero decks the earth with heaps of twitching, headless trunks,
like morsels fallen from the dreadful mouth
of Death after he has eaten his fill.

SUMANTRA: [*Aside.*] How can I permit a duel between Prince Chandraketu
and such a supernatural being?

[*Reflecting.*] Yet, after all, we are elders of the Ikshvaku house.

And in these circumstances, what other course remains?

CHANDRAKETU: [*With wonder, shame, and alarm.*] Ah! My army
is falling back on every side!

SUMANTRA: [*Miming the headlong speed of the chariot.*] My child—

may you live long—the warrior is now within hearing of your call.

CHANDRAKETU: [*As though trying to remember.*] Sir, what name did the messengers give?

SUMANTRA: Lava.

CHANDRAKETU:

Lava! What value can such soldiers have against one so mighty as you?
I am here. Face me in single combat:
fire should be met by fire alone.

SUMANTRA: Look, Prince—look!

At your challenge the boy-warrior stops destroying the army,
as a lion-cub, hearing the thunder of a cloud,
leaves off slaughtering the herd of elephants.

[*Enter LAVA, advancing swiftly and fearlessly.*]

LAVA: Well said, Prince—well said! You are indeed a true son of Ikshvaku.
See, I have turned back to meet you.

[*A tremendous uproar offstage.*]

LAVA: [*Wheeling suddenly.*] What is this? Have the commanders I defeated rallied and come to attack me from behind? Villains!

Like the sea's flood struck by the wind of dissolution,
roaring so terribly that it bursts the ear,
their torrent, swelling to its highest tide,
shall feed the sacrificial fire of my anger—
an anger fierce as the flame in the mouth of the submarine fire,
which blazes higher when mountains are hurled into it.

[*He rushes forward in fury.*]

CHANDRAKETU: Noble Prince!

Your truly wondrous qualities have made you very dear to me.

You are now my friend; all that is mine is yours.

Why, then, destroy your own people? The touchstone
of your glory is Chandraketu himself.

LAVA: [*Turning, stirred and apprehensive.*] Ah, how consummately speaks
this radiant descendant of the Solar Race—heroic, gracious,
and at once gentle and stern. Why should I trouble with those men now?
Let me first honour him.

[*The tremendous uproar continues offstage.*]

LAVA: [*With anger and contempt.*] Shame! How these dogs insult me—
they have interrupted a conversation between warriors.

[*He moves towards CHANDRAKETU.*]

CHANDRAKETU: Look, sir—look! The sight is worth seeing:
brandishing his bow with confidence and eager delight,
he takes aim at me while the army behind him
presses hard upon his heels;
like a cloud bearing the rainbow,
driven backwards by a violent wind.

SUMANTRA: Even to look upon him—well, only the noble Prince is capable
of that. We are overwhelmed with wonder.

CHANDRAKETU: Worthy soldiers,
you are an army beyond counting, while he stands alone.
You have chariots, elephants, and horses; he is on foot.
You are protected by armour; he wears an ascetic's deerskin.
You are grown men, while on his body
the first radiance of youth has only begun to shine.
To raise weapons in such a battle
would bring shame upon you—and upon me.

LAVA: [*Astonished.*] What! Has compassion melted him?

[*Reflecting.*] There is no time to waste. I shall arrest the army with the divine Jimbhaka weapon. [*He concentrates.*]

SUMANTRA: Why has the uproar of our army suddenly ceased?

LAVA: At last that insolent fellow is in sight.

SUMANTRA: [*Apprehensively.*] My child, I believe the Prince has employed the Jimbhaka weapon.

CHANDRAKETU: There can be no doubt—

like a dreadful union of darkness and lightning,
first blinding, then dazzling,

it strikes even eyes that remain fixed open.

My soldiers stand motionless, as though painted in a picture;
the invincible Jimbhaka weapon has surely been used.

This is a marvel—nothing less than a marvel!

Black as the darkness stored in the womb of hell,
yet glowing red with the glare of heated, shining brass,
the Jimbhaka weapon overspreads the sky
like peaks of the Vindhya torn up by a roaring wind
that proclaims the end of an age,
their caves tawny-lit from within
by lightning issuing through masses of cloud.

SUMANTRA: But how did he obtain the Jimbhaka weapon?

CHANDRAKETU: Presumably from the son of Prachetas.

SUMANTRA: My child, weapons such as these—the Jimbhaka above all—are not acquired in that way. For—

these weapons are, as it were, the offspring of Krishashva;
from him they came to Kaushika,
from Kaushika to dear Rama,
and ever since they have remained with Rama alone.

CHANDRAKETU: Yet others too have beheld them—men illumined
by their own purity, who became seers of the mantras by themselves.

SUMANTRA: My child, be on your guard—your adversary has returned.

BOTH PRINCES: [*Each regarding the other.*] How gentle this young man looks!
[*They gaze at one another with affection and love.*]

Is this a sudden meeting of minds?

The influence of his countless virtues? Some old friendship,
swiftly formed in a former birth?

Or is he a kinsman hidden from us by fate,
that at the mere sight of him my heart
is bound in single-minded enchantment?

SUMANTRA: It is the common nature of the soul that one person should feel an instinctive affection for another particular person. People of the world describe it figuratively as "the eyes being captivated," or "love at first sight." The scriptures therefore declare that the thing is real, however groundless and incomprehensible it may appear.

There is no remedy against affection born without a cause.

There must be some subtle thread of love
that binds living beings together in their deepest selves.

BOTH PRINCES: [*Each regarding the other.*]

How can I loose an arrow at this body,
adorned with the delicate insignia of royalty,

when at our very meeting my limbs tremble
with longing to embrace him?
Yet what other course is there but to take up arms
before such overwhelming power?
And when he lies far beyond the reach of any weapon's strength,
what use are weapons at all?
But if, after drawing my sword, I shrink from battle,
what will he say of me?
The savour of the warrior's path is harsh;
it checks the spontaneous current of affection.
SUMANTRA: [*Looking at LAVA; tearfully, aside.*] My heart,
why are you so wildly agitated?

Fate has taken away the only seed of my hope.
Once the creeper has been cut down, how can a new shoot arise?
CHANDRAKETU: Sumantra, I wish to descend from the chariot.
SUMANTRA: Why?
CHANDRAKETU: First, it is the proper way to honour a warrior.
Second, as you know, it observes the Kshatriya tradition.
According to the interpreters of the law, a chariot-warrior
must never fight a man who is on foot.
SUMANTRA: [*Aside.*] I am caught in a terrible dilemma.
How can a man like me prevent him from doing what is right,
or permit a deed whose very essence is sheer recklessness?
CHANDRAKETU: My revered father consults you on every question
of law or statecraft—you, his father's dear friend. Why, then,
this hesitation?
SUMANTRA: My child—may you live long—your judgement accords with duty.
This is right conduct in battle, the eternal way of righteousness,
and the warrior's path followed by the lions of Raghu's house.
CHANDRAKETU: Your words are beyond praise.

History and legend, the teachings of duty,
the ancestral customs of Raghu's line—all these
are known to you alone.
SUMANTRA: [*Embracing him with tears of affection.*]
Dear child, how many days can it be
since your beloved father,
the conqueror of Indrajit, was born?
And here his own son already walks the warrior's path.
How complete is the good fortune of Dasharatha's line!
CHANDRAKETU: [*Sadly.*]
So long as the eldest of Raghu's house remains unfulfilled,
how can our line attain fulfilment?
That single thought consumes my father
and my three other fathers with grief.
SUMANTRA: Ah! Chandraketu's words pierce
the tender quick of my heart.
LAVA: To speak truly, the unfolding of feeling here is wholly confused.
At moonrise the night-blooming lotus rejoices,
and at the sight of him my eyes too are delighted;
yet my arm—its terrible wounds laid open,
throbbing with love for the heavy bow
and its cruel string that resounds so fiercely—longs for battle.

CHANDRAKETU: [*Miming his descent from the chariot.*]
Sir, Chandraketu of the Solar Race bows before you.

SUMANTRA:

May you possess a sovereignty unconquerable,
pure, and majestic as Kakutstha's;
may the eternal god, the Boar, grant you lasting welfare.

And further—

may the Sun, father of your race, inspire you in battle.
May Maitravaruna, the preceptor of your preceptors
and your own preceptor too, be gracious to you.
May you receive the strength of Indra, Vishnu, Agni,
the Maruts, and Suparna.
May the mighty mantra-sound of the bowstrings
of Rama and Lakshmana bring you victory.

LAVA: Noble Prince, you look magnificent upon your chariot.
There is no need for so great a display of courtesy.

CHANDRAKETU: Then let the fortunate Prince adorn a chariot as well.

LAVA: Sir, have the Prince mount his chariot again.

SUMANTRA: Then you too must accept Prince Chandraketu's request.

LAVA: Who would hesitate to use an implement of his own? But we forest-dwellers are not accustomed to riding in chariots.

SUMANTRA: My child, you remember the claims of both self-respect and generosity. If Rama, king of the Ikshvakus, could see this conduct of yours, his heart would overflow with affection.

LAVA: I understand that the royal sage himself is exceedingly generous—or so, at least, I have heard. [*A little embarrassed.*] We do not ordinarily oppose such a rite, and who in the world would not honour the King's countless virtues? Yet the challenge proclaimed by the guardians of the horse—a provocation flung at every Kshatriya—has brought about this change in me.

CHANDRAKETU: [*Smiling.*] Are you offended even by the splendour of my father's immeasurable power?

LAVA: Whether I am or not is beside the point. I ask only this: I have heard that Raghava is a self-controlled man; it is said that neither he nor his subjects are arrogant. Why, then, do his people speak words fit for demons?

The sages say that "demonic speech" is speech
fit only for the intoxicated or the proud.
"It is the root of every feud, the very curse of the world" —

so have men condemned it. Speech of the opposite kind
they praise in these words—

The wise declare that gracious speech is the wish-fulfilling cow itself:
it yields all that one desires, drives want away,
gives birth to fame, and wipes out every evil deed.
It is the very mother of supreme prosperity.

SUMANTRA: How guileless is this young disciple of Valmiki;
every word he speaks is steeped in the nature of a sage.

LAVA: Chandraketu, regarding what you just said—"Are you offended even by the splendour of my father's power?"—I ask only this:
is the exercise of a Kshatriya's duty subject to limitation?

SUMANTRA: You do not know the lord of the Ikshvakus in the least.
Please abandon this obstinacy now.

By destroying the soldiers you have certainly displayed your strength,
but it is unwise to vie with the conqueror of Jamadagnya.

LAVA: [*Laughing.*] Sir, why proclaim with such fanfare
that the King defeated Jamadagnya?

It is an established truth that a Brahmin's strength lies in speech,
whereas a Kshatriya's strength lies in his arm.
Jamadagnya was a Brahmin who took up the sword—
what glory does the King gain by defeating such a man?

CHANDRAKETU: [*Somewhat agitated.*] Sir, enough of this dispute.

This person must be some new incarnation of the Primal Being,
if even the son of Bhrigu is no adversary in his eyes,
and if he refuses to admit that Father Rama's righteous deeds
could have secured the safety of all seven worlds.

LAVA: Who does not acknowledge Rama's deeds and greatness?
Yet there remains room for criticism... Well, enough now.

He is an elder; there is no need to reconsider his actions—
let it pass; why speak of it again?
Even the killing of Sunda's wife did not stain his fame—
in the eyes of the world he remains great.
And the three steps he retreated in battle with Khara,
or the skill he displayed in killing Indra's son...
the world knows all these matters perfectly well.

CHANDRAKETU: No! By reviling Father Rama you have now crossed all bounds;
your insolence has grown intolerable.

LAVA: What! Are you making faces at me?

SUMANTRA: I see their anger flare.

The moment each understands the other's intent,
they tremble so violently that their crests come loose;
their eyes, naturally pink as lotus petals,
of themselves turn blood-red;
and the sudden, frenzied dance of their arched brows
makes each face resemble the dark mark upon the full moon,
or a black bee hovering over a blossoming white lotus.

BOTH PRINCES: Come! Let us find a place better suited to battle.

[*Exeunt all.*]

END OF ACT FIVE

INTERLUDE TO ACT SIX

[*A VIDYADHARA and his wife appear in a chariot moving through the sky.*]

VIDYADHARA: Ah, behold the prowess of these two princes of the Solar Race, locked in a furious struggle in a battle that began without warning!

The beauty of Kshatriya power has gained a new brilliance, and gods and demons themselves are speechless with wonder. Look, my dear—they bend bows hung with chiming golden bells, and with the mighty twang of their heavy strings raise a terrifying tumult; their crests stream without pause, arrows rain down, and the battle, mounting with dramatic violence, strikes terror into the whole world.

For the welfare of both, the drums of heaven resound with the deep thunder of clouds.

Then let flowers fall unceasingly upon these two perfected heroes—dense showers laden with open golden lotuses, dripping nectar from the tender, jewel-like buds of the immortal trees of the gods.

VIDYADHARI: But why has the sky suddenly turned so tawny, and why has the dreadful flash of lightning begun its wild dance?

VIDYADHARA: What can be happening now?

Has the third eye of the dark-and-red god opened fully, blazing like sunlight spun upon Tvashtar's lathe?

[*Reflecting.*] Ah, I understand. Prince Chandraketu has released the weapon of fire, and its flames are spreading everywhere. Now—all the other celestial chariots have fled; their yak-tail banners are singed into rainbow colours; and the flames upon our own standard make it look, for a moment, as though it had been dyed saffron.

A marvel! The god of fire has appeared; sparks bursting from him crack like thunderbolts—how terribly the flames leap and lick!

The heat spreading on every side is unbearable.

I had better shield my beloved with my body and move to a safer distance. [*He does so.*]

VIDYADHARI: Ah, the touch of my husband's body has shut out the heat—cool and smooth as the purest pearl, so tender and complete that in delight my eyes roll back and close.

VIDYADHARA: Why, what have I done? And yet—one need do nothing at all;

the mere joy of companionship removes sorrow.

What a great blessing it is to possess someone who loves you!

VIDYADHARI: Why has the sky suddenly darkened with clouds—fluid, billowing masses adorned with flashing lightning, black as the throat of a peacock maddened with delight?

VIDYADHARA: It must be the effect of the Varuna weapon released by Prince Lava. What is this? Thousands upon thousands of swelling clouds have quenched the weapon of fire.

VIDYADHARI: Ah, how delightful it is to me!

VIDYADHARA: But alas, every excess gives birth to danger. Now the world is shivering with cold, enveloped in dense and terrible darkness thickened by clouds roaring like the wind of dissolution—as though the entire universe were struggling inside the cavernous mouth of Time, yawning horribly to swallow it in a single gulp; or as though it had entered the belly of Narayana, all the doors of his senses closed in the yogic sleep at the end of an age. Well done, Prince Chandraketu,

well done! This is precisely the moment to release the wind weapon—
and he surely has released it, for—
the wind has torn the swelling clouds apart,
as knowledge dissolves delusion into Brahman.

VIDYADHARI: My lord, who is this, descending in terror between the two princes
in his celestial chariot, waving the end of his robe with uplifted hand,
and from far away striving with gentle words to stop the battle?

VIDYADHARA: [*Looking.*] It is the lord of Raghu's line, returning from the slaying of Shambuka.
At the great man's words, both honour him and cease their battle.
Lava falls silent, while Chandraketu bows profoundly.
May the King's meeting with his own sons bear an auspicious fruit.
Come, let us go now.

[*Exeunt both.*]

END OF THE INTERLUDE

ACT SIX

THE RECOGNITION OF THE PRINCES

[*At the opening of the scene are RAMA, LAVA, and CHANDRAKETU, who is bowing before RAMA.*]

RAMA: [*Descending from the Pushpaka chariot.*]

Chandraketu, moon of the Solar Race,

come to me at once and embrace me tightly.

Your limbs are cool as blocks of ice,

able to soothe even the burning of a heart such as mine.

[*He raises and embraces him with tears of affection.*] Are you well?

And are the divine weapons dwelling within your body also well?

CHANDRAKETU: All is well because I have had the good fortune to meet Lava—

this beautiful prince of marvellous deeds. I beg that Father

look upon this supreme and noble hero with the same affection

he bears me—or with even greater affection.

RAMA: [*Looking at LAVA.*] How fortunate that my child has found a new friend!

His nature is at once unfathomable and beneficent.

It is as though the science of weapons had taken bodily form

to protect the worlds;

as though Kshatriya duty had become incarnate

to guard the treasure of sacred knowledge;

as though all power had come into full flower,

all virtues had gathered in one place,

and all the merit of the world had accumulated

to stand here visibly revealed.

LAVA: [*Aside.*] Ah, what a great man—purity of radiance embodied!

The one mighty refuge of trust, affection, and devotion,

the gentleness of supreme righteousness made flesh.

This is a wonder—

hostility has vanished and a joyous tenderness wells up;

where has my insolence dissolved,

that humility now overwhelms me?

At the very sight of him I have fallen under his power—why?

Yet great men, like sacred places,

possess some influence of immeasurable worth.

RAMA: How does he suddenly bring rest to my sorrow,

and for what reason does affection awaken in my inmost being?

But to say that affection requires a cause is self-contradictory.

There is some inward source of mutual attraction;

love does not depend in the least upon an outward cause.

Why does the white lotus open at sunrise,

or the moonstone release its dew at moonrise?

LAVA: Chandraketu, who is this?

CHANDRAKETU: Dear friend, this is my revered father.

LAVA: Then by right he is my father too, since you have called me

your dear friend. But in the Ramayana you address four men

by that title. Tell me—which of them is he?

CHANDRAKETU: He is my eldest father.

LAVA: [*Joyfully.*] Then this is the lord of Raghu's line! How fortunate

that this day has dawned to grant me sight of him! [*Gazing with humility*

and curiosity.] Father, Lava, the disciple of the son of Prachetas,

bows before you.

RAMA: My child—may you live long—come to me. [*Embracing him affectionately.*]

Enough, enough; put aside this formality. Embrace me tightly again and again.
Your touch is like the inner petal of a firm, full-grown lotus—
tender and smooth, yet strong;
and cool as the heartwood of sandal or a moonbeam,
reviving the very breath of life.

LAVA: [*Aside.*] He feels such spontaneous affection for me,
and in my ignorance I have committed so great an offence against him—
even raised weapons and attacked his men. [*Aloud.*] May my revered father
forgive Lava's childish offence today.

RAMA: What offence has my child committed?

CHANDRAKETU: Hearing the guardians of the horse proclaim Father's might,
he became eager to display his own valour.

RAMA: But that is the ornament of a Kshatriya.

A man of immense strength cannot endure another's display of power;
it is his natural disposition, not an affectation.
If the sun, maker of day, continually scorches a sunstone with his rays,
will it not, as though insulted, spit forth fire?

CHANDRAKETU: His wrath too is astonishing. Father, look—my dear friend,
this hero, released the Jrimbhaka weapon and held the soldiers utterly motionless.

RAMA: [*Looking.*] Child Lava, withdraw the weapon. And Chandraketu,
you too go and reassure the humbled, helpless soldiers.

[*LAVA concentrates.*]

CHANDRAKETU: As you command. [*Exit.*]

LAVA: The weapon has been pacified.

RAMA: My child, the deployment and withdrawal of these weapons,
together with their secret mantras, are handed down through a lineage—

Brahma and the other gods performed austerities
for a thousand years and more for the welfare of the Vedic way of life;
then these weapons, which those ancient masters became worthy to behold,
were the embodied forms of their own ascetic power.

Thereafter Krishashva imparted the complete secret lore of their mantras
to Vishvamitra of Kusha's line, a disciple who had remained with him
for a thousand years and more. That holy sage bestowed them upon me.
Such was the former succession. May I ask—how did that succession
reach the noble Prince?

LAVA: The weapons appeared of their own accord before both of us.

RAMA: [*Reflecting.*] Why should that be impossible? Through the ripening
of extraordinary merit from a former birth, such power may arise...
But why did you use the dual number?

LAVA: We are two brothers—twins.

RAMA: Then where is the other?

VOICE OFFSTAGE: Bhandayana! Bhandayana!

Dear friend, do you say that the King's soldiers
made so merciless an assault upon Lava—may he live long?
Then the sun-like title of "King" shall set from the world,
and the fire of the Kshatriya weapon shall soon be extinguished.

RAMA:

Who is this now, dark as a sapphire,
whose voice makes the hair rise upon my body
as buds burst upon the kadamba
the moment a young black cloud begins its low thunder?

LAVA: It is my elder brother Kusha, returning from Bharata's hermitage.

RAMA: [*Eagerly.*] Child, call your brother—may he live long.

LAVA: Certainly.

[*He goes.*]

[*Enter KUSHA.*]

KUSHA: [*With anger, curiosity, eagerness, and resolution, sounding his bowstring.*]

Since the age of Manu, son of Vivasvan, these kings of the Solar Race
have granted fearlessness even to Indra,
and have kept blazing the fierce fire of their Kshatriya power
to burn the arrogant.
If today I gain the chance to fight the king of this Solar Race,
how blessed my bow will be—its string consecrated
in the terrible flame of my radiant divine weapons.

[*He advances with long strides.*]

RAMA: What extraordinary manliness dwells in this Kshatriya boy!
His glance declares that he does not care a blade of grass
for any creature in the universe;
he moves with tremendous force, as though making the earth herself bow.
Young as he is, he bears within him the grave weight of a mountain.
Is the heroic mood approaching in person,
or Pride itself embodied?

LAVA: [*Coming near.*] Victory to my elder brother.

KUSHA: My child—may you live long—what is this news of battle?

LAVA: Nothing. Brother, swallow your pride before this man
and conduct yourself humbly.

KUSHA: Why?

LAVA: The man standing there is the lord of Raghu himself.
He bears affection for both of us and is eager to see you before him.

KUSHA: [*Thoughtfully.*] Is he not the hero of the Ramayana
and the protector of the treasure of sacred knowledge?

LAVA: He is indeed.

KUSHA: He is a great man; the sight of him is sacred and devoutly to be desired.
Yet I do not understand how I should approach him.

LAVA: As one approaches a mother or father.

KUSHA: Why should that be so in the world?

LAVA: Chandraketu, son of Urmila, is exceedingly generous.
He accepts me as his friend and calls me "dear companion."
Through that relationship, the royal sage present here
has become, by right, a father to us both.

KUSHA: Then, though he is a royal personage, no fault will attach to us
if we bow before him.

[*They both advance.*]

LAVA: Brother, behold the great man. The majesty of all his supernatural deeds may be read in his grave and radiant bearing.

KUSHA: [*Looking.*]

Ah, his body breathes peace,
and his radiance purifies.
How fittingly the poet of the Ramayana
transformed the goddess Speech into visible form!
[*Approaching.*] Father, Kusha, disciple of the son of Prachetas,
bows before you.

RAMA: Come to me—yes, come; may you live long.
Your body is tender as a cloud filled with the water of immortality,
and this man, moved by a father's love, longs to embrace you.
[*He embraces him; aside.*] But this child—

as though the very essence of my body,
liquefied by affection, had streamed from every limb
and now stood outside me;
as though my consciousness, my elemental self,
had taken embodied form beyond me—
why is he drenched in the current of my heart,
which trembles with this profound joy?
And when I embrace his limbs,
why does he in turn drench me in a true flood of nectar?
LAVA: Father, the sun is scorching my head. Might Father sit for a moment
beneath the shade of this sal tree?
RAMA: Whatever my child desires.
[*They move and sit in the proper order.*]

RAMA: [*Aside.*]

Ah, though they are modest, their manner of walking,
standing, and sitting suggests that Kusha and Lava
are future emperors.
The royal dignity inherent in their bodies
enhances the lovely beauty of every limb,
as rays enhance the stainless moon,
or drops of nectar a fully opened lotus.
I see further signs that these two are princes of Raghu's line—
bodies dark as the neck of a full-grown pigeon,
sloping shoulders like a bull's,
steady gazes like a lion at rest,
and voices deep and rich as festival drums.
[*Studying them closely.*] Not only do they bear the form of my own house;
every limb of both princes clearly resembles
Janaka's daughter as well—on close observation
the inference is easy.
It is as though the face of my beloved has appeared again,
beautiful as the freshest lotus:
the same face, lovely with the gleam of flawless white teeth,
the same graceful ears;
and though their eyes are red and dark,
the same impress of her beautiful nature.

[*Reflecting.*] This is the very forest where the son of Prachetas dwells,
and where, I have heard, the Queen was abandoned. Then there are
their appearance, age, and radiance. It also astonishes me that the divine weapons

appeared of themselves—has the command I gave the weapons in the picture gallery now borne fruit? For I have heard that even the great men of old could not obtain them without initiation through an unbroken succession. Then this boundless joy and sorrow, rising together in my heart, give conviction to my wavering soul. And above all, I knew that the Queen carried twins in her womb. [*Tearfully.*] Long ago, when intimacy had blossomed and my affection grew and became secure, and she was more at ease with me in private, though natural modesty still restrained her gaze, I was the first to discover, by the touch of my palm, that there were two swellings in the womb; she herself learned it only some days later. [*Weeping.*] Is there some way I might ask them?

LAVA: Father, what has happened?
This rain of tears has made your face—
the source of the world's welfare—
like a night-lotus drenched
in the dew of dawn.

KUSHA: My child,
without Queen Sita, what is there
that is not a source of sorrow to the lord of Raghu?
It is said that when one is separated from the beloved,
the whole world becomes a wilderness.
Such was his love,
and this separation is endless...
How can you ask such a question,
as though you knew nothing of the Ramayana?

RAMA: [*Aside.*] Alas, their manner of speaking shows that they are only outside observers. Then I shall not ask. Foolish heart, why this sudden frenzy in you?
I expose the wound of my heart so openly that even children take pity on me. Well, it will be best to change the subject. [*Aloud.*] Children, I have heard of a Ramayana through which the goddess Speech flows as the sacred stream of Sarasvati by the agency of the holy Valmiki—a hymn to the Solar Race. I greatly desire to hear some part of it.

KUSHA: We have rehearsed the entire composition. Just now two verses from the final chapter of the Book of Childhood come to mind.

RAMA: Recite them, child.

KUSHA:
Sita was dear to the great Rama by her very nature,
but by all her virtues she increased that love still more.

In the same way, Rama was dearer to Sita than life itself.
Each heart knew perfectly well
the full measure of their mutual love.

RAMA: How terrible! Another merciless blow upon the tender quick of my heart. Queen, it was truly so. Alas for the conduct of life—discordant, confused events ending in a fruitless, broken love, leaving only scorched pain!

Where shall such happiness be found again,
and that perfect trust which made it grow;
that solicitude each bore for the other,
that deep-flowing savour of wonder;
that oneness of two hearts
in sorrow and in joy alike?
Yet this sinful breath of mine
still clings and will not depart.

Ah, how terrible!

They have reminded me of that one uniquely painful time
when countless qualities of my beloved
were revealed all at once:

when the girl's bud-like breasts had newly begun to swell,
and in only a few days had grown a little fuller;
when desire, deepened by the combined force
of youth, love, and curiosity,
was bold within her heart,
yet shy upon her body.

LAVA: Then hear this verse, spoken by the lord of Raghu to Sita
while they rested in the Mandakini grove near Mount Chitrakuta—
as though the stone seat before you had been kept for you alone,
and the kesara trees around it were showering flowers.

RAMA: [*With a shy smile, affection, and grief.*] How wonderfully innocent
a child can be—especially one raised in the forest. Queen,
do you remember our intimate conversation on that occasion?
How terrible this is!

With the mind's eye I see your face—
your brow bright as the moon,
your hair stirred by the gentle wind from the Mandakini,
cool with beads of perspiration;
your cheeks open and lovely, without a saffron mark,
and your exquisitely graceful ears
more beautiful for having no earrings.

[*He stands as though stunned; in anguish.*] O Fate!

Even in separation, the beloved surely gives some consolation,
for through continual, profound meditation
I create her before my eyes.
But when even that resource is taken away,
the world becomes a desolate forest,
and the heart feels as though it were slowly roasting
over a smouldering fire of chaff.

VOICE OFFSTAGE:

Vasishtha, Valmiki, Dasharatha's queens,
Janaka, and Arundhati—terrified by the news of the boys' battle—
are at last approaching. Old age fetters their feet,
and the hermitage lies far away;
yet though weariness slows their bodies,
their minds run on ahead.

RAMA: What! Arundhati, Vasishtha, my mothers, and Janaka are here?
The very thought of seeing them is unbearable. [*Looking in anguish.*] Alas,
Father Janaka himself is coming this way—like a thunderbolt
about to fall upon my wretched head.

Once, at the celebration of their children's marriage, our two fathers
met in the presence of Vasishtha and the others,
and rejoiced to see how worthy the alliance was.
After all this ruin, how can I look upon such a friend of my father
and not shatter into a thousand pieces?
And yet, what deed is too difficult for Rama?

VOICE OFFSTAGE: Alas!

The moment they beheld the lord of Raghu—whose beauty is now preserved
only in his radiance—his mothers, already distraught
with trying to revive the fainting Janaka,
have themselves fallen unconscious.

RAMA: Father! Mothers!

Do not waste compassion upon a sinner such as I—I showed none
to the woman who was the entire good fortune of Janaka and Raghu's line.
I must go and bow before them. [*He rises.*]

KUSHA AND LAVA: This way, Father.

[*All move away, overcome with grief.*]

END OF ACT SIX

ACT SEVEN

THE REUNION

[Enter LAKSHMANA.]

LAKSHMANA: Ah! Has Valmiki, by his ascetic power, gathered together the entire living world—all mortals and immortals, gods and demons, men, women, animals, and every moving and unmoving being of the middle air—and summoned with us all Brahmins, Kshatriyas, townspeople, and country folk? My elder brother has also commanded me: "Dear Lakshmana, Valmiki has invited us to witness his dramatic composition performed by celestial nymphs. Go therefore to the theatre on the bank of the Ganges and see that the spectators are seated in their proper places."

I have arranged suitable seats for mortals and immortals alike.

And look—

out of reverence for Valmiki my elder brother is coming this way;
though still a king, he has adopted the stern observance of an ascetic.

[Enter RAMA.]

RAMA: Dear brother Lakshmana, are all who understand the art of drama in their places?

LAKSHMANA: They are.

RAMA: Let these two boys, Kusha and Lava, be given seats of honour equal to Prince Chandraketu's.

LAKSHMANA: Knowing my lord's affection for them, I have already done so.
The royal pavilion is prepared here.

[They sit.]

RAMA: Let the performance begin.

STAGE MANAGER: The son of Prachetas, who relates the truth exactly as it is, makes this appeal to every moving and unmoving creature assembled here: "Through the profound insight made possible by a sage's vision, I have composed a brief work that is at once purifying and rich in dramatic feeling—filled with pathos and wonder. In view of the gravity of its subject, please give it your undivided attention."

RAMA: He means that sages behold righteousness directly. The insight of holy seers is "truth-bearing," untouched by the dust of falsehood and never broken; therefore it must never be regarded with doubt.

VOICE OFFSTAGE: My husband! Prince Lakshmana! I am alone and without protection in the forest; my labour pains have begun, and terrible wild beasts are eager to devour me. Wretched as I am, I have no course left but to throw myself into the Mandakini.

LAKSHMANA: [*Aside.*] How dreadful this is—far worse than I had imagined.

STAGE MANAGER:

The daughter of all-supporting Earth,
the Queen abandoned by the King in the great forest,
when the pains of childbirth begin,
leaps into the divine Ganges.

[Exit.]

RAMA: [*Stunned.*] Queen! Queen! Look—Lakshmana is here!

LAKSHMANA: But, brother, this is only a play.

RAMA: Queen, my beloved companion in the Dandaka forest! This calamity befell you because of Rama.

LAKSHMANA: Brother, keep watching the story.

RAMA: I have hardened my heart. I am ready.

[Enter SITA, almost unconscious, supported by EARTH and GANGA, each goddess carrying one of SITA'S sons in her arms.]

RAMA: Dear brother, I am entering a realm of darkness where neither cause nor remedy can be seen. Hold me!

BOTH GODDESSES:

Beautiful Vaidehi, master yourself;
by good fortune your travail has succeeded:
in the river you have borne two sons
who will sustain the line of Raghu.

SITA: [*Recovering herself.*] By good fortune I have borne sons...
My husband! [*She faints.*]

LAKSHMANA: [*Falling at RAMA'S feet.*] Brother, dear brother, what happiness that our purpose has been fulfilled! A magnificent new branch has sprung from the tree of Raghu's line. [*Looking.*] Ah, my brother is motionless, overwhelmed by a surging flood of tears. [*He fans him.*]

BOTH GODDESSES: Child, recover yourself—we beg you.

SITA: [*Regaining consciousness.*] Divine Lady, who are you? And who are you?

EARTH: This is Bhagirathi, the tutelary goddess of your husband's house.

SITA: Divine Lady, I bow before you.

BHAGIRATHI: May you enjoy complete good fortune in accordance with your fidelity as a wife.

LAKSHMANA: Great grace has been shown to us.

BHAGIRATHI: And this is your mother, the goddess Earth.

SITA: Mother! You see me in this condition!

EARTH: Come, child—come, my little daughter. [*She embraces SITA and faints.*]

LAKSHMANA: [*Excitedly.*] Ah, both Earth and Ganga have come to aid my sister-in-law.

RAMA: [*Looking.*] This is surely a cause for joy—and yet a source of profound pathos.

BHAGIRATHI: Even all-supporting Earth can tremble—so powerful is love for a child! Yet it is the same in all: the knot of attachment, the source of unrest within every conscious creature, the very thread of worldly life. Child Vaidehi, goddess Earth, please compose yourselves.

EARTH: [*Recovering consciousness.*] Goddess, how can I compose myself when I gave birth to Sita? Her long residence among the demons was one thing; her abandonment—that terrible humiliation—was another.

BHAGIRATHI:

When destiny is about to bear its fruit,
what creature has the power to close its gate?

EARTH: True. But was this right for dear Rama?

The hand he held in childhood, when he himself was a boy—no regard for that;
none for me, none for Janaka, none for Fire,
none for her humility, none for his own children.

SITA: My husband! All this has made me remember you again.

EARTH: What! You still have a husband?

SITA: [*With tears of shame.*] What Mother says is true.

RAMA: Mother Earth, I am the very man you describe.

BHAGIRATHI: Earth, you are the body of all mortal life. How then can you be angry with your son-in-law as though you knew nothing at all?

The dreadful scandal had spread far and wide,
while the purifying ordeal by fire took place in Lanka—
how could the people here believe in it?

The hereditary wealth of the Ikshvaku house is to keep the whole world content.

In such a crisis—a truly terrible crisis—
what could our child have done?

LAKSHMANA: The goddess's inner light shines unobstructed in all beings.

BHAGIRATHI: Even so, I bow before you with folded hands.

RAMA: Mother, you have also shown grace to the line of Bhagiratha.

EARTH: I have always been gracious to you all. At first there was only the unbearable pain born of love; it is not that I failed to understand dear Rama's love for Sita.

With a burning heart, fate compelled him to abandon her,
and today he remains alive only through some superhuman courage
and the accumulated merit of his subjects.

RAMA: How profound is the compassion of elders for those they regard as their children!

SITA: [*Weeping, with folded hands.*] Mother, take me to yourself and absorb me into your body.

RAMA: What more could she ask than that?

BHAGIRATHI: Heaven forbid! May you live a thousand years before such a dissolution occurs.

EARTH: Child, you must care for your two little sons.

SITA: I have no protector; what can I do for them?

BHAGIRATHI: How can you speak so when in truth you are not without protection?

SITA: What kind of protector does this unfortunate woman possess?

RAMA: O heart, you are cold steel.

BOTH GODDESSES:

Though you are the source of the world's good fortune,
how can you hold yourself in contempt?
Through our relationship with you,
our own holiness is increased.

LAKSHMANA: Brother, did you hear?

RAMA: Let the whole world hear.

[*An uproar offstage.*]

RAMA: Another still more wondrous event is about to occur.

SITA: How has the whole sky become encircled by flame?

BOTH GODDESSES: We understand—

the divine weapons and the Jrimbhaka weapons,
whose succession of masters was Krishashva, Kaushika, and Rama,
are now appearing of their own accord.

VOICES OFFSTAGE:

Queen Sita, we bow before you.
As the joy of Raghu's line declared in the picture gallery,
our destiny from this day lies with your sons.

SITA: What good fortune—the deities of the weapons! My husband, your act of grace is manifest even today.

LAKSHMANA: My brother told them, "From this day forward, these weapons will unfailingly serve your children."

BOTH GODDESSES:

Supreme weapons, we bow before you.
You have shown us grace—we are blessed.
Whenever these boys remember you in their hearts,
please appear and serve them.

RAMA:

A wave of compassion has risen,

breaking upon a lake of wonder and joy,
and has brought me to a state
that cannot be described.

BOTH GODDESSES: Rejoice, child. Your two little sons have now become the equals of dear Rama.

SITA: Divine Lady, who will perform the Kshatriya sacraments for them?

RAMA:

Alas, Sita herself—the power of Raghu's line,
ever guarded by Vasishtha and the family priests—
can find no one to perform the sacraments of her sons.

BHAGIRATHI: Daughter, do not be anxious about that. After the two boys are weaned, we shall place them under Valmiki's protection, and he will perform their Kshatriya sacraments.

For the houses of Raghu and Janaka alike, the son of Prachetas
is no lesser preceptor than the sages Vasishtha and Angiras.

RAMA: Bhagirathi has considered every matter with the greatest care.

LAKSHMANA: Brother, I speak the truth—for many reasons I am fully convinced that those two boys are Kusha and Lava: they too command the weapons from birth, both princes received their sacraments from the great sage, son of Prachetas, and both are twelve years old.

RAMA: Dear brother, the mere thought throws my heart into turmoil and drives me out of my senses.

EARTH: Child, come with me now and sanctify the netherworld.

SITA: Mother, take me to yourself and absorb me into your body.

I can no longer endure the changes and reversals of this world.

RAMA: What answer will she give?

EARTH: Child, obey my command and wait until your two sons are weaned. After that, do as you wish.

BHAGIRATHI: So be it.

[*Exeunt GANGA, EARTH, and SITA.*]

RAMA: Has Vaidehi vanished? Queen, my beloved companion in the Dandaka forest, goddess of virtue, have you resolved to depart for the other world? [*He faints.*]

LAKSHMANA: Valmiki, protect us! Is this all the conclusion your poem offers?

VOICE OFFSTAGE: Stop the orchestra. All mortals, every moving and unmoving creature! Behold the sacred marvel bestowed by Valmiki.

LAKSHMANA: [*Looking.*]

The waters of the Ganges seem to be churning,
and the sky is filled with divine sages.
A miracle! Sita and the goddesses—Ganga and Earth—
are rising from the depths.

VOICE OFFSTAGE:

World-honoured Arundhati,
look graciously upon us, Ganga and Earth.
We entrust Sita to your protection—
the ideal wife who has kept her sacred vows.

LAKSHMANA: What happiness, what a miracle! Brother, look—look!

[*Looking.*] ...Alas, my brother has still not regained consciousness.

[*Enter ARUNDHATI and SITA.*]

ARUNDHATI:

Child, this modest hesitation is unnecessary;
put it aside.
Come quickly, and with the touch of your beloved hand
restore my child Rama to consciousness.

SITA: [*Touching him fearfully.*] My husband, please master yourself.

RAMA: [*Regaining consciousness; joyfully.*] Ah, what is this? [*Looking, with joy and wonder.*] Queen! [*Ashamed.*] And Mother Arundhati, all my elders, and Rishyashringa and Shanta rejoicing with them.

ARUNDHATI: My child, over there is the goddess of Bhagiratha's line, the gracious Ganga.

VOICE OFFSTAGE: Lord of the world, dear Rama, remember the request I made during the viewing of the pictures: "Be gracious to your daughter-in-law Sita, as Arundhati is." Now I am discharged from that obligation.

ARUNDHATI: And there is your mother-in-law, Earth.

VOICE OFFSTAGE: Years ago, when you abandoned Sita, you made this request—may you live long—"Earth, protect your honoured daughter Janaki." Great King, today I have fulfilled that request concerning my child.

RAMA: How is this possible? Though Rama is guilty of a terrible offence, both goddesses have shown him compassion. [*He bows.*]

ARUNDHATI: People of town and countryside! This woman has been entrusted to Arundhati's protection, and Jahnavi and Earth have showered praise upon her. Formerly the god of fire, Vaishvanara, testified to her virtue. Gods and Brahmins have extolled her as a woman of Savitri's lineage. Accept once more Queen Sita, born from the sacrificial ground. Tell me, good people—what is your judgement?

LAKSHMANA: How sternly Arundhati has rebuked the people! The whole living world bows before my sister-in-law, while the guardians of the quarters and the Seven Sages honour her with a shower of flowers.

ARUNDHATI: Lord of the world, dear Rama—

in accordance with sacred law, entrust the duties of the sacrifice
to your beloved partner in righteousness—
the living, holy original of the golden image.

SITA: [*Aside.*] Does my husband know how to soothe Sita's sorrow?

RAMA: As the divine lady commands.

LAKSHMANA: Our purpose is fulfilled.

SITA: I have received a new life.

LAKSHMANA: Sister-in-law, this shameless Lakshmana prostrates himself fully before you.

SITA: My child, remain as you are and live long.

ARUNDHATI: Valmiki, please bring forward Kusha and Lava, Rama's two sons born from Sita's womb. [*Exit.*]

RAMA AND LAKSHMANA: What happiness—everything is true!

SITA: [*Overcome with tears.*] Where are my two little sons?

[*Enter VALMIKI with KUSHA and LAVA.*]

VALMIKI: Dear children Kusha and Lava, this lord of Raghu's line is your father; this Lakshmana is your uncle; Queen Sita is your mother; and this royal sage Janaka is your maternal grandfather.

SITA: [*Looking with joy, tenderness, and wonder.*] Is my father here too?

KUSHA AND LAVA: Father! Mother! Grandfather!

RAMA: [*Embracing them joyfully.*] Surely it is only through accumulated merit that I have regained you, my two children.

SITA: Come, Kusha, my child—and you too, Lava. Give your mother a long embrace, as though she had been born again.

KUSHA AND LAVA: [*Doing so.*] How fortunate we are!

SITA: Holy Sage, I bow before you.

VALMIKI: Child, remain as you are and live long.

[*An uproar offstage.*]

VALMIKI: [*Rising and looking about.*] The lord of Mathura, having destroyed Lavana, is approaching.

LAKSHMANA: When auspicious events come, they come like a flood.

RAMA: All this is truly happening to me, and yet I can scarcely believe it. But such is the nature of good fortune.

VALMIKI: Dear Rama, can I perform any further auspicious service for you?

RAMA: What could be better than all this? Yet perhaps this blessing—

May this story, which purifies from sin

and generously bestows every good,

be at once auspicious and delightful,

like the Mother of the World and the Ganges.

May learned people savour it embodied upon the stage—

the literary art of an accomplished poet

who knows the sacred mystery of speech.

[Exeunt all.]

END OF ACT SEVEN

END OF BHAVABHUTI'S PLAY RAMA'S LAST ACT

RAMA'S LAST ACT

English Theatre Translation — Gajendra Thakur

Bhavabhuti's seven-act Uttara-Ramacharita follows the later story of Rama and Sita through public duty, separation, grief, the recognition of Lava and Kusha, and reunion. This theatre translation presents the drama in clear, performable English.



www.vidaha.co.in

VIDEHA — First Maithili Fortnightly eJournal

अन्तर्वस्तु

१. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - महाकवि कालिदास
२. आगमडम्बरम् - जयन्त भट्ट
३. भगवदज्जुकम् - बोधायन
४. भल्लट - क्षेमेन्द्र - नीलकण्ठ
५. चतुर्भाणी
६. दामक प्रहसनम्
७. हास्यक सागर / हास्यार्णवप्रहसनम्
८. कादम्बरी
९. माटिक खेलौना-गाड़ी / मृच्छकटिकम्
१०. मत्तविलास प्रहसनम्
११. मंत्री राक्षसक राजसी मोहर / मुद्राराक्षसम्
१२. पालाण्डुमण्डन प्रहसनम्
१३. उत्तररामचरितम् - महाकवि भवभूति

संस्कृतसँ मैथिली अनुवाद: गजेन्द्र ठाकुर
सम्पादक: विदेह - प्रथम मैथिली पाक्षिक ई-पत्रिका
प्रथम संस्करण २००२ द्वितीय संस्करण २०२६

www.videha.co.in

८ x ११ hardback - १३-book combined volume